॥ श्रीहरिः ॥

814

साधन-कल्पतरु

परम श्रद्धेय ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी पूर्व प्रकाशित अति महत्त्वपूर्ण पुस्तकोंसे संगृहीत

जयदयाल गोयन्दका

॥ श्रीहरिः ॥
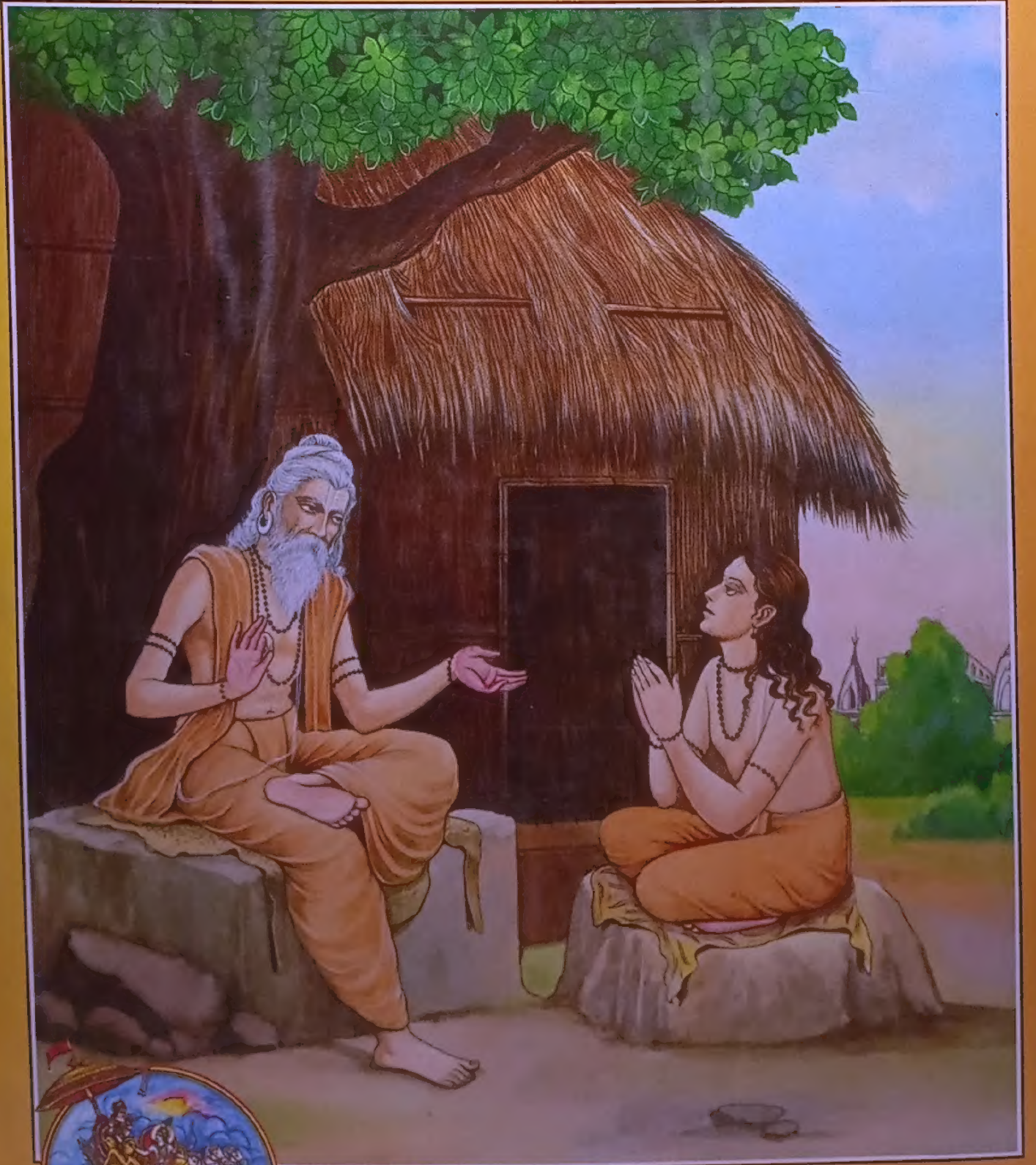
साधन-कल्पतरु

परम श्रद्धेय ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी पूर्व प्रकाशित—महत्त्वपूर्ण शिक्षा, स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा, आत्मोद्धारके सरल उपाय, परमसाधन, मनुष्यजीवनकी सफलता, परम शान्तिका मार्ग, आत्मोद्धारके साधन आदि तेरह अति महत्त्वपूर्ण पुस्तकोंसे संगृहीत

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

जयदयाल गोयन्दका

नम्र निवेदन

आजके इस घोर अशान्त, भौतिकवादी नास्तिक युगमें, जहाँ ईश्वर-विश्वास, सद्गुण-सदाचार तथा सौमनस्यका अभाव, चारित्रिक पतन, सत्कर्मोंके प्रति उदासीनता एवं शील, सदाचरण और शालीनताकी कमी सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रही है, वहीं सच्चे मार्ग-दर्शनके अभावमें मानव-मन कुण्ठित, अशान्त, विवेकशून्य, किंकर्तव्यविमूढ़ और पतनोन्मुख है। दुर्भाग्यसे इस समय मनुष्य जड़ताकी ओर अग्रसरित है। यह स्थिति यद्यपि निश्चय ही दुःखद और चिन्तनीय है; किंतु निराश होनेकी आवश्यकता नहीं; इससे बचने-बचानेका भी सक्षम उपाय है।

वह उपाय है सत्सङ्गका आश्रय। 'सत्' अर्थात् सत्य-(स्वरूप परमात्मा-) का ही नित्य सङ्ग प्राप्त करना। सत्सङ्ग अथवा सत्-शास्त्रोंका अनुशीलन किंवा महापुरुषोंद्वारा बताये हुए मार्गका आश्रय-अनुसरण—एक ही बात है। सत्सङ्गके अभावमें संत-महात्माओंद्वारा रचित ग्रन्थ अथवा पुस्तकें पढ़कर उनके बताये हुए मार्गपर श्रद्धापूर्वक जिज्ञासुभावसे चलनेसे भी हमें समाधान प्राप्त हो सकता है।

संत-महात्मा सहज दयार्द्र, निष्कामी और बिना कारण सबका हित करनेवाले, नवनीतसे भी अधिक कोमल-हृदय होते हैं। जिनके विषयमें मानसकारकी उक्ति है—**'निज परिताप द्रवइ नवनीता। परदुख द्रवहिं संत सुपुनीता'**—ऐसे महापुरुषोंद्वारा सहजभावसे 'बहुजनहिताय', 'सर्वजनसुखाय'—लोककल्याणकारी शुभकार्योंका ही सदा सम्पादन होता है।

गीताप्रेसके संस्थापक और 'कल्याण' के माध्यमसे अपने आध्यात्मिक विचारपूर्ण लेखोंद्वारा आप सबके सुपरिचित—परमश्रद्धेय ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दका ऐसे ही आध्यात्मचेता महापुरुष थे। प्रस्तुत ग्रन्थ—**'साधन-कल्पतरु'** उन्हींके अनुभूत उच्चकोटिके विचारपूर्ण लेखोंका बृहत् संग्रह है। इसकी साधनोपयोगी लेख-सामग्री श्रीगोयन्दकाजीके जीवन-कालमें ही समय-समयपर पहले 'कल्याण' में एवं पुनः विभिन्न नाम-शीर्षकोंसे कई अलग-अलग पुस्तकोंके रूपमें भी प्रकाशित हो चुकी है; जो वर्तमानमें अलगसे भी उपलब्ध हैं। वे साधनोपयोगी, जनप्रिय पुस्तकें हैं—'महत्त्वपूर्ण शिक्षा', 'स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा', 'परम साधन', 'मनुष्य-जीवनकी सफलता', 'परम शान्तिका मार्ग', 'मनुष्यका परम कर्तव्य', 'आत्मोद्धारके साधन' और 'आत्मोद्धारके सरल उपाय'। (श्रद्धालुओं तथा साधकोंको श्रीगोयन्दकाजीके इस बहुमूल्य उद्बोधक साहित्यसे विशेष लाभ उठाना चाहिये।) इन कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकोंसे संगृहीत गोयन्दकाजीकी साधनोपयोगी अति विशिष्ट सामग्री एक ही जगह—समुच्चयरूपमें उपलब्ध हो सके—**'साधन-कल्पतरु'** के इस रूपमें प्रकाशनका यही मुख्य उद्देश्य है।

साधनोपयोगी इस ग्रन्थमें श्रीगोयन्दकाजीके अनेक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक लेखोंका संग्रह है। जिनमें ज्ञान, वैराग्य, सेवा, सदाचार, त्याग, परोपकार और लोक-व्यवहार आदि लौकिक तथा ईश्वर-प्रेम, भगवद्भक्ति, आत्मोद्धारके उपाय, निष्काम-कर्मकी महत्ता, मनुष्य-जीवनका लक्ष्य आदि अनेक पारमार्थिक विषयोंका अति सरलरूपमें प्रतिपादन किया गया है। लेखोंकी भाषा सरल, सुबोध है, जो शीघ्र समझनेयोग्य (कथा-कहानीवाली) सुगम शैलीमें होनेसे हृदयग्राही प्रभाव छोड़ती है। अतएव इसकी मार्मिक और सर्वजनोपयोगी सामग्री विचारवान् साधकोंसहित सर्वसाधारणके लिये भी प्रेरक और मार्ग-दर्शक है।

सभी श्रद्धालुजनों तथा प्रेमी पाठकोंसे हमारा विनम्र अनुरोध है कि इस प्रस्तुत सत्साहित्यके अधिकाधिक अध्ययन-अनुशीलनद्वारा विशेष लाभ उठाना चाहिये। साथ ही, अपने प्रेमी-परिचितोंको भी इसे एक बार अवश्य पढ़नेके लिये प्रेरित करके आप आध्यात्मिक भावोंके प्रचार-प्रसारमें भी सहयोगी बन सकते हैं। प्रकारान्तरसे यह आपकी विशेष भगवत्सेवा होगी।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

(महत्त्वपूर्ण शिक्षा)

(स्त्रियोंके लिये कर्तव्य शिक्षा)

(परम साधन)

(मनुष्य-जीवनकी सफलता)

(परमशान्तिका मार्ग)

(मनुष्यका परम कर्तव्य)

(आत्मोद्धारके साधन)

(आत्मोद्धारके सरल उपाय)

भगवान्

॥ श्रीहरिः ॥

साधन-कल्पतरु

(महत्त्वपूर्ण शिक्षा)

हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप

हिंदू-संस्कृति और रामायण

हिंदू-संस्कृतिके स्वरूपको बतलानेके लिये रामायण एक महान् आदर्श ग्रन्थ है। उसमें हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप स्थल-स्थलपर भरा है। हिमालयका 'हि' और सिन्धु (समुद्र) का 'न्धु' लेकर 'हिन्धु' शब्द बना है। उसीका अपभ्रंश 'हिंदू' शब्द है। हिमालयसे समुद्रतकके स्थानका नाम है हिंदुस्थान और उसमें बसनेवाली जातिका नाम हिंदू है। हिंदूजातिका ही दूसरा नाम है—आर्यजाति, श्रेष्ठजाति। इस जातिका चाल-चलन, रहन-सहन, आहार-व्यवहार आदि जो स्वाभाविक कल्याणमय आचरण है, उसका नाम है 'हिंदू-संस्कृति'। आर्य पुरुषोंकी उक्त संस्कृतिको सदाचार कहा जाता है। उनका चाल-चलन, आहार-विहार, खान-पान आदि प्रत्येक आचरण श्रुति-स्मृति-विहित होनेसे आत्माका कल्याण करनेवाला है। इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला होनेके कारण इस सदाचारको ही 'हिंदू-धर्म'* कहते हैं। यह अनादि कालसे चला आ रहा है, इसलिये इसीको 'सनातन-धर्म' कहते हैं। मनुजीका वचन है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(२। १२)

'वेद, स्मृति, सत्पुरुषोंका आचरण तथा अपने आत्माका प्रिय (हित) करनेवाला कार्य—इस तरह चार प्रकारका यह धर्मका साक्षात् लक्षण कहा गया है।'

यह सनातनधर्म ईश्वरका कानून है और सदा ईश्वरमें निवास करता है। यह सृष्टिके आदिमें ईश्वरसे ही प्रकट होता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

(४। १)

'मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा।'

तथा यह प्रलयके समय ईश्वरमें ही समा जाता है। इसलिये ईश्वर ही इसकी प्रतिष्ठा हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(गीता १४। २७)

'क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ।'

अतः इस शाश्वत धर्मको ईश्वरका स्वरूप ही कहा जाता है। यह सदासे है और सदा रहेगा, इसलिये इसका नाम 'सनातन-धर्म' है।

यह कभी प्रकटरूपसे रहता है, कभी अप्रकटरूपसे; किंतु इसका कभी विनाश नहीं होता। ईश्वरके अवतारकी भाँति इसका केवल प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है।

वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायणके समस्त श्लोक तथा तुलसीकृत रामचरितमानसके सारे दोहे, चौपाई, छन्द आदि सभी इसी शाश्वत धर्मरूप हिंदू-संस्कृतिका दिग्दर्शन करा रहे हैं। उनमें भी श्रीराम और सीताके आदर्श चरित्र एवं सभी भाइयोंका परस्पर भ्रातृप्रेम हिंदू-संस्कृतिके प्रधान निदर्शक हैं।

रामायणमें श्रीरामका आदर्श चरित्र

श्रीरामचन्द्रजीकी सारी ही चेष्टाएँ धर्म, ज्ञान, नीति, शिक्षा, गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यसे भरी हुई हैं। उनका व्यवहार देवता, ऋषि, मुनि, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभीके साथ बहुत ही प्रशंसनीय, अलौकिक और अतुलनीय है। देवता, ऋषि, मुनि और मनुष्योंकी तो बात ही क्या—जाम्बवान्, सुग्रीव, हनुमान् आदि रीछ-वानर, जटायु आदि पक्षी तथा विभीषण आदि राक्षसोंके साथ भी उनका ऐसा दयापूर्ण, प्रेमयुक्त और त्यागमय व्यवहार हुआ है कि जिसे स्मरण करनेसे ही रोमाञ्च हो आता है। भगवान् श्रीरामकी कोई भी चेष्टा ऐसी नहीं, जो कल्याणकारिणी न हो।

* यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः । (वैशेषिकदर्शन १। २)

उन्होंने साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा होते हुए भी मित्रोंके साथ मित्रका-सा, माता-पिताके साथ पुत्रका-सा, स्त्रीके साथ पतिका-सा, भाइयोंके साथ भाईका-सा, सेवकोंके साथ स्वामीका-सा, मुनि और ब्राह्मणोंके साथ शिष्यका-सा—इसी प्रकार सबके साथ यथायोग्य त्यागयुक्त प्रेमपूर्ण व्यवहार किया है। अतः उनके प्रत्येक व्यवहारसे हमलोगोंको शिक्षा लेनी चाहिये।

श्रीरामचन्द्रजीके राज्यका तो कहना ही क्या है, उसकी तो संसारमें एक कहावत हो गयी है। जहाँ कहीं सबसे बढ़कर सुन्दर शासन होता है, वहाँ 'रामराज्य' की उपमा दी जाती है। श्रीरामके राज्यमें प्रायः सभी मनुष्य परस्पर प्रेम करनेवाले तथा नीति, धर्म, सदाचार और ईश्वरकी भक्तिमें तत्पर रहकर अपने-अपने धर्मका पालन करनेवाले थे। प्रायः सभी उदारचित्त और परोपकारी थे। वहाँके प्रायः सभी पुरुष एकनारीव्रती और अधिकांश स्त्रियाँ पतिव्रत-धर्मका पालन करनेवाली थीं। भगवान् श्रीरामका इतना प्रभाव था कि उनके राज्यमें मनुष्योंकी तो बात ही क्या, पशु-पक्षी भी प्रायः परस्पर वैर भुलाकर निर्भय विचरा करते थे। भगवान् श्रीरामके चरित्र बड़े ही प्रभावोत्पादक और अलौकिक थे। यह हमारे आर्य पुरुषोंका स्वाभाविक ही व्यवहार था। इसी आदर्शको हिंदू-संस्कृति कहते हैं। हमें उसी आदर्शको लक्ष्यमें रखकर उसका अनुकरण करना चाहिये।

रामायणमें सीताजीका अनुकरणीय चरित्र

हिंदू-संस्कृतिके अनुसार पतिके साथ पत्नीको कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसकी शिक्षा माताएँ श्रीसीताके चरित्रसे ले सकती हैं। जगज्जननी श्रीसीताका प्रायः सारा जीवन ही माता-बहिनोंके लिये आदर्श और शिक्षाप्रद है। सास-ससुर, माता-पिता, देवरों, सेवकों तथा अन्य सभी स्त्री-पुरुषोंके साथ—यहाँतक कि दुष्टोंके साथ भी कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसका सुन्दर उपदेश हमें श्रीसीताजीके जीवनसे विशेषरूपसे मिलता है। इसे किसी भी रामायणमें देख सकते हैं। श्रीसीताजीकी सभी क्रियाएँ कल्याणकारिणी हैं, अतः माता-बहिनोंको सीताजीके जीवनमें जो शिक्षाएँ भरी हुई हैं, उन्हें अपने जीवनमें उतारनेकी कोशिश करनी चाहिये।

रामायणमें भ्रातृ-प्रेम

हिंदू-संस्कृतिके अनुसार भाइयोंके साथ कैसा प्रेमपूर्ण व्यवहार होना चाहिये, इसकी शिक्षा हमें रामायणमें श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत एवं श्रीशत्रुघ्नके चरित्रोंसे स्थल-स्थलपर मिलती है। उनकी प्रत्येक क्रियामें स्वार्थत्याग और प्रेमका भाव झलक रहा है। श्रीराम और भरतके स्वार्थत्यागकी बात क्या कही जाय—श्रीरामचन्द्रजीका प्रत्येक संकेत, चेष्टा और प्रसन्नता भरतके राज्याभिषेकके लिये है और भरतकी श्रीरामके राज्याभिषेकके लिये। पाठकगण किसी भी रामायणके अयोध्याकाण्डमें इस विषयको विस्तारपूर्वक देख सकते हैं। इसी प्रकार द्वापरयुगमें युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंका परस्पर भ्रातृ-प्रेम आदर्श और अनुकरणीय है। यह है हिंदू-संस्कृति!

ईश्वरवाद

हिंदू-संस्कृतिमें ईश्वरवाद एक प्रधान स्थान रखता है। ईश्वरको केवल हिंदू ही नहीं, ईसाई और मुसलमान आदि सभी मानते हैं। जिसे हम हरि, ओम्, ईश्वर, परमात्मा, नारायण, राम, कृष्ण आदि अनेक नामोंसे कहते हैं, उसे ही ईसाई गॉड और मुसलमान अल्लाह, खुदा आदि नामोंसे पुकारते हैं। जैसे जल, पानी, नीर, अप्, वाटर आदि सभी जलके ही नाम हैं, उसीके पर्याय हैं—वस्तुतः सबका अर्थ एक जल है—उसी प्रकार ये सभी नाम वस्तुतः एक ही ईश्वरके हैं।

हमारे श्रुति[1], स्मृति[2], दर्शन[3], इतिहास[4], पुराण[5] आदि शास्त्रोंमें तो ईश्वरका अस्तित्व पद-पदपर अङ्कित

१-श्रुति कहती है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। (यजुर्वेद ४०। १)

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, वह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है।'

२-मनुजी कहते हैं—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात् तं पुरुषं परम्॥

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः। जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥ (मनु० १२। १२२, १२४)

'जो सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म और सबका भली प्रकार शासन करनेवाला है एवं स्वर्णके समान उज्ज्वल और निर्मल तथा स्वप्नकालमें भी बुद्धिद्वारा प्रत्यक्ष होनेवाला है, उस परम पुरुष परमेश्वरको जानना चाहिये। यही सम्पूर्ण प्राणियोंको पञ्चभूतरूपी पाँच मूर्तियोंके द्वारा व्याप्त किये हुए हैं तथा जन्म, वृद्धि और क्षयके द्वारा निरन्तर समस्त प्राणियोंको चक्रकी भाँति घुमा रहा है।'

३-महर्षि वेदव्यासजी कहते हैं—

जन्माद्यस्य यतः। (ब्रह्मसूत्र १। २)

है तथा गीता[६], भागवत[७], रामायणकी तो बात ही क्या है—ये तो ईश्वरवादके प्रधान आदर्श ग्रन्थ हैं ही।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥

'जिनकी मायाके वशीभूत सम्पूर्ण विश्व, ब्रह्मादि देवता और असुर हैं, जिनकी सत्तासे रस्सीमें सर्पके भ्रमकी भाँति यह सारा दृश्य जगत् सत्य ही प्रतीत होता है और जिनके श्रीचरण ही भवसागरसे तरनेकी इच्छावालोंके लिये एकमात्र नौका हैं, उन समस्त कारणोंसे परे (सब कारणोंके कारण और सबसे श्रेष्ठ) राम कहानेवाले भगवान् श्रीहरिकी मैं वन्दना करता हूँ।'

तथा अरण्यकाण्डमें श्रीलक्ष्मणजीके पूछनेपर भगवान् स्वयं कहते हैं—

'इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, संहार आदि जिससे होते हैं, वह ईश्वर है।' महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। (योग० १। २४)

'क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश), कर्म (पाप-पुण्य), कर्मोंके फल (जाति, आयु, भोग) तथा वासनाओंसे रहित जो पुरुषोंमें विशेष है, वह ईश्वर है।'

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (योग० १। २५)

'सर्वज्ञताका बीज (कारण) अर्थात् सम्यक् ज्ञान उस परमेश्वरमें सबसे बढ़कर है, उससे बढ़कर किसीमें नहीं है।'

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (योग० १। २६)

'वह ईश्वर ब्रह्मादिकोंको भी शिक्षा देनेवाला और सबसे बड़ा है; क्योंकि उसका कालके द्वारा अन्त नहीं होता।'

४-महाभारतमें आया है—

ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः। जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम् (अनुशासन १४९। १३८)

'समस्त ऋषिगण, पितृगण, देवगण और प्रकृतिके विकाररूप पाँच महाभूत आदि तथा मूल प्रकृति, बुद्धि, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ यह सम्पूर्ण जड़-चेतनात्मक जगत् नारायणसे ही उत्पन्न हुआ है।'

५-श्रीविष्णुपुराणमें आता है—

स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपो व्यक्तस्वरूपोऽप्रकटस्वरूपः। सर्वेश्वरः सर्वदृक् सर्वविच्च समस्तशक्तिः परमेश्वराख्यः (६।५।८६)

'वे ईश्वर ही समष्टि और व्यष्टिरूप हैं, वे ही व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप हैं, वे ही सबके स्वामी, सबके साक्षी और सब कुछ जाननेवाले हैं तथा उन्हीं सर्वशक्तिमान्को परमेश्वर कहते हैं।'

६-गीता कहती है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ (१५। १७)

'इन (क्षर-अक्षर) दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है।'

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ (१८। ६१)

'अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

७-श्रीभागवतकार कहते हैं—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट् तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥ (१। १। १)

'जिससे इस जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार होता है, जो अन्वय और व्यतिरेक—दोनों प्रकारसे सत्य है अर्थात् जिसकी सत्तासे ही जगत्की सत्ता है, परन्तु जगत्के न रहनेपर भी जिसका अस्तित्व अक्षुण्ण रहता है, जो जगत्के सम्पूर्ण पदार्थोंमें व्याप्त और सर्वज्ञ है तथा अखण्ड, अबाध, ज्ञानसम्पन्न होनेके कारण जो स्वयंप्रकाश है, सर्गके आदिमें जिसने अपने संकल्पसे ही ब्रह्माके हृदयमें उन वेदोंका ज्ञान प्रदान किया है, जिसके सम्बन्धमें बड़े-बड़े ऋषि-मुनि मोहित हो जाते हैं; जिसके सत्य-स्वरूपमें यह त्रिगुणमयी सृष्टि उसकी सत्तासे सत्य है, परन्तु भिन्न-भिन्न नामरूपोंकी दृष्टिसे असत्य भी है—जैसे तेजोमय सूर्यकी किरणोंसे काँच आदि मृत्तिकाके विकारोंमें जलकी और जलमें स्थलकी भ्रान्ति हो जाया करती है, जिसके अपने ज्ञानमय प्रकाशसे माया—छल-कपट आदि सदा ही निरस्त रहते हैं, उस परम सत्यस्वरूप परमेश्वरका हम ध्यान करते हैं।'

तथा—

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां संतत्य वक्त्रतः। तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः॥ (११। ९। २१)

'जिस प्रकार मकड़ी अपने पेटमेंसे मुखद्वारा तन्तुको निकालकर उसको फैलाती है और उसके साथ विहार करके उसे पुनः निगल जाती है, उसी प्रकार सर्वेश्वर परमात्मा भी (जगत्की रचना करके तथा उसमें विहार करके पुनः अपनेमें उसे लीन कर लेते हैं)।'

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ प्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥

'जो मायाको, ईश्वरको और अपने स्वरूपको नहीं जानता, वह जीव है और जो कर्मानुसार बन्धन और मोक्ष देनेवाला, सबसे परे, मायाका प्रेरक और कल्याणमय है, वह ईश्वर है।'

जो ईश्वरको नहीं माननेवाले नास्तिक हैं, उन्होंने अनेक प्रकारके झूठे तर्क-वितर्क करके बहुत-से अनजान लोगोंको मोहित कर दिया है, जिससे वे बेचारे भोले-भाले लोग भ्रममें पड़कर ईश्वरके सम्बन्धमें भी अनेक प्रकारके शङ्का-समाधान करने लगे। इससे हमारी हिंदू-संस्कृतिका ह्रास होने लगा, जो 'हिंदुस्तानके पतनमें बहुत बड़ा कारण सिद्ध हुआ। ईश्वरको माननेमें लाभ और न माननेमें अनेक हानियाँ प्रत्यक्ष ही हैं।

ईश्वरको माननेवाला मनुष्य ईश्वरके भयसे पाप नहीं करता और ईश्वरपर निर्भर हो जाता है, जिससे उसके हृदयमें निर्भयता, धीरता, वीरता, गम्भीरता आदि अनेक गुण आ जाते हैं। ईश्वरके चिन्तनसे अनायास ही सारे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश होकर उसमें पूर्णतया सद्गुण-सदाचार आ जाते हैं तथा परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति होकर मरनेपर उत्तम-से-उत्तम गति मिलती है।

ईश्वरको न माननेवाले नास्तिकके हृदयमें दुर्गुण-दुराचार घर कर लेते हैं। उसे ईश्वरका तो भय रहता नहीं, फिर वह क्यों पाप करनेसे रुकेगा? उसे पापोंके फलस्वरूप दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर चिन्ता, शोक, भय प्राप्त होते हैं और मरनेपर उसकी बड़ी दुर्गति होती है।

तर्कसे भी यह बात सिद्ध है। आप कहते हैं, 'ईश्वर नहीं है' और मैं कहता हूँ 'ईश्वर है'। थोड़ी देरके लिये मान लीजिये, आपकी बात ही सत्य हो, तो ऐसी परिस्थितिमें यदि ईश्वर नहीं है और मैंने भूलसे ईश्वरको मान लिया तो इससे मुझे क्या हानि होगी? आपकी मान्यताके अनुसार वास्तवमें ईश्वर है ही नहीं, तो चाहे जितना ही उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न किया जाय, न वह आपको मिलेगा न मुझे ही। यह तो हो ही नहीं सकता कि मुझे ईश्वर न मिले और आपको मिल जाय; जब ईश्वर है ही नहीं, तब मिलेगा क्या? हमने जो भूलसे ईश्वरको मान लिया, उसके फलस्वरूप हमें कोई दण्ड तो होना ही नहीं है। फलतः आप और हम दोनों समान कक्षामें ही रहेंगे। परन्तु थोड़ी देरके लिये मान लें यदि हमारी मान्यता सत्य हो गयी, ईश्वरका वास्तवमें होना प्रमाणित हो गया तो इसके फलस्वरूप यदि हमने शास्त्रानुसार साधन किया तो हमें तो ईश्वरकी प्राप्ति होकर परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जायगी और आप इन सबसे वञ्चित रहेंगे। इतना ही नहीं, इसके फलस्वरूप आपको घोर नरकोंकी प्राप्ति होगी और भारी दुःखोंका सामना करना पड़ेगा। इस तर्कके अनुसार भी ईश्वरको मानना ही सब प्रकारसे श्रेयस्कर है।

अन्य युक्तियोंसे भी ईश्वरका होना सिद्ध है। ईश्वरके बिना किसीका भी काम चलना सम्भव नहीं है। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे आदि सभी ईश्वरके अस्तित्वको प्रमाणित कर रहे हैं। ये सभी जिससे उत्पन्न हुए हैं और जिससे संचालित हो रहे हैं, वही ईश्वर है; क्योंकि बिना किसी कारणके कोई कार्य नहीं हो सकता। अतः इस जगत्‌का भी तो कोई कारण होना चाहिये। यह सारा जगत् जिससे उत्पन्न हुआ है, वही सबका अभिन्न निमित्तोपादान कारण* एकमात्र परमात्मा है। जो इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाला तथा पाप-पुण्यके अनुसार फलदाता और सबको नियममें रखकर यथायोग्य संचालन करनेवाला है, वही ईश्वर है। संसारमें बड़े-बड़े यन्त्र और कारखाने हैं; किंतु बिना किसी बुद्धिमान् चेतन संचालकके उनका चलना सम्भव नहीं, बल्कि बिना उसके वे नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।

आपकी दृष्टिमें जो कुछ देखने-सुननेमें आता है, वह सब जिससे संचालित है, वह ईश्वर है। वह है चेतन; क्योंकि जो जड प्रकृति (नेचर) है, उसमें ज्ञान न होनेके कारण वह न तो सबको यथायोग्य स्थानमें स्थापित ही कर सकती है और न उसका संचालन ही कर सकती है; किंतु इस संसारके पीछे जो शक्ति है, उसका कार्य देखनेसे मालूम होता है कि वह बहुत विलक्षण अतिशय ज्ञानमयी शक्ति है। जिससे समस्त संसारका संचालन नियमानुसार हो रहा है, उसकी इस विलक्षण कुशलताको तो देखिये। ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्राणी होते हैं, जो सूक्ष्मतासे देखनेसे कागजोंपर भी कभी-कभी

---

* जिस वस्तुसे जो चीज बनती है, वह उसका उपादानकारण है और बनानेवाला निमित्तकारण—जैसे घड़ेका उपादानकारण मिट्टी है और निमित्तकारण कुम्हार है। किंतु संसारके उपादान और निमित्तकारण परमात्मा ही हैं। जैसे मकड़ी जाला तानती है, तो उस जालेका उपादानकारण भी मकड़ी है और निमित्तकारण भी मकड़ी ही है, उसी प्रकार परमात्मा जगत्‌के उपादान और निमित्तकारण दोनों हैं और वे उससे अभिन्न हैं।

लक्ष्यमें आते हैं। वे सफेद, लाल आदि अनेक रंगोंके होते हैं और पोस्ताके दानेकी अपेक्षा भी सूक्ष्म होते हैं। उन्हें कोई 'पोस्तिया जानवर' भी कहते हैं। उनके इतने सूक्ष्म शरीरमें भी सब यन्त्र होते हैं। चलनेके लिये पैर और उड़नेके लिये पाँखें तो रहती ही हैं; मन, बुद्धि भी होती हैं। इनके अलावा शरीरके भीतरके बहुत-से यन्त्र भी उसी जन्तुके अंदर होते हैं। उनमें सूक्ष्म जीव होते हैं, जो देखनेमें भी नहीं आते। अब विचारिये, उसका निर्माता कितना बुद्धिकुशल होना चाहिये। यह काम जड प्रकृतिसे सम्भव नहीं।

मनुष्योंकी प्रकृति, बुद्धि, इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न होनेसे उनके आचरण भी भिन्न-भिन्न होते हैं। ऐसे उन विभिन्न मनुष्योंके पुण्य-पापरूप आचरणोंके अनुसार यथायोग्य सुख-दुःखादिका भुगताना भी जड प्रकृतिका काम नहीं हो सकता। अतः उसका फलदाता भी कोई बुद्धिका महान् सागर चेतन ही होना चाहिये और वह है एकमात्र परमात्मा।

देखिये, संसारमें ऐसा कोई भी यन्त्र देखनेमें नहीं आता जिसका काम बिना सँभालके चल सके। उदाहरणार्थ कपड़ेकी या गंजीकी कल है; यदि उसका संचालक कोई चेतन पुरुष नहीं होगा तो न कपड़ा ही तैयार होगा और न गंजी ही; क्योंकि तार टूटनेपर संचालकके बिना उसे कौन जोड़ेगा। बल्कि यन्त्र ही नष्ट हो जायगा। बड़े-से-बड़ा यन्त्र रेलगाड़ी है। उसके इंजन, पटरी आदिकी सार-सँभाल-मरम्मत आदि नहीं होगी तो उसका चलना सम्भव नहीं। किसी बुद्धिशाली चेतन संचालक, संयोजकके बिना एक दिन भी काम नहीं चलेगा और सब नष्ट-भ्रष्ट हो सकता है। इसी प्रकार यह सारा जगच्चक्र चल रहा है। यदि इसका निर्माता, संयोजक, संचालक तथा सँभाल-मरम्मत करनेवाला कोई बुद्धिशाली चेतन न हो तो इसकी भी वही दशा होगी।

हम, आप, कोई प्राणी अपनी सत्तामें संदेह नहीं करते। हम हैं, साथ ही हम चेतन हैं; किंतु ज्ञानके लिये इच्छुक भी हैं। हमको और अधिक ज्ञान मिले, इस प्रयत्नमें रहते हैं; सभी ज्ञानके साथ सुख चाहते हैं और किसी-न-किसीको अपनेसे अधिक सुखी मानते हैं। इस प्रकार सत्ता, ज्ञान और सुख—सत्, चित्, आनन्दको हम मानते तो हैं और यह भी देखते हैं कि जीवोंमें ज्ञान और आनन्द कहीं पूर्ण नहीं, सब उसको पानेके ही प्रयत्नमें हैं। जिसे सभी विद्वान् पाना चाहते हैं, वह नहीं है—ऐसा सम्भव नहीं। अतः जहाँ सत्ता, ज्ञान और आनन्द तीनों पूर्णरूपसे हैं, वही तो सच्चिदानन्द ईश्वर है। जडमें तो केवल सत्ता ही प्रत्यक्ष प्रतीत होती है, चेतनता और आनन्द नहीं और सबसे छोटे प्राणी जो दूरबीनसे भी कठिनतासे दीखते हैं, उनमें भी सत्ताके साथ ज्ञान रहता है। वे अपने आहारको पहचानते हैं, वे भी सुख चाहते हैं; क्योंकि शत्रुसे डरकर भागते उन्हें भी देखा गया है। यह चेतना, ज्ञान और सुखकी इच्छा जब जडमें नहीं है, तब कहीं माननी पड़ेगी। जहाँ वह है, वहीं परमात्मा है। वह चेतन ही इस जडका संचालक है। वही सर्वेश्वर है।

इससे यही निर्णय हुआ कि इसका उत्पादक, निर्माता, संचालक, संयोजक, रक्षक—जो कोई है, वही चेतन परमात्मा है। यह हिंदुओंकी अनुभवयुक्त मान्यता सदासे चली आ रही है—इसीको 'हिंदू-संस्कृति' कहते हैं।

अवतारवाद

भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं, यह विश्वास हिंदू-जातियोंमें प्रायः सदासे ही चला आ रहा है। यह युक्तियुक्त और उचित ही है। निर्गुण-निराकाररूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सगुण-साकाररूपमें प्रकट होते हैं, जैसे आकाशमें परमाणुरूपसे स्थित जल ही बादलके रूपमें आकर फिर जल और बर्फके रूपमें प्रकट होकर बरसने लगता है। सर्गके आदिमें सारे पदार्थ भी निराकारसे साकार बनते हैं—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।

(गीता ८। १८)

उस निराकाररूप ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे ही सारी स्थूल व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा स्वयं ही निराकार-रूपसे साकार-रूपको धारण करता है। इसीका नाम अवतार लेना है।

तुलसीकृत रामायणमें अवतारवाद स्थान-स्थानपर भरा हुआ है। यहाँ संक्षेपसे कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

बालकाण्डमें श्रीशिवजी पार्वतीसे कहते हैं—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥

वाल्मीकीय रामायणमें लिखा है कि जब देवता और ऋषियोंने रावणके उपद्रवोंसे दुःखित हो ब्रह्माजीसे प्रार्थना की, तब ब्रह्माजी उन्हें सान्त्वना देने लगे। उसी समय भगवान् श्रीविष्णुके प्रकट होनेका वर्णन इस प्रकार आया है—

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः।
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः॥
वैनतेयं समारुह्य भास्करस्तोयदं यथा।
तप्तहाटककेयूरो वन्द्यमानः सुरोत्तमैः॥

(वा० रा० बा० १५। १६-१७)

'उसी समय महान् तेजस्वी जगत्पति भगवान् विष्णु मेघपर आरूढ़ हुए-से सूर्यके समान गरुड़पर सवार हो वहाँ आ पहुँचे। उनके शरीरपर पीताम्बर, हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा आदि आयुध एवं भुजाओंमें चमकीले स्वर्णके बाजूबंद शोभा पा रहे थे। सभी श्रेष्ठ देवताओंने उनको प्रणाम किया।'

भगवान्ने देवताओंकी प्रार्थनापर दशरथजीके घरमें मनुष्य-रूपसे अवतार लेना स्वीकार कर लिया—

हत्वा क्रूरं दुराधर्षं देवर्षीणां भयावहम्।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च॥
वत्स्यामि मानुषे लोके पालयन् पृथिवीमिमाम्।

(वा० रा०, बाल० १५। २९-३०)

'देवता और ऋषियोंको भय देनेवाले उस क्रूर एवं दुर्धर्ष राक्षसका नाश करके मैं ग्यारह सहस्र वर्षोंतक इस पृथ्वीका पालन करता हुआ मनुष्यलोकमें निवास करूँगा।'

अध्यात्मरामायणमें कथा आती है—जब विश्वामित्रजी श्रीराम-लक्ष्मणको यज्ञरक्षार्थ ले जानेके लिये आये, उस समय दशरथजीके द्वारा सलाहके रूपमें पूछे जानेपर वसिष्ठजीने कहा—

शृणु राजन् देवगुह्यं गोपनीयं प्रयत्नतः।
रामो न मानुषो जातः परमात्मा सनातनः॥
भूमेर्भारावताराय ब्रह्मणा प्रार्थितः पुरा।
स एव जातो भवने कौसल्यायां तवानघ॥

(अध्यात्म०, बाल० ४। १२-१३)

'राजन्! यह देवताओंकी गुह्य लीला सुनो, इसे किसी प्रकार प्रकट न होने देना चाहिये। ये राम मनुष्य नहीं हैं, साक्षात् सनातन परमात्मा ही (अपनी मायासे) इस रूपमें प्रकट हुए हैं। अनघ! पूर्वकालमें पृथ्वीका भार उतारनेके लिये ब्रह्माजीके प्रार्थना करनेपर उसे पूर्ण करनेके लिये उन परमेश्वरने ही तुम्हारे यहाँ कौसल्याके गर्भसे जन्म लिया है।'

चित्रकूटमें माता कैकेयीने श्रीरामसे क्षमा-प्रार्थना करते हुए कहा है—

त्वं साक्षाद् विष्णुरव्यक्तः परमात्मा सनातनः।
मायामानुषरूपेण मोहयस्यखिलं जगत्॥

(अध्यात्म० अयोध्या० ९। ५७)

'आप साक्षात् विष्णु भगवान्, अव्यक्त परमात्मा और सनातन पुरुष हैं। अपने लीलामय मनुष्यरूपसे आप समस्त संसारको मोहित कर रहे हैं।'

रावणवधके अनन्तर ब्रह्मादि देवताओंसे बातचीत करते हुए श्रीरामने कहा कि 'मैं तो अपनेको दशरथपुत्र राम ही समझता हूँ। वास्तवमें मैं जो हूँ, जैसा हूँ आप ही बतलाइये।' इसपर ब्रह्माजी श्रीरामका महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं—

भवान् नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।
....
सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः॥
....
वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम्॥

(वा० रा०, युद्ध० ११७। १३, २७, २८)

'आप साक्षात् चक्रपाणि लक्ष्मीपति प्रभु श्रीनारायणदेव हैं। सीता साक्षात् लक्ष्मी हैं और आप भगवान् विष्णु, कृष्ण[१] एवं प्रजापति हैं। आपने रावणवधके लिये ही इस मनुष्य-लोकमें मानवशरीर धारण किया है।'

भगवान्के परमधाम पधारनेके प्रकरणसे यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि श्रीराम साक्षात् पूर्णब्रह्म परमेश्वर थे। उस समय ब्रह्माजीके कथनानुसार भगवान्ने अपने भाइयोंके साथ इस मानवविग्रहसे ही उस वैष्णवतेजमें प्रवेश किया—

विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः।

(वा० रा०, उत्तर० ११०। १२)

इसी प्रकार गीता[२], भागवत[३] आदि ग्रन्थोंमें भी अवतारवादका उल्लेख स्थान-स्थानपर मिलता है। इसके

---

१. यहाँ 'कृष्ण' नाम आया है, इससे सिद्ध होता है कि परमात्माका यह नाम अनादिकालसे प्रसिद्ध है; कृष्ण-अवतार लेनेके कारणसे नहीं।

२-गीतामें कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ (४। ६—८)

संस्कार प्रायः हिंदुओंके हृदयमें स्वाभाविक ही अङ्कित हैं। यह है हिंदू-संस्कृति !

परलोकवाद

बहुत-से आदमी यह शङ्का करते हैं कि 'मरनेके बाद आत्मा रहता है या नहीं, किये हुए कर्मोंका फल कर्ताको परलोकमें मिलता है या नहीं, मृत व्यक्तिके लिये दिया हुआ पदार्थ उसे मिलता है या नहीं और जो मृत व्यक्ति मुक्त हो गया है, उसके प्रति दिया हुआ पदार्थ किसको मिलता है?' इन प्रश्नोंका समाधान यह है कि मरनेपर आत्मा अवश्य रहता है तथा किये हुए कर्मोंका फल कर्ताको अवश्यमेव मिलता है। वह इस लोकमें भी मिल जाता है और शेष बचा हुआ परलोकमें मिलता है। मृत व्यक्तिके लिये जो कुछ दिया जाता है, वह सब उसे प्राप्त होता है; किंतु जो मृत व्यक्ति मुक्त हो गया है, उसके प्रति दिया हुआ कर्ताके संचित कर्मरूप कोषमें जमा होता है।

(क) कठोपनिषद्में यमराजके प्रति नचिकेताने भी यही प्रश्न किया था कि मरनेपर आत्मा रहता है या नहीं? यमराजने यही उत्तर दिया कि अवश्य रहता है। यमराज कहते हैं—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

(कठ० १।२।६)

'जो धनके मोहसे मोहित हो रहा है ऐसे प्रमादी मूढ़, अविवेकी पुरुषको परलोकमें श्रद्धा नहीं होती। यह लोक ही है, परलोक नहीं है—इस प्रकार माननेवाला वह मूढ़ मुझ मृत्युके वशमें बार-बार पड़ता है अर्थात् पुनः-पुनः जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है।'

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(कठ० १।२।१८)

'नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा न तो जन्मता है और न मरता ही है। यह न तो स्वयं किसीसे हुआ है, न इससे कोई भी हुआ है। अर्थात् यह न तो किसीका कार्य है और न कारण ही है। यह अजन्मा, नित्य, सदा एकरस रहनेवाला और पुरातन है अर्थात् क्षय और वृद्धिसे रहित है। शरीरके नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता।'

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

(२।१२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

वाल्मीकीय रामायणमें युद्धके बाद दशरथजीका आना तथा श्रीराम और लक्ष्मण आदिसे वार्तालाप करना परलोकका जीता-जागता प्रमाण है। इसके लिये वाल्मीकीय रामायण युद्धकाण्ड, १२१वाँ सर्ग देखिये।

अन्यान्य शास्त्रोंमें भी जगह-जगह इसके अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। हिंदू-जातिके हृदयमें यह संस्कार स्वाभाविक ही अङ्कित है। यह युक्तिसंगत भी है। जब मनुष्य जन्मता है, तब उसके जाति, आयु, भोग और स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं तथा मनुष्यका जन्मते ही रोना, हँसना, कम्पित होना, सोना, माताके स्तनोंसे स्वयं ही दूधको आकर्षित करना आदि उसके पूर्वजन्मके अभ्यासके द्योतक होनेसे पूर्वजन्मको सिद्ध करते हैं।

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ। हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ। श्रेष्ठ पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पापकर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

३-भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण माता देवकीसे कहते हैं—

अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम्। अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः॥
तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात्। उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः॥
तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषाथ वाम्। जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति॥

(१०।३।४१-४३)

'संसारमें शील, उदारता आदि सद्गुणोंमें अपने सदृश दूसरेको न देखकर मैं स्वयं ही आप दोनोंका पुत्र होकर पहले 'पृश्निगर्भ' के नामसे विख्यात हुआ था। उसके बाद जब आप दोनों कश्यप और अदितिके रूपमें प्रकट हुए, तब मैं उत्पन्न होकर 'उपेन्द्र' के नामसे विख्यात हुआ; उस समय मेरा शरीर छोटा होनेके कारण मेरा दूसरा नाम 'वामन' हुआ था। इस तीसरे अवतारमें अब मैं ही उसी शरीरसे आप दोनोंके यहाँ पुनः उत्पन्न हुआ हूँ। हे सती! मैंने यह आपसे सत्य कहा है।'

इसलिये आत्मा नित्य है। शरीरके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता।

गीतामें भी कहा है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(२। २०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

(ख) श्रीरामचरितमानसमें दशरथजीने कहा है—

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फलु हृदयँ बिचारी॥
करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सबु कोई॥

वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः।
भर्तः पर्यागते काले कर्ता नास्त्यत्र संशयः॥
शुभकृच्छुभमाप्नोति पापकृत् पापमश्नुते।
(युद्ध०। १११। २५-२६)

'स्वामिन्! इसमें संदेह नहीं कि समय आनेपर कर्ताको उसके पाप-कर्मका फल अवश्य ही मिलता है। शुभ कर्म करनेवालेको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है और पापीको पापका फल दुःख भोगना पड़ता है।'

मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसे उसका वैसा ही फल प्राप्त होता है—यह बात गीता आदि शास्त्रोंमें भलीभाँति बतलायी गयी है।* यह युक्तियुक्त भी है। मनुष्य जैसे कर्म करता है, उसके अनुसार ही उसके हृदयमें संस्कार जमते हैं। फिर उनके अनुसार ही उसके अन्तःकरणकी वृत्ति बनती है। वृत्तिके अनुसार ही अन्तकालमें स्मृति होती है और स्मृतिके अनुसार ही भावी जन्म होता है। इन कर्मोंके भेदके कारण ही मनुष्यके जाति, आयु, भोग और स्वभावकी भिन्नता होती है। अर्थात् सब प्राणियोंमें जो बुद्धि, स्वभाव और भोगकी भिन्नता देखी जाती है, इसका मूल कारण कर्म ही है। अतः कर्मफल प्राप्त होनेकी बात बिलकुल युक्तिसंगत है और प्रत्यक्ष देखनेमें भी आती है।

(ग) श्राद्ध-तर्पणका उल्लेख रामायणमें स्थान-स्थानपर आया है। श्रीरामचरितमानसमें महाराज दशरथकी मृत्यु होनेपर भरतके द्वारा उनकी यथोचित ऊर्ध्वक्रिया करनेका उल्लेख मिलता है। यथा—

नृप तनु बेद बिदित अन्हवावा। परम बिचित्र बिमानु बनावा॥
चंदन अगर भार बहु आए। अमित अनेक सुगंध सुहाए॥
सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई॥
एहि बिधि दाह क्रिया सब कीन्ही। बिधिवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही॥
सोधि सुमृति सब बेद पुराना। कीन्ह भरत दसगात बिधाना॥
जहँ जस मुनिबर आयसु दीन्हा। तहँ तस सहस भाँति सबु कीन्हा॥
भए बिसुद्ध दिए सब दाना। धेनु बाजि गज बाहन नाना॥

श्रीरामचन्द्रजी महाराजने भी पिताकी मृत्युका संवाद सुनते ही मन्दाकिनी-तीरपर जाकर तर्पण किया एवं स्वयं जैसा भोजन किया करते थे, उसीके पिण्ड बनाकर दशरथजीके निमित्त दिये—

ततो मन्दाकिनीं गत्वा स्नात्वा ते वीतकल्मषाः॥
राज्ञे ददुर्जलं तत्र सर्वे ते जलकांक्षिणे।
पिण्डान् निर्वापयामास रामो लक्ष्मणसंयुतः।
इङ्गुदीफलपिण्याकरचितान् मधुसम्प्लुतान्॥
वयं यदन्नाः पितरस्तदन्नाः स्मृतिनोदिताः।
(अध्यात्म० अयोध्या० ९। १७—१९)

'फिर सब लोग मन्दाकिनीपर जाकर स्नान करके पवित्र हुए। वहाँ उन सबने जलाकांक्षी महाराज दशरथको जलाञ्जलि दी तथा लक्ष्मणजीके सहित श्रीरामचन्द्रजीने पिण्ड दिये। जो हमारा अन्न है, वही हमारे पितरोंको प्रिय होगा—यही स्मृतिकी आज्ञा है, यों कह उन्होंने इंगुदी-फलकी पीठीके पिण्ड बना उनपर मधु डालकर उन्हें प्रदान किया।'

वाल्मीकीय रामायणमें भी इसी भावके द्योतक श्लोक मिलते हैं।

---

* गीता कहती है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्। कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ (१३। २१)

'प्रकृतिमें स्थित ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्। रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ (१४। १६)

'श्रेष्ठ कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है। राजस कर्मका फल दुःख एवं तामस कर्मका फल अज्ञान कहा है।'

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ (१८। १२)

'कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है, किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता।'

भगवान् श्रीराम—बालरूपमें

लड्डू गोपाल

भगवान् श्रीविष्णु

भगवान् शिव

रामायणके सिवा श्राद्धका प्रकरण गीता[१], मनुस्मृति[२], आदि सभी शास्त्रोंमें पाया जाता है।

यह बात युक्तिसंगत भी है। जो आदमी जिस व्यक्तिके नामसे बैंकमें रुपये जमा करता है, उसी व्यक्तिके नाम रुपये जमा हो जाते हैं और जिसके नामसे जमा होते हैं, उसीको मिलते हैं, दूसरेको नहीं। उन रुपयोंके बदलेमें उसे जो आवश्यकता होती है, वही चीज उतनी कीमतकी मिल जाती है। इसी प्रकार पितरोंके नामसे किया हुआ पिण्ड, तर्पण, ब्राह्मणभोजन आदि कर्मका जितना मूल्य आँका जाता है, उतना ही फल उस प्राणीको वह जिस योनिमें होता है वहीं आवश्यकतानुसार प्राप्त हो जाता है अर्थात् यदि वह प्राणी गाय है तो उसे चारेके रूपमें, देवता है तो अमृतके रूपमें, मनुष्य है तो अन्नके रूपमें और बंदर आदि है तो फल आदिके रूपमें उतने ही मूल्यकी वस्तु मिल जाती है।

यदि कहें कि जीवित व्यक्तिके लिये भी यदि कोई यज्ञ, दान, अनुष्ठान, व्रत, उपवास आदि कर्म करता है तो क्या वह उसे भी मिलता है, तो इसका उत्तर यह है कि अवश्य उसे मिलता है। नहीं तो, फिर यजमानके लिये जो ब्राह्मण यज्ञ, तप, अनुष्ठान, पूजा, पाठ आदि करता है, वह किसको मिलेगा? न्यायत: वह यजमानको ही मिलेगा, कर्म करनेवाले ब्राह्मणको नहीं।

यदि कोई प्राणी मुक्त हो गया है तो उसके निमित्त किया हुआ कर्म कर्ताको ही मिलता है। जैसे किसी आदमीको रजिस्ट्री चिट्ठी या बीमा भेजी जाती है और जिसको भेजी जाय, वह आदमी मर गया हो तो फिर वह लौटकर भेजनेवालेको ही वापस मिल जाती है, उसी प्रकार इस विषयमें भी समझना चाहिये।

ये सब संस्कार हिंदुओंके रग-रगमें भरे हुए हैं। इन्हींको लेकर प्राय: सभी हिंदू सदासे श्राद्ध-तर्पण आदि करते आ रहे हैं। यह है हिंदू-संस्कृति !

ईश्वरोपासना

हिंदू-संस्कृतिमें ईश्वरोपासना सदासे ही प्रधानरूपसे चली आ रही है। यों ईश्वरको तो अपने-अपने दृष्टिकोणके अनुसार ईसाई और मुसलमान आदि सभी मानते हैं। कोई ईश्वरके साकार रूपकी, कोई निराकारकी और कोई दोनोंकी उपासना करते हैं। यह भेद उचित ही है। हिंदुओंके हृदयमें तो ईश्वरोपासनाके भाव सदासे ही अङ्कित हैं। थोड़ी-सी विपत्ति पड़नेपर भी वे संकट-निवारणार्थ ईश्वरको ही पुकारते हैं और उन्हींका आश्रय ग्रहण करते हैं।

ईश्वरकी उपासनाका विषय श्रुति[३]-स्मृतियोंमें तो आया ही है, और भी सभी शास्त्रोंमें[४] इसका उल्लेख अनेक जगह मिलता है। पूर्वकालमें जितने ऋषि, मुनि,

---

१-गीतामें कहा है—

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च। पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रिया:॥ (१। ४२)

'वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है। लुप्त हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पणसे वञ्चित इनके पितरलोग भी अधोगतिको प्राप्त होते हैं।'

२-मनुजी कहते हैं—

यद्यद् ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वित:। तत्तत् पितृणां भवति परत्रानन्तमक्षयम्॥ (मनु० ३। २७५)

'मनुष्य श्रद्धावान् होकर जो-जो पदार्थ अच्छी तरह विधिपूर्वक पितरोंको देता है, वह-वह परलोकमें पितरोंको अनन्त और अक्षयरूपमें प्राप्त होता है।'

३-श्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
(कठ० १। २। १६-१७)

'यह अक्षर (ओंकार) ही तो ब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म है। इसी अक्षरको जानकर मनुष्य जो कुछ चाहता है, उसको वही मिल जाता है। यही अत्युत्तम आलम्बन है, यही सबका अन्तिम आश्रय है, इस आलम्बनको भली-भाँति जानकर साधक ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है।

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हर: क्षरात्मानावीशत देव एक:। तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति:॥
ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानि: क्षीणै: क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणि:। तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकाम:॥
(श्वेताश्वतर० १। १०-११)

प्रकृति तो विनाशशील है, उसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है, इन विनाशशील जड तत्त्व और अविनाशी चेतन आत्मा-दोनोंको एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है। इस प्रकार जानकर उस परमेश्वरका निरन्तर ध्यान करनेसे, मनको उसमें लगाये रहनेसे तथा तन्मय हो जानेसे अन्तमें साधक उसीको प्राप्त हो जाता है; फिर समस्त मायाकी निवृत्ति हो जाती है। तथा उस

साधु, महात्मा और उच्चकोटिके पुरुष हुए हैं, उन्होंने हमारे सामने ईश्वरभक्तिका अत्युत्तम उदाहरण और आदर्श रखा है, जो कि हमारे लिये अनुकरणीय है।

इतिहास—पुराणोंमें[१] तो यह विषय कूट-कूटकर भरा है। महर्षि वेदव्यासजीने स्त्री और शूद्रोंका वेदोंमें अधिकार न होनेके कारण उनके लिये ही इतिहास-पुराणोंकी रचना की। अतः पुराणोंमें ऐसा कोई भी पुराण नहीं, जिसमें ईश्वरोपासनाका विषय न हो।

परमदेव परमेश्वरका निरन्तर ध्यान करनेसे उस प्रकाशमय परमात्माको जान लेनेपर समस्त बन्धनोंका नाश हो जाता है; क्योंकि क्लेशोंका नाश हो जानेके कारण जन्म-मृत्युका सर्वथा अभाव हो जाता है। अतः वह शरीरका नाश होनेपर तीसरे लोक (स्वर्ग) तकके समस्त ऐश्वर्यका त्याग करके सर्वथा विशुद्ध एवं पूर्णकाम हो जाता है।

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्। उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥

(मुण्डक० ३।२।१)

'वह निष्कामभाववाला पुरुष इस परम विशुद्ध प्रकाशमान ब्रह्मधामरूप परमेश्वरको जान लेता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित हुआ प्रतीत है, जो भी कोई निष्काम साधक परमपुरुष परमेश्वरकी उपासना करते हैं, वे बुद्धिमान् रजोवीर्यमय इस जगत्को अतिक्रमण कर जाते हैं।'

मनुजी कहते हैं—

अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः। विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः॥
उपांशु स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः।
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः। सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

(मनु० २।८४—८६)

'अविनाशी तो उस अक्षर-ओंकारको जानना चाहिये, जो परब्रह्म तथा प्रजापतिका स्वरूप है। तथा (दर्शपौर्णमासादि) विधियज्ञसे जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशु जप (जिसे दूसरे न सुन सकें, ऐसा होठोंसे किया जानेवाला जप) सौगुना श्रेष्ठ और मानसिक जप तो हजारगुना श्रेष्ठ है। कर्मयज्ञ (दर्शपौर्णमास) सहित जो चार पाकयज्ञ (बलिवैश्वदेव, अग्निहोत्र, नित्यश्राद्ध और अतिथिपूजन) हैं, वे सब जपयज्ञकी सोलहवीं कलाके भी समान नहीं है।'

४-महर्षि पतञ्जलिजीने बतलाया है—

ईश्वरप्रणिधानाद् वा। (योग० १।२३)

'ईश्वरकी भक्तिसे भी मन समाधिस्थ हो जाता है।'

तस्य वाचकः प्रणवः। (योग० १।२७)

'उस परमात्माका वाचक अर्थात् नाम ओंकार है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योग० १।२८)

'उस परमात्माके नामका जप और उसके अर्थकी भावना अर्थात् स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। (योग० १।२९)

'उपर्युक्त साधनासे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है।'

५-महाभारतमें बतलाया है—

तमेव चार्चयन् नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम्। ध्यायन् स्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च॥
अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम्। लोकाध्यक्षं स्तुवन् नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत्॥ (अनुशासन० १४९।५-६)

'जो मनुष्य उस अविनाशी परम पुरुषका सदा भक्तिपूर्वक पूजन और ध्यान करता है तथा उसीका स्तवन और नमस्कारपूर्वक उसीकी उपासना करता है, वह साधक उस अनादि, अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वलोक-महेश्वर, अखिलाधिपति परमात्माकी नित्य स्तुति करता हुआ सम्पूर्ण दुःखोंसे पार हो जाता है।' एवं—

विश्वेश्वरमजं देवं जगतः प्रभवाप्ययम्। भजन्ति ये पुष्कराक्षं न ते यान्ति पराभवम्॥ (अनुशासन० १४९।१४२)

'जो जगत्की उत्पत्ति और विनाश करनेवाले तथा समस्त संसारके एकमात्र अधीश्वर उस अजन्मा कमललोचन परमदेवका निरन्तर भजन करते हैं, वे पराभवको नहीं प्राप्त होते।'

विष्णुपुराणमें ऋषि पुलस्त्यने कहा है—

परं ब्रह्म परं धाम योऽसौ ब्रह्म तथापरम्। तमाराध्य हरिं याति मुक्तिमप्यतिदुर्लभाम्॥ (१।११।४६)

'जो पर—निर्गुण ब्रह्म और अपर—सगुण ब्रह्म है, वही परमधाम है; ऐसे उस हरिकी आराधना करके मनुष्य अति दुर्लभ मोक्षपदको भी प्राप्त कर लेता है।'

तथा महात्मा और्वने भी बतलाया है—

भौमं मनोरथं स्वर्गं स्वर्गि रम्यं च यत् पदम्। प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ निर्वाणमपि चोत्तमम्॥ (३।८।६)

पुराणोंमें श्रीमद्भागवत[१] तो भक्तिप्रधान ग्रन्थ है ही, किंतु गीतामें[२] भी उपासनाका विषय विशदरूपसे कहा गया है, यहाँतक कि प्रायः सभी अध्यायोंमें इसका उल्लेख मिलता है।[३] एवं रामायणोंमें अध्यात्मरामायण और तुलसीकृत रामचरितमानस तो उपासना-प्रधान ग्रन्थ हैं ही; वाल्मीकीय रामायणमें भी उपासनाका अनेक स्थलोंपर वर्णन है। श्रीतुलसीदासजीने तो भक्तिका ऐसा प्रवाह बहा दिया कि उसे पढ़नेपर मनुष्यका हृदय भक्ति-भावोंसे सराबोर हो जाता है।

नाम-वन्दना करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं—

नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरिनाम प्रभाऊ॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥

भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्व भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

तथा और भी अनेक स्थलोंपर उपासनाका महत्त्व और प्रभाव वर्णित है। यथा—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥
विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥[४]

अध्यात्मरामायणमें सुतीक्ष्ण ऋषिसे भगवान् कहते हैं—

मन्मन्त्रोपासका लोके मामेव शरणं गताः।
निरपेक्षा नान्यगतास्तेषां दृश्योऽहमन्वहम्॥
(अरण्य० २। ३६-३७)

'इस लोकमें जो मेरे मन्त्रके उपासक हैं, जो मेरे ही शरणागत हैं, जो किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखते और जिन्हें मेरे सिवा कोई अन्य गति नहीं,

---

'भगवान् विष्णुकी आराधना करनेपर मनुष्य भूमण्डलसम्बन्धी समस्त मनोरथ, स्वर्ग, स्वर्गसे भी श्रेष्ठ ब्रह्मपद और परम निर्वाणपद भी प्राप्त कर लेता है।'

१-भागवतकार कहते हैं—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥ (२। ३। १०)

'किसी भी उदारबुद्धिवाले मनुष्यको—चाहे वह किसी भी प्रकारकी कामनावाला हो, चाहे निष्काम हो और चाहे मोक्षकी कामनावाला हो—तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष परमेश्वरका आदरपूर्वक भजन-स्मरण करना चाहिये।' तथा—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः। जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम्॥ (३। ३२। २३)

'भगवान् वासुदेवमें भक्ति करके किया हुआ साधन शीघ्र ही वैराग्यको और उस ज्ञानको उत्पन्न कर देता है, जो परब्रह्मका साक्षात्कार करानेवाला है।' एवं—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्। संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥ (६। २। १८)

'उत्तम कीर्तिवाले भगवान् वासुदेवके नामका कीर्तन—चाहे वह ज्ञानपूर्वक किया गया हो और चाहे अनजानमें किया गया हो—मनुष्यके पापोंको उसी प्रकार नष्ट कर देता है जैसे कि अग्नि ईंधनको।'

२-गीता कहती है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया। यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ (८। २२)

'हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है।'

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते। सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ (१२। ३-४)

'तथा जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहनेवाला, नित्य अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको प्राप्त होते हैं।'

३. देखिये गीता अ० २। ६१; ३। ३०; ४। ११; ५। २९; ६। ४७; ७। १४; ८। ८; ९। ३४; १०। १०; ११। ५४; १२। ८; १३। १०; १४। २६; १५। १९; १६। १; १७। २३; १८। ६६ इत्यादि।

४. काकभुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं—'मैं आपसे भलीभाँति निश्चित किया हुआ सिद्धान्त कहता हूँ—मेरे वचन अन्यथा (मिथ्या) नहीं हैं—कि जो मनुष्य श्रीहरिका भजन करते हैं, वे अत्यन्त दुस्तर संसार-सागरको सहज ही पार कर जाते हैं।'

ऐसे भक्तोंको मैं नित्य दर्शन देता हूँ।'

पञ्चवटीमें लक्ष्मणके पूछनेपर भगवान्ने अति गोपनीय ज्ञान-विज्ञानका वर्णन करते हुए अन्तमें कहा है—

अतो मद्भक्तियुक्तस्य ज्ञानं विज्ञानमेव च।
वैराग्यं च भवेच्छीघ्रं ततो मुक्तिमवाप्नुयात्॥

(अरण्य० ४।५१)

'इसलिये मेरी भक्तिसे युक्त पुरुषको शीघ्र ही ज्ञान और विज्ञान तथा वैराग्य भी प्राप्त हो जाता है, जिससे वह मुक्तिको पा लेता है।'

भगवान्ने शबरीके प्रति कहा है—

भक्तौ संजातमात्रायां मत्तत्त्वानुभवस्तदा।
ममानुभवसिद्धस्य मुक्तिस्तत्रैव जन्मनि॥

(अरण्य० १०।२९)

'भक्तिके उत्पन्न होनेमात्रसे ही तत्काल मेरे स्वरूपका अनुभव हो जाता है और जिसे मेरा अनुभव हो जाता है, उसकी उसी जन्ममें निःसंदेह मुक्ति हो जाती है।'

श्रीहनुमान्जीने रावणके प्रति कहा है—

विष्णोर्हि भक्तिः सुविशोधनं धिय-
स्ततो भवेज्ज्ञानमतीव निर्मलम्।
विशुद्धतत्त्वानुभवो भवेत् ततः
सम्यग्विदित्वा परमं पदं व्रजेत्॥
अतो भजस्वाद्य हरिं रमापतिं
रामं पुराणं प्रकृतेः परं विभुम्।
विसृज्य मौर्ख्यं हृदि शत्रुभावनां
भजस्व रामं शरणागतप्रियम्॥

(अध्यात्म० सुन्दर० ४।२२-२३)

'भगवान् विष्णुकी भक्ति बुद्धिको अत्यन्त शुद्ध करनेवाली है, उसीसे अत्यन्त निर्मल आत्मज्ञान होता है। आत्मज्ञानसे विशुद्ध आत्मतत्त्वका अनुभव होता है और इस प्रकार सम्यक् ज्ञान हो जानेसे मनुष्य परमपद प्राप्त करता है। इसलिये तुम प्रकृतिसे परे, पुराणपुरुष, सर्वव्यापक आदि-नारायण, लक्ष्मीपति श्रीरामका भजन करो। अपने हृदयमें स्थित शत्रुभावरूप मूर्खताको छोड़ दो और शरणागतवत्सल श्रीरामका भजन करो।

वाल्मीकीय रामायणमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने विभीषणके अपनी शरणमें आनेपर जो वचन कहे हैं, वे सदा ध्यानमें रखने योग्य हैं। वे कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा०, युद्ध० १८।३३)

'मेरा यह व्रत है कि जो एक बार भी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' यों कहकर मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ।'

तथा रावण-वधके अनन्तर ब्रह्माजीने भगवान्की स्तुति करते हुए कहा—

ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम्।
प्राप्नुवन्ति तथा कामानिह लोके परत्र च॥

(वा० रा०, युद्ध० ११७।३१)

'जो सदा प्रकाशमान पुराणपुरुषोत्तमस्वरूप आपकी भक्ति करनेवाले हैं, वे इस लोक और परलोकमें अपने सभी मनोरथ प्राप्त कर लेते हैं तथा आपको भी पा जाते हैं।'

श्रीरामचन्द्रजी तथा श्रीभरतजीका चरित्र तो कहींसे भी देखा जाय, उसमें भक्तिरस टपकने लगता है। उनके यावन्मात्र चरित्र श्रद्धा-भक्तिसे ओत-प्रोत हैं। उनकी तो बात ही क्या, उनके भाई श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्न तथा परम भक्त सुतीक्ष्ण और हनुमान् आदिके चरित्र भी श्रद्धा-भक्तिसे भरे हुए हैं। उन चरित्रोंको पढ़कर किसका हृदय द्रवीभूत नहीं होगा? भक्त निषादराज गुह, केवट, शबरी, भीलनी आदि भी ईश्वरकी भक्तिके प्रभावसे परमपदको प्राप्त हो गये। इसलिये तन-मनसे तत्पर होकर भगवान्की भक्ति करनी चाहिये।

पूर्वकालमें ऋषिलोग संध्या-गायत्री, अग्निहोत्र, वेदाध्ययन, पूजापाठ आदि ईश्वरोपासनाके आह्निक कृत्य करके ही दूसरे काममें प्रवृत्त होते थे। त्रेतायुगमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने भी स्वयं संध्योपासनादि नित्यकर्म करके इसका आदर्श उपस्थित किया। द्वापरयुगमें तो महाभारत-युद्धके समय भी लोग युद्ध छोड़कर संध्योपासन आदि किया करते थे, ऐसा उल्लेख मिलता है।* किंतु दुःखकी बात है कि इस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंमें नित्य

* महाभारतमें आया है—

ततो रथाश्वांश्च मनुष्ययानान्युत्सृज्य सर्वे कुरुपाण्डुयोधाः। दिवाकरस्याभिमुखं जपन्तः संध्यागताः प्राञ्जलयो बभूवुः॥

(द्रोण० १८६।४)

(चौदहवें दिनके पश्चात् रात्रियुद्ध करते हुए जब अरुणोदय हुआ तो) उस समय कौरव और पाण्डव—दोनों सेनाओंके सभी योद्धा अपनी-अपनी सवारियों—रथ, घोड़े और पालकियोंको छोड़कर संध्या-वन्दनके लिये उतर पड़े और सूर्यके सम्मुख जप करते हुए हाथ जोड़े खड़े हो गये।

अग्निहोत्रका तो किसी-किसी जगह ही दर्शन होता है। संध्या-गायत्री, वेदाध्ययन भी ब्राह्मणजातिमें तो कुछ देखनेमें आता है; परन्तु प्राचीन कालमें तो संध्योपासनरहित ब्राह्मण जातिबहिष्कृत कर दिया जाता था। यह थी हिंदू-संस्कृति! आज वे भाव लुप्तप्राय हो गये। अतएव हमें यथाधिकार नित्य संध्या, गायत्री, अग्निहोत्र, स्वाध्याय, पूजापाठ, भजन-ध्यान आदि ईश्वरोपासना करनेमें मनको लगानेका प्रयत्न करना चाहिये। उपासनाके लिये प्रातःकाल और सायंकाल बहुत ही उत्तम और विशेष उपयोगी हैं। ये समय स्वाभाविक ही सूर्य तापसे रहित होनेके कारण मनके लिये रमणीय और शान्तिमय होते हैं। शयन और स्नानके अनन्तर तथा भोजनसे पूर्व वृत्तियाँ शान्त रहती हैं, विक्षेप और आलस्य भी नहीं आते; अतः उस समय चित्त अनायास ही परमात्मामें लग सकता है। फिर श्रद्धा-भक्ति और विवेक-वैराग्यपूर्वक कोशिश करनेपर परमेश्वरकी उपासनामें चित्त स्थिर हो जाय, इसमें तो आश्चर्य ही क्या है!

अर्वाचीन कालमें श्रीतुलसीदासजी, कबीरदासजी, सूरदासजी, श्रीगौराङ्गमहाप्रभुजी, परमहंस रामकृष्णजी आदि अनेक संत हो गये हैं। उन्होंने तो स्वयं ईश्वरोपासनाका बहुत ही सुन्दर आदर्श स्थापित करके विशदरूपसे उसका प्रचार किया है।

आधुनिक कालमें महात्मा गांधीजी ईश्वरोपासनाके महान् समर्थक थे। वे कहते थे कि मेरे तो राम-नामका आधार है और उससे सारे कार्य सिद्ध होते हैं; संसारमें ऐसा कोई काम नहीं, जो राम-नामसे सिद्ध न हो सके। नामकी महिमा और प्रार्थनाके विषयमें उनके बहुत-से लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

कुछ उद्धरण नीचे लिखे जा रहे हैं—

'जिसके चित्तमें तरंग उठते ही रहते हैं, वह सत्यके दर्शन कैसे कर सकता है ? चित्तमें तरंग उठना समुद्रके तूफान-जैसा है। तूफानमें जो सुकानी सुकानपर काबू रख सकता है, वह सलामत रहता है। ऐसे ही चित्तकी अशान्तिमें जो राम-नामका आश्रय लेता है, वह जीत जाता है।' —(३०।११।४४)

'विकारी विचारसे बचनेका एक अमोघ उपाय राम-नाम है। नाम कण्ठसे ही नहीं, किंतु हृदयसे निकलना चाहिये।' —(२८।१२।४४)

'व्याधि अनेक हैं, वैद्य अनेक हैं, उपचार भी अनेक हैं। अगर व्याधिको एक ही देखें और उसका मिटानेहारा वैद्य एक राम ही है, ऐसा समझें तो बहुत-सी झंझटोंसे हम बच जायँ।' —(२९।१२।४४)

'आश्चर्य है! वैद्य मरते हैं। डाक्टर मरते हैं। उनके पीछे हम भटकते हैं। लेकिन राम जो मरता नहीं है, हमेशा जिन्दा रहता है और अचूक वैद्य है, उसे हम भूल जाते हैं।' —(३०।१२।४४)

'मनुष्य जानता है कि जब वह मरनेके नजदीक पहुँचता है, सिवा ईश्वरके कोई सहारा नहीं है, तो भी राम-नाम लेते हिचकिचाहट होती है। ऐसा क्यों ?' —(१२।३।४५)

(उपर्युक्त सभी उद्धरण 'बापूके आशीर्वाद (रोजके विचार)', से उद्धृत किये गये हैं।) महात्माजीके इस सम्बन्धमें और भी उद्गार पढ़िये—

'नामकी महिमाके बारेमें तुलसीदासने कुछ भी कहनेको बाकी नहीं रखा है। द्वादशाक्षर-मन्त्र, अष्टाक्षर इत्यादि सब इस मोह-जालमें फँसे हुए मनुष्यके लिये शान्तिप्रद हैं—इसमें कुछ भी शंका नहीं है। जिससे जिसको शान्ति मिले, उस मन्त्रपर वह निर्भर रहे। परन्तु जिसको शान्तिका अनुभव ही नहीं है और जो शान्तिकी खोजमें है, उसको तो अवश्य रामनाम पारसमणि बन सकता है। ईश्वरके सहस्रनाम कहे हैं—उसका अर्थ यह है कि उसके नाम अनन्त हैं, गुण अनन्त हैं। इसी कारण ईश्वर नामातीत और गुणातीत भी है। परन्तु देहधारीके लिये नामका सहारा अत्यावश्यक है और इस युगमें मूढ़ और निरक्षर भी राम-नामरूपी एकाक्षर मन्त्रका सहारा ले सकता है। वस्तुतः 'राम' उच्चारणमें एकाक्षर ही है और ॐकार और राममें कोई फरक नहीं है। परन्तु नाम-महिमा बुद्धिवादसे सिद्ध नहीं हो सकती, श्रद्धासे अनुभवसाध्य है।'('कल्याण'—भगवन्नामाङ्क)

'जो शक्ति राम-नाममें मानी गयी है, उसके बारेमें मुझे कोई शक नहीं है। हर एक आदमी इच्छामात्रसे ही राम-नामको अपने हृदयमें अङ्कित नहीं कर सकेगा। उसमें परिश्रमकी आवश्यकता है, धीरजकी भी है। पारसमणिको हासिल करनेके लिय धीरज क्यों न हो ? नाम तो उससे भी अधिक है।'

—(हरिजनसेवक, १७ फरवरी १९४६)

'मैंने तो बचपनसे ही राम-नामके जरिये ईश्वरको भजा है, लेकिन मैं जानता हूँ कि ईश्वरको ओम्‌के नामसे भजो या संस्कृत, प्राकृतसे लेकर इस देशकी या दूसरे देशकी किसी भी भाषाके नामसे उसको जपो—परिणाम एक ही होता है।'

—(हरिजनसेवक, २४ मार्च १९४६)

'सब रोगोंकी रामबाण दवा' के रूपसे मैं जिस

रामका नाम सुझाता हूँ, वह तो खुद ईश्वर ही है, जिसके नामका जप करके भक्तोंने शुद्धि और शान्ति पायी है; और मेरा यह दावा है कि राम-नाम सभी बीमारियोंकी —फिर वे तनकी हों या मनकी हों या रूहानी हों—एक ही अचूक दवा है। इसमें शक नहीं कि डाक्टरों वा वैद्योंसे शरीरकी बीमारियोंका इलाज कराया जा सकता है, लेकिन राम-नाम तो आदमीको खुद ही अपना वैद्य या डाक्टर बना देता है और उसे अपनेको नीरोग बनानेकी संजीवनी हासिल करा देता है।'

—(हरिजनसेवक, २ जून १९४६)

'जीवनकी अलग-अलग हालतोंमें और आखिरी हालतमें राष्ट्रकी आजादी और इज्जतकी रक्षाके लिये अपने-आपको मिटा देनेकी जो भव्य और वीरतापूर्ण कला हमें सीखनी है, उसके लिये प्रार्थना पहला और आखिरी सबक है।'

'प्रार्थनाके लिये ईश्वरमें सजीव श्रद्धाकी जरूरत है। बिना ऐसी श्रद्धाके सत्याग्रहके सफल होनेकी कल्पना नहीं की जा सकती। भगवान्‌को हम किसी भी नामसे क्यों न पहचानें, उसका रहस्य यह है कि वह और उसका कानून एक ही है !'

—(हरिजनसेवक, १४ अप्रैल १९४६)

'भगवान् अपने ढंगसे हमारी प्रार्थना सुनता है। इन्सानोंके ढंगसे भगवान्‌का ढंग अलग होता है। इसलिये कोई उसे समझ नहीं सकता। प्रार्थनाके लिये श्रद्धा होना जरूरी है। कोई प्रार्थना बेकार नहीं जाती। प्रार्थना भी दूसरे कामोंकी तरह एक काम ही है। हम देख सकें या न देख सकें, उसका फल तो मिलता ही है और नामधारी कर्मके फलके बनिस्बत दिलसे की जानेवाली प्रार्थनाका फल बहुत ज्यादा शक्ति रखता है।'

—(हरिजनसेवक, २९ जून १९४७)

महात्माजी प्रातः-सायं नित्य नियमित ईश्वरकी प्रार्थना करते थे; इससे सिद्ध होता है कि वे ईश्वरके भक्त और आस्तिक थे। दुःखकी बात है कि आज हमलोग उनके कथनपर खयाल नहीं कर रहे हैं। हमें चाहिये कि हम उनके कथनानुसार ईश्वरपर विश्वास करके ईश्वर-प्रार्थना और राम-नामके जपमें प्रवृत्त हो जायँ।

इस प्रकार उपासनाकी परम्परा अनन्तकालसे चली आ रही है। अब भी हिन्दुओंके हृदयोंमें यह भाव स्वाभाविकरूपसे अङ्कित है। यह शास्त्रसंगत तो है ही, युक्तिसंगत भी है!

मनुष्यकी जैसी श्रद्धा यानी जैसा भाव होता है, वही उसका स्वरूप है। उसीके अनुसार उसकी चेष्टा होती है। चेष्टाके अनुसार ही उसके हृदयमें संस्कार जमते हैं तथा संस्कारोंके अनुसार ही उसके अन्तःकरणकी वृत्ति और स्वभाव बनता है, अन्तःकरणके स्वभावके अनुसार ही उसकी श्रद्धा तथा श्रद्धाके अनुसार ही उसकी स्थिति और स्वरूप होता है। एवं उसके अनुसार ही पुनः उसके आचरण होने लगते हैं, ये आचरण ही संस्कृति हैं। हिंदुओंमें अनन्त जन्मोंके प्रवाहसे जो संस्कृति चली आ रही है, उसके प्रवाहको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये शास्त्रके उपदेश और महात्माओंके चरित्र ही प्रधानतया आदरणीय और अनुकरणीय हैं। गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर यह अनुभव होता है कि मनुष्य जैसे-जैसे आचरण करता है, उसके अनुसार ही उसके हृदयमें संस्कार जमते हैं और तदनुसार ही उसके अन्तःकरणका स्वभाव बन जाता है। जैसे एक आदमी कसाईका काम करता है, तो उसके हृदयमें मार-काटके संस्कार इतने अधिक बद्धमूल हो जाते हैं कि उसे स्वप्नमें भी वैसे ही दृश्य दिखायी देने लगते हैं और उसका हृदय कठोर हो जाता है। दूसरी ओर, एक परोपकारी पुरुष हर समय जीवोंके हितके लिये ही चेष्टा करता रहता है, जिससे उसका स्वभाव बड़ा ही कोमल और दयालु हो जाता है। उससे स्वप्नमें भी जीवोंका अहित नहीं होता। उस दयालुसे कसाईका काम और कसाईसे दयालुका काम होना असंभव-सा है। यह बात युक्तियुक्त और प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार हिंदुओंके हृदयमें स्वाभाविक ही ईश्वरमें आस्तिक-भाव—श्रद्धा-प्रेम है। यह हिंदुओंकी संस्कृति है। इस ईश्वरोपासनाके प्रचारमें ही सब सफलताएँ और सबका परम हित संनिहित है। इसलिये इसका हमें खूब प्रचार करना चाहिये।

बड़ोंका आदर-सत्कार

प्राचीन धर्मग्रन्थोंको देखनेपर मालूम होता है कि माता-पिता आदि गुरुजनोंका आज्ञापालन, वन्दन और सेवा-पूजा करना—यह भी हिंदू-संस्कृतिका एक प्रधान अङ्ग है। इसका प्रसङ्ग श्रुति[१], स्मृति[२],

१- श्रुति कहती है—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। (तैत्तिरीय० १।११।२)

'माताको देव (ईश्वर) माननेवाला हो। पिताको ईश्वर माननेवाला हो। आचार्यको ईश्वर माननेवाला हो। अतिथिको ईश्वर माननेवाला हो।'

२-मनुजी कहते हैं—

गीता*, रामायण, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थोंमें कूट-कूटकर भरा है। उन स्थानोंको पढ़नेसे रोमाञ्च होने लगता है, हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत, श्रीशत्रुघ्न आदि तो इसके विशेष आदर्श माने गये हैं। इस विषयमें उनके भाव बहुत ही विलक्षण, उच्चकोटिके और स्फूर्तिदायक हैं।

अध्यात्मरामायणमें वन जाते समय श्रीराम माता कैकेयीसे कहते हैं—

पित्रर्थे जीवितं दास्ये पिबेयं विषमुल्बणम्।
सीतां त्यक्ष्येऽथ कौसल्यां राज्यं चापि त्यजाम्यहम्॥

(अयोध्या० ३। ५९-६०)

'पिताजीके लिये मैं जीवन दे सकता हूँ, भयंकर विष पी सकता हूँ तथा सीता, कौसल्या और राज्यको भी छोड़ सकता हूँ।'

इसी प्रकार भरतका भी सेवा-पूजाका भाव बहुत विलक्षण है। वाल्मीकीय रामायणमें आता है, श्रीभरद्वाजजीने चित्रकूट जाते हुए भरत तथा उनके साथियोंका बहुत सत्कार-सम्मान किया। उन्होंने उन सबको सुख पहुँचानेके लिये अपनी शक्तिसे दिव्य विविध सामग्रियाँ और महल, राज्यासन आदि रच डाले; किंतु भरत उनमें आसक्त नहीं हुए। वे तो मनसे राज्यासनपर भगवान्‌को ही स्थापित समझकर उनकी पूजा और नमस्कार करते रहे—

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च।
भरतो मंत्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत्॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च।
बालव्यजनमादाय न्यषीदत् सचिवासने॥

(वा० रा०, अयोध्या० ९१। ३८-३९)

'भरतने वहाँ दिव्य राजसिंहासन, चँवर और छत्र भी देखे तथा उनमें राजा (राम) की भावना करके मंत्रियोंके साथ उन सबकी प्रदक्षिणा की। सिंहासनपर श्रीरामचन्द्रजी विराजमान हैं, ऐसी धारणा बनाकर उन्होंने श्रीरामको प्रणाम किया और उस सिंहासनकी भी पूजा की। फिर वे अपने हाथमें चँवर ले मन्त्रीके आसनपर जा बैठे।'

बादमें भी जब भरतजीको श्रीहनुमान्‌जीद्वारा भगवान्‌के अयोध्या लौटनेका शुभ संवाद प्राप्त हुआ, तब वे अत्यन्त हर्षके साथ भगवान्‌की चरणपादुकाओंको मस्तकपर रखकर भगवान्‌के दर्शनार्थ चल पड़े। वहाँका वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकिजी लिखते हैं—

आर्यपादौ गृहीत्वा तु शिरसा धर्मकोविदः॥
पाण्डुरं छत्रमादाय शुक्लमाल्योपशोभितम्।
शुक्ले च बालव्यजने राजार्हे हेमभूषिते॥
प्राञ्जलिर्भरतो भूत्वा प्रहृष्टो राघवोन्मुखः।
यथार्थेनार्घ्यपाद्याद्यैस्ततो राममपूजयत्॥
ततो विमानाग्रगतं भरतो भ्रातरं तदा।
ववन्दे प्रणतो रामं मेरुस्थमिव भास्करम्॥

(वा० रा०, युद्ध० १२७। १८, १९, ३६, ३८)

'धर्मज्ञ भरतने अपने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजीकी पादुकाएँ सिरपर रखकर अपने साथ श्वेत मालाओंसे सुशोभित सफेद रंगका छत्र तथा राजाओंके योग्य सोनेमें मढ़े हुए दो सफेद चँवर भी ले लिये। फिर प्रसन्नवदन भरतजी श्रीरामचन्द्रजीकी ओर दृष्टि लगाये हाथ जोड़कर खड़े हो गये। फिर उन्होंने विधिपूर्वक अर्घ्य, पाद्य आदिसे उनकी पूजा की। उस समय भरत मेरुपर्वतपर

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी॥ (मनु० २। २३१)

'पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिणाग्नि, गुरु आहवनीय अग्नि — ऐसा कहा है और वह अग्नित्रय अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः। त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥ (मनु० २। २३०)

'वे ही तीनों लोक, वे ही तीनों आश्रम, वे ही तीनों वेद और वे ही तीनों अग्नि कहे गये हैं।

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः। अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥ (मनु० २। २३४)

'जिसने इन तीनोंका आदर किया, उसने सब धर्मोंका आदर किया और जिसने इनका आदर नहीं किया, उसकी सब क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं।'

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते। एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥ (मनु० २। २३७)

'क्योंकि इन तीनोंकी सेवासे पुरुषका सब कर्तव्य कर्म पूर्ण होता है। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब धर्म 'उपधर्म' (गौण-धर्म) कहे जाते हैं।'

* गीता कहती है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्। ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ (१७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु (माता, पिता, आचार्य आदि) और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर सम्बन्धी तप कहा जाता है।'

स्थित-से दिखायी पड़नेवाले सूर्यकी तरह उस विमानमें स्थित भाई श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें नमस्कार करते हुए गिर गये।'

इतनेमें ही श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा पाकर वह विमान पृथ्वीपर उतर आया। भगवान्‌ने भरतको उसपर चढ़ा लिया।

भरतजीने श्रीरामचन्द्रजीके पास पहुँचकर प्रमुदित हो पुनः उनको प्रणाम किया।

अध्यात्मरामायणमें लिखा है—जब भरतजी तथा माताएँ आदि सब चित्रकूट पहुँचे हैं, उस समय श्रीरामचन्द्रजी सब गुरुजनोंको प्रणाम करते हैं।

रामः स्वमातरं वीक्ष्य द्रुतमुत्थाय पादयोः।
ववन्दे साश्रु सा पुत्रमालिङ्ग्यातीव दुःखिता॥
इतराश्च तथा नत्वा जननी रघुनन्दनः।
ततः समागतं दृष्ट्वा वसिष्ठं मुनिपुङ्गवम्॥
साष्टाङ्गं प्रणिपत्याह धन्योऽस्मीति पुनः पुनः।

(अयोध्या० ९। ९, १०, ११)

'श्रीरामजीने अपनी माताको देखते ही शीघ्रतासे उठकर उनका चरणवन्दन किया और उन्होंने अत्यन्त दुःखसे नेत्रोंमें जल भरकर पुत्रको हृदयसे लगाया। फिर श्रीरघुनाथजीने उसी प्रकार अन्य माताओंको भी प्रणाम किया। तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीको आते देख उन्हें साष्टाङ्ग प्रणामकर बारंबार कहने लगे 'मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ।'

जब भरतजीकी प्रार्थनापर भगवान् उन्हें चौदह वर्षकी अवधिके आधारके लिये चरणपादुका देते हैं, तब वे उन्हें लेकर बड़े आनन्दित होते हैं और बार-बार भगवान्‌को प्रणाम करते हैं!

गृहीत्वा पादुके दिव्ये भरतो रत्नभूषिते।
रामं पुनः परिक्रम्य प्रणनाम पुनः पुनः॥

(अध्यात्म०, अयोध्या० ९। ५१)

'भरतजीने वे रत्नजटित दिव्य पादुकाएँ लेकर फिर श्रीरामचन्द्रजीकी परिक्रमा की और उन्हें बारंबार प्रणाम किया।'

इसी प्रकार रामायणमें अनेक स्थलोंपर बड़ोंके आज्ञापालन, नमस्कार और सेवाके आदर्श मिलते हैं। जब श्रीरामचन्द्रजी वनवाससे लौटकर आते हैं, तब सभी लोग परस्पर एक-दूसरेसे बड़ोंको प्रणाम करते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

धाइ धरे गुर चरन सरोरुह। अनुज सहित अति पुलक तनोरुह॥
सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा। धर्म धुरंधर रघुकुल नाथा॥
गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज॥
सीता चरन भरत सिर नावा। अनुज समेत परम सुख पावा॥

तथा राजतिलकके बाद भाइयोंके सेवा और आज्ञापालनका भाव व्यक्त करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

सेवहिं सानुकूल सब भाई। राम चरन रति अति अधिकाई॥
प्रभु मुख कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपाल हमहि कछु कहहीं॥
हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ सीतल अँवराई॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई॥

पाण्डवोंका भी बड़ोंकी सेवा-पूजा, नमस्कारका भाव बहुत विलक्षण और आदर्श था। धर्मव्याध और मूक चाण्डाल आदिने भी माता-पिताकी सेवा करके ही परमगति प्राप्त की थी। वैश्य ऋषिकुमार श्रवणने तो माता-पिताकी सेवा करके ऐसी अनुपम ख्याति प्राप्त कर ली कि आज भी यदि कोई माता-पिताकी विशेष-रूपसे सेवा करता है, तो उसे 'श्रवण'की उपाधि दी जाती है!

शास्त्रोंमें माता-पिता आदि गुरुजनोंको—यहाँतक कि भाई-भौजाईको भी प्रणाम करनेकी बात मिलती है। मनुजी कहते हैं—

भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि।
विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः॥

(२। १३२)

'भाईकी सवर्णा भार्याके चरणोंकी नित्यप्रति वन्दना करे और परदेशसे लौटनेपर जातिकी तथा सम्बन्धियोंके घरोंकी पूज्य स्त्रियोंके चरणोंकी भी वन्दना करे।'

आजकल भी कहीं-कहीं इस प्रथाका अंश देखनेमें आता है, किंतु वह बहुत कम मात्रामें है। हमें नमस्कार आदिसे होनेवाले लाभकी ओर दृष्टि डालनी चाहिये। जब एक-दूसरेको प्रणाम करते हुए देखकर दर्शकको भी प्रसन्नता होती है, तब फिर प्रणाम किये जानेवालेको प्रसन्नता हो इसमें तो कहना ही क्या है। बड़ोंको नमस्कार आदि करनेसे मनुष्यकी आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है* तथा इससे लोकमें कीर्ति होती है, सम्मान मिलता है, लोग उसे आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये यह प्रत्यक्षमें भी महान् लाभकर है।

* अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥ (मनु० २। १२१)
'जो मनुष्य नित्य वृद्धोंकी सेवा करता और उनको प्रणाम करता है, उसके आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं।'

एवं इसमें न तो कोई परिश्रम है, न पैसे खर्च होते हैं तथा न कोई विशेष समय ही लगता है और इसका फल महान् है। जिस घरमें सब स्त्री-पुरुष अपने बड़ोंको नमस्कार करते हैं, उस घरमें परस्पर वैमनस्य कैसे हो सकता है; क्योंकि ऐसे विनयके व्यवहारसे तो पहलेका वैमनस्य भी मिट जाता है, फिर नया कैसे हो? वर्तमानमें भी हमारी हिंदू-जातिमें यह परम्परा है कि किसीका किसीके साथ वैमनस्य होता है तो अच्छे पुरुष उन्हें शिक्षा देकर वैमनस्य मिटा देते हैं और बादमें छोटोंके द्वारा बड़ोंको प्रणाम करवाकर भविष्यके लिये परस्पर प्रेम बढ़ानेका ही आदेश देते हैं। अतएव हिंदू-संस्कृतिके इस प्रणाम, सेवा, पूजा, आदर, सत्कार आदिके भावको उत्तरोत्तर वृद्धिगत करनेकी बहुत ही आवश्यकता है। सभी माता-बहिनों और भाइयोंसे मेरी सविनय प्रार्थना है कि सबको अपने घरमें कम-से-कम एक बार प्रात:काल प्रणाम करनेकी प्रथा तो जारी करनी ही चाहिये।

हिंदू-जातिमें यह प्रणाम करनेकी प्रथा किसी अंशमें अब भी जारी है। अपनेसे पूज्य विद्वान्, ब्राह्मण, संन्यासी आदिको देखकर प्राय: हिंदू नतमस्तक हो जाता है। यह है हिंदू-संस्कृति !

सद्गुण-सदाचारका सेवन

काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, घमण्ड, राग, द्वेष, ईर्ष्या, कपट, अभिमान, अहंकार, क्रूरता, निर्दयता, अज्ञान, संशय, भ्रम, निद्रा, आलस्य, विक्षेप, चिन्ता, शोक, भय, उद्वेग, वैर, कुटिलता, नीचता, नास्तिकता, अश्रद्धा आदि दुर्गुण तथा छल, छिद्र, झूठ, चोरी, डकैती, व्यभिचार, अनाचार, अत्याचार, मांसभक्षण, मदिरापान, मादक वस्तुओंका सेवन, जुआ, हिंसा, प्रमाद; उद्दण्डता आदि दुराचार हैं, यह आसुरी सम्पदा है। इसको राक्षसी संस्कृति समझनी चाहिये। यह सर्वथा घृणित और त्याग करने योग्य है तथा इसके विपरीत जो क्षमा, दया, अहिंसा, शान्ति, संतोष, शम, दम, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, तेज, विनय, समता, सरलता, धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, निरभिमानता, निष्कामता, हृदयकी पवित्रता, निर्लेपता, आस्तिकता, श्रद्धा आदि सद्गुण तथा यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, सेवा, पूजा, आदर, सत्कार, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्यका पालन, स्वाध्याय, परोपकार, माता-पिता, गुरुजनों तथा दु:खी अनाथ आतुरोंकी सेवा आदि सदाचार हैं, ये दैवी सम्पदाके लक्षण हैं और अनन्तकालसे श्रेष्ठ पुरुषोंमें स्वभावसिद्ध चले आ रहे हैं। यह है हिन्दू-संस्कृति।

हिंदू-संस्कृतिके इन भावोंको खूब जोरसे जाग्रत् करके सर्वत्र प्रचार करना चाहिये। इसीसे हमारे लिये इस लोकमें गौरव और सुख-शान्ति है और मरनेपर परमगतिकी प्राप्ति हो सकती है। ये हिंदू-संस्कृतिके भाव शनै:शनै: विधर्मी और विदेशियोंके कुसंग और शासनसे बहुत ही दब गये थे, जिससे हमलोगोंका पतन होकर पराधीनता आ गयी थी। उपर्युक्त भावोंकी पुन: जागृति होनेपर उससे असली स्वराज्यकी प्राप्ति हो जाती है; फिर हमारा इस लोक या परलोकमें कहीं कोई भी पराभव नहीं कर सकता। इसीमें हिंदू-देश और हिंदू-जातिकी इज्जत और गौरव है। इसीके सेवन, पालन और प्रचारके लिये तन, मन, धनसे प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

कानूनसे हिंदू-धर्मकी रक्षा

विवाह-संस्कार भी हिंदू-धर्मका एक प्रधान अङ्ग है। वर्तमानमें हिन्दुओंमें जो विवाह-संस्कार-पद्धति प्रचलित है, यह ब्राह्मविवाहके अनुसार है। यह चाल बहुत ही उत्तम और शास्त्रविहित है। इसके संस्कार हिंदू-जातिके हृदयमें स्वाभाविक ही अंकित हैं। वैदिक मन्त्रोंद्वारा होम, वर-कन्याको उपदेश तथा सप्तपदी आदिद्वारा विवाह-संस्कारको सम्पन्न करना हिंदू-संस्कृतिका एक महान् आदर्श आचार है। इन सब माङ्गलिक विवाह-कार्योंको देखकर स्वत: ही चित्तमें प्रसन्नता, शान्ति और आनन्द होते हैं; किंतु इन सबको तथा और भी हिंदुओंके धार्मिक कृत्योंको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिये इस समय कानून बने हैं, बनने जा रहे हैं। वे प्राय: सभी संस्कृतिके नाशक हैं। देशके धर्मप्रेमी, समाजमें प्रेम तथा सदाचारके इच्छुक, देशके बुद्धिमान् नेता—सभीको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे संस्कृति-नाशक कानून न बनें।

इसी प्रकार गायोंकी रक्षा करना हिंदुओंका परम धर्म है। यह भारत अब अंग्रेजोंके हाथसे मुक्त हो गया, मुसलमानोंने अपना पाकिस्तान अलग बना ही लिया; अब तो इसमें गायका वध किया जाना सर्वथा बंद हो जाना चाहिये। यदि गो-वध सर्वथा बंद नहीं होगा और बूढ़ी तथा बेकार गायोंको मारनेकी छूट रहेगी, तो जैसे वर्तमानमें छोटी बछिया और जवान दूधवाली गायें मारी जा रही हैं, वही सिलसिला जारी रह सकता है, क्योंकि डाक्टरोंको घूस देकर कसाई उपयोगीको भी अनुपयोगी पास करा रहे हैं और इसपर कोई विरोध करे तो उसे सफलता मिलनी कठिन है। इससे केवल दुनियाकी

आँखमें धूल झोंकना यानी धोखा देना होगा कि हमने चौदह सालसे कम उम्रकी उपयोगी गायका वध बंद कर दिया। अतः इसके लिये भी सबको सरकारसे प्रार्थना करनी चाहिये कि गो-वध सर्वथा बंद कर दें।

त्रिविध कर्म

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण। किये हुए शुभ-अशुभ और मिश्रित कर्मोंमेंसे फल देनेके लिये सम्मुख हुए कर्मोंका नाम 'प्रारब्ध' है, जो सुख-दुःखके* निमित्तभूत जाति, आयु और भोग दिया करते हैं। 'संचित' उन कर्मोंका नाम है, जो अनेक जन्मोंमें और इस जन्ममें किये हुए कर्म हैं और जो भोग देनेके लिये सम्मुख नहीं हुए हैं, पर कर्माशयमें इकट्ठे पड़े हैं। 'क्रियमाण' उन कर्मोंको कहते हैं; जो वर्तमानमें शुभ-अशुभ और मिश्रित कर्मफल, आसक्ति और कर्तापनके अभिमानपूर्वक किये जाते हैं। इन कर्मोंको 'पुरुषार्थ' भी कहते हैं; किंतु जो कर्म फलासक्ति और कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर किया जाता है, वह कर्म वास्तवमें कर्म ही नहीं है। (गीता ४। २०; १८। १७)

इन तीनोंमें 'संचित' के द्वारा विभिन्न प्रकारकी शुभाशुभ स्फुरणाएँ होती हैं, पर उनके अनुसार कर्म करना, न करना हमारे अधिकारमें है। शुभ स्फुरणा होनेपर भी पुरुषार्थके अभावसे कर्म न होनेके कारण वह सफल नहीं होती। प्रारब्धसे भी स्फुरणा होती है और उसके अनुसार कर्म होते हैं। पर यहाँ भी कर्म करनेको मनुष्य बाध्य नहीं है। हाँ, प्रारब्धानुसार फलभोग अवश्य होता है। शुभ प्रारब्ध होगा तो बिना पुरुषार्थके ही अनिच्छा या परेच्छासे शुभ फल मिल जायगा। इसी प्रकार अशुभ भी मिल जायगा। क्रियमाण (पुरुषार्थ) तो नया फल पैदा करता ही है। अवश्य ही यह नियम नहीं है कि वह अभी तुरंत ही फल दे दे। प्रबल कर्म होनेपर फलदानोन्मुख प्रारब्धके बीचमें ही वह प्रारब्ध बनकर अपना फल दे सकता है। जैसे किसीके प्रारब्धमें पुत्रका योग नहीं है; परंतु पुत्रेष्टियज्ञ सविधिसम्पन्न होनेपर नवीन प्रारब्ध बनकर पुत्रोत्पादनमें कारण बन सकता है। इसी प्रकार आयुके विषयमें समझना चाहिये। जैसे सावित्रीने अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे यमराजको प्रसन्न करके उनसे वरदानके रूपमें अपने पतिके लिये दीर्घायु प्राप्त कर ली थी। यह भी नवीन प्रारब्ध था, जो प्रबल पुरुषार्थ (क्रियमाण) का फल था। परंतु सुख-दुःख आदि फलोंके भोगमें प्रधानता पूर्वकृत कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धकी ही है।

संचितसे स्फुरणा होती है, प्रारब्धसे सुख-दुःखको देनेवाले जाति, आयु और भोगोंकी प्राप्ति होती है और पुरुषार्थसे नये कर्म बनते हैं। यहाँ एक दृष्टान्तके द्वारा इन तीनों प्रकारके कर्मोंके सम्बन्धमें यह दिखलाया जाता है कि किस कर्मकी प्रबलतासे कैसे क्या कार्य होता है।

एक जगह तीन मित्र बैठे थे। उनसे किसीने आकर कहा कि अमुक स्थानपर एक बड़े महात्मा आये हुए हैं, इसपर इनमेंसे एकने कहा कि 'चलो भाई ! हम भी दर्शन कर आवें।' दूसरेने कहा— 'मैं तो नहीं जाऊँगा। तुमलोग भले ही जाओ।' तीसरेने जाना स्वीकार किया और वे दोनों महात्माके स्थानपर जा पहुँचे। वहाँ जानेपर पता लगा कि 'महात्मा अभी थोड़ी ही देर हुई शहरमें गये हैं, कुछ देरमें आवेंगे।' इसपर तीसरा जो गया था, वह तो वहाँ जमकर बैठ गया। उसने कहा कि 'जितनी ही देरमें आवें, मैं तो दर्शन करके ही जाऊँगा।' पहलेने कहा—'भाई ! इतनी देर कौन बैठे, मैं तो वापस जा रहा हूँ।' अतएव तीसरा वहीं बैठा रहा और पहला लौट गया। इधर महात्मा शहरमें घूमते-घामते उसी स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ दूसरा बैठा था, जो महात्माके दर्शनार्थ जानेसे इन्कार करके डेरेपर ही रह गया था, उसको वहाँ महात्माके दर्शन हो गये; कहीं जाना नहीं पड़ा। महात्मा वहाँसे लौटकर अपने स्थानपर गये और वहाँ उस तीसरेको भी दर्शन हो गये, जो वहाँ जमकर बैठ गया था। दूसरा जो वहाँसे लौट आया था, वह दूसरे रास्तेसे लौटा। अतः उसको महात्माके दर्शन हुए ही नहीं। इन तीनोंमें पहलेका

* वस्तुतः यह सुख-दुःखका भोग जीवको अज्ञानस्थितिमें होता है। सुख-दुःख किसी घटना, वस्तु या स्थितिमें नहीं है, वह तो प्रतिकूल या अनुकूल भावनामें ही है और प्रतिकूल-अनुकूल भावना अज्ञानजनित है, इसलिये ये जितने भी जाति, आयु और भोग हैं, सब अज्ञानियोंके लिये ही सुख-दुःखजनक हैं। ज्ञानीके लिये विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार भक्तकी दृष्टिमें भी जगत्में सब कुछ भगवान् और भगवान्की लीला है। लीला तथा लीलामयमें अभेद है। अतएव वह भी प्रतिकूल-अनुकूल न देखकर सर्वत्र भगवान्के दर्शन करता है, अतएव उसे भी सुख-दुःख नहीं होते। वह अपने प्रभुके स्वरूपसे अभिन्न विचित्र लीला-विलासको देख-देखकर मुग्ध होता रहता है।

तो शुभ संचित प्रबल था, जिसने महात्माके पास जानेकी इच्छा प्रकट की, परंतु पुरुषार्थकी कमीसे वहाँ जाकर भी वह बैठा नहीं, लौट आया। दूसरेका शुभ प्रारब्ध प्रबल था, जिसने घर बैठे महात्माके दर्शन करा दिये और तीसरेका शुभ पुरुषार्थ प्रबल था; जिसके कारण वह दृढ़तर होकर वहाँ बैठ गया और दर्शन करके ही लौटा।

संसारमें चार पदार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म और मोक्षकी सिद्धिमें तो पुरुषार्थ प्रधान है तथा अर्थ और कामकी सिद्धिमें प्रारब्ध प्रधान है। अज्ञानी लोग धर्म और मोक्षको प्रारब्धपर छोड़ देते हैं। वे धर्म और मोक्षसे वञ्चित रह जाते हैं; क्योंकि धर्मका पालन और मुक्तिका साधन नवीन कर्म है, पूर्वकृत कर्मोंका फल नहीं है। मनुष्यका उत्तम स्वभाव और उत्तम संचित कर्म प्रेरक होनेसे सहायक हैं। प्रारब्ध कर्म बीमारी आदि अप्रियके संयोग और प्रियके वियोगको निमित्त बनाकर कमजोर आदमीके लिये धर्म और मोक्षके साधनमें बाधक हो जाया करते हैं एवं कहीं सत्सङ्ग आदिके संयोगसे सहायक भी हो जाया करते हैं; किन्तु धर्मके पालन और मोक्षके साधनोंमें मुख्य हेतु प्रयत्न (पुरुषार्थ) ही है, क्योंकि धर्मका पालन और मुक्तिका साधन अपने-आप होना सम्भव नहीं है। इसलिये मनुष्यको धर्मके पालन और मुक्तिके साधनके लिये महत्कृपाका आश्रय लेकर कटिबद्ध हो तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये।

प्रारब्ध

मूर्ख मनुष्य अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि नाना प्रकारके पाप करते हैं; किंतु उससे कुछ नहीं मिलता। जो कुछ मिलता है वह उसके पूर्वके प्रारब्धसे ही मिलता है और वह बिना पाप किये भी अवश्य मिलेगा ही। मनुष्य प्रयत्नपूर्वक पाप करता है पर उसका फल जो दुःख है, उसे भोगना नहीं चाहता, किंतु अनेक प्रतीकार करते हुए भी उसे पापका फल दुःख भोगना ही पड़ता है। जिस प्रकार पापका फल दुःख अनेक प्रतीकार करनेपर भी नहीं रुकता, उसी प्रकार पुण्यका फल अर्थ और कामरूप सुख भी बिना प्रयत्न किये ही प्राप्त होगा। प्रयत्न तो केवल निमित्तमात्र है, क्योंकि अर्थ और कामकी सिद्धिमें मुख्य हेतु प्रारब्ध ही है। जो कुछ प्राप्त होना है, उससे अधिक तो होगा नहीं और जो होना है, वह प्रतीकार करनेपर भी रुक नहीं सकता, अतएव अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये पाप करना निरी मूर्खता है।

मनुष्य अज्ञानवश अर्थ और कामको पुरुषार्थके अधीन मानकर उनकी सिद्धिके लिये अपना जीवन लगा देते हैं तथा नाना प्रकारके पाप करके आसुरी योनियों और नरकोंमें गिरते हैं; किंतु यदि अर्थ और कामकी सिद्धि पुरुषार्थसे होती तो सभी आदमी धनी बन जाते एवं सभीकी कामना भी सफल हो जाती; क्योंकि सभी धनी बनना चाहते हैं तथा सभीको अपनी कामनाओंकी पूर्तिकी भी इच्छा है। पर ऐसा देखनेमें नहीं आता। कहीं-कहीं पूर्वके प्रबल प्रारब्धसे काम और अर्थकी सिद्धि हो जाती है तो मूर्ख मनुष्य उसे अपने पुरुषार्थसे हुई मान बैठते हैं; परंतु यह बात गलत है। इसलिये मनुष्यको अर्थ और कामके परायण होकर अपने मनुष्य-जीवनको नष्ट करना उचित नहीं है।

प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है—अनिच्छासे, परेच्छासे और स्वेच्छासे।

मनुष्य न तो मरना ही चाहता है और न दुःख ही भोगना चाहता है। पर पूर्वकृत पापोंके फलस्वरूप वज्रपात, महामारी, अकाल, अग्नि और बाढ़ आदिकी पीड़ासे मनुष्य दुःखित हो जाता है और कोई-कोई मर भी जाता है तथा इसी प्रकार पूर्वकृत पुण्यके प्रभावसे किसीको अकस्मात् कहीं गड़े हुए धनकी प्राप्ति हो जाती है और किसीकी पैतृक सम्पत्तिका मूल्य बढ़ जाता है, जो सुखका हेतु है। यह सब अनिच्छा-प्रारब्धका भोग है।

पूर्वकृत पापोंके फलस्वरूप दुःखके हेतुभूत चोर, डाकू, सिंह, व्याघ्र आदिके द्वारा धन, जन और शरीरकी हानि हो जाती है और इसी प्रकार पूर्वकृत पुण्योंके प्रभावसे उसे कोई दत्तक पुत्र बना लेता है या कोई राजा राज्य सौंप देता है, जो कि सुखका हेतु है। यह सब परेच्छा-प्रारब्धका भोग है।

उपर्युक्त अनिच्छा और परेच्छा-प्रारब्धसे प्राप्त सुख-दुःख भोगके विषयमें भोक्ता मनुष्य बिल्कुल परतन्त्र है। स्वेच्छापूर्वक किये हुए कृषि और व्यापार आदिमें पूर्वकृत पापोंके फलस्वरूप दुःखका हेतुभूत नुकसान लग जाना तथा अपने और अपने कुटुम्बीजनोंके रोगादिकी निवृत्तिके लिये किये जानेवाले औषधादि उपचारोंका विपरीत परिणाम होना और इसी प्रकार पूर्वकृत पुण्योंके प्रभावसे सुखके हेतुभूत स्त्री, पुत्र, धन, गृह आदिकी प्राप्तिके लिये इच्छापूर्वक किये हुए प्रयत्नकी सफलताका होना—यह सब स्वेच्छा-प्रारब्ध-भोग है।

उपर्युक्त प्रकारसे इस जन्ममें जो प्रारब्धका भोग होता है, वह अधिकांशमें तो पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंका

ही फल होता है, किंतु कोई-कोई इस जन्ममें किया हुआ बलवान् क्रियमाण कर्म भी तुरन्त प्रारब्ध बनकर इसी जन्ममें फल देनेके लिये प्रस्तुत हो जाता है; जैसे कोई पुरुष परस्त्रीगमन आदि पाप कर्म करता है, तो उसके फलस्वरूप उसे उपदंश, सूजाक, धातुक्षय आदि बीमारियाँ हो जाती हैं तथा इसी प्रकार कोई स्त्री, पुत्र, धनकी प्राप्ति और रोगकी निवृत्तिकी कामनासे यज्ञ, दान, तपरूप पुण्यकर्म विधि और श्रद्धापूर्वक करता है तो उसके फलस्वरूप उसे उपर्युक्त इष्टकी प्राप्ति हो जाती है। परंतु जो मनुष्य आत्मोद्धारके लिये भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और निष्कामकर्म आदि साधनोंका तत्परतासे अनुष्ठान करता है, उसे तो उसके फलस्वरूप इसी जन्ममें शीघ्र ही मोक्ष (भगवत्प्राप्ति) प्रत्यक्ष ही हो जाता है।

संचित

मनुष्य इस जन्ममें जो कुछ क्रियमाण कर्म करता है, उसमेंसे जिस अंशका प्रारब्ध बनकर मनुष्यको भोग देनेके लिये प्रस्तुत हो जाता है, वह तो फल भुगताकर क्षय हो जाता है और उसके सिवा इस जन्मके बचे हुए क्रियमाण कर्म पूर्वजन्मोंके संचित कर्मोंमें सम्मिलित हो जाते हैं। इन संचित कर्मोंके समूहका भक्ति, ज्ञान और निष्काम कर्म आदि साधनोंसे क्षय होकर विनाश हो सकता है। जबतक इस संचित कर्मसमूहका विनाश नहीं हो जाता, तबतक वे भावी जन्मको देते रहते हैं।

मनुष्य जो भी कुछ पुण्य, पाप और मिश्रित कर्म करता है, उसके दो प्रकारके संस्कार उसके हृदयमें जमते हैं— (१) सुख-दुःखादि, जो जाति, आयु, भोगको देनेवाले हैं और (२) सात्त्विक, राजस, तामस-वृत्तिरूप संस्कार जो कि स्वभावको बनानेवाले हैं। इनमें पहले प्रकारके संस्कार तो फल भुगताकर शान्त हो जाते हैं; किंतु सात्त्विक, राजस, तामस-वृत्तिरूप संस्कार स्वभावके रूपमें रहते हैं और वे भविष्यमें नवीन पुण्य-पाप आदि कर्मोंके प्रेरक होते हैं। अतएव मनुष्यको अपने स्वभावको सुधारनेके लिये विवेक-वैराग्यपूर्वक सत्सङ्ग, भक्ति, ज्ञान और निष्काम कर्मके द्वारा राजसी, तामसी वृत्तियोंका शमन करके केवल सात्त्विक वृत्तियोंका प्रवाह बहाना चाहिये। इस प्रकार साधन करनेसे संचित कर्म और राजसी-तामसी वृत्तियाँ—दोनोंका क्षय होकर मनुष्य भगवत्प्राप्तिके लिये समर्थ हो जाता है।

क्रियमाण

राग, द्वेष, कामना, ममता और अहंकारपूर्वक मन, वाणी, शरीरसे जो पुण्य, पाप और मिश्रित कर्म किये जाते हैं, वे क्रियमाण कर्म हैं तथा स्वेच्छा-प्रारब्धभोगके निमित्त भी जो कर्म होते हैं, वे भी क्रियमाणके ही अन्तर्गत हैं; क्योंकि उनमें कर्तव्यबुद्धिके सिवा जो शास्त्रके अनुकूल और शास्त्रके प्रतिकूल क्रिया होती है, वह पुण्य और पापरूप होनेके कारण क्रियमाणमें ही शामिल है।

जिनको ईश्वर और प्रारब्धपर विश्वास नहीं है, वे अज्ञानी मनुष्य झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदिके द्वारा अर्थ और कामकी सिद्धि प्रारब्धसे अतिरिक्त पुरुषार्थसे करना चाहते हैं, उनकी वह सिद्धि प्रारब्धसे अतिरिक्त तो हो ही नहीं सकती। जो कुछ प्राप्त होता है, प्रारब्धके अनुसार ही होता है, परंतु वे मूर्ख शास्त्रविरुद्ध क्रिया करके व्यर्थ ही पापके भागी होते हैं; किन्तु जिनको ईश्वर और प्रारब्धपर विश्वास है, वे कोई भी पाप-क्रिया न करके शास्त्रानुकूल कर्म करते हुए सत्य और न्यायपूर्वक ही अर्थ और कामकी सिद्धि चाहते हैं, वे भारी आपत्ति पड़नेपर भी सत्य, न्याय और धर्मसे विचलित नहीं होते। अतः प्रारब्धके अनुसार उनका कार्य तो सिद्ध होता ही है, वे पुण्यके भागी भी होते हैं और निष्कामभावसे करनेपर तो परम कल्याणको प्राप्त हो सकते हैं।

जो कर्म राग, द्वेष, कामना, ममता और अहंकारसे रहित होकर किये जाते हैं अथवा भगवदर्थ या भगवदर्पण-बुद्धिसे किये जाते हैं, वे कर्म वास्तवमें कर्म ही नहीं हैं, इसलिये वे भी क्रियमाणमें शामिल नहीं होते तथा स्वप्नमें होनेवाली मानसिक क्रियाएँ भी क्रियमाणमें शामिल नहीं हैं; क्योंकि वे समझ-बूझकर की हुई नहीं हैं, उनमें कर्ता निद्राके वशीभूत होनेके कारण परतन्त्र है, इसलिये वे अनिच्छा और स्वेच्छा-संयुक्त प्रारब्धभोगमें ही शामिल हैं।

प्रारब्धकर्म तो मनुष्यको भोगने ही पड़ते हैं, अतः वे भोग भुगताकर क्षय हो जाते हैं तथा जो बचे रहते हैं, वे परमात्माकी प्राप्तिमें रुकावट नहीं डालते। भगवत्प्राप्तिके बाद भी वे प्रारब्धसे होनेवाले सुख-दुःखादिके निमित्त शरीरमें होते रहेंगे; अतः उनके रहनेसे हमें कोई हानि नहीं है। विवेक और वैराग्यपूर्वक सत्सङ्ग, भक्ति, ज्ञान और निष्काम कर्म आदि साधनोंद्वारा प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण—तीनोंका नाश होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

परमात्मप्राप्त पुरुषमें संचित कर्मोंका तो अत्यन्त अभाव है ही और क्रियमाण कर्म उनके लागू नहीं पड़ते; क्योंकि उनसे होनेवाली क्रियाओंमें राग, द्वेष, कामना,

ममता, अहंकार आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव है, इसलिये उनके कर्म कर्म ही नहीं हैं। इसके सिवा उनके द्वारा जो प्रारब्धसे होनेवाली घटनाएँ हैं, उनमें राग-द्वेषका अभाव होनेके कारण कोई भी सुख-दुःखका भोक्ता नहीं रहता; अतः उनके प्रारब्ध कर्म रहते हुए भी न रहनेके ही समान हैं, केवल सुख-दुःखोंकी निमित्तमात्र घटनाएँ उनमें प्रतीत होती हैं; परन्तु जो मनुष्य सुख-दुःख और हर्ष-शोकादि विकारोंसे सर्वथा रहित है, उसका प्रारब्धानुसार सुख-दुःखादिके निमित्त होनेवाली घटनाओंसे वास्तवमें कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। अतः उसके प्रारब्धभोगरूप कर्म भी एक प्रकारसे क्षय ही माने गये हैं।

श्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मु० उ० २। २। ८)

'उस परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेपर इस पुरुषकी हृदयग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशयोंका छेदन हो जाता है और इसके प्रारब्ध, संचित, क्रियमाणरूप समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं।

आदर्श नारी सुशीला

एक शिक्षाप्रद कहानी

(१)

श्रीमद्भगवद्गीतामें मनुष्यको आत्मकल्याणार्थ दैवी सम्पदा धारण करनेके लिये कहा गया है (गीता १६। ५)। अतः कल्याणकामी मनुष्यको दैवी सम्पदामें बतलाये हुए सद्गुण-सदाचारोंको अमृतके समान समझकर उनका सेवन करना चाहिये। गीतामें सोलहवें अध्यायके आरम्भमें ही तीन श्लोकोंमें भगवान्ने सद्गुण-सदाचारोंके साररूप दैवी सम्पदाके छब्बीस लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(१) भयका सर्वथा अभाव, (२) अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, (३) तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और (४) सात्त्विक दान, (५) इन्द्रियोंका दमन, (६) भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं (७) शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, (८) स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट-सहन और (९) शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, (१०) मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, (११) यथार्थ और प्रिय भाषण, (१२) अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, (१३) कर्मोंमें स्वार्थका और कर्तापनके अभिमानका त्याग, (१४) अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, (१५) किसीकी भी निन्दादि न करना, (१६) सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, (१७) इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, (१८) कोमलता, (१९) लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और (२०) व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, (२१) तेज, (२२) क्षमा, (२३) धैर्य, (२४) बाहरकी शुद्धि एवं (२५) किसीमें भी शत्रुभावका न होना और (२६) अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव— ये सब हे अर्जुन! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।

प्रत्येक भाई-बहिन इन दैवी सम्पदाके छब्बीस लक्षणोंको अपनेमें भलीभाँति धारण करनेका कुछ तरीका जान सकें, इसके लिये यहाँ एक कहानी लिखी जाती है—

प्रयागमें एक ब्राह्मण रहते थे, उनका नाम था देवदत्त। वे बड़े ही विद्वान्, सरलस्वभाव, सदाचारी और ईश्वरभक्त थे। राज्यके अधिकारियोंमें भी उनका बड़ा सम्मान था। उनकी पत्नीका नाम था गौतमी। वह बड़ी ही सरल, सीधी, भोले स्वभावकी तथा अक्षरज्ञानरहित थी। उसको एकसे सौतककी गिनतीतक नहीं आती थी। उसके तीन पुत्र और एक कन्या थी। बड़े लड़केका नाम सोमदत्त, बिचलेका रामदत्त और सबसे छोटेका मोहनलाल था। तीनों ही सुशिक्षित और सदाचारी थे। लड़कीका नाम था रोहिणी। इन सभीके विवाह हो चुके थे। रोहिणीके पतिका देहान्त छोटी उम्रमें ही हो गया तथा उसके कोई सन्तान नहीं हुई, इसलिये वह नैहरमें ही रहती थी। लड़कोंकी पत्नियोंके नाम क्रमशः रामदेवी, भगवानदेवी और सुशीला थे। इनमेंसे पहली दो स्त्रियाँ तो अनपढ़ और मूर्ख थीं,

किंतु सुशीला बड़ी विदुषी थी, वह अपने नामके अनुसार ही बड़ी शीलवती थी। वह अत्यन्त शान्तस्वभाव, सद्गुण-सदाचारसम्पन्न, ईश्वरभक्त और पतिव्रता थी। वह सभी कामोंमें चतुर और सुशिक्षिता थी। वह कटाई-सिलाई करने, कसीदे काढ़ने, कपड़ोंपर बेल-बूटे बनाने, गंजी-मोजे बनाने, सुन्दर लिपि लिखने तथा चित्रकारी आदि शिल्प-विद्यामें भी बड़ी निपुण थी। उसमें त्याग, सेवाभाव, धैर्य और कार्यकुशलता आदि गुण विशेषरूपसे थे। जबसे सुशीला घरमें आयी, तबसे घरमें मानो सुव्यवस्था आ गयी। उसने सभीको निःस्वार्थ सेवासे मुग्ध करके अपने अनुकूल बना लिया। वह सभीके साथ बड़े प्रेमसे यथायोग्य बर्ताव किया करती। बड़ोंका आदर करती, अपनेसे छोटोंपर दया और स्नेह रखती तथा समान वयकी स्त्रियोंसे मैत्री करती थी। घरवाले तो सब उसके काम-काज और शील-स्वभावसे संतुष्ट रहते ही थे। मुहल्लेके अन्य स्त्री-पुरुष भी उसके गुणोंसे प्रभावित होकर सदा उसकी प्रशंसा किया करते। सुशीला यद्यपि छोटी उम्रकी और नववधू थी, पर उसके गुणोंकी इतनी ख्याति हो गयी कि दूर-दूरकी स्त्रियाँ उससे सलाह और शिक्षा लेने आया करती थीं।

पण्डित देवदत्तजी नित्य नियमितरूपसे संध्या-गायत्री, पूजा-पाठ और जप-ध्यान किया करते। वे उपदेश, व्याख्यान और पण्डिताईसे अपने घरकी जीविका चलाते थे। उनके दोनों बड़े लड़के नगरमें ही व्यापार-कार्य किया करते और जो कुछ उससे प्राप्त होता, पिताजीको सौंप देते थे। छोटा लड़का मोहनलाल कालेजमें पढ़ता था। घरमें जो कुछ भी भोजन-खर्च लगता, उसके लिये पण्डितजी प्रतिमास अपनी पत्नीको कुछ रुपये दे दिया करते, जिनसे वह अपने रसोइये या नौकरके द्वारा बाजारसे आवश्यक सामान मँगवा लिया करती। गौतमीको अत्यन्त भोली समझकर रसोइया और नौकर दोनों ही बेईमानी और चोरी करते थे। वे जिस चीजका जो दाम बतला देते, वह उतना ही उन्हें दे देती। फिर, रुपये-पैसे भी वे ही दोनों गिनते; क्योंकि गौतमीको तो गिनती आती नहीं थी। वे रुपये माँगकर ले जाते और थोड़ी सी चीज लाकर ही कह देते कि रुपये सब पूरे हो गये। कभी मोटा-मोटी हिसाब बतला देते, कभी नहीं। बतलाते तो भी गौतमी तो कुछ समझती थी नहीं ।

बुद्धिमती सुशीलाको उनकी चोरी-चालाकी समझनेमें देर नहीं लगी। उसने सोचा, सासजीका स्वभाव सरल और भोला होनेके कारण ये हमारे घरका धन लूट रहे हैं। इसका कोई उपाय करना चाहिये। आखिर उसने एक दिन रसोइयासे कहा—'महाराजजी! आप बाजारसे जो गेहूँ, चावल, दाल, साग, दूध, घी, चीनी, तैल और मसाला आदि सामान लाते हैं, उन सबका पूरा हिसाब रखना चाहिये।' रसोइयाने कड़ककर कहा—'वाह! तू बड़ी हिसाब लेनेवाली आयी! हमारे यहाँ तो यों ही सारा काम विश्वासपर चलता है। तेरी सास इतनी बड़ी हो गयी, पर बेचारीने कभी कोई हिसाब नहीं माँगा और तू कलकी आयी हुई हम घरके लोगोंसे हिसाब माँगने लगी। मालूम होता है, अब तू ही घरकी मालकिन हो गयी है?' वधूके प्रति रसोइयाके तिरस्कार-सूचक कड़े शब्द बगलके कमरेमें बैठे हुए पण्डित देवदत्तजीके कानोंमें पड़े। उन्होंने स्वाभाविक ही बड़े धीरजके साथ रसोइयाको सम्बोधन करके कहा—'भैया! बहू तो ठीक ही कहती है, उसकी सीधी बातपर यों कड़कना और डाँटना तो उचित नहीं है। तुम जो हिसाब नहीं देते, यह अच्छी बात थोड़े ही है। रुपयोंका हिसाब तो पाई-पाईका होना चाहिये। जो भी कुछ हो, अब तुम छोटी बहूको सब हिसाब बतला दिया करो। यह लिखी-पढ़ी है, सब हिसाब लिख लिया करेगी।' उन्होंने फिर बहूसे कहा—'बेटी! तुम्हारी सास तो भोली है, अब तुम्हीं घरका हिसाब रखा करो।' सुशीला तो यह चाहती ही थी। वह लेन-देनका पूरा-पूरा हिसाब रखने लगी। रसोइया तथा नौकर दोनोंसे ही जो भी बाजारसे सामान मँगाया जाता, वह उनसे पूछकर सारा हिसाब लिख लिया करती।

उसकी सेवा, स्वभाव और गुणोंके कारण घरभरके सभी स्त्री-पुरुष बड़े मुग्ध थे; किंतु स्वार्थी रसोइया और नौकर उसे अपने पथका रोड़ा समझकर उससे द्वेष करने लगे। वे बात-बातमें उसमें छिद्रान्वेषण किया करते और घरकी अन्य स्त्रियोंके मनोंको भी खराब करते रहते। कभी-कभी तो वे ताना भी मार देते कि 'तुम सभीपर तो यह सुशीला मालकिन है। देखो न! यह आयी तुम्हारे सामने और अब तुमपर हुकुम चलाने लगी है।' परन्तु वे कहतीं—'यह बेचारी तो हम सभीके हुकुमके अनुसार चलती है और बहुत ही सुशील है, तुम व्यर्थ ही ऐसा क्यों कहते रहते हो?' पर वे तो उसके पीछे पड़े हुए थे, जब अवसर पाते, उसपर झूठा दोष आरोपकर घरवालोंको लगा-बझाकर उनका मन खराब करते। ऐसा होनेपर भी सुशीलाके चित्तपर कभी विक्षेप या अशान्ति[१४] देखनेमें नहीं आयी। वह तो हर समय प्रसन्नचित्त रहा करती, किन्तु अन्य स्त्रियाँ मूर्ख थीं, अतः बार-बार

उनकी बातें सुननेसे उन स्त्रियोंपर उनका असर होने लगा। रसोइया और नौकरोंकी बातोंको सच्ची मानकर वे स्त्रियाँ घरके पुरुषोंको भी सुशीलाके विपरीत अनेक तरहकी झूठी बातें कहने लगीं; किंतु सुशीलाके गुणोंसे प्रभावित होनेके कारण पुरुषोंपर उनकी बातोंका कुछ भी असर नहीं हुआ।

कुछ समयके बाद सुशीलाके एक कन्या हुई, उसका नाम रखा गया इन्द्रसेनी। इसके दो वर्ष बाद एक लड़का हुआ; जिसका नाम पण्डितजीने इन्द्रसेन रखा। लड़केके जन्मके कुछ दिनों बाद सोमदत्त आदिने अनेक बन्धु-बान्धव और मित्रोंको बुलाकर उनकी बाजारू मिठाई, बीड़ी, सिगरेट आदिसे खातिर की और वे सभी चौपड़-ताश खेलने, हँसी-मजाक करने और हो-हल्ला मचाने लगे। घरमें धूम मच गयी। यह सब देखकर सुशीलाने विनयपूर्वक प्रार्थना की—'यह सब किसलिये कराये जाते हैं?' घरवालोंने कहा—'यह तो यहाँकी प्रथा है। लड़केकी रक्षाके लिये उत्सव मनाया जाता है।' बहूने हाथ जोड़कर विनयसे कहा—'इससे तो बुरे संस्कार पड़ते हैं, पैसे भी व्यर्थ खर्च होते हैं और हो-हल्ला होनेसे मुझे नींद भी कम आती है। अत: मुझे तो इसमें सिवा हानिके कोई भी लाभ नहीं दीखता। मेरे नैहरमें तो बहुत अच्छी प्रथा है। वहाँ तो नामकरण-संस्कार होनेके बाद वेद और गीताका पाठ एवं कथा-कीर्तन आदि हुआ करते हैं; धर्मात्मा, भक्त, दानी, परोपकारी और शूरवीर पुरुषोंकी कथाएँ सुनायी जाती हैं, जिनसे बड़ी ही अच्छी शिक्षा मिलती है। इसलिये मेरी तो आपसे यही प्रार्थना है कि इन प्रमादके कार्योंको बंद करा दिया जाय।' सुशीलाके इन विनययुक्त वचनोंका उनपर अच्छा असर पड़ा। उन्होंने तुरन्त वे सब बंद करके सुशीलाके कहे अनुसार सारी व्यवस्था कर दी।

घरमें और कोई छोटा लड़का न होनेके कारण गौतमी उस लड़केसे विशेष प्यार किया करती। उसने उसके हाथों और पैरोंमें काले डोरे बाँध दिये और गलेमें एक झालरा पहना दिया, जिसमें व्याघ्र-नख, लाख और लोहेकी अँगूठी, ताबीज तथा जरखनख आदि पिरोये हुए थे। थोड़े समय बाद वे डोरे लड़केके हाथ-पैरोंकी कलाइयोंमें कुछ-कुछ धँसकर इस प्रकार बैठ गये कि उनमें निशान पड़ गये। तथा उस झालरेसे छाती और पीठपर कई जगह निशान पड़ गये। यह देखकर सुशीलाने साससे कहा—'माताजी! बच्चेके हाथ-पैरोंमें ये डोरे क्यों बाँधे गये हैं? इससे तो इसके हाथ-पैर भी कमजोर रह जायँगे और उनमें निशान भी पड़ गये हैं तथा यह झालरा रातको इसके बदनमें गड़ जाता है, इससे भी कई जगह निशान पड़ गये हैं, इनके बाँधनेसे क्या लाभ है?'

गौतमी बोली—'डाकिनी, पूतना आदिके नजरका दोष बचानेके लिये लड़केकी रक्षाके हेतु ये बाँधे जाते हैं।' तब सुशीलाने पूछा—'आपने इन्द्रसेनीको तो ये कभी नहीं पहनाये?' गौतमीने उत्तर दिया—'लड़कियोंकी रक्षा तो भगवान् करते हैं। इसलिये उनके यह सब बाँधनेकी आवश्यकता नहीं।' सुशीलाने हाथ जोड़कर बड़ी ही विनयसे कहा—'माताजी! भगवान् तो सबकी ही रक्षा करते हैं। जो भगवान् इन्द्रसेनीकी रक्षा करते हैं, वही इसकी भी रक्षा करेंगे। इसके लिये हमलोगोंको इतनी चिन्ता क्यों करनी चाहिये! इन सब कार्योंसे तो उलटा भगवान्पर अविश्वास ही प्रकट होता है तथा कोई लाभ भी नहीं दीखता।'

सुशीलाकी ये युक्तियुक्त बातें गौतमीको भी जँच गयीं और उसने बच्चेके गलेसे वह झालरा और हाथ-पैरोंके डोरे उसी दिन निकाल दिये।

(२)

कुछ दिनोंके पश्चात् हरद्वारमें कुम्भका मेला लगा। सब लड़कोंने मिलकर पण्डितजीके सामने प्रस्ताव रखा कि आपकी अनुमति हो तो सब लोग कुम्भ-मेलेपर हरद्वार चलें। इसपर पण्डितजीने कहा—'बहुत ही अच्छा है, हम भी चलेंगे।' फिर क्या देर थी, तुरंत तैयारी हो गयी और घरका प्रबन्ध करके वे समस्त परिवारसहित चल पड़े। चलते समय सुशीलाने सबसे प्रार्थना की—'मेलेमें ठग, चोर, कुटनियाँ और लुटेरे भी आया करते हैं, उन सबसे बहुत सावधान रहना चाहिये। किसी भी अपरिचित स्त्री-पुरुषसे कभी सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये। किसीकी दी हुई वस्तु स्वीकार नहीं करनी चाहिये और न किसी अपरिचितका विश्वास ही करना चाहिये। यात्रामें खान-पानमें संयम रखना और सदा धैर्य तथा विवेकसे काम लेना उचित है। किसीके भी सामने कमजोर और डरपोक नहीं बनना, बल्कि धैर्यपूर्वक उत्साह और साहससे काम निकालना चाहिये।'

रास्तेमें सब लोगोंने अयोध्याजी उतरकर स्नान, दर्शन करनेका विचार किया और वे वहाँ जाकर एक धर्मशालामें ठहर गये। सब लोगोंने सरयूमें स्नान करके मन्दिरोंमें जाकर भगवान्के दर्शन किये और फिर धर्मशालामें आ गये। रसोइया धर्मशालाके बाहर चबूतरेपर बैठा था। वहाँ एक ठगने आकर उससे कहा—'मैं तुम्हें एक मसाला

देता हूँ, इसे तुम दालमें डाल दोगे तो दाल बहुत बढ़िया बन जायगी और उसको खानेपर सब घरवाले तुम्हारे वशमें हो जायँगे।' रसोइया तो मूर्ख था ही, उसने उससे वह मसाला ले लिया और कुछ दालमें डाल दिया तथा बाकी बचा हुआ पुड़ियामें बाँधकर अलग रख दिया। भोजन तैयार होनेपर सोमदत्त और रामदत्त दोनों भाई, इन्द्रसेन, इन्द्रसेनी और बहिन रोहिणीने भोजन किया। भोजन करते ही वे सब बेहोश हो गये। यह देखकर सुशीलाने निश्चय किया कि अवश्य ही भोजनमें कुछ-न-कुछ गड़बड़ी है, नहीं तो ये सभी बेहोश कैसे होते?

वह तत्काल रसोईघरमें गयी और देखा कि एक कागजकी पुडियामें धतूरेके बीज रखे हैं। उसने रसोइयासे पूछा—'आपने आज यह क्या खिला दिया, जिससे खानेवाले सब बेहोश हो गये?' रसोइयाने कहा—'कुछ नहीं।' सुशीला बोली—'कुछ नहीं तो ये बेहोश कैसे हुए? आप सच्ची बात बतला दीजिये, नहीं तो आपपर कानूनी कारवाई की जायगी।' यह कहकर सुशीलाने उसको धतूरेके बीज दिखलाये और कहा—'यह क्यों लाये गये हैं?' रसोइया बोला—'एक सज्जन आये थे, वे मुझको बीस रुपये तो दानस्वरूप भेंट कर गये और यह मसाला दे गये कि इसे दालमें डाल देनेसे दाल बढ़िया हो जायगी और उसको खाकर सब प्रसन्न हो जायँगे। मैंने मसालेको देखा नहीं, कुछ तो दालमें डाल दिया था और कुछ पुड़ियामें रख दिया।'

सुशीलाने तुरंत सारी बातें अपने पतिसे कही और शीघ्र उपचार करनेके लिये निवेदन किया। मोहनलालने पण्डितजीसे कहा। सब सुनकर पण्डितजीको बड़ा खेद और आश्चर्य हुआ। उन्होंने चिकित्साके लिये उसी क्षण अच्छे वैद्योंको बुला भेजा और फिर रसोइयाको बुलाकर उसे डाँटा-धमकाया—'तुमने हम सबको मार डालनेका विचार किया था, तुमको पुलिसमें देना चाहिये।' इसपर उसने उनसे क्षमा-प्रार्थना की , तब पण्डितजीने उसको क्षमा करते हुए कहा—'भविष्यमें ऐसा काम कभी नहीं करना।' इतनेमें वैद्य आ पहुँचे और तत्काल अनुकूल चिकित्सा हो जानेसे सभी लोग बच गये। सबने सुशीलाकी प्रशंसा की।

दूसरे दिन वे वहाँसे चल पड़े। गाड़ी ज्वालापुर पहुँची। बच्चे प्यासे थे, इसलिये सुशीला उन्हें लेकर पानी पिलाने नीचे उतरी। इतनेमें गाड़ी खुल गयी और वह स्टेशनपर रह गयी। घरके लोगोंने जंजीर खींची, पर वह बिगड़ी होनेसे गाड़ी नहीं रुकी। पण्डित देवदत्तजी एवं अन्य सब लोग हरद्वार पहुँचे। शहरमें सब जगह रुकी हुई थी, इसलिये वे गङ्गाजीके किनारे तंबू डालकर उन्हींमें टिक गये; किंतु बालकोंसहित सुशीलाके छूट जानेसे बड़ी चिन्तामें पड़ गये और उसकी खोज करने लगे।

इधर सुशीला घबरायी नहीं, वह बच्चोंको गोदमें लिये पैदल ही चलकर ज्वालापुरसे हरद्वार आ गयी और एक मन्दिरमें जाकर ठहर गयी। उसने विद्वान् पुजारीसे अपना सारा हाल संस्कृतमें ही कह सुनाया। पुजारीजीपर उसकी विद्वत्ताका बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने उसको वहाँ ठहरनेके लिये स्थान दे दिया। तब उसने बहुत-से कागज मँगवाकर उनपर अपने ज्वालापुरसे यहाँ आकर मन्दिरमें ठहरनेकी बात लिखी और मन्दिरका पता आदि लिख दिया। पुजारीजीकी सहायतासे परोपकारी स्वयंसेवकोंद्वारा वे विज्ञापन शहरके प्रधान-प्रधान स्थानोंपर चिपकवा दिये गये तथा पुलिसमें सूचना पहुँचा दी गयी। इससे यह समाचार तुरंत ही सब जगह फैल गया। घरवाले खोज कर ही रहे थे। पता लगते ही मन्दिरमें जाकर उसे ले आये। उसकी इस अद्‌भुत कार्यकुशलता और धीरताको देखकर घरवालोंको बड़ी प्रसन्नता हुई।

वहाँ मेलेकी भीड़के कारण उन लोगोंको शुद्ध दूध नहीं मिला और उन्हें वहाँ कुछ दिन ठहरना था, अतः दो सौ रुपयोंमें एक गाय खरीदी गयी और वे वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे। वे रातमें पारी-पारीसे जागकर पहरा दिया करते थे। एक दिनकी बात है, सुशीलाका पहरा था, रातके चार बजे थे। उस समय चोर आया और वह गायको खोलकर ले जाने लगा। सुशीला बड़ी दूरदर्शिका थी। उसने पहलेसे ही तंबूमें एक घण्टा मँगवाकर रख छोड़ा था और घरवालोंको बता रखा था कि 'कोई चोर आदि आयेगा या कोई विपत्ति आयेगी तो मैं जोरसे घण्टा बजाऊँगी।' जोरोंसे चिल्लानेपर लज्जा जाती है और सूचना न देनेपर विपत्ति नहीं हटती, चोर धन ले जाता है; इसीलिये सुशीलाने पहलेसे सोचकर यह व्यवस्था की थी। उसने चोरको देख लिया और तुरंत बड़े जोरोंसे घण्टा बजाने लगी। घण्टाकी ध्वनि सुनते ही सब घरवाले चौंक पड़े और सबने एक साथ ही हल्ला किया—'क्या है? क्या है?' इतनेमें चोर भाग गया। बहूकी इस बुद्धिमत्तापर सब बड़े प्रसन्न हुए।

जब कुम्भका पर्व आया, तब वे सब हरकी पैड़ीपर स्नान करनेके लिये चले। अत्यधिक भीड़ होनेके कारण कई यात्री रास्तेमें दबकर मर गये, किंतु बुद्धिमती सुशीला

घरवालोंको बड़ी चतुराईके साथ भीड़से निकालती हुई सड़कके किनारे-किनारे चलकर घाटपर ले गयी। गङ्गा-स्नान करके सब लोग डेरेपर वापस आ गये। फिर एक-दो दिन बाद ही वे सब लोग प्रयाग लौट आये और अपने घरपर पहलेकी भाँति रहने लगे।

(३)

एक बार ग्रीष्मकालकी पूर्णिमाका दिन था। सुशीला अपने घरकी छतपर घूम रही थी। पड़ोसके घरकी मालकिन भी अपने घरकी छतपर आयी हुई थी। वह सम्पन्न घरकी विधवा ब्राह्मणी थी। उसके दो लड़के थे। एक १६ वर्षका और दूसरा ३ वर्षका। दोनों घरोंकी छतें बराबर होनेके कारण सुशीलाने सामने जाकर उसको नमस्कार किया। वह बड़ी ही कर्कशा थी। वह बोली—'क्यों री! तू चार अक्षर पढ़ी है, इसीके घमंडमें मुझे चिढ़ा रही है।' सुशीला बोली—'नहीं जी, मैं तो आपको अपनी माता और सासके समान समझकर नमस्कार करती हूँ।' वह बोली—'ठीक, तब तो तू मुझे चतुराईसे अपने बाप और ससुरकी औरत बनाना चाहती है? तेरे उन निपूते बाप और ससुरकी दाढ़ी जलाऊँ, जो मुझे अपनी औरत बनाना चाहते हैं।' वह इस प्रकार गालियाँ देने लगी और फिर नीचे उतरकर घरके बाहर निकल कर शोर मचाने लगी। जब राह चलते और अड़ोस-पड़ोसके बहुत लोग इकट्ठे हो गये, तब वह उनसे कहने लगी—'इस छोकरी सुशीलाकी धृष्टता तो देखो, यह मुझे अपने बाप और ससुरकी औरत बनाती है।'

जो लोग सुशीलाके हितैषी थे, वे उसकी नाना प्रकारकी गालियोंको सुनकर सुशीलाके पास गये और कहने लगे कि 'तुम अपने पतिको कहकर इसकी पुलिसमें रिपोर्ट करवा दो। अदालत इससे मुचलका ले लेगी। कोई भी किसीको अनुचित गालियाँ नहीं दे सकता।' इसपर सुशीलाने बड़े विनयके साथ हाथ जोड़कर प्रेमसे उन लोगोंको समझाया—'पुलिसमें जाना भले आदमियोंका काम नहीं है। आप देखिये, भगवान्‌ने चाहा तो थोड़े ही समयमें मैं इनको प्रेमसे अपना लेती हूँ।' उसके इस सरल द्रोहरहित[२५] हितैषितापूर्ण निर्वैरताके व्यवहारको देखकर वे सब बड़े प्रसन्न होकर चले गये।

एक दिनकी बात है कि उस कर्कशाका तीन सालका बच्चा घरके बाहर सड़कपर खेल रहा था, उसी समय दो साँड़ लड़ते-लड़ते बालकके समीप आ पहुँचे। सुशीलाने यह देख लिया। वह तुरंत दौड़कर उसको अपनी गोदमें उठा लायी और पड़ोसिनके पास जाकर कहा—'अकेले बालकको सड़कपर नहीं छोड़ना चाहिये। दो साँड़ लड़ते आ रहे थे। लड़केको चोट न पहुँचा दें, इसलिये मैं इसे उठा लायी हूँ।' इसपर कर्कशा बोली—'चल री चल! इसे तू क्यों उठा लायी? मैं आप ही ले आती।' सुशीलाने कहा—'मैं ले आयी तो इसमें मेरा क्या बिगड़ गया?' यों कहकर लड़केको उसके पास बिठाकर वह अपने घर लौट आयी।

सुशीलाके नैहरमें एक धनी ब्राह्मण था, उसकी सुशीलापर बड़ी श्रद्धा थी। उसने अपनी बारह वर्षकी कन्याकी सगाईके लिये सुशीलाके पास आदमी भेजा। उस कन्याकी सगाईकी बातचीत इसी कर्कशाके बड़े लड़केके साथ चल रही थी। शहरके एक आदमीने कर्कशासे कहा—'तुम्हारे लड़केकी सगाईके विषयमें पूछ-ताछ करनेके लिये सुशीलाके नैहरका ब्राह्मण उसके पास आया है।' यह सुनकर कर्कशा चौंक उठी और बोली—'वह तो मुझसे लड़ी हुई है और सदा मुझसे दुश्मनी रखती है।' यह कहकर वह सुशीलाके घरके द्वारपर छिपकर खड़ी हो गयी और सुशीला तथा उस ब्राह्मणकी परस्परकी बातचीत गुप्तरूपसे सुनने लगी।

ब्राह्मणने सुशीलासे कहा—'तुम्हारे भाईके मित्रने तुमपर विश्वास करके मुझे यहाँ भेजा है। तुम्हारे पड़ोसमें विधवा ब्राह्मणीके एक सोलह वर्षका लड़का है, उसके साथ उनकी कन्याकी सगाई करनेमें तुम्हारी क्या राय है?' सुशीला सब हाल जानती थी। उसने सोचा, दोनों ही धनी हैं। दोनोंकी ही स्त्रियाँ कर्कशा और कलहप्रिय हैं। यह सोचकर उसने ब्राह्मणसे कहा—'उनके लिये यह सगाई सब प्रकारसे अच्छी है।' ब्राह्मणने पूछा—'लड़केकी माँको तो लोग कर्कशा बतलाते हैं।' सुशीला बोली—'आजकलके समयमें स्त्रियोंमें बुद्धि कम होनेके कारण प्रायः सभी घरोंमें राग-द्वेष और कलह रहता है। इसीसे एक-दूसरेकी निन्दा करनेका स्वभाव पड़ा हुआ है। मेरी समझमें तो उनके लिये यह सगाई कर लेनी अच्छी है। यह संदेश लेकर ब्राह्मण वहाँसे चला गया।

कर्कशा सारी बात आद्योपान्त सुन रही थी। उसपर सुशीलाके इस बर्तावका बहुत ही अच्छा प्रभाव[२१] पड़ा। वह घरके भीतर सुशीलाके पास चली गयी और विनयसे कहने लगी— 'सुशीला! तू धन्य है। मैंने तो तेरे साथ बुरा-ही-बुरा बर्ताव किया। इसपर भी तू तो मेरा हित ही करती रहती है। बहिन ! मैं तेरे इस व्यवहारको देखकर मुग्ध हो गयी। यह विद्या तूने कहाँसे सीखी है? क्या मेरा स्वभाव भी तुझ-जैसा हो सकता है? मैं तेरा संग

करना चाहती हूँ। क्या मैं समय-समयपर तेरे यहाँ आ सकती हूँ ?' सुशीलाने उत्तर दिया—'क्यों नहीं। यह तो आपका ही घर है। आप यहाँ पधारें, यह तो मेरे लिये बड़े ही सौभाग्यकी बात है। आपकी मुझपर बड़ी ही दया और प्रेम है।' वह बड़ी प्रसन्न हुई और समय-समयपर सुशीलाके घर जाने लगी। सुशीलाके संगसे उसपर भी अच्छा असर होने लगा तथा थोड़े ही समय बाद वह भी सुशीलाके समान सुन्दर स्वभाववाली बन गयी।

कर्कशा पड़ोसिनमें ऐसा अद्भुत परिवर्तन देखकर सुशीलाके उन हितैषियोंपर भी बड़ा अच्छा असर पड़ा, जो पहले उसकी रिपोर्ट पुलिसमें करनेके लिये सुशीलासे अनुरोध करते थे, वे अब सुशीलाके पास आकर कहने लगे— 'सुशीला! बड़े आश्चर्यकी बात है, तुमने तो इसको अपने समान ही बना लिया।' सुशीला बोली—'यह सब ईश्वरकी कृपा है।' उन हितैषियोंने फिर कहा—'धन्य है तुमको। हम जो इस कर्कशाकी पुलिसमें रिपोर्ट करनेको कहते थे, वह हमारी गलती थी।'

कुछ ही दिनों बाद कर्कशाके लड़केका विवाह निश्चित हुआ, तब वह सुशीलाके घरके सभी पुरुषोंको आग्रह करके विवाहमें ले गयी। घरके सभी पुरुष तीन दिनोंके लिये बारातमें चले गये। इसी बीचमें उस मुहल्लेमें एक बनियेके यहाँ चोरी हो गयी। अत: उस बनियेको लेकर कोतवाल पण्डितजीके घरमें आ घुसे और बोले कि हम आपके घरकी तलाशी लेने आये हैं। यह सुनकर घरकी सब स्त्रियाँ घबरा गयीं, तब गौतमी बोली—'बहू! पुलिसवाले आये हैं, इनका आना अच्छा नहीं। इन लोगोंको कुछ रुपये-पैसे देकर विदा कर दो।' सुशीलाने कहा—'आप चिन्ता न करें, मैं स्वयं ही सब ठीक कर लूँगी।' फिर सुशीला उस बनियेसे कहने लगी—'क्यों जी! क्या आप हमारे घरमें पुरुषोंकी अनुपस्थितिमें तलाशी करवाकर हमारी बेइज्जती कराना चाहते हैं? क्या आपको अपने चोरीके मालका हमारे घरपर संदेह है?' बनियेने कहा—'नहीं देवीजी! मैं तो ऐसा नहीं चाहता। मुझे तो ये पुलिसवाले ही यहाँ ले आये।' फिर सुशीलाने निर्भीकतापूर्वक कोतवालसे कहा—'क्यों कोतवालजी! क्या आप हमारे घरकी तलाशी लेने आये हैं?' कोतवाल बोला—'कल रातको इस बनियेके यहाँ चोरी हो गयी, अत: हमलोग तलाशी लेनेके लिये यहाँ आये हैं।' सुशीलाने निर्भयतासे[१] कहा—'बहुत अच्छा! आप मुझे लिखकर दे दीजिये कि मैं अपनी स्वतन्त्रतासे तुम्हारे घरकी तलाशी ले रहा हूँ और यह भी बताइये कि तलाशी लेनेपर कुछ नहीं पाया जायगा तो हमारी इस बेइज्जतीका दावा हम किसपर करें, उसके जिम्मेदार कौन होंगे?' यह सुनकर कोतवाल घबराया और बोला—'यह बनिया ही मुझे यहाँ ले आया है और यहाँ आकर अस्वीकार करता है।' यों बात बनाकर वे सब वहाँसे चल दिये। जब घरके पुरुष विवाहसे लौटे तो इस घटनाको सुनकर बड़े प्रसन्न हुए तथा सुशीलाका और भी अधिक आदर-सत्कार करने लगे।

(४)

इस प्रकार घरके पुरुषोंके द्वारा सुशीलाका बड़ा आदर-सत्कार होने लगा। सुशीलाके इस बढ़ते हुए आदर-सम्मानसे घरकी अन्य स्त्रियोंके मनोंमें ईर्ष्याकी आग लग गयी। वे सब उससे मन-ही-मन कुढ़ने लगीं और उसे नीचा दिखानेके लिये उसमें छिद्रान्वेषण करने लगीं; किंतु सुशीलामें तो कोई दोष था ही नहीं; वह तो सबकी सेवा करती और सबके गुणोंका बखान किया करती, किसीके अवगुणोंकी ओर तो वह कभी देखती ही नहीं। इसलिये उन लोगोंको कोई साधन नहीं सूझता था। घरकी स्त्रियोंकी इस मनोवृत्तिको देखकर रसोइया और नौकरने इस परिस्थितिसे लाभ उठानेकी सोची।

एक दिन घरकी सब स्त्रियोंने रसोइया और नौकरके साथ मिलकर सुशीलाको नीचा दिखानेके लिये षड्यन्त्र रचा। एक योजना बनायी गयी और उसीके अनुसार देवी रामदेवीने यह झूठी बात फैलायी कि मेरा स्वर्णका कङ्कण चोरी हो गया और मेरा संदेह सुशीलापर है। घरके पुरुषोंको इस बातपर विश्वास नहीं हुआ। कुछ ही दिन बीतनेपर बहिन रोहिणीने यह झूठा प्रचार किया कि मेरा लहँगा और एक साड़ी कलसे गायब है। तब पुरुषोंको कुछ आश्चर्य हुआ कि रोज-रोज घरमें यह चोरी कैसे होने लगी। जाँच-पड़ताल की गयी, पर कुछ पता नहीं चला। फिर दो-चार दिनों बाद ही भगवानदेवीने कहा कि मेरा सोनेका हार कल रातसे गायब है। घरवालोंने बहुत छानबीन की, किंतु कुछ भी पता नहीं चला। चलता भी कैसे, जिसकी चीज होती, वही उसे छिपाकर रख देती। घरकी सभी स्त्रियोंने अपनी-अपनी चीजोंका सुशीलापर ही संदेह बतलाया।

वहाँ उसी मुहल्लेमें भक्तिदेवी नामकी एक बुढ़िया स्त्री रहती थी, जिसका नैहर सुशीलाके पिताके पड़ोसमें ही था और सुशीलाकी माँके साथ उसका बड़ा प्रेम था।

नौकरसे यह सूचना मिली कि भक्तिदेवी कल अपने नैहर जानेवाली है। इसपर नौकर, रसोइया और

सब स्त्रियोंने मिलकर एक जालसाजी रची। जिन चार चीजोंके खोनेकी बात फैलायी गयी थी, वे चारों चीजें रोहिणीने एक थैलीमें रखकर उसे सीकर उस बुढ़िया भक्तिदेवीके पास रसोइयाके हाथ भेजी और साथमें एक चिट्ठी लिखकर दी; जिसमें यह लिखा कि 'माताजीसे सुशीलाका नमस्कार। इस भक्तिदेवीके हाथ यह थैली भेजी जा रही है। इसका किसीको पता नहीं लगना चाहिये।' रसोइयाने भक्तिदेवीके पास जाकर कहा—'लो, सुशीलाने अपनी माँके पास यह थैली भेजी है और कहा है कि मेरी माँको ही देना, किसी दूसरेको नहीं।' यह कहकर रसोइया घर आ गया।

उसी रात्रिमें रोहिणीने सुशीलाको छोड़कर घरकी उन सभी स्त्रियों और पुरुषोंको एकत्र करके यह बात कही कि कई दिनोंसे जो अपने घरकी चीजें चोरी हो रही हैं, उनके लिये हमलोगोंका सुशीलापर ही संदेह है। अपने मुहल्लेमें रहनेवाली बुढ़िया भक्तिदेवी सुशीलाकी माँसे विशेष प्रेम रखती है। कल वह अपने नैहर जानेवाली है। उसके साथ सुशीलाने अपनी माँके पास शायद कुछ भेजा है। कल ही प्रात:काल भक्तिदेवी जायगी और अपने घरके आगे होकर रास्ता है ही। तब उसे रोककर पूछना चाहिये और सब चीजें देखनी चाहिये कि सुशीलाने क्या-क्या चीजें भेजी हैं।

दूसरे दिन प्रात:काल ही सुशीलाका पति मोहनलाल अपने घरके द्वारपर बैठ गया और भक्तिदेवीकी प्रतीक्षा करता रहा। जब भक्तिदेवी थैली लिये जा रही थी, तब मोहनलालने उसे रोका और कहा—'बुढ़िया माई! क्या लिये जा रही हो?' भक्तिदेवीने कहा—'सुशीलाने अपनी माँके पास एक चिट्ठी और एक थैली भेजी है।' मोहनलाल बोला—'उसे नहीं भेजना है, वापस दे दो।' यह कहकर उसने बुढ़ियासे वह थैली और चिट्ठी ले ली और कहा—अब तुम जाओ।'

इसके बाद मोहनलालने जहाँ घरके सब पुरुष थे, वहाँ वह थैली और चिट्ठी ले जाकर रख दी और बुढ़ियाने जो बात कही, वह सब भी कह दी। थैलीको खोलकर देखा गया तो जो चार चीजें चोरी हो गयी थीं, वे उसके अंदर मिलीं। फिर जब चिट्ठी खोलकर पढ़ी गयी, तब सब आग-बबूले हो गये। मोहनलाल क्रोधमें भरकर घरमें गया और सुशीलाको बड़े बुरे शब्दोंमें डाँटने लगा—'बदमाश! चली जा हमारे घरसे। बाहर तूने ही घरकी सब चीजें चुरायी हैं, तूने जो थैली और चिट्ठी भक्तिदेवीके हाथ अपनी माँके पास भेजनेका प्रबन्ध किया था, वह सब पकड़ी गयी। हम किसी हालतमें तुझ-जैसी चोट्टीको घरमें रखना नहीं चाहते। जहाँ तेरी इच्छा हो वहीं चली जा।' सर्वथा मिथ्या और अप्रत्याशित आरोपको सुनकर सुशीला काँप उठी, उसकी आँखोंसे आँसू बहने लगे; उसने बड़े ही करुण शब्दोंमें कहा—'स्वामिन्! आप विश्वास करें, मैंने यह काम नहीं किया है। भगवान् साक्षी हैं। आप शान्त होकर सारी बातें सोचिये। जरा उस बुढ़ियासे तो पूछिये कि उसको थैली और चिट्ठी कौन दे गया था। न मैंने कोई चिट्ठी लिखी और न मैंने कोई थैली ही भक्तिदेवीको दी है। आप उस चिट्ठीके अक्षरोंको तो देखिये कि वे किसके हैं। आपको इसकी पूरी-पूरी जाँच-पड़ताल करनी चाहिये।' पर मोहनलाल तो इस समय क्रोधान्ध था। मेरी पत्नी ऐसा कुकार्य करती है, इससे उसके मनमें बड़ा क्षोभ था। क्रोधमें विवेक नष्ट हो ही जाता है। जाँच-पड़ताल कौन करे—प्रमाण सामने है। उसने झुँझलाकर कहा—'तुझे सफाई देते शर्म नहीं आती। तूने तो मुझपर अमिट कलंक लगा दिया। मेरे मुखपर वह कालिख पोत दी, जो कभी धुल नहीं सकती। मैं तेरा मुँह नहीं देखना चाहता। जा, तुरंत निकल जा यहाँसे।' सुशीलाने गिड़गिड़ाकर बहुत कुछ कहा, पर उसने एक भी नहीं सुनी और उसे घरके बाहर निकाल दिया। इन्द्रसेन उस समय चार वर्षका था और इन्द्रसेनी छ: वर्षकी, उनको उनकी दादीने अपने पास रख लिया। षड्यन्त्रकारी रसोइया, नौकर और घरकी स्त्रियोंको अपनी सफलतापर बड़ा आनन्द था। वे हँस रहे थे और उछल-उछलकर कह रहे थे—'हम तो पहले ही जानते थे कि यह इतनी बड़ी-बड़ी बातें बनानेवाली निश्चय ही नीच है, पर इसने तो सबपर जादू ही डाल दिया था, आज सारी पोल खुल गयी।'

ऐसा अनुचित व्यवहार देखकर भी सुशीलाके हृदयमें कोई क्रोध[१२] नहीं आया और न कोई प्रतिहिंसाका[१०] भाव ही उत्पन्न हुआ। वह किसीपर भी दोष न लगाकर अपने प्रारब्धको कोसने लगी। उसने सोचा—'जब मुझ निरपराधिनीके ऊपर कलंक लगाकर मेरे पतिदेव ही मुझे त्याग रहे हैं, तब ऐसी हालतमें मेरे जीनेसे ही क्या प्रयोजन है?' किंतु शास्त्रोंने बतलाया है कि स्त्रीके लिये पति ही तीर्थ, पति ही व्रत और पति ही सब कुछ है, ऐसा समझकर मुझे उनके विधानमें ही संतुष्ट रहना चाहिये और हर समय धैर्य रखना चाहिये। विपत्ति तो सभी मनुष्योंपर आया ही करती है। समझदार मनुष्यको अपने

धीरज और धर्मका कभी किसी भी हालतमें त्याग नहीं करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

(२।५६)

'दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥

अतः दुःखके आवेशमें आकर आत्महत्या करना कोई बुद्धिमानी नहीं है। उससे न इस लोकमें और न परलोकमें ही सुख हो सकता है। बल्कि इस समय जो मुझे घरसे निकाले जानेका दुःख है, आत्महत्या करनेके समय तो इससे भी अधिक दुःख होगा। जो मनुष्य मरनेके लिये नदीमें प्रवेश करता है, उसे उस समय इतना अधिक दुःख होता है कि वह फिर जीनेके लिये बाहर निकलनेका प्रयत्न करता है। इसी प्रकार मरनेके लिये विष खानेवाला भी पुनः जीनेके लिये विष उतारनेका प्रयास करता है और शरीरपर मिट्टीका तेल छिड़ककर मरनेवाला व्यक्ति तो चिल्ला-चिल्लाकर सिसक-सिसककर मरता है। उनको केवल इस लोकमें ही दुःख होता हो—इतना ही नहीं, मरनेके बाद वे अन्धकारमय नरकोंमें जाकर उससे भी घोर कष्ट और दुर्गतिको प्राप्त होते हैं।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(ईशावास्य० ३)

'अज्ञान और दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आवृत जो असुरोंके प्रसिद्ध नाना प्रकारकी योनियाँ और नरकरूप लोक हैं, आत्माकी हत्या करनेवाले जो कोई भी मनुष्य हों, वे मरकर उन्हीं लोकोंमें बारंबार जाते हैं।'

यही नहीं, उसके नैहर और ससुराल दोनों कुलोंको सदाके लिये घोर कलंक लग जाता है। यह मेरे लिये बहुत ही लज्जाकी[१९] बात है। उत्तम स्त्रियोंके लिये तो आत्महत्याका संकल्प होना ही कलंक है। अतः मैं अपने जीवनको कभी नष्ट नहीं करूँगी। ईश्वरके घरपर न्याय है और मैं सच्ची हूँ। मैं जीती रहूँगी तो एक दिन ऐसा आयेगा कि मेरा यह सब कलंक अपने-आप दूर हो जायगा। झूठी बात कहाँतक टिकेगी? मेरी तो बात ही क्या है, भगवान् श्रीकृष्णपर भी मणिकी चोरीका झूठा कलंक लग गया था, किंतु वह कायम नहीं रहा। ऐसा विचारकर उसने अपने हृदयमें धीरज[२३]धारण किया और वह स्वतः प्राप्त हुए कष्टको सहन करके स्वधर्मपालनरूप तपस्यामें संलग्न हो गयी एवं अपने शरीर-निर्वाहका न्याययुक्त उपाय सोचने लगी।

(५)

सायंकाल होनेपर वह एक धर्मशालामें जाकर ठहर गयी। वह नित्य-निरन्तर नियमपूर्वक परमात्माका[३] ध्यान करती, जिसके प्रभावसे उसका अन्तःकरण[२] पवित्र होता गया। वह मन[५]-इन्द्रियोंका संयम करके नित्य गीता-रामायणका स्वाध्याय[७]और भगवान्‌के पवित्र नामोंका जप किया करती तथा बिना किसी द्रोह-द्वेषके वह मन-ही-मन अपने पतिदेवके विचार शुद्ध हों, इसके लिये कातर प्रार्थना करती।

उसकी जेबमें घरकी रोकड़के हिसाबके पाँच रुपये थे, उन्हींसे उसने अपने भावी जीवनका कार्यक्रम सोचा। दूसरे दिन वह चार आनेमें सूआ, पौने दो रुपयेमें रंगीन रेशमी सूत, आठ आनेमें अपने लिये आटा-दाल और मसाला, चार पैसेमें दोने-पत्तल तथा दो रुपये सात आनेमें एक बाल्टी और तसला खरीदकर ले आयी। उसने तसलेमें आटा गोंदा उसे पत्तलपर रख दिया। फिर तसलेको उलटकर उसीपर रोटी सेंक ली। रोटी पत्तलपर रखकर तसलेको धोकर उसीमें दाल पका ली। इस प्रकार अपना भोजन तैयार कर लिया। भोजन करनेके बाद दिनमें उसने सूतके गंजी और मोजे बना लिये; जिनको बाजारमें बेचकर साढ़े तीन रुपये कर लिये। रोज इसी प्रकार वह पौने दो रुपये कमाने लगी, जिसमें बारह आनेमें दोनों समयके भोजनका सामान ले आती और एक रुपया जमा रख लेती। पंद्रह दिनोंमें पंद्रह रुपये हो जानेपर उसने पाँच रुपये मासिक किरायेमें एक घर ले लिया, पाँच रुपयेके रसोईके बरतन और खरीद लायी तथा पाँच रुपयेका सूत ले आयी।

इसके बाद सुशीलाने शहरमें सूचना कर दी कि साड़ी, लहँगा, ओढ़ना, चद्दर, दुपट्टा आदिपर किसीको बेल-बूटे कढ़ाने, दोहे, चौपाई, श्लोक आदि लिखवाने हों तो मेरे घरपर भेज दें। लोग उसके पास भेजने लगे। उसके लिखे हुए बड़े ही सुन्दर और आकर्षक दोहे, चौपाई, श्लोक और बेल-बूटे आदिको देखकर लोग उसकी शिक्षा और कारीगरीपर मुग्ध होने लगे। सुशीलाके इस कार्यसे डेढ़ सौ, दो सौ रुपये महीनेकी आय होने लगी। सालभरके बाद उसने एक बड़ा मकान किरायेपर

लेकर उसमें एक कन्या-पाठशाला खोल दी, जिसमें बहुत-सी लड़कियोंको बिना शुल्कके ही वह व्याकरण, गीता, रामायण आदि हिन्दी-संस्कृतके ग्रन्थ पढ़ाने लगी। वह उनको विद्याके साथ कारीगरीका काम भी सिखाती थी। लड़कियाँ उसके पास जो चीजें तैयार करतीं, उनको वह बाजारमें बिक्री कर दिया करती, जिससे प्रतिमास उसके दो सौ रुपयोंकी बचत होने लगी। इस प्रकार सालभरमें उसका सब खर्च लगकर उसके पास दो हजार रुपयोंकी बचत हो गयी।

उसके बाद उसने थोड़ी जमीन खरीदकर एक कच्चा घर बना लिया और एक गाय खरीद ली तथा एक नौकर भी रख लिया जो गायका तथा घरका सब काम-काज कर देता। इस प्रकार करते-करते दूसरे वर्ष उसके पास पाँच हजार रुपये बच गये।

तीसरे वर्ष वह निजका रेशम, सूत और कपड़ा खरीदकर उनपर गीता-रामायणके श्लोक, दोहे, चौपाई और सुन्दर-सुन्दर बेल-बूटे बनाकर सत्यता[११] और न्यायपूर्वक क्रय-विक्रय भी करने लगी तथा दूसरे लोग जो अपने कपड़ोंपर बेल-बूटे, दोहा-चौपाई लिखवाने आते, उनका काम भी करने लगी। उसके सत्य, न्याय, विनय और प्रेमयुक्त व्यवहारका जनतापर बहुत अच्छा असर पड़ने लगा। इस प्रकार व्यापार करते-करते उसके पास पंद्रह हजार रुपये हो गये एवं उसके सब तरहका खर्च लगकर प्रतिमास करीब एक हजार रुपये बचने लगे। इस तरह रुपये बढ़ जानेसे शहरमें उसकी बहुत ही ख्याति हो गयी। फिर वह एक धनी व्यक्तिकी तरह बहुत ही इज्जतके साथ रहने लगी। उसने अपनी जमीनपर एक पक्का मकान भी बना लिया तथा कई आदमी रख लिये और उसका व्यापार खूब चलने लगा। उसके चरित्र और गुण तो सर्वथा शुद्ध, सात्त्विक और आदरणीय थे ही, उसके कार्य-व्यवहारसे भी ख्याति फैल गयी। उसके हृदयमें दीन, दुःखी, अनाथ, गरीब, अपाहिज लोगोंके प्रति बड़ी ही दया[१६] थी। इस कारण वह उनको आवश्यकतानुसार अन्न-वस्त्र आदिका निष्कामभावसे दान[४] करने लगी, वह नित्य रसोई बनाकर भगवान्‌के भोग लगानेके बाद बिना मन्त्रोंके बलिवैश्वदेव[६] करती और फिर पहले अतिथियोंको भोजन कराकर स्वयं भोजन करती।

(६)

इधर साध्वी सुशीलाको घरसे निकाल देनेके कारण शहरमें उसके सास-ससुर और जेठ-जेठानी आदि सभी लोगोंकी निन्दा होने लगी तथा घरमें आपसकी अनबन और विवेककी कमीके कारण धीरे-धीरे घरकी सम्पत्ति नष्ट होने लगी।

एक दिनकी बात है कि बहिन रोहिणीके पास उसी मुहल्लेकी एक स्त्री आयी और बोली कि आज मुझे पचास रुपयोंकी बहुत ही आवश्यकता है। यदि तुम रुपये दे सको तो मैं तुम्हें उनका दो रुपये प्रतिशत ब्याज दे दूँगी। उसे भले घरकी स्त्री समझकर रोहिणीने पचास रुपये दे दिये। वह रुपये लेकर घर चली गयी। कुछ देर बाद ही वह वापस आयी और एक रुपया देकर कहने लगी—'आपने पचास रुपयोंकी जगह इक्यावन रुपये गिन दिये हैं, इसलिये मैं वापस आयी हूँ। अपना एक रुपया ले लें।' इसका रोहिणीपर अच्छा असर पड़ा। उसने रुपया ले लिया और सोचा—यह बड़े घरानेकी अच्छी स्त्री है। पंद्रह दिन ही बीते थे कि उसने वे पचास रुपये और उनका एक महीनेका ब्याज एक रुपया रोहिणीको दे दिया। तब रोहिणीने कहा—'आप ये रुपये कुछ दिन और रख सकती हैं।' वह बोली—'मुझे जरूरत होगी तब ले लूँगी अभी जरूरत नहीं है।' ऐसा कहकर वह चली गयी।

कुछ दिनोंके बाद वह फिर आयी और बोली—'आज मुझे दो सौ रुपयोंकी आवश्यकता है, उधार दे सकती हैं क्या?' रोहिणीने झट रुपये निकालकर दे दिये। दस दिन बाद ही उस स्त्रीने दो सौ रुपये और उनके एक महीनेके ब्याजके चार रुपये, इस प्रकार दो सौ चार रुपये लौटा दिये।' इससे रोहिणीके दिलमें और भी विश्वास जम गया।

कुछ दिनोंके पश्चात् वह फिर एक दिन आयी और रोने लगी। रोहिणीके पूछनेपर उसने कहा—'हमारे कुटुम्बमें विवाह है। क्या करूँ? मेरा सारा गहना हमारे घरवालोंने बन्धक रख छोड़ा है और बिना गहने विवाहमें जानेसे बेइज्जती होती है, अतः आप तीन दिनको विवाहमें पहननेके लिये कृपापूर्वक मुझे अपना गहना दे दें तो हमारी इज्जतकी रक्षा हो जाय।' रोहिणीको उसपर विश्वास था ही, उसने अपना सब गहना निकालकर उसे दे दिया। वह स्त्री गहना लेकर अपने घर चली गयी। किंतु जब वह पाँच दिनोंतक लौटकर नहीं आयी तब रोहिणी, उसके घरपर गयी और उसने पूछा—'बहिन! तुम्हारे विवाहका काम हो गया क्या?' उस स्त्रीने कहा—'हमारे यहाँ तो किसीका विवाह था ही नहीं।' रोहिणी बोली—'आपके कुटुम्बमें विवाह था, उसके लिये आप मेरे पास

गहना लेने गयी थीं न?' उसने उत्तर दिया—'हमारे न तो कोई विवाह था, न कोई गहनेकी आवश्यकता ही थी। हमारे अपने पास ही बहुतेरे गहने हैं, हम तुम्हारे पास गहनेके लिये क्यों जातीं?' रोहिणी बोली—'आप मेरे पास कई बार गयीं, रुपये-पैसोंका भी आपसमें कई बार लेन-देन हुआ, फिर आज आप इस तरह मेरे सामने झूठी बातें क्यों बोल रही हैं?' उसने कहा—'वाह-री-वाह! झूठी बातें मैं बोल रही हूँ कि तू? हम तो स्वयं रुपयोंका ब्याज उपजाते हैं, हमारे तो रुपयोंकी कोई कमी नहीं है, मैं क्यों जाती तुम्हारे पास रुपया लाने? हमारे यहाँ तो रुपये-पैसोंका काम पड़ता है तो पुरुष ही सब किया करते हैं। हमारे घरके पुरुष यदि ये बातें सुन लेंगे तो तुम्हारी बेइज्जती करेंगे।'

उसकी बातें सुनकर रोहिणीको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह अपने घर लौट आयी और दुःखित हृदयसे अपने पिता और भाइयोंके सामने रोने लगी। उसकी बातें सुनकर उसके पिता और भाईने पूछा—'उस स्त्रीको तुमने जो गहना दिया है, उसकी कोई लिखा-पढ़ी है क्या? और उस समय कौन हाजिर था?' रोहिणी बोली—'मैंने तो उसके विश्वासपर गहना दे दिया, कोई लिखा-पढ़ी नहीं की और न उस समय वहाँ कोई दूसरा था ही।' पिता और भाइयोंने कहा—'जब उसकी कोई लिखा-पढ़ी और गवाही ही नहीं, तब इसका कोई उपाय नहीं। ऐसा काम तुमको हमसे बिना पूछे नहीं करना चाहिये था।' सब लोग सिर पीटकर रह गये!

एक दिनकी बात है, पण्डित देवदत्तजीके पास एक साधु-वेषधारी ठग आया। पण्डितजीने उसकी बहुत सेवा-शुश्रूषा की। साधुने पण्डितजीसे पूछा—'योगक्षेम ठीक चलता है न?' पण्डितजी बोले—'जबसे छोटी बहू घरसे चली गयी, तबसे घरमें कलह-क्लेश रहते हैं। संसारमें हमारी निन्दा होनेसे जीविका भी प्राय: नष्ट हो गयी और सट्टे-फाटकेमें घाटा लग जानेके कारण लड़कोंका व्यापार भी बंद हो गया तथा मोहनलालके व्यापारका कोई संयोग लगा नहीं।' साधुने कहा—'मैं तुमको एक रसायन विद्या बतला देता हूँ, जिससे तुम प्रतिदिन दो मासा सोना बना लिया करो, पर अधिक लोभ नहीं करना साधुवेषधारीने फिर कहा—'अच्छा! तुम बाजारसे चार आनेका संखिया, चार आनेका गन्धक, चार आनेका पारा, एक कुठाली और कुछ कोयला ले आओ।' वे तुरंत ले आये। उस ठगने अपनी झोलीसे चौलाईके पत्ते निकालकर उसके रससे संखिया, गन्धक और पाराके पुट देकर उसको पण्डितजीके हाथसे कुठालीमें डलवा दिया तथा कोयलोंसे कुठालीको भरकर गोइठोंसे आग जला दी, जिससे कोयले जलने लगे। ज्यों-ज्यों कोयले जलते गये, त्यों-त्यों पण्डितजी उसमें और कोयले डालते गये। जो कोयले डाले जा रहे थे, उनमेंसे उस ठगने पण्डितजीकी दृष्टिको बचाकर एक कोयलेके अंदर छेदकर उसमें दो माशा सोना पहलेसे ही भर दिया था। कोयला गिराते-गिराते जब स्वर्णवाला कोयला कुठालीमें पड़ गया तब उसने और कोयला डालना बंद करवा दिया। संखिया, गन्धक और पारा तो उड़ गया और कोयले जल गये, केवल दो माशा सोना था, वह कुठालीमें रह गया।

स्वर्णको देखकर पण्डितजीकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। साधुवेषधारी ठग चला गया। उसके जानेके बाद पण्डितजीने संखिया, पारा और गन्धक आदिका काफी स्टाक कर लिया तथा प्रतिदिन साधुरूपधारी असाधुके कहे अनुसार करने लगे, पर बनता-बनाता कुछ नहीं। एक दिन उसीको घरके सामनेसे जाते देखकर पण्डितजी उसके चरणोंमें गिर गये और उसको घरपर लाकर बड़ी सेवा की। साधुवेषधारीने पूछा—'योगक्षेम ठीक चलता है न?' पण्डितजीने कहा—'नहीं! आपने तो मुझसे कोई छिपाव नहीं किया, परंतु मेरे भाग्यकी बात है कि प्रतिदिन संखिया, पारा और गन्धक फूँकता हूँ, पर होता कुछ नहीं।' साधुवेषधारी बोले—'अच्छा! आज हमारे सामने तुम अपने-आप सब विधि करो; कोई गड़बड़ी होगी तो हम तुमको बतला देंगे।' जब पण्डितजी भीतरसे सब सामान लाने गये, तब बाबाजीने एक कोयलेके अंदर छेदकर दो माशा स्वर्ण उसमें रख दिया। सामग्री तो सब पण्डितजीके पास थी ही, शीघ्र ही लेकर आ गये तथा गन्धक, पारा और संखियाको चौलाईके रसकी भावना देकर कुठालीमें डाला और कुछ कोयला डाल दिया। ज्यों-ज्यों कोयला जलता जाता, त्यों-त्यों पण्डितजी चिमटेसे और कोयलोंको उठा-उठाकर कुठालीमें डालते जाते। वह ठग अलग दूर बैठा देख रहा था। उसने जब देखा कि स्वर्णवाला कोयला भी कुठालीमें शामिल हो गया है तो उसने कहा—'पूरा एक घंटा हो गया है, अब सोना बन जाना चाहिये। तुम उठकर देखो, अब और कोयला मत डालो।' थोड़ी देरमें कोयले सब जल गये। संखिया, पारा, गन्धक सब उड़ गया। केवल दो माशा सोना कुठालीमें रह गया। पण्डितजी सोनेको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'महाराज! अब तो मैं बिल्कुल समझ गया। तब वह ठग वहाँसे चला गया।

पण्डितजी प्रतिदिन संखिया, पारा और गन्धक फूँकते रहे, पर बनता-बनाता कुछ नहीं। फिर पाँच-सात दिन बाद वही साधु दरवाजेके आगे सड़कपर आता दिखलायी दिया। पण्डितजी दौड़कर उसके चरणोंमें गिर गये। उसने पूछा—'अब तो गृहस्थीका काम ठीक चलता है न?' पण्डितजीने कहा—'कुछ नहीं। आपने तो सब बातें बतला दीं, हमारे हाथसे भी कराकर दिखा दिया, परंतु होता कुछ नहीं! न मालूम क्या बात है? आपके सम्मुख तो आपके प्रभावसे हो जाता है, आप नहीं रहते तब नहीं होता।' वह बोला—'हम प्रतिदिन तो आ नहीं सकते। लो, हम एक साथ ही तुम्हारे लिये इतना सोना बना देते हैं कि तुम्हारे जन्मभर काम आवे। तुम्हारे घरमें जितना सोना है, सब ले आओ। सब सोना एक हँडियामें डालकर आगपर चढ़ा दो तथा उस हँडियाको जलसे भर दो और तुम्हारे पास जितना कुछ गन्धक, पारा, संखिया है, वह सब उसमें डाल दो। फिर उस हँडियाके ऊपर एक दूसरी हँडिया जलसे भरकर रख दो और उन दोनोंकी सन्धिमें मिट्टीकी खाम लगा दो। आठ पहरतक उसके नीचे आग लगाते रहो। उसके बाद खोलकर देखोगे तो सोना दुगुना मिल जायगा।'

पण्डितजीने प्रसन्नचित्त हो अपनी स्त्रीका सारा-का-सारा गहना एक हँडियामें भरकर जैसे उसने बतलाया, वैसे ही सब क्रिया की। किंतु ऊपरकी हँडियामें जल कम रहा, अतः वे जल लानेके लिये भीतर गये। पीछेसे बाबाजीने झट हँडियासे सारा गहना निकालकर अपनी झोलीमें रख लिया और उसमें उतने ही वजनके कंकड़-पत्थर भर दिये तथा हँडियामें पहलेकी तरह ही मिट्टीकी खाम लगा दी। इतनेमें ही पण्डितजी जल लेकर आ गये और ऊपर रखी हुई हँडियामें जल भर दिया। हँडिया कुछ टेढ़ी हो गयी थी, अतः पण्डितजीने उसे उठाकर सीधी कर दी। उठाते समय उन्हें हँडिया पहलेकी तरह ही भारी मालूम दी।

बाबाजी दो-तीन घंटे तो बैठे रहे, फिर कहने लगे कि 'कल मैं इसी समय आकर हँडियाकी खाम खोल देंगे, तब दुगुना सोना मिल जायगा।' यह कहकर वे चल दिये। दूसरे दिन समयपर पण्डितजी बाबाजीकी प्रतीक्षा करते रहे; किंतु बाबाजी दिनभर नहीं आये। आते कहाँसे, वे तो अपना काम बनाकर चम्पत हो गये थे। तब तीसरे दिन पण्डितजीने स्वयं ही खाम खोली तो उसमें सब कंकड़-पत्थर निकले। पण्डितजीको बड़ा संताप हुआ, उन्होंने सारा हाल अपने घरवालोंसे कहा। सब लोग यह सुनकर दुःखी हुए। साधुकी बहुत खोज-खाज की; किंतु उसका कुछ भी पता नहीं लगा। वह साधु थोड़े ही था, वह तो समाजमें सच्चे साधु-संन्यासियोंपर भी संदेह उत्पन्न करा देनेवाला धूर्तशिरोमणि चोर था।

एक दिनकी बात है, उनके मुहल्लेमें लाल कपड़ेवाली एक ठगिनी आयी और उसने वहाँ एक मकान किरायेपर लेकर अपना अड्डा जमा लिया। उसने अपनेको यन्त्र-तन्त्र-मन्त्रोंमें सिद्धिप्राप्त योगिनी बतलाया। उसके पास स्त्रियाँ कोई रोग-निवारणके लिये, कोई पुत्रके लिये, कोई धनके लिये, कोई अपने लड़के-लड़कियोंकी विवाह-शादीके लिये—इस प्रकार अनेक कामनाओंको लेकर आने लगीं। वह योगिनी किसीके डोरा, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र बाँध देती और किसीसे टोना कराती। इस प्रकार कराकर वह उनकी कार्य-सिद्धिके लिये उनमेंसे किसीको सालभरकी, तो किसीको छः महीनेकी और किसीको दो महीनेकी अवधि दे दिया करती। इस प्रकारकी धूर्तताद्वारा वह भोली-भाली स्त्रियोंसे गहने, कपड़े और रुपये ठगने लगी।

एक दिन रामदत्तकी स्त्री भगवानदेवी भी उसकी प्रशंसा सुनकर उसके पास पहुँच गयी और कहने लगी—'माताजी! मेरे कोई लड़का नहीं है, इसलिये ऐसा कोई उपाय बतलाओ, जिससे मेरे सालभरमें लड़का हो जाय।' योगिनीने कहा—'एक महीनेके अंदर ही तुम्हारे गर्भ रह जायगा। आनेवाले शनिवारकी रातको मैं तुमसे एक टोना कराऊँगी। तुम उस रातको दस बजे यहाँ आना। टोनेकी सामग्री तो सब हमारे पास मिल जायगी, तुम केवल गहने-कपड़े पहनकर सोलह शृंगार करके शनिवारकी रातको मेरे पास चली आना।' भगवानदेवीने वैसा ही किया। वह शनिवारकी रातमें सज-धजकर उसके पास गयी। योगिनीने उसके सब गहने-कपड़े खुलवाकर एक कोठरीमें रखवा दिये और कोठरीमें बंद करके ताला लगाकर चाभी भगवानदेवीको सौंप दी। जब रात्रिके ठीक बारह बजे, तब योगिनी सिंदूर, तेल, मिट्टीका बरवा और तिकटी लेकर भगवानदेवीके साथ चौराहेपर गयी। चौराहेपर जाकर उसने तिकटीपर बरवा टिकाकर उसे बतलाकर कहा—'तुम इस मन्त्रका यहाँ एक घंटे जप करती रहो। रातका समय है, घर सूना है, मैं घरकी रखवालीके लिये जाती हूँ। एक घंटेके बाद इस बरवेको लेकर मेरे पास चली आना।'

योगिनी मकानपर पहुँची और कोठरीके तालेमें दूसरी चाभी लगाकर उसमें जो गहने-कपड़े रखे थे,

सब लेकर वहाँसे चल दी। जब भगवानदेवी एक घंटेके बाद उसके घरपर आयी, तो देखा कि वहाँ योगिनी नहीं है और कोठरी खुली पड़ी है। कोठरीमें गहने-कपड़े कुछ भी नहीं हैं। यह देखकर वह रोने लगी। वह दुःखित हृदयसे लज्जित होकर अपने घरपर लौट आयी तथा घरवालोंको अपनी सारी दुःखकी कहानी कही। घरवालोंने उसको बहुत फटकारा। इसके बाद उन्होंने योगिनीकी बहुत खोज की, किंतु कुछ भी पता नहीं चला। तब मकान-मालिकसे उसका पता पूछा। मकान-मालिकने कहा—'हमको तो उसने एक महीनेका भाड़ा अग्रिम दे दिया था और हमारे यहाँ तो प्रतिदिन ही ऐसे मुसाफिर आते-जाते रहते हैं। हमको क्या पता कि वह योगिनी कौन थी और कहाँ गयी?'

इन सब घटनाओंको देख-सुनकर सोमदत्तकी स्त्री रामदेवीने सोचा—'बहिन रोहिणीका, सासजीका, हमारी देवरानीका सब-का-सब गहना चला गया, केवल मेरा गहना ही शेष बचा है। छोटी बहूके जानेके बाद पैदा-रोजगार सब बंद हो गया। अब घरवाले मेरे गहनोंको ही बेचकर काम चलायेंगे और कोई रास्ता नहीं दीखता है।' यह सोचकर वह अपना सारा गहना अपने छोटे भाईके पास नैहरमें रख आयी। उसका नैहर उसी शहरमें दूसरे मुहल्लेमें था। उसका भाई बड़ा बदमाश और बेईमान था, उसकी नीयत पहलेसे ही खराब थी। उसने रामदेवीका सारा गहना बेचकर रुपये अपने कारोबारमें लगा लिये। थोड़े दिनों बाद उसने यह झूठा हल्ला फैला दिया कि रातमें चोर आकर ताला तोड़कर सारा माल ले गये। प्रातःकाल होते ही वह रोने लगा। लोग इकट्ठे हो गये। पुलिस भी आ गयी। सारे शहरमें बात फैल गयी, तब रामदेवीको भी अपने भाईके यहाँ चोरी होनेका पता लगा। वह तुरंत दौड़कर भाईके पास गयी और बोली—'भैया! मेरा गहना तो बच गया है न?' भाईने झुँझलाकर कहा—'तेरे गहनेके कारण ही तो हमारे घर यह काण्ड हुआ। हमारे पास तो धरा ही क्या था, जो चोर लगते? हमारे तो मामूली जो कुछ था, वह भी तुम्हारे गहनेके साथ चोर ले गये।' रामदेवी फिर बोली—'भैया! मेरा गहना तो मिलना ही चाहिये।' भाई कुपित होकर कहने लगा—'चल यहाँसे। फिर कभी मुँह मत दिखाना। तेरे कारणसे ही हम बरबाद हो गये।' वह बेचारी दुःखित होकर लौट आयी और सारा हाल अपने ससुरालवालोंको कहा। उन्होंने डाँट-फटकार भी की पर फिर क्या हो सकता था!

तदनन्तर सब लोगोंने मिलकर यह निश्चय किया कि अपना-अपना खर्च सब अपनी-अपनी कमाईसे चलावें। इसपर सोमदत्त और रामदत्त तो अपनी स्त्रियोंको लेकर अलग रहने लगे और शेष सब एक साथ रहने लगे।

(७)

एक दिन जब घरवाले घरमें इकट्ठे बैठे हुए थे, पण्डित देवदत्तजीने सरल हृदयसे कहा—'हमने थोड़े-से अपराधके कारण छोटी बहूको घरसे निकाल दिया, यह बड़ा भारी अपराध किया। इसी कारण हमारी यह दुर्दशा हुई। वह बड़ी भाग्यशालिनी, बुद्धिमती और उच्च विचारकी स्त्री थी। यदि वह अपने घरमें रहती तो हमलोगोंपर यह सब विपत्तियाँ कभी नहीं आती।' अन्तमें सबने यह विचार किया कि हमलोगोंको उसके पास चलना चाहिये। पर लज्जाके कारण किसीकी भी जानेकी हिम्मत नहीं होती थी। किसी प्रकार घरकी यह भीतरी खबर सुशीलाके पास पहुँच गयी। सुशीलाने सोचा—'मेरे घरवाले मेरे पास आना चाहते हैं, पर इसमें मेरा बड़प्पन नहीं है। इसलिये मुझे ही उनके पास चलना चाहिये।' यों सोचकर दूसरे दिन वह स्वयं ही ससुरालमें चली आयी और श्रद्धा, प्रेम, विनय तथा सरलताके साथ सबके चरणोंमें नमस्कार किया। उसको देखकर सब प्रसन्न हुए और साथ ही अपने कृत्यको देखकर दुःखित और लज्जित हुए। सुशीलाने कहा— 'मैंने सुना कि आपलोग मेरे पास आनेका विचार कर रहे हैं, यह सुनकर मैं ही आपके पास आ गयी; क्योंकि मैं सबसे छोटी हूँ। इसलिये मेरा ही आपके पास आना उचित है। कभी-कभी मेरे मनमें आपकी सेवाके भाव आते, किंतु आपलोगोंके द्वारा निकाली जानेके कारण यहाँ आनेकी मेरी हिम्मत नहीं हुई, इसलिये आप मेरे अपराधको क्षमा करें।'

पण्डितजीने कहा—'बेटी! तुम्हारा तो एक मामूली अपराध था, हमलोगोंने बहुत बड़ा अपराध कर डाला।' पण्डितजीको क्या पता कि बहूका कोई अपराध था ही नहीं, वह तो षड्यन्त्र था। घरकी हालत बिगड़ जाने तथा सबपर विपत्ति आ जानेसे षड्यन्त्रकारी स्त्रियोंका पाप काँप गया। उनके मनमें ईर्ष्याके बदले पश्चात्तापकी आग जल उठी। वे सभी संतप्त हो गयीं और उन्हें निश्चय हो गया कि हमारी दुर्दशाका सच्चा कारण हमारे द्वारा निर्दोष सुशीलापर किया जानेवाला अत्याचार ही है। उनके संतप्त हृदयके तप्ताश्रु उनकी आँखोंसे बहने लगे। तब सोमदत्त और रामदत्तकी स्त्रियोंने हाथ जोड़कर काँपते हुए कण्ठसे अपनी साससे कहा—'छोटी बहूका कुछ भी अपराध

नहीं था। हमीं लोगोंने डाहके कारण इसपर झूठा कलंक लगाया था, उसीका हमें यह फल मिला।' तब रोहिणी दुःखित हृदयसे कहने लगी—'छोटी भाभीका तो कुछ भी अपराध है ही नहीं और न बड़ी भाभियोंका ही विशेष अपराध है। सारे षड्यन्त्रको रचनेवाली, घोर अपराध करनेवाली दुष्टा तो मैं हूँ। मैंने ही भाभियोंके कङ्कण, हार, मेरी साड़ी और लहँगा एक थैलीमें भरकर उसे सीकर रसोइयाके हाथ उस बुढ़ियाके पास भिजवाया था, वह चिट्ठी भी मैंने ही लिखी थी और पिताजीके पास झूठी शिकायत भी मैंने ही की थी। इस सारे पापकी जड़ मैं हूँ। आज मैं पश्चात्तापकी आगसे जली जा रही हूँ। पृथ्वी फट जाय तो मैं उसमें समा जाऊँ। इस निरपराध शुद्ध हृदयकी भाभीसे मैं क्षमा भी किस मुँहसे माँगू ?'

यह सारी सच्ची बातें सुनकर सुशीलाका मन पिघल गया और वह हाथ जोड़कर विनयपूर्वक सबसे बोली—'जो कुछ भी हुआ, अब आप उन बातोंको हृदयसे भुला दें। मैं तो आपलोगोंके कृत्यको कोई अपराध ही नहीं मानती। फिर क्षमा[२२] कैसी?' यह सुनकर उसका पति मोहनलाल फूट-फूटकर रोने लगा और अपने किये हुएपर बार-बार पश्चात्ताप करता हुआ कहने लगा—'मैं धोखेसे मारा गया। अब मुझे इसका क्या प्रायश्चित्त करना चाहिये?' सुशीलाने कहा—'पतिदेव! आप किसी बातका विचार न करें। आपलोगोंमें किसीका भी कोई दोष नहीं है—यह तो मेरे पूर्वकृत पापोंका फल है। अब आपलोग इन सब बातोंको भुला दें और मुझे पहलेकी तरह ही अपनी दासी समझें। मेरे पास जो कुछ सम्पत्ति है, वह आपकी ही है। आप उस सम्पत्तिको यहाँ मँगवा लें।'

यह सुनकर सब लज्जित हो गये और कहने लगे—'तुम्हारी सब चीजें हम कैसे मँगवायें?' सुशीला बोली—'वह सब तो आपकी ही है, मैं भी आपकी ही हूँ। यह सब तो ईश्वरने हमारे भलेके लिये ही किया था; क्योंकि यदि भगवान् ऐसा नहीं करते तो आज यह सम्पत्ति और हजार रुपये मासिक आयका स्थायी संयोग कैसे बैठता?' यह कहकर सुशीलाने अपनी सारी चल-सम्पत्ति अपने आदमियोंद्वारा वहीं मँगवाकर निःस्वार्थभावसे ससुरके चरणोंमें अर्पित[२३] कर दी। उसके अन्य सब काम भी ससुरालवालोंकी देख-रेखमें वैसे ही चलते रहे और वह अब ससुरालमें ही रहने लगी। सुशीलाके इस पवित्र[२४] व्यवहारको देखकर सब लोग मुग्ध हो गये।

जब खेलकर आते हुए इन्द्रसेन और इन्द्रसेनीने माँको बहुत दिनोंके बाद देखा, तब वे झट उसके चरणोंमें गिर पड़े। माँने उनको बैठाकर अपनी छातीसे लगा लिया। रसोइया और नौकर तो अपने भीषण अपराधपर काँप रहे थे और जमीनमें गड़े-से जा रहे थे। उनके शरीरसे पसीना बह रहा था और आँखोंसे पश्चात्तापके गरम-गरम आँसू। उनका मूक पश्चात्ताप देखकर सुशीलाने उन्हें आश्वासन दिया और शान्त किया। आज उन दोनोंका भी जीवन बदल गया।

फिर सुशीलाने कहा—'मैंने सुना है, हमारे दोनों जेठ-जेठानियाँ अलग होकर रहते हैं, किंतु उनका अलग रहना मैं सहन नहीं कर सकती। वे पहलेकी-ज्यों ही शामिल होकर रहनेकी कृपा करें।' वे सुशीलाके इस बर्तावको देखकर मुग्ध हो गये, वे 'ना' नहीं कर सके। तदनन्तर सभी शामिल होकर रहने लगे। सुशीलाके प्रभावसे सब सदाचारी और सच्चरित्र बन गये। उनके सम्बन्धमें जो कुछ अपवाद फैला हुआ था, वह सब शान्त हो गया और उनका घर अन्य सब लोगोंके लिये एक आदर्श घर हो गया।

(८)

सुशीला सबके साथ सम व्यवहार किया करती। जो कुछ आप खाती-पहनती, वह घरमें सबको समानभावसे देकर खाती-पहनती, उसका खाने, पीने, पहननेमें कोई भेद नहीं था। जो चीज वह अपने पति और बालकोंको खिलाती-पहनाती, वही अपने जेठ-जेठानियों और सास-ससुरको भी दिया करती।

एक दिनकी बात है, वह अपने बच्चे-बच्चीको दाख, छुहारा, बादाम,नौजा, पिस्ता आदि मेवा दे रही थी। इतनेमें ही उन बालकोंके साथ खेलनेवाले बाहरके कुछ बालक आ गये। सुशीलाने अपने बालकोंको न देकर पहले उनको दिया; और जो कुछ अपने बालकोंको दिया, उतना ही उनको दिया; किंतु उनमें जो चीज कुछ बढ़िया थी, वह तो बाहरके बालकोंको दी और जो कुछ घटिया थी, वह अपने बालकोंको दी। सुशीलाके इस बर्तावका उसके बच्चोंपर भी बड़ा अच्छा असर पड़ा। उन बच्चोंने अपने हिस्सेका भी आधा भाग उन बाहरके बालकोंको दे दिया। उसके लड़के-लड़की बड़े सुशील थे। सच्ची सुशीला माताके लड़के ऐसे क्यों न होते?

सुशीला अपने पतिकी विशेष सेवा किया करती थी और कभी-कभी अपने पतिके साथ कथा या व्याख्यान सुनने जाया करती तो साथमें उसका लड़का और लड़की भी जाया करते थे। बालकोंमें स्वाभाविक ही चञ्चलता होती है, किंतु इसके बालक शान्त प्रकृतिके थे;

क्योंकि सुशीलाका स्वभाव स्वाभाविक ही चञ्चलतारहित[२०] था। वे वहाँ शान्तिपूर्वक चुपचाप बैठकर बड़े ध्यानसे व्याख्यान सुना करते। सुशीला बालकोंको नित्य नियमपूर्वक अच्छी शिक्षा दिया करती थी। वह कहा करती—'सूर्योदयसे पूर्व उठना, नित्य बड़ोंको प्रणाम करना, झूठ, कपट, छिपाव, हिंसा, चोरी आदि कभी नहीं करना। हमेशा सत्य बोलना, किसीको अपशब्द न कहना, आपसमें लड़ाई-झगड़ा, मार-पीट, गाली-गलौज नहीं करना, सूर्यनारायणको नित्य अर्घ्य देना, कोई भी चीज भगवान्‌के अर्पण किये बिना न खाना, सबकी सेवा करना, बाजारकी बनायी हुई चीजें न खाना; बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, भाँग, गाँजा आदि मादक वस्तुओंका सेवन न करना; नाटक, सिनेमा, क्लब आदिमें कभी नहीं जाना; कथा-कीर्तन, सत्संगमें शान्तिपूर्वक सुनना; कोई भी चीज मिले, उसे उपस्थित मित्रोंको देकर खाना; बड़ोंकी आज्ञाका पालन करना और सदा कर्तव्यपरायण रहना चाहिये। कहीं दूसरेके घरपर जायँ तो वहाँ कोई चीज माँगनेकी तो बात ही क्या, उनके देनेपर भी नहीं लेनी चाहिये। बस, अपनेसे जो कुछ बने, दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये, कभी दूसरोंकी सेवाका पात्र नहीं बनना चाहिये।' बच्चोंके लिये कितनी सुन्दर शिक्षा है ।

इस प्रकार घरमें नित्य-नियमसे उपदेशकी बातें और कथा-कीर्तन हुआ करता था। इसका बालकों तथा घरवालोंपर बड़ा अच्छा असर पड़ने लगा और वे सब सुशिक्षित हो गये।

(९)

एक दिन सुशीलाके पिता पण्डित गोविन्दरामने उसको बुलानेके लिये उसके ससुरके पास आदमी भेजकर कहलाया—'हमारी एक प्रार्थना है—सुशीलाको आये बहुत दिन हो गये, अतः एक बार बच्चोंसहित उसको हमारे घरपर भेजें।' बुलावा आनेपर सुशीलाने भी अपने सास-ससुरसे सरलताके साथ निवदेन किया कि—'मुझे माता-पितासे मिले बहुत दिन हो गये, इसलिये आपकी आज्ञा हो तो मैं घर जाकर उनके दर्शन कर आऊँ और आपकी अनुमति हो तो मैं वहाँ कुछ दिन ठहर जाऊँ।' सास और ससुरने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—'जा सकती हो; किंतु बहुत अधिक विलम्ब न करना; क्योंकि हमारे दिन तुम्हारे बिना कैसे कटेंगे?' इस प्रकार कहकर विश्वासी पुरुषको साथ देकर उसको नैहर पहुँचा दिया।

सुशीलाने बालकोंसहित वहाँ जाकर माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। माता-पिताने पूछा—'घरपर सब प्रसन्न तो हैं?' सुशीला बोली—'ईश्वरकी कृपासे सब कुशल है; किंतु मैं यहाँ अपने भाई रामलाल और भौजाईको नहीं देखती हूँ, सो क्या बात है?' पण्डित गोविन्दरामजीने कहा—'वह कई दिनोंसे मकान किराये-पर लेकर हमसे अलग ही रहता है; जो कुछ कमाता है, अपने खाने-पीने और मित्रोंकी खातिरमें लगा देता है। हम लोग तो अब बूढ़े हो गये, कमानेकी शक्ति नहीं रही, पहलेकी जायदादको बेचकर ही अपना काम चलाते हैं।' सुशीला बोली—'क्या भाभीके कहनेसे ही भैया अलग हो गये अथवा और कोई कारण है?' माताने कहा—'ना बेटी! वह तो बहुत ही भले घरकी लड़की है। मैं उसको कभी कुछ कह देती तो भी वह नाराज नहीं होती और न कभी रूठती। उसका स्वभाव बड़ा सुशील है, लड़ना तो वह जानती ही नहीं। कोई उसे खोटी-खरी सुना देता तो भी वह उसे हँसकर टाल देती। अब भी वह मेरा पक्ष लेकर समय-समयपर रामलालको समझाया करती है। उसके स्वभाव, सेवा और बिछोहको याद कर-करके मैं रोया करती हूँ। रामलाल भी बहुत ही भला था; किंतु आजकलके उद्दण्ड लड़कोंके संगके प्रभावसे वह हमलोगोंसे अलग हो गया।'

सुशीला बोली—'माँ! मैं भाई-भौजाईको समझाकर यहाँ ले आऊँ तो इसमें तुम्हारी क्या राय है?' माताने कहा—'ऐसा हो जाय तो बेटी! हमारा बड़ा सौभाग्य है।'

भाई रामलाल प्रयागमें ही कुछ दूर दूसरे मुहल्लेमें रहते थे। सुशीला अपने कुटुम्बके एक आदमीको लेकर बालकों-सहित भाईके यहाँ गयी। घरमें रामलाल तो थे नहीं, भाभी बैठी थी। सुशीलाको आते देखकर वह उठी और उसने बड़े ही आदर और प्रेमका बर्ताव किया। बालकोंसहित सुशीलाने भी उसके चरणोंमें प्रणाम किया। जब भाभी कुछ संकोच करने लगी; तब सुशीलाने कहा—'आप बड़ी होनेके कारण मेरी तो माँके समान हैं, इसमें संकोचकी कौन-सी बात है। बड़ोंके चरणोंमें प्रणाम करना बालकोंका कर्तव्य ही है।' भाभी लज्जित होकर बोली—'बहिनजी! आप माताजीके पास आयी हैं, यह मुझे मालूम हो गया था; किंतु दुःखकी बात है कि मैं आपके भाईके डरसे नहीं जा सकी।' सुशीलाने कहा—'इसके लिये आपको चित्तमें कोई विचार नहीं करना चाहिये। माँ तो आपके स्वभाव और सेवाको याद कर-करके भूरि-भूरि प्रशंसा करती हुई आपके वियोगमें रोया करती है।'

इतनेमें ही भाई रामलाल आ गये। बालकोंसहित सुशीलाने झट उठकर भाईके चरणोंमें नमस्कार किया। रामलालने भी सुशीलाके साथ बड़े आदरका बर्ताव किया। कुशल-संवादके बाद सुशीला बोली—'भैया! आज तुमको माता-पितासे अलग देखकर मुझे बड़ा दुःख हो रहा है।' रामलालने कहा—'बहिन! तुम्हारे आनेकी खबर मुझे मिल गयी थी। तुमसे मिलनेकी मेरी बहुत ही इच्छा थी, परंतु मेरे मनमें यह भाव आया कि मैं यदि घर जाऊँ तो कहीं माता-पिता मेरा अपमान न कर दें और तुमको यहाँ घरपर भी इसीलिये नहीं बुलाया कि शायद वे तुमको यहाँ नहीं भेजेंगे।' सुशीला बोली—'भैया! इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है, यह तो मेरा ही दोष है कि मैं कल ही तुम्हारा दर्शन नहीं कर सकी, पर भैया! जब मैं ससुराल गयी थी तब तो तुम दोनों ही माता-पिताकी सेवा और आज्ञापालन खूब किया करते थे। तुम्हारे उन गुणोंको याद करके विस्मय होता है कि तुम उनसे अलग होकर कैसे रहने लगे? मेरे व्यवहारकी त्रुटियाँ देखकर तुम तो मुझे शिक्षा दिया करते थे, वे बातें मुझे याद आती हैं।'

रामलालने कहा—'बहिन! तुम्हारी बात सुनकर मुझे लज्जा होती है। मेरे अलग होनेका कारण यह हुआ कि मेरे जो, मित्रगण मेरे पास आया करते, वह माताजी और पिताजीको बुरा मालूम देता। इसे देखकर मेरे मित्रोंको अत्यन्त कष्ट होने लगा और उन्होंने मुझको यह राय दी कि 'तुम सब कुछ माता-पिताके पास छोड़कर उनसे अलग हो जाओ। इसमें तुम्हारी कोई निन्दा नहीं होगी। तुम विद्वान् हो, योग्य हो; तुमको अपनी कमाईसे पेट भरना चाहिये। माता-पिताके धनका आश्रय क्यों लेना चाहिये?' उनकी इन बातोंमें आकर मैं माता-पितासे अलग हो गया। बहिन! तुम समझदार हो, जैसा तुम्हारा नाम है, वैसी ही तुम गुणवती हो, अतः मुझे राय दो कि अब मुझे क्या करना चाहिये।'

इसपर सुशीला बहुत ही कोमल और मृदुलताभरे[१८] शब्दोंमें बोली—'भैया! तुम्हें मैं राय दूँ? मुझमें जो कुछ अच्छापन दीखता है, वह तो तुम्हारी ही शिक्षाका प्रभाव है। मैं कुछ कहूँगी तो तुमसे सीखी हुई बात ही कहूँगी। मैं जब छोटी थी तभी तुम मुझे यही शिक्षा दिया करते कि सैकड़ों वर्ष भी माता-पिताकी सेवा करके मनुष्य उनका बदला नहीं चुका सकता। माता-पिताकी सेवा ही परम धर्म है, और सब उपधर्म हैं*। आज तुम्हें माता-पितासे अलग देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है तथा तुम्हारे मित्रोंके सम्बन्धमें तो माता-पिताने जो कुछ भी कहा—वह तुम्हारे हितके लिये ही कहा होगा। जो मित्र माता-पितासे दूर कर दें, उनका सङ्ग किस कामका? यदि तुम्हारे वे मित्र समझदार होते तो सहज ही मुक्तिके उपायरूप परम कल्याणकारी माता-पिताके सेवाकार्यसे तुम्हें वञ्चित क्यों करते? इससे तुमको सोचना चाहिये था कि वे ऐसा करके अपना मतलब गाँठना चाहते थे कि तुम्हारा हित? भैया! माता-पिता तो तुम्हारे वियोगमें तुम्हारे गुण और सेवाको याद करके रोया करते हैं। संसारमें तुम्हारे गुण और आचरणोंकी ख्याति है और अच्छे-अच्छे पुरुषोंके हृदयोंपर तुम्हारा अच्छा प्रभाव अंकित है। तुम माता-पितासे अलग होकर रहते हो, इससे उन सज्जनोंपर कैसा बुरा असर होगा और वे जब तुम्हारी निन्दा-अपमान करेंगे तब उसे तुम कैसे सहन करोगे? माता-पिताकी सम्पत्तिसे तुम्हें संकोच और घृणा क्यों होनी चाहिये? माता-पितासे हमलोग कैसे छूट सकते हैं? हमलोगोंके शरीरमें भी तो जो कुछ है, सब माता-पिताका ही है। मेरी तो राय यह है कि उनके चरणोंमें जाकर उनसे क्षमा-प्रार्थना करनी चाहिये; इसमें विलम्ब करना उचित नहीं। माता-पिताकी कोई गलती भी हो तो बड़ोंकी गलती कभी माननी ही नहीं चाहिये।'

इतनेमें भाभी बोल उठी—'बहिनजी! मुझे तो सास-ससुरसे अलग रहनेमें न तो कोई सुख है और न मेरा मन ही लगता है। समय-समयपर मैं इनसे प्रार्थना भी करती रहती हूँ। पर पता नहीं विधाताने मुझे उनकी सेवासे क्यों वञ्चित रख छोड़ा है?' रामलाल बोले—'बहिन! माता-पिताके बिना बुलाये और बिना उनकी सम्मति लिये जानेमें लज्जा होती है। कहीं वे मेरा अपमान तो नहीं कर देंगे?' सुशीलाने कहा—'भैया! उनकी तो सम्मति ही है। वे तो तुम्हारे वियोगमें रोते हैं, उनके पास

* यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्। न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥ (मनुस्मृति २। २२७)

'मनुष्यकी उत्पत्तिके समयमें जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सैकड़ों वर्षोंमें भी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता।' अतएव—

त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते। एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥ (मनुस्मृति २। २३७)

'माता-पिता और आचार्य—इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कृत्य समाप्त हो जाता है यानी उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। यही साक्षात् परम धर्म है; इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं।'

जानेमें लज्जा किस बातकी? मेरी समझमें वे तो तुम्हारे जानेसे बहुत प्रसन्न होंगे और माता-पिताके पास जानेमें अपमानकी कौन-सी बात है? उनके द्वारा किया हुआ अपमान तो मानसे भी बढ़कर है।'*

सुशीलाकी उपर्युक्त हितभरी बातें सुनकर रामलाल और उसकी पत्नी दोनों सुशीलाके साथ माता-पिताके पास घर आ गये तथा दोनों अपने कृत्यपर अत्यन्त पश्चात्ताप करते हुए उनके चरणोंपर गिरकर रोने लगे।

माता-पिताने कहा—'बेटा! आज बड़े सौभाग्यकी बात है, आज हमारा दिन बहुत ही अच्छा है।' फिर उन्होंने सुशीलासे कहा—'बेटी सुशीला! तुमने जो आज महत्कार्य किया है, इसको हम आजीवन कभी नहीं भूलेंगे।' सुशीला बोली—'माँ! तुम क्या कह रही हो? इसका जो कुछ श्रेय है वह तो तुमको, पिताजीको और भाईजी-भौजाईजीको ही है। मैं तो निमित्तमात्र ही हूँ, मुझमें भी जो कुछ अच्छापन तुम समझती हो, वह सब भी आपलोगोंकी ही कृपा है।'

सुशीलाके इस प्रकारके अभिमानरहित[२६]—व्यवहारको देखकर सब मुग्ध हो गये। सुशीलाके पास दो मोहन-मन्त्र थे, उनसे वह कोई भी क्यों न हो, उसे अपने अनुकूल बना लेती थी। वे मन्त्र ये थे—(१) अपने स्वार्थका त्याग करके निष्काम-भावपूर्वक सब प्रकारसे उसके हितकी चेष्टा करना और (२) उसके अवगुणोंको भुलाकर उसके गुणोंका वर्णन करना। इन्हींसे उसने अपने भाईके हृदयको भी पलट दिया।

इसके अनन्तर रामलालने अपने मित्रोंसे प्रेम और विनयपूर्वक प्रार्थना कर दी कि 'मुझको ही कभी अवकाश होगा तो मैं आपके घरपर आकर मिल सकता हूँ, क्योंकि माता-पिताके पास मैं आपका यथोचित सत्कार करनेमें लाचार हूँ।'

सुशीला पिताके घरपर कुछ दिनोंतक रही, परंतु ससुरालमें अपने प्रति होनेवाले अत्याचारको लेकर किसीकी भी कभी किंचित् भी निन्दा-चुगली[१५] नहीं की। माता-पिता और भाई-भौजाई उसे खाने-पीने, पहननेके लिये अनेक पदार्थ देते, पर उनके आग्रह करनेपर भी वह नहीं लेती। यदि कभी उनके संतोषके लिये यत्किंचित् थोड़ा-सा ले भी लेती तो अनासक्तभावसे ही लेती, उसकी उन पदार्थोंके प्रति किंचित् भी आसक्ति या लोलुपता[१७] नहीं थी। उसका व्यवहार बड़ा ही त्यागमय और प्रशंसनीय था।

तदनन्तर ससुरालसे आग्रहपूर्वक बुलावा आनेपर माताको विनय और प्रेमसे समझाकर वियोगके दु:खको प्रकट करती हुई सुशीला विश्वासी पुरुषके साथ अपने ससुराल चली आयी। सुशीलाको घरमें आये देखकर ससुरालके सभी लोग बड़े आनन्दित हुए।

(१०)

इधर सुशीलाकी लड़की इन्द्रसेनीको द्वादश वर्षकी विवाहके योग्य देखकर उसके सास-ससुरको बड़ी चिन्ता रहा करती थी। अत: एक दिन उन्होंने छोटी बहूसे कहा—'इन्द्रसेनी विवाहके योग्य हो गयी है। तेरे प्रभावके कारण कई लोग अपने साथ सम्बन्ध करना चाहते हैं। तेरी राय किसके साथ सम्बन्ध करनेमें है?' सुशीलाने अपनी साससे कहा—'इसमें मेरी राय क्या लेनी है? आप मालिक हैं, आप जिसके साथ सम्बन्ध करना उचित समझें, उसीमें हम सबको प्रसन्न रहना चाहिये। मैंने तो आप लोगोंके मुखसे ही यह सुना है कि बालक चाहे गरीब घरका हो, किंतु उसके स्वास्थ्य, बल, विद्या, बुद्धि, योग्यता, आचरण, स्वभाव और चरित्र आदि देखने चाहिये। उसके कुटुम्बवालोंके तथा विशेषकर माता-पिताके स्वभाव और आचरण अच्छे होने चाहिये।' यह सुनकर सब बड़े प्रसन्न हुए।

इन्द्रसेनीके प्रारब्ध और माता सुशीलाके प्रभावके कारण सुशीलाके इच्छानुकूल ही घर और बालकका स्वत: संयोग लग गया। पण्डित दामोदर शास्त्रीके सुपुत्र शिवकुमारके साथ इन्द्रसेनीका वाग्दान कर दिया गया। पण्डित दामोदरजीकी सुशीलापर बहुत ही श्रद्धा थी, इसलिये उन्होंने अपनी पत्नीको विवाहके विषयमें सलाह करने सुशीलाके पास भेजा। घरपर आते ही सुशीलाने उनका यथावत् सत्कार किया। तदनन्तर दामोदरजीकी पत्नीने कहा—'आपके साथ सम्बन्ध होकर विवाह आदर्श होना चाहिये। आपके घरमें तो कुरीतियाँ और फिजूलखर्च होगा ही नहीं, हमलोग भी अपने सुधारके लिये आपकी रायके अनुसार ही रहना चाहते हैं।' इस प्रकार विशेष आग्रह और श्रद्धापूर्वक पूछनेपर सुशीलाने कहा— 'बारूद, खेल-तमाशे, सिनेमा, थियेटर, उछाल, अधिक रोशनी

---

* किसी कविने कहा है—

गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्। अलब्धशाणोत्कषणानृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति॥

'जब मनुष्य गुरुजनोंकी कठोर शब्दोंसे युक्त वाणीद्वारा अपमानित किये जाते हैं, तभी महत्त्वको प्राप्त होते हैं, अन्यथा नहीं। जैसे कि अच्छी श्रेणीके रत्न भी जबतक शाणपर घिसकर उज्ज्वल नहीं किये जाते, तबतक राजाओंके मुकुटोंमें नहीं मढ़े जाते!'

आदिमें व्यर्थ खर्च नहीं करना चाहिये। विवाहमें गाली-गलौज, बुरे गीत गाना, चौपड़-ताश खेलना, बहुत-से बाजे बजाना आदि भी नहीं करना चाहिये। विवाह तो अच्छे-अच्छे विद्वानोंको बुलाकर विधि-विधानसे भलीभाँति होना चाहिये, इसमें अधिक भीड़-भाड़ नहीं होनी चाहिये। हमारी ओरसे क्या करना चाहिये सो कृपया आप बतलाइये।'

पण्डित दामोदरजीकी पत्नी बोली—'हमलोग आपको क्या आदेश दें! हमलोग तो आपकी ही शिक्षाके अनुसार चलना चाहते हैं। आपने इस विषयमें कैसा विचार किया है, यह सुननेके लिये हमलोग उत्सुक हैं। यदि उचित समझें तो आप बतलानेकी कृपा करें।'

इसपर सुशीलाने कहा—'हँसी-मजाक, नाच तथा बुरे गीत तो हमारे यहाँ पहलेसे ही बंद हैं। भाँग, तम्बाकू, सुलफा, गाँजा आदि मादक वस्तु, सोडा-बर्फ, लेमोनेड देना, होटलमें भोजन करना, पार्टी देना और सेंट आदिसे सत्कार करना शास्त्रविरुद्ध तो है ही, प्रत्युत सत्कारके नामपर अपने सम्बन्धियोंका अपमान करना है। शास्त्रके अनुसार हलद्धात आदि करनेके बाद देवताओंकी विधिवत् पूजा कराकर अच्छे-अच्छे विद्वानोंकी सम्मतिके अनुसार कन्यादान करनेका विचार है। आपलोगोंका असली सत्कार तो श्रद्धा और प्रेमके व्यवहारसे होता है; उसकी तो हमलोगोंमें कमी है, भोजन तथा पान-सुपारी, लौंग, इलायचीका प्रबन्ध साधारण तौरपर किया गया है। दहेज-धन देनेके लिये तो हमारे पास है ही क्या, हम तो एक अबोध बालिकाको आपकी सेवामें अर्पण करके अपनेको पवित्र करना चाहते हैं। आप-जैसे सरल और त्यागी मनुष्योंके साथ सम्बन्ध हमारे बड़े ही भाग्यसे हुआ है। आपके व्यवहारको देखकर हमलोग मुग्ध हो रहे हैं।'

इसके अनन्तर समयपर दोनों ओरसे श्रद्धा, विनय और प्रेमका व्यवहार होते हुए उपर्युक्त पद्धतिके अनुसार बहुत ही प्रशंसनीय, सात्त्विक और आदर्श विवाह सम्पन्न हुआ तथा परस्पर नमस्कार करनेके बाद बारातको बिदा किया गया।

सोमदत्त, रामदत्त और मोहनलाल तीनों भाई सुशीलाके चलाये हुए व्यापार-कार्यको निजमें ही देखा करते और परस्पर सबका बहुत ही अच्छा प्रेममय व्यवहार था। घरमें स्त्रियोंका भी व्यवहार सुशीलाके सम्पर्कसे बहुत ही सुन्दर हो गया था। इस प्रकार कुछ काल बीतनेके बाद सुशीलाका लड़का इन्द्रसेन जब सोलह वर्षका हो गया, तब उसका विवाह भी पण्डित रघुनाथ आचार्यकी पुत्री गायत्रीसे कर दिया गया। वह विवाह भी पूर्वकी भाँति ही बहुत सात्त्विक, आदर्श और प्रशंसनीय हुआ। उसमें भी नाच, गीत, कुरीतियाँ और फिजूलखर्ची बिलकुल नहीं की गयी तथा पण्डित देवदत्तकी ओरसे अत्यन्त त्यागका व्यवहार रहा। पर श्रीरघुनाथ आचार्यका विशेष आग्रह होनेके कारण उनके संतोषके लिये नाममात्रका दहेज लेना पड़ा।

इस प्रकार लड़की और लड़केका विवाह होनेपर सब घरवाले निश्चिन्त होकर सुखपूर्वक अपने घरमें निवास करने लगे तथा परस्पर बड़े ही त्याग और प्रेमका व्यवहार करने लगे।

(११)

कुछ दिनोंके बाद पण्डित देवदत्तजीके श्वास-रोगके कारण शरीर दुर्बल हो जानेसे ज्वर हो गया। अनेक आयुर्वेदिक दवा की, किंतु कोई भी लागू न पड़ी। सुशीलाकी रात-दिन विनय और प्रेमपूर्वक की हुई सेवासे देवदत्तजी मुग्ध हो गये और बोले—'बेटी ! तुम सर्वथा निर्दोष थी और मैंने तुम्हें घरसे निकलवा दिया था, वह दु:ख मेरे हृदयमें शूलकी तरह चुभता रहता है।' सुशीलाने ननद रोहिणीके द्वारा कहा—'ससुरजी! आपकी तो कोई गलती है ही नहीं। वह सब घटना तो धोखेसे हो गयी। उसका आपको कुछ भी विचार नहीं करना चाहिये। मैं जो आपसे बहुत दिनोंतक अलग रही, इसे मैं ही अपना दुर्भाग्य मानती हूँ। अब इस विषयमें आप अपनेको हेतु मानकर दु:ख करेंगे तो उससे उलटा मेरे चित्तपर विचार होगा।' यह सुनकर पण्डितजीने कहा—'बेटी! तू विचार मत कर। तेरी बात सुनकर अब मेरे चित्तमें कोई विचार नहीं रहा।'

इसके बाद पण्डितजीकी अवस्था और भी दब गयी। यह देखकर घरवालोंने स्थानको बुहार-झाड़कर साफ किया और फिर पवित्र जलसे धोकर उसपर गोबर तथा गङ्गाजलका चौका लगाया एवं उसपर तिल और सरसों बिखेरकर भगवान्‌का नाम लिखा। फिर उसपर पवित्र बालूकी शय्या बनाकर गङ्गाजीकी रेणुका छिड़क दी और उसपर रामनाम लिखकर मन्त्रोंद्वारा गङ्गाजलसे उसका मार्जन किया। उस बालूपर दर्भ डालकर हाथसे बना हुआ शुद्ध सफेद वस्त्र बिछा दिया। तदनन्तर पण्डितजीका संकेत पाकर सोमदत्तने उनको पवित्र जलसे स्नान कराया और नवीन शुद्ध उत्तरीय तथा अधोवस्त्र पहनाकर उनका यज्ञोपवीत बदल दिया। इसके बाद उनको उस बालुकामयी शय्यापर सुला दिया और हाथसे बनी हुई एक नवीन, शुद्ध, सफेद चद्दर ओढ़ा दी। उनके पास एक नूतन

तुलसीवृक्षका गमला रख दिया। गलेमें तुलसीकी माला पहना दी, मस्तकपर चन्दनसे तिलक कर दिया। मस्तकके नीचे बहुत कोमल और हल्की-सी एक गीताकी पुस्तक रख दी। पण्डितजी श्रीविष्णुरूपके उपासक थे, अतः एक छोटी-सी शालग्रामजीकी मूर्ति उनके वक्षःस्थलपर रख दी। फिर पत्र-पुष्प, धूप-दीप आदि षोडशोपचारसे श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक भगवान्‌की पूजा की गयी और आरती उतारी गयी। इसके बाद सोमदत्तने पण्डितजीको तुलसी और गङ्गाजल पिलाकर गीताके आठवें अध्यायका अर्थसहित पाठ सुनाया। तत्पश्चात् सब मिलकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मुग्ध होकर एक ताल और एक स्वरसे भगवान्‌के नामोंका कीर्तन करने लगे। पण्डितजीके सामने भगवान् श्रीविष्णुका सुन्दर चित्र दीवालपर टँगा हुआ था ही, उसे देख-देखकर भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभावको याद करते तथा भगवान्‌के नामोंका कीर्तन सुनते हुए पण्डितजी भगवान्‌के परमधाम सिधार गये।

इस कहानीसे विशेषकर माता-बहिनोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि वे सुशीलाको आदर्श मानकर उसका अनुकरण करें अर्थात् अपने साथ बुराई करनेवालेके साथ भी भलाई करें। बालकोंके साथ वात्सल्यभाव, समानवालोंके साथ मैत्रीभाव और बड़ोंके प्रति श्रद्धा-भक्ति और विनयभावसे उनकी सेवा करें। निःस्वार्थभावसे उत्तम कार्य करके मान-बड़ाईसे रहित होकर उनका श्रेय दूसरोंको ही देनेके लिये सत्यकी रक्षा करते हुए चेष्टा करें; घोर आपत्ति पड़नेपर भी काम, क्रोध, लोभ, लज्जा, भय आदिके वशमें होकर धैर्य, धर्म, ईश्वरभक्ति तथा जान-बूझकर प्राणोंके त्यागका कभी विचार ही न करें। सास-ससुर, माता-पिता, पति आदि बड़ोंकी तन, मन, धनके द्वारा कर्तव्य समझकर निःस्वार्थ-भावसे विनय-प्रेमपूर्वक सेवा करें; बालकोंको अपने आचरण और वाणीद्वारा अच्छी शिक्षा दें; बालकोंके विवाहमें कुरीतियाँ और फिजूलखर्चीका सर्वथा त्याग करें; चोर, बदमाश, ठग, नीच और धूर्तोंसे बचनेके लिये बुद्धि-विवेकपूर्वक कुशलतासे काम लें; बीमारी, मृत्यु और आपत्तिसे ग्रस्त मनुष्योंके हितके लिये उनकी निःस्वार्थभावसे सेवा करें। विद्या, बुद्धि, बल, तेज और शिल्पज्ञानकी वृद्धिके लिये तत्परतासे यथोचित चेष्टा करें, सबको अपने अनुकूल बनानेके लिये उनके अवगुणोंकी ओर खयाल न करके उनके सच्चे गुणोंका वर्णन करते हुए उनके परमहितकी चेष्टा करें एवं क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, श्रद्धा, प्रेम आदि गुणोंको तथा सत्संग, स्वाध्याय, कथा-कीर्तन, सेवा, तप, दान आदि सदाचारोंको अमृतके समान और कर्तव्य समझकर निष्कामभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक धारण करें।

सत्सङ्गकी कुछ सार बातें

१. मनुष्य-जीवनके समयको अमूल्य और क्षणिक समझकर उत्तम-से-उत्तम काममें व्यतीत करना चाहिये। एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये।

२. यदि किसी कारणवश कभी कोई क्षण भगवत्-चिन्तनके बिना बीत जाय तो उसके लिये पुत्रशोकसे भी बढ़कर घोर पश्चात्ताप करना चाहिये, जिससे फिर कभी ऐसी भूल न हो।

३. जिसका समय व्यर्थ व्यय होता है, उसने समयका मूल्य समझा ही नहीं।

४. मनुष्यको कभी निकम्मा नहीं रहना चाहिये; अपितु सदा-सर्वदा उत्तम-से-उत्तम कार्य करते रहना चाहिये।

५. मनसे भगवान्‌का चिन्तन, वाणीसे भगवान्‌के नामका जप, सबको नारायण समझकर शरीरसे जगज्जनार्दनकी निःस्वार्थ सेवा—यही उत्तम-से-उत्तम कर्म है।

६. बोलनेके समय सत्य, प्रिय, मित और हितभरे शास्त्रानुकूल वचन बोलने चाहिये।

७. अपने दोषोंको सुनकर चित्तमें प्रसन्नता होनी चाहिये।

८. यदि कोई हमारा दोष सिद्ध करे तो उसके लिये जहाँतक हो, सफाई नहीं देनी चाहिये; क्योंकि सफाई देनेसे दोषोंकी जड़ जमती है तथा दोष बतलानेवालेके चित्तमें भविष्यके लिये रुकावट होती है। इससे हम निर्दोष नहीं हो पाते।

९. यदि हम निर्दोष हैं तो दोष सुनकर हमें मौन हो जाना चाहिये, इससे हमारी कोई हानि नहीं है और यदि सदोष हैं तो अपना सुधार करना चाहिये।

१०. दोष बतलानेवालेका गुरु-तुल्य आदर करना चाहिये, जिससे भविष्यमें उसे दोष बतलानेमें उत्साह हो।

११. अपने निकट-सम्बन्धीका दोष सहसा नहीं कहना चाहिये, कहनेसे उसको दुःख हो सकता है; जिससे उसका सुधार सम्भव नहीं।

१२. यदि कहीं किन्हींसे काम लेना हो तो उनको अपने पास न बुलाकर उन्हींके पास जाना चाहिये।

१३. सादगीसे रहना चाहिये।

१४. स्वावलम्बी बनना चाहिये।

१५. जीवनको अधिक खर्चीला नहीं बनाना चाहिये। ऋषि-मुनियोंका जीवन खर्चीला नहीं था। अधिक खर्चीला जीवन मनुष्यको रुपयों और दूसरे पुरुषोंका दास बना देता है, जिसके कारण अनेक पाप करने पड़ते हैं और दर-दर भटकना पड़ता है।

१६. शरीर-निर्वाहके लिये भी अनासक्त भावसे ही पदार्थोंका उपयोग करना चाहिये।

१७. भोजनके समय स्वादकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिये; क्योंकि वह पतनका हेतु है। स्वास्थ्यकी ओर लक्ष्य रखना भी वैराग्यमें कमी ही है।

१८. कल्याणकामी पुरुषको तो वैराग्य-युक्त चित्तसे केवल शरीर-निर्वाहके लिये ही भोजन करना चाहिये।

१९. व्यवहारके समय भजन-ध्यानमें मुख्य वृत्ति और संसारी कामोंमें गौण-वृत्ति रखनी चाहिये।

२०. सोते समय भी भगवान्‌के नाम-रूपका स्मरण विशेषतासे करना चाहिये जिससे शयनका समय व्यर्थ न जाय। शयनके समयको साधन बनानेके लिये सांसारिक संकल्पोंके प्रवाहको भुलाकर भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव और चरित्रका चिन्तन करते हुए ही सोना चाहिये।

२१. अपने ऊपर भगवान्‌की अहैतुकी दया और प्रेम समझ-समझकर हर समय प्रसन्न रहना चाहिये।

२२. सब प्राणियोंपर हेतुरहित दया और प्रेम करना चाहिये।

२३. एकान्तमें मनको सदा यही समझाना चाहिये कि परमात्माके सिवा किसीका चिन्तन न करो; क्योंकि व्यर्थ चिन्तनसे बहुत हानि है।

२४. भगवान्‌के समान अपना कोई भी हितैषी नहीं है, अतः अपने अधीन सब पदार्थोंको और अपने-आपको राजा बलिकी भाँति भगवान्‌के समर्पण कर देना चाहिये।

२५. भगवत्प्राप्तिके लिये मनुष्यको पात्र बनना चाहिये। पात्र बननेपर भगवान् स्वयं ही शीघ्र दर्शन दे सकते हैं।

२६. सुननेवालोंकी इच्छाके बिना वक्ताको सत्संगके रहस्यकी बातें नहीं सुनानी चाहिये।

२७. जहाँ व्याख्यानदाता बहुत हों, वहाँ जहाँतक हो व्याख्यान न दे।

२८. पूजा-प्रतिष्ठा, ऊँचे आसन और ऊँचे पदसे सदा ही दूर रहना चाहिये।

२९. जहाँतक हो, गुरु बननेकी इच्छा कभी न करे।

३०. किसी सम्बन्धीकी मृत्यु-सूचना मिलनेपर, जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ जाना चाहिये; किंतु अपने घरमें किसीके मरनेपर, जहाँतक हो, दूरस्थ कुटुम्बियोंको आनेके लिये सभ्यतापूर्वक निवारण कर देना चाहिये।

३१. दहेज और दान देना चाहिये; किंतु जहाँतक हो,लेनेसे बचना चाहिये।

३२. जहाँतक हो, पंच न बनना चाहिये। बने तो पक्षपात नहीं करना चाहिये।

३३. जहाँतक हो, सगाई (वाग्दान)-विवाह आदि सम्बन्ध करानेके कामसे दूर रहना चाहिये।

३४. ब्राह्ममुहूर्तमें उठना चाहिये। यदि सोते-सोते ही सूर्योदय हो जाय तो दिनभर उपवास और जप करना चाहिये।

३५. एकान्तके साधनको मूल्यवान् बनानेके लिये संध्या, गायत्रीजप, ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति, प्रार्थना, नमस्कार आदिके अर्थ और भावको समझते हुए ही निष्कामभावसे श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक नित्य करना चाहिये।

३६. भगवत्प्राप्तिमें पवित्र और एकान्त देशका सेवन, सत्संग और स्वाध्याय, परमात्माका ध्यान और उसके नामका जप, निष्काम भाव, ज्ञान, वैराग्य और उपरति— इनके समान कोई भी साधन नहीं है।

३७. द्विजातिमात्रको उचित है कि नित्य सूर्योदय और सूर्यास्तसे पूर्व ही संध्योपासन और गायत्री-जप करे।

३८. भगवान्‌के नाम-रूपको याद रखते हुए ही सामाजिक, व्यावहारिक, आर्थिक आदि कार्य न्यायपूर्वक निःस्वार्थभावसे करे; क्योंकि अपनी सारी चेष्टा निःस्वार्थभावसे दूसरेके हितके लिये करनेसे ही कल्याण होता है।

३९. स्नान और नित्यकर्म किये बिना दातुन और जलके सिवा कुछ भी मुखमें न ले।

४०. श्रीभगवान्‌के भोग लगाकर तथा यथाधिकार बलिवैश्वदेव करके ही भोजन करे।

४१. तुलसीदलके सिवा चलते-फिरते या खड़े हुए भी कोई भी चीज कभी न खाय।

४२. भोजनके आदि और अन्तमें आचमन करे।

४३. एकान्तमें दो आदमी बात करते हों तो उनकी सम्मतिके बिना उनके समीप न जाय।

४४. जीवहिंसाको बचाता हुआ चले।

४५. घी, दूध, शहद, तेल, जल आदि तरल पदार्थ छानकर काममें ले।

४६. कर्तव्यका पालन न होनेपर तथा अपनेसे बुरा काम बन जानेपर पश्चात्ताप करे, जिससे कि फिर कभी वैसा न हो।

४७. कर्तव्यकर्मको झंझट मान लेनेपर वह भार-रूप हो जाता है, विशेष लाभदायक नहीं होता।

४८. वही कर्म भगवान्‌को याद रखते हुए प्रसन्नतापूर्वक मुग्ध होकर किया जाय तो बहुत ऊँचे दर्जेका साधन बन जाता है।

४९. अकर्मण्यता (कर्तव्यसे जी चुराना) महान् हानिकारक है। पापका प्रायश्चित्त है, किंतु इसका नहीं। अकर्मण्यताका त्याग ही इसका प्रायश्चित्त है।

५०. कर्तव्यपालनरूप परम पुरुषार्थ ही मुक्तिका मुख्य साधन है।

५१. धनका प्राप्त होना यद्यपि अपने वशकी बात नहीं है, तथापि मनुष्यको शरीरनिर्वाहके लिये कर्तव्यबुद्धिसे न्याययुक्त परिश्रम तो अवश्य करना चाहिये।

५२. सुख-दुःख आदिके प्राप्त होनेपर उनको भगवान्‌का मङ्गल-विधान समझकर हर समय परम संतुष्ट रहना चाहिये।

५३. उत्तम कामको शीघ्रातिशीघ्र करनेकी चेष्टा करे, क्योंकि शरीरका कोई भरोसा नहीं है।

५४. जिसमें प्राणियोंकी हिंसा होती हो, ऐसी किसी चीजको व्यवहारमें न लावे।

५५. रेशम और तूष काममें न ले।

५६. हिंसायुक्त शहद, मृग-चर्म और कस्तूरी काममें न ले।

५७. जहाँतक हो, मिलकी बनी चीजें खानेके काममें न ले।

५८. ईश्वरकी सत्तापर प्रत्यक्षसे बढ़कर विश्वास रखे; क्योंकि ईश्वरपर जितना प्रबल विश्वास होगा, साधक उतना ही पापसे बचेगा और उसका साधन तीव्र होगा।

५९. सदा-सर्वदा ईश्वरपर निर्भर रहना चाहिये। इससे धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता और आत्मबलकी वृद्धि होती है।

६०. विशुद्ध ईश्वर-प्रेम एक बहुत गोपनीय परम रहस्यकी वस्तु है। उससे बढ़कर संसारमें कोई उत्तम वस्तु नहीं।

६१. ईश्वरके ज्ञानके समान कोई ज्ञान नहीं।

६२. ईश्वरके प्रभावके समान कोई प्रभाव नहीं।

६३. ईश्वरके दर्शनके समान कोई दर्शन नहीं।

६४. महापुरुषोंके आचरणसे बढ़कर कोई अनुकरणीय आचरण नहीं।

६५. भगवद्भावसे बढ़कर कोई भाव नहीं।

६६. समतासे बढ़कर कोई न्याय नहीं।

६७. सत्यके समान कोई तप नहीं।

६८. परमात्माकी प्राप्तिके समान कोई लाभ नहीं।

६९. सत्संगके समान कोई मित्र नहीं।

७०. कुसंगके समान कोई शत्रु नहीं।

७१. दयाके समान कोई धर्म नहीं, हिंसाके समान कोई पाप नहीं, ब्रह्मचर्यके समान कोई व्रत नहीं, ध्यानके समान कोई साधन नहीं, शान्तिके समान कोई सुख नहीं, ऋणके समान कोई दुःख नहीं, ज्ञानके समान कोई पवित्र नहीं, ईश्वरके समान कोई इष्ट नहीं, पापीके समान कोई दुष्ट नहीं—ये एक-एक अपने-अपने स्थानपर अपने-अपने विषयमें सबसे बढ़कर प्रधान हैं।

७२. कामीके साख नहीं, लोभीके नाक नहीं, क्रोधीके बाप नहीं, अज्ञानीके थाप नहीं, भक्तके शाप नहीं, नास्तिकके जाप नहीं, ज्ञानीके माप नहीं, अर्थात् इन लोगोंपर इन पदार्थोंका प्रभाव नहीं पड़ता।

७३. गङ्गाके समान कोई तीर्थ नहीं, गौके समान कोई सेव्य नहीं, गीताके समान कोई शास्त्र नहीं, गायत्रीके समान कोई मन्त्र नहीं एवं गोविन्दके समान कोई देव नहीं।

७४. गङ्गा-स्नान, गौकी सेवा, अर्थसहित गीताका अभ्यास, गायत्रीका जप और गोविन्दका ध्यान—इनमेंसे किसी एकका भी निष्कामभाव और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सेवन करनेसे कल्याण हो सकता है।

७५. जिसने सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, समता, शान्ति, संतोष, सरलता, तितिक्षा, त्याग आदि शस्त्र धारण कर रखे हैं, उसका कोई भी शत्रु किंचिन्मात्र भी अनिष्ट नहीं कर सकता।

७६. आचरणोंके सुधारकी जड़ स्वार्थका त्याग है।

७७. झूठसे बचनेके लिये जहाँतक हो, भविष्यके निश्चित वचन नहीं कहने चाहिये।

७८. भगवान्‌की प्राप्तिके सिवा मनमें किसी भी बातकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये; क्योंकि कोई भी इच्छा रहेगी तो उसके लिये पुनर्जन्म धारण करना पड़ेगा। इसलिये इच्छा, वासना, कामना, तृष्णा आदिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

७९. बार-बार मनसे पूछो कि 'बतला, तेरी क्या

इच्छा है?' और मनसे यह उत्तर मिले कि 'कुछ भी इच्छा नहीं है।' इस प्रकारके अभ्याससे इच्छाका नाश होता है। यह निश्चित बात है।

८०. महात्माके हृदयमें किसी प्रकारकी भी इच्छा रहती ही नहीं, हमें भी उसी प्रकार बनना चाहिये।

८१. संसारके किसी भी पदार्थसे आसक्ति नहीं करनी चाहिये; क्योंकि आसक्ति होनेसे अन्तकालमें उसका संकल्प हो सकता है। संकल्प होनेपर जन्म लेना पड़ता है।

८२. सत्ता और आसक्तिको लेकर जो स्फुरणा होती है, उसीका नाम संकल्प है।

८३. महात्मा पुरुषोंका पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि उनके हृदयमें किसी प्रकारका भी किंचिन्मात्र संकल्प रहता ही नहीं। प्रारब्धके अनुसार केवल स्फुरणा होती है, जो कि सत्ता और आसक्तिका अभाव होनेके कारण जन्म देनेवाली नहीं है, तथा कार्यकी सिद्धि या असिद्धिमें उनके हर्ष-शोकादि कोई भी विकार लेशमात्र भी नहीं होते। यही संकल्प और स्फुरणाका भेद है।

८४. आसक्तिवाले पुरुषके मनके अनुकूल होनेपर राग और हर्ष तथा प्रतिकूल होनेपर द्वेष और दुःख होता है।

८५. निन्दा-स्तुति आदि सुनकर जरा भी हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि विकार नहीं होने चाहिये।

८६. कल्याणकामी मनुष्यको उचित है कि मान और कीर्तिको कलंकके समान समझे।

८७. हर समय संसार और शरीरको कालके मुखमें देखे।

८८. मरुभूमिमें जल दीखता है, वास्तवमें है नहीं। अतः कोई भी समझदार मनुष्य प्यासा होते हुए भी वहाँ जलके लिये नहीं जाता। इसी प्रकार संसारके विषयोंमें भी सुख प्रतीत होता है, वास्तवमें है नहीं। ऐसा जाननेवाले विरक्त विवेकी पुरुषकी सुखके लिये उनमें प्रवृत्ति नहीं होती।

८९. जीवन्मुक्त ज्ञानी महापुरुषोंकी दृष्टिमें संसार स्वप्नवत् है। इसीलिये वे संसारमें रहकर भी संसारके भोगोंसे लिप्त नहीं होते।

९०. जीते हुए ही जो शरीरको मुर्देके समान समझता है, वही मनुष्य जीवन्मुक्त है। अर्थात् जैसे प्राणरहित होनेपर शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही प्राण रहते हुए भी जिसका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं, वही जीवन्मुक्त महाविदेही है।

९१. श्रद्धालु मनुष्यके लिये तो महात्माका प्रभाव माने जितना ही थोड़ा है; क्योंकि महात्माका प्रभाव अपरिमेय है।

९२. महापुरुषोंके प्रभावसे भगवान्‌की प्राप्ति होना—यह तो उनका अलौकिक प्रभाव है तथा सांसारिक कार्यकी सिद्धि होना—लौकिक प्रभाव है।

९३. महापुरुषोंकी चेष्टा उनके तथा लोगोंके प्रारब्धसे होती है एवं लोगोंके श्रद्धा-प्रेम तथा ईश्वराज्ञासे भी होती है।

९४. सर्वस्व जाय तो भी कभी किसी निमित्तसे कहीं किंचिन्मात्र भी पाप न करे, न करवावे और न उसमें सहमत ही हो।

९५. पैसे न्यायसे ही पैदा करे, अन्यायसे कभी नहीं, चाहे भूखों ही मरना पड़े।

९६. ईश्वरकी भक्ति और धर्मको कभी छोड़े ही नहीं, प्राण भले ही चले जायँ।

९७. धैर्य, क्षमा, मनोनिग्रह, अस्तेय, बाहर-भीतरकी पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह, सात्त्विकबुद्धि, अध्यात्मविद्या, सत्यभाषण और क्रोध न करना—ये दस सामान्य धर्मके लक्षण हैं।

९८. विपत्तिमें भगवान्‌की स्मृति बनी रहे, इसीलिये कुन्तीने भगवान्‌से निरन्तर विपत्तिके लिये प्रार्थना की।

९९. पाण्डवोंने अपनेसे निम्न श्रेणीके राजा विराटकी नौकरी स्वीकार कर ली, पर धर्मका किंचिन्मात्र भी कभी त्याग नहीं किया।

१००. महाराज युधिष्ठिरने स्वर्गको ठुकरा दिया, पर अपने अनुगत कुत्तेका भी त्याग नहीं किया।

१०१. स्वार्थका त्याग समान व्यवहारसे भी श्रेष्ठ है, इसलिये निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये।

१०२. स्त्रीके लिये पातिव्रत्य-धर्म ही सबसे बढ़कर है। इसलिये भगवान्‌को याद रखते हुए ही पतिकी आज्ञाका पालन विशेषतासे करना चाहिये। तथा पतिके और बड़ोंके चरणोंमें नमस्कार करना और उन सबकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये।

१०३. विधवा स्त्रीके लिये तो विषय-भोगोंसे वैराग्य, ईश्वरकी भक्ति, सद्‌गुण-सदाचारका पालन और निःस्वार्थ-भावसे सबकी सेवा ही सर्वोत्तम धर्म है।

१०४. दूसरोंको दुःख पहुँचानेके समान कोई पाप नहीं है और सुख पहुँचानेके समान कोई धर्म नहीं है। इसलिये हर समय दूसरोंके हितके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये।

१०५. कुटुम्ब, ग्राम, जिला, प्रान्त, देश, द्वीप, पृथ्वी और त्रिलोकीतक उत्तर-उत्तरवालेके हितके लिये पूर्व-पूर्ववालेके हितका त्याग कर देना चाहिये।

१०६. किसीके भी दुर्गुण-दुराचारका दर्शन, श्रवण, मनन और कथन नहीं करना चाहिये। यदि उसमें किसीका हित हो तो कर सकते हैं; किंतु मन धोखा दे सकता है, अतः खूब सावधानीके साथ विचारपूर्वक करना चाहिये।

१०७. किसीका उपकार करके उसपर अहसान न करे, न किसीसे कहे और न मनमें अभिमान ही करे; नहीं तो किया हुआ उपकार क्षीण हो जाता है। ऐसा समझे कि सब कुछ भगवान् ही करवाते हैं, मैं तो निमित्तमात्र हूँ।

१०८. अनिष्ट करनेवालेके साथ बदलेमें बुराई न करे, उसे क्षमा कर दे; क्योंकि प्रतिहिंसाका भाव रखनेसे मनुष्य दोषका भागी होता है।

१०९. यदि अनिष्ट करनेवालेको दण्ड देनेसे उसका उपकार होता हो तो ऐसी अवस्थामें उसे दण्ड देनेमें दोष नहीं है।

११०. अपनेपर किये हुए उपकारको आजीवन कभी न भूले एवं अपना उपकार करनेवालेका बहुत भारी प्रत्युपकार करके भी अपने ऊपर उसका अहसान ही समझे।

१११. अपने द्वारा किसीका अनिष्ट हो जाय तो भी सदा उसका हित ही करता रहे, जिससे कि अपने किये हुए अपराधको वह मनसे भूल जाय, यही इसका असली प्रायश्चित्त है।

११२. मन और इन्द्रियोंको इस प्रकार वशमें रखना चाहिये कि जिससे वे व्यर्थ और पापके काममें न जाकर जहाँ हम लगाना चाहें उसी भगवत्प्राप्तिके—मार्गपर लगी रहें।

११३. ब्रह्मचर्यके पालनपर हरेक मनुष्यको विशेष ध्यान रखना चाहिये।

११४. कामकी उत्पत्ति संकल्पसे होती है, सुन्दर जवान स्त्री और बालक आदिके संगसे ब्रह्मचर्यका नाश होता है।

११५. गृहस्थी मनुष्यको महीनेमें एक बारसे अधिक स्त्री-प्रसंग नहीं करना चाहिये। ऋतुकालपर महीनेमें एक बार स्त्री-प्रसंग करनेवाला गृहस्थी ब्रह्मचारीके तुल्य है।

११६. जीते हुए मन-इन्द्रिय मित्रके समान हैं और न जीते हुए विषयासक्त मन-इन्द्रिय शत्रुके समान हैं।

११७. शरीर और संसारमें जो आसक्ति है, वही सारे अनर्थोंका मूल है, उसका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

११८. कोई भी सांसारिक भोग खतरेसे खाली नहीं है, इसलिये उससे दूर रहना चाहिये।

११९. कञ्चन, कामिनी, मान, बड़ाई, ईर्ष्या, आलस्य, प्रमाद, ऐश, आराम, भोग, दुर्गुण और पापको साधनमें महान् विघ्न समझकर इन सबका विषके तुल्य सर्वथा त्याग करना चाहिये।

१२०. ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सद्‌गुण, सदाचार, सेवा और संयमको अमृतके समान समझकर सदा-सर्वदा इनका सेवन करना चाहिये।

१२१. शौचाचारसे सदाचार बहुत ऊँचा है, उससे भी भगवान्‌की भक्ति और भी ऊँचे दर्जेकी चीज है।

१२२. भगवान् जाति-पाँति कुछ नहीं देखते, केवल प्रेम ही देखते हैं; अतः मनुष्यको केवल भगवान्‌से ही प्रेम करना चाहिये।

१२३. ईश्वर, महात्मा, शास्त्र और परलोकमें विश्वास करनेवाले पुरुषसे कभी पाप नहीं बन सकते। उसमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, समता और शान्ति आदि अनेक गुण अनायास ही आ जाते हैं, जिससे उसके सारे आचरण स्वाभाविक ही उत्तम-से-उत्तम होने लगते हैं।

१२४. भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और चरित्रोंको हर समय याद करते हुए मुग्ध रहना चाहिये।

१२५. भगवान्‌के गुण, प्रभाव, चरित्र, तत्त्व और रहस्यकी बातें सुनने, पढ़ने और मनन करनेसे श्रद्धा होती है।

१२६. एकान्तमें भगवान्‌के आगे करुणाभावपूर्वक रोते हुए स्तुति-प्रार्थना करनेसे भी श्रद्धा बढ़ती है।

१२७. ऊपर बतलायी हुई बातोंपर विश्वास करके उसके अनुसार अनुष्ठान करनेसे भी श्रद्धा होती है।

१२८. श्रद्धा होनेपर श्रद्धेय पुरुषकी छोटी-से-छोटी क्रियामें भी बहुत ही विलक्षण भाव प्रतीत होने लगता है।

१२९. माता, पिता, पति, स्वामी, ज्ञानी, महात्मा और गुरुजनोंकी श्रद्धापूर्वक निःस्वार्थ सेवासे आत्माका शीघ्र कल्याण हो सकता है।

१३०. निष्कामकर्म और भगवान्‌के नाम-जपसे, धारणा और ध्यानसे एवं सत्संग और स्वाध्यायसे मल-विक्षेप और आवरणका सर्वथा नाश होकर भगवत्प्राप्ति शीघ्र हो सकती है।

१३१. शीघ्र कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको परमात्माकी

प्राप्तिके सिवा और किसी भी बातकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये; क्योंकि इसके सिवा सब इच्छाएँ जन्म-मृत्युरूप संसार-सागरमें भ्रमानेवाली हैं।

१३२. परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको अर्थ और भावके सहित शास्त्रोंका अनुशीलन और एकान्तमें बैठकर जप-ध्यान तथा अध्यात्मविषयका विचार नियमपूर्वक नित्य ही करना चाहिये।

१३३. अनिच्छा या परेच्छासे होनेवाली घटनाको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मान लेनेपर काम-क्रोध आदि शत्रु पास नहीं आ सकते, जैसे सूर्यके सम्मुख अन्धकार नहीं आ सकता।

१३४. जीव, ब्रह्म और मायाके तत्त्वको समझनेके लिये एकान्तमें बैठकर विवेक और वैराग्ययुक्त चित्तसे नित्यप्रति परमात्माका चिन्तन करते हुए अध्यात्मविषयका विचार करना चाहिये।

१३५. जिसने ईश्वरकी दया और प्रेमके तत्त्व-रहस्यको जान लिया है, उसके शान्ति और आनन्दकी सीमा नहीं रहती।

१३६. जो अपने-आपको ईश्वरके अर्पण कर चुका है और ईश्वरपर ही निर्भर है, उसकी सदा-सर्वदा सब प्रकारसे ईश्वर रक्षा करता है, इससे वह सदाके लिये निर्भयपदको प्राप्त हो जाता है।

१३७. प्रेमपूर्वक जपसहित भगवान्‌के ध्यानका अभ्यास, श्रद्धापूर्वक सत्पुरुषोंका संग, विवेकपूर्वक भावसहित सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय, दुःखी, अनाथ, पूज्यजन तथा वृद्धोंकी निःस्वार्थ-भावसे सेवा—इनको यदि कर्तव्य-बुद्धिसे किया जाय तो ये एक-एक साधन शीघ्र कल्याण करनेवाले हैं।

१३८. भगवान् बहुत बड़े दयालु और प्रेमी हैं। जो साधक इसका तत्त्व समझ जायगा, वह भगवान्‌की शरण होकर शीघ्र ही परम शान्तिको प्राप्त हो जायगा।

१३९. सर्वत्र भगवद्भावके समान कोई भाव नहीं है और सर्वत्र भगवद्भाव होनेसे दुर्गुण और दुराचारोंका अत्यन्त अभाव होकर सद्‌गुण और सदाचार अपने-आप ही आ प्राप्त होते हैं।

१४०. वस्तुमात्रको भगवान्‌का स्वरूप और चेष्टामात्रको भगवान्‌की लीला समझनेसे भगवान्‌का तत्त्व समझमें आ जाता है।

राजा चक्कवेणके त्यागका प्रभाव

राजा चक्कवेणकी कहानी कहीं किसी पुस्तकमें तो मैंने नहीं देखी है; परम्परासे लोकविख्यात है। यह चक्ववेणका इतिहास वास्तविक है या काल्पनिक, मुझको पता नहीं। जो भी कुछ हो, हमें तो इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। वह कहानी इस प्रकार है—

एक समय चक्ववेण नामके एक राजा हुए थे। वे बड़े ही सद्‌गुण-सदाचारसम्पन्न, धर्मात्मा, सत्यवादी, स्वावलम्बी, अध्यवसायशील, त्यागी, विरक्त, ज्ञानी, भक्त, तेजस्वी, तपस्वी और उच्चकोटिके अनुभवी महापुरुष थे। वे राज्यके द्रव्यको दूषित समझकर उसे स्वयं अपने और अपनी पत्नीके काममें नहीं लाते थे। प्रजासे जो कुछ 'कर' लिया जाता था, वह सारा-का-सारा प्रजाकी ही सेवामें लगा दिया जाता था। राज्यका कार्य वे निरभिमानपूर्वक निष्कामभावसे तन-मनसे किया करते थे। प्रजापर उनका बड़ा प्रभाव था। रामराज्यकी भाँति उनके राज्यमें कोई दुःखी नहीं था, सभी सब प्रकारसे सुखी थे।

वे अपने शरीरनिर्वाहके लिये पृथक् खेती किया करते थे। स्वयं रानी बैलके स्थानमें हल खींचा करती और वे बीज बोया करते। वे अपने ही खेतमें उपजे हुए अन्नसे अपना भरण-पोषण करते थे। वे गन्ना, रूई, अनाज, फल और शाककी खेती किया करते थे। अपने खेतमें उपजी हुई रूईका ही वस्त्र बनाकर पहनते, अपने खेतमें उपजे हुए गन्नोंका ही गुड़ बनाकर खाते और अपने खेतमें उपजे हुए अन्न, फल, शाकको ही भोजनके काममें लाते थे। उनकी पत्नीके पास कोई भी आभूषण नहीं थे; क्योंकि वे राज्यके द्रव्यसे तो आभूषण बनाते नहीं और अपनी की हुई खेतीकी उपजसे केवल सादगीसे खाने-पहननेका कामभर चलता था। खेतीके सिवा उन्हें राज्यके कार्योंमें भी तो समय देना पड़ता था। उनका जीवन एक सीधे-सादे सदाचारी किसानके जैसा था।

छः घंटे शयनके सिवा उनका सारा समय ईश्वरभक्ति, परोपकार, राज्य-कार्य और कृषिके कार्योंमें ही बीतता था। उनका सब जीवोंके प्रति समता, दया और प्रेमका भाव समान था। वे सब प्राणियोंको परमात्माका स्वरूप मानकर सबकी निष्काम प्रेमभावसे सेवा करते थे। वे स्वावलम्बी थे; अपने शरीरका काम स्वयं ही करते थे। किसी राज्यकर्मचारी या नौकर आदिसे नहीं कराते थे। वे जो कुछ भी कार्य करते, आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर बड़े ही उत्साह और धैर्यसे किया करते।

एक दिनकी बात है। जिस देशमें राजा चक्ववेण

रहते थे, वहाँ एक बड़ा भारी मेला लगा। उसमें नगरके अन्यान्य प्रान्तोंके लोग बड़ी भारी संख्यामें इकट्ठे हुए। राजा-रानीके दर्शनके लिये यों तो बराबर ही लोग आते रहते, पर मेलेके कारण नर-नारियोंकी भीड़ कुछ अधिक रहती थी। राजाके पास अधिकतर पुरुष आते और रानीके पास अधिकतर स्त्रियाँ आया करती थीं। एक दिन बहुत-से गहनों और रेशमी वस्त्रोंसे सजी-धजी अनेक दासियोंसे घिरी हुई बहुत-सी धनी व्यापारियोंकी स्त्रियाँ रानीका दर्शन करनेके लिये उनके पास आयीं। उन स्त्रियोंने कहा—'रानीजी! आपके-जैसे वस्त्र तो हमारी मजदूरिनियाँ भी नहीं पहनतीं; आप हमारी दासियोंको देखिये, कैसे वस्त्राभूषण पहने हैं। आपके वस्त्राभूषण तो हमलोगोंसे भी बढ़कर होने चाहिये। जैसे ये हमारी दासियाँ हैं, उसी प्रकार हमलोग तो आपकी दासीके समान हैं। आपके स्वामी बड़े सम्राट् हैं, आप उनसे थोड़ा-सा भी संकेत कर देंगी तो वे आपके लिये हमलोगोंसे बढ़कर वस्त्राभूषणकी व्यवस्था कर देंगे। आप हमारी स्वामिनी हैं, इसलिये हमें आपको इस वेशमें देखकर दुःख होता है। ऐसे वस्त्र तो भीख माँगनेवाली भिखारिन भी पहनना नहीं चाहती। एक सम्राट्की महारानीके जैसे वस्त्राभूषण होने चाहिये, हम उसी रूपमें आपको देखना चाहती हैं।' इस प्रकार कहकर वे अपना प्रभाव डालकर चली गयीं। रानीके चित्तपर उनकी बातोंका बड़ा असर पड़ा।

रात्रिमें जब महाराज आये, तब रानीने सब घटना उनको सुनायी और दिनमें जो कुछ धनी व्यापारियोंकी स्त्रियोंने कहा था, सब राजासे निवेदन किया एवं उनसे अनुरोध किया कि मेरे पहननेके लिये बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण मँगा दीजिये। राजाने उत्तर दिया—'कैसे मँगा दूँ? व्यवहारमें लाना तो दूर रहा, मैं राज्यके पैसोंको छूता भी नहीं, उससे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।' रानी भी बहुत उच्चकोटिकी पवित्र स्त्री थीं, किन्तु वस्त्राभूषणोंसे सजी-धजी धनिकोंकी स्त्रियोंका उनपर काफी असर पड़ चुका था, अतः रानीने कहा—'चाहे जैसे भी हो, आप सम्राट् हैं और मैं आपकी पटरानी हूँ। मेरे लिये तो एक सम्राट्की पटरानीके योग्य बहुमूल्य वस्त्राभूषण मँगानेकी कृपा आपको करनी ही होगी।' पत्नीकी प्रीतिसे प्रेरित राजाने सोचा—'रानी कितना भी आग्रह क्यों न करें,मैं राज्यके द्रव्यको तो किसी भी हालतमें उपयोगमें ला नहीं सकता, किंतु मैं सम्राट् हूँ; दुष्ट, अत्याचारी और बलवान् राजाओंसे 'कर' ले सकता हूँ।' यह सोचकर उन्होंने पर-राष्ट्रों तथा अधीनस्थ राज्योंके कार्यका सम्पादन करनेवाले मन्त्रीको बुलाया और कहा—'मन्त्री! आप राक्षसराज रावणके पास जाइये और कहिये कि राजा चक्कवेणकी ओरसे मैं आया हूँ, उन्होंने मुझे आपसे 'कर' के रूपमें सवा मन सोना प्राप्त करनेके लिये आपके पास भेजा है।'

सम्राट्की आज्ञासे मन्त्री कुछ आदमियोंको ले रथमें बैठकर समुद्रके किनारे पहुँचे और फिर जलयानके द्वारा समुद्रके उस पार पहुँचकर लङ्कामें प्रवेश किया तथा राजसभामें जाकर बड़ी नम्रता और सभ्यताके साथ सम्राट् चक्कवेणका संदेश सुनाया। संदेशको सुनते ही रावण हँसा और उसने सभासदोंसे कहा—'देखो, ऐसे मूर्ख राजा भी संसारमें अभी हैं, जो ऋषि, देवता, राक्षस आदि सभीसे 'कर' लेनेवाले मुझ-जैसे बलवान् सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र महान् सम्राट्से भी करकी आशा रखते हैं!' उन्होंने राजा चक्कवेणके दूतको कैद करना चाहा, किन्तु सभासदोंके अनुरोध करनेपर उसे छोड़ दिया। वह रावणकी सभासे उठकर समुद्रके किनारे लौट आया।

तदनन्तर रावण जब रात्रिमें मन्दोदरीके पास महलमें गया, तब रावणने हँसकर मन्दोदरीसे विनोद करते हुए कहा—'कोई एक भारतवर्षमें चक्कवेण नामका राजा है। आज उसका एक दूत सभामें आया था और उसने मुझसे सवा मन स्वर्ण 'कर' के रूपमें देनेको कहा। मुझे इसपर बड़ी हँसी आयी। देखो, संसारमें ऐसे मूर्ख भी अभीतक जीते हैं जो मुझ-जैसे सबसे कर लेनेवालेसे भी कर लेनेकी आशा रखते हैं! मैं तो उसके दूतको कैद करना चाहता था, पर सभासदोंके अनुरोधसे उसे छोड़ दिया।' मन्दोदरीने दुःख प्रकट करते हुए कहा—'स्वामिन्! आपने बहुत बुरा किया। चक्कवेणको मैं जानती हूँ, वे सत्यवादी और धर्मात्मा राजा हैं। उनका चक्र चलता है। जो उनकी आज्ञाका पालन नहीं करता, उसका अनिष्ट हो जाता है। उस दूतको संतोष कराकर ही आपको उसे भेजना चाहिये था। उसका पता लगाकर अब भी उसको संतोष करा दें, नहीं तो पता नहीं, हमारा कितना अनिष्ट हो जायगा।' रावण बोला—'तू बड़ी डरपोक है, मामूली मनुष्य-राजाओंसे तू इतना भय करती है, मैं इसकी कुछ भी परवा नहीं करता।' रानीने कहा—'कल प्रातःकाल मैं आपको चक्कवेणका प्रभाव दिखलाऊँगी।' प्रातः होते ही राजाके साथ मन्दोदरी महलके छतपर गयी, जहाँ वह रोज कबूतरोंको अनाज डाला करती थी। अनाज चुगने वहाँ बहुत-से कबूतर आया करते। मन्दोदरीने दाने चुगते हुए पक्षियोंसे कहा—'राजा रावणकी दुहाई है, खबरदार! दाने न चुगना।' किंतु वे चुगते ही रहे। फिर रानीने राजासे कहा—'देखिये, आपके सम्मुख

और आपकी दुहाई देनेपर भी ये सब दाने चुगते ही रहे।' रावणने कहा—'मूर्खे! ये पक्षी बेचारे क्या समझें!' मन्दोदरी बोली—'अब आप राजा चक्रवेणके प्रभावको देखिये।' फिर उसने पक्षियोंसे कहा—'सावधान! चक्रवेणकी दुहाई है, कोई दाने न चुगना।' इतना सुनते ही सब पक्षियोंने एक साथ दाने चुगने बंद कर दिये। उनमेंसे एक कबूतर बहिरा था, वह कुछ भी सुन नहीं पाता था; अतः उसने दाना उठा लिया। ज्यों ही उसने दाना उठाया, त्यों ही उसकी गर्दन टूटकर गिर गयी। रानीने रावणसे कहा—'देखिये, राजा चक्रवेणकी दुहाईपर सबने दाने चुगने बंद कर दिये, एक बहिरे कबूतरने न सुननेके कारण दाना उठा लिया, जिससे चक्रवेणके चक्रसे उसका मस्तक कटकर गिर गया।' फिर रानी पक्षियोंसे बोली—'अब मैं चक्ववेणकी दुहाई हटा लेती हूँ, अब दाने चुगो।' तुरन्त सब पक्षी दाने चुगने लगे। रानीने फिर कहा—'जो तुम्हारे सम्मुख खड़े हैं, उन राजा रावणकी दुहाई है, कोई भी दाने न चुगना।' किंतु राजा रावणके सामने रहते हुए भी किसीने परवा न की और वे दाने चुगते ही रहे। मन्दोदरीने रावणसे कहा—'देखिये, आपका इन पक्षियोंपर कुछ भी असर नहीं होता, परन्तु राजा चक्ववेणके प्रभावपर विचार कीजिये, उनके सामने न रहते हुए भी उनका कितना असर है।' रावणने कहा—'मालूम होता है तुम्हारी इसमें कोई माया है। नहीं तो, ये पक्षी बेचारे क्या समझें।' ऐसा कहकर रावण टालमटोल करके राजसभामें चला गया।

इधर, राजा चक्रवेणके मन्त्रीने समुद्रके किनारे एक नकली लङ्काकी रचना की। उसने कज्जलके समान अत्यन्त महीन मिट्टीको समुद्रके जलमें घोलकर रबड़ीकी तरह बना लिया तथा तटकी जगहको चौरस बनाकर उसपर उस मिट्टीसे एक छोटे आकारमें नकली लङ्काकी रचना की। धुली हुई मिट्टीकी बूँदोंको टपका-टपकाकर उसीसे लङ्काके परकोटे, बुर्ज और दरवाजों आदिकी रचना की। परकोटेके चारों ओर कँगूरे भी काटे गये एवं उस परकोटेके भीतर लङ्काकी राजधानी और नगरके प्रसिद्ध बड़े-बड़े मकानोंको भी छोटे आकारमें रचना करके दिखाया गया। इन सबकी रचना करनेके बाद वह पुनः रावणकी सभामें गया। उसे देखकर रावण चौंक उठा और उससे बोला—'क्यों जी! तुम फिर यहाँ किसलिये आये हो?' उसने कहा—'मैं आपको एक कौतूहल दिखलाना चाहता हूँ। आप मेरे साथ समुद्रतटपर चलिये।' रावण कौतूहल देखनेको उत्सुक हो गया और कुछ सभासदोंको साथ लेकर समुद्रतटपर गया, जहाँ उस मन्त्रीने छोटे आकारमें नकली लङ्काकी रचना की थी।

उसने रावणसे पूछा—'देखिये, यह ठीक-ठीक आपकी लङ्काकी नकल है न?' रावणने उसकी अद्भुत कारीगरी देखी और कहा—'ठीक है; क्या यही दिखानेके लिये मुझे यहाँ लाये थे?' मन्त्री बोला—'नहीं-नहीं, इस लङ्कासे आपको मैं एक कौतूहल दिखाता हूँ; देखिये, लङ्काके पूर्वका परकोटा, दरवाजा, बुर्ज और कँगूरे साफ-साफ ज्यों-के-त्यों दीख रहे हैं न?' रावणने कहा—'दीख रहे हैं।' मन्त्रीने कहा—'मेरी रची हुई लङ्काके पूर्वद्वारके कँगूरोंको मैं राजा चक्रवेणकी दुहाई देकर गिराता हूँ, इसके साथ ही आप अपनी लङ्काके पूर्वद्वारके कँगूरे गिरते हुए देखेंगे।' इतना कहकर मन्त्रीने 'राजा चक्रवेणकी दुहाई है' कहकर अपनी रची लङ्काके पूर्वद्वारके कँगूरे गिरा दिये। उनके गिरनेके साथ-साथ ही रावणको असली लङ्काके पूर्वद्वारके कँगूरे गिरते हुए दिखायी दिये। यह देखकर रावणको बड़ा आश्चर्य हुआ। इसके बाद दूतने कहा—'अब मैं अपनी रची हुई लङ्काके पूर्वके परकोटेके द्वारके आस-पासकी चारों बुर्जें मिटाता हूँ, इसके साथ-साथ ही आप अपनी असली लङ्काकी बुर्जोंको भी मिटती हुई देखेंगे।' यह कहकर उसने चक्रवेणकी दुहाई देकर अपनी बनायी मिट्टीकी लङ्काकी बुर्जें मिटा दीं, उसके साथ ही रावणकी असली लङ्काके पूर्वद्वारकी बुर्जें भी चकनाचूर होकर नष्ट हो गयीं। यह देखकर रावणको बहुत ही आश्चर्य हुआ और उसे मन्दोदरीकी कही हुई बात याद आ गयी।

तदनन्तर राजा चक्रवेणके मन्त्रीने कहा—'राजन्! आप यदि सवा मन सोना 'कर' के रूपमें नहीं देंगे तो भी राजा चक्रवेणको आपसे युद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। राजा चक्रवेणके प्रभावका चक्र चलता है। मैं अकेले ही आपकी लङ्काको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिये काफी हूँ। अभी राजा चक्रवेणकी दुहाई देकर आपकी लङ्काको क्षणमात्रमें एक हाथके झटकेसे नष्ट किये देता हूँ। आप उस लङ्काकी रक्षा कर सकें तो करें। यदि आपको लङ्काकी रक्षा करनी है तो 'कर' के रूपमें सवा मन सोना दे दीजिये; इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है।' रावणने सोचा—'मेरे देखते-देखते क्षणमात्रमें पूर्वद्वारके कँगूरे और चारों बुर्जें गिर गयीं, जो धातुनिर्मित और बहुत ही मजबूत थीं। इसी प्रकार इस सारी लङ्काको नष्ट करना इसके बायें हाथका खेल है।' यह सोचकर रावणने सवा मन सोना 'कर' के रूपमें देना स्वीकार कर लिया और मन्त्रीसे कहा—'चलो , मैं आपको सवा मन सोना दे देता हूँ।' तत्पश्चात् उसे सवा मन सोना देकर विदा किया।

मन्त्री सवा मन सोना लेकर राजा चक्कवेणके पास वापस लौट आया। उसने राजा-रानीके पास जाकर उनके सामने सवा मन सोना रख दिया और कहा—'आपकी आज्ञासे रावणसे 'कर' के रूपमें सवा मन सोना ले आया हूँ।' राजाके यह पूछनेपर कि 'तुमने यह सोना कैसे प्राप्त किया?' उसने आद्योपान्त सारी घटना उनको कह सुनायी।

यह घटना सुनकर रानीको बड़ा आश्चर्य हुआ और उसपर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने राजासे पूछा—'यह क्या बात है?' राजाने कहा—'हमलोग स्वावलम्बी होकर परिश्रमपूर्वक खेती करके अपना निर्वाह करते हुए वैराग्य और त्यागपूर्वक अपना जीवन बिताते हैं और निष्कामभावसे प्रजाके धनको प्रजाकी सेवामें ही लगा देते हैं, अपने व्यक्तिगत कार्यके लिये राज्यके पैसेको छूतेतक भी नहीं, इसीका यह प्रभाव है।'

यह सुनकर रानीका दिल बदल गया। रानी बोली—'स्वामिन्! मैं बहुमूल्य वस्त्राभूषण नहीं पहनूँगी। जिस प्रकार अबतक नियमसे रहती आयी हूँ, वैसे ही रहूँगी, कुछ भी परिवर्तन नहीं करूँगी। धनी व्यवसायियोंकी स्त्रियोंके कुसंगसे मेरी बुद्धि त्याग-वैराग्य और धर्मसे विचलित हो गयी थी, किंतु अब उनके संगका मुझपर कोई असर नहीं रह गया है। मैंने आपसे जो कुछ दुराग्रह किया, उसके लिये मैं क्षमा-प्रार्थना करती हूँ। मेरे अपराधको आप क्षमा करें और इस स्वर्णको वापस लौटा दें।'

राजाने उसकी बात मानकर मन्त्रीसे कहा कि 'मन्त्री! इसपर जो कुसंगका असर पड़ा था, वह ईश्वरकी कृपासे दूर हो गया है। अब इस धनको जहाँसे तुम लाये थे, वहीं वापस कर दो।' राजाकी आज्ञा होते ही मन्त्री वह स्वर्ण लेकर लङ्कापति रावणके पास पुनः गया और सभामें जाकर बोला—'महाराज चक्कवेणने आपका यह स्वर्ण वापस लौटा दिया है। उनकी पत्नीकी जो बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहननेकी अभिलाषा हो गयी थी, वह भगवत्कृपासे अब नहीं रही। अतः अब इसकी उन्हें आवश्यकता नहीं है।'

इस बातको सुनकर रावणके हृदयपर चक्कवेणके त्यागका और भी अधिक असर पड़ा। उसने वह स्वर्ण रखकर मन्त्रीको बहुत ही आदर-सत्कारपूर्वक विदा किया। मन्त्रीने वापस आकर राजा-रानीको स्वर्ण लौटा देनेका सब हाल सुना दिया। दूतकी बात सुनकर राजा-रानीको बहुत ही प्रसन्नता हुई। राजा चक्कवेणका प्रभाव यक्ष, राक्षस, देवता, मनुष्य, ऋषि, मुनि, पशु, पक्षी आदि सभीपर था।

इस कहानीसे हमलोगोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये—प्रत्येक स्त्री-पुरुषको निष्कामभावसे अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार न्याय और सत्यतापूर्वक अपनी जीविका चलानी चाहिये। दूसरोंके आश्रित होकर अपना जीवन-निर्वाह करना भी अपने लिये घृणास्पद है। झूठ, कपट, बेईमानी करके उपार्जित द्रव्यसे हमें यदि मेवा-मिष्ठान्न भी मिल जायँ तो वे हमारे लिये विषके समान हैं, किंतु अपने न्यायोपार्जित पवित्र द्रव्यसे एक मुट्ठी चने भी खानेको मिलें तो वे हमारे लिये अमृतके समान हैं। हमें बीमारी और आपत्तिकालके अतिरिक्त—नौकर-चाकर, स्त्री-पुत्र और शिष्य आदिके रहते हुए भी अपने शरीरका काम जहाँतक हो सके, स्वयं ही करनेका अभ्यास डालना चाहिये, जिससे कि हमें दूसरोंके अधीन होकर जीना न पड़े। कल्याणकामी पुरुषोंके लिये दूसरोंके आश्रित होकर जीना लज्जास्पद है।

साथ ही हमें समयको अमूल्य समझकर एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये। हर समय भगवान्‌को याद रखते हुए परोपकार और शरीर-निर्वाह आदिका कार्य करते रहना चाहिये। छः घंटे सोनेके अतिरिक्त एक क्षण भी न तो समय व्यर्थ बिताना चाहिये और न उसका दुरुपयोग करना चाहिये। मनुष्यका जीवन बड़ा ही मूल्यवान् है। अतः क्षणमात्र भी निकम्मा नहीं रहना चाहिये, अपनी बुद्धिसे हम जिसको सबसे बढ़कर कार्य समझें, उसी कार्यको करते रहना चाहिये।

थोड़ी देरका कुसंग भी मनुष्यके लिये बहुत हानिकारक हो जाता है—इस बातको ध्यानमें रखकर नास्तिक, नीच, प्रमादी, भोगी, पापी, निकम्मे, आलसी, दूसरोंपर निर्भर रहकर जीवन-निर्वाह करनेवाले, बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण करनेवाले, खेल-तमाशा और मादक वस्तुओंका सेवन करनेवाले दुर्व्यसनी स्त्री या पुरुषोंका कभी भूलकर क्षणमात्र भी संग नहीं करना चाहिये और प्रमाद, आलस्य, निद्रा, भय, उद्वेग, राग, द्वेष, अहंकार और दुर्व्यसन आदिसे रहित होकर अपना जीवन विवेक, वैराग्य, त्याग और संयमपूर्वक निष्कामभावसे भजन-ध्यान, सत्संग-स्वाध्यायमें ही बिताना चाहिये तथा सम्पूर्ण प्राणिमात्रको परमात्माका स्वरूप समझकर, आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर निष्कामभावपूर्वक तन-मनसे सबकी सेवा करनी चाहिये एवं सबपर समान भावसे हेतुरहित दया और प्रेम रखना चाहिये।

स्कन्दपुराणके कुछ महत्त्वपूर्ण विषय

स्कन्दपुराणमें नारदपुराणके मतानुसार माहेश्वर, वैष्णव, ब्राह्म, काशी, अवन्ती, नागर और प्रभास—इस प्रकार सात खण्ड हैं। इन खण्डोंमें कई अवान्तर खण्ड हैं। इस पुराणका नाम 'स्कन्द' इसलिये रखा गया कि भगवान् श्रीशिवजीके पुत्र श्रीकार्तिकेयजीका नाम स्कन्द है और इस पुराणमें उन भगवान् कार्तिकेयजीकी उत्पत्ति, उत्पत्तिके कारण, उनके प्रभाव तथा उनके द्वारा देवताओंके सेनापति बनकर तारकासुरके मारे जाने आदि चरित्रोंका वर्णन है।

इसमें भगवान् श्रीशिवजीकी महिमाका वर्णन विशेषरूपसे पाया जाता है, अतः शिवभक्तोंके लिये यह बहुत ही उपयोगी उत्तम ग्रन्थ है। इसमें सर्वप्रथम 'माहेश्वरखण्ड' है जो भगवान् श्रीशंकरकी प्रधानताका द्योतक है। काशी एवं अवन्ती-खण्डोंमें भी शिवलिङ्गकी स्थापना तथा पूजनादिका विवेचन बड़े ही विस्तारसे किया गया है। कई खण्डोंमें भगवान् श्रीविष्णुके पावन चरित्र तथा विष्णुभक्तोंकी कथाओंका भी सुन्दर वर्णन है। दूसरे खण्डका तो नाम ही 'वैष्णवखण्ड' है और उसमें विशेषतया भगवान् श्रीविष्णुकी भक्ति तथा विष्णुभक्त एवं भगवान् श्रीविष्णुके स्वरूप, गुण आदिका ही वर्णन किया गया है।

इसमें तीर्थोंका वर्णन प्रधानरूपसे किया गया है, जिनमें पुरुषोत्तमक्षेत्र (जगन्नाथपुरी), बदरिकाश्रम, अयोध्या, रामेश्वर, काशी, नर्मदा (अमरकण्टक), हाटकेश्वरक्षेत्र, अवन्तिका, प्रभास और द्वारका आदि तीर्थोंका तो बड़े ही विस्तारके साथ उल्लेख किया गया है। इनके सिवा व्रत और उपवासकी महिमाका तो इसमें विशेषतासे निरूपण है ही। साथ ही कार्तिक, मार्गशीर्ष और वैशाख-मासोंमें स्नान-दानका भी बड़ा भारी पुण्य बतलाया गया है। इसी प्रकार ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, शौचाचार, सदाचार, वर्णाश्रमधर्म, पातिव्रत-धर्म, यज्ञ, दान, तप, श्राद्ध आदि विषयोंपर भी अनेक जगह बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है। स्थान-स्थानपर अनेकों इतिहास और कथाओंके द्वारा तीर्थोंकी महिमा विस्तृत-रूपमें बतलायी गयी है।

इस पुराणमें जो विशेष महत्त्वके ज्ञातव्य विषय हैं, उनमेंसे कुछपर विशेष लक्ष्य दिलानेके उद्देश्यसे बहुत ही संक्षेपमें यहाँ कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

भगवान् स्कन्दका जन्म

सर्वप्रथम माहेश्वरखण्डमें भगवान् स्कन्दजी (कार्तिकेयजी) के जन्म-प्रसङ्गमें दक्षप्रजापतिके यज्ञमें भगवान् शंकरकी प्रियतमा पत्नी भगवती सतीके अग्नि-प्रवेश, वीरभद्रके द्वारा दक्ष-यज्ञ-विध्वंस, दक्षवध, ब्रह्माजीके द्वारा कैलासगमन और दक्षके पुनर्जीवनके लिये सदाशिवका स्तवन, महादेवजीका ब्रह्माजी तथा देवताओंके साथ कनखलमें दक्षके यज्ञमण्डपमें जाकर दक्षकी धड़पर पशुका सिर जोड़ना, दक्षका जीवित होना, लोमशजीके द्वारा शिवपूजनकी विधि और शिवमहिमापर महत्त्वपूर्ण प्रवचन, भगवान् महेश्वरकी तपस्या, हिमवान्के घरमें भगवती सतीका पार्वतीके रूपमें प्राकट्य और पार्वतीकी घोर तपस्याका बड़ा ही विशद वर्णन है। इसके बादका प्रसंग इस प्रकार है—

पार्वतीजीके महान् तपसे जब सम्पूर्ण चराचर जगत् संतप्त होने लगा, तब देवता और ऋषि ब्रह्माजीके सहित पिनाकधारी महादेवजीका दर्शन करनेके लिये गये। उस समय भगवान् शिव समाधि लगाये योगासनपर विराजमान थे।

ब्रह्माजी बोले—भगवन् ! तारकासुरने देवताओंको महान् कष्ट पहुँचाया है, अतः हमारी प्रार्थना है कि आप उसके वधके लिये पार्वतीजीका पाणिग्रहण करें। इसपर महादेवजीने देवताओं और ऋषियोंको भलीभाँति समझाया। तत्पश्चात् वे पुनः ध्यान लगाकर मौन हो गये। तब वे सब देवता आदि अपने-अपने स्थानको चले गये। इधर शिवजी मनको आत्मामें एकाग्र करके अपने स्वरूपका इस प्रकार चिन्तन करने लगे—

परात्परतरं स्वस्थं निर्मलं निरवग्रहम्।
निरञ्जनं निराभासं यन्मुह्यन्ति च सूरयः॥
भानुर्न भात्यग्निरथो शशी वा
न ज्योतिरेवं न च मारुतो हि।
यत् केवलं वस्तुविचारतोऽपि
सूक्ष्मात् परं सूक्ष्मतरात् परं च॥
अनिर्देश्यमचिन्त्यं च निर्विकारं निरामयम्।
ज्ञप्तिमात्रस्वरूपं च न्यासिनो यान्ति यत्र वै॥
शब्दातीतं निर्गुणं निर्विकारं
सत्तामात्रं ज्ञानगम्यं त्वगम्यम्।
यत्तद् वस्तु सर्वदा कथ्यते
वै वेदातीतैश्चागमैर्मूकभूतैः॥
तद्वस्तुभूतो भगवान् स ईश्वरः
पिनाकपाणिर्भगवान् वृषध्वजः।

(स्क०, मा०, के० २२। ३३—३७)

'जो परसे भी अत्यन्त परे, अपने-आपमें स्थित, मल आदि दोषोंसे रहित, विघ्न-बाधाओंसे शून्य, निरञ्जन (निर्लिप्त) तथा निराभास (मिथ्या ज्ञानसे रहित) है, जिसके विषयमें विवेकी विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं, जहाँ सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि अथवा नक्षत्र आदि दूसरी किसी ज्योतिका प्रकाश नहीं, जहाँ वायुकी भी गति कुण्ठित हो जाती है, जो विचारदृष्टिसे भी केवल (अद्वितीय) सद्वस्तु है, सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर वस्तुओंसे भी परे है, जिसका कोई नाम या संकेत नहीं है, जो चिन्तनका विषय नहीं है, जिसमें विकारका सर्वथा अभाव है, जो रोग और शोकसे सर्वथा दूर है, विशुद्ध ज्ञान ही जिसका स्वरूप है, कर्तृत्व-अभिमानसे रहित पुरुष जिसे प्राप्त होते हैं, जो शब्द या वाणीकी पहुँचसे परे है, निर्गुण और निर्विकार है, सत्तामात्र ही जिसका स्वरूप है, जो ज्ञानगम्य होकर भी वास्तवमें अगम्य है, वेदान्त और आगम भी मूक होकर (नेति-नेतिकी भाषामें) जिसका सर्वदा प्रतिपादन करते हैं, वही सबके ईश्वर पिनाकधारी भगवान् वृषध्वज परमार्थ-वस्तु (परब्रह्म परमात्मा) हैं*।'

उधर पार्वतीदेवी बड़ी कठोर तपस्यामें लगी हुई थीं। उस तपस्यासे उन्होंने भगवान् शंकरको जीत लिया। देवीकी तपस्यासे हार मानकर भगवान् शिव समाधिसे विरत हो तुरंत उस स्थानपर गये, जहाँ पार्वतीजी विराजमान थीं। ध्यानमें लगी हुई पार्वतीदेवी अपने ध्यानगत स्वरूपका अन्वेषण कर रही थीं। उसी समय उनके हृदयस्थित देवता बाहर दिखायी देने लगे। गिरिजाने आँख खोलकर देखा तो सर्वलोकमहेश्वर शिव सामने दृष्टिगोचर हुए।

भगवान् शिव पार्वतीसे बोले—'कल्याणि! तुम वर माँगो।' उन्होंने कहा—'देवेश! आप मेरे सनातन स्वामी हैं। मैं वही सती हूँ, जिसके लिये आपने दक्षयज्ञका विनाश किया था। वही आप हैं और वही मैं हूँ। तारकासुरके वधरूप देवकार्यकी सिद्धिके लिये मैं मेनाके गर्भसे प्रकट हुई हूँ। आपसे मेरे द्वारा एक पुत्र होगा। इसलिये आपको मेरी प्रार्थना स्वीकार कर हिमवान्के पास जाना चाहिये और उनसे मेरे लिये याचना करनी चाहिये।'

तब महादेवजीने पार्वतीजीसे कहा—'मैं हिमालयके पास जाकर किसी प्रकार याचना नहीं करूँगा; क्योंकि किसीके सामने 'दीजिये' ऐसा वचन मुँहसे निकालनेपर पुरुष उसी क्षण लघुताको प्राप्त हो जाता है।'

ऐसा कहकर भगवान् शिव अपने स्थानको चले गये। तदनन्तर हिमवान् अपनी धर्मपत्नी मेना तथा दूसरे पर्वतोंके साथ वहाँ आये। पार्वतीजी उन्हें देखकर खड़ी हो गयीं और उन्होंने अपने माता-पिता एवं भाई-बन्धुओंको प्रणाम किया। तदनन्तर हिमालयके पूछनेपर पार्वतीने सब बातें बतला दीं, जो महादेवजीसे हुई थीं। पार्वतीकी बात सुनकर हिमवान्को बड़ी प्रसन्नता हुई और वे पार्वतीको अपने घर लिवा लाये।

तदनन्तर भगवान् महेश्वरके भेजे हुए सप्तर्षिगण हिमवान्के पास आये और उन्होंने पार्वतीके पिता-माता हिमवान् तथा मेनासे पक्की बातचीत करके लौटकर भगवान् शिवसे सब वृत्तान्त कहा और बोले कि हिमवान्ने आपको कन्या देना स्वीकार कर लिया है।' तब भगवान् महेश्वर सम्पूर्ण देव-दानवोंके साथ सब प्रकारसे अलङ्कृत हो पार्वतीजीका पाणिग्रहण करनेके लिये गिरिराज हिमवान्के यहाँ गये। तदनन्तर गिरिराज हिमालयने गर्गाचार्यके आदेशसे अपनी पत्नी मेनाके साथ कन्यादान किया। उन्होंने बड़े विस्तारके साथ परम मङ्गलमय और अतिशय शोभायमान वैवाहिक उत्सव सम्पन्न किया। अन्तिम दिन हिमवान्ने उत्साहपूर्ण हृदयसे वस्त्र, आभूषण और भाँति-भाँतिके रत्न भेंट करके भगवान् शिवका पूजन किया। इस प्रकार जिनके कन्यादानरूपी महान् दानसे भगवान् शंकर संतुष्ट हुए, वे पर्वतराज हिमालय तीनों लोकोंमें विख्यात हो गये।

इसी प्रसङ्गमें भगवन्नामजप और भगवत्पूजाका बड़ा सुन्दर माहात्म्य बतलाया है, उसपर सबको ध्यान देना चाहिये। वह इस प्रकार है—'जिनकी जिह्वाके अग्रभागपर सदा भगवान् शंकरका दो अक्षरोंवाला नाम (शिव) विराजमान रहता है, वे धन्य हैं, वे महान् पुरुष हैं तथा वे ही कृतकृत्य हैं। महादेवजी थोड़ा-सा बिल्वपत्र पाकर भी सदा संतुष्ट रहते हैं। फल और जल अर्पण करनेसे भी प्रसन्न हो जाते हैं। भगवान् शिव सदा सबके लिये कल्याणस्वरूप हैं। ये पत्र, पुष्प और जलसे ही संतुष्ट हो जाते हैं। इसलिये सबको इनकी पूजा करनी चाहिये। शिवजी इस जगत्में मनुष्योंको महान् सौभाग्य प्रदान करनेवाले हैं। ये एक हैं, महान् हैं, ज्योतिःस्वरूप हैं तथा अजन्मा परमेश्वर हैं। महात्मा शिव कार्य और कारण सबसे परे हैं। ये व्यवधानशून्य, निर्गुण, निर्विकार, निर्बाध, निर्विकल्प, निरीह, निरञ्जन, निष्काम, निराधार और नित्यमुक्त हैं।

* निर्गुण निराकारके उपासकोंके लिये यह ध्यानकी प्रक्रिया बड़ी ही उपादेय है, उन्हें इसी प्रकार ध्यानका अभ्यास करना चाहिये।

ऐसी महिमावाले भगवान् शिवकी आराधनासे ही हिमवान् सबसे महान् वन्दनीय और पर्वतोंमें श्रेष्ठ हो गये। इसके बाद उन्होंने सब पर्वतोंको विदा किया। पश्चात् भगवान् शिवजी गन्धमादनपर्वतके एकान्त प्रदेशमें पार्वतीदेवीके साथ निवास करने लगे। उस समय भगवान् शंकरके दुःसह वीर्यसे समस्त चराचर जगत् नष्ट होने लगा। यह देख ब्रह्माजी तथा विष्णुने अग्निदेवका स्मरण किया। अग्निदेव तत्काल वहाँ आ पहुँचे। उनकी आज्ञा पाकर अग्निने हंसका रूप धारण करके शिवजीके भवनमें प्रवेश किया और कहा—'माँ! हाथ ही मेरा पात्र है, इसमें मुझे भिक्षा दो।' तब माता पार्वतीने अग्निको भिक्षाके रूपमें वीर्य दे दिया, जिससे वे अत्यधिक संतप्त हो गये! उस समय नारदजीने अग्निदेवसे कहा—'माघ मासमें प्रातःस्नान करके जो अग्निसेवनके लिये आये, उनमें तुम यह तेज स्थापित कर देना।' उनकी बात मानकर अग्निदेव ब्राह्ममुहूर्तमें प्रचण्ड तेजसे प्रज्वलित हो उठे। शीतसे आर्त हुई कृत्तिकाओंने अग्निसेवनकी इच्छासे वहाँ आनेका विचार किया। उस समय अरुन्धती देवीने उनको रोका तो भी वे सब आग तापने लगीं। तब शंकरजीके वीर्यके सभी परमाणु उनके रोमकूपोंमें होकर शरीरमें घुस गये। अब अग्निदेव उस वीर्यसे मुक्त हो गये। तत्पश्चात् वे कृत्तिकाएँ गर्भवती होकर जब अपने घरको लौटीं तब उनके पति महर्षियोंने शाप दिया, जिससे वे नक्षत्रोंके रूपमें आकाशमें विचरने लगीं और उन्होंने उस वीर्यको हिमालयके शिखरपर छोड़ दिया। वह सुवर्णके समान चमक उठा। फिर वह गङ्गाजीमें डाल दिया गया। गङ्गाजीमें बहता हुआ वह तेजोमय वीर्य सरकंडोंके समूहसे घिर गया। वहाँ वह तेज छः मुखवाले बालकके रूपमें परिणत हो गया। इसका पता लगनेपर सम्पूर्ण देवताओंको बड़ी प्रसन्नता हुई। नारदजीने आकर शिव और पार्वतीसे उस बालकके जन्मका समाचार कहा। यह सुनकर शंकरजी पार्वतीके साथ वहाँ आये और अपने पुत्रको देखा। देखते ही पार्वती वात्सल्य-स्नेहमें मग्न हो गयीं। भगवान् शंकर उस महातेजस्वी कुमारको अपनी गोदमें बिठाकर अत्यन्त शोभायमान हुए।

भगवान् शंकरने इन्द्रादि देवताओंसे कहा—'देवगण! यह बालक बड़ा प्रतापी है। इससे तुम्हें कौन-सा काम लेना है, सो बतलाओ।' तब सम्पूर्ण देवताओंने भगवान् पशुपतिसे कहा—'प्रभो! इस समय सम्पूर्ण जगत्को तारकासुरसे महान् भय प्राप्त हुआ है, उसे मारनेके लिये हमलोग आज ही प्रस्थान करेंगे।' यों कहकर तथा भगवान् शंकरकी अनुमति जानकर उन्होंने कार्तिकेयजीको सेनापति बनाकर तारकासुरपर चढ़ाई कर दी। इस युद्धमें ब्रह्मा, विष्णु आदि सब देवता सम्मिलित थे। देवतालोग युद्धके लिये प्रयत्नशील हैं, यह सुनकर महाबली तारकासुर भी बड़ी भारी सेनाके साथ देवताओंसे लोहा लेनेके लिये चल दिया।

दोनों सेनाओंमें घमासान युद्ध होने लगा। बाणोंकी बौछारोंसे वहाँका सारा मैदान रुण्ड-मुण्डोंसे भर गया। अन्तमें वीरवर कार्तिकेय एक बहुत बड़ी शक्ति लेकर उसके द्वारा तारकासुरको मार डालनेके लिये उद्यत हुए। तारकासुर और कुमार कार्तिकेयमें बड़ा विकट और सब प्राणियोंके लिये भयंकर तथा अत्यन्त दुःसह संग्राम हुआ। फिर कुमार कार्तिकेयने मन-ही-मन अपने पिता और माताको प्रणाम करके दैत्यराज तारकपर बड़े वेगसे प्रहार किया। शक्तिका आघात होते ही तारकासुर धराशायी हो गया। तारकासुरका वध देखकर देवताओंको बड़ा हर्ष हुआ और उन सबने मिलकर कुमार कार्तिकेयकी स्तुति की। भगवान् शंकर और सती पार्वती भी वहाँ आये और अपने पुत्रको गोदमें बिठाकर पूर्ण संतोष प्राप्त किया।

तीर्थोंकी महिमा तथा दानका महत्त्व

ऋषियोंके पूछनेपर उग्रश्रवाजीने तीर्थोंके प्रसङ्गमें बतलाया है कि पूर्वकालमें कुछ कारणवश महात्मा अर्जुन दक्षिण समुद्रके तटपर वहाँके तीर्थोंमें स्नान करनेके लिये आये और वहाँ नारदजीके दर्शन करके उन्होंने उनसे तीर्थोंके गुण बतलानेकी प्रार्थना की। इसपर नारदजीने तीर्थोंके गुणोंका वर्णन करते हुए कहा कि—'जिसके हाथ-पैर और मन भलीभाँति संयममें हों तथा जिसकी सभी क्रियाएँ निर्विकारभावसे सम्पन्न होती हों वही तीर्थका पूरा फल प्राप्त करता है।* यह बात तुम्हें अपने हृदयमें धारण करनी चाहिये। पूर्व कालकी बात है, एक बार मैं कपिलजीके साथ ब्रह्मलोकमें गया था। उसी समय वहाँ कुछ ब्राह्मण पधारे। तब पितामहने उनसे पूछा कि 'तुमलोगोंने भ्रमण करते हुए क्या-क्या देखा-सुना है? कोई अद्भुत बात हो तो सुनाओ।' इसपर विप्रवर सुश्रवाने कहा—

* यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्। निर्विकाराः क्रियाः सर्वाः स तीर्थफलमश्नुते (स्क०, मा०, कुमा० २।६)

'भगवन्! एक बार कात्यायन और सारस्वत मुनिमें परस्पर जो धर्मविषयक अद्भुत वार्तालाप हुआ, वह सुनिये।'

मुनिवर कात्यायनने मुनिश्रेष्ठ सारस्वतके पास जाकर प्रणाम किया और पूछा—'कोई सत्यकी प्रशंसा करते हैं, कोई तप और शौचाचारकी; कोई ज्ञानकी तो कोई योगकी; कोई क्षमाको श्रेष्ठ बतलाते हैं तो कोई इन्द्रियसंयमको; कोई सरलताको तो कोई स्वाध्यायको ही श्रेष्ठ बतलाते हैं। कोई वैराग्यको उत्तम बताते हैं तो कोई यज्ञकर्मको और अन्य कोई समभावको ही सर्वोत्तम बतलाते हैं। अतः सबसे श्रेष्ठ क्या है, वह मुझे बतानेकी कृपा करें।'

सारस्वत बोले—'ब्रह्मन् ! माता सरस्वतीने मुझको जो कुछ बतलाया है, उसके अनुसार मैं सारतत्त्व बतलाता हूँ। यह सम्पूर्ण जगत् छायाकी भाँति उत्पत्ति और विनाशरूप धर्मसे युक्त है। धन, यौवन और भोग जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाकी भाँति चञ्चल हैं। यह जानकर मनुष्यको भगवान्‌की शरणमें जाना और दान करना चाहिये, यह वेदकी आज्ञा है। जिसमें दुःखरूपी भँवर उठता है, अज्ञानमय प्रवाह बहता रहता है, धर्म और अधर्म ही जिसके जल हैं, जो क्रोधरूपी कीचड़से युक्त है, जिसमें मदरूपी ग्राह निवास करता है, जहाँ लोभरूपी बुलबुले उड़ते रहते हैं, अभिमान ही जिसकी पातालतक पहुँचनेवाली गहराई है, सत्त्वगुणरूपी जहाज जिसकी शोभा बढ़ाता है, ऐसे संसारसमुद्रमें डूबनेवाले जीवोंको केवल भगवान् ही पार लगानेवाले हैं। दान, सदाचार, व्रत, सत्य और प्रिय वचन, उत्तम कीर्ति, धर्मपालन तथा आयुपर्यन्त दूसरोंका उपकार—इन सार वस्तुओंका इस असार शरीरसे उपार्जन करना चाहिये। राग हो तो धर्ममें, चिन्ता हो तो शास्त्रकी, व्यसन हो तो दानका —ये सभी बातें उत्तम हैं। इन सबके साथ यदि विषयोंके प्रति वैराग्य हो जाय तो समझना चाहिये कि मैंने जन्मका फल पा लिया। इस भारतवर्षमें जो सदा टिकनेवाला नहीं है, ऐसा मनुष्यका शरीर पाकर जो अपना कल्याण नहीं कर लेता उसने दीर्घकालतकके लिये अपने आत्माको धोखेमें डाल दिया। देवता और असुर सबके लिये मनुष्ययोनिमें जन्म लेनेका सौभाग्य अत्यन्त दुर्लभ है। उसे पाकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे नरकमें न जाना पड़े। यह मानव-शरीर सर्व साधनाका मूल है। तथा सब पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेवाला है। यदि तुम सदा लाभ उठानेके ही प्रयासमें रहते हो तो इस मूलकी यत्नपूर्वक रक्षा करो। महान् पुण्यरूपी मूल्य देकर तुम्हारे द्वारा यह मानव-शरीररूपी नौका इसलिये खरीदी जाती है कि इसके द्वारा दुःखरूपी समुद्रके पार पहुँचा जा सके। जबतक यह नौका छिन्न-भिन्न नहीं हो जाती, तबतक ही तुम इसके द्वारा संसार-समुद्रको पार कर लो। जो नीरोग मानवशरीररूपी दुर्लभ वस्तुको पाकर भी उसके द्वारा संसारसागरके पार नहीं हो जाता; वह नीच मनुष्य आत्महत्यारा है। इसी शरीरमें रहकर यतिजन परलोकके लिये तप करते हैं, यज्ञकर्ता होम करते हैं और दाता पुरुष आदरपूर्वक दान देते हैं।'

कात्यायनने पूछा—'सारस्वतजी! दान और तपमें कौन दुष्कर तथा महान् फलदायक है?'

सारस्वतने कहा—'मुने! इस पृथ्वीपर दानसे बढ़कर अत्यन्त दुष्कर कार्य कोई नहीं है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जो बड़े दुःखसे और सैकड़ों आयास-प्रयाससे उपार्जन किया गया है ऐसे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय धनका त्याग अत्यन्त दुष्कर है। पर मनुष्य अपने हाथोंसे जो धन दूसरेको दे देता है, वह धन वास्तवमें उस धनीका है। मरे हुए मनुष्यके धनसे तो दूसरे लोग ही मौज किया करते हैं। दिया जानेवाला धन घटता नहीं, अपितु सदा बढ़ता ही रहता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि कुँएसे पानी उलीचनेपर वह शुद्ध और अधिक जलवाला होता है। जो धनवान् होकर दान नहीं करता और दरिद्र होकर कष्टसहनरूप तपसे दूर भागता है, वे दोनों गलेमें बड़ा भारी पत्थर बाँधकर जलमें छोड़ देने योग्य हैं। गौ, ब्राह्मण, वेद, सती स्त्री, सत्यवादी पुरुष, लोभहीन और दानशील मनुष्य—इन सातोंके द्वारा ही यह पृथ्वी धारण की जाती है। ऐसा विचार करके तुम सारभूत धर्मके अभिलाषी होकर भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये सदा दान करते रहो।' यह उपदेश सुनकर कात्यायन मुनि मोह त्यागकर वैसे ही हो गये।

दानका रहस्य

तदनन्तर नारदजीने अर्जुनसे कहा कि महीसमुद्र-संगमपर मैं श्रीभृगुजीके साथ गया था। वहाँ स्नान करनेके लिये बहुत-से ऋषि-मुनि भी आ गये थे। वे मुझे प्रणाम करके मेरे पूछनेपर बोले—मुने! हमलोग सौराष्ट्र-देशमें रहते हैं, जहाँके राजा धर्मवर्मा हैं। राजाने दानका तत्त्व जाननेकी इच्छासे बहुत वर्षोंतक तपस्या की, तब आकाशवाणीने उनसे एक श्लोक कहा—

द्विहेतु षडधिष्ठानं षडङ्गं च द्विपाकयुक्।
चतुष्प्रकारं त्रिविधं त्रिनाशं दानमुच्यते॥

(स्क० मा० कु० ३। १०५-१०६)

'नारदजी! राजाके पूछनेपर भी आकाशवाणीने श्लोकका अर्थ नहीं बतलाया। तब राजाने ढिढोरा पिटवाकर यह घोषणा करायी कि 'जो मेरी तपस्याद्वारा प्राप्त हुए इस श्लोककी ठीक-ठीक व्याख्या कर देगा, उसे मैं सात लाख गौएँ, इतनी ही स्वर्णमुद्राएँ तथा सात गाँव दूँगा।' यह सुनकर हम भी वहाँ गये; किंतु उसकी व्याख्या न कर सकनेके कारण अब तीर्थयात्राके लिये जा रहे हैं।'

नारदजी बोले—'अर्जुन! उन महात्माओंकी बात सुनकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ और सोचने लगा कि यह स्थान राजा धर्मवर्माका है; मुझे यहाँ कुछ स्थान चाहिये, सो अब इस स्थानकी प्राप्तिके लिये मुझे अच्छा उपाय मिल गया। इस श्लोककी व्याख्या करके विद्याके मूल्यपर मैं राजासे स्थान प्राप्त करूँगा इस प्रकार विचार करके मैंने राजाके पास जाकर कहा—'राजन्! मुझसे श्लोककी व्याख्या सुनिये और इसके बदलेमें जो कुछ देनेकी घोषणा की है, उसकी यथार्थता प्रकट कीजिये।'

राजा बोले—'ब्रह्मन्! दानके वे दोनों हेतु कौन हैं, छः अधिष्ठान कौन-से हैं, छः अंग कौन हैं, दो फल कौन हैं, चार प्रकार और तीन भेद कौन-कौनसे हैं तथा दानके विनाशके तीन हेतु कौन-से बताये गये हैं ? यह सब स्पष्टरूपसे वर्णन कीजिये।'

नारदजी बोले—राजन्! दानके दो हेतु सुनिये—श्रद्धा और शक्ति ही दानकी वृद्धि और क्षयमें कारण होती हैं। इनमेंसे श्रद्धाके विषयमें ये श्लोक हैं—शरीरको बहुत क्लेश देनेसे तथा धनकी राशियोंसे सूक्ष्म धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। श्रद्धा ही धर्म और अद्भुत तप है। श्रद्धा ही स्वर्ग और मोक्ष है तथा श्रद्धा ही यह सम्पूर्ण जगत् है। यदि कोई बिना श्रद्धाके अपना सर्वस्व दे दे अथवा अपना जीवन ही निछावर कर दे तो भी वह उसका कोई फल नहीं पाता। इसलिये सबको श्रद्धालु होना चाहिये। देहधारियोंमें उनके स्वभावके अनुसार होनेवाली श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। सात्त्विकी श्रद्धावाले पुरुष देवताओंकी, राजसी श्रद्धावाले यक्षों और राक्षसोंकी और तामसी श्रद्धावाले मनुष्य प्रेत, भूत और पिशाचोंकी पूजा किया करते हैं।* इसलिये श्रद्धावान् पुरुष अपने न्यायोपार्जित धनका सत्पात्रके लिये जो दान करते हैं, वह थोड़ा भी हो तो उसीसे भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं।

शक्तिके विषयमें श्लोक इस प्रकार हैं—कुटुम्बके भरण-पोषणसे जो अधिक हो, वही धन दान करने योग्य है, वही मधुके समान मीठा है, उसीसे वास्तविक धर्मका लाभ होता है। इसके विपरीत करनेपर वह आगे जाकर विषके समान हानिकारक होता है। दाताका धर्म अधर्म-रूपमें परिणत हो जाता है।

राजन्! धर्म, अर्थ, काम, लज्जा, हर्ष और भय—ये दानके छः अधिष्ठान हैं। सदा ही किसी प्रयोजनकी इच्छा न रखकर केवल धर्मबुद्धिसे सुपात्र व्यक्तियोंको जो दान दिया जाता है, उसे 'धर्मदान' कहते हैं। मनमें कोई प्रयोजन रखकर प्रसंगवश जो कुछ दिया जाता है, उसे 'अर्थदान' कहते हैं। वह इस लोकमें ही फल देनेवाला होता है। स्त्रीसमागम, सुरापान, शिकार और जुएके प्रसंगमें अनधिकारी मनुष्यको यत्नपूर्वक जो कुछ दिया जाता हो, वह 'कामदान' कहलाता है। भरी सभामें याचकोंके माँगनेपर लज्जावश देनेकी प्रतिज्ञा करके जो कुछ उन्हें दिया जाता है वह 'लज्जादान' माना गया है। कोई प्रिय कार्य देखकर अथवा प्रिय समाचार सुनकर हर्षोल्लाससे जो कुछ दिया जाता है, उसे महात्मा पुरुष 'हर्षदान' कहते हैं। निन्दा, अनर्थ और हिंसाका निवारण करनेके लिये अनुपकारी व्यक्तियोंको विवश होकर जो कुछ दिया जाता है, उसे 'भयदान' कहते हैं।

राजन्! दाता, प्रतिग्रहीता, शुद्धि, धर्मयुक्त देय वस्तु, देश और काल—ये दानके छः अङ्ग हैं। दाता नीरोग, धर्मात्मा, देनेकी इच्छा रखनेवाला, व्यसनरहित, पवित्र तथा सदा अनिन्दनीय कर्मसे आजीविका चलानेवाला होना चाहिये। इन छः गुणोंसे दाताकी प्रशंसा होती है। जिसके कुल, विद्या और आचार तीनों उज्ज्वल हों, जीवन निर्वाहकी वृत्ति भी शुद्ध और सात्त्विक हो, जो दयालु, जितेन्द्रिय तथा योनिदोषसे मुक्त हो, वह ब्राह्मण दानका उत्तम पात्र कहा जाता है। अर्थात् उपर्युक्त लक्षणोंवाले ब्राह्मणोंको दान देना चाहिये। याचकोंको देखनेपर सदा प्रसन्नमुख होना, उनके प्रति हार्दिक प्रेम होना, उनका सत्कार करना तथा उनमें दोषदृष्टि न रखना—ये सब सद्गुण दानमें दाताके लिये शुद्धिकारक माने गये हैं। जो धन किसी दूसरेको सताकर न लाया गया हो, अति क्लेश उठाये बिना अपने प्रयत्नसे उपार्जित किया गया हो

* यही भाव गीताके सत्रहवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकोंमें भी आया है।

वही देने योग्य बताया गया है। कोई धार्मिक उद्देश्य लेकर जो वस्तु दी जाती है, उसे धर्मयुक्त देय कहते हैं। जिस देश अथवा कालमें जो-जो पदार्थ दुर्लभ हों, अर्थात् जिस पदार्थका अभाव हो, उस-उस पदार्थका दान करने योग्य वही-वही देश और काल श्रेष्ठ हैं।

नृपश्रेष्ठ! महात्माओंने दानके दो परिणाम (फल) बतलाये हैं। उनमेंसे एक तो परलोकके लिये होता है और एक इस लोकके लिये । तथा दानके ध्रुव, त्रिक, काम्य और नैमित्तिक—ये चार प्रकार बतलाये गये हैं। कुआँ बनवाना, बगीचे लगवाना, पोखरे खुदवाना आदि सर्वोपयोगी कार्योंमें धन लगाना 'ध्रुव' कहा गया है। प्रतिदिन दिये जानेवाले नित्य दानको 'त्रिक' कहते हैं। जो दान संतान, विजय, ऐश्वर्य, स्त्री और बल आदिके निमित्तसे तथा इच्छापूर्तिके लिये किया जाता है वह 'काम्य' है। 'नैमित्तिक' दान तीन प्रकारका होता है—ग्रहण, संक्रान्ति आदि कालकी अपेक्षासे दिया जानेवाला 'कालापेक्ष', श्राद्ध आदि क्रियाओंकी अपेक्षासे दिया जानेवाला 'क्रियापेक्ष' तथा संस्कार और विद्याध्ययन आदि गुणोंकी अपेक्षासे अर्थात् गुणवान् मनुष्यको दिया जानेवाला 'गुणापेक्ष' नैमित्तिक दान है।

अब दानके तीन भेद सुनिये। आठ वस्तुओंके दान उत्तम, चारके दान मध्यम और शेष कनिष्ठ माने गये हैं। घर, मन्दिर, विद्या, भूमि, गौ, कूप, प्राण और सुवर्ण—इन आठ वस्तुओंका दान अन्य दानोंकी अपेक्षा 'उत्तम' है। अन्न, बगीचा, वस्त्र तथा अश्व आदि वाहनोंका दान 'मध्यम' है। जूता, छाता, बर्तन, दही, मधु, आसन, दीपक, काष्ठ और पत्थर आदि वस्तुओंके दानको 'कनिष्ठ' बताया गया है।

राजन्! पश्चात्ताप, अपात्रता और अश्रद्धा—ये तीनों दानके नाशक हैं। जिसे देकर पीछे पश्चात्ताप किया जाय, जो अपात्रको दिया जाय तथा जो बिना श्रद्धाके अर्पण किया जाय, वह दान नष्ट हो जाता है। नृपश्रेष्ठ! इस प्रकार यह सात पदोंमें बँधा हुआ दानका उत्तम रहस्य है।

राजा धर्मवर्मा बोले—'मुनिवर! आज मेरा जन्म सफल हुआ। आज मुझे अपने तपस्याका फल मिल गया। यदि आप देवर्षि नारद हैं तो यह सारा राज्य आपका ही रहे। मैं तो आपकी और समस्त ब्राह्मणोंकी चाकरी करूँगा।' यह सुनकर मैंने धर्मवर्मासे कहा—'राजन्! यह धन धरोहररूपसे तुम्हारे ही पास रहे। आवश्यकताके समय मैं ले लूँगा।'

कलियुगकी विशेषता

इसी खण्डमें आगे जाकर महाकालने चारों युगोंकी व्यवस्थाका बहुत विस्तृत सुन्दर वर्णन करते हुए कलियुगके भयानक दु:खदोषोंका वर्णन करके अन्तमें कहा—

यद्यपि इस प्रकार कलियुग समस्त दोषोंका भण्डार है तथापि उसमें एक महान् गुण भी है। कलिकालमें थोड़े ही समयमें साधन करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होते हैं।* सत्ययुग, त्रेता और द्वापरके लोग कहते हैं कि 'जो मनुष्य कलियुगमें श्रद्धासे वेदों, स्मृतियों और पुराणोंमें बताये हुए धर्मका अनुष्ठान करते हैं, वे धन्य हैं। त्रेतामें एक वर्षतक और द्वापरमें एक मासतक क्लेशसहनपूर्वक धर्मानुष्ठान करनेवाले पुरुषको जो फल प्राप्त होता है, वह कलियुगमें एक दिनके अनुष्ठानसे मिल जाता है। कलियुगमें भगवान् विष्णु और शिवकी नियमपूर्वक पूजा करनेवाले जितने मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होते हैं, उतने अन्य युगोंमें तीन युगोंतक उपासना करनेसे प्राप्त होते हैं।' इस प्रकार चारों युगोंकी व्यवस्था बदलती रहती है। चारों युगोंमें वही लोग धन्य हैं, जो भगवान्‌का भजन करते हैं।

पापोंके भेद

तदनन्तर करन्धमके पूछनेपर महाकालने पापोंके भेद बतलाये—

महाकालने कहा—अधर्म तीन प्रकारके हैं—स्थूल, सूक्ष्म और अत्यन्त सूक्ष्म। ये ही करोड़ों भेदोंके द्वारा अनेक प्रकारके हो जाते हैं। इन पापोंका अनुष्ठान मन, वाणी और कर्मोंद्वारा होता है। उनमें मानसिक पापके चार भेद हैं— परस्त्रीचिन्तन, दूसरोंके धन हड़प लेनेका संकल्प, अपने मनसे किसीका भी अनिष्टचिन्तन तथा न करने योग्य कार्योंके लिये मनमें दुराग्रह रखना। इसी प्रकार वाचिक पापकर्मके भी चार भेद हैं—असंगत वचन बोलना, झूठ बोलना, अप्रिय भाषण करना तथा दूसरोंकी निन्दा और चुगली करना। शारीरिक पापकर्म भी चार प्रकारके हैं—अभक्ष्यभक्षण, हिंसा, मिथ्या भोगोंका सेवन तथा पराये धनका अपहरण। इस प्रकार मन, वाणी और शरीरसे होनेवाले ये बारह प्रकारके पापकर्म हैं।

* कलेर्दोषनिधेश्चैव शृणु चैकं महागुणम्। यदल्पेन तु कालेन सिद्धिं गच्छन्ति मानवा:॥ (स्क०, मा०, कु० ३५। १५)

सदाचारका निरूपण

इसके पश्चात् महाकालने राजा करन्धमके पूछनेपर शिवपूजाकी विधि बतलाते हुए सदाचारका बड़ा सुन्दर निरूपण किया है, जो इस प्रकार है—

'मनुष्यको ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर धर्म और अर्थका चिन्तन करना चाहिये। फिर शय्यासे उठकर मलत्यागके बाद दातुन-कुल्ला करे एवं द्विजको चाहिये कि स्नान करके संध्योपासना करे। विद्वान् द्विजको उचित है कि वह शान्तचित्त, संयमी तथा पवित्र होकर प्रात:संध्याकी उपासना उस समय आरम्भ करे, जब कि आकाशके तारे कुछ दिखायी देते हों तथा सायंसंध्या सूर्यास्त होनेसे पहले ही आरम्भ करे। इस प्रकार यथाविधि संध्योपासना करता रहे। कभी भी संध्याकर्मका परित्याग न करे। राजन्! झूठ, असत्य, लोभ तथा कठोर भाषण सदाके लिये त्याग दे। दुष्ट पुरुषोंकी सेवा, नास्तिकवाद तथा असत् शास्त्रोंको भी सदाके लिये छोड़ दे। विद्वान् पुरुषको चाहिये कि आसनको पैरसे न खींचे। गुरु, देवता तथा अग्निके सम्मुख पाँव न फैलाये। चौराहा, चैत्यवृक्ष, देवालय, संन्यासी, विद्यामें बढ़े हुए पुरुष, गुरु तथा वृद्धजन—इन सबको अपने दाहिने करके चलना चाहिये। धर्मज्ञ पुरुषको आहार-विहार और मैथुन ओटमें रहकर ही करना चाहिये। इसी प्रकार अपनी वाणी और बुद्धिकी शक्ति, तपस्या और जीविका तथा आयुको अत्यन्त गुप्त रखना चाहिये। दिनमें उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके मल-मूत्रका त्याग करना चाहिये तथा रातमें दक्षिण दिशाकी ओर। ऐसा करनेसे आयु नहीं घटती। अग्नि, सूर्य, गौ, व्रतधारी पुरुष, चन्द्रमा और जलके सम्मुख तथा संध्याके समय मल-मूत्र त्याग करनेवाले मनुष्यकी बुद्धि नष्ट होती है। भोजन, शयन, स्नान, मल-मूत्रका त्याग तथा सड़कोंपर भ्रमण करनेपर दोनों हाथ, दोनों पैर और मुँह—इन पाँचोंको भलीभाँति धोकर आचमन करे। नदीमें, श्मशान-भूमिमें, राहमें, गोबरपर, जोते-बोये हुए खेतमें तथा हरी-भरी घासवाली भूमिपर मल-मूत्रका त्याग न करे। जलके भीतरसे, देवस्थानसे , बाँबीसे और चूहोंके स्थानसे निकाली हुई तथा शौचावशिष्ट—इन पाँच प्रकारकी मिट्टियोंको त्याग दे। विद्वान् पुरुष हाथको इतना धोये कि मलकी गन्ध और लेप सर्वथा दूर हो जाय। अपने-आपको ताड़ना न दे, दु:खमें न डाले। दोनों हाथोंसे अपना सिर न खुजलावे। स्त्रीकी रक्षा करे और उसके प्रति अकारण ईर्ष्या छोड़ दे। भगवान् सूर्यको अर्घ्य दिये बिना कोई कर्म न करे। प्राणियोंसे द्रोह न करके मनसे भगवान्‌का चिन्तन करते हुए धनका उपार्जन करे। अत्यन्त कृपण न हो। किसीके प्रति ईर्ष्या न रखे, कृतघ्न न हो। दूसरोंसे द्रोह पैदा करनेवाले कार्यमें मन न लगावे। हाथ, पैर और नेत्रोंसे चञ्चल न हो। सरल भावसे बोले। वाणीसे अथवा अङ्गोंकी चेष्टाओंसे चञ्चलता प्रकट न करे। अशिष्ट पुरुषका सङ्ग न करे। व्यर्थ विवाद और अकारण वैर न करे। साम, दाम और भेद—इन तीन उपायोंसे अपना मनोरथ सिद्ध करे। दण्डनीतिका आश्रय तो तभी लेना चाहिये, जब उसके सिवा दूसरा कोई उपाय ही न रह जाय। दो अग्नि, दो ब्राह्मण, पति और पत्नी, सूर्य और चन्द्रमाकी प्रतिमा तथा भगवान् शङ्कर और नन्दिकेश्वर वृषभ—इनके बीचमें होकर न जाय; क्योंकि इनके बीचसे जानेवाला मनुष्य पापका भागी होता है। विद्वान् पुरुष एक वस्त्र धारण करके न तो भोजन करे, न अग्निमें आहुति दे, न ब्राह्मणोंकी पूजा करे और न देवताओंकी ही अर्चना करे। कूटना, पीसना, झाड़ू देना, पानी छानना, राँधना, भोजन करना, सोना, उठना, जाना, छींकना, कार्यारम्भ करना, कार्यको समाप्त करना, मुँहसे अप्रिय वचन निकल जाना, पीना, सूँघना, स्पर्श करना, सुनना, बोलनेकी इच्छा करना, मैथुन करना और शौचकर्म—इन बीस कार्योंके होते या करते समय भी जो सदा भगवान् शङ्करका नाम-स्मरण करता है, उसीको शिवभक्त जानना चाहिये।

'विद्वान् पुरुषको चाहिये कि परायी स्त्रीसे बातचीत न करे। यदि कभी आवश्यकतावश करे तो माताजी, बहिनजी, बेटी अथवा आर्ये! इस प्रकार सम्बोधन करके बोले। हाथ और मुँह जूँठे हों तो कोई बात न करे और न किसी वस्तुका स्पर्श ही करे। उच्छिष्ट दशामें सूर्य, चन्द्रमा, तारे, देवता और अपने मस्तककी ओर देखना भी मना है। बहिन, बेटी अथवा माताके साथ भी एकान्तमें न बैठे, क्योंकि इन्द्रिय समुदाय दुर्जय होता है। इनसे विद्वान् पुरुष भी मोहमें पड़ जाते हैं।* यदि गुरुदेव घरपर आ जायँ तो उनके लिये स्वयं उठकर आसनकी व्यवस्था करे और प्रणाम करे। विद्वान् मनुष्य सिरहानेकी ओर दक्षिण दिशा अथवा पूर्व दिशाको रखकर शयन करे। रजस्वला स्त्रीका दर्शन-स्पर्श न करे। उसके साथ बातचीत भी नहीं करनी चाहिये। जलाशयके भीतर मल-मूत्र और मैथुन न करे। मनुष्य अपने वैभवके अनुसार देवता,

* स्वस्रा दुहित्रा मात्रा वा नैकान्तासनमाचरेत्। दुर्जयो हीन्द्रियग्रामो मुह्यते पण्डितोऽपि सन्॥ (स्क०, मा०, कुमा० ३६। १५७)

मनुष्य, ऋषि और पितरोंको उनका भाग समर्पित करके शेष अन्नका स्वयं भोजन करे। पवित्र हो, आचमन करके, पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके, दोनों हाथोंको घुटनोंके भीतर रखकर मौनभावसे भोजन करे। यदि अन्न किसी उच्छिष्ट आदि दोषसे दूषित हो गया है तो उस दोषके प्रकट करनेमें कोई हानि नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी दोषकी चर्चा न करे। नग्न होकर न तो स्नान करे, न सोये और न चले ही। यदि गुरुके द्वारा कोई अनुचित कार्य भी हो जाय तो उसे अन्यत्र न कहे। वे क्रोधमें हों तो उन्हें मनावे। दूसरे लोगोंके मुखसे भी गुरुकी निन्दा न सुने। सैकड़ों कार्य छोड़कर भी धर्मकी कथा-वार्ता सुने। प्रतिदिन धर्मचर्चा श्रवण करनेवाला मनुष्य अपने अन्तःकरणको शुद्ध कर लेता है। सायंकाल और प्रातःकाल अतिथिकी पूजा करके भोजन करना चाहिये। दोनों संध्याओंके समय सोना, पढ़ना और भोजन करना निषिद्ध है। नीलसे रँगा हुआ वस्त्र नहीं पहनना चाहिये।

'विद्वान् पुरुषको सदा तीनों वेदोंका स्वाध्याय तथा धर्मपूर्वक धनोपार्जन करके आत्मकल्याणार्थ यत्नपूर्वक भगवान्‌का भजन करना चाहिये। विद्वान् पुरुषको उचित है कि वह नीच श्रेणीके मनुष्यके लिये भी अनादरसूचक 'तू' का प्रयोग न करे। इस प्रकार भगवान्‌की प्राप्तिके लिये धर्माचरण करनेवाले सद्‌गृहस्थको इस लोकमें धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्ति होकर परलोकमें उसका परम कल्याण होता है।'

आगे वैष्णवखण्डान्तर्गत धर्मारण्य-माहात्म्यके पाँचवें-छठे अध्यायोंमें सदाचार, शिष्टाचार आदिका बहुत विस्तारसे निरूपण किया गया है। जो विस्तृत वर्णन देखना चाहें, उन्हें उन अध्यायोंका अध्ययन करना चाहिये।

संसारसे वैराग्यका निरूपण तथा परमार्थ-चर्चाका अद्भुत प्रभाव

आगे चलकर श्रीनारदजीने ऐतरेय मुनि और उनकी माताके बीच हुए संवादका उल्लेख किया है, जिसमें बतलाया है कि ऐतरेय मुनिने माताको वैराग्यका उपदेश दिया और उस वैराग्यमय परमार्थ चर्चाके अद्भुत प्रभावसे तुरंत भगवान् विष्णु उनके सामने प्रकट हो गये।

नारदजीने कहा—पूर्वकालकी बात है, इस श्रेष्ठ तीर्थमें ऐतरेय नामक ब्राह्मणने भगवान् वासुदेवकी कृपा प्राप्त की थी। हारीत मुनिके वंशमें माण्डुकि नामके एक श्रेष्ठ ब्राह्मण थे। उनके इतरा नामवाली पत्नीसे ऐतरेयका जन्म हुआ था। ये बाल्यावस्थासे ही निरन्तर द्वादशाक्षर-मन्त्र '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' का जप करते थे। इन्हें इस मन्त्रकी पूर्वजन्ममें ही शिक्षा मिली थी। ये न तो किसीकी बात सुनते और न स्वयं कुछ बोलते और न अध्ययन ही करते थे। इससे सबको निश्चय हो गया कि यह बालक गूँगा है। एक दिन इनकी माता इतराने अपने पुत्रसे कहा—'अरे! तू तो मुझे क्लेश देनेके लिये ही पैदा हुआ है। मेरे जन्म और जीवनको धिक्कार है। इससे तो मेरा मर जाना ही अच्छा है।' माताकी बात सुनकर ऐतरेय हँस पड़े। वे बड़े धर्मज्ञ थे। उन्होंने दो घड़ी भगवान्‌का ध्यान करके माताके चरणोंमें प्रणाम किया और कहा—'माँ! तुम जो शोचनीय नहीं है, उसके लिये शोक करती हो और जो वास्तवमें शोचनीय है, उसके लिये तुम्हारे मनमें जरा भी शोक नहीं है। यह संसार मिथ्या है। इसमें तुम इस शरीरके लिये क्यों चिन्तित एवं मोहित हो रही हो। यह तो मूर्खोंका काम है। तुम-जैसी विदुषी स्त्रियोंके लिये यह शोभा नहीं देता। यह जो मानवशरीर है, गर्भसे लेकर मृत्युपर्यन्त सदा अत्यन्त कष्टप्रद है। यह शरीर एक प्रकारका घर है। हड्डियोंका समूह ही इसके भारको सँभालनेवाला खंभा है। नाड़ी जालरूपी रस्सियोंसे ही इसे बाँधा गया है। रक्त और मांसरूपी मिट्टीसे इसको लीपा गया है। विष्ठा और मूत्ररूपी द्रव्योंके संग्रहका यह पात्र है। यह सदा कालकी मुखाग्निमें स्थित है। ऐसे इस देहरूपी गेहमें जीव नामवाला गृहस्थ निवास करता है। कितने कष्टकी बात है कि जीव इस देह-गेहकी मोह-मायासे मूढ़ होकर तदनुकूल बर्ताव करता है।'

'जैसे पर्वतसे झरने गिरते रहते हैं, उसी प्रकार शरीरसे भी कफ और मूत्र आदि बहते रहते हैं। उसी शरीरके लिये जीव मोहित होता है। विष्ठा और मूत्रसे भरे हुए चर्मपात्रकी भाँति यह शरीर समस्त अपवित्र वस्तुओंका भण्डार है और इसका एक प्रदेश (अंश) भी पवित्र नहीं है। अपने शरीरसे निकले हुए मल-मूत्र आदिके जो प्रवाह हैं, उनका स्पर्श हो जानेपर मिट्टी और जलसे हाथ शुद्ध किया जाता है। तथापि उन्हीं अपवित्र वस्तुओंके भंडार-रूप इस देहसे न जाने क्यों मनुष्यको वैराग्य नहीं होता! सुगन्धित तेल और जल आदिके द्वारा यत्नपूर्वक भली-भाँति सफाई करनेपर भी यह शरीर अपनी स्वाभाविक अपवित्रताको नहीं छोड़ता है, ठीक उसी तरह जैसे कुत्तेकी टेढ़ी पूँछको कितना ही सीधा किया जाय वह अपना टेढ़ापन नहीं छोड़ पाती। अपनी देहकी दुर्गन्धिसे जो मनुष्य विरक्त नहीं होता, उसे वैराग्यके

लिये अन्य किस साधनका उपदेश दिया जाय! दुर्गन्ध तथा मल-मूत्रके लेपको दूर करनेके लिये ही शारीरिक शुद्धिका विधान किया गया है। इन दोनोंका निवारण हो जानेके पश्चात् आन्तरिक भावकी शुद्धि हो जानेसे मनुष्य शुद्ध होता है। भावशुद्धि ही सबसे बढ़कर पवित्रता है। वही सब कर्मोंमें प्रमाणभूत है। आलिंगन पत्नीका भी किया जाता है और पुत्रीका भी; परंतु दोनोंमें भावका महान् अन्तर है। पत्नीका आलिंगन किसी और भावसे ही किया जाता है और पुत्रीका किसी और भावसे। एक स्त्रीके स्तनोंको पुत्र दूसरे भावसे स्मरण और स्पर्श करता है और पति दूसरे भावसे। अतः अपने चित्तको ही शुद्ध करना चाहिये; भावदृष्टिसे जिसका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध है, वह स्वर्ग और मोक्षको भी प्राप्त कर लेता है।'

'ज्ञानरूपी निर्मल जल तथा वैराग्यरूपी मृत्तिकासे ही पुरुषके अविद्या और रागमय मल-मूत्रके लेप तथा दुर्गन्धका शोधन होता है। इस प्रकार इस शरीरको स्वभावतः अशुद्ध माना गया है। जो बुद्धिमान् अपने शरीरको इस प्रकार दोषयुक्त जानकर उदासीन हो जाता है, शरीरसे अनुराग हटा लेता है, वही इस संसारबन्धनसे छूटकर निकल सकता है; किंतु जो इस शरीरको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहता है—इसका मोह नहीं छोड़ता, वह संसारमें ही पड़ा रह जाता है। इस प्रकार यह मानव-जन्म लोगोंके अज्ञान-दोषसे तथा नाना कर्मवशात् दुःखस्वरूप और महान् कष्टप्रद बतलाया गया है। गर्भकी झिल्लीमें रुँधा हुआ जीव महान् कष्ट पाता है। जैसे किसीको लोहेके घड़ेमें रखकर आगसे पकाया जाता है, वैसे ही गर्भरूपी घरमें डाला हुआ जीव जठरानलकी आँचसे पकता रहता है। यदि आगके समान दहकती हुई सूइयोंसे किसीको निरन्तर छेदा जाय तो उसे जितनी पीड़ा हो सकती है, उससे आठगुनी पीड़ा गर्भमें भोगनी पड़ती है। इस प्रकार स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंको अपने-अपने कर्मके अनुरूप यह महान् गर्भरूप दुःख प्राप्त होता है।'

'गर्भमें स्थित होनेपर सभी मनुष्योंको अपने पूर्वजन्मोंका स्मरण हो आता है। उस समय जीव इस प्रकार सोचता रहता है—'मैं मरकर पुनः उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होकर पुनः मृत्युको प्राप्त हुआ। जन्म ले-लेकर मैंने सहस्रों योनियोंका दर्शन किया है। इस समय जन्म धारण करते ही मेरे पूर्व-संस्कार जाग उठे हैं। अब मैं ऐसे कल्याणकारी साधनका अनुष्ठान करूँगा, जिससे पुनः मेरा गर्भवास न हो। मैं संसार-बन्धनसे दूर करनेवाले भगवदीय तत्त्वज्ञानका चिन्तन करूँगा।' इस प्रकार इस दुःखसे छूटनेके उपायपर विचार करता हुआ गर्भस्थ मनुष्य चिन्तामग्न रहता है। जब उसका जन्म होने लगता है, उस समय तो उसे गर्भवासकी अपेक्षा करोड़ों गुना अधिक दुःख होता है। गर्भवासके समय जो सद्बुद्धि जाग्रत् हुई रहती है, वह जन्म होनेपर नष्ट हो जाती है। बाहरकी हवा लगते ही मूढ़ता आ जाती है। राग और मोहके वशीभूत हुआ वह संसारमें न करने योग्य पापादि कर्ममें लग जाता है। उनमें फँसकर वह न तो अपनेको जानता है और न दूसरेको जानता है तथा न किसी देवताको ही कुछ समझता है। वह अपने परम कल्याणकी बाततक नहीं जानता। आँख रहते हुए भी अपने कल्याणके मार्गकी ओर नहीं देखता। विद्वानोंके समझानेपर भी बुद्धि रहते हुए भी वह नहीं समझ पाता। इसीलिये राग और मोहके वशीभूत होकर संसारमें क्लेश पाता रहता है।

बाल्यावस्थामें इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ अव्यक्त रहती हैं। इसलिये मनुष्य उस समयके महान् दुःखको बतानेकी इच्छा होनेपर भी नहीं बता सकता और न उस दुःखके निवारणके लिये कुछ कर ही सकता है। जब दाँत उगने लगते हैं, तब उसे महान् कष्ट भोगना पड़ता है। इसके बाद जब वह कुछ बड़ा होता है, तब अक्षरोंके अध्ययन आदिसे और गुरुके शासनसे उसको महान् दुःख होता है।

'युवावस्थामें रागोन्मत्त पुरुषको यदि कहीं अनुराग हो जाता है, तो ईर्ष्याके कारण उसे बड़ा भारी दुःख होता है। जो उन्मत्त और क्रोधी है, उसका कहीं भी राग होना केवल दुःखका ही कारण है। रातमें कामाग्नि-जनित खेदसे पुरुषको निद्रा नहीं आती, दिनमें द्रव्योपार्जनकी चिन्ता लगी रहनेके कारण उसे सुख नहीं मिल सकता। सम्मान-अपमानसे, प्रियजनोंके संयोग-वियोगसे तथा वृद्धावस्थासे ग्रस्त होनेकी चिन्ताके कारण जवानीमें सुख कहाँ?'

'युवावस्थाका शरीर एक दिन जरा अवस्थाके द्वारा जर्जर कर दिया जानेपर सम्पूर्ण कार्योंके लिये असमर्थ हो जाता है। बदनमें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, सिरके बाल सफेद हो जाते हैं और शरीर बहुत ढीला-ढाला हो जाता है। बुढ़ापेसे दबा हुआ पुरुष असमर्थ होनेके कारण पत्नी-पुत्र आदि बन्धु-बान्धवों तथा सेवकोंद्वारा भी अपमानित होता है। वृद्धावस्थामें रोगातुर पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधन करनेमें असमर्थ हो जाता है; इसलिये युवावस्थामें ही धर्मका आचरण करना चाहिये।'

'वात, पित्त और कफकी विषमता ही व्याधि कहलाती है। इस शरीरको वात आदिका समूह बताया गया है। इसलिये अपना यह शरीर व्याधिमय है, ऐसा जानना चाहिये। यदि जीवका काल आ पहुँचा है तो उसे धन्वन्तरि भी जीवित नहीं रख सकते। कालसे पीड़ित मनुष्योंको औषध, तपस्या, दान, मित्र तथा बन्धु-बान्धव कोई भी नहीं बचा सकते। रसायन, तपस्या, जप, योग, सिद्ध, महात्मा तथा पण्डित सब मिलकर भी मृत्युको नहीं टाल सकते। समस्त प्राणियोंके लिये मृत्युके समान कोई दुःख नहीं है, मृत्युके समान कोई भय नहीं है तथा मृत्युके समान कोई त्रास नहीं है। सती भार्या, उत्तम पुत्र, श्रेष्ठ मित्र, राज्य, ऐश्वर्य और सुख—ये सभी स्नेहपाशमें बँधे हुए हैं, मृत्यु इन सबका उच्छेद कर डालती है।'

'इस जीवनकी समाप्ति होनेपर मनुष्य अत्यन्त भयंकर मृत्युको प्राप्त होता है। मृत्युके बाद वह पुनः करोड़ों योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है। कर्मोंकी गणनाके अनुसार देहभेदसे जो जीवका एक शरीरसे वियोग होता है, उसे 'मृत्यु' नाम दिया गया है; वास्तवमें उससे जीवका विनाश नहीं होता। मृत्युके समय महान् मोहको प्राप्त हुए जीवके मर्मस्थान जब विदीर्ण होने लगते हैं, उस समय उसे जो बड़ा भारी कष्ट भोगना पड़ता है, उसकी इस संसारमें कहीं उपमा नहीं है।'

विवेकी पुरुषके लिये किसीसे कुछ माँगना मृत्युसे भी अधिक दुःखदायी होता है। तृष्णा ही लघुताका कारण है। इससे आदि, मध्य और अन्तमें भी दारुण दुःख ही प्राप्त होता है। दुःखोंकी यह परम्परा, समस्त प्राणियोंको स्वभावतः प्राप्त होती है। क्षुधाको सब रोगोंसे महान् रोग माना गया है। जैसे अन्य रोगोंसे लोग मरते हैं, उसी प्रकार क्षुधासे पीड़ित होनेपर भी मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है। (यदि कहें, धन-धान्यसम्पन्न राजा सुखी होंगे तो यह भी ठीक नहीं।) राजाको केवल यह अभिमान ही होता है कि मेरे घरमें इतना वैभव शोभा पा रहा है। वास्तवमें तो उनका सारा आभरण भाररूप है, समस्त आलेपन-द्रव्य मलमात्र है, सम्पूर्ण संगीत-राग प्रलापमात्र है तथा नृत्य आदि भी पागलोंकी-सी चेष्टा है। विचार दृष्टिसे देखनेपर इन राज्यभोगोंके द्वारा राजाओंको सुख कहाँ मिलता है? क्योंकि वे लोग तो एक-दूसरेको जीतनेके लिये सदा ही चिन्तित रहते हैं। राज्य-लक्ष्मी अथवा धन-ऐश्वर्यसे कौन सुख पाता है? मनुष्य स्वर्गलोकमें जो पुण्य-फल भोगते हैं, वह अपने मूल धनको गवाँकर ही भोगते हैं; क्योंकि वहाँ वे दूसरा नवीन कर्म नहीं कर सकते। यही स्वर्गमें अत्यन्त भयंकर दोष है। जैसे वृक्षकी जड़ काट देनेपर वह विवश होकर पृथ्वीपर गिर पड़ता है, उसी प्रकार पुण्यरूपी मूलका क्षय हो जानेपर स्वर्गवासी जीव पुनः पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं। इस तरह विचारपूर्वक देखा जाय तो स्वर्गमें भी देवताओंको कोई सुख नहीं है। नरकमें गये हुए पापी जीवोंका दुःख तो प्रसिद्ध ही है—उनका क्या वर्णन किया जाय? स्थावर-जङ्गम योनिमें पड़े हुए जीवोंको भी बहुत दुःख भोगने पड़ते हैं।

दुर्भिक्ष, दुर्भाग्यका प्रकोप, मूर्खता, दरिद्रता, नीच-ऊँचका भाव, मृत्यु, राष्ट्रविप्लव, पारस्परिक अपमानका दुःख, एक-दूसरेसे धन, वैभवमें या मान-बड़ाईमें बढ़नेपर ईर्ष्याका कष्ट, अपनी प्रभुताका सदा स्थिर न रहना, ऊँचे चढ़े हुए लोगोंका नीचे गिराया जाना इत्यादि महान् दुःखोंसे यह सम्पूर्ण चराचर जगत् व्याप्त है। अतः इस जगत्को दुःखोंसे भरा हुआ जानकर इसकी ओरसे अत्यन्त उद्विग्न हो जाना चाहिये। उद्वेगसे वैराग्य होता है, वैराग्यसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे परमात्मा विष्णुको जानकर मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

'माँ! जैसे कौवोंके अपवित्र स्थानमें विशुद्ध राजहंस नहीं रह सकता, उसी प्रकार ऐसे दुःखमय संसारमें मैं तो कभी रम नहीं सकता। जहाँ रहकर मैं बिना किसी बाधाके आनन्दपूर्वक रह सकता हूँ, वह स्थान बताता हूँ—तेज, अभयदान, अद्रोह, कौशल, अचपलता, अक्रोध और प्रिय वचन—उस विद्या-वनमें ये सात पर्वत स्थित हैं। दृढ़ निश्चय, सबके साथ समता, मन और इन्द्रियोंका संयम, गुणसंचय, ममताका अभाव, तपस्या तथा संतोष—ये सात सरोवर हैं। भगवान्‌के गुणोंका विशेष ज्ञान होनेसे जो भगवान्‌में भक्ति होती है, वह विद्या-वनकी पहली नदी है, वैराग्य दूसरी, ममताका त्याग तीसरी, भगवत्-आराधन चौथी, भगवदर्पण पाँचवीं, ब्रह्मैकत्वबोध छठी तथा सिद्धि सातवीं—ये ही सात नदियाँ वहाँ स्थित हैं। वैकुण्ठधामके निकट इन सातों नदियोंका सङ्गम होता है। जो आत्मतृप्त, शान्त तथा जितेन्द्रिय होते हैं, वे महात्मा ही इस मार्गसे परात्पर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।'

'माँ! मैं यहाँ ब्रह्मचर्यका आचरण करता हूँ। ब्रह्म ही समिधा, ब्रह्म ही अग्नि तथा ब्रह्म ही कुशास्तरण है। जल भी ब्रह्म है और गुरु भी ब्रह्म ही है, यही मेरा ब्रह्मचर्य है। विद्वान् पुरुष इसीको सूक्ष्म ब्रह्मचर्य मानते हैं। अब मेरे गुरुका परिचय सुनो—एक ही शिक्षक है

दूसरा कोई नहीं। हृदयमें विराजमान अन्तर्यामी पुरुष ही शिक्षक होकर शिक्षा देता है। उनके सिवा दूसरा कोई गुरु नहीं है। उनको मैं प्रणाम करता हूँ। जो हृदयमें विराजमान हैं, वह एक परमात्मा ही बन्धु हैं। इसलिये मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। अब मेरा गार्हस्थ्य भी सुन लो—प्रकृति ही मेरी पत्नी है, किंतु मैं कभी उसका चिन्तन नहीं करता, वही मेरे सब प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाली है। नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, कान, मन तथा बुद्धि—ये सात प्रकारकी अग्नि सदा मेरी अग्निशालामें प्रज्वलित रहती हैं। गन्ध, रस, रूप, शब्द, स्पर्श, मन्तव्य और बोधव्य—ये सात मेरी समिधाएँ हैं। होता भी नारायण हैं और वही ध्यानसे साक्षात् उपस्थित होकर उस हविष्यका उपयोग करते हैं। ऐसे यज्ञद्वारा मैं अपनी इस गृहस्थीमें उन परमेश्वर विष्णुका यजन करता हूँ और किसी भी वस्तुकी कामना नहीं रखता। मेरा स्वभाव राग-द्वेष आदिसे लिप्त नहीं होता। माता! ऐसे मुझ पुत्रसे तुम दुःखी न होओ। मैं तुम्हें उस पदपर पहुँचाऊँगा, जहाँ सैकड़ों यज्ञ करके भी पहुँचना असम्भव है।'

अपने पुत्रकी यह बात सुनकर इतराको बड़ा विस्मय हुआ। ऐतरेयके अपना कथन समाप्त करते ही वहाँ उस अर्चाविग्रहसे शङ्ख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णु साक्षात् प्रकट हो गये, वे उस ब्राह्मण-बालककी बातोंसे अत्यन्त प्रसन्न थे। भगवान्की कान्ति करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान और दिव्य थी। वे अपनी प्रभासे सम्पूर्ण जगत्को उद्भासित कर रहे थे। भगवान्को देखते ही ऐतरेय दण्डकी भाँति धरतीपर पड़ गये, उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया, नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बहने लगे और वाणी गद्गद हो गयी। बुद्धिमान् ऐतरेयने भगवान्की स्तुति की। स्तुतिसे प्रसन्न होकर भगवान्ने उससे वर माँगनेके लिये कहा।

इसपर ऐतरेयने कहा—मेरा अभीष्ट वर तो यही है कि घोर संसारमें डूबते हुए मुझ असहायके लिये आप कर्णधार हो जायँ।

भगवान् वासुदेव बोले—वत्स! तुम तो संसार-सागरसे मुक्त ही हो। जो सदा इस स्तोत्रसे गुप्त हुए क्षेत्रमें स्थित मुझ वासुदेवका स्तवन करेगा, उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश हो जायगा। यों कहकर भगवान् विष्णु पुनः वासुदेव-विग्रहमें ही प्रवेश कर गये। उस समय ऐतरेयकी माता और ऐतरेय दोनों एकटक दृष्टिसे भगवान्की ओर देखते हुए आनन्दमग्न हो रहे थे।

राजा शङ्ख और अगस्त्य मुनिको भगवद्दर्शन

अर्जुनके यह पूछनेपर कि 'भगवान् श्रीहरि वेङ्कटाचलपर मनुष्योंको प्रत्यक्ष कैसे हुए?' श्रीभरद्वाज मुनिने एक बड़ी सुन्दर कथा कही, जिसमें सामूहिक कीर्तन करनेवाले सभी लोगोंके सामने भगवान् विष्णु प्रत्यक्ष प्रकट हो गये—इस प्रकार भगवन्नामकीर्तनकी अद्भुत महिमा प्रकट की गयी।

भरद्वाजजीने कहा—अर्जुन! हैहयवंशमें 'श्रुत' नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। उनके पुत्र शङ्ख हुए, जो समस्त गुणोंके निधि और सब शास्त्रोंमें कुशल थे। कमलनयन भगवान् विष्णुमें राजा शङ्खकी निश्चल एवं अनन्य भक्ति थी। उन्होंने भगवान्का ध्यान करते हुए नाना प्रकारके व्रत, दान और पुण्य किये। भक्तवत्सल केशवमें मन लगाकर वे प्रतिदिन गोविन्दका स्मरण, अविनाशी अच्युतका जप, कमलनयन विष्णुका पूजन तथा शार्ङ्गधनुषधारी श्रीहरिका कीर्तन किया करते थे। पवित्र भगवत्कथाओंको, जो संसार-समुद्रसे पार उतारनेवाली हैं, सदैव सुना करते थे। इस प्रकार सर्वथा अविराम गतिसे श्रीहरिकी आराधनामें संलग्न होनेपर भी राजा शङ्खने भगवान् पुरुषोत्तमका कभी प्रत्यक्ष दर्शन नहीं पाया। भगवान्का दर्शन न पानेसे उनका हृदय शोकसे व्याकुल हो गया। वे बड़ी चिन्ताको प्राप्त हुए। शङ्ख बोले—'अनेक जन्मोंमें उपार्जित तपस्याओंका यह एक ही अखण्डफल है कि मधुसूदन भगवान् विष्णुका दर्शन प्राप्त हो। अहो! भगवान् मेरे नेत्रोंके समक्ष कैसे प्रकट होंगे, कानोंसे उनके वचन सुननेका सौभाग्य मुझे कैसे प्राप्त होगा?'

इस प्रकार चिन्तासे व्याकुल राजाके मनमें जब जीवित रहनेकी अभिलाषा नहीं रह गयी, तब अव्यक्तमूर्ति भगवान् विष्णुने सबके सुनते हुए कहा—'राजन्! तुम शोक मत करो। तुम तो एकमात्र मेरी शरणमें आये हुए साधु-भक्त हो। मैं तुम्हारा त्याग कैसे कर सकता हूँ। यह वेङ्कटनामक पर्वत तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। राजन्! यहाँका निवास मुझे वैकुण्ठसे भी अधिक प्रिय है। उस श्रेष्ठ पर्वतपर जाकर भक्तिपूर्वक तपस्या करते रहनेपर मैं तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन दूँगा। तुम्हारी ही तरह महर्षि अगस्त्य भी वहाँ तपस्या करने आयेंगे। उसी पवित्र पर्वतपर निवास करते हुए तुम भी मेरी आराधना करो। इससे मेरा दर्शन प्राप्त कर लोगे।'

भगवान्के इस प्रकार आज्ञा देनेपर राजा शङ्खको

बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने भगवान् विष्णुके दर्शनकी आकांक्षासे नारायणगिरि (वेङ्कटाचल) को प्रस्थान किया। वहाँ स्वामि-पुष्करिणीके किनारे कुटी बनाकर जगदीश जनार्दनको अपने समस्त कर्म समर्पित करके राजा शङ्ख प्रतिदिन जप और ध्यानमें संलग्न रहने लगे। इसी समय सैकड़ों मुनियोंसे घिरे हुए अगस्त्यजीने आदि पर्वतपर आकर बहुत समयतक भगवान्‌की आराधना की, परन्तु भगवान्‌को कहीं भी प्रत्यक्ष नहीं देखा, इससे वे चिन्तामग्न हो गये। उस समय बृहस्पति, शुक्र तथा राजा उपरिचर और वसु—ये सब महानुभाव अगस्त्यजीके पास आये और इस प्रकार बोले—'मुनिश्रेष्ठ! ब्रह्माजीने हमें जो आज्ञा दी है, उसे आपको बता रहे हैं। दक्षिण दिशामें वेङ्कटाचल नामक पर्वत है। जगद्गुरु गोविन्द उस पर्वतपर महर्षि अगस्त्य तथा राजा शङ्खको अपने स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन करायेंगे। उस समय सब देवताओं, ऋषियों और अन्य सब लोगोंको भी देवाधिदेव श्रीहरिका दर्शन होगा। यह बात शीघ्र ही होनेवाली है।'

यह सुनकर अगस्त्य मुनि शोकका त्याग करके शीघ्र ही उन सबके साथ चल दिये। फिर उन्होंने निर्मल स्वामि-पुष्करिणीको और उसके किनारे आश्रम बनाकर रहनेवाले राजा शङ्खको भी देखा, जो मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले समस्त कर्म भगवान्‌को समर्पित करके विराजमान थे। उन्हें आया देख राजाने उनका यथावत् सत्कार किया। फिर सब लोग एक-दूसरेका आदर करते हुए वहाँ बैठे और उत्कण्ठित होकर गोविन्दके नामोंका कीर्तन करने लगे। भगवान्‌में मन लगाकर उन्हींकी पूजा और स्तुतिमें संलग्न उन सब लोगोंको तीन दिन व्यतीत हो गये। तीसरे दिन रातमें उन सबको नींद आ गयी, फिर चौथे पहरमें उत्तम स्वप्न देखा—भगवान् विष्णु हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये प्रसन्नमुखसे वर देनेके लिये खड़े हैं, इनके नेत्र खिले हुए हैं। भगवान्‌की यह झाँकी देखकर सभी प्रसन्नचित्त हुए और जागनेपर कुटीसे निकलकर सबने स्वामिपुष्करिणीमें स्नान किया। तत्पश्चात् राजाके आश्रमपर लौटे।

तदनन्तर भगवान्‌का पूजन करके उन्होंने स्तोत्रोंद्वारा स्तवन किया। स्तुतिके अन्तमें महर्षि अगस्त्य और राजा शङ्ख भगवान्‌के अष्टाक्षर—'**ॐ नमो नारायणाय**' मन्त्रका जप करने लगे। इस प्रकार श्रीहरिमें चित्त लगाये हुए उन महात्माओंके आगे एक महान् अद्भुत तेज प्रकट हुआ, जो कोटि-कोटि सूर्य, चन्द्रमा और अग्नियोंके तेजःपुञ्ज-सा प्रतीत होता था। उस तेजका दर्शन करके सबको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने उसके भीतर परमानन्द-विग्रह दिव्यरूपधारी भगवान् श्रीनारायणका चिन्तन किया। भगवान्‌को अपने सामने देखकर अगस्त्य और शङ्ख आदि सब मनुष्योंके मनमें बड़ा हर्ष हुआ। सबने बार-बार भगवान्‌के चरणोंमें मस्तक झुकाया। उस समय भगवान्‌के दिव्य शरीरपर सुनहरे रंगका पीताम्बर छवि पा रहा था। भगवान् रत्नमय आभूषणोंसे विभूषित थे। उनके चारों हाथ शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मसे शोभायमान थे। भगवान् लक्ष्मीपतिके इस मनोहर रूपको देखकर सबने बार-बार प्रणाम किया। भगवान्‌ने अभीष्ट वरदानसे ब्रह्मा आदि देवताओंको संतुष्ट करके मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यसे कहा—'मुनीन्द्र! तुमने मेरे लिये कठोर व्रतोंका अनुष्ठान करके बहुत क्लेश उठाया है। अतः मैं तुम्हें अभीष्ट वरदान दूँगा। बोलो, क्या चाहते हो?' भगवान्‌का यह वचन सुनकर अगस्त्यजीके सम्पूर्ण अङ्गोंमें रोमाञ्च हो आया। वे भगवान्‌को बार-बार प्रणाम करके बोले—'प्रभो! आपकी कृपासे मैं सब कुछ पहले ही पा गया हूँ। माधव! इस समय सोचने-विचारनेपर भी मुझे ऐसी कोई वस्तु नहीं दिखायी देती, जो प्राप्त करनेयोग्य हो। अतः आपके चरणारविन्दोंमें निरन्तर ऐसी ही भक्ति बनी रहे, यही कृपा कीजिये। स्वर्णमुखरी नदीके जलमें स्नान करके जो लोग वेङ्कटाचलपर विराजमान आपका दर्शन करें, वे भोग और मोक्षके भी भागी हों।' इसपर भगवान्‌ने कहा—'ब्रह्मन् ! तुमने जो प्रार्थना की है, वह सब पूर्ण होगी।'

अगस्त्य मुनिसे ऐसा कहकर भगवान् विष्णुने राजा शङ्खकी ओर देखा और ब्रह्मा आदिके सुनते हुए कहा—'राजन्! मैं तुम्हारी भक्तिसे बहुत सन्तुष्ट हूँ। तुम कोई मनोवाञ्छित वर माँगो।' शङ्ख बोले—'भगवन्! आपके चरण-कमलोंकी सेवाके अतिरिक्त दूसरा मैं कुछ नहीं माँगता।' भगवान्‌ने कहा—'शङ्ख! तुमने जो कुछ माँगा है, वह सब उसी रूपमें तुम्हें प्राप्त होगा।'

तदनन्तर ब्रह्मा आदि सब देवताओंको विदा करके भगवान् विष्णु वहीं अन्तर्धान हो गये। अर्जुन! यह वेङ्कटाचलका प्रभाव तुम्हें बतलाया गया है। इस पावन कथाको श्रवण करके सब मनुष्य पापोंसे मुक्त हो जाते हैं।

फिर नीलाचल पर्वतपर स्थित जगन्नाथ (पुरुषोत्तम) क्षेत्रकी अत्यन्त अद्भुत महिमा बड़े विस्तारमें बतलायी गयी है। इस प्रसङ्गको वैष्णवखण्डके उत्कलखण्डमें

देखना चाहिये। इसी प्रसङ्गमें राजा इन्द्रद्युम्न और नारदजीके संवादमें भक्ति और भगवद्भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन भी आया है, हमलोगोंको उसपर ध्यान देकर उसका अनुष्ठान करना चाहिये।

भगवद्भक्ति और भक्तोंके लक्षण एवं जगन्नाथक्षेत्रकी महिमा

सत्ययुगकी बात है, उत्कल देशमें इन्द्रद्युम्न नामसे प्रसिद्ध एक श्रेष्ठ राजा थे। उन्होंने एक बार एक तीर्थयात्रीसे पुरुषोत्तम क्षेत्रकी महिमा सुनी, तब वे वहाँ जानेका विचार कर रहे थे कि श्रीनारदजी उनके पास आ गये। उनका आतिथ्य-सत्कार करके राजा इन्द्रद्युम्नने नारदजीसे पूछा—'भगवन् ! भक्तिका क्या स्वरूप है? उसके लक्षणका वर्णन कीजिये!'

नारदजीने कहा—राजन्! सावधान होकर सुनो! मैं भगवान् विष्णुकी सनातन भक्तिका सामान्य और विशेषरूपसे वर्णन करता हूँ। गुणोंके भेदसे भक्तिके तीन भेद हैं—तामसी, राजसी और सात्त्विकी। इनके अतिरिक्त एक चौथी भक्ति भी है जो निर्गुणा मानी गयी है। राजन्! जो लोग काम और क्रोधके वशीभूत हैं और प्रत्यक्ष (इस जगत्) के सिवा और किसी (परलोक आदि) की ओर दृष्टि नहीं रखते, वे अपनेको लाभ तथा दूसरोंको हानि पहुँचानेके लिये जो भजन करते हैं, उनकी वह भक्ति 'तामसी' कही गयी है। अधिक यशकी प्राप्तिके लिये अथवा दूसरेकी स्पर्धा (ईर्ष्या) से स्वर्गके लिये भी जो भक्ति होती है, वह 'राजसी' कही गयी है। पारलौकिक लाभको स्थायी और (स्वर्गपर्यन्त) इहलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंको नश्वर समझकर अपने वर्ण तथा आश्रमके धर्मोंका परित्याग न करते हुए आत्मज्ञानके लिये जो भक्ति की जाती है, वह 'सात्त्विकी' भक्ति मानी गयी है। यह जगत् जगन्नाथका स्वरूप है। उससे भिन्न उसका कोई दूसरा कारण नहीं है। मैं भी भगवान्से भिन्न नहीं हूँ और वे भी मुझसे पृथक् नहीं हैं। ऐसा समझकर अभिन्नरूपसे अत्यन्त प्रेमपूर्वक भगवत्स्वरूपका चिन्तन करते रहना—यह 'अद्वैत निर्गुणा' नामवाली भक्ति है।

अब मैं भगवान् विष्णुके भक्तोंके लक्षण बतलाता हूँ—जिनका चित्त अत्यन्त शान्त है, जो सबके प्रति कोमल भाव रखते हैं, जिन्होंने स्वेच्छानुसार अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है तथा जो मन, वाणी एवं क्रियाद्वारा कभी दूसरोंसे द्रोह रखनेकी इच्छा नहीं रखते, जिनका चित्त दयासे द्रवीभूत होता है, जो चोरी और हिंसासे सदा ही मुख मोड़े रहते हैं, सद्गुणोंके संग्रह तथा दूसरोंके कार्य-साधनमें जो प्रसन्नतापूर्वक संलग्न रहते हैं, सदाचारसे जिनका जीवन सदा उज्ज्वल (निष्कलङ्क) बना रहता है, सब प्राणियोंके भीतर भगवान् वासुदेवको विराजमान देखकर जो कभी किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखते, अविवेकी मनुष्योंका विषयोंमें जैसा प्रेम होता है, उससे सौ कोटि गुनी अधिक प्रीतिका विस्तार भगवान् श्रीहरिके प्रति करते हैं, भगवान् विष्णुसे भिन्न किसी दूसरी वस्तुको नहीं देखते, समष्टि और व्यष्टि सब भगवान्के ही स्वरूप हैं, भगवान् जगत्से भिन्न होकर भी भिन्न नहीं हैं, सेव्य अथवा सेवक कोई भी आपसे भिन्न नहीं है, इस भावनासे सदा सावधान रहकर जो ब्रह्माजीके द्वारा वन्दनीय युगल चरणारविन्दोंवाले श्रीहरिको सदा प्रणाम करते हैं, उनके नामोंका कीर्तन करते हैं, उन्हींके भजनमें तत्पर रहते और संसारके लोगोंके समीप अपनेको तृणके समान तुच्छ मानकर विनयपूर्ण बर्ताव करते हैं, दूसरोंके कुशल-क्षेमको अपना ही मानते हैं, दूसरोंका तिरस्कार देखकर उनके प्रति दयासे द्रवीभूत हो जाते हैं तथा सबके प्रति मनमें कल्याणकी भावना करते हैं, वे ही विष्णुभक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो पत्थर, पर-धन एवं मिट्टीके ढेलेमें मित्र, शत्रु, भाई तथा बन्धुवर्गमें समान बुद्धि रखनेवाले हैं, वे ही निश्चितरूपसे विष्णुभक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो दूसरोंकी गुणराशिसे प्रसन्न होते और दूसरोंकी गुप्त बात प्रकाशित नहीं करते, परिणाममें सबको सुख देते हैं, भगवान्में सदा मन लगाये रहते तथा प्रिय वचन बोलते हैं, वे ही वैष्णवके नामसे प्रसिद्ध हैं। जिनका चित्त श्रीहरिके चरणारविन्दोंमें निरन्तर लगा रहता है, जो प्रेमाधिक्यके कारण जडबुद्धि-सदृश बने रहते हैं, सुख और दुःख दोनों ही जिनके लिये समान हैं, जो भगवान्की पूजामें चतुर हैं तथा अपने मन और विनययुक्त वाणीको भगवान्की सेवामें समर्पित कर चुके हैं, वे ही वैष्णव नामसे प्रसिद्ध हैं। भगवान्में सदैव उत्तम भक्ति रखनेवाले भक्तोंके शुभ चरित्र और लक्षणका वर्णन मैंने तुमसे किया है। भगवान्के भजनके लिये धनकी आवश्यकता तथा शरीरको कष्ट देकर किये जानेवाले किसी विशेष प्रकारके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है। मृदुल एवं मन्द स्वरसे वाणीके द्वारा भगवान्के नामोंका कीर्तन होता रहे तो मैं इसीको भजन मानता हूँ। तुम्हारे मनमें भगवान्के दास्य-भावका ही चिन्तन होना चाहिये। जिनके मनमें परायी स्त्री और

पराये धनके लिये सदा लोभ बना रहता है, जो कृपण-बुद्धिवाले हैं, सदा अपना ही पेट भरनेमें लगे रहते हैं, वे नरपशु विष्णुभक्तिसे सर्वथा रहित हैं। जो निरन्तर दुष्ट पुरुषोंके साथ अनुराग करते हैं, दूसरोंका तिरस्कार और हिंसा करते हैं, जिनका स्वभाव अत्यन्त भयंकर है तथा जो भगवान् नरसिंहके चिंतनसे विरक्त रहते हैं, ऐसे उन मलिन पुरुषोंको दूरसे ही त्याग देना चाहिये।

इसके बाद राजाके प्रार्थना करनेपर श्रीनारदजी राजाको साथ लेकर पुरुषोत्तमक्षेत्रमें गये और महानदीके तटपर विश्राम किया। वहाँ राजा इन्द्रद्युम्नने नारदजीके साथ भगवान् श्रीनरसिंहजी, कल्पवट तथा नीलमाधवके स्थानका दर्शन किया।

नारदजीने जब वहाँ भगवान् नृसिंहकी प्रतिमाकी स्थापना की, उस समय राजाने भगवान्का स्तवन करते हुए कहा कि 'भगवन् ! आप मुझे अपने चरणारविन्दोंकी श्रेष्ठ भक्ति दीजिये। आप मुझ अनाथपर कृपा कीजिये कि मैं अपने इस चर्मचक्षुसे आपके दिव्य स्वरूपका दर्शन कर सकूँ।'

तत्पश्चात् उन्होंने एक हजार अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान आरम्भ किया। जब वह अश्वमेध यज्ञ नौ सौ निन्यानबेकी संख्यातक पहुँच गया, तब सोमरस निकालनेके सात दिनके बाद जो रात्रि आयी, उसके चौथे प्रहरमें राजा इन्द्रद्युम्नने अविनाशी भगवान् विष्णुका ध्यान किया। उस ध्यानमें उन्हें एक रत्नसिंहासनपर शङ्ख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णुका दर्शन हुआ। उनके श्रीअङ्गोंकी कान्ति नील मेघके समान श्याम थी। वे वनमालासे विभूषित थे, उनके दाहिने भागमें शेषजी विराजमान थे, जो फणरूपी मुकुटका विस्तार करके सुन्दर छत्रके आकारमें परिणत हो गये थे। भगवान्के वामभागमें भगवती लक्ष्मी विराजमान थीं। भगवान्के आगे ब्रह्माजी हाथ जोड़े खड़े थे। सनकादि मुनीश्वर उनकी स्तुति कर रहे थे। ध्यानमें भगवान्का इस प्रकार दर्शन पाकर इन्द्रद्युम्नको बड़ा हर्ष हुआ। इन्द्रद्युम्नने भगवान्की स्तुति करके उन्हें प्रणाम किया। फिर ध्यानके अन्तमें राजाको अपने-आपका भान हुआ तो उन्होंने नारदजीसे सब बातें कहीं। तब नारदजीने आश्वासन देते हुए कहा—'राजन्! इस यज्ञके अन्तमें तुम्हें भगवान् यहाँ (मूर्तिके रूपमें) प्रत्यक्ष दर्शन देंगे। ये सब बातें दूसरे किसीके आगे प्रकाशित न करना।'

राजा इन्द्रद्युम्नके अश्वमेध यज्ञके समाप्त होनेपर आकाशवाणी हुई, तदनुसार वहाँ भगवान् स्वयं काष्ठकी चार मूर्तियोंमें प्रकट हुए। बलभद्र, सुभद्रा और सुदर्शन चक्रके साथ भगवान् जगन्नाथजी दिव्य आसनपर विराजमान हुए। भगवान्के चार दिव्य रूप सम्पन्न हो जानेपर पुनः आकाशवाणी हुई कि 'इन चारों प्रतिमाओंको नीलाचलपर कल्पवृक्षके वायव्य कोणमें सौ हाथकी दूरीपर और भगवान् नृसिंहके उत्तरभागमें जो मैदान है, उसमें मन्दिर बनवाकर स्थापना करो।' राजाने उसका प्रसन्नतापूर्वक पालन किया। राजा इन्द्रद्युम्नने भगवान् जगन्नाथकी स्थापना करके उनकी स्तुति की और फिर उन चारों काष्ठमयी प्रतिमाओंका विधिवत् पूजन किया। यह वही पुरुषोत्तमक्षेत्र है, जो चारों धामोंमेंसे एक है और जगन्नाथपुरीके नामसे प्रसिद्ध है।

श्रीबदरी और केदारक्षेत्रका माहात्म्य

बदरिकाश्रमका माहात्म्य वर्णन करते हुए श्रीमहादेवजीसे स्वामिकार्तिकेयजीने कहा है कि भगवान् विष्णुका बदरी नामक क्षेत्र तीनों लोकोंमें दुर्लभ है। उसके स्मरणमात्रसे महापातकी मनुष्य भी तत्काल पापरहित होकर मृत्युके पश्चात् मोक्षके भागी होते हैं। तप, योग और समाधिसे तथा सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान करनेसे जो फल प्राप्त होता है; वह बदरीक्षेत्रके भलीभाँति दर्शनमात्रसे मिल जाता है। इस क्षेत्रके अधिपति साक्षात् भगवान् नारायण हैं। जहाँ भगवान् नारायणके चरणोंका सांनिध्य है, जहाँ साक्षात् अग्निदेवका निवास है और केदाररूपसे मेरा लिङ्ग प्रतिष्ठित है, वह सब बदरीक्षेत्रके अन्तर्गत है। केदारके दर्शन, स्पर्श तथा भक्ति-भावसे पूजन करनेपर कोटि-कोटि जन्मोंके पाप तत्काल भस्म हो जाते हैं। उस क्षेत्रमें विशेषतः मैं अपनी सम्पूर्ण कलासे स्थित रहता हूँ। काशीमें मरे हुए पुरुषोंको तारक ब्रह्म मुक्ति देनेवाला होता है, परंतु केदार-क्षेत्रमें मेरे लिङ्गके पूजनसे मनुष्योंकी मुक्ति हो जाती है।

बदरीक्षेत्रमें, जो अत्यन्त निर्मल भगवान् नर-नारायणका आश्रम है, स्नान और भगवान्का पूजन करनेसे मनुष्य तत्काल सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। धर्मकी पत्नी मूर्तिसे भगवान्का नर और नारायणके रूपमें अवतार हुआ। वे दोनों माता-पिताकी आज्ञा लेकर तपस्याके लिये गये और नर-नारायण नामवाले दोनों पर्वतोंके बीच तपस्याकी साक्षात् मूर्तिके समान स्थित हो गये। उस तीर्थमें स्नान करके भगवान् विष्णुका पूजन करनेसे मनुष्य नरसे नारायण हो जाता है। वहाँ विराजमान साक्षात् भगवान् विष्णु क्रमशः वहाँकी यात्रा करनेवाले पुरुषोंको अपना पद प्रदान करते हैं।

कार्तिकमासका माहात्म्य

कार्तिकमास-माहात्म्यके प्रकरणमें ब्रह्माजीने नारदसे कार्तिक-मासकी श्रेष्ठता, उसमें करने योग्य स्नान, दान, पूजन आदि धर्मोंका माहात्म्य बतलाकर स्नानकी विधि एवं कार्तिक-व्रत करनेवालोंके लिये पालनीय नियमोंका वर्णन किया है। कार्तिक-व्रत करनेवालोंको विधि और नियमोंपर विशेष ध्यान देकर उनको अनुष्ठानमें लाना चाहिये।

कार्तिकमासके सम्बन्धमें ब्रह्माजीने बतलाया है कि कार्तिकमासके समान कोई मास नहीं, सत्ययुगके समान कोई युग नहीं, वेदोंके समान कोई शास्त्र नहीं और गङ्गाजीके समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं तथा इसी प्रकार अन्नदानके सदृश कोई दूसरा दान नहीं है। दान करनेवाले पुरुषोंके लिये न्यायोपार्जित द्रव्यके दानका सुअवसर दुर्लभ है, उसका भी तीर्थमें दान किया जाना तो और भी दुर्लभ है। पापसे डरनेवाले मनुष्यको कार्तिकमासमें शालग्रामशिलाका पूजन और भगवान् वासुदेवका स्मरण अवश्य करना चाहिये।

नारद! सब दानोंसे बढ़कर कन्यादान है, उससे अधिक विद्यादान है, विद्यादानसे भी गोदानका महत्त्व अधिक है और गोदानसे भी बढ़कर अन्नदान है, क्योंकि यह समस्त संसार अन्नके आधारपर ही जीवित रहता है। इसलिये कार्तिकमें अन्नदान अवश्य करना चाहिये। कार्तिकमें नियमका पालन करनेपर अवश्य ही भगवान् विष्णुका सारूप्य एवं मोक्षदायक पद प्राप्त होता है। पूर्वकालमें सत्यकेतु नामक ब्राह्मणने केवल अन्नदानसे सब पुण्योंका फल पाकर परम दुर्लभ मोक्षको भी प्राप्त कर लिया था।

कार्तिकमासमें अनेक प्रकारके दान देकर भी यदि मनुष्य भगवान्का चिन्तन नहीं करता, तो वे दान उसे कभी पवित्र नहीं करते। भगवन्नामस्मरणकी महिमाका वर्णन मैं भी नहीं कर सकता। मनुष्यको 'गोविन्द गोविन्द हरे मुरारे, गोविन्द गोविन्द मुकुन्द कृष्ण! गोविन्द गोविन्द रथाङ्गपाणे, गोविन्द दामोदर माधवेति'—इस प्रकार प्रतिदिन कीर्तन करना चाहिये। नित्यप्रति भागवतके आधे श्लोक या चौथाई श्लोकका भी कार्तिकमें श्रद्धा और भक्तिके साथ अवश्य पाठ करें। देवर्षे! जो मनुष्य कार्तिकमासमें प्रतिदिन गीताका पाठ करता है, उसके पुण्यफलका वर्णन करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। गीताके समान कोई शास्त्र न तो हुआ है और न होगा। एकमात्र गीता ही सदा सब पापोंको हरनेवाली तथा मोक्ष देनेवाली है*। गीताके एक अध्यायका पाठ करनेसे मनुष्य घोर नरकसे मुक्त हो जाते हैं।

भक्त विष्णुदास और राजा चोलकी कथा

इसी कार्तिकमासके माहात्म्य-वर्णनके प्रकरणमें नारदजीने श्रीविष्णुभक्तिकी प्रशंसामें एक बड़ी ही सुन्दर कथाका उल्लेख किया है। उसमें दिखाया गया है कि भगवान् बड़े-बड़े यज्ञोंसे भी शीघ्र प्रसन्न नहीं होते और भाव होनेपर साधारण पूजासे ही प्रसन्न हो जाते हैं। यह कथा पद्मपुराणमें भी है। पहले काञ्चीपुरीमें चोल नामके एक चक्रवर्ती राजा हो गये हैं। राजा चोलके राज्यमें कोई भी मनुष्य दरिद्र, दुःखी तथा पापमें मन लगानेवाला अथवा रोगी नहीं था। एक समयकी बात है—राजा चोल अनन्तशयन नामक तीर्थमें गये, जहाँ जगदीश्वर भगवान् विष्णुने योगनिद्राका आश्रय लेकर शयन किया था। वहाँ भगवान् विष्णुके दिव्य विग्रहकी राजाने विधिपूर्वक पूजा की। दिव्य मणि, मुक्ताफल तथा स्वर्णके बने हुए सुन्दर पुष्पोंसे पूजन करके राजाने साष्टाङ्ग प्रणाम किया। प्रणाम करके वे ज्यों ही बैठे, उसी समय उनकी दृष्टि भगवान्के पास आते हुए एक ब्राह्मणपर पड़ी, जो उन्हींकी काञ्ची नगरीके निवासी थे। उनका नाम विष्णुदास था। उन्होंने भगवान्की पूजाके लिये अपने हाथमें तुलसीदल एवं जल ले रखा था। निकट आनेपर उन ब्रह्मर्षिने विष्णुसूक्तका पाठ करते हुए देवाधिदेव भगवान्को स्नान कराया और तुलसीकी मञ्जरी तथा पत्तोंसे उनकी विधिवत् पूजा की। राजा चोलने जो पहले रत्नोंसे भगवान्की पूजा की थी, वह सब तुलसीपूजासे ढक गयी। यह देखकर राजा कुपित होकर बोले, 'विष्णुदास! मैंने मणियों तथा स्वर्णसे भगवान्की पूजा की थी, वह कितनी शोभा पा रही थी। तुमने तुलसीदल चढ़ाकर उसे ढक दिया। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुम दरिद्र और गँवार हो। भगवान् विष्णुकी भक्ति बिलकुल नहीं जानते।' राजाकी यह बात सुनकर द्विजश्रेष्ठ विष्णुदासने कहा—'राजन्! आपको भक्तिका कुछ भी पता नहीं है, केवल राजलक्ष्मीके कारण आप घमंड कर रहे हैं।' तब नृपश्रेष्ठ चोलने हँसकर कहा, 'तुम तो दरिद्र एवं निर्धन हो। तुम्हारी भगवान् विष्णुमें भक्ति ही कितनी है। तुमने भगवान् विष्णुको सन्तुष्ट करनेवाला कोई भी यज्ञ, दान आदि नहीं किया और न पहले कभी कोई देवमन्दिर ही बनवाया है। इतनेपर भी तुम्हें अपनी भक्तिका इतना गर्व है। अच्छा,

* कार्तिके मासि विप्रेन्द्र यस्तु गीतां पठेन्नरः। तस्य पुण्यफलं वक्तुं मम शक्तिर्न विद्यते॥
गीतायास्तु समं शास्त्रं न भूतं न भविष्यति। सर्वपापहरा नित्यं गीतैका मोक्षदायिनी॥ (स्क० वै, कार्तिक २। ४९-५०)

तो ये सभी ब्राह्मण मेरी बात सुन लें। भगवान् विष्णुके दर्शन पहले मैं करता हूँ या यह ब्राह्मण। इस बातको आप सब देखें, फिर हम दोनोंमें किसकी भक्ति कैसी है, यह सब लोग स्वतः जान लेंगे।'

ऐसा कहकर राजा अपने राजभवनको चले गये। वहाँ उन्होंने महर्षि मुद्गलको आचार्य बनाकर वैष्णवयज्ञ प्रारम्भ किया। उधर सदैव भगवान् विष्णुको प्रसन्न करनेवाले शास्त्रोक्त नियमोंमें तत्पर विष्णुदास भी व्रतका पालन करते हुए वहीं भगवान् विष्णुके मन्दिरमें टिक गये। उन्होंने माघ और कार्तिकके उत्तम व्रतका अनुष्ठान, तुलसीवनकी रक्षा, एकादशीव्रत, द्वादशाक्षर (**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**) मन्त्रका जप, नृत्य, गीत आदि मङ्गलमय आयोजनोंके साथ प्रतिदिन षोडशोपचारसे भगवान् विष्णुकी पूजा आदि नियमोंका आचरण किया। वे प्रतिदिन चलते-फिरते और सोते—सब समय भगवान् विष्णुका स्मरण किया करते थे। वे सब प्राणियोंके भीतर एकमात्र भगवान् विष्णुको ही स्थित देखते थे। इस प्रकार राजा चोल एवं विष्णुदास दोनों ही भगवान् लक्ष्मीपतिकी आराधनामें संलग्न थे। दोनों ही अपने-अपने व्रतमें स्थित रहते थे और दोनोंकी ही सम्पूर्ण इन्द्रिय तथा समस्त कर्म भगवान् विष्णुको समर्पित हो चुके थे। इस अवस्थामें उन दोनोंने दीर्घकाल व्यतीत किया। एक दिनकी बात है कि विष्णुदासने पूजा-पाठ आदि नित्यकर्म करनेके पश्चात् भोजन तैयार किया, किंतु कोई अलक्षित रहकर उसको चुरा ले गया। विष्णुदासने देखा—भोजन नहीं है, परंतु उन्होंने दुबारा भोजन नहीं बनाया; क्योंकि ऐसा करनेपर सायंकालकी पूजाके लिये उन्हें अवकाश नहीं मिलता। अतः प्रतिदिनके नियमका भंग हो जानेका भय था। दूसरे दिन पुनः उसी समयपर भोजन बनाकर वे ज्यों ही भगवान् विष्णुको भोग अर्पण करनेके लिये गये, त्यों ही किसीने आकर फिर सारा भोजन हड़प लिया। इस प्रकार सात दिनोंतक कोई आ-आकर उनके भोजनका अपहरण करता रहा। इससे विष्णुदासको बड़ा विस्मय हुआ। वे इस प्रकार मन-ही-मन विचारने लगे—'अहो ! कौन प्रतिदिन आकर मेरी रसोई चुरा ले जाता है। यदि दुबारा रसोई बनाकर भोजन करता हूँ तो सायंकालकी पूजा छूट जाती है। यदि रसोई बनाकर तुरंत ही भोजन कर लेना उचित हो तो भी मुझसे यह न होगा; क्योंकि भगवान् विष्णुको सब कुछ अर्पण किये बिना कोई भी वैष्णव भोजन नहीं करता। आज उपवास करते मुझे सात दिन हो गये। इस प्रकार मैं व्रतमें कबतक स्थिर रह सकता हूँ?' ऐसा निश्चय करके भोजन बनानेके पश्चात् वे कहीं छिपकर खड़े हो गये। इतनेमें ही उन्हें एक चाण्डाल दिखायी दिया, जो रसोईका अन्न हरकर ले जानेके लिये तैयार खड़ा था, भूखके मारे उसका सारा शरीर दुर्बल हो गया था। मुखपर दीनता छा रही थी। शरीरमें हाड़ और चामके सिवा और कुछ शेष नहीं बचा था। उसे देखकर श्रेष्ठ ब्राह्मण विष्णुदासका हृदय करुणासे भर आया। उन्होंने भोजन चुरानेवाले चाण्डालकी ओर देखकर कहा, 'भैया! जरा ठहरो, ठहरो, क्यों रूखा-सूखा खाते हो, यह घी तो ले लो।' यों कहते हुए विप्रवर विष्णुदासको आते देख वह चाण्डाल भयके मारे बड़े वेगसे भागा और कुछ ही दूरपर मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। चाण्डालको भयभीत एवं मूर्च्छित देखकर विष्णुदास बड़े वेगसे उसके पास आये तथा दयावश अपने वस्त्रके छोरसे उसको हवा करने लगे। तदनन्तर जब वह उठकर खड़ा हुआ, तब विष्णुदासने देखा कि वहाँ चाण्डाल नहीं है। साक्षात् भगवान् नारायण ही शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये सामने उपस्थित हैं। अपने प्रभुको उपस्थित देखकर विष्णुदास सात्त्विक भावोंके वशीभूत हो गये। वे स्तुति और नमस्कार करनेमें भी समर्थ न हो सके। तब भगवान् विष्णुने सात्त्विक व्रतका पालन करनेवाले अपने भक्त विष्णुदासको छातीसे लगा लिया और उन्हें अपने ही-जैसा रूप देकर वैकुण्ठधामको ले चले। उस समय यज्ञमें दीक्षित हुए राजा चोलने देखा—विष्णुदास एक श्रेष्ठ विमानपर बैठकर भगवान् विष्णुके समीप जा रहे हैं।

विष्णुदासको वैकुण्ठधाममें जाते देख राजाने शीघ्र ही अपने गुरु महर्षि मुद्गलको बुलाया और इस प्रकार कहना प्रारम्भ कर दिया—'जिसके साथ स्पर्धा करके मैंने इस यज्ञ, दान आदि कर्मका अनुष्ठान किया है, वह ब्राह्मण आज भगवान् विष्णुका रूप धारण करके मुझसे पहले वैकुण्ठ-धामको जा रहा है। मैंने इस वैष्णवयागमें भलीभाँति दीक्षित होकर अग्निमें हवन किया और दान आदिके द्वारा ब्राह्मणोंका मनोरथ पूर्ण किया तथापि अभीतक भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न नहीं हुए और विष्णुदासको केवल भक्तिके ही कारण श्रीहरिने प्रत्यक्ष दर्शन दिया है। अतः जान पड़ता है कि भगवान् विष्णु केवल दान एवं यज्ञोंसे ही प्रसन्न नहीं होते। उन प्रभुका दर्शन करानेमें भक्ति ही प्रधान कारण है।' यों कहकर राजा अपने भानजेको राज्य दे यज्ञशालामें गये और यज्ञकुण्डके सामने खड़े होकर भगवान् विष्णुको सम्बोधित करते हुए तीन बार उच्च स्वरसे निम्नाङ्कित वचन बोले—'भगवान् विष्णु! आप मुझे मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा होनेवाली

अविचल भक्ति प्रदान कीजिये', इस प्रकार कहकर वे सबके देखते-देखते अग्निकुण्डमें कूद पड़े। बस, उसी समय भक्तवत्सल भगवान् विष्णु उस अग्निकुण्डसे प्रकट हो गये। उन्होंने राजाको छातीसे लगाकर एक श्रेष्ठ विमानपर चढ़ाकर उन्हें साथ ले वैकुण्ठधामको प्रस्थान किया।

नारदजी कहते हैं—इन दोनोंकी भक्तिपर ही भगवान् परम प्रसन्न हुए थे। भगवत्कृपासे ब्राह्मण विष्णुदास तो पुण्यशील नामसे प्रसिद्ध भगवान्के पार्षद हुए और राजा चोल सुशील नामक पार्षद हुए। इन दोनोंको अपने ही समान रूप देकर भगवान् लक्ष्मीपतिने अपना द्वारपाल बना लिया।

ब्रह्माजीके पूछनेपर स्वयं श्रीभगवान्ने मार्गशीर्ष मासमें स्नान और भगवत्पूजनकी महिमा एवं विधि विस्तारपूर्वक कही है। इसी प्रसङ्गमें भगवान्ने एकादशीव्रत, श्रीकृष्णनामकीर्तन, व्रजभूमि और श्रीमद्भागवतकी-महिमाका निरूपण किया है।

पाठकोंको इन प्रकरणोंका ग्रन्थके वैष्णवखण्डमें अध्ययन करके लाभ उठाना चाहिये। इनमेंसे यहाँ केवल श्रीकृष्ण-नामकीर्तनकी महिमाका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

श्रीकृष्णनाम-माहात्म्य

श्रीभगवान् विष्णु ब्रह्माजीसे कहते हैं—अगहनके महीनेमें 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर मेरा नाम विशेषरूपसे लेना चाहिये। यह मुझे अत्यन्त प्रसन्न करनेवाला है। मेरी एक प्रतिज्ञा है, जिसे देवता और असुर भी नहीं जानते। वह प्रतिज्ञा इस प्रकार है—'जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा मेरी शरणमें आ जाता है, वह यहाँ सम्पूर्ण लौकिक कामनाओंको प्राप्त कर लेता है और अन्तमें सर्वोत्कृष्ट वैकुण्ठधाममें जाता है। जो 'हे कृष्ण! हे कृष्ण!! हे कृष्ण!!!' ऐसा कहकर मेरा प्रतिदिन स्मरण करता है, उसे जिस प्रकार कमल जलको भेदकर ऊपर निकल आता है उसी प्रकार मैं नरकसे निकाल लाता हूँ[१]। पूर्व अवस्थामें किसीने सम्पूर्ण पाप किये हों, तथापि वह अन्तकालमें श्रीकृष्णका स्मरण कर लेता है तो निश्चय ही मुझे प्राप्त होता है। मृत्युकाल उपस्थित होनेपर यदि कोई 'परमात्मा विष्णुको नमस्कार है' इस प्रकार विवश होकर भी कहे तो वह अविनाशी पदको प्राप्त होता है। ब्रह्मन्! यदि कृष्ण-कृष्णका उच्चारण करता हुआ कोई श्मशानमें अथवा सड़कपर भी मर जाता है तो भी वह मुझको ही प्राप्त होता है। पुत्र! जो मेरे भक्तोंका दर्शन करके कहीं मृत्युको प्राप्त होता है, वह मनुष्य मेरा स्मरण किये बिना ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है[२]। वत्स! (सञ्चित) पापरूपी प्रज्वलित अग्निसे भय न करो। श्रीकृष्णरूपी मेघोंके जलबिन्दुओंसे उसे सींचकर बुझा दिया जा सकता है। तीखी दाढ़ोंवाले कलिकालरूपी सर्पका क्या डर है? श्रीकृष्णके नामरूपी ईन्धनसे उत्पन्न आगके द्वारा वह जलकर नष्ट हो सकता है। जिस प्रकार प्रयागमें गङ्गा, शुक्लतीर्थमें नर्मदा और कुरुक्षेत्रमें सरस्वती हैं, उसी प्रकार सर्वत्र श्रीकृष्णका कीर्तन सब पापोंको नष्ट करनेवाला है। संसार-समुद्रमें डूबकर जो महान् पापोंकी लहरोंमें गिर गये हैं, ऐसे मनुष्योंके लिये श्रीकृष्ण-स्मरणके सिवा दूसरी कोई गति नहीं है। जो पापी हैं, जिनमें श्रीकृष्णस्मरणकी भावना नहीं है, ऐसे मनुष्योंके लिये परलोककी यात्राके समय श्रीकृष्ण-चिन्तनके सिवा दूसरा कोई पाथेय (राहखर्च) नहीं है। उसीका जन्म एवं जीवन सफल है तथा उसीका मुख सार्थक है, जिसकी जिह्वा सदा 'कृष्ण-कृष्ण' का कीर्तन करती रहती है। जिसने एक बार भी 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण कर लिया, उसने मोक्षके लिये जानेको कमर कस ली है[३]। 'कृष्ण-कृष्ण'के कीर्तनसे मनुष्यका शरीर और मन कभी श्रान्त नहीं होता। उसे पाप नहीं लगता और विकलता भी नहीं होती। जो श्रीकृष्णनामोच्चारणरूपी पथ्यका कलियुगमें त्याग नहीं करता, उसके चित्तमें पापरूपी रोग नहीं पैदा होते अर्थात् उससे नये पाप नहीं बनते। श्रीकृष्ण-नामका कीर्तन करते हुए मनुष्यकी आवाज सुनकर दक्षिण दिशाके अधिपति यमराज उसके सौ जन्मोंके पापोंका परिमार्जन कर देते हैं। सैकड़ों चान्द्रायण और सहस्रों पराक व्रतसे जो पाप नष्ट नहीं होता, वह 'कृष्ण-कृष्ण' का कीर्तन करनेमात्रसे

१. कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः। जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्॥
(स्क० पु०, वै० मा०, मा० १५। ३६)

२. श्मशाने यदि रथ्यायां कृष्ण कृष्णेति जल्पति। म्रियते यदि चेत् पुत्र मामेवैति न संशयः॥
दर्शनान्मम भक्तानां मृत्युमाप्नोति यः क्वचित्। विना मत्स्मरणात् पुत्र मुक्तिमेति स मानवः॥
(स्क० पु०, वै० मा०, मा० १५। ४२-४३)

३. जीवितं जन्मसाफल्यं मुखं तस्यैव सार्थकम्। सततं रसना यस्य कृष्ण कृष्णेति जल्पति॥
सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्। बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥
(स्क० पु०, वै० मा०, मा० १५। ५१-५२)

किया जाता है। सूतजीने शौनकादि ऋषियोंसे सेतु-माहात्म्यका वर्णन करते हुए कहा है—'ब्राह्मणो! श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा बँधाये हुए सेतुसे जो परम पवित्र हो गया है,वह रामेश्वर नामक क्षेत्र सब तीर्थोंमें उत्तम है। उसके दर्शनमात्रसे संसारसागरसे मुक्ति हो जाती है एवं भगवान् विष्णुमें और शिवमें भक्ति तथा पुण्यकी वृद्धि होती है। जिसने सेतुका दर्शन कर लिया, उसने सब तीर्थोंमें स्नान और सब प्रकारकी तपस्याका अनुष्ठान कर लिया। सेतु, रामेश्वरलिङ्ग और गन्धमादन पर्वतका चिन्तन करनेवाला मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

'जो मनुष्य भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा स्थापित रामेश्वर-शिवलिङ्गका एक बार दर्शन कर लेता है, वह भगवान् शङ्करके सायुज्यस्वरूप मोक्षको प्राप्त करता है। सत्ययुगमें दस वर्षोंमें जो पुण्य किया जाता है, उसीको त्रेताके मनुष्य एक वर्षमें सिद्ध करते हैं, वही द्वापरमें एक मासमें और कलियुगमें एक दिनमें सार्थक होता है[१]। परंतु जो लोग भगवान् रामेश्वरका दर्शन करते हैं, उनको वही पुण्य कोटिगुना होकर एक-एक पलमें प्राप्त होता है। रामेश्वर नामक महालिङ्गमें सब तीर्थ, सम्पूर्ण देवता, ऋषि-मुनि तथा पितर विद्यमान हैं। जो एक समय, दो समय, तीनों समय अथवा सर्वदा ही मोक्षदायक रामेश्वर नामक महादेवजीका स्मरण या कीर्तन करते हैं, वे पापसमूहसे मुक्त हो जाते हैं और सच्चिदानन्दमय अद्वैतरूप शिवको प्राप्त होते हैं। जो मनुष्य रामेश्वर नामक महालिंगको नमस्कार और उसका पूजन करते हैं, उनका जन्म सफल है, वे कृतार्थ हो जाते हैं।'

इस प्रकार सेतुबन्ध-रामेश्वरकी महिमाका और तत्पश्चात् भगवान् श्रीरामके द्वारा सेतुक्षेत्रमें रामेश्वरलिंगकी स्थापना करनेका विस्तृत वर्णन किया गया है; उसे ब्राह्मखण्डके सेतुमाहात्म्य-प्रकरणमें देखना चाहिये।

भगवान् श्रीरामका हनुमान्‌को ज्ञानोपदेश

इसी प्रसङ्गमें श्रीरामचन्द्रजीने हनुमान्‌जीको जो ज्ञानोपदेश दिया है, उसका संक्षेपमें नीचे दिग्दर्शन कराया जाता है।

श्रीरामचन्द्रजी बोले—कपि! इस संसारमें जो जन्म ले चुके हैं, जो जन्म लेनेवाले हैं और जो मर चुके हैं उन सबको तथा अपने और पराये सब कार्योंको मैं भलीभाँति जानता हूँ। जीव अपने कर्मके अनुसार अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। अतः तुम तत्त्वज्ञानमें ही सदा स्थिर रहो। यह आत्मा स्वयंप्रकाश है। तुम सदा आत्माके स्वरूपका चिन्तन करो। देह आदिमें ममता त्याग दो, सदा धर्मका आश्रय लो, साधुपुरुषोंका सेवन करो, सम्पूर्ण इन्द्रियोंका दमन करो, दूसरोंके दोषकी चर्चासे दूर रहो एवं शिव और विष्णु आदि देवताओंकी सदा पूजा करो। सर्वदा सत्य बोलो तथा आत्मा और परमात्माकी एकताका अनुभव करो। राग और द्वेषसे बँधकर जीव धर्म और अधर्मके वशीभूत होते हैं तथा उन्हींके अनुसार देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि योनियोंमें तथा नरकोंमें पड़ते हैं। वायुनन्दन! मुझसे परमार्थकी बात सुनो। यह संसार एक गड्ढेके समान है। इसमें कुछ भी सुख नहीं। यहाँ पहले तो जीवका जन्म होता है, तत्पश्चात् उसकी बाल्यावस्था रहती है, फिर वह जवान होता है और उसके बाद वह बुढ़ापा भोगता है। तदनन्तर मृत्युको प्राप्त होता है और मृत्युके बाद पुनः जन्मका कष्ट भोगता है। इस प्रकार अज्ञानके प्रभावसे ही मनुष्य दुःख पाता है और अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर उसे उत्तम सुखकी प्राप्ति होती है। अज्ञानकी निवृत्ति ज्ञानसे ही होती है। ज्ञान परब्रह्म परमात्माका स्वरूप है। वेदान्त-वाक्यके श्रवण और मननसे जो ज्ञान होता है, वह विरक्त पुरुषको ही होता है। श्रेष्ठ अधिकारीको गुरुदेवकी कृपासे भी ज्ञान होता है, यह सत्य है।

संग्रहका अन्त विनाश है, अधिक ऊँचे चढ़नेका अन्त नीचे गिरना है; संयोगका अन्त वियोग और जीवनका अन्त मरण है[२]। जैसे सुदृढ़ खंभोंवाला गृह सुदीर्घकालके बाद जीर्ण होनेपर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य जरा-जीर्ण होकर मृत्युके अधीन हो नष्ट हो जाता है। जैसे समुद्रमें बहते हुए दो काठ एक-दूसरेसे मिलकर फिर विलग हो जाते हैं, उसी प्रकार कालयोगसे मनुष्योंका एक-दूसरेके साथ संयोग और वियोग होता है। इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, भाई, क्षेत्र और धन—ये सब कभी कुछ कालके लिये एकत्र होते और फिर अन्यत्र चले जाते हैं, जीवोंके शरीर जिस प्रकार उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्माका जन्म और मरण नहीं होता। अतः तुम शोकरहित अद्वैत ज्ञानमय सत्स्वरूप निर्मल परब्रह्म परमात्माका दिन-रात चिन्तन करो।

१. दशवर्षैस्तु यत् पुण्यं क्रियते तु कृते युगे। त्रेतायामेकवर्षेण तत् पुण्यं साध्यते नृभिः ॥
द्वापरे तच्च मासेन तद् दिनेन कलौ युगे। (स्क० ब्रा० सेतु० ४३। ३-४)

२. सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः। संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥ (स्क० पु०, ब्रा० सेतु० ४५।४१)

पतिव्रता और विधवाओंके कर्तव्य

श्रीव्यासजीने धर्मारण्य-माहात्म्यका वर्णन करते हुए शौच, स्नान, संध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, स्वाध्याय, अतिथि-सेवा, पंचयज्ञ तथा व्यावहारिक शिष्टाचारोंका विस्तारसे विवेचन किया है। पाठकोंको यह प्रसङ्ग मूलग्रन्थमें पढ़ना चाहिये। इसी प्रकरणमें पतिव्रता और विधवा स्त्रियोंके कर्तव्योंका निर्देश किया है, जिसे संक्षेपमें नीचे दिया जाता है।

व्यासजी कहते हैं—जिसके घरमें पतिव्रता स्त्री होती है, उसका जीवन सफल हो जाता है। पतिव्रता स्त्रियाँ अरुन्धती, सावित्री, अनसूया, शाण्डिली, सती, लक्ष्मी, शतरूपा, सुनीति, संज्ञा और स्वाहाके समान होती हैं। पतिव्रता स्त्री पतिके भोजन कर लेनेपर भोजन करती है। उनके खड़े रहनेपर स्वयं भी खड़ी रहती है। पतिके सो जानेपर सोती है और पहले ही जाग उठती है। स्वामी यदि दूसरे देशमें हो तो वह अपने शरीरका शृङ्गार नहीं करती। पतिकी आयु बढ़े, इस उद्देश्यसे वह कभी पतिके नामका उच्चारण नहीं करती। वह दूसरे पुरुषका नाम भी कभी नहीं लेती। जब स्वामी कहते हों कि 'यह कार्य करो' तब वह शीघ्र उत्तर देती है 'जो आज्ञा।' पतिके बुलानेपर वह घरका सारा काम-काज छोड़कर तुरन्त उनके पास दौड़ी जाती है और पूछती है, 'प्राणनाथ! किस कार्यके लिये दासीको बुलाया है, मुझे सेवाका आदेश देकर अपने कृपाप्रसादकी भागिनी बनाइये।' वह घरके दरवाजेपर देरतक नहीं खड़ी रहती। दरवाजेपर सोती-बैठती भी नहीं। जो वस्तु नहीं देनेयोग्य होती है, उसे वह स्वयं किसीको कभी नहीं देती।

पतिव्रता स्त्रीको चाहिये कि स्वामीके लिये पूजनकी सामग्री बिना कहे ही जुटा दे। नित्य-नियमके लिये जल, कुशा, पत्र, पुष्प, अक्षत आदि प्रस्तुत करे और पतिकी प्रतीक्षामें खड़ी होकर जिस समय जो वस्तु आवश्यक हो, वह सब शीघ्र बिना किसी उद्वेगके अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक प्रस्तुत करे। स्वामीके भोजनसे बचे हुए प्रसादस्वरूप अन्न और फल आदिको अत्यन्त प्रिय मानकर ग्रहण करे। सामाजिक उत्सवोंका दर्शन तो वह दूरसे ही त्याग दे, पतिकी आज्ञाके बिना वह तीर्थयात्रा और विवाहोत्सवोंको देखने आदिके लिये भी न जाय। रजस्वला होनेपर भलीभाँति स्नान कर लेनेके बाद सबसे पहले पतिके ही मुखका दर्शन करे, दूसरे किसीका नहीं, अथवा पतिदेव उपस्थित न हों तो मन-ही-मन उनका ध्यान करके सूर्यदेवका दर्शन करे। कभी अकेली न रहे और नंगी होकर न नहाये। पतिके सम्मुख धृष्टता न करे। स्त्रियोंके लिये यही सबसे उत्तम व्रत, यही महान् धर्म और यही पूजा है कि वह पतिकी आज्ञाका उल्लंघन न करे। वह लोहेके बर्तनमें भोजन न करे। यदि उसे तीर्थस्नानकी इच्छा हो तो वह प्रतिदिन पतिका चरणोदक पिये। उसके लिये शंकर और भगवान् विष्णुसे भी बढ़कर उसका पति ही है। जो स्त्री पतिकी आज्ञाका उल्लंघन करके व्रत और उपवास आदिका नियम करती है, वह पतिकी आयु हर लेती है और मरनेपर नरकमें जाती है। जो नारी पतिके कोई बात कहनेपर क्रोधपूर्वक उसका उत्तर देती है, वह गाँवमें कुतिया और निर्जन वनमें सियारिन होती है। स्त्रियोंके लिये एकमात्र यही सर्वोत्तम नियम बनाया गया है कि वह प्रतिदिन अपने पतिके चरणोंकी पूजा करके भोजन करे और दृढ़ निश्चयपूर्वक इस नियमका पालन करे। पतिसे ऊँचे आसनपर न बैठे, दूसरेके घर न जाय और कड़वी बातें मुँहसे न निकाले। गुरुजनोंके समीप जोरसे न बोले और न किसीको पुकारे ही। जो खोटी बुद्धिवाली स्त्री पतिका साथ छोड़कर एकान्तमें विचरती है, वह वृक्षके एक खोखलेमें सोनेवाली क्रूर उलूकी होती है। जो दूसरे पुरुषकी ओर कटाक्षसे देखती है, वह ऐंची आँखवाली हो जाती है। जो पतिको छोड़कर अकेली मिठाइयाँ उड़ाती है, वह गाँवकी विष्टाभोजी सूकरी अथवा चमगादड़ होती है। जो हुङ्कार और त्वंकार करके (पतिके प्रति अनादर-सूचक वचन कहकर) अप्रिय भाषण करती है वह गूँगी होती है। जो पतिकी आँख बचाकर किसी दूसरे पुरुषको निहारती है, वह कानी, विकृत मुखवाली अथवा कुरूपा होती है। पतिको बाहरसे आते देख जो तुरन्त उठकर पानी और आसन देती है, पानका बीड़ा खिलाती है, पंखा करती, पाँव दबाती, प्रिय वचन बोलती और पसीना आदि दूर करके प्रियतमको संतुष्ट करती है, उसके द्वारा तीनों लोक तृप्त हो जाते हैं। पिता, भाई और पुत्र—ये सब परिमित यानी नपी-तुली-वस्तुएँ प्रदान करते हैं, परन्तु पति अपनी पत्नीको अपरिमित दान करता है। इसके दानकी कोई सीमा नहीं होती। ऐसे पतिका कौन ऐसी स्त्री है, जो पूजन न करे। पति ही देवता है, पति ही गुरु है और पति ही धर्म, तीर्थ एवं व्रत है; अतः स्त्री सब छोड़कर एकमात्र पतिकी पूजा करे*।

* मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः। अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत्॥

जो पतिव्रता श्मशानमें जाते हुए स्वामीके शवके पीछे-पीछे घरसे प्रसन्नतापूर्वक जाती है, उसे पग-पगपर अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है। पतिव्रता स्त्रीको देखकर यमदूत भाग जाते हैं। संसारमें वह माता धन्य है, वह पिता धन्य है और वह पति धन्य है, जिनके घरमें पतिव्रता स्त्री शोभा पाती है। केवल पतिव्रता नारीके पुण्यसे उसके पिता, माता और पति—इन तीनों कुलोंकी तीन-तीन पीढ़ियाँ स्वर्गीय सुख भोगती हैं। दुराचारिणी स्त्रियाँ अपना शील भंग करनेके कारण पिता, माता और पति—तीनों कुलोंको नरकमें गिराती हैं और स्वयं भी इहलोक तथा परलोकमें दुःख भोगती हैं। पतिव्रताका चरण जहाँ-जहाँ धरतीका स्पर्श करता है, वह-वह स्थान तीर्थ-भूमिकी भाँति मान्य है। वास्तवमें गृहस्थ उसीको समझना चाहिये, जिसके घरमें पतिव्रता स्त्री है। जैसे गंगामें स्नान करनेसे शरीर पवित्र होता है, उसी प्रकार पतिव्रताका दर्शन करके सम्पूर्ण गृह पवित्र हो जाता है।

यदि विधवा स्त्री पलंगपर सोती है तो वह पतिको नरकमें गिरा देती है, अतः पतिके सुखकी इच्छासे विधवा स्त्रीको धरतीपर ही शयन करना चाहिये। विधवा स्त्रीको कभी अपने अङ्गोंमें उबटन नहीं लगाना चाहिये तथा उसे कभी सुगंधित वस्तुओंका उपयोग भी नहीं करना चाहिये। उसे पतिबुद्धिसे भगवान् विष्णुका पूजन करना चाहिये। वह विष्णुरूपधारी पति परमेश्वरका ही ध्यान करे। स्नान, दान, तीर्थयात्रा और पुराण-श्रवण बार-बार करती रहे।

इस प्रकार स्त्रियोंके कर्तव्य बतलाये गये हैं। इनपर माता-बहिनोंको विशेष ध्यान देकर इनका आचरण करना चाहिये। इसी ब्राह्मखण्डमें धर्मारण्य-माहात्म्यके वर्णन-प्रसङ्गमें सदाचार, शिष्टाचार और धर्म, नियम आदिका विस्तृत निरूपण किया है एवं संक्षेपसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका सम्पूर्ण चरित्र चित्रण किया गया है। पाठकोंको ये प्रसङ्ग ग्रन्थमें पढ़ने चाहिये।

द्वादशाक्षर मंत्र, राम-नाम-महिमा और ध्यानयोग

ब्राह्मखण्डके चातुर्मास्य-माहात्म्यका वर्णन करते हुए भगवान् शङ्करजीने पार्वतीजीसे राम-नामकी महिमा और ध्यानयोगका निरूपण किया है, जो सभीके लिये बड़ा ही उपयोगी है। उसे संक्षेपमें नीचे दिया जाता है—

भगवान् शिवजी बोले—प्रिये! भगवान् विष्णुके सहस्रनामोंमें जो सारभूत नाम है, मैं उसीका नित्य-निरन्तर जप-चिन्तन करता हूँ। मैं रामनाम जपता हूँ और उसीके अङ्ककी रुद्राक्षकी मालाद्वारा गणना करता हूँ। ओंकारसहित जो द्वादशाक्षर बीज (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) है, उसका जप करनेवाले मनुष्यके लिये वह कोटि-कोटि पापोंका दाह करनेवाला दावानल बन जाता है। इस अक्षरसे प्रकट हुए मन्त्रका जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा आश्रय लेता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। द्वादशाक्षर मन्त्रके माहात्म्यका सहस्रों जिह्वाओंद्वारा भी वर्णन नहीं किया जा सकता। संसारमें इसका जप, ध्यान और स्तवन करनेपर यह महामन्त्र सभी मासोंमें पाप-नाश करनेवाला होता है; किंतु चातुर्मास्यमें तो इसका यह माहात्म्य विशेषरूपसे बढ़ जाता है। इस महामन्त्रके चिन्तनमात्रसे ही मनुष्योंको मनचाही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसके संयमपूर्वक जप और ध्यानसे सनातन मोक्ष प्राप्त होता है। शूद्रों और स्त्रियोंके लिये प्रणवरहित जपका विधान है*। शूद्रोंके लिये राम-नाममन्त्र विशेष ध्येय है। यही उन्हें कोटि मन्त्रोंसे अधिक फल देनेवाला होता है। 'राम' इस दो अक्षरके नामका जप पापोंका नाश कर देनेवाला है। मनुष्य चलते, खड़े होते और सोते समय भी श्रीरामनामका कीर्तन करनेसे इहलोकमें सुख पाता है और अन्तमें भगवान् विष्णुका पार्षद होता है। 'राम' यह दो अक्षरोंका मन्त्र कोटि-शत मन्त्रसे भी बढ़कर है। यह सभी वर्णसंकर जातियोंके भी पापका नाशक बताया गया है। चातुर्मास्य प्राप्त होनेपर तो यह राम-मन्त्र अनन्त फल देनेवाला होता है। इस भूतलपर रामनामसे बढ़कर कोई पाठ नहीं है। जो राम-नामकी शरण ले चुके हैं, उन्हें कभी यमलोककी यातना नहीं भोगनी पड़ती। जो-जो विघ्नकारक दोष हैं, सब राम-नामका उच्चारण करनेमात्रसे नष्ट हो जाते हैं। जो परमात्मा समस्त स्थावर-जंगम प्राणियोंमें अन्तर्यामी आत्मारूपसे रम रहा है, उसे 'राम' कहते हैं। 'राम' यह मन्त्रराज भय तथा उपाधियोंका नाश करनेवाला है। क्षत्रियोंके लिये यह युद्धमें विजय देनेवाला तथा समस्त कार्यों एवं मनोरथोंको सिद्ध करनेवाला है। राम-नामको ही सम्पूर्ण तीर्थोंका फल कहा गया है। वह ब्राह्मणोंके लिये भी मनोवाञ्छित फल देनेवाला है। 'राम-नाम' इस प्रकार उच्चारण किया जानेवाला यह दो अक्षरोंका मन्त्रराज भूतलपर सब कार्य सिद्ध करनेवाला है। देवता

भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थव्रतानि च। तस्मात् सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत्॥
(स्क० पु०, ब्रा० ध० मा० ७। ४७-४८)

* जपैर्ध्यानैः शमपरैर्मोक्षं यास्यति निश्चितम्। शूद्राणां चापि नारीणां प्रणवेन विवर्जितः॥ (स्क० पु०, ब्रा० चातु० २४। ३७)

भी राम-नामके गुण गाते हैं। इसलिये पार्वती! तुम भी सदा राम-नामका जप करो। जो राम-नामका जप करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। राम-नामसे सहस्र नामोंका पुण्य होता है। विशेषतः चातुर्मास्यमें उसका पुण्य दसगुना बढ़ जाता है। राम-नामके उच्चारणसे हीन जातिमें उत्पन्न लोगोंका भी महान् पाप भस्म हो जाता है। भगवान् श्रीराम सम्पूर्ण जगत्‌को अपने तेजसे व्याप्त करके स्थित हैं और सब मनुष्योंमें अन्तरात्मारूपसे रहकर उनके पूर्वजन्मोपार्जित स्थूल एवं सूक्ष्म पापोंको क्षणभरमें भस्म करके उन्हें पवित्र कर देते हैं।

ध्यानयोगसे समस्त पापोंका नाश होता है। जप और ध्यान ही योगका स्वरूप है। शब्द-ब्रह्म (ॐकार एवं वेद) से प्रकट हुआ द्वादशाक्षर मन्त्र वेदके समान है। ध्यानसे मनुष्य सब कुछ पाता है। ध्यानसे वह शुद्धताको प्राप्त होता है। ध्यानसे परब्रह्मका बोध होता है तथा सगुण-स्वरूपमें चित्तवृत्तिकी एकाग्रतारूप योग भी ध्यानसे ही सम्भव होता है[1]। ध्यानयोग दो प्रकारका होता है—एक सालम्ब (सगुण) का और दूसरा निरालम्ब (निर्गुण)-का। सगुण-साकार विग्रह नारायणका दर्शन सालम्ब ध्यान है। दूसरा जो निरालम्ब ध्यान है, वह ज्ञानयोगके द्वारा बताया गया है। रूपरहित, अप्रमेय तथा सर्वस्वरूप जो सनातन तेज है, जो सदा उदयशील एवं पूर्णतम है, जो निष्कल एवं निरञ्जनमय है, आकाशके समान सर्वव्यापक है, सुखस्वरूप एवं तुरीयातीत है, जिसकी कहीं उपमा नहीं है, वही परमेश्वरका निराकार स्वरूप ध्यानयोगके द्वारा चिन्तन करने योग्य है। वह द्वन्द्वोंसे रहित एवं साक्षीमात्र है। शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है। अपने तेजसे उपमारहित और अगाध है। उसीको तुम अङ्गीकार करो।

मानसतीर्थ, काशी-माहात्म्य एवं गङ्गाकी महिमा

अब काशीखण्डकी कुछ सार बातोंका दिग्दर्शन कराया जाता है। इसमें काशीकी महिमाका विस्तृत वर्णन है। काशीके अनेक तीर्थोंका माहात्म्य तथा काशीकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हुए मानसतीर्थोंका बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। मुनिवर अगस्त्यजीने अपनी धर्मपत्नी लोपामुद्रासे कहा—वरारोहे! सुनो, तत्त्वका विचार करनेवाले ज्ञानी मुनियोंने बार-बार यह निर्णय किया है कि मुक्तिके अनेक स्थान हैं। पहला तीर्थराज प्रयाग है, जो सर्वत्र विख्यात है। वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंको देनेवाला है। इसके सिवा नैमिषारण्य, कुरुक्षेत्र, गङ्गाद्वार (हरिद्वार), अवन्ती, अयोध्या, मथुरा , द्वारका, अमरावती, सरस्वती और समुद्रका संगम, गङ्गासागर-संगम, काञ्चीपुरी, त्र्यम्बक-तीर्थ, सप्त-गोदावरी, कालंजरतीर्थ, प्रभासक्षेत्र, बदरिकाश्रम, महालय, ॐकारक्षेत्र (अमरकण्टक), पुरुषोत्तमक्षेत्र (जगन्नाथपुरी), गोकर्णतीर्थ, भृगुकच्छ, भृगुतुङ्ग, पुष्कर, धारातीर्थ आदि बहुत-से तीर्थ मुक्तिदायक हैं।

मानस-तीर्थ

सत्य, दया आदि जो मानसिक तीर्थ हैं, वे भी मोक्ष देनेवाले हैं। सत्य तीर्थ है, क्षमा तीर्थ है, इन्द्रियोंको वशमें रखना भी तीर्थ है, सब प्राणियोंपर दया करना तीर्थ है और सरलता भी तीर्थ है। दान, दम (मनका संयम) तथा संतोष—ये भी तीर्थ कहे गये हैं। ब्रह्मचर्यका पालन उत्तम तीर्थ है। ज्ञान और धैर्य तीर्थ हैं। तपस्याको भी तीर्थ कहा गया है। तीर्थोंमें सबसे बड़ा तीर्थ है—अन्तःकरणकी आत्यन्तिक शुद्धि। पानीमें शरीरको डुबो लेना ही स्नान नहीं कहलाता। जिसने भी दम तीर्थमें स्नान किया है, मन एवं इन्द्रियोंको संयममें रखा है, उसीने वास्तविक स्नान किया है। जिसने मनकी मैल धो डाली है, वही शुद्ध है। विषयोंके प्रति अत्यन्त राग होना मानसिक मल कहलाता है और उन्हीं विषयोंमें विराग होना निर्मलता कही गयी है। यदि अपने भीतरका मन दूषित है तो मनुष्य तीर्थ-स्नानसे शुद्ध नहीं होता है। जिसने अपने इन्द्रियसमुदायको वशमें कर लिया है, वह मनुष्य जहाँ निवास करता है, वहीं उसके लिये कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्कर आदि तीर्थ हैं। ध्यानसे पवित्र तथा ज्ञानरूपी जलसे भरे हुए राग-द्वेषमय मलको दूर करनेवाले मानस-तीर्थोंमें जो पुरुष स्नान करता है, वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है।[2]

अब पृथ्वीपर जो तीर्थ हैं, उनकी पवित्रताका क्या हेतु है, यह सुनो। पृथ्वीके कुछ भाग भी अत्यन्त पुण्यमय हैं। पृथ्वीके अद्भुत प्रभाव, जलके विलक्षण तेज तथा मुनियोंके निवासस्थान होनेसे तीर्थ पुण्यस्वरूप माने जाते हैं। अतः जो प्रतिदिन भूमण्डलके तीर्थों एवं मानस-तीर्थोंमें भी स्नान करता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है। जिसके हाथ, पैर, मन, विद्या, तप और कीर्ति सभी संयममें हैं, वह तीर्थके पूर्ण फलका भागी होता है। जो प्रतिग्रह नहीं लेता और जिस किसी भी वस्तुसे संतुष्ट

---

१. ध्यानेन सर्वमाप्नोति ध्यानेनाप्नोति शुद्धताम्॥
ध्यानेन परमं ब्रह्म मूर्तौ योगस्तु ध्यानजः। (स्क० ब्रा० चातु० ३०। २८-२९)

२. ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे। यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्॥ (स्क० का० पू० ६। ४१)

रहता है तथा जिसमें अहङ्कारका सर्वथा अभाव है, वह तीर्थफलका भागी होता है। अश्रद्धालु, पाप करनेके स्वभाववाला, नास्तिक, संशयात्मा और केवल तर्कका सहारा लेनेवाला—ये पाँच प्रकारके मनुष्य तीर्थसेवनका फल नहीं पाते। काशी, काञ्ची, माया (लक्ष्मणझूलेसे कनखलतक), अयोध्या, द्वारका, मथुरा और अवन्ती—ये सात पुरियाँ मोक्ष देनेवाली हैं[1] केदारतीर्थका महत्त्व उससे भी अधिक है। श्रीशैल और केदारसे भी उत्तम मोक्षदायक तीर्थ प्रयाग है तथा तीर्थश्रेष्ठ प्रयागसे भी बढ़कर अविमुक्तक्षेत्र (काशी) में जैसा मोक्ष मिलता है, वैसा कहीं नहीं।

काशी-माहात्म्य

श्रेष्ठ तीर्थ काशी सम्पूर्ण भुवनोंमें सबसे उत्तम है। काशीमें देहावसान होनेसे अनायास मुक्ति होती है। अविमुक्तक्षेत्र ब्रह्माण्डके भीतर रहकर भी ब्रह्माण्डमें नहीं है। इसकी लम्बाई पाँच कोस है। काशीमें देहत्याग करनेवालोंका नियंत्रण स्वयं भगवान् काशीनाथ करते हैं। जिन्होंने वहाँ रहकर भी पाप किये हैं, उनको दण्ड देनेवाले कालभैरव हैं। वहाँ कभी किसीको पाप नहीं करना चाहिये, क्योंकि वहाँ पाप करनेवालोंको दारुण रुद्रयातना भोगनी पड़ती है, जो नरकसे भी अधिक दुःसह है। जो मनुष्य दूसरेकी निन्दा और परस्त्रीकी अभिलाषा करते हैं, उन्हें काशीका सेवन नहीं करना चाहिये। जो वहाँ सदा प्रतिग्रह लेकर धनसंग्रह करनेकी अभिलाषा रखते हैं अथवा कपटपूर्वक दूसरोंका धन हड़प लेना चाहते हैं, ऐसे लोगोंको भी काशीका सेवन नहीं करना चाहिये। काशीमें रहनेवाले पुरुषको दूसरोंको पीड़ा देनेवाला कर्म सदाके लिये त्याग देना चाहिये। यदि यही करना हो तो दुष्ट चित्तवाले पुरुषोंका काशीमें निवास करना किस कामका?

यहाँ काशीकी महिमाके प्रसङ्गसे सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, अग्नि, वायु, कुबेर, ध्रुव आदि विभिन्न लोकोंका बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है तथा श्रीगङ्गाजीकी महिमा, स्तुति एवं गङ्गासहस्रनामस्तोत्रका वर्णन है। यहाँ तो संक्षेपमें केवल गङ्गाजीकी महिमाका उल्लेखमात्र किया जाता है।

गङ्गाजीकी महिमा

श्रीमहादेवजीने कहा—गङ्गा शुद्ध विद्यास्वरूपा, इच्छा, ज्ञान एवं क्रियारूप तीन शक्तियोंवाली, दयामयी, आनन्दामृत-रूपा तथा शुद्ध धर्मस्वरूपा हैं। जगद्धात्री परब्रह्मस्वरूपिणी गङ्गाको मैं अखिल विश्वकी रक्षा करनेके लिये लीलापूर्वक अपने मस्तकपर धारण करता हूँ। जो गङ्गाजीका सेवन करता है, उसने सब तीर्थोंमें स्नान कर लिया, सब यज्ञोंकी दीक्षा ले ली और सम्पूर्ण व्रतोंका अनुष्ठान पूरा कर दिया। अज्ञान, राग और लोभादिसे मोहित चित्तवाले पुरुषोंकी धर्म और गङ्गामें विशेष श्रद्धा नहीं होती। जो चलते, खड़े होते , जप और ध्यान करते, खाते-पीते, जागते, सोते तथा बात करते समय भी सदा गङ्गाजीका स्मरण करता है, वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। जैसे बिना इच्छाके भी स्पर्श करनेपर आग जला ही देती है, उसी प्रकार अनिच्छासे भी अपने जलमें स्नान करनेपर गङ्गा मनुष्यके पापोंको भस्म कर देती हैं[2]। जो गङ्गास्नानके लिये उद्यत होकर चलता है और मार्गमें ही मर जाता है, वह भी निःसंदेह गङ्गा-स्नानका फल पाता है। जो लोग खोटी बुद्धिवाले दुराचारी, कोरा तर्क करनेवाले और अधिक संदेह रखनेवाले मोहित मनुष्य हैं, वे गङ्गाको अन्य साधारण नदियोंके समान ही देखते हैं। क्रोधसे तपका, कामसे बुद्धिका, अन्यायसे लक्ष्मीका, अभिमानसे विद्याका तथा पाखण्ड, कुटिलता और छल-कपटसे धर्मका नाश होता है। उसी प्रकार गङ्गाजीके दर्शनमात्रसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे मन्त्रोंमें ॐकार, धर्मोंमें अहिंसा और कमनीय वस्तुओंमें लक्ष्मी श्रेष्ठ हैं तथा जिस प्रकार विद्याओंमें अध्यात्मविद्या और स्त्रियोंमें पार्वती देवी उत्तम हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण तीर्थोंमें गङ्गातीर्थ विशेष माना गया है। अनेक रूपवाले पितर सदा यह गाथा गाते हैं कि 'क्या हमारे कुलमें भी कोई गङ्गा नहानेवाला होगा; जो विधि और श्रद्धाके साथ गङ्गास्नान कर देवताओं तथा ऋषियोंका भलीभाँति तर्पण करके दीनों, अनाथों और दुःखियोंको तृप्त करते हुए हमारे निमित्त जलाञ्जलि देगा?' गङ्गास्नान करनेके लिये तिथि, नक्षत्र और पूर्व आदि दिशाका विचार नहीं करना चाहिये; क्योंकि किसी प्रकार भी गङ्गास्नान करनेमात्रसे समस्त सञ्चित पापका नाश हो जाता है।

महाकालक्षेत्रकी महिमा

अब आवन्त्य-खण्डकी कुछ सार बातोंका उल्लेख किया जाता है। उसमें पहले अवन्ती (महाकाल) क्षेत्रकी महिमा बतलाते हुए श्रीसनत्कुमारजीने श्रीव्यासजीके प्रति कहा है—'यहाँ सब पातक क्षीण हो जाता है, इसलिये इसे 'क्षेत्र' कहा जाता है। यह मातृकाओंका निवासस्थान

१. काशी काञ्ची च मायाख्या त्वयोध्या द्वारवत्यपि। मथुरावन्तिका चैताः सप्त पुर्योऽत्र मोक्षदाः॥ (स्क०, का० पू० ६। ६८)

२. अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहनो हि यथा दहेत्। अनिच्छयापि संस्नाता गङ्गा पापं तथा दहेत्॥ (स्क० पु० का० पू० २७। ४९)

होनेके कारण 'पीठ' कहलाता है। इस भूमिमें मरे हुए जीव फिर जन्म नहीं लेते, इसीलिये इसे ऊसर नाम दिया गया है। अत: यह परमात्मा शंकरका गुह्य, प्रिय एवं नित्य क्षेत्र है और इसीलिये सम्पूर्ण प्राणियोंको बहुत प्रिय है। भगवान् शिवके इस अतिशय प्रिय क्षेत्रको महाकालवन और विमुक्तिक्षेत्र भी कहते हैं।'

'जो ब्राह्मण ममता, अहङ्कार, आसक्ति तथा परिग्रहसे रहित हैं, बन्धुजनोंके प्रति अनासक्त रहकर मिट्टी, पत्थर और सुवर्णको समान समझते हुए महाकालवनमें निवास करते हैं, मन, वाणी और शरीरद्वारा किये जानेवाले त्रिविध कर्मोंद्वारा सदा सब प्राणियोंको अभयदान देते हैं, सांख्य और योगकी विधिको जानते हैं, धर्मके स्वरूपको समझते हैं और संशयरहित हो नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा भगवान् शंकरका यजन करते हैं, यहाँ मृत्यु होनेके पश्चात् वे सभी अत्यन्त दुर्लभ एवं अक्षय ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त होते हैं।'

इसके बाद सनत्कुमारजीने वहाँके अनेक तीर्थोंका माहात्म्य वर्णन किया है। इसी प्रकरणमें ब्रह्माजीने देवताओंको विष्णुसहस्रनामस्तोत्रका उपदेश दिया है, जो कि संक्षिप्त स्कन्दपुराणके ७३४वेंसे ७४१वें तकके पृष्ठोंमें अर्थसहित प्रकाशित किया गया है। श्रीविष्णुभक्तोंके लिये यह बहुत ही उपादेय है। इसी खण्डके पृष्ठ ७८५ से ७९२ तक यमलोकके मार्गके कष्टोंका तथा अट्ठाईस नरक तथा उनमें भी पाँच-पाँच प्रधान विभागोंका एवं नरक-यातना तथा नरकसे उद्धार होनेके उपायोंका विस्तृतरूपसे वर्णन किया गया है। यह प्रसङ्ग भी देखने योग्य है।

अतिथि-सत्कारका माहात्म्य

ऋषि बोले—महाभाग सूतजी! आप हमें अतिथि-सत्कारका उत्तम माहात्म्य विस्तारपूर्वक बताइये।

सूतजीने कहा—मुनीश्वरो ! गृहस्थोंके लिये अतिथि-सत्कारसे बढ़कर दूसरा कोई महान् धर्म नहीं है। अतिथिसे महान् कोई देवता नहीं है। अतिथिके उल्लङ्घनसे बड़ा भारी पाप होता है। जिसके घरसे अतिथि निराश होकर लौट जाता है, उसे वह अपना पाप देकर और उसका पुण्य लेकर चला जाता है। जो अतिथिका आदर नहीं करता, उसके सौ वर्षोंके सत्य, तप, स्वाध्याय, दान और यज्ञ आदि सभी सत्कर्म नष्ट हो जाते हैं। अतिथिको संतुष्ट करनेसे गृहस्थके ऊपर सब देवता संतुष्ट रहते हैं और अतिथिके विमुख होनेपर सम्पूर्ण देवता भी विमुख हो जाते हैं। अत: गृहस्थको चाहिये कि वह सदा अतिथिको संतुष्ट करे। यदि वह अपने लिये पुण्य चाहता है तो आत्मदान करके भी अतिथिको संतुष्ट रखे। द्विजवरो ! तीन प्रकारके अतिथि बताये गये हैं। जो श्राद्ध-कालमें स्वत: आ जाता है, वह 'श्राद्धीय अतिथि' कहा जाता है। जो दूरका रास्ता तै करके थका-माँदा बलिवैश्वदेव-कर्मके समय आता है, उसको 'वैश्वदेवीय अतिथि' जानना चाहिये। उसके गोत्र, चरण (शाखा), स्थान और वेद आदिके विषयमें न पूछे। केवल यज्ञोपवीत देखकर भक्तिपूर्वक भोजन करा दे। तीसरा अतिथि 'सूर्योद' है, जो दिनमें या रातमें भोजनके बाद घरपर आता है। उसके लिये भी गृहस्थको यथाशक्ति दान करना चाहिये। तृण, भूमि, जल और चौथा मीठा वचन—ये सब वस्तुएँ सत्पुरुषोंके घरमें कभी समाप्त नहीं होतीं। उसे आसन देनेसे ब्रह्माजी प्रसन्न होते हैं, अर्घ्यदान करने(हाथ आदि धुलाने) से शिवजी संतुष्ट होते हैं, पाद्य देने (पैर धुलाने) से इन्द्रादि देवता प्रसन्न रहते हैं तथा उसे भोजन देनेसे भगवान् विष्णु संतुष्ट होते हैं। अतिथि सम्पूर्ण देवताओंका स्वरूप होता है। अत: सदा उसका पूजन करना और विशेषत: उसे भोजन देना चाहिये।

गृहस्थियोंके लिये यह बहुत ही उपयोगी है। अत: इसको आदर्श मानकर कल्याणकारी गृहस्थियोंको इसके अनुसार अनुष्ठान करना चाहिये।

इस खण्डमें हाटकेश्वरक्षेत्रके अनेक तीर्थोंका वर्णन आया है। फिर आगे जाकर आनर्तनरेश और भर्तृयज्ञ ऋषिके संवादका उल्लेख है, जिसमें श्राद्धका बहुत विस्तृत वर्णन किया गया है। पाठकोंको चाहिये कि वे इस प्रसङ्गको संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्कके पृ० ९२७ से ९३५ तक देखकर उससे लाभ उठावें।

प्रभासक्षेत्रकी महिमा

अब प्रभास-खण्डका सार दिखलाया जाता है। इसमें प्रभासक्षेत्रकी महिमाका वर्णन करते हुए भगवान् शिवजी पार्वतीसे कहते हैं—'देवि! सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं। उन सबमें श्रेष्ठ तीर्थ प्रभास है। जो क्रोध, लोभ और इन्द्रियोंको जीत चुके हैं, ऐसे दम्भ और मात्सर्यरहित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कोई भी क्यों न हों, यदि सद्भावसे भावित हो उत्तम व्रतका पालन करते हुए तीर्थका सेवन करना चाहते हैं तो उनके हितके लिये मैं त्रिभुवन-विख्यात सर्वोत्तम प्रभासक्षेत्रका ही नाम लेता हूँ। महादेवि ! उस तीर्थमें मैं निरन्तर स्थित रहता हूँ। प्रभास-क्षेत्रमें जो मेरा स्वरूप है, वह क्षेत्रज्ञ कहा गया है। मैं वहाँ सोमनाथ नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

'देवि! समस्त क्षेत्रोंमें प्रभास मुझे अधिक प्रिय है। प्रभासमें उत्तम सिद्धि और परम गति प्राप्त होती है।

उसके पूर्वभागमें अन्धकारका नाश करनेवाले स्वामी सूर्यनारायणजी हैं। पश्चिममें माधवजीका स्थान है। दक्षिणमें समुद्र तथा उत्तरमें भवानी हैं। इस प्रकारकी सीमासे युक्त वह क्षेत्र बारह योजनका है। इसीका नाम प्रभासक्षेत्र है, जो सब पातकोंका नाश करनेवाला है।'

'देवि! जो निर्भय, निर्मल, नित्य, निरपेक्ष, निराश्रय, निरञ्जन, निष्प्रपञ्च, निःसङ्ग तथा निरुपद्रव-तत्त्व है, जो मोक्षदायक, अज्ञेय, अनुपम, अनामय, नित्य, कारणरूप, दिव्य, निर्लेप, विश्वतोमुख, शिव, सर्वात्मक, सूक्ष्म, अनादि, दैवतरूप, आत्मस्वरूपसे जानने योग्य, चित्तके चिन्तनसे परे, गमनागमनसे मुक्त, बाहर-भीतर व्याप्त, केवल (अद्वितीय), निष्कल, निर्मल एवं ज्ञानका प्रकाशक है, वही प्रभासतीर्थमें प्रणवमय सोमेश्वर लिङ्गके रूपमें स्थित है—यह जानो।'

इस प्रकार सोमनाथके दिव्य स्वरूपका दिग्दर्शन कराकर सोमनाथकी महिमा, सोमनाथ-मन्दिरका निर्माण, सोमनाथकी यात्रा-विधि और दर्शन-पूजनकी महिमा एवं वहाँके तीर्थोंका विस्तृत वर्णन किया गया है।

नृसिंहावतार एवं प्रह्लादकी कथा

यहाँ कहे हुए प्रह्लादके पवित्र चरित्रसे हमें शिक्षा लेनी चाहिये। भक्त प्रह्लादकी धीरता, वीरता, गम्भीरता, साहस, आस्तिकता, श्रद्धा, भक्ति और दृढ़ भगवद्बुद्धि आदि महान् गुण सभीके लिये अनुकरणीय हैं।

नारदजीने वामनजीसे कहा—'प्रभो! अब आपके अत्यन्त भयंकर नृसिंहावतारकी कथा कहता हूँ। पूर्वकालमें दितिके पुत्र हिरण्यकशिपुके यहाँ भक्त प्रह्लादका जन्म हुआ था। वे सदा भगवान्की भक्ति करते थे। प्रह्लादको जब दूसरी बातें पढ़ायी जाती थीं तब भी वे हरिनामका ही कीर्तन करते थे।' प्रह्लादने कहा—'जो चार भुजाओंसे सुशोभित, शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले पीताम्बरधारी, कौस्तुभमणिसे उद्भासित तथा सम्पूर्ण जगत्के एकमात्र स्वामी हैं—जो स्मरण करनेमात्रसे ही मोक्ष देते हैं—उन भगवान् विष्णुका मैं सदा स्मरण करता हूँ।' यह सुनकर हिरण्यकशिपुने कुपित हो दूसरे दैत्योंसे कहा—'मेरे इस दुष्ट पुत्रको तुमलोग हाथी, सर्प, जल और अग्निद्वारा मार डालो।' प्रह्लाद बोले, 'दैत्यराज! हाथीमें भी विष्णु हैं, सर्पमें भी विष्णु हैं, जल तथा स्थलमें भी विष्णु हैं, तुममें और मुझमें भी वे ही स्थित हैं। विष्णुके बिना वह दैत्योंका समुदाय भी नहीं है।' यह सब सुनकर हिरण्यकशिपु सदा प्रह्लादजीको मारनेकी चेष्टा करता था तो भी उनकी मृत्यु नहीं होती थी। यह देख हिरण्यकशिपुकी छाती क्रोधाग्निसे जलती रहती थी। एक दिन गुरुजीने छड़ीसे मारकर प्रह्लादको पुनः पढ़ाना आरम्भ किया। प्रह्लाद गुरुजीसे बोले—'जिन सर्वव्यापी हरिने चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंको उत्पन्न किया, बढ़ाया और सबका फिर शमन किया है, उन्हींकी मैं स्तुति करता हूँ, वे ही श्रीविष्णु मुझपर प्रसन्न हों। ब्रह्माजी भी विष्णु हैं, शिवजी भी विष्णु ही हैं, इन्द्र, वायु, यम और अग्नि भी विष्णु हैं। प्रकृति और चौबीस तत्त्व एवं उनके साक्षी पचीसवें पुरुषमें भी विष्णु ही हैं। वे ही पिताजीके, गुरुजीके तथा मेरे शरीरमें भी स्थित हैं। यह जाननेपर भी कोई मरणधर्मा प्राणी श्रीहरिके सिवा दूसरे नीच मनुष्योंकी स्तुति कैसे कर सकता है?' यह सुनकर गुरुजी बोले—'शिष्य! यह तो बता, मनुष्योंमें नीच कौन है?' प्रह्लादजीने कहा—'पुत्र-जन्म आदिके समय, मृत्युके समय तथा शुभ अवसरोंमें जिसके मुखसे 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण नहीं होता, वही मनुष्योंमें अधम है। भय, राजकुलसे समागम, युद्ध, व्याधि, स्त्रीसङ्ग, विपत्ति, यात्रा तथा मृत्युके समय जो इस पृथ्वीपर रहते हुए श्रीहरिको भूलकर जगत्का स्मरण करता है, वह मूर्ख मानव मनुष्योंमें अधम है। श्रीहरिके बिना मेरे न तो माता हैं, न पिता हैं, न स्वजन हैं, न सेवक हैं—मेरा कोई नहीं है। आपको जो उचित जान पड़े सो करें। प्रकृति मेरी माता है, बुद्धि मेरी बहिन है, जिसको 'मैं' कहा जाता है, वह अहंकार है। पञ्चतन्मात्राओंके समुदाय मेरे सहोदर भाई हैं, जो मेरे साथ ही जाते हैं। इनको उत्पन्न करनेवाला जो पचीसवाँ पुरुष है, वही मेरा पिता है। वे ही परमात्मा श्रीहरि अन्तर्यामी इस शरीरमें स्थित हैं। यदि उनका सम्मान किया जाय तो वे हृदयमें दर्शन देते हैं। आपलोगोंके लिये राज्य ही अभीष्ट वस्तु है, परंतु जहाँ भगवान् विष्णुका पूजन (आदर) नहीं होता, वह राज्य मुझे तिनकेके समान प्रतीत होता है। ब्रह्मा, रुद्र, अनल आदिके रूपमें जिनका प्रत्यक्ष दर्शन होता है, जो बिना किसी आधारके ही सर्वत्र विचरते हैं, वे ही भगवान् विष्णु हैं। ऐसा विचार करके मुझे अन्य लोगोंसे मृत्युका भय नहीं है।' प्रह्लादकी यह बात पूरी होते ही उनके पिताने उन्हें लात मारकर कहा—'कहाँ है तेरा हरि! पहले मैं उसीको मारता हूँ। उसके बाद हरिनामकी रट लगानेवाले तुझ दुष्टका भी वध कर डालूँगा।'

प्रह्लादने कहा—'पृथ्वी आदि पाँचों भूत भगवान् विष्णुके ही स्वरूप हैं। वे ही स्थल और जलमें हैं। अधिक क्या कहा जाय, यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुमय है। तृण, काष्ठ, गृह, क्षेत्र, द्रव्य और देह सबमें श्रीहरि स्थित

हैं। वे ज्ञानयोगसे जाने जाते हैं। इन चर्मचक्षुओंसे नहीं देखे जाते। भगवान् विष्णु सब सुनते हैं, सब जानते हैं और सब कुछ करते हैं।' प्रह्लादके यों कहनेपर हिरण्यकशिपु सहसा सिंहासन छोड़कर खड़ा हो गया। उसने दृढ़तापूर्वक कमर कस ली और म्यानसे चमचमाती तलवार खींचकर प्रह्लादको थप्पड़ मारते हुए कहा—'अब तू अपने विष्णुका स्मरण कर ले। मैं अभी उज्ज्वल कुण्डलोंसे सुशोभित तेरा मस्तक पृथ्वीपर गिरा दूँगा।' प्रह्लादजी भय छोड़कर पद्मासन लगा और कंधा नीचे करके साँसको ऊपर रोककर हृदयमें श्रीहरिका ध्यान करते हुए मरनेके लिये तैयार हो गये। प्रभो! उस समय एक आश्चर्यकी बात हुई। आकाशसे फूलोंकी एक माला नीचे आयी और स्वयं ही प्रह्लादजीके गलेमें पड़ गयी। उसी समय खम्भेसे बड़ा भयानक सिंहनाद हुआ। उस शब्दसे मूर्च्छित होकर सब दैत्य पृथ्वीपर गिर पड़े। हिरण्यकशिपुके हाथसे तलवार और ढाल भी गिर गयी। वह सोचने लगा—यह क्या है! जब सिर ऊँचा करके वह देखने लगा, तब भगवान् विष्णुपर उसकी दृष्टि पड़ी। नीचेसे मनुष्यकी आकृति और ऊपरसे भयंकर सिंहका स्वरूप। दाढ़ोंके कारण विकराल मुख था, मानो वे आकाशको निगल जाँयगे। शरीर तेजसे प्रज्वलित हो रहा था। मुखसे भयानक कट-कटकी ध्वनि हो रही थी, मानो गरजता हुआ बादल मूर्तिमान् हो गया हो। गर्दनके बाल ऊपरकी ओर उठे हुए थे। देवता और दैत्य सबके लिये उनकी ओर देखना कठिन था। उन्हें देखकर वह दैत्य पृथ्वीपर गिर पड़ा। नृसिंहजीने उसके बाल पकड़कर आकाशमें सौ बार उसे घुमाया और पृथ्वीपर पटक दिया, परंतु ब्रह्माजीके वरके प्रभावसे उस दैत्यकी मृत्यु नहीं हुई। तब भगवान्ने हिरण्यकशिपुको घुटनोंपर सुलाकर उसकी छाती चीर डाली। उस समय देवता जय-जयकार करने लगे। चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंमें शान्ति छा गयी।

द्वारका-माहात्म्य

अब प्रभासखण्डके अन्तर्गत द्वारका-माहात्म्यकी कुछ सार बातें लिखी जाती हैं।

एक बार कुछ तपस्वी महर्षिगण दैत्यराज बलि और प्रह्लादजीके पास गये। उन्होंने उनका यथावत् पूजन किया। तत्पश्चात् कहा—'महात्माओ! मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ?'

महर्षि बोले—भगवान्के प्रिय भक्त प्रह्लादजी! इस युगमें अधर्मने सनातनधर्मपर विजय पायी है। झूठने सत्यको तथा शूद्रोंने ब्राह्मणोंको परास्त किया है। राजाका रूप धारण करके आये हुए म्लेच्छ ब्राह्मणोंको सता रहे हैं। वर्णाश्रमधर्मका ह्रास हो गया है। वेदोंका मार्ग लुप्त होता जा रहा है। ऐसे समयमें भगवान् विष्णु कहाँ हैं? जहाँ ज्ञान, ध्यान और इन्द्रियनिग्रहके बिना भी भगवान्की प्राप्ति हो, उस गूढ़ स्थानका पता हमें बतलाइये।

श्रीप्रह्लादजी बोले—महर्षियो! आप सम्पूर्ण देवताओं, दैत्यों, दानवों तथा राक्षसोंके भी पूजनीय हैं। आप पूजनीय महापुरुषोंकी आज्ञा तथा भगवान् विष्णुके प्रसादसे मैं भगवान्के स्थानका परिचय देता हूँ। पश्चिम समुद्रके तटपर जो कुशस्थली पुरी है, जिसका निर्माण पहले राजा कुशके द्वारा हुआ है, जहाँ गोमती नदी बहती है और समुद्रसे मिली है, वही द्वारावतीपुरी कहलाती है। उसे आनर्ता भी कहते हैं। उसीमें सोलह कलाओं तथा बारह मूर्तियोंसे युक्त विश्वात्मा भगवान् विष्णु निवास करते हैं, जो भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं। वही परम धाम है, वही परम पद है। वह द्वारकापुरी धन्य है, जहाँ शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले चतुर्भुज श्रीकृष्ण विद्यमान हैं। वहाँ जानेसे कलिकालके मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर लेंगे। जहाँ गोमती नदी बहती है, जहाँ भगवान् विष्णुकी त्रिविक्रम मूर्ति है, उस द्वारकापुरीमें जाकर चक्रतीर्थमें स्नान करनेवाले मनुष्य मोक्ष प्राप्त करेंगे। जब भगवान् श्रीकृष्ण प्रभासक्षेत्रमें परमधामको पधारे, तब कलासहित उस त्रिविक्रम मूर्तिमें स्थित हुए। यदि आपको श्रीकृष्णसे मिलनेकी इच्छा हो तो शीघ्र वहीं जाइये। जब मनुष्य द्वारका जानेका विचार मनमें लाता है, उसी समय उसके पितर नरकसे मुक्त हो हर्षके गीत गाने लगते हैं। मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णके मार्गमें जितने पग आगे चलता है; उसे पग-पगपर अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है। जो मानव श्रीकृष्णपुरीकी यात्राके लिये दूसरोंको प्रेरणा देता है, वह निःसंदेह विष्णुधाममें जाता है।

अमिततेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णद्वारा भोजराज कंसके मारे जानेपर जब उग्रसेन मथुरापुरीके राजा हुए, उस समय गोकुलप्रिय श्रीकृष्णने अपने सुहृद् गोपों तथा गोपीजनोंका प्रिय करनेके लिये उद्धवको गोकुलमें भेजा। उद्धवजी गोकुलको नमस्कार करके उन्हींके समान वेष-भूषा तथा वस्त्रालङ्कार धारण करके नन्दगाँवकी ओर चले। संध्याकालके समय श्रीकृष्णके प्रिय सखा उद्धवजीको अपने घर आया देख पुत्रवत्सला माता यशोदाने अच्छे-अच्छे वस्त्र और आभूषण देकर उनका सत्कार किया। जब उद्धवजी भोजन करके विश्राम कर चुके, तब पुत्रस्नेहमयी यशोदा तथा नन्दबाबाने अपने आँखोंमें आँसू

भरकर श्रीकृष्णका कुशल-समाचार पूछा—'उद्धवजी! बताओ तो सही हमारे दोनों पुत्र श्रीकृष्ण-बलराम कुशलसे तो हैं न? क्या श्रीकृष्ण अपने साथी ग्वाल-बालोंको कभी याद करते हैं? क्या मथुरानाथ गोविन्द कभी गोकुलमें भी पधारेंगे? क्या हमारा लाला कन्हैया इस गोकुलका शोक-समुद्रसे उद्धार करेगा?' ऐसा कहकर पुत्र-स्नेहके वशीभूत यशोदा मैया और नन्दबाबा दोनों दीन भावसे फूट-फूटकर रोने लगे। उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह रही थी। उन्हें अति व्याकुल देखकर उद्धवजीने श्रीकृष्णके स्नेहयुक्त मधुर संदेश सुनाकर उन दोनोंको जीवनदान दिया। उद्धवजी बोले—'श्यामसुन्दर श्रीकृष्णने अपने बड़े भैया बलरामजीके साथ आप दोनोंको नमस्कार कहलाया है, कुशल-मङ्गल पूछा है और वे दोनों भाई भी कुशलसे हैं। जगदीश्वर श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ शीघ्र ही यहाँ आयेंगे और आपलोगोंका हित-साधन करेंगे।'

श्रीकृष्णकी-सी वेष-भूषा धारण किये कौन आये हैं? इस प्रकार जिज्ञासा करती हुई समस्त व्रजसुन्दरियाँ परस्पर मिलकर एकान्त स्थानमें गयीं और शोकसे दुर्बल हो उद्धवजीको वहीं बुलाकर श्रीकृष्णका संदेश पूछने लगीं—'तुम कहाँसे और किसलिये यहाँ आये हो?' इतना कहते-कहते वे शोकसे विह्वल एवं मूर्च्छित हो गयीं और उद्धवजीकी ओर देखती हुई पृथ्वीपर गिर पड़ीं। श्रीकृष्ण-प्रेम-परवश गोपीजनोंकी यह अवस्था देखकर उद्धवजीने उन्हें श्रवणसुखद वचनोंद्वारा आश्वासन देते हुए कहा—'गोपियो! भगवान् श्रीकृष्णकी भी यही दशा है। वे दिन-रात तुम्हारी ही याद करके निरन्तर दुःखी रहते हैं।'

उद्धवजीकी यह बात सुनकर विभिन्न गोपाङ्गनाओंने प्रणयकोपसे विरहभरी बहुत-सी बातें कहीं और फिर वे व्रजयुवतियाँ विलाप करने लगीं। वे श्रीकृष्णकी एक-एक लीलाको याद करके फूट-फूटकर रोने लगीं। उनका वह रोना सुनकर भक्ति और स्नेहमें डूबे हुए उद्धवजीको बड़ा विस्मय हुआ और वे उन गोपियोंकी सराहना करने लगे—'अहो! ब्रह्मा, महादेवजी, देवता तथा महर्षि भी जिस भावतक नहीं पहुँच सकते, वहाँ इन गोपियोंकी पहुँच हो चुकी है। व्रजकी ये समस्त सुन्दरियाँ धन्य हैं। इन सबका जन्म, जीवन तथा धन सफल हो गया; क्योंकि भगवान् श्यामसुन्दरमें इनकी भक्ति अविचल है।' गोपियाँ बोलीं—'उद्धवजी! आप हमें गोविन्दका दर्शन करा दें। प्यारे श्यामसुन्दरसे मिला दें। जहाँ श्रीकृष्ण रहते हैं, वहीं हमको भी ले चलें। गोपाङ्गनाओंकी यह बात और विलाप सुनकर उद्धवजी स्नेहसे विह्वल हो गये और 'बहुत अच्छा' कहकर उन्होंने उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया। तदनन्तर श्रीकृष्ण-दर्शनके लिये लालायित रहनेवाली समस्त व्रजाङ्गनाएँ बड़ी प्रसन्नताके साथ उद्धवजीके पीछे-पीछे चलीं। वे मार्गमें उनकी बाललीलाके प्रिय गीत गाती जा रही थीं। द्वारकामें जाने और लक्ष्मीपतिका चिन्तन करनेसे गोपियाँ समस्त पापोंसे मुक्त हो गयीं। उनके सारे बन्धन टूट गये। धीरे-धीरे वे मयसरोवरके तटपर आयीं। वहाँ उद्धवजीने उनके चरणोंमें प्रणाम करके कहा—'देवियो! तुमलोग यहीं ठहरो, महाबाहु श्रीकृष्ण यहीं आयेंगे और तुमलोगोंका हित करेंगे।' गोपियाँ बोलीं—'अच्छा उद्धवजी! आप शीघ्र जाइये और प्यारे श्यामसुन्दरको बुला लाइये। वे ही हमारे नयनोंमें आनन्दकी सृष्टि करते हैं। उन्हींसे हमारे तीनों तापोंका नाश होता है। अतः शीघ्र उनका दर्शन कराइये।' यह सुनकर उद्धवजी गये और भगवान् श्रीकृष्णको शीघ्र बुला लाये। गोपियोंने देखा—देवकीनन्दन आ रहे हैं। उनका श्रीअङ्ग वनमालासे विभूषित है। मस्तकपर किरीट-मुकुट जगमगा रहा है। कानोंमें मकराकार कुण्डल चम-चम कर रहे हैं। वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न शोभा पा रहा है। उनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं। उन्होंने रेशमी पीताम्बर पहन रखा है। तीनों लोकोंमें सबसे अधिक सुन्दर और सबका मन मोह लेनेवाले श्यामसुन्दरको दीर्घकालके बाद देखकर श्रीकृष्ण-प्रिया गोपियाँ प्रेमावेशमें मूर्च्छित हो गयीं। कुछ देरके बाद जब वे सचेत हुईं तब इस प्रकार विलाप करने लगीं—'हा नाथ! हा प्राणवल्लभ! हा स्वामिन्! हा व्रजेश्वर! हा मनमोहन! बचपनमें जिन्होंने तुम्हारा लालन-पालन किया, उनको भी तुमने त्याग दिया। बताओ तो सही, हमपर इतने रुष्ट कैसे हो गये!' गोपियोंका यह विलाप सुनकर सबके आन्तरिक भावोंको जाननेवाले भगवान् श्रीकृष्णने यह जान लिया कि सब गोपियाँ अनन्यभावसे मेरी शरणमें आयी हैं। अतः व्रजेश्वरने उन सबको सान्त्वना देते हुए कहा, 'देवियो! तुमसे मेरा कभी वियोग नहीं है। मैं समस्त प्राणियोंके हृदयमें सदा सामान्यरूपसे निवास करता हूँ। ऐसा जानकर तुम मनमें शोक न करो। सब प्राणियोंके भीतर मुझे सदा ही स्थित जानकर अन्तर्यामीरूपसे मेरा चिन्तन करो। इससे सब प्रकारके पाप-तापसे मुक्त हो जाओगी।' श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर गोपियोंके सब बन्धन कट गये। उनके संशय और क्लेश नष्ट हो गये। वे भगवद्दर्शनजनित आनन्दमें डूब गयीं। श्रीकृष्णके दर्शनसे उनका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो गया। वे इस प्रकार बोलीं—'गोविन्द! आज हमारा जन्म सफल हो गया। आज हमारे नेत्र सार्थक

हो गये, क्योंकि आज दीर्घकालके बाद हमारी आँखें गोविन्दका दर्शन कर रही हैं। पुण्यहीन स्त्रियोंको पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका दर्शन नहीं होता।

प्रह्लादजी कहते हैं—द्वारकापुरी अपनी प्रभासे बाहरके गाढ़ अन्धकारका नाश कर देती है और भक्तोंको भयनाशक परमानन्दमय पद प्रदान करती है। तदनन्तर पूर्वोक्त तीर्थयात्री महर्षियोंने द्वारकापुरीमें जाकर दूरसे ही चक्रविभूषित श्रीकृष्णमन्दिरका दर्शन करके छाता और खड़ाऊँ त्यागकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। वे दण्डकी भाँति पृथ्वीपर लोट गये। उनकी भक्ति बहुत बढ़ गयी और वे बार-बार धरतीपर लोटने लगे। कोई जय-जयकार और कोई नमस्कारके साथ ही हरिनाम उच्चारण करते हुए गर्जना करने लगे। दूसरे लोग परमानन्दमें मग्न होकर स्तुति सुनाने लगे। सभी महर्षि तथा वहाँ प्रकट हुए सभी तीर्थ आनन्दके आँसू बहाते हुए प्रेमगद्गद वाणीमें भगवान्‌की स्तुति करने लगे[1]।

उन सबको देखकर नारदजीने कहा—'तुमने सहस्रों जन्मोंमें सहस्रों पुण्यपुञ्जोंकी राशि संचित कर रखी थी, जिससे आज तुम्हें श्रीकृष्णमन्दिरमें भगवान्‌का दर्शन हुआ है। भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन, द्वारका जानेकी बुद्धि और महादेवजीमें दृढ़भक्ति—ये सब थोड़ी तपस्याके फल नहीं हैं। वे पूर्वज धन्य हैं, जिनके वंशज श्रीकृष्णदर्शनके लिये उत्सवपूर्वक द्वारकाकी यात्रा करते हैं और वहाँ पहुँचकर अपने इष्ट श्रीहरिका दर्शन पाते हैं। सब मुनि लोग देखें यह द्वारकापुरी तीनों लोकोंमें शोभा पाती है। श्रीकृष्णप्रिया द्वारका इस पृथ्वीकी कीर्ति है। जहाँ गोमती, रुक्मिणी देवी तथा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण विराज रहे हैं, वह पवित्र द्वारकापुरी अपने दिव्य तेजसे सुशोभित है।'

'ब्रह्मा और शिव आदि भी जिनके चरणारविन्दोंकी वन्दना करते हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण जहाँ निवास करते हैं, वह द्वारकापुरी सब कुछ देनेवाली है। द्वारकाके प्रभावसे कीट, पतंग, पशु, पक्षी तथा सर्प आदि योनियोंमें पड़े हुए समस्त पापी भी मुक्त हो जाते हैं[2] फिर जो प्रतिदिन द्वारकामें रहते और जितेन्द्रिय होकर भगवान् श्रीकृष्णकी सेवामें उत्साहपूर्वक लगे रहते हैं, उन मनुष्योंकी मुक्तिके विषयमें क्या कहना है। जो द्वारकावासी श्रेष्ठ पुरुषोंकी निन्दा करते हैं, वे श्रीकृष्णकी कृपासे वञ्चित हो दुःखके घोर समुद्रमें गिरते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज तथा स्त्री—जो भी द्वारकामें भक्तिपूर्वक निवास करते हैं, वे विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होते हैं। द्वारकाका माहात्म्य सबसे श्रेष्ठ है। वहाँकी पवित्र धूलि भी पापियोंको मोक्ष देनेवाली है।'

इस प्रकार यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण प्रसंगोंपर विचार किया गया। स्कन्दपुराणमें ऐसे महत्त्वके स्थल बहुत हैं। पाठकोंको उन्हें वहीं पढ़-सुनकर तथा जीवनमें धारणकर लाभ उठाना चाहिये।

सत्सङ्ग और कुसङ्ग

महापुरुषोंकी महिमा और उनके सङ्गका फल

जिस प्रकार भगवान्‌के महान् आदर्श चरित्र और गुणोंकी महिमा अनिर्वचनीय है, उसी प्रकार भगवत्प्राप्त संत महापुरुषोंके पवित्रतम चरित्र और गुणोंकी महिमाका भी कोई वर्णन नहीं कर सकता। ऐसे महापुरुषोंमें समता, शान्ति, ज्ञान, स्वार्थत्याग और सौहार्द आदि पवित्र गुण अतिशयरूपमें होते हैं, इसीसे ऐसे पुरुषोंके सङ्गकी महिमा शास्त्रोंमें गायी गयी है। श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

ठीक यही भाव श्रीमद्भागवतके इस श्लोकमें है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(१।१८।१३)

'भगवत्सङ्गी अर्थात् नित्य भगवान्‌के साथ रहनेवाले अनन्य प्रेमी भक्तोंके निमेषमात्रके भी संगके साथ हम स्वर्ग और मोक्षकी भी समानता नहीं कर सकते, फिर मनुष्योंके इच्छित पदार्थोंकी तो बात ही क्या है?'

भगवत्प्रेमी महापुरुषोंके एक निमेषके सत्संगके साथ स्वर्ग-मोक्ष किसीकी भी तुलना नहीं होती—यह बात उन्हीं लोगोंकी समझमें आ सकती है, जो श्रद्धा तथा प्रेमके साथ नित्य सत्सङ्ग करते हैं।

प्रथम तो संसारमें ऐसे महापुरुष हैं ही बहुत कम।

---

१. जयशब्दैर्नमःशब्दैर्गर्जन्तो हरिनामभिः। ततोऽन्ये च स्तुवन्ति स्म परमानन्दसम्प्लुताः॥
आनन्दाश्रु प्रमुञ्चन्तः प्रेम्णा गद्गदया गिरा। स्तुवन्ति ऋषयः सर्वे तीर्थादीनि च सर्वतः॥ (स्क० पु० द्वा० मा० ३३। ११-१२)

२. अपि कीटपतङ्गाद्याः पशवोऽथ सरीसृपाः। विमुक्ताः पापिनः सर्वे द्वारकायाः प्रभावतः॥ (स्क० पु० द्वा० मा० ३७। ७)

फिर उनका मिलना बहुत दुर्लभ है और मिल जायँ तो पहचानना अत्यन्त दुर्लभ है। तथापि यदि ऐसे महापुरुषोंका किसी प्रकार मिलना हो जाय तो उससे अपने-अपने भावके अनुसार लाभ अवश्य होता है; क्योंकि उनका मिलना अमोघ है। श्रीनारदजीने भक्तिसूत्रमें कहा है—

'महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।'

(नारद० सू० ३९)

'महात्माओंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

अपने-अपने भावके अनुसार लाभ कैसे होता है? इसपर एक कल्पित दृष्टान्त है—

दो ब्राह्मण किसी जंगलके मार्गसे जा रहे थे। दोनों अग्निहोत्री थे। एक सकामभावसे अग्निकी उपासना करनेवाला था, दूसरा निष्कामभावसे। रास्तेमें बड़े जोरकी आँधी और वर्षा आ गयी। थोड़ी ही दूरपर एक धर्मशाला थी। वे दोनों किसी तरह धर्मशालामें पहुँचे। अँधेरी रात्रि थी और जाड़ेके दिन थे। धर्मशालामें दूसरे लोग भी ठहरे हुए थे और वे सभी प्राय: सर्दीसे ठिठुर रहे थे। धर्मशालामें और सब चीजें थीं, पर अग्निका कहीं पता नहीं लगता था। न किसीके पास दियासलाई ही थी। उन दोनों ब्राह्मणोंने जाकर अग्निकी खोज आरम्भ की। उन्हें एक जगह कमरेके आस-पास बैठे हुए लोगोंने बतलाया कि हमें तो जाड़ा नहीं लग रहा है, पता नहीं कहाँसे किस चीजकी गरमी आ रही है। उन लोगोंने उस कमरेको खोलकर देखा तो पता लगा उसमें राखसे ढकी आग है। इसी आगकी गरमीसे वह कमरा गरम था, शेष सारी धर्मशालामें सर्दी छायी थी। जब आगका पता लग गया, तब सब लोग प्रसन्न हो गये। पहलेसे ठहरे हुए जिन लोगोंको अग्निमें श्रद्धा नहीं थी और जो केवल अग्निसे रोशनी और रसोईकी ही अपेक्षा रखते थे, उन्होंने उससे रोशनी की और रसोई बनायी। दोनों अग्निहोत्री ब्राह्मणोंने, जिनकी अग्निके ज्ञानके साथ ही उनमें श्रद्धा थी, रोशनी तथा रसोईका लाभ तो उठाया ही, पर साथ ही अग्निहोत्र भी किया। इनमें जो सकामभाववाला था, उसने सकामभावसे अग्निहोत्र करके लौकिक कामना-सिद्धिरूप सिद्धि प्राप्त की और जो निष्कामभाववाला था, उसने अपने निष्कामभावसे अग्निहोत्र करके अन्त:करणकी शुद्धिके द्वारा परमात्मप्राप्ति विषयक परम लाभ उठाया। इस प्रकार जिनको अग्निका ज्ञान भी नहीं था, उन्होंने भी अग्निके स्वभाववश उसके निकट रहनेके कारण गरमी प्राप्त की, जिन्हें ज्ञान था, पर श्रद्धा नहीं थी, उन लोगोंने केवल रोशनी-रसोईका लाभ उठाया। ज्ञान-श्रद्धाके साथ सकामभावसे अग्निहोत्र करनेवालेने सकाम सिद्धि पायी और निष्कामी पुरुषने परमात्मविषयक लाभ उठाया। इसी प्रकार किन्हीं महापुरुषका यदि संग हो जाय और उन्हें पहचाना भी न जाय तो भी उनके स्वाभाविक तेजसे पापरूपी ठंडकका तो नाश होता ही है, जो लोग महात्माओंको किसी अंशमें ही जानते हैं और उनसे साधारण क्षणिक लाभ उठाना चाहते हैं, उन्हें साधारण क्षणिक लाभ मिल जाता है। जिनमें श्रद्धा है पर साथ ही सकामभाव है, वे उनका संग करके इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिरूप वैषयिक लाभ प्राप्त करते हैं और जो उन्हें भलीभाँति पहचानकर श्रद्धाके साथ निष्काम भावसे उनका सङ्ग करते हैं, वे परमात्मप्राप्तिविषयक लाभ उठाते हैं। इस प्रकार महात्माके अमोघ संगसे लाभ सभीको होता है, पर होता है अपनी-अपनी भावनाके अनुसार।

महात्मा पुरुषोंके भी शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि मायिक होते हैं परंतु परमात्माकी प्राप्तिके प्रभावसे वे साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा पवित्र, विलक्षण और दिव्य हो जाते हैं, अतएव उनके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालापसे तो लाभ होता ही है, मनके द्वारा उनका स्मरण हो जानेसे भी बड़ा लाभ होता है। जब एक कामिनीके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनसे कामी पुरुषके हृदयमें कामका प्रादुर्भाव हो जाता है तब भगवत्प्राप्त महापुरुषके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनसे साधकके हृदयमें तो भगवद्भाव और ज्ञानका प्रादुर्भाव अवश्य होना ही चाहिये।

ऐसे महापुरुषोंके हृदयमें दिव्य गुणोंका अपार शक्ति-सम्पन्न समूह भरा रहता है, जिसके दिव्य बलशाली परमाणु नेत्रमार्गसे निरन्तर बाहर निकलते रहते हैं और दूर-दूरतक जाकर जड़-चेतन सभीपर अपना प्रभाव डालते रहते हैं। मनुष्योंपर तो उनके अपने-अपने भावानुसार न्यूनाधिकरूपमें प्रभाव पड़ता ही है, विविध पशु-पक्षियों तथा जड़ आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वृक्ष, पाषाण, काष्ठ, घास आदि पदार्थोंतकपर भी असर पड़ता है। उनमें भी भगवद्भावके पवित्र परमाणु प्रवेश कर जाते हैं। ऐसे महात्मा जिस पशु-पक्षीको देख लेते हैं, जिस वायुमण्डलमें रहते हैं, जो वायु उनके शरीरको स्पर्श करके जाता है, जिस अग्निसे वे अग्निहोत्र करते, रसोई बनाते या तापते हैं, जिस सरोवर या नदीमें स्नान-पान करते हैं, जिस भूमिपर निवास करते हैं, जिस

वृक्षका किसी प्रकार उपयोग करते हैं, जिस पाषाणखण्डका स्पर्श कर लेते हैं, जिस चौकीपर बैठ जाते हैं और जिन तृणाङ्कुरोंपर अपने पैर रख देते हैं, उन सभीमें भगवद्भावके परमाणु न्यूनाधिकरूपमें स्थित हो जाते हैं और उन वस्तुओंको जो काममें लाते हैं या जिन-जिनको उनका संसर्ग प्राप्त होता है—उन लोगोंको भी बिना जाने-पहचाने भी सद्भावकी प्राप्तिमें लाभ होता है। जिनमें श्रद्धा, ज्ञान तथा प्रेम होता है, उनको यथापात्र विशेष लाभ होता है।

ऐसे महात्माओंकी वाणीसे भी उनके हृद्गत भावोंका विकास होता है; इससे उसे सुननेवालोंपर यथाधिकार—जो जैसा पात्र होता है तदनुसार प्रभाव पड़ता ही है, साथ ही वह वाणी (शब्द) नित्य होनेके कारण सारे आकाशमें व्याप्त होकर स्थित हो जाती है और जगत्के प्राणियोंका सदा सहज ही मंगल किया करती है। जहाँ उनकी वाणीका प्रथम प्रादुर्भाव होता है, वह स्थान और वहाँका वायुमण्डल विशेष प्रभावोत्पादक बन जाता है। इसी प्रकार उनके शरीरका स्पर्श होनेसे भी लाभ होता है। भावोंके परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इससे उनको प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती; पर वे वैसे ही सद्भावका प्रसार करते हैं जैसे प्लेगके कीटाणु रोगका विस्तार करते हैं।

ऐसे महापुरुषोंकी प्रत्येक क्रिया सर्वोत्तम दिव्य चरित्र, गुण और भावोंसे ओत-प्रोत रहती है; अतएव उनके चिन्तन-मात्रसे—स्मृतिमात्रसे उनके चरित्र, गुण और भावोंका प्रभाव दूसरोंके हृदयपर पड़ता है। नामकी स्मृति आते ही नामीके स्वरूपका स्मरण होता है। स्वरूपके स्मरणसे भी क्रमशः चरित्र, गुण और भावोंकी स्मृति हो जाती है, जो हृदयको उन्हीं भावोंसे भरकर पवित्र बना देती है। वस्तुतः महापुरुषका मानसिक संग बहुत लाभदायक होता है; चाहे महात्मा किसी साधकका स्मरण कर ले या साधक किसी महात्माका स्मरण कर ले। अग्नि घासपर पड़ जाय या घास अग्निमें पड़ जाय, अग्निका संसर्ग उसके घास-स्वरूपको मिटाकर उसे तुरन्त अग्नि बना देगा। इसी प्रकार ज्ञानाग्निसे परिपूर्ण अधिकारी महात्माके संगसे साधकके दुर्गुण और दुराचारोंका तथा अज्ञानका नाश हो जाता है, चाहे वह संसर्ग महात्माके द्वारा हो या साधकके द्वारा। महात्मा स्वयं आकर दर्शन दें तब तो वह प्रत्यक्ष ही केवल श्रीभगवान्की अपार कृपाका ही फल है, परंतु यदि साधक अपने प्रयत्नसे महात्मासे मिले तो इससे साधकके अन्तःकरणमें शुभ संस्कार अवश्य सिद्ध होते हैं, क्योंकि शुभ संस्कार हुए बिना महात्मासे मिलनेकी इच्छा और चेष्टा ही क्यों होने लगी, तथापि इसमें भी प्रधान कारण भगवान्की कृपा ही है—

'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।'

इस संसारमें जितने भी तीर्थ हैं, सब केवल दोके ही सम्बन्धसे बने हुए हैं—(१) श्रीभगवान्के किसी भी स्वरूप या अवतारके प्राकट्य, निवास, लीलाचरित्रादिके होनेसे और (२) महापुरुषोंके निवास, तप, साधन, प्रवचन या समाधि आदिके होनेसे। देशगत अच्छे परमाणुओंका परिणाम प्रत्यक्ष है। आज भी जो लोग घर छोड़कर पवित्र तीर्थ या तपोभूमियोंमें निवास करते हैं, उनको अपनी-अपनी श्रद्धा तथा भावके अनुसार विशेष लाभ होता ही है। इसका कारण यही है कि उक्त भूमि, जल तथा वातावरणमें ईश्वरके लीला-चरित्रादिके या महात्माओंके तपस्या, भक्ति, सदाचार, सद्गुण, सद्भाव, ज्ञान आदिके शक्तिशाली परमाणु व्याप्त हैं।

विशेष और शीघ्र लाभ तो वे साधक प्राप्त करते हैं, जो ईश्वर और महापुरुषोंकी इच्छाका अनुसरण, आचरणोंका अनुकरण और आज्ञाका पालन करते हैं। जो भाग्यवान् पुरुष महापुरुषोंकी आज्ञाकी प्रतीक्षा न करके सारे कार्य उनकी रुचि तथा भावोंके अनुकूल करते हैं, उनपर भगवान्की विशेष कृपा माननी चाहिये। यों तो श्रेष्ठ पुरुषोंका अनुकरण साधारण लोग किया ही करते हैं। इसीलिये श्रीभगवान्ने भी कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

पर जो श्रद्धा-विश्वासपूर्वक महापुरुषोंके चरित्रका अनुकरण और उनके द्वारा निर्णीत मार्गका अनुसरण करते हैं, वे विशेष लाभ प्राप्त करते हैं।

इसी प्रकार भगवान् और महात्माओंके चरित्र, उपदेश, ज्ञान, महत्त्व, तत्त्व, रहस्य आदिकी बातें जिन ग्रन्थोंमें लिखित हैं, महात्माओंके और भगवान्के चित्र जिन दीवालों तथा कागजोंपर अङ्कित हैं; यहाँतक कि महात्माओंकी और भगवान्की स्मृति दिलानेवाली जो-जो वस्तुएँ हैं—उन सबका सङ्ग भी सत्सङ्ग ही है तथा श्रद्धा-विश्वासके

अनुसार सभीको लाभ पहुँचानेवाला है। जिस प्रकार स्वाभाविक ही मध्याह्न-कालके सूर्यसे प्रखर प्रकाश, पूर्णिमाके चन्द्रमाकी ज्योत्स्नासे अमृत एवं अग्निसे उष्णता प्राप्त होती है, उसी प्रकार महात्मा पुरुषोंके सङ्गसे स्वाभाविक ही ज्ञानका प्रकाश, शान्तिकी सुधाधारा एवं साधनमें तीक्ष्णता और उत्तेजना प्राप्त होती है।

इसलिये सभीको चाहिये कि अपनी इन्द्रियोंको, मनको, बुद्धिको नित्य-निरन्तर महापुरुषोंके सङ्गमें और उन्हीं विषयोंमें लगाये जो भगवान् तथा महापुरुषोंके संसर्ग या सम्बन्धसे भगवद्भाव-सम्पन्न हो चुके हों। ऐसा करनेपर उन्हें सर्वत्र तथा सर्वदा सत्सङ्ग ही मिलता रहेगा।

उपर्युक्त विवेचन श्रीभगवान् और सच्चे अधिकारी महापुरुषोंके सम्बन्धमें हैं। ऐसे महापुरुष कोई विरले ही होते हैं। इस सिद्धान्तका दुरुपयोग करके जो दुराचारी लोग शास्त्रों तथा भगवान्‌का खण्डन करते हुए दम्भपूर्वक स्वयं अपनेको भगवान् या महापुरुष बतलाकर अपने कल्पित मिथ्या नामका जप-कीर्तन करवाते, अपने नश्वर शरीरको पुजवाते, लोगोंको अपना उच्छिष्ट, अपने चरणोंकी धूलि और चरणामृत देते, अपने चित्रका ध्यान करवाते और इस प्रकार जनताको धोखा देकर स्वार्थ-साधन करते हैं, वे वस्तुतः बड़ा पाप करते हैं। ऐसे लोगोंको महापुरुष मानना बड़े-से-बड़े धोखेमें पड़ना है तथा ऐसे लोगोंका संग करना बड़े-से-बड़ा कुसङ्ग है।

असलमें यह एक सिद्धान्त है कि जिस प्रकारके भाववाले पुरुषका संसर्ग जिस मात्रामें चेतनाचेतन पदार्थोंको प्राप्त होता है, उसी प्रकारके भावोंका उसी मात्रामें न्यूनाधिकरूपसे उनमें प्रवेश होता है और यह प्रवेश जैसे महात्माओंके भावोंका होता है। वैसे ही दुरात्माओंके भावोंका भी होता है। महात्माओंके भावोंका जैसे सच्चे श्रद्धालु व्यक्तियोंपर तथा सात्त्विक पदार्थोंपर विशेष प्रभाव पड़ता है, वैसे ही दुराचारियोंके भावोंका दुराचारपरायण व्यक्तियों एवं राजस-तामस पदार्थोंपर विशेष प्रभाव पड़ता है। इसलिये अब यहाँ कुसङ्गके फलपर संक्षेपमें विचार किया जाता है।

दुराचारी पुरुष और दुराचारियोंके कुसङ्गका फल

जिस प्रकार सत्सङ्गसे बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार कुसङ्गसे बुरा प्रभाव पड़ता है। भगवद्भावसे रहित नास्तिक, विषयी, पामर, आलसी, प्रमादी और दुराचारी व्यक्तियोंका संग तो प्रत्यक्ष हानिकारक और पतन करनेवाला है ही; इनके संसर्गमें आये हुए मनुष्य, पशु-पक्षी और जड़ पदार्थोंका संसर्ग भी हानिकारक है। जो लोग गंदे नाटक-सिनेमा देखते हैं, रेडियोके शृंगारपरक गंदे गाने तथा वार्तालाप सुनते हैं, घरोंमें ग्रामोफोनादिपर गंदे रेकार्ड चढ़ाकर सुनते-सुनाते हैं, व्यभिचारियों और अनाचारियोंके मुहल्लोंमें रहते हैं और उन लोगोंके संसर्गमें आये हुए पदार्थोंका सेवन करते हैं, उनपर भी बुरा असर होता है एवं जो लोग मोह या स्वार्थवश ऐसे लोगोंका सेवन, संग तथा अनुकरण करते हैं, उनका तो—इच्छा न होनेपर भी—शीघ्र पतन हो जाता है। संगका रंग चढ़े बिना नहीं रहता। एक आदमी जुआ खेलना बुरा समझता है, चोरी-डकैतीको पाप मानता है, शराबसे दूर रहना चाहता है, अनाचार-व्यभिचारकी बात भी नहीं सुनना चाहता, वह भी यदि ऐसे लोगोंके गिरोहमें किसी भी कारणसे सम्मिलित होने लगता है और यदि उसे अनिष्टकर मानकर शीघ्र ही छोड़ नहीं देता तो कुछ ही समयमें उस संगदोषके कारण पहले उन कुकर्मोंमें उसकी घृणा कम होती है; फिर घृणाका नाश होता है, तदनन्तर उनमें प्रवृत्ति होने लगती है और अन्तमें वह भी प्रायः वैसा ही बन जाता है। इसके अनेकों उदाहरण हमारे सामने हैं।

कामीके संगसे कामका, क्रोधीके संगसे क्रोधका और लोभीके संगसे लोभका प्रकट होना, बढ़ना और तदनुसार क्रिया करवा देना स्वाभाविक होता है। काम-क्रोध-लोभ जिनमें उत्पन्न होकर बढ़ जाते हैं, उनका पतन अवश्यम्भावी है। भगवान्‌ने इनको नरकका द्वार और आत्माका पतन करनेवाला बतलाया है (गीता १६। २१)। संगदोषसे चरित्र बिगड़ जाता है, खान-पान भ्रष्ट हो जाता है और मनमें तथा आचरणोंमें नाना प्रकारके दोष आकर दृढ़ताके साथ अपना डेरा जमा लेते हैं। इसीलिये शास्त्रोंने अमुक-अमुक स्थितियोंके तथा अमुक-अमुक कार्य करनेवाले लोगोंके संसर्गसे बचनेकी आज्ञा दी है, यहाँतक कि उन्हें स्पर्श करनेतकका निषेध किया है। इनमें प्रसूतिका और रजस्वलावस्थामें पूजनीया माता, प्रियतमा पत्नी तथा अपने ही शरीरसे उत्पन्न पुत्रीतकके स्पर्शका निषेध किया है। आज भी विशेषज्ञ डाक्टर आदि किसी संक्रामक रोगसे पीड़ित रोगीको छूकर हाथ धोते हैं और किसी अंशमें इस सिद्धान्तको स्वीकार करते हैं। यह वैज्ञानिक तत्त्व है। हमारे परम विज्ञ ऋषि-मुनि दीर्घदृष्टि और सूक्ष्मदृष्टिसे सम्पन्न थे। प्रत्येक वस्तुके परिणामको जानते थे, इसीसे उन्होंने स्पर्शास्पर्शकी विधिका निर्दोष निर्माण किया था। यह केवल संगदोषसे बचनेके

निष्कामभावसे तत्परतापूर्वक सेवा करनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; प्राणियोंमें भी जो दुःखी, अनाथ और आतुर हों, उनकी सेवा करनेसे और भी शीघ्र कल्याण हो सकता है।' इस उपदेशको सुनकर राजा अपने स्थानपर लौट गये और उसी दिनसे वे अपने तन, मन, धनद्वारा निष्कामभावसे प्राणिमात्रकी एवं दुःखी और आतुरोंकी सेवा विशेषरूपसे करने लगे।

एक वर्ष बीतनेपर राजाने एक दिन महात्माजीके पास जाकर कहा—'मुझे आपके आज्ञानुसार अनुष्ठान करते सालभर हो गया, किंतु अभीतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई।' महात्माजी बोले—'राजन् ! धैर्य रखो और निष्काम-भावपूर्वक दुःखियोंकी सेवा उत्साहके साथ विशेषरूपसे करते रहो। करते-करते तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी।' यह सुनकर राजा घर लौट गये एवं पहलेकी अपेक्षा और भी विशेष उत्साहके साथ दुःखियोंकी सेवा करने लगे।

इस प्रकार करते फिर एक वर्ष व्यतीत हो गया, परंतु परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई। तब राजाने पुनः महात्माजीके पास जाकर प्रार्थना की कि 'महाराज! आपके आज्ञानुसार सेवाके अनुष्ठानका कार्य चालू है, मैंने आपके आदेशके अनुसार अपना तन, मन, धन, सब कुछ सेवामें लगा रखा है। अबतक राज्यकी अधिकांश धनराशि परोपकारके कार्योंमें व्यय हो चुकी है, फिर भी परमात्माकी प्राप्ति होनेका मुझे कोई भी लक्षण नहीं दिखलायी पड़ता।' इसपर महात्माजीने कहा—'तुम दृढ़ विश्वास रखो, जरा भी शङ्का न करो; तुम्हें निश्चय ही परमात्माकी प्राप्ति होगी। तुम बहुत ही सुन्दर रीतिसे तथा शुद्ध भावसे दीन-दुःखियोंकी सेवा कर रहे हो; परंतु वास्तवमें जिस प्रकारके दुःखी, अनाथ और आतुरकी जैसी सेवा होनी चाहिये, वैसी सेवा अबतक तुम्हारे द्वारा नहीं बन पड़ी है। परंतु परम उल्लास तथा श्रद्धाके साथ सदा-सर्वदा करते-करते कभी-न-कभी वैसी सेवा भी बन ही जायगी। अतः तुम वशमें किये हुए मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको निःस्वार्थभावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ दुःखियोंकी सेवामें भलीभाँति लगा दो।'

महात्माजीके अमृतमय वचनोंका श्रवण करके राजा बड़े प्रसन्न हुए और घर आकर महात्माजीके आदेशानुसार ही पुनः अत्यन्त उत्साहसे सबके हितके कार्यमें लग गये। वे अब दीन, दुःखी, दरिद्र और अनाथोंके रूपमें नारायणकी विशेषरूपसे सेवा करने लगे।

उसी नगरमें एक दुःखी अनाथ विधवा स्त्री रहती थी, जो प्रतिदिन जंगलसे सूखा ईंधन लाकर शहरमें बेचा करती और उसीसे अपना तथा अपने इकलौते नन्हें-से पाँच वर्षके लड़केका निर्वाह किया करती। वह जो कुछ कमाती, उससे उन दोनोंकी उदरपूर्ति कठिनतासे होती थी, अतः उसके पास एक भी पैसा बच नहीं पाता था। एक दिन जब वह लड़केको साथ लिये ईंधन लाने जंगलको जा रही थी, तब उस बालकने रास्तेमें एक धनी लड़केको लट्टू, फिरकी आदि खिलौनोंसे खेलते देखा। उसे देखकर उस बालकने अपनी माँसे लट्टू, फिरकी आदि ला देनेको कहा। बच्चेकी बात सुनकर माता बोली—'बेटा ! मैं गरीब आदमी हूँ, मेरे पास पैसे कहाँ? मैं तो लकड़ी बेचकर जो पैसे लाती हूँ, उससे पेट ही कठिनतासे भर पाता है, फिर खिलौने कहाँसे खरीदूँ?' निर्दोष लड़का धनी और गरीबका भेद समझता नहीं था। उसे तो खिलौनेका आग्रह था। वह रोने लगा और वहीं लोट गया। माता किसी तरह उठाकर उसे घर लायी। उसने लड़केको बहुत कुछ समझाया; पर लड़केने एक भी न सुनी। इसी कारण उस दिन वह लकड़ी लाने भी नहीं जा सकी; दिनभर दोनोंको फाँका करना पड़ा। बच्चेने अपना हठ नहीं छोड़ा, वह रोता ही रहा। उसके दुःखसे दुःखी होकर माँ भी रोती रही। उसके पास पैसा तो था नहीं कि वह बच्चेका हठ पूरा कर सकती। अर्धरात्रिका समय था, निस्तब्ध रात्रि थी। सब सो रहे थे, परंतु झोंपड़ीके कोनेमें गरीब माँ-पुत्र रो रहे थे। लड़केकी रोनेकी आवाज तीव्र थी। महल समीप ही था। महलमें सोये राजाके कानोंमें रोनेकी ध्वनि पहुँची। करुणापूर्ण रुदनकी ध्वनिसे राजा चौंक पड़े और उठकर इधर-उधर देखने लगे। राजाने कोतवालको बुलाकर कहा—'देखो, किसी दुःखी आतुर व्यक्तिके रोनेकी आवाज आ रही है, तुम शीघ्र जाओ और उसे आश्वासन देकर मेरे पास लाओ।' कोतवाल तुरंत उसके पास पहुँच गया और उससे बोला—'चलो! महाराज साहब तुमको बुला रहे हैं।' बेचारी ईंधन बेचनेवाली स्त्री कोतवालको देखते ही भयसे काँपने लगी और बोली— 'सरकार ! यह छोटा बच्चा है; रोता है, इसके अपराधको क्षमा करें।' कोतवालने धीरज बँधाते हुए कहा—'तुम भय मत करो, मेरे साथ चलो, राजाने दया करके ही तुमको बुलाया है।' किंतु उस बेचारीकी घबराहट दूर नहीं हुई। उसने सोचा—बच्चेके रोनेसे राजाकी नींद टूट गयी है, इसलिये

वे दण्ड देंगे; पर उपाय ही क्या, जब कि वे बुला रहे हैं तो जाना ही पड़ेगा। वह राजाके पास जाने लगी। कोतवालके वचनोंसे उस स्त्रीका रोना तो बंद हो गया, परंतु भयके मारे उसका शरीर काँप रहा था और लड़का रोता हुआ उसके पीछे-पीछे चला जा रहा था।

कोतवालके साथ दोनों राजमहलमें पहुँचे। राजाने इस करुणायुक्त दृश्यको देखकर उस भयभीत स्त्रीको आश्वासन देते हुए कहा—'बेटी ! डर मत। बता, यह बच्चा किसलिये रो रहा है ? मैं इसका कारण जानना चाहता हूँ।' इसपर उस स्त्रीने सारी बात ज्यों-की-त्यों बतला दी। वह बोली— 'महाराज ! मैं जंगलसे सूखी लकड़ियाँ लाकर बेचा करती हूँ, उसीसे अपना और इसका पेट भरती हूँ। आज मैं जब लकड़ी लाने जंगलको जा रही थी, तब रास्तेमें एक धनी लड़केको लट्टू, फिरकी आदिसे खेलते देखकर यह मचल उठा और इसने हठ कर लिया कि मुझे ऐसे ही खिलौने ला दे। इसी कारण यह रोने लगा। इसीसे मैं आज लकड़ी लाने भी न जा सकी, जिसके कारण यह भूखसे भी मर रहा है। आधी रात बीत गयी; यह मानता नहीं, बराबर रो ही रहा है। मैंने बहुत प्रयत्न किया कि यह न रोये, पर छोटा बच्चा है, बेसमझ है, क्या किया जाय।'

राजाने तुरंत महलके अंदरसे साग, पूड़ी, मिठाई मँगवाकर दी और कहा—'मैं अभी खिलौने मँगा देता हूँ।' विधवा माताने लड़केको खिलानेकी बहुत चेष्टा की, किंतु हठी बच्चेने माँग पूरी न होनेके कारण कुछ नहीं खाया। माँ भी लड़केको बिना खिलाये कैसे खाती। तब राजाने कोतवालसे कहा—'अभी बाजार जाओ और यह लड़का जो-जो खिलौने चाह रहा है, वे जहाँ जिसके यहाँ भी मिलें, एक छबड़ी भरकर ले आओ।' कर्तव्यपरायण कोतवालने तत्काल खिलौनेके दूकानदारके घर जाकर उसे जगाया और उसी समय दूकान खोलकर एक छबड़ी खिलौने देनेको कहा। राजाकी आज्ञा थी, उसने तुरन्त एक छबड़ी खिलौने दे दिये। कोतवालने उनका उचित मूल्य चुकाकर छबड़ी लाकर राजाके सामने रख दी। राजाने वे सारे खिलौने बालकको सौंप दिये। बालक दोनों हाथोंमें जितना ले सका, लेकर हँसने और नाचने लगा। बालककी प्रसन्नता देखकर माताकी भी प्रसन्नताकी सीमा नहीं रही।

तदनन्तर राजाने उन दोनोंको यथेष्ट भोजन कराकर तृप्त किया तथा बचे हुए खिलौने और भोजन उस बच्चेकी माँको सौंप दिये। माता और पुत्र—दोनों अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो अपनी झोंपड़ीमें लौट गये। राजाकी अनुमति पाकर कोतवाल भी अपने स्थानको लौट गया। उसी समय राजाको उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी तथा उनके आनन्द और शान्तिकी सीमा नहीं रही।

प्रातःकाल होते ही राजा महात्माजीके पास गये और दण्डवत् प्रणाम करके अपनी सारी घटना आद्योपान्त उन्हें कह सुनायी। तब महात्माजी बोले—'राजन्! तुमने बहुतेरे लोगोंकी सेवा की और परोपकारके निमित्त बहुत-सा धन खर्च किया, किंतु जैसी सेवा आज हुई है, वैसी इसके पहले नहीं हुई थी।' महात्माजीके वचन सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए और फिर अपने घरपर चले आये।

जिस समय राजा अपनी घटना सुना रहे थे, उस समय वहाँ महात्माजीकी सेवामें शहरसे दो कोस दूर रहनेवाला एक नितान्त निर्धन देहाती खोमचेवाला भी बैठा था। उसने इस घटनाको बड़े चावसे सुना और महात्माजीसे कहा—'महाराज! क्या मुझ-जैसे गरीब आदमीको भी भगवान् मिल सकते हैं?' महात्माजी बोले—'क्यों नहीं मिल सकते?' भगवान्के यहाँ गरीब और धनीका भेद थोड़े ही है। वे भावके भूखे हैं। एक बार राजा चोल और विष्णुदास नामके एक गरीब ब्राह्मणमें भक्तिविषयको लेकर भगवद्दर्शनके लिये परस्पर होड़ लग गयी थी, जिसमें अन्तमें उस गरीब विष्णुदासकी ही विजय हुई और उस गरीब ब्राह्मणको ही भगवान्ने पहले दर्शन दिये।

यह सुनकर खोमचेवालेने पूछा—'महाराजजी! वह राजा चोल कौन था, गरीब विष्णुदास कौन था और उनमें परस्पर किस प्रकार होड़ लगी थी तथा उस गरीब ब्राह्मणको भगवान्ने राजासे पहले किस तरह दर्शन दिये थे? कृपया वह सब कथा मुझे विस्तारसे सुनाइये।'

महात्माजीने कहा—पहले काञ्चीपुरीमें चोल नामक एक चक्रवर्ती राजा हो गये हैं; उनके अधीन जितने देश थे, वे भी चोल नामसे ही विख्यात हुए। राजा चोल जब इस भूमण्डलका शासन करते थे, उस समय कोई भी मनुष्य दरिद्र, दुःखी, पापमें मन लगानेवाला अथवा रोगी नहीं था। उन्होंने इतने यज्ञ किये थे कि जिनकी कोई गणना नहीं हो सकती।

एक समयकी बात है। राजा चोल 'अनन्तशयन'

नामक तीर्थमें गये, जहाँ जगदीश्वर श्रीविष्णु शेषशायीके रूपमें विराज रहे थे। वहाँ भगवान् श्रीविष्णुके उस दिव्य विग्रहकी राजाने विधिपूर्वक पूजा की। उन्होंने स्वर्णके बने हुए फूलों तथा मणि-मोतियोंसे भगवान्‌का पूजन करके उनको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। प्रणाम करके ज्यों ही वे बैठे, उसी समय काञ्चीनगरीके निवासी ब्राह्मण विष्णुदास भगवान्‌की पूजाके लिये हाथमें तुलसीदल और जल लिये वहाँ आये। उन ब्रह्मर्षिने विष्णुसूक्तका पाठ करते हुए देवदेव भगवान्‌को स्नान कराया और तुलसीकी मञ्जरी तथा पत्तोंसे उनकी विधिवत् पूजा की। राजा चोलने पहले जो रत्नोंसे भगवान्‌की पूजा की थी, वह सब तुलसीपत्तोंसे ढँक गयी। यह देख राजा कुपित होकर बोले—'विष्णुदास! मैंने मणियों तथा सुवर्णसे भगवान्‌की पूजा की थी, वह कितनी शोभा पा रही थी! किंतु तुमने तुलसीपत्र चढ़ाकर सब ढक दी; बताओ, ऐसा क्यों किया? मालूम होता है तुम बड़े मूर्ख हो, भगवान् विष्णुकी भक्तिको बिलकुल नहीं जानते। तभी तो तुम अत्यन्त सुन्दर सजी-सजायी पूजाको पत्तोंसे ढके जा रहे हो। तुम्हारे इस बर्तावसे मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है।'

विष्णुदास बोले—'राजन्! आपको भक्तिका कुछ भी पता नहीं है, केवल राज्यलक्ष्मीके कारण आप घमंड कर रहे हैं। बताइये तो आजसे पहले आपने कितने वैष्णव-व्रतोंका पालन किया है?'

राजाने कहा—'ब्राह्मण! यदि तुम विष्णुभक्तिके अत्यन्त गर्वमें आकर ऐसी बात करते हो तो बताओ, तुममें कितनी भक्ति है? तुम तो दरिद्र हो, निर्धन हो। तुमने श्रीविष्णुको संतुष्ट करनेवाले यज्ञ और दान आदि कभी नहीं किये हैं तथा पहले कहीं कोई देवालय भी नहीं बनवाया है। ऐसी दशामें भी तुम्हें अपनी भक्तिका इतना घमंड है? अच्छा, तो आज यहाँ जितने भी श्रेष्ठ ब्राह्मण उपस्थित हैं, वे सभी कान खोलकर मेरी बात सुन लें। देखना है, मैं पहले भगवान् विष्णुका दर्शन पाता हूँ यह, इससे लोगोंको स्वयं ही ज्ञात हो जायगा कि हम दोनोंमेंसे किसमें कितनी भक्ति है।'

'यह कहकर राजा चोल अपने राजभवनको चले गये और उन्होंने महर्षि मुद्गलको आचार्य बनाकर वैष्णव-यागका अनुष्ठान आरम्भ किया, जिसमें बहुत-से ऋषियोंका समुदाय एकत्रित हुआ, बहुत-सा अन्न खर्च किया गया और प्रचुर दक्षिणा बाँटी गयी।

'उधर विष्णुदास भी वहीं भगवान्‌के मन्दिरमें ठहर गये और श्रीविष्णुको संतुष्ट करनेवाले शास्त्रोक्त नियमोंका भलीभाँति पालन करते हुए सदा ही व्रतका अनुष्ठान करने लगे। माघ और कार्तिकके व्रत, तुलसीके बगीचेका भलीभाँति पालन, एकादशीका व्रत, **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'**—इस द्वादशाक्षर मन्त्रका जप तथा गीत-नृत्य आदि माङ्गलिक उत्सवोंके साथ षोडशोपचारद्वारा प्रतिदिन श्रीविष्णुकी पूजा—यही उनकी जीवनचर्या थी। वे इन्हीं व्रतोंका पालन करते थे। चलते, खाते और सोते समय भी उन्हें निरन्तर श्रीविष्णुका स्मरण बना रहता था। वे समदर्शी थे और सम्पूर्ण प्राणियोंमें भगवान् श्रीविष्णुको स्थित देखते थे। उन्होंने भगवान् श्रीविष्णुके संतोषके लिये उद्यापन-विधिसहित माघ और कार्तिकके विशेष-विशेष नियमोंका भी सर्वदा पालन किया।'

इस प्रकार राजा चोल और विष्णुदास दोनों ही होड़ लगाकर भगवान् श्रीविष्णुकी आराधना करने लगे। दोनों ही अपने-अपने व्रतमें स्थित रहते थे, दोनोंकी ही इन्द्रियाँ और कर्म भगवान्‌में ही केन्द्रित थे।

'एक दिनकी बात है, विष्णुदासने नित्यकर्म करनेके पश्चात् भोजन तैयार किया; किंतु उसे किसीने चुरा लिया। चुरानेवालेको किसीने नहीं देखा। विष्णुदासने भोजन चुरा लिये जानेपर भी दुबारा भोजन नहीं बनाया; क्योंकि ऐसा करनेपर सायंकालकी पूजाके लिये अवकाश नहीं मिलता, अतः प्रतिदिनके नियमके भङ्ग हो जानेका भय था। दूसरे दिन उसी समयपर भोजन बनाकर वे ज्यों ही भगवान् विष्णुको भोग लगानेके लिये गये, त्यों ही कोई आकर फिर सारा भोजन चुरा ले गया। इस प्रकार लगातार सात दिनोंतक कोई आ-आकर उनके भोजनका अपहरण करता रहा। इससे विष्णुदासको बड़ा विस्मय हुआ। वे विचार करने लगे—'अहो! यह कौन प्रतिदिन आकर मेरी रसोई चुरा ले जाता है? मैं क्षेत्र-संन्यास ले चुका हूँ, अब किसी तरह इस स्थानका परित्याग नहीं कर सकता। यदि दुबारा भोजन बनाता हूँ तो सायंकालकी पूजा छूट जाती है। जबतक सारी सामग्री भगवान् श्रीविष्णुके निवेदन न कर लूँ, तबतक मैं भोजन नहीं करता। प्रतिदिन उपवास करनेसे मैं इस व्रतकी समाप्तितक जीवित कैसे रह सकूँगा? अच्छा, आज मैं रसोईकी भलीभाँति रक्षा करूँगा।'

'यों सोचकर भोजन बनानेके पश्चात् विष्णुदास वहीं कहीं छिपकर खड़े हो गये। इतनेमें ही एक चाण्डाल दिखायी दिया, जो उनका अन्न चुराकर ले जानेको उद्यत था। भूखके मारे उसका सारा शरीर दुर्बल

हो रहा था, मुखपर दीनता छा रही थी, शरीरमें हाड़ और चामके सिवा और कुछ बाकी नहीं बचा था। उसे देखकर श्रेष्ठ ब्राह्मण विष्णुदासका हृदय करुणासे व्यथित हो उठा। उन्होंने उससे कहा—'भैया! जरा ठहरो, ठहरो! क्यों रूखा-सूखा खाते हो? यह घी तो ले लो।' इस प्रकार बोलते हुए विप्रवर विष्णुदासको आते देख वह चाण्डाल बड़े वेगसे भागा और भयसे मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। विष्णुदास तुरंत उसके समीप पहुँच गये और करुणावश अपने वस्त्रसे उसे हवा करने लगे। तदनन्तर जब वह उठकर खड़ा हुआ, तब विष्णुदासने देखा—वह चाण्डाल नहीं, साक्षात् भगवान् नारायण ही शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये सामने विराजमान हैं। उनकी कटिमें पीताम्बर है, चार भुजाएँ हैं, हृदयमें श्रीवत्सका चिह्न तथा मस्तकपर किरीट शोभा पा रहे हैं। अलसीके फूलकी भाँति श्यामसुन्दर शरीर और कौस्तुभमणिसे जगमगाते हुए वक्षःस्थलकी अपूर्व शोभा हो रही है। अपने प्रभुको प्रत्यक्ष सम्मुख देखकर द्विजश्रेष्ठ विष्णुदास रोमाञ्च, अश्रुपात आदि सात्त्विक भावोंसे इस प्रकार समन्वित हो गये कि वे भगवान्‌की स्तुति और नमस्कार करनेमें भी समर्थ न हो सके। उस समय वहाँ इन्द्र आदि देवता तथा ऋषि-महर्षि भी आ पहुँचे। भगवान् श्रीविष्णुने सात्त्विक व्रतका पालन करनेवाले अपने भक्त विष्णुदासको छातीसे लगा लिया और उन्हें अपने-ही-जैसा रूप देकर वे वैकुण्ठ-धामको ले चले।

'उस समय यज्ञमें दीक्षित हुए राजा चोलने देखा, विष्णुदास एक सुन्दर विमानपर बैठकर भगवान् श्रीविष्णुके धाममें जा रहे हैं। राजाने तुरंत ही अपने गुरु महर्षि मुद्गलको बुलाकर कहा—'जिसके साथ होड़ लगानेके कारण मैंने यह यज्ञ-दान आदि कर्मका अनुष्ठान किया है, वह ब्राह्मण आज भगवान् श्रीविष्णुका रूप धारण करके मुझसे पहले ही वैकुण्ठधाममें जा रहा है। मैंने इस वैष्णवयागमें भलीभाँति दीक्षित होकर अग्निमें हवन किया और दान आदिके द्वारा ब्राह्मणोंका मनोरथ पूर्ण किया; तथापि अभीतक भगवान् मुझपर प्रसन्न नहीं हुए और इस ब्राह्मणको केवल भक्तिके ही कारण श्रीहरिने प्रत्यक्ष दर्शन दिया है। अतः जान पड़ता है, भगवान् श्रीविष्णु केवल दान और यज्ञोंसे प्रसन्न नहीं होते; उन प्रभुका दर्शन करानेमें भक्ति ही प्रधान कारण है।

'राजा चोल बचपनसे ही यज्ञकी दीक्षा लेकर उसीमें संलग्न रहते थे, इसलिये उन्हें कोई पुत्र नहीं हुआ था; अतः उन्होंने अपने भानजेको राजसिंहासनपर अभिषिक्त कर दिया। तत्पश्चात् वे यज्ञशालामें गये और यज्ञकुण्डके सामने खड़े होकर श्रीविष्णुको सम्बोधित करते हुए तीन बार उच्च स्वरसे निम्नांकित वचन बोले—'भगवान् विष्णु! आप मुझे मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा निश्चल भक्ति दीजिये।' यों कहकर वे सबके देखते-देखते अग्निमें कूद पड़े। राजा ज्यों ही अग्निकुण्डमें कूदे, त्यों ही भक्तवत्सल भगवान् श्रीविष्णु प्रकट हो गये और उन्होंने राजाको छातीसे लगाकर एक श्रेष्ठ विमानपर बिठाया। फिर उसे अपने ही समान रूप देकर उन देवेश्वरने देवताओंसहित वैकुण्ठ धामको प्रस्थान किया।'*

कथा सुनकर खोमचेवालेके चित्तमें बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने उत्साहपूर्वक महात्माजीसे पूछा—'मुझ-जैसे अकिञ्चनको शीघ्र-से-शीघ्र भगवान् कैसे मिल सकते हैं!' महात्माजी बोले—'तू सब प्राणियोंमें परमात्माको व्यापक देखकर अपने कर्मोंके द्वारा उनकी सेवा किया कर, जैसा कि गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने बतलाया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धि (परमात्मा) को प्राप्त हो जाता है।'

महात्माजीका आदेश पाकर खोमचेवाला अपने गाँवको लौट गया और उनके आज्ञानुसार साधन करने लगा। वह खोमचेसे नित्य दो रुपये कमाता था, जिनमेंसे डेढ़ रुपयेमें तो अपना और अपने कुटुम्बका भरण-पोषण कर लेता, शेष आठ आने बचते, उनको दुःखी, अनाथ, असहाय, आतुर और भूखे प्राणियोंकी सेवामें लगा देता था।

इस प्रकार सेवा करते उसे तीन वर्ष बीत गये, पर भगवत्प्राप्तिका कोई भी चिह्न न देखकर वह एक दिन पुनः महात्माजीके पास आकर कहने लगा—'महाराजजी! मैं नित्य दो रुपये कमाता हूँ, डेढ़में अपना भरण-पोषण करके आठ आने दुःखियोंकी सेवामें लगाता हूँ, परंतु अभीतक भगवान्‌की प्राप्तिका कोई पूर्व लक्षण भी मुझमें नहीं दीखता। आप ही बतलाइये, मैं क्या करूँ जिससे शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्‌की प्राप्ति हो।' महात्माजी बोले—

* यह कथा पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें ११०-१११वें अध्यायोंमें वर्णित है।

'तू जो करता है सो ठीक ही करता है, और भी उत्साह तथा उल्लासके साथ एवं विश्वासपूर्वक गरीब, दीन, दु:खी, आतुर, दरिद्ररूप नारायणकी सेवा विशेषरूपसे करता रह।' इसपर खोमचेवाला 'बहुत अच्छा' कह अपने घर लौट गया और महात्माजीके आज्ञानुसार पुनः विशेष उत्साहपूर्वक दु:खियोंकी सेवा करने लगा।

उसी शहरमें झोपड़ी बाँधकर एक लकड़ी बेचनेवाला रहता था; वह जंगलसे सूखी लकड़ी लाकर उसे बेचकर बड़ी कठिनतासे अपनी उदरपूर्ति करता था। एक दिनकी बात है कि जंगलमें उसे समीपमें लकड़ियाँ नहीं प्राप्त हुईं तो वह कुछ दूर चला गया, जिससे उसे लौटनेमें विलम्ब हो गया। जब वह लकड़ियाँ लेकर वापस आया तब दिनके बारह बज गये और ग्रीष्मकालकी कड़ी धूपके कारण वह पसीनेसे तर हो गया। वह अभी शहरसे एक मील दूरपर था, तब उसका जी मिचलाने लगा और वह चक्कर खाकर जमीनपर गिर पड़ा। लकड़ियोंका गट्ठर उसके सिरसे एक किनारे गिर गया और वह बेहोश हो गया।

इसी समय वह खोमचेवाला अपने गाँवसे खोमचा लेकर शहरकी ओर चला; रास्तेमें लकड़हारेको मूर्च्छित पड़ा देखकर उसके हृदयमें दया आ गयी। खोमचेवालेके पास उबले हुए चने और जल पर्याप्त था ही, उसने तुरंत एक चुल्लू जल लेकर उसके मुखपर छिड़का, कुछ जल उसके मुखमें डाल दिया और कपड़ेके पल्लेसे उसे हवा करने लगा, जिससे लकड़हारेको कुछ होश हुआ और उसने आँखें खोलीं। जब वह होशमें आकर बैठा, तब खोमचेवालेने उसको पेड़की छायामें ले जाकर और उसे नितान्त गरीब, दु:खी और भूखा समझकर खानेके लिये उबले हुए यथेष्ट चने दे दिये और जल पिला दिया। इससे उसकी आत्मा बड़ी ही तृप्त हुई और उसने अपनी सारी दु:ख-कहानी खोमचेवालेको कह सुनायी। तदनन्तर वह उस खोमचेवालेका आभारी होकर विनययुक्त वचनोंसे उसकी स्तुति करने लगा। इसपर खोमचेवालेने कहा—'भैया! स्तुति करनेयोग्य तो भगवान् हैं। यह जो कुछ है, भगवान्‌का ही है; मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। स्तुति तो तुझे भगवान्‌की ही करनी चाहिये। और मेरे लायक जो सेवा-चाकरी हो सो बतला, मैं तेरी सेवामें उपस्थित हूँ।' लकड़हारेने कहा— 'अब मैं सबल हो गया हूँ, मुझे कोई तकलीफ नहीं है, यह लकड़ीका बोझा मेरे सिरपर उठा दो, जिससे मैं शहरको चला जाऊँ।' खोमचेवालेने उसका गट्ठर सिरपर उठा दिया और वह शहरकी ओर चल पड़ा। इसके पश्चात् ज्यों ही खोमचेवाला अपना खोमचा और जलपात्र लेकर शहरकी ओर चलनेको उद्यत हुआ कि भगवान् प्रकट हो गये। भगवान्‌के दर्शन करके उसके रोमाञ्च और अश्रुपात होने लगे, उस समय उसके आनन्द और शान्तिका पारावार नहीं रहा। तब भगवान्‌ने उससे कहा— 'गरीब- दु:खीके रूपमें की हुई तेरी सेवासे मैं संतुष्ट हूँ, अब जो इच्छा हो सो वरदान माँग।' खोमचेवाला बोला— 'प्रभो! आज आपने अपना दर्शन देकर मुझे कृतार्थ कर दिया, अब इससे बढ़कर और है ही क्या; जिसे मैं माँगूँ।' भगवान्‌के बारंबार आग्रह करनेपर उसने पुनः कहा—'आपमें मेरा अनन्य विशुद्ध प्रेम सदा बना रहे।' इसपर भगवान् 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये।

खोमचेवाला भगवान्‌के प्रेमानन्दमें निमग्न होकर महात्माजीके पास आया और उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणिपात करनेके बाद अपनी सारी घटना उनसे आद्यन्त कह सुनायी। महात्माजी बोले—'इस दरिद्र, दु:खी, गरीब लकड़हारेको जो तूने चने खिलाकर जल पिलाया—तेरा यह सेवाकार्य बहुत ही श्रेष्ठ हुआ। पहले तेरे जितने सेवाकार्य हुए, उनमें यह सबसे बढ़कर है।' खोमचेवाला महात्माजीकी वाणी सुनकर आनन्दमग्न हो गया और उनको नमस्कार करके अपने घर लौट गया।

इस कहानीसे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि 'दु:खी-अनाथ प्राणियोंकी सेवा करते-करते भगवान्‌की प्राप्तिमें विलम्ब हो तो उकतावें नहीं, वरं सबमें भगवद्बुद्धि करके निष्कामभावसे परम श्रद्धा, विश्वास, विनय और प्रेमपूर्वक तत्परताके साथ सेवा करते ही रहे।' सेवामें श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवद्भाव और निष्कामभाव होनेसे वह उच्चकोटिकी साधना हो जाती है। अतः यह साधन करते हुए इन भावोंकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहनी चाहिये। उपर्युक्त दोनों भाव (भगवद्भाव और निष्कामभाव) साथ रहें तब तो बात ही क्या, इनमेंसे केवल एक भाव भी रहे तो भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है। अतएव हमलोगोंको समस्त प्राणियोंमें उस परब्रह्म परमात्माको व्याप्त समझकर सबकी सेवा और परोपकार करनेमें तत्पर होकर लग जाना चाहिये।

महत्त्वपूर्ण प्रवचन*

एक सिद्धान्तकी बात कही जाती है। वह अत्यन्त रहस्यकी और मूल्यवान् बात है। मैं जब सबको प्रश्न करनेके लिये समय देता हूँ, तब कोई भाई यदि कुछ पूछते हैं तो उनका पूछना न्याय है, अधिकार है। उस समय उन्हें कोई भी रोके, तो उनका रोकना अनुचित है। जिस समय धाराबद्ध व्याख्यान चल रहा हो, उस समय बीचमें कोई पूछे तो उसे मैं स्वयं ही निषेध कर देता हूँ कि 'आप अपनी बात नोट कर लें या याद रखें और व्याख्यानकी समाप्तिपर पूछ लें, अभी पूछनेसे प्रसङ्गका प्रवाह टूट जायगा।' क्योंकि उस समय किसीका पूछना उचित नहीं है, इसीसे रुकनेके लिये प्रार्थना कर दी जाती है।

रहस्यकी बात यह समझनेकी है कि जिस समय अवसर दिया जाता है, उस समय पूछनेवालेकी बात किसी दूसरेको अनुचित मालूम देती हो तो उसे सहन करना चाहिये अथवा उसे यदि उसका पूछना सहन न हो तो दूसरी जगह जाकर भजन-ध्यान करना चाहिये। मेरे समयके लिये मैं स्वतन्त्र हूँ और आपका समय आपकी स्वतन्त्रतामें है। यदि मैं अपने ऊपर सबका अधिकार मानूँ तो मेरे उस अधिकारको दूसरा कोई अकेला कैसे छीन सकता है? इस न्यायसे सभी अपने इच्छानुसार पूछ सकते हैं।

कोई यह कहे कि 'आपके साथ हमारा अधिक प्रेम है, हम आपके अनुयायी हैं; दूसरे आदमी नये हैं। वे आपके भावोंको नहीं जानते, अतः आपका समय नष्ट करते हैं।' तो मैं कहूँगा कि 'आप मेरे मित्र हैं तो मैं जिस तरह सबको प्रश्न करनेके लिये अवसर देता हूँ—उसीमें आपकी सम्मति होनी चाहिये। मेरी प्रसन्नतामें ही आपको प्रसन्न होना चाहिये। जिसे मैं अच्छा समझूँ, उसीको आप अच्छा समझें। यदि मैं किसीकी बात सुन रहा हूँ तो आप भी सुनें।' यदि कहें कि 'आप सहन कर सकते हैं, हम नहीं' तो आप अलग बैठ सकते हैं। आप कहें कि 'हमारा समय व्यर्थ चला गया' तो इसका उत्तर यह है कि 'आप यदि उसे व्यर्थ गया समझते हैं तो अवश्य व्यर्थ गया।' आपने इतने वर्षोंतक इतनी बातें सुनकर क्या यही सार निकाला कि अपने मनके अनुकूल बात सुनना, दूसरी नहीं? यदि ऐसी बात है तो आपकी यह समझ ठीक नहीं है। फिर, आपने आजतक कितनी बातें सुनीं और उनमें कितनी आप काममें लाये? यदि सुनी हुई बातें काममें लायी जातीं तो कल्याण हो सकता था। प्रश्न करनेवाले दूसरे भाई शायद काममें भी ला सकते हैं। ऐसी परिस्थितिमें उन्हें रोकना कैसे उचित हो सकता है? वे यदि सुनी हुई बातको काममें लावें तो वे आपसे भी बढ़कर अधिकारी हो सकते हैं।

जो सज्जन मेरी बात सुनना चाहते हैं; किंतु दूसरेके प्रश्न कर लेनेपर उनको वह मौका नहीं मिलता तो इससे उन चुप साधनेवालोंके लिये कोई नुकसान नहीं है, क्योंकि मुझको इस बातका खयाल है। जितना समय शेष रहेगा, उसीको मैं अधिक मूल्यवान् बनानेका प्रयत्न करूँगा। फिर पूछनेवालेका पूछना यदि मैं ठीक नहीं समझूँगा तो मैं अपने-आप ही उन्हें मना कर दूँगा। आप मना करते हैं, इसका अभिप्राय तो यह है कि आप अपनेको अधिक बुद्धिमान् समझते हैं।

यदि आप कहें कि 'फिर हमें क्या करना चाहिये?' तो इसका उत्तर यह है कि 'जो होता है, उसे भगवान्‌का विधान या लीला समझकर प्रसन्न होना चाहिये।' आप कहें कि 'हममें इतनी श्रद्धा नहीं है।' सो श्रद्धा न होनेपर भी आपको सहन करना चाहिये और दूसरोंके हितके लिये उनको मौका देना चाहिये। जिसको हम अपनेसे अधिक बुद्धिमान् मानते हैं, वह कहे-जैसा ही करे, अपनी बुद्धि न लगावे तो इसमें हम घाटेमें नहीं रहेंगे। यदि हम घाटा मानते हैं तो फिर हमने अपने-आपको ही अधिक बुद्धिमान् समझा। यह सब बहुत रहस्य और सिद्धान्तकी बातें हैं।

अब एक और दूसरी सिद्धान्तकी बात अपना दृष्टान्त देकर बतलाता हूँ—(१) एक भाई मेरी पूजा आदि विशेष सत्कार करता है, (२) दूसरा भाई मेरी पूजा आदि तो नहीं करता पर मेरी सेवा करके मेरे शरीरको आराम पहुँचाता है, (३) तीसरा भाई मेरे आचरणोंका अनुकरण करता है और (४) चौथा भाई मैं जो कुछ कहता हूँ, उसके अनुसार जीवन बिताता है। इनमें जो मेरे कहनेके अनुसार जीवन बिताता है, उसके कल्याणमें कोई शङ्का नहीं, क्योंकि जो कुछ कहा जाता है, वह उपनिषद्, गीता, रामायण आदि शास्त्रोंके सिद्धान्त ही कहे जाते हैं। मैं तो केवल अनुवादमात्र कर देता हूँ। गीता भगवान्‌की वाणी है, वेद अपौरुषेय हैं तथा आर्ष ग्रन्थ भगवत्प्राप्त

* यह ऋषिकेशमें गङ्गाजीके तटपर वटवृक्षके नीचे दिये हुए एक प्रवचनका कुछ अंश है।

महापुरुषोंके वाक्य हैं। वे हम सबके लिये आदर्श हैं। उनके अनुसार यदि मैं पालन करूँ तो मेरा हित है और आप पालन करें तो आपका हित है। इनके पालन करनेसे कल्याण होनेमें कोई शङ्का नहीं। इसके लिये मैं गारंटी दे सकता हूँ। यह कहनेमें मुझे कोई संकोच नहीं है; क्योंकि मैं तो इन्हीं ग्रन्थोंके आधारपर कहता हूँ, अपनी बात नहीं। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

सत्य बचन आधीनता, परतिय मातु समान।
इतनेमें हरि ना मिले तो तुलसीदास जमान॥

श्रीतुलसीदासजी 'जमान' कहकर अपनी गारंटी देते हैं, यदि वे यह कहते कि मेरी सेवा करनेसे भगवान् मिलते हैं तो कोई कामकी बात नहीं थी, पर यहाँ तो वेदों और शास्त्रोंकी बात थी। उसपर उनका पूरा विश्वास था, उनकी अनुभव की हुई बात थी। अत: श्रीतुलसीदासजी गारंटी दे सकते हैं। उनका यह कहना युक्तिसङ्गत है।

यदि मैं कोई भी व्यक्तिगत बात कहूँ कि मेरी सेवा करनेसे उद्धार हो जायगा तो यह मेरा कहना अनुचित और अहंकारयुक्त होगा। ऐसा तो केवल भगवान् ही कह सकते हैं, वे नित्यमुक्त हैं। पर मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ; क्योंकि मेरा जन्म गुण और कर्मके अनुसार हुआ है। गीतामें कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

(४। १३)

'ब्राह्मण,क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान।'

मैं तथा आपलोग सभी गुण और कर्मोंके अनुसार जन्म लेनेवाले हैं; परन्तु भगवान् इससे विलक्षण हैं। गीतामें उन्होंने स्वयं कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(४। ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

इस प्रकार भगवान् ही कह सकते हैं, मैं तथा आपलोग नहीं। इसीलिये भगवान्ने तो यह भी कहा है कि—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९। ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

मनुष्य यह नहीं कह सकता। अतः श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, गीता, रामायण आदिके आधारपर जो बातें सुनायी जाती हैं, उनके अनुसार जीवन बिताना सर्वोत्तम बात है।

जो भी आपकी सेवामें प्रार्थना और विनयके रूपमें निवेदन किया जाता है, उसे आप काममें लावें तो मैं अपनेको आपका बड़ा आभारी मानता हूँ, मेरे ऊपर आपकी कृपा मानता हूँ। आप कहेंगे कि 'काममें लानेसे लाभ हमें होगा, इसमें हमने आपपर क्या कृपा की', तो इसके उत्तरमें यह निवेदन है कि आप मेरी बात सुनने आये हैं, तभी तो मैंने भाषण दिया। मैं जो कुछ भी बात आपकी सेवामें निवेदन करता हूँ, वह सबसे प्रथम मेरी बुद्धिमें आती है; दूसरे, मेरे मनमें आती है; तीसरे, मैं वाणीसे कहता हूँ; चौथे आप उसे सुनते हैं; पाँचवें, उसे आपका मन ग्रहण करता है; छठे, आपकी बुद्धि समझती है। अर्थात् मेरी बुद्धिमें जो बात आती है, वह पाँच स्तरोंको पार करके तब आपकी बुद्धिके पास पहुँचती है। जो बात मेरी बुद्धिमें आती है, वह सब-की-सब मनकी कल्पनामें नहीं आ सकती। मन जितनी कल्पना करता है, उतनी वाणीसे कही नहीं जा सकती। जितनी कुछ कहनेमें आती है, उतनी पूरी-पूरी आप सब सुन नहीं पाते; क्योंकि आपलोगोंका मन इधर-उधर चला जाता है। जो सुनी जाती है वह सब-की-सब ज्यों-की-त्यों याद नहीं रहती और जितनी याद रहती है, उतनी सब बुद्धिमें धारण नहीं होती। इतनेपर भी, जब सुननेवालोंको लाभ होता है, तब फिर कहनेवालेको तो विशेष लाभ होना ही चाहिये। अतः मेरा यह कहना उचित ही है कि आपलोगोंका मैं आभारी हूँ; क्योंकि आपलोगोंके निमित्तसे ही तो मेरे हृदयमें ये बातें पैदा हुईं। नहीं तो यहाँ बैठकर मैं अकेला बड़ (बरगदके पेड़) को थोड़े ही सुनाता।

अब दूसरी बात आपसे यह निवेदन कर रहा हूँ कि मैं आपकी सेवामें जो कुछ कहता हूँ, इसमें यदि मैं दलाली चाहूँ तो मुझे दलाली मिल सकती है; किंतु सुननेवाले न मिलें तो दलाली कैसे मिले? इस कारणसे

भी मैं आपका आभारी हूँ। यदि आप कहें कि 'यह आभार दूर कैसे हो' तो इसका उत्तर यह है कि आप जिस उद्देश्यसे यहाँ आये उसकी पूर्ति हो, तब मैं आपके ऋणसे मुक्त हो जाऊँ। प्राय: आपलोगोंके यहाँ आनेका उद्देश्य अपनी आत्माके उद्धारके लिये है और आपका उद्धार करना मेरी सामर्थ्यके बाहर है। भगवान् ही आप सबका उद्धार करके मुझको इस आभारसे मुक्त कर सकते हैं, क्योंकि जैसे किसी मनुष्यपर जब ऋण बहुत बढ़ जाता है और वह उसे चुकानेमें असमर्थ होता है, तब वह सरकारकी शरणमें चला जाता है। फिर सरकार उसकी पूँजीके अनुसार ऋणदाताओंको दो, चार या छ: आने चुकाती है। किंतु भगवान् सर्वसामर्थ्यवान् हैं, इसलिये उनके शरणापन्न हो जानेपर वे पूरा-का-पूरा सोलहों आना चुका देते हैं।

(२) जो मेरे आचरणोंका अनुकरण करता है, उसके उद्धार होनेकी गारंटी मैं नहीं दे सकता, क्योंकि मेरे आचरण अच्छे भी हैं, बुरे भी हैं। सभी आचरण कल्याण करनेवाले नहीं हैं। यदि मेरे ऐसे आचरण होते, जिनके लिये गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(३।२१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं, वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

तो मैं भी गारंटी दे सकता था। उपनिषदोंमें आता है कि आचार्य अपने शिष्यको स्नातक बनाकर विदा करते समय उपदेश देते हुए कहते हैं—

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम् धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

(तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली १, अनुवाक ११)

'वेदका भलीभाँति अध्ययन कराकर आचार्य अपने विद्यार्थीको शिक्षा देता है कि तुम सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो, स्वाध्यायसे कभी न चूको, आचार्यके लिये दक्षिणाके रूपमें वाञ्छित धन लाकर दो, फिर उनकी आज्ञासे गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करके संतान-परम्पराको चालू रखो, उसका उच्छेद न करना। तुमको सत्यसे (कभी) नहीं डिगना चाहिये, धर्मसे नहीं डिगना चाहिये, शुभ कर्मोंसे (कभी) नहीं चूकना चाहिये, उन्नतिके साधनोंसे (कभी) नहीं चूकना चाहिये, वेदोंके पढ़ने और पढ़ानेमें (कभी) भूल नहीं करनी चाहिये, देवकार्य और पितृकार्यसे (कभी) नहीं चूकना चाहिये।'

'तुम मातामें देवबुद्धि करनेवाले बनो, पिताको देवरूप समझनेवाले होओ, आचार्यको देवरूप समझनेवाले बनो, अतिथिको देवतुल्य समझनेवाले होओ। जो-जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हींका सेवन करना चाहिये, दूसरे दोषयुक्त कर्मोंका कभी आचरण नहीं करना चाहिये। हमारे आचरणोंमेंसे भी जो-जो अच्छे आचरण हैं, उनका ही तुमको सेवन करना चाहिये, दूसरोंका कभी नहीं।'

जब इतने बड़े-बड़े आचार्य ऐसा कहते हैं, तब मैं किस आधारपर कहूँ कि मेरे सारे आचरण अच्छे हैं और उनका अनुकरण करनेसे आपका कल्याण हो सकता है। यह तो छोटे मुँह बड़ी बात होगी। मेरे आचरणोंमें जो कोई शास्त्रानुकूल प्रतीत हों, उनको कोई काममें लावें तो मैं उनका आभारी हूँ।

(३) जो कोई मेरे शरीरको आराम पहुँचाता है, सेवा करता है, उसके लिये भी कल्याण होनेकी गारंटी मैं नहीं दे सकता, क्योंकि यह उससे भी नीची श्रेणी है। जो मेरी सेवा करता है, उसका मैं आभारी तो हूँ, क्योंकि मैं बदलेमें उसकी सेवा नहीं करता। अत: उसका ऋणी हूँ। 'पर मेरी सेवासे कल्याण हो जायगा' यह विश्वास नहीं दिलाया जा सकता। यदि वह भी मेरे अच्छे आचरणोंका अनुकरण करेगा तो अच्छा फल अवश्य मिल सकता है, पर मेरी सेवासे कल्याण हो जाय, यह नहीं कहा जा सकता।

(४) जो मेरी जूठन खाना, पूजा-आरती करना, ध्यान करना, चरणधूलि लेना, चरण धोना आदि करना चाहता है, वह तो मुझपर कलङ्क लगाता है। यह क्रिया मेरे मनके अत्यन्त विरुद्ध और अन्याययुक्त है। अत: मैं इसका घोर विरोध करता हूँ। जो कोई ऐसा करता है, वह स्वयं अपना, मेरा और संसारका—सबका अहित करता है, इसलिये वह तो नरकका भागी होता है, क्योंकि इसका दूसरोंपर बुरा असर पड़ता है, दूसरे समझते हैं

कि यदि इनकी सम्मति न होती तो ये लोग इनकी पूजा आदि क्यों करते।

इस चौथेके सिवा ऊपरके तीनों प्रकारके व्यक्तियोंका मैं ऋणी हूँ।

अब कुछ सार-सार बातें निवेदन करता हूँ, क्योंकि जो भाई यहाँ आये हुए हैं, वे अब शीघ्र ही जानेवाले हैं। इन सार बातोंको समझकर पहले स्वयं पालन करें, फिर दूसरोंमें इनका प्रचार करें, क्योंकि वही पुरुष प्रचार कर सकता है, जो स्वयं पालन करता है। जो स्वयं पालन नहीं करता, उसका दूसरोंपर असर नहीं पड़ सकता। जो बात हमारे लिये लाभकी है, वह सबके लिये लाभकी है; इसलिये अच्छी चीजका लोगोंमें प्रचार करें। अतः यहाँ जो नियम बताये जाते हैं, उनका स्वयं पालन करके ही लोगोंमें प्रचार करना चाहिये। वे नियम इस प्रकार हैं—

(१) हर समय भगवान्‌के नाम-रूपको याद रखनेके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करते रहना चाहिये अर्थात् अपने मनमें यह निश्चय कर ले कि हम यथाशक्ति हर समय भगवान्‌को याद रखेंगे, जानकर उनको कभी नहीं भूलेंगे। यह पहला नियम है। यथाशक्तिका अर्थ है अपनी सामर्थ्यके अनुसार प्रयत्न करते रहना। भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान दोनों हो, तो बहुत ही अच्छा है। जप वाणी या श्वाससे और ध्यान मनसे करे या दोनों मनसे।

यदि किसीसे जप, ध्यान दोनों एक साथ न बनें, तो नामजप या स्वरूपका चिन्तन—दोनोंमेंसे एक तो अवश्य ही करना चाहिये। इस नियमका पालन सदा-सर्वदा आजीवन करता रहे। कोई कहे कि 'बीचमें भगवत्प्राप्ति हो जाय, अपना कल्याण हो जाय तो फिर क्या जरूरत है?' सो अपना कल्याण होनेपर भी लोकसंग्रह यानी दूसरोंके कल्याणके लिये करना चाहिये। वास्तवमें तो जिनको भगवान् मिल जाते हैं, उनसे उपर्युक्त साधन छूट ही नहीं सकता। जो छोड़ते हैं, समझना चाहिये कि उन्हें भगवान् मिले ही नहीं।

(२) स्त्रियाँ दूसरे पुरुषोंको पिता-भाईके समान और पुरुष पर-स्त्रियोंको माता-बहिनके समान समझें। इसके लिये विशेष प्रयत्न करें। मनसे या दृष्टिसे भी दोष घट सकता है, यदि ऐसा दोष घट जाय तो अपनेको धिक्कार दे और भगवान्‌के शरण होकर सावधानीके साथ भगवान्‌से प्रार्थना करे। अर्थात् काम-क्रोध आदि कोई भी शत्रु आक्रमण करे तो 'हे नाथ! हे नाथ!' इस प्रकार पुकार लगावे। इस तरह पुकार लगानेपर काम-क्रोध आदि शान्त हो जाते हैं। जैसे चोर-डाकूके घरमें घुसनेपर 'पुलिस-पुलिस' की पुकार लगानेसे चोर-डाकू भाग जाते हैं, वैसे ही काम-क्रोधादि भाग जाते हैं। यह बात निश्चय की हुई है।

(३) यदि आप उचित समझें तो नित्यप्रति सब घरके आदमी इकट्ठे होकर घरमें ही अपने सुविधानुसार प्रातःकाल और रात्रिमें गीता, रामायण, भागवत आदि किसी भी ग्रन्थका क्रमशः स्वाध्याय करें। चाहे आधा घंटा ही हो यथाशक्ति प्रयत्न करें। यह बड़े लाभकी चीज है। जो पढ़ा हुआ हो, जानकार हो, वह सुनावे और दूसरे सब सुनें। घरमें जहाँतक हो, अपने ही घरके आदमियोंमेंसे किसीसे सुने।

इसी तरह घरमें ही भगवान्‌की मूर्ति स्थापित करके पूजा करे तो वह मन्दिरोंमें जाकर करनेसे श्रेष्ठ है। मन्दिरोंमें हम अपने हाथसे पूजा, नैवेद्य, आरती आदि नहीं कर सकते, केवल उसका दर्शन कर सकते हैं। घरमें अपने हाथों कर सकते हैं। अतः यह विशेष मूल्यवान् है। शरीरसे पूजा करनेकी अपेक्षा मानसिक पूजा और भी अधिक कीमती है; क्योंकि मानसिकमें मन भी इधर-उधर नहीं जा सकता। किसी-किसी मन्दिरमें पुजारी सदाचारी न होनेसे कई तरहकी बाधा भी आ जाती है, जो घरमें नहीं आती। इसीलिये घरमें पूजा करनेकी बातको मूल्यवान् बताया गया। आप मुझसे पूछेंगे कि 'आपके घरमें स्त्रियाँ पूजा करती हैं, आप भी करते हैं क्या?' तो कहना तो नहीं चाहिये, पर कहा जाता है कि 'मैं मानसिक पूजा करता हूँ।'

(४) नित्य बलिवैश्वदेव करें। बलिवैश्वदेव करना एक प्रकारसे सारे संसारको भोजन देना है। यह बहुत ही उत्तम चीज है और इसमें कोई विशेष खर्च भी नहीं है।'*

(५) घरमें जो बड़े हैं, प्रातः उठकर उनके चरणोंमें नमस्कार करना चाहिये। भगवान्‌ने शरीरका तप बतलाते हुए आरम्भमें ही यह कहा है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(गीता १७।१४)

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

* बलिवैश्वदेवकी छपी हुई विधि गीताप्रेस, गोरखपुरसे मिल सकती है।

आपलोगोंमेंसे जो नहीं करते, उनको भी घर लौटकर इसे आरम्भ कर देना चाहिये। आपको इस प्रकार करते देखकर आपके बालकोंको तथा अन्य लोगोंको भी शिक्षा मिलेगी।

(६) जैसे आपने माला फेरने (भगवन्नामका मालासे जप करने) का नियम लिया है, उसका आप तो पालन करें ही, घरवालोंको भी नियम दिलानेका प्रयत्न करना चाहिये तथा घरमें यज्ञोपवीत होते हुए संध्या तथा गायत्री-जप नहीं करते, उनके द्वारा छोटे हों तो प्यारसे समझाकर और बड़ोंसे विनीत प्रार्थना करके आरम्भ करानेका प्रयत्न अवश्य करें।

(७) गीताका प्रचार करना चाहिये। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(१८। ६८-६९)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीता-शास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

जब मैंने गीता पढ़ी और ये श्लोक पढ़े तो उनका मेरे ऊपर बड़ा असर पड़ा कि भगवान्‌को इसका प्रचार बहुत ही प्रिय है और तबसे यह बात मुझे अच्छी लगी। अतः आपलोगोंको भी भगवान्‌की भक्ति करते हुए यथाशक्ति गीताके प्रचारकी चेष्टा करनी चाहिये।

(८) आप जीविकाके लिये झूठ, कपट, चोरी न करें। भगवान् सबकी रक्षा करते हैं। यदि धर्मका पालन करते हुए मृत्यु भी हो जाय तो कोई हर्ज नहीं, बल्कि उसमें महान् लाभ है। हमें यदि न्यायसे अन्न न मिलता हो और अन्याय न करनेके कारण अन्नके बिना मरना पड़ता हो तो वह मरना भी हमारे लिये कल्याणकारी है, क्योंकि हम धर्मका पालन करते हुए मरते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३। ३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

(९) स्वाद, शौकीनी, ऐश-आराम, भोग, करने योग्य कामको न करना और न करने योग्यको करनारूप प्रमाद, अकर्मण्यता, दीर्घसूत्रता, निद्रा-तन्द्रा आदि आलस्य, काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, राग-द्वेष आदि दुर्गुण; झूठ, कपट-चोरी, व्यभिचार आदि पाप तथा चौपड़-ताश खेलना, नाटक-सिनेमा देखना, क्लब आदिमें जाना, भाँग, तम्बाकू, बीड़ी-सिगरेट आदि नशीली वस्तुओंका सेवन करना, दिनमें सोना आदि दुर्व्यसन—इनको विषके समान समझकर सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये।

(१०) क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, ज्ञान, वैराग्य, सरलता, विनय आदि सद्‌गुण, यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्यका पालन, तीर्थ, व्रत, उपवास,सेवा, परोपकार आदि सदाचार तथा श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका श्रवण, कीर्तन, मनन और पूजन-नमस्कार आदि ईश्वर-भक्तिको अमृतके समान समझकर सदा सेवन करना चाहिये।

इनमें ईश्वरकी भक्ति करनेसे दुर्गुण-दुराचार, प्रमाद, आलस्य, भोग, दुर्व्यसन, दुःख और विकारोंका अत्यन्त अभाव होकर सद्‌गुण-सदाचार अपने-आप ही आकर प्राप्त हो जाते हैं। और कुछ न बने तो भगवान्‌के नामका जप और ध्यान हर समय करना चाहिये। केवल जप और ध्यानके प्रभावसे भी उपर्युक्त सारी बातें अपने-आप ही प्राप्त हो सकती हैं और परमात्माकी प्राप्ति होकर सदाके लिये परम शान्ति एवं परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। अतएव भगवान्‌के नाम-रूपको हर समय याद रखना चाहिये।

जीवनकी सफलताके लिये अनुपम शिक्षा

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥

(गीता १३। ८)

इस श्लोकके भावको हृदयङ्गम करानेके लिये नीचे एक कहानीकी कल्पना की जाती है—

अवन्तिकापुरीका राजा विष्वक्सेन बड़ा ही

धर्मात्मा था। उसका राज्य धन-धान्यसे परिपूर्ण था। प्रजा उसकी आज्ञामें थी। उसके यहाँ किसी भी पदार्थकी कमी नहीं थी, किंतु उसके कोई संतान नहीं थी। वह एक बड़े सद्गुणसम्पन्न, सदाचारी और विरक्त महात्मा पुरुषके पास जाया करता था और उन महात्माकी सेवा-शुश्रूषा किया करता था।

एक दिन महात्माने पूछा—तुम बहुत दिनोंसे हमारे पास आते हो, तुम्हारे आनेका उद्देश्य क्या है?

विष्वक्सेनने कहा—मेरे यहाँ किसी भी चीजकी कमी नहीं है। आपकी कृपासे मेरा राज्य धन-धान्यसे पूर्ण है, पर मेरे कोई पुत्र नहीं है, यही एक अभाव है। आप कृपापूर्वक ऐसा उपाय बतलाइये, जिससे मुझे एक बहुत उत्तम पुत्रकी प्राप्ति हो।

महात्माने कहा—तुम पुत्र-प्राप्तिके लिये विष्णुयाग करो। भगवान् उचित समझेंगे तो तुम्हें पुत्र दे सकते हैं।

राजा विष्वक्सेनने महात्माके कथनानुसार यथाशास्त्र विष्णुयागका अनुष्ठान किया। उस यज्ञशेष भोजनके फलस्वरूप उसकी स्त्रीके गर्भ रह गया और दस महीनेके पश्चात् उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह बालक बहुत ही सुन्दर और बुद्धिमान् था, मानो कोई योगभ्रष्ट हो। उसके पैदा होनेपर राजाने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार उसके जातकर्मादि संस्कार कराये और उसका नाम रखा 'जनार्दन'। कुछ बड़े होनेपर जनार्दनको घरपर ही अध्यापक बुलाकर विद्याभ्यास कराया गया। कुशाग्रबुद्धि होनेके कारण जनार्दन शीघ्र ही विद्यामें पारङ्गत हो गया। वह संस्कृत आदि भाषाओंका एक अच्छा विद्वान् हो गया। वह सब लड़कोंके साथ बड़ा प्रेम करता। किसीके साथ भी कभी लड़ाई-झगड़ा और गाली-गलौज नहीं करता। वह स्वाभाविक ही सीधे सरल स्वभावका सद्गुणसदाचारसम्पन्न और मेधावी था।

एक दिन राजा विष्वक्सेन महात्माजीके पास गया तो अपने पुत्रको भी साथ ले गया। राजाने महात्माके चरणोंमें अभिवादन किया, यह देखकर लड़केने भी वैसे ही प्रणाम किया।

राजाने कहा—महात्माजी! आपने जो अनुष्ठान बतलाया था, उसके फलस्वरूप आपकी कृपासे ही मेरे यह बालक पैदा हुआ है। अतः इसको कुछ शिक्षा देनेकी कृपा करें।

महात्मा बोले—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

'इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना।'

फिर महात्माजीने उस लड़केके हाव-भावको देखकर कहा कि 'यह लड़का योगभ्रष्ट पुरुष प्रतीत होता है। अतः यह आगे चलकर बहुत उच्चकोटिका विरक्त महापुरुष बन सकता है।'

यह सुनकर राजा अपने घरपर चला आया और अपनी पत्नी, मन्त्रिगण तथा सेवकोंको एकान्तमें बुलाकर सारी बातें उन्हें बतलायीं एवं समझा दिया कि इस लड़केको सदा-सर्वदा ऐशो-आराम और स्वाद-शौकीनीके ही वातावरणमें रखना चाहिये। भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी बातोंसे इसे सर्वदा दूर रखना चाहिये। इस बातका पूरा ध्यान रखा जाना चाहिये कि जिससे कोई भी वस्तु इसके भक्ति-विवेक-वैराग्यका कारण न हो जाय।

आज्ञानुसार सारी व्यवस्था हो गयी, किंतु जनार्दनके अन्तःकरणमें जो पूर्वजन्मके प्रबल संस्कार भरे थे, वे कैसे रुक सकते थे? इसके सिवा उसके हृदयपर महात्माजीकी शिक्षाका भी पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था। जनार्दन अपने समान आयुवाले लड़कोंके साथ खेलता था; किंतु उसका मन खेल-तमाशों और भोग-आराममें कभी लगता नहीं था। वह जब कभी पर्यटनके लिये बाहर जाता, तब राजाके सिखाये-समझाये हुए बुद्धिमान् मन्त्री विद्यासागर सदा उसके साथ रहते थे।

जब जनार्दनकी १८ वर्षकी आयु हो गयी, तब उसका विवाह कर दिया गया और वह अपनी पत्नीके साथ रहने लगा। कुछ दिनों बाद उसकी स्त्री गर्भवती हुई। जब संतान होनेका समय आया, तब दिनमें स्त्रीको बड़ा कष्ट हुआ। उसी रातमें लड़का पैदा हुआ; उस समय जनार्दन अपनी स्त्रीके पास ही था। प्रसव-कष्टको देखकर वह बहुत ही घबराया। जेर और मैलेके साथ बच्चेका पैदा होना देखकर उसे बड़ी ही ग्लानि हुई और उसीके साथ सहज ही वैराग्यका भाव भी हुआ।

सबेरा होनेपर मन्त्री आ गये। सब घरवाले एकत्र हुए। रात्रिमें जनार्दनकी पत्नीकी प्रसव-वेदनाका हाल सुनकर सबको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने वैद्योंको बुलाकर दिखलाया। वैद्योंने कहा—'कष्ट तो लड़केको काफी हुआ, पर कोई चिन्ताकी बात नहीं है।

तब जनार्दनने मन्त्री विद्यासागरसे पूछा—मन्त्रीजी! पैदा होते ही लड़का बहुत ही चिल्लाया और तड़फड़ाया। ऐसा क्यों हुआ?

विद्यासागर बोले—जब बच्चा गर्भमें रहता है, तब सब द्वार बंद रहते हैं और जब वह बाहर निकलता है, तब एक बार उसे बहुत कष्ट होता है।

जनार्दन—यह जेर और मैला क्यों रहता है?

विद्यासागर—यह सब गर्भमें इसके साथ रहते हैं।

जनार्दन—तब तो गर्भमें बड़ा कष्ट रहता होगा?

विद्यासागर—इसमें क्या संदेह है? गर्भकष्ट तो भयानक होता ही है।

जनार्दन—गर्भमें यह कष्ट क्यों होता है?

विद्यासागर—पूर्वजन्मके पापोंके कारण।

जनार्दन—पूर्वजन्म क्या होता है?

विद्यासागर—जीव पहले जिस मनुष्य-शरीरमें था, वह इसका पूर्वजन्म था। वहाँ इसने कोई पाप किया था, उसीके कारण इसको विशेष कष्ट हुआ।

जनार्दन—पाप किसे कहते हैं?

विद्यासागर—झूठ बोलना, कपट करना, चोरी करना, परस्त्री-गमन करना, मांस-मदिरा खाना, दूसरोंको कष्ट पहुँचाना आदि जिन आचरणोंका शास्त्रोंमें निषेध किया गया है, वे सभी पाप हैं।

जनार्दन—शास्त्र क्या होते हैं?

विद्यासागर—श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराण आदि धर्मग्रन्थ शास्त्र हैं।

जनार्दन—अपने घरमें ये हैं?

विद्यासागर—नहीं।

जनार्दन—तो मँगा दो, मैं पढ़ूँगा।

मन्त्री विद्यासागर चुप रहे। उन्होंने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। मन्त्रीकी उपर्युक्त बातोंको सुनकर जनार्दनका चित्त उदास-सा हो गया। वह गर्भ और जन्मके दुःखको समझकर मन-ही-मन चिन्ता करने लगा—'अहो! कैसा कष्ट है' उसका प्रफुल्ल मुखकमल कुम्हला गया। उसके मुखपर विषादकी रेखा प्रत्यक्ष दिखलायी देने लगी। यह देखकर राजाने मन्त्रीसे पूछा—'मन्त्रिवर! राजकुमारका चेहरा उदास क्यों है?'

विद्यासागरने कहा—लड़का पैदा हुआ है, इससे इसके चित्तमें कुछ ग्लानि-सी है।

राजा बोला—लड़का होनेसे तो उत्साह और प्रसन्नता होनी चाहिये। फिर उन्होंने जनार्दनसे पूछा 'तुम्हारे चेहरेपर उदासी क्यों है?'

जनार्दन—ऐसे ही है।

राजा विष्वक्सेनने फिर मन्त्रीको आदेश दिया कि इसे हवाखोरीके लिये ले जाओ और चित्तकी प्रसन्नताके लिये बाग-बगीचोंमें घुमा लाओ।

विद्यासागरने वैसा ही किया। बढ़िया घोड़े जुती हुई एक सुन्दर बग्गीमें बिठलाकर वह उसे हवाखोरीके लिये शहरके बाहर बगीचोंमें ले गया। शहरसे बाहर निकलते ही जनार्दनकी एक गलित कुष्ठीपर दृष्टि पड़ी, उस कुष्ठग्रस्त मनुष्यके हाथकी अँगुलियाँ गिरी हुई थीं; पैर, कान, नाक, आँख बेडौल थे। लँगड़ाता हुआ चल रहा था।

जनार्दनने पूछा—मन्त्रीजी! यह क्या है?

विद्यासागर—यह कुष्ठरोगी है।

जनार्दन—इसकी ऐसी हालत क्यों हो गयी?

विद्यासागर—पूर्वजन्मके बड़े भारी पापोंके कारण।

जनार्दन—क्या मेरी भी यह हालत हो सकती है?

विद्यासागर—परमात्मा न करे, ऐसा हो। आप तो पुण्यात्मा हैं।

जनार्दन—हो तो सकती है न?

विद्यासागर—कुमार! जो बहुत पापी होता है, उसीके यह रोग होता है। आपके विषयमें कैसे क्या कहूँ? इतना अवश्य है कि आपके भी यदि पूर्वके बड़े पाप हों तो आपकी भी यह दशा हो सकती है।

जनार्दन—इन भारी-भारी पापोंका तथा उनके फलोंका वर्णन जिन ग्रन्थोंमें हो, उन ग्रन्थोंको मेरे लिये मँगवा दीजिये। मैंने पहले भी आपसे कहा था। अब शीघ्र ही मँगा दें।

विद्यासागर—आपके पिताजीका आदेश होनेपर मँगवाये जा सकते हैं।

इतनेमें ही आगे एक दूसरा ऐसा मनुष्य मिला, जिसके शरीरपर झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं। बाल पककर सफेद हो गये थे, अङ्ग सूखे हुए थे, आँखोंकी ज्योति मन्द पड़ गयी थी। कमर झुकी थी, वह लकड़ीके सहारे कुबड़ाकर चल रहा था, उसके हाथ-पैर काँप रहे थे एवं बार-बार कफ और खाँसीके कष्टके कारण वह बहुत तंग हो रहा था, उसको देखकर राजकुमारने पूछा—'यह कौन है?'

विद्यासागर—यह नब्बे वर्षका बूढ़ा आदमी है।

जनार्दन—जब मैं नब्बे वर्षका हो जाऊँगा, तब क्या मेरी भी यही दशा होगी ?

विद्यासागर—कुमार! आप दीर्घायु हों! मनुष्य जब वृद्ध होता है, तब सभीकी यही दशा होती है।

यह सुनकर राजकुमार जनार्दनको बड़ी ही चिन्ता हुई कि मेरी भी ऐसी दशा हो सकती है। इस प्रकार

व्याधि तथा जरासे पीड़ित पुरुषोंको देखकर राजकुमारके मनमें शरीरकी स्वस्थता और सुन्दरतापर अनास्था हो गयी।

तदनन्तर लौटते समय रास्तेमें श्मशानभूमि पड़ी। वहाँ एक मुर्दा तो जल रहा था और एक दूसरे मुर्देको कितने ही लोग 'राम-नाम सत्य है' पुकारते हुए मरघटकी ओर लिये आ रहे थे और कुछ मनुष्य उनके पीछे रोते हुए चल रहे थे।

कुमारने पूछा—यह कौन स्थान है ?

विद्यासागर—यह श्मशानभूमि है।

जनार्दन—यहाँ यह क्या होता है ?

विद्यासागर—जो आदमी मर जाता है, उसे यहाँ लाकर जलाया जाता है।

जनार्दन—यह जुलूस किसका आ रहा है? जुलूसके पीछे चलनेवाले लोग रोते क्यों हैं?

विद्यासागर—मालूम होता है, किसी जवान आदमीकी मृत्यु हो गयी है, उसके घरवाले श्मशानभूमिमें उसके शवको ला रहे हैं। ये रोनेवाले लोग उसके पिता-बन्धु आदि कुटुम्बी प्रतीत होते हैं।

जनार्दन—मृत्यु और शव किसे कहते हैं?

विद्यासागर—इस शरीरसे मन, इन्द्रिय और प्राणका निकल जाना 'मृत्यु' है। जब आदमी मर जाता है, तब उसके शरीरको शव कहा जाता है और फिर घरवाले उसे यहाँ लाकर जला देते हैं एवं वापस घर चले जाते हैं।

जनार्दन—तो फिर ये रोते क्यों हैं?

विद्यासागर—मालूम होता है, मरनेवालेका इन सबके साथ बहुत प्रेम रहा है। अब वह पुरुष सदाके लिये इनसे बिछुड़ गया है, इस बिछोहके दुःखसे ये घरवाले रो रहे हैं।

जनार्दन—क्या हम भी एक दिन मरेंगे?

विद्यासागर—कुमार! ऐसा न कहें। परमात्मा आपको सौ वर्षकी आयु दें।

जनार्दन—जो कुछ भी हो, पर आखिर एक दिन तो मरना ही होगा न?

विद्यासागर—कुमार! एक दिन तो सभीको मरना है। जो पैदा हुआ है, उसका एक दिन मरना अनिवार्य है।

मन्त्रीके वचन सुनकर राजकुमार चिन्तामग्न हो गया।

तदनन्तर आगे चलनेपर मार्गमें एक विरक्त महात्मा दिखलायी पड़े। राजकुमारने पूछा—'यह कौन है?'

विद्यासागर—यह एक जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा है।

जनार्दन—जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा किसे कहते हैं?

विद्यासागर—जिन्होंने भजन-ध्यान करके अपने आत्माका कल्याण कर लिया है।

जनार्दन—कल्याण किसे कहते हैं ?

विद्यासागर—विवेक-वैराग्य और भजन-ध्यान आदिके साधनोंद्वारा होनेवाली परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्तिको 'कल्याण' कहते हैं। कल्याणप्राप्त मनुष्यको ही 'जीवन्मुक्त महात्मा' कहते हैं। वह सदाके लिये परमात्माको प्राप्त हो जाता है और फिर वह लौटकर जन्म-मृत्युरूप असार संसारमें नहीं आता। वस्तुतः संसारमें ऐसे ही पुरुषका जन्म लेना धन्य है।

जनार्दन—क्यों मन्त्री महोदय! क्या मैं भी ऐसा बन सकता हूँ?

विद्यासागर—क्यों नहीं, जो हृदयसे चाहता है, वही बन सकता है। किंतु आप अभी बालक हैं, आपको तो संसारके सुख-विलास और भोग भोगने चाहिये। यह तो शेष कालकी बात है।

जनार्दन—तो क्या युवावस्थामें आदमी मर नहीं सकता? अभी रास्तेमें जो जुलूस जाता था, उसके विषयमें तो आपने बतलाया था न कि यह जवान लड़का मर गया है?

विद्यासागर—मर सकता है। पर पूर्वका कोई बड़ा भारी पाप होता है, तभी मनुष्य युवावस्थामें मरता है।

जनार्दन—तो क्या मेरे युवावस्थामें न मरनेकी कोई गारंटी है?

विद्यासागर—गारंटी किसीको भी नहीं हो सकती। मरनेमें प्रधान कारण प्रारब्ध ही है।

यह सुनकर राजकुमार जनार्दन बहुत ही शोकातुर हो गया और मन-ही-मन विचारने लगा कि मेरा जल्दी-से-जल्दी कल्याण कैसे हो।

वह घरपर आया। उसके चेहरेपर पहलेकी अपेक्षा अधिक उदासी देखकर राजा विष्वक्सेन चिन्ता करने लगा। तीसरे दिन फिर राजकुमारकी वही अवस्था देखकर विष्वक्सेनने मन्त्रीसे पूछा—'मन्त्री! मैं देखता हूँ, राजकुमारका चेहरा नित्य मुरझाया हुआ रहता है, इसपर प्रसन्नताका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता! ऐसा क्यों हो गया?'

विद्यासागर—राजन्! क्या कहा जाय! तीन दिन हो गये, जबसे राजकुमारके पुत्र हुआ है, तभीसे इनकी यही अवस्था है।

राजाने मन्त्रीसे पुनः कहा—इसको खूब सुख-विलास

और विषयभोगमें लगाओ। इसके साथी मित्रोंको समझाकर उनके साथ इसको नाटक-खेल और कौतुक-गृहोंमें ले जाओ। खानेके लिये नाना प्रकारके स्वादिष्ट पदार्थ और मेवे-मिष्टान्न दो। सुन्दर-सुन्दर चित्ताकर्षक दृश्य दिखाओ। इत्र, फुलेल आदि इसके सिरपर छिड़को। नृत्य-वाद्य आदिका आयोजन करके इसके मनको राग-रंगमें लगाओ।

मन्त्रीने राजाके आज्ञानुसार सारी व्यवस्था की; किंतु सब निष्फल! राजकुमारको तो अब संसारकी कोई भी वस्तु सुखदायक प्रतीत नहीं होती थी। उसे सभी पदार्थ क्षणभङ्गुर, दुःखदायी और अत्यन्त रूखे प्रतीत होते थे। भोगोंमें ग्लानि हो जानेसे वे त्याज्य प्रतीत होते। भोगोंका सेवन राजकुमारको एक महान् झंझट-सा प्रतीत होता। इत्र, फुलेल आदि उसे पेशाबके तुल्य मालूम होते। पुष्पोंकी शय्या, पुष्प और मालाएँ तथा चन्दन उसे वैसे ही नहीं सुहाते, जैसे कफ-खाँसीके रोगीको गीले वस्त्र। वीणा-सितारका बजाना-सुनना उसके कानोंको एक कोलाहल-सा प्रतीत होता। नाटक-खेल, कौतुक-तमाशे व्यर्थके झंझट दीखने लगे। बढ़िया-बढ़िया फल, मेवे, मिष्टान्न आदि पदार्थ ज्वराक्रान्त रोगीकी तरह अरुचिकर और बुरे मालूम देने लगे। शरीर और विषयोंमें उसका तीव्र वैराग्य होनेके कारण संसारका कोई भी पदार्थ उसे सुखकर नहीं प्रतीत होता। उसका कहीं किसी भी विषयमें कोई भी आकर्षण नहीं रह गया था।

उसके मुखमण्डलकी विशेष विषण्ण तथा चिन्तायुक्त उदासीन मुद्राको देखकर राजाने पूछा—'तीन दिन हुए, जबसे तुम्हारा लड़का पैदा हुआ है, मैं तुम्हारे मुखको ग्लानियुक्त और चिन्तामग्न देख रहा हूँ, इसका क्या कारण है? हर्ष और उत्साहके अवसरपर यह ग्लानि और चिन्ता कैसी?'

जनार्दनने कहा—पिताजी! आपका कहना सर्वथा युक्तियुक्त और सत्य है। जब लड़का पैदा हुआ, तब गंदी झिल्ली और मलसे संयुक्त उसकी उत्पत्तिको देखकर तथा उसके अत्यन्त दुःखभरे रुदनको सुनकर मुझे बहुत ही दुःख और आश्चर्य हुआ और मैंने बड़े ही आग्रहसे मन्त्रीजीसे पूछा। मन्त्रीजीने बतलाया कि 'इसे यह कष्ट इसके पूर्वजन्मके पापोंके कारण हुआ है।' यह सुनकर मुझे यह चिन्ता हुई कि यदि मैं झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार, हिंसा, मांस, मदिरा आदिके सेवनरूप पाप करूँगा तो मुझे भी इसी तरह गर्भवास और जन्मका दुःख भोगना पड़ेगा।

राजा विष्वक्सेनने कहा—यह सब झूठ है; कपोलकल्पना है। मरनेके बाद फिर जन्म होता ही नहीं।

तदनन्तर राजाने झिड़ककर मन्त्रीसे कहा—'क्यों जी! क्या तुमने ये सब बातें इससे कही थीं?'

मन्त्री काँपता हुआ बोला—सरकार! मुझसे कही गयीं।

जनार्दन कहने लगा—आपकी आज्ञासे मन्त्री मुझे हवाखोरीके लिये शहरसे बाहर ले गये थे, तब मैंने मार्गमें एक कुष्ठरोगीको देखा। उसे देखकर मैं उदास हो गया और मैंने इनसे पूछा, तब पता लगा कि पूर्वके बड़े भारी पापोंके कारण यह रोग होता है।

राजा बोला—पाप कोई चीज नहीं है। यह तो इस मन्त्री-जैसे मूर्खोंकी कल्पना है। तुमने जिस कुष्ठीको देखा है, वह वैसा ही जन्मा है और वैसा ही रहेगा। तुमसे उसकी क्या तुलना? तुम जैसे हो, वैसे ही जन्मे थे और वैसे ही रहोगे।

फिर राजाने कुपित होकर मन्त्रीसे कहा—तुम्हारी बुद्धिपर बड़ी तरस आती है, तुमने इस लड़केको क्यों बहका दिया?

मन्त्री बोला—सरकार! इस विषयमें मैं जैसा समझता था, वैसा ही मैंने कहा।

जनार्दनने फिर कहा—उसके बाद रास्तेमें मुझे एक अत्यन्त दुःखी बूढ़ा आदमी दिखायी दिया। मैंने पहले कभी वैसा आदमी नहीं देखा था। जानकारीके लिये मन्त्रीजीसे पूछनेपर उन्होंने बतलाया कि यह वृद्ध है। जब मनुष्य बहुत बड़ी आयुका हो जाता है, तब सभीकी ऐसी ही दशा होती है। यह देखकर मुझे चिन्ता हुई कि एक दिन मेरी भी यही दशा होगी।

राजा बोला—नहीं, कभी नहीं। जो वृद्ध होते हैं, वे वृद्ध ही रहते हैं और जो जवान होते हैं, वे जवान ही रहते हैं।

राजाने फिर क्रोधमें भरकर मन्त्रीसे कहा—क्या तुम्हें यही सब शिक्षा देनेके लिये यहाँ नियुक्त किया गया था?

मन्त्री बोला—राजकुमारके पूछनेपर मेरी जैसी जानकारी थी, वैसा ही मेरे द्वारा कहा गया।

राजाने कहा—धिक्कार है तुम्हारी जानकारीको! क्या ये सब बातें बालकोंको कहनेकी होती हैं?

फिर जनार्दन कहने लगा—पिताजी! उसके बाद हम जब भ्रमण करके वापस लौट रहे थे, तब मैंने देखा कि बहुत-से आदमी एक मरे हुए आदमीको जला रहे हैं और सब उसके चारों ओर खड़े हैं। उसी समय मैंने देखा कि नगरसे एक जुलूस वहाँ आ रहा है, चार

आदमियोंने एक किसी चीजको कंधोंपर उठा रखा है, कुछ लोग 'रामनाम सत्य' चिल्ला रहे हैं और उसके पीछे-पीछे कुछ आदमी रोते चले आ रहे हैं। यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मन्त्रीसे पूछनेपर इन्होंने बतलाया कि 'किसी जवान आदमीकी मृत्यु हो गयी है। इसके घरवाले इसे श्मशानभूमिमें ला रहे हैं और ये रोनेवाले लोग इसके पिता-बन्धु आदि कुटुम्बी प्रतीत होते हैं। ये लोग इसके वियोगमें दुःखके कारण रो रहे हैं।' इस दृश्यको जबसे मैंने देखा, तबसे मुझे मृत्युकी चिन्ता लग रही है। मैं समझता हूँ कि जब मेरी मृत्यु होगी, तब मेरी भी यही दशा होगी।

विष्वक्सेन बोला—इस मूर्ख मन्त्रीकी बातपर तुम्हें ध्यान न देना चाहिये। जवान आदमीकी कभी मृत्यु हो ही नहीं सकती। इन्होंने जो कुछ कहा है, सब बेसमझीकी बात है।

फिर उसने मन्त्रीसे कहा—क्या तुम्हें हमारे लड़केको इस प्रकार बहकाना उचित था? तुमने सचमुच मुझे बड़ा धोखा दिया।

विद्यासागरने हाथ जोड़कर कहा—सरकार! पूछनेपर जो बात उस समय समझमें आयी, वही कही गयी।

जनार्दनने कहा—उसके बाद जब हमलोगोंने लौटकर शहरमें प्रवेश किया, तब एक गेरुआ वस्त्रधारी पुरुष मिले। पूछनेपर मन्त्रीजीने बतलाया कि 'ये एक जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा हैं। इन्होंने भजन-ध्यान और सत्सङ्ग-स्वाध्याय करके अपने आत्माका कल्याण कर लिया है, जिससे इन्हें हर समय परम शान्ति और परम आनन्द रहता है। ये भगवान्‌के परम धाममें चले जायँगे और फिर लौटकर कभी दुःखरूप संसारमें नहीं आयेंगे। वहीं नित्य परम शान्ति और परम आनन्दमें मग्न होकर रहेंगे। इन्हींका जन्म धन्य है।' उसी समयसे मेरे मनमें बार-बार यही आता है कि क्या कभी मैं भी ऐसा बन सकूँगा। पूछनेपर पता लगा कि यह सब बातें श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणोंमें लिखी हैं। अतः मैंने इन पुस्तकोंको मँगानेके लिये मन्त्रीजीसे कहा था; किंतु उन्होंने उत्तर दिया कि 'मैं आपके पिताजीका आदेश लेकर ही मँगा सकता हूँ।' अतएव पिताजी! अब ये पुस्तकें मुझे शीघ्र मँगवा दीजिये।

विष्वक्सेन बोला—बेटा! ये सब पुस्तकें तुम्हारे देखने लायक नहीं हैं।

राजाने फिर मन्त्रीसे कहा—मालूम होता है, तुमने इन पुस्तकोंके नाम बतलाकर लड़केका मस्तक बिगाड़ दिया। तुम्हारी ही शिक्षाका यह फल है, जो मेरा यह सुकुमार सुन्दर राजकुमार इतनी छोटी उम्रमें ही संसारके विषय-भोगोंसे विरक्त होकर रात-दिन वैराग्य और ज्ञानकी चिन्तामें डूबा रहता है। मैंने जिस उद्देश्यसे तुमको नियुक्त किया था, उसका विपरीत परिणाम हुआ। तुम मेरे यहाँ रहने योग्य नहीं। तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वहीं जा सकते हो।

विद्यासागर हाथ जोड़कर बोला—सरकार! मेरी बेसमझीके कारणसे ही यह सब हुआ। लड़केने जो कुछ पूछा, मैंने अपनी समझके अनुसार ठीक-ठीक कह दिया; इसके लिये आप मुझे क्षमा करें।

विष्वक्सेनने कहा—'आग लगे तुम्हारी ऐसी समझपर! मेरा तो बसता हुआ घर ही तुमने उजाड़ दिया। मेरे यहाँ अब तुम्हारी आवश्यकता नहीं।' यह कहकर उसको मन्त्रीपदसे हटा दिया।

जनार्दन बोला—पिताजी! आप ऐसा क्यों कर रहे हैं? इसमें मन्त्रीजीका कुछ भी दोष नहीं है। इन्होंने तो जो कुछ कहा, उचित ही कहा और वह भी मेरे पूछनेपर ही कहा। मुझमें ज्ञान, वैराग्य और भक्तिका लेशमात्र भी नहीं है। हाँ, मैं चाहता हूँ कि मुझे ज्ञान, वैराग्य और भक्तिकी प्राप्ति हो जाय तो मैं भी जीवन्मुक्त महात्मा बनकर अपने आत्माका उद्धार कर लूँ। धन्य है उन पुरुषोंको जिन्होंने संसारसे विरक्त होकर परमात्माके भजन, ध्यान, सत्सङ्ग और स्वाध्यायमें अपना जीवन बिताकर अपने आत्माका कल्याण कर लिया है। आप मुझे आशीर्वाद दें, जिससे इस शरीर और संसारसे विरक्त होकर मेरा मन नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही लगा रहे।

इसपर राजा विष्वक्सेनने राजकुमार जनार्दनको इसके विरुद्ध बहुत कुछ समझाया, परंतु उसके एक भी नहीं लगी, क्योंकि राजकुमार योगभ्रष्ट पुरुष तो था ही, मन्त्रीकी शिक्षाने भी उसके हृदयमें विशेष काम किया था। राजकुमार वैराग्यके नशेमें चूर हो गया। वह अहङ्कार और ममतासे रहित होकर संसारसे उपरत रहता हुआ परमात्माकी खोजमें जीवन बिताने लगा।

कुछ दिनों बाद जब उसे तीव्र वैराग्य और उपरति हो गयी, तब वह सहज ही राज्यकी ओरसे सर्वथा बेपरवाह होकर उन महात्माजीके पास चला गया, जिससे बाल्यावस्थामें उसने यह श्लोक सुना था—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥

(गीता १३।८)

इस श्लोकका भाव राजकुमार जनार्दनमें अक्षरशः

संघटित था। उसने भक्ति, ज्ञान और वैराग्यके लिये महात्माजीसे प्रार्थना की। तब महात्माजीने उसको आश्वासन देते हुए भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी शिक्षा दी। उन्होंने कहा—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।

(गीता १३। ९—११)

अभिप्राय यह है कि स्त्री, पुत्र, गृह, शरीर और धन आदि पदार्थोंके साथ मनुष्यका विशेष सम्बन्ध होनेके कारण प्रायः इन्हींमें उसकी विशेष आसक्ति होती है। इन्द्रियोंके शब्दादि साधारण विषयोंमें वैराग्य होनेपर भी इनमें छिपी आसक्ति रह जाया करती है, इसलिये मनुष्यको 'आसक्तिका सर्वथा अभाव' करना चाहिये।

यहाँ 'अनभिष्वङ्ग' का अर्थ है—'ममताका अभाव'। ममत्वके कारण ही मनुष्यका स्त्री-पुत्रादिसे घनिष्ट सम्बन्ध हो जाता है। उससे उनके सुख-दुःख और लाभ-हानिसे वह स्वयं सुखी-दुःखी होता रहता है। ममताके अभावसे ही इसका अभाव हो सकता है। इसलिये मनुष्यको इन सब पदार्थोंसे ममताका अभाव करना चाहिये।

अनुकूल व्यक्ति, क्रिया, घटना और पदार्थोंका संयोग तथा प्रतिकूलताका वियोग सबको 'इष्ट' है। इसी प्रकार अनुकूलका वियोग और प्रतिकूलका संयोग 'अनिष्ट' है। इन 'इष्ट' और 'अनिष्ट'के साथ सम्बन्ध होनेपर हर्ष-शोकादिका न होना अर्थात् अनुकूलके संयोग और प्रतिकूलके वियोगसे चित्तमें राग, काम और हर्ष आदि न होना तथा प्रतिकूलके संयोग और अनुकूलके वियोगसे किसी प्रकारके द्वेष, शोक, भय और क्रोध आदिका न होना—सदा ही निर्विकार, एकरस सम रहना—इसको इष्ट और अनिष्टकी उत्पत्तिमें 'समचित्तता' कहते हैं।

भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वे ही हमारे स्वामी, शरण ग्रहण करने योग्य, परम गति, परम आश्रय, माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी, परम आत्मीय और सर्वस्व हैं; उनको छोड़कर हमारा अन्य कोई भी नहीं है—इस भावसे जो भगवान्‌के साथ अनन्य सम्बन्ध है, उसका नाम 'अनन्ययोग' है। इस प्रकारके सम्बन्धसे केवल भगवान्‌में ही अटल और पूर्ण विशुद्ध प्रेम करके निरन्तर भगवान्‌का ही भजन, ध्यान करते रहना ही 'अनन्ययोग'के द्वारा भगवान्‌में अव्यभिचारिणी भक्ति करना है।

इस प्रकारकी भक्ति करनेवाले मनुष्यमें न तो स्वार्थ और अभिमानका लेश रहता है और न संसारकी किसी भी वस्तुमें उसका ममत्व ही रह जाता है। संसारके साथ उसका भगवान्‌के सम्बन्धसे ही सम्बन्ध रहता है, किसीसे भी किसी प्रकारका स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं रहता। वह सब कुछ भगवान्‌का ही समझता है तथा श्रद्धा और प्रेमके साथ निष्कामभावसे निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करता रहता है। उसकी जो भी क्रिया होती है, वह सब भगवान्‌के लिये ही होती है।

साधकको सदा विविक्त देशका सेवन करना चाहिये। जहाँ किसी प्रकारका शोर-गुल या भीड़-भाड़ न हो, जहाँ दूसरा कोई न रहता हो, जहाँ रहनेमें किसीको भी आपत्ति या क्षोभ न हो, जहाँ किसी प्रकारकी गंदगी न हो, जहाँ काँटे-कंकड़ और कूड़ा-कर्कट न हों, जहाँका प्राकृतिक दृश्य सुन्दर हो, जहाँके जलवायु और वातावरण निर्मल और पवित्र हों, किसी प्रकारकी बीमारी न हो, हिंसक प्राणियोंका और हिंसाका अभाव हो और जहाँ स्वाभाविक ही सात्त्विकताके परमाणु भरे हों—ऐसे देवालय, तपोभूमि, गङ्गा आदि पवित्र नदियोंके तट और पवित्र वन, गिरि-गुहा आदि निर्जन एकान्त और शुद्ध देशको 'विविक्त देश' कहते हैं तथा ज्ञानको प्राप्त करनेकी साधनाके लिये ऐसे स्थानमें निवास करना ही उसका सेवन करना है।

साधकका कभी भी प्रमादी और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेम नहीं होना चाहिये। यहाँ 'जनसंसदि' पद 'प्रमादी' और 'विषयासक्त' सांसारिक मनुष्योंके समुदायका वाचक है। ऐसे लोगोंके सङ्गको साधनमें सब प्रकारसे बाधक समझकर उससे विरक्त रहना ही उनमें प्रेम नहीं करना है। संत, महात्मा और साधक पुरुषोंका सङ्ग तो साधनमें सहायक होता है; अतः उनके समुदायका वाचक यहाँ 'जनसंसदि' पद नहीं समझना चाहिये।

आत्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी है। उससे भिन्न जो नाशवान्, जड, विकारी और परिवर्तनशील वस्तुएँ प्रतीत होती हैं—वे सब अनात्मा हैं; आत्माका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे इस प्रकार आत्मतत्त्वको भलीभाँति समझ लेना ही 'अध्यात्मज्ञान' है और बुद्धिमें ठीक वैसा ही दृढ़ निश्चय करके मनसे उस आत्म-तत्त्वका नित्य-निरन्तर मनन करते रहना 'अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थित रहना' है।

तत्त्वज्ञानका अर्थ है—सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा; क्योंकि तत्त्वज्ञानसे उन्हींकी प्राप्ति होती है। उन सच्चिदानन्दघन गुणातीत परमात्माका सर्वत्र समभावसे नित्य-निरन्तर ध्यान करते रहना ही उस अर्थका दर्शन करना है।

इस प्रकार उपदेश देकर महात्माजी चुप हो गये। राजकुमार पात्र तो था ही, महात्माजीकी शिक्षाके अनुसार साधन करनेसे उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

इधर दूसरे दिन प्रातःकाल जब राजा उठा, तब पता लगा कि राजकुमार आज रातमें महलसे निकलकर कहीं चला गया। इधर-उधर चारों ओर बड़ी खोज करायी गयी, किंतु कहीं भी पता नहीं लगा। तब राजा विष्वक्सेन बहुत दुःखित हो गया।

कुछ दिनों बाद राजा उन महात्माजीका दर्शन करने गया, जिनके बतलाये हुए अनुष्ठानसे राजकुमार उत्पन्न हुआ था। राजाने महात्माजीको साष्टाङ्ग अभिवादन किया और कहा—'महाराजजी! आपने मुझको जो लड़का दिया था, वह कई दिनोंसे लापता हो गया है।'

महात्माजीने कहा—क्या तुमको पता नहीं, वह तो कई दिनोंसे मेरे पास है। वह सदा-सर्वदा ज्ञान-ध्यानमें निमग्न रहता है। उसने तो अपने जीवनको सफल बना लिया। मैंने तो तुमसे पहले ही कहा था कि यह लड़का एक बहुत उच्चकोटिका विरक्त महापुरुष बननेवाला है, वही बात आज प्रत्यक्ष हो गयी। राजन्! तुम्हारा जन्म भी धन्य है, जो तुमने ऐसे पुत्रको जन्म दिया और यह लड़का तो सौभाग्यशाली है ही।

राजकुमारकी इतनी शीघ्र और आशातीत उन्नति सुनकर तथा फिर उसकी स्थितिको प्रत्यक्ष देखकर राजाको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उसे जो पुत्रके घरसे निकल जानेका दुःख था वह सब शान्त हो गया। उसने अपना बड़ा सौभाग्य समझा।

तदनन्तर राजाने महात्माजीसे प्रार्थना की कि मुझे ऐसा कोई उपदेश करें, जिससे शरीर और संसारसे वैराग्य हो जाय। इसपर महात्माजीने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥

अभिप्राय यह है कि इस लोक और परलोकके जितने भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप विषय-पदार्थ हैं—अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जिनका भोग किया जाता है और अज्ञानके कारण जिनको मनुष्य सुखके हेतु समझता है, किंतु वास्तवमें जो दुःखके कारण हैं—उन सबमें प्रीतिका सर्वथा अभाव हो जाना—'**इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्**' यानी इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्य होना है।

मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर—इन सबमें जो 'अहं' बुद्धि हो रही है—अर्थात् अज्ञानके कारण जो इन अनात्म-वस्तुओंमें आत्मबुद्धि हो रही है—इस देहाभिमानका सर्वथा अभाव हो जाना 'अनहङ्कार' कहलाता है।

जन्मका कष्ट सहज नहीं है। पहले तो असहाय जीवको माताके गर्भमें लम्बे समयतक भाँति-भाँतिके क्लेश सहन करने पड़ते हैं; फिर जन्मके समय योनिद्वारसे निकलनेमें असह्य यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। नाना प्रकारकी योनियोंमें बार-बार जन्म ग्रहण करनेमें ये जन्म-दुःख होते हैं। मृत्युकालमें भी महान् कष्ट होता है। जिस शरीर और घरमें आजीवन ममता रही, उसे बलात्से छोड़कर जाना पड़ता है। मरणसमयके निराश नेत्रोंको और शारीरिक पीड़ाको देखकर उस समयकी यन्त्रणाका बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। बुढ़ापेकी यन्त्रणा भी कम नहीं होती, इन्द्रियाँ शिथिल और शक्तिहीन हो जाती हैं, शरीर जर्जर हो जाता है, मनमें नित्य लालसाकी तरङ्गें उठती रहती हैं, असहाय अवस्था हो जाती है। इस अशक्त अवस्थामें जो कष्ट होता है, वह बड़ा ही भयानक होता है। इसी प्रकार बीमारीकी पीड़ा भी बड़ी दुःखदायिनी होती है। शरीर क्षीण हो गया, नाना प्रकारके असह्य कष्ट हो रहे हैं, दूसरोंकी अधीनता है, निरुपाय स्थिति है, यही सब जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिके दुःख हैं। इन दुःखोंको बार-बार स्मरण करना और इनपर विचार करना ही इनमें दुःखोंको देखना है।

जीवोंको ये जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि प्राप्त होते हैं—पापोंके परिणामस्वरूप; अतएव ये चारों ही दोषमय हैं। इसीका बार-बार विचार करना इनमें दोषोंको देखना है।

यों तो एक चेतन आत्माको छोड़कर वस्तुतः संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसमें ये चारों दोष न हों। जड़ मकान एक दिन बनता है, यह उसका जन्म हुआ, कहींसे टूट-फूट जाता है, यह व्याधि हुई; मरम्मत करायी, इलाज हुआ, पुराना हो जाता है, बुढ़ापा आ गया, अब मरम्मत नहीं हो सकती। फिर जीर्ण होकर गिर जाता है, मृत्यु हो गयी। छोटी-बड़ी सभी चीजोंकी यही अवस्था है। इस प्रकार जगत्की प्रत्येक वस्तुको ही जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधिमय देख-देखकर उनसे वैराग्य करना चाहिये।

महात्माजीके इस सुन्दर उपदेशको सुनकर राजा अपने राजमहलपर लौट आया और उनके बतलाये हुए साधनके अनुसार प्रयत्न करने लगा। इससे थोड़े ही समयमें राजाको शरीर और संसारसे तीव्र वैराग्य हो गया। तब रानीको साथ लेकर राजा पुनः महात्माजीके पास गया और बोला—'आपके उपदेशसे मुझे बहुत

लाभ हुआ। अब मेरी यह इच्छा है कि जनार्दनका युवराजपदपर अभिषेक करके मैं भक्ति, ज्ञान, वैराग्यमें ही अपना शेष जीवन बिताऊँ।' इसपर महात्माजीने जनार्दनको बुलाकर कहा—'वत्स! तुम राज्यका कार्य करो, अब तुम्हें कोई भय नहीं है। अतः अब अपने पिताको अवकाश दो, जिससे ये भी भजन-ध्यान करके अपने आत्माका कल्याण करें।'

जनार्दन नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें स्थित था ही, वह बड़ी प्रसन्नतासे पिताके आज्ञानुसार राज्यकार्य करने लगा। अब रानीके सहित राजा विष्वक्सेन समय-समयपर महात्माजीका सत्सङ्ग करने लगा और उनके बतलाये हुए साधनके अनुसार तत्परतासे चेष्टा भी करने लगा।

एक दिन राजा विष्वक्सेनने महात्माजीके चरणोंमें नमस्कार करके उनसे विनय और करुणाभावपूर्वक प्रार्थना की—'महाराजजी! मुझे भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी ऐसी शिक्षा दीजिये, जिससे मेरी भी स्थिति जनार्दनकी भाँति नित्य-निरन्तर अटल हो जाय।'

तब महात्माजीने जो शिक्षा विस्तारपूर्वक जनार्दनको दी थी, वही राजाको भी दी। महात्माजीकी शिक्षा सुनकर राजा और रानी—दोनोंने श्रद्धा और प्रेमपूर्वक बड़ी लगनके साथ उनके बतलाये हुए साधनके अनुसार प्रयत्न किया; जिसके फलस्वरूप राजा और रानी दोनोंको ही परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

इस कहानीसे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हम भी शरीर और संसारसे विरक्त राजकुमार जनार्दनकी भाँति ऊपर बतलाये हुए साधनके अनुसार अपने बचे हुए जीवनको ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सत्सङ्ग और स्वाध्यायमें लगाकर सफल बनावें।

श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति

श्रीमद्भागवतमें वर्णित नवधा भक्तिके आदर्श श्रीप्रह्लादजी थे। जब हिरण्यकशिपुने पूछा कि तुमने गुरुजीसे इतने कालतक जो कुछ पढ़ा है, उन पढ़े हुए पाठोंमें जिसको तुम सबसे श्रेष्ठ समझते हो, उसे सुनाओ; तब प्रह्लादजीने कहा—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३-२४)

'भगवान् श्रीविष्णुके नाम, रूप, गुण और प्रभावादिके श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्‌की चरण-सेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्‌में दासभाव, सखाभाव और अपनेको समर्पण कर देनेका भाव—यह नौ प्रकारकी भक्ति है। यदि मनुष्यके द्वारा इस तरह यह नौ प्रकारकी भक्ति भगवान् श्रीविष्णुके प्रति की जाय तो मैं उसका निश्चय ही उत्तम अध्ययन समझता हूँ।'

श्रीप्रह्लादजीके द्वारा कथित नवधा भक्तिके ये सारे-के-सारे प्रकार परम प्रेमी अनन्य भक्त श्रीभरतजीमें मिलते हैं। भरतजी सदाचार-सद्गुणसम्पन्न, ज्ञानवान्, विरक्त, त्यागी एवं भगवान्‌के परम श्रद्धालु और अनन्य विशुद्ध निष्कामप्रेमी भक्त थे। श्रीतुलसीदासजीने अपने रामचरितमानसमें उनकी महिमाका जगह-जगह मुक्तकण्ठसे गान किया है। श्रीरामचरितमानसमें जहाँ भी भरतजीका चरित्र आया है, उसको पढ़नेसे यदि पाठकके हृदयमें थोड़ा भी प्रेम हो तो उसका हृदय गद्गद हो जाता है और अश्रुपात होने लगते हैं।

भरतजीकी महिमाके वर्णनमें श्रीतुलसीदासजीने स्वयं कहा है—

भरत प्रेमु तेहि समय जस तस कहि सकइ न सेषु।
कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुख अह मम मलिन जनेषु॥

× × ×

भरत प्रीति नति बिनय बड़ाई। सुनत सुखद बरनत कठिनाई॥

× × ×

भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेष गनेस गिरा गमु नाहीं॥

× × ×

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरतको।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

श्रीजनकजी तो भरतजीके चरित्र, गुण, भक्ति और प्रेमभावको देखकर मुग्ध ही हो गये। चित्रकूटमें वे अपनी पत्नी रानी सुनयनासे कहते हैं—

सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि। भरत कथा भव बंध बिमोचनि॥
धरम राजनय ब्रह्मबिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥

सो मति मोरि भरत महिमाही। कहै काह छलि छुअति न छाँही॥
बिधि गनपति अहिपति सिव सारद। कबि कोबिद बुध बुद्धि बिसारद॥
भरत चरित कीरति करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥
समुझत सुनत सुखद सब काहू। सुचि सुरसरि रुचि निदर सुधाहू॥

× × ×

भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं रामु न सकहिं बखानी॥
देबि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥
भरतु अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सीम समता की॥
परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥
साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

भरतजी महाराज प्रेममयी भक्तिके अगाध सागर थे या यों कहिये कि वे साक्षात् प्रेमकी मूर्ति ही थे। जहाँ-कहीं भरतजीका चरित्र देखते हैं, वहीं प्रेमका समुद्र लहराता दीखता है। इसके सिवा वे सद्गुण-सदाचारमें भी अद्वितीय थे। जिनके गुण, चरित्र, भाव और प्रेमको देखकर श्रीरामचन्द्रजी भी मुग्ध हो गये। वे कहते हैं—

तात भरत तुम्ह धरम धुरीना। लोक बेद बिद प्रेम प्रबीना॥
करम बचन मानस बिमल तुम्ह समान तुम्ह तात।
गुर समाज लघु बंधु गुन कुसमयँ किमि कहि जात॥

भरतजीकी महिमा कहाँतक बतलायी जाय? उनकी महिमा रामायणमें भरी पड़ी है। यहाँ तो केवल संक्षेपमें कुछ दिग्दर्शन कराया गया है। लेखका कलेवर न बढ़ जाय, इसलिये अधिक प्रमाण उद्धृत नहीं किये गये।

अब भक्तिके उपर्युक्त नौ प्रकार श्रीभरतजीके जीवन-चरित्रमें जिस प्रकार घटित हुए हैं, इसका महाभारत, श्रीरामचरितमानस, पद्मपुराण, वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्मरामायण आदि ग्रन्थोंके आधारपर कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

(१) श्रवण-भक्ति

भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंके द्वारा कथित भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यसे पूर्ण अमृतमयी बातोंका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण करना एवं उन अमृतमयी बातोंका श्रवण करके प्रेममें मुग्ध हो जाना श्रवण-भक्तिका स्वरूप है।

ये लक्षण श्रीभरतजीमें प्रत्यक्ष दीखते हैं। श्रीभगवान्‌के गुण, चरित्र, प्रेम और प्रभावको सुन-सुनकर भरतजी मुग्ध होते थे। जिस समय हनुमान्‌जी भगवान्‌का विजय-संदेश सुनाने भरतजीके पास नन्दिग्राममें पहुँचे, तब हनुमान्‌जीके द्वारा इस शुभ संदेशके सुनते ही भरतजीकी बड़ी अद्भुत दशा हो गयी।

उस अवस्थाका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुनत बचन बिसरे सब दूखा। तृषावंत जिमि पाइ पियूषा॥

× × ×

मिलत प्रेम नहिं हृदयँ समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥
कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥
बार बार बूझी कुसलाता। तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता॥
एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥
तब हनुमंत नाइ पद माथा। कहे सकल रघुपति गुन गाथा॥

वाल्मीकीय रामायणमें भरतजी हनुमान्‌जीसे कहते हैं—

बहूनि नाम वर्षाणि गतस्य सुमहद्वनम्।
शृणोम्यहं प्रीतिकरं मम नाथस्य कीर्तनम्॥

(युद्ध० १। २६। ९)

'भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको उस महान् वनमें गये बहुत-से वर्ष व्यतीत हो गये, किंतु उसके बाद आज ही मैं मेरे स्वामीका प्रीतिकारक कीर्तन (संदेश) सुन रहा हूँ।'

ऐसा ही श्लोक कुछ पाठभेदसे अध्यात्मरामायणमें भी मिलता है। इसके बाद वहाँ बतलाया है—

एवमुक्तोऽथ हनुमान् भरतेन महात्मना।
आचचक्षेऽथ रामस्य चरितं कृत्स्नशः क्रमात्॥
श्रुत्वा तु परमानन्दं भरतो मारुतात्मजात्॥

(युद्ध० १४। ६५-६६)

'इसके पश्चात् महात्मा भरतजीके इस प्रकार कहनेपर हनुमान्‌जीने श्रीरामचन्द्रजीका क्रमशः सम्पूर्ण चरित्र कह सुनाया। पवनकुमार हनुमान्‌जीसे वह सब चरित्र सुनकर श्रीभरतजीको अत्यन्त आनन्द हुआ।'

उस समय भरतजीकी अवस्थाका वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकिजी कहते हैं—

ततः स वाक्यैर्मधुरैर्हनूमतो निशम्य हृष्टो भरतः कृताञ्जलिः।
उवाच वाणीं मनसः प्रहर्षिणीं चिरस्य पूर्णः खलु मे मनोरथः॥

(वा० रा० युद्ध० १२६। ५५)

'इसके अनन्तर हनुमान्‌जीके उन मधुर वचनोंको श्रवण करके भरतजी बड़े ही प्रसन्न हुए। वे हाथ जोड़कर मनको अतिशय हर्षित करनेवाली वाणी बोले—'अहो! आज मेरा बहुत दिनोंका मनोरथ पूर्ण हो गया!'

जिस समय भगवान् श्रीरामका राज्याभिषेक हो जानेपर सब भाई अयोध्यामें सुखपूर्वक निवास करने लगे, उस समय जब कभी भरत और शत्रुघ्नजी हनुमान्‌जीसहित उपवनमें जाया करते, तब श्रीहनुमान्‌जीसे भगवान्‌के

गुणानुवाद सुना करते। उस वर्णनसे इनका कथा-श्रवणमें अत्यन्त अनुराग और तज्जन्य आह्लाद, मुग्धता आदि प्रत्यक्ष प्रकट हो रहे हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

भरत सत्रुहन दोनउ भाई। सहित पवनसुत उपवन जाई॥
बूझहिं बैठि राम गुन गाहा। कह हनुमान सुमति अवगाहा॥
सुनत बिमल गुन अति सुख पावहिं। बहुरि बहुरि करि बिनय कहावहिं॥

(२) कीर्तन-भक्ति

भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, चरित्र, तत्त्व और रहस्यका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उच्चारण करते-करते शरीरमें रोमाञ्च, कण्ठावरोध, अश्रुपात, हृदयकी प्रफुल्लता, मुग्धता आदिका होना कीर्तन-भक्तिका स्वरूप है।

ये लक्षण भी भरतजीमें मिलते हैं। जिस समय भरतजी शृङ्गवेरपुर पहुँचकर गङ्गातटपर ठहर गये, उस समय वहीं उनके पास गुह आया तो उसने—

दृष्ट्वा भरतमासीनं सानुजं सह मन्त्रिभिः।
चीराम्बरं घनश्यामं जटामुकुटधारिणम्॥
राममेवानुशोचन्तं राम रामेति वादिनम्।
ननाम शिरसा भूमौ गुहोऽहमिति चाब्रवीत्॥

(अध्यात्म० अयोध्या० ८। २०-२१)

'मेघके समान श्याम शरीरवाले, चीर वस्त्र पहने, जटाका मुकुट धारण किये हुए तथा श्रीरामका ही स्मरण-चिन्तन करते हुए और 'राम-राम'—इस प्रकार कहते हुए एवं मन्त्रियोंके साथ बैठे हुए छोटे भाई शत्रुघ्नसहित भरतजीको देखकर पृथ्वीपर माथा टेककर प्रणाम किया और कहा कि मैं गुह हूँ।'

इसके पश्चात् भरतजी प्रयाग गये तो वहाँ भी भजन-कीर्तन करते हुए ही गये। श्रीगोस्वामीजी लिखते हैं—

भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।
कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग॥

जिस समय भगवान्‌के विरहमें व्याकुल हुए श्रीभरतजी नन्दिग्राममें निवास करते थे, उस समय वे मुनियोंकी भाँति अपना समय बिताया करते थे। वहाँ वे प्रेममें मुग्ध होकर भगवान्‌के नामका जप और उनके गुण तथा चरित्रोंकी अमृतमयी कथाका वर्णन भी किया करते थे। श्रीरामचरितमानसमें बतलाया है—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥

पद्मपुराणके पातालखण्डमें भी आता है—

गर्तशायी ब्रह्मचारी जटावल्कलसंयुतः।
कृशाङ्गयष्टिर्दुःखार्त कुर्वन् रामकथां मुहुः॥

(१। ३०)

'उन दिनों भरतजी जमीनमें गड्ढा खोदकर उसीमें सोया करते थे। ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए मस्तकपर जटा और शरीरपर वल्कल वस्त्र धारण किये रहते थे। उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। वे बार-बार श्रीरामचन्द्रजीकी कथा कहते हुए वियोगके दुःखसे आतुर रहते थे।'

वहाँ नन्दिग्राममें भरतजीके पास जब हनुमान्‌जी पहुँचे, तब वे देखते हैं—

कथयन्तं मन्त्रिवृद्धान् रामचन्द्रकथानकम्।
तदीयपदपाथोजमकरन्दसुनिर्भरम्॥

(पद्म० पाताल० २। १२)

'भरतजी अपने वृद्ध मन्त्रियोंसे श्रीरामचन्द्रजीकी कथाएँ कह रहे हैं, जो कि उनके चरणकमलोंके मकरन्दसे अत्यन्त भरपूर हैं।'

उस समय तपस्यासे कृश हुए विरक्त भरतको भगवान् श्रीरामकी विरह-व्याकुलताभरी विह्वलताकी अवस्थामें निमग्न तथा भगवान्‌के नामका जप करते हुए देखकर हनुमान्‌के भी आनन्दकी सीमा नहीं रही। श्रीहनुमान्‌जीकी उस अवस्थाका वर्णन श्रीगोस्वामीजीके शब्दोंमें ही पढ़िये—

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥
देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥
मन महँ बहुत भाँति सुख मानी। बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी॥
जासु बिरहँ सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुन गन पाँती॥
रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता। आयउ कुसल देव मुनि त्राता॥

इस प्रकार श्रीभरतजीके भगवन्नामजप और गुणादिके कीर्तनका बड़ा ही सुन्दर प्रकरण मिलता है। हमलोगोंको उचित है कि जिस प्रकार प्रेमी भक्त भरतजी प्रेममें मग्न होकर जप तथा कथा-कीर्तन किया करते थे, उसी प्रकार हम भी उनका अनुकरण करें।

(३) स्मरण-भक्ति

प्रभुके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यका प्रेममें मुग्ध होकर मनन करना और इस प्रकार मनन करते-करते भगवान्‌के स्वरूपमें तल्लीन हो जाना स्मरण भक्तिका स्वरूप है।

भरतजीमें ये लक्षण भी मिलते हैं। भगवान् श्रीरामका बार-बार चिन्तन करनेका तो उनका स्वभाव ही था। वे सदा सर्वगुणसम्पन्न भगवान् श्रीरामके अद्भुत रूपलावण्यसंयुक्त स्वरूपका विशेषरूपसे चिन्तन किया

करते थे। वे अयोध्यामें रहते हुए तो भगवान्‌का चिन्तन करते ही थे, किंतु जब भगवान्‌को अयोध्या लौटा लानेके लिये चित्रकूट गये तब रास्तेमें भी भगवान्‌का चिन्तन करते हुए ही चले और चित्रकूटमें तो वे साक्षात् भगवान् श्रीरामका दर्शन कर ही रहे थे। तदनन्तर जब भरतजी चित्रकूटसे अयोध्या लौटे तब रास्तेमें उनके गुण, चरित्र और स्वरूपका मनन करते हुए ही आये एवं नन्दिग्राममें आकर उन्होंने अपना अधिक समय चिन्तनमें ही बिताया।

अध्यात्मरामायणमें भरतजीके अयोध्या-निवास-कालका वर्णन करते हुए लिखा है—

अवसत् स्वगृहे तत्र राममेवानुचिन्तयन्।
वशिष्ठेन सह भ्रात्रा मन्त्रिभिः परिवारितः॥

(अयोध्या० ७। ११४)

'वहाँ (अयोध्यामें) अपने घरमें गुरु वसिष्ठजी और भाई शत्रुघ्नके साथ मन्त्रियोंसे घिरे हुए भरतजी श्रीरामचन्द्रजीका ही स्मरण करते हुए रहने लगे।'

चित्रकूटके मार्गमें भरतजीकी अवस्थाका वर्णन करते हुए बतलाया है—

इत्यद्भुतप्रेमरसाप्लुताशयो विगाढचेता रघुनाथभावने।
आनन्दजाश्रुस्नपितस्तनान्तरः शनैरवापाश्रमसंनिधिं हरेः॥

(अध्यात्म० अयोध्या० ९। ४)

'जिनका हृदय इस प्रकार अद्भुत प्रेमसागरसे भरा है, मन श्रीरघुनाथजीकी भावनामें डूबा हुआ है तथा वक्षःस्थल आनन्दाश्रुओंसे भीगा हुआ है, वे भरतजी धीरे-धीरे श्रीहरिके आश्रमके निकट पहुँचे।' तथा—

भरतस्तु सहामात्यैर्मातृभिर्गुरुणा सह।
अयोध्यामगमच्छीघ्रं राममेवानुचिन्तयन्॥

(अध्यात्म० अयोध्या० ९। ६९-७०)

'भरतजी अपने मन्त्रियों, माताओं और गुरु वसिष्ठजीके साथ श्रीरामचन्द्रजीका ही चिन्तन करते हुए शीघ्रतासे अयोध्याको लौट चले।'

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

मुनि महिसुर गुर भरत भुआलू। राम बिरहँ सबु साजु बिहालू॥
प्रभु गुन ग्राम गनत मन माहीं। सब चुपचाप चले मग जाहीं॥

नन्दिग्राममें निवास करते हुए भरतजी अपने मन्त्रियोंसे कहते हैं—

दुर्भगस्य मम प्राप्तं स्वाघमार्जनमादरात्।
करोमि रामचन्द्राङ्घ्रिं स्मारं स्मारं सुमन्त्रिणः॥

(पद्म० पाताल० १। ४०)

'मन्त्रिगण! मुझ अभागेके लिये अपने पापोंके प्रायश्चित्त करनेका यह अवसर प्राप्त हुआ है। अतः मैं श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंका निरन्तर आदरपूर्वक स्मरण करते हुए अपने दोषोंका मार्जन करूँगा।'

उस समय हनुमान्‌जीने—

ददर्श भरतं दीनं कृशमाश्रमवासिनम्।
मलपङ्कविदिग्धाङ्गं जटिलं वल्कलाम्बरम्।
फलमूलकृताहारं रामचिन्तापरायणम्॥
यं त्वं चिन्तयसे रामं तापसं दण्डके स्थितम्।
अनुशोचसि काकुत्स्थः स त्वां कुशलमब्रवीत्॥

(अध्यात्म० युद्ध० १४। ५१, ५२, ५५)

अति दीन और दुर्बल अवस्थामें आश्रममें निवास करते हुए, अत्यन्त मलिन शरीरवाले, जटाजूट और वल्कल वस्त्र धारण किये हुए तथा फल-मूलादिका भोजन करके भगवान् श्रीरामके ध्यानमें तत्पर हुए भरतजीको देखा और कहा—'भरतजी! आप जिन दण्डकारण्यवासी तपोनिष्ठ भगवान् श्रीरामका चिन्तन करते हैं तथा जिनके लिये आप इतना अनुताप करते हैं, उन ककुत्स्थनन्दन श्रीरामने आपको अपनी कुशल कहला भेजी है।'

वहाँ भरतजी समय-समयपर भगवान्‌के गुण, चरित्र और प्रभावसे संयुक्त स्वरूपको याद करते हुए विरह-व्याकुलतामें मुग्ध हो जाया करते थे। परन्तु साथ-साथ उनका भगवान्‌के विरदपर यह पूरा विश्वास था कि भगवान् मुझे अवश्य मिलेंगे। इस आधारपर वे क्षण-क्षणमें भगवान्‌की प्रतीक्षा किया करते थे। उन्हें भगवान्‌के दर्शनमें विलम्ब असह्य था, अतः वे विरह-व्याकुलतामें निमग्न हुए मन-ही-मन करुणाभावसे विलाप किया करते थे। इस विषयमें श्रीतुलसीदासजीने उनके विलापका बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा है। वे कहते हैं—

भरत नयन भुज दच्छिन फरकत बारहिं बार।
जानि सगुन मन हरष अति लागे करन बिचार॥

रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरें जियँ भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

भगवान् श्रीरामके वियोगमें उनकी आशा-प्रतीक्षा करते हुए भरतजी किस प्रकार उनके गुण और स्वभावका चिन्तन करनेमें अपना समय बिता रहे हैं, यह ध्यान देने योग्य है!

(४) पादसेवन-भक्ति

श्रीभगवान्‌के दिव्य मङ्गलमय स्वरूपकी धातु आदिकी मूर्ति, चित्रपट अथवा मानस मूर्तिके मनोहर चरणोंका तथा उनकी चरणरज और चरण-पादुकाओंका श्रद्धापूर्वक दर्शन, चिन्तन, पूजन और सेवन करते-करते भगवत्प्रेममें मग्न हो जाना और उनका चरणामृत लेना 'पाद-सेवन' कहलाता है।

ये लक्षण भी भरतजीमें मिलते हैं। पादसेवन-भक्तिके तो भरतजी आचार्य ही हैं। यद्यपि लक्ष्मणजी सदा ही भगवान्‌के चरणोंकी सेवामें रत हैं, किंतु चरणोंके ही समान चरण-पादुकाओंकी भी सेवा-पूजा करनेकी शिक्षा तो हमें भरतजीसे ही मिलती है। इसके सिवा चरण-रजका आदर भी जैसा भरतजीने किया, वैसा किसीने किया हो, इसका कोई उल्लेख वाल्मीकीय रामायणकालसे पूर्व कहीं देखनेमें प्रायः नहीं आता।

चित्रकूटके लिये प्रस्थान करनेके पूर्वसे ही भरतजीके हृदयमें जो भगवान्‌के चरणकमलोंमें अनन्य भक्ति तथा चरणोंके दर्शन और सेवनकी लालसा विद्यमान थी, वह अलौकिक और प्रशंसनीय है। वे जब अयोध्यासे चित्रकूट गये, तब रास्तेमें जहाँ-कहीं भगवान्‌की चरण-रज मिली, वे उसको बड़े ही आदर-सम्मानपूर्वक श्रद्धा-प्रेमसे सिर और आँखोंपर लगाकर मुग्ध हो गये। भरतजी महाराज श्रीरामचन्द्रजीकी चरण-सेवाके हेतु ही उनको चित्रकूटसे अयोध्या लौटनेका आग्रह करते रहे; किंतु जब भगवान्‌ने किसी प्रकार भी अयोध्या जाना स्वीकार नहीं किया, तब उन्होंने चरणसेवाके अङ्गरूप चरणपादुका प्रदान करनेकी प्रार्थना की। इतना ही नहीं, उन्होंने भगवान्‌के द्वारा दी हुई चरणपादुकाओंको अपने मस्तकपर धारण करके उनको ही अपने वियोगकी अवधिका आधार बनाया तथा वे चित्रकूटसे लौटते समय मार्गमें भी चरणपादुकाओंका ही मनन करते हुए नन्दिग्राम पहुँचे। वहाँ आकर भरतजी चरण-पादुकाओंको राज्यसिंहासनपर स्थापन करके राज्यका सारा कार्य उन्हींको निवेदन करके किया करते थे। वे चरण-पादुकाओंको ही अपने प्राणोंका आधार मानते और बहुत ही श्रद्धाप्रेमपूर्वक उनका पूजन किया करते। वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायणमें तो यहाँतक दिखलाया है कि जब श्रीरामचन्द्रजी महाराज अयोध्या लौटे, तब भरतजी चरण-पादुकाओंको मस्तकपर धारण करके उनके सामने गये। धन्य है, भरतजीकी चरण-सेवा-भक्तिको!

श्रीभरतजी कहते हैं—

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
शिरसा प्रग्रहीष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति॥
(वा० रा०, अयोध्या० ९८। ९)

'जबतक मैं राजाके उपर्युक्त चिह्नोंसे युक्त भाईके चरणोंको सिरसे प्रणाम न कर लूँगा, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।'

श्रीरामचरितमानसमें लिखा है—

चरन रेख रज आँखिन लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥

तथा—

हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥
देखि भरत गति अकथ अतीवा। प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा॥

अध्यात्मरामायणमें बतलाया है—

स तत्र वज्राङ्कुशवारिजाञ्चितध्वजादिचिह्नानि पदानि सर्वतः।
ददर्श रामस्य भुवोऽतिमङ्गलान्यचेष्टयत् पादरजःसु सानुजः॥
अहो सुधन्योऽहममूनि रामपादारविन्दाङ्कितभूतलानि।
पश्यामि यत्पादरजो विमृग्यं ब्रह्मादिदेवैः श्रुतिभिश्च नित्यम्॥
(अयोध्या० ९। २-३)

'भरतजीने वहाँ सब ओर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वज्र, अङ्कुश, कमल और ध्वजा आदिके चिह्नोंसे सुशोभित तथा पृथ्वीके लिये अति मङ्गलमय चरण-चिह्न देखे। उन्हें देखकर भाई शत्रुघ्नके सहित वे उस चरणरजमें लोटने लगे और मन-ही-मन कहने लगे—'अहो! मैं परम धन्य हूँ! जो आज श्रीरामचन्द्रजीके उन चरणारविन्दोंके चिह्नोंसे सुशोभित भूमिको देख रहा हूँ, जिनकी चरणरजको ब्रह्मा आदि देवगण और सम्पूर्ण श्रुतियाँ भी सदा खोजती हैं।'

जब चित्रकूटमें अनेक आग्रह करनेपर भी भगवान् श्रीराम अयोध्या चलनेको तैयार न हुए, तब भरतजीने कहा—

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः॥
....
चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम्॥

फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन।
तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन् वै नगराद् बहिः॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परंतप।
चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम॥
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्।

(वा० रा०, अयोध्या० ११२। २१, २३—२६)

'आर्य! आप इन दोनों सुवर्णभूषित पादुकाओंपर अपने चरण रखें! ये ही सम्पूर्ण जगत्के योगक्षेमका निर्वाह करेंगी। वीर रघुनन्दन! मैं भी चौदह वर्षोंतक जटा और चीर धारण करके फल-मूलका भोजन करूँगा। परंतप! आपके आनेकी बाट जोहता हुआ नगरसे बाहर ही रहूँगा। इतने दिनोंतक राज्यका सारा भार आपकी इन चरण-पादुकाओंपर ही रहेगा। रघुनाथजी! चौदहवाँ वर्ष पूरा होनेके बाद यदि पहले ही दिन मुझे आपका दर्शन नहीं मिलेगा तो मैं जलती हुई आगमें प्रवेश कर जाऊँगा।'

अध्यात्मरामायणमें भरतजी कहते हैं—

पादुके देहि राजेन्द्र राज्याय तव पूजिते।
तयोः सेवां करोम्येव यावदागमनं तव॥

(अयोध्या० ९। ४९)

'राजेन्द्र! आप मुझे राज्य-शासनके लिये अपनी जगत्पूज्य चरण-पादुकाएँ दीजिये। जबतक आप लौटेंगे, तबतक मैं उन्हींकी सेवा करता रहूँगा।'

इत्युक्त्वा पादुके दिव्ये योजयामास पादयोः।
रामस्य ते ददौ रामो भरतायातिभक्तितः॥
गृहीत्वा पादुके दिव्ये भरतो रत्नभूषिते।
रामं पुनः परिक्रम्य प्रणनाम पुनः पुनः॥
भरतः पुनराहेदं भक्त्या गद्गदया गिरा।
नवपञ्चसमान्ते तु प्रथमे दिवसे यदि॥
नागमिष्यसि चेद् राम प्रविशामि महानलम्।

(अध्यात्म०, अयोध्या० ९। ५०—५३)

'ऐसा कहकर भरतजीने श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दो दिव्य पादुकाएँ (खड़ाऊँ) पहना दीं। श्रीरामचन्द्रजीने भरतका भक्तिभाव देखकर वे खड़ाऊँ भरतजीको दे दीं। भरतजीने वे रत्नजटित दिव्य पादुकाएँ लेकर फिर श्रीरामचन्द्रजीकी परिक्रमा की और उन्हें बार-बार प्रणाम किया। तदनन्तर वे भरतजी प्रेमभरी गद्गद वाणीसे इस प्रकार बोले—'रामजी! यदि चौदह वर्षके व्यतीत होनेपर आप पहले दिन ही अयोध्या न लौटे तो मैं महान् अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा।'

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥

महाभारतमें बतलाया है—

विसर्जितः स रामेण पितुर्वचनकारिणा।
नन्दिग्रामेऽकरोद् राज्यं पुरस्कृत्यास्य पादुके॥

(वन० २७७। ३९)

'पिताके वचनोंका पालन करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा विदा किये हुए भरतजी नन्दिग्राममें आ गये और उन श्रीरघुनाथजीकी पादुकाओंको सामने रखकर समस्त राज्यका पालन करने लगे।'

वाल्मीकीय रामायणमें वर्णन आता है कि भरतजी नन्दिग्राममें जाकर बड़े-बूढ़ोंसे इस प्रकार बोले—

एतद् राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासमुत्तमम्।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते॥

(वा० रा०, अयोध्या० ११५। १४)

'मेरे भाई श्रीरामने मुझे उत्तम धरोहरके रूपमें यह राज्य दिया है और इसके योगक्षेमके संचालनके लिये ये दो स्वर्णभूषित पादुकाएँ दी हैं।

फिर प्रजामण्डलसे कहने लगे—

छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम॥

(वा० रा०, अयोध्या० ११५। १६)

'ये पादुकाएँ आर्य श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंकी प्रतिनिधि हैं, अतः इनपर शीघ्र ही छत्र धारण करो। मेरे गुरु श्रीरामचन्द्रजीकी इन पादुकाओंसे ही राज्यमें धर्म स्थापित होगा।'

ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके।
तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा॥
तदा हि यत् कार्यमुपैति किंचि-
दुपायनं चोपहृतं महार्हम्।
स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य
चकार पश्चाद् भरतो यथावत्॥

(वा० रा०, अयोध्या० ११५। २६-२७)

'तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीकी श्रेष्ठ पादुकाओंका अभिषेक करके और स्वयं सर्वदा उनके अधीन होकर श्रीमान् भरतजी उस समय राज्यका पालन करने लगे। उस समय जो कोई भी कार्य उपस्थित होता तथा जो कुछ भी श्रेष्ठ बहुमूल्य भेंट आती, वह सब भरतजी पहले पादुकाओंको निवेदित करके फिर उसका यथावत् प्रबन्ध कर देते।'

श्रीहनुमान्‌जीने नन्दिग्राममें आकर—

ददर्श भरतं दीनं कृशमाश्रमवासिनम्।
जटिलं मलदिग्धाङ्गं भ्रातृव्यसनकर्शितम्॥

फलमूलाशिनं दान्तं तापसं धर्मचारिणम्।
समुन्नतजटाभारं वल्कलाजिनवाससम्॥
नियतं भावितात्मानं ब्रह्मर्षिसमतेजसम्।
पादुके ते पुरस्कृत्य प्रशासन्तं वसुन्धराम्॥

(वा० रा०, युद्ध० १२५। ३०—३२)

—देखा कि भरतजी 'कृश और दीन हैं तथा आश्रम बनाकर रहते हैं। उनकी जटाएँ बढ़ी हुई हैं, शरीरपर मैल जम गया है, भाईके वनवासके दुःखसे वे बहुत ही कृश हो गये हैं, फल-मूल ही उनका भोजन है, वे इन्द्रियोंका दमन करके तपस्यामें लगे हुए हैं और धर्मका आचरण करते हैं। उनके मस्तकपर जटाओंका भार है और शरीरपर वल्कल तथा मृगचर्मके वस्त्र हैं। उनका जीवन बहुत नियमित और अन्तःकरण भगवान्‌के ध्यानसे विशुद्ध है, वे ब्रह्मर्षिके समान तेजस्वी भरतजी श्रीरघुनाथजीकी उन पादुकाओंको आगे रखकर पृथ्वीका शासन कर रहे हैं।'

महाभारतमें भी आया है कि—

स तत्र मलदिग्धाङ्गं भरतं चीरवाससम्।
अग्रतः पादुके कृत्वा ददर्शासीनमासने॥

(वन० २९१। ६२-६३)

'वनवाससे लौटकर उन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने नन्दिग्राममें आकर चीर-वस्त्र पहने हुए और मैल जमे हुए शरीरवाले भरतको पादुकाओंको आगे रखकर आसनपर बैठे हुए देखा।'

श्रीरामचन्द्रजीको आते देखकर वे बड़े ही प्रसन्न हुए और—

आर्यपादौ गृहीत्वा तु शिरसा धर्मकोविदः।
पाण्डुरं छत्रमादाय शुक्लमाल्योपशोभितम्॥
शुक्ले च बालव्यजने राजार्हे हेमभूषिते।

....

प्रत्युद्ययौ तदा रामं महात्मा सचिवैः सह॥

(वा० रा०, युद्ध० १२७। १८-१९, २१)

'धर्मज्ञ भरतने अपने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजीकी पादुकाएँ सिरपर रख लीं तथा श्वेत मालाओंसे सुशोभित सफेद रंगका छत्र और राजाओंके योग्य सोनेसे मढ़े हुए दो सफेद चँवर भी ले लिये। उस समय महात्मा भरत मन्त्रियोंके साथ श्रीरामजीकी अगवानीके लिये शीघ्र ही चल पड़े।'

अध्यात्मरामायणमें भी लिखा है कि—

भरतः पादुके न्यस्य शिरस्येव कृताञ्जलिः।
शत्रुघ्नसहितो रामं पादचारेण निर्ययौ॥

(अध्यात्म०, युद्ध० १४। ७५-७६)

'श्रीरघुनाथजीसे मिलनेके लिये भाई शत्रुघ्नके सहित भरतजी सिरपर भगवान्‌की पादुकाएँ रखकर हाथ जोड़े हुए पैदल ही चले।'

इस प्रकार चरणपादुकाओंको चरणोंके तुल्य समझकर सेवा करनेका भाव, कथा या चरित्र भरतजीसे पूर्व कहीं देखनेमें नहीं आता। अतः हमलोगोंको भरतजीको आदर्श मानकर भगवान्‌के चरण, चरण-पादुका और चरण-रजकी सेवा करनी चाहिये।

(५) अर्चन-भक्ति

धातु आदिसे बनी मूर्ति या चित्रपटके रूपमें देखे हुए अथवा श्रीभगवान्‌के भक्तोंसे सुने हुए भगवान्‌के स्वरूपका बाह्य सामग्रियोंसे तथा भगवान्‌की मानसिक मूर्तिका मानसिक सामग्रियोंसे एवं उनके साक्षात् विग्रह और चरणोंका नानाविध उपचारोंसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सेवन-पूजन करना और उनके तत्त्व, रहस्य तथा प्रभावको समझ-समझकर प्रेममें मुग्ध होना 'अर्चन-भक्ति' है।

ये लक्षण भी भरतजीमें विद्यमान थे। साक्षात् भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी प्रेमपूर्वक पूजा करनेकी तो बात ही क्या, भगवान्‌की अनुपस्थितिमें भरतजी मनसे भगवान्‌को आसनपर स्थापन करके मनसे ही उनकी सेवा-पूजा किया करते थे। जब भरतजी महाराज भरद्वाजजीके आश्रममें गये, तब वहाँ भरद्वाजजीने भरतजीके आतिथ्यसत्कारमें सिद्धियोंसे राजमहलकी रचना करके भरतजीके लिये राजाओंके योग्य एक सिंहासनकी स्थापना की थी; किंतु भरतजी उस सिंहासनपर नहीं बैठे; बल्कि उसे भगवान् श्रीरामका सिंहासन मानकर स्वयं मन्त्रीके स्थानपर स्थित हो रातभर चँवर डुलाते हुए ही भगवान्‌की सेवा करते रहे। श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च।
भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत्॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च।
बालव्यजनमादाय न्यषीदत् सचिवासने॥

(वा० रा०, अयोध्या० ९१। ३८-३९)

'भरतने वहाँ दिव्य राज्यसिंहासन, चँवर और छत्र भी देखे तथा उनमें राजा (राम) की भावना करके मन्त्रियोंके साथ उन सबकी प्रदक्षिणा की। 'सिंहासनपर श्रीरामचन्द्रजी विराजमान हैं, ऐसा मानकर उन्होंने श्रीरामको प्रणाम किया और उस सिंहासनकी भी पूजा की। फिर अपने हाथमें चँवर ले वे मन्त्रीके आसनपर जा बैठे।'

भरतजीने इस प्रकार सेवा-पूजा करते हुए ही वह रात्रि व्यतीत की। कैसी अनोखी सेवा-पूजा है!

जब भरतजी नन्दिग्राम आये तब वहाँ राज्यसिंहासनपर भगवान्‌के स्थानमें भगवान्‌की चरण-पादुकाओंको स्थापित करके उनकी पत्र, पुष्प, गन्ध आदिके द्वारा शास्त्रविधिके अनुसार पूजा किया करते थे।

अध्यात्मरामायणमें बतलाया है—

तत्र सिंहासने नित्यं पादुके स्थाप्य भक्तितः।
पूजयित्वा यथा रामं गन्धपुष्पाक्षतादिभिः॥
राजोपचारैरखिलैः प्रत्यहं नियतव्रतः।
राजकार्याणि सर्वाणि यावन्ति पृथिवीतले॥
तानि पादुकयोः सम्यङ् निवेदयति राघवः।

(अयोध्या० ९। ७१-७२, ७४)

'वहाँ एक सिंहासनपर उन दोनों पादुकाओंको रखकर वे नियमित व्रतवाले रघुश्रेष्ठ भरतजी श्रीरामचन्द्रजीके समान ही उनकी नित्य भक्तिपूर्वक गन्ध, पुष्प और अक्षत आदि समस्त राजोचित सामग्रियोंसे पूजा करनेके अनन्तर प्रतिदिन पृथ्वीके जितने भी राजकार्य होते, उन सबको पादुकाओंके सामने भली प्रकार निवेदन कर दिया करते थे।'

इसी प्रकार पद्मपुराणमें भी आता है कि—

रामस्य पादुके राज्यमवाप्य भरतः शुभे।
प्रत्यहं गन्धपुष्पैश्चापूजयत् कैकयीसुतः॥
तपश्चरणयुक्तेन तस्मिंस्तस्थौ नृपोत्तमः।

(उत्तर० २६९। १९०-१९१)

'कैकेयीनन्दन भरतजी श्रीरामचन्द्रजीकी उन मङ्गलमयी पादुकाओंको राजसिंहासनपर स्थापित करके नित्य गन्ध-पुष्प आदिसे उनकी पूजा किया करते और इस प्रकार वे नृपश्रेष्ठ भरतजी उस नन्दिग्राममें तपस्यामें संलग्न होकर रहने लगे।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राजकाज बहु भाँति॥

भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा तो शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर मिलती है; किंतु भगवान्‌के स्थानमें चरणपादुकाओंको रखकर उनकी भी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक पूजा करना—इस शिक्षाके प्रवर्तक आचार्य तो श्रीभरतजी ही हुए। धन्य है उनकी इस अलौकिक अर्चन-भक्तिको!

चौदह वर्षकी अवधि समाप्त होनेपर जब श्रीरामचन्द्रजी महाराज अयोध्या आ रहे थे, तब तो भरतजीने प्रत्यक्ष ही विमानपर स्थित श्रीरामचन्द्रजीका अर्घ्य-पाद्यादिसे विधिपूर्वक पूजन किया।

प्राञ्जलिर्भरतो भूत्वा प्रहृष्टो राघवोन्मुखः।
यथार्थेनार्घ्यपाद्याद्यैस्ततो राममपूजयत्॥

(वा० रा०, युद्ध० १२७। ३६)

'भरतजी प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामचन्द्रजीकी ओर दृष्टि लगाये हाथ जोड़कर खड़े हो गये। फिर उन्होंने विमानमें विराजमान श्रीरामजीकी विधिपूर्वक अर्घ्य-पाद्य आदिसे पूजा की।'

इस प्रकार रामचरित्रोंमें यत्र-तत्र भरतजीके द्वारा पूजा करनेके अनेक स्थल मिलते हैं। हमलोगोंको भी भरतजीको आदर्श मानकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌की सेवा-पूजा करनेमें तत्परतासे लगना चाहिये।

(६) वन्दन-भक्ति

श्रीभगवान्‌के शास्त्रवर्णित स्वरूप, भगवान्‌के नाम, भगवान्‌की धातु आदिकी मूर्ति, चित्र अथवा मानसिक मूर्तिको एवं भगवान्‌के साक्षात् चरणोंको शरीर अथवा मनसे श्रद्धा-सहित प्रणाम करना और ऐसा करते हुए भगवत्प्रेममें मुग्ध होना 'वन्दन-भक्ति' है। ये लक्षण भी भरतजीमें पूर्णतया विद्यमान थे। भरतजीकी वन्दन-भक्तिके विषयमें तो कहना ही क्या है। वे जब महाराज श्रीरामचन्द्रजीको लौटा लानेके लिये विदा हुए, तब रास्तेमें उनको नमस्कार करते हुए ही गये और चित्रकूटमें पहुँचकर तो वे दण्डकी भाँति भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़े तथा करुणाभावसे विह्वल हो गये। श्रीतुलसीदासजी लिखते हैं—

सखा बचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी॥
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई॥

× × ×

कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥

× × ×

सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सिय पद पदुम परागा॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए। सिर कर कमल परसि बैठाए॥

श्रीअध्यात्मरामायणमें बतलाया है—

मातुर्मे दुष्कृतं किञ्चित् स्मर्तुं नार्हसि पाहि नः।
इत्युक्त्वा चरणौ भ्रातुः शिरस्याधाय भक्तितः॥
रामस्य पुरतः साक्षाद् दण्डवत् पतितो भुवि।

(अयोध्या० ९। २५-२६)

'मेरी माताका जो कुछ अपराध है, उसे भूल जाइये और हमलोगोंकी रक्षा कीजिये।—ऐसा कहकर भरतजीने भाई श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंको भक्तिपूर्वक मस्तकपर रख लिया और साक्षात् श्रीरामचन्द्रजीके सम्मुख दण्डके समान पृथ्वीपर गिर पड़े।'

चित्रकूटसे वापस आते समय भी भरतजी भगवान्‌को प्रणाम करके दु:खित हृदयसे ही आये हैं। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

अस कहि प्रेम बिबस भए भारी। पुलक सरीर बिलोचन बारी॥
प्रभु पद कमल गहे अकुलाई। समउ सनेहु न सो कहि जाई॥

× × ×

प्रभु पद पदुम बंदि दोउ भाई। चले सीस धरि राम रजाई॥

जब भगवान् श्रीरामचन्द्रजी वनसे लौटकर अयोध्या आये, तब भरतजी उनके चरणोंमें लिपट गये; यद्यपि भरतजी उन चरणोंको छोड़ना नहीं चाहते थे, पर भगवान्‌ने बलपूर्वक उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया। उस समय भरतजीने सीताजीको भी प्रणाम किया और अपनेको अपराधी मानकर उनसे अपराधके लिये क्षमा-प्रार्थना की।

श्रीवाल्मीकीय रामायणका वर्णन है—

ततो विमानाग्रगतं भरतो भ्रातरं तदा।
ववन्दे प्रणतो रामं मेरुस्थमिव भास्करम्॥
आरोपितो विमानं तद् भरतः सत्यविक्रमः।
राममासाद्य मुदितः पुनरेवाभ्यवादयत्॥
ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदेहीं च परंतपः।
अथाभ्यवादयत् प्रीतो भरतो नाम चाब्रवीत्॥

(वा० रा०, युद्ध० १२७। ३८, ४०, ४२)

'उस समय भरतजीने विमानके अग्रभागमें विराजमान भाई श्रीरामको देखा और जिस प्रकार लोग मेरुपर्वतस्थ दीखते हुए सूर्यको नमस्कार करते हैं, उसी प्रकार उस समय श्रीरामको विनयपूर्वक प्रणाम किया। भगवान् श्रीरामने सत्यपराक्रमी भरतजीको उस विमानपर चढ़ा लिया। भरतजीने श्रीरघुनाथजीके पास पहुँचकर प्रसन्नचित्त हो पुनः प्रणाम किया। तदनन्तर भाई लक्ष्मणसे मिलकर फिर परंतप भरतजीने सीताजीको अपना नाम उच्चारण करके प्रेमसे अभिवादन किया।'

प्राय: ऐसा ही वर्णन अध्यात्मरामायणमें भी आया है। वहाँ बतलाया है—

आरोपितो विमानं तद् भरतः सानुजस्तदा।
राममासाद्य मुदितः पुनरेवाभ्यवादयत्॥
ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदेहीं नाम कीर्तयन्।
अभ्यवादयत प्रीतो भरतः प्रेमविह्वलः॥

(युद्ध० १४। ८३, ८५)

'उस समय भगवान् श्रीरामने भाई शत्रुघ्नके सहित भरतजीको उस विमानपर चढ़ा लिया। श्रीरामचन्द्रजीके निकट पहुँचनेपर भरतजीने अति आनन्दित हो उन्हें पुनः प्रणाम किया। फिर प्रेमसे विह्वल हुए भरतजीने लक्ष्मणजीसे मिलकर श्रीसीताजीको अपना नाम उच्चारण करते हुए प्रेमपूर्वक प्रणाम किया।'

उस समयकी भरतजीकी अवस्थाका दिग्दर्शन कराते हुए पद्मपुराणमें भी बतलाया है—

दृष्ट्वा समुत्तीर्णमिमं रामचन्द्रं स तैर्युतम्।
हर्षाश्रूणि प्रमुञ्चंश्च दण्डवत् प्रणनाम ह॥
उत्थापितोऽपि च भृशं नोदतिष्ठद् रुदन् मुहुः।
रामचन्द्रपदाम्भोजग्रहणासक्तबाहुभृत् ॥
पतिव्रतां जनकजाममन्यत ननाम च।
मातः क्षमस्व यदघं मया कृतमबुद्धिना॥

(पद्म०, पाताल० २। २९, ३१, ३७-३८)

'उन सहायकोंसहित श्रीरामचन्द्रजीको भूमिपर उतरे देख वे भरतजी हर्षके आँसू बहाते हुए उनके सामने ही दण्डकी भाँति धरतीपर पड़ गये। आरम्भमें भगवान्‌के बारंबार उठानेपर भी वे उठे नहीं; अपितु अपने दोनों हाथोंसे श्रीरामचन्द्रजीके चरणारविन्दोंको पकड़कर लगातार फूट-फूटकर रोते रहे। तत्पश्चात् पतिव्रता जनककिशोरीका दर्शन करके भरतजीने उन्हें सम्मानपूर्वक प्रणाम किया और कहा—माँ! मुझ मूर्खके द्वारा जो अपराध हो गया है, उसे क्षमा करना।'

श्रीरामचरितमानसका वर्णन इस प्रकार है—

गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज॥
परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े। नव राजीव नयन जल बाढ़े॥

प्रेम और विनयकी क्या ही सुन्दर अवस्था है! भरतजी प्रेम और विनयकी तो मूर्ति ही थे। वन्दन करना तो उनका स्वभाव बन गया था। जब कभी वे भगवान्‌से मिलते, तभी उन्हें नमस्कार किया करते थे। उनकी यह आदर्श वन्दन-भक्ति हमलोगोंके लिये सदा अनुकरणीय है।

(७) दास्य-भक्ति

श्रीभगवान्‌के गुण, तत्त्व, रहस्य और प्रभावको समझते हुए श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना तथा प्रभुको स्वामी और अपनेको सेवक समझना 'दास्यभावरूप भक्ति' है।

यह भाव तो भरतजीमें पद-पदपर पाया जाता है। यह तो उनका मुख्य भाव है। जब भरतजी ननिहालसे अयोध्या लौट आये, तब कैकेयीसे कह दिया कि मैं

श्रीरामचन्द्रजीको लौटाकर उनका दास होकर उनकी सेवा करूँगा। बादमें गुरु वसिष्ठजी और मन्त्रियोंने उनको राज्य देनेकी बहुत चेष्टा की, किंतु उनके उत्तरमें भरतजीने यही कहा कि 'मैं इसमें आपका और अपना किसीका भी हित नहीं देखता। मैं तो अपना हित उनकी सेवामें ही समझता हूँ।' भरतजीके इस भावको सुनकर सभी मुग्ध हो गये। इस भावको लेकर भरतजी रामचन्द्रजी महाराजको लाने अयोध्यासे चित्रकूटके लिये विदा हुए। मार्गमें जहाँ-कहीं वे ठहरे, उनके बर्ताव और वार्तालापसे यही भाव झलकता था। चित्रकूटमें भी उनकी प्रत्येक क्रियामें दासभाव टपकता था, क्योंकि वे दासभावकी एक जीती-जागती मूर्ति ही थे। उन्होंने आजीवन भगवान् श्रीरामकी सेवा और उनकी आज्ञाके पालनको ही अपना सर्वोत्तम परम धर्म मान रखा था और इसीमें वे अपना परम कल्याण समझते थे। उनकी दृष्टिमें भगवान् श्रीरामकी सेवासे बढ़कर और कोई दूसरा काम ही नहीं था। भगवान्‌की कठिन-से-कठिन आज्ञा उनके लिये सहर्ष शिरोधार्य थी। भरतजी अपने स्वामीको संकोचमें डालना पाप समझते थे। भगवान् श्रीरामकी आज्ञाके पालनार्थ ही उन्होंने चौदह वर्षतक उनका वियोग सहन किया। राज्यका काम करते हुए पद-पदपर उनका श्रीरामके प्रति सेवाभाव चमकता था। चौदह वर्षके पश्चात् भगवान्‌के वापस आनेपर भरतजी उनका राज्य उनके चरणोंमें समर्पित करके आजीवन उन्हींकी सेवा और आज्ञापालनमें लगे रहे। कभी नगरसे बाहर जाना होता, तब वहाँ भी उनकी सेवा करना और अपने हितके लिये उपदेशकी बातें पूछते रहना—उनका मुख्य काम था। इस प्रकार भरतजीने आजीवन प्रधानतया दासभावमें ही अपना समय बिताया।

उनकी सेवा, आज्ञापालन और प्रेमके भावोंसे भगवान् स्वयं मुग्ध थे। इस विषयमें उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी ही थोड़ी है। प्रेम और विनयपूर्वक सेवाभावके लिये भरतजी परम आदर्श हैं। यद्यपि भरतजीके सारे ही आचरण दास-भावके द्योतक हैं, तथापि कई स्थलोंमें तो दासभावकी ही प्रधानता है। अब नीचे कुछ प्रमुख प्रमाणोंके द्वारा उनके दासभावका दिग्दर्शन कराया जाता है—

माता कैकेयीके प्रति भरतजीके वचन हैं—

निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना॥

(वा० रा०, अयोध्या० ७३। २७)

'मैं श्रीरामको लौटा लाऊँगा और उन देदीप्यमान तेजस्वी महापुरुषका दास बनकर सुस्थिर—शान्तचित्तसे जीवन व्यतीत करूँगा।'

अध्यात्मरामायणमें भी आता है कि—

गच्छाम्यरण्यमद्य स्थिरमतिरखिलं दूरतोऽपास्य राज्यम्।
रामं सीतासमेतं स्मितरुचिरमुखं नित्यमेवानुसेवे॥

(अयोध्या० ७। ११४)

मैंने निश्चय कर लिया; मैं सम्पूर्ण राज्यको सर्वथा छोड़कर आज ही वनको जाऊँगा और मधुर मुसकानसे जिनका मुखारविन्द अति शोभित हो रहा है, उन सीतासहित श्रीरामजीकी नित्यप्रति सेवा करूँगा।

भरतजी गुरु वसिष्ठजी तथा मन्त्रियोंसे कहते हैं—

हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई॥

मार्गमें गुहके प्रति कहते हैं—

अहं रामस्य दासा ये तेषां दासस्य किङ्करः।
यदि स्यां सफलं जन्म मम भूयान्न संशयः॥

(अध्यात्म०, अयोध्या० ८। ३३)

'जो लोग भगवान् श्रीरामके दास हैं, उनके दासोंका अनुचर भी यदि मैं हो जाऊँ तो निःसंदेह मेरा जन्म सफल हो जाय।'

कैसा सुन्दर दास-भाव है!

चित्रकूटमें जाकर भरतजी भगवान् श्रीरामसे कहते हैं—

अहमप्यागमिष्यामि सेवे त्वां लक्ष्मणो यथा।
नो चेत् प्रायोपवेशेन त्यजाम्येतत् कलेवरम्॥

(अध्यात्म०, अयोध्या० ९। ३९)

('अच्छा, यदि आप वनसे नहीं लौटना चाहते तो मुझे आज्ञा दीजिये, जिससे) मैं भी वनमें चलकर लक्ष्मणके समान ही आपकी सेवा करूँ, नहीं तो मैं अन्न-जल छोड़कर इस शरीरको त्याग दूँगा।' भगवान्‌की सेवाके लिये भरतजीका कितना आग्रह है!

किंतु भगवान्‌के स्वभावको यादकर भरतजी फिर कहने लगे—

अब करुनाकर कीजिअ सोई। जन हित प्रभु चित छोभु न होई॥
जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥
सेवक हित साहिब सेवकाई। करै सकल सुख लोभ बिहाई॥

भगवान्‌के अयोध्या लौट आनेपर जब कभी भरतजी उनके साथ किसी उपवन या अमराईमें जाते थे, तो वहाँ भी सेवा ही करते रहते। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुनि प्रभु बचन भरत गहे चरना। सुनहु नाथ प्रनतारति हरना॥
करउँ कृपानिधि एक ढिठाई। मैं सेवक तुम्ह जन सुखदाई॥

× × ×

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ सीतल अँवराई॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई॥

इस प्रकार भरतजी नित्य भगवान्‌की सेवामें ही लगे रहे। धन्य है भरतजीके इस आदर्श सेवाभावको! भरतजीके चरित्रका भलीभाँति मनन करके उनके सेवाभावको आदर्श बनाकर हमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनका अनुकरण करना चाहिये।

(८) सख्य-भक्ति

श्रीभगवान्‌के प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और महिमाको समझते हुए परम विश्वासपूर्वक मित्रभावसे उनकी रुचिके अनुसार बन जाना, उनमें अनन्य प्रेम करना तथा उनके गुण, रूप और लीलापर मुग्ध होकर नित्य-निरन्तर प्रसन्न रहना 'सख्यभावरूप भक्ति' है।

भरतजीके आचरण और भावोंसे केवल सखाभाव नहीं मिलता; किंतु अन्य भावोंके साथ-साथ सखाभाव भी झलकता है। जैसे वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥

(वा० रा०, अयोध्या० ७२। ३२)

भरतजी मातासे कहते हैं—'जो मेरे भाई, पिता और बन्धु हैं तथा जिनका मैं प्रिय दास हूँ, उन सरलस्वभाव श्रीरामचन्द्रजीका पता शीघ्र बतलाओ।'

चित्रकूटमें भरतजीने भगवान् श्रीरामसे प्रार्थना करते हुए कहा है—

एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि॥

(वा० रा०, अयोध्या० १०१। १२)

'इन मन्त्रियोंके साथ सिर झुकाकर मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि मैं आपका भाई, शिष्य और दास हूँ, मुझपर आप दया करें।'

उपर्युक्त श्लोकोंमें शिष्य, दास, पिता—इन सब शब्दोंके साथ 'बन्धु और भ्राता' शब्द भी हैं, जो सख्य-भावके द्योतक हैं तथा 'भ्राता' शब्दके साथ ही 'बन्धु' शब्दका अलग प्रयोग करना तो सखाभावको स्पष्ट सिद्ध करता है। अतएव भरतजीका भाई, दास, शिष्य आदि भावोंके साथ-साथ सखाभाव भी था। भ्रातृत्वके भावमें भी बराबरीका भाव होनेके कारण सदाचार टपकता है। तुलसीकृत रामायणको देखनेसे भी यह बात सिद्ध होती है। भरतजीके ही वचन हैं—

प्रभु पितु मातु सुहृद गुर स्वामी। पूज्य परम हित अंतरजामी॥
× × ×
सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि।
आयसु देइअ देव अब सबइ सुधारी मोरि॥

इन चौपाई-दोहोंमें प्रभु, पिता, माता, गुरु, स्वामी, पूज्य, हितू आदि शब्दोंके साथ 'सुहृद्' शब्दका प्रयोग किया गया है, जो कि इनसे अपना भिन्न अर्थ रखता है। अतएव यहाँ 'सुहृद्' शब्द सखाभावका ही द्योतक है। निःसंदेह भरतजीका श्रीराममें प्रधानतया दासभाव होते हुए भी भ्रातृत्व और प्रेमके नाते मित्रभाव भी था।

भगवान् श्रीरामके बर्तावसे भी भाइयोंके साथ सखाभाव प्रकट होता है। वनगमनके पूर्व राजतिलककी तैयारीके समय श्रीरामचन्द्रजी महाराज राज्यमें सब भाइयोंका समान अधिकार मानते हुए कहते हैं—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥
प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत मन कै कुटिलाई॥

इससे सब भ्राताओंके साथ श्रीरामका मित्रताका भाव झलकता है। लक्ष्मणके प्रति तो मुख्यतया 'सखा' शब्दका प्रयोग मिलता है। वनमें साथ जानेको तैयार हुए लक्ष्मणसे भगवान् कहते हैं—

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विजेयश्च सखा च मे॥

(वा० रा०, अयोध्या० ३१। १०)

'लक्ष्मण! तुम मेरे परम स्नेही, धर्मपरायण, धैर्य-सम्पन्न और सदा सन्मार्गपर चलनेवाले हो। तुम मुझे प्राणोंके समान प्रिय एवं मेरे अधीन, आज्ञापालक और सखा हो।'

इसके अतिरिक्त, पद्मपुराणके पातालखण्डमें एक श्लोक मिलता है, जिसमें भगवान् श्रीरामने प्रेममें विह्वल होकर भरतके प्रति पाँच बार 'भाई' शब्दका उच्चारण किया है। इसमें भरतजीके प्रति भगवान्‌का बराबरीका तथा आदर और प्रेमका भाव संनिहित है, इससे यह सखाभावका ही द्योतक है।

यानादवततराराशु विरहक्लिन्नमानसः।
भ्रातर्भ्रातः पुनर्भ्रातर्भ्रातर्भ्रातर्वदन्मुहुः॥

(पद्म०, पाताल० २। २८)

'निकट आनेपर भगवान् श्रीरामका हृदय विरहसे कातर हो उठा और वे 'भैया! भैया भरत!' इस प्रकार कहते तथा बार-बार 'भाई! भाई!! भाई!!!' की रट लगाते हुए तुरंत ही विमानसे उतर पड़े।'

तुलसीकृत रामायणमें भी भरतजीके प्रति भगवान्‌के

द्वारा सम्मानपूर्वक बराबरीका व्यवहार किये जानेकी बात आयी है।

श्रीगोस्वामीजी लिखते हैं—

कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाए समीप गहि पानी॥

—इस व्यवहारसे भगवान्‌का भरतके प्रति सखाभाव स्पष्ट प्रकट होता है।

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी महाराजके बर्तावमें तो कई जगह भरतके प्रति आदर-सम्मान, बराबरी और प्रेमका व्यवहार माना जाता है, जिससे स्पष्ट ही सखाभाव झलकता है। जैसे, जब-जब भरतजी नमस्कार करते, तभी भगवान् उन्हें हृदयसे लगा लिया करते। भगवान्‌का यह बर्ताव सखाभावका ही परिचायक है।

(९) आत्मनिवेदन-भक्ति

श्रीभगवान्‌के तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और महिमाको जानकर ममता और अहंकाररहित होकर सब कुछ भगवान्‌का ही समझते हुए तन-मन-धन-जनसहित अपने-आपका तथा सम्पूर्ण कर्मोंका श्रद्धा और परम प्रेमपूर्वक भगवान्‌को समर्पण कर देना 'आत्मनिवेदनभावरूप भक्ति' है।

भरतजीमें आत्मनिवेदनका भाव भी कम नहीं था; क्योंकि वे अपनेको भगवान्‌के अर्पित ही समझते थे। तुलसीकृत रामायणमें भरतजी विलाप करते हुए कैकेयीके सामने पिताको लक्ष्य कर कहते हैं—

चलत न देखन पायउँ तोही। तात न रामहि सौंपेहु मोही॥

इसी प्रकार अध्यात्मरामायणमें भी कहा है—

हा तात क्व गतोऽसि त्वं त्यक्त्वा मां वृजिनार्णवे।
असमर्प्यैव रामाय राज्ञे मां क्व गतोऽसि भोः॥

(अयोध्या० ७। ६६-६७)

'हा तात! मुझे दुःख-समुद्रमें छोड़कर आप कहाँ चले गये? हाय! महाराज रामको मुझे समर्पण किये बिना ही आप कहाँ चले गये?'

भरतजीके इस पश्चात्तापसे यह सिद्ध होता है कि वे अपने-आपको श्रीरामके समर्पित ही समझा करते थे।

इसके अतिरिक्त भरतजी 'जो कुछ भी राज्य और धन है, वह सब श्रीरघुनाथजी महाराजका ही है, मैं भी उनका ही हूँ, अतः इन सबको उनके समर्पण करके उनकी सेवा करूँगा'—इस भावको हृदयमें रखकर चित्रकूट गये। वहाँ उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको लौटानेकी अनुनय-विनयपूर्वक बहुत चेष्टा की, परंतु श्रीरामचन्द्रजीने किसी प्रकार भी वापस लौटना स्वीकार नहीं किया और भरतको ही राज्यशासनके लिये बाध्य किया। 'महाराज रामकी आज्ञाका पालन करना ही तुम्हारा परम धर्म है'—गुरु वसिष्ठजीकी ऐसी सम्मति होनेके कारण भरतजीने भगवान्‌के स्थानमें भगवान्‌की चरणपादुकाओंको आश्रय बनाकर उनके प्रति ही समस्त राज्यको और अपने-आपको समर्पण कर दिया। चौदह वर्षकी अवधि बीतनेपर जब भगवान् अयोध्या पधारे, तब भरतजीने धरोहररूपसे रखा हुआ भगवान्‌का राज्य भगवान्‌को सौंप दिया और अपना शरीर भी भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर दिया। भरतजी भगवान्‌की शरणमें ही अपना परम कल्याण मानकर आजीवन उनकी आज्ञाका पालन करते रहे। राज्यके किसी भी पदार्थकी तो बात ही क्या, अपने शरीरपर भी वे अपना अधिकार नहीं समझते थे। वे केवल भगवान्‌को ही अपना सर्वस्व मानकर केवल उन्हींपर निर्भर रहा करते थे। इसके लिये रामायण आदि सब शास्त्र प्रमाण हैं। इस विषयमें नीचे कुछ प्रमाणोंका दिग्दर्शन कराया जाता है—

भरतजी भरद्वाजजीसे कहते हैं—

मम राज्येन किं स्वामिन् रामे तिष्ठति राजनि।
किङ्करोऽहं मुनिश्रेष्ठ रामचन्द्रस्य शाश्वतः॥
अतो गत्वा मुनिश्रेष्ठ रामस्य चरणान्तिके।
पतित्वा राज्यसम्भारान् समर्प्यात्रैव राघवम्॥

....

नेष्येऽयोध्यां रमानाथं दासः सेवेऽतिनीचवत्।

(अध्यात्म०, अयोध्या० ८। ४९—५१)

'स्वामिन्! महाराज रामके रहते हुए मुझे राज्यसे क्या प्रयोजन है? मुनिश्रेष्ठ! मैं तो सदा ही श्रीरामचन्द्रजीका दास हूँ। अतः मुनिनाथ! मैं श्रीरामके पास जाकर उनके चरण-कमलोंमें पड़कर यह सारी राजपाटकी सामग्री उन्हें यहीं सौंपकर लक्ष्मीपति श्रीरामको अयोध्या ले आऊँगा और अति तुच्छ दासकी भाँति उनकी सेवा करूँगा।'

आत्मसमर्पणका भाव व्यक्त करते हुए भरतजी श्रीरामचन्द्रजीसे कह रहे हैं—

कीन्ह सप्रेम प्रनामु बहोरी। बोले पानि पंकरुह जोरी॥
नाथ भयउ सुखु साथ गए को। लहेउँ लाहु जग जनमु भए को॥
अब कृपाल जस आयसु होई। करौं सीस धरि सादर सोई॥
सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पारु पावौं जेहि सेई॥

नन्दीग्राममें निवास करते समय वे मंत्रियोंसे बता रहे हैं—

ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः।
निवेद्य गुरुवे राज्यं भजिष्ये गुरुवर्तिताम्॥
राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके।

राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवाम्यहम्॥

(वा० रा०, अयोध्या० ११५। १९-२०)

'श्रीरामचन्द्रजीका समागम होते ही उन महापुरुषकी सेवामें यह राज्य समर्पित कर देनेपर मेरा भार उतर जायगा और मैं उनकी आज्ञाके अधीन रहकर उन्हींकी सेवामें लग जाऊँगा। मेरे पास धरोहरके रूपमें रखी हुई इन उत्तम पादुकाओंको, इस राज्यको और अयोध्याको भी श्रीरामकी सेवामें समर्पित करके मैं सब प्रकारके पापोंसे मुक्त होकर विशुद्ध हो जाऊँगा।'

तदनन्तर भगवान्‌के अयोध्या लौटनेपर भरतजीने क्या किया, सो बतलाते हैं—

पादुके ते तु रामस्य गृहीत्वा भरतः स्वयम्।
चरणाभ्यां नरेन्द्रस्य योजयामास धर्मवित्॥
अब्रवीच्च तदा रामं भरतः स कृताञ्जलिः।
एतत् ते सकलं राज्यं न्यासं निर्यातितं मया॥
अद्य जन्म कृतार्थं मे संवृत्तश्च मनोरथः।

(वा० रा०, युद्ध० १२७। ५४—५६)

'फिर धर्मात्मा भरतजीने स्वयं ही हाथमें उनकी वे दोनों पादुकाएँ लेकर महाराज श्रीरामचन्द्रजीके पैरोंमें पहना दीं। उस समय भरतजीने हाथ जोड़कर श्रीरामचन्द्रजीसे निवेदन किया कि मेरे पास थाती रखा हुआ आपका यह समस्त राज्य आज मैंने आपको वापस सौंप दिया है, आज मेरा जन्म सफल हो गया एवं मेरा मनोरथ पूरा हुआ।'

अध्यात्मरामायणमें भी लगभग इसी तरहका प्रसङ्ग आया है—

भरतः पादुके ते तु राघवस्य सुपूजिते।
योजयामास रामस्य पादयोर्भक्तिसंयुतः॥
राज्यमेतन्न्यासभूतं मया निर्यातितं तव।
अद्य मे सफलं जन्म फलितो मे मनोरथः॥

(युद्ध० १४। ९३-९४)

तत्पश्चात् भरतजीने रामचन्द्रजीकी उन भलीभाँति पूजा की हुई पादुकाओंको भक्तिपूर्वक श्रीरामके ही चरणोंमें पहना दिया और कहा—प्रभो ! मुझे धरोहररूपसे दिये हुए आपके इस राज्यको मैं पुनः आपको ही सौंपता हूँ; आज मेरा जन्म कृतार्थ हो गया और मेरा मनोरथ सफल हो गया।'

महाभारतमें भी बतलाया है कि—

तस्मै तद् भरतो राज्यमागतायातिसत्कृतम्।
न्यासं निर्यातयामास युक्तः परमया मुदा॥

(वन० २९१। ६५)

'भरतजीने वह धरोहररूपमें रखा हुआ राज्य वनसे लौटकर आये हुए उन श्रीरामचन्द्रजीको बड़े ही हर्षसे अत्यन्त सत्कारपूर्वक सौंप दिया।'

वस्तुतः भरतजीका समस्त जीवन ही मूर्तिमान् आत्मसमर्पण है। उनके सारे कार्य श्रीरामके लिये ही होते थे। रामकी प्रीति और प्रसन्नता ही उनके जीवनका मुख्य तथा नित्य लक्ष्य था; क्योंकि भरतजीमें नवधा भक्तिके सिवा प्रेमलक्षणा भक्ति भी पूर्णतया विद्यमान थी। वे प्रेमकी एक जीती-जागती मूर्ति ही थे। इसीसे भरद्वाजमुनिने कहा था—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

इतना सब होनेपर भी भरतजी अपनेमें कोई गुण नहीं देख पाते। वे अपनेको विषयी, कपटी, कुटिल ही मानते हैं। असलमें आत्मनिवेदन वही सच्चा है, जहाँ निवेदनका अभिमान भी नहीं है। सब कुछ सहज ही समर्पित है और माना जाता है कि कुछ भी नहीं है। भरतजी ऐसे ही हैं।

भरतजीकी इस विलक्षण आत्मनिवेदन-भक्तिको आदर्श बनाकर चलनेवाले पुरुष धन्य हो सकते हैं।

उपसंहार

ऊपर भक्तिके नौ प्रकार बतलाये गये हैं, उनको तीन भागोंमें बाँट लेना चाहिये। पहली तीन श्रवण, कीर्तन और स्मरण-भक्ति तो परोक्षमें यानी उपास्यदेवकी अनुपस्थितिमें की जाती है और दूसरी—तीन पादसेवन, अर्चन और वन्दनभक्ति पूर्णतया तो भगवान्‌के साक्षात् मिलनेपर ही होती है, किंतु भगवान्‌की अनुपस्थितिमें मनके भावसे उनको प्रत्यक्ष मानकर भी इनका अनुष्ठान किया जाता है।

ये छः भक्ति तो क्रियारूप हैं। शेष तीन—दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन-भक्ति भावरूप हैं; क्योंकि उनमें भावके अनुसार क्रिया होनेपर भी प्रायः भावकी ही प्रधानता रहती है। भक्तिमें प्रेमभाव तो एक व्यापक वस्तु है, उसका सम्बन्ध तो सभी प्रकारकी भक्तियोंके साथ है। इसलिये क्रियारूप भक्तिके साथ भावका संयोग होनेपर वह भी भावरूप हो जाती है।

बहुत-से भक्तगण श्रवणको सत्सङ्ग, कीर्तनको भजन और स्मरणको ध्यानका रूप देते हैं; क्योंकि इन तीनोंका उनके साथ परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये इन तीनोंको एक समूहमें बाँधकर बतलाया गया है। इनमें भी वृक्षके मूलमें जल सींचनेकी भाँति सत्सङ्ग भजन-ध्यानका पोषक है। इन तीनोंमेंसे एकके अनुष्ठान

करनेसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, जैसे श्रवणसे परीक्षित् आदि, कीर्तनसे नारद आदि और स्मरणसे ध्रुव आदि परमात्माको प्राप्त हो गये, फिर तीनोंके एक साथ अनुष्ठान करनेसे परमात्माको प्राप्त होनेमें तो कहना ही क्या है!

इसी प्रकार पादसेवन, अर्चन और वन्दन—इन तीनोंको एक दूसरे समूहमें बाँधा गया है; क्योंकि भगवच्चरणोंकी सेवा, पूजा और नमस्कार—ये तीनों ही चरणोंसे विशेष सम्बन्ध रखते हैं। इन तीनोंमेंसे भी एकके सेवनसे ही भगवान्की प्राप्ति हो सकती है, जैसे पादसेवनसे केवट आदि, अर्चनसे पृथु आदि और वन्दनसे अक्रूर आदि भगवान्को प्राप्त हो गये, फिर एक साथ तीनोंके सेवनसे भगवत्प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है!

इसी तरह दास्यभाव, सख्यभाव और आत्मनिवेदन-भाव—ये तीनों भावरूपसे अनुष्ठान करनेयोग्य हैं; इसी कारण इन तीनोंकी एकता है। ये तीनों भाव एक साथ भी रह सकते हैं और अलग-अलग भी। इन तीनोंमेंसे किसी एक भावसे भी भगवान्की प्राप्ति हो सकती है, जैसे दासभावसे हनुमान् आदि, सखाभावसे अर्जुन आदि और आत्मनिवेदनभावसे बलि आदि भगवान्को प्राप्त हो गये हैं, फिर सब भावोंसे उपासना की जानेपर भगवान्की प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

अतएव हमलोगोंको श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभाव-पूर्वक बड़े ही उत्साहके साथ तत्परतासे भगवान्की भक्ति करनी चाहिये।

भगवान्के परम दिव्य-गुणसम्पन्न स्वरूपका ध्यान

श्रीभगवान्के ध्यानके समान संसारमें कल्याणका और कोई भी दूसरा साधन नहीं है। इसलिये मनुष्यको भगवान्का ध्यान श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर करना चाहिये। एकान्तवास, सत्पुरुषोंका सङ्ग, सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय और मनन, नामका जप, स्वरूपका स्मरण, लीला और गुण-प्रभावका चिन्तन, तत्त्व और रहस्यका ज्ञान, भगवान्में श्रद्धा और प्रेम तथा संसारके भोगोंसे वैराग्य और उपरति—ये सब भगवान्के ध्यानमें विशेष उपयोगी हैं; क्योंकि भगवान्के नामके जपसे स्वरूपकी स्मृति होती है, स्वरूपकी स्मृतिसे चरित्र (लीला) की स्मृति होती है, लीलाकी स्मृतिसे गुण-प्रभावकी अनुभूति होती है, इन सबके स्मरण और मननसे भगवान्का तत्त्व-रहस्य जाना जाता है, उससे श्रद्धा-प्रेम बढ़ता है, तब सांसारिक भोगोंसे वैराग्य और उपरति होकर भगवान्के ध्यानमें गाढ़ स्थिति हो जाती है।

अतः साधककी साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण जिस स्वरूपमें रुचि हो, उसे अपने उसी इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। उस परमात्माके निर्गुण-निराकारसहित असंख्य दिव्य-गुणोंसे सम्पन्न सगुण-साकार स्वरूपका ध्यान किया जाय तो और भी उत्तम है। ऐसा ध्यान ही भगवान् पुरुषोत्तमके समग्ररूपका ध्यान है। इसको समझानेके लिये इसके सदृश दृष्टान्त, दार्ष्टान्त, उदाहरण, रूपक, उपमा संसारमें हैं ही नहीं। जिस देशमें सूर्य नहीं, उस अन्धकारमय देशमें किसी भी दृष्टान्तके द्वारा सूर्यको समझाना कदापि सम्भव नहीं; क्योंकि जब सूर्यके सदृश दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, तब उसे किस रूपमें कैसे समझाया जाय? इसी प्रकार परमात्माका वह अति विलक्षण दुर्विज्ञेय स्वरूप किसी भी दृष्टान्तके द्वारा यहाँ समझाया जाना कठिन है।

जैसे आकाशमें सूर्यकी किरणोंमें कारणभूत परमाणुरूपमें स्थित जल अव्यक्त और अप्रकट है, वह दूरवीक्षण यन्त्र या अन्य किसी भी साधनके द्वारा दृष्टिगोचर नहीं हो सकता; किंतु वही जल जब रसमय होकर आकाशमें स्थित रहता है, तब भी वह देखनेमें तो नहीं आता, किंतु विचारके द्वारा अनुभवमें आ सकता है और वही जल जब बादल और बूँदोंका रूप धारण करके ओलों (बर्फके ढेलों) के रूपमें बरसने लगता है, तब वह प्रत्यक्ष देखने तथा पकड़नेमें भी आता है। उस प्रकट जलसे सभी प्रकारका जलोचित व्यवहार किया जा सकता है। यह जलका उदाहरण चेतन परमात्माकी उपमाके योग्य नहीं है, क्योंकि जल जड़, परिणामी, विनाशशील, एकदेशीय और अल्प है तथा परमात्मा इससे सब प्रकारसे विलक्षण, नित्य, चेतन, निर्विकार और अनन्त है, अतः उस अनुपम और अप्रमेय परमात्माके लिये कोई दृष्टान्त या उदाहरण है ही नहीं। तथापि महात्मागण समझानेके लिये किसी-न-किसी दृष्टान्तको सामने रखकर ही यथाशक्ति यत्किञ्चित् उसका तत्त्व आंशिकरूपसे समझाया करते हैं।

जैसे अव्यक्त कारणरूपमें स्थित निराकार जल ही रसके रूपमें प्रकट होता है, उसी प्रकार वह निर्गुण-

निराकार ब्रह्म ही भक्तोंके प्रेम और भावके कारण विज्ञानानन्दमय सगुण-निराकाररूपमें प्रकट होते हैं। फिर जैसे वही जल बादल और बूँदोंके रूपमें प्रकट होकर ओलोंका रूप धारण करता है, उसी प्रकार दिव्य-चिन्मय निरतिशय कल्याणमय गुणसमूहोंके महान् समुद्र सगुण-निराकार परमात्मा अनन्त महान् प्रकाशके रूपमें प्रकट होकर फिर नित्य दिव्य प्रकाशपुञ्ज सगुण-साकाररूपमें प्रकट होकर दृष्टिगोचर होते हैं। जिस परम प्रेमी श्रद्धालु भक्तको भगवान्के उस दिव्य स्वरूपके दर्शन होते हैं, उस भगवद्भक्तकी दृष्टि भी दिव्य हो जाती है। भगवान्का भक्त भगवान्की कृपासे इन चर्मचक्षुओंसे भी भगवान्के उस अति दिव्य अद्भुत रूपका दर्शन कर सकता है। भगवान्का दर्शन पाकर वह भक्त आनन्दमें इतना तन्मय हो जाता है कि उसे अपने-आपका भी ज्ञान नहीं रहता। उसे एक श्रीभगवान्के सिवा अन्य किसीका भी ज्ञान नहीं रहता। वह अपने-आपको भी भूल जाता है। उस रूपमाधुरीके दर्शनके प्रभावसे उसके नेत्रोंकी पलक भी नहीं पड़ती। वह एकटक निर्निमेष नेत्रोंसे उस दिव्य रूप-माधुरीका दर्शन ही करता रहता है। फिर चेत होनेपर वह भक्त भी उस दिव्य रूप-माधुरीका वर्णन नहीं कर सकता, क्योंकि उस अपरिसीम अप्रमेय दिव्य-गुणगणसम्पन्न माधुरी मूर्तिका वर्णन करनेमें वाणी सर्वथा असमर्थ रहती है। फिर मुझ-जैसा एक साधारण मनुष्य तो उस परम दिव्य रूप-माधुरीके किसी शतांशका वर्णन करनेमें भी कैसे समर्थ हो सकता है? तथापि कुछ प्रेमी भाइयोंके आग्रहसे इस विषयमें कुछ लिखा जाता है। वह मेरी धृष्टतामात्र है, इसके लिये विज्ञजन क्षमा करेंगे।

जिस समय भगवान् प्रकट होते हैं, उसके पूर्व ही साधकके बाहर और उसके शरीरके अंदर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें तथा शरीरके अणु-अणुमें अनन्त अतिशय दिव्य, अलौकिक चेतनता, शान्ति, समता और आनन्द परिपूर्ण हो जाते हैं। फिर परमात्माका यह सगुण-निराकार स्वरूप ही सगुण-साकाररूपमें परिणत होकर उसके सम्मुख दृष्टिगोचर होता है। निरतिशय प्रेमानन्दस्वरूप भगवान्की यह दिव्य मूर्ति अत्यन्त मनोहर, अनन्त प्रेममय, दिव्य अमृतमय, महान् रसमय और परम आनन्दमय है। इस परम मनोहर दिव्य मूर्तिका चरणोंसे लेकर मस्तकपर्यन्त ध्यान करके साधक भी रसमय, प्रेममय, अमृतमय और आनन्दमय हो जाता है। अतः साधकको उस प्रेमानन्दमयी मूर्तिका साक्षात्कार करनेके लिये उसका अपने सम्मुख आकाशमें निम्नलिखित प्रकारसे ध्यान करना चाहिये।

अपने नेत्रोंसे करीब तीन हाथकी दूरीपर आकाशमें साक्षात् विज्ञानानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही दिव्य चेतन महान् प्रकाशमय सगुण-साकार श्रीविष्णुके रूपमें विराजमान हो रहे हैं। वे अखिल सौन्दर्यकी निधि एवं अपनी अनन्त महिमासे नित्य महिमान्वित हैं। वे नील मणिके सदृश श्याम होते हुए भी दिव्य निर्मल उज्ज्वल प्रकाशके कारण हलकी-सी नीलिमासे युक्त अति शुभ्र श्वेतरूपमें अनन्त सूर्योंसे भी बढ़कर प्रकाशित और देदीप्यमान हो रहे हैं, किंतु वह महान् तेजोमय प्रकाश शीतलताके पुञ्ज चन्द्रमासे भी बढ़कर अत्यन्त शान्तिमय है। उनका श्रीविग्रह षोडशवर्षीय सुन्दर राजकुमारके-से आकारका करीब साढ़े तीन हाथ लंबा और एक हाथ चौड़ा है। उनके चरणोंके तलुओंमें गुलाबी रंगकी झलक है। और उनमें ध्वजा (पताका), जौ, अङ्कुश, शङ्ख, चक्र, कमल, वज्र, स्वस्तिक आदिके चिह्न (रेखाएँ) सुशोभित हो रहे हैं। उनके चरण तथा चरणोंकी अँगुलियाँ बहुत ही चमकीली, कोमल, चिकनी और अतिशय सुन्दर हैं। अँगुलियोंमें संलग्न चाँदनीयुक्त चन्द्रमाके समान उद्भासित नखश्रेणियोंकी ज्योति एक निराले ही ढंगकी है, मानो दिव्य रत्न चमक रहे हों। भगवान्के चरणोंमें स्थित नूपुरोंकी ध्वनि ऐसी अमृतमयी और मधुर है कि कर्णपुटोंमें प्रवेश करते ही साधकका मन उसीमें तल्लीन होकर मन्त्रमुग्धकी तरह स्तब्ध हो जाता है। उनके मृदुल चरणोंका स्पर्श बड़ा ही विलक्षण, अत्यन्त अमृतमय, महान् रोमाञ्चकारक और परम आनन्ददायक है। भगवान् अति दिव्य सुकोमल (मुलायम) और चमकीला पीताम्बर पहने हुए हैं, जिसके भीतरसे भगवान्की महान् प्रकाशमयी देहद्युति चमक रही है। उनकी पिण्डलियाँ, घुटने तथा जङ्घाएँ भी बड़ी ही कोमल, चिकनी, चमकीली और परम सुन्दर हैं। भगवान् अपने पतले और अति मनोहर कटिभागमें दिव्यरत्नोंसे जड़ी हुई करधनी धारण किये हुए हैं। ब्रह्माजीका उत्पत्तिस्थान उनका नाभि-कमल अत्यन्त गम्भीर है तथा उदर त्रिवली (तीन रेखाओं) से सुशोभित और अति सुन्दर है। भगवान्का वक्षःस्थल विशाल, अत्यन्त पुष्ट, अतिशय मनोरम और चौड़ा है। भगवान्के चार भुजाएँ हैं, दो ऊपरकी ओर फैली हुई हैं और दो नीचेकी ओर घुटनोंतक पसरी हुई हैं। भुजाएँ लंबी, बड़ी ही मृदुल, चिकनी, चमकीली, अत्यन्त पुष्ट, बलशालिनी, गोलाकार, चूड़ी-उतार (क्रमशः ऊपरसे मोटी और नीचेसे पतली) तथा परम मनोहर हैं।

भगवान्‌की हथेली मन्द-मन्द लालिमासे युक्त बड़ी ही सुन्दर शङ्ख, चक्र, कमल, यव, अङ्कुश, ध्वजा, स्वस्तिक आदि चिह्नोंसे सुचिह्नित एवं परम शोभासंयुक्त है। उनके हाथोंकी अँगुलियोंमें संलग्न नखश्रेणियोंकी ज्योति अतिशय उज्ज्वल और बड़ी ही चित्ताकर्षक है, मानो दिव्य रत्नोंकी पंक्ति चमक रही हो। चारों हाथोंकी अँगुलियोंमें रत्नजटित स्वर्णमय अंगूठियाँ और हाथोंमें कड़े तथा भुजबन्द सुशोभित हो रहे हैं। भगवान्‌के नीचेके दाहिने हाथमें परम ओजस्विनी कौमोदकी गदा तथा बायें हाथमें अति सुन्दर कमल है एवं ऊपरके दाहिने हाथमें अत्यन्त तेजोमय सुदर्शन चक्र और बायें हाथमें परम उज्ज्वल अति शुभ्र पाञ्चजन्य शङ्ख शोभायमान हो रहा है। वे अपने नीलिमायुक्त कण्ठदेशमें अतिशय देदीप्यमान दिव्य मुक्ता, रत्न और स्वर्णकी मालाएँ धारण किये हुए हैं एवं तुलसी और अलौकिक पुष्पोंकी वनमालाएँ घुटनोंतक लटकी हुई हैं। कोमल पल्लव और फूलोंके समूहद्वारा बनाये हुए हारसे शङ्खके समान मनोहर ग्रीवा बड़ी सुन्दर जान पड़ती है। उनके वक्षःस्थलपर रत्नजटित चन्द्रहार तथा परम दिव्य कौस्तुभमणि बालसूर्यकी भाँति देदीप्यमान हो रही है। वक्षःस्थलके मध्यभागमें स्वच्छ दर्पणमें मुख दीखनेकी भाँति श्रीलक्ष्मीजीका (श्रीवत्स) चिह्न दिखलायी पड़ता है और उसके ऊपर श्रीभृगुलताका चिह्न है। भगवान्‌के कंधे उन्नत, पुष्ट और कोमल हैं, उनपर स्वर्णमय यज्ञोपवीत और लाल रंगका उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टा) धारण किये हुए हैं। भगवान्‌की ग्रीवा लंबी है तथा कण्ठ और चिबुक अति सुन्दर हैं। भगवान्‌के अधर और ओष्ठ बिम्बफल, लाल मणि और मूँगेकी भाँति चमक रहे हैं। भगवान् मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं। उनका मुखारविन्द खिले हुए कमल-पुष्पकी तरह मनोहर हास्य, परम शोभा, उज्ज्वल कान्ति और अतिशय निर्मल उल्लाससे संयुक्त है; जिससे अतिशय निर्मल दाँतोंकी पंक्ति मोतियोंकी पंक्तिकी भाँति परम शोभायुक्त और अति मनोहर दृष्टिगोचर हो रही है। भगवान्‌की वाणी बड़ी ही सुन्दर, स्पष्ट, कोमल और मधुर है, जो कर्णपुटोंको अमृतके तुल्य प्रिय प्रतीत होती है। नासिका बड़ी ही मनोहर है। भगवान्‌के कपोल (गाल) चमकीले, कोमल, स्वच्छ और मन्द-मन्द गुलाबी रंगकी झलकसे युक्त परम कान्तिमय हैं, उनपर कानोंमें संलग्न कुण्डलोंकी झलक शोभा दे रही है। परम सुन्दर और विशाल कानोंमें मकरकी आकृतिवाले रत्नजटित स्वर्णमय कुण्डल बाल-सूर्यकी भाँति चमक रहे हैं। भगवान्‌के नेत्र विस्तृत कमलपत्रकी तरह अति सुन्दर, अति विशाल, चमकीले और खिले हुए कमल-पुष्पकी भाँति अतिशय प्रफुल्लित एवं परम ज्योतिर्मय हैं। भगवान् अपने अपरिसीम प्रेम और दयासे मुझको अपलक (एकटक) देखते हुए मानो प्रेम, दया, आनन्द, शान्ति, समता, ज्ञान आदि गुणोंकी मुझपर अनवरत वर्षा कर रहे हैं और जैसे पूर्णकलायुक्त चन्द्रमाकी अमृतमयी किरणोंसे सम्पूर्ण ओषधियोंमें अमृतमय रस परिपूर्ण हो जाता है, उसी तरह भगवान्‌के नेत्रोंसे प्रवाहित वह दिव्य अमृतमय गुणोंकी अजस्र धारा मेरे मन, इन्द्रिय और शरीरके अणु-अणुको अपने उस परम दिव्य रससे आप्यायित करती हुई सर्वत्र परिपूर्ण हो रही है, जिससे वे गुण मुझमें प्रवेशकर रोम-रोममें भलीभाँति व्याप्त होकर ऐसी चेतनता, आनन्द, शान्ति और प्रेमका मधुर रसास्वादन करा रहे हैं, जिसकी कोई सीमा ही नहीं है। मैं भगवान्‌के उस अखिल सौन्दर्य-रससुधानिधि मुखारविन्दको देखकर बार-बार मुग्ध हो रहा हूँ और एकटक निर्निमेष नेत्रोंसे उन्हींके रूपको देख रहा हूँ। भगवान्‌की भौंहें भ्रमरोंकी तरह कृष्णवर्ण तथा भृकुटी विशाल और अतिशय सुन्दर है, जिससे समस्त जीवोंपर अत्यन्त अनुग्रह सूचित हो रहा है। भगवान्‌का ललाट चमकीला, चिकना, अति विशाल और परम शोभायमान है, उसपर अति सुन्दर श्रीधारण तिलक है। मस्तक चमकीली, चिकनी, काली, घुँघराली अलकावलीसे सुशोभित हो रहा है; केशोंमें पारिजात आदिके पुष्प गुँथे हुए हैं। मस्तकपर रत्नजटित स्वर्णमय परम कान्तियुक्त दिव्य मुकुट चमक रहा है। भगवान्‌के मुखारविन्दके चारों ओर सूर्यकिरणोंकी भाँति दिव्य प्रकाशकी अत्यन्त उज्ज्वल किरणें छिटक रही हैं। उनका मुखारविन्द अमृतमयी शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमासे भी बढ़कर कान्तिमान्, शोभामय और परम रमणीय है। भगवान्‌के श्रीविग्रहसे अत्यन्त दिव्य परम मधुर सुगन्ध निर्गत हो रही है, जिसको मैं अपने नासापुटोंसे ग्रहण करके मानो अमृतका ही पान कर रहा हूँ। भगवान्‌का दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन, वार्तालाप—सभी प्रेममय, रसमय और आनन्दमय हैं।

भगवान्‌का श्रीविग्रह, वस्त्र, अलंकार, आभूषण, आयुध, मालाएँ आदि सभी दिव्य चिन्मय हैं। भगवान्‌के श्रीविग्रहकी सुन्दरता इतनी मधुर और चित्ताकर्षक है कि जिसको देखकर पशु-पक्षी भी मोहित हो जाते हैं, फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है! उनकी स्वरूपलावण्यमयी आकृतिको देखकर कामदेव भी लज्जित हो जाता है।

करोड़ों कामदेवोंका सौन्दर्य भी भगवान्‌के सौन्दर्यके सम्मुख कुछ भी नहीं है। भगवान्‌की वह रूप-माधुरी भक्तपर एक जादूका-सा काम करती है। उस रूप-माधुरीके दर्शनसे ही इतना आकर्षण हो जाता है कि फिर उसे छोड़ा ही नहीं जा सकता। सम्पूर्ण जगत्‌का समस्त सौन्दर्य मिलकर भी भगवान्‌के सौन्दर्यके एक अंशके समान भी नहीं है। उनकी प्रेममयी सुन्दरताकी महिमा कोई भी नहीं गा सकता। भगवान्‌के नेत्रोंकी प्रेममयी दृष्टि पड़नेसे मनुष्य भगवान्‌के प्रेममें इतना तन्मय हो जाता है कि वह फिर भगवान्‌को कभी भुला नहीं सकता, बल्कि वह सदा अपने नेत्रोंसे भगवान्‌की रूप-माधुरीका ही पान करता रहता है। भगवान्‌की उस रूपमाधुरीके प्रत्यक्ष दर्शनकी तो बात ही क्या है, स्वप्नमें भी उसके दर्शन हो जाते हैं, तो मनुष्य प्रेममें इतना निमग्न हो जाता है कि अपने जीवनमें उसे कभी भुला नहीं सकता तथा उसमें इतना अद्भुत आकर्षण है कि वह रसमय विग्रह एक बार भी यदि ध्यानमें आ जाता है तो फिर भक्त उसे भुलानेमें असमर्थ-सा हो जाता है और उस अमृतमय रसका आस्वाद लेता हुआ कभी तृप्त नहीं होता, वरं उस प्रेममय अतृप्तिमें अपने-आपको ही भुला देता है एवं उनके गुणोंको बार-बार स्मरण करके मुग्ध होता रहता है।

भगवान्‌में असीम और अत्यन्त विलक्षण सौम्यता, शान्ति, प्रेम, सौहार्द, मधुरता, सुन्दरता, रमणीयता, रुचिरता, मनोहरता, नित्यनूतनता, उदारता, वीरता, निरभिमानिता, निर्वैरता, भक्तवत्सलता, प्रेमाधीनता, पतितपावनता, सर्वमङ्गलकारिता, सच्चिदानन्दस्वरूपता, सर्वाराध्यता, कृतज्ञता, दानशीलता, धार्मिकता, सर्वश्रेष्ठता, तत्त्वज्ञता, बुद्धिमत्ता, वाग्मिता, शास्त्रज्ञता, समस्तभाषाभिज्ञता, प्रियवादिता, मनस्विता, दक्षता, सर्वचित्ताकर्षक मधुरभाषिता, शरणागत-संरक्षण, साधुपरित्राण, भक्त-सौहार्द, न्याय, दृढ़व्रत, पाण्डित्य, प्रतिभा, परम आनन्द, परम गति, सर्वसिद्धि, समृद्धि, सर्ववशित्व, असाधारण अद्भुत शोभा, सर्वाकर्षणत्व और अद्भुत चमत्कार आदि अनन्त दिव्य गुण हैं। इनके अतिरिक्त भागवतमें भी सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा आदि बहुत-से गुणोंका वर्णन आता है। पृथ्वीने धर्मके प्रति कहा है—

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः संतोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः॥
एते चान्ये च भगवन् नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्॥

(श्रीमद्भा० १।१६।२६—२९)

'भगवन्! उन भगवान्‌में सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा, त्याग, संतोष, सरलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्रविचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शौर्य, तेज, पराक्रम, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, कोमलता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, उत्साह, मनोबल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, गौरव और निरहङ्कारिता—ये उनतालीस अप्राकृत गुण तथा बड़े-बड़े महत्त्वाकांक्षी पुरुषोंद्वारा वाञ्छनीय और भी बहुत-से महान् गुण उनकी सेवा करनेके लिये नित्य-निरन्तर निवास करते हैं, वे एक क्षणके लिये भी उनसे अलग नहीं होते।'

शास्त्रोंमें भगवान्‌के और भी अनेक गुण बतलाये गये हैं; किंतु अनन्त गुण होनेके कारण उन सबका वर्णन करना सम्भव नहीं है। ये सब अप्राकृत गुण भगवान्‌में अतिशय और पूर्णरूपसे हैं। सारे संसारके प्राणिमात्रके हृदयमें वर्तमान दया और प्रेमको एकत्र किया जाय, तब भी उस अनन्त अपार दया और प्रेमके समुद्रकी एक बूँदसे भी उसकी तुलना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार अनन्त ब्रह्माण्डके समस्त गुणसमूह मिलकर भी उन गुणसागरके एक बूँदकी भी समता नहीं कर सकते, क्योंकि अनन्त ब्रह्माण्ड परमात्माके संकल्पके किसी एक अंशमें स्थित हैं। उन दिव्य चिन्मय परमात्माका निर्गुण-निराकार स्वरूप ही सगुण-निराकारके रूपमें परिणत होता है, अतः ये सब गुण दिव्य और चिन्मय हैं। इन दिव्य चिन्मय गुणोंके एक अंशका प्रतिबिम्ब ही सारे ब्रह्माण्डमें अनन्त गुणोंके रूपमें भासित हो रहा है। इसीलिये संसारके समस्त गुण परमात्माके गुणोंके एक बूँदकी भी बराबरी नहीं कर सकते।

उस सगुण-साकार स्वरूपके दो भेद हैं—एक तो माया-विशिष्ट और दूसरा मायातीत। जो मायातीत रूप है, उसमें सत्त्वरज, तम—इन तीनों गुणोंका अत्यन्त अभाव है, अतः उन परमात्माके गुण, स्वरूप, प्रभाव आदि सभी चिन्मय हैं; किंतु जो संसारमें अवतार लेते और सबके दृष्टिगोचर होते हैं, वह भगवान्‌का मायाविशिष्ट

रूप है,[१] असली मायातीत रूप सबको नहीं दीखता; क्योंकि सभी उसके अधिकारी न होनेके कारण भगवान् अपने ऊपर मायाका पर्दा डाले हुए रहते हैं। गीतामें भगवान्ने स्वयं कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(७। २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है।'

किंतु जो भगवान्के तत्त्व-रहस्यको जाननेवाला भक्त है, उससे वे अपना पर्दा हटाकर वास्तविक मायातीत रूप दिखला देते हैं, जिसका दर्शन पाकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

वास्तवमें वे परमात्मा ईश्वरोंके भी ईश्वर, अज और अविनाशी हैं, उनका जन्म और विनाश नहीं होता, वे तो संसारके हितके लिये प्रकट और अन्तर्धान होते हैं या यों कहिये कि उनका आविर्भाव-तिरोभाव होता है। जो मनुष्य उन परमात्माके जन्मकी उपर्युक्त दिव्यता और अलौकिकताको तत्त्वतः जान लेता है, वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है। (गीता ४। ९)।

भगवान्का प्रभाव भी अतिशय अप्रमेय और अलौकिक है। भगवान्में सम्पूर्ण बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, पराक्रम, प्रताप, सामर्थ्य, विभूति, महिमा, कान्ति, सर्वज्ञता, सर्वकारणता, सर्वाधारता, सर्वव्यापकता, सर्वनियन्तृता, सर्वेश्वरता, सर्वान्तर्यामिता आदि अनन्त, असीम और विलक्षण प्रभाव हैं। जैसे सूर्योदयसे समस्त अन्धकारका अत्यन्त अभाव हो जाता है, इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपके स्मरण और ध्यानके प्रभावसे समस्त दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, आलस्य, प्रमाद आदि सभी विकारोंका और दुःख-दोषोंका सर्वथा अभाव हो जाता है तथा मनुष्य सद्गुण-सदाचारसम्पन्न होकर जन्ममृत्युरूप संसार-समुद्रसे तरकर सहज ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है। परमात्मा स्वयं असीम, अप्रमेय और चिन्मय होनेके कारण उनका प्रभाव भी चिन्मय, असीम और अप्रमेय है। जिनके संकल्पमात्रसे अनन्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय अनायास ही होते रहते हैं, जिनके कृपा-कटाक्षसे ही लाखों-करोड़ों प्राणियोंका क्षणमें उद्धार हो सकता है, जो असम्भवको सम्भव और सम्भवको असम्भव करनेमें समर्थ हैं, जो जडको चेतन और चेतनको जड बना सकते हैं और जो मच्छरको ब्रह्मा और ब्रह्माको मच्छर बना देनेमें समर्थ हैं, उन अचिन्त्य-अनन्त प्रभावशाली परमात्माके प्रभावका वर्णन पूर्णतया करना सम्भव नहीं। समस्त ब्रह्माण्डोंमें जो कुछ भी विभूति, बल, ऐश्वर्य आदि प्रभावशाली तेजस्वी पदार्थ हैं, वे सब मिलकर भगवान्के प्रभावके एक अंशका ही आभासमात्र हैं; क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान्के संकल्पके एक अंशमें स्थित हैं।[२] उन भगवान्के तत्त्वरहस्यको जो मनुष्य जान जाता है, वह उसी क्षण उनको प्राप्त हो जाता है।

अतएव भगवान्के तत्त्व-रहस्यको जाननेके लिये गुण- प्रभाव-सहित उनके स्वरूपका निष्कामभावसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर ध्यान करना चाहिये।

ईश्वरभक्ति, सदाचार और गीताकी महिमा

[एक व्याख्यान]

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥

१. गीतामें भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

२. गीतामें भी भगवान्ने कहा है—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ (१०। ४१-४२)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान। अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है ? मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

उपदेश और आदेश देनेका न मेरा अधिकार है और न मुझमें योग्यता ही है, किंतु आपलोगोंका कहना है, इसलिये मैं विनयके रूपमें कुछ कह देता हूँ। हमारे परम पूज्य मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपनी प्रजाके प्रति उपदेश और आदेश देते हुए जो कुछ कहा है, उसकी ओर हमें ध्यान देना चाहिये।

वे कहते हैं—

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी॥

'हे सकल पुरवासीजनो! मेरी वाणीको सुनो, मैं कुछ ममता (अभिमान) करके नहीं कहता हूँ।'

नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई॥

'न तो मैं अनीतिकी बात कहूँगा और न प्रभुता की। आपलोग सुनें और सुनकर यदि आपको अच्छी लगे तो उसे आप काममें लायें।'

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

'हे भाई! यदि मैं कोई अनीतिकी बात कहूँ तो भयका त्याग करके मुझको मना कर देना।'

ध्यान देनेकी बात यह है कि वे साक्षात् भगवान् थे, सम्राट् थे और मर्यादा पुरुषोत्तम थे। उपदेश और आदेश देनेका उनका सब प्रकारसे अधिकार था; किंतु कितनी विनय और सरलतासे वे अपने प्रजाजनोंसे कह रहे हैं।

मैं तो जो कुछ भी आपकी सेवामें निवेदन करता हूँ, वह मेरी एक प्रार्थना है। आप यदि उचित समझें तो उसको काममें ला सकते हैं; आप स्वतन्त्र हैं। किंतु जो उसको काममें लायेंगे, मैं अपनेको उनका आभारी मानूँगा।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तो कहते हैं—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥

'वही मेरा सेवक है, वही मेरा अतिशय प्यारा है, जो मेरे शासनको मानता है।' मैं इस प्रकार भी नहीं कह सकता। वे तो ईश्वर और सर्वशक्तिमान् थे, शासक थे; वे सब प्रकारसे यों कह सकते हैं। मैं न कोई शक्तिमान् हूँ, न ईश्वर हूँ, न तो कोई शासक ही हूँ। मैं तो प्रार्थना और विनयके रूपमें ही निवेदन कर सकता हूँ।

हमलोगोंको यह विचार करना चाहिये—यह मनुष्य-जीवन हमें किसलिये मिला है? यह आहार, निद्रा और मैथुनके लिये नहीं मिला है। भोजन, मैथुन और शयन तो पशुओंमें भी है। फिर हममें क्या विशेषता हुई? यह मनुष्यका शरीर भोगोंके लिये नहीं मिला है। यह मिला है—आत्माके कल्याणके लिये; किंतु जो मनुष्य-शरीर पाकर अपने जीवनको भोगोंमें लगाता है, वह अमृतके बदले विषका सेवन करता है—

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

इन सब बातोंका विचार करके हमलोगोंको अपना समय बहुत ही उच्च काममें लगाना चाहिये। मनुष्यका जन्म बार-बार मिलनेका नहीं। ईश्वरने हमलोगोंको मौका दिया है। उनकी बड़ी कृपा है। ऐसा सुअवसर पाकर हमको अपने मनुष्य-जीवनसे विशेष लाभ उठाना चाहिये। ऐसा न हो कि हमें आगे चलकर पश्चात्ताप करना पड़े। मनुष्य-शरीरको पाकर जो अपनी आत्माका कल्याण नहीं करेंगे, उनको आगे चलकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

'वे आगे जाकर सिर धुन-धुनकर पश्चात्ताप करेंगे। काल, कर्म और ईश्वरको झूठा दोष लगायेंगे।'

इसलिये हमलोगोंको अपने समयका उपयोग बहुत सावधानीके साथ करना चाहिये। प्रात:काल और सायंकाल, जो उपासनाका समय है, नित्य-नियमसे उपासना करनी चाहिये। जिनके यज्ञोपवीत है, उनको संध्या और गायत्री-जप करना चाहिये। जिनके यज्ञोपवीत नहीं है, उनको अपने अधिकारके अनुसार भक्तिका साधन करना चाहिये। नित्यप्रति गीता और रामायणका स्वाध्याय, भगवान्‌के नामका जप और भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान तो अर्थ और भावसहित सभीको करना चाहिये।

हमलोग जो भजन-ध्यान और पूजा-पाठ करते हैं; उससे जितना लाभ होना चाहिये, उतना देखनेमें नहीं आता। इसका कारण यही है कि हम भजन-ध्यान और पाठ आदि अर्थ और भावसहित नहीं करते। हमलोगोंका भजन-ध्यान करते समय मन कहीं-का-कहीं चला जाता है, केवल बाहरी भजन-ध्यान होता है। न करनेकी अपेक्षा तो ऐसा करना भी अच्छा है, पर वास्तवमें वह विशेष मूल्यवान् नहीं!

नामका जप जो वाणीसे किया जाता है, उसकी अपेक्षा, जो श्वाससे किया जाता है, वह श्रेष्ठ है। जो मानसिक किया जाता है, वह उससे भी श्रेष्ठ है और वही मानसिक जप यदि अर्थ और ध्यानसहित किया जाय तो और भी श्रेष्ठ है।

जैसे श्रीपतञ्जलिजीने कहा है—

तज्जपस्तदर्थभावनम्।

(योग० १। २८)

'उस परमात्माके नामका जप और उसके अर्थकी भावना करना।' गीतामें बतलाया है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

(८।१३)

'जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है।'

इस प्रकार करना चाहिये। इस प्रकारका जप यदि निष्कामभावसे किया जाय तो वह और भी विशेष मूल्यवान् हो जाता है। ऐसे ही गीताके विषयमें समझना चाहिये। जो मनुष्य प्रतिदिन गीताके १८ अध्यायोंके मूल श्लोकोंका पाठ बिना अर्थ समझे करता है, उसकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ है, जो अर्थ-भावसहित एक अध्यायका पाठ करता है एवं उससे भी वह पुरुष श्रेष्ठ है, जो एक श्लोकको भी धारण करता है।

हमलोगोंको अपना समय बहुत सावधानीके साथ बिताना चाहिये। हर समय भगवान्के नामका जप और भगवान्के स्वरूपका ध्यान करते हुए ही सब काम करने चाहिये। अर्जुनके लिये भगवान् कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

(गीता ८।७)

'इसलिये अर्जुन! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर।'

अर्जुन क्षत्रिय था; उसके लिये भगवान्ने युद्ध करनेकी आज्ञा दी है। इसी प्रकार सबको भगवान्का स्मरण करते हुए ही अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार शास्त्रोक्त ही सब कर्म करने चाहिये।

रात्रिमें शयनके समय मनमें जो संसारके संकल्पोंका प्रवाह बहता रहता है, वही संकल्पोंका प्रवाह स्वप्नके रूपमें स्वप्नका संसार बनकर प्रतीत होने लगता है। इसलिये बिछौनेपर शयन करनेके बाद जबतक हम जागते रहें, भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यका स्मरण करते-करते शयन करना चाहिये। इस प्रकार करते हुए ही शयन करनेसे अर्थात् भगवत्सम्बन्धी संकल्पोंका प्रवाह बहाते हुए ही शयन करनेसे रात्रिमें स्वप्न भी अच्छे ही आयेंगे और स्वाभाविक ही हमारा वह समय साधनके रूपमें परिणत हो जायगा।

ईश्वरकी हमलोगोंपर बड़ी भारी कृपा है। ईश्वरने हमलोगोंको बड़ा सुन्दर सुअवसर दिया है। खयाल कीजिये, सारे ब्रह्माण्डमें यह मर्त्यलोक—मनुष्यलोक सबसे उत्तम है। इस मनुष्यलोकमें यानी पृथ्वीलोकमें भारतवर्ष सबसे उत्तम है। उस भारतवर्षमें हमलोगोंका जन्म हुआ। यह ईश्वरकी कितनी भारी कृपा है !

इसके अतिरिक्त संसारमें जितने भी प्रचलित धर्म माने जाते हैं, उनमेंसे एक भी ऐसा नहीं है, जो वैदिक सनातन धर्मसे पहलेका हो। यह सनातन धर्म सनातन है, अनादि है। अन्यान्य जितने भी संसारमें धर्मके नामसे प्रचलित हुए हैं, वे सब पीछेके हैं। इस बातको सभी स्वीकार करते हैं। इस्लाम-धर्म जो हजरत मुहम्मदका चलाया हुआ है और जिसका धर्मग्रन्थ कुरानशरीफ है, करीब १४०० सालसे है। १४०० वर्षके पहले यह मत ही नहीं था। इसी प्रकार अबसे २००० वर्षके पहले न तो ईसा थे और न ईसाई मत ही था। आपको मानना होगा कि यह २००० वर्षके ही अंदरकी चीज है। बुद्धका जो सिद्धान्त है, जिसको हम बौद्धमत कहते हैं—आज गौतम बुद्धको करीब ३५०० वर्ष हुए—३५०० वर्ष पूर्व यह बौद्धमत भी नहीं था।

इन चार मतोंको छोड़कर और जितने छोटे-छोटे मत-मतान्तर हैं, उनकी तो गणना ही क्या करें; क्योंकि उनको माननेवाले अल्पसंख्यक हैं। ऐसा और कोई मत नहीं, जिसको करोड़ों आदमी भी मानते हों। हाँ, धर्म और ईश्वरको न माननेवाले तो आपको बहुसंख्यक आदमी मिल सकते हैं, पर उनसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं।

इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि यह वैदिक सनातनधर्म ही अनादि और नित्य है, इसीलिये इसका नाम 'सनातन' है। इस धर्ममें हमलोगोंकी उत्पत्ति हुई, यह ईश्वरकी कितनी बड़ी कृपा है।

इसके सिवा यह कलियुग अवगुणोंकी खान है; किंतु इसमें एक विशेष गुण यह है कि इसमें मनुष्य भगवान्की भक्ति करके परम पदको प्राप्त हो जाता है।

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

कलियुगके समान कोई युग नहीं है, यदि कोई विश्वास करे। भगवान्के गुण गानेसे कलियुगमें बिना ही परिश्रम कल्याण हो जाता है। यह भी ईश्वरकी बड़ी कृपा है, जो उन्होंने ऐसा मौका हमलोगोंको दिया। प्रथम तो मनुष्यका शरीर भी मिलना बहुत कठिन। असंख्य कोटि जीव हैं—चौरासी लाख जिनकी जातियाँ हैं, उनमें मनुष्य भी एक जाति है। मनुष्य-जातिकी संख्या अत्यन्त स्वल्प है। उन मनुष्योंमें ईश्वरने हमलोगोंको शामिल कर दिया। यह ईश्वरकी कितनी बड़ी कृपा है! इसपर समय-समयपर जो सत्सङ्ग मिल जाता है, यह भगवान्की और भी विशेष कृपा है। इस प्रकारका संयोग पाकर भी यदि हमारी आत्माका

कल्याण न हो तो हमारे लिये लज्जाकी बात है।

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

'जो नर इस प्रकारके सङ्गको पाकर संसार-सागरसे नहीं तरता, वह निन्दाका पात्र है और मूर्ख है तथा आत्माकी हत्या करनेवालेकी जो दुर्गति होती है, वही उसकी होगी।'

इन सब बातोंपर ध्यान देकर हमलोगोंको अपना समय उत्तरोत्तर उच्चकोटिके कार्यमें ही बिताना चाहिये अर्थात् अपनी आत्माकी उत्तरोत्तर उन्नति करनी चाहिये। भगवान्‌ने गीता अध्याय ६ श्लोक ५ में बताया है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।

भगवान् कहते हैं कि अपनी आत्माको आत्माके द्वारा उन्नत करना चाहिये। '**न अवसादयेत्**'—अपने आपका अपने द्वारा पतन नहीं करना चाहिये। जिस कार्यको हम उत्तम-से-उत्तम समझते हैं, उसे उत्तरोत्तर बढ़ाना अपनी आत्माके द्वारा आत्माको उन्नत करना है और जिसको हम बुरा समझते हैं, उस कार्यको करना अपने द्वारा अपना पतन करना है।

सबसे उत्तम बात है भगवान्‌का हर समय स्मरण करना अर्थात् भगवान्‌के नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान हर समय करना—यह सर्वोत्तम है। इसकी पुष्टिके लिये सत्सङ्ग करना, सत्सङ्ग न मिले तो स्वाध्याय करना, किंतु आसुरी सम्पदावालोंका सङ्ग तो कभी नहीं करना चाहिये। आसुरी सम्पदाका वर्णन गीतामें १६वें अध्यायके चौथेसे २१वें श्लोकतक किया गया है। उत्तम गुण और उत्तम आचरणका अमृतके समान समझकर सेवन करना चाहिये। इसका भी वर्णन गीतामें १६वें अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक '**दैवी सम्पदा**' के नामसे किया गया है। '**दैवी सम्पदाका सेवन करना**'—यह अपने-आपके द्वारा अपनी आत्माको उन्नत करना और आसुरी-सम्पदाको धारण करना अपने द्वारा अपनी आत्माका पतन करना है।

अतः दुर्गुण, दुराचार और दुर्व्यसनोंको विषके समान समझकर इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। दुर्गुण क्या है ? काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, राग, द्वेष और जितने भी हृदयके बुरे भाव हैं, सब दुर्गुण हैं। दुराचार क्या हैं? इन्द्रियोंके आचरणोंमें जो बुरे आचरण हैं, दूषित कर्म हैं, जिन्हें हम पाप कहते हैं—जैसे चोरी करना, व्यभिचार करना, मांस खाना, मदिरा पीना, जुआ खेलना, हिंसा करना, दूसरोंके दोष देखना और उनकी आलोचना करना, झूठ बोलना, इत्यादि—इनका नाम दुराचार है। दुर्व्यसन क्या है?—बुरी आदत, फालतू बकवाद करना, फालतू चिन्तन करना, फालतू चेष्टा करना; जैसे चौपड़ खेलना, ताश खेलना, सिनेमा देखना, क्लबमें जाना, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, भाँग, गाँजा पीना, कोकीन खाना आदि जो मादक वस्तुका सेवन है तथा और भी जो ऐसे व्यर्थके काम हैं, जिनसे न स्वार्थकी सिद्धि होती है और न परमार्थकी—वे सब दुर्व्यसन हैं।

सर्वोत्तम बात तो यही है कि अपना सारा समय परमार्थमें बिताना चाहिये। दूसरी बात यह है कि स्वार्थमें भी समय बिताया जाय तो परमार्थको भी ध्यानमें रखना चाहिये; किंतु झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी करके जो रुपये कमाना और उससे भोग और आराम करना है, यह तो बिलकुल ही मूर्खता है; क्योंकि जो भी कुछ ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि हैं, सब विनाशशील और क्षणभङ्गुर हैं। कोई भी चीज अपने साथ जानेवाली नहीं; यह शरीर भी अपने साथ जानेवाला नहीं, फिर औरोंकी तो बात ही क्या है ! ऐसे थोड़ेसे जीवनके लिये हम अपना जीवन पापमय क्यों बनायें? ध्यान रखना चाहिये कि अन्याय करके हम जो कुछ धन कमायेंगे, उसका बुरा फल हमींको भोगना पड़ेगा और वह धन भी हमारे साथ नहीं जायगा; क्योंकि प्रथम तो सरकार टैक्स (कर) के रूपमें ले लेगी, फिर चन्दे-चिट्ठेवाले ले जायँगे; फिर साझेदार भाई पाँती बँटा लेंगे; फिर अपने स्त्री, पुत्र आदि ले लेंगे। इसके बाद जो हमारे हिस्सेमें रहेगा, वह भी यहीं रह जायगा; रुपयेमें पाईभर भी हमारे साथ नहीं जायगा। ऐसी परिस्थितिमें झूठ, कपट, बेईमानी करके धन इकट्ठा करना महान् मूर्खता है।

इन सब बातोंपर ध्यान देकर इस थोड़ेसे जीवनके लिये हमें क्यों अन्याय करना चाहिये? हमें विश्वास करना चाहिये कि मरनेके बाद भी आत्मा है, शरीरके नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

(२।१२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

इससे यह बात सिद्ध हुई कि आत्मा नित्य है और शरीर अनित्य है। भगवान् कहते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(गीता २। २०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

जब देहपात होनेके बाद भी आपका आत्मा रहेगा, तब आपको विचार करना चाहिये कि इस थोड़े-से जीवनके लिये हम अपने जीवनको कलुषित बनाकर यहाँसे क्यों विदा हों। यह मनुष्य-जीवन बहुत ही मूल्यवान् है। ऐसा अवसर आपको बार-बार नहीं मिलेगा। ईश्वरकी कृपासे आपको यह मौका मिल गया है; अतः इसके एक-एक क्षणको मूल्यवान् समझकर जिस कामके लिये आप यहाँ आये हैं; उसे शीघ्र बना लेना चाहिये, जिससे फिर आपको कभी पश्चात्ताप न करना पड़े। अपने आत्माके कल्याणके लिये ही आपको यह मनुष्यका शरीर दिया गया है; इस बातको समझकर लाख काम छोड़कर सबसे पहले अपना सारा समय अपने आत्माके कल्याणके कामोंमें ही लगाना चाहिये।

एक परमात्मा और महात्माओंको छोड़कर कोई भी आपका हित करनेवाला साथी नहीं है। श्रीतुलसीकृत रामायणके उत्तरकाण्डमें श्रीरामचन्द्रजी महाराजने जब प्रजाको उपदेश दिया, तब उसके उत्तरमें प्रजा कहती है—

स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाही॥

'हे प्रभो! सब कोई स्वार्थके लिये ही मित्र हैं, स्वार्थको छोड़कर परमार्थी मित्र कोई भी नहीं है।'

'कोई नहीं है'—इसका यह अर्थ नहीं है कि बिलकुल नहीं है। दो हैं। कौन?

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

'हे प्रभु! हे असुरारे! हेतुरहित उपकार करनेवाले या तो आप हैं या आपका भक्त; तीसरा कोई नहीं।'

इस बातको ध्यानमें रखकर भगवान्‌का भजन, ध्यान, स्वाध्याय और सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये, जिससे अपने आत्माका शीघ्रातिशीघ्र कल्याण हो जाय।

इससे बढ़कर और सरल उपाय शास्त्रोंमें है ही नहीं। थोड़ा भी समय बाकी रह जायगा, तब भी आपका कल्याण हो सकता है, यदि भगवान्‌को याद करते हुए ही आपके प्राण निकलें, किंतु यदि आपके कल्याणका यह महत्त्वपूर्ण कार्य शेष रह जायगा, तो फिर आपका कोई भी उत्तराधिकारी उसकी पूर्ति नहीं कर सकेगा। जो काम आपके बिना दूसरेके द्वारा होना सम्भव नहीं है, उस कामको सबसे पहले करना चाहिये। सबसे जरूरी काम यह है कि आप जिस कामके लिये आये हैं, उस कामको कर लें। आपको मनुष्यका शरीर आत्माके कल्याणके लिये दिया गया है, न कि भोगके लिये।

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥

'हे भाई! यह मनुष्यका तन यानी शरीर विषय-भोगोंके लिये नहीं है, तो क्या स्वर्गके लिये है? नहीं, स्वर्गके लिये भी नहीं है। वह भी अन्तमें दुःख ही देनेवाला है।'

गीतामें कहा है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥

(९। २१)

'वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं।'

इसलिये सब काम छोड़कर पहले यह काम करना चाहिये, नहीं तो आगे चलकर आपको घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा; क्योंकि यह मनुष्य-शरीरका समय बहुत ही दुर्लभ है। लाख रुपये खर्च करनेपर भी एक मिनटका समय आपको नहीं मिल सकता। ऐसे मूल्यवान् समयको यदि आप भोग और प्रमादमें बिता देंगे, तो मैं कह सकता हूँ कि आपके समान संसारमें कोई मूर्ख नहीं। देवता लोग भी इस मनुष्य-शरीरकी आकाङ्क्षा करते हैं; क्योंकि मनुष्य-शरीरमें कल्याण हो सकता है, अन्य योनियोंमें नहीं। यदि किसी दूसरी योनिमें कहीं कल्याणकी बात आती है, तो वह अपवाद (छूट) है; एक विशेष बात है, नियम नहीं।

यदि आप अपना समय शरीर-पोषणके लिये लगाते हैं, तो वह आपका रास्ता गलत है; क्योंकि शरीरमें यदि पाँच सेर मांस अधिक हो गया तो क्या; और कम हो गया तो क्या? आखिर होगा क्या? खाक ही तो होगी। आपको विचार करना चाहिये कि शरीर नाशवान् है; शरीरके साथ आपका सम्बन्ध अज्ञानसे है, वास्तवमें नहीं। नाम और रूप—दोनों ही विनाशशील हैं। कुछ देरके लिये विचार करें—मुझको लोग 'जयदयाल' कहते हैं। जब मैं पैदा हुआ था, उस वक्त मेरा नाम जयदयाल नहीं था, फिर गर्भमें तो यह नाम हो ही कैसे सकता है? गर्भमें तो पता ही नहीं था कि इसमें लड़का है या लड़की। उस समय घरवाले इच्छा करते तो मेरा नाम 'जयदयाल' नहीं रखकर 'महादयाल' रख सकते थे, तब आज मैं अपनेको 'महादयाल' कहता। इससे यह निश्चय हो गया कि मेरा नाम 'जयदयाल' नहीं।

अतः यदि कोई 'जयदयाल' की निन्दा करे और उससे मैं दुःखित होऊँ तथा कोई प्रशंसा करे और मैं उससे सुखी होऊँ तो यह मेरी मूर्खता है; क्योंकि स्तुति और निन्दाको सुनकर सुख-दुःख होता है तो इसमें अज्ञान ही हेतु है। यदि मुझे यथार्थ ज्ञान हो तो मेरी स्तुति और निन्दामें समता हो जानी चाहिये; क्योंकि भक्तिमान् पुरुषोंका लक्षण बतलाते हुए भगवान्ने कहा है—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

(गीता १२। १९)

'जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस-किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिर-बुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।'

जिसको तत्त्वज्ञान हो जाता है, उसके भी निन्दा-स्तुति सम हो जाती है (गीता १४। २४)।

जिस प्रकार यह 'जयदयाल' नाम मेरा नहीं है, उसी प्रकार यह शरीर भी मेरा नहीं है और न शरीर ही मैं हूँ। यदि शरीर मेरा होता तो मरनेके बाद यह मेरे साथ जाता एवं यदि शरीर मैं होता तो किसी कारण कटे हुए हाथ या पैरमें भी आत्माकी प्रतीति होती, किंतु उस कटे हुए अङ्गको हम अपनेसे पृथक् देखते हैं। जब कटे हुए अङ्गमें हमारी आत्माकी प्रतीति नहीं होती, तब शेष शरीरमें भी अपनी प्रतीति गलत है; क्योंकि कटे हुए अङ्गके सदृश ही तो हमारा शेष शरीर है अतएव यह शरीर भी मैं नहीं।

इस प्रकारका जिनको ज्ञान हो जाता है, वे नामरूपसे अपने आत्माको सर्वथा अलग समझकर परमपदको प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये हरेक भाईको यह विचार करना चाहिये कि 'नाम और रूपसे मैं अलग हूँ। यह दृश्य है, मैं द्रष्टा हूँ; यह अनित्य है, मैं नित्य हूँ; यह विनाशशील है, मैं अविनाशी हूँ; यह दुःखरूप है, मैं आनन्दस्वरूप हूँ; यह विकारी है, मैं निर्विकार हूँ; यह व्यक्त है, मैं अव्यक्त हूँ तथा यह एकदेशीय है, मैं देश-कालसे रहित हूँ।'

गीतामें इसका आदेश स्थान-स्थानपर दिया है। इसलिये मेरी यह प्रार्थना है कि गीताका अनुशीलन अर्थ और भावसहित करना चाहिये यानी गीतामें प्रवेश करके उसका अध्ययन करना चाहिये। गीताका भाव बड़ा गम्भीर है। जैसे समुद्रकी थाह नहीं, वैसे ही गीताके भावोंकी थाह नहीं।

आपलोग किसी अंशमें यह मानते होंगे कि यह गीताका जाननेवाला है; पर जब मैं खयाल करता हूँ, तब मुझे यही मालूम होता है कि मैं इसका शतांश भी नहीं जानता। एक जन्ममें नहीं, कई जन्मोंतक मैं गीताका ही अध्ययन करता रहूँ तो भी उसके भावोंकी समाप्ति नहीं। मेरी आयु समाप्त हो सकती है, पर गीताके भावोंकी समाप्ति नहीं हो सकती।

इसलिये प्रत्येक भाईको अपना जीवन गीतामय बनाना चाहिये। मनुष्य-जन्म पाकर जिसका जीवन गीतामय है, उसीका जीवन धन्य है। जिनका सारा जीवन गीतामय होता है, उनके दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे दूसरे मनुष्य पवित्र हो जाते हैं।

गीता बहुत ही उच्चकोटिका ग्रन्थ है। गीताकी संस्कृत बहुत ही सरल, सुन्दर और मधुर है। एक श्लोकको भी आप भावसहित धारण कर लें, तो आपके आत्माका कल्याण हो सकता है। गीतामें ऐसे सैकड़ों श्लोक हैं, जिनमेंसे एक श्लोकके अनुसार जीवन बनानेपर आत्माका उद्धार हो सकता है।

गीताको हम गङ्गासे बढ़कर कहें तो अनुचित न होगा; क्योंकि गङ्गामें नहानेवाला मनुष्य तो स्वयं ही मुक्त होता है—यह बात शास्त्रोंमें लिखी है; किंतु गीतारूपी गङ्गामें स्नान करनेवाला स्वयं तो मुक्त हो ही जाता है, दूसरोंका भी उद्धार कर सकता है।

गीताका अच्छी प्रकार अध्ययन करनेवालेको अपने आत्माके कल्याणके लिये अन्य शास्त्रोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि मैं अन्य शास्त्रोंकी अवहेलना करता हूँ। गीता एक ऐसा ग्रन्थ है कि उसे हमारे शास्त्रोंमें सबसे बढ़कर भी कह दें तो अत्युक्ति नहीं होगी; क्योंकि श्रीवेदव्यासजीने स्वयं कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(महा०, भीष्म० ४३। १)

'गीताका गायन अच्छी प्रकार करना चाहिये; गीताका अध्ययन अच्छी प्रकार करना चाहिये, गीताका मनन अच्छी प्रकारसे करना चाहिये', यही है—'गीता सुगीता कर्तव्या।' फिर अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह गीता स्वयं भगवान् कमलनाभके मुखकमलसे निकली है। अन्य जितने भी शास्त्र हैं, वे ऋषियोंके मुखसे निकले हैं। वेद ब्रह्माके मुखसे प्रकट हुए हैं; परंतु गीता तो स्वयं भगवान्के मुखकमलसे प्रकट हुई है। इसलिये हम उसको सर्वोपरि कह दें तो कोई अत्युक्ति नहीं।

गीताको हम गायत्रीसे भी बढ़कर कह सकते हैं। गायत्रीके जपसे जपनेवालेका कल्याण होता है, किंतु गीताका अर्थ और भावसहित अच्छी प्रकार अध्ययन करके धारण कर लेनेपर वह दूसरोंका भी कल्याण कर सकता है। इसलिये हम गीताको गायत्रीसे भी बढ़कर कह सकते हैं।

यदि मनुष्यका जन्म पाकर किसीने गीताका अभ्यास नहीं किया, गीताका अध्ययन नहीं किया, गीताका मनन नहीं किया, गीताके अनुसार अपना जीवन नहीं बनाया तो मैं समझता हूँ कि उसका जन्म व्यर्थ है। हमको ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि हमारी वाणीमें गीता, हमारे हृदयमें गीता, हमारे कानोंमें गीता, हमारे कण्ठमें गीता, हमारे रोम-रोममें गीता और हमारे जीवनमें गीता भरी हो—वह गीतामय हो। जो ऐसा है, उसीके लिये हम कह सकते हैं कि उसका जीवन धन्य है, उसके माता-पिता धन्य हैं।

ऐसा पुरुष संसारमें गीताका प्रचार करके अपना ही नहीं, हजारों-लाखों व्यक्तियोंका उद्धार कर सकता है। आज तुलसीदासजी नहीं हैं; किंतु उन्होंने रामायणकी रचना करके संसारका बड़ा भारी उपकार किया है। उससे हजारोंका उद्धार हो रहा है और जबतक वह रहेगी, उद्धार होता रहेगा।

इसी प्रकार जो मनुष्य गीताका अच्छी प्रकार अनुशीलन करके उसके अनुसार अपना जीवन बना लेता है, अपने जीवनको गीताके प्रचारमें लगा देता है, उस पुरुषके द्वारा ही वस्तुतः संसारमें गीताके भावोंका प्रचार होता है। उसके द्वारा भविष्यमें भी कितनोंका उद्धार होता रहेगा, कहा नहीं जा सकता। भगवान्‌ने गीताके प्रचारकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। भगवान्‌ने यहाँतक कह दिया है कि 'जो गीता-शास्त्रका मेरे भक्तोंमें प्रचार करता है, इसके अर्थ और भावको धारण करता है, वह मेरी भक्तिके द्वारा मुझे प्राप्त होता है। उसके समान मेरा प्रिय कार्य करनेवाला न कोई हुआ, न हो सकता है और न होगा।' यही भाव भगवान्‌ने गीताके अठारहवें अध्यायके ६८, ६९वें श्लोकोंमें दिखलाया है* इस बातको खयालमें रखकर अपना जीवन गीतामय बनाना चाहिये।

मैंने जिस दिन यह श्लोक पढ़ा और इसका अर्थ कुछ समझा, तभीसे मेरे हृदयमें यह भाव आया कि अपने जीवनको गीतामें लगाना चाहिये। मैं अभीतक अपने जीवनको गीतामय बना नहीं सका, किंतु इस बातको मैं बहुत ही उत्तम समझता हूँ। इसलिये सबसे प्रार्थना करनेका मेरा अधिकार है कि आपको अपना जीवन गीतामय बनाना चाहिये; फिर अपने घरमें, अपने प्रान्तमें, अपने देशमें सारी त्रिलोकीमें गीताका खूब जोरोंसे प्रचार करना चाहिये।

श्रद्धा-प्रेम और साधनमें तत्परताकी आवश्यकता

वास्तवमें प्रेमके आस्पद तो एक भगवान् ही हैं। महात्माओंमें प्रेमकी अपेक्षा श्रद्धा आवश्यक है। ईश्वरमें प्रेम-श्रद्धा दोनोंकी आवश्यकता है; क्योंकि ईश्वरका स्वरूप अलौकिक, दिव्य, चेतन है; महात्माओंका शरीर जड है, भौतिक है। ईश्वरके स्वरूपमें तो प्रेम होने और उसके दर्शन होनेसे कल्याण हो जाता है, पर महात्माके शरीरमात्रमें प्रेम होनेसे मुक्ति नहीं हो सकती। महात्मामें श्रद्धा होनी चाहिये। श्रद्धाका रूप क्या है ? महात्मा जो कहें उसका पालन करे, वही श्रद्धा है। महात्माके शरीरकी सेवा-पूजा करना भी उत्तम है; किंतु असली महात्मालोग सेवा-पूजा नहीं कराते हैं। वे आराम तथा मान-बड़ाईसे दूर रहते हैं।

भगवान्‌के तो स्वरूप, लीला, धाम, नाम, गुण किसीमें भी प्रेम होनेसे उद्धार हो जाता है, अतः भगवान् प्रेम करनेके योग्य हैं। भगवान्‌के सिवा संसार, शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, घर, मान, बड़ाई आदिमें जो आसक्ति है, वही खतरेकी चीज है। शास्त्रमें, परलोकमें, महात्मामें, परमात्मामें, सबमें श्रद्धा करनी चाहिये। श्रद्धाके सब पात्र हैं, पर प्रेम करने योग्य तो केवल परमात्मा ही हैं। संसारके सब प्राणियोंसे उनके हितके लिये जो निष्काम प्रेम है, वह भगवान्‌में ही है।

---

* य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति। भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः। भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥ (गीता १८। ६८-६९)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीता-शास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

महात्माके पास अगर पचास वर्ष रहें और उनकी आज्ञाका पालन न करें तो कल्याण नहीं हो सकता। उनका अनुकरण और उनकी आज्ञाका पालन दोनों कल्याणकारी है। यही गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(३।२१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(१३।२५)

परंतु इनसे दूसरे, अर्थात् 'जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इसे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं।'

अभिप्राय यह है कि महात्मा पुरुषके द्वारा कहे वचनोंको सुनकर जो उनके अनुसार साधन करते हैं, पालन करते हैं, वे दत्तचित्त, श्रुतिपरायण पुरुष संसार-सागरको तर जाते हैं। सुननेके परायण होना क्या है ? जैसे मृग वीणाको सुनकर इतना मुग्ध हो जाता है कि चाहे उसे पकड़ लो, मार डालो, उसे अपने शरीरका खयाल—ध्यान नहीं रहता। इसी प्रकार महात्मा जो बतायें, उसे सुननेमें मन लगा दे, फिर उसे समझे और तदनुसार आचरण करे। सुनते तो बहुत हैं, पर लाभ तभी होता है, जब उसका धारण और पालन किया जाता है। सुनकर धारण न होनेका कारण है—श्रद्धाकी कमी। शास्त्रकी, महात्माकी बात सुनकर उसपर जिसको 'इत्थंभूत' विश्वास हो जाय कि बस, यही करना है—चाहे मरें या जीयें तो उसका कल्याण हो जाता है। स्वधर्ममें मरना भी कल्याणकारक है। '**स्वधर्मे निधनं श्रेयः**' (गीता ३।३५) इसलिये इसमें श्रद्धाकी आवश्यकता है। जितनी अधिक श्रद्धा होती है, उतनी ही अधिक तेजीसे शान्तिरूप सिद्धि प्राप्त होती है। गीतामें कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(४।३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

श्रद्धावान् ज्ञान प्राप्त करता है। कैसा श्रद्धावान्? जो साधनमें तत्पर हो। यहाँ यह विशेषण क्यों दिया? इसीलिये कि जिस कार्यमें जितनी साधनकी तत्परता है, उतनी ही उसमें श्रद्धा है। श्रद्धाकी कसौटी है—तत्परता। जैसे लोभी पुरुष लाभकी वस्तुकी ओर सब प्रकारसे तत्पर होकर लग जाता है, इसी तरह कल्याणकामी मनुष्यको जब यह दृढ़ विश्वास—निश्चय हो जाय कि इस साधनसे कल्याण हो जायगा, तब वह फिर साधनमें कमी नहीं रखता। श्रद्धालु पुरुषको ज्ञान मिलता है, ज्ञानसे परम शान्ति मिलती है, पर जहाँ तत्परता नहीं है, वहाँ श्रद्धा नहीं है। फिर इसका विशेषण दिया 'संयतेन्द्रियः' अर्थात् जिसके इन्द्रिय-मन वशमें हैं। जिसके इन्द्रिय-मन वशमें नहीं हैं, वह पूरी तत्परतासे साधन नहीं कर रहा है। इसलिये हमें ईश्वर और महापुरुषोंके वचनोंपर विशेष श्रद्धा करनी चाहिये।

मृत्यु आनेपर एक क्षणका भी अवसर लाख रुपये देनेपर भी नहीं मिल सकता। न रोनेसे काम बनता है, न सिफारिश चलती है। ऐसी स्थितिमें कर्तव्य यह है कि जबतक परमात्माकी प्राप्ति न हो, चैन न लें। किसीसे बात करनेका भी अवकाश न दें। साधनमें थोड़ी भी कमी रह गयी और बिना भगवत्प्राप्तिके जाना पड़ा तो पता नहीं, फिर क्या दशा होगी अर्थात् किस योनिमें जन्म होगा। मनुष्यसे इतर सभी योनियाँ भोग-योनियाँ हैं। इस मनुष्ययोनिमें ही परमात्माकी प्राप्ति सहज होती है। अतः हम क्यों दूसरे जन्मको गुंजाइश दें। इसी जन्ममें काम बना लेना चाहिये, नहीं तो बहुत खतरा है। तत्परतासे साधन करनेपर इसी जन्ममें कल्याण हो सकता है। इसपर एक कहानी है।

किसी गाँवमें एक उच्चकोटिके महात्मा थे। उनके पास लोग जाया करते थे। उस गाँवके राजाके पास भी यह समाचार पहुँचा। तब लोगोंकी प्रेरणासे एक दिन वह भी वहाँ गया। महात्मा पहलेसे ही यह जानते थे कि 'यह राजा बड़ा कामी और भोगी है। अतः इसका सुधार हो जाय तो इसके साथ प्रजाको भी लाभ हो।' राजा आया। कुशल पूछनेपर राजाने प्रार्थना की—'महात्मन्! कोई ऐसी दवा दीजिये, जिससे कितनी ही स्त्रियोंके साथ सहवास करनेपर भी मुझे थकावट न आये।' महात्माने अपनी कुटियासे एक बोतल मँगायी। उसमेंसे दो बूँद

दवा राजाको दी और शेष सारी स्वयं पी गये। राजा घरपर गया तथा रात्रिमें काम चेतन होनेपर सब रानियोंको तृप्त कर दिया; पर स्वयं तृप्त नहीं हुआ। उसका काम वैसे ही जाग्रत् रहा। तीन दिन बाद महात्माके पास फिर गया और बोला—'आपकी दवा बड़ा काम करती है। दो बूँद दवा और दीजिये।' महात्माने और दे दी। इस प्रकार वह दो-तीन महीनेतक हर तीसरे दिन दो बूँद दवा ले लेता और खूब विषय-भोग करता। महात्मा भी बोतलकी शेष बची सारी दवा उसके सामने स्वयं पी जाते। एक दिन राजाने कहा—'ऐसी दवा दीजिये, जिससे रोज-रोज न आना पड़े, सदाके लिये काम हो जाय।' महात्माने उसे पूरी बोतल पिला दी। जब राजाने पी ली तब महात्मा बोले—'मुझसे बहुत बड़ी गलती हो गयी।' राजा बोला—'क्या?' महात्माने कहा—'क्या बताऊँ, तुम तीन दिनके बाद मर जाओगे।' राजा बोला—'क्या मैं मर जाऊँगा?' महात्मा बोले—'हाँ।' राजाने पूछा—'बचनेका कोई उपाय भी है?' महात्माने बहुत सोच-विचारकर कहा—'है, पर बहुत कठिन है।' तब राजा बोला—'कितना ही कठिन हो, मैं उसे कर लूँगा, आप बताइये।' महात्माने कहा—'बस, अबसे लेकर मरणतक भगवान्‌का नाम-रूप न भूलो।' राजाने कहा—'ठीक है। मैं पालन करूँगा।' घरपर जाकर वह अलग एकान्त महलमें बैठ गया। डुग्गी पिटवा दी कि 'कोई मेरे पास न आये, जो आयेगा उसे मृत्युदण्ड होगा।' वह परमात्माके भजन-ध्यानमें मस्त हो गया। न खाना याद रहा न पीना, न मल-मूत्रका त्याग ही। भगवान्‌के ध्यानसे अहङ्कारका नाश हो गया। समाधि लग गयी। सात दिन हो गये, समाधि नहीं टूटी। इधर बाहरके लोगोंने देखा—तीन दिनके बाद मरनेका समय था, सात दिन हो गये, कोई खबर नहीं। कपाट खोलकर भी देखा समाधि लगी हुई है। कुछ हो-हल्ला होनेपर राजाकी भी समाधि टूटी। राजाने कहा—'तीन दिनके पहले दरवाजा क्यों खोला?' कहा गया—'महाराज! सात दिन हो गये।' महात्माने कहा था कि 'तीन दिनमें मर जाओगे' मैं कैसे नहीं मरा?—यह सोचकर वह फिर महात्माके पास गया। सब बातें कहीं। तब महात्माने पूछा—'क्या अभी तुम्हारेमें 'मैं' है?' कहा—'नहीं।' तब महात्मा बोले—'मैं अर्थात् जो अहङ्कार था, वह मर गया। शरीरके मरनेकी तो कोई बात नहीं है।' फिर राजाने पूछा—'आप प्रतिदिन पूरी बोतल दवा पी जाते हैं। आपपर उसका कोई असर नहीं होता। मुझपर तो दो बूँदसे ही इतना असर हो जाता था।' महात्मा बोले—'अभी सात दिन पहले तुमने भी तो पूरी बोतल पी ली थी। तुमपर क्यों नहीं असर हुआ?' राजाने कहा—'महाराज! मुझे तो तीन दिनपर मौत सामने दीखने लगी, इससे स्त्री-पुत्र आदि कुछ भी याद नहीं आये।' महात्मा बोले—'बस, यही बात है। मुझे तो प्रतिक्षण मौत दिखायी देती है, फिर मुझपर कैसे असर होता?'

इस प्रकार हम भी यदि समयको अमूल्य और मृत्युको अत्यन्त समीप समझें तो थोड़े समयमें ही हमारा कल्याण हो सकता है। जैसे राजा इतना बड़ा कामी था, किंतु उसके लगन लगनेसे सात दिनोंमें ही उसका कल्याण हो गया।

लगन लगनेका यह कारण था कि उसे विश्वास हो गया था कि 'मेरी तीन दिनों बाद मृत्यु हो जायगी।' अतः वह खान-पानको छोड़कर ध्रुवजीकी तरह ध्यानमें मस्त हो गया। इसी प्रकार हमलोग भी मृत्युको अत्यन्त समीप और समयको अमूल्य समझकर रात-दिन परमात्माके ध्यानमें लग जायँ तो हमारा कल्याण भी शीघ्र हो सकता है। समय बहुत अल्प है, उसे बहुत कीमती समझना चाहिये। इस समय हमारा कल्याण नहीं हुआ तो फिर आगे बहुत खतरा है। परमात्माके सिवा हमारा कोई भी रक्षक नहीं है। हमलोग अनाथके समान मारे जायँगे; इस प्रकार समझकर मृत्युको समीप देखकर परमात्माके ध्यानमें मस्त हो जाना चाहिये—यही कल्याणका मार्ग है।

प्रश्न—कोई ऐसा मनुष्य हो, जिसमें बुद्धि, विवेक, ज्ञान नहीं है—क्या उसका भी उद्धार हो सकता है?

उत्तर—हो सकता है। कैसे? सत्पुरुषोंका सङ्ग करनेसे, उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे, साधन करनेसे।

प्रश्न—मृत्यु अत्यन्त समीप आ गयी हो और तब फिर चेत हो तो कल्याण हो सकता है या नहीं?

उत्तर—हो सकता है। अत्यन्त तत्पर होनेसे शीघ्र ही कल्याण हो सकता है।

प्रश्न—कोई अत्यन्त दुराचारी है, कामी है, भोगी है, व्यसनी है—उसका भी उद्धार हो सकता है या नहीं?

उत्तर—हो सकता है। बहुत शीघ्र हो सकता है। जैसे राजाका हो गया। भगवान् भी गीतामें कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(९।३०—३२)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता। अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।'

पापीसे भी पापीका उद्धार हो जाता है। पर अनन्यमन होना चाहिये। अनन्यभावसे भजना चाहिये। जैसे राजाने भजा, जैसे प्रह्लाद एकनिष्ठ भक्त थे, जैसे पतिव्रता स्त्री पतिपरायणा होती है; उसी प्रकार अव्यभिचारिणी भक्ति होनी चाहिये। परमात्माके सिवा किसीकी इच्छा न हो, उसके सिवा किसीमें निष्ठा न हो, निरन्तर उसीको भजे तो फिर मनुष्य शीघ्र ही महात्मा बन जाता है; देर नहीं लगती। पर भजन एकनिष्ठभावसे निरन्तर होना चाहिये। जब ऐसे महान् पापियोंका उद्धार हो जाता है, तब फिर पुण्यवान् पुरुषोंकी तो बात ही क्या है। यदि कहा जाय कि ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती सो यह ठीक है, परंतु भगवान्‌की कृपासे हो सकती है। जो निरन्तर भजता है, उसे भगवान् स्वयं बुद्धियोग दे देते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०।१०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

गीतामें नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवालोंकी बड़ी महत्ता दिखायी है।

भगवान्‌ने कहा है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(१२।७)

'अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

इसलिये तुम—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

(गीता १२।८)

'मुझमें ही मनको लगाओ और मुझमें ही बुद्धिको लगाओ। इसके बाद तुम मुझमें निवास करोगे। अर्थात् मुझको ही प्राप्त होओगे, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

इससे यह निर्णय हुआ कि चाहे मनुष्य कैसा ही मूर्ख हो, पर अनन्य भक्तिके प्रभावसे भगवान् उसे ज्ञान दे देते हैं। चाहे मनुष्य कैसा ही पापी हो, भक्तिके प्रभावसे उसका भी उद्धार हो जाता है। चाहे मृत्युका समय कितना ही निकट आ गया हो, उसका भी भगवान्‌की भक्तिसे उद्धार हो जाता है। भगवान्‌की भक्ति भगवान्‌में प्रेम होनेपर होती है; भगवान्‌में प्रेम भगवान्‌की भक्ति करनेसे होता है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। इस बातको सोचकर मृत्युको अत्यन्त समीप और समयको अत्यन्त कीमती समझकर खूब जोरसे भक्तिमें लग जाना चाहिये। मनुष्य एक क्षण भी भगवान्‌को न भूले; क्योंकि आयुका एक क्षण लाख रुपये खर्च करनेसे भी नहीं मिल सकता। फिर बाँग मार-मारकर रोयेंगे तो भी सुनवायी नहीं होगी, न सिफारिश चलेगी। मृत्यु आ जायगी तब मरना ही पड़ेगा। कोई भी उपाय नहीं कि किसी भी प्रकार दो-चार घड़ी भी जीवन रह जाय। मृत्युका कोई भरोसा भी नहीं है कि वह कब आ जाय। मृत्यु आती है तो पहले खबर नहीं देती कि मैं कल आऊँगी। अतः मृत्युका विश्वास न करे। हर समय मृत्युको अत्यन्त निकट समझे। आजका दिन निकल गया तो कलका शायद ही निकले। कलका निकल गया तो फिर उसके आगेका शायद ही निकले। इस प्रकार समझकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये तत्परताके साथ प्रयत्नशील हो जायँ। निश्चय कर लें कि परमात्माको आज ही प्राप्त करके छोड़ेंगे, नहीं तो मर मिटेंगे। सब कामोंको ठुकराकर सबसे पहले यह काम करना है; क्योंकि हम आज मर गये तो हमारा वैसे ही इस धन, कुटुम्ब, पुत्र, ऐश्वर्य किसीसे भी किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहेगा—जैसे हमारे पिता-पितामहका नहीं रहा। तथा इससे पूर्व हम कहाँ थे, कौन थे, क्या जाति थी, क्या स्थिति थी, हमारा क्या ऐश्वर्य था—कुछ भी पता नहीं है। इसी प्रकार आगे भी पता नहीं रहेगा। अतः रुपये आदिके संग्रहमें समय बिताना सरासर मूर्खता है। पूर्व-जन्मोंमें तो व्यर्थ बिताया, इस जन्ममें तो इन चीजोंके लिये समय व्यर्थ न गँवायें। इनकी तो क्या कहें, यह शरीर भी हमारे साथ नहीं जायगा। इस बातको

समझकर सबके मोहको छोड़ देना चाहिये। वही धन, शरीर, पुत्र, स्त्री हमारे हैं जो हमारी आत्माके कल्याणमें सहायक हों। वही सम्पत्ति हमारी है, जो आत्माके कल्याणमें मदद करे, नहीं तो विपत्ति है। इस प्रकार विचारकर आत्माके कल्याणके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करें। भगवान्‌को कभी न भूलें, फिर शरीर चाहे कल मरे या आज मरे। शरीरके भी मरनेकी चिन्ता हम क्यों करें? क्योंकि वास्तवमें मरेंगे तभी जब मरनेका समय आयेगा। इसपर भी एक कहानी है—

एक व्यक्ति मारवाड़का रहनेवाला था; परन्तु रहता था बाहर। वह बीस वर्षके बाद सपरिवार अपने घर गया। उसकी हवेली इतने वर्षोंसे बंद थी। हवेली खोली। सफाई की। रातमें सोया तो कई प्रेत आये। बोले 'यहाँसे निकलो।' मालिक बोला—'यह मेरी हवेली है।' वे बोले— 'नहीं, हम यहाँ रहते हैं, भाग जाओ।' कहा—'रातभर सोने दो, हम कल चले जायँगे।' दूसरे दिन फिर सो गया। फिर प्रेत आये तो फिर कहा—'दो चार दिन और रहने दो, मकानका प्रबन्ध करके चले जायँगे।' इस प्रकार वह टालमटोल करता रहा। एक दिन घरके मालिकने प्रेतोंसे पूछा—'आप दिनमें कहाँ जाते हैं? बोले—'हम यमराजके पास जाते हैं।' तो उसने कहा कि 'हमारा भी एक काम करना—उनसे पूछ आना कि हमलोगोंकी आयु कितनी है?' प्रेतोंने इसे स्वीकार किया। दूसरे दिन जब प्रेत आये, तब पूछनेपर सबकी आयु भिन्न-भिन्न बतायी। तब वह बोला, 'कृपया हमारा एक काम और कर दो। यमराजके पास आप जाते हैं, उनसे प्रार्थना कर दो कि हमलोगोंकी आयुमें या तो वे एक-एक दिन घटा दें अथवा एक-एक दिन बढ़ा दें।' कहा—'इसमें क्या बात है?' जाकर यमराजसे प्रार्थना की। यमराज बोले—'इसमें तो न तिल घट सकता, न राई बढ़ सकती है। यह हमारी सामर्थ्यके बाहरकी बात है।' प्रेतोंने आकर यमराजकी कही सारी बात ज्यों-की-त्यों सुनायी। उसके बाद फिर प्रेतोंने उन्हें घरसे निकलनेके लिये कहा तो वह फिर पहलेकी भाँति टालमटोल करने लगा। तब प्रेतोंने उसे डाँटा कि 'अगर नहीं जाओगे तो हम तुम्हें मार डालेंगे।' वह बोला, 'वाह! जब आयु समाप्त हुए बिना यमराजकी भी मारनेकी ताकत नहीं, तब तुम्हारी क्या ताकत है जो हमारी आयु समाप्त होनेके पूर्व ही मार डालोगे?' तब वे समझ गये और स्वयं घर छोड़कर चले गये।

अतः हमें मृत्युके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं। जब आयु समाप्त होगी, तभी मरेंगे। न एक दिन बढ़ सकता है, न एक दिन घट सकता है। किंतु जबतक शरीर है, अपने आत्म-कल्याणके लिये भगवान्‌को हर समय याद रखना चाहिये। ऐसा न हो कि बिना कल्याण हुए ही मौत आ जाय और हमें पछताना पड़े। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

अतः यदि मनुष्य-शरीर पाकर भी अपने आत्माका उद्धार नहीं किया तो फिर पछताना पड़ेगा। हमें मनुष्य-शरीर मिला हुआ है तथा परमात्मा, श्रुति, स्मृति, तुलसीदासजी, कबीरदासजी आदि संत सब चेतावनी दे रहे हैं।

कबीरदासजी कहते हैं—

कबिरा नौबत आपनी, दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली, बहुरि न देखहु आय॥

श्रीभगवान् गीतामें कह रहे हैं—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।' फिर कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(गीता ९। ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

ये सब बातें आपलोग वर्षोंसे सुनते आ रहे हैं। पर जिस प्रकारसे उन्नति होनी चाहिये, वैसी कम देखनेमें आती है। बहुतसे हमारे मित्र हुए; कई धनी थे, कई गरीब थे, पर वे सब चले गये। बड़े भी चले गये, बराबरके भी चले गये, छोटे भी चले गये, हम भी चले जायँगे। युक्ति और शास्त्रसे भी समझाते हैं, पर समझमें नहीं आ रहा है। महाभारतमें भी यक्षके प्रश्नपर युधिष्ठिरने यही बताया—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

(वनपर्व ३। ३। ११६)

'इस संसारमें दिन-प्रतिदिन प्राणी यमलोक जा रहे हैं—मर रहे हैं, फिर भी बचे हुए मनुष्य सदा जीना चाहते हैं—इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा?'

बहुतोंको समझाते हैं, हम मित्रोंसे कहते हैं कि 'सावधान हो' तो कोई कहता है कि 'ऋण चुक जाय तब ठीक रहे।' कोई कहता है—'और सब ठीक है, लड़कोंका विवाह हो जाय तो ठीक रहे। फिर शान्तिसे भजन करें।' कोई कहते हैं, 'और सब ठीक है, लड़के भी होशियार हैं, पर जरा इनकमटेक्सका मामला और सलटा दें तो ठीक रहे।' यह हमारे मित्रोंका हाल है। बहुत-से मर गये, बाकी मरेंगे ही। एक भी ऐसा नजर नहीं आता, जिसके लिये यह कहा जाय कि उसने मृत्युका इन्तजाम कर लिया है। इसीलिये सबसे कहते हैं—'समय थोड़ा रहा है, तत्परतासे साधन करो।' तो 'हाँ, हाँ करते हैं।' करेंगे, ऐसा बोलते हैं। बहुत-से ऐसे बोलते-बोलते चले भी गये। अब किसे कैसे समझायें? जीते समझते नहीं, मरनेपर समझानेका उपाय नहीं। धन-कुटुम्ब आदिकी चिन्तावाले बहुत-से चिन्ता करते-करते मर गये। न चिन्ता मिटी, न आत्म-कल्याण ही हुआ। अब भी बहुतोंको कहते हैं। पर बात समझमें नहीं आती है। या तो हमारा दोष है अथवा सुननेवालोंका, भगवान्‌का तो है ही नहीं। उनकी तो बड़ी कृपा है, उनकी कृपाका तो प्रवाह बह रहा है। इतनी भारी कृपा है कि हम उसका अनुमान भी नहीं कर सकते। स्वयं भगवान् कहते हैं—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

(गीता ५। २९)

'मेरा भक्त मुझको तत्त्वसे सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

भगवान् हेतुरहित दयालु हैं। यही बात रामायणमें शिवजी कहते हैं—

उमा राम सम हितु जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु कोउ नाहीं॥

यह मनुष्य-शरीर हमें भगवान्‌की बड़ी कृपासे मिला है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

इस प्रकार उनकी दया सर्वत्र ओतप्रोत समझें। भगवान्‌को अपना परम सुहृद् समझें। भगवान्‌के समान कौन प्रेमी और दयालु है? उनके शरण हो जानेसे परम शान्ति मिल सकती है। अनिच्छा-परेच्छासे जो भी सुख-दुःख प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का मङ्गलमय विधान मानना चाहिये? ऐसा माननेसे किसी तरहके दुःखका अनुभव नहीं हो सकता और परम शान्ति मिल सकती है।

सिद्धान्त

१—जैसे जल, पानी, अम्बु, नीर, अप, वाटर आदि सब एक जलके ही विभिन्न नाम हैं, वैसे ही एक ही परमात्माके ॐ राम, कृष्ण, हरि, गोविन्द, वासुदेव, ईश्वर, अल्लाह, खुदा, गॉड— इत्यादि अनेकों नाम हैं। वास्तवमें वस्तु एक ही है। यह बात नहीं है कि हिंदुओंके ईश्वर दूसरे हों और मुसलमानों तथा ईसाइयोंके दूसरे। इसी तरह सभीके विषयमें समझना चाहिये। कई लोग धर्मको मानते हैं, पर ईश्वरको नहीं मानते और कई ईश्वर तथा धर्म दोनोंको ही नहीं मानते; किंतु उनके न माननेपर भी ईश्वर तो सभीके लिये हैं, चाहे उन्हें कोई माने या न माने। वे सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी परमात्मा सबके लिये समान भावसे ही उनके शुभाशुभ कर्मानुसार सुख-दुःख आदि फलका विधान करते हैं।

२—जैसे एक जलके ही परमाणु, बादल, भाप, कुहरा, बूँद, ओले और बरफ आदि अनेक रूप हैं, वैसे ही एक परमात्माके ही व्यक्त-अव्यक्त, सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, द्विभुज-चतुर्भुज, विष्णु-विराट्, राम-कृष्ण, शिव-शक्ति आदि अनेक रूप हैं।

३—मनुष्यकी जिस नाम और जिस रूपमें श्रद्धा, रुचि, विश्वास है, उसके लिये वही नाम और वही रूप विशेष लाभदायक होता है।

४—उपर्युक्त नाम-रूपकी उपासना यदि सकामभावसे यानी इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये की जाती है तो उससे भोगोंकी प्राप्ति हो सकती है और यदि रोग-संकटादि दुःखोंकी निवृत्तिके लिये की जाती है तो दुःखोंकी निवृत्ति हो सकती है। पर यहाँ यह बात ध्यान देनेकी है कि यदि ईश्वर फल देनेमें हित समझते हैं तो फल देते हैं, हित नहीं समझते तो नहीं भी देते। किंतु यदि वही उपासना निष्कामभावसे की जाती है तो अन्तःकरणकी शुद्धि होकर आत्माका उद्धार हो जाता है।

५—हिंदू, बौद्ध, जैन, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि कोई भी क्यों न हो, उन सभीके लिये वास्तविक सर्वोत्तम परमार्थ वस्तु तो एक ही है, उसमें सबका (मनुष्यमात्रका) समान अधिकार है; क्योंकि सब साधनोंका सबसे बढ़कर अन्तिम फल एक ही है। उसीको परमात्माकी

प्राप्ति, परम गति, परम शान्तिकी प्राप्ति, अव्यक्त अक्षरकी प्राप्ति, परमधामकी प्राप्ति, अक्षय सुखकी प्राप्ति, अमृतकी प्राप्ति, ब्रह्मकी प्राप्ति, भगवद्भावकी प्राप्ति आदि नामोंसे गीतादि शास्त्रोंमें कहा है और उसीको लोग आत्माका उद्धार, आत्माका कल्याण, मोक्ष, चतुर्विध मुक्ति, सब दुःखोंका अत्यन्त अभाव, केवल चिति-शक्ति, मोक्ष-शिला, सातवाँ आसमान आदि नामोंसे कहते हैं। साधकको प्रथम अपने श्रद्धा, विश्वास, सिद्धान्त और मान्यताके अनुसार उत्तम-से-उत्तम पदकी प्राप्ति होती है, किंतु इसके अनन्तर सर्वोत्तम अन्तिम स्थिति सबकी एक ही हो जाती है। यह बात नहीं है कि परमात्माकी प्राप्तिकी अन्तिम अवस्था हिंदुओंके लिये कोई अलग हो, ईसाइयोंके लिये अलग हो और मुसलमानोंके लिये उससे भिन्न हो। हाँ, साधककी नीयत शुद्ध होनी चाहिये; उसमें ममता, अहंकार, स्वार्थ, विषमता, राग, द्वेष और ईर्ष्या आदि विकारोंका सर्वथा अभाव अवश्य होना चाहिये।

६—वाणीद्वारा जो कुछ कहा जाता है, मनद्वारा जो कुछ मनन किया जाता है और बुद्धिके द्वारा जो कुछ निश्चय किया जाता है, इन सबसे वह परम पदकी प्राप्ति निराली ही है। वह केवल चेतन, अचिन्त्य और अलक्ष्य होनेसे किसी भी मन-इन्द्रियका विषय नहीं है। इसलिये जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक मनुष्य उसको किसी भी प्रकारसे नहीं समझ सकता; क्योंकि समझमें आनेवाले पदार्थसे वह अत्यन्त विलक्षण है। वहाँ न ज्ञान है; न अज्ञान, न बन्ध है, न मोक्ष; उसे न व्यक्त ही कह सकते हैं, न अव्यक्त ही; न वह सगुण है, न निर्गुण ही; न वह साकार है, न निराकार ही और न वह द्वैत है, न अद्वैत ही। क्योंकि ऊपर लिखे हुए शब्दोंके जो अर्थ हैं, सब बुद्धिद्वारा समझमें आ सकते हैं, किंतु वास्तवमें वह परमात्मा बुद्धिकी समझसे परे और अत्यन्त विलक्षण है।

७—उपर्युक्त मुक्तिके विषयमें कोई कहते हैं—'इस देशमें मुक्ति नहीं होती'; कोई कहते हैं—'इस कालमें मुक्ति नहीं होती'; कोई कहते हैं—'गृहस्थाश्रममें मुक्ति नहीं होती;' कोई कहते हैं 'स्त्रीजातिकी मुक्ति नहीं होती'—ये सभी कथन एकदेशीय, अनुदार और अयुक्त हैं। उपर्युक्त परम पदकी प्राप्ति तो सभी देशों, सभी कालोंमें और सभी मनुष्योंकी हो सकती है। तर्ककी कसौटीपर कसने एवं निरपेक्षभावसे उदारताकी दृष्टिसे देखनेपर यही सिद्धान्त अतर्क्य, सर्वोत्तम और परम लाभप्रद सिद्ध होता है।

एक भाई इस देश और इस कालमें एवं मानवमात्रका मुक्तिमें अधिकार नहीं समझता। मान लीजिये, यदि उसकी बात सत्य भी हो तो भी इस देश-कालमें और मानवमात्रकी मुक्ति माननेवालेके लिये कोई भी हानि नहीं है; क्योंकि इस देश-कालमें यदि मुक्ति होती ही नहीं तो वह तो मानने और न माननेवाले दोनोंके लिये ही समान है; किंतु यदि सब देश और सब कालमें तथा मनुष्यमात्रकी मुक्ति होती है तो इस पक्षमें इस देश-कालमें और मनुष्यमात्रकी मुक्ति न माननेवालेके लिये महान् हानि है। माननेवाला यदि अपने श्रद्धा-विश्वासके अनुसार प्रयत्न करता है तो उसकी मुक्ति हो सकती है; किंतु जो मानता ही नहीं, वह प्रयत्न ही क्या करेगा और इस हालतमें मुक्ति होते हुए भी वह मुक्तिसे वञ्चित रह जायगा।

वास्तवमें अज्ञानके नाशसे मुक्ति होती है और ज्ञानसे अज्ञानका नाश होता है। उस ज्ञानकी प्राप्ति ईश्वरकी शरण और दयासे तथा ज्ञानी महात्माओंके सङ्ग, शरण और कृपासे एवं श्रद्धा, स्वाध्याय और साधनसे होती है, जिनमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। अतएव यह सिद्धान्त सर्वोत्तम, लाभप्रद और अतर्क्य है।

८—बहुत-से भाई ऐसा मानते हैं कि 'जीवन्मुक्त महात्माओंमें भी प्रारब्धवेगसे काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि दुर्गुण और झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार आदि दुराचार घट सकते हैं।' किंतु उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है। जिनको ज्ञानकी प्राप्ति तो हुई नहीं और न परमात्माके स्वरूपका अनुभव ही हुआ तथा जो भूलसे ऐसा मान बैठे हैं कि हमें ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी है, वे ही लोग अपनेमें घटनेवाले दुर्गुण-दुराचारोंको देखकर जीवन्मुक्त महात्माओंमें भी दुर्गुण-दुराचारोंका होना मानते हैं और मायाके लेशरूप प्रारब्धके कारण उनमें काम-क्रोधादि दुर्गुणों और झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार आदि दुराचारोंका होना बतलाते हैं; पर उनका यह कथन न शास्त्र-सङ्गत है और न युक्तिसङ्गत। जब मुक्त पुरुषमें दुर्गुण, दुराचार ही घटते हैं, तब फिर ऐसी मुक्तिसे ही क्या लाभ है? दुराचारोंके विषयमें अर्जुनके पूछनेपर भगवान्ने काम और क्रोधको हेतु बतलाया है, न कि प्रारब्धको।

जब अर्जुनने प्रश्न किया कि—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

'कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

इसपर भगवान्ने यही कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।'

यहाँ भगवान्‌ने पापोंके होनेमें रजोगुणसे उत्पन्न कामको कारण बतलाया और कामसे ही क्रोध आदिकी उत्पत्ति बतलायी है तथा कामके नाशसे इन सबका नाश होता है; किंतु काम-क्रोध आदिके होनेमें प्रारब्ध कारण नहीं है; क्योंकि भगवान्‌ने कामका कारण आसक्तिको बतलाया है (सङ्गात् संजायते कामः २। ६२) न कि प्रारब्धको। प्रारब्ध कारण होता तो काम-क्रोधादिमूलक आसक्तिकी निवृत्ति सम्भव ही नहीं होती और परमात्माकी प्राप्ति होनेपर उस पुरुषमें आसक्तिका सर्वथा अभाव बतलाया है।

यथा—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(गीता २। ५९)

'इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परंतु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।'

जब आसक्तिरूप मूलका ही नाश हो जाता है; तब उससे उत्पन्न होनेवाले काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि शाखा-पत्र कैसे रह सकते हैं ? इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद अहंता-ममता, राग-द्वेष, संशय-भ्रम, क्लेश-कर्म और दुर्गुण-दुराचारोंकी गन्धमात्र भी नहीं रहती।

क्योंकि श्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डकोपनिषद् २। २। ८)

'उस निर्गुण-सगुणस्वरूप परमात्माको तत्त्वसे जान लेनेके पश्चात् इस साधकके हृदयकी गाँठ खुल जाती है, उसके सम्पूर्ण संशय कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।'

गीतामें भी कहा है—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

(५। २६)

'काम-क्रोधसे रहित जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं।'

अतः युक्तियोंसे तथा शास्त्रसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि जीवन्मुक्त महात्माओंमें भी दुर्गुण-दुराचार लेशमात्र होते हैं—ऐसी मान्यता सर्वथा निराधार है।

९—कितने ही लोग ब्रह्मके निर्गुण निराकार स्वरूपकी अभेदरूपसे उपासना करते हैं, कितने ही भेदरूपसे; वे उपासक सगुणसाकारको हेय मानकर उसकी निन्दा करते हैं। वैसे ही दूसरे कितने ही सगुण-निराकार या सगुण-साकारकी भेदरूपसे उपासना करते हैं और निर्गुण-निराकारकी अभेदोपासनाकी निन्दा करते हैं। इस प्रकार अभेदोपासक भेदोपासकोंको और उनके उपास्यदेवको कोसते हैं तथा भेदोपासक अभेदोपासकों और उनके उपास्यको। किंतु वास्तवमें जब मनुष्य परमात्माके यथार्थ तत्त्वको जान जाता है, उसे सत्य वस्तु ज्ञात हो जाती है, तब वह परमात्माके किसी भी स्वरूपकी निन्दा कैसे कर सकता है? उपनिषद्‌में भी कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

(ईशावास्य० ६)

'परंतु जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मामें ही देखता है और आत्माको सारे भूतोंमें देखता है अर्थात् सम्पूर्ण भूतोंको अपना आत्मा ही समझता है, वह फिर किसीसे घृणा नहीं करता। सबको अपना आत्मा समझनेवाला किससे कैसे घृणा करे?'

वास्तवमें विचार करनेपर मालूम होता है कि निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, व्यक्त-अव्यक्त सब मिलकर एक समग्र परमात्माका ही स्वरूप है। किसी भी स्वरूपकी निन्दा अर्थान्तरसे परमात्माके ही स्वरूपकी निन्दा है। जो परमात्माके तत्त्वका ज्ञाता है, उससे अपने परमात्माके किसी भी स्वरूपकी निन्दा हो ही कैसे सकती है? इससे यही समझमें आता है कि परमात्माके स्वरूपकी या किसी अङ्गकी कोई निन्दा करता है तो वास्तवमें उसने परमात्माके तत्त्व और रहस्यको समझा ही नहीं; क्योंकि पतिव्रता साध्वी स्त्री अपने पतिके किसी भी स्वरूप या अङ्गकी निन्दा कैसे कर सकती है? पतिका हाथ, पैर, मुँह, कान कोई भी क्यों न हो, उसके लिये तो सभी आनन्ददायक होते हैं। इसी प्रकार परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले महात्माके लिये परमात्माके सभी स्वरूप आनन्ददायक होते हैं।

कोई शिवभक्त होकर विष्णुकी निन्दा करे तो उससे

शिव प्रसन्न नहीं होते और विष्णुभक्त होकर शिवकी निन्दा करे तो उससे विष्णु प्रसन्न नहीं होते; क्योंकि सच्चिदानन्द परमात्मा ही शिव और विष्णुके रूपमें प्रकट होते हैं, वस्तुतः एक ही तत्त्व है। यदि व्यवहारकी दृष्टिसे भेद माना जाय तो शिवके उपास्य हैं विष्णु और विष्णुके उपास्य हैं शिव; फिर इस सिद्धान्तसे भी शिव और विष्णु परस्पर एक-दूसरेकी निन्दा करनेवालेसे कैसे प्रसन्न हो सकते हैं? इससे यह बात सिद्ध हुई कि परमात्माके किसी भी स्वरूपकी किसी प्रकार भी निन्दा नहीं बन सकती।

१०—परमात्माके निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार आदि स्वरूपोंकी जो उपासना है, वह सभी उत्तम और श्रेष्ठ है, क्योंकि सभीका लक्ष्य परमात्माकी ओर होनेसे सभीको यथार्थमें परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, किंतु तर्ककी कसौटीपर कसनेसे साधनकालका कोई-सा भी स्वरूप वास्तविक स्वरूप सिद्ध नहीं होता; क्योंकि साधन-समयके माने हुए स्वरूपसे परमात्माका वास्तविक स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है।

जैसे कि एक पुरुष तो श्रीराम और श्रीकृष्णका ध्यान करता है, दूसरा एक सच्चिदानन्द ब्रह्मके निर्गुण-निराकार स्वरूपका ध्यान करता है, दोनों प्रकारके साधकोंको ही अभी परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई है, अतः वे शास्त्र और आचार्यके बतलाये हुए मार्गके अनुसार अपनी समझसे परमात्माके स्वरूपको लक्ष्य बनाकर उनकी उपासना करते हैं। इसलिये सगुण-साकारकी उपासना करनेवालोंके लक्ष्यसे भी वास्तविक श्रीराम-श्रीकृष्णका स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है और निर्गुण-निराकारके उपासकके लक्ष्यसे भी सच्चिदानन्द परमात्माका वास्तविक स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है; किंतु श्रद्धापूर्वक उपासना करनेके कारण शाखाचन्द्रन्यायकी भाँति परमात्माकी प्राप्ति सभीको हो जाती है, इसलिये सभीकी उपासना यथार्थ है।

अतएव सगुण-साकारोपासक यदि निर्गुण-निराकार-उपासकको निम्नश्रेणीका माने और निर्गुण-निराकारोपासक सगुण-साकारोपासकको निम्नश्रेणीका माने तो वे दोनों ही गलतीपर हैं, क्योंकि तर्ककी कसौटीपर कसनेसे सभी गलत ठहर जाते हैं, किंतु श्रद्धापूर्वक उपासना करनेपर सबका परिणाम परमात्माकी प्राप्ति होनेसे सभी ठीक हैं।

११—इसी प्रकार जो एक सम्प्रदायवाले दूसरे सम्प्रदायके मार्गको निम्नश्रेणीका अथवा हेय बतलाते हैं सो ठीक नहीं है, क्योंकि जितने भी शास्त्रोक्त सम्प्रदाय हैं, तर्ककी कसौटीपर कसनेसे परस्पर एक-दूसरेकी दृष्टिसे सभीमें कुछ-न-कुछ दोष कायम किये जा सकते हैं, किंतु सबकी पद्धति भिन्न-भिन्न होनेपर भी सभी आचार्योंकी नीयत और भाव उत्तम होने तथा सभीका लक्ष्य शास्त्रानुकूल और आत्यन्तिक श्रेय (कल्याण) की ओर होने एवं सबका फल परमात्माकी प्राप्ति होनेसे सभी श्रेष्ठ हैं।

१२—कोई एक साधक निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी अभेदभावसे उपासना करता है, किंतु भगवान्‌के सगुण-साकारके तत्त्वको न समझनेके कारण उसको हेयबुद्धिसे देखता है तो यह उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञानके सिद्धान्तके अनुसार भी सगुण और निर्गुण सभी एक ब्रह्मका ही स्वरूप है, इसलिये उसको भी भेदरूपसे सगुणकी उपासनाके द्वारा साधन करके फिर निर्गुण-निराकारकी अभेदोपासनासे अमृत-रूप ब्रह्मकी प्राप्ति करनी चाहिये।

इसी तरह दूसरा कोई साधक सगुण-साकार श्रीराम-श्रीकृष्ण आदिमेंसे किसीकी भेदभावसे उपासना करता है; किंतु निर्गुण-निराकार ब्रह्मके तत्त्वको न समझनेके कारण उसकी परवाह नहीं करता तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि निर्गुण-निराकारके तत्त्वको समझकर जो सगुण-साकारकी उपासना करता है, वही सबसे श्रेष्ठ है; इसलिये सगुण-साकारोपासकको निर्गुण-निराकारका तत्त्व समझकर ही सगुण-साकारकी भेदरूपसे उपासना करनी चाहिये।

भगवान् कहते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

(गीता ७। २४)

'बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भावको न जानते हुए मन-इन्द्रियोंसे परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी भाँति जन्मकर व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं।'

१३—जो साधक कर्म और उपासनाकी अवहेलना करके केवल निर्गुणकी उपासनाकी बातें करता है, वह ठीक नहीं करता। किसी कविने कहा है—

ब्रह्मज्ञान जान्यो नहीं कर्म दिये छिटकाय।
कर्महीन सो मूढ़ नर सहज नरक महँ जाय॥

एवं जो साधक सगुण-साकारका भजन-ध्यान, पूजा-पाठ, कीर्तन-वन्दन आदि करता है, किंतु भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको न जाननेके कारण संध्या-गायत्री, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन, दान, तप, पञ्चमहायज्ञादि, नित्य-नैमित्तिक और वर्णोचित कर्मोंकी अवहेलना कर देता है तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि वह भगवान्‌की भक्ति

तो करता है, पर भगवदाज्ञारूप शास्त्रोक्त कर्मकी अवहेलना करता है; इस कारण उसे परमात्माकी प्राप्ति होनी कठिन है; क्योंकि भगवान्‌की भक्तिमें भगवान्‌की आज्ञाका पालन प्रधान है। जो भगवान्‌की आज्ञाका पालन करता है, वही उनका सच्चा सेवक और प्रेमी है! तुलसीकृत रामायणके उत्तरकाण्डमें स्वयं भगवान् श्रीरामने प्रजाके प्रति कहा है—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

गीतामें भी कहा है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥

(३। ३०—३२)

'मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर। जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुकरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं परंतु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मतके अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खोंको तू सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ।'

१४—कञ्चन, कामिनी, भोग, आराम, मान, बड़ाई आदिमें फँसे हुए मनुष्योंको उपर्युक्त परमपदकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जो झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार, मांसभक्षण, मदिरापान और जीव-हिंसा आदि पापकर्म करते हैं, उनको तो वह मिल ही कैसे सकता है ? किंतु जिनमें काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, राग-द्वेष, कपट-अहंकार, ममता आदि किञ्चित् भी दुर्गुण घटते हैं, उनको भी मिलना कठिन है।

१५—शास्त्रोंमें भोग, आराम, मान, बड़ाई आदिको विषके तुल्य एवं विषयभोग और आरामके त्यागको तथा अपमान, निन्दा आदिको अमृतके तुल्य बतलाया गया है। इस बातको श्रेष्ठ आदर्श पुरुष ही चरितार्थ कर सकते हैं। श्रेष्ठ पुरुषोंसे ही इसकी आशा की जा सकती है, भोग और आरामके किङ्कर, मान-बड़ाईमें फँसे हुए मनुष्योंसे कदापि नहीं। शास्त्रोंका उपर्युक्त वर्णन केवल कथन-मात्र ही नहीं है, वरं आदर्श और आचरणीय है।

अतः जो दम्भी मनुष्य अपनेको ईश्वरका अवतार, ज्ञानी, महात्मा और सिद्ध योगी बतलाकर अपने चरणरज और उच्छिष्टको प्रसाद और अपने चरणोदकको चरणामृतका रूप देकर लोगोंमें वितरण करते हैं, लोगोंसे अपने शरीरकी और अपने चित्र (फोटो) की पूजा करवाते हैं तथा अपने नाम और गुणोंका कीर्तन करवाते हैं, वे अपने-आपको और अन्य लोगोंको भी पतनके गर्तमें डालते हैं। इन्हींके कारण संसारमें नास्तिकताकी उत्पत्ति होती है, अन्यथा धर्म और ईश्वरके विरोधमें बोलनेकी किसीमें भी सामर्थ्य नहीं है। जो वास्तवमें श्रेष्ठ उच्चकोटिके पुरुष होते हैं, वे तो भोग, आराम, मान-बड़ाईको विषके तुल्य समझकर इनसे सर्वथा दूर रहते हैं। उनके द्वारा इनके लिये किसीसे प्रेरणा या समर्थन करना तो दूर रहा, कोई दूसरे लोग उनके साथ ऐसा व्यवहार करें तो वे उसे भी स्वीकार नहीं करते, वरं उसे अपनेपर लाञ्छन मानते हैं तथा हृदय और व्यवहारसे कड़ाईके साथ उनका विरोध करते हैं। उनका इस प्रकार विरोध करना उनके लिये आदर्श है। ऐसे ही पुरुषोंके व्यवहार, आचरण और उपदेशोंसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। भगवान्‌ने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

१६—आजकल जो अर्थोपार्जनके लिये भगवान्‌की लीलाका नाट्य किया जाता है, वह तो नकली लीला है। असली लीला तो यह है कि वस्तुमात्र ही भगवान्‌का स्वरूप है और चेष्टामात्र ही भगवान्‌की लीला है। ऐसा समझकर मनुष्यको क्षण-क्षणमें मुग्ध होना चाहिये; क्योंकि **'वासुदेवः सर्वम्'** के सिद्धान्तके अनुसार जब सब कुछ वासुदेव ही हैं, तब उनके द्वारा होनेवाली सभी चेष्टाएँ भगवान्‌की लीला हैं। जो मनुष्य इसका तत्त्व-रहस्य अच्छी तरह समझ जाता है, उसको पदार्थमात्रमें भगवान्‌का स्वरूप और चेष्टामात्रमें भगवान्‌की लीलाका प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है और परम शान्ति तथा परमानन्दकी प्राप्ति होती रहती है।

१७—बहुत-से लोग मुझसे प्रश्न करते हैं कि कहीं-कहीं शास्त्रोंमें मांसभक्षण, मदिरापान, द्यूत-क्रीड़ा, झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार आदि पापकर्मोंके प्रोत्साहनकी बातें भी विधिरूपसे और उदाहरणवाक्योंमें आ जाया

करती हैं, सो ये क्षेपक हैं, या इनका अर्थ दूसरा है अथवा उस समय ऐसी ही प्रणाली थी? इसमें आपकी मान्यता क्या है?' इसके उत्तरमें मैं यही कहता हूँ कि इन वाक्योंको क्षेपक कहकर शास्त्रोंपर दोषारोपण नहीं किया जा सकता; क्योंकि मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ तथा इनका कोई दूसरा ही अर्थ हो तो भी मुझे मालूम नहीं एवं पूर्वकालमें ऋषि-मुनियोंमें ऐसी दोषयुक्त प्रणाली थी—यह बात नहीं मानी जा सकती। इसलिये उपर्युक्त वचनोंको संदेहास्पद होनेसे मैं काममें न लाना ही सब प्रकारसे उत्तम समझता हूँ; क्योंकि विधि और उदाहरण-वाक्योंसे निषेध-वाक्य बलवान् होते हैं तथा शास्त्रोंमें जगह-जगह उपर्युक्त मांसभक्षण आदिका घोर निषेध मिलता है। इसलिये शास्त्रोंके जिन वचनोंका अर्थ अपनी बुद्धिकी समझमें ठीक न आवे, उनको अपनी बुद्धिकी मन्दता स्वीकार करके वहीं छोड़ देना चाहिये और शास्त्रोंके संदेहरहित लाभप्रद वचनोंके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये, इसीमें अपना कल्याण है।

१८—भगवत्प्राप्तिके बहुत-से स्वतन्त्र साधन हैं, वे प्रायः सभी योगनिष्ठा और सांख्यनिष्ठाके अन्तर्गत आ जाते हैं। योगनिष्ठा उसका नाम है जिसमें जीव, ईश्वर और प्रकृति—इन तीनों पदार्थोंको अनादि और नित्य मानकर निष्कामभावसे कर्म और भेदभावसे उपासना की जाती है तथा सांख्यनिष्ठामें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माको ही अनादि और नित्य मानकर अभेदभावसे उपासना की जाती है। योगनिष्ठाकी दृष्टिसे जो कर्म किये जाते हैं, उनमें फल और आसक्तिका त्याग किया जाता है। (गीता १८। ९) तथा सांख्यनिष्ठाकी दृष्टिसे कर्म किये नहीं जाते, साधकके द्वारा कर्म होते हैं, उनमें फल, आसक्ति और अहङ्कारका अभाव रहता है (गीता १८। २३)।

बहुत-से लोग प्रथम कर्मयोग, फिर उपासना और उसके बाद ज्ञानयोगका साधन बतलाते हैं तथा इस प्रकार कर्मयोगसे मलका, उपासनासे विक्षेपका और ज्ञानयोगसे आवरणका नाश मानते हैं। उनका यह मानना भी शास्त्रसम्मत और युक्तिसङ्गत है; किंतु यही क्रम है, दूसरा नहीं—ऐसी बात नहीं है। ये तीनों स्वतन्त्र साधन भी बतलाये गये हैं (देखिये गीता १३। २४)।

केवल कर्मयोगसे भी अन्तःकरण शुद्ध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, यह बात भगवान्ने गीताके दूसरे अध्यायके ५१वें; तीसरेके १९वें; चौथेके ३८वें; पाँचवेंके ११वें, १२वें आदि अनेक श्लोकोंमें बतलायी है।

इसी तरह केवल भक्तियोग (ईश्वरशरणागति) से भी भगवत्कृपासे स्वतन्त्रतापूर्वक परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, यह बात योगदर्शनके प्रथम पादके २३वें सूत्र (ईश्वरप्रणिधानाद्वा) में बतलायी है तथा गीतामें भी छठे अध्यायके ४७वें; आठवेंके ५वें; दसवेंके ८वें, ९वें, १०वें, ११वें; अठारहवेंके ६२वें, ६५वें आदि श्लोकोंमें बतलायी गयी है।

इसी प्रकार केवल ज्ञानयोगसे भी स्वतन्त्रतापूर्वक परमात्माकी प्राप्ति होती है, यह बात गीतामें भी चौथे अध्यायके २४वें, २५वें; पाँचवेंके २४वें; छठेके २७वें, २८वें; तेरहवेंके ३०वें आदि श्लोकोंमें बतलायी गयी है।

जब केवल कर्मयोगसे ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है, तब कर्मयोगके साथ भगवान्‌की भक्तिका समावेश होनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाय, इसकी तो बात ही क्या है? गीतामें तीसरे अध्यायके ३०वें, ३१वें; आठवेंके ७वें; अठारहवेंके ५६वें आदि श्लोकोंमें यह बात बतलायी गयी है।

इसी तरह योग दर्शन, गीता आदि शास्त्रोंमें केवल एक-एक साधनसे स्वतन्त्रतापूर्वक आत्माका कल्याण होना बतलाया है। श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।

(योग० २। २८-२९)

'योगके अङ्गोंका अनुष्ठान करनेसे अशुद्धिका नाश होनेपर ज्ञानका प्रकाश विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है।'

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ (योगके) अङ्ग हैं।'

गीतामें भी चौथे अध्यायके २४वें श्लोकसे ३०वें तक एक-एक साधनसे स्वतन्त्रतापूर्वक परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

१९—उपर्युक्त साधनोंको गीतामें योग और सांख्य—इन दो निष्ठाओंके अन्तर्गत माना है। योगनिष्ठाके दो भेद हैं—(१) कर्मप्रधान योगनिष्ठा और (२) भक्तिप्रधान योगनिष्ठा। जहाँ केवल योगनिष्ठाका वर्णन आता है, वहाँ भक्तिका प्रत्यक्षमें कोई सम्बन्ध नहीं देखा जाता—जैसे गीता अध्याय २ श्लोक ४७ से ५१ तक और जहाँ भक्तिप्रधान योगनिष्ठाका वर्णन है, उसे मदर्पण, मदर्थ, मदाश्रय आदि अनेक नामोंसे कहा है—जैसे गीता ९। २७; १२। १०; १८। ५६; तथा जहाँ केवल भक्ति होती है, उसे भक्तियोग, शरणागति, अनन्यभक्ति आदि नामोंसे कहा है—जैसे गीता १३। १०; १४। २६; ९। ३४; ७। १४; ११। ५४ ।

२०—सांख्यनिष्ठाके भी दो भेद हैं—(१) विचार-प्रधान सांख्यनिष्ठा और (२) उपासनाप्रधान सांख्यनिष्ठा। जहाँ विचारप्रधान सांख्यनिष्ठाका वर्णन है, वहाँ कर्तापनका अभाव दिखलाया गया है तथा प्रकृति और प्रकृतिके कार्यको ही कर्ता माना गया है—जैसे गीता ३। २८; ५। ८-९; १३। २९; १४। १९; १८। १७; तथा जहाँ उपासनाप्रधान सांख्यनिष्ठाका वर्णन है, वहाँ ध्यान और ज्ञानकी प्रधानता रहती है—जैसे गीता ५। १७, १८, २४; ६। २४-२५; १८। ५१से ५५।

२१—गीतादि शास्त्रोंको देखनेसे यह मालूम पड़ता है कि समताको विशेष स्थान दिया गया है। न तो समताके बिना किसी भी साधनका मूल्य है और न किसी साधनकी सिद्धि होती है। किसी भी निष्ठाके अनुसार साधन किया जाय, बिना समताके साधनकी सिद्धि ही नहीं होती। सांख्य और योग—दोनों ही निष्ठाओंके साधन समतापर ही निर्भर करते हैं। जहाँ सांख्य और योगका वर्णन आया है, वहाँ समतासे ही उनके लक्षण किये गये हैं। जैसे—

१—सांख्यके साधनमें समता

भगवान् कहते हैं—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(गीता २। १५)

'क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्षके योग्य होता है।'

यहाँ सुख-दुःखमें समता बतलाकर साधकको ब्रह्म-प्राप्तिका अधिकारी बतलाया गया है।

२—योगके साधनमें समता

योगनिष्ठाका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने कर्मफलमें समता होनेसे ही उसकी 'योग' संज्ञा बतलायी है। भगवान् कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २। ४८)

'हे धनंजय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर, समत्व ही योग कहलाता है।'

सांख्य या योग—किसी भी निष्ठाको लक्ष्यमें रखकर साधन किया जाय, भगवान्‌ने समबुद्धिसे कर्म करनेकी ही आज्ञा दी है। वे कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

इससे यह बात सिद्ध होती है कि योग और सांख्य—दोनों ही साधनोंमें समताकी आवश्यकता है। समता होनेसे ही दोनों निष्ठाओंकी सिद्धि होती है। जहाँ समता नहीं, वहाँ योग योग नहीं है और सांख्य सांख्य नहीं है।

साधकको किसी भी साधनके द्वारा जब परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तब वह चाहे योगी हो, चाहे भक्त और चाहे ज्ञानी, समता ही उसकी कसौटी है। भगवान्‌ने परमात्माको प्राप्त योगीके लक्षण कहते हुए समताको ही विशेष आदर दिया है। वे कहते हैं—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(गीता ६। ८-९)

'जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

इसी प्रकार भक्तिद्वारा परमात्माको प्राप्त पुरुषोंके लक्षण कहते हुए भी समताको ही प्रधानता दी है। वे कहते हैं—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

(गीता १२। १८-१९)

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है; जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील है और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।'

गुणातीत महात्माके लक्षण कहते हुए भी भगवान्‌ने समताकी ही विशेषता बतलायी है। वे कहते हैं—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

(गीता १४। २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है; जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

अतः इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि समताके बिना कोई भी महापुरुष, योगी, भक्त, ज्ञानी, महात्मा नहीं माना जा सकता। समता ही सबसे श्रेष्ठ साधन, सर्वोत्तम गुण और सब साधनों, साधकों और सिद्धोंकी कसौटी है।

२२—तैत्तिरीयोपनिषद्‌की शिक्षावल्लीके ग्यारहवें अनुवाकमें कहा है कि '**मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।**' इससे तथा अन्य शास्त्रवचनोंसे यह सिद्ध होता है कि माता-पिताकी सेवासे बालकोंका, गुरुकी सेवासे शिष्यका, अतिथिकी सेवासे गृहस्थका, पतिकी सेवासे स्त्रीका तथा स्वामीकी सेवासे भृत्य (सेवक) का कल्याण हो जाता है। इसमें यह शङ्का होती है कि उपर्युक्त माता, पिता, पति आदि सेव्य व्यक्तियोंके स्वयं मुक्त न होते हुए भी केवल उनकी सेवासे ही सेवकका कल्याण कैसे हो सकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि सेवासे राग-द्वेषका नाश होकर समता आ जाती है और समता ही सब साधनोंका फल है; क्योंकि सेवकको उनकी सेवा करनेमें अपनी इच्छाका सर्वथा त्याग करना पड़ता है। जो बात अपने मनके प्रतिकूल है; किंतु स्वामीके मनके अनुकूल है तो उसे बिना अपनी इच्छाके भी करना पड़ता है और जो बात अपने मनके अनुकूल है, किंतु स्वामीके मनके प्रतिकूल है तो उसे अपनी अनुकूलताका त्याग करना पड़ता है। इस प्रकार अपनी अनुकूलता और प्रतिकूलतापर बार-बार आघात पहुँचता है, जिससे अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिका नाश हो जाता है। अनुकूलतामें ही राग और हर्ष तथा प्रतिकूलतामें ही द्वेष और शोक होता है एवं अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिके नाशसे ही राग-द्वेष और हर्ष-शोकका समूल विनाश होता है। राग-द्वेष,हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंका अत्यन्त अभाव होनेसे अन्तःकरण शुद्ध होकर समता और ज्ञानकी प्राप्ति होनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

२३—संसारमें चार पदार्थ माने जाते हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—उनमें अर्थ और काममें तो प्रारब्ध प्रधान है तथा धर्म और मोक्षमें पुरुषार्थ; क्योंकि प्रारब्धके बिना प्रयत्न करनेपर भी अर्थ और कामकी सिद्धि नहीं होती, किंतु धर्म और मोक्ष क्रियमाण होनेसे प्रयत्नसाध्य हैं, प्रारब्ध कर्मके फल नहीं; सारांश यह है कि ये प्रारब्धकर्मके बलपर अपने-आप सिद्ध होनेवाले नहीं हैं।

शास्त्रविहित कर्मोंके अनुष्ठानका नाम 'धर्म' है। वह धर्म यदि निष्कामभावसे पालन किया जाय तो मुक्तिदायक होता है और वही यदि सकामभावसे किया जाय तो अर्थ और कामकी सिद्धि करनेवाला होता है। 'अर्थ' का अभिप्राय है धन (रुपये) और धनसे प्राप्त होनेवाले पदार्थ। इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिकी अभिलाषाको 'काम' कहते हैं। इसके कई भेद होते हैं। उनमें मुख्य चार भेद समझने चाहिये—तृष्णा, इच्छा, स्पृहा और वासना। स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई आदिके होते हुए भी उनकी वृद्धिकी कामनाको 'तृष्णा' कहते हैं। जिस वस्तुका अभाव हो, उसकी पूर्तिकी कामनाका नाम 'इच्छा' है। अभाव होनेपर भी जिसके बिना जीवननिर्वाह न हो सके, उन अत्यन्त आवश्यकतावाली वस्तुकी कामनाका नाम 'स्पृहा' है तथा जो कुछ प्राप्त है उसके बने रहने और जीवनके नित्य बने रहनेकी कामनाका नाम 'वासना' है। ये चारों 'काम' के ही भेद हैं। निष्कामकर्म, ईश्वरभक्ति और परमात्मज्ञानके द्वारा समस्त दुःखोंका अत्यन्त अभाव और परमानन्दकी प्राप्ति होनेका नाम 'मोक्ष' है। इसीको परम गति, परमात्माकी प्राप्ति, मुक्ति आदि नामोंसे कहा है।

२४—कोई प्रारब्धको बलवान् बताते हैं और कोई पुरुषार्थको, किंतु वास्तवमें अपने-अपने स्थानपर ये दोनों ही बलवान् हैं। अभिप्राय यह है कि अर्थ और काममें तो प्रारब्ध बलवान् है तथा धर्म और मोक्षके विषयमें पुरुषार्थ; क्योंकि पुरुषार्थ किये बिना अपने-आप न तो धर्मका पालन हो सकता है और न मोक्षकी सिद्धि ही।

किये हुए पुण्य और पापरूप संचित कर्मोंमेंसे जिस कर्मके अंशका फलभोग प्रारम्भ हो जाता है, उसका नाम 'प्रारब्ध' है। इस पुण्य-पापके फलरूप प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है— अनिच्छासे, परेच्छासे और

स्वेच्छासे। अकस्मात् दैवेच्छासे धन आदिका प्राप्त होना या रोग, संकट, मृत्यु आदिका प्राप्त होना अनिच्छा-प्रारब्धभोग है। परेच्छासे—दूसरोंकी इच्छासे धन आदिका प्राप्त होना या संकट, मृत्यु आदिका प्राप्त होना परेच्छा-प्रारब्धभोग है। अपनी इच्छासे किये हुए प्रयत्नद्वारा अर्थ और कामका सिद्ध होना या इसके विपरीत अर्थ और भोगका ह्रास होना—यह स्वेच्छा-प्रारब्धभोग है।

इसपर यह जिज्ञासा होती है कि पूर्वसंचित कर्मोंमेंसे एक अंशका ही प्रारब्ध बनता है या इस जन्ममें किये हुए नवीन कर्मका भी प्रारब्ध बन सकता है तो इसका उत्तर यह समझना चाहिये कि इस वर्तमानकालमें एक क्षण पूर्व किये हुए कर्म भी संचितमें सम्मिलित हो जाते हैं। इस कारण वे भी प्रारब्ध बन सकते हैं। यदि कहें कि कोई मनुष्य अर्थ और कामको अपने प्रयत्न (पुरुषार्थ) से प्राप्त करना चाहे तो हो सकता है या नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि हो भी सकता है और नहीं भी। जैसे कोई आदमी आमके वृक्षकी एक टहनीमें जामुनकी कलम लगा देता है और यदि उसका प्रयत्न सिद्ध हो जाय यानी जामुनकी टहनी उससे जुड़ जाय तो उस आमके वृक्षकी उस टहनीपर भी जामुन लग सकते हैं, इसी तरह कोई मनुष्य इसी जन्ममें पुत्र, धन आदिकी प्राप्तिके लिये शास्त्रविहित यज्ञ, तप आदिका अनुष्ठान करता है और उसका वह शास्त्रविहित कर्म सिद्ध हो जाता है तो उसके पूर्वके प्रारब्धमें न लिखे हुए पुत्र, धन आदि भी इस नये प्रारब्धसे प्राप्त हो सकते हैं, किंतु यदि शास्त्रोक्त प्रयत्न सिद्ध नहीं होता तो नहीं भी होते तथा मनमाने किये हुए प्रयत्नसे प्रारब्धका परिवर्तन कभी नहीं हो सकता; क्योंकि मनुष्य कर्म करनेमें तो स्वतन्त्र भी है, पर फल भोगनेमें बिलकुल नहीं।

अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये किये जानेवाले शास्त्र-विहित प्रयत्नका नाम 'पुरुषार्थ' है तथा मोक्षकी सिद्धिके लिये किये जानेवाले प्रयत्नका नाम 'परमपुरुषार्थ' है, किंतु शास्त्रविपरीत प्रयत्नका नाम 'पाप' और व्यर्थ चेष्टाका नाम 'प्रमाद' है।

अतएव मनुष्यको परमपुरुषार्थकी सिद्धिके लिये कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि साधन करने चाहिये।

२५—अर्थ-त्यागके प्रयोगके कई भेद हैं। उनमें चार प्रधान हैं—पूर्वका ऋण चुकाना, दहेज देना, दान करना और ऋण देना।

जैसे किसीकी अत्यन्त गरीब घरमें ब्याही हुई एक लड़की है और उसके लड़केका विवाह है; किंतु उसके पास धन नहीं है, केवल उस लड़कीके पाँच सौ रुपये पिताके पास जमा हैं। लड़केके विवाहमें दो हजार रुपयोंकी आवश्यकता है। इसलिये वह अपने पितासे प्रार्थना करती है कि यह विवाह दो हजार रुपयोंके बिना नहीं हो सकता, चाहे जिस शर्तसे आप रुपये देनेकी कृपा करें। इसपर उसके पिताने पाँच सौ रुपये तो उसके जमा थे, वे दे दिये और पाँच सौ रुपये नानाके नाते दहेजके रूपमें दे दिये तथा पाँच सौ रुपये गरीब होनेके नाते उसे सहायताके रूपमें दे दिये एवं पाँच सौ रुपये ऋणके रूपमें दिये—इस प्रकार कुल दो हजार रुपये दे दिये। इन दो हजार रुपयोंमेंसे पाँच सौ तो जो उसके जमा थे, वे दे दिये गये; उनका भविष्यमें कोई लेन-देन नहीं रहा, क्योंकि वह पूर्वका ऋण चुकाया गया। इसी प्रकार पाँच सौ जो दहेजके रूपमें दिये गये, उनपर पुत्रीके नाते उसका जन्मसिद्ध हक था, अतः उनका भी भविष्यमें कोई लेन-देन नहीं रहा तथा पाँच सौ रुपये जो सहायताके रूपमें दिये गये, उनका भी भविष्यमें लड़कीसे कोई लेन-देन नहीं है, पर यदि वे रुपये सकामभावसे दिये गये हैं तो उससे कामनाकी सिद्धि हो सकती है और यदि वे निष्कामभावसे दिये गये तो उसको उससे अन्तःकरणकी शुद्धि हो सकती है। शेष पाँच सौ जो ऋणके रूपमें दिये गये, वे लड़कीसे लेने हैं; यदि वे इस जन्ममें वापस मिल जायँगे तो उनका भी लेन-देन समाप्त हो जायगा, अन्यथा उनका लेन-देन आगे भावी जन्ममें भी चलेगा; किंतु ऋणदाता पिताका यह अधिकार है कि वह अपने हृदयसे यदि उनका त्याग कर दे तो उन रुपयोंका भी लेन-देन समाप्त हो सकता है; पर यह ऋण लेनेवालेके अधिकारकी बात नहीं है। ऋणदाता सकामभावसे इनका त्याग करे तो उसकी कामनाकी सिद्धि हो सकती है और निष्कामभावसे त्याग करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि हो सकती है।

इसी प्रकार किसीको भी मनुष्य जो कुछ देता है, उसके चार भेद समझ लेने चाहिये। जैसे कोई मनुष्य किसी राजाको भूमिकर, आयकर (टैक्स) आदि देता है तो वह ऋण चुकानेके समान है, उसका भविष्यमें कोई लेन-देन नहीं रहता।

मनुष्य भोग, आराम और यशके लिये जो धन खर्च करता है, वह यदि न्याययुक्त है तो परिणाममें भोग, आराम और यश देकर समाप्त हो जाता है और यदि अन्याययुक्त है तो दाता पापका भागी होता है।

जो द्रव्य डाकू आदिको मृत्युभयसे दिया जाता है,

उसका फल दाताको कुछ नहीं होता, किंतु डाकू आदि पापके भागी होते हैं।

जो मनुष्य मरते समय अपने उत्तराधिकारियोंको धन, ऐश्वर्य आदि छोड़कर चला जाता है अर्थात् उससे उनका वियोग हो जाता है तो वह पूर्वजन्मके पावनेदारोंका ऋण चुकानेके समान है, अतः उससे उस मृतकको कोई फल नहीं मिलता। किंतु जो मनुष्य आत्मकल्याणके लिये विवेक और वैराग्यपूर्वक धन-ऐश्वर्यादिका स्वेच्छासे त्याग कर देता है, उसका उसे सात्त्विक त्यागकी भाँति अन्तःकरणकी शुद्धिरूप फल मिलता है। इसलिये मनुष्यको धनका उपयोग विवेक-वैराग्यपूर्वक निष्कामभावसे ही करना चाहिये।

२६-मनुष्य-जीवनका समय बहुत ही अमूल्य है। इसलिये जो शीघ्र-से-शीघ्र परमात्माकी प्राप्तिके इच्छुक हैं उनको तो सारा समय उत्तम-से-उत्तम साधनोंमें लगाना चाहिये अर्थात् नित्य-निरन्तर परमात्माको याद रखते हुए ही अपना सारा-का-सारा समय परमात्मामें ही लगा देना चाहिये। जो मनुष्य सब-का-सब समय परमात्माके समर्पण करनेमें असमर्थ हैं, उनको अपने समयका अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार यथायोग्य उपयोग करना चाहिये। अपने समयका उपयोग किस प्रकार किया जाय, इसकी सामान्य विधि यह है—

दिन-रातमें चौबीस घंटे होते हैं। उनमेंसे छः घंटे सोनेके लिये, कम-से-कम छः घंटे एकान्तमें बैठकर केवल भजन-ध्यानादि साधनके लिये, छः घंटे जीविकाके लिये और बाकी छः घंटे शौच-स्नान, आहार-विहार, स्वास्थ्यरक्षा आदिके लिये लगाने चाहिये। इसका प्रकार यह है—

रात्रिमें १० बजेसे प्रातः ४ बजेतक शयन करना चाहिये। सोते समय मनसे जप, ध्यान या गीतापाठ करते हुए ही सोना चाहिये; क्योंकि इस प्रकार करनेसे स्वप्न अच्छे आते हैं और शयनका समय भी उपयोगमें आ जाता है। प्रातः ४ बजेसे ५ तक शौच-स्नान, व्यायाम-आसन करके ५ से ८ तक आत्मकल्याणके लिये पवित्र और एकान्त देशमें बैठकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अपने अधिकारके अनुसार अर्थको खयालमें रखते हुए संध्या, गायत्री, होम, भगवान्‌के नामका जप, स्वरूपका ध्यान, भगवान्‌की पूजा, स्तोत्रपाठ, स्तुति-प्रार्थना, वेद, गीता, रामायण आदि शास्त्रोंका स्वाध्याय आदि साधन निष्कामभावसे करने चाहिये। ८ से १० तक पर्यटन, स्वास्थ्यरक्षा, गृहकार्य और भोजनादि करना चाहिये; भोजन शुद्ध, सात्त्विक और लघु होना चाहिये। १० से ४ तक वर्णधर्मके अनुसार जीविकोपार्जन करना चाहिये, परमात्माको निरन्तर याद रखते हुए शुद्ध और न्याययुक्त जीविकाके कर्म करने चाहिये। ४ से ५ तक पर्यटन, शौच-स्नान करना चाहिये। ५ से ८ तक आत्मकल्याणके लिये संध्या-गायत्री आदि सब साधन प्रातःकालकी तरह ही करने चाहिये। फिर रात्रिको ८ से १० तक भोजन करना एवं घरके सब एकत्र होकर आत्म-कल्याण, व्यवहार और व्यापारके सुधार तथा समाज और देशकी उन्नतिके लिये बातचीत करनी चाहिये।

इस दिनचर्याको देश, काल, परिस्थिति तथा अपनी सुविधाके अनुसार यथायोग्य घटा-बढ़ा सकते हैं; किंतु परमात्माकी स्मृति हर समय रखते हुए ही सब कार्य निःस्वार्थभावसे करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

परंतु ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासियोंको न तो जीविकाके लिये छः घंटोंकी तथा न आहार-विहार और स्वास्थ्यरक्षादिके लिये ही छः घंटोंकी आवश्यकता है। अतः उन्हें छः घंटे शयनमें और छः घंटे साधनमें लगानेके अतिरिक्त शौच-स्नान, आहार-विहार और स्वास्थ्यरक्षा आदिके लिये चार घंटोंमें ही काम चलाकर बाकी ८ घंटोंका समय बचाकर ब्रह्मचारियोंको तो गुरुसेवापूर्वक विद्याभ्यासमें, वानप्रस्थियोंको तपस्यामें और संन्यासियोंको आत्मकल्याणके लिये जप-ध्यानादिके साधनमें लगाना चाहिये।

२७-कई मनुष्य संदिग्धरूपमें प्रश्न किया करते हैं, उनके प्रश्नोंका निर्णयात्मक उत्तर निश्चितरूपसे दे देना चाहिये। जैसे—

प्रश्न—विवाह करना चाहिये कि नहीं ?

उत्तर—यदि स्वास्थ्य ठीक हो तो विवाह अवश्य करना चाहिये; परंतु चालीस वर्षकी उम्रके बाद नहीं।

प्रश्न—संन्यास ग्रहण करना चाहिये कि नहीं ?

उत्तर—संन्यास लेनेका यह समय नहीं है।

प्रश्न—दुःख पड़नेपर आत्महत्या करनी चाहिये कि नहीं ?

उत्तर—भारी-से-भारी कष्ट पड़नेपर भी आत्महत्याका तो कभी विचार भी मनमें नहीं लाना चाहिये।

प्रश्न—गाली देनेवालेको बदलेमें गाली देनी चाहिये कि नहीं ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—अपनेपर अत्याचार करनेवालेका प्रतीकार करना चाहिये कि नहीं ?

उत्तर—अत्याचारका बदला अत्याचारसे नहीं देना चाहिये, आत्मरक्षाके लिये न्याययुक्त प्रतीकार किया जा सकता है।

कोई बीमार आदमी प्रश्न करे तो उसे इस प्रकार उत्तर देना चाहिये—

प्रश्न—आज स्वास्थ्य ठीक नहीं है; खाना चाहिये कि नहीं?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—जल पीना चाहिये कि नहीं?

उत्तर—पी सकते हैं।

प्रश्न—स्नान करना चाहिये कि नहीं?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—शौच या लघुशङ्काके लिये किस समय जाना चाहिये ?

उत्तर—इनके वेगको क्षणमात्रके लिये भी कभी नहीं रोकना चाहिये, तुरंत चले जाना चाहिये।

प्रश्न—निद्रा कितनी लेनी चाहिये ?

उत्तर—उचित निद्रा लेनी चाहिये।

२८—सभी बालक-बालिकाओंको दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन और विलासिताका त्याग करके नित्य माता, पिता, स्वामी और बड़ोंकी आज्ञाका पालन, सेवा और नमस्कार, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्यका पालन, व्यायाम, ईश्वरभक्ति और सद्गुण-सदाचारके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये। इसके साथ ही बालकोंको अपने-अपने वर्णानुसार जीविकाके लिये अध्यापनकला, युद्धकौशल, खेती, पशुपालन, व्यापार, शिल्प आदि कला-कौशलके काम भी यथासाध्य सीखने चाहिये एवं बालिकाओंको सिलाई, कताई आदि कारीगरी तथा रसोई बनाना, पीसना आदि सभी गृहकार्य भी सीखने चाहिये।

२९—स्त्रियोंको भगवान्को याद रखते हुए निःस्वार्थभावसे घरमें सबकी सेवा करना, सबके साथ प्रेम रखना और समताका व्यवहार करना, स्वावलम्बी बनना, बालकोंको उत्तम शिक्षा देना, सादा भोजन, सादगीसे रहन-सहन और खर्च कम लगाना, रुपयोंका हिसाब-किताब रखना, घरसे बाहर स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं घूमना, धूर्त, ठग और कुटनी स्त्रियोंसे बचकर रहना, सत्य, प्रिय और मितभाषण करना, खेल-तमाशा, मादक-वस्तु, नाटक-सिनेमा आदि दुर्व्यसन और दुर्गुण-दुराचारोंका तथा आलस्य-प्रमादका त्याग करना, रोना, रूठना और लड़ाई-झगड़ा नहीं करना एवं हाड़, दाँत, सींग, लाखकी चूड़ी, चमड़ा तथा नील और मिलके वस्त्र आदि अपवित्र वस्तुओंका सर्वथा त्याग करना—इन बातोंपर विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये।

३०—विधवा स्त्रियोंको काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष आदि दुर्गुणोंका, झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि दुराचारोंका, आलस्य, प्रमाद , खेल-तमाशा, ताश-चौपड़, नाटक-सिनेमा, मादक वस्तु आदि दुर्व्यसनोंका तथा ऐश-आराम, शृङ्गार-शौकीनी, स्वाद, तेल-फुलेल, इत्र-सेंट आदि विलासिताका सर्वथा त्याग करना चाहिये तथा विषयी, पामर, कुलटा और कुटनी स्त्रियोंके और पुरुषमात्रके संसर्गसे दूर रहना चाहिये। एकान्तमें श्रद्धा-प्रेमपूर्वक जप, ध्यान और स्वाध्यायका अनुष्ठान, ज्ञान, वैराग्य, तप, सदाचार, शौचाचार, परोपकार, मन-इन्द्रियोंका संयम तथा निःस्वार्थभावसे प्रेम और विनयपूर्वक सबके साथ उत्तम बर्ताव और सबका सेवा-सत्कार करना चाहिये।

३१—पुरुषोंको स्त्री, पुरुष और बालकोंको शिक्षा तथा उन्नतिके उद्देश्यसे नित्यप्रति रात्रिमें सबको एकत्र करके गीता, भागवत, रामायण, महाभारत आदि शास्त्रोंका प्रवचन और विवेचन करना, अपनी सामाजिक, व्यावहारिक, नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नतिके लिये नित्यप्रति एकान्तमें विचार करना, अपने व्यापार और आचरणके सुधारके लिये ईश्वरको नित्य-निरन्तर याद रखते हुए ही स्वार्थका त्याग करके सबके साथ विनय और प्रेमपूर्वक व्यवहार करना, दुःखी, अनाथ, पूज्य और गुरुजनोंकी सेवा तथा निष्कामभावसे प्राणिमात्रके हितका चिन्तन और उनकी उन्नतिकी चेष्टा करते हुए उनकी सेवा करना एवं आलस्य-प्रमाद, दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, दुर्व्यवहार और विलासिताको विषके समान समझकर त्याग करना तथा आत्मोद्धारके लिये बल, विद्या, बुद्धि, ज्ञान, वैराग्य, श्रद्धा, भक्ति, सद्गुण-सदाचारको अमृतके समान समझकर उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि करनी चाहिये।

पुरुषोंको अपना कर्तव्य समझकर विधवा स्त्रियोंकी सेवा-शुश्रूषा, उनकी रक्षा, उनके रुपयोंका ब्याज उपजाना और उनकी जीविकाका प्रबन्ध विशेषरूपसे करना चाहिये तथा उनकी भक्ति, जप, तप, वैराग्य, सद्गुण-सदाचारके साधनमें सहायता करना और उनको किसी प्रकार भी कष्ट न हो—इसपर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि विधवा स्त्रीकी दुराशिषसे यह लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं।

३२—मनुष्यको नील, लाख, सींग, हाड़, चर्बी और चर्बीमिश्रित पदार्थ, चमड़ा, मांस, मदिरा, लहसुन, प्याज,

डाक्टरी दवाइयाँ और मिलका कपड़ा—इनको न तो कभी काममें लाना और न इनका व्यापार ही करना चाहिये तथा खान, भट्ठा, सट्टाफाटका, लौह, काठ, रेशम-टसर, जुआ, नाटक-सिनेमा आदिका व्यापार भी नहीं करना चाहिये।

३३—मनुष्यको दो बातोंको सदा याद रखना चाहिये और दो बातोंको सर्वथा भूल जाना चाहिये।

सदा याद रखनेकी दो बातें ये हैं—१—दूसरोंके द्वारा किया गया अपना उपकार और २—अपने द्वारा किया गया किसीका अपकार; क्योंकि दूसरेके द्वारा किये गये उपकारको याद रखनेसे कृतघ्नताका दोष नहीं आता तथा मनुष्य प्रत्युपकार करके ऋणसे मुक्त हो सकता है एवं अपने द्वारा किये गये किसीके अपकारको याद रखनेसे पश्चात्ताप होकर जिसका अपकार किया गया है, उसके प्रति विनय, क्षमा-प्रार्थना और सेवा करनेसे मनुष्य अपराधसे मुक्त हो सकता है।

सर्वथा भूल जानेकी दो बातें ये हैं—१— दूसरोंके द्वारा किया गया अपकार और २—अपने द्वारा किया हुआ उपकार, क्योंकि दूसरोंके द्वारा किये हुए अपकारको याद रखनेसे प्रतिहिंसाकी भावनाके कारण उसका अनिष्ट किये जानेकी सम्भावना है, इससे अपना पतन होता है और अपने द्वारा किया हुआ उपकार याद रहनेसे वह कभी प्रकट भी किया जा सकता है, जिससे जिसका उपकार किया गया है, उसे दुःख और लज्जा होती है, अपनेमें अभिमान-अहंकारकी वृद्धि होती है एवं वह किया हुआ उपकार नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अपनी सब प्रकारसे हानि है।

३४—किसीको अपने अनुकूल बनानेके लिये मनुष्यको दो प्रयोग करने चाहिये। ये दो सर्वमोहन मन्त्र हैं— १—स्वार्थका त्याग करके उसकी सेवा करना और २—उसके दोषोंकी ओर ध्यान न देकर उसके सद्गुण-सदाचारोंकी स्तुति करना। ये दो ऐसे सर्वमोहन मन्त्र हैं कि इनसे ईश्वर, महात्मा, ऋषि, मुनि, देवता तथा मनुष्य सब अनुकूल हो जाते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है, दुष्ट और वैरी भी मित्र बन जाते हैं।

३५—वैराग्य, उपरति और संयम—ये एक-दूसरेसे भिन्न हैं तथा इन तीनोंका ही इन्द्रिय, मन और विषयोंसे सम्बन्ध है।

संसारके विषय, कर्म, इन्द्रिय और मन आदि सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्तिके अभावका नाम 'वैराग्य' है तथा उस रागका अत्यन्त अभाव हो जाना 'परम वैराग्य' है।

संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंकी ओरसे इन्द्रियों और मनकी वृत्तियोंका हट जाना 'उपरति' है तथा उनसे मन-इन्द्रियोंका सर्वथा सम्बन्धविच्छेद हो जाना 'परम उपरति' है।

इन्द्रियोंका और मनका सर्वथा साधकके वशमें हो जाना इन्द्रियोंका और मनका संयम कहलाता है; इनमें इन्द्रियोंके संयमको 'दम' और मनके संयमको 'शम' कहते हैं।

इन तीनोंमें वैराग्य प्रधान है; क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य होनेसे मन और इन्द्रियोंकी वृत्ति उनसे स्वाभाविक ही हट जाती है तथा मन और इन्द्रियोंका वशमें होना भी सहज है। एवं वैराग्य होनेपर परमात्माकी प्राप्तिके साधन भी सुगम हो जाते हैं, जिससे उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। किंतु बिना वैराग्यके केवल उपरति और संयमसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि योगी लोग सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये भी इन्द्रियोंकी और मनकी पदार्थोंमें एकाग्रता और संयम करते हैं, किंतु विषयोंमें आसक्तिके कारण परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाते हैं।

३६—कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, सत्पुरुषोंका सङ्ग, उनकी आज्ञाका पालन, उनके आचरणोंका अनुकरण, सत्-शास्त्रोंका अर्थ और भावसहित स्वाध्याय, चराचर भूतोंको परमात्माका स्वरूप समझकर उनकी सेवा, परमात्माके नामका जप, उसके स्वरूपका ध्यान, भगवान्‌में अनन्य प्रेम, भगवान्‌की पूजा, भगवान्‌के गुण-प्रभाव-लीलाका मनन, ईश्वर-शास्त्र-महापुरुष और परलोकमें अतिशय विश्वास, परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान तथा भगवद्भावोंका प्रचार—इन सब साधनोंमेंसे किसी भी एकका रहस्य समझकर श्रद्धा, भक्ति और विवेक-वैराग्यपूर्वक निष्कामभावसे अनुष्ठान किया जाय तो वह एक ही साधन अति शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति करा सकता है।

३७—भगवान्‌के नामका जप वाणीकी अपेक्षा श्वाससे करना उत्तम है और श्वासकी अपेक्षा मनसे करना उत्तम है तथा वह भी यदि गुप्त रखा जाय अर्थात् प्रकाश न किया जाय तो और भी उत्तम है। उससे भी उत्तम वह है, जो अर्थ और भावसहित किया जाय एवं वही जप श्रद्धा-भक्ति और निष्कामभावपूर्वक नित्य-निरन्तर करनेपर तो शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति करानेमें समर्थ है।

३८—श्रद्धा और प्रेमपूर्वक की हुई पूजासे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

मन्दिरोंमें प्रतिष्ठापित पाषाण और धातु आदिसे बनी मूर्तिकी पूजाकी अपेक्षा अपने-अपने घरोंमें भगवान्‌की पाषाण और धातु आदिसे बनी मूर्ति या चित्रपटकी पूजा करना उत्तम है, क्योंकि मन्दिरोंमें तो पण्डा-पुजारी, महन्त आदि ही पूजा करते, भोग लगाते और आरती करते हैं, हमलोग तो दूरसे केवल दर्शनमात्र ही कर सकते हैं तथा उनमें किसी-किसीके चरित्र भी अच्छे नहीं होते एवं अपने घरमें तो हम स्वेच्छानुसार अपने हाथसे भगवान्‌की मूर्तिकी पूजा कर सकते हैं, भोग लगा सकते हैं और आरती कर सकते हैं। अतः हमें अपने घरमें मूर्ति स्थापित करके उसकी स्वयं ही अपने बाल-बच्चे, स्त्री तथा बन्धु-बान्धवोंसहित श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निःस्वार्थ-भावसे पूजा करनी चाहिये।

इससे भी उत्तम वह मानसपूजा है, जो अपने शरीररूपी मन्दिरके अंदर हृदयाकाशमें या अपने सम्मुख बाह्याकाशमें मनसे ही भगवान्‌की मूर्तिकी स्थापना करके मनसे ही की जाती है अर्थात् मनसे ही भगवान्‌को पत्र-पुष्प-चन्दनादि चढ़ाये जायँ, भोग लगाया जाय, आरती एवं स्तुति-प्रार्थना आदि की जाय। क्योंकि पाषाण और धातुकी मूर्ति या चित्रपट आदिकी पूजा करते समय मन इधर-उधर चला जाता है, किंतु मानसिक पूजामें तो सारा कार्य मनसे ही होता है। मनके इधर-उधर चले जानेपर सारा काम बंद हो जाता है, इसलिये मनकी वृत्तियाँ पूजामें अवश्य लगानी पड़ती हैं। जो काम मनसे होता है, वही मूल्यवान् है और वह गुप्त भी रह सकता है; क्योंकि बिना बतलाये उसे कोई जान भी नहीं सकता। इससे मनुष्य सहज ही मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और दिखाऊपनसे भी बच सकता है।

परंतु दान, तप, होम, श्राद्ध, तर्पण, तीर्थ, व्रत, संध्या, बलिवैश्वदेव, माता-पिता, गुरु, अतिथि आदिकी सेवा, सधवा स्त्रियोंके लिये पतिसेवा आदि कर्म केवल मनसे करना विशेष लाभदायक नहीं है; क्योंकि इनको केवल मनसे करनेसे किसीका विशेष हित नहीं हो सकता। अतः इनको तो मन, तन, धन और वाणीसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे ही करना चाहिये, किंतु जन्म और मरणाशौच, यात्रा, असमर्थता और आपत्तिकालमें इनको भी अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये यथोचित मानसिक कर सकते हैं।

इससे भी मूल्यवान् वह है जो, चराचर सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको साक्षात् परमात्माका स्वरूप समझकर मन, वाणी और शरीरसे उनकी सेवारूप पूजा की जाय, क्योंकि इसमें सर्वदेशीय भगवद्भावना होनेके कारण भगवान्‌की स्मृति सदा-सर्वदा नित्य-निरन्तर रह सकती है।

परंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि समस्त प्राणियोंकी सेवा करनेवालोंको उपर्युक्त दान, होम, श्राद्ध, तीर्थ, व्रत, गुरुजनोंकी सेवा आदि शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना चाहिये। यथायोग्य इनका भी अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये।

इन उपर्युक्त पूजाओंको श्रद्धा-भक्ति-प्रेमपूर्वक निष्काम-भावसे करनेपर अति शीघ्र भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।

३९—शास्त्रोंमें कहीं भक्तिको, कहीं ज्ञानको, कहीं योगको, कहीं तपको, कहीं गङ्गा-यमुना आदि तीर्थोंको, कहीं एकादशी आदि व्रत-उपवासको, कहीं सेवा-पूजाको, कहीं निवृत्तिमार्गको, कहीं प्रवृत्तिमार्गको तथा कहीं सत्सङ्ग और स्वाध्यायको ही सर्वोपरि बतलाया गया है अर्थात् भक्तिके प्रकरणमें बतलाया गया है कि उसके समान यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि कुछ भी नहीं है; जिसने एक क्षणमात्र भी परमात्माका ध्यान कर लिया, उसने सब कुछ कर लिया। इसी प्रकार ज्ञान आदिके प्रकरणमें बतलाया गया है।

इन सब प्रकरणोंको देखनेपर परस्पर एक-दूसरेसे विरोध तथा एककी दूसरेकी अपेक्षा श्रेष्ठता एवं उनकी महिमाकी अतिशयता भी प्रतीत होती है, किंतु इसका रहस्य यह है कि शास्त्रोंमें इनकी जो कुछ महिमा बतलायी गयी है, वह अतिशयोक्ति नहीं है; बल्कि उससे भी अधिक महिमा है; क्योंकि जो कुछ कहा जाता है, वह वाणीसे ही कहा जाता है और वाणी परिमितका ही वर्णन कर सकती है। पर वास्तवमें इनकी महिमा अपार और अपरिमित है, इसलिये जो कुछ कहा गया, वह अल्प ही है तथा इनमें जो परस्पर विरोध-सा प्रतीत होता है वह विरोध नहीं है; क्योंकि जिस विषयका जो प्रकरण होता है, उसको उसके उपासकके लिये सर्वोपरि बतलाना उचित ही है। ईश्वर भक्तके लिये भक्तिको सर्वोपरि बतलानेका यही उद्देश्य है कि वह अपनी चित्तवृत्तियोंको

सब ओरसे हटाकर भक्तिके ही परायण हो जाय; नहीं तो एकनिष्ठ भक्ति कैसे हो सकेगी और बिना एकनिष्ठ भक्ति हुए भक्तिका पूर्णतया फल शीघ्र मिलना सम्भव नहीं। भक्तिकी अपेक्षा अन्य साधनोंको न्यून बतलाना दूसरोंकी निन्दाके उद्देश्यसे नहीं है, किंतु भक्तिकी प्रशंसाके लक्ष्यसे ही है तथा यह प्रशंसा न तो मिथ्या है और न अतिशयोक्ति ही है।

इसी प्रकार ज्ञान, योग, तप, तीर्थ, व्रत आदिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। ज्ञानके साधकके लिये ज्ञान, योगके साधकके लिये योग, तपस्या करनेवालेके लिये तप, तीर्थ करनेवालेके लिये तीर्थ और व्रत करनेवालेके लिये व्रत ही सर्वोपरि है। जिस साधनकी जो स्तुति की जाती है, वह उससे श्रद्धा-प्रेम और निष्ठा बढ़ानेके लिये ही की जाती है। साधकके लिये उसके साधनमें श्रद्धा-प्रेम और निष्ठा बढ़ानेकी आवश्यकता है और उसके लिये वह उचित भी है। जो जिस साधनको करता है, उसको सर्वोपरि मानकर ही करना चाहिये; क्योंकि सर्वोपरि मानकर करनेसे ही वह साङ्गोपाङ्ग होता है और साङ्गोपाङ्ग होनेसे ही कार्यकी सिद्धि शीघ्र होती है।

४०—श्रीविष्णुपुराणमें श्रीविष्णुको ही सर्वोपरि बतलाया गया और कहा कि संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लय श्रीविष्णुसे ही होते हैं। वही साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं, वही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी और सर्वश्रेष्ठ हैं, उनसे बढ़कर और कोई नहीं है। इसी प्रकार शिवपुराणमें श्रीशिवको, देवीभागवतमें श्रीदेवीको, गणेशपुराणमें श्रीगणेशको तथा सूर्यपुराणमें श्रीसूर्यको ही सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान् सर्वाधार, पूर्णब्रह्म परमात्मा कहा गया है। इसी प्रकार अन्य सब पुराणोंमें भी इसी तरहका वर्णन आता है। इससे एक-दूसरेमें परस्पर विरोध, एक-दूसरेकी अपेक्षा परस्पर श्रेष्ठता तथा उसकी महिमाकी अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। इसका भाव यह है कि जैसे सतीशिरोमणि पार्वतीके लिये केवल एक श्रीशिव ही सर्वोपरि हैं, उनसे बढ़कर और कोई नहीं और भगवती लक्ष्मीके लिये केवल एक श्रीविष्णु ही सबसे बढ़कर हैं, इसी तरह सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माको लक्ष्यमें रखकर, सभी उपासकोंको परमात्माकी शीघ्र प्राप्ति हो जाय, इस दृष्टिसे महर्षि वेदव्यासजीने एक-एक देवताको प्रधानता देकर पुराणोंकी रचना की है। प्रत्येक पुराणके अधिष्ठाता देवताके नाम और रूप परमात्माके ही नाम-रूप हैं—यह भलीभाँति समझ लेनेपर उपर्युक्त शङ्का रह नहीं सकती। किसी भी देवताका उपासक क्यों न हो, उस उपासकको पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप सर्वोपरि फल मिलना चाहिये—यह पुराणरचयिताका उद्देश्य बहुत ही उत्तम और तात्त्विक है। प्रत्येक पुराणमें उसीको सर्वोपरि बतलानेका प्रयोजन दूसरेकी निन्दामें नहीं है, किंतु उसकी प्रशंसामें है और उसकी प्रशंसा उस उपासककी उस पुराण और देवतामें श्रद्धापूर्वक एकनिष्ठ भक्ति करानेके उद्देश्यसे ही है और यह उचित भी है। इस प्रकार होनेसे ही साधकका अनुष्ठान साङ्गोपाङ्ग होकर उसे पूर्ण ब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है।

जितने भी पुराण-उपपुराण हैं, उनके अधिष्ठाता देवताका नाम और रूप (आकृति) भिन्न होते हुए भी लक्ष्य एक पूर्णब्रह्म परमात्माकी ओर रखा गया है; क्योंकि गुण, प्रभाव, लक्षण, महिमा और स्तुति-प्रार्थनाका वर्णन करते हुए प्रत्येक देवताको ब्रह्मका रूप दिया गया है, इसीलिये एक-दूसरे देवताकी स्तुति परस्पर प्रायः मिलती-जुलती आती है, तो स्तुति पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही घटती है। पुराणोंमें जो पुराणोंके अधिष्ठातृ-देवताकी प्रशंसा एवं स्तुति की गयी है, वह अतिशयोक्ति नहीं है, क्योंकि परमात्माकी महिमा अतिशय, अपार और अपरिमित होनेसे उस अधिष्ठाता देवताको परमात्माका रूप देनेपर जितनी भी उसकी महिमा बतलायी जाय, वह अल्प ही है। वाणीके द्वारा जो कुछ कहा जाता है, वह परिमित ही है। अतएव वास्तवमें वाणीद्वारा परमात्माकी महिमा कोई किसी प्रकार भी वर्णन नहीं कर सकता।

आशय यह है कि जो भक्त जिस देवताकी उपासना करता है, उस उपासकको अपने उपास्यदेवको सर्वोपरि पूर्ण-ब्रह्म परमात्मा मानकर उपासना करनी चाहिये। इस प्रकारकी दृष्टि रखकर उपासना करनेसे ही सर्वोपरि सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि सभी नाम और सभी रूप परमात्माके ही होनेसे वह उपासना परमात्माकी ही उपासना है। अतः परमात्माको लक्ष्य करके किसी भी नाम और रूपकी उपासना की जाय, उसका फल एक पूर्णब्रह्म परमात्माकी ही प्राप्ति होती है। इसलिये मनुष्यको अपने इष्टदेवको पूर्णब्रह्म परमात्मा समझकर उसके नामका जप और स्वरूपका ध्यान नित्य-निरन्तर करना चाहिये।

समताकी महिमा

शास्त्रोंमें साधनकालसे लेकर सिद्धिकालपर्यन्त समताकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है। कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, ज्ञानयोग—सभीमें समता अवश्य होनी चाहिये। समता ही परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिकी कसौटी है। परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद तो सम्पूर्ण पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणियोंमें सर्वत्र स्वाभाविक ही पूर्णतया समता आ जाती है और साधनकालमें भी जिस साधकमें जितनी समता अधिक है वह उतना ही परमात्माके समीप पहुँचा हुआ है। जिसमें जितनी विषमता है, वह उतना ही दूर है। या यों कहिये, जिस साधकमें जितना राग-द्वेष कम है, उतना ही वह परमात्माके समीप है और जितना राग-द्वेष अधिक है, उतना ही वह परमात्मासे दूर है। इस विषयका गीतामें विशेषरूपसे प्रतिपादन किया गया है। जबतक राग-द्वेष वर्तमान हैं, तबतक कोई भी न तो योगी है, न भक्त है और न ज्ञानी ही है। राग-द्वेषके अभावसे ही कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगकी सिद्धि होती है। कर्मयोगकी सिद्धिके लिये भगवान्‌ने गीतामें स्थितप्रज्ञके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(२।६४-६५)

'परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर उसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

भक्तियोगमें भी राग-द्वेषसे रहित होनेकी बात कही है—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

(७।२७-२८)

'हे भरतवंशी अर्जुन! संसारमें इच्छा (राग) और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं, परंतु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेष-जनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढ़निश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं।'

एवं ज्ञानयोगीके लिये भी भगवान्‌ने राग-द्वेषके त्यागकी बात कही है—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥

(गीता १८।५०-५१)

'जो ज्ञानयोगकी परानिष्ठा है, उस नैष्कर्म्य-सिद्धिको जिस प्रकारसे प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है, उस प्रकारको हे कुन्तीपुत्र! तू संक्षेपमें ही मुझसे समझ। विशुद्ध-बुद्धिसे युक्त पुरुष शब्दादि विषयोंका त्याग करके और सात्त्विक धारणा-शक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके तथा राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके (ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है)।'

इतना ही नहीं, जबतक राग-द्वेष विद्यमान हैं, तबतक कोई भी साधन सिद्ध नहीं होता। इसलिये इन दोनोंके अधीन न होनेके लिये भगवान् विशेष जोर देकर कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(३।३४)

'इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याण-मार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।'

क्योंकि जबतक राग-द्वेष है, तबतक विषमता है और जबतक विषमता है, तबतक मनुष्य परमात्मासे बहुत दूर है; अतः परमात्माकी प्राप्तिमें आरम्भसे लेकर अन्ततक समताकी आवश्यकता है। कोई भी साधन क्यों न हो, बिना समताके उस साधनकी सिद्धि नहीं हो सकती। कर्मयोगका साधन बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(२।४८)

'हे धनंजय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर; समत्व ही योग कहलाता है।'

भगवान्‌ने सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें भी समताका उल्लेख किया है (१२।१८—२०) और भक्तियोगके साधकोंके लिये इन्हीं गुणोंके सेवनकी बात कहकर उस साधकको भगवान्‌ने अपना अतिशय प्रिय बतलाया है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(१२।२०)

'परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्काम-प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

इसी प्रकार ज्ञानयोग (सांख्ययोग) के साधनमें भी समताकी आवश्यकता सिद्ध की है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(२।१५)

'क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्षके योग्य होता है।'

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(१२।३-४)

'परंतु जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

साधन करते-करते जब साधकमें समस्त पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणियोंके प्रति पूर्ण समता आ जाती है, तभी वह सिद्ध माना जाता है। पूर्णतया समता आये बिना कोई भी सिद्ध योगी, सिद्ध भक्त या सिद्ध ज्ञानी नहीं समझा जा सकता।

जहाँ भगवान्‌ने उच्चकोटिके योगीके लक्षण बतलाये हैं, वहाँ सर्वत्र उसकी समता दिखलायी है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(६।७—९)

'सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है—ऐसा कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

यहाँ शीत-उष्ण, लोष्ट, अश्म, काञ्चन,'पदार्थ' हैं, सुख-दुःख 'भाव' हैं; मान-अपमान 'क्रिया' हैं और सुहृद्, मित्र, वैरी आदि 'प्राणी' हैं।

जो भक्तिके द्वारा परमात्माको प्राप्त होते हैं; उनमें भी इसी प्रकार पूर्णतया समता आ जाती है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥

(१२।१८)

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है (वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है)।

यहाँ शत्रु-मित्र 'प्राणी' हैं, मान-अपमान 'क्रिया' हैं, शीत-उष्ण 'पदार्थ' हैं और सुख-दुःख 'भाव' हैं।

इसी प्रकार जो ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त होते हैं, उन गुणातीत पुरुषोंमें भी पूर्णतया समता आ जाती है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

(१४।२४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको

समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपने निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है; जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

यहाँ भी सुख-दुःख 'भाव' हैं, लोष्ट, अश्म, काञ्चन 'पदार्थ' हैं; निन्दा-स्तुति, मान-अपमान 'क्रिया' हैं, शत्रु-मित्र 'प्राणी' हैं और प्रिय-अप्रिय—ये पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणी सभीके वाचक हैं।

यहाँ दिखलाना यह है कि कर्मयोगी, भक्तियोगी, ज्ञानयोगी—सभी सिद्धोंमें सर्वत्र पूर्ण समता आ जाती है अर्थात् इन सभी-की-सभी पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणियोंमें पूर्णतया समता हो जाती है।

इस संसारमें बहुत-से महापुरुष हुए हैं। उनमें कितने ही तो कर्मयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए हैं, जैसे जनकादि (गीता ३। २०) कितने ही भक्तियोगके द्वारा—जैसे अम्बरीष आदि और कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा—जैसे शुकदेव आदि। इनके चरित्र शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं। ज्ञानयोगके द्वारा प्राप्त हुए महापुरुषोंमें जडभरत एक बहुत ही उच्चकोटिके महापुरुष हुए हैं, उनकी जीवनी संसारमें प्रसिद्ध है। ज्ञानयोगके द्वारा गुणातीत पुरुषके जो लक्षण गीता अध्याय १४में २२ से २५ तकके श्लोकोंमें बतलाये गये हैं, वे महात्मा जडभरतमें अक्षरशः पाये जाते थे। श्रीमद्भागवतमें इनकी कथा विस्तारसे आती है। यहाँ संक्षेपमें लिखी जाती है—

आङ्गिरस गोत्रमें उत्पन्न एक सद्गुणसम्पन्न सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण थे। उन्हींके यहाँ जडभरतका जन्म हुआ था। ये 'भरत' नामसे प्रसिद्ध थे, लोकमें जडवत् विचरा करते थे, इसलिये लोग इनको 'जडभरत' कहते थे। कुछ बड़े होनेपर इनके पिताने इनका शास्त्रानुसार उपनयन-संस्कार भी करा दिया। उन्होंने इनको विद्या पढ़ानेकी बहुत चेष्टा की, किंतु ये जान-बूझकर पढ़ना नहीं चाहते थे, इसलिये घरवाले इन्हें पढ़ा नहीं सके। वेद पढ़ानेकी बात तो दूर रही, केवल एक गायत्री मन्त्र भी नहीं पढ़ा सके। थोड़े दिनों बाद इनके पिता परलोक सिधार गये, तब इनकी माता इनको अपनी सौतको सौंपकर अपने पतिके साथ सती हो गयीं! उसके बाद इनकी बड़ी माताके पुत्रोंने इनको पढ़ानेका आग्रह छोड़ दिया और इनकी उपेक्षा-सी कर दी।

तदनन्तर जडभरत उन्मत्तकी भाँति रहने लगे। इन्हें मानापमानका कुछ भी विचार नहीं था। लोग इन्हें पागल, मूर्ख और बधिर कहते तो ये उसे स्वीकार कर लेते थे। कोई भी इनसे काम कराना चाहते तो उनके इच्छानुसार कर दिया करते और उसके बदलेमें जो कुछ भी अच्छा-बुरा भोजन मिल जाता वही खा लिया करते। इन्हें स्वतःसिद्ध केवल विज्ञानानन्दस्वरूप आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी थी; इसलिये मानापमान, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंसे होनेवाले सुखदुःख आदिमें इन्हें देहाभिमानकी स्फूर्ति नहीं होती थी। ये सरदी, गरमी, वर्षा और आँधीके समय साँड़के समान नंगे पड़े रहते। इनके सम्पूर्ण अङ्ग स्थूल और पुष्ट थे। इनका ब्रह्मतेज पृथ्वीपर लोटने, उबटन न मलने और स्नान न करनेके कारण शरीरपर धूलि जम जानेसे धूलिसे ढके हुए महामूल्य मणिके समान छिपा हुआ था। ये अपनी कमरमें मैला-कुचैला कपड़ा बाँधे रहते थे, इनका यज्ञोपवीत भी बहुत मैला हो गया था। इसलिये अज्ञानी लोग इन्हें 'यह कोई द्विज है,' 'यह अधम ब्राह्मण है' इस प्रकार कहकर तिरस्कार किया करते थे; किंतु ये इसकी कोई परवा न करके स्वच्छन्द विचरा करते थे।

इस तरह दूसरोंकी मजदूरी करके पेट पालते देख इनके भाइयोंने इनको खेतकी क्यारियाँ ठीक करनेमें लगा दिया तो ये उस कार्यको भी करने लगे। परंतु इन्हें इस बातका कुछ भी ध्यान नहीं था कि उन क्यारियोंकी भूमि समतल है या ऊँची-नीची अथवा वह छोटी है या बड़ी। इनके भाई इन्हें चावलकी कनी, भूसी, घुने हुए उड़द अथवा बरतनोंमें लगी हुई अनाजकी खुरचन आदि जो कुछ भी दे देते उसीको ये अमृतके समान समझकर खा लिया करते थे।

एक समय डाकुओंके एक सरदारने पुत्रकी कामनासे भद्रकालीको मनुष्यकी बलि देनेका निश्चय किया। दैववश उसके नौकरोंने आङ्गिरसगोत्रीय ब्रह्मकुमार जडभरतको इसके लिये पकड़ लिया और रस्सियोंसे बाँधकर इन्हें देवीके मन्दिरपर ले आये। फिर रस्सी खोलकर इन्हें विधिपूर्वक स्नान करा वस्त्राभूषण पहनाये और नाना प्रकारके चन्दन, माला, तिलक आदि लगाकर विभूषित किया। इसके बाद भोजन कराकर बलिदानके उद्देश्यसे धूप, दीप, माला, खील, पत्ते, अंकुर, फल और नैवेद्य आदि सामग्रीके सहित पूजा करके गान, स्तुति और मृदङ्ग-ढोल आदिका महान् शब्द करते हुए इनको भद्रकालीके सामने नीचा सिर कराकर बैठा दिया। तदनन्तर दस्युराजके तामसी पुरोहितने

उस नर-पशुके रुधिरसे देवीको तृप्त करनेके लिये देवी-मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित एक तेज तलवार उठायी। इन साक्षात् ब्रह्मभावको प्राप्त हुए, वैरहीन, समस्त प्राणियोंके सुहृद् ब्रह्मर्षिकुमार जडभरतकी बलि देते देखकर देवी भद्रकालीके शरीरमें जडभरतके दु:सह ब्रह्मतेजसे दाह होने लगा और वे एकाएक मूर्तिमेंसे प्रकट हो गयीं। उन्होंने पुरोहितके हाथसे अभिमन्त्रित तलवारको छीन लिया और उसीसे उन सारे मनुष्यघातक पापियोंके सिर उड़ा दिये। सच है, महापुरुषोंके प्रति किया हुआ अत्याचाररूप अपराध इसी प्रकार ज्यों-का-त्यों अपने ही ऊपर पड़ता है। उस समय देहाभिमानशून्य, समस्त प्राणियोंके सुहृद्, वैरहीन, भगवत्-शरणापन्न, महात्मा जडभरतको अपने सिर कटनेका अवसर आनेपर भी किसी प्रकारकी व्याकुलता नहीं हुई—वस्तुतः इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

एक बार सिन्धुसौवीर देशके राजा रहूगण पालकीपर चढ़कर आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये कपिलदेवजीके आश्रमपर जा रहे थे। रास्तेमें इक्षुमती नदीके किनारे पहुँचनेपर एक कहारकी और आवश्यकता पड़ी। तब कहारोंके जमादारने जडभरतको पालकी ढोनेयोग्य हृष्ट-पुष्ट और जवान देखकर बलात् पालकीमें लगा दिया। महात्मा भरतजी बिना कुछ प्रतीकार किये चुपचाप पालकी ढोने लगे। कोई जीव पैरोंतले न दब जाय, इस बातका खयाल करके वे धरतीको देखते हुए पग धर रहे थे। इससे दूसरे कहारोंके साथ उनकी चालका मेल नहीं बैठा। पालकी टेढ़ी-सीधी होने लगी; अंदर बैठे राजाको धक्के-से लगने लगे। तब राजाने कहा—'अरे कहारो! अच्छी तरह चलो, पालकीको इस प्रकार ऊँची-नीची क्यों करते हो?' इसपर कहारोंने कहा कि 'हम तो ठीक चल रहे हैं; यह जो नया कहार है, यही ठीक नहीं चलता, इसीके कारण पालकी ऊँची-नीची हो रही है।'

इसपर राजाको क्रोध आ गया। उन्होंने जडभरतको ठीक चलनेके लिये कहा; किंतु जडभरतने मानो कुछ सुना ही नहीं। अपनी उसी चालसे चलते रहे। राजाने पुनः क्रोधपूर्वक कहा—'अरे, क्या तू जीता ही मर गया? तू जानता नहीं, मैं तेरा स्वामी हूँ? तू मेरा निरादर करके इस प्रकार मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन कर रहा है! अच्छा, मैं तेरा अभी इलाज किये देता हूँ। तब तेरे होश ठिकाने आ जायँगे।'

राजा रहूगण वैसे बुद्धिमान् तथा सत्-हृदयके पुरुष थे; परंतु क्रोध और अभिमानवश उन्होंने बहुत-सी अनाप-शनाप बातें कहीं और जडभरतका बड़ा तिरस्कार किया। किंतु राजाका ऐसा कपट-व्यवहार देखकर भी सभी प्राणियोंके सुहृद् ब्रह्मभूत जडभरतके मनमें कुछ भी विकार नहीं हुआ। वे मुसकराते हुए बोले—'राजन्! तुम जो कुछ कह रहे हो, वह ठीक ही है, किंतु मेरा इस शरीरसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है, इसलिये मुझे न तो भार ढोनेका क्लेश है और न मार्ग चलनेका परिश्रम ही। स्थूलता, कृशता, आधि-व्याधि, भूख-प्यास, भय, कलह, इच्छा, बुढ़ापा, निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान और शोक—ये सब देहाभिमानी जीवमें रहते हैं, मुझमें तो इनका लेश भी नहीं है। राजन्! तुमने जो जीने-मरनेकी बात कही, सो जितने भी विकारी पदार्थ हैं, उन सभीमें नियमितरूपसे ये दोनों बातें देखी जाती हैं, क्योंकि वे सभी आदि-अन्तवाले हैं। राजन्! जहाँ स्वामी-सेवकभाव स्थिर हो, वहीं आज्ञा-पालनादिका नियम भी लागू हो सकता है। तुम्हारे और मेरे बीचमें तो यह सम्बन्ध है नहीं। परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो किसे स्वामी कहें और किसे सेवक? फिर भी यदि तुम्हें स्वामित्वका अभिमान है तो कहो, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ? राजन्! मैं तो उन्मत्त और जड़के समान अपनी ही स्थितिमें रहता हूँ, फिर मेरा इलाज करके तुम्हें क्या हाथ लगेगा? यदि मैं वास्तवमें जड़ और प्रमादी ही हूँ तो भी मुझे शिक्षा देना पिसे हुएको पीसनेके समान व्यर्थ ही है।'

इस प्रकार कहकर जडभरत मौन हो गये। उनका अज्ञान सर्वथा नष्ट हो चुका था, इसलिये वे परम शान्त हो गये थे। उन्होंने भोगद्वारा प्रारब्धका क्षय करनेके लिये फिर पालकी उठा ली, किंतु राजा रहूगण उनके हृदयग्रन्थिका छेदन करनेवाले शास्त्रसम्मत उपदेशको सुनकर उत्तम श्रद्धाके कारण तत्काल पालकीसे उतर पड़े और उनके चरणोंपर सिर रखकर अपना अपराध क्षमा कराते हुए बोले—'देव! आपने द्विजोंका चिह्न यज्ञोपवीत धारण कर रखा है; बतलाइये, इस प्रकार गुप्तरूपसे विचरनेवाले आप कौन हैं? क्या आप दत्तात्रेय आदि अवधूतोंमेंसे कोई हैं? आपका जन्म कहाँ हुआ है और यहाँ कैसे पधारे हैं? मैं तो योगेश्वर भगवान् कपिलसे यह पूछने जा रहा था कि इस लोकमें एकमात्र शरण लेने योग्य कौन हैं? आप वे कपिलमुनि ही तो नहीं हैं?'

इसपर जडभरतजीने अपना परिचय देते हुए कहा—'मैं पूर्वजन्ममें 'भरत' नामका राजा था। मैं इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण विषयोंसे विरक्त होकर भगवान्की आराधनामें ही लगा रहता था, तो भी एक मृगमें मेरी

आसक्ति हो जानेसे मुझे परमार्थसे भ्रष्ट होकर दूसरे जन्ममें मृग बनना पड़ा। किंतु भगवान्‌की आराधनाके प्रभावसे उस मृगयोनिमें भी मेरी पूर्वजन्मकी स्मृति लुप्त नहीं हुई। इसीलिये अब इस ब्राह्मणयोनिमें मैं जन-संसर्गसे डरकर सर्वदा असङ्गभावसे गुप्तरूपमें ही विचरता रहता हूँ। मनुष्यको विरक्त महापुरुषोंके सत्सङ्गसे प्राप्त ज्ञानरूप तलवारके द्वारा इस लोकमें ही अपने मोह-बन्धनको काट डालना चाहिये, फिर श्रीहरिकी लीलाओंके कथन और श्रवणसे भगवत्स्मृति बनी रहनेके कारण वह सुगमतासे ही संसारमार्गको पार करके भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है। रहूगण! तुम भी इस संसार-मार्गमें भटक रहे हो; इसलिये अब प्रजाको दण्ड देनेका कार्य छोड़कर समस्त प्राणियोंके सुहृद् हो जाओ और विषयोंमें अनासक्त होकर भगवत्सेवासे तीक्ष्ण किये हुए ज्ञानके द्वारा इस मार्गको पार कर लो।'

इस तरह उन परम प्रभावशाली स्वाभाविक दयालु ब्रह्मर्षिपुत्र जडभरतजीने अनेकों युक्तियोंद्वारा शङ्का-समाधान करते हुए सिन्धु-नरेश रहूगणको आत्मतत्त्वका उपदेश किया। तब राजा रहूगणने दीनभावसे उनके चरणोंकी वन्दना की। महात्मा भरतजीके सत्सङ्गसे उनको भी परमात्मतत्त्वका ज्ञान हो गया। फिर महात्मा जडभरतजी परिपूर्ण समुद्रके समान शान्तचित्त और उपरतेन्द्रिय होकर पृथ्वीपर विचरने लगे।

महात्मा जडभरतके इतिहासमें गुणातीत महापुरुषके लक्षण अक्षरशः घटते हैं। यहाँ केवल गीताके चौदहवें अध्यायमें वर्णित २४वें, २५वें श्लोकोंके भावोंका इनके जीवनमें दिग्दर्शन कराया जाता है।

देवी भद्रकालीके सामने जडभरतजीकी बलि देनेके लिये जब पुरोहित तलवारसे इन्हें मारने लगा, तब तो इन्हें कोई दुःख नहीं हुआ और देवीने प्रकट होकर इनपर अत्याचार करनेवालोंको मार डाला, तब इनको कोई प्रसन्नता नहीं हुई। ये अपने आत्मस्वरूपमें स्थित थे और इनको सुख-दुःख सभी समान थे। जब-जब इन्हें सुख-दुःखका अवसर प्राप्त हुआ, तब-ही-तब ये अपने आत्मामें अटल स्थित रहे और सुख-दुःखादि विकारोंसे विचलित नहीं हुए, क्योंकि ये '**समदुःखसुखः स्वस्थः**' थे।

दूसरे लोग इनसे काम करवाकर जो कुछ दे दिया करते, उसीको लेकर ये संतुष्ट हो जाया करते थे। इनके लिये पत्थर, मिट्टी और सोना सब समान था, क्योंकि ये '**समलोष्टाश्मकाञ्चनः**' थे।

राजा रहूगणने इनके साथ पहले अप्रिय (प्रतिकूल) व्यवहार किया और फिर इनको पहचान लेनेपर प्रिय (अनुकूल) व्यवहार किया। किन्तु महात्मा जडभरतजीको न तो प्रतिकूल व्यवहारसे शोक हुआ और न अनुकूलसे हर्ष ही। ये आत्मज्ञानको प्राप्त कर चुके थे, इसलिये सर्वथा निर्विकार, सम और स्थिरचित्त रहे; क्योंकि ये '**तुल्यप्रियाप्रियो धीरः**' थे।

राजा रहूगणने पहले इनकी बहुत प्रकार निन्दा की और पहचान लेनेपर इनकी बड़ी स्तुति की; किंतु महात्मा जडभरतके चित्तमें उस निन्दासे तो कोई दुःख नहीं हुआ और स्तुतिसे कोई प्रसन्नता नहीं हुई; क्योंकि ये '**तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः**' थे।

दस्युराजके नौकर पहले जडभरतजीको रस्सियोंसे बाँधकर देवीके मन्दिरमें ले गये और बादमें बलि देनेके लिये इनको वस्त्राभूषण पहनाकर धूप, दीप, नैवेद्य आदिसे इनकी पूजा की, किंतु रस्सी आदिसे बाँधनेके अपमानसे तो इनको कोई दुःख नहीं हुआ तथा वस्त्राभूषण और धूप-दीप आदिके द्वारा पूजा-सम्मान करनेपर कोई सुख नहीं हुआ; क्योंकि ये तो '**मानापमानयोस्तुल्यः**' थे।

दस्युराजने इनको बलि देनेका निश्चय करके वैरीका काम किया और देवी भद्रकालीने इनके प्राण बचानेके लिये बलि देनेवाले शत्रुओंको मारकर मित्रका काम किया। किंतु जडभरत न तो मारनेवालोंपर रुष्ट हुए और न बचानेवाली देवीपर प्रसन्न ही हुए; क्योंकि ये '**तुल्यो मित्रारिपक्षयोः**' थे।

इसके अतिरिक्त, जडभरतजीद्वारा जो कोई भी क्रिया होती थी, उसमें अभिमानका लेशमात्र भी नहीं रहता था। इनके भाई इन्हें खेतकी रखवालीके लिये या खेतोंकी क्यारियोंकी भूमि समतल करनेके लिये लगा देते थे तो ये निरभिमानतापूर्वक उनके इच्छानुसार किया करते थे और इसी प्रकार दूसरे लोग भी जो काम कराते उनके इच्छानुसार कर दिया करते थे। इतना ही क्यों, दस्युराजके नौकर जब इन्हें बाँधकर ले गये तब भी इन्होंने कोई आपत्ति नहीं की और राजाके आदमी पकड़कर ले गये तथा बलात् पालकीमें लगा दिया, तब भी ये निरभिमानतापूर्वक पालकीको ही बड़ी प्रसन्नतासे ढोने लगे। इनकी क्रियामें कहीं भी किञ्चिन्मात्र भी कर्तापनका अभिमान नहीं था, क्योंकि ये '**सर्वारम्भपरित्यागी**' थे।

गीताके चौदहवें अध्यायमें भगवान्‌ने '**गुणातीतः स उच्यते**' (१४। २५) कहकर जो गुणातीतके लक्षण बतलाये हैं, वे सभी महात्मा जडभरतजीमें अक्षरशः

घटते थे। ऊपर जो चौदहवें अध्यायके २४वें और २५वें श्लोकोंके भावोंका इनके जीवनमें दिग्दर्शन कराया गया है, इसी प्रकार २२वें और २३वें श्लोकोंमें वर्णित लक्षण भी इनमें घटा लेने चाहिये।

इस उपाख्यानपर निवृत्तिप्रिय ज्ञानमार्गी साधकोंको विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये। उन्हें गुणातीत अवस्था प्राप्त करनेके लिये महात्मा जडभरतजीको आदर्श मानकर उनके गुण और आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये।

कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोग आदि साधन करनेवाले सभी कल्याणकामी भाइयोंसे मेरी प्रार्थना है कि समस्त पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणियोंमें पूर्णतया समता प्राप्त करनेके लिये प्रारम्भसे ही समभावको लक्ष्यमें रखते हुए राग-द्वेषसे रहित हो तत्परतापूर्वक साधनकी चेष्टा करनी चाहिये।

आत्मा और परमात्माका रहस्य एवं सिद्धान्त

प्रश्न—आत्मा और परमात्मा एक हैं या इनमें कुछ अन्तर है?

उत्तर—यह बहुत ही तात्त्विक और रहस्यकी बात है। वास्तवमें इस विषयमें कुछ भी कहना नहीं बनता। फिर भी इस सम्बन्धमें सभी आचार्योंने अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार अपने अलग-अलग सिद्धान्त प्रकट किये हैं। भक्तिसिद्धान्तके अनुसार जीवात्मा और परमात्मा अलग-अलग हैं; परमात्मा तो जीव और जीव परमात्मा नहीं बन सकता। जातिसे एक होकर भी स्वरूपसे भिन्न-भिन्न हैं। अद्वैतसिद्धान्तसे जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं। घटाकाश और महाकाशकी तरह जीवात्मा और परमात्मा शरीरकी उपाधिके कारण पृथक्-पृथक् दीखते हैं, वास्तवमें एक ही हैं। यहाँ महाकाशकी-ज्यों परमात्मा और घटाकाशकी-ज्यों जीवात्माको समझना चाहिये। गीतामें भगवान्‌ने जीवात्माको अपना अंश बतलाया है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(१५।७)

'इस देहमें यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है और वही इन प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

जिस प्रकार जीवात्माके सम्बन्धमें विभिन्न आचार्योंके अपने अलग-अलग मत हैं, उसी प्रकार ईश्वरके सम्बन्धमें भी आचार्योंकी अलग-अलग मान्यताएँ हैं; परन्तु वास्तवमें जो बात है उसको जबतक साधक परमात्माका साक्षात्कार नहीं कर लेता, तबतक नहीं समझ सकता। संसारमें जितने भी शास्त्रानुकूल मत-मतान्तर तथा सम्प्रदाय हैं, उन सभीका कथन युक्तिसङ्गत और शास्त्रसम्मत है। वेदों तथा उपनिषदोंमें भी इस सम्बन्धमें अलग-अलग मत प्रकट किये गये हैं। कोई भेदका[१] प्रतिपादन करते हैं तो कोई अभेदका[२]। इसी प्रकार गीतामें भी कहीं जीव ईश्वरको भिन्न बतलाया है (देखिये गीता, पंद्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक और अठारहवें अध्यायका इकसठवाँ श्लोक) एवं कहीं जीव-ईश्वरकी एकताका प्रतिपादन किया गया है (देखिये गीता, तेरहवें अध्यायका तीसवाँ श्लोक और अठारहवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक)। भगवान्‌ने गीतामें जो दो निष्ठाएँ बतलायी हैं; इन दोनों

१. मुण्डकोपनिषद्‌में बतलाया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ (३।१।१)

'एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर) पर रहते हैं; उन दोनोंमें एक तो उस वृक्षके कर्मरूप फलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है, किंतु दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है।'

श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में कहा है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥ (४।१०)

'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और महेश्वरको मायापति समझना चाहिये; उस परमेश्वरकी शक्तिरूपा प्रकृतिके ही अङ्गभूत कारणकार्यसमुदायसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है।'

२. ईशावास्योपनिषद्‌में कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ (६-७)

निष्ठाओंके अन्तर्गत प्रायः सभी मत-मतान्तर आ जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(३। ३)

'हे निष्पाप! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है।'

अर्थात् एक भेद और दूसरी अभेद-उपासना है।

भेद-उपासनाको भक्तिमार्ग कहते हैं, इसमें जीवको उपासक और परमात्माको उपास्य समझा जाता है। भेद-उपासनाके भी कई भेद हैं। भिन्न-भिन्न प्रकारके साधक भगवान्के श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशिव, श्रीविष्णु आदि विभिन्न स्वरूपोंकी उपासना करते हैं। ये सभी साधक अपने-अपने उपास्यदेवको पूर्ण ब्रह्म परमात्मा मानते हैं और परमात्माके सब लक्षण उनमें समझते हैं तथा उनके द्वारा सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका होना भी मानते हैं। जिस प्रकार एक ही जलको लोग नीर, अप्, तोय, अम्बु, पानी, वाटर आदि विभिन्न नामोंसे कहते हैं, उसी प्रकार श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु, श्रीशिव, श्रीदुर्गा, श्रीगणेश, श्रीसूर्य, श्रीहरि, परमेश्वर, ॐ, गॉड, अल्लाह, खुदा—ये सब एक परमात्माके ही वाचक हैं। वस्तुतत्त्व एक ही है, विभिन्न सम्प्रदायके लोग भिन्न-भिन्न नामोंसे उसकी उपासना करते हैं। इसी प्रकार विभिन्न उपासक उस परमात्माके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंकी उपासना करते हैं। कोई साकारकी उपासना करते हैं कोई निराकारकी। साकारमें भी कोई द्विभुज तो कोई चतुर्भुजकी; और कोई अनेकभुज परमेश्वरकी ही उपासना करते हैं। उस एक ही परमात्माको कोई पुँलिङ्ग, कोई स्त्रीलिङ्ग और कोई नपुंसकलिङ्ग मानकर उपासना करते हैं। सभी सम्प्रदायके लोग अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार भगवान्के भिन्न-भिन्न स्वरूपोंकी श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं, किंतु उपासकों या साधकोंके द्वारा जो कुछ भी वर्णन किया जाता है, वह सब मिलकर भी उस परमात्माके स्वरूपके एक अंशका भी वर्णन नहीं होता। वास्तवमें उस परमात्माके पूर्ण स्वरूपका वर्णन कोई कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह अनिर्वचनीयस्वरूप है। बिना प्राप्त किये परमात्माके वास्तविक स्वरूपको कोई भी नहीं जान सकता। उसे तो प्राप्त होनेपर ही समझा जा सकता है। वह मन और वाणीका विषय नहीं है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

(तैत्तिरीय० २। ९। १)

'मनसहित वाणी आदि इन्द्रियाँ जिस परमात्माके पास न पहुँचकर लौट आती हैं।'

'परंतु जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मामें ही देखता है और आत्माको सारे भूतोंमें देखता है अर्थात् सम्पूर्ण भूतोंको अपना आत्मा ही समझता है, वह फिर किसीसे घृणा नहीं करता—सबको अपना आत्मा समझनेवाला किससे कैसे घृणा करे ?'

'जिस स्थितिमें आत्मतत्त्वको जाननेवाले महात्माके लिये सब प्राणी आत्मा ही हो जाते हैं, उस स्थितिमें फिर एकत्वका अर्थात् सबमें एक आत्माका अनुभव करनेवाले उस महापुरुषको कहाँ मोह और कहाँ शोक है। अर्थात् सबमें एक विज्ञान आनन्दमय परब्रह्म परमात्माका अनुभव करनेवाले महात्माके शोक-मोह आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है।'

माण्डूक्योपनिषद्के दूसरे मन्त्रमें बतलाया है—

सर्वꣳह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।

'क्योंकि यह सब-का-सब जगत् परब्रह्म परमात्मा है तथा जो यह चार चरणोंवाला आत्मा है, वह आत्मा भी परब्रह्म परमात्मा है।'

बृहदारण्यकोपनिषद्में भी कहा है—

तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳसर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषाꣳस भवति। (१। ४। १०)

'उस इस ब्रह्मको इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वह यह सब हो जाता है। उसके पराभवमें देवता भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है।'

छान्दोग्योपनिषद्में भी कहा है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। (३। १४। १)

'यह समस्त जगत् निश्चय ही ब्रह्म है; इसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय उस ब्रह्मसे ही है। इस प्रकार समझकर शान्तचित्त हुआ उपासना करे।'

एवं—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। (६। २। १)

'हे सोम्य! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् (ब्रह्म) ही था।'

मान लीजिये, कुछ साधक भगवान् श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं, पर वे साधक भगवान् श्रीकृष्णके भी अलग-अलग स्वरूपोंकी ही उपासना करते हैं। एक मनुष्य भगवान्की बाल्यावस्थाका यानी तीन वर्षकी आयुवाले लड्डूगोपालजीके स्वरूपका ध्यान करता है, तो एक दूसरा साधक ग्यारह वर्षकी आयुवाले मुरलीधर श्रीकृष्णका ध्यान करता है और एक तीसरा मनुष्य प्रौढ़ावस्थाके पार्थ-सारथि श्रीकृष्णका ध्यान करता है—ये तीनों ही एक ही भगवान् श्रीकृष्णके तीन तरहके स्वरूपका ध्यान करते हैं। इनमें भी कई अवान्तर भेद और होते हैं। मान लीजिये, ग्यारह वर्षकी आयुवाले मुरलीधारी स्वरूपका एक हजार साधक ध्यान करते हों, वे सभी साधक चित्रकार हों और उन्हें अपने इष्टदेवके स्वरूपका चित्र बनानेको कहा जाय तो सभीके चित्रोंमें कुछ-न-कुछ भिन्नता होगी यानी वे एक हजार प्रकारके चित्र होंगे, क्योंकि सभी अपने-अपने भावके अनुसार भगवान्के स्वरूपको ध्यानमें रखकर उनकी उपासना करते हैं, इसलिये उनके चित्र भी एक-दूसरेसे भिन्न होंगे। वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्णका असली स्वरूप कैसा है? इसको कोई भी साधक नहीं जान सकता, जबतक कि भगवान्का साक्षात्कार न कर लिया जाय। इसी प्रकार भक्तोंके उपासनाके भाव भी अनेक हैं। कोई स्वामी-सेवकभावसे उपासना करते हैं, तो अन्य कोई वात्सल्य, सख्य, माधुर्य आदि अलग-अलग भावोंसे उपासना करते हैं। माता यशोदाका भगवान् श्रीकृष्णमें वात्सल्यभाव है, हनुमान्जीका श्रीरामके प्रति दास्यभाव है तथा सुग्रीवका सख्यभाव है; एवं श्रीराममें सीताजीका और श्रीकृष्णमें रुक्मिणीजीका माधुर्यभाव है। इस प्रकार भेद-उपासना अनेक तरहके भावोंसे की जाती है।

इसी प्रकार निर्गुण-निराकार परमात्माकी अभेद-उपासनाके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये। अभेद-उपासनामें साधनकालमें जीवात्मा और परमात्मामें भेद प्रतीत होता है किंतु वास्तवमें भेद नहीं है। घटाकाश और महाकाशकी भाँति शरीरकी ही उपाधिके कारण जीवात्मा और परमात्मा पृथक्-पृथक् दीखते हैं; किंतु वास्तवमें एक ही हैं। इस प्रकारकी अभिन्नताकी मान्यतापूर्वक की जानेवाली उपासनाको अभेदोपासना कहते हैं। इसमें भी कई प्रकारके भावोंके भेद होते हैं। एक ही 'सच्चिदानन्दघन'के उच्चारणसे विभिन्न साधकोंके मन-बुद्धिमें अलग-अलग भाव और स्वरूपका निश्चय होता है। किसीका भी भाव एक-दूसरेके साथ सर्वथा नहीं मिल सकता। परंतु इस नामके उच्चारण करनेपर साधकोंके मनमें जो भी भाव और स्वरूप पैदा होता है, उसीको लक्ष्य मानकर साधक अपने साधनकी सिद्धिके लिये ध्यान करता है और उसके फलस्वरूप परमात्माको प्राप्त करता है; किंतु वास्तवमें तर्ककी दृष्टिसे विचारा जाय तो किसी भी साधकका लक्ष्य यथार्थ नहीं कहा जा सकता। परंतु श्रद्धापूर्वक उपासनाकी दृष्टिसे सभीका लक्ष्य यथार्थ है; क्योंकि उसका परिणाम परमात्माका साक्षात्कार करानेवाला है। वास्तविक स्वरूपका ज्ञान तो साधकको जब साधन करते-करते परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तभी होता है। भेदोपासनामें भी बिना भगवत्साक्षात्कार हुए वास्तविक स्वरूपका पता नहीं लग सकता।

इसके लिये हम परमेश्वरसे इस प्रकार कह सकते हैं कि 'या तो आपको प्रथम ही साधकको असली स्वरूपका दर्शन देकर इस प्रकारका नियम बतला देना चाहिये कि इतने वर्षोंतक मेरे इस स्वरूपका ध्यान करनेसे मेरी प्राप्ति होगी, अथवा आपको अपना असली छायाचित्र भेज देना उचित है ताकि यह पता लग जाय कि आपका वास्तविक स्वरूप यही है, अथवा अपने यथार्थ स्वरूपका ज्ञान साधकको करा देना चाहिये कि मेरा वास्तविक स्वरूप यह है। ऐसा न करनेपर तो जो साधक आप (भगवान्)का लक्ष्य करके आपके नामपर आपके जिस किसी स्वरूपका ध्यान करता है, उसीके लिये आपको बाध्य होकर यह मानना पड़ेगा कि यह मेरे असली स्वरूपका ही ध्यान कर रहा है।' वस्तुतः भक्तोंकी भावनाके अनुसार परमेश्वर ऐसा ही मानते हैं और इस न्यायसे भगवान्के नामपर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उनके किसी भी स्वरूपको लक्ष्य करके साधन करनेवालेको भगवत्प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि आचार्यों एवं शास्त्रोंके बतलाये हुए मार्गोंके अनुसार साधन करनेके सिवा साधकके लिये अन्य कोई उपाय भी नहीं है। अतः शास्त्रोंमें विश्वास रखकर तदनुसार उपासना करनी चाहिये। वास्तवमें परमात्माके भेद-अभेद, साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण आदि किसी भी स्वरूपका शास्त्रोंमें पढ़कर, आचार्यों और संत-महात्माओंके द्वारा सुनकर या गीताके आधारपर जो लक्ष्य बनाया जाता है, उसकी अपेक्षा वह परमात्माका स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है। परमात्माका साक्षात्कार किये बिना साधनावस्थामें किसी भी उपायके द्वारा किसी तरह भी उसके वास्तविक स्वरूपको कोई

समझ ही नहीं सकता। परंतु उपाय क्या किया जाय? उसके लिये भगवान् कहते हैं कि जो मेरे नामपर व्यक्त-अव्यक्त, भेद-अभेद, सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, जिस किसी भी स्वरूपको लक्ष्य बनाकर मेरा ध्यान करेगा, उस साधकको उसके भावके अनुसार मेरे स्वरूपकी प्राप्ति निश्चय होगी, यह बात भगवान्‌के **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'** (गीता ४। ११) वचनसे भी ध्वनित होती है।

इस समस्त कथनका सार यह है कि भक्तिके सिद्धान्तसे जीव अंश है और परमात्मा अंशी—इस प्रकार एक जातिके होकर भी वे स्वरूपसे भिन्न माने गये हैं। अद्वैतके सिद्धान्तसे आत्मा और परमात्मा एक ही माने गये हैं; भ्रमसे ही वे अलग-अलग प्रतीत होते हैं, वास्तवमें एक ही हैं। साधकको अपनी मान्यताको सिद्धान्तका ही रूप देना चाहिये, क्योंकि सिद्धान्तका रूप दिये बिना उच्चकोटिकी साधना नहीं हो सकती। वास्तवमें साधकोंके द्वारा साधनके लिये माने जानेवाले सभी सिद्धान्त मान्यता ही हैं, असली सिद्धान्त (असली वस्तु) एक ही है, जो मन-वाणीका विषय ही नहीं है और केवल परमात्मप्राप्ति होनेपर ही अनुभवमें आ सकता है। इसके सिवा उसको समझनेका कोई उपाय भी नहीं है। साधक भेद या अभेद जिस-किसी भी मान्यताके अनुसार परमात्माके स्वरूपको मनसे लक्ष्य करके उपासना करता है, प्रथम उसीके अनुसार ही साधकको परमात्माकी प्राप्ति होती है। फिर, उसके लक्ष्य और मान्यताके अनुसार परमात्माका साक्षात्कार हो जानेके बाद परमात्माके असली तत्त्व और असली स्वरूपका ज्ञान साधकको हो जाता है, जिसे अमृत कहते हैं। वह वाणीका विषय नहीं है। वह अचिन्त्य है। उसे बुद्धि भी ग्रहण नहीं कर सकती। परमात्माकी शक्ति पाकर बुद्धि जिस स्वरूपका निर्णय करती है, वह परमात्माका बुद्धिविशिष्ट स्वरूप ही है; क्योंकि इन्द्रिय और अन्तःकरण उस वास्तविक स्वरूपकी थाह नहीं पा सकते। जिस प्रकार शीशेमें आकाशका प्रतिबिम्ब पूर्णतया आ ही नहीं सकता—क्योंकि आकाश अनन्त है और शीशा अल्प है, उसी प्रकार परमात्मा अनन्त हैं और बुद्धि अल्प है; अतः उनका वह वास्तविक स्वरूप बुद्धिगम्य नहीं है।

भक्तिमार्गके आचार्य—श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि सभीके मतोंमें भक्ति-मार्गके प्रकारमें एक दूसरेसे कुछ-न-कुछ भेद मिलता ही है। फिर भी सभी आचार्योंने सिद्धान्ततः जीवात्मा और परमात्माको अलग-अलग ही माना है एवं अद्वैतके आचार्य—श्रीशङ्कराचार्य आदिके मतमें भी जीवात्मा और परमात्माकी एकताके सम्बन्धमें एक-दूसरेकी अपेक्षासे प्रकारभेद मिलते हैं, किंतु अन्तमें सभीने जीवात्मा और परमात्माको एक ही माना है। वास्तवमें जीवात्मा और परमात्मामें भेद है भी और नहीं भी। जिन साधकोंकी श्रद्धा भक्तिमार्गमें है, उनके लिये परमात्मा और जीवात्मामें भेद है और अद्वैतके साधकोंकी दृष्टिमें अभेद है। वास्तवमें ये दो प्रकारके साधनके मार्ग हैं। इन दोनों प्रकारके साधनोंका फल एक ही होता है। परमात्मा भेद और अभेद-दोनोंसे विलक्षण है और दोनों स्वरूपवाला भी है। इसलिये दोनों ही साधन ठीक हैं। यहाँ यह प्रश्न होता है कि तो फिर वास्तवमें सत्य क्या है, तो इसका उत्तर यह है कि इसके यथार्थ स्वरूपको साधक परमात्माका साक्षात्कार करनेपर ही समझ सकता है; क्योंकि वास्तवमें वह भेद-अभेदसे विलक्षण है। वह मन-वाणीसे समझने-समझानेकी चीज नहीं है। अतः जिस साधकको भेद और अभेद—इन दो मार्गोंमेंसे जिस मार्गमें विशेष श्रद्धा और रुचि हो, उसे उसीके अनुसार साधन करते रहना चाहिये; क्योंकि उसके लिये वही विशेष लाभप्रद है। दोनों ही मार्ग शास्त्रसम्मत, युक्तियुक्त एवं परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं। इन साधनोंसे परमात्माकी प्राप्ति हो जानेके बाद वास्तविक पदार्थ क्या है, यह स्वतः समझमें आ जाता है।

वास्तवमें इस अलौकिक विलक्षण अकथनीय तत्त्वका शास्त्रों तथा आचार्योंके द्वारा पूर्णतया तो वर्णन हो ही नहीं सकता। शास्त्रों और आचार्योंने जो कुछ भी कहा है, वह सभी साधन है एवं निश्चितरूपसे परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है। किंतु ये सब साधन जिस लक्ष्य (परमार्थ) तक साधकको पहुँचाते हैं, वह लक्ष्य मन-वाणीका विषय नहीं है; वह तो अनुभवगम्य है; परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेके बाद ही समझमें आता है। शास्त्रों तथा आचार्योंने भेद और अभेद—दोनों ही उपासनाओंको माना है और दोनोंको ही उच्च कोटिके साधन बतलाया है। हम सभी सम्प्रदायोंका आदर करते हैं और उन्होंने जो कुछ भी कहा है, वह सभी परमार्थमें हेतु होनेके कारण शाखाचन्द्रन्यायकी तरह सत्य है। इन सभी साधनोंके परिणामस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होनेपर जो अनुभव होता है, वह सबसे अलौकिक और विलक्षण है। वही वास्तविक

स्वरूप है। आचार्यों और शास्त्रोंने जो कुछ भी बतलाया है, उसको इस न्यायसे ठीक समझ लिया जाता है कि साधक यदि श्रद्धाविश्वासपूर्वक उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार आचरण करे तो उसके फलस्वरूप उसे परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है।

अब शाखाचन्द्रन्याय क्या है; यह समझाया जाता है। मान लीजिये, आकाशमें द्वितीयाका चन्द्रमा उदय हुआ है। उसको एक आदमीने तो देख पाया है और एक दूसरे आदमीको वह नहीं दीख रहा है। तब जिसको चन्द्रमा दृष्टिगोचर हो रहा है वह अङ्गुल्यानिर्देशसे दूसरेको बतलाता है कि 'वह देखो' उस वृक्षकी शाखाके एक हाथ ऊपर चन्द्रमा है।' जब वह मनुष्य उसके बतलाये हुए निर्देशके अनुसार दृष्टिपात करता है, तब उसे भी चन्द्रमा दृष्टिगोचर हो जाता है। परंतु वास्तवमें क्या चन्द्रमा उस पेड़से एक हाथ ही ऊपर है? कभी नहीं। इसी प्रकार वह एक दूसरे भाईको बतलाता है कि 'देखो चन्द्रमा इस मकानके कोनेसे सटा हुआ है।' उसके कथनानुसार चेष्टा करनेसे उसे भी चन्द्रमाका दर्शन हो जाता है; परंतु वास्तवमें क्या चन्द्रमा उस मकानसे सटा हुआ है? कभी नहीं। इसी प्रकार वह एक तीसरे भाईको कहता है कि 'देखो, उस उड़ते हुए पक्षीके दोनों पंजोंके बीचमें चन्द्रमाके दर्शन करो तो वह भाई उस पक्षीके पंजोंमेंसे देखता है और उसे चन्द्रमा दीख जाता है। किंतु क्या वास्तवमें चन्द्रमा उस पक्षीके पंजोंके बीचमें है? कभी नहीं। इससे यह समझना चाहिये कि यद्यपि शब्दोंका अर्थ तो गलत है; परंतु उससे कार्य-सिद्धि यथार्थमें हो जाती है। इसी प्रकार शास्त्रकथित तथा आचार्योंद्वारा प्रतिपादित सभी साधन तर्ककी कसौटीपर कसनेसे दोषयुक्त सिद्ध होते हुए भी परिणाममें परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले होनेसे यथार्थ हैं। जिस प्रकार चन्द्रदर्शनके उत्सुक मनुष्यको चन्द्रमाके दर्शन करानेवालेकी बात मानकर तदनुसार चेष्टा करनेसे चन्द्रमाके दर्शन हो जाते हैं, उसी प्रकार भगवान्‌के दर्शनोत्सुक व्यक्तिको भी शास्त्रों या आचार्योंके कथनानुसार श्रद्धापूर्वक साधन करनेपर भगवत्साक्षात्कार हो सकता है। जिस प्रकार अङ्गुल्यानिर्देशसे बतलानेवाला मनुष्य केवल इतना ही निर्देश करा सकता है कि चन्द्रमा अमुक पेड़से एक हाथ ऊँचा या अमुक मकानके कोनेसे सटा हुआ है, उसी प्रकार आचार्य तथा शास्त्रादि भी भेद-अभेदकी उपासनाद्वारा परमात्माका लक्ष्य करा सकते हैं; किंतु यह बात निश्चित है कि जबतक मनुष्य परमात्माको प्राप्त नहीं कर लेता तबतक वह यह नहीं समझ सकता कि वास्तवमें परमात्माका स्वरूप कैसा है।

अब इसको एक और उदाहरणद्वारा स्पष्ट किया जाता है। थोड़ी देरके लिये मान लें कि पृथ्वीलोकका कोई एक मनुष्य पृथ्वीके भीतर पाताललोकमें चला गया, जहाँ चारों ओर केवल अँधेरा-ही-अँधेरा है, जहाँ अग्नि और बिजलीकी रोशनीसे ही सब काम चलता हैं, जहाँ दिन-रात कभी होते ही नहीं और सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि कुछ नहीं है। उसने वहाँके रहनेवालोंसे पूछा कि 'यहाँ कभी दिन होता है या नहीं?' इससे वहाँके रहनेवालोंको बड़ा कौतूहल हुआ कि दिन क्या वस्तु है? तब उसने बतलाया कि सूर्यके उदय होनेपर दिन और उसके छिप जानेपर रात होती है। तब तो और भी विस्मय हो गया कि सूर्य और दिन-रात क्या होते हैं। उन्होंने पूछा—'सूर्य क्या है?' उसने कहा—'एक गोलाकार अत्यधिक प्रकाशका पुञ्ज होता है, जिसके उदय होनेपर अँधेरा बिलकुल मिट जाता है और चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश दीखने लगता है।' इसपर पातालनिवासियोंने एक हजार पावरकी बिजलीका गोल आकारवाला बल्ब जलाया और पूछा—'क्या तुम्हारा सूर्य ऐसा है?' उसने कहा—'यह तो उसके सामने कुछ भी नहीं है।' तब उन लोगोंने दस हजार पावरके बल्बसे रोशनी की और पूछा—'क्या सूर्य ऐसा होता है?' उसने कहा—'यह भी उन सूर्यके सामने कुछ भी नहीं है।' अन्ततोगत्वा उन्होंने बिजलीका सारा पावर लगाकर रोशनी कर दी और पूछा—'तुम्हारा सूर्य ऐसा होता है क्या?' वह पुनः बोला—'यह भी सूर्यके सम्मुख कुछ भी नहीं है।' अन्तमें उन लोगोंने कहा कि 'तुम झूठ बोलते हो; इससे अधिक तो प्रकाश हो ही नहीं सकता!' उस भाईने जवाब दिया—मैं आपलोगोंको किस प्रकार समझाऊँ। वह चीज समझाने और बतलानेमें नहीं आ सकती। जबतक आपलोग उसको देख नहीं लेंगे, तबतक उसे नहीं समझ सकते!' तब उक्त लोकके निवासियोंने अपने एक आदमीको सूर्य देखनेके लिये उसके साथ पृथ्वीलोक भेज दिया। जब दोनों आदमी पृथ्वीलोकमें पहुँचे, उस समय अमावस्याकी घोर अँधेरी अर्द्धरात्रि थी। पातालनिवासी मनुष्यको तो उस अँधेरी रात्रिमें भी प्रकाशका भान होता था, उसने अपने

साथीसे पूछा—'क्या यह दिन है?' वह बोला—'यह तो घोर अँधेरी रात है।' जब धीरे-धीरे अँधेरा और कम हुआ, कुछ प्रकाश बढ़ गया, तब उसने पूछा—'क्या यह दिन है?' उसने जवाब दिया—'अभी तो रात ही है।' फिर धीरे-धीरे नक्षत्रोंकी ज्योति भी कम हो गयी और सूर्यके उदय होनेमें आधा घंटा बाकी रह गया, तब पातालनिवासीने पुनः पूछा—'क्या यह दिन है?' वह फिर बोला—'अभी तो रात ही है। आधे घंटेके बाद सूर्योदय होगा।' तब उसने पूछा—'ये चमकनेवाले क्या हैं?' उसने कहा—'पृथ्वीकी भाँति ये भी सब बड़े-बड़े लोक हैं, इनको तारे (नक्षत्र) कहते हैं।' इसके बाद जब नक्षत्रोंकी रोशनी बिलकुल बंद हो गयी तथा सूर्योदय होनेमें पाँच-सात मिनट ही बाकी रह गये, तब शुक्र और बृहस्पति नक्षत्रको छोड़कर सभी नक्षत्र अदृश्य हो गये। एवं सूर्योदय होते ही शुक्र और बृहस्पति नक्षत्र भी दीखने बंद हो गये। उस समय सूर्यका प्रकाश इतना तेज लगा कि पाताललोकवासी प्राणी तो सूर्यकी ओर ताक भी न सका; उसने सूर्यकी ओर अपनी पीठ कर ली और उसी हालतमें उसने सूर्यके प्रकाशको देखा। दोपहरमें जब सूर्यका प्रकाश अधिक तेज और उग्रतम हो गया तब तो बेचारा वह उसे देख ही कैसे सकता था। तब जिस प्रकार सूर्यग्रहणके समय शीशेको दीपककी लौसे काला करके देखा जाता है, उसी प्रकार उसने उस पातालनिवासीको सूर्य दिखलाया और बतलाया कि यह सूर्य है तथा इसीसे हमारे इस लोकमें दिन-रातकी व्यवस्था है। इसपर उसने कहा—'अब, दिन-रात और सूर्य क्या चीज हैं—इस बातको मैं समझ गया।'

इसके बाद वह मनुष्य अपने लोकमें वापस चला गया। वहाँ जानेपर वहाँके लोगोंने उससे पूछा—'तुमने दिन-रात और सूर्यको देखा? सूर्य कैसा है? उसका प्रकाश कैसा है? दिन-रात आदि क्या चीज है?' इस प्रकार उन्होंने उस आदमीसे वे सभी प्रश्न किये, जो पृथ्वीलोकके आदमीसे किये थे। उसने बतलाया—'सूर्य एक अत्यन्त प्रकाशका पुञ्ज है, अपनी जो यह बिजलीकी रोशनी है, उससे असंख्यगुनी उसकी रोशनी होती है तब उन्होंने पूछा 'असंख्य गुना उसका प्रकाश कैसा होता है, यह बात हमको समझाओ, तुम तो हमारी भाषा भी जानते हो।' उसने उत्तर दिया—'उस चीजको बिना देखे किसी प्रकार समझाया ही नहीं जा सकता। उसकी उपमाके योग्य अपने लोकमें दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है जिसका नाम लेकर मैं आपको बतला सकूँ। वह वस्तु तो ऐसी है कि प्रत्यक्ष देखनेपर ही समझी जा सकती है, बिना देखे वह किसी प्रकार समझमें आ ही नहीं सकती।'

इस उदाहरणसे यह सिद्ध हुआ कि जब सूर्य-जैसी एक साधारण वस्तु भी बिना देखे समझमें आनी कठिन है, तब फिर उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्य बिना प्राप्त किये कैसे समझ सकता है और दूसरा कैसे उसे समझा सकता है। फिर भी शास्त्र तथा आचार्यगण वाणीद्वारा जितना समझाया जाना सम्भव है, उतना समझाते ही हैं, परंतु यथार्थतः कोई नहीं समझा सकता। सभी आचार्योंके समझानेके तरीके अपनी-अपनी पद्धतिके अनुसार पृथक्-पृथक् हैं। तर्ककी कसौटीपर कसनेसे तो कोई भी मत अकाट्य, निर्दोष और युक्तिसङ्गत नहीं ठहरता। जैसे बीस सम्प्रदायोंमेंसे एक सम्प्रदाय किसी एक सिद्धान्तको निश्चित करता है तो शेष उन्नीस सम्प्रदाय उसके विरुद्ध प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सम्प्रदाय अन्य उन्नीस सम्प्रदायोंसे विरुद्ध पड़ जानेके कारण तर्कसे कोई भी अकाट्य, निर्दोष और युक्तिसङ्गत नहीं कायम होता।

इसी प्रकार गीतापर भी सैकड़ों टीकाएँ हैं, उनमें कौन-सी टीका सही है, किसका अर्थ ठीक माना जाय? क्योंकि सभीमें मतभेद है, सभीका अर्थ भिन्न-भिन्न है। सौ टीकाओंमें एक टीकाका अन्य निन्यानबे टीकाओंसे स्वाभाविक ही मतभेद एवं विरोध हो जाता है। इसलिये सभीमें परस्पर विरोध सिद्ध होता है; किंतु जितने भी टीकाकार हैं, गीताके मूल श्लोकोंको वे सभी समानभावसे मानते और आदर करते हैं। मूलमें प्रायः किसी भी सम्प्रदाय अथवा टीकाकारका मतभेद नहीं। इसी प्रकार मूलभूत जो परमात्माका स्वरूप है, वह एक है और परम सत्य है तथा मन-वाणीका अविषय है।

ऐसे उस अत्यन्त विलक्षण परमात्मतत्त्वको जाननेके लिये साधकको ईश्वरकी और महापुरुषोंकी शरणमें जाना चाहिये। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको

तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

तथा महाभारतान्तर्गत श्रीविष्णुसहस्रनाममें कहा है—

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम्॥

(अनुशासन० १४९। १३०)

'जो भगवान् श्रीवासुदेवके ही शरण है और श्रीवासुदेवके ही परायण है, वह समस्त पापोंसे रहित विशुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य सनातन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है।'

एवं महापुरुषोंकी शरणमें जानेके लिये भी भगवान् गीतामें कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(४। ३४-३५)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्म-तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा 'हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

यही परमात्माकी प्राप्ति है, इसीको परम धाम, परम गति, परम अक्षर, अव्यक्त गति आदि अनेकों नामोंसे कहा है। भगवान् कहते हैं—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता ८। २१)

'जो अव्यक्त 'अक्षर'—इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षर नामक अव्यक्तभावको परम गति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है।'

इसकी प्राप्ति उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेपर होती है। अतएव जिस साधककी परमात्माके जिस स्वरूपमें* और जिस साधनमें श्रद्धा और रुचि हो, उसीको लक्ष्य बनाकर विश्वासपूर्वक विवेक और वैराग्ययुक्त चित्तसे कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये।

---

* निर्विशेष सविशेष प्रभु निराकार साकार। सब, सबमें, सबसे परे, निर्विकार, सविकार॥
पुरुष परात्पर प्रेममय, अंशी अमल अनूप। चिन्त्य अचिन्त्य अनन्त अज दिव्य स्वरूप अरूप॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

(स्त्रियोंके लिये कर्तव्यशिक्षा)

व्यवहार

प्रत्येक स्त्रीको उचित है कि वह अपने नैहर और ससुरालमें सबके साथ बहुत ही उत्तम व्यवहार करे। व्यवहार करते समय नीचे लिखी तीन बातोंका खयाल रखनेसे व्यवहार शीघ्र ही बहुत उच्चकोटिका हो सकता है।

(१) व्यवहार करते समय भगवान्‌को याद रखना चाहिये, जैसे गोपियाँ हर समय भगवान्‌को याद रखती हुई ही घरके सारे काम-काज किया करती थीं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

(१०।४४।१५)

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्‌गद वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं, इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली ये व्रजवासिनी गोपरमणियाँ धन्य हैं।'

(२) जिसके साथ व्यवहार किया जाय, अपना स्वार्थ छोड़कर उसके हितकी दृष्टिसे किया जाय।

(३) दूसरोंके सच्चे गुणोंका तो वर्णन किया जाय, पर अवगुणोंकी चर्चा न की जाय।

इस प्रकारका आचरण करनेसे व्यवहारका भी सुधार होता है और सबके साथ प्रेम भी बढ़ता है। घरमें जो अपनेसे बड़ी अवस्थावाले स्त्री-पुरुष हों, श्रद्धापूर्वक उनकी आज्ञा पालनेकी चेष्टा और सेवा करनी चाहिये तथा उनके चरणोंमें नित्य नमस्कार करना चाहिये। स्त्रीको पतिके तो पैर छूकर प्रणाम करना चाहिये और पतिके सिवा दूसरे पुरुषोंको हाथ जोड़कर दूरसे भूमिमें मस्तक लगाकर प्रणाम करना चाहिये। अपने समान वयवालोंको आदर-सत्कारपूर्वक निःस्वार्थ प्रेम-भावसे सुख पहुँचानेकी चेष्टा करनी चाहिये और अपनेसे जो छोटे हैं, उनका जिस प्रकार हित हो, इसका विशेष ध्यान रखते हुए वात्सल्यभावसे पालन करना चाहिये। बालकोंके गुण, स्वभाव और चरित्र अच्छे बनानेके लिये अपना उत्तम-से-उत्तम चरित्र उनके सामने रखना और उसी प्रकारकी उन्हें शिक्षा देनी चाहिये। माताके उपदेशकी अपेक्षा भी उसके आचरणका असर बालकोंपर अधिक पड़ता है। बालकोंके लिये प्रथम गुरु माता ही है। श्रीतुलसीदासजीकी रामायणमें देखिये, सुमित्राने अपने पुत्र लक्ष्मणके प्रति कैसा उत्तम उपदेश दिया है—

तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥
जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥
गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥

× × ×

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी॥
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥

× × ×

सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥

× × ×

जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥

वाल्मीकीय रामायणमें भी प्रायः इसी प्रकार कहा है—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥

(२।४०।९)

'बेटा! तुम इच्छानुसार सुखपूर्वक वनमें जाओ। श्रीरामको पिता दशरथ समझना, सीताको माता (मुझे) समझना और वनको अयोध्या समझना।'

इसी प्रकार राजा ऋतध्वजकी धर्मपत्नी मदालसा एक बड़ी उच्च-कोटिकी विदुषी स्त्री थी। उसकी कथा मार्कण्डेयपुराणमें विस्तारसे आती है, वहाँ देखनी

चाहिये। अपने पुत्रोंको उसने बचपनमें ही ज्ञानका उपदेश देकर ज्ञानी बना दिया था।* मदालसाका यह उद्देश्य था कि मेरे गर्भमें आये हुए बालकको यदि पुनः दूसरी माताके गर्भमें जाकर जन्म लेना पड़े तो उस बालकको प्रसव करना मेरे लिये लज्जाकी बात है!

स्त्रियोंको चाहिये कि घरवालों और बाहरके सभी मनुष्योंके साथ बर्ताव करते समय वाणीका संयम रखें। अश्लील, गंदे, कटु, व्यङ्ग्यभरे हिंसात्मक और व्यर्थ शब्द न बोलकर परिमित, सत्य, प्रिय और हितके ही वचन कहने चाहिये। शब्दोंका प्रयोग उत्तम अर्थ और भावयुक्त होना चाहिये। इसका असर सभीपर अच्छा पड़ता है और अपना हित भी इसीमें है। अपने द्वारा किसीकी भी हिंसा न हो, बल्कि सबके साथ निःस्वार्थ प्रेम हो, इस भावको हृदयमें रखते हुए प्रेम और विनययुक्त सरलताका व्यवहार करना चाहिये। जो वर्ण, आश्रम, पद, अवस्था, जाति, गुण, आचरण, ज्ञान—किसी भी दृष्टिसे पूज्य और बड़ा हो, उसकी निःस्वार्थभावसे आदरपूर्वक सेवा और उसे नमस्कार करना चाहिये। परपुरुषोंके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श, एकान्तवास और चिन्तनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। विशेष आवश्यक कार्य होनेपर बड़ेको पिताके समान, बराबरवालेको भाईके समान और छोटेको पुत्रके समान समझते हुए नीची दृष्टि रखकर थोड़े शब्दोंमें आवश्यकतानुसार नीति और धर्मयुक्त बात करनी चाहिये। पद्मपुराणमें बतलाया है—

सुवेषं या नरं दृष्ट्वा भ्रातरं पितरं सुतम्।
मन्यते च परं साध्वी सा च भार्या पतिव्रता॥

(सृष्टि० ४७। ६०)

'जो साध्वी स्त्री सुन्दर वेषधारी भी परपुरुषको देखकर उसे भ्राता, पिता अथवा पुत्र मानती है, वह पतिव्रता है।'

स्त्रियोंको शौचाचार, सदाचार और अन्तःकरणकी पवित्रतापर विशेष ध्यान देना चाहिये। शरीर और घरकी सफाई आदि सब शौचाचारके ही अङ्ग हैं तथा सबके साथ उत्तम व्यवहार करना सदाचार है। शौचाचार और सदाचार—ये दोनों ही अन्तःकरणकी पवित्रतामें बहुत ही सहायक हैं। काम-क्रोध, लोभ-मोह, अभिमान-अहंकार, राग-द्वेष, मद-मत्सर आदि दुर्गुणोंका अभाव एवं पूर्वसंचित पापोंका नाश ही अन्तःकरणकी पवित्रता है। अतः इनके नाशकी विशेष चेष्टा रखनी चाहिये। आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक शिक्षाकी पुस्तकोंको स्वयं पढ़ना और बालकोंको भी पढ़ाना चाहिये।

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि विषयक गीता, रामायण, भागवत आदि आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति, पराशरस्मृति आदि धार्मिक ग्रन्थ हैं। विदुरनीति, चाणक्यनीति, शुक्रनीति आदि नैतिक पुस्तकें हैं। इन पुस्तकोंमें तथा महाभारत आदि इतिहास और पद्मपुराण आदि पुराणोंमें सामाजिक और व्यावहारिक बातोंका भी जगह-जगह वर्णन आता है। घरमें सब लोग एकत्र होकर यदि एक घंटा भी इन ग्रन्थोंके सुनने-सुनानेका प्रबन्ध कर लें तो सभी लोगोंको शास्त्रोंका अनुभव स्वाभाविक ही अनायास हो सकता है।

स्त्रियोंको चाहिये कि शरीरसे हर समय काम लेती हुई अपने जीवनको परिश्रमजीवी बनावें। आटा पीसना, रसोई बनाना, चौका-बर्तन करना आदि गृहकार्योंको कर्तव्यबुद्धिसे धैर्य और उत्साहके साथ करें एवं चर्खा कातना, कपड़े सिलाई करना आदि शिल्पकार्य भी अवश्य करें। ऐसा करनेसे बल, बुद्धि, आरोग्य, उत्साह, शरीर और मनमें प्रसन्नता तथा स्फूर्ति बढ़ती है। ये सब कार्य उन्हें लड़कियोंको भी सिखलाने चाहिये तथा आलस्य, प्रमाद, दुर्गुण, दुराचार, अश्लीलता, मादक वस्तुओंका सेवन, बुरे व्यसन, नाटक-सिनेमा, थियेटर, क्लब, खेल-तमाशा, ताश, चौपड़, शतरंज, फिजूलखर्ची और कुरीतियोंका भी कतई त्याग करना चाहिये। डोरा-यन्त्र, ताबीज, टोना, जात-झडूला आदिको मिथ्या वहम समझकर इन कामोंसे स्त्रियोंको बचकर रहना चाहिये। स्त्रीके लिये लज्जा ही भूषण है, अतः लोक और शास्त्रकी मर्यादापर विशेष ध्यान देना चाहिये। किसीसे भी हँसी-मजाक कभी नहीं करना चाहिये।

सुहागिन स्त्रियोंके लिये पातिव्रत्यधर्म एक बहुत

* मदालसा अपने बालकको इस प्रकार कहा करती—
शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्ति नाम कृतं हि ते कल्पनयाधुनैव। पञ्चात्मकं देहमिदं न तेऽस्ति नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः॥
(मार्कण्डेयपुराण २३। ११)

'हे तात! तू तो शुद्ध आत्मा है, तेरा कोई नाम नहीं है। यह कल्पित नाम तो तुझे अभी मिला है। यह शरीर भी पाँच भूतोंका बना हुआ है। न यह तेरा है, न तू इसका है; फिर किसलिये रो रहा है?'

ही महत्त्वकी चीज है। पातिव्रत्यधर्मके पालनसे स्त्रीको तीनों कालोंका ज्ञान हो जाता है और वह अपने पतिके सहित परमपद—भगवान्‌के परमधामको प्राप्त कर लेती है। इसके लिये स्त्रियोंको पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें नरोत्तम ब्राह्मणकी कथाके प्रसङ्गमें वर्णित 'शुभा' नामकी पतिव्रता स्त्रीके आख्यानपर ध्यान देना चाहिये।

पतिव्रता शुभा

प्राचीन कालमें नरोत्तम नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे। वे अपने माता-पिताका त्याग करके तीर्थसेवनके लिये चल दिये। तीर्थोंमें घूमते समय उनके वस्त्र प्रतिदिन आकाशमें बिना ही किसी आधारके सूखते थे। इससे अहंकारवश वे कहने लगे कि 'मेरे समान पुण्यात्मा और महायशस्वी कोई नहीं है।' एक दिन ऐसा कहते हुए उनके ऊपर एक बगुलेने बीट कर दी। ब्राह्मणने क्रोधमें आकर उसे शाप दे दिया, जिससे बगुला भस्म हो गया। इस पापके कारण अब उनकी धोती आकाशमें नहीं ठहरती थी, इससे उन्हें बड़ा दुःख हुआ। तब आकाशवाणी हुई कि तुम धर्मात्मा मूक चाण्डालके पास जाओ, वहाँ जानेसे तुम्हें धर्मका ज्ञान होगा।

यह सुनकर नरोत्तम मूक चाण्डालके घर गये। उस समय मूक चाण्डाल अपने माता-पिताकी सेवामें संलग्न था। नरोत्तमने उससे कहा—'तुम मेरे पास आओ, मैं तुमसे सबके सनातन हितकी बात पूछता हूँ, उसे ठीक-ठीक बताओ।' इसपर मूक चाण्डाल बोला—'मैं माता-पिताकी सेवा करनेके बाद आपकी आवश्यकता पूर्ण कर सकूँगा, तबतक ठहरिये।' इससे नरोत्तम आग-बबूला हो गये। तब चाण्डाल बोला— 'आप क्यों व्यर्थ क्रोध करते हैं। मैं बगुला नहीं हूँ। अब आपकी धोती आकाशमें नहीं ठहर पाती है, इससे आकाशवाणी सुनकर आप मेरे घर आये हैं। अब थोड़ी देर ठहरें तो मैं आपके प्रश्नका उत्तर दे सकता हूँ, अन्यथा आप पतिव्रता 'शुभा'के पास जाइये।'

तदनन्तर चाण्डालके घरमें जो ब्राह्मणरूपमें श्रीविष्णु भगवान् सदा निवास किया करते थे, वे निकलकर नरोत्तमसे कहने लगे कि 'चलो! मैं भी पतिव्रता देवीके घर चलता हूँ।' नरोत्तम कुछ सोचकर उनके साथ चल दिये। रास्तेमें उन्होंने पूछा—'वह पतिव्रता कौन है, उसका शास्त्रज्ञान कितना है तथा पतिव्रताके क्या लक्षण हैं? इस बातको आप ठीक-ठीक बतलाइये।'

ब्राह्मणरूपधारी श्रीभगवान् बोले—'ब्रह्मन्! नदियोंमें गङ्गाजी, स्त्रियोंमें पतिव्रता और देवताओंमें भगवान् श्रीविष्णु श्रेष्ठ हैं। जो पतिव्रता नारी प्रतिदिन अपने पतिके हित-साधनमें लगी रहती है, वह अपने पितृकुल और पतिकुल—दोनोंका उद्धार कर देती है। जो स्त्री पुत्रकी अपेक्षा सौगुने स्नेहसे पतिकी आराधना करती है, राजाके समान उसका भय मानती है और पतिको भगवान्‌का स्वरूप समझती है, वह पतिव्रता है। जो पतिके साथ गृहकार्यमें दासी, रमणकालमें रमणी तथा भोजनके समय माताके समान आचरण करती है और जो विपत्तिमें उनको नेक सलाह देकर मन्त्रीका काम करती है, वह स्त्री पतिव्रता मानी गयी है। जो मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा कभी पतिकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं करती तथा सदा पतिके भोजन कर लेनेपर ही भोजन करती है, उस स्त्रीको पतिव्रता समझना चाहिये। जिस-जिस शय्यापर पति शयन करते हैं, वहाँ-वहाँ जो प्रतिदिन यत्नपूर्वक उनकी सेवा करती है, पतिके प्रति कभी जिसके मनमें डाह नहीं पैदा होती, कृपणता नहीं आती और जो मान भी नहीं चाहती, पतिकी ओरसे आदर मिले या अनादर—दोनोंमें जिसकी समान बुद्धि रहती है, ऐसी स्त्रीको पतिव्रता कहते हैं। जो साध्वी स्त्री सुन्दर वेषधारी भी परपुरुषको देखकर उसे भ्राता, पिता और पुत्रके तुल्य मानती है, वह पतिव्रता है। द्विजश्रेष्ठ ! तुम उस पतिव्रताके पास जाकर उससे अपने हितकी बात पूछो। उसका नाम शुभा है। वह रूपवती युवती है, उसके हृदयमें दया भरी है।'

यों कहकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये, इसपर ब्राह्मणको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पतिव्रता शुभाके घर जाकर उसके विषयमें पूछा। शुभा तुरंत घरसे बाहर आकर दरवाजेपर खड़ी हो गयी। नरोत्तमने कहा—'देवि! तुमने जैसा देखा और समझा है, उसके अनुसार मेरे हितकी बात बताओ।'

पतिव्रता बोली—'ब्रह्मन्! इस समय मुझे पतिदेवकी सेवा करनी है, अतः अवकाश नहीं है; इसलिये आपका यह कार्य पीछे करूँगी। इस समय मेरा आतिथ्य ग्रहण कीजिये।'

नरोत्तमने कहा—'मुझे भूख, प्यास और थकावट नहीं है, मुझे अभीष्ट बात बताओ, अन्यथा मैं तुम्हें शाप दे दूँगा।'

इसपर पतिव्रता बोली—'द्विजश्रेष्ठ! मैं बगुला नहीं हूँ। आप धर्म तुलाधारके पास जाइये और उन्हींसे अपने हितकी बात पूछिये।' यों कहकर शुभा घरके भीतर चली गयी। उसकी बात सुनकर नरोत्तम ब्राह्मणको बड़ा विस्मय हुआ, तब ब्राह्मणवेषधारी श्रीभगवान्‌ने आकर बतलाया कि यह शुभा पतिव्रता है, इसीसे यह भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी बातें जानती है।

पतिव्रता शुभाके पातिव्रत्यके प्रतापसे भगवान् उसके घरपर भी ब्राह्मणके रूपमें निवास किया करते थे और अन्तमें वह पतिके सहित भगवान्‌के साथ परमधाममें चली गयी।

स्त्रियोंके लिये कल्याणका बहुत ही सुगम साधन है पातिव्रत्यधर्म। इसके करनेमें न तो कोई कष्ट है और न कोई खर्च ही। यदि कहें कि स्त्रियोंका कल्याण पातिव्रत्यधर्मके पालनसे कैसे होता है, सो ठीक है। यह शास्त्रकी आज्ञा है कि स्त्रीका पातिव्रत्य-धर्मके पालनमात्रसे कल्याण हो जाता है और शास्त्र भगवान्‌का विधान है तथा भगवान्‌के विधान किये हुए नियमोंके अनुसार चलनेसे परमात्माकी प्राप्ति होना उचित ही है।

यदि कहें कि '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**'—ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती, तो यह ठीक है। पातिव्रत्य-धर्मके प्रभावसे स्त्रीके राग-द्वेषादि दोषोंका नाश हो जाता है, इससे अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे भगवत्कृपासे अपने-आप ही ज्ञान हो जाता है। यह नियम है कि अपने अनुकूलमें राग और हर्ष तथा प्रतिकूलमें द्वेष और शोक होते हैं। कोई कार्य अपने पतिके तो अनुकूल हो पर अपने प्रतिकूल हो तो पतिव्रता स्त्री अपनी प्रतिकूलताका त्याग करके पतिके अनुकूल ही आचरण करती है एवं अपने मनके अनुकूल हो पर पतिके प्रतिकूल हो तो उसे वह नहीं करती। इस प्रकार अपनी अनुकूलता-प्रतिकूलतापर बार-बार आघात पड़नेसे अपनी अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, जिससे उन वृत्तियोंसे उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव होकर उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है एवं भगवत्कृपासे परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होकर वह परमात्माको प्राप्त हो जाती है। यह शास्त्रोक्त एवं युक्तिसंगत है।

पुरुष यज्ञ, दान, तप, होम, सेवा, पूजा, तीर्थ, व्रत, श्राद्ध आदि जो भी कुछ धार्मिक कार्य करता है, अपनी पत्नीको साथ लेकर ही करनेसे उसका वह कार्य सफल होता है; क्योंकि विवाह-संस्कारके समय पत्नीकी प्रार्थनापर पुरुष यह बात स्वीकार करके उसके साथ नियमबद्ध हो जाता है। इसलिये पतिके किये हुए धार्मिक कृत्यमें सम्मिलित होनेके कारण पत्नी उसके आधे हिस्सेकी भागिनी होती है; क्योंकि स्त्रीके लिये विवाहकी विधि ही वैदिक संस्कार माना गया है तथा उसके लिये पतिकी सेवा ही गुरुकुलमें निवास और गृहकार्य ही अग्निकी परिचर्या है।

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥

(मनु० २। ६७)

जो पुरुष कोई भी धार्मिक कृत्य अपनी पत्नीके बिना अकेला करता है, उसका वह कार्य सफल नहीं होता। यह विषय पद्मपुराणके भूमिखण्डमें कृकल वैश्यकी कथामें स्पष्ट किया गया है। वह कथा यहाँ संक्षेपसे दी जाती है।

पतिव्रता सुकला

काशीपुरीमें एक वैश्य रहते थे। उनका नाम था कृकल। उनकी पत्नी परम साध्वी तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाली थी। वह सदा धर्माचरणमें रत तथा पतिव्रता थी। उसका नाम था सुकला। वह सुन्दरी, मङ्गलमयी, सत्यवादिनी, शुभा और शुद्ध स्वभाववाली थी। उसकी आकृति बड़ी मनोहर थी। कृकल वैश्य भी धर्मज्ञ, विवेकसम्पन्न और सद्गुणी थे। वैदिक तथा पौराणिक धर्मोंके श्रवणमें उनकी बड़ी लगन थी। उन्होंने तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें यह सुना कि तीर्थोंका सेवन बहुत पुण्यदायक और कल्याणकारी भी है। यह सुनकर उन्होंने तीर्थयात्राके लिये जानेवाले ब्राह्मणों और व्यापारियोंके साथ चलनेका विचार कर लिया।

इसपर सुकलाने कहा—'प्राणनाथ! मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ। आपकी छायाकी भाँति मैं पातिव्रत्यके उत्तम व्रतका पालन करूँगी, जो नारियोंके पापोंका नाशक और उन्हें सद्गति देनेवाला है। जो स्त्री पतिपरायणा

होती है, वह संसारमें पुण्यमयी कहलाती है। स्त्रियोंके लिये पतिके सिवा दूसरा कोई ऐसा तीर्थ नहीं, जो इस लोकमें सुखद और परलोकमें स्वर्ग तथा मोक्ष देनेवाला हो। साधुश्रेष्ठ! स्वामीके दाहिने चरणको प्रयाग और बायेंको पुष्कर समझिये। जो स्त्री इस प्रकार समझती है, उसे पतिके चरणोदकसे स्नान करनेपर उन तीर्थोंमें स्नान करनेका पुण्य प्राप्त होता है; क्योंकि स्त्रियोंके लिये पतिके चरणोदकका अभिषेक निःसंदेह प्रयाग और पुष्करतीर्थमें स्नान करनेके समान है। पति समस्त तीर्थोंके समान है, पति सम्पूर्ण धर्मोंका स्वरूप है।* यज्ञकी दीक्षा लेकर यज्ञोंके अनुष्ठान करनेसे पुरुषको जो पुण्य प्राप्त होता है, वही पुण्य साध्वी स्त्री अपने पतिकी पूजा करके तत्काल पा लेती है। अतः प्रियतम ! मैं भी आपकी सेवा करती हुई तीर्थोंमें चलूँगी और आपकी ही छायाका अनुसरण करती हुई लौट आऊँगी।'

इसपर कृकलने उसे साथ ले जाना स्वीकार कर लिया; किंतु उसने सोचा—'सर्दी और धूपके कारण तीर्थोंके दुर्गम मार्गपर चलनेमें इसे बड़ा कष्ट होगा। अतः इसे साथ न लेकर मैं अकेला ही यात्रा करूँगा।' और वे रातमें बिना पता दिये ही चुपकेसे साथियोंके साथ चल दिये। जब सुकला प्रभातके समय उठी, तब उसने स्वामीको घरमें नहीं देखा। पतिदेव तीर्थयात्राको चले गये, यह जानकर उस पतिपरायणा स्त्रीने निश्चय किया कि 'जबतक स्वामी लौटकर नहीं आयेंगे, तबतक मैं भूमिपर चटाई बिछाकर सोऊँगी। घी, तेल और दूध-दही नहीं खाऊँगी। पान और नमकका भी त्याग कर दूँगी। गुड़ आदि मीठी चीजोंको भी छोड़ दूँगी। स्वामीके आनेतक एक समय भोजन करूँगी अथवा उपवास करके रह जाऊँगी।'

इस प्रकार नियम लेकर सुकला बड़े दुःखसे दिन बिताने लगी। उसने एक वेणी धारण करना आरम्भ कर दिया। एक ही अँगियासे वह अपने शरीरको ढकने लगी। उसका वेष मलिन हो गया। वह एक ही मलिन वस्त्र धारण करके रहती। इस तरह दुःखमय आचारका पालन करनेसे वह अत्यन्त दुबली हो गयी। निरन्तर पतिके लिये व्याकुल रहने लगी। दिन-रात रोती रहती थी। रातको उसे कभी नींद नहीं आती थी और न भूख ही लगती थी।

सुकलाकी यह अवस्था देखकर उसकी सहेलियोंने पूछा—'सखी! तुम इस समय क्यों रो रही हो?' सुकला बोली—'सखियो! मेरे धर्मपरायण स्वामी मुझे छोड़कर तीर्थयात्रा करने चले गये हैं, अतः मैं उनके वियोगसे अत्यन्त दुःखी हूँ।'

सखियोंने कहा—'बहिन! तुम व्यर्थ ही शोक कर रही हो। वृथा ही अपने शरीरको सुखा रही हो तथा अकारण ही भोगोंका परित्याग कर रही हो। मौजसे खाओ-पीओ। क्यों कष्ट उठाती हो? कौन किसका स्वामी, कौन किसके पुत्र और कौन किसके सगे-सम्बन्धी हैं? संसारमें कोई किसीका नहीं है। किसीके साथ भी नित्य सम्बन्ध नहीं है। सखी! खाना-पीना और मौज उड़ाना यही इस संसारका फल है। मनुष्यके मर जानेपर कौन इस फलका उपभोग करता है और कौन देखने आता है।'

सुकला बोली—'सखियो! तुमलोगोंने जो बात कही है, वह वेदोंको मान्य नहीं है। जो नारी अपने स्वामीसे अलग होकर सदा अकेली रहती है, उसे पापिनी समझा जाता है। श्रेष्ठ पुरुष उसका आदर नहीं करते। वेदोंमें सदा यही बात देखी गयी है कि पतिके साथ नारीका सम्बन्ध पूर्वसंचित पुण्यके प्रभावसे ही होता है और किसी कारणसे नहीं। शास्त्रोंका वचन है कि पति ही सदा नारियोंके लिये तीर्थ है, इसलिये स्त्रीको उचित है कि वह सच्चे भावसे पतिसेवामें प्रवृत्त होकर प्रतिदिन मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा पतिका ही आवाहन करे और सदा पतिका ही पूजन करे। गृहस्थ नारी पतिके बायें भागमें बैठकर जो दान-पुण्य और यज्ञ करती है, उसका बहुत बड़ा फल शास्त्रोंमें बतलाया गया है; वैसा फल काशीकी गङ्गा, पुष्करतीर्थ, द्वारकापुरी, उज्जैन तथा केदारतीर्थमें स्नान करनेसे भी नहीं मिल सकता।

पतिव्रता स्त्रीको पतिकी प्रसन्नतासे उत्तम सुख, पुत्रका सौभाग्य, स्नान, पान, वस्त्र, आभूषण, सौभाग्य, रूप, तेज, फल, यश, कीर्ति और उत्तम गुण आदि सब

*सव्यं पादं स्वभर्तुश्च प्रयागं विद्धि सत्तम। वामं च पुष्करं तस्य या नारी परिकल्पयेत्॥
तस्य पादोदकस्नानात् तत्पुण्यं परिजायते। प्रयागपुष्करसमं स्नानं स्त्रीणां न संशयः॥
सर्वतीर्थसमो भर्ता सर्वधर्ममयः पतिः। (४१।१३-१५)

कुछ मिल जाता है। जो स्त्री पतिके रहते हुए उसकी सेवाको छोड़कर दूसरे किसी धर्मका अनुष्ठान करती है, उसका वह कार्य निष्फल होता है तथा वह लोकमें व्यभिचारिणी कही जाती है।[१] नारियोंका यौवन, रूप और जन्म—सब कुछ पतिके लिये होते हैं, इस भूमण्डलमें नारीकी प्रत्येक वस्तु उसके पतिकी आवश्यकता-पूर्तिका ही साधन है। पति ही स्त्रीका स्वामी, पति ही गुरु, पति ही देवताओंसहित उसका इष्टदेव और पति ही तीर्थ एवं पुण्य है[२]। पतिके बाहर चले जानेपर यदि स्त्री शृङ्गार करती है तो उसका रूप, वर्ण सब कुछ निरर्थक है। पृथ्वीपर लोग उसे देखकर कहते हैं कि यह निश्चय ही व्यभिचारिणी है। इसलिये किसी भी स्त्रीको अपने सनातन-धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। जब पतिदेव यहाँ उपस्थित नहीं हैं, तब मैं फिर किस प्रकार भोगोंका उपभोग करूँ—मेरे लिये ऐसा विचार निश्चय ही पापपूर्ण है।'

सुकलाके मुखसे इस प्रकार उत्तम पातिव्रत्यधर्मका वर्णन सुनकर सखियोंको बड़ा हर्ष हुआ। नारियोंको सद्गति प्रदान करनेवाले उस परम पवित्र धर्मका श्रवण करके समस्त नर-नारी धर्मानुरागिणी महाभागा सुकलाकी प्रशंसा करने लगे।

सुकलाके मनमें केवल पतिका ही ध्यान था और पतिकी ही कामना थी। उसके सतीत्वका प्रभाव देवराज इन्द्रने भी भलीभाँति देखा तथा उसके विषयमें पूर्णतया विचार करके वे मन-ही-मन कहने लगे—'मैं इसके इस अविचल धैर्यको नष्ट कर दूँगा।' ऐसा निश्चयकर उन्होंने कामदेवका स्मरण किया। कामदेव अपनी प्रिया रतिके साथ वहाँ आ गये और हाथ जोड़कर इन्द्रसे बोले—'नाथ! इस समय आपने मुझे किसलिये याद किया है। आज्ञा दीजिये, मैं सब प्रकारसे उसका पालन करूँगा।'

इन्द्रने कहा—'कामदेव! यह जो पातिव्रत्यमें तत्पर रहनेवाली महाभागा सुकला है, वह परम पुण्यवती और मङ्गलमयी है, मैं इसे अपनी ओर आकर्षित करना चाहता हूँ। इस कार्यमें तुम मेरी पूरी तरहसे सहायता करो।'

कामदेवने उत्तर दिया—'सहस्रलोचन! मैं आपकी इच्छापूर्तिके लिये आपकी सहायता अवश्य करूँगा। मैं देवताओं, मुनियों और बड़े-बड़े ऋषियोंको भी जीतनेकी शक्ति रखता हूँ, फिर एक साधारण कामिनीको, जिसके शरीरमें कोई बल ही नहीं होता, जीतना कौन बड़ी बात है।'

तब देवराज इन्द्र उस स्थानपर गये, जहाँ वह परम पुण्यवती पतिव्रता रहती थी। वह अपने घरके द्वारपर अकेली बैठी थी और केवल पतिके ध्यानमें तन्मय हो रही थी। वह प्राणोंको वशमें करके स्वामीका चिन्तन करती हुई विकल्पशून्य हो गयी थी। कोई भी पुरुष उसकी स्थितिकी कल्पना नहीं कर सकता था। उस समय इन्द्र अनुपम तेज और सौन्दर्यसे युक्त तथा हाव-भावसे सुशोभित अत्यन्त अद्भुत रूप धारण करके सुकलाके सामने प्रकट हुए। उत्तम कामभावसे युक्त पुरुषको इस प्रकार सामने विचरण करते देख धर्मात्मा कृकल वैश्यकी पत्नीने उसके रूप, गुण और तेजका तनिक भी सम्मान नहीं किया। जैसे कमलके पत्तेपर छोड़ा हुआ जल उस पत्तेको छोड़कर दूर चला जाता है, उसपर ठहरता नहीं, उसी प्रकार वह सती भी उस पुरुषकी ओर आकृष्ट नहीं हुई। वह घरके भीतर चली गयी और अपने पतिमें ही अनुरक्त हो उन्हींका चिन्तन करने लगी।

इन्द्र सुकलाके शुद्ध भावको समझकर सामने खड़े हुए कामदेवसे बोले—'इस सतीने सत्यरूप पतिके ध्यानका कवच धारण कर रखा है, अतः सुकलाको परास्त करना असम्भव है। यह पतिव्रता अपने हाथमें धर्मरूपी धनुष और ध्यानरूपी उत्तमबाण लेकर इस समय रणभूमिमें तुमसे युद्ध करनेको उद्यत है। अज्ञानी पुरुष ही महात्माओंके साथ वैर बाँधते हैं। कामदेव ! इस सतीके तपका नाश करनेसे हम दोनोंको अनन्त एवं अपार दुःख भोगना पड़ेगा। इसलिये अब हमें इसे छोड़कर यहाँसे चल देना चाहिये। तुम जानते हो, पहले एक बार मैं सती अहल्याके साथ समागम करनेका पापमय परिणाम—असह्य दुःख भोग चुका हूँ। महर्षि गौतमने मुझे भयंकर शाप दिया था। इस आगकी लपटको छूनेका साहस कौन करेगा। कौन ऐसा मूर्ख है, जो अपने गलेमें भारी पत्थर बाँधकर समुद्रमें उतरेगा तथा किसको मौतके मुखमें जानेकी इच्छा है, जो सती स्त्रीको विचलित करनेका प्रयत्न करे।'

१. विद्यमाने यदा कान्ते अन्यधर्मं करोति या। निष्फलं जायते तस्याः पुंश्चली परिकथ्यते॥ (पद्म० भूमि० ४१। ६९)
२. भर्त्ता नाथो गुरुर्भर्त्ता देवता दैवतैः सह। भर्त्ता तीर्थं च पुण्यं च नारीणां नृपनन्दन॥ (पद्म० भूमि० ४१। ७५)

इन्द्रने कामदेवको उत्तम शिक्षा देनेके लिये बहुत नीतियुक्त बात कही; उसे सुनकर कामदेवने इन्द्रसे कहा—'देवेश! मैं तो आपके ही आदेशसे यहाँ आया था। अब आप धैर्य, प्रेम तथा पुरुषार्थका त्याग करके ऐसी पौरुषहीनता और कायरताकी बातें क्यों करते हैं?'

तत्पश्चात् इन्द्र और कामदेव सुकलाका सतीत्व नष्ट करनेके लिये पुनः गये। तब सत्यने धर्मसे कहा—'धर्म! कामदेवकी जो चेष्टा हो रही है, उसपर दृष्टिपात करो। मैंने तुम्हारे, अपने तथा महात्मा पुण्यके लिये जो स्थान बनाया था, उसे यह नष्ट करना चाहता है। दुष्टात्मा काम हमलोगोंका शत्रु है। तपस्वी ब्राह्मण, सदाचारी पति और पतिव्रता पत्नी—ये तीन मेरे निवास-स्थान हैं। जहाँ मेरी वृद्धि होती है, जहाँ मैं पुष्ट और संतुष्ट रहता हूँ, वहीं तुम्हारा भी निवास होता है। श्रद्धाके साथ पुण्य भी वहाँ आकर क्रीडा करते हैं। मेरे शान्तियुक्त मन्दिरमें क्षमाका भी आगमन होता है तथा जहाँ मैं रहता हूँ, वहीं संतोष, इन्द्रिय-संयम, दया, प्रेम, प्रज्ञा और लोभहीनता आदि गुण भी निवास करते हैं। वहीं पवित्र भाव रहता है। ये सभी मेरे बन्धु-बान्धव हैं। धर्म! चोरी न करना, अहिंसा, सहनशीलता और पवित्र बुद्धि—ये सब मेरे ही घरमें आकर धन्य होते हैं। गुरु-शुश्रूषा, लक्ष्मीसहित भगवान् विष्णु तथा अग्नि आदि देवता भी मेरे घरमें पधारते हैं। मोक्षमार्गके प्रकाशक ज्ञान और उदारता आदिसे युक्त हो पूर्वोक्त व्यक्तियोंके साथ मैं धर्मात्मा पुरुषों और सती स्त्रियोंके भीतर निवास करता हूँ। ये जितने भी साधु-महात्मा हैं, सब मेरे गृह-स्वरूप हैं; इन सबके भीतर मैं उक्त कुटुम्बियोंके साथ निवास करता हूँ। कल्याणमय भगवान् शिव भी मेरे निवास-स्थान हैं। कृकल वैश्यकी प्रियतमा भार्या मङ्गलमयी सुकला भी मेरा उत्तम घर है। किंतु आज पापी काम इसे भी जला डालनेको उद्यत हुआ है।'

धर्मने कहा—'मैं कामका तेज कम कर दूँगा। मैंने ऐसा उपाय सोच लिया है, जिससे काम आज ही भाग खड़ा होगा।'

उधर कामदेवकी भेजी हुई क्रीडा सती स्त्रीका रूप धारणकर सुकलाके घर गयी। उस रूपवती नारीको आयी देख सुकलाने आदरयुक्त वचन कहकर उसका सम्मान किया। फिर दोनोंमें परस्पर बातचीत होने लगी। क्रीडा बोली—'देवि! मेरे स्वामी बड़े बलवान्, गुणज्ञ, धीर और अत्यन्त पुण्यात्मा हैं, परन्तु मुझे छोड़कर न जाने वे कहाँ चले गये हैं। मैं मन्दभागिनी हूँ। महाभागे! नारियोंके लिये रूप, सौभाग्य, शृङ्गार, सुख और सम्पत्ति सब कुछ पति ही है—यही शास्त्रोंका मत है।'

पतिव्रता सुकलाने क्रीडाकी इन सारी बातोंको एक दुःखिनी नारीके हृदयका सच्चा भाव समझकर सुना और वह उसके दुःखसे दुःखी हो गयी। फिर उसने अपना हाल थोड़ेमें कह सुनाया। तब क्रीडाने उसे सान्त्वना देकर बहुत समझाया-बुझाया। तदनन्तर एक दिन उसने सुकलासे कहा—'सखी! देखो, सामने अनेकों दिव्य वृक्षोंसे शोभायमान सुन्दर वनमें एक परम पवित्र पापनाशन तीर्थ है चलो, हम दोनों वहाँ पुण्य-संचय करने चलें।'

यह सुनकर सुकला उस मायामयी स्त्रीके साथ चली गयी। उसने वनमें प्रवेश करके देखा तो उसे प्रतीत हुआ मानो उसमें नन्दनवनकी सारी शोभा उतर आयी हो।

इसी समय रतिके साथ काम और इन्द्र भी वहाँ आये। इन्द्र सम्पूर्ण भोगोंके अधिपति होकर भी कामोपभोगके लिये व्यग्र थे। उन्होंने कामदेवको पुकारकर कहा—'लो यह सुकला आ गयी, क्रीडाके आगे खड़ी है, इसपर प्रहार करो।' कामदेव बोला—'सहस्रलोचन! आप लीला और चातुरीसे युक्त अपने दिव्य रूपको प्रकट कीजिये, जिसका आश्रय लेकर मैं इसके ऊपर प्रहार करूँ; क्योंकि महादेवने मेरे रूपको पहले ही हर लिया, जिससे मेरा शरीर है ही नहीं। जब मैं किसी नारीको अपने बाणोंका निशाना बनाना चाहता हूँ, उस समय पुरुषशरीरका आश्रय लेकर अपने रूपको प्रकट करता हूँ। इसी तरह पुरुषपर प्रहार करनेके लिये मैं नारी-देहका आश्रय लेता हूँ। पुरुष जब पहले-पहल किसी सुन्दरी नारीको देखकर बार-बार उसीका चिन्तन करने लगता है, तब मैं चुपकेसे उसके भीतर घुसकर उसे उन्मत्त बना देता हूँ। स्मरण-चिन्तनसे मेरा प्रादुर्भाव होता है, इसीलिये मेरा नाम 'स्मर' हो गया है। आज मैं आपके रूपका आश्रय ले इस नारीको अपने इच्छानुसार नचाऊँगा।' यों कहकर कामदेवने इन्द्रके शरीरमें प्रवेश किया।

उस वनमें जानेपर देवी सुकलाने क्रीडासे पूछा—'सखी! यह मनोरम दिव्य वन किसका है?' क्रीडा बोली—'यह स्वभावसिद्ध दिव्य गुणोंसे युक्त सारा वन कामदेवका है, तुम भलीभाँति इस वनका निरीक्षण करो।'

दुरात्मा कामकी यह चेष्टा देखकर पतिव्रता सुकलाने वायुके द्वारा लायी हुई वहाँके फूलोंकी सुगन्धको ग्रहण नहीं किया और न वहाँके रसोंका ही आस्वादन किया। यह देखकर कामदेवका मित्र वसन्त बहुत लज्जित हुआ।

इसके बाद कामदेवकी पत्नी रति प्रीतिको साथ लेकर आयी और सुकलासे हँसकर बोली—'भद्रे ! तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुम्हारा स्वागत करती हूँ। तुम मुझ रति और प्रीतिके साथ यहाँ रमण करो।' सुकलाने कहा—'जहाँ मेरे स्वामी हैं, वहीं मैं भी हूँ। मैं सदा पतिके साथ रहती हूँ। मेरा काम, मेरी प्रीति सब वहीं है। यह शरीर तो छायामात्र है।' यह सुनकर रति और प्रीति दोनों लज्जित हो गयीं तथा कामके पास जाकर बोलीं—'महाप्राज्ञ! अब आप अपना पुरुषार्थ छोड़ दीजिये, इस नारीको जीतना कठिन है। यह महाभागा पतिव्रता सदैव अपने पतिकी ही कामना रखती है।'

कामदेवने कहा—'देवि! जब यह इन्द्रके रूपको देखेगी, उस समय मैं इसे अवश्य घायल कर दूँगा।' तदनन्तर देवराज इन्द्र परम सुन्दर वेष धारण किये रतिके पीछे-पीछे चले। उनकी गतिमें अत्यन्त ललित विलास दृष्टिगोचर होता था। वे सब प्रकारके आभूषण, दिव्य माला, दिव्य वस्त्र और दिव्य गन्धसे सुसज्जित हो सुकलाके पास आये और बोले—'मैंने तुम्हारे पास अपनी दूती (क्रीडा), प्रीति और रतिको भेजा था। तुम मेरी प्रार्थना क्यों नहीं मानती। मैं स्वयं तुम्हारे पास आया हूँ, मुझे स्वीकार करो।'

सुकला बोली—'जबतक मेरे नेत्र खुले रहते हैं, तबतक मैं निरन्तर पतिके ही कार्यमें लगी रहती हूँ। आप कौन हैं, जो मृत्युका भी भय छोड़कर मेरे पास आये हैं? इन्द्रियसंयमसे संयुक्त विभिन्न गुणोंद्वारा उत्तम धर्म सदा मेरी रक्षा करता है। वह देखो, शान्ति और क्षमाके साथ सत्य मेरे सामने उपस्थित हैं। महाबली और परम यशस्वी सत्य कभी मेरा त्याग नहीं करता। फिर आप क्यों बलपूर्वक मुझे प्राप्त करना चाहते हैं। मेरे सत्य, धर्म, पुण्य और ज्ञान आदि बलवान् पुत्र सदा मेरी रक्षामें तत्पर हैं। मैं नित्य सुरक्षित हूँ। इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रहमें तत्पर हूँ। साक्षात् शचीपति इन्द्र भी मुझे जीतनेकी शक्ति नहीं रखते। यदि महापराक्रमी कामदेव भी आ जाय तो मुझे कोई परवा नहीं है; क्योंकि मैं अनायास ही सतीत्वरूपी कवचसे सदा सुरक्षित हूँ। निःसंदेह मुझपर कामदेवके बाण व्यर्थ हो जायँगे; प्रत्युत ये महाबली धर्म आदि तुम्हींको मार डालेंगे। दूर हटो, भाग जाओ, मेरे सामने खड़े न होओ। यदि मना करनेपर भी खड़े रहोगे तो जलकर खाक हो जाओगे। मेरे स्वामीकी अनुपस्थितिमें यदि तुम मेरे शरीरपर दृष्टि डालोगे तो जैसे आग सूखी लकड़ीको जला देती है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हें भस्म कर डालूँगी।'*

सुकलाने जब यह कहा, तब तो उस सतीके भयंकर शापके डरसे व्याकुल हो इन्द्र आदि सब लोग जैसे आये थे, वैसे ही लौट गये। सबके चले जानेपर पुण्यमयी पतिव्रता सुकला पतिका ध्यान करती हुई अपने घर लौट आयी।

धर्मात्मा कृकल वैश्य भी सब तीर्थोंकी यात्रा पूरी करके अपने साथियोंके साथ बड़े आनन्दसे घरकी ओर लौटे। वे सोचते थे कि मेरा संसारमें जन्म लेना सफल हो गया; मेरे सब पितर स्वर्गको चले गये होंगे। वे इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि एक दिव्य रूपधारी विशालकाय पुरुष उनके पिता पितामहोंको प्रत्यक्षरूपसे बाँधकर सामने प्रकट हुए और बोले—'वैश्य! तुम्हारा पुण्य उत्तम नहीं है। तुम्हें तीर्थयात्राका फल नहीं मिला। तुमने व्यर्थ ही इतना परिश्रम किया।' यह सुनकर कृकल वैश्य दुःखित हो गये और उन्होंने पूछा—'आप कौन हैं, जो ऐसी बात कह रहे हैं? मेरे पिता-पितामह क्यों बाँधे गये हैं? मुझे तीर्थका फल क्यों नहीं मिला?'

धर्मने कहा—'(मैं धर्म हूँ) जो पतिव्रता पत्नीको अकेली छोड़कर धर्म करने बाहर जाता है, उसका किया हुआ सारा धर्म व्यर्थ हो जाता है। जो सब प्रकारके सदाचारमें संलग्न रहनेवाली, प्रशंसाके योग्य आचरणवाली, धर्मसाधनमें तत्पर, सदा पातिव्रत्यका

* अहं रक्षापरा नित्यं दमशान्तिपरायणा। न मां जेतुं समर्थश्च अपि साक्षाच्छचीपतिः॥
यदि वा मन्मथो वापि समागच्छति वीर्यवान्। दंशिताहं सदा सत्यमत्याकष्टेन सर्वदा॥
निरर्थकास्तस्य बाणा भविष्यन्ति न संशयः। त्वामेवं हि हनिष्यन्ति धर्माद्यास्ते महाबलाः॥
दूरं गच्छ पलायस्व नात्र तिष्ठ ममाग्रतः। वार्यमाणो यदा तिष्ठेर्भस्मीभूतो भविष्यसि॥
भर्त्रा विना निरीक्षेत मम रूपं यदा भवान्। यथा दारु दहेद्वह्निस्तथा धक्ष्यामि नान्यथा॥ (पद्म० भूमि ५८। ३२—३६)

पालन करनेवाली, सब बातोंको जाननेवाली तथा ज्ञानसे प्रेम करनेवाली है, ऐसी गुणवती, पुण्यमयी और महासती नारी जिसकी पत्नी हो उसके घरमें सदा देवता निवास करते हैं। पितर भी उसके घरमें रहकर निरन्तर उसके यशकी कामना करते रहते हैं। गङ्गा आदि पवित्र नदियाँ, सागर, यज्ञ, गौ, ऋषि तथा सम्पूर्ण तीर्थ भी उस घरमें उपस्थित रहते हैं। अपनी पत्नीको साथ लिये बिना जो तुमने तीर्थमें श्राद्ध और दान किया है, उसी दोषसे तुम्हारे पूर्वज बाँधे गये हैं। तुम चोर हो और तुम्हारे ये पितर भी चोर हैं; क्योंकि इन्होंने लोलुपतावश तुम्हारा दिया हुआ श्राद्धका अन्न खाया है। पत्नी ही गार्हस्थ्यधर्मकी स्वामिनी है; उसके बिना ही जो तुमने शुभ कर्मोंका अनुष्ठान किया है, यह स्पष्ट ही तुम्हारी चोरी है। जब पत्नी अपने हाथसे भोजन तैयार करके देती है, तब वह अमृतके समान मधुर होता है। उसी अन्नको पितर प्रसन्न होकर भोजन करते हैं तथा उसीसे उन्हें विशेष संतोष और तृप्ति होती है। अतः पत्नीके बिना जो धर्म किया जाता है, वह निष्फल होता है।'

कृकलने पूछा—'धर्म! अब कैसे मुझे सिद्धि प्राप्त होगी और किस प्रकार मेरे पितरोंको बन्धनसे छुटकारा मिलेगा?' तब धर्मने कहा—'महाभाग! अपने घर जाओ। तुम्हारी धर्मपरायणा पुण्यवती पत्नी सुकला तुम्हारे बिना बहुत दुःखी हो गयी है, उसे सान्त्वना दो और उसीके हाथसे श्राद्ध करो। अपने घरपर ही पुण्य-तीर्थोंका स्मरण करके तुम श्रेष्ठ देवताओंका पूजन करो; इससे तुम्हारी की हुई तीर्थयात्रा सफल हो जायगी।'

यों कहकर धर्म लौट गये। परम बुद्धिमान् कृकल भी अपने घर गये और पतिव्रता पत्नीको देखकर मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए। सुकलाने स्वामीको आया देख उनके शुभागमनके उपलक्ष्यमें माङ्गलिक कार्य किया। तत्पश्चात् धर्मात्मा वैश्यने धर्मराजकी सारी चेष्टा बतलायी। स्वामीके आनन्ददायक वचन सुनकर महाभागा सुकलाको बड़ा हर्ष हुआ। उसके बाद कृकलने घरपर ही रहकर पत्नीके साथ श्रद्धापूर्वक श्राद्ध और देवपूजन आदि पुण्यकर्मका अनुष्ठान किया। इससे प्रसन्न होकर देवता, पितर और मुनिगण विमानोंके द्वारा वहाँ आये और महात्मा कृकल तथा उसकी साध्वी पत्नी दोनोंकी सराहना करने लगे। भगवान् श्रीविष्णु, ब्रह्मा तथा महादेवजी भी अपनी-अपनी देवीके साथ वहाँ आये। इन्द्रादि सम्पूर्ण देवता उस सतीके सत्यसे संतुष्ट थे। सबने उन दोनों पति-पत्नीसे कहा—'सुव्रत! तुम्हारा कल्याण हो, तुम अपनी पत्नीके साथ वर माँगो।'

कृकलने पूछा—'देववरो ! मेरे किस पुण्य और तपके प्रसङ्गसे पत्नीसहित मुझे वर देनेको आपलोग पधारे हैं?' इन्द्रने कहा—'यह महाभागा सुकला सती है। इसके सत्यसे संतुष्ट होकर हमलोग तुम्हें वर देना चाहते हैं।' यह कहकर इन्द्रने सुकलाके सतीत्वकी परीक्षाका सारा वृत्तान्त थोड़ेमें कह सुनाया। उसके सदाचारका माहात्म्य सुनकर उसके स्वामीको बड़ी प्रसन्नता हुई। हर्षोल्लाससे कृकलके नेत्र डबडबा आये। धर्मात्मा वैश्यने पत्नीके साथ समस्त देवताओंको बारंबार साष्टाङ्ग प्रणाम किया और कहा—'महाभाग देवगण! आप सब लोग प्रसन्न हों; तीनों सनातन देवता—ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव हमपर संतुष्ट हों तथा अन्य जो पुण्यात्मा ऋषि मुझपर कृपा करके यहाँ पधारे हैं, वे भी प्रसन्न हों। मैं सदा भगवान्‌की भक्ति करता रहूँ। आपलोगोंकी कृपासे धर्म तथा सत्यमें मेरा निरन्तर अनुराग बना रहे एवं अन्तमें पत्नी और पितरोंके सहित मैं भगवान् श्रीविष्णुके धाममें जाना चाहता हूँ।'

देवता बोले—'महाभाग! एवमस्तु, यह सब कुछ तुम्हें प्राप्त होगा।' यों कहकर देवताओंने उन दोनों पति-पत्नीके ऊपर फूलोंकी वर्षा की तथा उनको वर देकर पतिव्रताकी स्तुति करते हुए अपने-अपने लोकको चले गये। जो मनुष्य सुकलाके इस उपाख्यानको सुनता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

पतिव्रता सुकलाके इस आख्यानसे पुरुषोंको यह उपदेश ग्रहण करना चाहिये कि स्त्रीको साथ लिये बिना किये हुए यज्ञ, दान, तप, श्राद्ध आदि निष्फल होते हैं तथा स्त्रियोंको यह उपदेश लेना चाहिये कि पातिव्रत्य-धर्मका कितना भारी प्रभाव है कि देवराज इन्द्र तो सतीके भयसे प्राणोंको लेकर भाग गये और उसके पातिव्रत्यके कारण देवता, पितर और ऋषिगण उसके घर पधारे एवं ब्रह्मा-विष्णु-महेशके दर्शन करके वरदान पाकर वे मुक्त हो गये।

स्त्रियोंके लिये स्वतन्त्रताका निषेध

गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—चारों वर्णवाले सभी मनुष्य अपने-अपने कर्मोंद्वारा भगवान्‌को पूजकर परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं, इसी प्रकार कन्या, सुहागिन तथा विधवा स्त्रियाँ भी अपने-अपने कर्तव्यकर्मके द्वारा भगवान्‌को पूजकर परम गतिको प्राप्त हो जाती हैं।

कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है, इस विषयमें शास्त्र ही प्रमाण है। जो स्त्री शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार चलती है, उससे उसका निश्चय ही कल्याण होता है, किंतु यदि कोई स्त्री शास्त्रमर्यादाको त्यागकर मनमाना काम अच्छा समझकर भी करती है, तो भी उसको कुछ लाभ नहीं होता। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(१६। २३)

'जो मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न सुखको ही।'

मनु आदि ऋषियोंने स्त्री-जीवनका स्वरूप और स्वभाव भलीभाँति समझकर उनके हित और रक्षाके लिये उनको सदा पुरुषोंके शासनमें रहनेकी ही आज्ञा दी है—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित्कार्यं गृहेष्वपि॥

(५। १४७)

'स्त्री बालिका हो या युवती हो अथवा बूढ़ी ही क्यों न हो, उसे अपने घरमें भी कुछ भी कार्य स्वतन्त्रतासे नहीं करना चाहिये।'

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्॥

(मनु० ५। १४८)

'बाल्यावस्थामें वह पिताके अधीन रहे, युवावस्थामें पतिके वशमें रहे और यदि पतिकी मृत्यु हो जाय तो पुत्रोंके अधीन रहे। तात्पर्य यह कि स्त्री कभी स्वच्छन्दताका आश्रय न ले।'

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद् विरहमात्मनः।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले॥

(मनु० ५। १४९)

'वह पिता, पति अथवा पुत्रोंसे अपनेको अलग रखनेकी कभी इच्छा न करे; क्योंकि इनसे अलग रहनेसे पितृकुल और पतिकुल—दोनोंके कलङ्कित होनेकी सम्भावना है।'

स्त्रियोंके स्वतन्त्र और अरक्षित होनेपर नाना प्रकारके दोष उत्पन्न हो जाते हैं और उनकी रक्षा करनेसे अपनी और धर्मकी रक्षा होती है। इसीलिये शास्त्रोंमें स्त्रियोंके लिये स्वतन्त्रताका निषेध किया है। शास्त्रकार ऋषि-महर्षि त्रिकालदर्शी, स्वार्थ-त्यागी, समदर्शी, अनुभवी, पूर्वापरको गहराईसे सोचनेवाले और संसारके परम हितैषी थे। अतः उनकी बातोंपर हमलोगोंको विशेष ध्यान देकर स्त्रियोंकी सब प्रकारसे रक्षा करनी चाहिये। श्रीमनुमहाराज कहते हैं—

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः॥

(९। ५)

'आसक्ति अथवा कुसङ्ग सूक्ष्म-से-सूक्ष्म क्यों न हो, उससे भी स्त्रियोंकी विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि वे सुरक्षित न होनेपर पति और पिता—दोनोंके कुलको ही शोकमें डाल देती हैं।'

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति॥

(मनु० ९। ७)

'जो अपनी पत्नीकी यत्नपूर्वक रक्षा करता है, वह अपनी संतानको वर्णसंकर होनेसे बचाता है, अपने चरित्रको निष्कलङ्क रखता है, अपनी कुलमर्यादाकी रक्षा करता है तथा अपनी और अपने धर्मकी भी रक्षा कर लेता है।'

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्।

शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे॥

(मनु० ९। ११)

'स्त्रीकी रक्षा करनेका सरल उपाय यह है कि उसे धनके संग्रहमें और उसके (यथायोग्य) खर्च करनेके कार्यमें लगावे तथा घरको पवित्र स्वच्छ रखने, दान-पूजन आदि धर्म-कार्य करने, रसोई बनाने एवं घरके सामानकी देख-रेख करनेके कार्यमें नियुक्त करे। (इन कार्योंमें दक्ष स्त्री कुल-कुटुम्बकी भलीभाँति सेवा करती हुई स्वयं भी सुरक्षित रहती है)।'

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट्॥

(मनु० ९। १३)

'मद्यपान, दुष्टोंका सङ्ग, पतिसे अलग रहना, अकेले घूमना, अधिक सोना तथा दूसरेके घरमें निवास करना—ये स्त्रियोंके लिये छः दोष हैं (इनसे स्त्रियोंके दूषित होनेकी सम्भावना है, अतः स्त्रियाँ इनका त्याग करें)।'

मनुने कहा है—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

(९। ३)

'स्त्रीकी कुमारावस्थामें पिता रक्षा करता है, युवावस्थामें पति रक्षा करता है और वृद्धावस्थामें पुत्र रक्षा करते हैं। अतः उसे कभी स्वाधीन नहीं रहना चाहिये।'

श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं—

रक्षेत् कन्यां पिता विन्नां पतिः पुत्रास्तु वार्धके।
अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित् स्त्रियः॥

(१। ८५)

'विवाहसे पूर्व कन्याकी पिता रक्षा करे, विवाह होनेपर पति रक्षा करे और वृद्धावस्थामें पुत्र रक्षा करें तथा उनके अभावमें कुटुम्बी लोग स्त्रीकी रक्षा करें; क्योंकि स्त्रियोंके लिये कहीं भी स्वतन्त्रताका विधान नहीं है।'

विवाह

इसलिये माता-पिताका कर्तव्य है कि अपनी कुलमर्यादाके योग्य, सुन्दर, श्रेष्ठ, अच्छे स्वभाववाले, गुणवान्, सदाचारी, परिश्रमशील, सवर्ण, स्वदेशीय वरकी प्रयत्नपूर्वक खोज करके उसके साथ अपनी कन्याका विवाह करे। इस विषयमें हमें मनुजीके वचनोंपर भी ध्यान देना चाहिये।

श्रीमनुजी कहते हैं—

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद् यथाविधि॥
काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत् तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥

(९। ८८-८९)

'श्रेष्ठ, रूपवान् और कन्याके योग्य तुल्य वर मिल जाय तो कन्याकी विवाह-योग्य अवस्था न होनेपर भी उसे उस वरको विधिपूर्वक दे दे। (पक्षान्तरमें) ऋतुमती होनेपर भी चाहे कन्या जन्मभर घरमें ही रहे, किंतु इसे किसी गुणहीन (अयोग्य) वरको कभी भी न दे।'

कन्याको उचित है कि वह—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम्॥
अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम्।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति॥

(९। ९०-९१)

'ऋतुमती होनेपर भी तीन वर्षतक (पिताके दानकी) बाट देखे, इतने समयके बाद वह स्वयं अपने तुल्य वरको वर ले। पिता आदिके तीन वर्षतक दान न करनेपर यथासमय कन्या यदि किसी पुरुषको पतिरूपसे वर लेती है तो उसे तनिक भी पाप नहीं लगता और न जिसे वह वरती है, उसे ही पाप लगता है।'

कन्याका पिता, भाई या अभिभावक वरपक्षवालोंसे धन-सम्पत्ति न ले तथा वाग्दान करनेके बाद उलट-फेर न करे। मनुमहाराज कहते हैं—

आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददत्।
शुल्कं हि गृह्णन् कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम्॥

(९। ९८)

'कन्याके विवाहमें शूद्र भी शुल्क न ले; क्योंकि जो शुल्क लेता है, वह गुप्तरूपसे कन्याको बेचता है।'

नानुशुश्रुम जात्वेतत् पूर्वेष्वपि हि जन्मसु।
शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम्॥

(मनु० ९। १००)

'यह बात हमने कभी पहलेकी सृष्टियों (कल्पों) में भी नहीं सुनी कि शुल्करूपी मूल्यसे किसीने

कन्याका गुप्तरूपसे विक्रय किया हो।'

एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः।
यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते॥

(मनु० ९। ९९)

'पूर्वमें किन्हीं प्राचीन सज्जन पुरुषोंने भी एकको वाग्दान करके अपनी कन्या दूसरेको कभी नहीं दी और न (प्रायः) वर्तमान कालमें ही लोग ऐसा करते हैं।'

अनुचित हँसी-मजाक और गंदे गीतका त्याग आवश्यक

कुछ स्थानोंमें स्त्रियाँ अपने देवरके साथ हँसी-मजाक किया करती हैं और उनके नाम ले-लेकर बुरे गीत गाया करती हैं, यह कार्य शास्त्रविरुद्ध है। अश्लील गीत तो स्त्रियोंको कभी किसी अवसरमें गाने ही नहीं चाहिये और देवरका नाम लेकर गंदे गीत गाना तो महान् पाप है, क्योंकि देवर पुत्रके समान है और देवरके लिये भौजाई माताके समान वन्दनीय है। मनुने कहा है—

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा।
यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता॥

(९। ५७)

'बड़े भाईकी जो स्त्री है, वह छोटे भाईके लिये गुरुपत्नीके समान है और छोटे भाईकी जो स्त्री है, वह बड़े भाईके लिये पुत्रवधूके समान मानी गयी है।'

अतएव स्त्रियोंको यह निश्चयरूपसे मान लेना चाहिये कि पिता, भाई, पुत्र, ससुर, जेठ आदि तथा सभ्यसमाजके सामने अथवा अकेलेमें भी कभी भद्दे और अश्लील गीत गानेसे लोकमें निन्दा और परलोकमें नरककी प्राप्ति होती है। भद्दे और अश्लील गीतोंसे अपनी जबान गंदी होती है, मनमें बुरी वासनाएँ प्रबल होती हैं, सुननेवालोंपर बुरा असर होता है और वातावरणमें बुराई फैलती है। ऐसे गीतको सुनकर, कोई भी सज्जन ऐसा न होगा, जो प्रसन्न हो या उनको अच्छा बतावे। इसलिये गंदे और अश्लील गीत न तो स्वयं कभी गावे तथा न जहाँ गंदे गीत गाये जाते हों, वहाँ जाये ही। यदि किसी कारणवश ऐसी जगह जाना हो जाय तो वहाँ गंदे गीत गानेवाली स्त्रियोंको विनयके साथ समझाकर रोक दे। रोकनेपर भी वे न मानें तो अवसर देखकर वहाँसे शान्तिपूर्वक चले जाना चाहिये। गंदे और अश्लील गीत न तो स्वयं कभी गावे, न सुने और न लड़कियोंको ही सिखावे; क्योंकि बचपनमें यदि लड़कियोंकी गंदे और अश्लील गीत गानेकी आदत पड़ जायगी तो जीवनभरके लिये उनमें खराबी आ सकती है। गंदे और अश्लील गीत गाना एक अनिष्टकारी दुर्व्यसन है और यह दुर्व्यसनी स्त्री-पुरुषोंके द्वारा चलाया हुआ है। स्त्रियोंके लिये यह बहुत ही लज्जास्पद और हानिकारक है। इसमें लाभ तो कुछ है ही नहीं। यह शास्त्रविरुद्ध है और देश तथा जातिके लिये महान् अनिष्टकारी है। बहुत कालकी पुरानी प्रथा बताकर कोई इसका समर्थन करना चाहे तो वह भी उचित नहीं है; क्योंकि पुरानी होनेपर भी यदि कोई प्रथा शास्त्रविरुद्ध और अनिष्टकारी हो तो उसका त्याग ही कर्तव्य और हितकर है। शास्त्रविरुद्ध बुरी प्रथाका त्याग और शास्त्रानुकूल हितकारी प्रथाका ग्रहण करनेको सदा तैयार रहना चाहिये।

अनावश्यक भोजनका त्याग आवश्यक

कुछ स्त्रियाँ अज्ञानवश ऐसा मानती हैं कि अधिक भोजन करनेसे मनुष्य हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ठ और वीर्यवान् होता है। इस दृष्टिसे वे आग्रह करके अपने पुरुषोंको अधिक भोजन करवा दिया करती हैं। किंतु यह उनकी भूल धारणा है। अतः स्त्रियोंसे निवेदन है कि वे न तो स्वयं ही स्वाद या हितकी भावनासे अधिक भोजन करें और न पुरुषोंको ही आग्रहपूर्वक अधिक भोजन करावें। आसानीसे जितना पच सके, उतना ही खाना खिलाना चाहिये, बल्कि भूखसे कुछ कम आहार करना ही लाभदायक होता है। उससे अन्नका भली-भाँति परिपाक होता है और बल, बुद्धि, तेज, तुष्टि-पुष्टि आदिकी वृद्धि होती है। स्त्रियोंका कर्तव्य है कि वे पतिके इच्छानुसार उत्तम भोजन बनावें तथा उसकी इच्छाके अनुसार ही परोसें। आग्रहपूर्वक अधिक परोसनेसे या तो वह जूँठ छोड़ेंगे या अधिक खा लेंगे तो उसका विषके तुल्य बुरा परिणाम होगा और नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होंगे। मनुस्मृतिमें बतलाया है—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात् तत् परिवर्जयेत्॥
(२।५७)

'अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यका नाशक तथा लोकनिन्दित है, इसलिये उसे त्याग दे।'

लज्जाशीलता और पर-पुरुषका त्याग

स्त्रियोंको शास्त्रमर्यादा और लोकमर्यादाकी रक्षापर भी विशेष ध्यान रखना चाहिये। कोई भी ऐसा कार्य न करे, जिससे शास्त्रकी अवहेलना हो तथा लोकमें निन्दा हो। ससुराल और नैहर दोनों कुलोंकी कानि रखनी चाहिये। वस्त्र इस ढंगके पहनने चाहिये जिससे नाभि और स्तन विशेषरूपसे ढके रहें। ऐसे महीन वस्त्र कभी नहीं पहनने चाहिये जिससे वस्त्रके अंदरसे अपने अङ्ग दूसरोंको दीखें और लज्जाकी हानि हो; क्योंकि स्त्रियोंके लिये किसी भी प्रकारसे अपने अङ्ग दूसरे पुरुषोंको दिखाना शास्त्रनिषिद्ध और हानिकारक है। स्त्रियोंको अपनी लज्जा-रक्षाके लिये दो वस्त्र तो सदा पहने रहना चाहिये। एक साड़ी और दूसरा कमरसे ऊपर गलेतकको ढके रखनेवाला सिला हुआ कवजा आदि वस्त्र। इसके कई प्रकार होते हैं, उनमें सादे-से-सादा, फैशनसे रहित प्रकार अपनाना चाहिये। साड़ीके नीचे लहँगा रहे तो और भी उत्तम है। जहाँ केवल लहँगेका रिवाज है, वहाँ एक तीसरा ओढ़नेका वस्त्र भी हमेशा रखना आवश्यक है। बाहर जाते समय साड़ी पहननेवाली स्त्रीको भी ओढ़नेके वस्त्रका व्यवहार करना चाहिये। स्त्रियोंको लज्जापर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि स्त्रियोंके लिये लज्जा ही भूषण है। बृहद्धर्मपुराणका वचन है—

गृहेषु तनया भूषा भूषा संसत्सु पण्डिताः।
सुबुद्धिः पुंसु भूषा स्यात् स्त्रीषु भूषा सलज्जता॥
(पूर्वखण्ड ४।३०)

'गृहस्थके घर भूषण बालक है, सभाओंमें पण्डित भूषण हैं, मनुष्योंमें भूषण श्रेष्ठ बुद्धि है और स्त्रियोंमें भूषण लज्जा है।'

अपण्डितो मृतो विप्रो मृतो यज्ञो ह्यदक्षिणः।
मृता सभा सुधीहीना मृता नारी गतत्रपा॥
(पूर्व० ४।३१)

'मूर्ख' विप्र मरे हुएके समान है, बिना दक्षिणाके यज्ञ निष्फल है, बुद्धिमानोंसे शून्य सभा निष्फल है और लज्जाहीन नारी मृतकके समान है।'

अस्वतन्त्रा भवेन्नारी सलज्जा स्मितभाषिणी।
अनालस्या सदा स्निग्धा मितवाग्लोभवर्जिता॥
(उत्तरखण्ड ८।२)

'स्त्रीको स्वच्छन्दतासे शून्य, लज्जायुक्त, मन्द मुसकानसहित वाणी बोलनेवाली, आलस्यरहित, सदा प्रेमपूर्वक परिमित भाषण करनेवाली और लोभसे हीन होना चाहिये।'

चाणक्यनीतिमें भी कहा है—

असंतुष्टा द्विजा नष्टाः संतुष्टाश्च महीभृतः।
सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलाङ्गनाः॥
(८।१७)

'असंतोषी ब्राह्मण नष्ट हो जाते हैं अर्थात् ब्राह्मणत्वसे गिर जाते हैं और संतोष करनेवाले राजागण नष्ट हो जाते हैं अर्थात् कुछ कर लिये बिना राज्य नहीं चल सकता। वेश्या लज्जा करनेसे नष्ट हो जाती है अर्थात् वेश्यापन नहीं चल सकता और कुलीन स्त्रियाँ लज्जाका त्याग करनेसे नष्ट हो जाती हैं अर्थात् उनका पतन हो जाता है।'

अतएव स्त्रियोंको सदा लज्जाशील होना चाहिये तथा उनको अपनी लज्जाका ध्यान रखकर पुरुषोंके संसर्गसे सदा बचना चाहिये। किसी भी परपुरुषके सामने नाचना, गाना, अश्लील हाव-भाव, कटाक्षयुक्त दृष्टि और उनसे हँसी-मजाक तो करे ही नहीं, उनके साथ अनावश्यक मिले-जुले भी नहीं और न पुरुषोंकी गोष्ठीमें ही रहें; क्योंकि स्त्रियोंको परपुरुषोंके साथ किसी भी प्रकारके सम्पर्कमें आना शास्त्र-निषिद्ध है। अतएव स्त्रियोंको आठ प्रकारके मैथुनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। आठ प्रकारके मैथुन ये हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥

'परपुरुष (के रूप-लावण्य आदिका और अश्लील

बातों) का स्मरण करना, उनके सम्बन्धमें कथन करना, उनकी ओर देखना, उनके साथ हँसी-मजाक या क्रीडा करना, उनके साथ गुप्त बातें करना, उनसे एकान्तमें मिलनेका संकल्प करना, प्रयत्न करना और सहवास करना—इस प्रकार यह आठ प्रकारका मैथुन मनीषी पुरुष बतलाते हैं। इन आठोंसे जो रहित है, वही आठ लक्षणोंवाला ब्रह्मचर्य है।'

अतः स्त्रियोंसे प्रार्थना है कि वे पिता, भाई और पुत्रके साथमें भी कभी एकान्तवास न करें; क्योंकि इन्द्रियोंका समूह बलवान् है, वह विद्वान् मनुष्यके मनको भी हर लेता है, फिर अबला स्त्रियोंकी तो बात ही क्या है। मनुजीने कहा है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(२। २१५)

'पुरुषको चाहिये कि वह कभी माता, बहिन या लड़कीके साथ भी एकान्तमें न बैठे; क्योंकि इन्द्रियोंका समूह बड़ा बलवान् है, वह विद्वान्‌को भी विषय-भोगोंकी ओर खींच लेता है।'

जिस न्यायसे पुरुषके लिये माता, बहिन और लड़कीके साथ एकान्तमें बैठनेका निषेध है, उसी न्यायसे स्त्रीके लिये पिता, भाई और पुत्रके साथ एकान्तमें बैठनेका निषेध समझना चाहिये। इसलिये स्त्रियोंको किसी भी पर-पुरुषके पास एकान्तमें नहीं बैठना चाहिये। जो स्त्रियाँ पर-पुरुषोंको मोहित करके कुकर्म करती हैं, वे भयानक नरकोंको जाती हैं। श्रीमनुजीने कहा है—

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
शृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते॥

(९। ३०)

'व्यभिचार करनेसे स्त्रीकी इस लोकमें निन्दा होती है और मरनेके बाद वह सियार-योनिमें उत्पन्न होती है तथा बुरे-बुरे रोगोंसे पीड़ित होती है।'

जो दूसरी स्त्रियोंको कुकर्ममें लगाती है, वे तो उससे भी बढ़कर पापकी भागिनी होती हैं। पक्षान्तरमें जो स्त्रियाँ दूसरी स्त्रियोंको कुकर्मसे हटाकर अच्छे रास्तेपर लाती हैं, वे पुण्यकी भागिनी होती हैं। अतः स्त्रियोंको चाहिये कि वे न तो स्वयं कुकर्म करें, न किसीको कुकर्मके लिये सम्मति दें, बल्कि कोई कुकर्म करती हो तो उसे समझा-बुझाकर कुकर्मसे हटावें।

सदाचरण

स्त्रियोंको पुरुषोंकी आज्ञाके बिना कभी घरके बाहर नहीं जाना चाहिये। कहीं जाना हो तो घरवालोंके साथ या घरवालोंकी आज्ञा लेकर ही जाना चाहिये। चलनेमें बहुत तेज चालसे नहीं चलना चाहिये। घरमें घरके दरवाजेपर न बैठना चाहिये और न खड़े रहना चाहिये तथा न झरोखा और खिड़कियोंसे ही पर-पुरुषोंको देखना चाहिये। दुष्ट पुरुषोंके साथ कभी बातचीत भी न करे। किसीको गाली न दे, अमृतके समान हितभरे प्यारे वचन बोले; क्योंकि सुननेवालेको गाली विषके समान लगती है और मीठा वचन अमृतके तुल्य। गाली देनेसे देनेवालेको कोई लाभ नहीं होता, बल्कि उसके तपका तथा वाणीकी पवित्रताका क्षय होता है। अतः किसीको गाली देना स्वयं अपनी ही हानि करना है। गाली देनेपर झगड़े हो जाते हैं, मारपीट हो सकती है और आगे चलकर मुकदमे-मामले भी चल जाते हैं, जिनमें धन, धर्म, स्वास्थ्य और इज्जत आदिकी सब प्रकारसे हानि होती है और अन्तमें जब बुद्धि ठिकाने आती है, तब पश्चात्ताप भी करना पड़ता है। परलोकमें नरकादि भोग तथा बुरी योनियोंकी प्राप्ति होती है, सो अलग। इसलिये स्त्रियोंको चाहिये कि कोई दूसरा अपनेको गाली दे तब भी बदलेमें उसे गाली न दें, बल्कि उसे क्षमा कर दें और स्वयं शान्ति रखें। जो अपराध करनेवालोंको क्षमा करके शान्ति रखता है, उसकी शास्त्रकारोंने बड़ी प्रशंसा की है। महाभारतमें कहा है—

शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति॥

(उद्योग० ३३। ५५)

'जिसके हाथमें शान्तिरूपी तलवार है, दुर्जन उसका क्या बिगाड़ सकता है? जिस प्रकार बिना घासकी जगहपर गिरी हुई आग जलानेके लिये कुछ भी न मिलनेके कारण स्वयं ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार शान्ति रखनेवालेका वैरी भी कुछ नहीं कर सकता, बल्कि स्वयं ही शान्त हो जाता है।'

कन्याओंको उत्तम शिक्षा

स्त्रियोंको उचित है कि लड़कियोंको छोटी अवस्थामें ही उत्तम शिक्षा दें। अपने सास-ससुर, पति और बड़ोंको विनयपूर्वक नमस्कार करने तथा उनकी सेवा और आज्ञापालन करनेका उपदेश दें, जिससे वे ससुरालमें जाकर अपने सास-ससुर, पति और बड़ोंको विनयपूर्वक नमस्कार करने तथा उनकी सेवा और आज्ञापालन करनेमें सदा तत्पर रहें। साथ ही ननद, देवरानी, जेठानी आदि घरकी अन्य स्त्रियोंके साथ यथायोग्य प्रेमका बर्ताव करनेका आदेश दें, जिससे वे किसीके साथ भी वैर-विरोध न करके सदा सबके साथ विनयपूर्वक प्रेमभरा बर्ताव करें और किसीको कभी कटुवचन न कहें, बल्कि सदा सबके प्रति अमृतमय, परिमित, हितभरे वचनोंका ही प्रयोग करें। किसी कविने कहा है—

कुटिल बचन सबसे बुरा जार करै तनु छार।
साधु बचन जलरूप है बरसै अमृत धार॥

इसी प्रकार स्त्रियोंको चाहिये कि कन्याओंको बचपनसे ही रसोई बनाना, परोसना, सीना-पिरोना, चर्खा कातना, घरकी चीजोंकी सँभाल रखना, झाड़-बुहारकर घरको साफ-सुथरा रखना आदि घरके काम-काज तथा शिल्पकार्य भी सिखावें। इस प्रकारकी उत्तम सीख पाकर जो लड़की घरके सब काम-काज चतुरताके साथ आलस्यरहित होकर करने लगेगी, उसके ससुरालवाले उसका विशेष आदर करेंगे और उसके माता-पिताको धन्यवाद देंगे।

आलस्य-प्रमादका त्याग आवश्यक

स्त्रियोंको स्वयं भी आलस्यरहित होकर अपने सास-ससुर, पति और बड़ोंको विनयपूर्वक नमस्कार, उनकी सेवा तथा आज्ञाका पालन एवं घरके सब काम-काज प्रेमपूर्वक उत्साहके साथ करने चाहिये। ऐसा करनेसे इस लोकमें तो उत्तम कीर्ति, घरमें सुव्यवस्था तथा जीवनमें सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है और मरनेपर उत्तम गति मिलती है। आजकल धनी घरानेकी या पढ़ी-लिखी जो स्त्रियाँ काम-काज छोड़कर पत्थरकी मूर्तिकी तरह बैठी रहती हैं, या तितलीकी भाँति मौज-शौकमें इधर-उधर उड़ती फिरती हैं, वे शौकीन स्त्रियाँ एक प्रकारसे निकम्मी हो जाती हैं, उनसे काम-काज छूट जाता है तथा कई प्रकारके अन्य दोष उनमें आ जाते हैं। इसलिये अकर्मण्य तथा विलासी हो जानेके कारण उन्हें अनेक प्रकारकी बीमारियाँ घेर लेती हैं। इससे यह समझना चाहिये कि जो शौकीन तथा नाजुक-मिजाज है, वह बीमार है। इस प्रकार उद्यमहीन होकर बैठनेवाली तथा सैर-सपाटे करनेवाली स्त्रियोंकी इस लोकमें तो निन्दा होती है और मरनेपर दुर्गति होती है। अतः सभी स्त्रियोंसे प्रार्थना है कि वे सदा अपने कर्तव्य-कर्मोंको मन लगाकर करें। इस प्रकार अपनी सास और माताको जब घरकी बहू-बेटियाँ गृहकार्यमें तत्पर और बड़ोंकी सेवा करती हुई देखेंगी, तब उनका भी गृहकार्य और बड़ोंकी सेवामें प्रेम होगा; क्योंकि जो कार्य बड़ोंको करते हुए देखा जाता है, उसका बिना सिखलाये ही घरके बालक-बालिकाओंपर असर पड़ता है। अतः समझदार स्त्रियोंका कर्तव्य है कि वे स्वयं शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार आलस्य छोड़कर उत्तम-से-उत्तम कार्य करें, जिससे बिना सिखलाये ही बालक-बालिकाओंपर स्वाभाविक ही अच्छा असर पड़े। इस प्रकार स्वयं आचरण करते हुए उनको शिक्षाकी बातें कही जायँ तो उनका बहुत ही अच्छा असर पड़ता है।

विद्याकी उपादेयता

स्त्रियोंको अपने बालक-बालिकाओंको बचपनमें ही विद्या पढ़नेकी भी शिक्षा देनी चाहिये। स्वयं माता-पिताका यह कर्तव्य है कि वे अपने बच्चोंको पूरे प्रयत्नके साथ पढ़ावें; क्योंकि बालक-अवस्थामें ही विद्या पढ़ी जा सकती है, बड़ी अवस्था होनेपर पढ़ना कठिन है। विद्या पढ़कर बालक निपुण हो जाता है तो उसका सब जगह आदर होता है, उसकी जीविका ठीक तरहसे चलती है और उसका जीवन सुखी हो जाता है। विद्या न पढ़नेसे बालक मूर्ख रह जाता है, जीविका भाररूप हो जाती है, जगह-जगह अपमान होता है तथा

बड़ा होनेपर फिर चेष्टा करनेपर भी विद्या नहीं आती। अपने पुत्रको मूर्ख और पण्डित बनाना माता-पिताके ही हाथ है। वे यदि चेष्टा रखकर उसे पढ़ावें तो वह विद्वान् और निपुण बन सकता है; क्योंकि बचपनमें माता-पिता और गुरुके द्वारा प्राप्त की हुई शिक्षाका प्रायः सदा स्मरण रहता है। जो माँ-बाप अपने बालकोंको शिक्षा नहीं देते, विद्या नहीं पढ़ाते, वे शत्रुके समान हैं। चाणक्यनीतिमें बतलाया है—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥

(२।११)

'वह माता शत्रु और पिता वैरीके तुल्य है, जिन्होंने अपने बालकको पढ़ाया नहीं; क्योंकि वह बिना पढ़ा हुआ बालक विद्वानोंकी सभामें वैसे ही शोभा नहीं पाता, जैसे हंसोंके बीच बगुला।'

विद्यामें अनेक गुण हैं। सब धनोंमें विद्या एक सर्वोत्तम धन है। इसे न कोई छीन सकता है, न खरीद सकता है और न इसका नाश ही हो सकता है। कहा भी है—

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम्।
अहार्यत्वादनर्घ्यत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा॥

'सम्पूर्ण द्रव्योंमें विद्याको ही सर्वोत्तम द्रव्य कहते हैं; क्योंकि यह सदा-सर्वदा अहार्य अर्थात् न छीना जा सकनेवाला, अनर्घ्य अर्थात् खरीदा न जा सकनेवाला और अक्षय अर्थात् कभी नाश न होनेवाला है।'

न चौरहार्यं न च राजहार्यं
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं
विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्॥

'विद्याको चोर या राजा नहीं छीन सकते। भाई इसका बँटवारा नहीं करा सकते और इसका कुछ भार भी नहीं लगता तथा दान करनेसे यानी दूसरोंको पढ़ानेसे यह विद्या नित्य बढ़ती रहती है, अतः विद्यारूपी धन सब धनोंमें प्रधान है।'

श्रीभर्तृहरिजी कहते हैं—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं।
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः॥
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता।
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥

(नीतिशतक १६)

'विद्या ही मनुष्यका अधिक-से-अधिक रूप और छिपा हुआ गुप्त धन है, विद्या ही भोग, यश और सुख देनेवाली है तथा विद्या गुरुओंकी भी गुरु है। विदेशमें गमन करनेपर विद्या ही बन्धुके समान सहायक हुआ करती है, विद्या परा देवता है, राजाओंके यहाँ भी विद्याकी ही पूजा होती है, धनकी नहीं, इसलिये जो मनुष्य विद्यासे हीन है, वह पशुके समान है।'

चाणक्यनीतिमें भी बतलाया है—

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी।
प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम्॥

(४।५)

'विद्यामें कामधेनुके समान गुण है, क्योंकि यह अकालमें भी फल देनेवाली है और विदेशमें यह माताके समान (रक्षा करनेवाली) है। अतः विद्या मनुष्यका गुप्त धन है।'

विद्या मित्रं प्रवासे च भार्या मित्रं गृहेषु च।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च॥

(१२।१७)

'विदेशमें विद्या मित्र है, घरमें पत्नी मित्र है और रोगीका मित्र औषध है तथा मरनेपर मनुष्यका धर्म ही मित्र है।'

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः॥

(३।८)

'विद्यारहित मनुष्य रूप और यौवनसे सम्पन्न एवं बड़े कुलमें उत्पन्न होनेपर भी विद्वानोंकी सभामें उसी प्रकार शोभा नहीं पाते जैसे बिना गन्धके टेसूके फूल।'

येषां न विद्या न तपो न दानं
न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

(१०।७)

'जिनमें न विद्या है, न तप है, न दान है और न शील है, न गुण है तथा न धर्म ही है, वे मनुष्यलोकमें पृथ्वीके लिये भाररूप हैं; क्योंकि वे मनुष्यरूपमें पशु ही विचर रहे हैं।'

माता-पिताको उचित है कि लड़के-लड़कियोंको शिक्षा देकर उन्हें गुणवान् बनावें। एक भी उच्चकोटिका लड़का पैदा हो जाता है तो अपने माता-पिताका उद्धार कर देता है। विद्वान् तो एक ही लड़का बहुत है

और गुणहीन बहुत भी हों तो क्या है! चाणक्यनीतिमें कहा है—

एकेनापि सुपुत्रेण विद्यायुक्तेन साधुना।
आह्लादितं कुलं सर्वं यथा चन्द्रेण शर्वरी॥

(३।१६)

'साधुस्वभाव, विद्यायुक्त सुपुत्र एक भी हो तो उससे सारा कुल वैसे ही आनन्दित हो जाता है, जैसे कि चन्द्रमासे रात्रि।'

एकोऽपि गुणवान् पुत्रो निर्गुणैश्च शतैर्वरः।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च ताराः सहस्रशः॥

(४।६)

'सैकड़ों गुणहीन पुत्रोंसे तो एक भी गुणी पुत्र श्रेष्ठ है; क्योंकि अकेला चन्द्रमा तो सारे अन्धकारको हर लेता है, किंतु तारे हजारों हों तो भी अन्धकार दूर नहीं होता।'

मूर्खश्चिरायुर्जातोऽपि तस्माज्जातमृतो वरः।
मृतः स चाल्पदुःखाय यावज्जीवं जडो दहेत्॥

(४।७)

'मूर्ख पुत्र बहुत कालतक जीवे, तब भी उससे वही श्रेष्ठ है जो उत्पन्न होते ही मर जाता है; क्योंकि जन्मते ही मरनेवाला तो थोड़े ही दुःखका हेतु है; किंतु मूर्ख पुत्र तो जीवनपर्यन्त सदा-सर्वदा जलाता रहता है।'

कुग्रामवासः कुलहीनसेवा
कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या।
पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या
विनाग्निना षट् प्रदहन्ति कायम्॥

(४।८)

'कुग्राममें वास, कुलहीनकी सेवा, कुभोजन और क्रोध करनेवाली स्त्री तथा मूर्ख पुत्र एवं विधवा कन्या— ये छहों बिना ही आगके शरीरको जलाते रहते हैं।'

सद्गुणोंकी शिक्षा

इसलिये अपने बालक-बालिकाओंको वाणीके द्वारा तथा आचरणोंके द्वारा ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि जिससे वे सत्यवादी, सदाचारी, सद्‌गुणसम्पन्न, दुःखी और बड़ोंकी सेवा करनेवाले, धर्मभीरु, ईश्वरभक्त, लोक और शास्त्र-मर्यादाके अनुसार चलनेवाले, अच्छे स्वभाववाले और परिश्रमशील बनकर माता-पिता आदि गुरुजनोंका, कुटुम्बका और देशका कल्याण करनेवाले हों।

कई माता-पिता अधिक लाड़-प्यारके कारण अपने बालकोंको नहीं पढ़ाते और उनपर मिथ्या दया करके न हितभरी उचित ताड़ना ही देते हैं; किंतु वास्तवमें यह दया और अनुचित दुलार हानिकारक है। नीतिका वचन है—

लालनाद् बहवो दोषास्ताडनाद् बहवो गुणाः।
तस्मात्पुत्रं च शिष्यं च ताडयेन्न तु लालयेत्॥

(चाणक्यनीति २।१२)

'(अनुचित) दुलारसे बहुत दोष उत्पन्न होते हैं तथा ताड़ना करनेसे अनेक गुण। इसलिये पुत्र तथा शिष्यको ताड़ना दें, उनका अनुचित दुलार न करें।'

लालयेत् पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रत्वमाचरेत्॥

(३।१८)

'पुत्रका पाँच वर्षतक दुलार करे और दस वर्षतक ताड़ना दे यानी उसे नियन्त्रणमें रखे—उच्छृङ्खल न होने दे; किंतु सोलह वर्षका हो जानेपर पुत्रके साथ मित्रताका व्यवहार करे।'

माता-पिताको उचित है कि अपने लड़केको विशेषरूपसे तैयार करे। यदि लड़का भगवान्‌का भक्त, योगी ज्ञानी होता है तो माता-पिताका उद्धार कर देता है। सुमित्राने लक्ष्मणको भक्तिका उपदेश किया, मैनावतीने गोपीचन्दको योगका उपदेश दिलाया और मदालसाने अपने पुत्रोंको ज्ञानका उपदेश देकर उन्हें ज्ञानी बना दिया; इससे वे सब माताएँ स्वयं उत्तम गतिको प्राप्त हुईं। किसी कविने कहा भी है—

जननी जनै तो भक्त जन कै दाता कै सूर।
नाहीं तो तू बाँझ रह मती गवाँवै नूर॥

'हे जननी! तू पुत्र पैदा करे तो या तो ध्रुव, प्रह्लाद, अम्बरीष आदि-जैसा भक्त पैदा कर अथवा शिबि, दधीचि आदिकी तरह दाता पैदा कर अथवा शिवाजी, महाराणा प्रताप-जैसा शूरवीर पैदा कर। यदि ऐसा नहीं करती तो तू बाँझ ही रह, बालक पैदा करके अपना रूप ही क्यों गँवाती है।'

इसलिये बालकोंको बचपनसे ही ईश्वरकी भक्ति, पूजा, बड़ोंकी सेवा, आज्ञापालन, नमस्कार आदि उत्तम

आचरणोंकी शिक्षा दें तथा झूठ, कपट, चोरी, हिंसा आदि बुरे आचरणोंका त्याग करके न्यायपूर्वक धन उपार्जन करनेकी शिक्षा दें। इस प्रकार उत्तम शिक्षासे अच्छे संस्कार जमते हैं तथा उस शिक्षाके अनुसार आचरण करनेसे आयु, विद्या, यश और बल बढ़ता है तथा निष्कामभावसे करनेपर कल्याण हो जाता है। बड़ोंकी सेवा और उनको प्रतिदिन प्रणाम करनेसे क्या लाभ होता है, इस विषयमें मनुजी कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(२। १२१)

'जो प्रतिदिन बड़ोंको प्रणाम करता और बड़ोंकी सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, कीर्ति और बल—ये चारों बढ़ते हैं।'

बालकोंको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये, जिससे वे सत्य, प्रिय, मधुर, हितकर, परिमित और अमृतमय वचन बोलें। झूठे, कठोर, अप्रिय, अहितकर वचन कभी न बोलें; क्योंकि वाणीमें ही अमृत है और वाणीमें ही विष है। सत्य, प्रिय और मधुर वाणीसे लोग मित्र हो जाते हैं और उससे विपरीत असत्य, अप्रिय वाणीसे शत्रु हो जाते हैं। श्रीमनुमहाराजने कहा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

(४। १३९)

'सत्य बोले, प्रिय बोले, किंतु सत्य होनेपर भी अप्रिय हो, वह न बोले तथा प्रिय होनेपर भी असत्य हो तो वह भी न बोले, यह सनातन धर्म है।'

तथा—

नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत्॥

(महा० शान्ति० १६२। २४)

सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है और असत्यसे बढ़कर कोई पाप नहीं है। धर्म सत्यके आश्रयसे ही टिकता है। अतएव सत्यका कभी लोप नहीं करना चाहिये।'

चाणक्यनीतिमें सत्यकी महिमा करते हुए बतलाया है—

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

(५। १९)

'सत्यके द्वारा ही पृथ्वी धारण की हुई है, सत्यसे ही सूर्य तपते हैं और सत्यसे ही वायु बहता है। सब कुछ सत्यमें ही स्थित है।' और भी कहा है—

सत्य बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदै साँच है ताके हिरदै आप॥

जो मनुष्य सच्ची बात मीठे शब्दोंमें कहता है, उससे सुननेवालेका चित्त प्रसन्न होता है और वह उसके अनुकूल हो जाता है। कहा है—

तुलसी मीठे बचनसे सुख उपजत चहुँ ओर।
बसीकरन यह मन्त्र है तज दो बचन कठोर॥
सबसों हिलमिल बोलिये मीठे मीठे बोल।
मीठी बोली बोलकर बनो मित्र अनमोल॥

द्विज बालकोंका यज्ञोपवीत-संस्कार आवश्यक

माता-पिताको अपने बालकोंके शास्त्रमें बतलाये हुए सोलह संस्कारोंमेंसे जितने अधिक-से-अधिक हो सकें, करवाने चाहिये, जिससे उनके हृदयपर अच्छे संस्कार जमें। द्विजातिको उचित है कि अपने लड़केका यज्ञोपवीत-संस्कार तो यथासमय अवश्य ही करवावे और नित्य शौच-स्नान आदि करके यथाधिकार संध्या, गायत्री-जप, पूजा, प्रार्थना आदि नित्य उपासना-कर्म करनेकी शिक्षा दे। द्विजाति हो तो अपनी लड़कीका यज्ञोपवीतरहित व्यक्तिके साथ विवाह न करे। श्रीमनुजीने कहा है—

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान् यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणैः सह॥

(२। ४०)

'ब्राह्मण इन अपवित्र व्रात्योंके साथ आपत्तिकालमें भी नियमानुसार ब्राह्म (पठन-पाठन) और यौन (विवाह आदि) सम्बन्ध कदापि न करे।'

आजकल बहुत-से वैश्योंके यहाँ यज्ञोपवीत-संस्कार नहीं होता। पूछनेपर वे कहते हैं कि 'पूर्वमें हमारे घरमें किसीने यज्ञोपवीत लिया था तो वह थोड़े समयके बाद ही मर गया, तबसे हमारे यहाँ यज्ञोपवीत लेना बंद

कर दिया।' यह वस्तुतः बिलकुल बेसमझीकी बात है और मूर्खतापूर्ण कुसंस्कार है। यज्ञोपवीत किसीके मरनेमें कैसे हेतु है? बल्कि वह तो रक्षामें ही हेतु है। यज्ञोपवीत न लेनेवाले आदमी भी मरते हैं। यदि विवाह करनेके थोड़े दिनोंके बाद लड़का मर जाय तो क्या हमलोग अन्य लड़कोंका विवाह करना बंद कर देंगे? ऐसे ही यज्ञोपवीतकी बात है। अतः यज्ञोपवीत न लेना अज्ञताके सिवा और क्या है।

इसलिये उन भोले-भाले स्त्री-पुरुषोंसे प्रार्थना है कि वे 'यज्ञोपवीत लेनेसे लड़का मर जाता है' इस भ्रमको हटाकर यज्ञोपवीत-संस्कारकी उत्तम प्रथा चलावें; क्योंकि बिना यज्ञोपवीतके द्विजका न वेदोंमें अधिकार है, न संध्या और गायत्रीमें ही। उसका वेदमन्त्रोंसे तर्पण, पिण्डदान और श्राद्धकर्ममें भी अधिकार नहीं है। इसलिये अपने बालकोंका विवाहके पूर्व ही यज्ञोपवीत-संस्कार अवश्य ही करवा देना चाहिये तथा उनसे संध्या, गायत्री-जप आदि नित्यकर्मोंको करनेका अभ्यास कराना चाहिये। नित्यकर्म करनेसे मनुष्यकी आयु, कीर्ति और बलकी वृद्धि होती है, बुद्धि शुद्ध होती है एवं वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। अतएव बालकोंको प्रातःकाल उठकर शौच-स्नानसे निवृत्त होकर संध्या आदि नित्यकर्म करनेकी शिक्षा अवश्य ही देनी चाहिये। मनुस्मृति बतलाती है—

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम्॥
ऋषयो दीर्घसंध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च॥

(४। ९३-९४)

'द्विजातिको चाहिये कि शय्यासे उठकर आवश्यक शौच-स्नानादि करके पवित्र हो जाय और सावधान होकर दोनों कालोंकी संध्याके लिये शास्त्रमें बतलाये हुए कालमें अर्थात् सूर्योदयसे पूर्व प्रातः-संध्या और सूर्यास्तसे पूर्व सायं-संध्या करे तथा बहुत देरतक गायत्रीका जप करता रहे; क्योंकि ऋषियोंने बहुत कालतक संध्या करनेसे बड़ी आयु, बुद्धि, यश और कीर्ति तथा ब्रह्मतेज भी प्राप्त किया।'

विपत्तिमें भी धर्मका त्याग न करे

माता-बहिनोंको भारी आपत्ति आनेपर भी धर्मकी मर्यादाका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। महाभारतमें बतलाया है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(उद्योग० ३८। १२-१३)

'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवन-रक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है।'

जगज्जननी सीताने भारी आपत्ति पड़नेपर भी अर्थात् रावणके द्वारा विशेष लोभ और भय दिखलानेपर भी अपने धर्मका त्याग नहीं किया, बल्कि प्राणोंके त्यागका विचार कर लिया। यद्यपि सीता जगज्जननी थीं, किंतु उनका आचरण लोगोंको शिक्षा देनेके लिये था। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम तथा सीताने लोगोंको शिक्षा देनेके लिये ही अवतार ग्रहण किया था। अतः उनका यथाशक्ति अनुकरण करनेके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। इस संसारसे मरनेके बाद एक धर्म ही साथ जाता है और वही इस संसारसे पार उतारता है। अतः धर्मका पालन अवश्य करना चाहिये। श्रीमनुजी कहते हैं—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥

× × ×

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्॥

(४। २३९—२४२)

'परलोकमें मनुष्यकी सहायता करने न माता और पिता आते हैं तथा न पुत्र, स्त्री एवं जातिवाले ही; वहाँ तो केवल एक धर्म ही काम आता है। जीव अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही किये हुए पुण्यका और अकेला ही पापका फल भी भोगता है।

भाई-बन्धु तो मरे हुए शरीरको काठ और मिट्टीके ढेलेके समान (जलाकर) वहीं पृथ्वीपर ही छोड़कर वापस लौट जाते हैं, उस समय केवल धर्म ही उस प्राणीके साथ जाता है। इसलिये परलोकमें सहायताके लिये यहाँ प्रतिदिन शनैः-शनैः धर्मसंचय करे; क्योंकि धर्मकी सहायतासे मनुष्य दुस्तर अन्धकारमय नरकादिसे तर जाता है।'

चाणक्यनीतिमें भी कहा है—

चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चले जीवितमन्दिरे।
चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः॥

(५। २०)

'यह लक्ष्मी चञ्चल है, ये प्राण भी जानेवाले हैं और यह जीवन तथा घर भी नाशवान् हैं। इस चराचर संसारमें एक धर्म ही निश्चल (अविनाशी) है।'

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥

(१२। १२)

'ये शरीर अनित्य अर्थात् नाशवान् हैं तथा यह वैभव भी सदा रहनेवाला नहीं है एवं यह मृत्यु नित्य पास ही खड़ी रहती है; अतः धर्मका संग्रह करना चाहिये।'

पातिव्रत्य-धर्म

अब पतिव्रता स्त्रियोंके धर्म बतलाये जाते हैं। सुहागिन स्त्रियोंके लिये पतिसेवा ही सब कुछ है, इसलिये उन्हें श्रद्धा-प्रेमके साथ पतिसेवामें सदा तत्पर रहना चाहिये; क्योंकि श्रद्धा-प्रेमसे किया हुआ कार्य ही शीघ्र फलदायक होता है। फिर जो स्त्री निष्कामभावसे पतिकी सेवा करती है, उससे शीघ्र ही अन्तःकरणकी शुद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है; अतः स्त्रीको अपने पतिकी सेवा निष्कामभावसे ही करनी चाहिये। सौभाग्यवती स्त्रीके लिये पति ही सर्वस्व है, उसके लिये पति-सेवाकी तुलनामें यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, देवपूजन, सेवा आदि सब मिलकर भी कुछ नहीं हैं। स्त्रीको चाहिये कि तीर्थ, व्रत, पूजन आदि सब पतिके साथ ही करे या पतिकी आज्ञासे स्वयं करे। पतिकी आज्ञाके बिना न तो कथा-कीर्तनमें, न साधु-महात्माओंके पास तथा न देवमन्दिर और तीर्थमें ही जाय। जहाँ भी जाय, यथासम्भव अपने पतिके साथ ही जाय, अकेली नहीं। पतिके बिना स्वच्छन्दतापूर्वक यज्ञ, दान, तप, व्रत, तीर्थ आदि करनेका स्त्रीके लिये निषेध है; क्योंकि उसको केवल एक पतिसेवासे ही सब प्रकार पूर्ण सफलता मिल जाती है।

पद्मपुराणमें कहा है—

युवतीनां पृथक् तीर्थं बिना भर्तुर्द्विजोत्तम।
सुखदं नास्ति वै लोके स्वर्गमोक्षप्रदायकम्॥

(भूमि० ४१। १२)

सुकलाने अपने पतिसे कहा—'द्विजोतम ! युवतियोंके लिये पतिके सिवा अन्य कोई ऐसा तीर्थ नहीं, जो इस लोकमें सुख देनेवाला और परलोकमें स्वर्ग तथा मोक्ष प्रदान करनेवाला हो।'

आगे चलकर सुकला अपनी सखियोंसे भी कहती है—

भर्तुः सार्द्धं सदा सख्यो दृष्टो वेदेषु सर्वदा।
सम्बन्धः पुण्यसंसर्गाज्जायते नान्यकारणात्॥
नारीणां च सदा तीर्थं भर्ता शास्त्रेषु पठ्यते।
यमेवावाहयेन्नित्यं वाचा कायेन कर्मभिः॥
मनसा पूजयेन्नित्यं सत्यभावेन तत्परा।
एतत्पार्श्वं महातीर्थं दक्षिणाङ्गं सदैव हि॥
तमाश्रित्य यदा नारी गृहस्था परिवर्तते।
यजते दानपुण्यैश्च तस्य दानस्य यत् फलम्॥
वाराणस्यां च गङ्गायां यत् फलं न च पुष्करे।
द्वारकायां न चावन्त्यां केदारे शशिभूषणे॥
लभते नैव सा नारी यजमाना सदा किल।

(पद्म० भूमि० ४१। ६१—६६)

'सखियो! वेदोंमें सदा-सर्वदा यही बात देखी गयी है कि पतिके साथ नारीका सम्बन्ध पुण्यके संसर्गसे ही होता है, अन्य किसी कारणसे नहीं। शास्त्रोंका वचन है कि नारियोंके लिये पति ही सदा तीर्थ है। इसलिये स्त्रीको उचित है कि वह सच्चे भावसे पतिसेवामें प्रवृत्त होकर प्रतिदिन मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा पतिका ही आवाहन करे और तत्पर होकर श्रेष्ठभावसे सदा पतिका ही पूजन करे। पति स्त्रीका दक्षिण अङ्ग है और उसका वाम पार्श्व ही पत्नीके लिये सदा महान् तीर्थ है। जब गृहस्थ नारी पतिके वाम भागमें बैठकर दान-पुण्योंसे पूजन करती है, उसका जो फल बताया गया है, वह फल काशीकी गङ्गा, पुष्करतीर्थ, द्वारकापुरी, उज्जैन

तथा केदार नामसे प्रसिद्ध महादेवजीके तीर्थमें स्नान और पूजन करनेसे भी कभी नहीं मिल सकता।'

सुसुखं पुत्रसौभाग्यं स्नानं दानं च भूषणम्।
वस्त्रालंकारसौभाग्यं रूपं तेजः फलं सदा॥
यशः कीर्तिमवाप्नोति गुणं च वरवर्णिनि।
भर्तुः प्रसादाच्च सर्वं लभते नात्र संशयः॥

(पद्म० भूमि० ४१। ६७-६८)

'पतिव्रता स्त्री उत्तम सुख, पुत्रका सौभाग्य, स्नान और श्रेष्ठ दान, वस्त्र तथा आभूषण, सौभाग्य, रूप, तेज, फल, यश, कीर्ति और उत्तम गुण प्राप्त करती है। हे वरवर्णिनि! पतिकी प्रसन्नतासे उसे सब कुछ मिल जाता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।'

तुष्टे भर्तरि तस्यास्तु तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः।
तुष्टे भर्तरि तुष्यन्ति ऋषयो देवमानवाः॥
भर्ता नाथो गुरुर्भर्ता देवता दैवतैः सह।
भर्ता तीर्थं च पुण्यं च नारीणां नृपनन्दन॥

(पद्म० भूमि० ४१। ७४-७५)

'पति संतुष्ट रहते हैं तो समस्त देवता उस स्त्रीपर संतुष्ट रहते हैं और पतिके संतुष्ट रहनेपर ऋषि-मुनि, देवता और मनुष्य भी प्रसन्न रहते हैं। राजन्! पति ही स्त्रीका स्वामी, पति ही गुरु एवं पति ही देवताओंसहित उसका इष्टदेव और पति ही तीर्थ तथा पुण्य है।'

श्रीबृहद्धर्मपुराणमें भी लिखा है—

सधवानां हि नारीणां नोपवासादिकं व्रतम्।
पत्याज्ञया चरेद् यत्तु तत्तु तासां व्रतं परम्॥

(उत्तरखण्ड ८। ७)

'सधवा स्त्रियोंके लिये उपवास आदि किसी व्रतका विधान नहीं है; क्योंकि पतिकी आज्ञासे वे जो कुछ आचरण करती हैं, वही उनके लिये श्रेष्ठ व्रत है।'

इसलिये मनुजीने यही व्यवस्था दी है कि—

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥

(९। १०१)

'संक्षेपमें पति-पत्नीका यह परमधर्म समझना चाहिये कि वे जीवनपर्यन्त एक-दूसरेसे कभी अलग न हों।'

इस विषयमें जगज्जननी सीताजी आदर्श हैं। पतिव्रताशिरोमणि सीताजीका पतिकी सेवा करने और उनके साथ रहनेमें कितना आग्रह था, यह उनके आचरण और वचनोंसे ही स्पष्ट है। वनगमनके समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने वनके भयानक कष्टोंका वर्णन करके सीताजीको अयोध्यामें रहनेके लिये कहा, किंतु सीताजीने उत्तरमें बहुत ही विनय और प्रेमपूर्वक साथ ले चलनेका अनुरोध किया तथा समस्त सुख और भोगोंका तिनकेके समान त्याग करके वे श्रीरामचन्द्रजीके साथ वनमें चली गयीं। श्रीरामचरितमानसमें उस समय श्रीरामचन्द्रजीके प्रति सीताजीने जो वचन कहे, वे ध्यान देने योग्य हैं, उनसे स्त्रियोंको बड़ी उत्तम शिक्षा मिलती है। श्रीसीताजी कहती हैं—

प्राननाथ करुनायतन सुंदर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥

× × ×

तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोगसम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें॥

× × ×

छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी॥
बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु बियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥
अस जियँ जानि सुजान सिरोमनि। लेइअ संग मोहि छाड़िअ जनि॥
बिनती बहुत करौं का स्वामी। करुनामय उर अंतरजामी॥

× × ×

मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन सरोज निहारी॥
सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं। मारग जनित सकल श्रम हरिहौं॥
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं॥
श्रम कन सहित स्याम तनु देखें। कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें॥
सम महि तृन तरु पल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी॥

केवल पतिसेवासे ही स्त्री परम गतिको प्राप्त हो जाती है।

तुलसीकृत रामायणमें जगज्जननी सीताके प्रति पातिव्रत्यका उपदेश देती हुई अनसूयाजी कहती हैं—

बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥
एकइ धर्म एक व्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥

× × ×

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥

× × ×

पति बंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई॥

छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥

× × ×

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित॥

श्रीअनसूयाजीका यह कहना उचित ही है; क्योंकि सीताजी तो पहलेसे ही ऐसी ही थीं। श्रीवाल्मीकीय रामायणमें सीताजीके प्रति अनसूयाजीके वचन हैं—

त्यक्त्वा ज्ञातिजनं सीते मानवृद्धिं च मानिनि।
अवरुद्धं वने रामं दिष्ट्या त्वमनुगच्छसि॥
नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः॥
दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः॥
नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशन्त्यहम्।
सर्वत्र योग्यं वैदेहि तपः कृतमिवाव्ययम्॥

(अयोध्या० ११७। २२—२५)

'माननीया सीते! यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि बन्धु-बान्धवोंको छोड़कर और उनसे प्राप्त होनेवाली मान-प्रतिष्ठाका त्याग करके तुम वनमें भेजे हुए रामका (कर्तव्य समझकर) अनुसरण कर रही हो, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। अपने स्वामी नगरमें रहें या वनमें, भले हों या बुरे—जिन स्त्रियोंको वे प्रिय होते हैं, उन्हें महान् अभ्युदयशाली लोकोंकी प्राप्ति होती है। पति बुरे स्वभावका, मनमाना बर्ताव करनेवाला अथवा धनहीन ही क्यों न हो, वह उत्तम स्वभाववाली नारियोंके लिये श्रेष्ठ देवताके समान है। वैदेही! मैं बहुत विचार करनेपर भी पतिसे बढ़कर कोई हितकारी बन्धु नहीं देखती। तपस्याके अविनाशी फलकी भाँति वह इस लोक और परलोकमें सर्वत्र सुख पहुँचानेमें समर्थ होता है।'

त्वद्विधास्तु गुणैर्युक्ता दृष्टलोकपरावराः।
स्त्रियः स्वर्गे चरिष्यन्ति यथा पुण्यकृतस्तथा॥

(वा० रा० अयोध्या० ११७। २८)

'जो तुम्हारे समान लोक-परलोकको जाननेवाली उत्तम गुणोंसे युक्त साध्वी स्त्रियाँ हैं, वे उसी प्रकार स्वर्गमें विचरण करेंगी, जिस प्रकार कि पुण्यकर्मा मनुष्य।'

तदेवमेतं त्वमनुव्रता सती
पतिप्रधाना समयानुवर्तिनी।
भव स्वभर्तुः सहधर्मचारिणी
यशश्च धर्मं च ततः समाप्स्यसि॥

(वा० रा० अयोध्या० ११७। २९)

'अतः तुम इसी प्रकार अपने पतिदेव श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें लगी रहो। सतीधर्मका पालन करो। पतिको प्रधान देवता समझो और प्रत्येक समय उनका अनुसरण करती हुई उनकी सहधर्मिणी बनो। इससे तुम्हें धर्म और सुयश दोनोंकी प्राप्ति होगी।'

श्रीअनसूयाजीके द्वारा पातिव्रत्यकी महिमा सुनकर सीताजीने कहा—

आगच्छन्त्याश्च विजनं वनमेवं भयावहम्।
समाहितं हि मे श्वश्र्वा हृदये यत् स्थिरं मम॥

(वा० रा० अयोध्या० ११८। ७)

'जब मैं पतिके साथ इस प्रकारके भयङ्कर निर्जन वनमें आने लगी, उस समय मेरी सास कौसल्याने मुझे जो कर्तव्यका उपदेश दिया था, वह मेरे हृदयमें ज्यों-का-त्यों अङ्कित है।'

पाणिप्रदानकाले च यत् पुरा त्वग्निसन्निधौ।
अनुशिष्टा जनन्या मे वाक्यं तदपि मे धृतम्॥

(वा० रा० अयोध्या० ११८। ८)

'पहले मेरे विवाहकालमें अग्निके समीप माताने मुझे जो शिक्षा दी थी, वह भी याद है।'

न विस्मृतं तु मे सर्वं वाक्यैः स्वैर्धर्मचारिणि।
पतिशुश्रूषणान्नार्यास्तपो नान्यद् विधीयते॥

(वा० रा० अयोध्या० ११८। ९)

'हे धर्मचारिणि! इसके सिवा मेरे अन्य स्वजनोंने अपने वचनोंद्वारा जो-जो उपदेश दिया है, वह भी मुझे भूला नहीं है। स्त्रीके लिये पतिकी सेवाके अतिरिक्त दूसरा कोई तप नहीं है।'

सावित्री पतिशुश्रूषां कृत्वा स्वर्गे महीयते।
तथावृत्तिश्च याता त्वं पतिशुश्रूषया दिवम्॥

(वा० रा० अयोध्या० ११८। १०)

'सत्यवान्की पत्नी सावित्री पतिकी सेवा करके ही स्वर्गलोकमें पूजित हो रही हैं। आप भी पति-सेवाके द्वारा ही उस पातिव्रत्यका आचरण करके इस प्रकारकी अलौकिकताको प्राप्त हुई हैं।'

वरिष्ठा सर्वनारीणामेषा च दिवि देवता।
रोहिणी न विना चन्द्रं मुहूर्तमपि दृश्यते॥

(वा० रा० अयोध्या० ११८। ११)

'सम्पूर्ण स्त्रियोंमें श्रेष्ठ यह स्वर्गकी देवी रोहिणी

पतिसेवाके प्रभावसे ही एक मुहूर्तके लिये भी चन्द्रमासे विलग होती नहीं देखी जाती।'

एवंविधाश्च प्रवराः स्त्रियो भर्तृदृढव्रताः।
देवलोके महीयन्ते पुण्येन स्वेन कर्मणा॥

(वा० रा० अयोध्या० ११८। १२)

'इस प्रकार दृढ़तापूर्वक पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली बहुत-सी साध्वी स्त्रियाँ अपने पुण्यकर्मके बलसे देवलोकमें आदर पा रही हैं।'

सती अनसूयाजी बहुत उच्च कोटिकी पतिव्रता थीं। उनके पातिव्रत्यके प्रभावसे ब्रह्मा, विष्णु और महेशने उनके यहाँ अवतार लिया था। दत्तात्रेयके रूपमें श्रीविष्णु, चन्द्रमाके रूपमें ब्रह्मा और दुर्वासाके रूपमें शंकरने अवतार लिया एवं मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामकी अर्धाङ्गिनी जगज्जननी सीता एक ऐसी पतिव्रता थीं कि जिनके नामोच्चारणसे ही स्त्री पतिव्रता बन जाती है। सीताके चरित्रसे स्त्रियोंको शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।*

इसी प्रकार सती पार्वतीका चरित्र संसारमें प्रसिद्ध ही है। पातिव्रत्य-धर्मकी सिद्धिके लिये कन्याएँ तथा स्त्रियाँ चैत्रमासमें इन्हीं श्रीगौरीजीकी पूजा किया करती हैं। इनका चरित्र रामायण, इतिहास और पुराणोंमें भरा हुआ है। जन्मसे ही उनकी अपने स्वामी श्रीशङ्करजीमें जो अटल निष्ठा है, वह पतिव्रताओंके लिये परम आदर्श है।

श्रीमद्भागवतमें नारदमुनिने भी युधिष्ठिर महाराजसे इसके लिये पतिव्रता स्त्रियोंके धर्म इस प्रकार बताये हैं—

स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता।
तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम्॥

(७। ११। २५)

'पतिकी सेवा करना, उसके अनुकूल रहना, पतिके भाई-बन्धुओंको प्रसन्न रखना और सर्वदा पतिके नियमोंकी रक्षा करना—ये पतिको ही ईश्वर माननेवाली पतिव्रता स्त्रियोंके धर्म हैं।'

सम्मार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डलवर्तनैः।
स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा॥

(७। ११। २६)

'साध्वी स्त्रीको चाहिये कि झाड़ने-बुहारने, लीपने तथा चौक पूरने आदिसे घरको और मनोहर वस्त्राभूषणोंसे अपने शरीरको अलंकृत रखे तथा सब सामग्रियोंको साफ-सुथरी रखे।'

कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च।
वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत् पतिम्॥

(७। ११। २७)

'अपने पतिदेवकी छोटी-बड़ी इच्छाओंको समयके अनुसार पूर्ण करे। विनय, इन्द्रियसंयम, सत्य एवं प्रिय वचनोंसे प्रेमपूर्वक पतिदेवकी सेवा करे।'

या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते॥

(७। ११। २९)

'जो लक्ष्मीजीके समान पतिपरायणा होकर अपने पतिकी उसे साक्षात् भगवान्का स्वरूप समझकर सेवा करती है, उसके पतिदेव वैकुण्ठलोकमें भगवत्सारूप्यको प्राप्त होते हैं और वह लक्ष्मीजीके समान उनके साथ आनन्दित होती है।'

द्रौपदी-सत्यभामा-संवाद

इस विषयमें द्रौपदीका उदाहरण इस प्रकार मिलता है कि उसने पतिसेवाके प्रभावसे लक्ष्मीका स्थान प्राप्त किया था और अर्जुन भी भगवान्के परम धाममें गये थे। यह बात महाभारतके स्वर्गारोहणपर्वमें आती है। द्रौपदी उच्च कोटिकी पतिव्रता थी। उसकी पतिसेवाका विवरण संक्षेपसे यहाँ दिया जाता है। भगवान् श्रीकृष्णकी महारानी सत्यभामाने भी उससे शिक्षा ग्रहण की है।

एक समयकी बात है। जब पाण्डव वनमें वास करते थे, उस समय श्रीकृष्णजी पाण्डवोंसे मिलनेके लिये गये। सत्यभामा भी साथ थीं। सत्यभामा द्रौपदीसे मिलनेके लिये गयीं और बोलीं—'पाण्डवलोग सर्वदा तुम्हारे वशमें रहते हैं—इसका रहस्य मुझे बताओ। पाञ्चाली! तुम मुझे भी कोई ऐसा व्रत, तप, स्नान, मन्त्र, ओषधि, विद्या तथा जप, होम या जड़ी-बूटी बताओ, जिससे सर्वदा ही श्यामसुन्दर मेरे अधीन रहें।'

तब पतिपरायणा द्रौपदीने उनसे कहा—'सत्ये! तुम तो मुझसे दुराचारिणी स्त्रियोंके-से आचरणकी बात पूछ

* इसके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा' नामकी पुस्तिका पढ़नी चाहिये।

रही हो। भला, उन दूषित आचरणवाली स्त्रियोंके मार्गकी बातें मैं कैसे कहूँ? उनके विषयमें तो तुम्हारा प्रश्न या शङ्का करना भी उचित नहीं है; क्योंकि तुम बुद्धिमती और श्रीकृष्णकी पट्टमहिषी हो। जब पतिको यह मालूम हो जाता है कि गृहदेवी उसे काबूमें करनेके लिये किसी मन्त्र-तन्त्रका प्रयोग कर रही है, तब वह उससे उसी प्रकार दूर रहने लगता है, जैसे मनुष्य घरमें घुसे हुए साँपसे। इससे कई प्रकारके अनर्थ हो जाते हैं। धूर्तलोग जन्तर-मन्तरके बहाने ऐसी चीजें दे देते हैं, जिनसे भयंकर रोग पैदा हो जाते हैं तथा पतिके शत्रु इसी मिससे विषतक दे डालते हैं। वे ऐसे चूर्ण होते हैं कि जिन्हें यदि पति जिह्वा या त्वचासे भी स्पर्श कर ले तो वे निःसन्देह उसी क्षण उसको मार डालें। ऐसी स्त्रियाँ अपने पतियोंको तरह-तरहके रोगोंका शिकार बना देती हैं। वे उनकी कुमतिसे जलोदर, कोढ़, बुढ़ापा, नपुंसकता, जड़ता और बधिरता आदिके पंजोंमें पड़ जाते हैं। इस प्रकार धूर्त-पापियोंकी बातें माननेवाली वे पापिनी नारियाँ अपने पतियोंको तंग कर डालती हैं; किंतु स्त्रीको तो कभी किसी प्रकार अपने पतिका अप्रिय नहीं करना चाहिये।

'यशस्विनी सत्यभामे! महात्मा पाण्डवोंके प्रति मैं जिस प्रकारका आचरण करती हूँ, वह सब सच-सच सुनाती हूँ, तुम सुनो। मैं अहंकार और काम-क्रोधको छोड़कर बड़ी सावधानीसे सब पाण्डवोंकी उनकी अन्यान्य स्त्रियोंके सहित सेवा करती हूँ। मैं ईर्ष्यासे दूर रहती हूँ और मनको काबूमें रखकर केवल सेवाकी इच्छासे ही अपने पतियोंका मन रखती हूँ। यह सब करते हुए भी मैं अभिमानको अपने पास नहीं फटकने देती। मैं कटु भाषणसे दूर रहती हूँ, असभ्यतासे खड़ी नहीं होती, खोटी बातोंपर दृष्टि नहीं डालती, दूषित आचरणके पास नहीं फटकती तथा पाण्डवोंके अभिप्रायपूर्ण संकेतका अनुसरण करती हूँ। देवता, मनुष्य, गन्धर्व, युवा, सजधजवाला, धनी अथवा रूपवान्—कैसा ही पुरुष क्यों न हो, मेरा मन पाण्डवोंके सिवा और कहीं नहीं जाता। अपने पतियोंके भोजन किये बिना मैं भोजन नहीं करती, स्नान किये बिना स्नान नहीं करती और बैठे बिना स्वयं नहीं बैठती। जब-जब मेरे पति घरमें आते हैं, तभी मैं खड़ी होकर आसन और जल देकर उनका सत्कार करती हूँ। मैं घरके बर्तनोंको माँज-धोकर साफ रखती हूँ, मधुर रसोई तैयार करती हूँ, समयपर भोजन कराती हूँ। घरमें गुप्त रूपसे अनाजका संचय रखती हूँ और घरको झाड़-बुहारकर साफ रखती हूँ। मैं बातचीतमें किसीका तिरस्कार नहीं करती, कुलटा स्त्रियोंको पास नहीं फटकने देती और सदा ही पतियोंके अनुकूल रहकर आलस्यसे दूर रहती हूँ। सदा ही सत्य भाषण और पतिसेवामें तत्पर रहती हूँ। पतिदेवके बिना अकेली रहना मुझे बिलकुल पसंद नहीं है। जब किसी कौटुम्बिक कार्यसे पतिदेव बाहर जाते हैं, तब मैं पुष्प और चन्दनादिको छोड़कर नियम और व्रतोंका पालन करते हुए रहती हूँ। मेरे पति जिस चीजको नहीं खाते, नहीं पीते अथवा सेवन नहीं करते, उससे मैं भी दूर रहती हूँ। स्त्रियोंके लिये शास्त्रने जो-जो बातें बतायी हैं, उन सबका मैं पालन करती हूँ। पति जब घरमें रहते हैं तब शरीरको यथाप्राप्त वस्त्रालंकारोंसे सुसज्जित रखती हूँ तथा सर्वदा सावधान रहकर पतिदेवका प्रिय करनेमें तत्पर रहती हूँ।

'सासजीने मुझे कुटुम्बसम्बन्धी जो-जो धर्म बताये हैं, उन सबका मैं पालन करती हूँ। भिक्षा देना, पूजन, श्राद्ध, त्यौहारोंपर पक्वान्न बनाना, माननीयोंका सत्कार करना तथा और भी जो-जो धर्म मेरे लिये विहित हैं, उन सभीका मैं सावधानीसे रात-दिन आचरण करती हूँ। मैं विनय और नियमोंको सर्वदा सब प्रकार अपनाये रहती हूँ। मेरे पति मृदुलचित्त, सरलस्वभाव, सत्यनिष्ठ और सत्यधर्मका ही पालन करनेवाले हैं। मेरे विचारसे तो स्त्रियोंका पतिके अधीन रहना ही सनातनधर्म है, वही उनका इष्टदेव है और वही आश्रय है। मैं अपने पतियोंसे ऊँची होकर कभी नहीं रहती। उनसे अच्छा भोजन नहीं करती और न कभी सासजीसे ही वाद-विवाद करती हूँ तथा सदा ही संयमका पालन करती हूँ। बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें लगी रहती हूँ। इसीसे पति मेरे अनुकूल रहते हैं। वीरमाता, सत्यवादिनी कुन्तीकी मैं भोजन, वस्त्र और जल आदिसे सदा ही सेवा करती रहती हूँ। भोजनादिमें मैं कभी भी उनकी अपेक्षा अपने लिये कोई विशेषता नहीं रखती। जिस समय इन्द्रप्रस्थमें रहकर महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी-पालन करते थे, उस समय महाराज युधिष्ठिरके महलमें नित्यप्रति आठ हजार ब्राह्मण सुवर्णके पात्रोंमें भोजन किया करते थे। महाराज युधिष्ठिर अट्ठासी हजार गृहस्थ स्नातकोंका भरण-पोषण करते थे और उनके दस हजार दासियाँ थीं। पर मुझे उनके नाम, रूप, भोजन, वस्त्र—सभी बातोंका पता रहता था और इस बातकी भी मैं निगाह रखती थी कि किसने क्या काम कर लिया है और क्या नहीं किया। मतिमान् कुन्तीनन्दनकी दस हजार

दासियाँ हाथोंमें थाल लिये दिन-रात अतिथियोंको भोजन कराती थीं। उस समय महाराज युधिष्ठिरके साथ एक लाख घोड़े और एक लाख हाथी चलते थे। उनकी गणना और प्रबन्ध मैं ही करती थी और मैं ही उनकी आवश्यकताएँ सुनती थीं। अन्तःपुरके ग्वालों और गड़रियोंसे लेकर सभी सेवकोंके काम-काजकी देख-रेख मैं ही किया करती थी।

'यशस्विनी सत्यभामे! महाराजकी जो कुछ आमदनी, व्यय और बचत होती थी, उस सबका विवरण मैं अकेली ही रखती थी। पाण्डवलोग कुटुम्बका सारा भार मेरे ऊपर छोड़कर पूजा-पाठमें लगे रहते थे और आये-गयोंका स्वागत-सत्कार करते थे तथा मैं सब प्रकारके सुख छोड़कर उसकी सँभाल रखती थी। मेरे धर्मात्मा पतियोंका वरुणके भण्डारके समान जो (गुप्त) अटूट खजाना था, उसका पता भी एक मुझको ही था। मैं भूख-प्यासको सहकर रात-दिन पाण्डवोंकी सेवामें लगी रहती। मैं सदा ही सबसे पहले उठती थी और सबसे पीछे सोती थी।'

द्रौपदीकी ये धर्मयुक्त बातें सुनकर सत्यभामाने उसका आदर करते हुए कहा—'पाञ्चाली! मेरी एक प्रार्थना है, तुम मेरे कहे-सुनेकी क्षमा करना। सखियोंमें तो जान-बूझकर भी ऐसी हँसीकी बातें कह दी जाती हैं।'

द्रौपदी बोली—'सत्ये! मैं पतिके चित्तको अपने अनुकूल करनेका यह निर्दोष मार्ग बताती हूँ। यदि तुम इसपर चलोगी तो अपने स्वामीके मनको अपनी ओर खींच लोगी।'

नैतादृशं दैवतमस्ति सत्ये
सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु।
यथा पतिस्तस्य तु सर्वकामा
लभ्याः प्रसादात्कुपितश्च हन्यात्॥

(महा० वन० २३४। २)

'सत्ये! स्त्रीके लिये इस लोक या परलोकमें पतिके समान कोई दूसरा देवता नहीं है। उसकी प्रसन्नता होनेपर वह सब प्रकारके सुख पा सकती है और असंतुष्ट होनेपर अपने सब सुखोंको मिट्टीमें मिला देती है।'

'हे साध्वी! सांसारिक भोगरूप सुखके द्वारा सुख कभी नहीं मिल सकता, सुख-प्राप्तिका साधन तो (न्याययुक्त) दुःखको सहन करना है। अतः तुम सुहृदता, प्रेम, परिचर्या, कार्यकुशलता और तरह-तरहके पुष्प और चन्दनादिसे श्रीकृष्णकी सेवा करो तथा जिस प्रकार वे यह समझें कि मैं इसे प्यारा हूँ, तुम वैसा ही कार्य करो। जब तुम्हारे कानमें पतिदेवके द्वारपर आनेकी आवाज पड़े, तब तुम आँगनमें खड़ी होकर उनके स्वागतके लिये तैयार रहो और जब वे भीतर आ जायँ, तुरन्त ही आसन और पैर धोनेके लिये जल देकर उनका सत्कार करो।'

सम्प्रेषितायामथ चैव दास्या-
मुत्थाय सर्वं स्वयमेव कार्यम्।
जानातु कृष्णस्तव भावमेतं
सर्वात्मना मां भजतीति सत्ये॥

(महा० वन० २३४। ७)

'हे सत्यभामा! यदि तुम्हारे पति किसी कामके लिये दासीको आज्ञा दें तो भी तुम दासीको काम करनेसे रोककर उस सब कामको आप ही करो; श्रीकृष्णको यह मालूम होना चाहिये कि सत्यभामा सब प्रकारसे मुझे ही चाहती है।'

'तुम्हारे पति यदि तुमसे कोई ऐसी बात कहें कि जिसे गुप्त रखना आवश्यक न हो तो भी तुम उसे किसीसे मत कहो। पतिदेवके जो प्रिय, स्नेही और हितैषी हों, उन्हें तरह-तरहके भोजन कराओ तथा जो उनके शत्रु, उपेक्षणीय और अशुभचिन्तक हों अथवा उनके प्रति कपटभाव रखते हों, उनसे सर्वदा दूर रहो। प्रद्युम्न और साम्ब यद्यपि तुम्हारे पुत्र ही हैं तो भी एकान्तमें तो उनके पास भी मत बैठो।'

महाकुलीनाभिरपापिकाभिः
स्त्रीभिः सतीभिस्तव सख्यमस्तु।
चण्डाश्च शौण्डाश्च महाशनाश्च
चौराश्च दुष्टाश्चपलाश्च वर्ज्याः॥

(महा० वन० २३४। ११)

'जो अत्यन्त कुलीन, दोषरहित और सती हों, उन्हीं स्त्रियोंसे तुम्हारा प्रेम होना चाहिये। क्रूर, लड़ाकी, पेटू, चोरीकी आदतवाली, दुष्ट और चंचल स्वभावकी स्त्रियोंसे सदा दूर रहो।'

'इस प्रकार तुम सब तरह अपने पतिदेवकी सेवा करो। इससे तुम्हारे यश और सौभाग्यकी वृद्धि होगी।'

सत्यभामा और द्रौपदीका यह संवाद महाभारत वनपर्वके २३३ और २३४ वें अध्यायमें विस्तारसे वर्णित है। यहाँ संक्षेपमें दिया गया है, विस्तार देखना चाहें तो उक्त ग्रन्थमें देखें।

अतः पतिव्रता स्त्रीको उचित है कि वह अपने

पास जाओ और सूर्योदयकी कामनासे उन्हें प्रसन्न करो।' तब देवताओंने जाकर अनसूयाजीको प्रसन्न किया। वे बोलीं—'तुम क्या चाहते हो, बतलाओ।' देवताओंने याचना की कि 'पूर्ववत् दिन होने लगे।' अनसूयाने कहा—'देवताओ! पतिव्रताका प्रभाव किसी प्रकार कम नहीं हो सकता, इसलिये मैं उस साध्वीको मनाकर सूर्योदयकी चेष्टा करूँगी।'

यों कहकर अनसूयादेवी उस ब्राह्मणीके पास गयीं और कुशल-प्रश्नके अनन्तर बोलीं—'कल्याणी ! पतिकी सेवासे ही मुझे महान् फलकी प्राप्ति हुई है तथा सम्पूर्ण कामनाओं एवं फलोंकी प्राप्तिके साथ ही मेरे सारे विघ्न भी दूर हो गये। साध्वी! मनुष्यको ये पाँच ऋण सदा ही चुकाने चाहिये—अपने वर्णधर्मके अनुसार धनका संग्रह करना, उसके प्राप्त होनेपर शास्त्रविधिके अनुसार उसका सत्पात्रको दान करना, सत्य, सरलता, तपस्या, दान और दयासे युक्त रहना, राग-द्वेषका त्याग करना और शास्त्रोक्त कर्मोंका यथाशक्ति प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करना। ऐसा करनेसे मनुष्य उत्तम लोकोंको प्राप्त होता है। पतिव्रते ! इस प्रकार महान् क्लेश उठानेपर पुरुषोंको प्राजापत्य आदि लोकोंकी प्राप्ति होती है। परंतु स्त्रियाँ केवल पतिकी सेवा करनेमात्रसे पुरुषोंके दुःख सहकर उपार्जित किये हुए पुण्यका आधा भाग प्राप्त कर लेती हैं। स्त्रियोंके लिये पति-सेवाके सिवा यज्ञ, श्राद्ध या उपवासका विधान नहीं है। वे पतिकी सेवामात्रसे ही उन अभीष्ट लोकोंको पा लेती हैं। अतः महाभागे ! तुम्हें सदा पतिकी सेवामें अपना मन लगाना चाहिये; क्योंकि स्त्रीके लिये पति ही परम गति है।'*

अनसूयाजीके वचन सुनकर पतिव्रता ब्राह्मणीने बड़े आदरके साथ उनका पूजन किया और कहा—'स्वभावतः सबका कल्याण करनेवाली देवी! स्वयं आप यहाँ पधारकर पतिकी सेवामें मेरी पुनः श्रद्धा बढ़ा रही हैं। इससे मैं धन्य हो गयी। यह आपका मुझपर बहुत बड़ा अनुग्रह है। इससे देवताओंने भी यहाँ आकर आज मुझपर कृपादृष्टि की है। मैं जानती हूँ कि स्त्रियोंके लिये पतिके समान दूसरी कोई गति नहीं है। यशस्विनि! पतिके प्रसादसे ही नारी इस लोक और परलोकमें भी परम सुख पाती है; क्योंकि पति ही नारीका देवता है। महाभागे! आज आप मेरे यहाँ पधारी हैं। मुझसे अथवा मेरे इन पतिदेवसे आपको जो भी कार्य हो, बतानेकी कृपा करें।'

अनसूयाजी बोलीं—'देवि! तुम्हारे वचनसे दिन-रातकी व्यवस्थाका लोप हो जानेके कारण शुभ कर्मोंका अनुष्ठान बंद हो गया है, इसलिये ये इन्द्रादि देवता दुःखी होकर मेरे पास आये हैं और प्रार्थना करते हैं कि दिन-रातकी व्यवस्था पहलेकी तरह ही अखण्डरूपसे चलती रहे। मैं इसीके लिये तुम्हारे पास आयी हूँ। मेरी यह बात सुनो। देवि! सूर्यके उदय न होनेसे सम्पूर्ण यज्ञ आदि शुभ कर्मोंका नाश हो जायगा और उनके नाशसे देवताओंकी पुष्टि नहीं होगी, जिससे वृष्टिमें बाधा पड़नेके कारण इस संसारका ही उच्छेद हो जायगा। अतः तुम सम्पूर्ण लोकोंपर दया करो, जिससे पहलेकी तरह सूर्योदय हो।'

ब्राह्मणीने कहा—'महाभागे! माण्डव्य ऋषिने अत्यन्त क्रोधमें भरकर मेरे ईश्वररूप स्वामीको शाप दिया है कि तू सूर्योदय होते ही मर जायगा।' अनसूयाजी बोलीं—'यदि तुम्हारी इच्छा हो तो, मैं तुम्हारे पतिको पूर्ववत् शरीर एवं नयी स्वस्थ अवस्थावाला कर दूँगी। मुझे पतिव्रता स्त्रियोंके माहात्म्यका सर्वथा आदर करना है, इसीलिये तुम्हें मानती हूँ।'

ब्राह्मणीके 'तथास्तु' कहकर स्वीकार करनेपर तपस्विनी अनसूयाने अर्घ्य हाथमें लेकर सूर्यदेवका आवाहन किया। उस समय दस दिनोंके बराबर रात बीत चुकी थी। तदनन्तर भगवान् सूर्यदेव उदित हो गये। सूर्यदेवके प्रकट होते ही ब्राह्मणीका पति प्राणहीन होकर पृथ्वीपर गिरा, किंतु उसकी पत्नीने गिरते समय उसे पकड़ लिया।

अनसूया बोलीं—'तुम विषाद न करना। पतिकी सेवासे जो तपोबल मुझे प्राप्त हुआ है, उसे तुम अभी देखो। मैंने जो रूप, शील, बुद्धि एवं मधुर भाषण आदि सद्गुणोंमें अपने पतिके समान दूसरे किसी पुरुषको कभी नहीं देखा है तो उस सत्यके प्रभावसे यह ब्राह्मण रोगसे मुक्त हो फिरसे तरुण हो जाय और अपनी स्त्रीके साथ सौ वर्षोंतक जीवित रहे।'

अनसूया देवीके इतना कहते ही वह ब्राह्मण अपनी प्रभासे उस भवनको प्रकाशमान करता हुआ रोगमुक्त होकर तरुण-शरीरसे जीवित हो उठा, मानो जरावस्थासे रहित देवता हो। तत्पश्चात् देवताओंके दुन्दुभि आदि बाजोंकी आवाजके साथ वहाँ फूलोंकी

* नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न श्राद्धं नाप्युपोषितम्। भर्तृशुश्रूषयैवैतान् लोकानिष्टान् व्रजन्ति हि॥
तस्मात् साध्वि महाभागे पतिशुश्रूषणं प्रति। त्वया मतिः सदा कार्या यतो भर्ता परा गतिः॥ (मार्कण्डेय० १६। ६१-६२)

वर्षा होने लगी। देवताओंको बड़ा आनन्द मिला। वे अनसूया देवीसे कहने लगे—'आपने देवताओंका बहुत बड़ा कार्य किया है। इससे प्रसन्न होकर देवता आपको वर देना चाहते हैं। आप कोई वर माँगें।' अनसूया बोलीं—'यदि ब्रह्मा आदि देवता मुझपर प्रसन्न होकर वर देना चाहते हैं तो मेरी यही इच्छा है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव मेरे पुत्रके रूपमें प्रकट हों तथा अपने स्वामीके साथ मैं उस योगको प्राप्त करूँ, जो समस्त क्लेशोंसे मुक्ति देनेवाला है।'

यह सुनकर ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि देवताओंने 'एवमस्तु' कहा और तपस्विनी अनसूयाका सम्मान करके वे सब अपने-अपने धामको चले गये।

तदनन्तर बहुत समय व्यतीत होनेके बाद अनसूयाके तीन पुत्र हुए। ब्रह्माके अंशसे चन्द्रमा, विष्णुके अंशसे दत्तात्रेय और शंकरके अंशसे दुर्वासा हुए।

पतिव्रता ब्राह्मणीकी यह कथा मार्कण्डेयपुराणमें है। यहाँ इसको संक्षेपसे दिया है। विस्तार देखना चाहें तो उक्त ग्रन्थमें देखना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णका उपदेश

इसलिये स्त्रियोंको पातिव्रतधर्मके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये। पतिव्रता स्त्रियोंका धर्म क्या है, इस विषयमें ब्रह्मवैवर्तपुराणमें भगवान् श्रीकृष्णने श्रीनन्दजीको जो बातें बतलायी हैं, वे बड़े महत्त्वकी हैं। भगवान् कहते हैं—

पतिव्रतानां यो धर्मस्तं निबोध व्रजेश्वर।
नित्यं तु भर्तयौत्सुक्यात् तत्पादोदकमीप्सितम्॥
भक्तिभावेन सततं भोक्तव्यं तदनुज्ञया।

(श्रीकृष्णजन्मखण्ड ८३। १११-११२)

'हे व्रजेश्वर! पतिव्रता स्त्रियोंका जो धर्म है, उसे आप मुझसे सुनिये। उसे चाहिये कि प्रतिदिन पति-सेवामें उत्साह रखकर पतिदेवकी आज्ञासे निरन्तर भक्तिपूर्वक उसके चरणामृतका पान करे, जो कि स्त्रियोंके लिये सदा अभीष्ट है।'

व्रतं तपस्यां देवार्चां परित्यज्य प्रयत्नतः।
कुर्याच्चरणसेवां च स्तवनं परितोषणम्।
तदाज्ञारहितं कर्म न कुर्याद् वैरतः सती॥

(श्रीकृष्णजन्मखण्ड ८३। ११२-११३)

'व्रत, तपस्या, देवपूजन आदि कार्योंको छोड़कर पहले अपने पतिके चरणोंकी सेवा सावधानीके साथ यत्नपूर्वक करे तथा उनकी स्तुति करके उनको संतुष्ट करे। सती स्त्रीको चाहिये कि मनोमालिन्यके कारण उनकी आज्ञाके विरुद्ध कोई भी कर्म न करे।'

नारायणात् परं कान्तं ध्यायते सततं सती।
परपुंसां मुखं चैव सुवेषपुरुषं परम्॥
यात्रामहोत्सवं नृत्यं नर्तनं गायनं व्रज।
परक्रीडां च सततं न हि पश्यति सुव्रता॥

(श्रीकृष्णजन्मखण्ड ८३। ११४-११५)

'साध्वी स्त्री भगवान् नारायणसे भी बढ़कर पतिको समझती हुई उसका सदा ध्यान करती है। दूसरे पुरुषोंका मुख नहीं देखती तथा गहनों-कपड़ोंसे सुसज्जित पर-पुरुषकी ओर तो कभी नहीं देखती। पतिव्रता स्त्री यात्रा और अन्य बड़े-बड़े महोत्सवोंको तथा नाच, गान आदि खेल-तमाशोंको, दूसरोंके हास-विलासको कभी नहीं देखा करती।'

यद् भक्ष्यं स्वामिनो नित्यं तदेवमपि योषिताम्।
न हि त्यजेत् तु तत्सङ्गं क्षणमेव च सुव्रता॥

(श्रीकृष्णजन्मखण्ड ८३। ११६)

'जो उसके पतिका भोजन होता है, वही भोजन स्त्रियोंके लिये भी श्रेष्ठ होता है। पतिव्रताको चाहिये कि अपने पतिका सङ्ग एक क्षणके लिये भी परित्याग न करे।'

उत्तरे नोत्तरं दद्यात् स्वामिनश्च पतिव्रता।
न कोपं कुरुते शुद्धा ताडिता चापि कोपिता॥

(श्रीकृष्णजन्मखण्ड ८३। ११७)

'और अपने पतिके साथ उत्तर-प्रत्युत्तर न करे। उस शुद्ध स्वभाववाली स्त्रीको चाहिये कि अपने पतिद्वारा ताड़ना दी जानेपर या पतिके क्रोध करनेपर भी पतिपर क्रोध न करे।'

क्षुधितं भोजयेत् कान्तं दद्यात् पानं च भोजनम्।
न बोधयेत् तं निद्रालुं प्रेरयेन्नैव कर्मसु॥

(श्रीकृष्णजन्मखण्ड ८३। ११८)

'अपने प्यारे पतिको जब वह भूखा हो तो उसे भोजन करावे, उसे खाने-पीनेकी वस्तुएँ आदरपूर्वक अर्पण करे। जब वह सोया हुआ हो, उस समय जगावे नहीं तथा कोई कर्म करनेके लिये प्रेरणा भी न करे।'

पुत्राणां च शतगुणं स्नेहं कुर्यात् पतिं सती।
पतिर्बन्धुर्गतिर्भर्ता दैवतं कुलयोषितः॥

(श्रीकृष्णजन्मखण्ड ८३। ११९)

'सती स्त्रीको चाहिये कि पुत्रोंकी अपेक्षा सौगुना प्रेम पतिके साथ करे। कुलवती स्त्रियोंके लिये पति ही मित्र है, पति ही गति है, पति ही देवता है।'

शुभं दृष्ट्वा सुधातुल्यं कान्तं पश्यति सुन्दरी।
सस्मितं वदनं कृत्वा भक्तिभावेन यत्नतः॥

(श्रीकृष्णजन्मखण्ड ८३। १२०)

'सुन्दरी स्त्री सावधानीके साथ भक्तिपूर्वक मुसकराती हुई माङ्गलिक वस्तुको अमृतके सदृश देखकर प्रियतम पतिदेवका दर्शन किया करती है।'

भगवान् श्रीकृष्ण श्रीनन्दरायजीसे स्त्रियोंका आदर्श सदाचार बतलाते हुए कहते हैं—

सा शुद्धा प्रातरुत्थाय नमस्कृत्य पतिं सुरम्।
प्राङ्गणे मङ्गलं दद्याद् गोमयेन जलेन च॥
गृहकृत्यं च कृत्वा च स्नात्वाऽऽगत्य गृहं सती।
सुरं विप्रं पतिं नत्वा पूजयेद् गृहदेवताम्॥
गृहकृत्यं सुनिर्वर्त्य भोजयित्वा पतिं सती।
अतिथिं पूजयित्वा च स्वयं भुङ्क्ते सुखं सती॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ८४। १५। १७)

'उस सती स्त्रीको चाहिये कि प्रातःकाल उठकर हाथ-मुँह धोकर पति एवं इष्टदेवको प्रणाम करके अपने आँगनको जलसे धोकर और गोबरसे लीपकर माङ्गलिक वस्तुओंसे सुसज्जित करे। फिर घरका कार्य करके स्नानके अनन्तर घरपर आकर देवता, ब्राह्मण और पतिको नमस्कार करके घरके देवताओंकी पूजा करे। इसके बाद घरके काम भलीभाँति करके पतिको भोजन कराके अतिथि-सेवा करे और उसके बाद स्वयं भी सुखपूर्वक भोजन करे।'

यमराजका उपदेश

वाराहपुराणमें यमराज नारदमुनिसे पतिव्रताका प्रभाव बतलाते हुए कहते हैं—

एकदृष्टिरेकमना भर्तुर्वचनकारिणी।
तस्या बिभीमहे सर्वे ये तथान्ये तपोधन॥

(वाराह० २०९। ६)

'हे तपोधन नारदजी! जो पतिव्रता एकमात्र अपने पतिमें ही दृष्टि और मनको लगाये रहती है तथा उसकी आज्ञाका पालन करती है, उससे हम (यमराज) तथा और जो दूसरे देवता हैं, वे सब डरते रहते हैं।'

देवानामपि सा साध्वी पूज्या परमशोभना।
भर्त्रा चाभिहिता यापि न प्रत्याख्यायिनी भवेत्॥

(वाराह० २०९। ७)

'जो पतिके द्वारा अपमानित की जानेपर भी उनको प्रत्युत्तर नहीं देती, वह परम शोभना पतिव्रता साध्वी स्त्री देवताओंके द्वारा भी पूजा करनेके योग्य है।'

एवं या तु भवेन्नित्यं भर्तुः प्रियहिते रता।
अनुवेष्टनभावेन भर्त्तारमनुगच्छति॥
सा तु मृत्युमुखद्वारं न गच्छेद् ब्रह्मसम्भव।

(वाराह० २०९। ९-१०)

'इस प्रकार जो नित्यप्रति पतिके प्रिय कार्य और हितमें लगी रहती है तथा उनकी अनुचरीके भावसे पतिके साथ-साथ चलती है, हे ब्रह्मपुत्र! वह यमराजके मुखद्वारको नहीं देखती।'

एष माता पिता बन्धुरेष मे दैवतं परम्।
एवं शुश्रूषते या तु सा मां विजयते सदा॥

(वाराह० २०९। ११)

'जो सती स्त्री ऐसा समझकर कि ये पतिदेव ही मेरे माता, पिता, बन्धु हैं, ये ही मेरे परमदेव हैं, उनकी सेवा करती है, वह सदा मुझ (यमराज) को जीत लेती है।'

पतिव्रता तु या साध्वी तस्यां चाहं कृताञ्जलिः।
भर्त्तारमनुध्यायन्ती भर्त्तारमनुगच्छती॥
भर्त्तारमनुशोचन्ती मृत्युद्वारं न पश्यति।

(वाराह० २०९। १२-१३)

'जो साध्वी पतिव्रता स्त्री है, उसके सामने मैं हाथ जोड़े रहता हूँ। जो अपने पतिका ही ध्यान करती है और पतिके ही पीछे चलती है, पतिके हितकी चिन्ता करती रहती है, वह यमराजके द्वारको नहीं देखती।'

स्नान्ती च तिष्ठती वापि कुर्वन्ती वा प्रसाधनम्।
नान्यं या मनसा पश्येन्मृत्युद्वारं न पश्यति॥

(वाराह० २०९। १४-१५)

'जो स्नान करती हुई, खड़ी हुई या शृङ्गार करती हुई अपने पतिको छोड़कर किसी दूसरेकी ओर मनसे भी नहीं देखती, वह यमराजका द्वार नहीं देखती।'

चक्षुर्देहश्च भावश्च यस्या नित्यं सुसंवृतम्।
शौचाचारसमायुक्ता सापि मृत्युं न पश्यति॥

(वाराह० २०९। १७-१८)

'जिसके नेत्र, शरीर और भाव सदा ही भलीभाँति ढके हुए रहते हैं, जो शौचाचारसे सम्पन्न रहती है, वह भी यमराजका दर्शन नहीं करती।'

भर्तुर्मुखं प्रपश्येद् या भर्तुश्चित्तानुसारिणी।
वर्तते च हिते भर्तुर्मृत्युद्वारं न पश्यति॥

(वाराह० २०९। १८-१९)

'जो स्त्री पतिका मुख देखती रहती है, जो पतिके मनके अनुकूल चलती है, जो पतिके हितमें बर्तती है, वह यमराजके द्वारको नहीं देखती।'

पतिव्रता सतीकी महिमा

पतिव्रता नारीके पातिव्रत्यके प्रभावसे उसे तथा उसके पतिको भी मृत्युका भय नहीं रहता। उसके तेजसे समस्त देवता भय मानते हैं। पतिव्रताकी शक्ति बड़ी विलक्षण होती है। श्रीकृष्णभगवान् नन्दरायजीसे कहते हैं—

नास्ति तेषां कर्मभोगः सतीनां व्रततेजसाम्।
तया सार्धं च निष्कर्मी मोदते हरिमन्दिरे॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ८३। १२२)

'पातिव्रत्यके तेजसे विभूषित उन सती स्त्रियोंके लिये कर्मोंका फल भोगना शेष नहीं रहता; बल्कि उनका पति भी कर्मसंस्कारोंसे रहित होकर उसीके साथ भगवान्‌के परम धाममें सुखपूर्वक निवास करता है।'

पृथिव्यां यानि तीर्थानि सतीपादेषु तान्यपि।
तेजश्च सर्वदेवानां मुनीनां च सतीषु च॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ८३। १२३)

'पृथ्वीमें जितने भी तीर्थ हैं, वे सब-के-सब सती स्त्रियोंके चरणोंमें विराजमान रहते हैं तथा समस्त देवताओंका और मुनियोंका तेज भी सती स्त्रियोंमें रहता है।'

तपस्विनां तपः सर्वं व्रतिनां यत् फलं व्रज।
दाने फलं यद् दातॄणां तत् सर्वं तासु संततम्॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ८३। १२४)

'हे व्रजेश्वर! तपस्वियोंका सम्पूर्ण तप, व्रत करनेवालोंका समस्त फल तथा दान देनेका जो फल दान देनेवालोंको मिलता है, वह सब उन पतिव्रताओंको सदा मिलता रहता है।'

स्वयं नारायणः शम्भुर्विधाता जगतामपि।
सुराः सर्वे च मुनयो भीतास्ताभ्यश्च संततम्॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ८३। १२५)

'स्वयं नारायण, जगत्स्रष्टा ब्रह्मा और शिव तथा समस्त देवता और मुनिजन (पतिव्रताओंका अप्रिय करनेमें) सदा उनसे डरते रहते हैं।'

सतीनां पादरजसा सद्यः पूता वसुन्धरा।
पतिव्रतां नमस्कृत्वा मुच्यते पातकान्नरः॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ८३। १२६)

'सतियोंकी चरणधूलिसे पृथ्वी तत्काल पवित्र हो जाती है। पापी मनुष्य पतिव्रता स्त्रीको प्रणाम करके पापोंसे छूट जाता है।'

सतीनां च पतिः साधुः पुत्रो निश्शङ्क एव च।
न हि तस्य भयं किञ्चिद् देवेभ्यश्च यमादपि॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ८३। १२८)

'सती स्त्रियोंका पति साधु-स्वभाववाला हो जाता है। उनका पुत्र भी निर्भय हो जाता है, उसको देवताओंसे या स्वयं यमराजसे भी कुछ भय नहीं रहता।'

इस विषयमें पतिव्रता सावित्रीका आख्यान प्रसिद्ध ही है। अतः उसका अनुशीलन करना चाहिये।

पतिव्रता सावित्री

मद्रदेशमें अश्वपति नामके एक बड़े ही धार्मिक और ब्राह्मणसेवी राजा थे। वे अत्यन्त उदारहृदय, सत्यनिष्ठ, जितेन्द्रिय, दानी, चतुर, पुरवासी और देशवासियोंके प्रिय, समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले और क्षमाशील थे। उनके सावित्री देवीकी उपासना करनेपर सावित्रीकी कृपासे एक कन्या हुई, जिसका नाम ब्राह्मणों और राजाने 'सावित्री' रखा। सावित्रीको युवती देखकर उसके गुणोंके अनुरूप कोई वर न मिलनेपर राजा अश्वपतिने एक दिन उससे कहा—'बेटी! तू अपने योग्य वरको स्वयं ही खोज ले; क्योंकि धर्मशास्त्रकी आज्ञा है कि विवाहके योग्य हो जानेपर जो कन्यादान नहीं करता, वह पिता निन्दनीय है; ऋतुकालमें जो स्त्रीसमागम नहीं करता, वह पति निन्दाका पात्र है और पतिके मर जानेपर जो उस विधवा माताकी सेवा और

पालन नहीं करता, वह पुत्र निन्दनीय है। अत: तू शीघ्र ही वरकी खोज कर ले।' पुत्रीसे यों कहकर उन्होंने अपने बूढ़े मन्त्रियोंको आज्ञा दी कि 'आपलोग सवारी लेकर सावित्रीके साथ जायँ।'

तपस्विनी सावित्रीने कुछ सकुचाते हुए पिताकी आज्ञा स्वीकार की और उनके चरणोंमें नमस्कार करके सोनेके रथमें चढ़कर बूढ़े मन्त्रियोंके साथ वरकी खोज करनेके लिये चल दी। वह राजर्षियोंके रमणीय तपोवनोंमें गयी और उन माननीय वृद्ध पुरुषोंके चरणोंकी वन्दना करके फिर क्रमशः सब वनोंमें भी विचरती रही।

एक दिन मद्रराज अश्वपति अपनी सभामें बैठे हुए देवर्षि नारदसे बातें कर रहे थे, उसी समय मन्त्रियोंके सहित सावित्री समस्त तीर्थोंमें विचरकर अपने पिताके घर पहुँची। उसने पिताजी तथा नारदजीको भी प्रणाम किया। उसे देखकर नारदजीने पूछा—'राजन्! यह युवती हो गयी है, फिर भी आप इसका विवाह क्यों नहीं करते?' अश्वपतिने कहा—'इसे मैंने वर खोज लेनेके लिये ही भेजा था और यह आज ही लौटी है। आप इसीसे पूछिये, इसने किसको चुना है।' फिर पिताके यह कहनेपर कि तू अपना वृत्तान्त सुना, सावित्रीने कहा—'शाल्व देशके राजा द्युमत्सेन राज्य छिन जानेसे वनमें तपस्या कर रहे हैं, उनके कुमार सत्यवान् मेरे अनुरूप हैं और मैंने मनसे उन्हींको अपने पतिरूपसे वरण किया है।'

राजाने नारदजीसे पूछा—'राजकुमार सत्यवान् तेजस्वी, बुद्धिमान्, क्षमावान् और शूरवीर तो है न?' नारदजी बोले—'वह द्युमत्सेनका पुत्र सूर्यके समान तेजस्वी, बृहस्पतिके समान बुद्धिमान्, इन्द्रके समान वीर, पृथ्वीके समान क्षमाशील, रन्तिदेवके समान दाता, उशीनरके पुत्र शिबिके समान (शरणागतरक्षक), ब्रह्मण्य और सत्यवादी, ययातिके समान उदार, चन्द्रमाके समान प्रियदर्शन और अश्विनीकुमारोंके समान अद्वितीय रूपवान् है। वह जितेन्द्रिय, मृदुलस्वभाव, शूरवीर, मिलनसार, ईर्ष्याहीन, लज्जाशील और तेजस्वी है।' अश्वपतिने कहा—आप उसे सभी गुणोंसे सम्पन्न बता रहे हैं; यदि उसमें कोई दोष हों तो वे भी बताइये।' नारदजी बोले—'उसमें एक दोष है, जिससे उसके सारे गुण दबे हुए हैं। वह दोष यह है कि आजसे ठीक एक वर्ष बीतनेपर सत्यवान् देह त्याग देगा।'

तब राजाने सावित्रीसे कहा—'बेटी! तू पुन: जाकर दूसरे वरकी खोज कर।' इसपर सावित्री बोली—'पिताजी! भाई-भाईके हिस्सेका बँटवारा एक बार ही होता है, कन्यादान एक बार ही किया जाता है और 'मैंने दिया' ऐसा संकल्प भी एक बार ही होता है। ये तीन बातें एक-एक बार ही हुआ करती हैं। अब तो जिसे मैंने एक बार वरण कर लिया—वह दीर्घायु हो अथवा अल्पायु तथा गुणवान् हो अथवा गुणहीन—वही मेरा पति होगा, किसी अन्य पुरुषको मैं नहीं वर सकती। पहले मनसे निश्चय करके फिर वाणीसे कहा जाता है और उसके बाद कर्मद्वारा किया जाता है। अत: इसमें मेरे लिये मेरा मन ही प्रमाण है।'*

नारदजी बोले—'राजन्! सावित्रीकी बुद्धि निश्चयात्मिका है। इसे किसी भी प्रकार इस धर्मसे विचलित नहीं किया जा सकता। अत: इसका सत्यवान्के साथ ब्याह कर देना ही ठीक जँचता है।' यह कहकर नारदजी चले गये।

नारदजीकी आज्ञा मानकर राजा अश्वपति वैवाहिक सामग्री तथा ब्राह्मणोंको साथ लेकर कन्याके सहित राजा द्युमत्सेनके आश्रममें गये। वहाँ उन्होंने नेत्रहीन राजा द्युमत्सेनको सालवृक्षके नीचे कुशासनपर बैठे देखा और उनकी यथायोग्य पूजा की तथा विनीत शब्दोंमें अपना परिचय दिया। राजा द्युमत्सेनने अर्घ्य और आसनादिसे राजाका सत्कार किया और पूछा—'कहिये, किस निमित्तसे पधारनेकी कृपा की?' तब अश्वपतिने कहा—'राजर्षे! मेरी यह सावित्री नामकी रूपवती कन्या है, इसे आप धर्मानुसार पुत्रवधूके रूपमें स्वीकार कीजिये।'

द्युमत्सेनने कहा—'हम राज्यसे भ्रष्ट हो चुके हैं और यहाँ वनमें रहकर संयमपूर्वक तपस्वियोंका जीवन व्यतीत करते हैं। आपकी कन्या तो यह सब कष्ट सहन करने योग्य नहीं है।' अश्वपति बोले—'राजन् ! सुख-दु:ख तो आने-जानेवाले हैं, इस बातको मैं और मेरी पुत्री दोनों जानते हैं। मैं तो सब प्रकार निश्चय करके ही आपके पास आया हूँ।'

तब राजा द्युमत्सेनने उनकी बात स्वीकार कर

* सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते। सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्॥
दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा। सकृद् वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम्॥
मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते। क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः॥ (महा० वन० २९४। २६—२८)

ली और आश्रमके सब ब्राह्मणोंको बुलाकर दोनों राजाओंने विधिवत् विवाह-संस्कार कराया। राजा अश्वपतिने वर-कन्याको आभूषण आदि भी दिये। फिर राजा अश्वपति बड़े आनन्दसे अपने भवनको लौट आये। उस सर्वगुणसम्पन्ना भार्याको पाकर सत्यवान्‌को बड़ी प्रसन्नता हुई और अपना मनमाना वर पाकर सावित्रीको भी बड़ा आनन्द हुआ।

पिताके चले जानेपर सावित्रीने सब वस्त्राभूषण उतार दिये और वल्कल वस्त्र पहन लिये। उसकी सेवा, गुण, विनय, संयम और सबके मनके अनुसार काम करनेसे सभीको बहुत संतोष हुआ।

उसने सेवा और वस्त्राभूषणोंके द्वारा सासको और देवताके समान सत्कार करते हुए अपनी वाणीका संयम करके ससुरजीको संतुष्ट किया। इसी प्रकार मधुर भाषण, कार्यकुशलता, शान्ति और सेवा करके पतिदेवको प्रसन्न किया। इस प्रकार वह उन सबकी सेवा करने लगी।

जब बहुत दिन बीत गये, तब अन्तमें वह समय भी आ गया, जिस दिन सत्यवान् मरनेवाला था। जब चार दिन शेष रह गये, तब सावित्रीने तीन दिनका व्रत किया और चौथे दिन सूर्योदयके साथ ही सब आह्निक कृत्य समाप्त किया तथा सभी ब्राह्मण, बड़े-बूढ़े सास और ससुरको प्रणाम किया। जब सत्यवान् कंधेपर कुल्हाड़ी रखकर वनसे समिधा लानेके लिये तैयार हुआ, तब सावित्रीने कहा—'आज मैं भी आपके साथ चलूँगी।' सत्यवान् बोला—'प्रिये! तुम उपवासके कारण भूखी हो और वनका रास्ता बड़ा कठिन होता है।' सावित्रीने कहा—'उपवासके कारण मुझे थकान नहीं है, मेरे मनमें उत्साह है।' सत्यवान् बोला—'अच्छा, यदि तुम्हें चलनेका उत्साह है तो चल सकती हो; किंतु माताजी और पिताजीकी आज्ञा ले लो।'

तब सावित्रीने अपने सास-ससुरको प्रणाम करके कहा—'मेरे स्वामी वनमें जा रहे हैं। यदि आपलोग आज्ञा दें तो आज मैं भी इनके साथ जाना चाहती हूँ।' इसपर द्युमत्सेन बोले—'जबसे तू हमारे आश्रममें आयी है, तबसे मुझे तुम्हारे किसी भी बातके लिये याचना करनेका स्मरण नहीं है। अतः बेटी! तू जा सकती है।' इस प्रकार सास-ससुरकी आज्ञा पाकर सावित्री अपने पति सत्यवान्‌के साथ चल दी।

वीर सत्यवान्‌ने पहले तो अपनी पत्नीके सहित फल बीनकर एक टोकरी भर ली और फिर वह लकड़ियाँ काटने लगा। उस समय श्रमके कारण उसके सिरमें दर्द हो गया। उसने सावित्रीके पास जाकर कहा—'मेरे सिरमें दर्द हो रहा है, सारे शरीरमें दाह-सा होता है; अतः मैं सोना चाहता हूँ।' यह सुनकर सावित्री पतिके पास आयी और उसका सिर गोदीमें रखकर पृथ्वीपर बैठ गयी। इतनेमें ही उसने वहाँ सूर्यके समान तेजस्वी, मुकुटधारी, श्यामशरीर, लाल वस्त्र पहने और हाथमें पाश लिये हुए एक पुरुषको देखा। सावित्री बोली—'आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं?'

यमराजने कहा—'सावित्री! मैं यमराज हूँ। तेरे पतिकी आयु समाप्त हो चुकी है, अतः मैं इसे ले जाऊँगा।' सावित्री बोली—'भगवन्! मनुष्योंको लेनेके लिये तो आपके दूत आया करते हैं। यहाँ स्वयं आप ही कैसे पधारे?' यमराजने कहा—'सत्यवान् धर्मात्मा और गुणोंका समुद्र है। यह मेरे दूतोंद्वारा ले जाये जाने योग्य नहीं है। इसीसे मैं स्वयं आया हूँ।'

इसके बाद यमराज सत्यवान्‌के शरीरसे अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाले सूक्ष्मशरीरधारी जीवात्माको निकालकर दक्षिणकी ओर चल दिये। तब सावित्री भी उनके पीछे-पीछे चली। यह देखकर यमराजने कहा—'सावित्री! तू लौट जा और इसका और्ध्वदैहिक संस्कार कर। तू पति-सेवाके ऋणसे मुक्त हो गयी है।' सावित्री बोली—'मेरे पतिदेव जहाँ जायँगे, वहीं मुझे भी जाना चाहिये, यही सनातनधर्म है। तपस्या, गुरुभक्ति, पतिप्रेम, व्रताचरण और आपकी कृपासे मेरी गति कहीं भी नहीं रुक सकती।'

यमराज बोले—'सावित्री! तेरी युक्तियुक्त बात सुनकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। सत्यवान्‌के जीवनके सिवा कोई भी वर माँग ले।' सावित्रीने कहा—'मेरे ससुर राज्यभ्रष्ट होकर वनमें रहते हैं और उनकी आँखें भी जाती रही हैं। वे आपकी कृपासे नेत्र प्राप्त करें तथा बलवान् और तेजस्वी हो जायँ।' यमराज बोले—'सावित्री ! तूने जो कुछ कहा है, वैसा ही होगा। अब तू लौट जा, जिससे तुझे विशेष श्रम न हो।' सावित्रीने कहा—'पतिदेवके समीप रहते हुए मुझे श्रम कैसे हो सकता है। जहाँ मेरे प्राणनाथ रहेंगे वहीं मैं रहूँगी। इसके सिवा एक बात यह है कि सत्पुरुषोंका तो एक बारका समागम भी अत्यन्त अभीष्ट होता है, उससे भी बढ़कर उनके साथ प्रेम हो जाना है। संत-समागम निष्फल कभी नहीं होता, अतः सर्वदा सत्पुरुषोंके ही साथ रहना चाहिये।'

यमराज बोले—'सावित्री! तूने जो हितकी बात कही है, वह मुझे बड़ी अच्छी लगती है। अतः इस सत्यवान्‌के जीवनके सिवा तू दूसरा वर और माँग ले।' सावित्रीने कहा—'मेरे ससुरजीका राज्य छीन लिया गया है, वह उन्हें स्वयं ही प्राप्त हो जाय और वे अपने धर्मपर डटे रहें।' यमराज बोले—'ऐसा ही होगा, अब तू लौट जा।' सावित्रीने कहा—'देव! इस सारी प्रजाका आप नियमन करते हैं, इसीसे आप यम कहे जाते हैं तथा मन, वचन और कर्मसे समस्त प्राणियोंके प्रति अद्रोह, सबपर कृपा करना और दान देना—यह सत्पुरुषोंका सनातन धर्म है।'

यमराज बोले—'कल्याणी! तेरी बात मुझे बड़ी प्रिय लगती है। तू सत्यवान्‌के जीवनके सिवा तीसरा अभीष्ट वर और माँग ले।' सावित्रीने कहा—'मेरे पिता राजा अश्वपति पुत्रहीन हैं, उनके सौ औरस पुत्र हों। यमराज बोले—'तेरे पिताके सौ पुत्र होंगे, अब तू लौट जा, बहुत दूर आ चुकी है।' सावित्रीने कहा—'पतिदेवकी संनिधिके कारण मुझे कुछ भी दूरी नहीं जान पड़ती। आप शत्रु-मित्रादिके भेदभावको छोड़कर सबका समानरूपसे न्याय करते हैं, इसीसे सब प्रजा धर्मका आचरण करती है और आप 'धर्मराज' कहलाते हैं। इसके सिवा, सुहृद् होनेके कारण आप-जैसे सत्पुरुषोंके प्रति लोग अपनेसे भी अधिक विश्वास और प्रेम करते हैं।'

यमराज बोले—'सावित्री! तूने जैसी बात कही है, वैसी मैंने तेरे सिवा और किसीके मुँहसे नहीं सुनी। इससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तू सत्यवान्‌के जीवनके सिवा कोई भी चौथा वर माँग ले।' सावित्रीने कहा—'सत्यवान्‌के द्वारा मेरे सौ औरस पुत्र हों।' यमराज बोले—'तेरे भी सौ पुत्र होंगे। राजपुत्री! अब तू लौट जा।' तब सावित्रीने कहा—'सत्पुरुषोंकी वृत्ति निरन्तर धर्ममें ही लगी रहती है, वे कभी दुःखित या व्यथित नहीं होते तथा यह सनातन सदाचार सत्पुरुषोंद्वारा सेवित है—यह जानकर सत्पुरुष परोपकार करते हैं और प्रत्युपकारकी ओर कभी दृष्टि नहीं डालते।'

यमराज बोले—'पतिव्रते! जैसे-जैसे तू मुझे गम्भीर अर्थसे युक्त एवं चित्तको प्रिय लगनेवाली धर्मानुकूल बातें सुनाती जाती है, वैसे-वैसे ही तेरे प्रति मेरी अधिकाधिक श्रद्धा होती जाती है। अब तू मुझसे कोई अनुपम वर माँग ले।' सावित्रीने कहा—'देव! आपने मुझे जो पुत्र-प्राप्तिका वर दिया है, वह बिना दाम्पत्यधर्मके पूर्ण नहीं हो सकता। अतः अब यही वर माँगती हूँ कि मेरे पतिदेव जीवित हो जायँ; क्योंकि पतिके बिना मैं जीवित रहना भी नहीं चाहती। आपने ही मुझे सौ पुत्र होनेका वर दिया है और फिर भी आप मेरे पतिदेवको लिये जा रहे हैं। अतः मैं जो यह वर माँग रही हूँ कि सत्यवान् जीवित हो जायँ, इसे देनेसे ही आपका वचन सत्य होगा।'

यह सुनकर सूर्यपुत्र यम बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने 'तथास्तु' कहते हुए सत्यवान्‌का बन्धन खोल दिया और कहा—'यह जीवित होकर सर्वथा नीरोग हो जायगा और तेरे साथ चार सौ वर्षतक जीवित रहेगा।' इस प्रकार सावित्रीको वर देकर धर्मराज अपने लोकको चले गये।

फिर सावित्रीने सत्यवान्‌के पास आकर उसका सिर अपनी गोदमें रख लिया। थोड़ी ही देरमें सत्यवान् उठ खड़ा हुआ और बोला—'मैं बड़ी देरतक सोया रहा। यह काले रंगका मनुष्य कौन था, जो मुझे लिये जाता था?' सावित्रीने कहा—'वे श्यामवर्णके पुरुष प्रजाका नियमन करनेवाले यमराज थे, अब वे अपने लोकको चले गये हैं। सूर्य अस्त हो चुका है और रात्रि गाढ़ी होती जा रही है। इसलिये ये सब बातें फिर सुनाऊँगी। इस समय तो आश्रमपर चलकर माता-पिताके दर्शन कीजिये।'

सत्यवान्‌ने उत्तर दिया—'ठीक है, चलो, मेरा शरीर अब स्वस्थ है; किंतु मुझे इस समय अपने अंधे पिताकी और माताकी जितनी चिन्ता हो रही है, उतनी अपनी शरीरकी भी नहीं है। मेरे परम पूज्य पवित्रतम माता-पिता मेरे लिये आज कितना संताप सह रहे होंगे। जबतक मेरे माता-पिता जीवित हैं, तभीतक मैं भी जीवन धारण किये हूँ।' पतिकी बात सुनकर सावित्री सत्यवान्‌को साथ लेकर आश्रमकी ओर चल पड़ी।

इसी बीचमें द्युमत्सेनको दृष्टि प्राप्त हो गयी और उन्हें सब वस्तुएँ दिखायी देने लगीं। पुत्रके न आनेसे उन्हें बड़ी चिन्ता हुई और रानी शैव्याके सहित वे उसे सब आश्रमोंमें घूम-घूमकर देखने लगे। तब आश्रमवासी सब ब्राह्मणोंने उन्हें धीरज बँधाया और उन्हें उनके आश्रमपर ले जाकर समझाया। इसके कुछ देर बाद सत्यवान्‌के सहित सावित्री आ गयी। उन्हें देखकर ब्राह्मणोंने कहा—'लो राजन्! अब तुम्हारा पुत्र आ गया और नेत्र भी प्राप्त हो गये।' फिर ब्राह्मणोंने सत्यवान्‌से पूछा—'तुमने इतनी रात कैसे कर दी? ऐसी क्या अड़चन आ गयी थी?'

सत्यवान्‌ने कहा—'मैं पिताजीकी आज्ञा लेकर

सावित्रीके सहित वनमें गया था। वहाँ जंगलमें लकड़ी काटते-काटते मेरे सिरमें दर्द हो गया। उस वेदनाके कारण ही मैं बहुत देरतक सोया रहा। इसीसे आनेमें देर हो गयी।' तब गौतम बोले—'सत्यवान्! तुम्हारे पिता द्युमत्सेनको आज अकस्मात् दृष्टि प्राप्त हो गयी है। तुम्हें वास्तविक कारणका पता नहीं है, ये सब बातें तो सावित्री बता सकती है।' फिर उन्होंने सावित्रीसे कहा—'सावित्री! तुझे हम प्रभावमें साक्षात् सावित्री (ब्रह्माणी) के समान समझते हैं, तुझे भूत-भविष्यकी बातोंका भी ज्ञान है। तू देर होनेका कारण हमें सुना।'

सावित्री बोली—'श्रीनारदजीने मुझे यह बता दिया था कि अमुक दिन तेरे पतिकी मृत्यु होगी। वह दिन आज आया था; इसीसे मैं भी इन्हें वनमें अकेले जाते देखकर इनके साथ चली गयी। जब ये सिर-दर्दके कारण सोये हुए थे, तब साक्षात् यमराज आये और इन्हें बाँधकर दक्षिण दिशाकी ओर ले चले। मैंने सत्य और प्रिय वचनोंसे उन देवश्रेष्ठकी स्तुति की। इसपर उन्होंने मुझे पाँच वर दिये; ससुरजीको नेत्र और राज्य प्राप्त हों—दो वर तो ये थे; मेरे पिताजीके सौ पुत्र उत्पन्न हों और मेरे भी सौ पुत्र हों—दो ये थे, तथा पाँचवें वरके अनुसार मेरे पतिदेवको जीवन और चार सौ वर्षकी आयु प्राप्त हुई। पतिदेवकी जीवनप्राप्तिके लिये ही मैंने यह व्रत किया था।'

ऋषियोंने कहा—'साध्वी! तू सुशीला, व्रतशीला और पवित्र आचरणवाली है। राजा द्युमत्सेनका दुःखाक्रान्त परिवार आज अन्धकारमय गड्ढेमें डूबा जाता था, तूने उसे बचा लिया।' इसके बाद सब अपने-अपने आश्रमोंमें चले गये।

दूसरे दिन शाल्वदेशके राजकर्मचारियोंने आकर द्युमत्सेनसे कहा—'वहाँ जो राजा था, उसे उसीके मन्त्रीने मार डाला है तथा उसके किसी सहायक और स्वजनको भी जीवित नहीं छोड़ा है। शत्रुकी सारी सेना भाग गयी है और सारी प्रजाने आपके विषयमें एकमत होकर यह निश्चय किया है कि वे ही हमारे राजा होंगे। आपका मङ्गल हो, अब आप प्रस्थान करनेकी कृपा कीजिये। नगरमें आपकी जय घोषित कर दी गयी है।'

फिर राजा द्युमत्सेनको नेत्रयुक्त और स्वस्थ-शरीर देखकर उन सभीके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे और उन्होंने उनको सिर झुकाकर प्रणाम किया। राजाने आश्रममें रहनेवाले वृद्ध ब्राह्मणोंको अभिवादन किया और उनसे सत्कृत हो वे अपनी राजधानीको चल दिये। वहाँ पहुँचनेपर पुरोहितोंने बड़ी प्रसन्नतासे द्युमत्सेनका राज्याभिषेक किया और उनके पुत्र महात्मा सत्यवान्को युवराज बनाया। इसके बहुत समय बाद सावित्रीके सौ पुत्र हुए, जो संग्राममें पीठ न दिखानेवाले और यशकी वृद्धि करनेवाले शूरवीर थे। इसी प्रकार मद्रराज अश्वपतिकी रानी मालवीके गर्भसे भी सावित्रीके वैसे ही सौ भाई हुए। इस प्रकार सावित्रीने अपनेको तथा माता-पिता, सास-ससुर और पतिके कुल—इन सभीको संकटसे उबार लिया।

पतिव्रता सावित्रीकी कथा महाभारतके वन पर्वके २९३वेंसे २९९वें अध्यायतक विस्तारसे कही गयी है। यहाँ उसे संक्षेपसे लिखा गया है।

इस इतिहाससे सुहागिन माता-बहिनोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि पति और सास-ससुरकी विशेषरूपसे सेवा करें। पति-सेवाकी महिमा बतलाते हुए और्व मुनि अपनी कन्यासे कहते हैं—

स्वकान्तश्च परो बन्धुरिह लोके परत्र च।
न हि कान्तात्परः प्रेयान् कुलस्त्रीणां परो गुरुः॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० २४। ३४)

'कुलीन स्त्रियोंके लिये इस लोकमें और परलोकमें भी अपना पति ही परम बन्धु है; क्योंकि उनके लिये पतिसे बढ़कर न तो कोई प्रियतम है और न कोई परम गुरु ही है।'

देवपूजा व्रतं दानं तपश्चानशनं जपः।
स्नानं च सर्वतीर्थेषु दीक्षा सर्वमखेषु च॥
प्रादक्षिण्यं पृथिव्याश्च ब्राह्मणातिथिसेवनम्।
सर्वाणि पतिसेवायाः कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० २४। ३५-३६)

'देवोंका पूजन, व्रत, दान, तप, उपवास, जप, समस्त तीर्थोंका स्नान तथा समस्त यज्ञोंकी दीक्षा और सम्पूर्ण पृथ्वीकी प्रदक्षिणा एवं ब्राह्मण और अतिथियोंकी सेवा—ये सब-के-सब मिलकर भी पतिसेवाकी सोलहवीं कलाकी बराबरी नहीं कर सकते।'

पतिसेवा परो धर्मः सर्वशास्त्रेषु पठ्यते।
स्वप्रज्ञानेन सततं कान्तं नारायणाधिकम्॥
दृष्ट्वा तच्चरणाम्भोजसेवां नित्यं करिष्यति।

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० २४। ३७-३८)

'स्त्रियोंके लिये समस्त शास्त्रोंमें पतिसेवा ही परमधर्म बतलाया जाता है, जो सती स्त्री होगी, वह अपने पतिको

अपने विचारसे नारायणसे भी अधिक समझकर उसके चरण-कमलोंकी सेवा नित्य-निरन्तर किया करेगी।'

परिहासेन कोपेन भ्रमेणावज्ञया मुने।
कटूक्तिं स्वामिनः साक्षात् परोक्षान्न करिष्यति॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० २४। ३९)

श्रीनारायणने नारदजीसे कहा—'मुने! पतिव्रता स्त्री अपने स्वामीके सामने अथवा परोक्षमें परिहाससे, क्रोधसे, भ्रमसे या अवज्ञापूर्वक कभी भी कठोर वचन नहीं कहेगी।'

जिस स्त्रीका पति विदेशमें हो उसे शृङ्गार, खेल-तमाशा, हँसी-मजाक आदि नहीं करना चाहिये। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने भी कहा है—

क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत् प्रोषितभर्तृका॥

(१। ८४)

'जिसका पति विदेशमें हो, उसे खेल, शरीरका शृङ्गार, सामाजिक उत्सवोंका दर्शन, परिहास और दूसरेके घरमें जाना—इनका त्याग कर देना चाहिये।'

व्यासस्मृतिमें भी बतलाया है—

विवर्णा दीनवदना देहसंस्कारवर्जिता।
पतिव्रता निराहारा शोष्यते प्रोषिते पतौ॥

(२। ५२)

'पति परदेशमें हो तो स्त्री शरीरके शृङ्गार आदि संस्कार न करे, मुखको उदास रखे, उबटन आदिसे बदनको कान्तियुक्त न बनाये और पतिके प्रति एकनिष्ठा रखे तथा निराहार रहकर अपने शरीरको सुखा डाले।'

परदेश जाते समय पतिका कर्तव्य है कि—

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत् कार्यवान्नरः।
अवृत्तिकर्शिता हि स्त्री प्रदुष्येत् स्थितिमत्यपि॥

(मनु० ९। ७४)

'कर्तव्यपरायण पुरुष पत्नीको पोषणयोग्य वृत्ति देकर विदेश जाय; क्योंकि जीविकाका साधन न रहनेपर मर्यादामें स्थित हुई भी स्त्री (आपत्तिके कारण) दूषित हो सकती है।'

इसलिये पुरुषोंको विदेश जाते समय अपनी स्त्रीके निर्वाहके लिये भोजन-वस्त्र आदिका प्रबन्ध करके ही जाना चाहिये। यदि पति ऐसा न करके ही चला जाय तो फिर स्त्रीको न्यायोचित शिल्प (कारीगरी)के कार्योंद्वारा अपना जीवन-निर्वाह करना चाहिये।

श्रीमनुने भी कहा है—

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः॥

(९। ७५)

'निर्वाहयोग्य वृत्ति देकर जबतक पति विदेशमें रहे, तबतक स्त्री नियमपूर्वक अपना निर्वाह करे और यदि पति जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध किये बिना ही परदेश चला जाय तो स्त्री सीना-पिरोना आदि अनिन्दित शिल्प (कारीगरी)के कर्मोंसे अपना निर्वाह करे।'

विशेष आपत्ति आनेपर स्त्री सेवाका काम करके भी अपना निर्वाह कर सकती है; किंतु अपने धर्मका त्याग कभी नहीं करना चाहिये। इस विषयमें दमयन्तीका उपाख्यान आदर्श है। दमयन्तीने वनमें पतिके द्वारा निराधार त्याग दी जानेपर भी अपने धर्मकी रक्षा की, बहुत कष्टपूर्वक अपना जीवन दासीका काम करके बिताया। इसलिये आपत्तिकालमें स्त्रियोंको दमयन्तीकी भाँति अपना जीवन बिताना चाहिये। उसमें पाँच बातें बहुत अलौकिक थीं, जो कि अनुकरणीय हैं। एक तो वह प्रतिज्ञामें बड़ी दृढ़ थी; राजा नलके साथ विवाह करनेकी प्रतिज्ञा करनेके कारण उसने देवताओंकी भी अवहेलना कर दी। दूसरे, उसने भारी आपत्ति पड़नेपर भी पतिके सङ्गका त्याग नहीं किया। पतिके संकेत करनेपर भी अपने पिता राजा भीमके यहाँ नहीं गयी तथा पतिसङ्गके लिये पिताके राज्य-ऐश्वर्यकी अवहेलना करके वनके घोर क्लेशोंको सहन किया। तीसरे, पतिव्रतधर्ममें उसकी ऐसी अलौकिक निष्ठा थी कि अपनेपर बुरी दृष्टि डालनेवाले व्याधको पातिव्रत्यके प्रभावसे क्षणमें नष्ट कर दिया। चौथे, उसमें ऐसी महान् तितिक्षा थी कि आपत्तिकालमें भी उसने मौसीके यहाँ अपना परिचय नहीं देकर दासीका काम किया तथा पतिसे बिछोह होनेपर भी बिना बुलाये वह माता-पिताके यहाँ भी नहीं गयी, बल्कि भारी कष्टोंका सामना करके रही। पाँचवें, उसका पतिमें ऐसा अलौकिक और अद्भुत प्रेम था कि पतिके विरहमें व्याकुल होकर उसने पतिको खोज लानेके लिये कूटनीतिको भी काममें लिया।

ये तो प्रधान-प्रधान बातें हैं। इनके सिवा उसमें और भी अनेक गुण थे, जिनको उसके चरित्रसे ग्रहण करना चाहिये। महाभारतके वनपर्वमें ५२वेंसे ७८वें अध्यायतक नल-दमयन्तीका उपाख्यान बड़े विस्तारसे कहा गया है। विस्तार देखना चाहें तो वहाँ देख सकते हैं। यहाँ उसका सारमात्र लिखा जा रहा है।

सती दमयन्तीकी कथा

राजा नल निषधदेशके राजा वीरसेनके पुत्र थे। ये बड़े तेजस्वी, ब्राह्मणोंके रक्षक, वेदवेत्ता, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, उदार और प्रजापालक थे। इनमें जूआ खेलनेका एक व्यसन था। इसके अतिरिक्त इनमें अन्य अनेक गुण थे और इनका चरित्र भी बड़ा पवित्र तथा प्रशंसनीय था। इनके पास एक अक्षौहिणी सेना थी और ये स्वयं भी युद्धमें बड़े प्रवीण, वीर योद्धा थे।

उन्हीं दिनों विदर्भदेशके राजा भीम हुए। वे भी नलके समान ही गुणी और सदाचारी थे। राजाके कोई संतान न होनेके कारण उन्होंने दमन ऋषिको सेवाद्वारा प्रसन्न किया। दमन ऋषिकी कृपासे उनके तीन पुत्र और एक कन्या हुई। पुत्रोंके नाम थे—दम, दान्त और दमन तथा कन्याका नाम था दमयन्ती। दमयन्ती बहुत ही उत्तम गुणोंसे सम्पन्न और सच्चरित्रवती थी। वह लक्ष्मीके समान सुन्दरी थी।

उन दिनों कितने ही लोग विदर्भदेशसे निषधदेशमें आते और राजा नलके सामने दमयन्तीके रूप और गुणोंका बखान करते। निषधदेशसे विदर्भमें जानेवाले भी दमयन्तीके सामने राजा नलके रूप, गुण और पवित्र चरित्रका वर्णन करते। इससे इन दोनोंके हृदयमें परस्पर अनुरागका बीज अङ्कुरित हो गया।

एक दिन राजा नलने अपने महलके बगीचेमें आये हुए हंसोंमें एक हंसको पकड़ लिया। हंसने कहा—'आप मुझे छोड़ दें तो मैं दमयन्तीके पास जाकर आपके गुणोंका ऐसा वर्णन करूँगा कि वह आपको अवश्य ही वर लेगी।' तब नलने हंसको छोड़ दिया। फिर वे सब हंस विदर्भदेशमें दमयन्तीके पास जाकर बोले—'दमयन्ती! निषधदेशमें नल नामक एक राजा है, वह अश्विनीकुमारके समान सुन्दर है; मनुष्योंमें उसके समान सुन्दर और गुणी कोई नहीं है। यदि तुम उसकी पत्नी हो जाओ तो तुम्हारा जन्म और रूप—दोनों सफल हो जायँ।' दमयन्तीने कहा—'हंस! तुमलोग नलसे भी ऐसी ही बात कहना।' हंसोंने निषधदेशमें लौटकर नलसे दमयन्तीका संदेश कह दिया।

दमयन्ती हंसोंके मुँहसे राजा नलकी बड़ाई सुनकर उनसे मन-ही-मन प्रेम करने लगी। वह रात-दिन उन्हींका ध्यान करती रहती। इससे उसका शरीर दुबला हो गया और वह दीन-सी दीखने लगी। दमयन्तीके हृदयका भाव सखियोंके द्वारा जानकर राजा भीमने उसके स्वयंवरका विचार किया और सब राजाओंको निमन्त्रणपत्र भेज दिया। तब देश-देशके राजा विदर्भ देशमें आने लगे। राजा भीमने सबके स्वागतकी सुव्यवस्था कर दी।

श्रीनारद तथा पर्वतसे दमयन्तीके स्वयंवरका संवाद सुनकर इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम—ये चारों देवता उससे विवाह करनेके लिये आये। रास्तेमें उनकी राजा नलसे भेंट हुई। उन्होंने राजा नलसे कहा—'तुम दमयन्तीके पास हमारे दूत बनकर जाओ।' नल बोले—'जिस कामके लिये आप आये हैं, उसी कामके लिये मैं जा रहा हूँ; अतः इस कामके लिये मुझे भेजना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त वहाँ द्वारपालोंका बड़ा कड़ा पहरा रहता है, मैं महलमें प्रवेश भी कैसे कर सकता हूँ।' तब देवताओंने कहा—'हम तुम्हें ऐसी शक्ति दे देते हैं, जिससे तुम्हें कोई नहीं रोक सकेगा। तुम जाओ और हमारा संदेश वहाँतक पहुँचाओ।' शीलसम्पन्न राजा नलने देवताओंका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और देवताओंकी दी हुई शक्तिके प्रभावसे वे दमयन्तीके पास निर्बाध पहुँच गये।

दमयन्तीके पूछनेपर राजा नलने अपना परिचय देकर कहा कि 'मैं देवताओंके प्रभावसे बिना रोक-टोक तुम्हारे महलमें आ गया हूँ। इस समय मैं देवताओंका दूत बनकर आया हूँ। इन्द्र, यमराज, अग्नि और वरुण—ये चारों लोकपाल तुमसे विवाह करनेके लिये आये हैं। इनमेंसे तुम्हारी इच्छा हो उसीको वर लो।' दमयन्ती बोली—'जबसे मैंने हंसोंके द्वारा आपकी प्रशंसा सुनी है, तबसे मैं आपको ही पति मानती हूँ, आप मुझे स्वीकार करें।' नलने कहा—'तुम देवताओंको छोड़कर मुझे क्यों चाहती हो? देवताओंमेंसे किसी एकको वर लो।' इसपर वह व्याकुल हो गयी। यह देखकर नलने कहा—'इसके लिये कोई धर्मयुक्त मार्ग होना चाहिये, क्योंकि मैं देवताओंका दूत बनकर आया हूँ। अतः तुम्हारे साथ विवाह करना मेरे लिये न्याय नहीं है।' दमयन्ती बोली—'जब आप सब लोग स्वयंवरमें आयेंगे, उस समय मैं उन सबके सामने ही आपके गलेमें वरमाला डाल दूँगी, तब आपको कोई दोष नहीं होगा।' राजा नल देवताओंके पास लौट आये और सारी बातें ज्यों-की-त्यों कह सुनायीं और यह बता दिया कि दमयन्ती मुझे ही वरना चाहती है।

तदनन्तर स्वयंवरमें सब राजागण एकत्र हुए। चारों देवता और नल भी आकर यथास्थान बैठ गये। दमयन्ती वरमाला लिये सब ओर घूमने लगी तथा राजाओंका परिचय सुन-सुनकर आगे बढ़ती गयी। जब वह राजा नलके पास पहुँची, तब उसे वहाँ पाँच नल बैठे दिखायी दिये। उसने देवोंसे प्रार्थना की कि मैं राजा नलको ही वरण करना चाहती हूँ; अतः आपलोग मुझे राजा नलको बतला दें।' देवतागण उसकी सत्यता, निष्ठा और प्रतिज्ञाको देखकर प्रसन्न हो गये और उन्होंने उसे देवताओंके पहचाननेकी विद्या दी। इससे उसने समझ लिया कि देवताओंके पलक नहीं पड़ती, उनका भूमिसे स्पर्श नहीं होता और उनकी छाया नहीं पड़ती। उसने इन लक्षणोंके द्वारा देवताओंसे पृथक् नलको पहचानकर उनके गलेमें वरमाला डाल दी और घूँघट कर लिया।*

तत्पश्चात् राजा नल और दमयन्तीने देवताओंकी शरण ली। इसपर चारों लोकपालोंने प्रसन्न होकर नलको आठ वर दिये। इन्द्रने कहा—'नल ! तुम्हें यज्ञमें मेरा दर्शन होगा और उत्तम गति मिलेगी।' अग्निने कहा—'जहाँ तुम मेरा स्मरण करोगे, वहीं मैं प्रकट हो जाऊँगा और मेरे समान ही देदीप्यमान उत्तम लोक तुम्हें प्राप्त होगा।' यमराजने कहा—'तुम्हारी बनायी हुई रसोई बहुत मीठी होगी और तुम अपने धर्ममें दृढ़ रहोगे।' वरुणने कहा—'जहाँ तुम चाहोगे, वहीं जल प्रकट हो जायगा। तुम्हारी माला उत्तम गन्धसे परिपूर्ण रहेगी।' इस प्रकार दो-दो वर देकर सब देवता अपने-अपने लोकको चले गये। राजा भीमने दमयन्तीका नलके साथ विधिपूर्वक विवाह कर दिया। तब नल दमयन्तीको साथ लेकर अपनी राजधानीमें चले गये।

जब देवतागण स्वर्गको जा रहे थे, उस समय रास्तेमें द्वापर और कलियुग मिले। पूछनेपर उन्होंने कहा—'हमलोग दमयन्तीसे विवाह करने विदर्भदेश जा रहे हैं।' देवता बोले—'स्वयंवर तो हो चुका, दमयन्तीने नलको वरण कर लिया।' तब कलियुगने क्रोध करके कहा—'उसने देवताओंको छोड़कर मनुष्यको अपनाया है, उसे दण्ड देना चाहिये।' इसपर इन्द्रादि देवता बोले—'राजा नल सद्गुणी, सदाचारी, धर्मज्ञ, वेदवेत्ता, सत्यनिष्ठ और दृढ़निश्चयी हैं। उनकी चतुरता, धैर्य, ज्ञान, तपस्या, पवित्रता, दम और शम लोकपालोंके समान है। दमयन्तीने हमारी आज्ञासे ही नलको वरण किया है। अतः उनको शाप नहीं देना चाहिये।' यह कहकर देवता चले गये। कलियुगने द्वापरसे कहा—'मैं नलके शरीरमें प्रवेश करके उसे राज्यच्युत कर दूँगा, जिससे वह दमयन्तीके साथ नहीं रह सकेगा। तुम जूएके पासोंमें प्रवेश करके मेरी सहायता करना।' फिर वे दोनों नलकी राजधानीमें जाकर नलका छिद्रान्वेषण करते रहे, किंतु बारह वर्षतक नलमें कोई दोष नहीं मिला। एक दिन सायंकाल राजा नल लघुशङ्कासे निवृत्त हो बिना पैर धोये ही संध्योपासना करने बैठ गये। इस अपवित्रताके दोषके कारण कलियुगने उनके शरीरमें प्रवेश किया।

एक दिन राजा नलके भाई पुष्करने कलियुगकी प्रेरणासे नलके पास आकर दाँव लगाकर जूआ खेलनेका आग्रह किया। बार-बार कहनेपर नलने स्वीकार कर लिया और वे दाँव लगाकर खेलने लगे। द्वापरने पासोंका रूप धारण कर लिया था तथा नलके शरीरमें कलियुग प्रवेश किये हुए था, अतः वे दाँव लगाकर बार-बार हारने लगे। खेलते-खेलते वे सब कुछ हार गये। यह देखकर दमयन्तीने वार्ष्णेय नामक सारथिको बुलाकर कहा—'इन्द्रसेन और इन्द्रसेनीको मेरे नैहर कुण्डिनपुर पहुँचा दो।' सारथि उन दोनों बच्चोंको कुण्डिनपुर पहुँचाकर अयोध्या-नरेश ऋतुपर्णके पास चला गया और वहाँ सारथिका काम करने लगा।

जब राजा नल सब कुछ हार चुके, तब पुष्करने कहा—'अब तुम्हारे पास केवल दमयन्ती रही है। इसे भी दाँवपर लगा दो।' यह बात सुनकर राजा नलको दुःख तो बहुत हुआ, पर वे चुप रहे। सारे राज-वस्त्र और आभूषणोंको उतारकर तथा एक-एक साधारण वस्त्र पहनकर नल और दमयन्ती वहाँसे चल दिये। पुष्करने सारे नगरमें ढिंढोरा पिटवा दिया कि 'जो राजा नलके साथ सहानुभूति दिखायेगा, उसे फाँसीकी सजा दी जायगी।' फाँसीके भयसे किसीने भी राजा नलका सत्कार नहीं किया। नल-दमयन्ती तीन दिनतक केवल जल पीकर रहे।

तत्पश्चात् जब वे निषधदेशसे बाहर घोर वनकी ओर चले गये, तब राजा नलने एक चौरास्तेपर दमयन्तीसे कहा—'यह मार्ग अवन्तीपुर जाता है, यह विदर्भदेशको जाता है और यह कोसलदेशका मार्ग है।' इसपर दमयन्ती बोली—'मैं आपको वनमें छोड़कर अकेली कहीं नहीं जाऊँगी।' नलने उत्तर दिया कि 'तुम

* विलज्जमाना वस्त्रान्ते जग्राहायतलोचना। (महा० वन० ५८। २७)

त्यागनेकी शङ्का क्यों कर रही हो।' उसने कहा—'आपने मुझे विदर्भदेशका रास्ता बतलाया, इससे मैंने यह बात समझी। आपकी यदि इच्छा हो तो आपके साथ मैं पिताके यहाँ जा सकती हूँ। वे आपका सत्कार करेंगे। आप वहाँ सुखसे रहिये।' नल बोले—'तुम्हारे पिता राजा हैं और मैं भी राजा था, किंतु आज इस विपत्तिकालमें मैं तुम्हारे पिताके यहाँ नहीं जाऊँगा।' इसके बाद वे आगे बढ़े और घोर जंगलमें एक धर्मशालामें आकर ठहर गये। रात्रिमें वे धर्मशालामें जमीनपर ही सो गये। दुःखके कारण राजा नलको नींद नहीं आयी और वे विचारने लगे—दमयन्ती सच्ची पतिव्रता है। मैं इसे छोड़कर चल दूँ तो यह बाध्य होकर अपने पिताके यहाँ चली जायगी। इससे दमयन्तीको एक बार तो दुःख होगा। यह यों तो मुझे छोड़कर नहीं जायगी, पर यह अपने माँ-बापके पास रहकर दुःखके दिन सुविधाके साथ बिता देगी। इसके सतीत्वको तो कोई भङ्ग कर नहीं सकता; क्योंकि यह महान् पतिव्रता सती है। पुनः-पुनः ऐसा विचार कर वे दमयन्तीके दुःखका विचार रहते हुए भी कलियुगके प्रभावके कारण दमयन्तीको वहीं सोती छोड़कर वनमें चले गये।

जब दमयन्तीकी आँखें खुलीं तो वह पतिको न देखकर व्याकुल हो गयी और विलाप करने लगी—'हा प्राणनाथ! आप कहाँ चले गये? क्या आप मुझसे हँसी करते हैं? क्या आप वास्तवमें चले गये?' इस प्रकार विलाप करती हुई वह वन-वन घूमने लगी। वहाँ उसको एक अजगर पकड़कर निगलने लगा। उस समय भी उसने अपने कष्टका ख्याल न करके पतिके दुःखका ही स्मरण किया। फिर कहा—'नाथ! अजगर मुझे निगल रहा है, आप मुझे इससे क्यों नहीं छुड़ाते?' उसकी दुःखभरी आवाज सुनकर एक व्याध उसके पास आया और उसने तीक्ष्ण शस्त्रसे अजगरको चीर डाला तथा दमयन्तीको उसके मुखसे छुड़ा दिया। फिर उसने दमयन्तीको स्नान कराया। व्याधके पूछे जानेपर दमयन्तीने उसे अपना सारा परिचय दे दिया। व्याधको उसके सौन्दर्यपर मोह हो गया और उसने उसके प्रति अधर्मपूर्ण प्रस्ताव किया। उसकी इस कुत्सित चेष्टाको देखकर सती दयमन्तीको क्रोध आया और शाप दिया कि 'यदि मैंने राजा नलके अतिरिक्त दूसरे पुरुषका मनसे भी कभी चिन्तन नहीं किया है तो उस पातिव्रत्यके प्रभावसे यह व्याध मरकर जमीनपर गिर पड़े।' उसी क्षण वह व्याध मरकर जले हुए ठूँठकी तरह गिर पड़ा।

दमयन्ती वनमें आगे चली गयी। वहाँ उसने तपस्वियोंका एक आश्रम देखा। तपस्वियोंके पूछनेपर उसने अपने दुःखका सारा वृत्तान्त कह सुनाया और वह पूछने लगी—'क्या मेरे पतिसे मेरा मिलन होगा और मेरे दुःखका कभी अन्त होगा?' तपस्वियोंने कहा—'तुम्हारा पतिसे शीघ्र ही मिलाप होगा और तुम्हारे सब दुःख दूर हो जायँगे।' इस प्रकार आश्वासन देकर वे आश्रमसहित अन्तर्धान हो गये।

दमयन्ती आगे चलकर चेदिदेशके राजा सुबाहुके महलके निकट पहुँच गयी। उस समय उसको पागल समझकर कितने ही बालक उसे घेरे हुए थे। राजमाताने इस दृश्यको देखकर उसे दासीके हाथ महलमें बुलवाया और पूछा—'तुम कौन हो और कैसे घूम रही हो?' दमयन्ती बोली—'मेरे पतिदेव मुझे वनमें अकेली छोड़कर कहीं चले गये हैं। मैं उनकी खोजमें घूम रही हूँ।' यों कहते उसकी आँखोंमें आँसू भर आये, फिर उसने कहा—'मैं दासीका काम कर सकती हूँ, किंतु मेरी यह शर्त है कि मैं कभी जूठा नहीं खाऊँगी, किसीके पैर नहीं धोऊँगी और पर-पुरुषके साथ किसी प्रकारकी भी बातचीत नहीं करूँगी। यदि कोई पुरुष मुझसे दुश्चेष्टा करेगा तो उसे दण्ड देना होगा। मैं अपने पतिको ढूँढ़नेके लिये ब्राह्मणोंसे बातचीत करती रहूँगी।' राजमाता उसकी शर्त सुनकर बहुत प्रसन्न हुई और बोली—'ऐसा ही होगा।' फिर उसने अपनी लड़की सुनन्दाको बुलाकर कहा—'बेटी! यह तुम्हारी उम्रकी है, इसे तुम अपनी सहेलीकी तरह प्रसन्नतापूर्वक महलमें रखो।'

उधर, राजा नल वनमें घूम रहे थे, तब वनमें लगे हुए दावानलमेंसे एक सर्पकी आवाज सुनकर उस दावानलमें घुस गये। वे उस कर्कोटक नामक सर्पको उठाकर चलने लगे। सर्पने राजासे गिनकर पैर रखनेके लिये कहा; तब राजा नलने गिनती करते हुए 'दश' कहकर ज्यों ही कदम रखा, त्यों ही कर्कोटक नागने उनको डस लिया। इससे उनका रूप बदल गया। राजाने कहा—'तुमने यह क्या किया?' सर्प बोला—'तुमने मेरा बड़ा उपकार किया है। अतः तुम्हारे उपकारके लिये मैंने ऐसा किया है। इससे तुम्हें कोई पहचान नहीं सकेगा। तुम राजा ऋतुपर्णके यहाँ जाकर नौकरी कर लो। उनको तुम घोड़ोंकी विद्या सिखला देना और उनसे जूएकी कला सीख लेना, जिससे तुम्हें तुम्हारा राज्य वापस मिल जायगा और ये वस्त्र मैं तुम्हें देता हूँ। मेरा स्मरण करके इनको धारण करनेसे तुम्हारा

पहलेवाला रूप हो जायगा।' ऐसा कह और वस्त्र देकर कर्कोटक चला गया।

राजा नल अयोध्यापति ऋतुपर्णके पास जाकर बोले—'मेरा नाम बाहुक है। मैं अश्वविद्या या सारथिका काम जानता हूँ, रसोई बनाना जानता हूँ और भी बहुत-से काम जानता हूँ।' राजाने उत्तर दिया कि 'तुम्हारे जिम्मे ये सभी काम रहेंगे, किंतु अश्वशालाके अध्यक्ष रहकर तुम्हें घोड़ोंकी चाल तेज करनेका उद्योग विशेषरूपसे करना होगा। वार्ष्णेय और जीवल तुम्हारे अधिकारमें रहेंगे।' तब राजा नल वहाँ काम करने लगे।

जब दमयन्तीके पिता भीमने यह सुना कि राजा नल राज्यच्युत होकर दमयन्तीके साथ जंगलमें चले गये, तब दुःखित होकर उन्होंने ब्राह्मणोंको यह आदेश दिया कि जो दमयन्तीका पता लगाकर सूचना देगा, उसे एक हजार गायें और जागीर दी जायगी। नल-दमयन्तीकी खोजमें अनेक ब्राह्मण निकल पड़े। उनमेंसे सुदेव ब्राह्मण ढूँढ़ते-ढूँढ़ते चेदिदेशमें राजा सुबाहुके यहाँ पहुँचे। वहाँ अनुष्ठानमें पुण्याहवाचन हो रहा था। उसमें सुनन्दाके पास बैठी हुई दमयन्तीको ब्राह्मणने पहचान लिया और कहा—'तुम्हारी तथा राजा नलकी खोजमें तुम्हारे पिताने बहुत-से ब्राह्मणोंको नियुक्त किया है। मैं उनमेंसे एक हूँ; तुम्हारे भाईका मित्र हूँ ? तुम्हारी खोजमें आया हूँ। तुम्हारे पिता, माता, भाई और तुम्हारे बच्चे भी तुम्हारे वियोगमें दुःखी हो रहे हैं; अतः तुम्हें वहाँ चलना चाहिये।' यह सुनकर दमयन्ती रो पड़ी और वह वहाँका सब हाल पूछने लगी। दमयन्तीका रोना देखकर सुनन्दाने माँके पास जाकर सब हाल बताया। राजमाताने वहाँ आकर ब्राह्मणसे पूछा—'यह किसकी कन्या और किसकी पत्नी है?' ब्राह्मणने सब परिचय कह सुनाया कि 'यह विदर्भनरेश भीमकी पुत्री और राजा नलकी धर्मपत्नी दमयन्ती है।' यह सुनकर सुनन्दाने दमयन्तीका ललाट धोया जिससे उसके ललाटका लाल चिह्न दिखायी देने लगा। तब राजमाता उसे पहचानकर रो पड़ी और बोली—'तुम तो मेरी सगी बहिनकी लड़की हो। मैं तुम्हें अबतक पहचान न सकी।' दमयन्तीने कहा—'माताजी! मैं यहाँ बहिन सुनन्दाके साथ बड़े सुखसे रही। अब मेरे माता-पिता तथा बच्चे मेरे बिना दुःखी हैं, उनसे मिलनेके लिये मैं आपसे आज्ञा चाहती हूँ।' तब राजमाताने दमयन्तीको पालकीमें बिठलाकर विदा किया और उनकी रक्षाके लिये साथमें बहुत-सी सेना भेज दी। दमयन्ती अपने पिता भीमके पास पहुँची। दमयन्तीको आयी देखकर उसके माता-पिता, भाई और बच्चे बहुत प्रसन्न हुए तथा सुदेव ब्राह्मणको एक हजार गायें, गाँव और धन पुरस्कारमें दिये गये।

एक समय दमयन्ती मातासे बोली—'यदि मुझे आप जीवित देखना चाहती हैं तो मेरे पतिदेवको ढुँढ़वानेका उद्योग कीजिये।' दमयन्तीकी माँने अपने स्वामी राजा भीमसे दमयन्तीकी यह बात कह सुनायी। तब राजाने नलको ढूँढ़ लानेके लिये ब्राह्मणोंको नियुक्त कर दिया। जब वे ब्राह्मण दमयन्तीके पास आये, तब दमयन्तीने कहा—'आपलोग जिस नगरमें जायँ, वहाँ मनुष्योंकी भीड़में यह बात कहें कि तुम मुझ दासीको वनमें अकेली छोड़कर कहाँ चले गये? तुम्हारी यह दासी तुम्हारे वियोगमें दुःखित हुई तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है।' ब्राह्मणगण दमयन्तीके निर्देशानुसार राजा नलको ढूँढ़ने चल दिये।

एक दिन पर्णाद नामक ब्राह्मणने आकर दमयन्तीसे कहा—'राजा नलका पता लगाते हुए जब मैंने अयोध्याके राजा ऋतुपर्णकी सभामें तुम्हारी बात कही, तब उसके बाहुक नामक सारथिने मुझे एकान्तमें बुलाया। वह सारथि राजा ऋतुपर्णके घोड़ोंको शिक्षा देता है, स्वादिष्ट भोजन बनाता है, परंतु उसके हाथ छोटे-छोटे और शरीर साँवला है। उसने मुझसे रोते हुए कहा कि कुलीन स्त्रियाँ घोर कष्ट पानेपर भी अपने शीलकी रक्षा करती हैं और अपने सतीत्वके बलपर स्वर्गको जीत लेती हैं। कभी उनका पति उन्हें त्याग भी दे तो वे क्रोध नहीं करतीं, वे अपने सदाचारकी रक्षा करती हैं। यह ठीक है कि पतिने अपनी पत्नीका योग्य सत्कार नहीं किया, परंतु वह उस समय राज्यलक्ष्मीसे च्युत, क्षुधातुर, दुःखी और दुर्दशाग्रस्त था। ऐसी अवस्थामें उसपर क्रोध नहीं करना चाहिये।'

ब्राह्मणकी बात सुनकर दमयन्तीकी आँखोंमें आँसू भर आये। फिर उसने पर्णादका सत्कार करके विदा किया और सुदेव ब्राह्मणको बुलाकर कहा—'आप शीघ्र ही अयोध्यामें पहुँचकर राजा ऋतुपर्णसे कहें कि भीमपुत्री दमयन्ती नलके जीने या मरनेका किसीको पता न होनेके कारण कल सूर्योदयके समय दूसरा स्वयंवर करना चाहती है। यदि आप पहुँच सकें तो वहाँ जाइये।' ब्राह्मण सुदेवने अयोध्या जाकर राजा ऋतुपर्णसे दमयन्तीकी सारी बातें ज्यों-की-त्यों कह दीं।

राजा ऋतुपर्णने बाहुकको बुलाकर दमयन्तीके स्वयंवरमें चलनेके लिये कहा। यह बात सुनकर राजा

नल बहुत दुःखी हुए। उन्होंने अपने मनमें सोचा—'दमयन्तीने मेरी प्राप्तिके लिये ही यह युक्ति की होगी। वह पतिव्रता, तपस्विनी और दीना है। मैंने दुर्बुद्धिवश उसे त्यागकर बड़ी क्रूरता की। अपराध मेरा ही है। वह कभी ऐसा नहीं कर सकती।' बाहुकने राजाको विदर्भदेश पहुँचा देनेकी प्रतिज्ञा की और वे शीघ्रगामी घोड़े जोतकर एक रथ ले आये। राजा उसपर सवार होकर चल पड़े। रथ वायुके समान बड़े वेगसे जा रहा था। एक स्थानपर राजाका दुपट्टा गिर गया। राजाने कहा—'बाहुक! मेरा दुपट्टा गिर गया, रथ रोको।' बाहुक बोला—'राजन्! अब हम वहाँसे एक योजन दूर आ गये हैं।' यह आश्चर्यकी बात सुनकर राजा ऋतुपर्णने कहा—'मेरी गणितविद्याकी चतुराई देखो, सामनेके बहेड़ेके वृक्षमें पाँच करोड़ पत्ते और दो हजार पंचानबे फल हैं। तुम्हारी इच्छा हो तो गिन लो।' बाहुकने रथ खड़ा करके वृक्ष काटकर फल और पत्ते गिने तो ठीक उतने ही हुए। फिर राजा ऋतुपर्णने बाहुकसे कहा—'मैं गणितविद्याके सिवा पासोंकी विद्या भी जानता हूँ।' बाहुक बोला—'आप मुझे पासोंकी विद्या सिखला दें और मैं आपको घोड़ोंकी विद्या सिखला दूँगा।' तब राजाने उसको पासोंकी विद्या सिखला दी और कहा—'घोड़ोंकी विद्या तुम मुझे फिर सिखला देना।' तत्पश्चात् राजा नलके शरीरसे कलियुग कर्कोटकका विष उगलता हुआ बाहर निकला। राजाने उसे शाप देना चाहा; किंतु कलियुगने राजाकी शरण होकर कहा—'आप मुझे शाप न दें, दमयन्तीके शापसे भी मैं महान् दुःखी हूँ; जो आपके चरित्रको गायेंगे, उन्हें मेरा भय नहीं होगा।' राजा नल शान्त हो गये और कलियुग बहेड़ेके पेड़में घुस गया, जिससे वह वृक्ष ठूँठ-सा हो गया।

इसके अनन्तर राजा ऋतुपर्णको लेकर नल विदर्भदेशमें पहुँचे। उस समय रथकी घरघराहटको सुनकर दमयन्तीने निश्चय किया कि 'इस रथके सारथि मेरे पतिदेव नल ही हैं। आज यदि मेरे पति मेरे पास नहीं आयेंगे तो मैं धधकती हुई आगमें कूद पड़ूँगी। मैंने कभी हँसी-खेलमें भी उनसे झूठी बात कही हो, उनका कोई अपकार किया हो, प्रतिज्ञा करके तोड़ दी हो, ऐसा याद नहीं आता। वे शक्तिशाली, क्षमावान्, वीर, दाता और एकपत्नीव्रती हैं, उनके वियोगमें मैं व्याकुल हो रही हूँ।' राजा ऋतुपर्णने वहाँ पहुँचकर राजा भीमके पास समाचार भेजा, तब भीमने ऋतुपर्णको अपने पास बुलाया। फिर कुशल-प्रश्नके अनन्तर राजा भीमके पूछनेपर राजा ऋतुपर्णने वहाँ स्वयंवरका कोई ढंग न देखकर यही बात कही कि 'मैं आपसे मिलने आया हूँ।' तब भीमने उनके ठहरने आदिका समुचित प्रबन्ध कर दिया।

इसके बाद दमयन्तीकी भेजी हुई केशिनी दासी नलके बच्चे इन्द्रसेन और इन्द्रसेनीको लेकर बाहुकके पास गयी और ब्राह्मण पर्णादने जो बात ऋतुपर्णकी सभामें सुनायी थी, वह बात केशिनीने बाहुकसे कही तथा पूछा कि 'क्या आप राजा नलको जानते हैं?' बाहुकने उत्तर दिया कि 'राजा नल छिपे हुए हैं, उनकी पत्नी दमयन्ती ही उन्हें पहचान सकती है। राजा नलने अपनी पत्नीके साथ उचित व्यवहार नहीं किया, किंतु उन्होंने विपत्तिमें पड़कर पत्नीका त्याग किया था। अतः दमयन्तीको अपने पतिपर क्रोध नहीं करना चाहिये।' यह कहते हुए उनका चित्त खिन्न हो गया; फिर वे बच्चोंको देखकर उनसे प्यार करने लगे, उनकी आँखोंमें आँसू भर आये। बाहुकने केशिनीसे कहा—'ये बच्चे मेरे बच्चोंके समान ही हैं, अतः मेरा हृदय भर आया। तुम बार-बार मेरे पास मत आओ।' केशिनीने बाहुकके सब चरित्र देखकर दमयन्तीके पास जाकर सारी बात कह सुनायी। केशिनी बोली—'उस सारथि बाहुकके देखनेमात्रसे ही खाली घड़ोंमें जल भर जाता है, सूर्यको दिखानेसे फूस जलने लगता है, आगमें उसके हाथ जलते नहीं, पुष्प मसल डालनेपर भी कुम्हलाते नहीं, बल्कि और भी महकते हैं तथा नीचे द्वारमें उसको झुकना नहीं पड़ता, द्वार ही ऊँचा हो जाता है। ऐसी आश्चर्यजनक बातें जो मैंने उसमें देखीं, वैसी आजतक किसीमें भी नहीं देखी।' केशिनीकी बात सुनकर दमयन्तीको यह निश्चय हो गया कि ये राजा नल ही हैं।

तब उसने माता-पिताकी आज्ञा लेकर बाहुकको अपने महलमें बुला लिया। वह बाहुकसे बोली—'घोर वनमें निद्रामें अचेत पड़ी हुई अपनी स्त्रीको निषधराज नल ही त्याग सकते हैं। मैंने जीवनभरमें कोई अपराध नहीं किया, फिर भी वे मुझे वनमें सोती छोड़कर चले गये।' इतना कहते ही दमयन्तीके नेत्रोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गयी। इसपर नल कहने लगे—'मैंने जान-बूझकर न तो राज्यका त्याग किया है और न तुम्हें त्यागा है। यह तो कलियुगकी करतूत है। मैं जानता हूँ कि जबसे तुम मुझसे बिछुड़ी हो तबसे रात-दिन मेरा ही स्मरण-चिन्तन करती रहती हो। मैंने उद्योग और तपस्याके बलपर कलियुगपर विजय प्राप्त कर ली है

और अब हमारे दुःखका अन्त हो गया है। कलियुग अब मुझे छोड़कर चला गया, मैं एकमात्र तुम्हारे लिये ही यहाँ आया हूँ। पर यह तो बतलाओ कि तुम मेरे-जैसे प्रेमी और अनुकूल पतिको छोड़कर जिस प्रकार दूसरे पतिसे विवाह करनेके लिये तैयार हुई हो, क्या कोई दूसरी स्त्री ऐसा कर सकती है?'

दमयन्तीने हाथ जोड़कर कहा—'आर्यपुत्र ! मुझपर दोष लगाना उचित नहीं है। आप जानते हैं कि मैंने देवताओंको छोड़कर आपको वरण किया है। मैंने आपको बुलानेके लिये ही यह युक्ति की थी। मैं जानती हूँ कि आपके अतिरिक्त दूसरा कोई मनुष्य नहीं है, जो एक दिनमें घोड़ोंके रथसे सौ योजन पहुँच जाय। मैं आपके चरणोंका स्पर्श करके शपथपूर्वक सत्य-सत्य कहती हूँ कि मैंने कभी मनसे भी पर-पुरुषका चिन्तन नहीं किया है। यदि मैंने कभी मनसे भी पापकर्म किया हो तो इस संसारमें विचरनेवाले वायुदेव, भगवान् सूर्य और मनके देवता चन्द्रमा मेरे प्राणोंका नाश कर दें।'

उसी समय वायुने अन्तरिक्षमें स्थित होकर कहा— 'राजन्! मैं सत्य कहता हूँ कि दमयन्तीने कभी कोई पाप नहीं किया है। इसने तीन वर्षतक अपने उज्ज्वल शीलव्रतकी रक्षा की है। हमलोग इसके रक्षकके रूपमें रहे हैं और इसकी पवित्रताके साक्षी हैं। इसने स्वयंवरकी सूचना तो तुम्हें ढूँढ़नेके लिये ही दी थी।' जिस समय पवनदेवता यह बात कह रहे थे, उस समय आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी और देवदुन्दुभियाँ बजने लगीं। यह देखकर राजा नलने नागराज कर्कोटकका दिया हुआ वस्त्र ओढ़कर उसका स्मरण किया, जिससे उनका शरीर तुरंत पूर्ववत् हो गया। दमयन्ती राजा नलको पहले रूपमें देखकर उनसे लिपट गयी और रोने लगी। राजा नलने भी प्रेमके साथ दमयन्तीको गले लगाया और दोनों बालकोंको छातीसे लगाकर उनके साथ प्यारकी बात करने लगे। सारी रात दमयन्तीके साथ बातचीत करनेमें ही बीत गयी।

प्रात:काल होनेपर नहा-धो, सुन्दर वस्त्र पहनकर दमयन्ती और राजा नल भीमके पास गये और उनके चरणोंमें प्रणाम किया। भीमने बड़े आनन्दसे उनका सत्कार किया और आश्वासन दिया। बात-की-बातमें यह समाचार सर्वत्र फैल गया, नगरके नर-नारी आनन्दमें भरकर उत्सव मनाने लगे। जब राजा ऋतुपर्णको यह बात मालूम हुई तब उन्हें बड़ा आनन्द हुआ और उन्होंने नलको अपने पास बुलाकर क्षमा माँगी। राजा नलने उनके व्यवहारोंकी उत्तमता बतलाकर प्रशंसा की और उनका सत्कार किया। साथ ही उन्हें अश्वविद्या भी सिखा दी। राजा ऋतुपर्ण किसी दूसरे सारथिको लेकर अपने नगर चले गये।

तदनन्तर राजा नल अपने श्वशुरके दिये हुए रथमें सवार होकर सोलह हाथी, पचास घोड़े तथा छः सौ पैदलोंको लेकर अपने नगरमें आये और पुष्करसे मिलकर बोले—'आओ, हमलोग पुनः जूआ खेलें।' पुष्करने हँसकर कहा—'अच्छी बात है, अबकी बार तुम्हारे धन और दमयन्तीको भी जीत लूँगा।' जूआ होने लगा। राजा नलने पुष्करके राज्य, रत्नभण्डार और उसके प्राणोंको भी जीत लिया और कहा— 'यह सब राज्य मेरा हो गया; किंतु तुम अपना जीवन सुखसे बिताओ। मैं तुम्हारे प्राणोंको छोड़ देता हूँ। तुम्हारी सब वस्तुएँ और तुम्हारे पहले राज्यका भाग भी दे देता हूँ। तुमपर मेरा पहलेके समान ही प्रेम है। तुम मेरे भाई हो।' इस प्रकार कहकर नलने पुष्करको धैर्य दिया और उसे अपने हृदयसे लगाकर जानेकी आज्ञा दी। पुष्करने हाथ जोड़कर राजा नलको प्रणाम किया और कहा—'जगत्में आपकी अक्षय कीर्ति हो। आप मेरे अन्नदाता और प्राणदाता हैं।' तदनन्तर पुष्कर अपने सेवकोंको लेकर अपने नगरमें चला गया। राजा नल भी उसके साथ गये और पुष्करको पहुँचाकर अपनी राजधानीमें लौट आये। सभी नागरिक, प्रजा और मन्त्रिमण्डलके लोग राजा नलको पाकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने रोमाञ्चित शरीरसे हाथ जोड़कर राजा नलसे निवेदन किया—'राजेन्द्र! आज हमलोग दुःखसे छुटकारा पाकर सुखी हुए हैं।'

इसके पश्चात् राजा नलने सेना भेजकर दमयन्तीको बुलवाया। राजा भीमने अपनी पुत्रीको बहुत-सी वस्तुएँ देकर ससुराल भेज दिया। दमयन्ती अपनी दोनों संतानोंको लेकर महलमें आ गयी। राजा नल बड़े आनन्दके साथ समय बिताने लगे। राजा नलकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी। वे धर्मबुद्धिसे प्रजाका पालन करने लगे। उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ करके भगवान्की आराधना की।

दमयन्तीके इस पवित्र चरित्रसे स्त्रियोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि पतिको ही सर्वस्व मानकर पतिकी सेवा करें। स्त्रीके लिये पतिके समान कुछ भी नहीं है।

श्रीलक्ष्मीजीका उपदेश

इस विषयमें श्रीलक्ष्मीजीने देवताओंसे कहा है—

पतिर्बन्धुर्गतिर्भर्त्ता दैवतं गुरुरेव च।
सर्वस्माच्च परः स्वामी न गुरुः स्वामिनः परः॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ५७। ११)

'स्त्रियोंके लिये पति ही बन्धु है, पति ही गति है तथा पति ही देवता और गुरु है; उनके लिये सबसे बढ़कर पति ही है, पतिसे बढ़कर और कोई गुरु नहीं है।'

या स्त्री सर्वपरं द्वेष्टि पतिं विष्णुसमं गुरुम्।
कुम्भीपाके पचति सा यावदिन्द्राश्चतुर्दश॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ५७। १५)

'जो स्त्री विष्णुके समान पूजनीय सर्वश्रेष्ठ अपने पतिके साथ द्वेष करती है, वह जबतक चौदह इन्द्रोंकी आयु समाप्त होती है, तबतक कुम्भीपाक नरकमें पचायी जाती है।'

व्रतं चानशनं दानं सत्यं पुण्यं तपश्चिरम्।
पतिभक्तिविहीनाया भस्मीभूतं निरर्थकम्॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ५७। १६)

'पति-भक्तिसे रहित स्त्रीके लिये व्रत, उपवास, दान, सत्य, पुण्य, बहुत समयतक किया हुआ तप— ये सब भस्मके सदृश और व्यर्थ हैं।'

पतिसेवा व्रतं स्त्रीणां पतिसेवा परं तपः।
पतिसेवा परो धर्मः पतिसेवा सुरार्चनम्॥
पतिसेवा परं सत्यं दानतीर्थानुसेवनम्।
सर्वदेवमयः स्वामी सर्वदेवमयः शुचिः॥
सर्वपुण्यस्वरूपश्च पतिरूपी जनार्दनः।

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ५७। १८—२०)

'स्त्रियोंके लिये पतिसेवा ही व्रत है, पतिसेवा ही परम तप है, पतिसेवा ही परम धर्म और पतिसेवा ही देवपूजन है, उनके लिये पतिसेवा ही परम सत्य, दान और तीर्थसेवन है। स्त्रियोंके लिये पति ही सर्वदेवमय है, उनके लिये पतिरूप जनार्दन सर्वदेवमय, परम पवित्र और सर्वपुण्यस्वरूप है।'

दक्षकन्याओंने अपने पितासे कहा है—

पतिरेव गतिः स्त्रीणां पतिः प्राणाश्च सम्पदः।
धर्मार्थकाममोक्षाणां हेतुः सेतुर्भवार्णवे॥

(ब्रह्मवैवर्त० ब्रह्म० ९। ६४)

'स्त्रियोंके लिये पति ही गति और पति ही प्राण है तथा पति सर्वसम्पदाएँ हैं। उनके लिये पति ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धिका हेतु तथा संसार-समुद्रसे पार होनेके लिये पुलस्वरूप है।'

पतिर्नारायणः स्त्रीणां व्रतं धर्मः सनातनः।
सर्वं कर्म वृथा तासां स्वामिनां विमुखाश्च याः॥

(ब्रह्मवैवर्त० ब्रह्म० ९। ६५)

'स्त्रियोंके लिये पतिदेव ही साक्षात् नारायण है। वही व्रत और सनातनधर्मस्वरूप है। जो स्त्रियाँ स्वामीसे विमुख होती हैं, उनके सम्पूर्ण कर्म वृथा हैं।'

स्नानं च सर्वतीर्थेषु सर्वयज्ञेषु दक्षिणा।
सर्वदानानि पुण्यानि व्रतानि नियमाश्च ये॥
देवार्चनं चानशनं सर्वाणि च तपांसि च।
स्वामिनः पादसेवायाः कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

(ब्रह्मवैवर्त० ब्रह्म० ९। ६६-६७)

'जो सब तीर्थोंमें स्नान करना, समस्त यज्ञोंमें दक्षिणा देना, सब प्रकारके दान और दूसरे पुण्यकर्म तथा जो सब प्रकारके व्रत, नियम, देवपूजन, उपवास, सब प्रकारके तप आदि हैं—ये सब मिलकर पतिकी चरणसेवाके सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं हो सकते।'

सर्वेषां बान्धवानां च प्रियः पुत्रश्च योषिताम्।
स एव स्वामिनोंऽशश्च शतपुत्रात्परः पतिः॥

(ब्रह्मवैवर्त० ब्रह्म० ९। ६८)

'स्त्रियोंके लिये सब बान्धवोंसे बढ़कर प्रिय पुत्र होता है, वह भी पतिका अंश होता है, इसलिये सौ पुत्रोंसे भी बढ़कर पतिदेव हैं।'

पतितं रोगिणं दुष्टं निर्धनं गुणहीनकम्।
युवानं चैव वृद्धं वा भजेत्तं न त्यजेत् सती॥

(ब्रह्मवैवर्त० ब्रह्म० ९। ७०)

'सती स्त्रीको चाहिये कि उसका पति पतित हो, रोगी हो, दुष्ट हो, निर्धन हो, गुणहीन हो, युवा हो, चाहे बूढ़ा हो, उसकी सेवा ही करती रहे, उसका परित्याग न करे।'

सगुणं निर्गुणं वापि द्वेष्टि या संत्यजेत्पतिम्।
पच्यते कालसूत्रे सा यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

(ब्रह्मवैवर्त० ब्रह्म० ९। ७१)

'जो स्त्री गुणवान् या गुणरहित पतिके साथ भी द्वेष करती है अथवा उसका परित्याग कर देती है, वह जबतक चन्द्रमा और सूर्य रहते हैं, तबतक कालसूत्र नामक नरकमें पकायी जाती है।'

जरत्कारु मुनिका उपदेश

श्रीजरत्कारु मुनिने भी अपनी पत्नीसे पतिसेवाका माहात्म्य बतलाते हुए कहा है—

तपश्चानशनं चैव व्रतं दानादिकं च यत्।
भर्तुरप्रियकारिण्याः सर्वं भवति निष्फलम्॥

(ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० ४६। ३३)

'पतिका अप्रिय करनेवाली स्त्रीका तप, उपवास, व्रत और दान आदि जो कुछ भी पुण्यकर्म हैं, सब-के-सब निष्फल हो जाते हैं।'

यया पतिः पूजितश्च श्रीकृष्णः पूजितस्तया।
पतिव्रताव्रतार्थं च पतिरूपी हरिः स्वयम्॥

(ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० ४६। ३४)

'जिस स्त्रीके द्वारा पति पूजा गया, उसके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णका पूजन हो चुका। पतिव्रता स्त्रीके व्रत-पालन करनेके लिये पति ही साक्षात् परमेश्वर है।'

सर्वदानं सर्वयज्ञः सर्वतीर्थनिषेवणम्।
सर्वं तपो व्रतं सर्वमुपवासादिकं च यत्॥
सर्वधर्मश्च सत्यं च सर्वदेवप्रपूजनम्।
तत्सर्वं स्वामिसेवायाः कलां नार्हति षोडशीम्॥

(ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० ४६। ३५-३६)

'समस्त दान, सम्पूर्ण यज्ञ, समस्त तीर्थोंका सेवन, समस्त तप और समस्त व्रत तथा और भी जितने सब उपवासादिक धर्म हैं तथा जो सत्यभाषण, समस्त देवताओंका पूजन आदि सत्कर्म हैं, वे सब पतिसेवाकी सोलहवीं कलाके बराबर नहीं हो सकते।'

सुपुण्ये भारते वर्षे पतिसेवां करोति या।
वैकुण्ठं स्वामिना सार्द्धं सा याति ब्रह्मणः पदम्॥

(ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० ४६। ३७)

'जो स्त्री इस पुण्यभूमि भारतवर्षमें पतिसेवा करती है, वह अपने पतिके सहित परब्रह्म परमात्माके स्थान वैकुण्ठको प्राप्त होती है।'

विप्रियं कुरुते भर्तुर्विप्रियं वदति प्रियम्।
असत्कुलप्रजाता या तत्फलं श्रूयतां सति॥
कुम्भीपाकं व्रजेत्सा च यावच्चन्द्रदिवाकरौ।
ततो भवति चाण्डाली पतिपुत्रविवर्जिता॥

(ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० ४६। ३८-३९)

'हे सती! जो बुरे कुलमें उत्पन्न हुई स्त्री अपने पतिका अप्रिय कार्य करती है तथा प्रियतमको अप्रिय वचन कहती है, उसका फल सुनो; वह स्त्री जबतक चन्द्रमा और सूर्य रहते हैं, तबतक कुम्भीपाक नरकमें पड़ी रहती है और उसके बाद पति और पुत्रसे रहित चाण्डाली होती है।'

सती लोपामुद्राकी कथा

मित्रावरुणके पुत्र महर्षि अगस्त्य बड़े ही तपस्वी थे। उनकी धर्मपत्नी लोपामुद्रा भी बहुत उच्चकोटिकी पतिव्रता स्त्री थीं। इनके पातिव्रत्यका वर्णन स्कन्दपुराणके काशीखण्डके पूर्वार्द्धमें चौथे अध्यायमें विस्तारपूर्वक किया गया है, उसका सार यहाँ दिया जाता है। यदि विस्तारसे देखना चाहें तो वहाँ देख सकते हैं।

एक समय सब देवताओंके साथ बृहस्पतिजी अगस्त्य ऋषिके आश्रमपर गये। आश्रमके पास विचरनेवाले पशु-पक्षियोंको भी मुनियोंके समान वैरभावरहित और प्रेमपूर्वक बर्ताव करते देखकर देवताओंने यह समझा कि यह इस पुण्यक्षेत्रका प्रभाव है। फिर उन्होंने मुनिकी पर्णकुटी देखी जो कि होम और धूपकी सुगन्धसे सुवासित तथा बहुत-से ब्रह्मचारी विद्यार्थियोंसे सुशोभित थी। पतिव्रताशिरोमणि लोपामुद्राके चरण-चिह्नोंसे चिह्नित पर्णकुटीके आँगनको देखकर सब देवताओंने नमस्कार किया। देवताओंको आये देखकर मुनि खड़े हो गये और सबका यथायोग्य आदरसत्कार करके आसनपर बैठाया।

तदनन्तर बृहस्पतिजीने कहा—'महाभाग अगस्त्यजी! आप धन्य हैं, कृतकृत्य हैं और महात्मा पुरुषोंके लिये भी माननीय हैं। आपमें तपस्याकी सम्पत्ति है, स्थिर ब्रह्मतेज है, पुण्यकी उत्कृष्ट शोभा, उदारता तथा विवेकशील मन है। आपकी सहधर्मिणी ये कल्याणमयी लोपामुद्रा बड़ी पतिव्रता हैं, आपके शरीरकी छायाके तुल्य हैं। इनकी चर्चा भी पुण्यदायिनी है। मुने! ये आपके भोजन कर लेनेपर ही भोजन करती, आपके खड़े होनेपर स्वयं भी खड़ी रहती, आपके सो जानेपर सोती और आपसे पहले जाग उठती हैं। 'आपकी आयु बढ़े'—इस उद्देश्यसे ये कभी आपका नाम उच्चारण नहीं करती हैं। दूसरे पुरुषका नाम भी ये कभी अपनी

जीभपर नहीं लातीं। ये कड़वी बात सह लेती हैं, किंतु स्वयं बदलेमें कोई कटु वचन मुँहसे नहीं निकालतीं। आपके द्वारा ताड़ना पाकर भी प्रसन्न ही होती हैं। जब आप इनसे कहते हैं कि 'प्रिये! अमुक कार्य करो', तब ये उत्तर देती हैं—'स्वामिन्! आप समझ लें, वह काम पूरा हो गया।' आपके बुलानेपर ये घरके आवश्यक काम छोड़कर भी तुरंत चली आती हैं। ये दरवाजेपर देरतक नहीं खड़ी होतीं, न द्वारपर बैठती और न सोती हैं। आपकी आज्ञाके बिना कोई वस्तु किसीको नहीं देतीं, आपके न कहनेपर भी ये स्वयं ही आपके इच्छानुसार पूजाका सब सामान जुटा देती हैं। नित्य-कर्मके लिये जल, कुशा, पत्र-पुष्प और अक्षत आदि प्रस्तुत करती हैं। सेवाके लिये अवसर देखती रहती हैं और जिस समय जो आवश्यक अथवा उचित है, वह सब बिना किसी उद्वेगके अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उपस्थित करती हैं। आपके भोजन करनेके बाद बचा हुआ अन्न और फल आदि खाती तथा आपकी दी हुई प्रत्येक वस्तुको महाप्रसाद कहकर शिरोधार्य करती हैं। देवता, पितर और अतिथियोंको तथा सेवकों, गौओं और याचकोंको भी उनका भाग अर्पण किये बिना ये कभी भोजन नहीं करतीं। वस्त्र, आभूषण आदि सामग्रियोंको स्वच्छ और सुरक्षित रखती हैं। ये गृहकार्यमें कुशल हैं, सदा प्रसन्न रहती हैं, फजूल खर्च नहीं करतीं एवं आपकी आज्ञा लिये बिना ये कोई उपवास और व्रत आदि नहीं करती हैं। जनसमूहके द्वारा मनाये जानेवाले उत्सवोंका दर्शन दूरसे ही त्याग देती हैं। तीर्थयात्रादि तथा विवाहोत्सव-दर्शन आदि कार्योंके लिये भी ये कभी नहीं जातीं। रजस्वला होनेपर ये तीन राततक अपना मुँह पतिको नहीं दिखातीं। भलीभाँति स्नान कर लेनेपर पहले पतिका ही मुँह देखती हैं, और किसीका नहीं; अथवा यदि पतिदेव उपस्थित न हों तो मन-ही-मन उनका ध्यान करके सूर्यदेवका दर्शन करती हैं।

अतः पतिकी आयुवृद्धि चाहती हुई पतिव्रता स्त्री अपने शरीरसे हल्दी, रोली, सिन्दूर, काजल, चोली, कबजा, पान और शुभ माङ्गलिक आभूषण कभी दूर न करे। केशोंको सँवारना, वेणी गूँथना तथा हाथ और कान आदिके आभूषणोंको धारण करना आदि शृंगार कभी बंद न करे।

स्त्रियोंका यही उत्तम व्रत, यही परम धर्म और यही एकमात्र देवपूजन है कि वे पतिके वचनको न टालें। पति चाहे नपुंसक, दुर्दशाग्रस्त, रोगी, वृद्ध हो अथवा अच्छी स्थितिमें या बुरी स्थितिमें हो, एकमात्र अपने पतिका कभी त्याग न करे। पतिके हर्षित होनेपर सदा हर्षित और विषादयुक्त होनेपर विषादयुक्त हो। पतिपरायणा सती सम्पत्ति और विपत्तिमें भी पतिके साथ एकरूप होकर रहे। तीर्थस्नानकी इच्छा रखनेवाली नारी अपने पतिका चरणोदक पीये; क्योंकि उसके लिये केवल पति ही भगवान् शिव और विष्णुसे बढ़कर है। जो पतिकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके व्रत और उपवास आदिके नियम पालती है, वह अपने पतिकी आयु हरती है और मरनेपर नरकको प्राप्त होती है। स्त्रीके लिये पति ही देवता है, पति ही गुरु है और पति ही धर्म, तीर्थ एवं व्रत है। इसलिये स्त्री सबको छोड़कर केवल पतिकी सेवा-पूजा करे।*

इस प्रकार कहकर बृहस्पतिजी लोपामुद्रासे बोले—पतिके चरणारविन्दोंपर दृष्टि रखनेवाली महामाता लोपामुद्रे! हमने यहाँ काशीमें आकर जो गङ्गास्नान किया है, उसीका यह फल है कि हमें आपका दर्शन प्राप्त हुआ है।

स्त्रियोंको चाहिये कि रजस्वला होनेपर तीन रात्रितक घरकी वस्तुओंको न छूयें; क्योंकि उस समय वे अपवित्र रहती हैं। आजकल स्त्रियाँ जब स्त्रीधर्मसे युक्त होती हैं, तब घरकी वस्तुओंको तथा बालकोंको छू लेती हैं, ऐसा करना बहुत ही खराब है। स्त्रियोंको इन तीन दिनोंमें बड़ी सावधानीसे जीवन बिताना चाहिये। इस समय वह आँखोंमें अंजन न लगावे, उबटन न लगावे, नदी आदिमें स्नान न करे, पलँगपर

* इदमेव व्रतं स्त्रीणामयमेव परो वृषः। इयमेका देवपूजा भर्तुर्वाक्यं न लङ्घयेत्॥
क्लीबं वा दुरवस्थं वा व्याधितं वृद्धमेव वा। सुस्थितं दुःस्थितं वापि पतिमेकं न लङ्घयेत्॥
हृष्टा हृष्टे विषण्णास्या विषण्णास्ये प्रिये सदा। एकरूपा भवेत्पुण्या सम्पत्सु च विपत्सु च॥
तीर्थस्नानार्थिनी नारी पतिपादोदकं पिबेत्। शङ्करादपि विष्णोर्वा पतिरेकोऽधिकः स्त्रियाः॥
व्रतोपवासनियमं पतिमुल्लङ्घ्य या चरेत्। आयुष्यं हरते भर्तुर्मृता निरयमृच्छति॥
भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थव्रतानि च। तस्मात्सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत्॥
(स्कन्द० काशी० पू० ४। ३०—३२, ३४,३५,४८)

न सोकर भूमिपर शयन करे, दिनमें न सोवे, किसीसे हँसी-मजाक न करे और न घरमें रसोई आदिका काम ही करे। व्यासस्मृतिमें बतलाया है—

रजोदर्शनतो दोषात् सर्वमेव परित्यजेत्।
सर्वैरलक्षिता शीघ्रं लज्जितान्तर्गृहे वसेत्॥

(२। ३७)

'स्त्रीको चाहिये कि रजोदर्शनरूप अशुद्धिके कारण वह शीघ्र घरके सब काम-काज छोड़ दे और सब लोगोंकी दृष्टिसे अलग रहे तथा लज्जाशील होकर घरके भीतर ही रहे।

एकाम्बरावृता दीना स्नानालंकारवर्जिता।
मौनिन्यधोमुखी चक्षुःपाणिपद्भिरचञ्चला॥

(व्यास० २। ३८)

'दीनभावसे एक वस्त्र ही धारण करे, स्नान और भूषणादि छोड़ दे। मौन होकर नीचा मुख किये रहे तथा नेत्र, हाथ और पैरोंसे चञ्चल न हो।'

अश्नीयात् केवलं भक्तं नक्तं मृण्मयभाजने।
स्वपेद् भूमावप्रमत्ता क्षपेदेवमहस्त्रयम्॥

(व्यास० २। ३९)

'रातके समय मिट्टीके पात्रमें एक बार भोजन करे। भूमिपर सोवे। इस प्रकार प्रमादरहित होकर तीन दिन बितावे।'

स्नायीत च त्रिरात्रान्ते सचैलमुदिते रवौ।
विलोक्य भर्तुर्वदनं शुद्धा भवति धर्मतः॥
कृतशौचा पुनः कर्म पूर्ववच्च समाचरेत्।

(व्यास० २। ४०-४१)

'तीन रात्रि बीतनेपर सूर्योदय होनेके बाद वस्त्रोंके सहित स्नान करे। इसके बाद पतिके मुखका दर्शन करनेपर वह धर्मपूर्वक शुद्ध हो जाती है। शुद्ध होनेपर वह फिर पहलेकी तरह ही घरका सब काम करे।'

स्त्रियोंको रजस्वला होनेपर पति-सहवास नहीं करना चाहिये। पति इच्छा करे तो उसे समझाकर अस्वीकार कर देना चाहिये; क्योंकि उस अवस्थामें सहवास करनेपर पतिके तेज, आयु और बलका क्षय होता है। श्रीमनुजी कहते हैं—

नोपगच्छेत् प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने।
समानशयने चैव न शयीत तया सह॥

(मनु० ४। ४०)

'कामार्त हो तब भी मासिक धर्मके समय अपनी स्त्रीके पास न जाय और उसके साथ एक बिछौनेपर भी न सोवे।'

रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते॥

(मनु० ४। ४१)

'क्योंकि जो मनुष्य रजस्वला स्त्रीके पास जाता है, उसके बुद्धि, तेज, बल, नेत्र और आयुका भी ह्रास होता है।'

तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम्।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते॥

(मनु० ४। ४२)

'उस रजस्वला स्त्रीके साथ समागमका त्याग करनेवाले मनुष्यके बुद्धि, तेज, बल, नेत्र और आयु—ये सब निश्चय ही बढ़ते हैं।'

जो स्त्री और पुरुष एक-दूसरेसे प्रेम करते हैं तथा प्रसन्न रहते हैं एवं ऋतुकालमें ही सहगमन करते हैं, उनकी संतान उत्तम होती है।

श्रीमनुजीने बतलाया है—

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

(मनु० ३। ६०)

'जिस कुलमें स्त्रीसे पति नित्य प्रसन्न रहता है और उसी प्रकार पतिसे स्त्री प्रसन्न रहती है, निश्चय वहाँ ही अचल कल्याण होता है।'

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते॥

(मनु० ३। ६१)

'यदि स्त्री वस्त्राभूषणादिसे शोभायमान नहीं होती तो वह पतिको प्रमुदित नहीं कर सकती और पतिके प्रमुदित हुए बिना अच्छी संतान नहीं होती।'

इसलिये दोनोंको परस्पर प्रमुदित करना चाहिये और शास्त्रोक्त कालमें ही सहवास करना चाहिये।

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥

(मनु० ३। ४५)

'मनुष्यको सदा अपनी स्त्रीमें ही अनुरक्त होना चाहिये तथा उसके साथ ऋतुकालमें गमन करना चाहिये। ऐसे व्रतवाला पुरुष रतिकी इच्छासे पर्व-दिनोंको छोड़कर उसके पास जाय।'

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः॥

(मनु० ३। ४६)

'सज्जनोंसे निन्दित अन्य चार दिनोंसहित जो

सोलह रात्रियाँ हैं, वह स्त्रियोंके लिये स्वाभाविक ऋतुकाल माना गया है।'

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥

(मनु० ३। ४७)

'उनमें पहलेकी चार और ग्यारहवीं तथा तेरहवीं रात्रियाँ निन्दित हैं और शेष दस रात्रियाँ प्रशस्त हैं।'

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्॥

(मनु० ३। ४८)

'युग्म (छठी, आठवीं आदि) रात्रियोंमें संगम करनेपर पुत्र होते हैं और अयुग्म (पाँचवीं, सातवीं आदि) रात्रियोंमें संगम करनेसे कन्याएँ उत्पन्न होती हैं। इसलिये पुत्र चाहनेवालेको ऋतुके समय युग्म रात्रियोंमें स्त्रीके पास जाना चाहिये।'

स्त्रीको उचित है कि वह शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार कम-से-कम पुरुष-सहवास करे। पतिको भी समझाकर इस प्रवृत्तिसे रोकना चाहिये, क्योंकि अधिक सहवाससे बल, बुद्धि, वीर्य, तेज और आयुकी हानि होकर नाना प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

स्त्रीको उचित है कि अपने पतिके पिता, पितामह आदिकी श्राद्ध-तिथिपर आलस्यरहित हो प्रेमपूर्वक सब कार्य करे। आजकल लोग महालय तथा वार्षिक श्राद्धके समय केवल तर्पण करके ब्राह्मण-भोजन करा देते हैं, श्राद्ध प्रायः बहुत ही कम लोग करते हैं; पर श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। शास्त्रदृष्टिसे विधिसहित श्राद्ध करना आवश्यक है। पितरोंकी तृप्तिके लिये निष्कामभावसे श्राद्ध किया जाय तो पितर तो तृप्त होते ही हैं, कर्तव्यका पालन करनेके कारण श्राद्ध-कर्ताकी आत्माका भी कल्याण होता है। और सकामभावसे श्राद्ध करके श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन्त्रोंसे शास्त्रविधिके अनुसार श्राद्धके मध्यमपिण्डका स्त्री भक्षण करती है तो आयु और बुद्धिसे युक्त यशस्वी, धार्मिक, सात्त्विक पुत्र उत्पन्न होता है।

श्रीमनुजीने कहा है—

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा।
मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात् सम्यक् सुतार्थिनी॥

(मनु० ३। २६२)

'पितरोंके पूजनमें लगी हुई तथा अच्छे पुत्रको चाहनेवाली पतिव्रता धर्मपत्नी पिण्डोंमेंसे मध्यमपिण्डका **'आधत्त पितरो गर्भम्'** इस मन्त्रोच्चारणपूर्वक शास्त्रविधिके अनुसार भोजन करे।'

आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम्।
धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं धार्मिकं तथा॥

(मनु० ३। २६३)

'वह (ऐसा करनेवाली) पत्नी बड़ी आयुवाला, यश और बुद्धिसे युक्त, धनवान्, प्रजावान्, सात्त्विक और धार्मिक पुत्र उत्पन्न करती है।'

घरवालोंको चाहिये कि सर्वदा साध्वी स्त्रियोंका सत्कार करें, हमारे शास्त्रोंमें स्त्रियोंके सत्कारका बड़ा महत्त्व बतलाया गया है। जो मनुष्य शास्त्रोंके रहस्यको नहीं जानते वे कह दिया करते हैं कि 'शास्त्रकारोंने स्त्रियोंपर अत्याचार किया है', किंतु बात ऐसी नहीं है। जो लोग स्त्रियोंको अपने पैरोंकी जूतीके समान समझते, उनका अनादर करते और गालियाँ देते हैं तथा जो उनपर मारपीट आदि अत्याचार करते हैं, वे सब पापके भागी होते हैं। स्त्रियोंका इस प्रकार अनादर करनेवाले भाइयोंसे हमारी प्रार्थना है कि वे ऐसा कभी न करें। स्त्रियाँ अपमान करनेके योग्य नहीं हैं, बल्कि उनका मन, वाणी, शरीरसे, वस्त्र, आभूषण, खान-पान और द्रव्यद्वारा सदा आदर-सत्कार करना चाहिये। जिन घरोंमें स्त्रियोंका सत्कार नहीं होता, वे घर सम्पत्तिसहित नष्ट हो जाते हैं एवं उनके किये हुए यज्ञ-दान निष्फल होते हैं।

श्रीमनुमहाराज कहते हैं—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

(मनु० ३। ५६)

'जहाँ स्त्रियोंका आदर किया जाता है, वहाँ देवता रमण करते हैं और जहाँ इनका अनादर होता है, वहाँ सब कार्य निष्फल होते हैं।'

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥

(मनु० ३। ५७)

'जिस कुलमें जामि (स्त्री, पुत्रवधू) स्त्रियाँ शोक करती हैं, वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और जहाँ ये शोक नहीं करती हैं, वह कुल निश्चय ही सदा उन्नत होता रहता है।'

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः॥

(मनु० ३। ५८)

'जिन स्त्रियोंका आदर नहीं होता, वे जिन घरोंको शाप देती हैं, वे घर कृत्यासे मारे जानेके समान सब प्रकारसे नष्ट हो जाते हैं।'

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥

(मनु० ३।५९)

'इसलिये वैभव चाहनेवाले मनुष्योंको चाहिये कि आदरके अवसरोंपर तथा उत्सवोंमें वस्त्र, अलंकार और भोजन आदिसे स्त्रियोंका सदा आदर करें।'

श्रीविदुरजीने भी कहा है—

पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद् रक्ष्या विशेषतः॥

(महा० उद्योग० ३८।११)

'घरको उज्ज्वल करनेवाली और पवित्र आचरणवाली महाभाग्यवती स्त्रियाँ पूजा (सत्कार) करनेयोग्य हैं; क्योंकि वे घरकी लक्ष्मी कही गयी हैं अतः उनकी विशेषतासे रक्षा करे।'

लौकिक और पारलौकिक सभी कार्योंके सम्पादनमें मूल आधार स्त्रियाँ ही हैं, अतः मनुष्यको इनका आदर-सम्मान यत्नपूर्वक करना चाहिये। श्रीस्कन्दपुराणमें ब्रह्मखण्डके धर्मारण्य-माहात्म्य-प्रकरणमें बतलाया है—

भार्या मूलं गृहस्थस्य भार्या मूलं सुखस्य च।
भार्या धर्मफलायैव भार्या संतानवृद्धये॥

(७।६४)

'गृहस्थ-आश्रमका मूल भार्या है, सुखका मूल कारण भार्या है, धर्मफलकी प्राप्ति तथा संतानवृद्धिका कारण भी भार्या ही है।'

श्रीमनुस्मृतिमें भी लिखा है—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥

(९।२६)

'परम सौभाग्यशालिनी स्त्रियाँ संतानोत्पादनके लिये हैं। ये सर्वथा सम्मानके योग्य और घरकी शोभा हैं। घरकी स्त्री और लक्ष्मीमें कोई भेद नहीं है।'

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम्॥

(९।२७)

'संतान उत्पन्न करना, उत्पन्न हुई संतानका भलीभाँति पालन-पोषण करना और प्रतिदिन भोजन आदि बनाकर लोकयात्राका निर्वाह करना—यह सब प्रत्यक्षरूपसे स्त्रीके अधीन है।'

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह॥

(९।२८)

'संतानकी प्राप्ति, धर्मकार्यका अनुष्ठान, सेवाकार्य, उत्तम (धर्मयुक्त) रति, पितरोंकी स्वर्गप्राप्ति और अपनी भी पारलौकिक उन्नति—निःसंदेह स्त्रीके अधीन है।'

कोई-कोई स्त्री ऐसी दुष्ट स्वभावकी होती है कि वह पतिको झूठा-सच्चा सिखलाकर अपनी सास, ननद, देवरानी, जेठानी आदिको पतिके द्वारा कष्ट दिलाती है और स्वयं भी नाना प्रकारकी जली-कटी बातें सुनाकर उनको दुखाती है। ऐसा अत्याचार करनेवाली स्त्रियाँ भी पापकी भागिनी होती हैं। ऐसी स्त्रियोंसे हमारी प्रार्थना है कि वे ऐसा अनुचित कार्य कभी न करें तथा दूसरी स्त्रियाँ यदि ऐसा करती हों तो उनको भी समझाकर रोक दें। उन्हें यह विचार करना चाहिये कि जिस प्रकार हमारा कोई सम्मान करता है तो हमें अच्छा मालूम देता है, और अपमान करता है तो बुरा मालूम देता है, इसी प्रकार मैं भी दूसरेका सम्मान करूँगी तो उसे अच्छा लगेगा और अपमान करूँगी तो उसे बुरा मालूम होगा। ऐसा सोचकर अपने घरमें सास-ननद आदि जितनी भी स्त्रियाँ हैं, उनको न तो पतिके द्वारा ही कष्ट पहुँचावे और न स्वयं ही कष्ट दे। उनका स्वयं और पतिके द्वारा भी सदा आदर-सत्कार करे तथा सुख पहुँचावे। इस प्रकार करनेपर वे प्रसन्न होकर आशीर्वाद देती हैं, जिससे इस लोक और परलोक—दोनोंमें हित होता है।

इसी प्रकार सास और ननदको भी चाहिये कि वे अपने पुत्र और भाईको लगाकर निर्दोष, निरीह बहू या भाभीको कष्ट न दिलावें न स्वयं ही उसे कष्ट दें।

विधवा माताओंका तो विशेषरूपसे आदर-सत्कार करना चाहिये। जिस किसी प्रकारसे हो, उन्हें प्रसन्न रखे; क्योंकि अपने धर्मका पालन करनेवाली विधवा सांसारिक सुखका त्याग करनेके कारण तपस्विनी है। उसकी तन, मन, धन आदिके द्वारा सब प्रकारसे सेवा करके सुख पहुँचाना ही कर्तव्य है। इस प्रकार करनेपर उनके आशीर्वादसे इस लोक और परलोक दोनोंमें सब प्रकारसे हित होता है।

बहुत-सी सुहागिन स्त्रियाँ विधवा स्त्रियोंकी देखा-देखी विशेष उपवास-व्रत आदि करनेमें अपना कल्याण समझकर उनका अनुष्ठान करती हैं, यह शास्त्रविरुद्ध है। अत्रिस्मृतिमें लिखा है—

जीवद्भर्तरि या नारी उपोष्य व्रतचारिणी।
आयुष्यं हरते भर्तुः सा नारी नरकं व्रजेत्॥

(१।१३४)

'जो स्त्री पतिके जीते हुए निराहार उपवास-व्रतका

आचरण करती है, वह स्त्री स्वामीकी आयुका हरण करती है और नरकको प्राप्त होती है।'

इसलिये सुहागिन स्त्रियोंको निराहार व्रत नहीं करना चाहिये।*

विधवाओंके साथ व्यवहार और उनका धर्म

विधवा स्त्रियाँ तो ऐसे ही घोर दुःखी हैं, फिर उनको जो दूसरे स्त्री-पुरुष दुःख देते हैं, तंग करते हैं, वे इस लोकमें निन्दाको पाते हैं और मरनेपर घोर नरककी प्राप्ति होती है। पतिके मरनेपर विधवा स्त्रीका पीहर और ससुराल दोनोंमें बहुत जगह तिरस्कार होता है और उसपर अनेक प्रकारके अत्याचार होते हैं। इससे उसको जो दुःख होता है, उसका वर्णन करनेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं है। विधवाओंकी यह कष्टमयी स्थिति प्रत्यक्ष देखनेमें भी आती है। थोड़ा ध्यान देकर देखनेसे हरेक आदमीको इसका अनुभव हो सकता है। अतः प्रत्येक नर-नारीका कर्तव्य है कि अपनी जानकारीमें जो दुःखी विधवा स्त्री हो, उसकी यथाशक्ति तन, मन, धनसे सहायता करे।

विधवा माता-बहिनोंको चाहिये कि वे शास्त्रमें बतलाये हुए अपने कर्तव्यकी ओर ध्यान दें तथा ऐश-आराम, भोग, स्वाद, शौक आदि जो शारीरिक सुख हैं, उनको नाशवान्, क्षणभंगुर समझकर उनका त्याग कर दें। सांसारिक सुखभोगके लिये दूसरोंके बहकानेपर भी कभी नाता या विधवा-विवाह नहीं करना चाहिये; क्योंकि यह सुखरूपमें प्रतीत होता है, पर वास्तवमें है दुःख ही। जो भोले-भाले नर-नारी उसे सुख बतलाकर— विधवाको पुनर्विवाह करनेको कहते हैं वे भूलमें हैं और दयाके पात्र हैं; क्योंकि उन स्त्रियोंसे पुनर्विवाह-जैसा घृणित और अनुचित कार्य कराकर इस लोक और परलोकसे भ्रष्ट कर देना और परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त सुखसे वञ्चित रख देना बड़ी भारी गलती है। उनको चाहिये कि वे उनको, जो वास्तवमें सुख नहीं है, केवल धोखा है, उससे हटावें और आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करने, घरका काम-काज करने तथा ईश्वरकी भक्ति करनेके लिये शिक्षा दें।

वर्तमान समयमें अशिक्षित होनेके कारण कोई-कोई विधवा माता-बहिन अज्ञानवश ईश्वर और धर्मको न माननेवाले नास्तिक पुरुषोंके बहकावेमें आकर पुनः विवाह करनेको तैयार हो जाती हैं, उन भोली माता-बहिनोंसे प्रार्थना है कि वे सतीत्वके नाशकी शिक्षा देनेवाले उन शास्त्रानभिज्ञ नास्तिक नर-नारियोंकी बात कभी न सुनें; क्योंकि शास्त्र-विरुद्ध होनेके कारण उनकी वे बातें विश्वास करने योग्य नहीं हैं, बल्कि भ्रममें डालनेवाली हैं। उनमें कोई-कोई तो ऐसे धूर्त होते हैं कि वे अपने घरकी विधवा स्त्रियोंका पुनः विवाह न करके दूसरोंकी स्त्रियोंके धर्म-कर्म तथा लोक-परलोकको नष्ट करनेके लिये ही ऐसा उपदेश देते फिरते हैं। अतः माता-बहिनोंको चाहिये कि वे उनके बहकावेमें न फँसे तथा ऐसा निन्दित और निर्लज्ज कार्य करके अपने पीहर और ससुरालको कलङ्कित न करें एवं अपने लोक-परलोकको नष्ट न करें।

पतिके मरनेके बाद विधवा स्त्रीको किस प्रकार अपना जीवन बिताना चाहिये, इस विषयमें मनु महाराज कहते हैं—

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥

(५। १५७)

'विधवा स्त्री फल-फूल, कन्द-मूल आदि सात्त्विक पदार्थोंसे जीवन-निर्वाह करती हुई भले ही अपने शरीरको सुखा डाले; परंतु पतिकी मृत्युके बाद किसी पराये पुरुषका कभी नाम भी न ले।'

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्॥

(मनु० ५। १५८)

'पतिव्रता स्त्रियोंका जो सर्वोत्तम धर्म है, उसे पानेकी इच्छा रखनेवाली विधवा मृत्युपर्यन्त क्षमाशील, मन-इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाली तथा ब्रह्मचारिणी रहे।'

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवङ्गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम्॥

(मनु० ५। १५९)

'कई हजार कुमार ब्रह्मचारी ब्राह्मणोंने कुलमें बिना संतान उत्पन्न किये ही अपने ब्रह्मचर्यके प्रभावसे स्वर्गलोक प्राप्त किया है।'

* गौरीव्रत, सौभाग्यसुन्दरीव्रत, चतुर्थीव्रत, सावित्रीव्रत तथा हरतालिका व्रत आदि जिन उपवासव्रतोंका सधवा स्त्रियोंके लिये विशेषरूपसे विधान है और जिनमें निराहार न रहनेसे उलटे दोष होता है तथा जिनके करनेसे सुहाग-सुख बढ़ता है एवं पतिका कल्याण होता है, उन व्रतोंको सुहागिन स्त्रियोंके करनेमें आपत्ति नहीं है, बल्कि उन्हें अवश्य करना चाहिये।—सं०

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥

(मनु० ५। १६०)

'पतिकी मृत्युके बाद ब्रह्मचर्यव्रतमें दृढ़तापूर्वक स्थिर रहनेवाली साध्वी स्त्री पुत्रहीना होनेपर भी स्वर्गलोकमें जाती है जैसे कि वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी (पुत्रके बिना भी) स्वर्गमें गये हैं।'

अपत्यलोभाद् या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते।
सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते॥

(मनु० ५। १६१)

'किंतु जो स्त्री पुत्रके लोभसे पतिका उल्लङ्घन (व्यभिचार) करती है, वह इस लोकमें तो निन्दा पाती ही है, पतिलोकसे भी वञ्चित रह जाती है।'

नान्योत्पन्ना प्रजाऽस्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते॥

(मनु० ५। १६२)

'पर-पुरुषसे उत्पन्न हुई संतान यहाँ अपनी संतान नहीं मानी जाती; इसी प्रकार परायी स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुई संतान भी अपनी नहीं है। कुलीन स्त्रियोंके लिये कहीं भी दूसरा पति बनानेका उपदेश नहीं दिया गया है।'

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥

(मनु० ९। ४७)

'कुटुम्बमें धन आदिका बँटवारा एक बार ही होता है, कन्यादान एक बार ही दिया जाता है तथा 'मैं दूँगा' यह प्रतिज्ञा भी एक ही बार की जाती है; सत्पुरुषोंके लिये ये तीन बातें एक-एक बार ही होती हैं।'

नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।
अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्॥

(मनु० ९। ६४)

'द्विजातिको उचित है कि अन्य (देवर आदि) में विधवाको नियुक्त न करे, क्योंकि अन्य (देवर आदि) में नियुक्त कर देनेसे वे सनातन धर्मको नष्ट करती हैं।'

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥

(मनु० ९। ६५)

'विवाहके मन्त्रोंमें कहीं भी नियोगकी चर्चा नहीं है, विवाहकी विधिमें विधवाका पुनर्दान भी नहीं कहा गया है।'

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति॥

(मनु० ९। ६६)

'यह तो पशुधर्म है, जिसकी विद्वान् द्विजोंने सदा ही निन्दा की है। मनुष्योंमें इसका प्रचार वेन राजाके ही राज्यमें हुआ था।'

ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम्।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः॥

(मनु० ९। ६८)

'उसके राज्यके पश्चात् जो पुरुष मोहके वश होकर विधवा स्त्रीको संतानके लिये नियुक्त करता है, साधुजन उसकी निन्दा करते हैं।'

कुन्तीदेवीकी कथा

विधवा स्त्रियोंको किस प्रकार अपना जीवन बिताना चाहिये, इसके लिये राजा पाण्डुकी धर्मपत्नी कुन्तीदेवीका जीवन आदर्श है। उसका अनुकरण करना चाहिये।

कुन्तीदेवी यादवकुलमें उत्पन्न हुई थीं। ये शूरसेनजीकी पुत्री, वसुदेवजीकी बहिन तथा श्रीकृष्ण और बलदेवजीकी बूआ थीं। इनका नाम पृथा था। राजा कुन्तिभोजने इनको पुत्रीके रूपमें गोद ले लिया था, इसलिये ये 'कुन्ती' नामसे विख्यात हुईं। कुन्ती बड़ी ही पतिव्रता, सती-साध्वी, समता, धीरता, वीरता, गम्भीरता, परोपकार आदि गुणोंसे सम्पन्न, दयालु, निर्भीक, सदाचारिणी, तपस्विनी, सत्यवादिनी और ईश्वरकी भक्त थीं। राजा पाण्डुके साथ इनका विवाह हुआ। राजा पाण्डुके एक दूसरी पत्नी भी थीं, उनका नाम माद्री था। मद्रदेशके राजाकी पुत्री होनेसे इनका 'माद्री' नाम विख्यात हुआ। राजा पाण्डुके पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। कुन्तीके गर्भसे युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तथा माद्रीके गर्भसे नकुल और सहदेव।

जिस समय ये सब लोग वनमें रहते थे, उस समय एक दिन माद्रीके साथ सहवास करते हुए राजा पाण्डुकी ब्राह्मणके शापसे मृत्यु हो गयी। उस समय पतिव्रता कुन्तीदेवी अपने पतिके साथ सती होनेके लिये प्रस्तुत हो गयीं और माद्रीसे बोलीं—'तुम इन बच्चोंका पालन-पोषण करो। मैं महाराजकी बड़ी पत्नी हूँ।

इसलिये इनके साथ सती होनेका मुझे ही अधिकार है। मैं अब इनका अनुगमन करूँगी।' माद्रीने कहा—'बहिन! अपने धर्मात्मा पतिके साथ मैं ही सती होऊँगी। मैं अभी युवती हूँ। मुझे ही इनके साथ जाना चाहिये। तुम बड़ी हो बहिन! इसके लिये मुझे आज्ञा दे दो। मेरी प्रार्थना है, तुम मेरे पुत्रोंके साथ भी अपने ही पुत्रों-जैसा व्यवहार करना। मुझपर विशेष आसक्ति होनेके कारण ही पतिदेवकी मृत्यु हुई है, इसलिये भी मैं इनके साथ सती होऊँगी।' माद्री यों कहकर अपने पतिदेवके साथ चितापर चढ़ गयीं और पतिलोकको सिधार गयीं।

इधर कुन्तीदेवी अपने तीनों पुत्र युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तथा माद्रीके दोनों पुत्र नकुल और सहदेवको लेकर तपस्वियोंके साथ हस्तिनापुर चली गयीं। इन्होंने शास्त्रविधिके अनुसार अपने पतिकी सारी और्ध्वदैहिक क्रिया की। ये पाँचों पुत्रोंको समान समझती थीं, बल्कि अपने निजके पुत्रोंकी अपेक्षा भी नकुल और सहदेवसे अधिक प्यार किया करती थीं। छोटे होनेके कारण सहदेवके प्रति इनका और भी अधिक स्नेह था। यह बात महाभारतमें स्थल-स्थलपर आयी है। महाभारतके पाठकोंको ज्ञात होगा, पाण्डवोंके वनगमनके समय कुन्तीदेवी द्रौपदीको आदेश देती हैं कि 'बेटी! तुम स्त्रियोंका धर्म जानती हो। इस घोर संकटमें पड़कर दुःख मत करना। तुम स्वयं शील और सदाचारसे सम्पन्न हो। इसलिये पतियोंके प्रति तुम्हारे कर्तव्यके सम्बन्धमें शिक्षा देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। तुम स्वयं परम साध्वी, गुणवती और दोनों कुलोंकी भूषण हो। निर्दोष द्रौपदी! तुमने कौरवोंको शाप देकर भस्म नहीं किया, यह उनका सौभाग्य और तुम्हारा सौजन्य है। तुम्हारा मार्ग निष्कण्टक हो। सुहाग अचल रहे। कुलीन स्त्रियाँ अचानक दुःख पड़नेपर घबराती नहीं। पातिव्रतधर्म सर्वदा तुम्हारी रक्षा करेगा और सब प्रकारसे तुम्हारा मङ्गल होगा। एक बात तुमसे कहनी है। तुम वनमें रहते समय मेरे प्यारे पुत्र सहदेवका विशेष ध्यान रखना। उसे कष्ट न होने पाये।' इससे यही सिद्ध होता है कि सहदेवके प्रति कुन्तीका सबसे अधिक स्नेह था।

इसी प्रकार आश्रमवासिक पर्वमें लिखा है—कार्तिक शुक्ला १५ को जब गान्धारी पतिके साथ वन जाने लगीं, उस समय कुन्तीदेवी भी गान्धारीका हाथ पकड़े साथ ही वनको चल दीं। वन जाते समय इन्होंने युधिष्ठिरको सहदेवकी सँभाल सौंपते हुए कहा कि 'तुम सहदेवकी देख-रेख रखना।' इन सब बातोंसे भी यही सिद्ध होता है कि कुन्तीका माद्रीपुत्र सहदेवके प्रति विशेष स्नेह था। कुन्तीके इस आचरणसे सौतेली माताओंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि वे कुन्तीकी भाँति अपनी सौतके पुत्रोंसे अपने पुत्रोंकी अपेक्षा भी विशेष लालन-पालनपूर्वक प्रेम करें।

कुन्तीका वीरमातृत्व

कुन्ती आदर्श वीरमाता भी थीं। श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजके समझानेपर भी जब दुर्योधनने संधि स्वीकार नहीं की—यहाँतक कि कुन्तीके पाँच पुत्रोंको पाँच गाँव देना भी दुर्योधनने अस्वीकार कर दिया, तब श्रीकृष्णजीने कुन्तीके पास आकर सारा वृत्तान्त कहा और पूछा कि 'अब पाण्डवोंके लिये आपकी क्या आज्ञा है?' इसपर कुन्तीने कहा—'केशव! तुम मेरी ओरसे राजा युधिष्ठिरसे कहना कि 'बेटा! क्षत्रियोंको प्रजापति ब्रह्माने अपनी भुजाओंसे उत्पन्न किया है, अतः तुम्हें अपने बाहुबलसे ही अपना राज्य लेकर प्रजाका धर्मयुक्त पालन करना चाहिये। यही तुम्हारा धर्म है।'

इस विषयमें विदुला नामकी विधवा क्षत्राणी और उसके पुत्रका संवाद आदर्श है। विदुला बड़ी यशस्विनी, तेज स्वभाववाली, कुलीना, संयमशीला और दीर्घदर्शिनी थी। राजसभाओंमें उसकी अच्छी ख्याति थी और शास्त्रका भी उसे अच्छा ज्ञान था। एक समय उसका अपना पुत्र सिन्धुराजसे परास्त होकर बड़ी दीन-दशामें पड़ गया। उस समय विदुलाने उसे फटकारते हुए कहा—'अरे! प्राण रहते तू विजयसे निराश हो गया? यदि तू अपना कल्याण चाहता है तो युद्ध कर। तू अपने आत्माका निरादर न कर और अपने मनको स्वस्थ करके भयको त्याग दे। कायर! खड़ा हो जा। प्राण जानेकी नौबत आ जाय तो भी मनुष्यको पराक्रम नहीं छोड़ना चाहिये। इस समय तो तू इस प्रकार पड़ा है, जैसे कोई बिजलीका मारा हुआ मुर्दा हो। वीर पुरुष रणभूमिमें जाकर उच्चकोटिका मानवोचित पराक्रम दिखाकर अपने धर्मसे उऋण होता है। विद्वान् पुरुष फल मिले या न मिले इसके लिये चिन्ता नहीं करता; वह तो निरन्तर पुरुषार्थसाध्य कर्तव्यकर्म करता रहता है। तू या तो अपना पुरुषार्थ बढ़ाकर जय लाभ कर, नहीं तो वीरगतिको प्राप्त हो। इस प्रकार धर्मको पीठ दिखाकर किसलिये जी रहा है? अरे नपुंसक! इस तरह न्यायतः प्राप्त युद्ध न करनेसे तो तेरे इष्ट-पूर्त

आदि कर्म और सुयश—सभी मिट्टीमें मिल जायँगे तथा तेरे भोगका साधन राज्य भी नष्ट हो जायगा; फिर तू किसलिये जी रहा है?'

पुत्रने कहा—'माँ! तुम वीरोंकी-सी बुद्धिवाली हो। तुम्हारा हृदय तो मानो लोहेका ही गढ़कर बनाया गया है। अहो! क्षत्रियोंका धर्म बड़ा ही कठिन है, जिसके कारण स्वयं तुम्हीं दूसरेकी माताके समान अथवा जैसे किसी दूसरेसे कह रही हो, इस प्रकार मुझे युद्धके लिये उत्साहित कर रही हो। मैं तो तुम्हारा इकलौता पुत्र हूँ। फिर भी तुम मुझसे ऐसी बात कह रही हो। जब तुम मुझीको नहीं देखोगी तो इस पृथ्वी, गहने, भोग और जीवनसे भी तुम्हें क्या सुख होगा? फिर तुम्हारा अत्यन्त प्रिय पुत्र मैं तो संग्राममें काम आ जाऊँगा।'

माता बोली—'संजय! समझदारोंकी सब अवस्थाएँ धर्म या अर्थके लिये ही होती हैं। उनपर दृष्टि रखकर ही मैं तुझे युद्धके लिये उत्साहित कर रही हूँ। यह तेरे लिये कोई दर्शनीय कर्म करके दिखानेका समय आया है। इस अवसरपर यदि तूने कुछ पराक्रम नहीं दिखाया तथा अपने शरीर या शत्रुके प्रति कड़ाईसे काम नहीं लिया तो तेरा बड़ा तिरस्कार होगा। अतः तू सत्पुरुषोंसे निन्दित तथा मूर्खोंसे सेवित मार्गको छोड़ दे। मुझे तो तू तभी प्रिय लगेगा, जब तेरा आचरण सत्पुरुषोंके योग्य होगा। जो अपना कर्तव्यकर्म नहीं करते, बल्कि निन्दनीय कर्मका आचरण करते हैं, उन अधम पुरुषोंको तो न इस लोकमें सुख मिलता है और न परलोकमें ही। प्रजापतिने क्षत्रियोंको तो युद्ध करने और विजय प्राप्त करनेके लिये ही रचा है। युद्धमें जय या मृत्यु प्राप्त करनेसे क्षत्रिय इन्द्रलोक प्राप्त कर लेता है।'

पुत्रने कहा—'माताजी! यह ठीक है, किंतु तुम्हें अपने पुत्रके प्रति तो ऐसी बातें नहीं कहनी चाहिये। उसपर तुम्हें दयादृष्टि ही रखनी चाहिये।' माता बोली—'बेटा! जब तू सिन्धुदेशके सब योद्धाओंका संहार कर डालेगा, तभी मैं तेरी प्रशंसा करूँगी। मैं तो तेरी कठिनतासे प्राप्त होनेवाली विजय ही देखना चाहती हूँ।'

पुत्रने कहा—'माताजी! मेरे पास न तो खजाना है और न कोई सहायक ही है; फिर भी मेरी जय कैसे होगी? इस विकट परिस्थितिका विचार करके मैं तो स्वयं ही राज्यकी आशा छोड़ बैठा हूँ—ठीक वैसे ही, जैसे पापी पुरुष स्वर्ग-प्राप्तिकी आशा नहीं रखता। यदि इस स्थितिमें भी तुम्हें कोई उपाय दिखायी देता हो तो मुझे बताओ; मैं जैसा तुम कहोगी, वैसा ही करूँगा।'

माता बोली—'चाहे कैसी भी आपत्ति आये, राजाको उससे घबराना नहीं चाहिये। कदाचित् घबराहट हो, तो भी घबराये हुएके समान आचरण नहीं करना चाहिये। मैं तेरे पुरुषार्थ और बुद्धिबलको जानना चाहती थी। इसीसे तेरा उत्साह बढ़ानेके लिये तुझसे मैंने ये प्रोत्साहित करनेवाली बातें कही हैं। यदि तुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं ठीक कह रही हूँ तो विजय प्राप्त करनेके लिये कमर कसकर खड़ा हो जा। हमारे पास अभी बड़ा भारी खजाना है। उसे मैं ही जानती हूँ और किसीको उसका पता नहीं है। वह मैं तुझे सौंपती हूँ। संजय! अभी तो तेरे सैकड़ों सुहृद् हैं। वे सभी सुख-दुःखको सहन करनेवाले और संग्राममें पीठ न दिखानेवाले हैं।'

राजा संजय तुच्छ बुद्धिका मनुष्य था, किंतु माताके ऐसे वचन सुनकर उसका मोह नष्ट हो गया। उसने कहा—'मेरा यह राज्य शत्रुरूप जलमें डूबा हुआ है, अब मुझे इसका उद्धार करना है; इसके लिये मैं रणभूमिमें प्राण दे दूँगा। अहा! मुझे भावी वैभवका दर्शन करानेवाली तुम-जैसी पथदर्शिका माता मिली है, फिर मुझे क्या चिन्ता है। अब मैं शत्रुओंका दमन करने और जय प्राप्त करनेके लिये अपने बन्धुओंके सहित चढ़ाई करता हूँ।'

कुन्ती बोलीं—श्रीकृष्ण! माताके वाग्बाणोंसे बिंधकर चाबुक खाये हुए घोड़ेके समान उसने माताकी आज्ञाके अनुसार सब काम किये और शत्रुओंपर विजय प्राप्त की। यह आख्यान बड़ा उत्साहवर्धक और तेजकी वृद्धि करनेवाला है। जब कोई राजा शत्रुसे पीड़ित होकर कष्ट पा रहा हो, उस समय मन्त्री उसे यह प्रसङ्ग सुनाये। इस इतिहासको सुननेसे गर्भवती स्त्री निश्चय ही वीर पुत्र उत्पन्न करती है। यदि क्षत्राणी इसे सुनती है तो उसकी कोखसे विद्याशूर, तपःशूर, दानशूर, तेजस्वी, बलवान्, धैर्यवान्, अजेय, विजयी, दुष्टोंका दमन करनेवाला, साधुओंका रक्षक, धर्मात्मा और सच्चा शूरवीर पुत्र उत्पन्न होता है। केशव! तुम अर्जुनसे कहना कि तेरा जन्म होनेके समय मुझे यह आकाशवाणी हुई थी कि 'कुन्ती! तेरा यह पुत्र इन्द्रके समान बलवान् होगा। यह भीमसेनके साथ रहकर युद्धमें आये हुए सभी कौरवोंको जीत लेगा और अपने शत्रुओंको व्याकुल कर देगा। यह सारी पृथ्वीको अपने अधीन कर लेगा और इसका यश स्वर्गलोकतक फैल जायगा। श्रीकृष्णकी सहायतासे यह सारे कौरवोंको संग्राममें मारकर अपने खोये हुए पैतृक

राज्यको प्राप्त करेगा और फिर अपने भाइयोंके साथ तीन अश्वमेध यज्ञ करेगा।' श्रीकृष्ण! मेरी भी यही इच्छा है कि आकाशवाणीने जैसा कहा था, वैसा ही हो; और यदि धर्म सत्य है तो ऐसा ही होगा भी। तुम अर्जुन और नित्य कर्मतत्पर भीमसेनसे यही कहना कि 'क्षत्राणियाँ जिस कामके लिये पुत्र उत्पन्न करती हैं, उसे करनेका समय आ गया है।'* और द्रौपदीसे कहना कि 'बेटी! तू अच्छे कुलमें उत्पन्न हुई है, तूने मेरे सभी पुत्रोंके साथ धर्मानुसार बर्ताव किया है; यह तेरे योग्य ही है।' नकुल और सहदेवसे कहना कि 'तुम अपने प्राणोंकी भी बाजी लगाकर पराक्रमसे प्राप्त हुए भोगोंको भोगनेकी इच्छा करो।' श्रीकृष्ण! अब तुम जाओ, मेरे पुत्रोंकी रक्षा करते रहना।

कुन्तीदेवीके उपर्युक्त आख्यानसे सभी माताओंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि वे अपने पुत्रोंको वीर बनानेका प्रयत्न करें तथा वीर बननेकी उन्हें शिक्षा दें।

कुन्तीका परोपकार

कुन्तीदेवीका हृदय दयासे भरपूर था, वह वीरताके साथ ही परोपकारमें भी अत्यन्त बढ़ी-चढ़ी हुई थीं। इस विषयमें महाभारतके आदिपर्वमें एक इतिहास आता है कि जिस समय कुन्तीदेवी तथा पाण्डव एकचक्रा नगरीमें एक ब्राह्मणके घरमें छिपकर रहते थे, उस समय एक दिनकी बात है, सब भाई भिक्षा लेनेके लिये गये हुए थे। केवल भीमसेन माता कुन्तीके पास थे। उसी दिन ब्राह्मणके घरमें करुण क्रन्दन होने लगा। वे लोग बीच-बीचमें विलाप करते और रोते जाते। ब्राह्मण-परिवारकी रुदनध्वनि सुनकर कुन्तीका सौहार्दपूर्ण हृदय दयासे द्रवित हो गया। उन्होंने भीमसेनसे कहा—'बेटा हमलोग ब्राह्मणके घरमें रहते हैं और ये हमारा बहुत सत्कार करते हैं। मैं प्राय: यह सोचा करती हूँ कि इस ब्राह्मणका हमें भी उपकार करना चाहिये। कृतज्ञता ही मनुष्यका जीवन है। जितना कोई अपना उपकार करे, उससे बढ़कर उसका उपकार करना चाहिये। अवश्य ही इस ब्राह्मणपर कोई विपत्ति आ पड़ी है। यदि हम इसकी सहायता कर सकें तो इसके ऋणसे उऋण हो जायँ।' भीमसेनने कहा—'माँ! तुम ब्राह्मणके दु:खके कारणका पता लगाओ। मैं उनके लिये कठिन-से-कठिन काम भी करूँगा।' कुन्ती जल्दीसे ब्राह्मणके घरके भीतर गयीं।

उन्होंने देखा कि ब्राह्मण अपनी पत्नी और पुत्रके साथ मुँह नीचा किये बैठा है और अपनी धर्मपत्नीसे कह रहा है—'धिक्कार है मेरे इस जीवनको! क्योंकि यह सारहीन, व्यर्थ, दु:खी और पराधीन है। जीव धर्म, अर्थ और कामका भोग करना चाहता है; किंतु इस आपत्तिसे छूटनेका न तो कोई उपाय दीखता है और न मैं अपनी पत्नी, लड़की और पुत्रके साथ भाग ही सकता हूँ। तुम मेरी जितेन्द्रिय और धर्मात्मा सहचरी हो। देवताओंने तुम्हें मेरी सखी और सहारा बना दिया है। मैंने मन्त्र पढ़कर तुमसे विवाह किया है। तुम कुलीन, शीलवती और बच्चोंकी माँ हो। तुम सती-साध्वी और मेरी हितैषिणी हो। राक्षससे अपने जीवनकी रक्षाके लिये मैं तुम्हें उसके पास नहीं भेज सकता।'

पतिकी बात सुनकर ब्राह्मणीने कहा—'स्वामिन्! आप साधारण मनुष्यके समान शोक क्यों कर रहे हैं? एक-न-एक दिन सभी मनुष्योंको मरना ही पड़ता है। फिर इस अवश्यम्भावी बातके लिये शोक क्यों किया जाय। पत्नी, पुत्र अथवा पुत्री—सब अपने लिये ही होते हैं। आप विवेकके बलसे चिन्ता छोड़िये। मैं स्वयं उसके पास जाऊँगी। पत्नीके लिये सबसे बढ़कर यही सनातन कर्तव्य है कि वह अपने प्राणोंको निछावर करके पतिका हित करे। मेरे इस कामसे आप सुखी होंगे और मुझे भी परलोकमें सुख तथा इस लोकमें यश मिलेगा। मैं आपके धर्म और लाभकी बात कहती हूँ। जिस उद्देश्यसे विवाह किया जाता है, वह अब पूरा हो चुका। आपके मेरे गर्भसे एक पुत्र और एक पुत्री है। आप इन बच्चोंका जैसा पालन-पोषण कर सकते हैं, वैसा मैं नहीं कर सकती। आप न रहेंगे तो मेरे प्राणेश्वर! मेरे जीवनसर्वस्व! मैं कैसे रहूँगी और फिर इन बच्चोंकी क्या दशा होगी? यदि मैं अनाथ और विधवा होकर जीवित भी रहूँ तो इन बच्चोंको कैसे रखूँगी? इस कन्याको मर्यादामें रखना और बच्चेको सद्‌गुणी बनाना मुझसे कैसे हो सकेगा? आपके वियोगमें मैं न रहूँगी और आपके तथा मेरे बिना इन बच्चोंका नाश हो जायगा। आपके जानेसे हम चारोंका विनाश हो जायगा, इसलिये आप मुझे भेज दीजिये।

* एतद्धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदर: ॥
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागत: । (महा० उद्योग० १३७। ९-१०)

स्त्रियोंके लिये यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि वे अपने पतिके पहले ही परलोकवासिनी हो जायँ। मेरा जीवन आपके लिये निछावर है। स्त्रीके लिये यज्ञ, तप, नियम और दानसे भी बढ़कर है अपने पतिका प्रिय और हित। इस लोकमें स्त्री, पुत्र, मित्र और धन आदिका संग्रह आपत्तिसे रक्षा करनेके लिये किया जाता है। आपत्तिके लिये धनकी रक्षा करे, धन खोकर भी पत्नीकी रक्षा करे तथा पत्नी और धन दोनोंको खोकर भी आत्म-कल्याणका सम्पादन करे। यह भी सम्भव है कि स्त्रीको अवध्य समझकर वह राक्षस मुझे न मारे। मैंने अच्छे पदार्थ भोग लिये, धर्म-कर्म कर लिये, पुत्र भी हो चुका; अब मेरे मरनेमें भला, दुःख ही क्या है। मेरे मर जानेपर आप तो दूसरा विवाह भी कर सकते हैं; क्योंकि पुरुषके लिये अधिक विवाह अधर्म नहीं है और स्त्रीके लिये तो महान् अधर्म है। यह सब सोच-विचारकर आप मेरी बात मानिये और इन बच्चोंकी रक्षाके लिये आप स्वयं रह जाइये और मुझे उस राक्षसके पास भेजिये।' स्त्रीके यों कहनेपर ब्राह्मणने उसे अपने हृदयसे लगा लिया। उसकी आँखोंसे आँसू गिरने लगे।

माँ-बापकी दुःखभरी बात सुनकर कन्या बोली—'आप दोनों दुःखार्त होकर क्यों अनाथके समान रो रहे हैं; आपके परलोकवासी हो जानेपर मेरा यह प्यारा छोटा भाई नहीं बचेगा। माँ-बाप और भाईकी मृत्युसे आपकी वंशपरम्पराका ही उच्छेद हो जायगा। जब कोई नहीं रहेंगे तो मैं भी तो नहीं रह सकूँगी। आप लोगोंके रहनेसे सबका कल्याण होगा। मैं ही राक्षसके पास जाकर इस वंशकी रक्षा करूँगी। इससे मेरे लोक-परलोक दोनों बनेंगे।' कन्याकी यह बात सुनकर माँ-बाप दोनों रोने लगे। कन्या भी बिना रोये न रह सकी। सबको रोते देखकर नन्हा-सा शिशु मिठासभरी तोतली वाणीसे कहने लगा—'पिताजी! माताजी! बहिन! मत रोओ।' फिर उसने एक तिनका उठाकर हँसते हुए कहा—'मैं इसीसे राक्षसको मार डालूँगा।' बच्चेकी इस बातसे उस दुःखकी घड़ीमें भी माता-पिताके मुखपर प्रसन्नताकी एक लहर आ गयी।

कुन्ती अवसर देखकर उन लोगोंके पास चली गयी और बोली—'ब्राह्मणदेवता! आपके दुःखका क्या कारण है? उसे जानकर यदि हो सकेगा तो मैं मिटानेकी चेष्टा करूँगी।' ब्राह्मणने कहा—'तपस्विनी! आपकी बात सज्जनोंके अनुरूप है; परंतु मेरा दुःख मनुष्य नहीं मिटा सकता। इस नगरके पास ही एक बक नामका राक्षस रहता है। उस बलवान् राक्षसके लिये एक गाड़ी अन्न और दो भैंसे प्रतिदिन दिये जाते हैं। जो मनुष्य लेकर जाता है, उसे भी वह खा जाता है। प्रत्येक गृहस्थको यह काम करना पड़ता है। परंतु इसकी बारी बहुत वर्षोंके बाद आती है। जो उससे छूटनेका यत्न करते हैं, वह उनके सारे कुटुम्बको खा जाता है। यहाँका राजा यहाँसे थोड़ी दूर वेत्रकीयगृह नामक स्थानमें रहता है। वह अन्यायी है और इस विपत्तिसे प्रजाकी रक्षा नहीं करता। आज हमारी बारी आ गयी है। मुझे उसके भोजनके लिये अन्न और एक मनुष्य देना पड़ेगा।'

कुन्तीने कहा—'ब्राह्मणदेवता! आप न डरें और न शोक करें; उससे छुटकारेका उपाय मैं समझ गयी। आपके तो एक ही पुत्र और एक ही कन्या है। आप दोनोंमेंसे किसीका जाना भी मुझे ठीक नहीं लगता। मेरे पाँच लड़के हैं, उनमेंसे एक इस पापी राक्षसका भोजन लेकर चला जायगा।' ब्राह्मण बोला—'हरे-हरे! मैं अपने जीवनके लिये अतिथिकी हत्या नहीं कर सकता। अवश्य ही आप बड़ी कुलीन और धर्मात्मा हैं, तभी तो ब्राह्मणके लिये अपने पुत्रका भी त्याग करना चाहती हैं। मुझे स्वयं कल्याणकी बात सोचनी चाहिये। आत्मवध और अतिथिवध—इन दोनोंमें मुझे तो आत्मवध ही श्रेयस्कर जान पड़ता है। आपत्तिकालमें भी निन्दित और क्रूर कर्म नहीं करना चाहिये। मैं स्वयं अपनी पत्नीके साथ मर जाऊँ, यह श्रेष्ठ है।'

कुन्तीने कहा—'ब्रह्मन्! मेरा भी यह दृढ़ निश्चय है कि ब्राह्मणकी रक्षा करनी चाहिये। मैं भी अपने पुत्रका अनिष्ट नहीं चाहती; परंतु बात यह है कि राक्षस मेरे बलवान् और तेजस्वी पुत्रका अनिष्ट नहीं कर सकता। वह राक्षसको भोजन पहुँचाकर भी अपनेको छुड़ा लेगा ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है।'

कुन्तीकी बातसे ब्राह्मण-परिवारको बड़ी प्रसन्नता हुई। कुन्तीने ब्राह्मणके साथ जाकर भीमसेनसे कहा—'तुम यह काम कर दो।' भीमसेनने बड़ी प्रसन्नताके साथ माताकी बात स्वीकार कर ली। जिस समय भीमसेनने वह काम करनेकी प्रतिज्ञा की, उसी समय युधिष्ठिर आदि भिक्षा लेकर लौटे। युधिष्ठिरने भीमसेनके आकारसे ही सब कुछ समझ लिया। उन्होंने एकान्तमें बैठकर अपनी मातासे पूछा—'माँ! भीमसेन क्या करना चाहते हैं? यह उनकी स्वतन्त्र इच्छा है या आपकी आज्ञा?' कुन्ती बोली—'मेरी आज्ञा!' युधिष्ठिरने कहा—'माँ! आपने दूसरेके लिये अपने पुत्रको संकटमें डालकर बड़े साहसका काम किया है।' कुन्ती बोली—

'बेटा! भीमसेनकी चिन्ता मत करो। मैंने यह कार्य विचारकर ही किया है। हमलोग यहाँ इस ब्राह्मणके घरमें आरामसे रहते हैं। उससे उऋण होनेके लिये ही मैंने ऐसा सोचा है। मनुष्य-जीवनकी सफलता इसीमें है कि वह कभी उपकारीके उपकारको न भूले। उसके उपकारसे भी बढ़कर उसका उपकार करे। भीमसेनके विषयमें मेरा विश्वास है कि इसे राक्षस नहीं मार सकेगा; क्योंकि पैदा होते ही यह मेरी गोदसे गिरा था, तब इसके शरीरसे टकराकर चट्टान चूर-चूर हो गयी थी। अतः इसे कोई भय नहीं है। इससे प्रत्युपकार तो होगा ही, धर्मलाभ भी होगा।' युधिष्ठिरने कहा—'माता! आपने जो कुछ समझ-बूझकर किया है, वह सब उचित है। अवश्य ही भीमसेन राक्षसको मार डालेगा; क्योंकि आपके हृदयमें ब्राह्मणकी रक्षाके लिये विशुद्ध धर्मभाव है। किंतु ब्राह्मणसे यह अवश्य कह देना चाहिये कि नगरवासियोंको यह बात मालूम न होने पाये।'

तदनन्तर भीमसेन बकासुरके लिये भोजन लेकर चला गया। वहाँ जाकर उसने बकासुरके साथ युद्ध करके उसे मार डाला। तब बकासुरके कुटुम्बी अन्य राक्षस भयके मारे भाग गये। भीमसेनने लौटकर युधिष्ठिर तथा ब्राह्मणको वह सारी कथा कह सुनायी।

इससे विधवा माताओं तथा अन्य सब लोगोंको भी यह शिक्षा लेनी चाहिये कि दूसरोंकी आपत्तिको अपने ऊपर लेकर उनका उपकार करें।

कुन्तीकी सत्यप्रियता

कुन्तीमें सत्यनिष्ठा भी अलौकिक थी। वे जो अपने मुँहसे कह दिया करती थीं, उसको अक्षरशः सत्य करनेकी चेष्टा किया करती थीं। स्वयंवरमें द्रौपदीको जीतकर अर्जुन और भीमसेनने द्रौपदीके साथ कुम्हारके घरमें प्रवेश करके अपनी मातासे कहा—'माँ! आज हमलोग यह भिक्षा लाये हैं।' माता कुन्ती उस समय घरके भीतर थीं। उन्होंने अपने पुत्रों और भिक्षाको देखे बिना ही कह दिया—'बेटा! पाँचों भाई मिलकर उसका भोग करो।' बाहर निकलकर जब कुन्तीने देखा कि यह तो साधारण भिक्षा नहीं, राजकुमारी है, तब तो उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे कहने लगीं—'हाय! मैंने क्या किया? वे तुरंत द्रौपदीका हाथ पकड़कर युधिष्ठिरके पास ले गयीं और बोलीं—'बेटा! जब भीमसेन और अर्जुन इस राजकुमारीको लेकर भीतर आये, तब मैंने बिना देखे ही कह दिया कि तुम सब लोग मिलकर इसका भोग करो। मैंने आजतक कभी कोई झूठी बात नहीं कही है। अब तुम कोई ऐसा उपाय बताओ, जिससे मेरी बात सत्य हो।'

युधिष्ठिरने माता कुन्तीकी आज्ञा समझकर ऐसा ही करनेका निश्चय किया और माताको आश्वासन दिया तथा अर्जुनको बुलाकर कहा—'भाई! तुमने मर्यादाके अनुसार द्रौपदीको प्राप्त किया है अब विधिपूर्वक अग्नि प्रज्वलित करके उसका पाणिग्रहण करो।' अर्जुनने कहा—'भाईजी! आप मुझे अधर्मका भागी न बनाइये। सत्पुरुषोंने कभी ऐसा आचरण नहीं किया है। पहले आपका, तब भीमसेनका, तदनन्तर मेरा और मेरे बाद नकुल और सहदेवका विवाह हो। इसलिये इस राजकुमारीका विवाह तो आपके ही साथ होना चाहिये। साथ ही यह भी निवेदन है कि आप अपनी बुद्धिसे धर्म, यश और हितके लिये जैसा करना उचित समझें वैसी आज्ञा दें। हमलोग आपके आज्ञाकारी हैं।

युधिष्ठिरने माता कुन्तीकी आज्ञाका स्मरण करके निश्चयपूर्वक कहा—'द्रौपदी हम सब भाइयोंकी पत्नी होगी।' इससे सभी भाइयोंको बड़ी प्रसन्नता हुई।

तत्पश्चात् पाण्डवोंने राजा द्रुपदके पास जाकर पाँचोंके साथ द्रौपदीका विवाह करनेका प्रस्ताव किया; किंतु राजा द्रुपदने उसका न्याययुक्त विरोध किया। तब श्रीवेदव्यासजीने प्रकट होकर राजा द्रुपदको एकान्तमें द्रौपदीके पूर्वजन्मकी कथा सुनायी और उसे दिव्यदृष्टि देकर सब बातें प्रत्यक्ष दिखला दीं तथा पाँचों पाण्डवोंके साथ द्रौपदीका विवाह करनेकी आज्ञा दी। इसपर राजाने पाँचों पाण्डवोंके साथ द्रौपदीका विवाह कर दिया।

कुन्तीकी भक्ति

कुन्ती भगवान्‌की उच्चकोटिकी भक्त भी थी। भागवतके प्रथम स्कन्धके आठवें अध्यायमें कुन्तीने भगवान् श्रीकृष्णकी बड़े विस्तारसे स्तुति की है (जो विस्तारसे देखना चाहें, वे उसे वहाँ देखें)। उस समय कुन्तीने स्तुति करते हुए क्या ही सुन्दर कहा है—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।

भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

(१। ८। २५)

'जगद्गुरो! हमारे जीवनमें सर्वदा पद-पदपर विपत्तियाँ आती रहें; क्योंकि विपत्तियोंमें ही निश्चितरूपसे आपका दर्शन हुआ करता है और आपका दर्शन हो जानेपर फिर जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं आना पड़ता।'

इसलिये विधवा माता-बहिनोंको कुन्तीदेवीको आदर्श मानकर भगवान्‌के नामका जप और भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान, स्तुति, प्रार्थना आदिद्वारा भगवान्‌की भक्ति करनी चाहिये।

जबतक दुर्योधन जीता रहा, उसने पाण्डवोंको और कुन्तीको सदा ही अनुचित दुःख दिया। राजा धृतराष्ट्रकी सम्मतिसे दुर्योधनने पाण्डवोंको लाक्षा-भवनमें भेजकर आग लगवाना आदि अनेक अत्याचार किये, किंतु इन सब अत्याचारोंको भुलाकर कुन्तीदेवीने राजमाता होते हुए भी अपनी जेठानी गान्धारी और जेठ धृतराष्ट्रकी अपने सास-ससुरके समान सेवा की। इस विषयमें विशेष देखना चाहें तो महाभारत आश्रमवासिकपर्वमें देखिये। यहाँ संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया जाता है।

कुन्तीका त्याग

जब कुन्तीदेवी सास-ससुरके समान गान्धारी और धृतराष्ट्रके साथ उनकी सेवा और तपस्या करने वनमें जाने लगीं, तब उन्होंने राजा युधिष्ठिरसे कहा—'भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव तथा द्रौपदीका ध्यान रखना। अब मैं वनमें गान्धारीके साथ रहकर तपस्या करूँगी और अपने इन सास-ससुरके चरणोंकी सेवामें लगी रहूँगी।' कुन्तीके यों कहनेपर भाइयोंसहित युधिष्ठिरको बड़ा दुःख हुआ। वे बोले—'माँ! आपने अपने मनमें यह क्या ठान लिया? आपको ऐसा नहीं करना चाहिये। हमलोगोंपर कृपा करके लौट चलिये। पहले आपने ही विदुलाके वचनोंसे हमें क्षत्रिय-धर्मके पालनके लिये उत्साहित किया था। पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे आपका विचार सुनकर ही मैंने राजाओंका संहार करके इस राज्यको हस्तगत किया है।'

अपने धर्मजीवन पुत्रके अश्रुगद्‌गद वचन सुनकर कुन्तीके नेत्रोंमें भी आँसू उमड़ आये; तो भी वे रुकी नहीं, आगे बढ़ती ही गयीं। तब भीमसेनने कहा—'माताजी! जब पुत्रोंके जीते हुए इस राज्यको भोगनेका अवसर आया और राजधर्मोंके पालनकी सुविधा प्राप्त हुई, तब आपकी बुद्धि कैसे बदल गयी? क्या कारण है कि आप हमें छोड़कर वनको जाना चाहती हैं? जब वनमें ही रहना था तो बालक-अवस्थामें हमलोगोंको और दुःख-शोकमें डूबे हुए इन माद्रीकुमारोंको आप वनसे नगरमें क्यों लायीं? माँ! हमलोगोंपर प्रसन्न होइये और बलपूर्वक प्राप्त की हुई राजा युधिष्ठिरकी राजलक्ष्मीका उपभोग कीजिये।' यह सुनकर भी कुन्ती वनवासके निश्चयसे विचलित न हुईं। उनके पुत्र नाना प्रकारसे विलाप करते रहे, किंतु उन्होंने उनकी बात नहीं मानी। सासको इस प्रकार वनवासके लिये जाते देख द्रौपदीका भी मुँह उदास हो गया और वह सुभद्राके साथ रोती हुई कुन्तीके पीछे-पीछे जाने लगी। कुन्तीकी बुद्धि बड़ी ही उदात्त थी। वे वनवासका निश्चय कर चुकी थीं, इसलिये अपने रोते हुए पुत्रोंकी ओर बारंबार देखकर भी वे टस-से-मस नहीं हुईं—आगे बढ़ती ही चली गयीं। पाण्डव भी अपने सेवकों और अन्तःपुरकी स्त्रियोंके साथ उनके पीछे-पीछे जाने लगे। यह देख कुन्तीदेवी आँसू पोंछकर अपने पुत्रोंसे बोलीं—'पुत्रो! तुम्हारा कहना ठीक है। पहले तुम नाना प्रकारके कष्ट उठा रहे थे, इसलिये मैंने तुम्हें युद्धके लिये उत्साहित किया था। मैं अपने स्वामी महाराज पाण्डुके विशाल राज्यका सुख भोग चुकी हूँ। बड़े-बड़े दान और विधिवत् सोमपान भी कर चुकी हूँ। मैंने राज्यभोगके लिये श्रीकृष्णको प्रेरित नहीं किया था। विदुलाके वचन सुनकर जो उनके द्वारा तुम्हारे पास संदेश भेजा था, वह सब तुम्हारी रक्षाके उद्देश्यसे ही किया गया था। बेटा युधिष्ठिर! अब मैं तपस्याके द्वारा अपने पतिके पवित्र लोकमें जाना चाहती हूँ, अतः वनवासी सास-ससुरकी सेवा करके तपके द्वारा इस शरीरको सुखाऊँगी। तुम भीमसेन आदिके साथ लौट जाओ। मैं आशीर्वाद देती हूँ, तुम्हारी बुद्धि धर्ममें लगी रहे और तुम्हारा हृदय अत्यन्त उदार हो।'

कुन्तीकी बात सुनकर पाण्डव बहुत लज्जित हुए। जब वे उन्हें लौटानेमें सफल न हो सके, तब राजा धृतराष्ट्रकी प्रदक्षिणा एवं उन्हें प्रणाम करके द्रौपदीसमेत दुःखित मनसे नगरको लौट चले। तदनन्तर धृतराष्ट्रने गान्धारी और विदुरका सहारा लेकर कहा—'गान्धारी! युधिष्ठिरकी माता कुन्तीको लौटा दो। यह राज्यमें रहकर

भी बड़े-बड़े दान और तप कर सकती है। बहू कुन्तीकी सेवा-शुश्रूषासे मैं बहुत सन्तुष्ट हूँ, इसलिये अब तुम इसे घर लौट जानेकी आज्ञा दो।' राजाके यों कहनेपर गान्धारीदेवीने कुन्तीसे उनका संदेश सुना दिया और अपनी ओरसे भी उन्हें लौटनेके लिये विशेष आग्रहपूर्वक कहा; किंतु धर्मपरायणा सती कुन्तीदेवी वनवासके लिये दृढ़ निश्चय कर चुकी थीं; अतः गान्धारी उन्हें किसी प्रकार लौटा न सकीं।

जब पाण्डवोंको तपोवनसे लौटकर आये दो वर्ष व्यतीत हो गये, तब एक दिन देवर्षि नारद राजा युधिष्ठिरके पास आये। युधिष्ठिरने उनका सत्कार करके कहा—'भगवन्! गान्धारी, कुन्ती, संजय और मेरे ताऊ महाराज धृतराष्ट्र इस समय कैसे रहते हैं? उनके सम्बन्धमें मैं सुनना चाहता हूँ। नारदजी बोले—'मैंने तपोवनमें जो कुछ देखा-सुना है, वह सब बतलाता हूँ। जब तुमलोग वनसे लौट आये, तब तुम्हारे ज्येष्ठ पिता गान्धारी और कुन्तीके साथ हरिद्वारको चले गये। वहाँ पहुँचकर तुम्हारे ज्येष्ठ पिताने तीव्र तपस्या आरम्भ की। वे मुँहमें पत्थरका टुकड़ा रखकर वायुका आहार करते और मौन रहते थे। उस वनमें जितने ऋषि थे, सब उनका विशेष रूपसे सम्मान करने लगे। उनके शरीरमें चमड़ेसे ढकी हुई हड्डियोंका ढाँचामात्र रह गया। इस प्रकार उन्होंने छः महीने व्यतीत किये। गान्धारी केवल जल पीकर रहती थीं। कुन्तीदेवी एक महीनेतक उपवास करके एक दिन भोजन करती थीं और संजय छठे समय अर्थात् दो दिन उपवास करके तीसरे दिन संध्याको आहार ग्रहण करते थे। गान्धारी और कुन्ती—दोनों देवियाँ साथ-साथ रहकर धृतराष्ट्रके पीछे-पीछे फिरती थीं। संजय भी उन्हींका अनुसरण करते थे। ऊँची-नीची भूमि आनेपर संजय ही धृतराष्ट्रको निभाते थे और कुन्तीदेवी गान्धारीके लिये नेत्र बनी हुई थीं।

'एक दिनकी बात है, राजा धृतराष्ट्र गङ्गाके कछारमें घूम रहे थे। इसी समय बड़े जोरकी हवा चली, जिससे उस वनमें भयंकर दावाग्नि प्रज्वलित हो उठी। आगको निकट आते देख राजा धृतराष्ट्रने संजयसे कहा—'संजय! हमलोग तो अब यहीं अपनेको अग्निमें होमकर परम गति प्राप्त करेंगे। हमलोग स्वेच्छासे गृहस्थाश्रमका परित्याग करके आये हैं। जल, अग्नि या वायुके संयोगसे अथवा उपवास करके प्राण त्यागना तपस्वियोंके लिये प्रशंसनीय माना गया है। इसलिये तुम अब यहाँसे शीघ्र चले जाओ।' यह कहकर राजा धृतराष्ट्रने अपने मनको एकाग्र किया और गान्धारी तथा कुन्तीके साथ वे पूर्वाभिमुख होकर बैठ गये। उन्हें इस अवस्थामें देख संजयने उनकी परिक्रमा की और कहा—'महाराज! अब अपनेको योगयुक्त कीजिये।' राजाने उनके कथनानुसार समाधि लगा ली। वे इन्द्रियोंको रोककर काष्ठकी भाँति निश्चेष्ट हो गये। इसके बाद गान्धारी, तुम्हारी माता कुन्ती तथा तुम्हारे पितृव्य राजा धृतराष्ट्र—ये तीनों ही दावाग्निमें जलकर भस्म हो गये; किंतु संजयके प्राण बचे हुए हैं। वे यहाँसे हिमालयपर्वतपर चले गये। इस प्रकार महामना धृतराष्ट्र और तुम्हारी दोनों माताओंकी मृत्यु हुई है।'

कुन्तीदेवीके इस आदर्श चरित्रको ध्यानमें रखकर विधवा माता-बहिनोंको उसके अनुसार आचरण करना चाहिये तथा अपने सास-ससुर आदि बड़ोंकी सेवा, तपस्या और भजन-ध्यानके लिये प्राणपर्यन्त तत्परतापूर्वक चेष्टा करनी चाहिये।

विधवा बहिनोंके कर्तव्य

विधवा स्त्रियोंको दिनमें एक बार भोजन करना चाहिये, भूमिपर शयन करना, सफेद सादा वस्त्र धारण करना और यथायोग्य यथासाध्य उपवास (निराहार) व्रतादि करने चाहिये। विधवा स्त्री कभी उबटन न लगाये, पान न खाये, सुगन्धित पदार्थोंका सेवन न करे, केशोंको न गूँथे, रँगा हुआ वस्त्र और आभूषण न पहने तथा आँखोंमें अञ्जन न लगाये। सदा काम-क्रोधको जीते, इन्द्रियोंको वशमें रखे, किसीसे लड़ाई-झगड़ा, वाद-विवाद न करे तथा सदा आलस्य छोड़कर अपने घरका काम-काज करे एवं अपने कर्तव्यका पालन करती हुई परमेश्वरकी भक्तिमें संलग्न रहे। शास्त्रमें कहा है—

विधवानां तु नारीणां ब्रह्मचर्यं सदैव हि।
न गृह्णीयाद् रक्तवर्णं न खट्वां मैथुनं न च॥

(बृहद्धर्मपुराण उत्तर० ८। ११)

'विधवा स्त्रियोंको सदा ही ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। वे न तो रँगा हुआ वस्त्र पहनें, न खाटपर सोयें और मैथुन तो कभी करें ही नहीं।'

यौवनं विविधा भूषा चारुकेशादिधारणम्।
देहशोभा च नारीणां विधवानां न शोभते॥

(बृहद्धर्मपुराण पूर्व० ४। ३३-३४)

'विधवा स्त्रियोंका यौवन, नाना प्रकारकी वेष-भूषा, केशोंको सुन्दरतासे गूँथकर धारण करना तथा शरीरकी शोभा—ये सभी शोभा नहीं पाते।'

ताम्बूलं विधवास्त्रीणां यतीनां ब्रह्मचारिणाम्।
संन्यासिनां च गोमांससुरातुल्यं श्रुतौ श्रुतम्॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ८३। १००)

'वेदमें सुना गया है कि विधवा स्त्रियोंके लिये, यतियों (वानप्रस्थों) के लिये, संन्यासियोंके लिये और ब्रह्मचारियोंके लिये पान खाना गोमांस और मदिराके तुल्य है।'

केशवेणी जटारूपं न क्षौरं तीर्थकं विना।
तैलाभ्यङ्गं न कुर्वीत न हि पश्यति दर्पणम्॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ८३। १०४)

'विधवा स्त्रीको चाहिये कि बालोंको वेणीके रूपमें सजाये नहीं, जटा-जूट करके बाँध ले; उनको तीर्थस्थलके अतिरिक्त कटाये नहीं, शरीरमें तेल न लगाये तथा दर्पणमें अपना मुख न देखे।'

मुखं च परपुंसां च यात्रानृत्यं महोत्सवम्।
नर्तनं गायनं चैव सुवेषं पुरुषं शुभम्॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ८३। १०५)

'दूसरे पुरुषोंका मुख न देखे, यात्रा-नृत्यों एवं अन्य प्रकारके नृत्योंको तथा महोत्सवोंको न देखे, गाना न सुने और सुसज्जित सुन्दर पुरुषकी ओर तो कदापि न देखे।'

इसलिये विधवा स्त्रियोंको अपना जीवन बहुत सीधा-सादा, तपोमय बनाना चाहिये। सभी प्रकारके ऐश-आराम, भोग, स्वाद, शौकका त्याग करना चाहिये तथा वैराग्यपूर्वक रहकर अपना जीवन भगवान्‌की भक्तिमें लगाना चाहिये।

विधवा माता-बहिनोंसे यह भी प्रार्थना है कि शास्त्रोंमें जो विधवाओंके धर्म (कर्तव्य) बतलाये हैं, उनका स्वाध्याय तथा अनुशीलन करें। स्वयं पढ़ी हुई न हों तो अपने सदाचारी पिता, भाई, पुत्र, जेठ, ससुर आदिके द्वारा तथा त्यागी विरक्त शास्त्रज्ञ महापुरुषोंके द्वारा सुनें और यथाशक्ति उनको काममें लायें, किंतु पाखण्डी, धूर्त, बनावटी महात्माओंके चंगुलमें न फँसे। जो कञ्चन और कामिनीके दास हैं उनके तो पास भी न जायँ। स्त्रियोंको किसी भी पुरुषको, चाहे वह महात्मा ही क्यों न हो, गुरु नहीं बनाना चाहिये; क्योंकि स्त्रियोंका तो पति ही गुरु है और पतिके मरनेपर परम पति परमेश्वर जगद्गुरु हैं, उन्हींकी भक्ति करें तथा शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार अपने धर्मका पालन करते हुए शरीर, संसार और भोगोंको क्षणभङ्गुर, नाशवान् और दुःखरूप समझकर उनका तिनकेके समान त्याग कर दें। इस प्रकार अपना तपोमय जीवन बनाकर ईश्वरके शरण हो जायँ, जिससे इस लोकमें कीर्ति और परलोकमें उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त हो। एवं भारी आपत्ति पड़नेपर भी अपने धर्मका कभी त्याग न करें; क्योंकि मरनेपर मनुष्यके साथ एक धर्म ही जाता है। मनुष्य-जन्म पाकर अपने आत्माका कल्याण करना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है।

यह मनुष्य-शरीर बहुत ही दुर्लभ है। भगवान्‌की कृपासे या बड़े भारी भाग्यसे यह मिलता है। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥

किंतु यह मानव-शरीर अनित्य और क्षणिक है। मृत्यु कब आकर अचानक मार देगी, इसका भी पता नहीं। अतः जिससे अपने आत्माका सुधार होकर उद्धार हो, उसी कामको शीघ्रातिशीघ्र करना चाहिये। इस शरीर और संसारके भोगोंमें जो सुख प्रतीत होता है, वह धोखा है। वास्तवमें इनमें सुख नहीं है। इसलिये संसारी भोगोंको त्यागकर निरन्तर भगवान्‌का भजन करना चाहिये। भगवान्‌ने स्वयं गीतामें कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(९। ३३)

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

श्रीभगवान्‌ने भजनका प्रकार और फल इस प्रकार बताया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९। ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

(परम साधन)

बालकोंके कर्तव्य

भारतमें आजकल बालकोंको जो शिक्षा-दीक्षा प्राप्त हो रही है, वह भारतीय संस्कृतिके लिये तो घातक है ही, उन बालकोंके लिये भी अत्यन्त हानिकर और उनके जीवनको असंयमपूर्ण, रोगग्रस्त, दुःखी बनाकर अन्तमें मानव-जीवनके चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रखनेवाली है। अधिकांश बुद्धिमान् सज्जन बहुत विचार-विनिमयके अनन्तर इसी निर्णयपर पहुँचे हैं कि हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली हमारे बालकोंके लिये सर्वथा अनुपयोगी है। त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोंका जो अनुभव था, वह सब प्रकारसे इस लोक और परलोकमें कल्याणकारक था। पर आज हमलोग उनके अनुभवके लाभसे वञ्चित हो रहे हैं; क्योंकि उन महानुभावोंकी जो भी शिक्षा है, वह शास्त्रोंमें है तथा अन्य प्रकारके व्यर्थके कार्योंमें समय खो देनेके कारण समयाभावसे और श्रद्धा, भक्ति, रुचिकी कमीसे हमलोग शास्त्र पढ़ते नहीं; अतः उनसे प्रायः अनभिज्ञ रहते हैं। हमारी संतान तो इस ज्ञानसे प्रायः सर्वथा ही शून्य है और होती जा रही है। इसलिये भारतीय संस्कृतिके प्रति श्रद्धा रखनेवालों तथा बालकोंके सच्चे शुभचिन्तकोंको ऐसी शिक्षा-पद्धति बनानेका प्रयत्न करना चाहिये, जिससे बालक-बालिकाओंमें वर्णाश्रमधर्म, ईश्वर-भक्ति, माता-पिताकी सेवा, देव-पूजा, श्राद्ध, एकनारीव्रत, सतीत्व आदिमें श्रद्धा उत्पन्न हो। साथ ही अभिभावकोंको स्वयं इनका पालन करना चाहिये। जो अभिभावक स्वयं सद्गुण-सदाचारका पालन नहीं करता, उसका बच्चोंपर असर नहीं हो सकता। ऐसी उत्तम शिक्षाके लिये गीता, भागवत, रामचरितमानस, वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायण, महाभारत, जैमिनीय अश्वमेध, पद्मपुराण, मनुस्मृति आदि धार्मिक ग्रन्थोंका स्वयं अध्ययन करना चाहिये और बालक-बालिकाओंको कराना चाहिये। यदि प्रतिदिन अपने घरमें, चाहे एक घंटा या आधा घंटा ही हो, सब मिलकर इन ग्रन्थोंका क्रमसे अध्ययन करें तो बालकोंको घर बैठे ही शास्त्रज्ञान हो सकता है। इस प्रकारके अभ्याससे ऋषि, मुनि, महात्मा, शास्त्र, ईश्वर और परलोकमें श्रद्धा-विश्वास बढ़कर बालकोंका स्वाभाविक ही उत्थान हो सकता है तथा बालक आदर्श बन सकते हैं। बालकोंकी उन्नतिसे ही कुटुम्ब, जाति, देश और राष्ट्र तथा भावी संतानकी उन्नति हो सकती है। अतः बालकोंके शिक्षण और चरित्रपर अभिभावकोंको विशेष ध्यान देना चाहिये।

वर्तमान शिक्षा-संस्थाओंमें बालकोंको ईश्वर-भक्ति और धर्म-पालनकी शिक्षाका देना तो दूर रहा, इनका बुरी तरहसे विरोध किया जाता है। ईश्वर और धर्मकी खिल्ली उड़ायी जाती है और कहा जाता है कि धर्म ही हमारे पतन और अवनतिका हेतु है एवं बालकोंमें इस प्रकारके मिथ्या सिद्धान्त भरे जाते हैं कि 'आर्यलोग बाहरसे भारतमें आये हैं, चार-पाँच हजार वर्षोंसे पूर्वका कोई इतिहास नहीं मिलता तथा जगत् उत्तरोत्तर उन्नत हो रहा है।' इन भावोंसे धर्म और ईश्वरके प्रति अनास्था होकर उनका घोर पतन हो रहा है। इसीलिये उनको धर्मका ज्ञान होना असम्भव-सा होता जा रहा है। आजकलकी प्रणालीके अनुसार बच्चा जब छः-सात वर्षका होता है, तभी हम उसे पढ़नेके लिये स्कूलमें भेज देते हैं। वहाँ धर्मज्ञानसे रहित अपरिपक्वमति तथा कॉलेजोंसे निकले हुए प्रायः प्राचीनताके विरोधी नये अध्यापकोंके साथ उच्छृङ्खल वातावरणमें रहकर जब वह करीब सोलह वर्षका होता है तो उसे कॉलेजमें भेज देते हैं। वह बीस वर्षकी आयुतक कठिनतासे बी० ए० पास कर पाता है; परंतु जब वह एफ्० ए० या बी० ए० पास होकर घर आता है, तब अपने माँ-बापको मूर्ख समझने लगता है और हमारी बची-खुची भारतीय संस्कृतिके पुराने संस्कारोंको देखकर हँसी-मजाक उड़ाता है; क्योंकि समय और श्रद्धाके अभावके कारण ऋषि-मुनियोंकी भारतीय संस्कृतिसे युक्त ग्रन्थ उसके सम्मुख नहीं आते, इसलिये वह इन सबसे अनभिज्ञ रहता है। ऐसी परिस्थितिमें हमारे बालक हमारे प्राचीन अनुभवी ऋषि-मुनियोंकी आर्य-संस्कृतिके लाभसे वञ्चित नहीं रहेंगे तो और क्या होगा?

शिशु-कक्षासे लेकर विश्वविद्यालयोंकी उच्च कक्षाओंतकके विद्यार्थी आज धर्म-ज्ञानशून्य पाये जाते हैं, यह इसी वर्तमान शिक्षाका दुष्परिणाम है। यहाँतक कि उनमें भारतीय शिष्टाचारका भी अभाव हुआ चला जा रहा है, यह बड़े ही खेदकी बात है।

प्राचीन भारतीय शिष्टाचार या धर्मके सेवनसे लाभ

प्राचीन भारतीय शिष्टाचारका—जिसको हम आर्य-संस्कृति या भारतीय संस्कृति कह सकते हैं, पालन करनेसे हमारा इस लोक और परलोक दोनोंमें ही कल्याण हो सकता है। इसीका नाम धर्म है। शास्त्रमें बतलाया है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिकदर्शन सू० २)

'जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है।'

अतः जिस प्रकार राजा युधिष्ठिरने भारी-से-भारी विपत्ति पड़नेपर भी धर्मका त्याग नहीं किया, उसी प्रकार हमें भी धर्मका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। महाभारतमें कहा है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गारोहण० ५। ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय न कामसे, न भयसे, न लोभसे और न जीवन-रक्षाके लिये ही धर्मका त्याग करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और इस जीवनका हेतु अनित्य है।'

धर्म ही मनुष्यका जीवन-प्राण है और इस लोक तथा परलोकमें कल्याण करनेवाला है। परलोकमें तो केवल एक धर्म ही साथ जाता है; स्त्री, पुत्र और सम्बन्धी आदि कोई भी वहाँ साथ नहीं जा सकते। अतएव अपने कल्याणके लिये मनुष्यमात्रको नित्य-निरन्तर धर्मका संचय करना चाहिये। उक्त धर्मकी प्राप्ति धर्मके ज्ञाता महापुरुषोंके संगसे और उनकी अनुपस्थितिमें सत्-शास्त्रोंके अनुशीलनसे होती है।

त्यागपूर्वक धर्मके पालनसे उसका दूसरे लोगोंपर भी बहुत अच्छा असर होता है। उसके प्रभावसे पापी पुरुष भी धर्मात्मा बन जाते हैं। राजा युधिष्ठिरका इतना भारी प्रभाव था कि वे जिस देशमें वास करते थे, उस देशमें धर्मका प्रसार, धन-धान्यकी वृद्धि और दुर्भिक्ष-महामारी आदिकी स्वतः निवृत्ति हो जाया करती थी। महाराज युधिष्ठिरका यह प्रभाव विस्तारसे देखना चाहें तो महाभारतके विराटपर्वका अट्ठाईसवाँ अध्याय देखना चाहिये।

जो दूसरोंके साथ त्यागपूर्वक व्यवहार करता है उसके साथ दूसरोंको भी त्यागपूर्वक व्यवहार करना पड़ता है। हमारी जो प्राचीन त्यागपूर्ण धार्मिक शिक्षा है, उससे हमारे आत्माका कल्याण तो होता ही है, इस लोकमें भी सब प्रकारसे लाभ-ही-लाभ होता है; परंतु यदि लौकिक लाभ न भी होता हो और यहाँके स्वार्थकी हानि भी होती हो पर उससे यदि हमारा परमार्थ सिद्ध हो जाता हो तो हमारे लिये वह महान् लाभकी बात है। सर्वस्व जाकर भी परमार्थ सिद्ध होता हो तो बिना विचारे सर्वस्वका त्याग कर देना उचित है; क्योंकि मनुष्य-जीवनका उद्देश्य आत्माका कल्याण है—सांसारिक भोग भोगना नहीं। आत्माका कल्याण या भगवत्प्राप्ति ही धर्म-पालनका अन्तिम फल है। अतएव हमारे बालकोंमें भगवत्प्राप्तिके हेतु इस धर्मके पालनके लिये प्रारम्भसे ही ऐसे भाव भरे जाने चाहिये। प्राचीन ऋषि-आश्रमोंमें यही हुआ करता था।

उपर्युक्त धर्मको दृष्टिमें रखकर बालकोंके लिये अब यहाँ कुछ विशेष उपयोगी बातें लिखी जा रही हैं। मनुष्यको चाहिये कि आलस्य, प्रमाद, भोग, दुर्व्यसन, दुर्गुण और दुराचारोंको विषके समान समझकर उनको त्याग दे एवं सद्गुण-सदाचारका सेवन, विद्याका अभ्यास, ब्रह्मचर्यका पालन, माता-पिता और गुरुजनोंकी एवं दुःखी, अनाथ प्राणियोंकी कर्तव्य समझकर निःस्वार्थ भावसे सेवा तथा ईश्वरकी भक्तिको अमृतके समान समझकर उनका श्रद्धापूर्वक सेवन करे। यदि इनमेंसे एकका भी निष्कामभावसे पालन किया जाय तो कल्याण हो सकता है, फिर सबका पालन करनेसे तो कल्याण होनेमें कहना ही क्या है।

छः घंटेसे अधिक सोना, दिनमें सोना, असमयमें सोना, काम करते या साधन करते समय नींद लेना, काममें असावधानी करना, अल्प कालमें हो सकनेवाले काममें अधिक समय लगा देना, आवश्यक कामके आरम्भमें भी विलम्ब करना तथा अकर्मण्यताको अपनाना आदि सब 'आलस्य'के अन्तर्गत हैं।

मन, वाणी और शरीरके द्वारा न करनेयोग्य व्यर्थ चेष्टा करना तथा करनेयोग्य कार्यकी अवहेलना करना—'प्रमाद' है।

ऐश-आराम, स्वाद-शौक, फैशन-विलासिता, विषयोंका सेवन, इत्र-फुलेल, सेंट-पाउडर आदिका लगाना, शृंगार करना, थियेटर-सिनेमा आदिका देखना, विलास तथा प्रमादोत्पादक क्लबोंमें जाना आदि सब 'भोग' हैं।

बीड़ी, सिगरेट, गाँजा, भाँग, चरस, कोकिन, अफीम, आसव आदि मादक वस्तुओंका सेवन, चौपड़-ताश-शतरंज खेलना आदि सब 'दुर्व्यसन' हैं।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, अभिमान, अहंकार, मद, ईर्ष्या आदि 'दुर्गुण' हैं।

हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, मांसभक्षण, मदिरापान, जुआ खेलना आदि 'दुराचार' हैं।

संयम, क्षमा, दया, शान्ति, समता, सरलता, संतोष, ज्ञान, वैराग्य, निष्कामता आदि 'सद्गुण' हैं।

यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत और सेवा-पूजा करना तथा अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्यका पालन करना आदि 'सदाचार' हैं।

इनके अतिरिक्त विद्याका अभ्यास, ब्रह्मचर्यका पालन, माता-पिता और गुरुजनोंकी सेवा तथा ईश्वरकी भक्ति—ये सभी परम आवश्यक और कल्याणकारी हैं।

इसलिये बालकों और नवयुवकोंसे हमारा निवेदन है कि वे निष्कामभावसे उपर्युक्त साधनोंद्वारा अपने जीवनके स्तर (स्टैंडर्ड) को ऊँचा उठावें, उसका पतन न होने दें। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

(६। ५-६)

'अपने द्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियों-सहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है।'

इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जो मनुष्य अपने मन-इन्द्रियोंको जीत लेता है, वह स्वयं ही अपना मित्र है और जो नहीं जीतता, वह स्वयं ही अपना शत्रु है; क्योंकि मन-इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेवाला पुरुष ही विषयोंसे मन-इन्द्रियोंको रोककर दुर्गुण-दुराचारका त्याग और सद्गुण-सदाचारका सेवन करके आत्मकल्याण कर सकता है।

जिस आचरणको श्रुति और स्मृति उत्तम बतलाती है तथा अच्छे पुरुष जिसका आचरण करते हैं एवं हमारी आत्मा भी यह स्वीकार कर लेती है कि ये आचरण अच्छे हैं, वही 'धर्म' है। श्रीमनुजीने कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

(२। १२)

'श्रेष्ठ पुरुष वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्माकी रुचिके अनुसार परिणाममें हितकर—यह चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण कहते हैं।'

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥

(२। ९)

'जो मनुष्य वेद और स्मृतिमें कहे हुए धर्मका पालन करता है, वह निःसंदेह इस संसारमें कीर्तिको और मरकर परमात्माकी प्राप्तिरूप सर्वोत्तम सुखको पाता है।'

अतः युवकोंसे हमारा निवेदन है कि वर्तमानमें जो हमारा बहुत ही नैतिक पतन हो रहा है, इससे बचकर अपनी आत्माको उठावें तथा इस लोक और परलोकमें हमारा परम कल्याण हो, वही आचरण करें एवं सच्चे हृदयसे लगनके साथ सभी ओरसे ऐसा प्रयत्न करें, जिसमें अपनी भौतिक और बौद्धिक, व्यावहारिक और सामाजिक, नैतिक और धार्मिक तथा आध्यात्मिक या पारमार्थिक उन्नति हो; मानव-जीवन सफल हो, यहाँ अभ्युदयको प्राप्त करें और अन्तमें मुक्तिकी प्राप्ति हो।

भौतिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नतिके स्वरूप और उनका फल

जिससे शरीर नीरोग रहे तथा संसारमें धन, धान्य और शिल्प-विद्या आदिकी उन्नति हो, यह 'भौतिक उन्नति' है। भाव यह कि आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पाँच भूतोंके कार्यरूप पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उन्नतिको भौतिक उन्नति कहते हैं; किन्तु यह भौतिक उन्नति जब निष्कामभावसे अहिंसा, सत्य और समस्त प्राणियोंके हितकी दृष्टिसे की जाती है, तभी कल्याणकारक होती है; इसके विपरीत 'अणुबम' आदिसे जनताका संहार करनेवाली भौतिक उन्नति तो भयानक और पतनकारक ही है।

जिससे हमारा लौकिक और पारलौकिक ज्ञान बढ़े, सद्गुण और सद्भावकी वृद्धि हो, अनेक प्रकारकी भाषा, लिपि और श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणादि शास्त्रोंका

तथा व्याकरण, छन्द, ज्यौतिष, कल्प, निरुक्त, शिक्षा, गणित, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, निधिविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, संगीत, ललितकला आदि विद्याओंका ज्ञान हो एवं हमारी बुद्धि सूक्ष्म, तीक्ष्ण, शुद्ध और स्थिर हो, उसका नाम बौद्धिक उन्नति है; किंतु यह बौद्धिक उन्नति, राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित, क्षमा, दया, उदारता, ज्ञान, विवेक, वैराग्य, भक्ति आदि गुणोंसे युक्त होनेपर इस लोक और परलोकमें कल्याणकारक होती है। इससे विपरीत संसारके संहार करनेमें संलग्न बुद्धि तो हानि और पतन करनेवाली ही है।

कुशलतापूर्वक देश और विदेशमें व्यवसायबुद्धिसे पदार्थोंका उत्पादन, निर्माण, आदान-प्रदान और क्रय-विक्रय तथा कला-कौशलकी उन्नति और वृद्धि करना आदि एवं प्रत्येक व्यक्तिके साथ कुशलता और सभ्यतापूर्वक बर्ताव करना आदि 'व्यावहारिक उन्नति' है। यह 'व्यावहारिक उन्नति' झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी और स्वार्थसे रहित तथा सत्य, समता, संतोष, संयम आदि गुणोंसे युक्त होनेपर मुक्ति देनेवाली है और इससे विपरीत आजकलके व्यापारकी तरह अन्यायपूर्ण होनेपर देश और राष्ट्रके लिये हानिकारक तथा आत्माका पतन करनेवाली है।

वर्तमानमें जाति और समाजमें फैली हुई दहेज लेने आदिकी कुरीतियाँ तथा विवाह और अन्यान्य अवसरोंपर धनका अतिशय व्यर्थ खर्च करने आदिकी फिजूलखर्चीको खतरनाक समझकर उनका सुधार करना तथा देश, जाति और समाजका उत्थान और हित करना—यह 'सामाजिक उन्नति' है।

रेल-यात्राके समय जगह रहते हुए भी अपने डिब्बेमें दूसरेको नहीं घुसने देना, तीसरे दर्जेका टिकट लेकर इंटरमें बैठ जाना अथवा इंटरका टिकट लेकर सेकंडमें सवार होना, टिकटके अनुसार नियत किये हुए परिमाणसे अधिक बोझ बिना किराया चुकाये ही ले जाना, हाकिम या पंच बनकर पक्षपात करना, व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी करना और झूठे बहीखाते बनाना, सरकार और रेलवेकी उनके कर्मचारियोंसे मिलकर चोरी करना, रिश्वत आदि लेकर चोरी तथा अनैतिकतामें सहायता करना आदि सब 'नैतिक पतन' हैं। उपर्युक्त दोषोंको छोड़कर सबके साथ पक्षपातरहित, न्याय और समतायुक्त लोभरहित यथायोग्य व्यवहार करना—यह 'नैतिक उन्नति' है। उपर्युक्त सामाजिक तथा नैतिक बातोंका पालन यदि मान-बड़ाई आदिके लिये किया जाय तो मान-बड़ाई मिलती है और यदि कर्तव्य-बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक किया जाय तो परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, मद्यपान, मांसभक्षण, द्यूत और हिंसा आदि शास्त्रनिषिद्ध दोषोंसे रहित होकर यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा, तीर्थ, व्रत, परोपकार, शौचाचार, सदाचार आदि शास्त्रानुकूल धर्मका श्रद्धापूर्वक पालन करना 'धार्मिक उन्नति' है। यह धार्मिक उन्नति यदि निष्कामभावसे या भगवत्प्रीत्यर्थ अथवा भगवत्प्राप्त्यर्थ हो तो इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाली है तथा यदि सकामभावसे की जाय तो इस लोक और परलोककी कामनाकी पूर्ति करनेवाली है।

आत्मा और परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेके लिये सत्सङ्ग और स्वाध्याय करना, विवेक-वैराग्यपूर्वक संसारके विषयभोगोंसे मन और इन्द्रियोंका संयम करना, निष्कामभावसे शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करना, श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान करना, सख्य, दास्य आदि भावोंसे भगवान्‌की उपासना करना, भगवान्‌की पूजा करना, उनको नमस्कार करना, उनकी स्तुति-प्रार्थना करना, कथा-कीर्तन करना, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिरूप अष्टाङ्गयोगके द्वारा तथा अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार ब्रह्मको यथार्थरूपमें जाननेका साधन करना आदि सब 'आध्यात्मिक उन्नति'के हेतु हैं। अतः इन साधनोंमेंसे कोई-सा भी साधन परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे करना 'आध्यात्मिक उन्नति' है।

उन्नतिके साधन

अब बालकोंकी सब प्रकारसे अधिक-से-अधिक उन्नति किस प्रकार हो, इस विषयमें कुछ विचार करना है। जो अवस्थामें बालक हैं, वे तो बालक हैं ही; किंतु जिनके माता-पितादि अभी जीवित हैं, उनकी आयु अधिक होनेपर भी माता-पिताके सम्मुख तो वे भी बालकके ही समान हैं तथा जिन्हें कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान नहीं है, वे भी बालकके ही समान हैं। पहले यहाँ यह विचार करते हैं कि बालकोंको अपनी दिनचर्या कैसी बनानी चाहिये।

कम-से-कम सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व उठना और उठते ही भगवान्‌के नाम-रूपका स्मरण तथा उनको नमस्कार करना चाहिये। फिर—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

'आप ही माता और आप ही पिता हैं, आप ही बन्धु और आप ही मित्र हैं। आप ही विद्या और आप ही धन हैं। हे देवोंके भी देव! मेरे तो सब कुछ आप ही हैं।'

इस प्रकार स्तुति करके भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्यभक्ति हो तथा भगवान्‌के नाम और स्वरूपकी स्मृति नित्य-निरन्तर बनी रहे, इसके लिये भगवान्‌से हृदय खोलकर प्रार्थना करनी चाहिये। इसके बाद, पृथ्वी माताको नमस्कार करके शास्त्रविधिके अनुसार शौच-स्नान करना चाहिये।

मलत्याग करके तीन बार मृत्तिका और जलसे गुदा धोवे, फिर जबतक दुर्गन्ध और चिकनाई रहे, तबतक केवल जलसे धोवे। मल या मूत्रका त्याग करनेके बाद उपस्थको भी जलसे धोवे। मलत्यागके बाद मृत्तिका और जलसे दस बार बायें हाथको और सात बार दोनों हाथोंको मिलाकर धोना चाहिये। मृत्तिका और जलसे पैरोंको एक बार तथा पात्रको तीन बार धोना चाहिये। हाथ और पैर धोनेके अनन्तर मुखके सारे छिद्रोंको धोकर दातुन करके कम-से-कम बारह कुल्ले करने चाहिये। फिर स्नान करना चाहिये।

तदनन्तर यदि यज्ञोपवीतधारी हो तो उसे संध्योपासन, गायत्रीजप, वेदाध्ययन, तर्पण, पूजा, होम आदि विधिपूर्वक करने चाहिये। मनुजीने कहा है—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥

(२। १७६)

'ब्रह्मचारी बालकको चाहिये कि नित्य स्नान करके शुद्ध हो देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण तथा देवताओंका पूजन और समिधाओंद्वारा प्रज्वलित अग्निमें होम अवश्य करे।'

कम-से-कम प्रातःकाल और सायंकाल विधिपूर्वक संध्योपासन और गायत्रीजप तो हरेक यज्ञोपवीतधारी बालकको अवश्य करना ही चाहिये। मनुजीने कहा है—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

(२। १०३)

'जो मनुष्य न तो प्रातः संध्योपासन करता है और न सायं संध्योपासन करता है, वह शूद्रके समान सम्पूर्ण द्विज-कर्मोंसे अलग कर देनेके योग्य है।'

शौच-स्नानसे पवित्र होकर ही संध्योपासन और गायत्री-जप करना चाहिये; क्योंकि पवित्र होकर किया हुआ गायत्री-जप ही अधिक लाभदायक होता है। शास्त्रोंमें गायत्री-जपकी बड़ी भारी महिमा आती है—

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
संध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥

(मनु० २। ७८)

'इस (ॐ) अक्षर और इन व्याहृतियोंके सहित गायत्रीको दोनों संध्याओंमें जपता हुआ वेदज्ञ ब्राह्मण वेद-पाठके पुण्य-फलका भागी होता है।'

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥

(मनु० २। ७९)

'द्विज इन तीनोंका यानी प्रणव, व्याहृति और गायत्रीका बाहर (पवित्र और एकान्त स्थानमें) सहस्र बार जप करके एक मासमें बड़े भारी पापसे भी वैसे ही छूट जाता है, जैसे साँप केंचुलीसे।'

इसलिये हमलोगोंको एकान्त और पवित्र देशमें आलस्यरहित होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अर्थ और भावको समझते हुए गायत्रीका जप अधिक-से-अधिक करना चाहिये। यदि हम प्रतिदिन एक हजार गायत्रीमन्त्रका जप आलस्यरहित होकर तीन वर्षतक श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे करें तो सब पापोंका नाश होकर हमारा निश्चय ही कल्याण हो सकता है। श्रीमनुजी कहते हैं—

योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥

(२। ८२)

'जो मनुष्य आलस्य छोड़कर प्रतिदिन तीन वर्षोंतक प्रणव और व्याहृतिसहित गायत्रीका जप करता है, वह मरनेपर क्रमशः वायुरूप और आकाशरूप होकर परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।'

इसलिये पवित्र होकर नित्य निष्कामभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक परमात्माकी प्राप्तिके लिये अधिक-से-अधिक गायत्रीजप करना चाहिये। अधिक न हो तो कम-से-कम प्रतिदिन एक हजार गायत्रीका जप तो अवश्य करना चाहिये। प्रातःकाल खड़े होकर और सायंकाल बैठकर जप करना उत्तम है अथवा दोनों समय बैठकर ही कर सकते हैं; किंतु चलते-फिरते नहीं। बीमार हों तो बिना

स्नान किये भी हाथ-मुँह और पैर धोकर वस्त्र बदलकर मानसिक संध्या और गायत्रीजप कर सकते हैं। रेल, मोटर, वायुयान आदिमें यात्रा करते समय भी बिना स्नान किये भी मानसिक संध्या और गायत्रीजप आदि ठीक समयपर अवश्य करना चाहिये तथा गन्तव्य स्थानपर पहुँच जानेपर शौच-स्नानादिसे निवृत्त हो पुनः विधिपूर्वक करना चाहिये। प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व और सायंकाल सूर्यास्तसे पूर्व करना सर्वोत्तम है। कहीं आपत्तिकालमें समयका उल्लङ्घन हो जाय तो भी कर्मका उल्लङ्घन तो कभी होना ही नहीं चाहिये। अपने दैनिक नित्यकर्मका त्याग तो कभी किसी अवस्थामें करना ही नहीं चाहिये। मनुस्मृतिमें कहा है—

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम्॥

(२। १०६)

'नित्यकर्ममें अनध्याय नहीं है; क्योंकि उसे ब्रह्मयज्ञ कहा है।'

अतएव स्नान, संध्या, गायत्रीजप, तर्पण, पूजा, हवन, स्वाध्याय आदि नित्यकर्म कभी किसी अवस्थामें भी नहीं छोड़ना चाहिये। जन्म और मृत्युका अशौच होनेपर मानसिक कर लेना चाहिये। बीमारी और संकट-अवस्थामें स्नान न करनेके कारण अपवित्र होनेपर भी उपर्युक्त नित्यकर्म भगवान्का स्मरण करके मानसिक कर सकते हैं; क्योंकि भगवान्का स्मरण करनेसे मनुष्य बाहर-भीतरसे पवित्र हो जाता है। पद्मपुराणमें कहा है—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

(पाताल० ८०। ११)

'मनुष्य अपवित्र हो या पवित्र अथवा शुद्ध-अशुद्ध सभी अवस्थाओंमें क्यों न पहुँच गया हो, जो कमलनयन भगवान्का स्मरण करता है, वह बाहर-भीतरसे पवित्र हो जाता है।'

यदि किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके बालकके यज्ञोपवीत नहीं है तो उसे यज्ञोपवीत-संस्कार अवश्य ही करा लेना चाहिये; क्योंकि यज्ञोपवीतके बिना संध्या, गायत्री, वेद और होम आदिमें अधिकार नहीं होता। यज्ञोपवीतका काल मनुजीने इस प्रकार बतलाया है—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात् तु द्वादशे विशः॥

(२। ३६)

'ब्राह्मणका उपनयन (जनेऊ) गर्भसे आठवें वर्षमें, क्षत्रियका गर्भसे ग्यारहवेंमें और वैश्यका गर्भसे बारहवें वर्षमें करना चाहिये।'

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥

(मनु० २। ३७)

'ब्रह्मतेजकी इच्छा करनेवाले ब्राह्मणका पाँचवें वर्षमें, बल चाहनेवाले क्षत्रियका छठेमें और धन चाहनेवाले वैश्यका आठवें वर्षमें यज्ञोपवीत करना चाहिये।'

आ षोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आ द्वाविंशात् क्षत्रबन्धोरा चतुर्विंशतेर्विशः॥

(मनु० २। ३८)

सोलह वर्षतक ब्राह्मणके लिये, बाईस वर्षतक क्षत्रियके लिये और चौबीस वर्षतक वैश्यके लिये सावित्रीके कालका अतिक्रमण नहीं होता अर्थात् इस अवस्थातक उनका उपनयन (जनेऊ) हो सकता है।'

इसके बाद 'व्रात्य' संज्ञा हो जाती है; किंतु 'व्रात्य' संज्ञा होनेपर भी प्रायश्चित्त कराकर कोई सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण यज्ञोपवीत दिला दें तो ले सकते हैं।

जो स्त्री-शूद्र आदि यज्ञोपवीतके अधिकारी नहीं हैं तथा अधिकारी होनेपर भी जिनका यज्ञोपवीत-संस्कार नहीं हुआ है, उन लोगोंको भी अपने इष्टदेव भगवान्का पूजन, नमस्कार, स्तुति-प्रार्थना, पाठ, भगवान्के नामका जप और स्वरूपका ध्यान, गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंका स्वाध्यायरूप नित्यकर्म और कथा-कीर्तन आत्मकल्याणके लिये अवश्य ही करना चाहिये। उनका संध्या, गायत्री, होम और वेदाध्ययनमें अधिकार न होनेके कारण उन्हें हठ करके इन्हें नहीं करना चाहिये। जो वर्णाश्रम-धर्मसे रहित हैं, उन लोगोंकी भी आध्यात्मिक उन्नति और उसके फलस्वरूप भगवत्प्राप्ति निष्काम प्रेमभावसे भगवान्के पूजन-नमस्कार, स्तुति-प्रार्थना, कथा-कीर्तन, जप-ध्यान आदिरूप भक्ति करनेपर हो सकती है।

ऐसा माना जाता है कि एक मिनटमें पंद्रह श्वासके हिसाबसे दिन-रातमें प्रायः २१६०० श्वास आते हैं; इसलिये प्रतिदिन कम-से-कम इक्कीस हजार छः सौ भगवन्नामोंका जप तो अवश्य होना ही चाहिये। इस दृष्टिसे यदि—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

× × × ×

—इस षोडश मन्त्रकी १४ माला प्रतिदिन जपी जाय तो २४१९२ नामोंका जप हो जाता है। अतः

जिनको यह साधन लाभदायक और उचित प्रतीत हो, वे कम-से-कम १४ मालाका तो जप अवश्य ही करें। इस प्रकारका जप यदि भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान रखते हुए या मन्त्रके अर्थको समझते हुए अक्षरोंका ध्यान रखते हुए किया जाय तो और भी उत्तम है। ऐसा जप श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर गुप्त किया जाय, उसके लाभका तो कहना ही क्या है। उससे तो बहुत ही शीघ्र 'भगवत्प्राप्ति' हो सकती है। श्रीभगवन्नामजपकी महिमा शास्त्रोंमें सब प्रकारके यज्ञोंसे बढ़कर बतलायी गयी है। श्रीमनुस्मृतिमें कहा है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

(२। ८५)

'विधियज्ञ यानी श्रौत-स्मार्त यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना बढ़कर है और दूसरे मनुष्यको सुनायी न दे—इस तरह उच्चारण करके किया जानेवाला उपांशु जप (विधियज्ञसे) सौगुना और मानसजप (विधियज्ञसे) हजारगुना बढ़कर माना गया है अर्थात् एक-से-एक दसगुना श्रेष्ठ है।'

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

(२। ८६)

'जो विधियज्ञ यानी श्रौत-स्मार्त यज्ञसहित चार पाकयज्ञ (वैश्वदेव, श्राद्ध, बलिकर्म और अतिथि तथा ब्राह्मणको भोजन कराना) हैं, वे सब जपयज्ञकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं।'

इसके अतिरिक्त निर्गुण-निराकार अथवा सगुण-साकार भगवान् शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि किसी भी इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रातःकाल और सायंकाल कम-से-कम एक घंटा या आधा घंटा यथाशक्ति अवश्य करे। श्रीमद्भगवद्गीताके कम-से-कम एक अध्यायका अर्थसहित या अर्थ और भावपर लक्ष्य रखते हुए पाठ करे तथा श्रीतुलसीदासजीके रामायणके चार दोहों (चौपाई-छन्द आदिसहित) का अर्थपर ध्यान रखते हुए पाठ करे एवं इष्टदेवके स्तोत्रोंका पाठ करे।

प्रतिदिन भगवान्‌की मूर्ति या चित्रपटकी षोडशोपचारसे पूजा करे अथवा मनसे अपने इष्टदेवके स्वरूपको अपने हृदयके भीतर या बाहर आकाशमें स्थित करके उनकी पूजा और नमस्कार करे तथा इष्टदेवकी स्तुति-प्रार्थना करे।

इस प्रकार नित्यकर्म करनेके पश्चात् अपने घरमें माता-पिताको तथा जो अवस्था, ज्ञान या पदमें अपनेसे बड़े हों उनको एवं आचार्य, अध्यापक और शिक्षकको प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिये। नित्य प्रणाम करनेका लाभ बतलाते हुए मनुजी कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(२। १२१)

'जो नित्य प्रणाम करनेके स्वभाववाला और वृद्धोंकी सेवा करनेवाला है, उसके आयु, विद्या, यश और बल—ये चार बढ़ते हैं।'

तदनन्तर आसन, व्यायाम आदि करके अपने अभ्यासके अनुसार दुग्धपान करना चाहिये अथवा रात्रिमें भिगोये हुए चनोंका सेवन भी दुग्धपानके समान ही है। इसके बाद विद्याका अभ्यास करना चाहिये। फिर पवित्र, सात्त्विक, उचित और हलका भोजन करना चाहिये। आचमन करके ही भोजन करे तथा भोजनके अन्तमें भी आचमन करे। श्रीमनुजी कहते हैं—

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात् समाहितः।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत् सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत्॥

(२। ५३)

'द्विजको चाहिये कि नित्य आचमन करके सावधान हुआ अन्नका भोजन करे तथा भोजनके पश्चात् भी भलीभाँति आचमन करे एवं छः छिद्रोंका अर्थात् नाक, कान, नेत्रका जलसे स्पर्श करे।'

तथा राजसी, तामसी, भारी और क्षुधासे अधिक मात्रामें भोजन नहीं करना चाहिये; क्योंकि अधिक भोजन करनेसे आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यका नाश होता है। श्रीमनुजी कहते हैं—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात् तत् परिवर्जयेत्॥

(२। ५७)

'अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यका नाशक और लोकनिन्दित है, इसलिये उसे त्याग दे।'

न्यायसे प्राप्त द्रव्यसे खरीदे हुए तथा शास्त्रानुकूल शुद्धतासे बनाये हुए खाद्य पदार्थ पवित्र हैं। सात्त्विक भोजनके लक्षण गीतामें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

(१७। ८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

घी, दूध, फल, शाक, अन्न, मेवा और चीनी आदि पदार्थ शुद्ध भी हैं और सात्त्विक भी हैं, इसलिये इन पदार्थोंका ही भोजन करना चाहिये; किंतु घी, चीनी, मावा, मैदा और बेसन (चनेके आटे) की मिठाई भारी होनेसे गरिष्ठ और स्वादु होनेसे राजसी हो जाती है। इसलिये दूध, फल, मूँगकी दाल, चावल, खिचड़ी, रोटी, पूड़ी, फुलका, साग आदि सादा भोजन करना चाहिये।

उचित भोजनसे अभिप्राय है, क्षुधासे न अधिक हो और न कम; हलकेसे मतलब है—भोजन बहुत देरमें पचनेवाला न होकर हलका यानी अल्पकालमें ही पचनेवाला हो। तामसी भोजन तो कभी नहीं करना चाहिये। मधु, मांस, सोडावाटर, बर्फ, बिस्कुट, डाक्टरी दवा, आसव, अरिष्ट, लहसुन, प्याज, बाजारकी मिठाई आदि तथा होटलकी अपवित्र चीजें और एक दूसरेका खाया हुआ जूँठा तथा रातमें बनाकर रखी हुई बासी रोटी आदि तामसी भोजन है। प्राय: सोडावाटर और बर्फ आदि उच्छिष्ट होनेसे, आसव-अरिष्ट मादक होनेसे, मधु और बाजारकी मिठाई अपवित्र होनेसे और चाहे जिसके स्पर्शसे दूषित होनेसे तथा बढ़िया बिस्कुट आदिमें मुर्गीके अंडे और डाक्टरी औषधमें मद्य, मांस आदिका मिश्रण होनेसे, होटलके पदार्थोंमें मद्य-मांसादिका संसर्ग होनेसे तथा लहसुन-प्याजमें दुर्गन्ध होनेसे—ये सभी सर्वथा त्याज्य हैं। मनुजीने भी कहा है—

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥

(२। १७७)

'शहद, मांस, सुगन्धित वस्तु, फूलोंके हार, रस, स्त्री, सिरकेकी भाँति बनी हुई समस्त मादक वस्तुएँ और प्राणियोंकी हिंसा—इन सभीको त्याग दे।'

राजसी-तामसी भोजनके लक्षण गीतामें इस प्रकार बताये हैं—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

(१७। ९-१०)

'कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दु:ख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं। जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट (जूँठा) है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है।'

भोजन करनेके बाद कम-से-कम आध घंटेतक सोना नहीं चाहिये, रास्ते नहीं चलना चाहिये, विद्याभ्यास भी नहीं करना चाहिये, विशेष परिश्रम और स्नान भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि दिनमें सोनेसे वृत्ति भारी और तामसी होती है और भोजनके बाद तुरंत ही चलने, पढ़ने, परिश्रम या स्नान करनेसे भोजन हजम नहीं होता; बल्कि विकृत होकर स्वास्थ्यकी हानि करता है। इसलिये उस समय आमोद-प्रमोदके लिये अपने सहपाठियोंके साथ विनोदपूर्वक सात्त्विक वार्तालाप या पाठ्यविषयकी चर्चा करनी चाहिये। फिर आधे या एक घंटे बाद पढ़ाई शुरू कर देनी चाहिये। पढ़ाई समाप्त करनेके बाद कसरत, कुश्ती, कवायद, देशी-विदेशी खेल, दौड़-धूप आदि व्यायाम करना चाहिये। तदनन्तर सायंकालमें शौच-स्नान करके संध्या-गायत्री, पूजा-पाठ तथा हवन आदि नित्यकर्म श्रद्धा, भक्ति और आदरपूर्वक निष्कामभावसे करने चाहिये। नित्यकर्म करते समय उसकी विधि, अर्थ और भावकी ओर विशेष लक्ष्य रखना चाहिये। सायंकालके बाद शास्त्रविधिके अनुसार सात्त्विक, पवित्र और हलका भोजन करना चाहिये तथा आधा घंटा सात्त्विक चर्चामें समय बिताकर रातको ९ बजेतक पढ़ी हुई विद्याका अनुशीलन करना चाहिये। बालकोंके लिये रात्रिमें ९ से ४ बजेतक सात घंटे शयन करना उचित है। शयन करनेके समय संसारी संकल्पोंके प्रवाहको भुलाकर भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव और चरित्रका चिन्तन करते हुए ही शयन करना चाहिये; जिससे कि रात्रिका शयनकाल भी पारमार्थिक विषयमें ही बीते।

उपर्युक्त दिनचर्या विद्यार्थियोंके लिये बहुत ही उत्तम है। इन सब नियमोंका पालन ऋषिकुल, गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम, पाठशाला, स्कूल, कालेज आदिमें तथा घरपर रहकर भी किया जा सकता है। ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए घरमें रहे तो भी वह बालक ब्रह्मचारी ही है।

अब सभी बालकोंके लिये विशेष कर्तव्य बतलाये जाते हैं—

बालकोंको चौपड़-ताश आदिके खेलने, थियेटर-

सिनेमा आदिके देखनेमें अपने मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय व्यय नहीं करना चाहिये। इनमें समय व्यर्थ जाता है, इतनी ही बात नहीं, अपना स्वभाव खराब होता है, जिससे अपना भविष्य नष्ट हो जाता है। थियेटर-सिनेमाके देखनेसे शरीरकी तथा नेत्रोंकी ज्योतिकी हानि और पैसोंका व्यर्थ खर्च तो है ही, अश्लील दृश्य देखनेसे वीर्यकी हानि भी होती है, जो कि ब्रह्मचारीके लिये कलङ्क है और जिससे बल, बुद्धि, तेज, ज्ञान और स्वास्थ्यकी भी हानि होती है।

बालकोंको ऐश-आराम, स्वाद-शौक, भोग-विलासका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि ये सब विद्याध्ययनमें बाधक तथा ब्रह्मचर्य-व्रतके पालनमें कलङ्क हैं। किसी भी इन्द्रियका अपने विषयके साथ जो रागपूर्वक संसर्ग है, वह सारे अनर्थोंका मूल है, अतएव सारे विषय-भोगोंको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दुःखरूप और घृणित समझकर त्याग देनेकी चेष्टा करनी चाहिये। श्रीमनुजीने कहा है—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥

(२। ९३)

'मनुष्य इन्द्रियोंमें आसक्त होकर निःसंदेह दोषको प्राप्त होता है और उनको ही रोककर उस संयमसे सिद्धि प्राप्त कर लेता है।'

कुछ लोग तो यह समझते हैं कि हम विषयोंका उपभोग करके अपनी लालसा पूर्ण कर लेंगे, उनकी यह समझ ठीक नहीं है। श्रीमनुजी कहते हैं—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(२। ९४)

'नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती, बल्कि घृतसे अग्निके समान बार-बार अधिक ही बढ़ती जाती है।'

जैसे फतिंगे क्षणिक सुखके लोभसे दीपकके निकट जाते हैं और अन्तमें समाप्त हो जाते हैं, इसी तरह विषयोंके उपभोगसे मनुष्यको क्षणिक सुख मिलता है; किंतु अन्तमें उसका पतन हो जाता है। इसलिये विवेक, विचार और हठसे चाहे जैसे भी हो, इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना ही चाहिये।

बालकोंको स्त्रियोंका संसर्ग, जूआ, गाली-गलौज, परस्पर लड़ाई-झगड़ा, परनिन्दा, इत्र, तेल, फुलेल, पुष्पमाला, अञ्जन, बालोंका शृङ्गार, नाचना, गाना आदिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। मनुस्मृतिमें कहा है—

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥

(२। १७८-१७९)

'ब्रह्मचारी विद्यार्थीको उबटन लगाना, आँखोंको आँजना, जूते और छत्र धारण करना एवं काम, क्रोध और लोभका आचरण करना तथा नाचना, गाना, बजाना एवं जूआ, गाली-गलौज और निन्दा आदिका करना तथा झूठ बोलना एवं स्त्रियोंको देखना, आलिङ्गन करना और दूसरेका तिरस्कार करना—इन सबका भी (सर्वथा) त्याग कर देना चाहिये।'

इसी प्रकार विद्यार्थी बीड़ी, सिगरेट, भाँग, तम्बाकू आदि मादक वस्तुओंका भी कभी सेवन न करे। ऊपर बतलाये हुए विषयोंके सेवनसे धन, चरित्र, आयु, बल, बुद्धि, आरोग्य तथा इस लोक और परलोककी हानि होती है, इसलिये इन सबका कतई त्याग कर देना चाहिये।

विद्यार्थी हिंसा, द्रोह, ईर्ष्या, झूठ, कपट, छल-छिद्र, चोरी, बेईमानी, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिका भी सर्वथा त्याग कर दे; क्योंकि इनसे इस लोकमें निन्दा होती है और उसका लोग विश्वास नहीं करते तथा मरनेपर परलोकमें दुर्गति होती है। दुराचार आदि दोषोंसे प्रत्यक्षमें ही मनुष्यका पतन हो जाता है। मनुजीने कहा है—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥

(४। १५७)

'दुराचारी पुरुष सदा ही लोकमें निन्दित और दुःख भोगनेवाला तथा रोगी एवं अल्पायु भी होता है।'

दूसरा कोई गाली दे या निन्दा करे तो बदलेमें न तो गाली देनी चाहिये, न उसका अनिष्ट करना चाहिये, न उसकी निन्दा ही करनी चाहिये; क्योंकि जो हमारी सच्ची निन्दा करता है, वह तो हमारे गुणोंको ढककर हमें शिक्षा देता है, उससे हमें लाभ ही है, कोई हानि नहीं और यदि कोई हमारी झूठी निन्दा करता है या गाली देता है तो उसके निन्दा करने या गाली देनेसे हमारी इस लोक या परलोकमें कहीं किंचित् भी हानि हो नहीं सकती; क्योंकि न्यायकारी भगवान्के यहाँ अंधेर नहीं है। इसलिये समझदार बालकको दुःख,

चिन्ता, भय, उद्वेग कुछ भी नहीं करना चाहिये, बल्कि सहन करना चाहिये, जिससे क्षमा, तितिक्षा और आत्मबल बढ़कर अन्तमें परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार मान और अपमानके विषयमें समझना चाहिये। कल्याणकामी मनुष्यको चाहिये कि वह मानको विषके समान और अपमानको अमृतके समान समझे। मनुजी कहते हैं—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥

(२। १६२)

'ब्राह्मणको चाहिये कि सम्मानसे विषके समान नित्य डरता रहे (क्योंकि सम्मानसे अभिमानकी वृद्धि होती है और अभिमान बढ़नेसे बहुत हानि है) और अमृतके समान सदा अपमानकी इच्छा करता रहे अर्थात् तिरस्कार होनेपर खेद न करे।'

परेच्छा या अनिच्छासे कोई भी दुःख आकर प्राप्त हो, उसमें प्रसन्न ही होना चाहिये। उसमें दुःख, द्वेष और द्रोह नहीं करना चाहिये। मनुस्मृति कहती है—

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्॥

(२। १६१)

'आर्त्त होनेपर भी दुःखी न हो और न दूसरेसे द्रोह करनेमें बुद्धि लगावे। जिस वाणीसे दूसरेको उद्वेग हो, ऐसी लोकनिन्दित वाणी न बोले।'

कितने ही बालक परीक्षामें अनुत्तीर्ण (फेल) होनेके कारण तथा घरके कलहके कारण एवं देश-विदेशमें घूमनेकी इच्छासे और घरवालोंको तंग करनेके उद्देश्यसे मूर्खतावश घर छोड़कर भाग जाते हैं, इससे उन बालकोंको तो तकलीफ होती ही है, घरवालोंको भी बड़ी परेशानी उठानी पड़ती है, रुपये भी खर्च होते हैं। इसके सिवा बालकोंको घर लौटनेमें घरवालोंका संकोच तथा भय हो जानेसे घर लौटनेमें हिचकिचाहट हो जाती है, जिससे उन्हें भयानक परेशानी उठानी पड़ती है। यह उनकी बेसमझी है। इसलिये कहीं जाना हो तो घरवालोंकी आज्ञा लेकर ही जाना चाहिये। यदि आज्ञा लेकर न जाय तो कम-से-कम घरवालोंको सूचना तो अवश्य ही दे देनी चाहिये। कोई-कोई बेसमझ बालक तो परीक्षामें फेल हो जाने अथवा घरके कलह आदिके दुःखोंके कारण आत्महत्या कर बैठते हैं, जिससे उनके लोक-परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं तथा मनुष्यका अमूल्य जीवन व्यर्थ चला जाता है। ऐसा करना महामूर्खता है। उनको विचारना चाहिये कि जो दुःख इस समय है, उससे बहुत अधिक दुःख विष खाने, जलमें डूबने, आगमें प्रवेश करने और फाँसी लगाकर मरनेमें होता है और मरनेके बाद परलोकमें तो इससे भी भयानक अतिशय दुःख होता है। शुक्लयजुर्वेदके ४० वें अध्यायके तीसरे मन्त्रमें बतलाया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

'असुरोंके जो प्रसिद्ध नाना प्रकारकी योनियाँ एवं नरकरूप लोक हैं, वे सभी अज्ञान तथा अन्धकारसे आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्माकी हत्या करनेवाले मनुष्य हैं, वे मरकर उन्हीं भयंकर लोकोंको बार-बार प्राप्त होते हैं।'

अतएव किसीको चाहे जितना भी दुःख हो, किसी भी हालतमें कभी भी आत्महत्या नहीं करनी चाहिये और न घरसे भागना ही चाहिये; बल्कि माता, पिता, गुरुजन और मित्रोंके स्वभाव, रुचि और परिस्थितिको समझकर सहनशील बनना चाहिये; क्योंकि मनके विपरीत कार्य उपस्थित होनेपर उसे सहन करनेसे आत्मबल तो बढ़ता ही है, इस लोकमें कीर्ति और परलोकमें उत्तम गति भी मिलती है।

बालकको चाहिये कि जो कार्य माता-पिता और गुरुजन बतलावें, उसे अवश्यमेव ही करना है—इस प्रकार कर्तव्य-बुद्धिसे उस कार्यको करनेका अपनेपर उत्तरदायित्व समझे और उसे भलीभाँति करे। जो अपने कर्तव्यके विषयमें अपना दायित्व नहीं समझता, उसकी इस लोक और परलोकमें इज्जत नहीं है और उसका कोई विश्वास भी नहीं करता, इसलिये उसका जीवन व्यर्थ है।

बालकोंको निष्कामभावसे कुटुम्ब, जाति और देशकी सेवा करनी चाहिये तथा हो सके तो मन, तन, धनसे प्राणिमात्रकी सेवा करनी चाहिये, किंतु दुःख तो किंचिन्मात्र भी कभी किसीको देना ही नहीं चाहिये। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—'जो सारे भूतोंके हितमें रत हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः'।

(१२। ४)

अतएव यथाशक्ति मन, वाणी, शरीर और धनके द्वारा बड़े उत्साहके साथ निःस्वार्थभावसे सब प्राणियोंकी सेवा करनी चाहिये।

सत्यके पालनपर बालकोंको विशेष ध्यान देना चाहिये। जैसा देखा, सुना और समझा हो, उसीके अनुसार निष्कपट-भावसे कहना, न उससे अधिक और न कम ही कहना—यही सत्य है तथा वह वाणी सत्यके साथ-साथ मधुर और प्रिय हो। मधुर और प्रिय वही है, जो परिणाममें हितकर हो। मनुजीने कहा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

(४। १३८)

'सत्य बोले, प्रिय बोले, ऐसी वाणी न बोले, जो सत्य तो हो पर अप्रिय हो और न ऐसी ही वाणी बोले, जो प्रिय तो हो किंतु असत्य हो, यही सनातन धर्म है।'

श्रीभगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीताके सतरहवें अध्यायके १५ वें श्लोकमें वाणीका तप बतलाते हुए यह आदेश दिया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है (वह वाणीका तप कहा जाता है)।'

जो बालक असत्य बोलता है, उसका कोई विश्वास नहीं करता, न उसकी इस लोक और परलोकमें प्रतिष्ठा ही होती है। अतएव सत्य, प्रिय, मित और हितभरे वचन बोलना चाहिये तथा सबका विश्वासपात्र बनना चाहिये। जो किसीको धोखा नहीं देता, अपना दायित्व समझता है, कर्तव्यच्युत नहीं है, समय व्यर्थ नहीं बिताता है और गुरुजनोंके इच्छानुसार कार्य करके उनको अपनी आवश्यकता पैदा कर देता है, वही बालक विश्वासपात्र समझा जाता है। ये सब बातें स्वार्थत्यागपूर्वक सेवा करनेसे स्वाभाविक ही हो जाती हैं। इसलिये हरेक कार्यमें स्वार्थत्याग करके सबकी सेवा करनी चाहिये।

विद्याका अभ्यास

बालक-बालिकाओंके माता-पिता तथा अभिभावकोंको चाहिये कि वे बालकोंको विषय-सुखोंमें आसक्त होनेका अवसर न दें; क्योंकि विषयोंमें सुखकी इच्छा उत्पन्न हो जानेपर बालक यथार्थ विद्याके लाभसे वञ्चित रह जाता है। बुद्धिमान् तरुण-तरुणियोंको भी ऐसा ही समझना तथा करना चाहिये। इस समय अनेक प्रकारकी भाषा और लिपिके ज्ञानकी भी बहुत आवश्यकता हो गयी है। हिंदी, संस्कृत, बँगला, गुजराती, मराठी, गुरुमुखी तथा अपनी प्रान्तीय एवं अंग्रेजी, रूसी और चीनी आदि विदेशी—अनेकों भाषाओं और लिपियोंमेंसे जितनीका ज्ञान हो, उतना ही अच्छा है।

कॉलेज-स्कूलोंकी सहशिक्षा अर्थात् लड़के-लड़कियोंका एक साथ पढ़ना बड़ा ही खतरनाक और हानिकारक है। इससे चरित्रनाशकी बहुत आशङ्का है। सहशिक्षाके बहुत अधिक दुष्परिणाम प्रत्यक्ष हो चुके हैं। इसलिये सहशिक्षाको सर्वथा बंद करके लड़के-लड़कियोंको अलग-अलग पाठशालाओंमें पढ़ाना चाहिये। तेरह-चौदह वर्षकी या उससे अधिक आयुवाली अविवाहित या विवाहित युवतियोंको तो अपने घरमें रहते हुए ही गृहकार्यके साथ-साथ विद्याका अभ्यास करना चाहिये। वे चाहे नैहर (पीहर) में रहती हों या ससुरालमें, उनके लिये घरसे बाहर जाकर स्कूलों, कॉलेजोंमें पढ़ाई करना सर्वथा हानिकर है; क्योंकि उच्च कक्षाओंमें अध्यापक प्रायः पुरुष ही रहते हैं, इसलिये भी उनके संसर्गसे उच्छृङ्खलताकी वृद्धि और चरित्रहीनताकी सम्भावना है। ऐसी अनेक घटनाएँ हुई भी सुनी जाती हैं।

बालक-बालिकाओंको ऐसा शृङ्गार भी नहीं करना चाहिये, जिसे देखकर मनमें विकार उत्पन्न हों; सौन्दर्य, सजावट, शौकीनी आदि शृङ्गारकी भावनाओंके उत्पन्न होनेसे मनोविकार बढ़ता है और चरित्रका नाश हो जाता है।

पाठ्यक्रममें भी शृङ्गार, अश्लीलता, अभक्ष्यभक्षण तथा नास्तिकताका वर्णन करनेवाली तथा इनको प्रोत्साहित करनेवाली पुस्तकें नहीं रखनी चाहिये और नहीं पढ़नी चाहिये; इससे सभी प्रकारकी बड़ी भारी हानि है। अतः जिन पुस्तकोंके अध्ययनसे बालक-बालिकाओंकी भौतिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति हो, उनमें सभ्यता, शिष्टाचार, विनय, सेवा, संयम, बल, तेज, सद्गुण-सदाचार, विवेक और ज्ञान बढ़े तथा बुद्धि तीक्ष्ण हो, ऐसी उत्तम शिक्षासे युक्त पुस्तकें ही पढ़ानी चाहिये।

यह विद्याका अभ्यास लड़कियोंको चौदह वर्ष तथा लड़कोंको अठारह वर्षकी आयु होनेके तथा विवाहके पूर्व ही कर लेना चाहिये। आजकलके असंयमपूर्ण विलासी वातावरणमें विवाहके लिये विलम्ब करनेसे बालिकाओं और बालकोंके चरित्र कुसङ्गके कारण बिगड़ जाते हैं, अतः इस समय अठारह वर्षके बाद बालकका और

चौदह वर्षके पूर्व ही लड़कीका विवाह कर देना चाहिये। लड़का ब्रह्मचर्य-पालनके लिये आग्रह करे और विवाह करनेका घोर विरोध करे तो ऐसी स्थितिमें बीस वर्षके बाद भी लड़केका विवाह किया जाय तो कोई हानि नहीं। आजकल स्कूल-कॉलेजोंमें वर्षमें प्रायः छः महीने छुट्टियोंमें चले जाते हैं, जिनमें विद्यार्थियोंका समय नष्ट होता है और वे व्यर्थ इधर-उधर भटकते हैं। यह समय यदि पढ़ाईमें लगाया जाय तो इस समय जो पढ़ाई बीस वर्षकी अवस्थामें पूरी होती है, वही सोलह वर्षकी अवस्थामें पूरी हो सकती है। ऐसा करनेपर अठारह वर्षतक काफी पढ़ाई होना सम्भव है। बालकोंको अठारह वर्षकी आयु होनेके बाद न्याययुक्त व्यवसायका कार्य, अपनी जातिके अनुसार जीविकाका कार्य मन लगाकर अवश्य करना चाहिये। काम करते हुए ही साथमें विद्याका अभ्यास भी किया जाय तो और भी उत्तम है; क्योंकि विवाह होनेके पश्चात् विद्याध्ययनमें मन विशेष नहीं लगता, इसलिये न्याययुक्त जीविकाके काममें मन लगाना चाहिये। जो किसी विशेष प्रकारकी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहें, वे विवाहके अनन्तर भी कर सकते हैं; पर साधारणतया जीविकाके कार्यमें ही लगना उत्तम है।

जो बाल्य-अवस्थामें विद्याका अभ्यास नहीं करता, उसको सदाके लिये पश्चात्ताप करना पड़ता है। शास्त्रोंने विद्याकी बड़ी भारी महिमा गायी है। श्रीभर्तृहरिजी कहते हैं—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं।
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः॥
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता।
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥

(नीतिशतक १६)

'विद्या ही मनुष्यका अधिक-से-अधिक रूप और ढका हुआ गुप्त धन है, विद्या ही भोग, यश और सुखको देनेवाली है तथा विद्या गुरुओंकी भी गुरु है। विदेशमें गमन करनेपर विद्या ही बन्धुके समान सहायक हुआ करती है। विद्या परा देवता है, राजाओंके यहाँ भी विद्याकी ही पूजा होती है, धनकी नहीं। इसलिये जो मनुष्य विद्यासे हीन है, वह पशुके समान है।'

चाणक्यनीतिमें कहा है—

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी।
प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम्॥

(४।५)

'विद्यामें कामधेनुके समान गुण हैं, यह अकालमें भी फल देनेवाली है; यह विद्या मनुष्यका गुप्त धन समझी गयी है। विदेशमें यह माताके समान (मदद करती) है।'—

किसी अन्य कविने कहा है—

न चौरहार्यं न च राजहार्यं
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं
विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्॥

'विद्याको चोर या राजा नहीं छीन सकते। भाई इसका बँटवारा नहीं करा सकते, इसका कुछ बोझा भी नहीं लगता तथा दान करनेसे यानी दूसरोंको पढ़ानेसे यह विद्या नित्य बढ़ती ही रहती है; अतः विद्यारूपी धन सब धनोंमें प्रधान है।'

बालक-बालिकाओंको पढ़नेके समय झुककर या पसरकर नहीं पढ़ना चाहिये तथा रात्रिमें बिजलीकी तेज रोशनीके सामने भी नहीं पढ़ना चाहिये; क्योंकि इन सबसे नेत्रोंकी ज्योतिकी हानि होती है। इसी कारण वर्तमानमें स्कूल-कॉलेजोंमें पढ़नेवाले बहुत-से बालक-बालिकाओंमें नेत्रदोष आ जाता है और उन्हें अकालमें ही चश्मे लगाने पड़ते हैं।

ब्रह्मचर्यका पालन

वास्तवमें ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ है—ब्रह्मके स्वरूपमें विचरण करना यानी ब्रह्मके स्वरूपका मनन करना। जिसका मन नित्य-निरन्तर सच्चिदानन्द ब्रह्ममें विचरण करता है, वही सच्चा ब्रह्मचारी है। इसमें प्रधान आवश्यकता है—शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके बलकी। यह बल प्राप्त होता है—वीर्यकी रक्षासे। इसलिये सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करना ही ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना कहा जाता है। अतः बालकोंको चाहिये कि न तो ऐसी कोई क्रिया करें, न ऐसा सङ्ग ही करें तथा न ऐसे पदार्थोंका सेवन ही करें कि जिससे वीर्यकी हानि हो।

सिनेमा-थियेटरोंमें प्रायः कुत्सित दृश्य दिखाये जाते हैं, इसलिये बालक-बालिकाओंको सिनेमा-थियेटर कभी नहीं देखना चाहिये और सिनेमा-थियेटरमें नट-नटी तो कभी बनना ही नहीं चाहिये। इस विषयके साहित्य, विज्ञापन और चित्रोंको भी नहीं देखना-पढ़ना चाहिये; क्योंकि इसके प्रभावसे स्वास्थ्य और चरित्रकी बड़ी भारी हानि होती है और दर्शकका घोर पतन हो सकता है।

लड़के-लड़कियोंका परस्परका संसर्ग भी ब्रह्मचर्यमें

बहुत घातक है। अतः इस प्रकारके संसर्गका भी त्याग करना चाहिये तथा लड़के भी दूसरे लड़कों तथा अध्यापकोंके साथ गंदी चेष्टा, संकेत, हँसी-मजाक और बातचीत करके अपना पतन कर लेते हैं, इससे भी लड़कोंको बहुत ही सावधान रहना चाहिये। लड़के-लड़कियोंको न तो परस्परमें किसीको देखना चाहिये, न कभी अश्लील बातचीत ही करनी चाहिये और न हँसी-मजाक ही करना चाहिये; क्योंकि इससे मनोविकार उत्पन्न होता है। प्रत्यक्षकी तो बात ही क्या, सुन्दरताकी दृष्टिसे चित्रमें लिखी हुई स्त्रीके चित्रको पुरुष और पुरुषके चित्रको कन्या कभी न देखे। पुरुषको चाहिये कि माता-बहिन और पुत्री ही क्यों न हो, एकान्तमें तो कभी उनके साथ रहे ही नहीं। श्रीमनुजी कहते हैं—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(२। २१५)

'माता, बहिन या लड़कीके साथ भी एकान्तमें न बैठे; क्योंकि इन्द्रियोंका समूह बड़ा बलवान् है, वह विद्वान्‌को भी अपनी ओर खींच लेता है।' ऐसे ही स्त्रीको भी अपने पिता, भाई और युवा पुत्रके पास भी एकान्तमें नहीं बैठना चाहिये।

बालकोंको आठ प्रकारके मैथुनोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। शास्त्रोंमें आठ प्रकारके मैथुन इस प्रकार बतलाये हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

'स्त्रीका स्मरण, स्त्रीसम्बन्धी बातचीत, स्त्रियोंके साथ खेलना, स्त्रियोंको देखना, स्त्रीसे गुप्त भाषण करना, स्त्रीसे मिलनेका निश्चय करना और संकल्प करना तथा स्त्रीसङ्ग करना—ये आठ प्रकारके मैथुन माने गये हैं।'

जिस प्रकार बालकोंके लिये बालिका या स्त्रियोंका स्मरण आदि त्याज्य हैं, वैसे ही बालिकाओंके लिये पुरुषों और बालकोंके स्मरण आदि त्याज्य हैं। यदि कहें कि 'इनमें और सब बातोंका तो परहेज किया जा सकता है; किंतु समयपर बातचीत तो करनी ही पड़ती है' सो ठीक है। लड़कीका कर्तव्य है कि किसी पुरुष या बालकसे आवश्यक बात करनेका काम पड़े तो नीची दृष्टि करके उसे पिता या भाईके समान समझकर शुद्ध भावसे बात करे तथा बालकको चाहिये कि किसी स्त्री या लड़कीसे आवश्यक बात करनेका काम पड़े तो नीची दृष्टि करके उसे माता या बहिनके समान समझकर शुद्ध भावसे बात करे।

मनमें विकार पैदा करनेवाले वेषभूषा, साज-शृङ्गार, तेल-फुलैल, केश-विन्यास, गहने-कपड़े, फैशन आदिका विद्यार्थी बालक-बालिका सर्वथा त्याग कर दें। ऐसी संस्थाओं, स्थानों, नाट्य-गृहों, उत्सवस्थलों, क्लबों, पार्टियों, भोजों, भोजनालयों, होटलों और उद्यानोंमें भी न जायँ, जहाँ विकार उत्पन्न होनेकी तथा खान-पान और चरित्र-भ्रष्ट होनेकी जरा भी आशङ्का हो। सदा सादगीसे रहे और पवित्र सादा भोजन करे। इस प्रकार बालक-बालिकाओंको ऊपर बताये हुई नियमोंका आचरण करते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये।

श्रीहनुमान्‌जीने आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया, जिसके प्रभावसे वे बड़े ही धीर, वीर, तेजस्वी, ज्ञानी, विरक्त, भगवान्‌के भक्त, विद्वान् और बुद्धिमान् हुए। वाल्मीकीय रामायणके किष्किन्धाकाण्डमें आया है, जब श्रीहनुमान्‌जीकी श्रीराम-लक्ष्मणसे भेंट हुई, उस समय श्रीहनुमान्‌जीकी बातें सुनकर श्रीरामचन्द्रजीका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा और वे लक्ष्मणसे कहने लगे—'लक्ष्मण ! ये वानरराज सुग्रीवके मन्त्री हैं और उन्हींके हितकी इच्छासे यहाँ मेरे समीप आये हैं। ये वाक्यरचनाको जाननेवाले हैं। ये व्याकरणके भी पण्डित हैं, क्योंकि बहुत-सी बातें बोल जानेपर भी इनके शब्दोंमें कहीं अशुद्धि नहीं आयी।' श्रीहनुमान्‌जी बहुत ही बुद्धिमान्, पण्डित, छन्द और काव्यके ज्ञाता तथा उच्चकोटिके विद्वान् थे। महान् संगीतज्ञ थे। वे योगकी सिद्धियोंके भी ज्ञाता थे। जिनके प्रभावसे वे महान्-से-महान् और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूप धारण कर लिया करते थे। यह बात उनके चरित्रसे सिद्ध होती है। लङ्का जाते समय उन्होंने विशाल रूप धारण किया और सौ योजनके समुद्रको लाँघकर लङ्कापुरीमें प्रवेश करते समय मच्छरके समान सूक्ष्म रूप धारण कर लिया। वे बड़े भारी वीर और बलवान् भी थे। इसे बतानेवाले बहुत-से उदाहरण संसारमें प्रसिद्ध हैं। अक्षयकुमारको मार देना, रावणको मूर्छित कर देना, संजीवनी बूटीके लिये सूर्योदयके पूर्व ही द्रोणगिरिको उखाड़कर ले आना आदि घटनाएँ रामायणादि ग्रन्थोंमें मिलती हैं। श्रीरामजीके यज्ञीय अश्वकी रक्षाके समय, राजा वीरमणिके दोनों पुत्रोंको रथसहित पूँछमें लपेटकर पृथ्वीपर पटक देना, शिवजीके त्रिशूलको तोड़ डालना और उनको अपनी पूँछमें लपेटकर मारने लगना, वीरभद्रके द्वारा मारे

हुए पुष्कलको द्रोणपर्वतसे संजीवनी लाकर जिला देना आदि श्रीहनुमान्‌जीके वीरतापूर्ण लोकोत्तर कार्योंका वर्णन पद्मपुराणके पातालखण्डमें मिलता है। हनुमान्‌जी श्रीभगवान्‌के अलौकिक भक्त हैं, यह तो सर्वप्रसिद्ध है ही। हनुमान्‌जीकी इस लोकोत्तर प्रतिभामें भगवान्‌की अनन्य भक्ति और ब्रह्मचर्य ही सर्वप्रधान कारण हैं। आज भी बल-वर्द्धनके लिये व्यायाम करनेवाले लोग 'महावीर' के नामका स्मरण करते हैं और 'महावीर' के नामसे दल बनाते और अखाड़े खोलते हैं।

भीष्मपितामहने आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया था, यह बात महाभारतके आदिपर्वसे सिद्ध होती है। दासराजके यहाँ जाकर अपने पिताके लिये सत्यवतीको लानेके समय भीष्मने अपने राज्यके अधिकारका त्याग किया और आजीवन विवाह न करनेकी प्रतिज्ञा करके आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया, इससे संतुष्ट होकर उनके पिता शान्तनुने उनको वरदान दिया कि 'तुम्हारी इच्छाके बिना तुम्हें मृत्यु नहीं मार सकेगी।' भीष्मजी अपने भाई विचित्रवीर्यके लिये काशिराजकी सभामें जाकर सब राजाओंको पराजितकर स्वयंवरसे राजकन्या अम्बा, अम्बिका और अम्बालिकाका हरण कर लाये। यह दुष्कर कर्म केवल अकेले भीष्मने किया और जब अम्बाका पक्ष लेकर परशुरामजी आये, तब उनके साथ तेईस दिन घोर युद्ध करके परशुरामजीको युद्धमें छका दिया। परशुरामजी-जैसे महान् अस्त्रधर त्रैलोक्यविजयी वीर भी दुर्धर्ष भीष्मको पराजित न कर सके। अर्जुनद्वारा बाणसे भीष्मका पृथ्वीपर गिराया जाना—यह केवल भीष्मकी इच्छासे ही हुआ। वास्तवमें भीष्मको पराजित करनेवाला शास्त्रोंमें कहीं देखने-सुननेमें नहीं आया। भीष्म केवल वीर ही नहीं थे, वे शास्त्रोंके ज्ञाता, पण्डित और उच्चकोटिके अनुभवी सद्गुणी सदाचारी ज्ञानी महात्मा महापुरुष थे, जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके आग्रह करनेपर शरशय्यापर पड़े हुए ही धर्मराज युधिष्ठिरको राजनीति, धर्म और अध्यात्म आदि विषयोंका विस्तारपूर्वक उपदेश किया। महाभारतके शान्ति और अनुशासनपर्व इसी भीष्मोपदेशसे भरे हुए हैं।

भीष्मजी भगवान् श्रीकृष्णके अनन्यप्रेमी परम भक्त भी थे। महाभारतके शान्तिपर्वके ४५ और ४६ वें अध्यायोंमें यह बात आती है कि जब वे शरशय्यापर शयन किये हुए थे, उस समय वे भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान कर रहे थे तो इधर श्रीकृष्ण भी इनका ध्यान कर रहे थे।

इसमें ब्रह्मचर्यपालन एक प्रधान कारण है। यदि आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन न हो सके तो आजकलके समयके अनुसार अठारह वर्षतक तो बालकोंको अवश्य ही ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। इससे पूर्व ब्रह्मचर्य खण्डित होनेसे शीघ्र ही बल, बुद्धि, तेज, आयु और स्मृतिका क्षय हो जाता है और रोगोंका शिकार होकर शीघ्र ही कालके मुखका ग्रास बनना पड़ता है। यह बात शास्त्रसङ्गत तो है ही, युक्तिसङ्गत भी है; गम्भीरतासे सोचनेपर प्रत्यक्ष अनुभवमें भी आती है। अतएव ब्रह्मचर्यका कभी खण्डन न हो, इसके लिये विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि ब्रह्मचर्यके पालनसे बल, बुद्धि, वीर्य, तेज, स्मृति, धीरता, वीरता और गम्भीरताकी वृद्धि होकर उत्तम कीर्ति होती है तथा ईश्वरकी कृपासे ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और सद्गुण-सदाचारकी तथा परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति भी हो सकती है। प्राचीन कालमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचारीगण ब्रह्मचर्यका पालन करते थे। कठोपनिषद्‌में बतलाया है—

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् (१। २। १५)

'जिस परमपदकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उसको मैं तुम्हें संक्षेपसे बताता हूँ—'ओम्' यही वह पद है।'

इसलिये बालकोंको ब्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

माता-पिताकी सेवा

बालकोंके लिये अपने माता-पिताकी सेवा करना परम कर्तव्य और अत्यन्त आवश्यक है। इनकी सेवा करनेसे महान् लाभ और न करनेसे महान् हानि है। जिनके माता-पिता जीवित हैं, चाहे उनकी कितनी ही उम्र क्यों न हो, माता-पिताके आगे वे बालक ही हैं।

अतः सबको माता-पिताकी सेवाका लाभ उठाना चाहिये। सेवासे अभिप्राय है—तन, मन, धनद्वारा आदरसे सेवा-शुश्रूषापूर्वक उनको सुख पहुँचाना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनके संकेत और मनकी रुचिके अनुसार आचरण करना तथा उनके चरणोंमें नमस्कार करना; क्योंकि बालकके पालन-पोषण और विवाह (शादी) आदि कार्योंमें माता-पिता महान् क्लेश सहते हैं तथा मरनेपर अपना सर्वस्व पुत्रोंको देकर जाते हैं; ऐसे परम हितैषी माता-पिताको जो त्याग देता है अथवा उनकी

सेवा नहीं करता, वह घोर नरकमें जाता है। पद्मपुराणके भूमिखण्डमें बतलाया है—

> **पितरौ विकलौ दीनौ वृद्धौ दुःखितमानसौ।**
> **महागदेन संतप्तौ परित्यजति पापधीः॥**
> **स पुत्रो नरकं याति दारुणं कृमिसंकुलम्।**
> **वृद्धाभ्यां यः समाहूतो गुरुभ्यामिह साम्प्रतम्॥**
> **न प्रयाति सुतो भूत्वा तस्य पापं वदाम्यहम्।**
> **विष्ठाशी जायते मूढो ग्रामघोणी न संशयः॥**
> **यावज्जन्मसहस्रं तु पुनः श्वा चाभिजायते।**
> **पितरौ कुत्सते पुत्रः कटुकैर्वचनैरपि॥**
> **स च पापी भवेद् व्याघ्रः पश्चादृक्षः प्रजायते।**
> **मातरं पितरं पुत्रो न नमस्यति पापधीः॥**
> **कुम्भीपाके वसेत्तावद्यावद्युगसहस्रकम्।**
>
> (६३। ४—७, ११, १२)

'जो किसी अङ्गसे हीन, दीन, वृद्ध, दुःखी तथा महान् रोगसे पीड़ित माता-पिताको त्याग देता है, वह पापात्मा पुत्र कीड़ोंसे भरे हुए दारुण नरकमें पड़ता है। जो पुत्र होकर बूढ़े मा-बापके बुलानेपर भी उनके पास नहीं जाता, उसके पापका परिणाम बताता हूँ। वह मूर्ख अवश्य विष्ठा खानेवाला ग्रामसूकर होता है तथा फिर हजार जन्मोंतक उसे कुत्तेकी योनिमें जन्म लेना पड़ता है। जो पुत्र कड़वे वचनोंद्वारा भी माता-पिताकी भर्त्सना करता है, वह पापी बाघकी योनिमें जन्म लेता है, तत्पश्चात् रीछ होता है। जो पापबुद्धि पुत्र माता-पिताको प्रणाम नहीं करता, वह हजार युगोंतक कुम्भीपाक नरकमें निवास करता है।'

इसलिये मनुष्यको अपने आत्माके सुधार और कल्याणके लिये जितनी भी बन पड़े, अधिक-से-अधिक उनकी सेवा और आज्ञा-पालन करना चाहिये तथा उनके चरणोंमें नित्य नमस्कार करना चाहिये।

माता-पिताकी सेवाके विषयमें शास्त्रोंमें बड़ा भारी माहात्म्य लिखा है। केवल माता-पिताकी सेवासे ही मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है। कहीं-कहीं तो यह बात आती है कि उसे तीनों कालोंका ज्ञान भी हो जाता है। पद्मपुराणके सृष्टिखण्डके ४७ वें अध्यायमें एक बड़ी सुन्दर कथा आती है, वह यहाँ लिखी जाती है—

पूर्वकालमें नरोत्तम नामके एक ब्राह्मण थे। वे अपने माता-पिताका अनादर करके तीर्थसेवनके लिये चल दिये। सब तीर्थोंमें घूमते हुए उनके वस्त्र तपके प्रभावसे प्रतिदिन आकाशमें ही सूखते थे। इससे उनके मनमें बड़ा भारी अहंकार हो गया। वे समझने लगे, मेरे समान पुण्यात्मा और महायशस्वी दूसरा कोई नहीं है। एक दिन वे मुख ऊपर किये यही बात कह रहे थे कि इतनेमें एक बगुलेने उनके मुँहपर बीट कर दी। तब ब्राह्मणने क्रोधमें आकर उसे शाप दे दिया, जिससे बेचारा बगुला भस्म होकर जमीनपर गिर पड़ा। बगुलेकी मृत्यु होते ही नरोत्तमके मनमें बड़ा भारी मोह व्याप्त हो गया। उसी पापके कारण तबसे उनके वस्त्र आकाशमें नहीं ठहरते थे। यह जानकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। तब आकाशवाणीने कहा—'ब्राह्मण ! तुम परम धर्मात्मा मूक चाण्डालके पास जाओ। वहाँ जानेसे तुम्हें धर्मका ज्ञान होगा। उसका वचन तुम्हारे लिये कल्याणकारी होगा।'

यह आकाशवाणी सुनकर ब्राह्मण मूक चाण्डालके घर गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि वह चाण्डाल सब प्रकारसे अपने माता-पिताकी सेवामें लगा है। जाड़ेके दिनोंमें वह अपने मा-बापको स्नानके लिये गरम जल देता, उनके शरीरमें तेल मलता, तापनेके लिये अँगीठी जलाता, भोजनके बाद पान खिलाता और रूईदार कपड़े पहननेको देता था। प्रतिदिन भोजनके लिये मिष्टान्न परोसता और वसंत-ऋतुमें सुगन्धित माला पहनाता था। इनके सिवा और भी जो भोग-सामग्रियाँ प्राप्त होतीं, उन्हें देता और भाँति-भाँतिकी आवश्यकताएँ पूर्ण किया करता था। ग्रीष्मकालमें प्रतिदिन माता-पिताको पंखा झलता था। इस प्रकार नित्यप्रति उनकी सेवा करके उनको भोजन कराकर ही वह भोजन करता था। माता-पिताकी थकावट और कष्टका निवारण करना उसका सदाका नियम था। इन पुण्यकर्मोंके कारण चाण्डालका घर बिना किसी आधार और खम्भेके ही आकाशमें स्थित था। उसके घरमें त्रिभुवनके स्वामी भगवान् श्रीहरि मनोहर ब्राह्मणका रूप धारण किये नित्य विराजते थे। यह सब देखकर नरोत्तम ब्राह्मणको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने मूक चाण्डालसे कहा—'तुम मेरे पास आओ, मैं तुमसे सम्पूर्ण लोकोंके सनातन हितकी बात पूछता हूँ, उसे ठीक-ठीक बताओ।'

मूक चाण्डाल बोला—'विप्र! इस समय मैं माता-पिताकी सेवा कर रहा हूँ। आपके पास कैसे आऊँ? इनकी पूजा करके आपकी आवश्यकता पूर्ण करूँगा, तबतक मेरे दरवाजेपर ठहरिये।' चाण्डालके इतना कहते ही ब्राह्मण देवता क्रोधमें भर गये और बोले—'मुझ ब्राह्मणकी सेवा छोड़कर तुम्हारे लिये कौन-सा कार्य बड़ा हो सकता है?'

चाण्डालने कहा—'आप कोप क्यों करते हैं, मैं बगुला नहीं हूँ। अब आपकी धोती न तो आकाशमें सूखती है और न ठहर ही पाती है। अत: आकाशवाणी सुनकर आप मेरे घरपर आये हैं। थोड़ी देर ठहरिये तो मैं आपके प्रश्नका उत्तर दूँगा; अन्यथा पतिव्रता स्त्रीके पास जाइये।'

तदनन्तर चाण्डालके घरसे ब्राह्मणरूपधारी भगवान् विष्णुने निकलकर नरोत्तम ब्राह्मणसे कहा—'चलो, मैं पतिव्रता देवीके घर चलता हूँ।' नरोत्तम कुछ सोचकर उनके साथ चल दिये।

इस कथासे मालूम होता है कि मूक चाण्डाल माता-पिताका महान् भक्त था। माता-पिताकी सेवाके प्रभावसे उसे तीनों कालोंका ज्ञान था और वह अन्तमें स्वयं तो माता-पिताके सहित परम धाममें चला ही गया, उसके घरमें बसनेवाले जीव-जन्तु भी परम धाममें चले गये।

मर्यादापुरुषोत्तम स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने माता-पिताकी सेवा करके जीवोंके कल्याणके लिये एक उच्च कोटिका आदर्श उपस्थित किया है; जिनकी कथा तुलसीकृत, अध्यात्म और वाल्मीकीय रामायणोंमें तथा पद्मपुराण और महाभारत आदि शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है।

पिताको दु:खी देखकर जब श्रीरामजीने माता कैकेयीसे उनके दु:खका कारण पूछा, तब उसने कहा कि 'राजाके मनमें एक बात है, परंतु वे तुम्हारे डरसे कहते नहीं, तुम इन्हें बहुत प्यारे हो, तुम्हारे प्रति इनके मुखसे अप्रिय वचन नहीं निकलते। इन्होंने जिस कार्यके लिये मुझसे प्रतिज्ञा की है, तुमको वह अवश्य ही करना चाहिये। यदि तुम उनकी आज्ञाका पालन कर सको तो मैं तुम्हें सारी बातें बता दूँ। इसके उत्तरमें श्रीरामने कहा—

अहो धिङ्नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वच:।
अहं हि वचनाद् राज्ञ: पतेयमपि पावके॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।

(वा० रा० २। १८। २८-२९)

'अहो! मुझे धिक्कार है। हे देवि! आपको ऐसी बात मुझे नहीं कहनी चाहिये; क्योंकि मैं महाराजा पिताकी आज्ञासे आगमें कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विष भी खा सकता हूँ और समुद्रमें भी कूद सकता हूँ।'

अध्यात्मरामायणमें तो यहाँतक कह दिया कि—

पित्रर्थे जीवितं दास्ये पिबेयं विषमुल्बणम्।
सीतां त्यक्ष्येऽथ कौसल्यां राज्यं चापि त्यजाम्यहम्॥
अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितु: कार्यं स उत्तम:।
उक्त: करोति य: पुत्र: स मध्यम उदाहृत:॥
उक्तोऽपि कुरुते नैव स पुत्रो मल उच्यते।
अत: करोमि तत् सर्वं यन्मामाह पिता मम॥
सत्यं सत्यं करोम्येव रामो द्विर्नाभिभाषते।

(२। ३। ५९—६२)

'पिताजीके लिये मैं जीवन दे सकता हूँ, हलाहल जहर पी सकता हूँ। राज्यको तो मैं त्याग ही रहा हूँ, पत्नी सीताको और माता कौसल्याको भी त्याग सकता हूँ। जो पुत्र आज्ञा न मिलनेपर भी पिताके मनके और संकेतके अनुकूल कार्यको करता है, वह उत्तम और जो कहनेपर करता है, वह मध्यम कहा गया है; किंतु जो कहनेपर भी नहीं करता, वह पुत्र तो 'मल' ही कहा जाता है। इसलिये मेरे पिताजीने मेरे लिये जो कुछ कहा है, वह सभी मैं करूँगा। आपसे मैं सत्य-सत्य कहता हूँ, मैं उसे अवश्य करूँगा। राम कभी दो बात नहीं कहता।'

इसके बाद श्रीराम माता कौसल्याके भवनमें गये और उनसे प्रसन्नतापूर्वक अपने वन जानेका वृत्तान्त कहा। उनके वचन सुनकर माता कौसल्याको बहुत दु:ख और उद्वेग हुआ। वे बोलीं—

पिता गुरुर्यथा राम तवाहमधिका तत:।
पित्राऽऽज्ञप्तो वनं गन्तुं वारयेयमहं सुतम्॥
यदि गच्छसि मद्वाक्यमुल्लङ्घ्य नृपवाक्यत:।
तदा प्राणान् परित्यज्य गच्छामि यमसादनम्॥

(अध्यात्म० २। ४। १२-१३)

'राम! जिस प्रकार तुम्हारे लिये पिता बड़े हैं, उनसे भी बढ़कर मैं तुम्हारे लिये बड़ी हूँ। वन जानेकी पिताने आज्ञा दी है तो मैं तुझ पुत्रको मना कर रही हूँ। यदि तुम मेरे वचनोंका उल्लङ्घन करके राजाके वाक्यसे वनको जाओगे तो मैं प्राण त्याग करके मर जाऊँगी।'

वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम्।
अहं प्रायमिहासिष्ये न च शक्ष्यामि जीवितुम्॥
ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम्।

(२। २१। २७-२८)

'यदि तुम शोकविह्वल मुझको छोड़कर वन चले जाओगे तो मैं यहाँ आहार नहीं करूँगी, जिससे जीवित नहीं रह सकूँगी। पुत्र! तब तुम लोकप्रसिद्ध (स्थानविशेष) नरकको प्राप्त होओगे।'

इसपर भगवान् श्रीरामने कहा—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम्॥

(वा० रा० २। २१। ३०)

'माताजी! मैं सिर नवाकर आपसे क्षमा माँगता हूँ, मुझमें पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी सामर्थ्य नहीं है; अतः मैं वनको ही जाना चाहता हूँ।' (आप प्रसन्नतापूर्वक मुझे आज्ञा दें।)

यहाँ श्रीतुलसीकृत रामायणमें माता कौसल्या धर्मशास्त्रके अनुसार केवल पिताकी आज्ञा ही हो तो वनमें न जानेके लिये कह रही हैं और यदि पिता दशरथ और माता कैकेयी दोनोंकी आज्ञा हो तो वन जानेकी अनुमति दे रही हैं—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

फिर वे कहने लगीं—'रघुनन्दन! अब मैं तुम्हें रोक नहीं सकती। तुम इस समय जाओ, सत्पुरुषोंके मार्गपर स्थिर रहो और शीघ्र ही वनसे लौट आओ। तुम नियमपूर्वक प्रसन्नतासे जिस धर्मका पालन करते हो, वही तुम्हारी रक्षा करे। महर्षियोंके साथ सब देवता तुम्हारी रक्षा करें।'

इस प्रकार माताकी आज्ञा और आशीर्वाद लेकर भगवान् श्रीराम प्रसन्नवदन हो वनमें चले गये। धन्य है, उनकी मातृ-पितृ-सेवा और आज्ञापालन! जो मनुष्य उनका अनुकरण करता है, वह भी धन्य है; उसके उद्धारमें कोई भी शङ्का नहीं। भगवान्‌के तो नाम और स्वरूपके स्मरणसे ही कल्याण हो जाता है, फिर उनके अनुकरणसे कल्याण हो जाय इसमें तो कहना ही क्या है?

अतएव बालकोंको उचित है कि माता-पिताकी सेवाको परम धर्म मानकर उनकी सेवामें सब प्रकारसे सदा तत्पर रहें। मन, वाणी और शरीरसे सदा उनके अनुकूल चेष्टा करना, नित्य नमस्कार और परिक्रमा करना, चरणोंका प्रक्षालन करना और उनकी आज्ञाका पालन करना आदि सेवाकी शास्त्रोंमें बड़ी भारी महिमा बतलायी है।

पद्मपुराणमें कहा है—

सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता।
मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत्॥
मातरं पितरं चैव यस्तु कुर्यात् प्रदक्षिणम्।
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा॥
जानुनी च करौ यस्य पित्रोः प्रणमतः शिरः।
निपतन्ति पृथिव्यां च सोऽक्षयां लभते दिवम्॥

(सृष्टिखण्ड ४७। ११—१३)

'माता सर्वतीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओंका स्वरूप है; इसलिये सब प्रकारसे यत्नपूर्वक माता-पिताका पूजन करना चाहिये। जो माता और पिताकी प्रदक्षिणा करता है, उसने सातों द्वीपोंसे युक्त समूची पृथ्वीकी परिक्रमा कर ली। माता-पिताको प्रणाम करते समय जिसके घुटने, हाथ और मस्तक पृथ्वीपर टिकते हैं, वह अक्षय स्वर्गको प्राप्त होता है।'

मातापित्रोस्तु यः पादौ नित्यं प्रक्षालयेत् सुतः।
तस्य भागीरथीस्नानमहन्यहनि जायते॥

(भूमिखण्ड ६२। ७४)

'जो पुत्र प्रतिदिन माता और पिताके चरण पखारता है और उस चरणोदकको सिरपर धारण करता है, उसका नित्यप्रति गङ्गास्नान हो जाता है।'

पतितं क्षुधितं वृद्धमशक्तं सर्वकर्मसु।
व्याधितं कुष्ठिनं तातं मातरं च तथाविधाम्॥
उपाचरति यः पुत्रस्तस्य पुण्यं वदाम्यहम्।
विष्णुस्तस्य प्रसन्नात्मा जायते नात्र संशयः॥
प्रयाति वैष्णवं लोकं यदप्राप्यं हि योगिभिः।

(भूमिखण्ड ६३। २—४)

'यदि पिता पतित, भूखसे व्याकुल, वृद्ध, सब कार्योंमें असमर्थ, रोगी और कोढ़ी हो गये हों तथा इसी प्रकार माताकी भी वही अवस्था हो, उस समयमें भी जो पुत्र उनकी सेवा करता है, उसके पुण्यका माहात्म्य मैं कहता हूँ—उसपर निस्संदेह भगवान् श्रीविष्णु प्रसन्न होते हैं। वह योगियोंके लिये भी दुर्लभ श्रीविष्णुभगवान्‌के परम धामको प्राप्त होता है।'

नास्ति मातुः परं तीर्थं पुत्राणां च पितुस्तथा।
नारायणसमावेताविह चैव परत्र च॥

(भूमिखण्ड ६३। १३)

'पुत्रोंके लिये माता तथा पितासे बढ़कर दूसरा कोई भी तीर्थ नहीं है। माता-पिता—ये दोनों इस लोकमें और परलोकमें भी निस्संदेह नारायणके समान हैं।'

शास्त्रोंमें माता-पिताकी सेवाके और भी बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। पद्मपुराणके भूमिखण्डमें आता है कि द्वारकावासी शिवशर्माके यज्ञशर्मा, वेदशर्मा, धर्मशर्मा, विष्णुशर्मा और सोमशर्मा नामक पाँचों पुत्रोंने मातृ-पितृ-भक्तिसे परमपदकी प्राप्ति कर ली। मनुष्यकी तो बात ही क्या है, कुञ्जल नामके तोतेके चारों पुत्र उज्ज्वल, समुज्ज्वल, विज्वल और कपिञ्जल (पक्षी) भी माता-पिताके बड़े भक्त हुए हैं। माता-पिताकी सेवाके

विषयमें पद्मपुराण भूमिखण्डमें कुण्डलपुत्र सुकर्माका, वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डके ६३ और ६४ वें सर्गमें श्रवणका और महाभारतके वनपर्वके २०७ वें अध्यायमें धर्मव्याधका इतिहास मिलता है। समस्त स्मृतियाँ भी एक स्वरसे माता-पिताकी सेवाके महत्त्वको बतलाती हैं। शास्त्रोंमें गुरु, उपाध्याय और आचार्यकी सेवासे भी माता-पिताकी सेवाका महत्त्व अधिक बतलाया है; क्योंकि माता-पिता बालकके पालन-पोषणमें जो कष्ट सहते हैं, उसका बदला किसी भी हालतमें बालक चुका नहीं सकता। मनुस्मृतिमें बतलाया है—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

(२। २२७)

'मनुष्यकी उत्पत्तिके समयमें जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सौ वर्षोंमें भी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता।' इसलिये—

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥

(२। १४५)

'बड़प्पनमें दस उपाध्यायोंसे एक आचार्य, सौ आचार्योंसे एक पिता और हजार पिताओंसे भी एक माता बड़ी है।'

इस कलियुगमें भी अनेकों मातृ-पितृभक्त पुरुष हो गये हैं। उनमेंसे एककी संक्षिप्त घटना यहाँ लिखी जाती है—

दक्षिणमें चन्द्रभागाके तटपर श्रीविट्ठल (विठोबा) भगवान्‌के मन्दिरके पास ही प्रायः पाँच सौ गज दूरपर 'पुण्डलीक' का मन्दिर है और वहाँ इसका बड़ा माहात्म्य है। ये पुण्डलीक पहले माता-पिताके भक्त नहीं थे। एक बार वे पत्नीसहित काशी गये थे, वहाँ उन्होंने काशीसे तीन कोसपर मातृ-पितृभक्त महात्मा कुक्कुटके आश्रममें मूर्तिमान् गङ्गा-यमुना-सरस्वतीको सेवा करते देखा। पुण्डलीक जब उनके चरण-स्पर्श करनेको बढ़े, तब वे यह कहकर दूर हट गयीं कि 'तुम पापी हो, हमें छूना मत।' पुण्डलीकके बहुत अनुनय-विनय करनेपर गङ्गा आदिने बताया कि 'तुम-सरीखे पापी हममें स्नान करके जो पापराशि छोड़ जाते हैं, उस पापराशिको धोकर पूर्ववत् विशुद्ध होनेके लिये हमलोग पुण्यपुरुषोंके आश्रमोंमें आकर उनकी सेवा करती हैं।' यह सुनकर पुण्डलीकने उनसे अपने उद्धारका उपाय पूछा। उन्होंने कुक्कुट ऋषिके पास जाकर उनसे पूछनेकी सम्मति दी। तदनुसार पुण्डलीकने कुक्कुट ऋषिके पास जाकर अपनी सारी कथा सुनायी और उद्धारका उपाय पूछा। इसपर परम मातृ-पितृभक्त कुक्कुट ऋषिने कहा कि 'पुण्डलीक! तू बड़ा मूर्ख है, जो माता-पिताको छोड़कर यहाँ काशी-यात्राको आया है। तुझे यहाँ क्या फल मिलेंगे! माता-पिताकी सेवा काशी-यात्राकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है। जा, माता-पिताकी सेवा कर।' यह सुनकर पुण्डलीक वहाँसे लौट आये और अनन्यभावसे माता-पिताकी सेवा करने लगे। वे फिर माता-पिताके साथ पण्ढरीमें आकर रहे। एक दिन उन्हें दर्शन देनेके लिये स्वयं भगवान् पधारे। उस समय ये माता-पिताकी सेवामें लगे थे। इन्होंने भगवान्‌के आदरातिथ्यकी अपेक्षा माता-पिताकी सेवाको श्रेष्ठ समझा और भगवान्‌की भी उपेक्षा न हो, इसलिये भगवान्‌की ओर एक ईंट फेंककर प्रार्थना की कि आप इसपर खड़े रहें। भगवान् भक्तवत्सल हैं। पुण्डलीककी मातृ-पितृभक्तिसे संतुष्ट होकर उसी ईंटपर खड़े हो गये। माता-पिताकी सेवा कर चुकनेपर भगवान्‌की पुण्डलीकने स्तुति की। भगवान्‌ने प्रसन्न होकर जब वर माँगनेको कहा, तब पुण्डलीकने यही वर माँगा कि 'मेरी मातृ-पितृभक्ति सदा बनी रहे और आप इसी रूपमें यहीं विराजें।' पुण्डलीकको 'तथास्तु' कहकर भगवान् पुण्डलीकके इच्छानुसार श्रीविग्रहके रूपमें ईंटपर ही खड़े हो गये और आजतक उन्हीं श्रीविग्रहकी पूजा होती है। लाखों नर-नारी 'पुण्डलीक वरदे हरि विट्ठल' की जय-घोष करते हुए भगवान्‌के दर्शन करते हैं। पुण्डलीककी पूजा होती है और पुण्डलीकके माता-पिताकी समाधि भी उन्हींके मन्दिरके पास ही विद्यमान है।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि केवल माता-पिताकी सेवासे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है। यदि कहें कि माता-पिताकी सेवासे कल्याण होनेकी बात शास्त्रमें आती है, यह तो ठीक है; किंतु यह बात युक्तिसे समझमें नहीं आती, तो इसका उत्तर यह है कि यह युक्तिसङ्गत भी है। कोई कार्य माता-पिताके तो अनुकूल है, पर पुत्रके प्रतिकूल है, तो उस समय वह आज्ञाकारी पुत्र अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक अपने माता-पिताके अनुकूल ही कार्य करता है तथा जो कार्य पुत्रके तो अनुकूल है, किंतु माता-पिताके प्रतिकूल होनेके कारण वे उसे नहीं चाहते तो उस परिस्थितिमें वह पुत्र उस कार्यको माता-पिताके प्रतिकूल समझकर उसे तुरंत

त्याग देता है। इस प्रकारकी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति प्रतिदिन ही प्राप्त होती रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि पुत्रकी अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तियोंपर नित्य आघात पड़ते रहनेसे उसकी अनुकूल और प्रतिकूल दोनों वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और वह माता-पिताकी अनुकूलतामें ही अपनी अनुकूलता तथा उनकी प्रतिकूलतामें ही अपनी प्रतिकूलताका समावेश कर देता है; उसकी अपनी न कहीं अनुकूलता रहती है और न प्रतिकूलता ही। तब अनुकूलतामें होनेवाले राग और प्रतिकूलतामें होनेवाले द्वेषका अत्यन्त अभाव हो जाता है। अन्तःकरणमें होनेवाले सुख-दुःखादि सारे विकारोंके मूल राग-द्वेष ही हैं। इनका अत्यन्त अभाव होनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। अन्तःकरणकी शुद्धिसे समता और चित्तमें प्रसन्नता होती है और प्रसन्नतासे परमात्माके स्वरूपमें स्थिति हो जाती है, जिससे परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। अतएव माता-पिताकी सेवासे कल्याण होना शास्त्रसङ्गत तो है ही, युक्तिसङ्गत भी है।

गुरु-सेवा

माता-पिताकी भाँति आचार्य या गुरुकी सेवा करना भी परम कर्तव्य और अत्यन्त आवश्यक है। ऋषिकुल, गुरुकुल, पाठशाला, विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय आदिमें पढ़नेवाले विद्यार्थियोंको अपने आचार्य, अध्यापक, प्रोफेसर, प्रिन्सिपल आदि गुरुजनोंका सत्कार, सम्मान, उनकी आज्ञाका पालन, वर्णाश्रमानुसार यथोचित सेवा अवश्य करनी चाहिये।

इसी प्रकार आत्मोद्धारके लिये उपदेश करनेवाले गुरुकी विशेष सेवा करनी चाहिये। ऐसे सद्गुरुकी सेवासे ज्ञानकी प्राप्ति होकर परम कल्याण हो जाता है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४। ३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

उपनिषदोंमें भी गुरुभक्तोंकी अनेक कथाएँ मिलती हैं। सत्यकाम और उपकोसल आदिको गुरुकी सेवासे ही परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो गया था। गुरुभक्तिकी महिमाके प्रसङ्गमें पद्मपुराणके भूमिखण्डमें बतलाया है कि 'गुरुके अनुग्रहसे शिष्यको लौकिक आचार-व्यवहारका ज्ञान होता है, विज्ञानकी प्राप्ति होती है और वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जैसे सूर्य सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार गुरु शिष्योंको उत्तम बुद्धि देकर उनके अन्तर्जगत्‌को प्रकाशपूर्ण बनाते हैं।* वे शिष्यके अज्ञानमय अन्धकारका नाश करते हैं, अतः शिष्योंके लिये गुरु ही सबसे उत्तम तीर्थ हैं। यह समझकर शिष्यको उचित है कि वह सब तरहसे गुरुको प्रसन्न रखे; गुरुको पुण्यमय जानकर मन, वाणी और शरीर—तीनोंसे उनकी सेवा करे।'

इसलिये बालकोंको नित्य अपने गुरुजनोंके चरणोंमें दाहिने हाथसे उनके दायें पैरको और बायें हाथसे बायें पैरको छूकर प्रणाम करना चाहिये। श्रीमनुजी कहते हैं—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥

(२। ७२)

'हाथोंको हेर-फेर करके गुरुको प्रणाम करना चाहिये। बायें हाथसे बायाँ चरण और दाहिने हाथसे दाहिना चरण छूना चाहिये।' तथा सदा गुरुके साथ बहुत ही आदरपूर्वक व्यवहार करना चाहिये। श्रीमनुजीने बतलाया है—

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात् सर्वदा गुरुसंनिधौ।
उत्तिष्ठेत् प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥
आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः॥
नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसंनिधौ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत्॥

(२। १९४, १९६, १९८)

'गुरुके सामने सदा साधारण अन्न, वस्त्र और वेषसे रहे तथा गुरुसे पहले तो उठे और पीछे सोवे। बैठे हुए गुरुसे खड़े होकर और खड़े हुएसे उनके सामने जाकर तथा अपनी ओर आते हुएसे कुछ पद आगे जाकर एवं दौड़ते हुएसे उनके पीछे दौड़कर (बातचीत) करे। गुरुके समीप शिष्यकी शय्या और आसनादि सदा नीचा रहना चाहिये। गुरुकी आँखोंके सामने शिष्यको मनमाने आसनसे नहीं बैठना चाहिये।'

* सर्वेषामेव लोकानां यथा सूर्यः प्रकाशकः। गुरुः प्रकाशकस्तद्वच्छिष्याणां बुद्धिदानतः (८५। ८)

गुरुके साथ कभी असद्व्यवहार नहीं करना चाहिये। असद्व्यवहार करनेसे दुर्गति होती है। श्रीमनुजी कहते हैं—

परीवादात् खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी॥

(२। २०१)

'गुरुको झूठा दोष लगानेवाला गधा होता है, उनकी निन्दा करनेवाला निस्संदेह कुत्ता होता है, अनुचित रीतिसे उनके धनको भोगनेवाला कृमि होता है और उनके साथ डाह रखनेवाला कीट होता है।'

अतएव इस प्रकार कभी भी गुरुके साथ बुरा बर्ताव न करे, बल्कि उनकी आज्ञाका पालन करे और उनकी इच्छाके अनुसार कार्य करे। उनकी इच्छाका पता न लगे तो उनके संकेतके अनुसार करे, संकेतका पता न लगे तो उनकी आज्ञाके अनुसार करे तथा मन, वाणी और शरीरसे सदा-सर्वदा उनकी सेवामें तत्पर रहे। इस प्रकार नित्य नमस्कार, सेवा और आज्ञापालन करनेसे शिष्यका कल्याण हो जाता है।

माता-पिता और गुरुकी सेवाका महत्त्व जितना कहा जाय उतना ही थोड़ा है। श्रीमद्भगवद्गीताके १७ वें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें शारीरिक तपका वर्णन करते हुए श्रीभगवान्‌ने जो '**देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्**' कहा है, उसका अभिप्राय यही है कि देवता, ब्राह्मण, गुरु यानी माता-पिता, आचार्य आदि तथा प्राज्ञ यानी ज्ञानवान्—इनका पूजन अर्थात् सेवा-सत्कार और आदर करना चाहिये।

श्रीमनुजीने बतलाया है—

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही।

(२। २३०, २३२)

'माता-पिता और आचार्य—ये ही तीनों भूः, भुवः और स्वः लोक हैं, ये ही तीनों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम हैं, ये ही तीनों ऋक्, यजुः और सामवेद हैं तथा ये ही तीनों गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय-अग्नि हैं। इन तीनोंकी सावधानीपूर्वक सेवासे गृहस्थी मनुष्य तीनों लोकोंको जीत लेता है।' श्रीमनुजी कहते हैं—

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

(२। २३७)

'इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कृत्य समाप्त हो जाता है, यानी उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। यही साक्षात् परमधर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं।'

इसी प्रकार वेदोंमें भी इसकी बड़ी महिमा मिलती है। तैत्तिरीयोपनिषद्‌के १। ११ में बतलाया है—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।

'माताको देव माननेवाला हो, पिताको देव माननेवाला हो, आचार्यको देव माननेवाला हो अर्थात् इन सबको परमात्मदेव माननेवाला हो।'

ईश्वर-भक्ति

ईश्वरकी भक्तिके प्रभावसे दुर्गुण, दुराचार, आलस्य, प्रमाद, दुर्व्यसनरूप आसुरी सम्पदाका तथा दुःखोंका स्वाभाविक अपने-आप ही अत्यन्त अभाव हो जाता है और उसमें सद्गुण-सदाचाररूप दैवी सम्पदाके लक्षण अपने-आप ही आ जाते हैं, जिससे सदाके लिये परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। इसमें न तो पैसे खर्च होते हैं, न कोई समय व्यय होता है और न कोई परिश्रम ही। जैसे रात्रिके समय लेटनेके बाद कोई कार्य तो है ही नहीं, समय केवल सोनेमें ही जाता है और स्वप्न भी वैसे ही आते हैं, जैसे कि सोनेके आरम्भसमयमें संकल्प होते हैं। इसलिये शयनके समयमें सांसारिक संकल्पोंके प्रवाहको हटाकर परमात्म-विषयक संकल्प करते हुए अर्थात् परमात्माके नाम, रूप, गुण, प्रभावका स्मरण करते हुए शयन करनेसे रात्रिमें परमात्म-विषयक ही संकल्प होते रहेंगे, इससे बुद्धि सात्त्विक होगी और हम परमात्माके निकट पहुँचेंगे। बतलाइये, इसमें हमको क्या परिश्रम है? एवं न तो इसमें पैसोंका खर्च है और न समयका ही। फिर इसके न होनेमें कारण श्रद्धा-प्रेमकी ही कमी है। श्रद्धा और प्रेम हमलोगोंका स्वाभाविक संसारमें है, उसको भगवान्‌की ओर कर देनेसे महान् लाभ है और संसारकी ओर रखनेसे बड़ी हानि है। 'भगवान् हैं और मिलते हैं तथा वे अन्तर्यामी, परमदयालु और सर्वशक्तिमान् हैं'—इस प्रकारका जो भक्तिपूर्वक विश्वास है, इसीका नाम श्रद्धा है। इस प्रकार परमात्मामें विश्वास होनेपर उसके द्वारा कोई भी दुराचाररूप पाप नहीं बन सकते; क्योंकि उसको यह विश्वास है कि भगवान् हैं और वे सब जगह व्यापक हैं तथा सब जगह उनकी आँखें हैं और सब जगह ही उनके कान हैं। अतः हम जो कुछ कर रहे

हैं, भगवान् उसे देख रहे हैं और जो कुछ हम बोल रहे हैं, उसे वे सुन रहे हैं। भगवान्ने गीतामें भी कहा है—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(१३। १३)

'वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है।'

जब बालकको इस प्रकार विश्वास हो जाता है, तब फिर वह दुराचार, दुर्व्यसन और प्रमादरूप पापको, जो कि परमात्मासे विपरीत कार्य हैं, कैसे कर सकता है?

ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास करके उनकी शरण होनेपर मनुष्यमें निर्भयता आ जाती है तथा उसमें धीरता, वीरता, गम्भीरता ईश्वरकृपासे स्वाभाविक ही आ जाती है। अस्त्र-शस्त्रोंके द्वारा दूसरोंकी हिंसा करनेवाला वीर नहीं कहलाता। वीर पुरुष वही है, जो अपने ऊपर भारी-से-भारी आपत्ति पड़नेपर भी भक्त प्रह्लादकी भाँति अपने सिद्धान्तको, कर्तव्यको नहीं छोड़ता, वरं उसपर दृढ़ताके साथ डटा रहता है, जरा भी विचलित नहीं होता। ईश्वरके सगुण और निर्गुण स्वरूपकी प्राप्ति या ज्ञान न होनेके कारण उसका यथार्थ चिन्तन न हो तो कोई हानि नहीं, किंतु जीव ईश्वरका अंश होनेसे उसका भगवान्में प्रेम स्वाभाविक ही होना चाहिये। अतः भगवान्के साथ आत्मीयता दृढ़ होनेके लिये भगवान्से दास्य, सख्य आदिमेंसे किसी भावका सम्बन्ध, उसकी सत्तामें विश्वास, उसका भरोसा तथा नामकी स्मृति अवश्य और दृढ़ होनी चाहिये। फिर उसके द्वारा कोई भी पाप नहीं हो सकता।

दुराचार आदि पापोंके संस्कार ही दुर्गुणके रूपमें हृदयमें जमते हैं। जब उसके द्वारा कोई बुरा काम नहीं होगा, तब दुर्गुण कैसे जम सकते हैं, बल्कि पहलेके संचित दुर्गुणोंके संस्कार भी भगवान्की भक्तिके प्रभावसे नष्ट हो सकते हैं। उपर्युक्त प्रणालीके अनुसार शयन करनेका अभ्यास करनेसे शयनकाल भी साधनमें परिणत हो सकता है। विचारना चाहिये, यह कितने उत्तम लाभकी बात है। यह सब समझकर भी यदि हम इसके लिये चेष्टा न करें तो हमारे समान कौन मूर्ख होगा?

इसी प्रकार विद्याभ्यास करते, चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते और खेल-कूदके समय भी भगवान्के गुण-प्रभावसहित नाम, रूप और चरित्रको याद रखते हुए ही उपर्युक्त सारी क्रियाएँ करनी चाहिये। जैसे व्रजकी गोपियाँ वाणीके द्वारा भगवान्के नाम-गुणोंका कीर्तन और मनसे भगवान्का स्मरण करती हुई ही घरका सब काम किया करती थीं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

(१०। ४४। १५)

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय, प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गदवाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं, इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं।'

अतएव बालकोंको इस प्रकार वाणीके द्वारा भगवान्के नाम-गुणोंका प्रेमपूर्वक कीर्तन तथा मनसे उनका स्मरण करते हुए ही सब चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा करनेपर स्वाभाविक ही दुर्गुण-दुराचारोंका नाश तथा सद्गुण-सदाचारोंका आविर्भाव होकर परम शान्ति और परम आनन्द मिल सकते हैं। ऐसा करनेमें न तो समयका खर्च है, न पैसोंका ही और न कोई परिश्रम ही है। यह अलौकिक परम लाभ स्वाभाविक ही मिल सकता है, जिसके फलस्वरूप भगवान्में प्रेम होकर भगवान्की प्राप्ति हो सकती है।

प्रातःकाल और सायंकाल जो नित्यकर्मके लिये समय निकाला जाता है, उसको विशेष सार्थक बनाना चाहिये। उस समय भजन, ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना आदि जो कुछ भी किया जाता है, अर्थ और भावकी ओर खयाल रखकर करना चाहिये। इस प्रकार श्रद्धा-भक्ति और आदरपूर्वक नियमितरूपसे किया हुआ नित्यकर्म भी बहुत दामी हो जाता है; किंतु जो बिना आदर और बिना मनके साधन किया जाता है, वह विशेष दामी नहीं होता।

भक्त ध्रुवने बड़े आदरपूर्वक साधन किया था, जिसके फलस्वरूप साढ़े पाँच महीनोंमें ही उन्हें भगवान्

मिल गये। सौतेली माता सुरुचिके आक्षेपभरे वचनोंने भी उनके हृदयमें उपदेशका काम कर दिया। और जन्म देनेवाली माता सुनीति तथा श्रीनारदजीका उपदेश पाकर ध्रुव जप, ध्यान और तपश्चर्यामें संलग्न हो गये, जिससे वे शीघ्र ही परम पदको प्राप्त हो गये।

इसी प्रकार श्रीनारदजीका उपदेश पाकर भक्त प्रह्लादने निष्कामभावसे भक्ति करके उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त की। प्रह्लादने पाठशालामें पढ़ते समय भारी-से-भारी अत्याचारोंको सहते हुए भी भगवान्‌की भक्ति करते और बालकोंको कराते हुए भगवद्दर्शन प्राप्त किया। उनकी भक्तिका प्रभाव देखिये, जहरीले सर्पोंके विष तथा अग्निकी लपटोंका भी उनपर कोई असर नहीं हुआ। इसके सिवा उनपर और भी बहुत-से अत्याचार हुए; किंतु प्रह्लादका बाल भी बाँका नहीं हुआ। प्रह्लाद मनसे सर्वत्र भगवान्‌को ही देखते और भगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन किया करते थे। हिरण्यकशिपुके भय, लोभ और त्रास देनेपर भी प्रह्लाद अपनी भक्तिपर डटे ही रहे तथा प्रेमपूर्वक अत्याचारोंको सहते रहे। अतः किसी अत्याचारका प्रतीकार बिना किये ही भक्तिके प्रभावसे सब अत्याचार निष्फल हो गये। यह समझकर बालकोंको बड़े उत्साहके साथ भगवान्‌के नाम और रूपको याद रखते हुए ही सब काम करते रहना चाहिये। भगवान्‌ने अर्जुनको भी यही आदेश दिया है कि—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(गीता १८।५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

अतएव बालकोंको भी सब समय भगवान्‌का आश्रय लेकर ही सब काम करना चाहिये।

यहाँ बालकोंके सम्बन्धमें जो बातें कही गयी हैं, वही तरुणोंके और प्रायः बड़ी उम्रवालोंके लिये भी समझनी चाहिये। मेरा ऐसा विश्वास है कि इस प्रकारसे यदि वास्तवमें बालकोंका और तरुणों, प्रौढ़ोंका जीवन बन जाय तो मनुष्य-जीवनकी सर्वाङ्गीण सार्थकता हो सकती है।

श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्भगवद्गीताकी शिक्षासे अनुपम लाभ

बालकोंके चरित्रनिर्माणके लिये आरम्भसे ही उनको ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिये, जिसमें उनका चारित्रिक पतन तो हो ही नहीं; प्रत्युत उत्तरोत्तर उन्नति होती रहे। इसके लिये सदाचारकी और सर्वकल्याणकारी धर्मकी शिक्षा आवश्यक है। ऐसी सर्वोपयोगी धार्मिक शिक्षाके बिना न तो चरित्रनिर्माण होगा और न देश, जाति एवं समाजका हित करनेवाले बालक ही बनेंगे। इस प्रकारके सदाचार और उदार धर्मकी शिक्षाके लिये हमारे यहाँ बहुत ही उत्तम दो ग्रन्थ हैं—एक हिंदीका श्रीरामचरितमानस और दूसरा संस्कृतका श्रीमद्भगवद्गीता। हमारी भारतीय आर्यसंस्कृति और धर्मकी शिक्षा अमृतके तुल्य है। यह शिक्षा इन दोनों ग्रन्थोंमें भरपूर है। जैसे अमृतका पान करनेवालेपर विषका असर नहीं हो सकता, उसी प्रकार इन ग्रन्थोंके द्वारा भारतीय उदार आर्य हिंदू-संस्कृति और धार्मिक आदर्शसे अनुप्राणित, शिक्षासे शिक्षित और तदनुसार व्यवहारमें निपुण होनेपर विदेशी और विधर्मियोंकी अनेकों प्रकारकी शिक्षाओंमें जो कहीं-कहीं विष भरा हुआ है, उसका प्रभाव नहीं पड़ सकता। अतएव बालकोंके लिये श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर आदर्श शिक्षाकी व्यवस्था अवश्य करनी चाहिये। श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्भगवद्गीता—ये दो ग्रन्थ हमारे साहित्यके भी अनुपम रत्न हैं और विश्वसाहित्यके भी महान् आभूषण हैं। संसारके अनुभवी बड़े-बड़े प्रायः सभी विद्वानोंने इन दोनों ग्रन्थोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अतः इन दोनों ग्रन्थोंको बालकोंके पाठ्यक्रममें अनिवार्यरूपसे रख दिया जाय तो बालकोंका सुधार होकर परम हित हो सकता है।

दुःख और शोककी बात है कि हमारे देशमें ऐसे अमूल्य ग्रन्थ-रत्नोंके रहते हुए भी बालकोंको अत्यन्त हानिकर पुस्तकें पढ़ा-पढ़ाकर उनके मस्तिष्कमें व्यर्थ

बातें भरी जाती हैं। जब अंग्रेजोंका राज्य था, तब तो हमारा कोई उपाय नहीं था। पर अब तो हमारा अपना राज्य है, हमें अपनी इस स्वतन्त्रताका विशेष लाभ उठाना चाहिये। जो अश्लीलता और नास्तिकतासे भरी हुई सदाचारका नाश करनेवाली तथा धर्मविरोधी गंदी पुस्तकें हैं, जिनके अध्ययनसे सिवा हानिके कुछ भी लाभ नहीं है, उन पुस्तकोंको हटाकर जिनमें राष्ट्र, देश, जाति और समाजकी तथा शरीर, मन, बुद्धि और आचार-व्यवहारकी उन्नति हो, ऐसे शिक्षाप्रद ग्रन्थ बालकोंको पढ़ाने चाहिये। बात बनानेके लिये तो बहुत लोग हैं, परंतु बालकोंका जिसमें परम हित हो, इस ओर बहुत ही कम लोगोंका ध्यान है। किन्हीं-किन्हींका इस ओर ध्यान है भी तो परिश्रमशील और विद्वान् न होनेके कारण उनके भाव उनके मनमें ही रह जाते हैं। इस कारण हमारे बालक उस लाभसे वञ्चित ही रह जाते हैं। कितने ही शिक्षित, सदाचारी, अच्छे विद्वान् भी हैं, किंतु वे मान-बड़ाईके फंदेमें फँसकर या अन्य प्रकारसे विवश होकर अपने भावोंका प्रचार नहीं कर सकते और कितने ही अच्छे शिक्षित पुरुष इस विषयमें किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं!

अतः अनुभवी विद्वान् सदाचारी देशहितैषी पुरुषोंसे तथा शिक्षा-विभागके संचालकोंसे और वर्तमान स्वतन्त्र सरकारसे हमारी सविनय प्रार्थना है कि वे पाठ्य-प्रणालीके सुधारपर शीघ्र ही ध्यान देकर उसका समुचित सुधार करें, जो कि हमारी भावी संतानके जीवनका आधार है। देशकी उन्नति और उसका सुधार भविष्यमें होनेवाले बालकोंपर ही निर्भर है। आज तो हमारे बालक विद्याके नामपर दिन-प्रतिदिन अविद्याके घोर अन्धकारमय गड्ढेमें ढकेले जा रहे हैं। बालकोंमें आलस्य, प्रमाद, उच्छृङ्खलता, अनुशासनहीनता, निर्लज्जता, अकर्मण्यता, विलासिता, उद्दण्डता, विषयलोलुपता और नास्तिकता आदि अनेक दुर्गुण बढ़ रहे हैं। दुर्गुणोंकी इस बढ़ती हुई बाढ़को यदि शीघ्र नहीं रोका जायगा तो आगे जाकर यह भयङ्कर रूप धारण कर सकती है। तब इसका रुकना अत्यन्त कठिन हो जायगा। इस बाढ़को रोकनेमें श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्भगवद्गीता बहुत सहायक हैं। इसलिये बालकोंको इनका अभ्यास अवश्य ही कराना चाहिये।

श्रीरामचरितमानस

बालकोंके पाठ्यक्रममें आरम्भसे ही श्रीरामचरित-मानसको शामिल कर देना उचित है; जिससे बालकोंके जीवनपर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान्‌के आदर्श चरित्रका प्रभाव पड़े और उनका सुधार हो सके। श्रीरामचरितमानसमें सात काण्ड हैं। पहली-दूसरी कक्षाके बालकोंको भाषाका ज्ञान नहीं होता, अतः उन्हें मौखिकरूपसे श्रीरामचरित्रका ज्ञान कराना उत्तम होगा। इसके बादकी तीसरी-चौथी कक्षाओंमें बालकाण्ड, पाँचवीं तथा छठीमें अयोध्याकाण्ड, सातवींमें अरण्य, किष्किन्धा और सुन्दरकाण्ड, आठवींमें लङ्काकाण्ड और नवीं तथा दसवीं कक्षाओंमें उत्तरकाण्ड—इस प्रकार विभाग करके सम्पूर्ण रामायणका अर्थसहित अभ्यास करा दिया जाय तो मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीके सम्पूर्ण आदर्श चरित्रोंका और हिंदी साहित्यका भी ज्ञान प्रत्येक बालकको सहज ही हो सकता है। यदि इस प्रकार न रुचे तो शिक्षक अपनी इच्छाके अनुसार क्रम रख लें। गीताप्रेसकी ओरसे रामायण-परीक्षा-समिति बहुत पहलेसे ही परीक्षाकी पद्धतिसे रामायणके अध्ययनका प्रचार कर रही है। उसका निर्धारित पाठ्यक्रम भी अच्छा है, उसके अनुसार भी क्रम रखकर बालकोंको परीक्षामें सम्मिलित किया जा सकता है, जिससे उनको मानसका ज्ञान हो सके। (परीक्षासमितिके पाठ्यक्रमकी विशेष जानकारीके लिये पाठकगण 'गीता-रामायण-परीक्षा-समिति, ऋषिकेश'को पत्र लिखकर नियमावली मँगा सकते हैं।) यदि पूरी रामायण न पढ़ा सकें तो सरकार और शिक्षक, जितने अंशको विशेष लाभप्रद समझें, उतने अंशको ही पाठ्यक्रममें शामिल करें, परंतु रामायणका अध्ययन अवश्य कराना चाहिये; क्योंकि रामायणसे हिंदी भाषाका, साहित्यिक शब्दोंका और कविता (छन्द-रचना) का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—इस भारतीय संस्कृतिका ज्ञान भी हो जाता है, जो कि विशेष लाभप्रद है। रामचरितमानसके दोहे, चौपाइयाँ, सोरठे, छन्द और श्लोक बड़े ही मधुर, सरल एवं काव्यके अलङ्कारादिके सभी गुणोंसे और प्रेमरससे ओत-प्रोत हैं तथा उनका अर्थ और भाव तो इतना लाभदायक है कि जिसकी प्रशंसा करनेमें हम सर्वथा असमर्थ हैं। यह महान् अनुपम ग्रन्थ आर्थिक, सामाजिक, भौतिक, नैतिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक आदि सभी दृष्टियोंसे सब प्रकारसे उपादेय है। इसीलिये अनुभवी विद्वानोंने, संतोंने तथा महात्मा गाँधीजीने भी इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हिंदी भाषामें ऐसा सब प्रकारसे सुन्दर और लाभप्रद ग्रन्थ दूसरा कोई नहीं है—यह कहना कोई अतिशयोक्ति न होगा। अतः सभी भाइयोंसे हमारी प्रार्थना है कि तन-

मन-धनसे इसका यथाशक्ति अपने कुटुम्ब, गाँव, जिले और देशमें सब प्रकारसे प्रचार करें और स्वयं इसका यथाशक्ति अध्ययन करने तथा इसके उपदेशोंका पालन करनेकी भी चेष्टा करें। जो स्वयं पालन करता है, वही प्रचार भी कर सकता है और उसीका असर होता है। जो स्वयं पालन नहीं करता, उसको न तो इसके अमृतमय रहस्यका अनुभव ही हो सकता है, न वह प्रचार ही कर सकता है और न उसका लोगोंपर असर ही होता है।

महात्मा तुलसीदासजीद्वारा वर्णित भगवान् श्रीरामके परम पवित्र, शिक्षाप्रद, अनुपम, अति प्रशंसनीय, अमित प्रभावयुक्त चरित्रका यत्किञ्चित् सारभूत अंश बालकों तथा पाठकोंके लाभके लिये नीचे दिया जा रहा है, जिसका अनुकरण करके लाभ उठाना चाहिये।

बाल-अवस्थामें जब श्रीरामचन्द्रजी महाराज अपने भाइयोंके साथ खेला करते थे, उस समय वे अपने भाइयोंको जिता दिया करते और स्वयं हार जाया करते थे। अयोध्याकाण्डमें श्रीभरतजी कहते हैं—

मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥

श्रीतुलसीदासजीने विनय-पत्रिकाके १०० वें पदमें कहा है—

खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥

इस प्रकार श्रीराम अपनी जीतमें भी हार मान लेते थे और छोटे भाइयोंको प्रसन्न करनेके लिये उन्हें प्रेमसे दाँव दिया करते थे। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामकी ऐसी स्वार्थत्यागपूर्ण पद्धति बालकोंको सीखनी चाहिये।

जब श्रीरामके सामने युवराजपदकी प्राप्तिका अवसर आया तो उस समय वे कितनी उदारताका व्यवहार करते हैं। अयोध्याकाण्डमें वे कहते हैं—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

'हम सब भाई एक साथ ही जन्मे, खाना-पीना, सोना, खेल-कूद, कर्णवेध, यज्ञोपवीत और विवाह आदि सब उत्सव साथ-साथ ही हुए; किंतु और भाइयोंको छोड़कर अकेले मुझे युवराजपद दिया जाता है, यह निर्मल रघुकुलकी कैसी अनुचित रीति है।'

इससे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हम भाइयोंके साथ समान व्यवहार ही करें।

कैकेयीद्वारा भरतको राजगद्दी और चौदह वर्षके लिये रामको वनवास देनेका वर माँगनेपर महाराज दशरथ अत्यन्त व्याकुल हो गये। उस समय कैकेयीकी आज्ञासे सुमन्त्र श्रीरामको बुलाने गये और शीघ्र ही उन्हें साथ लेकर आ गये। श्रीरामने आते ही पिताजीके मुखको मलिन देखकर उनकी व्याकुलताका कारण पूछा। इसपर माता कैकेयीने आदिसे अन्ततक सारी घटनाका विवरण बतलाते हुए कहा—'बेटा! तुम्हारे पिता तुम्हें वन जानेकी आज्ञा देनेमें संकोच करते हैं, उसी कारणसे दुःखी हैं; और कोई दुःखका कारण नहीं है। तू माता-पिताका भक्त है, अतः पिताकी आज्ञाका पालन करके पिताको क्लेशसे बचा।' इसपर श्रीराम बोले—'इसमें तो मेरा सब प्रकारसे हित-ही-हित भरा है। वनमें मुनियोंसे मिलना, पिताकी आज्ञा, आपकी सम्मति और प्राणप्यारे भाई भरतको राजगद्दी मिलना—इससे बढ़कर मेरे लिये लाभकी और क्या बात होगी? ऐसे मौकेपर भी मैं 'ना' कर दूँगा तो मूर्खोंकी श्रेणीमें मैं सर्वप्रथम गिना जाऊँगा।' मानसमें भगवान्‌के वचन इस प्रकार हैं—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामका कितना उच्चकोटिका स्वार्थत्यागपूर्ण विनययुक्त आदर्श व्यवहार है। इससे हमें विशेष शिक्षा लेनी चाहिये।

भगवान् श्रीराम वन जाते समय माता कौसल्याके साथ जो व्यवहार कर रहे हैं, उसमें नीति, धर्म और स्वार्थत्यागका अनुपम भाव भरा है। माता कौसल्या धर्म-शास्त्रके अनुसार, केवल पिताकी आज्ञा ही हो तो वनमें न जानेके लिये कह रही हैं और यदि पिता दशरथ तथा माता कैकेयी—दोनोंकी आज्ञा हो तो वन जानेके लिये आज्ञा दे देती हैं—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

वनगमनके समय श्रीसीताजी भगवान् रामके साथ चलनेकी आज्ञा माँग रही हैं; किंतु भगवान्‌ने वनके भयानक कष्टोंका खयाल करके उन्हें अयोध्यामें ही रहनेके लिये कहा। वे कहते हैं—

आपन मोर नीक जौं चहहू। बचनु हमार मानि गृह रहहू॥
आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई॥

× × ×

कानन कठिन भयंकरु भारी। घोर घामु हिम बारि बयारी॥
कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहिं बिनु पदत्राना॥

इसपर पतिव्रताशिरोमणि सीताने वनके दुःखोंसे भी पतिवियोगजनित दुःखको अधिक मानकर प्रेमपूर्वक वन जानेके लिये ही आग्रह किया। तब भगवान् श्रीरामने सोचा—यदि मैं इसे वनमें साथ न ले चलूँगा तो यह प्राणोंका त्याग कर देगी, किंतु साथ चलनेका आग्रह नहीं छोड़ेगी। यह सोचकर भगवान्ने उन्हें साथ चलनेकी आज्ञा दे दी। मानसमें वर्णित सीताजी और श्रीरामका यह प्रेमपूर्ण संवाद आचरणमें लानेके लिये ध्यान देने योग्य है।

सीताजी कहती हैं—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥
अस कहि सीय बिकल भइ भारी। बचन बियोगु न सकी सँभारी॥

जब सीताकी इस प्रकारकी अधीर अवस्था हो गयी, तब—

देखि दसा रघुपति जियँ जाना। हठि राखें नहिं राखिहि प्राना॥
कहेउ कृपाल भानुकुलनाथा। परिहरि सोचु चलहु बन साथा॥

इसी प्रकार भगवान् श्रीराम भाई लक्ष्मणको भी माता-पिताकी सेवा करनेके लिये अयोध्या रहनेको कहते हैं—

मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभायँ।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर नतरु जनमु जग जायँ॥
अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई। करहु मातु पितु पद सेवकाई॥
भवन भरतु रिपुसूदन नाहीं। राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं॥

× × ×

रहहु तात असि नीति बिचारी। सुनत लखनु भए ब्याकुल भारी॥

× × ×

इसपर लक्ष्मणजीने कहा—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥

× × ×

मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥

× × ×

मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥

जब लक्ष्मणजीका ऐसा प्रेमपूर्ण अत्यन्त आग्रह देखा, तब भगवान्ने लक्ष्मणकी प्रसन्नताके लिये माता सुमित्राकी आज्ञा लेकर साथ चलनेकी आज्ञा दे दी—

माँगहु बिदा मातु सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई॥

यहाँ भगवान् श्रीराम और लक्ष्मण दोनोंका स्वार्थत्याग-पूर्वक भ्रातृ-प्रेम सराहनीय है। उपर्युक्त वनगमनके प्रसंगमें श्रीरामका भ्रातृ-प्रेम और माता-पिताकी आज्ञाका पालन, राज्यपद-जैसे महान् स्वार्थका त्याग और वनवास-जैसे कष्टको आनन्दका रूप देना आदि आदर्श व्यवहार हैं। इनसे बालकोंको विशेषरूपसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

भगवान् श्रीराम सीता और लक्ष्मणके साथ वनमें चले गये और पिता दशरथने श्रीरामवियोगमें प्राणोंका परित्याग कर दिया। जब भरतजी ननिहालसे अयोध्या आये, तब वे वहाँका ऐसा हाल देखकर अत्यन्त दुःखित हुए। उन्होंने धैर्यपूर्वक पिताकी और्ध्वदैहिक क्रिया की। तदनन्तर माताओं तथा वसिष्ठ आदि गुरुजनोंने राजतिलकके लिये बहुत आग्रह किया, किंतु भरतजीने स्वीकार नहीं किया और कहा—

मोहि उपदेसु दीन्ह गुरु नीका। प्रजा सचिव संमत सबही का॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा। अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा॥
गुर पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥

× × ×

अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावनु देहू॥
ऊतरु देउँ छमब अपराधू। दुखित दोष गुन गनहिं न साधू॥
पितु सुरपुर सिय रामु बन करन कहहु मोहि राजु।
एहि तें जानहु मोर हित कै आपन बड़ काजु॥

तत्पश्चात् भरत मन्त्री, गुरुजन और माताओंके साथ चित्रकूट गये और भरतने भगवान् श्रीरामसे बड़े ही विनीत-भावसे राजतिलकके लिये प्रार्थना की। चित्रकूटमें श्रीराम और भरतका जो परस्पर मिलन और वार्तालाप है, वह स्वार्थत्यागपूर्वक भ्रातृप्रेमका एक उज्ज्वल उदाहरण है। वे दोनों ही भाई राज्य-पद-जैसे स्वार्थको एक-दूसरेके लिये त्याग रहे हैं! श्रीराम-भरतकी प्रेममयी मिलनावस्थाका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥

× × ×

बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥

× × ×

फिर निषादराजने भगवान्से बतलाया—

नाथ साथ मुनिनाथ के मातु सकल पुर लोग।
सेवक सेनप सचिव सब आए बिकल बियोग॥

तदनन्तर, गुरु वसिष्ठने भरत-शत्रुघ्नके लिये यह प्रस्ताव रखा—

तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहिं लखन सीय रघुराई॥

इसपर श्रीभरतजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले—

सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता। भे प्रमोद परिपूरन गाता॥
कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू॥
अंतरजामी रामु सिय तुम्ह सरबग्य सुजान।
जौं फुर कहहु त नाथ निज कीजिअ बचनु प्रवान॥

× × ×

भगवान् श्रीरामने भरतजीसे अपनी असमञ्जसता व्यक्त करते हुए कहा—

राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी॥
तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥

× × ×

श्रीभरतजीने राजतिलकके लिये प्रार्थना की—

देव एक बिनती सुनि मोरी। उचित होइ तस करब बहोरी॥
तिलक समाजु साजि सबु आना। करिअ सुफल प्रभु जौं मनु माना॥
सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ॥

इस प्रकरणसे हमें भ्रातृ-प्रेम और स्वार्थत्यागकी अपूर्व शिक्षा मिलती है। बालकोंको इसे सीखकर लाभ उठाना चाहिये।

भगवान् श्रीराम जब चित्रकूटसे पञ्चवटी पधारे, तब मार्गमें अनेक मुनियोंसे भेंट हुई। उन मुनियोंके साथ भगवान् श्रीरामने बड़ा ही रहस्यमय, मर्यादा, शिक्षा, नीति, धर्म, दया, प्रेम और विनयसे युक्त स्वार्थरहित, अनुकरणीय आदर्श व्यवहार किया।

अरण्यकाण्डमें भगवान्का अत्रिमुनिके साथ कितना रहस्यपूर्ण संवाद है—

संतत मो पर कृपा करेहू। सेवक जानि तजेहु जनि नेहू॥
धर्म धुरंधर प्रभु कै बानी। सुनि सप्रेम बोले मुनि ग्यानी॥
जासु कृपा अज सिव सनकादी। चहत सकल परमारथ बादी॥
ते तुम्ह राम अकाम पिआरे। दीनबंधु मृदु बचन उचारे॥

आगे चलकर भगवान्ने मुनियोंकी हड्डियोंके ढेरको देखकर कहा—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

सुतीक्ष्ण मुनिसे मिलनेपर जब मुनिने भगवान्से स्तुति-प्रार्थना की, तब—

सुनि मुनि बचन राम मन भाए। बहुरि हरषि मुनिबर उर लाए॥
परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर मागहु देउँ सो तोही॥
मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा। समुझि न परइ झूठ का साचा॥
तुम्हहि नीक लागै रघुराई। सो मोहि देहु दास सुखदाई॥

जब भगवान् श्रीराम अगस्त्य ऋषिके पास जाने लगे, तब सुतीक्ष्णजी बोले—

अब प्रभु संग जाउँ गुर पाहीं। तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं॥
देखि कृपानिधि मुनि चतुराई। लिए संग बिहसे द्वौ भाई॥

और अगस्त्यमुनिके आश्रमपर पहुँचनेपर—

मुनि पद कमल परे द्वौ भाई। रिषि अति प्रीति लिए उर लाई॥

× × ×

तब रघुबीर कहा मुनि पाहीं। तुम्ह सन प्रभु दुराव कछु नाहीं॥
तुम्ह जानहु जेहि कारन आयउँ। ताते तात न कहि समुझायउँ॥
अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही॥

सीताहरणके बाद जटायुके साथ श्रीरामका कृतज्ञता, दया और प्रेमसे भरा हुआ जो बर्ताव है, वह बहुत ही प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर।
निरखि राम छबि धाम मुख बिगत भई सब पीर॥

× × ×

राम कहा तनु राखहु ताता। मुख मुसुकाइ कही तेहिं बाता॥
जा कर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥
सो मम लोचन गोचर आगें। राखौं देह नाथ केहि खाँगें॥
जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात कर्म निज तें गति पाई॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरनकामा॥

× × ×

अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरिधाम।
तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥
कोमल चित अति दीन दयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥
गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी॥
सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

इसके बाद भगवान् श्रीरामका शबरीके साथ जो प्रेमका बर्ताव है, वह बहुत ही प्रशंसा और आदरके योग्य है। भक्तोंके साथ भगवान् कैसा प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हैं, इस बातको यहाँके बर्तावसे जानकर हमें भगवान्में अनन्य श्रद्धा और प्रेम करना चाहिये। श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥

× × ×

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

किष्किन्धाकाण्डमें श्रीराम-लक्ष्मणका श्रीहनुमान्‌के साथ मिलनका प्रसङ्ग है, वह एक अद्भुत आदर्श है। उससे हमें भगवान् रामकी विनय, निरभिमानता, कुशलता और प्रेम तथा श्रीहनुमान्‌की श्रद्धा, भक्ति, विनय और प्रेमका पाठ सीखना चाहिये।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ। माथ नाइ पूछत अस भयऊ॥
को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्री रूप फिरहु बन बीरा॥

× × ×

की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नर नारायन की तुम्ह दोऊ॥
जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार॥

इसपर भगवान् रामने कहा—

कोसलेस दसरथ के जाए। हम पितु बचन मानि बन आए॥
नाम राम लछिमन दोउ भाई। संग नारि सुकुमारि सुहाई॥
इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥
आपन चरित कहा हम गाई। कहहु बिप्र निज कथा बुझाई॥

× × ×

इसपर श्रीहनुमान्‌जीने कहा—

मोर न्याउ मैं पूछा साईं। तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं॥
तव माया बस फिरउँ भुलाना। ता ते मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥
एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥

× × ×

अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई॥
तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥

× × ×

तथा भगवान् श्रीरामने कहा—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

तदनन्तर, सुग्रीवसे मित्रता हुई। मित्रके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इस विषयमें भगवान्‌का उपदेश बड़ा अलौकिक है। केवल कथन ही नहीं, कथनके अनुसार उनका व्यवहार भी है। भगवान् सुग्रीवको आश्वासन देते हुए उनसे कहते हैं—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥
जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

फिर, जब बालिसे भेंट हुई, तब उसके साथ भी भगवान्‌का नीति, धर्म, दया और प्रेमका बड़ा सुन्दर व्यवहार है। इससे तथा बालिके बर्तावसे भी हमें भक्तिके तत्त्व-रहस्यकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

श्रीरामचरितमानसमें बतलाया है—

हृदयँ प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितइ राम की ओरा॥
धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥

तब श्रीरामचन्द्रजीने कहा—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई॥
मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥
मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥

तब बालिने विनय और प्रेमपूर्वक कहा—

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि॥

इसपर भगवान् रामका व्यवहार देखिये—

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसेउ निज पानी॥
अचल करौं तनु राखहु प्राना।.................॥

इसपर बालिने कहा—कृपानिधान भगवन्! मेरी बात सुनिये—

जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥
जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अबिनासी॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥

भगवान्‌ने यहाँ बालिके नीतियुक्त वचनोंको सुनकर नीतियुक्त जवाब दिया तथा फिर श्रद्धा, प्रेम और रहस्ययुक्त तात्त्विक वचनोंको सुनकर अपार दया और प्रेमका व्यवहार किया है। ये दोनों ही व्यवहार अलौकिक हैं। इसको देखकर हमलोगोंको भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम करना चाहिये। भगवान्‌ने बालि-जैसे पापीको भी उत्तम गति दी, भगवान्‌के ऐसे विरदसे हमलोगोंको भी आश्वासन मिलता है। अत: कभी निराश नहीं होना चाहिये, वरं भगवत्प्राप्तिके लिये परम उत्साहित होकर भगवान्‌में प्रेम करना चाहिये।

अपने साथ प्रेम करनेवालेके प्रति श्रीराम किस प्रकार प्रेम करते हैं, यह देखकर हमें केवल भगवान्‌में

ही अनन्य प्रेम करना चाहिये। इस विषयमें श्रीसीताजीका प्रेम आदर्श है। सुन्दरकाण्डमें श्रीहनुमान्‌जी श्रीसीताजीसे श्रीरामका संवाद सुनाते हुए कहते हैं—

रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर॥

× × ×

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥
प्रभु संदेसु सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥

भगवान्‌का कितना उच्चकोटिका प्रेम है। ऐसे प्रेम करनेवाले भगवान्‌को छोड़कर जो दूसरेको भजते हैं, उनको धिक्कार है।

चौदह वर्षकी अवधि समाप्त होनेपर भगवान् श्रीरामको भरतकी स्मृति हुई, क्योंकि भगवान्‌के विरहमें व्याकुल हुए भरत भगवान् श्रीरामको याद कर रहे थे; अतः श्रीराम भक्त विभीषणके आग्रह करनेपर भी लङ्कामें नहीं गये। उस समय भगवान् रामके हृदयमें भरतके प्रति अलौकिक प्रेम दिखायी पड़ता था। लङ्काकाण्डमें जब विभीषणने यह प्रार्थना की कि—

सब बिधि नाथ मोहि अपनाइअ। पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइअ॥

तब—

सुनत बचन मृदु दीनदयाला। सजल भए द्वौ नयन बिसाला॥

फिर भगवान् भरतको याद करते हुए विभीषणसे बोले—

तापस बेष गात कृस जपत निरंतर मोहि।
देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरउँ तोहि॥
बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

इस प्रकारके उत्कट प्रेमको देखकर स्वाभाविक ही मनुष्यके हृदयमें भगवान्‌से प्रेम करनेका भाव जाग्रत् होना चाहिये।

इसके अनन्तर, जो भरतजीकी विनयपूर्वक विरहकी व्याकुलता है, वह बहुत ही प्रशंसनीय तथा हमलोगोंके लिये अनुकरणीय है। उनकी उस दशाको देखकर श्रीहनुमान्‌का शरीर पुलकित हो गया। भरतका भगवान् राममें केवल भ्रातृ-प्रेम ही नहीं था, वे भगवद्भावसे भी भावित थे और उनमें भगवान्‌के विरहकी व्याकुलता और भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेमकी पराकाष्ठा थी। श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें उनकी उस प्रेमावस्थाका वर्णन करते हुए श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥

× × ×

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥

देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥

इसके बाद जब भगवान् श्रीराम अयोध्याके निकट पुष्पक विमानपरसे भूमिमें उतर गये, तब भरतजी वहाँ आये और—

गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज॥
परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े। नव राजीव नयन जल बाढ़े॥

भरतजीके इस प्रसङ्गसे हमें भगवान्‌के विरहमें व्याकुलता, श्रद्धा, प्रेम, विनय, दैन्य-भाव और निरभिमानताकी शिक्षा लेनी चाहिये।

तत्पश्चात् भगवान्‌ने सब प्रजाजनोंके साथ कैसा उच्च कोटिका बर्ताव किया कि सबके साथ एक साथ यथायोग्य मिले। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥

× × ×

छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

इसके अनन्तर भगवान्‌का जो प्रजाजनोंके साथ राज्यशासनका बर्ताव है, उसकी तो उपमा भी नहीं दे सकते। आज कहीं भी उत्तम-से-उत्तम व्यवस्था-प्रबन्ध होता है तो उसके लिये यह कहावत चली आती है कि वहाँ तो 'रामराज्य' है। भगवान् श्रीरामके राज्यका वर्णन करते हुए गोस्वामीजीने बतलाया है—

राम राज बैठें त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥

राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥

राम राज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा॥
एक नारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥

खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥

इससे हमें, आश्रित जनोंके साथ कैसा बर्ताव करें—यह शिक्षा मिलती है। इसके बाद, भगवान्‌ने प्रजाको उपदेश दिया है। भगवान्‌के वचनोंमें नीति, धर्म, विनय और प्रेम भरा हुआ है। भगवान् कहते हैं—

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई॥
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥
बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

सभी पाठक-पाठिकाओंसे तथा जनतासे प्रार्थना है कि श्रीभगवान्‌के उपर्युक्त चरित्र और वचनोंके अनुसार अपना जीवन बनावें। सरकारसे और विद्वान् अनुभवी शिक्षकोंसे एवं धनी-दानी सज्जनोंसे हमारा सविनय निवेदन है कि वे श्रीरामचरितमानसका स्वयं अध्ययन और अनुभव करें तथा जनताके हितके लिये स्कूल, कालेज, पाठशाला आदि शिक्षा-संस्थाओंके पाठ्यक्रममें रखवाकर इसका प्रचार करें। बालकोंके लिये रामचरितमानसकी शिक्षा बहुत ही आदर्श है। धार्मिक दृष्टिके सिवा काव्य, साहित्य और इतिहासकी दृष्टिसे तथा नैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ बहुत ही अनुपम, सब प्रकारसे उपयोगी, सरल और मधुर है तथा चित्तको आकर्षण करनेवाला और सब प्रकारकी शिक्षा प्रदान करनेवाला है। अतः इसका हरेक प्रकारसे प्रचार करना चाहिये। हरेक भाई-बहिनको उचित है कि अपने घरमें भी यह ग्रन्थ मँगाकर रखें और इसको पढ़ने-पढ़ानेकी कोशिश करें।

श्रीमद्भगवद्गीता

जिस प्रकार बालकोंके लिये पाठ्यक्रममें रामचरितमानसकी उपयोगिता है, उससे भी बढ़कर गीताकी उपयोगिता है। गीताकी संस्कृत बहुत सरल और मधुर है। श्लोकोंके भाव हृदयग्राही और पक्षपातरहित हैं। उसमें थोड़ेमें ही परमात्माका तत्त्व, रहस्य तथा शिक्षाका सार भरा हुआ है। गीता नित्य-नवीन जीवन पैदा करनेवाली तथा मनुष्यमें मनुष्यत्वका भाव लानेवाली है। इसमें गागरमें सागरकी भाँति ज्ञान, वैराग्य, योग, सद्गुण, सदाचार आदि अध्यात्मविषय तो है ही, इसके सिवा शारीरिक, बौद्धिक, व्यावहारिक तथा नैतिक शिक्षा और उपदेश भी भरा हुआ है।

शारीरिक शिक्षाका अभिप्राय है शरीर-विषयकी उन्नतिकी शिक्षा। सतरहवें अध्यायके आठवें, नवें और दसवें श्लोकोंमें जो सात्त्विक, राजस और तामस आहार बतलाया है, उनमेंसे राजस-तामसका त्याग करके सात्त्विकका सेवन करना शारीरिक उन्नतिका भी हेतु है तथा छठे अध्यायके १६ वें और १७ वें श्लोकोंमें योगके प्रकरणमें जो अनुचित आहार-विहारके त्याग और उचित सेवनकी बात है, वह शारीरिक आरोग्य और संगठनकी दृष्टिसे भी उपयोगी है। इसी प्रकार अन्य जहाँ-कहीं शरीर-संगठन, आरोग्य और आयु-वृद्धिके भाव हैं, वे सब शारीरिक उन्नतिमें लिये जा सकते हैं।

बौद्धिक शिक्षासे अभिप्राय है बुद्धिको तीक्ष्ण, निर्मल और सात्त्विक बनानेवाली शिक्षा। तेरहवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकोंमें अर्जुनको दार्शनिक विषय सुननेकी प्रेरणा करके उसके बाद जो आदेश दिया है, वह बुद्धिको तीक्ष्ण और निर्मल करनेवाला है। इसी प्रकार अठारहवें अध्यायके २० वें, २१ वें और २२ वें श्लोकोंमें सात्त्विक, राजस, तामस ज्ञानका तथा ३० वें, ३१ वें और ३२ वें श्लोकोंमें बुद्धिका वर्णन है। उनमेंसे राजसी-तामसी ज्ञान और बुद्धिका त्याग करके सात्त्विक ज्ञान और सात्त्विक बुद्धिका ग्रहण करनेसे बुद्धि तीक्ष्ण और निर्मल होती है। भगवान्‌ने कहा है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

(१८। २०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान।'

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

(१८। ३०)

'हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

यह बौद्धिक शिक्षा है। इसी प्रकार जहाँ-कहीं भी बुद्धिके तीक्ष्ण, निर्मल और सात्त्विक होनेका प्रकरण है, वह सब बौद्धिक शिक्षाका विषय समझना चाहिये।

जिस व्यवहारसे मनुष्यकी उन्नति हो, वास्तवमें वही असली व्यवहार है। इस प्रकारकी शिक्षा व्यावहारिक शिक्षा है। भगवान्‌ने अर्जुनको दूसरे अध्यायके ३१ वेंसे ३८ वें और अठारहवें अध्यायके ४१ वेंसे ४८ वें तकके श्लोकोंमें जो उपदेश दिया है, उसमें व्यवहारको लेकर शिक्षाकी बातें हैं। इसी प्रकार गीतामें जहाँ-कहीं व्यवहारकी बातें हैं, उनसे व्यावहारिक शिक्षा भी लेनी चाहिये।

न्याययुक्त बर्ताव करना नीति है और इस विषयकी शिक्षा नैतिक शिक्षा है। पहले अध्यायके तीसरेसे ग्यारहवेंतक द्रोणाचार्यके प्रति दुर्योधनके वचनोंमें राजनीति भरी है। दुर्योधन कहता है—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥

(१। ३)

'हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये।'

यहाँ 'हे आचार्य! व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये'—इस कथनका यह भाव है कि यद्यपि हमारी सेना महान् है, तथापि पाण्डवोंने व्यूहकी रचना इस प्रकार की है कि उनकी सेना अल्प होनेपर भी महान् दीखती है। आप देखिये तो सही, उनकी कैसी अद्भुत चातुरी है।

और 'आपके शिष्य'—यह कहनेका आशय है कि हमारी सेनाकी व्यूह-रचना तो इससे भी बढ़कर होनी चाहिये; क्योंकि उनकी सेनाकी व्यूह-रचना करनेवाला धृष्टद्युम्न आपका शिष्य है, आप उसके आचार्य हैं; जब आपके शिष्यकी ऐसी रचना है तो फिर आपकी रचना तो उससे भी विशेष होनी चाहिये तथा धृष्टद्युम्नको द्रुपदपुत्र कहकर दुर्योधन द्रुपदके साथ जो द्रोणाचार्यका वैर था, उस वैरको याद दिलाते हुए युद्धके लिये आचार्यको जोश दिला रहा है, जिससे कि वे तेजीके साथ युद्ध करें।

एवं धृष्टद्युम्नको बुद्धिमान् कहनेका अभिप्राय यह है कि वह यद्यपि आपके मारनेके लिये उत्पन्न हुआ था तो भी आपका शिष्य बनकर उसने आपसे ही युद्धविद्या सीखी, यह उसकी कैसी बुद्धिमत्ता है!

नीतिकुशल दुर्योधनके वचनोंमें इसी प्रकार आगे भी चौथेसे ग्यारहवेंतकके श्लोकोंमें राजनीति भरी हुई है तथा तीसरे अध्यायके १० वेंसे १२वें तक जो ब्रह्माजीके वचन हैं, उनमें शिक्षाप्रद नीतिके वचन हैं और भी जहाँ-कहीं गीतामें नीतिकी बात है, उससे नीतिकी शिक्षा लेनी चाहिये।

गीतामें ऐसी रहस्यमयी शिक्षा भरी हुई है कि जिससे मनुष्य इस लोकमें न्याययुक्त अर्थकी सिद्धि करके अपना शरीर-निर्वाह और मरनेपर परलोकमें उत्तम-से-उत्तम गति लाभ कर सकता है। ऐसा उपदेशप्रद ग्रन्थ संस्कृत भाषामें भी दूसरा कोई देखनेमें नहीं आता, फिर अन्य भाषाओंकी तो बात ही क्या है! इसकी संस्कृत भाषा और कविताका लालित्य आकर्षक है। जो सदाचारी विद्वान् इसकी गम्भीरतामें गोता लगाते हैं, उनको इसमेंसे नये-नये उपदेशरत्न मिलते ही रहते हैं। गीता सब शास्त्रोंका सार है। इसकी महिमा जितनी गायी जाय, उतनी ही थोड़ी है। स्वयं श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(महा० भीष्म० ४३। १)

'गीताका ही भली प्रकारसे श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है; क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुख-कमलसे निकली हुई है।'

जिस प्रकार दर्शनशास्त्रके अवलोकनसे बुद्धि तीक्ष्ण होती है, उससे भी बढ़कर इस गीताशास्त्रके अनुशीलनसे बुद्धि तीक्ष्ण और निर्मल होती है; क्योंकि गीतामें दार्शनिक विषय भी उच्चकोटिका है। योग, सांख्य, वेदान्त आदि दर्शन-ग्रन्थोंमें जो लाभप्रद बातें हैं, उनका तथा श्रुति-स्मृतियोंका भी सार इस गीताशास्त्रमें भगवान्‌ने कहा है। तेरहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें भगवान् अर्जुनको सुननेके लिये सचेत करते हुए कहते हैं—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥

'वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है और जिस कारणसे जो हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है—वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन।'

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥

'यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है और विविध वेद-मन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है।'

गीताके रहस्य और तत्त्वको जाननेवाले सदाचारी विद्वान्, साधु-महात्माओं तथा शिक्षकोंने एवं महात्मा गाँधीजीने भी इसकी भूरि-भूरि महिमा गायी है। अतएव बालकोंके लिये पाठ्यक्रममें गीताका अध्ययन अवश्य रखना चाहिये।

ऋषिकेशमें गीता-परीक्षा-समिति भी कार्य कर रही है, उसके अनुसार पाठशालाओं और स्कूलोंमें बालकोंको गीताकी परीक्षा दिलायी जा सकती है।

तीसरी श्रेणीके बालकोंको गीताकी प्रवेशिका-परीक्षा दिला सकते हैं, जिसमें केवल दूसरे तथा तीसरे अध्यायको साधारण अर्थसहित कण्ठस्थ करना होता है। चौथी श्रेणीके बालकोंको गीताकी प्रथमा परीक्षा दिलावें, जिसमें गीताके प्रथमसे छठे अध्यायतक है, जिसका सालभरमें अर्थसहित कण्ठस्थ होना सहज है; क्योंकि यदि प्रतिदिन एक श्लोक भी कण्ठस्थ किया जाय तो भी सालभरमें छः अध्याय कण्ठस्थ हो सकते हैं। पाँचवीं कक्षामें गीताकी मध्यमाका प्रथम खण्ड दिलावें, जिसमें अध्याय १ से १२ तक अर्थसहित कण्ठस्थ करना तथा गीता-तत्त्वविवेचनीके आधारपर पहले अध्यायकी व्याख्याका अध्ययन करना होता है। इसमेंसे १ से ६ तकका तो प्रथमामें अध्ययन किया ही जा चुका है, बाकी छः अध्याय ही रह जाते हैं, उनका सालभरमें अध्ययन करना कोई कठिन नहीं। छठी कक्षामें गीताकी मध्यमाका द्वितीय खण्ड दिलावें, जिसमें अ० १ से १८ तक अर्थसहित कण्ठस्थ करना तथा गीता-तत्त्वविवेचनी अ० २, ३, ४ की टीका है। इसमें भी १ से १२ तकका तो प्रथमा और मध्यमा प्रथम खण्डमें अध्ययन हो ही चुका है, बाकी छः अध्याय ही रह जाते हैं, उनका सालभरमें अध्ययन करना कोई कठिन नहीं। सातवीं कक्षामें गीताकी मध्यमाका तृतीय खण्ड दिलावें, जिसमें प्रधानतया गीता-तत्त्वविवेचनी अ० ५ से ९ तककी टीका है। आठवीं कक्षामें गीताकी उत्तमा परीक्षा दिलावें, जिसमें प्रधानतया गीता-तत्त्वविवेचनी अध्याय १० से १८ तककी टीका है तथा नवीं और दसवीं कक्षाओंमें गीताविशारदकी परीक्षा दिलावें, जिसमें कई टीकाओंका तुलनात्मक अध्ययन विशेषरूपसे रखा गया है। गीता-परीक्षा-समितिके पाठ्य-क्रमकी विशेष जानकारीके लिये नियमावली ऋषिकेशसे मँगाकर देख सकते हैं।

यदि ऐसा न हो सके तो साधारण तौरपर तो गीता अवश्य ही रखनी चाहिये। दूसरी कक्षामें अध्याय १, २; तीसरी कक्षामें अ० ३, ४; चौथी कक्षामें अध्याय ५, ६; पाँचवीं कक्षामें अध्याय ७, ८; छठी कक्षामें अध्याय ९, १०; सातवीं कक्षामें अध्याय ११, १२; आठवीं कक्षामें अध्याय १३, १४; नवीं कक्षामें अध्याय १५, १६ और दसवीं कक्षामें अध्याय १७, १८—इस प्रकार क्रम रखकर भी पढ़ा सकते हैं। यह क्रम बहुत ही साधारण है; क्योंकि सालभरमें केवल दो अध्यायोंका ही अध्ययन करना होता है और इससे गीताका ज्ञान बहुत सहज ही हो सकता है। साथ-साथ अर्थ और भाव भी सिखलाना चाहिये, जिससे उनके जीवनपर अच्छा असर हो और उनके आचरणोंका सुधार हो।

सरकारसे, शिक्षकोंसे और दानी सज्जनोंसे हमारा निवेदन है कि वे गीताका पठन, अध्ययन, मनन और अनुभव करके स्वयं इसके उपदेशोंको धारण करें तथा दूसरोंको धारण करानेके लिये इसका प्रचार करें एवं स्कूल, कालेज, पाठशाला आदि शिक्षा-संस्थाओंमें गीताकी पढ़ाईको भी अनिवार्य करने-करानेकी विशेषरूपसे कोशिश करें।

मनुष्य-जीवनकी दुर्लभता, भगवत्प्राप्तिमें कुछ सामयिक विघ्न और उनसे छूटनेके उपाय

मनुष्य-जीवनकी दुर्लभता और हमारा कर्तव्य

मनुष्य-जीवन बड़ा दुर्लभ है, बड़े पुण्य-संचयसे भगवान्‌की कृपा होनेपर ही यह प्राप्त होता है। इसका एक-एक क्षण भगवत्स्मरणमें और भगवान्‌की सेवामें ही बिताना चाहिये। पर बड़े ही खेदकी बात है कि हमारा बहुत-सा समय यों ही बीत गया और अब भी बीता ही जा रहा है। इसलिये शीघ्र सचेत होकर हमें अपने कर्तव्यका पालन करते हुए मनुष्य-जीवनको सफल बनाना चाहिये, जिससे भविष्यमें पश्चात्ताप न करना पड़े।

अतः प्रतिक्षण क्षीण होनेवाले इस मनुष्य-जीवनके अमूल्य समयका हमने किस हदतक सदुपयोग किया, यह हमें विचारना चाहिये। केवल मनुष्यका ही शरीर ऐसा है, जिसमें यह जीव सदाके लिये जन्म-मरणसे छुटकारा पाकर परमात्माको प्राप्त कर सकता है। यदि हम अपनी असावधानीसे इस दुर्लभ मानव-जीवनको पशुओंकी भाँति आहार, निद्रा और मैथुनमें लगा दें तो

हमारा जीवन पशु-जीवन ही समझा जायगा। श्रीचाणक्यने कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥

(चाणक्यनीति १७। १७)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें एक समान ही हैं। मनुष्योंमें केवल विशेषता यही है कि उनमें ज्ञान अधिक है, किंतु ज्ञानसे शून्य मनुष्य पशुओंके ही तुल्य हैं।'

अतः हमलोगोंको अपने समयका सदुपयोग करना चाहिये, नहीं तो, अन्तमें हमको घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस विषयमें श्रुति हमें चेतावनी देती हुई कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

(केनोपनिषद् २। ५)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें परमात्म-तत्त्वको जान लिया जायगा तो सत्य है यानी उत्तम है और यदि इस जन्ममें उसको नहीं जाना तो बड़ी भारी हानि है। धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माका चिन्तन कर—परमात्माको समझकर इस देहको छोड़ अमृतको प्राप्त होते हैं अर्थात् इस देहसे प्राणोंके निकल जानेपर वे अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि समस्त प्राणियोंमें परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते हुए ही अपना जीवन सफल बनावें। मनुष्यका जन्म बहुत ही दुर्लभ है, वह ईश्वरकी कृपासे हमें प्राप्त हो गया है। ऐसा सुअवसर पाकर जीवनके महत्त्वपूर्ण समयका एक क्षण भी हमें व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। जिस कामके लिये हम आये हैं, उसे सबसे पहले करना चाहिये। जो काम हमारे बिना हमारे जीवितावस्थामें दूसरे कर सकते हैं, वह काम उन्हींसे करा लेना चाहिये, उस काममें अपना अमूल्य समय नहीं लगाना चाहिये और जो काम हमारे मरनेके बाद हमारे उत्तराधिकारी कर सकते हैं, चाहे वह कैसा भी जरूरी क्यों न हो, उस काममें अपना अमूल्य समय नहीं लगाना चाहिये। पर जो काम हमारे बिना न हमारे जीवनकालमें और न मरनेपर ही, दूसरे किसीके द्वारा सम्पन्न हो सकता है तथा जो हमारे इस लोक और परलोकमें परम कल्याण करनेवाला है और जिस कामके लिये ही हमें यह मनुष्य-शरीर मिला है एवं जिस काममें थोड़ी भी कमी रहनेपर हमें पुनः जन्म लेना पड़ सकता है, साथ ही, जिस कार्यकी पूर्ति हमारे बिना किसी दूसरेसे भी कभी हो ही नहीं सकती, उस कामको तो सबसे अधिक महत्त्वका और सबसे अधिक जरूरी समझकर तत्परताके साथ सबसे पहले हमें करना ही चाहिये। वह काम है—परमात्माकी प्राप्ति। उसकी प्राप्तिका उपाय है—ईश्वरकी भक्ति, उत्तम गुणोंका संग्रह, उत्तम आचरणोंका सेवन, संसारसे वैराग्य और उपरति, सत्पुरुषोंका सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय, परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान, मन और इन्द्रियोंका संयम, दुःखी और अनाथोंकी निष्काम सेवा आदि-आदि। अतः इन्हीं कामोंमें अपना समय अधिक-से-अधिक लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

अधिकतर समयमें यह मन व्यर्थका ही चिन्तन करता रहता है, जो कि हमारे लिये बहुत ही खतरेकी चीज है। अतः मनको व्यर्थ चिन्तनसे हटाकर भगवान्के चिन्तनमें लगाना चाहिये तथा भगवान्के जप-ध्यानके समय हमें जो निद्रा और आलस्य घेर लेते हैं, उनको विवेक, विचार और हठसे हटाना चाहिये। नहीं तो, आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

ईश्वरकी हमलोगोंपर बड़ी भारी अहैतुकी दया है, जो कि हमें उसकी कृपासे मनुष्यका शरीर मिला है। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

इसपर हमें विचार करना चाहिये। पृथ्वीपर असंख्य जीव हैं, उनमें मनुष्य बहुत ही कम संख्यामें हैं—अत्यन्त परिमित हैं। ऐसे दुर्लभ मनुष्यशरीरको पाकर जो मनुष्य आलस्य, प्रमाद, पाप और भोगोंमें अपना जीवन बिताता है, उसकी मूर्खता नहीं तो और क्या है!

ईश्वरकी कृपासे हमें उत्तम धर्म, उत्तम काल, उत्तम देश, उत्तम जाति और उत्तम सङ्ग भी मिला है, क्योंकि वैदिक सनातन धर्म, जिसको हम हिंदू-धर्मके

नामसे कहते हैं, सबसे पहलेका यानी अनादि है। अन्य जितने भी मत-मतान्तर धर्मके नामसे प्रसिद्ध हैं—सब इसके बादके हैं और इसीकी सहायतासे बने हैं। इसलिये यह सबसे श्रेष्ठ भी है। तीनों लोकोंमें पृथ्वी श्रेष्ठ है और पृथ्वीमें आर्यावर्त (भारतवर्ष) श्रेष्ठ है, जिसे हम 'हिंदुस्थान' कहते हैं। कभी ऐसा था कि सारी पृथ्वीके लोग इस भारतवर्षसे ही धार्मिक शिक्षा पाया करते थे। मनुस्मृतिमें कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(२।२०)

'इसी देश (भारतवर्ष) में उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंके पाससे अखिल भूमण्डलके सभी मनुष्य अपने-अपने आचारकी शिक्षा ग्रहण करें।' अतः यह भारत देश अध्यात्मविषयमें सब देशोंमें उत्तम माना गया है और अब भी अध्यात्मविषयमें उत्तम है।

यद्यपि कलियुग महान् अनर्थका मूल और पापोंकी जड़ है; किंतु इसमें एक बड़ा भारी गुण है कि केवल भगवान्‌की भक्ति करनेसे इसमें मनुष्यका उद्धार हो जाता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

अध्यात्मविषयक धार्मिक ग्रन्थोंका सङ्ग भी इस समय प्रायः बहुत ही सुलभ है। इस प्रकारकी सब सामग्री पाकर अपनी अकर्मण्यताके कारण हम यदि ईश्वर-प्राप्तिसे वञ्चित रहें तो यह हमारे लिये बहुत ही लज्जा और दुःखकी बात है। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

अतएव हमलोगोंको आलस्य-निद्रा, पाप-प्रमाद, स्वाद-शौक, ऐश-आराम, भोग-विलास, दुर्व्यसन-दुराचार और कलुष-कालिमा आदिको विषके समान समझकर उनका त्याग करना चाहिये तथा भजन-ध्यान, सत्सङ्ग-स्वाध्याय, सेवा-संयम, सद्गुण-सदाचार, ज्ञान-वैराग्य आदिको अमृतके समान समझकर उनका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सदा-सर्वदा सेवन करना चाहिये। एवं भगवान्‌के नाम, रूप, गुण और प्रभावका तत्त्व-रहस्य जाननेके लिये उनका श्रवण, पठन, कीर्तन और स्मरण करते हुए मनुष्य-जीवनको सार्थक बनाना चाहिये।

यह याद रखना चाहिये कि मनुष्यका जीवन बहुत ही उपयोगी, दुर्लभ और सर्वोत्तम होनेपर भी है यह क्षणिक। अभी तो है, पर एक क्षणके बादका इसका भरोसा नहीं है। न मालूम काल कब आकर इसका कलेवा कर जाय! मनुष्यका शरीर केवल भोग भोगनेके लिये ही नहीं है—आहार, निद्रा और मैथुन आदि तो पशुशरीरमें भी मौजूद हैं। फिर मनुष्यके शरीरको पाकर जो आहार, निद्रा और मैथुनमें ही अपना समय बिताता है, वह मनुष्यके रूपमें पशु ही है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

इसलिये मनुष्य-शरीरको पाकर अपना जीवन, शीघ्रातिशीघ्र अपने आत्माका उद्धार हो, उसी काममें लगाना चाहिये। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

(९।३३)

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस (दुर्लभ) मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

मनुष्यका जन्म इतना मूल्यवान् है कि यदि कोई लाख रुपये खर्च करे तो भी उसे एक क्षण भी नहीं मिल सकता। अतः मनुष्य-जीवनके एक क्षणको भी अमूल्य समझकर व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये। समय बीता जा रहा है। ज्ञानियोंको ज्ञानके द्वारा, भक्तोंको भक्तिके द्वारा और योगियोंको योगके द्वारा तथा व्यापारियोंको शुद्ध व्यापारके द्वारा अपने आत्माका कल्याण शीघ्र हो, इसके लिये कटिबद्ध होकर पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

आत्माके कल्याण अथवा परमात्माकी प्राप्तिके शास्त्रविहित अनेकों मार्ग हैं। असलमें मुख्य आवश्यकता है लक्ष्य ठीक रखनेकी। यदि लक्ष्यपर निरन्तर अचूक दृष्टि है तो फिर किसी भी मार्गसे चलकर साधक लक्ष्यतक पहुँच सकता है और अपने ध्येयको प्राप्त कर सकता है। लक्ष्यकी अचूक दृष्टि उसे मार्गभ्रष्ट होनेसे सदा बचाती रहती है। तुलाधार और नन्दभद्र नामक व्यापारियोंने व्यापारके द्वारा ही अपना उद्धार किया था। तुलाधारकी कथा पद्मपुराणके सृष्टिखण्ड और महाभारतके शान्तिपर्वमें तथा नन्दभद्रकी कथा स्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डान्तर्गत कुमारिकाखण्डमें आती है। इनका सत्य व्यापार था, सबके साथ समताका व्यवहार था, निष्कामभाव था और व्यापारके द्वारा ही परमात्माको प्राप्त करना इनका साधन था। आज भी यदि कोई इस प्रकारसे व्यापार करे तो उसे परमात्माकी

प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि ऐसे निष्कामी पुरुषमें लोभका सर्वथा त्याग होता है, वह कर्तव्यबुद्धिसे या भगवत्प्रीत्यर्थ ही व्यापार करता है—जो भगवत्प्राप्तिका सहज हेतु होता है। जैसे लोभी मनुष्य धनके लोभसे व्यापार करता है, वैसे ही स्वार्थत्यागी सात्त्विक पुरुष संसारके हितको सावधानीके साथ सामने रखते हुए ही कर्तव्यबुद्धिसे या भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये व्यापार करता है। जैसे लोभीके यह भाव रहता है कि रुपये अधिक कैसे पैदा हों, उसी प्रकार निष्कामीके यही भाव रहता है कि लोगोंका अधिक-से-अधिक हित कैसे हो अथवा भगवान्‌में प्रेम या भगवत्प्राप्ति कैसे हो। भगवान्‌की प्रीति और भगवत्प्राप्तिका जो उद्देश्य है, यह कामना होते हुए भी निष्काम ही है। जिस व्यापारमें कामना, आसक्ति, स्पृहा, अहंता, ममताका त्याग है, वही व्यापार या शास्त्रविहित कर्म निष्काम है और भगवत्प्राप्ति करानेवाला है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(२। ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका यानी अहंता, ममता, वासना, आसक्ति आदिका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(२। ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहङ्काररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने वर्णधर्मके अनुसार स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

परंतु आजकल कई प्रकारके ऐसे शास्त्रविपरीत भावोंकी आँधी-सी आ गयी है कि जिससे मनुष्य अपने जीवनके असली ध्येयको भूलकर लक्ष्य-भ्रष्ट-सा होकर अन्याय और अधर्मपर उतारू हो गया है। इसीसे समाजभरमें अनेकों प्रकारसे नैतिक और शारीरिक भ्रष्टाचारका विस्तार हो रहा है। बुरे कर्ममें बुराईकी भावना निकलकर उसमें गौरव-बुद्धि होने लगी है। ऐसे ही कुछ विषयोंकी चर्चा यहाँ की जाती है। इनसे पारमार्थिक हानि—साधनपथमें बड़ी भारी रुकावट तो हो ही रही है—सामाजिक पतन भी पराकाष्ठाको पहुँच रहा है तथा लोगोंके संताप-दुःखोंकी वृद्धि हो रही है। इन्हींमें एक विषय है—

व्यापारमें सत्य और समताका अभाव

अर्थोपार्जनके जितने साधन हैं—आजकल प्रायः सभी दूषित हो गये हैं। प्राचीन कालमें अर्थोपार्जनके साधनोंमें इतनी झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, धोखेबाजी नहीं थी। व्यवहारमें प्रायः सत्य और समभाव था। सत्य और सम व्यवहारका रूप संक्षेपमें यह है—

व्यापार करते समय वस्तुओंके खरीदने-बेचनेमें तौल, नाप और गिनती आदिसे कम दे देना या अधिक ले लेना और वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी वस्तु मिलाकर अच्छीके बदले खराब दे देना या खराबके बदले अच्छी ले लेना; नफा, आढ़त, दलाली, कमीशन, व्याज और भाड़ा आदि ठहराकर उससे अधिक लेना या कम देना, इसी तरह किसी भी व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीका या अन्य किसी प्रकारके अन्यायका प्रयोग करके दूसरोंके स्वत्व (हक) को हड़प लेना—इन सब दोषोंसे रहित जो सत्य और न्याययुक्त पवित्र वस्तुओंका खरीदना और बेचना है, वही क्रय-विक्रयरूप सत्य-व्यवहार है।

जैसे असली घीमें वेजिटेबल (जमाया तेल) मिलाना; सरसों, बादाम और नारियल आदिके तेलमें ह्वाइट ऑयल मिलाना; रूई, पाट, ऊन, सुपारी आदिमें जल दे देना अथवा दिखाये हुए नमूनेकी अपेक्षा खराब माल देना, जीरेमें कंकड़ और दाल आदिमें मिट्टी मिलाना, आटेमें खराब आटा या इमलीके बीजोंका चूर्ण मिलाना और दूधमें जल मिला देना आदि भी असत्य-व्यवहार है। इन सबसे रहित जो व्यवहार है, वही पवित्र और सत्य-व्यवहार है।

सबके साथ पक्षपातसे रहित होकर समतापूर्वक व्यवहार करना। एक चतुर व्यापारकुशल व्यक्तिको जिस भावमें वस्तु दी और ली जाय, उसी भावमें दूसरे भोले व्यापार-ज्ञानशून्य व्यक्तिको भी देना और लेना। सारांश यह कि वस्तुमें तथा मूल्यमें पक्षपात, विषमता या किसी प्रकारका भी भेदभाव न करना समव्यवहार है।

आजकल धनलोलुपताके मोहमें प्राय: लोग केवल धन कमानेके लिये ही व्यापार करते हैं। उन लोभी मनुष्योंके हृदयमें क्रय-विक्रयके समय यही भाव रहता है कि अधिक-से-अधिक रुपये कैसे मिलें। लोभके दो भेद होते हैं—अनुचित और उचित। अनुचित लोभ तामसी है और उचित लोभ राजसी है। जिस लोभके वशीभूत होकर मनुष्य झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी करके अन्यायसे धन-संचय करता है तथा न्यायसे प्राप्त हुए उचित कार्यपर भी खर्च नहीं करता, यह लोभ अनुचित और तामसी है। जो झूठ, कपट, बेईमानीसे तो धनोपार्जन नहीं करता और न न्याययुक्त कार्यके प्राप्त होनेपर खर्च करनेमें कंजूसी ही करता है, किंतु न्यायसे प्राप्त हुए रुपयोंका खूब संग्रह करनेकी इच्छा रखता है, यह लोभ उचित और राजसी है। तामसी लोभके कारण व्यवहारमें सत्य और समता नहीं रही तथा राजसी लोभके कारण समता नहीं रही।

व्यापारियोंका कर्तव्य

व्यापारियोंको चाहिये कि व्यापारमें सदा सचाईका ही व्यवहार करें। जो व्यापार सचाईके साथ किया जाता है, उससे व्यापारकी भी उन्नति होती है; क्योंकि सचाईसे बड़ी अच्छी साख जमती है और सब लोग विश्वास करने लगते हैं। संसारकी ओर दृष्टि डालनेसे आज संसारभरमें अंग्रेजोंका व्यापार अपेक्षाकृत सच्चा समझा जाता है। इसीलिये वे व्यापारमें बड़े कुशल माने जाते हैं। सचाईके कारण उनके व्यापारकी उन्नति भी काफी हुई है। जिस समय हिन्दुस्थानमें अंग्रेजोंका राज्य था, उस समय यहाँ अंग्रेजोंका व्यापार भी बहुत था। आयात-निर्यातका तथा कुछ दिनों पहलेतक जूट आदि मिलोंका अधिकांश व्यापार उन्हींके हाथमें था। उस समय उनकी व्यापारी-सचाईके पद-पदपर प्रमाण मिलते थे। कपड़े, सूत, रूई आदिके, सरसों, तीसी, तिल आदि तेलहनके या गेहूँ, चावल आदि गल्लेके व्यापारमें बड़ी मंदी-तेजी होनेपर भी अंग्रेज व्यापारी बहुत बड़ा घाटा सहकर भी अधिकांशमें कभी बेईमानी नहीं करते थे। बिलायतसे बहुत कपड़ा आता था, पर अत्यधिक बाजार तेज होनेपर भी वे न तो सूतमें खराब रूई देते थे, न कपड़ेमें सूत कम देते थे और न नापमें ही कम देते थे। कुछ भी खराबी होती या नापमें कपड़ा जरा भी कम होता था तो उसका तुरंत बट्टा कर देते। वे तेज बाजारमें मंदेमें बेचा हुआ माल देनेसे और मंदे बाजारमें तेजमें लिया हुआ माल लेनेसे कभी इन्कार नहीं करते थे। अंग्रेज मिलवाले इसका भी ध्यान रखते थे कि बाजार मंदा हो जानेपर लेनेवालोंको नुकसान न हो। किसीको दलाली, एजेंसी या बेनियनशिपका काम दे देते तो फिर लोभके कारण कभी वे ऐसा मौका नहीं ढूँढ़ते थे कि थोड़ी-सी कोई भूल दीख पड़े तो उससे दलाली, एजेंसी या बेनियनशिपका काम छुड़ाकर स्वार्थवश किसी दूसरेको दे दें। इसी सचाई तथा सद्व्यवहारसे लोगोंपर उनका प्रभाव था। इस कारण लोगोंका उनमें इतना विश्वास था कि लोग अधिक दाम देकर या कम दाम लेकर भी उन्हींसे माल खरीदना-बेचना चाहते थे। अब भी अधिकांश यही बात है।

इन्कमटैक्सके विषयमें भी उनके बहीखाते तथा रजिस्टरोंपर सरकार विश्वास करती थी। अब भी उनके बहीखाते और रजिस्टरोंके विषयमें हिंदुस्थानियोंकी अपेक्षा जनता और सरकार अधिक विश्वास करती है। हमारे व्यापारी भाइयोंको भी सत्य तथा परहितपर ध्यान देकर व्यापारका सुन्दर आदर्श रखना चाहिये। इसीमें सब प्रकारसे गौरव है। यदि पूर्ण सचाईके व्यापारके साथ निष्कामभाव भी रहे तो अन्त:करण शुद्ध होकर उस व्यापारके द्वारा ही अति शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति भी हो सकती है।

इसी प्रकार सरकारी कर्मचारी तथा अन्य पेशेवाले सभी भाइयोंको यह ध्यान रखना चाहिये कि अन्याय, अधर्म तथा असत् कमाईका पैसा कभी न आने दें तथा किसी भी निर्दोष पेशेको भगवत्पूजारूप कर्म बनाकर निष्कामभावसे उसे करते हुए परमात्माकी प्राप्तिरूप परमफल लाभ करके मानव-जीवनको सफल बनावें।

गंदा साहित्य और सिनेमा

इधर शारीरिक और मानसिक पवित्रताका नाश करनेवाले गंदे साहित्य और मनोरञ्जनके नामपर चलनेवाले गंदे चलचित्रों—सिनेमासे हमारे चरित्रका बड़ी बुरी तरहसे नाश हो रहा है। चरित्र ही नहीं—समय, अर्थ, स्वास्थ्य तथा धर्मका भी इनके कारण बड़ी तेजीसे ह्रास हो रहा है। इनसे समाजभरमें आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक और सामाजिक पतन हो रहा है। बहुत-से लोग, जो घरकी स्त्रियोंको और बाल-बच्चोंको थियेटर-सिनेमा आदिमें साथ ले जाते हैं, वे बहुत भूल करते हैं। वे अभी इस परिणामको नहीं सोच रहे हैं कि सिनेमाके बीभत्स और अश्लील चरित्र और चित्रोंको देखकर सबकी बुद्धि विचलित और भ्रष्ट हो जाती है। कभी-कभी तो ऐसे अश्लील दृश्य आते हैं कि उन्हें देखकर बच्चे

माता-पिताके सम्मुख और माता-पिता बच्चोंके सम्मुख लज्जित हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि माता-पिता और बालकोंके परस्पर न्यायोचित शील-संकोचका भी ह्रास हो जाता है। स्वास्थ्यपर भी बहुत बुरा असर पड़ता है। धन और मनुष्य-जन्मके अमूल्य समयका अपव्यय तो प्रत्यक्ष है ही।

यदि यह कहा जाय कि धार्मिक सिनेमा देखनेमें तो लाभ ही है तो ऐसी बात नहीं है। प्रथम तो सिनेमामें शुरूसे लेकर आखिरतक प्राय: सभी लोगोंका उद्देश्य दर्शकोंके चित्तको आकर्षित करके धन कमाना है। इसलिये उसमें सच्ची धार्मिकता कभी नहीं आ सकती। दूसरे, अभिनेता-अभिनेत्री चाहे कैसे भी हों, उनके लिये यह नहीं कहा जा सकता कि वे लोग सब इन्द्रियविजयी हैं और धार्मिक भावनासे ही सिनेमामें आये हैं। जवान उम्र, रात-दिन शृङ्गारके वातावरणमें रहना, वैसे ही अभिनय करना, शौकीनी तथा विलासके लिये स्वतन्त्रता, रूप-सौन्दर्यका विज्ञापन, धनकी अधिकता—ये सभी ऐसे कारण हैं, जो मनुष्यको कर्तव्यभ्रष्ट करके प्रमादमें नियुक्त कर सकते हैं। ऐसे वातावरणमें रहनेवाले नट-नटियोंसे शुद्ध धार्मिक भावनाकी प्राप्ति दर्शकोंको होगी, यह आशा करना सर्वथा व्यर्थ है।

बड़े खेदकी बात तो यह है कि कोई-कोई माता-पिता तो धनके लोभसे अपने तरुण बालक-बालिकाओंको सिनेमाके नट-नटी बनानेमें भी सहमत हो जाते हैं; जो कि बहुत ही खतरनाक है। वे इस बातको भूल जाते हैं कि इसका परिणाम क्या होगा। सच्ची बात तो यह है कि जो तरुण-तरुणियाँ सिनेमा-क्षेत्रमें अभिनय करते हैं और इसमें धनलाभ तथा मान-सम्मान प्राप्त करके गौरव मानते हैं, वे अपने-आपको विषयभोगरूपी आगमें झोंककर स्वयं ही अपना नैतिक और धार्मिक पतन कर रहे हैं! जैसे सौन्दर्यके लोभी शलभ (फतिंगे) दीपककी शिखा देखकर सुख-भोगकी दृष्टिसे उसके समीप जाते हैं और तड़प-तड़पकर मरते तथा जलकर भस्म हो जाते हैं, वैसी ही दशा यहाँ होती है। वे कीड़े तो भविष्यके दुष्परिणामका ज्ञान न होनेसे सहज ही कालके कलेवा बन जाते हैं, परंतु जो मनुष्य होकर भी भविष्यके दुष्परिणामको बिना सोचे नाशवान् क्षणभङ्गुर सांसारिक सुख और भोगके लिये ऐसे कार्योंमें सम्मिलित होते हैं, उनके लिये क्या कहा जाय! ईश्वरने विवेक और बुद्धि दी है, मनुष्य होकर भी हम यदि उस विवेक-बुद्धिसे काम न लें तो यह हमारे लिये बहुत ही लज्जा, दु:ख और परितापकी बात है।

रात-दिन जिस प्रकारके वातावरणमें मनुष्य रहता है और जैसा काम करता है, वैसा ही उसका मन बन जाता है। फिर उसके मनमें भी वही वातावरण छा जाता है और बार-बार वही दृश्य सामने आते रहते हैं। इस निश्चित सिद्धान्त तथा अनुभवके अनुसार गंदे सिनेमाके नट-नटियोंके तथा उनके दर्शकोंके मनमें भी वैसा ही जगत् बन जाता है और उनका सहज ही नैतिक, धार्मिक और सामाजिक पतन होता है। आजकल जो गली-गलीमें दीवालोंपर सिनेमाके शृङ्गारचित्र चिपके रहते हैं, दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक पत्रोंमें सिनेमाओंके सचित्र विज्ञापन रहते हैं तथा बड़े-बड़े शहरोंमें तो बड़ी बारातकी तरह बड़े समारोह और गाजे-बाजेके साथ घूम-घूमकर सिनेमाओंका विज्ञापन किया जाता है, इन सबको देख-सुनकर स्त्री-पुरुष और बालक-बालिकाओंपर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। उनके मनोंमें दबे हुए दुर्भाव जाग्रत् हो जाते हैं और नये-नये बुरे भाव और बुरे संस्कार उत्पन्न होते और अपना घर कर लेते हैं, जिससे उनका जीवन नष्ट हो जाता है। इस प्रकारकी हानिकारक मनोरञ्जनकी वृत्तिको, जो भविष्यमें विनाश करनेवाली है, तुरंत रोकनेकी चेष्टा करनी चाहिये, नहीं तो इनके बुरे संस्कार जमकर बहुत बुरा परिणाम होना सम्भव है। कला और मनोरञ्जनके नामपर लोगोंका इस प्रकारका पतन न तो वस्तुतः किसी सरकारको इष्ट होना चाहिये, न सिनेमा आदिमें अभिनय करनेवालोंके हितैषी माता-पिता (अभिभावक) आदिको ही और न दर्शकोंको ही; पर इस समय तो सभी ओर मानो मोह-सा छाया है। देशका दुर्भाग्य है!

अभिनय करनेवाली लड़कियोंके अङ्गसंचालन और कामोत्तेजक दृश्योंसे युक्त चित्र और चरित्रोंको देखकर हजारों मनुष्य उनपर पाप-दृष्टि करते हैं। इस बातको समझकर उनके माता-पिताओंको लज्जा आनी चाहिये और अपमानका बोध होना चाहिये। यह प्रवृत्ति यों ही बढ़ती गयी तो पता नहीं आगे चलकर समाजकी क्या दशा होगी। व्यसनमें फँसे हुए लोगोंकी दुर्दशाकी भाँति गंदे सिनेमाके शौकीनोंका नैतिक, धार्मिक और सामाजिक पतन ही सम्भव है।

आजकल सिनेमाकी प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ गयी है कि बहुत-से नर-नारी घर-द्वार फूँककर, धर्म-कर्म खोकर, माता-पितासे लड़-झगड़कर और शील-

संकोच, लज्जा-मर्यादाका नाश करके भी सिनेमा देखते हैं। मजदूर लोग भी मनोरञ्जनके नामपर कठिन मजदूरीके पैसे सिनेमामें बरबाद करके अपना पतन करते हैं और बहुत-से बालक चोरी करके सिनेमा देखते हैं। मनोरञ्जनके नामपर समाजमें चौतरफा फैला हुआ यह रोग बड़ा ही भयानक है।

अंग्रेजी सिनेमाओंमें तो पात्रोंके अङ्गसंचालनके साथ नग्न स्वरूप भी दिखाये जाने लगे हैं। इनको देखकर कौन ऐसा संयमी पुरुष है, जिसके मनमें विकार उत्पन्न होकर पतन न हो। क्या यह वाञ्छनीय है कि मनोरञ्जनके नामपर सिनेमाके इस पापको यों ही उत्तरोत्तर बढ़ने दिया जाय और हमारा तरुणसमाज उसका बुरी तरह शिकार होकर अपने जीवनसे हाथ धो बैठे और हमारे राष्ट्रका भविष्य अन्धकारमय हो जाय?

अतः सरकारसे हमारी प्रार्थना है कि इन बातोंपर सरकारको ध्यान देना चाहिये और सेंसर-बोर्डको बड़ी कड़ाईके साथ काम लेकर इस बुराईकी बाढ़को मजबूत बाँध बाँधकर तुरंत रोक देना चाहिये; जिससे जनता सामाजिक, नैतिक और आर्थिक हानिसे बच सके।

आजकल हमारे कुछ लेखक भी ऐसे साहित्यका निर्माण कर रहे हैं, जिसको पढ़नेपर पढ़नेवालेके मनमें विकार उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता! ऐसे विकारोंसे बल, बुद्धि, स्मृति, ज्ञान, तेज और आयुका विनाश होना और नाना प्रकारके रोगोंका शिकार हो जाना अनिवार्य हो जाता है।

सिनेमाका असर हमलोगोंके वर्तमान जीवनपर बहुत ही बुरा पड़ रहा है। लोग अपने कपड़े और पोशाकपर भी सिनेमाके चित्र बनाने लगे हैं तथा जिन कपड़ोंको पहननेमें भले घरकी महिलाएँ लज्जा करती हैं, उन्हीं कपड़ोंको हमारी युवती बालिकाएँ पहनने लगी हैं। यह कितना भारी पतन है।

इतना ही नहीं, हमारे समाजमें इस समय नास्तिकताका भी जोरोंसे प्रचार किया जा रहा है। इसके फलस्वरूप कुछ लोग धर्म, कर्म, ईश्वर, ज्ञान, वैराग्य, हिंदू-संस्कृति, सदाचार और सद्गुणोंको घृणाकी दृष्टिसे देखने लगे हैं तथा बिना सोचे-समझे ही प्राचीन कालसे चली आयी हुई आदर्श मर्यादाको आडम्बर कहने लगे हैं! यही स्थिति बनी रही तो भविष्यमें उच्छृङ्खलता तथा धर्मविरोधी वातावरण और अराजकता उत्तरोत्तर बढ़ सकती है। अतः हमें सचेत होकर इस बढ़ती हुई गतिको रोकना चाहिये। इस प्रकारकी हानि देखकर भी यदि हमारी आँखें नहीं खुलेंगी तो फिर कब और कैसे खुलेंगी?

जब मनुष्यकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह भलेको बुरा और बुरेको भला देखने लगता है, तब उसका सुधार होना कठिन हो जाता है; क्योंकि जो मनुष्य बुराईको बुराई मानता है, उसका तो सुधार हो सकता है; किंतु जो बुराईको भलाई मान बैठता है, उसका सुधार कठिन है। अतः लोक और परलोकमें कल्याण चाहनेवाले भाई-बहिनोंसे हमारी यह प्रार्थना है कि उन्हें न तो स्वयं ऐसे नाटक-सिनेमा देखने चाहिये और न अपने बालक-बालिकाओंको ही दिखाने चाहिये। इनकी बुराइयोंको समझकर स्वयं इनका त्याग करेंगे, तभी अपने बालक-बालिकाओंको रोक सकेंगे। बालक अनुकरणप्रिय तो होते ही हैं, पर बुरी बातोंका असर उनपर जितना जल्दी होता है उतना अच्छी बातोंका नहीं होता। जितनी बुराइयाँ हैं, आरम्भमें क्षणिक सुखकारक होनेसे अमृतके तुल्य दीखती हैं, पर उनका परिणाम विषके तुल्य है और जो भलाइयाँ हैं, वे साधनकालमें कठिन होनेसे विषके तुल्य दीखती हैं, पर परिणाममें वे अमृतके तुल्य हैं। इसलिये जो वर्तमानमें सुखदायी प्रतीत होती है, उसीको लोग अज्ञानसे ग्रहण करते हैं। जैसे रोगी कुपथ्यका परिणाम न देखकर कुपथ्य कर लेता है, उसी तरह विषयासक्त पुरुष भी परिणामको नहीं देखते और विनाशकारी प्रवृत्तियोंमें पड़कर अपने जीवनको पतनके गर्तमें डाल देते हैं; किंतु जब परिणाममें दुःख पाते हैं, तब घोर पश्चात्ताप करते हैं; पर फिर उस पश्चात्तापसे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता।

अतएव समस्त नर-नारियोंसे पुनः सविनय प्रार्थना है कि ऐसे सिनेमा-नाटक आदिको न तो देखना चाहिये और न किसीको दिखाना चाहिये तथा न इसके लिये अभिरुचि ही पैदा करनी चाहिये।

विधवाओंके धनपर अनुचित लोभ

जब बुराई आती है, तब चारों ओरसे आया करती है। अन्यान्य पापोंके साथ समाजमें एक पाप और बढ़ रहा है, जो सामाजिक और नैतिक दृष्टिसे तो महान् हानिकर है ही, परमार्थ-पथका भी महान् प्रतिबन्धक है। वह है—विधवा बहिनोंके प्रति घरवालोंका दुर्व्यवहार। सचमुच विधवा माता-बहिनोंकी आज बड़ी ही दयनीय

दशा है। सभ्य, इज्जतदार और सुशील विधवा बहिनोंकी इस दुःखमय दुर्दशाको देखकर, जिसके हृदयमें थोड़ी भी दया होती है, उसका हृदय भी द्रवीभूत हो जाता है। बहुत-सी विधवाओंकी बातें सुनकर तथा उनकी दुर्दशाको स्वयं देखकर यहाँ आज उसका कुछ दिग्दर्शन कराया जा रहा है। गरीब घरोंकी तो बात ही क्या है, जो धनी कहलाते हैं और अपनेको इज्जतदार मानते हैं, उनमेंसे भी अधिकांश भाइयोंका विधवाओंके साथ व्यवहार बहुत ही नीचे दर्जेका हो रहा है। विधवाओंपर जो अत्याचार हो रहे हैं, उनको सुनकर प्रत्येक हृदयवान् प्राणीको वेदना होती है और उनके दुःखको देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यहाँ मैं कुल-शीलकी मर्यादाके खयालसे किसीका नाम नहीं बतलाकर विधवाओंपर होनेवाले अत्याचारोंकी कुछ बातें बतलाता हूँ।

विधवा स्त्रियोंके आभूषण, पतिकी मृत्युके अवसरपर ससुराल और नैहरवाले शरीरनिर्वाहके लिये सहायताके रूपमें जो कुछ देते हैं वह धन तथा ससुराल और नैहरसे विवाह, द्विरागमन आदिके समय मिले हुए रुपये, जेवर और वस्त्र एवं जीवितावस्थामें पति अपनी जीवन-बीमा बेचकर उसका उत्तराधिकार अपनी स्त्रीको दे जाता है वह धन तथा इसके अतिरिक्त भी जो विधवा स्त्रीकी खास सम्पत्ति होती है, वह सभी स्त्रीधन है। इस सब धनके रहते हुए भी विधवा स्त्री अन्न और वस्त्रके लिये दुःखी देखी जाती है। इसका कारण यह है कि विधवाकी यह सारी सम्पत्ति या तो विधवाके ससुरालवालोंके अधिकारमें रहती है या नैहरवालोंके। जिनमेंसे कई ससुरालवाले तो बलपूर्वक विधवाकी सम्पत्तिपर अधिकार जमा लेते हैं। कुछ तो इतने दुष्ट होते हैं कि उसका इतना धन होनेपर भी, वह चाहे अन्न-वस्त्रके बिना दुःख पावे, कितनी रोवे-कलपे, वे उसे कुछ भी नहीं देते और कह देते हैं कि 'तेरा केवल खानेमात्रके लिये कुछ रुपये मासिक लेनेभरका ही अधिकार है, धन-सम्पत्तिपर नहीं।' इस प्रकार सूखा जवाब दे देते हैं और फिर खानेके लिये मासिक खर्च भी नहीं देते। वह बेचारी असहाया स्त्री रोती हुई अपना दुःखमय जीवन बड़े कष्टसे बिताती है। लोक-लाजके खयालसे वह उनपर दावा भी नहीं करती और यदि दावा करे भी तो उसे कोई मदद भी नहीं देता। ऐसी स्त्रियोंके लिये कोई ऐसा वकील-बैरिस्टर भी नहीं, जो बिना फीस लिये ही उत्साहके साथ उनका कार्य कर दे; वे भोली-भाली स्त्रियाँ न तो कुछ जानती ही हैं और न नैहर तथा ससुरालवालोंके कुलकी लाजसे स्वयं कोर्टमें जाकर अपने हकका दावा करनेका नाम लेती हैं। कहीं ऐसा कुछ करनेकी बात भी कह दे तो उसकी सम्पत्तिको हजम करनेवाले वे लोग उसे और भी तंग करने लग जाते हैं। दूसरा आदमी कोई सहायता करता ही नहीं। कोई करना चाहता है तो वे लोग उसको भी गालियाँ देते हैं।

इस प्रकारका व्यवहार इस समय, जो बड़े इज्जतदार माने जाते हैं, उन लोगोंमें भी हो रहा है; इसका अर्थ यह नहीं कि सभी ऐसा करते हैं। ईश्वर और धर्मको माननेवाले कई अच्छे लोग भी हैं। कुछ नैहरवाले यह चेष्टा करते हैं कि यह ससुरालसे सारी धन-सम्पत्ति लाकर हमारे पास रख दे। माता-पिताको छोड़कर उन सम्पत्तिके रक्षक बने हुए भाई-बन्धुओंमें भी कई ऐसे होते हैं, जो उसकी धन-सम्पत्तिको हड़प लेते हैं और वह विधवा बेचारी रोती ही रह जाती है। संकोचके मारे वह कुछ भी कह नहीं सकती और भीतर-ही-भीतर रोती रहती है। ऐसी कई स्त्रियोंकी घटनाएँ स्वयं मैंने देखी-सुनी हैं, उनमेंसे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

एक इज्जतदार घरकी विधवा स्त्री है, उसकी अवस्था करीब बीस वर्षकी है। उसके पतिका देहान्त होनेपर उसके नैहर और ससुरालवालोंने विधवाको सहायता देनेकी पद्धतिके अनुसार भविष्यमें जीवन-निर्वाहके लिये कुछ रुपये दिये थे, वे रुपये तथा उसके पतिकी जीवन-बीमाके पाँच हजार रुपये और उसके कीमती वस्त्रादि बेचकर जो रुपये मिले, वे सब उस स्त्रीके जेठ (पतिके बड़े भाई) ने विधवा स्त्रीको ब्याजके लोभके बहानेसे फुसलाकर उससे ले लिये तथा बादमें माँगनेपर यह उत्तर दिया कि 'अभी हमारे पास रुपये नहीं हैं, जब होंगे, तब देंगे।' उसके लिये कई अच्छे पुरुषोंने चेष्टा भी की, किंतु उनको भी यही जवाब मिला कि 'जब होंगे तब देंगे।' यह घटना पतिके मरनेके दो ही सालके अंदर हो गयी। वे उसको इन रुपयोंका ब्याज भी नहीं देते। अब बताइये, वह बेचारी विधवा अपना जीवन किस प्रकार निर्वाह करे?

एक दूसरी गरीब विधवा स्त्री करीब अठारह वर्षकी है, उसके पतिकी मृत्यु होनेके बाद उसके नैहर और ससुरालसे जो जेवर, वस्त्र आदि विवाह तथा द्विरागमनमें मिले थे, उनपर उसके सास-ससुर पहलेसे ही अधिकार किये हुए हैं और उसका पिता गरीब है।

वह बेचारी अपने पिताके यहाँ ही है। उसके सास-ससुर उसे उसका स्त्रीधन भी नहीं देते और न मासिक खर्चके लिये ही कुछ देते हैं।

एक अन्य इज्जतदार घरकी विधवा स्त्री करीब पचीस वर्षकी है। उसके ससुर और पुत्र भी मर चुके हैं। उसके गहने, कपड़े, धन, मकान आदि चल-अचल सारी सम्पत्तिपर उसके जेठ-जेठानी (पतिके बड़े भाई और भाभी) अधिकार किये बैठे हैं, उसे कुछ भी नहीं देते। गहना-कपड़ा भी नहीं देते और न चल-अचल सम्पत्तिका हिस्सा ही देते हैं।

इन तीनों स्त्रियोंका जो हाल ऊपर लिखा गया है, उसे मैंने अपनी आँखों देखा है। सैकड़ों-हजारों ऐसी ही दुर्दशाग्रस्त विधवा बहिनें हैं। यहाँ स्थान-संकोचसे अधिक उदाहरण नहीं दिये जाते। सोचिये, ऐसी अवस्थामें उन विधवा बहिनोंका जीवन-निर्वाह किस प्रकार हो। ऐसी बहिनोंको अदालतमें जानेके लिये भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अदालतमें जानेसे धन, धर्म और इज्जत बर्बाद होती है तथा बुद्धिकी कमी होनेसे वे अदालतमें जा भी नहीं सकतीं और यदि जायँ तो उनकी सहायता भी कौन करे। उनकी दयनीय दशाको देखकर कौन ऐसा सहृदय पुरुष होगा, जिसके हृदयमें कुछ दयाका संचार होकर अश्रुपात न हो।

कुलीन घरोंकी गरीब स्त्रियाँ तो और भी दुःखी हैं, उनको दूसरोंसे सहायता लेनेमें भी बड़ी लज्जा आती है; किंतु अभावके कारण लेनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। ऐसी विधवा माताओंके लिये जो भाई मासिक सहायता देते हैं, वे धन्यवादके पात्र हैं। सभी भाइयोंसे मेरी प्रार्थना है कि वे अपनी जानकारीमें जो कोई दुःखी विधवा माता-बहिन हों, उनकी यथाशक्ति तन, मन, धनसे कर्तव्य समझकर सहायता करें।

दहेजसे हानि

इस समय कन्याओंके विवाहका प्रश्न भी बहुत ही जटिल हो रहा है; क्योंकि हमारे देशमें दहेजकी प्रथाने भयानक रूप धारण कर लिया है। लड़केके अभिभावक कन्यावालोंसे अधिक-से-अधिक धन-सम्पत्ति लेना चाहते हैं और कन्यावालोंको कहीं-कहीं ऋण और सहायता लेकर भी विवाह करना पड़ता है, नहीं तो उस कन्याका विवाह होना कठिन हो जाता है। कोई-कोई लड़की तो अपने माता-पिताकी गरीबीको देखकर उनके दुःखसे दुःखी होकर आत्महत्यातक कर लेती है! किसी लड़कीके गरीब माता-पिता उस लड़कीके विवाह-योग्य धन न होनेके कारण ऐसी भावना करने लगते हैं कि लड़की बीमार होकर किसी प्रकार मर जाय तो ठीक है और यदि लड़की बीमार हो जाती है तो उसका उचित औषधोपचार भी नहीं करते। इन सबमें प्रधान हेतु दहेजकी कुप्रथा है।

इन उपर्युक्त हत्याओंका पाप अनुचित दहेज लेनेवालोंको लगता है। जो बिलकुल दहेज नहीं लेता, वह तो अपना जीवन सफल बनाता ही है; दहेज देनेवाले लड़कीका अभिभावक जितना देना चाहे, उससे कम लेनेवाला भी धन्यवादका पात्र है। अपने द्वारा प्रतीकार करनेपर भी दहेज देनेवाला प्रसन्नतापूर्वक आग्रह करके जो कुछ देता है, (अवश्य ही पता यह लगा लेना चाहिये कि इसके देनेमें इसको ऋणग्रस्त होना या घर-जमीन बेचने तो नहीं पड़े हैं।) उसीको लेकर संतुष्ट हो जाता है, उसे भी हम उतना दोषका भागी नहीं मानते; किंतु जो विवाहके लिये मोल-तौल करता और अधिक-से-अधिक लेना चाहता है तथा अधिक देनेवालेकी लड़कीसे ही विवाह करता है और लड़कीवाला अपनी सामर्थ्यके अनुसार लड़केवालेको देकर संतोष कराना चाहता है, इसपर भी लड़केवालेको संतोष नहीं होता, ऐसे पुरुष ही उपर्युक्त पापके भागी होते हैं।

अतएव सभी भाइयोंसे हमारी प्रार्थना है कि वर्तमानमें जो दहेजप्रथा उत्तरोत्तर बढ़ रही है, इस बढ़ती हुई बाढ़को जिस किसी प्रकारसे यथाशक्ति रोकनेकी चेष्टा करें, नहीं तो समाजका पतन और विनाश होनेकी सम्भावना है। विशेषकर हमारी प्रार्थना दहेज लेनेवालोंसे है कि वे दहेज लेनेका यथाशक्ति त्याग करें। जितना वे त्याग करें, उतने ही वे धन्यवादके पात्र हैं। दहेजका दिखावा भी दहेज-प्रथाके चालू रहने तथा बढ़नेमें कारण है, उसे भी तुरंत बंद कर देना चाहिये।

यह सोचना चाहिये कि मनुष्यके जीवनका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है। इस भगवत्प्राप्तिके साधनमें परस्पर सहायता करना सबका धर्म है। जो ऐसा न करके किसीके हृदयमें महान् चिन्ता उत्पन्न कर देते हैं, वे वास्तवमें बड़ा अनर्थ कर देते हैं। जबरदस्ती दहेज लेनेवाले लोग कन्याके पिताके हृदयमें चिन्ता उत्पन्न करके उसे परमार्थसे भी गिरा देते हैं। इसलिये दहेजकी प्रथा बंद होनी चाहिये।

साधनकी आवश्यकता

ऊपर थोड़े-से बहुत बड़े-बड़े पापरूप विघ्नोंकी चर्चा की गयी है। दोष तो और भी बहुत आ गये हैं। अभक्ष्य-भक्षण, अपेय-पान, चरित्रनाश, गुरुजनोंका अपमान, सदाचारका अभाव, हिंसा-प्रतिहिंसा-वृत्ति, असंतोष, अनुशासनहीनता, दलबंदी, ईर्ष्या और द्रोह आदि बहुत-से दोष बड़ी तेजीसे समाजमें बढ़ रहे हैं। ईश्वर तथा धर्मके प्रति आस्थाका अभाव होता जा रहा है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके नामपर मन-इन्द्रियोंकी गुलामी बढ़ रही है। यम-नियमका पालन घट रहा है। ये सभी देशके नैतिक पतन और सर्वाङ्गीण दुर्दशाके प्रमाण हैं और लौकिक, पारलौकिक तथा पारमार्थिक हानिके पोषक हैं। इन सबसे बचना और समाजको बचाना सबका परम कर्तव्य है। इसी उद्देश्यसे क्षुद्र प्रयासके रूपमें गोरखपुरमें 'साधक-संघ' के नामसे एक संगठन किया गया है, जिसमें सम्मिलित होनेके लिये सोलह नियम त्याग करनेके और बारह ग्रहण करनेके बनाये गये हैं। नियम निम्नलिखित हैं। जो इन नियमोंमेंसे सबका या कमका पालन करना चाहें, वे इसके सदस्य बन सकते हैं। सदस्योंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता, नियमपालन ही शुल्क है। नियम ये हैं—

साधनके नियम

त्याग करनेके नियम

(१) **पराये अहितका त्याग**—जान-बूझकर किसीका अहित न करना।

(२) **असत्यका त्याग**—जान-बूझकर असत्य नहीं बोलना।

(३) **परस्वापहरणका त्याग**—जान-बूझकर किसी दूसरेका हक न लेना।

(४) **परस्त्रीका-परपुरुषका स्पर्शत्याग**—जान-बूझकर पुरुषके लिये परस्त्रीका स्पर्श न करना और स्त्रीके लिये पर-पुरुषका स्पर्श न करना। माता, दादी, नानी आदि बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों और पिता, बड़े भाई, पुत्र आदि पुरुषोंका स्पर्श इस नियममें विशेष बाधक नहीं है। बीमारीकी दशामें वैद्य, डाक्टर या परिचारक स्पर्श कर सकता है।

(५) **क्रोधका त्याग**—मनमें भी क्रोध न आवे तो सर्वोत्तम है, पर मनमें आ भी जाय तो उसकी क्रिया बाहर न हो; क्रोध आनेपर मिथ्या, कठोर और अपशब्द न बोले या ऐसी अन्य चेष्टा (मारपीट) आदि भी न करे।

(६) **परापवादका त्याग**—जान-बूझकर किसीकी चुगली या निन्दा न करना।

(७) **मिथ्या साक्ष्यका त्याग**—झूठी गवाही नहीं देना।

(८) **अश्लील विनोदका त्याग**—गंदी हँसी-मजाक न करना।

(९) **चर्मसेवनका त्याग**—चमड़ेको व्यवहारमें बिलकुल न लाना (मोटर, रेल, रिक्शा आदिके लिये यह नियम लागू नहीं है)।

(१०) **मादक वस्तुका त्याग**—तम्बाकू, बीड़ी, भाँग, गाँजा, चरस आदिका सेवन न करना (बीमारीके लिये मनाही नहीं है)।

(११) **समय नष्ट करनेकी प्रवृत्तिका त्याग**—ताश, चौपड़ आदि न खेलना, जहाँतक हो व्यर्थकी बातें न करना।

(१२) **वेश्या-नृत्य-त्याग**—वेश्याका नाच न देखना।

(१३) **सदाचारनाशक चित्रपटोंका त्याग**—सिनेमा बिलकुल ही न देखना।

(१४) **द्यूत-त्याग**—किसी भी हालतमें जूआ न खेलना।

(१५) **अभक्ष्यभक्षण-पानका त्याग**—(क) मांस-मद्यका सेवन कतई न करना। (ख) लहसुन-प्याजका सेवन न करना। दवाके रूपमें करना पड़े तो बादमें उचित प्रायश्चित्त करना।

(१६) **हिंसायुक्त जूतोंका त्याग**—मारे हुए पशुके चमड़ेके जूतोंको व्यवहारमें न लाना।

ग्रहण करनेके नियम

(१) **सबमें भगवद्बुद्धि**—जहाँतक बने, जिस किसीसे व्यवहार करना पड़े, उसमें भगवद्बुद्धि करना।

(२) **भगवत्स्मरण**—प्रत्येक पंद्रह मिनटपर भगवान्का (नाम, रूप, लीला, गुण आदिका) स्मरण करना और स्मरण आनेपर न भूलनेका प्रयत्न करना।

(३) **सूर्योदयसे पूर्व जागरण**—सूर्य उदय होनेसे पहले ही उठ जाना।

(४) **प्रातःस्मरण और प्रणाम**—प्रातःकाल उठते ही भगवान्का स्मरण करना और पृथ्वीमाताको प्रणाम करना।

(५) **गुरुजन-अभिवादन**—घरमें माता, पिता, गुरु, दादा, दादी, ताऊ, ताई, पति, सास, ससुर, जेठ, जेठानी आदि गुरुजनों, वृद्धोंको प्रतिदिन प्रणाम करना। पदमें बड़ी हों परंतु कम उम्रकी हों, उन स्त्रियोंके

चरणोंको पुरुष स्पर्श न करे और स्त्री अपने पतिको तथा पिता आदिको छोड़कर अन्य सभी पुरुषोंको दूरसे प्रणाम करे।

(६) **संध्या-गायत्री-सेवन**—यज्ञोपवीतधारी द्विज प्रातः-सायं दोनों समय संध्या करे और दोनों समय गायत्रीकी कम-से-कम एक-एक माला (१०८ मन्त्रों) का जाप करे। अथवा अपने-अपने धर्मके अनुसार दोनों समय उपासना करे।

(७) **गीताध्ययन**—प्रतिदिन श्रीमद्भगवद्गीताके एक अध्यायका पाठ करना (हो सके तो अर्थसहित)।

(८) **सत्सङ्ग-स्वाध्याय**—प्रतिदिन कम-से-कम आधा घंटा सत्सङ्ग करना। सत्सङ्गके अभावमें (गीता, रामायण, भागवत, भक्तचरित, संत-वाणी अथवा अपने-अपने धर्मग्रन्थ आदि सद्ग्रन्थोंका) स्वाध्याय करना।

(९) **भगवन्नाम-जप**—प्रतिदिन भगवान्‌के जिस नाममें अपनी रुचि हो, उसी नामका कम-से-कम एक हजार जप करना।

(१०) **कर्तव्यपालन**—घरमें-बाहरमें अपने जिम्मे जो काम हो, स्वस्थ शरीर होनेपर उससे जरा भी जी न चुराना। सदा उत्साह और प्रेमसे कार्य करना।

(११) **पवित्र वस्त्र-धारण**—यथासाध्य देशी हाथके बुने कपड़े पहनना।

(१२) **नियमपालन-निरीक्षण**—प्रतिदिन कम-से-कम पंद्रह मिनट इस बातकी जाँच करनेमें लगाना कि लिये हुए नियमोंमें आज किन-किनका पूरा पालन हुआ, किनका नहीं हुआ या अधूरा हुआ। कितनी भूलें हुईं और क्यों हुईं तथा भूलोंके लिये प्रायश्चित्तरूप दण्ड-विधान करना एवं कल भूल न हो—इस बातका दृढ़ निश्चय करना।

[प्रत्येक भूलके लिये एक समयका उपवास अथवा भगवान्‌के किसी भी नामका एक हजार जप—अथवा 'हरे राम' आदि सोलह नामोंके मन्त्रकी एक मालाका जप—प्रायश्चित्त-स्वरूप करना चाहिये।]

निवेदन

नियम सभी उपयोगी हैं—इनका यदि अच्छी तरह पालन किया जाय तो उपर्युक्त सभी दोष मिट सकते हैं और मानव-जीवनकी सफलताका सरल मार्ग प्राप्त हो सकता है। अतएव इन नियमोंका पालन स्वयं विश्वासपूर्वक करना चाहिये तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे करवाना चाहिये। नियमावली तथा सदस्य बननेपर नियम भरनेकी डायरी व्यवस्थापक— 'साधक-संघ' गीताप्रेस, गोरखपुरको पत्र लिखकर मँगवा सकते हैं।

सत्य, श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावपर विचार

कल्याणकामी पुरुषोंके लिये कुछ सार विषयोंपर निवेदन किया जाता है।

सत्य

इनमें पहला विषय है—सत्य। सत्य साक्षात् परमात्माका स्वरूप है। परमात्मा हैं—इस बातका निश्चय हो जानेपर परमात्माकी प्राप्ति सहज है; क्योंकि परमात्मा हैं, वास्तवमें हैं। परमात्माकी सत्तासे ही सबकी सत्ता है। भगवान् सत् तथा असत्‌का निर्णय करते हुए गीतामें कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

भाव यह कि जो सत् वस्तु होती है, उसका कभी अभाव नहीं होता है और जो असत् (मिथ्या) होती है, उसका कभी भाव नहीं होता है। ऐसी जो सत् वस्तु है, वह परमात्मा है। परमात्माकी सत्तासे ही सबकी सत्ता है। इसलिये हमको सदा सत्यका ही सेवन करना चाहिये। सत्यके सेवनमें सत्यभाषण भी है। उस सत्यभाषणसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि परमात्माका स्वरूप सत् है, किंतु सत्य बोलनेवालेको इन बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये। प्रथम तो यह समझना चाहिये कि सत्यभाषण किसे कहते हैं। जो बात जैसी सुनी गयी, देखी गयी तथा समझी गयी हो, उससे न अधिक बताना, न कम कहना—जैसी सुनी-समझी हो, वैसे ही समझानेकी नीयतसे कहना—'सत्य' है। दूसरी बात यह है कि सत्यमें चतुरता नहीं होनी चाहिये, कपट नहीं होना चाहिये। सरलताके साथ समझा हुआ

भाव ज्यों-का-त्यों समझा देना चाहिये। सत्य होकर जो प्रिय हो, वही वास्तवमें सत्य है।* जिस सत्यके उच्चारणसे किसीकी हिंसा होती हो, वह सत्य होते हुए भी सत्य नहीं है। सत्य बोलनेवाले पुरुषको थोड़ा बोलना चाहिये। सत्य बोलनेवाले पुरुषको कभी भी भविष्यकी वाणी नहीं बोलनी चाहिये। असलमें तो भविष्यका ऐसा संकल्प भी नहीं करना चाहिये कि 'मुझे यह करना है, वह करना है।' वाणी भी सत्य होनी चाहिये, संकल्प भी सत्य होना चाहिये, क्रिया भी सत्य होनी चाहिये और भाव भी सच्चा होना चाहिये। तभी सत्यकी वास्तविक प्रतिष्ठा होती है।

जो मनुष्य केवल यह समझता है कि 'भगवान् सत्य हैं और वे सब जगह हैं' उसे भगवान् कैसे हैं, यह ज्ञान नहीं है, वह केवल इतना ही जानता है कि भगवान् हैं। परंतु इतना निश्चय होनेपर उसके द्वारा कोई भी पाप-क्रिया नहीं हो सकती; क्योंकि वह समझता है कि 'भगवान् हैं और वे सत् हैं तथा सब जगह हैं, मैं जो कुछ भी बोलता हूँ, भगवान् सब सुनते हैं; जो कुछ मैं चेष्टा करता हूँ, भगवान् सब देखते हैं।' ऐसी अवस्थामें वह भगवान्के विरुद्ध कैसे बोलेगा, कैसे कोई काम करेगा। जो भगवान्के विरुद्ध चलता है या बोलता है, वह तो वास्तवमें भगवान्को मानता ही नहीं। वह झूठ ही कहता है कि मैं भगवान्को मानता हूँ। वास्तवमें वह नास्तिक है। जिसको यह विश्वास हो जाता है कि भगवान् नित्य सत्य सर्वव्यापी हैं, उसमें निर्भयता आ जाती है। जब भगवान् सब जगह हैं, तब भय किस बातका? इस निश्चयसे ही उसमें धीरता, वीरता और गम्भीरता स्वतः ही आ जाती है। इसी निश्चयके कारण आगे चलकर उसे भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। 'भगवान् हैं'—यह निश्चय होनेके बाद 'भगवान् कैसे हैं' इस बातको स्वयं भगवान् उसे बता देते हैं। इस प्रकार सत्यकी उपासनासे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है; किंतु सत्यस्वरूप परमात्माकी उपासना करनेवालेको कभी असत्य नहीं बोलना चाहिये। उसका व्यवहार भी सत्य होना चाहिये तथा उसके हृदयका भाव भी सत्य होना चाहिये। व्यवहार और भावकी सत्यता उसे कहते हैं, जिसकी क्रियामें तथा जिसके बर्तावमें छल, कपट, दगा, बेईमानी, ठगी आदि कोई भी दुर्भाव न हो, बर्तावमें और आचरणमें शुद्ध नीयत हो और दूसरेकी स्त्रीको, दूसरेके धनको जो धूलके समान त्याज्य समझता हो। जो ऐसा है, उसीका व्यवहार और भाव शुद्ध है। हृदयके ऐसे शुद्ध भावको ही सद्भाव कहते हैं। इसीको सद्गुण भी कहते हैं—मानसिक तपका यह प्रधान अङ्ग है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें बतलाया है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

(१७। १६)

'**मनःप्रसादः**' यानी मनकी प्रसन्नता, '**सौम्यत्वम्**' यानी मनका सौम्यभाव (शान्त भाव)—जैसे चन्द्रमाका स्वरूप सौम्य है, ऐसे ही हृदयका सौम्य स्वरूप हो, उसे सौम्यभाव कहते हैं। '**मौनम्**'—मनके द्वारा नित्य भगवान्के स्वरूपका मनन, '**आत्म—विनिग्रहः**'—यानी मनका निग्रह, मनको अपने नियन्त्रणमें रखना और '**भावसंशुद्धिः**'—यानी भावोंकी शुद्धता, अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इसे 'मानसिक तप' कहते हैं। इस प्रकार मनका भाव भी सत् ही होना चाहिये और क्रिया भी सत् ही होनी चाहिये। उत्तम आचरणोंको सदाचार कहते हैं अथवा सत् पुरुषोंके आचरणोंको सदाचार कहते हैं। अतएव मनुष्यके आचरणोंमें, हृदयके भावोंमें और वाणीमें भी सत्यता होनी चाहिये। इस तरह मन-वचन-कर्मके पवित्र होनेपर उसे परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जाता है। यह सत्का संक्षेपमें वर्णन हुआ।

श्रद्धा

अब श्रद्धाके विषयमें विचार करें। ईश्वर, महात्मा और श्रीमद्भगवद्गीता आदि शास्त्रोंके वचनोंमें जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास है, उसका नाम 'परम श्रद्धा' है। जो कुछ हमारी जानकारीमें आता है, उसे तो हम मानते ही हैं; परंतु जो हमारे ज्ञानमें नहीं है, उसके सम्बन्धमें उपर्युक्त प्रकारके वचनोंमें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर जो श्रद्धा है, उसको 'परम श्रद्धा' कहते हैं। जैसे भगवान् सर्वसाधारणके देखनेमें नहीं आते, पर शास्त्रोंपर और महात्माओंपर विश्वास करके ऐसा दृढ़रूपसे समझ लेना कि 'निश्चय ही परमात्मा है'—यह परम श्रद्धाका एक

* सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मो विधीयते॥ (स्कन्द० ब्रा० ध० म० ६। ८८)
'सत्य बोले, प्रिय बोले; किंतु जो सत्य तो हो पर अप्रिय हो, ऐसा न बोले; और जो प्रिय तो हो किंतु असत्य हो, ऐसा भी न बोले—धर्मका यही विधान किया गया है।'

स्वरूप है। सत्यवादी महात्मा पुरुष किसी एक मकानको सोनेका कह दें और श्रद्धालु पुरुषको उसी क्षण वह मकान सोनेका ही दीखने लगे—यह परम श्रद्धा है। श्रद्धाका यह भाव बड़ा अद्भुत है; क्योंकि वह मकान उसीकी जानकारी तथा देख-रेखमें चूना, मिट्टी, पत्थर और ईंटोंसे बना हुआ है; पर जब संतके मुखसे निकल गया कि 'यह सोनेका है', तब तत्काल वह सोनेका ही दीखने लग गया। यह सर्वोत्तम श्रद्धा है।

इससे निम्न श्रेणीकी श्रद्धामें मकान तो चूनेका ही दीखता है; किंतु उसके विश्वासमें वह सोनेका हो गया है। अर्थात् वह समझता है कि ऊपरसे वह चूनेका दीखता है; परंतु भीतरसे सोनेका अवश्य हो गया। इस प्रकार चूनेका मकान दीखते हुए भी उसे वह सोनेका ही समझता है। इससे और नीचे दर्जेकी श्रद्धामें वह कहता है कि 'यदि महात्मा कह देते कि मकान सोनेका बन जायगा तो वह सोनेका बन चुका होता, किंतु इनके मुखसे जिस वक्त यह बात निकली उस वक्त यह मकान चूनेका ही था। अतः अब भी चूनेका ही है। हाँ! यह विश्वास अवश्य है कि यदि महात्मा कह दें कि यह सोनेका बन जायगा तो सोनेका बन सकता है।' यह तृतीय श्रेणीकी श्रद्धा है। इससे भी नीची चौथे दर्जेकी श्रद्धा वह है, जिसमें वह समझता है कि जो बात सम्भव है, वह तो महात्माके कहनेसे अवश्य हो सकती है, पर यदि वे असम्भव बात कह दें तो वह नहीं हो सकती; जैसे महात्मा कहें कि सूर्य ठंडा हो जायगा तो उनके कहनेसे वह ठंडा नहीं हो सकता; किंतु जो बात होनेवाली है, वह हो सकती है। जैसे किसीको लड़का या लड़की होनेवाली है, महात्मा कह दें कि यह होगा—तो वह बात हो सकती है; परंतु वे कह दें कि उसके पत्थर पैदा होगा तो यह असम्भव है। ऐसा नहीं हो सकता।

परंतु श्रद्धालु पुरुषके लिये सब सम्भव है। जैसे यादव बालकोंने साम्बको गर्भवती स्त्री सजाया और उसे मुनियोंके पास उनकी परीक्षाके लिये ले जाकर पूछा कि 'इसके क्या होगा?' मुनियोंने कह दिया कि 'इसके मूसल होगा।' तो वह मूसल ही निकला। मुनियोंने यादव बालकोंका कपट जान लिया। जानकर उन्होंने 'असम्भव'-सी बात कह दी, पर वह सत्य हो गयी। साथ ही उन्होंने यह भी कह दिया कि 'इस मूसलसे तुम्हारे कुलका नाश होगा' तो उससे उनका नाश ही हो गया।

अतएव जो पुरुष वास्तवमें परम श्रद्धालु है और जिसे संत-महात्माकी बातपर अचल विश्वास है, उसका तो यह निश्चय है कि महात्मा यदि असम्भव बात भी कह दें तो वह सम्भव हो सकती है और उनके कहनेसे सम्भव भी असम्भव हो सकती है। इसी प्रकार उच्चकोटिके पुरुषोंका संकल्प भी ऐसा ही होता है। उच्चकोटिके पुरुष न तो भविष्यकी बात ही निश्चितरूपसे कहते हैं और न निश्चितरूपसे भविष्यका संकल्प ही करते हैं। जो कुछ हो रहा है, वे उसीमें मस्त हैं। एक क्षणके बाद क्या होनेवाला है, क्या होगा, इसकी वे न तो जाननेकी इच्छा ही करते हैं, न जाननेकी आवश्यकता ही समझते हैं और न इस बातके जाननेको अच्छा ही समझते हैं। ऐसे पुरुष ही सत्य-संकल्प होते हैं। जो लोग वृथा संकल्प करते रहते हैं, उनके संकल्प सत् नहीं होते। संकल्पके विषयमें एक रहस्यकी बात यह है कि जो मनुष्य अपना कल्याण चाहते हैं, उनको भविष्यका कोई भी संकल्प नहीं करना चाहिये। भावी संकल्प भावी जन्मका कारण होता है। आपके मनमें यह संकल्प हुआ कि मैं कल कलकत्ते जाऊँगा और किसी कारणसे आज आपकी मृत्यु हो गयी तो फिर आपको उस संकल्पके कारण दूसरा जन्म लेकर कलकत्ते जाना पड़ेगा। इसलिये कल्याणकामी मनुष्यको यही समझना चाहिये कि मुझको कुछ भी नहीं करना है। जो कुछ हो रहा है, उसे देखते रहना चाहिये। एक क्षणके बाद मुझे यह काम करना है, यह संकल्प भी नहीं करना चाहिये। यदि कहा जाय कि 'ऐसा संकल्प न करनेसे कार्य कैसे होगा? भोजन करना है, नीचेसे ऊपर जाना है, ऊपरसे नीचे उतरना है, इसके लिये तो पहले मनमें संकल्प होगा, तभी उसके अनुसार क्रिया होगी।' यह कहना ठीक है। पर इस विषयमें विकल्पसहित ही संकल्प करना चाहिये। विकल्पसहितका अभिप्राय यह है कि जैसे ऊपर जानेकी आवश्यकता है, यह ठीक है पर ऊपर जाना बन जाय तो बन जाय, न बने तो न बने। भोजन करनेका समय हो गया तो भोजनके लिये वहाँसे चल दिये। भोजन मिल गया तो खा लिया, नहीं तो नहीं। कोई संकल्प नहीं। एक लक्ष्यको रखकर चल रहा है, साथमें उस संकल्पके साथ यह विकल्प है—'हो जाय तो अच्छी बात है, न हो तो अच्छी बात है। अमुक काम करनेका विचार है कोई निश्चय नहीं। जो कुछ बन जाय, वही सत्य है।' किसीने पूछा कि 'अब आपको क्या करना है?' तो भीतरसे यह आवाज आनी

चाहिये कि 'कुछ भी करना नहीं है।' जैसे महात्मा—कृतकृत्य पुरुषको तो कुछ करना शेष रहता ही नहीं, वैसे ही साधक पुरुषको भी अपने हृदयमें यह भाव रखना चाहिये कि मुझे कुछ करना नहीं है। वर्तमानमें जो भजन-ध्यान हो रहा है, वह वर्तमान क्रिया ही हो रही है। भविष्यके लिये नहीं। वर्तमान क्रियामें जो साधन चल रहा है, उसके विषयमें उसकी यही समझ है कि ऐसी अवस्थामें प्राण चले जायँ तो कोई हर्ज नहीं है। भविष्यमें तो मेरे लिये कुछ करना शेष नहीं है। जो कुछ हो रहा है, परमात्माकी मर्जीसे हो रहा है। जो भी हो रहा है, सब ठीक हो रहा है। मेरे द्वारा जो कुछ हो रहा है, वह भी परमात्माकी मर्जीसे हो रहा है। परेच्छा, अनिच्छासे जो हो रहा है, वह भी परमात्माकी मर्जीसे हो रहा है। मुझको तो कुछ करना है ही नहीं। मेरे द्वारा भी जो कुछ भी परमात्मा करवा रहे हैं, वह मेरे लिये मङ्गलकी बात है। उनकी जैसी इच्छा हो, करवायें। मुझे तो कुछ भी करना है नहीं। मनमें ऐसा निश्चय रखे कि 'जो कुछ हो रहा है, सब स्वाभाविक ही हो रहा है। परमात्मा करवा रहे हैं। उनकी मुझपर दया है।' इस प्रकारसे निश्चिन्त होकर रहे। जैसे कोई मनुष्य टिकट खरीदकर गठरी-मोटरी लिये ट्रेनपर बैठनेके लिये तैयार है और ट्रेनकी बाट देख रहा है, इसी प्रकारसे मनुष्यको समस्त कार्योंसे निपटकर मृत्युकी प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। यह बहुत ही उत्तम भाव है। महात्मा पुरुषका जो स्वाभाविक भाव है, साधकके लिये वही साधन है।

अतः मनुष्यमात्रका कर्तव्य है कि परमात्माको आत्म-समर्पण करके यह निश्चय रखे कि परमात्मा मेरे द्वारा जो करवा रहे हैं सो ठीक करवा रहे हैं; जो कुछ अनिच्छा-परेच्छासे हो रहा है, ठीक हो रहा है। ऐसा भाव रखे कि भगवान्का जो विधान है, वह वास्तवमें न्याय है और मेरे लिये मङ्गलकारक है। साधकका यह भाव उच्चकोटिका है।

अनिच्छासे जैसे किसीका लड़का मर गया, शरीरमें रोग हो गया, घरमें आग लग गयी तो बहुत आनन्दकी बात है। इसके विपरीत लड़का पैदा हो गया, घरमें लाख रुपये आ गये या शरीर स्वस्थ हो गया—तब भी आनन्दकी बात है। चाहे कोई मान करे या अपमान करे। निन्दा करे या स्तुति करे—दोनोंमें तनिक भी अन्तर नहीं। जैसी निन्दा वैसी ही स्तुति। जैसा मान वैसा ही अपमान। जैसा मित्र वैसा ही शत्रु और जैसा सुख वैसा ही दुःख। इस प्रकार जिनका सर्वत्र समभाव है वे ही पुरुष श्रेष्ठ हैं। ऐसे महात्माके जो लक्षण शास्त्रोंमें बताये गये हैं, उनको लक्ष्य बनाकर जो अभ्यास करता है, वह शीघ्र महात्मा बन जाता है। यह बड़ी मूल्यवान् वस्तु है। महात्मामें तो यह स्वाभाविक है। साधकके लिये आदर्श साधन है। जो मनुष्य साधन मानकर इस प्रकार अभ्यास करता है, वह आगे चलकर शीघ्र ही महात्मा बन जाता है। किसी आदमीने गाली दी तो आनन्द, प्रशंसा की तो आनन्द; उनमें किंचित् भी भेद न समझे। यों समझे कि निन्दा-स्तुति दोनों ही वाणीका विषय है—आकाशका गुण है, शब्दमात्र है। इसमें भला और बुरा क्या है? निन्दा और स्तुति होती है नामकी। मैं नामसे रहित हूँ। मान-अपमान होता है रूपका—देहका, मैं इस रूप या देहसे सर्वथा पृथक्—रहित हूँ। न मेरा मान है, न मेरा अपमान है; न मेरी निन्दा, न मेरी स्तुति। इनसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकारका ज्ञान आत्माका कल्याण करनेवाला है।

प्रेम और निष्कामभाव

अब प्रेमके सम्बन्धमें विचार करें। प्रेम—किसीके भी साथ क्यों न हो, उस प्रेमका वास्तवमें उद्देश्य होना चाहिये—'भगवान्की प्रसन्नता।' प्रेम विशुद्ध होना चाहिये। उसमें कोई कामना नहीं होनी चाहिये। निष्काम प्रेम आत्माका उद्धार करनेवाला है। निष्काम प्रेम किसीके भी प्रति हो और सकाम प्रेम भगवान्के प्रति हो तो इनमें निष्काम प्रेमकी महत्ता अधिक है। यह निष्काम प्रेम भगवान्के साथ हो, तब तो कहना ही क्या है? भाव यही रखना चाहिये कि मैं भगवान्की प्राप्तिके लिये—भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही सबसे प्रेम करता हूँ। यह भाव भी निष्कामके ही समान है। कोई यदि भगवान्की प्राप्तिके लिये या भगवान्में प्रेम होनेके लिये प्रेम नहीं करता, केवल अपना कर्तव्य समझकर ही सबसे निष्काम-भावसे प्रेम करता है, तो उसका फल भी परमात्माकी प्राप्ति ही है। अतः हमें निष्काम-भावसे प्रेम करना चाहिये। यह बहुत ही मूल्यवान् वस्तु है। किसीसे भी परस्परमें जहाँ उच्चकोटिका प्रेम होता है, वहाँ लज्जा, मान, भय, आदर आदि नहीं रहते। यदि प्रेमीके साथ व्यवहारमें लज्जा, मान, भय या आदर है तो समझना चाहिये कि वह प्रेम उच्चकोटिका नहीं है। वैसा उच्चकोटिका प्रेम भगवान्के प्रति हो तो फिर बात ही क्या है? भगवान्की प्राप्ति केवल प्रेमसे हो सकती है,

केवल श्रद्धासे हो सकती है, केवल विशुद्ध भावसे हो सकती है, केवल सत्यके आचरणसे हो सकती है और केवल परोपकारसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है, किंतु वह परोपकार होना चाहिये निष्कामभावसे। एक पुरुष रुपयोंकी परवा न करके या उन रुपयोंसे सिद्ध होनेवाले स्वार्थका त्याग करके दूसरोंका उपकार करता है, दूसरोंकी सेवा करता है। उसमें रुपयोंका त्याग है, शरीरके आरामका भी त्याग है; किंतु उसमें सकाम-भावका त्याग नहीं है। इसलिये केवल आराम तथा रुपयोंका त्याग ही उच्चकोटिका त्याग नहीं है।

शरीरका आराम नहीं चाहा, पर मनमें यह उद्देश्य रहा कि इससे मेरी प्रतिष्ठा हो, मान हो, बड़ाई हो, सत्कार हो तो उसका भी वह परोपकार सकाम ही है। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छा नहीं है; परंतु स्वर्गकी कामना है तो वह कर्म भी सकाम ही है। हाँ ! यदि मुक्तिकी इच्छा है तो इतनी आपत्ति नहीं। यह कामना निष्कामके तुल्य ही है, पर यह भी पूर्ण निष्काम नहीं है; क्योंकि मुक्तिकी जो कामना रहती है, वह भी कभी-कभी बाधा पहुँचा देती है। उदाहरणके लिये मान लीजिये कि कोई भाई मुझसे मुक्तिके लिये प्रेम करते हैं, आगे चलकर उन्हें यदि मालूम हो जाय कि मेरी सेवासे उनकी मुक्ति नहीं हो सकती तो वे मेरी सेवा करना छोड़ देंगे। इससे सिद्ध है, मुक्तिकी इच्छा बाधक हुई। मुक्तिकी भी इच्छा न होती तो मेरा-उनका परस्परका प्रेम कभी कम न होता। इसीसे महात्मालोग किसी भाईसे प्रेम करते हैं तो निष्कामभावसे करते हैं। इसीलिये उनकी ओरसे प्रेम कभी कम नहीं होता। वह भाई ही जब उनमें प्रेम कम कर देता है, तब उसका प्रेम कम हो जाता है। महात्मालोग निष्कामभावसे लोगोंका उपकार करते हैं। इसी प्रकारसे हमें भी निष्कामभावसे ही दूसरोंका उपकार करना चाहिये, लोगोंकी निष्कामभावसे सेवा करनी चाहिये। भगवान् निष्कामभावसे ही सेवा करते हैं, उनके मनमें कोई कामना थोड़े ही है? संसारका उद्धार करना उनका स्वभाव ही है। इसी प्रकार महात्मालोगोंका स्वभाव ही है कि वे लोगोंका अहैतुक हित करते रहते हैं। उनमें अपना कोई स्वार्थ नहीं है।

न तो ऐसे पुरुषोंको कुछ करनेसे प्रयोजन है और न कुछ न करनेसे। समस्त भूत-प्राणियोंमें उनका अपना किसीमें किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ नहीं है। उनके द्वारा समस्त कर्म सहज लोकहितार्थ ही होते हैं। यह बात भगवान्‌ने गीता अध्याय ३ श्लोक १८ में* बतलायी है। ये महात्माओंके लक्षण हैं। इन्हींको लक्ष्यमें रखकर उनका अनुकरण करना चाहिये। इस प्रकार जानकर जो साधक साधन करता है, उसका अन्तःकरण बहुत शीघ्र पवित्र हो जाता है।

जो निष्काम-भावसे सेवा करता है और यह समझता है कि मैं अपने कर्तव्यका पालन करता हूँ, भगवान् तो सब जानते ही हैं, इसका परिणाम हमारे लिये शुभ ही होगा। इसमें भी सूक्ष्मतासे विचार करके देखनेपर कामना ही सिद्ध होती है। अतः ऐसी कामना भी नहीं रखनी चाहिये। फलकी ओर कभी ध्यान ही नहीं देना चाहिये। यह समझना चाहिये कि '**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' मुझे केवल कर्म करनेका ही अधिकार है, फलका कभी नहीं, फिर जो अनधिकार चेष्टा करना है, वह भी भूल ही है।

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार साधन करनेसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

सत्यनिष्ठासे भगवत्प्राप्ति

भगवान्‌ने गीता अध्याय १७ श्लोक २३ में कहा है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

'ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये।'

ॐ, तत्, सत्—ये तीन परमात्माके नाम हैं। इनका किन-किन स्थानोंपर प्रयोग करना चाहिये, यह बात गीतामें बतलायी गयी है। यहाँ इनमेंसे सत्‌के विषयपर कुछ विचार किया जाता है। 'सत्' साक्षात् परमात्माका नाम है और परमात्माका स्वरूप भी 'सत्' ही है। सत्‌का प्रयोग करते हुए भगवान् गीतामें कहते हैं—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥

(१७। २६)

'सत्—इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्य-

* नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

भावमें और श्रेष्ठभावमें प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ! उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है।'

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥
(१७। २७)

'यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है।'

'**सद्भावे साधुभावे च**'—'सत्' शब्दका भावमें यानी अस्तित्वमें और साधु भावमें यानी श्रेष्ठ भावमें प्रयोग किया जाता है। 'सत्' शब्दका प्रयोग परमात्माके स्वरूपके विषयमें किया गया है, क्योंकि परमात्माका स्वरूप सत् है—भावरूप है। गीतामें कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
(२। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है।'

इस सिद्धान्तके अनुसार परमात्मा सत्स्वरूप हैं, उनका कभी अभाव नहीं होता; इसीलिये 'सत्' शब्द परमात्माके स्वरूपका वाचक है। हृदयके उत्तम भाव—श्रेष्ठ भावको 'सद्भाव' कहते हैं तथा कल्याण करनेवाली जितनी उत्तम क्रियाएँ (साधन) हैं, उनको भी 'सत्' कहा गया है; '**प्रशस्ते कर्मणि**' से यह बात बतलायी गयी। अर्थात् 'सत्' शब्द सद्भावमें (अस्तित्वमें), परमात्माके स्वरूप-विषयमें और श्रेष्ठ भावमें तथा उत्तम कर्मोंमें प्रयुक्त किया जाता है।

हमलोगोंको अपने हृदयमें यह समझ लेना चाहिये कि जिस वस्तुका विनाश हो जाता है, वह असत् है और जिस वस्तुका कभी विनाश नहीं होता, वह सत् है। सत् परमात्माका नाम और स्वरूप है, अतः परमात्मा नित्य सत् है। हमें विश्वास करना चाहिये कि परमात्मा है। फिर परमात्माका कैसा स्वरूप है, यह तो स्वयं परमात्मा बतलायेंगे। जब परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी, तब हमें इसका यथार्थ ज्ञान हो जायगा कि परमात्माका स्वरूप कैसा है। जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक हम जो परमात्माके साकार या निराकार अथवा सगुण या निर्गुण स्वरूपका ध्यान करते हैं, वह शास्त्रोंके और महात्माओंके वचनोंके आधारपर ही करते हैं; किंतु वास्तवमें परमात्माका जो स्वरूप है, वह तो हमलोग जो ध्यान करते हैं या समझते हैं, उससे बहुत ही विलक्षण है। इसलिये जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक परमात्माके यथार्थ स्वरूपका अनुभव हम नहीं कर सकते। अतः इतना ही हमारे लिये पर्याप्त है कि हम यह विश्वास करें कि 'भगवान् हैं।' यह विश्वास होनेपर हमको भगवान्की प्राप्ति अवश्य हो सकती है। जब हमारा भगवान्पर विश्वास हो जायगा और हमारे हृदयमें यह निश्चय हो जायगा कि भगवान् हैं, तब हमारी सारी क्रियाएँ सत् और सात्त्विक होने लगेंगी। इसकी यह कसौटी है; क्योंकि जब हमें यह विश्वास है कि भगवान् हैं, तब भगवान्को देखते हुए हम असत् कर्म कैसे कर सकते हैं। यदि करते हैं तो भगवान्में हमारा विश्वास कहाँ? जिनका भगवान्में विश्वास हो जाता है, उनके द्वारा भगवान्की आज्ञाके विरुद्ध कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। उनकी सारी क्रियाएँ भगवान्की आज्ञाके अनुसार ही हुआ करती हैं। जब हमें यह ज्ञान है कि भगवान् सब जगह हैं, हम जो कुछ करते हैं, भगवान् देख रहे हैं, जो कुछ बोलते हैं, भगवान् सब सुन रहे हैं, तब भला बतलाइये, हम भगवान्के विरुद्ध कैसे बोलेंगे और कैसे कोई क्रिया करेंगे? अतः इसके लिये हमें भगवान्के नाम और रूपकी शरण लेनी चाहिये।

'सत्' जो भगवान्का नाम है, उस भगवान्के नामको हर समय याद रखना भगवान्के नामकी शरण लेना है तथा 'सत्' जो भगवान्का स्वरूप है, उसको हर समय याद रखना—यह भगवान्के सत्स्वरूपकी शरण है। जो इस प्रकारसे भगवान्के नाम-रूपकी शरण ले लेता है, उसे हर समय यह ज्ञान रहता है कि भगवान् सब जगह हैं। भगवान्का कैसा स्वरूप है, यह ज्ञान न होते हुए भी उसे भगवान्की प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि उसके हृदयमें यह निश्चय है कि भगवान् हैं। उनकी सत्ता सर्वत्र और सर्वकाल है। ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ भगवान् न हों। ऐसा कोई काल नहीं, जिस कालमें भगवान् न हों। भगवान् सर्वत्र हैं, नित्य हैं। भगवान् किस प्रकारसे सब जगह हैं, इसके लिये गीताके तेरहवें अध्यायके १३ वें श्लोकका अर्थ समझना चाहिये।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

'वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है।'

'परमात्मा संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित

हैं'—ऐसा ज्ञान रहनेसे उसे बहुत शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। सब जगह उनके हाथ हैं—यह कहनेका अभिप्राय यह है कि हम जो कुछ भी भगवान्‌को समर्पण करते हैं, उसको भगवान् सब जगह ग्रहण कर लेते हैं; क्योंकि उनके हाथ व्यापक हैं, एकदेशीय नहीं। सब जगह उनके चरण हैं—यह कहनेका यह अभिप्राय है कि हम जब जहाँ भगवान्‌के चरणोंमें नमस्कार करते हैं, उसे भगवान् वहीं स्वीकार कर लेते हैं; क्योंकि उनके चरण सब जगह हैं, एकदेशीय नहीं। जैसे हाथ व्यापक हैं, वैसे ही चरण भी व्यापक हैं। सभी जगह भगवान्‌के नेत्र हैं—यह कहनेका यह अभिप्राय है कि हम जो कुछ कर रहे हैं, भगवान् सब देख रहे हैं; क्योंकि भगवान्‌के नेत्र सब जगह व्यापक हैं। जब हमारा ऐसा भाव होगा, तब हमसे कोई भी बुरा काम नहीं होगा अर्थात् भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध कोई भी क्रिया नहीं होगी। सब जगह भगवान्‌का सिर है—यह कहनेका अभिप्राय यह है कि हम जो कुछ भी पत्र-पुष्पादि भगवान्‌का भाव करके जहाँ-कहीं भी चढ़ाते हैं, वे भगवान्‌के मस्तकपर ही चढ़ जाते हैं; क्योंकि भगवान्‌का मस्तक सब जगह व्यापक है। सब जगह भगवान्‌का मुख है, इस कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान्‌का मुख सब जगह व्यापक है। अतः भगवान्‌को जो कुछ हम प्रेमसे भोग लगाते हैं, उसको भगवान् स्वयं खा लेते हैं। गीतामें कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसे खाता हूँ।'

इससे यह बात सिद्ध हुई कि भगवान् सब जगह हैं और उनका मुख भी सब जगह है। सब जगह उनके कान हैं—इस कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के कान व्यापक हैं, एकदेशीय नहीं। हम जहाँ-कहीं भी जो कुछ बोलते हैं, भगवान् वहीं सुन लेते हैं। भगवान् सबको घेरकर सब जगह स्थित हैं—इससे भगवान्‌का अभिप्राय यह है कि कोई अणुमात्र भी ऐसी जगह नहीं, जहाँ भगवान् न हों। इस बातको समझकर हमें सदा ही निर्भय रहना चाहिये। जब हमारे प्रभु सब जगह मौजूद हैं, तब हमें किस बातका भय है? ऐसा समझनेवालेके हृदयमें निर्भयता और धीरता आ जाती है। फिर वह भारी-से-भारी विपत्ति आ पड़नेपर भी घबराता नहीं, क्योंकि भगवान् सदा सर्वत्र उसके पास हैं। छोटा-सा साल-दो-सालका बच्चा माँकी गोदमें बैठकर डरता नहीं, वह समझता है कि मैं माँकी गोदमें बैठा हूँ। जब माँकी गोदमें बैठनेवाला छोटा बच्चा भी भय नहीं करता, तब हम बच्चेसे तो अपनेको कुछ अधिक ही समझदार मानते हैं; तब फिर हमको क्यों भय करना चाहिये? माँकी गोदकी अपेक्षा भगवान्‌की गोद तो और भी बहुत ही उत्तम और निर्भयताको देनेवाली है। ऐसी परिस्थितिमें हमें भय ही क्या है? जिस प्रकार भगवान्‌के सब अङ्ग सब जगह हैं, वैसे ही भगवान्‌की गोद भी सब जगह है। अतएव अपनेको भगवान्‌की गोदमें समझनेवाले भक्तके हृदयमें निर्भयता, गम्भीरता, वीरता, धीरता आदि अनेक गुण आ जाते हैं। इससे उसके हृदयमें आत्मबल आ जाता है। वह कभी किसी कामके लिये यह नहीं समझता कि मैं इसे नहीं कर सकता। वह कभी भगवान्‌की आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं करता। जो कुछ करता है, भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही करता है, इसलिये उसे यमराजका भी भय नहीं रहता; क्योंकि यमराजकी भी सामर्थ्य नहीं कि उसे दण्ड दे सकें। अपराध होनेपर ही यमराज दण्ड दे सकते हैं। पूर्वमें किये हुए अपराधके फलस्वरूप उसे जो कुछ दुःख आदि प्राप्त होते हैं, उनको भगवान्‌का मङ्गलविधान एवं प्रसाद समझकर वह हँसता हुआ प्रसन्नताके साथ स्वीकार करता है।

भगवान्‌के सभी जगह हाथ, पैर और कान आदि हैं, यह बात ऊपर कही गयी है। तो क्या सब प्राणियोंकी इन्द्रियाँ ही भगवान्‌की इन्द्रियाँ हैं अर्थात् क्या सबकी आँखें ही भगवान्‌की आँखें हैं और सबके कान ही भगवान्‌के कान हैं? आदि-आदि यह समझना भी ठीक है, किंतु इतना ही नहीं, इसके अतिरिक्त और भी विशेष बात है। वह यह कि भगवान्‌की इन्द्रियाँ सर्वत्र व्यापक हैं, प्राणियोंकी भाँति एकदेशीय नहीं। गीतामें बतलाया है—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।

(१३। १४)

'वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परंतु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है।'

अतएव आँख, हाथ, पैर, कान आदि इन्द्रियोंका

जो वर्णन किया गया है, इस प्रकार प्राणियोंकी इन्द्रियोंके समान उनकी इन्द्रियाँ नहीं हैं। उनकी इन्द्रियाँ सब जगह व्यापक हैं, निराकार हैं। वे इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभव सब जगह स्थित हुए करते हैं। यदि कहें कि एक इन्द्रिय सब जगह कैसे हो सकती है, जहाँ हाथ है; वहाँ पैर नहीं, जहाँ पैर है, वहाँ हाथ नहीं, यह ठीक है; किंतु उनकी विलक्षणता अलौकिक है। निराकाररूपसे उनके सभी जगह हाथ, सभी जगह पैर, सभी जगह आँखें आदि इन्द्रियाँ हैं और वे स्वयं भी सब जगह व्यापक हैं। कैसे? जैसे तारके भीतर बिजली है। उस बिजलीमें सभी शक्तियाँ सब जगह हैं। जैसे तारके भीतर शक्ति उस बिजलीमें सब जगह है, जैसे पंखेके द्वारा हवाकी शक्ति उसमें सब जगह है, जैसे शब्दकी (रेडियो आदिके द्वारा) शक्ति सब जगह है और जैसे बलकी (मशीन और रेल आदि चलानेकी) शक्ति सब जगह है, यह नहीं कि अमुक जगह ही अमुक शक्ति है, उसकी शक्ति सर्वत्र व्यापक है, किंतु आँखोंसे दीखती नहीं; इसी प्रकार इससे भी बढ़कर परमात्माकी शक्ति सब जगह व्यापक है, क्योंकि परमात्मा तो बिजली और अग्निकी भी अपेक्षा सर्वथा विलक्षण भावसे विशेषरूपसे व्यापक हैं। एवं जिस प्रकार सब जगह समान भावसे होते हुए भी बिजलीकी शक्ति तारमें विशेषरूपसे है, उसी प्रकार परमात्मा सब जगह समान भावसे होते हुए भी भक्तके हृदयमें विशेषरूपसे हैं। भगवान् सब जगह हैं। सब जगह होनेसे उनके हाथ, पैर आदि भी निराकाररूपसे सब जगह व्यापक हैं। सब जगह हाथ, पैर होनेका मतलब यह है कि हाथ-पैरकी जो शक्ति है, वह सब जगह है। हमारी जो आँखें हैं, यह तो नेत्रेन्द्रियका स्थान (गोलक) है। वास्तवमें देखनेकी जो शक्ति है, वही असलमें नेत्रेन्द्रिय है, वह निराकार है। यह जो आपको आँखें दीखती हैं, देखनेकी इन्द्रियका स्थान होनेसे इनको 'नेत्र' कहते हैं। हम जिसे कान कहते हैं, वास्तवमें वह इन्द्रिय नहीं है। वह तो सुननेकी इन्द्रियका स्थान (गोलक) है। इन्द्रिय तो उसमें जो सुननेकी शक्ति है, वह है; क्योंकि जब इन्द्रिय नष्ट हो जाती है, तब कानका गोलक कायम रहते हुए भी सुनता नहीं। इसलिये समझना चाहिये कि वास्तवमें इन्द्रियाँ निराकार हैं, इन्द्रियोंके गोलक इन्द्रियाँ नहीं हैं और भगवान्‌की इन्द्रियाँ तो विशेषतया निराकाररूपसे सर्वत्र व्यापक हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि 'परमात्मा सदा-सर्वदा सब जगह हैं'—हमारे हृदयमें जो यह भाव है तथा हम जो भगवान्‌के नाम-रूपको हर समय याद रखते हैं—यही भगवान्‌की वास्तविक शरण है; क्योंकि भगवान्‌का नाम भी सत् है और भगवान्‌का स्वरूप भी सत् है—इस प्रकारकी स्मृति रखनेसे हमारे हृदयके भाव भी सत् होंगे और हमारी बाहरकी क्रियाएँ भी सत् होंगी। बाहरकी क्रिया भीतरके भावके अनुसार ही होती है और भीतरका भाव बुद्धिके निश्चयके अनुसार होता है। जब हमारी बुद्धिमें यह दृढ़ निश्चय हो जायगा कि भगवान् हैं, तब हमारे हृदयमें जितने भाव हैं, वे सब पवित्र, अलौकिक और उत्तम हो जायँगे। जितने उत्तम भाव हैं, उनका नाम 'सद्भाव' है और जितने उत्तम कर्म हैं, उनका नाम 'सत्कर्म' है। जो इससे विपरीत है, उसे असत् कहते हैं। सत्स्वरूप भगवान्‌की शरण होनेपर हमारी बाहरकी सारी क्रियाएँ पवित्र और सत्य होने लगेंगी अर्थात् हम वचन भी सत्य बोलेंगे, हमारे आचरण भी सत्य होंगे और हमारा भोजन भी सत्य होगा। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना॥

लेना-देना सब झूठा, व्यापार सब झूठा और भोजन भी झूठा। यहाँ यह बात समझमें नहीं आती थी कि भोजन उच्छिष्ट (जूठा) तो होता है पर झूठा क्या? मिथ्या क्या? इसका उत्तर यह है कि जो अन्यायसे द्रव्योपार्जन करके भोजन किया जाता है, वह मिथ्या भोजन है। अर्थात् असत्यकी कमाईका भोजन मिथ्या भोजन है। दूसरी बात यह है कि हम बाजारसे चावल, गेहूँ आदि कोई खानेकी चीज खरीदकर लाते हैं उसे यदि कंट्रोलके कारण पुलिसका कर्मचारी पकड़ लेता है तो कहते हैं कि हमारे पास गेहूँ नहीं जौ है, हमारे पास चावल नहीं चना है। तो यह हमारा झूठा व्यवहार है। इसलिये हमारा वह भोजन भी मिथ्या है। खाते तो हैं चावल-गेहूँ और बताते हैं जौ-चना। इस मिथ्याके कारण हमारा वह भोजन मिथ्या हो जाता है। इसी प्रकार जो सत्यतापूर्वक कमाये हुए द्रव्यका अन्न है, वह सत् है। शास्त्रके अनुकूल जो सात्त्विक भोजन है, वह सत् है और उससे जो विपरीत भोजन है, वह असत् है। इसलिये भोजन भी हमारा सत् ही होना चाहिये।

बाहरकी क्रियाओंमें दो बातें प्रधान हैं—आहार और व्यवहार। व्यवहारमें वाणीका व्यवहार और इन्द्रियोंका व्यवहार। वाणीका व्यवहार सत्य क्या है? यथार्थ, प्रिय

और हितके वचन बोलना और इन्द्रियोंका व्यवहार सत्य क्या है ? उत्तम आचरण करना। आहार सत्य क्या है? भोजनकी पवित्रता। भोजनकी पवित्रता भी तीन प्रकारकी होती है— (१) न्यायसे उपार्जन किये हुए द्रव्यसे खाद्य पदार्थ खरीदकर हम खायें, वह पवित्र भोजन है। (२) जो वस्तु स्वभावसे ही पवित्र है; जो अपवित्र नहीं और शास्त्रके अनुकूल हैं, उन पदार्थोंका भोजन पवित्र है। जैसे दाल, चावल, खिचड़ी, रोटी, तरकारी और फल आदि तथा दूध, दही, घी आदि चीजें तो पवित्र हैं; किन्तु शास्त्रनिषिद्ध लहसुन-प्याज आदि और नशेवाली जो तामसी मादक वस्तुएँ हैं तथा जो उच्छिष्ट हैं एवं जो मांस, अंडा आदि हैं, यह सब तो महान् अपवित्र और निषिद्ध हैं। इसी प्रकार जो राजसी वस्तुएँ हैं, वह भी असत् ही हैं। जो नाना प्रकारके मसाले हैं—जैसे नमक, मिर्च, खटाई, राई आदि तथा जो तीक्ष्ण, रूक्ष, अति गरम और दाहकारक पदार्थ हैं, वे सभी राजसी हैं। राजसी-तामसी—ये दोनों ही भोजन असत् हैं। सात्त्विक ही सत् है। अतः भोजन भी हमारा सात्त्विक होना चाहिये। इस प्रकार एक तो न्यायसे उपार्जन किये हुए द्रव्यसे खरीदकर खाद्य पदार्थ खाते हैं, वह सत् है। दूसरे जो भोजन पदार्थरूपमें पवित्र यानी सात्त्विक है, वह सत् है। (३) तीसरे, जो भोजन शौचाचार और शुद्धतापूर्वक बनाया गया है, जिसमें शुद्ध घी, चीनी, आटा आदि हो, शुद्ध जल हो और वह शुद्धतासे बनाया जाय अर्थात् जगह शुद्धतापूर्वक साफ-सुथरी की जाय, संस्कारसे शुद्ध की जाय और शुद्धभावसे भोजन बनाया जाय तो वह इस प्रकार बनाया हुआ भोजन पवित्र है।

बाहरकी पवित्रता क्या है? हमारे जो सात्त्विक कर्म हैं, वे सत् हैं, यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, सेवा आदि शास्त्रविहित क्रियाएँ सत्कर्म हैं। इसी प्रकार भगवान्‌के भक्तिविषयक जितने कर्म हैं, जैसे भगवान्‌का भजन करना, ध्यान करना, भगवान्‌की पूजा करना, नमस्कार करना आदि— ये तो सब सत्कर्म हैं ही। जितनी शास्त्रविहित उत्तम क्रियाएँ हैं, वे भी सब सत् हैं। अतः बाहरकी हमारी सब क्रियाएँ सत् ही होनी चाहिये अर्थात् हमारा व्यवहार भी सबके साथ सत् ही होना चाहिये। उत्तम, पवित्र और सात्त्विक व्यवहारको 'सत्य व्यवहार' कहते हैं। 'इसका व्यवहार सत्य है, इसका व्यवहार श्रेष्ठ है'—इस प्रकार श्रेष्ठ कहना या सत् कहना एक ही बात है। इसीको 'साधु व्यवहार' कहते हैं। इसीको 'सत् व्यवहार' कहते हैं। इसीको 'सदाचार' कहते हैं। सदाचारसे सारे धर्मोंकी उत्पत्ति होती है। महाभारतमें बतलाया है—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥

(अनुशासन० १४९। १३७)

'सब शास्त्रोंमें आचारको प्रथम माना जाता है, आचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्मके स्वामी अच्युत भगवान् हैं।'

धर्मके पालनसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है, इसीलिये कहा गया है कि धर्मके प्रभु भगवान् हैं और सारे धर्मोंकी उत्पत्ति आचारसे होती है। आचारके दो भेद हैं—शौचाचार और सदाचार। शौचाचारका अभिप्राय है— जल और मृत्तिका आदिसे शरीरको शुद्ध बनाना और सदाचारका अभिप्राय है—सबके साथ स्वार्थ, ममता और अभिमानरहित उत्तम व्यवहार करना। उस उत्तम व्यवहारके अन्तर्गत ही बाहरकी समस्त उत्तम क्रियाएँ हैं, जो मैं आपको बतला चुका हूँ। यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा, जप—ये सब चीजें उसके अन्तर्गत आ जाती हैं। हमारे आचरण पवित्र होनेका प्रधान उपाय है—स्वार्थ, ममता और अभिमानसे रहित होकर व्यवहार करना; किंतु हम जो व्यवहार करते हैं, उसमें जब हमारेमें अभिमान आ जाता है, तब वह हमारा व्यवहार असत् हो जाता है। इसी प्रकार क्रोधसे और लोभसे भी व्यवहार असत् हो जाता है तथा मूर्खतासे भी व्यवहार असत् हो जाता है। इसलिये जिसका व्यवहार सत् होता है, उसके काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण भी दूर हो जाते हैं। जिसके हृदयसे दुर्गुणोंका सर्वथा अभाव हो जाता है, उससे तो फिर अपने-आप सत् ही व्यवहार होता है। जब असत्‌के हेतु उसमें हैं ही नहीं, तब उसका व्यवहार असत् कैसे होगा? उसका व्यवहार तो स्वतः शुद्ध हो जाता है। व्यवहारकी शुद्धिमें मूल कारण निरभिमानता और निष्कामभाव है। हृदयका जो निष्कामभाव है, वही सत्-भाव है। वही उत्तम भाव है, श्रेष्ठ भाव है, साधु भाव है। अतः जब हृदयमें निष्कामभाव आ जाता है, तब हमारी सारी क्रियाओंमें भी निष्कामभावका प्रवेश हो जाता है। फिर हमारी सारी क्रियाएँ स्वतः ही पवित्र हो जाती हैं। किसीके साथ आप व्यवहार करते हैं तो उसमें आप स्वार्थका त्याग कर दीजिये और स्वार्थका

त्याग करके आप त्याग करनेका जो अभिमान है, उसका भी त्याग कर दीजिये तो फिर आपका वह व्यवहार अपने-आप ही परम पवित्र उच्चकोटिका हो सकता है। इस प्रकारका जो व्यवहार है, वह सत्-व्यवहार है। इसलिये हमको बोलना भी सत्य ही चाहिये, चाहे भले ही हमारे प्राण ही चले जायँ; कभी असत्य नहीं बोलना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें १७ वें अध्यायके १५ वें श्लोकमें वाणीका तप बतलाते हुए कहा है—'**सत्यं प्रियहितं च यत्**' वचन कैसा होना चाहिये? सत्य, प्रिय और हितकर। गीताके इस एक श्लोकके एक चरणमें तीन बातें बतला दीं। श्रीमनुजीने एक श्लोकमें दो बातें बतलायी हैं, उन्हींका विस्तार करके यहाँ भगवान्‌ने तीन बातें बतलायीं। मनुजीने कहा है—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

(४। १३८)

'सत्य बोले; और प्रिय बोले किंतु ऐसा सत्य न बोले, जो अप्रिय हो तथा ऐसा प्रिय भी न बोले, जो असत्य हो— यह सनातन धर्म है।'

यदि यह कहा जाय कि मनु महाराजने 'सत्य' और 'प्रिय' बोलनेके लिये ही आज्ञा दी है, इसमें 'हित' शब्द क्यों नहीं आया सो ठीक है, किंतु 'हित' शब्द सत्य और प्रिय इन दोनोंके अन्तर्गत ही है। वास्तवमें प्रिय वही है, जिसमें हित है। यदि मैं आपको प्यारी-प्यारी मनसुहाती बात कहूँ, किंतु वह बात यदि आपके लिये भविष्यमें अहित करनेवाली हो तो जब कभी आपको यथार्थ पता लगेगा, तब आप कहेंगे कि 'वह बात तो प्यारी-प्यारी कहता था, किंतु उसमें हमारा अहित भरा था।' तो वह बात वास्तवमें आगे जाकर प्रियकारक नहीं रहेगी। इसलिये यथार्थ प्रिय वही है, जिसमें वास्तवमें हमारा हित है। अहितकी बात जो हमको प्रिय लगती है, वह हमारे अज्ञानसे लगती है। असलमें वह आत्माके विरुद्ध एवं आत्माका पतन करनेवाली होनेसे हमारे लिये अप्रिय ही है, प्रिय नहीं। इसलिये यह समझ लेना चाहिये कि उस प्रियके अंदर ही हित भरा हुआ है। इसी प्रकार सत्यके अंदर भी हित भरा हुआ है; क्योंकि जो बात सत्य होती है, वही हितकर होती है। सत्यसे कभी अहित होता ही नहीं और जिससे अहित होता है, वह सत्य ही नहीं है। सत्य वचन कभी कठोर और अप्रिय तो प्रतीत हो सकते हैं; किंतु सत्य होकर वह वचन हितकर न हो, ऐसी बात नहीं हो सकती। इसलिये उन्होंने 'हित' शब्द अलग न कहकर यही कह दिया कि सत्य बोलना चाहिये और प्रिय बोलना चाहिये। यदि कहें कि फिर भगवान्‌ने 'हित' शब्दका प्रयोग क्यों किया? तो इसका उत्तर यह है कि इसी तत्त्वका स्पष्टीकरण करनेके लिये; क्योंकि बहुत-से आदमी इसे ठीक समझते नहीं, वे यह समझते हैं कि कोई वचन प्रिय होकर भी अहितकर हो सकता है। इसलिये भगवान्‌ने कहा कि सत्य भी बोलना चाहिये, प्रिय भी बोलना चाहिये और हितकर वचन भी बोलना चाहिये।

अब यह समझना है कि किन-किन स्थानोंमें असत्‌की सम्भावना है। इसपर भी कुछ गम्भीरतासे विचार करना चाहिये। जो आदमी भविष्यकी क्रिया बोलता है, उसमें असत् शब्द होनेकी सम्भावना रहती है, जैसे मैं आपको कहूँ कि 'मैं कल अमुक स्थानमें जाऊँगा' किंतु बीमार पड़ गया तो नहीं जा सका; तो यहाँ असत्यके लिये गुंजाइश है। अतः ऐसी अवस्थामें मुझे विचारकर बोलना चाहिये। ऐसी प्रतिज्ञा क्यों करनी चाहिये कि मैं कल जाऊँगा। 'अच्छा, कलके लिये विचार रखना चाहिये, यदि हो सका तो कल जाना हो सकता है'—ऐसा कहनेमें असत्यको गुंजाइश नहीं है। नहीं भी जाना हो तो उससे हमारे वचन मिथ्या नहीं होंगे।

एक कथा है। इसको हमने महाभारत आदि शास्त्रोंमें तो नहीं देखा, किंतु लोकोक्ति सुनी जाती है। एक समय राजा युधिष्ठिरके पास कोई एक ब्राह्मण दान लेने आया तो उस ब्राह्मण देवतासे महाराज युधिष्ठिरने कह दिया—'हम आपको कल दान देंगे।' यह सुनकर अर्जुन आदि भाइयोंने हर्षपूर्वक बड़ा उत्सव मनाया। तब महाराज युधिष्ठिरने अर्जुनसे पूछा— 'भैया! आज कौन-सा पर्व है जो तुमलोग उत्सव मना रहे हो?' अर्जुन बोले—'प्रभो! आज बड़ा उत्सव है, बहुत ही अच्छा पर्व है।' युधिष्ठिरने पूछा—'क्या?' अर्जुनने कहा—'आपने उस ब्राह्मणसे जो यह कहा कि हम आपको कल दान देंगे और आप सत्यवादी महात्मा हैं। आपके वचन असत्य तो होंगे नहीं। अतः यह निश्चय हो गया कि कलतक तो आपके दर्शन हमलोगोंको हो सकते हैं।' युधिष्ठिरने कहा—'अहो! मैंने ऐसा कह दिया, बड़ी भूल की।' भाव यह है कि अर्जुन कहना तो यह चाहते थे कि 'प्रभो! आप-जैसे पुरुषोंको इस प्रकार भविष्यकी प्रतिज्ञा करके वचन नहीं कहने

चाहिये।' किंतु इन शब्दोंमें कहना तो बड़े भाईको उपदेश देना है। इसलिये यों न कहकर उपर्युक्त सुन्दर शब्दोंमें संकेत किया, जो उनके योग्य थे।

इससे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हम भी ऐसे ही वचन कहें, जिनमें कहीं भविष्यकी क्रिया न आये; तब उनके मिथ्या होनेकी गुंजाइश नहीं रहेगी। इसी प्रकार अपने हृदयमें भविष्यका संकल्प भी नहीं करना चाहिये। यदि हम भविष्यके लिये दृढ़ संकल्प कर लेंगे और उसे काममें न ला सकेंगे तो हमारे हृदयका संकल्प असत्य हो जायगा। हृदयका संकल्प असत्य होनेसे एक तो यह हानि होगी कि हमें उसको पूरा करनेके लिये पुनर्जन्म लेना पड़ेगा। हमने हृदयमें संकल्प कर लिया कि हम निश्चय ही कलकत्ता जायँगे और किसी कारणसे हम मर गये तो मरनेके बाद हमारा जन्म कभी कलकत्तेमें होगा; क्योंकि मरनेके पहले हमारा जो दृढ़ संकल्प था, उसकी पूर्ति नहीं हुई तो संकल्पकी पूर्ति करनेके लिये हमें फिर कभी कलकत्तेमें जन्म लेना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि यदि हमारा संकल्प बार-बार बदलता रहेगा तो हमारे हृदयमें सत्य-संकल्पकी प्रतिष्ठा नहीं होगी। जैसे कोई आदमी बार-बार झूठ बोलता है तो उसकी वाणी कभी सत्य-प्रतिष्ठावाली नहीं हो सकती। महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

(योग० २। ३६)

'सत्यकी प्रतिष्ठा हो जानेपर वक्ताकी क्रिया फलवती होती है।'

सत्यवादी पुरुष जो कुछ वाणीसे कह देता है, उसका वचन सत्य हो जाता है। जैसे पूर्वकालमें सत्यवादी तपस्वी पुरुष किसीको शाप दे देते थे, वरदान दे देते थे, आशीर्वाद दे देते थे तो वे सब सत्य हो जाते थे, क्योंकि वे सत्यवादी थे। जो मनुष्य सत्य नहीं बोलता, उसके सत्यकी प्रतिष्ठा नहीं होती। इसलिये उसकी वाणी फलवती नहीं होती। इसी प्रकार जो मनुष्य मिथ्या संकल्प-विकल्प करता रहता है, जिसके संकल्पका कोई आदर नहीं है, उसके संकल्प भी सत्य नहीं होते। इसलिये हमको अपना संकल्प सत्य ही करना चाहिये अर्थात् संकल्पमें परिवर्तन नहीं करना चाहिये।

वाणीकी सत्यतासे हृदयकी (मनके संकल्पकी) सत्यता श्रेष्ठ है। वाणीकी जो सत्यता है, वह बाहरकी सत्यता है और हृदयके भावोंकी जो सत्यता है, वह भीतरकी सत्यता है; वह उससे अधिक मूल्यवान् चीज है। इससे भी मूल्यवान् वस्तु है हमारी बुद्धिका यह निश्चय कि 'परमात्मा है और वह सत्य है, नित्य है।' इस प्रकारका हमारे हृदयका निश्चय जितना ही अधिक और दृढ़ हो जाता है, उतना ही हम भगवान्‌के अधिक समीप पहुँच जाते हैं। इसलिये हृदयमें विशेष दृढ़ता और विश्वासके साथ यह निश्चय रखना चाहिये कि 'भगवान् हैं, इसमें कोई भी शङ्का नहीं और भगवान् हैं तो हमें किस बातकी चिन्ता और भय है। भगवान् हैं और मिलते हैं, तब हम वञ्चित क्यों रहें। हमको और करना ही क्या है? निश्चय ही हमको यही काम कर लेना उचित है।'

वाणीकी असत्यताकी गुंजाइश और कहाँ है ? मनुष्यको जब क्रोध आ जाता है तो वह क्रोधके वशीभूत होकर चाहे सो बक देता है। अतः सत्यका अभ्यास करनेवालेको क्रोध नहीं करना चाहिये। वास्तवमें सत्यवादी पुरुषको तो क्रोध आता ही नहीं; क्योंकि उसके हृदयके भाव सत्य हो जाते हैं। क्रोध तो असत्‌की जड़ है। और भी जितने लोभ, काम आदि दुर्गुण हैं, वे भी सब असत्‌की ही जड़ हैं; क्योंकि लोभी और कामी पुरुष पद-पदपर असत्य बोलता रहता है। किंतु जिनके हृदयमें सत्-भाव है, उनकी क्रियाएँ भी सब सत् होती हैं।

सत्-भाव क्या है? इसका वर्णन गीतामें मानसिक तपके नामसे किया गया है।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

(१७। १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

ये सब सद्‌भाव हैं। जब इस प्रकारका सद्भाव हो जाता है, तब हृदय पवित्र हो जाता है। फिर उसके हृदयमें राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि कोई भी असत् पदार्थ (असद्भाव) नहीं रहते। इन असत् पदार्थोंके रहते हुए अन्तःकरणकी पवित्रता नहीं मानी जाती। जब उसके हृदयमें ही दोष नहीं हैं, तब उसकी वाणी आदि क्रियाओंमें दोष आ ही कैसे सकते हैं? क्योंकि जो चीज हृदयमें ही नहीं है, वह बाहरके व्यवहारमें कहाँसे आयेगी?

साधकको पहले बाहरकी शुद्धिकी चेष्टा करनी

चाहिये। बाहरकी शुद्धि क्या है? आहारकी शुद्धि, व्यवहारकी शुद्धि और वाणीकी शुद्धि। सत्य, प्रिय और हितकर वाणी ही शुद्ध वाणी है। सत्य वचन बोलते समय अधिक नहीं बोलना चाहिये, मितभाषी होना चाहिये और किसीकी निन्दा-स्तुति नहीं करनी चाहिये; क्योंकि निन्दा-स्तुति करनेमें आवेशमें आकर मनुष्य अधिक बोल जाता है। स्तुति करता है तो स्तुति भी अधिक कर जाता है और निन्दा करता है तो निन्दा भी अधिक कर जाता है; किंतु सत्य वचन तो वह है कि जो बात जैसी सुनी, देखी और समझी गयी हो, वैसी ही कहना; न अधिक कहना, न कम कहना। अपनी प्रशंसा करता है तो अधिक कह जाता है और अपनी निन्दा करता है, दोष बतलाता है तो कम बतलाता है, तो कम कहना भी असत्य है और अधिक कहना भी असत्य है। सत्य तो वही है—जो बात जैसी सुनी, देखी और समझी हो, वैसी-की-वैसी ही निष्कपटभावसे कही जाय। यदि आप कहें कि कोई आदमी आकर ऐसी बात हमसे पूछे कि जो कहनी उचित नहीं है तो उस समय क्या करें, तो इसका उत्तर यह है कि उस समय आपको यह कह देना चाहिये कि मेरा बतलानेका विचार नहीं है। अथवा मौन हो जाना चाहिये। मौन भी सत्क्रिया ही है। आपको उस समय मौन हो जाना चाहिये, जब कि कोई अन्याययुक्त और अनधिकार प्रश्न करे। यदि चोर पूछे कि आपका धन कहाँ है तो हम उसे थोड़े ही बतला देंगे कि हमारा रुपया-गहना वहाँ पड़ा है। उसे बतलानेके लिये हम बाध्य नहीं हैं। हम व्यापार करते हैं और व्यापारका कोई भेद पूछे कि किस प्रकारसे तुमने रुपया कमाया, तो हम बतला भी सकते हैं और नहीं भी, इसमें हम स्वतन्त्र हैं। बाध्य नहीं हैं। बतलानेकी बात न हो तो यह कह सकते हैं कि इस विषयमें हमारा बतलानेका विचार नहीं है। कोई आपसे पूछे कि आपके साधनकी स्थिति कहाँतक हो गयी, अथवा कोई किसी महात्मा पुरुषसे पूछे कि आपको परमात्माकी प्राप्ति हुई या नहीं, तो वे इसे बतलानेके लिये बाध्य नहीं हैं। वे कह सकते हैं कि 'यह व्यक्तिगत प्रश्न है, अतः मैं नहीं बतला सकता।' क्योंकि गोपनीय बात अनधिकारीको नहीं कही जा सकती। भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं कि 'अर्जुन! मैं तुम्हें परम गोपनीय बात कहता हूँ, यह मेरी बात तुम अपात्रको मत कहना।'

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

(१८। ६४)

'सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा।'

यह कहकर फिर आदेश दिया—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(१८। ६५)

'हे अर्जुन ! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।'

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८। ६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इस प्रकार भगवान्ने गुप्त रहस्यकी बात कही; फिर अपात्रको कहनेके लिये मना कर दिया कि—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

(१८। ६७)

'तुझे यह गीतारूप रहस्यमय उपदेश किसी भी कालमें न तो तपरहित मनुष्यसे कहना चाहिये, न भक्तिरहितसे और न बिना सुननेकी इच्छावालेसे ही कहना चाहिये तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है, उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिये।'

भगवान् मना करते हैं और यह गोपनीय बात है। इसलिये गोपनीय बात किसीको कहनेके लिये हम बाध्य नहीं। यदि सभी बात सभी कहनेके लिये बाध्य हों तो फिर गोपनीय बात क्या रही? इसलिये जो बात गुप्त है, उसे न कहना दोष नहीं है। किंतु हमारा व्यवहार किसीके साथ भी खराब नहीं होना चाहिये; सबके साथ उत्तम-से-उत्तम होना चाहिये। सबके साथ ऐसा व्यवहार होना चाहिये कि दूसरेपर अच्छा प्रभाव पड़े, वह प्रसन्न हो जाय। वह चाहे बदलेमें अच्छा व्यवहार न करे, किंतु

हमें तो उसके साथ उत्तम-से-उत्तम व्यवहार करना चाहिये। बाहरका व्यवहार उत्तम होता है स्वार्थ और अभिमानके त्यागसे। स्वार्थका त्याग भी किसी हेतुको लेकर हो तो वह वास्तवमें स्वार्थका त्याग नहीं है। जब मैं मान-बड़ाईके लिये स्त्री, पुत्र, धन आदि स्वार्थका त्याग करता हूँ या स्वर्गादि परलोकके लिये स्वार्थका त्याग करता हूँ तो वह मेरा स्वार्थका त्याग वास्तविक स्वार्थत्याग नहीं है। जो स्वार्थत्याग उपर्युक्तरूपसे कामनारहित है, वही यथार्थ स्वार्थत्याग है और वही निष्काम कर्म है, किंतु वह निष्कामभाव भी अहङ्काररहित होना चाहिये। निष्काम कर्म करके भी यदि यह अभिमान है कि मैं निष्काम कर्म करता हूँ तो वह निष्काम कर्ममें कलङ्क है। इसलिये ममता, अभिमान, स्वार्थ, कामना और आसक्तिका त्याग करके जो कर्म किया जाता है, वही उच्चकोटिका 'सत्य व्यवहार' है। इस प्रकारके भावसे होनेवाले जितने आचरण हैं, वे सब उत्तम-से-उत्तम कोटिके समझे जाते हैं। इस प्रकार निष्कामभावसे अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर उसमें समता आ जाती है और उस पुरुषको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवत्प्राप्त पुरुषके लक्षण बतलाते हुए भगवान्‌ने कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(५। १९)

'जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्द परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।'

अतः जिनकी परमात्माके स्वरूपमें स्थिति है, उन्हींका भाव उत्तम, सत्, पवित्र और सम है। इसलिये हमलोगोंको उनका अनुकरण करना चाहिये। उन महापुरुषोंके हृदयके समान ही अपने सत्य, सम और पवित्र भाव बनाने चाहिये। जो शुद्ध है, सत् है, सम है, वही साधुभाव है। साधुभाव होनेसे हमारी वाणीकी क्रिया यानी हमारा भाषण सत्य होगा, हमारी इन्द्रियोंकी क्रिया, हमारा बर्ताव सत्य होगा और हमारा आहार भी सत्य होगा। तब यज्ञ, दान, तप तथा और भी जितने शास्त्रविहित कर्म हैं, सब भी हमारे द्वारा सत्य ही होंगे यानी उच्चकोटिके श्रेष्ठ और यथार्थ होंगे; क्योंकि उत्तम कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करनेके लिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(१८। ५-६)

'यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्यकर्तव्य है; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं। इसलिये हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये; यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।'

यज्ञ, दान और तपमें जो स्थिति है, वह भी सत्य है। भगवान् कहते हैं—

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

(गीता १७। २७)

'यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है।'

एवं जो भगवदर्थ कर्म है, वह तो परम सत् है। गीतामें कहा है—

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।

(१२। १०)

'मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

भगवान् सत् हैं, उनके लिये किया हुआ कर्म भी सत् है। इसलिये हमारे कर्म भगवदर्थ होने चाहिये। यद्यपि यज्ञ, दान, तप—ये स्वरूपसे सात्त्विक हैं; किंतु उनके साथ तामसी भावोंका सम्बन्ध होनेपर वे असत् हो जाते हैं। यदि दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये हम यज्ञ करते हैं, तप करते हैं, दान देते हैं, तो वह यज्ञ, दान, तप असत् है। स्वरूपसे सत् होते हुए भी भावके दूषित होनेसे असत् हो जाता है; क्योंकि क्रियाकी अपेक्षा भाव उत्तम है। यज्ञ, दान, तप—ये सब स्वरूपसे सत् तो हैं ही, भगवदर्थ होनेसे ये भावसे भी सत् हो जाते हैं। अतः हमारे कर्म क्रियासे भी सत् होने चाहिये और भावसे भी सत् होने चाहिये; क्योंकि इस प्रकार केवल सत्यकी शरणसे ही हमारा कल्याण हो सकता है।

बाहरकी क्रियासे हृदयके भाव श्रेष्ठ हैं; क्योंकि

हृदयके जो साधुभाव, पवित्रभाव, श्रेष्ठभाव, समभाव, निष्कामभाव हैं—ये उच्च कोटिके भाव हैं। इसलिये ये क्रियाकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् हैं; क्योंकि हमारे हृदयके उत्तम भावोंसे हमारे बाहरके कर्म स्वाभाविक ही पवित्र और सत्य हो जाते हैं। बाहरकी क्रिया सत् होकर भी भीतरका भाव असत् रह सकता है, किंतु आगे जाकर तो उसके प्रभावसे भीतरके भावोंकी भी शुद्धि हो सकती है; क्योंकि बतलाया गया है कि पवित्र भोजन करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है— '**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः** (छान्दोग्य० ७। २६। २)।' इसलिये आहार-व्यवहार आदि बाहरकी शुद्धिसे भी भीतरकी शुद्धि होती है। अतः सत्कर्मोंसे सद्भाव पैदा होते हैं और जब सद्भाव हो जाता है, तब उससे तो फिर असत्कर्म होते ही नहीं। हृदयके सत् भावोंकी अपेक्षा भी जो भगवान्का स्वरूप है, वह परम सत्य, सबसे श्रेष्ठ और पवित्र है। उसकी तो बात ही क्या है? जब भगवान्के स्वरूपमें हमारी निष्ठा हो जाती है, भगवान्के स्वरूपमें जब हमारा निश्चय अटल हो जाता है, हमारी बुद्धिमें जब इत्थम्भूत निश्चय होता है कि 'भगवान् हैं' तब फिर हम भारी संकट पड़नेपर भी विचलित नहीं हो सकते; क्योंकि भगवान्की सत्तामें इतना भारी बल है। इस स्थितिमें हमारे अंदर इतना आत्मबल आ जाता है कि कभी हमसे असद्व्यवहार नहीं हो सकता, हृदयमें असद्भाव नहीं आ सकता। इसलिये भगवान्के स्वरूपमें श्रद्धापूर्वक निष्ठा भी दृढ़ करनी चाहिये। निष्ठा होनेपर हमारी सारी क्रिया अपने-आप शुद्ध, श्रेष्ठ और सत् होने लगेगी। भगवान् सदा-सर्वदा सब जगह मौजूद हैं—यही भगवान्की उच्चकोटिकी भक्ति है। यही भगवान्में निष्ठा है। यह उच्चकोटिकी निष्ठा ही भगवान्को प्राप्त करा देती है।

ये सब बातें सत्यके विषयमें कही गयी हैं। पाठकगण उचित समझें तो इन्हें धारण कर सकते हैं। इनको धारण करनेसे निश्चय ही कल्याण हो सकता है। मैं धारण करूँ तो मेरा कल्याण हो सकता है और आप धारण करें तो आपका कल्याण हो सकता है; क्योंकि ये भगवान्के वचन हैं, मेरे वचन नहीं। मैं तो केवल अनुवादमात्र कर देता हूँ। इनके पालनके लिये मैं आपसे प्रतिज्ञा नहीं कराता, क्योंकि मेरा प्रतिज्ञा करानेका अधिकार नहीं है। यह दूसरी बात है कि आप इनको अच्छा समझें, ठीक समझें तो धारण कर सकते हैं, काममें ला सकते हैं। यदि आप इनको काममें लावें तो केवल इस उपर्युक्त सत्यको ही धारण करनेसे आपका कल्याण हो सकता है, इसमें कोई शङ्का नहीं है; क्योंकि भगवान् स्वयं कहते हैं, शास्त्र कहते हैं और महात्मा कहते हैं।

इसलिये सत्यस्वरूप परमात्माको अपने हृदय और बुद्धिमें धारण करें। फिर आपका भाव और क्रियाएँ अपने-आप ही सत्य, श्रेष्ठ और शुद्ध हो जायँगी। यदि आप बाहरकी क्रियाका सुधार नहीं कर सकते तो कोई विशेष हर्जकी बात नहीं। आप भगवान्में निष्ठा रखिये, भगवान्में विश्वास रखिये, भगवान्के ऊपर निर्भर हो जाइये, भगवान्की शरण हो जाइये। फिर इसके लिये आपको अलग कोई भी प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा; सारे-के-सारे कर्म, सारे भाव भगवत्कृपासे अपने-आप ही शुद्ध हो जायँगे। जब आपके हृदयमें भगवान्की निष्ठा हो जायगी, आप श्रद्धापूर्वक भगवान्के अनन्य शरण हो जायँगे, तब स्वयं भगवान् अपने-आप ही आपको प्राप्त हो जायँगे।

देशके कल्याणके लिये संस्कृत, आयुर्वेद, हिंदी तथा गीता-रामायणके प्रचारकी आवश्यकता

संस्कृत भाषा

वर्तमान परिस्थितिपर विचार करनेसे पता लगता है कि देशमें संस्कृत भाषाका दिनोंदिन ह्रास होता जा रहा है। इसी क्रमसे ह्रास होता गया तो एक दिन हमारे देशसे संस्कृत भाषाका लुप्तप्राय-सा हो जाना भी कोई बड़ी बात नहीं है। पाण्डवोंके राज्यशासनके समयतक तो इसका बहुत ही अधिक प्रचार था। नीति, धर्म और अध्यात्मविषयक सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषामें ही थे और यही राजभाषा भी थी; क्योंकि राजनीतिक कार्य तथा दण्डविधान आदि सब मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि स्मृतियोंके आधारपर ही किये जाते थे। मिताक्षरा कानूनमें अब भी कुछ रूपमें इन्हीं स्मृतियोंके आधारपर दायभाग और दण्डविधान किया जाता है। नीति, धर्म और अध्यात्मविषयक साहित्यको देखनेसे मालूम होता है कि संस्कृत भाषा सारे हिंदुस्थानमें व्यापकरूपसे प्रचलित थी, उसीके प्रतापसे हिंदुस्थानके सभी प्रान्तोंके कोने-

कोनेमें अब भी संस्कृत भाषा मिलती है। भारतवर्षमें कोई भी ऐसा प्रान्त और जिला नहीं, जहाँ संस्कृत भाषा न पायी जाती हो। संस्कृतको जाननेवाला कोई भी पण्डित कहीं भी चला जाय, उसे संस्कृतमें बात करनेवाला कोई-न-कोई मिल ही जाता है एवं हिंदुस्थानके किसी भी प्रान्तमें चले जाइये—श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण एक ही मिलेंगे, कहीं विशेष भेद नहीं मिलेगा। इससे हमारी संस्कृत भाषा और धार्मिक ग्रन्थोंकी अनादिता, उपादेयता और व्यापकता सिद्ध होती है। इस संस्कृत भाषाके पूर्वकी कोई अन्य भाषा, श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणके पहलेका कोई भी धार्मिक ग्रन्थ और संस्कृत वर्णमालाके पूर्वकी कोई अन्य वर्णमाला देखने-सुननेमें नहीं आती; इससे भी इनकी अनादिता सिद्ध होती है। बौद्धयुगमें धार्मिक विरोधके नाते संस्कृतपर प्रहार हुए; फिर भी सम्राट् विक्रमादित्य और राजा भोजके समयमें संस्कृतका बड़ा अच्छा प्रचार रहा। उसके बाद भी कुछ संस्कृत-प्रसार रहा, किंतु फिर मुसल्मानी शासनमें संस्कृतके नाशकी काफी चेष्टा हुई।

सुना जाता है कि वेदोंकी कुल ११३१ शाखाएँ थीं, जिनमें अब केवल लगभग १२ मिलती हैं। सामवेदकी १००० शाखाओंमें केवल ३ मिलती हैं। यही दशा वेदके ब्राह्मण, आरण्यक, कल्पसूत्रादिकी तथा वेदाङ्ग एवं अन्यान्य धर्मग्रन्थोंकी है। इन सब वैदिक शाखाओं तथा अन्यान्य धर्मग्रन्थोंका इतना नाश कैसे हुआ? इसपर निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि वैदिक धर्मके विरोधियों तथा विदेशी अत्याचारियोंके द्वारा ही हमारी यह सारी अमूल्य ग्रन्थसम्पत्ति नष्ट कर दी गयी। कहा जाता है कि उज्जैनके राजा मतादित्यने हजारों ब्राह्मणोंकी तमाम पुस्तकोंको जलवा दिया था। बौद्धोंके द्वारा 'सह्याद्रिखण्ड' (पुस्तकालय) का नाश किया जाना प्रसिद्ध है। मुसल्मानोंने अलेक्जेंड्रियाके पुस्तकालयको जला दिया था। महमूद और नादिरशाहने भी संस्कृतके अगणित धर्मग्रन्थोंका नाश किया। कुछ मुसल्मान बादशाहोंने तो संस्कृतकी पुस्तकोंको 'हमाम' गरम करनेके लिये जलाया था। इस प्रकार हमारा यह अमूल्य ज्ञानकोष ध्वंस कर दिया गया। यों पहले तो इसका अत्याचारियोंने नाश किया, पर उसमें तो हम निरुपाय थे; किंतु बड़े खेदकी बात है कि अब बचे-खुचेका हम अपनी अवहेलना तथा मूर्खतासे नाश कर रहे हैं!

किंतु इसको बचाना हमारा परम कर्तव्य है। संस्कृत भाषाके बचनेसे ही धर्म भी बचेगा; क्योंकि हमारे जितने भी मूल धार्मिक ग्रन्थ हैं, उनका आधार संस्कृत भाषा ही है और यह संस्कृत भाषा कितनी प्राञ्जल और मधुर है, इसका तत्त्व इस अमृतमय भाषाका आस्वादन करनेवाले विद्वान् ही जानते हैं। संस्कृतका व्याकरण भी अलौकिक है। वैसा सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण जगत्की किसी भी भाषाका देखनेमें नहीं आता।

इस प्रकारके संस्कृत भाषारूपी अलौकिक रत्नका यदि हमारे भारतवर्षमें अभाव हो जायगा तो फिर पुनः इसका प्रादुर्भाव होना बहुत कठिन होगा। अतः हम सरकारसे और देशवासियोंसे प्रार्थना करते हैं कि जिस प्रकार यह संस्कृत भाषा जीवित रहे, इसका उत्तरोत्तर अधिक प्रचार हो और यह सर्वाङ्गीण समृद्धिको प्राप्त हो, इसके लिये सभीको शक्ति-अनुसार प्रयत्न करना चाहिये।

आयुर्वेद-विज्ञान

इसी प्रकार आयुर्वेद-विज्ञानका भी बड़ी तेजीसे अभाव होता जा रहा है। आयुर्वेदीय चिकित्सा, निदान और ओषधियोंके नाम, रूप, स्वभाव, गुण और उनके निर्माणका जो महान् ज्ञान त्रिकालज्ञ ऋषियोंको था, वह क्रमशः लुप्त होता ही चला गया। इस समय हमारे अनुमानसे वह प्रायः नब्बे प्रतिशत लुप्त हो चुका है और जो बचा-खुचा है, उसका भी दिन-पर-दिन ह्रास होता जा रहा है। आस्थावान् विद्वान् वैद्य उठते चले जा रहे हैं। जो हैं, उनकी इसके प्रति अनास्था बढ़ रही है। इसीका परिणाम है कि आज देशके बड़े-बड़े वैद्य भी प्रायः अपने बच्चोंको डाक्टरी पढ़ाते हैं और स्वयं भी डाक्टरी दवाओंका व्यवहार करते हैं। यह निश्चित है कि भारतवासियोंके लिये भारतवर्षकी आयुर्वेदोक्त देशी ओषधियाँ जितनी लाभप्रद हो सकती हैं, उतनी विदेशी ओषधि नहीं। कहा भी है—

'यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम्।'

'जो जिस देशका प्राणी है, उसके लिये उसी देशसे उत्पन्न ओषधि हितकारी है।'

इस देशमें आयुर्वेद-विज्ञान एक दिन कितना उन्नत था, इसका पता महाभारतकी इस कथासे लगता है—महाभारतके आदिपर्वमें कथा आती है कि काश्यप नामके एक श्रेष्ठ ब्राह्मण थे। वे मृत व्यक्तिको भी ओषधियोंसे जीवित करनेकी शक्ति रखते थे। उन्हें जब पता लगा कि राजा परीक्षित्को तक्षक नाग डँसनेवाला है, तब वे परीक्षित्के पास जानेके लिये घरसे चले।

रास्तेमें उन्हें तक्षकसे भेंट हो गयी। मानवरूपधारी तक्षकके पूछनेपर काश्यपने अपने वहाँ जानेका यह हेतु बतलाया कि 'राजा परीक्षित्‌को तक्षक काटेगा, तो मैं उन्हें अपनी ओषधिसे जिला दूँगा।' यह सुनकर तक्षकने कहा, 'मैं ही तक्षक हूँ। मेरे काटे हुएकी तुम चिकित्सा नहीं कर सकते।' काश्यपने कहा—'मैं तुम्हारे डँसे हुएको जिला दूँगा।' इसपर तक्षक बोला—'मैं इस वृक्षको डँसकर भस्म करता हूँ, तुम इसे जिला दो।' तक्षकके काटते ही वृक्ष जलकर भस्म हो गया। तब काश्यपने मन्त्र और ओषधियोंके बलसे पुनः उसे जीवित करके तुरंत हरा-भरा कर दिया। तक्षकने अपने मानकी रक्षाके लिये काश्यप ब्राह्मणको बहुत-सा धन देकर उसे वहींसे लौटा दिया।

इससे हमें यह ज्ञात होता है कि हमारे यहाँ आयुर्वेदने कितनी अद्भुत उन्नति की थी कि जिसके द्वारा मृत मनुष्य ही नहीं, समूल जले हुए वृक्षको भी हरा-भरा किया जा सकता था। ऐसी आदरणीय विद्याका शनैः-शनैः लोप हुआ और होता जा रहा है। यह कितने परितापका विषय है! अब भी यह विज्ञान जिस रूपमें वर्तमान है, यदि सरकार तथा देशवासी और निष्ठावान् सद्वैद्य ध्यान देकर इसके रक्षण, अन्वेषण और संवर्द्धनका प्रयत्न करें, तो इसमें इतने महान् गुण छिपे हैं कि उनके प्रकट होनेपर जगत् चकित हो सकता है; परंतु इसके लिये सबके सम्मिलित प्रयत्नकी आवश्यकता है। हम सरकारसे, देशवासियोंसे और वैद्य महोदयोंसे विनयपूर्वक प्रार्थना करते हैं कि वे इस ओर ध्यान दें और आयुर्वेदकी रक्षा तथा उन्नति करके अपने कर्तव्यका पालन करें।

डाक्टरी दवाओंमें प्रायः मांस, मज्जा, चर्बी, ग्रन्थियाँ, मदिरा आदि अपवित्र घृणित पदार्थोंका भी प्रयोग किया जाता है, जो सब प्रकारसे अपवित्र, हिंसापूर्ण अतएव अवाञ्छनीय हैं। देशवासियोंको चाहिये कि विदेशी डाक्टरी दवाइयोंको कतई काममें न लेकर चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदिद्वारा रचित आयुर्वेदीय शास्त्रोंमें बतलायी हुई वनस्पति, धातु और रस आदि पवित्र दवाओंके सेवनका ही दृढ़ नियम ले लें। यदि किसीसे सर्वथा ऐसा न हो सके तो कम-से-कम यह तो निश्चय करें कि जहाँतक हो डाक्टरी दवा काममें न लेकर देशी आयुर्वेदीय दवाके प्रयोगकी ही विशेषरूपसे चेष्टा रखेंगे। इन ग्रन्थों और ओषधियोंके निर्माणकर्ता ऋषि त्रिकालज्ञ और अनुभवी थे, उनका अनुभव और ज्ञान अलौकिक था। ऐसा अनुभव वर्तमान युगके मनुष्योंमें सम्भव नहीं है। हमें उन ऋषियोंके अनुभव और ज्ञानका सम्मान करके उससे लाभ उठाना चाहिये।

हिंदुस्थान और हिंदी भाषा

हमारे इस भारतवर्षका नाम पहले 'आर्यावर्त' था, जिसे वर्तमानमें हम हिंदुस्थान कहते हैं। मुसल्मान भाई 'हिंदू' शब्दका आक्षेपसे काफिरके अर्थमें प्रयोग करते हैं, किंतु हमारे लिये 'हिंदू' शब्द पवित्र और गौरवकी वस्तु है। हमारे इस देशका नाम हिंदुस्थान क्यों पड़ा ? हिमालयका 'हि' और 'बिंदु' का 'न्दु'—इस प्रकार इन दोनोंके आदि और अन्तके दो शब्दोंको लेकर 'हिंदु' शब्द बना है। हिमालयसे तात्पर्य है—उत्तरमें स्थित सबसे ऊँचा गौरीशङ्कर पहाड़ (हिमगिरि) और बिंदुसे अभिप्राय है—पूर्व और पश्चिमसहित दक्षिण समुद्र। अथवा यों समझें कि हिमालयका 'हि' और सिन्धु (समुद्र) का 'इन्धु' लेकर 'हिन्धु' शब्द बना है; उसीका अपभ्रंश 'हिंदू' शब्द है। हिमालयसे लेकर दक्षिण समुद्रतकके बीचका जो देश है, उसका नाम है—'हिंदुस्थान' और जो उसमें बसते हैं, उनकी जाति है 'हिंदू' तथा उनकी भाषा है 'हिंदी'। उनका जो धर्म है, वही 'हिंदूधर्म' कहलाता है और उनके चाल-चलन, आहार-व्यवहार तथा वेश-भूषाको कहते हैं—'हिंदू-संस्कृति'। इन सबकी रक्षासे ही हिंदू-जाति और हिंदूधर्मकी रक्षा हो सकती है।

अतः हिंदुस्थानमें निवास करनेवाले भाइयोंको अपनी रक्षाके लिये अपने हिंदुस्थानकी भाषा, वेश-भूषा, खान-पान और चाल-चलनको ही अपनाये रहना चाहिये, विदेशी प्रभावमें आकर इन्हें कभी नहीं बदलना चाहिये। जो जाति अपनी संस्कृतिको छोड़कर दूसरी जातिकी संस्कृतिको अपना लेती है, वह नष्ट हो जाती है।

हमारी प्राचीन भाषा है संस्कृत और वर्तमान भाषा है हिंदी तथा हमारी लिपि देवनागरी है। हमारी प्राचीन भाषा संस्कृत यदि राष्ट्रभाषा न हो सके तो हिंदी भाषा तो राष्ट्रभाषा अवश्य होनी ही चाहिये तथा हर तरह हमें हिंदीकी उन्नति करनी चाहिये। श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणोक्त जो अनादि-कालसे चला आनेवाला सनातन धर्म है, वही हमारी आर्यजाति हिंदुस्थानियोंका सनातन हिंदूधर्म है। प्रत्येक हिंदुस्थानी भाईको ऐसी चेष्टा करनी चाहिये कि जिससे कम-से-कम अपने देश हिंदुस्थानमें तो हमारा हिंदूधर्म, हिंदूजाति, हिंदीभाषा और हिंदू-संस्कृति कायम रहे।

गीता-रामायणका प्रचार

संस्कृतमें श्रीमद्भगवद्गीता और हिंदीमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासकृत रामचरितमानस—ये दोनों उत्तम शिक्षा देनेवाले सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। इनके अनुसार आचरण करनेपर मनुष्यका जीवन उच्चकोटिका हो जाता है। इन दोनों ग्रन्थोंकी महात्मा गाँधीजीने भी बहुत प्रशंसा की है। इनको सारे संसारके लिये उपयोगी कहें तो भी अत्युक्ति न होगी। इनकी शैली बड़ी ही सुन्दर है। इनमें श्लोक, छन्द, चौपाई, दोहे आदि काव्यकी दृष्टिसे भी अत्यन्त रसयुक्त, मधुर, सुन्दर और विशुद्ध हैं। अतएव इन दोनों ग्रन्थोंका सार्वजनिक प्रचार होना बहुत ही आवश्यक है। श्रीमद्भगवद्गीतापर जितनी टीकाएँ, भाष्य और अनुवाद मिलते हैं, उतने किसी भी संस्कृत या हिंदीके अन्य ग्रन्थपर नहीं मिलते। इससे सिद्ध होता है कि यह बहुत उच्चकोटिका ग्रन्थ है और सभी सम्प्रदायवालोंने इसको अपनाया है तथा भारतवर्षके सभी प्रान्तोंमें इसका सम्मान है। इसी प्रकार विदेशोंमें भी इसका बड़ा आदर है। रामचरितमानसका हिंदी वाङ्मयमें सबसे बढ़कर स्थान है, भारतके सभी प्रान्तोंमें इसका समादर है। विदेशोंमें भी लोग इसे मानते हैं। अभी रूसी भाषामें इसका अनुवाद हुआ है। गीताप्रेस, गोरखपुरमें भी श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसके प्रकाशनको प्रथम स्थान दिया गया है। दोनों ग्रन्थ प्रचुर संख्यामें और सस्ते मूल्यमें दिये जाते हैं।

गीता-रामायण-परीक्षा-समितिके नामसे एक अलग समिति चल रही है, जिसका उद्देश्य है कि गीता और रामायणका बालकोंको विशेष ज्ञान हो। इसके लिये अलग-अलग परीक्षाएँ रखी गयी हैं। सैकड़ों स्कूल-कालेजों तथा पाठशालाओंमें इनकी परीक्षाएँ होती हैं, जिनमें कई जगह तो इनका अध्ययन करना अनिवार्य है। जो सज्जन इन परीक्षाओंके सम्बन्धमें विशेष जानना चाहें, वे 'गीता-रामायण-परीक्षा-समिति' की नियमावली ऋषिकेशसे मँगाकर जान सकते हैं।

जिन भाइयोंने पाठशालाएँ, हाईस्कूल और कालेज खोल रखे हैं या जो उनमें सहायता देते हैं, उनसे तथा सरकारसे हमारी यह प्रार्थना है कि वे अपनी संस्थाओंमें गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रचारित गीता-रामायणकी परीक्षाएँ रखें, जिससे बालक इनके लाभसे वञ्चित न रहें।

इसी प्रकार मनुष्यमात्रके लाभके लिये एक विभाग और है, जिसका नाम 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ' है। इसमें गीता-विभागमें पाँच प्रकारके और श्रीरामायण-विभागमें तीन प्रकारके सदस्य बनाये जाते हैं। प्रत्येक वर्ण, जाति और आश्रमके नर-नारी, बालक, युवा, वृद्ध—सभी इसके सदस्य बन सकते हैं। सदस्योंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता। प्रेमपूर्वक गीता और रामायणका पारायण और अध्ययन ही इसकी सदस्यताका मूल्य है। अबतक इसके कई हजार सदस्य बन चुके हैं और बन रहे हैं। सदस्योंके प्रकार नीचे दिये जाते हैं, पाठकोंको उन्हें पढ़कर तथा समझकर उनका घर-घर प्रचार करना चाहिये।

श्रीगीता-विभागमें सम्मिलित होनेवाले सदस्योंके निम्न पाँच प्रकार हैं—

(१) जो प्रतिदिन सम्पूर्ण गीताका (१८ अध्यायोंका) अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमसहित एक पाठ करें।

(२) जो प्रतिदिन गीताके ९ अध्यायोंका अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करें।

(३) जो प्रतिदिन गीताके ६ अध्यायोंका अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करें।

(४) जो पंद्रह दिनोंमें सम्पूर्ण गीताका प्रेमपूर्वक अर्थसहित एक पाठ करें। इस प्रकार वर्षभरमें २४ पाठ अर्थसहित करें।

(५) गीताके अनुसार जीवन बनानेके लिये गीता-तत्त्वविवेचनी टीकाका प्रतिदिन कम-से-कम एक घंटा या दो श्लोकोंका गम्भीरतापूर्वक विचार करें। (पाँचवें प्रकारके सदस्य उन्हीं लोगोंको बनना चाहिये जिनका गीतापर अध्ययन हो और जो गम्भीरताके साथ उसके अर्थपर विचार कर सकते हों।)

गीताका पाठ करनेवाले प्रत्येक सज्जनसे यह निवेदन है कि यदि हो सके तो प्रतिदिन 'गीताप्रेससे प्रकाशित गीता-तत्त्वविवेचनी' टीकामेंसे गीताके दो श्लोकोंका भावसहित प्रेमपूर्वक पठन और मनन करें।

श्रीरामायण-विभागमें सम्मिलित होनेवाले सदस्योंके निम्न तीन प्रकार हैं—

(१) जो प्रतिदिन नवाह्न-पारायणकी रीतिसे श्रीरामचरितमानसका अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करें।

(२) जो प्रतिदिन मासपारायणकी रीतिसे अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करें।

(३) जो प्रतिदिन कम-से-कम सात दोहोंका (चौपाई-छन्द आदिसहित) प्रेमपूर्वक अर्थसहित पाठ

करें। इस प्रकार सालभरमें सम्पूर्ण रामायणके अर्थसहित कम-से-कम दो पाठ कर लें।

जो सज्जन उपर्युक्त दोनों विभागों या किसी एक विभागके अन्तर्गत सदस्य बनना चाहें, वे गोरखपुर 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ' पो० गीताप्रेसके नामसे पत्र देकर आवेदन-पत्र मँगा लें।

इनमें जो अर्थसहित गीता-रामायणका पाठ है, उससे बहुत अधिक लाभ होता है। एक भाई जो नित्यप्रति गीताके अठारहों अध्यायोंके केवल श्लोकोंका ही पाठ करता है, उससे वह श्रेष्ठ है जो अर्थ और भावसहित केवल एक अध्यायका ही नित्य पाठ करता है और वह तो सबसे श्रेष्ठ है, जो कम-से-कम किसी एक श्लोकके अर्थ और भावको समझकर उसके अनुसार भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचारयुक्त अपना जीवन बनाता है।

इसी प्रकार सम्पूर्ण रामायणका मूल पाठ करनेवालेकी अपेक्षा जो अर्थ और भाव समझकर मूल पाठ करता है या भाव समझकर अर्थसहित पाठ करता है, वह बहुत उत्तम दर्जेका है और उससे भी श्रेष्ठ वह है, जो रामायणका अर्थ और भाव समझकर यथाशक्ति उसके अनुसार अपना जीवन बनाता है।

अतः हमारी सभी पाठक-पाठिकाओंसे यह प्रार्थना है कि गीता और रामायणके पाठ करनेका नियम यथाशक्ति लेना चाहिये तथा उसके अर्थ और भावको समझकर उसके अनुसार जीवन बनानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

उपर्युक्त गीता और रामायण दोनों ही अध्यात्मदृष्टिसे तो बहुत लाभकी वस्तु हैं ही, साथ-ही-साथ संस्कृत और हिंदीके ज्ञानकी दृष्टिसे तथा बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक लाभकी दृष्टिसे भी बहुत उपयोगी हैं। अतः सरकारसे तथा भारतवासी भाइयोंसे हमारी प्रार्थना है कि साम्प्रदायिक दृष्टिको छोड़कर सभीके बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक तथा व्यावहारिक लाभकी दृष्टिसे इनका प्रचार करें।

सभी वर्णाश्रमोंमें मुक्ति

कई सज्जन कहते हैं कि मुक्ति संन्यास-आश्रममें ही होती है, गृहस्थमें नहीं; किंतु उनका यह कहना कहाँतक उचित है—समझमें नहीं आता; क्योंकि श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणोंको देखनेसे मालूम होता है कि सभी वर्ण और आश्रमोंमें मुक्ति होती है। मुक्तिमें वर्ण, आश्रम और जातिकी प्रधानता नहीं; सद्गुण, सदाचार, ईश्वरभक्ति और ज्ञानकी ही प्रधानता है; और यह बात शास्त्रसंगत एवं युक्तियुक्त है।

यदि कहें कि मुक्ति तो ज्ञानसे ही होती है—'**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**'—इस सिद्धान्तके अनुसार निष्कामकर्म और ईश्वरभक्ति आदि साधनोंसे मुक्ति नहीं होती तो यह कहना उचित नहीं; क्योंकि जिस परमात्माके ज्ञानसे मुक्ति बतलायी गयी है, वह ज्ञान निष्कामकर्म करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर अपने-आप ही हो जाता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४। ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

इसके सिवा, गीतामें जगह-जगह निष्कामकर्मसे मुक्ति बतलायी है (जैसे—२। ५१; ३। १९; ५। ११-१२ आदि-आदि)।

जब निष्कामकर्मसे ही अन्तःकरण शुद्ध होकर अपने-आप ही ज्ञान होकर मुक्ति हो जाती है, तब ईश्वरकी भक्तिसे ज्ञानकी प्राप्ति होकर मुक्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है। श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(१०। १०-११)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

तथा श्रीभगवान्‌ने नवें अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

ईश्वरकी भक्तिसे जब स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनि आदितककी परम गति बतलायी है, तब फिर यह कहना बन ही कैसे सकता है कि गृहस्थाश्रममें मुक्ति नहीं होती? ईश्वरके भक्तोंकी शरण लेनेसे भी जातिसे नीच मनुष्योंतकके कल्याणकी बात श्रीमद्भागवतमें आती है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

(श्रीमद्भा० २।४।१८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि अधम जातिके लोग तथा इनके सिवा और भी बड़े-से-बड़े पापी मनुष्य शुद्ध हो जाते हैं, उन जगत्प्रभु भगवान् विष्णुको नमस्कार है।'

—फिर भगवान्‌की शरण लेनेसे उद्धार हो जाय इसमें तो कहना ही क्या है (देखिये गीता १८।६२)।

शास्त्रोंमें सभी वर्णों और सभी आश्रमोंमें भक्ति, ज्ञान और निष्कामभाव आदि सभी साधनोंसे मुक्ति बतलायी है और इसके अनेकों उदाहरण भी वेद-पुराण और इतिहासमें मिलते हैं।

छान्दोग्योपनिषद्‌में बतलाया है कि उद्दालक मुनिने अपने पुत्र श्वेतकेतुके प्रति ज्ञानका उपदेश देकर उसका उद्धार कर दिया। जाबालाके पुत्र सत्यकामको गुरुकी आज्ञा पालन करनेसे ब्रह्मचर्याश्रममें रहते हुए ही ब्रह्मज्ञान होकर ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी एवं सत्यकामके शिष्य उपकोशलने भी ब्रह्मचर्याश्रममें ही गुरुकी सेवासे ब्रह्मको प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार राजर्षि अश्वपति और राजा जनक स्वयं तो मुक्त थे ही, उनके पास बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी ज्ञान लेने जाते और मुक्ति प्राप्त किया करते थे। राजा अश्वपतिके पास जाकर प्राचीनशाल आदि ऋषियोंने ज्ञान प्राप्त किया और वे मुक्त हो गये।

याज्ञवल्क्य ऋषिसे उनकी पत्नी मैत्रेयीने ज्ञान प्राप्त किया। वचक्नुकी पुत्री गार्गी स्वयं ही जीवन्मुक्त थीं, जिन्होंने राजा जनककी सभामें ब्रह्मवेत्ताओंके प्रसंगमें याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किये थे। इनकी कथा बृहदारण्यकोपनिषद्‌में देखनी चाहिये।

यमराजसे उपदेश प्राप्त करके नचिकेताके जीवन्मुक्त होनेकी बात कठोपनिषद्‌में आती ही है।

माता-पिताकी सेवासे मूक चाण्डाल, पातिव्रत्यके पालनसे शुभा नामकी स्त्री, न्याययुक्त सत्यतापूर्वक क्रय-विक्रयसे तुलाधार वैश्य, उत्तम गुणोंसे सज्जन अद्रोहक एवं भगवद्भक्तिसे वैष्णव परमात्माको प्राप्त हो गये। इनका आख्यान पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें बड़े ही विस्तारसे आता है, वह देखने योग्य है।

राजा चोल तथा ब्राह्मण विष्णुदास भी ईश्वरकी भक्तिसे परमपदको प्राप्त हो गये, यह कथा पद्मपुराणके पातालखण्डमें आती है। राजा अम्बरीष और भीष्मपितामहको भगवद्भक्तिके प्रभावसे भगवान्‌की प्राप्ति होनेका उल्लेख श्रीमद्भागवतमें आता है तथा भक्त अर्जुन और द्रौपदीको परमपद-प्राप्तिका वर्णन महाभारतके स्वर्गारोहणपर्वमें है। मार्कण्डेयपुराणमें भगवतीकी उपासनासे समाधि वैश्यकी परमपद-प्राप्तिकी कथा है। लोमहर्षण, उग्रश्रवा, संजय और दासीपुत्र विदुर, जिनकी कथा महाभारतमें आती है, भगवान्‌की भक्तिसे भगवान्‌को प्राप्त हो गये। शबरी भीलनीने भी भगवान्‌की भक्ति करके भगवत्प्राप्ति कर ली, जिसकी कथा वाल्मीकीय रामायणके अरण्यकाण्डमें मिलती है।

इस प्रकार सभी वर्ण और सभी आश्रमोंमें अनेक स्त्री-पुरुषोंको कर्म, उपासना तथा योग आदि साधनोंसे परमात्माकी प्राप्ति होनेका उल्लेख शास्त्रोंमें जगह-जगह पाया जाता है, कहाँतक दिखलावें।

उपर्युक्त उदाहरणोंमें अधिकांश गृहस्थाश्रमी हैं। फिर वानप्रस्थी और संन्यासियोंका कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है! अन्य सभी आश्रमियोंका भरण-पोषण गृहस्थाश्रमसे ही होता है, इसलिये पुराणोंमें कहीं-कहीं तो गृहस्थाश्रमको अन्य आश्रमोंसे श्रेष्ठ भी बतलाया है। अतः जो नर-नारी गृहस्थाश्रममें रहकर अपने वर्णधर्मका निष्कामभावसे पालन करते हुए ईश्वरकी अनन्यभक्ति करते हैं, उनकी मुक्तिमें कोई संदेह नहीं है। श्रीस्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डमें महात्मा नन्दभद्र वैश्यकी बड़ी ही महत्त्वपूर्ण कथा है, जिनमें अपने वर्णधर्मका निष्कामभावसे आचरण करना, सम्पूर्ण धर्मोंके वास्तविक सारतत्त्वको समझकर सबको आदर देना एवं साथ ही भगवान् सदाशिवकी अनन्य भक्ति करना—ये तीनों विशेषताएँ विद्यमान थीं। उनका

विस्तृत आख्यान स्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डान्तर्गत कुमारिकाखण्डके ४०-४१ वें अध्यायोंमें देखने योग्य है। यहाँ पाठकोंकी जानकारीके लिये उसका संक्षेपसे कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

नन्दभद्र नामक एक वैश्य थे। वे साक्षात् धर्मराजकी भाँति समस्त धर्मोंके तत्त्व-रहस्यको जाननेवाले थे। वे सबके सुहृद् थे और सदा सभीके हितसाधनमें संलग्न रहते थे। उन्होंने मन, वाणी और क्रियाद्वारा इस परोपकारधर्मका ही आश्रय ले रखा था। नन्दभद्रने इस विशाल धर्मसमुद्रका सब ओरसे मन्थन करके सारतत्त्व ग्रहण किया था।

वे जीविकाके लिये न्याययुक्त वाणिज्यको श्रेष्ठ मानते थे और उसीको अपनाये हुए थे। उन्होंने थोड़ेसे काठ और घास-फूससे अपने रहनेके लिये घर बना रखा था और सब लोगोंकी भलाईके लिये तथा शरीरनिर्वाहके लिये वे कम मुनाफा लेकर व्यापार करते थे। उनके क्रय-विक्रयकी वस्तुओंमें मदिरा सर्वथा वर्जित थी। उनके यहाँ ग्राहकोंके साथ भेदभाव न करके समताका व्यवहार किया जाता था। झूठ और कपटका तो वहाँ नाम भी न था। वस्तुओंके आदान-प्रदानमें वे सबके साथ समतापूर्ण बर्ताव करते थे। बिना छल-कपटके दूसरोंसे खरीदकी वस्तु लेकर उसे बिना किसी धोखा-धड़ीके वे सब लोगोंको समानभावसे बेचते थे; यही उनका श्रेष्ठ व्रत था।

कुछ लोग यज्ञकी प्रशंसा करते हैं, परंतु नन्दभद्र सर्वथा ऐसा नहीं मानते थे। वे श्रद्धापूर्वक देवपूजन, नमस्कार, स्तुति, नैवेद्य-निवेदन आदि यज्ञकी सारभूत बातोंका सदा ही पालन करते थे। कोई-कोई संन्यासकी प्रशंसा करते हैं; परंतु नन्दभद्र उनसे भी सर्वथा सहमत नहीं थे। उनका कहना था कि जो विषयोंका बाहरसे त्याग करके मनसे उनका चिन्तन करता है, वह पुरुष गृहस्थ और संन्याससे अथवा इहलोक और परलोक—दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर फटे हुए बादलकी भाँति नष्ट हो जाता है। संन्यासका जो सारभूत उत्तम तत्त्व है, उसका आदर तो नन्दभद्र भी करते थे।

वे किसीके कर्मोंकी निन्दा या प्रशंसा नहीं करते थे। किसीके साथ न उनका द्वेष था, न राग; न अनुरोध था, न विरोध। पत्थर और सुवर्णको वे समान समझते तथा अपनी निन्दा और स्तुतिमें भी समान भाव रखते थे। वे स्वभावसे ही धीर थे। सम्पूर्ण भूतोंसे निर्भय रहते थे। अपनी आकृति ऐसी बनायी रखते थे, मानो अंधे और बहरे हों; अर्थात् वे दूसरोंके दोषोंको न देखते और न सुनते। कर्मोंके फलकी उन्हें कोई आकाङ्क्षा नहीं थी। अतः प्रत्येक कर्म उनके लिये भगवान् सदाशिवकी आराधनाका अङ्ग बन जाता था। इसी कारण वे धर्मका अनुष्ठान तो चाहते और करते थे, परंतु उसमें कोई स्वार्थ नहीं रखते थे। नन्दभद्रने भलीभाँति विचार करके इस मोक्षप्राप्तिके साररूप धर्मको ग्रहण किया था।

कुछ लोग खेतीकी प्रशंसा करते हैं; परंतु नन्दभद्रने उसके भी सारभागको ही अपनाया था। खेतीकी आयमेंसे तीसवें भागका त्याग करना चाहिये—उसे धर्मके कार्यमें लगा देना चाहिये। बूढ़े पशुओंका भी स्वयं ही पालन-पोषण करना चाहिये। जो ऐसा करे, वही श्रेष्ठ किसान है। नन्दभद्रने इसीको खेतीका सार मानकर इसका आदर किया था।

प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार देवताओं, पितरों, मनुष्यों (अतिथियों), ब्राह्मणों तथा पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि भूतोंके लिये अन्न देना चाहिये। सदा इन सबको देकर ही स्वयं भोजन करना उचित है। यह उनका मत था।[1]

कुछ लोग ऐश्वर्यकी प्रशंसा करते हैं, परंतु नन्दभद्र उसे प्रशंसाके योग्य नहीं मानते थे; क्योंकि ऐश्वर्यशाली पुरुष अपनेको चिरस्थायी समझकर दूसरोंके साथ दुर्व्यवहार करते हैं। वास्तवमें जो धनके मदसे उन्मत्त होता है, वह पतित होकर विवेक खो बैठता है। अतः सम्पूर्ण प्राणियोंको अपनी ही आत्मा मानकर उनके प्रति अपने ही-जैसा बर्ताव करना चाहिये।[2]

जिसकी सर्वत्र आत्मदृष्टि है, वह ऐश्वर्यसे मतवाला

१. गीतामें भी भगवान्‌ने ऐसा ही कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ (३। १३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीरपोषण करनेके लिये ही पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।'

२. श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ (६। २९)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ (६। ३२)

नहीं होता। इसलिये वे अपनी शक्तिके अनुसार सभी प्राणियोंकी सेवा करते थे, किसीकी भी सेवासे विमुख नहीं होते थे। इस आचरणसे रहनेवाले साधुशिरोमणि नन्दभद्रके सद्व्यवहारकी देवतालोग भी स्पृहा रखते थे।

इसी स्थानमें एक शूद्र भी रहता था, जो नन्दभद्रका पड़ोसी था। उसका नाम तो था सत्यव्रत, किंतु वह बड़ा भारी नास्तिक था। उसकी इच्छा थी, यदि इनका कोई छिद्र देख पाऊँ तो इन्हें धर्मसे गिरा दूँ। नन्दभद्रके वृद्धावस्थामें एक पुत्र हुआ, किंतु वह चल बसा। इसे प्रारब्धका फल मानकर उन महामति वैश्यने शोक नहीं किया। तदनन्तर, नन्दभद्रकी प्यारी पत्नी कनका, जो पतिव्रता अरुन्धतीकी भाँति साध्वी स्त्रियोंके समस्त सद्गुणोंसे विभूषित थी, सहसा मृत्युको प्राप्त हो गयी। सत्यव्रतको बहुत दिनोंके बाद बड़ी प्रसन्नता हुई। 'बड़े कष्टकी बात हुई,' ऐसा कहता हुआ वह शीघ्र ही नन्दभद्रके पास आया और मित्रकी भाँति मिलकर उनसे बोला—'नन्दभद्र! यदि तुम-जैसे धर्मात्माको भी ऐसा फल मिला तो इससे मेरे मनमें यही आता है कि यह धर्म-कर्म व्यर्थ ही है। मैं वाणीके अठारह और बुद्धिके नौ दोषोंसे रहित सर्वथा निर्दोष वाक्य बोलूँगा।* शास्त्रोंके जालसे पृथक् हो मिथ्यावादोंको छोड़कर

'अर्जुन! सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है, अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है, वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है।'

'अर्जुन! जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

'अपनी सादृश्यतासे सम देखने' का तात्पर्य है—जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ, पैर, गुदाके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिकोंका-सा बर्ताव करता हुआ भी उनमें आत्मभाव अर्थात् अपनापन समान होनेसे उनके सुख और दुःखको समान ही देखता है, वैसे ही सब भूतोंमें देखना चाहिये।

* सूक्ष्मता, संख्या, क्रम, निर्णय और प्रयोजन—ये पाँच अर्थ जिसमें उपलब्ध होते हैं, उसे वाक्य कहते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके उद्देश्यसे जो कुछ कहा जाता है, वह 'प्रयोजन' नामक वाक्य कहा गया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें प्रतिज्ञा करके वाक्यके उपसंहारमें 'यही वह है' ऐसा कहकर जो विशेषरूपसे सिद्धान्त बताया जाता है, वह 'निर्णय' नामक वाक्य है। 'यह पहले और यह पीछे कहना चाहिये'—इस प्रकार क्रमविभागपूर्वक जो प्रस्तुत विषयका प्रतिपादन किया जाता है, उसे वाक्यतत्त्वके ज्ञाता विद्वान् 'क्रम' कहते हैं। जहाँ दोषों और गुणोंका यथावत् विभाग करके दोनोंके लिये प्रमाण उपस्थित किया जाय, उसे 'संख्या' वाक्य समझना चाहिये और जहाँ वाक्यके विभिन्न अर्थोंमें अभेद देखा जाता है, उस अतिशय अभेदकी प्रतीतिमें जो हेतु है, उसे ही 'सूक्ष्मता' कहते हैं। यह वाक्यके गुणोंकी गणना हुई।

वाणीके अठारह दोष इस प्रकार समझने चाहिये—अपेतार्थ, अभिन्नार्थ, अप्रवृत्त, अधिक, अश्लक्ष्ण, संदिग्ध, पदान्त अक्षरका गुरु होना, पराङ्मुख-मुख, अनृत, असंस्कृत, त्रिवर्ग-विरुद्ध, न्यून, कष्टशब्द, अतिशब्द, व्युत्क्रमाभिहृत, सशेष, अहेतुक तथा निष्कारण। जिस वाणीके उच्चारण करनेपर भी अर्थका भान न हो, वह 'अपेतार्थ' है। जिससे अर्थभेदकी स्पष्ट प्रतीति न हो, वह 'अभिन्नार्थ' है। जो सदा व्यवहारमें न आता हो, ऐसा शब्द 'अप्रवृत्त' कहा गया है। जिसके न रहनेपर भी वाक्यार्थ-बोध हो जाता है, वह वाक् या शब्द 'अधिक' है। अस्पष्ट अथवा अपरिमार्जित वाणीको 'अश्लक्ष्ण' कहते हैं। जिससे अर्थमें संदेह हो, वह 'संदिग्ध' है। 'पदान्त अक्षरका गुरु उच्चारण' भी एक दोष ही है। वक्ता जिस अर्थको व्यक्त करना चाहता है, उसके विपरीत अर्थकी ओर जानेवाली वाणीको 'पराङ्मुख-मुख' कहा गया है। 'अनृत' का अर्थ है असत्य। व्याकरणसे सिद्ध न होनेवाली वाणीको 'असंस्कृत' कहते हैं। धर्म, अर्थ और कामके विपरीत विचार प्रकट करनेवाली वाणी 'त्रिवर्ग-विरुद्ध' कही गयी है। अर्थबोधके लिये पर्याप्त शब्दका न होना 'न्यून' दोष है। जिसके उच्चारणमें क्लेश हो, वह 'कष्टशब्द' है। अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दको यहाँ 'अतिशब्द' कहा है। जहाँ क्रमका उल्लङ्घन करके शब्दप्रयोग हुआ हो, वह 'व्युत्क्रमाभिहृत' कहलाता है। वाक्य पूरा होनेपर भी यदि बात पूरी नहीं हुई तो वहाँ 'सशेष' नामक दोष है। कथित अर्थकी सिद्धिके लिये जहाँ उचित तर्क या युक्तिका अभाव हो, वहाँ 'अहेतुक' दोष है। जब किसी बातके कहे जानेका कोई कारण नहीं बताया गया हो, अथवा किसी शब्दके प्रयोगका उचित कारण न हो, तब वहाँ 'निष्कारण' दोष है।

काम, क्रोध, भय, लोभ, दैन्य, कुटिलता, दयाहीनता, सम्मानहीनता, धर्महीनता— ये नौ बुद्धिके दोष हैं। जब वक्ता, श्रोता और वाक्य तीनों अविकल रहकर बोलनेकी इच्छामें समान अवस्थाको प्राप्त हों, तभी वक्ताका अभिप्राय यथावत्-रूप प्रकट होता है। बातचीत करते समय जब वक्ता श्रोताकी अवहेलना करता है अथवा श्रोता ही वक्ताकी उपेक्षा करने लगता है, तब बोला हुआ वाक्य बुद्धिपथपर नहीं चढ़ता। इसके सिवा, जो सत्यका परित्याग करके अपनेको अथवा श्रोताको प्रिय लगनेवाला वचन बोलता है, उसके उस वाक्यमें संदेह उत्पन्न होने लगता है, अतः वह वाक्य भी सदोष ही है। इसलिये जो अपनेको या श्रोताको प्रिय लगनेवाली बात छोड़कर केवल सत्य ही बोलता है, वही इस पृथ्वीपर यथार्थ वक्ता है, दूसरा नहीं।

केवल सत्य कहना ही मेरा व्रत है। इसलिये मैं 'सत्यव्रत' कहलाता हूँ। मैं तुमसे सच्ची बात कहूँगा।'

'जबसे तुम पत्थर (शिवलिङ्ग) पूजनेमें लग गये, तबसे तुम्हें कोई अच्छा फल मिला हो, ऐसा मैं नहीं देखता। तुम्हारे एक ही तो पुत्र था, वह भी नष्ट हो गया। पतिव्रता पत्नी थी, सो भी संसारसे चल बसी। भैया! देवता कहाँ हैं? सब मिथ्या है। यदि होते तो दिखायी न देते? यह सब कुछ कपटी ब्राह्मणोंकी झूठी कल्पना है। संसारकी सृष्टि और संहार—ये दोनों बातें झूठी हैं। यह विश्व स्वभावसे ही सदा वर्तमान रहता है, ये सूर्य आदि ग्रह स्वभावसे ही आकाशमें विचरण करते हैं, स्वभावसे ही पृथ्वी स्थिर है, स्वभावसे ही समुद्र अपनी मर्यादामें स्थित है, स्वभावसे ही ये बहुतेरे जीव उत्पन्न होते हैं, स्वभावसे ही यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है। इसका कोई प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला कर्ता (ईश्वर) नहीं है।

'धूर्तलोग इस मनुष्ययोनिको भी सबसे श्रेष्ठ बतलाते हैं, किंतु मनुष्ययोनिसे बढ़कर दूसरी किसी योनिमें कष्ट नहीं है। ये पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े बिना किसी बन्धनके सुखपूर्वक विहार करते हैं, इनकी योनि अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्योंकी अपेक्षा अन्य योनियोंमें उत्पन्न होनेवाले सभी जीव धन्य हैं। इसलिये नन्दभद्र ! तुम मिथ्याधर्मका परित्याग करके मौजसे खाओ, पीओ, खेलो और भोग भोगो। पृथ्वीपर बस यही सत्य है।'

सत्यव्रतके इन वाक्योंसे, जो अशुभकर, अयुक्तिसंगत तथा असमञ्जस (दोषपूर्ण) थे, महाबुद्धिमान् नन्दभद्र तनिक भी विचलित नहीं हुए। वे क्षोभरहित समुद्रकी भाँति गम्भीर थे। उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया—'सत्यव्रतजी! आपने जो यह कहा कि धर्मात्मा मनुष्य सदा दुःखके भागी होते हैं, वह झूठ है। हम तो पापियोंपर भी बहुतेरे दुःख आते देखते हैं। संसारबन्धनजनित क्लेश तथा पुत्र और स्त्री आदिकी मृत्युके दुःख पापी मनुष्योंके यहाँ भी देखे जाते हैं। इसलिये मेरे मतमें धर्म ही श्रेष्ठ है।'

'दूसरी बात जो आप यह कहते हैं कि इस संसारका कारण कोई महान् ईश्वर नहीं है, यह भी बच्चोंकी-सी बात है। क्या प्रजा बिना राजाके रह सकती है? इसके सिवा आप जो यह कहते हैं कि तुम झूठे ही पत्थरके लिङ्गकी पूजा करते हो, इसके उत्तरमें मुझे इतना ही निवेदन करना है कि आप शिवलिङ्गकी महिमाको नहीं जानते हैं। ठीक उसी तरह, जैसे अंधा सूर्यके स्वरूपको नहीं जानता। भगवान् श्रीरामने समुद्रके किनारे श्रीरामेश्वरलिङ्गकी स्थापना की है, क्या वह झूठा ही है?'

'आप जो यह कहते हैं कि देवता नहीं हैं और यदि हैं तो कहीं भी दिखायी क्यों नहीं देते? आपके इस प्रश्नसे मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। जैसे दरिद्रलोग द्वार-द्वार जाकर भीख माँगते हैं, उसी प्रकार क्या देवता भी आपके पास आकर याचना करें? यदि आपके मतमें सब पदार्थ स्वभावसे ही सिद्ध होते हैं तो बताइये, कर्ताके बिना भोजन क्यों नहीं तैयार हो जाता? इसलिये जो भी निर्माणकार्य है, वह अवश्य किसी-न-किसी कर्ताका ही है। और आपने जो यह कहा है कि ये पशु आदि प्राणी ही सुखी तथा धन्य हैं, यह बात आपके सिवा और किसीने न तो कही है और न सुनी ही है। तमोगुणी और अनेक इन्द्रियोंसे रहित जो पशु-पक्षी आदि प्राणी हैं तथा उनके जो कष्ट हैं, वे भी यदि स्पृहणीय और धन्य हैं तो सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे युक्त मनुष्य श्रेष्ठ और धन्य क्यों नहीं है? मैं तो समझता हूँ कि आपका जो यह अद्भुत सत्यव्रत है, इसे आपने नरक जानेके लिये ही संग्रह किया है। आपने पहले ही जो आडम्बरपूर्ण भूमिका बाँधकर अपने ज्ञानका परिचय देना आरम्भ किया है, उसीमें आपके इन वचनोंकी सारहीनता व्यक्त हो गयी है। आपने प्रतिज्ञा तो की थी कुछ और कहनेके लिये, परंतु कह डाला कुछ और ही। इसमें आपका कोई दोष नहीं है, सब दोष मेरा ही है, जो मैं आपकी बात सुनता हूँ। नास्तिक, सर्प और विष—इनका तो यह स्वभाव ही है कि ये दूसरेको मोहित करते हैं। प्रतिदिन साधुपुरुषोंका संग करना धर्मका कारण है। इसलिये विद्वान्, वृद्ध, शुद्ध भाववाले तपस्वी तथा शान्तिपरायण संत-महात्माओंके साथ सम्पर्क स्थापित करना चाहिये। दुष्ट पुरुषोंके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, एक आसनपर बैठने तथा एक साथ भोजन करनेसे धार्मिक आचार नष्ट होते हैं। नीचोंके संगसे पुरुषोंकी बुद्धि नष्ट होती है, मध्यम श्रेणीके लोगोंके साथ उठने-बैठनेसे बुद्धि मध्यम स्थितिको प्राप्त होती है और श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ समागम होनेसे बुद्धि श्रेष्ठ हो जाती है। इस धर्मका स्मरण करके मैं पुनः आपसे मिलनेकी इच्छा नहीं रखता, क्योंकि आप सदा ब्राह्मण आदिकोंकी ही निन्दा करते हैं। वेद प्रमाण हैं, स्मृतियाँ प्रमाण हैं तथा धर्म और अर्थसे युक्त वचन प्रमाण हैं; परंतु जिसकी दृष्टिमें ये तीनों ही प्रमाण नहीं हैं, उसकी बातको कौन प्रमाण मानेगा?'

इस प्रकार कह महात्मा नन्दभद्र वहाँसे उठकर चले गये। वे सदा भगवान् शिवकी उपासनामें लगे रहते और इस प्रकार भगवान् शिवकी भक्ति करते हुए वे परम पदको प्राप्त हो गये।

भक्तिसहित निष्काम कर्मके विषयमें तो शास्त्रका विधिवाक्य भी है। श्रीभगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४५-४६)

'अपने-अपने स्वाभाविक कर्ममें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन।'

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

अतएव सभी मनुष्योंको परमात्माकी शरण होकर अपने-अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार जगज्जनार्दनकी सेवा करके परमात्माकी प्राप्तिके लिये जीतोड़ प्रयत्न करना चाहिये।

नाम-कीर्तनसे शत्रुपर विजय

राजा गोपालसिंहका भगवान्‌में अद्भुत विश्वास पूर्वजोंका संक्षिप्त परिचय

वि० सं० ७७५ के लगभगकी बात है। एक क्षत्रिय युवक अपनी पत्नीको साथ लेकर श्रीजगन्नाथजीके दर्शनार्थ पुरी जा रहे थे। पत्नी गर्भवती थी। उस समय मोटर, रेलगाड़ी आदि सवारियाँ थीं नहीं, अतः वे धीरे-धीरे पैदल ही यात्रा कर रहे थे; रात्रिके समय जब वे कोतुलपुर थानाके अधीन लाउग्राममें पहुँचे, तब वहाँ उन्होंने विश्राम करनेके लिये एक गृहस्थका दरवाजा खटखटाया। गृहस्थने उनका इतना बड़ा सत्कार किया, मानो कोई बहुत पुराना मित्र आया हो और वे उसके आनेकी आशासे इतनी राततक प्रतीक्षामें बैठे हों। उसी रात्रिमें क्षत्रिय युवककी पत्नीने एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न किया। यही शिशु आगे चलकर मल्लराज्यका आदि संस्थापक हुआ; इसीसे इसे 'आदिमल्ल' कहते थे। आदिमल्लने जिनके घर जन्म ग्रहण किया, वे भी क्षत्रिय थे। उनकी उपाधि थी मल्ल। इसलिये इन राजाओंकी उपाधि 'मल्ल' और इनके राज्यका नाम 'मल्लभूमि' हुआ।

इस शिशुके जन्मके तीन दिन बाद ही इसके पिता जगन्नाथपुरी चले गये और उन्होंने वहीं शरीर त्याग कर दिया। शिशुकी माताका भी बीस दिन बाद लाउग्राममें ही देहान्त हो गया। अतः लाउग्रामके उस आश्रयदाता दम्पतिने ही शिशुका पालन-पोषण किया। उसका नाम रखा गया रघुनाथ। रघुनाथके पालक पिताकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी, इसलिये रघुनाथ बालक अवस्थामें ही गाँवके पण्डित मनोहर पञ्चाननकी पाठशालामें पढ़ने चला गया और वेतनके बदले उनकी गायें चराने लगा। रघुनाथकी बुद्धि तीव्र थी, यह देखकर सभी कहते कि यह लड़का होनहार होगा। थोड़े ही दिनोंमें उसने पाठशालाकी पढ़ाई समाप्त कर दी।

एक दिन रघुनाथ पण्डित पञ्चानन महाशयकी गायें चराने खेत गया था; किंतु जब दोपहरतक घर नहीं लौटा, तब पण्डितजीको बड़ी चिन्ता हुई। वे उसकी खोजमें निकले। खोजते-खोजते उन्होंने श्रान्त रघुनाथको एक बरगदके पेड़की छायामें सोये देखा। उसके मुखपर पत्तोंके भीतरसे आकर धूप लग रही थी। उससे बचानेके लिये एक बड़ा भारी विषधर साँप उसके सिरहाने फनको छत्रकी तरह फैलाये बैठा था। यह देखकर पण्डितजीको बड़ा विस्मय हुआ और वे तुरंत समझ गये कि यह बालक साधारण मनुष्य नहीं, कोई महापुरुष है। कुछ देर बाद साँप चला गया और पञ्चानन पण्डित रघुनाथको लेकर घर लौटे।

कुछ समय बाद लाउग्रामके राजाकी मृत्युके अनन्तर ये रघुनाथ ही वहाँके राजा बनाये गये। तबसे मल्लराज्यका आरम्भ हुआ। रघुनाथके मरनेपर उनके पुत्र जयमल्ल राजा हुए। वे प्रद्युम्नपुरको जीतकर अपनी राजधानी लाउग्रामसे वहाँ ले आये। प्रद्युम्नपुरमें एकके बाद एक राजा होते गये। बारहवीं पीढ़ीमें खड्गमल्ल हुए, जिन्होंने वर्तमान खड्गपुरको जीता और उसका नाम खड्गपुर रखा। तत्पश्चात् उन्नीसवें राजा जगतमल्ल हुए।

उन्होंने पासके वनमें नयी राजधानी स्थापित की। अपने कुलदेवताके नामपर उसका नाम 'विष्णुपुर' रखा और वे वहीं आकर रहने लगे।

मल्ल हम्बीरकी वीरता और वैष्णवता

शताब्दियाँ बीत गयीं। एकके बाद एक राजा होते गये। हरेक राजा अपने इच्छानुसार राजधानीकी उन्नतिकी चेष्टा करते थे। जिस समय दिल्लीके सिंहासनपर बादशाह अकबर विराज रहे थे, उस समय मल्लभूमिके राजा मल्ल हम्बीर थे। मल्लराजाओंमें वीर हम्बीर सर्वप्रधान राजा हुए। वे जैसे साहसी थे, वैसे ही विद्वान् और राज्य-संचालनमें सुदक्ष थे। इन्होंने मुसलमान आक्रमणकारियोंसे राजधानीको सुरक्षित रखनेके लिये दो दुर्ग बनाये थे।

इन्हीं वीर हम्बीरके समय पठानसेनापति दाउदखाँने विष्णुपुरपर आक्रमण किया। भयानक युद्ध हुआ। मल्लसेनाने प्रबल पराक्रमके साथ युद्ध किया और अन्तमें दाउदखाँको बुरी तरह पराजित होकर भागना पड़ा। इस युद्धमें पठानोंकी सेनाके इतने आदमी मरे कि युद्धस्थल सैनिकोंके मुण्डोंसे भर गया। इसीसे उस स्थानका नाम 'मुण्डमालाघाट' पड़ा। यह स्थान वर्तमानमें विष्णुपुरसे तीन मीलपर नदीके किनारे स्थित है। वहाँ दुर्गका ध्वंसावशेष अब भी दिखायी पड़ता है। कई वर्ष हुए, बाढ़के प्रवाहमें मिट्टी बह जानेसे एक बड़ी तोप मिट्टीके नीचेसे निकली थी, वही तोप इस समय विष्णुपुरकी फौजदारी अदालतके सामने रखी है।

वीर हम्बीर बड़े ही योद्धा और विष्णुभक्त थे। वीर हम्बीरके समयसे ही मल्लवंशीय राजाओंने वैष्णवधर्मकी दीक्षा लेनी शुरू की और वैष्णवधर्मके प्रचारार्थ वे इच्छानुसार खर्च करने लगे। राजा वीर हम्बीर अपने प्रारम्भिक जीवनमें वैष्णवधर्मके सम्बन्धमें विशेष नहीं जानते थे। एक बार वृन्दावनसे श्रीजीवगोस्वामी और श्रीकृष्णदास कविराज आदि वैष्णवोंने आचार्य श्रीनिवास, नरोत्तमदास और श्यामानन्द—इन तीन वैष्णवोंके साथ बहुत-से वैष्णवग्रन्थ तीन-चार बैलगाड़ियोंपर लादकर गौड़ देशमें भेजे थे। रास्ता बहुत दूरका था। तीनों गोस्वामी मार्गके कष्ट सहते हुए अपने देश जा रहे थे। मार्गमें जब वे रघुनाथपुर मलिआड़ा पार करके गोपालपुरमें पहुँचे, तब उन्होंने बैलोंको खोल दिया और स्वयं विश्राम करने लगे। उन्हें गहरी नींद आ गयी। तब विष्णुपुरके राजसैनिक गाड़ियोंपर बहुमूल्य चीजें समझकर उनको वहाँसे धीरे-धीरे विष्णुपुर ले गये।

इधर नींदसे जगकर गोस्वामियोंने जब बैलगाड़ियों और पुस्तकोंको न देखा, तब वे बहुत व्याकुल हो गये। श्रीनिवास तो पागलकी तरह फटा-मैला कपड़ा पहने ग्रन्थोंकी खोजमें इस गाँवसे उस गाँव चक्कर लगाने लगे। दो गोस्वामी तो हताश होकर वृन्दावन लौट गये, परंतु श्रीनिवास वन-वन और गाँव-गाँव घूमते हुए एक दिन विष्णुपुरसे चार मील दूर देवलीग्राममें आये। वहाँ श्रीकृष्ण-वल्लभ चक्रवर्ती महाशयसे इनकी भेंट हुई। चक्रवर्ती महाशयने बातचीतमें इनका सारा वृत्तान्त जान लिया। उन्होंने श्रीनिवासको आश्वासन देकर कहा कि 'आप इसके लिये कोई चिन्ता न करें। हमारे राजा परम दयालु और धार्मिक हैं। उनसे सब बातें स्पष्ट कह देनेपर वे निश्चय ही इसकी व्यवस्था कर देंगे।'

तदनन्तर एक दिन चक्रवर्ती महाशय श्रीनिवासको साथ लेकर राजदरबारमें गये। उस समय वहाँ बड़े समारोहके साथ श्रीमद्भागवतकी कथा हो रही थी। कथावाचक थे राजपण्डित व्यास चक्रवर्ती। वे रासपञ्चाध्यायीका अर्थ कर रहे थे; किंतु उनका अर्थ ठीक नहीं था। इसलिये आचार्य श्रीनिवासके साथ उनका विवाद छिड़ गया। श्रोताओं तथा राजाने भी श्रीनिवास महाशयसे कथा कहनेके लिये विनयपूर्वक प्रार्थना की। श्रीनिवास बेचारे क्या करते, उनको बाध्य होकर कथा सुनानी पड़ी। वे भागवतके प्रत्येक श्लोकका अर्थ करके ऐसी मधुर भाषामें सबको समझाने लगे कि श्रोता मुग्ध हो गये। राजा, मन्त्री, सभासद्—सभी कथा सुनकर आनन्दित हुए। राजाने अतिशय भक्तिके साथ श्रीनिवासको प्रणाम किया और उनकी चरणरज मस्तकपर लगाकर परिचय पूछा। श्रीनिवासने परिचयके साथ ही राजदरबारमें उपस्थित होनेका कारण भी बतलाया।

श्रीनिवास आचार्यकी बात सुनकर राजा अपने बुरे कामके लिये पश्चात्ताप करने लगे तथा हाथ जोड़कर उनसे बोले—'महाराज ! सचमुच हमारा यह बहुत बड़ा भाग्य था कि हमने गाड़ीसहित आपकी पुस्तकोंको यहाँ रखा, नहीं तो आप-जैसे महापुरुष मेरे दरबारमें क्यों आने लगे। आपके श्रीचरणोंको देखकर मैं धन्य हो गया, मेरा वंश और पुरी धन्य हो गयी। अब इस अधमके अपराधोंको क्षमा करें। आपके वे ग्रन्थ सुरक्षित हैं, उन्हें ले लें और मेरे अपराधका जो दण्ड देना हो दें।' यों कहकर राजा श्रीनिवासके चरणोंमें लोट पड़े। आचार्य श्रीनिवासको दया आ गयी। उन्होंने

राजाको सान्त्वना दी और बादमें आषाढ़ मासकी कृष्णा तृतीयाको उनको श्रीराधाकृष्णमन्त्रकी दीक्षा दी। तबसे मल्लभूमिके राजा वैष्णवधर्मकी दीक्षा ग्रहण करने लगे।

राजा वीर हम्बीर परम वैष्णव थे। राजाके अनुरोधसे आचार्य श्रीनिवास कुछ दिन विष्णुपुर रहे। कुछ समय बाद राजा गुरुदेव श्रीनिवासको साथ लेकर वृन्दावन गये और वहाँके सब तीर्थोंमें घूम-फिरकर वापस राजधानी लौट आये। वृन्दावनसे आकर राजाने राजधानीको वैष्णवधर्मकी शिक्षाके अनुसार सजाना आरम्भ किया। बहुत धनराशि व्यय करके यमुना, कालिन्दी, श्यामकुण्ड और राधाकुण्ड नामक चार तालाब बनवाये। विष्णुपुरके पास ही दो गाँवोंके नाम द्वारका और मथुरा रखे गये। यही सब देखकर वैष्णव कवि और साधुओंने विष्णुपुरको 'गुप्त वृन्दावन' कहा।

राजाने प्रसिद्ध कारीगरोंसे कालाचाँद (कृष्णचन्द्र) विग्रहकी एक मूर्ति बनवाकर बड़े समारोहके साथ उसकी प्रतिष्ठा करायी। वे अपने जीवनकालमें कालाचाँद देवका मन्दिर न बनवा सके। बादमें उनके सुयोग्य पुत्र रघुनाथसिंहने मन्दिर-निर्माण करवाया। यह कालाचाँद-मन्दिर आज भी है। मन्दिरके ऊपर जो शिलालेख है, उसके अनुसार यह मन्दिर १६५६ ई० में तैयार किया गया था।

राजा रघुनाथका भगवत्प्रेम और श्रीमदनमोहनजीकी स्थापना

वीर हम्बीरकी मृत्युके बाद उनके पुत्र रघुनाथ वहाँके राजा हुए। ये भी पिताकी भाँति साहसी योद्धा और बुद्धिमान् थे। राजमहलके नवाब शाहशुजाने एक दिन किसी बहानेसे रघुनाथको अपने दरबारमें बुलाकर उन्हें बंदी कर लिया। अन्तमें उनके वीरत्व और साहसकी परीक्षाके लिये नवाबने अपने एक दुष्ट घोड़ेकी पीठपर चढ़ाकर दौड़ आनेकी रघुनाथको आज्ञा दी। घोड़ा बहुत ही उद्धत था, पर रघुनाथ बड़ी बहादुरीसे उसको वशमें रखे हुए दौड़ाकर वापस ले आये। इससे नवाब बहुत प्रसन्न हुए एवं रघुनाथको बन्धनमुक्त करके उनके साथ मित्रता की। नवाबने राजा रघुनाथके सम्मानमें उन्हें 'सिंह' की उपाधि दी। रघुनाथके समयसे ही मल्ल राजाओंकी उपाधि 'सिंह' हुई।

नवाबसे विदा लेकर राजा रघुनाथसिंह विष्णुपुरकी ओर चले। चलते-चलते वे एक गाँवमें पहुँचे। वे पूरे वैष्णव थे; ब्राह्मणके सिवा अन्य किसीके घर नहीं खाते थे एवं विष्णुका चरणोदक और तुलसी लिये बिना जल ग्रहण नहीं करते थे। पता लगाकर वे धरणीधर नामक ब्राह्मणके अतिथि हुए। धरणीधर अत्यन्त ही गरीब थे। फिर भी उन्होंने बहुत यत्न करके रघुनाथको घरपर रखा और जो कुछ पत्र-पुष्प मिल सका, उसीसे रघुनाथका आदर-सत्कार किया और भोजन कराया। गरीब होनेपर भी ब्राह्मण बड़े धार्मिक थे; कभी अन्याय नहीं करते और झूठ नहीं बोलते थे। ब्राह्मणके घरमें भगवान् श्रीराधाकृष्णकी मूर्ति थी, नाम था मदनमोहनजी। मदनमोहनजीके अद्भुत अपूर्व रूपको देखकर राजा मुग्ध हो गये। उन्होंने ब्राह्मणसे दस हजार रुपये लेकर मदनमोहनको देनेका प्रस्ताव किया। रुपयोंके बदले मदनमोहनको देना होगा—यह सोचकर ब्राह्मण व्याकुल होकर रोने लगे। छोटे बालककी तरह रोते-रोते उन्होंने कहा—'नहीं, तुम चाहे जितने रुपये दो, मैं अपने भगवान्‌को तुम्हें नहीं दे सकता।'

रात्रिमें मन्दिरमें सोते हुए रघुनाथको भगवान्‌का स्वप्नादेश हुआ और तदनुसार उन्होंने चुपचाप मदनमोहनजीको अपनी गोदमें उठा लिया और उन्हें चद्दरसे ढककर वे घरसे निकल पड़े। उनके हाथ, पैर और हृदय काँप रहे थे। राजाने अपने जीवनमें कभी इस तरहका काम नहीं किया था, इसीसे उनका सारा शरीर काँप रहा था। क्या करें, इष्टदेवका आदेश था। वे धीरे-धीरे घरके किवाड़ बंद करके चल दिये। दो-तीन दिनों बाद वे विष्णुपुर पहुँचे। रानीसे मदनमोहनकी सारी बातें बतलाकर अन्तःपुरके एक कोनेमें श्रीमदनमोहनजीको छिपाकर पधरा दिया।

ब्राह्मण धरणीधर सबेरे जगे और नित्यकी भाँति फूल तोड़ने चले गये। लौटकर जब मन्दिरके किवाड़ खोले, तब देखा कि वहाँ न तो भगवान् श्रीमदनमोहनजी हैं और न राजा रघुनाथ ही हैं। ब्राह्मण बहुत दुःखी हुए और सिर पीटकर रोने लगे। उन्हें निश्चय हो गया कि रघुनाथ ही मदनमोहनजीको लेकर भाग गये हैं। यह सोचकर ब्राह्मण जिस अवस्थामें थे, उसी अवस्थामें शोकसे व्याकुल होकर रघुनाथ और मदनमोहनजीकी खोजमें घरसे निकल पड़े। धरणीधर ब्राह्मण अनेक जगह घूमते-घामते अन्तमें एक दिन विष्णुपुर पहुँचे। वहाँ वे करीब एक मासतक घर-घर भटके, पर कहीं श्रीमदनमोहनजीका पता न चला। तब वे प्राणत्यागका विचार करके नदी-तटपर पहुँचे।

वहाँ एक बुढ़ियाने उन्हें नदीमें कूदनेसे रोका और

उनसे सारी बातें जानकर कहा—'यह किसीसे कहना नहीं, यहाँके राजा रघुनाथसिंह कहींसे एक भगवान्‌को लाये हैं और उनको अन्तःपुरके किसी गुप्त स्थानमें छिपा रखा गया है, यह मैंने सुना है। वहाँ जाकर पता लगाओ, वही तुम्हारे मदनमोहन हैं कि नहीं।'

वृद्धाकी बातें सुनकर ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुए और राजाके दरबारमें उपस्थित हुए। राजाने ब्राह्मणको पहचान लिया तथा उनका श्रद्धाभक्तिपूर्वक बहुत आदर-सत्कार करके धन-रत्न आदि जो भी वे लेना चाहें, देनेको कहा। ब्राह्मण रोते-रोते बोले—'राजन्! मैं गरीब हूँ और गरीब ही रहना चाहता हूँ, धन-दौलत लेकर भी क्या करूँगा। इनकी मुझे आवश्यकता नहीं है। आप मेरे भगवान् मदनमोहनको ले आये हैं, उनको मुझे लौटा दीजिये। मैं आपके पैरों पड़ता हूँ। मैं भगवान्‌को अपनी आँखों देखना चाहता हूँ, कृपया एक बार मुझे मेरे भगवान्‌को दिखला दीजिये।' राजा बड़ी चिन्तामें पड़े। उन्होंने कोई उपाय न देखकर ब्राह्मणसे कहा—'आप दया करके यहाँ कुछ दिन विराजिये। आजसे तीन दिन बाद मैं आपको मदनमोहनजीके दर्शन करा दूँगा।' ब्राह्मणको राजाके वचनोंसे बड़ा आनन्द हुआ, उन्होंने दोनों हाथ उठाकर राजाको आशीर्वाद दिया।

एक दिनकी बात है, रातमें ब्राह्मणने स्वप्न देखा, मानो उनके मदनमोहन उनके सिरपर हाथ फिराते हुए कह रहे हैं—'मैं तुम्हारी भक्तिसे संतुष्ट हो गया। तुम दुःख मत करो, घर लौट जाओ। यहाँका यह राजा भी मेरी बड़ी भक्ति करता है, मेरे लिये यह सब राजपाट भूल गया है, इसकी भक्तिसे मैं बँध गया हूँ; इसलिये मैं अब यहीं रहूँगा। पर तुम्हारे यहाँ मैं प्रतिदिन जाऊँगा और प्रतिदिन ही तुम मुझे देखोगे। मैं सिंहासनपर प्रतिदिन इमलीके फूलके काँटे रख आऊँगा। उनको देखकर तुम समझ जाओगे कि मैं रोज ही आता हूँ।'

सबेरा होते ही ब्राह्मणको बुलाने राजा स्वयं गये और ब्राह्मणसे विनयपूर्वक बोले—'ब्रह्मन्! आप मेरा कोई अपराध न मानें; मेरे साथ पधारें, मैं आपको मदनमोहनजीके दर्शन करा देता हूँ। इसके बाद आप जैसा ठीक समझें, करें।' राजाकी बात सुनकर धरणीधरके आनन्दकी सीमा न रही। वे राजा रघुनाथसिंहके पीछे-पीछे चलने लगे। अन्तःपुरमें जाकर धरणीधरने मदनमोहनजीके दर्शन किये और दर्शन करते ही वे बेसुध-से हो गये, उनमें बोलनेकी शक्ति नहीं रही। नेत्रोंसे जलधारा प्रवाहित होने लगी, जिससे उनका सारा वक्षःस्थल भीग गया। वे एकटक भगवान्‌की ओर ही देखते रहे। भगवान् मदनमोहनजीका विग्रह बड़ा ही चित्ताकर्षक और सर्वविध सुसज्जित था। राजा रघुनाथसिंह मदनमोहनजीको विष्णुपुरमें लानेके बाद सब काम छोड़कर भगवान्‌के पास ही रहते और उन्हें बहुमूल्य पदार्थोंसे विविध भाँतिसे सजाते रहते थे। ब्राह्मण धरणीधर आश्चर्यचकित होकर भगवान्‌के विग्रहका दर्शन करते रहे। उनकी आँखोंकी पलकें नहीं पड़ती थीं। फिर बहुत देरतक उन्होंने भक्तिभावपूर्वक प्रणाम और स्तवन किया।

राजाने ब्राह्मणसे बहुत प्रार्थना की, पैर पकड़े, हाथ जोड़कर अनुरोध किया कि आप विष्णुपुरमें रहिये। उन्होंने जमीन देनी चाही, घर बनवा देना चाहा, यहाँतक कि मदनमोहन भगवान्‌की पूजा-अर्चनाका भार देना चाहा; परंतु ब्राह्मण किसी तरह भी विष्णुपुर रहनेके लिये राजी नहीं हुए। हाथ जोड़कर बार-बार भगवान्‌को प्रणाम किया और स्वप्नादेशको याद करके भगवान्‌को विष्णुपुरमें ही छोड़कर भगवान्‌की ओर देखते-देखते वे चले गये।

एक बार रथयात्रा-महोत्सवके समय सैकड़ों हाथी और घोड़े जोड़ने तथा श्रद्धाभक्तिपूर्वक प्रार्थना करनेपर भी श्रीमदनमोहनजीका रथ नहीं चला। कारण यह था कि एक बुढ़िया वीरसिंहपुरसे रथयात्राके दर्शनार्थ आ रही थी, वह थककर रास्तेमें गिर पड़ी। उसको दर्शन दिये बिना रथ आगे नहीं बढ़ता था। आखिर उसे पालकीमें बैठाकर लाया गया, तब रथ चला।

'राजा गोपालसिंहकी बेगार'

इन्हीं भक्त रघुनाथके पवित्र वंशमें कुछ पीढ़ियोंके बाद सन् १७१२ ई० में गोपालसिंह राजा हुए। वे परम वैष्णव थे। दिन-रात केवल भगवन्नामका जप किया करते। राजकार्यसे उदासीन-से रहते और हरिनाममाला हाथमें लिये भक्तोंके साथ धर्मचर्चा करते तथा वैष्णवग्रन्थ पढ़ते रहते। रास्तेमें कहीं किन्हीं वैष्णव साधु-संन्यासीको देखते तो उन्हें दरबारमें ले आते और बड़े भक्तिभावसे उनकी सेवा-पूजा करते। भक्त राजा गोपालसिंहने अनेकों वैष्णवोंको बहुत-सी करहीन भूमि दान की थी; उन सब वैष्णवोंके वंशधर विष्णुपुरमें आज भी उसे भोग रहे हैं।

एक बार राजाने आज्ञा दी कि 'राजदरबारके प्रत्येक कर्मचारीको प्रतिदिन कम-से-कम एक बार समयानुसार हरिनामकी माला जपनी पड़ेगी। जो नहीं जपेगा, उसे दण्ड दिया जायगा।' सब माला मँगाकर

नित्य जपने लगे। कुछ दिनों बाद अन्तःपुरकी सेविकाओं तथा महिलाओंने भी प्रतिदिन माला जपनी शुरू कर दी। उसके बाद एक दिन राजाने यह आदेश दिया कि 'राजधानी विष्णुपुरके प्रत्येक व्यक्तिको प्रतिदिन माला जपनी पड़ेगी। बूढ़े, युवक, बालक, बालिका, स्त्री सभीको दिनमें कम-से-कम एक बार माला अवश्य जपनी ही होगी।' राजाकी आज्ञा थी, बाध्य होकर सब लोग भगवन्नाम जपने लगे। दिनमें कम-से-कम एक बार सभीको हरिनामकी माला लेकर बैठना पड़ता था। बहानाबाजी करके बचनेका कोई रास्ता न था; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन माला जपता है या नहीं, यह जाननेके लिये राजाने बहुत-से गुप्तचर नियुक्त कर रखे थे और स्वयं राजा भी समय-समयपर छिपे वेषमें घूम-घूमकर देखा करते थे। समय-असमयका कोई हिसाब नहीं था, जिस किसी समय भी दिनमें एक बार माला जपनी थी, क्योंकि राजाने माला जपनेका समय निश्चित नहीं किया था। लोग भोजन करने जाते, परंतु रसोई होनेमें या परसनेमें कुछ देर होती तो उसी समय हाथमें माला लेकर बाहर बैठ जाते और जप करने लगते। राजा गोपालसिंहजीका यह कार्य वस्तुतः बहुत ही स्तुत्य था। सच्चा हितैषी बन्धु तो वही है, जो किसी प्रकार भी अपने आत्मीयको भगवान्में लगा दे—

तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानतें प्यारो।
जाते होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो॥

यह लोगोंको 'गला पकड़कर अमृत पिलाना' था, परंतु कुछ लोग इससे नाराज हो गये और वे इसे 'गोपालसिंहकी बेगार' कहने लगे।* आगे चलकर यह एक साधारण कहावत हो गयी। बाँकुड़ा और विष्णुपुरके आसपास आज भी इसका प्रचार है। जब कोई काम करनेके बाद अपनी मजदूरी या लाभ नहीं पाता, तब उस काम करनेको वह 'गोपालकी बेगार' कह देता है। जो काम करनेसे जी चुराता है, उसे उसका मालिक कह देता है कि 'तू तो 'गोपालकी बेगार' काट रहा है।'

विष्णुपुरपर आक्रमण और सामुदायिक कीर्तन

मराठासेनापति भास्कर पण्डित बहुत दिनोंसे मल्लराज्यपर आक्रमण करनेका सुयोग देख रहे थे, परंतु मल्ल-सैनिकोंकी शक्ति और युद्धकौशल देखकर उन्हें आक्रमण करनेका साहस नहीं होता था; किंतु गोपालसिंहको राज्यसंचालनमें उदासीन सुनकर भास्कर पण्डितने मल्लराज्यपर आक्रमण करनेका अच्छा अवसर समझा और बड़ी भारी सेना लेकर उन्होंने मल्लराज्यपर चढ़ाई कर दी।

मल्लराज गोपालसिंहके सेनापतियोंको मराठोंकी इस चढ़ाईका कुछ भी पता न चला। उस ओर किसीका ध्यान भी नहीं था। मराठोंकी सेना मुण्डमालाघाटपर आकर डट गयी। वहाँ एक दुर्ग था, जिसपर बहुत-सी तोपें सजायी हुई थीं। पुरानी व्यवस्थाके अनुसार मल्लराज्यमें पैर रखनेके पहले शत्रुको या तो इस दुर्गपर अधिकार करना पड़ता था या पराजय स्वीकार करके भागना पड़ता था। मराठासैनिक मुर्शिदाबाद, ढाका और मल्लराज्यके अनेक ग्रामोंको लूटकर विष्णुपुर आये थे।

उस समय दोपहरका समय था; किंतु सेनापतिके आदेशसे एक दल सैनिक तुरंत दौड़कर दुर्गके निकट पहुँच गया। पर दुर्गपर बहुत-सी तोपें सजी देखकर उसे बड़ा भय हुआ और उसके आगे बढ़नेकी चाल मन्द पड़ गयी। मराठासेनापति भास्कर पण्डितके सौभाग्यसे उस समय दुर्गमें सैनिकोंमेंसे कोई न था। दुर्गके सैनिक इच्छानुसार जहाँ-तहाँ स्वच्छन्द विचरा करते थे, नहीं तो भास्कर पण्डितको वहीं पराजय स्वीकार करनी पड़ती। मराठासैनिक और आगे बढ़े। इसी समय दुर्गके एक तोपचालकने उनको देख लिया। उसने तत्काल दुर्गके भीतर जाकर तोपें दागनी आरम्भ कर दीं। तोपोंकी आवाज सुनकर मल्लराज्यके अन्य सैनिक भी दौड़ आये और तोपें दागने लगे। तोपोंके मुँहसे गोले बरसने लगे और मराठा सैनिक मरने लगे। दुर्गमें केवल पंद्रह सैनिक थे, उन्होंने देखा कि अत्यन्त समीप आ जानेके कारण मराठा-सैनिकोंपर गोलोंकी मार ठीक नहीं पड़ रही है, तब उन्होंने बंदूकें चलाना शुरू किया और एक आदमीने दौड़कर सेनापतिको सूचना दी।

राजा गोपालसिंहने मराठासेनापति भास्कर पण्डितके

---

* कुछ लोग गोपालसिंहके इस कार्यको अन्याय और अत्याचार बतलाते हैं, उन्हें देखना चाहिये कि आज क्या हो रहा है। जबरदस्ती भगवान्‌का नाम छुड़ाया जा रहा है। मानो अमृतका प्याला छीनकर, गला पकड़कर जबरन् विष पिलाया जा रहा है ! रूस-जैसे देशमें भगवान्‌की सत्ता माननेवालोंको दण्ड देनेका विधान बनाया गया था। यहाँ भारतकी संसद्‌में भगवान्‌का स्मरण करके काम शुरू करनेका प्रस्ताव गिर गया। प्रजाको ईश्वरके माननेसे बलपूर्वक रोकना 'एक दल' का सिद्धान्त है। पर इन लोगोंको आज लोग बुरा नहीं कहते, लेकिन जो भगवान्‌की ओर लगानेमें बलपूर्वक काम लेता है, उसे अत्याचारी बताया जाता है। कैसी विडम्बना है!

आक्रमणकी बात सुनकर सेनाकी एक टुकड़ी मुण्डमाला-घाटकी ओर भेजी। भयङ्कर युद्ध छिड़ गया। मल्लसेना संख्यामें कम थी, पर वह प्राणपणसे लड़ने लगी। मराठोंके भी बहुत सैनिक मरे; परंतु अन्तमें उन्होंने दुर्गपर अधिकार कर लिया, तब शेष मल्लसेना धीरे-धीरे हटकर राजदरबारमें आ गयी।

युद्धमें विजय पाकर भास्कर पण्डित आनन्दित हो विष्णुपुरकी ओर बढ़ने लगे। बीचमें रात हो जानेके कारण सेनापतिने रास्तेके पास ही पड़ाव डाल दिया। इस समय विष्णुपुरमें जहाँ फौजदारी और दीवानी अदालत है, वहीं भास्कर पण्डितने छावनी डाली थी, इससे अब भी उस जगहका नाम 'मराठाडाँगा' है।

गढ़की सेनाने भागकर राजाको सूचना दी। मराठे राजधानीकी ओर आ रहे हैं, यह जानकर राजाने प्रजाको आदेश दिया कि 'सब लोग अपनी धन-सम्पत्ति और परिवारको लेकर भीतरी दुर्गके अंदर चले आवें।' प्रजा भयभीत हो गयी। जिसके पास जो कुछ था, लेकर बाल-बच्चोंसहित सबने दुर्गमें आश्रय लिया। कुछ लोग धन-सम्पत्तिको वहीं छोड़कर केवल अपने प्राण बचानेके लिये ही दुर्गमें दौड़ आये!

अपनी सेनाकी पराजयकी बात सुनकर राजा गोपालसिंहने सोचा कि 'अब कोई उपाय नहीं है।' तब उन्होंने विश्वासपूर्वक दुर्गमें सबको हरिनाम-कीर्तन करनेकी आज्ञा दी। यद्यपि उस समय भी गढ़में चालीस हजार शिक्षित सेना मौजूद थी और उसको परास्त करना मराठासेनापति भास्कर पण्डितके लिये सीधा काम न था, पर राजाने यह सब कुछ नहीं सोचा। उन्होंने राजधानीके सब लोगोंके साथ हरिनाम-कीर्तन करना आरम्भ कर दिया। हरिनामकी तुमुल ध्वनिसे गढ़ गूँज उठा। भास्कर पण्डितकी थकी सेना रात्रिमें विश्राम करने लगी।

पर मल्लसेनापति निश्चिन्त नहीं थे। राज्यमें एक सन्थालीसेना थी; वे लोग बहुत विश्वासी और साहसी थे। अन्तःपुरकी रक्षामें चारों ओर उनको नियुक्त कर दिया गया। मल्लसेनापतियोंने प्रतिज्ञा की कि 'प्राण भले ही चले जायँ, मराठोंको गढ़की ओर एक पैर भी नहीं बढ़ने दिया जायगा।' इसी उद्देश्यसे उन्होंने राजाकी आज्ञाकी कोई प्रतीक्षा न करके मल्लभूमिकी स्वाधीनता-रक्षाके लिये रातोंरात गढ़के चारों ओर सेना सजा दी और बड़ी तोपोंको बारूद भरकर तैयार कर लिया। धनभण्डारको राजप्रासादके गुप्त स्थानोंमें छिपाकर रख दिया गया। राजाको इन सब बातोंका कुछ भी पता न था, वे तो गढ़में प्रजाके साथ मिलकर जोरोंसे केवल हरिनाम-कीर्तन कर रहे थे।

सबेरा होते ही मल्लसेनाओंने तोपें चलानी शुरू कर दीं। मराठे-सैनिक भी आ डटे। लड़ाई आरम्भ हो गयी। मराठे-सैनिक दुर्गपर आक्रमण करनेके लिये दुर्गकी खाई पार करनेकी चेष्टा करने लगे; किंतु बड़े-बड़े तालाबोंसे खाईमें जल प्रवाहित करनेकी सुव्यवस्था होनेके कारण खाईका पानी बरसाती नदीके प्रवाहकी भाँति बड़े जोरोंसे बह रहा था, अतः उसे पार करना सम्भव नहीं था। उधर गढ़पर बहुत-सी तोपें सजाकर हजारों सैनिक प्रतीक्षा कर रहे थे। दुर्गका सुदृढ़ लौहद्वार बंद था। इससे मराठोंने अनुमान कर लिया कि दुर्गमें निश्चय ही बड़ी भारी सेना है; परंतु बहुत देशोंको पराजित करनेसे उनका लोभ बढ़ा हुआ था। फिर उनका अहङ्कार भी बढ़ा था। वे तेजस्वी-साहसी योद्धा भी थे। अतः मल्लसेनासे पराजय स्वीकार कैसे करते ! उन्होंने बड़ा प्रयत्न करके किसी तरह खाई पार कर ली और बंदूकें चलाकर युद्धारम्भका संकेत कर दिया। मल्लसैनिकोंने मराठासैनिकोंको खाई पार करते देखकर एक ही साथ तोपें दागनी शुरू कर दीं और साथ-साथ बंदूकें भी चलाने लगे। तोपोंके गोलों और बंदूकोंकी गोलियोंसे मराठासैनिक मरने लगे और उनके शव खाईके जलमें बहने लगे। जो मराठादल खाईमें पहले उतरा था, उसमेंसे एक भी न बचा। मराठासेनापति भास्कर पण्डितने दूसरे दलको आज्ञा दी। उसमेंसे कुछ सैनिक पार हो गये; परंतु द्वारके पास जाते-न-जाते वे सब भी मारे गये। इस तरह मराठासेनापतिने तीन बार चेष्टा की और तीनों ही बार वे विफल रहे। मराठेसैनिक मरने लगे।

राजा गोपालसिंह उस समय भी दुर्गके भीतर हरिनाम-कीर्तन कर रहे थे। सब लोग आतुर थे और बड़ी करुणासे तन्मय होकर भगवान्‌का पवित्र नाम-कीर्तन कर रहे थे। युद्धके सम्बन्धमें वे कुछ नहीं जानते थे। दुर्गमें प्रजाका समय डरते-डरते बीत रहा था। लोग तोप-बंदूकोंकी आवाजें तो सुन रहे थे, पर युद्धका क्या परिणाम हो रहा है, इसका किसीको पता न था। सच्ची आर्तभक्तिका मानो मूर्तिमान् प्रवाह बह रहा था। सामुदायिक सच्ची पुकार (प्रार्थना) का शुभ परिणाम हुआ। सहज दयालु भगवान्‌का करुणासमुद्र उमड़ा और उसका कार्य आरम्भ हो गया।

मदनमोहनजीके द्वारा तोपोंका चलाया जाना और शत्रुकी पराजय

युद्ध करते-करते दोनों ओरकी सेनाएँ थक गयीं। मराठा सैनिक खाई पार करके विश्राम करने जंगलमें चले गये। तब मल्लसेनाको भी विश्राम मिल गया। इस बीचमें समय पाकर मल्लसेना तोपोंमें बारूद भरने लगी और नये-नये सैनिकोंके दल दुर्गमें आने लगे। अचानक, आश्चर्यचकित होकर मल्लसैनिकोंने देखा कि एक अश्वारोही राजप्रासादसे निकलकर बड़े जोरसे दुर्गकी ओर घोड़ा दौड़ाता आ रहा है। घोड़ेके खुरकी धूल चारों ओर उड़ रही है और वह घुड़सवार इतने वेगसे चला आ रहा है कि वह कौन है, यह भी अच्छी तरह दिखलायी नहीं पड़ता। सहसा दल-मादल तोपें गरजने लगीं और थोड़ी ही देर बाद देखा गया कि जंगलमें, जहाँ मराठे विश्राम कर रहे थे, वहाँ दल-मादल तोपोंके गोले वर्षाकी असंख्य बूँदोंकी भाँति पड़ रहे हैं और इसके फलस्वरूप असंख्य मराठेसैनिक मौतके शिकार हो रहे हैं। देखते-देखते भास्कर पण्डितकी आधी सेना समाप्त हो गयी। कोई उपाय न देखकर मराठा सेनापतिने पराजय स्वीकार कर ली और वे शेष सेनाको लेकर धीरे-धीरे पीछे हटने लगे। सुयोग देखकर मल्लसैनिक भी दुर्गसे निकल आये और मराठासैनिकोंके पीछे आक्रमण करते हुए वेगसे चलने लगे। मराठोंकी सेना भङ्ग हो गयी और सैनिकोंने, जहाँ जिसे रास्ता मिला, भागकर प्राण बचाये। मराठासेनापति भास्कर पण्डित कुछ सैनिकोंको लेकर वनमें छिप गये; परंतु जंगलमें वे रास्ता नहीं खोज सके। बहुत दिनोंतक घूम-फिरकर छिपे-छिपे वे मेदिनीपुर जिलेके चन्द्रकोणाकी तरफ भाग गये। इस प्रकार मल्लभूमिके सैनिकोंने दुर्धर्ष मराठोंका गर्व चूर्ण कर दिया।

दल-मादल तोपोंके चलानेके सम्बन्धमें सबका यह कहना है कि स्वयं प्रभु मदनमोहनजीने उनको चलाया था। राजाकी प्रार्थनासे संतुष्ट होकर राजधानी विष्णुपुरका शत्रुओंसे उद्धार करनेके लिये स्वयं भगवान्ने ही आकर तोपें चलायीं, जिससे मराठे तो हारकर भाग गये और मल्लसैनिकोंके आनन्दकी सीमा न रही। राजधानी विष्णुपुरके रास्तोंपर सैनिक स्वच्छन्द टहलने लगे और राजधानीकी प्रजा सैनिकोंको अनेक प्रकारके उपहार देने लगी। भगवान्की भृत्यवत्सलता और भगवान्में विश्वाससे अद्भुत परिणामका यह ज्वलन्त उदाहरण है!

गोपालसिंहके राजत्वकालमें राज्यकी सुव्यवस्था

राजा गोपालसिंहके राजत्वकालमें फ्रांसके आबिरेन्याल नामक भ्रमणकारी विष्णुपुर आये थे। उन्होंने मल्लराज्यमें भ्रमण करके राज्यरक्षाकी व्यवस्था, प्रजाका सरल व्यवहार और अतिथि-सत्कारके सम्बन्धमें बहुत प्रशंसा की है। उन्होंने लिखा है कि मल्लभूमिकी प्रजाकी स्वाधीनता और धन-सम्पत्तिको कोई अपहरण नहीं करता था, राज्यमें कभी चोरी या डकैती नहीं होती थी। कोई विदेशी सज्जन यदि कभी मल्लराज्यमें आते तो मल्लराजा उनकी रक्षाका भार और जितने दिन वे राज्यमें रहते, उनका समस्त व्यय वहन करते थे। विदेशी सज्जनके साथ सदा ही राज्यकी ओरसे एक सहायक नियुक्त रहता। वे राज्यमें जहाँ जाना चाहते, वह उन्हें वहीं ले जाता। इसके लिये किसीको एक पैसा भी खर्च नहीं करना पड़ता था। राज्यके लोग कभी किसीकी हिंसा नहीं करते, कोई किसीका अनिष्ट नहीं करते थे। सब इतने सरल और धर्मभीरु थे कि यदि कोई रास्तेमें रुपयोंकी थैली पा जाता तो वह तुरंत उसे राजाके पास पहुँचा देता और राजा चारों ओर ढोल पिटवा देते कि जिसकी थैली खो गयी हो, वह आकर ले जाय। गोपालसिंहके समय मल्लराज्यकी ऐसी व्यवस्था थी।

राजा गोपालसिंहकी मृत्युके बाद उनके लड़के चैतन्यसिंह राजा हुए। वे भी पिताकी तरह ही परम वैष्णव थे और दिन-रात धर्मकी आलोचना, धर्मग्रन्थपाठ तथा नाम-संकीर्तनमें लगे रहते एवं ब्राह्मणोंकी खूब भक्ति करते।

सुना जाता है कि ब्राह्मण धरणीधरके यहाँसे जो मदनमोहनजीकी मूर्ति विष्णुपुर लायी गयी थी और जिनकी भक्ति राजा रघुनाथसिंह—गोपालसिंह आदि करते रहे, वही आजकल कलकत्तेके बाग-बाजारके श्रीमदनमोहनजीके मन्दिरमें विराजित है।*

उपसंहार

विष्णुपुरके राजा गोपालसिंहकी 'दल-मादल' तोपोंके विषयमें ऐसी लोकोक्ति है कि जिस समय शत्रुओंकी सेनाने विष्णुपुरके चारों ओर बड़ा भारी घेरा

* यह कथा एक बंगला पुस्तकके आधारपर संक्षेपमें लिखी गयी है।

डाल दिया और विष्णुपुरके गढ़में रहनेवाले सैनिक निराश हो गये, उस समय दल-मादल तोपोंको एक बहुत बड़े घोड़ेपर दोनों ओर सजाकर भगवान् मदनमोहन ही घोड़ेपर सवार होकर किलेसे बाहर निकले और शत्रु-सेनाके घेरेपर तोप दागते हुए चारों ओर अलातचक्रकी तरह घूमने लगे। उन तोपोंके गोलोंसे बहुत-सी शत्रुसेना मारी गयी और बचे हुए लोग भाग गये। तदनन्तर घोड़ेसहित भगवान् किलेमें लौट आये और तोपोंको लालबाँध (तालाब) पर उतारकर स्वयं अपने मन्दिरमें प्रवेश कर गये।

शत्रुसेनापतिको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने सोचा कि 'न जाने इनके पास ऐसे कितने घुड़सवार होंगे, जब कि इस एक ही घुड़सवारने हमारी सेनाको परास्त कर दिया।' वे भयभीत हो मन्त्रीसहित घोड़ेके पीछे-पीछे विष्णुपुरके राजा गोपालसिंहके पास मन्दिरमें आकर उनके शरणापन्न हुए। उन्होंने राजाके चरणोंमें पड़कर अपराधके लिये क्षमा माँगी। राजा गोपालसिंहने पूछा—'अपराध किस बातका?' इसपर शत्रु-सेनापतिने सारा हाल आद्योपान्त कह सुनाया कि 'आपके एक ही घुड़सवार वीर पुरुषने तोपोंके गोलोंद्वारा हमारी सारी सेनाको तहस-नहस करके पराजित कर दिया। आपके पास ऐसे कितने वीर पुरुष हैं?' राजा गोपालसिंहने कहा—'हमारे पास तो ऐसा कोई सवार नहीं है, जो घोड़ेपर तोप बाँधकर युद्ध करे।' सेनापति बोले—'यह तो प्रत्यक्ष घटना है। दोनों तोपें लालबाँधके इधर-उधर पड़ी हैं और घोड़ा मन्दिरके अहातेमें मन्दिरके दरवाजेके बाहर मौजूद है एवं घुड़सवारको हमने स्वयं इस सभामण्डपमें प्रवेश करते देखा है।' यह सुनकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ।

दोनों वहाँसे सभामण्डपके भीतर गये तो शत्रुसेनापतिने मदनमोहनकी विशाल मूर्तिको देखकर तुरंत कहा कि 'बस, ये ही तो थे।' तब राजा गोपालसिंहने भगवान् मदनमोहनके वस्त्रोंको देखा तो वे पसीनेसे भीगे हुए थे। राजा गोपालसिंह करुण-भावसे अश्रुपात करते हुए बोले—'मैं बड़ा ही राज्य-लोलुप हूँ। मेरे इस तुच्छ कामके लिये आपको युद्धमें जाना पड़ा।' फिर उन्होंने शत्रुसेनापतिको आश्वासन देकर आदरपूर्वक बिदा कर दिया और कहा—'आप धन्यभाग्य हैं, जो आपको साक्षात् भगवान्के दर्शन हुए। आपने जो कुछ आश्चर्य देखा है, यह सब इन भृत्यवत्सल शरणागतपालक दयासिन्धु भगवान् मदनमोहनजीकी ही लीला है।'

उन दोनों तोपोंमेंसे एक तो लालबाँध तालाबके कच्चे परकोटेके बाहर पास ही पड़ी हुई अभी मौजूद है और सुना जाता है कि दूसरी लालबाँध तालाबके कीचड़में धँस गयी है। इन्हीं दोनों तोपोंका नाम 'दल-मादल' था। ये दोनों तोपें राज्यमें पहलेसे ही थीं या स्वयं भगवान् ही इन्हें लाये, यह तो भगवान् ही जानें, पर जो तोप मौजूद है, उसकी लम्बाई करीब १२॥ और उसके पीछेके गोलेका माप करीब ८ फुट है तथा गोले निकलनेका तोपका मुँह करीब १ फुट है। उसे देखनेसे मालूम होता है कि उस जमानेमें इतनी बड़ी तोप ढालनेका कोई यन्त्र नहीं था और वह धातु भी इतनी चिकनी तथा अद्भुत-सी प्रतीत होती है, जैसे कई धातु मिलाकर बनायी गयी हो। सैकड़ों वर्ष बीतनेपर भी उसपर कहीं कोई जंग बिलकुल नहीं लगा है। दूसरे, यह भी आश्चर्य होता है कि इतनी-इतनी बड़ी दो तोपें एक घोड़ेपर लादना और उनका चलाना, कैसे सम्भव हुआ। इसीसे यह अनुमान होता है कि ये तोपें स्वयं भगवान्के द्वारा ही लायी हुई हैं। भगवान्के लिये सभी कुछ सम्भव है; वे असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं। वास्तवमें क्या बात है, सो तो भगवान् ही जानें।

तर्कवादी लोग कहते हैं कि 'यह सब 'मिथ्या कल्पनामात्र' है। नामकीर्तनसे शत्रुसेनापर विजय प्राप्त करनेकी बात करना निरा पागलपन है और भगवान्ने तोप चलाकर शत्रुको परास्त कर दिया, यह तो सर्वथा अयुक्त है। साथ ही 'शत्रुसेना सिरपर खड़ी हो और कोई सबको लेकर कीर्तन करने बैठ जाय'—यह तो प्रत्यक्ष कर्तव्यविमुखता है।'

कर्तव्यकी दृष्टिसे बात सर्वथा सत्य है। जिनकी भगवान्में पूर्ण विश्वासयुक्त निर्भरता नहीं है, वे यदि मोहवश भगवान्के नामकी मिथ्या आड़ लेकर बैठ जायँ अथवा भयसे कर्तव्यविमुख होकर अपनी कमजोरी छिपानेके लिये कोई कीर्तनका ढोंग करें तो अवश्य ही उनका कार्य पागलपन और अयुक्त है तथा कर्तव्यविमुखता भी स्पष्ट है और उन्हें सफलता भी नहीं मिल सकती; परंतु जिनको पूर्ण विश्वास है, उनके लिये न तो यह कल्पना है, न पागलपन और न अयुक्त ही है। उनके लिये तो यह ज्वलन्त सत्य है। प्राचीन अथवा अर्वाचीन ग्रन्थोंमें ऐसे बहुत-से उदाहरण मिलते हैं, जहाँ भगवान्ने भक्तोंके कार्य स्वयं किये हैं। बर्बरीकने बताया था कि 'रणक्षेत्रमें

केवल श्रीकृष्णका ही चक्र चल रहा था।' राणा जयमल्लके लिये भगवान्ने उनके शत्रुसे लड़कर उसे परास्त किया था। और भी अनेकों कथाएँ हैं। गीतामें भगवान्ने जो **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** की प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार भगवान्का ऐसा करना स्वाभाविक ही है। चाहिये विश्वासपूर्ण सच्ची निर्भरता! महात्मा गाँधी तो बड़े बुद्धिमान् थे, उन्होंने भी एक स्थानपर कहा है—'मैं बिना किसी हिचकिचाहटके कह सकता हूँ कि लाखों आदमियोंद्वारा सच्चे दिलसे एक ताल और लयके साथ गायी जानेवाली रामधुनकी ताकत फौजी ताकतके दिखावेसे बिलकुल अलग और कई गुना बढ़ी-चढ़ी है।' इतनेपर भी सर्वसाधारणके लिये उचित और सुरक्षित यही है कि 'भगवान्का स्मरण करते हुए कर्तव्यका पूर्णरूपसे पालन किया जाय।' इसमें भगवद्विश्वास भी है और कर्तव्यपालन भी! विश्वासी पुरुषोंको इस इतिहाससे अपने विश्वासको और भी सुपुष्ट और सुदृढ़ करना चाहिये।

भक्त बननेका सरल साधन

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग आदि बहुत-से उपाय बतलाये गये हैं, किंतु भक्तियोग सबसे सुगम होनेके कारण मनुष्योंके लिये सर्वोत्तम है; क्योंकि भक्तियोगमें स्त्री, पुरुष, बालक और सभी वर्ण-आश्रमके मनुष्योंका अधिकार है और सबके लिये यह सहज भी है (गीता ८।१४)। कैसा भी पापी क्यों न हो, भगवान्की भक्तिके प्रभावसे उसका भी शीघ्र उद्धार हो जाता है। श्रीभगवान्ने कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है—अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

इसी प्रकार जातिसे भी नीच-से-नीचका उद्धार हो सकता है। श्रीभगवान् कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

'अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरी शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

जिसकी मृत्यु निकट आ पहुँची है, भक्तिके प्रतापसे उसे भी तत्क्षण परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। गीतामें कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(८। ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

यदि कहें कि बिना ज्ञानके कल्याण नहीं हो सकता, सो ठीक है; किंतु भगवान्की भक्तिके प्रभावसे उसको ज्ञानकी प्राप्ति भी भगवत्कृपासे हो जाती है। गीतामें स्वयं भगवान्ने कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(१०। १०-११)

'निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले उन भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

इससे यह बात सिद्ध हुई कि मनुष्योंके लिये भगवान्‌की प्राप्ति बहुत ही सुगम है, चाहे वे जाति और आचरणोंसे नीच तथा चाहे जैसे भी मूर्ख क्यों न हों। भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम होना चाहिये, फिर उनका भक्तिके प्रभावसे सुगमतापूर्वक शीघ्र उद्धार हो सकता है।

गीता, रामायण और भागवत आदि ग्रन्थोंमें भगवद्-भक्तिकी जितनी महिमा मिलती है, उतनी और किसी भी साधनकी नहीं मिलती। इसलिये सर्वोपयोगी समझकर भक्तिका साधन करनेके लिये भलीभाँति परिश्रम करना चाहिये। यों तो सभी युगोंमें सदा ही भक्तिका साधन सुगम बतलाया है, किंतु कलियुगमें तो इसकी और भी विशेष महिमा गायी गयी है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र संकीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते॥

(श्रीमद्भा० ११। ५। ३६)

'कलियुगमें केवल नाम-संकीर्तनसे ही सारे स्वार्थ और परमार्थ प्राप्त हो जाते हैं, इसलिये उस युगका गुण जाननेवाले सारग्राही श्रेष्ठ पुरुष कलियुगका बड़ा आदर करते हैं।'

इन सब बातोंसे यह सिद्ध हुआ कि परमात्माकी प्राप्ति कलियुगमें बहुत ही सुगमतासे शीघ्र हो सकती है।

हमलोगोंपर ईश्वरकी बड़ी कृपा है कि हमलोगोंका उत्तम देश, उत्तम काल, उत्तम जाति और उत्तम धर्ममें जन्म हुआ। और भी हमपर ईश्वरकी यह विशेष कृपा है कि हमें ऐसे कलिकालमें समय-समयपर सत्सङ्ग और स्वाध्याय करनेका अवसर भी मिल जाता है। आत्मोद्धारके लिये तीनों लोकोंमें यह पृथ्वी उत्तम है और पृथ्वीमें भी यह भारतभूमि सर्वोत्तम मानी गयी है। पूर्वकालमें समस्त पृथ्वीके लोग इस भारतभूमिमें आकर ही शिक्षा लिया करते थे। इसीलिये मनु महाराजने कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(२। २०)

'इस देश (भारतवर्ष) में उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंके पाससे अखिल भूमण्डलमें निवास करनेवाले सभी मनुष्य अपने-अपने आचारकी शिक्षा लिया करें।'

हमलोगोंका जन्म और निवास उसी भारतभूमिमें है। अभी काल भी हमलोगोंके लिये बहुत ही उत्तम है। कलियुग समस्त दोषोंकी खान होते हुए भी इसमें यह एक विशेष गुण है कि इसमें भगवान्‌की भक्तिसे मनुष्यका अनायास ही उद्धार हो जाता है। श्रीस्कन्दपुराणमें बतलाया है—

कलेर्दोषनिधेश्चैव शृणु चैकं महागुणम्।
यदल्पेन तु कालेन सिद्धिं गच्छन्ति मानवाः॥

(स्क० मा० कुमा० ३५। ११५)

'कलियुग समस्त दोषोंका खजाना है; साथ ही इसमें एक महान् गुण भी है, उसे सुनो। इसमें थोड़े ही समयतक साधन करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाते हैं।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

मनुष्यशरीरमें ही परमात्मप्राप्तिका मुख्यतया अधिकार है, इसलिये शास्त्रोंमें जगह-जगह मनुष्यशरीरकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥

धर्म भी जितने हैं, उनमें वैदिक सनातनधर्म अनादि और सर्वोत्तम है। यों तो धर्मके नामसे संसारमें बहुत-से मत-मतान्तर प्रचलित हैं; किंतु जिनको करोड़ों मनुष्य मानते हों, ऐसे चार ही धर्मके नामसे इस समय विशेष प्रचलित हैं—हिंदूधर्म, बौद्धधर्म, मुस्लिमधर्म और ईसाईधर्म। इनपर विचार करके देखनेसे जो वैदिक सनातन हिंदूधर्म है, वही सबसे पहलेका सिद्ध होता है। श्रीगौतमबुद्धका प्रचलित किया हुआ बौद्धधर्म करीब ढाई हजार वर्षसे है; क्योंकि इसके प्रचारक स्वयं बुद्धदेवको हुए करीब इतना ही समय हुआ है। ईसाईधर्म भी दो हजार वर्षके अंदर ही प्रचलित हुआ सिद्ध होता है; क्योंकि इसके प्रचारक जो संत ईसा हैं, उन्हें हुए १९५६ वर्ष ही हुए हैं। इस्लामधर्मका मूलग्रन्थ जो कुरानशरीफ है, उस कुरानके प्रकाशक हजरत मुहम्मदको हुए भी करीब चौदह सौ वर्ष हुए हैं। किंतु वैदिक सनातनधर्मके कालका कोई भी निर्णय नहीं कर सकता कि यह इतने वर्षोंसे है; क्योंकि यह अपौरुषेय और अनादि है। संसारमें जितने भी मत-मतान्तर धर्मके नामसे प्रचलित हैं, उन सभी धर्मवालोंको इस वैदिक धर्मसे ही मदद मिली है। मनुष्योंकी बुद्धियाँ विचित्र होनेके कारण नाना प्रकारके मत-मतान्तर और सम्प्रदायोंकी सृष्टि हो गयी; अतः श्रुति-स्मृतिकथित जो सनातनधर्म है, इसे ही सर्वोत्तम कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है। हमारे इस धर्मके मूल मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद हैं; उनकी अनेक शाखाएँ थीं, जिनमेंसे बहुत-सी विधर्मियोंद्वारा नष्ट कर दी गयीं। फिर भी मूलभूत मन्त्र और ब्राह्मण-भाग आज भी प्राप्त है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—इन चारों संहिताओंको मन्त्रभाग

कहते हैं तथा ऐतरेय, तैत्तिरीय, शतपथ ब्राह्मण आदि एवं और भी अधिकांश उपनिषद् ब्राह्मणभाग हैं। यह वैदिक धर्म अनादिकालसे चला आता है, इसीलिये इसको सनातनधर्म माना गया है। ऐसे सनातनधर्मके माननेवाले मनुष्योंमें हमारा जन्म हुआ है।

इसके सिवा, हमें जो समय-समयपर सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जाता है, यह भगवान्‌की विशेष दया है। श्रीस्कन्दपुराणमें कहा है—

तदैव जीवस्य भवेत्कृपा विभो
दुरन्तशक्तेस्तव विश्वमूर्ते।
समागमः स्यान्महतां हि पुंसां
भवाम्बुधिर्येन हि गोष्पदायते॥
सत्सङ्गमो देव यदैव भूयात्
तर्हीश देवे त्वयि जायते मतिः।

(स्क० वै० वै० मा० १६। १८-१९)

'प्रभो! विश्वमूर्ते! जीवपर जब आप अनन्तशक्ति परमेश्वरकी कृपा होती है, तभी उसे महापुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होता है, जिससे निश्चय ही यह संसारसमुद्र गोपदके समान हो जाता है; तथा देव! परमेश्वर! जब सत्सङ्ग मिलता है, तभी आप परम देवमें निश्चयपूर्वक पूर्ण श्रद्धा होती है।'

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥

तथा भक्त विभीषणने हनुमान्‌जीसे कहा है—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥

इस प्रकार भगवान्‌की दयासे सब संयोग मिल जानेपर भी हमलोग भगवान्‌की प्राप्तिसे वञ्चित रह जायँ तो यह हमारे लिये बहुत ही दुःख और लज्जाकी बात है! श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

अतएव हमलोगोंको इस अमूल्य मनुष्यजीवनको पाकर शरीर और संसारसे मोह हटाकर तन-मन-धनसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये तत्परताके साथ प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये, नहीं तो आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

इन सब बातोंको सोचकर मनुष्यको परमात्माकी प्राप्तिके लिये शीघ्रातिशीघ्र साधनमें लग जाना चाहिये; क्योंकि मृत्युका कोई भरोसा नहीं, न मालूम किस समय आकर प्राप्त हो जाय।

हमलोगोंको यह समझना चाहिये कि भगवान् ही हमारे जीवनके आधार हैं, भगवान्‌के बिना संसारमें हमारे उद्धारका कोई उपाय नहीं है। हम भगवान्‌के बिना जी नहीं सकते। इस प्रकारकी अत्यन्त आवश्यकता समझनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। जो इस प्रकार समझता है, वह भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी भगवान्‌को भुला नहीं सकता। जैसे राजा उत्तानपादके पुत्र भक्त ध्रुव ध्यानमें मग्न थे, उस समय राक्षसोंके अनेकों विघ्न करनेपर भी वे विचलित नहीं हुए, वरं भगवान्‌के ध्यानमें ही मस्त रहे। तब भगवान्‌ने उनको शीघ्र ही दर्शन दे दिये। ध्रुवजीको सत्ययुगमें जप, तप और ध्यानके तीव्र अभ्याससे साढ़े पाँच महीनेमें भगवान् मिले; किंतु इस कलिकालमें तो उस प्रकारका जप, तप और ध्यान करनेपर और भी शीघ्र भगवान् मिल सकते हैं।

श्रीस्कन्दपुराणमें बतलाया है—

दशवर्षैस्तु यत्पुण्यं क्रियते तु कृते युगे।
त्रेतायामेकवर्षेण तत्पुण्यं साध्यते नृभिः॥
द्वापरे तच्च मासेन तद्दिनेन कलौ युगे।*

(स्क० ब्रा० से० मा० ४३। ३-४)

'सत्ययुगमें दस वर्षोंतक साधन करनेसे मनुष्य जिस पुण्यका संग्रह करते हैं, त्रेतामें उसी पुण्यको एक वर्षमें सिद्ध कर लेते हैं और द्वापरमें उसीको एक मासमें एवं कलियुगमें उसे एक दिनमें ही सिद्ध कर लेते हैं।'

त्रेतायां वार्षिको धर्मो द्वापरे मासिकः स्मृतः।
यथाक्लेशं चरन् प्राज्ञस्तदह्ना प्राप्यते कलौ॥

(स्क० मा० कुमा० ३५। ११७)

'त्रेतामें एक वर्षतक तथा द्वापरमें एक मासतक क्लेश-सहनपूर्वक धर्मानुष्ठान करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषको जो फल प्राप्त होता है, वह कलियुगमें एक दिनके अनुष्ठानसे मिल जाता है।'

इस प्रकार यदि हिसाब लगाकर देखा जाय तो इस कलियुगमें ध्रुवकी तरह साधन करनेपर करीब तीन घड़ीमें ही भगवान् मिल जाने चाहिये। यदि कहें कि 'हम उनकी तरह श्वास रोकनेमें असमर्थ हैं' तो ठीक है; आपको तीन घड़ीके स्थानमें बिना श्वास रोके साधन करनेसे भी तीन दिनमें तो मिल ही जाने चाहिये। यदि

* इसी आशयका श्रीविष्णुपुराणके छठे अंशके दूसरे अध्यायका १५वाँ श्लोक भी है।

कहें कि 'हम तीन दिनतक एक पैरसे खड़े भी नहीं रह सकते' तो ठीक है; ऐसी अवस्थामें आपको बैठकर साधन करनेपर तीन दिनकी जगह छः दिनमें तो मिलने ही चाहिये। यदि आप मल-मूत्रका अवरोध तथा भूख-प्यास और निद्राका सर्वथा त्याग नहीं कर सकते तो इन सबका त्याग न करके भी आठ पहरमें केवल एक बार दूध, फल खाकर ही ध्रुवकी तरह नामका जप, स्वरूपका ध्यान निरन्तर करें तो भी ध्रुवके जितने समयमें तो भगवान् मिलने ही चाहिये; नहीं तो फिर कलियुगकी क्या विशेषता रही। इस कलियुगमें इतनी छूट तो है ही।

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

पय अहार फल खाइ जपु रामनाम षट मास।
सकल सुमंगल सिद्धि सब करतल तुलसीदास॥

(दोहावली)

'छः महीनेतक केवल दूधका आहार करके अथवा फल खाकर रामनामका जप करो। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसा करनेसे सब प्रकारके सुमङ्गल और सब सिद्धियाँ करतलगत हो जाती हैं अर्थात् अपने-आप ही मिल जाती हैं।'

इसमें प्रधान बात यह है कि और कुछ भी न बन सके तो छः महीनेतक लगातार भजन-ध्यानका तार तो टूटना ही नहीं चाहिये तथा वह भजन-ध्यान सकाम यानी सांसारिक पदार्थोंके लिये नहीं, केवल भगवान्‌की प्राप्तिके लिये विश्वासपूर्वक निष्काम प्रेमभावसे होना चाहिये।

यह छः महीनेकी बात हमारे श्रद्धा-प्रेमकी कमीका ही दिग्दर्शन है, नहीं तो भगवान्‌में विशुद्ध और अनन्य प्रेम होनेसे तो निद्रा, भूख और प्यासकी परवा ही नहीं होती तथा फिर उसे भगवान्‌के सिवा किसी दूसरी चीजकी तो बात ही क्या, अपने देहकी भी सुध-बुध नहीं रहती। ऐसी दशा होनेपर तो भगवान् विलम्ब नहीं कर सकते, उसी समय मिल सकते हैं; क्योंकि भगवान्‌के मिलनेमें कालका नियम नहीं है, केवल मिलनेकी तीव्र लगन और उत्कट इच्छा होनी चाहिये।

लगन लगन सब कोइ कहै लगन कहावै सोइ।
नारायन जिस लगन में तन मन दीजै खोइ॥

सगरवंशी महाराज विश्वसहके पुत्र राजा खट्वाङ्गकी बात श्रीमद्भागवतमें आती है। जब उन्होंने देवताओंसे पूछा कि 'मेरी आयु कितनी शेष है', तब देवताओंने कहा कि 'तुम्हारी आयु दो घड़ी ही बाकी है।' यह सुनकर राजा सब कामोंको छोड़कर परमात्माके ध्यानमें तन्मय हो गये और इस प्रकारकी उनकी तीव्र लगनसे दो घड़ीमें ही वे भगवान् श्रीहरिको प्राप्त हो गये।

परमात्माकी प्राप्तिके लिये बहुत समयकी आवश्यकता नहीं है, केवल परमात्माके मिलनकी तीव्र इच्छा होनी चाहिये; तीव्र इच्छा होनेके साथ ही परमात्मा मिल जाते हैं, विलम्ब नहीं करते। उदाहरणके लिये, कोई आदमी पैर फिसल जानेसे नदीके पानीमें डूब जाय और तैरना न जानता हो तो वह बाहर निकलनेके लिये बहुत आतुर हो जाता है, छटपटाने लगता है और उस समय उसे बाहरका ही लक्ष्य लगातार बना रहता है; उसकी यह बाहर निकलनेकी जो छटपटाहट है, इसीका नाम तीव्र इच्छा है। इसी प्रकार जिसकी संसार-सागरसे बाहर निकलनेकी तीव्र इच्छा हो जाती है तथा जिसके परमात्माका ही निरन्तर लक्ष्य होता है, उसका स्वयं भगवान् तुरंत भवसागरसे उद्धार कर देते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(१२।७)

'अर्जुन! मुझमें चित्त लगानेवाले उन प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

उपर्युक्त तीव्र लगन और उत्कट इच्छा श्रद्धापूर्वक अनन्य विशुद्ध प्रेमसे ही होती है। जब साधकका भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध प्रेम हो जाता है, तब उसको तुरंत भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। अनन्य प्रेमका लक्षण यह है कि वह प्रेमास्पदके वियोगको सहन न कर सके, वह भगवान्‌के विरहमें भरतजीकी भाँति व्याकुल हो जाय और भगवान्‌के वियोगमें उसके प्राण जानेकी तैयारी हो जाय। श्रीतुलसीदासजीने भरतजीकी दशाका वर्णन करते हुए कहा है—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

प्रेमास्पदके वियोगमें इस प्रकारकी विरह-व्याकुलता हो जानेपर फिर भगवान्‌के आनेमें विलम्ब नहीं होता। अतः जैसे मछली जलके वियोगमें जलके लिये तड़फड़ाती है, उसी प्रकारकी तड़पन हमलोगोंमें भगवान्‌के लिये होनी चाहिये। यदि कहें कि 'मछली तो जलके वियोगमें तड़पकर मर जाती है, किंतु उसे जल आकर नहीं मिलता' सो ठीक है। पर जल तो जड है, भगवान् जलकी तरह जड नहीं हैं; वे चेतन तथा परम प्रेमी और दयालु हैं, वे भला कैसे रुक सकते हैं! उनकी तो यह प्रतिज्ञा है कि 'जो मुझे जैसे भजते हैं, उन्हें मैं वैसे ही भजता हूँ (गीता ४। ११)।'

जैसे चकोर पक्षी पूर्णिमाके चन्द्रमाको, जबतक चन्द्रमा छिपता नहीं, तबतक एकटक देखता ही रहता है, उसी प्रकार भगवान्‌का नित्य-निरन्तर ध्यान करनेसे भगवान् सहजमें ही मिल जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

यदि कहें कि 'चकोर पक्षीके तो चन्द्रमा प्रत्यक्ष ही सम्मुख है, इसलिये उसे सुगमता है' सो ठीक है; किंतु श्रद्धा-भक्ति हो तो हमारे लिये भी भगवान् प्रत्यक्ष ही हैं और यदि श्रद्धा-भक्ति नहीं है तो प्रत्यक्ष और निकट होनेपर भी दूर ही हैं। जब भगवान् श्रीकृष्ण मौजूद थे, उस समय जिनकी उनमें श्रद्धा-भक्ति नहीं थी, ऐसे दुर्योधनादिके लिये भगवान् मौजूद और निकट रहते हुए भी दूर ही थे, प्राप्त होते हुए भी अप्राप्त थे; किंतु ध्रुव आदिके अप्राप्त और दूर होते हुए भी भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्य प्रेम होनेके कारण निकट ही थे। अतः जिस प्रकार ध्रुवजीने देवर्षि नारदजीके वचनोंको लक्ष्य बनाकर ध्यान किया, उसी प्रकार हमलोगोंको गीता, रामायण और भागवत आदि ग्रन्थों तथा महात्माओंके वचनोंके अनुसार लक्ष्य बनाकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक ध्यान करना चाहिये एवं भगवान्‌के ध्यानरूप अपने उस लक्ष्यको भारी-से-भारी कष्ट पड़नेपर भी पपीहेकी भाँति नहीं छोड़ना चाहिये। यद्यपि सभी बादल नहीं बरसते, किंतु पपीहा साधारण बादलको देखकर भी 'पिउ-पिउ' करने लगता है और उन बादलोंमेंसे ही कोई बरस भी जाता है। इसी प्रकार हमलोगोंको भी भगवान्‌के भक्तोंको देखकर भगवान्‌के मिलनेकी इच्छा और आशा रखनी चाहिये। जब पपीहेपर ओले पड़ते हैं और उसके पंख टूट जाते हैं, तब भी वह अपनी टेकको नहीं छोड़ता और बूँदकी आशा लगाये रहता है, इसी प्रकार हमलोगोंको भारी कष्ट पड़नेपर भी भगवान्‌के स्वरूपका लक्ष्य नहीं छोड़ना चाहिये और भगवत्प्राप्तिरूप बूँदकी आशा लगाये रहना चाहिये। पपीहेका यह नियम है कि चाहे उसके प्राण भले ही चले जायँ, वह बादलोंसे बरसते हुए बूँदको ही ग्रहण करता है, दूसरे जलकी कभी इच्छा ही नहीं करता; इसी प्रकार हमें भगवान्‌की प्राप्तिके अतिरिक्त संसारके अन्य भोगोंकी कभी इच्छा ही नहीं करनी चाहिये। इस प्रकारकी तीव्र इच्छा और आवश्यकता होते हुए भी पपीहेको तो शायद जल न भी मिले, किंतु भगवान् तो तीव्रतम इच्छावाले साधकको अवश्य ही मिलते हैं; क्योंकि पपीहेको तो जलकी आवश्यकता है, पर जड होनेके कारण जलको तो पपीहेकी आवश्यकता नहीं है, परंतु जिस प्रकार भक्त भगवान्‌के लिये आतुर है, भगवान् भी भक्तके लिये वैसे ही आतुर हैं। भगवान् कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

इसके सिवा भगवान्‌ने यह भी कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

जो ज्ञानी भक्त भगवान्‌को निष्काम प्रेमभावसे भजता है और भगवान् जिसे अत्यन्त प्यारे हैं, भगवान्‌को भी वह अत्यन्त प्यारा है; यह भगवान्‌की घोषणा है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

अतएव हमें भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम होनेके लिये श्रद्धा-भक्तिपूर्वक ध्यानका नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे अभ्यास करना चाहिये।

हमें या तो हर समय इस प्रकार भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये कि 'जैसे वायु, तेज, जल, पृथ्वीके अंदर आकाश व्याप्त है, इसी प्रकार सबमें भगवान् व्यापक हैं और सब कुछ भगवान्‌के एक अंशमें है।' गीतामें बतलाया है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

भगवान्‌के बतलाये हुए इस उपर्युक्त साधनको निरन्तर उत्साहके साथ करना चाहिये अथवा वस्तुमात्रको भगवान्‌का स्वरूप और चेष्टामात्रको भगवान्‌की लीला समझ-समझकर हर समय आनन्दमें मुग्ध होना चाहिये; क्योंकि संसारमें जो कुछ भी वस्तु है, स्वयं भगवान् ही उसके रूपमें बने हैं। उपनिषदोंमें बतलाया है कि पहले एक भगवान् ही थे, फिर उनमें यह इच्छा हुई कि 'मैं बहुत हो जाऊँ'—**'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति'** (तैत्तिरीय० २। ६)। तब भगवान् स्वयं ही अनेक रूप हो गये। द्वापरयुगमें जब ब्रह्माजीने ग्वाल-बालों और बछड़ोंको ले जाकर गुफामें छिपा दिया था, उस समय स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही ग्वाल-बाल और बछड़ोंके रूपमें प्रकट हो गये और लीला करने लगे। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं ।
यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद्विभूषाम्बरम्॥
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं।
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १९)

'जितने बछड़े और ग्वाल-बाल थे; जैसे उनके छोटे-छोटे शरीर थे; जैसे हाथ-पैर आदि अङ्ग थे; जैसी और जितनी उनकी छड़ियाँ, सींग, बाँसुरी, पत्ते और छींके थे; जैसे और जितने उनके वस्त्र, आभूषण थे; जैसे उनके शील, स्वभाव, गुण, नाम, आकृति और अवस्थाएँ थीं और जैसा उनका चलना-फिरना आदि था; ठीक वैसे-के-वैसे ही और उतने ही रूपोंमें सर्वस्वरूप अजन्मा भगवान् सुशोभित हुए। उस समय 'यह सब जगत् विष्णुमय है'—यह वेद-वाणी मानो मूर्तिमती होकर प्रकट हो गयी।'

इसी प्रकार हमें पदार्थमात्रको भगवान्‌का स्वरूप और चेष्टामात्रको भगवान्‌की लीला समझकर क्षण-क्षणमें आनन्दमें मुग्ध होना चाहिये। भक्तोंके लिये यह साधन बहुत ही उत्तम और सरल है।

जैसे नेत्रोंपर हरे रंगका चश्मा लगा लेनेपर सारा संसार हरे रंगका दीखने लग जाता है, इसी प्रकार हृदयरूपी नेत्रपर 'श्रीहरि'के भावका चश्मा लगानेसे सारा संसार वस्तुतः भगवान् श्रीहरिके रूपमें ही दीखने लग जाता है। हरे रंगके चश्मेकी अपेक्षा इसमें यह विशेषता है कि संसार तो विभिन्न रंगोंवाला है, चश्मेके प्रभावसे हमें हरा रंग प्रतीत होता है; पर यह संसार तो वास्तवमें श्रीहरिका रूप ही है, अज्ञानके कारण हम इस रहस्यको नहीं समझते, इसीलिये हमें श्रीहरि संसारके रूपमें दीख रहे हैं, वास्तवमें सब कुछ भगवान् ही थे और भगवान् ही हैं।

गीतामें भी सबमें परमात्मबुद्धि होनेकी बड़ी महिमा गायी गयी है। भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।'

यह साधन बहुत ही उत्तम है। अतएव हमलोगोंको सबमें भगवद्बुद्धि करनी चाहिये, इस अभ्याससे भी भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। छान्दोग्य उपनिषद्‌की कथा है। महर्षि उद्दालकने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे पूछा कि 'तूने वह विद्या सीखी या नहीं, जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है?' इसपर उसने कहा—'वह विद्या तो मेरे गुरुदेव भी नहीं जानते थे, यदि जानते तो वे मुझे अवश्य बतलाते; अब कृपया आप ही बतलाइये।' तब उद्दालकने बतलाया कि 'जिस प्रकार एक सुवर्णके ज्ञानसे सुवर्णसे बने हुए सारे आभूषणोंका ज्ञान हो जाता है, जितने भी भिन्न-भिन्न नाम, रूप और आकृतिवाले नाना प्रकारके आभूषण हैं, वह सब सोना ही है, इसी प्रकार परमात्माका तत्त्व समझ लेनेपर उसके लिये सब कुछ परमात्मा ही प्रतीत होने लगते हैं। जैसे जलके तत्त्वका ज्ञान होनेपर बादल, भाप, कुहरा, बूँद, बर्फ आदि सभीमें एक जल-ही-जल प्रतीत होने लगता है, इसी प्रकार परमात्माके तत्त्वका ज्ञान होनेपर समस्त संसारमें परमात्मा ही प्रतीत होने लग जाते हैं। भेद और अभेद दोनों ही सिद्धान्तोंको माननेवालोंने इस बातको मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि अभेद-उपासक तो यों समझते हैं कि 'जो कुछ है सो ब्रह्म है और मैं भी ब्रह्म ही हूँ।' तथा भेदोपासकगण यह समझते हैं कि 'जो कुछ है सो ब्रह्म है और मैं उसका सेवक हूँ।' बस, इस विषयमें उन दोनोंका इतना ही अन्तर है। अधिकारी-भेदके अनुसार दोनों प्रकारकी साधनाएँ ही उत्तम हैं। श्रीरामचरितमानसका वर्णन है; किष्किन्धाकाण्डमें भगवान् श्रीरामने भक्तिकी दृष्टिसे भक्त हनुमान्‌से कहा है—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

सर्वसाधारणके लिये यह भक्तिका मार्ग सरल और सुगम होनेसे उत्तम है। भक्तिमार्गके सभी कोई अधिकारी

हो सकते हैं, चाहे वे जातिसे हीन, मूर्ख और पापी ही क्यों न हों; केवल भगवान्‌में विशुद्ध प्रेम होना चाहिये। भगवान् तो केवल प्रेमको ही देखते हैं। शबरी न तो कुछ विशेष पढ़ी-लिखी थी और जातिसे भी अत्यन्त हीन थी। उसने स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे कहा है—

केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़मति भारी॥
अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥

—इसपर भगवान्‌ने यही कहा कि—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥

भगवान्‌ने उसके प्रेमभावको देखकर उसकी कुटियापर जाकर उसके हाथसे दिये हुए बेर खाये। धन्य है दयामय प्रभुकी इस अहैतुकी दयाको!

जिनके हृदयमें न श्रद्धा-प्रेम है और न विश्वास है, उनसे न तो असली भजन ही हो सकता है और न उन्हें भगवान् ही शीघ्र मिल सकते हैं। अतः हमलोगोंको भगवान्‌के गुण और स्वभावकी ओर देखकर भगवान्‌के मिलनेकी पूरी आशा रखकर प्रतिक्षण उनकी प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। मनमें यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि भगवान् हैं, बहुतोंको मिले हैं, मिलते हैं और हमें भी निश्चय ही मिलेंगे। वे हमारे अवगुणोंकी ओर नहीं देखेंगे; उनका हृदय बहुत ही कोमल, सरल तथा दया और प्रेमसे भरा हुआ है। वे सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् परमात्मा सब जगह सदा ही मौजूद हैं, भक्तका श्रद्धा-प्रेम होनेके साथ ही वे प्रकट हो जाते हैं।

रामचरितमानसमें श्रीशिवजीने कहा है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

इस प्रकारका दृढ़ निश्चय करके शबरीकी भाँति प्रतिक्षण भगवान्‌की विश्वासपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिये। इस प्रकार प्रतीक्षा करनेसे भगवान् शीघ्र ही मिल सकते हैं। किंतु यदि इसके विपरीत संशययुक्त भावना होती है कि 'क्या पता, भगवान् हैं या नहीं', 'पहले किसीको मिले हैं या नहीं', 'अब मिलते हैं या नहीं' और 'मुझे मिलेंगे या नहीं' तो उसे भगवान्‌का प्राप्त होना कठिन है। क्योंकि ऐसे अश्रद्धालु संशयग्रस्त अज्ञानीके लिये भगवान्‌की प्राप्ति तो दूर रही, उसके लिये तो न यह लोक है और न परलोक ही। भगवान् कहते हैं—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

(गीता ४। ४०)

'विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।'

क्योंकि जिसको भगवान्‌की प्राप्तिमें संशय है, उससे न तो भगवान्‌की प्राप्तिके लिये प्रयत्न ही होता है और न आशा-प्रतीक्षा ही; फिर उसका मन भगवान्‌में लग ही कैसे सकता है? इसलिये हमलोग चाहे जैसे भी अधम, पापी, अज्ञानी, मूर्ख क्यों न हों, हमें भगवान्‌में अटल श्रद्धा-विश्वास करके उनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील हो जाना चाहिये। वे परमप्रेमी और दयालु भगवान् हमलोगोंके अवगुणोंकी ओर नहीं देखते। भरतजीने कहा है—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥

इस आधारपर भगवान्‌के विरदकी ओर ध्यान देकर हमें निश्चय रखना चाहिये, भगवान् हमारी ओर न देखकर अवश्य हमें अपनायेंगे और दर्शन देंगे।

भक्त पद्मनाभ ब्राह्मण इसी भावसे भावित होकर मन-ही-मन ऐसा सोचा करते कि 'भगवान् मुझे अवश्य ही मिलेंगे' मैं उनके चरणोंपर लोटूँगा, अपने प्रेमाश्रुओंसे उनके चरण भिगो दूँगा और वे मुझे उठाकर अपने हृदयसे लगा लेंगे। तब मैं आनन्दके समुद्रमें डूबता-उतराता रहूँगा। जब वे कहेंगे कि वरदान माँगो, तब मैं कहूँगा कि मुझे कुछ भी नहीं चाहिये, मैं तो आपकी सेवा करूँगा और आपको देखता रहूँगा।' इस प्रकार मन-ही-मन वे विचारते रहते और आनन्दमें निमग्न हो जाते। उनके शरीरमें रोमाञ्च हो जाता और आँखोंसे आँसू गिरने लगते। उनकी यह प्रेममुग्ध-अवस्था बहुत समयतक रहा करती थी। उनके ऐसे श्रेष्ठ भाव और उत्कट प्रेमको देखकर भगवान्‌ने साक्षात् प्रकट होकर उन्हें दर्शन दिये। उस समय सारा स्थान भगवान्‌की दिव्य अङ्ग-ज्योतिसे जगमगा उठा। भक्त पद्मनाभको हजारों सूर्योंके समान दिव्य प्रकाश और उसके भीतर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज भगवान् श्रीविष्णुके दर्शन हुए। भक्त पद्मनाभका हृदय शीतल हो गया। उनकी आँखें निर्निमेष होकर उन अखिलरसामृतसागर भगवान्‌के रूप-रसका पान करने लगीं। भक्तिका साधन करनेवालोंके लिये यह बहुत ही सरल और रहस्यमय साधन है। इसलिये प्रेमी भक्तोंको भक्त पद्मनाभका अनुकरण करना चाहिये।

भगवान्‌की उपासनाके लिये जितने भी सेवन करनेयोग्य पदार्थ बताये गये हैं, उनमें चार प्रधान हैं—भगवान्‌के दिव्य नाम, रूप, लीला और धाम। इन चारोंमें प्रत्येकमें गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको

समझना चाहिये। तथा कम-से-कम कान, नेत्र, मन और वाणी—इन चार मुख्य द्वारोंसे तो उपर्युक्त चारोंका सेवन अवश्य ही करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक कानोंके द्वारा भगवद्भक्तोंसे श्रवण करना, नेत्रोंके द्वारा सत्-शास्त्रोंमें पढ़ना, फिर मनसे इनका मनन करना तथा वाणीके द्वारा इनका कीर्तन करना और भगवद्भक्तोंमें इनका कथन करना चाहिये। इस प्रकार श्रद्धा-प्रेमपूर्वक इन चारोंका सेवन करनेसे परमात्माका साक्षात् दर्शन होकर परम आनन्द और परम शान्ति, असीम समता तथा परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाता है। अब संक्षेपमें नाम, रूप, लीला, धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य बतलाये जाते हैं।*

क्षमा, दया, शान्ति, प्रेम, ज्ञान, समता, सरलता आदि जो परमात्माके अनन्त दिव्य गुण हैं, वही सब उनके नामके अंदर भी भरे हुए हैं। जैसे वटके बीजको भूमिमें बोकर जल सींचनेसे वटका वृक्ष उत्पन्न हो जाता है, इसी प्रकार भगवान्‌के नामरूपी बीजको हृदयरूपी भूमिमें बोकर सत्सङ्ग और स्वाध्यायरूप जल सींचनेसे दिव्य भगवद्गुणरूप वृक्ष उत्पन्न हो जाता है। अभिप्राय यह कि नामके जप, कीर्तन, श्रवण और स्मरण करनेसे उपासकके हृदयमें भगवान्‌के दिव्य गुण स्वाभाविक ही प्रकट हो जाते हैं। ये नामके गुण बतलाये गये।

नामका जप, कीर्तन, श्रवण और स्मरण करनेसे समस्त पापोंका, अहंता-ममता, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि समस्त दुर्गुणोंका, झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार, मद्यपान, द्यूत आदि दुराचारोंका तथा सम्पूर्ण दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है एवं उपासकमें स्वाभाविक ही सद्गुण-सदाचार आदिका आविर्भाव होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। यह नामका प्रभाव है।

भगवान्‌का नाम भगवान्‌से अभिन्न है; भगवान्‌का स्वरूप, उनका ज्ञान और उनका नाम—यह सब एक ही है। वस्तुतः भगवान् ही स्वयं नामके रूपमें प्रकट होते हैं। इस प्रकार समझना ही नामके तत्त्वको समझना है।

वाणीके द्वारा नाम जपनेकी अपेक्षा मनसे जपना सौ गुना अधिक फलदायक है और वह मानसिक जप भी श्रद्धा-प्रेमसे किया जाय तो उसका अनन्त फल है तथा वही गुप्त और निष्कामभावसे किया जाय तो शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाला है। जो इस रहस्यको समझ लेता है, वह कभी भगवन्नाम-जपकी ओटमें पाप नहीं करता। यह भगवन्नामका रहस्य है।

भगवान्‌का रंग, रूप, आकृति बहुत ही कोमल, लावण्यमय, रसमय, परम आकर्षक, कान्तिमय, अलौकिक, चमकदार, सुन्दर और अद्भुत है; और उनमें निरतिशय अत्यन्त विलक्षण क्षमा, दया, शान्ति, प्रेम, न्याय, समता, मधुरता, सरलता, उदारता आदि अनन्त दिव्य गुण हैं। ये भगवत्स्वरूपके गुण हैं।

सम्पूर्ण बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, महिमा सम्भवको असम्भव और असम्भवको सम्भव करनेकी सामर्थ्य आदि भगवान्‌का अपरिमित प्रभाव है। भगवान्‌के स्वरूपके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप और स्मरणमात्रसे सम्पूर्ण पापों, दुःखों और दुर्गुण-दुराचारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है एवं भक्तमें स्वाभाविक ही समस्त सद्गुण-सदाचारोंका आविर्भाव होकर उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। यह भगवान्‌का प्रभाव बतलाया गया।

जिस प्रकार परमाणु, भाप, कुहरा, बादल, बूँद, ओला और बर्फ आदि सब तत्त्वसे जल ही हैं, इसी प्रकार सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम, सत्-असत्, स्थूल-सूक्ष्म, कार्य-कारण आदि जो कुछ भी है और जो इससे परे है, वह सब तत्त्वतः एक भगवान् ही है। यह भगवान्‌के स्वरूपका तत्त्व है।

वे निर्गुण-निराकार परमात्मा ही सगुण-साकाररूपमें प्रकट होते हैं, इस रहस्यको उनकी कृपाके बिना ऋषि और देवतागण भी नहीं जानते; क्योंकि वे अपनी योगमायासे छिपे रहते हैं। उनका स्वरूप अचिन्त्य, असीम और दिव्य है, वे स्वयं आप ही अपने-आपको जानते हैं तथा जिसको वे कृपा करके जनाना चाहते हैं, वही जान सकता है। द्वापरयुगमें जब ब्रह्माजी ग्वाल-बाल और बछड़ोंको चुराकर ले गये, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ही उन ग्वाल-बाल और बछड़ोंके रूपमें बन गये—इस रहस्यको बलदेवजी भी स्वयं नहीं समझ सके, जब भगवान्‌ने बलदेवजीको यह रहस्य समझाया, तभी समझे। उस समय ग्वाल-बाल और बछड़ोंके रूपमें भगवान् ही थे, इसे कोई नहीं जानता था; यह भगवान्‌के स्वरूपका रहस्य है।

जब रावणसे तिरस्कृत होकर विभीषण भगवान्

* इस विषयको विस्तारसे जाननेके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'भक्ति-भक्त-भगवान्' में 'नाम-रूप-लीला-धाम' शीर्षक लेख देखना चाहिये।

श्रीरामकी शरणमें आया, उस समय भगवान्‌ने उसके साथ शरणागत-वत्सलता, उदारता, दया और प्रेम आदिसे युक्त सुहृदताका व्यवहार किया, भगवान्‌के व्यवहारके इस प्रकारके गुणोंको देखना ही भगवान्‌की लीलामें गुणोंका दिग्दर्शन है।

श्रीरामचरितमानसके बालकाण्डका वर्णन है कि धनुष-भङ्गके अनन्तर श्रीपरशुरामजी पधारे और अन्तमें उन्होंने कहा कि—

राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटै मोर संदेहू॥
देत चापु आपुहिं चलि गयऊ। परसुराम मन बिसमय भयऊ॥

इस प्रकार बिना ही परिश्रम भगवान्‌के केवल छूनेमात्रसे ही धनुषका अपने-आप ही चढ़ जाना यह—भगवान्‌की लीलाका प्रभाव है तथा भगवान्‌की लीलाके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझते हुए उनकी लीलाका दर्शन, चिन्तन, पठन, श्रवण, कीर्तन और अनुकरण करनेसे मनुष्यका उद्धार हो जाता है, यह भी भगवान्‌की लीलाका प्रभाव है।

जब ब्रह्माजी ग्वाल-बाल और बछड़ोंको चुराकर ले गये थे, उस समय स्वयं भगवान्‌ने ही उन ग्वाल-बाल और बछड़ोंका रूप धारण करके सालभरतक क्रीड़ा की। लीलासे ही भगवान् एक क्षणमें अनेक रूप हो गये; अनेक रूप धारण करनेकी इस लीलाको भगवान्‌का स्वरूप समझना भगवान्‌की लीलाका तत्त्व समझना है; क्योंकि कर्ता, कर्म, क्रिया जो भी कुछ है, वह सब तत्त्वतः भगवान् ही है। इसी प्रकार वर्तमान संसारमें स्वाभाविक होनेवाली समस्त चेष्टामात्र भी भगवान्‌की लीला ही है और वह लीला उनसे अभिन्न होनेके कारण उनका स्वरूप ही है, यह समझना भी भगवान्‌की लीलाका तत्त्व समझना है।

श्रीरामचरितमानसमें बतलाया है कि भगवान् श्रीराम जब चौदह वर्षकी अवधिके पश्चात् अयोध्यामें पधारे, तब समस्त अयोध्यावासियोंकी शीघ्र ही मिलनेकी अतिशय उत्कण्ठा जानकर वे वहाँ अनन्त रूपोंमें प्रकट हो सबसे मिले—

अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

भगवान् क्षणमें सबसे एक साथ मिले। किंतु यह बात एक-दूसरेको मालूम नहीं हुई। हर एक व्यक्ति यही समझता था कि भगवान् मुझसे ही मिल रहे हैं। इस मिलन-लीलामें भगवान्‌के एक व्यक्तिसे मिलनेका दूसरे व्यक्तिको ज्ञान नहीं है—यह भगवान्‌की लीलाका रहस्य है।

भगवान्‌का चिन्मय दिव्यलोक सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि, नित्य और सत्य है। वहाँ मन, बुद्धि और वाणीकी पहुँच नहीं है तथा क्षमा, दया, शान्ति, प्रेम, समता, न्याय आदि जो भगवान्‌के नित्य दिव्य गुण हैं, वे उस धाममें स्वाभाविक ही हैं; क्योंकि स्वयं भगवान् ही धामके रूपमें प्रादुर्भूत हुए हैं। ये भगवद्धामके गुण कहे गये।

जो भक्त भजन, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि साधनोंके द्वारा भगवान्‌के परम धाममें जाते हैं, उनमें उपर्युक्त प्रायः सभी गुण पहलेसे ही स्वाभाविक ही होते हैं; किंतु यदि किसीमें किसी कारण कुछ कमी रहती है तो उसकी पूर्ति उस परम धाममें प्रवेश होनेके साथ ही उसी क्षण हो जाती है और वहाँ जाकर कोई भी वापस नहीं लौटता तथा जो उस दिव्य-धाममें रहते हैं, उनके शरीर जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि आदि दोषों तथा समस्त विकारोंसे रहित परम पवित्र होते हैं एवं वे भगवान्‌की भाँति ही दिव्य, चिन्मय, अलौकिक और समस्त सद्गुणोंसे युक्त होते हैं। उस धाममें जितने भी पदार्थ हैं, सब दिव्य, चिन्मय और अलौकिक हैं। यह सब भगवद्धामके प्रभावका दिग्दर्शन है।

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही परम धामके रूपमें प्रादुर्भूत होते हैं, इसलिये वह परम धाम परमात्माका स्वरूप ही है—यह जानना ही भगवान्‌के धामका तत्त्व जानना है।

भगवान्‌के परम धाममें न जानी हुई वस्तु जानी जाती है, न अनुभव की हुई अनुभव की जाती है और न देखी हुई देखी जाती है; क्योंकि वहाँ पहुँचनेपर बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ आदि सभी दिव्य हो जाते हैं। यहाँ भगवान् और उनके धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और लीलाकी जो बातें सुनी-समझी जाती हैं, उनसे वहाँ अत्यन्त विलक्षण हैं। वहाँ जाते ही भगवान् और भगवान्‌का धाम वस्तुतः क्या चीज है, इसका रहस्य पूर्णतया समझमें आ जाता है। यह भगवान्‌के परम धामका रहस्य है।

इस प्रकार गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य समझकर साधन करनेवाले साधकको अपने इष्टदेवका साक्षात् दर्शन हो जाता है। उस समय उसकी विलक्षण अवस्था हो जाती है; वह प्रेम, आनन्द और आश्चर्यमें मुग्ध हो जाता है। उसे भगवान्‌के सिवा अन्य किसीका, यहाँतक कि अपने-आपका भी ज्ञान नहीं रहता; वह भगवान्‌को ही एकटक देखने लगता है, उसके नेत्रोंकी पलक भी नहीं पड़ती। उसकी शान्तिका पारावार नहीं रहता, उसमें

अलौकिक समता आ जाती है। सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्तस्वरूप परब्रह्म परमात्मा जैसा और जिस प्रभाववाला है, उसको वह वैसा-का-वैसा ही सम्पूर्णतया यथार्थरूपसे—तत्त्वत: जान जाता है। फिर वह समस्त संशय, भ्रम, अज्ञान, पापों और विकारोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है और उसके लिये कोई भी कर्तव्य या ज्ञातव्य शेष नहीं रहता।

अतएव हमलोगोंको भगवान्‌की प्राप्तिके लिये अनन्य-भक्तिका साधन श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे तत्परताके साथ करनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

गोपियोंका विशुद्ध प्रेम अथवा रासलीलाका रहस्य

श्रीमद्भागवतकी रासपञ्चाध्यायीकी रासलीला-अध्यायके विषयमें कुछ विचार किया जाता है। साधारणतया लोग रासपञ्चाध्यायीका जो अभिप्राय व्यक्त किया करते हैं, वास्तविक रासपञ्चाध्यायी उससे भिन्न है। वस्तुत: रासपञ्चाध्यायीमें भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका विशुद्ध माधुर्यका भाव है। उस विशुद्ध प्रेमके कारण ही आज संसारमें गोपियोंकी इतनी प्रशंसा की जाती है। गोपियोंमें श्रीराधिकाजीका स्थान सबसे ऊँचा है, रासलीलामें प्रधान गोपीके नामसे इन्हींका संकेत है। ये भगवान्‌की आह्लादिनी शक्ति हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके नायक भगवान् श्रीकृष्णको सुख पहुँचाना, उनको प्रसन्न एवं आनन्दित करना, यह उनका ही काम था। इनकी सखी गोपियोंका भी यही काम था। श्रीकृष्णलीला-सम्बन्धी जितने भी ग्रन्थ हैं, उन सबमें हम श्रीमद्भागवतको प्रधान समझते हैं, किंतु भागवतमें यत्किञ्चित् कहीं जो जारभाव-सा दिखता है, उसे हमारा मन स्वीकार नहीं करता। यह चीज हमारे कामकी नहीं, हमें तो विशुद्ध प्रेमभाव ही देखना चाहिये। पति-पत्नीका प्रेम तो कामभावको लेकर हो सकता है, किंतु भगवान्‌का गोपियोंके साथ कामभावको लेकर प्रेम था, यह हम स्वप्नमें भी स्वीकार नहीं कर सकते। भगवान् श्रीकृष्णका श्रीरुक्मिणीजीके साथ जो प्रेम है, जिससे कि संतानोत्पत्ति होती है, यह उनका ऐश्वर्ययुक्त प्रेम है। जिस प्रेममें कामभाव हो, वह प्रेम नहीं। भगवान् प्रेम और आनन्दके पुञ्ज हैं। उनका प्रेम पूर्ण विशुद्ध था। भगवान्‌की जितनी भी क्रियाएँ होती थीं, केवल गोपियोंको आह्लादित करनेके लिये होती थीं। रासलीलामें जो उनका नृत्य, गान, वंशीवादन आदि होता था, सब गोपियोंको सुख पहुँचानेके लिये, उनका प्रेम बढ़ानेके लिये ही होता था। इसी प्रकार गोपियोंकी जितनी क्रियाएँ होती थीं, केवल भगवान्‌को आह्लादित करनेके लिये ही थीं।

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म परमात्मा थे, प्रेम-प्रचारके लिये ही इन्होंने मनुष्यरूपमें अवतार धारण किया था, न कि कामोपभोगके लिये और वास्तवमें इन्होंने विशुद्ध प्रेमका प्रचार किया भी। मेरी एक लोकोक्ति सुनी हुई है, वह इस प्रकार है। एक समय नारदजीकी कामसे भेंट हुई, तब नारदजीने कहा—'अरे मदन! तुमने तो मेरे मनमें भी काम-विकार पैदा कर दिया।' इसपर कामने नारदजीसे बड़े अहङ्कारपूर्ण वचन कहे। वह बोला—'तुम तो चीज ही क्या हो, मैं ब्रह्मा, विष्णु एवं महेशको भी काममोहित करके नचा सकता हूँ, मेरे सम्मुख कोई भी खड़ा नहीं रह सकता।' तब नारदजी भगवान् विष्णुके पास गये एवं कामदेवके वचन उन्होंने ज्यों-के-त्यों उन्हें कह सुनाये। नारदजीने भगवान्‌से कहा, 'उसको इतना घमंड हो गया है कि वह आपको भी कुछ नहीं समझता, यदि आप उसका अभिमान नष्ट न करेंगे तो वह और उद्दण्ड हो जायगा। इसलिये आपको उसका अभिमान नष्ट करना चाहिये।' भगवान् विष्णुने नारदजीसे कहा, 'जाओ— कामसे कह दो कि मैं द्वापरमें मनुष्यरूपमें अवतार ग्रहण करूँगा। उस समय मुझसे तुम किलेकी लड़ाई करना चाहोगे या मैदानकी।' तब नारदजीने कामके पास आकर उससे यह बात पूछी। काम बोला—'मुझे किलेकी लड़ाईमें[१] भी कोई नहीं जीत सकता, फिर मैदानकी लड़ाईमें[२] तो जीत ही कौन सकता है?'

फिर नारदजीने भगवान्‌के पास जाकर सारी बातें कह दीं। तब भगवान्‌ने नारदके द्वारा कामको सूचित कर दिया कि 'तुम्हारे साथ मैदानकी लड़ाई करनेके लिये मैं श्रीकृष्णरूपमें अवतार लूँगा।' भगवान्‌की तो बात ही क्या, भगवान्‌के साथ रासलीला करनेवाली

१. किलेकी लड़ाईका अर्थ यह है कि गिरि-गुहा आदि एकान्त निर्जन स्थानमें जहाँ कि काम-क्रोधादिका प्राय: अवसर ही नहीं आता, वहाँ ब्रह्मचर्यसे रहकर कामको जीतना।

२. मैदानकी लड़ाईका अर्थ यह है कि गृहस्थमें स्त्रियोंके समूहमें रहकर कामको जीतना।

गोपियोंने ही मदनके मदको चूर कर दिया। जहाँ मधुवनकी अद्भुत शोभा एवं शीतल, मन्द, सुगन्धयुक्त पवन बह रहा था, जिसमें कि स्वाभाविक ही कामकी उत्पत्ति हो सकती है और ऋषि-मुनियोंका भी कामसे मोहित होना सम्भव है, वहाँ वे सुन्दरी, युवा, कुमारी तथा विवाहिता गोपियाँ इतनी जितेन्द्रिया रहीं कि उनपर कामदेव अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सका। वे सुन्दरी गोपियाँ कामको जीतकर उसके मस्तकपर नाच-नाचकर उसके मदको चूर करती थीं। सुन्दरताके साथ पूर्ण युवावस्था होनेपर भी उन्होंने विशुद्ध प्रेमभाव ही रखा। इस प्रकार जब गोपियोंने ही कामको जीत लिया, तब नित्यमुक्त भगवान्‌की तो बात ही क्या?

रासमें तो विशुद्ध प्रेमसे नृत्य, गीत, वंशीवाद्य आदि कलाका प्रकाश होता है, न कि भोग-विलासका। भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंमें विशुद्ध प्रेमकी वृद्धि करते थे, रासमें भगवान् गोपियोंके साथ नृत्य करते थे, इससे गोपियोंको बड़ी प्रसन्नता होती थी एवं विशुद्ध प्रेमका संचार होता था। उस समय उनको एक-दूसरेके सिवा कुछ भी सुधि नहीं रहती थी। कामकी सामर्थ्य नहीं कि उनकी ओर ताक भी सके। देखिये, गोपियोंमें कैसा विशुद्ध प्रेम था। भगवान्‌ने गोपियोंको बुलानेके लिये बड़े ही मधुर स्वरसे वंशी बजायी थी। वंशीकी तान सुनते ही गोपियाँ सब काम छोड़कर श्रीकृष्णके पास चली आयीं। उस समय भगवान्‌ने उनसे कहा—'गोपियो! रातका समय बड़ा भयावना होता है और इस वनमें बड़े-बड़े भयावने जीव-जन्तु रहते हैं; अतः तुम सब तुरंत व्रजमें लौट जाओ। रातके समय घोर जंगलमें स्त्रियोंको नहीं रुकना चाहिये। तुम्हें न देखकर तुम्हारे माँ-बाप, पति-पुत्र और भाई-बन्धु ढूँढ़ रहे होंगे, उन्हें भयमें न डालो। तुमलोगोंने रंग-बिरंगे पुष्पोंसे लदे हुए इस वनकी शोभाको देखा। पूर्ण चन्द्रमाकी कोमल रश्मियोंसे यह रँगा हुआ है, मानो उन्होंने अपने हाथोंसे चित्रकारी की हो और यमुनाजीके जलका स्पर्श करके बहनेवाली शीतल वायुकी मन्द-मन्द गतिसे हिलते हुए ये वृक्षोंके पत्ते तो इस वनकी शोभाको और भी बढ़ा रहे हैं; परंतु अब तो तुमलोगोंने यह सब कुछ देख लिया। अब देर न करो, शीघ्र-से-शीघ्र व्रजमें लौट जाओ। तुमलोग कुलीन स्त्री हो और स्वयं भी सती हो, जाओ, अपने पतियोंकी सेवा-शुश्रूषा करो। यदि मेरे प्रेमसे परवश होकर तुमलोग यहाँ आयी हो तो इसमें कोई अनुचित बात नहीं हुई, यह तो तुम्हारे योग्य ही है; क्योंकि जगत्‌के पशु-पक्षीतक मुझसे प्रेम करते हैं, मुझे देखकर प्रसन्न होते हैं। कल्याणी गोपियो! स्त्रियोंका परमधर्म यही है कि वे पति और उसके भाई-बन्धुओंकी निष्कपटभावसे सेवा करें और संतानका पालन-पोषण करें। गोपियो! मेरी लीला और गुणोंके श्रवणसे, रूपके दर्शनसे, उन सबके कीर्तन और ध्यानसे मेरे प्रति जैसे अनन्य प्रेमकी प्राप्ति होती है, वैसे प्रेमकी प्राप्ति पास रहनेसे नहीं होती। इसलिये तुमलोग अभी अपने-अपने घर लौट जाओ।'

इसपर गोपियाँ बोलीं—'प्यारे श्रीकृष्ण! तुम घटघटव्यापी हो। हमारे हृदयकी बात जानते हो। तुम्हें इस प्रकार निष्ठुरताभरे वचन नहीं कहने चाहिये। हम सब कुछ छोड़कर केवल तुम्हारे चरणोंमें ही प्रेम करती हैं। प्यारे श्यामसुन्दर! तुम सब धर्मोंका रहस्य जानते हो। तुम्हारा यह कहना कि 'अपने पति, पुत्र, भाई-बन्धुओंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका स्वधर्म है'—अक्षरशः ठीक है, परंतु इस उपदेशके अनुसार हमें तुम्हारी ही सेवा करनी चाहिये; क्योंकि तुम्हीं सब उपदेशोंके पद (चरम लक्ष्य) हो, साक्षात् भगवान् हो। तुम्हीं समस्त शरीरधारियोंके सुहृद् हो, आत्मा हो और परम प्रियतम हो।'

तदनन्तर भगवान्‌ने बड़े ही प्रेमसे सबके साथ रासलीला आरम्भ की। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण दो-दो गोपियोंके बीचमें प्रकट हो गये। इस प्रकार एक गोपी और एक श्रीकृष्ण, इस क्रमसे मण्डल बनाकर भगवान् रासलीला करने लगे। सभी गोपियाँ ऐसा अनुभव करती थीं कि हमारे प्यारे श्रीकृष्ण तो हमारे ही पास हैं। उस समय रासोत्सवको देखनेके लिये सभी देवता अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ वहाँ आये। स्वर्गकी दिव्य दुन्दुभियाँ अपने-आप बज उठीं। स्वर्गीय पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। गन्धर्वगण अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ भगवान्‌के निर्मल यशका गान करने लगे। रासमण्डलमें सभी गोपियाँ अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके साथ नृत्य करने लगीं। उनकी कलाइयोंके कंगन, पैरोंके पायजेब और करधनीके घुँघरू एक साथ बज उठे। जिससे वह मधुर ध्वनि बड़े ही जोरकी हो रही थी। यमुनाजीकी रमणीय वालुकापर व्रज-सुन्दरियोंके बीचमें भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी ही अनोखी शोभा हुई। ऐसा जान पड़ता था, मानो अनेक सुवर्ण-मणियोंके बीचमें महामरकतमणि चमक रही हो। नृत्यके समय गोपियाँ तरह-तरहसे पादन्यास करने लगीं। कभी अपने पैर आगे बढ़ातीं और कभी पीछे हटा लेतीं।

कभी धीरे-धीरे पैर रखतीं तो कभी बड़े वेगसे और कभी चाककी तरह घूम जातीं। कभी अपने हाथ उठा-उठाकर भाव बतातीं और कभी मुसकराने लगतीं। उनके कानोंके कुण्डल हिल-हिलकर कपोलोंपर आ जाते थे। नाचनेके परिश्रमसे उनके मुँहपर पसीनेकी बूँदें झलकने लगीं। इस प्रकार गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णके साथ गा-गाकर नाच रही थीं। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो बहुत-से श्रीकृष्ण तो साँवले-साँवले मेघमण्डल हैं और उनके बीच-बीचमें चमकती हुई गौरवर्णा गोपियाँ बिजली हैं।

उदारशिरोमणि सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्णने जब इस प्रकार गोपियोंका सम्मान किया, तब गोपियोंके मनमें ऐसा भाव आया कि संसारकी समस्त स्त्रियोंमें हमीं सर्वश्रेष्ठ हैं, हमारे समान और कोई नहीं है। जब भगवान्ने देखा कि इन्हें कुछ गर्व हो गया है, तब वे उनका गर्व दूर करनेके लिये अपनी प्रधान सखी (राधिकाजी) को लेकर अन्तर्धान हो गये। भगवान्के अन्तर्धान होते ही सब गोपियोंमें खलबली मच गयी, वे भगवान् श्रीकृष्णके वियोगमें अत्यन्त व्याकुल हो गयीं और वनमें श्रीकृष्णको खोजने लगीं। जब बहुत खोजनेपर भी भगवान् नहीं मिले, तब वे परस्परमें ही भगवान्की लीलाओंका अनुकरण करने लगीं। कोई श्रीकृष्ण बन गयी और कोई गोपी; इस प्रकार रासलीला करने लगीं।

इधर जब भगवान् राधाजीको साथ लेकर वनमें जा रहे थे, तब राधाजीके मनमें यह अभिमान आया कि मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ, इसीलिये भगवान् सब गोपियोंको छोड़कर मुझे साथ ले आये। इसके बाद चलते-चलते राधाजीने भगवान्से कहा कि 'मैं थक गयी हूँ, मुझसे अब चला नहीं जाता। इसलिये आप मुझे अपने कंधेपर बिठाकर ले चलिये।' भगवान् बोले— 'ठीक है।' ऐसा कह भगवान् बैठ गये और जब राधिकाजी भगवान्के कंधेपर बैठने लगीं, तब राधिकाजीके अभिमानको दूर करनेके लिये भगवान् झट अन्तर्धान हो गये। भगवान्को अन्तर्धान हुए देखकर राधिकाजी भी विलाप करने लगीं। वे 'हा कृष्ण! हा कृष्ण!' कहती हुई कृष्णको खोजने लगीं।

उधर गोपियाँ भी भगवान् श्रीकृष्ण और राधिकाजीको खोजनेके लिये वनमें घूमने लगीं। घूमते-घूमते उन्हें श्रीकृष्ण और राधिकाजीके पदचिह्न मिले। उन चिह्नोंको देखती हुई गोपियाँ आगे बढ़ गयीं। आगे जानेपर उनको श्रीकृष्णके बैठनेका चिह्न मिला; किंतु उससे और आगे बढ़नेपर केवल राधिकाजीके ही पदचिह्न मिले, श्रीकृष्णके नहीं। फिर वे सखियाँ राधिकाजीके पदचिह्नोंके पीछे-पीछे आगे बढ़ीं और कुछ दूर जानेपर उनको विलाप करती हुई राधिकाजी मिल गयीं। गोपियोंने राधिकाजीसे पूछा—'श्रीकृष्ण कहाँ हैं?' राधिकाजीने कहा—'भगवान् मेरे साथमें यहाँतक आये थे, किंतु मैंने कुटिलतावश उनका अपमान किया; इसलिये वे मुझे भी छोड़कर चले गये।'

तब विरहमें व्याकुल हुई सभी गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णको आर्तभावसे पुकारने और उनके गुणोंका गान करने लगीं। उनको अत्यन्त व्याकुल देखकर भगवान् सहसा सबके बीचमें प्रकट हो गये।

उस समय गोपियोंने भगवान्से पूछा—'नटनागर! कुछ लोग तो ऐसे होते हैं, जो प्रेम करनेवालोंसे ही प्रेम करते हैं और कुछ लोग प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं और कोई-कोई दोनोंसे ही प्रेम नहीं करते। इन तीनोंमें तुम्हें कौन-सा अच्छा लगता है?'

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'मेरी प्यारी सखियो! जो प्रेम करनेपर प्रेम करते हैं, उनका तो सारा उद्योग स्वार्थको लेकर है। न तो उनमें सौहार्द है और न धर्म ही। उनका प्रेम केवल स्वार्थके लिये ही है, इसके सिवा उनका और कोई प्रयोजन नहीं। गोपियो! जो लोग प्रेम न करनेवालेसे भी प्रेम करते हैं, जैसे स्वभावसे ही करुणाशील सज्जन और माता-पिता—उनका हृदय सौहार्दसे, हितैषितासे भरा रहता है और उनके व्यवहारमें निश्छल धर्म भी है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेम नहीं करते। ऐसे लोग चार प्रकारके होते हैं। एक तो वे, जो अपने स्वरूपमें ही मस्त रहते हैं। दूसरे वे, जो आप्तकाम यानी कृतकृत्य हो चुके हैं। तीसरे वे हैं, जो अकृतज्ञ यानी कृतघ्नी हैं और चौथे वे हैं, जो अपना हित करनेवाले परोपकारी गुरुतुल्य लोगोंसे भी जान-बूझकर द्रोह करते हैं। गोपियो! मैं तो प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेमका वैसा व्यवहार नहीं करता, जैसा करना चाहिये। जैसे निर्धन मनुष्यको कभी बहुत-सा धन प्राप्त हो जाय और फिर खो जाय तो उसका चित्त खोये हुए धनकी चिन्तासे भर जाता है, अन्यत्र नहीं जाता, वैसे ही मैं भी उनकी चित्तवृत्ति और भी मुझमें लगी रहे, निरन्तर मुझमें ही लगी रहे, इसीलिये ऐसा करता हूँ। तुम्हारी चित्तवृत्ति अन्यत्र कहीं न जाय, मुझमें ही लगी रहे, इसीलिये तुमलोगोंसे प्रेम करता हुआ ही मैं तुम्हारे अभिमानको नष्ट करने एवं प्रेमकी वृद्धि करनेके लिये छिप गया था। अतः तुमलोग मेरे प्रेममें दोष मत निकालो। तुम सब मेरी प्यारी हो और मैं तुम्हारा प्यारा हूँ। मुझसे तुम्हारा यह मिलन सर्वथा

निर्मल और निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीरसे अनन्त कालतक तुम्हारे प्रेमका बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं तो तुम्हारा ऋणी हूँ।' ऐसा कहकर वे गोपियोंके साथ पुनः रासलीला करने लगे।

गोपियोंमें कामकी गन्ध भी नहीं थी। भगवान् श्रीकृष्णमें तो काम था ही नहीं, बल्कि उनके प्रभावसे गोपियोंमें भी कामभाव सर्वथा नष्ट हो गया था। भगवान् श्रीकृष्णके सोलह हजार एक सौ आठ रानियाँ थीं, उन रानियोंसे लाखों ही संतानें हुईं। इसमें भी उनमें कामकी गन्ध भी नहीं थी; उन्होंने तो अपनी पत्नियोंके साथ केवल शास्त्रानुकूल व्यवहार किया था और वह भी कामभावसे बिलकुल रहित होकर।

इसपर भी यदि कोई भगवान्‌में गोपियोंके साथ व्यभिचारके दोषकी कल्पना करता है तो मैं तो यही कहता हूँ कि उसे नरकमें भी ठौर नहीं। कामकी सामर्थ्य नहीं कि वह भगवान् और गोपियोंमें प्रवेश कर सके, उनके तो प्रभावसे ही काम दूर हो जाता है। गोपियोंकी चर्चासे ही काम दूर भाग जाता है। यदि कोई गोपियोंमें यह भाव करे कि उन्होंने व्यभिचार किया तो उसको कौन-सी गति मिलेगी, यह भी मेरी बुद्धिमें नहीं आता। भगवान्‌ने स्वयं गोपियोंकी प्रशंसा की है। गोपियाँ प्रथम तो अबला थीं; स्त्रियोंमें पुरुषोंकी अपेक्षा आठगुना अधिक कामभाव बताया जाता है। फिर साथमें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही श्यामसुन्दर श्रीकृष्णरूपमें थे। उनके-जैसा सुन्दर भी कोई नहीं। सारे संसारका सौन्दर्य एकत्र होकर भी भगवान्‌के सौन्दर्यके एक अंशकी भी समानता नहीं कर सकता। ऐसे परम सुन्दरके साथ रहकर भी गोपियाँ कामभावसे सर्वथा रहित थीं; अतः उनकी जितनी बड़ाई की जाय, सब थोड़ी ही है। गोपियोंमें ऐसी शक्ति है कि उनके दर्शनसे दर्शकका कामभाव नष्ट हो जाता है, फिर भगवान्‌की तो बात ही क्या? उन परब्रह्म परमात्माने तो श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होकर कामदेवका मद चूर्ण किया और सबको आदर्श शिक्षा दी। उनके तो आचरण अनुकरणीय थे। उन्होंने गीतामें स्वयं कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

(३। २२—२४)

'हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ; क्योंकि हे पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।'

ध्यान देकर सोचना चाहिये कि यदि भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंके साथ व्यभिचार करते तो व्यभिचारी और अधर्मी कहलाते; किंतु जिस समय परीक्षित् मृतक-अवस्थामें उत्तराके गर्भसे निकला तो उसको जीवित करनेके लिये भगवान्‌ने यह प्रतिज्ञा की कि 'यदि मैंने जीवनभर सत्यका पालन किया है, यदि मुझमें सत्य और धर्म नित्य स्थित हैं तो उत्तराका यह सुपुत्र जीवित हो उठे।' यह कहते ही बालक जी उठा। इससे यह समझना चाहिये कि यदि उनमें कुछ भी दोष होता तो क्या वे ऐसा कहते; कदापि नहीं। इसके सिवा, शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्णका कट्टर शत्रु था, उसने भगवान्‌को अनेक अनुचित बातें कही हैं, यह बात महाभारतके सभापर्वमें विस्ताररूपसे है तथा दुर्योधनने भी मरते समय बहुत-सी गालियाँ दीं, यह बात महाभारतके शल्यपर्वान्तर्गत गदापर्वमें आती है। यदि उनमें इस विषयका कुछ भी दोष होता तो शिशुपाल तथा दुर्योधन अन्य गालियोंके साथ यह भी कहते कि तुमने गोपियोंके साथ व्यभिचार किया है; किंतु उन्होंने ऐसा नहीं कहा। इससे भी यह सिद्ध होता है कि उस समय भी यही प्रसिद्धि थी कि भगवान् श्रीकृष्ण इस दोषसे सर्वथा मुक्त हैं। इसी कारण शिशुपाल और दुर्योधन उनपर यह दोष नहीं लगा सके। उन्हें यदि थोड़ी-सी भी गुंजाइश मिलती तो वे अवश्य यह दोष लगाते। इसके सिवा, रासलीलाके समय भगवान् श्रीकृष्णकी दस वर्षकी आयु थी—दस वर्षके बालकमें स्त्री-सहवासका दोष घटना सम्भव नहीं, अतएव भगवान् श्रीकृष्णमें व्यभिचारदोषकी गन्धकी भी कल्पना नहीं करनी चाहिये। किंतु दम्भी और व्यभिचारी लोग भगवान्‌पर झूठा दोष आरोप करके अपनी कामवासना सिद्ध करनेके लिये ऐसा कहते हैं कि देखो, श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ भोग-विलास किया, इसीसे गोपियोंकी मुक्ति हो गयी। इस प्रकार कहकर वे भोली-भाली स्त्रियोंको अपने पंजेमें फँसाकर खुद तो श्रीकृष्ण बनते हैं और उन स्त्रियोंको गोपी बनाते हैं एवं फिर उनके साथ पापकर्म

करते हैं; भगवान् उनको कौन-सी घोर गति देंगे, यह तो वे भगवान् ही जानें।

भगवान् श्रीकृष्णका तो गोपियोंके साथ विशुद्ध प्रेम था, वहाँ कामका नाम-निशान भी नहीं था। उनका प्रेम जारभावको लेकर कदापि नहीं था। भागवतमें जो प्रेमका वर्णन है; वह विशुद्ध एवं अत्यन्त स्वच्छ है। अवश्य ही भागवतके कुछ श्लोकोंमें अश्लीलता और जारभावका उल्लेख मिलता है, उसे हम प्रक्षिप्त कहें तो भी ठीक नहीं और यदि उसे क्लिष्ट कल्पना करके वेदान्तके सिद्धान्तमें घटावें तो भी ठीक नहीं। पर वहाँ आये हुए रमण आदि अश्लील शब्दोंका जैसा स्पष्ट अर्थ व्याकरणसे समझमें आता है, वैसा मानना उचित नहीं है; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण दोषोंसे सर्वथा रहित और विशुद्ध सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हैं। अतः उनमें अश्लीलताका दोष हमारी आत्मा स्वीकार नहीं करती और न ऐसी मान्यतामें कोई लाभ ही है; क्योंकि यह शास्त्रमर्यादा और युक्ति-संगत भी नहीं है। सिद्धान्तमें कोई गड़बड़ी नहीं है, उनका प्रेम विशुद्ध है, उसमें काम था ही नहीं; फिर भी गोपियोंके साथ उनके सम्बन्धमें जो ऐसी अश्लील बातें कहीं कुछ आती हैं, वे हमारी समझमें नहीं आतीं; इसलिये उन्हें नहीं मानना चाहिये। हमें भागवतपर दोष न लगाकर यही मानना चाहिये कि यह प्रकरण हमारी बुद्धिकी समझमें नहीं आता। इस प्रकार मनुष्यको अपनी बुद्धिकी कमजोरी माननेमें कोई हानि नहीं, किंतु भगवान्, भागवत तथा गोपियोंपर कभी दोषारोपण नहीं करना चाहिये।

इसी प्रकार बलदेवजी-जैसे महापुरुषोंमें कोई मदिरापान, पर-स्त्रीसेवन आदिका दोष लगावे तो यह कैसे हो सकता है? जहाँ-कहीं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, मदिरापान आदिका विषय आता है, जिसकी कि हर जगह निन्दा की गयी है, वह ईश्वर और भक्तोंमें हो, यह असम्भव है। उनमें उसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। ध्यान दीजिये, यदि मेरे-जैसा कोई मनुष्य चोरी, बेईमानी, व्यभिचार आदि करे तो क्या आप कभी यह समझ सकते हैं कि यह जो कुछ करते हैं सब ठीक है, इनके लिये सब माफ है? किंतु यह कदापि सम्भव नहीं है। ऐसा करना तो दुनियाको धोखा देना है एवं यह घृणित आचरण है। जो व्यक्ति यह प्रचार करता है कि 'मैं महात्मा हूँ, समर्थ हूँ, ईश्वर और महात्मा जो कुछ करते हैं, सब ठीक करते हैं, इसलिये तुम मेरे साथ कामोपभोग करो।' विश्वास रखें कि ऐसे विचारवाला व्यक्ति कदापि महात्मा नहीं, वह तो महान् दम्भी, व्यभिचारी, मान-बड़ाईका किंकर एवं लोगोंकी आँखोंमें धूल झोंकनेवाला है। ऐसे दम्भी-पाखण्डी लोगोंकी बातोंमें कभी नहीं आना चाहिये। श्रीकृष्णकी रासलीला बिलकुल विशुद्ध है। इस रासलीलाके प्रति विशुद्ध प्रेमभाव हो तो भगवान्से शीघ्र प्रेम हो सकता है एवं कामभाव यदि कहीं छिपा हुआ हो तो वह भी भगवान् श्रीकृष्णके प्रभावसे नष्ट हो सकता है।

अबतक मैंने आपको रासलीलाके विषयमें थोड़ी-सी बातें बतलायी हैं। रासपञ्चाध्यायीके कुछ श्लोकोंको, जिनमें खुला शृङ्गार या अश्लीलतायुक्त बातें हैं, छोड़कर शेष सभी बातें प्रेमकी वृद्धि करनेवाली हैं। उन सबका आदर करना चाहिये और विशुद्ध प्रेम एवं विशुद्ध भाव रखना चाहिये। यदि वास्तवमें विशुद्ध एवं सच्चा प्रेम हो तो वाणी गद्गद हो जाती है, शरीरमें कँपकँपी और रोमाञ्च होने लगता है। प्रेमकी अधिकतासे वाणी और कण्ठ दोनों रुक जाते हैं एवं अश्रुपात होने लगते हैं। भगवान् श्यामसुन्दरकी मोहिनी छबिके आगे नेत्रोंकी पलक गिरती नहीं, बल्कि आँखें उनके स्वरूपका पान करती ही रहती हैं। भावकी बात है। विशुद्ध और उच्चकोटिकी श्रद्धा तथा प्रेम हो तो उपर्युक्त बातें घट सकती हैं। भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दके समुद्र हैं, गोपियाँ उनके संकेतपर नाचती थीं, भगवान् जो भी आज्ञा देते या संकेत करते, वे उसका पालन करती थीं।

यदि कहें कि संकेतपर चलनेवाली गोपियोंको जब भगवान्ने वापस अपने घर जानेके लिये कहा, तब उनकी आज्ञा मानकर वे घर क्यों नहीं लौट गयीं तो इसका उत्तर यह है, उस समय भगवान्के प्रेमसे वे इस प्रकार स्तम्भित हो गयीं कि उनके पैर चलनेमें असमर्थ हो गये। स्वयं गोपियोंने कहा है—

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ३४)

'हमारा जो चित्त घरमें आसक्त था तथा हमारे हाथ भी जो घरके कामोंमें लगे थे, उनको आपने सुखपूर्वक— अनायास ही चुरा लिया। एवं हमारे पैर भी आपके चरणप्रान्तसे एक पग भी इधर-उधर नहीं चलते। अब हम किस प्रकार घर जायँ और वहाँ जाकर करें भी क्या?'

जैसे, पद्मपुराणके पातालखण्डके ५६ वें और ५८

वें अध्यायोंमें आता है कि लोकापवादको सुनकर भगवान् श्रीरामने सीताको वाल्मीकि मुनिके आश्रमके पास वनमें छोड़ आनेके लिये शत्रुघ्न और भरतको आज्ञा दी, किंतु ऐसी बात सुनकर वे स्तम्भित और मूर्छित हो गये। उन्होंने जान-बूझकर भगवान्की आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं किया, वरं वे वैसा करनेमें ही असमर्थ हो गये थे। इसी प्रकार गोपियोंके विषयमें समझना चाहिये।

असल बात यह है कि भगवान् सबके परम पति हैं, उनके पास गोपियोंका जाना न्याययुक्त ही था। स्मृतियाँ जो आज्ञा देती हैं, उससे भी अधिक भगवान्की आज्ञाका महत्त्व है; क्योंकि वे परमपति हैं, उनकी आज्ञाके सामने पतिकी आज्ञा भी गौण है। गोपियाँ भगवान्के प्रेममें इतनी विवश थीं कि किसीके रोकनेपर भी वे रुक नहीं सकती थीं। जब गोपियोंने भगवान्की वंशीध्वनि सुनी, तब वे इतनी प्रेमविवश हो गयीं कि घरका सब काम-काज ज्यों-का-त्यों छोड़कर वे भगवान्के पास चली आयीं।

ऊपर जो कामदेवका अभिमान नष्ट करनेके लिये नारदजीके प्रति भगवान्ने मनुष्यरूपमें अवतार लेनेकी बात कही है, यह लोकोक्ति चली आती है। आपलोगोंने भी सम्भव है यह बात सुनी हो। मेरा हृदय इसे मानता है और शायद शास्त्रमें भी कहीं यह कथा मिल सकती है। मुसलमानोंके शासनकालमें हमारे बहुत-से धार्मिक ग्रन्थ नष्ट कर दिये गये, इस कारण शास्त्रमें यह प्रसङ्ग न भी मिले तो भी इसे सत्य ही मानना चाहिये; क्योंकि यह बात रहस्यमयी तथा युक्तियुक्त एवं विशुद्ध प्रेमकी है।

भगवान् श्रीकृष्णके साथ गोपियोंका प्रेम अत्यन्त विशुद्ध और अलौकिक था, वहाँ अश्लीलता और कामकी तो गन्ध ही नहीं थी। गोपियोंके प्रेमके सामने भगवान् मुग्ध हो जाते थे और इसी प्रकार गोपियाँ भी भगवान्के प्रेममें मुग्ध हो जाया करती थीं। एक-दूसरेको देखकर वे द्रवीभावको प्राप्त हो जाते थे। जिस प्रकार पूर्णिमाके चन्द्रमाकी किरणें जब चन्द्रकान्तमणिपर पड़ती हैं, तब उसके जड होनेपर भी उससे अमृत बहने लग जाता है। चन्द्रकान्तमणि, सुना है बड़ी कठोर होती है; किंतु चन्द्रमाकी किरणोंके पड़ते ही वह भी द्रवीभूत हो जाती है। हमने चन्द्रकान्तमणिकी यह बात देखी तो नहीं, किंतु सुनी है; शायद शास्त्रोंमें मिल भी सकती है। यदि न भी मिले तो भी माननी चाहिये, क्योंकि यह परम्परागत लोकोक्ति प्रसिद्ध है और युक्तियुक्त है। जब जड वस्तु भी चन्द्रमाके प्रभावसे द्रवीभूत हो जाती है, तब भगवान्के प्रभावसे भक्तोंमें द्रवीभाव आना स्वाभाविक ही है। भगवान् चन्द्रमाकी तरह हैं, उनके प्रेमका प्रभाव रश्मिकी तरह है और भक्त चन्द्रकान्तमणिकी ज्यों हैं। भगवान्का प्रभाव जिसपर पड़ता है, वह जड होनेपर भी बह जाता है। फिर भक्तोंके द्रवीभूत होनेमें तो आश्चर्य ही क्या है?

भगवान्का प्रेम, प्रेमास्पद एवं प्रेमी—तीनों एक ही हैं। वे चेतन, दिव्य और अलौकिक हैं। अतः उन भगवान्से प्रेम करनेपर प्रेमी उनके परम दिव्य चिन्मय धामको चला जाता है। वे भगवान् स्वयं तो दिव्य चिन्मय हैं ही, उनका धाम भी दिव्य और चेतन है। वह परमात्मा चेतन ही नहीं, बल्कि सत्-चित् एवं आनन्दघन भी है। वह प्रेमी भक्त भी सच्चिदानन्दमय ही होकर जाता है। इस शरीरको छोड़कर जब भक्त जाता है, तब वह भगवान्-जैसा ही स्वरूप प्राप्त कर लेता है।

बहुत-से लोग कहते हैं कि श्रुतियाँ ही गोपियोंके रूपमें होकर आयी थीं, कई कहते हैं कि बालखिल्य आदि ऋषिगण ही गोपियोंके रूपमें होकर आये थे, कई लोग यह भी कहते हैं कि जो भक्त भगवान्के परम धाममें उनकी सामीप्य-मुक्तिको प्राप्त हो गये थे, वे ही गोपियोंके रूपमें भगवान्के परिकर होकर आये थे। अतः समझना चाहिये कि गोपियाँ कितनी अद्भुत और उच्च कोटिकी थीं। वे भगवान्से कहती हैं—आप केवल गोपीनन्दन ही नहीं हैं, आप तो परब्रह्म परमात्मा हैं, समस्त शरीरधारियोंके हृदयमें रहनेवाले उनके साक्षी हैं, अन्तर्यामी हैं। अतः आप जगत्पतिके पास आना और आपकी सेवा करना हमारा परम धर्म है।

यह गोपियोंका आदर्श प्रेम है। जिन गोपियोंके स्मरण करनेमात्रसे भी स्मरण करनेवालेका कामभाव नष्ट हो जाता है, उनमें कामवासनाकी कल्पना करना महान् मूर्खता है; किंतु उनके दर्शनसे कामवासना नष्ट हो जाती है, इसपर श्रद्धा एवं विश्वास होना चाहिये। गोपियोंका भगवान्के प्रति बड़ा ही उच्च कोटिका प्रेम था। ऋषि-मुनियोंकी पत्नियाँ भी ऐसी ही थीं। एक समय वे भगवान् श्रीकृष्णके लिये थालियोंमें मिठाई भरकर लायी थीं, किंतु उनका भाव भी अश्लील नहीं था, सर्वथा विशुद्ध था। उनके घरवाले भी उनको भगवान्के पास जानेसे रोकते नहीं थे। यदि कोई रोकते तो वे इच्छासे नहीं रुकतीं और जबरन् रोकनेपर उनकी आत्मा वहाँ पहले पहुँच जाती। मुनि-पत्नियोंका प्रेम विशुद्ध था, वे श्रीकृष्णको भगवान् समझकर उनसे प्रेम करती थीं।

फिर श्रीराधिकाजीके प्रेमका तो कहना ही क्या है,

भगवान्‌से तो विशुद्ध प्रेमका नाता ही करना चाहिये, इसीमें हमारा कल्याण शीघ्रातिशीघ्र हो सकता है।

गोपियोंका उपर्युक्त परम विशुद्ध प्रेमभाव था, जिनके प्रेमको देखकर उद्धव भी गोपियोंकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हैं। यदि उन गोपियोंका भगवान् श्रीकृष्णमें विशुद्ध प्रेम न होता तो उद्धवजी गोपियोंकी इतनी प्रशंसा नहीं करते; किंतु गोपियोंका पवित्र एवं विशुद्ध भाव था, जिसको देखकर उद्धवजी भी चकित एवं विस्मित हो गये।

अतएव हमलोगोंको भगवान्‌में उपर्युक्त विशुद्ध प्रेम करनेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

एक क्षणमें भगवत्प्राप्ति कैसे हो सकती है?

एक सज्जनने पूछा है कि ''ऐसा कौन-सा 'क्षण' होता है, जिसमें तुरंत भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है?'' इसके उत्तरमें निवेदन है कि जैसे बिजली फिट हो जाय तथा पावरहाउससे उसका कनेक्शन हो जाय तो फिर जिस क्षण स्विच दबाया जाता है, उसी क्षण प्रकाश हो जाता है और अन्धकारका भी उसी क्षण नाश हो जाता है; इसी प्रकार मनुष्य जब 'पात्र' हो जाता है, सब तरहकी उसकी पूरी तैयारी होती है, तब परमात्माके विषयका ज्ञान क्षणमात्रमें हो जाता है तथा ज्ञान होते ही उसी क्षण अज्ञानका नाश होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। दूसरा उदाहरण है—जैसे किसीको दिग्भ्रम हो जाता है तो उसको पूर्वका पश्चिम और पश्चिमका पूर्व दीखने लगता है, पर जब वह दिग्भ्रम मिटता है, तब क्षणमात्रमें ही मिट जाता है और उसी क्षण दिशाका यथार्थ ज्ञान हो जाता है; इसी प्रकार जब परमात्माका ज्ञान हो जाता है, तब उसी क्षण दिग्भ्रमकी भाँति मिथ्या भ्रम मिट जाता है और उसे परमात्माके वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है। तीसरा उदाहरण है—जैसे किसीको रात्रिके समय नींदमें स्वप्न आ रहा है, इतनेमें किसी कारणसे वह जग गया, बस, जगते ही स्वप्नका सारा संसार क्षणमात्रमें नष्ट हो गया—उसका अत्यन्त अभाव हो गया; इसी प्रकार परमात्मामें जगनेपर अर्थात् परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित होनेपर ज्ञानरूपी नेत्रोंके खुलनेसे उसी क्षण यह संसार सर्वथा छिप जाता है। जगनेके साथ स्वप्न-लोप होनेकी भाँति यह संसार लुप्त हो जाता है तथा परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

जैसे दिग्भ्रम अपने-आप ही मिट जाता है, अथवा अपने जन्मस्थानपर आनेसे भी मिट जाता है; तथा जैसे स्वप्नावस्थामें जब मनुष्य स्वप्नको स्वप्न समझ लेता है, तब वह अपने-आप जग जाता है अथवा दूसरेके जगानेसे भी जग जाता है; इसी प्रकार शास्त्रोंके गम्भीर विचारके द्वारा संसारको हर समय स्वप्नवत् देखनेसे तथा कर्मयोगकी सिद्धिके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होनेसे मनुष्यको जो अपने-आप ही ज्ञान हो जाता है, वह अपने-आप जगना है (गीता ४। ३८)। तथा महात्माओंके शरण जानेपर उनसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह दूसरेके जगानेसे जगना है (गीता ४। ३४-३५)। अब दिग्भ्रमके विषयमें यह समझना चाहिये कि जब किसीको दिग्भ्रम हो जाता है, तब वह यदि अपने जन्मस्थानमें चला जाता है तो उसकी चौंधियायी आँखें उसी क्षण ठीक हो जाती हैं। इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें स्थितिरूप जन्मस्थानपर पहुँचनेसे तुरंत ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। विचार कीजिये, यहाँ हमारा जन्मस्थान क्या है? परमात्माका जो स्वरूप है, वही हमारा जन्मस्थान है, वही हमारा असली आदिस्वरूप है; अतः परमात्माके स्वरूपमें स्थित होते ही संसारका भ्रम मिट जाता है। जैसे दिग्भ्रमके समय भ्रमसे पूर्वकी ओर पश्चिम और पश्चिमकी ओर जो पूर्व दीखता था, वह भ्रम मिटकर यथार्थ दीखने लग जाता है, वैसे ही परमात्मामें भ्रमसे जो यह संसार प्रतीत हो रहा है, यह भ्रम परमात्माके स्वरूपमें स्थित होनेसे मिट जाता है। अथवा जैसे दिग्भ्रम अपने-आप ही मिट जाता है, इसी प्रकार यह संसार-भ्रम भी संसारको हर समय स्वप्नवत् समझते रहनेपर किसी-किसीके अपने-आप ही शान्त हो जाता है। एवं जब चित्तकी वृत्तियाँ पूर्णतया सात्त्विक हों तथा साथ ही वैराग्य भी हो, तब अन्तःकरण शुद्ध होकर अपने-आप ही ज्ञान पैदा हो जाता है। ऐसी स्थितिमें किसी संतके द्वारा तत्त्वोपदेश मिल जाय, तब तो कहना ही क्या है! फिर तो परमात्माका वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो ही जाता है (गीता ४। ३४-३५) तथा मरनेके समय तो परमात्माके ध्यानमात्रसे ही उसी क्षण परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८। ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण

करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

इसी प्रकार भगवान्‌ने गीताके दूसरे अध्यायके ७२ वें श्लोकमें कहा है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

'हे अर्जुन! यह ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है, इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अन्तकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है।'

यह अन्तकालकी स्थितिकी महिमा है। इसी प्रकार सत्त्वगुणकी स्थितिमें प्राण जानेसे भी बड़ा लाभ है। गीताके १४ वें अध्यायके १८ वें श्लोकमें बताया है कि 'जिनकी सत्त्वगुणमें स्थिति है, वे ऊर्ध्वको प्राप्त हो जाते हैं।' (**ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः**) इसका अभिप्राय तो यह है कि जिसकी सदा ही सत्त्वगुणमें स्थिति है, वही ऊपरको जाता है; परंतु अन्त समयमें भी कोई यदि सत्त्वगुणको प्राप्त हो जाता है या जिस समय सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, उस समय किसीके प्राण निकलते हैं, तो वह भी उत्तम गतिको प्राप्त होता है। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते॥

(१४। १४)

'जब यह मनुष्य सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है।'

यहाँ अभिप्राय यह है कि वह ऊपरके लोकोंको जाता है और फिर वहाँसे आगे बढ़कर परमात्माको—परमधामको प्राप्त हो जाता है। (इसका विस्तृत अर्थ गीता-तत्त्वविवेचनी-टीकामें ८ वें अध्यायके २४ वें श्लोककी व्याख्यामें देखना चाहिये।) इसे क्रम-मुक्ति कहते हैं। यहाँ यह समझना चाहिये कि जैसे अन्तकालकी यह एक विशेष बात है कि उस समय यदि राजसी-तामसी वृत्तिवाला पुरुष भी भगवान्‌का ध्यान करता हुआ या भगवान्‌के तत्त्वज्ञानको समझता हुआ प्रयाण करता है तो वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है; इसी प्रकार सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय भी परमात्माके तत्त्वका ज्ञान उसे सहज ही हो जाता है। वह बहुत ही उत्तम समय है, अन्तकालके समान ही महत्त्वपूर्ण तथा सहज है। ऐसे समयमें विशेष सावधान होकर ध्यानकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि उस समय थोड़े साधनसे ही बड़ा काम हो जाता है। पर यह कैसे पता लगे कि सत्त्वगुणकी वृद्धिका वह समय आ गया है ? इसके लिये भगवान् पहचान बताते हैं। वे गीतामें कहते हैं—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥

(१४। ११)

'जिस समय इस देहमें तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता (जागृति) और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है, उस समय यह जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है।'

उस सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय मनुष्य परमात्माका ध्यान करता है या परमात्माके तत्त्वको जाननेका प्रयास करता है तो उसे बहुत शीघ्र लाभ हो जाता है। ऐसे अवसरपर भगवान्‌की कृपासे क्षणमात्रमें ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसे समय मनुष्यको अपना समय वैराग्यपूर्वक ज्ञान और ध्यानमें ही बिताना चाहिये। या महात्माओंके सङ्गमें और उनके वचनोंको सुनकर उसीके अनुसार चेष्टा करनेमें लगाना चाहिये—उसीमें स्थित हो जानेका प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा करनेसे क्षणमात्रमें ही ज्ञान हो जाना कोई असम्भव बात नहीं है। यह एक बड़े महत्त्वकी बात है। जैसे अन्तकालमें परमात्माका ध्यान या चिन्तन करते हुए प्राण त्यागनेसे उत्तम-से-उत्तम गति मिल जाती है, वैसे ही सत्त्वगुणकी वृद्धिमें भी ऐसी बात हो जाया करती है। अतः जिस समय शरीरमें, मनमें, इन्द्रियोंमें, बुद्धिमें—सबमें जागृति हो, सबमें बाहर-भीतर—सर्वत्र चेतनता-सी प्रतीति हो और ज्ञान (बोध) की बहुलता हो, दुःखोंका अभाव हो, शान्तिकी प्रतीति हो और सात्त्विक सुखका अनुभव हो, उस समय ऐसा समझना चाहिये कि इस समय सत्त्वगुण बढ़ा है। ऐसी अवस्थामें परमात्माके ध्यानकी थोड़ी चेष्टा करनेपर भी बहुत बड़ा लाभ हो सकता है।

ऊपर बिजलीका उदाहरण दिया गया था, उससे यों समझना है कि जैसे बिजली लगकर तैयार है, पावरहाउससे उसका सम्बन्ध भी हो गया है, तब स्विच दबानेके साथ ही क्षणमात्रमें रोशनी जल जाती है; वैसे ही साधन करते-करते मनुष्य जब एकदम तैयार हो जाता है, पात्र हो जाता है और भगवान्‌के साथ उसके मनका सम्बन्ध जुड़ जाता है, तब उसे क्षणभरमें ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। जैसे बिजलीका स्विच दबाते ही क्षणभरमें प्रकाश होकर सारे अन्धकारका नाश हो जाता है, वैसे ही अपनी पूरी तैयारी होनेपर—पात्र हो जानेपर—योग्यता प्राप्त हो जानेपर थोड़े ही उपदेशसे

क्षणमात्रमें ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। परमात्माके ध्यानसे, सद्‌ग्रन्थोंके अध्ययन—विचारसे, सत्पुरुषोंकी बातें सुननेसे और परमात्माकी कृपासे स्वतः ही हृदयमें जागृति होकर क्षणमात्रमें ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। वस्तुतः योग्यता प्राप्त करना यानी अधिकारी होना ही तैयार होना है। यह योग्यता यानी पात्रता प्राप्त होती है—अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर। अतः अन्तःकरणकी शुद्धि होनेमें जो समय लगता है, वह तो लगता ही है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि साधनोंके द्वारा जब मल-विक्षेप—आवरणका नाश हो जाता है, तभी अन्तःकरण शुद्ध होता है। इस अवस्थामें जैसे स्विच दबानेमात्रसे ही रोशनी हो जाती है, अन्धकारका नाश हो जाता है, वैसे ही मल-विक्षेप-आवरणका अत्यन्त अभाव हो जानेपर क्षणमात्रमें ही परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति किस प्रकारसे होती है ? इस विषयमें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८। ५५)

'उस पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।' यह तैयारीकी बात है, तैयारी कब समझी जाय ? इसके लिये इसीके पूर्वका श्लोक है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

(गीता १८। ५४)

'वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित प्रसन्न-मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकांक्षा ही करता है। (उसके अन्तःकरणमें चिन्ता, शोक तथा कामनाओंका अत्यन्त अभाव हो जाता है।) ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी पराभक्तिको (ज्ञानकी परानिष्ठाको) प्राप्त हो जाता है।' समस्त प्राणियोंमें समभावको देखना क्या है? भगवान्‌ने कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(गीता ६। २९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योग अर्थात् जीवात्मा और परमात्माकी एकतारूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित—अपने संकल्पके आधारपर स्थित देखता है।' अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधारपर देखता है, वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत कल्पित देखता है। यह है 'समदर्शन'; इसीका फल है—'ज्ञानकी परानिष्ठा' और इसीका नाम है 'पराभक्ति'। इस पराभक्तिसे मनुष्य परमात्माको यथार्थ रूपमें जान जाता है। भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण, व्यक्त-अव्यक्त सबके तत्त्वको वह समझ जाता है। वह फिर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। पर इसके पहले पूरी तैयारी हो जानी चाहिये। उस तैयारीके लिये इसके पूर्वके निम्नलिखित तीन श्लोकोंके अनुसार बनना चाहिये, जिनमें ज्ञानकी परानिष्ठाके साधनोंका वर्णन है। वे श्लोक हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(गीता १८। ५१—५३)

'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हलका, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहङ्कार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला, ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्द ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है।'

जब मनुष्य ध्यानमें स्थित हो जाता है, तब उसके हृदयके सब विकार नष्ट हो जाते हैं और उसके नाना प्रकारके विषयोंका भी अभाव हो जाता है। मलका अभाव तो पहले ही हो गया था, अब विक्षेपका भी अभाव हो जाता है। इस प्रकार जब सारे दोषोंका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब वह ब्रह्मकी प्राप्तिका अधिकारी

बन जाता है। तदनन्तर उसकी स्थिति ब्रह्मके स्वरूपमें हो जाती है और जिसकी ब्रह्ममें स्थिति होती है, उसे कहते हैं 'ब्रह्मभूत'। ब्रह्मभूत होनेके बादकी स्थिति ऊपर बतलायी जा चुकी है। इस ब्रह्मभूत-अवस्थाका फल ही है—पराभक्तिकी—ज्ञानकी परानिष्ठाकी प्राप्ति। इस ज्ञानसे अज्ञानका नाश हो जाता है। यह अज्ञानका नाश ही आवरण-दोषका नाश है; यों मल-विक्षेप-आवरणका नाश होते ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये इस ज्ञानकी परानिष्ठाका फल साक्षात् परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया है। इस प्रकार क्रमशः तैयारी करके पुरुष जब योग्य हो जाता है, तब क्षणमात्रमें ही उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है; परमात्माको यथार्थरूपसे जानकर वह परमात्मामें तद्रूप हो जाता है।

स्वप्नसे जगकर तो पुरुष स्वप्नके संसारको पुनः-पुनः याद करके यह समझता है कि उस समय मेरी अपने शरीरमें 'अहंबुद्धि' और समस्त संसारमें 'इदंबुद्धि' थी, परंतु जागनेके बाद यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि वह 'अहंबुद्धि' और 'इदंबुद्धि' कल्पनामात्र थी; किंतु यहाँ ज्ञानीकी दृष्टिमें तो यह कल्पना भी नहीं रहती। जब संसार ही नहीं है, तब 'अहम्' कौन और 'इदम्' कौन? परमात्माकी प्राप्ति होनेके उत्तरकालमें संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है। ज्ञानमार्गकी दृष्टिसे स्वप्नका जगा हुआ पुरुष तो स्वप्नके संसारको कल्पित—'स्वप्नवत्' समझता है, किंतु ब्रह्मके स्वरूपमें जगे हुए पुरुषके लिये तो यह संसार स्वप्नवत् भी नहीं है; क्योंकि स्वप्नसे जगे हुए पुरुषके तो मन-बुद्धि वे ही हैं, जो स्वप्नमें थे, इसलिये वह स्वप्नके संसारको 'स्वप्नवत्' समझता है; किंतु जब पुरुष ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, तब उसके मन-बुद्धि यहीं इसी शरीरमें छूट जाते हैं; मन-बुद्धि 'ब्रह्म' तक नहीं पहुँचते। फिर इसे स्वप्नवत् भी कौन कैसे देखे ? तथापि यह कहा जाता है कि ज्ञानीके लिये संसार 'स्वप्नवत्' है। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि 'जब संसार है ही नहीं, तब स्वप्नवत् क्यों कहा जाता है?' तो इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः उस ब्रह्मको प्राप्त पुरुषके लिये तो संसारकी स्वप्नवत् भी प्रतीति नहीं होती; क्योंकि उसके लिये तो सृष्टि ही नहीं है; न दृष्टि है, न सृष्टि। वहाँ तो इसका अत्यन्ताभाव है। उसके लिये तो ब्रह्मसे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं और वह भी सदासे ही है। पर संसारमें जो उसका शरीर है, उस शरीरमें मन-बुद्धि-अन्तःकरण हैं। उस अन्तःकरणमें भी वस्तुतः संसारका, शरीरका और अन्तःकरणका अत्यन्त अभाव-सा ही है तथा परमात्माका भाव है, तथापि उसके ही सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि उसके लिये अन्तःकरणसहित यह संसार स्वप्नवत् है। ऐसे महापुरुषकी महिमा कौन कह सकता है? यह जो अनुभव है कि 'परमात्मा है' वही उसका प्रमाण है। सारे शास्त्र उन महापुरुषोंके अनुभव ही हैं। उन महापुरुषोंके सर्वथा प्रत्यक्ष अनुभवसे अधिक और प्रमाण हो ही क्या सकता है?

अब परमात्माके विषयमें कुछ समझना है। परमात्माका एक स्वरूप है—सच्चिदानन्दघन 'निर्गुण-निराकार' और दूसरा है—'सगुण-साकार।' सगुणके दो भेद हैं—एक 'सगुण-निराकार' और दूसरा 'सगुण-साकार।' सगुण-निराकाररूपसे जो सारे संसारमें व्याप्त हैं, उन्हें 'ईश्वर' भी कहते हैं और 'परमात्मा' भी। सगुण-साकाररूपसे वे दिव्यधाममें नित्य विराजित रहते हैं और समय-समयपर अपनी इच्छासे अवतार धारण भी करते हैं। वे सत्ययुगमें श्रीविष्णुरूपसे, त्रेतामें श्रीरामरूपसे, द्वापरमें श्रीकृष्णरूपसे प्रकट हुए थे।

'अजातवाद' को माननेवाले आधुनिक वेदान्ती महानुभाव एक 'ब्रह्म' के सिवा दूसरी वस्तु ही नहीं मानते। उनका यह एक तत्त्व-वस्तुको मानना तो बहुत ही ठीक है, परंतु भगवान्‌के 'सगुण-निराकार-स्वरूप' जिसे हम 'ईश्वर' कहते हैं, जो सृष्टिकर्ता, सबका पालक, ज्ञाता, साक्षी और द्रष्टा है और जो दिव्य अवतार धारण करता है—उसके यानी परमात्माके इन स्वरूपोंके सम्बन्धमें उनकी मान्यता मेरी समझसे ठीक नहीं है। ईश्वरके स्वरूपको वे मायिक बतलाते हैं। वे कहते हैं कि 'प्रपञ्चका अभाव होनेपर सगुण-निराकार और सगुण-साकारका भी अभाव हो जाता है। एक निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही वस्तुतः सदा रहता है।' परंतु वस्तुतः परमात्माके 'सगुण-निराकार' और 'सगुण-साकार' रूपका इस संसारकी तरह कभी अभाव नहीं होता। संसार मायाका प्रपञ्च है—जड है; परंतु परमात्माका सगुण-निराकार और सगुण-साकार रूप उनका अपना ही स्वरूप एवं चेतन है। हाँ, भगवान् जब अवतार लेते हैं; तब एक मायाका परदा अपनेपर अवश्य डाल लेते हैं; इसीसे उनका यथार्थ स्वरूप मूढोंको नहीं दिखायी देता। भगवान्‌ने गीतामें यही बात कही है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(७। २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष

नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है।' अवश्य ही, भगवान् अपने श्रद्धालु प्रेमी भक्तोंके सामने इस योगमायाके पर्देको हटा लेते हैं, इसलिये भक्त उन्हें यथार्थरूपमें जान—देख पाते हैं। भगवान् तो अपात्रों या मूढोंके लिये ही इस पर्देसे अपनेको ढकते हैं।

यहाँ यह समझना चाहिये कि भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णका स्वरूप मनुष्योंका-सा है; इसीलिये उन्हें मानुषी-लीला करनेवाला माना गया है। भगवान् विष्णुका स्वरूप देवताका-सा है, उनके शरीरकी धातु देवताओंकी धातु-जैसी है। अतएव उनके दीख पड़नेवाले शरीर तो मनुष्यों और देवताओं-जैसे हैं, पर वास्तवमें वे दिव्य चिन्मय हैं; मायिक नहीं। वस्तुतः भगवान्का निर्गुण-निराकार स्वरूप ही 'सगुण-निराकार' और 'सगुण-साकार' रूपमें प्रकट है। इस बातको आधुनिक वेदान्ती महानुभाव नहीं मानते। वे इसके तत्त्व-रहस्यको नहीं जानते। भगवान्के जो दिव्य चिन्मय गुण हैं, उन्हींका प्रतिबिम्ब संसारपर सत्त्वगुणमें पड़ता है। हमें जो ये दैवी सम्पदाके गुण दिखायी देते हैं, ये मायिक हैं, पर सात्त्विक हैं। सत्त्वगुणमें जो गुण प्रतीत होते हैं, वे सब परमात्माके गुणोंके अंशमात्रके प्रतिबिम्ब हैं। जैसे चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब दर्पणमें प्रतीत होता है, वैसे ही विशुद्ध अन्तःकरणमें ये सब गुणोंके रूपमें प्रतीत होते हैं, तथापि ये जड हैं, चेतन नहीं; किंतु जो भगवान्के गुण हैं, वे तो दिव्य और चिन्मय हैं।

भगवान्का ध्यान और मानस-पूजा

सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं
सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम्।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं
नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम्॥

'भगवान् शङ्ख और चक्र (तथा गदा-पद्म) धारण किये हुए हैं, उनके मस्तकपर सुन्दर किरीट-मुकुट और कानोंमें कुण्डल हैं, वे पीताम्बर पहने हुए हैं, नेत्र कमलदलके सदृश कोमल, विशाल और खिले हुए हैं, वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणि, रत्नोंका चन्द्रहार और श्रीवत्सका चिह्न सुशोभित है, ऐसे चतुर्भुज भगवान् विष्णुको मैं मस्तकसे नमस्कार करता हूँ।'

महान् तपस्वी परम भक्त श्रीध्रुवजी महाराज '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' इस द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करते थे और भगवान् श्रीविष्णुके चतुर्भुज स्वरूपका ध्यान किया करते थे।

भगवान्का ध्यान करनेके पूर्व हमें आसनसे बैठना चाहिये। आसन अपनी सुविधा तथा अभ्यासके अनुकूल स्वस्तिक हो, पद्मासन हो या सिद्धासन हो; पर बैठना चाहिये सरल भावसे। भगवान्ने गीतामें छठे अध्यायके १३ वें श्लोकमें बताया है—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥

'काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर, अपनी नासिकाके अग्र भागपर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ (ध्यान करे)।'

ध्यानका स्थान एकान्त और पवित्र होना चाहिये। ध्यानके समय प्रथम 'नारायण' नामकी ध्वनि करके भगवान्का आवाहन करना चाहिये। 'नारायण' भगवान् विष्णुका नाम है। नारायण शब्दमें चार अक्षर हैं—ना रा य ण और भगवान् विष्णुके चार भुजाएँ हैं, चार ही आयुध हैं—शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म। ऐसे भगवान् विष्णुका ध्यान करना चाहिये। भगवान्का स्वरूप बहुत ही अद्भुत और सुन्दर है। भगवान्का ध्यान पहले बाहर आकाशमें करे। मानो भगवान् आकाशमें प्रकट हो गये हैं और आकाशमें स्थित होकर हमलोगोंके ऊपर अपने दिव्य गुणोंकी ऐसी वर्षा कर रहे हैं कि हम अनुपम आनन्दका अनुभव करते हुए आनन्दमुग्ध हो रहे हैं। जैसे पूर्णिमाका चन्द्रमा आकाशमें स्थित होकर अमृतकी वर्षा करता है, वैसे ही आकाशमें स्थित होकर भगवान् अपने गुणोंकी वर्षा कर रहे हैं। क्षमा, शान्ति, समता, ज्ञान, वैराग्य, दया, प्रेम और आनन्दकी मानो अजस्र वर्षा हो रही है और हमलोग उसमें सर्वथा मग्न हो रहे हैं। तदनन्तर ऐसा देखे कि भगवान् आकाशमें हमसे कुछ ही दूरपर स्थित हैं। उनका आकार करीब ५।। फुट लम्बा और करीब १।—१।। फुट चौड़ा है। भगवान्के श्रीअङ्गका वर्ण आकाशके सदृश नील है, परंतु उस नीलिमाके साथ ही भगवान्में अत्यन्त उज्ज्वल दिव्य प्रकाश है। अतएव नीलिमाके

साथ उस प्रकाशकी उज्ज्वलताका सम्मिश्रण होनेसे एक विलक्षण वर्णकी ज्योति बन गयी है। इस प्रकारका भगवान्‌का चमकता हुआ नीलोज्ज्वल सुन्दर वर्ण है। भगवान्‌का शरीर दिव्य भगवत्स्वरूप ही है। हमलोगोंके शरीरकी धातु पार्थिव है, भगवान्‌का श्रीविग्रह तैजस धातुका और चिन्मय (चेतन) है। सूर्य लाल रंगका है, किंतु प्रकाश विशेष होनेसे और समीप आनेसे वह श्वेतोज्ज्वल रंगका दीखता है, इसी प्रकार भगवान्‌का स्वरूप नील वर्णका होनेपर भी महान् प्रकाश होनेसे और समीप आनेसे वह ज्योतिर्मय श्वेत वर्ण-सा दीखता है। सूर्यके तेजमें बड़ी भारी गरमी रहती है, परंतु भगवान्‌के तेजोमय स्वरूपमें दिव्य और सुहावनी शीतलता है। वह अपार शान्तिमय है। भगवान्‌के चरणयुगल बहुत ही सुन्दर और सुकोमल हैं। भगवान्‌के चरणतलोंमें गुलाबी रंगकी झलक है एवं सुन्दर-सुन्दर रेखाएँ हैं—ध्वजा, पताका, वज्र, अंकुश, यव, चक्र, शङ्ख तथा ऊर्ध्वरेखा आदि-आदि। भगवान् आकाशमें नीचे उतर आये हैं। उनके श्रीचरण जमीनको छू नहीं रहे हैं। देवता भी आकाशमें स्थित होते हैं, जमीनको नहीं छूते; फिर ये तो देवोंके भी परम देव हैं। भगवान्‌के सुन्दर सुमृदुल चरणकमल बहुत ही चिकने हैं। उनकी अंगुलियाँ विशेष शोभायुक्त हैं। उनके चरणनखोंकी दिव्यज्योति चमक रही है। भगवान् पीताम्बर पहने हुए हैं और जैसे उनके चरण चमकीले, सुन्दर और सुकोमल हैं, ऐसे ही उनकी पिंडलियाँ और दोनों घुटने तथा ऊरु (जंघे) भी हैं। भगवान्‌का कटिदेश बहुत पतला है, उसमें रत्नोज्ज्वल करधनी शोभित है, नाभि गम्भीर है, उदरपर त्रिवली—तीन रेखाएँ हैं। विशाल वक्षःस्थल है, गलेमें अनेकों प्रकारकी सुन्दर मालाएँ पहने हैं। सुन्दर दिव्य पुष्पोंकी एक माला घुटनोंतक लटक रही है, दूसरी नाभितक है। मोतियोंकी माला, स्वर्णकी माला, चन्द्रहार, कौस्तुभमणि और रत्नजटित कंठा पहने हैं। विशाल चार भुजाएँ हैं, जिनमें दो भुजाएँ नीचेकी ओर लम्बी पसरी हुई हैं। नीचेकी भुजाओंमें गदा और पद्म हैं तथा ऊपरकी दोनों भुजाओंमें शङ्ख और चक्र हैं। हस्ताङ्गुलियोंमें रत्नजटित अंगूठियाँ हैं। चारों हाथोंमें कड़े पहने हुए हैं और ऊपर बाजूबंद सुशोभित हैं। भुजाएँ चारों घुटनोंतक लम्बी हैं और बहुत ही सुन्दर हैं। ऊपरमें मोटी और नीचेसे पतली हैं, पुष्ट हैं तथा चिकनी और चमकीली हैं। कंधे पुष्ट हैं। भगवान् यज्ञोपवीत धारण किये और गुलेनार दुपट्टा ओढ़े हुए हैं। ग्रीवा अत्यन्त सुन्दर शङ्खके सदृश है, ठोडी बहुत ही मनोहर है, अधर और ओष्ठ लाल मणिके सदृश चमक रहे हैं। दाँतोंकी पंक्ति मानो परमोज्ज्वल मोतियोंकी पंक्ति है। जब भगवान् हँसते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है, मानो सुन्दर सुषमायुक्त गुलाब या कमलका फूल खिला हुआ है। भगवान्‌की वाणी बड़ी ही कोमल, मधुर, सुन्दर और अर्थयुक्त है, कानोंको अमृतके समान प्रिय लगती है। भगवान्‌की नासिका अति सुन्दर है। कपोल (गाल) चमक रहे हैं—उनपर गुलाबी रंगकी झलक है। कानोंमें रत्नजटित मकराकृति स्वर्णकुण्डल हैं, जिनकी झलक गालोंपर पड़ रही है और वे गाल चम-चम चमक रहे हैं। भगवान्‌के दोनों नेत्र खिले हुए हैं, जैसे प्रफुल्लित मनोहर कमलकुसुम हों। आकाशमें स्थित होकर भगवान् एकटक नेत्रोंसे हमारी ओर देख रहे हैं और नेत्रोंके द्वारा प्रेमामृतकी वर्षा कर रहे हैं। भगवान् समभावसे सबको देखते हैं, बड़े दयालु हैं, हमें दयाकी दृष्टिसे देख रहे हैं और मानो दया, प्रेम, ज्ञान, समता, शान्ति और आनन्दकी वर्षा कर रहे हैं। ऐसा लगता है कि दया, प्रेम, ज्ञान, समता, शान्ति और आनन्दकी बाढ़ आ गयी है। भगवान्‌के दर्शन, भाषण, स्पर्श सभी आनन्दमय हैं। भगवान्‌में जो अद्भुत मधुर गन्ध है, वह नासिकाको अमृतके समान प्रिय लगती है। भगवान्‌का स्पर्श करते हैं तो शरीरमें रोमाञ्च हो जाते हैं और हृदयमें बड़ी भारी प्रसन्नता होती है। भगवान्‌की भृकुटी सुन्दर, विशाल और मनोहर है। ललाट चमक रहा है, उसपर श्रीधारी तिलक सुशोभित है। ललाटपर काले घुँघराले केश चमक रहे हैं, केशोंपर रत्नजटित स्वर्णमुकुट सुशोभित है। भगवान्‌के मुखारविन्दके चारों ओर प्रकाशकी किरणें फैली हुई हैं। भगवान्‌की सुन्दरता अलौकिक है, मनको बरबस आकर्षित करती है। भगवान् नेत्रोंसे हमें ऐसे देख रहे हैं, मानो पी ही जायँगे। भगवान्‌में पृथ्वीसे बढ़कर क्षमा है, चन्द्रमासे बढ़कर शान्ति है और कामदेवसे बढ़कर सुन्दरता है। कोटि-कोटि कामदेव भी उनकी सुन्दरताके सामने लजा जाते हैं। उनके स्वरूपको देखकर पशु-पक्षी भी मोहित हो जाते हैं, मनुष्यकी तो बात ही क्या है? उनके स्वरूपकी सुन्दरता अद्भुत है। जब भगवान् प्रकट होकर दर्शन देते हैं, तब इतना आनन्द आता है कि मनुष्यकी पलकें भी नहीं पड़ सकतीं। हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। शरीरमें रोमाञ्च और धड़कन होने लगती है। नेत्रोंमें प्रेमानन्दके अश्रुओंकी धारा बहने लगती है, वाणी गद्गद हो जाती है, कण्ठ रुक जाता है, हृदयमें आनन्द समाता नहीं। नेत्र एकटक वैसे ही देखते रहते हैं, जैसे चकोर पक्षी पूर्ण चन्द्रमाको देखता है। प्रभुसे हम प्रार्थना करते हैं कि

जिस प्रकारसे हम आपका ध्यानावस्थामें दिव्य दर्शन कर रहे हैं, इसी प्रकारका दर्शन हमें हर समय होता रहे। आपके नामका जप, स्वरूपका ध्यान नित्य-निरन्तर बना रहे। आपमें हमारी परम श्रद्धा हो, परम प्रेम हो, यही आपसे प्रार्थना है। आप ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—सब कुछ हैं। आप ही इस विश्वके रचनेवाले हैं और आप ही रचनाकी सामग्री भी हैं। इस संसारके उपादानकारण और निमित्तकारण आप ही हैं। इसीलिये कहा जाता है कि जो कुछ है सब आपका ही स्वरूप है। आपसे यही प्रार्थना है कि जैसे आप बाहरसे आकाशमें दीखते हैं, ऐसे ही हमारे हृदयमें दीखते रहें।

अब हृदयमें ध्यान करें—हृदयमें प्रफुल्लित कमल है। उस कमलपर शेषजीकी शय्या है और शेषजीपर श्रीभगवान् पौढ़े हुए हैं एवं मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं, वहीं सूक्ष्म शरीर धारणकर मैं भगवान्के स्वरूपको देख रहा हूँ। भगवान्के बहुत-से भक्त भगवान्के चारों ओर परिक्रमा कर रहे हैं और दिव्य स्तोत्रोंसे उनके गुणोंका स्तवन और नामोंका कीर्तन कर रहे हैं। मैं भी उनमें शामिल हूँ। देवताओंमें भगवान् शिव और ब्रह्माजी, ऋषि-मुनियोंमें नारद और सनकादि, यक्षोंमें कुबेर, राक्षसोंमें विभीषण, असुरोंमें प्रह्लाद और बलि, पशुओंमें हनुमान्जी और जाम्बवान्, पक्षियोंमें काकभुशुण्डिजी, गरुडजी, जटायु और सम्पाति, मनुष्योंमें अम्बरीष, भीष्म, ध्रुव तथा और भी बहुत-से भक्त सम्मिलित होकर स्तुति कर रहे हैं। दिव्य स्तोत्रोंके द्वारा गुण गा रहे हैं, परिक्रमा कर रहे हैं और प्रेममें निमग्न हो रहे हैं। फिर बाहर देखता हूँ तो भगवान्का उसी प्रकारका स्वरूप बाहर दीख रहा है। यही अन्तर है कि भीतर जो भगवान्का स्वरूप है, उसमें भगवती लक्ष्मीजी उनके चरण दबा रही हैं और उनकी नाभिसे कमल निकला है, जिसपर ब्रह्माजी विराजमान हैं। बाहर देखता हूँ तो भगवान् अकेले ही दीख रहे हैं और आकाशमें स्थित हैं। जहाँ हमारे मन और नेत्र जाते हैं, वहीं भगवान् दीख रहे हैं। प्रभुको देखकर हम इतने मुग्ध हो रहे हैं कि हमें दूसरी कोई बात अच्छी ही नहीं लगती। प्रभुकी स्तुति भी तो क्या करें? जो कुछ भी करते हैं वह वास्तवमें स्तुतिकी जगह निन्दा ही होती है। हम उनकी कितनी ही स्तुति करें, बेचारी वाणीमें शक्ति ही नहीं, जो उनके अल्प गुणोंका भी वर्णन कर सके। उनके अपरिमित गुण-प्रभावका वर्णन और स्तवन कौन कर सकता है?

भगवान्को पधारे बहुत समय हो गया, अब भगवान्की पूजा करनी चाहिये। इस प्रकार ध्यान करे कि अब मैं भगवान्की मानसिक पूजा कर रहा हूँ। मैं देख रहा हूँ कि एक चौकी मेरे दाहिनी ओर तथा दूसरी मेरे बायीं ओर रखी है। चौकीका परिमाण लगभग तीन फुट चौड़ा और छः फुट लंबा है। दाहिनी ओरकी चौकीपर पूजाकी सारी पवित्र सामग्री सजायी रखी है। भगवान् मेरे सामने विराजमान हैं। भगवान् स्नान करके पधारे हैं। वस्त्र धारण कर रखे हैं और यज्ञोपवीत सुशोभित है। अब मैं पाद्य—चरण धोनेका जल लेकर भगवान्के श्रीचरणोंको धो रहा हूँ, बायें हाथसे जल डाल रहा हूँ और दाहिने हाथसे चरण धो रहा हूँ तथा मुखसे यह मन्त्र बोल रहा हूँ—

'ॐ पादयोः पाद्यं समर्पयामि नारायणाय नमः'।

फिर उस बर्तनको बायीं ओर चौकीपर रखकर, हाथ धोकर दूसरा सुगन्धयुक्त गङ्गाजलसे भरा प्याला लेता हूँ और भगवान्को अर्घ्य देता हूँ। भगवान् दोनों हाथोंकी अञ्जलि पसारकर अर्घ्य ग्रहण करते हैं। इस समय उन्होंने अपने चार हाथोंके आयुध दो हाथोंमें ले लिये हैं। अर्घ्य अर्पण करते समय मैं मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ हस्तयोरर्घ्यं समर्पयामि नारायणाय नमः'।

इस प्रकार भगवान् अर्घ्य ग्रहण करके उस जलको छोड़ देते हैं। फिर मैं उस प्यालेको बायीं ओर चौकीपर रख देता हूँ तथा हाथ धोकर, आचमनका जल लेकर भगवान्को आचमन करवाता हूँ और मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ आचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः'।

आचमनके अनन्तर भगवान्के हाथ धुलाता हूँ और प्यालेको बायीं तरफ चौकीपर रखकर हाथ धोता हूँ। फिर एक कटोरी दाहिनी ओरकी चौकीसे उठाता हूँ, जिसमें केसर, चन्दन, कुङ्कुम आदि सुगन्धित द्रव्य घिसा हुआ रखा है। उस कटोरीको मैं बायें हाथमें लेकर दाहिने हाथसे भगवान्के मस्तकपर तिलक करता हूँ और मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ गन्धं समर्पयामि नारायणाय नमः'।

उसके बाद उस कटोरीको बायीं ओरकी चौकीपर रख देता हूँ तथा दूसरी कटोरी लेता हूँ, जिसमें छोटे-छोटे आकारके सुन्दर मोती हैं, उन्हें मुक्ताफल कहते हैं। मैं बायें हाथमें मोतीकी कटोरी लेकर दाहिने हाथसे भगवान्के मस्तकपर मोती लगाता हूँ और यह मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ मुक्ताफलं समर्पयामि नारायणाय नमः'।

इसके पश्चात् सुन्दर सुगन्धित पुष्पोंसे दोनों अञ्जलि भरकर भगवान्पर चढ़ाता हूँ, पुष्पोंके साथ तुलसीदल भी है और यह मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ पत्रं पुष्पं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

यह मन्त्र बोलकर भगवान्‌पर पत्र-पुष्प चढ़ा देता हूँ। इसके अनन्तर एक अत्यन्त सुन्दर सुगन्धपूर्ण बड़ी पुष्प-माला दोनों हाथोंमें लेकर मुकुटपरसे गलेमें पहनाता हूँ और यह मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ मालां समर्पयामि नारायणाय नमः।'

फिर देखता हूँ कि एक धूपदानी है, जिसमें निर्धूम अग्नि प्रज्वलित हो रही है, मैं एक कटोरीमें जो चन्दन, कस्तूरी, केसर आदि नाना प्रकारके सुगन्धित द्रव्योंसे मिश्रित धूप रखी है, उसे अग्निमें डालकर भगवान्‌को धूप देता हूँ और यह मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ धूपमाघ्रापयामि नारायणाय नमः।'

तदनन्तर दाहिनी ओर जो गो-घृतका दीपक प्रज्वलित हो रहा है, उसे हाथमें लेकर भगवान्‌को दिखाता हूँ और मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ दीपं दर्शयामि नारायणाय नमः।'

तत्पश्चात् दीपकको बायीं ओरकी चौकीपर रखकर हाथ धोता हूँ। एक सुन्दर बड़ी थालीमें ५६ प्रकारके भोग और ३६ प्रकारके व्यञ्जन परोसकर उसे भगवान्‌के सामने रत्नजटित चौकीपर रख देता हूँ। बड़ी सुन्दर स्वर्ण-रत्नजटित मलयागिरि चन्दनसे बनी दो चौकियाँ, जिनकी लम्बाई-चौड़ाई २।।—२।। फुट है, देवताओंने पहलेसे ही लाकर रखी थीं, उनमें एक चौकीपर आसन बिछा था, जिसपर भगवान् विराजमान हैं और दूसरीपर यह भोगकी सामग्री रखी गयी। भोग लगाते समय मैं मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ नैवेद्यं निवेदयामि नारायणाय नमः।'

भगवान् बड़े प्रेमसे भोजन करते हैं। थोड़ा-सा भोजन कर चुकनेपर जब वे भोजन करना बंद कर देते हैं, तब उस प्रसादवाली थालीको उठाकर बायीं ओरकी चौकीपर रख देता हूँ और हाथ धोकर पवित्र जलसे भगवान्‌के हाथ धुला देता हूँ। तत्पश्चात् भगवान्‌को शुद्ध जलसे आचमन करवाता हूँ और यह मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ आचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

फिर उस चौकीको धोकर उसपर सुन्दर सुमधुर फल रख देता हूँ, जो तैयार किये हुए हैं और एक सुन्दर पवित्र थालीमें रखे हुए हैं। भगवान् उन फलोंका भोग लगाते हैं और मैं मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ ऋतुफलं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

थोड़े-से फलोंका भोग लगानेपर जब भगवान् खाना बंद कर देते हैं, तब मैं बचे हुए फलोंकी थालीको उठाकर बायीं ओरकी चौकीपर रख देता हूँ, जो भगवान्‌का प्रसाद है। फिर अपने हाथ धोकर भगवान्‌के हाथ धुलाता हूँ। तदनन्तर पवित्र जलसे उन्हें पुनः आचमन करवाता हूँ और मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ पुनराचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

आचमन कराकर उस पात्रको बायीं ओरकी चौकीपर रख देता हूँ और उस चौकीको धोकर अलग रख देता हूँ। तदनन्तर हाथ धोकर एक थाली उठाता हूँ, जिसमें बढ़िया पान रखे हैं, जिनमें सुपारी, इलायची, लौंग तथा अन्य पवित्र सुगन्धित द्रव्य दिये हुए हैं। उस थालीको भगवान्‌के सामने करता हूँ। भगवान् पान लेकर चबाते हैं और मैं यह मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ पूगीफलं च ताम्बूलमेलालवङ्गसहितं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

इसके बाद उस पानकी थालीको बायीं ओरकी चौकीपर रख देता हूँ। फिर पवित्र जलसे अपने हाथ धोकर और भगवान्‌के हाथोंको धुलाकर मुख-शुद्धिके लिये उन्हें पुनः आचमन करवाता हूँ और यह मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ पुनर्मुखशुद्ध्यर्थमाचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

आचमन कराकर फिर भगवान्‌के हाथ धुला देता हूँ और उस जलपात्रको बायीं ओरकी चौकीपर रख देता हूँ। इस प्रकारसे पूजा करके भगवान्‌को दक्षिणा देता हूँ। कुबेरने पहलेसे ही अपने भण्डारसे अमूल्य रत्न लाकर रखे हैं, वे अर्पण करता हूँ। भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को वैसे ही देता हूँ, जैसे सेवक अपने स्वामीको देता है और यह मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ दक्षिणाद्रव्यं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

भगवान्‌को दक्षिणा अर्पण करके मैं अपने-आपको भी उनके श्रीचरणोंमें अर्पण कर देता हूँ। अब भगवान्‌की आरती उतारता हूँ। एक थाली लेता हूँ, उसके बीचमें कटोरी है, उसमें कर्पूर प्रकाशित हो रहा है, उसके चारों ओर माङ्गलिक द्रव्य, तुलसीदल, पुष्प, नारियल, दही, दूर्वा आदि सब सजाये हुए हैं। मैं दोनों हाथोंपर थाली रखकर भगवान्‌की आरती उतार रहा हूँ। आरती उतारकर आरतीकी थालीको बायीं ओरकी चौकीपर रख देता हूँ। फिर हाथ धोकर भगवान्‌को पुष्पाञ्जलि अर्पण करता हूँ। पुष्पाञ्जलि देकर मैं खड़ा हो जाता हूँ और भगवान् भी खड़े हो जाते हैं। फिर मैं भगवान्‌के चारों ओर चार परिक्रमा करता हूँ और साष्टाङ्ग प्रणाम करता हूँ। प्रणाम करके भगवान्‌की स्तुति गाता हूँ—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥
यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः॥
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥
परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति करनेके बाद सबको आरती देकर भगवान्‌को लगाया हुआ प्रसाद उपस्थित भाइयोंको बाँटा जाता है। पहले तो सबके हाथ धुलाकर इकट्ठा किया हुआ चरणामृत बाँटता हूँ, फिर एक दूसरे भाई सबके हाथ धुलाते हैं, तदनन्तर तीसरे भाई भगवान्‌का बचा हुआ प्रसाद दे रहे हैं और चौथे भाई पुनः सबके हाथ धुलाकर आचमन कराते हैं। इस प्रकार सब लोग आचमन करके प्रसाद पाते हैं और फिर हाथ धोकर खड़े हो भगवान्‌के दिव्य स्तोत्रोंका पाठ कर रहे हैं, दिव्य स्तुति गा रहे हैं और भगवान्‌की परिक्रमा कर रहे हैं। परिक्रमा करते हुए भगवान्‌के दिव्य गुणोंका कीर्तन कर रहे हैं, भगवान्‌के नामका कीर्तन कर रहे हैं। भगवान् मुग्ध हो रहे हैं और हमलोग भी मुग्ध हो रहे हैं। इस प्रकारसे सब मिलकर भगवान्‌के नामका कीर्तन कर रहे हैं—

'श्रीमन्नारायण नारायण नारायण,
श्रीमन्नारायण नारायण नारायण।'

भगवान्‌के ये मानसिक दर्शन अमृतके समान मधुर और प्रिय हैं, उनका स्पर्श भी अमृतके समान अत्यन्त प्रिय है, उनकी सुकोमल मधुर वाणी कानोंके लिये अमृतके समान है, उनकी मधुर अङ्ग-गन्ध भी अमृतके समान है और भगवान्‌के प्रसादकी तो बात ही क्या है? वह तो अपूर्व अमृतके तुल्य है। यों भगवान्‌के दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन, गन्ध—सभी अमृतके तुल्य हैं, सभी रसमय, आनन्दमय और प्रेममय हैं। भगवान्‌की श्रीमूर्ति बड़ी मधुर है, इसीलिये उसे माधुर्यमूर्ति कहते हैं। उनके दर्शन बड़े ही मधुर हैं।

इस प्रकार भगवान्‌का ध्यान करता हुआ साधक भगवान्‌के प्रेमानन्दमें विभोर होकर कहता है—ध्यानावस्थामें ही जब इतना बड़ा भारी आनन्द है, तब जिस समय आपके साक्षात् दर्शन होते हैं, उस समय तो न मालूम कितना महान् आनन्द और अपार शान्ति मिलती है। जिनको आपके साक्षात् दर्शन होते हैं, वे पुरुष सर्वथा धन्य हैं। जिनको आपके दर्शन होते हैं, श्रद्धा होनेपर उनके दर्शनसे ही पापोंका नाश हो जाता है, तब फिर आपके दर्शनोंकी तो बात ही क्या है? आप साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं। आप परम धाम हैं, परम पवित्र हैं। आप साक्षात् अविनाशी पुरुष हैं। आप इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, पालन करनेवाले हैं। आपके समान कोई भी नहीं है, आपके समान आप ही हैं। मैं आपकी महिमाका गान कहाँतक करूँ? क्षमा, दया, प्रेम, शान्ति, सरलता, समता, संतोष, ज्ञान, वैराग्य आदि गुणोंके आप सागर हैं। आपके गुणोंके सागरकी एक बूँदके आभासका प्रभाव सारी दुनियामें व्याप्त है। सारे देवताओंमें, मनुष्योंमें सबके गुण, प्रभाव, शक्ति आदि जो कुछ भी देखनेमें आते हैं, वे सब मिलकर आप गुणसागरकी एक बूँदका आभासमात्र है, आपके रूप-लावण्यका कौन वर्णन कर सकता है? आपका स्वरूप चिन्मय है, आपके दर्शन अलौकिक हैं, आपके दर्शनसे मनुष्य इतना मुग्ध हो जाता है कि उसे अपने-आपका होश नहीं रहता, केवलमात्र आपका ही ज्ञान रहता है। आपका अपरिमित प्रभाव है। आपने गीतामें कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

(१०।४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति (प्राकट्य) जान।'

आपने गीताके सातवें अध्यायमें यह भी बताया है कि 'बलवानोंका बल मैं हूँ, तेजस्वियोंका तेज मैं हूँ, बुद्धिमानोंकी बुद्धि मैं हूँ, ज्ञानवानोंका ज्ञान मैं हूँ। यानी संसारमें जो कुछ चीज प्रभावशाली, तेजवाली, बलवाली प्रतीत होती है, वह सब मेरे तेजके एक अंशका प्राकट्य है।' गीताके दसवें अध्यायके अन्तमें आपने अपने प्रभावको बताते हुए कहा है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

'अथवा अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

आप ही निर्गुण, निराकार, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हैं, आप ही स्वयं सगुण, साकाररूपमें प्रकट होते हैं। आप साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं।

सत्सङ्ग और महात्माओंका प्रभाव

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज 'सत्सङ्ग' का महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

'सत्सङ्गके बिना हरि-कथा नहीं मिलती, हरि-कथाके बिना मोहका नाश नहीं होता और मोहका नाश हुए बिना भगवान्‌में दृढ़ प्रेम नहीं होता।'

साधारण प्रेम प्राप्त होनेके तो और भी बहुत-से उपाय हैं, पर दृढ़ प्रेम मोह रहते नहीं होता और दृढ़ प्रेमके बिना भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती। भगवान् मिलते ही हैं प्रेमसे। रामचरितमानसके बालकाण्डमें देवताओंके प्रति भगवान् श्रीशिवजीके वचन हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

'हरि सब जगह समान भावसे व्याप्त हैं और वे प्रेमसे प्रकट होते हैं।' इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान् प्रेमसे मिलते हैं और प्रेम प्राप्त होता है सत्सङ्गसे। इसलिये मनुष्यको सत्सङ्गके लिये विशेष प्रयत्नशील रहना चाहिये। सत्पुरुषोंका सेवन न मिले तो स्वाध्याय करना चाहिये। सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय भी सत्सङ्गके समान है।

सत्सङ्गके चार प्रकार हैं। पहले नंबरके सत्सङ्गका अर्थ समझना चाहिये—सत्-परमात्मामें प्रेम। सत् यानी परमात्मा और सङ्ग यानी प्रेम। यही सर्वश्रेष्ठ सत्सङ्ग है। सत् यानी परमात्माके सङ्ग रहना अर्थात् परमात्माका साक्षात् दर्शन करके भक्तका उनके साथ रहना ही सर्वोत्तम सत्सङ्ग है। यही सत्पुरुषका सङ्ग है; क्योंकि सर्वश्रेष्ठ सत्-पुरुष तो एक भगवान् ही हैं। इस सत्सङ्गके सामने स्वर्गकी तो बात ही क्या है, मुक्ति भी कोई चीज नहीं है। श्रीतुलसीदासजीने इस विशेष सत्सङ्गकी बड़े मार्मिक शब्दोंमें महिमा गायी है। वे कहते हैं—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

'हे तात! स्वर्ग और मुक्तिके सुखको तराजूके एक पलड़ेपर रखा जाय और दूसरे पलड़ेपर क्षणमात्रके सत्सङ्गको रखा जाय तो भी एक क्षणके सत्सङ्गके सुखके समान भी उन दोनोंका सुख मिलकर नहीं होता।'

दूसरे नंबरका सत्सङ्ग है—भगवान्‌के प्रेमी भक्तका या सत्-रूप परमात्माको प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुषका सङ्ग। तीसरे नंबरका सत्सङ्ग है—उन उच्चकोटिके साधक पुरुषोंका सङ्ग, जो परमात्माकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्न कर रहे हैं। चौथे नंबरका सत्सङ्ग उन सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायको कहते हैं, जिनमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचारका वर्णन है। ऐसे सत्-शास्त्रोंका सदा प्रेमपूर्वक पठन, मनन और अनुशीलन करनेसे भी सत्सङ्गका ही लाभ प्राप्त होता है।

इनमें सर्वश्रेष्ठ प्रथम नंबरका सत्सङ्ग तो भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है। उसीके लिये सारी साधनाएँ की जाती हैं। परंतु संसारमें महापुरुषोंका—महात्माओंका सङ्ग प्राप्त होना भी कोई साधारण बात नहीं है। वह भी बड़े ही सौभाग्यसे मिलता है।

पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥

पुण्यपुञ्ज यानी पूर्वके महान् शुभ संस्कारोंके संग्रहसे ही महापुरुषोंका सङ्ग मिलता है। ऐसे सत्सङ्गका फल संसारके आवागमनसे यानी जन्म-मरणसे सर्वथा छूट जाना है। महात्माके सङ्गसे जैसा लाभ होता है, वैसा लाभ संसारके किसीके भी सङ्गसे नहीं हो सकता। संसारमें लोग पारसकी प्राप्तिको बड़ा लाभ मानते हैं, परंतु सत्सङ्गका लाभ तो बहुत ही विलक्षण है। कविकी उक्ति है—

पारस में अरु संत में, बहुत अंतरा जान।
वह लोहा सोना करे, यह कर आपु समान॥

पारस और संतमें बहुत भेद है, पारस लोहेको सोना बना सकता है; परंतु पारस नहीं बना सकता। लेकिन संत-महात्मा पुरुष तो सङ्ग करनेवालेको अपने समान ही संत-महात्मा बना देते हैं। इसलिये महात्माओंके सङ्गके समान संसारमें और कोई भी लाभ नहीं है। परम दुर्लभ परमात्माकी प्राप्ति महात्माओंके सङ्गसे अनायास ही हो जाती है। उच्चकोटिके अधिकारी महात्मा पुरुषोंके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे भी पापोंका नाश होकर मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिका पात्र बन जाता है। साधारण लाभ तो सङ्ग करनेवालेमात्रको समान भावसे होता ही है, चाहे उसे महात्माका ज्ञान हो या न हो। महात्माका महत्त्व जान लेनेपर उनमें श्रद्धा होकर विशेष ज्ञान हो सकता है। जैसे किसी कमरेमें ढकी हुई अग्नि पड़ी है और उसका किसीको ज्ञान नहीं है, तब भी अग्निसे कमरेमें गरमी आ गयी है और शीतनिवारण हो रहा है—यह सहज लाभ तो, वहाँ जो लोग हैं उनको, बिना जाने भी मिल रहा है। पर जब

अग्निका ज्ञान हो जाता है, तब तो वह मनुष्य उस अग्निसे भोजन बनाकर खा सकता है और दीपक जलाकर उसके प्रकाशसे लाभ उठा सकता है। अग्निमें प्रकाशिका और विदाहिका—ये दो शक्तियाँ स्वाभाविक ही हैं। अग्निका ज्ञान होनेपर ही मनुष्य उसकी दोनों शक्तियोंसे लाभ उठा सकता है और यदि अग्निमें यह भाव हो जाता है कि अग्नि साक्षात् देवता है, तब तो वह उसमें पुत्र, धन, आरोग्य, कीर्ति आदि किसी कामनाकी पूर्तिके लिये श्रद्धा तथा विधिपूर्वक हवन करता है तो वह अपने मनोरथके अनुसार उससे लाभ उठा लेता है और यदि श्रद्धापूर्वक निष्काम भावसे, शास्त्रोक्त विधिसे हवन करता है तो वह पुरुष मुक्तिको भी प्राप्त कर लेता है। निष्कामभावपूर्वक यज्ञ करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाती है और अन्तःकरणकी शुद्धि होनेसे स्वाभाविक ही परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है तथा तत्त्वज्ञानसे वह जीवन्मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार किसीको महात्मा पुरुष मिलते हैं तो उनका ज्ञान न रहनेपर भी सामान्यभावसे तो लाभ होता ही है। जैसे ढकी हुई अग्निके द्वारा—गरमीके द्वारा—शीत निवारण हो जाता है, वैसे ही महात्माओंके मिलनेपर उनके गुणोंके स्वाभाविक प्रभावसे वातावरणकी शुद्धि होनेके कारण पाप-भावनाका अभाव तथा उनके गुणोंका आभास तो आ ही जाता है। महात्माओंमें उत्तम गुण, उत्तम आचरण और उत्तम भाव होते हैं; उनका ज्ञान भी उच्चकोटिका होता है। उनके सङ्गसे ये सब चीजें किसी-न-किसी अंशमें बिना जाने-पहचाने भी आ ही जाती हैं। यदि पहचान हो जाती है और महात्माके अलौकिक प्रभावका ज्ञान हो जाता है, तब तो वह, जैसा उसका ज्ञान होता है, उसके अनुसार लाभ उठा लेता है। जैसे अग्निकी विदाहिका और प्रकाशिका शक्तिका ज्ञान होनेपर अग्निका अर्थी पुरुष दोनों प्रकारके लाभ उठा लेता है—विदाहिकासे भोजन बनानेका और प्रकाशिकासे अन्धकार नाश करके प्रकाश प्राप्त करनेका; वैसे ही महात्मामें जो 'सद्गुण' और 'उत्तम आचरण'—ये दो वस्तुएँ स्वाभाविक ही हैं, उन दोनोंका ज्ञान होनेपर मनुष्य विशेष लाभ उठा सकता है। महात्माको जान लेनेसे यदि महात्मामें श्रद्धा हो जाती है तथा महात्माके इस प्रभावका भी ज्ञान हो जाता है कि महात्मा जो चाहे सो कर सकते हैं, तो संसारमें, जो अल्पबुद्धि सकामी पुरुष है, वह महात्माके द्वारा अपनी लौकिक इच्छाकी, सांसारिक कामनाओंकी पूर्ति कर लेता है। अवश्य ही यह बहुत नीची चीज है, महात्मा पुरुषोंसे संसारकी चीजें माँगना और सांसारिक भोगेच्छाकी पूर्ति करानेकी इच्छा करना वस्तुतः महात्माके वास्तविक प्रभाव तथा तत्त्वको न समझना और उनका दुरुपयोग करना ही है। किंतु जो महात्माको और उनके असली गुण-प्रभावको श्रद्धापूर्वक तत्त्वतः समझ जाता है, वह तो स्वयं महात्मा ही बन जाता है, यही यथार्थ लाभ है।

महापुरुषोंके लक्षण बड़े ही उच्चकोटिके बताये गये हैं। जैसे भगवान् बिना ही कारण सबपर दया और प्रेम करते हैं, इसी प्रकार महापुरुष भी अहैतुक कृपा तथा प्रेम किया करते हैं। जैसे भगवान्में क्षमा, दया, शान्ति, संतोष, समता, सरलता, ज्ञान, वैराग्य आदि अनन्त गुण सहज होते हैं, वैसे ही महात्मामें भी होते हैं। जो ज्ञानके द्वारा ब्रह्मको प्राप्त होता है तथा ब्रह्म ही बन जाता है, वह तो परमात्मासे कोई अलग पदार्थ ही नहीं रह जाता। परमात्माका जो दिव्य स्वरूप, प्रभाव और गुण है, वही महात्माका 'महात्मापन' है। महात्माका शरीर तो महात्मा है नहीं और उसमें जो आत्मा है, वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है, परमात्मासे भिन्न रहता नहीं। अतः परमात्माका जो दिव्य स्वरूप, प्रभाव और गुण है, वही 'महात्मापन' है।

जो प्रेमी भक्त भक्तिके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है, उस भक्तमें भी भगवान्‌के वे गुण आ जाते हैं, जिनकी व्याख्या गीताके बारहवें अध्यायमें तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक की गयी है। ज्ञानके द्वारा जो परमात्माको प्राप्त हो गया है, जो ब्रह्म ही बन गया है, उसके लक्षण गीताके चौदहवें अध्यायमें बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक बताये गये हैं।

उच्चकोटिके अधिकारी महात्मा पुरुषोंके तो दर्शनमात्रसे भी बहुत लाभ होता है; क्योंकि उससे महात्माका स्वरूप हृदयमें अङ्कित हो जाता है, जिससे हृदयके पाप नष्ट हो जाते हैं। महात्मा पुरुष दिव्य ज्ञानकी एक विलक्षण ज्योति है, वह दिव्य ज्ञानज्योति समस्त पापोंको भस्म कर देती है। महात्मा यदि किसीको स्मरण कर लें या कोई महात्माका स्मरण कर ले तो उसके मनमें उनकी स्मृति हो जानेसे भी पाप नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार महात्माका स्पर्श प्राप्त हो जानेसे भी पाप नष्ट हो जाते हैं; चाहे महात्मा किसीको स्पर्श करें, चाहे महात्माका कोई स्पर्श कर ले। जैसे एक ओर अग्नि पड़ी हुई है और दूसरी ओर एक घासकी ढेरी है। अग्निकी चिनगारी उड़कर घासपर गिरती है तो घास

जलकर अग्नि बन जाता है और घास उड़कर अग्निमें गिरती है तो भी घास अग्नि बन जाता है, अग्नि अग्नि ही रहती है। वैसे ही अग्निकी भाँति महात्माओंमें सदा ज्ञानाग्नि प्रज्वलित रहती है। उस ज्ञानाग्निके द्वारा महात्मा पुरुषोंके तो पाप पहले ही नष्ट हो चुके हैं, किंतु जिसका उनके साथ किसी भी प्रकारका संसर्ग हो जाता है, उसके भी पाप नष्ट होते चले जाते हैं। फिर जो महात्माओंके साथ वार्तालाप करके उनके बताये हुए सिद्धान्तोंके अनुसार साधन करता है, उसका संसार-सागरसे उद्धार हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है! गीताके तेरहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

'परंतु इनसे दूसरे, अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

इसके पूर्व गीतामें यह कहा गया था कि कितने ही तो ध्यानयोगके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार करते हैं, कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और कितने ही कर्मयोगके द्वारा, किंतु जो पुरुष न ज्ञानयोग जानते हैं, न ध्यानयोग जानते हैं और न कर्मयोग ही जानते हैं, मूढ़, अज्ञानी हैं, वे भी उन ज्ञानियोंके पास जाकर, उनकी बात सुनकर उसके अनुसार साधन करते हैं, तो वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूपी संसारसागरसे तर जाते हैं।

संसारमें अनासक्त जो वीतराग पुरुष हैं, उनके सङ्गसे भी मनुष्य वीतराग हो जाता है। विरक्त—वीतराग पुरुषोंके स्मरणसे चित्तकी वृत्तियाँ एकाग्र हो जाती हैं, जिससे आगे चलकर उसे आत्माका ज्ञानतक हो जाता है। महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनके प्रथम पादके ३७ वें सूत्रमें कहा है—

'वीतरागविषयं वा चित्तम्।'

'वीतराग पुरुष, जिसके चित्तका विषय है, उसके चित्तकी वृत्तियाँ स्थिर हो जाती हैं।' ज्ञानी, महात्मा पुरुष तो वीतराग होकर ही महात्मा बने हैं। तीव्र वैराग्य और दैवी सम्पदाके लक्षण तो महात्मामें साधनावस्थामें आ जाते हैं। दैवी सम्पदाकी व्याख्या गीताके सोलहवें अध्यायके पहलेसे तीसरेतक तीन श्लोकोंमें की गयी है।

महात्मा पुरुष हमें याद करते हैं तो उनके ध्यानमें हमारा चित्र आ जाता है। इससे भी बहुत लाभ हो जाता है और हम महात्माको याद करें तो भी हमें लाभ हो जाता है। वीतराग पुरुषको याद करनेसे जो लाभ होता है, उससे अधिक महात्माको याद करनेसे होता है और उससे भी अधिक विशेष लाभ श्रीभगवान्‌को याद करनेसे होता है। स्मरण करनेयोग्य तो श्रीभगवान् ही हैं। उनकी स्मृतिमात्रसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है। भगवान्‌में शरीर-शरीरी भेद नहीं है। अतः उनका शरीर दिव्य—अलौकिक चिन्मय है। परंतु महात्माका शरीर ऐसा नहीं है। महात्माका शरीर तो पाञ्चभौतिक है। इसीलिये भगवान्‌को दिव्य-चिन्मय माधुर्य-मूर्ति कहते हैं। उनके दर्शन, भाषण, स्पर्श सभी आनन्दप्रद और कल्याणकर होते हैं। इसलिये भगवान्‌के समान तो भगवान् ही हैं। परंतु महात्मा पुरुषका स्मरण-सङ्ग भी अत्यन्त लाभदायक है। महापुरुषके सङ्गकी महिमा बताते हुए कहा गया है—

एक घड़ी आधी घड़ी आधीमें पुनि आध।
तुलसी संगत साधु की, कटै कोटि अपराध॥

एक घड़ी, आधी घड़ी या आधीमें भी आधी घड़ीका जो महात्मा पुरुषोंका सङ्ग है, उसका इतना माहात्म्य है कि उससे करोड़ों अपराध कट जाते हैं। यह समझें कि एक घड़ी चौबीस मिनटकी होती है, आधी बारह मिनटकी और आधीसे भी आधी यानी चौथाई छः मिनटकी। 'महात्मा' शब्दसे यहाँ किसी आश्रमसे सम्बन्ध नहीं है। कोई गृहस्थ हों, संन्यासी हों, वानप्रस्थी हों या ब्रह्मचारी हों—जिनमें महात्माओंके लक्षण, जो गीतामें बताये गये हैं, मिलते हैं, वे ही महात्मा हैं। महात्माओंकी महिमा जितनी भी गायी जाय, थोड़ी ही है; जैसे गङ्गाजीकी महिमा जितनी गायी जाय, उतनी थोड़ी है। गङ्गा सारे संसारका उद्धार कर सकती है, किंतु कोई यदि गङ्गामें स्नान करने ही न जाय, गङ्गा-जलपान करे ही नहीं, तो इसमें गङ्गाजीका क्या दोष है। इसी प्रकार कोई महापुरुषसे लाभ नहीं उठावे तो उसमें महापुरुषका कोई दोष नहीं।

एक गङ्गासे ही सबका कल्याण हो सकता है; क्योंकि शास्त्रमें कहा गया है कि गङ्गामें स्नान करनेसे, उसका जलपान करनेसे मनुष्योंके सारे पापोंका नाश हो जाता है और आत्माका उद्धार हो जाता है। गङ्गाजीकी भाँति ही महात्मा पुरुष लाखों-करोड़ों पुरुषोंका उद्धार कर सकते हैं। और सारे संसारके मनुष्योंका उद्धार होना भी कोई असम्भव तो है ही नहीं, हाँ, कठिन अवश्य है; क्योंकि उनमें श्रद्धा हुए बिना तो कल्याण हो नहीं सकता और श्रद्धा होना कठिन है। प्रथम तो महापुरुष

संसारमें मिलते ही बड़ी कठिनतासे हैं; क्योंकि संसारके करोड़ों मनुष्योंमें कोई एक महापुरुष होता है—जैसे गीताजीमें श्रीभगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
(७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है। और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

भगवान्को जो तत्त्वसे जानता है, वही महात्मा है। प्रथम तो लाखों-करोड़ोंमें कोई एक महात्मा होता है, फिर उसका मिलना भी बहुत ही दुर्लभ है, मिलनेपर भी उसे पहचानना उससे भी कठिन है। महात्माओंके पहचाननेकी एक साधारण युक्ति यह है कि जैसे अग्निके समीप जानेसे जानेवालेपर अग्निका कुछ-न-कुछ प्रभाव जरूर पड़ता है, वैसे ही महात्माके समीप जानेसे महात्माका प्रभाव पड़ता है। जैसे सरकारके किसी सिपाहीको देखनेसे सरकारकी स्मृति होती है, वैसे ही भगवान्के भक्तके दर्शनसे भगवान्की स्मृति होती है। जिनका सङ्ग करनेसे अपनेमें दैवी सम्पदाके लक्षण आवें, जिनके सङ्गसे, जिनके साथ वार्तालाप करनेसे, दर्शनसे, स्पर्शसे आत्माका सुधार हो, अपनेमें भक्तोंके लक्षण प्रकट होने लगें, गुणातीत पुरुषोंके लक्षण आने लगें तो समझना चाहिये कि यह महापुरुष है। जब हम महापुरुषोंका सङ्ग करनेके लिये जायँ तो हम यह समझें कि हम एक ज्ञानके पुञ्जके सम्मुख जा रहे हैं। जैसे सूर्यके सम्मुख जानेसे अन्धकार तो दूर भाग ही जाता है, किंतु अधिक-से-अधिक प्रकाश होता चला जाता है। हम देखते हैं कि जब प्रातःकाल सूर्य उदय होता है, तब ज्यों-ज्यों सूर्य नजदीक आता है, त्यों-ही-त्यों सूर्यके प्रकाशका अधिक असर पड़ता है। वैसे ही हम जितने ही महात्माओंके समीप होते हैं, उतना ही हमको अधिक लाभ मिलता है। वे एक ज्ञानके पुञ्ज हैं, उस ज्ञान-पुञ्जसे हमारे अज्ञानान्धकारका नाश होकर हमारे हृदयमें भी ज्ञान-सूर्यका प्राकट्य होता है। महात्माओंमें अद्भुत प्रभाव होता है। उनके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालापसे पापोंका नाश और दुर्गुण-दुराचारोंका अभाव होकर सद्गुण-सदाचार आ जाते हैं। अज्ञानका नाश होकर हृदयमें ज्ञान आ जाता है, जिससे हमें सहज ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है। यह उन महापुरुषोंका प्रभाव है, जो भगवान्के भेजे हुए अधिकारी पुरुष हैं अथवा जो महापुरुष परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, यानी ब्रह्ममें मिल चुके हैं, सायुज्य मुक्तिको प्राप्त कर चुके हैं। ऐसे महात्मा परमात्मा ही बन जाते हैं। इसीलिये परमात्माके गुण-प्रभाव उनके गुण-प्रभाव हैं, यह समझना ही महात्माको तत्त्वसे समझना है। वास्तवमें महात्माका आत्मा परमात्मासे अलग नहीं है, पर हम मानते नहीं, उसे परमात्मासे भिन्न समझते हैं; इसलिये हम परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहते हैं। यह समझना भी अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ही होता है। भक्तिमार्गमें भगवान्से भिन्न रहनेपर भी भक्तोंकी स्थिति विलक्षण होती है। जैसे जीवन्मुक्त ज्ञानीके दर्शन, भाषण, स्पर्शसे मनुष्य पवित्र हो जाता है, वैसे ही भगवत्प्राप्त भगवद्भक्तके दर्शन, भाषण, स्पर्शसे भी हो जाता है। महापुरुषोंका रहस्य वास्तवमें महापुरुष बननेपर ही समझमें आता है। उनका उद्देश्य सर्वथा अलौकिक और अद्भुत होता है। उनका अपना तो कोई काम रहता ही नहीं। संसारमें उनका जो जीवन है यानी शरीरकी स्थिति है, तथा जो उनकी चेष्टा है, वह संसारके हितके लिये ही है। जैसे भगवान्का अवतार संसारके उद्धारके लिये ही होता है, वैसे ही महात्मा पुरुषोंका जीवन भी संसारके उद्धारके लिये ही है।

महापुरुषोंकी महिमा और उनका प्रभाव

महापुरुषोंकी महिमाके सम्बन्धमें कुछ चर्चा की जाती है। श्रीस्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डके अन्तर्गत कुमारिकाखण्डमें कहा है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥*
(५५। १४०)

* नवलकिशोर प्रेस, लखनऊसे प्रकाशित प्रतिमें इस प्रकार पाठभेद भी मिलता है—
कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा भाग्यवती च तेन। विमुक्तिमार्गे सुखसिन्धुमग्नं लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥ (५२। ३८)

'जिनका चित्त उस अनन्त-अपार ज्ञान और आनन्दके समुद्र परब्रह्म परमात्मामें लीन है, उनसे उनका कुल पवित्र हो जाता है, जन्म देनेवाली माता कृतार्थ हो जाती है और यह पृथ्वी पुण्यवती हो जाती है।'

उनका कुल कैसे पवित्र हो जाता है? कुलवालोंको उनके दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालाप आदिके अवसर प्राप्त होते ही रहते हैं। अतः उनके सङ्गसे कुल पवित्र हो जाता है—कुलके अधिकांश लोग परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें लग जाते हैं। साथमें रहनेसे प्रायः सबपर उनका प्रभाव पड़ता है। उनमें स्वार्थका त्याग होता है, इस कारण उनकी बात भी मानी जाती है। उनके दर्शनसे, उनके आचरणोंका और गुणोंका भी प्रभाव पड़ता है। उनमें जो क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष आदि अनन्त गुण होते हैं, उन गुणोंका भी असर पड़ता है। कुटुम्बमें वे कहीं जाकर भोजन करते हैं तो उसका घर पवित्र हो जाता है और उनके यहाँ कोई आकर भोजन करे तो वह भोजन करनेवाला पवित्र हो जाता है; क्योंकि उनका तन, मन, धन, अन्न सब पवित्र होता है।

भगवान्‌ने कहा है कि योगभ्रष्ट पुरुष पवित्र श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।

(गीता ६। ४१)

वे श्रीमान् धन और ऐश्वर्यसम्पन्न होनेके साथ ही पवित्र भी होते हैं। संसारके साधारण श्रीमान् प्रायः अपवित्र ही होते हैं; क्योंकि उनके घरमें जो रुपये-पैसे इकट्ठे होते हैं, वे अधिकांशमें अन्यायसे आते हैं। इसीलिये यह कहा गया कि जो पवित्र भी हो और लक्ष्मीवान् भी हो, ऐसे घरमें योगभ्रष्ट पुरुषका जन्म होता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।

(गीता ६। ४२)

अथवा ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म होता है। अभिप्राय यह कि उन योगभ्रष्ट पुरुषोंमें भी जो बहुत उच्चकोटिका साधक होता है और साधन करते-करते जिसकी मृत्यु हो जाती है, ऐसे विरक्त साधक पुरुषका जन्म योगियोंके ही कुलमें होता है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि गृहस्थाश्रममें भी ज्ञानवान् योगी होते हैं। ऐसे उच्चकोटिके ज्ञानी योगी गृहस्थके घरमें उसका जन्म होता है। ऐसा जन्म अतिशय दुर्लभ है। ज्ञानी योगीके जो संतान हुआ करती है, वह तो उनके अंशके प्रभावसे प्रायः उच्चकोटिकी होती ही है, उनके कुटुम्बमें जो और लोग होते हैं, वे भी उनके सङ्ग और दयाके प्रभावसे पवित्र हो जाते हैं। उनके साथमें किसी भी प्रकारका संसर्ग होना सब तरहसे लाभदायक होता है; क्योंकि वे ज्ञानी महात्मा पुरुष हैं। उनमें एक ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो रही है, जिससे उनके तो सारे पाप भस्म हो ही चुके हैं, पर उनके सङ्गके प्रभावसे दूसरोंके पाप भी भस्म होते रहते हैं—

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।

(गीता ४। १९)

'ज्ञानाग्निके द्वारा जिनके सारे कर्म भस्म हो गये हैं, उनको ज्ञानीजन भी पण्डित—महात्मा कहते हैं।'

जैसे एक आगकी ढेरी है और एक घासकी ढेरी है। घास उड़कर यदि आगमें पड़ता है तो वह आग बन जाता है और आग उड़कर यदि घासमें पड़ती है तो भी आग ही बन जाता है, उसे अग्नि अपने रूपमें परिणत कर लेती है। किंतु ऐसा कभी नहीं हो सकता कि घास अग्निको भी घास बना ले। घासकी यह सामर्थ्य नहीं है। इसी प्रकार संसारी मनुष्योंके अज्ञान और पापमें यह सामर्थ्य नहीं है कि एक जीवन्मुक्त ज्ञानी महात्माको अज्ञानी बना सके। साधारण मनुष्यपर तो अज्ञानियोंके सङ्गका असर हो सकता है, किंतु महात्मापर असर नहीं हो सकता। ज्ञानी महात्माओंके सङ्गसे अज्ञानी और पापी पवित्र होकर ज्ञानी महात्मा बन जाते हैं। इसलिये उनके सङ्गके प्रभावसे उनके कुटुम्बवाले लोग भी पवित्र हो सकते हैं।

महात्मा पुरुषोंके चरणोंके स्पर्शके प्रभावसे भूमि पवित्र हो जाती है। संसारमें जितने भी तीर्थ हैं, वे सब भगवान्‌के और महापुरुषोंके सङ्गसे ही तीर्थ बने हैं। उनकी तीर्थ-संज्ञा महापुरुषोंके, ईश्वरके या पतिव्रता स्त्रियोंके प्रभावसे ही हुई है। पतिव्रता भी एक प्रकारसे महात्मा ही हैं। जब साधकके प्रभावसे भी कहीं-कहीं तीर्थ-संज्ञा हो जाती है, तब परमात्माके अवतार और महात्माओंसे हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है?

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अयोध्यामें अवतार लिया, इसीसे अयोध्या तीर्थके नामसे प्रसिद्ध है। इतना ही नहीं, जहाँ-जहाँ भगवान् जाकर ठहरे, वे सब स्थान तीर्थ हो गये। भगवान् चित्रकूटमें ठहरे तो चित्रकूट अब तीर्थ माना जाता है। नासिक पञ्चवटीमें ठहरे तो वह भी तीर्थ माना जाता है। भगवान्‌की तो बात ही क्या है, भगवान्‌के भाई भरतजी महाराज भगवान्‌के राजतिलक करनेके लिये तीर्थोंका जल चित्रकूट साथ ही ले गये थे। चित्रकूटमें जिस कुएँमें वह जल रखा गया, वह कुआँ आज भी

'भरत-कूप' के नामसे प्रसिद्ध है। फिर भगवान् चित्रकूटसे विदा होकर जहाँ-जहाँ गये, वे स्थान भी तीर्थ बन गये। उन ऋषियोंकी निवास-भूमि या उनकी तपःस्थली भी तीर्थरूपा हो गयी। भगवान् चित्रकूटसे विदा होकर अत्रि ऋषिके आश्रममें गये, वहाँ अनसूयाका भी आश्रम है, वह तीर्थ आज भी अनसूयाके नामसे प्रसिद्ध है। अनसूया अत्रि ऋषिकी पत्नी थीं, वे पतिव्रता थीं तथा पातिव्रत्यके प्रभावसे ब्रह्मा, विष्णु, महेशने उनके यहाँ अंशरूपसे अवतार भी लिया था। आज भी अनसूयाके आश्रमको तीर्थ मानकर लोग वहाँ जाते हैं।

उसके आगे भगवान् बढ़े तो शरभङ्ग ऋषिके यहाँ पहुँचे। शरभङ्ग ऋषि भी बड़े उच्चकोटिके पुरुष थे। वे भगवान्के ध्यानमें मग्न होकर भगवान्के सामने ही शरीर त्यागकर परम धामको चले गये। वह तीर्थ आज भी शरभङ्गके नामसे प्रसिद्ध है। उसके पश्चात् भगवान् सुतीक्ष्णके आश्रममें गये। सुतीक्ष्ण भी भगवान्के बड़े भक्त और बड़े ज्ञानी महात्मा थे। इसलिये सुतीक्ष्णका आश्रम भी आज तीर्थके नामसे प्रसिद्ध है। ऐसे ही भगवान् और आगे बढ़े तथा अगस्त्य ऋषिके आश्रममें पहुँचे। अगस्त्यजी भी ज्ञानी महात्मा पुरुष थे। उनके नामसे आज भी वह तीर्थ प्रसिद्ध है। कहनेका अभिप्राय यह कि किसीकी भगवान्के सम्बन्धसे और किसीकी महात्माओंके सम्बन्धसे तीर्थ-संज्ञा हो गयी।

इसी प्रकार भागीरथी गङ्गा भी महान् तीर्थ हैं। महाराज भगीरथ भी बड़े उच्चकोटिके भगवान् शिवके भक्त थे। वे भगवान् विष्णुके भी भक्त थे। उनके तपके बलसे हमारे देशको पवित्र करनेके लिये गङ्गा यहाँ आयीं। गङ्गाके सभी तट—किनारे तीर्थ-स्वरूप हैं। शास्त्रोंमें गङ्गाकी बड़ी महिमा आती है। देवताओंकी नदी होनेके कारण इनका नाम सुरसरि भी है। ये शिवजीकी जटामें रहीं, इसलिये इनको 'जटाशङ्करी' भी कहते हैं। इनके बहुत-से नाम हैं*। हेतुको लेकर ही वे सब नाम हैं। यह गङ्गा भगवान्के चरणोंसे प्रकट हुई हैं।

श्रीवामन-अवतारके समय जब भगवान् वामनजीने बड़ा विशाल 'त्रिविक्रम' रूप धारण करके तीनों लोकोंको दो ही चरणोंसे नाप लिया था और तीसरा चरण राजा बलिके मस्तकपर रखकर उसको पवित्र कर दिया था, उस समय जब भगवान्का दूसरा चरण ब्रह्मलोकतक पहुँच गया और वह ब्रह्माण्डकटाह (शिखर) को छू गया, तब वह ब्रह्माण्ड अँगूठेके अग्रभागके आघातसे फूट गया। भगवान्के चरणोंको उस छिद्रमेंसे ब्रह्माण्डके बाहर आये देख ब्रह्माजीने अपने कमण्डलुमें स्थित जलसे उनका प्रक्षालनपूर्वक पूजन किया। वह जल भगवान्के चरणको धोता हुआ हेमकूट-पर्वतपर भगवान् शङ्करके पास पहुँचकर उनकी जटामें स्थित हो गया। पश्चात् महाराज भगीरथके द्वारा गङ्गाके लिये भगवान् शङ्करकी आराधना किये जानेपर वे पृथ्वीपर उतरीं। वे तीन धाराओंमें प्रकट होकर तीनों लोकोंमें गयीं, इसीलिये शास्त्रोंमें इनको 'त्रिस्रोता' कहा गया है।

इनकी महिमाके विषयमें श्रीभागवतकार भी कहते हैं—

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य
पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि
लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः॥

(८। २१। ४)

'परीक्षित्! ब्रह्माजीके कमण्डलुका वह जल उरुक्रम भगवान्के चरण पखारनेसे पवित्र होनेके कारण गङ्गाके रूपमें प्रकट हो गया, जो भगवान्की उज्ज्वल कीर्तिके समान आकाशमार्गसे पृथ्वीपर गिरकर अबतक तीनों लोकोंको पवित्र करती हैं।'

महाराज भगीरथने गङ्गाके लिये बहुत बड़ी तपस्या की थी। उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवती गङ्गाने उन्हें दर्शन दिया और कहा—'मैं तुम्हें वर देनेके लिये आयी हूँ।' उनके ऐसा कहनेपर राजा भगीरथने बड़ी नम्रतासे अपना अभिप्राय प्रकट किया कि 'आप मर्त्यलोकमें चलिये।' तब गङ्गाने कहा—'जिस समय मैं स्वर्गसे पृथ्वीतलपर गिरूँ, उस समय मेरे वेगको कोई धारण करनेवाला होना चाहिये; ऐसा न होगा तो मैं पृथ्वीको फोड़कर रसातलमें चली जाऊँगी। इसके अतिरिक्त मैं इस कारणसे भी पृथ्वीपर नहीं जाती कि लोग मुझमें स्नान करके अपने पाप धोयेंगे; फिर मैं उस एकत्र पाप-राशिको कहाँ धोऊँगी। राजन्! इस विषयमें तुम्हें विचार करना चाहिये।'

इसपर भगीरथ बोले कि भगवान् शङ्कर आपको धारण कर लेंगे। एवं—

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥

(श्रीमद्भा० ९। ९। ६)

* स्कन्दपुराणके काशीखण्डके पूर्वार्धमें २९ वें अध्यायके १७ वेंसे ६८ वें श्लोकतक 'गङ्गासहस्रनामस्तोत्र' में गङ्गाजीके हजार नाम बतलाये हैं।

'माताजी! जिन्होंने सम्पूर्ण कामनाओंका परित्याग कर दिया है, जो संसारसे उपरत होकर अपने-आपमें ही शान्त हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ और लोकोंको पवित्र करनेवाले श्रेष्ठ महापुरुष हैं, वे अपने अङ्गोंके स्पर्शसे तुम्हारे पापोंको नष्ट कर देंगे, क्योंकि उनके हृदयमें पापोंका नाश करनेवाले भगवान् सदा निवास करते हैं।'

अभिप्राय यह कि तुम किसी बातकी चिन्ता न करो, तुममें स्नान करने जो आयेंगे, उनमें कोई महापुरुष भी होंगे। उनके चरणोंका स्पर्श तुम्हें प्राप्त होगा, जिससे तुम्हारे अंदर इकट्ठे हुए सब पाप नष्ट हो जायँगे; क्योंकि महात्मालोग अपने चरण-स्पर्शसे भूमिको तथा तीर्थोंको भी पवित्र कर देते हैं। ऐसे ही महापुरुषोंके लिये श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने स्वयं कहा है—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(११। १४। १६)

'जिन्हें किसीकी अपेक्षा नहीं, जो संसारसे उपरत हैं, जो निरन्तर मेरे ही मननमें तल्लीन रहते हैं, जो वैररहित हैं और जिनकी सबके प्रति समान दृष्टि है, उन महात्मा पुरुषोंके पीछे-पीछे मैं सदा इसलिये घूमा करता हूँ कि उनके चरणोंकी धूलि उड़कर मेरे ऊपर पड़े, जिससे मैं पवित्र हो जाऊँ।'

भगवान् भी उन उच्चकोटिके भक्त महापुरुषोंके पीछे-पीछे फिरते हैं, उनके चरणोंकी धूलिकी आकाङ्क्षा करते हैं और उनके चरणोंकी धूलिसे वे अपनेको पवित्र मानते हैं। बात यह है कि भगवान्के जो उच्चकोटिके भक्त होते हैं, वे भगवान्के चरणोंकी धूलिको मस्तकपर धारण करके अपनेको पवित्र मानते हैं तथा भगवान्के ये वचन हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।' तो इसका बदला भगवान् कैसे चुकावें? जो भगवान्के चरणोंकी धूलिको उठाकर अपने मस्तकपर धारण करके अपनेको परम पवित्र मानते हैं, उनका बदला तभी चुकाया जा सकता है जब कि उन भक्तोंकी चरण-धूलिको भगवान् स्वयं अपने सिरपर धारण कर अपनेको परम पवित्र मानें। इसीको चरितार्थ करनेके लिये उन्होंने यह बात कही कि मैं अपने निष्काम भक्तोंकी चरण-धूलिसे पवित्र होनेके लिये उनके पीछे-पीछे फिरता हूँ। भगवान् तो सदा स्वरूपसे ही परम पवित्र हैं। यह तो भक्तोंकी महिमा बढ़ानेके लिये ही भगवान्ने कहा है। इस बातको खयालमें रखकर हमलोगोंको भगवान्की भक्ति निष्कामभाव, श्रद्धा और प्रेमसे करनी चाहिये। इस प्रकार भगवान्की अनन्य भक्तिसे सब कुछ हो सकता है।

महापुरुषोंकी महिमा इतनी अपार है कि उसका वर्णन स्वयं महापुरुष भी नहीं कर सकते, फिर दूसरा कौन कर सकता है? जो कुछ, यत्किञ्चित् कहा जाता है, वह तो उसका आभासमात्र है या यों कहिये कि स्तुतिमें निन्दा है। किसी अरबपतिको हम लखपति कहें तो वह स्तुतिमें निन्दा ही है। शास्त्रोंमें जिन महापुरुषोंकी महिमा गायी गयी है, वैसे महापुरुष तो आजकल संसारमें मिलने भी बहुत कठिन हैं। भगवान्के भेजे हुए जो महापुरुष संसारके कल्याणके लिये अधिकार पाकर आते हैं, उनकी शास्त्रोंमें विशेष महिमा गायी गयी है। उन्हींको 'अधिकारी पुरुष' तथा 'कारक पुरुष' भी कहते हैं।

श्रीवेदव्यासजी महाराज ऐसे ही अधिकारी पुरुष हैं। उनकी बड़ी अलौकिक महिमा शास्त्रोंमें आती है। ऐसी और किसी साधारण मनुष्यकी महिमा नहीं देखी गयी। महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें लिखा है कि पतिव्रता गान्धारी, कुन्तीदेवी, संजय और धृतराष्ट्र—ये गङ्गा-तटपर आश्रममें रहकर तपस्या किया करते थे। उस आश्रम-मण्डलमें पाण्डुके सब पुत्र भी अपनी सेना और अन्तःपुरकी स्त्रियोंके सहित ठहरे हुए थे। उस समय एक दिन वहाँ श्रीवेदव्यासजी महाराज आ पहुँचे। तब अन्य भी बहुत-से ऋषि-मुनि वहाँ आ गये। शोकमग्न धृतराष्ट्र, गान्धारी, कुन्ती, द्रौपदी और सुभद्रा आदि स्त्रियोंको देखकर श्रीवेदव्यासजीने कहा—'मैं आपलोगोंके दुःखोंको जानता हूँ और उनको मिटानेके लिये आया हूँ। धृतराष्ट्र! बताओ, मैं तुम्हारी कौन-सी कामना पूर्ण करूँ? तुम आज मेरे तपके प्रभावको देखो।' धृतराष्ट्र बोले—'मैं आज आपका दर्शन पाकर धन्य हो गया, मेरा जीवन सफल हो गया; किंतु दुर्योधनकी और कुटुम्बीजनोंकी मृत्युके कारण मैं बहुत चिन्तित हूँ।' फिर पुत्रशोकसे व्याकुल गान्धारीने हाथ जोड़कर कहा—'मुनिराज! युद्धमें जो मेरे पुत्र मर गये हैं, उनके शोकमें राजाको सारी रात नींद नहीं आती है। आप चाहें तो नयी सृष्टि रच सकते हैं, फिर आपके लिये मरे हुए पुत्रोंसे एक बार मिला देना कोई बड़ी बात नहीं है। आपके अनुग्रहसे राजा धृतराष्ट्रका, मेरा और कुन्तीका भी शोक दूर हो सकता है।' कुन्तीने भी कर्णसे मिलानेके लिये प्रार्थना की। तब श्रीवेदव्यासजी

बोले—'बहुत अच्छी बात है। गान्धारी! तू अपने पुत्रोंको, कुन्ती कर्णको, सुभद्रा अभिमन्युको, द्रौपदी अपने पाँचों पुत्रोंको और पिता आदि सबको भी देखेगी। पहलेसे ही मेरे हृदयमें यह बात उठ रही थी कि इतनेमें ही राजा धृतराष्ट्रने, तूने और कुन्तीने भी इसी बातके लिये कहा। अब तुमलोगोंको इनके लिये शोक नहीं करना चाहिये। आज रातको मैं उन सबसे तुम सबको मिला दूँगा।'

तदनन्तर श्रीव्यासजीके आदेशके अनुसार राजा धृतराष्ट्र अपने मन्त्री और पाण्डवोंसहित तथा वहाँ आये हुए मुनिजन, गन्धर्व आदि सभी गङ्गाके समीप गये और वहाँ इच्छानुसार पड़ाव डाल दिया। गान्धारी आदि स्त्रियाँ भी वहाँ जाकर यथास्थान एक ओर बैठ गयीं। नगरके और प्रान्तके बहुत-से लोग भी सूचना पाकर वहाँ एकत्र हो गये। फिर महातेजस्वी महामुनि व्यासजीने भागीरथीके पवित्र जलमें प्रवेश करके सब लोगोंका आवाहन किया। पाण्डवोंके और कौरवोंके जो-जो योद्धा समरमें मर चुके थे, उन सभीको बुलाया। उस समय, रणभूमिमें कौरव और पाण्डवोंकी सेनाओंका जमघट होनेपर जैसा घोर शब्द हुआ था, वैसा ही कोलाहल जलमें हो उठा। फिर सेनासहित भीष्म और द्रोणको आगे करके चलते हुए वे सहस्रों राजागण जलसे बाहर निकले। वे इच्छानुसार अपने बन्धु-बान्धवों, कुटुम्बियों और स्त्रियोंसे परस्पर यथायोग्य मिले और उन सबने उस रात बड़ा ही आनन्द पाया। श्रीवेदव्यासजीकी कृपासे वे सब वैरभाव, ईर्ष्या, शोक, भय, पीड़ा, त्रास आदिसे रहित हो गये। रात्रि बीतनेपर वे सब लोग जहाँसे आये थे, वहीं जाने लगे। उस समय श्रीवेदव्यासजीने कहा—'जो स्त्री अपने पतिके साथ जाना चाहती हो, वह अपने पतिके साथ गङ्गामें गोता लगावे।' यह सुनकर बहुत-सी पतिव्रता साध्वी स्त्रियोंने गङ्गामें गोता लगाया और वे तुरंत दिव्य शरीर धारण करके अपने-अपने पतियोंके साथ विमानपर बैठकर पतियोंके उत्तम लोकोंको चली गयीं।

वह सारी सेना ठीक वैसी ही थी, जैसी कि युद्धमें मरनेके समय थी। जिसका जैसा शरीर, रूप-रंग और अवस्था थी, जैसा हथियार, घोड़ा, रथ था, ठीक वैसा-का-वैसा ही देखा गया। जैसे भागवतमें वर्णन आता है कि भगवान् जब ग्वाल-बाल और बछड़े बने थे, तब उन ग्वाल-बालोंका वही रूप, वही अवस्था, वही स्वभाव—सब कुछ ठीक वही था; इसी प्रकार यहाँ सेनाका जो वेष, आकृति और रूप था तथा जिसका जो सारथि, जो घोड़े, जो रथ, जो रथी, जो ध्वजा और जो वाहन थे, वे सब वही देखनेमें आये। इस प्रकार युद्धमें जितने मरे थे, वे सभी योद्धा ज्यों-के-त्यों प्रकट हो गये। रातभर मिले और प्रातःकाल श्रीवेदव्यासजीने उन सबको विदा कर दिया।

यह कथा श्रीवैशम्पायन मुनि राजा जनमेजयको सुना रहे थे। उस समय जनमेजयने कहा—'यदि श्रीवेदव्यासजी मेरे पिता परीक्षित्‌को दिखा दें तो आपकी कही बातपर मेरी श्रद्धा हो जाय तथा मेरा यह प्रिय कार्य हो जाय और मैं कृतार्थ हो जाऊँ। इन ऋषिश्रेष्ठ श्रीवेदव्यासजीकी कृपासे मेरी यह इच्छा सफल होनी चाहिये।' यह बात सुनकर श्रीवेदव्यासजीने राजा परीक्षित्‌का आह्वान किया। राजा परीक्षित् उसी समय अपने मन्त्रियोंसहित वहाँ यज्ञशालामें प्रकट हो गये। राजा परीक्षित्‌का शरीर शान्त होनेके समय जैसा रूप-रंग, वेष और अवस्था थी, ठीक वैसे ही वे वहाँ दिखायी दिये। उन्होंने यज्ञान्तस्नान किया और यज्ञका शेष कार्य भी पूरा किया।

खयाल करना चाहिये कि श्रीवेदव्यासजी कितने उच्चकोटिके महापुरुष थे। इसके अतिरिक्त, श्रीवेदव्यासजी सर्वज्ञ भी थे। जब कोई उनको याद करता था, तब उसी समय वहाँ प्रकट हो जाते थे और कहीं-कहीं तो बिना स्मरण किये ही आवश्यकता समझते थे तब प्रकट हो जाते थे और कार्यकी सिद्धि करके विदा हो जाते थे। श्रीवेदव्यासजीके लिये संसारमें ऐसा कोई कार्य नहीं था, जो असम्भव हो। ऐसे महापुरुष जो संसारमें आते हैं—संसारके कल्याणके लिये, हितके लिये ही आते हैं। उनकी जितनी महिमा गायी जाय, थोड़ी है। यह जो मृत सेनाको बुला देनेकी बात है, सो तो बहुत ही साधारण है। वे चाहें तो हजारों-लाखोंका कल्याण कर सकते हैं। उनका तो आना ही होता है संसारके कल्याणके लिये। ऐसे महापुरुषोंकी महिमा बड़ी ही रहस्यमयी और अलौकिक है।

महापुरुषोंके विषयमें जितना अनुमान किया जाता है, उससे भी कहीं अधिक लाभ हो सकता है। महापुरुष यदि कोशिश करें या हमलोग महापुरुषोंसे लाभ उठाना चाहें अर्थात् कोई भी उनसे लाभ उठाना चाहे तो परम लाभ उठा सकता है। जब गङ्गामें स्नान करने और गङ्गाजलका पान करनेसे मुक्ति हो जाती है, तब फिर महापुरुषोंके सङ्गसे आत्माका कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है? गङ्गासे तो गीता भी बढ़कर है और गीताके

जाननेवाले महापुरुष उससे भी बढ़कर बतलाये जा सकते हैं। जिन महापुरुषोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे कल्याण बतलाया गया है, वह उन्हीं महापुरुषोंसे बतलाया गया है, जो 'अधिकारी पुरुष' हैं, अर्थात् जो भगवान्‌के यहाँसे अधिकार लेकर आये हैं।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आदि सभी आश्रमोंमें और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी वर्णोंमें महापुरुष होते हैं। सनकादि तो ब्रह्मचारीके रूपमें ही रहे। इसी प्रकार संन्यासियोंमें शुकदेवजी, नारदजी आदि हैं। गृहस्थ ऋषियोंमें भी बहुत-से महापुरुष हुए हैं, जैसे वेदव्यासजी, वसिष्ठजी और याज्ञवल्क्यजी आदि। राजाओंमें अश्वपति और जनक आदि, वैश्योंमें नन्दभद्र और तुलाधार आदि तथा शूद्रोंमें सूतजी, संजय, विदुरजी एवं अछूत जातियोंमें गुह, केवट, शबरी (भीलनी), मूक चाण्डाल, धर्मव्याध आदि बहुत-से महापुरुष हुए हैं। इस प्रकार सभी वर्णों और सभी आश्रमोंमें महापुरुष हुए हैं। उन महापुरुषोंमें कोई-कोई तो अधिकारी (कारक) पुरुष भी हुए हैं।

उन अधिकारी महापुरुषोंकी जो मुद्रा है, उसीको देखकर जीवन बदल जाता है। उनके नेत्रोंसे जो चीज देखी जाती है, वह पवित्र हो जाती है। उनकी दृष्टि जहाँतक जाती है, वहाँतक पवित्रताका प्रसार होता है। उनकी दृष्टिके द्वारा उनके हृद्गत भावोंके परमाणु फैल जाते हैं। उस रास्तेसे कोई निकल जाता है तो उसपर भी असर होता है। जो महापुरुषोंको देख लेते हैं, उनके भी नेत्र और हृदय पवित्र हो जाते हैं। फिर उनकी आज्ञाके पालनसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है! वे अधिकारी महापुरुष हमलोगोंको याद कर लेते हैं तो हम पवित्र हो जाते हैं और हम उनको याद कर लेते हैं तो भी हम पवित्र हो जाते हैं।

महापुरुषोंकी महिमा कहनेमें कुछ संकोच भी होता है और कुछ भय भी। भय तो इस बातसे होता है कि आजकल बहुत-से लोग झूठे महापुरुष बने बैठे हैं और वे अपने पैर पुजवाते हैं, अपनी जूँठन खिलाते हैं, अपने चरणोंकी धूलि और चरणोदक देते हैं, अपने नामका कीर्तन करवाते और रूप (फोटो) को पुजवाते हैं तथा कोई-कोई तो धन और स्त्रियोंके सतीत्वका हरण करते हैं। कहीं-कहीं तो साधारण बनिये और शूद्र भी योगिराज, ज्ञानी, महात्मा बने बैठे हैं। कहीं स्त्रियाँ ज्ञानी महात्मा बनकर भोले-भाले नर-नारियोंको ठगती हैं। इसके सिवा, कोई ब्रह्मचारीके वेषमें, कोई गृहस्थके वेषमें, कोई साधुके वेषमें, कोई वानप्रस्थीके वेषमें, कोई तो अपनेको ज्ञानी, भक्त, महात्मा, योगिराज बतलाता है और कोई अपनेको अवतार बतलाता है। सच तो यह है कि इन बतलानेवालोंमें सबमें अन्धकार-ही-अन्धकार है। उच्चकोटिके महापुरुष कभी अपनेको ज्ञानी, महात्मा, भक्त नहीं बतलाते, कभी अपनेको योगिराज या अवतार नहीं बतलाते; परंतु जो झूठे दम्भी महात्मा बने होते हैं, वे ही अपनेको पुजवानेके लिये, संसारमें अपनी ख्याति—कीर्तिके लिये या धन और स्त्रियोंका सतीत्व हरण करनेके लिये ऐसा करते हैं और उनका ऐसा करना संसारको और अपने आत्माको धोखा देना है। इसका परिणाम उनके लिये अत्यन्त भयावह है!

हमारे इस कथनका वे दम्भी, पाखण्डी, झूठे ज्ञानी महात्मा दुरुपयोग कर सकते हैं कि 'देखो ! महापुरुषोंकी ऐसी महिमा इन्होंने बतायी है और वे महापुरुष हमीं लोग हैं।' इस प्रकारके वचनोंसे लोगोंको धोखा देकर वे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये मेरे उपर्युक्त वाक्योंका दुरुपयोग कर सकते हैं। भोली-भाली स्त्रियाँ उनके बहकावेमें आकर अपना सतीत्व नष्ट कर देती हैं, धन देती हैं और उनकी पूजा करके अपने और उनके जीवनको कलङ्कित बनाती हैं तथा परलोकको नष्ट करती हैं। इसलिये महापुरुषोंकी विशेष महिमा कहनेमें मनमें कभी कुछ भय-सा होता है।

वास्तविक अधिकारी महापुरुष तो शायद ही किसीकी जानकारीमें हों, किंतु जो अपनेको महात्मा माननेवाले और दूसरोंसे मनवानेवाले हैं, ऐसे झूठे दम्भी महात्मा बहुत मिलते हैं। हाँ, भगवत्प्राप्त पुरुष भी संसारमें मिल सकते हैं, उनकी भी महिमा शास्त्रोंमें वर्णित है। किंतु उन अधिकारी महापुरुषोंकी महिमा तो उनसे भी विशेष है। वे कारक महापुरुष तो भगवान्‌के यहाँसे अधिकार लेकर आते हैं और भगवान्‌के भेजे हुए आते हैं। उनकी क्रिया कभी निष्फल नहीं होती।

अब रही संकोचकी बात, सो संकोच इसलिये होता है कि मूर्खतावश अज्ञानसे लेखकको ही कोई महात्मा मान ले और महापुरुष मानकर दुरुपयोग करने लगे तो यह उचित नहीं। इस स्थितिमें समझदार आदमियोंको तो संकोच होना ही चाहिये।

महापुरुषोंकी आज्ञा मानकर हम साधन करें तो हमारा कल्याण हो जाय, इसमें कोई शङ्काकी बात नहीं है। मैं तो यह कहता हूँ कि महापुरुष न होकर जो उच्चकोटिका साधक है और शास्त्रोंके आधारपर कहता है तो उसकी

आज्ञाका पालन करनेसे भी हमारा कल्याण हो सकता है। विश्वासपूर्वक गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंके उपदेशोंका अध्ययन करके हमलोग उन्हें काममें लावें तो हमलोगोंका कल्याण हो सकता है। फिर यदि साधन करनेवाला उच्चकोटिका साधक हममें शामिल होकर साधन करे, तब तो हमारा कल्याण और भी सहज है। जैसे बदरिकाश्रम और केदारजी तीर्थमें गया हुआ पुरुष मिल जाय और उसके साथ हम चलें तो बड़ी सुगमतासे हम बदरिकाश्रम और केदारजी पहुँच सकते हैं; क्योंकि वह सारे रास्तेका जानकार है। कहाँ क्या सुविधा है और कहाँ किस प्रकार रहना चाहिये, इस बातको वह अच्छी प्रकार जानता है; अत: सुखपूर्वक हमको बदरिकाश्रम और केदारजी पहुँचा सकता है, किंतु जो गया हुआ तो नहीं है, पर बदरी-केदारकी पुस्तक और झाँकी पढ़कर जिसने यह बात समझ ली है कि कौन-कौन-सी जगह क्या-क्या सुविधाएँ हैं, यदि ऐसे पुरुषका भी साथ हो जाय तो भी हमको बदरी-केदार जानेमें बहुत सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं और हम सुखपूर्वक वहाँ पहुँच सकते हैं।

इसी प्रकार जो सिद्ध महात्मा पुरुष हैं, उनका सङ्ग मिल जाय तब तो बात ही क्या है; किंतु जो शास्त्रके ज्ञाता साधक पुरुष हैं या परमात्माके परम धाम जानेकी इच्छावाले जिज्ञासु पुरुष हैं, उनका भी सङ्ग मिल जाय तो भी हमें कल्याणमें बड़ी सुगमता मिल सकती है। ऐसा न होनेपर भी गीता, रामायण, भागवत आदि शास्त्रोंको आधार बनाकर चलें, तब भी हमारा कल्याण हो सकता है। जैसे कोई बदरिकाश्रम और केदारजीकी पुस्तकोंके आधारसे वहाँ जाता है तो उसको भी रास्तेमें बहुत सुविधा हो जाती है और वह उस गन्तव्य तीर्थस्थानपर पहुँच जाता है।

परमात्माका आधार तो सबके लिये है ही। वे तो सबकी सहायता करते ही हैं, उनकी कृपासे सब लोग पहुँच ही जाते हैं।

हमलोग प्रत्यक्ष देखते हैं कि बदरिकाश्रम और केदारजी जानेकी इच्छावाले बूढ़े स्त्री-पुरुष, जिनकी सत्तर-अस्सी वर्षकी अवस्था हो चुकी है, जिनकी चलनेकी शक्ति भी बहुत कमजोर है एवं जो धनहीन भी हैं, किंतु मनमें श्रद्धा और उत्साह रखते हैं तो वे भी परमात्माकी दयासे बदरिकाश्रम पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार उनकी श्रद्धा और उत्साहको देखकर हमलोगोंको भी, जो वास्तवमें भगवान्‌के परम धाममें जानेकी इच्छा करनेवाले हैं, विश्वास करना चाहिये, श्रद्धा करनी चाहिये और उत्साह रखना चाहिये कि हमलोग भी परमात्माकी कृपासे परमात्माकी प्राप्तिका साधन सम्पादन करके परमात्माके परम धाममें पहुँच सकते हैं।

हमलोगोंमें जो निराशा है, वह तो श्रद्धा और आत्मबलकी कमी तथा मूर्खताके कारण है। मनुष्यको निराश तो कभी होना ही नहीं चाहिये। जब बदरिकाश्रमका रास्ता बड़ा कठिन है और हम देखते हैं कि जो अत्यन्त कमजोर है, उसमें भी श्रद्धाके कारण शक्ति आ जाती है, उत्साह हो जाता है और वह भी चला जाता है तो फिर हम भगवान्‌की कृपासे भगवान्‌के धामको क्यों नहीं पहुँच सकते? शास्त्रोंमें बतलाया है—

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

'जिसकी कृपा मूकको वाचाल कर देती है और जिसकी कृपासे पङ्गु (पँगुला) पहाड़को लाँघ जाता है, उस परमानन्द माधवको मैं नमस्कार करता हूँ।'

इससे यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आ रही है कि बदरिकाश्रमके मार्गके बड़े-बड़े पहाड़ोंपर अल्प शक्तिवाला मनुष्य चला जाता है तो यह एक प्रकारसे पङ्गुके द्वारा ही पहाड़को लाँघना है। जो उचित बोलना नहीं जानता, अपनी भाषामें भी जिसको बोलनेकी शक्ति नहीं है, ऐसा पुरुष भगवान्‌की कृपासे व्याख्यानदाता बन जाता है तो यह एक प्रकारसे मूकसे ही वाचाल बन जाना है।

अतएव हमलोगोंको यह निश्चय कर लेना चाहिये कि हमलोग भी ईश्वरकी और महापुरुषोंकी कृपासे उस परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्यके लिये कोई भी बात असम्भव नहीं है। महापुरुषोंका या भगवान्‌का अपनेपर हाथ समझ लें, तब तो फिर कहना ही क्या है।

महापुरुषोंकी महिमा जितनी बतलायी जाय, उतनी थोड़ी है। उन अधिकारी महात्माओंके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे ही प्राणियोंका कल्याण हो सकता है। यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। ऐसे महापुरुषोंके प्रसादसे साधारण जीवोंका भी वैसे ही कल्याण हो सकता है, जैसे परमात्माके प्रसादसे भक्तका कल्याण हो जाता है। भगवान् गीतामें स्वयं कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(१८। ६२)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परमधामको प्राप्त होगा।'

यहाँ 'प्रसाद' का अर्थ है—उनकी दया। इसी प्रकार उच्चकोटिके महात्मा पुरुषोंकी दयाके प्रभावसे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है। गीतामें बतलाया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४। ३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्म-तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।' तत्त्वदर्शी महात्माओंकी आज्ञा मानने एवं उनका सङ्ग करनेसे पापी मनुष्य भी परम पवित्र होकर उनकी कृपासे मुक्त हो जाता है।

उनका दूसरा प्रसाद यह है कि वे जो भी कुछ वरदान या आशीर्वाद देते हैं, अथवा कोई रास्ता बतलाते हैं, वह सब उनका दिया हुआ प्रसाद है। उनकी कृपासे बहुत-से मनुष्य मुक्त हुए हैं, जिनकी कथा शास्त्रोंमें विस्तारपूर्वक मिलती है और वह युक्तिसङ्गत भी है।

छान्दोग्य-उपनिषद्‌में कथा आती है कि जबालाके पुत्र सत्यकामका हारिद्रुमत गौतमकी कृपासे—उनके आज्ञा-पालनसे उद्धार हो गया। आयोदधौम्य मुनिकी आज्ञा माननेसे आरुणि और उपमन्युका कार्य सिद्ध हो गया; यह कथा महाभारतके आदिपर्वमें आती है। एवं सत्यकामकी सेवा करनेसे उपकोसलका उद्धार हो गया; यह कथा भी छान्दोग्य-उपनिषद्‌में है। इसी प्रकार और भी बहुत-सी कथाएँ मिलती हैं; यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है।

सार यह है कि जो अधिकारी (कारक) महापुरुष हैं, उनके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनसे ही कल्याण हो सकता है तथा दूसरे जो सामान्य भगवत्प्राप्त पुरुष हैं, उनकी आज्ञाका पालन करनेसे, उनकी सेवा और नमस्कार करनेसे तथा उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे कल्याण हो सकता है। फिर भगवान्‌की तो बात ही क्या है ! भगवान्‌के तो नाम-रूपको याद करनेमात्रसे ही मनुष्यका कल्याण हो सकता है। इसलिये भगवान्‌के नाम-रूपको हर समय नित्य-निरन्तर याद रखनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

गीतामें उपासना

गीतामें दो प्रकारकी उपासनाका उल्लेख है—एक भेदोपासना और दूसरी अभेदोपासना। भेदोपासना योगके अन्तर्गत है और अभेदोपासना सांख्यके अन्तर्गत है। भेदोपासनाको भक्तियोग तथा अभेदोपासनाको ज्ञानयोगके नामसे भी कहा गया है, इसीको ज्ञानकी परानिष्ठा भी कहते हैं। भेदोपासनासे अभिप्राय है—ईश्वरकी भक्ति। वह भक्ति गीतामें कहीं सगुण-साकारकी उपासनाके रूपमें (९। २६, ३४; ११। ५४) और कहीं सगुण-निराकारकी उपासनाके रूपमें आती है (८। ९, १०, २२; ९। २९; १८। ४६, ६२)।

बहुत-से ऐसे श्लोक हैं, जिनमें साकार और निराकारका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है (२। ६१; ६। १४; ७। १४; ८। ५)। यह भक्तकी इच्छापर निर्भर है, वह अपनी इच्छाके अनुसार सगुण-साकार या सगुण-निराकारकी अथवा निराकारसहित साकारकी भेदरूपसे उपासना कर सकता है। अभेदोपासनासे अभिप्राय है—सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार ब्रह्मका अभेदरूपसे यथार्थ ज्ञान। अर्थात् एक ब्रह्मके अतिरिक्त और सबका अभाव या जो कुछ है सो ब्रह्म ही है—इस प्रकारका अनुभव।

भेदोपासना

गीतामें भेदोपासनाके बहुत-से श्लोक मिलते हैं। ऐसा कोई भी अध्याय नहीं कि जिसमें भेदभक्तिका भाव प्रकट न होता हो। पहले अध्यायमें स्पष्टरूपसे भेदोपासनाका कोई श्लोक नहीं है, फिर भी अर्जुनके वचनोंमें कुछ भक्तिका भाव टपकता है। अर्जुनने भगवान् हृषीकेशसे कहा कि 'हे अच्युत! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कीजिये (गीता १। २१)।' इस अध्यायमें हृषीकेश, माधव, अच्युत आदि शब्द भगवान्‌के वाचक हैं। अर्जुनके द्वारा भक्तिभावसे किये गये इन सम्बोधनोंसे अर्जुनके हृदयका भक्तिभाव झलकता है।

दूसरे अध्यायके ६१ वें श्लोकमें तो स्वयं ही भगवान्‌ने स्पष्ट ही कहा है—'**युक्त आसीत मत्परः।**' भाव यह है कि 'समाहितचित्त हुआ मेरे परायण स्थित होवे।'

इसी प्रकार तीसरे अध्यायके तीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।

'ध्याननिष्ठ-चित्तसे सम्पूर्ण कर्मोंको मुझ परमात्मामें समर्पण कर।' इस प्रकार स्थित होकर क्षत्रियधर्मके अनुसार

निष्कामभावसे युद्ध करनेकी भगवान्‌ने आज्ञा दी है। इन वचनोंसे हमको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि निरन्तर ध्याननिष्ठ रहते हुए ही भगवदर्पण-बुद्धिसे अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार निष्कामभावसे शास्त्रविहित कर्म करें।

चौथे अध्यायके छठे श्लोकसे नवें श्लोकतक अवतारवादका वर्णन किया गया है, जो भेदोपासनाका मूलतत्त्व है। उसके अनन्तर दसवें श्लोकमें सगुण-साकार भगवान्‌की शरणसे भगवद्भावको प्राप्त होनेकी बात कही गयी है। भगवान् कहते हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥

'पहले भी जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्य प्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहनेवाले बहुत-से भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं।'

भगवान्‌ने ग्यारहवें श्लोकमें यह भी कहा है कि 'जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, उनको मैं वैसे ही भजता हूँ।' इससे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हम भगवान्‌के सिवा एक क्षण भी किसी अन्यको न भजें। चलते-उठते, खाते-पीते, सोते-जागते—सब समय गोपियोंकी भाँति* मनमोहन भगवान्‌को अपने साथ समझते हुए ही नित्य-निरन्तर उनको भजते रहें।

पाँचवें अध्यायमें भी उन्तीसवें श्लोकमें भक्तिभाव यानी भेदोपासनाका महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। वहाँ भगवान्‌के गुण-प्रभावको तत्त्वसे जाननेके रूपमें उपासना बतायी गयी है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

'मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि जो पुरुष भगवान्‌को यज्ञ और तपोंका भोक्ता, सब लोकोंका महान् ईश्वर और सब भूतोंका सुहृद् तत्त्वसे जान लेता है, वह परम शान्तिरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जब मनुष्य सर्वगुणसम्पन्न भगवान्‌को तत्त्वतः जान जाता है, तब भगवान्‌के सौहार्दादि गुण उस भक्तमें स्वाभाविक ही आ जाते हैं। गीताके बारहवें अध्यायके बारहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक, जहाँ भक्तोंके लक्षण बतलाये हैं, वहाँ स्पष्ट ही '**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।**' आदि शब्दोंसे सौहार्दादि गुणोंका कथन किया गया है। अतः भगवान्‌को तत्त्वतः जाननेके लिये भगवद्भक्तोंको पूर्णरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

छठे अध्यायके दसवेंसे चौदहवें श्लोकतक एकान्त और पवित्र देशमें आसन लगाकर भगवान्‌की भेदभावसे विधिपूर्वक उपासना करनेका विषय बतलाया गया है। वहाँ एकान्त देशमें बैठनेके बाद किस प्रकारसे उपासना करनी चाहिये, यह चौदहवें श्लोकमें बतलाया है—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

'ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे।'

व्यवहार करते समय सर्वव्यापी सगुण भगवान्‌की भक्ति सदा-सर्वदा किस प्रकार करनी चाहिये, यह बात गीताके छठे अध्यायके तीसवें और इकतीसवें श्लोकोंमें बतायी गयी है।

इस प्रकार सगुण-निराकारकी भक्ति करनेवाले भक्तकी प्रशंसा करते हुए भगवान्‌ने इसी अध्यायके अन्तिम ४७ वें श्लोकमें उसे अन्य सब साधकोंसे उत्तम बतलाया है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

---

* श्रीमद्भागवत १०। ४४। १५ में बतलाया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं, इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं!'

इससे पाठकोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि जब ऐसे साधकको भगवान्‌ने सर्वोपरि बतलाया है, तब इस श्लोकमें वर्णित साधनके अनुसार ही हम प्राणपर्यन्त प्रयत्न करें।

सातवें अध्यायसे लेकर बारहवें अध्यायतक—इन छः अध्यायोंको तो विद्वज्जन उपासनाकाण्ड मानते हैं और ऐसा मानना उचित भी है; क्योंकि इन अध्यायोंमें अधिकांशमें सगुण-साकार और सगुण-निराकार भगवान्‌की उपासना ही ओतप्रोत है। इन छः अध्यायोंके अधिकांश श्लोकोंमें भक्तिभावको प्रदर्शित करनेवाले भगवद्वाचक शब्द आये हैं। जैसे अर्जुनके वचनोंमें त्वम्, त्वाम्, तव, त्वया, त्वत्तः आदि तथा भगवान्‌के वचनोंमें अहम्, माम्, मयि, मम, मत्तः आदि। इसलिये इनका विस्तार कहाँतक करें; भेद-उपासनाके कुछ श्लोकोंका ही दिग्दर्शन कराया जाता है।

सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने अपने समग्र रूपकी उपासनाका विषय समझनेके लिये अर्जुनसे कहकर जगह-जगह समग्र रूपका विवेचन भी किया है। फिर अध्यायके अन्तमें २८ वें, २९ वें और ३० वें श्लोकोंमें साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण स्वरूपकी भेदरूपसे उपासना करनेवालोंकी महिमा बतलायी है।

इसके सिवा, सातवें अध्यायके १४वें श्लोकमें इस त्रिगुणमयी दुस्तर मायासे तरनेका एकमात्र उपाय—अपनी शरणागतिरूप उपासनाका वर्णन किया तथा १६ वें श्लोकमें उपासकोंके चार भेद बतलाकर १७वें-१८वेंमें ज्ञानी निष्कामी प्रेमी भक्तकी विशेष प्रशंसा की है। इससे हमको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि हम संसार-सागरसे पार होनेके लिये उन समग्रस्वरूप सगुण भगवान्‌की शरण होकर निष्काम और प्रेमभावसे उन्हींकी भक्ति करें।

आठवें अध्यायके ५ वें श्लोकमें अन्तकालमें भगवत्-स्मृति एवं ७ वें और १४ वें श्लोकोंमें निरन्तर स्मरणका प्रभाव बतलाया गया है तथा ८ वें, ९ वें, १० वें और २२ वें श्लोकोंमें भगवान्‌के निराकार सर्वव्यापी परम दिव्य सगुण स्वरूपकी उपासनाका प्रकार बतलाया है। अतः मनुष्यको उचित है कि वह परमात्माके साकार या निराकार किसी भी स्वरूपका अथवा समग्र स्वरूपका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सदा-सर्वदा चिन्तन करते हुए उसकी स्वामी-सेवक-भावसे उपासना करे।

नवें अध्यायके ४थे, ५वें और ६ठे श्लोकोंमें निराकार-स्वरूपका तत्त्व और रहस्य समझाया गया है। ३० वें और ३१ वें श्लोकोंमें अतिशय दुराचारीका भी अनन्य भक्तिके प्रभावसे शीघ्र उद्धार होनेका कथन किया गया है। श्रीभगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

इसके अनन्तर ३२ वें श्लोकमें भगवान्‌की शरणसे स्त्री, वैश्य, शूद्र एवं पापयोनिवाले चाण्डाल आदिको भी परमगति मिलनेकी बात कहकर अन्तिम ३४ वें श्लोकमें सगुण-साकारकी शरणागतिका स्वरूप और उससे अपनी प्राप्ति बतायी गयी है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

इससे यह जिज्ञासा होती है कि 'भगवान्‌की शरणागतिके जो चार प्रकार बतलाये हैं, उन चारोंके अनुष्ठानसे ही भगवत्प्राप्ति होती है या इनमेंसे एक या दोके अनुष्ठानसे ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है ?' इसका उत्तर यह है कि 'एक या दोसे भी हो सकती है, फिर चारोंकी तो बात ही क्या है?'

इसी अध्यायके २२ वें श्लोकमें भगवान्‌ने नित्य-निरन्तर अनन्यचिन्तन करनेवाले भक्तके लिये कहा है कि 'उसका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ।' इस कथनसे '**मन्मना भव**' मात्रको ही उद्धारका उपाय समझना चाहिये।

इसी अध्यायके ३० वें, ३१ वें श्लोकोंमें भगवान्‌ने अनन्य भक्तिसे अतिशय दुराचारीका शीघ्र उद्धार बतलाया है और 'मेरे भक्तका पतन नहीं होता' यह कहा है। इससे '**मद्भक्तो भव**'—अर्थात् केवल भगवान्‌की भक्तिसे ही उद्धार हो जाता है, यह बात समझनी चाहिये।

इसी अध्यायके २६ वें श्लोकमें भगवान्ने 'प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करनेवालेका दिया हुआ पत्र-पुष्पादि मैं स्वयं प्रकट होकर खाता हूँ'—यह कहा। अतः '**मद्याजी**' के अनुसार केवल प्रेमपूर्वक भगवान्‌की पूजासे ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—यह समझना चाहिये।

इसी अध्यायके १४ वें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि 'मेरे भक्त नित्य मुझमें युक्त होकर भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते हैं।' अतः भक्तिपूर्वक किये हुए '**मां नमस्कुरु**' रूप नमस्कार-साधनसे ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

यदि कहें कि 'जब एक ही प्रकारके साधनसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, तब फिर चार प्रकारके साधन क्यों बतलाये?' तो इसका उत्तर यह है कि चारों प्रकारके साधनोंसे साधनकालमें भी विशेष प्रसन्नता और शान्ति होती है तथा भगवान्‌की प्राप्ति सुगम और शीघ्र हो जाती है।

अतः हमलोगोंको नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकके अनुसार चारों प्रकारके ही साधनोंको काममें लानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

इस नवें अध्यायमें भक्तिके और भी बहुत-से श्लोक हैं, किंतु लेखका कलेवर न बढ़ जाय, इस संकोचसे विस्तार नहीं किया गया।

दसवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्ने अपने स्वरूप और प्रभावको तत्त्वसे जाननेवालेकी महिमा बतलायी है तथा ९ वें और १० वें श्लोकोंमें उपासनाका स्वरूप बतलाकर उससे अपनी प्राप्ति बतलायी है। भगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं।'

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इस अध्यायमें भगवान्ने और भी अपनी विभूति और प्रभावका वर्णन किया है, जिसका तत्त्व-रहस्य समझनेसे भगवान्‌की उपासनामें श्रद्धा-प्रेम बढ़कर साधन तेज हो सकता है।

ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्‌के प्रभावसहित स्तुति और प्रार्थनाका विस्तृत वर्णन है, उसका तत्त्व-रहस्य समझनेसे भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्य भक्ति होकर भगवत्प्राप्ति हो सकती है। इसी अध्यायके ५४ वें श्लोकमें भगवान्ने अपनी अनन्यभक्तिका प्रभाव बतलाकर ५५ वें श्लोकमें अनन्य-भक्तके लक्षणोंके रूपमें अनन्यभक्तिका स्वरूप बतलाया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।

'परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

अतः हमलोगोंको दसवें और ग्यारहवें अध्यायमें वर्णित साधनके अनुसार विशेष प्रयत्न करना चाहिये। इन दोनों अध्यायोंमें वर्णित विभूति और योग तथा प्रभावसहित स्तुति-प्रार्थनाके तत्त्व-रहस्यको भी समझना चाहिये, जिससे कि हमारा परमात्मामें श्रद्धा-प्रेम बढ़े तथा अनन्य-भक्तिका साधन तेज होकर परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सके।

बारहवें अध्यायकी तो बात ही क्या है, यह तो सारा अध्याय ही भक्तिसे ओतप्रोत है; इसमें भगवान्‌की भक्तिका वर्णन करके भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षण बतलाये गये हैं। अर्जुनके प्रश्न करनेपर इस बारहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान् अपने सगुणस्वरूपकी उपासनाको सर्वोत्तम बतलाते हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।'

६ ठे और ७ वें श्लोकोंमें सगुण-उपासनाका प्रकार बतलाकर 'मैं उस उपासकका संसार-सागरसे शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ'—भगवान्‌ने यह घोषणा करते हुए आश्वासन दिया है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

'परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

इसके बाद ८ वें श्लोकमें अर्जुनको स्पष्ट आज्ञा दी है कि 'मुझमें मन-बुद्धि लगानेसे मुझको ही प्राप्त होता है—इसमें कोई शङ्का नहीं।' अतः हमलोगोंसे और कुछ भी न बने तो अपने मन-बुद्धि भगवान्‌में निरन्तर लगें—इसके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

तेरहवें अध्यायसे अठारहवें अध्यायतक ज्ञानयोगका जितना वर्णन हुआ है, उतना अन्य अध्यायोंमें नहीं; इसलिये इस षट्कको ज्ञानयोगप्रधान भी कह सकते हैं। फिर भी ज्ञानके साधनके रूपमें भेदोपासनाका विषय भी आया है। तेरहवें अध्यायके १० वें श्लोकमें कहा है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

'मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना।'

उपर्युक्त अनन्य भक्तिके साधनसे ज्ञानकी प्राप्ति होकर सच्चिदानन्द परमात्माकी प्राप्ति सहजमें ही हो सकती है।

चौदहवें अध्यायके २६ वें श्लोकमें गुणातीत होनेका उपाय बतलाते हुए स्वयं भगवान् कहते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

'जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है।'

इससे स्पष्ट हो गया कि उपर्युक्त भक्तियोगके साधनसे मनुष्य तीनों गुणोंसे अतीत होकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये समर्थ हो जाता है। अतएव ज्ञानयोगके अध्यायोंमें भी हमको साधनके रूपमें अनन्यभक्तियोग यानी भेदोपासनाका उल्लेख मिलता है। अर्जुनके पूछनेपर गुणातीतके उपायमें भी भक्तिका साधन भगवान्‌ने बतलाया, अतः ज्ञानयोगके साधकोंको भी ज्ञानयोगकी सिद्धि होनेके लिये भगवान्‌की अनन्यभक्ति करनी चाहिये। अनन्यभक्तिसे केवल ज्ञानयोगकी ही सिद्धि नहीं होती, मनुष्य गुणातीत होकर अभेदरूपसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको भी प्राप्त कर सकता है।

पंद्रहवें अध्यायमें तो परम पदकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌की भक्तिको मुख्य बतलाया है। इस अध्यायके चौथे श्लोकमें—

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।

'जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ।'

—इस प्रकार साधकको उपासना करनेके लिये कहा गया है एवं आगे उन समग्ररूप पुरुषोत्तम भगवान्‌का और भी विशद प्रभाव बतलाकर नित्य-निरन्तर सब प्रकारसे उनकी उपासना करनेके लिये कहा गया है। भगवान्‌ने कहा है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

'हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि जो भगवान्‌को पुरुषोत्तम समझता है, उसकी यह कसौटी है कि वह फिर सब प्रकारसे भगवान्‌को ही भजता है। अतएव हमलोगोंको 'भगवान्‌से बढ़कर कोई नहीं है'—यह बात तत्त्वसे समझनी चाहिये। इसे समझना बहुत ही आवश्यक है।

सोलहवें अध्यायमें प्रधानतासे भक्तिका वर्णन नहीं है, फिर भी गीताके नवें अध्यायके १३ वें श्लोकमें जो यह बताया गया था कि दैवीसम्पदावाले महात्माजन भगवान्‌को अनन्यमनसे भजते हैं, तदनुसार सोलहवें अध्यायके प्रारम्भमें तीन श्लोकोंमें दैवीसम्पदाका वर्णन किया है। इतना ही नहीं, पहले श्लोकमें आये हुए '**ज्ञानयोगव्यवस्थिति**' शब्दका 'परमात्माके ध्यानमें निरन्तर दृढ़ स्थिति' यह अर्थ लिया जा सकता है तथा '**स्वाध्याय**' शब्द भी भगवत्-प्राप्तिविषयक शास्त्रोंका

और नामके कीर्तनका द्योतक है। इसलिये इन श्लोकोंसे भगवान्‌की भक्तिका भाव लिया जा सकता है।

सतरहवें अध्यायमें २३ वेंसे २७ वें श्लोकतक भगवान्‌के ॐ, तत्, सत्—इन तीन नामोंका कथन किया गया है; और इनका प्रयोग किन-किन विषयोंमें किया जाता है, इसका उल्लेख करते हुए भगवान्‌के नामका उच्चारण करके ही सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भकी तथा भगवान्‌के लिये ही कर्मोंके करनेकी बात कहकर भगवान्‌की भेदोपासनाका ही वर्णन किया है।

अठारहवें अध्यायमें तो कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग आदि सभी साधनोंका वर्णन है। ४६वें श्लोकमें अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌को पूजनेसे परम सिद्धिकी प्राप्ति बतायी गयी है तथा ५६वेंमें भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि 'मेरी शरण होकर जो कर्म करता है, वह मेरी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त होता है।' इस प्रकार कहकर स्वयं भगवान् अर्जुनको अपने परायण होनेके लिये आज्ञा देते हैं—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

'सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।'

इतना ही नहीं, नवें अध्यायके ३४वें श्लोककी भाँति इस अध्यायके ६५वें श्लोकमें शरणका प्रकार बतलाकर ६६वें श्लोकमें अर्जुनको 'तू एकमात्र मेरी शरण हो जा'—यह बात स्पष्ट शब्दोंमें भगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर (समर्पणकर) तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

यह भगवान्‌का अर्जुनके लिये सर्वोपरि अन्तिम उपदेश है। अतः हमलोगोंको गीताके अठारहवें अध्यायके ६५ वें और ६६ वें श्लोकोंके अनुसार सब प्रकारसे भगवान्‌की शरण होना चाहिये। यही सगुण भगवान्‌की भेद-उपासना है। इसीका नाम भक्तियोग है। अर्जुनके प्रति भगवान्‌ने गीतामें स्थान-स्थानपर इस अनन्य भक्तिरूप उपासनाका साधन करनेके लिये कहा है।

अभेदोपासना

ऊपर गीतामें भेदोपासनाका वर्णन बताया गया; अब अभेदोपासनाका दिग्दर्शन कराया जाता है। यह अभेदोपासना भी बहुत उच्च कोटिकी वस्तु है। भेदोपासना और अभेदोपासना—यह दो प्रकारकी निष्ठा अधिकारी-भेदके अनुसार भगवान्‌ने गीतामें अलग-अलग बतलायी है। कोई-कोई आचार्य अभेदोपासनाका सभी अध्यायोंमें दिग्दर्शन कराते हैं, किंतु हमारी धारणामें सभी अध्यायोंमें इसका स्पष्ट वर्णन नहीं प्रतीत होता। इस अभेदोपासनाका गीतामें 'सांख्ययोग', 'संन्यास' और 'ज्ञानयोग' के नामसे भी वर्णन किया गया है।

दूसरे अध्यायके ११ वें श्लोकसे ३० वेंतक सांख्ययोगके नामसे इस अद्वैतवादका वर्णन किया गया है। भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
(२।१६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

इस श्लोकसे दो पदार्थ माने गये—एक सत्, दूसरा असत्। इस प्रकरणमें देहीको आत्मा तथा नित्य, सत्य, अक्रिय, निर्विकार कहा गया है तथा देहको नाशवान् और अन्तवत्। इस प्रकार आत्मा नित्य, अचल, निर्विकार होनेसे 'सत्' है और देह विनाशशील, क्षणिक, अनित्य होनेसे 'असत्' है—यही निर्णय किया गया है। यहाँ आत्मा और परमात्माका अलग वर्णन न होनेसे अभेद प्रतीत होता है। ज्ञानके सिद्धान्तमें आत्मा और परमात्मा दो पदार्थ नहीं हैं। गीताके अठारहवें अध्यायके २० वें श्लोकमें सात्त्विक ज्ञानका लक्षण बतलाते हुए भगवान्‌ने यही भाव दिखलाया है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान।'

तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने बतलाया है—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

'हे निष्पाप! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है।'

यहाँ जो यह कहा कि 'सांख्यसिद्धान्तको माननेवालेके लिये ज्ञानयोगके द्वारा इस निष्ठाका पहले वर्णन कर दिया गया'—इस कथनसे दूसरे अध्यायके ११ वेंसे ३० वें तकके श्लोकोंका ही लक्ष्य है। तथा इस तीसरे अध्यायके १७ वें श्लोकमें अभेदरूपसे सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त पुरुषके लक्षण बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

'परंतु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

एवं २८ वें श्लोकमें कहा है—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

'परंतु हे महाबाहो! गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता।'

यहाँ तत्त्ववेत्ताको अकर्ता बतलाकर ज्ञानयोगका ही वर्णन किया गया है।

चौथे अध्यायके २४ वें श्लोकमें 'जो भी कुछ है, सब ब्रह्म ही है'—इस अभेदोपासनाके भावसे यज्ञको उपलक्ष्य करके सबमें ब्रह्मबुद्धि करनेके लिये कहा गया है। भगवान् कहते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

'जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही है।'

तथा २५ वें श्लोकके उत्तरार्द्धमें कहा गया है—

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥

'अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें अभेद-दर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं।'

यहाँ आत्माको परमात्मामें हवन करनेकी बात कहकर यह बात दिखलायी गयी है कि कितने ही सच्चिदानन्दघन परमात्मामें अपनी आत्माको विलीन करते हैं अर्थात् अभेदरूपसे ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार यहाँ जीवात्मा और परमात्माकी एकताका वर्णन किया गया है।

चौथे अध्यायके ३४ वें और ३५ वें श्लोकोंमें भगवान् अभेदज्ञानकी प्राप्तिके लिये ज्ञानी महात्माके पास जानेकी प्रेरणा करते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ। उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्म-तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे, जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

अतः जो ज्ञानयोगके अधिकारी हैं, जिनकी ज्ञानयोगमें श्रद्धा और रुचि है, उन पुरुषोंको ज्ञानी महात्माओंके पास जाकर, ज्ञानयोगका तत्त्व-रहस्य समझकर उसके अनुसार साधन करना चाहिये।

पाँचवें अध्यायके ८ वें, ९ वें और १३ वें श्लोकोंमें व्यवहारकालमें सांख्ययोगका साधन किस प्रकार करना चाहिये, यह बात बतलानेके लिये तत्त्ववेत्ता सांख्ययोगीके लक्षण बताये गये हैं। तथा १७ वें श्लोकमें एकान्त देशमें स्थित होकर ज्ञानयोगी ध्यानावस्थामें किस प्रकारसे उपासना करता है, यह बात बतलायी गयी है। वहाँ मन, बुद्धि और आत्माको सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें तद्रूप करनेके लिये कहकर अपुनरावृत्तिरूप सच्चिदानन्दघनकी प्राप्ति बतायी गयी है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पाप-रहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

२४ वें श्लोकमें ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित आत्माराम तथा आत्मामें ही आनन्द और ज्ञानरूप ज्योतिके अनुभव करनेवाले सांख्ययोगीको निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति बतायी गयी है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

'जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

यहाँ 'ब्रह्मभूत' शब्द अभेदोपासनाका वाचक है।

२५ वें और २६ वें श्लोकोंमें भी सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकारके साधनसे निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है। पाँचवें अध्यायमें और भी कई जगह निराकारकी उपासनासे परब्रह्मकी प्राप्तिका वर्णन है।

छठे अध्यायके १८ वेंसे २६ वें श्लोकतक व्यवहार-कालमें तथा एकान्तकालमें निर्गुण-निराकारकी अभेद-उपासनाका प्रकरण है तथा २७ वें और २८ वें श्लोकोंमें सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित ज्ञानयोगी पुरुषको अनायास ही अनन्त आनन्दरूप परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिका उल्लेख है। इसका साधन बताते हुए २९ वेंमें उस समदर्शी योगयुक्तात्मा पुरुषके लिये सारे भूतोंको अपने आत्माके अन्दर संकल्पके आधार तथा सारे भूतोंमें अपने आत्माको बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखनेको कहा गया है।

सातवें अध्यायसे बारहवेंतक तो भेदोपासनाकी प्रधानता है। इन अध्यायोंमें अभेदोपासनाविषयक श्लोक बहुत ही कम हैं, फिर भी सातवें अध्यायके १९ वें श्लोकमें वर्णित सिद्ध पुरुषके लक्षणमें 'जो कुछ है सो परमात्माका ही स्वरूप है'—इस रूपमें अभेदोपासनाका साधन लिया जा सकता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

आठवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें सबका अभाव होनेपर भी सच्चिदानन्द परब्रह्मका अभाव नहीं होता, इस रूपमें अभेदका वर्णन है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

'उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्तभाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता।'

नवें अध्यायके १५ वें श्लोकमें ज्ञानयज्ञके नामसे एकीभावसे अभेद-उपासनाका भी वर्णन किया गया है।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥

'दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्मका ज्ञानयज्ञके द्वारा अभिन्नभावसे पूजन करते हुए भी मेरी उपासना करते हैं और दूसरे मनुष्य बहुत प्रकारसे स्थित मुझ विराट्-स्वरूप परमेश्वरकी पृथक् भावसे उपासना करते हैं।'

दसवें अध्यायमें विभूतिका प्रकरण समाप्त करते हुए ३९ वें श्लोकमें भगवान्ने बतलाया है कि 'मुझ परमात्माके सिवा अन्य चर-अचर कोई भी पदार्थ नहीं है यानी सब कुछ मेरा ही स्वरूप है'—इस रूपमें अभेदकी झलक है।

इसी प्रकार ग्यारहवें अध्यायमें स्तुति करते हुए अर्जुन ३७ वें श्लोकमें कहते हैं कि 'सत्, असत् और इससे भी परे जो कुछ है सो आप ही हैं' तथा चालीसवेंमें भी 'हे सर्वरूप परमात्मन्! आप सारे संसारको व्याप्त किये हुए हैं, अतः सब कुछ आप ही हैं।' अर्जुनकी इस स्तुतिमें 'सब कुछ आप ही हैं' इस प्रकारके भावसे भी अभेदकी झलक है, किंतु स्पष्टरूपसे अभेदोपासनाका वर्णन नहीं है।

बारहवें अध्यायके तीसरे, चौथे श्लोकोंमें निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन करके उसकी अभेद-उपासनासे परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है तथा पाँचवेंमें देहाभिमानियोंके लिये अभेद-उपासनाके द्वारा उस निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी प्राप्तिको कठिन बतलाया गया है।

तेरहवें अध्यायमें सांख्ययोग यानी ज्ञानयोगका वर्णन विशेषरूपसे आया है; ग्यारहवें श्लोकमें '**अध्यात्म-ज्ञाननित्यत्वम्**' अर्थात् 'अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति' से अभेद-उपासनाका साधन बतलाकर १२ वेंमें—

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।

अर्थात् 'वह अनादिवाला परमब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही,' इससे उस अकथनीयस्वरूप निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका कथन किया गया है। पंद्रहवेंमें कहा गया है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।

'वह परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है।'

इस प्रकार यहाँ सर्वरूपसे अभेद-उपासनाका वर्णन है। १६ वेंमें—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

'वह परमात्मा विभागरहित एक रूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण होनेपर भी चराचर सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है।'

—इस कथनसे घटाकाश और महाकाशकी भाँति जीवात्मा और परमात्माकी एकताका प्रतिपादन किया गया है। तथा २७ वें श्लोकमें 'सारे भूतोंके नाश होनेपर भी उस परमात्माका नाश नहीं होता' इस कथनसे यह भाव व्यक्त किया गया है कि 'सबके अभाव होनेपर भी एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा रह जाता है' इस प्रकार यहाँ अभेद-उपासनाका दिग्दर्शन कराया गया है। भगवान् कहते हैं—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

'जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

२८ वेंमें समभावसे देखनेका फल, २९ वेंमें आत्माको अकर्ता देखनेवालेकी महिमा, ३० वेंमें परमात्मा ही इस सम्पूर्ण जगत्‌के निमित्त और उपादान कारण हैं यानी जो कुछ है सो ब्रह्म ही है—यह बतलाकर इस प्रकारके साधनका फल अभेदरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति बतलाया गया है। भगवान् कहते हैं—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

'जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

इसी प्रकार इस अध्यायके अन्य श्लोकोंमें भी निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी अभेदोपासनाका वर्णन है। अन्तिम ३४ वें श्लोकमें उपर्युक्त साधनका वर्णन करते हुए उसका फल अभेदरूपसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया है।

चौदहवें अध्यायके प्रारम्भमें ही प्रथम श्लोकमें ज्ञानोंमें उत्तम ज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा करके उसके जाननेका फल परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप परम सिद्धि बतलाया गया है तथा १९ वें श्लोकमें आत्माको द्रष्टा-साक्षी कहकर गुणोंसे रहित उस परमात्माको तत्त्वसे जाननेका फल परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति बताया गया है। यह उपासना सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे स्थित होकर व्यवहारकालमें की जाती है। एवं बीसवें श्लोकमें इसीका फल 'अमृत' के नामसे परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति बताया गया है।

पंद्रहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें जो बताया गया कि 'ज्ञानीजन ज्ञानचक्षुसे इस आत्माका साक्षात्कार करते हैं' इससे यहाँ अभेदभावसे आत्माके साक्षात्कारका लक्ष्य है।

सोलहवें अध्यायके पहले श्लोकमें '**ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः**'का अर्थ भक्तिकी दृष्टिसे 'परमात्माके ध्यानमें दृढ़ स्थिति' ऐसा लिया है, किंतु वहाँ 'ज्ञानयोग' शब्द होनेके कारण अभेदकी दृष्टिसे 'ज्ञानयोग यानी सांख्ययोगमें दृढ़ स्थिति' ऐसा अर्थ भी ले सकते हैं। वास्तवमें सोलहवें अध्यायका प्रकरण प्रधानतया भेद या अभेद किसी उपासनाके लक्ष्यसे नहीं है। वहाँ तीन श्लोकोंमें धारण करनेके लिये दैवी सम्पदाका विस्तारसे वर्णन है तथा चौथेमें आसुरी सम्पदा त्याग करनेके उद्देश्यसे संक्षेपमें कही गयी है। इस विषयमें पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥

'दैवी सम्पदा मुक्तिके लिये और आसुरी सम्पदा बाँधनेके लिये मानी गयी है। इसलिये हे अर्जुन! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुआ है।'

इसके बाद छठे श्लोकसे २१ वेंतक आसुरी सम्पदाका विस्तारसे वर्णन किया है।

सतरहवें अध्यायमें प्रधानतया श्रद्धाका ही प्रकरण है, इसलिये वहाँ अभेद-उपासनाका वर्णन प्रतीत नहीं होता।

अठारहवें अध्यायमें अभेदोपासनाका विस्तारसे वर्णन है। इसमें तेरहवेंसे लेकर ४० वें श्लोकतक सांख्ययोगकी दृष्टिसे कर्मोंके हेतुओंका और आत्माके अकर्तापनका तथा ज्ञान, कर्म, कर्ता आदिके सात्त्विक, राजस, तामस भेदोंका प्रतिपादन किया गया है। जिसमें १६ वेंमें शुद्ध आत्माको कर्ता माननेवालेकी निन्दा करके १७ वेंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित पुरुषको निर्दोष बतलाया गया है और २० वें श्लोकमें आत्मा और परमात्माकी एकताका वर्णन है। २३ वें और २६ वेंमें सात्त्विक कर्म और सात्त्विक कर्ताका लक्षण करते हुए ज्ञानयोगकी दृष्टिसे कर्तापनके अभिमानका अभाव बतलाया गया है।

इसी अध्यायके ४९ वें श्लोकमें 'संन्यास' के नामसे सांख्ययोगके साधनद्वारा परम नैष्कर्म्यसिद्धिरूप परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिका वर्णन किया गया है तथा ५० वेंमें किस प्रकार अभेदरूपसे उपासना करनेसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति होती है, इसका 'ज्ञानकी परानिष्ठा' के नामसे वर्णन करके ५१ वेंसे ५५ वेंतक उस ज्ञानकी परानिष्ठाका संक्षेपमें किंतु स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया है। यहाँ सांख्ययोगकी दृष्टिसे सच्चिदानन्द ब्रह्मकी अभेदोपासनाका वर्णन है।

भगवान् कहते हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हलका, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणाशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्द ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है। फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी पराभक्तिको प्राप्त हो जाता है। उस पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ—ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

ऊपर गीतोक्त भेद और अभेद उपासनाका जो वर्णन किया है, उससे पाठकोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि ये दोनों प्रकारकी निष्ठाएँ अधिकारी-भेदसे बतलायी गयी हैं (गीता ३। ३)। ये दोनों ही श्रेष्ठ हैं; अन्तिम फल दोनोंका एक ही है (गीता ५। ४-५ तथा १३। २४) और वह फल अनिर्वचनीय है। उसे इयत्ता करके किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता। जो उसको प्राप्त होता है, वह भी वाणीके द्वारा उसे नहीं कह सकता; क्योंकि वह अनुभवरूप है। जिसकी श्रद्धा-रुचि भक्ति-भावमें है, वह भेद-उपासनाका अधिकारी है तथा जिसकी श्रद्धा-रुचि ज्ञानमार्गमें है, वह अभेद-उपासनाका अधिकारी है।

जिस उपासनामें साधनकालमें भेद और फलमें अभेद है, वह वास्तवमें अभेद-उपासना ही है (जैसे गीता १४। २६)। जो साधनमें अभेद है और फलमें भी अभेद है, वह तो सांख्ययोगका साधन है ही (जैसे गीता ४। ३४-३५)। परंतु जो साधनमें भेद है और फलमें भी भेद है, वह भेदोपासना है (जैसे गीता १८। ६५-६६)। कहीं साधन-कालमें भेद-उपासना है; किंतु उसका फल भेद और अभेद दोनों बतलाया गया है; जैसे ग्यारहवें अध्यायके ५४ वें श्लोकमें अनन्य भक्तिका फल भगवान्‌के दर्शन, ज्ञान और अभेदरूपसे परमात्माकी प्राप्ति भी बतलाया गया है। अतः गम्भीरतासे विचार करनेपर उपासनाका विषय गीतामें सभी प्रकारसे मिलता है—कहीं ज्ञानप्रधान भक्ति (१३। १०) और कहीं भक्तिप्रधान ज्ञान (१४। २६) तथा कहीं केवल भक्ति (१२। ६-७) एवं कहीं केवल ज्ञान (६। २७—२९)।

इसलिये जिस साधककी जिस उपासनामें श्रद्धा हो, उसके लिये वही सर्वोत्तम है। उसीको तत्परताके साथ करना चाहिये। कोई भी साधन हो, सभीमें परमात्माके नामका जप और स्वरूपका ध्यान अवश्य रहना चाहिये तथा वह श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर होना चाहिये। इस प्रकार होनेसे परमात्माकी प्राप्ति सुगम और शीघ्र हो सकती है।

प्रकृति-पुरुष-विचार

किसी भाईका प्रश्न है कि 'सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुणमय पदार्थ प्रकृतिसे किस प्रकार उत्पन्न होते हैं और प्रकृतिको कर्ता तथा पुरुषको भोक्ता किस कारणसे बताया गया है?' इसके उत्तरमें निम्नलिखित

निवेदन है। भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥

(१३। १९)

'प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको ही तू अनादि जान और राग-द्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान।' इसमें विकारों और गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न बतलाया है। अतः पहले यह जानना चाहिये कि 'विकार' कितने हैं। विकारोंके सम्बन्धमें इसी तेरहवें अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

'इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतना और धृति—इस प्रकार विकारोंके सहित यह क्षेत्र संक्षेपमें कहा गया।' इसके पूर्वके श्लोक (१३। ५) में शरीरके कितने तत्त्व हैं, वे बतलाये गये हैं। यहाँ 'क्षेत्र' शरीरका नाम है। अतः ये सब शरीरके विकार हैं। इनमें इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, धृति और चेतना—ये हृदयके विकार हैं। संघात स्थूलदेहका विकार है। धृति और चेतना सात्त्विक होनेसे अच्छे विकार हैं। 'इच्छा' रागका कार्य होनेसे एक प्रकारसे राग ही है। ये राग-द्वेष ही सब विकारोंकी जड़ हैं। अनुकूलतामें होनेवाली वृत्तिका नाम 'राग' है तथा प्रतिकूलतामें होनेवाली वृत्तिका नाम 'द्वेष' है। जो कुछ प्रतिकूल होता है, उसमें द्वेष तथा दुःख होता है, भय तथा ईर्ष्या होती है, प्रतिद्वन्द्विता तथा चिन्ता होती है; इसके अतिरिक्त भी द्वेषके कारण अन्य अनेकों विकार होते हैं। इसी प्रकार रागके कारण भी हर्ष, काम आदि अनेकों विकार पैदा हो जाते हैं। इच्छासे भी अनेकों विकार पैदा होते हैं।

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः॥
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।

(गीता २। ६२-६३)

'आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अत्यन्त मूढभाव उत्पन्न हो जाता है, मूढभावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है।'

ये सब राग और इच्छाके ही विकार हैं। आसक्तिसे कामना होती है, कामनामें आघात पड़नेपर क्रोध होता है, फिर स्मृतिविभ्रम, उससे बुद्धिका नाश एवं बुद्धिके नाशसे सर्वथा पतन हो जाता है। ये सारे विकार इन्हींसे हुए। इसीलिये भगवान्‌ने कहा कि मैंने तुम्हें संक्षेपसे ही 'विकार' बतलाये हैं। अब दूसरे विषयपर विचार करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।

(१३। १९)

'विकारोंको और त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान।' सत्त्व, रज, तम—ये तीन गुण हैं। प्रकृतिसे ही कार्य-करणरूप तीनों गुणोंका विस्तार होता है। महासर्गके आदिमें केवल प्रकृति और पुरुष दो ही रहते हैं। पुरुष यानी परमात्मा और प्रकृति यानी परमात्माकी शक्ति; अर्थात् शक्ति और शक्तिमान्। इन्हींसे यह सारा संसार उत्पन्न हुआ। गीताके १४ वें अध्यायके तीसरे श्लोकमें यह बात बतलायी है कि महद्ब्रह्म प्रकृति है और मैं बीजको देनेवाला पिता हूँ। अतः प्रकृति सबकी माँ है और मैं उसमें बीजको छोड़नेवाला पिता हूँ, जिससे कि समस्त संसारकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार त्रिगुणमय सम्पूर्ण पदार्थ प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं।

महासर्गके आदिमें सृष्टिकी उत्पत्ति होती है और महाप्रलयके समय सारे प्राणी प्रकृतिमें विलीन हो जाते हैं। उन सब प्राणियोंके स्थूल शरीर प्रलयके समय विनष्ट हो जाते हैं। सूक्ष्म शरीरके अभिमानी जीव रहते हैं, पर उनके सूक्ष्म शरीर भी अपने 'कारण' में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार महाप्रलयमें सबका विलय हो जाता है। फिर महासर्गके समय इसी प्रकारसे सबकी उत्पत्ति होती है। संसारकी उत्पत्ति और प्रलयके वर्णनमें शास्त्रोंमें कुछ-कुछ भिन्नता दिखायी देती है। महर्षि पतञ्जलिप्रणीत योगशास्त्र एवं भगवान् कपिलदेवद्वारा रचित सांख्यशास्त्रमें जितने पदार्थ बतलाये गये हैं, उतने ही गीतामें भी बताये गये हैं। वहाँ सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम इस प्रकार है—प्रकृतिसे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति हुई, महत्तत्त्वसे समष्टि अहङ्कारकी, अहङ्कारसे मन और पञ्च-तन्मात्राओंकी एवं पञ्च-तन्मात्राओंसे श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, नासिका, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और गुदा—इन दस इन्द्रियोंकी और आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पञ्च स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति हुई। इसी विषयको गीताके १३ वें अध्यायके ५ वें श्लोकमें इस प्रकार बतलाया है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

अर्थात् पाँच महाभूत, छठा अहङ्कार, सातवीं बुद्धि, आठवीं मूल प्रकृति (अव्याकृत माया), दस इन्द्रियाँ और एक मन—इस प्रकार आठ और ग्यारह कुल उन्नीस तथा उन इन्द्रियोंके पाँच विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—यों २४ पदार्थ होते हैं। ये ही चौबीस पदार्थ 'सांख्य' में और 'योग' में बताये गये हैं। इनकी उत्पत्तिके क्रममें थोड़ा अन्तर है। इसका कारण यह है कि सृष्टिकी उत्पत्ति सदा एक ही क्रमसे नहीं हुआ करती। उसमें थोड़ी-बहुत विभिन्नता रहती है। इसीलिये वेदोंमें, श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें, मनुस्मृतिके प्रथमाध्यायमें एवं उपनिषदादिमें जो सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम बतलाया है, उसमें सर्वत्र ही कुछ-न-कुछ विभिन्नता है। पर मूल सिद्धान्त यही है कि प्रकृतिसे ही सब जड पदार्थोंकी उत्पत्ति हुई है। अब यह जानना है कि गीताके सिद्धान्तके अनुसार पदार्थोंकी उत्पत्ति किस प्रकारसे होती है। इसके लिये, यहाँ 'अव्यक्त' से उलटा चक्र चलता है, ऐसा समझना चाहिये—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

अव्यक्त सबसे परे है। इस अव्यक्तसे ही सबकी उत्पत्ति होती है। अव्यक्तका अर्थ है 'अव्याकृत माया,'—प्रकृति या ईश्वरकी शक्ति। इस ईश्वरकी शक्तिरूप 'अव्यक्त' को यहाँसे उलटा चलाइये तो इस प्रकृतिसे बुद्धिकी उत्पत्ति हुई। इस बुद्धिको ही 'समष्टि बुद्धि' या 'महत्तत्त्व' कहते हैं। 'वेदान्त' 'समष्टि बुद्धि' कहता है तथा 'सांख्य' एवं 'योग' इसे 'महत्तत्त्व' कहते हैं। इस बुद्धिसे अहङ्कारकी उत्पत्ति हुई और अहङ्कारसे पञ्चमहाभूतादिकी। ये पञ्चमहाभूत पञ्चसूक्ष्म-महाभूत हैं। ये इन्द्रियों और उनके विषयोंके कारण होनेसे उनकी प्रकृति भी हैं; सांख्यमें भी यही बतलाया गया है कि एक मूल प्रकृति, सात प्रकृति-विकृति और षोडश विकार,— यों सब मिलकर चौबीस होते हैं। गीतामें प्रकृतिका वर्णन इस तरह आया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
(७। ४)

'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच सूक्ष्म महाभूत तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार भी—इस प्रकार यह आठ प्रकारसे विभाजित मेरी प्रकृति है।'

यहाँ मूलप्रकृतिका उल्लेख न करके मनका उल्लेख किया है; किंतु मन किसीकी प्रकृति नहीं है, इसीलिये स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीने यहाँ इस गीताके प्रसङ्गपर मनका अर्थ मन न कर 'अहङ्कार' किया है और बुद्धिका अर्थ 'महत्तत्त्व' तथा अहङ्कारका अर्थ 'अव्याकृत माया' किया है। हमें यहाँ आठोंको प्रकृति समझ लेना चाहिये, क्योंकि भगवान्‌ने इनको 'प्रकृति' कहा है। अतः हमें इस प्रकारसे चलना चाहिये। उलटे चक्रके हिसाबसे अव्याकृत मायासे बुद्धिकी उत्पत्ति हुई, बुद्धिसे अहङ्कारकी, अहङ्कारसे पञ्चतन्मात्रारूप सूक्ष्मभूतोंकी और एक मनकी। इन पञ्च-सूक्ष्मभूतोंसे दस इन्द्रियोंकी और उसके बाद पाँच विषयोंकी उत्पत्ति हुई। पाँच विषय और दस इन्द्रियोंकी पञ्चसूक्ष्मभूतोंसे उत्पत्ति हुई, इसमें तो मतभेद नहीं है, किंतु मनको कोई पाँच भूतोंसे उत्पन्न मानता है, कोई अहङ्कारसे उत्पन्न मानता है। वेदोंमें, भागवतमें इन पाँच भूतोंकी उत्पत्तिमें अलग-अलग क्रम बतलाया है—आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल, जलसे पृथ्वी—इस प्रकार भी क्रम है। इस समस्त क्रमको मानकर विचार करनेपर यही बात सिद्ध होती है कि जब प्रलय होता है, तब पृथ्वी जलमें डूब जाती है, जलको अग्नि सुखा देती है, अग्निको वायु शान्त कर देता है और वायु आकाशमें स्वतः शान्त हो जाता है; रह जाता है आकाश। जब महाप्रलय होता है, तब आकाश तथा पञ्चभूतोंके और भी जितने विकार हैं, वे सब अहङ्कारमें विलीन हो जाते हैं और मन भी अहङ्कारमें, अहङ्कार बुद्धि (महत्तत्त्व) में, बुद्धि अव्यक्त मायामें लीन हो जाती है। अव्यक्त माया 'ईश्वरकी शक्ति' है। वह महाप्रलयमें भी विद्यमान रहती है। इसी क्रमसे जब सृष्टि उत्पन्न होती है, तब प्रकृतिसे प्रथम महत्तत्त्वकी यानी समष्टि बुद्धिकी उत्पत्ति होती है। बुद्धिसे समष्टि अहङ्कारकी, अहङ्कारसे मनकी तथा अहङ्कारसे ही पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है। पञ्चतन्मात्राको ही 'सूक्ष्मभूत' कहते हैं। जब 'सूक्ष्मभूत' कहते हैं, तब फिर उनसे विषयोंकी उत्पत्ति मान लेनी उचित है। यदि उन पाँच सूक्ष्म विषयोंको पञ्चतन्मात्रा मानें तो पञ्चभूतोंकी इन तन्मात्रारूप सूक्ष्म विषयोंसे उत्पत्ति माननी चाहिये। 'योगशास्त्र' और 'सांख्यशास्त्र' ऐसा मानते हैं। इस प्रकारसे इन सबकी उत्पत्ति मानी गयी है। महासृष्टिके आदिमें केवल प्रकृति ही थी। प्रलयके समय समस्त जीवोंके स्थूल शरीर 'समष्टि सूक्ष्मप्रकृति' में विलीन हो जाते हैं। 'सूक्ष्मप्रकृति' मूलप्रकृतिमें विलीन हो जाती है।

यह मूलप्रकृति सबका आयतन है। यही 'समष्टि-कारण-शरीर' है। जैसे एक बादल है और उस बादलमें एक-एक परमाणु है; जैसे वह बादल और बादलके प्रत्येक परमाणु एक ही चीज हैं, वैसे ही प्रकृति है। वस्तुतः प्रकृतिके परमाणु नहीं होते, केवल समझानेके लिये ही ऐसा कहा गया है। मूलप्रकृतिमें ऐसा अवच्छेद नहीं किया जाता कि जिससे परमाणु माने जायँ। आकाशके भी कोई तो परमाणु मानते हैं और कोई नहीं मानते। पर आकाशका विभाग तो इस रूपमें किया भी जा सकता है कि जैसे आकाशमें सैकड़ों पक्षी उड़ रहे हैं, तो उनमेंसे प्रत्येकने अपने-अपने आकाशके स्थानमें उतने-उतने आकाशका अंश रोक रखा है। समझानेके लिये इसी प्रकार मूलप्रकृतिके लिये भी माना जा सकता है कि जीव मूलप्रकृतिके जिस अंशमें स्थित है, उतना अंश उसका आयतन है, स्थान है या यों कहिये कि उसका कारण-शरीर है। इस प्रकारसे कारण-शरीर-सहित 'जीव' प्रकृतिमें रहता है। यदि वह 'कारणशरीर' से रहित हो जाता तो उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती। परमात्माकी प्राप्ति या मुक्ति इसीलिये नहीं होती कि जीव कारण-शरीरमें स्थित रहता है। 'कारणशरीर' के अंदर ही 'सूक्ष्मशरीर' है और सूक्ष्मशरीरके अंदर समस्त पाप-पुण्य कर्मोंके संस्कार हैं। पाप-पुण्यके जो संस्कार भोगनेसे शेष रह जाते हैं, उन्हींके फल-भोगके लिये ही प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है। जितने कालतक सृष्टि रहती है, उतने ही कालतक महाप्रलय रहता है। यह नियम है। महाप्रलयके समाप्त होनेके बाद और महासर्गके आदिमें प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है। उस क्षोभसे हलचल मचती है। हलचल मचनेसे दस कार्य और तेरह करणकी उत्पत्ति होती है। भगवान् कहते हैं—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥
(गीता १३। २०)

'कार्य और करणको उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है और पुरुष यानी जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें अर्थात् भोगनेमें हेतु कहा जाता है।'

कार्य-करणकी उत्पत्तिमें प्रकृति हेतु कैसे? इस विषयपर तो विवेचन हो चुका। 'कार्य' हैं दस—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। 'करण' यानी द्वार हैं तेरह—पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार। इस प्रकार तेरह और दस मिलाकर तेईस होते हैं। एक 'मूल प्रकृति' को लेकर चौबीस तत्त्व हो जाते हैं। कुछ सज्जन अन्तःकरणके मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार—ये चार भेद मानते हैं, किंतु गीतामें इसके तीन ही भेद बताये गये हैं। योगशास्त्र तथा सांख्यशास्त्रमें भी तीन भेद बतलाये हैं। चित्त और मनको एक ही माना गया है। ये जो तेईस पदार्थ हैं, इन सबका उपादानकारण प्रकृति ही है। इसीलिये यह कहा गया है कि इनका 'हेतु'—'कारण' प्रकृति है। यह तेईस तत्त्वोंका समूह उसका 'कार्य' है। अब सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु 'पुरुष' है, इसपर विचार करना है।

प्रकृतिमें स्थित जो 'पुरुष' है, वही सुख-दुःखोंका भोक्ता है। वस्तुतः केवल शुद्ध आत्मामें भी भोक्तापन नहीं है और प्रकृतिमें भी भोक्तापन नहीं है। प्रकृति तो 'जड' है, इसलिये वह भोक्ता नहीं है और केवल आत्मा 'शुद्ध' होनेके कारण उसमें भोक्तापन नहीं है। भोक्ता है—'जीव'। 'जीव' कहते हैं प्रकृति और पुरुषकी एकताको। अतः सुख-दुःखोंका भोक्ता है—प्रकृतिके साथ एकात्मताको प्राप्त पुरुष—'**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्**' (१३। २१)। यहाँ जीवको ही 'पुरुष' कहा है। जो प्रकृतिमें स्थित 'जीव' है, वही सुख-दुःखोंका भोक्ता है; केवल शुद्ध आत्मा नहीं।

पातञ्जल-योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने कहा है—'**हेयं दुःखमनागतम्**' (योग २। १६) 'आनेवाले दुःख हेय (त्याज्य) हैं।' 'अनागत' उन्हें कहते हैं, जो अभी आये नहीं हैं। जो दुःख आ चुके हैं यानी भूतकालके हैं, उनके त्यागके लिये यहाँ नहीं कहा है; क्योंकि वे तो गत हो गये—बीत चुके। वर्तमान क्षणमें जो दुःख है, वह भी एक क्षणमें ही भूत हो जायगा। उसके लिये भी विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। पर जो आनेवाले दुःख हैं, उनका त्याग करना चाहिये। अब यह शङ्का होती है कि 'अनागत' दुःखोंका हेतु कौन है? तो कहते हैं—'**द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः**' (योग० २। १७) 'द्रष्टा और दृश्य यानी चेतन पुरुष और जड प्रकृतिका जो संयोग है—एकात्मता है, वही हेयका हेतु है, उसीसे दुःख होते हैं।' अतः प्रकृतिस्थ पुरुषको ही सुख-दुःख आकर प्राप्त होते हैं। अब यह जाननेकी इच्छा हुई कि 'संयोगका हेतु क्या है? उसका भी तो कोई कारण होना चाहिये?' इसके उत्तरमें बतलाया—'**तस्य हेतुरविद्या**' (योग० २। २४) 'उसका हेतु अज्ञान है।' उस अज्ञानका नाश होता है—ज्ञानसे। ज्ञानके उत्पन्न होनेपर अज्ञानका नाश हो जाता है, अज्ञानका नाश होते

ही प्रकृति-पुरुषका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और इस प्रकार जब वे अलग हो जाते हैं, तब सुख-दुःखका भोक्ता कोई नहीं रहता; क्योंकि पुरुष 'कृतकृत्य' हो जाता है। यहाँ यह प्रश्न होता है—'जब पुरुष कृतकृत्य हो जाता है, तब उसके लिये संसार रहता है या नहीं?' इसपर कहते हैं—'**कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्**।' (योग० २। २२) 'कृतकृत्य' पुरुषकी दृष्टिमें प्रकृति नहीं रहती, अब वह सृष्टि अन्य सर्वसाधारणके लिये होनेसे, जो मुक्त नहीं हैं, उनके लिये रहती है। जो कृतार्थ हो गया, उसके लिये यह संसार नहीं है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रकृतिस्थ पुरुष ही सुख-दुःखोंका भोक्ता है। 'भोक्ता कैसे है ?' 'अज्ञानसे।' इसमें अज्ञान क्या है? यह मान लेना कि 'यह देह मैं हूँ तथा यह देह मेरा है।' स्वप्नावस्थामें स्वप्नद्रष्टा मनुष्य जैसे यह मानता है कि 'शरीर मैं हूँ', 'देह मेरा है' आदि; किंतु जागनेपर उसका यह संसार सब समाप्त हो जाता है। तब वह समझता है कि स्वप्नका संसार केवल संकल्पमात्र था, यथार्थमें कोई वस्तु नहीं थी। इतना होनेपर भी स्वप्नावस्थामें तो स्वप्नकी वस्तुएँ सत्य ही प्रतीत होती थीं। इसी प्रकार अज्ञाननिद्रामें जगत् सत् दीखता है। अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार वास्तवमें देखा जाय तो शरीर भी कल्पित है, 'मैं-मेरापन' भी कल्पित है और संसार भी कल्पित है। यह समस्त प्रपञ्च सर्वथा 'कल्पित' है। 'योग' और 'सांख्य' के सिद्धान्तानुसार यह सब जडवर्ग 'परिणामी' है। अन्तःकरणमें जो अज्ञान है, उसीके कारण सुख-दुःखका भोग होता है। 'योग' और 'सांख्य' का कथन है कि वास्तवमें यह शरीर और अन्तःकरण ऐसी चीज नहीं है, जो कल्पित हो। ये हैं, पर हैं परिवर्तनशील—सदा बदलते रहते हैं, इनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर आत्मा मुक्त हो जाता है। 'अद्वैतसिद्धान्त' कहता है कि सम्बन्ध-विच्छेद-जैसी कोई वस्तु नहीं है, यह सर्वथा स्वप्नवत् है, वास्तवमें है ही नहीं।

सुख-दुःखका कौन पुरुष भोक्ता है? इस विषयमें भगवान् कहते हैं—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(गीता १३। २१)

'प्रकृतिमें स्थित ही पुरुष यानी जीवात्मा प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके सत्-असत् यानी अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

संगका अभिप्राय है—आसक्ति और संयोग। सत्त्व, रज, तम—ये तीन गुण हैं। जीवात्माकी इन तीनों गुणोंमें जो प्रीति है और इनके साथ जो सम्बन्ध है, उसीके अनुसार मरनेपर उसे अच्छी-बुरी योनि मिलती है। जिसकी सत्त्वगुणमें प्रीति और स्थिति होती है, वह ऊपरके लोकोंमें जाता है; जिसकी रजोगुणमें प्रीति और स्थिति है, वह मनुष्यादि योनिको प्राप्त होता है, एवं जिसकी तमोगुणमें प्रीति और स्थिति होती है, वह नीचेके लोकोंमें—नरकोंमें अथवा कीट-पतंगादि तिर्यक् योनियोंमें जन्म लेता है। 'सत्' ऊपरकी योनियोंको कहते हैं और 'असत्' नीचेकी योनियोंको। मनुष्ययोनिसे जितनी भी नीचेकी योनियाँ हैं, वे सब 'असत्' हैं तथा मनुष्यसे ऊपरकी जितनी योनियाँ हैं, वे सब 'सत्' हैं। इसलिये जो मनुष्य केवल शुद्ध सत्त्वगुणमें स्थित रहता है, वह अर्चि-मार्गसे ऊपरको जाकर सत्स्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है; किंतु जिसमें रजोगुणका मिश्रण रहता है, वह धूममार्गसे देवलोकमें जाकर, देवताओंके भोगोंको भोगकर पुनः मृत्युलोकको प्राप्त होता है। अर्थात् ऊपर जानेवाला यदि 'सकामी' होता है तो वह पुनः इस लोकमें आता है; परंतु निष्कामीका पुनरागमन नहीं होता।

यहाँतक यह निर्णय हुआ कि शुद्ध आत्मा भोक्ता नहीं है, प्रकृतिस्थ पुरुष (जीवात्मा) ही भोक्ता है।

अब यह जाननेकी इच्छा हुई कि पुण्य-पापरूप कर्मोंका कर्ता कौन है? यदि कहें कि कर्ता प्रकृति है, तो फिर भोक्ता भी प्रकृति ही होनी चाहिये; और यदि कहें कि पुरुष कर्ता है तो कौन पुरुष कर्ता है और उसका वर्णन गीतामें कहाँ किया गया है? इसका उत्तर यह है कि कर्मोंके होनेमें गीता पाँच हेतु बतलाती है।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥

(१८। १३)

'हे महाबाहो! सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु कर्मोंका अन्त करनेके लिये उपाय बतलानेवाले 'सांख्यशास्त्र' में कहे गये हैं; उनको तू मुझसे भलीभाँति जान।'

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

(१८। १४)

'इस विषयमें अर्थात् कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठान (आधार) और कर्ता तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके करण

एवं नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव है।'

यहाँ अधिष्ठान (आधार) तो शरीर है। कर्ता यह जीवात्मा है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार—इस प्रकार ये तेरह भिन्न-भिन्न द्वार (करण) हैं। नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ एवं पाँचवाँ हेतु दैव है। पूर्वकृत संचित शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारका नाम 'दैव' है। कोई दैवका अर्थ 'भगवान्' करते हैं तो कोई 'प्रारब्ध'। इस प्रकार सभी कर्मोंमें ये पाँच हेतु माने गये हैं। इन पाँच हेतुओंसे होनेवाले उपर्युक्त कर्मके दो भेद होते हैं—पुण्य और पाप। इसके सम्बन्धमें भगवान्ने कहा है—

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥

(१८। १५)

'मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रानुकूल अथवा शास्त्र-विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है, उसमें ये पाँचों ही कारण हैं।'

इस प्रकार जो भी कर्म होते हैं, उनमें इन पाँच हेतुओंके होनेपर भी जो कर्मोंके करनेमें 'शुद्ध आत्मा' को हेतु मान लेता है, यही उसका 'अज्ञान' है। यही मूर्खता है। आत्मा तो वास्तवमें अकर्त्ता है; भगवान्ने भी गीतामें कहा है—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

(१८। १६)

'इस प्रकार होनेपर भी जो पुरुष अशुद्धबुद्धि होनेके कारण उस विषयमें यानी कर्मोंके होनेमें केवल—शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थमें नहीं समझता।'

वह वास्तवमें मूर्ख है, उसका समझना यथार्थ नहीं है; क्योंकि वास्तवमें शुद्ध आत्मा तो 'कर्ता' है ही नहीं; बुरे या अच्छे सभी कर्म उपर्युक्त पाँच हेतुओंसे ही बनते हैं। मतलब यह कि जितने भी कर्म बनते हैं, उनमें ये पाँच ही हेतु हैं। इन्हींसे सारी क्रियाएँ होती हैं।

इस प्रकार प्रकृति-पुरुषका स्वरूप समझ लेनेपर भगवान्की कृपासे अज्ञानका नाश हो जाता है और शुद्ध आत्मामें अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वका निश्चय होनेसे वह समस्त कर्मबन्धनोंसे छूटकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है।
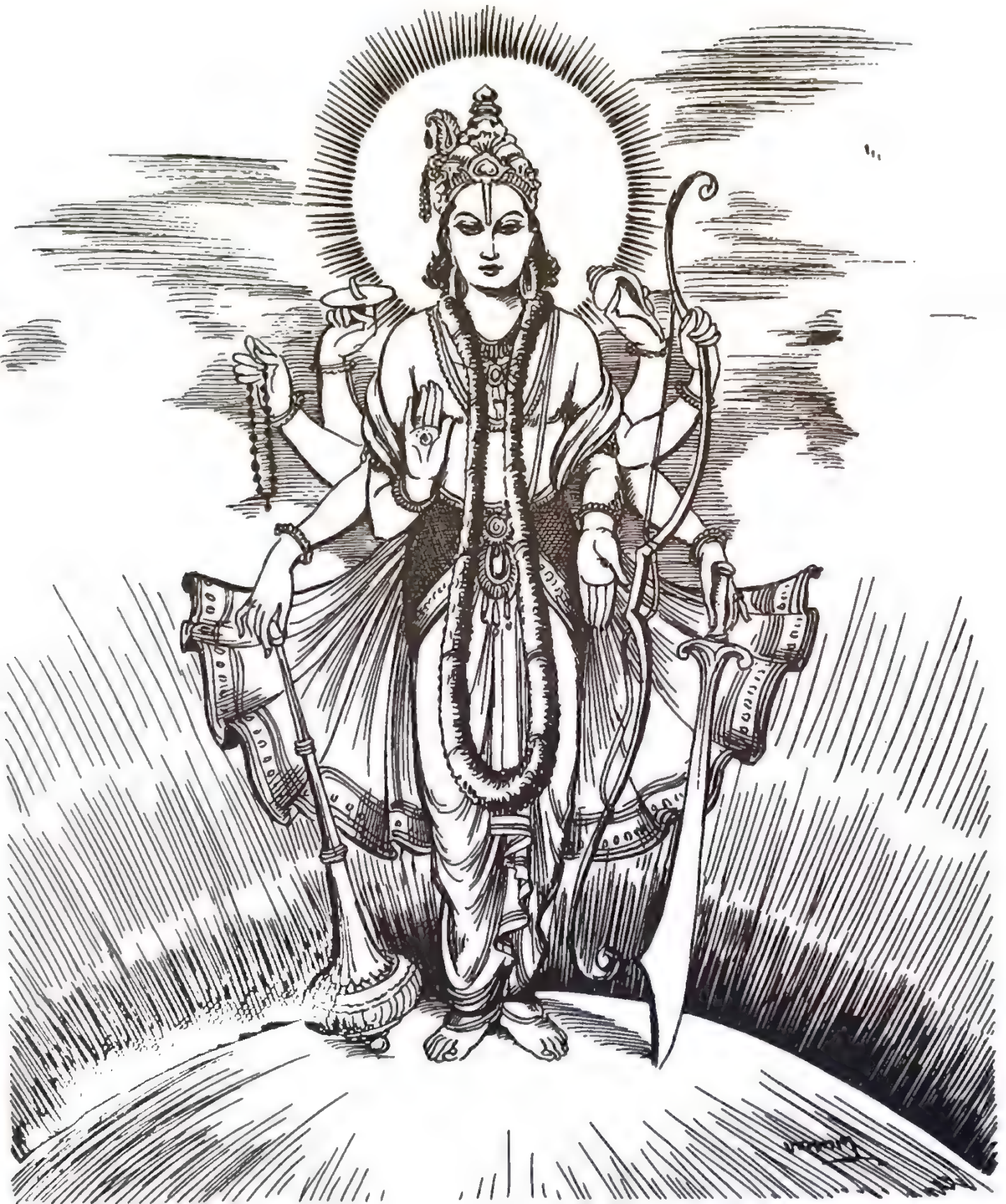
(मनुष्य-जीवनकी सफलता)

श्रीनारद और श्रीविष्णुपुराणके कुछ महत्त्वपूर्ण विषय

श्रीबृहन्नारदीयपुराण अथवा श्रीनारदपुराणके नामसे जो मुद्रित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं, उनमें श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेसकी प्रतिके अतिरिक्त प्रायः सभीमें लगभग ४२ अध्याय ही मिलते हैं। ये अध्याय श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेसकी प्रतिमें भी ग्रन्थके आरम्भसे ही कुछ साधारण पाठ-भेदके साथ ज्यों-के-त्यों आये हैं। अन्यान्य कुछ प्रतियोंमें वक्ता नारद हैं पर इसमें नारद प्रश्नकर्ता हैं और वक्ता सनकादि हैं। इस नारदपुराणमें वर्णित पुराण-विषय-सूचीके अनुसार यह पचीस हजार श्लोकोंका बताया गया है, परंतु श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेसकी मुद्रित प्रतिमें भी पचीस हजार श्लोक नहीं मिलते।

इस नारदपुराणके पूर्वभागमें श्रीसनकादि मुनियोंके द्वारा श्रीनारदजीके प्रति अनेकों प्रकारके उपदेश दिये गये हैं, जिसमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, योग, उपासना आदि आध्यात्मिक विषय तो प्रचुर मात्रामें हैं ही, साथ ही वेदके छः अङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष (गणित, जातक, संहिता) और छन्द इत्यादि लौकिक ज्ञानके सम्बन्धमें भी संक्षेपमें बड़ा ही सारगर्भित तथा उपयोगी विवेचन है। उसमें बहुत-सी बातें सीखनेयोग्य तथा महत्त्वपूर्ण हैं।

नारदपुराणके पूर्वभागके सातवें अध्यायमें गङ्गावतरणके प्रसङ्गमें श्रीसनकजीने सूर्यवंशीय राजा बाहुका एक विचित्र चमत्कारपूर्ण इतिहास कहा है। उसमें अध्यात्मशिक्षाके साथ ही सत्सङ्गका भी बड़ा सुन्दर प्रकरण है। इस प्रसङ्गमें सत्पुरुषोंकी जैसी अतुलनीय महिमा मिलती है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं देखी गयी। यह प्रसङ्ग सबके लिये ध्यान देने योग्य है।

राजा बाहु अपने धर्माचरणके प्रभावसे परम ऐश्वर्यसम्पन्न हो गये थे; किंतु एक समय उनके मनमें असूयादोषके कारण बड़ा भारी अहंकार उत्पन्न हो गया, जिससे वे अत्यन्त उद्दण्ड हो गये; तब हैहय और तालजङ्घ-कुलके क्षत्रिय उनके शत्रु बन गये तथा उन्होंने आक्रमण करके राजाको युद्धमें परास्त कर दिया। राजा अत्यन्त दुःखी होकर अपनी गर्भवती पत्नीके साथ वनमें चले गये। बहुत समय बीतनेके बाद वनमें ही और्व मुनिके आश्रमके निकट रोगग्रस्त होकर राजा बाहु संसारसे चल बसे, तब गर्भवती होनेपर भी उनकी पत्नीने चितापर पतिके साथ जलकर सती होनेका विचार किया। इसी बीचमें परम बुद्धिमान् महान् तेजोनिधि महात्मा और्व मुनि वहाँ आ पहुँचे और रानीको चितापर चढ़नेके लिये उद्यत देख उन्होंने बड़े सौम्य शब्दोंमें समझाते हुए कहा—'राजपुत्री! तू निश्चय ही पतिव्रता है, किंतु चितापर चढ़नेका साहसपूर्ण कार्य न कर; क्योंकि तेरे गर्भमें चक्रवर्ती बालक है तथा गर्भवती नारीके लिये चितारोहणका निषेध है।'

और्व मुनिके समझानेपर पतिव्रता रानी चितारोहणसे निवृत्त हो गयी और पतिके चरणोंमें पड़कर विलाप करने लगी; तब सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता महात्मा और्वने रानीसे कहा—'महाभागे! तू रो मत, इस समय तुझे अपने स्वामीके मृतक शरीरका दाह-संस्कार करना उचित है; अतः शोक त्यागकर समयोचित कार्य कर। पण्डित हो या मूर्ख, दरिद्र हो या धनवान् तथा दुराचारी हो या सदाचारी— सबपर मृत्युकी समान दृष्टि है। नगरमें हो या वनमें, जिस जीवने जो कर्म किया है, उसे उसका फल-भोग अवश्य करना पड़ता है। जैसे दुःख बिना ही बुलाये प्राणियोंके पास चले आते हैं, उसी प्रकार सुख भी आ सकते हैं—ऐसा मेरा मत है। इस विषयमें प्रारब्ध ही प्रबल है। अतः तू इस दुःखको त्याग दे और विवेकके द्वारा धैर्य धारण करके सुखी हो जा।'

यों कहकर मुनिने उसके द्वारा दाह-सम्बन्धी सब कार्य करवाये। फिर रानीने शोक त्याग दिया और मुनीश्वरको प्रणाम करके कहा—'भगवन्! आप-जैसे संत दूसरोंकी भलाईकी ही अभिलाषा रखते हैं—इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी और दूसरोंकी प्रसन्नतासे प्रसन्न होता है, वह नररूपधारी जगदीश्वर नारायण ही है। संत पुरुष दूसरोंका दुःख दूर करनेके लिये शास्त्र सुनते हैं और अवसर आनेपर सबका दुःख दूर करनेके लिये ही शास्त्रोंके वचन कहते हैं। जहाँ संत रहते हैं, वहाँ वैसे ही दुःख नहीं सताता, जैसे सूर्यके रहनेके स्थानमें अन्धकार नहीं रह सकता।'

तदनन्तर रानीने वहाँ तालाबके किनारे विधिपूर्वक पतिकी अन्यान्य पारलौकिक क्रियाएँ कीं—तिलाञ्जलि

आदि दीं। उस समय वहाँ महात्मा और्व मुनिके उपस्थित रहनेके कारण एक बड़ी अद्‌भुत घटना घटित हुई। राजा बाहु महान् तेजसे प्रकाशित दिव्यरूप होकर चितासे निकले और श्रेष्ठ विमानपर बैठकर मुनीश्वर और्वको प्रणाम करके परम धामको चले गये। महान् पुरुषोंके ऐसे अद्भुत प्रभावका वर्णन करते हुए श्रीसनकजी कहते हैं—

महापातकयुक्ता वा युक्ता वा चोपपातकैः।
परं पदं प्रयान्त्येव महद्भिरवलोकिताः॥
कलेवरं वा तद्भस्म तद्धूमं वापि सत्तम।
यदि पश्यति पुण्यात्मा स प्रयाति परां गतिम्॥

(ना० पूर्व० ७। ७४-७५)

'जिनपर महापुरुषोंकी दृष्टि पड़ती है, वे महापातक या उपपातकसे युक्त होनेपर भी अवश्य परम पदको प्राप्त हो जाते हैं। पवित्रात्मा महापुरुष यदि किसीके मृतक शरीरको, शरीरके भस्मको अथवा उसके धुएँको भी देख लें तो वह मृतक मनुष्य परम गतिको प्राप्त हो जाता है।' महापुरुषोंकी महिमाका कैसा ज्वलन्त उदाहरण है। अस्तु!

फिर, पतिका श्राद्धकर्म करनेके बाद रानी और्व मुनिके आश्रमपर चली गयी और समयपर इसी छोटी रानीके गर्भसे पुराणप्रसिद्ध राजा सगरकी उत्पत्ति हुई।

श्रीनारदपुराणके उत्तरभागमें महर्षि वसिष्ठजीने नृपश्रेष्ठ मान्धाताके प्रति प्रधानतया एकादशी-व्रत और विभिन्न तीर्थोंकी महिमाका वर्णन किया है। वहाँ एकादशीके माहात्म्य-वर्णनमें विष्णुभक्त राजा रुक्माङ्गदका बड़ा सुन्दर अत्यन्त विचित्र इतिहास है। वे सार्वभौम (चक्रवर्ती) राजा थे। वे भगवद्भक्त तो थे ही, सदा एकादशी-व्रतके पालनमें तत्पर रहते थे। वे एकादशीके दिन हाथीपर नगाड़ा रखकर बजवाते और सब ओर यह घोषणा कराते थे कि 'आज एकादशी तिथि है। आजके दिन आठ वर्षसे अधिक और पचासी वर्षसे कम आयुवाला जो मन्दबुद्धि मनुष्य भोजन करेगा, वह कोई भी क्यों न हो, दण्डनीय होगा अथवा उसे नगरसे निर्वासित कर दिया जायगा।' राजाके इस प्रकार घोषणा करानेपर सब लोग एकादशी-व्रत करके भगवान् विष्णुके परम धाममें जाने लगे। यों उस चक्रवर्ती राजाके राज्यमें जो लोग भी मृत्युको प्राप्त होते थे, वे पातकशून्य होकर भगवान् विष्णुके परम धाममें चले जाते थे। पापियोंके अभावसे यातना प्रदान करनेवाले सम्पूर्ण नरक सूने हो गये, यमराजका विभाग सर्वथा कार्यरहित हो गया।

इनसे भी बढ़कर कीर्तिमान् नामक एक चक्रवर्ती राजा हुए हैं, जिनका सारे भूमण्डलपर शासन था। उनके विषयमें स्कन्दपुराणके वैष्णवखण्डमें इस प्रकार वर्णन मिलता है कि वे महान् विष्णुभक्त थे। उनके सदुपदेशसे समस्त प्रजा सदाचार और भक्तिसे पूर्ण हो गयी। उनकी भक्ति और पुण्यके प्रभावसे यमराजके यहाँ जो पहलेके प्राणी थे, उन सबकी सद्गति होने लगी और वर्तमानमें मरनेवाले सब लोग परमगतिको प्राप्त होने लगे। इससे नये प्राणियोंका यमलोकमें जाना ही बंद हो गया। इस प्रकार यमलोक बिलकुल सूना हो गया। तब यमराजने जाकर ब्रह्माजीसे कहा। ब्रह्माजी उन्हें साथ लेकर श्रीविष्णु-भगवान्‌के पास गये। दोनोंने भगवान्‌को प्रणाम किया। फिर ब्रह्माजी बोले—'प्रभो! आपके श्रेष्ठ भक्त राजा कीर्तिमान्‌के प्रभावसे सब मनुष्य अविनाशी-पदको प्राप्त हो रहे हैं, इससे यमलोक सूना हो गया है।' तब भगवान् विष्णुने हँसते हुए कहा—'जिन्होंने मेरे लिये सब भोगोंका त्याग करके अपना जीवनतक मुझे सौंप दिया है, जो मुझमें तन्मय हो गये हैं, उन महाभाग भक्तोंको मैं कैसे त्याग सकता हूँ? राजा कीर्तिमान्‌को इस पृथ्वीपर मैंने दस हजार वर्षोंकी आयु दी है। उसमेंसे आठ हजार वर्ष बीत चुके हैं। शेष आयु और बीत जानेपर उन्हें मेरा सायुज्य प्राप्त होगा। जबतक ये धर्मात्मा भक्त राजा कीर्तिमान् जीवित हैं, तबतक तो ऐसा ही होगा; परंतु संसारमें सदा ऐसा चलता नहीं।'

ऐसे-ऐसे महान् पुण्यवान् तथा तेजस्वी श्रेष्ठ राजा हमारे इस भारतवर्षमें हो चुके हैं। जबतक इस पृथ्वीपर राजा कीर्तिमान् रहे, तबतक सभी मनुष्योंका उद्धार होता रहा, कोई भी यमलोकमें नहीं गया; किंतु फिर भी सब जीवोंका उद्धार नहीं हुआ। पर जब उद्धारका मार्ग खुला है और एक जीवका भी कल्याण होता है; तब सब जीवोंका भी कल्याण हो ही सकता है, यह न्याय है। सबके कल्याणके लिये शास्त्रोंमें इस प्रकारके सुन्दर वाक्य भी मिलते हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।*
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

'सब प्राणी सुखी हों, सब नीरोग हों, सभी कल्याणका अनुभव करें, कोई भी दुःखका भागी न बने।'

यदि सबके कल्याणकी बात असम्भव होती तो

* श्रीगरुडपुराणमें यह श्लोक इस प्रकार मिलता है—
सर्वेषां मङ्गलं भूयात्सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥ (उत्तरखण्ड ३५। ५१)

ऐसे वाक्य क्योंकर कहे जाते। यदि कहें कि 'जब सबका कल्याण आजतक नहीं हुआ तो अब कैसे हो सकता है।' तो ऐसा कथन नहीं बनता; क्योंकि जब एकका कल्याण हो सकता है, तब हजारका भी हो सकता है, लाखका भी हो सकता है एवं सबका भी हो सकता है; यह न्याययुक्त और युक्तिसङ्गत बात है। इसका विरोध नहीं किया जा सकता। एक मनुष्य लाखों-करोड़ों जन्मोंसे संसार-चक्रमें भटकता हुआ आ रहा है, उसकी मुक्ति आजतक नहीं हुई, तो भी साधन करनेसे उसकी मुक्ति हो सकती है; क्योंकि साधनद्वारा मुक्ति होती है, इस विषयमें सभी शास्त्र सहमत हैं। फिर हम यह कैसे कह सकते हैं कि 'लाखों-करोड़ों ब्रह्मा बीत गये, अभीतक सबकी मुक्ति नहीं हुई तो अब भी नहीं हो सकती।' हमारा यह कथन अयुक्त और शास्त्रविरुद्ध होगा; क्योंकि यदि मुक्ति नहीं होती तो उसके लिये लोग प्रयत्न क्यों करते तथा शास्त्रोंमें जो भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग आदि साधनोंद्वारा मुक्ति बतलायी गयी है, वह भी अप्रमाणित होती; फिर ऐसे अनेकों उदाहरण भी मिलते हैं। ध्रुव, प्रह्लाद, शुकदेव, वामदेव, अम्बरीष आदि अनेक पुरुष मुक्त हुए हैं। इसलिये यह बात सिद्ध हो जाती है कि जब एक पुरुष मुक्त हो सकता है, तब हजारों, लाखों, करोड़ों भी मुक्त हो सकते हैं। इस न्यायसे सभी मुक्त हो सकते हैं। अतः जो बात आजतक नहीं हुई, वह भविष्यमें नहीं हो सकती, ऐसा कहना अयुक्त है।

आर्ष ग्रन्थोंमें कहीं भी ऐसा नहीं कहा है कि सबका कल्याण नहीं हो सकता, तब फिर सबका कल्याण नहीं हो सकता—ऐसा हम किस आधारपर मानें। यदि कहें कि 'जब राजा कीर्तिमान्-जैसे धर्मात्मा भक्त भी सबका उद्धार नहीं कर सके तो दूसरा कौन कर सकता है?' तो यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि यह तो शास्त्रमें कहीं नहीं कहा गया कि जो कार्य राजा कीर्तिमान् नहीं कर सके, वह दूसरेके द्वारा भी नहीं हो सकेगा। यदि कीर्तिमान्से भी बढ़कर परम दयालु, परम उदार, निष्कामी प्रेमी भक्त हों तो सबका उद्धार हो सकता है। इस विषयमें एक कहानी है—

एक निष्कामी प्रेमी भगवद्भक्त था। उसकी भक्तिके प्रभावसे भगवान्ने उसको प्रत्यक्ष प्रकट होकर दर्शन दिये और कहा—'तुम्हारी इच्छा हो सो वर माँगो।' भक्तने उत्तर दिया—'मुझे किसी बातकी इच्छा नहीं है।' फिर भगवान्ने बार-बार आग्रह किया—'तुम्हें कोई इच्छा नहीं है, तब भी हमारे संतोषके लिये तुम्हारी इच्छा हो वही वर माँग सकते हो।' विशेष आग्रह करनेपर भक्तने कहा—'प्रभो! ऐसी ही बात है तो जीवमात्रका उद्धार कर दीजिये।' भगवान्ने कहा—'सबके पाप समाप्त हुए बिना सबकी मुक्ति नहीं हो सकती। इनके पापोंको कौन भोगेगा?' भक्त बोला— 'प्रभो! सबके पापोंका दण्ड मैं अकेला भोग लूँगा। आप सबको मुक्त कर दीजिये।' भगवान्ने उत्तर दिया—'तुम मेरे भक्त हो; इसलिये सबके पापोंका फल तुमको कैसे भुगताया जा सकता है?' भक्तने कहा—'ऐसा न करें तो सबके पापोंको माफ कर दीजिये।' भगवान् बोले—'ऐसा सम्भव नहीं है।' भक्तने कहा—'असम्भव भी तो नहीं है, क्योंकि जब एककी मुक्ति होती है, तब इसी न्यायसे सबकी भी हो सकती है। फिर आप तो साक्षात् ईश्वर हैं, आपके लिये तो कुछ भी असम्भव है ही नहीं; क्योंकि आप सर्वशक्तिमान् हैं, '**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः**' हैं। आप असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं।' भगवान् बोले—'वत्स! तुम्हारा कथन ठीक है; किंतु मैं ऐसा नहीं कर सकता, इसके लिये मैं लाचार हूँ।' भक्तने कहा—'भगवन्! यदि आप नहीं कर सकते तो फिर आपने आग्रह करके यह क्यों कहा कि तुम अपने इच्छानुसार वर माँग लो? आपको यही कहना उचित था कि तुम स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा, दीर्घायु, स्वर्ग या मुक्ति माँग लो।' इसपर भगवान्ने उत्तर दिया—'तुम्हारा कहना ठीक है। तुम्हारी विजय हुई और हम हारे।' भक्तने कहा—'इसमें मेरी विजय क्या हुई, मेरी विजय तो तब होती, जब आप सबका कल्याण कर देते।' भगवान्ने कहा—'सबका कल्याण तो सम्भव नहीं; किंतु मेरे दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, स्मरण तथा नाम-गुणोंके कीर्तनसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है; तुम बड़े दयालु और उदारचित्त निष्कामी प्रेमी भक्त हो, इसलिये तुम्हारे भी दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और नाम-गुणोंके कीर्तनसे मनुष्यका कल्याण हो जायगा।' भक्तने इस बातको स्वीकार कर लिया।

इस कहानीसे यह सिद्ध होता है कि सबका भी कल्याण हो सकता है; किंतु भक्त अनन्यप्रेमी, परम श्रद्धावान्, परम निष्कामी, उदारचित्त, सबका परम हित चाहनेवाला और परम दयालु होना चाहिये।

× × ×

श्रीविष्णुपुराणमें नारदपुराणोक्त सूचीके अनुसार तेईस हजार श्लोक बताये गये हैं; किंतु मुद्रित प्रतियोंके छहों अंशोंमें तेईस हजार श्लोक नहीं मिलते।

इस विष्णुपुराणके छठे अंशमें एक विशेष ध्यान देने योग्य प्रसङ्ग है। श्रीवेदव्यासजीने कलियुग, शूद्र और स्त्रियोंको 'श्रेष्ठ तथा अति धन्य' बतलाया है। पराशरजी कहते हैं—

मग्नोऽथ जाह्नवीतोयादुत्थायाह सुतो मम।
शूद्रः साधुः कलिः साधुरित्येवं शृण्वतां वचः॥
निमग्नश्च समुत्थाय पुनः प्राह महामुनिः।
योषितः साधु धन्यास्तास्ताभ्यो धन्यतरोऽस्ति कः॥

(६। २। ६, ८)

'उस समय गङ्गाजीमें डुबकी लगाये मेरे पुत्र व्यासने जलसे निकलकर उन मुनिजनोंके सुनते हुए यह वचन कहा कि 'कलियुग ही श्रेष्ठ है, शूद्र ही श्रेष्ठ है।' यह कहकर वे महामुनि फिर जलमें मग्न हो गये और फिर जलसे निकलकर बोले—'स्त्रियाँ ही श्रेष्ठ हैं, वे ही धन्य हैं; उनसे अधिक धन्य और कौन है?'

कलियुगको धन्य और श्रेष्ठ कहनेका कारण तो यह है कि इसमें केवल भगवन्नाम-गुण-कीर्तन तथा बहुत ही थोड़े प्रयाससे मनुष्यका परम कल्याण हो जाता है। महामुनि पराशरजी कहते हैं—

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥

(विष्णुपु० ६। २। ३९)

'इस अत्यन्त दुष्ट कलियुगमें यही एक महान् गुण है कि इस युगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुणका संकीर्तन करनेसे ही मनुष्य संसारबन्धनसे मुक्त हुआ परमपदको प्राप्त कर लेता है।'

इसीसे मिलता-जुलता श्लोक श्रीमद्भागवतमें भी आता है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥

(१२। ३। ५१)

'परीक्षित्! यह कलियुग दोषोंकी निधि है; परंतु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है। वह गुण यही है कि कलियुगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णका संकीर्तन करनेमात्रसे ही सारी आसक्तियाँ छूट जाती हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

इस प्रकार शास्त्रोंमें जगह-जगह कलियुगकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है। इतना ही नहीं, सत्ययुगमें दस वर्षोंतक ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन और भगवन्नाम-जप आदिसे जो आत्म-कल्याणरूप कार्यकी सिद्धि होती है, वह कलियुगमें एक दिन-रातमें हो सकती है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम्॥

(विष्णुपु० ६। २। १५-१६)

'हे द्विजगण! जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य और जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रात साधन करनेसे प्राप्त कर लेता है, इसी कारण मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है।'

स्कन्दपुराणमें भी कहा है—

दशवर्षैस्तु यत्पुण्यं क्रियते तु कृते युगे।
त्रेतायामेकवर्षेण तत्पुण्यं साध्यते नृभिः॥
द्वापरे तच्च मासेन तद्दिनेन कलौ युगे।

(ब्राह्म० सेतु० ४३। ३-४)

'सत्ययुगमें दस वर्षोंमें जो पुण्य लाभ किया जाता है, उसी पुण्यको त्रेतायुगमें मनुष्य एक वर्षमें सिद्ध कर लेते हैं और वही द्वापरमें एक मासमें और कलियुगमें एक दिनमें ही प्राप्त किया जा सकता है।'

सत्ययुगकी अपेक्षा कलियुगमें थोड़े समयमें ही कल्याण हो जाता है, इसके सिवा उसमें सुगमता भी है। सत्ययुगमें ध्यान करनेसे जो परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धि होती है, वह कलियुगमें केवल भगवान्‌के नाम और गुणोंके जप-कीर्तनसे ही हो जाती है।

श्रीवेदव्यासजीने बतलाया है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥
धर्मोत्कर्षमतीवात्र प्राप्नोति पुरुषः कलौ।
अल्पायासेन धर्मज्ञास्तेन तुष्टोऽस्म्यहं कलेः।

(विष्णुपु० ६। २। १७-१८)

'जो फल सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञोंके अनुष्ठानसे और द्वापरमें देवपूजासे प्राप्त होता है, वही कलियुगमें केशवके नाम-गुणोंका कीर्तन करनेसे मिल जाता है। हे धर्मज्ञगण! कलियुगमें थोड़े-से परिश्रमसे ही पुरुषको महान् धर्मकी प्राप्ति हो जाती है, इसीलिये मैं कलियुगसे अति संतुष्ट हूँ।'

श्रीमद्भागवतमें भी इसी प्रकार आता है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(१२। ३। ५२)

'सत्ययुगमें भगवान्‌का ध्यान करनेसे, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें विधिपूर्वक उनकी पूजा-सेवासे जो फल मिलता है, वह कलियुगमें केवल भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करनेसे ही प्राप्त हो जाता है।'

कहीं-कहीं तो यहाँतक भी मिल जाता है कि कलियुगमें भगवान्‌के भजनके बिना मुक्ति हो ही नहीं सकती; किंतु हमलोगोंको कम-से-कम यह तो मान ही लेना चाहिये कि अन्य साधनोंकी अपेक्षा यह भक्तिका साधन सुगम और श्रेष्ठ है तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंके कीर्तनका फल अन्य युगोंकी अपेक्षा कलियुगमें अधिक है और यह भी मान लेना चाहिये कि इसमें परमात्माकी प्राप्ति सुगमतासे तथा अल्पकालमें ही हो सकती है। श्रीपराशरजी कहते हैं—

तत्राल्पेनैव यत्नेन पुण्यस्कन्धमनुत्तमम्।
करोति यं कृतयुगे क्रियते तपसा हि सः॥

(विष्णुपु० ६। १। ६०)

'सत्ययुगमें तपस्यासे जो उत्तम पुण्यराशि प्राप्त की जाती है, उसको मनुष्य कलियुगमें थोड़ा-सा प्रयत्न करनेसे प्राप्त कर सकता है।'

स्कन्दपुराणमें भी बतलाया है—

कलेर्दोषनिधेश्चैव शृणु चैकं महागुणम्।
यदल्पेन तु कालेन सिद्धिं गच्छन्ति मानवाः॥

(माहेश्वर० कुमा० ३५। ११५)

'यद्यपि कलियुग समस्त दोषोंका भण्डार है, तथापि उसमें एक महान् गुण भी है, उसे सुनो! कलिकालमें थोड़े ही समय साधन करनेसे मनुष्य परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं।'

इस समय हमलोग कलियुगमें विद्यमान हैं, अतः हमलोगोंको भगवत्कृपासे यह सुअवसर प्राप्त हो गया है। अब हमें इस अवसरसे कभी नहीं चूकना चाहिये। हमें उचित है कि भगवान्‌के नाम और गुणोंका स्मरण तथा भगवान्‌के नामका जप और कीर्तन केवल भगवत्-प्राप्तिके उद्देश्यसे ही निष्कामभावपूर्वक श्रद्धा-प्रेमसहित नित्य-निरन्तर करनेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करें। अन्य कार्य हों या न हों अथवा अन्य कार्योंमें कोई बाधा भी आ जाय तो कोई चिन्ताकी बात नहीं है। मनुजीने भी कहा है—

जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥

(मनु० २। ८७)

'ब्राह्मण केवल जपसे ही सिद्धि पा लेता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। वह अन्य कुछ करे या न करे, (ऐसा वह) ब्राह्मण सबका मित्र कहा जाता है।'

यद्यपि यहाँ यह बात ब्राह्मणके लिये कही गयी है; किंतु शास्त्रोंका उद्देश्य ब्राह्मणको अग्रसर करके ही सबको धर्मका उपदेश देनेका रहता है, इस कारण यह सभीके लिये लागू पड़ता है।

अब इसपर विचार करें कि शूद्र श्रेष्ठ और धन्य क्यों हैं?

शूद्रोंके लिये तो शास्त्रोंमें बहुत ही सुविधा दी गयी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—यज्ञ, दान, वेदाभ्यास और ब्रह्मचर्यपालन आदि स्वधर्मोंका पालन करके बड़ी कठिनाईसे उत्तम गति प्राप्त करते हैं; किंतु शूद्र केवल उन तीनों वर्णोंकी सेवामात्रसे अनायास ही उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है।

श्रीविष्णुपुराणमें कहा है—

व्रतचर्यापरैर्ग्राह्या वेदाः पूर्वं द्विजातिभिः।
ततः स्वधर्मसम्प्राप्तैर्यष्टव्यं विधिवद्धनैः॥
जयन्ति ते निजाँल्लोकान् क्लेशेन महता द्विजाः॥
द्विजशुश्रूषयैवैष पाकयज्ञाधिकारवान्।
निजाञ्जयति वै लोकाञ्छूद्रो धन्यतरस्ततः॥

(६। २। १९, २२, २३)

'द्विजातियोंको पहले ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए वेदाध्ययन करना पड़ता है और फिर स्वधर्माचरणसे उपार्जित धनके द्वारा विधिपूर्वक यज्ञ करने पड़ते हैं। द्विजगण! इस प्रकार वे अत्यन्त क्लेशसे अपने उत्तम लोकोंको प्राप्त करते हैं; किंतु जिसे केवल (मन्त्रहीन) पाकयज्ञका ही अधिकार है, वह शूद्र द्विजोंकी सेवा करके ही अपने उत्तम लोकोंको प्राप्त कर लेता है, इसलिये वह अन्य जातियोंकी अपेक्षा धन्यतर है।'

इसलिये शूद्रोंको ऐसा अवसर पाकर सबकी सेवा करके विशेष लाभ उठाना चाहिये।

कोई भी शुभकर्म हो, यदि निष्कामभावसे किया जाय तो उससे तुरंत मुक्ति हो जाती है। कर्मोंके फलका, उन कर्मोंकी और विषयोंकी आसक्तिका एवं अभिमानका त्याग करके समतापूर्वक शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मोंके करनेका नाम ही कर्मयोग है। इस प्रकारके योगके साधनसे मनुष्यकी मुक्ति शीघ्र ही हो जाती है।

भगवान् कहते हैं—

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ५। ६)

'कर्मयोगी मुनि ब्रह्मको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।'

यदि सबको भगवान्‌का स्वरूप मानकर उनकी सेवा की जाय तो वह भक्तिप्रधान कर्मयोग होनेके कारण उच्चकोटिका सर्वश्रेष्ठ निष्कामकर्म है। भगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

इसलिये अपने-अपने स्वाभाविक शास्त्रोक्त कर्मोंके अनुसार सेवा करनेका तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णोंके लिये भी विधान है; क्योंकि इसी उद्देश्यसे भगवान्‌ने गीतामें अठारहवें अध्यायके ४२, ४३ और ४४ वें श्लोकोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके लिये उनके पृथक्-पृथक् स्वधर्मरूप कर्मका प्रतिपादन किया है एवं सभीके लिये सबमें भगवद्‌बुद्धि करके अपने-अपने कर्मोंद्वारा उनकी सेवारूप पूजा करनेसे परम सिद्धिकी प्राप्ति बतलायी है।

शूद्रोंके लिये तीनों वर्णोंकी सेवा करना मुख्य है; क्योंकि उनकी आजीविकाका कर्म भी सेवा ही है। इसलिये दूसरे वर्णवालोंका अपनी आजीविकाके लिये तीनों वर्णोंकी सेवारूप कर्म करनेका अधिकार नहीं है; किंतु आपत्तिकालमें तो अपनेसे समान और उच्च वर्णवालोंकी सेवा सभी कर सकते हैं। जैसे—वैश्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी तथा क्षत्रिय ब्राह्मण और क्षत्रियकी सेवा कर सकता है। स्वार्थका त्याग करके निष्कामभावपूर्वक ईश्वर-बुद्धिसे तो सभी लोग सभीकी सेवा कर सकते हैं।

आजकल लोग जो यह कहते हैं कि ब्राह्मणोंने शूद्रोंको पददलित करके नीचे गिरा दिया, यह उनकी भूल है। जिन्होंने शास्त्रका अध्ययन नहीं किया है, वे ही ऐसा कह सकते हैं। शास्त्रोंमें जो स्वधर्मपालनको सबसे बढ़कर बतलाया है और उसका फल उत्तम गतिकी प्राप्ति कहा गया है, वह ब्राह्मणोंकी अपेक्षा शूद्रके लिये बहुत ही सुगम है। इसी दृष्टिसे श्रीवेदव्यासजीने शूद्रोंको श्रेष्ठ और धन्य कहा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने उच्च वर्णके अभिमानसे शूद्रोंको तुच्छ समझकर यदि उनकी अवज्ञा करते हैं तो यह उनकी गलती है; क्योंकि सबमें भगवान् विराजमान हैं, इसलिये कोई भी मनुष्य किसीकी अवज्ञा और तिरस्कार करता है तो वह भगवान्‌का ही अपमान और तिरस्कार करता है। अतः सभी मनुष्योंको उचित है कि अपनेसे निम्न वर्णवालोंकी अवज्ञा कभी न करें अपितु उन्हें श्रेष्ठ और धन्य समझकर उनका यथायोग्य सम्मान करें; क्योंकि शास्त्रोंमें शूद्रोंको श्रेष्ठ और धन्य कहा है तथा स्वाभाविक ही उन शूद्रोंमें उच्च जातिका अभिमान नहीं रहता। अभिमान किसी भी प्रकारका क्यों न हो, अभिमानमात्र ही मुक्तिमें बाधक है।

अब विचार करते हैं कि 'स्त्रियाँ श्रेष्ठ और धन्य कैसे हैं?' धर्मका पालन और उत्तम लोकोंकी तथा परम गतिकी प्राप्ति स्त्रियोंको पुरुषोंकी अपेक्षा शीघ्र और अनायास ही हो सकती है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

स्वधर्मस्याविरोधेन नरैर्लब्धं धनं सदा।
प्रतिपादनीयं पात्रेषु यष्टव्यं च यथाविधि॥
तस्यार्जने महाक्लेशः पालने च द्विजोत्तमाः।
तथासद्विनियोगेन विज्ञातं गहनं नृणाम्॥
एवमन्यैस्तथा क्लेशैः पुरुषा द्विजसत्तमाः।
निजाञ्जयन्ति वै लोकान् प्राजापत्यादिकान् क्रमात्॥
योषिच्छुश्रूषणाद् भर्त्तुः कर्मणा मनसा गिरा।
तद्धिता शुभमाप्नोति तत्सालोक्यं यतो द्विजाः॥
नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा।
तृतीयं व्याहृतं तेन मया साध्विति योषितः॥

(विष्णुपु० ६। २। २५—२९)

'हे द्विजोत्तमगण! पुरुषोंको अपने धर्मानुकूल प्राप्त किये हुए धनसे ही सर्वदा सुपात्रको दान और विधिपूर्वक यज्ञ करना चाहिये। इस द्रव्यके उपार्जन तथा रक्षणमें महान् क्लेश होता है और उसको पापकार्यमें लगानेसे पुरुषोंको जो दुःख भोगना पड़ता है, वह कठिनाई मालूम ही है। विप्रवरो! इस प्रकार पुरुषगण इन तथा ऐसे ही अन्य कष्टसाध्य उपायोंसे क्रमशः अपने प्राजापत्य आदि शुभ लोकोंको प्राप्त करते हैं; किंतु स्त्रियाँ तो केवल तन-मन-वचनसे पतिकी सेवा करनेसे ही उनकी हितकारिणी होकर पतिके समान शुभ लोकोंको, जो पुरुषोंको अत्यन्त परिश्रमसे मिलते हैं, अनायास ही प्राप्त कर लेती हैं। इसीलिये हे ब्राह्मणो! मैंने तीसरी बार यह कहा था कि स्त्रियाँ श्रेष्ठ हैं।'

इसी प्रकार शास्त्रोंमें सभी जगह यह प्रसिद्ध है कि पतिकी सेवामात्रसे ही स्त्री परम गतिको प्राप्त हो जाती है।

श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें कहा है—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥

—इससे यह सिद्ध हो जाता है कि स्त्रियोंको केवल पतिकी सेवामात्रसे ही बिना ही परिश्रम और सुगमतासे परम गतिकी प्राप्ति हो जाती है। इतना ही नहीं, वह पातिव्रत्य-धर्मके प्रभावसे अपने पतिको भी परमधाममें ले जाती है। पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें आया है कि शुभा नामकी पतिव्रता स्त्री पातिव्रत्य-धर्मका पालन करती हुई पतिसहित भगवान्के परम धामको चली गयी। उसके सम्बन्धमें स्वयं भगवान्ने यह कहा है कि शुभा पतिव्रता मेरे समान है, वह अपने सतीत्वके प्रभावसे ही भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी बातें जानती है।

पद्मपुराणके भूमिखण्डमें वर्णन आता है कि कृकल वैश्यकी पत्नी सुकलाको उसके पातिव्रत्यके प्रभावसे प्रसन्न होकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश और इन्द्र आदि देवताओंने साक्षात् दर्शन देकर वर माँगनेको कहा था। उस समय कृकलने पूछा—'देवताओ! आपलोग मेरे किस पुण्यके कारण पत्नीसहित मुझे वर देने पधारे हैं।' तब इन्द्रने कहा—'हमलोग तुम्हारी धर्मपत्नी सती सुकलाके पातिव्रत्यसे संतुष्ट होकर तुम्हें वर देना चाहते हैं।' सुकलाके सदाचारका माहात्म्य सुनकर उसके पति कृकल बड़े हर्षित हुए। तत्पश्चात् उन दोनोंके द्वारा भगवान्की भक्ति और धर्ममें अनुराग प्राप्तिका वर माँगनेपर देवतागण उन्हें अभीष्ट वर देकर पतिव्रताकी स्तुति करते हुए अपने लोकको चले गये।

यदि कहें कि 'पति महान् नीच और नरकमें ले जाने योग्य पापकर्म करनेवाला है तथा उसकी स्त्री पतिव्रता है तो वह स्त्री पतिके साथ नरकमें जायगी या उत्तम गतिको प्राप्त होगी?' तो इसका उत्तर यह है कि पातिव्रत्य-धर्मके पालनके प्रभावसे वह अपने पतिसहित उत्तम गतिको प्राप्त होगी। उस स्त्रीके पातिव्रत्यके प्रभावसे उसका पति भी शुद्ध और परम पवित्र हो जायगा। पातिव्रत्य-धर्मका पालन करनेवाली स्त्रीकी दुर्गति तो कभी हो ही नहीं सकती और पतिसे उसका वियोग भी नहीं होता। ऐसी परिस्थितिमें उसका पति ही उसके प्रभावसे परम पवित्र हो जाता है और वह अपनी पत्नीसहित उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है।

इसीलिये महामुनि वेदव्यासजीने स्त्रियोंको श्रेष्ठ कहा है और उनको अतिशय धन्यवाद दिया है। अतएव सुहागिन माता-बहिनोंको ऐसा स्वर्ण-अवसर कभी हाथसे नहीं जाने देना चाहिये, अपितु मन, वचन, कर्मसे अपने पातिव्रत्य-धर्मका तत्परतासे पालन करके अपनी आत्माका कल्याण शीघ्रातिशीघ्र कर लेना चाहिये; अन्यथा यदि यह अवसर हाथसे चला जायगा तो महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा; क्योंकि स्त्रीजातिके कल्याणके लिये भगवान्ने यह बहुत ही उत्तम और सरल उपाय बताया है।

शास्त्रोंमें पुराणोंकी बड़ी महिमा गायी गयी है। वेदोंकी भाँति पुराण भी हमारे यहाँ अनादि माने गये हैं। उनका रचयिता कोई नहीं है। श्रीवेदव्यासजी भी इनके संकलनकर्ता ही माने गये हैं। इसीलिये वेदोंके बाद पुराणोंका ही हमारे यहाँ सबसे अधिक सम्मान है। पुराणोंमें लौकिक और पारलौकिक उन्नतिके अनेक महत्त्वपूर्ण साधनोंका वर्णन मिलता है, जिनको पढ़-सुनकर और फिर अनुष्ठानमें लाकर मनुष्य परम पदतक प्राप्त कर सकता है। अतएव जिस प्रकार त्रैवर्णिकोंके लिये वेदोंका स्वाध्याय नित्य करनेका विधान है, उसी प्रकार पुराणोंका पठन-श्रवण और मनन भी सबको नित्य करना चाहिये।

सब प्रकारकी उन्नति

मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति करे। अतएव पहले यह विचार करना है कि उन्नति क्या वस्तु है और उसका प्राथमिक और अन्तिम स्वरूप क्या है तथा संक्षेपमें उसके कितने प्रकार हैं। हमारे शास्त्रकारोंने यह निर्णय किया है कि एक धर्म ही समस्त उन्नतियोंका केन्द्र है। इसीलिये संक्षेपमें धर्मका लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।
(वैशेषिकदर्शन)

'जिससे अभ्युदय (सर्वविध उन्नति) और निःश्रेयस (परम कल्याण— मोक्ष) की सिद्धि हो, वह धर्म है।' इससे यह सिद्ध होता है, लौकिक उन्नतिसे लेकर पारमार्थिक उन्नतितक सभी इस धर्मके अन्तर्गत हैं। अब यहाँ संक्षेपसे उसके प्रकारोंपर विचार करें। मेरी समझसे आरम्भसे अन्ततक इसके दस प्रकार बताये जा सकते हैं—

१-शारीरिक उन्नति।
२-भौतिक उन्नति।
३-ऐन्द्रियिक उन्नति।

४-मानसिक उन्नति।
५-बौद्धिक उन्नति।
६-सामाजिक उन्नति।
७-व्यावहारिक उन्नति।
८-नैतिक उन्नति।
९-धार्मिक उन्नति।
१०-आध्यात्मिक उन्नति।

अलग-अलग प्रकार बतलानेपर भी यह तो मानना ही होगा कि इन सबका सम्बन्ध यथार्थ आत्मकल्याणसे ही होना चाहिये। जिससे आत्माका यथार्थ कल्याण न होकर पतन या अहित होता है, वह तो उन्नति ही नहीं है। अब इनपर अलग-अलग विचार करें।

'शारीरिक उन्नति' का यह अभिप्राय नहीं कि केवल शरीरमें खूब बल हो, शरीर खूब मोटा-ताजा हो और वह विषयोपभोगसे न थकता हो। इस प्रकारकी शारीरिक स्थिति तो असुरों और राक्षसोंको भी प्राप्त थी। वे नित्य भोगपरायण रहते थे और अपने सबल और सुपुष्ट शरीरसे अन्यान्य प्राणियोंके साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करते, उन्हें कष्ट पहुँचाते और उन्हें मार-काटकर अपने शरीरका पोषण और सुख-सम्पादन करते थे। यह वस्तुतः शारीरिक उन्नति नहीं, यह तो पतन है। शारीरिक उन्नति तो उसको कहते हैं, जिसमें शरीर स्वस्थ हो, नीरोग हो, परिश्रमशील हो, दूसरोंकी सेवा करनेमें सदा तत्पर हो, सेवासे कभी थकता न हो और दुःखियोंका दुःख दूर करनेमें समर्थ हो तथा ऐसे सात्त्विक शुद्ध पदार्थोंसे ही जिसका संरक्षण और भरण-पोषण होता हो, जो अन्तःकरणकी शुद्धिमें सहायक हों, इन्द्रियोंमें सात्त्विकता पैदा करनेवाले हों, सात्त्विक मन और बुद्धिका निर्माण और वृद्धि करनेवाले हों एवं सात्त्विक बल, तेज, ओज और आरोग्य बढ़ानेवाले हों। भगवान्‌ने ऐसे सात्त्विक पदार्थोंका गीतामें दिग्दर्शन कराया है। वे कहते हैं—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
(१७। ८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

इस प्रकार शरीरको उन्नत बनाना चाहिये। वस्तुतः वही यथार्थ उन्नति है, जो परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक हो। शरीरकी जिस उन्नतिमें जीवोंकी हिंसा हो, अपवित्र वस्तुओंका सेवन होता हो, वह तो तामसिक है, वह तो हमारा पतन है।

'भौतिक उन्नति' शारीरिक उन्नतिसे भिन्न है। भौतिक उन्नति व्यापक है। जैसे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पाँच भूतोंको अधिक-से-अधिक प्राणियोंके लिये उपयोगी बनाना यह वास्तविक भौतिक उन्नति कहलाती है। वर्तमानमें जिसे 'भौतिक विज्ञान' या 'साइंस' कहते हैं, जिससे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वीसे नयी-नयी चीजोंका आविष्कार किया जाता है, वह वास्तविक भौतिक उन्नति नहीं है। इस विज्ञानके जानकार वैज्ञानिक महानुभाव कहते हैं कि हम बड़ी उन्नति कर रहे हैं; किंतु वस्तुतः उनकी यह उन्नति आंशिक उन्नति ही है। पूर्वके लोगोंमें भौतिक उन्नति प्रकारान्तरसे इसकी अपेक्षा बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी। आजकल हम साधारण-सी ऐसी उन्नतिको देखकर चकाचौंधमें पड़ जाते हैं; किंतु थोड़ी गम्भीरतासे विचार करके देखिये। आज एक छोटे-से वायुयानको देखकर हम आश्चर्य करने लगते हैं कि देखो, ये आकाशमें उड़ने लगे! किंतु वाल्मीकीय रामायणमें लिखा है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराज लङ्काविजय करके जिस पुष्पकविमानसे अयोध्या आये थे; वह इतना विशाल था कि उसमें उनकी करोड़ोंकी संख्यावाली सारी वानरी सेना बैठकर आयी थी। अब आप विचार करें। आज दुनियाके सारे वायुयान इकट्ठे किये जायँ तो भी वानरोंकी उतनी बड़ी सेनाको शायद ही उनमें ले जाया जा सके।

त्रेताकी बात छोड़िये। आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व एक शाल्व नामके राजा थे। उनके 'सौभ' नामक विमान था, जिसे 'सौभनगर' कहते थे। वह कभी आकाशमें उड़ा करता, कभी पृथ्वीपर आ जाता, कभी पहाड़ोंकी चोटियोंपर चढ़ जाता और कभी जलमें तैरने लगता तथा कभी सबमैरीनकी भाँति जलमें प्रवेश कर जाता। उसमें समस्त सेना रहा करती थी, वह बहुत ही बड़ा था। उस वायुयानको लेकर राजा शाल्वने द्वारकापर चढ़ाई की थी और उसने वहाँ वीर यादवोंके छक्के छुड़ा दिये थे। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने बाणों और गदाके द्वारा उसको छिन्न-भिन्न करके समुद्रमें गिराया था। सोचिये, कितनी भारी शक्ति उस एक वायुयानमें थी। एक ही वायुयानमें वहीं न्यायालय हो, वहीं युद्धकी सारी सामग्री हो, आरामके सारे सामान मौजूद हों और प्रजा भी उसमें बसती हो—यह कितने आश्चर्यकी बात है। ऐसा वायुयान आज संसारमें देखनेमें नहीं आता।

दूसरी बात लीजिये। आज एटम या हाइड्रोजन बमकी बात देख-सुनकर लोग चकित हो रहे हैं, एटम बम आदिके द्वारा हजारों-लाखों निर्दोष प्राणियोंको एक साथ मार दिया जाता है; किंतु आप हमारे इतिहासकी ओर थोड़ा ध्यान दें। महाभारतके वनपर्वमें लिखा है कि एक समय अर्जुनके साथ शिवजीका युद्ध हुआ था, उस युद्धसे शिवजी प्रसन्न हो गये। शिवजीने अर्जुनसे कहा कि 'तुम वरदान माँगो।' अर्जुनने कहा कि 'आप पाशुपत-अस्त्र मुझे दे दें।' शिवजीने पाशुपतास्त्र दे दिया और कहा कि 'इसे सहसा तुम चलाना मत। तुम इसे अपने पास रखना अपनी आत्माकी रक्षाके लिये। यदि इसे चला दोगे तो तीनों लोक भस्म हो जायँगे।'

कला-कौशल भी उस समय उच्च शिखरपर पहुँचा था। त्रिपुरासुर नामके तीन असुर थे। उन्होंने तीन पुर बसाये थे—एक पृथ्वीपर, एक स्वर्गमें और एक आकाशमें। उन तीनों पुरोंका कोई एक बाणसे नाश करे, तब वे असुर मरें—यह वरदान उन्हें मिला हुआ था। शिवजीने पाशुपतास्त्र चलाकर उन तीनों पुरोंका नाश किया था। एक तो आकाशमें पुर बसाना आश्चर्यकी बात है और दूसरी एक ही बाणसे तीनोंको नष्ट कर डालना यह और आश्चर्यकी बात है।

महाभारतके द्रोणपर्वमें लिखा है कि जब द्रोणाचार्य मर गये थे, तब उनका पुत्र अश्वत्थामा बहुत भयंकर क्रोध करके पाण्डवोंपर टूट पड़ा था। उस समय उसने 'नारायणास्त्र' चलाया था। नारायणास्त्रकी बड़ी भारी शक्ति है। उसका प्रयोग करते ही आकाशसे अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा होने लगी। पाण्डव एकदम घबरा गये। पाण्डवोंके नाकमें दम आ गया। पाण्डवोंकी सेनाका बुरी तरह संहार होने लगा। भगवान् श्रीकृष्णजी जानते थे कि यह नारायणास्त्र है। बिना मारे नहीं छोड़ेगा। सारी सेनाको नष्ट कर डालेगा। पर वे उसके निवारणका उपाय भी जानते थे। उन्होंने कहा—'इसका एक ही उपाय है— आत्मसमर्पण कर देना। हथियार छोड़कर जमीनपर खड़े हो हाथ जोड़कर स्थित हो जाना। फिर इसका असर तुमलोगोंपर नहीं होगा।' पाण्डवोंने ऐसा ही किया। अस्त्र तुरंत शान्त हो गया। दुर्योधनने अश्वत्थामासे कहा— 'अश्वत्थामा! तुमने बड़ा प्रभावशाली अस्त्र चलाया। एक बार इसको फिर चलाओ।' अश्वत्थामा बोला—'मैं अब इसे दुबारा नहीं चला सकता। नारायणास्त्रका प्रतीकार है आत्मसमर्पण। जो आत्मसमर्पण कर देता है, उसपर इसका प्रभाव नहीं होता। आत्मसमर्पण करनेवालेपर यदि कोई इस अस्त्रका पुनः प्रयोग करता है तो उस प्रयोग करनेवालेको ही यह अस्त्र मार डालता है।' आप विचार कीजिये, अस्त्रोंमें कितना बड़ा विज्ञान था। एक अस्त्रको चलानेसे चाहे पाँच करोड़ सेना हो, चाहे दस करोड़, सब नष्ट हो जाती थी। पर ऐसे अस्त्रोंका प्रयोग होता था युद्ध करनेवाली सेनापर, न कि निरपराधी निरीह नर-नारियों और बाल-वृद्धोंपर। हमारे देशकी ओर ध्यान दीजिये। नारायणास्त्र किसका? श्रीविष्णुका। पाशुपतास्त्र किसका? शिवजीका। ब्रह्मास्त्र किसका? ब्रह्माजीका। ऐसे महान् अस्त्र थे हमारे देशमें।

हमारे यहाँ पाँच भूतोंकी बड़ी भारी उन्नति हो गयी थी। आठ प्रकारकी सिद्धियोंका वर्णन मिलता है, जिनमें चार मनसे सम्बन्ध रखनेवाली मानसिक सिद्धियाँ हैं और चार भूतोंसे सम्बन्ध रखनेवाली भौतिक सिद्धियाँ हैं। इन भौतिक सिद्धियोंके नाम हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा। मानसिक सिद्धियोंके नाम हैं—प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व। अणिमाका अभिप्राय है—अणुके समान छोटा बन जाना। हनुमान्‌जी जब लङ्कामें प्रवेश करते हैं, तब मच्छर-जैसा रूप बना लेते हैं; यह 'अणिमा' सिद्धिका प्रभाव था और जब हनुमान्‌जी लङ्काको जा रहे थे, तब समुद्रको लाँघनेके समय उन्होंने महान् स्वरूप धारण कर लिया था। यह 'महिमा' सिद्धि केवल हनुमान्‌जीमें ही नहीं थी, सिंहिका नामकी राक्षसीमें भी थी, और भी राक्षसोंमें थी। घटोत्कचमें भी थी। जब घटोत्कच मरने लगा, तब वह अपने शरीरको बढ़ाने लगा। उसने सोचा कि जब मैं मरूँगा तो जितनी कौरवोंकी सेना है, सबको दबाकर मरूँगा। उस समय उसने इतना बड़ा शरीर धारण किया कि उसके गिरनेपर एक अक्षौहिणी कौरव-सेना उसके नीचे दबकर मर गयी। ऐसी-ऐसी विद्याएँ तो राक्षसोंमें थीं। मेघनादके युद्धमें देखा जाता है कि एक समय मेघनाद आकाशमें शिलाकी वर्षा कर रहा है। वह दीखता नहीं, अन्तर्धान हो रहा है। एक समय देखा जाता है कि चारों ओर मेघनाद-ही-मेघनाद हैं। यह भी एक अद्भुत सिद्धि ही थी। ऐसी-ऐसी सिद्धियाँ थीं! इस प्रकार अणुके समान शरीर बना लेना 'अणिमा', महान् रूप धारण कर लेना 'महिमा', भारी रूप धारण कर लेना 'गरिमा' और हलका रूप धारण कर लेना 'लघिमा' सिद्धि है। ये चारों भौतिक सिद्धियाँ हैं। मानसिक सिद्धियाँ चार हैं—जिस चीजकी इच्छा करे, वही प्राप्त हो जाय, यह 'प्राप्ति' सिद्धि है। जिस समय यह कामना करे कि अमुक शत्रु मर जाय, उसी समय उसका मर जाना, यह

'प्राकाम्य' सिद्धि है। ईश्वरके समान सृष्टिकी रचना कर लेना 'ईशित्व' है, जैसे विश्वामित्रजीने अपने तपके बलसे रचना करना आरम्भ कर दिया था। किसीको अपने वशमें कर लेना, अधीन कर लेना 'वशित्व' सिद्धि है। इसके सिवा और भी अनेकों सिद्धियोंकी बात आती है।

आप श्रीरामचरितमानसके अयोध्याकाण्डमें देखिये। जब भरतजी महाराज चित्रकूट जा रहे थे और रास्तेमें उन्हें भरद्वाज ऋषिके यहाँ ठहरना पड़ा, तब श्रीभरद्वाज ऋषिने सिद्धियोंको बुलाकर क्षण मात्रमें सबके खाने-पीनेके लिये सारी सामग्री और रहनेके लिये मकान रच दिये। उनका पूरा आतिथ्य सिद्धियोंके द्वारा करवाया। आज संसारमें ऐसी सिद्धियाँ देखनेमें नहीं आतीं।

ध्यान दीजिये, युद्ध हो रहा है कुरुक्षेत्रमें और हस्तिनापुरमें भी बैठा हुआ संजय श्रीवेदव्यासजीकी दी हुई दिव्यदृष्टिके प्रभावसे युद्धकी क्षुद्र-से-क्षुद्र घटनाको प्रत्यक्षवत् देख-सुनकर धृतराष्ट्रको सारी बातें बता रहा है। उसे वहाँकी सारी चीजें दीख रही हैं। वहाँ आपसमें जो बातें करते हैं, उन्हें भी संजय सुन रहा है और किसीके मनमें भी जो बात आती है, उसे भी संजय जान लेता है। उसका मन दिव्य हो गया, इन्द्रियाँ दिव्य हो गयीं। आप सोचिये, वह कैसी अद्भुत विद्या थी! इससे मालूम होता है कि उस समय भौतिक उन्नति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी।

हमलोगोंको भौतिक उन्नति भी वही करनी चाहिये, जिसमें किसीकी हिंसा न हो, किसीका अहित न हो। बम चलाकर निरपराध मनुष्योंको मार डालना यह कोई भौतिक उन्नतिकी महिमा नहीं है। भौतिक उन्नति वह होनी चाहिये, जिस उन्नतिसे सबकी सेवा बने, सब प्राणियोंका हित हो, सबको सुख मिले। जैसे भरद्वाज ऋषिने भौतिक उन्नतिसे सबकी सेवा की, इसी प्रकार भौतिक उन्नतिको काममें लाना चाहिये।

हमारी इन्द्रियोंमें अनेकों दोष भरे हुए हैं; जैसे वाणीमें कठोरता, मिथ्या-भाषण, व्यर्थ बकवाद, अप्रिय वचन, अहितकर वचन आदि। इसी प्रकार कानोंमें परनिन्दा सुनना, व्यर्थ वचन सुनना। जिह्वामें स्वादकी और त्वचामें स्पर्शकी लोलुपता। नेत्रोंमें परस्त्रीको देखना, दूसरेके दोष देखना एवं इन्द्रियोंके भोगोंमें रागद्वेष आदि दोष भरे पड़े हैं—उनसे इन्द्रियोंको रहित करना, विषयोंसे इन्द्रियोंका संयम करना, उन्हें शुद्ध और दिव्य बनाना, विषयोंसे इन्द्रियोंकी वृत्ति हटाकर अपने वशमें करना—यह 'ऐन्द्रियिक उन्नति' है।

अब 'मानसिक उन्नति'के विषयमें विचार करें। मानसिक उन्नतिका अर्थ है—मनको उन्नत करना। सिद्धिके द्वारा दूसरेके मनकी बात जान लेना, यहाँ बैठे हुए ही सारे संसारकी बातोंको सिद्धियोंके द्वारा समझ लेना, दूरसे आग बुझा देना, मनोबलके द्वारा दूर बैठे ही रोग नाश कर देना, विष उतार देना, शत्रुता मिटा देना, मैत्री उत्पन्न कर लेना, मनके संकल्पका सत्य हो जाना, मनको अपने वशमें करना, मनको एकाग्र करना तथा संसारके पदार्थोंसे रोकना, मनके भीतर जो बहुत-से दुर्गुण, दुर्व्यसन और पाप हैं उनको धो डालना, दया, करुणा, मैत्री, प्रेम, विराग, शान्ति आदि सद्भावों और सद्विचारोंसे युक्त होना, मनका विषय-चिन्तनसे रहित होकर आत्मचिन्तन या भगवच्चिन्तनपरायण होना आदि यह सब मानसिक उन्नति है। इस प्रकार हमें मानसिक उन्नति करनी चाहिये। मानसिक उन्नति वस्तुतः हमें यहाँतक करनी चाहिये कि जिससे हमारी वास्तविक उन्नति होकर हमें परमात्माकी प्राप्ति हो जाय। जिसमें आत्माकी महान् उन्नति हो, जो परमात्माकी प्राप्तिमें परम सहायक हो, वही वास्तविक मानसिक उन्नति है। जो मानसिक उन्नति प्राणियोंको कष्ट देनेवाली हो, दूसरेके हितका नाश करनेवाली हो, जिसमें आत्माका पतन हो, वह मानसिक उन्नति नहीं, अवनति है।

इसी प्रकार हमें 'बौद्धिक उन्नति' करनी चाहिये। हमारी बुद्धि तीक्ष्ण होनी चाहिये। हमारी बुद्धि शुद्ध, सात्त्विक और स्थिर होनी चाहिये। बुद्धिपर जो आवरण है, वह दूर होकर यथार्थ और सात्त्विक ज्ञान होना चाहिये। हमारी बुद्धिमें ज्ञानका इतना प्रकाश होना चाहिये कि जिससे हम परमात्माके स्वरूपको यथार्थतः समझ जायँ, बुद्धिके द्वारा जानने योग्य तत्त्व-पदार्थको जान जायँ; यह बौद्धिक उन्नति है। बौद्धिक उन्नति असली वही है, जिससे परमात्माके विषयका निर्भ्रान्त बोध हो, जिससे हमारे आत्माका कल्याण हो। आत्माके कल्याणमें सहायता देनेवाली बौद्धिक उन्नति ही यथार्थ बौद्धिक उन्नति है। जिस बौद्धिक उन्नतिसे संसारके पदार्थोंको जानकर प्राणियोंको कष्ट दें, जिस बुद्धिके द्वारा लोगोंपर अनुचित शासन करें और स्वयं ऐश-आराम करें, वह बुद्धिकी उन्नति नहीं, अवनति है। वह तो वस्तुतः पतन है। इसलिये हमें बुद्धिको सूक्ष्म और तीक्ष्ण बनाना चाहिये, जिससे हम परमात्माको जान सकें—

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

(कठ० १। ३। १२)

'सूक्ष्मदृष्टिवाले पुरुषोंद्वारा सूक्ष्म और तीक्ष्ण बुद्धिसे परमात्मा देखा जाता है।'

गीतामें भगवान् कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

(६। २१)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित वह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं।' ऐसी जो हमारी बौद्धिक उन्नति है, वह कल्याण करनेवाली है। इस प्रकार हमें बौद्धिक उन्नति करनी चाहिये।

इसी प्रकार हमलोगोंको अपनी 'सामाजिक उन्नति' करनी चाहिये। हमारे समाजका पतन होता जा रहा है। आज यदि किसीके तीन-चार लड़कियाँ हो जाती हैं तो दहेजकी कुप्रथाके कारण उनका विवाह होना कठिन हो जाता है। कलकत्तेके हंसपुखरियामें एक लड़की सोलह वर्षकी हो गयी, उसके माता-पिताके पास दहेजके लिये रुपये नहीं थे; इस कारण लड़कीका विवाह न हो सका; अतः वे लड़कीके साथ ही विष खाकर मर गये। ऐसी हत्याओंका पाप लगता है दहेज लेकर विवाह करनेवाले लड़केके अभिभावकोंको। हमारे देशमें दहेजकी प्रथा इस समय इतनी बुरी हो गयी है कि जिनके दो-चार लड़कियाँ होती हैं, वे प्रायः रात-दिन रोते हैं और लड़की भी माता-पिताके दुःखको देखकर रोती है। कोई-कोई लड़की तो माता-पिताके दुःखको देखकर आत्महत्यातक कर लेती है। कितनी लज्जा और दुःखकी बात है! आजकल हम जो रुपये लेकर लड़केको ब्याहते हैं, इसका मतलब यह कि हम लड़केको बेचते हैं।

हमारे यहाँ एक दिखावा होता है, उससे बड़ी हानि होती है। दूसरे लोग उसको देखकर उससे अधिक रुपये लगाते हैं, इससे खर्चकी वृद्धिमें प्रोत्साहन मिलता है। लड़का पैदा होता है, उस समय भी लोग बहुत फजूल खर्च कर देते हैं। विवाह-शादीमें जो बुरे गीत गाये जाते हैं, अनुचित दावतें दी जाती हैं, होटलोंमें पार्टी दी जाती है, आडम्बरपूर्ण सजावट की जाती है, हजारों रुपये व्यर्थ खर्च किये जाते हैं, अपवित्र तथा हिंसायुक्त वस्तुओंका व्यवहार किया जाता है—यह सभी सामाजिक पतन है। इस तरहकी बहुत-सी फजूलखर्ची और कुरीतियाँ हैं, जिनका सुधार करना परम आवश्यक है।

इसी प्रकार हमलोगोंको 'व्यावहारिक उन्नति' करनी चाहिये। व्यवहारमें—व्यापारमें जो झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी करते हैं, लोगोंको धोखा देते हैं, यह हमारा 'व्यावहारिक पतन' है। हमें सचाई और समताके साथ न्याययुक्त त्यागपूर्वक व्यवहार करना चाहिये। इससे हमारे व्यवहारकी उन्नति होती है। दूसरोंके साथ व्यवहार करनेमें हमें स्वार्थका त्याग करना चाहिये। त्यागसे हमारी यथार्थ व्यावहारिक उन्नति होगी और सच्चा सुधार होगा।

पराये धन, परायी स्त्री, परायी यश-कीर्तिको हड़पनेका विचार तथा प्रयत्न करना, अपनी सुख-सुविधाके लिये अन्यायपूर्वक दूसरेकी सुख-सुविधाको नष्ट करना—यह सब 'नैतिक पतन' है। इससे हटकर हमें न्यायपूर्वक अपनी वस्तुपर ही दृष्टि रखनी चाहिये। हमारा नैतिक स्तर इतना ऊँचा होना चाहिये कि जिसमें अनैतिकताको कहीं जरा-सा भी स्थान हो ही नहीं। वरं हमारा न्याय वही हो, जिसमें दूसरेके अधिकारकी तथा हितकी रक्षा सावधानीसे होती हो। यही 'नैतिक उन्नति' है। हम अपनी चीज दूसरोंको दें नहीं और दूसरेकी चीज लें नहीं, ठीक अपने न्यायपर रहें तो भी दोष नहीं है।

'धार्मिक उन्नति' इससे भी उच्चकोटिकी है। श्रीमनुजीने ये साधारण धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६। ९२)

१-धैर्य रखना, भारी आपत्ति आनेपर भी धैर्यका त्याग न करना। २-क्षमा करना, दूसरेके अपराधका बदला नहीं लेना। ३-मनको वशमें रखना। ४-चोरी-डकैती नहीं करना। ५-हृदयको शुद्ध बनानेके लिये बाहर-भीतरकी पवित्रता रखना। ६-इन्द्रियोंको वशमें रखना। ७-सात्त्विक बुद्धि। ८-सात्त्विक ज्ञान। ९-सत्य वचन बोलना। १०-क्रोध न करना—ये सामान्य धर्मके दस लक्षण हैं। यह सामान्य धर्म है। यह मनुष्यमात्रमें होना चाहिये और विशेष धर्मकी बातें मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोंमें बतलायी हैं, उन्हें देख लेना चाहिये। इस प्रकार अपने धर्मकी उन्नति करना 'धार्मिक उन्नति' है। इस धार्मिक उन्नतिको निष्कामभावसे करनेपर आत्माका कल्याण हो सकता है।

इसी प्रकार हमें 'आध्यात्मिक उन्नति' करनी चाहिये। आध्यात्मिक उन्नति वह है, जिससे परमात्माकी प्राप्ति हो, जिससे हमें परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो, हम यह समझ जायँ कि परमात्मा क्या वस्तु है। ईश्वरकी भक्ति अध्यात्मविषयका एक खास अङ्ग है। इसलिये हमको ईश्वरकी भक्ति करनी चाहिये। जैसे धर्मके दस लक्षण बतलाये, वैसे ही भक्तिके भी नौ भेद बतलाये गये हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

'भगवान् विष्णुके नाम, गुण, प्रभाव, तत्त्वकी बातोंको सुनना श्रवणभक्ति, वर्णन करना कीर्तनभक्ति और उनको मनसे चिन्तन करना स्मरणभक्ति है। भगवान्‌के चरणोंकी सेवा करना पाद-सेवनभक्ति, भगवान्‌के मानसिक या मूर्त-विग्रहकी पूजा करना अर्चनभक्ति और भगवान्‌को नमस्कार करना वन्दनभक्ति है। प्रभु हमारे स्वामी, हम प्रभुके सेवक—यह दास्यभाव है। भगवान् हमारे सखा—यह सख्यभाव है और अपने आत्माको सर्वस्वसहित उनके समर्पण कर देना—यह आत्मनिवेदन है।'

इस प्रकार आत्माके कल्याणके लिये जो ज्ञानयोग, अष्टाङ्गयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि अनेक प्रकारके साधन बतलाये गये हैं, उनका अनुष्ठान करना—आध्यात्मिक उन्नति है। आध्यात्मिक उन्नतिका अन्तिम फल परमात्माकी प्राप्ति है। जिसने परमात्माकी प्राप्ति कर ली, उसीने वस्तुतः अपने अध्यात्मविषयकी उन्नति की।

अतः हमलोगोंको धार्मिक उन्नति भी परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही करनी चाहिये। फिर वह धार्मिक उन्नति भी आध्यात्मिक उन्नतिमें सम्मिलित हो जाती है। वास्तवमें तो अध्यात्मविषयमें जो सहायक हो, वही धार्मिक उन्नति है। जो इसमें सहायक नहीं है, वह तो उन्नति ही नहीं है। ऊपर जितनी बातें बतायी गयीं, वे यदि आध्यात्मिक विषयमें सहायक हैं, तभी उन्नति है।

अब व्यावहारिक उन्नतिके विषयमें फिर संक्षेपसे कुछ विचार किया जाता है। हमारा व्यवहार यदि सात्त्विक हो जाय तो केवल व्यवहारसे ही हमारा कल्याण हो सकता है। जैसे तुलाधार वैश्य थे और उनका व्यवहार बहुत उच्चकोटिका था। उस व्यावहारिक उन्नतिसे ही वे परमधामको चले गये। पद्मपुराणमें लिखा है कि तुलाधार वैश्य जो व्यापार करते थे, उसमें उनके स्वार्थका त्याग था, सचाईका व्यवहार था, सबके साथ सम बर्ताव था। इसीके प्रतापसे वे भगवान्‌के परमधाममें चले गये। इसी प्रकार शौचाचार-सदाचार है। उसे निष्काम-भावसे संसारके हितके लिये करें तो उससे भी हमारा कल्याण हो सकता है। सबके हितका व्यवहार करें, सबके साथ अच्छा बर्ताव करें तो केवल हमारे उस बर्तावसे आत्मा शुद्ध होकर कल्याण हो सकता है। अतः केवल स्वार्थका त्याग होना चाहिये। स्वार्थका त्याग ही वास्तवमें मुक्ति देनेवाला है। भगवदर्थ अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेसे भी कल्याण हो सकता है। भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।' पूजा कैसी? सबमें भगवद्‌बुद्धि करके सबका हित करना। सबका सब प्रकारसे हित हो, इस प्रकारका भाव हृदयमें रखकर निष्काम प्रेम-भावसे उनकी सेवा करना—यही कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा करना है। इस प्रकारकी पूजासे मनुष्यका उद्धार हो सकता है।

भगवान्‌ने गीताके अठारहवें अध्यायके ४२वें श्लोकमें ब्राह्मणका, ४३वेंमें क्षत्रियका और ४४वेंमें वैश्य और शूद्रका स्वाभाविक धर्म बतलाया है। ऊपर जो ४६वाँ श्लोक लिखा है, इसमें भगवान्‌ने कहा है कि ये लोग उपर्युक्त प्रकारसे अपने-अपने धर्मका पालन करें तो उससे इनका कल्याण हो सकता है।

इसी प्रकार हमारी धार्मिक क्रिया भी मुक्ति देनेवाली हो सकती है। पर वह मुक्ति देती है निष्कामभावसे करनेपर। हम जो यज्ञ, दान, तप और वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हैं, उससे भी हमारी मुक्ति हो सकती है, यदि उसमें हमारा निष्कामभाव हो। उसमें स्वार्थका तथा आसक्ति, अहंकार, ममता और कामनाका त्याग होना चाहिये, जैसा कि भगवान्‌ने बतलाया है—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २। ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

इसका अभिप्राय यही है कि हमारी सारी क्रिया स्वार्थरहित हो, हमारी क्रियाओंमें किसी प्रकारका अहंकार, स्वार्थ, ममता और आसक्ति न हो। तब वह क्रिया हमें मुक्ति देनेवाली हो जाती है। इसीका नाम 'कर्मयोग' है। निष्कामभाव आ जानेसे यह अध्यात्मविषयका खास साधन बन जाता है।

हम यदि यज्ञ, दान, तप, सेवा सकामभावसे करते हैं तो वे सब राजसी हो जाते हैं। वह धर्म तो है पर

सकाम धर्म है और सकाम धर्मके पालनसे कामनाकी पूर्ति होती है, स्वर्गादि मिलते हैं; किंतु उससे मुक्ति नहीं होती। इसलिये हमें धर्मका पालन भी निष्कामभावसे करना चाहिये। आध्यात्मिक विषय तो स्वरूपसे ही निष्काम है। यदि उसमें सकामभाव हो तो उसका नाम ही अध्यात्मविषय नहीं हो सकता। असली अध्यात्मविषय वही है कि जिसमें अपने आत्मा और परमात्माका ज्ञान हो जाय। उससे निश्चय ही कल्याण हो जाता है।

अध्यात्मज्ञानके लिये हमको नित्य भगवान्‌की भक्ति करनी चाहिये, भगवान्‌का भजन-ध्यान करना चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिके लिये दूसरा उपाय यह है कि वास्तवमें परमात्मा क्या वस्तु है—इसे जानना। इसके लिये हमको परमात्माके विषयका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। उस ज्ञानको हम महात्माओंके पास जाकर, सत्सङ्ग करके भी प्राप्त कर सकते हैं। गीतामें बतलाया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४। ३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्म-तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

यह ज्ञानयोगका साधन है। इसके आगे ३५ वें श्लोकमें इसका फल बतलाया है। अतएव हमें ज्ञानी महात्माओंके पास जाकर ज्ञानकी शिक्षा लेनी चाहिये। इस प्रकार ज्ञानयोगसे भी हमारे आत्माका उद्धार हो जाता है।

श्रद्धासे भी ज्ञानकी प्राप्ति होकर परमात्मा मिल जाते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४। ३९)

'हे अर्जुन! जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

इसी प्रकार भगवान्‌की भक्ति करनेसे भी ज्ञानकी प्राप्ति होकर मुक्ति हो जाती है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इस प्रकार कर्मयोग, सत्सङ्ग, श्रद्धा और भक्तिके द्वारा भी परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है और स्वाध्यायके द्वारा भी हो जाता है।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।

(गीता ४। २८)

'कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं (इससे वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं)।'

इसी प्रकार बहुत-से उपाय परमात्माकी प्राप्तिके लिये बतलाये हैं। उनमेंसे एकका भी साधन करके हम परमात्माको प्राप्त कर लें तो हमारा जीवन सफल हो सकता है। यह अध्यात्मविषय है।

अध्यात्मविषयमें प्रधान बात है—पात्र बनना। वास्तवमें पात्र बननेमें ही विलम्ब होता है, परमात्माकी प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता। जिस प्रकार बिजली जब फिट हो जाती है और शक्तिकेन्द्रसे उसका सम्पर्क हो जाता है तो स्विच दबानेके साथ ही रोशनी हो जाती है; जो कुछ विलम्ब है वह बिजलीके फिट करनेमें तथा सम्पर्क जोड़नेमें ही है, स्विच दबानेमें नहीं; इसी प्रकार मनुष्य जब परमात्माकी प्राप्तिका पात्र बन जाता है तो उसे तुरंत परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

पात्र बननेके लिये सबसे उत्तम उपाय है—हम सारे संसारको परमात्मस्वरूप समझें और सारी चेष्टाको परमात्माकी लीला समझें। अर्थात् पदार्थमात्रको परमात्माका स्वरूप और चेष्टामात्रको परमात्माकी लीला समझें। इससे बहुत शीघ्र भाव सुधरकर कल्याण हो जाता है। हमको ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि जहाँ हमारे मन और नेत्र जायँ, वहीं हम परमात्माका दर्शन करें। जैसे—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

इस प्रकार अभ्यास करते-करते सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जाती है। जैसा कि भगवान्‌ने गीताके सातवें अध्यायके १९वें श्लोकमें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष सब कुछ वासुदेव ही है, इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

इसीके अनुसार हमको साधन करना चाहिये अर्थात् सिद्ध महात्मा पुरुषोंकी यह जो वास्तविक स्थिति है, उसको लक्ष्यमें रखकर उसके अनुसार हमको साधन करना चाहिये। सबमें भगवद्बुद्धि करके सबमें भगवद्दर्शन करना चाहिये। जहाँ हमारी बुद्धि जाय, जहाँ मन जाय, जहाँ नेत्र जायँ, वहीं हम भगवान्‌के स्वरूपका दर्शन करें और चेष्टामात्रको भगवान्‌की लीला समझें तो आत्माकी शुद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति बहुत शीघ्र हो सकती है।

जैसे कोई मनुष्य जब नेत्रोंपर हरे रंगका चश्मा चढ़ा लेता है, तब सारा संसार उसे हरे रंगका दीखने लगता है, इसी प्रकार हमें हरिके रंगका चश्मा अपनी बुद्धिपर चढ़ा लेना चाहिये। अपने अन्तःकरणपर हरिके रंगका यानी हरिके भावका चश्मा चढ़ा लेना चाहिये। हम इस प्रकार सबमें परमात्मभाव करें कि सब परमात्माका स्वरूप है। यह एक प्रकारका उत्तम भाव है। हृदयमें हम इस भावको दृढ़ कर लें, यह चश्मा चढ़ा लें, फिर सर्वत्र यह भाव करें कि सर्वत्र भगवान् विराजमान हो रहे हैं तो बहुत शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है और सर्वत्र भगवद्दर्शन होने लगते हैं। सब जगह एक परमात्माके सिवा फिर उसकी दृष्टिमें और कोई पदार्थ रहता ही नहीं। यह सबसे बढ़कर साधन है।

देशवासियोंके हितकी कुछ बातें

वर्तमान समयमें उन्नतिके नामपर चारों ओर इस प्रकारके अनर्गल कार्य हो रहे हैं कि जिनसे देश, जाति और धर्मका पतन होता जा रहा है। उन सब अनर्थपूर्ण कार्योंको समझ-सोचकर उनसे स्वयं विरत होना तथा दूसरोंको उनकी बुराइयाँ समझाकर विरत करना चाहिये और ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे देश, जाति और धर्मका उत्थान हो। हम अपनी धर्म-निरपेक्ष सरकारसे भी अनुरोध करते हैं कि वह हमारी प्रार्थनापर ध्यान दे। यहाँ ऐसी कुछ बातोंका दिग्दर्शन कराया जाता है—

स्त्रियोंके लिये पातिव्रत्यधर्म हिंदू-धर्मका प्रधान अङ्ग है। उसके विरुद्ध जो तलाक-विधेयक स्वीकृत किया गया है, वह भारतीय पतिव्रता स्त्रियोंके प्रति घोर अन्याय है। इससे संस्कारगत विवाहका मूल आदर्श ही नष्ट हो जाता है। यह स्त्रियोंके सतीत्वको तो नष्ट करनेवाला है ही, स्त्रियोंके सुखपूर्वक जीवनयापनमें भी बाधा पहुँचानेवाला है। पुरुषवर्ग इस तलाक-कानूनके सहारे निर्दोष स्त्रीपर दोष लगाकर उसका त्याग कर सकता है। फिर उन बेचारी अबलाओंकी क्या गति होगी? चरित्रहीन पुरुष अपनी विषयकामनाकी पूर्तिके लिये इस तलाक-कानूनका आश्रय लेकर सरल स्वभावकी धनी स्त्रियोंसे, पतिको छुड़ाकर, अपने साथ वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ सकते हैं और इस प्रकार क्षणिक सुखका प्रलोभन देकर उनके धन और सतीत्वका हरण कर सकते हैं। ऐसी परित्यक्ता स्त्रियोंकी संख्या-वृद्धि हो सकती है। समाजके लोगोंके जो संस्कार हैं, उनके अनुसार उन स्त्रियोंके साथ भले लोग विवाह नहीं कर सकते, इससे पतित पुरुषोंको अपनी नीच वासनापूर्तिके लिये मौका मिल सकता है। विदेशोंकी भाँति यहाँ भी दम्पतिमें मुकद्दमेबाजी हो सकती है, इससे पारस्परिक प्रेममें तो बाधा है ही, साथ ही धनका अपव्यय भी है। उस दिन श्रीटंडनजीने यह ठीक ही कहा था कि 'तलाककी छूट देकर पातिव्रत्यके श्रेष्ठ आदर्शको कलङ्कित किया जा रहा है।'

यह हिंदू-विवाह-कानून हिंदू-धर्मपर प्रत्यक्ष घोर आघात है। हिंदू-विवाह कोई कंट्राक्ट नहीं है जो तोड़ा जा सके, वह एक पवित्र धार्मिक संस्कार है। यह अविच्छेद्य विवाह-संस्कार हिंदू-धर्मका एक मुख्य अङ्ग है। धर्मनिरपेक्ष सरकारका हिंदुओंकी इस पवित्रतम विवाह-संस्थाका विनाश करनेके लिये बहुमतके बलपर इस प्रकार कानून बना देना उचित नहीं है। जिसका अधिकांश हिंदू-जनताने एक स्वरसे विरोध किया, बड़े-बड़े न्यायाधीशोंने, विश्वविख्यात कानूनके पण्डितोंने, धर्माचार्योंने जिसको अन्यायमूलक तथा हिंदूधर्मके लिये अत्यन्त घातक बतलाया, उसी पतनका पथ प्रशस्त करनेवाले विवाह-कानूनको थोड़ी-सी पाश्चात्त्यभावापन्न स्त्रियोंको प्रसन्न करनेके लिये और सुधारके नामपर, किसीकी भी कुछ भी न सुनकर, पास कर देना, जनतन्त्र सरकारके लिये कहाँतक युक्त है, विज्ञ पुरुष इसका विचार कर सकते हैं। विशाल जनताके मतके विरुद्ध केवल लोकसभाके बहुमतसे कोई कार्य करना जनतन्त्रका उपहास करना है!

इसी प्रकार उत्तराधिकार (सम्पत्तिके बँटवारे) के विषयमें हिंदूपरिवारके लिये जो कानून बना है, वह भी हिंदूजातिके लिये अत्यन्त घातक है। स्त्रीका पिताके घरमें हिस्सा रखना स्त्रियोंके लिये महान् हानिकर है। इस कानूनके अनुसार उधर लड़कीको पिताके घरमें हिस्सा मिलेगा तो इधर अपने ससुरालमें पतिकी बहिन (अपनी ननद) को दे देना पड़ेगा। इससे स्त्रियोंको क्या लाभ होगा। वरं परस्पर मनोमालिन्य, राग-द्वेष, वैर-विरोध बढ़ सकता है, भाई-बहिनोंका प्रेम नष्ट हो सकता है और मुकद्दमेबाजी हो सकती है। ऐसा होनेपर धर्म, इज्जत, लज्जा, शरीर और धनकी महान् हानि हो सकती है। सगे-सम्बन्धी परस्पर एक-दूसरेको मारनेके लिये उद्यत हो सकते हैं। इससे तो यही उत्तम है कि जबतक विवाह न हो, तबतक पिताके घरमें कन्याका पुत्रकी तरह पूरा अधिकार रहे और विवाह होनेके बाद ससुरके घरमें स्त्री-पुरुषका समान अधिकार रहे। अभी भी किसी अंशमें ससुरालमें स्त्रीका अधिकार है, इसको और अधिक दृढ़ कर दिया जाय कि पतिके जीवित रहते भी और मरनेपर भी स्त्रीका समान अधिकार रहे। यही स्त्री-जातिके लिये बहुत लाभकी बात है। ऐसा न करके विवाहिता स्त्रीके लिये पिताके घरमें अधिकारका जो कानून बनाया गया है, उससे तो हानि-ही-हानि है—समाजमें घोर अशान्ति तथा अव्यवस्था हो सकती है। खास करके स्त्रियोंके लिये संकट बहुत बढ़ सकते हैं। स्त्रियोंमें स्वाभाविक ही सरलता है तथा लज्जा और भय भी है, इससे वे इस समय भी पुरुषोंके द्वारा अपने हकसे वञ्चित कर दी जाती हैं, इस कानूनसे तो उनकी और भी दुर्दशा हो सकती है।

आजकल धनी विधवा स्त्रियोंको भी भयानक कष्ट उठाने पड़ते हैं। यदि वह लड़का गोद लेती है तो वह लड़का उसके धनका मालिक बन बैठता है। कोई-कोई लड़के तो माताके साथ बहुत ही नीचताका बर्ताव करते देखे-सुने गये हैं। स्त्रीका निजी धन, जो फर्मके बहीखातोंमें उसके नामसे जमा है, उसे न देना; विवाह, द्विरागमन और पतिकी मृत्यु आदिके समय ससुर और पिता आदिसे मिले हुए धन और आभूषण आदिको भी हड़प लेना; उसके पतिकी जीवन-बीमाकी रकम, जो पतिके मरनेपर स्त्रीको मिलनी चाहिये, स्वयं ले लेना, उसे न देना; रहनेके लिये स्थानतक न देना; जीवन-निर्वाहके लिये मासिकरूपसे भी खर्च न देना, बल्कि उसपर झूठा दोष लगाकर उसे घरसे निकाल देना आदि अत्याचार गोदके लड़के माताओंके साथ करते हैं। कहीं-कहीं तो विधवा स्त्रीके निजी रुपये और गहनोंको सास-ससुर, जेठ-जेठानी और देवर-देवरानी कब्जा करके हड़प लेते हैं और यदि नैहरमें रकम या गहना रहा तो उसे भाई-भौजाई आदि हड़प जाते हैं। वह बेचारी रोती-कलपती और क्लेश भोगती रह जाती है। ससुराल, नैहर और अपनी इज्जतको ध्यानमें रखकर वह लज्जाके मारे अपने ससुरालवालों या नैहरवालोंपर कानूनी कार्रवाई भी नहीं करना चाहती और बिना ऐसा किये कोई उसे एक पैसा देता नहीं। ऐसी कोई बहिन यदि अदालतकी शरण लेना भी चाहती है तो कोई भी उसकी मदद भी नहीं करता—न समाजके लोग, न सरकार और न कानूनी पेशा करनेवाले वकील आदि ही। इस स्थितिमें उसका जीवन कितने संकटमें बीतता है, इसे वही जानती है। इधर दुराचारी लोग विविध साधनोंसे स्त्रियोंका सतीत्व नष्ट करनेपर तुले रहते हैं। ऐसी अवस्थामें वह बेचारी क्या करे! विधवाओंके इस घोर दुःखको देखकर मनुष्यका हृदय काँप जाता है। अतः विधवा बहिनोंके इस दुःखकी ओर समाज, सरकार, वकील आदि सभीको ध्यान देकर उनकी यथासाध्य सहायता करनी चाहिये और उनके निजी गहने तथा रुपये उनके हकके अनुसार उनको मिल जायँ, इसके लिये तथा उनके सतीत्वकी रक्षाके लिये सभीको विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

विवाहमें दहेज देनेकी प्रथा भी दिनोंदिन बढ़ती जा रही है, यह देशके लिये बहुत ही घातक है। यह कुप्रथा प्रायः समस्त देशमें, भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें और प्रायः सभी जातियोंमें फैल गयी है। इसके कारण एक लड़कीके विवाहमें धनी पिताके तो लाखों रुपये खर्च होते ही हैं। साधारण श्रेणीके मनुष्यके भी एक लड़कीके विवाहमें पाँच-सात हजार रुपये खर्च हो जाते हैं और गरीब आदमीको भी कम-से-कम हजार आठ सौ रुपये तो खर्च करने ही पड़ते हैं। नहीं तो, लड़कीकी शादी होनी ही सम्भव नहीं। यह बहुत ही दुःखकी बात है। किसीके चार-पाँच लड़कियाँ हों तो उस बेचारेका तो जीवन ही भाररूप हो जाता है। यदि वह कहीं सौ-पचास रुपये मासिककी नौकरी करता है तो उनसे तो उसका घरका खर्च ही पूरा नहीं पड़ता। फिर वह चार-पाँच लड़कियोंका विवाह किस प्रकार करे? न तो उसे रुपये उधार मिलते हैं और न माँगनेपर ही मिलते हैं। इस दुःखके कारण कोई-कोई माता-पिता और कन्या

तो आत्महत्यातक कर लेते हैं। ऐसी घटनाएँ प्राय: होती रहती हैं। इन दु:खपूर्ण आत्महत्याओंको रोकनेके लिये सरकार और जनताको उचित है कि इस बढ़ती हुई दहेज-प्रथाको साम, दाम, दण्ड, भेद—किसी भी प्रकारसे रोके। नहीं तो देश, जाति और धर्मकी भारी हानि हो सकती है। देशका महान् ह्रास हो जानेपर फिर कोशिश करनेपर भी कोई लाभ सम्भव नहीं। अतएव इसका शीघ्र सुधार होना चाहिये।

विवाह-शादीके समय अत्यधिक बिजली जलाने, शानदार मण्डप बनाने, आतिशबाजी करने, सिनेमा-नाटक आदि करवाने और मादक वस्तुओंके सेवन करने आदि कार्योंमें जो फिजूलखर्च होता है तथा लोगोंकी आसक्ति बढ़ती तथा रुचि बिगड़ती है, इससे बचनेके लिये भी प्रयत्न करके इनको बंद कराना चाहिये। बारात आनेके समय जो पार्टी दी जाती है, उसमें बड़े लोगोंके यहाँ प्राय: होटलके द्वारा प्रबन्ध होता है, जिसमें परोसनेवालोंमें सभी जातिके तथा विधर्मी भाई भी रहते हैं, उसमें एक पंक्तिसे बची हुई जूँठी मिठाई तथा नमकीन चीजें दूसरी पंक्तिवालोंको परोसी जाती हैं। इससे स्वास्थ्य, धर्म और धनकी प्रत्यक्ष हानि होती है। दु:खकी बात है कि जहाँ अपनी प्राचीन परिपाटीके अनुसार अपने घरपर आये हुए अतिथि महानुभावों तथा सगे-सम्बन्धियों और बन्धुओंके भोजनार्थ घरहीमें पवित्र सामग्री तैयार करवाकर स्वयं ही बड़े ही विनय, प्रेम और उत्साहके साथ परोसना और उनका आतिथ्य करना चाहिये, वहाँ यह वस्तुत: उन अतिथियोंका घोर अपमान है। यह भी कम खेदकी बात नहीं है कि आजकल कोई-कोई अतिथि भी इस भ्रष्टाचारको ही पसंद करने लगे हैं। पर ऐसा होना नहीं चाहिये और इस विषयमें अपनी प्राचीन संस्कृति तथा रीतिके अनुसार ही बर्ताव-व्यवहार करना चाहिये। उसीसे कर्तव्य-पालन होता है तथा ठीक समझमें आ जानेपर अतिथिको भी विशेष प्रसन्नता होती है।

विवाह-शादीके अतिरिक्त अन्य समय भी यदि किसी भी सज्जनको हम चाय या भोजनके लिये बुलाते हैं तो उसका प्रबन्ध भी पवित्रताके साथ स्वयं ही करना चाहिये, होटलोंके द्वारा नहीं करवाना चाहिये। अधिकांश होटलोंमें तो मांस, मछली, अंडे, मदिरा आदि अपवित्र पदार्थोंका प्राय: ही संसर्ग रहता है, जिससे धर्म, प्रतिष्ठा और शारीरिक स्वास्थ्यकी भी हानि होती है। इसके अतिरिक्त, स्वयं भी होटलोंमें जाकर भोजन करना हमारे प्रतिष्ठा, धर्म और स्वास्थ्यके लिये सर्वथा हानिकर और अपमानजनक है; क्योंकि उनमें मांस, मछली, अंडे, मदिरा आदि अपवित्र, घृणित और हिंसात्मक पदार्थोंका संसर्ग रहता ही है। किसी-किसी होटलमें तो गोमांसतक रहता है, जिससे परहेज होना असम्भव-सा है। अतएव होटलोंका संसर्ग किसी भी प्रकार नहीं करना चाहिये। इन्हीं सब बातोंको ध्यानमें लाकर ही ऋषि-मुनियोंने विदेशोंमें जाना मना किया था।

जन्म, उपनयन और मरणके समय भी जो कुरीतियाँ और फिजूलखर्च बढ़े हुए हैं, उनका भी सुधार करना चाहिये। लड़केके जन्मके समय जो चौपड़-ताश खेले जाते हैं, बीड़ी-सिगरेट आदि मादक वस्तुओंका सेवन किया जाता है, यह सर्वथा अनुचित है; इनको सर्वथा बंद करना चाहिये। जन्मके समय बालकके जातकर्म, बादमें नामकरण-संस्कार किये जाने चाहिये तथा यथासमय उसका उपनयन होना चाहिये, सो जातकर्म-नामकरणादि संस्कार तो प्राय: किये ही नहीं जाते, उपनयन होता है। संस्कारोंके स्थानपर शास्त्रविरुद्ध आयोजन किये जाते हैं और उपनयनमें कहीं-कहीं बड़ा आडम्बर किया जाता है। तरह-तरहके खेल होते हैं, अपवित्र वस्तुओंका सेवन होता है। गरीबोंको न देकर व्यर्थ ही पार्टियाँ की जाती हैं। ये सब फिजूलखर्च और कुरीतियाँ हैं। अत: इन सब आडम्बरोंको बंद करके केवल शास्त्र-विधिके अनुसार उपनयन-संस्कार होना चाहिये।

मरनेके पश्चात् मृतकके लिये तिलाञ्जलि, दशगात्र, नारायणबलि, सपिण्डी-श्राद्ध, यथाशक्ति ब्राह्मण-भोजन और अत्यन्त निकटवर्ती कुटुम्बियोंको भोजन करानेके अतिरिक्त जो व्यर्थ खर्च किया जाता है, उसको बिलकुल बंद कर देना चाहिये।

भारतमें गो-जातिका भी दिनोंदिन ह्रास होता जा रहा है। प्रतिवर्ष लाखोंकी संख्यामें गो-जातिकी हत्या होती है और उनका चमड़ा और सूखा मांस विदेशोंमें भेजा जाता है। इस कारण भारतवासियोंको घी-दूधका मिलना दुर्लभ-सा हो चला है। लोग घीकी जगह नकली घी—जमाया तेल (वेजिटेबल) व्यवहारमें लाते हैं, जो स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त हानिकर है। विदेशोंसे हजारों टन सुखाये हुए दूधका पाउडर तथा रिफाइंड तेलके नामसे जानवरोंकी चर्बी भारतमें आती है, अब तो अमेरिकासे घी भी आ रहा है! यह हमारे लिये बड़े ही दु:ख और लज्जाकी बात है। जिस देशके एक ही प्रान्तमें करोड़ों दुधारू गायें रहती थीं, आज वहाँ वैसी दुधारू गायें हजारों भी नहीं मिलतीं। इस बातपर विचार

करके सारे देशमें गो-धनकी वृद्धि हो, इसका विशेषरूपसे प्रयत्न होना चाहिये और कानूनसे गो-हत्या कतई बंद कर देनी चाहिये।

कोई-कोई भाई कहते हैं कि चौदह वर्षसे अधिक उम्रकी बूढ़ी गायोंकी यदि हत्या न की जायगी तो अच्छी गायोंके लिये चारा नहीं मिलेगा। पर यह उनकी दूरदर्शिता नहीं है। प्रथम तो चौदह वर्षके बतलाकर झूठे सर्टिफिकेट प्राप्त कर लिये जाते हैं और इस प्रकार दुनियाको धोखा देकर कम उम्रके गाय, बैल और बछड़े, बछड़ियाँ आदि भी प्रत्यक्ष अधिक संख्यामें मारे जा रहे हैं, कलकत्ते तथा बम्बई आदिके कसाईखानोंमें जाकर देख सकते हैं। दूसरे बूढ़ी गाय भी जो गोबर-गोमूत्र करती है, उसकी ही खादसे अन्न और घासकी उपज इतनी अधिक होती है कि उससे उन वृद्ध गायोंका अनायास ही पालन हो सकता है। उनकी खूराकके लिये चिन्ता करना ही भूल है। फिर स्थान-स्थानपर अच्छे गो-सदनोंकी स्थापना करके ऐसी गायोंको बचाना सरकार तथा जनताका धर्म है।

सिनेमा (चलचित्र) का प्रचार-प्रसार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है, मनोरञ्जनकी सामग्री तथा कला-व्यवसायके नामपर सरकार भी इसमें पर्याप्त सहायता कर रही है, परंतु इससे देशका कितना भयानक नैतिक पतन हो रहा है, आर्य स्त्रियोंकी सांस्कृतिक प्रतिष्ठाका कितना घोर विनाश हो रहा है, धन, स्वास्थ्य, धर्म तथा सदाचारकी कितनी असह्य हानि हो रही है, इसकी ओर बहुत कम लोगोंका ध्यान है। दिनोंदिन बढ़नेवाली चरित्रहीनता सिनेमाका अवश्यम्भावी दुष्परिणाम है, परंतु क्या किया जाय, विनाशको ही उत्थान माना जा रहा है; तथापि हमारी सरकार तथा देशके विचारशील पुरुषोंसे यह साग्रह अनुरोध है कि वे इसकी भीषण बुराइयोंको समझें और जनताको उससे बचानेका समुचित प्रयत्न करें।

इधर हमारे देशमें डाक्टरोंकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। साथ-ही-साथ बीमारियाँ भी बढ़ रही हैं। खेद तो इस बातका है कि अच्छे-अच्छे वैद्य भी पैसेके लोभसे अपने लड़कोंको डाक्टरी पढ़ाते हैं—डाक्टरी दवाओंका मूल्य इतना अधिक है कि भारतकी गरीब जनता उसे सहन नहीं कर सकती। कोई गरीब भाई बीमार पड़ जाता है और यदि वह डाक्टरी इलाज करवाता है तो डाक्टर और कम्पाउंडरकी फीस, उनका वाहन-भाड़ा, इंजेक्शन-दवा आदिकी कीमत सब मिलकर इतना अधिक हो जाता है कि उस गरीबका एक मासका वेतन एक ही दिनमें स्वाहा हो जाता है। गरीब भाइयोंको इलाजके लिये न तो कोई ऋण देता है और न कोई माँगनेपर ही कुछ देता है। बिना द्रव्यके कोई डाक्टर फ्री इलाज नहीं करता। कई भाई तो खर्चकी तंगीके कारण बिना इलाजके तड़प-तड़पकर मर जाते हैं। थाइसिस (यक्ष्मा) के रोगीको तो हरेक जगह रहनेके लिये स्थान भी नहीं मिलता तथा सेनिटोरियमका इलाज इतना महँगा पड़ता है कि एक गरीब भाई उसे किसी प्रकार भी बर्दाश्त नहीं कर सकता। यक्ष्माके रोगके कारण आदमी मरता तो है ही, पर रोगकी चिन्ता और धनाभावके कारण इलाजकी चिन्तासे भी जलता रहता है। किंतु विदेशी दवाओंका मोह इतना बढ़ गया है कि यह सब सहकर भी रोगी उसीकी इच्छा करता है।

विदेशी दवाइयाँ हमारे शरीरोंको अनुकूल भी नहीं पड़तीं तथा इनके लिये विदेशोंके पराधीन भी होना पड़ता है। गरीब भारतके लिये खर्च भी बढ़ता है। साथ ही डाक्टरी दवाओंमें मछलीका तेल, घोड़ेका खून, गायका पित्त, शराब, अण्डा, पशु-पक्षियोंका मांस, खून, चर्बी आदिका अत्यधिक प्रयोग किया जाता है, अतः इनमें अपवित्रता और अत्यधिक हिंसा होनेके कारण धर्मकी भी विशेष हानि है।

आयुर्वेदकी चिकित्सा उच्चकोटिकी, धर्मयुक्त, त्रिकालज्ञ ऋषियोंके महत्त्वपूर्ण अनुभवसे युक्त, कम खर्चीली, पवित्र और अद्भुत चमत्कार दिखानेवाली ओषधियोंसे परिपूर्ण है। जड़ी-बूटी और काष्ठादि औषधसे कम पैसोंमें ही इलाज हो जाता है और खर्चीला जीवन न होनेसे वैद्योंकी फीस भी डाक्टरोंसे कम ही है; किंतु दुःखकी बात है कि चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि त्रिकालज्ञ ऋषियोंद्वारा रचित आयुर्वेदके ग्रन्थोंकी अवहेलना होती जा रही है, जो कि देशके लिये घातक है और ओषधियोंका ज्ञान न होने तथा उनके प्रति आदर न होनेके कारण यह महान् विज्ञान हमारे देशसे नष्ट होता जा रहा है।

अतएव सरकारसे और धनी महानुभावोंसे हमारा अनुरोध है कि आयुर्वेदिक चिकित्सालय जगह-जगह खोले जायँ, जिनसे सस्ती और शुद्ध चिकित्सा हो सके एवं आयुर्वेदकी शिक्षा-दीक्षाके लिये स्थान-स्थानपर आयुर्वेदके विद्यालय भी खोले जायँ। आयुर्वेदकी रक्षा और वृद्धिके लिये धनी-मानी देशवासियोंको और सरकारको विशेष ध्यान देकर प्रयत्न करना चाहिये। नहीं तो, हमारे देशसे एक बहुत बड़े विज्ञानकी हानि हो सकती है, जिसकी पूर्ति पुनः सहज सम्भव नहीं।

देशमें आजकल स्कूल और कालेजोंमें जो शिक्षा-दीक्षा दी जाती है, उससे वस्तुतः देशके बालकोंकी बड़ी हानि हो रही है। वे हमारी भारतीय संस्कृतिसे वञ्चित रहकर पाश्चात्त्य संस्कृतिमें रँगे जाते हैं। बालकोंमें सदाचार, सद्गुण, ईश्वरभक्ति, बड़ोंके प्रति आदरभाव और लज्जाका, जो हमारी भारतीय संस्कृतिके महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं, दिनोंदिन ह्रास होता जा रहा है। इसके विपरीत पाश्चात्त्य सभ्यताकी वृद्धि हो रही है, साथ ही दुर्गुण, दुराचार, नास्तिकता, विलासिता, उद्दण्डता, आलस्य-प्रमाद और निर्लज्जता बढ़ती जा रही है, जो कि बालकोंके लिये और देशके लिये अत्यन्त हानिकारक है; क्योंकि देशकी भावी उन्नति प्रायः बालकोंपर ही विशेष निर्भर करती है। इनका जैसा भाव और चरित्र होगा, वैसा ही देशका स्वरूप हो सकता है। हमारे देशके बड़े-बड़े अधिकारी भी इस बातको जानते हैं तथा स्वीकार करते हैं, किंतु अभीतक इसका सुधार नहीं हो पाया है। अतएव इसपर शीघ्र ध्यान देना चाहिये और बालकोंको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये, जिससे भारतीय संस्कृतिका ज्ञान बढ़े और उनकी शारीरिक, ऐन्द्रियिक, मानसिक, बौद्धिक, भौतिक, व्यावहारिक, नैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति हो। बालकोंकी सर्वाङ्गीण उन्नतिसे ही देशकी उन्नति है। इसलिये शिक्षा-दीक्षाका सुधार विशेषरूपसे होना चाहिये।

इस समय हिंदू-धर्मपर भी भारी आघात हो रहा है। धर्मके प्रचारकी बात तो दूर रही, बल्कि उसके पालन करनेवालोंपर विपत्तिके पहाड़ टूट रहे हैं। हमारे ईसाई और मुसलमान भाई अपने धर्मका प्रचार करते हैं, उसमें सरकारकी ओरसे कोई रुकावट नहीं है; बल्कि मस्जिदोंके लिये भारत-सरकार समय-समयपर पर्याप्त सहायता करती है। ईसाई भाइयोंको अमेरिका आदि देशोंसे धनकी पर्याप्त सहायता मिलती रहती है। उनके लिये भी सरकारकी ओरसे कोई रुकावट नहीं है। दुःखकी बात है कि जो सुविधा और सहायता मुसलमान और ईसाई भाइयोंको उनके धर्म-प्रचारके लिये मिलती है; कम-से-कम उतनी तो हिंदुस्थानमें हिंदुओंको मिलनी ही चाहिये, नहीं तो हिंदू-धर्मका ह्रास होकर हिंदुस्थानमें मुसलमान और ईसाइयोंकी संख्या ही अधिक मात्रामें बढ़ सकती है, जिससे आगे चलकर भारत-सरकारके लिये विशेष कठिनाई हो सकती है। भारतमें प्रतिवर्ष ईसाइयोंकी संख्या जोरोंसे बढ़ रही है। इस बाढ़में सरकारको न्याययुक्त रुकावट डालनी चाहिये। इसी प्रकार मुसलमान भाइयोंकी संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ रही है। मुसलमान भाई चार स्त्रियोंके साथ विवाह करके दो सालमें चार संतान उत्पन्न कर सकते हैं; किंतु हिंदू एक ही स्त्रीके साथ विवाह करके दो वर्षमें एक संतान ही पैदा कर सकता है। यद्यपि एक स्त्रीके साथ विवाह करना ही आदर्श है, परंतु यह आदर्श भारतमें सभी वर्गके लोगोंके लिये होना चाहिये। इसलिये भारतमें जो कोई भी कानून बने वह केवल हिंदुओंके लिये ही नहीं, मुसलमान, ईसाई सभीपर लागू होना चाहिये।

हिंदू भाइयोंसे प्रार्थना है कि जैसे ईसाई भाई अपने धर्म और जातिकी उन्नतिके लिये अपने धर्मकी पुस्तकें बहुत कम दामोंमें बेचते हैं, इसी प्रकार कम दामोंमें अपने हिंदू-धर्मकी पुस्तकोंका प्रचार करना चाहिये। ईसाई भाई जिनको ईसाई बनाते हैं, उनके रोगादिकी निवृत्तिके लिये अस्पताल और विद्याके लिये विद्यालय आदि खोलते हैं और साथ ही उनमें अपने ईसाई-धर्मकी शिक्षा भी देते हैं। इसी प्रकार हिंदू भाइयोंको तमाम हिंदुओंके लिये छोटे-से-छोटे स्थानमें भी बिना मूल्य शिक्षा-चिकित्सा तथा सेवा और सहायताकी समुचित व्यवस्था करनी चाहिये और पाठशाला-विद्यालयोंमें अन्य शिक्षाके साथ कम-से-कम गीता-रामायण आदिकी पढ़ाई तो अनिवार्य करनी चाहिये।

देशकी सर्वमान्य भाषा संस्कृत, राष्ट्रभाषा हिंदी और देवनागरी लिपि ही राष्ट्रीय लिपि होनी चाहिये। इनमें संस्कृतपर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि हमारी संस्कृतिका स्रोत संस्कृतमें ही है। हमारे सब धार्मिक ग्रन्थ संस्कृतमें ही हैं तथा संस्कृत ही हमारी आदि भाषा है। इसमें थोड़ेसे शब्दोंमें ही बहुत अर्थ और भावसे युक्त विषय भरे जा सकते हैं। संस्कृतमें एक धातुके सैकड़ों रूप बनते हैं, जो दूसरी भाषाओंमें कदापि सम्भव नहीं। ऐसी अनेक विशेषताओंसे सम्पन्न संस्कृत भाषा ही है। अतः सभीको इसकी सब प्रकारसे रक्षा और उन्नति करनी चाहिये।

इस लेखमें मैंने कुछ आवश्यक विषयोंकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित किया है, इसपर यदि ध्यान दिया जाय तो देशवासियोंका बड़ा हित है और मैं आप सबका आभारी होऊँगा।

दानका रहस्य

दानमें महत्त्व है त्यागका, वस्तुके मूल्य या संख्याका नहीं। ऐसी त्यागबुद्धिसे जो सुपात्रको यानी जिस वस्तुका जिसके पास अभाव है, उसे वह वस्तु देना और उसमें किसी प्रकारकी कामना न रखना उत्तम दान है। निष्कामभावसे किसी भूखेको भोजन और प्यासेको जल देना सात्त्विक दान है। संत श्रीएकनाथजीकी कथा आती है कि वे एक समय प्रयागसे काँवरपर जल लेकर श्रीरामेश्वर चढ़ानेके लिये जा रहे थे। रास्तेमें जब एक जगह उन्होंने देखा कि एक गदहा प्यासके कारण पानीके बिना तड़प रहा है, उसे देखकर उन्हें दया आ गयी और उन्होंने उसे थोड़ा-सा जल पिलाया, इससे उसे कुछ चेत-सा हुआ। फिर उन्होंने थोड़ा-थोड़ा करके सब जल उसे पिला दिया। वह गदहा उठकर चला गया। साथियोंने सोचा कि त्रिवेणीका जल व्यर्थ ही गया और यात्रा भी निष्फल हो गयी। तब एकनाथजीने हँसकर कहा—'भाइयो, बार-बार सुनते हो, भगवान् सब प्राणियोंके अंदर हैं, फिर भी ऐसे बावलेपनकी बात सोचते हो! मेरी पूजा तो यहींसे श्रीरामेश्वरको पहुँच गयी। श्रीशङ्करजीने मेरे जलको स्वीकार कर लिया।'

एक महाजनकी कहानी है कि वह सदैव यज्ञादि कर्मोंमें लगा रहता था। उसने बहुत दान किया। इतना दान किया कि उसके पास खानेको भी कुछ न रह गया। तब उसकी स्त्रीने कहा—'पासके गाँवमें एक सेठ रहते हैं, वे पुण्योंको मोल खरीदते हैं, अतः आप उनके पास जाकर और अपना कुछ पुण्य बेचकर द्रव्य ले आइये, जिससे अपना कुछ काम चले।' इच्छा न रहते हुए भी स्त्रीके बार-बार कहनेपर वह जानेको उद्यत हो गया। उसकी स्त्रीने उसके खानेके लिये चार रोटियाँ बनाकर साथ दे दीं। वह चल दिया और उस नगरके कुछ समीप पहुँचा, जिसमें वे सेठ रहते थे। वहाँ एक तालाब था। वहीं शौच-स्नानादि कर्मोंसे निवृत्त होकर वह रोटी खानेके लिये बैठा कि इतनेमें एक कुतिया आयी। वह वनमें ब्यायी थी। उसके बच्चे और वह, सभी तीन दिनोंसे भूखे थे; भारी वर्षा हो जानेके कारण वह बच्चोंको छोड़कर शहरमें नहीं जा सकी थी। कुतियाको भूखी देखकर उसने उस कुतियाको एक रोटी दी। उसने उस रोटीको खा लिया। फिर दूसरी दी तो उसको भी खा लिया। इस प्रकार उसने एक-एक करके चारों रोटियाँ कुतियाको दे दीं। कुतिया रोटी खाकर तृप्त हो गयी। फिर, वह वहाँसे भूखा ही उठकर चल दिया तथा उस सेठके पास पहुँचा। सेठके पास जाकर उसने अपना पुण्य बेचनेकी बात कही। सेठने कहा—'आप दोपहरके बाद आइये।'

उस सेठकी स्त्री पतिव्रता थी। उसने स्त्रीसे पूछा—'एक महाजन आया है और वह अपना पुण्य बेचना चाहता है। अतः तुम बताओ कि उसके पुण्योंमेंसे कौन-सा पुण्य सबसे बढ़कर लेने योग्य है।' स्त्रीने कहा—'आज जो उसने तालाबपर बैठकर एक भूखी कुतियाको चार रोटियाँ दी हैं, उस पुण्यको खरीदना चाहिये; क्योंकि उसके जीवनमें उससे बढ़कर और कोई पुण्य नहीं है।' सेठ 'ठीक है'—ऐसा कहकर बाहर चले आये।

नियत समयपर महाजन सेठके पास आया और बोला—'आप मेरे पुण्योंमेंसे कौन-सा पुण्य खरीदेंगे?' सेठने कहा— 'आपने आज जो यज्ञ किया है, हम उसी यज्ञके पुण्यको लेना चाहते हैं।' महाजन बोला—'मैंने तो आज कोई यज्ञ नहीं किया। मेरे पास पैसा तो था ही नहीं, मैं यज्ञ कहाँसे कैसे करता।' इसपर सेठने कहा—'आपने जो आज तालाबपर बैठकर भूखी कुतियाको चार रोटियाँ दी हैं, मैं उसी पुण्यको लेना चाहता हूँ। महाजनने पूछा—'उस समय तो वहाँ कोई नहीं था, आपको इस बातका कैसे पता लगा ?' सेठने कहा—'मेरी स्त्री पतिव्रता है, उसीने ये सब बातें मुझे बतायी हैं।' तब महाजनने कहा—'बहुत अच्छा' ले लीजिये; परंतु मूल्य क्या देंगे? सेठने कहा—'आपकी रोटियाँ जितने वजनकी थीं, उतने ही हीरे-मोती तौलकर मैं दे दूँगा।' महाजनने स्वीकार किया और उसकी सम्मतिके अनुसार सेठने अंदाजसे उतने ही वजनकी चार रोटियाँ बनाकर तराजूके एक पलड़ेपर रखीं और दूसरे पलड़ेपर हीरे-मोती आदि रख दिये; किंतु बहुत-से रत्नोंके रखनेपर भी वह (रोटीवाला) पलड़ा नहीं उठा। इसपर सेठने कहा—'और रत्नोंकी थैली लाओ।' जब उस महाजनने अपने इस पुण्यका इस प्रकारका प्रभाव देखा तो उसने कहा कि 'सेठजी ! मैं अभी इस पुण्यको नहीं बेचूँगा।' सेठ बोला—'जैसी आपकी इच्छा।'

तदनन्तर वह महाजन वहाँसे चल दिया और उसी तालाबके किनारेसे, जहाँ बैठकर उसने कुतियाको रोटियाँ खिलायी थीं, थोड़े-से चमकदार कंकड़-पत्थरों तथा काँचके टुकड़ोंको कपड़ेमें बाँधकर अपने घर चला आया। घर आकर उसने वह पोटली अपनी स्त्रीको दे दी और कहा—'इसको भोजन करनेके बाद खोलेंगे।' ऐसा कहकर वह बाहर चला गया। स्त्रीके मनमें उसे

देखनेकी इच्छा हुई। उसने पोटलीको खोला तो उसमें हीरे-पन्ने-माणिक आदि रत्न जगमगा रहे थे। वह बड़ी प्रसन्न हुई। थोड़ी देर बाद जब वह महाजन घर आया तो स्त्रीने पूछा—'इतने हीरे-पन्ने कहाँसे ले आये?' महाजन बोला—'क्यों मजाक करती हो?' स्त्रीने कहा—'मजाक नहीं करती, मैंने स्वयं खोलकर देखा है, उसमें तो ढेर-के-ढेर बेशकीमती हीरे-पन्ने भरे हैं।' महाजन बोला—'लाकर दिखाओ।' उसने पोटली लाकर खोलकर सामने रख दी। वह उन्हें देखकर चकित हो गया। उसने इसको अपने उस पुण्यका प्रभाव समझा। फिर उसने अपनी यात्राका सारा वृत्तान्त अपनी पत्नीको कह सुनाया।

कहनेका अभिप्राय यह कि ऐसे अभावग्रस्त आतुर प्राणीको दिये गये दानका अनन्तगुना फल हो जाता है, भगवान्‌की दयाके प्रभावसे कंकड़-पत्थर भी हीरे-पन्ने बन जाते हैं।

इस प्रकार दीन-दुःखी, आतुर और अनाथको दिया गया दान उत्तम है। किसीके संकटके समय दिया हुआ दान बहुत ही लाभकारी होता है। भूकम्प, बाढ़ या अकाल आदिके समय आपद्‌ग्रस्त प्राणीको एक मुट्ठी चना देना भी बहुत उत्तम होता है। जो विधिपूर्वक सोना, गहना, तुलादान आदि दिया जाता है, उससे उतना लाभ नहीं, जितना आपत्तिकालमें दिये गये थोड़े-से दानका होता है। अतः हरेक मनुष्यको आपत्तिग्रस्त, अनाथ, लूले, लँगड़े, दुःखी, विधवा आदिकी सेवा करनी चाहिये। कुपात्रको दान देना तामसी दान है। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये दिया हुआ दान राजसी है; क्योंकि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा भी पतन करनेवाली है। आज तो यह मान-बड़ाई हमें मीठी लगती है, पर उसका निश्चित परिणाम पतन है। अतः मान-बड़ाईकी इच्छाका त्याग कर देना चाहिये, बल्कि यदि किसी प्रकार निन्दा हो जाय तो वह अच्छी समझी जाती है। श्रीकबीरदासजी कहते हैं—

निन्दक नियरें राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निरमल करै सुभाय॥

इसलिये परम हितकी दृष्टिसे मान-बड़ाईके बदले संसारमें अपमान-निन्दा होना उत्तम है। साधकके लिये मान-बड़ाई मीठा विष है और अपमान-निन्दा अमृतके तुल्य है। इसीलिये निन्दा करनेवालेको आदरकी दृष्टिसे देखना चाहिये; परंतु कोई भी निन्दनीय पापाचार नहीं करना चाहिये। दुर्गुण-दुराचार बड़े ही खतरेकी चीज है। इसलिये इनका हृदयसे त्याग कर देना चाहिये। अपने सद्‌गुणोंको छिपाकर दुर्गुणोंको प्रकट करना चाहिये। आजकल लोग सच्चे दुर्गुणोंको छिपाकर बिना हुए ही अपनेमें सद्‌गुणोंका संग्रह बताकर उनका प्रचार करते हैं, यह सीधा नरकका रास्ता है। अतः मान-बड़ाईकी इच्छा हृदयसे सर्वथा निकाल देनी चाहिये। संसारमें हमारी प्रतिष्ठा हो रही है और हम यदि उसके योग्य नहीं हैं तो हमारा पतन हो रहा है। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा चाहनेवालेसे भगवान् दूर हो जाते हैं; क्योंकि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा पतनमें ढकेलनेवाली है। मान-बड़ाईको रौरवके समान और प्रतिष्ठाको विष्ठाके समान समझना चाहिये। यही संतोंका आदेश है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि सुपात्रको दिया गया दान दोनोंके लिये ही कल्याणकारी है। कुपात्रको दिया गया दान दोनोंको डुबानेवाला है। जैसे पत्थरकी नौका बैठनेवालेको साथ लेकर डूब जाती है, उसी प्रकार कुपात्र दाताको साथ लेकर नरकमें जाता है।

दानके सम्बन्धमें एक बात और समझनेकी है। बड़े धनी पुरुषके द्वारा दिये गये लाखों रुपयोंके दानसे निर्धनके एक रुपयेका दान अधिक महत्त्व रखता है; क्योंकि निर्धनके लिये एक रुपयेका दान भी बहुत बड़ा त्याग है। भगवान्‌के यहाँ न्याय है। ऐसा न होता तो फिर निर्धनोंकी मुक्ति ही नहीं होती। इस विषयमें एक कहानी है। एक राजा प्रजाजनोंके सहित तीर्थ करनेके लिये गये। रास्तेमें एक आदमी नंगा पड़ा था, वह ठंडके कारण ठिठुर रहा था। राजाके साथी प्रजाजनोंमें एक जाट था, उसने अपनी दो धोतियोंमेंसे एक धोती उस नंगे आदमीको दे दी, इससे उसके प्राण बच गये। जाटके पास पहननेको एक ही धोती रह गयी। आगे जब वे दूर गये तो वहाँ बहुत कड़ी धूप थी, पर उन्होंने देखा कि बादल उनपर छाया करते चले जा रहे हैं। राजाने सोचा कि 'हमारे पुण्यके प्रभावसे ही बादल छाया करते हुए चल रहे हैं।' तदनन्तर वे एक जगह किसी वनमें ठहरे। जब चलने लगे, तब किसी महात्माने पूछा—'राजन्! तुम्हें इस बातका पता है कि ये बादल किसके प्रभावसे छाया करते हुए चल रहे हैं?' राजा कुछ भी उत्तर नहीं दे सके। तब महात्माने कहा—'अच्छा, तुम एक-एक करके यहाँसे निकलो। जिसके साथ बादल छाया करते हुए चलें, इसको उसी पुण्यवान्‌के पुण्यका प्रभाव समझना चाहिये।' तब पहले राजा वहाँसे चले, फिर एक-एक करके सब प्रजाजन चले, पर बादल वहीं रहे। तब राजाने कहा—'देखो तो, पीछे कौन रह गया है।' सेवकोंने देखा कि वहाँ एक जाट सोया पड़ा है। उसे उठाकर वे राजाके

पास लाये, तब बादल भी उसके साथ-साथ छाया करते चलने लगे। तब महात्मा बोले—'यह इसी पुण्यवान्‌के पुण्यका प्रभाव है।' राजाने उससे पूछा—'तुमने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है?' बार-बार पूछनेपर उसने कहा कि 'मैंने और तो कोई पुण्य नहीं किया, अभी रास्तेमें मैंने अपनी दो धोतियोंमेंसे एक धोती रास्तेमें पड़े जाड़ेसे ठिठुरते हुए एक नंगे मनुष्यको दी थी।'

इसपर महात्माने राजासे कहा—'राजन्! तुम बड़ा दान करते हो, परंतु तुम्हारे पास अतुल सम्पत्ति है, इसलिये तुम्हारा त्याग दो धोतीमेंसे एक दे डालनेके समान नहीं हो सकता।'

इस प्रकार दानका रहस्य समझकर दान करना चाहिये।

स्त्रियोंके लिये स्वार्थत्यागकी शिक्षा

स्त्रियोंको आपसमें किस प्रकारका व्यवहार करना चाहिये तथा पुरुषोंके साथ उन्हें कैसा व्यवहार करना चाहिये, यहाँ इस विषयपर कुछ विचार किया जाता है।

भगवान्‌को प्रसन्न करना अर्थात् भगवान्‌की प्रसन्नताके अनुसार कार्य करना तो मनुष्यमात्रका कर्तव्य और एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये। स्वार्थत्यागपूर्वक सबकी सेवा करनेसे सब प्रसन्न होते हैं और सबके प्रसन्न होनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार भगवान्‌को प्रसन्न करनेसे बहुत ही शीघ्र भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।

माता-बहिनोंको आपसमें किस प्रकारका व्यवहार करना चाहिये, इसमें ये दो बातें स्मरण रखनेकी हैं। एक तो यह कि मेरे व्यवहारसे सबको प्रसन्नता कैसे हो और दूसरे, यह समझना चाहिये कि परमात्मा सबमें विराजमान हैं, सब परमात्माके ही रूप हैं, इसलिये सबकी सेवा ही परमात्माकी सेवा है और यों समझकर हर प्रकारसे अपने द्वारा जैसे ही बने, निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये।

जैसे स्वार्थी मनुष्य अपने स्वार्थसाधनमें रत होता है, वैसे ही सबके हितमें रत होना बहुत उच्चकोटिकी सेवा है और यही माता-बहिनोंका लक्ष्य होना चाहिये। इसके तीन भेद हैं—

(१) जो वर्ण, आश्रम, पद, अवस्था और ज्ञानमें अपनेसे बड़े हैं, चाहे स्त्री हों या पुरुष, उनकी श्रद्धाभक्तिपूर्वक सेवा करना।

(२) जो बराबरकी अवस्थावाले, समान श्रेणीवाले हैं, उनकी मित्रभावसे सेवा करना।

(३) जो अपनेसे किसी भी प्रकारसे छोटे हैं, उनकी वात्सल्यभावसे सेवा करना।

इस प्रकार सेवामें यथायोग्य दास्यभाव, सख्यभाव और वात्सल्यभाव रखना चाहिये। किसी भी रूपमें जो हमारे बड़े, पूज्य और स्वामी हैं, उनको मालिक समझकर श्रद्धाभक्तिपूर्वक उनकी सेवा करना—दास्यभाव है। जैसे स्त्री अपने पतिकी सेवा करती है, पुत्र अपने माता-पिताकी सेवा करते हैं और शिष्य अपने गुरुकी सेवा करते हैं तो यह दास्यभाव है। बराबरवालोंके साथ जो मित्रताका भाव है, वह सख्यभाव है और छोटोंके प्रति जो स्नेहयुक्त पालन-पोषण-रक्षणका भाव है, वह वात्सल्यभाव है। तीनोंमें उद्देश्य एक ही है—उनको सुख पहुँचाना। इस प्रकारके भावोंसे परस्पर प्रेम बढ़ता है और ऐसे हेतुरहित प्रेमसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। वास्तवमें यह प्रेम भगवान्‌में ही है; क्योंकि उसकी सबमें भगवद्‌बुद्धि है और सबकी सेवा ही भगवान्‌की सेवा है, इस निश्चयसे ही निःस्वार्थ सेवा की जाती है। इसलिये उस सेवा करनेवालेका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और उसका दूसरोंपर प्रभाव पड़ता है। उसके व्यवहारसे दूसरे भी इतने प्रभावित हो जाते हैं कि उसका अनुकरण करनेकी अर्थात् उसके अनुसार बननेकी चेष्टा करते हैं। यह उनकी परम सेवा है।

स्त्रीका कर्तव्य है कि वह ससुरालमें अपनी सास और जेठानी आदिको जन्म देनेवाली माँसे भी बढ़कर समझे और यह निश्चय करे कि मैं यदि सेवाके द्वारा इनको प्रसन्न कर लूँगी तो भगवान् प्रसन्न होंगे; इसी भावसे उनकी सेवा करे। जो कार्य अपने मनके अनुकूल न होनेपर भी उनके मनके अनुकूल हो, वही करे; अपनी प्रतिकूलताकी परवा न करके उनकी अनुकूलताका आदर करे। उनकी प्रसन्नताको ही प्रधानता दे। परंतु यदि किसी पापकर्मसे उनको प्रसन्नता होती हो तो वह पाप कभी भूलकर भी न करे। बड़ोंको सुख पहुँचानेके लिये बड़ा-से-बड़ा कष्ट सह ले; परंतु उनकी पापमयी आज्ञाका पालन न करे; क्योंकि उसके पालनसे उनका भी हित नहीं है। पापके लिये आज्ञा देनेवाले और उस आज्ञाका पालन करनेवाले—दोनों ही नरकमें जाते हैं। इसलिये हिंसा, चोरी, असत्य-भाषण, व्यभिचार आदि करनेकी पापमयी आज्ञा बड़े लोग दें तो उनका पालन नहीं करना चाहिये। ऐसी दुष्ट आज्ञाओंका पालन न करनेसे आज्ञा देनेवाले भी नरकसे बच सकते हैं।

फिर चाहे आज्ञा न माननेके कारण अपनेको नरकमें ही जाना पड़े; परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रकार स्वार्थ-त्याग करके दूसरोंको नरकसे बचानेवाली स्त्रीको नरकमें डालनेकी शक्ति यमराजमें भी नहीं है।

त्यागमूर्ति श्रीभरतजीने अपनी माताकी अनुचित आज्ञाका पालन नहीं किया तो इससे क्या वे नरकमें गये? भरतजीने चित्रकूटमें जाकर यह कहा कि 'मैं तो पिताकी तथा आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके यहाँ आया हूँ, फिर भी आप मेरी प्रशंसा करते हैं' इसमें कितना ऊँचा ध्येय है। भरतजीको इन लोगोंने जो राज्यपद स्वीकार करनेकी आज्ञा दी, वह भरतजीकी दृष्टिमें न्याययुक्त नहीं थी। इसलिये भरतजीने उसका पालन नहीं किया। इसी प्रकार राजा बलिने भी गुरुकी आज्ञाका त्याग कर दिया था, किंतु इससे वे नरकमें नहीं गये; बल्कि उनको उत्तम पदकी प्राप्ति ही हुई। अतएव यदि कोई नीति, धर्म अथवा ईश्वरकी भक्तिके विपरीत आज्ञा दे और उस पापमयी आज्ञाको हम अनुचित समझकर सबके हितके उद्देश्यसे पालन न करें तो इससे हमें कोई पाप नहीं होता, बल्कि उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त होती है। परम भक्त प्रह्लादजीको जब पिताने कहा कि तुम ईश्वरकी भक्ति मत करो, तब उन्होंने उनकी यह आज्ञा नहीं मानी। इसके अतिरिक्त पिताकी प्रत्येक कठोर-से-कठोर आज्ञाका पालन कर दारुण अत्याचार सहते रहे। पिताने जो भी निर्दय दण्डविधान किया, उन्होंने प्रसन्नताके साथ उसे स्वीकार किया। इसी प्रकार हमें बड़ोंकी अन्य सारी बातें माननी चाहिये, किंतु जो धर्म और ईश्वरकी भक्तिके विरुद्ध हों, उन बातोंको कभी नहीं मानना चाहिये; क्योंकि बड़ोंको नरकसे बचाने तथा उनका परम हित करनेके लिये उनका न मानना ही उपयुक्त है।

आपके साथ जिनका बराबरका पद है, जो आपकी सखी हैं, जिनके साथ आपका प्रेम है और जिनकी अवस्था आदि समान है, उनके साथ मैत्रीभावनासे, अपने स्वार्थका त्याग करते हुए उनका हित करके उन्हें हर प्रकारसे सुख पहुँचाना चाहिये। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे सुख पहुँचानेसे अपना अन्तःकरण शुद्ध होता है और अपने उत्तम व्यवहारका उनपर भी उत्तम प्रभाव पड़ता है, जिससे उनका भी सुधार और उद्धार हो सकता है।

अपनेसे जो छोटे हैं, उनका पालन-पोषण, शिक्षण, संरक्षण तथा शुद्ध मनोरञ्जनरूपी सेवा करके उन्हें सुख पहुँचाना चाहिये। यही वात्सल्यभाव है। अपने बालकोंसे भी बढ़कर अपनी देवरानी-जेठानीके बालकोंको अथवा यदि पीहरमें हों तो भाई और बहिनके बालकोंको विशेष सुख पहुँचाना चाहिये। जो कुछ भी मेवा-मिठाई, फल तथा खिलौने आदि हों, अपने बालकोंकी अपेक्षा उनके बालकोंको अधिक बढ़िया और प्रथम देना चाहिये।

बहुओंका कर्तव्य है कि वे सासको माँसे भी बढ़कर समझें और उनकी आज्ञाका पालन करें। माताकी बात किसी समय न भी मानी जाय तो भी कोई हानि नहीं है, किन्तु सासकी बात न माननेसे उनको विशेष दुःख होता है, इसलिये उनकी बात अवश्य माननी चाहिये। जैसे भगवान्‌का भक्त बड़ी सावधानीसे ऐसी चेष्टा किया करता है, जिससे भगवान् शीघ्र प्रसन्न हों, वैसे ही बहूका कर्तव्य है कि वह सास-ससुर, जेठ-जेठानी आदि पूजनीय जनोंको देवताओंसे भी बढ़कर माने और कर्तव्य समझकर उनको हर समय प्रसन्न करनेके लिये निष्काम प्रेमभावसे विशेष प्रयत्न करे तथा यह अनुभव करे कि इन सबमें भगवान् विराजमान हैं और मैं जो कुछ कर रही हूँ, उसे वे देख रहे हैं तथा प्रसन्न हो रहे हैं।

सासको अपने आश्रित बहू आदिके विषयमें यह समझना चाहिये कि बहू जो अपने माता-पिताको छोड़कर इस घरमें आयी है, वह उसकी लड़कीसे भी बढ़कर स्नेहकी पात्री है। अपनी लड़की और बहूमें कभी कोई अनबन या मतभेद हो जाय तो उसे अपनी पुत्रवधूका पक्ष लेना चाहिये, लड़कीका नहीं। लड़की माँपर कभी नाराज नहीं होती। वह हृदयमें समझती है कि यह मेरी माँ है, यह मेरे विपक्षमें कभी मेरे अहितकी बात नहीं कह सकती। किंतु बहूके हृदयमें तुरंत यह बात आ सकती है कि सास अपनी लड़कीका पक्ष करती है। सास यदि अपनी बेटी और बहूके साथ समान व्यवहार करती है तो भी बहूके चित्तमें यह शङ्का हो सकती है कि यह अपनी लड़कीका पक्ष कर रही है। इससे यही उचित है कि वह बहूके उचित मतका विशेषरूपसे पक्ष करे।

यदि मैं अपने निजी भाइयों या अपने आदमियोंका दूसरे पक्षवालोंके साथ कोई न्याय करने बैठूँगा और वह न्याय यदि नीतिके अनुसार भी करूँगा तब भी दूसरे पक्षवालोंको यह शङ्का हो सकती है कि यह अपने भाइयोंका या अपने आदमियोंका पक्ष करता है। उस स्थलमें यदि मैं प्रतिपक्षियोंका सच्चा पक्ष लूँगा, उनके उचित कथनका समर्थन करूँगा और अपने पक्षवाले यदि उचित भी कहते होंगे तो उस विषयमें मैं कुछ चुप रहूँगा तो प्रतिपक्षियोंपर उसका ऐसा अच्छा असर पड़ेगा कि वे भी हमारे अनुकूल हो जायँगे और जो हमारे हैं वे तो हमारे हैं ही।

एक बातके लिये माता-बहिनोंसे मेरी विशेष प्रार्थना है कि उन्हें अपने स्वार्थके लिये अपने घरके पुरुषों—पीहरवालों या ससुरालवालोंको किसी चीजके लिये बाध्य नहीं करना चाहिये। उत्तम बात तो यह है कि कोई अपने पीहरमें आये तो उसे किसी चीजकी माँग नहीं करनी चाहिये। पीहरवाले जितना, जो कुछ देना चाहें, उससे भी कम लेनेकी इच्छा रखे और चेष्टा भी वैसी ही करे। इसे सिद्धान्त समझकर इसका पालन करनेकी विशेष चेष्टा रखनी चाहिये। इसी प्रकार अपनी ससुरालमें भी अपने सास-ससुर जो कुछ देना चाहें, उससे कम ही लेनेकी इच्छा रखे और चेष्टा भी वैसी ही करे। स्वयं न लेकर, घरमें दूसरोंको जिन्हें आवश्यकता हो, उन्हें अमुक चीज दिला देनी चाहिये। पीहरमें माता-पिता, भाई जो कुछ देना चाहें, स्वयं उससे कम ले और अभिमानका त्याग करके दूसरी बहिनोंको अधिक दिलानेकी चेष्टा करे। इस प्रकारके व्यवहारसे प्रेम बढ़ता है, फिर लड़ाई-झगड़ा तो कभी हो ही नहीं सकता।

वाणी ऐसी बोलनी चाहिये, जो सत्य, प्रिय, हित और मित हो अर्थात् थोड़े वचनोंमें सार-सार बात कहनी चाहिये। फालतू (व्यर्थ) बातें न करनी चाहिये। वाणीमें कठोरता और झूठ नहीं आना चाहिये। किसी दूसरेको दुःख हो, ऐसा वचन भी नहीं बोलना चाहिये। कपटरहित, मधुर, सत्य और हितकारक वचन ही बोलने चाहिये।

स्त्रीको कभी निकम्मी नहीं रहनी चाहिये। उत्तरोत्तर आत्मोन्नतिके लिये शरीरसे सदा काम लेते रहना चाहिये। जो स्त्री निकम्मी रहती है, उसका आलस्यके कारण पतन हो जाता है। शरीरका एक क्षणका भी कोई भरोसा नहीं है, न मालूम किस समय शान्त हो जाय; इसलिये निरन्तर भगवान्‌को याद रखते हुए ही निःस्वार्थभावसे शरीरसे न्यायोचित काम, दूसरोंको दुःख न हो ऐसे करते ही रहना चाहिये। उत्तम कामकी हर वक्त खोज रखनी चाहिये।

सादगीसे रहना चाहिये। घरवालोंको बढ़िया कपड़े-गहने आदिके लिये न कहे और दबाव तो कभी डाले ही नहीं। वे घरकी परिस्थिति और सुविधाके अनुसार प्रसन्नतासे जो कुछ वस्त्र-आभूषण दें, उसीमें संतुष्ट रहे; बल्कि उससे कम लेनेका भाव रखे। स्वयं ऐसे त्यागका व्यवहार करना चाहिये कि जिसका उनपर प्रभाव पड़े और वे भी आपके अनुसार ही सबके साथ स्वार्थत्यागका व्यवहार करने लगें। स्वार्थ-त्यागकी बड़ी भारी महिमा और सामर्थ्य है। स्वार्थत्यागपूर्वक जो व्यवहार किया जाता है, उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। स्वार्थत्यागके व्यवहारसे दूसरोंको बड़ी सुन्दर शिक्षा मिलती है, जिससे वे भी आगे जाकर स्वार्थके त्यागी बन जाते हैं।

मैं यदि आपके साथ स्वार्थका त्याग करके व्यवहार करता रहूँ तो सम्भव है आखिर आपमें भी यह भाव पैदा हो जाय और आप भी मेरे और दूसरोंके साथ स्वार्थत्यागका व्यवहार करने लगें; यह न्याय है। तथापि अपना सिद्धान्त तो यह रखना चाहिये कि अपने साथ कोई बदलेमें स्वार्थत्यागका व्यवहार न करे तो भी अपनेको तो स्वार्थत्यागपूर्वक ही व्यवहार करना है, बल्कि अपने साथ कोई बुराई करे तो भी अपने तो उसका हित ही करना है। स्त्रियोंको इसपर ध्यान देकर ऐसा करना चाहिये।

किसीकी व्यर्थ निन्दा-चुगली कभी न करे तथा किसीमें कोई दोष हो तो भी उस दोषका वर्णन न करे। हाँ, उसके पूछने और आग्रह करनेपर यदि आपके कहनेसे उसका सुधार होनेकी आशा हो और वह बुरा न माने तो ऐसी अवस्थामें उसे बता देना कोई दोषकी बात नहीं है; किंतु जहाँतक हो, बिना पूछे नहीं बताना चाहिये। किसीमें कोई उत्तम गुण हो तो उसका वर्णन किया जा सकता है, पर वह गुण यथार्थमें होना चाहिये; झूठे गुणोंका वर्णन करना उचित नहीं।

किसीको नीचा दिखानेकी चेष्टा कभी न करे और न नीचा दिखानेका मनमें भाव ही रखे। किसीका अपमान भी कभी न करे और सबके हितकी चेष्टा करे; किंतु किसीका हित करके, उसे कभी किसीसे न कहे और न मनमें ही उसे याद रखे; क्योंकि याद रखनेसे अहङ्कार बढ़ता है और कह देनेसे किया हुआ उपकार नष्ट हो जाता है। दूसरा कोई यदि अपने साथ बुरा व्यवहार करे तो उसकी कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये, बल्कि बदलेमें उसका हित करना चाहिये। ऐसा व्यवहार बड़े ही उच्चकोटिका और सबका हित करनेवाला है।

किसीके भी साथ जो व्यवहार किया जाय, उसमें त्याग, विनय, प्रेम और उदारता होनी चाहिये। इस प्रकारके व्यवहारसे लोगोंपर निश्चय ही बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है और वे भी अच्छे बनते हैं। जब उत्तम व्यवहारसे परमात्मा प्रसन्न होते और मिलते हैं, तब हमको सबके साथ उत्तम-से-उत्तम व्यवहार ही करना चाहिये; क्योंकि फिर यह शरीर, ऐश्वर्य और धन हमारे क्या काम आयेंगे। अपने स्वार्थसाधन या अपने कार्यकी सिद्धिके लिये किसीसे मित्रता करना मित्रता नहीं है। मित्रता तो उसके कल्याणके लिये करनी चाहिये। महात्मा पुरुष किसीसे मित्रता करते हैं तो उसके कल्याणके लिये ही करते हैं। इसलिये

माता-बहिनोंको चाहिये कि महात्माओंके इस मैत्री-व्यवहारको आदर्श मानकर दूसरोंके हितके लिये ही सबके साथ निष्कामभावसे मित्रता करें।

अपने पास कोई उत्तम वस्तु हो तो उसे अपनी सखीको अधिक देना चाहिये और उसको दुःख न हो, इस दृष्टिसे उसकी चीज भी काम पड़े तब, थोड़ी ले लेनी चाहिये। जैसे उसने फल भेजे, आम भेजे तो थोड़े रख लिये और शेष वापस लौटा दिये। अपने यहाँसे कोई चीज भेजें, तब उसने जो चीज भेजी थी, उससे चौगुने मूल्यकी और उसके उपयोगमें आने योग्य चीज भेजनी चाहिये। अपने पास कोई चीज है और अपनी सखी अपनेसे गरीब है तो कपड़ा और खानेकी चीजें किसी भी बहानेसे उसके घर पहुँचाते रहना चाहिये। वह अस्वीकार करे तो स्वयं जाकर आग्रह करके दे आना चाहिये और बदलेमें, उसको प्रसन्न करनेके लिये उसकी कम कीमतकी वस्तु ले लेनी चाहिये। जैसे वहाँ अंगोछे पड़े देखे तो कहा कि 'ये अंगोछे तो बहुत बढ़िया हैं। मैं इनमेंसे दो ले लेती हूँ।' उसने कहा—'अवश्य ले जाओ।' दोनों अंगोछोंकी कीमत हुई एक रुपया और उनके बदलेमें उसे दस रुपयेकी साड़ी या अन्य आवश्यक वस्तुएँ भेज दीं। इसपर यदि उसने कहा—बिना मूल्य यह मैं कैसे रखूँ? तो कहना चाहिये—'मैं तो तुम्हारे अंगोछे उठाकर ले आयी थी। तुम्हारी-हमारी कोई दो बात थोड़े ही है। तुम्हारी चीज हमारी है और हमारी तुम्हारी है।' उसके घरपर भूँजे चने देखे तो कहा—'बहुत बढ़िया है, लाओ, थोड़ा मुझे भी दो।' भूँजे चने हैं दो पैसेके। माँगकर खा लिये; क्योंकि इसको निमित्त बनाकर अपनेको दस रुपयेकी चीज उसके यहाँ पहुँचानी है। इसी प्रकार जब भी उसके घरपर जाय और घी-चीनी, अनाज-वस्त्र आदि किसी भी चीजकी कमी देखे तो झट पहुँचा दे। इसपर वह कहे कि बिना मूल्य मैं कैसे लूँ तो कह दे कि अपने आपसमें संकोच नहीं करना चाहिये। जब हम परस्पर सखी हैं, तब तुम्हारी चीज है सो हमारी और हमारी है सो तुम्हारी। वस्तुतः ऐसा ही आन्तरिक भाव रखना चाहिये। वह गरीब है, इसलिये उपकार या दयाकी भावनासे नहीं, बल्कि वह सखी है, मित्र है, उसका दुःख मेरा ही दुःख है—उसका मुझपर और मेरी वस्तुओंपर अधिकार है, इस भावनासे उसे वस्तुएँ देनी चाहिये।

लेनेका काम पड़े तो खूब कम लेना चाहिये और वह भी उसके संतोषके लिये, जिससे कि जब अपने कोई चीज उसे दे तो वह मने न कर सके। इसी दृष्टिसे उसकी चीज लेनी चाहिये, स्वार्थबुद्धिसे नहीं। स्वार्थबुद्धिसे तो सभी लोग लेते हैं। उसके लिये शिक्षाकी कोई आवश्यकता नहीं। सीखनी तो है स्वार्थत्यागकी बात। इसीसे मुक्ति होती है। स्वार्थसाधनसे मुक्ति होती तो सबकी हो जाती। त्यागका महत्त्व भगवान्के ध्यानसे भी बढ़कर गीतामें बतलाया गया है। १२ वें अध्यायके १२ वें श्लोकके उत्तरार्धमें कहा है—

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

'ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग यानी निष्कामकर्म अर्थात् स्वार्थत्यागपूर्वक कर्म श्रेष्ठ है; क्योंकि उससे तत्काल शान्ति मिलती है।' यहाँ त्यागका अभिप्राय है—स्वार्थका त्याग। हमलोग कोई भी कार्य करें, उसमें जो निजी स्वार्थका त्याग है, वह सबसे उत्तम है।

यह शरीर नाशवान् है। इसे पुष्ट करनेमें या सजानेमें पैसे खर्च करना मूर्खता है। उन पैसोंसे दुःखी, गरीब, अनाथोंकी सेवा करनी चाहिये। हमारे पास जो धन है, उससे आसक्ति हटाकर उसका सदा सदुपयोग करना चाहिये; क्योंकि जब हम मर जायँगे, तब वह धन यहीं रह जायगा—न मालूम उसकी क्या दशा होगी? थोड़े ही समयके लिये हमको यह अवसर मिला है, ऐसा अवसर बहुत कालतक रहनेका नहीं है। इसलिये शीघ्र ही अपना काम बना लेना चाहिये। अन्तमें न तो यह शरीर रहेगा और न यह ऐश्वर्य तथा धन ही। आज जो हमारे अधिकारमें है, वह सब जल्दी ही हमसे छूटनेवाला है। जैसे समय बीत रहा है, इसी प्रकार ये सब चीजें समयके साथ-साथ चली जा रही हैं। लाख जतन करनेपर भी नहीं रहेंगी। जब अपना शरीर ही रहनेका नहीं है, तब दूसरी चीजोंकी तो बात ही क्या है। अतएव इन सब पदार्थोंको जगज्जनार्दनकी सेवामें लगाना चाहिये।

हरेक माता-बहिनको यह स्मरण रखना चाहिये कि यह शरीर मिट्टीमें मिल जायगा, इसकी खाक हो जायगी। अतः खाक होनेके पहले-पहले ही इस शरीरका सदुपयोग जगज्जनार्दनकी सेवामें कर लें, जिससे मानव-जन्म सफल हो जाय। जैसी ईश्वरकी सेवा करनेमें प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता सबकी सेवामें होनी चाहिये; क्योंकि सभी परमात्माके स्वरूप हैं या सभीमें परमात्मा विराजमान हैं। इसलिये सबकी सेवा भगवान्की ही सेवा है। इस निष्काम सेवा या स्वार्थ-त्यागपूर्वक की जानेवाली सेवाको ही निष्कामकर्म कहते हैं। इस निष्काम कर्मसे आत्मा बहुत ही शीघ्र पवित्र होता है और भगवान्में

सच्चा प्रेम बढ़ता है। इसलिये हमारी सारी क्रियाएँ भगवान्‌को प्रसन्न करनेवाली होनी चाहिये।

माता-बहिनोंसे प्रार्थना है कि वे अपने बालक-बालिकाओंके साथ उसी प्रकारका व्यवहार करें, जिसमें उनका हित हो। उनका हित है विद्या-लाभमें और उत्तम आचरणोंमें; अतः उनको श्रेष्ठ विद्या और उत्तम आचरणोंकी शिक्षा देनी चाहिये। माता-पिता सदाचारी होते हैं तो बालक भी सदाचारी होते हैं। बालकोंके सामने बड़ी सावधानीसे क्रियाके रूपमें सदाचार रखना चाहिये, तभी उनपर असर पड़ता है। आप झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार करेंगे और उनसे कहेंगे कि सत्य बोलो, अहिंसाका पालन करो, चोरी मत करो, ब्रह्मचर्य रखो तो इस कथनमात्रका कुछ भी असर नहीं होगा। इसलिये उनके सामने उत्तम आदर्श रखकर उनको उसी प्रकारकी शिक्षा देनी चाहिये।

विधवा माताओंको चाहिये कि वे अपने जीवनको सर्वथा पवित्र, वैराग्यमय और त्यागयुक्त बनायें। ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी, हास-विलासका सर्वथा त्याग कर दें। जीवनको तपस्यामय बना लें। मन-इन्द्रियोंका संयम रखें। जो स्त्रियाँ ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी आदिमें रत हैं, उनका दर्शन भी न करें। उनके पास न बैठें। समझना चाहिये कि वे विषयभोगरूपी कीचड़में फँसी हुई हैं और अपने अमूल्य जीवनको नष्ट कर रही हैं। उनका सङ्ग करके अपने जीवनको नष्ट नहीं करना चाहिये। भगवान्‌का भजन-ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना करनेमें अपना समय बिताना और निष्काम-भावसे लोगोंकी शास्त्रोक्त सेवा करनी चाहिये। शरीरसे हर समय उत्तम-से-उत्तम काम लेना चाहिये।

सुहागिन माताओंका यह कर्तव्य है कि वे उन विधवा माताओंकी निःस्वार्थभावसे सेवा करें, उनको सच्चे हृदयसे सुख पहुँचावें। विधवा माँ-बहिनको जो दुःख देता है, वह स्त्री हो या पुरुष, उसका इस लोकमें पतन होता है, निन्दा होती है और मरनेपर उसे घोर नरककी प्राप्ति होती है।

विवाह-शादी आदि राजसी कामोंमें विधवा माताओंको स्वयं ही नहीं जाना चाहिये। राजसी उत्सव-समारोहोंसे, नृत्य-गान-वाद्यादिसे दूर ही रहना चाहिये। धार्मिक विषय हो, भक्तिकी बात हो या सत्सङ्ग हो तो उसमें जानेमें कोई दोषकी बात नहीं है, बल्कि लाभ ही है; किंतु यदि कहीं बाहर जाना हो तो चाहे वह धार्मिक काम ही क्यों न हो, अपने ससुराल या पीहरवालोंके साथ जाना चाहिये, अकेली नहीं। जो स्त्री अकेली घरसे बाहर निकलकर इधर-उधर भटकती है, उसका पतन होनेका भय है। इसलिये स्त्रियोंको कभी स्वतन्त्र नहीं घूमना चाहिये। मनुजी कहते हैं—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्॥

(मनु० ५। १४८)

'बाल्यावस्थामें वह पिताके अधीन रहे, युवावस्थामें पतिके वशमें रहे और यदि पतिकी मृत्यु हो जाय तो (साबालिग) पुत्रोंके अधीन रहे (उनके अभावमें ससुरालवालोंके अधीन होकर रहे); तात्पर्य यह कि स्त्री कभी स्वच्छन्दताका आश्रय न ले।'

स्मरण करना चाहिये कि मालिक जो पाप करता है, वह उसके अधीन रहनेवालेको नहीं लगता। जैसे कोई पति पाप करता है तो उसका फल पत्नीको नहीं भोगना पड़ता; क्योंकि वह तो पतिके अधीन है। किंतु स्त्री जो पाप करती है, उसका आधा भाग उसके पतिको भोगना पड़ता है; क्योंकि पति शासक है। पुरुष जो पुण्य करता है, उसका आधा स्त्रीको मिलता है; किंतु जो स्त्री पतिके अधीन नहीं रहती, उसको नहीं। जो स्त्री पतिकी सेवा करती है, पतिका साथ देती है, उसी पतिव्रताको आधा पुण्य मिलता है।

अतएव सुहागिन माता-बहिनोंको पातिव्रत धर्मके पालनके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

मानव-जीवनका सर्वोत्तम उद्देश्य

श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि परमात्माकी प्राप्ति मनुष्य-जीवनका एकमात्र उद्देश्य होनेपर भी भोगोंकी आसक्ति और कामनावश मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिके साधनसे वञ्चित रहता है। पशुकी भाँति आहार-निद्रा, भय-मैथुनादिमें ही अपना अमूल्य जीवन खो देता है। यदि कोई मनुष्य उत्तम कर्म करता है तो उसका फल

वह मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा ही चाहता है। इसलिये परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला साधन तो प्रायः कम ही बनता है। यद्यपि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये भी उत्तम कर्ममें प्रवृत्त होना केवल विषय-सेवनमें ही लगे रहनेकी अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है; परंतु मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी वृत्ति जब मनुष्यके अंदर उत्पन्न हो जाती है और फूलती-फलती है, तब उसमें दम्भ-पाखण्ड एवं दिखाऊपन आ जाता है। फिर यथार्थमें उत्तम कर्म बनना बंद हो जाता है। केवल बाहरसे उत्तम कर्मका दिखावामात्र रह जाता है। इसलिये मनुष्यको भगवत्प्राप्तिके लिये ही निष्कामभावसे उत्तम आचरण करना चाहिये। जिसमें लौकिक कामना न हो और जो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक गुप्त भावसे किया जाय, वही उच्चकोटिका साधन समझा जाता है। जैसे श्रीभगवान्‌के नामका जप, वाणीकी अपेक्षा श्वाससे किया जाय तो श्रेष्ठ होता है। मनसे किया जानेवाला उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है और भगवान्‌के ध्यानसहित, निरन्तर, श्रद्धापूर्वक, गुप्त तथा निष्काम प्रेम-भावसे किया जाय तो वह सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार किया जानेवाला भगवान्‌के नामका जप बहुत शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला होता है।

इसीके साथ-साथ प्राणिमात्रमें भगवद्बुद्धि रखते हुए सबकी सेवा की जाय तो वह भगवत्सेवा ही होती है। मनुष्यके पास विद्या-बुद्धि, धन-दौलत, मकान-जमीन, बल-आयु आदि जो कुछ भी है, वह सब भगवान्‌की वस्तु है और भगवान्‌की सेवाके लिये ही प्राप्त है। जो मनुष्य निष्कामभावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ भगवान्‌की सब वस्तुओंको भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवान्‌की सेवामें लगाता रहता है, वह निरन्तर भगवान्‌की पूजा ही करता रहता है, पर ऐसा न करके जो लोग उन वस्तुओंमें अपना ममत्व मानकर उनके द्वारा इस नश्वर शरीरको सुख पहुँचाना चाहते हैं और भोग-वासनाकी पूर्तिके लिये मोहवश झूठ-कपट, दम्भ-छल, चोरी-बेईमानी आदि करते हैं, वे तो मानव-जीवनका सर्वथा दुरुपयोग करते हैं और उन्हें इसका बहुत ही बुरा फल भोगनेको बाध्य होना पड़ेगा। पाप-कर्म करनेवालोंकी अपेक्षा तो सकाम भावसे भगवान्‌का भजन करनेवाले और देवाराधन करनेवाले भी श्रेष्ठ हैं, परंतु उससे आत्मकल्याण नहीं होता; अतएव साधकको निष्कामभावसे ही भगवान्‌के शरणापन्न होना चाहिये। समस्त दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुराचारोंका त्याग करके, इन्द्रिय और मनका संयम करते हुए तथा प्रेमपूर्वक भगवान्‌का ध्यान करते हुए भगवान्‌की सेवाके भावसे ही निष्कामभावपूर्वक समस्त कार्य करने चाहिये। सेवाको परम सौभाग्य मानना चाहिये। मनुष्यका शरीर भोगोंकी प्राप्तिके लिये नहीं, भगवान्‌की सेवाके लिये ही मिला है।

प्रातःकाल और सायंकाल नियमित रूपसे जो लोग साधन करते हैं—नित्यकर्म, पूजा-पाठ, संध्या-वन्दन, जप-ध्यान आदि करते हैं, सो बहुत ही उत्तम है; परंतु उसमें भी सुधारकी बड़ी आवश्यकता है। अश्रद्धापूर्वक केवल बेगार समझकर ही या लोगोंको दिखानेके लिये जो साधन या आराधन आदि किया जाता है, वह उत्तम फल देनेवाला नहीं होता। श्रद्धा, विश्वास, धैर्य और आदर-बुद्धिसे जो साधन होता है, वही उत्तम फलदायक हुआ करता है। उसमें निष्कामभाव हो, विषयोंके प्रति वैराग्य और भगवान्‌में अनन्य अनुराग हो, तब तो वह भगवत्प्राप्तिका प्रत्यक्ष साधन बन जाता है। अतएव प्रातःकाल और संध्याके समय जो साधन होता है, उसमें उपर्युक्त प्रकारसे सुधारके साथ-साथ प्रयत्न ऐसा होना चाहिये कि दिनभरके सारे काम प्रेमसहित निष्काम-भावसे भगवत्पूजाके ही रूपमें होने लगें।

रात्रिके समय शयनकालमें सब ओरसे वृत्तियोंको हटाकर भगवान्‌के नाम-रूपका और उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका स्मरण करते हुए शयन करना चाहिये। इस प्रकार जो शयन किया जाता है, वह सोनेका समय भी साधनके रूपमें परिणत हो जाता है।

मनुष्यकी बुद्धिमानी इसीमें है कि वह अपने जीवनका एक-एक क्षण अपने कल्याणके लिये ही लगावे। यह काम उसे स्वयं ही करना है और जबतक मनुष्य-शरीर है, तभीतक इसे किया जा सकता है। मरनेके बाद दूसरा कोई इस कामको कर दे, यह सर्वथा असम्भव है। संसारके काम तो मनुष्यके मरनेके बाद भी दूसरोंके द्वारा सिद्ध हो सकते हैं। जैसे धन, मकान, जमीन, गहने, कपड़े और रुपये आदि तमाम चीजें उत्तराधिकारी अपने-आप सँभाल लेते हैं, इसके लिये कोई चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं। चिन्ता तो करनी है आत्मकल्याणके लिये, जिसका मरनेके बाद उत्तराधिकारीके द्वारा सिद्ध होना सम्भव नहीं है। इस कामको तो जीते-जी ही कर लेना चाहिये। यही मानव-जीवनका सर्वोत्तम उद्देश्य है। मनुष्यको यह खयाल करना चाहिये कि मैं कौन हूँ, मेरा क्या कर्तव्य है और मैं क्या कर रहा हूँ? उसे यह समझना चाहिये कि मैं ईश्वरका अंश हूँ और यह संसार प्रकृतिका कार्य है। मेरा यहाँ आना ईश्वरको प्राप्त करनेके लिये है, न कि

संसारके भोग भोगनेके लिये। जो मनुष्य दुर्लभ मानव-देह पाकर संसारके भोगोंमें ही अपने जीवनको बिता देता है, वह मूर्ख अमृत त्यागकर विष-पान करता है।

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

संत-महापुरुषोंके सिद्धान्त

परमात्माकी प्राप्तिके विभिन्न मार्ग

अद्वैत-सिद्धान्त

अद्वैतवादी संतोंका यह सिद्धान्त है कि प्रथम शास्त्रविहित कर्मोंमें फलासक्तिका त्याग करके कर्मयोगका साधन करना चाहिये; उससे दुर्गुण, दुराचाररूप मलदोषका नाश होकर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है; तदनन्तर भगवान्‌के ध्यानका अभ्यास करना चाहिये, उससे विक्षेपका नाश होता है। इसके बाद आत्माके यथार्थ ज्ञानसे आवरणका नाश होकर ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। वेदान्त-सिद्धान्तके इन आचार्योंका यह क्रम बतलाना शास्त्रसम्मत एवं युक्तियुक्त है। इसके सिवा, केवल ज्ञानसे, केवल भक्तिसे और केवल निष्काम कर्मसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। अतः इस मार्गके अधिकारी साधकोंके लिये यह आचरण करनेयोग्य है।

निष्काम कर्मयोग

इसी प्रकार केवल निष्काम कर्मयोगके साधनसे भी अन्तःकरणकी शुद्धि होकर अपने-आप ही परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाता है और उस परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४। ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कोई भी पदार्थ नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

(३। १९, २० का पूर्वार्ध)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे।'

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

(५। ५ का पूर्वार्ध)

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परम धाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है।'

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।

(५। ६ का उत्तरार्ध)

'कर्मयोगी मुनि परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।'

भक्तिमिश्रित कर्मयोग

इसी प्रकार भक्तिमिश्रित कर्मयोगके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है और यह सर्वथा उपयुक्त ही है। जब केवल निष्काम कर्मयोगसे ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तब भक्तिमिश्रित कर्मयोगसे हो, इसमें तो कहना ही क्या है। इस विषयमें भी स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(९। २७-२८)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं, ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(१८। ५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

भगवद्भक्ति

इसके अतिरिक्त, केवल भगवद्भक्तिसे ही अनायास स्वतन्त्रतापूर्वक मनुष्योंका कल्याण हो जाता है। गीतामें इसको सर्वोत्तम बतलाया है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(७। १४)

'यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसागरसे तर जाते हैं।'

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११। ५४)

'हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(१२। २)

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(१८। ६५)

'हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।'

इसी प्रकार गीतामें और भी बहुत-से श्लोक हैं; किंतु लेखका कलेवर न बढ़ जाय, इसलिये नहीं दिये गये।

भक्तिमार्गके संतोंका ऐसा कथन है कि प्रथम कर्मयोगसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, फिर आत्मज्ञानसे जीवको आत्माका ज्ञान प्राप्त होता है, तदनन्तर परमात्माकी भक्तिसे परमात्माका ज्ञान होकर परमपदरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है। भक्तिमार्गके इन आचार्योंकी पद्धतिके अनुसार इनका भी यह क्रम बतलाना बहुत ही उचित है। इस मार्गके अधिकारी साधकोंको इसीके अनुसार आचरण करना चाहिये।

आत्मज्ञान

इसी प्रकार केवल आत्मज्ञानसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। उपर्युक्त विवेचनके अनुसार जब निष्काम कर्मके द्वारा ज्ञान होकर परमपदरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तब आत्मज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति होनेमें तो कहना ही क्या है। स्वयं भगवान्ने गीतामें कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(४। ३४-३५)

'उस तत्त्वज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे, जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

(५। १७)

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं।'

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(५। २४)

'जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(६। २९)

'सर्वव्यापी अनन्तचेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है।'

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

(१३। ३४)

'इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(१४। १९)

'जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।'

इससे यह सिद्ध हो गया कि केवल ज्ञानयोगके द्वारा ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। वह भगवान्‌की भक्ति करे तो उत्तम है; परंतु वह इसके लिये बाध्य नहीं है।

दुर्गुण-दुराचारोंके रहते मुक्ति नहीं होती

यहाँ एक और भी सिद्धान्तकी बातपर विचार किया जाता है। कुछ सज्जन ऐसा मानते हैं कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण और झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारोंके रहते हुए भी ज्ञानके द्वारा मुक्ति हो जाती है; परन्तु यह बात न तो शास्त्र-सम्मत है और न युक्तिसंगत ही। लोगोंको इस भ्रममें कदापि नहीं पड़ना चाहिये। यह सर्वथा सिद्धान्त-विरुद्ध बात है। ऐसे दोषयुक्त लोगोंको तो स्वयं भगवान्‌ने गीतामें आसुरी सम्पदावाला बतलाया है (गीता अध्याय १६ श्लोक ४ से १९ तक देखिये) और इनके लिये आसुरी योनियोंकी प्राप्ति, दुर्गति और घोर नरककी प्राप्तिका निर्देश किया है। भगवान् कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६। २०-२१)

'हे अर्जुन! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर जन्म-जन्ममें आसुरी-योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं। काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।'

जो इन दुर्गुणों और विकारोंसे रहित हैं, वे ही भगवान्‌के सच्चे साधक हैं और वे ही उस परमात्माको प्राप्त हो सकते हैं। गीतामें बतलाया है—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

(१६। २२)

'हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है।'

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

(१२। १५)

'जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

संत तुलसीदासजी भी कहते हैं—

काम क्रोध मद लोभ की जब लगि मन महँ खान।
तुलसी पंडित मूरखा दोनों एक समान॥

इससे यही सिद्धान्त निश्चित होता है कि दुर्गुण और दुराचारके रहते हुए कोई भी पुरुष मुक्त नहीं हो सकता। यही अटल सिद्धान्त है।

ईश्वर, परलोक और पुनर्जन्म सत्य हैं

कुछ लोग यह कहते हैं कि 'न तो ईश्वर है और न परलोक है तथा न भावी जन्म ही है। पाँच जड़ भूतोंके इकट्ठे होनेपर उसमें एक चेतनशक्ति आ जाती है और उसमें विकार होनेपर वह फिर नष्ट हो जाती है।' यह कहना भी बिलकुल असंगत है। हम देखते हैं कि देहमें पाँच भूतोंके विद्यमान रहते हुए भी चेतन जीवात्मा चला जाता है और वह पुनः लौटकर वापस नहीं आ सकता। यदि पाँच भूतोंके मिश्रणसे ही चेतन आत्मा प्रकट होता हो तो ऐसा आजतक किसीने न तो करके दिखाया ही और न कोई दिखला ही सकता है। अतः यह कथन भी सर्वथा अयुक्त और त्याज्य है। जीव इस शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरमें चला जाता है। गीतामें भी देहान्तरकी प्राप्ति होनेकी बात स्वयं भगवान्ने कही है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(२। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(२। २२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

अतएव उन लोगोंका उपर्युक्त कथन शास्त्रसे भी असंगत है; क्योंकि मरनेके बाद भी आत्माका अस्तित्व रहता है तथा परलोक और पुनर्जन्म भी है।

इसी प्रकार उनका यह कथन भी भ्रमपूर्ण है कि ईश्वर नहीं है; क्योंकि—आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि पदार्थोंकी रचना और उनका संचालन एवं जीवोंके मन, बुद्धि, इन्द्रियोंको यथास्थान स्थापित करना ईश्वरके बिना कदापि सम्भव नहीं है। संसारमें जो भौतिक विज्ञान (Science) के द्वारा यन्त्रादिकी रचना देखी जाती है, उन सभीका किसी बुद्धिमान् चेतनके द्वारा ही निर्माण होता है। फिर यह जो इतना विशाल संसार चक्ररूप यन्त्रालय है, उसकी रचना चेतनकी सत्ताके बिना जड़ प्रकृति (Nature) कभी नहीं कर सकती।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि इसका जो उत्पादक और संचालक है, वही ईश्वर है।

गीतामें भी लिखा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(१८। ६१)

'हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

शुक्लयजुर्वेदके चालीसवें अध्यायके प्रथम मन्त्रमें बतलाया है—

ईशावास्यमिद ँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड़-चेतनस्वरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरके सहित अर्थात् उसको याद रखते हुए त्यागपूर्वक (उसीके समर्पण करके) इसे भोगते रहो, इसकी इच्छा मत करो; क्योंकि धन-ऐश्वर्य किसका है अर्थात् किसीका भी नहीं है।'

पूर्व और भावी जन्म न मानकर बिना ही कारण जीवोंकी उत्पत्ति माननेसे ईश्वरमें निर्दयता और विषमताका दोष भी आता है; क्योंकि संसारमें किसी जीवको मनुष्यकी और किसीको पशु आदिकी योनि प्राप्त होती है। कोई जीव सुखी और कोई दुःखी देखा जाता है। अतः जीवोंके जन्मका कोई सबल और निश्चित हेतु होना चाहिये। वह हेतु है पूर्वजन्मके गुण और कर्म। भगवान्ने भी गीतामें कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

(४। १३)

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह, गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान।'

इससे यह सिद्ध होता है कि मरनेके बाद भावी जन्म है।

मुक्त पुरुष लौटकर नहीं आते

कितने ही लोग यह मानते हैं कि 'जीव मुक्त तो होते हैं; किंतु महाप्रलयके बाद पुनः लौटकर वापस आ

जाते हैं।' पर उनकी यह मान्यता भी यथार्थ नहीं है; क्योंकि श्रुतियोंकी यह स्पष्ट घोषणा है—

न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते।

(छान्दोग्य० ८। १५। १)

'(मुक्त हो जानेपर पुरुष) फिर वापस लौटकर नहीं आता, वह पुनः वापस लौटकर आता ही नहीं।'

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(८। १६)

'हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं, परंतु हे कुन्तीपुत्र! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादिके लोक कालके द्वारा सीमित होनेसे अनित्य हैं।'

यदि यह मान लिया जाय कि मुक्त होनेपर भी प्राणी वापस आता है तो फिर स्वर्गप्राप्ति और मुक्तिमें अन्तर ही क्या रहा? इसलिये ऐसा मानना चाहिये कि लोकान्तरोंमें गया हुआ जीव ही लौटकर आता है, जो परमात्माको प्राप्त हो जाता है या यों कहो मुक्त हो जाता है, वह नहीं आता। युक्तिसे भी यही बात सिद्ध है। जब परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर जीवकी चिज्जडग्रन्थि खुल जाती है, उसके सारे कर्म और संशयोंका सर्वथा नाश हो जाता है तथा प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, ऐसी स्थितिमें गुण, कर्म और अज्ञानके सम्बन्ध बिना जीव वापस नहीं आ सकता। मुक्त तो यथार्थमें वही है, जिसके पूर्वके गुण और कर्म तथा संशय और भ्रमका सर्वथा विनाश हो चुका है।

ऐसा होनेपर पूर्वके गुण और कर्मोंसे सम्बन्ध रहे बिना उसका किसी योनिमें जन्म लेना और सुख-दुःखका उपभोग करना—सर्वथा असंगत और असम्भव है।

यदि कहें कि 'इस प्रकार जीव मुक्त होते रहेंगे तो शनैः-शनैः सभी मुक्त हो जायँगे।' तो यह ठीक है। यदि शनैः-शनैः सभी मुक्त हो जायँ तो इसमें क्या हानि है? अच्छे पुरुष तो सबके कल्याणके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करते ही रहते हैं।

सभी देश, सभी काल, सभी आश्रमोंमें मनुष्यमात्रकी मुक्ति हो सकती है

कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि 'इस देशमें, इस कालमें और गृहस्थ-आश्रममें मुक्ति नहीं होती।' यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि ऐसा मान लेनेपर तो परमात्माकी प्राप्ति असम्भव-सी हो जाती है, फिर मुक्तिके लिये कोई प्रयत्न ही क्यों करेगा? इससे तो फिर प्रायः सभी मुक्तिसे वञ्चित रह सकते हैं। अतः इनका कहना भी शास्त्रसम्मत और युक्तिसंगत नहीं है। सत्य तो यह है कि मुक्ति ज्ञानसे होती है और ज्ञान होता है साधनके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर, एवं साधन सभी देशोंमें, सभी कालोंमें, सभी वर्णाश्रमोंमें हो सकते हैं।

भारतवर्ष तो आत्मोद्धारके लिये अन्य देशोंकी अपेक्षा विशेष उत्तम माना गया है। श्रीमनुजी कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनुस्मृति २। २०)

'इसी देश (भारतवर्ष) में उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंसे अखिल भूमण्डलके मनुष्य अपने-अपने आचारकी शिक्षा ग्रहण करें।'

अतः यह कहना कि इस देशमें मुक्ति नहीं होती, अनुचित है। इसी प्रकार यह कहना भी अनुचित है कि गृहस्थाश्रममें मुक्ति नहीं होती।

क्योंकि मुक्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। भगवान्‌ने बतलाया है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

विष्णुपुराणके छठे अंशके दूसरे अध्यायमें एक कथा आती है। एक बार बहुत-से मुनिगण महामुनि श्रीवेदव्यासजीके पास कुछ प्रश्नोंका उत्तर जाननेके लिये आये। उस समय श्रीवेदव्यासजी गङ्गामें स्नान कर रहे थे। उन्होंने मुनियोंके मनके अभिप्रायको जान लिया और गङ्गामें डुबकी लगाते हुए ही वे कहने लगे—'कलियुग श्रेष्ठ है, शूद्र श्रेष्ठ है, स्त्रियाँ श्रेष्ठ हैं।' फिर उन्होंने गङ्गाके बाहर निकलकर मुनियोंसे पूछा—'आपलोग यहाँ कैसे पधारे हैं?' मुनियोंने कहा—

कलिः साध्विति यत्प्रोक्तं शूद्रः साध्विति योषितः।
यदाह भगवान् साधु धन्याश्चेति पुनः पुनः॥

(६। २। १२)

'भगवन्! आपने जो स्नान करते समय पुनः-पुनः यह कहा था कि कलियुग श्रेष्ठ है, शूद्र श्रेष्ठ है, स्त्रियाँ श्रेष्ठ और धन्य हैं, सो इसका क्या कारण है?

इसपर श्रीवेदव्यासजी बोले—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम्॥
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

(६।२।१५—१७)

'हे ब्राह्मणो! तपस्या, ब्रह्मचर्य और जप आदिका जो फल सत्ययुगमें दस वर्षतक अनुष्ठान करनेपर मनुष्य प्राप्त करता है, वही फल मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रातमें प्राप्त कर लेता है, इसी कारण मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है। जो परमात्माकी प्राप्ति सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञोंके अनुष्ठानसे और द्वापरमें पूजा करनेसे होती है, वही कलियुगमें श्रीभगवान्‌के नाम-कीर्तन करनेसे हो जाती है।'

यहाँ अन्य सब कालोंकी अपेक्षा कलियुगकी विशेषता बतलायी गयी है। इसलिये इस कालमें मुक्ति नहीं होती, यह बात शास्त्रसे असंगत है।

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

अब शूद्र क्यों श्रेष्ठ हैं, यह बतलाते हैं—

व्रतचर्यापरैर्ग्राह्या वेदाः पूर्वं द्विजातिभिः।
ततः स्वधर्मसम्प्राप्तैर्यष्टव्यं विधिवद् धनैः॥
द्विजशुश्रूषयैवैष पाकयज्ञाधिकारवान्।
निजाञ्जयति वै लोकाञ्छूद्रो धन्यतरस्ततः॥

(६।२।१९, २३)

'द्विजातियोंको पहले ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए वेदाध्ययन करना चाहिये और फिर स्वधर्मके अनुसार उपार्जित धनके द्वारा विधिपूर्वक यज्ञ करना कर्तव्य है; (इस प्रकार करनेपर वे अत्यन्त क्लेशसे अपने पुण्यलोकोंको प्राप्त करते हैं।) किंतु जिसे केवल (मन्त्रहीन) पाकयज्ञका ही अधिकार है, वह शूद्र तो द्विजाति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकी सेवा करनेसे अनायास ही अपने पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेता है; इसलिये वह अन्य जातियोंकी अपेक्षा धन्यतर है।'

अब स्त्रियोंको किसलिये श्रेष्ठ कहा, सो बतलाते हैं—

योषिच्छुश्रूषणाद् भर्तुः कर्मणा मनसा गिरा।
तद्धिता शुभमाप्नोति तत्सालोक्यं यतो द्विजाः॥
नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा।
तृतीयं व्याहृतं तेन मया साध्विति योषितः॥

(६।२।२८-२९)

'हे ब्राह्मणो! अपने पतिके हितमें रत रहनेवाली स्त्रियाँ तो तन-मन-वचनके द्वारा पतिकी सेवा करनेसे ही पतिके समान शुभ लोकोंको अनायास ही प्राप्त कर लेती हैं, जो कि पुरुषोंको अत्यन्त परिश्रमसे मिलते हैं। इसीलिये मैंने तीसरी बार यह कहा था कि स्त्रियाँ श्रेष्ठ हैं।'

इसी प्रकार वैश्यके लिये भी अपने धर्मके पालनसे मुक्तिका प्राप्त होना शास्त्रोंमें बतलाया गया है। पद्मपुराण, सृष्टिखण्डके ४७ वें अध्यायमें तुलाधार वैश्यके विषयमें भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि 'उसने कभी मन, वाणी या क्रियाद्वारा किसीका कुछ बिगाड़ नहीं किया, वह कभी असत्य नहीं बोला और उसने किसीसे द्वेष नहीं किया। वह सब लोगोंके हितमें तत्पर रहता है, सब प्राणियोंमें समान भाव रखता है तथा मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझता है। लोग जौ, नमक, तेल, घी, अनाजकी ढेरियाँ तथा अन्यान्य संगृहीत वस्तुएँ उसकी जबानपर ही लेते-देते हैं। वह प्राणान्त उपस्थित होनेपर भी सत्य छोड़कर कभी झूठ नहीं बोलता। अतः वह 'धर्म-तुलाधार' कहलाता है। उसने सत्य और समतासे तीनों लोकोंको जीत लिया है, इसीलिये उसपर मुनिगणोंके सहित पितर तथा देवता संतुष्ट रहते हैं। धर्मात्मा तुलाधार उपर्युक्त गुणोंके कारण ही भूत और भविष्यकी सब बातें जानता है*। बुद्धिमान् तुलाधार धर्मात्मा है तथा सत्यमें प्रतिष्ठित है। इसीलिये देशान्तरमें होनेवाली बातें भी उसे ज्ञात हो जाती हैं। तुलाधारके समान प्रतिष्ठित व्यक्ति देवलोकमें भी नहीं है।'

वह तुलाधार वैश्य उपर्युक्त प्रकारसे अपने धर्मका पालन करता हुआ अन्तमें अपनी पत्नी और परिकरोंसहित विमानमें बैठकर विष्णुधामको चला गया।

इसी प्रकार 'मूक' चाण्डाल भी माता-पिताकी सेवा करके उसके प्रभावसे भगवान्‌के परम धाममें चला गया। वह माता-पिताकी सेवा किस प्रकारसे किया करता था, इसका पद्मपुराणसृष्टिखण्डके ४७ वें अध्यायमें बड़ा सुन्दर वर्णन है। वहाँ बतलाया है कि वह चाण्डाल सब प्रकारसे अपने माता-पिताकी सेवामें लगा रहता था। जाड़ेके दिनोंमें वह अपने माँ-बापको स्नानके लिये गरम जल देता, उनके शरीरमें तेल मलता,

* सत्येन समभावेन जितं तेन जगत्त्रयम्। तेनातृप्यन्त पितरो देवा मुनिगणैः सह॥
भूतभव्यप्रवृत्तं च तेन जानाति धार्मिकः। (४७। ९२-९३)

तापनेके लिये अँगीठी जलाता, भोजनके पश्चात् पान खिलाता और रूईदार कपड़े पहननेको देता था। प्रतिदिन भोजनके लिये मिष्टान्न परोसता और वसन्त ऋतुमें महुएके पुष्पोंकी सुगन्धित माला पहनाता था। इनके सिवा और भी जो भोग-सामग्रियाँ प्राप्त होतीं, उन्हें देता और भाँति-भाँतिकी आवश्यकताएँ पूर्ण किया करता था। गरमीके मौसिममें प्रतिदिन माता-पिताको पंखा झलता था। इस प्रकार नित्यप्रति उनकी परिचर्या करके ही वह भोजन करता था। माता-पिताकी थकावट और कष्टका निवारण करना उसका सदाका नियम था।

इन पुण्यकर्मोंके कारण उस चाण्डालका घर बिना किसी आधार और खंभेके ही आकाशमें स्थित था। उसके अंदर त्रिभुवनके स्वामी भगवान् श्रीहरि ब्राह्मणका रूप धारण किये नित्य विराजमान रहते थे। वे सत्यस्वरूप परमात्मा अपने महान् सत्त्वमय तेजस्वी विग्रहसे उस चाण्डालके घरकी शोभा बढ़ाते थे।

उसी प्रसङ्गमें एक शुभा नामकी पतिव्रता स्त्रीका आख्यान भी आया है। जब तपस्वी नरोत्तम ब्राह्मण मूक चाण्डालके कथनानुसार पतिव्रताके घर गया और उसके विषयमें पूछने लगा तो अतिथिकी आवाज सुनकर वह पतिव्रता घरके दरवाजेपर आकर खड़ी हो गयी। उस समय ब्राह्मणने कहा—'देवि! तुमने जैसा देखा और समझा है, उसके अनुसार स्वयं ही सोचकर मेरे लिये प्रिय और हितकी बात बतलाओ।' शुभा बोली—'ब्रह्मन्! इस समय मुझे पतिदेवकी सेवा करनी है, अतः अवकाश नहीं है; इसलिये आपका कार्य पीछे करूँगी, इस समय तो आप मेरा आतिथ्य ग्रहण कीजिये।' नरोत्तमने कहा—'मेरे शरीरमें इस समय भूख, प्यास और थकावट नहीं है, मुझे अभीष्ट बात बतलाओ, नहीं तो मैं तुम्हें शाप दे दूँगा।' तब उस पतिव्रताने भी कहा—'द्विजश्रेष्ठ! मैं बगुला नहीं हूँ, आप धर्मतुलाधारके पास जाइये और उन्हींसे अपने हितकी बात पूछिये।' यों कहकर वह पतिव्रता अपने घरके भीतर चली गयी। अपने धर्मपालनमें कितनी दृढ़ निष्ठा है! इस पातिव्रत्यके प्रभावसे ही वह देशान्तरमें घटनेवाली घटनाओंको भी जान लेती थी और उसके घरमें भी भगवान् ब्राह्मणका रूप धारण करके रहते थे; इस प्रकार पतिसेवा करती हुई अन्तमें वह अपने पतिके सहित भगवान्के परम धाममें चली गयी। ऐसे ही द्रौपदी, अनसूया, सुकला आदि और भी बहुत-सी पतिव्रताएँ ईश्वरकी भक्ति और पातिव्रत्यके प्रभावसे परम पदको प्राप्त हो चुकी हैं।

इसी प्रकार सत्-शूद्रोंमें संजय, लोमहर्षण, उग्रश्रवा आदि सूत भी परम गतिको प्राप्त हुए हैं तथा निम्न जातियोंमें गुह, केवट, शबरी (भीलनी) आदि मुक्त हो गये हैं।

जब स्त्री, वैश्य और शूद्रोंकी तथा पापयोनि—चाण्डालादि गृहस्थियोंकी मुक्ति हो जाती है, तब फिर उत्तम वर्ण और उत्तम आश्रमवालोंकी मुक्ति हो जाय, इसमें क्या आश्चर्य है?

शास्त्रोंके इन प्रमाणोंसे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि सभी देश, सभी काल और सभी जातिमें मनुष्यका कल्याण हो सकता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह चाहे किसी भी देशमें हो, किसी भी कालमें हो और किसी भी जाति, वर्ण और आश्रममें हो, उसीमें शास्त्रविधिके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करता हुआ ज्ञानयोग, कर्मयोग या भक्तियोग—किसी भी अपनी रुचि और अधिकारके अनुकूल साधनके द्वारा परमात्माको प्राप्त करनेका श्रद्धापूर्वक तत्परतासे पूरा प्रयत्न करे।

निराश नहीं होना चाहिये

पहले हमारे मनमें कई विचार हुए थे; किंतु अभीतक विचारके अनुसार कोई काम नहीं हुआ। एक तो ऐसा विचार हुआ था कि संसारमें तीन श्रेणीके मनुष्य तैयार हों—भक्तियोगी, कर्मयोगी और ज्ञानयोगी। ज्ञानके द्वारा जिन्होंने आत्माका उद्धार कर लिया, वे ज्ञानयोगी; भक्तिके द्वारा जो भगवान्को प्राप्त करके मुक्त हो गये, वे भक्तियोगी; और निष्कामभावसे कर्म करके जो मुक्त हो गये, वे कर्मयोगी हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आने लगे कि 'इस समूहमें सभी ज्ञानयोगी हैं; इस समूहमें सभी भक्तियोगी हैं और इस समूहमें सभी कर्मयोगी हैं।' ऐसा मनका विचार था, परंतु समूहकी तो बात दूर रही, अपने लोगोंमें दो-चार भी ऐसे पुरुष तैयार नहीं हुए। यह खेदकी बात अवश्य है, परंतु अभीतक ऐसे पुरुषोंका निर्माण न होनेपर भी मनमें कभी निराश नहीं होना चाहिये। मनुष्यको सदा आशावादी ही रहना चाहिये।

अब हमलोगोंमें बहुत-से भाई मृत्युके समीप पहुँच रहे हैं और यह उपर्युक्त बात अभीतक विचारमें ही रही, कार्यरूपमें परिणत नहीं हो सकी। मुझे तो यही समझना चाहिये कि यह मेरी कमी है। मुझमें कोई ऐसा प्रभाव नहीं कि जिससे दूसरे पुरुषोंको परमात्माकी प्राप्ति हो सके यानी मुझमें ऐसी कोई सामर्थ्य नहीं कि मैं दूसरोंको मुक्त कर सकूँ। एवं जितने सुननेवाले भाई हैं, उन लोगोंको यही समझना चाहिये कि हम जो शास्त्रकी

बातें सुनते हैं, उनको काममें नहीं लाते; इसीलिये हम परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित हैं।

श्रुति, स्मृति, इतिहास-पुराणोंकी अर्थात् उपनिषद्, गीता, महाभारत, रामायण, भागवत आदिकी जो बातें हैं, वे अवश्य कल्याण करनेवाली हैं। मैं तो केवल उनका अनुवादमात्र कर देता हूँ। यह बात नहीं कि आपलोगोंके लिये तो इनका पालन करना कर्तव्य है और मेरे लिये नहीं। ऐसा मैं नहीं कहता। गीता तो साक्षात् ईश्वरके वचन हैं और अन्य सब शास्त्र ऋषि-मुनियोंके। उन शास्त्रोंके वचनोंको कोई भी काममें लायें तो उनका कल्याण हो सकता है। आपलोग काममें लायें तो आपलोगोंका कल्याण हो सकता है और यदि मैं काममें लाऊँ तो मेरा। मैं ऐसा नहीं कह सकता कि जो कुछ मैं कहता हूँ, उन सभी बातोंको मैं स्वयं आचरणमें लाकर ही कहता हूँ; किंतु उनको आचरणमें लाना उत्तम समझता हूँ, अतः आचरणमें लानेके लिये हमलोगोंको प्रयत्न करना चाहिये। फिर भी मैं निराश नहीं हूँ और मुझको निराश होना भी नहीं चाहिये। आपलोगोंको भी निराश नहीं होना चाहिये कि इतने दिनोंतक हमलोग आचरणमें नहीं ला सके तो भविष्यमें शायद ही ला सकें। मनमें थोड़ी भी निराशा हो जाती है तो कार्य सफल नहीं होता। अतः सबको बड़े ही धैर्य, उत्साह और तेजीके साथ भगवान्‌की तथा ऋषियोंकी आज्ञाका कर्तव्य समझकर पालन करते ही रहना चाहिये। एवं दूसरोंसे पालन करानेकी भी प्रेमपूर्वक चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि गीतामें अठारहवें अध्यायके ६८ वें ,६९ वें श्लोकोंमें भगवान् कहते हैं कि 'मेरे भावोंका जो संसारमें प्रचार करता है अर्थात् जो गीता-शास्त्रका प्रचार करता है, वह मेरी परम भक्ति करके मुझको प्राप्त हो जाता है। इतना ही नहीं, उसके समान मेरा प्यारा काम करनेवाला दुनियामें न कोई हुआ,न कोई है और न कोई भविष्यमें होगा।' इन बातोंपर ध्यान देकर हम भगवान्‌के भावोंका प्रचार करें तो उससे अपना कल्याण तो निश्चित है ही, दूसरोंका भी कल्याण हो सकता है। इसलिये मुझको तो यही आशा रखनी चाहिये कि आपलोगोंकी जो स्थिति और साधन है, वह उत्तरोत्तर विशेष प्रबल हो सकता है और आपलोगोंको भी मनमें खूब उत्साह लाकर अपनी स्थिति और साधन जिस तरहसे तेज हो, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्‌की तो कृपा है ही, उनकी तो हर समय ही सहायता रहती है। भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार जो कोई चलता है और चलना चाहता है, भगवान् उसकी सब प्रकारसे सहायता करते हैं।

हम देख रहे हैं कि जो मनुष्य सरकारकी आज्ञाका पालन करना चाहता है, सरकार उसकी हर प्रकारसे सहायता करती है; फिर भगवान् सहायता करें, इसमें तो कहना ही क्या है। केवल हमारा ध्येय—लक्ष्य यह होना चाहिये कि हम भगवान्‌की और महापुरुषोंकी आज्ञाका परम कर्तव्य समझकर पालन करें। शास्त्रोंमें यह बात देखी गयी है कि जो मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन करता रहता है, महात्माओंकी और ईश्वरकी कृपासे उसके कार्यकी सिद्धि हो जाती है।

कर्तव्य-पालनसे मुक्ति

जबालाके पुत्र सत्यकामने महात्मा हारिद्रुमत गौतमकी आज्ञाका पालन किया। उसने यह निश्चय कर लिया कि जो बात गुरुजीने कही है, उसका अक्षरशः पालन करना चाहिये। वह अपना कर्तव्य समझकर उसके पालनके लिये तत्पर हो गया और मन लगाकर उसने वह कार्य किया। गौओंकी सेवा करते-करते ही उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी। गुरुने चार सौ दुर्बल गौएँ अलग निकालकर उससे कहा था कि तू इन गौओंके पीछे जा और इनकी सेवा कर। कितने आश्चर्यकी बात है! देखनेमें तो यह कोई ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन नहीं है। वह तो आया था गुरुकी सेवामें परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे और गुरुने कह दिया कि तुम गौओंके पीछे जाओ। पर उसको यह दृढ़ विश्वास था कि गुरुकी आज्ञाका पालन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति अपने-आप अवश्य होगी। गुरुजी जो कुछ कहते हैं, मेरे कल्याणके लिये ही कहते हैं। उसको यह पूरा निश्चय था। नहीं तो, वह इस प्रकार कैसे करता। उसका परिणाम भी परम कल्याणकारी हुआ। उसे परमात्माकी प्राप्ति हो गयी और आगे चलकर वह भी एक उच्च कोटिका आचार्य बन गया। उसके पास भी विद्यार्थी लोग शिक्षा लेनेके लिये आने लगे। उसको यह विश्वास था कि जैसे मुझको अपने-आप ही गुरुकी कृपासे परमात्माकी प्राप्ति हो गयी, इसी प्रकार मेरे समीप रहनेवालोंको भी हो जानी चाहिये।

उपकोसल नामका उसका एक शिष्य था। उसको गुरुकी तथा अग्नियोंकी सेवा करते-करते बारह वर्ष बीत गये; किंतु आचार्यने अन्य ब्रह्मचारियोंको तो समावर्तनसंस्कार करके विदा कर दिया, केवल उसीको नहीं किया। तब एक दिन सत्यकामसे उनकी धर्मपत्नीने कहा—'स्वामिन्! यह ब्रह्मचारी बड़ी तपस्या कर चुका है। इसने आपकी और अग्नियोंकी भी भलीभाँति सेवा

की है। अतः इसे ब्रह्मका उपदेश करना चाहिये।' परंतु सत्यकाम उसे उपदेश दिये बिना ही बाहर वनकी ओर चले गये; क्योंकि उनको यह पूरा विश्वास था कि यह श्रद्धालु है और कर्तव्यका पालन कर रहा है, इसलिये इसे अपने-आप ही निश्चय ब्रह्मकी प्राप्ति हो जायगी।' पत्नीके अनुरोध करनेपर भी वे अपने निश्चयपर डटे रहे और ब्रह्मका उपदेश दिये बिना ही चले गये। इससे उपकोसलने अपने-आपको अयोग्य समझा और दुःखी होकर यह निश्चय किया कि जबतक मुझे गुरुजी ब्रह्मका उपदेश नहीं देंगे, तबतक मैं उपवास रखूँगा। तदनन्तर, गुरुपत्नीने उससे भोजनके लिये आग्रह किया, किंतु उसने मानसिक व्याधि बताकर भोजन नहीं किया।

अग्निशालामें तीन कुण्डोंमें तीन अग्नियाँ होती हैं—१-गार्हपत्याग्नि, २-दक्षिणाग्नि, ३-आहवनीयाग्नि। जिसमें नित्य हवन किया जाता है, उसका नाम आहवनीय-अग्नि है। पूर्णमासी तथा अमावास्याके दिन जिसमें हवन किया जाता है, वह दक्षिणाग्नि है और जिसमें बलिवैश्वदेव आदि किया जाता है, वह गार्हपत्याग्नि है। गार्हपत्यका मतलब है कि जिससे गृहस्थका काम चले। जब मनुष्यका विवाह होता है, तब विवाहमें हवनकी अग्नि श्वशुरके यहाँसे लायी जाती है। यदि कदाचित् वहाँसे न लायी गयी हो तो गुरु-गृहसे लायी जा सकती है और जीवनपर्यन्त उसमें वह बलिवैश्वदेव आदि करता रहता है तथा मरनेके बाद उसी अग्निमें उसकी दाह-क्रिया—अन्त्येष्टि-क्रिया होती है। विवाहसे लेकर मरणपर्यन्त वह अग्नि अटल रहती है, उसे निरन्तर कायम रखा जाता है।

वे तीनों अग्नियाँ अग्निशालामें हवनकुण्डसे प्रकट हुईं और आपसमें उनकी इस प्रकार बातें होने लगीं कि यह उपकोसल नामका लड़का हमलोगोंकी भी बड़ी भारी सेवा करता है। इसलिये इसको हमलोग ब्रह्मका उपदेश करें। फिर गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय-अग्नियोंने क्रमशः उसे ब्रह्मका उपदेश दिया, जिससे उसे ब्रह्मका ज्ञान हो गया।

उसे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होनेके पश्चात् गुरुजी भी वनसे लौटकर आये। गुरुजीने उपकोसलसे कहा—'तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताके समान शान्त जान पड़ता है, तुझे किसने ब्रह्मका उपदेश किया है?' उपकोसलने अँगुलियोंसे अग्नियोंकी ओर संकेत करके बतलाया कि 'इन अग्नियोंने मुझको उपदेश दिया है।' सत्यकामने पूछा—'उन्होंने क्या उपदेश दिया?' उपकोसलने, अग्नियोंने ब्रह्मविषयक जो कुछ उपदेश दिया था, वह ज्यों-का-त्यों सुना दिया और कहा कि 'अब कृपया आप बतलाइये।' इसपर सत्यकामने उसे विस्तारके साथ ब्रह्मका उपदेश दिया।

सत्यकामके हृदयमें कितना दृढ़ विश्वास था कि निश्चय ही उपकोसलको अपने-आप ही ब्रह्मकी प्राप्ति होगी। यह दृढ़ विश्वास इसीलिये था कि उन्हें स्वयं इसी प्रकार ब्रह्मकी प्राप्ति हुई थी। इससे हमलोगोंको समझना चाहिये कि मनुष्य जब अपने कर्तव्यका पालन करता रहता है, तब एक दिन अवश्य ही उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, इसके लिये सत्यकामका वह उदाहरण आदर्श है। सत्यकामके गुरुजी महापुरुष थे; उनकी कृपासे सत्यकामको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी और महात्मा सत्यकामकी सेवा करनेपर उनकी कृपासे उपकोसलको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

जो साधक महापुरुषोंकी आज्ञाके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करता रहता है, उसको उनकी कृपासे निश्चय ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। फिर जो भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवान्‌के अनन्यशरण होकर अपने कर्तव्यका पालन करता है, उसका कल्याण होनेमें तो कहना ही क्या है?

भक्त प्रह्लाद निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करते रहे। उन्होंने कभी दर्शन देनेके लिये भी भगवान्‌से प्रार्थना नहीं की। उनपर भारी-से-भारी अत्याचार होते रहे; किंतु उन्होंने कभी अपने कर्तव्य-पालनसे मुँह नहीं मोड़ा। इस प्रकार करते-करते एक दिन वह आया, जब कि स्वयं भगवान्‌ने नृसिंहरूपमें प्रकट होकर उन्हें दर्शन दिये और प्रह्लादसे कहा—

क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत्
क्वैताः प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते।
आलोचितं विषयमेतदभूतपूर्वं
क्षन्तव्यमङ्ग यदि मे समये विलम्बः॥

'प्रिय वत्स! कहाँ तो तेरा कोमल शरीर और तेरी सुकुमार अवस्था और कहाँ उस उन्मत्त दैत्यके द्वारा की हुई तुझपर दारुण यातनाएँ! अहो! यह कैसा अभूतपूर्व प्रसङ्ग देखनेमें आया! मुझे आनेमें यदि देर हो गयी हो तो तू मुझे क्षमा कर।'

यह सुनकर प्रह्लादजी लज्जित हो गये और बोले—'महाराज! आप यह क्या कहते हैं! उसके बाद भगवान् नृसिंह प्रह्लादसे बोले कि 'तेरी इच्छा हो सो वरदान माँग।' इसपर प्रह्लादने कहा—'प्रभो! मैं जन्मसे ही विषयभोगोंमें आसक्त हूँ, अब मुझे इन वरोंके द्वारा आप लुभाइये नहीं। मैं उन भोगोंसे भयभीत होकर—उनसे

निर्विण्ण होकर उनसे छूटनेकी इच्छासे ही आपकी शरणमें आया हूँ। भगवन्! मुझमें भक्तके लक्षण हैं या नहीं, यह जाननेके लिये आपने अपने भक्तको वरदान माँगनेकी ओर प्रेरित किया है। ये विषयभोग हृदयकी गाँठको और भी मजबूत करनेवाले तथा बार-बार जन्ममृत्युके चक्करमें डालनेवाले हैं। जगद्गुरो! परीक्षाके सिवा ऐसा कहनेका और कोई कारण नहीं दीखता; क्योंकि आप परम दयालु हैं। आपसे जो सेवक अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं, वह तो लेन-देन करनेवाला बनिया है। जो स्वामीसे अपनी कामनाओंकी पूर्ति चाहता है, वह सेवक नहीं और जो सेवकसे सेवा करानेके लिये ही, उसका स्वामी बननेके लिये उसकी कामनाएँ पूर्ण करता है, वह स्वामी नहीं है। मैं आपका निष्काम सेवक हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं। जैसे राजा और उसके सेवकोंका प्रयोजनवश स्वामी-सेवकका सम्बन्ध रहता है, वैसा तो मेरा और आपका सम्बन्ध है नहीं। मेरे स्वामी ! यदि आप मुझे मुँहमाँगा वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज अङ्कुरित ही न हो।'

यह है निष्कामभाव! निष्कामका स्तर सबसे ऊँचा है। फिर भी हम भगवान्‌से अपनी आत्माके कल्याणके लिये, भगवान्‌के दर्शनके लिये, भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम होनेके लिये, भगवान्‌के भजन-ध्यानके लिये स्तुति-प्रार्थना करें तो वह कामना शुद्ध होनेके कारण निष्काम ही है।

उच्च निष्कामभावका स्वरूप

अपने परम कल्याणकी, भगवान्‌के दर्शनोंकी, भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम होनेकी और भगवान्‌के भजन-ध्यानकी जो कामना है, वह शुभ और शुद्ध कामना है। इसलिये उसमें कोई दोष नहीं है। फिर भी अपने कर्तव्यका पालन करना और कुछ भी नहीं माँगना— यह और भी उच्चकोटिका भाव है और देनेपर मुक्तिको भी स्वीकार न करना, यह उससे भी बढ़कर बात है। श्रीभगवान् और महात्माओंके पास तो माँगनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती; क्योंकि जैसे कोई सेवक नौकरी करता है और उसकी सेवाको स्वीकार करनेवाले स्वामी यदि उच्चकोटिके होते हैं तो वे स्वयं ही उसका ध्यान रखते हैं। वे ध्यान न भी रखें तो भी उस सेवककी कोई हानि नहीं होती। यदि उसमें सच्चा निष्कामभाव हो तो परमात्माकी प्राप्ति भी हो सकती है; किन्तु ऐसा उच्चकोटिका भाव ईश्वरकी कृपासे ही होता है। इस समय ऐसे स्वामी बहुत ही कम हैं और ऐसे सेवक भी देखनेमें बहुत कम आते हैं; परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि संसारमें ऐसे कोई हैं ही नहीं। अवश्य ही संसारमें सच्चे महात्मा बहुत ही कम हैं। करोड़ोंमें कोई एक ही होते हैं। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

हमारा यह कहना नहीं है कि संसारमें महात्मा हैं ही नहीं और हम यह भी नहीं कह सकते कि संसारमें कोई श्रद्धालु सच्चा सेवक (पात्र) भी नहीं है। संसारमें ऐसे पात्र भी मिलते हैं और महात्मा भी; किंतु मिलते हैं बहुत कम। उस कमकी श्रेणीमें ही हमलोगोंको भाग लेना चाहिये अर्थात् उस प्रकारके बननेकी कोशिश करनी चाहिये।

हमलोगोंको तो यह भाव रखना चाहिये कि केवल हमारे आत्माका ही नहीं, सबका कल्याण हो। अपने आत्माके कल्याणके लिये तो सब जिज्ञासु प्रयत्न करते ही हैं। इसकी अपेक्षा यह भाव बहुत उच्चकोटिका है कि 'सभी हमारे भाई हैं, अतः सभीके साथ हमारा कल्याण होना चाहिये।' इससे भी उच्चकोटिका भाव यह है कि सबका कल्याण होकर उसके बाद हमारा कल्याण हो। इसमें भी मुक्तिकी कामना है, किंतु कामना होनेपर भी निष्कामके तुल्य है और अपने कल्याणके विषयमें कुछ भी कामना न करके अपने कर्तव्यका पालन करता रहे तथा अपना केवल यही उद्देश्य रखे कि 'सबका उद्धार हो', तो यह और भी विशेष उच्चकोटिका भाव है। लक्ष्य तो अपना सबसे उच्चकोटिका ही होना चाहिये। कार्यमें परिणत न भी हो तो भी सिद्धान्त तो उच्चकोटिका ही रखना उचित है। हमको इस बातका ज्ञान भी हो जाय कि यह उच्चकोटिकी चीज है तो किसी समय वह कार्यमें भी परिणत हो सकती है। ज्ञान ही न हो तो कार्यमें कैसे आवे।

भगवान्‌की भक्ति तो बहुत ही उत्तम वस्तु है। जो मनुष्य भगवान्‌की भक्ति नहीं करता है, उससे तो वह श्रेष्ठ है जो धन, ऐश्वर्य, पुत्र, स्त्रीकी कामनाके लिये भक्ति करता है। उस सकामी भक्तसे भी वह श्रेष्ठ है, जो स्त्री, पुत्र, धनके लिये तो नहीं करता, किंतु घोर आपत्ति आ जानेपर उस संकट-निवारणके लिये आर्तनाद करता

है। उस आर्त भक्तसे भी वह श्रेष्ठ है, जो केवल अपनी मुक्तिके लिये, परमात्माके ज्ञानके लिये, उनमें श्रद्धा-प्रेम होनेके लिये, भजन-ध्यानके साधनके लिये या उनके दर्शनके लिये उनसे प्रार्थना करता है। ऐसा जिज्ञासु उपर्युक्त सभी मनुष्योंसे श्रेष्ठ है। उससे भी वह श्रेष्ठ है, जो अपने आत्माके कल्याणके लिये भी भगवान्‌से प्रार्थना नहीं करता; परंतु अपने कर्तव्यका निष्कामभावसे पालन ही करता रहता है अर्थात् निष्कामभावसे ईश्वरकी अनन्यभक्ति करता ही रहता है। उसको यह विश्वास है कि 'परमात्माकी प्राप्ति निश्चय अपने-आप ही होगी; इसमें कोई शङ्काकी बात नहीं है। भगवान् सर्वज्ञ हैं, वे सब जानते हैं। उनके पास प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं रहती, मुझको अपने कर्तव्यका पालन करते ही रहना चाहिये।' ऐसा निष्कामी उपर्युक्त सभी मनुष्योंसे श्रेष्ठ है। इससे भी श्रेष्ठ वह पुरुष है, जो अपना कल्याण हो, इसके लिये प्रयत्न करता रहता है; किंतु यह भाव भी नहीं रखता कि 'मैं नहीं भी माँगूँगा तो भी भगवान् मेरा कल्याण अवश्य करेंगे। भगवान् तो सर्वज्ञ हैं, वे स्वयं सब जानते ही हैं।' पर इस भावमें भी सूक्ष्म कामना है, किंतु जो इस बातकी ओर भी ध्यान न देकर केवल अपने कर्तव्यका ही पालन करता रहता है; बल्कि यह समझता है कि 'निष्कामभावसे कर्तव्यका पालन करना—भगवान्‌की निष्कामभावसे सेवा करना—यह मुक्तिसे भी श्रेष्ठ है। अतः मैं सदा भगवान्‌की निष्कामभावसे ही सेवा करूँ, मेरा उत्तरोत्तर केवल भगवान्‌में ही प्रेम बढ़ता रहे'—उसका यह लक्ष्य और भाव बड़ा ही उच्चकोटिका है; क्योंकि वह समझता है कि प्रेम सबसे बढ़कर वस्तु है। परमात्माकी प्राप्तिसे भी परमात्मामें जो अनन्य और विशुद्ध प्रेम है, यह बहुत ही मूल्यवान् वस्तु है। इसपर भी भगवान् प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं, जैसे प्रह्लादको दर्शन दिये। दर्शन देकर भगवान् आग्रह करें कि मेरे संतोषके लिये जो तेरे जँचे वही माँग ले तो भी हमको प्रह्लादकी भाँति कुछ भी नहीं माँगना चाहिये। यह बहुत उच्चकोटिका निष्कामभाव है। जैसे भगवान्‌की कृपा होनेपर भगवान्‌का दर्शन करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, इसी प्रकार उपर्युक्त निष्कामी भक्तकी कृपासे भी दूसरोंका कल्याण हो जाय तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। ऐसे पुरुषके हृदयमें यदि यह दयाका भाव हो जाय कि 'इन लोगोंका कल्याण होना चाहिये; क्योंकि ये पात्र हैं' तो इस भावसे भी लोगोंका कल्याण हो सकता है।

जब भगवान् यह समझते हैं कि इसके हृदयमें कभी यह बात अपने लिये नहीं आयी और इन साधकोंके लिये यह बात आती है कि इन लोगोंका कल्याण होना चाहिये तो भगवान् बहुत प्रसन्न होते हैं। भगवान् समझते हैं कि यह इसकी माँग तो नहीं है पर इसका भाव तो है न; इसके भावकी भी यदि मैं सिद्धि कर दूँ तो वह मेरे लिये गौरवकी बात है; क्योंकि जिसने अपने लिये कभी किसी पदार्थकी कामना की ही नहीं और न अभी करता है और उसके हृदयमें यह भाव है कि इन सबका कल्याण होना चाहिये तो ऐसी परिस्थितिमें भगवान् उन साधकोंका कल्याण अवश्य ही करते हैं।

परंतु उस निष्कामी भक्तके हृदयमें यह बात आती है तो वह समझता है कि 'मैं भगवान्‌के तत्त्व, रहस्य और प्रभावको नहीं जानता, नहीं तो, यह बात भी मेरे हृदयमें क्यों आती? क्योंकि भगवान् जो कुछ कर रहे हैं वह ठीक ही कर रहे हैं, वहाँ तो कोई अंधेर है ही नहीं। क्या भगवान् मुझसे कम दयालु हैं? मैं क्या भगवान्‌से अधिक दयालु हूँ? क्या मैं ही संसारके जीवोंका कल्याण चाहता हूँ, भगवान् नहीं चाहते। मेरे लिये ऐसा भाव होना या लक्ष्य रखना कि ये पात्र हैं, इनका कल्याण होना चाहिये, अनुचित है। उनकी पात्रताको क्या भगवान् नहीं देखते हैं? मैं ही पात्रका हित चाहता हूँ, क्या भगवान्‌में इसकी कमी है? मुझको तो यह देखते रहना चाहिये कि जो कुछ हो रहा है, भगवान्‌की लीला हो रही है, मेरे मनमें यह बात भी क्यों आये कि इनका तो कल्याण होना चाहिये और इनका नहीं; क्योंकि संसारके सभी प्राणी मुक्तिके पात्र हैं और मनुष्यमात्र तो हैं ही; फिर अपात्र कौन है? अपात्र होते तो भगवान् उन्हें मनुष्य क्यों बनाते? और भगवान्‌की दयाके तो सभी पात्र हैं; क्योंकि सभी भगवान्‌की दया चाहते हैं और भगवान्‌की दयासे सभीका उद्धार हो सकता है।' अवश्य ही भगवान्‌की दयाके विषयमें यह मान्यता होनी चाहिये कि भगवान्‌की मुझपर अपार दया है तथा उनकी दयाके प्रभावसे समस्त संसारका उद्धार हो सकता है। इस प्रकार सब लोग इस यथार्थ बातको तत्त्वसे समझ लें तो सबका कल्याण होना कोई भी बड़ी बात नहीं है। कल्याण न होनेमें कारण भगवान्‌की दयाके प्रभावकी कमी नहीं है, उसको समझने-माननेकी और श्रद्धा-प्रेमकी कमी है।

हमारे घरमें पारस पड़ा हुआ है; किंतु हम पारसको और उसके प्रभावको न जाननेके कारण उसके लाभसे वञ्चित हैं और दो-चार पैसोंके लिये दर-दर भटक रहे हैं तो यह पारसका दोष नहीं है। पारसको और उसके

प्रभावको हम जानते नहीं हैं, उसीका यह दण्ड है। पारस तो जड़ है और भगवान् चेतन हैं, इसलिये भगवान् पारससे बढ़कर हैं। पारससे तो महात्मा भी बढ़कर हैं, फिर भगवान्‌की तो बात ही क्या? जो भगवान्‌की दयाके गुण-प्रभाव और तत्त्व-रहस्यको जानता है, वह तो स्वयं ही कल्याणस्वरूप है। ऐसे पुरुषोंके अपने कल्याणकी तो बात ही क्या है, उनकी दयासे दूसरोंका भी कल्याण हो सकता है। इसलिये हमलोगोंको भगवान्‌की दयाके गुण-प्रभाव और तत्त्व-रहस्यको समझना चाहिये। फिर हमलोगोंके कल्याणमें कोई संदेह नहीं है। भगवान्‌की कृपाके प्रभावसे हमलोग भी इस प्रकारके उच्चकोटिके भक्त बन सकते हैं।

कर्तव्यपालनकी आवश्यकता

इसलिये हमको तो चुपचाप अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये। कर्तव्य ही साधन है और साधनको साध्यसे भी बढ़कर समझना चाहिये। यहाँ परमात्मा ही साध्य हैं और निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये भगवान्‌की अनन्य विशुद्ध भक्ति करना ही साधन है। इसलिये हमारी भक्ति अनन्य होनी चाहिये। उसीका नाम अनन्य प्रेम, उसीका नाम अनन्य भक्ति और उसीका नाम अनन्य शरण है; परंतु वह होनी चाहिये विशुद्ध। जिसमें किंचिन्मात्र भी कामना न हो, उसको विशुद्ध कहते हैं। मुक्तिकी कामना भी शुद्ध कामना है और विशुद्ध भावमें तो शुद्ध कामना भी नहीं रहती। अतः हमारा भाव और प्रेम विशुद्ध होना चाहिये। उसके लिये अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये। कर्तव्य ही साधन है; इसलिये साधनको साध्य परमात्माकी प्राप्तिसे भी बढ़कर समझना चाहिये। जब यह भाव रहता है, तब परमात्माकी प्राप्तिकी भी कामना हृदयमें नहीं रहती। ऐसे पुरुषके लिये भगवान् उत्सुक रहते हैं कि मैं इसकी इच्छाकी पूर्ति करूँ; किंतु उसमें इच्छा होती ही नहीं। ऐसे भक्तके प्रेममें भगवान् बिक जाते हैं और उसके प्रति भगवान् अपनेको ऋणी समझते हैं। जो सकामभावसे भगवान्‌की भक्ति करता है, भगवान् तो उसके भी अपने-आपको ऋणी मान लेते हैं; फिर ऐसे निष्काम प्रेमी महापुरुषके अपने-आपको भगवान् ऋणी मानें, इसमें तो कहना ही क्या है? वास्तवमें न्याययुक्त विचार करके देखा जाय तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि जब एक निष्काम भक्त साधनको साध्यसे भी बढ़कर समझता है, तब भगवान् यह समझते हैं कि इसका भाव बहुत उच्चकोटिका है, जिसके मूल्यमें मैं बिक जाता हूँ।

यह समझकर हमलोगोंको भगवान्‌की अनन्य और विशुद्ध भक्तिरूप साधन श्रद्धाप्रेमपूर्वक तत्परताके साथ निरन्तर करना चाहिये।

तीन प्रकारकी श्रद्धाका तत्त्व-रहस्य

श्रद्धालुओंकी विभिन्न श्रेणियोंका दिग्दर्शन कराते हुए श्रद्धाकी व्याख्या की जाती है। जो मनुष्य महात्माको वास्तवमें महात्मा समझ लेता है, उसकी उनमें परम श्रद्धा हो जाती है तथा परम श्रद्धा हो जानेके बाद वह उनके शरण हो जाता है। फिर उस श्रद्धालुको कल्याणके लिये अन्य कुछ भी साधन नहीं करना पड़ता। उन महात्माकी चेष्टा, इच्छा, संकेत और सम्मतिके अनुसार ही उस श्रद्धालुकी क्रिया अपने-आप ही होती रहती है। जैसे भगवान्‌के सर्वथा अनन्य-शरण ग्रहण करके पूर्णरूपेण उन्हींपर निर्भर रहनेवाले भगवत्परायण भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्‌से ही होती है, वह कुछ नहीं करता; क्योंकि उसमें कर्तापनका भाव रहता ही नहीं, वैसे ही महात्मामें श्रद्धा रखनेवालेकी क्रिया उनके अनुकूल ही हो जाती है। जिस प्रकार उच्चकोटिकी पतिव्रताकी समस्त चेष्टा अपने पतिके अनुकूल ही होती है, प्रत्युत उसकी अनुकूलतामें रुकावट डालनेकी भी उसमें सामर्थ्य नहीं रहती और जैसे कठपुतली सूत्रधारके नचाये ही नाचती है, इसी प्रकार जो महात्मा पुरुषके सर्वथा शरण है, उसकी यह सामर्थ्य नहीं रहती कि मैं ऐसा करूँ, वैसा करूँ; बल्कि वह तो कठपुतलीकी-ज्यों उनके नचाये ही नाचता है। महात्मा पुरुषके भाव, उनकी चेष्टा, संकेत और उद्देश्यके अनुसार अपने-आप उससे क्रिया होती रहती है। उसे तो प्रायः पूरा ज्ञान भी नहीं रहता कि मैं क्या कर रहा हूँ। इस प्रकारका श्रद्धालु उच्च श्रेणीका होता है और उसे परम श्रद्धा होनेसे तत्काल परमात्माकी प्राप्ति भी हो जाती है।

इससे कुछ निम्न श्रेणीका श्रद्धालु वह है, जिसकी महात्मामें श्रद्धा तो है पर वह अनन्य नहीं है, मुख्य है। उसमें कर्तापनका भाव रहता है; ऐसा श्रद्धालु भी महात्माकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। वह महात्माकी आज्ञाके सम्मुख अपने प्राणोंकी भी परवा नहीं करता। वह अपने प्राणोंका त्याग कर सकता है, पर महात्माकी आज्ञाका

त्याग नहीं कर सकता। उसकी अनन्य श्रद्धा तो नहीं है, किंतु मुख्य श्रद्धा है। उसको जब मालूम हो जाता है कि महात्माकी यह सम्मति है, तब फिर वह उससे बाहर नहीं जा सकता। उससे बाहर जानेकी उसमें सामर्थ्य ही नहीं रहती। विपरीत जानेकी बात तो दूर रही, वह उनकी सम्मतिमें बाधा भी नहीं डाल सकता। यदि कदाचित् भूलसे कोई कार्य महात्माकी सम्मतिके विपरीत हो जाता है तो उसे पश्चात्ताप होता है; क्योंकि उसमें कर्तापनका अभिमान है और जहाँ कर्तापनका अभिमान है, वहाँ कुछ स्वतन्त्रता है; परंतु जहाँ परम श्रद्धा हो जाती है, वहाँ कर्तापनका अभाव हो जानेके कारण अपनी कोई स्वतन्त्रता नहीं रहती। अतः उसे किसी प्रकारके चिन्ता-विषाद और पश्चात्ताप होते ही नहीं।

इससे भी निम्न श्रेणीका श्रद्धालु वह है, जिसकी महात्मामें भी श्रद्धा है और संसारमें भी विश्वास है। सब समय श्रद्धा, विश्वास समान नहीं रहते। कभी महात्मामें नौ आना हो जाती है तो कभी संसारमें। इस प्रकार दोनोंका ही उसपर असर रहता है। वह कभी संसारको आदर देता है तो कभी महात्माको। इसलिये यह सामान्य श्रद्धा है।

जब संसारमें आसक्त होता है, तब कहीं धनके लिये, पदार्थोंके लिये, अपने शरीरके आरामके लिये, मान-बड़ाईके लिये महात्माके वचनोंकी अवहेलना भी कर देता है। कहीं पदार्थोंकी विशेष सत्ता मानकर नीतिकी दृष्टिसे महात्माके कथनको शास्त्रसम्मत, धर्मयुक्त और न्यायसङ्गत नहीं समझता और उनके वचनोंकी अवज्ञा भी कर देता है तथा कहीं अपने मन-बुद्धिके भ्रमसे अनेक युक्तियोंसे उनकी बातोंका प्रतीकार भी कर देता है। इसी प्रकार जब बुद्धिके विवेकके द्वारा, शास्त्रकी दृष्टिसे, सुनी हुई बातोंकी दृष्टिसे, मन-बुद्धिमें महात्माके प्रति श्रद्धापूर्वक आस्था और महत्त्व हो जानेपर, महात्माके प्रति प्रेम और विश्वासका आविर्भाव होता है, तब उस समय संसारकी, धनकी, शरीरकी, मान-बड़ाईकी अवहेलना कर देता है तथा महात्माकी बात मानकर उनके वचनोंका विशेष आदर करता है; किंतु इन बातोंको समझकर भी जिस समय उसकी अधिक प्रीति संसारकी ओर हो जाती है, उस समय महात्माकी अवहेलना भी कर देता है। वह जितना महात्माका प्रभाव समझता है, उतना ही आदर करता है और जितना आदर करता है, उतनी ही उसकी श्रद्धा समझी जाती है तथा श्रद्धाके अनुसार ही उसको लाभ मिलता है।

श्रद्धा और अच्छी नीयत

शास्त्रोंमें और श्रीमद्भगवद्गीतामें भी श्रद्धाकी बड़ी महिमा है। वस्तुतः श्रद्धा महिमाके योग्य ही है। श्रद्धासे जो कार्य सहज ही सम्पन्न होता है, वैसा और किसी भी साधनसे नहीं हो सकता। परमात्माकी प्राप्तिमें तो श्रद्धा ही प्रधान सहायक है। अतएव परमात्माकी प्राप्तिके विषयमें तो श्रद्धाके बिना काम नहीं चल सकता।

मान लीजिये कि कुछ सज्जन मुझपर श्रद्धा करते हैं और उससे उनमेंसे किसीको लाभ होता है तो वह उनकी श्रद्धासे होता है। जिसको हम श्रद्धेय पुरुष कहें, या श्रद्धाके योग्य कहें, वैसा श्रद्धाका पात्र मैं अपनेको नहीं मानता। न मुझमें कोई ऐसी योग्यता है, न प्रभाव है, न कोई करामात ही है; परंतु यदि कोई अपनी श्रद्धासे, उस श्रद्धाके बलपर लाभ उठा ले तो उसमें मेरा प्रभाव हेतु नहीं है। अपनी श्रद्धाके द्वारा मनुष्य हर जगह लाभ उठा लेता है। एक पाषाणकी या धातुकी मूर्तिमें भगवान्‌की भावना करके उसे प्रत्यक्ष भगवान् समझकर हम लाभ उठाते हैं, इसी प्रकार मनुष्य किसी भी पदार्थसे अपनी श्रद्धाके बलपर लाभ उठा सकता है।

दूसरी बात यह है कि यदि किसीपर किन्हींकी श्रद्धा है और यदि वे उसे श्रेष्ठ पुरुष मानते हैं तो उसकी बातका उनपर तुरंत असर होता है। मान लीजिये; दो व्यक्ति हैं और दोनों ही मुझपर श्रद्धा रखते हैं। किसी बातको लेकर उनके आपसमें मनमुटाव या वैमनस्य हो गया। झगड़ा यहाँतक बढ़ा कि कोर्टमें जानेकी तैयारी हो गयी। ऐसी अवस्थामें यदि उन दोनोंके मेरे पास आनेपर या मैं स्वयं ही बुलाकर उनको समझा दूँ और श्रद्धाके कारण मुझे पक्षपातरहित मानकर वे तुरंत मेरी बात मान लें तो बहुत दिनोंका झगड़ा मिनटोंमें ही मिट जाता है। श्रद्धा न होनेपर ऐसा नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे श्रद्धा करनेवालोंका विरोध नहीं किया जाय तो कोई दोष नहीं। कोई हमारी बात मानकर अपना सुधार करें, अपनी भूलोंको समझकर उन्हें छोड़ दें तो ऐसी परिस्थितिमें हमको विरोध क्यों करना चाहिये? हाँ, यदि कोई श्रद्धासे शरीरकी सेवा-पूजा करे तो उसका विरोध अवश्य करना चाहिये। हम तो जो कुछ कहते हैं अधिकांशमें गीता, भागवत, रामायण, मनुस्मृति आदि

शास्त्रोंके आधारपर कहते हैं। शास्त्र त्रिकालज्ञ, भगवद्भक्त, ज्ञानी ऋषियोंकी वाणी है और श्रीमद्भगवद्गीता तो साक्षात् भगवान्‌के दिव्य वचन ही हैं। इस प्रकार ऋषि-मुनि-महात्मा और भगवान्‌के वचनोंपर निर्भर करके उन्हींके आधारपर जो बात कही जाती है, वह तो वस्तुतः उन्हींकी बात है। कहनेवाला तो केवल अनुवादमात्र करता है। यदि लोग श्रीभगवान्‌के और ऋषि-मुनियोंके वचनोंको मानकर अपना कल्याण-साधन करें तो बहुत उत्तम बात है। वे वचन कल्याणकारी और उच्चकोटिके हैं ही, कोई भी उनके अनुसार अपना जीवन बनाये तो उसका कल्याण हो सकता है—मैं बनाऊँगा तो मेरा, दूसरे कोई बनायेंगे तो उनका। ऋषि-महात्मा और भगवान्‌के इन वचनोंका सभीको आदर करना चाहिये और उन्हें काममें लानेकी श्रद्धापूर्वक विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

वर्षोंतक इन वचनोंके सुननेपर भी यदि लाभ नहीं देखा जाता या बहुत कम देखा जाता है तो इसमें कारण यही है कि उन वचनोंके अनुसार क्रिया नहीं की गयी। ऋषि-मुनियोंके और भगवान्‌के वचनोंके सुनने-सुनानेमें जो समय लगा, वह समय तो अवश्य ही सार्थक हुआ, परंतु उन वचनोंका सदुपयोग तभी होता; जब हमलोग उन वचनोंके अनुसार अपना जीवन बना लेते। एक दिनके भी सुने-सुनाये हुए महात्माओंके और भगवान्‌के वचन काममें लाये जायँ तो कार्य सफल हो सकता है। फिर श्रद्धा होनेपर कल्याण हो, इसमें तो कहना ही क्या है? महात्मा पुरुषोंके वचनोंपर श्रद्धा करनेसे बहुत शीघ्र कल्याण हो सकता है।

तीसरी बात यह है कि यदि किसीको प्रत्यक्षमें महात्मा नहीं मिले तो शास्त्रोंके वचनोंपर विश्वास करके उनके अनुसार चलनेसे भी कल्याण हो सकता है।

चौथी बात यह है कि भगवान्‌के भक्तों या महात्मा पुरुषोंमें अथवा उनमें जिनकी श्रद्धा है, ऐसे साधकोंमें श्रद्धा करने और उनका सङ्ग करनेसे भी बहुत अधिक लाभ हो सकता है।

पाँचवीं बात यह है कि अपने शुद्ध अन्तःकरणमें—जिसमें स्वार्थका त्याग और पक्षपातका अभाव है—जिसमें समभाव है, ऐसे पवित्र अन्तःकरणवाले साधकके हृदयमें जो भगवत्कृपासे स्फुरणा होती है, उसको आदर्श मानकर यदि मनुष्य दृढ़ निश्चयपूर्वक उसके अनुसार भी साधन करता है अथवा जो अपने मन-बुद्धिके निर्णयके अनुसार जिसको शुद्ध नीयतसे उत्तम समझता है, उसीके अनुसार अपना जीवन बनाता है, उसका भी कार्य चल सकता है। शास्त्रोंपर, महात्मापर और ईश्वरपर भी विश्वास न हो तो उस परिस्थितिमें मनुष्यको अपनी बुद्धिपर तो विश्वास करना ही चाहिये।

संसारमें परस्पर विरोधी जो दो-दो पदार्थ हैं, उनको सामने रखकर निर्णय करना चाहिये और उनमें जिसको कल्याणकारक—शुभ समझे, उसका आचरण करना चाहिये और जिसको अनिष्टकारक—अशुभ समझे, उसका त्याग करना चाहिये।

इस प्रकार करनेपर भी कल्याण हो सकता है। जैसे, सत्यभाषण और मिथ्याभाषण—इन दोनोंको अपने सामने रखकर बुद्धिसे विचार करे कि इन दोनोंमें सत्य श्रेष्ठ है या मिथ्या। ठीक-ठीक विचार करनेपर मनुष्य यही कहेगा कि 'श्रेष्ठ तो सत्य ही है। लोभके वशमें होकर या अन्य किसी कारणसे मनुष्य असत्य बोलता है, परंतु वास्तवमें तो सत्य ही कल्याणकारक है।' इस निर्णयके अनुसार सत्यको शुभकी श्रेणीमें रख ले और मिथ्याको अशुभकी। इसी प्रकार एक ओर किसीको दुःख पहुँचाना और मारना-काटना हो और दूसरी ओर सबको आराम पहुँचाना, सेवा करना और उपकार करना हो। इन दोनोंमें अच्छे-बुरेका बुद्धिके अनुसार निर्णय करे तो संसारमें कोई किसी भी सिद्धान्तका माननेवाला क्यों न हो, चाहे वह स्वयं पालन न कर सकता हो, पर वह निर्णय तो यही देगा कि 'आराम पहुँचाना, सेवा, उपकार और हित करना ही श्रेष्ठ है। चोट पहुँचाना, मारना, काटना और अहित करना सर्वथा अन्याय है।' जब यह निर्णय हो गया, तब सेवा, उपकार आदिको शुभकी श्रेणीमें रख ले और हिंसा आदिको अशुभकी श्रेणीमें। इसी प्रकार ब्रह्मचर्यका पालन और व्यभिचार, विषय-भोगोंमें आसक्ति और विषय-वैराग्य तथा विषय-भोग और विषयोंका त्याग—इनपर विचार करे। विचार करनेपर यही सिद्ध होगा कि ब्रह्मचर्यका पालन, विषय-वैराग्य और विषयत्याग ही उत्तम है; अतः ब्रह्मचर्य और वैराग्य-त्यागको शुभकी श्रेणीमें एवं व्यभिचार तथा विषयासक्ति और विषयभोगको अशुभकी श्रेणीमें रखे। कोई भी आदमी ब्रह्मचर्य और त्यागके श्रेष्ठत्व और महत्त्वको अस्वीकार नहीं कर सकता। भोगी आदमी भी यही कहेगा कि 'भाई! मैं तो भोगासक्त हूँ, परंतु भोग और त्यागका मुकाबला करनेपर तो त्याग ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। त्यागसे शान्ति मिलती है'—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२)। विरक्त त्यागी पुरुषोंकी लोक-परलोकमें सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है, पर भोगासक्त और विषयभोगीकी प्रतिष्ठा कहीं भी नहीं होती।

एक ऐसा आदमी है, जो दूसरेके धनपर उसे अन्यायपूर्वक प्राप्त करनेके लिये निरन्तर दृष्टि गड़ाये रहता है और परापवाद करने तथा पर-धनको हड़पनेमें ही अपना गौरव मानता है; किंतु दूसरा एक ऐसा पुरुष है, जो दूसरेके धनको धूल या विषके समान समझता है, जिसकी दूसरेके पद, धन या किसी प्रकारके पदार्थपर तो ग्लानि है ही; परंतु अपने निजी स्वत्वपर भी वह मोह-ममता न करके उसपर अनासक्त ही रहता है। भाव यह कि एक ऐसा मनुष्य है, जो अपनी चीजको तो अपनी मानता है और कहीं दूसरेकी चीज हाथ लग जाय तो उसे अपनी बनानेमें तनिक भी हिचकता नहीं। चोरीसे, जोरीसे, ठगीसे—कैसे भी मिले; किंतु दूसरा एक ऐसा पुरुष है, जो दूसरेकी चीजके चुरानेकी कल्पना ही नहीं करता, पर यदि दूसरा कोई उसकी चीज चुराकर ले जाता है तो समझता है कि 'यह चीज इसके काम आ जाय तो ठीक है।'

उपर्युक्त दोनों प्रकारके लोगोंके कार्योंपर तथा नीयतपर विचार करनेसे यह सिद्ध होता है कि एक ओर विषय-विरक्ति है, त्याग है, उदारता है। दूसरी ओर विषयानुराग है, चोरी है, डकैती है और परस्वापहरण है—यों विचार करके उदारता आदिको शुभमें रखे और परस्वापहरण आदिको अशुभमें। इसी प्रकार संसारके सभी पदार्थोंके दो-दो विभाग करनेसे शुभ और अशुभकी एक सुन्दर सूची बन जायगी। उसमें शुभको दैवीसम्पदा कह सकते हैं और अशुभको आसुरी। इसी प्रकार एक ओर त्याग, क्षमा, दया आदि सद्गुण हैं और दूसरी ओर काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अवगुण हैं। जिस ओर सद्गुण हैं, वहाँ दैवीसम्पत्ति है और अवगुण हैं उस ओर आसुरीसम्पत्ति। दैवीसम्पत्ति मुक्तिके लिये है और आसुरी बन्धनके लिये—

'दैवीसम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

(गीता १६। ५)

दैवीसम्पत्तिवाला जन्म-मरणके चक्रसे छूटकर सदाके लिये मुक्त हो जाता है और आसुरीसम्पत्तिवाला बन्धनमें जकड़ा हुआ बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकता रहता है। इस प्रकार अच्छी नीयतसे मनुष्य अपनी बुद्धिपर निर्भर करके आत्माके कल्याणकी इच्छासे विवेचन करके शुभका ग्रहण कर लेता है तो उसका उद्धार हो जाता है, चाहे वह नास्तिक ही क्यों न हो।

अच्छी नीयतका अभिप्राय यह है कि इस लोक और परलोकमें मेरा और सभी भाइयोंका कल्याण हो। इस नीयतसे जो आचरण किया जाता है, उसका नाम 'अच्छी नीयत' है। इससे भी श्रेष्ठ वह नीयत मानी जाती है कि जिसमें अपनेको बाद देकर यह चाहा जाय कि 'इस लोक और परलोकमें सबका कल्याण हो जाय।' इससे भी श्रेष्ठ एक नीयत और होती है। उदाहरणके लिये मान लीजिये, एक जगह बहुत-से सज्जन बैठे हैं। वहाँ आकाशवाणी होती है कि 'आपलोगोंमेंसे किसी एक आदमीको चुनकर बता दें तो उसका उद्धार किया जा सकता है अर्थात् आपलोगोंकी सबकी तपस्या, भक्ति, साधनाको शामिल करके उसके फलस्वरूप आपमेंसे केवल एक व्यक्तिका कल्याण हो सकता है।' इसके उत्तरमें जो यह कहता है कि 'प्रभो! एक मुझको छोड़कर आपकी इच्छा हो, उसीका कल्याण कर दें तो वह कल्याणका अधिकारी हो गया और जो ऐसा कहता है कि 'प्रभो! मेरा कल्याण कर दो।' तो वह स्वार्थी मनुष्य है। सभी लोग यह कहें कि 'मेरा कल्याण कर दो।' 'मेरा कल्याण कर दो'—तो एकका भी कल्याण नहीं हो सकता। और सभी एक स्वरमें यह कहें कि 'मुझे छोड़कर चाहे जिसका कल्याण कर दिया जाय।' तो सभी कल्याणके पात्र हो जाते हैं। ऐसी दशामें भगवान् सबको दर्शन देकर उनका उद्धार कर सकते हैं; क्योंकि स्वार्थ-त्यागका बड़ा माहात्म्य है। इस प्रकार अपने साधन, तप, भक्ति आदिको देकर दूसरेका कल्याण करना बड़ी श्रेष्ठ नीयत है। इससे भी श्रेष्ठ नीयत एक और है—वहाँ मनुष्य यह सोचता है कि 'लोगोंका कल्याण न होनेमें कारण उनके पाप हैं। इसलिये उन सबके पाप मुझको भुगता दिये जायँ और उन सबका कल्याण कर दिया जाय।' ऐसी श्रेष्ठ नीयतवाले पुरुषका कल्याण भगवान्के यहाँ सबसे पहले होता है, परंतु 'इस प्रकारकी नीयत रखनेसे सबसे पहले मेरा उद्धार हो जायगा' इस दृष्टिसे ऐसा नहीं करना चाहिये; क्योंकि इसके भीतर भी आत्मोद्धारका स्वार्थ ही है। अतः अपने तो हृदयमें यही बात विशुद्ध भावसे होनी चाहिये कि 'सबका कल्याण हो, सबका हित हो और यदि पापके कारण किसीका हित न होता हो और उसके पाप हमारे भोगनेसे उसका कल्याण हो जाता हो तो उसके पाप हम भोग लें।' यह सर्वोत्तम भाव है।

यद्यपि मुझमें यह भाव नहीं है कि मैं सबका पाप भोग लूँ और सबका उद्धार हो जाय। यह तो मैं आपसे कह रहा हूँ और वास्तवमें यह है बहुत ऊँची बात। अच्छे लोगोंके मनोंमें भी यह बात आ जाती है कि यह बड़ी

कठिन है। जब मनुष्यके लिये रुपयोंका त्याग करना भी बड़ा कठिन होता है, तब यह तो मुक्तिका त्याग है। मुक्तिका ही नहीं, आरामका ही नहीं, दूसरोंके पापोंके फलस्वरूप कष्ट-भोगका स्वीकार करना है। कितना महान् त्याग है।

आप निष्कामभावसे और अच्छी नीयतसे मेरा हित कर रहे हैं और इसी बीचमें आपसे कोई गलती हो गयी तथा उसके लिये आपको संकोच भी हो रहा है; किंतु मैं यह कहता हूँ कि 'आपको संकोच नहीं करना चाहिये। आप तो मेरे ही हितके लिये कर रहे थे। भूल हो गयी, इसमें आपका कोई दोष नहीं है। यह तो मेरे भाग्यकी बात है।' इस वाक्यमें 'यह तो मेरे भाग्यकी बात है'—इन शब्दोंसे आपके मनमें यह बात आ सकती है कि 'भूल तो सर्वथा मेरी थी और इनको अपने भाग्यका दोष बताना पड़ा।' यह अच्छी नीयतका एक उदाहरण है। जिनकी अच्छी नीयत है, वे ही वस्तुतः सत्पुरुष हैं और उन्हींकी लोक-परलोकमें तथा भगवान्के यहाँ भी प्रतिष्ठा है। एक आदमीके पास पैसा नहीं है, पर वह लाखोंका व्यापार करता है और उसकी सच्ची नीयतपर विश्वास करके निर्भयताके साथ लोग उससे लाखोंका लेन-देन करते हैं। दूसरे एक व्यक्तिके पास लाखों रुपये हैं, पर वह दूसरेका धन हड़पनेकी नीयत रखता है, इसलिये लोग उससे व्यवहार नहीं रखना चाहते। लोग जानते हैं कि यह बेईमान है। रुपये हाथमें चले जानेके बाद यह लौटायेगा नहीं। इस प्रकार विचार करके उसे लोग एक पैसा भी देना नहीं चाहते; किंतु जिसकी अच्छी नीयत है, जिसपर विश्वास है, उससे आग्रह करके, बिना व्याजके भी, अपनी रकम उसके यहाँ सुरक्षित मानकर जमा कराना चाहते हैं।

महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि 'जो चोरी नहीं करता, दूसरेके धनको, पदको, जमीन-मकानको, ऐश्वर्यको, किसी प्रकारके स्वत्वको हड़पना नहीं चाहता—चोरीसे, जोरीसे या ठगीसे। इस प्रकार चोरीके भावसे सर्वथा रहित पुरुषके लिये सब जगह रत्न उपस्थित हो जाते हैं।' इसका यह अभिप्राय समझना चाहिये कि सब लोग उसका विश्वास करते हैं, उसकी दृष्टिमें रत्न-ही-रत्न भरे रहते हैं। दूसरेके धनको वह किसी प्रकार भी लेना नहीं चाहता। उसमें यह महान् गुण है। इसलिये प्रत्येक भाईको अपनी नीयत शुद्ध और शुभ बनानी चाहिये। दूसरेके धनको मलके समान समझकर उसका त्याग करना चाहिये। मल स्वयं तो गंदा है ही; परंतु यदि किसीके कपड़ेमें या शरीरपर लग जाता है तो उसे भी गंदा कर देता है। पहले अपने शरीरपर या कपड़ेपर मल लगावें और फिर उसे गङ्गाजल या शुद्ध जलसे धोवें, यह भी अज्ञान ही है। कितना भी धोया जाय, उसकी गन्ध तो रह ही जाती है। अतएव यह समझे कि इस बेहकके धनको लेकर हम किसी अच्छे काममें लगा देंगे तो यह भी भूलकी बात है। दूसरेके धनको या उसके हककी किसी चीजको मलकी भाँति छूना ही नहीं चाहिये। यदि छू जाय तो तुरंत हाथ धोकर शुद्ध करना चाहिये। अर्थात् दूसरेका धन बुरी नीयतसे तो कभी ग्रहण करे ही नहीं; परंतु जैसे गङ्गास्नान करने गये और वहाँ कोई गहना पड़ा मिल गया, उसे उसके मालिकको ढूँढ़कर दे देनेके लिये उठा लाये। मालिक मिला नहीं, ऐसी अवस्थामें उसे जब किसी पुण्यकर्ममें लगाया जाय तो अपने पाससे कुछ और मिलाकर ही लगाना चाहिये। यही छू लेनेपर हाथ धोना है। दूसरेका धन है न, उसे पुण्य करनेका भी हमें क्या अधिकार है?

प्राचीन युगमें तो इस प्रकारके पड़े हुए धनको उठाकर लानेकी भी आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि सभी लोग उसे विष और मलके समान समझते थे। उसपर किसीका मन चलता ही न था। पर आज कलियुगका जमाना है, अपात्रके हाथों चीज न चली जाय और उसकी रक्षा हो, इसलिये मालिकका पता लगाकर उसको सौंप देनेकी दृष्टिसे उसे उठा लाना न्याय-संगत प्रतीत होता है। अस्तु,

श्रेष्ठ नीयत अर्थात् उत्तम भावकी लोक-परलोक और भगवान्के यहाँ इज्जत-प्रतिष्ठा है। किसी मत-मतान्तरका कोई भी पुरुष क्यों न हो, अच्छी नीयतवालेकी सभी इज्जत करते हैं। इस बातको समझकर परधन—परस्व आदिको पाप तथा मल-मूत्रके समान त्याज्य मानना चाहिये। उत्तम भाव तो यह है कि यदि ये चीजें किसी दाताके द्वारा प्रसन्नतापूर्वक दानमें प्राप्त होती हों तब भी वे त्याज्य ही हैं; क्योंकि ये छूने योग्य नहीं हैं और यदि कभी इन्हें छूना पड़े तो केवल उसी अवस्थामें जब कि देनेवालेका हित होता हो। अपने स्वार्थके लिये, अपनी इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये तो कभी इनको स्वीकार करे ही नहीं। इसपर यदि कोई कहे कि 'दाताको हमारे स्वीकार न करनेसे दुःख हो तथा स्वीकार करनेपर विशेष संतोष हो और इस प्रकार समझकर कोई उस वस्तुको स्वीकार कर ले कि 'हमारे निमित्तसे दूसरेको दुःख क्यों हो, हमसे सेवा तो नहीं बनती, पर हम दूसरेके दुःखमें

निमित्त क्यों बनें तो इसमें जो देता है, उस दाताका तो कल्याण होता है; परंतु ग्रहीतापर तो ऋण ही चढ़ता है। उसका भार तो बढ़ता ही है न?' तो इसका उत्तर यह है कि ऐसी बात नहीं है, जहाँ त्याग है, वहाँ दोनोंका ही कल्याण होता है। कोई कहे कि फिर वह कल्याण आता कहाँसे है? तो इसका उत्तर यह है कि 'वह आता है भगवान्‌के यहाँसे।' भगवान्‌के यहाँ किसी वस्तुकी कमी नहीं है, वे तो कल्याणके भण्डार हैं और इस प्रकारकी त्यागपूर्ण बातोंको देखकर मुग्ध हो जाते हैं।

उदाहरणके लिये मान लीजिये, कोई सज्जन किसी गृहस्थके घर गये। वह गृहस्थ बड़े प्रेमसे अपना कर्तव्य समझकर निष्कामभावसे उनका आतिथ्य करना चाहता है। अच्छा भोजन करवाना, स्वच्छ जल पिलाना और कुछ सेवा करना चाहता है, किंतु वे अतिथि सज्जन इस प्रकार अपने लिये कुछ भी करवाना भार—ऋण समझते हैं, इसीलिये उससे पीछे हटते हैं और हर प्रकारसे अस्वीकार करते हैं। सत्य ही कहते हैं कि 'हमने कुछ ही देर पहले भोजन किया था। जल तो पीकर ही आये हैं।' वह कहता है 'फल ही ले लें' कहते हैं—'नहीं, बिलकुल इच्छा नहीं है।' तब वह कहता है कि 'कुछ तो मेरे संतोषके लिये आपको लेना ही चाहिये।' इसपर यदि उक्त सज्जनने लौंग, इलायची ले लीं और अपनी जेबमें डाल लीं और इतनेमें उसे संतोष हो गया तब तो ठीक ही है। पर यदि वह अपने भाग्यको कोसने लगा कि 'मैं बड़ा अभागा हूँ कि हमारे घरपर अतिथि आये, पर वे हमारा आतिथ्य किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं करते।' मैं सोनेके लिये चारपाई लाकर रखता हूँ तो कहते हैं—'हम चारपाईपर सोते नहीं।' बिछौना लगाता हूँ तो कहते हैं कि 'बिछौना तो हमारे साथमें है।' फिर मैं क्या सेवा करूँ? जलके लिये पूछता हूँ तो कहते हैं कि 'मैं अपने-आप कुएँसे निकाल लूँगा; क्योंकि मेरा ऐसा ही अभ्यास है।' फिर वह करुणाभावसे कहता है कि 'मैं किसी भी लायक नहीं, किसी भी सेवाके योग्य नहीं।' और वे सज्जन देखते हैं कि उसके करुणाभावसे आँसू आ रहे हैं, वह अपनेको अभागा समझकर निराशा प्रकट कर रहा है और दुःखी है तो ऐसे अवसरपर उक्त अतिथि सज्जनका यह कहना कर्तव्य हो जाता है कि 'बोलो, तुम क्या चाहते हो?' इसपर वह गृहस्थी सेवक कहता है—'मैं यही चाहता हूँ कि आप मेरी कुछ तो सेवा स्वीकार करें, दूध है, फल है—यही ले लें तो भी ठीक है।' इसपर वे अतिथि सज्जन कहते हैं कि 'अच्छा, तो ठीक है, तुम्हारे पास इस समय जो फल, दूध या जो शुद्ध पवित्र चीज हो, वह दे दो।' यों कहकर वे अतिथि सज्जन अपने आवश्यकतानुसार उसके दिये हुए दूधको पी लें, फल खा लें, जल भी पी लें तो वह गृहस्थी प्रसन्न हो जाता है और वह समझता है कि मैंने अपने कर्तव्यका पालन कर लिया।

इस कर्तव्यके पालनसे अपनेको वह कृतकृत्य मान लेता है।

उक्त अतिथि सज्जनने उसके हितके लिये, उसके कल्याणके लिये, उसके संतोषके लिये, उसके दुःखकी निवृत्तिके लिये ये चीजें स्वीकार कीं। उन्होंने न तो अपने आराम, भोग और स्वास्थ्यके लिये वस्तुएँ लीं और न 'पैसे बच जायँगे, परिश्रम बच जायगा, दूध-फलके खानेमें आराम मिलेगा'—यह कल्पना की। केवल मात्र उसको सुख-शान्ति मिलेगी, इसीलिये यह सब स्वीकार किया। इस प्रकार यदि अतिथिने निष्कामभावसे वस्तुएँ स्वीकार कीं और गृहस्थी दाताने निष्कामभावसे सेवा की तो दोनोंका ही कल्याण हो सकता है। महत्ता तो उत्तम भावकी है और जिसमें अपना तनिक भी स्वार्थ नहीं है वही उत्तम भाव है—बढ़िया नीयत है। दूसरेको किसी प्रकारसे संतोष कराना ही अपना परम धर्म है। अतः वे सज्जन अपने परम धर्मको निष्कामभावसे पालन कर रहे हैं और वह भी उनको अतिथि समझकर अपने परम धर्मका निष्कामभावसे पालन कर रहा है। भगवान् न्यायकर्ता और सबके सुहृद् हैं। वे समस्त रहस्यको जाननेवाले हैं तो फिर इन दोनोंके लिये भगवान्‌के यहाँ स्थान क्यों नहीं होगा? स्थान ही नहीं, भगवान् तो मुग्ध हो सकते हैं—दोनोंकी दान तथा ग्रहणकी पवित्र क्रिया देखकर।

राज्य मुक्ति देनेवाली वस्तु नहीं है, मुक्तिको देनेवाली वस्तु तो त्याग है। अयोध्याका विशाल राज्य है। उसे भरतजी भी ठुकरा रहे हैं और भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भी। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका प्रत्येक प्रकारसे यही बर्ताव है कि भरत राज्य स्वीकार करके चौदह वर्षतक राज्य करें और भरतकी हर प्रकारसे यही चेष्टा है कि भगवान् श्रीराम ही राजा बनकर राज्य करें। आखिर, राज्य स्वीकार करना पड़ता है भरतको। पर वह जिस भावसे, जिस पवित्र परिस्थितिमें स्वीकार करना पड़ता है वह भरतके लिये कलङ्क नहीं आभूषण है, कल्याणमय है। भरतजी यदि कैकेयीकी आज्ञासे राज्य करते तो उनके लिये वह कलङ्कका टीका था—

दुर्गतिरूप था। लोग भी निन्दा करते कि 'माँने तो बुरा काम किया था; किंतु भरतने भी सम्मति करके उसे स्वीकार कर लिया।' भरतजी भगवान्‌से कहते हैं कि 'मैं तो ऐसा काम कर रहा हूँ जो बहुत ही निम्न-श्रेणीका है। मैं पिताजीके और आपके वचनोंका भी उल्लङ्घन करके यहाँ आपको लेने चला आया। मैंने सबकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया और इसपर भी आप मेरी बड़ाई करते हैं कि 'भरत तेरे समान तू ही है।' तो यह तो आपका स्वभाव है।' भरतजीका तो ऐसा ही भाव होना चाहिये तथा दूसरोंकी दृष्टिमें भी भरतका यह बर्ताव बहुत ही उच्चकोटिका है। भरतजी यदि माता कैकेयीको यह कहते—'माता! तैने मेरे लिये यह बड़ा अच्छा किया और मन्थराने भी बड़ी सहायता की।' और अपना हक समझकर राज्य स्वीकार कर लेते तो वह शास्त्रानुसार भरतके लिये दुर्गतिका कारण बनता और उनकी माता कैकेयी तथा दासी मन्थराकी भी दुर्गति होती; किंतु भरतजीने तो ऐसा पवित्र कार्य किया कि अपनी माताको भी दुर्गतिसे बचा लिया। माता-पिताकी पापमयी आज्ञाका पालन करनेवाला लड़का भी नरकमें जाता है और उसके माता-पिता भी नरकमें जाते हैं। कोई लड़का माता-पिताकी आज्ञासे चोरी करके लाता है तो केवल उस लड़केके ही हथकड़ी नहीं पड़ती, उसके माता-पिता भी पकड़े तथा बाँधे जाते हैं। भरतजीकी नीयत कितनी ऊँची थी। उनका यही उद्देश्य था कि किसी प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्र वापस अयोध्या लौट चलें और राज्य करें। भरतकी यह नीयत बहुत ही उत्तम मानी गयी; पर भगवान् श्रीरामचन्द्रकी यह नीयत नहीं थी कि हम जाकर राज्य करें। वे तो उसको पाप समझते हैं। भरत यदि चाहते हैं कि भगवान् अयोध्या लौटकर राज्य करें तो भरतके लिये तो यह सर्वथा शोभनीय भूषण है, उनके लिये तो यह परम कल्याण-स्वरूप है; पर यदि भगवान् श्रीराम इसे स्वीकार करें तो श्रीरामके लिये कलङ्क है। सबसे उत्तम नीयत वही है—जिसमें न्याय हो, उदारता हो, स्वार्थका सर्वथा त्याग हो, निष्कामभाव हो। न्यायसे ऊँचा दर्जा उदारताका है, उदारतासे ऊँचा दर्जा स्वार्थ-त्यागका है और स्वार्थत्यागसे भी ऊँचा दर्जा निष्कामभावका है। स्वार्थत्याग तो है; परंतु उसमें निष्कामभाव नहीं है तो वह अपेक्षाकृत निम्नश्रेणीकी ही चीज है। जैसे समतासे त्याग श्रेष्ठ है, ऐसे ही स्वार्थत्यागमें भी जो निष्कामभाव है, जो त्यागका भी त्याग है, वही सर्वश्रेष्ठ है। जहाँ सर्वोत्तम नीयत है, वहाँ सब कुछ है। सर्वोत्तम नीयत हो तो ये सारे बर्ताव अपने-आप होने लगते हैं, उसको कुछ भी सीखना-सिखाना नहीं पड़ता।

महापुरुषोंके गुण-प्रभाव

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्कन्दपु० माहे० कु० ५५। १४०)

'जिसका चित्त इस ज्ञान और अपार आनन्द-सागररूप परब्रह्म परमात्मामें लीन हो गया है, उस महापुरुषसे उसका कुल पवित्र हो जाता है, जन्म देनेवाली माता कृतार्थ हो जाती है और (उसके चरण टिकनेसे) पृथ्वी पुण्यवती—पवित्र हो जाती है।'

जिस प्रकार भगवान्‌के गुण-प्रभाव अपरिमित हैं, उसी प्रकार महापुरुषके गुण और प्रभाव भी अपरिमित हैं; वाणीके द्वारा कोई भी उनका वर्णन नहीं कर सकता; बल्कि भगवान् तो अपने भक्तोंको अपनी अपेक्षा ऊँचा मानते हैं। भगवान्‌ने स्वयं अपनेको अम्बरीषके प्रसङ्गमें 'भक्तोंके पराधीन' बतलाया है—

'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।'

'दुर्वासाजी! मैं अस्वतन्त्रकी भाँति सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ।'

गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

मेरे मनमें ऐसा विश्वास है कि रामके दास रामसे भी बढ़कर हैं। वे अपार महिमाशाली हैं। कोई भी उनकी महिमाका यथार्थ गान नहीं कर सकता। शास्त्रोंने महात्माओंके सङ्गकी और महात्माओंकी जो महिमा गायी है, वह भी वस्तुतः परिमित ही है, अतः उनकी यथार्थ महिमाका वर्णन नहीं हो सकता।

ऐसे महापुरुषके सङ्गसे ही मोहका नाश होकर भगवच्चरणारविन्दमें निश्चल प्रेम होता है। श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

संसारके भोग-पदार्थोंमें सुख और नित्यताका बोध बड़ा भारी मोह है, इस मोहका नाश हुए बिना भगवान्‌के चरणोंमें दृढ़ अनुराग नहीं होता। मोहका नाश होनेके लिये भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको

बतलानेवाली हरिकथा नित्य अवश्य होनी चाहिये और विशुद्ध हरिकथा सत्सङ्गके बिना प्राप्त नहीं होती। इसीसे महत्सङ्गकी इतनी महिमा है। बल्कि सत्सङ्गके साथ मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

अर्थात् हे प्यारे! स्वर्ग और मोक्षके सुखको एक पलड़ेपर रखा जाय और दूसरेपर क्षणमात्रके सत्सङ्ग-सुखको रखा जाय तो ये सब (स्वर्ग-मोक्षादिके सुख) मिलकर भी उसके समान नहीं हो सकते। इसी आशयका श्रीमद्भागवतमें श्लोक है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(१। १८। १३)

'भगवत्-सङ्गीके लवमात्रके सङ्गके साथ भी हम स्वर्ग तो क्या मोक्षकी भी तुलना नहीं कर सकते फिर संसारके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है।'

'सत्' परमात्माको कहते हैं, अतएव सर्वोत्तम सत्सङ्ग तो परमात्माका सङ्ग ही है, जो उन महापुरुषोंको प्राप्त रहता है। द्वितीय श्रेणीका सत्सङ्ग उन भगवत्प्राप्त महापुरुषोंका सङ्ग है। ऐसे सङ्गकी महिमा बतलाते हुए संत कहते हैं—

एक घड़ी आधी घड़ी आधी में पुनि आध।
तुलसी संगत साध की कटै कोटि अपराध॥

चौबीस मिनटकी एक घड़ी होती है। उससे आधी बारह मिनट और उस आधीकी आधी छः मिनट होती है, यदि छः मिनट भी संतोंका सङ्ग हो जाय तो करोड़ों पाप कट जाते हैं।

सत्सङ्गमें जो बात सुनी जाती है, उसे काममें लानेपर निश्चय ही कल्याण हो सकता है। भगवान्ने गीतामें तेरहवें अध्यायके २५ वें श्लोकमें कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

'परंतु इनसे दूसरे, अर्थात् जो मन्द बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं।'

तत्त्वदर्शी महात्माओंसे उपदेश प्राप्त करनेकी आज्ञा देते हुए भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(गीता ४। ३४-३५)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ। उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे। जिसको जानकर तू फिर इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

चित्त-निरोधका साधन बतलाते हुए महर्षि पतञ्जलिने कहा है कि 'वीतराग—विषयासक्तिरहित महात्मा पुरुषोंका चिन्तन करनेसे चित्त-निरोध हो जाता है।'

'वीतरागविषयं वा चित्तम्।' (योगदर्शन १। ३७)

इससे यह सिद्ध है, महापुरुषोंके चिन्तनमात्रसे ही चित्त शुद्ध होकर परमात्मामें एकाग्र हो सकता है, तब जिनको महापुरुषोंका सङ्ग करने और उनके साथ वार्तालाप करनेका सौभाग्य प्राप्त हो जाता है, उनके लिये तो कहना ही क्या है? इस प्रकारके उच्चकोटिके महापुरुष और वीतराग-शिरोमणि महात्माओंमें श्रीशुकदेवजी महाराजका नाम मुख्यरूपसे लिया जा सकता है। ऐसे पुरुषोंके ध्यानसे चित्त शुद्ध और स्थिर होनेमें तो कोई शङ्का ही नहीं करनी चाहिये।

तत्त्वज्ञानी जडभरतने जिज्ञासु राजा रहूगणसे 'महात्मा पुरुषोंके चरण-रज-कणमें स्नान किये बिना तत्त्वज्ञान नहीं होता' यह बतलाते हुए कहा है—

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

(श्रीमद्भा० ५। १२। १२)

'रहूगण! महापुरुषोंकी चरण-रजमें अपनेको स्नान कराये बिना केवल तप, यज्ञ, दान, अतिथि-सेवा, दीनसेवा आदि गृहस्थोचित कर्म, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि किसी भी साधनसे यह परमात्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।'

इन महापुरुषोंमें प्रायः दो तरहके होते हैं—१-दिव्य भगवद्धाममें रहनेवाले भगवान्के परिकर या कारक (अधिकारी पुरुष), जो भगवान्की लीलामें अपना-अपना कार्य करनेके लिये अथवा संसारके कल्याणके

लिये भगवान्‌के द्वारा प्रेरित होकर इस मर्त्यधाममें पधारते हैं। अधिकारी या कारक पुरुष स्वभावसे ही नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं, उनके शरीर अलौकिक, अनामय, दिव्य और विशुद्ध होते हैं। ऐसे महापुरुषोंके श्रद्धापूर्वक दर्शन, भाषण और स्पर्श ही नहीं, स्मरणसे भी मनुष्य पवित्र हो सकते हैं। महात्मा वेदव्यास इसी प्रकारके कारक पुरुष हैं, जो भगवत्प्रेरणासे संसारके कल्याणार्थ प्रकट हुए थे। इसी प्रकार श्रीगोपियोंमें भी बहुत-सी भगवान्‌की परिकर-श्रेणीकी मानी जाती हैं, जो भगवान्‌की लीलामें सम्मिलित होनेके लिये आयी थीं। कहा जाता है कि गोपियोंमें कुछ वेदकी श्रुतियाँ थीं, कुछ तपस्यासिद्ध ऋषि थे और कुछ दण्डकारण्यके मुनि थे। ये सभी उक्तियाँ सत्य हो सकती हैं। जो कुछ भी हो, गोपियाँ थीं भगवान्‌में विशुद्ध प्रेम करनेवाली महान् भक्तिमती। इसीसे भक्तराज श्रीउद्धवजीने कहा है—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।६१)

'क्या ही अच्छा हो कि मैं इस वृन्दावनमें कोई झाड़-लता या जड़ी-बूटी बन जाऊँ, जिससे इन गोपियोंकी चरणधूलि निरन्तर मुझपर पड़ती रहे, मैं इनकी चरणरजमें स्नान करके धन्य हो जाऊँ। इन्होंने, जिनको छोड़ना अत्यन्त कठिन है, उन स्वजनोंको तथा आर्यपथको परित्याग कर उन भगवान्‌की पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है, जिनको श्रुतियाँ सदा ढूँढ़ती रहती हैं, परंतु पातीं नहीं।'

२-दूसरे महापुरुष वे हैं, जिनका इस लोकमें जन्म तो पुण्य-पापरूप प्रारब्ध कर्मसे हुआ है, पर जो साधनमें लगकर उन परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं। ऐसे पुरुषोंकी श्रद्धापूर्वक सेवा, आज्ञापालन और नमस्कार करके मनुष्य मुक्ति पा सकता है। श्रद्धा जितनी अधिक होती है, उतना ही अधिक लाभ होता है। श्रद्धा अन्त:करणकी शुद्धिके अनुसार होती है। अन्त:करणकी शुद्धिके उपाय हैं—निष्कामभावसे किये हुए तीर्थ, व्रत, उपवास, दान, तप और अन्यान्य उत्तम अनुष्ठान। निष्काम सत्सङ्ग-स्वाध्याय और भजन-ध्यानसे तो अन्त:करणकी शुद्धि बहुत ही शीघ्र होती है। अन्त:शुद्धिसे तदनुसार श्रद्धा हो जाती है, श्रद्धासे प्रेम होता है और प्रेमसे भगवान्‌की प्राप्ति।

अतएव शास्त्र, ईश्वर और महापुरुषोंमें विशेषरूपसे श्रद्धा करनी चाहिये। आत्माकी सत्तामें भी इस प्रकार श्रद्धा करनी चाहिये कि शरीरपात होनेके बाद मैं (आत्मा) रहूँगा। गीता कहती है—

'न हन्यते हन्यमाने शरीरे।' (२।२०)

शरीरके नाश होनेसे आत्माका नाश नहीं होता। मरनेके बाद परलोककी प्राप्ति अवश्य होगी। इस विश्वाससे मनुष्य आत्मकल्याणके लिये विशेष चेष्टा करता है। 'परलोक है और वहाँ पापका फल अवश्य मिलेगा।' इस प्रकार विश्वास करनेवाला मनुष्य पाप नहीं कर सकता। ईश्वर, महापुरुष और शास्त्रमें विश्वास करनेवाला भी पाप नहीं कर सकता। शास्त्र महापुरुषोंके ही वचन हैं। परलोकका प्रमाण महापुरुषोंके भी महापुरुष भगवान् श्रीकृष्णके इन वचनोंसे सिद्ध है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥
देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता २।१२-१३)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे। जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है। उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

इसलिये ईश्वर, परलोक, शास्त्र और महापुरुषोंपर हमें श्रद्धा-विश्वास अवश्य करना चाहिये। अस्तु!

श्रद्धापूर्वक किये हुए महापुरुषोंके स्मरण, दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे ही जब मनुष्यका कल्याण हो जाता है, तब उनके सेवा और आज्ञापालनसे कल्याण हो, इसमें तो कहना ही क्या है? अतः महापुरुषोंके आज्ञानुसार चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

महापुरुष इतने क्षमाशील होते हैं कि वे अपने प्रति किये गये किसीके अपराधकी ओर देखते ही नहीं। साधारण लोग अपनेको गाली देनेवालेको दुगुनी-चौगुनी गाली देते हैं, मार बैठते हैं; उनसे ऊँचे साधारण व्यक्ति गालीका बदला गालीसे देते हैं; उनसे ऊँचे मनुष्य गाली तो नहीं देते, परंतु पाँच आदमियोंको इकट्ठा करके उन पंचोंसे उसे दण्ड दिलवाते हैं; कुछ लोग पुलिसमें डायरी लिखते या अदालतमें नालिश कर देते हैं। जो बहुत आगे बढ़े हुए लोग माने जाते हैं, वे यह सब कुछ भी न करके ऐसा कहते हैं कि 'भगवान् सब देखते ही हैं, वे

न्याय करेंगे।' अर्थात् वे भगवान्‌के यहाँ फरियाद कर देते हैं। परंतु महात्मा पुरुष यह सब कुछ भी नहीं करते; वे अपनी ओरसे उसे दण्ड दिलवानेकी कोई भी चेष्टा नहीं करते। बल्कि उसका अपराध क्षमा करनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं और कहते हैं कि 'भगवन्! यह बेचारा अज्ञानी है, तभी तो इसने बुरे परिणामका खयाल न करके अपराध किया है, आप इसे कृपापूर्वक क्षमा कर दें।' किसी भी वरदानकी आकांक्षा-अभिलाषा मनमें न रखनेवाले भक्त प्रह्लाद अपने पिताकी बुराइयोंका तथा उसके परिणामका खयाल करके काँप जाते हैं और भगवान्‌से प्रार्थना कर बैठते हैं—

'महेश्वर! वर देनेवालोंके स्वामी! मैं आपसे एक वर माँगता हूँ। मेरे पिताने आप सर्वशक्तिमान् चराचरगुरुको न पहचानकर आपकी बड़ी निन्दा की थी। आपका भक्त होनेके कारण मुझसे द्रोह किया था। दीनबन्धो! मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ, आप जल्दी नाश न होनेवाले इस दुस्तर दोषसे मेरे पिताजीको मुक्त कर दीजिये, उनको तार दीजिये।'

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

संनिपातका रोगी चाहे सो बकता है, वैद्यको गालियाँ देता है, कभी थप्पड़ भी मार देता है; पर इससे क्या बुद्धिमान् वैद्य उससे बदला लेता है? वह जानता है कि यह संनिपातमें है। दूसरा कोई मनुष्य यदि उस रोगीको मारना चाहता है तो वैद्य कह देता है कि 'भाई! यह तो संनिपातमें है, तुम तो नहीं हो, फिर तुम ऐसा क्यों कर रहे हो?' इसी प्रकार महात्मा पुरुष मोहग्रस्त मनुष्यके प्रतिकूल आचरणसे उसपर अप्रसन्न न होकर सदा क्षमा करते हैं।

महापुरुषोंके आचरण सदा अनुकरणके योग्य होते हैं। उनका अनुकरण करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है।

महापुरुष स्वयं तीर्थरूप होते हैं। वे तीर्थोंको पवित्र तीर्थ बनानेके लिये ही वहाँ जाते हैं। संसारमें जितने भी तीर्थ हैं, उनके तीर्थत्व प्राप्त करनेमें भगवान् और महापुरुष ही प्रधान कारण हैं। जहाँ भगवान्‌ने अवतार लिया, वही स्थान पवित्र, पवित्रकारी तीर्थ बन गया, मुक्ति देनेवाला हो गया। श्रीवृन्दावन, अयोध्या, यमुना, सरयू आदि भगवान्‌के अवतरणके कारण ही महान् पवित्र तीर्थ हैं।

इसी प्रकार जहाँ महात्माओंने साधन-भजन किया, निवास किया—वही स्थान पवित्र तीर्थ बन गया। पतिव्रताशिरोमणि अनसूयाजीने जहाँ वास किया, उस स्थानका नाम 'अनसूयाश्रम' हो गया। पतिव्रता स्त्री महात्माओंके तुल्य ही होती हैं। अनसूयाजी उच्चकोटिकी पतिव्रता थीं। जिनके यहाँ स्वयं ब्रह्मा, विष्णु, महेश अंशरूपसे अवतरित हुए थे।

श्रीभरतजी महाराज जब चित्रकूट गये थे, तब भगवान् श्रीरामका राजतिलक करनेके लिये बहुत-से तीर्थोंका जल साथ ले गये थे। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका राजतिलक तो हुआ नहीं, अतः भगवान्‌की आज्ञासे उस जलको एक कुएँमें रखा गया। वह कुआँ आज भी 'भरतकूप' के नामसे प्रसिद्ध है। नैमिषारण्यमें हजारों ऋषि एकत्र होकर ज्ञानसत्र और भगवच्चर्चा करते थे, इसीसे वह नैमिषारण्यके नामसे प्रसिद्ध तीर्थ है।

श्रीभगीरथजी बड़े उच्चकोटिके पुरुष थे और भगवान् शिव और विष्णुके परम भक्त थे। वे अपने पूर्वजोंको तारने तथा लोक-कल्याणके लिये गङ्गाजीको लाये थे। उनकी लायी हुई गङ्गाजी जिस मार्गसे निकलीं, उस मार्गके सभी स्थान तीर्थ बन गये। श्रीगङ्गाजीके लानेमें भगीरथजीने बड़ा पुरुषार्थ किया था, इससे आज भी यदि कोई महान् पुरुषार्थ करता है तो उसके पुरुषार्थको 'भगीरथ-पुरुषार्थ' कहते हैं।

ऐसे पुरुषोंकी वाणी परम पवित्र, गम्भीर आशयवाली, रहस्यमयी, अर्थयुक्त, यथार्थ, सरल और कल्याणकारिणी होती है। इनका हृदय बड़ा ही विशाल, विशुद्ध, अचल और शान्तिमय होता है। उसमें अवगुणोंका सर्वथा अभाव होता है और अनन्त सद्गुणोंका सागर सदा-सर्वदा लहराता रहता है। उनके सङ्गसे सब प्रकारसे लाभ-ही-लाभ है।

जैसे कहीं एक ओर घासकी ढेरी है और दूसरी ओर आगकी ढेरी है। हवा चलती है और हवा चलकर घासको उड़ाकर आगमें डाल देती है तो वह घास आग ही बन जाता है और अग्निकी चिनगारियाँ उड़कर यदि घासमें पड़ती हैं तो भी उस घासकी आग बन जाती है। कभी ऐसा नहीं हो सकता कि आग घास बन जाय। इसी प्रकार महापुरुषोंके समीप आकर पापी धर्मात्मा बन जाते हैं, परंतु महापुरुष पापियोंके सङ्गसे पापी नहीं होते; क्योंकि उनमें ज्ञानाग्नि हर समय निवास करती है। उस ज्ञानाग्निकी चिनगारियोंसे पापरूपी घासका ढेर-का-ढेर भी हो तो वह भी भस्म हो जाता है। उनके हृदयमें जो ज्ञान है, वह वाणीके द्वारा विकसित होकर जब कानोंमें जाता है, तब अन्तःकरणमें घासके ढेरके समान जो पाप-पुञ्ज है, वह जलकर भस्म हो जाता है। उनकी उपदेशमयी वाणी ही ज्ञानाग्निकी चिनगारियाँ हैं।

इस संसारमें ऐसे-ऐसे महापुरुष हो गये हैं कि

जिन्होंने अपने पुण्य-प्रभावसे लाखों-करोड़ों जीवोंका उद्धार कर दिया था। हमारी इस पृथ्वीपर कीर्तिमान् नामक एक राजा हुए हैं। वे बड़े ही भक्त, भक्तिप्रचारक और चक्रवर्ती राजा थे। सारी पृथ्वीपर उनका शासन था। अतः उनके आचरण और उपदेशके प्रभावसे सारी पृथ्वीके लोग भगवान्के परम भक्त बन गये और सभी भगवान्के परम धामको जाने लगे। यमराजका व्यापार तो बिलकुल बंद हो गया। यमलोकमें पहलेके जितने प्राणी थे, उन सबकी सद्गति होने लगी और नया प्राणी कोई गया नहीं। इस कारण यमलोक बिलकुल खाली हो गया। तब यमराजने ब्रह्माजीके पास जाकर स्थिति बतलाते हुए कहा कि 'पृथ्वीपर कीर्तिमान् नामका एक राजा है, वह सभीको परम धाममें भेज रहा है। मेरे लोकमें एक भी प्राणी अब नहीं आता। जो पहलेके थे, वे सब परम धाममें चले गये। अब मैं क्या करूँ?' ब्रह्माजी धर्मराजको साथ लेकर विष्णुभगवान्के पास गये और उनको सारी स्थिति सुनायी। भगवान्ने कहा— 'इनका कहना ठीक है। इस समय इस पृथ्वीपर कीर्तिमान् राजा है और वह जबतक रहेगा तबतक एक भी प्राणी यमलोकमें नहीं जायगा, सब मेरे लोकमें ही आयेंगे। वह कीर्तिमान् राजा अभी दो हजार वर्षतक और रहेगा। दो हजार वर्षके बाद जब दूसरा राजा होगा, तब फिर प्राणी यमलोकमें जाने लगेंगे।'

(स्कन्दपुराण, वैष्णव०, वैशाख मा० अध्याय ११—१३)

कितनी विचित्र बात है। हजारों वर्षोंकी आयु, समस्त पृथ्वीका शासन और ऐसा पुण्य-प्रभाव कि एक भी प्राणी यमलोकमें नहीं गया। इस कीर्तिमान् राजाको तो हम महापुरुषका महापुरुष भी कह दें तो कोई अत्युक्ति नहीं।

संसारमें महापुरुष हो और लोग उसकी आज्ञा मानें तो सहज ही एक महापुरुषके प्रभावसे ही मनुष्यमात्रका कल्याण हो सकता है। एक महापुरुषकी बात मानकर हजारों मनुष्य महापुरुष बन जायँ, फिर वे हजारों व्यक्ति भगवान्की भक्तिका प्रचार करें; फिर उनसे उपदेश पाये हुए लाखों पुरुष भक्त बनें तो यों होते-होते सारे संसारके मनुष्य भगवान्के भक्त बन सकते हैं और समस्त संसारका कल्याण हो सकता है।

परंतु आजतक संसारमें ऐसा पुरुष कोई नहीं हुआ कि जिससे प्राणिमात्रका उद्धार हुआ हो। प्राणिमात्रका उद्धार हो जाता तो उन लोगोंके साथ हमारा भी कल्याण हो गया होता। इसीसे यह सिद्ध है कि ऐसा कोई आजतक नहीं हुआ; परंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि आगे ऐसा हो ही नहीं सकता, हो तो सकता ही है।

भगवान् उस पुरुषको इस प्रकारका अधिकार देनेके लिये बाध्य हो जाते हैं, जो भगवान्का उच्चकोटिका अनन्य भक्त और परम श्रद्धालु हो, जो परम और विशुद्ध प्रेमी हो तथा सबका परम सुहृद् हो, जिस महापुरुषमें कामनाका लेश भी न हो, जिसने पहलेसे ही संसारके लोगोंके लिये अपना सर्वस्व तन, मन, धन अर्पण कर रखा हो एवं जो भगवान्से सब लोगोंके उद्धारका प्रार्थी हो। अबतक भगवान्के भेजे हुए जो पार्षद या अधिकारी पुरुष आये हैं, उन्होंने भी इस प्रकार सबका उद्धार नहीं किया। ऐसे महापुरुषका स्थान अभी खाली ही है। इस स्थानकी पूर्ति जिस दिन हो जायगी, उस दिन हम सबका कल्याण हो जायगा। इसपर एक कहानी है। पहलेसे लोकमें प्रचलित या नवीन कल्पनाप्रसूत कथाको 'कहानी' कहा करते हैं।

भगवान्के एक उच्चकोटिके भक्त थे। उन्होंने तन-मनसे भगवान्की आत्यन्तिक भक्ति की। भगवान्ने प्रकट होकर उनको दर्शन दिये और कहा—'तुम्हारी भक्तिसे मैं परम प्रसन्न हूँ, तुम्हारी इच्छा हो सो वरदान माँग लो।'

भक्तने कहा—'जब आपने दर्शन दे दिये, तब इससे बढ़कर और क्या वरदान होगा।'

भगवान्ने कहा—'ठीक है, फिर भी मेरे संतोषके लिये तुम्हारी जो भी इच्छा हो, माँग लो।'

भक्तने कहा—'प्रभो! जब आप इस प्रकार बार-बार कह रहे हैं, तब मैं यही वरदान माँगता हूँ कि प्राणिमात्रका कल्याण हो जाय, आप सब जीवोंका उद्धार कर दीजिये।'

भगवान्ने कहा—'सब जीवोंका उद्धार कैसे हो सकता है? उन सबके पाप कौन भोगेगा?'

भक्तने कहा—'मैं भोगूँगा। आप सबके पाप मुझे भुगताते रहें और मैं भोगता रहूँ।'

भगवान्ने कहा—'तुम मेरे अनन्य भक्त हो, विशुद्ध भक्त हो। तुमको मैं सारे प्राणियोंके पापोंका फलरूप दुःख कैसे भुगता सकता हूँ।'

भक्त बोला—'न भुगतायें तो भगवन्! माफ कर दीजिये।'

भगवान् बोले—'यह भी सम्भव नहीं।'

भक्तने कहा—'आपके लिये तो कुछ भी असम्भव नहीं है। आप जब चाहें, सबका उद्धार कर सकते हैं। आप साक्षात् परमात्मा हैं। सबके महान् ईश्वर हैं। आप असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं। आप यदि कहें कि ऐसा हो ही

नहीं सकता तो फिर प्रभो! आपको यह कहनेकी क्या आवश्यकता थी कि तुम्हारी जो इच्छा हो, माँग लो। आपको स्पष्ट यह कहना चाहिये था कि तुम स्त्री, पुत्र, धन, स्वर्ग, मुक्ति आदि जो भी इच्छा हो माँग लो।'

भगवान्‌ने कहा—'भाई! तुम्हारी विजय हुई, मैं हारा।'

भक्त बोला—'भगवन्! इस विजयमें मुझे क्या मिला? इस विजयको आप अपने ही पास रखें! मेरी तो विजय सबके कल्याणमें ही है।'

भगवान्‌ने कहा—'सबका कल्याण होना तो सम्भव नहीं, हाँ, एक बात है—मेरे दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन और नाम-जपसे भी मनुष्यका कल्याण हो जाता है। वही सामर्थ्य मैं तुमको देता हूँ। अब तुम्हारे दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तनसे तथा तुम्हारा नाम लेनेसे भी मनुष्यका कल्याण हो जायगा।'

भक्त बोला—'प्रभो! इतना ही सही।'

इसके बाद भगवान् अन्तर्धान हो गये।

भक्तने भगवान्‌की यह बात स्वीकार कर ली। वह कहीं अड़ गया होता तो सभीका कल्याण हो सकता था।

इसलिये उचित है कि हमलोग ऐसे ही निष्कामी, त्यागी, उदारचित्त, दयालु, श्रद्धालु अनन्य प्रेमी भक्त बनें।

भक्तिसहित निष्काम कर्मयोगसे भगवत्प्राप्ति

साधकके लिये आत्मोद्धारके दो मार्ग हैं—प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग। प्रवृत्तिमार्गका अभिप्राय यह है कि साधक चेष्टा करता हुआ, कर्म करता हुआ मुक्त हो जाय, जैसे जनकादि और निवृत्तिमार्गका अभिप्राय यह कि साधक कर्मोंका त्याग करके मुक्त हो, जैसे श्रीशुक-सनकादि। यह नहीं समझना चाहिये कि केवल संन्यास-आश्रम ही निवृत्ति-मार्ग है। संन्यास-आश्रम निवृत्तिमार्ग है, यह तो ठीक है ही; किंतु गृहस्थाश्रममें भी मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों मार्गोंके अनुसार चल सकता है। गृहस्थाश्रममें निवृत्तिमार्गके अनुसार चलनेका अर्थ है—वानप्रस्थकी भाँति जंगलमें एकान्तमें गिरि-गुहाओंमें रहना तथा सांसारिक, सामाजिक, व्यावहारिक आदि कर्मोंसे उपरत होकर भगवान्‌का भजनध्यान, सत्सङ्ग-स्वाध्याय करना और ज्ञान-वैराग्यमें मग्न होकर अपना समय बिताना। पर भोजन-वस्त्र आदि जीवन-निर्वाहके साधन अपने घरवालोंके सिवा दूसरोंसे ग्रहण न करना। यह निवृत्तिमार्गके तुल्य है। इस प्रकार निवृत्तिमार्गका पालन गृहस्थ भी कर सकता है; यह प्रवृत्तिमें ही निवृत्ति है।

किंतु यदि कोई संन्यासी होकर प्रवृत्तिमार्गका विस्तार करता है तो वह निवृत्तिमें प्रवृत्ति है और वह पतन करनेवाली है। साधु-संन्यासी होकर कञ्चन-कामिनीके साथ किसी भी प्रकारका सम्बन्ध जोड़ना, सम्पर्क रखना अर्थात् स्त्री और धनको रखना या स्त्रीसे शरीरकी सेवा कराना उसके लिये कलङ्क है; क्योंकि स्त्री और रुपयोंके संस्पर्शसे या इनमें प्रेम करनेसे संन्यासी नरकमें जाता है। श्रीस्कन्दपुराणमें बतलाया है—

वराटके संगृहीते यत्र तत्र दिने दिने।
गोसहस्रवधं पापं श्रुतिरेषा सनातनी॥
हृदि सस्नेहभावेन चेद् द्रक्ष्येत् स्त्रियमेकदा॥
कोटिद्वयं ब्रह्मकल्पं कुम्भीपाकी न संशयः।

(काशी० पूर्वार्ध० ४१। २५—२७)

'संन्यासी यदि प्रतिदिन कौड़ी-कौड़ीभर भी जहाँ-तहाँसे धन संग्रह करे तो उसे एक सहस्र गौओंके वधका पाप लगता है—यह सनातन श्रुति है। यदि एक बार भी वह हृदयमें स्नेहभावसे (आसक्तिपूर्वक) किसी स्त्रीको देख ले तो उसे दो करोड़ ब्रह्मकल्पोंतक कुम्भीपाक नरकमें निवास करना पड़ता है, इसमें संशय नहीं है।'

संन्यासीका धर्म बहुत ही कठिन है और साधु-संन्यासी होकर अपने लिये इमारतें बनवाना, चेलियाँ बनाकर उनके साथ एकान्तवास करना और गृहस्थोंकी भाँति ही व्यापारादि प्रवृत्तिमार्गका विस्तार करना महान् अनुचित है।

गृहस्थाश्रममें मनुष्यकी अवस्था जब पचास वर्षसे अधिक हो जाय तो शास्त्र कहते हैं कि उसे गृहस्थाश्रमसे पृथक् हो वनमें जाकर वानप्रस्थाश्रमका सेवन करना चाहिये। स्त्रीकी इच्छा हो तो वह उसे भी अपने साथ रख सकता है, किंतु दम्पतिको सदा संयमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतसे रहना चाहिये, वनमें रहकर दोनोंको तपस्या करनी चाहिये एवं अपने कल्याणके लिये शास्त्रानुकूल साधन करना चाहिये। ग्रीष्म-कालमें चार महीने पञ्चाग्नि तपना यानी पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों ओर अग्नि जलाकर, उसके बीचमें बैठकर सूर्यके तापका सेवन करना, वर्षाकालमें चार महीने आवरणरहित खुली जगहमें बैठकर वर्षाका सेवन करना, शीतकालमें चार महीने जलाशयमें गलेके नीचेतक जलमें रहना या गीले वस्त्र धारण करना और रात्रिके समय स्त्री-पुरुष दोनोंका ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक अपने बीचमें किसी प्रकारका व्यवधान रखकर अलग-

अलग भूमिपर सोना—इत्यादि ये वानप्रस्थ-आश्रमके धर्म बतलाये गये हैं। मनुस्मृतिमें लिखा है—

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद् वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः॥
उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितृन्देवांश्च तर्पयेत्।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद् देहमात्मनः॥

(६। २३-२४)

'अपने तपको क्रमसे बढ़ाता हुआ वानप्रस्थी ग्रीष्मऋतुमें पञ्चाग्निमें तप करे, वर्षाऋतुमें आवरणरहित मैदानमें बैठा रहे और हेमन्त (जाड़ेकी) ऋतुमें गीले वस्त्र धारण करे। तीनों काल स्नान करके पितर और देवताओंका तर्पण करे तथा कठोर तपस्या करके अपने शरीरको सुखावे।'

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥

(६। २६)

'सुख देनेवाले विषयोंमें लिप्त होनेका प्रयत्न न करे, ब्रह्मचारी रहे, भूमिपर सोये, निवासस्थानसे ममता न करे और वृक्षकी जड़में निवास करे।'

उपर्युक्त वानप्रस्थाश्रमके धर्मोंका पालन करना भी इस समय संन्यास-आश्रमकी तरह बहुत ही कठिन है। इसलिये आजकल इस कलिकालमें वानप्रस्थाश्रमको ग्रहण न करके गृहस्थाश्रममें रहते हुए ही जो उपर्युक्त प्रकारसे निवृत्तकी-ज्यों रहता है और भगवान्‌की भक्ति करता है तो उसका कल्याण हो सकता है; क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। पुरुष, स्त्री, बालक, वृद्ध, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, इसी प्रकार गृहस्थमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चाण्डाल—सभी भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं। भगवान्‌ने गीताके नवम अध्यायके ३२ वें श्लोकमें यह स्पष्ट कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।'

इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि भगवान्‌की भक्ति—शरणागतिमें, भगवान्‌की प्राप्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। ब्राह्मण, क्षत्रिय उत्तम वर्णोंके लिये तो और भी विशेषता है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(गीता ९। ३३)

'फिर इसमें कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरे शरण होकर परमगतिको प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

इन शब्दोंसे उनकी विशेषता सिद्ध होती है। इससे यह बात भी सिद्ध हो गयी कि गृहस्थाश्रममें, प्रवृत्तिमार्गमें रहनेपर भी मनुष्यका भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे कल्याण हो सकता है। इसी प्रकार प्रवृत्तिमार्गमें रहकर कर्मयोगसे भी कल्याण हो सकता है। भगवान्‌ने कहा है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

(गीता ६। १)

'जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है।'

यदि कोई पूछे कि 'एक व्यापारी वैश्य अपनी दूकानका काम करता है तो उस भाईको किस प्रकार काम करना चाहिये?' तो इसका उत्तर यह है कि वह जिस प्रकारका व्यापार कर रहा है, उसमें परिवर्तनकी कोई जरूरत नहीं है। वह गल्ला-किराना, कपड़ा-सूत, चाँदी-सोना अथवा घी, तेल, चीनी आदि किसी भी वस्तुका व्यापार करता है, उसे ज्यों-का-त्यों करता रहे, उसमें कोई दोष नहीं है; क्योंकि वैश्यके लिये क्रय-विक्रय करना शास्त्रका विधान है, किंतु उसे वह व्यापार करना चाहिये—कर्तव्य समझकर सबके साथ समान व्यवहार करते हुए सत्यतापूर्वक निष्कामभावसे।

महाभारतके शान्तिपर्वमें तथा पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें बतलाया है कि तुलाधार वैश्य मदिरा आदि अपवित्र वस्तुओंको छोड़कर सब प्रकारके रस बेचा करता था, किंतु वह झूठ, कपट, विषमता और लोभको त्यागकर व्यापार करता था। उसके प्रभावसे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर उसे परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

हमलोगोंके व्यवहारमें जो विषमता है, एकके साथ अच्छा और दूसरेके साथ बुरा व्यवहार है, वह न होकर सबके साथ समताका व्यवहार होना चाहिये और व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी इत्यादिका अवश्य ही त्याग कर देना चाहिये। झूठ, कपट, बेईमानी तथा दगाबाजीके व्यापारसे मुक्ति तो दूर रही, उलटे नरकोंकी प्राप्ति होती है। व्यापारमें जो स्वार्थत्यागरूप निष्कामभाव है, वही आत्माका कल्याण करनेवाला एक

महत्त्वपूर्ण साधन है। निष्कामभावमें इतनी शक्ति है कि उसके प्रभावसे झूठ, कपट, बेईमानी आदि समस्त बुरे आचरण नष्ट हो जाते हैं। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको निष्कामभावसे ही कर्म करना चाहिये। कर्मोंमें अभिमान, ममता, आसक्ति और फलकामना आदिका त्याग कर देना ही स्वार्थका त्याग कर देना है; यही निष्कामभाव (कर्मयोग) है और यह निष्कामभाव ही मुक्ति देनेवाला है। भगवान्ने कहा है—

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २। ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

निष्कामभावके कई भेद हैं, उनमें 'भगवदर्थ कर्म करना' उच्चकोटिका निष्कामभाव है। जैसे कोई व्यापारी—वैश्य है तो उसे यह निश्चय करना चाहिये कि 'मेरी दूकान भगवान्की है और मैं भी भगवान्का हूँ तथा ये सब वस्तुएँ भी भगवान्की हैं।' इस प्रकार सब वस्तुओंको भगवान्की समझकर और स्वयं भगवान्का सेवक बनकर काम करे तथा सदा निश्चित-रूपसे यही समझे कि 'मैं भगवान्का सेवक हूँ, सेवा करनेके लिये मेरी यहाँ नियुक्ति हुई है। मुझे जो भोजन-वस्त्र मिलते हैं, बस, वही मेरा वेतन है। घरमें जितने व्यक्ति हैं, वे सब भगवान्के हैं, उनकी सेवा करना भगवान्की ही सेवा करना है।' दूकानके कामके रूपमें सेवा करते समय यह समझे कि 'भगवान्की दूकान प्राणिमात्रकी सेवाके लिये है; क्योंकि विश्वके सभी प्राणी भगवान्की प्रजा हैं या सभी उनकी संतान हैं।' इस प्रकार सबको भगवान्की प्रजा या संतान समझकर अपने व्यापारके द्वारा निःस्वार्थभावसे सबका हित और सबकी सेवा करनेसे भगवान् बड़े ही प्रसन्न होते हैं और भगवान्की प्राप्ति हो जाती है।

इससे भी उच्चकोटिका एक साधन है और उसको निष्कामभावसे करनेपर और भी शीघ्र कल्याण हो सकता है। वह उच्चकोटिका साधन है—सबमें परमात्माको व्यापक समझकर उन सबकी सेवा करना। जैसे बादलोंमें आकाश व्यापक है, इसी प्रकार परमात्मा समस्त ब्रह्माण्डमें व्याप्त हैं। यों समझकर सबकी सेवाके रूपमें परमात्माकी सेवा करनी चाहिये। इस प्रकार सेवा करनेसे परम सिद्धिरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है। गीतामें भगवान्ने बतलाया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने वर्णधर्मके अनुसार स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

'सबमें भगवान् व्यापक हैं'—इससे भी ऊँचा भाव यह है कि 'सभी नारायणके स्वरूप हैं।' इस प्रकार सबको नारायण समझकर व्यापारके द्वारा सबकी सेवा करनेसे तो अत्यन्त शीघ्र आत्माकी शुद्धि होकर परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है।

कोई भी व्यापारी हमारी दूकानपर आये तो 'स्वयं भगवान् ही आये हैं'—यों समझकर अपने व्यापारके द्वारा उनकी आदर-सत्कारपूर्वक सेवा करनी चाहिये। हम किसीसे कोई वस्तु खरीदें तो यह ध्यान रहना चाहिये कि हमारे द्वारा उसकी अवश्य ही कुछ सेवा हो और हम किसीको कोई वस्तु बेचें तो उस खरीददारके प्रति हमारा यह भाव रहना चाहिये कि भगवान् हमारे घरपर पधारे हैं, अतः उनकी सेवा करना हमारा परम धर्म है और उसे छल-कपटरहित होकर वस्तुकी असली स्वरूप-स्थिति बतानी चाहिये, जिससे वह ठगा न जाय और उचित मूल्यपर उसे वह वस्तु देनी चाहिये।

इसी प्रकार कोई भाई किसी ऐसी सार्वजनिक संस्थाका काम करते हों, जहाँ वास्तवमें व्यक्तिगत स्वार्थ न होनेके कारण झूठ-कपट प्रायः नहीं है तो वहाँ उन कार्यकर्ता भाईको कार्यमें विशेष परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वह कार्य स्वरूपसे ही जनताकी सेवाके लिये है और वहाँ स्वार्थ, झूठ-कपट और विषमताका भी कोई कारण नहीं है, किंतु व्यक्तिगत स्वभावदोषके कारण यदि कहीं स्वार्थ, झूठ-कपट और विषमताका दोष आता हो तो उसका सुधार होना कठिन बात नहीं है, थोड़ी चेष्टा करनेपर ही सुधार हो सकता है। केवल बार-बार यह निश्चय करना चाहिये कि यह भगवान्का ही काम है। फिर अपने-आप ही दोषोंका अभाव हो सकता है। पर बात तो दूसरी है। हमलोग वाणीसे तो कहते हैं कि 'यह भगवान्का काम है', किंतु वास्तवमें यह बात अभी अच्छी तरहसे हमलोगोंकी समझमें आयी नहीं है। निश्चितरूपसे समझमें आयी होती तो हम चेष्टामात्रको भगवान्की लीला और प्राणिमात्रको भगवान्का स्वरूप समझते और प्रत्येक

कार्यमें भगवान्‌की सेवाका अनुभव होते रहनेसे कार्य करते समय क्षण-क्षणमें हमारे चित्तमें अतिशय प्रसन्नता और शान्तिका सागर लहराता रहता। सेवा करते समय यह भाव रहना चाहिये कि हम भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवान्‌की ही सामग्रियोंके द्वारा भगवान्‌की ही सेवा कर रहे हैं। सारे कार्य यदि ठीक-ठीक हो रहे हों तो उनमें बाहरी सुधारकी बहुत ही कम आवश्यकता रहती है। अधिक बिगड़ा हुआ कार्य हो तो उसमें अधिक सुधार करना पड़ता है और कम बिगड़ा हुआ हो तो थोड़े प्रयत्नसे ही उसका सुधार सम्भव है। जिस सार्वजनिक संस्थामें किसी प्रकारकी चोरी, बेईमानी नहीं की जाती, उसके कार्यके सुधारमें कोई कठिनाई नहीं है। फिर भी यत्किञ्चित् कहीं शास्त्रके विरुद्ध क्रिया होती हो तो उसका शीघ्र सुधार कर लेना उचित है। असल बात तो यह है कि हम सबमें भगवद्बुद्धि करें; क्योंकि उच्चकोटिके महापुरुषोंकी स्थिति बतलाते हुए स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

अतएव सबको परमात्माका स्वरूप समझकर निःस्वार्थ प्रेमभावसे उनकी सेवा करनी चाहिये। एवं हर समय भगवान्‌का चिन्तन करते हुए भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही सब कार्य करने चाहिये; क्योंकि भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेवाला ही उनका सच्चा प्रेमी भक्त है। श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें अपनी प्रजाके प्रति उपदेश देते समय स्वयं भगवान् रामने यह बात कही है—

सो सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥

'वही तो मेरा सेवक है, वही मेरा प्रियतम है जो मेरी आज्ञाका पालन करता है।'

गीतामें भी अर्जुनके लिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।

(४। ३ का उत्तरार्ध)

'अर्जुन! तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है तथा तुझको मैंने जो उपदेश दिया है, यह उत्तम रहस्यकी बात है।'

भगवान्‌ने अर्जुनको अपना भक्त और सखा बतलाया; क्योंकि अर्जुनका दास्यभाव भी था और सख्यभाव भी। भगवान्‌के कथनका तात्पर्य यह है कि वही मेरा सच्चा भक्त, वही मेरा सखा और वही मेरा प्रेमी है, जो मेरी आज्ञाका पालन करता है। अर्जुन भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेवाला परम भक्त था, इसलिये गीताका उपदेश देकर भगवान्‌ने स्वयं १८ वें अध्यायमें अर्जुनसे पूछा कि 'अर्जुन! तेरे मोहका नाश हुआ या नहीं, मैंने तुझसे जो कुछ कहा, उसको तूने ध्यान देकर सुना या नहीं?' अर्जुनने उत्तरमें कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

(१८। ७३)

'हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

अर्जुन भगवान्‌के उच्चकोटिके भक्त थे, अतएव भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर ही संसारके कल्याणके लिये गीताका उपदेश किया और अर्जुनने भी भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही अपना जीवन बिताया। अतः अर्जुनको आदर्श मानकर हमलोगोंको भी भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना चाहिये। यदि कहें कि 'उस समय तो भगवान् साक्षात् प्रकट थे, इसलिये उनकी आज्ञाका पालन सुगम था, इस समय तो वे प्रकट नहीं हैं, इसलिये हम भगवान्‌की आज्ञाका पालन कैसे करें।' तो यह बात अपने भावके ऊपर निर्भर करती है। जो मनुष्य गीताको ही भगवान्‌का स्वरूप मानकर उनकी आज्ञाका पालन करता है, भगवान् उसके हृदयमें प्रेरणा करते रहते हैं। हमको प्रत्येक काममें भगवान्‌से पूछना चाहिये कि 'प्रभो! इसमें आपकी क्या सम्मति है? तो सबके हृदयमें स्थित हुए भगवान् हमारे हृदयमें स्वयं प्रेरणा कर सकते हैं कि हमारी यह सम्मति है।

भगवान् तीन प्रकारसे अपनी आज्ञाका प्रयोग करते हैं—(१) महात्मा पुरुषोंके द्वारा, (२) सत्-शास्त्रोंके द्वारा और (३) साधकके शुद्ध अन्तःकरणके द्वारा। इसलिये महात्मा पुरुषोंकी आज्ञाके अनुसार चलना ही भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार चलना है; क्योंकि स्वयं भगवान्‌ने गीताके सातवें अध्यायके १८ वें श्लोकमें कहा है कि ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।'** अतः हमलोगोंके लिये कोई कठिनाई नहीं है। यद्यपि संसारमें ऐसे महापुरुषोंका मिलना कठिन है; क्योंकि लाखों-करोड़ोंमेंसे कोई एक ही ऐसा महापुरुष होता है। भगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

इसलिये हमलोगोंको यह समझना चाहिये कि जिस पुरुषके द्वारा हमको सत्-शिक्षा मिले, जिस पुरुषकी बात सुनकर हममें दैवी सम्पदाके लक्षण आयें तथा भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षणोंका प्रादुर्भाव हो, हमारे लिये वही महात्मा है। यदि एक मनुष्य साधक है, पर उसमें उत्तम-उत्तम गुण-आचरण विद्यमान हैं, वह दैवी सम्पदासम्पन्न है और परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें संलग्न है तथा साधकोंमें श्रेष्ठ है तो हम उसको भी महात्मा समझकर उसकी आज्ञाका पालन करें तो उसमें हमारा लाभ ही है। ऐसा साधक महात्माके तुल्य ही है; क्योंकि गीतामें नवम अध्यायके १३ वें श्लोकमें साधकको भी गौणीवृत्तिसे महात्मा ही बतलाया है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

'परंतु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षर-स्वरूप जानकर अनन्यमनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।'

अतः हमारे लिये कोई कठिनता नहीं है। संसारमें वास्तविक महात्माओंका अभाव नहीं है। जो सच्चे हृदयसे महात्माको चाहता है, उसे भगवत्कृपासे महात्मा मिल जाते हैं। हमारे हृदयमें श्रद्धा होनी चाहिये।

दूसरी बात यह है कि शास्त्रोंके वचन भगवान्के ही वचन हैं। इसलिये शास्त्रकी आज्ञा भगवान्की ही आज्ञा माननी चाहिये। गीता, रामायण, महाभारत, भागवत, उपनिषद्, श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि जितने भी शास्त्रग्रन्थ हैं, वे वास्तवमें भगवान्की आज्ञा हैं और गीता तो साक्षात् भगवान्के श्रीमुखके वचन हैं ही। वेद ब्रह्माजीके द्वारा प्रकट हुए हैं, पर वास्तवमें वह भगवान्की ही आज्ञा हैं और ऋषि-मुनियोंने जो कुछ कहा है, सब वेदोंके आधारपर ही कहा है; इसलिये उनके वचन भी भगवान्के ही वचन हैं।

तीसरी बात यह है कि हमें यदि यह विश्वास हो कि भगवान् सदा-सर्वदा हमारे हृदयमें विराजमान हो रहे हैं तो प्रत्येक बातके लिये हम उनसे पूछ सकते हैं और वे हमको अन्तःप्रेरणाके द्वारा समुचित सम्मति या आदेश दे सकते हैं। अच्छी नीयतसे पूछे जानेपर हमारे शुद्ध अन्तःकरणके द्वारा भगवान्की आज्ञा सुगमतासे मिल सकती है।

वस्तुतः हमलोगोंको भगवान्की आज्ञाके अनुसार चलना चाहिये। अर्जुनको उपदेश दिया, उस समय भगवान् थे और अब नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है। भगवान् तो सदा-सर्वदा ही सर्वत्र विद्यमान हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ भगवान् न हों और ऐसा कोई काल नहीं, जिसमें भगवान् न हों। भगवान् सब देशमें, सब कालमें और सब पदार्थोंमें सदा ही विराजमान होकर रहते हैं। अतः जिसके हृदयमें विश्वास और श्रद्धा है, उसके लिये भगवान् सदा-सर्वदा सब जगह वर्तमान हैं। इस बातको ध्यानमें रखकर हमको भगवान्की आज्ञाका पालन करना चाहिये। निःस्वार्थ भावसे संसारभरकी सेवा करना ही भगवान्की मुख्य आज्ञा है; क्योंकि चर और अचररूप सारा संसार भगवान्का ही स्वरूप है, भगवान्के सिवा और कोई वस्तु नहीं है तथा भगवान् ही इस संसारके रचनेवाले हैं; इसलिये भगवान् ही इसके अभिन्न उपादान और निमित्त कारण हैं। अतएव यह संसार भगवान्का ही रूप है—इस प्रकार समझकर जो संसारकी सेवा करता है, वह भगवान्की ही सेवा करता है। जिसका उपर्युक्त प्रकारसे सबमें भगवद्भाव हो जाता है, उसके लिये सबकी सेवारूप साधन बहुत ही सुगम है। अतः निष्कामभावसे सबकी सेवा करके मनुष्यजन्मको सफल बनाना चाहिये।

हमलोगोंपर ईश्वरकी बड़ी ही दया है, जो हमें इस समय सब प्रकारकी सुविधा प्राप्त है। प्रथम तो मनुष्यका शरीर मिलना दुर्लभ है, मनुष्यका शरीर मिल जाय तो मुक्तिके केन्द्र भारतवर्षमें जन्म होना कठिन है, भारतवर्षमें जन्म होनेपर भी वैदिक सनातन-धर्ममें निष्ठा होनी बहुत ही दुर्लभ है और यदि सनातनधर्ममें निष्ठा हो गयी तो शास्त्रोंका ज्ञान होना कठिन है एवं शास्त्रोंका कुछ ज्ञान हो जानेपर भी महात्मा पुरुषोंका सङ्ग मिलना बहुत ही दुर्लभ है। ये सारी बातें मिलकर भी यदि हम साधन न करनेके कारण परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जायँ तो हमारे समान संसारमें और कौन मूर्ख होगा। ये सब बातें ध्यानमें रखकर जल्दी-से-जल्दी मनुष्यजीवनको सफल बनाना चाहिये; क्योंकि शरीरका क्षणभरका भी भरोसा नहीं है। आज यदि मृत्यु आकर प्राप्त हो जाय तो हमें आज ही मरना पड़ेगा। एक क्षणका भी समय किसी हालतमें भी नहीं बढ़ सकता। ऐसी परिस्थितिमें

हमको धोखेमें नहीं रहना चाहिये। समयको अमूल्य समझकर हर समय भगवान्‌को स्मरण रखते हुए भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार कर्मोंका आचरण करना चाहिये। यही गीताका सिद्धान्त है। गीताके आठवें अध्यायके ७ वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

अर्जुन क्षत्रिय थे, इसलिये भगवान्‌ने कहा कि 'तू सब समयमें मुझे स्मरण रखता हुआ युद्ध कर।' इसी प्रकार वैश्यके लिये कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्य और शूद्रके लिये सेवा करना बताया है और कहा है कि अपने-अपने कर्मोंके द्वारा जो मेरी सेवा करता है, वह परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। इस भावको ध्यानमें रखकर हमलोगोंको अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार निष्कामभावसे भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये।

उपर्युक्त श्लोकमें जो भगवान्‌ने यह कहा है कि 'मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा'—इसका यह अभिप्राय है कि 'परमात्मा है'—इस भावका बुद्धिमें हर समय निश्चय रखना—यह बुद्धिका परमात्मामें समर्पण है; और बुद्धिके निश्चयके अनुसार ही परमात्माका हर समय मनसे चिन्तन करना—यह मनको परमात्माके अर्पण करना है। ऐसा करनेसे निःसंदेह परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

'निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा'—इस कथनका यह अभिप्राय है कि यहाँ इस शङ्काकी गुंजाइश थी कि 'सब काम-धंधोंको छोड़कर और एकान्तमें बैठकर भगवान्‌का भजन-ध्यान करनेसे मुक्ति हो जाती है, इसमें तो कोई संशय नहीं है; किंतु सदा काम करते हुए मुक्ति कैसे हो सकती है?' इस शङ्काकी निवृत्तिके लिये भगवान्‌ने यह कहा कि युद्धादि कर्म करते हुए भी मन-बुद्धि मुझमें समर्पित रहनेसे निःसंदेह मेरी प्राप्ति हो जाती है। इसके लिये १८ वें अध्यायके ५६ वें श्लोकमें भी भगवान् स्पष्ट कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

सब प्रकारसे भगवान्‌के शरण होकर सदा-सर्वदा कर्म करनेका अभिप्राय यह है कि कार्य करते हुए मनमें सदा यह भाव रहे—'मैं जो काम करता हूँ वह भगवान्‌का काम है। मैं जो सेवा करता हूँ, भगवान्‌की सेवा करता हूँ। पदार्थमात्र सब भगवान्‌के स्वरूप हैं और उन सबकी जो चेष्टा हो रही है, वह सब भगवान्‌की लीला है। मैं भगवान्‌का सेवक हूँ, भगवान् मेरे स्वामी हैं। उन स्वामीकी मैं इस रूपमें सेवा कर रहा हूँ। भगवान्‌की मुझपर बड़ी दया है, जो मुझे इस कामके लिये निमित्त बनाकर मुझसे सेवा ले रहे हैं।' इस प्रकार सबको परमात्माका स्वरूप समझकर सबकी सेवा करनी चाहिये। ऐसी सेवा हमारे द्वारा हो रही है या नहीं, इसके जाँचनेकी कसौटी यह है कि जब इस प्रकार निष्कामभावसे सबकी सेवा होने लगेगी, तब हमारे चित्तमें राग, द्वेष, हर्ष, शोक, स्वार्थ और अभिमान आदि विकार नहीं होंगे।

जैसे कोई मुनीम किसी मालिकके यहाँ काम करता है और उस मालिकके मुनाफा या नुकसान होता है तो वह उस मालिकका ही है, मुनीमका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है, वह तो एक निमित्तमात्र है; इसी प्रकार हम अपनेको निमित्तमात्र समझें और मुनाफा या नुकसान भगवान्‌का समझें तो फिर न तो किसीमें आसक्ति होगी और न किसीमें द्वेष होगा। भगवान्‌का सेवक बनकर जो काम किया जाता है, वह बहुत उच्चकोटिका काम होता है। जबतक मनुष्य किसी कामको व्यक्तिगत निजी काम समझकर करता है, तभीतक उसमें राग-द्वेष और हर्ष-शोक आदि विकार होते हैं। भगवान्‌का काम समझकर करनेपर ये विकार नहीं होते और इस प्रकार करनेवाला पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

अतः काम चाहे अपना व्यक्तिगत हो या किसी संस्थाका, उसे भगवान्‌का समझकर करना चाहिये। किसी संस्थामें चाहे वेतन लेकर काम करते हों या बिना वेतन लिये, नीयत शुद्ध होनी चाहिये; फिर दोनोंके लिये सिद्धान्तसे कोई भेद नहीं है। वास्तवमें यदि किसीके पास धन-सम्पत्ति न हो तो उस स्थितिमें वह संस्थामें काम करके प्रसादके रूपमें शरीर-निर्वाहमात्रके लिये कुछ लेता है तो उसमें कोई दोष नहीं है; बल्कि वह उसके लिये गौरवकी बात है। क्योंकि वास्तवमें जगत्‌में जो कुछ है, वह सब भगवान्‌का ही है। हम कहीं रोटी खाते हैं, उसे भगवान्‌का प्रसाद मान लें तो वह भी भगवान्‌का ही प्रसाद है। हम उसे प्रसाद न मानें तो नहीं है।

इसलिये हमको यह निश्चय रखना चाहिये कि जो कुछ है, सब परमात्माका ही है तथा मैं भी परमात्माका हूँ एवं सम्पूर्ण चराचर जगत् परमात्माका स्वरूप है। इस प्रकार समझकर हँसते-हँसते सबकी निःस्वार्थ भावसे सेवा करनी चाहिये। सेवा करनेके कालमें समय-समयपर हमारे हृदयमें हर्षातिरेकसे रोमाञ्च होना चाहिये, प्रफुल्लता होनी चाहिये, अश्रुपात होना चाहिये।

थोड़ी देरके लिये मान लें कि वास्तवमें साक्षात् ही भगवान् यहाँ आ जायँ और उनकी सेवाका कार्य हमें प्राप्त हो जाय तो उस सेवा करनेके समय हमारे चित्तमें कितनी प्रसन्नता, शान्ति और आनन्द होता है। इसी प्रकारकी प्रसन्नता, शान्ति और आनन्द हमको उस समय मिल सकता है, जब हमारी वास्तवमें यह श्रद्धा हो जाय कि सब परमात्माका स्वरूप है और हम परमात्माकी ही सेवा कर रहे हैं।

जब हमारा यह विश्वास दृढ़ हो जायगा कि जो कुछ है, वह परमात्माका ही स्वरूप है, तब उस परमात्माकी निष्काम सेवा करनेपर परमात्माकी दयासे हमें परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। यह बड़ा ही उच्चकोटिका साधन है। हमें इस साधनको करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होनी चाहिये, मुग्ध हो जाना चाहिये, चित्तमें अतिशय उल्लास और आमोद-प्रमोद होना चाहिये।

इस प्रकार मनुष्य प्रवृत्तिमार्गमें रहते हुए भी उपर्युक्त भक्तिसहित निष्काम कर्मयोगके साधनके द्वारा सुगमतापूर्वक ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है।

आत्मोन्नतिमें सहायक बातें

शरीर और इन्द्रियोंकी क्रियाओंके सुधारकी अपेक्षा मनके सुधारपर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि मनके भाव ही क्रियारूपमें परिणत होते हैं, अतः मनके सुधारसे शरीर और इन्द्रियोंका सुधार स्वतः ही हो जाता है। यदि शरीर और इन्द्रियोंके साथ मन नहीं है तो उनके द्वारा होनेवाली क्रियाओंका कोई विशेष मूल्य भी नहीं है। शरीर और इन्द्रियोंके बिना भी मन क्रिया करता रहता है। उसका एक क्षण भी क्रियारहित रहना कठिन है। श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

(गीता ३। ५)

'निस्संदेह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा मनुष्यसमुदाय प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा परवश हुआ कर्म करनेके लिये बाध्य किया जाता है।'

श्रीभगवान्‌के ये वचन प्रधानतया मनकी क्रियाको लक्ष्य रखकर ही हैं; क्योंकि शरीर और इन्द्रियोंकी क्रिया निरन्तर चालू नहीं देखी जाती। अतः मनकी क्रियाओंके सुधारका विशेष प्रयत्न करना चाहिये। मनके द्वारा अनेक प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं। उनको हम चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—

(१) मनमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, उपरति, सद्गुण और सदाचारविषयक मनन स्वाभाविक ही होना एवं प्रयत्नसे करना। भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य आदिका अथवा नित्य विज्ञानानन्दघन निर्विशेष ब्रह्मका अभेदरूपसे मनन और निदिध्यासन करना, संसारके भोगोंको दुःखरूप, क्षणभङ्गुर, नाशवान् समझना तथा अन्तःकरणमें क्षमा, दया, समता, शान्ति आदि उत्तम गुणोंका भाव होना एवं यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा, संयम, परोपकार, तीर्थ, व्रत, उपवास आदि उत्तम आचरणोंको निष्कामभावपूर्वक करने एवं दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, व्यर्थ चेष्टा और भोगोंके त्याग करनेकी इच्छा, स्फुरणा और संकल्प होना—ये सब तो मनकी आत्मकल्याणके लिये होनेवाली अध्यात्म (परमार्थ) विषयकी क्रियाएँ हैं।

(२) स्वाद-शौक, ऐश-आराम, कञ्चन-कामिनी, मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोकके विषयभोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा, स्फुरणा और संकल्प होना—यह मनकी स्वार्थ-विषयकी क्रियाएँ हैं।

(३) मनमें किसी भी नगर, मकान, वन, पहाड़, नदी, तालाब, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि सांसारिक पदार्थोंको लेकर जो व्यर्थ स्फुरणाएँ होने लगती हैं, जिनसे अपना कोई सम्बन्ध या प्रयोजन नहीं है तथा जिनसे न परमार्थ सिद्ध होता है और न स्वार्थ ही एवं जिनमें न पुण्य है और न पाप—ये सब मनकी व्यर्थ स्फुरणाएँ हैं। प्रायः अधिकांश मनुष्योंके ऐसी ही स्फुरणाएँ हुआ करती हैं।

(४) काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष, नास्तिकता आदि भावोंकी, झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि पापकर्म करनेकी तथा कर्तव्य कर्मोंको न करनारूप प्रमाद आदिकी स्वतः ही इच्छा, स्फुरणा और संकल्प होना अथवा जान-बूझकर करना—ये सब मनकी पापमयी क्रियाएँ हैं।

इन चारोंमेंसे पहली परमार्थविषयकी क्रियाएँ सात्त्विकी, दूसरी स्वार्थविषयकी क्रियाएँ राजसी और तीसरी व्यर्थ क्रियाएँ तथा चौथी पापमयी क्रियाएँ तामसी हैं। इनमें सात्त्विकी क्रियाएँ तो बहुत ही कम होती हैं। अधिकांशमें राजसी-तामसी ही होती हैं। सात्त्विकी क्रियाओंमें भी श्रद्धा, भक्ति और वैराग्यपूर्वक नित्य-निरन्तर परमात्माका स्मरण-चिन्तन करना ही सर्वोपरि है। अतः मनुष्यका कर्तव्य है कि मनसे राजसी और तामसी इच्छा, स्फुरणा और संकल्पोंका सर्वथा त्याग करके केवल अध्यात्मविषयकी सात्त्विकी उत्तमोत्तम क्रियाओंके लिये ही जी-तोड़ प्रयत्न करे।

× × ×

समय बहुत कम है। भगवान्‌पर निर्भर होकर जोरके साथ चलना चाहिये। लाख रुपये खर्च करनेपर भी एक मिनटका समय भी और नहीं मिल सकता। इसलिये सारा समय भगवान्‌की प्राप्तिके उपायमें ही लगाना चाहिये।

× × ×

समय बहुत कम रह गया है—ऐसा समझकर घबराये नहीं कि अब कल्याण कैसे होगा। अबसे लेकर मरणपर्यन्त जो भी समय है, उसमें भगवान्‌को नहीं भूलना चाहिये। हर समय भगवान्‌को पकड़े रखना चाहिये। भगवान्‌को निरन्तर याद रखना ही उनको पकड़े रखना है। भगवान्‌को पकड़े रहोगे तो फिर तुम्हारे कल्याणमें कोई शङ्का नहीं है। यमराजकी भी सामर्थ्य नहीं, जो तुम्हें नरकमें ले जा सके।

× × ×

परमात्माने हमको बुद्धि-विवेक दिया है, उसे काममें लाना चाहिये। वही मनुष्य बुद्धिमान् है, जो अपने समयका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताता और सारा समय अच्छे-से-अच्छे काममें लगाता है।

× × ×

चाहे कोई कैसा भी पापी-से-पापी भी क्यों न हो, उसका भी कल्याण हो सकता है। केवल शर्त यही है कि अबसे लेकर मृत्युपर्यन्त भगवान्‌को भूले ही नहीं। भगवान्‌को हर समय याद रखना ही सबसे बढ़कर उपाय है।

× × ×

हमको यह मनुष्य-जन्म मिला है—आत्माके कल्याणके लिये। किंतु जो मनुष्य आत्मकल्याणके कार्यको छोड़कर संसारके फंदेमें फँस रहा है, उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा?

× × ×

एकान्तमें बैठकर नित्य यह विचार करे कि ईश्वर क्या है? मैं कौन हूँ? मैं कहाँसे आया हूँ? मैं क्या कर रहा हूँ? मुझे क्या करना चाहिये? इस प्रकार विचारकर दिन-पर-दिन अपनी उन्नतिमें अग्रसर होना चाहिये।

× × ×

मनुष्य-शरीर पाकर यदि परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई, उनका तत्त्वज्ञान नहीं हुआ तो यह जन्म ही व्यर्थ गया। मानवजन्मका समय बहुत ही दामी है, इसको सोच-सोचकर बिताना चाहिये।

× × ×

भगवत्प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उन सबमें उत्तम-से-उत्तम साधन है—भगवान्‌को हर समय याद रखना। इसके समान और कोई साधन है ही नहीं। चाहे कोई उत्तम-से-उत्तम भी कर्म हो, पर वह भगवत्स्मृतिके समान नहीं है। चाहे भक्तिका मार्ग हो, चाहे ज्ञानका, चाहे योगका। सभी मार्गोंमें भगवान्‌की स्मृतिकी ही परम आवश्यकता है।

× × ×

भगवान्‌से मन हट जाय तो उस समय ऐसी तड़पन होनी चाहिये, जैसे कि जलके बिना मछली तड़पने लगती है।

× × ×

भगवान्‌के मिलनेमें देरी हो रही है। इसमें भगवान्‌की त्रुटि नहीं है, हमारी ही कमी है। भगवान्‌में अनन्य प्रेम होनेसे भगवान् प्रकट हो जाते हैं। अतः प्रभुकी सदा वर्तमान अपार अनन्त दयाको समझकर क्षण-क्षणमें मुग्ध होना चाहिये। अथवा एकान्तमें बैठकर भगवान्‌की विरह-व्याकुलतामें छटपटाकर भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये।

× × ×

भगवान्‌के नामका जप, रूपका स्मरण और गुणोंका मनन करनेसे, सत्सङ्ग करनेसे तथा गद्गद होकर करुणाभावसे भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनेसे भगवान्‌में प्रेम हो सकता है।

× × ×

संसाररूपी सागरमें भगवान्‌के चरण ही सुदृढ़ नौका है, उसे मजबूतीसे पकड़ लेना चाहिये। भगवान्‌के चरणोंमें अपने-आपको सर्वतोभावेन समर्पण कर देना ही मजबूतीसे चरणरूपी नौका पकड़ना है।

× × ×

यह दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि भगवान् हैं, मिलते हैं, बहुतोंको मिले हैं और मुझे भी मिल सकते हैं।

× × ×

श्रद्धा करने योग्य चार पदार्थ हैं—१-भगवान्, २-महात्मा, ३-शास्त्र, ४-परलोक। किंतु अनन्य प्रेम करनेयोग्य एक भगवान् ही हैं।

× × ×

जप, ध्यान, पूजा तो परमेश्वरकी ही करनी चाहिये। आज्ञापालन, भावोंके अनुकूल बनना और आचरणोंका अनुकरण करना— ये तीन महात्माओंका भी किया जा सकता है।

× × ×

महात्माके दर्शनसे ऐसा आनन्द होना चाहिये, जैसा कि परमेश्वरके दर्शनसे हो। महात्माकी आज्ञा पालनेमें ऐसा उत्साह होना चाहिये, जैसा कि परमेश्वरकी आज्ञा पालनेमें हो।

× × ×

भगवान्‌की प्राप्तिके लिये सबके साथ निःस्वार्थ प्रेम करे। स्वार्थ छोड़कर प्रेम करनेवालेका दर्जा भगवान्‌के बराबर है; क्योंकि हेतुरहित प्रेम करनेवाले या तो भगवान् हैं या उनका कोई प्रेमी भक्त।

× × ×

स्वार्थ छोड़कर दूसरेका हित करनेसे आत्मा शुद्ध हो जाता है।

× × ×

कामदोषसे जो बच जाता है, उसको मैं शूरवीर समझता हूँ। कामदोषसे तंग होकर ही सूरदासजीने अपनी आँखें फोड़ ली थीं। इसलिये पुरुषको स्त्रियोंकी ओर देखना ही नहीं चाहिये। किसी समय आदतके कारण दीख जाय तो उसे पाप समझकर उसके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये और आगेके लिये दृष्टि न जाय—इसकी पूरी सावधानी रखनी चाहिये एवं उस स्त्रीको माता-बहिनके समान समझना चाहिये।

× × ×

बहुत-से भाई अपनेको भक्त मानते हैं, लेकिन जबतक भगवान्‌की मुहर (छाप) नहीं लग जाती, तबतक कोई भी भक्त नहीं हो सकता। भगवान्‌की मुहर क्या है? भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायके १३ वें श्लोकसे १९ वेंतक जो भक्तोंके लक्षण बतलाये हैं, वही भगवान्‌की मुहर है।

× × ×

जैसे हरे रंगका चश्मा चढ़ा लेनेसे सारा संसार हरे रंगका दीखने लग जाता है, वैसे ही बुद्धिपर श्रीहरिका चश्मा चढ़ा लेना चाहिये। बुद्धिके ऊपर श्रीहरिका चश्मा चढ़ा लेनेपर सारा संसार श्रीहरिके रूपमें ही दिखायी देने लगता है।

× × ×

जहाँ हमारा मन जाय, जहाँ हमारी दृष्टि जाय, वहीं भगवान्‌के स्वरूपका भाव करना चाहिये। यह समझना चाहिये कि संसारमें जो कुछ वस्तुमात्र है, वह भगवान्‌का रूप है और जो कुछ चेष्टामात्र (हलचल) है, वह भगवान्‌की लीला है अर्थात् एक भगवान् ही अनेक रूप धारण करके भाँति-भाँतिकी लीला कर रहे हैं। ऐसा समझकर हर समय भगवान्‌की ही स्मृतिमें मस्त रहे।

× × ×

एक बात बड़े महत्त्वकी है। संसारका व्यर्थ चिन्तन सर्वथा हटा देना चाहिये। जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर उसे भगवान्‌में लगाना चाहिये। एक भगवान्‌के सिवा किसीका भी चिन्तन नहीं करना चाहिये। एक भगवान्-ही-भगवान् हैं—ऐसी वृत्ति बनानी चाहिये।

× × ×

आप एकान्तमें बैठकर जप-ध्यान-साधन करते हैं— उसमें आपका मन नहीं लगता, इसका कारण है—आपकी बुरी आदत। आपको चाहिये कि जहाँ मन जाय, वहींसे जबरन् उसे हटाकर परमात्मामें लगावें। इस प्रकारकी साधारण चालसे जो सैकड़ों वर्षोंमें लाभ होता है, वह उक्त प्रकारसे जी-तोड़ परिश्रम करनेपर बहुत थोड़े समयमें ही हो सकता है।

× × ×

अभ्यासके साथ वैराग्यकी बड़ी आवश्यकता है। वैराग्य होनेसे ही मन वशमें हो सकता है। वैराग्य होता है—वैराग्यवान् पुरुषोंका सङ्ग करनेसे। जैसे चोरका सङ्ग करनेसे चोरीके भाव आते हैं और व्यभिचारीके सङ्गसे व्यभिचारके भाव आते हैं, उसी प्रकार विरक्त पुरुषोंका सङ्ग करनेसे वैराग्य अपने-आप होने लगता है।

× × ×

वैराग्यमें ही आनन्द है, वैराग्यके सामने त्रिलोकीका राज्य भी तुच्छ है। वैराग्यसे भी अधिक आनन्द है उपरतिमें और उपरतिसे भी अधिक आनन्द है परमात्माके ध्यानमें। संसारमें प्रीति न होना वैराग्य है और संसारकी ओर वृत्ति ही न जाना उपरति है।

× × ×

भगवान्‌के भजन-ध्यानमें मन न लगे, तब भी हठपूर्वक भजन-ध्यान करते रहना चाहिये। आगे जाकर आप ही मन लग सकता है।

× × ×

भगवान्से यह प्रार्थना करनी चाहिये कि प्रभो! अपना नित्य सुख थोड़ा-सा भी दे दीजिये, किंतु यह संसारका लम्बा-चौड़ा सुख भी किसी कामका नहीं।

× × ×

मनुष्यको अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें भगवान्का भजन-ध्यान भरना चाहिये। जो मनुष्य भगवान्का भजन-ध्यान करता है, उसको स्वयं भगवान् मदद देते हैं। इसलिये निराश नहीं होना चाहिये; बल्कि यह विश्वास रखना चाहिये कि ईश्वरका हमारे सिरपर हाथ है, अत: हमारी विजयमें कोई शङ्का नहीं; ईश्वर और महात्माकी कृपाके बलपर ऐसा कोई भी काम नहीं, जो हम न कर सकें। हमें बड़ा अच्छा मौका मिला है। इसे पाकर अपना काम बना ही लेना चाहिये, निराश नहीं होना चाहिये।

× × ×

संसारमें लोग अपनी निन्दा करें, अपमान करें तो उससे अपनेको खुश होना चाहिये और यदि लोग अपनी प्रशंसा करें, सम्मान करें तो उससे लज्जित होना चाहिये।

× × ×

कुसङ्ग कभी न करे। मनुष्य सत्सङ्गसे तर जाता है और कुसङ्गसे डूबता है।

× × ×

सत्सङ्गमें सुनी हुई बातोंको एकान्तमें बैठकर मनन करे और उनको काममें लानेकी पूरी चेष्टा करे।

× × ×

पाप, भोग, आलस्य और प्रमाद— ये चार नरकमें ले जानेवाले हैं। इनका सर्वथा त्याग करे।

× × ×

यह निश्चय कर ले कि प्राण भले ही चले जायँ पर पाप तो कभी करना ही नहीं है। भारी-से-भारी आपत्ति आ जाय, तब भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये और सदा ईश्वरको याद रखना चाहिये।

× × ×

मनुष्य जो चिन्ता, भय, शोकसे व्याकुल होता है, इसमें प्रारब्ध हेतु नहीं है। सिवा मूर्खताके इनके होनेका कोई अन्य कारण नहीं। मनुष्य थोड़ा-सा विचार करके इस मूर्खताको हटा दे तो ये सरलतासे मिट सकते हैं।

× × ×

संसारके विषयोंको विषके समान समझकर इनका त्याग करना चाहिये; क्योंकि विषसे तो मनुष्य एक जन्ममें ही मरता है, किंतु विषयोंके सुखोपभोगसे तो मरनेका ताँता ही लग जाता है।

× × ×

हरेक काममें स्वार्थ, आराम और अहंकारको दूर रखकर व्यवहार करना चाहिये; फिर आपका व्यवहार उच्चकोटिका हो सकता है।

× × ×

किसी व्यक्तिने अपनी सेवा स्वीकार कर ली तो उनकी अपनेपर बड़ी दया माननी चाहिये।

× × ×

किसी कार्यमें मान-बड़ाई हो, वहाँ मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा दूसरोंको देना चाहिये तथा स्वयं मान, बड़ाई, प्रतिष्ठासे हट जाना चाहिये।

× × ×

असली बात तो यह है कि एक मिनट भी जो भगवान्को भूलना है, यह बड़ी भारी खतरेकी चीज है; क्योंकि जिस क्षण भगवान्की विस्मृति हो जाती है, उस क्षण यदि हमारे प्राण चले जायँ तो हमारे लिये बहुत खतरा है; इसलिये बचे हुए जीवनका एक भी क्षण भगवान्की स्मृतिके बिना नहीं जाना चाहिये। यदि आप कहें कि रात्रिमें सोते हुए प्राण निकल गये तो क्या उपाय है, तो इसके लिये आप चिन्ता न करें। जब आपके जाग्रत् अवस्थामें १८ घंटे निरन्तर भजन होने लगेगा तो उसके बलसे रात्रिमें सोते हुए स्वप्नमें भी आपके प्रायः भजन ही होना सम्भव है।

जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्यायसे उत्तरोत्तर उन्नतिका दिग्दर्शन

कोई-कोई भाई ऐसा कहते हैं कि 'हम ध्यान करते हैं, नामका जप करते हैं, माला भी अधिक संख्यामें फेरते हैं, किंतु हमें विशेष लाभ देखनेमें नहीं आता, हमारी स्थिति वैसी-की-वैसी ही दिखायी देती है।' कितने ही भाई कहते हैं—'हम बीस सालसे सत्सङ्ग करते हैं, किंतु विशेष लाभ नहीं देखनेमें आता।' इन लोगोंके कथनपर कुछ विचार करना आवश्यक है। मान लीजिये कि एक आदमी गीताका पाठ करता है, उसे पाठ करते दस वर्ष बीत गये, किंतु उसका कोई सुधार नहीं हुआ; तो, यह तो निश्चय ही है, इसमें गीताका तो कोई दोष है

नहीं। तब फिर सुधार क्यों नहीं हो रहा है? जो पुरुष गीताका अभ्यास करता है और उसका सुधार नहीं हो रहा है, उसको यह सोचना चाहिये कि गीतामें तो कोई ऐसी बात है नहीं कि जिससे उसका पाठ करनेपर उलटी खराबी हो या पाठका अभ्यास करनेसे आगे बढ़नेमें रुकावट पड़े। तो फिर बात क्या है? तब फिर यही निश्चय होता है कि गीताके साधनमें ही कहीं-न-कहीं त्रुटि है। हम सत्सङ्ग करते हैं पर हमारा कोई सुधार नहीं हुआ। जो सत्सङ्ग नहीं करते हैं, वे भी वैसे ही हैं और हम जो सत्सङ्ग करते हैं, वे भी वैसे ही रहें। तो यह समझना चाहिये कि सत्सङ्गसे कोई हानि हो, ऐसी बात तो है ही नहीं और न सत्सङ्ग आगे बढ़नेसे रोकता ही है। इसी प्रकार भजन-ध्यानके विषयमें भी समझना चाहिये कि भजन-ध्यान करनेसे हानि हो, यह बात तो असम्भव है। तो फिर क्या बात है? बात यह है कि हमारा साधन उच्चकोटिका नहीं है। साधन मूल्यवान् होना चाहिये। जिस प्रकार आप धन कमानेके लिये हृदयसे चेष्टा करते हैं और उस कामको ध्यान देकर बड़ी सावधानीके साथ सुचारुरूपसे करते हैं, इसी प्रकार गीतापाठ, जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि साधन भी आपको आदरपूर्वक और ध्यान देकर निष्कामभावसे अच्छी प्रकार करने चाहिये। जब आप साधनका आदर नहीं करेंगे, तब साधन भी आपका आदर कैसे करेगा? आदरका क्या अर्थ है? गीतामें हमारी आदरबुद्धि होगी तो हम जहाँ भी बैठेंगे, हम गीताको अपने बैठनेके स्थानसे उच्च आसनपर आदरपूर्वक रखेंगे यानी जैसे सिखलोग ग्रन्थसाहबको मानते हैं, उसी प्रकार हम उसका विशेष आदर करेंगे। दूसरी बात यह कि हम उसका पाठ बड़े प्रेमसे—अनुरागसे धीरे-धीरे सम्मानपूर्वक करेंगे; क्योंकि हमें उसके द्वारा श्रीभगवान्‌को प्रसन्न करना है। यह नहीं कि बड़ी जल्दीसे समाप्त करनेके लिये डाकगाड़ी-सी छोड़ देंगे। तीसरी बात यह कि हमने आज जो गीताका पाठ किया, वह कौनसे अध्यायके कौनसे श्लोक थे—यह याद रखें और उनके अर्थ और भावपर ध्यान दें। किसीने पूछा कि आज किस अध्यायका पाठ किया तो बोले—आज पञ्चमी है तो पाँचवें अध्यायका ही पाठ किया होगा। आपने प्रातःकाल ही पाठ किया, वह भी पूरा याद नहीं कि किस अध्यायका पाठ किया तो गीताके ऐसे पाठसे विशेष क्या लाभ होगा। आप गीताका पाठ करते हैं, पाठ करते-करते नींद आ गयी, पुस्तक आपके हाथसे गिर गयी, फिर पुस्तक उठाकर सोचने लगे, किस अध्यायके किस श्लोकका पाठ कर रहे थे, ऐसा पाठ करना तो गीताका अनादर करना है और जब आप गीताका यों अनादर करेंगे, तब गीताके अध्ययनसे जो लाभ होना चाहिये, वह आपको कैसे होगा?

इसी प्रकार आपने सत्सङ्ग किया। किसीने पूछा कि 'आप सत्सङ्गमें गये थे?' कहा—'हाँ गये थे।' पूछा—'क्या विषय था?' कहा—'सत्सङ्ग बहुत अच्छा था पर क्या विषय था सो तो याद नहीं है।' 'वाह, आप अभी-अभी सत्सङ्गसे आ रहे हैं फिर याद कैसे नहीं है?' तो बोले—'हमें कुछ झपकी-सी आ गयी थी।' दूसरे भाईसे पूछा—'क्या आप सत्सङ्गमें गये थे?' बोले—'सत्सङ्गको तो सभी लोगोंने अच्छा बताया।' 'अजी! लोगोंने तो अच्छा बतलाया पर आप भी तो थे न?' कहा—'था तो सही।' फिर पूछा—'तो सत्सङ्गमें किस विषयका विवेचन हुआ?' बोले—'मेरा मन दूसरी ओर चला गया था, मैंने ध्यान देकर सुना नहीं।' तीसरे भाईसे पूछा—'आज प्रसङ्ग क्या हुआ?' बोले—'सुना तो था, किंतु याद नहीं।' सोचिये, जब अभी-अभी सत्सङ्गमें सुनी हुई बात याद ही नहीं रही, तब उसका पालन आप क्या करेंगे। बात यह है कि आपने आदरपूर्वक ध्यान देकर सुना ही नहीं।

इसी प्रकार आप जप करते हैं, आपका मन इधर-उधर चला गया, आप माला फेर रहे हैं, माला हाथसे गिर गयी। कितनी माला फेरी, यह ध्यान नहीं है। तो यह जप आदरपूर्वक नहीं है। माला फेरते समय एक तो भगवान्‌के नामके जपका तार नहीं टूटना चाहिये। दूसरे, जप करते समय खूब प्रसन्नचित्त रहना चाहिये और समझना चाहिये कि भगवान्‌की मुझपर बड़ी भारी कृपा है, जो कि उनके नामका जप मेरे द्वारा हो रहा है। जप करते समय उसके अर्थका भी ज्ञान होना चाहिये अर्थात् भगवान्‌के स्वरूपका भी ध्यान होना चाहिये एवं जप निष्काम प्रेमभावसे करना चाहिये तथा ऐसे श्रद्धा-विश्वासके साथ करना चाहिये कि 'जप करनेसे पापोंका नाश होकर मेरा निश्चय ही कल्याण हो जायगा, इसमें तनिक भी शङ्का नहीं है।'

इसी प्रकार ध्यानके विषयमें समझना चाहिये। ध्यान करते समय भगवान्‌की लीलाका मनसे स्मरण होना चाहिये तथा भगवान्‌की लीलाके साथ-साथ भगवान्‌के स्वरूप और सौन्दर्य-माधुर्यको देख-देखकर पल-पलमें मुग्ध होना चाहिये। भगवान्‌के चरित्रोंमें भगवान्‌के गुण-प्रभावकी ओर भी दृष्टि डालनी चाहिये। भगवान्‌की जो

कुछ लीला है, उसका तत्त्व-रहस्य भी साथ-ही-साथ समझना चाहिये। इस प्रकार भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझकर ध्यान करना बहुत उत्तम है।

जब शास्त्रोंकी बातें महात्माओंसे सुनी जायँ तो सुनते समय इस बातपर अत्यन्त मुग्ध होना चाहिये कि भगवान्‌की हमपर कितनी कृपा है, जो ये बातें हमको सुननेको मिलीं। फिर उन बातोंको समझकर हृदयमें धारण करना चाहिये कि आजसे हमें यही करना है, यही बात आजसे हमको काममें लानी है। ऐसा करनेपर आपका जीवन शीघ्र ही बदल सकता है।

अब फिर कुछ रहस्यकी बातें बतायी जा रही हैं। चार बातें सार हैं—(१) भगवान्‌के नामका जप, (२) भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान, (३) स्वाध्याय करते समय उसके अर्थ और भावकी ओर दृष्टि तथा (४) सत्सङ्ग। अपने मनसे यह निश्चय कर लेना चाहिये कि 'इनसे हमारा निश्चय ही सुधार होकर उद्धार होगा।' जैसे भोजन करनेसे क्षुधाकी निवृत्ति अवश्य होती है और जल पीनेसे पिपासा अवश्य मिटती है, यह सर्वथा प्रत्यक्ष है, इसी प्रकार यह भी प्रत्यक्ष है। प्रतिदिन उसे सँभाल लेना चाहिये कि आज सत्सङ्ग करनेके बाद अपनेमें कितना सुधार हुआ यानी कौन-कौन-सी बातें जीवनमें धारण हुईं। आज रामायण पढ़ी तो पढ़नेके बाद यह देख लेना चाहिये कि उसमें कौन-सा प्रसङ्ग था और उससे मुझे क्या शिक्षा मिली और मेरा क्या सुधार हुआ। आज जप किया, ध्यान किया तो जप करनेसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश अवश्य हो जायगा और सद्गुण-सदाचार अपने-आप ही अवश्य आ जायँगे। भजन-ध्यानसे हममें सद्गुण-सदाचारोंका आविर्भाव अवश्य ही होगा। जब सद्गुण-सदाचार आयेंगे, तब उनके प्रभावसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश भी अवश्य हो जायगा। जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ अन्धकारका नाश होता ही है। इसी प्रकार जहाँ सद्गुण हैं, वहाँ दुर्गुण रह ही नहीं सकते। जहाँ ईश्वरकी भक्ति है, वहाँ पाप रह ही नहीं सकते। इस प्रकार समझकर हमें अपने हृदयको रोज सँभालना चाहिये। जैसे लोभी मनुष्य व्यापार करते समय प्रतिदिन यह सँभाल लेता है कि आज कितना माल बिका और उसमें कितना मुनाफा हुआ। वह लोभी आदमी प्रतिदिन उन्नतिकी चेष्टा करता रहता है। इसी तरह हमलोगोंको प्रतिदिन अपने साधनकी सँभाल कर लेनी चाहिये कि 'कलकी अपेक्षा आज साधनमें कितनी उन्नति हुई और उन्नति न हुई तो क्यों नहीं हुई, उसका कारण ढूँढ़ना और उसे सावधानीसे दूर करना चाहिये।' इस प्रकार प्रतिदिन उन्नतिकी चेष्टा करते रहें और यह समझते रहें कि 'ईश्वरका हमारे मस्तकपर हाथ है, उनकी अनन्त कृपा है। देखो, हम किस लायक हैं? यह तो ईश्वरकी अहैतुकी कृपा है जो हमें संसारसे निकालकर वे हमारा उद्धार करना चाहते हैं। जब ईश्वरकी हमपर इतनी दया है, उनका इतना ध्यान है, तब फिर हमारे उद्धारमें क्या शङ्का है।'

किसी गरीब आदमीपर किसी करोड़पति धनी आदमीका हाथ हो तो वह निर्भय हो जाता है। अपने ऊपर तो ईश्वरका हाथ है। फिर बात ही क्या है। इस प्रकार समझकर और ध्यानमें ईश्वरके स्वरूपको देखकर हर समय प्रसन्न होते रहना चाहिये कि उनका रूप और लावण्य अत्यन्त मनोहर और अलौकिक है तथा अपने ऊपर भगवान्‌का अतिशय प्रेम देखकर भी हर समय प्रसन्न होना चाहिये कि भगवान् हमसे कितना प्यार कर रहे हैं।

जो कुछ हो रहा है, यह सब परेच्छा और अनिच्छासे हो रहा है। जो परेच्छासे हो रहा है, उसे भगवान् करवा रहे हैं और जो अनिच्छासे हो रहा है, वह स्वयं भगवान् कर रहे हैं। उसको देख-देखकर हर समय प्रसन्न होना चाहिये, उसमें भगवान्‌की अहैतुकी दयाका अनुभव करना चाहिये—यह समझना चाहिये कि जो कुछ भी हो रहा है, उसमें भगवान्‌की दया ओत-प्रोत है। यदि किसी समय ऐसा प्रतीत हो कि इसमें भगवान्‌की दया नहीं है—कोप है तो यह समझे कि वह कोप भी है तो भगवान्‌का ही न, अतः उसमें भी उनकी दया ही भरी है। बालकपर माताका कोप होता है तो बालक कोपमें भी माँकी दया ही समझता है; क्योंकि स्नेहमयी माँ कभी बालकका अनिष्ट नहीं करती। माँ कोप करती है तो लड़केपर अनुशासन करनेके लिये करती है, जिससे उसका सुधार हो। अतः जिस प्रकार माँके कोपमें दया भरी रहती है, इसी प्रकार भगवान्‌के कोपमें भी दया भरी है।

परेच्छा उसका नाम है, जो दूसरेकी इच्छासे हो। परेच्छाके उदाहरण देखिये—जैसे कोई भाई किसी नाबालिग लड़केको अपना दत्तक पुत्र बनाकर उसे अपनी सम्पत्तिका स्वामी बना दे तो यह समझना चाहिये कि सम्पत्तिका स्वामी वह लड़का परेच्छासे बना। लड़केने कोई कमाई नहीं की, परिश्रम भी नहीं किया; किंतु जब वह लड़का बालिग होकर अच्छी तरह समझता है, उस समय उसे प्रसन्नता होती है कि मुझपर

पिताकी कितनी दया है कि उन्होंने मुझे अपना लड़का बनाकर अपनी पाँच लाखकी सम्पत्तिका स्वत्वाधिकारी बनाया। यह उसे परेच्छासे लाभ मिला। अब परेच्छासे होनेवाली हानिका उदाहरण देखिये— किसी डाकूने हमारे पास रुपये समझकर पीछेसे चार लाठी जमा दी और रुपये छीनकर ले गया तो रुपये भी गये और चोट भी आयी। देखनेमें यह हमारे लिये बहुत ही हानिकी बात हुई। यह हमारी हानि परेच्छासे हुई और पहले बताया हुआ लाभ भी परेच्छासे हुआ। हमें जो परेच्छासे लाभ हुआ, वह पुण्यका फल है और हमारे जो यह चोट लगी तथा धन गया, यह हमारे पापका फल है। पापका फल दुःख है, पुण्यका फल सुख है। तो यह परेच्छासे पाप और पुण्य दोनोंका फल मिला। यह ईश्वरका विधान है। अतः इन दोनोंमें प्रसन्नता होनी चाहिये।

यदि कहें कि रुपये मिले तो प्रसन्नता होती है पर चोट लगने और धन जानेपर तो दुःख ही होता है; तो मैं यह कहता हूँ कि जो आपको रुपये मिले, उसमें भी भगवान्‌की दया है, पर उससे भी अधिक दया उसमें है जिसको आप अनिष्ट मानते हैं। यह बात सबकी समझमें नहीं आती। परंतु गहराईसे समझनेकी बात है। आपको धन मिला, यह किसका फल है? पुण्यका फल है। अच्छा, पुण्यका फल मिल गया, तब उस पुण्यका क्षय हो गया। उतनी पुण्यकी पूँजी कम हो गयी। अतः आप यहाँसे जायँगे तब इतनी पूँजीका नुकसान लेकर ही तो जायँगे। यदि आपने यह भाव समझा कि ईश्वरकी कृपासे धन मिला है तो फिर उससे परमात्माकी प्राप्तिके विषयका ही लाभ उठाना चाहिये। तब तो परमात्माकी आपपर दया हुई। पर जो धन मिला, उस धनको लेकर यदि आप मदिरा पीते हैं, मांस खाते हैं, अनाचार, व्यभिचार करते हैं; तथा धनकी वृद्धिके लिये झूठ, कपट, चोरी तथा हिंसा आदि पाप करते हैं तो मैं तो यही समझता हूँ कि उस धनका आपको न मिलना ही अच्छा था। भगवदर्थ लगाकर धनसे आप अपना कल्याण भी कर सकते हैं और कुकर्ममें लगाकर पतन भी।

इसी तरह आपको जो दण्ड मिला, उससे आपके पापका क्षय हो गया, आप पापके भारसे हलके हो गये और उस दण्ड मिलनेके साथ ही आपके हृदयमें यदि यह भाव आया कि 'मैंने पाप किया था, उसका भगवान्‌ने आज मुझे यह दण्ड दिया, अतः भविष्यमें मैं पाप नहीं करूँगा। जो पाप नहीं करेगा उसे दण्ड क्यों मिलेगा। पापका फल ही तो दुःख है न।' तो यह आपको श्रेष्ठ शिक्षा मिली। धन मिलनेसे तो अहंकार, पाप, प्रमाद, अकर्मण्यता और भोग-विलास आदि बढ़ते हैं, किंतु जब धन नष्ट होता है और मार पड़ती है, तब भगवान् याद आते हैं। इसलिये उसमें विशेष दया समझनी चाहिये।

अब अनिच्छासे होनेवाले हानि-लाभको समझिये। अनिच्छा उसे कहते हैं कि जिसमें आपकी या दूसरे किसीकी भी इच्छा न रही हो। अतः वह भगवान्‌की इच्छा है। इसे यों देखें—जो रोग होता है, वह अनिच्छासे प्राप्त प्रारब्धका फल है। बीमारीके लिये किसीकी इच्छा नहीं होती; फिर भी बीमारी हो गयी तो उसमें ईश्वरकी इच्छा समझे या अनिच्छा-प्रारब्धका भोग समझे। इसी प्रकार और कोई स्वाभाविक घटना हो जाती है; जैसे हमारा मकान जल गया, पेड़की डाल अकस्मात् टूट पड़ी और लड़का मर गया तो यह अनिच्छा-प्रारब्धका भोग है। यह पापका फल है। इसी तरह अनिच्छासे पुण्यका फल प्राप्त होता है; जैसे जमीनके, घरके या चीजोंके दाम बढ़ गये अथवा कहीं गड़ा हुआ धन मिल गया तो इसमें दूसरे किसीकी इच्छा नहीं है। ईश्वरकी इच्छासे अपने-आप ही पुण्यका फल प्राप्त हो गया। सुख पुण्यका फल है और दुःख पापका फल है।

कुछ पुण्य-पापोंका फल स्वेच्छासे प्राप्त होता है, उनको देखिये। हम स्वेच्छासे व्यापार करते हैं, उसमें मुनाफा भी होता है, नुकसान भी। मुनाफा पुण्यका फल है और नुकसान पापका। परेच्छा, अनिच्छा, स्वेच्छा— इन तीन प्रकारकी इच्छाओंसे प्रारब्ध कर्मोंका भोग होता है। स्वेच्छापूर्वक हम जो काम करते हैं, वह भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही करना चाहिये। यह विश्वास रखना चाहिये कि हमारे भाग्यमें जितना मिलना है, उतना ही धन हमें मिलेगा, अधिक नहीं मिलेगा। भगवान्‌के विधानसे अधिक मिल नहीं सकता। हम पाप नहीं करेंगे तो भी भगवान् छप्पर तोड़कर हमें दे जायँगे। इसलिये हमें झूठ-कपट-चोरी आदि पाप कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि हमारे भाग्यमें जो होगा वह कहीं नहीं जायगा। अतः भगवान्‌पर और प्रारब्धपर विश्वास करना चाहिये। जिसको ईश्वरपर और भाग्यपर विश्वास होता है, वह कभी झूठ नहीं बोलता। रुपयोंके लिये क्या, प्राणके लिये भी झूठ नहीं बोलता। आप लाभके समय यानी अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छासे जो लाभ होता है उसमें ईश्वरकी दया समझते हैं सो तो ठीक है, वह भी दया है। किंतु अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छासे जो हानि प्रतीत होती है, उसमें ईश्वरकी विशेष दया समझनी चाहिये।

परमेश्वरने हमको मनुष्यका शरीर, बल, बुद्धि, धन और ऐश्वर्य आदि केवल आत्माके कल्याणके लिये ही दिये हैं। यदि हम उनका उपयोग ठीक नहीं करते हैं या उसके विपरीत करते हैं तो हम अपने-आपको धोखा देते हैं। अर्थात् जिस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मनुष्य-शरीर और धनादि पदार्थ आपको दिये गये हैं, उनको उसी काममें लगाना चाहिये। नहीं लगाते हैं तो आप अपनेको धोखा देते हैं। एक भाई आपको दो हजार रुपये इसलिये दे गया कि इन रुपयोंसे कपड़ा खरीदकर आप साधुओंको बाँट दें। आपने उन रुपयोंसे साधुओंको कपड़ा तो नहीं बाँटा, किंतु वे रुपये आपने अपनी लड़की, दामाद या भानजेको दे दिये तो आपने यह उस धनीको धोखा दिया। साधुओंकी सेवामें न लगाकर गायोंकी सेवामें लगा दिया, तब भी आपने एक प्रकारसे अनुचित किया। क्यों अनुचित किया ? इसलिये कि वे तो कह गये थे कि साधुओंकी सेवामें लगाओ और आपने पशुओंकी सेवामें लगा दिया तो यह भी ठीक नहीं किया और बेटी-दामादके स्वार्थमें रुपये लगा दिये, तब तो बड़ा भारी अन्याय किया। इसी प्रकार भगवान्ने जो हमें धन दिया, चीजें दीं, अपनी आत्माके कल्याणके लिये, भक्तिके लिये; उन्हें उस काममें न लगाकर ऐश-आराम, भोगमें लगाते हैं तो हम चोरी करते हैं। देवतालोग हमलोगोंको वर्षाके द्वारा जल-अन्न आदि देते हैं, उन्हें देवताओंको दिये बिना अर्थात् उनकी पूजा, यज्ञ, होम आदि किये बिना हम ऐश-आरामादि भोगोंमें लगाते हैं तो हम चोर हैं। भगवान्ने गीतामें कहा है—'**तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥**' (३। १२)—'देवताओंका दिया हुआ देवताओंको बिना दिये जो भोग करता है, वह चोर है।' माता-पिता पुत्रके लिये बहुत-सा धन छोड़कर मर गये; इस उद्देश्यसे कि यह मरनेके बाद हमारे लिये श्राद्ध-तर्पण करेगा, किंतु जो नालायक लड़का माता-पिताके मरनेके बाद उनका श्राद्ध-तर्पण नहीं करता है, उसे उनकी आत्मा दुराशिष देती है कि हम इतना धन छोड़कर आये, किंतु यह नालायक सौ रुपयेमें एक रुपया भी हमारे काममें नहीं लगाता। यह माता-पिताकी चोरी है। उनके उद्देश्यके अनुकूल काममें धन न लगाना ही चोरी है। वे तो लाचार हैं, अब कर ही क्या सकते हैं? तुम्हारी इच्छा है, तुम जो चाहो, करो; किंतु उनकी इच्छाके विपरीत करना विश्वासघात है। कोई हमारे पास गहना रख जाय, फिर वह आवे और हम उसे न दें तो यह विश्वासघात है। इसी प्रकार माता-पिताका हक यदि हम नहीं देते तथा देवताओंको उनका हक नहीं देते तो हम विश्वासघात करते हैं।

जिस प्रकार हम माता-पिताका दिया हुआ माता-पिताको बिना दिये, बिना श्राद्ध-तर्पण किये भोगते हैं तो हम माता-पिताके चोर हैं; इसी प्रकार भगवान्के दिये हुए पदार्थोंको भगवान्के लिये भगवान्की भक्ति आदि साधनोंमें नहीं लगाते हैं तो हम भगवान्के चोर हैं। हमें मनुष्य-शरीर, बल, बुद्धि, धन और ऐश्वर्य आदि जो कुछ भी वर्तमानमें प्राप्त है, उसको भगवान्के काममें लगाना चाहिये अर्थात् भगवान्की आज्ञाके अनुसार ही हमें सब काम करने चाहिये। अतएव जो कुछ करें, वह भगवान्की आज्ञाके अनुसार करें और भगवान्के विधानके अनुसार जो कुछ सुख-दुःख, लाभ-हानि आकर प्राप्त हो, उसे भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर प्रसन्न हों। माँ हाथसे मारती है तो भी समझदार लड़का यही समझता है कि 'इसमें माँकी कृपा है, मेरा स्वभाव सुधारनेके लिये मुझे मारती है।' इसी प्रकार भगवान् कभी मारें भी तो भक्तको यही समझना चाहिये कि भगवान्की कृपा है, भगवान् हमारे सुधारके लिये ऐसा करते हैं। मारका मतलब है कि जिसे हम अनिष्ट समझते हैं, वैसा फल मिलना। जैसे लड़का मर गया, धन चला गया, चोरी हो गयी; इसी प्रकार अन्य जो हानि होती है, वह भगवान्के हाथकी मार है। इसमें भगवान्की विशेष दया भरी हुई है। यह रहस्य हमारी समझमें आ जाय तो फिर हमारे लिये सर्वदा सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द है। अनुकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें तो सभीको आनन्द होता है, किंतु प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें भी हर समय भगवान्की दयाका दर्शन करना चाहिये। जैसे छोटा बच्चा माँपर निर्भर रहता है, किसी छः महीनेके लड़केको उठाकर माँ गङ्गामें फेंक आवे तो वह क्या कर सकता है, वह बिलकुल माँपर निर्भर है, माँ मारे, चाहे पुचकारे; इसी प्रकार हम अपनेको एकमात्र भगवान्पर छोड़ दें अर्थात् एक उन्हींपर निर्भर हो जायँ कि भगवान् हमें मारें चाहे तारें, हमारा सब प्रकारसे मङ्गल-ही-मङ्गल है। जब दयालु माँ भी अपने बच्चेका कभी कोई अनिष्ट नहीं कर सकती, तब परमदयालु भगवान् क्या कभी कर सकते हैं। जब कभी बच्चेको फोड़ा या व्रण हो जाता है, तब माँ डाक्टरको बुलाकर चिरा देती है। लड़का रोता है, पर माँ उसके रोनेकी परवा न करके बलात् चिरा देती है; क्योंकि माँ उसे भीषण व्रणके विषसे मुक्त करके सर्वथा नीरोग तथा सुखी देखना चाहती है। इसी प्रकार भगवान् भी

हमारे हितके लिये ही, हम जिसे दुःख समझते हैं, उसे दे रहे हैं। उस दुःखमें भी हमको विश्वासपूर्वक खूब आनन्द मानना चाहिये अर्थात् वह बात हमारी समझमें नहीं भी आवे तो भी इतना विश्वास अवश्य कर लें कि जो कुछ भी भगवान्‌की मर्जीसे हो रहा है, उसमें आनन्द-ही-आनन्द है।

एक बात तो पहले कही गयी थी कि हमारे द्वारा जो भजन, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय होता है, उससे हमको अवश्य विशेष लाभ होता है अर्थात् उससे निश्चय ही सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि होती है। सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि होनेसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश अवश्य ही होता है। प्रतिदिन अपने हृदयमें उन्नतिको देखते रहना चाहिये। इस प्रकार देखनेसे वह प्रत्यक्ष दीख सकती है और उससे उत्साह बढ़ सकता है। जैसे व्यापार करनेवालेके प्रतिदिन रुपये पैदा हों, आज सौ बढ़े, कल दो सौ, परसों तीन सौ बढ़े तो यह देखकर उसे नित्य नयी-नयी प्रसन्नता होती है, दिनों-दिन उत्साह बढ़ता जाता है; इसी प्रकार यह जो परमात्माकी प्राप्तिके विषयका व्यापार है, इसको दिन-प्रति-दिन देखते रहेंगे तो उत्तरोत्तर प्रसन्नता बढ़ती जायगी। इस तरह आपको दिन-प्रति-दिन उन्नतिका अनुभव करना चाहिये। दिनमें भी प्रतिक्षण उन्नतिका अनुभव करे। पहले क्षणमें जो कुछ करे, उसके अगले क्षणमें साधन तेज होना चाहिये। कम क्यों हो? साधन कमजोर हो तो उसके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये, जिससे भविष्यमें ऐसी भूल न होने पावे। जब भगवान्‌का हमारे सिरपर हाथ है, उनकी अपार दया है, तब फिर हमारी तो उत्तरोत्तर उन्नति अवश्य ही होनी चाहिये और फिर उस उन्नतिके फलको भी देखते रहना चाहिये। वह फल यह कि दुर्गुण-दुराचारोंका विनाश और सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि। इस प्रकार प्रतिक्षण देखनेपर आपको प्रत्यक्ष ही लाभ दिखायी दे सकता है।

दूसरी बात यह कि सुख-दुःखकी प्राप्तिमें तथा लाभ-हानिकी प्राप्तिमें ईश्वरकी दया समझनी चाहिये। जो भी कुछ घटना हो रही है, उस सबमें ईश्वरकी दया ही भरी है अर्थात् उस सबमें दयाका दर्शन करना चाहिये। भगवान्‌के ऊपर निर्भर हो जानेपर, उनके शरण हो जानेपर मनुष्यमें वीरता, धीरता, गम्भीरता आदि भाव अपने-आप आ जाते हैं। यह समझ ले कि 'मैं भगवान्‌के शरण हूँ, मुझे किस बातकी चिन्ता है, मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं।' जिस प्रबल पराक्रमी न्यायकारी तथा दयापरायण किसी राजाके राज्यमें कोई मनुष्य राजाकी शरण ले लेता है, राजापर ही निर्भर हो जाता है और राजा उसको आश्रय दे देता है तो फिर वह निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है । उसके मनमें यह भाव होता है कि राजाकी मुझपर विशेष दया है, मुझे इस राजाके राज्यमें क्या भय है? इसी प्रकार भगवान्‌पर निर्भर करनेवाला भी निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है।

जब नचिकेता यमराजके पास गया और दो वर प्राप्त कर चुका, तब यमराजने कहा—'तुमने दो वर तो माँग लिये, अब तीसरा वर अपने इच्छानुसार और माँग लो।' उसने कहा—'मैं यही वर माँगता हूँ कि मरनेके बाद आत्मा है या नहीं, यह बतलाइये।' यमराज बोले—'इस बातको छोड़कर और कोई वर माँग लो; क्योंकि यह देवताओंके लिये भी दुर्विज्ञेय है। तुम इच्छानुसार सदाके लिये जीवन माँग लो अथवा इन रथ और बाजोंसहित स्त्रियोंको ले जाओ या और कोई स्वर्गके भोग-पदार्थ ले जाओ जो पृथ्वीपर नहीं हैं।' इसके उत्तरमें नचिकेताने कहा—'आप ये वाहन, नाच-गान तथा भोग आदि अपने ही पास रखें। मेरा वर तो वही है कि जिससे आत्माका ज्ञान हो जाय। आपने जो यह कहा कि सदाके लिये जीवन माँग लो सो जबतक आपका शासन है, तबतक मुझे मृत्युका भय ही क्या है!'

इसी प्रकार जब यह समझ लिया कि भगवान्‌का हमारे सिरपर हाथ है, तब फिर भय ही किस बातका है। यमराजकी कृपा होनेपर भी कोई भय नहीं है तो फिर भगवान्‌की कृपा हो जाय तब तो बात ही क्या है। वे तो यमराजके भी यमराज हैं, मृत्युके भी मृत्यु और कालके भी काल हैं। फिर हमें भय किस बातका? इस प्रकार हम अपनेको भगवान्‌पर छोड़ दें अर्थात् भगवान्‌पर निर्भर हो जायँ। जैसे बिल्लीका बच्चा बिल्लीपर ही निर्भर है, बिल्ली उसे इच्छानुसार मुँहमें लिये फिरती है, उसी मुखमें वह चूहेको पकड़ती है, उसीमें अपने बच्चेको; वही दाँत, वही मुँह है; पर अपने बच्चेको कितने प्रेमसे पकड़ती है, जरा भी कष्ट नहीं देती; वैसे ही हम भगवान्‌पर निर्भर हो जायँ। फिर हमें भय ही किस बातका है। यह सोचकर हमें भगवान्‌पर निर्भर हो जाना चाहिये, जैसे भक्त प्रह्लाद भगवान्‌पर निर्भर थे। हिरण्यकशिपु जो कुछ भी अत्याचार करता था, प्रह्लादको किसी बातकी चिन्ता नहीं रहती थी, वह भगवान्‌पर ही निर्भर था। भगवान् जो कुछ इच्छा हो, करें, किंतु क्या कोई उसका बाल भी बाँका कर सका? नहीं कर सका। कहा भी है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

(१७। २३)

'ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघनब्रह्मका नाम कहा है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये।'

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्

(१७। २४)

'इसलिये वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामका उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं।'

महर्षि पतञ्जलिने भी योगदर्शनके प्रथम पादमें बतलाया है कि ईश्वर-प्रणिधानसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोधरूप समाधि हो जाती है। तदनन्तर, ईश्वरका स्वरूप बतलाकर उसका नाम 'प्रणव' बतलाया है तथा प्रणवके जप और अर्थकी भावनासे सारे विघ्नोंका नाश और आत्माका साक्षात्कार होना बतलाया है। श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (१। २३)

'ईश्वरकी शरणागति यानी भक्तिसे भी निर्बीज समाधिकी सिद्धि शीघ्र हो सकती है।'

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

(१। २४)

'जो क्लेश,[1] कर्म[2], विपाक[3] और आशयके[4] सम्बन्धसे रहित तथा समस्त पुरुषोंसे उत्तम है, वह ईश्वर है।'

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (१। २५)

'उस (ईश्वर) में सर्वज्ञताका कारण (ज्ञान) निरतिशय है।'

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (१। २६)

'वह (ईश्वर सबके) पूर्वजोंका भी गुरु है; क्योंकि उसका कालसे अवच्छेद नहीं है अर्थात् वह कालकी सीमासे सर्वथा अतीत है।'

तस्य वाचकः प्रणवः। (१। २७)

'उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव (ॐकार) है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (१। २८)

'उस ॐकारका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

(१। २९)

'इस साधनसे विघ्नोंका अभाव और आत्माके स्वरूपका ज्ञान भी हो जाता है।'

गोस्वामी तुलसीदासजीके द्वारा रचित श्रीरामचरितमानसमें श्रीराम-नामकी महिमा प्रसिद्ध ही है, क्योंकि श्रीतुलसीदासजी श्रीरामके उपासक थे एवं श्रीसूरदासजी श्रीकृष्णनामके भक्त थे। इसी प्रकार भक्त ध्रुवजी भगवान् विष्णुके भक्त थे। ध्रुवजीके वन जाते समय श्रीनारदजीने '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' इस द्वादशाक्षर मन्त्रके जप-ध्यानका आदेश दिया था और उसीके अनुसार उन्होंने मधुवनमें जाकर उपासना की थी। श्रीनारदजीने कहा—

जप्यश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज।

....

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

(श्रीमद्भा० ४। ८। ५३)

'राजकुमार! जिस परम गुह्य मन्त्रका जप करना चाहिये, वह तुम्हें बतलाता हूँ, सुन। वह मन्त्र है—'**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**।'

तत्राभिषिक्तः प्रयतस्तामुपोष्य विभावरीम्।
समाहितः पर्यचरदृष्यादेशेन पूरुषम्॥

(श्रीमद्भा० ४। ८। ७१)

'ध्रुवजीने मधुवनमें पहुँचकर यमुनाजीमें स्नान किया और उस रात पवित्रतापूर्वक उपवास करके श्रीनारदजीके उपदेशानुसार एकाग्रचित्तसे परम पुरुष श्रीवासुदेवकी उपासना आरम्भ कर दी अर्थात् वासुदेवनामका जप और विष्णुके स्वरूपका ध्यान करना आरम्भ कर दिया।'

श्रीनारदपुराणमें श्रीसनक मुनिने नारदजीसे हरिभक्तोंकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा है—

स्वपन् भुञ्जन् व्रजंस्तिष्ठन्नुत्तिष्ठंश्च वदंस्तथा।
चिन्तयेद्यो हरेर्नाम तस्मै नित्यं नमो नमः॥

(पूर्व० प्रथम० ३९। ७)

'जो सोते, खाते, चलते, ठहरते, उठते और बोलते हुए भी भगवान् विष्णुके नामका चिन्तन करता है, उसे प्रतिदिन बारम्बार नमस्कार है।'

१-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मरण-भय)—ये पाँच 'क्लेश' हैं।
२-पुण्य, पाप, पुण्य-पाप-मिश्रित और पुण्य-पापरहित—ये चार 'कर्म' हैं।
३-कर्मोंके फलका नाम 'विपाक' है।
४-कर्मोंके संस्कारोंका नाम 'आशय' है।

श्रीभगवन्नाम-कीर्तनकी महिमा बतलाते हुए श्रीसनकजी फिर भी कहते हैं—

हरे केशव गोविन्द वासुदेव जगन्मय।
इतीरयन्ति ये नित्यं न हि तान्बाधते कलिः॥

(नारद० पूर्व० ४१। १००)

'जो लोग प्रतिदिन 'हरे! केशव! गोविन्द! वासुदेव! जगन्मय!' इस प्रकार कीर्तन करते हैं, उन्हें कलियुग बाधा नहीं पहुँचाता।'

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(नारद० पूर्व० ४१।११५)

'भगवान् हरिका नाम ही, नाम ही, नाम ही मेरा जीवन है। कलियुगमें दूसरी कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है।'

कहाँतक कहें, विश्वमें जितने धर्मके अनुयायी हैं, उन सभी सम्प्रदायवालोंने नामके जप और कीर्तनकी महिमा भूरि-भूरि गायी है। लोग कहा करते हैं कि हम नामका जप करते हैं, किंतु उसका विशेष लाभ देखनेमें नहीं आता। इसका कारण यही मालूम होता है कि वे नाम तो जपते हैं, परंतु भावपूर्वक नहीं जपते। यदि भावपूर्वक नामका जप किया जाय तो तुरंत पूर्ण लाभ होकर भगवान्की प्राप्ति हो सकती है। नाम-जपके प्रकार नीचे लिखे जाते हैं—

१-नामका जप मनसे करना बहुत उत्तम है; क्योंकि मानसिक जपका यज्ञकी अपेक्षा सहस्रगुना फल होता है। श्रीमनुजी कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

(मनुस्मृति २। ८५)

'विधिपूर्वक अग्निहोत्र आदि क्रियायज्ञकी अपेक्षा जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशु जप सौगुना श्रेष्ठ है और मानस जप हजारगुना श्रेष्ठ है।'

मनसे जप करनेका अभिप्राय यह है कि जैसे कोई 'राम' नामका जप करता है तो उसे उचित है कि मनसे 'रा' और 'म'—इन अक्षरोंका चिन्तन (स्मरण) करे। या जिस प्रकार कोई मनुष्य किसीको मनसे याद करता है, उसी प्रकार नामको मनसे याद करना भी मानसिक जप है।

२-नामका जप गुप्तरूपसे होना चाहिये। अपनी ओरसे तो किसीके सामने प्रकट करना ही नहीं चाहिये, किंतु यदि अनुमानसे कोई जान जाय तो मनमें लज्जा होनी चाहिये। जैसे स्त्री अपने पतिके प्रेमको छिपाती है, इसी प्रकार नाम-जपको गुप्त रखना चाहिये। कोई पूछे तो भी लज्जित और मौन हो जाना चाहिये। कोई भी हमारा संकेत ऐसा नहीं होना चाहिये, जिससे दूसरोंपर यह प्रभाव पड़े कि यह भगवान्के नामका स्मरण करता है। इस विषयमें एक कहानी है—

एक मनुष्य गुप्त-भावसे राम-नामका जप किया करता था। उसके सभी लड़के भगवान्के भक्त थे और भगवान्का भजन किया करते थे। वे समझते थे कि हमारे पिताजी भजन नहीं करते हैं। अतः समय-समयपर वे पिताजीसे भगवान्का नाम जपनेके लिये विनयपूर्वक प्रार्थना किया करते, किंतु वे मौन हो जाते, कोई उत्तर न देकर हँस देते थे। एक दिन रात्रिके समय जब वे सो रहे थे तो निद्रामें उनके मुखसे 'राम-राम' ऐसे शब्द निकले। यह सुनकर उनके लड़कोंने प्रातःकाल बड़ा उत्सव मनाया और यज्ञ, दान आदि पुण्य कर्म किये। यह देखकर पिताजीने पूछा कि आज कौन-सा पर्व है। पुत्रोंने प्रसन्नतापूर्वक कहा—'बड़े ही हर्षकी बात है कि आज रात्रिमें निद्राके समय आपके मुँहसे 'राम-राम' का उच्चारण हुआ, जो कि जाग्रत्-अवस्थामें भी कभी आपके मुँहसे नहीं सुना गया। इसी बातको लेकर हमलोग आज प्रसन्नतासे हर्षपूर्वक यह उत्सव मना रहे हैं।' यह सुनकर पिताजीको बहुत लज्जा हुई। इसे कहते हैं गुप्तरूपसे जप करना।

३-नामका जप श्रद्धासे करना चाहिये। प्रायः लोग श्रद्धासे नहीं करते। श्रद्धा न होनेके कारण जप करते-करते उनको आलस्य आ जाता है, जिससे कभी-कभी माला हाथसे गिर पड़ती है और यह भी मालूम नहीं रहता कि कितना जप किया। श्रद्धापूर्वक जप करनेसे ये सब दोष नहीं आते तथा भजन धैर्य, उत्साह, प्रसन्नता और सत्कारपूर्वक होता है।

४-नामका जप प्रेमपूर्वक करना चाहिये। प्रायः लोग जप प्रेमपूर्वक नहीं करते हैं; क्योंकि भजन करते समय उनका मन संसारमें आसक्तिके कारण इधर-उधर संसारकी ओर भाग जाता है। किंतु जो प्रेमपूर्वक भगवान्का भजन करता है, उसके भजनका तार नहीं टूटता, उसका मन कभी इधर-उधर नहीं भागता, अपितु निरन्तर भजन होता रहता है। उसे भजन करना नहीं पड़ता, वह अनायास ही होता रहता है। जहाँ भजनके लिये प्रयत्न करना पड़ता है, वहाँ प्रेमकी कमी है। जहाँ सच्चा प्रेम होगा, वहाँ जप स्वतः ही होगा।

बल्कि यदि कभी नामका विस्मरण हो जाता है तो वह बहुत ही व्याकुल हो जाता है।

परंतु यह स्थिति तभी होगी, जब भजन किया जायगा। भजन करना नहीं पड़ता, होता है—इसका अर्थ यह नहीं कि भजनका अभ्यास न करे और उसके अपने-आप होनेकी प्रतीक्षा करता रहे तथा अपनेको सर्वथा असमर्थ मान ले। इसका अभिप्राय तो यह है कि प्रेम होनेपर भजन स्वयमेव होता है, परंतु आरम्भमें तो प्रेम होनेके लिये भजन करना ही चाहिये।

५-नामका जप निष्कामभावसे करना चाहिये। प्राय: लोग निष्कामभावसे नहीं करते। कोई कञ्चन-कामिनीके लिये और कोई मान-बड़ाई,पूजा-प्रतिष्ठाके लिये तथा कोई अन्य स्वार्थकी कामनासे करते हैं; किंतु जब निष्कामभाव हो जाता है, तब ये सब बातें विषके तुल्य लगती हैं। भक्त प्रह्लादके विषयमें वर्णन है कि जब भगवान्‌ने प्रकट होकर प्रह्लादसे वर माँगनेके लिये कहा, तब प्रह्लादने उत्तर दिया कि—

नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥

(श्रीमद्भा० ७। १०। ४)

'जगद्गुरो! परीक्षाके सिवा ऐसा कहनेका और कोई कारण नहीं दीखता; क्योंकि आप परम दयालु हैं। आपसे जो सेवक अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं, वह तो लेन-देन करनेवाला बनिया ही है।'

इस प्रकार कोई कामना न रखकर भजन करना ही निष्कामभावसे भजन करना है।

६-साधनकालके समय भी एकान्त और पवित्र स्थानमें आसनसे बैठकर इन्द्रियोंको बाहरके विषयोंसे और मनको भीतरके विषयोंसे रहित करके अपनेको जो प्रिय लगे, उसी नामका अर्थ और भावसहित जप करना चाहिये।

७-रात्रिमें शयनके समय भी भगवन्नामके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यके स्मरणपूर्वक उसका निरन्तर जप करते हुए ही शयन करना चाहिये।

उपर्युक्त प्रकारसे नामका जप करनेपर मनुष्य भगवान्‌के नामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझ जाता है, जिसे समझनेके साथ ही तत्काल भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

अब भगवन्नामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका समझना क्या है, यह बात बतलायी जाती है।

१-**भगवान्‌के नामके गुण**—जैसे बीजके अंदर वृक्ष है, पर वह दीखता नहीं, वैसे ही भगवान्‌के नामके अंदर भगवान्‌के सारे गुण हैं, पर वे दीखते नहीं; किंतु बीजको भूमिमें बोकर पानी डालनेसे वह अङ्कुरित हो जाता है और फिर उसमें शनैः-शनैः स्कन्ध, शाखाएँ, पत्ते, मञ्जरी, फल आदि लग जाते हैं, इस प्रकार वह वृद्धिको प्राप्त होकर पूर्णरूपसे वृक्ष हो जाता है, इसी प्रकार जो नामका जपरूप बीज है, उसे हृदयरूपी भूमिमें बोकर ध्यानरूपी जलसे सींचनेपर भगवान्‌के क्षमा, दया, समता, संतोष, शान्ति, सत्य, सरलता, प्रेम, ज्ञान, वैराग्य आदि समस्त गुण उस नाम-जापकमें अङ्कुरित होकर विकसित हो जाते हैं, जिससे वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है। भगवन्नाममें अपरिमित गुण हैं, उसकी महिमा शेष, महेश, गणेश, दिनेश भी नहीं गा सकते। श्रीतुलसीदासजीने नाम-महिमा कहते हुए यहाँतक कह दिया कि—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

२-**भगवान्‌के नामका प्रभाव**—भगवन्नामके जपके प्रभावसे सम्पूर्ण दुर्गुण, दुराचार, आलस्य, प्रमाद, दुर्व्यसन एवं समस्त दुःख और विकारोंका नाश हो जाता है। नाम-जपके प्रभावसे बड़े भारी पापी और नीचका भी उद्धार हो सकता है। (देखिये गीता अ० ९ श्लोक ३०-३१) तथा इसके सिवा, भगवान् उसके अनुकूल हो जाते हैं एवं वह भगवान्‌को तत्त्वसे जान जाता है और भगवान्‌को प्राप्त होकर परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त हो जाता है।

श्रीतुलसीदासजीने तो भगवान्‌से भी बढ़कर भगवान्‌के नामका प्रभाव बताया है—

राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥

३-**भगवान्‌के नामका तत्त्व**—जिस प्रकार आकाशमें निराकाररूपसे स्थित जल सूक्ष्म होनेके कारण दीखता नहीं, किंतु वही जल जब बादलके रूपमें आकर बूँदोंके रूपमें बरसता है और फिर वही जल बर्फ या ओलोंके रूपमें बरसता है, तब वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो जाता है; उसी प्रकार निर्गुण-निराकाररूपसे स्थित परमात्मा सूक्ष्म होनेके कारण नहीं दीखता, किंतु वही परमात्मा जब सगुण-निराकाररूपसे प्रकट होकर संसारकी रचना करते हैं और फिर वही सर्वव्यापी परमात्मा महान् प्रकाशमय तेजके पुञ्जरूपमें प्रकट होकर सगुण-साकाररूपमें आते

हैं, तब वे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो जाते हैं। गम्भीरतासे विचार करनेपर तत्त्वसे यही सिद्ध होता है कि आकाशमें जो निराकाररूपसे अप्रकट जल है और जो बादल, बूँद, बर्फ तथा ओलोंके रूपमें जल है, वह वस्तुतः तात्त्विक दृष्टिसे विचार करके देखा जाय तो एक जलसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं। इसी प्रकार तात्त्विक दृष्टिसे विचारकर देखा जाय तो सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त सभी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं, वे सब भगवान्‌से भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं। भगवान् और भगवान्‌का नाम एक ही है, उनमें कोई भेद नहीं है। अतः जो भगवान्‌का तत्त्व है, वही भगवान्‌के नामका तत्त्व है—यह समझना ही नामका तत्त्व समझना है।

जो भगवान्‌को अनन्य और निष्कामभावसे भजता है, वह भगवान्‌को तत्त्वतः जानकर उन्हें प्राप्त हो जाता है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११।५४)

'परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

४-भगवान्‌के नामका रहस्य—जो भगवान्‌के नामके रहस्यको जानता है, वह भगवान्‌के नामकी ओटमें कभी पाप नहीं करता। 'नामका जप करनेसे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं—जब नामकी ऐसी महिमा है तो मैं पापसे क्यों डरूँ, भजन करके पापोंका नाश कर दूँगा।' ऐसा समझना नामकी ओटमें पाप करना है। इसी प्रकार नामके जो दस अपराध हैं, उनको नाम-जपका रहस्य जाननेवाला कभी नहीं करता। दस अपराध ये हैं—

गुरोरवज्ञां साधूनां निन्दां भेदं हरे हरौ।
वेदनिन्दां हरेर्नामबलात्पापसमीहनम्॥
अर्थवादं हरेर्नाम्नि पाखण्डं नामसंग्रहे।
अलसे नास्तिके चैव हरिनामोपदेशनम्॥
नामविस्मरणं चापि नाम्न्यनादरमेव च।
संत्यजेद् दूरतो वत्स दोषानेतान्सुदारुणान्॥

(नारदपु० पू० तृ० ८२। २२—२४)

श्रीसनत्कुमारजी बोले—'वत्स नारद! गुरुकी अवहेलना, साधु-महात्माओंकी निन्दा, भगवान् शिव और विष्णुमें भेदबुद्धि, वेद-निन्दा, भगवन्नामके बलपर पापाचार करना, भगवन्नामकी महिमाको अर्थवाद समझना, नाम लेनेमें पाखण्ड करना, आलसी और नास्तिकको भगवन्नामका उपदेश देना, भगवन्नामको जान-बूझकर भूलना तथा नामका अनादर करना—इन (दस) भयंकर दोषोंको दूरसे ही त्याग देना चाहिये।'

नामका जप करनेसे पापका नाश होता है, न कि वृद्धि। अतः जो व्यक्ति नाम-जपसे पापोंको धो डालनेकी बात सोचकर पाप करता है, वह तो नामकी ओटमें पापोंकी वृद्धि करता है। नाम-जप-माहात्म्यका तो यह रहस्य है कि उसके पहलेके किये हुए पापोंका नाश हो जाता है और नये पाप उससे बनते नहीं। यदि किसी भी कारणसे उससे नये पाप बनते हैं यानी समझ-बूझकर पाप होते हैं तो उसने नाम-जपके रहस्यको नहीं समझा। जो नाम-जपके रहस्यको समझ लेता है, उससे किसी भी हालतमें पाप नहीं बनते तथा उसके द्वारा नाम-जप गुप्त और निष्कामभावसे निरन्तर होता है।

इस प्रकार भगवान्‌का भजन श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सदा-सर्वदा सकामभावसे करनेपर भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। जैसे द्रौपदीने वनमें दुर्वासा ऋषिकी कोपाग्निसे अपने कुटुम्बको बचानेकी कामनासे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवन्नामकी पुकार लगायी तो भगवान् तुरंत उसके पास आ गये। उस समय द्रौपदीने भगवान्‌से इस प्रकार प्रार्थना की—

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय।
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्तिविनाशन॥
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय।
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर॥

× × ×

दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि॥

(महा० वन० २६३। ८,९,१०,१६)

'हे कृष्ण! हे महाबाहो श्रीकृष्ण! हे देवकीनन्दन! हे अविनाशी वासुदेव! चरणोंमें पड़े हुए दुःखियोंका दुःख दूर करनेवाले हे जगदीश्वर! तुम्हीं सम्पूर्ण जगत्‌के आत्मा हो। इस विश्वको बनाना और बिगाड़ना तुम्हारे ही हाथोंका खेल है। प्रभो! तुम अविनाशी हो। शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले गोपाल! तुम्हीं सम्पूर्ण प्रजाके रक्षक परात्पर परमेश्वर हो। पहले भी सभामें दुःशासनके हाथसे जैसे तुमने मुझे बचाया था, उसी प्रकार इस वर्तमान संकटसे भी मेरा उद्धार करना उचित है।'

इस प्रकार सकामभावसे पुकारनेपर भी भगवान् प्रकट हो गये तो फिर निष्कामभावसे भजन करनेपर

भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है?

अतएव हमलोगोंको भगवान्‌के नामका जप और कीर्तन श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे मनुष्य भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझकर परम शान्ति और परम आनन्दरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है

अनन्य भक्ति और भरत आदिका प्रेम

भक्तिकी महिमा अतुलनीय है। भक्तिका लक्षण बताते हुए मुनिवर शाण्डिल्यने कहा है—'**सा परानुरक्तिरीश्वरे**' (१। २) अर्थात् '**ईश्वरे परानुरक्तिः भक्तिः**'—ईश्वरमें जो परम अनुराग है, उसका नाम भक्ति है। कोई कहते हैं कि 'भज्' धातुसे भक्ति शब्द बनता है, '**भज् सेवायाम्**'—'भज्' धातुका सेवाके अर्थमें प्रयोग होता है, इसलिये भगवान्‌की जो सेवा है, उसका नाम भक्ति है। भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना, भगवान्‌की सेवा-पूजा करना, इसका नाम भक्ति है। कोई कहते हैं कि भक्ति वह है जिसका स्वरूप भक्त प्रह्लादजीने बताया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

श्रीभगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी बातोंका कानोंसे श्रवण करना, यह श्रवण-भक्ति है; वाणीसे उनका कथन करना कीर्तन-भक्ति है तथा मनसे मनन करना स्मरण-भक्ति है। भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपकी पादुकाकी सेवा, चरणोंकी सेवा, चरणामृत लेना, चरणधूलि लेना—यह पादसेवन-भक्ति है। यह पादसेवन-भक्ति मन्दिरोंमें जाकर भी की जा सकती है और घरमें भी कर सकते हैं। घरकी अपेक्षा हृदयरूपी मन्दिरमें या आकाशमें भगवान्‌के स्वरूपकी स्थापना करके मानसिक भावसे भगवान्‌की चरण-सेवा आदि करना और भी उत्तम है। अथवा भगवान्‌को सब जगह व्यापक समझकर या सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर सबके चरणोंकी सेवा करना सर्वोत्तम पादसेवन है। इसी प्रकार मन्दिरोंमें या घरमें पूजा करनेकी अपेक्षा हृदयरूपी मन्दिरमें भगवान्‌की स्थापना करके पूजा करना या नेत्रोंको बंद करके आकाशमें—भगवान्‌के स्वरूपकी स्थापना करके मनसे भगवान्‌की पूजा करना बहुत ही उत्तम है। उससे भी उत्तम है गीताके अठारहवें अध्यायके ४६ वें श्लोकके आधारपर समस्त ब्रह्माण्डमें भगवान् विराजमान हो रहे हैं—यों समझकर अपने मानसिक भावोंसे या कर्मोंके द्वारा सबकी सेवा-पूजा करना, यह अर्चन-भक्ति है। मन्दिरोंमें जाकर भगवान्‌को नमस्कार करना, घरमें भगवान्‌की मूर्तिको नमस्कार करना या भगवान्‌के स्वरूपको मनसे स्थापना करके नमस्कार करना या सारी दुनियाको भगवान्‌का स्वरूप समझकर सबको मनसे नमस्कार करना—यह वन्दन-भक्ति है। ये छहों क्रिया-रूप हैं और दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन—ये तीनों भावरूप हैं। भगवान् हमारे स्वामी और हम उनके सेवक—यह दास्यभाव है। प्रभु हमारे मित्र और हम उनके मित्र—यह सख्यभाव है तथा प्रभुको सर्वत्र समझकर अपना तन, मन, धन—सर्वस्व प्रभुके समर्पण कर देना—यह आत्मनिवेदन-भाव है।

ये जो भक्तिके नौ प्रकार बताये हैं, इनमेंसे एक प्रकारकी भक्ति भी निष्कामभावसे अच्छी प्रकार की जानेपर कल्याण करनेवाली है, फिर जिसमें भक्तिके नवों प्रकार हों, उसका तो कहना ही क्या है। जैसे प्रह्लादजीमें नौ प्रकारकी भक्ति थी, वैसे ही भरतजीमें भी थी। यह 'श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति' नामक एक लेखके द्वारा बताया गया है।

वस्तुतः ये बहुत ही उत्तम साधन हैं। इन सबका फल है—भगवान्‌में अनन्य प्रेम होना। भगवान्‌में अनन्य प्रेम होना बहुत उच्चकोटिकी भक्ति है। भक्तिके विषयमें जितनी बातें बतलायी गयीं, ये सभी ठीक हैं। इनमेंसे जिसकी जिसमें श्रद्धा, रुचि और इच्छा हो, उसीको वह कर सकता है और उसीमें उसके लिये विशेष लाभ है। भगवान्‌ने अनन्य भक्तिका माहात्म्य और स्वरूप बताते हुए गीताके ग्यारहवें अध्यायके ५४ वें और ५५ वें श्लोकोंमें कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

'परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार (चतुर्भुज रूपवाला) मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त

है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य-भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

रामायणमें श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

'वह मेरा अनन्य भक्त है, जिसकी मति यानी बुद्धि इस सिद्धान्तसे कभी हटती नहीं कि जो कुछ चराचर है, सब मेरे स्वामी भगवान्का ही स्वरूप है और मैं उनका सेवक हूँ।'

यदि कहा जाय कि इसमें किसका कथन ठीक है तो इसका उत्तर यह है कि सभी ठीक है। जिसको जो अच्छा लगे, वह उसीका अधिकारी है। जिसमें जिसकी श्रद्धा और रुचि आदि हो, वही उसके लिये विशेष लाभप्रद है।

ये सब बातें संक्षेपसे भक्तिके विषयमें कही गयीं। भक्तिका प्रकरण बहुत बड़ा है। यह तो अत्यन्त संक्षेपसे बताया गया है। वास्तवमें भक्तिके सभी साधनोंका फल भगवान्में अनन्य और विशुद्ध प्रेम होना है। यही असली भक्ति और यही अनन्य शरण है। इसकी कसौटी यह है कि वह फिर भगवान्को भूल नहीं सकता। वास्तवमें भगवान्का वियोग उसके लिये मरणके समान असह्य है। श्रीनारद-भक्ति-सूत्र १९ में कहा है—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।

'देवर्षि नारदके सिद्धान्तसे तो अपने सब कर्मोंको भगवान्के अर्पण करना और भगवान्का विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही भक्ति है।'

यही असली प्रेम है। जैसे लक्ष्मणजीका भगवान्में अनन्य प्रेम था, अतः वे भगवान्के वियोगको सहन नहीं कर सकते थे, उसी प्रकार भरतजी, शत्रुघ्नजी, सीताजी, हनुमान्जीका भी ऐसा ही प्रेम था कि वे भगवान्से अलग होना नहीं चाहते थे और न होते थे। कभी अलग रहनेका काम पड़ा है तो परम श्रद्धाके कारण भगवान्की आज्ञाको मानकर निरुपाय होकर रहना पड़ा है। लक्ष्मणजी और सीताजीने तो आज्ञापालनके विषयमें प्रतीकार भी किया है। भगवान्ने लक्ष्मणजीसे कहा—'भैया! तू यहीं रह। यहाँ भरत और शत्रुघ्न नहीं हैं, मैं भी यहाँ नहीं रहता हूँ। ऐसी परिस्थितिमें पिताजी और प्रजाके लिये कोई आधार नहीं है, इसलिये तेरा यहाँ राज्यमें ही रहना उचित है।' इसपर लक्ष्मणजी बोले—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥

'हे नाथ! आपने ठीक बात कही कि तू यहीं रह; क्योंकि मैं यहाँ ही रहनेलायक हूँ, किंतु मुझे यह अपनी कायरताके कारण ही दुर्गम प्रतीत हो रही है। यदि वास्तवमें मेरा प्रेम होता और उसके कारण मैं यहाँ रहनेमें असमर्थ होता तो आप ऐसा क्यों कहते। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ वियोग हो नहीं सकता। यदि आपके वियोगमें मेरे प्राण चले जाते तो आप मुझे कभी छोड़कर नहीं जाते। आप छोड़कर जायँगे और मैं जीता रहूँगा—यही समझकर आप मुझे छोड़ रहे हैं। वास्तवमें मेरा प्रेम होता, आपके वियोगमें मेरे प्राण न रहनेकी सम्भावना होती तो मुझे यहाँ रहनेके लिये आप कभी नहीं कहते। मैं आपके बालकके समान हूँ, आपके प्रेमसे पला हुआ हूँ, मुझे आप अलग न करें।'

भगवान्ने सोचा कि वास्तवमें हमारे वियोगमें यह प्राणोंका त्याग कर देगा; इसलिये उन्होंने कहा—'भैया! माता सुमित्राकी आज्ञा लेकर चले आओ।' इसपर लक्ष्मणजीने जाकर मातासे आज्ञा माँगी। माताने हर्षके साथ आज्ञा दी और कहा—'मैं आज धन्य हूँ, मैं आज पुत्रवती हूँ।'

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥

'वही नारी पुत्रवती है, जिसका पुत्र भगवान्का भक्त है। तू भगवान्की सेवाके लिये जाता है, अतः मैं धन्य हूँ।' और कहती है—

तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥

'हे प्यारे! तेरे ही भाग्य खुले हैं, तेरे ही लिये राम वनमें जाते हैं और दूसरा कोई कारण नहीं है। मन्थरा और कैकेयी आदिका जो कारण है, वह तो एक निमित्तमात्र है। वास्तवमें रामके वन जानेमें तू ही कारण है। तुझको वहाँ सेवाका अवसर विशेष मिलेगा। बेटा! मैं आज्ञा देती हूँ। मेरा यही आशीर्वाद है, मेरा यही उपदेश और आदेश है कि तू वनमें जाकर उनकी सेवा कर। सीताको मेरे समान अर्थात् माँके समान और रामको पिता दशरथके समान समझकर सेवा करना, जिससे उन्हें वनमें क्लेश न हो। बेटा! जहाँ राम हैं, वहीं अयोध्या है; जहाँ सूर्य हैं, वहीं दिन है।' इस प्रकार माता सुमित्राने लक्ष्मणजीको उपदेश देकर वन जानेकी आज्ञा दी। तब लक्ष्मणजी हर्षपूर्वक श्रीरामके साथ वनमें चले गये।

यदि कहें कि लक्ष्मणजी बादमें भी दूसरी जगह गये हैं, उस समय उनके प्राण क्यों नहीं गये तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्में परम श्रद्धा होनेके कारण उस समय वे भगवान्की आज्ञा मानकर गये हैं, इसलिये कोई दोष नहीं है; किंतु वास्तवमें भगवान्ने जब लक्ष्मणजीका त्याग कर दिया, तब उन्होंने तुरंत अपने

प्राणोंका त्याग कर दिया। वाल्मीकीय रामायणके उत्तरकाण्डमें कथा आती है कि जब काल भगवान् श्रीरामके पास आये, उस समय उन्होंने भगवान्‌से यह स्वीकार करा लिया था कि 'हमारी बातचीत एकान्तमें होगी। उसके बीचमें कोई नहीं आयेगा और यदि आयेगा तो उसे प्राण-दण्ड दिया जायगा।' पर उस समय दुर्वासाजीने भगवान् रामके पास जानेका आग्रह किया, तब लक्ष्मणजी दुर्वासाजीके कोपके भयसे यह विचार करके कि, ये कुटुम्बको भस्म कर डालेंगे, भगवान्‌के पास चले गये। भगवान् श्रीरामने सोचा कि अब क्या किया जाय। भगवान्‌ने वसिष्ठजी आदि समस्त सभासदोंसे पूछा, तब वसिष्ठजीने कहा कि अपनी प्रतिज्ञाका पालन करो, लक्ष्मणका त्याग कर दो। इसपर श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणसे कहा—'सत्पुरुषोंका त्याग वधके ही समान है।' ऐसा कहकर श्रीरामने लक्ष्मणजीका त्याग कर दिया। इसपर लक्ष्मणजीने सरयूके किनारे जाकर अपने प्राणोंको छोड़ दिया। याद रखना चाहिये कि महान् पुरुषके द्वारा जिसका त्याग हो जाता है, वह उसके लिये मरनेसे भी बढ़कर है।

इसी प्रकारकी भक्ति थी श्रीसीताजीकी। भगवान् श्रीरामने वन जाते समय सीताको वनके भयंकर कष्टोंको बतलाकर सास-ससुरकी सेवाके लिये अयोध्यामें रहनेका अनुरोध किया, किंतु सीताने कहा—'प्रभो! आपने जो ये वनके बहुत क्लेश बताये, ये आपके वियोगके सामने कुछ भी नहीं हैं। बल्कि—

भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥

'हे नाथ! संसारके भोग रोगके समान हैं, गहने भाररूप हैं और संसार यम-यातनाके समान प्रतीत होता है।'

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

'आप मुझे बार-बार यहाँ रहनेके लिये कहते हैं, इन वचनोंको सुनकर मेरा हृदय नहीं फटता है तो मैं समझती हूँ कि मेरा हृदय वज्रके समान कठोर है। मुझे प्रतीत होता है कि आप मुझे छोड़कर चले जायँगे और मैं संसारमें जीती रहूँगी, आपके वियोगमें मरूँगी नहीं। यदि आपको यह विश्वास होता कि सीता मेरे वियोगको नहीं सह सकेगी तो आप मेरा कभी त्याग नहीं करते।' इससे महाराज प्रसन्न हो गये और वनमें साथ चलनेकी अनुमति दे दी।

ध्यान दीजिये, श्रीसीताजीका कैसा आदर्श व्यवहार है। यदि कहें कि सीताजी रावणके यहाँ सालभर रहीं, तब उनके प्राण क्यों नहीं चले गये? प्रेम था तो श्रीरामके वियोगमें जीवित कैसे रहीं? तो इस विषयमें श्रीतुलसीदासजीने रामायणमें लिखा है कि उस समय उनके जीनेका कारण यह था कि वे भगवान्‌का ध्यान कर रही थीं, प्राण मानो कारागारमें बंद हो गये थे। वह ध्यान ही उस कारागारका कपाट था और भगवान्‌के नामका निरन्तर जप चौकीदार (पहरेदार) था। फिर प्राण किधरसे निकलें? प्राणोंके जानेके लिये कोई रास्ता ही नहीं रहा। इसपर यदि कोई कहे कि यहाँकी बात तो ठीक है; किंतु वाल्मीकीय रामायणके उत्तरकाण्डमें लिखा है कि लोकापवादके कारण श्रीरामने सीताजीका त्याग कर दिया था। उस समय वे कैसे जीवित रहीं? इसका उत्तर यही है कि भगवान्‌में परम श्रद्धा होनेके कारण भगवान्‌की आज्ञा मानकर ही उन्होंने प्राणोंको रखा। जैसे परम श्रद्धाके कारण भरतजी श्रीरामके वियोगमें चौदह वर्ष नन्दिग्राममें भगवान्‌की आज्ञा मानकर रहे, इसी प्रकार सीताजी भी भगवान्‌की आज्ञा मानकर भगवान्‌के वंशकी रक्षाके लिये वाल्मीकि-आश्रममें रहीं। सीताजीने लक्ष्मणजीसे स्पष्ट कह दिया था कि 'लक्ष्मण! मैं अपने शरीरका त्याग कर देती, पर मैं गर्भवती हूँ। मैं मर जाऊँगी तो श्रीरामचन्द्रजीका वंश नहीं चलेगा। अतएव वंशकी रक्षाके लिये मैं अपने प्राणोंको रखूँगी। मेरी ओरसे महाराजको कुशल कहना। पतिकी आज्ञाका पालन करना ही मेरा परम कर्तव्य है। मेरे त्यागसे यदि महाराजका लोकापवाद दूर होता है तो मुझे उसीमें संतोष करना चाहिये। स्त्रीके लिये पति ही परम देवता है, पति ही परम बन्धु है और पति ही परम गुरु है। पतिका प्रिय कार्य करना और उसीमें प्रसन्न रहना स्त्रीका परम धर्म है।' इस प्रकारके भावको रखकर सीताजीने जीवन बिताया था।

इसी प्रकार भरतजी और शत्रुघ्नजीके विषयमें भी यही समझना चाहिये। भरतजी अयोध्यामें गये तो भगवान्‌की आज्ञा मानकर गये। फिर भी भरतजीने कहा—'चौदह वर्षके आधारके लिये अपनी चरणपादुका दे दीजिये।' तब भगवान्‌ने चरणपादुका दे दी। उस चरणपादुकाको सिरपर धारण करके भरतजीने कहा—'चौदह वर्षकी अवधिके शेष होनेपर पंद्रहवें वर्षके पहले दिन यदि आप अयोध्यामें न पहुँचेंगे तो मैं अपने प्राणोंका त्याग कर दूँगा।'

ध्यान देना चाहिये—भरतजीकी कितनी उत्तम श्रद्धा और प्रेम है। यह प्रेमकी उत्तम पराकाष्ठा है।

हमलोगोंका भी भगवान्‌में वैसा ही प्रेम होना चाहिये, जैसा कि भरतजी, शत्रुघ्नजी, लक्ष्मणजी और सीताजीका था। हनुमान्‌जी तो सर्वदा भगवान्‌के साथ रहते ही थे। हनुमान्‌जी आदिका दास्यभाव था। सीताजीका माधुर्यभाव था। सभी भाव उत्तम हैं। किसी भी भावसे भगवान्‌की भक्ति करे, अन्तमें वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

श्रीशत्रुघ्नजीके भावको भी श्रीभरतजीके समान ही समझना चाहिये। भरतजीकी कथा जो रामायणमें आती है, उसके साथ-साथ शत्रुघ्नजी तो रहते ही हैं। वाल्मीकीय रामायणमें शत्रुघ्नजीकी कहीं-कहीं अलग भी कथा आयी है। जिस समय लवणासुरके विजयका प्रसङ्ग आया, उस समय भगवान् श्रीरामने कहा—'लवणासुरपर विजय प्राप्त करने कौन जाता है?' इसपर भरतजी बोले—'लवणको मैं मारूँगा, कृपया मुझे यह काम सौंपा जाय।' भरतजीके ये वचन सुनकर शत्रुघ्नजीने कहा —'रघुनन्दन! मँझले भैया तो अनेकों कार्य कर चुके हैं, नन्दिग्राममें कष्ट भी बहुत उठा चुके हैं। अब इस सेवकके रहते इन्हें और कष्ट न दिया जाय।' भगवान्‌ने कहा—'बहुत अच्छी बात है। शत्रुघ्न! तुम जाओ और लवणासुरको मारकर तुम वहीं राज्य करो। मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसके विरोधमें कोई उत्तर न देना।' शत्रुघ्नजीने जब यह बात सुनी, तब वे बड़े लज्जित हुए और बोले—'नाथ! यद्यपि बड़े भाइयोंके रहते छोटेका अभिषेक युक्त नहीं है, तथापि मुझे तो आपकी आज्ञाका पालन करना है। वास्तवमें मँझले भैया भरतजीके प्रतिज्ञा कर चुकनेपर मुझे कुछ बोलना ही नहीं चाहिये था, पर मेरे मुँहसे 'लवणको मैं मारूँगा' ये अनुचित शब्द निकल गये, इसीसे मेरी यह (आपके वियोगरूप) दुर्गति हो रही है।' फिर दुःखित हृदयसे शत्रुघ्नजी वहाँ गये और लवणासुरको मारकर वहाँका शासन करते रहे। जब भगवान् श्रीराम परम धाम पधारनेको तैयार हुए, तब इस बातको सुनकर शत्रुघ्नजी भगवान्‌के पास आये और हाथ जोड़कर बोले—'महाराज! मैं आपके साथ चलनेका दृढ़ निश्चय करके यहाँ आया हूँ, आज इसके विपरीत आप कुछ न कहियेगा; क्योंकि इससे बढ़कर मेरे लिये कोई दूसरा दण्ड न होगा। मैं नहीं चाहता कि मेरे द्वारा आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन हो।'

विचार कीजिये, शत्रुघ्नजीका भगवान् श्रीरामके साथ रहनेका कितना प्रबल आग्रह था। इसी प्रकार अन्य सब भाइयोंका और सीताजीका भी यही आग्रह था कि हम भगवान्‌के साथ ही रहें। श्रीहनुमान्‌जीका भी यही भाव था; किंतु महाराजने हनुमान्‌को संसारका हित करनेके लिये विशेष आज्ञा दे दी कि 'हनुमान्! तुम यहीं रहना।' जिसका उच्चकोटिका प्रेम होता है, वह अपने प्रेमास्पदसे अलग नहीं रहना चाहता; और प्रेमास्पदसे अलग रहना हो भी कैसे सकता है तथा भगवान्‌के बिना वह जी भी कैसे सकता है; किंतु प्रेमास्पदकी आज्ञाके पालनके लिये रहना पड़े तो श्रद्धालुके लिये दोष नहीं।

अब पुनः भरतजीकी ओर ध्यान देकर देखिये। जब भगवान् श्रीरामके अयोध्या लौटनेमें विलम्ब हो रहा है, तब उस समय भरतजी विरहमें व्याकुल होकर मन-ही-मन कहते हैं—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

'प्रभु अपने दासोंके दोषकी ओर नहीं देखते, वे दीनोंके बन्धु हैं, मैं दीन हूँ, वे कोमल हृदयवाले हैं; इसलिये वे अपनी ओर देखेंगे।'

मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥

'मेरे मनमें दृढ़ विश्वास है कि मुझे भगवान् अवश्य मिलेंगे और शकुन भी शुभ होते हैं।'

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

'अवधि बीत जाय और भगवान् न पहुँचें तो मेरे प्राण नहीं रहेंगे। यदि देहमें प्राण रह जायँ तो फिर मेरे समान संसारमें कोई पापी नहीं है।' इस प्रकार मन-ही-मन विचार कर रहे थे और उनकी ऐसी दशा हो गयी कि—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

रामका जो विरह है, यही सागर है, भरतका मन उसमें निमग्न हो गया। उस समय जैसे डूबते हुएके लिये नौका आ जाती है, इसी प्रकार हनुमान्‌जी ब्राह्मणका रूप धारण करके भरतके लिये आ पहुँचे और सूचना दी कि 'भगवान् श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणजी और सीताजीसहित पधार रहे हैं।' इस बातको सुनकर भरतजीकी प्रसन्नताकी कोई सीमा नहीं रही। जैसे कोई मछली तड़फती हो और उसे जलमें डाल देनेसे उसके प्राण बच जाते हैं, वैसी ही दशा भरतजीकी हुई। समझना चाहिये कि भरतजीका कितना उच्चकोटिका प्रेम था कि भगवान्‌के वियोगमें एक क्षण भी उन्हें युगके समान प्रतीत होता था। यह है प्रेमकी पराकाष्ठा।

अब गीतोक्त भक्तिके विषयमें कुछ समझिये। गीतामें जो भक्तिकी बातें आयी हैं, वे सभी बहुत ही उत्तम हैं। उनमेंसे किसी भी अंशको आप धारण कर लें तो आपका कल्याण होना सम्भव है। गीतामें ऐसे

बहुत-से श्लोक हैं, उनमेंसे एक भी श्लोक धारण कर लें तो कल्याणमें शङ्का नहीं है।

एक श्लोक ही नहीं, एक चरण भी धारण कर लें, एक पद भी धारण कर लें तो भी कल्याण हो सकता है। जैसे—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता १८। ६५)

'हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।'

इन चार बातोंको धारण करनेसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, इसमें तो कहना ही क्या है, किंतु इस श्लोकके एक पादको धारण करनेसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; जैसे '**मन्मना भव**'—'मुझमें मनवाला हो।' यह गीतामें जगह-जगह बताया है।

केवल स्मरणमात्रसे परमात्माकी प्राप्ति

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

केवल पूजासे परमात्माकी प्राप्ति

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

केवल नमस्कारसे परमात्माकी प्राप्ति

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

(महा० शान्ति० ४७। ९१)

'एक बार भी श्रीकृष्ण भगवान्‌को किया हुआ प्रणाम दस अश्वमेध यज्ञोंके अवभृथ-स्नानके समान होता है। इतना ही नहीं, दस अश्वमेध यज्ञ करनेवाला तो उसके फलको भोगकर पुनः जन्मको प्राप्त होता है, किंतु भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवाला पुनः संसारमें नहीं आता।'

केवल भक्तिसे परमात्माकी प्राप्ति

फिर भगवान्‌की भक्ति करनेवाला भक्त भक्तिसे भगवान्‌को प्राप्त हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है। गीतामें बताया है—

देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।

(७। २३)

'देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इससे यह सिद्ध है कि भक्तिके एक अङ्ग तथा शरणागतिके एक अङ्गसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। भगवान्‌की शरणका जहाँ प्रकरण आता है, वहाँ भक्तिका भी उसमें अन्तर्भाव है (गीता ९। ३४) और जहाँ भक्तिका प्रकरण है, वहाँ शरणका उसमें अन्तर्भाव है (गीता ११। ५५)। समझना चाहिये कि भक्तिके जो लक्षण हैं, प्रायः वे ही शरणागतिके हैं और जो शरणागतिके लक्षण हैं, वे ही प्रायः भक्तिके हैं। शरणागतिके और भक्तिके लक्षण—दोनों लगभग एक-से ही प्रतीत होते हैं। इसलिये हमें भगवान्‌के शरण होकर—भगवान्‌का भजन-ध्यान करके अपना जीवन बिताना चाहिये। इससे हमारे आत्माका कल्याण बहुत शीघ्र हो सकता है। और कुछ भी न बने तो विश्वासपूर्वक निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌को निरन्तर स्मरण रखना चाहिये तथा भगवान्‌के स्वरूपको याद रखकर पुनः-पुनः मुग्ध होना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌के स्वरूपका जो ध्यान और स्मृति है, वह अमृतके समान रसमय, आनन्दमय और प्रेममय है। इसी प्रकार भगवान्‌के दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप आदि भी अमृतके समान रसमय, आनन्दमय और प्रेममय हैं। इस प्रकार हमलोगोंको हर समय उनका रसास्वाद करते रहना चाहिये। उन्हें कभी नहीं भूलना चाहिये। इस प्रकार हमलोगोंको मनसे भगवान्‌का दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तन करना चाहिये। मनसे जो ऐसा करना है, वह मनसे भगवान्‌में रमण करना है। इस रमणका फल भगवान्‌की प्राप्ति है। भगवान्‌की प्राप्ति होनेपर जो भगवान्‌के दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप आदि प्रत्यक्ष होते हैं, वे तो अत्यन्त अलौकिक हैं। इसलिये साधकको साधनकालमें भगवान्‌के स्वरूपमें

मनसे रमण करना चाहिये। जब मनुष्य इस प्रकार ध्यान करके मनसे भी भगवान्‌में रमण करता है, तब उसको अद्भुत अलौकिक आनन्द होता है। ऐसा आनन्द कहीं भी नहीं हो सकता। भगवान्‌का जो प्रत्यक्ष सगुण-साकार स्वरूप है, वह बहुत ही मधुर है। इसलिये उन्हें माधुर्य-मूर्ति कहते हैं। उन माधुर्य-मूर्तिका दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तन—ये सभी आनन्दमय और अमृतमय हैं। इस बातको ध्यानमें रखकर अपना सारा जीवन भगवान्‌की अनन्य भक्तिमें बिताना चाहिये। जो मनुष्य इस बातको समझकर भी विषयभोगोंमें रमण करते हैं, वे मूर्ख, गये-बीते और पामर हैं, वे संसारके विषयभोगरूपी धूल चाट रहे हैं, वे धिक्कार देनेयोग्य और निन्दा करनेयोग्य हैं। ऐसा अवसर पाकर भी—इस प्रकार भगवान्‌की कृपा (दया) होकर भी यदि हम मुक्तिसे वञ्चित रह जायँ तो हमारे लिये बहुत ही शोक, दुःख और लज्जाकी बात है !

परमात्माकी प्राप्तिके लिये निराश नहीं होना चाहिये

बहुत-से भाई परमात्माकी प्राप्तिके लिये यथासाध्य साधन करते हैं, पर बहुत समयतक साधन करनेपर भी जब परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, तब निराश हो जाते हैं। पर वे सज्जन निराश न होकर यदि परमात्माकी प्राप्ति न होनेका कारण खोजें तो उन्हें पता लगेगा कि श्रद्धा, प्रेम तथा आदरपूर्वक, निःस्वार्थभावसे तत्परताके साथ साधन न करना ही इसमें प्रधान कारण है। जिस प्रकार लोभी मनुष्य धनकी प्राप्तिके लिये पूरी तत्परताके साथ प्रयत्न करता है, अपना सारा समय, समस्त बुद्धिकौशल धनकी प्राप्तिके प्रयत्नमें ही लगाता है तथा नित्य सावधानीके साथ ऐसा कोई भी काम नहीं करता जिससे धनकी तनिक भी क्षति हो। इसी प्रकार यदि श्रद्धा, प्रेम तथा आदरके साथ पूर्ण तत्परतासे निःस्वार्थभावपूर्वक साधन किया जाय तो इस युगमें परमात्माकी प्राप्ति बहुत शीघ्र हो सकती है।

आत्माके उद्धार या परमात्माकी प्राप्तिमें अबतक जो विलम्ब हुआ, उसे देखकर कभी निराश नहीं होना चाहिये, वरं भगवान्‌के विविध आश्वासनोंपर ध्यान देकर विशेषरूपसे साधनमें प्रवृत्त होना चाहिये। भगवान्‌ने कहा है कि यदि मरते समय भी मेरा स्मरण कर ले तो उसे मेरी प्राप्ति हो सकती है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८। ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझ (भगवान्) को ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

पापी-से-पापीका तथा मूर्ख-से-मूर्खका भी उद्धार परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे और परमात्माकी भक्तिसे शीघ्र हो सकता है। भगवान् कहते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

(गीता ४। ३६)

'यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा।'

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमात्माके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३१)

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

उस परम शान्तिकी प्राप्ति भी ईश्वर, महात्मा, परलोक और शास्त्रपर विश्वास होनेसे सहज ही हो सकती है। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके तत्काल ही भगवत्-प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

जो मनुष्य ध्यानयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि

कुछ भी नहीं जानता, ऐसे अविवेकी मनुष्यका भी सत्पुरुषोंका सङ्ग करके उनके आज्ञानुसार साधन करनेपर उद्धार हो सकता है। भगवान् कहते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३। २५)

'परंतु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्द बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं।'

अतएव परमात्माकी प्राप्तिके न होनेमें श्रद्धा और आदरपूर्वक तत्परताके साथ साधन न करना ही मुख्य कारण है। अतः हमें श्रद्धा और आदरपूर्वक तत्परताके साथ साधन करना चाहिये। भगवान् गीतामें कहते हैं—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

(६। २३)

'जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।'

अतः हमको कभी निराश नहीं होना चाहिये। निराशासे हानिके अतिरिक्त कोई भी लाभ नहीं है। हमारे परम सुहृद् भगवान्का वरदहस्त जब सदा हमारे सिरपर है, तब हम निराश क्यों हों। भगवान्ने स्वयं आश्वासन दिया है कि जो प्रेमपूर्वक मुझे भजता है, उसे मैं स्वयं ज्ञान देता हूँ—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। ११)

'हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

हमारा तो केवल इतना ही काम है कि हम विश्वासपूर्वक नित्य-निरन्तर भगवान्को केवल याद रखें। भगवान्का नित्य-निरन्तर स्मरण रखनेसे भगवान्की प्राप्ति सुगमतासे हो जाती है। भगवान्ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

नित्य-निरन्तर स्मरण करनेसे भगवान्में प्रेम हो जाता है और प्रेम होनेपर भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। श्रीरामचरितमानसमें भगवान् शिवजी कहते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

जहाँ प्रेम होता है, वहाँ चित्तकी वृत्ति लग जाती है; जिन-जिन विषयोंमें प्रेम होता है, उन-उनमें चित्त स्वाभाविक संलग्न हो जाता है। अतः जब भगवान्में प्रेम हो जायगा, तब चित्त भगवान्में स्वतः ही लग सकता है। इसलिये संसारसे वैराग्य और भगवान्से प्रेम करनेके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। संसार और विषयोंमें दोषबुद्धि, अनित्यबुद्धि तथा त्याज्यबुद्धि करनेसे वैराग्य होता है तथा भगवान्के नाम, रूप आदिके गुण, प्रभावको समझनेसे उनमें प्रेम होता है।

कलिकालमें तो भगवान्की प्राप्ति बहुत ही सुगमतासे और शीघ्रतासे हो सकती है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥

(विष्णुपु० ६। २। १५)

'जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें एक दिन-रातमें प्राप्त कर लेता है।'

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

(विष्णुपु० ६। २। १७)

'जो फल सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञोंके अनुष्ठानसे और द्वापरमें देवपूजासे प्राप्त होता है, वही कलियुगमें केशवका नाम-कीर्तन करनेसे मिल जाता है।'

महामुनि पराशरजी कहते हैं—

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥

(विष्णुपु० ६। २। ४०)

'इस अत्यन्त दुष्ट कलियुगमें यही एक महान् गुण

है कि इस युगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णका नाम-संकीर्तन करनेसे ही मनुष्य समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो परमपदको प्राप्त कर लेता है।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

अतएव कभी निराश न होकर तत्परताके साथ हर समय श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निःस्वार्थभावसे भगवान्‌को याद रखते हुए उनकी उपासना करनी चाहिये तथा भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। ऐसा करनेपर भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र होनेमें कोई संदेह नहीं है।

गीतामें ईश्वर-भक्ति

भगवान्‌की भक्तिके सम्बन्धमें वही पुरुष कुछ लिख सकते हैं, जो भगवान्‌की अनन्य विशुद्ध भक्ति करते हैं। मैं तो एक साधारण पुरुष हूँ, इसलिये अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार कुछ लिखनेका प्रयास कर रहा हूँ।

कुछ सज्जन कहते हैं कि गीताके प्रथम छः अध्यायोंमें कर्मका विवेचन है, अतः यह कर्मकाण्ड है; सातसे बारहतक बीचके छः अध्यायोंमें भक्तिका विवेचन है, अतः वह उपासनाकाण्ड है और तेरहसे अठारहतक अन्तके छः अध्यायोंमें ज्ञानका विवेचन है, इसलिये वह ज्ञानकाण्ड है; उनका यह कथन किसी अंशमें ठीक है। परंतु सूक्ष्मतासे विचार करके देखनेपर यह पता लगता है कि प्रथम छः अध्यायोंमें कर्मका विषय अधिक है; परंतु यह बात नहीं है कि अन्यान्य अध्यायोंमें कर्मका प्रकरण नहीं आया हो। इसी प्रकार सातसे बारहतक बीचके छः अध्यायोंमें अधिकांश विषय भक्तिका है; परंतु यह बात नहीं है कि गीतामें अन्य स्थलोंपर भक्तिका प्रकरण नहीं है। गीताका प्रथम अध्याय तो भूमिकाके समान है। पर दूसरेसे अठारहवें अध्यायतक सभीमें न्यूनाधिक रूपसे भक्तिका विवेचन है। इसी प्रकार अन्तिम तेरहसे अठारहतकके अध्यायोंमें ज्ञानका प्रकरण अधिक है, परंतु अन्यान्य स्थलोंमें भी ज्ञानका विषय है और इन तीनों काण्डोंमें ही केवल कर्म, भक्ति तथा ज्ञानके विषय हैं, ऐसा नहीं है। आरम्भके छः अध्यायोंमें ज्ञान और भक्तिका विषय भी आया है। इसी प्रकार छःसे बारहतकके अध्यायोंमें भी कुछ-कुछ कर्म और ज्ञानका विषय भी आया है। ऐसे ही अन्तिम तेरहसे अठारहतक छः अध्यायोंमें कर्मका विषय भी है और भक्तिका भी। अठारहवें अध्यायमें तो साथ-साथ सभी विषय आये हैं। इस अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनका प्रश्न है। तदनन्तर दूसरेसे बारहवें श्लोकतक केवल कर्मयोगका विषय है। फिर तेरहवेंसे चालीसवें श्लोकतक सांख्य अर्थात् ज्ञानका विषय है। इसके बाद इकतालीसवेंसे अड़तालीसवें श्लोकतक भक्तिसामान्य कर्मयोगका प्रकरण है; क्योंकि यहाँ वर्णाश्रम धर्मकी शिक्षा देते हुए छियालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने भक्तिसहित कर्मयोगकी व्याख्या की है। इसके अनन्तर उनचासवेंसे पचपनवें श्लोकतक उपासनासहित ज्ञानका अर्थात् ज्ञानकी परानिष्ठाका विषय है। इससे पहले तेरहवेंसे चालीसवें श्लोकतक जो ज्ञानकी व्याख्या की गयी है, उसमें उपासना नहीं है। उसमें यह बताया गया है कि ज्ञानी पुरुषके कर्म किस प्रकार होते हैं। पर यहाँके वर्णनमें ज्ञानके साथ उपासनाकी भी प्रधानता है। इस प्रकार केवल कर्म, उपासना-सहित कर्म, केवल ज्ञान और उपासनासहित ज्ञान— इन चारों विषयोंको बताकर अन्तमें छप्पनवेंसे लेकर छाछठवें श्लोकतक भगवान्‌ने भक्तिप्रधान कर्मयोगकी व्याख्या की है। इसमें भक्तिकी प्रधानता है; क्योंकि अर्जुनके लिये यह खास उपदेश है—अन्तिम उपदेश है, इसे अर्जुनको धारण करवाना है। इसीलिये भगवान्‌ने सिद्धान्त बतलाकर अर्जुनको अपने शरण आनेकी आज्ञा दी है (गीता १८। ६५-६६)।

इसके बाद अध्यायकी समाप्ति (श्लोक ६७ से ७८) तक गीताकी महिमा है। इसमें अन्तिम अठहत्तरवें श्लोकमें संजयके द्वारा धृतराष्ट्रके प्रति विशेषरूपसे ऐसे वचन कहे गये हैं, जिनसे अब भी धृतराष्ट्रके हृदयमें विवेक हो जाय और वे युद्धको रोक दें तो उत्तम है।

इस प्रकार गीतामें सर्वत्र कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनोंका ही अत्यन्त उत्कृष्ट विवेचन है। एक-एक विषयकी प्रधानताके कारण प्रथम छः अध्यायोंको कर्मकाण्ड या कर्मयोग, बीचके छः अध्यायोंको उपासनाकाण्ड या भक्तियोग तथा अन्तके छः अध्यायोंको ज्ञानकाण्ड या ज्ञानयोग भी कहा जा सकता है।

अब, गीतामें किस अध्यायमें कहाँ-कहाँ भक्तिका विवेचन है, इसका कुछ श्लोकोंको उद्धृत करके नमूनेके तौरपर दिग्दर्शन कराया जाता है।

गीताके दूसरे अध्यायके ६१ वें श्लोकमें भगवान्‌ने भक्तिका विषय बताया है—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

'अर्जुन! इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे, क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।' स्थितप्रज्ञके लक्षणोंमें भगवान्‌ने यह भक्तिकी बात कही।

इसी प्रकार तीसरे अध्यायमें—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

(गीता ३। ३०)

'मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर।' भगवान् यहाँ अर्जुनको अध्यात्मचित्तसे सब कर्मोंको अपनेमें समर्पण करनेकी आज्ञा दे रहे हैं। इसलिये इसमें भक्तिका भाव प्रत्यक्ष है।

इसी प्रकार चौथे अध्यायमें—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

(गीता ४। ११)

'हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं।'

इसके पहले भगवान्‌ने अपने अवतारकी बात कही है और उस अवतारके तत्त्वको जाननेवालेकी महिमाका वर्णन किया है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

'हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।' यह भी भक्तिका विषय है। इस अध्यायमें भक्ति-भावके अन्य श्लोक भी हैं।

इसी प्रकार पाँचवें अध्यायके अन्तमें—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(गीता ५। २९)

'हे अर्जुन! मेरा भक्त मुझको यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि भगवान्‌को यज्ञ और तपोंका भोक्ता जाननेसे शान्ति मिलती है या सबका महेश्वर जाननेसे, अथवा सबका सुहृद् जाननेसे या तीनोंको जाननेसे? इसका उत्तर यह है कि तीनोंके जाननेसे शान्ति मिले, इसमें तो कहना ही क्या है, इन तीनोंमें एकके जाननेसे भी शान्ति मिल जाती है। जब हम यह समझ जायँगे कि भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता हैं, तब अग्निमें आहुति डालेंगे, किसीको भोजन देंगे, या किसीकी सेवा करेंगे तो यही समझेंगे कि भगवान् ही अग्निस्वरूपसे हमारी आहुति ग्रहण कर रहे हैं, भगवान् ही अतिथि या गायके रूपसे हमारा भोजन स्वीकार कर रहे हैं, अथवा भगवान् ही हमारी सेवासे प्रसन्न हो रहे हैं। यों सबमें भगवद्बुद्धि हो सकती है और ऐसा होनेपर परम शान्ति मिल सकती है—मुक्ति हो सकती है। हम यदि यह समझेंगे कि भगवान् सबसे उत्तम हैं, महेश्वर हैं, पुरुषोत्तम हैं, तो ऐसे ज्ञानसे भी मुक्ति हो जाती है।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

'हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

तथा भगवान् सबके सुहृद् हैं, इसका यथार्थ ज्ञान होनेपर तो वह स्वयं सुहृद् बन जाता है और उसमें भक्तिमान् पुरुषके (बारहवें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक बताये हुए) लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं। जो भगवान्‌को सुहृद् मानता है, उस भगवान्‌का अनुयायी भी सुहृद् हो जाना चाहिये। भक्तके इस सौहार्दका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १३-१४)

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

पाँचवें अध्यायमें भक्तिका विषय और भी आया है। जैसे—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

(गीता ५। १०)

'जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नही होता।'

छठे अध्यायमें कहा गया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है।'

यह भक्तिका प्रधान श्लोक है। इस अध्यायमें भक्तिके और श्लोक भी हैं। जैसे—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता; क्योंकि वह मेरेमें एकीभावसे स्थित है।'

सातवें अध्यायमें भगवान् कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७। १४)

'यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है, परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १६-१७)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्मवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् निष्कामी ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं। उनमें नित्य मेरेमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

सातवें अध्यायमें इसी प्रकार और भी बहुत-से श्लोक हैं; क्योंकि सातवेंसे बारहवें अध्यायतक तो गीताके श्लोक भक्ति-प्रधान हैं ही। इसीसे तो इसे उपासनाकाण्ड भी कहते हैं, परंतु यहाँ केवल दिग्दर्शनके लिये नमूना भर बताया गया है। यहाँ एक बात विशेषरूपसे ध्यानमें रखनी चाहिये। वह यह कि सातवेंसे बारहवें अध्यायतक अधिकांश श्लोकोंमें जो भगवान्के द्वारा शब्द आये हैं, उनमें बहुत-से उनके अपने प्रति भगवान्का लक्ष्य करानेवाले हैं। कहीं '**अहम्**', कहीं '**मम**' कहीं '**मयि**' के नामसे आये हैं और अर्जुनके द्वारा भी दसवें तथा ग्यारहवें अध्यायमें जो शब्द आये हैं, वे भी '**भवान्**', '**त्वम्**', '**तव**' इत्यादि रूपमें भगवान्को लक्ष्य करानेवाले हैं। प्रत्येक श्लोकपर ध्यान दीजिये, सातवेंसे बारहवें अध्यायतक अधिकांश श्लोक आपको ऐसे ही मिलेंगे। इनमें ऐसे बहुत ही कम श्लोक हैं, जो भगवान्का लक्ष्य करानेवाले न हों। इसलिये ये भक्ति-प्रधान अध्याय हैं। भक्तिका विषय जितना इन अध्यायोंमें आया है, उतना दूसरे अध्यायोंमें नहीं आया है। सातवेंसे बारहवें अध्यायतक अधिकांश श्लोकोंमें भगवान्के प्रबोधक वाक्य हैं और उनका भाव प्रत्यक्ष है। प्रवेश करके देखनेसे आपको मालूम होगा।

आठवें अध्यायमें भक्तिके बहुत-से श्लोक हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८। ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

यहाँ यह भी कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

इसी प्रकार और भी—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

इस प्रकार भक्तिके श्लोक और भी बहुत-से हैं, किंतु यहाँ विस्तार नहीं करना है। आपको केवल दिखा देना है कि इस अध्यायमें भक्तिका विषय विस्तारसे है।

नवम अध्यायकी तो बात ही क्या है, वह तो भक्तिसे ओत-प्रोत है ही। इसमें विशेषरूपसे भक्तिके बहुत-से श्लोक भगवान्के द्वारा कहे गये हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

'जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।' (अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम योग है और प्राप्तकी रक्षाका नाम क्षेम है।)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिपूर्वक खाता हूँ।' अन्तमें कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(गीता ९। ३४)

'केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही श्रद्धा-प्रेमसहित, निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न, सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम कर, इस प्रकार मेरे शरण हुआ तू आत्माको मेरेमें एकीभाव करके मेरेको ही प्राप्त होगा।'

दसवें अध्यायमें भगवान्की विभूति और योग (प्रभाव) बतलाया गया है। यह भगवान्में भक्ति उत्पन्न होनेके लिये है। भक्तिके विषयमें भी इसमें बहुत-से श्लोक हैं। उनमें ये दो श्लोक धारण करने योग्य हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। ९-१०)

'वे उन निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इसके बाद ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्ने अपना विश्वरूप दिखलाया है और अर्जुनके द्वारा भगवान्के प्रभावसहित उनकी स्तुति-प्रार्थना की गयी है, जो सर्वथा भक्तिसे ओतप्रोत है। इसके अतिरिक्त इसमें भक्तिका साधन भी भगवान्ने बताया है। यहाँ विशेष साधनके दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं, जो अध्यायके अन्तमें भगवान्ने कहे हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गीता ११। ५४-५५)

परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ। हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सब कुछ मेरा समझता हुआ यज्ञ, दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको करनेवाला है और मेरे परायण है अर्थात् मेरेको परम आश्रय और परम गति मानकर मेरी प्राप्तिके लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, कीर्तन, मनन, ध्यान और पठन-पाठनका प्रेमसहित निष्कामभावसे निरन्तर अभ्यास करनेवाला है और आसक्तिरहित है अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन आदि सम्पूर्ण

सांसारिक पदार्थोंमें स्नेहरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, ऐसा वह अनन्य भक्तिवाला पुरुष मेरेको ही प्राप्त होता है।'

बारहवाँ अध्याय तो भक्तिके उपदेशसे भरपूर है ही। भगवान्ने यहाँ निर्णय दे दिया है कि मेरा भक्त सबसे उत्तम है। अर्जुनके यह पूछनेपर कि 'आपके सगुण रूपकी उपासना करनेवाले उत्तम हैं या निर्गुणकी?'— भगवान्ने स्पष्ट कहा है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२। २)

'हे अर्जुन! मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुण रूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।' इसलिये भगवान्ने आगे चलकर आज्ञा की है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

(गीता १२। ८)

'तू मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा अर्थात् मेरेको ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

इस प्रकार और भी बहुत-से श्लोक इसमें भक्तिके हैं, किंतु हमें तो यहाँ सार दिखाना है कि गीताके सभी अध्यायोंमें भगवान्ने भक्तिका वर्णन किया है, जिनमें सातवेंसे लेकर बारहवेंतक तो भक्तिका विशेषरूपसे वर्णन है ही।

तेरहवें अध्यायमें भी भगवान्ने भक्तिके विषयमें कहा है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

(गीता १३। १०)

'मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना।'

इसे ज्ञानकी प्राप्तिका साधन बताया है। ऐसे ही चौदहवेंमें—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(गीता १४। २६)

'जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है।'

इसी प्रकार पंद्रहवें अध्यायमें भी—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

(गीता १५। ४)

'उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये कि जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते; और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदि पुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये।'

इस प्रकार, तीसरे श्लोकमें वैराग्यका उपदेश देकर चौथेमें परमात्माके अन्वेषणका शरणागतिरूप उपाय बताया है।

और भी कहा है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

'हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

सोलहवें अध्यायमें—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥

(गीता १६। १)

'भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता।'

'**ज्ञानयोगव्यवस्थितिः** का अर्थ है ध्यानयोग—यानी परमात्माके स्वरूपका जो ज्ञान है, उसके अनुसार परमात्माके ध्यानमें स्थित होना।

सत्रहवें अध्यायमें—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

(गीता १७। २३)

'ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है; उसीसे सृष्टिके आदि कालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये।'

अठारहवें अध्यायमें भक्तिके बहुत-से श्लोक हैं, यहाँ उनमेंसे कुछ खास-खास उद्धृत किये जाते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।' अन्तमें कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता १८। ६५)

'हे अर्जुन! तू केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही अतिशय श्रद्धा-भक्तिसहित निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके, अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न, सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मेरेको ही प्राप्त होगा। यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है।'

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

'इसलिये सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इस प्रकार गीतामें दूसरेसे अठारहवें अध्यायतक भगवान्‌की भक्तिका वर्णन है। इससे यह समझना चाहिये कि गीतामें जगह-जगह भक्ति परिपूर्ण है। इसी प्रकार कर्मका और ज्ञानका विषय भी गीतामें परिपूर्ण है।

श्रद्धा-विश्वास, मिलनकी तीव्र इच्छा और निर्भरता

आस्तिकभाव या भगवान्‌की सत्तामें विश्वास

भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान न होनेपर भी भगवान्‌की सत्ता (होनेपन) में जो विश्वास है, उससे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; किंतु यह विश्वास पूर्णतया होना चाहिये। मनुष्यके मनमें भगवान्‌के अस्तित्वका विश्वास ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-ही-त्यों वह भगवान्‌के समीप पहुँचता जाता है। किसीको भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार किसी भी स्वरूपका वास्तविक अनुभव नहीं है; किंतु यह विश्वास है कि भगवान् हैं और वे सब जगह व्यापक हैं; वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परम प्रेमी और परम दयालु हैं, वे पतितपावन और अन्तर्यामी हैं; हम जो कुछ कर रहे हैं, उसे भगवान् देख रहे हैं, जो कुछ बोल रहे हैं, उसे वे सुन रहे हैं तथा जो कुछ हमारे हृदयमें है, उसे भी वे जान रहे हैं। इस प्रकार विश्वास हो जानेपर उस साधकके द्वारा झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, हिंसा, व्यभिचार आदि भगवान्‌के विपरीत आचरण नहीं हो सकते। इस विश्वासकी उत्तरोत्तर वृद्धि होनेपर विरुद्ध आचरणकी तो बात ही क्या है, उसके द्वारा यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, सेवा, जप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थना, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि जो कुछ होता है, वह भगवान्‌के अनुकूल और उनकी प्रसन्नताके लिये ही होता है। उसके हृदयमें क्षमा, दया, शान्ति, समता, सरलता, संतोष, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि भाव भगवान्‌के अनुकूल और उत्तम-से-उत्तम होते हैं। भगवान्‌के अस्तित्वमें जो भक्तिपूर्वक विश्वास है, इसीका नाम 'श्रद्धा' है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझनेसे जब साधककी भगवान्‌में परम श्रद्धा हो जाती है, तब उसके हृदयमें प्रसन्नता और शान्ति उत्तरोत्तर बढ़ते चले जाते हैं। कभी-कभी तो शरीरमें रोमाञ्च और नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगते हैं तथा हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। कभी-कभी विरहकी व्याकुलतामें वह अधीर-सा हो जाता है। उसके हृदयमें यह भाव आता है कि जब भगवान् हैं तो हम उनसे वञ्चित क्यों? भगवान्‌की ओरसे तो कोई कमी है ही नहीं, जो कुछ विलम्ब होता है, वह हमारे साधनकी कमीके कारण ही होता है और उस साधनकी कमीमें हेतु है विश्वासकी कमी तथा विश्वासकी कमीमें हेतु है अज्ञता यानी मूर्खता।

अतएव हमको यह विश्वास बढ़ाना चाहिये कि भगवान् निश्चय हैं, वे अबतक बहुतोंको मिल चुके हैं, वर्तमानमें मिलते हैं एवं मनुष्यमात्रका उनकी प्राप्तिमें अधिकार है। अपात्र होनेपर भी दयामय भगवान्ने मुझको मनुष्य-शरीर देकर अपनी प्राप्तिका अधिकार दिया है। ऐसे अधिकारको पाकर मैं भगवान्की प्राप्तिसे वञ्चित रहूँ तो यह मेरी मूर्खता है तथा यह मेरे लिये बहुत ही लज्जा और दुःखकी बात है। बार-बार इस प्रकार सोचने-समझनेपर भगवान्के होनेपनमें उत्तरोत्तर भक्तिपूर्वक विश्वास बढ़ता चला जाता है, जिससे उसके मनमें भगवान्को प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षाका उदय हो जाता है, तदनन्तर आकाङ्क्षामें तीव्रता आते-आते उसको भगवान्का न मिलना असह्य हो जाता है, अतएव वह फिर भगवान्की प्राप्तिसे वञ्चित नहीं रहता। तीव्र इच्छा उत्पन्न होनेपर भगवान् उससे मिले बिना रह नहीं सकते। जो भगवान्से मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर हो जाता है, उसके लिये एक क्षणका भी विलम्ब भगवान् कैसे कर सकते हैं। अतएव भगवान्के अस्तित्वमें विश्वास उत्तरोत्तर तीव्रताके साथ बढ़ाना चाहिये। इस भक्तिपूर्वक विश्वासकी पूर्णता ही परम श्रद्धा है। परम श्रद्धाके उदय होनेके साथ ही भगवान्की प्राप्ति हो जाती है, फिर एक क्षणका भी विलम्ब नहीं हो सकता। हमारे श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही भगवान्की प्राप्तिमें विलम्ब होनेका एकमात्र कारण है।

शास्त्र और महात्माओंपर श्रद्धा

शास्त्र और महात्माओंपर विश्वास होनेपर भी परमात्माकी प्राप्ति शीघ्रातिशीघ्र हो सकती है। शास्त्र कहते हैं कि 'भगवान् हैं और महात्मा भी कहते हैं कि भगवान् हैं।' शास्त्रके वचनोंसे भी महात्माके वचन विशेष बलवान् हैं; क्योंकि महात्मा तो परमात्माका साक्षात्कार करके ही कहते हैं कि 'भगवान् हैं।' महात्मा जो कहते हैं, सत्य ही कहते हैं। जो झूठ बोलते हैं, वे तो महात्मा ही नहीं। यदि महात्मा यह कहते हैं कि 'भगवान् हैं और इस विषयमें शास्त्र प्रमाण है' तो इस प्रकारका महात्माका वचन तो शास्त्रके समान ही है, किंतु शास्त्रका प्रमाण न देकर यदि महापुरुष कहें कि 'भगवान् निश्चय हैं' तो यह वचन और भी बलवान् है, शास्त्रके प्रमाणसे भी बढ़कर है; क्योंकि बिना प्रत्यक्ष किये महात्मा ऐसा नहीं कहते।

अतएव महात्माके मनके अनुसार चलनेवालेका कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है, उनके संकेत (इशारे) और आदेशके अनुसार आचरण करनेपर भी निश्चय ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। जब कि शास्त्रके अनुकूल चलनेसे भी कल्याण हो जाता है तो फिर महापुरुषोंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे या उनका अनुकरण करनेसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है, किंतु महात्माके वचनोंमें परम श्रद्धा होनी चाहिये। मान लीजिये, किसी महात्माने किसी श्रद्धा दिखानेवाले पुरुषसे कहा कि 'अमुक संस्थामें एक बोरा गेहूँ और दस कम्बल भिजवा दो।' इसपर उस श्रद्धालुने अपनी बुद्धि लगाकर उत्तर दिया कि 'इस समय न तो कम्बलका मौसम है, न उनकी माँग है और न आवश्यकता ही है।' तब महात्मा बोले—'अच्छी बात है, गेहूँ ही भिजवा दो।' श्रद्धालुने कहा—'अभी यहाँ गेहूँके दाम महँगे हैं, पाँच दिनों बाद दाम कम हो जायँगे; दूसरे प्रदेशोंमें बाजार गिर गया है और यहाँ भी गिरनेवाला है; अतएव भाव गिरनेपर भेज देंगे।' इसपर महात्माने कहा—'बहुत अच्छा। तुम ठीक समझो, वैसे कर सकते हो।' इसका नाम 'श्रद्धा' नहीं है; क्योंकि यहाँ वह श्रद्धालु महात्माके आदेशका श्रद्धापूर्वक ज्यों-का-त्यों पालन न करके अपनी बुद्धिसे काम लेता है और महात्मा अपनी स्वाभाविक उदारतासे उसमें सहमत हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितिमें श्रद्धालुकी जो श्रद्धा होती है, उस श्रद्धाका कोई मूल्य नहीं। तथा महात्माकी आज्ञा यदि श्रद्धालुके अनुकूल पड़ती है और श्रद्धालु उसे मान लेता है, तो यह भी श्रद्धालु नहीं है। एवं महात्माकी आज्ञा श्रद्धालुके मनके विपरीत प्रतीत हो, परंतु वह मन मारकर उसे मान ले तो यह भी श्रद्धा नहीं है। मनके विपरीत होनेपर भी महात्माकी आज्ञाको श्रद्धालु प्रसन्नतासे पालन करता है, जैसे राजा युधिष्ठिर आदि पाँचों भाइयोंने द्रौपदीके साथ विवाह करनेके विषयमें माता कुन्तीके वचन लोकविरुद्ध और शास्त्रविरुद्ध होनेपर भी प्रसन्नता और आग्रहके साथ उनका अनुसरण किया था— इसका नाम 'श्रद्धा' है।

वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डमें लिखा है कि वनगमनके समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराज माता कौशल्याके पास गये और उन्होंने पिताकी आज्ञासे वनमें जानेकी बात कही। तब माता कौशल्याने कहा—'पिताकी आज्ञा वनमें जानेकी है, किंतु मेरी आज्ञा है, तुम वनमें मत जाओ।' यह सुनकर भगवान् रामने कहा—'पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं है। अतः मैं वन जाना चाहता हूँ। इसके लिये कृपया आप मुझे अनुमति दें।' इसपर कौशल्याजी बोलीं—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

भगवान् रामकी दशरथजीमें जो यह श्रद्धा है, यह 'परम श्रद्धा' है।

आयोदधौम्य मुनिने एक दिन अपने शिष्य आरुणिसे कहा—'तुम खेतमें जाकर नीचे बहे जानेवाले जलको रोक दो।' उसने वहाँ जाकर उस जलको मिट्टीसे रोकनेकी बहुत चेष्टा की, किंतु उसे सफलता नहीं हुई। वह मिट्टीकी मेंड बनाता और जलका प्रबल प्रवाह उसे बहा देता। जब प्रवाह रुका ही नहीं, तब आरुणि स्वयं वहाँ लेट गया, जिससे जलका बहना बंद हो गया। तदनन्तर कुछ समय बीतनेपर गुरुजीने शिष्योंसे पूछा—'आरुणि कहाँ गया?' उन्होंने कहा—'आपने ही तो खेतका पानी रोकनेके लिये उसे भेजा है।' यह सुनकर आयोदधौम्य मुनि बोले—'अभीतक आरुणि लौटकर नहीं आया, अतः चलो हम सब भी वहीं चलें।' तदनन्तर वे उसी समय शिष्योंको साथ लेकर वहाँ पहुँचे, जहाँ आरुणि स्वयं मेंड बनकर जलको रोके हुए था। मुनिने कहा—'वत्स आरुणि! तुम कहाँ हो, यहाँ आओ।' यह सुनकर आरुणि उठकर गुरुके पास आया और हाथ जोड़कर कहने लगा—'आपकी आज्ञासे मैंने जल रोकनेका प्रयत्न किया, किंतु जब जल न रुका तो मैंने स्वयं ही लेटकर जलको रोक रखा था। आपके वचन सुनकर अब मैं वहाँसे उठकर आ गया हूँ और आपको प्रणाम करता हूँ, अब आपकी क्या आज्ञा है? जलको रोके रखूँ या दूसरा कोई कार्य करूँ? गुरुजीने कहा—'तुम बाँधका उद्दलन करके निकले हो, अतः तुम 'उद्दालक' नामसे प्रसिद्ध होओगे।' फिर आचार्यने कृपापूर्वक कहा—'तुमने मेरे वचनोंका पालन किया है, इसलिये तुम कल्याणको प्राप्त होओगे और सम्पूर्ण वेद तथा समस्त धर्मशास्त्र तुम्हारे लिये स्वतः ही प्रकाशित हो जायँगे।' गुरुजीका वरदान पाकर आरुणि अपने देशको लौट गये। श्रद्धाके प्रभावसे उन्हें बिना ही पढ़े सारे वेदोंका ज्ञान हो गया।

श्रीहारिद्रुमत गौतम नामके एक ऋषि थे। उनके पास जबालाका पुत्र सत्यकाम गया और बोला—'मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक आपकी सेवामें रहना चाहता हूँ।' गौतमने पूछा—'तुम्हारा गोत्र क्या है?' उसने उत्तर दिया—'मैंने अपनी माँसे पूछा था तो माँने कहा कि 'मैं तुम्हारे पिताकी सेवा किया करती थी, गोत्रका मुझे ज्ञान नहीं है। तेरा नाम सत्यकाम है और मेरा नाम जबाला है।' यह सुनकर गौतम बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'तुम ब्राह्मण हो; क्योंकि तुम सत्य बोल रहे हो। आजसे तुम्हारी माँके नामसे तुम्हारा गोत्र होगा।' तत्पश्चात् उसे शिष्य स्वीकार करके गौतमने कहा—'तुम समिधा ले आओ, मैं तुम्हारा उपनयन कर दूँगा।' फिर उन्होंने चार सौ गायें अलग करके कहा—'तुम इनके पीछे-पीछे जाओ।' तब उन्हें ले जाते समय सत्यकाम बोला—'इनकी एक हजार संख्या हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा।' इस प्रकार कहकर वह वनमें चल गया और वहीं वर्षोंतक रहा। जब वे एक हजारकी संख्यामें हो गयीं, तब एक बैलने कहा—'अब हमारी संख्या एक हजार पूरी हो गयी, तुम हमें गुरुके पास ले चलो।' वह गायोंको लेकर गुरुके समीप पहुँचनेके लिये चला। वहीं रास्तेमें उसको साँडके द्वारा ब्रह्मके प्रथम पादका, अग्निके द्वारा द्वितीय पादका, हंसके द्वारा तृतीय पादका और मद्गुके द्वारा चतुर्थ पादका उपदेश प्राप्त हो गया। इस प्रकार अनायास ब्रह्मका उपदेश प्राप्तकर वह ब्रह्मज्ञानी हो गया। जब वह गायोंको लेकर गुरुके पास पहुँचा, तब उसके चेहरेकी चमक और शान्तिको देखकर गौतमने कहा—'सत्यकाम! तुम्हारा चेहरा देखनेसे प्रतीत होता है, मानो तुम्हें ब्रह्मका ज्ञान हो गया है।' सत्यकाम बोला—'ठीक है। किंतु फिर भी मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ।' तब गुरुने भी उसे उपदेश दिया। यह है उच्चकोटिकी श्रद्धा।

अपने मनके विपरीत भी गुरुके आदेशको प्रसन्नताके साथ काममें लाया जाता है, यह श्रद्धा है और अपने मनके अत्यन्त विपरीत आदेश सुनकर भी उसके अनुसार करनेमें अतिशय प्रसन्नता हो अर्थात् इधर गुरुकी आज्ञाकी विपरीतताकी भी कोई सीमा नहीं और उधर उसका पालन करनेमें प्रसन्नताकी भी कोई सीमा नहीं। तात्पर्य यह कि विपरीत-से-विपरीत आज्ञाके पालनके समय प्रसन्नता, शान्ति आदि उत्तरोत्तर इतनी अधिक बढ़ती जाती है कि हृदयमें हर्ष, प्रफुल्लता और शरीरमें रोमाञ्च, अश्रुपात आदिकी सीमा नहीं रहती, बल्कि वे अनवरत बढ़ते ही जाते हैं। यह है परम श्रद्धा।

उपर्युक्त भावसे भावित हो प्रभुके मनके, संकेतके या आज्ञाके अनुसार करनेवालेका शीघ्रातिशीघ्र कल्याण हो जाता है, इसमें कोई शंकाकी बात नहीं।

इसी प्रकार शास्त्रकी आज्ञाके पालनके विषयमें भी ऐसा भाव हो तो उसे शास्त्रमें परम श्रद्धा समझना चाहिये।

ईश्वरके मिलनेकी तीव्र इच्छा

एक भाई दुर्गुण और दुराचारसे युक्त है, किंतु ईश्वरके मिलनेकी महिमाको सुनकर उसके मनमें ईश्वरसे

मिलनेकी तीव्र इच्छा जाग उठी; ऐसी परिस्थितिमें भगवान् उसके दुर्गुण और दुराचारोंकी ओर ध्यान न देकर उसे अविलम्ब दर्शन दे सकते हैं। कोई दो-तीन सालका छोटा बालक मल-मूत्रसे भरा है और माताके लिये अत्यन्त व्याकुल है। स्नेहमयी माता अपने उस हृदयके टुकड़ेको जलसे शुद्ध करके हृदयसे लगाना चाहती है, किंतु बालक इतना आतुर है कि विलम्ब सहन नहीं कर सकता। उसे इस बातका ज्ञान ही नहीं है कि मल-मूत्रसे लथपथ होनेके कारण मुझको माँ हृदयसे लगानेमें विलम्ब कर रही है, वह तो मातासे मिलनेके लिये अतिशय करुणाभावसे व्याकुल हो फूट-फूटकर रोता है। ऐसी परिस्थितिमें माता उसकी अतिशय व्याकुलताको देखकर स्नेहके कारण उसे हृदयसे लगा लेती है। पर भगवान्का स्नेह तो अनन्त माताओंसे बढ़कर है, फिर वे विलम्ब कैसे कर सकते हैं। स्नेहके कारण जब भक्तके हृदयमें प्रभुसे मिलनेकी लालसा अत्यन्त बढ़ जाती है, तब भगवान् उसके दुर्गुण-दुराचाररूप दोषोंकी ओर देखकर भी विलम्ब नहीं करते।

माता तो बच्चेके मल-मूत्रकी सफाई करनेमें कुछ विलम्ब भी कर सकती है; किंतु भगवान्की दृष्टिमें तो उस साधकके दुर्गुण-दुराचार रह ही नहीं जाते, तब वे कैसे विलम्ब कर सकते हैं? पर साधकके हृदयमें मिलनकी इच्छा अत्यन्त तीव्र होनी चाहिये, फिर वह कैसा भी दुराचारी क्यों न हो। भगवान् तो केवल एक तीव्र प्रेम और मिलनकी तीव्र लालसाको ही देखते हैं और कुछ नहीं। तथा भगवान्को प्राप्त कर लेनेके साथ ही दुर्गुण-दुराचारोंका विनाश हो जाता है।

अतएव हमलोगोंके हृदयमें भगवान्से मिलनेकी उत्कट इच्छा और परम प्रेम हो, इसके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

भगवान्पर निर्भरता

बिल्लीका बच्चा जैसे अपनी माँपर निर्भर करता है, हमें उससे भी बढ़कर भगवान्पर निर्भर होना चाहिये। दो सालका छोटा बालक थोड़ी देरके लिये भी माँको छोड़ना नहीं चाहता, वह माँके ही भरोसे रहता है। माँ चाहे मारे, चाहे पाले। वह माँके सिवा दूसरेको नहीं जानता। वह तो एक माँपर ही पूर्णतया निर्भर है। इसी प्रकार कल्याणकामीको अपने कल्याणके लिये भगवान्पर निर्भर होना चाहिये। भगवान् तारें, चाहे मारें! उसमें कुछ भी विचार न करे— केवल भगवान्के ही भरोसे रहे। भगवान्के विधानके अनुसार सुख-दुःख आदि जो कुछ प्राप्त होते हैं, उनको भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर हर समय प्रसन्न रहना चाहिये और अपने द्वारा होनेवाले कार्योंमें ऐसा समझना चाहिये कि हमारे सारे कर्म भगवान् जैसे करवाते हैं, वैसे ही होते हैं; किंतु इस विषयमें अकर्मण्यता (कर्म करनेमें जी चुराना) और सकाम कर्म या शास्त्रविपरीत कर्म यदि होते हों तो यह समझना चाहिये कि हमारे कर्मोंमें भगवान्का हाथ नहीं है, कामका हाथ है; क्योंकि जहाँ भगवान्का हाथ है, वहाँ कर्तव्यकर्मकी अवहेलना नहीं हो सकती और कामनाका अभाव होनेके कारण सकाम कर्म भी नहीं होते; तो फिर पापकर्म तो हो ही कैसे सकते हैं। यदि हों तो समझना चाहिये कि वहाँ कामका हाथ है।

गीतामें अर्जुनने पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(३। ३६)

'हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तुम इस विषयमें वैरी जानो।'

'भगवान्की निर्भरता' का यह अर्थ नहीं कि वह बालककी भाँति सर्वथा कर्मोंका त्याग कर देता है। बालकको ज्ञान नहीं है, इसलिये उसके लिये कर्तव्य लागू नहीं पड़ता; किंतु जिसको ज्ञान है, वह सर्वथा कर्म छोड़कर बैठे तो वह भगवान्की निर्भरता नहीं, वरं प्रमाद है। जो भगवान्पर निर्भर हो जाता है, वह चिन्ता, शोक, भय, ईर्ष्या, उद्वेग आदि दुर्गुणोंसे रहित हो जाता है। उसमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, शान्ति, संतोष, सरलता आदि गुण स्वयमेव आ जाते हैं।

अतएव भगवान्की प्राप्तिके लिये भगवान्के शरण होकर नित्य-निरन्तर भगवान्के नाम और रूपका स्मरण करते हुए उसपर सर्वथा निर्भर रहना चाहिये। भगवान् जो कुछ करें, उसको उनकी लीला समझकर देखता रहे और उसीमें आनन्द माने।

अनन्य विशुद्ध भगवत्प्रेम और भगवान्‌की सुहृदता

भगवत्प्रेम सर्वथा अनिर्वचनीय है। भगवान्‌के प्रेमी भी उसका वर्णन नहीं कर सकते, फिर मुझ-जैसे साधारण व्यक्तिकी तो बात ही क्या है। प्रेम वाणीके द्वारा नहीं बतलाया जा सकता, वह तो हृदयका गम्भीरतम भाव है। जिसके हृदयमें प्रेमकी जागृति होती है, उसमें कुछ बाहरी चिह्न प्रकट होते हैं। वही बतलाये जाते हैं। वे लक्षण भी साधन-अवस्थाके होते हैं। हृदयमें प्रेम उत्पन्न होनेपर कभी-कभी रोमाञ्च हो जाता है, कभी अश्रुपात होने लगता है, वाणी गद्गद हो जाती है और कण्ठ रुक जाता है—यही प्रेमके बाहरी चिह्न हैं। जब वह प्रेम और भी प्रगाढ़ हो जाता है, तब वह प्रेमीको भीतर-ही-भीतर प्रेममुग्ध कर देता है और उस प्रेमसमाधिमें प्रेमी अपने-आपको भी भूल जाता है। जैसे घीमें जब कचौड़ी सेंकी जाती है तो जबतक वह कच्ची रहती है तबतक तो छलकती है और उसमें क्रिया होती है, परंतु जब वह सर्वथा पक जाती है तब स्थिर—अचल हो जाती है, उसमें कोई क्रिया नहीं होती, इसी प्रकार साधनकालका प्रेम बाहर छलकता है तथा प्राय: उपर्युक्त लक्षण प्रकट हो जाया करते हैं। किंतु जब हृदय प्रेमसे परिपूर्ण हो जाता है, तब मनुष्य मूकके सदृश चुप हो जाता है, वह उस प्रेममें निमग्न हो जाता है; और जब प्रेममें निमग्न हो जाता है, तब भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है एवं जिस समय भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, उस समय उसकी जो अलौकिक स्थिति होती है, उसका वर्णन वह स्वयं ही नहीं कर सकता; क्योंकि उस स्थितिमें उसे अपने-आपका ज्ञान नहीं रहकर केवल भगवान्‌का ही ज्ञान रहता है। वह जब भगवान्‌के मुखारविन्दको देखता है, तब उसके नेत्रोंकी दृष्टि भगवान्‌के मुखचन्द्रपर इस प्रकार अपलक स्थिर हो जाती है, जैसे चकोर पक्षीकी दृष्टि पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखकर स्थिर हो जाती है। वह भगवान्‌के स्वरूपको देखकर इतना मुग्ध हो जाता है कि उसे भगवान्‌के सिवा किसीका ज्ञान नहीं रहता।

जब भरतजी महाराज चित्रकूटमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे मिले, उस समय उनका प्रेम ऐसा अलौकिक था कि तुलसीदासजी महाराजने उसका वर्णन करनेमें अपनेको सर्वथा असमर्थ पाया। वे कहते हैं—

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी।
कबिकुल अगम करम मन बानी॥
परम पेम पूरन दोउ भाई।
मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥
कहहु सुपेम प्रगट को करई।
केहि छाया कबि मति अनुसरई॥
कबिहि अरथ आखर बलु साँचा।
अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा॥
अगम सनेह भरत रघुबर को।
जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती।
बाज सुराग कि गाँडर ताँती॥

जब भगवान् लङ्कासे लौटकर अयोध्यामें आये और भरत-शत्रुघ्नसे मिले, उस समय भी उनका प्रेम सर्वथा अवर्णनीय था। कहीं ग्रन्थोंमें तो नहीं देखा, सुनी हुई बात है कि उस समय वहाँ विभीषण और सुग्रीव भी वर्तमान थे। वे इनके प्रेमको देखकर एकदम रोने लगे कि 'श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न— ये चारों भाई हैं, इनमें परस्पर कितना प्रेम है। हमलोग भी रावण तथा वालीके भाई रहे, पर हम अपने भाइयोंका वध करवाकर यहाँ आये हैं।' वे इनके आदर्श प्रेमव्यवहारको देखकर बड़े लज्जित और दु:खी हुए, पर अब मन-ही-मन पश्चात्ताप करनेके अतिरिक्त और कर ही क्या सकते थे।

रामायणमें सुतीक्ष्णजीका प्रेम बहुत ही विचित्र है। भगवान् श्रीरामसे जिस समय सुतीक्ष्णजी मिलते हैं, उस समय उनमें जिन प्रेमभाव-तरंगोंका उदय होता है, वे सर्वथा अवर्णनीय हैं।

जिस समय प्रेमीको प्रेमास्पद भगवान्‌के साक्षात् दर्शन होते हैं, उस समय उसके नेत्रोंकी पलकें नहीं पड़तीं; वह पलक मारने-जितना भी दर्शनका वियोग सहन नहीं कर सकता। उसके लिये तो पलक पड़ना भी विघ्न है। वह नेत्रोंद्वारा भगवान्‌को देखता है, हाथोंसे भगवान्‌को स्पर्श करता है, कानोंसे भगवान्‌की मधुर वाणी सुनता है, वह सभी इन्द्रियोंसे मानो भगवान्‌के मधुर प्रेमामृतका पान करता रहता है। भगवान्‌के अलौकिक स्वरूपके सौन्दर्य और लावण्यका कोई वर्णन नहीं कर सकता। शास्त्रोंके आधारपर तो भगवान्‌के स्वरूपका दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है, किंतु भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन होनेके समय प्रेमीके द्वारा उस स्वरूपका वर्णन कदापि सम्भव नहीं है; क्योंकि वह उस समय भगवान्‌के प्रेममें अत्यन्त मुग्ध हो जाता है।

पद्मपुराण पातालखण्डमें आया है कि भगवान् श्रीराघवेन्द्र जब लङ्कासे वायुयानद्वारा आ रहे थे, उस समय श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा संदेश पाकर भरतजी उनके सम्मुख जाने लगे और

जब भगवान्‌ने देखा कि मेरा भाई भरत जटा-वल्कलादिसम्पन्न त्यागी तपस्वीका वेष धारण किये पैदल ही आ रहा है, तब उनका हृदय विरहसे कातर हो गया। वे बार-बार 'भाई, भाई, भाई, भाई, भाई'—इस प्रकार रट लगाते हुए तुरंत विमानसे उतर पड़े*। उन्हें भूमिपर उतरते देख भरतजीके हर्षसे आँसू बहने लगे और वे दण्डकी भाँति धरतीपर पड़ गये। भगवान्‌ने अपनी दोनों भुजाओंसे उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया। उस समय भगवान् श्रीराम और भरत दोनों ही प्रेममें मुग्ध हो गये।

इसी प्रकार जब भक्तको भगवान्‌के दर्शन होते हैं, तब उसकी वाणी गद्गद हो जाती है, नेत्रोंकी पलकें स्थिर हो जाती हैं, वह एकटक देखता ही रह जाता है। फिर कुछ समयके अनन्तर जब धैर्य होता है, तब उसकी वाणी खुलती है और भगवान्‌से बातचीत होती है। भगवान्‌के दर्शनसे सारे संशयोंका और सारे कर्मोंका नाश हो जाता है तथा चित्-जडग्रन्थि खुल जाती है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक० २। २। ८)

उन भगवान्‌का साक्षात्कार होनेपर हृदयकी जो चित्-जडग्रन्थि है, उसका भेदन हो जाता है अर्थात् इस जड शरीरमें जो यह अभिमान है कि 'मैं यह शरीर हूँ और यह मेरा है' यह जो अज्ञानवश जड और चेतनकी एकता-सी है—यही हृदयकी गाँठ है, भगवत्-साक्षात्कारसे यह खुल जाती है। सारे संशय नाश हो जाते हैं और उसके पुण्य तथा पाप—दोनों ही सब-के-सब समाप्त हो जाते हैं। भगवान्‌को देखकर वह विमुग्ध हो जाता है और इसके बाद उस भक्तके द्वारा जो कुछ भी चेष्टा होती है, सब भगवान्‌को मुग्ध करनेके लिये ही होती है।

भगवती श्रीराधिकाजी भगवान्‌की आह्लादिनी शक्ति हैं और भगवान्‌को आह्लादित करनेके लिये, मुग्ध करनेके लिये ही उनकी सारी चेष्टा होती है। इसी प्रकार भगवान्‌की भी सारी चेष्टा श्रीराधिकाजीको मुग्ध करनेके लिये ही होती है। इन दोनोंकी यह चेष्टा ही इनकी प्रेम-लीला है। यह लीला पारस्परिक आमोद-प्रमोद और प्रेमकी वृद्धि करनेवाली होती है। इससे उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ता ही रहता है। यह प्रेममयी लीला है। इसी प्रकार अपने परमप्रिय प्रेमास्पद श्रीभगवान्‌के दर्शन पाकर प्रेमी भक्तकी सारी चेष्टा उन्हें आह्लादित करनेके लिये और प्रेममें मुग्ध करनेके लिये होती है और उधर भगवान्‌की भी सारी चेष्टा अपने उस भक्तको आह्लादित करनेके लिये और प्रेममें मुग्ध करनेके लिये ही होती है। इस प्रकार एक-दूसरेकी चेष्टा एक-दूसरेको मुग्ध करनेके लिये, प्रसन्न करनेके लिये हुआ करती है। यह प्रेममयी लीला अलौकिक है। अतः यह कहना अत्युक्ति नहीं कि इस प्रेमलीलाका वर्णन न तो भगवान् ही कर सकते हैं और न भगवान्‌के भक्त ही; क्योंकि यह वाणीका विषय नहीं है। यहाँ भक्तकी दृष्टिमें तो भगवान् प्रेमास्पद हैं और भक्त प्रेमी हैं तथा भगवान्‌की दृष्टिमें भक्त प्रेमास्पद हैं और भगवान् प्रेमी। इन दोनोंका परस्पर अद्भुत प्रेम है। परस्पर प्रेम साम्य होनेके कारण यहाँ आदर-सत्कार नहीं है। जहाँ आदर-सत्कार है, वहाँका प्रेम भी उच्चकोटिका है; किंतु जबतक आदर-सत्कार है, तबतक प्रेममें कमी है। जहाँ दोनोंका समानभाव है, प्रेमभाव है, एकीभाव है, वहाँ उस एकीभावमें कौन बड़ा और कौन छोटा। ऐसे एकीभावमें स्थित होकर भगवान्‌का भक्त जो कुछ चेष्टा करता है, वह वस्तुतः भगवान्‌में ही क्रीड़ा करता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(६। ३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है।' अभिप्राय यह कि सारे भूतोंमें परमात्मा जो आत्मरूपसे स्थित हैं, उन परमात्मामें ऐसा वह प्रेमी भक्त एकीभावसे स्थित होकर जो कुछ भी करता है, लोगोंकी दृष्टिमें वह संसारमें विचरण करता है; किंतु भगवान् कहते हैं कि नहीं, वह मुझमें ही क्रीड़ा करता है। उससे पहलेकी उसकी यह स्थिति है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६। ३०)

अर्थात् 'जो पुरुष मुझ परमात्माको सर्वत्र देखता है; जहाँ नेत्र जाते हैं, वहीं मुझको देखता है; जहाँ मन जाता है, वहीं मुझको देखता है और सबको मुझ परमात्माके अन्तर्गत देखता है, ऐसे पुरुषसे मैं कभी अलग नहीं हो सकता और वह पुरुष मुझसे कभी अलग नहीं होता।(ऐसा जो मेरा प्रेमी है, वह मुझको देखता रहता है और मैं उसे देखता रहता हूँ।)'

यह अलौकिक प्रेममयी लीला निरन्तर चलती रहती

* यानादवततराशु विरहक्लिन्नमानसः। भ्रातर्भ्रातः पुनर्भ्रातर्भ्रातर्भ्रातर्वदन्मुहुः॥ (पद्म० पाताल० २। २८)

है। मान और अपमान—तो संसारी (मायिक) चीजें हैं। प्रेम मान-अपमान दोनोंसे परे है।

साधनकालमें तो भक्त भगवान्‌के नाम और गुणोंका गान (कीर्तन) करता है। नाम, रूप, लीला और धाम—इनके तत्त्व, रहस्य, गुण और प्रभावको समझकर मुग्ध होता है और भगवान्‌का आदर-सत्कार तथा सेवा-पूजा करता है। किंतु जब इन सब भावोंसे ऊपर उठ जाता है और जब भगवान्‌के साथ उसका एकीभाव हो जाता है, तब कौन किसकी मान-बड़ाई, आदर-सत्कार या सेवा-पूजा करे? आदर-सत्कार तो साधनकालकी चीज है। यदि मैं भगवान्‌के गुणोंका इस प्रकार गान करूँ कि 'भगवान् पतितपावन' हैं, तो इसका अभिप्राय यह है कि 'मैं पातकी हूँ और भगवान् पतितपावन हैं। इसलिये मैं पवित्र हो जाऊँगा; क्योंकि भगवान्‌के दर्शनसे, वार्तालापसे, भाषणसे तो पापी-से-पापी भी परम पवित्र बन जाता है और उसका उद्धार हो जाता है। जब मैं दु:खी होऊँगा, तब भगवान्‌से कहूँगा कि प्रभो! आप दयाके सिन्धु हैं, क्योंकि मैं दयाका पात्र हूँ। आप दया करें।' यह भी बहुत उत्तम भाव है—पर यह साधनकालकी बात है।

इसी प्रकार प्रेममें भय तथा लज्जा भी नहीं रहती; क्योंकि ये भी साधनकालमें ही होते हैं। भगवान्‌के भक्त भगवान्‌को अपने-अपने भावसे भजते हैं। जहाँ पति-पत्नीका भाव है, वहाँ कोई लज्जा तो नहीं है; किंतु आदर है। पत्नी अपने पतिका आदर, सत्कार-सेवा करती है। जहाँ स्वामी-सेवक-भाव है, वहाँ सेवक स्वामीका आदर-सम्मान भी करता है तथा संकोच और भय भी करता है। मनमें कुछ मानका भाव रहता है। जहाँ वात्सल्यभाव है, वहाँ स्नेह रहता है और उस अपत्य स्नेहमें रक्षाका तथा पालनका भाव रहता है। यहाँ एकीभावमें रक्षा और पालनका भाव भी नहीं है और जहाँ सख्यभाव रहता है, वहाँ कोई भय तो नहीं रहता और मोह भी नहीं रहता; वहाँ परस्पर आदर-सत्कारकी बात भी नहीं रहती; किंतु जिस प्रकार पति-पत्नीमें परस्पर किंचिन्मात्र भी संकोच और लज्जा नहीं रहते, ऐसी बात वहाँ नहीं है। वहाँ उस भावमें कुछ संकोच और लज्जा रहते हैं। जब मनुष्य इन सारे भावोंसे ऊपर उठ जाता है, तब वहाँ लज्जा, भय, मान, बड़ाई, सत्कार, संकोचका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

जैसे हमारे दो हाथ हैं, वे परस्पर एक-दूसरेका आदर-सत्कार नहीं करते और न एक-दूसरेका भय करते हैं। उनमें परस्पर कोई लज्जा और संकोच भी नहीं है। जब दोनों हाथ मिलते हैं तो एकको-ज्यों हो जाते हैं। इसी प्रकार भक्त और भगवान्‌का एकीभावसे मिलन है। भक्त और भगवान्‌का जब मिलन होता है उस समय माला, वस्त्र और आभूषण भी वहाँ व्यवधानरूप हैं। निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी प्राप्तिमें जो शान्तभाव है, उससे प्रेमका यह शान्तभाव दूसरे प्रकारका है। उस शान्तभावमें कोई क्रिया नहीं रहती; किंतु यहाँ क्रिया है। यहाँ उनकी जो क्रिया है, वही लीला है या यों कहिये कि वह प्रेम-क्रीड़ा है। दोनों एक-दूसरेको देखते ही रहते हैं। उस समय परस्परका जो दर्शन, भाषण, वार्तालाप और स्पर्श है, सभी अमृतमय, आनन्दमय, प्रेममय, रसमय और परम मधुर है। भगवान्‌का श्रीविग्रह भक्तके लिये अमृतमय और आनन्दमय तथा भक्तका विग्रह भगवान्‌के लिये प्रेममय और आनन्दमय है। उनका जो परस्परका भाषण है, वह बहुत ही मधुर है। वाणी कानके लिये अमृतके समान है, दर्शन नेत्रोंके लिये अमृतके समान है, स्पर्श अङ्गके लिये अमृतके समान है। सभी कुछ अमृतमय, आनन्दमय, रसमय और प्रेममय है। उस समयके इस भावका किसी प्रकार भी वाणीके द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। नेत्रोंसे परस्पर मानो एक-दूसरेको पी रहे हैं; स्पर्शके द्वारा मानो एक-दूसरेमें प्रवेश कर रहे हैं। वाणी परस्पर ऐसी मधुर-सुधामयी लगती है कि वह उसे निरन्तर सुनते ही रहना चाहता है। इसमें एक क्षणका भी व्यवधान सहन नहीं होता। नेत्रोंसे देखते ही रहें, पलक मारना भी सहन नहीं।

यहाँ दोनोंमें समानभाव होता है और वे दिव्य गुणोंसे सम्पन्न होते हैं। यहाँ एक-दूसरेकी दृष्टिमें गुण और गुणीका कोई भेद नहीं है कि भगवान् तो गुणी और उनके ये गुण हैं अथवा भक्त गुणी और उन भक्तोंके ये गुण हैं। वे तो सारे गुणों और भावोंसे ऊपर उठे हुए हैं। सात्त्विक गुण भी वास्तवमें मायाका ही कार्य है; किंतु भगवान्‌में तो दिव्य गुण हैं। भगवान् स्वयं मायिक गुणोंसे अतीत हैं। वे दिव्य चिन्मय गुणोंसे सम्पन्न हैं। वह भक्त भी उन दिव्य चिन्मय गुणोंसे सम्पन्न है।

तत्त्वसे देखा जाय तो यहाँ प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमी— तीनों एक ही हैं। भगवान् प्रेमास्पद और भक्त प्रेमी तथा उन दोनोंका जो सम्बन्ध है, वह प्रेम है। यहाँ तीनोंके रूप पृथक्-पृथक् हैं, पर वास्तवमें धातुसे एक हैं; क्योंकि तीनों ही चेतन हैं। इस प्रेमराज्यमें दूसरे किसी व्यक्तिका प्रवेश नहीं है। न तो वहाँ किसीके जानेका अधिकार है और न कोई जा ही सकता है। यदि कोई भूला-भटका वहाँ पहुँच जाता है तो उसे लीलाके

दर्शन नहीं होते। वहाँ न कोई शृङ्गार है, न आभूषण है और न कोई आयुध ही है। यद्यपि भगवान्‌के सारे पदार्थ चेतन हैं; किंतु चेतन होते हुए भी वहाँ किसी पदार्थकी आवश्यकता ही नहीं है। इसी प्रकार भक्त, भगवान् और भक्तिकी बात है। भक्तिका नाम यहाँ प्रेम है, भक्तका नाम प्रेमी और भगवान्‌का नाम प्रेमास्पद है। भक्त, भगवान् और भक्ति कहें या प्रेमी, प्रेमास्पद और प्रेम—एक ही बात है। शब्दोंका ही भेद है। वस्तुका कोई भेद नहीं है। भक्ति-मार्गकी उच्च-से-उच्च अवस्थाका यह फल है। भगवान्‌की प्राप्ति कहें या प्रेमास्पदकी प्राप्ति—एक ही है। ऐसा जो प्रेमास्पद है, यहाँ भोगोंकी तो गन्ध भी नहीं है; किंतु मुक्तिका भी यहाँ मूल्य नहीं है। ऐसे भक्त और भगवान्‌का जो पारस्परिक मिलन और प्रेम है, वही सर्वोत्कृष्ट सत्सङ्ग है; इस सत्सङ्गकी रामायणमें बड़ी महिमा गायी है और कहा है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

परमात्मा 'सत्' हैं और उनका सङ्ग 'सत्सङ्ग' है। यानी सत् परमात्माके साथ जो 'विशुद्ध प्रेम' है, वही 'सत्सङ्ग' है। भगवान्‌के प्रति जो यह सङ्ग है, भगवान्‌के साथ एकता है, भगवान्‌के साथ मिलन है, परस्पर प्रेम है, यह उच्चकोटिका सत्सङ्ग है। इसकी तुलनामें स्वर्गकी तो बात ही क्या, मुक्ति भी कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकारका जो प्रेमी पुरुष है, वह भगवान्‌का उच्चकोटिका अनन्य भक्त है। ऐसे पुरुष संसारके कल्याणके लिये यदि संसारमें आ जायँ तो श्रद्धापूर्वक उनके दर्शन, भाषण और वार्तालापसे ही मनुष्योंकी मुक्ति हो सकती है। अतः भगवान्‌की प्राप्तिके साथ मुक्तिकी तुलना नहीं हो सकती।

भगवान्‌ने पूतनाको मुक्तिपद दिया, उसे परम धाममें भेज दिया, उसका परम कल्याण कर दिया। किसीने इसपर प्रश्न किया कि 'जब भगवान्‌ने विष पिलानेवाली पूतनाको मुक्ति दे दी तो अमृतके समान दूध पिलानेवाली यशोदा मैयाको वे और क्या देंगे? दोनोंको ही मुक्ति दें तब तो न्याय नहीं। विष पिलानेवाली पूतनाको भी मुक्ति और अमृतके समान दूध पिलानेवाली माता यशोदाको भी मुक्ति?' तो इसका उत्तर यह है कि पूतनाको भगवान्‌ने मुक्ति तो दी, पर अपने-आपको नहीं दिया; परंतु यशोदाकी गोदमें तो भगवान्‌ने अपने-आपको ही समर्पण कर दिया। यह नियम है कि भक्त जब अपने-आपको भगवान्‌के समर्पण कर देता है, तब भगवान् भी अपने-आपको भक्तके प्रति समर्पण कर देते हैं। जब भगवान्‌ने अपने-आपको ही यशोदाके प्रति दे दिया तो उसके सामने मुक्ति क्या चीज है। मुक्ति तो यशोदाजीके आँगनकी धूलिमें वास करती है। भक्त लोग कहते हैं कि व्रजकी रजमें मुक्ति वास करती है तो फिर यशोदाके आँगनकी धूलिमें मुक्ति वास करे, इसमें तो कहना ही क्या है। अभिप्राय यह कि यशोदाके आँगनकी धूलिको कोई मस्तकपर धारण करे या उसका पान करे तो वह भी मुक्तिका अधिकारी हो जाता है। अतः पूतनाको जो मुक्ति दी, उस मुक्तिका तो यशोदाके यहाँ सत्र चलता रहता था।

जो महान् पुरुष प्रेममें मुग्ध हैं, उनका स्वरूप प्रेममय ही है। वे जिस मार्गसे चलते हैं, प्रेमका वितरण करते हुए ही चलते हैं। उन प्रेमीके प्रेमकी हवा किन्हींको लग जाय तो वे भी प्रेममें मुग्ध हो जाते हैं।

जब भगवान् श्रीकृष्ण सायंकालमें गौओंके खुरकी धूलिसे धूसरित होकर वृन्दावनमें प्रवेश करते थे, तब उस स्वरूपको देखकर गोपियाँ मुग्ध हो जाया करती थीं। भगवान्‌के स्वरूपको देखकर मुग्ध हो जानेमें तो बात ही क्या है, जब उद्धवजी व्रजमें गये और गोपियोंसे मिले तो गोपियोंकी प्रेमलीला, प्रेमक्रीडाको देखकर वे अत्यन्त मुग्ध हो गये और कहने लगे कि 'मेरे लिये सबसे अच्छी बात यह होगी कि मैं इस व्रजमें कोई गुल्म, लता या ओषधि (जड़ी-बूटी) ही बन जाऊँ। अहा! यदि मैं ऐसा बन जाऊँगा तो मुझे इन गोपियोंके चरणोंकी धूलि सेवन करनेके लिये मिलती रहेगी, जिससे मैं पवित्र हो जाऊँगा।' जब वे भगवान् श्रीकृष्णके पास वापस लौटकर आये तो बोले कि 'प्रभो! मुझे आपने जो गोपियोंको ज्ञान और योगकी शिक्षा देनेके लिये भेजा था, यह एक बहाना था। वास्तवमें आपने मुझको उनसे प्रेम सीखनेके लिये ही भेजा था।'

जिनको भगवान्‌की प्राप्ति हो चुकी है, वे भगवान्‌के प्रेममें मुग्ध रहते हैं। उनके नेत्र प्रेमसे झूमा करते हैं, वे अपने-आपको प्रेममें भुलाकर संसारमें विचरते हैं। जिनको ऐसे प्रेमियोंके दर्शन हो जाते हैं, वे भी प्रेममें अपनी बाह्य स्थितिको खो देते हैं, उनको अपने-आपका ही ज्ञान नहीं रहता। अतः नीति और धर्मकी मर्यादाके पालनका ज्ञान भी नहीं रहता। जब प्रेमलक्षणा भक्तिके समय साधनकालमें ही प्रेमवश प्रेमीकी दशा प्रेमके कारण कुछ और ही हो जाती है,तब भगवान्‌का साक्षात्कार होनेपर यानी भगवान्‌के साथ एकीभाव होनेपर जो स्थिति होती है, वह तो सर्वथा वर्णनातीत है। जिसका वर्णन स्वयं भगवान् भी नहीं कर सकते, उसका कोई दूसरा कैसे

कर सकता है; क्योंकि वह वाणीका विषय ही नहीं है।

अब भगवान्‌की दयाके विषयमें कुछ चर्चा की जाती है। जब हम भगवान्‌की दयाकी ओर ध्यान देते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् दयाके सागर हैं; किंतु वस्तुतः ऐसा कहना भी स्तुतिमें निन्दा ही है; क्योंकि सागरकी तो एक सीमा होती है और भगवान्‌की दया सीमारहित है। हमलोगोंको दुनियामें दयाके नामसे जो चीज दिखायी देती है, वह सारी दुनियाकी दया मिलकर भी उस दयासागरकी एक बूँदके बराबर भी नहीं हो सकती; क्योंकि हमलोगोंमें जो दया है, यह तो एक सात्त्विक भाव है और भगवान्‌की दया चिन्मय होनेसे गुणोंसे अतीत है। संसारके सब लोगोंमें जो दया है, वह भगवान्‌की उस दयाके एक बिंदुका आभासमात्र है— प्रतिबिम्बमात्र है। जैसे बिम्ब तथा प्रतिबिम्बका अन्तर है, इसी प्रकार भगवान्‌की दया और हमलोगोंकी दयाका अन्तर है। भगवान्‌की दया अपरिमित और अनन्त है। आकाशका भी कहीं अन्त आ सकता है; किंतु भगवान्‌की दयाका तो अन्त आता ही नहीं। जब मनुष्यको वास्तवमें इस बातका ज्ञान हो जाता है कि भगवान् ऐसे दयालु तथा प्रेमी हैं, तब वह प्रेम और दयाके तत्त्व-रहस्यको समझ जाता है और फिर वह समझनेवाला भक्त भी उसी समय सबका सुहृद् बन जाता है अर्थात् वह परम दयालु और परम प्रेमी बन जाता है। भगवान् परम प्रेमी और परम दयालु हैं, इस रहस्यको समझनेवाला प्रेमी भक्त प्रभुसे एक क्षण भी पृथक् नहीं रह सकता, प्रभुके बिना उसका जीवन भार हो जाता है। फिर भगवान्‌से मिले बिना उसके प्राण कैसे रह सकते हैं? क्योंकि वह यह समझता है कि 'भगवान् परम दयालु और परम प्रेमी हैं और वे सब जगह हैं तथा श्रद्धालु और प्रेमीको मिलते हैं और इतने भारी दयाके सागर हैं कि वे सदा सभीपर हेतुरहित दया और प्रेम रखते हैं। यह मनुष्यका शरीर भी भगवान्‌की अहैतुकी दयासे ही मिला है। तुलसीदासजीने भी कहा है—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

चार प्रकारकी चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते हुए जीवको दुःखित और आर्त देखकर बिना ही कारण दया और प्रेम करनेवाले भगवान् उसे मनुष्यका शरीर देते हैं। हमलोग दयाके पात्र न होनेपर भी हमलोगोंपर भगवान्‌ने दया की, जिससे हमें यह मनुष्य-शरीर मिला। यह मनुष्यका शरीर भगवान्‌ने इसीलिये दिया कि मनुष्य ही इस बातको समझ सकता है कि प्रभु बिना ही कारण दया और प्रेम करनेवाले हैं; किंतु यह बात समझमें नहीं आयी तो भगवान्‌का वह दया और प्रेमयुक्त परिश्रम सार्थक नहीं हुआ; अतः उसे सार्थक करना चाहिये।

हमलोग मनुष्य कहलाते हैं, अतः हममें मनुष्यत्व तो होना ही चाहिये। इतना उपकार करनेवाले भगवान्‌के प्रति हमें कृतघ्न तो नहीं होना चाहिये। उनके गुणोंको और उपकारोंको तो नहीं भुलाना चाहिये। भगवान् बिना ही कारण दया और प्रेम करनेवाले हैं, इसके जाननेका महत्त्व गीतामें भी कहा है—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।
(५। २९)

'मैं सब प्राणियोंका सुहृद् हूँ, यह जानकर मनुष्यको शान्ति मिलती है।' सुहृद्‌का अभिप्राय यह है कि भगवान् बिना ही कारण प्रेम और दया करनेवाले हैं। जब हमलोगोंको परम शान्ति नहीं मिली तो भगवान् सुहृद् हैं, इस बातको हमलोग कहाँ समझे। जो इस तत्त्वको समझ जाता है, उसको तो समझनेके साथ ही इतनी प्रसन्नता, इतनी शान्ति और इतना आनन्द होता है कि उसे अपने-आपका ही ज्ञान नहीं रहता। और फिर वह स्वयं सबका सुहृद् हो जाता है। भगवान्‌ने भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए कहा भी है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च
(गीता १२। १३)

'जो सारे भूतोंमें द्वेष-भावसे रहित है और सभी प्राणियोंपर हेतुरहित दया और प्रेम करनेवाला है (वह मेरा भक्त मुझको प्यारा है)।'

इस सुहृदताके रहस्यको हमलोग समझ जायँ तो हम भी सबके सुहृद् बन सकते हैं। इस नियमके होते हुए भी यदि हम इस लाभसे वञ्चित हैं तो हमारे लिये बहुत ही लज्जा, शोक और दुःखकी बात है। इस लाभसे वञ्चित रहनेमें केवल श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही कारण है तथा श्रद्धा-विश्वासकी कमीमें हमारी मूर्खता यानी अविवेक ही कारण है। इसलिये हमलोगोंको सुहृदताका रहस्य जाननेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। उपर्युक्त बातोंपर श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये। फिर अपने-आप ही भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वासकी वृद्धि होकर भगवत्कृपासे उनकी प्राप्ति हो सकती है।

भगवान् हर समय मिलनेके लिये तैयार हैं। इतना ही नहीं, वे तो लालायित हैं, आतुर हैं। किंतु हमको इसपर विश्वास होना चाहिये। जब हमको यह विश्वास हो जायगा कि भगवान् ऐसे प्रेमी और दयालु हैं और वे मिलनेके

लिये सदा-सर्वदा भुजा पसारे तैयार हैं, तब फिर हम भगवान्‌को छोड़कर क्षणमात्र भी कैसे जी सकते हैं, उनसे बिना मिले कैसे रह सकते हैं? इस प्रकारका अपने हृदयमें भाव होना चाहिये और इस भावसे भावित होकर भगवान्‌से मिलनेके लिये हमको आतुर हो जाना चाहिये।

लड़का जब आतुर हो जाता है तो दयालु माँ उस लड़केको उठाकर हृदयसे लगा लेती है। भगवान्‌की दया तो माँकी अपेक्षा अनन्तगुनी अपार है। यह हमें मालूम हो जाय तो हमारी आतुरता इतनी बढ़ सकती है कि जबतक भगवान् हमें उठाकर हृदयसे न लगा लें, तबतक हमारा रोना बंद ही न हो। भगवान् केवल हमारी उत्कट इच्छा, आतुरता, श्रद्धा, प्रेम, भाव और व्याकुलता देखते हैं। इन बातोंको समझकर यदि हम भगवद्भावसे भावित हो जायँ तो फिर विलम्बका काम ही क्या है? जैसे बिजलीके तार आदि लगकर जब तैयार हो जाते हैं, तब स्विच दबानेके साथ ही क्षणमात्रमें रोशनी हो जाती है, वैसे ही जब मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे पात्र बन जाता है, तब भगवद्भावसे भावित होनेके साथ ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

सभी साधनोंमें वैराग्यकी आवश्यकता तथा प्रेमाभक्तिका निरूपण

परमात्माकी प्राप्तिके लिये सभी साधकोंको आसक्तिका त्याग अवश्य ही करना चाहिये। कञ्चन, कामिनी, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, पुत्र, धन, स्वाद, शौकीनी, ऐश, आराम आदि सभी संसारके विषयभोगोंमें जो प्रीति है, वह काम-क्रोध, लोभ-मोह, ईर्ष्या-द्वेष आदि दुर्गुण; झूठ, कपट, चोरी, जूआ, हिंसा, व्यभिचार, अभक्ष्य-भक्षण, प्रमाद आदि दुराचार; सिनेमा, चौपड़-तास, गंदे खेल-तमाशे, मादक वस्तुओंका सेवन और आलस्य आदि दुर्व्यसन तथा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक आदि दुःखोंकी जननी एवं समस्त अनर्थोंकी जड़ है। इसलिये इस विषय-प्रीतिका—आसक्तिका सर्वथा त्याग करना चाहिये अर्थात् उपर्युक्त सब पदार्थोंसे तीव्र वैराग्य होना चाहिये। जबतक संसार और शरीरसे तीव्र वैराग्य नहीं होता, तबतक साधक किसी भी साधनमें कृतकार्य नहीं हो पाता; क्योंकि सभी साधनोंमें वैराग्यकी परम आवश्यकता है। बिना वैराग्यके किसी भी साधनका सिद्ध होना सम्भव नहीं।

अष्टाङ्गयोगमें महर्षि पतञ्जलिजीने चित्तवृत्तिके निरोधके लिये दो ही मुख्य साधन बतलाये हैं—अभ्यास और वैराग्य।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (यो० द० १। १२)

'उन चित्तवृत्तियोंका निरोध अभ्यास और वैराग्यसे होता है।'

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (यो० द० १। १३)

'उन दोनोंमेंसे चित्तकी स्थिरताके लिये जो प्रयत्न करना है, वह अभ्यास है।'

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः।

(यो० द० १। १४)

'परंतु वह अभ्यास बहुत कालतक निरन्तर (लगातार) और आदरपूर्वक साङ्गोपाङ्ग सेवन किये जानेपर दृढ़ अवस्थावाला होता है।'

इसके पश्चात् वे वैराग्यका लक्षण बतलाते हैं—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

(यो० द० १। १५)

'देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्था है, वह वैराग्य है।'

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

(यो० द० १। १६)

'एवं पुरुषके ज्ञानसे प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका जो सर्वथा अभाव हो जाना है, वह परवैराग्य है।' इससे यह बात सिद्ध होती है कि बिना वैराग्यके चित्तवृत्तियोंका निरोध नहीं होता और चित्तवृत्तियोंका निरोध हुए बिना आत्माका ज्ञान नहीं होता। आत्माका ज्ञान तो चित्तवृत्तियोंका निरोध होनेपर ही होता है। श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (यो० द० १। २)

'चित्तकी वृत्तियोंका निरोध (सर्वथा रुक जाना) योग है।'

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। (यो० द० १। ३)

'उस समय द्रष्टाकी अपने रूपमें स्थिति हो जाती है।' वेदान्त-सिद्धान्त अर्थात् अद्वैतमतके अनुसार अद्वैतज्ञानकी सिद्धि भी बिना वैराग्यके नहीं हो सकती। अद्वैतमतावलम्बीके लिये साधनचतुष्टयसम्पन्न होना परम आवश्यक है। उसमें भी विवेक-वैराग्य प्रधान हैं। साधनचतुष्टयका स्वरूप यह है—

(१) विवेक—सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुओंका विवेचनपूर्वक यथार्थ ज्ञान।

(२) वैराग्य—शरीर और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्ति (राग) का अत्यन्त अभाव।

(३) षट्सम्पत्ति—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान।

शम—मनका पूर्णरूपसे निगृहीत (संयमित), निश्चल और शान्त हो जाना।

दम—इन्द्रियोंका पूर्णरूपसे निगृहीत (संयमित) और विषयोंके रसास्वादसे रहित हो जाना।

उपरति—मनकी चञ्चलताका अर्थात् संकल्प-विकल्प आदि विक्षेपोंका अत्यन्त अभाव हो जाना।

तितिक्षा—शीत, उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंको सहन करना (गीता २। १४)।

श्रद्धा—वेद, शास्त्र, ईश्वर, महात्मा और परलोकमें प्रत्यक्षकी भाँति भक्तिपूर्वक विश्वास हो जाना।

समाधान—संसारके सभी विषयोंसे सम्यक् प्रकारसे मन और बुद्धिका हटकर अपने इष्टमें लग जाना।

(४) मुमुक्षुता—मुक्तिके अतिरिक्त सम्पूर्ण कामनाओंके त्यागपूर्वक केवल एक आत्मोद्धारकी ही तीव्र इच्छा होना।

ये सब साधन विवेकपूर्वक वैराग्यके बिना सम्भव नहीं और इन साधनोंके बिना सच्चिदानन्दघन ब्रह्मविषयक श्रवण, मनन और निदिध्यासन नहीं हो सकता एवं इनके बिना ब्रह्मज्ञानरूप परमात्म-प्राप्तिकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये ज्ञानके साधनमें भी वैराग्यकी परम आवश्यकता है। गीतामें भगवान् भी कहते हैं—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(५। २१)

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है, तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।' क्योंकि—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(५। २२)

'जो ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

ये विषयभोग किस प्रकार दुःखके कारण हैं, इसका वर्णन करते हुए महर्षि पतञ्जलिजीने बतलाया है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (यो० द० २। १५)

'परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख—ऐसे तीन प्रकारके दुःख सबमें विद्यमान रहनेके कारण और सात्त्विक, राजस, तामस—इन तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकीके लिये सब-के-सब भोग दुःखरूप ही हैं।'

इसलिये भगवान्‌ने ज्ञानके साधन बतलाते हुए विषयोंसे वैराग्य करनेका उपदेश दिया है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥

(गीता १३। ८-९)

'इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहङ्कारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना, पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना।'

आगे अठारहवें अध्यायमें भी ज्ञानयोगका वर्णन करते हुए कहा है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥

(गीता १८। ५१-५२)

'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हलका, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणाशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें करनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके और भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेकर ध्यानयोगके नित्य परायण रहनेवाला पुरुष (ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होता है)।'

कर्मयोगका साधन भी बिना वैराग्यके नहीं हो सकता। आसक्तिके त्यागसे ही योगनिष्ठाकी सिद्धि होती है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

(३। १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे

रहित होकर कर्म करता हुआ पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

इसीलिये—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥

(गीता ५। ११)

'कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।'

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

(गीता ६। ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।'

भक्तियोगकी सिद्धि तो संसारसे दृढ़ वैराग्य और भगवान्‌में अनन्यप्रेम होनेसे ही होती है। इसीलिये संसारसे तीव्र वैराग्य करके भगवान्‌में ही अनन्यप्रेम करना चाहिये। भगवान्‌को छोड़कर यदि किसी अन्य पदार्थमें प्रीति है तो वह भक्ति व्यभिचारिणी है। अनन्यभक्तिसे ही भगवान्‌का साक्षात् दर्शन होता है और भगवान्‌के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान भी अनन्यभक्तिसे हो सकता है। भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

केवलमात्र एक परमेश्वर ही सर्वश्रेष्ठ हैं, वे ही हमारे स्वामी, शरण लेनेयोग्य, परम गति और परम आश्रय तथा माता-पिता, भाई-बन्धु,परम हितकारी और सर्वस्व हैं, उनके अतिरिक्त हमारा कोई नहीं है—ऐसा समझकर उनमें जो स्वार्थरहित अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्यप्रेम है, अर्थात् जिस प्रेममें स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचारका जरा भी दोष न हो, जो सर्वथा और सर्वदा पूर्ण और अटल रहे, जिसका तनिक-सा अंश भी भगवान्‌से भिन्न वस्तुके प्रति न रहे और जिसके कारण क्षणमात्रकी भी भगवान्‌की विस्मृति असह्य हो जाय—उस अनन्यप्रेमका नाम अनन्यभक्ति है।

श्रीनारदभक्तिसूत्रमें भी कहा है—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति। (भक्तिसूत्र १९)

'देवर्षि नारदके मतसे तो अपने सब कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना और भगवान्‌का विस्मरण होनेमें व्याकुल होना ही भक्ति है।'

इसलिये संसार, शरीर और भोगोंसे तीव्र वैराग्य करके अनन्य प्रेमपूर्वक भगवान्‌की ही सब प्रकारसे शरण ग्रहण करनी चाहिये। भगवान्‌ने भी संसारका वृक्षके रूपकसे वर्णन करते हुए उससे वैराग्य करने और अपने शरण होनेकी बात कही है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

(गीता १५। ३-४)

'इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा है वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है और न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है। इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर, उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते; और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ— इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये।'

इस प्रकार साधन करनेसे क्या फल होता है, यह बतलाते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

(गीता १५। ५)

'जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे

नष्ट हो गयी हैं, वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं।'

अतएव हमें चाहिये कि सर्वप्रथम भगवान्‌के साथ किसी भी प्रकारका सम्बन्ध स्थापित करके प्रेम बढ़ावें। 'प्रभु मेरे स्वामी हैं, मैं उनका सेवक हूँ' यह दास्यभाव है; जैसे श्रीहनुमान्‌जी, श्रीभरतजी आदिका भगवान् श्रीरामचन्द्रजीमें था। 'भगवान् मेरे परम मित्र हैं' यह सख्यभाव है, जैसे अर्जुनका श्रीकृष्णके प्रति था। 'भगवान् मेरे प्राणप्रिय पुत्र हैं' यह वात्सल्यभाव है, जैसे माता यशोदाका भगवान् श्रीकृष्णमें था। 'भगवान् मेरे परम पति हैं'—यह स्वकीय माधुर्यभाव है; जैसे भगवान् श्रीकृष्णमें रुक्मिणीजीका था। 'भगवान् मेरे परम प्रियतम और सखा हैं' यह परकीय विशुद्ध माधुर्यभाव है, जैसे राधाजी और गोपियोंका श्रीकृष्णमें था। अतः उपर्युक्त किसी भी भावसे भावित होकर हमें भगवान्‌के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिये। इस प्रकार परम श्रद्धा और भक्तिपूर्वक भगवान्‌के साथ किसी भी प्रकारका आत्मीय सम्बन्ध स्थिर हो जानेपर भगवान्‌में अनन्यप्रेम हो जाता है, फिर उसका किसी भी समय भगवान्‌से वियोग होना सम्भव नहीं; क्योंकि मनुष्यका जिस वस्तुके साथ सच्चा अपनापन होता है, उसमें अटूट अनुराग हो जाता है तथा वह वस्तु उसके हृदयसे कभी दूर नहीं होती; और उससे भिन्न वस्तुसे उसका चित्त स्वतः ही रागरहित हो जाता है। इसलिये उस साधकके चित्तमें भगवान्‌की प्रेमपूर्वक स्मृति निरन्तर बनी रहती है, जिसके फलस्वरूप उसको बहुत शीघ्र भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

अतएव हमें उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌से अनन्यप्रेम करना चाहिये तथा चातक (पपीहे) की भाँति अटूट नियम और एकनिष्ठ भक्ति रखते हुए भगवान्‌के दर्शनके लिये आतुर होना चाहिये। चातक अत्यन्त प्यासा होनेपर भी जमीनपर पड़े हुए जलको कभी नहीं छूता। आकाशमें बादलोंकी ओर देख-देखकर 'पीउ-पीउ' करता रहता है। वह जलहीन बादलको देखकर भी 'पीउ-पीउ' करने लगता है और उससे जलकी आशा लगाये रहता है। यदि बादल ओले भी बरसाता है और उससे उसके पंख भी टूट जाते हैं तो भी वह वर्षाके जलके लिये व्याकुल हुआ बादलकी ओर ही ताकता रहता है, उसे अपने पंख टूटनेकी भी परवा नहीं रहती।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥

'मेघ कड़क-कड़ककर गरजता हुआ ओले बरसाता है और कठोर बिजली भी गिरा देता है, इतनेपर भी प्रेमी पपीहा मेघको छोड़कर क्या कभी किसी दूसरी ओर ताकता है?'

इसलिये—

जौं घन बरसै समय सिर जौं भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस॥

'तुलसीदासजी कहते हैं कि हे रामरूपी मेघ! चाहे तुम ठीक समयपर बरसो (कृपाकी वृष्टि करो) और चाहे जन्मभर उदासीन रहो, कभी न बरसो, परंतु इस चित्तरूपी चातकको तो तुम्हारी ही आशा है।'

इसी प्रकार हमें भी भगवान्‌के दर्शनकी उत्कण्ठा, इच्छा और प्रतिक्षण आशा-प्रतीक्षा करनी चाहिये। चाहे कितनी ही आपत्तियाँ आयें, चातकके एकमात्र वर्षाके लिये व्याकुल रहनेकी भाँति निर्भय होकर एकमात्र भगवान्‌के दर्शनकी ही लालसा रखें, अन्य किसीकी नहीं।

मछली जिस प्रकार जलके बिना व्याकुल हो जाती है। थोड़ी देर भी जल न मिलनेपर वह तड़प-तड़पकर प्राण त्याग कर देती है, इसी तरह भगवान्‌की विरह-व्याकुलतामें हमारी दशा हो जानी चाहिये। भगवान्‌के विरहकी व्याकुलतामें दर्शनकी अभिलाषा अत्यन्त तीव्र हो जाती है, उस तीव्र लालसामें भगवान्‌की स्मृतिका एक निराले ही ढंगका रसानुभव होता है, जो संयोगमें नहीं होता।

जब साधक भगवान्‌के लिये परम व्याकुल हो जाता है, तो फिर भगवान्‌को बाध्य होकर तत्काल प्रकट होना पड़ता है। जैसे रुक्मिणीजी भगवान्‌के विरहमें व्याकुल होकर विलाप करने लगीं तो भगवान् उसी समय उनके वासस्थानपर पहुँच गये और उनको ले आये। जब मनुष्य भगवान्‌के विरहकी व्याकुलतामें एकदम अधीर हो जाता है और उसके प्राण जानेकी तैयारी हो जाती है, तब फिर भगवान् एक क्षण भी नहीं रुकते। जब गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णके विरहमें व्याकुल हो गयीं और विलाप करने लगीं तो उनके प्राण जानेकी नौबत आ गयी, तब भगवान् श्रीकृष्ण उनके बीचमें प्रकट हो गये और महारास करने लगे।

जिस प्रकार भरतजी महाराज भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वियोगमें अत्यन्त व्याकुल हो गये थे, उसी प्रकार हमें भगवान्‌के लिये व्याकुल होना चाहिये। श्रीभरतजीकी उस अवस्था और विलापका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवन सुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जल जात॥

वैराग्य और अनन्य प्रेमका कैसा मूर्तिमान् स्वरूप है। इस प्रकार जब भगवान् श्रीरामने भरतजीकी इस दशाका खयाल किया तो उस समय हनुमान्‌जीको भेजा और फिर स्वयं पहुँच गये।

इसी प्रकार संसारसे विरक्त और भगवान्‌के विरहमें व्याकुल होकर मनसे भगवान्‌के परम पावन नामोंका उच्चारण करते हुए उनका आह्वान करना चाहिये एवं मनसे ही उनका दर्शन करके ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार मनसे ही उनका दर्शन, स्पर्श और उनके साथ वार्तालाप करते हुए सुतीक्ष्णकी भाँति उनके प्रेममें मग्न होना चाहिये।

श्रीसुतीक्ष्णजी भगवान् श्रीरामके प्रेममें इतने मुग्ध हो गये कि उनको पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—दिशाओं और नैर्ऋत्य, वायव्य, आग्नेय और ऐशान्य— विदिशाओंका भी ज्ञान नहीं रहा। उनकी इस प्रेममयी दशाको देखकर भगवान् उनके हृदयमें प्रकट हो गये। उस समय वे मार्गमें ही बैठ गये और उनके सारे शरीरमें कटहलके फलके समान रोमाञ्च हो आये, तब भगवान् श्रीराम उनके निकट आ गये और उनकी प्रेममयी दशाको देखकर मुग्ध हो गये। भगवान् मुनिको ध्यानसे जगानेकी चेष्टा करने लगे, किंतु सुतीक्ष्णजीका ध्यान नहीं छूटा। तब भगवान्‌ने अपने स्वरूपका आकर्षण कर लिया। इसपर मुनिने व्याकुल होकर आँखें खोलीं तो उन्हें दिखायी दिया कि भगवान् सामने खड़े हैं। वे आनन्द और प्रेममें अत्यन्त मुग्ध होकर भगवान्‌के चरणोंपर गिर पड़े। भगवान्‌ने उनको अपनी भुजाओंसे उठाया और हृदयसे लगा लिया। सुतीक्ष्णजी भगवान्‌की ओर ही एकटक देखने लगे। पश्चात् उन्होंने भगवान्‌की स्तुति की और अपने आश्रमपर ले जाकर विविध प्रकारसे उनकी पूजा की।

अतः भगवान्‌का ध्यान करते हुए जब साधक तन्मय हो जाता है तब कभी भगवान् प्रकट होकर साक्षात् दर्शन दे देते हैं; इसलिये हमलोगोंको प्रेमी भक्त सुतीक्ष्णकी भाँति भगवान्‌के ध्यानमें तन्मय हो जाना चाहिये।

फिर ऐसी धारणा करनी चाहिये कि भगवान् आकाशमें पधार गये हैं और मुझपर क्षमा, दया, शान्ति, संतोष, ज्ञान, वैराग्य, समता, प्रेम और आनन्द आदि दिव्य गुणोंकी अनवरत वर्षा कर रहे हैं तथा भगवान्‌से प्रवाहित वह दिव्य अमृतमय गुणोंकी वर्षा-धारा मेरे मन, इन्द्रिय और शरीरके अणु-अणुको अपने उस परम दिव्य रससे आप्लावित करती हुई सर्वत्र परिपूर्ण हो रही है, जिससे वे गुण मुझमें प्रवेश करके और मेरे रोम-रोममें भलीभाँति व्याप्त होकर ऐसी चेतनता, जागृति, आनन्द और शान्तिका मधुर रसास्वादन करा रहे हैं, जिसकी कोई सीमा ही नहीं है। मैं भगवान्‌के इस दिव्य स्वरूपको देखकर बार-बार मुग्ध हो रहा हूँ और एकटक निर्निमेष नेत्रोंसे उन्हींको देख रहा हूँ। फिर देखता हूँ कि भगवान् भूमिपर आकर स्थित हो गये हैं और मैं उनका दर्शन करके आनन्दमें मुग्ध हो उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहा हूँ तथा जैसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने श्रीसुतीक्ष्णजी और श्रीभरतजीको अपने हृदयसे लगा लिया था, उसी प्रकार भगवान् मुझे उठाकर अपने हृदयसे लगा रहे हैं। अहो ! भगवान्‌का यह दर्शन, स्पर्श, चिन्तन, भाषण और वार्तालाप-सभी परम मधुर, अनन्त रसमय, अमृतमय, प्रेममय और आनन्दमय है।

हाथोंसे भगवान्‌का स्पर्श करते समय मानो सारे शरीरमें रोमाञ्च और आनन्दकी बिजली-सी दौड़ रही है तथा हृदयसे स्पर्श करते समय सारे शरीरमें आनन्दकी लहरें उठ रही हैं ! नेत्रोंसे दर्शन करते समय ऐसा लगता है मानो मैं नेत्रोंके द्वारा दिव्य अमृतका पान कर रहा हूँ। भगवान्‌का मुखारविन्द और नेत्र कमलके पुष्पकी भाँति खिले हुए हैं। भौंरा जैसे कमलके एक पुष्पसे दूसरे पुष्पपर और दूसरेसे तीसरेपर बैठता है और उसका रसास्वाद लेता है, इसी प्रकार मेरे नेत्ररूप भौंरे कभी भगवान्‌के मुखकमलको देखते हैं तो कभी भगवान्‌के कमलके समान कोमल कपोलोंको और कभी भगवान्‌के कमलसदृश प्रफुल्लित नेत्रोंको देखते हैं—इस प्रकार मैं भगवान्‌के नेत्रोंसे अपने नेत्र मिलाकर अमृतमय रसास्वाद ले रहा हूँ। जैसे चकोर पक्षी पूर्णिमाके चन्द्रमाको जबतक दीखता है, एकटक देखता ही रहता है, उसी प्रकार मैं भगवान्‌के नेत्र, कपोल और मुखारविन्दको मनके नेत्रोंसे एकटक देख रहा हूँ और उनका रसास्वाद ले-लेकर

आनन्दमें विभोर हो रहा हूँ। भगवान्‌की वाणी अतिशय कोमल, परम सुन्दर, बहुत ही मधुर और हमारे कानोंके लिये अमृतमय, रसमय और परम प्रिय है। भगवान्‌के श्रीविग्रहसे अलौकिक सुगन्ध आ रही है, जो कि हमारी नासिकाके लिये अमृतमय और रसमय है। इस प्रकार भगवान्‌का स्पर्श हृदय और हाथोंके लिये, दर्शन नेत्रोंके लिये, सुगन्ध नासिकाके लिये, वाणी कानोंके लिये अत्यन्त रसमय और अमृतमय है। जिस तरह गोपियाँ मनसे मनन और बुद्धिसे प्रत्यक्ष अनुभव करती हुई दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, नृत्य और वाद्य आदिके द्वारा भगवान्‌में ही रमण करती और आनन्दमें निमग्न होती रहती थीं, उसी तरह मैं मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीरके द्वारा भगवान्‌के साथ रमण करता हुआ दिव्य रसास्वाद ले रहा हूँ। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(१०।९)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं।'

इस प्रकार भगवान्‌में मनको लगाना, मन, शरीर और इन्द्रियोंके द्वारा उनके साथ सम्बन्ध करना ही उनमें रमण करना है और उससे उत्पन्न हुए प्रेमानन्दका अनुभव करना संतोषलाभ करना है। जैसे मछलीके लिये जल ही जीवनका आधार है, वैसे ही भक्तके जीवनके आधार श्रीभगवान् ही हैं एवं जिस प्रकार गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णके तत्त्व-रहस्यके विषयमें परस्पर तथा कभी-कभी भगवान्‌के साथ बातचीत करके भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यका अनुभव करती थीं, इसी प्रकार हम मानो भगवान्‌के साथ ही वार्तालाप करके उनके तत्त्व-रहस्यका अनुभव कर रहे हैं तथा भगवान्‌के गुण, प्रभाव और तत्त्वकी बातें हम भगवान्‌के सम्मुख वर्णन कर रहे हैं।

भगवान्‌के ध्यानमें ऐसी तन्मयता हो जानेपर और मानसिक मिलनके समय साधकके शरीरमें रोमाञ्च हो जाता है, नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बहने लगते हैं, कण्ठका अवरोध हो जाता है, वाणी गद्‌गद हो जाती है और हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। श्रीनारदजी भी कहते हैं—

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः।

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च॥ (भक्तिसूत्र ६७-६८)

'एकनिष्ठ भक्त ही श्रेष्ठ हैं। ऐसे अनन्य भक्तोंके कण्ठावरोध तथा रोमाञ्च हो जाता है और नेत्रोंसे आँसू बहने लगते हैं। ऐसी अवस्थामें वे परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको और पृथ्वीको पवित्र करते हैं।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

वाग् गद्‌गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(११।१४।२४)

'प्रेमका प्रादुर्भाव हो जानेसे जिस प्रेमी भक्तकी वाणी गद्‌गद और चित्त द्रवीभूत हो जाता है, वह प्रेमावेशमें बार-बार रोता है, कभी हँसता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने और नाचने लगता है। ऐसा मेरा परम भक्त त्रिभुवनको पवित्र कर देता है।'

जो भक्त भगवान्‌के प्रेममें अत्यन्त मुग्ध हो जाता है, ऐसे प्रेमीकी उस प्रेमलक्षणा भक्तिका वर्णन करते हुए श्रीसुन्दरदासजीने बतलाया है—

न लाज तीन लोक की, न बेद को कह्यौ करै।
न संक भूत प्रेत की, न देव जक्ष तें डरै॥
सुनै न कान और की, द्रसै न और इच्छना।
कहै न मुख और बात, भक्ति प्रेम-लच्छना॥

'जब भक्त प्रेमलक्षणा भक्तिमें तन्मय हो जाता है, तब वह तीनों लोकोंमें किसीकी भी लज्जा नहीं करता, अर्थात् उसको लज्जा करनेका ज्ञान ही नहीं रहता। वह वेद और शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन नहीं कर सकता; क्योंकि प्रेमकी बहुलताके कारण उसे बाहरी ज्ञान नहीं रहता। वह भूत-प्रेतकी आशंका नहीं करता तथा देवता और यक्षोंसे भी नहीं डरता; क्योंकि उसे भगवान्‌के सिवा दूसरी वस्तु दीखती ही नहीं। वह कानोंसे भगवत्प्रेमके सिवा दूसरी बात नहीं सुनता तथा भगवान्‌के सिवा न देखता ही है और न इच्छा ही करता है। वह वाणीके द्वारा भगवान्‌के गुणानुवाद ही गाता रहता है, उसके सिवा और कुछ भी नहीं कहता। यह प्रेमलक्षणा भक्ति है।'

इस प्रकार प्रेमपूर्वक भजन करनेसे उसे भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और भगवान्‌के दिये हुए उस ज्ञानसे उनका साक्षात् दर्शन हो जाता है। उस समय वह भगवान्‌को ही एकटक देखता रहता है, उसके नेत्रोंकी पलक भी नहीं पड़ती तथा अहंकारका विनाश होकर वह अपने-आपको भूल जाता है एवं मन्त्र-मुग्ध-सा हुआ केवल भगवान्‌के ही स्वरूपका अनुभव करता रहता है। भगवान्‌के मिलनके समय लज्जा, संकोच, मान, भय, आदर, सत्कार आदि कुछ भी नहीं रहते। वह इन सब भावोंसे ऊपर उठ जाता है। यहाँ प्रेम,

प्रेमास्पद और प्रेमी—तीनों स्वरूपतः पृथक्-पृथक् रहते हुए भी चिन्मय धातुकी दृष्टिसे एक ही हैं। भगवान्‌की दृष्टिसे तो भक्त प्रेमास्पद और भगवान् प्रेमी हैं एवं भक्तकी दृष्टिसे भगवान् प्रेमास्पद और भक्त प्रेमी है तथा उनका जो परस्पर सम्बन्ध (नाता) है, वही प्रेम है। मानो प्रेम ही भगवान् और भक्तके रूपमें मूर्तिमान् होकर लीला कर रहा है। भगवान्‌की सारी चेष्टा भक्तको आह्लादित करनेके लिये और भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्‌को आह्लादित करनेके लिये होती रहती है। उनका यह प्रेम नित्य नया बढ़ता हुआ जाग्रत् रहता है। दोनोंका परस्पर समान और एकीभाव है। यहाँ एक-दूसरेका आदर-सत्कार नहीं है। आदर-सत्कार, मान-भय और लज्जा-संकोच तो स्वामी-सेवक भावमें हुआ करते हैं। यद्यपि पति-पत्नीभावमें लज्जा-संकोच तो नहीं रहते, किंतु आदर-सत्कार, मान और भय रहते हैं। वात्सल्यभावमें भी आदर-सत्कार, भय, लज्जा और संकोच रहते हैं। सख्यभावमें आदर-सत्कार और भय तो नहीं रहते; किंतु संकोच रहता है। परंतु यहाँ तो एकता, समता और परम प्रेमभाव है। इसलिये परम विशुद्ध प्रेममें लज्जा-संकोच, मान-भय, आदर-सत्कारका लेशमात्र भी नहीं रहता। उस परम प्रेमका वास्तवमें वाणीद्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। श्रीनारदजी कहते हैं—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्।

(भक्तिसूत्र ५१-५२)

'गूँगेके स्वादकी तरह प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है।'

प्रकाशते क्वापि पात्रे। (भक्तिसूत्र ५३)

'किसी बिरले योग्य पात्र (प्रेमी भक्त) में ही ऐसा प्रेम प्रकट होता है।'

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्। (भक्तिसूत्र ५४)

'यह प्रेम गुणोंसे अतीत है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर और अनुभवरूप है।'

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति। (भक्तिसूत्र ५५)

'इस प्रेमको पाकर प्रेमी इस प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, प्रेमका ही आलाप करता है और प्रेमका ही चिन्तन करता है।'

इस प्रकारके परम विशुद्ध अनन्यप्रेमी भक्तके अज्ञानका सदाके लिये अभाव हो जाता है। फिर वह भक्त भगवान्‌का साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण, जो और जैसा स्वरूप है उसको भगवान्‌की दयासे यथार्थरूपसे जान जाता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०।१०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह यथार्थ ज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इसके लिये हमें अर्जुनकी भाँति भगवान्‌की स्तुति करनी चाहिये—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभूम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

(गीता १०। १२-१३)

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं, वैसे ही देवर्षि नारद तथा असित और देवल ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं।'

फिर भगवान्‌से यही प्रार्थना करनी चाहिये कि भगवन्! आपमें मेरा विशुद्ध प्रेम और अनन्य श्रद्धा बनी रहे, आपसे मेरा कभी वियोग न हो।

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम॥

श्रद्धा, प्रेम और तीव्र इच्छासे भगवत्प्राप्ति

भगवान् शीघ्र-से-शीघ्र कैसे मिलें? इसका उत्तर यह है कि अपने अंदर श्रद्धा-विश्वास हो जाय तो फिर भगवान्‌के मिलनेमें विलम्ब नहीं है। अपने मनमें यह श्रद्धा और विश्वास होना चाहिये कि 'भगवान् हैं, जो इच्छा करता है उसे भगवान् मिलते हैं, बहुतोंको मिले हैं, अब भी मिलते हैं और भविष्यमें भी मिलते रहेंगे तो फिर मैं वञ्चित क्यों रहूँगा।' जिसको इस प्रकारसे दृढ़ विश्वास हो जाता है, उसे फिर, जबतक भगवान् नहीं मिलते, चैन नहीं पड़ती। उसकी रातकी नींद और दिनकी भूख—दोनों उड़ जाती हैं। बहुत-से भाई और माता-बहिनें सत्सङ्गमें

यह विचार करके जाते हैं कि 'चलो, इस बार भगवान्‌की प्राप्ति करके ही वापस आना है।' किंतु ऐसा विचार करके कई बार सत्सङ्गमें गये और भगवत्प्राप्ति किये बिना ही लौट आये। इससे उनके मनमें ऐसी धारणा हो गयी कि 'हम अपने मनमें यह भाव तो करते हैं, पर भगवान् मिलेंगे, यह सम्भावना नहीं है।' हृदयमें जैसी धारणा होती है, वैसा ही फल होता है। इसलिये उन्हें भगवान् नहीं मिलते और वे जैसे जाते हैं वैसे ही लौट आते हैं। जिसको यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान् निश्चय ही मिलेंगे उसको भगवान् न मिलें, यह सम्भव ही नहीं है। भरतजीके हृदयमें यह दृढ़ विश्वास था कि राम अवश्य ही मिलेंगे। भरतजी कहते हैं—

मोरे मन भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥

'मेरे मनमें यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान् अवश्य मिलेंगे और शकुन भी शुभ होते हैं।'

इस विश्वासका आधार है—भगवान्‌का मृदुल स्वभाव। वे कहते हैं—

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

'भगवान्‌का स्वभाव बहुत ही कोमल है। वे दीनोंके बन्धु हैं और मैं दीन हूँ। मुझमें अवगुण तो बहुत हैं, यदि प्रभु मेरी करनीकी ओर देखें, तब तो करोड़ों कल्पोंमें भी मेरे उद्धारका कोई उपाय नहीं है; किंतु वे अपने दासोंके दोषकी ओर कभी देखते ही नहीं। इसलिये मुझको दृढ़ विश्वास है कि भगवान् अवश्य आयेंगे और मिलेंगे।'

भगवान्‌के कोमल स्वभावके बल-भरोसेपर भरतजी यह दृढ़ विश्वास कर रहे हैं। यदि कहो कि न मिलें सो ठीक है; किंतु यह सम्भव ही नहीं है। फिर भी यदि न मिलें तो वे कहते हैं—

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

'बीतें अवधि'के 'बीतें' शब्दमें यह भाव है कि अवधि बीतनेके साथ ही मेरे प्राण देहमें नहीं रह सकते और यदि अवधि बीतनेपर देहमें प्राण रह जायँ तो समझना चाहिये कि मेरे समान संसारमें कोई पापी नहीं है। मैंने जो यह प्रतिज्ञा की थी कि अवधि बीतनेपर भगवान् अयोध्या नहीं पहुँचेंगे तो मैं अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा, सो अग्निमें प्रवेश तो कोई भी आदमी कर सकता है; यह कोई कठिन बात नहीं है। यह तो एक प्रकारसे आत्महत्याके ही समान है। यदि वास्तवमें मेरा भगवान्‌में प्रेम है तो उनसे मिले बिना मेरा जीवन रहना सम्भव नहीं। अभीतक तो प्राणोंके लिये चौदह वर्षकी अवधिका आधार था, किंतु अवधिके बीतनेपर यदि भगवान् न आवें तो समझना चाहिये कि मेरा भगवान्‌में प्रेम कहाँ है? वह तो दम्भ है। भरतजीके हृदयका भाव इस प्रकार होते ही वे विरहमें व्याकुल हो गये—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

'भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका विरह एक सागर है और इस विरहरूप सागरमें भरतका मन निमग्न हो गया यानी उनके प्राण जानेकी तैयारी हो गयी। उस समय, जैसे डूबते हुएके लिये नौका आ जाती है, ऐसे ही भरतके लिये हनुमान्‌जी महाराज ब्राह्मणका रूप धारण करके आ पहुँचे और विरहसागरमें डूबते हुए भरतको बचा लिया।'

यहाँ कहनेका अभिप्राय यह है कि जैसे भरतजीके मनमें दृढ़ विश्वास था कि भगवान् निश्चय ही आयेंगे, उसी प्रकारका हमलोग विश्वास करें कि भगवान् हमें अवश्य मिलेंगे ही और जिस किसी प्रकारसे हो, उसके लिये रात-दिन प्रयत्न करके भगवान्‌को प्राप्त किये बिना हम नहीं रहेंगे तो हमें भगवान्‌के दर्शन हो सकते हैं। जब भगवान्‌ने हजारों आदमियोंको दर्शन दिये हैं, जिनकी कथाएँ भी शास्त्रोंमें आती हैं तो ऐसा नहीं हो सकता कि ये सब झूठी हों। यदि बहुतोंको दर्शन हुए हैं तो यह निश्चय रखना चाहिये कि हमको भी अवश्य होंगे। यदि कहो कि हम पात्र नहीं हैं तो भगवान् पात्रको ही दर्शन देते हों, ऐसी बात नहीं है। पात्रको तो दर्शन होते ही हैं; किंतु भगवान्‌की दयापर भरोसा रखनेवाले पात्र-अपात्र, कुपात्र सभीको भगवान्‌के दर्शन होते हैं। पूर्वमें जिनको दर्शन हुए हैं, उनकी पहलेकी स्थिति देखिये। भक्त बिल्वमंगलकी पहलेकी स्थिति कैसी है ? बालीको देखिये, जिसके लिये स्वयं भगवान् कहते हैं कि तू बड़ा पापी है, उसका भी उद्धार हो गया। अतः भगवान्‌के यहाँ गुंजाइश बहुत है।

भगवान्‌की जो सारे जीवोंपर परम दया है, उनका जो हृदयका परम भाव है, उससे हमको लाभ उठाना चाहिये। जो मनुष्य भगवान्‌के स्वभावको समझ लेता है, वह फिर भगवान्‌की प्राप्तिसे वञ्चित नहीं रह सकता। श्रीशिवजी महाराज कहते हैं—

उमा राम स्वभाव जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥

यह विश्वास रखना चाहिये कि भगवान्‌का ऐसा उच्च-कोटिका भाव है कि भगवान्‌के स्वभावको हम जान जायँ तो भगवान्‌की प्राप्ति होना कोई भी कठिन नहीं। भगवान्‌का स्वभाव बड़ा ही कोमल है। कोई कैसा

भी पापी क्यों न हो, भगवान्‌के शरण हो जानेपर उसको भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। भगवान्‌के स्मरणमात्रसे सम्पूर्ण पापोंका नाश हो जाता है; किंतु जो उच्चकोटिके पुरुष होते हैं, वे तो पापोंके नाशके लिये भगवान्‌को नहीं भजते। वे यह समझते हैं कि भगवान्‌का भजन तो ऐसी महान् मूल्यवान् तथा महत्त्वपूर्ण वस्तु है कि उसे पापोंके नाशके काममें कभी नहीं लगाना चाहिये। भगवान्‌के भजनसे पापोंको नाश करनेका जो काम है, वह तो हीरेसे कंकड़ फोड़ना है। हीरा-जैसी वस्तुसे क्या कंकड़ फोड़ने चाहिये? इसीलिये उच्चकोटिके पुरुष पापोंके नाशके लिये नहीं, किंतु भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये ही भजन करते हैं। भगवान्‌का प्रेम बहुत ही उच्चकोटिकी वस्तु है। कहाँ भगवत्प्रेम और कहाँ पापोंका नाश? पापोंका नाश तो भगवान्‌के नामके आभासमात्रसे अपने-आप ही हो जाता है। सूर्य जब उदय होता है, तब उसके सम्मुख अन्धकार रह ही नहीं सकता और ज्ञानके सम्मुख अज्ञान नहीं टिक सकता। इसी प्रकार भगवान्‌के भजनके प्रभावके सम्मुख पाप रह ही नहीं सकते। हम सूर्यभगवान्‌के दर्शनके लिये सूर्यकी आराधना करें तो हमको यह कहनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती कि हे प्रभो ! आप अन्धकारका भी नाश कर डालिये। हम तो यह कहेंगे कि 'आप कृपापूर्वक हमें दर्शन दे दीजिये; इसके बाद यदि अन्धकार रह सके तो हमें कोई आपत्ति नहीं।' इसी प्रकार हम मनमें विश्वास करें कि पाप चाहे बने रहें और चाहे भगवान् उनका फल प्रसन्नतासे हमें भुगतावें, हम तो भगवान्‌से मिलना चाहते हैं। पापोंके फलस्वरूप यदि नरक हो तो कोई आपत्ति नहीं; हम नरकमें भी भगवान्‌के दर्शन ही चाहते हैं; बल्कि नरकमें दर्शन हों तो और भी अच्छी बात है, नारकीय सभी जीवोंका भी उद्धार हो सकता है। अपनेको तो भगवान्‌के दर्शनसे प्रयोजन है, पापोंके नाशसे नहीं।

यह भी विश्वास करना चाहिये कि हमारे पात्र होनेपर ही भगवान् दर्शन देंगे, ऐसी बात नहीं है। जो इस प्रकार समझते हैं कि हम पात्र होंगे तभी भगवान् दर्शन देंगे तो उनको अपने निश्चयके अनुसार पात्र होनेपर ही भगवान्‌के दर्शन हो सकते हैं। पर भगवान्‌का तो यह नियम है कि जो मनुष्य यह समझता है कि भगवान् परम दयालु हैं, पात्रपर तो दया होती ही है, किंतु अपात्र-कुपात्रपर भी भगवान्‌की दया होती है; और जो ऐसा समझता है कि मेरी योग्यताकी ओर ध्यान देता हूँ तो मैं पात्र नहीं, किंतु जब भगवान्‌के स्वभावकी ओर देखता हूँ, भगवान्‌के विरदकी ओर देखता हूँ, भगवान्‌की दयाकी ओर दृष्टिपात करता हूँ, भगवान्‌के अहैतुक प्रेमकी ओर दृष्टि जाती है तो मैं ही नहीं, मुझसे भी अधिक जो जितने नीचे हैं, वे सभी भगवान्‌की प्राप्तिके अपात्र होते हुए भी पात्र हैं; इस प्रकार समझनेवाला मनुष्य अपात्र भी पात्र ही समझा जाता है। अतः भगवान्‌की दयाके प्रभावके सामने अपनेको कभी अपात्र न समझे।

जो इस प्रकार भगवान्‌की दयाके प्रभावको समझते हैं, जानते हैं, उनमें जो अपात्रता और कुपात्रताका दोष है वह भी भगवान्‌की प्राप्तिको रोक नहीं सकता। भगवान्‌के भरोसेपर जो यह निश्चित विश्वास कर लेता है कि मुझको अबकी बार भगवान्‌की प्राप्ति निश्चय ही होगी तो उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।

यदि कोई कहे कि 'आपका कहना तो ठीक है, विश्वास तो ऐसा ही करना चाहिये, किंतु मनुष्य अपने पापों और अवगुणोंकी ओर देखकर अपने प्रारब्ध (भाग्य) पर दोष लगाता है सो ठीक है; किंतु यह कठिनता तो उसने स्वयं ही पैदा कर ली है। उसको अपने भाग्यकी आड़ नहीं देनी चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिमें भाग्य बाधक नहीं है। इस तत्त्वको जो नहीं समझते हैं, वे ही भाग्यको कोसते हैं कि हमारा भाग्य ही बुरा है। वस्तुतः भगवान्‌की प्राप्तिको बुरा प्रारब्ध रोक नहीं सकता। प्रारब्ध ही रुकावट डाल सकता तो प्रारब्धभोगके पहले भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती; किंतु ऐसी बात नहीं है।'

कोई पूछे कि 'भगवान्‌की प्राप्ति कितने समयमें हो सकती है?' तो इसका यह उत्तर है कि भगवान्‌की प्राप्तिमें समयका नियम नहीं है। मनुष्य भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको समझ जाय तो उसे क्षणमात्रमें भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। नहीं तो वर्षों-के-वर्ष बीत जानेपर भी भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि यह प्रश्न हो कि 'भगवान्‌की प्राप्ति साधनके बलपर होती है या भगवान्‌की सुहृदताके बलपर अर्थात् भगवत्प्राप्ति साधनपर निर्भर है अथवा भगवान्‌के प्रेमी और दयालु स्वभावपर?' तो इसका उत्तर यह है कि जो मनुष्य ऐसा समझता है कि मेरे साधनसे भगवान्‌की प्राप्ति होगी, उसके लिये तो साधनपर निर्भर है; और जिसका यह विश्वास है कि भगवान् प्राणिमात्रके सुहृद् हैं और उनमें मैं भी एक हूँ, उसके लिये भगवान्‌की प्राप्ति भगवान्‌की सुहृदयतापर निर्भर है। भगवान् कहते हैं—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(गीता ५। २९)

'मेरा भक्त मुझको सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

सुहृद् कहते हैं हेतुरहित (बिना ही कारण) दया और प्रेम करनेवालेको। भगवान्‌की अहैतुकी दया और प्रेम सभी प्राणियोंपर है; इसलिये भगवान् सबके परम प्रेमी और सुहृद् हैं। जो इस प्रकार तत्त्वतः भगवान्‌को परम दयालु और परम प्रेमी समझकर उनकी शरण ले लेता है, वह भगवान्‌से वञ्चित नहीं रह सकता, वह परम शान्तिस्वरूप परमात्माको अवश्य प्राप्त कर लेता है। अतः भगवान्‌का यह कहना कि—

'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति'॥

—युक्तियुक्त और शास्त्रसम्मत है।

भगवान् बड़े ही दयालु और प्रेमी हैं। वे किसीके दुःखको नहीं देख सकते एवं भगवान् जितना प्रेमका मूल्य चुकाते हैं उतना दुनियामें कोई चुका ही नहीं सकता। इस रहस्यको समझकर जो भगवान्‌के प्रति अपने-आपको समर्पण कर देता है, भगवान् अपने-आपको उसके प्रति समर्पण कर देते हैं। बतलाइये, इस प्रकार मङ्गलमय दयालु और प्रेमी भगवान्‌के सिवा दुनियामें और कौन है?

जगत्‌में कहीं भी इस प्रकारका सौदा सम्भव नहीं है। एक कंगाल मनुष्य किसी करोड़पति धनीको अपना सर्वस्व समर्पण कर दे तो उसके बदलेमें करोड़पति धनी भी अपना सर्वस्व उसके प्रति अर्पण कर देगा, यह असम्भव-सी बात है। यह उदारता तो भगवान्‌के दरबारमें ही है। भगवान् समझते हैं कि 'आत्मा ही सबको सबसे बढ़कर प्रिय है, उस आत्मासहित अपने सर्वस्वको इसने मुझपर न्योछावर कर दिया तो अब मैं इसको अपना सर्वस्व भी अर्पण कर दूँ तो भी मैं इसके ऋणसे मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि पहले इसने अपना सब कुछ मेरे अर्पण कर दिया, तब उसके बाद मैंने अर्पण किया। पहले मैं इसके अर्पण करता तो मेरी विशेषता थी। अतः इसके बराबर देकर भी इसकी जो अर्पण करनेमें प्राथमिकता है, उसमें तो इसकी विशेषता है ही।' यों परम उदार भगवान् अपनेको भक्तका आभारी मानते हैं।

और भी एक बात है। जो मनुष्य भगवान्‌की सुहृदताके तत्त्व-रहस्यको समझ लेता है, वह स्वयं भी सुहृद् बन जाता है; क्योंकि भगवान्‌के स्वभावमें सुहृदता एक विशेष स्थान रखती है। अपना स्वभाव तो अपने ही अधीन है—इस प्रकार समझकर वह भगवान्‌के स्वभावके अनुसार ही अपने स्वभावको बना लेता है। फिर भगवान् उसके पास अपने-आप ही आते हैं; क्योंकि वह भगवान्‌का भक्त है, भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और स्वभावको जाननेवाला है एवं भगवान्‌पर उसकी परम श्रद्धा और पूर्ण विश्वास है। ऐसे प्रेमी भक्तसे भगवान् अलग कैसे रह सकते हैं और ऐसा वह प्रेमी भक्त भी भगवान्‌से अलग कैसे रह सकता है? भगवान् गीतामें कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६।३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

जो आकाशको सबमें देखता है और सबको आकाशमें देखता है, उसकी दृष्टिसे आकाश कभी ओझल हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार आकाशकी-ज्यों जो सर्वत्र भगवान्‌को देखता है और भगवान्‌में सबको देखता है, उसकी दृष्टिसे भगवान् कैसे ओझल हो सकते हैं और वह भी भगवान्‌से कैसे ओझल रह सकता है? वे तो सदा-सर्वदा परस्पर एक-दूसरेको देखते ही रहते हैं। यह कितने महत्त्वकी स्थिति है। भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जाननेवाले प्रेमी भक्तसे भगवान् छिप नहीं सकते। तत्त्वकी प्रधानता है ज्ञानके मार्गमें और रहस्यकी प्रधानता है भक्तिके मार्गमें। भगवान् श्रीकृष्ण स्वाँग धरकर आते थे, इस रहस्यको गोपियाँ समझती थीं। गोपियाँ पहचान लेती थीं कि यह सखी नहीं, यह तो प्रेमी सखा मालूम होते हैं। तब भगवान्‌का रहस्य खुल जाता और भगवान् प्रकट हो जाते।

अब इस प्रश्नपर पुनः विचार करना है कि भगवान् शीघ्र-से-शीघ्र कैसे मिलें। जब मनुष्यकी यह इच्छा हो जाती है कि भगवान् शीघ्र-से-शीघ्र कैसे मिलें, तो बस, भगवान्‌के शीघ्र मिलनेका यही उपाय है कि उस इच्छाको तीव्रतम बनाया जाय। तीव्रतम इच्छा हो जानेपर भगवान् विलम्ब नहीं करते। जो भगवान्‌के वियोगको सहन करता है, उसीके लिये भगवान् विलम्ब करते हैं। हमलोग उनके वियोगको सहन कर रहे हैं, तभी भगवान् हमलोगोंसे मिलनेमें विलम्ब करते हैं। जब हमलोग भगवान्‌के विरहमें ऐसे व्याकुल हो जायँगे कि क्षणभर भी नहीं रह सकेंगे, तब भगवान् भी हमलोगोंके पास आये बिना क्षणभर भी नहीं रह सकेंगे। हमारी जो दशा हो जायगी, वही भगवान्‌की भी हो सकती है।

किसीने पूछा—'हम तो भगवान्‌के विरहमें व्याकुल

होते हैं पर क्या भगवान् भी हमारे विरहमें व्याकुल होते हैं?' हमने उत्तर दिया—'व्याकुलकी भाँति ही हो जाते हैं।' वे बोले— 'भाँति कैसे?' मैंने कहा—जैसे सीताजी भगवान्‌के विरहमें व्याकुल हो गयी थीं तो भगवान् भी सीताजीके विरहमें व्याकुल-से हो गये थे। हमलोगोंकी दृष्टिमें तो भगवान् सीताके लिये इतने व्याकुल हो गये थे कि वृक्षों और पशु-पक्षियोंसे पूछने लगे कि क्या मेरी सीताको आपलोगोंने देखा। बल्कि उन्मत्तकी तरह विलाप करने लगे। पर वास्तवमें भगवान् उन्मत्त नहीं होते, अधीर नहीं होते; अधीर और विकलकी भाँति प्रतीत होते हैं। भगवान्‌ने यह दिखला दिया कि जिस प्रकार मैं सीताके लिये व्याकुल हूँ, इसी प्रकार सीता मेरे लिये व्याकुल है। जब लक्ष्मणजीके शक्ति-बाण लगा, तब भगवान् लक्ष्मणजीके विरहमें व्याकुल होकर प्रलाप करने लगे। इस लीलासे भगवान् यह बतला रहे हैं कि मेरे वियोगमें लक्ष्मणकी ऐसी दशा हो सकती है जैसे कि लक्ष्मणके बिना मेरी। भगवान्‌की विरह-व्याकुलतामें लक्ष्मणकी जो दशा होनी चाहिये, वैसी ही दशामें मग्न होकर भगवान् विलाप-प्रलाप करने लगे।

अतएव भगवान्‌की प्राप्तिके लिये सबसे बढ़कर उपाय है—भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा। तीव्र इच्छा होनेपर भगवान् नहीं रुक सकते। भगवान्‌से मिलनेमें भजन और ध्यानमें उतनी सामर्थ्य नहीं, जितनी मिलनकी तीव्र इच्छामें है। जब भगवान्‌के मिले बिना हमको चैन नहीं पड़ेगी, तब भगवान्‌को भी चैन नहीं पड़ेगी। ऐसी परिस्थितिमें दोनोंमें जो समर्थ होता है, उसीके लिये आकर मिलनेका कानून अधिक लागू पड़ता है। इस विषयमें हम तो सर्वथा असमर्थ हैं, इसलिये भगवान्‌के पास जा नहीं सकते; पर भगवान् तो सब प्रकारसे समर्थ हैं, वे तो हमारे पास आ ही सकते हैं। जैसे मेरा कोई मित्र सख्त बीमार है, अतः वह मेरे पास नहीं आ सकता, पर मेरा शरीर नीरोग हो तो मैं उसके पास जा सकता हूँ। उसने मेरे पास सूचना भेज दी कि मैं बीमार हूँ, इसलिये आपके पास पहुँच नहीं सकता, किंतु मैं आपसे मिलना चाहता हूँ। इसपर, यदि मैं थोड़ा भी प्रेम रखनेवाला होऊँगा तो अपने प्यारे प्रेमीके पास जानेकी जिस किसी प्रकारसे शक्तिके अनुसार चेष्टा करूँगा। परंतु चेष्टा करनेपर भी मेरा उससे मिलना निश्चित नहीं, क्योंकि हमलोग सर्वथा असमर्थ और प्रारब्धके अधीन हैं, किंतु भगवान् तो सर्वथा स्वतन्त्र, सर्वसमर्थ, परम दयालु और हेतुरहित प्रेम करनेवाले हैं। वे भला, एक क्षण भी कैसे रुक सकते हैं? परंतु हमलोगोंमें जो विश्वास और प्रेमकी कमी है, उसकी पूर्ति तो हमलोगोंको ही करनी चाहिये। हाँ, हम भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम होनेके लिये भगवान्‌से याचना करें तो इस विषयमें भगवान् हमारी सहायता कर सकते हैं।

हम जैसे मान, बड़ाई, स्त्री, पुत्र, धन, शरीर और विषयभोग आदिसे प्रेम करते हैं, वैसे ही भगवान्‌से प्रेम करें तो भगवान् मिल सकते हैं। मान-बड़ाई आदि पदार्थ तो जड हैं, उनको हम ही चाहते हैं, वे हमको नहीं चाहते और उनके प्राप्त होनेमें प्रारब्धका भी सम्बन्ध है; इसलिये वे मिल भी सकते हैं और नहीं भी। किंतु भगवान् तो चेतन हैं, वे भजनेवालेको भजते हैं एवं इसमें प्रारब्ध भी बाधा नहीं दे सकता। अतएव जो भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा रखते हैं, उनसे भगवान् अवश्य मिलते हैं।

यदि हम यह विश्वास कर लें कि हमारा प्रेम थोड़ा भी होगा तो भगवान् मिल जायँगे, तो थोड़े प्रेमपर भी परम दयालु और परम प्रेमी भगवान् हमारे दोषोंकी ओर न देखकर हमसे मिल सकते हैं। जो यह विश्वास कर लेता है कि भगवान् न तो पात्रता देखते हैं और न प्रेम ही देखते हैं, केवलमात्र यही देखते हैं कि यह मुझको चाहता है। बस, चाहनेवालेसे भगवान् मिलते हैं। अतः हमारे मनमें भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा होनी चाहिये। जैसे, एक लोभी मनुष्य रुपयोंको चाहता है। उसकी सारी चेष्टा रुपयोंके लिये ही होती है। उसके मनमें सदा-सर्वदा ही रुपये निवास करते हैं। वह वाणीके द्वारा रुपयोंकी रटन नहीं करता, किंतु उसके मनमें रुपयोंकी तीव्र इच्छा रहती है। अतः वह रुपयोंका सच्चा भक्त है। वह रुपयोंके लिये स्त्री-पुत्र, धर्म-कर्म, ईश्वर—सबको छोड़ सकता है। वह कहता है—'रुपये मिलने चाहिये और चाहे कुछ भी न मिले।' इसी प्रकार जो भगवान्‌का सच्चा भक्त है, उसकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌के लिये ही होती हैं और उसे भगवान् अवश्य मिलते हैं। इसीलिये श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

'हे राम! जिस प्रकार कामी पुरुषको नारी प्यारी लगती है, लोभीको रुपया प्यारा लगता है, उसी प्रकार हे रघुनाथजी! मुझे निरन्तर आप प्यारे लगें।'

इस प्रकारका प्रेम होनेपर भगवान् अवश्य ही मिल जाते हैं। यदि भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वास हो तो भी भगवान् मिल सकते हैं; क्योंकि भगवान्‌के मिलनेमें श्रद्धा-विश्वास प्रधान हेतु है। अतः जो यह दृढ़ निश्चय कर लेता है कि

आज रातमें भगवान् मुझे अवश्य मिलेंगे तो उसे उस रातमें नींद नहीं आयेगी; क्योंकि वह प्रतिक्षण भगवान्के मिलनेकी प्रतीक्षा करता रहेगा कि भगवान् अब आये, एक घड़ीमें आये, एक पलकमें आये, वे आये, ये आये। यदि नींद आ जाती है तो यह विश्वास कहाँ कि आज रातमें भगवान् मिलेंगे; क्योंकि भगवान् रातमें कब मिलेंगे, यह तो कोई नियम नहीं है। अतः उसे स्वाभाविक ही प्रतिक्षण प्रतीक्षा बनी रहनी चाहिये। जैसे रात्रि अधिक होनेपर पतिव्रता स्त्री अपने पतिकी बाट जोहती रहती है, प्रतीक्षा करती रहती है, उससे भी बढ़कर वह भक्त प्रतीक्षा करता रहता है। उस स्त्रीको तो नींद आ भी जाती है; क्योंकि कभी पति आते हैं और कभी नहीं आते हैं। किंतु भगवान्के भक्तको नींद नहीं आती; क्योंकि वह प्रतिक्षण भगवान्से मिलनेकी प्रतीक्षा करता रहता है और वह भगवान्की पूजा तथा सत्कारके लिये तैयारी रखता है।

जैसे अपने घरपर कोई उच्च अधिकारी या कोई सम्मान्य पुरुष या कोई मान्य अतिथि अथवा कोई मित्र आता है तो उसके आनेके पहले ही हम उसके लिये उपयोगी पदार्थोंको तैयार रखते हैं, उसी प्रकार भक्त भगवान्की पूजा करनेके लिये चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि सारी सामग्री तैयार रखता है और उसके मनमें बड़ा भारी उत्साह तथा उमंग रहती है। जैसे पतिव्रता स्त्रीको यह सूचना मिल जाती है कि आज रातमें उसके पति पहुँचनेवाले हैं तो उसे कितना उत्साह हो जाता है, उससे भी बढ़कर उत्साह भगवत्प्रेमीको रहता है; क्योंकि भगवान्-जैसी मूल्यवान् वस्तु दुनियामें और कोई भी नहीं है। भगवान्के मिलनेके लिये तो केवल तीव्र इच्छा होनी चाहिये, अन्य साधनकी कोई आवश्यकता नहीं है। साधनकी जितनी आवश्यकता होती है, वह इच्छा अपने-आप ही करा देती है।

जब मछलीको जलसे बाहर निकाल दिया जाता है, तब मछलीको जलके संयोगकी तीव्र इच्छा रहती है, वह जलके बिना तड़पती है और जलको भूलती नहीं। इसी प्रकार भगवान्से मिलनेकी तीव्र इच्छा और तड़पन हो तो भगवान्को बाध्य होकर उसी समय आना पड़े। इतना न हो और चातककी भाँति भी नियम और लालसा हो, तो भी भगवान्की प्राप्ति हो सकती है। चातकका यह नियम है कि वह भूमिपर पड़े जलको पीता ही नहीं, चाहे गङ्गाजल ही हो। उसके तो एक ही टेक है कि मैं आकाशसे बरसनेवाले जलका ही पान करूँगा। अतः भगवान् उसके लिये भी आकाशसे जल बरसाकर उसके जीवनकी रक्षा करते हैं; किंतु चातककी दशा कैसी होती है? जब आकाशमें बादल गरजते हैं तो वह मुग्ध हो जाता है। यदि आकाशसे ओले बरसते हैं, पत्थर बरसते हैं, उसकी पाँखें टूट जाती हैं तो भी वह वहाँसे हटता नहीं और उस वर्षाके जलकी बूँदके लिये व्याकुल हुआ तरसता रहता है। इसी प्रकार भक्तके मनमें भगवान्से मिलनेकी व्याकुलता हो तो अवश्य ही भगवान् उसके लिये बरसेंगे यानी प्रकट होकर मिलेंगे। इतना भी यदि न हो तो हमें चकोर पक्षीकी तरह होना चाहिये। जिस प्रकार पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखकर चकोर पक्षी एकटक ध्यान लगा देता है, इसी प्रकार हम भगवान्के ध्यानमें मस्त हो जायँ, तो भी भगवान्को बाध्य होकर आना पड़े।

हमलोगोंको सुतीक्ष्णजीकी भाँति भगवान्के प्रेमपूर्वक ध्यानमें तन्मय होना चाहिये। जब सुतीक्ष्णजी भगवान्के प्रेममें मस्त हो गये, तब भगवान् उनके हृदयमें प्रकट हो गये। तब सुतीक्ष्णजी भगवान्के ध्यानमें तन्मय हो गये। इससे भगवान्को बाध्य होकर प्रत्यक्ष दर्शन देने पड़े। गोपियोंकी तरह भगवान्में प्रेम हो जाय तब तो फिर बात ही क्या है?

अतएव भगवान्में हमारा अनन्य प्रेम और अतिशय श्रद्धा-विश्वास होना चाहिये। भगवान् देखते रहते हैं कि इसके हृदयमें कब प्रेम हो और कब मैं दर्शन दूँ। हम मुँहसे कहते हैं कि हमारा प्रेम और विश्वास है, किंतु भगवान् तो अन्तर्यामी ठहरे। हृदयमें अनन्य प्रेम और विश्वास होनेपर फिर भगवान्के प्रकट होनेमें विलम्ब नहीं होता। जैसे—जब बिजली बिलकुल फिट हो जाती है तो स्विच दबानेके साथ ही रोशनी हो जाती है, इसी प्रकार प्रेम और विश्वास होनेके साथ ही भगवान् प्रकट हो जाते हैं। फिर सारी अपात्रता नष्ट हो जाती है, वह फिर कुपात्र नहीं समझा जाता। केवलमात्र एक सच्चे प्रेम और विश्वासकी ही आवश्यकता है।

हमलोग सत्सङ्गमें जाते हैं, रहते हैं, साधन करते हैं और यही भाव रहता है कि 'ठीक है, साधन करो, कभी-न-कभी भगवान् मिल ही जायँगे।' पर यह विश्वास नहीं होता कि भगवान् अभी तुरंत ही मिलनेवाले हैं। जिसके हृदयमें यह भाव है कि हमारी करतूतोंको देखते हमें भगवान्का मिलना कठिन है, उसके लिये भगवान्का मिलना कठिन है। किंतु जिसके हृदयमें यह भाव है कि 'भगवान्का स्वभाव बहुत ही कोमल है, वे मेरे अवगुणोंको नहीं देखते, वे अपनी ओर देखकर मुझे अवश्य मिलेंगे' उसको अवश्य मिलते हैं। जिसको यह विश्वास हो जायगा

कि भगवान् हमको अवश्य मिलेंगे तो उसके चाव चढ़ जायगा, वह क्षण-क्षणमें भगवान्‌की प्रतीक्षा करता रहेगा और क्षण-क्षणमें उसका जीवन बदलता रहेगा, उससे उसके उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ता रहेगा।

संसारमें जितने पदार्थ हैं, उन सबके मिलनेके सम्बन्धमें संशय है; क्योंकि उन सबका मिलना प्रारब्धपर निर्भर करता है और वे सब जड हैं; किंतु चिन्मय भगवान्‌के मिलनेमें प्रारब्ध बाधक नहीं है तथा भगवान्‌के समान न तो कोई दयालु है और न कोई प्रेमी है। इसलिये भगवान्‌के मिलनेमें शङ्का करना तो भगवान्‌के स्वभाव और प्रभावको न जानना ही है। वास्तवमें विचार किया जाय तो भगवान्‌का मिलना जितना सुगम है, उतना संसारमें किसीका भी मिलना सुगम नहीं है। जितने चराचर प्राणी हैं, उनमेंसे तो कोई भी भगवान्‌के समान स्वभाववाला है नहीं और जितने जड पदार्थ हैं, उनमें मिलनेकी इच्छा भी नहीं हो सकती। जड पदार्थ तो प्रारब्धसे ही मिलते हैं।

यदि सारी दुनियाकी दया इकट्ठी कर ली जाय तो दयासागर भगवान्‌की दयाकी एक बूँदके समान भी शायद ही हो। ऐसे वे परम दयालु हैं। वे दया, प्रेम आदि गुणोंके सागर हैं। हमलोगोंमें तो नाममात्रका प्रेम है, भगवान्‌में अनन्त प्रेम है। भगवान् प्रेमके तत्त्व-रहस्यको जितना जानते हैं, उनके सम्मुख हमलोग कुछ भी नहीं जानते। ऐसे भगवान्‌को हम मिलनेमें विलम्ब करनेवाला मानें तो हमारी मूर्खता है। भगवान्‌के मिलनेमें जो विलम्ब हो रहा है, वह हमारे प्रेम और विश्वासकी कमीके कारण ही हो रहा है।

दो व्यक्ति परस्पर प्रेमी हैं। एक साधारण प्रेमी है और एक विशेष। उनमें साधारण प्रेमवाला तो प्रेमास्पदके बिना रह सकता है, किंतु जो प्रेमके तत्त्व और रहस्यको विशेषरूपसे जाननेवाला है, वह कैसे रुक सकता है और कैसे अपने प्यारेसे मिले बिना रह सकता है। भगवान् सर्वशक्तिमान् और अन्तर्यामी हैं, अतः उनके मिलनेमें जो विलम्ब होता है, वह केवल हमारे श्रद्धा-प्रेमकी कमीसे ही होता है।

अतएव हमलोगोंको यह भाव बढ़ाना चाहिये कि भगवान् हैं और उनसे जो मिलना चाहता है, उससे वे मिलते हैं। भगवान् श्रद्धा-प्रेमके सिवा और कुछ भी नहीं देखते। केवल भक्तके हृदयमें भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा होनी चाहिये। जैसे प्यासा आदमी जल चाहता है, उसे जल तो कभी मिले या न भी मिले; क्योंकि उसका सम्बन्ध प्रारब्धसे है। पर भगवान् तो तीव्र इच्छा होनेपर अवश्य मिलते हैं। जब मनुष्यको जलकी प्यास लगती है, तब उसे बार-बार जल याद आता है। वह जलको जानकर याद नहीं करता, वह प्यासके कारण जलको भुला नहीं सकता। इसी प्रकार जब भगवान्‌की प्यास लगेगी यानी उनसे मिलनेकी तीव्र इच्छा होगी, उस समय भगवान् अपने-आप ही याद रहेंगे। जलकी इच्छावाला प्यासा आदमी जिस प्रकार जलको भजता है, इसी प्रकार भगवान्‌का जो भजन करता है उसे भगवान् अवश्य मिलते हैं। जैसे भूखे आदमीको बार-बार अपने-आप ही भोजनकी स्मृति होती है, इसी प्रकार जब भगवान्‌के मिलनेकी भूख लगेगी, तब भगवान्‌की स्मृति अपने-आप ही होगी। पर जब भगवान्‌के मिलनेकी भूख ही नहीं है, तब भगवान् कैसे मिलें? जिसे ज्वर हो जाता है उसे ज्वरके कारण भूख नहीं लगती। यहाँ ज्वर क्या है? हमलोगोंमें जो नास्तिकता, अश्रद्धा, विषयासक्ति, संशय और पापोंके कारण मनकी मलिनता है, यही ज्वर है। इसीके कारण भूख नहीं लगती। जब मनुष्यको भूख नहीं लगती तो वह ओषधिका सेवन करता है, चूर्ण खाता है या और कोई पाचक वटी लेता है, तब भूख लगती है। इसी प्रकार यहाँ सत्पुरुष वैद्य हैं और शास्त्र आयुर्वेदकी पुस्तकें हैं। ओषधि है भगवान्‌की भक्ति यानी भगवान्‌के नामका जप, भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान और भगवदर्थ कर्म। जिस प्रकार ओषधिके सेवनसे भूख लग सकती है, उसी प्रकार भगवान्‌का भजन-ध्यान और भगवदर्थ कर्म करनेसे भूख लगती है—अर्थात् भगवत्प्राप्तिकी तीव्र इच्छा होती है। भजन-ध्यानके अनुष्ठानमें रुचि होती है सत्सङ्गसे, अथवा सत्सङ्गके अभावमें सत्-शास्त्रोंके अभ्याससे। भगवान्‌के गुण, प्रभाव और तत्त्व-रहस्यकी बातोंको यदि हम भगवान्‌के भक्तोंसे सुनें, शास्त्रोंमें पढ़ें और उनपर विश्वास करें तो फिर हम भगवान्‌से मिले बिना नहीं रह सकते। हम जबतक भगवान्‌का वियोग सहन कर रहे हैं, तभीतक भगवान् आनेमें विलम्ब कर रहे हैं।

अतएव हमलोगोंको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय और भगवदर्थ कर्म निष्कामभावसे निरन्तर करते रहना चाहिये।

भगवन्नाम-महिमा

भगवान्‌के नामकी महिमा अपार है, अपरिमित है। वाणीके द्वारा उसकी महिमा स्वयं भगवान् भी नहीं बतला सकते, तब दूसरा तो बतलायेगा ही क्या? जैसे खेतमें बीज किसी भी प्रकारसे बोया जाय, उससे लाभ-ही-लाभ है, इसी प्रकार भगवान्‌के नामका जप किसी भी प्रकारसे किया जाय, उससे लाभ-ही-लाभ है। श्रीमद्भागवतमें बतलाया है—

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥

(६। २। १४-१५)

'महापुरुष जानते हैं कि चाहे पुत्रादिके संकेतसे हो, हँसीसे हो, स्तोभ (गीतके आलापके रूप) से हो और अवहेलना या अवज्ञासे हो, वैकुण्ठभगवान्‌का नामोच्चारण सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला है। जो मनुष्य ऊँचे स्थानसे गिरते समय मार्गमें पैर फिसल जानेपर, अङ्ग-भङ्ग हो जानेपर, सर्पादिद्वारा डँसे जानेपर, ज्वरादिसे संतप्त होनेपर अथवा युद्धादिमें घायल होनेपर विवश होकर भी 'हरि' इतना ही कहता है, वह नरकादि किसी भी यातनाको नहीं प्राप्त होता।'

फिर यदि नामका जप मनसे किया जाय तो उसकी बात ही क्या है? क्योंकि मानसिक जपकी विशेष महिमा बतलायी गयी है। श्रीमनुजी कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

(२। ८५)

'विधियज्ञ (होम) से उच्चारण करके किया हुआ जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है और उपांशु सौगुना श्रेष्ठ है तथा मानसजप हजारगुना श्रेष्ठ है।'

नामकी महिमा सभी युगोंमें है, किंतु इस कलिकालमें तो इसकी महिमा और भी विशेष है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

(विष्णुपु० ६। २। १७)

'सत्ययुगमें ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञोंका अनुष्ठान करनेसे, द्वापरमें पूजा करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वही फल कलियुगमें केवल श्रीकेशवके कीर्तनसे मनुष्य प्राप्त कर लेता है।'

नामका जप यदि ध्यानसहित किया जाय तो सारे विघ्नोंका नाश होकर आत्माका उद्धार हो जाता है। योगदर्शनमें कहा है—

तस्य वाचकः प्रणवः। (१। २७)

'उस परमात्माका वाचक (नाम) ओंकार है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (१। २८)

'उसके नामका जप और उसके अर्थकी भावना यानी स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

(१। २९)

'ऐसा करनेसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है।'

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

(८। १३)

'जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मेरा चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परमगतिको प्राप्त हो जाता है।'

श्रीभगवान्‌के अनेक नाम हैं। उनमेंसे किसी भी नामका जप किसी भी कालमें, किसी भी निमित्तसे कैसे भी क्यों न किया जाय, वह परम कल्याण करनेवाला है। यदि भगवान्‌के नामका जप, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और अर्थको समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर किया जाय, तब तो तत्काल ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि भगवान्‌के भजनके प्रभावसे साधकको भगवान्‌के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, जिससे भगवान्‌की प्राप्ति होती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

श्रीभगवान् बाहर-भीतर सब जगह व्यापक हैं, परिपूर्ण हैं; किंतु अज्ञानके कारण नहीं दीखते। वह अज्ञान भी भगवान्के नाम-जपके प्रभावसे नष्ट हो जाता है। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

भगवन्नाम-जपके प्रभावसे सारे पापोंका नाश होकर पापी भी परमगतिको प्राप्त हो जाता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

जबहिं नाम हिरदै धर्‌यौ भयो पाप को नास।
मानो चिनगी अग्नि की परी पुरानी घास॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरिनाम प्रभाऊ॥

फिर धर्मात्माकी तो बात ही क्या है? द्रौपदी एवं गजेन्द्रके-जैसा प्रेम होनेपर तो सकाम भजनसे भी भगवान् मिल सकते हैं, फिर निष्काम भजनसे भगवान्की प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है। जो मनुष्य हर समय भगवान्के नामका स्मरण करता है, उसके तो भगवान् अधीन ही हो जाते हैं। श्रीगोस्वामीजीने कहा है—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥

यह स्मरण रखना चाहिये कि भगवान्के सभी नाम समान हैं। चाहे जिस नामका जप किया जाय, सभी कल्याण करनेवाले हैं। जैसे पानी, जल, नीर, अप्, वाटर आदि जलके ही विभिन्न नाम हैं और उन सबका एक ही अर्थ है। इसी प्रकार भगवान्के ॐ, हरि, वासुदेव, राम, कृष्ण, गोविन्द, नारायण, शिव, महादेव आदि सभी नामोंका एक ही अर्थ है। अतः किसी भी नामका जप करनेपर भगवत्प्राप्ति हो सकती है। संसारमें भगवन्नाम-जपके समान कोई भी साधन नहीं है। ज्ञान, ध्यान, यज्ञ, तप, योग आदि सभी साधन नाम-जपकी अपेक्षा कठिन हैं। अतः इन सब बातोंको सोचकर मनुष्यको नित्य-निरन्तर भगवान्के नामका जप और कीर्तन करना चाहिये। भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।
(९। ३३)

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

वस्तुतः संसारमें भगवान्के समान कोई भी पदार्थ नहीं है; क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान्के एक अंशमें है। जो इस तत्त्वको जान लेता है, वह एक क्षण भी भगवान्को नहीं भूल सकता। भगवान्ने गीतामें कहा है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥
(१५। १९)

'हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

इसलिये हमलोगोंको उचित है कि भगवान्के शरण होकर भगवन्नामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और अर्थको समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्काम प्रेमभावसे, ध्यानसहित, गुप्तरूपसे भगवान्के नामका मानसिक जप नित्य-निरन्तर करें।

ब्राह्मी स्थिति

संसारमें क्रियाकी अपेक्षा भाव बलवान् है। इसलिये अपना जो भाव है, उसको उत्तरोत्तर खूब बढ़ाना चाहिये। कैसा भी पापी और नीच क्यों न हो, यदि मरनेके समय भी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उच्चकोटिका निष्कामभाव हो जाय तो उसका निश्चित कल्याण हो जाता है। परमात्माके स्वरूपमें स्थिति हो जाय, तब तो कहना ही क्या है।

गीतामें बतलाया है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥
(२। ७२)

एषा—ऊपर जो बतलायी गयी है, वह ब्राह्मी स्थिति अर्थात् ब्रह्मके स्वरूपमें जो स्थिति है, वह ब्राह्मी स्थिति। इसको प्राप्त होकर मनुष्य फिर मोहको प्राप्त नहीं हो सकता। अन्तकालमें भी यह स्थिति हो जाय तो फिर वह निर्वाणब्रह्मको अर्थात् सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार परमात्माको प्राप्त हो जाता है। वह ब्राह्मी स्थिति कैसी बतलायी गयी है?—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
(२। ६९)

जो सारे भूतोंकी निशा—रात्रि है, उसमें संयमी जागता है। अभिप्राय यह है कि उस सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें संयमी—मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें किये रखनेवाला पुरुष जागता है, वह उस परमात्माके स्वरूपका अनुभव करता है। इससे अन्य जो विषयासक्त संसारी मनुष्य सोये हुए हैं यानी सोये हुएके समान हैं, उन लोगोंको इस बातका ज्ञान नहीं है कि परमात्मा क्या चीज है, परमात्माका स्वरूप कैसा है। अतः वे सोये हुएके तुल्य हैं। जैसे गाढ़ निद्रामें सोये हुए पुरुषको बाहरका कोई ज्ञान नहीं रहता, इसी प्रकार जो अज्ञान-निद्रामें सोया हुआ है, वह परमात्मविषयक ज्ञानसे सर्वथा वञ्चित है।

'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।'

जिस संसारके विषय-भोगोंमें संसारी मनुष्य जागते हैं यानी संसारके विषय-भोगोंका अनुभव करते हैं, वह ज्ञानी मुनिकी रात्रि है। जैसे रात्रिके शयनके समयमें गाढ़ निद्रावाले पुरुषको बाह्य संसारका ज्ञान नहीं रहता, इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें स्थित होनेपर समाधिस्थ ज्ञानी मुनिको संसारका ज्ञान नहीं रहता। अभिप्राय यह है कि जो परमात्माको प्राप्त हो जाता है, उसकी दृष्टिमें यह सृष्टि नहीं रहती। जो परमात्मामें तन्मय हो जाता है, उसीमें तन्मय होकर उसको प्राप्त हो जाता है, उसकी दृष्टिमें संसारका सर्वथा अभाव हो जाता है। जैसे गाढ़ निद्रामें शयन करते हुए पुरुषके लिये इस संसारका अभाव हो जाता है, ऐसे ही उसकी दृष्टिमें यह सृष्टि नहीं रहती; फिर भी जबतक शरीर है, तबतक प्रारब्धके अनुसार उसके मन-इन्द्रियोंद्वारा कर्म हो भी सकते हैं (गीता ४। १९)। इस प्रकारकी जो स्थिति है, वह अन्तकालमें भी हो जाय तो वह पुरुष निर्वाणब्रह्मको अर्थात् सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इसलिये हरेक माता-बहिनोंको और भाइयोंको उस परमात्मामें अपनी गाढ़ स्थिति हो, इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। किंतु इससे मनुष्यको यह भरोसा नहीं रखना चाहिये कि मरनेके समयमें ही अपना भाव ठीक कर लेंगे। प्रथम तो मरनेतककी जोखिम उठाना मूर्खता है। फिर मरनेके समयमें अपने अधिकारकी बात नहीं रहती कि हम अपनी स्थितिको उच्चकोटिकी बना लें। यह भाव तो अपने मनमें रखनेका है कि यदि अचानक मृत्यु निकट आ जाय तो उस समय सावधानीपूर्वक अपनी स्थितिको परमात्मामें कर लेना चाहिये। शरीरका क्या भरोसा है? देखा जाता है कि क्षणमात्रमें ही हार्ट फेल होकर मनुष्यकी अचानक मृत्यु हो जाती है। उसको यह थोड़े ही पता रहता है कि मैं अभी मरनेवाला हूँ। ऐसी घटना यदि हमलोगोंको प्राप्त हो तो क्या आश्चर्य है। यह शरीर तो क्षणभङ्गुर और नाशवान् है ही। कालका कोई भरोसा नहीं है। इसलिये मनुष्यको पहलेसे ही सावधान होकर रहना चाहिये। यह नियम है कि मृत्युके समय जिस-जिस भावसे भावित होकर मनुष्य जाता है, उसी-उसी भावको प्राप्त होता है (गीता ८। ६)। इसलिये हर समय परमात्माकी स्मृति रखनी चाहिये। भगवान् कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। सब प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

यहाँ सब कालमें स्मरण करना मुख्य है और युद्ध करना गौण है। इसलिये निष्कामभावसे हर समय भगवान्का स्मरण करना चाहिये।

हर क्रियामें अपना भाव सदा उच्चकोटिका (निष्काम) रखना चाहिये। कोई चाहे भक्तिका साधन करे, चाहे योगका, उसमें भाव उत्तम होनेसे ही उसका कल्याण हो सकता है। एक भाई यज्ञ करता है, दान देता है, तप करता है, सेवा करता है, पूजा करता है, जप करता है, संयम करता है, जो कुछ भी साधन करता है, पर सकाम भावसे करता है तो उसका जो फल मिलेगा, उससे उसकी कामनाकी सिद्धि ही हो सकती है; सो भी यदि भगवान् उसके लिये उसमें हित समझेंगे तब। हित नहीं समझेंगे तो देवतालोग भले ही उसकी कामनाकी पूर्ति कर दें, पर भगवान् तो उसका हित समझेंगे, तभी उसकी कामनाकी पूर्ति करेंगे। भगवान् सब प्रकारसे हमलोगोंकी रक्षा करते रहते हैं। किसी भी प्रकारसे इसका हित हो, वही चेष्टा भगवान्की रहती है, इसलिये हमलोगोंको प्रत्येक शुभ क्रियामें उच्चकोटिका अर्थात् निष्कामभाव बनाना चाहिये।

भगवान्की और शास्त्रोंकी तो हमलोगोंपर दया है ही तथा सत्-शास्त्र हमलोगोंको सुगमतासे मिल भी रहे हैं एवं महात्माओंकी भी दया है ही, वे तो सदा ही सबका हित चाहते हैं। केवल अपनी ही—अपने-आपपर दयाकी कमी है। इसलिये अपना भाव उच्चकोटिका बनाना चाहिये।

अपनी सारी ही क्रिया शास्त्रोक्त होनी चाहिये। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि अपना भाव उच्चकोटिका हो जायगा तो क्रिया अपने-आप ही उच्चकोटिकी होने लगेगी। जब हमारा निष्कामभाव हो जायगा, तब हमारे द्वारा होनेवाली सारी ही क्रियाएँ निष्काम समझी जायँगी। बाहरसे देखनेमें कोई क्रिया दूसरोंको सकाम भी प्रतीत हो तो कोई हानि नहीं; वास्तवमें जो निष्काम है, वह निष्काम ही है, वह बड़ा उच्चकोटिका भाव है।

निष्कामका अभिप्राय यह है कि अपने व्यक्तिगत स्वार्थसे सर्वथा रहित होना अर्थात् किसी भी प्रकारसे, किसीसे भी किंचिन्मात्र भी अपना व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध करनेकी इच्छा न रखना। बाहरमें कोई व्यक्ति यदि हमारी न्याययुक्त सेवा करना चाहता है और उसको उसके सुखके लिये, उसके संतोषके लिये हम स्वीकार भी कर लेते हैं तो यह भी हमारा निष्कामभाव ही है। निष्कामभावका रहस्य हमलोग समझते नहीं हैं। यदि निष्कामभावके तत्त्व और रहस्यको समझ जायँ तो साधनकालमें भी इतनी शान्ति और प्रसन्नता—आनन्द रहता है, जिसकी कोई सीमा नहीं है।

'निष्कामभाव होना कठिन है'—यह बात कहीं नहीं लिखी है। आप खूब ध्यान देकर देखें कि हमें यह क्यों कठिन प्रतीत होता है। वास्तवमें निष्कामके रहस्यको हमलोग समझे नहीं हैं, इसीसे वह कठिन प्रतीत होता है; क्योंकि हमलोगोंके हृदयमें, मनमें, वाणीमें, अणु-अणुमें सकामभाव छाया हुआ है। जब हृदयमें निष्कामभाव होता है और उसके अनुसार उसकी क्रिया होती है, तब उस क्रियाको देखकर दूसरे लोग भी मुग्ध हो जाते हैं कि देखो, यह कैसा स्वार्थरहित परोपकारी है, यह कैसा निष्कामी पुरुष है। दूसरे लोग तो उसकी क्रियासे केवल अनुमान ही करते हैं, वे वास्तवमें भावको समझते नहीं हैं। वे बाहरकी क्रियामें स्वार्थ नहीं देखते हैं, इसीसे उसको निष्काम मानते और समझते हैं; किंतु जिसके हृदयमें वस्तुतः निष्कामभाव होता है, उसके चित्तमें जैसे समुद्रमें लहरें आती हैं, वैसे ही शान्तिकी, आनन्दकी और ज्ञानकी लहरें उठा करती हैं।

जो मनुष्य संसारमें निष्कामभावका केवल दिखाऊ बर्ताव करता है, वह वास्तवमें निष्काम नहीं है; बल्कि दिखावटी झूठा निष्कामभाव तो एक प्रकारसे कलङ्क है। वह प्रकारान्तरसे सकामभाव ही है; वह कहीं-कहीं तो दम्भका रूप धारण कर लेता है, जो पतनका हेतु हो जाता है। जब वास्तवमें हृदयमें कोई भी कामना नहीं रहती, तब उसे प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २। ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको प्राप्त है।'

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

(गीता २। ७०)

'जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं।'

निष्कामी पुरुष अपने निष्कामभावसे परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार उस परमात्माके स्वरूपमें जो स्थिति होती है, वही ब्राह्मी स्थिति कही जाती है। ऐसी ब्राह्मी स्थितिवाला पुरुष, किस प्रकारसे परमात्मामें स्थित होता है, उसके लिये समुद्रकी उपमा देकर भगवान् कहते हैं कि जैसे समुद्र '**आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम्**'—अपने-आपमें ही जलके द्वारा परिपूर्ण है और अपनी महिमामें अचल स्थित है, इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें स्थित होकर जिसको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी है, वह उन विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपसे परिपूर्ण है और अपनी महिमामें अचल स्थित है। ब्रह्मकी ही महिमा उसकी अपनी महिमा है, इसलिये वह अपनी महिमामें अचल है। जैसे समुद्र अपनी महिमामें अचल स्थित है, ऐसे ही वह है। समुद्रमें सारी नदियोंका जल प्रवेश करता है, किंतु वह विचलित नहीं होता, उसमें किसी प्रकारका विकार भी नहीं होता। सारी नदियोंका जल प्रवेश होनेपर भी न तो कोई उसमें वृद्धि होती है और न कोई क्षोभ ही होता है। इसी प्रकार जो परमात्माके स्वरूपमें स्थित है, वह प्रारब्धके अनुसार संसारके सारे भोगों—पदार्थोंके

प्राप्त होनेपर भी विचलित नहीं होता; क्योंकि वह ब्रह्ममें स्थित है और उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके आनन्दसे परिपूर्ण है तथा उसीमें अचल स्थित है। जो परमात्माको प्राप्त हो जाता है अर्थात् जो परमात्मामें स्थित होकर परमात्मामें ही तन्मय हो चुका है, उसके ज्ञानका, शान्तिका, आनन्दका पार नहीं है, वस्तुतः वह स्वयं ही ज्ञानमय, शान्तिमय, आनन्दमय है। संसारके विषयभोगोंकी कामनावाले पुरुषको कभी शान्ति नहीं मिलती। इससे समझना चाहिये कि परमात्मविषयक जो शान्ति,आनन्द और ज्ञान है, वह कितना उच्चकोटिका है।

मनुष्यको साधनकालमें भी परमात्मविषयक अत्यन्त विलक्षण शान्ति, आनन्द और ज्ञान मिलता है; तब जो उपर्युक्त प्रकारसे परमात्माको प्राप्त हो जाता है, उसके लिये तो कहना ही क्या है? अतएव इस रहस्यको जान लेनेपर निष्काम होकर परमात्माके स्वरूपमें नित्य-निरन्तर स्थित रहना, यह कोई बहुत कठिन नहीं है। हमलोगोंको जो कठिन प्रतीत होता है, उसका कारण यह है कि हमलोग उसके तत्त्व, रहस्य और भावको समझे नहीं हैं। वस्तुतः यह जो संसार दिखायी देता है, इससे हमारे आत्माका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, केवल माना हुआ सम्बन्ध है। इसके साथ वस्तुतः सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है? यह संसार तो जड है और आत्मा चेतन है। चेतन और जडकी एक जाति नहीं। इसलिये जड और चेतनका वास्तविक सम्बन्ध कभी हो ही नहीं सकता।

संसारके किसी पदार्थका त्याग करनेपर हम कहते हैं कि हमने अमुक वस्तुका त्याग कर दिया, किंतु जब उपर्युक्त बात समझमें आ जाती है, तब यह जान पड़ता है कि हमने यथार्थमें कोई त्याग नहीं किया है। दूसरोंकी चीजको जो हमने अपनी मान रखा था कि यह चीज है और हमारी है, केवल इस मान्यताका त्याग किया है। यह वास्तवमें न्याय ही है। उस मान्यताको पकड़े रहनेमें तो प्रत्यक्ष ही हमारा पतन है। वास्तवमें तो वह चीज है ही नहीं, बिना हुए ही प्रतीत होती है और यदि यह मान भी लें कि वह है, तो उसको अपनी मानना तो बिलकुल ही अज्ञता है। दूसरोंकी चीजको अपनी न मानकर जब हम दूसरोंकी मान लेते हैं, तब हमें प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है।

चोर किसी दूसरेकी चीजको अपनी मान बैठता है और उसपर अपना अधिकार जमा लेता है तो उसको घोर दण्ड मिलता है। इसी प्रकार संसारकी चीजोंको जो अपनी मान बैठता है, वह भी एक प्रकारसे चोर ही है और उसको दण्ड होना भी उचित ही है। इस बातको खूब समझ लेना चाहिये। उदाहरणके लिये मान लें, मेरे पास लाख रुपये हैं और मैं सत्तर सालकी उम्रका हो गया हूँ तो यह तो है ही नहीं कि मैं सैकड़ों वर्षतक जीता ही रहूँगा। अतः अपने शरीर-निर्वाहके लिये कम-से-कम जितने रुपयोंकी आवश्यकता हो, उतने रखकर शेषको मैं परमात्माके ही काममें लगा दूँ तो यह सर्वथा उचित है। हरेक मनुष्यके लिये यही बात होनी चाहिये। साथ ही यह सोचना चाहिये कि यदि मैं दस वर्ष और जीऊँ और दो हजार रुपये सालाना अपने शरीरके लिये लगाऊँ तो बीस हजार रुपये पर्याप्त हैं। इसलिये अस्सी हजारको रोककर रखना मूर्खता ही नहीं, एक प्रकारसे चोरी ही है; क्योंकि यह असलमें दूसरोंके स्वत्वपर अपना अधिकार जमाना है।

दूसरे, यदि यह कहें कि यह चीज तो है किंतु मेरी नहीं है, भगवान्‌की है; तो फिर जब भगवान्‌के काममें लगानेका मौका आये, तब उसे आँख मूँदकर लगा देना चाहिये। वास्तवमें जिसका यह भाव है, उसको रुपये लगानेमें उत्तरोत्तर प्रसन्नता होनी चाहिये। परंतु यदि भगवान्‌की सेवामें रुपया लगाते समय मनमें चिन्ता, शोक, भय होता है या उसमें रुकावट होती है तो समझना चाहिये कि उसका भाव ठीक नहीं है; क्योंकि जिस चीजको हम अपनी नहीं मानते हैं, वह जिस मालिककी चीज है, उसको दी जानेमें तो हमें प्रसन्नता ही होनी चाहिये। कोई अमानतके रूपमें पाँच हजार रुपयेका गहना हमारे पास रख जाय और वह वापस आकर हमसे अपना गहना माँगे और उसकी चीज हम उसे सौंप दें तो हमें कितनी प्रसन्नता होती है। इसी प्रकार चित्तमें जब यह अनुभव हो जाता है कि यह भगवान्‌की चीज है, मैं केवल इसकी रक्षा या सेवा कर रहा हूँ, तब यदि वह चीज भगवान्‌के काममें लग जाती है तो उसे बड़ी भारी प्रसन्नता होती है। मन भी हलका हो जाता है। यह बात बिलकुल प्रत्यक्ष है। आप करके देख सकते हैं।

वास्तवमें ये संसारके जो कुछ भी पदार्थ हैं, सब भगवान्‌के हैं। हमारा कोई भी अधिकार नहीं कि हम अपने स्वत्वसे अधिक वस्तुओंको रोक रखें। यह तो एक साधारण न्याययुक्त बात है। किंतु जो उच्चकोटिका साधक है, उसकी तो बात ही निराली है! उसके लिये तो संसारके सभी विषय-भोग मल-मूत्रके समान हैं। हम

जब मल-मूत्रका त्याग करते हैं, तब क्या कोई गर्व करते हैं कि हमने बड़ा त्याग किया है? बल्कि उनके त्यागसे यह सोचकर प्रसन्नता और सुख होता है कि विकार निकल गया। इसी प्रकार संसारके इन विषय-भोगरूप पदार्थोंके त्यागसे सुख होना चाहिये। कोई भी आकर जब हमसे कहता है कि हमारी इस वस्तुको आप धरोहररूपमें रख लें तो उसे हम मनसे रखना नहीं चाहते; किंतु किसीके भलेके लिये, अथवा संकोचमें पड़कर हमें वह चीज रखनी पड़ती है और फिर जब स्वयं वह आकर अपनी वस्तुको माँग लेता है तब उसको वह वस्तु हम इस भावसे देते हैं कि मानो सिरपरसे उसका ऋण उतर गया। यह धरोहर भी एक प्रकारसे सिरपर ऋण ही है।

ये संसारकी ऐश्वर्य, धन, मकान आदि जो वस्तुएँ हैं, इनमेंसे कोई भी वस्तुतः हमारी नहीं है। औरोंकी तो बात ही क्या, यह शरीर भी हमारा नहीं है। गम्भीरतासे विचारें तो ये सभी पदार्थ और शरीर वास्तवमें परमात्माके हैं, या यों कहें कि प्रकृतिके हैं। यह बात प्रत्यक्ष ही है; क्योंकि जो मनुष्य मरकर चला जाता है, उसका यह स्थूल शरीर हमारे देखते-देखते जलकर भस्म हो जाता या कब्रमें मिट्टी हो जाता है और प्रकृतिमें मिल जाता है। फिर यह शरीर हमारा कैसे हुआ? जब शरीर ही हमारा नहीं है, तो अन्य वस्तुएँ तो हमारी हो ही कैसे सकती हैं? शरीर हमारा होता तो हम इसको साथ लेकर जाते। यह किसी प्रकार भी हमारे साथ नहीं जा सकता। ऐसी परिस्थितिमें हम शरीरसे जितना अधिक-से-अधिक पारमार्थिक लाभ उठा लें, वह हमारा है। इस शरीरमें यदि रोग हो जाय तो भी हमें उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये; बल्कि परमात्माकी भक्तिका और ज्ञानका साधन उत्तरोत्तर तेज करना चाहिये; क्योंकि जब मनुष्य मरता है तो प्रायः बीमार होकर ही मरता है, अतः अन्त समय अधिकांशमें बीमारी होनेकी सम्भावना रहती है। ऐसी परिस्थितिमें, बीमारीमें तो हमें साधनको विशेष तेज करना चाहिये। पता नहीं, यही बीमारी हमारे इस शरीरका अन्त करनेवाली हो।

इसी प्रकार जितने भी संसारके पदार्थ हैं, सभी नाशवान् और क्षणभङ्गुर हैं। हम यदि अपने खानेके लिये अन्न और पहननेके लिये वस्त्र अधिक मात्रामें इकट्ठा करके रोक रखते हैं तो यह हमारी अनधिकार चेष्टा है। संसारमें जितनी वस्तुएँ हैं, उन सबपर सबका समानभावसे अधिकार है। जो मनुष्य अपने अधिकारमें अधिक वस्तुओंका संग्रह करके उनको अपने भोगके काममें लाना चाहता है या अपने कुटुम्बके लिये रोककर रखना चाहता है, वह अज्ञ है। उसे यह समझना चाहिये कि जिन वस्तुओंपर वास्तवमें सबका समानभावसे हक है, हमें क्या अधिकार है कि हम अपने हिस्सेसे अधिक उन वस्तुओंपर अपना अधिकार जमावें। हाँ, यदि संसारके हितके लिये आप अधिकार जमाते हैं तो भले ही आप किसी राज्यपर अधिकार जमा लें, चाहे सारे ब्रह्माण्डपर ही अधिकार जमा लें, उसमें कोई दोष नहीं है। यदि आपके हृदयमें यह भाव है कि यह वस्तु हमारी नहीं है, जगज्जनार्दनकी है, इससे हमारा कोई भी सम्बन्ध नहीं है, हम इसमें केवल निमित्तमात्र हैं, हम यथायोग्य प्रभुकी सेवामें लगानेके लिये केवल ट्रस्टीकी भाँति इसकी रक्षा और सँभाल करनेवाले हैं, तो यह बहुत उत्तम बात है। परंतु इस रक्षाके भावमें भी रक्षकपनका अभिमान नहीं आना चाहिये। यह समझना चाहिये कि इसके साथ हमारा जो सम्बन्ध है, वह केवल निमित्तमात्र है और यों निश्चय करके हर समय चित्तमें बड़ी उदारता रखनी चाहिये। कोई भी योग्य अधिकारी ग्राहक मिल जाय यानी सेवा करानेवाला मिल जाय तो यह समझना चाहिये कि इनकी मुझपर बड़ी भारी कृपा है जो मुझको पवित्र करके संसारसे उद्धार करनेके लिये मुझसे सेवा लेनेके लिये पधारे हैं; भगवान् इनको भेजकर मुझसे सेवा ले रहे हैं, इनके द्वारा भगवान् अपनी चीज मुझसे सँभाल रहे हैं, मेरे पास यह चीज अमानतकी तरह पड़ी थी, भगवान्‌की सेवामें लग गयी, यह बहुत अच्छी बात है। और यदि हम यह समझ लेते हैं कि स्वयं भगवान् ही हमसे सेवा लेनेके लिये पधारे हैं, तब तो और भी उत्तम बात है; क्योंकि उस समय हमें अतिशय प्रसन्नता, शान्ति और आनन्द होता है! यह समझकर हमें हर समय उपर्युक्त भावसे सेवा करनी चाहिये कि यह भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌की सेवामें लग जाय और इसके लिये सदा सहर्ष प्रस्तुत रहना चाहिये।

यदि हम इन वस्तुओंको अपनी मानकर यहाँ छोड़कर चले जायँगे तो आगे जाकर हमको घोर दण्ड मिलेगा। ये चीजें भी हमारे किसी काममें नहीं आयेंगी। न मालूम इनका कौन मालिक होगा। सरकार मालिक होगी या अन्य कोई। कुछ भी पता नहीं है। कोई भी हो, इनसे हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहेगा। इसलिये जबतक

हम जीवित हैं, तभीतक अपनेको सँभाल लेना चाहिये, वस्तुमात्रसे अपना अधिकार उठा लेना चाहिये, अपनेको भगवान्‌के सामने निर्दोष बना लेना चाहिये।

जीवन रहेगा तो धन, मकान या कुटुम्बके भरोसे थोड़े ही रहेगा; वह तो भगवान्‌की कृपाके ही भरोसे रहेगा। यथार्थमें यों मानना भी अपने जीवनके लिये भगवान्‌का आसरा लेना है; अतः सकामभाव है। किंतु उस चोरीसे तो यह भाव भी बहुत श्रेष्ठ है। दूसरोंके—जगज्जनार्दनके धनपर अपना अधिकार जमाना तो प्रत्यक्ष चोरी है। दुनियामें जितना भी है, वह सब दूसरोंका है यानी सबके हिस्सेका है। चाहे उसे भगवान्‌का समझें, जनताका समझें या प्रकृतिका समझें। अर्थात् भक्तियोगकी दृष्टिसे भगवान्‌का, कर्मयोगकी दृष्टिसे जनताका और ज्ञानयोगकी दृष्टिसे प्रकृतिका समझें। किसी भी हालतमें वह हमारा नहीं है। इसलिये किसी भी धनके ऊपर, किसी भी शरीरके ऊपर या किसी भी ऐश्वर्यपर हम यदि अपना अधिकार जमाते हैं, तो वह हमारी अनधिकार चेष्टा और बड़ी भारी अज्ञता है। यदि हम इन पदार्थोंपर अपना अधिकार कायम करके मर जायँगे तो चोरको जो दण्ड होता है, वही हमें भी प्राप्त होगा। यह बात सर्वथा युक्तिसंगत तथा शास्त्रसंगत है। अतः अकाट्य है। अतएव इस बातको ध्यानमें रखकर हमें संसारकी वस्तुओंसे तथा शरीरसे अपना माना हुआ अधिकार हटा लेना चाहिये तथा परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाना चाहिये। परमात्माके स्वरूपमें अचल निरन्तर नित्य स्थितिमें यह अनुचित अधिकार बड़ा बाधक है। इसमें हमारा मन फँसा है, यही मरनेके समय महान् दुःख देता है। इसी कारण हमारा चित्त संसारमें अटक जाता है, जिससे हमारी दुर्गति होती है। जीते हुए भी दुर्गति और मरनेके समय भी दुर्गति। अतः विशेष ध्यानपूर्वक यह विचार करना चाहिये कि 'मेरा इससे क्या सम्बन्ध है, क्यों मैं अपने गलेमें फाँसी लगाकर अपना अहित कर रहा हूँ।' जब यह बात समझमें आ जायगी, तब स्वतः ही शरीर और संसारसे सम्बन्ध विच्छेद हो सकता है। फिर यह प्रत्यक्ष हो सकता है कि मेरा इससे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मेरी यही जिम्मेवारी है कि मैं इसको जल्दी-से-जल्दी परमात्माकी सेवामें लगा दूँ। तभी मेरी जिम्मेवारी दूर होती है अर्थात् मैं सब ऋणोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता हूँ। इसलिये जिन पदार्थोंपर अपना अधिकार है तथा जिनमें ममता और अभिमान है, उनपरसे शीघ्र-से-शीघ्र अधिकार तथा ममता-अभिमान उठाकर परमात्माकी शरण हो जाना चाहिये; परमात्माके स्वरूपमें अपनी स्थिति कर लेनी चाहिये। परमात्माके स्वरूपमें जो स्थिति है, वही ब्राह्मी स्थिति है और ब्राह्मी स्थितिका फल ही परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति है।

परमात्माके आनन्दमय स्वरूपका ध्यान

एकान्त और पवित्र देशमें स्थिरतासे सुखपूर्वक आसन लगाकर बैठे और परमात्माका ध्यान करे। संसारमें ध्यानके समान श्रेष्ठ कोई भी साधन नहीं है। भगवान् कहते हैं—

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥

(गीता ६। २४-२५)

'संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे (सर्वथा) त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।'

परमात्माका स्वरूप है—'**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' (तैत्ति० २। १) अर्थात् 'वह ब्रह्म सत्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है।' वह परमात्मा चेतन है। यह सम्पूर्ण संसार उस चेतनके संकल्पमें है। परमात्मा यदि संसारके संकल्पका त्याग कर दे तो केवल एक चेतन परमात्मा ही रह जाय। संसारमें तीन पदार्थ हैं—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। इनमें ज्ञान और ज्ञेय तो जड हैं तथा ज्ञाता चेतन है। जो जाननेमें आता है, उसे 'ज्ञेय' कहते हैं; जिसके द्वारा जाना जाता है, उसका नाम 'ज्ञान' है और जाननेवाला 'ज्ञाता' है। ज्ञातापर ही ज्ञेय और ज्ञान निर्भर करते हैं। ज्ञान और ज्ञेय—ये सब मानी हुई वस्तु हैं। जैसे स्वप्नका संसार माना हुआ है, वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है, केवल संकल्पमात्र है, इसी प्रकार यह दृश्य

संसार भी संकल्पमात्र है। यदि वास्तवमें हो तो फिर—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः*॥'

(गीता २। १६)

इस सिद्धान्तके अनुसार उसका विनाश नहीं होना चाहिये। पर हमारे देखते-देखते सब पदार्थ नष्ट होते जा रहे हैं। इस विनाशशीलताके कारण ये अनित्य हैं और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें हैं ही नहीं, संकल्पमात्र एवं काल्पनिक हैं। इनकी जो कल्पना करता है, वह चेतन है और वह आत्मा है।

आत्मा चेतनस्वरूप है और जो चेतन है, वही आनन्द है। हमें चेतनता तो प्रतीत होती है, किंतु आनन्द प्रतीत नहीं होता; क्योंकि ज्ञान और ज्ञेयके साथ आत्माका सम्बन्ध होनेके कारण उस चेतन आत्माका यथार्थ स्वरूप आच्छादित हो रहा है। जैसे सूर्य महान् प्रकाशस्वरूप है, पर बादलोंसे आच्छादित होनेपर वह नहीं दीखता, इसी प्रकार आत्मा चेतनस्वरूप है, परंतु अज्ञानसे आच्छादित होनेके कारण प्रतीत नहीं होता। आत्मा परमात्माका ही अंश है। इसलिये अद्वैतसिद्धान्तसे आत्मा और परमात्मा एक ही वस्तु है। यह आच्छादन अपना माना हुआ है, कल्पनामात्र है। इसका बाध करनेके अनन्तर एक परमात्मा ही रह जाता है।

परमात्मा है, वह महान् है, अनन्त है, असीम है, चेतन है, ज्ञानस्वरूप है, बोधस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है। इस प्रकार ध्यान करे। वह परमात्मा इस चराचर संसारके नीचे-ऊपर, बाहर-भीतर सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण है, जैसे बादलोंके नीचे-ऊपर, बाहर-भीतर आकाश परिपूर्ण है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च॥

(१३। १५ का पूर्वार्द्ध)

'वह परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है।' जैसे आकाश अव्यक्त और निराकार है, वैसे ही परमात्मा भी अव्यक्त और निराकार है; किंतु आकाशके साथ परमात्माकी कोई तुलना वस्तुतः नहीं हो सकती; क्योंकि आकाश जड है और परमात्मा चेतन है, आकाश शून्य है और परमात्मा आनन्दघन है। इसीलिये उसे सत्-चित्-आनन्दघन कहते हैं। सत् माने परमात्मा है। चेतन माने वह ज्ञानस्वरूप है, बोधस्वरूप है। वह चेतन ही आनन्द है। इसलिये उसे 'विज्ञानानन्दघन' कहते हैं।

वह आनन्द आत्यन्तिक सुखरूप है। उस सुखका ज्ञान भी उस सुखरूप परमात्माको ही है, इसलिये उस सुखरूप परमात्माको ही 'आनन्दमय' कहा गया है। वह आनन्द ही चेतन है और वह चेतन ही आनन्द है। इसलिये उसको विज्ञान-आनन्दघन कहते हैं। अभिप्राय यह कि उस आनन्दका ज्ञान दूसरे किसीको नहीं है, वह आनन्दमय परमात्मा आप ही अपनेको जानता है। ऐसा वह चिन्मयस्वरूप आनन्दघन है। वह परमात्माका स्वरूप हमारे ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर सब ओर परिपूर्ण है। एक विज्ञानानन्दघन परमात्माके सिवा और कुछ भी नहीं है, अर्थात् परमात्माके सिवा संसार कोई वस्तु है ही नहीं। इस प्रकार संसारका बिलकुल अभाव करके संकल्परहित हो जाना चाहिये। यही उस निर्गुण-निराकार परमात्माका ध्यान है।

भक्तिके मार्गमें तो दृढ़ वैराग्यरूपी शस्त्रके द्वारा संसारका छेदन कर देना चाहिये—उसको भुला देना चाहिये, यानी तीव्र वैराग्यके द्वारा संकल्परहित हो जाना चाहिये और ज्ञानके मार्गमें संसारको स्वप्नवत् मानकर उसका इस प्रकार अभाव कर देना चाहिये कि संसार है ही नहीं। बिना हुए ही यह संसार दीखता है। परमात्माका संकल्प होनेके कारण यह सत् दीखने लगा, वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है। परमात्मा अपने संकल्पको छोड़ दे तो संसार कहीं है ही नहीं।

अतः ऐसी धारणा करे कि परमात्माने अपने संकल्पको त्याग दिया और इससे सारे संसारका अपने-आप ही अभाव हो गया। अब केवल एक परमात्मा ही रह गये। उन निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा और कुछ भी नहीं है। वह आनन्द चिन्मय आनन्द है, आनन्द-ही-आनन्द है; उस आनन्दके अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं। इस प्रकार समझकर उस आनन्दमय परमात्माका ध्यान करे।

भक्ति-मिश्रित ज्ञानके मार्गमें यों समझे कि परमात्माने सारे संसारका संकल्प तो उठा दिया, किंतु उसके संकल्पमें केवल मैं रह गया हूँ; क्योंकि मैं परमात्माका

* असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है।

ध्यान कर रहा हूँ, इसलिये परमात्मा मेरा ध्यान कर रहे हैं। उनका यह कथन है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११ का पूर्वार्द्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।' अर्थात् जो मेरा ध्यान करते हैं, उनका मैं ध्यान करता हूँ।

जब परमात्मा मेरा ध्यान छोड़ देंगे, तब मेरी जगह भी एक चिन्मय परमात्मा ही रह जायँगे; क्योंकि पहलेसे सदा-सर्वदा चिन्मय परमात्मा ही सर्वत्र हैं। 'सर्वत्र' कहनेसे देशकी कल्पना होती है। वह देश भी परमात्माके संकल्पमें ही है; परमात्मामें वस्तुतः कोई देश नहीं है। परमात्मा सदा-सर्वदा नित्य है, यह कथन कालका वाचक है। यह काल भी परमात्माके संकल्पमें ही है। परमात्मा वास्तवमें देश-कालसे रहित हैं। साधनकालमें जो देश और कालकी प्रतीति हो रही है, यह परमात्माका संकल्प होनेके कारण उनका स्वरूप ही है, वस्तुतः उनसे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं। केवल एक निर्विशेष ब्रह्म है, जिसे हम सच्चिदानन्दघन कहते हैं; बस, उसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है।

इसलिये ध्यानके साधनमें हमलोगोंको ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि यह विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा हमारे चारों ओर परिपूर्ण है। 'हमारे' शब्दका अभिप्राय हमारा शरीर है। वह परमात्मा इस शरीरके चारों ओर परिपूर्ण है। वास्तवमें तो शरीर है ही नहीं, उसकी जगह परमात्मा ही है। परमात्माके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जैसे बादलके चारों ओर एक आकाश-ही-आकाश है। वास्तवमें बादल उसी आकाशसे उत्पन्न होता है और उसीमें विलीन हो जाता है। अतः आकाशसे भिन्न बादलकी कोई पृथक् सत्ता ही नहीं है। इसलिये एक आकाश ही है, ऐसे ही परमात्माके अतिरिक्त और कोई है ही नहीं; एक परमात्मा ही है। बादलकी-ज्यों तो यह शरीर है और आकाशकी-ज्यों परमात्मा है। बल्कि परमात्मा आकाशसे सर्वथा अत्यन्त विलक्षण है। आकाश जड है, परंतु परमात्मा चेतन है, बोधस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है। जो आनन्द है, वही बोध है; और जो बोध है, वही आनन्द है। इसलिये आनन्द और बोध भी दो वस्तु नहीं है। वह आनन्द इस लौकिक आनन्दसे विलक्षण है, इसी बातको समझानेके लिये यह कहा जाता है कि वह विलक्षण आनन्द है, अलौकिक आनन्द है, अद्भुत आनन्द है, चिन्मय आनन्द है, ज्ञानस्वरूप आनन्द है, बोधस्वरूप आनन्द है।

वह आनन्दमय परमात्मा अपने ही द्वारा आप परिपूर्ण है, इसलिये उसको 'पूर्ण आनन्द' कहते हैं। उसकी सीमा नहीं है, इसलिये उसे 'अपार आनन्द' कहते हैं। उसका स्वरूप शान्तिमय है, इसलिये वह 'शान्त आनन्द' कहलाता है। वह आनन्द अत्यन्त घन है, प्रचुर है, उसमें किसी दूसरेकी गुंजाइश नहीं है; इसलिये उसको 'घन आनन्द' कहते हैं। वह अटल है, अचल है, इसलिये उसे 'ध्रुव आनन्द' कहते हैं। वह सदा रहता है, इसलिये उसे 'नित्य आनन्द' कहा जाता है। उसका कभी अभाव नहीं होता, वह वास्तवमें है, इसलिये उसे 'सत् आनन्द' कहते हैं। वह आनन्द चेतन है, इसलिये उसे 'बोधस्वरूप आनन्द', 'ज्ञानस्वरूप आनन्द' कहते हैं। वह नीचे-ऊपर, बाहर-भीतर सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण है, इसलिये उसको 'सम आनन्द' कहते हैं। उसका कोई चिन्तन नहीं कर सकता, वह किसीके चित्तका विषय नहीं है; इसलिये उसको 'अचिन्त्य आनन्द' कहते हैं। उसका चिन्तन होता ही नहीं, यह समझना ही उसको जानना है। हम जो विज्ञान-आनन्दघनका चिन्तन करते हैं और हमारे चिन्तनमें जो स्वरूप आता है, वास्तवमें उससे परमात्माका स्वरूप बहुत ही विलक्षण है। बुद्धिके द्वारा तो उसी स्वरूपका चिन्तन होता है, जो बुद्धिसे मिला हुआ हो। इसलिये बुद्धि-विशिष्ट ब्रह्मस्वरूपका ही चिन्तन होता है यानी जो बुद्धिग्राह्य है, उसीका बुद्धिसे चिन्तन होता है। इसीलिये उसे '**बुद्धिग्राह्यम्**' (गीता ६। २१) अर्थात् वह सूक्ष्म होनेके कारण बुद्धिके द्वारा समझमें आता है, ऐसा कहा है।

वह महान् है, इसलिये उसे 'महान् आनन्द' कहते हैं। वह सबसे श्रेष्ठ है, इसलिये उसको 'परम आनन्द' कहते हैं। चेतन ही उसका स्वरूप है, इसलिये उसे 'चिन्मय आनन्द' कहते हैं। जो चेतन है, वही आनन्द है और जो आनन्द है, वही चेतन है। ऐसा जो आनन्दमय परमात्माका स्वरूप है, उस आनन्दमय स्वरूपमें साधकको नित्य-निरन्तर निमग्न रहना चाहिये।

अपार आनन्द है, महान् आनन्द है, आनन्द-ही-आनन्द है। एक आनन्दके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। ऐसे आनन्दमें मस्त रहना चाहिये।

साधकको चलते-फिरते समय इस प्रकारका अभ्यास करना चाहिये कि यह शरीर आनन्दमय परमात्मामें ही चल रहा है—विचरण कर रहा है। जैसे आकाशमें बादल घूमते हैं, ऐसे ही परमात्मामें यह शरीर घूमता है। बादल आकाशसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है; क्योंकि आकाशसे ही बादलकी उत्पत्ति हुई है। इसी प्रकार परमात्मासे ही शरीरकी उत्पत्ति हुई है; क्योंकि परमात्माका संकल्प ही तो शरीर है। इसलिये यह शरीर भी परमात्मासे कोई पृथक् वस्तु नहीं। आकाशमें बादलकी भाँति परमात्मामें ही यह परमात्माका संकल्परूप शरीर घूम रहा है। वह परमात्मा आनन्दमय है, चिन्मय है, विज्ञान-आनन्दघन है। उसके सिवा और कोई वस्तु है ही नहीं। इस प्रकार हर समय उत्तरोत्तर साधनको तेज करना चाहिये।

ध्यानकालमें साधकको प्रत्यक्षकी भाँति ऐसा अनुभव करना चाहिये—'अहो ! कैसी शान्ति हो रही है। शान्तिके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। परमात्मा ही शान्तिके रूपमें प्रतीत हो रहे हैं। अहो! कैसी ज्ञानकी बहुलता है। ज्ञान-ही-ज्ञान है। ज्ञानके सिवा दूसरी कोई वस्तु ही नहीं। परमात्मा ही ज्ञानके रूपमें प्रतीत हो रहे हैं। अहो! कैसी चेतनता है! चेतनताके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। परमात्मा ही चेतनके रूपमें प्रतीत हो रहे हैं। अहो! कैसा आनन्द है। हम देखते हैं कि हमारे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर सबके बाहर-भीतर एक आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण हो रहा है अर्थात् हमारे रोम-रोममें, अणु-अणुमें सब जगह आनन्दमय परमात्मा ही प्रत्यक्ष परिपूर्ण हो रहे हैं और शरीरकी यह आकृति केवल कल्पनामात्र है। वास्तवमें आनन्द-ही-आनन्द है। आनन्दके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। ऐसे आनन्दमें निरन्तर निमग्न रहना चाहिये। वह आनन्द ही शान्तिके रूपमें दीख रहा है। वह आनन्द ही ज्ञानके रूपमें दीख रहा है और वह आनन्द ही चेतनके रूपमें दीख रहा है। ये सब उसके पर्याय हैं। वास्तवमें यह सब उस आनन्दमय परमात्माका ही स्वरूप है।'

आनन्दमय! आनन्दमय!! आनन्दमय!!! पूर्ण आनन्द! अपार आनन्द! शान्त आनन्द! घन आनन्द! अचल आनन्द! ध्रुव आनन्द! नित्य आनन्द! बोधस्वरूप आनन्द! ज्ञानस्वरूप आनन्द! परमानन्द! महान् आनन्द! सम आनन्द! आत्यन्तिक आनन्द! अचिन्त्य आनन्द! आनन्द-ही-आनन्द! आनन्द-ही-आनन्द!! आनन्द-ही-आनन्द!!! ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(परमशान्तिका मार्ग)

धर्मयुक्त उन्नति ही उन्नति है

मनुष्यको उचित है कि वह अपनी सब प्रकारकी उन्नति करे। मनुष्यकी सब प्रकारकी उन्नति निष्कामभावपूर्वक धर्मका पालन करनेसे ही हो सकती है; किंतु दुःखका विषय तो यह है कि आजकल बहुत-से लोग तो धर्मके नामसे ही घृणा करते हैं। वास्तवमें वे लोग धर्मके तत्त्वको नहीं समझते। अतः प्रत्येक मनुष्यको धर्मका तत्त्व, रहस्य और स्वरूप समझना चाहिये। धर्मका स्वरूप है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिकदर्शन सूत्र २)

'इस लोक और परलोकमें जो हितकारक है, उसीका नाम धर्म है।'

जो इस लोकमें हितकर जान पड़े, किंतु परलोकमें अहितकर हो, वह धर्म नहीं है। अतः हमारी सभी क्रियाएँ धर्मके अनुसार ही होनी चाहिये। इसीसे हमारी सर्वाङ्गपूर्ण उन्नति हो सकती है। शारीरिक, भौतिक, ऐन्द्रियिक, मानसिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक— आदि उन्नतिके कई प्रकार हैं।

शारीरिक उन्नति

शारीरिक उन्नतिके साथ भी धर्मका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः शारीरिक उन्नति धर्मानुकूल ही होनी चाहिये। शारीरिक उन्नति भोजनसे विशेष सम्बन्ध रखती है। सात्त्विक भोजन करना शरीरके लिये बहुत ही हितकर है और वही धर्मानुकूल है। भगवान्‌ने गीता अध्याय १७ श्लोक ८ में सात्त्विक भोजनका इस प्रकार वर्णन किया है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

हमें सात्त्विक भोजनके इन लक्षणोंपर ध्यान देना चाहिये। आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले पदार्थोंका भोजन ही सात्त्विक भोजन है। साथ ही वह भोजन रसयुक्त, चिकना, हृदयको प्रिय तथा बहुत कालतक ठहरनेवाला होना चाहिये। ऐसा भोजन क्या है? गायका दूध, दही, घी, खोवा, छेना आदि; तिल, बादाम, मूँगफली, नारियल आदिका तेल; बादाम, पिश्ता, दाख, छुहारी, खजूर, काजू आदि मेवा; केला, अनार, अंगूर, संतरा, मौसिमी, नासपाती, सेव आदि फल; आलू, अरबी, तुरई, भिंडी, कोंहड़ा, लौकी, बथुआ, मेथी, पुदीना, पालक आदि शाक-सब्जी; एवं जौ, तिल, गेहूँ, चना, चावल, मूँग आदि अनाज—ये सभी सात्त्विक पदार्थ हैं। ये सभी आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले हैं, शरीरको पुष्ट करनेवाले हैं तथा प्रायः सभी पदार्थ स्निग्ध, चिकने, रसयुक्त और मधुर हैं। इन सात्त्विक पदार्थोंका अपनी प्रकृति तथा शारीरिक स्थितिके अनुसार परिमितरूपमें सेवन करनेसे शारीरिक और मानसिक उन्नति होती है। इसके विपरीत, राजसी-तामसी भोजन करनेसे शारीरिक और मानसिक हानि होती है; अतः उनका सेवन नहीं करना चाहिये। राजसी और तामसी भोजनका लक्षण बतलाते हुए भगवान्‌ने कहा है—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

(गीता १७। ९-१०)

'कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं अर्थात् राजसी भोजन है। एवं जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है अर्थात् वह तामसी भोजन है।'

अतः उपर्युक्त राजसी और तामसी भोजनका परित्याग करके सात्त्विक भोजनका सेवन करना ही उचित है।

इसके सिवा पुरुषोंके लिये आसन, दण्ड, बैठक, कुश्ती, दौड़ आदि कसरत करना तथा स्त्रियोंके लिये चक्कीसे आटा पीसना, चर्खा कातना, रसोई बनाना, झाड़-बुहारकर घरकी सफाई रखना—आदि गृहकार्य करना एवं अन्य शारीरिक न्याययुक्त परिश्रम करना शरीरकी उन्नतिमें लाभदायक है। इसके विपरीत निकम्मा रहना,

अधिक सोना, प्रमाद, दुराचार, मिथ्या बकवाद, अनुचित परिश्रम और मैथुन करना—ये सब शरीरके लिये महान् हानिकर हैं। इनसे बचकर रहना चाहिये। इस प्रकार शरीरमें सात्त्विक बुद्धि, बल, आयु, आरोग्य, सुख और प्रीतिका बढ़ना एवं शरीरका स्वस्थ रहना शारीरिक उन्नति है।

भौतिक उन्नति

भौतिक उन्नति शारीरिक उन्नतिसे भिन्न है। भौतिक उन्नति उसकी अपेक्षा व्यापक है। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पाँचों भूतोंको अधिक-से-अधिक मनुष्योपयोगी बना लेना भौतिक उन्नति है। वर्तमानमें जिसे भौतिक विज्ञान या लौकिक विज्ञान कहते हैं, जिससे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वीसे नयी-नयी चीजोंका आविष्कार किया जाता है, इस विज्ञानके सम्बन्धमें वैज्ञानिक महानुभाव कहते हैं कि हम बड़ी उन्नति कर रहे हैं, किंतु वस्तुतः उनकी यह उन्नति आंशिक ही है। पूर्वके लोगोंमें भौतिक उन्नति इसकी अपेक्षा बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी, परंतु उसका प्रकार तथा साधन दूसरा था और वह अधिक विकसित एवं प्रभावोत्पादक था। रामायणमें वर्णित 'पुष्पक' विमान, राजा शाल्वका 'सौभ' विमान, पाशुपतास्त्र, नारायणास्त्र और ब्रह्मास्त्र एवं श्रीवेदव्यासजीका वर्षों बाद मृत अठारह अक्षौहिणी सेनाका आवाहन करके प्रत्यक्ष दिखाना और बातचीत करा देना तथा श्रीभरद्वाजजी एवं श्रीकपिलदेवजी आदिके जीवनमें अष्टसिद्धियोंके चमत्कारकी घटनाएँ इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

ऐन्द्रियिक उन्नति

इसी प्रकार हमें इन्द्रियोंकी भी उन्नति करनी चाहिये। इन्द्रियोंमें विशुद्धता, नीरोगता, तेज, ज्ञान, बल, शक्ति और योग्यताका बढ़ना इन्द्रियोंकी उन्नति है।

मनुष्यको उचित है कि अपनी वाणी, कान, नेत्र आदि इन्द्रियोंको शुद्ध बनावे। सत्य, प्रिय, हित और मित भाषणसे तथा भगवान्‌के नाम-जप, लीलागुण-गान और सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायरूप वाणीके तपसे वाणीकी शुद्धि होती है और इसके विपरीत भाषणसे वाणी अपवित्र होती है। इसी प्रकार कानोंके द्वारा उपदेशप्रद, हितकर और सद्गुण-सदाचार तथा भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी बातें सुननेसे कानोंकी शुद्धि होती है और इसके विपरीत पर-निन्दा, दूसरोंके दुर्गुण-दुराचार तथा व्यर्थकी बातें सुननेसे कान दूषित होते हैं। इसी तरह नेत्रोंके द्वारा अच्छे पुरुषोंका दर्शन करनेसे, दूसरोंके गुण देखनेसे तथा परायी स्त्रियोंको मातृभावसे देखनेसे नेत्र शुद्ध होते हैं और इसके विपरीत दूसरोंके दुर्गुण-दुराचारोंको तथा विकार पैदा करनेवाले मलिन दृश्यों, चित्रों, पदार्थोंको देखनेसे या परायी स्त्रियोंको अश्लील दृष्टिसे देखनेसे नेत्र दूषित होते हैं।

इसी प्रकार अन्य सभी इन्द्रियोंके विषयमें समझ लेना चाहिये। जब इन्द्रियाँ शुद्ध होकर दिव्य हो जाती हैं, तब उनकी शक्ति बढ़ जाती है। जैसे नेत्रोंसे दूर देशकी वस्तु दीखने लग जाती है, कानोंसे दूर देशकी बातें सुनने लग जाती हैं तथा वाणीसे कहे हुए वचन प्रामाणिक माने जाते हैं और सत्य होते हैं।

मानसिक उन्नति

इसी प्रकार हमें अपने मनकी उन्नति करनी चाहिये। मनमें जो दुर्गुण-दुराचार और पापोंके संस्कार भरे हैं, यही मनका मैलापन है। किसी भी कार्यको करनेके लिये जो मनमें साहस नहीं होता है, यह मनकी कमजोरी है, दुर्बलता है तथा विषयोंमें आसक्ति होनेके कारण जो मनमें चञ्चलता है, यह मनका विक्षेपदोष है। अतः मनको इन मलिनता, दुर्बलता तथा चञ्चलता आदि दोषोंसे रहित करके शुद्ध और बलवान् बनाना एवं स्थिर करना आवश्यक है। निःस्वार्थ भावसे कर्तव्यका पालन करनेसे, किसीका बुरा न चाहनेसे, बुरे और व्यर्थ संकल्पोंका त्याग करनेसे और भगवान्‌के नाम-रूपका स्मरण करनेसे मन शुद्ध होता है। ईश्वरपर विश्वास रखनेसे मनकी कमजोरी दूर होती है और धीरता, वीरता, गम्भीरता बढ़ती है तथा ईश्वरके ध्यानके अभ्यास, विषयोंमें वैराग्य और अध्यात्मविषयक विचार करनेसे विक्षेपदोषका नाश होता है। इस प्रकार करनेसे मनमें पवित्रता, स्थिरता, साहस, बल आदिका आविर्भाव होकर मनकी उन्नति हो जाती है।

मनकी उन्नतिके लिये गीतामें भगवान्‌ने मानस-तपका यों वर्णन किया है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥

(१७। १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मन-सम्बन्धी तप कहा जाता है।' इस मानस-तपके अनुष्ठानसे मानसिक उन्नति शीघ्र और स्थायी होती है।

बौद्धिक उन्नति

इसी प्रकार हमें अपनी बुद्धिकी उन्नति करनी चाहिये। बुद्धिमें अपवित्रता, अज्ञता, विपरीत ज्ञान, संशय और अस्थिरता आदि अनेक दोष भरे हैं, वे सब सात्त्विक भाव, निष्काम सेवा, सत्पुरुषोंके सङ्ग, सत्-शास्त्रोंके स्वाध्याय और परमात्माके ध्यानसे दूर होते हैं। अतएव बुद्धिको सात्त्विक बनाना चाहिये। सात्त्विक बुद्धिके लक्षण

गीता अध्याय १८ श्लोक ३० में भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार बताये हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

'पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

इस प्रकार समझकर बुद्धिकी उन्नति करनी चाहिये। बुद्धि सात्त्विक हो जानेपर मनुष्यमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, क्षमा, दया, शान्ति, संतोष, समता, सरलता आदि सद्गुण अपने-आप स्वाभाविक आ जाते हैं।

व्यावहारिक उन्नति

इसी तरह हमें अपने व्यवहारकी उन्नति करनी चाहिये। हम सबके साथ ऐसा व्यवहार करें, जो सत्यता, सरलता, स्वार्थ-त्याग, निष्काम-भाव, उदारता, विनय और प्रेमसे युक्त हो तथा जिससे दूसरोंका हित हो। व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, विश्वासघात कभी नहीं करना चाहिये। वस्तुओंके लेन-देनके समय वजन, नाप और संख्यामें न तो अधिक लेना और न कम देना ही चाहिये। इसी प्रकार ग्राहकको एक चीज दिखाकर उसके बदले दूसरी चीज नहीं देनी चाहिये और नफा, आढ़त, दलाली, कमीशन, भाड़ा, व्याज ठहराकर न तो कम देना चाहिये और न अधिक लेना चाहिये। बढ़िया चीजमें घटिया और पवित्रमें अपवित्र चीज मिलाकर न तो खरीदना चाहिये और न बेचना ही चाहिये, एवं ऐसी वस्तुओंका भी व्यवसाय नहीं करना चाहिये जिनमें प्राणियोंकी विशेष हिंसा हो तथा जो मांस, मदिरा, अण्डे, हड्डी, चमड़ा आदि अपवित्र गंदी चीजोंसे सम्बन्ध रखनेवाली हों। व्यवसायके समय परस्पर सबके साथ बहुत उत्तम तथा सरल, विनम्र, स्पष्ट, न्याययुक्त और सत्य व्यवहार करना चाहिये। गल्ला-किराना, सूत-कपड़ा, गुड़-चीनी, लोहा-सिमेंट आदि किसी भी वस्तुके भाव तेज या मंदे हो जानेपर भी स्वीकार किये हुए सौदेके मालको देने और लेनेमें न तो जरा भी आनाकानी करनी चाहिये, न बेईमानी करनी चाहिये और न अस्वीकार ही करना चाहिये, चाहे कितनी ही हानिका सामना करना पड़े। किसी भी दलाल, व्यापारी या एजेंटका कोई भूलसे दोष हो जाय तो उसे क्षमा कर देना चाहिये तथा अपने सम्पर्कमें आनेवाले सभी व्यक्तियोंको अधिक-से-अधिक लाभ हो और उनकी सब प्रकारसे उन्नति हो, ऐसा भाव रखना चाहिये। ऐसे व्यापारसे इस लोक और परलोक—दोनोंमें सुगमतासे उन्नति हो सकती है।

सामाजिक उन्नति

इसी प्रकार हमें सामाजिक उन्नति भी करनी चाहिये। बच्चा पैदा होनेपर पार्टी देना, लोगोंको बुलाकर चौपड़-ताश खेलना, बीड़ी-सिगरेट पिलाना, विवाह-शादीमें दहेज लेना, दहेजका दिखलावा करना, आतिशबाजी करना, बिनोरी निकालना, बुरे गीत गाना, थियेटर-तमाशे दिखलाना, पार्टी देना, बहुत अधिक रोशनी करना, बड़े पण्डाल बनाना, दिखावेमें व्यर्थ खर्च करना एवं घरके किसी वृद्ध आदमीके मर जानेपर विधिसङ्गत ब्राह्मण-भोजन और बन्धु-बान्धवोंके अतिरिक्त प्रीतिभोज करना, पार्टी देना—आदि जो कुरीतियाँ और फिजूलखर्ची हैं, इनको हटाना चाहिये। ये सब बातें सामाजिक उन्नतिके अन्तर्गत हैं।

नैतिक उन्नति

इसी प्रकार हमें नैतिक उन्नति करनी चाहिये। आज जो हमारा नैतिक पतन हो गया है, उसका सुधार करना बहुत आवश्यक है।

स्कूल-कालेजोंमें पढ़नेवाले बालकोंको चाहिये कि उद्दण्डता और चञ्चलताका त्याग करके सबसे सभ्यतापूर्ण विनम्र व्यवहार करें। अध्यापकोंके प्रति पूज्यभाव रखें, उनके साथ श्रद्धा, विनय और आदरका व्यवहार करें और उनको नमस्कार करें। अध्यापकोंका कर्तव्य है कि वे छात्रोंके साथ पुत्रके समान स्नेहका व्यवहार रखते हुए सदा उनको अपने आचरणोंके द्वारा तथा मौखिकरूपसे आदर्श हितकर सत्-शिक्षा दें।

आजकल बहुत-से लड़कोंमें, अध्यापकोंमें तथा छात्र-छात्राओंमें अश्लील बातचीत, गंदी चेष्टा और हँसी-मजाक होते हैं—यह भयानक नैतिक पतन है। इसका सर्वथा त्याग करना चाहिये। अध्यापकोंको भी स्वयं इस दोषसे बचना और लड़कोंको अच्छी शिक्षा देकर बचाना चाहिये। आजकल स्कूल-कालेजोंमें पढ़ाईका समय बहुत कम रखा जाता है, अवकाश और छुट्टियाँ बहुत कर दी गयी हैं—इससे व्यर्थ तथा प्रमादमें समय नष्ट होता है और अध्ययन बहुत कम होता है—इसका भी सुधार करनेकी आवश्यकता है।

इसी प्रकार कर्मचारी और मजदूरोंको उचित है कि वे उद्योगके, कारखानेके अथवा मालिक एवं मैनेजर आदिके प्रति उद्दण्डताका बर्ताव न करें। ऐसा कोई काम न करें जिससे उद्योगको तथा किसी अधिकारी व्यक्तिको कोई हानि पहुँचे। अपितु अपने परिश्रम, ईमानदारी, आज्ञाकारिता तथा व्यवस्था-पालनके द्वारा उद्योगकी अधिक-से-अधिक उन्नति करके उसका हित करें तथा अधिकारियोंके

प्रति सदा सद्भाव रखें एवं सद्व्यवहार करें। इसी प्रकार मालिक, मैनेजर और पदाधिकारियोंको चाहिये कि वे कर्मचारियों और मजदूरोंके साथ आत्मीयता तथा उदारताका और प्रेमभरा बर्ताव करें, सदा उनकी उन्नति करें, उनका हित करते रहें, उनके दुःख-सुखको अपना ही दुःख-सुख समझें, अपनेमें बड़प्पनका अभिमान न रखें, उनका कभी भी अपमान न करें, उनको नीचा न समझें; बल्कि अपनेको भी उन्हींकी भाँति एक कर्मचारी ही समझें।

रेलयात्रा करते समय किराया चुकाये बिना नियमविरुद्ध बोझ साथ न ले जायँ तथा नीचे दर्जेकी टिकट लेकर ऊँचे दर्जेमें न बैठें और न बिना टिकट ही यात्रा करें। न तो हकसे अधिक जगह ही रोकें और न जगह रहते हुए किसीको आनेसे मना ही करें। प्रत्युत सबके साथ प्रेमपूर्वक न्याययुक्त और उदारतापूर्ण व्यवहार करें। इसी प्रकार मेले आदिमें भी नीतिका व्यवहार करना चाहिये।

कहीं पंचायतीका काम पड़े तो पंच बनकर लोभ, मोह या अज्ञानसे अथवा मान-बड़ाईकी इच्छासे किसीका पक्षपात न करें, बल्कि सबके साथ न्याययुक्त, सम और सत्य व्यवहार करें।

इसी प्रकार उच्चपदस्थ मन्त्री, रेल-अधिकारी, पुलिस-अधिकारी तथा अन्यान्य सरकारी अफसरोंको चाहिये कि वे सब जनताके साथ स्वार्थत्यागपूर्वक न्याययुक्त समताका व्यवहार करें; मान, बड़ाई और भयसे या रिश्वत लेकर कभी शुद्ध नीतिका त्याग न करें।

उपर्युक्त प्रकारसे स्वार्थत्यागपूर्वक निष्कामभावसे व्यवहार करनेपर नैतिक उन्नति होती है। यही परम कर्तव्य है और इसीमें कल्याण है।

धार्मिक उन्नति

इसी प्रकार हमें धार्मिक उन्नति करनी चाहिये। जिससे अपनेमें और संसारमें धर्मका प्रसार हो, वही धार्मिक उन्नति है। धर्मके लक्षण श्रीमनुजीने इस प्रकार बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(६।९२)

'१. धैर्य रखना, २. क्षमा करना, ३. मनको वशमें रखना, ४. चोरी न करना, ५. बाहर-भीतरकी पवित्रता रखना, ६. इन्द्रियोंको वशमें रखना, ७. सात्त्विक बुद्धि, ८. सात्त्विक ज्ञान, ९. सत्य वचन बोलना और १०. क्रोध न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।'

यह सामान्य धर्म मनुष्यमात्रके लिये है। यही इस लोक और परलोकमें प्रत्यक्ष परम हितकर है। धर्मकी विशेष बातें बड़े विशद तथा सुचारुरूपसे मनुस्मृति आदि धर्म-ग्रन्थोंमें बतलायी गयी हैं, उन्हें वहाँ देख लेना चाहिये। जैसे—वर्ण-धर्मका निरूपण गीताके अठारहवें अध्यायमें ४२ वेंसे ४४ वें श्लोकतक तथा मनुस्मृतिके पहले अध्यायके ८८ वेंसे ९१ वें श्लोकतक किया गया है, उसे देख सकते हैं। वर्णाश्रम-धर्मका विशेष विस्तार देखना चाहें तो मनुस्मृतिमें दूसरे अध्यायसे छठे अध्यायतक देखना चाहिये।

मनुष्यको उचित है कि धर्मके लिये अपने व्यक्तिगत स्वार्थका सर्वथा त्याग कर दे। जैसे यक्षके आग्रह करनेपर भी युधिष्ठिरने राज्य और अपने सहोदर भाइयोंकी परवा न करके नकुलको ही जीवित कराना चाहा (देखिये महाभारत वनपर्व अ० ३१३)। उन्होंने धर्मके लिये स्वर्गको भी ठुकरा दिया, पर अपने साथ हो जानेवाले कुत्तेका भी त्याग नहीं किया (देखिये महाभारत महाप्रस्थानिकपर्व अध्याय ३)।

गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंने धर्मके लिये अपने प्राणोंका त्याग कर दिया। जीते-जी अपनेको दीवालमें चुनवा दिया; किंतु अपने धर्मका परित्याग नहीं किया।

चित्तौड़गढ़में राजपूतोंकी तेरह हजार स्त्रियोंने धर्मकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंकी आहुति दे दी।

इसी प्रकार जो आपत्ति पड़नेपर भी अपने धर्मका त्याग नहीं करता, उसका सहज ही कल्याण हो जाता है। गीतामें भगवान्ने कहा है—'**स्वधर्मे निधनं श्रेयः**' (३।३५)—'अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है।'

इसके सिवा बाढ़, भूकम्प, अकाल, महामारी, अग्निदाह, मेला आदिके समय आर्त मनुष्योंको हर प्रकारसे सुख पहुँचाना चाहिये। स्त्रियोंकी मातृभाव रखकर सेवा करनी चाहिये। भय, स्वार्थ, आसक्ति, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और आरामके वशीभूत होकर कभी नीति, सत्य, समता और धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। एवं सबके साथ सदा उदारता, दया, स्वार्थत्याग, निष्कामता, विनय और प्रेमसे भरा व्यवहार करना चाहिये।

श्रीतुलसीदासजीने धर्मका सार बतलाते हुए कहा है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(राम० उत्तर० ४१।१)

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(राम० अरण्य० ३१।५)

भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।

(गीता १२।४)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत पुरुष मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

यह सब धार्मिक उन्नतिके अन्तर्गत है। अतएव हमें हरेक काममें इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरोंको आराम पहुँचावें, वह भी केवल निष्काम-भावसे—मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छासे या स्वार्थ-सिद्धिके अभिप्रायसे नहीं।

इस प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे और परहितकी भावनासे स्वार्थका त्याग करके निष्कामभाव और प्रेमपूर्वक आचरण करनेपर उपर्युक्त सभी प्रकारकी उन्नति परमार्थमें परिणत हो जाती है अर्थात् मनुष्यका कल्याण करनेवाली हो जाती है। जैसे भक्ति, ज्ञान, वैराग्यसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, इसी प्रकार उपर्युक्त सद्गुण-सदाचारयुक्त उन्नतिसे भी मनुष्यका कल्याण हो जाता है।

श्रीगीताजयन्ती और गीताकी महिमा

यह प्रश्न होता है कि 'श्रीगीताजयन्ती मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशीको ही क्यों मनायी जाती है? इसी दिन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति गीताका उपदेश दिया था, इसका क्या प्रमाण है?' इसके लिये हमें महाभारतके युद्धारम्भ एवं पितामह भीष्मके परलोकगमनके कालपर दृष्टिपात करना आवश्यक है—महाभारत, भीष्मपर्वके अध्याय २, श्लोक २३-२४ में लिखा है कि कार्तिककी पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखकर श्रीवेदव्यासजीने धृतराष्ट्रसे कहा कि निकट भविष्यमें बड़ा भयंकर युद्ध होनेवाला है; क्योंकि चन्द्रमाका रूप अग्निके समान लाल, कान्तिहीन और अलक्ष्य दिखायी पड़ता है। महाभारत, अनुशासनपर्वके १६७ वें अध्यायके २७वें-२८वें श्लोकोंमें वर्णन आता है कि भीष्मजीने माघ शुक्ला अष्टमीके दिन अपने शरीरका परित्याग किया था। श्रीभीष्मजी बहुत दिनोंतक शरशय्यापर पड़े रहे। इस हिसाबसे माघ शुक्लपक्ष या पौष शुक्लपक्षमें तो गीताजयन्ती हो नहीं सकती, प्रत्युत मार्गशीर्षमें ही हो सकती है।

यदि शुक्लपक्ष न मानकर कृष्णपक्ष ही गीताजयन्तीका काल मान लिया जाय तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि महाभारत, द्रोणपर्वमें वर्णन है कि चौदहवें दिनकी रात्रिमें जो संग्राम हुआ था, उस समय घोर अन्धकार था, प्रज्वलित दीपकों (मशालों) के प्रकाशमें ही वह युद्ध हुआ था (देखिये अ० १६३); वहाँ अँधेरेमें अपने-परायेका ज्ञान न रहनेसे लोग अपने पक्षके वीरोंका भी संहार करने लगे। तब अर्जुनने युद्ध बंद करके विश्राम करनेकी आज्ञा दे दी (देखिये अ० १८४)। इस प्रकारकी अन्धकारमयी रात्रि कृष्णपक्षमें ही रहती है। इस हिसाबसे गीताके प्राकट्यका समय कृष्णपक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि गीता युद्धारम्भके पहले ही कही गयी थी और उक्त चौदहवें दिनकी रात्रिके युद्धके समयमेंसे तेरह दिन घटानेपर शुक्लपक्ष ही सिद्ध होता है।

यदि कहें कि 'एकादशीके दिन ही गीता कही गयी, इसका क्या प्रमाण है?' तो इसका उत्तर यह है कि उक्त चौदहवें दिनकी रात्रिमें आधी रातके पश्चात् चन्द्रमाके उदय होनेपर पुनः युद्ध आरम्भ हुआ था। वहाँका चन्द्रमाका वर्णन कृष्णपक्षकी नवमीके जैसा है; क्योंकि अर्धरात्रिके बाद चन्द्रोदय अष्टमीके पूर्व हो नहीं सकता। अतः उस युद्धकी रात्रिको पौष कृष्णपक्षकी नवमी मानें तो उससे तेरह दिन घटानेपर मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी ही ठहरती है।

यदि यह मानें कि प्राचीन कालकी गणनामें शुक्लपक्ष पहले गिना जाता था, कृष्णपक्ष बादमें—इस न्यायसे मार्गशीर्ष कृष्ण नवमीकी रात्रिमें युद्ध हुआ तो इसमें कोई विरोध नहीं है। उस कालसे भी १३ दिन घटानेपर तिथि मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी ही ठहरती है।

इसके सिवा एकादशीका दिन पर्वकाल है और मार्गशीर्षका महीना सबसे उत्तम माना गया है, जिसके लिये स्वयं भगवान्ने गीतामें कहा है—'**मासानां मार्गशीर्षोऽहम्**' (१०। ३५)। इन सब प्रमाणोंके आधारपर ही अनेक पण्डितोंने यह निर्णय किया है कि मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशीको ही युद्ध आरम्भ हुआ था और उसी दिन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति गीतोपदेश दिया था।*

संसारमें अध्यात्मविषयक ग्रन्थ गीताके समान और कोई नहीं है। गीतापर जितनी टीकाएँ, भाष्य और अनुवाद नाना प्रकारकी भाषाओं और लिपियोंमें मिलते हैं, उतने दूसरे किसी धार्मिक ग्रन्थपर नहीं मिलते। गीताप्रेस,

* 'गीता-धर्म-मण्डल' पूनाने तथा प्रसिद्ध विद्वान् श्रीकरंदीकर महोदयने बहुत-से प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया है कि गीताका उपदेश मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशीको ही हुआ था। प्रसिद्ध ज्योतिषी पं० इन्द्रनारायणजी द्विवेदीका भी यही मत है।

गोरखपुरमें ही संस्कृत, हिंदी, गुजराती, बँगला, मराठी, उर्दू, अरबी, फारसी, गुरुमुखी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी आदि अनेक भाषाओं और लिपियोंमें मूल तथा भाषाटीका मिलाकर ९०० से अधिक गीताओंका संग्रह है।

गीताकी महिमा जो पद्मपुराणमें मिलती है, उसे देखनेपर मालूम होता है कि गीताके सदृश महिमा दूसरे किसी ग्रन्थकी नहीं। गीताकी महिमा महाभारतमें स्वयं वेदव्यासजीने भी कही है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥

(भीष्मपर्व ४३। १)

'गीताका ही अच्छी प्रकारसे गान—श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये; अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है।'

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥

(भीष्मपर्व ४३। २)

'जैसे मनुजी सर्ववेदमय हैं, गङ्गा सकल तीर्थमयी है और श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, इसी प्रकार गीता सर्वशास्त्रमयी है।'

भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम्॥

(भीष्मपर्व ४३। ५)

'महाभारतरूपी अमृतके सर्वस्व गीताको मथकर और उसमेंसे सार निकालकर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें उसका हवन किया है।'

गीता सारे उपनिषदोंका सार है। शास्त्रमें बतलाया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गायें हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उनको दुहनेवाले (ग्वाला) हैं, अर्जुन बछड़ा हैं और गीताप्रेमी सात्त्विक बुद्धियुक्त भगवत्‌जन उनसे निकले हुए महान् गीतामृतरूपी दूधका पान करनेवाले हैं।'

सम्पूर्ण शास्त्रोंमें गीताको सर्वोपरि माना गया है। कहा है—

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

'श्रीदेवकीनन्दन श्रीकृष्णका कहा हुआ गीताग्रन्थ ही एक सर्वोपरि शास्त्र है, श्रीकृष्ण ही एकमात्र सर्वोपरि देव हैं, उनके जो नाम हैं, वे ही सर्वोपरि मन्त्र हैं और उन परमदेवकी सेवा ही एकमात्र सर्वोपरि कर्म है।'

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। गङ्गामें स्नान करनेका तो अधिक-से-अधिक फल स्नान करनेवालेकी मुक्ति बताया गया है; अतः गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं ही मुक्त हो सकता है, वह दूसरोंको मुक्त नहीं कर सकता। किंतु गीतारूपी गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं मुक्त होता है और दूसरोंको भी मुक्त कर सकता है।

गीताकी भाषा भी मधुर, सरल, अर्थ और भावयुक्त है। अतएव सभी माता-बहिनों और भाइयोंको प्रतिदिन कम-से-कम एक अध्यायका पाठ तो अर्थ और भाव समझते हुए अवश्य करना ही चाहिये।

प्राचीन सिद्धान्तको माननेमें परम लाभ और न माननेमें हानि

वर्तमान युगमें पाश्चात्त्य सिद्धान्तोंको सुन-पढ़कर बहुत-से मनुष्योंके हृदयमें यह बात बैठ गयी है कि जड पदार्थोंसे अर्थात् पाँच भूतोंसे चेतन जीवात्माकी उत्पत्ति होती है, किंतु यह मान्यता शास्त्रविपरीत तो है ही, युक्तिसे भी विपरीत है। यदि ऐसी ही बात होती तो जो मनुष्य मर जाता है, उसका पाञ्चभौतिक शरीर तो यहाँ विद्यमान है ही, उसमें जिस भूतकी कमी हो, उसकी पूर्ति करके उसमें नये जीवात्माको क्यों नहीं तैयार कर लेते? जो बालक तथा जवान मनुष्य मर जाता है, उसके तो प्रायः सभी अवयव अच्छी हालतमें ही विद्यमान रहते हैं; अतः उसमें तो जीवात्माको तैयार कर लेना बहुत ही सीधा काम होना चाहिये, किंतु ऐसा होता नहीं। इसलिये उनका कथन बिलकुल असङ्गत और गलत है।

दूसरी बात इसमें यह विचारणीय है कि जीवात्मा तो इस शरीरसे निकलकर चला जाता है और शरीर यहाँ ही पड़ा रहता है, यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। इसलिये जीवात्मा और पाञ्चभौतिक शरीर भिन्न-भिन्न है।

तीसरी बात यह विचारणीय है कि जन्मसे ही कोई मनुष्य तो दुःख पाता है और कोई सुख; तो यह भेद क्यों? उन्होंने इस जन्ममें तो अभीतक कोई पाप या

पुण्य किया ही नहीं, फिर उनको दुःख-सुख क्यों? अतः मानना पड़ेगा कि पूर्वमें किये हुए बुरे कर्मका फल दुःख और अच्छे कर्मका फल सुख होता है।

संसारमें दो पदार्थ प्रत्यक्ष हैं—(१) जड और (२) चेतन। जो जानने-समझने और देखनेमें आता है, वह जड है और जो जानने-समझने और देखनेवाला है, वह चेतन है; वह उस जाननेमें आनेवाले पदार्थसे भिन्न है। जड पदार्थको तो सुख-दुःख होता नहीं, प्रत्युत जडके सम्बन्धसे चेतन जीवात्माको ही सुख-दुःख होता है। यह बात स्पष्ट ही देखी जाती है। सभी जड पदार्थ बदलते रहते हैं। कालके सम्बन्धसे शरीर भी आयु, माप और वजनमें घटता-बढ़ता रहता है। इसलिये वह क्षणभङ्गुर और परिवर्तनशील कहा गया है; किंतु जीवात्मा कभी देश-कालके सम्बन्धसे घटता-बढ़ता नहीं है। देखा जाता है कि जिस मनुष्यका आत्मा जो बीस वर्षके पूर्व था, वही आज है; किंतु बीस वर्षके पूर्व उस मनुष्यका जो शरीर था, वह आज ठीक उसी रूपमें नहीं, उसका वजन, माप, अवस्था तथा शरीरके अन्य सब परमाणु भी बदल गये; पर आत्मा तो वही है, जो पहले था।

हमारे शास्त्रोंमें तो यह स्पष्ट लिखा ही है कि जीवात्मा जो पहले था, वही अब है और वही बादमें भी रहेगा। गीतामें भगवान् कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

(२। १२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

जिस तरह शरीरकी अवस्था बदलती है, वैसे ही एक शरीरके बाद दूसरा शरीर बदल जाता है, पर जीवात्मा वही रहता है। भगवान्‌ने कहा है—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता २। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

क्योंकि देहके नाश होनेपर जीवात्माका नाश नहीं होता—

'न हन्यते हन्यमाने शरीरे।' (गीता २। २०)

तथा—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(गीता २। २२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

अतः शास्त्रसे तो उपर्युक्त बात सिद्ध ही है। इसके सिवा, इसमें युक्ति भी बहुत बलवान् है। थोड़ी देरके लिये मान लीजिये, आप तो यह मानते हैं कि शरीरका नाश होनेपर आत्माका नाश हो जायगा और हम मानते हैं कि ऐसा नहीं होगा, तो विचारिये, यदि आपकी ही बात सिद्ध हो गयी तो देहान्त होनेपर आपके लिये भी परलोक नहीं है और हमारे लिये भी नहीं है। इस पक्षमें तो दोनोंके लिये एक समान बात है। अतः आपके पक्षसे भी हमारी कोई हानि नहीं। पर यदि हमारा पक्ष ही ठीक निकला कि शरीरके मरनेपर भी जीवात्मा रहता है तो हम तो परलोकमें अपने आत्माको सुख-शान्ति मिले ऐसी चेष्टा करेंगे, जिससे हमें तो परलोकमें वह लाभ प्राप्त हो सकता है। परंतु जो ऐसा नहीं मानेगा, वह परलोकके लिये प्रयत्न ही क्यों करेगा और प्रयत्न किये बिना उसे वह लाभ मिलेगा भी कैसे? अतः इस सिद्धान्तके अनुसार भी हमीं लाभमें रहेंगे और वह लाभसे वञ्चित रहेगा तथा वर्तमानमें भी वह यदि समाजमें नास्तिक समझा जाने लगेगा तो लोग उससे घृणा करेंगे और परलोकको माननेवाला मनमें परलोकका भय बना रहनेसे पाप भी नहीं करेगा, उसकी संसारमें इज्जत भी रहेगी; अतः उसको इस जीवनकालमें भी लाभ-ही-लाभ है।

उपर्युक्त मनुष्योंकी यह धारणा भी है कि जो भी पुरानी वस्तुएँ हैं—जैसे पुराने शास्त्र, प्राचीन धर्म, पुरानी रीति-रिवाज आदि—इन सबको नष्ट करके नित्य नयी वस्तुको लेना चाहिये, नया आविष्कार करना चाहिये; किंतु इस विषयमें गम्भीरतासे विचार करना चाहिये। एक प्रकारसे तो पदार्थमात्र ही परिणामी होनेके कारण बदलकर नित्य नया होता ही रहता है; और दूसरे प्रकारसे विचारकर देखनेपर यह प्रतीत होता है कि कोई मनुष्य पुरानी सभी वस्तुओंको काममें न लाकर सदा नयी ही वस्तुको काममें लाये, यह असम्भव है। जैसे हमलोग दाल, भात, रोटी, साग खाते हैं, तो उक्त मान्यताके अनुसार एक बार जिस पदार्थको खा लिया उसे फिर

दुबारा नहीं खाना चाहिये। इस प्रकार तो नित्य एक नयी वस्तु खाते-खाते सब वस्तुएँ एक दिन पुरानी हो जायँगी और फिर नयी वस्तु कोई मिलेगी ही नहीं। इसी प्रकार दूसरे-दूसरे विषयोंके सम्बन्धमें भी यही बात है। आज एक स्त्रीसे सम्भोग किया, कल दूसरीसे; क्योंकि वह तो पुरानी हो गयी। आज एक कमरेमें वास किया, कल दूसरेमें। इस प्रकार तो कोई सदा कर ही नहीं सकता। यदि कुछ कालके लिये कर भी ले तो विचार करनेपर वह पशु-जीवनसे भी गया-बीता जीवन ही सिद्ध होगा।

रही सिद्धान्तकी बात, सो सिद्धान्त तो ऋषि-मुनियोंका देखना चाहिये। वे त्रिकालज्ञ थे—उन्हें तीनों कालोंका ज्ञान था। उनमें योग और ज्ञानकी शक्ति तथा बल-बुद्धि थी। अथर्ववेद, नारदपुराण, योगदर्शन, महाभारत आदि हमारे शास्त्रोंमें कला-कौशलकी जो अलौकिक बातें आती हैं, वे वर्तमान युगमें किसी भी मनुष्यमें देखनेमें नहीं आतीं। उनको कोई भी मनुष्य नहीं दिखा सकता। पूर्व कालमें मनुष्योंमें तप, योग और मन्त्रोंकी अलौकिक शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्रत्यक्ष थीं, उनके लिये शास्त्र प्रमाण हैं। ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र, नारायणास्त्र, ऐन्द्रास्त्र, वारुणास्त्र आदि अस्त्रोंकी जो शक्तियाँ शास्त्रोंमें बतलायी गयी हैं, वैसी शक्तियाँ आजके एटमबम, अणुबम आदि किसी भी अस्त्र-शस्त्रकी नहीं हैं। कुबेरके पुष्पक-विमान, कर्दम मुनिके विमान, राजा शाल्वके सौभविमान और राजा उपरिचर वसुके विमानकी ओर ध्यान दीजिये। कितने विचित्र थे वे। इसी प्रकार अनेक विचित्र विमानोंका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है। ऐसे वायुयान वर्तमानमें कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होते। सिद्धियाँ भी जैसी उस समय कपिल, भरद्वाज आदि मुनियोंमें थीं, वैसी आज नहीं देखनेमें आतीं। श्रीहनुमान्‌जीमें भी कैसी विचित्र सिद्धियाँ थीं, वे इच्छानुसार छोटा और बड़ा रूप धारण कर लेते थे।

श्रीवेदव्यासजीमें कैसी अलौकिक शक्ति थी कि उन्होंने मरी हुई अठारह अक्षौहिणी सेनाको बहुत वर्षोंके बाद भी बुलाकर दिखा दिया तथा संजयको दिव्य दृष्टि प्रदान कर दी।

इन सब प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि प्राचीन कालके ऋषि-मुनियोंका कला-कौशल और ज्ञान आजकी अपेक्षा बहुत ही बढ़ा-चढ़ा था। दर्शन-शास्त्रोंके रचयिता ऋषि-मुनियोंकी बुद्धिकी प्रखरता उनके ग्रन्थोंका अध्ययन करनेसे स्पष्ट प्रतीत होती है।

महर्षि पतञ्जलिने शरीरकी शुद्धिके लिये चरककी, आत्माकी शुद्धिके लिये योगदर्शनकी और वाणीकी शुद्धिके लिये अष्टाध्यायीपर महाभाष्यकी रचना की। उनके-जैसा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ आज कोई भी नहीं रच सकता। उन ऋषि-मुनियोंमें तप, योगबल और मन्त्रकी अद्भुत सामर्थ्य थी।

श्रीच्यवन ऋषिने अपने तपसे राजा शर्यातिकी सेनाके मल-मूत्र बंद कर दिये और मन्त्रके बलसे देवराज इन्द्रके हाथको भी स्तम्भित कर दिया तथा कृत्याको पैदा करके इन्द्रको परास्त कर दिया। उनके पास सेना या एटमबम आदि कुछ नहीं था; किंतु उनमें तप और मन्त्रोंकी अलौकिक शक्ति थी।

इस प्रकार शास्त्रोंमें ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, सिद्धि-शक्ति, अस्त्र-शस्त्र आदिकी अनेक अलौकिक बातें पायी जाती हैं; किंतु जो शास्त्रोंको पढ़ते नहीं, उनपर विश्वास करते नहीं, उनका तो उपाय ही क्या?

वर्तमानमें जो रेडियो, बेतारका तार, टेलिफोन, टेलिप्रिंटर, टेलिविजन या बड़े-बड़े हवाई जहाज, अणुबम, एटमबम आदिके आविष्कार हुए हैं, यदि कुछ दिनों बाद ये नहीं रहें तो भविष्यमें इनको भी लोग मिथ्या कह सकते हैं। इसी तरह प्राचीन कालके ऋषियोंने जो बातें शास्त्रोंमें लिखी हैं, उनको पुरानी मानकर उनकी अवहेलना कर दें तो यह हमलोगोंके लिये बहुत ही हानिकर है। भगवान्‌की नीति, धर्म, कानून, मुक्तिके उपाय और जीवात्मा—ये परिवर्तनशील वस्तुएँ नहीं हैं। ये कभी पुरानी होती ही नहीं, सदा नवीन ही रहती हैं। इसलिये इनको पुरानी समझकर इनकी अवहेलना करना और नये-नये मत-मतान्तरकी स्थापना करना बहुत भारी गलती है।

कितने ही मनुष्य यह मानते हैं कि 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ, इसके सिवा और कुछ भी नहीं। सांसारिक विषयभोगोंको भोगना ही सुख है और सांसारिक सुख न मिले तो यह जीवन ही व्यर्थ है।' पर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये कि हमें इन्द्रियों और विषयोंके सङ्गसे जो सुख प्रतीत होता है, क्या वही वास्तवमें सुख है? यदि वास्तवमें वही सुख होता तो सदा विद्यमान रहता। पर रहे कैसे? यह तो दुःख ही है और उस दुःखमें ही सुख-बुद्धि कर रखी है। जैसे फतिंगे दीपशिखामें सुखबुद्धि करके उसके निकट जाते हैं और फिर जलकर नष्ट हो जाते हैं, यही दशा विषयभोगोंको भोगनेमें है। कोई पुरुष स्त्रीसे सहवास करता है तो उसे एक बार क्षणिक सुख प्रतीत होता है; पर परिणाममें उसके बल, बुद्धि, वीर्य, तेज, शरीर, आयु और इज्जतकी तथा परलोक आदिकी हानि होती है।

वास्तवमें सुख तो है कामनाओंके त्यागमें, ईश्वरके चिन्तनमें, संकल्परहित अवस्थामें और समतामें। जो मनुष्य किसी भी वस्तुकी कामना नहीं रखता, वही सुखी है तथा जो मनुष्य सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग करके केवल सच्चिदानन्दघन परमात्माका ही ध्यान करे तो उसे प्रत्यक्ष विशेष आनन्द और शान्ति प्राप्त हो सकती है। यदि परमात्मामें विश्वास न हो तो भी एक क्षण भी यदि सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित होकर बैठे तो प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है। जो सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित पुरुष है, वह सुखी है।

जो विषयोंकी कामना करता रहता है, उसे ही दुःख होता रहता है; क्योंकि सभी कामनाओंकी तो पूर्ति होती नहीं और पूर्ति न होनेपर दुःख होता ही है। अनुकूलतामें सुखकी और प्रतिकूलतामें दुःखकी प्रतीति ही राग-द्वेषकी उत्पत्तिमें हेतु है तथा वह राग-द्वेष ही समस्त अवगुणों और अनर्थोंमें कारण है; किंतु जो मनुष्य अनुकूलता और प्रतिकूलतामें सम रहता है, उसे प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है; क्योंकि समता ही अमृत है, यही सब साधनोंका फल है और परमात्माका स्वरूप है। इसके बिना किसीको शान्ति नहीं मिल सकती और इसका सभी सिद्धान्तवालोंने आदर किया है। इसे कोई भी करके देख सकता है।

कितने ही मनुष्य तो अनुकूल परिस्थिति न मिलने या प्रतिकूल परिस्थितिके प्राप्त होनेपर इतने घबरा जाते हैं कि इस जीवनको ही व्यर्थ समझने लगते हैं और जान-बूझकर जीवनको नष्ट करनेपर उतारू हो जाते हैं; किंतु यह बड़ी भारी मूर्खता है। मनुष्यको आत्महत्या करना—अपने शरीरसे प्राणोंका वियोग करना किसी भी हालतमें किसी भी सिद्धान्त या युक्तिसे लाभप्रद नहीं है, बल्कि उसमें सब प्रकारसे हानि-ही-हानि है। मनुष्यको इस जीवनमें चाहे कितना ही भारी दुःख हो पर उससे ज्यादा दुःख आत्महत्या करनेके समय उसे होता है, चाहे वह विष खाकर मरे, चाहे जलमें डूबकर मरे, चाहे अग्निमें प्रवेश करे और आस्तिकवादकी दृष्टिसे तो उस आत्महत्यारेको वर्तमानसे भी बहुत अधिक दुःख मरनेपर होता है—उसे घोर नरकमें जाना पड़ता है। शुक्लयजुर्वेदमें चालीसवें अध्यायके तीसरे मन्त्रमें बतलाया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

'असुरोंके जो प्रसिद्ध नाना प्रकारकी योनियाँ एवं नरकरूप लोक हैं, ये सभी अज्ञान तथा दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्माकी हत्या करनेवाले मनुष्य हों, वे मरकर उन्हीं भयंकर लोकोंको बार-बार प्राप्त होते हैं।'

आजकल कितने ही मनुष्य घरके बालकों, पुरुषों और स्त्रियोंको सर्वथा स्वतन्त्रता दे देते हैं। उसमें उन बालकों, पुरुषों या स्त्रियोंको भी सुख नहीं होता और न स्वतन्त्रता देनेवालेको ही सुख होता है; क्योंकि स्त्रियाँ—स्वतन्त्रतामें पड़कर व्यभिचारिणी हो जाती हैं। बुद्धि और विवेककी कमीके कारण वे अपना धन भी खो बैठती हैं और आजीवन दुःख पाती हैं। इस प्रकार पाखण्डी धूर्तोंके पंजेमें पड़कर अपना पतन कर बैठती हैं। बालक भी स्वच्छन्द होकर उद्दण्ड हो जाते हैं। इससे वे सब नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। देखनेमें भी ऐसा आता है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि अपने घरके बालकों और स्त्रियोंको ऐसी स्वतन्त्रता न दे, जिससे वे स्वच्छन्द होकर अपना सर्वनाश कर लें, प्रत्युत उनके हितके लिये उनको अपने शुद्ध आचरणों और प्रेमपूर्वक यथायोग्य शासनके द्वारा न्यायोचित शिक्षा दे।

आजकल पुरुषों और स्त्रियोंमें जो मनोरञ्जनके लिये चौपड़-ताश आदि खेलनेकी प्रवृत्ति हो रही है, यह बहुत ही बुरी है। इसमें मनुष्यका समय व्यर्थ बरबाद होता है। न इसमें स्वार्थकी सिद्धि है और न परमार्थकी। इसलिये बुद्धिमान् स्त्री-पुरुषोंको इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

साथ ही, सिनेमा-नाटक आदिकी बुरी प्रवृत्ति भी बहुत बढ़ रही है। सिनेमा-नाटक आदिमें पात्र बनने या इनको देखनेसे समय और धर्मका नाश तो होता ही है, हृदयके भाव और चित्तकी वृत्तियाँ भी बहुत खराब हो जाती हैं; अश्लील भावोंकी जागृति होनेसे चरित्र भ्रष्ट हो जाता है, जिससे मनुष्यका यह लोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिये इनसे बचकर रहना चाहिये।

इसी प्रकार स्त्री या पुरुषोंका निकम्मा रहना भी बहुत ही हानिकर है। आजकल यह दोष भी बहुत बढ़ रहा है; किंतु विचार करना चाहिये। जो स्त्री या पुरुष निकम्मे रहते हैं, उनका समय निद्रा, आलस्य, प्रमाद, भोग या पापमें बीतता है, इससे आदत खराब पड़ जाती है और स्वभाव खराब हो जाता है। अतः सभी स्त्री-पुरुषोंको सदा संसारके हितकी चेष्टा करने या अपने न्याययुक्त शरीर-निर्वाहकी चेष्टा करनेमें लगे रहना चाहिये। शिल्पकार्य, गृहकार्य, पठन-पाठन, व्यापार, लेखन आदि कोई-न-कोई कर्म करते रहना चाहिये, निकम्मा कभी नहीं रहना चाहिये। अपने ऊपर आवश्यकतासे अधिक

कामकी जिम्मेवारी रखनी चाहिये, जिससे बेकार रहनेके कारण पतन न हो।

वर्तमानकी शिक्षा-प्रणालीका भी परिणाम बहुत बुरा हो रहा है। इससे स्त्रियों और बालकोंमें निर्लज्जता, उद्दण्डता, अभिमान, अहंकार, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि अवगुणोंकी वृद्धि होकर वे अपने बड़े-बूढ़ोंका भी तिरस्कार करने लगे हैं और स्वयं भी नष्ट-भ्रष्ट हो रहे हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आ रही है।

इसलिये शास्त्रोंमें जितना स्वतन्त्रताका अधिकार दिया गया है, जो कर्तव्य बताया गया है, उसीका पालन करना उचित है। अपने अधिकारके अभिमानका त्याग करना, दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करना और अपना जो कर्तव्य है उससे कभी च्युत नहीं होना चाहिये। एवं समता, शान्ति, संतोष, सरलता, उदारता, दया और स्वार्थ-त्याग आदि गुणोंका आदर करना चाहिये तथा ईश्वरकी कृपासे हमें जो कुछ ऐश्वर्य, शक्ति, सामर्थ्य या विवेक प्राप्त हुआ है, उसके अनुसार सबके साथ उत्तमोत्तम व्यवहार करना चाहिये। इससे मनुष्यका प्रत्यक्ष सुधार होकर उद्धार हो सकता है।

हमें अपने जीवनकी गति-विधिका निरीक्षण करते हुए सोचना चाहिये कि हम किस ओर जा रहे हैं और हमारा कर्तव्य क्या है? विवेक-विचारपूर्वक गम्भीरतासे सोचनेपर यही बात निश्चित होती है कि जो अपना और सब लोगोंका इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला है, वही कर्तव्य है। उसीको शास्त्रकारोंने धर्म कहा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिकदर्शन सूत्र २)

'जिसके आचरणसे इस लोकमें उन्नति और परलोकमें कल्याण हो वही धर्म है।'

जो इस लोकमें तो हितकर हो, पर परलोकमें हितकर न हो तो उसका नाम धर्म नहीं है। जो इस लोक और परलोक—दोनोंमें हितकर है, वही धर्म है। मनुष्यके कर्तव्यका नाम धर्म है और तो अकर्तव्य है वही अधर्म है। अतः अकर्तव्यके त्याग और कर्तव्यके पालनसे ही मनुष्यको सुख-शान्ति मिलते हैं। जो कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह मनुष्यत्वसे गिर जाता है। धर्मकी आवश्यकता इसीलिये है कि वह इस लोक और परलोकमें भी सुखकर है। कर्तव्यका त्याग करके मन, वाणी और शरीरकी जो व्यर्थ चेष्टा है, यह प्रमाद है। वह इस लोक और परलोकमें हानिकर है, अतः वह त्याज्य है और इसके विपरीत मन, वाणी, शरीरकी जो चेष्टा अपने या संसारके लिये हितकर है, वही कर्तव्य है, उसे मनुष्यको अवश्यमेव करना चाहिये।

इस प्रकार करनेसे ऊपर बताये हुए दोषोंका अपने-आप ही निराकरण हो जाता है। ये दोष उसके पास भी नहीं आ सकते। अतएव सभी स्त्री-पुरुषोंको अपने कर्तव्यका विचार करके उसको करनेमें तत्परतासे लगे रहना चाहिये।

तीर्थोंकी महिमा, प्रयोजन और उत्पत्ति तथा तीर्थ-यात्राके पालनीय नियम

सर्वप्रथम 'तीर्थ' शब्दका अभिप्राय समझना चाहिये। 'तीर्थ' शब्दका आधुनिक ढंगसे निर्वचन किया जाय तो 'ती' शब्दसे 'तीन' और 'र्थ' से 'अर्थ'—प्रयोजन लेना चाहिये। इस प्रकार जिससे तीन अर्थोंकी सिद्धि अर्थात् तीन पदार्थोंकी प्राप्ति हो, उसे 'तीर्थ' कहते हैं। पदार्थका तात्पर्य है—प्रयोजन और अर्थ। संसारमें चार पदार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारोंमेंसे अर्थ (धन) तो तीर्थ-यात्रा करनेमें खर्च ही होता है, अतः उसकी सिद्धि वहाँ प्रायः सम्भव नहीं है। धर्म, काम और मोक्ष—इन तीनोंकी सिद्धि तीर्थ-यात्रासे होती है। (१) सात्त्विक पुरुष तो मोक्षके लिये ही तीर्थ-यात्रा करते हैं। (२) धर्म-संग्रहके लिये सात्त्विक और राजसी—दोनों प्रकारके ही मनुष्य तीर्थ-यात्रा करते हैं। (३) केवल इहलौकिक और पारलौकिक कामनाओंकी सिद्धिके लिये ही राजसी मनुष्य तीर्थ-यात्रा करते हैं। इनमें धर्मसंग्रहके लिये निष्कामभावसे तीर्थयात्रा करनेवाले मनुष्य सात्त्विक हैं और सकामभावसे यात्रा करनेवाले राजसी हैं; क्योंकि निष्कामभावसे की हुई तीर्थ-यात्राका फल मुक्ति है और सकामभावसे की हुई तीर्थ-यात्राका फल इस लोकके मान-प्रतिष्ठा, स्त्री-पुत्र, धन आदि और परलोकके स्वर्ग आदि भोगोंकी प्राप्ति है। तीर्थोंमें धर्म, काम और मोक्ष—इन तीनों पदार्थोंकी सिद्धि होती है और वे मनुष्यको पापोंसे मुक्त करनेवाले हैं, इसीसे उन्हें 'तीर्थ' कहा जाता है।

संसारमें जितने भी तीर्थ हैं, वे प्रायः सभी श्रीभगवान् और उनके भक्तोंके सङ्गसे ही तीर्थ बने हैं। उनकी तीर्थ-संज्ञा ईश्वरके, महापुरुषोंके या पतिव्रता स्त्रियोंके प्रभावसे ही हुई है। पतिव्रताएँ भी एक प्रकारसे महात्मा ही हैं।

श्रीभागीरथी गङ्गा एक महान् तीर्थ है। श्रीमद्भागवतके

नवम स्कन्धके नवें अध्यायमें बतलाया है कि महाराज भगीरथने अपने पितरोंके उद्धारके लिये इस मर्त्यलोकमें गङ्गाको लानेके उद्देश्यसे बड़ी भारी तपस्या की, जिससे प्रसन्न होकर गङ्गाने उनको प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा—'जिस समय मैं स्वर्गसे पृथ्वीतलपर गिरूँ, उस समय कोई मेरे वेगको धारण करनेवाला होना चाहिये।' इसपर राजा भगीरथने तपस्याके द्वारा भगवान् शङ्करको प्रसन्न किया, जिससे श्रीशङ्करने गङ्गाको अपनी जटामें ही धारण कर लिया। फिर राजा भगीरथकी प्रार्थनापर श्रीशिवकी कृपासे उनकी जटासे निकलकर गङ्गा पृथ्वीपर प्रवाहित हुईं। उन परमपावनी गङ्गाके स्पर्शमात्रसे राजा भगीरथके पितर—सगरपुत्र स्वर्गको चले गये। इसलिये उस स्थानका नाम 'गङ्गासागर तीर्थ' हुआ। भगवान् शिव और राजा भगीरथके प्रभावसे पाप-मुक्त करनेके कारण ही गङ्गा एक प्रधान तीर्थ मानी जाती हैं।

श्रीमहाभारतमें कहा गया है—

पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति।
अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम्॥

(वन० ८५। ९३)

'गङ्गा अपना नाम उच्चारण करनेवालेके पापोंका नाश करती हैं, दर्शन करनेवालेका कल्याण करती हैं और स्नान-पान करनेवालेकी सात पीढ़ियोंतकको पवित्र करती हैं।'

इसी प्रकार काशीक्षेत्र भी भगवान् शिवके प्रतापसे 'तीर्थ' हुआ है। स्कन्दपुराणके काशीखण्डमें कहा गया है कि वहाँ साक्षात् महेश्वर सदा निवास करते हैं। जो मनुष्य वहाँ मरता है, उसे प्राणत्यागके समय भगवान् शङ्कर साक्षात् उपस्थित हो तारक-मन्त्रका उपदेश देते हैं, जिससे वह शिवस्वरूप हो जाता है। भगवान् शिवने स्वयं ही वहाँ यह कहा है कि 'यह पाँच कोसका लम्बा-चौड़ा क्षेत्र काशीधाम मुझे बहुत प्रिय है। काशीमें केवल मेरा ही शासन चलता है, दूसरेका नहीं।' सप्तपुरियोंमें काशीका प्रमुख स्थान है।

कुरुक्षेत्रमें अग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा आदि देवताओं और ऋषियोंने यज्ञ और तप किया था तथा राजा कुरुने भी वहाँ बड़ी भारी तपस्या की थी; अतः वह 'कुरुक्षेत्र' तीर्थके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

मथुरा-तीर्थ भगवान् श्रीकृष्णके अवतारके प्रभावसे विशेषताको प्राप्त हुआ है। इसी मथुराका नाम सत्ययुगमें 'मधुवन' था। जब भक्त ध्रुव माता सुनीतिके वचनोंसे अपना लक्ष्य स्थिर कर नगरसे बाहर चले गये, तब उनको श्रीनारदजीने उपदेश दिया और अन्तमें कहा—

तत् तात गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि।
पुण्यं मधुवनं यत्र सांनिध्यं नित्यदा हरेः॥

(श्रीमद्भा० ४। ८। ४२)

'तात! तेरा कल्याण हो, अब तू श्रीयमुनाके तटवर्ती परम पवित्र मधुवनको जा। वहाँ श्रीहरिका नित्य-निवास है।'

भक्त ध्रुवने वहाँ जाकर तपस्या की और भगवान्‌का साक्षात् दर्शन किया, जिसके प्रभावसे मधुवनकी तीर्थसंज्ञा हुई। वही मधुवन आज मथुरापुरीके नामसे प्रसिद्ध है। तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णके अवतार लेकर लीला करनेके कारण मथुरा, वृन्दावन, गोकुल, गोवर्धन, बरसाना, नन्दगाँव आदि व्रजके सभी स्थानोंकी विशेषरूपसे तीर्थसंज्ञा हो गयी।

भगवान् श्रीकृष्णके प्रभावसे ही द्वारकापुरीकी तीर्थसंज्ञा हुई, जो चार धामोंमेंसे एक धाम है; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने ही समुद्रके मध्यमें द्वारकाको बसाया था।

श्रीबदरिकाश्रममें भगवान्‌ने नर-नारायण ऋषिके रूपमें तपस्या की, इसीसे उसकी विशेषरूपसे तीर्थसंज्ञा हुई और वह चार धामोंमें गिना जाने लगा। शिव-पार्वतीका निवासस्थान होनेके कारण हिमाचल, जिसे कैलासपर्वत भी कहते हैं, तीर्थ माना गया है। वह आजकल गौरीशंकरशिखरके नामसे प्रसिद्ध है।

श्रीस्कन्दपुराणके वैष्णवखण्डमें बतलाया गया है कि भगवान्‌के परम भक्त राजा इन्द्रद्युम्नके अश्वमेधयज्ञकी समाप्तिपर वहाँ पुरुषोत्तमक्षेत्रमें भगवान् स्वयं चार काष्ठमयी मूर्तियोंमें प्रकट हुए। राजाने आकाशवाणीके अनुसार भगवान् जगन्नाथजी, बलभद्र, सुभद्रा और सुदर्शनचक्रकी उन प्रतिमाओंकी विधिवत् वहाँ स्थापना की और उनका पूजन किया। इसीसे वह क्षेत्र 'जगन्नाथपुरी' के नामसे प्रसिद्ध हुआ, जो चार धामोंमेंसे एक है।

स्वयं भगवान् श्रीरामके अवतार लेकर लीला करनेके कारण अयोध्यापुरीको परमधामप्रद और सरयूको मुक्तिदायक तीर्थ कहा गया है।

श्रीरामचरितमानसमें स्वयं भगवान् श्रीरामके वचन हैं—

पुनि देखु अवधपुरी अति पावनि। त्रिबिध ताप भव रोग नसावनि॥

(लङ्का० १२०। ५)

तथा—

जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जगु जाना॥
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥

जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥
जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा॥
अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुख रासी॥

(उत्तर० ४। २—४)

भगवान् श्रीरामने लक्ष्मण और सीताके सहित वनवासके समय चित्रकूटमें निवास किया, इससे मन्दाकिनी और चित्रकूटको विशेषरूपसे तीर्थ माना जाता है। श्रीभरत भगवान् श्रीरामका राजतिलक करनेके लिये अपने साथ सब तीर्थोंका जल चित्रकूटमें ले गये थे। उन्होंने जिस कूपमें वह सब तीर्थोंका जल रखा, उस कूपकी भरतके प्रतापसे भरतकूपके नामसे प्रसिद्धि है और इसीसे उसे तीर्थ माना गया है। इसी तरह श्रीराम, लक्ष्मण और सीता जिस शिलापर बैठा करते थे, उसे 'स्फटिक-शिला-तीर्थ' कहा जाता है।

श्रीअत्रिऋषिकी तपस्या और अनसूयाके पातिव्रत्यके प्रभावसे 'अनसूया' नामक तीर्थ हुआ। श्रीशरभङ्ग ऋषिकी तपश्चर्याके प्रभावसे 'शरभङ्ग' नामक तीर्थ प्रसिद्ध हुआ। श्रीसुतीक्ष्णमुनिकी भक्ति और तपके प्रभावसे 'सुतीक्ष्णतीर्थ' प्रसिद्ध हुआ। इसी प्रकार 'अगस्त्याश्रम-तीर्थ' अगस्त्यमुनिके तपके प्रभावसे हुआ। उस आश्रमके प्रभावका वर्णन करते हुए वाल्मीकीय रामायणमें स्वयं भगवान् श्रीराम अपने प्रिय भ्राता लक्ष्मणसे कहते हैं—

यदाप्रभृति चाक्रान्ता दिगियं पुण्यकर्मणा।
तदाप्रभृति निर्वैराः प्रशान्ता रजनीचराः॥
अयं दीर्घायुषस्तस्य लोके विश्रुतकर्मणः।
अगस्त्यस्याश्रमः श्रीमान् विनीतमृगसेवितः॥
नात्र जीवेन्मृषावादी क्रूरो वा यदि वा शठः।
नृशंसः पापवृत्तो वा मुनिरेष तथाविधः॥

(वा० रा० अरण्य० ११। ८३, ८६, ९०)

'उन पुण्यकर्मा महर्षि अगस्त्यने जबसे इस दक्षिण दिशामें पदार्पण किया है, तबसे यहाँके राक्षस शान्त हो गये हैं। उन राक्षसोंने दूसरोंसे वैर-विरोध करना छोड़ दिया है। यह आश्रम उन जगत्-प्रसिद्ध उत्तम कर्म करनेवाले अगस्त्य-ऋषिका ही है; क्योंकि यहाँ मृग आदि पशु विनीतभावसे निवास कर रहे हैं और यह आश्रम शोभासम्पन्न हो रहा है। अगस्त्यऋषि ऐसे प्रभावशाली महात्मा हैं कि उनके आश्रममें कोई झूठ बोलनेवाला, क्रूर, शठ, नृशंस अथवा पापाचारी मनुष्य जीवित नहीं रह सकता।'

नासिकमें गोदावरीके तटपर पञ्चवटीमें भगवान् श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके निवास करनेके कारण उनके प्रभावसे पञ्चवटीकी तीर्थसंज्ञा हुई है।

परम भक्तिमती शबरी (भीलनी) का निवासस्थान होनेसे 'पम्पा-सरोवर' की तीर्थसंज्ञा हुई।

सुग्रीव, हनुमान्, अङ्गद, जाम्बवान् आदि भगवद्भक्तोंका वासस्थान होनेसे 'किष्किन्धा' को भी तीर्थ कहा जाता है।

सेतुबन्ध-रामेश्वर, जो चारों धामोंमें एक धाम है, उसकी तीर्थसंज्ञा भगवान् श्रीरामके द्वारा वहाँ सेतु बाँधे जाने और रामेश्वर शिवलिङ्गकी स्थापना होनेके कारण हुई।

इसी प्रकार पुष्कर-तीर्थकी उत्पत्ति ब्रह्माजीके प्रभावसे हुई है। श्रीपद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें वर्णन है कि पुष्करमें लोककर्ता श्रीब्रह्माजीने यज्ञके निमित्त वेदीका निर्माण किया था और वे वहाँ सदा निवास करते हैं। उन्होंने जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही इस तीर्थको प्रकट किया है। पुष्करकी महिमा वर्णन करते हुए श्रीमहाभारतमें कहा गया है—

नृलोके देवदेवस्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
पुष्करं नाम विख्यातं महाभागः समाविशेत्॥

(वन० ८२। २०)

'मनुष्यलोकमें देवाधिदेव ब्रह्माजीका त्रिलोकविख्यात तीर्थ है, जो 'पुष्कर' नामसे प्रसिद्ध है। उसमें कोई बड़भागी मनुष्य ही प्रवेश कर पाता है।'

तस्मिंस्तीर्थे महाराज नित्यमेव पितामहः।
उवास परमप्रीतो भगवान् कमलासनः॥

(वन० ८२। २५)

'महाराज! उस तीर्थमें कमलासन भगवान् ब्रह्माजी नित्य ही बड़ी प्रसन्नताके साथ निवास करते हैं।'

पुष्करेषु महाभाग देवाः सर्षिगणाः पुरा।
सिद्धिं समभिसम्प्राप्ताः पुण्येन महतान्विताः॥

(वन० ८२। २६)

'महाभाग! पुष्करमें पहले देवता तथा ऋषिगण महान् पुण्यसे सम्पन्न हो सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं।'

यथा सुराणां सर्वेषामादिस्तु मधुसूदनः।
तथैव पुष्करं राजंस्तीर्थानामादिरुच्यते॥

(वन० ८२। ३४-३५)

'राजन्! जैसे भगवान् मधुसूदन (विष्णु) सब देवताओंके आदि हैं, वैसे ही पुष्कर सब तीर्थोंका आदि कहा जाता है।'

श्रीस्कन्दपुराणके आवन्त्यखण्डमें महाकालक्षेत्रका वर्णन करते हुए कहा गया है कि भगवान् शिवने उस महाकाल वनमें वास किया था, अतः उनके प्रभावसे वह तीर्थ हो गया। वहीं उन्होंने त्रिपुर नामक दानवको

उत्कर्षपूर्वक जीता था, इसीसे उसका नाम 'उज्जयिनी' हो गया, जो आज उज्जैनके नामसे प्रसिद्ध है। यह सात पुरियोंमें 'अवन्ती' नामसे विख्यात पुरी है।

श्रीगङ्गा और यमुनाका संगम होनेके कारण तथा उसके तटपर अनेक पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा प्राचीन कालसे बहुत-से यज्ञादि किये जानेके कारण 'प्रयाग'की तीर्थसंज्ञा हुई, यह प्रजापतिका क्षेत्र तथा तीर्थोंका राजा माना गया है। माघ मासमें यहाँ सब तीर्थ आकर वास करते हैं, इससे माघ महीनेमें वहाँ वास करनेका बहुत माहात्म्य बतलाया गया है। वन जाते समय भगवान् श्रीराम प्रयागमें श्रीभरद्वाज ऋषिके आश्रमपर होते हुए गये थे, इससे उसका माहात्म्य और भी बढ़ गया।

श्रीदेवीभागवतमें कहा गया है कि जब ऋषिलोग कलिकालके भयसे बहुत घबराये, तब ब्रह्माजीने उन्हें एक मनोरम चक्र देकर कहा कि 'तुमलोग इस चक्रके पीछे-पीछे जाओ और जहाँ इसकी नेमि (मध्यभाग) विशीर्ण हो जाय, उसे ही अत्यन्त पवित्र स्थान समझना; वहाँ रहनेसे तुम्हें कलिका कोई भय नहीं रहेगा।' ऋषियोंने वैसा ही किया। जहाँ जाकर वह नेमि विशीर्ण हुई, वही स्थान 'नैमिषारण्य' तीर्थके नामसे प्रसिद्ध हुआ तथा वहाँ श्रीशौनक आदि अट्ठासी हजार ऋषियोंने एकत्र हो सूतजी (लोमहर्षण) से कथा सुनी और तपस्या की थी, इसीलिये वह और भी महिमासे युक्त होकर एक प्रसिद्ध तीर्थ माना जाता है।

श्रीपरशुरामजीके निवास और तपश्चर्याके प्रभावसे आसाममें 'परशुरामकुण्ड' नामक तीर्थ प्रसिद्ध हुआ।

इसी प्रकार अन्यान्य सब तीर्थोंके सम्बन्धमें समझना चाहिये। प्रायः सभी तीर्थ भगवान् और उनके भक्तोंके प्रभावसे ही बने हैं अर्थात् उनके जन्म, तपश्चर्या और सङ्ग-सांनिध्यके कारण ही उनकी तीर्थसंज्ञा हुई है। ये सभी स्थान-विशेष तीर्थ हैं। इनमें निवास करने और मरनेसे मनुष्यकी मुक्ति हो जाती है, यह बात शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर बतलायी गयी है—

काशी काञ्ची च मायाख्या त्वयोध्या द्वारवत्यपि।
मथुरावन्तिका चैताः सप्त पुर्योऽत्र मोक्षदाः॥

(स्कं० काशी० पूर्व० ६। ६८)

'इस मनुष्यलोकमें काशी, काञ्ची, माया (लक्ष्मण-झूलासे कनखलतक), अयोध्या, द्वारका, मथुरा और अवन्ती (उज्जैन)—ये सात पुरियाँ मोक्ष देनेवाली हैं।'

इनके सिवा बदरिकाश्रम, सेतुबन्ध-रामेश्वर, जगन्नाथपुरी, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, पुष्कर आदि तीर्थोंमें वास करने और मरनेसे भी मनुष्यकी मुक्ति होनेका वर्णन शास्त्रोंमें मिलता है।

तीर्थयात्राका वास्तविक प्रयोजन है—आत्माका उद्धार करना। इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये तो और भी बहुत-से साधन हैं। अतएव मनुष्यको भोगोंकी प्राप्तिके लिये तीर्थयात्रा न करके आत्माके कल्याणके लिये ही तीर्थयात्रा करनी चाहिये। जो मनुष्य आत्मकल्याणके उद्देश्यसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नियमपालन करते हुए तीर्थयात्रा करता है, उसे तीर्थसे महान् लाभ होता है। जैसे सूर्यके तापसे रहित प्रातःकाल या सायंकालके उत्तम समयमें तथा उत्तम पुरुषोंके सङ्ग और उनके साथ वार्तालापके समयमें स्वाभाविक ही मनुष्यकी चित्तवृत्तियाँ शान्त और सात्त्विक रहती हैं, उसी प्रकार चित्रकूट, ऋषिकेश, वृन्दावन आदि तीर्थस्थानोंमें जाकर वहाँ एकान्त वनमें श्रद्धा-भक्ति और नियमपालनपूर्वक निवास करनेसे वहाँके पवित्र परमाणुओंका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है और भजन-ध्यानमें सहायता मिलती है; क्योंकि तीर्थोंमें अध्यात्मसम्बन्धी परमाणु स्वाभाविक ही व्याप्त रहते हैं। उनका साधारणतया तो वहाँ रहनेवाले सभी लोगोंपर प्रभाव पड़ता है, फिर जिनका हृदय शुद्ध होता है, उन श्रद्धालु मनुष्योंपर तो विशेषरूपसे उनका प्रभाव पड़ता है। जैसे सूर्यका प्रकाश सब जगह समानभावसे होते हुए भी दर्पणपर उसका प्रभाव विशेषरूपसे पड़ता है, उसी प्रकार ईश्वर और महात्माओंका प्रभाव सब जगह समानभावसे रहते हुए भी जिनमें श्रद्धा-भक्ति और अन्तःकरणकी पवित्रता होती है, उनपर उनका विशेष प्रभाव पड़ता है।

अतएव मनुष्यको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक विधि और नियमोंका पालन करते हुए ही तीर्थ-यात्रा करनी चाहिये। तीर्थ-यात्राके समय पैरोंसे जीवोंको बचाते हुए, वाणी और मनसे भगवान्‌के नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान करते हुए अथवा भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए चलना चाहिये। इसी प्रकार श्रीगङ्गा, यमुना, सिन्धु, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, कावेरी, कृष्णा, सरयू, मानसरोवर, कुरुक्षेत्र, पुष्कर, गङ्गासागर आदि तीर्थोंमें जाकर उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और महिमाका स्मरण करते हुए आत्म-शुद्धि और कल्याणके लिये प्रथम तो उनको नमस्कार करे, फिर तीर्थके जलको सिरपर धारण करे; तदनन्तर उनकी पुष्पादिसे पूजा करके आचमन और स्नान करे; किंतु तीर्थके जलमें वस्त्र न निचोड़े तथा तीर्थके जलसे गुदा-प्रक्षालन आदि कार्य न

करे। तीर्थके किनारे मल-मूत्रका त्याग तो कभी भूलकर भी न करे, वहाँसे सौ कदम दूर जाकर करे। मलका त्याग करनेके बाद अपवित्र हाथोंको गङ्गा आदि तीर्थोंके जलसे न धोये तथा गङ्गा आदिके जलमें कभी दाँतुन-कुल्ला न करे।

तीर्थस्थानोंमें श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीदुर्गा आदि भगवद्विग्रहोंका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक दर्शन करते हुए उनके गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व, रहस्य और महिमा आदिका स्मरण करके दिव्य स्तोत्रोंके द्वारा आत्मोद्धारके लिये उनकी स्तुति-प्रार्थना, पूजा और नमस्कार करना चाहिये। एवं अपने-अपने अधिकारके अनुसार संध्या, तर्पण, जप, ध्यान, पूजा-पाठ, स्वाध्याय, हवन, बलिवैश्वदेव, सेवा आदि नित्य और नैमित्तिक कर्म ठीक समयपर करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। यदि किसी विशेष कारणवश समयका उल्लङ्घन हो जाय, तो भी कर्मका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये। गीता- रामायण आदि शास्त्रोंका अध्ययन, भगवन्नामजप, सूर्य-भगवान्‌को अर्घ्यदान, इष्टदेवकी पूजा, ध्यान, स्तुति, नमस्कार और प्रार्थना आदि तो सभी वर्ण और आश्रमके स्त्री-पुरुषोंको अवश्य ही करने चाहिये। तीर्थोंमें जाकर यज्ञ, तप, दान, श्राद्ध-तर्पण, पिण्डदान, व्रत, उपवास आदि भी अपने अधिकारके अनुसार करने चाहिये।

तीर्थोंमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप यमों तथा शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानरूप नियमोंका* पालन भी विशेषरूपसे करना चाहिये। भोग और ऐश्वर्यको अनित्य समझते हुए विवेक-वैराग्यके द्वारा वशमें किये हुए मन और इन्द्रियोंको शरीर-निर्वाहके अतिरिक्त अपने-अपने विषयोंसे हटानेकी चेष्टा करनी चाहिये तथा कीर्तन और स्वाध्यायके अतिरिक्त समयमें मौन रहनेका प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि मौन रहनेसे जप और ध्यानके साधनमें विशेष मदद मिलती है। यदि विशेष कार्यवश बोलना पड़े तो सत्य, प्रिय और हितकर वचन बोलने चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें वाणीके तपकी परिभाषा करते हुए कहा है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(गीता १७। १५)

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठन एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है, वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

तीर्थोंमें काम, क्रोध, लोभ आदिके वशमें होकर किसी भी जीवको किसी प्रकार किंचिन्मात्र भी दुःख कभी नहीं पहुँचाना चाहिये तथा साधु, ब्राह्मण, तपस्वी, ब्रह्मचारी, विद्यार्थी आदि सत्पात्रोंकी एवं दुःखी, अनाथ, आतुर, अङ्गहीन, बीमार और साधक पुरुषोंकी अन्न, वस्त्र, औषध और धार्मिक पुस्तकों आदिके द्वारा यथायोग्य सेवा करनी चाहिये।

तीर्थोंमें निवास-स्थान और बर्तनोंके अतिरिक्त किसीकी कोई भी चीज काममें नहीं लानी चाहिये, बिना माँगे देनेपर भी बिना मूल्य स्वीकार नहीं करनी चाहिये तथा सगे-सम्बन्धी, मित्र आदिकी भेंट-सौगात आदि भी नहीं लेनी चाहिये। बिना अनुमतिके तो किसीकी कोई भी वस्तु काममें लेना चोरीके समान है। बिना मूल्य औषध आदि भी लेना प्रतिग्रह ही है।

तीर्थोंमें मन, वाणी और शरीरसे ब्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये। स्त्रीको पर पुरुषका और पुरुषको पर स्त्रीका दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तन आदि भी कभी नहीं करना चाहिये। यदि विशेष आवश्यकता हो तो स्त्रियाँ पर पुरुषको पिता या भाईके समान समझती हुईं और पुरुष पर स्त्रीको माता या बहिनके समान समझते हुए नीची दृष्टि करके संक्षेपमें शास्त्रानुकूल वार्तालाप कर सकते हैं। यदि एकपर दूसरेकी भूलसे भी पापबुद्धि हो जाय तो कम-से-कम एक दिनका उपवास करना चाहिये।

ऐश-आराम, स्वाद, शौक और भोगबुद्धिसे तीर्थोंमें न तो किसी पदार्थका संग्रह करना चाहिये और न सेवन ही करना चाहिये। केवल शरीर-निर्वाहके लिये त्याग और वैराग्यबुद्धिसे अन्न-वस्त्रका उपयोग करना चाहिये।

तीर्थोंमें अपनी कमाईके द्रव्यसे पवित्रतापूर्वक सिद्ध किये हुए अन्न और दूध-फल आदि सात्त्विक पदार्थोंका ही भोजन करना चाहिये। स्वार्थ और अहंकाररहित होकर सबके साथ दया, विनय और प्रेमपूर्ण सात्त्विक व्यवहार करना चाहिये तथा काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मात्सर्य, राग-द्वेष, दम्भ-कपट, प्रमाद-आलस्य आदि दुर्गुणोंका; बीड़ी-सिगरेट, तम्बाकू-गाँजा, भाँग-सुरती, अफीम-चरस, कोकिन आदि मादक वस्तुओंका; लहसुन-प्याज, बिस्कुट-बरफ, सोडा-लेमोनेड आदि अपवित्र पदार्थोंका; ताश-

* अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (योग० २। ३०)
शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (योग० २। ३२)

चौपड़, शतरंज खेलना और नाटक, सिनेमा तथा अन्य प्रकारके खेल-तमाशे, बाग-बगीचे, महल आदि विलासकी वस्तुएँ देखना आदि प्रमादका तथा गाली-गलौज, चुगली-निन्दा, हँसी-मजाक, फालतू बकवाद, आक्षेप आदि व्यर्थ वार्तालापका सर्वथा त्याग करना चाहिये। सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख और अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थोंके प्राप्त होनेपर उनको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर सदा-सर्वथा प्रसन्नचित्त और संतुष्ट रहना चाहिये।

तीर्थयात्रामें अपने सङ्गवालोंमेंसे किसीको अथवा अपने किसी आश्रितको बीमारी आदि विपत्ति आनेपर काम, क्रोध, लोभ, परिश्रम या भयके कारण उसे मार्गमें अकेले छोड़कर आगे नहीं जाना चाहिये। अपना परमधर्म समझकर महाराज युधिष्ठिर तो अपने साथ आनेवाले कुत्तेको भी छोड़कर स्वर्गको नहीं गये। जो लोग अपने किसी साथी या आश्रितके बीमार पड़ जानेपर उसे मार्गमें ही छोड़कर तीर्थ-स्नान और भगवद्विग्रहके दर्शन आदिके लिये आगे बढ़ जाते हैं, उनपर भगवान् प्रसन्न न होकर उलटे अप्रसन्न होते हैं; क्योंकि परमात्मा ही सबकी आत्मा हैं—इस सिद्धान्तके अनुसार उस आपत्तिग्रस्त साथीका तिरस्कार परमात्माका ही तिरस्कार है। इसलिये विपत्तिग्रस्त साथीका त्याग तो भूलकर भी कभी नहीं करना चाहिये।

तीर्थोंमें किसी प्रकारका किंचिन्मात्र भी पाप कभी नहीं करना चाहिये; क्योंकि जैसे तीर्थोंमें किये हुए स्नान-दान, जप-तप, यज्ञ-हवन, व्रत-उपवास, ध्यान-दर्शन, पूजा-पाठ, सेवा-सत्सङ्ग आदि महान् फलदायक होते हैं, वैसे ही वहाँ किये हुए असत्यभाषण, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी, विश्वासघात, मांसभक्षण, मद्यपान, जूआ, व्यभिचार, हिंसा आदि पाप वज्रलेप हो जाते हैं।

शास्त्रोंमें तीर्थोंकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है। श्रीमहाभारतमें पुलस्त्य ऋषिने कहा है—

पुष्करे तु कुरुक्षेत्रे गङ्गायां मध्यमेषु च।
स्नात्वा तारयते जन्तुः सप्त सप्तावरांस्तथा॥

(वन० ८५। ९२)

'पुष्कर, कुरुक्षेत्र, गङ्गा और प्रयाग आदि मध्यवर्ती तीर्थोंमें स्नान करनेवाला मनुष्य अपनी सात पीछेकी और सात आगेकी पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है।'

ऐसे तीर्थ-माहात्म्यके वचनोंको लोग अर्थवाद और रोचक मानते हैं; किंतु इनको अर्थवाद और रोचक न मानकर यथार्थ ही समझना चाहिये। इनका फल यदि पूरा देखनेमें नहीं आता हो तो उसका कारण वर्तमान नास्तिक वातावरण, पंडे और पुजारियोंके दुर्व्यवहार तथा तीर्थोंमें पाखण्डी, नास्तिक और भयानक कर्म करनेवालोंके निवास आदिसे लोगोंके हृदयमें तीर्थोंके प्रति श्रद्धा-विश्वास और प्रेमका कम हो जाना ही है। इसीसे तीर्थका पूरा लाभ नहीं मिलता; किंतु जो मनुष्य श्रद्धा-भक्तिपूर्वक यम-नियमोंका पालन करते हुए तीर्थवास आदि करते हैं, उनको तीर्थका पूरा फल प्राप्त होता है।

श्रीस्कन्दपुराणमें कहा गया है—

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
निर्विकाराः क्रियाः सर्वाः स तीर्थफलमश्नुते॥

(माहे० कुमा० २। ६)

'जिसके हाथ, पैर और मन भलीभाँति वशमें हों तथा जिसकी सभी क्रियाएँ निर्विकारभावसे सम्पन्न होती हों, वही तीर्थका पूरा फल प्राप्त करता है।'

इसी प्रकार स्कन्दपुराणके काशीखण्डमें बतलाया गया है कि अश्रद्धालु, पापात्मा, नास्तिक, संशयात्मा और केवल तर्कका सहारा लेनेवाला—ये पाँच प्रकारके मनुष्य तीर्थ-सेवनका फल नहीं पाते।

इसलिये हमलोगोंको यम-नियमोंका पालन करते हुए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे ही तीर्थोंका सेवन करना चाहिये। इससे मनुष्यका शीघ्र कल्याण हो सकता है।

तीर्थोंमें जाकर मनुष्यको महात्मा पुरुषोंके सत्सङ्गका विशेषरूपसे लाभ उठाना चाहिये। श्रीस्कन्दपुराणमें कहा गया है—

मुख्या पुरुषयात्रा हि तीर्थयात्रानुषङ्गतः।
सद्भिः समाश्रितो भूमिभागस्तीर्थतयोच्यते॥

(माहे० कुमा० ११। ११)

'तीर्थ-यात्राके प्रसङ्गसे महापुरुषोंके दर्शनके लिये जाना तीर्थ-यात्राका मुख्य उद्देश्य है; अतः जिस भूभागमें संत-महात्मा निवास करते हैं, वह विशेष 'तीर्थ' कहलाता है।'

क्योंकि भगवद्भक्त महात्मा पुरुषोंको तीर्थोंको भी तीर्थत्व प्रदान करनेवाला कहा गया है। श्रीनारदजीने अपने भक्ति-सूत्रोंमें कहा है—

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः। कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च। तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि। (सूत्र ६७, ६८, ६९)

'एकान्त (अनन्य) भक्त ही श्रेष्ठ हैं। प्रेमके कारण जिनका कण्ठ रुक जाता है, शरीर पुलकित हो जाता है और आँखोंमें प्रेमके आँसुओंकी धारा बहने लगती है, ऐसे अनन्य भक्त परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको और पृथ्वीको पवित्र करते हैं। वे तीर्थोंको

सुतीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र कर देते हैं।'

श्रीमद्भागवतमें धर्मराज युधिष्ठिर महात्मा विदुरजीसे कहते हैं—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं प्रभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

(१।१३।१०)

'प्रभो! आप-सरीखे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थस्वरूप हैं; क्योंकि आपलोग अपने हृदयमें विराजित भगवान् गदाधरके प्रभावसे तीर्थोंको भी तीर्थ (पवित्र) बना देते हैं।'

अतएव ऐसे महात्मा पुरुषोंके सङ्गको तीर्थोंसे भी बढ़कर बतलाया गया है। श्रीस्कन्दपुराणमें आता है—

तीर्थादप्यधिकः स्थाने सतां साधुसमागमः।
पचेलिमफलः सद्यो दुरन्तकलुषापहः॥
अपूर्वः कोऽपि सद्गोष्ठीसहस्रकिरणोदयः।
य एकान्ततयात्यन्तमन्तर्गततमोपहः॥

(स्क० मा० कुमा० ११।६-७)

'यह सच है कि श्रेष्ठ (श्रद्धालु एवं सरलहृदय) पुरुषोंका साधुओं—महापुरुषोंके साथ समागम तीर्थसे भी बढ़कर है; क्योंकि उसका परिपक्व फल तुरंत प्राप्त होता है तथा वह दुरन्त—कठिनाईसे दूर होनेवाले पापोंका भी नाश कर देता है। श्रेष्ठ पुरुषोंका सङ्ग हजारों किरणोंसे प्रकाशमान सूर्योदयकी भाँति अद्भुत प्रभावशाली है; क्योंकि वह अन्तःकरणमें व्याप्त अज्ञानरूप अन्धकारका अत्यन्त नाश करनेवाला है।'

इसीलिये श्रीरामचरितमानसमें संत-महात्माओंको जङ्गम तीर्थराज बतलाया गया है—

मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥

(बाल० २।४)

अतएव तीर्थोंमें जाकर मनुष्यको साधु, महात्मा, ज्ञानी, योगी और भक्तोंके दर्शन, सेवा, सत्सङ्ग, वन्दन, उपदेश, आदेश और वार्तालापके द्वारा विशेष लाभ उठानेके लिये उनकी खोज करनी चाहिये। भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति गीतामें कहा है—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४।३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और उनसे कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्म-तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

परंतु कञ्चन-कामिनीके लोलुप, अपने नाम-रूपको पुजवाकर लोगोंको अपना उच्छिष्ट (जूँठन) खिलानेवाले, मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाके गुलाम, प्रमादी और विषयासक्त पुरुषोंका सङ्ग भूलकर भी नहीं करना चाहिये, चाहे वे साधु, ब्रह्मचारी और तपस्वीके वेशमें भी क्यों न हों। मांसाहारी, मादक पदार्थोंका सेवन करनेवाले, पापी, दुराचारी और नास्तिक पुरुषोंका तो दर्शन भी नहीं करना चाहिये।

तीर्थोंमें किसी-किसी स्थानपर तो पंडे-पुजारी और महंत आदि यात्रियोंको अनेक प्रकारसे तंग किया करते हैं। यात्रा सफल करवानेके नामपर दुराग्रहपूर्वक अधिक धन लेनेके लिये अड़ जाना, देव-मन्दिरोंमें बिना पैसे लिये दर्शन न कराना, बिना भेंट लिये स्नान न करने देना, यात्रियोंको धमकाकर और पापका भय दिखलाकर जबर्दस्ती रुपये ऐंठना, मन्दिरों और तीर्थोंपर भोग-भंडारे आदिके नामपर अधिक भेंट चढ़ानेके लिये अनुचित दबाव डालना, अपने स्थानोंपर ठहराकर अधिक धन प्राप्त करनेका प्रयत्न करना, सफेद चील (काँक) पक्षियोंको ऋषि और देवताका रूप देकर और उनकी जूँठन खिलाकर भोले-भाले यात्रियोंसे धन ठगना तथा देवमूर्तियोंके द्वारा शर्बत पिये जाने आदि झूठी करामातोंको प्रसिद्ध करके लोगोंको ठगना इत्यादि चेष्टाएँ निन्दनीय हैं। अतः तीर्थयात्रियोंको इन सबसे सावधान रहना चाहिये।

स्त्रीके लिये पति, बालकोंके लिये माता-पिता तथा शिष्यके लिये गुरु भी जङ्गम तीर्थ हैं। अतः मनुष्यको तीर्थयात्रा इनके साथ अथवा इनकी आज्ञासे करनी चाहिये, तभी तीर्थयात्रा सफल होती है; क्योंकि ये साक्षात् सजीव तीर्थ हैं। इसीलिये इनकी सेवा-शुश्रूषा करनेका तीर्थयात्रासे बढ़कर माहात्म्य है। अतः मनुष्यको उनके हितमें रत रहते हुए निष्काम प्रेमभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनकी सेवा, वन्दन और आज्ञापालन करना चाहिये।

इसी प्रकार सत्य, क्षमा, दया, तप, दम, संतोष, धैर्य, धर्मपालन, अन्तःकरणकी पवित्रता तथा ज्ञानपूर्वक भगवान्‌का ध्यान आदि तो तीर्थोंसे भी बढ़कर हैं। इनको शास्त्रोंमें 'मानसतीर्थ' कहा गया है—

ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्॥

(स्कन्द० काशी० पूर्व० ६।४१)

'ध्यानसे पवित्र, ज्ञानरूप जलसे भरे हुए तथा रागद्वेषरूप मलको दूर करनेवाले मानसतीर्थमें जो पुरुष स्नान करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है।'

अतएव मनुष्यको कुसङ्गसे बचकर तीर्थोंमें श्रद्धा-प्रेम रखते हुए सावधानीके साथ महापुरुषोंका सङ्ग और

उपर्युक्त यम-नियमादिका भलीभाँति पालन करके तीर्थोंसे लाभ उठाना चाहिये। यदि इन नियमोंके पालनमें कहीं कुछ कमी भी रह जाय तो उतना हर्ज नहीं; परंतु चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, भगवान्‌के नामका जप तथा उनके स्वरूपका ध्यान तो गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यके सहित सदा-सर्वदा निरन्तर ही करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इसमें त्रुटि नहीं रहनी चाहिये।

तीर्थयात्रियोंके लिये उपर्युक्त बातें बहुत ही उपयोगी हैं, अतः उनको समय-समयपर पढ़कर काममें लानेकी अवश्य चेष्टा करनी चाहिये। काममें लानेसे निश्चय ही मनुष्यका सुधार होकर उद्धार हो सकता है।

भारतका परम हित

इस समय सभी ओर उन्नतिकी पुकार मची हुई है; परंतु 'यथार्थ उन्नति' क्या है और किसमें है, इसका विचार बहुत कम किया जाता है। धन, विलास, भौतिक सुख या पदमें उन्नति नहीं है। वास्तविक उन्नति उसीमें है, जिसमें मनुष्योंका जीवनस्तर नैतिकता तथा सदाचारकी दृष्टिसे ऊँचा हो, उनमें 'सर्वभूतहित' की सच्ची भावना जाग्रत् हो, इन्द्रियोंपर और मनपर स्वामित्व हो, जीवनमें संयम और सेवाका स्वभाव हो और जिससे इस लोक तथा परलोकमें सबका सब प्रकारसे हित होता हो और साथ ही मानव अपने परम हित परमात्माकी प्राप्तिकी ओर अग्रसर हो। यही यथार्थ उन्नति है। इस उन्नतिका परम साधन है—'धर्म और ईश्वरपर निष्ठा एवं विश्वास'।

जबतक भारतमें धर्म और ईश्वरपर निष्ठा-विश्वास रहा, मनुष्य ईश्वरके आश्रित और धर्मपरायण रहे, तबतक भारतकी उत्तरोत्तर उन्नति होती रही। ज्यों-ज्यों इसमें कमी आयी, त्यों-ही-त्यों भारत अवनतिके गर्तमें गिरता गया। आजके भारतकी तो वस्तुतः बहुत शोचनीय स्थिति है। धर्म और ईश्वरके तत्त्वको न समझनेके कारण बहुत लोग तो धर्म और ईश्वरको मानते ही नहीं, कुछ लोग धर्म और ईश्वरको स्वीकार तो करते हैं पर हृदयसे नहीं मानते। इसलिये उनकी स्वीकृति भी कथनमात्रकी होती है और इसी कारण उनको विशेष लाभ भी नहीं होता। माननेवालोंमें कुछ लोग ऐसे हैं, जिनमें आत्मबल नहीं है। जिनमें यत्किञ्चित् आत्मबल है, उनकी संख्या थोड़ी है और उनकी चलती भी नहीं। शिक्षामें धर्मका विशिष्ट स्थान न रहनेसे शिक्षित पुरुष—जो समाजके सभी क्षेत्रोंमें स्वाभाविक अग्रणी होते हैं—धर्म और ईश्वरको महत्त्व नहीं दे पाते। इन्हीं सब कारणोंसे यथार्थ उन्नतिकी दृष्टिसे भारतका दिनोंदिन ह्रास और विनाश ही हो रहा है।

धर्म और ईश्वरमें निष्ठा न होनेके कारण ही 'यथार्थ कर्तव्य' की ओर ध्यान कम हो गया और अनर्थकारी अर्थकी प्रधानता बढ़ गयी। सरकारी अधिकारियोंमें घूस-रिश्वतका प्रसार हो गया। अन्याय तथा असत्-मार्गसे आनेवाले धनसे सबकी ग्लानि निकल गयी। चारों ओर चोरबाजारी, ठगी और भ्रष्टाचारका विस्तार हो गया। कर्तव्यपालनके स्थानमें आरामतलबी और धोखाधड़ी आ गयी। इसीसे मजदूर-मालिकोंका पवित्र सम्बन्ध भी दूषित हो गया। स्कूल-कालेजोंमें गुरु-शिष्यका पवित्र आदर्श नष्ट हो गया। यों सर्वत्र उच्छृङ्खलता, स्वेच्छाचारिता और धर्महीनता आ गयी। असदाचार और अनैतिकताकी यह बाढ़ न रुकी तो पता नहीं हमलोगोंकी क्या दशा होगी।

इसी आर्थिक और लौकिक महत्ताके प्रभावसे हमारी सरकारको भी भाँति-भाँतिके नये-नये टैक्स लगानेको बाध्य होना पड़ रहा है। जब व्ययका बहुत बड़ा आयोजन सामने होगा, तब उसकी पूर्तिके लिये टैक्स लगाने और बढ़ाने पड़ेंगे ही; परंतु जिन टैक्सोंसे गरीब तथा मध्यवित्त जनताका जीवन कष्टमय हो जाता हो, जिनसे ज्ञान-प्रसारमें बाधा आती हो, ऐसे टैक्स न लगाये जायँ तो बहुत उत्तम है। जैसे उदाहरणके लिये गेहूँ, चावल, चीनी, नमक, कपड़ा आदि आवश्यक खाने-पहननेकी चीजोंपर टैक्स लगानेसे गरीब तथा मध्यवित्त लोगोंका जीवन-निर्वाह बहुत कठिन हो रहा है। हमारे पास ऐसे बहुत-से लोग आते हैं और अपनी कठिन परिस्थिति बतलाते हैं। इसी प्रकार कागज, कापी, पुस्तकादिपर टैक्स लगनेसे गरीब विद्यार्थियोंका व्यय-भार बढ़ गया है। पारसल, रजिस्ट्री, मनीआर्डर आदिकी दर बढ़ जानेसे जनताकी कठिनाई बढ़ गयी है। अतएव हम अपनी सरकारसे विनयपूर्वक अनुरोध करते हैं कि वह गम्भीरतासे इस विषयपर विचार करे और उचित व्यवस्था करे, जिससे जनताका जीवन बढ़ती हुई कठिनाइयोंसे छुटकारा पा सके।

एक और आवश्यक विषय है। इधर समाज-सुधारकी दृष्टिसे धर्मस्थानोंकी सम्पत्ति आदिके तथा साधुओंके सम्बन्धमें जो नये कानून बने हैं या बनने जा रहे हैं, उनसे यही पता लगता है कि ये प्रायः सारे कानून हिंदुओंके लिये ही बनते हैं। भारतमें शास्त्रोंको माननेवाले और

उनपर श्रद्धा करनेवाले ऐसे लोग बहुत हैं, जिनका किसी राजनीतिक दलसे कोई सम्बन्ध नहीं है, पर जो बिना किसी राग-द्वेषके अपने सरल-सहज विश्वासके अनुसार ऐसा मानते हैं कि इन कानूनोंसे परम्परागत हिंदू-धर्मपर आघात पहुँचा है या पहुँच रहा है। अतएव जैसे ईसाई-धर्म और इस्लाम-धर्म, उनके गिरजाघर-मस्जिद, उनके पादरी-पीर, फकीर-काजी, उनके सामाजिक आचार आदिके सम्बन्धमें सरकार कोई भी कानून न बनाकर उनकी धार्मिक मान्यताओंको सुरक्षित रखती है—जो उचित ही है, वैसे ही हिंदू-धर्मकी मान्यताको भी सुरक्षित रखना सरकारका कर्तव्य है। इसलिये भारतकी हिंदू जनता सरकारसे विनयपूर्वक प्रार्थना करती है कि सरकार ऐसा कोई कानून न बनाये, जिससे सनातनधर्मी, आर्यसमाजी, बौद्ध, जैन, सिख आदि हिंदुओंके धर्मपर, उनके मठ-मन्दिर, गुरुद्वारे या पूजास्थलोंपर तथा उनके साधु-संन्यासियों और भिक्षुओंपर आघात पहुँचता हो!

साथ ही यह भी विनय है कि इधर कुछ समयसे भारतमें ईसाईलोग भोले-भाले गरीब भाई-बहिनोंको फुसलाकर और लोभ दिखाकर उनका धर्म-परिवर्तन कर रहे हैं; उनपर शीघ्र कठोर रोक लगायी जाय। गो-वध सर्वथा बंद करनेके लिये सभी प्रदेशोंमें कानून बनें और जहाँ ऐसे कानून बन चुके हैं, वहाँ सावधानीसे उनपर अमल किया जाय। स्वास्थ्यनाशक तथा गो-वधमें सहायक वनस्पति-घीका प्रचार भी कानूनद्वारा शीघ्र रोका जाय।

हाथकी बनी चीजों और हाथसे बुने कपड़ेके प्रचारमें सहायता की जाय और विशेष सुविधा दी जाय, जिससे गरीब जनता परिश्रम करके अपना जीवननिर्वाह कर सके। धान, चीनी, तेल, कपड़े आदिकी मिलोंका विस्तार होनेसे ढेकी, कोल्हू, चर्खा और कर्घा आदि चलानेवाले गरीबोंके रोजगारमें बड़ी बाधा आ गयी है। इस ओर सरकार ध्यान दे रही है और कई प्रकारकी सुविधाएँ सरकारने दी भी हैं। इसके लिये सरकारको धन्यवाद है।

लोकसभा तथा धारासभाओंके चुनावके विषयमें बहुत-से लोग पूछते हैं कि किनको मत (वोट) दिया जाय। इसके उत्तरमें हमारा नम्र निवेदन है कि जो विशाल हृदयके स्वार्थत्यागी व्यक्ति हों, देशका यथार्थ हित चाहते हों, देशके हितके लिये अपने व्यक्तिगत हितका बलिदान करनेको तैयार हों, देशके हितमें ही अपनी स्वार्थ-सिद्धि मानते हों, गरीबों तथा दुःखियोंसे सच्ची सहानुभूति रखते हों, मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा तथा धन-सम्पत्तिके किङ्कर न हों, अभक्ष्य-भक्षी न हों, सदाचारी हों, मादक वस्तुओंके शौकीन न हों, सच्चरित्र हों, दयालु हों, गो-वधको कानूनके द्वारा बंद करानेके समर्थक हों, धर्मविरुद्ध कानूनोंके विरोधी हों और ईश्वर, धर्म तथा लोक-परलोकको माननेवाले हों—ऐसे ही सज्जनोंके तथा माता-बहिनोंके पक्षमें वोट देना चाहिये, वे चाहे किसी भी दलके हों।

बालकोंके लिये कर्तव्य तथा ईश्वर और परलोकको माननेसे लाभ एवं न माननेसे हानि

वर्तमान समयके दूषित वातावरणके प्रवाहमें बहते हुए बालकोंके हितके लिये, उनको किस प्रकार अपना जीवन बिताना चाहिये—इस विषयमें शास्त्रके आधारपर प्रार्थनाके रूपमें विनयपूर्वक कुछ लिखा जाता है; क्योंकि उपदेश, आदेश देनेकी न तो मुझमें योग्यता है और न मैं उसका अधिकारी ही हूँ।

बालकोंको अपने निम्नलिखित कर्तव्यकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। जिनके माता-पिता जीवित हैं, वे अधिक आयुवाले होनेपर भी बालकवत् ही हैं।

(१)

माता-पिता और गुरुजनोंकी सेवा बालकोंके लिये परम धर्म है। श्रीमनुजी कहते हैं—

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

(मनु० २। २३७)

'इन तीनों—माता-पिता एवं गुरुकी सेवासे ही पुरुषके कर्तव्यकी समाप्ति हो जाती है अर्थात् उसे कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं।'

यहाँ सेवासे अभिप्राय है—उनकी आज्ञाका पालन करना। आज्ञाका पालन ही सबसे बढ़कर सेवा है। श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

(४३। ३)

यद्यपि उनके शरीरकी सेवा भी उनकी ही सेवा है, तथापि उनकी आज्ञा, संतोष, संकेत और मनके अनुकूल उनके साथ व्यवहार करना उनकी परम सेवा है। जबतक माता, पिता और आचार्य जीवित हैं, तबतक पुत्र और शिष्यके लिये अन्य धर्मोंके पालनकी आवश्यकता नहीं

है। यदि पालन किया भी जाय तो सेव्यके हितके लिये ही करना परम कर्तव्य है। श्रीमनुजी कहते हैं—

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरनभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्॥

(मनु० २। २२९)

'इन तीनोंकी सेवा ही परम तप कहा जाता है। अतः इन तीनोंकी आज्ञाके बिना अन्य किसी धर्मका आचरण न करे।'

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥

(मनु० २। २३०)

'क्योंकि ये तीनों ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों आश्रम हैं तथा ये ही तीनों वेद एवं तीनों अग्नि कहे गये हैं।'

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥

(मनु० २। २३१)

'पिता तो गार्हपत्य अग्नि है, माता दक्षिणाग्नि मानी गयी है तथा गुरु आहवनीय अग्नि है। इस प्रकार ये तीनों सर्वोत्तम अग्नि हैं।'

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद् दिवि मोदते॥

(मनु० २। २३२)

'इन तीनोंकी सेवामें कभी प्रमाद न करनेवाला गृहस्थ भूः, भुवः, स्वः—इन तीनों लोकोंको जीत लेता है तथा वह अपने तेजसे प्रकाशित हुआ देवताओंकी भाँति स्वर्गमें आनन्द प्राप्त करता है।'

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते॥

(मनु० २। २३३)

'मातृभक्तिसे मनुष्य इस पृथ्वीलोकके, पितृभक्तिसे मध्यम (अन्तरिक्ष) लोकके एवं गुरुसेवासे ब्रह्मलोकके सुख भोगता है।'

तैत्तिरीयोपनिषद्में आचार्य अपने स्नातक शिष्यको उपदेश देते हुए यही आदेश देते हैं—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।

(१। ११)

'माता-पिता और आचार्यको देवता माननेवाले बनो।' क्योंकि—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

(मनु० २। २२७)

'माता-पिता बालकको जनने और उसका पालन-पोषण करनेमें जो क्लेश सहते हैं, बालक उसके बदलेमें सैकड़ों वर्ष उनकी सेवा करके भी उनके उस ऋणसे नहीं छूट सकता।'

शास्त्रोंमें माता-पिता और गुरुकी सेवाके अनेक आदर्श उदाहरण मिलते हैं। माता-पिताकी सेवाके प्रभावसे ही धर्मव्याध त्रिकालज्ञ हो गये। जैसे मनुष्य देवताओंकी पूजा करते हैं, वैसे वे अपने माता-पिताको ही परम देवता मानकर उनको पुष्पोंसे, फलोंसे और धनसे प्रसन्न करते थे। वे स्वयं ही उन दोनोंके पैर धोते, स्नान कराकर उन्हें भोजन कराते तथा उनसे मीठे और प्रिय वचन कहते और उनके अनुकूल चलते थे। इस प्रकार वे आलस्यरहित हो शम-दम आदि साधनोंमें स्थित हुए अपना परम धर्म समझकर मन-वाणी-शरीरद्वारा पुत्र और स्त्रीके साथ तत्परतासे उनकी सेवा किया करते थे। उसके प्रतापसे वे इस लोकमें अचल कीर्ति और दिव्यदृष्टिको पाकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए। इनकी कथा महाभारत, वनपर्वके २१४ वें और २१५ वें अध्यायोंमें देखनी चाहिये।

श्रीकौशिक मुनि भी, जो माता-पिताकी आज्ञा लिये बिना ही तप करने चले गये थे, इन धर्मव्याधके साथ वार्तालाप करके, तपसे भी माता-पिताकी सेवाको अधिक समझकर पुनः माता-पिताकी सेवा करके उत्तम गतिको प्राप्त हुए।

मूक चाण्डाल भी माता-पिताकी सेवाके प्रभावसे ही भगवान्के परम धामको चले गये। इनकी कथा पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें पढ़नी चाहिये।

एक तपस्वी वैश्य-मुनिके पुत्र श्रवण भी माता-पिताके बड़े ही भक्त हुए हैं। संसारमें आज भी कोई माता-पिताकी सेवा करता है तो उसे श्रवणकी उपमा दी जाती है। श्रवणकी कथा वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्डके ६३ वें और ६४ वें सर्गोंमें विस्तारसे वर्णित है।

महाराज युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने तो माताकी शास्त्र और लोकसे विरुद्ध आज्ञाका भी पालन किया। एक स्त्रीके पाँच पति होनेकी बात न तो शास्त्रोंमें मिलती है और न लोकमें ही। माता कुन्तीने अनजानमें यह आज्ञा दे दी थी कि 'आज जो कुछ भिक्षाके रूपमें लाये हो, उसका सभी भाई उपभोग करो।' पर जब माता कुन्तीको यह ज्ञात हुआ कि ये लोग एक स्त्रीको लाये हैं और मैंने बिना विचारे ही आज्ञा दे दी है, तब उन्होंने सोचा—'मेरे ये वचन सत्य कैसे होंगे?' किंतु राजा युधिष्ठिरने मातासे

कहा—आपका वचन सत्य करनेके लिये हम सभी भाई इसके साथ विवाह करेंगे।' (महाभारत आदि० १९०) तदनन्तर पाण्डवोंने वैसा ही किया।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामकी तो बात ही क्या है। वे तो राजा दशरथ और माता कैकेयीकी आज्ञाके पालनके लिये चौदह वर्ष बड़ी प्रसन्नताके साथ वनमें रहे।

इसी प्रकार गुरुकी आज्ञाके पालनके विषयमें भी महाभारत, उपनिषद् आदिमें बहुत-से दृष्टान्त पाये जाते हैं। महाभारत आदिपर्वके तीसरे अध्यायमें गुरु-भक्त आरुणिका आख्यान सब लोगोंके पढ़नेयोग्य एवं आदर्शरूप है। एक समय आयोदधौम्य मुनिने अपने शिष्य पंजाबनिवासी आरुणिसे कहा—'आरुणे! तुम खेतमें जाकर मेड़ बाँधकर जलको रोको।' आरुणि गुरुकी आज्ञा पाकर खेतमें गया, पर प्रयत्न करनेपर भी वह किसी प्रकार जलको रोक नहीं सका। अन्तमें उसे एक उपाय सूझा और वह स्वयं पानीको रोकनेके लिये मेड़ बनकर लेट गया। उसके लेटनेसे जलका प्रवाह रुक गया। समयपर आरुणिके न लौटनेसे आयोदधौम्य मुनिने अन्य शिष्योंसे पूछा—'पंजाबनिवासी आरुणि कहाँ है?' शिष्योंने उत्तर दिया—'आपने ही तो उसे खेतकी मेड़ बाँधकर पानी रोकनेके लिये भेजा है।' शिष्योंकी बात सुनकर मुनिने कहा—'चलो, जहाँ आरुणि गया है, वहीं हम सब लोग चलें।' तदनन्तर गुरुजी वहाँ खेतके निकट पहुँचकर उसे बुलानेके लिये पुकारने लगे—'बेटा आरुणे! कहाँ हो, चले आओ।' आरुणि आचार्यकी बात सुनकर अपने स्थानसे सहसा उठकर उनके निकट उपस्थित हुआ और बोला—'भगवन्! आपके खेतका जल निकल रहा था। मैं उसे किसी प्रकारसे रोक नहीं सका, तब अन्तमें मैं वहाँ लेट गया, इसीसे जलका निकलना बंद हो गया। इस समय आपके पुकारनेपर सहसा आपके पास आया हूँ और प्रणाम करता हूँ। आप आज्ञा दीजिये, इस समय मुझको कौन-सा कार्य करना होगा।' गुरु बोले—'बेटा! तुम बाँधका उद्दलन करके निकले हो, इसलिये तुम 'उद्दालक' नामसे प्रसिद्ध होगे।' यह कहकर उपाध्याय उसपर कृपा करते हुए फिर बोले—'तुमने तन-मनसे मेरी आज्ञाका पालन किया है, इसलिये सम्पूर्ण वेद और धर्मशास्त्र तुम्हारे मनमें बिना पढ़े ही प्रकाशित रहेंगे और तुम कल्याणको प्राप्त करोगे।' इस प्रकार गुरुका आशीर्वाद पाकर आरुणि गुरुकी आज्ञासे अपने देशको चला गया।

जबालाका पुत्र सत्यकाम भी बड़ा उच्च कोटिका गुरुभक्त था। उसने एक समय हारिद्रुमत गौतमके पास जाकर कहा—'मैं आपके यहाँ ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ वास करूँगा, इसलिये मैं आपके पास आया हूँ।' गुरुने कहा—'सौम्य! तू किस गोत्रका है?' सत्यकाम बोला—'भगवन्! मैं नहीं जानता।' तब गौतमने कहा—'ऐसा स्पष्ट भाषण ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता, अतएव तू ब्राह्मण है; क्योंकि तुमने सत्यका त्याग नहीं किया है।' फिर आचार्य गौतमने उसका उपनयन-संस्कार करनेके अनन्तर गौओंके झुंडमेंसे चार सौ कृश और दुर्बल गौएँ अलग निकालकर उससे कहा—'सौम्य! तू इन गौओंके पीछे-पीछे जा।' गुरुकी इच्छा जानकर सत्यकामने कहा—'इनकी संख्या जबतक पूरी एक सहस्र न हो जायगी, तबतक मैं नहीं लौटूँगा।' यों कह वह एक अच्छे वनमें चला गया, जहाँ जल एवं तृणकी बहुतायत थी और बहुत कालपर्यन्त उन गौओंकी सेवा करता रहा। जब वे एक हजार हो गयीं, तब एक साँड़ने उससे कहा—'सत्यकाम! हम एक सहस्र हो गये हैं, अब तुम हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दो।' सत्यकाम उन गौओंको आचार्यकुलमें ले आया। गुरु-आज्ञाके पालनके प्रतापसे उसको रास्ते चलते-चलते ही साँड़, अग्नि, हंस और मद्गुद्वारा विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी। यह कथा छान्दोग्य-उपनिषद्, चौथे अध्यायके चौथेसे नवें खण्डतक वर्णित है।

इन्हीं ब्रह्मवेत्ता सत्यकामका एक गुरुभक्त शिष्य था उपकोसल। उसने इनसे यज्ञोपवीत लेकर बारह वर्षतक इनकी सेवा की। तब सत्यकामकी भार्याने स्वामीसे कहा—'यह उपकोसल बहुत तपस्या कर चुका है, इसने अच्छी तरह आपके आज्ञानुसार अग्नियोंकी सेवा की है। अतएव इसे ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहिये।' पर सत्यकामने उसे कुछ उत्तर नहीं दिया और उपदेश दिये बिना ही बाहर चले गये। उनके चले जानेपर उपवास करनेवाले उपकोसलको अग्नियोंने ब्रह्मका उपदेश दिया। उसके बाद गुरु लौटकर आये, तब उन्होंने उससे पूछा—'सौम्य! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताका-सा लग रहा है, तुम्हें किसने उपदेश दिया है?' उपकोसलने संकेतसे अग्नियोंका लक्ष्य कराया। उसके बाद जब आचार्यने पूछा—'क्या उपदेश दिया है?' तब उसने सारी बातें ज्यों-की-त्यों कह सुनायीं। आचार्य बोले—'सौम्य! अब तुझे उस ब्रह्मका उपदेश मैं करूँगा, जिसे जान लेनेपर तू जलसे कमलपत्रके सदृश पापसे लिप्त नहीं होगा।' उपकोसलने कहा—'उपदेश दीजिये।' इसपर आचार्यने उसे ब्रह्मका उपदेश दिया और उसे सुनकर वह ब्रह्मको प्राप्त हो गया। इसकी

कथा छान्दोग्य-उपनिषद्, चौथे अध्यायके दसवेंसे सत्रहवें खण्डतक कही गयी है।

आचार्य वेदके शिष्य उत्तङ्ककी गुरुभक्तिका प्रसङ्ग महाभारतके आदिपर्वके तीसरे अध्यायमें आता है। एक बार राजा जनमेजय और पौष्यने आचार्य वेदको पुरोहितके रूपमें वरण किया। आचार्य वेद कभी पुरोहितीके कामसे बाहर जाते तो घरकी देख-रेखके लिये अपने शिष्य उत्तङ्कको नियुक्त कर जाते थे। एक बार आचार्य वेदने बाहरसे लौटकर अपने शिष्य उत्तङ्कके सदाचार-पालनकी बड़ी प्रशंसा सुनी। तब उन्होंने कहा—'बेटा! तुमने धर्मपर दृढ़ रहकर मेरी बड़ी सेवा की है। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम्हारी सारी कामनाएँ पूर्ण होंगी। अब जाओ।' उत्तङ्कने प्रार्थना की—'आचार्य! मैं आपको कौन-सी प्रिय वस्तु भेंटमें दूँ?' आचार्यने पहले तो कुछ भी लेना अस्वीकार किया, पीछे कहा—'अपनी गुरुआनीसे पूछ लो।' जब उत्तङ्कने गुरुआनीसे पूछा, तब उन्होंने कहा—'तुम राजा पौष्यके पास जाओ और उनकी रानीके कानोंके कुण्डल माँग लाओ। मैं आजसे चौथे दिन उन्हें पहनकर ब्राह्मणोंको भोजन परोसना चाहती हूँ।' इसपर उत्तङ्क राजा पौष्यकी रानीके पास गया और बड़ी कठिनाई झेलकर उनके कुण्डल ले आया एवं उसने वे कुण्डल ठीक समयपर गुरुआनीको देकर उनका आशीर्वाद प्राप्त किया।

इस प्रकार माता-पिता और गुरुकी आज्ञाके पालनके विषयमें और भी बहुत-से उदाहरण शास्त्रोंमें मिलते हैं। हमें उनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

(२)

बालकोंको विद्याके साथ-साथ शिक्षापर विशेष ध्यान देना चाहिये। विद्याका अर्थ है—अनेक लिपियों और भाषाओंका ज्ञान। इनका भी अधिक-से-अधिक अभ्यास करना चाहिये; किंतु शिक्षाको तो अमृतके समान समझकर विशेषरूपसे ग्रहण करना चाहिये। शिक्षा ग्रहण करनेका अर्थ है—देश, कुल, वर्ण, आश्रम और शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार सदाचारका पालन। इसीसे परम कर्तव्यरूप धर्मका प्रादुर्भाव होता है। महाभारतमें आया है—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥

(अनुशासनपर्व १४९। १३७)

'सभी शास्त्रोंमें आचारको प्रथम माना जाता है। आचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्मके स्वामी भगवान् अच्युत हैं।'

बाहर और भीतरकी पवित्रताको आचार कहते हैं। न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त शुद्ध और सात्त्विक आहारके द्वारा भोजनकी, मृत्तिका एवं जलके द्वारा शौच-स्नान करनेसे शरीरकी और स्वार्थत्यागपूर्वक सत्य व्यवहारसे आचरणोंकी शुद्धि होती है। यह बाहरकी पवित्रता है। इसी प्रकार ईश्वरभक्ति और निष्कामकर्मके द्वारा दुर्गुण-दुराचारोंका नाश होकर भीतरकी पवित्रता सम्पन्न होती है।

बालकोंको अपनी दिनचर्या किस प्रकार सदाचारमय बनानी चाहिये, यह नीचे बताया जाता है।

प्रातःकाल चार बजे उठकर शौचसे निवृत्त हो दाँतुन-कुल्ला और स्नान करना चाहिये। फिर अपने-अपने अधिकारके अनुसार संध्या-गायत्री, जप-ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना आदि नित्यकर्म करने चाहिये। उसके बाद माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम करके विद्याभ्यास और शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये। फिर ११ बजे भोजन करके पुनः विद्याभ्यास तथा शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणकी उन्नतिके लिये माता-पिता और गुरुजनोंकी आज्ञाके अनुसार कार्य करना चाहिये। सायंकालमें पुनः संध्या-गायत्री, जप-ध्यान और स्वाध्याय आदि नित्यकर्म करने चाहिये। रात्रिके समय भोजन करके पुनः माता-पिता और गुरुजनोंके संतोषके लिये उनकी आज्ञाके अनुसार कार्य करना चाहिये। रात्रिमें १० बजेसे ४ बजेतक छः घंटे शयन करना चाहिये।

(३)

बालकोंको ईश्वर, महात्मा, परलोक, धर्म, शास्त्र और गुरुजनोंपर श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये। आजकल लोग जो ईश्वरकी सत्तामें संदेह करते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं। ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें सबसे बड़े प्रमाण तो शास्त्र हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(१८। ६१)

'अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ अन्तर्यामी परमेश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

इसके सिवा ईश्वरको हिंदू, ईसाई, मुसलमान—सभी आस्तिक मानते हैं एवं उनकी यह मान्यता युक्तिसंगत भी है। यदि कोई पूछे कि 'ईश्वर कहाँ है, कैसा है, कबसे है और कौन है?' तो इसका उत्तर यह है कि जो आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, तारे, विद्युत्, समुद्र आदिका उत्पादक और शासक है तथा कर्मानुसार सबको शुभाशुभ फल देता है, वही ईश्वर है। वह ईश्वर सर्वव्यापक है, सदासे है और चेतनस्वरूप है।

ईश्वरको मानना युक्तिसंगत किस प्रकार है, अब इस विषयपर विचार किया जाता है। थोड़ी देरके लिये मान लिया जाय कि ईश्वरका अस्तित्व संदेहास्पद है— उसके सम्बन्धमें निश्चितरूपसे न यह कहा जा सकता है कि 'वह है' और न यही कहा जा सकता है कि 'वह नहीं है'; परंतु संदेहकी स्थितिमें भी न माननेकी अपेक्षा मानना अधिक लाभदायक है। यदि वास्तवमें ईश्वर नहीं है, तो भी उसे माननेवाला किसी प्रकार नुकसानमें नहीं रहेगा; क्योंकि ईश्वरको माननेवाला कम-से-कम पाप और अनाचारसे तो बचा ही रहेगा तथा वह जीवमात्रको ईश्वरका स्वरूप, अंश अथवा संतान मानकर सबके साथ प्रेम एवं सहानुभूतिका बर्ताव करेगा, जिससे उसकी इस लोकमें अवश्य कीर्ति होगी। बदलेमें औरोंसे भी उसे सद्भाव एवं सहानुभूति ही मिलेगी। इससे उसका जीवन सुख-शान्तिसे बीतेगा और जगत्‌में भी वह उत्तम आदर्शके द्वारा सुख-शान्तिका ही प्रसार करेगा। ईश्वरके न होनेपर भी उसकी सत्ता माननेसे इतना लाभ तो प्रत्यक्ष ही है। इसके विपरीत यदि ईश्वर वास्तवमें है तो उसे माननेवाले सब प्रकारसे लाभमें रहेंगे ही; क्योंकि वे ईश्वरके विधानको मानकर, उसकी आज्ञाके अनुसार चलकर उसकी प्रसन्नता प्राप्त करेंगे और इसके फलस्वरूप उन्हें इस लोकमें सुख-शान्ति, मान-प्रतिष्ठा, कीर्ति मिलेगी एवं मृत्युके बाद वे परम शान्तिस्वरूप परमात्माको प्राप्त होंगे। परंतु ईश्वरके रहते भी जो उसे न मानकर उसकी आज्ञाका उल्लङ्घन करते हैं, उसके जीवोंको सताते हैं, उन्हें जीते-जी बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा और मरनेके बाद उनकी बहुत दुर्गति होगी—जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, ईश्वरपर विश्वास करनेसे साधकोंको प्रत्यक्ष लाभ होते देखा जाता है। ईश्वरको माननेवालोंके दुर्गुण-दुराचारोंका नाश होकर उनके अन्तःकरणोंमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, सहृदयता, दया, क्षमा, निर्भयता, शान्ति, श्रद्धा, प्रेम आदि सद्गुण अपने-आप आ जाते हैं। अतएव ईश्वरके अस्तित्वमें श्रद्धा-विश्वास करनेमें ही सबका सब प्रकारसे लाभ है।

इसी प्रकार परलोकके अस्तित्वके विषयमें भी शास्त्र ही सर्वोपरि प्रमाण हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

(२। १२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(२। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था—ये तीन अवस्थाएँ होती हैं, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति भी उसे होती है; उसके विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(२। २०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(२। २२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(१३। २१)

'प्रकृतिमें स्थित ही पुरुष (जीवात्मा) प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

भगवान्‌के इन वचनोंसे तो परलोक सिद्ध है ही, युक्तिसे भी परलोक सिद्ध होता है। बालक जन्मनेके समय दुःख अनुभव करता है तो रोता है। जन्मनेके बाद जब सुख अनुभव करता है, तब वह हँसता है। भय उत्पन्न होनेसे वह कम्पित होता है। माताके स्तनोंसे वह स्वतः ही दूधका आकर्षण करता है। नींद आनेपर सोता है इत्यादि। उसकी ये क्रियाएँ पुनर्जन्मको सिद्ध करती हैं। जन्म लेनेके बाद यहाँ तो उसने यह सब सीखा नहीं; इसलिये पूर्वजन्मका अभ्यास ही इस जन्ममें उससे

उपर्युक्त क्रियाएँ कराता है—यह मानना पड़ेगा। फिर संसारमें कोई तो पशु है, कोई पक्षी और कोई मनुष्य है एवं मनुष्योंमें भी कोई धनी, कोई निर्धन, कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई सुरूप, कोई कुरूप, कोई नीरोग और कोई रोगी देखनेमें आता है। ये सब विषमताएँ भी पूर्वजन्मको सिद्ध करती हैं। जब पूर्वजन्म है तो पुनर्जन्म भी है ही। यदि बिना ही कारण ईश्वरने ऐसी विषम सृष्टि उत्पन्न कर दी—यह माना जाय तो न्यायकारी दयालु ईश्वरपर निर्दयता और विषमताका दोष आयेगा, जो सर्वथा अनुचित है। इसलिये युक्तिसे भी यही सिद्ध होता है कि परलोक अवश्य है।

फिर भी कोई मान सकता है कि परलोक नहीं है और इधर हम कहते हैं कि परलोक है; ऐसी स्थितिमें यदि उसीकी बात सत्य हो तो उससे भी हमारी कोई हानि नहीं; क्योंकि परलोक न होनेकी स्थितिमें परलोकको न माननेवालेका कोई विशेष लाभ होता हो और माननेवालेको कोई दण्ड होता हो—ऐसी बात तो है नहीं, किंतु यदि हमारे पक्षके अनुसार परलोक है तो हमारी मान्यता हमारे लिये बहुत लाभदायक सिद्ध होगी; क्योंकि हम परलोक मानकर दण्डके भयसे कोई भी बुरा काम नहीं करेंगे, अपितु इस लोक और परलोकमें सुख प्राप्त करनेके लिये अच्छा काम करेंगे, किंतु जो परलोक नहीं मानता, उसे पापका दण्ड तो भोगना ही पड़ेगा और बिना श्रद्धाके अच्छा काम न करनेके कारण वह सुखसे भी वञ्चित रह जायगा; अतः उसकी सब प्रकारसे हानि-ही-हानि है। अच्छे काम करनेवाले पुरुषका इस लोकमें प्रत्यक्ष मान होता है और जो बुरा काम करता है, वह प्रत्यक्ष ही घृणाकी दृष्टिसे देखा जाता है; उसका जीवननिर्वाह भी कठिन हो जाता है। इसलिये ईश्वर और परलोकको माननेमें सब प्रकारसे लाभ है और न माननेमें हानि-ही-हानि है। सुतरां ईश्वर और परलोकको अवश्य मानना चाहिये तथा सदा-सर्वदा उनको याद रखते हुए धर्मके अनुसार अपना जीवन बिताना चाहिये। इसीमें यहाँ-वहाँ सर्वत्र कल्याण है।

काममें लानेयोग्य आवश्यक बातें

सबेरे कम-से-कम सूर्योदयसे एक घंटे पूर्व उठना चाहिये—जैसे ६ बजे सूर्योदय होता हो तो ५ बजे उठना। फिर शौच जाकर, हाथ-पैर-मुँह धोकर कुल्ला करके स्नान करना चाहिये। तदनन्तर अपने अधिकारके अनुसार संध्योपासना तथा गायत्री-जप करना चाहिये। संध्या और गायत्रीका जप सबेरे सूर्योदयसे पूर्व और सायंकाल सूर्यास्तसे पूर्व करना चाहिये तथा सभीको भगवन्नामजप, ध्यान, गीता-रामायण आदिका अर्थ और भावसहित पाठ, स्तुति-प्रार्थना आदि ईश्वरोपासना अवश्य करनी चाहिये। उसके बाद घरमें गुरुजनोंको प्रणाम करके तथा शरीरकी स्थितिके अनुसार व्यायाम करके अपने शरीरके अनुकूल दूध आदि पवित्र पदार्थोंका सेवन करना चाहिये। भोजन नित्य बलिवैश्वदेव करके एवं मौन होकर करना चाहिये।

निम्नलिखित नियमोंका पालन करना चाहिये—

(१) हाथका बुना हुआ पवित्र वस्त्र पहनना।

(२) व्यापारमें झूठ-कपटका, चोरबाजारीका और सेलटैक्स-इन्कमटैक्सकी चोरी आदिका त्याग करना एवं किसीको भी कष्ट न देते हुए दूसरोंको सुख पहुँचानेके उद्देश्यसे सबके साथ सत्यता और विनयपूर्वक निःस्वार्थभावसे व्यवहार करने और हर समय भगवान्‌को याद रखनेका प्रयत्न करना।

(३) बाजारकी, होटलकी, स्टेशनकी, खोमचेकी—बाहरकी बनी हुई किसी प्रकारकी मिठाई, पावरोटी, बिस्कुट-चाय आदिको काममें नहीं लाना। बाजारकी केवल प्राकृतिक चीजें—जैसे साग, फल, मेवा, दूध, घी, अनाज आदि पवित्र पदार्थोंको ही काममें लाना।

(४) चमड़ेकी किसी भी चीजको काममें न लेना।

(५) गाँजा-भाँग, बीड़ी-सिगरेट, तम्बाकू आदि मादक वस्तुओंका सेवन कभी नहीं करना।

(६) ताश, चौपड़, लाटरी, जूआ आदिसे सदा दूर रहना।

(७) सिनेमा, नाटक आदि नहीं देखना; क्योंकि इनमें हर प्रकारसे हानि है।

(८) चमड़ा, चर्बी, हड्डी आदिसे सम्बन्धित अपवित्र—घृणित पदार्थोंको काममें नहीं लाना एवं उनका व्यापार भी नहीं करना।

(९) फालतू कामोंमें, विषय-भोगोंमें, खेल-तमाशोंमें, पाप-कर्ममें, प्रमाद और आलस्यमें तथा अधिक सोनेमें अपने समयको बर्बाद नहीं करना।

(१०) ऐश-आराम, भोग-विलास, स्वाद-शौकमें व्यर्थ खर्च न करना।

(११) भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार आदि सद्गुणोंकी वृद्धिके लिये प्रयत्न करना।

सर्वोपयोगी सार-सार बातें

यहाँ सार-सार बात बतलायी जाती है। एक तो अपने शरीरको कोई रोग हो जाय तो उसके वशीभूत नहीं होना चाहिये और बीमारीको बहुत महत्त्व नहीं देना चाहिये। महत्त्व देनेसे शरीरमें अभिमान, ममता और आसक्तिकी वृद्धि होती है।

दूसरी बात यह है कि शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियोंसे हर समय काम लेना चाहिये और उत्तम-से-उत्तम काम लेना चाहिये। सर्वश्रेष्ठ बात तो यह है कि जिससे अपने आत्माका कल्याण हो, उद्धार हो—वैसा ही काम हमें शरीर आदिसे लेना चाहिये।

तीसरी बात यह है कि अपनेमें कोई बुरी आदत हो या कोई दुर्व्यसन हो तो उसको दूर करनेके लिये उससे सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियों और पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये। नहीं तो उसका दूर होना कठिन है। उदाहरणके लिये यदि हमारी पाँच व्यक्तियोंके साथ बैठकर ताश या चौपड़ खेलनेकी बान पड़ गयी हो तो उस बुरी आदतको छुड़ानेके लिये जहाँ लोग ताश-चौपड़ खेलते हों, वहाँ उनके पास कभी नहीं जाना चाहिये। यदि कहीं इस प्रकारका संयोग उपस्थित हो जाय तो दूरसे ही उस मार्गसे हट जाना चाहिये। अथवा कोई कुमार्गमें जानेवाला मनुष्य हो और उसके सङ्गसे अपनेमें कोई बुरी आदत आ गयी हो तो पुनः उस कुमार्गगामी पुरुषका कभी सङ्ग ही न करे। संसारके लोगोंमें या अपनेमें जितनी भी बुरी आदतें हैं, सब-की-सब प्रायः आसक्तिके ही कारण हैं। आसक्तिका नाम ही सङ्ग है। संयोगका नाम भी सङ्ग है। अतः उक्त दोनों ही अर्थोंमें सङ्गका त्याग कर देना चाहिये।

आसक्तिका त्याग हो सके, तब तो आसक्तिका ही त्याग करना चाहिये; सर्वोत्तम बात यही है; किंतु हम यदि ऐसा न कर सकें तो बुराईके साथ कम-से-कम सम्बन्धविच्छेद तो कर ही देना चाहिये। जगत्‌में जितने और जो भी मनुष्य हैं, उनसे अधिकांश जो पाप होते हैं, उनका विशेष कारण आसक्ति ही है। यह आसक्ति इसलिये है कि भोगोंमें हमारी सुख-बुद्धि है, हमें भोगोंमें सुखकी प्रतीति होती है। वास्तवमें भोगोंमें सुख है ही नहीं। ऐसी दशामें विवेकद्वारा बुद्धिसे मनको समझाना चाहिये और समझा-बुझाकर इस सुख-बुद्धिका त्याग कराना चाहिये।

समय नामकी जो वस्तु है, वह बहुत ही मूल्यवान् है। लाख रुपया व्यय करनेपर भी एक क्षणका भी समय नहीं मिल सकता। अतः हमको अपने समयका आदर करना चाहिये। जो समयका आदर करता है, वह कालको जीत लेता है अर्थात् जन्म-मरणसे सदाके लिये छूट जाता है। फिर उसे काल कभी नहीं मार सकता। यों समझना चाहिये कि अपने समयको बर्बाद करना मनुष्य-जन्मको नष्ट करना है। एक ओर रुपया हो और दूसरी ओर समय, तो समयके लिये रुपयोंका त्याग किया जा सकता है; किंतु अपने समयको अवश्य उत्तम काममें लाना चाहिये।

जो अनुभवी पुरुष हैं, उनके सङ्गसे हमें लाभ उठाना चाहिये। इसी प्रकार जो वयोवृद्ध अर्थात् अवस्थामें अपनेसे बड़े हों, उनके परिपक्व अनुभवसे भी लाभ उठाना चाहिये। साथ ही महात्माओं, ज्ञानियों, सज्जनों और भक्तोंके तथा जितने भी उच्चकोटिके अच्छे-अच्छे पुरुष हैं, उनके सङ्गका तो अवश्य ही लाभ लेना चाहिये। इसके विपरीत नास्तिक, पापी, नीच और दुर्व्यसनी पुरुषोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये। उनके साथ मित्रता तो कभी करे ही नहीं। यदि किसी समय उनसे भेंट हो भी जाय तो भीतरसे प्रीति नहीं करनी चाहिये, मनमें उनके प्रति उपेक्षा-बुद्धि ही रखनी चाहिये। योगदर्शनमें बतलाया गया है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(१। ३३)

'सुखी, दुःखी पुण्यात्मा और पापात्माओंमें क्रमशः मित्रता, दया, प्रसन्नता और उपेक्षाकी भावनासे चित्त शुद्ध होता है ।'

ऊपरसे संयोग होनेपर भी भीतरसे जो उपेक्षा है, वह बहुत मूल्यवान् वस्तु है। बाहरका संयोग हानि नहीं पहुँचा सकता, यदि भीतरमें उपेक्षा हो। जैसा कि पहले कह आये हैं कि 'सङ्ग' शब्द आसक्तिका वाचक है और संयोगका भी। भीतरसे आसक्ति (प्रीति) का त्याग कर दिया जाय तो बाहरका संयोग उतना हानिकारक नहीं होता।

परमात्माने जो कुछ भी ज्ञान अपनेको दिया है, उसका ठीक-ठीक उपयोग करना चाहिये। ठीक उपयोग किये जानेसे उत्तरोत्तर उस ज्ञानकी वृद्धि होती है और वृद्धि होते-होते उस बढ़े हुए ज्ञानके द्वारा परमात्माको जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है। परमात्माके विषयका जो ज्ञान है, उसे उत्तरोत्तर खूब बढ़ाना चाहिये। ईश्वरने जो हमलोगोंको ऐश्वर्य अर्थात् भोग-सामग्री दी है, उसका

भी उचितरूपमें उपयोग करना चाहिये। अवश्य ही यह समझना चाहिये कि यह जो सामग्री भगवान्‌ने हमको दी है, वह आत्माके कल्याणके लिये दी है, न कि भोगके लिये। उन सम्पूर्ण सामग्रियोंको ईश्वरकी सम्पत्ति समझकर और सबमें ईश्वरको व्यापक जानकर उन सामग्रियोंसे जगद्रूप जनार्दनकी सेवा करना ही मुक्तिका मार्ग है। भगवान्‌की दी हुई सामग्रीसे ही भगवान्‌की सेवा करनी चाहिये। यों समझना चाहिये कि 'हम तो निमित्तमात्र हैं, भगवान्‌की सामग्री भगवान्‌को ही अर्पण कर रहे हैं। इसमें हमारा क्या है, हमारे द्वारा तो उन्हींकी वस्तु उन्हींको सौंपी जाती है। उनकी वस्तु उन्हें न देकर यदि हम अपने उपभोगमें लायें तो यह तो एक प्रकारसे चोरी ही है।' भगवान् गीतामें कहते हैं—

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।

(३। १२)

'देवताओंकी दी हुई वस्तुको जो उन देवताओंको दिये बिना ही स्वयं भोगता है, वह चोर ही है।'

अतएव भगवान्‌की दी हुई वस्तु उन्हें अर्पित करके यदि हम शरीर-निर्वाहके लिये काममें लायें, तब तो वह हमारे लिये भगवान्‌का प्रसाद बन जाता है और उस भगवत्प्रसादसे बुद्धि शुद्ध होकर हमारे आत्माका कल्याण हो जाता है। यह एक प्रकारसे सिद्धान्तकी बात है कि हमारे पास जो कुछ है, उसपर प्राणिमात्रका अधिकार है। इसलिये सबको देनेके बाद जो बच रहे, वही हमारे लिये प्रसाद है। अपने शरीरमें तथा मन, बुद्धि एवं इन्द्रियोंमें जो बल है, उसीका नाम आत्मबल है। क्योंकि मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर—सबका नाम आत्मा है। यदि हम इनका दुरुपयोग करेंगे तो आगे जाकर हमें घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इसलिये पहलेसे ही सावधान रहकर हमें अपनी शक्ति और सामग्रीका उपयोग उचितरूपसे करना चाहिये। भगवान्‌ने जो सामग्री हमको दी है, वह आत्माके कल्याणके लिये दी है। जो भी मनुष्य इस प्रकारकी सामग्रीको पाकर अपने आत्माका कल्याण नहीं करता, उसे आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ता है, यद्यपि समय बीत जानेपर इस पश्चात्तापसे कोई विशेष लाभ नहीं होता। इन सब बातोंको सोचकर हमें भगवत्कृपासे प्राप्त सामग्री और सामर्थ्यका उचित उपयोग करना चाहिये। अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियोंमें जो शक्ति है, उसके सदुपयोगमात्रसे हमारा कल्याण हो सकता है; और कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है। यह शक्ति ही पर्याप्त है। इसका उपयोग हम ठीक करें तो थोड़े ही समयमें इसी शक्तिके द्वारा हम भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं; किंतु यदि इसका उपयोग हम ठीकसे न करें तो सौ वर्ष बीत जानेपर भी हम उस लाभसे वञ्चित ही रह जाते हैं और अन्तमें यह सब सामग्री हमारे लिये बेकार हो जाती है; क्योंकि उससे हमारा सम्बन्धविच्छेद हो जाता है। किसी भी वस्तुके साथ संयोग होनेपर उसका वियोग अवश्यम्भावी है; क्योंकि संयोग वियोगको लिये हुए ही होता है अर्थात् संयोगका परिणाम वियोग निश्चित है। यह समझकर जबतक शरीर, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियोंके साथ हमारा संयोग है, तभीतक उनसे जो कुछ लाभ हमें उठाना हो उठा लेना चाहिये। इसी प्रकार जो हमारे कुटुम्बी हैं—स्त्री है, पुत्र हैं तथा और जितने भी हमारे सम्बन्धी अथवा प्रेमी हैं, उनका भी उपयोग हमलोगोंको उचितरूपसे करना चाहिये। उन सबको भगवान्‌की सेवामें लगा देना ही उनका समुचित उपयोग है और यही हमारा उनके प्रति सबसे बड़ा कर्तव्य है। स्त्री हो तो उसे भी हम भगवान्‌की भक्तिमें लगायें। पुत्र हो तो उसे भी और जो हमारे प्यारे मित्र, कुटुम्बी आदि हों, उन सबको भी, जिससे उनका कल्याण हो, ऐसे काममें लगाना ही हमारा कर्तव्य है। सबके कल्याणके अन्तर्गत ही हमारा अपना कल्याण है। अपने कल्याणके लिये भगवान्‌से कोई अलग प्रार्थना नहीं करनी है। सबमें ही तो हम हैं। दूसरोंके हितके लिये हम अपने ऐश्वर्यका त्याग कर देते हैं—यह तो महत्त्वका कार्य है ही; इससे भी बढ़कर मूल्यवान् कार्य यह है कि दूसरोंके कल्याणके लिये हम अपने कल्याणका भी त्याग कर दें। यह और भी महत्त्वपूर्ण त्याग है। मान लीजिये भगवान् हमसे यह कहें कि मैं एकको दर्शन दे सकता हूँ, चाहे तुम कर लो या जिसे तुम कराना चाहो, उसे करा दो। ऐसा अवसर आनेपर यदि हम स्वयं दर्शन न करके किसी दूसरेको दर्शन देनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करें तो यह त्याग हमारे लिये विशेष मूल्यवान् है।

दूसरोंके साथ हम जो व्यवहार करते हैं, उनकी सेवा करते हैं, उनके प्रति उदारताका बर्ताव करते हैं—यह भी हमारा बहुत उत्तम कार्य है; किंतु इससे भी महत्त्वकी बात यह है कि हमारे निःस्वार्थ उत्तम आचरणके प्रभावसे दूसरा पुरुष भी वैसा ही बन जाय। मान लीजिये कि मैंने किसीका उपकार किया, सेवा की और उसके हृदयपर यह छाप पड़ी कि 'किसीका उपकार करना, सेवा करना उत्तम बात है; मेरे द्वारा भी किसीकी सेवा बन जाय तो मेरा अहोभाग्य है'—इस प्रकारका भाव उसके हृदयमें उत्पन्न हो गया तो यह हमारे द्वारा उसकी विशेष सेवा हुई।

दूसरोंको शिक्षा देनेकी यह बहुत अच्छी पद्धति है। हम किसीको कहें कि 'तुम लोगोंका उपकार किया करो, सेवा किया करो' इसकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावोत्पादक तरीका यह है कि हम उसकी निःस्वार्थ सेवा करके अपनी क्रियासे उसे शिक्षा दें, केवल उपदेश देकर नहीं।

इसी प्रकार जो मनुष्य स्वयं सत्य बोलता है, ब्रह्मचर्यका पालन करता है, ईश्वरकी भक्ति करता है, उसका जो लोगोंके मनपर यह असर पड़ता है कि सत्य बोलना चाहिये, ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये; ईश्वरकी भक्ति करनी चाहिये, यह शिक्षा देनेका प्रकार बहुत ही उच्चकोटिका है। वाणीके द्वारा शिक्षा या उपदेश देनेका उतना मूल्य नहीं है, जितना आचरण करके उस आचरणके द्वारा शिक्षा देनेका है।

साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि हमारे अंदर कहीं दिखाऊपन न आ जाय, अथवा अहंकार न आ जाय कि 'मैं शिक्षा देनेवाला हूँ, मुझसे लोग शिक्षा लें, लोग मेरे आचरणको देखकर, उसे आदर्श मानकर ग्रहण करें।' यह भाव हमारे मनमें नहीं आना चाहिये, अपितु यह भाव आना चाहिये कि लोगोंका कल्याण कैसे हो, लोग उच्च-कोटिके कैसे बनें।

पिता स्वयं विद्वान् होनेपर भी अपने लड़केको, अपनेसे जो अधिक विद्वान् होते हैं, उनके पास शिक्षा लेनेके लिये भेजता है; क्योंकि वह हृदयसे चाहता है कि मुझसे भी अधिक योग्य मेरा लड़का बने। इसी प्रकार हमलोगोंको सबके हितकी चेष्टा करनी चाहिये। क्योंकि लड़का ही क्यों, और लोग भी तो हमारे भाई हैं। सभी हमारे पूज्य हैं, सभी हमारे मित्र हैं। इतना ही नहीं, वेदान्तके सिद्धान्तके अनुसार तो सभी हमारे आत्मा, हमारे अपने स्वरूप हैं। इन सबका जो कल्याण है, वह हमारा ही तो कल्याण है। भाई-भाईमें तथा अपने कुटुम्बमें और मित्रोंमें जब बहुत अधिक प्रेम होता है, तब उनके लाभसे मनुष्य अधिक प्रसन्न होता है। अपने लाभसे तो सभी हर्षित होते हैं। इससे यह समझना चाहिये कि सबको अपना आत्मा ही सबसे अधिक प्यारा है; किंतु अपने आत्मासे भी बढ़कर जब दूसरे प्यारे होते हैं, तब उनके लाभसे अधिक प्रसन्नता होती है। होनी भी यही चाहिये। यही तो इस बातकी परीक्षा है कि हमारा आत्मभाव कितना अधिक विस्तृत हुआ है।

मान लीजिये, हमें एक लाख रुपये मिले और हमारे मित्रको दो लाख रुपये मिले। अब यदि मित्रको अधिक रुपया मिलनेपर हमें अधिक प्रसन्नता हो, तब यह समझना चाहिये कि हमारा उसके साथ सच्चा मैत्रीभाव है और वह हमें प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा है, शरीरसे भी बढ़कर प्यारा है। इसी प्रकार दूसरोंको उन्नत देखकर हमें अधिक प्रसन्नता होनी चाहिये। यह बहुत ही उच्च कोटिका भाव है।

यहाँ यह बात समझनेकी है कि हमें जो पुत्र प्यारा लगता है, वह पुत्रके लिये नहीं, अपितु हमारे लिये ही प्यारा लगता है अर्थात् हमारे स्वार्थके लिये ही हमें अपना पुत्र प्यारा लगता है। हमारी स्त्री जो हमको प्यारी लगती है, वह हमारे सुखके लिये ही प्यारी लगती है। किंतु यह तो एक स्वार्थकी बात है, जो सारे संसारमें पायी जाती है। उच्चकोटिकी बात तो यह है कि हम जिससे भी प्यार करें, उसके लिये ही करें—न कि अपने स्वार्थके लिये; क्योंकि महात्मालोग जिस किसीसे भी प्यार करते हैं, उसके हितके लिये ही करते हैं, अपने स्वार्थके लिये नहीं। यह भाव जिनके हृदयमें होता है, उन्हींका असर होता है और उन्हींकी शिक्षा लगती है। भगवान्‌की दयासे सब लोगोंका उद्धार हो जाय, सबका कल्याण हो जाय, सब भगवान्‌के भक्त बन जायँ—ऐसा भाव मनमें रखना बहुत ही उत्तम है।

एक मनुष्य अपना कल्याण चाहता है और दूसरा सबका कल्याण चाहता है, उन दोनोंमें सबका कल्याण चाहनेवाला ही अति उत्तम है। भगवान्‌के यहाँ किसी बातकी कमी तो है नहीं। वे चाहें तो एक क्षणमें सबका कल्याण कर सकते हैं, परमात्माके पास मुक्तिका जो भण्डार है, वह तो अटूट है।

सबका कल्याण हो जाय, ऐसा भाव रखना तो उत्तम है; किंतु अपना प्रभाव दूसरोंपर पड़े, यह इच्छा रखनेसे अहंकार आता है। अतः ऐसा उपाय सोचना चाहिये कि जिससे अहंकार भी न आये और दूसरोंके कल्याणका भाव भी मनमें बना रहे। इसके लिये यह भाव रखना उत्तम है कि किसीके द्वारा भी हो, सबका कल्याण होना चाहिये। लोगोंके कल्याणमें मैं ही निमित्त बनूँ, ऐसा आग्रह रखना ठीक नहीं। निमित्त भगवान् चाहे किसीको बनायें, अपने तो यही भाव रखना चाहिये कि सबका परम हित हो अर्थात् सबका कल्याण हो।

ध्यानसहित भगवान्‌का नाम-जप करना बहुत ही उत्तम है। उसे सभी कोई करें। हमारी बात मानकर ही करें, ऐसी बात नहीं। अपने गुरुकी बात मानकर, अच्छे-अच्छे महात्मा पुरुषोंकी बात मानकर या किसीकी भी बात मानकर भगवान्‌का भजन-ध्यान करें, जिससे उनका

कल्याण हो। किंतु हमारी जो उत्तम क्रिया है, उसको लोग देखेंगे अथवा धारण करेंगे तो उनका भी हित होगा—इस प्रकार अपनी क्रियाओंमें उत्तमताकी कल्पना करना अच्छा नहीं; क्योंकि उससे अभिमान बढ़ता है। अतः हमें तो यही समझना चाहिये कि मेरी क्रिया अत्यन्त साधारण है; जो उत्तम पुरुष हैं, उन्हींका अनुकरण करना चाहिये।

आत्मकल्याणके लिये तमोगुणके त्यागकी विशेष आवश्यकता

प्रकृतिके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। इनमें सत्त्वगुणका सेवन ही परम श्रेयस्कर है। भगवान् श्रीमद्भगवद्गीतामें कहते हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
(१४। १८)

'सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रह जाते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं।'

इसका अभिप्राय यह है कि सत्त्वगुणी पुरुष अर्चिमार्गके द्वारा उच्च लोकोंमें होते हुए परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। राजसी मनुष्य यहीं रह जाते हैं—यानी पुनः मनुष्ययोनि पाते हैं। इसीसे उनके लिये '**गच्छन्ति**' न कहकर '**तिष्ठन्ति**' (स्थित रहते हैं) कहा गया है और घृणित वृत्तियोंमें लगे हुए तामसी मनुष्य अधोगतिको जाते हैं। '**अधः**' के दो भेद हैं— महायन्त्रणादायक नरकादि लोकविशेष और शूकर-कूकरादि, कृमि-कीटादि योनिविशेष। इनमें महारौरव, कुम्भीपाक आदि नरक महान् कष्टदायक होनेके कारण विशेष निम्नश्रेणीके हैं। इसीसे भगवान् कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६। २०)

'हे अर्जुन! वे मूढ़लोग मुझको न प्राप्त होकर जन्म-जन्ममें आसुरी (पशु-पक्षी, कृमि-कीटादि) योनिको प्राप्त होते हैं; फिर उससे भी अत्यन्त नीची गति (कुम्भीपाकादि नरकों) में जाते हैं।'

भगवान्ने कृपा करके जीवको मनुष्य-शरीर प्रदान ही इसलिये किया है कि वह साधनद्वारा मुक्तिको प्राप्त करे। भगवान्की ओरसे मनुष्यमात्रको मुक्तिका अधिकार है; पर जब मनुष्य स्वयं ही मुक्तिकी अवहेलना करके तामसी वृत्तियोंके सेवनमें लग जाता है, तब क्या किया जाय!

तामसी वृत्तियोंमें प्रधान तीन हैं—प्रमाद, आलस्य और निद्रा। प्रमादका अर्थ है न करनेयोग्य कर्मका करना और करनेयोग्यका न करना। मनुष्यके लिये दैवी सम्पत्तिके गुणोंका सेवन कर्तव्य है, यही महान् पुण्यकर्म है, मनुष्य इनका सेवन नहीं करता। और आसुरी सम्पदाके गुणोंका सेवन कभी भी कर्तव्य नहीं है; क्योंकि उनके फलस्वरूप अधोगति, आसुरी योनि तथा नरकोंकी प्राप्ति होती है। फिर भी वह उनका सेवन करता है। यही प्रमाद है। यह तमोगुणका एक प्रधान स्वरूप है। ऐसा तमोगुणी पुरुष न भगवान्को मानता है, न धर्मको और न माता-पिता आदि गुरुजनोंको। वह अशुभ कर्म करता है, व्यर्थ चिन्तन और बकवाद करता है, सबकी निन्दा करता है और पूर्ण उद्दण्डताके साथ मनमाने आचरण करता है तथा उसीमें गौरवका अनुभव करता है।

तमोगुणका दूसरा स्वरूप है—(सत्) कर्मकी अवहेलना करना, उसे टालते रहना, उत्तरदायित्व न मानकर व्यर्थ समय नष्ट करना, जीवनके अमूल्य क्षणोंको व्यर्थ बिताना—यह आलस्य है, इसीको दीर्घसूत्रता कहते हैं।

इनके अतिरिक्त तीसरा स्वरूप है—रात-दिन अधिकांश समय सोनेमें ही बिताना। ध्यानमें बैठे तो नींद; काम करने बैठे तो नींद; सदुपदेश, कथा-भागवतादि सुनने बैठे तो नींद; अतिथि-सत्कारमें लगे तो नींद; कोई कामकी बात सुना रहे हैं तो नींद; कर्तव्यपालनमें भी नींद। बस, खाया और तानकर सो गये। ऐसे लोग देखे गये हैं जो आठ-आठ, नौ-नौ घंटे सोनेमें बिता देते हैं और जागते हैं तो अपने समयको खाने-पीनेमें तथा गप्प-गुलछर्रे उड़ाने, ताश-चौपड़ खेलने, व्यर्थ बकवाद करने और निषिद्ध कर्मोंके आचरणमें ही खो देते हैं। फिर सो जाते हैं।

इन दुर्गुणोंसे ग्रस्त प्रमादी मनुष्योंको ही समाजमें उद्दण्ड, निरङ्कुश, स्वेच्छाचारी, अकर्मण्य, आलसी, दीर्घसूत्री, आवारे आदि नामोंसे पुकारा जाता है। इन्हें न कर्तव्यका ज्ञान है, न विनय-नम्रताका ध्यान है, ये बात-बातमें अकड़े

रहते हैं, किसीका कोई अङ्कुश नहीं मानते, मनमानी करने या पड़े रहकर समय नष्ट करनेमें सुखका अनुभव करते हैं, तुरंत काम करना जानते ही नहीं; टालते रहनेमें ही आराम देखते हैं। इस प्रकार प्रमाद, आलस्य और निद्रामें पड़े हुए मनुष्य मानव-जीवनके परम लाभ भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रहकर अधोगतिको प्राप्त होते हैं।

महाभारत, उद्योगपर्वके अन्तर्गत एक सनत्सुजातीयपर्व है। इसमें ब्रह्माजीके सनकादि चार पुत्रोंमेंसे सनत्सुजातके द्वारा धृतराष्ट्रको उपदेश दिये जानेका प्रसङ्ग है। धृतराष्ट्रने पूछा—'भगवन्! मैं सुना करता हूँ, आपके सिद्धान्तमें तो मृत्यु है ही नहीं और देवता आदिने मृत्युसे बचनेके लिये ब्रह्मचर्यका पालन किया था, तो इन दोनोंमेंसे कौन-सी बात ठीक है?' इसके उत्तरमें सनत्सुजातने कहा—'प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद अमृत है। प्रमादके कारण ही आसुरी सम्पदावाले (तमोगुणी) लोग मृत्युसे पराजित हैं और अप्रमादसे ही दैवी सम्पदावाले (सात्त्विक) मनुष्य अमृतको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं × × × × मिथ्या भोग-विषयोंमें आसक्ति हो जानेके कारण मनुष्यकी ज्ञानशक्ति लुप्त हो जाती है और वह सब ओरसे विषयोंका चिन्तन करता हुआ मन-ही-मन उनका आस्वादन करता है। यह विषय-चिन्तन ही (प्रमादका कारण होकर) मृत्युके समीप पहुँचा देता है। फिर काम, क्रोध आदि मिलकर मनुष्यको मृत्युके मुखमें डाल देते हैं।'

सत्य ही है जो विषयपरायण मनुष्य ऐश-आराम, भोग-विलास, काम-क्रोधमें जीवन बिताता है, उसकी आयु घटती ही है। तमोगुण इन प्रमाद, आलस्य, निद्राके द्वारा ही जीवात्माको बाँधता है—

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥

(गीता १४। ८)

जैसे मजबूत रस्सेसे बाँध देनेपर पशु कहीं भी भागकर नहीं जा सकता, वैसे ही तमोगुणके प्रमादालस्यनिद्रारूपी रस्सेसे बँधा मनुष्य बँधा-बँधा ही मर जाता है। यह अनुभवी महापुरुषोंका कथन है।

कामोपभोगपरायण तमोगुणी मनुष्य ही आसुरी सम्पदाका बद्ध प्राणी है। आसुरी सम्पदाके मुख्य दुर्गुण तीन हैं—काम, क्रोध और लोभ। भगवान्ने कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६। २१)

'काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंका त्याग करना चाहिये।'

इन्हीं दुष्ट दुर्गुणोंको अपनानेसे मनुष्यका घोर अधःपतन होता है। अतएव दृढ़तापूर्वक इनका त्याग करना चाहिये। इनके त्यागसे प्रमादका त्याग हो जाता है और प्रमादके त्यागसे इनके पूर्ण त्यागमें सहायता मिलती है।

भगवान्ने बड़ी कृपा करके मनुष्यदेह दिया है। देवता भी इसकी आकाङ्क्षा करते हैं। श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानस उत्तरकाण्डमें कहा है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥

(४३। ४)

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(४४। ३)

भगवान्की इस अहैतुकी कृपाका समादर करके मनुष्य-देहका यथार्थ लाभ उठाना चाहिये। इसके लिये तमोगुणसे तो बचना ही चाहिये। रजोगुणका भी यथासाध्य भगवत्सेवामें ही प्रयोग करना चाहिये।

रजोगुणका कार्य कर्म-प्रवृत्ति है; अतः ऐसे ही कर्मोंमें प्रवृत्त होना चाहिये जो भगवान्की प्रीति बढ़ानेवाले, लोकहितकर हों। रजोगुणजनित चञ्चलतासे दूर रहना चाहिये। रजोगुण यदि सत्त्वमुखी नहीं हुआ तो तमोगुणके साथ मिलकर तमोगुण-सा ही बन जाता है। ये दोनों ही सत्त्वगुणसे दूर हैं; अतः परमार्थसे दूर ले जानेवाले हैं। इनमें तमोगुणसे रजोगुणकी दूरी उतनी नहीं है, जितनी सत्त्वगुणकी है। जैसे एक (१) का अङ्क है, उसपर शून्य (०) लगा दिया तो दस हो गये; एकसे नौकी दूरी हो गयी। पर यदि उसपर एक शून्य और लगा दिया जाय और १०० का अङ्क हो जाय तो उसकी एकसे निन्यानबेकी दूरी हो जायगी। इसी प्रकार सत्त्वगुण तो मानो सौकी संख्या है, रजोगुण दसकी तथा तमोगुण एककी। रजोगुण तमोगुणसे दस ही गुना दूर है, इसलिये इनके मिलनेमें देर नहीं होती; पर सत्त्वगुण तो सौगुना दूर है। अतएव तमोगुणसे अपनी रक्षा चाहनेवालोंको रजोगुणसे भी सतर्क रहकर उसका यथायोग्य त्याग करना चाहिये। तमोगुणका तो सर्वथा त्याग आवश्यक है। सारे पापोंका उद्गमस्थान प्रायः तमोगुण है। तमोगुणी मनुष्य भगवान्के यहाँ तो जा सकते ही नहीं। उन्हें नरकोंमें भी ठौर नहीं मिलती।

मनुष्य-शरीर सहज ही नहीं मिलता, बहुत कम जीव मनुष्य हो पाते हैं। मनुष्यलोकमें अधिक मनुष्योंके लिये स्थान ही नहीं है। आजके युगमें हमारे देखनेमें पृथ्वीपर मनुष्योंकी संख्या (सन् १९५८में) लगभग तीन

अरब होगी। पर अन्यान्य जीव तो असंख्य हैं। एक-एक क्षुद्र खेतमें छोटे-छोटे अरबों जीव रह सकते हैं। उनके लिये पर्याप्त स्थान है। आज किसी देशमें यदि अरब मनुष्य पैदा हो जायँ तो स्थानकी बड़ी ही कठिनता हो जाय। देवताओंका स्थान भी इतना सङ्कुचित नहीं है, जितना मनुष्योंका। अतः मनुष्य-शरीर देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। ऐसे दुर्लभ मानव-शरीरको पाकर जो तमोगुणमें रत हो कामोपभोगमें ही जीवन बिता देता है, वह आत्महत्यारेकी गतिको प्राप्त होता है—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(श्रीराम० उत्तर० दोहा ४४)

इन सब बातोंपर विचार करके मानव-जीवनको काम, क्रोध, लोभसे बचाकर भगवान्‌की सेवारूप सत्त्वगुणके कार्योंमें ही लगाना चाहिये। यद्यपि संसारमें रहनेवाले लोगोंको काम, क्रोध, लोभका सामना करना पड़ता है और वे काम, क्रोध, लोभ तामस, राजस—दो प्रकारके होते हैं। जैसे—

(१) अपनी विवाहिता धर्मपत्नीके साथ शास्त्रोक्त विधिके अनुसार मर्यादित रमण करना राजस है, उससे नरकोंकी प्राप्ति नहीं होती; पर जो शास्त्रविरुद्ध अनुचित सङ्ग होता है, वह तामस है, फिर चाहे वह अपनी पत्नीसे ही क्यों न हो। उससे अधःपतन होता है।

(२) अपनी संतान, प्रजा आदिके हितके लिये पिता और शासकका अभिनयके रूपमें क्रोध करना राजस है, उससे अधःपतन नहीं होता। पर दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये जो अनुचित क्रोध किया जाता है, वह तामस है और उससे अधःपतन होता है।

(३) आजीविकाके लिये सत्य और न्यायकी रक्षा करते हुए धन कमानेकी इच्छा करना और अनुचित व्ययसे धनको बचाना उचित लोभ है, अतः राजस है। इससे अधःपतन नहीं होता; क्योंकि ऐसा लोभी मनुष्य तो झूठ, कपट, चोरी, बेईमानीके धनको विषवत् समझता है और माता-पिता, आतुर, अनाथ, सत्पात्र, धर्मकार्य आदिके निमित्त धनका व्यय करनेमें उत्साही रहता है। किंतु जो धनको चाहे जैसे भी प्राप्त करनेकी लालसासे अन्यायपूर्वक झूठ, कपट, छल, चोरी, बेईमानीसे धन कमाना चाहता है और उचित स्थानपर माता-पिता, गुरु, अनाथ-गरीबकी सेवा आदिमें धनका व्यय करनेमें कंजूसी करता है, उसका वह अनुचित लोभ तामस है और उस तामसी पुरुषका अधःपतन होता है।

यह होनेपर भी मनुष्यको राजसी काम, क्रोध, लोभसे भी बचना चाहिये; क्योंकि राजसी होते-होते ये तामसी हो जाते हैं और बुद्धिनाशमें कारण बनकर हमारा सर्वनाश कर देते हैं। अतएव इन काम, क्रोध, लोभको समूल नष्ट करनेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये और वैराग्यरूपी शस्त्रके द्वारा भगवत्कृपाके आश्रयसे इनका विनाश सहज ही किया जा सकता है।

आत्महत्या करने अथवा घर छोड़कर निकल भागनेका दुष्परिणाम

आजकल समाचार-पत्रोंमें प्रायः ऐसे समाचार देखने, पढ़ने एवं सुननेमें आया करते हैं कि अमुक व्यक्तिने अमुक कारणसे आत्महत्या कर ली अथवा अमुक व्यक्ति घर छोड़कर निकल भागा आदि-आदि। यहाँ इस लेखमें इस प्रकारकी चेष्टाओंके दुष्परिणामके सम्बन्धमें विचार किया जाता है।

बहुत-से स्त्री-पुरुष, बालक एवं बालिकाएँ आवेशमें आकर आत्महत्या कर लेते हैं—यह उनकी बिलकुल नासमझी है। सभी योनियोंमें मनुष्य-योनिको ही श्रेष्ठ बताया गया है; यह बात शास्त्रसंगत, युक्तिसंगत एवं प्रत्यक्ष भी है ही। मनुष्य-योनि ही एक ऐसी योनि है, जिसमें इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण सुखोंकी प्राप्तिका साधन किया जा सकता है एवं सबको सुख पहुँचाया जा सकता है। और किसी प्राणीमें ऐसी शक्ति नहीं है कि वह सबको सुख पहुँचा सके। शास्त्रोंमें तो यहाँतक कहा गया है कि मनुष्य-जीवनके अतिरिक्त और किसी जीवनमें अपने आत्माका कल्याण भी नहीं हो सकता। और तो और, इस मनुष्य-शरीरको पानेके लिये देवतालोग भी तरसते हैं। जो लोग आत्महत्या करके ऐसे अमूल्य शरीरसे हाथ धो बैठते हैं, उनसे अधिक बेसमझ और कौन हो सकता है? गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानस, उत्तरकाण्डमें कहा है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥

(४३।४)

अर्थात् यह मनुष्यका शरीर बड़े भाग्यसे मिलता है, वह देवताओंके लिये भी दुर्लभ है—यह बात अच्छे-अच्छे ग्रन्थ कहते हैं।

इतना ही नहीं, गोस्वामीजी कहते हैं कि जीव जब

चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करता हुआ तंग आ जाता है, तब उसके कष्टको देखकर भगवान् ही अपने परम दयालु स्वभावके कारण कृपा करके उसे मनुष्यका शरीर प्रदान करते हैं—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(४४। २-३)

ईश्वरकी अहैतुकी कृपा और दयासे जो यह मनुष्य-शरीर मिला है, उससे हमें विशेष लाभ उठाना चाहिये। उत्तम देश, उत्तम समय, उत्तम जाति, उत्तम सङ्ग, उत्तम धर्म—ये सब ईश्वरकृपासे मनुष्य-शरीरमें ही मिलते हैं, जो हमलोगोंको प्राप्त है। इतना ही नहीं, परमदयालु ईश्वरने हमें बुद्धि, विवेक, शक्ति तथा सभी अनुकूल पदार्थ प्रदान किये हैं; उन सबका ठीक-ठीक उपयोग करनेकी आवश्यकता है। इनका ठीक उपयोग करनेसे कल्याण एवं दुरुपयोग करनेसे अधोगति हो सकती है। उपर्युक्त समग्र साधनोंसे सम्पन्न होकर भी जिसने अपने आत्माका कल्याण नहीं किया अर्थात् इस लोक और परलोकको नहीं सुधारा, उसकी शास्त्र बड़ी निन्दा करते हैं। श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्डमें कहा गया है—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(दोहा ४४)

'ऐसे दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर जो संसार-सागरसे पार नहीं होता, वह कृतघ्न है, मन्दमति है तथा आत्महत्या करनेवालेकी जो गति होती है, वही गति उसकी होती है।'

आत्महत्या करनेवालेकी दुर्गतिके विषयमें शुक्ल यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायके, जिसको ईशावास्योपनिषद् भी कहते हैं, तीसरे मन्त्रमें कहा गया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

'जो कोई भी मनुष्य आत्महत्या करनेवाले होते हैं, वे नाना प्रकारकी आसुरी योनियों तथा असुरोंके उन भयंकर लोकोंको बारम्बार प्राप्त होते हैं, जो अज्ञान—दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आच्छादित हैं।'

आत्महत्यारोंके दो प्रकार होते हैं—एक तो वे आत्महत्यारे हैं, जो मनुष्यका शरीर पाकर अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते और दूसरे वे आत्महत्यारे हैं, जो इस मनुष्य-शरीरको काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष और भयके कारण हठपूर्वक नष्ट कर देते हैं। दोनोंकी ही दुर्गति होती है। किसी भी प्रकारसे क्यों न हो, प्राणोंका वियोग करना तो महान् मूर्खता ही है।

कोई-कोई विद्यार्थी हाईस्कूल अथवा कालेजकी किसी परीक्षामें अनुत्तीर्ण हो जानेके कारण इस भय और लज्जाके कारण कि 'मैं परीक्षामें फेल हो गया, अब मैं किसीको भी मुँह दिखाने लायक नहीं रहा, लोग मुझे क्या कहेंगे?' मूर्खताके कारण आत्महत्या कर लेते हैं। कोई-कोई व्यक्ति घरकी लड़ाई तथा अन्यान्य झंझटोंके कारण भी आत्महत्या कर लेते हैं। इसी प्रकार दहेजकी प्रथा बढ़ जानेके कारण रुपयोंकी व्यवस्था न होनेसे बड़ी आयुतक विवाह न किये जानेपर लड़कियाँ अपने भविष्यका विचार न करके माता-पिताके दुःखको देखकर आत्महत्या कर लेती हैं। कई बहुएँ सासके ताने न सह सकनेके कारण ही आत्महत्या कर लेती हैं। ऐसे स्त्री-पुरुष विष खाकर, जलमें डूबकर या अग्निसे शरीरको जलाकर अथवा कोई-कोई ऊँचे स्थानसे स्वेच्छासे गिरकर मर जाते हैं। वे यह नहीं सोचते कि मेरे आत्महत्या कर लेनेपर क्या होगा, मैं कहाँ जाऊँगा, इसके फलस्वरूप मुझे सुख मिलेगा कि दुःख भोगना पड़ेगा इत्यादि। किसीके शरीरसे कोई दोष घट जाता है, तो वह उसके कारण ही आत्महत्या कर लेता है। वह यह सोचता है कि मैं बड़ा पापी हूँ, मेरा तो जीवन ही भ्रष्ट हो गया। किंतु वास्तवमें सोचा जाय तो यह सब उसकी मिथ्या कल्पना ही है। कोई बड़े-से-बड़ा दुराचारी क्यों न हो, उसके भी उद्धारका भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें उपाय बताया है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको निरन्तर भजता है, तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। (फलतः) वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

भगवान् कितना आश्वासन दे रहे हैं! अपने आत्माके कल्याणके लिये किसीको भी निराश होनेकी आवश्यकता

नहीं है। कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, यदि उसका शरीर बना रहा तो साधन करनेपर एक दिन वह अपना उद्धार भी कर सकता है। किंतु मनुष्य-शरीर खो देनेपर तो उद्धारका कोई रास्ता ही नहीं रह जाता है, उसके लिये तो खतरा-ही-खतरा है; क्योंकि जबतक मनुष्य-शरीर उसे प्राप्त है, वह समय पाकर सब कुछ कर सकता है। भगवत्कृपासे धनहीन धनवान् और मूर्ख भी पण्डित हो सकता है; सब समय स्थिति एक-सी नहीं रहती। किंतु आत्महत्या कर लेनेपर तो सिवा दुःख भोगनेके जीव और कुछ नहीं कर सकता—यह बात निश्चित है। आत्महत्या करनेवाला यह समझता है कि आत्महत्या कर लेनेपर इन सब दुःखोंसे उसे छुटकारा मिल जायगा; किंतु बात सर्वथा ऐसी नहीं है। यह मनकी मूर्खतापूर्ण सूझ है; क्योंकि जीवित अवस्थामें जो दुःख है, उससे बहुत अधिक दुःख तो आत्महत्या करनेके समय होता है और उससे भी सैकड़ों गुना अधिक दुःख आत्महत्या कर लेनेपर परलोकमें भोगना पड़ता है।

उदाहरणके लिये मान लीजिये किसीने आत्महत्याका विचार करके अपनेपर किरासन तेल छिड़ककर आग लगा ली। किंतु जब उसका शरीर जलता है, उस समय उसे महान् पीड़ाका अनुभव होता है और वह भीतरसे चाहता है कि मैं किसी प्रकार बच जाऊँ। किंतु वह प्रायः बच ही नहीं पाता और भयानक कष्टसे तड़फ-तड़फकर प्राण-त्याग करता है, उसके शरीरमें बहुत जलन होती है। यदि कोई बच जाता है तो वह भी जीते-जी बहुत ही कष्ट पाता रहता है।

कोई आत्महत्याके लिये विषपान करता है। विषपान कर लेनेपर जब विष चढ़ता है, तब बहुत ही क्लेश होता है और मनुष्य तड़फड़ाता है, चिल्लाता है, जोर-जोरसे रोता है, घरवालोंको अपने द्वारा विषपान किये जानेका परिचय देता है। घरवाले डाक्टर-वैद्योंको बुलाकर विष निकालनेके विविध प्रयत्न करते हैं। जब किसी भी प्रकारसे विष शान्त नहीं होता, तब उसे सभी घरवालोंके सामने तड़फ-तड़फकर मरना पड़ता है। उस समयका दृश्य बहुत ही भयानक होता है।

इसी प्रकार कोई नदी, तालाब, कुएँ आदि जलाशयमें डूबकर मरता है। एक बार तो वह अपने निश्चयानुसार कूद पड़ता है; किंतु जब पानीमें दो-चार डुबकियाँ लगा लेता है और उसका गला घुटने लगता है, पानी पेटमें भर जाता है, तब उसे बड़ी भयंकर यन्त्रणा होती है और यह इच्छा होती है कि मुझे कोई बचा ले। वह अपनी पूरी शक्ति लगाकर हाथ-पैर पीटता है और अपनी सामर्थ्यभर जलसे बाहर निकलनेकी चेष्टा करता है, बचानेके लिये दूसरोंसे संकेत भी करता है। किसी-किसीको संयोगवश कोई निकाल भी लेते हैं। डाक्टरोंको बुलाया जाता है, वे पेटसे पानी निकालते हैं, इंजेक्शन देते हैं, मालिश करते हैं। फलतः कोई-कोई जी भी जाता है, नहीं तो अधिकांश लोग तो मर ही जाते हैं। जिसे कोई भी निकाल नहीं पाता, वह तो प्रायः मर ही जाता है। कैसे भी क्यों न हो बिना मौतके असमयमें शरीरत्याग करनेवालेको अत्यन्त कष्ट होता है—यह निश्चित तथा प्रत्यक्ष भी है ही। उपर्युक्त दृश्योंको देखकर घरवालोंको तो अपार दुःख होता ही है, दूसरे लोगोंको भी उनका वियोगजन्य दुःख देखकर महान् कष्ट होता है। कोई-कोई तो विवाहित होनेपर भी किसी कारणवश आत्महत्या कर लेते हैं एवं अपनी स्त्री तथा बाल-बच्चोंको सदाके लिये महान् संकटमें डाल जाते हैं। वे यह सोचनेका तनिक भी प्रयत्न नहीं करते कि मेरे आत्महत्या कर लेनेपर मेरे माता-पिता आदि तथा मेरे आश्रित स्त्री एवं नन्हे-नन्हे बच्चोंकी क्या दशा होगी, इनकी कौन रक्षा करेगा, इनका कैसे भरण-पोषण होगा। यह तो इस लोकमें होनेवाले दुःखका वर्णन हुआ। परलोकमें तो उन्हें जो कष्ट एवं दुःख भोगना पड़ता है, वह अवर्णनीय है। हमारे प्रातःस्मरणीय त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोंने आत्महत्यारेकी बड़ी दुर्गति बतायी है।

असमयमें शरीर-त्याग करनेके कारण प्रथम तो आत्महत्यारेको कोई भी योनि नहीं मिलती, वह प्रेतयोनिमें भटकता रहता है। उसके बाद शूकर, कूकर, कीट, पतंग आदि तिर्यक् योनियोंको प्राप्त होता है और तदनन्तर वह रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, अन्धतामिस्र आदि घोर नरकोंमें गिराया जाता है। नरकोंकी विभिन्न घोर यातनाएँ उसे दी जाती हैं, जिनका वर्णन श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थोंमें आता है। इस प्रकार असमयमें मरनेकी जो प्रवृत्ति है वह आसुरी स्वभाव है। आसुरी स्वभाववालोंका वर्णन भगवान्ने गीता अध्याय १६, श्लोक ४ से २१ तकमें किया है, उसे वहाँ देख सकते हैं। उन आसुरी स्वभाववालोंकी जो दुर्गति होती है, वही असमयमें प्राण-त्याग करनेवालेकी होती है। आसुरी स्वभाववालोंकी दुर्गतिका वर्णन भगवान्ने गीता अध्याय १६, श्लोक १६ में किया है—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

'वे अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले, मोहरूप जालसे

समावृत और विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त आसुर लोग महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं।'

आगे इसी अध्यायके २० वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

'हे अर्जुन! वे मूढ़ पुरुष मुझे प्राप्त न होकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें गिरते हैं।'

इसी आशयका जगह-जगह पुराणोंमें भी वर्णन आता है। शास्त्रोंकी इन सब बातोंपर विश्वास करके इस अमूल्य मनुष्य-जीवनको काम, क्रोध, लोभ, मोह, लज्जा, भय, अज्ञान, राग-द्वेष आदिके कारण संकटमें नहीं डालना चाहिये।

कितने ही भाई घरके क्लेशके कारण कष्टका अनुभव होनेपर लज्जा, भय और क्रोधके वशीभूत हो घर छोड़कर बाहर निकल जाते हैं। दूरदर्शी न होनेके कारण ही वे ऐसा करते हैं; किंतु बाहर निकलनेपर जब सोने, खाने-पीने आदिका महान् कष्ट अनुभव करते हैं, तब अपनी भूलपर पश्चात्ताप करते हैं। उनके मनमें घर लौट जानेकी बात भी आती है; किंतु इस लज्जाके कारण वे नहीं जा पाते कि लोग उन्हें क्या कहेंगे। इस प्रकार भ्रमित-चित्त हुए त्रिशङ्कुकी-सी मनःस्थितिको लेकर या तो वे किसी वेषधारी दम्भी पाखण्डी साधुके फेरमें पड़ जाते हैं या भटकते-फिरते हैं। वे सदा चिन्तित रहते हैं एवं भयानक संकटमें पड़ जाते हैं। उनकी प्रत्यक्ष दुर्दशा होती है और उनके वियोगमें उनके घरवाले भी दुःखी होते हैं। अतः घर छोड़कर निकल भागना भी महान् मूर्खताका ही द्योतक है। यह भी काम-क्रोध-लोभ-मोह-भय आदिके कारण ही होता है। भगवान्ने गीता अध्याय १६, श्लोक २१ में कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं; ये आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतः इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।'

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

(गीता १६। २२)

'इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ अर्थात् काम, क्रोध आदि विकारोंसे छूटा हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परम गतिको प्राप्त होता है।'

अतएव उपर्युक्त दुष्परिणामोंपर विचार करते हुए किसी भी मनुष्यको न तो आत्महत्या करनी चाहिये और न घर छोड़कर निकल भागना ही चाहिये।

प्रतिग्रह और पापसे भी ऋण अधिक हानिकर है

ऋण लेनेवाला व्यक्ति ऋणदाताको जबतक ऋण नहीं चुका देता, तबतक उसका इस लोक या परलोकमें कहीं कभी छुटकारा नहीं हो सकता। मरनेके बाद ऋण लेनेवालेको दूसरे जन्ममें ऋणदाताके माता, पिता, भाई, बन्धु, स्त्री, पुत्र या गाय, बैल, घोड़ा आदि पशुके रूपमें जन्म लेकर ऋण चुकाना पड़ता है। ऋण चुकाये बिना ऋणसे मुक्ति हो ही नहीं सकती, फिर परमपदकी प्राप्ति तो हो ही कैसे सकती है। यहाँ सरकारके राज्यमें तो कानूनके अनुसार तीन वर्षके बाद रुपये लौटानेकी अवधि समाप्त हो जाती है और भूमि, घर आदि स्थावर सम्पत्तिपर रुपया लेकर ऋणका कागज रजिस्ट्रेशन कराया हुआ हो तो बारह वर्षके बाद उन रुपयोंके भी लौटानेकी अवधि समाप्त हो जाती है। किंतु भगवान्के यहाँ हजारों वर्ष बीत जानेपर भी ऋणकी इस प्रकार समाप्ति नहीं होती। ब्याज (सूद) तो मूल रुपयोंसे अधिक न तो इस राज्यमें ही मिलता है और न परलोकमें ही। ऋणग्रहीता ऋणदाताका दिल दुखाकर जबरन् रुपयेका आठ आना या चार आना देकर उससे ऋण-मुक्तिका पत्र ले लेता है, तब भी शेष रुपयोंका ऋण ऋणग्रहीताके सिरपर रहता ही है। यदि ऋणदाताको मूलधन पूरा-का-पूरा दे दिया जाय और ब्याजको अनुनय-विनय करके क्षमा करा लिया जाय तो फिर ऋण तो सिरपर नहीं रहता, किंतु ऋणग्रहीता सहायता लेनेके रूपमें उसका उपकृत रहता है। यदि ऋणदाता अपना सर्वस्व भगवान्को समर्पण कर दे या वह भगवान्को प्राप्त हो जाय तो ऋणग्रहीता भगवान्का ऋणी होकर रहता है—जैसे इस लोकमें कोई मनुष्य मर गया और उसका कोई भी उत्तराधिकारी न हो तो उसके धनका स्वामित्व सरकारपर चला जाता है। एवं यदि उस मृत मनुष्यका कोई ऋणी है और वह उस ऋणके रुपयोंको सरकारको दे देता है तो वह ऋणसे मुक्त हो

जाता है। यदि कोई ऋणदाता मर गया और उसके उत्तराधिकारी—लड़का, लड़की, भाई, बन्धुमेंसे कोई भी जीवित हों तो उनको ऋण चुका देनेसे ऋणग्रहीता ऋणसे मुक्त हो सकता है। यदि ऋणदाता तो जीता है और ऋणग्रहीता मर गया और ऋणग्रहीताके पिता, पुत्र, भाई, बन्धु या कुटुम्बके लोग ऋणदाताको ऋणग्रहीताका ऋण चुका दें तो ऋणग्रहीता उससे मुक्त हो सकता है; किंतु यदि उसके कुटुम्बवाले ऋण लेनेके समय उसके शामिल न रहे हों तो ऋण चुकानेवाले उन कुटुम्बीजनोंका ऋणग्रहीतापर उपकार माना जायगा।

दान, दहेज और उपकार—इन तीनोंका अलग-अलग हिसाब है। इसे उदाहरणसे यों समझना चाहिये—

एक धनी वैश्यके एक विवाहिता लड़की थी। उस लड़कीके एक कन्या थी। उस कन्याके विवाहके लिये कम-से-कम दो हजार रुपयोंकी आवश्यकता थी, किंतु उस लड़की और उसके पतिके पास किसी प्रकारका धन नहीं था; अत: लड़कीने अपने धनी पितासे कन्याके विवाहके लिये दो हजार रुपयोंकी इस प्रकार याचना की—'आप मुझे पाँच सौ रुपये तो जो मेरे आपके यहाँ जमा हैं, वे दे दीजिये; पाँच सौ रुपये घरके रीति-रिवाजके अनुसार आप दहेजमें देंगे ही। इनके अतिरिक्त पाँच सौ रुपये आप कन्याके विवाहमें सहायताके रूपमें दे दीजिये तथा शेष पाँच सौ रुपये ऋणके रूपमें दे दीजिये, जिन्हें मेरे पतिदेव उपार्जन करके चुका देंगे।' इसपर वह वैश्य राजी हो गया और उसके कथनानुसार रुपये दे दिये, जिससे कन्याका विवाह हो गया।

अब इन रुपयोंके सम्बन्धमें यों समझना चाहिये। पाँच सौ रुपये जो लड़कीके पिताके यहाँ जमा थे, वह तो पितापर ऋण था; अत: पिता उस ऋणसे मुक्त हो गया। तथा पाँच सौ रुपये जो पिताने दहेजके रूपमें दिये, उनपर उस लड़कीका अपना स्वत्व था, वह उसने पा लिया; अत: उन रुपयोंका किसीके साथ कोई लेन-देन नहीं रहा। पिताने जो पाँच सौ रुपये सहायताके रूपमें दिये; उनके लिये लड़की पिताकी उपकृत है, किंतु ऋणी नहीं। शेष पाँच सौ रुपये जो लड़कीने ऋणके रूपमें अपने पितासे लिये, उन रुपयोंको लड़की और उसके पतिको चुकाना होगा, चुकानेसे ही वे उस ऋणसे मुक्त हो सकते हैं। यदि इस जन्ममें वे रुपये नहीं चुकाये गये तो उन दोनोंको भावी जन्ममें किसी-न-किसी रूपमें उन रुपयोंको चुकाना पड़ेगा।

कोई मनुष्य किसीको दान देता है या किसीकी किसी प्रकारकी सहायता (उपकार) करता है या सेवा करता है तो उस दान या सहायता देने और सेवा करनेवालेको उसकी इच्छाके अनुसार फल मिलता है। यदि वह इस लोकको अथवा परलोककी किसी कामनाको लेकर ऐसा करता है, तब तो उसकी कामनाकी सिद्धि होती है और यदि कर्तव्य समझकर निष्कामभावसे करता है तो उसकी आत्मा पवित्र होकर उस उपकार अथवा सेवाके फलस्वरूप उसका उद्धार हो सकता है। दान या सहायता लेनेवाला और सेवा करानेवाला यदि उसका अधिकारी है—जैसे ब्राह्मणको दान लेनेका अधिकार है, माता, पिता, स्वामी, गुरु आदिका अपने पुत्र, भृत्य, शिष्य आदिसे सेवा करानेका अधिकार है—तो इस अधिकारके अनुसार दान, सहायता, सेवा लेनेवाले व्यक्ति उपकृत नहीं माने जाते। इनके अतिरिक्त जो भी किसीसे दान, सहायता या सेवा स्वीकार करता है, वह उसका उपकृत है; उसके बदलेमें उसकी सहायता, सेवा करना और उसका हित चाहना उस उपकृत मनुष्यका कर्तव्य है। यदि वह अपने इस कर्तव्यका पालन नहीं करता तो यह उसकी कृतघ्नता है। कृतघ्नता भी एक प्रकारका पाप ही है। जैसे पाप करनेवाला दण्डका भागी होता है और वह उस पापका फल भोगकर या ईश्वरके नामका जप, व्रत, उपवास, इन्द्रियसंयमरूप तप, प्राणियोंका उपकार आदि या शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करके उस पापसे मुक्त हो जाता है, वैसे ही वह कृतघ्न भी पापका फल भोगकर या उपर्युक्त साधन करके पापसे मुक्त हो सकता है। किंतु ऋणी तो ऋण चुकानेपर ही मुक्त होता है, किसी प्रायश्चित्त आदि साधनसे नहीं।

ब्राह्मणके अतिरिक्त अन्य वर्णवालोंको अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रको दान लेनेका अधिकार नहीं है। पर इनमेंसे कोई आपत्तिकालमें यदि ऋण चुकानेके लिये किसीसे सहायताके रूपमें दान लेकर अपना ऋण चुका दे या ऋण छोड़ देनेके लिये ऋणदातासे अनुनय-विनय करनेपर ऋणदाता उसे सहायताके रूपमें ऋणमुक्त कर दे तो वह ऋणसे मुक्त हो सकता है। किंतु उसे सहायता देनेवालेकी अथवा ऋण छोड़ देनेवाले ऋणदाताकी बदलेमें समय-समयपर सेवा-सहायता करना उस उपकृत मनुष्यका कर्तव्य हो जाता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो कृतघ्न समझा जाता है। इसीलिये धर्ममें आस्था रखनेवाले क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र दान या सहायता न लेकर ऋण ही लेते हैं; क्योंकि ऋणके रुपये चुकानेका तो ऋण लेनेवालेपर भार रहता है, किंतु सेवा, दान और उपकारका विस्मरण भी हो जाता है, जिससे वे प्रत्युपकार नहीं कर पाते और

फलस्वरूप कृतघ्न हो जाते हैं। यद्यपि ऋण और कृतघ्नता दोनों ही अपने-अपने स्थानपर बड़े भारी दोष हैं, तथापि उनमें कृतघ्नताका दोष तो जप, तप, व्रत, उपवास और प्रायश्चित्त आदि करनेसे दूर हो सकता है; किंतु ऋणसे छुटकारा तो ऋणदाताका ऋण चुकानेपर ही होता है।

इसलिये ऋणग्रहीता मनुष्यको, जिस-किसी प्रकारसे हो, ऋण चुका ही देना चाहिये। यदि ऋण चुकानेके लिये रुपये न हों तो अपने पास भूमि, घर, आभूषण आदि जो कुछ भी हो, उसे देकर ऋणदाताको संतुष्ट करना चाहिये। इससे भी ऋण पूरा न हो तो जितना ऋण बचे, उसके लिये ऋणदाताके कथनानुसार हैंडनोट आदि लिखकर संतोष कराये। अथवा यदि वह नौकरीपर रखकर अपना रुपया वसूल करना चाहे तो उसकी नौकरी करके भी उसका ऋण चुका देना चाहिये। अधिक क्या कहा जाय, यदि अपनेको अथवा अपनी स्त्री, पुत्र आदिको बन्धक रखने या बेचनेसे भी ऋण चुकाया जा सकता हो तो चुका देना चाहिये। यदि ऋणदाता नालिश कर दे तो हाकिमसे कह देना चाहिये कि 'मुझे यह रुपया देना है, आप मुझपर डिग्री दे दें।' उसपर भी ऋणदाता संतुष्ट न हो और ऋणग्रहीताको कैद कराना चाहे तो उसके संतोषके लिये प्रसन्नतापूर्वक कैद भी भोग लेनी चाहिये, पर किसी भी अवस्थामें ऋणदाताका प्रतिकार नहीं करना चाहिये।

अतएव मनुष्यको, जहाँतक हो, प्रथम तो ऋण कभी लेना ही नहीं चाहिये। यदि परिस्थितिवश लेना ही पड़े तो उसे जीतोड़ प्रयत्न करके उपर्युक्त प्रकारोंमेंसे किसी-न-किसी रूपमें न्याययुक्त रीतिसे चुका ही देना चाहिये।

अनाथालय, गोशाला, पाठशाला, धार्मिक संस्था, मठ, मन्दिर, क्षेत्र आदिके रुपये, अन्य किसी धार्मिक कार्यके लिये एकत्र किये हुए रुपये तथा ब्राह्मण, विधवा स्त्री, बहिन-बेटी आदिके रुपये तो अन्य ऋणोंकी अपेक्षा भी अधिक भाररूप होते हैं। इसलिये अपनेपर कभी आपत्ति आये तो मनुष्यको पहले उपर्युक्त संस्थाओं और व्यक्तियोंके ऋणको चुका देना चाहिये। यदि अपने पाससे भी दान देकर उनके नामसे खातेमें जमा कर लिया गया हो, तो भी वही बात समझनी चाहिये; क्योंकि जो रुपये जिसको दिये जा चुके, वे उसीके हो गये। इस विषयमें कोई-कोई व्यक्ति यह मान लेते हैं कि हमारे पिताने मरते समय इतने रुपये धर्मार्थ निकाले थे अथवा हमने ही ये रुपये धर्मार्थ निकाले थे, इनको यदि हम न भी दें तो कोई आपत्ति नहीं है; किंतु यह समझना भूल है। क्योंकि धर्मार्थ निकाले हुए रुपयोंको कोई मालिक बनकर तो जबरन् वसूल करता नहीं, भगवान् भी प्रकटमें आकर माँगते नहीं; इसलिये उन रुपयोंका भार तो अपने ऊपर विशेषरूपसे मानना चाहिये।

ऐसे रुपयोंको या तो कहीं अन्यत्र जमा करवाकर अच्छे आदमियोंका उनपर अधिकार कर देना चाहिये; या गोशाला, विद्यालय, मन्दिर आदि जिस कार्यके लिये रुपये जमा किये गये हों, उस कार्यमें तुरंत लगा देना चाहिये; अथवा अच्छे-अच्छे आदमियोंका एक ट्रस्ट बनाकर उनके हाथमें सौंप देना चाहिये। क्योंकि मनुष्यपर संकट और विपत्तियाँ तो आती ही रहती हैं और जब विपत्ति आती है तब पावनेदार तो जबरन् उनको वसूल कर सकता है; किंतु जिसका भगवान्‌के सिवा कोई मालिक नहीं है, उस धर्मार्थ निकाले हुए धनको कौन वसूल करे। अतः वह ऋणीके सिरपर ही रह जाता है। जिस प्रकार लावारिसके धनकी मालिक सरकार होती है, उसी प्रकार धर्मार्थ निकाले हुए रुपयोंके मालिक भगवान् हैं। अतः भगवान् उस ऋणीको इस जन्ममें या भावी जन्ममें सरकारके द्वारा अतिशय कर लगा देना, दैवी प्रकोपके द्वारा धन नष्ट कर देना आदि नाना प्रकारके संकटोंमें डालकर उससे रुपये वसूल करते हैं। अतएव मनुष्यको धर्मार्थ निकाले हुए रुपयोंको अपनेपर गुरुतर भार समझकर शरीर रहते-रहते ही उपर्युक्त किसी भी प्रकारसे उनका प्रबन्ध कर देना चाहिये।

वर्तमान पतन और उससे बचनेके उपाय

इस समय हमारे देशमें जहाँ एक ओर सर्वविध विकासकी योजनाएँ चल रही हैं, दूसरी ओर भाँति-भाँतिके दुर्गुण, दुराचार, भ्रष्टाचार, अनाचार, व्यर्थ खर्च तथा पतनकी गर्तमें गिरानेवाली नयी-नयी कुरीतियाँ बढ़ रही हैं, जिनसे सारा मानवसमाज संत्रस्त है। इन पतनकारी कार्योंमें एक दहेज भी है और उसका वर्तमान रूप बड़ा भयानक हो चला है। सगाई, तिलक, विवाह, गौना आदिमें जो आजकल दहेज दिया जाता है, वह सारे देशके लिये अत्यन्त घातक है। गरीब-से-गरीब आदमीकी कन्याका विवाह भी आजकल हजार-दो-हजार रुपयोंसे कममें नहीं होता। जो थोड़ा-सा भी प्रतिष्ठित है, उसकी कन्याका विवाह तो पाँच-सात हजारसे कममें सम्भव नहीं है। विचार कीजिये—एक सज्जन सौ रुपये मासिक वेतन पाते हैं और उनके घरमें पाँच आदमी हैं। तो उन सौ

रुपयोंसे तो उनके भोजन-वस्त्रादिका निर्वाह भी बड़ी ही कठिनतासे चलता है; फिर जो अपनी इज्जतका जरा भी खयाल करता है उसकी कन्याका विवाह कैसे हो सकता है? न तो गरीब आदमीको ऋण ही मिल सकता है, न दान ही। भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें तथा सभी समाजोंमें दहेजका रोग बढ़ रहा है। ब्राह्मण-समाज पहले इससे मुक्त था, अब दूसरोंकी देखा-देखी वह भी इसका शिकार हो रहा है। तथापि क्षत्रिय एवं वैश्य-समाजको सबसे अधिक कठिनता है; क्योंकि वे सहजमें दान लेना चाहते नहीं और ऐसा करनेमें उन्हें सहज ही लज्जा तथा अपमानका बोध होता है। फिर, यदि माँगें भी तो आजकल मिलना बहुत कठिन है। ऐसी परिस्थितिमें कन्या और कन्याके माता-पिताके सम्मुख जो भयानक संकट उपस्थित होता है, उसे वे ही जानते हैं। कोई-कोई कन्या तो माता-पिताकी भयानक मनोवेदनाको देखकर आत्महत्या-तक कर लेती हैं और कहीं कन्याका विवाह करनेमें असमर्थ माता-पिता दुःखसे आत्महत्या कर बैठते हैं।

यह भयानक सामाजिक पाप है तथा इस पापमें प्रधान कारण वह लड़का और उसके अभिभावक माता-पिता आदि हैं, जो मनमाना दहेज लिये बिना विवाह नहीं करना चाहते। अतएव हम लड़कोंसे और उनके माता-पिता आदिसे प्रार्थना करते हैं कि वे दहेज लेना सर्वथा बंद कर दें। प्रतिज्ञा कर लें कि हम विवाहमें दहेज लेंगे ही नहीं। ऐसा न कर सकें तो कन्याके माता-पिता जो कुछ आसानीसे देना चाहते हों और दे सकते हों, उससे एक चौथाई, अथवा अधिक-से-अधिक आधा स्वीकार करें। अर्थात् जो सौ रुपये देना चाहते हों, उनसे पचीस या इससे संतोष न हो तो अधिक-से-अधिक पचास रुपये ही लें। अभिप्राय यह है कि दहेज देनेवाले प्रेमपूर्वक जो देना चाहें, उससे कम-से-कम लेना स्वीकार करें। दहेज देनेवाला आसानीसे तथा प्रसन्नतापूर्वक जो देना चाहे, उसे ले लेना विशेष अपराध नहीं है। परंतु वर्तमान दहेज जिस प्रकार बलात् लिया जाता है, वह निश्चय ही पाप है। अतएव इस पापको मिटानेके लिये कम-से-कम लेना उत्तम है। कन्याके माता-पितासे मोल-तौल करके या उनपर दबाव डालकर और उन्हें बाध्य करके लेना तो सचमुच ही समाजका ध्वंसकारी एक बड़ा पाप है। इससे बचनेकी बड़ी ही आवश्यकता है।

विवाह, यज्ञोपवीत तथा अन्यान्य समारोहोंपर विशाल पण्डाल बनाने, उन्हें अनाप-शनाप खर्च करके सजाने, रुचि बिगाड़नेवाले अश्लील चित्रादि लगाने, गानोंकी चूड़ियाँ बजाने, रोशनीकी भरमार करने, आतिशबाजी छुड़ाने, गाने-बजाने या सिनेमादिका प्रदर्शन करानेमें इतना अधिक प्रमाद तथा खर्च किया जाता है कि जो समाजको सर्वथा पतनकी ओर ले जानेवाला तथा गरीबोंके हकका पैसा व्यर्थ उड़ा देनेवाला होनेके कारण बड़ा पाप है। इसको जहाँतक हो सके न करे या कम-से-कम करे।

आजकल ब्याह-शादी आदिमें जो भोजनकी व्यवस्था की जाती या पार्टियाँ दी जाती हैं, उनमें खर्चका तो कोई ध्यान रखा ही नहीं जाता, उनसे अनाचार भी काफी फैलता है। बड़े शहरोंमें बड़े आदमियोंके यहाँ तो प्रायः ऐसी भोजनपार्टी या चायपार्टी उन होटलोंमें ही दी जाती है, जहाँ मांस-मदिरादिसे कोई परहेज नहीं रखा जाता। कम-से-कम बर्तन तो वही होते हैं। वहाँ आचार-रक्षाकी कोई सम्भावना ही नहीं। खानसामे परोसते हैं, जूँठनका कोई खयाल ही नहीं रखा जाता, (जिसका स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी खयाल रखना अत्यावश्यक है।) फलतः अर्थके साथ-साथ आचार, धर्म तथा स्वास्थ्यका भी नाश होता है। इस बढ़ती हुई विनाशकारी प्रथाको जितना शीघ्र दूर किया जाय, उतना ही उत्तम है।

विवाह आदि समारोहोंमें अनावश्यक सुगन्धि-द्रव्य, बीड़ी, सिगरेट, मदिरा आदिका वितरण भी व्यर्थ, प्रमादपूर्ण तथा पापोत्पादक है। इसको भी दूर करना चाहिये।

गौने आदिमें जो बहुत-से अनावश्यक कपड़े, व्यर्थके चित्र, खिलौने आदि अनेक प्रकारकी ऐसी वस्तुएँ भी दी जाती हैं जो उपयोगी नहीं होतीं। इसलिये उपयोगमें आनेयोग्य वस्तुएँ भी कम मात्रामें ही दी जानी चाहिये। उच्च चरित्रका निर्माण करनेवाला साहित्य दिया जाय तो उससे बड़ा लाभ हो सकता है।

इसी प्रकार अन्यान्य अवसरोंपर भी, जैसे मारवाड़ी अग्रवालोंमें साध, खिचड़ी, तालवा, छूछक, भात आदिमें जो व्यर्थ खर्च किया जाता है तथा आडम्बर दिखाया जाता है, उसे दूर करना चाहिये।

ऐसे ही, घरमें बालक होनेपर भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। बालकका जन्म सभीके लिये प्रसन्नता देनेवाला होता है और उस समय उत्सव-दानादि भी किये जाते हैं; परंतु उस आनन्दमें प्रमाद नहीं होना चाहिये। व्यर्थ समय नष्ट करनेवाले ताश-चौपड़ आदि खेलना, बीड़ी-सिगरेट-शराब आदिका वितरण करना, नाच-तमाशे कराना, पार्टियोंमें अनाप-शनाप खर्च करना आदि सब आदर्शको बिगाड़नेवाले कार्य हैं जो अनुचित और त्याज्य हैं। उस समय शास्त्रानुसार जातकर्म और नामकरण आदि संस्कार

अवश्य कराने चाहिये, जिससे बालकका यथार्थ मङ्गल हो और उसके हृदयमें शुभ संस्कारोंका संचार हो।

इसी प्रकार चरित्रनाशक सिनेमा, प्रमाद बढ़ानेवाले क्लब आदिमें जाने तथा व्यर्थ नाचरंग आदि देखनेमें समय, धन और शुभ संस्कारोंका नाश होता है। इससे यथासाध्य बचना चाहिये।

शिक्षाक्षेत्रमें नैतिक स्तर गिर रहा है। छात्रोंमें उच्छृङ्खलता बढ़ रही है। परस्पर स्नेह तथा विनयका अभाव हुआ चला जा रहा है। नैतिक उन्नतिका ध्यान घट रहा है। खान-पानकी भ्रष्टता बढ़ रही है। इस ओर पूरा ध्यान दिये जानेकी आवश्यकता है; क्योंकि ये छात्र ही भविष्यमें देशकी उन्नतिके कारण हो सकते हैं। पाठ्यक्रममें आवश्यक सुधार होना चाहिये, जिससे पढ़ाई सस्ती, सुविधाजनक, अल्पकालीन तथा नैतिक उत्थान करनेवाली हो। बालिकाओं तथा बालकोंकी सहशिक्षा बड़ी हानिकर है। इससे उनका मन पढ़ाईमें नहीं लगता तथा ब्रह्मचर्यका नाश होता है। इस प्रथाको सर्वथा हटाकर पृथक्-पृथक् अध्ययनकी व्यवस्था होनी चाहिये।

आजकल प्राय: सभी विभागोंमें अनैतिकताका संचार हो गया है तथा भ्रष्टाचारसे घृणा निकलती जा रही है। वरं कहीं-कहीं तो मनुष्य भ्रष्टाचार करके अपनेमें गौरव तथा बुद्धिमानी मानता है जो नैतिक पतनका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। घूसखोरी एक साधारण पेशा-सा बन गया है। सरकार तथा जनता दोनोंको ही इस पापके मिटानेमें प्रयत्नशील होना चाहिये।

व्यापारियोंसे प्रार्थना है कि व्यापारमें इनकमटैक्स, सेलटैक्स आदिकी चोरी न करके सरकारको सही-सही हिसाब दिखलाना चाहिये; क्योंकि इसमें झूठ, कपट, बेईमानी करनी पड़ती है और बही-खातोंमें झूठे जमा-खर्च करने पड़ते हैं। इससे पाप तो होता ही है, संसारमें बदनामी होती है, पकड़े जानेपर दण्ड होता है, आत्मामें ग्लानि होती है एवं आत्माका पतन होता है तथा मरनेपर दुर्गति होती है और चोरी-अन्यायके पैसे रहते भी नहीं। इसलिये इस पापाचारको सर्वथा बंद कर देना चाहिये। थोड़े-से जीवनको इस प्रकार पापमय बनाकर नष्ट नहीं करना चाहिये।

व्यापारको उच्चकोटिका और सच्चा बनाना चाहिये। झूठ-कपटका त्याग करके निष्कामभावसे जो व्यापार किया जाता है, उस व्यापारसे ही मनुष्यका कल्याण हो जाता है। व्यापारमें वजन, नाप और संख्यामें न तो किसीको कम देना और न किसीसे अधिक लेना चाहिये। दलाली, नफा, कमीशन, आढ़त, ब्याज, लगान और भाड़ा आदि ठहराकर न तो कम देना चाहिये और न अधिक लेना चाहिये। पाट, रूई, ऊन, सुपारी वगैरहमें जल डालकर उसे अधिक वजनका कर देना बड़ा भारी पाप है। इसी प्रकार व्यापारमें और भी बहुत-से पाप हैं, उनसे बचना चाहिये। सरसों, अलसी, पाट, कपास आदिका बढ़िया नमूना दिखलाकर घटिया देना, बढ़िया चीजमें घटिया चीज मिलाकर देना—जैसे, घीमें वेजिटेबल; सरसों, तिल, मूँगफली, गिरी आदिके बढ़िया तेलमें दूसरा तेल मिलाना, दाल और जीरा आदिमें मिट्टी मिला देना, नकली दवा तथा नकली गोल मिर्च, साबू, पीपल आदि बनाना एवं ब्राह्मी-आँवला तेलके नामपर नकली तेल बनाना—ये सब बड़े पाप हैं, इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, विश्वासघात, दगाबाजीको त्यागकर सबके साथ समान व्यवहार करते हुए परोपकारकी दृष्टिसे स्वार्थत्यागपूर्वक जो निष्कामभावसे व्यापार किया जाता है, उससे व्यापार करनेवालेकी राज्यमें और इस लोकमें तो प्रतिष्ठा है ही, उसके अन्त:करणकी शुद्धि होकर उसे परमात्माकी प्राप्ति भी सहज ही हो सकती है।

भाव यह कि स्वार्थत्यागपूर्वक निष्कामभावसे उत्तम व्यवहार करनेपर मनुष्यका शीघ्र ही कल्याण हो सकता है। उत्तम व्यवहारका नाम ही सदाचार है। मनुष्यके हृदयमें सत्य भाव होनेसे उसके आचरण भी सत्य ही होते हैं। सत्य आचरणका ही दूसरा नाम सदाचार है। इसलिये मनुष्यको सबके हितकी दृष्टिसे सबके साथ उत्तम-से-उत्तम व्यवहार करना चाहिये, यही मनुष्यका धर्म है। धर्मकी उत्पत्ति उत्तम आचरणसे ही होती है। महाभारतमें बतलाया गया है—

सर्वागमानामाचार: प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युत:॥

(अनुशासन० १४९। १३७)

'सब शास्त्रोंमें आचार प्रथम माना जाता है, आचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्मके स्वामी भगवान् अच्युत हैं।'

यहाँ 'आचार' का तात्पर्य है उत्तम-से-उत्तम व्यवहार। उत्तम-से-उत्तम व्यवहारके लिये निम्नाङ्कित पाँच बातोंकी आवश्यकता है—

(१) स्वार्थका त्याग,
(२) अहंकारका त्याग,
(३) सत्य आचरण,

(४) विनय,

(५) प्रेम।

अभिप्राय यह कि जिस किसीके साथ व्यवहार किया जाय, उसके साथ स्वार्थ और अहंकारका सर्वथा त्याग करके विनय और प्रेमसे युक्त सत्य व्यवहार करना चाहिये। ऐसा व्यवहार ही सर्वोत्तम है। इसीसे धर्मका सम्पादन होता है। धर्म क्या है ?

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिक० सूत्र २)

'जिससे अपना तथा दूसरोंका इस लोकमें अभ्युदय और परलोकमें परम कल्याण हो, वही धर्म है।'

जिसमें दूसरोंका हित होता है, अपना हित तो उसके अन्तर्गत ही है। इसलिये दूसरोंके हितके समान कोई धर्म नहीं है। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(राम० उत्तर० ४१। १)

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(राम० अरण्य० ३१। ५)

'दूसरोंका हित करनेके समान कोई धर्म नहीं है और दूसरोंको कष्ट देनेके समान कोई अधर्म नहीं। जिनके मनमें दूसरोंका हित निवास करता है, उन मनुष्योंके लिये संसारमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है।' भाव यह कि निःस्वार्थभावके कारण उनका सहजमें ही कल्याण हो सकता है। भगवान् भी गीतामें कहते हैं—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।

(१२। ४ का उत्तरार्ध)

'जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहते हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

अतः मनुष्यमात्रका यह कर्तव्य है कि जिसमें सबका हित हो, ऐसा ही कार्य करे।

हमारे शास्त्रोंमें जो 'भूतयज्ञ' के नामसे बलिवैश्वदेव करनेका विधान किया गया है, उसका भी यही भाव है कि सारे संसारको बलि (भोजन) देकर ही भोजन करना चाहिये। यदि कहें कि कोई मनुष्य सारे विश्वको भोजन कैसे करा सकता है और गरीब तो करा ही कैसे सकता है, सो ठीक है; किंतु इसमें न पैसोंका ही विशेष खर्च है और न कोई परिश्रम ही है। भोजन तैयार होनेपर केवल पचीस ग्राससे ही यह कार्य सम्पन्न हो जाता है। इनमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक पाँच ग्रास तो देवताओंकी तृप्तिके लिये अग्निमें हवन किये जाते हैं और शेष बीस ग्रास भूमिपर छोड़े जाते हैं, ये ग्रास सबकी तृप्तिके लिये गौ आदिको दे दिये जाते हैं। इससे सारे विश्वकी तृप्ति हो जाती है। मनुस्मृतिमें कहा गया है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

(मनु० ३। ७६)

'शास्त्रोक्त विधिसे अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यमें स्थित होती है, सूर्यसे मेघद्वारा वर्षा होती है और वर्षा होनेसे अन्न पैदा होता है तथा अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है (एवं अन्नसे ही सब जीवोंकी तृप्ति और वृद्धि होती है)।'

इसी प्रकार गौओंकी तृप्तिसे भी सबकी तृप्ति हो जाती है। गौके दूध, दही, घीसे देवता, मनुष्य, पितर आदि सब तृप्त होते हैं तथा गौके गोबर-गोमूत्रसे खादके द्वारा अन्नकी उत्पत्ति होती है, जिससे सब प्राणियोंकी तृप्ति होती है। अतः सबके हितके लिये निष्कामभावसे बलिवैश्वदेव करना बहुत उच्चकोटिका कार्य है। गीतामें कहा गया है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(३। १३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापी लोग अपना शरीरपोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।'

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

(३। १४)

'क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है।'

इसी प्रकार सबको जल पिलाकर जल पीना भी बहुत उच्चकोटिका कार्य है। जब मनुष्य जलसे तर्पण करता है तो प्रथम ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओंका, फिर ऋषियोंका, उसके बाद मनुष्योंका और फिर यावन्मात्र भूत-प्राणियोंका तर्पण करता है। तर्पणका यह जल सूर्यको प्राप्त हो जाता है एवं सूर्यसे वर्षाके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंको प्राप्त हो जाता है।

इसीलिये शास्त्रोंमें ऋषि-मुनियोंने मनुष्यके लिये सब प्राणियोंका हित करनेका आदेश दिया है।

सबके हितकी दृष्टिसे अहंकार और स्वार्थका त्याग करके विनय और प्रेमपूर्वक सत्य-व्यवहार करनेसे जिसके साथ व्यवहार किया जाता है उसपर बहुत अच्छा असर

होता है, उसपर उसकी छाप पड़ती है, दूसरोंको भी इससे अच्छी शिक्षा मिलती है और अपनी आत्माकी भी शुद्धि होकर सच्ची उन्नति होती है। अतः इससे संसारको बहुत लाभ होता है। जो दूसरोंके हितके लिये अपना तन, मन, धन अर्पण करके जीते हैं, उन्हींका जीवन धन्य है। अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी सिद्धिके लिये जीना तो पशुतुल्य है। नीतिमें बतलाया गया है—

आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥

(चाणक्यनीति १७। १७)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें एक समान ही हैं। मनुष्योंमें केवल विशेषता यही है कि उनमें अपने कर्तव्यका ज्ञान अधिक है; किंतु ज्ञानसे शून्य मनुष्य पशुओंके ही तुल्य है।'

क्योंकि यह मनुष्यका शरीर आत्माके उद्धारके लिये मिला है, विषय-भोगके लिये नहीं और न यह स्वर्गकी प्राप्तिके लिये ही है। किंतु जो अपने समयको इस प्रकार न बिताकर विषय-भोगोंमें रमण करता है, उसकी तो शास्त्रोंमें निन्दा की गयी है। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

(राम० उत्तर० ४४। १-२)

जैसे लोभी मनुष्य प्रत्येक लेन-देनके व्यवहारमें यही विचार करता है 'इससे मुझे क्या लाभ होगा।' 'इससे मुझे क्या लाभ होगा।' इस प्रकार स्वार्थबुद्धि करके ही वह कार्यमें प्रवृत्त होता है। किंतु जो अपना कल्याण चाहता हो, उसको इस प्रकार विचार करना चाहिये कि 'इस कार्यके करनेसे जगत्‌के प्राणिमात्रको क्या लाभ होगा।' मनुष्यको समष्टिके लाभके लिये अपने व्यक्तिगत स्वार्थका त्याग कर देना चाहिये और 'मैंने त्याग किया है' इस अभिमानका भी त्याग कर देना चाहिये। इस प्रकार स्वार्थ-त्यागपूर्वक निष्काम प्रेम-भाव होनेपर मनुष्यका शीघ्र ही सुधार होकर उद्धार हो सकता है।

परम पुरुषार्थ

संसारमें चार पदार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमेंसे धर्म और मोक्षकी प्राप्तिमें तो पुरुषार्थ प्रधान है। तथा अर्थ और कामकी प्राप्तिमें प्रारब्ध प्रधान है। ऐसा होनेपर भी लोग अर्थ और कामके लिये अथक परिश्रम करते हैं; किंतु उनके परिश्रमसे किसी कार्यकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये मनुष्यको जो कुछ भी सांसारिक सुख-दुःखादिकी प्राप्ति हो, उसके विषयमें तर्क-वितर्क न करके उसे भगवान्‌का मङ्गलमय विधान मानना चाहिये। श्रीरामचरितमानसमें भी कहा गया है—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

(बाल० ५२। ४)

क्योंकि मनुष्य कर्म करनेमें तो प्रायः स्वतन्त्र है, पर फल भोगनेमें नहीं। गीतामें भगवान् कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(२। ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

अतः मनुष्यको यह समझकर कि भोग और अर्थकी प्राप्ति प्रारब्धका फल है, क्रिया तो उसमें निमित्तमात्र है, भोग और अर्थकी प्राप्तिके लिये कभी पापमय क्रिया नहीं करनी चाहिये। क्योंकि होगा तो वही, जो भाग्यमें लिखा है; फिर पाप करके अपने सिरपर बोझा क्यों लादा जाय? इसलिये अर्थ और कामके लिये पाप करना सरासर मूर्खता है।

पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कुछ भी क्रिया न करके हम आलसी बनकर बैठ जायँ। बिना कुछ किये तो कोई क्षणभर भी नहीं रह सकता। मनुष्य कुछ-न-कुछ क्रिया प्रायः करता ही रहता है। यदि वह पाप करता है, अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता तो उसे उसके फलस्वरूप नरकोंकी प्राप्ति होती है। इसलिये मनुष्यको कोई भी क्रिया पापमय और व्यर्थ तो करनी ही नहीं चाहिये, कामोपभोग और अर्थके उद्देश्यसे भी नहीं करनी चाहिये; बल्कि अपना कर्तव्य समझकर निष्काम एवं अनासक्तभावसे और आत्माकी शुद्धिके द्वारा कल्याणके लिये करनी चाहिये।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥
(५। ११)

'कर्मयोगी ममत्व-बुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।'

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
(५। १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है।'

इसलिये निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करना ही उचित है; क्योंकि धर्मके पालन और मोक्षकी प्राप्तिमें पुरुषार्थ ही प्रधान है। अतः मनुष्यको इसीके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि इसीके लिये यह मनुष्य-जीवन मिला है। मनुष्य-जीवनकी सार्थकता परम-पुरुषार्थरूप परमात्माकी प्राप्तिमें ही है। इसमें प्रारब्धका बिलकुल हाथ नहीं है। प्रारब्ध न तो आत्माके कल्याणमें बाधक ही है और न साधक ही। लोग स्त्री, पुत्र और धन आदिके विनाश तथा शरीरके रुग्ण होनेपर परमात्माकी प्राप्तिरूप परमपुरुषार्थके साधनको छोड़ देते हैं या साधन करनेमें शिथिलता कर देते हैं, यह उनकी कमजोरी है; इसमें केवल उनकी मूर्खता ही हेतु है। अतः विचारवान् मनुष्यको परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप योगके लिये तत्परतासे प्रयत्न करना चाहिये। गीतामें भगवान् कहते हैं—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
(६। २३)

'जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।'

हमें यह मनुष्य-शरीर ऐश-आराम, स्वाद-शौक और भोग-विलासके लिये नहीं मिला है। आहार, निद्रा, मैथुन आदि विषयभोग तो जीवको पशु-पक्षी आदि योनियोंमें भी प्राप्त हैं। मनुष्य-शरीर तो परमात्माकी प्राप्तिरूप मोक्ष और धर्मपालनके लिये ही मिला है। श्रीचाणक्यनीतिमें बतलाया गया है—

आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥
(१७। १७)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें समान ही हैं। मनुष्योंमें विशेषता यही है कि उनमें ज्ञान अधिक होता है; ज्ञानसे शून्य मनुष्य तो पशुओंके ही तुल्य है।'

इसलिये परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान जिस-किस प्रकारसे हो, उसी धर्मयुक्त पुरुषार्थके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। जो मनुष्य देहमें प्राण रहते-रहते काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि अवगुणोंको त्यागकर योगयुक्त हो जिस प्रयोजनके लिये यह मनुष्य-शरीर उसे मिला है, उस प्रयोजनको सिद्ध कर लेता है, वही सच्चे सुखका अनुभव कर सकता है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥
(५। २३)

'जो साधक इस मनुष्य-शरीरमें, शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है; वही पुरुष योगी है और वही सुखी है।'

किंतु इस मनुष्य-शरीरको पाकर भी जो काम-क्रोध, लोभ-मोहमें फँसा रहकर अपना जीवन बिताता है, वह परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहकर घोर नरकमें जाता है। इसलिये दुर्गुण-दुराचारोंका सर्वथा त्याग करके आत्माके कल्याणके लिये भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचारके पालनमें ही अपना जीवन बिताना चाहिये। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥
(१६। २१)

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।'

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(१६। २२)

'हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है; इससे वह परम गतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है।'

यह मनुष्य-शरीर बहुत ही मूल्यवान् है तथा बड़े

ही सौभाग्य और ईश्वरकी कृपासे प्राप्त हुआ है। इसलिये इसे अर्थ, काम और भोगोंमें नहीं लगाना चाहिये; क्योंकि शरीर, संसार और भोगोंमें जो सुख-बुद्धि है, वह अज्ञानसे है; वास्तवमें इनमें सुख नहीं है। ये सब नाशवान्, क्षणभङ्गुर और अनित्य हैं। अतः विवेकी मनुष्योंको इनमें न फँसकर भगवान्के भजन-ध्यान, सेवा-पूजा, नमस्कार, स्तुति-प्रार्थना आदिमें ही अपना जीवन लगाना चाहिये। भगवान्ने कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

(गीता ९। ३३)

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको पाकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

इसके सिवा वर्णाश्रमके अनुसार अनासक्तभावसे अपने कर्तव्यका पालन करनेसे भी मनुष्य परम पुरुषार्थरूप मोक्षको प्राप्त कर लेता है। भगवान् गीताके तीसरे अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें अर्जुनसे कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको पा लेता है।'

अर्जुन क्षत्रिय थे; अतः भगवान् उन्हें स्वधर्मरूप क्षात्रधर्ममें लगे रहनेके लिये उत्साह दिलाते तथा उत्तेजित करते हुए कहते हैं—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

(गीता २। ३)

'इसलिये हे अर्जुन! तू कायरताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ता। हे परंतप! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा।'

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥

(गीता २। ३१)

'तथा अपने धर्मको देखकर भी तू भय करनेयोग्य नहीं है यानी तुझे भय नहीं करना चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्म-युक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है।'

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा—पापका भागी नहीं होगा।'

इसी प्रकार अन्य वर्ण एवं आश्रमवालोंको भी अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार तत्परताके साथ अनासक्त हो निष्कामभावसे अपने आत्माके उद्धारके लिये प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार आत्मोद्धारके लिये प्रयत्न करता हुआ मनुष्य यदि धर्मके लिये मर मिटे तो भी उसका कल्याण ही होता है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३। ३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है, किंतु दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

भगवान्ने निष्कामभावसे धर्मपालन करनेकी बड़ी भारी महिमा गायी है; क्योंकि निष्कामभावसे पालन किये हुए थोड़े-से भी धर्मसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(गीता २। ४०)

'इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं होता और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है; बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उबार लेता है।'

किंतु जो मनुष्य-शरीर पाकर अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है, वह तो जीता हुआ मृतकके समान है; क्योंकि उसका जीना व्यर्थ और निन्दनीय है—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

(गीता ३। १६)

'हे पार्थ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।'

अतः मनुष्यको किसी कालमें भी कर्तव्यच्युत नहीं होना चाहिये तथा भोग और प्रमाद-आलस्यमें भी अपना जीवन कभी नहीं बिताना चाहिये। मनुष्य-शरीरको पाकर जो अपना जीवन भोगोंमें बिताता

है, उसके लिये श्रीतुलसीदासजी श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें कहते हैं—

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥
(४४। १-२)

क्योंकि यह मनुष्य-शरीर इस लोक और परलोकमें कामोपभोग करनेके लिये नहीं मिला है, आत्माके कल्याणके लिये ही मिला है।

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
(४४। १)

किंतु बहुत-से मनुष्य परमपुरुषार्थरूप परमात्माकी प्राप्तिके विषयमें और धर्माचरणके विषयमें दैव यानी प्रारब्धको प्रधान मानकर साधन छोड़ बैठते हैं, वे श्रद्धाहीन और संशययुक्त मनुष्य मूर्खताके कारण ही परम-पुरुषार्थरूप मोक्षसे वञ्चित रहते हैं। उनको कहीं भी सुख नहीं मिलता—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥
(गीता ४। ४०)

'विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।'

अतः मनुष्यको ज्ञानके द्वारा संशयका छेदन करके अपने कर्तव्य-कर्मके पालनके लिये परमपुरुषार्थ करना चाहिये।

मन-इन्द्रियोंको वशमें करके परमात्माको प्राप्त करे

कठोपनिषद्‌में शरीरको रथ, इन्द्रियोंको घोड़े, मनको लगाम, बुद्धिको सारथि, इन्द्रियोंके विषयोंको रथके चलनेका मार्ग और जीवात्माको रथी बतलाया गया है। परमात्माके अंश जीवात्माको इसी रथके द्वारा विषयोंके मार्गपर चलकर ही परमात्माके परम धाम पहुँचना है। रथको घोड़े ही चलाते हैं, परंतु घोड़े उच्छृङ्खल होकर उलटे मार्गपर भी जा सकते हैं और वशमें रहकर सीधे परमात्माके मार्गपर भी चल सकते हैं। जिस रथका सारथि विवेकयुक्त, अप्रमत्त, स्वामीका आज्ञाकारी, लक्ष्यपर स्थिर, बलवान्, रास्तेका जानकार और घोड़ोंको लगामके सहारेसे अपने वशमें रखकर—इच्छानुसार सन्मार्गपर चला सकता है, वह रथ अपने लक्ष्यपर पहुँच जाता है। इसी प्रकार जिस पुरुषकी बुद्धि विवेकसम्पन्न, जीवात्माको परमात्माके धाममें ले जानेके लिये तत्पर परमात्मामें लगी हुई, मन-इन्द्रियोंको अपने वशमें रखनेवाली सदा सावधानीके साथ सबको साधन-मार्गपर ले चलनेवाली होती है, वह पुरुष इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरता हुआ भी—जैसे सत्-सारथिके द्वारा संचालित रथ मार्गपर चलकर लक्ष्यकी ओर बढ़ता रहता है, वैसे ही— परमात्माकी ओर बढ़ता रहता है। इन्द्रियाँ तथा मन यदि साधकके अपने वशमें हों और साधक उन्हें भगवत्सम्बन्धी विषयोंमें ही लगाये रखे तो इस प्रकार उन इन्द्रियोंका विषयोंमें विचरण करना हानिकारक नहीं है, प्रत्युत लाभदायक है; क्योंकि ऐसा करके वह परमात्माके समीप पहुँच जाता है। जबतक शरीर, इन्द्रियाँ और मन हैं, तबतक उनको विषयोंसे सर्वथा अलग कर देना सम्भव नहीं है। अतएव साधक उनमेंसे राग-द्वेषको हटाकर विशुद्ध बना ले और फिर उनका यथायोग्य साधनरूप विषयोंमें उपयोग करे। भगवान्‌ने कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
(गीता २। ६४-६५)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक तो अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

यह है वशमें किये हुए रागद्वेषरहित मन-इन्द्रियोंके सद्विषयोंमें विचरण करनेका परिणाम! जिन मन-इन्द्रियोंके द्वारा इन्द्रिय-सुखकी आशासे विषयोंका उपभोग करके दुःखोंको निमन्त्रण दिया जाता है, उन्हीं मन-इन्द्रियोंसे उन्हें साधनमें लगाकर परमात्माकी प्राप्ति की जा सकती है; परंतु जिसकी बुद्धि असावधान है, निर्बल है, इन्द्रियोंके तथा मनके अधीन है, प्रमत्त है, लक्ष्यशून्य है और परमात्माको भूली हुई है; उसको ये ही इन्द्रियाँ विपरीत मार्गमें अग्रसर होकर वैसे ही सर्वथा पतनके गर्तमें गिरा देती हैं, अथवा किसी भयानक दुष्कर्मरूप पत्थरसे भिड़ाकर मानव-जीवनको चूर-चूर कर डालती हैं, जैसे असावधान और

निर्बल सारथिके द्वारा लगामको प्रचण्ड बलवाले घोड़ोंके अधीन छोड़ देनेपर घोड़े उस रथको सारथि और रथीसहित गहरे गड्ढेमें डाल देते हैं, अथवा किसी दीवालसे टकराकर चकनाचूर कर डालते हैं।

विचार करनेपर यह पता लगता है कि इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही बहिर्मुखी हैं। वे नित्य-निरन्तर विषयोपभोगके लोभमें पड़ी हुई विषयोंकी ओर दौड़ती और मन-बुद्धिको भी बलपूर्वक खींचती रहती हैं। अतः उनको सदा-सर्वदा सावधानीसे मनके सहारेसे यानी मनको उनके साथ न जाने देकर वशमें रखनेका प्रयत्न करना चाहिये। इन्द्रियाँ वशमें न होंगी और मन उनका साथ देने लगेगा तो वे बुद्धिको वैसे ही विचलित कर देंगी जैसे जलमें पड़ी हुई नौकाको वायु डगमगा देती है। भगवान्ने गीतामें यही कहा है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥
(२। ६७)

'क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है।' इसपर भगवान् कहते हैं—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(२। ६८)

'इसलिये हे महाबाहो! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है।'

जिस प्रकार चतुर और सुयोग्य केवट नावको भँवरसे तथा प्रबल जलधारामें बहनेसे बचाकर, खास करके, पालके सहारेसे वायुको अनुकूल बनाकर सावधानीसे डाँड़ खेता हुआ मार्गपर अग्रसर होता रहता है तो नाव सुरक्षित अपने स्थानपर पहुँच जाती है, इसी प्रकार भ्रम-प्रमादादिसे रहित सुयोग्य एकनिष्ठ साधक बुद्धि-मन-इन्द्रियोंसे युक्त शरीर-रथको राग-द्वेषरूपी भँवर तथा कामनारूपी तीव्रधार जलके प्रवाहसे बचाकर सत्संगरूपी पालके सहारेसे भगवत्कृपारूप वायुको अनुकूल बनाकर आगे बढ़ता रहता है तो वह सुरक्षित भगवान्के परम धाममें पहुँच जाता है।

अतएव साधकको चाहिये कि वह अपनेको शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धिका स्वामी मानकर उनके वशमें न हो, बल्कि इन्द्रियोंको उनके पतनकारक तथा अनावश्यक मनमाने विषयोंमें जानेसे रोककर, उनमें रहे हुए राग-द्वेषसे उन्हें छुड़ाकर मनको वशमें करे और बुद्धिको एक परमात्मनिष्ठ निश्चयात्मिका बनाकर परमात्मामें स्थिर कर दे। यथार्थतः ऐसा हो जानेपर तो मन-इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले सभी कार्य सहज ही भगवत्-कार्य बन ही जाते हैं। परंतु इसके पहले साधन-कालमें भी इस आदर्शके अनुसार साधन करनेसे चित्तकी प्रसन्नता—निर्मलता प्राप्त हो जाती है और उसके द्वारा भगवत्प्राप्तिका मार्ग सुलभ और प्रशस्त हो जाता है। अतः साधकका कर्तव्य है कि वह इस प्रकार साधन करके मानव-जीवनके परम लक्ष्य परम शान्ति और परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त करे।

परम सेवासे कल्याण

संसारके प्रायः सभी प्राणी दुःखमें निमग्न हैं। दुःखके दो भेद हैं—(१) लौकिक और (२) पारलौकिक। लौकिक दुःख भी तीन प्रकारके होते हैं—(१) आधिभौतिक, (२) आधिदैविक और (३) आध्यात्मिक। मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि प्राणियोंके द्वारा जो दुःख प्राप्त होता है, वह 'आधिभौतिक' दुःख है। वायु, अग्नि, जल, वृष्टि, देश, काल, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा आदिके अभिमानी देवताओंद्वारा जो दुःख प्राप्त होता है, वह 'आधिदैविक' दुःख है। 'आध्यात्मिक' दुःख दो प्रकारका होता है—(१) आधि एवं (२) व्याधि। आधिके भी दो भेद हैं—(१) मन-बुद्धिमें पागलपन, मृगी, उन्माद, हिस्टीरिया आदि रोग तथा (२) काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, राग-द्वेष, ईर्ष्या-भय, छल-कपट, अहंता-ममता आदि अध्यात्मविषयक हानि करनेवाले दुर्गुण। इन सबको तथा इसी प्रकारके अन्य मानसिक रोगोंको 'आधि' कहा जाता है। शरीर और इन्द्रियोंमें होनेवाले रोगोंको 'व्याधि' कहते हैं। एवं पारलौकिक दुःख है—मरनेके बाद परलोकमें या पुनः इस लोकमें आकर नाना प्रकारकी योनियोंमें भ्रमण करना। इन सभी प्रकारके दुःखोंका सर्वथा अभाव परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे होता है। परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। परमात्माकी प्राप्ति होनेपर उपर्युक्त सभी दुःखोंका अत्यन्त अभाव होकर सदाके लिये परमशान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

'यद्यपि परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके शरीरमें भी

प्रारब्धके कारण उपर्युक्त दु:खोंकी प्राप्ति लोगोंके देखनेमें आ सकती है, तथापि वास्तवमें उसकी आत्मा सब दु:खोंसे रहित ही है। उसमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है एवं शरीर, इन्द्रिय और अन्त:करणके साथ उसकी आत्माका किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रहता; अत: उसके प्रारब्धसे होनेवाले शरीरसम्बन्धी दु:खोंका होना कोई मूल्य नहीं रखता।

वह परमात्माका यथार्थ ज्ञान ईश्वरकी भक्ति, सत्पुरुषोंके सङ्ग, गीतादि शास्त्रोंके स्वाध्याय, निष्काम कर्म, ध्यानयोग और ज्ञानयोग आदिके साधनसे होता है। इनमेंसे ईश्वर-भक्तिपूर्वक निष्काम कर्मका कुछ विषय नीचे बतलाया जाता है।

श्रीभगवान् सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें विराजमान हैं। इसलिये सबकी सेवा भगवान्‌की सेवा है। गीता कहती है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको पा लेता है।'

उपर्युक्त सेवा सिद्ध पुरुषोंके द्वारा तो स्वाभाविक ही होती रहती है। साधकके लिये सिद्ध पुरुषके गुण और आचरण ही अनुकरणीय हैं। अत: साधकको उनके गुण और आचरणोंका लक्ष्य रखकर उनके अनुसार साधन करना चाहिये। ऐसे सिद्ध प्रेमी भक्तोंके लक्षण भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक बतलाये हैं तथा उनके अनुसार चलनेवाले भक्तको भगवान्‌ने अपना 'प्रियतर' कहा है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(१२। २०)

'परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतका निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

अत: सबमें भगवान्‌को व्याप्त समझकर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार उनके नाम-रूपको याद रखते हुए निष्काम-भावसे सबकी सेवा करनी चाहिये। उस सेवाके दो रूप होते हैं—(१) सेवा और (२) परम सेवा।

भूकम्प, बाढ़, अकाल, अग्निकाण्ड आदिसे कष्ट प्राप्त होने या रोग आदिसे ग्रस्त होने अथवा अन्य किसी कष्टके कारण जो दु:खी, अनाथ और आर्त हो रहे हैं, उन स्त्री-पुरुषोंका दु:ख निवृत्त करनेका और उनको सुख पहुँचानेका नाम 'सेवा' है। इस लौकिक सेवाके अनेक प्रकार हैं, जैसे—

(१) कोई बीमार—आतुर व्यक्ति जो सड़कपर पड़ा है, जिसके पास खाने-पीनेको भी कुछ नहीं है, वस्त्र भी नहीं है और स्थान भी नहीं है तथा न दवा और पथ्यका साधन ही है, ऐसे व्यक्तिको अस्पतालमें भर्ती करवाकर या कहीं भी रखकर अन्न-वस्त्र और दवा, चिकित्सा, पथ्य आदिका प्रबन्ध स्वयं कर देना अथवा करवा देना। इस प्रकार धनहीन गरीब अनाथ बीमारोंकी सेवा करना बहुत ही उत्तम है। अत: प्रत्येक भाईको यह सेवा-कार्य करना चाहिये। धर्मार्थ चिकित्सा-संस्थाओंमें काम करनेवाले एवं निष्कामी वैद्योंको ऐसा नियम रखना चाहिये कि बीमार आदमियोंसे संस्थामें तो फीस लें ही नहीं; घरपर जाकर भी फीस न लें।

(२) किसी अग्निकाण्ड या बाढ़के कारण जिसका घर-द्वार जल गया या बह गया हो और जिसके खाने-पीने-पहननेका कोई प्रबन्ध न हो, उसका प्रबन्ध स्वयं कर देना या दूसरोंसे करवा देना।

(३) भूकम्पके कारण जिनके मकान और सारी सम्पत्ति नष्ट हो गयी हो, स्त्री-बाल-बच्चे दबकर मर गये हों या स्त्रियाँ एवं बाल-बच्चे बिना स्वामीके हो गये हों, उनके खान-पान और स्थान आदिका प्रबन्ध स्वयं कर देना या करवा देना।

(४) जिनके न माता-पिता हैं, न कोई अन्य अभिभावक हैं, ऐसे नाबालिग लड़के-लड़कियोंको अनाथालयमें या और कहीं रखकर उनके खान-पान और पढ़ाई आदिकी व्यवस्था कर देना।

(५) गरीबीके कारण यदि कोई अपनी कन्याका विवाह करनेमें असमर्थ हो तो उसे अपनी शक्तिके अनुसार सहायता देना या दिलवाना।

(६) किसी विधवा स्त्रीके खाने, पीने, पहनने आदिकी व्यवस्था न हो तो उसके खान-पान आदिकी व्यवस्था कर देना या करवा देना।

आजकल गरीब घरोंकी विधवा माता-बहिनोंको तो खान-पान और जीवन-निर्वाहका कष्ट है ही, बहुत-सी धनी घरोंकी विधवा स्त्रियोंका भी ससुराल या नैहरमें आदर नहीं है। घरवालोंका उनके प्रति सेवाभाव न होनेके कारण उनको वे भाररूप प्रतीत होती हैं। इसलिये उनका सभी जगह तिरस्कार होता है। उन विधवाओंके पास जो

भी गहना या नकद रुपया होता है, उसे यदि वे ससुराल या नैहरमें जमा करा देती हैं तो कोई-कोई तो उनके रुपयों और गहनोंको हड़प ही जाते हैं। यह परिस्थिति कई जगह देखी जाती है। इसलिये माता-बहिनोंको अपना गहना बेचकर रुपया बैंकमें जमा रखना चाहिये या अच्छे डिबेंचर ले लेने चाहिये चाहे उनका ब्याज कम ही मिले।

विधवा माता-बहिनोंसे प्रार्थना है कि उनको अपना जीवन विरक्त पुरुषोंकी भाँति ज्ञान-वैराग्य-सदाचारमें और भजन-ध्यान आदि ईश्वरकी भक्तिमें तथा मन-इन्द्रियोंके संयमरूप तपमें बिताना चाहिये एवं नैहर और ससुरालमें सबकी निष्काम सेवा करना—जैसे घरमें रसोई बनाना, सीने-पिरोने आदिका काम करना उनके लिये परम उपयोगी है। घरका काम-धंधा किये बिना भोजन करना अनुचित है। इस प्रकार निष्काम सेवाभावसे कार्य करनेपर अन्तःकरण भी शुद्ध होता है और नैहर तथा ससुरालके लोग भी प्रसन्न रहते हैं। विधवाओंके लिये प्रधान बात है—प्रातःकाल और सायंकाल एकान्तमें बैठकर जप, ध्यान और स्वाध्याय आदि करना तथा शयनके समय भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभावको याद करते हुए सोना एवं काम करते समय भी उस कामको भगवान्‌का काम समझते हुए निःस्वार्थ भावसे हर समय भगवान्‌को याद रखते हुए ही भगवत्प्रीत्यर्थ काम करनेका अभ्यास डालना। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

इसी प्रकार अन्य स्त्री-पुरुषोंको भी विधवा माता-बहिनोंके साथ उत्तम व्यवहार एवं उनकी सेवा करनी चाहिये; क्योंकि अपने धर्मका पालन करनेवाली विधवा स्त्रीकी सेवा दुःखी, अनाथ, आतुर और गायकी सेवासे भी बढ़कर है। इसके विपरीत उसको कष्ट देना तो महान् हानिकर है; क्योंकि दुःखी विधवा स्त्रीकी दुराशिष खतरनाक होती है।

इसी तरह और भी जो किसी भी कारणसे दुःखी हैं, उनका दुःख दूर करनेका प्रयत्न करना।

(७) गाय, बैल, साँड़ आदि जो मूक पशु चारा, पानी, स्थान आदिके अभावमें दुःखी हों या रोगी और वृद्ध हो जानेके कारण जिनका पालन उनका स्वामी नहीं कर रहा हो, उनका प्रबन्ध करना।

इसी प्रकार मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि जीवमात्रकी रक्षा करना, उनको दुःखसे बचाकर सुख पहुँचाना—यह सब 'लौकिक सेवा' है।

यह 'लौकिक सेवा' भी अभिमान और स्वार्थका त्याग करके भगवत्प्रीत्यर्थ निष्कामभावसे करनेपर 'परम सेवा' के रूपमें परिणत हो जाती है।

'परम सेवा' वह है, जो नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकते हुए मनुष्यको सदाके लिये सभी दुःखोंसे रहित करके परमात्माकी प्राप्ति करा देती है। भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके द्वारा तो यह सेवा स्वाभाविक होती रहती है, साधक पुरुष भी उन महापुरुषोंके द्वारा स्वाभाविक होनेवाली परम सेवाको साधन मानकर कर सकता है। यद्यपि किसी भी मनुष्यका कल्याण करनेकी सामर्थ्य साधकोंमें नहीं होती, फिर भी सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की आज्ञा, दया और प्रेरणाका आश्रय लेकर, कर्तापनके अभिमानसे रहित हो वह 'परम सेवा' में निमित्त तो बन ही सकता है।

इस 'परम सेवा' के भी कई प्रकार हैं। जैसे—

(१) संसारमें भटकते हुए मनुष्योंको जन्म-मरणसे रहित होनेके लिये शास्त्रके या महापुरुषोंके वचनोंके आधारपर ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदिकी शिक्षा देना।

(२) जो मरणासन्न मनुष्य गीता, रामायण आदि या भगवन्नाम सुनना चाहता हो, उसे वह सब सुनाना।

यह कार्य यज्ञ-दान, तप-सेवा, जप-ध्यान, पूजा-पाठ, सत्सङ्ग-स्वाध्यायकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वकी चीज है; क्योंकि ये सब साधन तो हम दूसरे समय भी कर सकते हैं; किंतु जो मरणासन्न है, उसे भगवद्विषयक बातें सुनानेका काम उसके मरनेके बाद तो हो नहीं सकता। किसी मरणासन्न मनुष्यको जप-ध्यान, पूजा-पाठ, सत्सङ्ग-स्वाध्याय आदि करानेसे उसका मन यदि भगवान्‌में लग जाय तो उसका कल्याण उसी समय हो सकता है। भगवान्‌ने कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८।५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

अतः इस प्रकार प्रयत्न करते-करते यदि एक मनुष्यका भी कल्याण हमारे द्वारा हो गया तो हमारा यह जन्म सफल हो गया; क्योंकि मनुष्यका जन्म आत्माका कल्याण करनेके लिये ही है। हम अपना कल्याण नहीं कर सके, किंतु हमारे द्वारा किसी एक मनुष्यका भी कल्याण हो गया तो हमारा भी यह जीवन सफल हो गया। हम भगवान्‌से कुछ भी नहीं माँगेंगे, तो भी भगवान् हमारा कल्याण ही करेंगे; क्योंकि हम यह कार्य अभिमान, स्वार्थ और अहंकारसे रहित होकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ निष्कामभावसे कर रहे हैं। यदि हमारा बार-बार जन्म हो और हमें भगवान् यह काम सौंपें तो हमारे लिये यह मुक्तिसे भी बढ़कर होगा। इसलिये ऐसा मौका प्राप्त हो जाय तो उसे नहीं छोड़ना चाहिये। लाख काम छोड़कर यह काम सबसे पहले करना चाहिये; क्योंकि इस प्रकारके अत्यन्त आतुर मनुष्यकी परम सेवासे बढ़कर मनुष्यके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है।

(३) गीता, रामायण, भागवत आदि धार्मिक ग्रन्थ; 'कल्याण', 'कल्याण-कल्पतरु', 'महाभारत' आदि धार्मिक मासिक पत्र तथा महापुरुषोंके लेख, व्याख्यान, जीवनचरित्र या उनके दिये हुए उपदेश-आदेशमय प्रवचन इत्यादि आध्यात्मिक पुस्तकोंको विवाह-द्विरागमन आदि अवसरोंपर देना-दिलाना; साधु-महात्मा, विद्यार्थी आदिको देना-दिलाना अथवा उचित मूल्यपर या बिना मूल्य लोकहितार्थ वितरण करना-कराना; ऋषिकुल, गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम, हाईस्कूल, कालेज, विद्यालय, पाठशाला, जेलखाना, अस्पताल और आयुर्वेदिक चिकित्सालय आदिमें उपर्युक्त आध्यात्मिक पुस्तकोंको मूल्य लेकर या बिना मूल्य वितरण करना-करवाना; दूकान खोलकर या लारियोंद्वारा, ठेलोंद्वारा या स्वयं झोलेमें लेकर शहरों, गाँवों और बाहरी बस्तियोंमें अथवा मेला आदिमें उनका प्रचार करना—यह भी एक परमार्थ-विषयकी सेवा है। यह भी यदि अभिमान और स्वार्थका त्याग करके निष्कामभावसे भगवत्-प्रीत्यर्थ की जाय तो 'परम सेवा' में परिणत हो जाती है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्यको इस प्रचार-कार्यको अपने कल्याणके—परमात्माकी प्राप्तिके साधनका रूप देकर बड़ी तत्परता और उत्साहके साथ करना चाहिये।

यम-नियमोंके पालनसे परमात्माकी प्राप्ति

महर्षि पतञ्जलिने आत्माके सुधार और उद्धारके लिये योगके आठ अङ्गोंका प्रतिपादन किया है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि[१]। इनके सेवनसे मनुष्यके अन्तःकरणकी शुद्धि और ज्ञानकी प्राप्ति होकर उसका कल्याण हो जाता है, इसमें तो कहना ही क्या है? केवल यम और नियमोंका साङ्गोपाङ्ग पालन करनेसे भी मनुष्यका उद्धार हो सकता है।

यम

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँचोंका नाम 'यम' है[२]। ये पाँचों यम सब जाति, सब देश और सब कालमें पालन किये जायँ तो इनकी 'महाव्रत' संज्ञा हो जाती है[३]। जैन शास्त्रोंमें भी इन पाँचों यमोंको 'महाव्रत' के नामसे कहा है। अब इनमेंसे प्रत्येकपर अलग-अलग विचार करना चाहिये।

अहिंसा—सब प्रकारसे हिंसाका अत्यन्त अभाव होना 'अहिंसा' है। हिंसा आदि दोषोंके अनेक भेद बतलाये गये हैं। सर्वप्रथम हिंसाके 'कृत', 'कारित' और 'अनुमोदित'—ये तीन भेद होते हैं। अपने द्वारा की जाय वह 'कृत हिंसा', दूसरेके द्वारा करवायी जाय वह 'कारित हिंसा' और जो कोई व्यक्ति स्वेच्छासे हिंसा करता है उसका समर्थन करना 'अनुमोदित हिंसा' है। यह तीनों प्रकारकी ही हिंसा लोभपूर्वक, क्रोधपूर्वक और मोहपूर्वक होती है; इस प्रकार इसके नौ भेद हो जाते हैं। किसी स्वार्थके वशीभूत होकर जो हिंसा की जाती है, वह लोभपूर्वक हिंसा है और किसीकी द्वेषबुद्धिसे जो हिंसा की जाती है, वह क्रोधपूर्वक हिंसा है एवं जो अज्ञान (बे-समझी) से हिंसा की जाती है, वह मोहपूर्वक हिंसा है। यह नौ प्रकारकी हिंसा मृदु, मध्य और अधिमात्राके भेदसे सत्ताईस प्रकारकी हो जाती है। किसीको जो साधारण दुःख दिया जाता है, वह मृदुमात्रामें हिंसा है और जो किसीको विशेष चोट पहुँचायी जाती है, वह मध्यमात्रामें हिंसा है एवं जो

१. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। (योगदर्शन २। २९)
'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ योगके अङ्ग हैं।'

२. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (योगदर्शन २। ३०)

३. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। (योगदर्शन २। ३१)
'(उक्त यम) जाति, देश, काल और निमित्तकी सीमासे रहित सार्वभौम होनेपर महाव्रत हो जाते हैं।'

किसीका वध किया जाता है, वह अधिमात्रामें हिंसा है। इस प्रकार हिंसाके और भी बहुत-से भेद हैं।

किंतु यदि कोई व्यक्ति मनुष्य और गायकी हिंसा तो नहीं करता, अन्य प्राणियोंकी हिंसा करता है तो वह अहिंसा एकदेशीय है। इसी प्रकार कोई तीर्थोंमें हिंसा नहीं करता, अन्य स्थानोंमें करता है तो वह भी एकदेशीय अहिंसा है। इसी तरह कोई संक्रान्ति, ग्रहण और पर्वोंके दिन तो हिंसा नहीं करता, अन्य दिनोंमें करता है, तो वह भी एकदेशीय अहिंसा है। ऐसे ही यदि कोई केवल मृत्यु, विवाह-शादी आदि अवसरोंके सिवा हिंसा नहीं करता तो वह अहिंसा भी एकदेशीय है, सार्वभौम नहीं। सार्वभौम अहिंसा तो वही है, जिसमें किसी जाति, किसी देश, किसी काल और किसी निमित्तको लेकर भी हिंसा न की जाय—हिंसाका सर्वथा परित्याग किया जाय। अतएव मन, वाणी और शरीरसे एवं ज्ञात, अज्ञात और प्रमाद किसी भी प्रकारसे किसी भी प्राणीकी कभी कहीं किसी भी निमित्तसे किंचिन्मात्र भी हिंसा न करना 'सार्वभौम अहिंसा' है।

जिस प्रकार ऊपर हिंसाके भेद दिखलाये गये हैं, इसी प्रकार झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रहके विषयमें समझ लेना चाहिये।

सत्य—जिस घटना, परिस्थिति और वार्तालापके सम्बन्धमें जो बात जैसी देखी, सुनी और समझी गयी हो, उसको उसी रूपमें कहना, न कम कहना और न अधिक कहना एवं न वैसी-की-वैसी बात कहकर भी दूसरा भाव समझाना—इस प्रकारका जो कपटरहित यथार्थ भाषण है, वह 'सत्य' है।

लोभ, क्रोध या मोहपूर्वक थोड़ी मात्रामें, मध्य मात्रामें और अधिक मात्रामें झूठ बोलना, झूठ बुलवाना या झूठका समर्थन करना सभी झूठ है। इसलिये किसीके भी लिये किसी भी स्थानमें, कभी भी, किसी भी निमित्तको लेकर किंचिन्मात्र भी झूठ न बोलना, न बुलवाना और न समर्थन करना, न झूठा संकेत करना, न झूठा आचरण करना और न झूठा संकल्प ही करना—इस प्रकार इन सभी भेदोंवाले झूठका सदाके लिये सर्वथा त्याग कर देना 'सत्य' है।

अस्तेय—दूसरेकी जगह-जमीन, मकान, धन, पशु आदि किसी भी प्रकारकी चल-अचल सम्पत्तिको झूठ, कपट, विश्वासघात, दगाबाजी, जबरदस्ती किसी भी प्रकारसे कभी अपने अधिकारमें न करना 'अस्तेय' है।

लोभ, क्रोध या मोहपूर्वक थोड़ी मात्रामें, मध्य मात्रामें या अधिक मात्रामें चोरी करना, चोरी करवाना या चोरीका समर्थन करना—सभी चोरी है। इसलिये किसी भी जातिकी, किसी भी स्थानमें, किसी भी निमित्तको लेकर मन, वाणी और शरीरसे किंचिन्मात्र भी कभी चोरी न करना, न चोरी करवाना और न चोरीका समर्थन ही करना 'अस्तेय' है।

ब्रह्मचर्य—पुरुषके लिये किसी भी स्त्रीके साथ कुत्सितभावसे दर्शन, भाषण, स्पर्श, एकान्तवास, स्मरण, श्रवण, हँसी-मजाक, सहवास आदिका सम्बन्ध कभी किसी प्रकार भी न रखना 'ब्रह्मचर्य' है। इसी प्रकार स्त्रीके लिये पुरुषके विषयमें समझ लेना चाहिये।

लोभ, क्रोध या मोहपूर्वक थोड़ी मात्रामें, मध्य मात्रामें या अधिक मात्रामें सहवास करना, करवाना या उसका अनुमोदन करना ब्रह्मचर्य-पालनमें कलङ्क है, इसलिये किसी भी मनुष्य या पशु आदिके साथ कहीं, किसी भी निमित्तको लेकर किसी भी प्रकार, हाथसे या अन्य किसी अङ्गसे, कभी किंचिन्मात्र भी कुत्सित चेष्टा न करना, न वाणीसे अश्लील वचन बोलना, न मनमें अश्लील भावोंको स्थान देना, न किसी प्रकारसे अश्लील संकेत करना, न दूसरोंसे करवाना और न इस विषयका अनुमोदन ही करना 'सार्वभौम ब्रह्मचर्य' का पालन है।

अपरिग्रह—शरीर-निर्वाहके अतिरिक्त सुख-भोगकी बुद्धिसे भोग्य-पदार्थोंका एवं धन, मकान, पशु आदि चल-अचल सम्पत्तिका संग्रह न करना 'अपरिग्रह' है।

लोभ, क्रोध या मोहपूर्वक थोड़ी मात्रामें, मध्य मात्रामें या अधिक मात्रामें भोग-सामग्रीका संग्रह करना, करवाना या उसका अनुमोदन करना 'परिग्रह' है। इसलिये किसी भी निमित्तको लेकर कभी, कहीं किसी भी प्रकारसे किसी भी भोग्य-पदार्थका या चल-अचल सम्पत्तिका किंचिन्मात्र भी संग्रह न करना, न किसीसे कोई चीज माँगना, न संकेत करना, न इच्छा करना, न संग्रह करवाना और न इस विषयमें अनुमोदन ही करना 'अपरिग्रह' है।

नियम

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—इन पाँचोंका नाम 'नियम' है*। अब इनपर अलग-अलग विचार करना चाहिये।

शौच (पवित्रता)—पवित्रता दो प्रकारकी होती है— १-बाहरकी, २-भीतरकी। बाहरकी पवित्रताके भी दो भेद हैं—१-शौचाचार, २-सदाचार। जल-मृत्तिकासे सफाई करके शरीरको, झाड़-बुहारकर घरको और न्यायसे

* शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (योगदर्शन २। ३२)

उपार्जन किये हुए द्रव्यसे भोजनको पवित्र बनाना 'शौचाचार' है; एवं स्वार्थ और अहंकारका त्याग करके विनययुक्त सबके साथ प्रेमका व्यवहार करना तथा उत्तम आचरणोंका पालन करना 'सदाचार' है, यह बाहरकी पवित्रता है एवं जप, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास आदि निष्काम कर्म और उत्तम विचारोंके द्वारा हृदयमें स्थित अहंता-ममता, काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष आदि दुर्गुणोंका सर्वथा नाश करना भीतरकी पवित्रता है।

संतोष—अपने कर्तव्यका पालन करते हुए उसका जो कुछ परिणाम हो उसको तथा सुख-दुःख, लाभ-हानि एवं अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थ और परिस्थितिकी प्राप्ति होनेपर उसको ईश्वरका मङ्गलमय विधान समझकर सब प्रकारकी इच्छासे रहित हो समचित्त और प्रसन्न रहना 'संतोष' है।

तप—शारीरिक और मानसिक कष्टके प्राप्त होनेपर उसको सहन करना एवं मन-इन्द्रियोंको वशमें करके राग-द्वेषसे रहित हो अपने धर्मके पालन और व्रत-उपवास आदिके द्वारा शरीर, मन, इन्द्रियोंको तपाकर शुद्ध करना 'तप' है।

स्वाध्याय—जिनके अध्ययन-मननसे अपने इष्टदेव ईश्वरका साक्षात्कार हो, उन शास्त्रोंका और महापुरुषोंके वचनोंका अर्थ और भावको समझकर अध्ययन करना स्वाध्याय है।

ईश्वर-प्रणिधान—सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका श्रद्धापूर्वक निश्चय करके उनको ही परम प्राप्य, परम गति, परम आश्रय और सर्वस्व समझना; उनको अपना स्वामी, भर्ता, प्रेरक, रक्षक और परम हितैषी समझकर, सब प्रकारसे उनपर निर्भर और निर्भय हो जाना; सब कुछ ईश्वरका समझकर उनकी आज्ञाका पालन करना; जो कुछ भी दुःख-सुखके भोग प्राप्त हों, उनको ईश्वरका भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सदा ही संतुष्ट रहना; अतिशय श्रद्धा-प्रेमपूर्वक ईश्वरके नाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका नित्य-निरन्तर स्मरण करना एवं अपने सर्वस्वको और अपने-आपको उनके समर्पण कर देना 'ईश्वर-प्रणिधान' है।

योगके इन दो अङ्गों—यम-नियमोंके साधनसे अन्तःकरण शुद्ध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है। यदि योगके इन अङ्गोंके एक अंशका भी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परताके साथ निष्कामभावसे भलीभाँति पालन कर लिया जाय तो उससे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

संतोषादनुत्तमसुखलाभः। (योगदर्शन २। ४२)

'संतोषसे उस सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है, जिससे उत्तम दूसरा कोई सुख नहीं है।' वैसा सर्वोत्तम सुख परमात्माकी प्राप्ति होनेपर ही हो सकता है।

इसी प्रकार केवल स्वाध्यायसे भी इष्टदेव परमेश्वरका साक्षात्कार हो जाता है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। (योगदर्शन २। ४४)

'स्वाध्यायसे इष्टदेवताकी भलीभाँति प्राप्ति (साक्षात्कार) हो जाती है।'

इसी प्रकार अभ्यास और वैराग्यके द्वारा जो चित्त-वृत्तियोंका निरोधरूप योग[1] बतलाया गया है और जिसका फल आत्मस्वरूपमें स्थिति (उसका साक्षात्कार) होना[2] बतलाया गया है, उस चित्तवृत्तिनिरोधरूप समाधिकी प्राप्ति केवल 'ईश्वर-प्रणिधान' से ही हो जाती है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (योगदर्शन १। २३)

'इसके सिवा ईश्वर-प्रणिधानसे भी निर्बीज समाधिकी सिद्धि हो जाती है।'

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। (योगदर्शन २। ४५)

'ईश्वर-प्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि हो जाती है। यही नहीं, उपर्युक्त ईश्वरके नाम-जप और उसके अर्थकी भावनासे ही सब विघ्नोंका नाश होकर आत्मस्वरूपका ज्ञान होना बतलाया गया है—

तज्जपस्तदर्थभावनम्। ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। (योगदर्शन १। २८-२९)

'उस ॐका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना—इस साधनसे विघ्नोंका अभाव और आत्माके स्वरूपका ज्ञान हो जाता है।'

उपर्युक्त सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति, इष्टदेवताका साक्षात्कार, आत्माके स्वरूपमें स्थिति, चित्तवृत्तिनिरोधरूप समाधिकी सिद्धि और आत्माके स्वरूपका ज्ञान—ये सभी कल्याणस्वरूप हैं।

अतः यह सिद्ध हुआ कि योगके अङ्गभूत यम-नियमोंके एक अंशका भी अनुष्ठान भलीभाँति किया जाय तो उसीसे आत्माका कल्याण हो सकता है, क्योंकि एककी पूर्णतामें सबका समावेश अनायास अपने-आप हो जाता है, इसलिये हमलोगोंको उपर्युक्त यम-नियमोंके स्वरूपको समझकर उनका निष्कामभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परताके साथ भलीभाँति पालन करना चाहिये।

---

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (योगदर्शन १। २)

२. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। (योगदर्शन १। ३)

गायत्री-जपकी महिमा

संसारमें पापोंके नाश और आत्मोद्धारके लिये गायत्री-जप और गायत्री-पुरश्चरणके समान अन्य कोई जप और पुरश्चरण नहीं है। गायत्रीका जप तीर्थ, व्रत, तप और दानसे भी बढ़कर है। इसलिये अधिकारप्राप्त द्विजको विशुद्ध और एकान्त स्थानमें निवास करते हुए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे अधिक-से-अधिक गायत्रीका जप करना चाहिये। गायत्रीका जप यदि मानसिक किया जाय तो वह विशेष लाभप्रद होता है। श्रीमनु महाराज कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

(२। ८५)

'दर्श-पौर्णमासादि विधियज्ञोंसे साधारण (जोर-जोरसे किया जानेवाला) जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशु (दूसरेको सुनायी न दे ऐसे स्वरमें किया जानेवाला) जप सौगुना श्रेष्ठ है और मानसिक जप हजारगुना श्रेष्ठ माना गया है।'

फिर जो जप केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे श्रद्धा-प्रेम और निष्काम-भावपूर्वक किया जाता है, उसका फल तो अनन्तगुना श्रेष्ठ है, उसकी तो कोई सीमा ही नहीं है। अतएव हमलोगोंको गायत्रीका जप श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावपूर्वक मानसिक ही करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

गायत्री-जपकी बड़ी भारी महिमा है। गायत्रीमन्त्रमें परमात्माकी स्तुति, ध्यान और प्रार्थना है। इस प्रकार एक ही मन्त्रमें उक्त तीनों बातोंका समावेश बहुत ही कम मिलता है। इस मन्त्रके छन्दका नाम गायत्री है, इसलिये इसे गायत्री-मन्त्र कहते हैं। गायत्रीदेवीको ही परमात्मा समझनेवाले उनके उपासक इस मन्त्रमें गायत्रीदेवीकी ही स्तुति, ध्यान और प्रार्थना मानते हैं। इसकी अधिष्ठातृ-देवता भी वे गायत्रीको ही मानते हैं। उनका यह मानना भी ठीक है; क्योंकि सृष्टिकर्ता परमात्माकी शिवके उपासक शिवरूपमें, विष्णुके उपासक विष्णुरूपमें, सूर्यके उपासक सूर्यरूपमें और देवीके उपासक देवीरूपमें उपासना करके परमात्माको प्राप्त हो सकते हैं। कारण स्पष्ट है। नाम-रूप भिन्न-भिन्न होनेपर भी सबका लक्ष्य एकमात्र परमात्मा ही हैं और लक्ष्य ही प्रधान वस्तु है; अतः उन-उन उपासकोंको परमात्मस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होना युक्तिसंगत ही है। सभी नाम और रूप परमात्माके ही तो हैं।

गायत्रीको हमारे शास्त्रोंमें वेदमाता कहा गया है। गायत्रीकी महिमा चारों ही वेद गाते हैं। श्रीनारायणोपनिषद्में कहा गया है—

'गायत्री च्छन्दसां माता'। (मन्त्र ३४)*

अर्थात् गायत्री समस्त वेदोंकी माता हैं।

गायत्रीका माहात्म्य बतलाते हुए शङ्खस्मृति कहती है—

अभीष्टं लोकमाप्नोति प्राप्नुयात् काममीप्सितम्।
गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी॥
गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम्।
हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे॥

(१२। २४-२५)

'गायत्रीकी उपासना करनेवाला द्विज अपने अभीष्ट लोकको पा जाता है। (इतना ही नहीं, इस जीवनमें) वह मनोवाञ्छित भोग भी प्राप्त कर लेता है। गायत्री समस्त वेदोंकी जननी तथा सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाली हैं। स्वर्गलोकमें तथा पृथ्वीपर गायत्रीसे बढ़कर पवित्र करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। गायत्रीदेवी नरकसमुद्रमें गिरनेवालोंको हाथका सहारा देकर बचा लेनेवाली हैं।'

संवर्तस्मृतिमें भी आया है—

गायत्र्यास्तु परं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम्।
महाव्याहृतिसंयुक्तां प्रणवेन च संजपेत्॥

(२१८)

'गायत्रीसे बढ़कर पापकर्मोंसे शुद्ध करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। अतः प्रणव (ॐकार) सहित तीन व्याहृतियोंसे युक्त गायत्री-मन्त्रका जप करना चाहिये।'

श्रीमनुजी कहते हैं—

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
संध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥

(२। ७८)

'इस ओंकार और व्याहृतिसहित गायत्रीका दोनों कालोंमें जप करनेवाला वेदज्ञ ब्राह्मण वेदपाठका पुण्यफल पा लेता है।'

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥

(२। ८२)

'जो पुरुष तीन वर्षतक प्रतिदिन आलस्य छोड़कर गायत्रीका जप करता है, वह मृत्युके बाद वायुरूप होता है और उसके बाद आकाशकी तरह व्यापक होकर परब्रह्मको प्राप्त करता है।'

---

* यह संख्या निर्णयसागरप्रेस बम्बईसे प्रकाशित 'ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः' में संकलित नारायणोपनिषद्के अनुसार है।

श्रीगायत्रीकी महिमाके सम्बन्धमें महाभारत, शान्तिपर्वके १९९ वें और २०० वें अध्यायोंमें एक बड़ा सुन्दर उपाख्यान मिलता है। कौशिक गोत्रमें उत्पन्न पिप्पलादका पुत्र एक बड़ा तपस्वी धर्मनिष्ठ ब्राह्मण था। वह गायत्रीका जप किया करता था। लगातार एक हजार वर्षतक गायत्रीका जप कर चुकनेपर उसको सावित्रीदेवीने साक्षात् दर्शन देकर कहा—'मैं तुझपर प्रसन्न हूँ।' परंतु उस समय पिप्पलादका पुत्र जप कर रहा था, वह चुपचाप जप करनेमें लगा रहा और सावित्रीदेवीको उसने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वेदमाता सावित्रीदेवी उसकी इस जपनिष्ठापर और भी अधिक प्रसन्न हुईं और उसके जपकी प्रशंसा करती वहीं खड़ी रहीं। जपकी संख्या पूरी होनेपर वह धर्मात्मा ब्राह्मण खड़ा हुआ और देवीके चरणोंमें गिरकर उनसे उसने यह प्रार्थना की—'यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो कृपा करके मुझे यह वरदान दीजिये कि मेरा मन निरन्तर जपमें लगा रहे और जप करनेकी मेरी इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे।' भगवती उस ब्राह्मणके निष्कामभावको देखकर बड़ी प्रसन्न हुईं और 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गयीं।

ब्राह्मणने पुनः जप आरम्भ कर दिया। देवताओंके सौ वर्ष और व्यतीत हो गये। पुरश्चरणके समाप्त हो जानेपर साक्षात् धर्मने प्रसन्न होकर उस ब्राह्मणको दर्शन दिया और स्वर्गादि लोक माँगनेको कहा। परंतु ब्राह्मणने धर्मको भी वैसा ही उत्तर दिया, वह बोला—'मुझे सनातन लोकोंकी प्राप्तिसे क्या प्रयोजन है, मैं तो गायत्रीका जप करके शान्ति प्राप्त करूँगा।' इतनेमें ही काल (आयुका परिमाण करनेवाले देवता), मृत्यु (प्राणोंका वियोग करनेवाले देवता) और यम (पुण्य-पापका फल देनेवाले देवता) भी उसकी तपस्याके प्रभावसे वहाँ खिंचे हुए चले आये। यम और कालने भी उसकी तपस्याकी बड़ी प्रशंसा की। उसी समय तीर्थयात्राके निमित्तसे निकले हुए राजा इक्ष्वाकु वहाँ आ पहुँचे। राजाने तपस्वी ब्राह्मणको बहुत-सा धन देना चाहा; परंतु ब्राह्मणने कहा—'मैंने तो प्रवृत्तिधर्मको त्यागकर निवृत्तिधर्म अङ्गीकार किया है, अतः मुझे धनकी कोई आवश्यकता नहीं है। तुम्हीं कुछ चाहो तो मुझसे माँग सकते हो। मैं अपनी तपस्याके द्वारा तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ?' राजाने उस तपस्वी मुनिसे उसके जपका फल माँग लिया। तपस्वी ब्राह्मण अपने जपका पूरा फल राजाको देनेके लिये तैयार हो गया, किंतु राजा उसे स्वीकार करनेमें हिचकिचाने लगे। बड़ी देरतक दोनोंमें वाद-विवाद चलता रहा। ब्राह्मण सत्यकी दुहाई देकर राजाको माँगी हुई वस्तु स्वीकार करनेके लिये आग्रह करता था और राजा क्षत्रियत्वकी दुहाई देकर उसे लेनेमें धर्मकी हानि बतलाते थे। अन्तमें दोनोंमें यह समझौता हुआ कि ब्राह्मणके जपके फलको राजा ग्रहण कर लें और बदलेमें राजाके पुण्यफलको ब्राह्मण स्वीकार कर लें। उनके इस निश्चयको जानकर विष्णु आदि देवता वहाँ उपस्थित हुए और दोनोंके कार्यकी सराहना करने लगे। आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। अन्तमें ब्राह्मण और राजा दोनों योगके द्वारा समाधिमें स्थित हो गये। उस समय ब्राह्मण और राजा दोनोंके ब्रह्मरन्ध्रमेंसे एक बड़ा भारी तेजका पुञ्ज निकला तथा सबके देखते-देखते स्वर्गकी ओर चला गया और वहाँसे ब्रह्मलोकमें प्रवेश कर गया। ब्रह्माने उस तेजका स्वागत किया और कहा—'अहा! जो फल योगियोंको मिलता है, वही जप करनेवालोंको भी मिलता है।' इसके बाद ब्रह्माने उस तेजको नित्य आत्मा और ब्रह्मकी एकताका उपदेश दिया, तब वह ब्रह्ममें प्रविष्ट हो गया।

इस प्रकार शास्त्रोंमें गायत्रीजपका महान् फल बतलाया गया है। अतः हमलोगोंको भी गायत्रीकी इस महत्ताको समझकर इस अल्पायास-साध्य गायत्रीजपके द्वारा शीघ्र-से-शीघ्र लाभ उठाना चाहिये।

हृदयके उत्तम भावोंसे परम लाभ

मनुष्यको अपने हृदयका भाव उत्तम-से-उत्तम बनाना चाहिये। हृदयका भाव उत्तम होनेपर मनुष्यकी सारी चेष्टाएँ अपने-आप उत्तम होने लगती हैं। इसके विपरीत उत्तम-से-उत्तम कर्म भी भाव-दूषित होनेके कारण निम्न श्रेणीका बन जाता है। एक मनुष्य यज्ञ, दान, तप, देवताओंकी उपासना आदिका अनुष्ठान यदि अपने शत्रुको मारने या दुःख पहुँचानेके उद्देश्यसे करता है तो उसके वे यज्ञ, दान, तप, उपासना आदि अनुष्ठान यद्यपि शास्त्र-विहित होनेसे स्वरूपतः सात्त्विक हैं, फिर भी दूसरेका अनिष्ट करनेका दुर्भाव होनेके कारण तामसी हो जाते हैं और '**अधो गच्छन्ति तामसाः**' (गीता १४। १८)—इस न्यायके अनुसार उनके करनेवाले मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार बर्तन माँजना, झाड़ू देना आदि सेवारूप कर्म निम्न श्रेणीके होनेपर भी निष्कामभावसे किये जानेपर करनेवालेका भाव उत्तम होनेके कारण सात्त्विक हो जाते हैं और '**ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः**' (गीता १४। १८)—

इस न्यायके अनुसार वैसे कर्म करनेवाले मनुष्य उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं। अतः समझना चाहिये कि क्रियाकी अपेक्षा भाव प्रधान है।

यज्ञ-दान-तपरूप क्रियाकी अपेक्षा भी भगवान्‌के नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यानरूप क्रिया उत्तम है, किंतु यह क्रिया सात्त्विक होनेपर भी सकामभावसे की जाय तो राजसी बन जाती है। इसी प्रकार यज्ञ-दान-तपरूप क्रिया जप-ध्यानकी अपेक्षा निम्न श्रेणीकी होनेपर भी यदि फल और आसक्तिका त्याग करके निष्कामभावसे की जाय तो परम शान्तिरूप परमात्माकी प्राप्ति करा सकती है। इसलिये जप-ध्यानसे भी वह श्रेष्ठ मानी गयी है। गीतामें भी कहा गया है—

ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।

(१२। १२)

'ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।'

अब यह बतलाया जाता है कि उत्तम क्रियाएँ और भाव कौन-कौन-से हैं। नमस्कार करना, स्नान करना, धर्मके लिये कष्ट सहना आदि शरीरकी क्रियाएँ हैं; तीर्थयात्रा करना पैरोंकी क्रिया है, यज्ञ और दान देना हाथकी क्रियाएँ हैं; गीता, भागवत, रामायण आदि सद्‌ग्रन्थोंका पठन-पाठन करना वाणीकी क्रिया है; देवताओं और महात्माओंका दर्शन करना नेत्रोंकी क्रिया है; भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको सुनना कानोंकी क्रिया है; भगवान्‌के नाम, चरित्र और गुणोंका मनन और चिन्तन करना तथा भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करना मनकी क्रियाएँ हैं एवं किसी आध्यात्मिक विषयका निश्चय करना बुद्धिकी क्रिया है। ये सभी उत्तम क्रियाएँ हैं। इन सब उत्तम-से-उत्तम क्रियाओंकी अपेक्षा भी हृदयका उच्च भाव सर्वोत्तम है।

श्रद्धा, प्रेम, दया, क्षमा, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान, वैराग्य, निर्भयता, आन्तरिक पवित्रता, निष्कामता आदि—ये सब हृदयके उत्तम भाव हैं। ये सभी आत्माका उद्धार करनेवाले हैं। जिस क्रियाके साथ इनका संयोग हो जाता है, वह क्रिया भी उत्तम-से-उत्तम बन जाती है। मनुष्यको चाहिये कि उपर्युक्त भावोंको ईश्वरकी कृपाके प्रभावसे अपने हृदयमें उत्तरोत्तर बढ़ते हुए देखता रहे। इस प्रकार देखनेवालेकी उत्तरोत्तर उन्नति होती चली जाती है। हृदयके भाव उत्तम होनेपर मनुष्यके आचरण स्वतः ही उत्तम होने लगते हैं। उसे अपने आचरण सुधारनेके लिये कोई अलग प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उसके दुर्गुण-दुराचारोंका अपने-आप ही अभाव हो जाता है; क्योंकि जहाँ प्रेम होता है, वहाँ द्वेष सम्भव नहीं; जहाँ दया है, वहाँ हिंसाके लिये स्थान नहीं; जहाँ क्षमा है, वहाँ क्रोध रह नहीं सकता; जहाँ समता है, वहाँ विषमता कहाँ और जहाँ शान्ति है, वहाँ विक्षेप असम्भव है। इसी प्रकार अन्य सभी भावोंके विषयमें समझ लेना चाहिये।

जब हम किसीके साथ व्यवहार करें, उस समय हमें उसके साथ प्रेम, विनय, निरभिमानता, उदारता और निष्काम भाव आदिसे युक्त होकर व्यवहार करना चाहिये। इस प्रकार करनेपर क्रिया स्वाभाविक ही उत्तम-से-उत्तम होने लगती है।

प्रथम हमें गीताके सोलहवें अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक बतलाये हुए दैवी सम्पदाके लक्षणोंको अपने हृदयमें देखते रहना चाहिये। ऐसा करनेपर ईश्वरकी कृपासे हम दैवी सम्पदासे सम्पन्न हो सकते हैं। फिर हमें गीताके बारहवें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक जो भगवत्प्राप्त भक्तोंके लक्षण बतलाये गये हैं, उनको अपनाना चाहिये। वे लक्षण उन भक्तोंमें तो स्वाभाविक होते हैं और साधकके लिये वे अनुकरणीय हैं। अतः उन भक्तोंके भावोंसे भावित होकर हमें उनको अपने हृदयमें देखते रहना चाहिये। ऐसा करनेपर ईश्वरकी कृपासे हम वैसे ही बन सकते हैं। जो मनुष्य उन भक्तोंके भावोंको लक्ष्य बनाकर उनका अनुकरण करता है, वह भगवान्‌का अतिशय प्यारा है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(१२। २०)

'जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त तो मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

भावका बड़ा भारी महत्त्व है। एक तो वास्तवमें भगवत्प्राप्त महापुरुष है और दूसरा एक उच्चकोटिका साधक सच्चा जिज्ञासु है। वह जिज्ञासु जब महात्माको पाकर उनको तत्त्वसे जान जाता है, तब वह भी उसी प्रकार तुरंत महात्मा बन जाता है, जिस प्रकार वास्तविक पारसमणिके साथ स्पर्श होते ही लोहा तुरंत सोना बन जाता है। यदि वह सोना न बने तो समझ लेना चाहिये कि या तो वह पारस पारस नहीं है, कोई पत्थर है; या वह लोहा लोहा नहीं है, लोहेका मैल है अथवा उन दोनोंके बीच काष्ठ, वस्त्र आदि किसी तीसरे पदार्थका व्यवधान है। इसी प्रकार यदि महात्माका सङ्ग करके जिज्ञासु महात्मा नहीं बन जाता तो समझना चाहिये कि

या तो वह महात्मा सच्चा महात्मा नहीं है या वह जिज्ञासु सच्चा श्रद्धालु नहीं है, अथवा जिज्ञासुमें कोई संशय, भ्रम आदिका व्यवधान है।

यह पारसकी तुलना भी महापुरुषके लिये उपयुक्त उदाहरण नहीं है; क्योंकि महापुरुष तो पारससे भी बढ़कर है। किसी कविने कहा है—

पारसमें अरु संतमें, बहुत अंतरो जान।
वह लोहा कंचन करै, वह करै आप समान॥

अभिप्राय यह है कि पारस लोहेको सोना बना सकता है, पर उसे पारस नहीं बना सकता; किंतु महात्मा तो जिज्ञासुको अपने समान महात्मा बना सकता है।

प्रथम तो ज्ञानी महात्माओंका मिलना ही दुर्लभ है और यदि वैसे महात्मा मिल जायँ तो उनको तत्त्वसे पहचानना कठिन है। तत्त्वसे जाननेके बाद तो उनमें श्रद्धा होकर तुरंत ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। बिना पहचाने तो भगवान्‌के दर्शनसे भी कल्याण नहीं हो सकता। उदाहरणके लिये दुर्योधन भगवान् श्रीकृष्णको यथार्थ रूपसे नहीं जानता था, वरं अश्रद्धाके कारण उसका उनमें उलटा दुर्भाव था; अतः वह उनका दर्शन करके भी उनसे मिलनेवाले यथार्थ लाभसे वञ्चित रहा। इधर अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णको यथार्थ रूपसे जानते थे, इसलिये वे भगवान्‌के परम धाममें चले गये। भगवान्‌के प्रति जिसका जैसा भाव होता है, उसीके अनुसार उसे लाभ होता है। दुर्योधन भगवान्‌की एक अक्षौहिणी सेना लेकर ही संतुष्ट हो गया, किंतु अर्जुनने तो भगवान्‌का ही वरण किया। इसमें भाव ही प्रधान है। भगवान् श्रीकृष्ण जिस समय कंसके धनुषयज्ञमें गये, उस समय वहाँ जिनकी जैसी भावना थी, उसीके अनुसार उनको वे दीख पड़े। श्रीमद्भागवतमें आया है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः॥
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥

(१०। ४३। १७)

'जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ रङ्गभूमिमें पधारे, उस समय वे पहलवानोंको वज्रके समान कठोर-शरीर, साधारण मनुष्योंको नररत्न, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेव, गोपोंको स्वजन, दुष्ट राजाओंको दण्ड देनेवाले शासक, माता-पिताको शिशु, कंसको मृत्यु, अज्ञानियोंको विराट् (बड़े भयंकर), योगियोंको परम तत्त्व और भक्त-शिरोमणि वृष्णिवंशियोंको साक्षात् अपने इष्टदेव जान पड़े।'

श्रीतुलसीकृत रामायणके बालकाण्डमें भी धनुषयज्ञके समय भगवान् श्रीरामके सम्बन्धमें यही बात कही गयी है—

जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

(२४०। २)

'जिनकी जैसी भावना थी, प्रभुकी मूर्ति उन्होंने वैसी ही देखी।'

भगवान्‌को जो पुरुष जिस भावसे देखता है, भगवान् उसके लिये वैसे ही हैं। गीतामें भी कहा गया है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(४। ११)

'हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

भगवान् तो दर्पणकी भाँति हैं। मनुष्य जिस रूप और आकृतिको लेकर दर्पणके सम्मुख होता है, वैसा ही उसमें दीखता है। इसी प्रकार जिसके मनका जैसा भाव होता है, वैसा ही भगवान्‌में प्रदर्शित होता है। सूर्यभगवान् सब जगह समान हैं अर्थात् सबको समानभावसे प्रकाश देते हैं; किंतु दर्पणमें उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है, काठमें नहीं और सूर्यमुखी शीशा तो उनकी रोशनीको लेकर कपड़े, रूई आदिको जला देता है; किंतु साधारण शीशा नहीं जला सकता। इसमें उस सूर्यमुखी शीशेकी ही विशेषता है, सूर्यका प्रभाव तो सब जगह समान ही है। इसी प्रकार भगवान् तो सब जगह समान ही हैं, किंतु मनुष्य अपनी श्रद्धा और भक्तिसे उनसे अधिक-से-अधिक चाहे जितना लाभ उठा सकता है।

भगवान्‌ने कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मुझे अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

इसमें भक्तके भावकी प्रधानता है। भगवान् सभी जगह विराजमान हैं, किंतु बिना श्रद्धाके उनसे कोई कुछ भी लाभ नहीं उठा सकता। जिसमें भगवद्विषयक आस्तिकबुद्धि नहीं है, वह नास्तिकताके कारण परम

शान्ति और परम आनन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहता है। गीतामें कहा गया है—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

(२। ६६)

'न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और न उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें भावना ही होती है तथा भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्यको सुख तो मिल ही कैसे सकता है।'

श्रीहनुमान्‌जीका भगवान् श्रीरामके प्रति बहुत उच्चकोटिका भाव था।* इस कारण भगवान्‌ने उनके लिये कहा है—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥

(राम० किष्किन्धा० २। ४)

'सब कोई मुझे समदर्शी कहते हैं, पर मुझको सेवक प्रिय है; क्योंकि वह अनन्यगति होता है।'

इसमें भाव ही प्रधान है। अतः अपना भाव उत्तम-से-उत्तम बनाना चाहिये। सबको उत्तम भावसे देखनेपर देखनेवालेको भी लाभ है और जिसको देखा जाता है, उसे भी लाभ है। इसी प्रकार दूसरेको दुर्भावसे देखनेपर देखनेवालेकी भी हानि है और जिसे देखा जाता है, उसकी भी हानि है। यदि हम अपने लड़के, छात्र या नौकरके लिये यह कहते हैं कि वह नीच है, दुष्ट है और इस प्रकार समय-समयपर उनके दुर्गुण-दुराचारोंकी चर्चा करते रहते हैं तो इससे उन छात्र, बालक और नौकरपर बुरा प्रभाव पड़ता है और वे हमसे विमुख या उपरत हो जाते हैं एवं वे उस भावसे भावित होकर निम्न श्रेणीके बन जाते हैं। अतः इस तरह कहने और सुननेवाले दोनोंको ही सिवा हानिके कोई लाभ नहीं है। ऐसे व्यवहारसे दोनोंका ही पतन है। अतः ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये। उत्तम व्यवहारसे—जिसके साथ उत्तम व्यवहार किया जाता है, वह भी सुधर सकता है। एक व्यक्ति विश्वास करनेयोग्य नहीं है और उसका हम विश्वास करते हैं तो दिन पाकर वह विश्वासपात्र बन सकता है; क्योंकि वह समझता है कि ये मुझपर विश्वास करते हैं तो मुझे इनके विश्वासके अनुसार ही रहना चाहिये। इस प्रकार हमारे उच्च भावसे उसका और हमारा दोनोंका उत्थान होना सम्भव है। अतः हमें सबको उच्च भावसे ही देखना चाहिये।

अपने स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु, मित्र आदिमें कोई अवगुण हो तो उसे दूर करनेके लिये उसकी चर्चा नहीं करनी चाहिये और उसमें गुण बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार करनेसे उसके साथ अपना प्रेम बढ़ता है और उसका सुधार भी होता है। भगवान् श्रीरामने सुग्रीवको प्रेमका तत्त्व समझाते समय प्रेमीके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, यह बतलाते हुए कहा है—

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥

(राम० किष्किन्धा० ६। २)

मनुष्यका कर्तव्य है कि अपने प्रेमी मित्रको बुरे मार्गसे रोककर अच्छे मार्गपर चलाये, उसके गुण प्रकट करे और अवगुणोंको छिपाये।

भगवान् श्रीराम जिस प्रकार अपने भक्तोंके अवगुणोंकी ओर नहीं देखते थे, उसी प्रकार हमें भी अपने आश्रित स्त्री, पुत्र, नौकर आदिके अवगुणोंको न देखकर उनके साथ दयापूर्वक कोमलता और प्रेमका व्यवहार करना चाहिये। इस विषयमें भगवान् श्रीरामका भाव हमारे लिये अनुकरणीय है। भगवान् श्रीरामके स्वभावके विषयमें श्रीभरतजी महाराज कहते हैं—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(राम० उत्तर० १। ६)

'प्रभु सेवकका अवगुण कभी नहीं मानते। वे दीनबन्धु हैं और अत्यन्त ही कोमल स्वभावके हैं।'

अतः हमें सबके साथ दया, प्रेम, विनय, कोमलता, त्याग और उदारतापूर्वक व्यवहार करना चाहिये।

सर्वोत्तम भाव तो यह है कि सब कुछ परमात्माका स्वरूप है। जैसे स्वप्नमें मनुष्य जिस संसारको देखता है, वह उसके मनका संकल्प होनेके कारण उससे अभिन्न है, उसी प्रकार यह सारा संसार भगवान्‌का संकल्प होनेके कारण उनसे अभिन्न है अर्थात् भगवान्‌का स्वरूप ही है। इस भावसे देखनेवाला मनुष्य उच्चकोटिका माना जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस प्रकार मुझको भजता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

---

* श्रीहनुमान्‌जी भगवान् रामसे कहते हैं—

की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नर नारायन की तुम्ह दोऊ॥
जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार। की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार॥ (राम० किष्किन्धा० १)

यह सर्वोत्तम भाव है। ऐसा न हो तो दूसरा उत्तम भाव यह है कि सबमें भगवान् व्यापक हैं। भगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना

(गीता ९। ४)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है।'

'**यो मां पश्यति सर्वत्र**' (गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है।'

श्रुति भी कहती है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।

(शुक्लयजुर्वेद ४०। १)

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जगत् है, वह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है।'

उपर्युक्त उद्धरणोंसे यह समझना चाहिये कि जैसे बादलोंमें आकाश व्यापक है, वैसे ही भगवान् सबमें व्यापक हैं, अतः सबकी सेवा ही भगवान्‌की सेवा है और सबका आदर करना ही भगवान्‌का आदर करना है। यह भाव भी बहुत उत्तम है।

यदि ऐसा भाव भी न हो तो सब भगवान्‌के भक्त हैं या सब भगवान्‌की प्रजा हैं, अतः सभी हमारे भाई हैं—इस प्रकार देखना चाहिये; क्योंकि सब ईश्वरके अंश होनेसे ईश्वरकी प्रजा हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(राम० उत्तर० ११६। १)

अभिप्राय यह है कि परमात्मा नित्य, शुद्ध, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है और उसका अंश होनेसे आत्मा भी नित्य, शुद्ध, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। अतएव सब प्राणी ईश्वरके अंश होनेके नाते हमारे भाई हैं।

जैसे अपने भाईके हैजे या प्लेगकी बीमारी हो जाती है तो हम उसके उस संक्रामक रोगसे अपनी रक्षा करते हुए उसके हितके लिये वैद्य-डाक्टरोंको बुलाकर या उसीको वैद्य-डाक्टरोंके पास ले जाकर प्रेमपूर्वक उसका इलाज करवाते हैं, उसी प्रकार हमें सबके साथ व्यवहार करना चाहिये; क्योंकि संसारमें जितने भी प्राणी हैं; सभी हमारे भाई हैं और उनमें मनुष्य प्रधानतासे हमारे भाई हैं। इसलिये सबका जिस प्रकार परम हित हो, वैसे ही हमें करना चाहिये। यहाँ अध्यात्म-विषयमें यों समझना चाहिये—दुर्गुण-दुराचारोंका जो समूह है, वही बीमारी है। ज्ञानी, भक्त, महात्मा ही वैद्य हैं। उनके पास लोगोंको ले जाना या उनको लाकर उनसे मिला देना ही रोगीकी वैद्य-डाक्टरोंसे भेंट कराना है। उनके दुर्गुण-दुराचार और दुर्व्यसनोंसे अपनेको बचाना ही संक्रामक रोगसे अपनी रक्षा करना है। अतएव हमें हर प्रकारसे निष्कामभावपूर्वक सबका परम हित करना चाहिये।

ऐसा भी न हो तो चौथी बात यह है कि संसारमें गुण और दोष भरे हुए हैं; किंतु अपनेको तो गुणग्राही होना चाहिये, किसीके दोषकी ओर दृष्टि नहीं डालनी चाहिये। अवधूत-शिरोमणि श्रीदत्तात्रेयजीने जड़-चेतनात्मक चौबीस पदार्थोंसे शिक्षा ग्रहण की और उनके गुणोंको धारण किया; इसी प्रकार हमें भी सबके गुण ही ग्रहण करने चाहिये। इस प्रसङ्गको श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके ७ वें, ८ वें और ९ वें अध्यायोंमें विस्तारसे देखना चाहिये।

भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणसे संत और असंतके लक्षण बतलाकर अन्तमें यही कहा है—

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

(राम० उत्तर० ४१)

इसका भाव यह है कि संसारमें मायासे रचित गुण और दोष भरे हुए हैं। हमारे लिये सबसे बढ़कर गुण (भाव) यह है कि किसीके अवगुण और गुण दोनोंको ही न देखें; क्योंकि गुण-दोषोंको देखना ही मूर्खता है। पर यदि देखे बिना न रहा जाय तो गुणोंको ही देखना चाहिये, अवगुणोंको नहीं; क्योंकि दूसरोंके अवगुणोंको देखने, सुनने, कहने और माननेमें महान् हानि है। नेत्रोंसे देखने, कानोंसे सुनने, वाणीसे कहने और मनसे माननेपर हृदयमें वैसे ही संस्कारोंका संग्रह होता है और वह मनुष्य फिर वैसा ही बन जाता है। इसके सिवा दूसरोंके अवगुणोंको कहने-सुननेसे एक तो हम उसके दोषोंके हिस्सेदार बन जाते हैं और दूसरे उसकी आत्माको दुःख पहुँचता है, इसलिये भी हम पापके भागी होते हैं। अतएव किसीके दुर्गुण-दुराचारोंको न तो कहे, न सुने, न देखे और न हृदयमें ही स्थान दे।

सर्वोत्तम सत्सङ्गका स्वरूप और उसकी महिमा

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(राम० सुन्दर० ४)

'हे तात! स्वर्ग और मुक्ति—इन दोनोंके सुखको तराजूके एक पलड़ेमें रखा जाय और दूसरे पलड़ेमें एक क्षणका सत्सङ्ग, तो एक क्षणके सत्सङ्गकी तुलनामें स्वर्ग और मुक्तिका सुख कुछ भी चीज नहीं।'

'सङ्ग' कहते हैं 'प्रीति' को तथा 'साथ' को। भगवान्‌का सङ्ग मिल जाना या उनके साथ रहना अथवा भगवान्‌में प्रेम हो जाना—यह सभी सत्सङ्ग है। परंतु भगवान्‌का प्रेमपूर्वक सङ्ग होना ही असली सत्सङ्ग है। बिना प्रेमके कोई विशेष मूल्य नहीं है। दुर्योधन आदिका भगवान् श्रीकृष्णमें न प्रेम था और न श्रद्धा ही। उनका भी भगवान् श्रीकृष्णके साथ सङ्ग होता था, किंतु वह सङ्ग असली सत्सङ्ग नहीं है। इसके विपरीत जिसका प्रेम है, उससे यदि भगवान् दूर भी हैं तो वह भगवान्‌के निकट ही है। जैसे गोपियाँ वृन्दावनमें रहती थीं और भगवान् श्रीकृष्ण द्वारिकामें रहते थे। इतनी दूर रहनेपर भी प्रेम होनेके कारण वे भगवान्‌के निकट ही थीं और उनके लिये वह भी सर्वश्रेष्ठ सत्सङ्ग था। भगवान्‌का प्रेमपूर्वक सङ्ग ही सर्वश्रेष्ठ सत्सङ्ग है। श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌के साथ रहना हो, तब तो कहना ही क्या; यदि दूर भी रहना पड़े, किंतु भगवान्‌में प्रेम बना रहे तो वह प्रथम श्रेणीका उत्तम सत्सङ्ग है। उसके बादमें दूसरी श्रेणीका सत्सङ्ग है—भगवत्-सङ्गिसङ्ग। सङ्गोंमें उत्तम सङ्ग है भगवत्सङ्गी यानी भगवान्‌के प्रेमी भगवत्प्राप्त पुरुषोंका सङ्ग। भगवान्‌ने जिन महापुरुषोंको संसारके उद्धारके लिये अधिकार देकर भेजा है अथवा जो भगवत्प्राप्त पुरुष हैं, जिनपर यहीं भगवान्‌ने उद्धारका भार दे दिया है, उन पुरुषोंका सङ्ग दूसरी श्रेणीका होते हुए भी प्रथम श्रेणीके ही समान है। ऐसा सङ्ग बहुत ही ऊँचा है।

ऐसा सङ्ग भी न मिले तो तीसरी श्रेणीका सत्सङ्ग बताया जाता है। जिनको भगवान्‌की प्राप्ति हो चुकी है यानी जो स्वयं तो भगवत्प्राप्त हैं पर दूसरोंका उद्धार करनेका अधिकार जिन्हें भगवान्‌ने नहीं दिया है, उनमें श्रद्धा करके स्वयं उनसे अधिकार-प्राप्त पुरुषके समान ही लाभ उठा सकते हैं। अर्थात् भगवत्प्राप्त पुरुषमें जिनका श्रद्धा-प्रेम है, वे अपने श्रद्धा-प्रेमके बलपर उनसे वैसा ही लाभ उठा सकते हैं, जैसा अधिकारप्राप्त महापुरुषसे उठाया जाता है। यह तीसरी श्रेणीका सत्सङ्ग है।

चौथी श्रेणीका सत्सङ्ग उच्चकोटिके साधक पुरुषोंका सङ्ग है। जो भगवत्प्राप्तिके मार्गमें चलनेवाले हैं, उन पुरुषोंमें भी श्रद्धा-प्रेम हो जाय तो हमको भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है और गौणीवृत्तिसे तो सत्पुरुषोंके अभावमें सत्-शास्त्रोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग ही है।

यहाँ प्रथम श्रेणीके सत्सङ्गकी बात चल रही है। ऐसे एक क्षणके सत्सङ्गकी ऐसी महिमा है कि उसकी तुलनामें मुक्ति भी कोई चीज नहीं—यह श्रीतुलसीदासजी महाराजका कथन है, उनका सिद्धान्त है, उनकी मान्यता है। ऐसे पुरुषोंके एक क्षणके सत्सङ्गकी जो महिमा है, उसमें जो परम सुख है, उसको वास्तवमें तो श्रीतुलसीदासजी ही जानते हैं; पर अपने ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि भगवान्‌का और भगवान्‌का दिया हुआ अधिकार जिनको प्राप्त है, ऐसे महापुरुषोंका तो संसारमें विचरण ही परम धर्मरूप भक्ति है, अमृतमय भक्ति है; ऐसे पुरुषोंके साथ रहकर उस भक्तिका और निष्काम धर्मका प्रचार करना, जिससे जीवोंका कल्याण हो जाय, यही असली सत्सङ्ग है और इसीके सुखकी महिमा श्रीतुलसीदासजीने कही है।

जैसे राजा कीर्तिमान् हुए। वे बहुत उच्चकोटिके पुरुष थे। उनकी कथा स्कन्दपुराणके वैष्णवखण्डके वैशाखमास-माहात्म्यके ११ वें, १२ वें, १३ वें अध्यायोंमें मिलती है। उनका सङ्ग जिनको प्राप्त हो गया, उनका ही उद्धार हो गया। अतः यह मनमें रहना चाहिये कि ऐसे पुरुषोंका सङ्ग होता रहे, चाहे नरकमें ही क्यों न रहना पड़े। इस विषयमें एक राजाकी कथा आती है। पूरी तो याद नहीं, पर थोड़ी ऐसी याद है कि भगवान्‌के दूत किसी भक्तको भगवान्‌के परमधाममें ले जा रहे थे, रास्तेमें नरक आ गया। नरकके जीवोंका आर्तनाद सुनकर भक्तने पूछा—'यह किनका आर्तनाद है ?' दूतोंने कहा—'यह नरक है। नारकीय जीव रो रहे हैं, वे बड़े दुःखसे आर्तनाद कर रहे हैं।' तब भक्त बोले—'चलो हम भी देखें; रास्तेमें तो आ ही गया, उसका भी थोड़ा दर्शन कर लें।' ज्यों ही वे वहाँ गये उनके जानेसे, उनकी हवा लगनेसे ही उन नरकके जीवोंकी नरक-यातना बंद हो गयी, उसका अब कोई असर ही नहीं रह गया। नरक, अस्त्र-शस्त्र—जिनसे जीवोंको काटकर कष्ट दिया जाता

है—सब विफल हो गये। उनमें धार ही नहीं रही, नरककी ज्वाला बिलकुल शान्त हो गयी।

तब वे नारकीय जीव प्रार्थना करने लगे कि 'आपके आनेसे ही हमलोगोंको बड़ी भारी शान्ति मिल रही है और यहाँकी सब यन्त्रणा नष्ट हो गयी है; इसलिये आप यहाँ कुछ काल ठहरनेकी कृपा करें।' भक्तने सोचा—'जब मेरे रहनेसे इन जीवोंको इतनी शान्ति और सुख मिलता है, तब मुझको और करना ही क्या है; मुझको तो यहीं ठहरना चाहिये।' फिर वे दूत बोले—'भगवान्के परमधामको चलिये।' भक्तने कहा—'मैं तो यहीं रहूँगा।' दूतोंने पूछा—'क्यों?' भक्तने कहा—'ये बेचारे दु:खी हैं और जब मेरे यहाँ रहनेसे इनको सुख मिलता है, तब मेरे लिये जैसा भगवान्का परमधाम है, वैसा ही यह नरक-धाम है।' दूतोंने पूछा—'हम वहाँ जाकर भगवान्से क्या कह दें?' भक्त बोले—'यह कहना चाहिये कि यदि मेरे साथ नरकके सब जीव आ सकें तो मैं भी आ सकता हूँ; नहीं तो मुझे यहीं आनन्द है।' फिर भक्तने नरकके सब जीवोंसे यह कहा कि 'तुम सब लोग जैसे पहले आर्तनाद करते थे, वैसे ही अब भगवान्के नामका कीर्तन करो।' तब वे सब मिलकर प्रेमपूर्वक कीर्तन करने लगे। कीर्तन करनेसे उनके पहलेके जितने संचित पाप थे, वे सब नष्ट हो गये और प्रारब्धरूपमें जो पाप यातना-भोगके लिये सम्मुख किये गये थे, वे भी सब नष्ट हो गये।

उधर दूतोंने जाकर भगवान्से कहा—'वह भक्त तो वहीं नरकमें रुक गया है और हमारे पूछनेपर उसने यह कहा है कि यदि ये सब नरकके जीव यहाँ आ सकें तो मैं भी आ सकता हूँ।' तब भगवान्ने आदेश दिया कि सबको ले आओ।

इधर वे सब नरकके जीव वहाँ जानेके लिये तैयार थे। अत: सब-के-सब भगवान्के परमधाममें चले गये। उस समय हजारों—लाखों विमान एक साथ भगवान्के धाममें इस प्रकार पहुँचे, जैसे अपने यहाँ कोई बारात एक साथ पहुँचे। हमें इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि यदि ऐसे महापुरुषोंके साथ नरकमें भी रहना हो तो वहाँ रहना बहुत ही आनन्ददायक है। इसीलिये कहा है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(राम० सुन्दर० ४)

इस प्रकारका एक क्षणमात्रका भी सत्सङ्ग मुक्तिसे भी बढ़कर है, जैसे उन भक्तके लिये वह नरकका वास भी मुक्ति और भगवत्प्राप्तिसे भी बढ़कर हो गया। उनको भगवान्के मिलनेकी भी कोई परवा नहीं रही। उनको परवा तो इस बातकी रही कि मेरे रहनेसे ये जीव कितने सुखी हो रहे हैं। यह उनका बड़ा ऊँचा भाव है। ऐसा भाव हमलोगोंका हो जाय तो फिर भगवान्के परमधाममें जानेके लिये हमलोगोंको प्रार्थना नहीं करनी पड़े, प्रत्युत यहाँका स्थान ही हमारे लिये परमधाम हो जाय या स्वयं भगवान् आकर आमन्त्रित करके अपने परमधाममें हमें ले जायँ।

हमारा तो एकमात्र यही उद्देश्य होना चाहिये कि दु:खी जीवोंका किसी भी प्रकार कल्याण हो। हम इस बातका कई बार अनुभव करते हैं कि जब किसी दु:खी आर्त गरीब आदमीके बुलानेपर उसके घरपर जाना होता है अथवा किसी धनी लखपति, करोड़पति बड़े आदमीके यहाँ जाना पड़ता है, तब उनमेंसे गरीबके यहाँ जानेपर जो एक प्रकारकी शान्ति मिलती है, वह उस धनीके यहाँ नहीं मिलती; क्योंकि गरीब आदमीके चित्तमें हमारे जानेसे बड़ा ही उत्साह और प्रेम होता है तथा वह यह समझता है कि मैं एक तुच्छ आदमी और मेरे घरपर ये इतने बड़े आदमी आये तो आज मेरा कितना बड़ा सौभाग्य है। जिस प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्रजी वनसे अयोध्यामें लौटनेपर अनेक रूप धारण करके सबसे मिले—

छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

(राम० उत्तर० ५।४)

'एक क्षणमें अपरिमित रूप धारण करके भगवान् सबसे मिले; किंतु एक-दूसरेसे भगवान् मिल रहे हैं, इसका मर्म किसीने भी नहीं समझा।'

मर्म यह कि भगवान् अनन्त रूप धारण करके सभीसे मिल रहे थे और जिससे भगवान् मिलते थे, वह समझता था कि आज मेरा अहोभाग्य है जो सबसे प्रथम भगवान् मुझीसे मिल रहे हैं। कहाँ तो मैं तुच्छ मनुष्य और कहाँ भगवान्! इस प्रकार उसे बड़ा ही आश्चर्य होता था और साथ ही आनन्द भी होता था।

इसी प्रकार एक गरीब आदमीसे कोई महापुरुष मिले तो उसे भी बड़ा भारी आनन्द आता है। अत: उसके सुखसे सुखी होना ही सबसे बढ़कर है।

एक तो भगवान्से मिलन हो और एक हमारे मिलनेसे उसको भगवान्के मिलनेके समान सुख हो तो हमारे लिये वह बात अधिक मूल्यवान् है; बल्कि भगवान्से मिलनेका जो सुख और आनन्द है, यह उससे कम नहीं है। उसके लिये तो हमीं भगवान् हो गये।

सबको आह्लादित करते हैं भगवान् और हम भगवान्को आह्लादित करते रहें तो वह जैसे हमारे लिये आनन्दकी

बात है, वैसे ही भगवान्‌के लिये भी यह आनन्दकी बात है कि वे अपने भक्तको आह्लादित करते रहें। भगवान् और भक्तके लिये इससे बढ़कर कोई आनन्दकी बात नहीं है। भक्तोंमें भी यदि कोई ऐसा भक्त है, जो भगवान्‌का दर्शन करके मुग्ध हो जाता है, आह्लादित हो उठता है—इतना ही नहीं, अपनी सेवाके द्वारा, अपनी चेष्टाके द्वारा, अपनी क्रियाके द्वारा, लीलाके द्वारा जो भगवान्‌को मुग्ध करता रहता है तो यह उसके लिये श्रेयस्कर है। एक तो भगवान्‌का दर्शन करके हम आनन्दमें मग्न रहें और एक भगवान्‌को सुख पहुँचाकर आनन्दमें मग्न रहें; इनमें सारी दुनियाको आनन्द पहुँचानेवाले, सबको आह्लादित करनेवाले भगवान्‌को आह्लादित करनेवाले हम बनें और फिर भगवान् हमें आह्लादित करनेके लिये लीला करें तो यह हमारे लिये अत्यन्त सौभाग्य और गौरवकी बात है। इसमें हमारे चरित्रका उद्देश्य तो भगवान्‌को आह्लादित करना है—हमारी चेष्टा भगवान्‌के लिये और भगवान्‌की चेष्टा हमारे लिये। हमारे इस प्रयत्नके मूल कारण भगवान् हैं। इस प्रकार हमारी चेष्टासे भगवान् मुग्ध होते रहें और भगवान्‌की चेष्टासे हम मुग्ध होते रहें तो यह परस्पर एक अलौकिक प्रेमका विषय है।

इसी प्रकार हम कहीं किसी मरणासन्न रोगीको भगवान्‌के नाम और गुण सुनानेके लिये जायँ और सुननेवाला मुग्ध हो, अर्थात् उसको होश हो, वह सुनना चाहता हो और उसकी उस इच्छाकी पूर्ति करनेवाले हम बनें तो हमारे लिये इससे बढ़कर और कोई सौभाग्यकी बात नहीं। उस मरणासन्न रोगीके लिये तो हमीं भगवान्‌के तुल्य हो गये। अतः जैसी प्रसन्नता उसको होती है, उससे बढ़कर प्रसन्नता हमें होनी चाहिये कि हमारे सङ्गसे वह आह्लादित हो रहा है। उसके दिलमें तो उस समय ऐसा भाव होना बहुत ही उत्तम है कि मैं अभी न मरकर भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी बातें सुनता ही रहूँ; क्योंकि इस प्रकारका जो मेरा जीवन है, वह मुक्तिसे भी बढ़कर है। अतएव उस भक्तके साथ जो दूसरे भक्तका सङ्ग है—यानी एक जो मरणासन्न होकर सुननेवाला है और दूसरा जो सुनानेवाला है, दोनोंका परस्पर प्रेम और उनकी मुग्धता मुक्तिसे बढ़कर है, वह उत्तम सत्सङ्ग है। साक्षात् भगवान्‌के साथ सङ्ग हो, उसकी तो बात ही क्या; भगवान्‌की प्राप्तिके लिये परस्पर जो भगवान्‌के भक्तोंका सङ्ग है, वह भी उत्तम है। चाहे दोनों ही भगवत्प्राप्त हों या दोनोंमें एक भगवत्प्राप्त पुरुष और एक जिज्ञासु हो अर्थात् सुननेवाला मरणासन्न पुरुष तो जिज्ञासु हो और सुनानेवाला भगवान्‌का भक्त—भगवत्प्राप्त पुरुष हो तो उन दोनोंका जो सङ्ग है, वह भी उत्तम सत्सङ्ग है। उसको देखनेवाले भी धन्यवादके पात्र हैं। दर्शकोंके लिये ऐसी झाँकी भी कल्याणमें सहायक है; क्योंकि जो मरनेवाला प्राणी है, उसका वह एक क्षण ही है मुक्ति देनेके लिये। इस प्रकार उस सङ्गके प्रभावसे हजारोंकी मुक्ति होती रहे तो ऐसे पुरुषोंके साथ रहकर, उनका सङ्ग करके हम जीवन बितायें—ऐसा सङ्ग हम करते रहें तो वह सत्सङ्ग हमारे लिये भी मुक्तिसे बढ़कर है। भगवान् मुक्त जीवोंको साथ लेकर संसारमें आते हैं, उन मुक्त जीवोंको ही हम परिकर कहते हैं। वे भगवान्‌के साथी होकर भगवान्‌के साथ लीला करनेमें अपना समय लगाते और जीवोंका कल्याण करते हैं। अतः अपनी आत्माके कल्याणमें जो गौरव या महत्त्व है, उससे अधिक महत्त्व दूसरोंका कल्याण करनेमें है।

एक मनुष्य तो स्वयं भोजन करता है और दूसरा एक मनुष्य दुःखी अनाथ मनुष्योंके लिये सदावर्त लगाता है यानी दूसरोंको भोजन कराता है। इन दोनोंमें भोजन करनेवालेकी अपेक्षा दूसरोंको भोजन करानेवालेका विशेष महत्त्व है ही। इसी प्रकार अपना कल्याण करनेकी अपेक्षा दूसरोंका कल्याण करना विशेष महत्त्वकी बात है।

इसके सिवा जो भगवान्‌का उच्चकोटिका अनन्यप्रेमी भक्त होता है, वह । **'मुक्ति निरादर भगति लुभाने'** अर्थात् अपनी मुक्तिका भी निरादर कर देता है और भक्तिकी लालसा करता है; क्योंकि मुक्ति तो ऐसे महापुरुषके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनसे ही हो सकती है। अतः उसकी तुलनामें मुक्ति कोई चीज नहीं है। मुक्तिकी अपेक्षा ऐसे पुरुषोंके सङ्गका मूल्य अधिक है। इसलिये जो इस तत्त्वको जाननेवाले होते हैं, वे भी मुक्तिका निरादर करके उन पुरुषोंका सङ्ग ही करते हैं; क्योंकि भगवान्‌की अनन्य प्रेम-भक्तिकी भी इतनी महिमा है कि मुक्ति भी उसकी तुलनामें कोई चीज नहीं। भक्तिके मार्गपर चलनेवालोंकी यह दृष्टि है। भक्तिमार्गवालोंके लिये भगवान्‌की अनन्य भक्ति या अनन्य प्रेमके समान कोई भी पदार्थ नहीं है। भगवान्‌की भक्ति तो है साधन और भगवान्‌की प्राप्ति है साध्य। इसी प्रकार मुक्ति भी साध्य है। पर भगवान्‌के भक्त भगवत्प्राप्ति और मुक्तिमें भी भेद करते हैं। वे कहते हैं कि मुक्तिमें तो चार भेद हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। इनमेंसे 'भगवान्‌के निकट रहना' उस सायुज्य-मुक्तिसे भी बढ़कर है, जिसमें भक्त भगवान्‌में विलीन हो जाता है; क्योंकि उसकी सायुज्य-मुक्ति तो धरोहरके रूपमें सदा ही मौजूद है, चाहे तभी ले ली जाय। वह भगवान्‌के समीप रहनेवाला

पुरुष सायुज्य-मुक्ति तो दूसरोंको भी दे सकता है। अतः उसका पद भक्तिमार्गवालोंकी दृष्टिमें ऊँचा है। भक्तिमार्गवालोंकी दृष्टिमें तो अनन्य भक्ति या अनन्य प्रेमसे बढ़कर और कुछ भी नहीं है।

जहाँ अनन्य प्रेम हो जाता है, वहाँ भगवान्, भक्त और भक्ति—तीनों एक ही हो जाते हैं। यद्यपि ये स्वरूपसे तो अलग-अलग हैं तो भी वास्तवमें धातुसे एक ही तत्त्व है अर्थात् पारमार्थिक दृष्टिसे एक ही तत्त्व है। स्वयं भगवान् ही मानो तीन रूपोंमें पृथक्-पृथक् दीख रहे हैं। या यों कहें कि चिन्मय भगवान्‌का चेतन प्रेम ही तीन रूपोंमें बँटा हुआ है। ऐसी जो भगवान्‌की प्राप्ति है, भगवान्‌से मिलन है, वह अद्भुत और अलौकिक है। भगवान्‌की सारी चेष्टाएँ भक्तको आह्लादित करनेके लिये और भक्तकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌को आह्लादित करनेके लिये हुआ करती हैं।

जैसे गोपियोंमें श्रीराधिकाजी सबसे बढ़कर हैं; उन श्रीराधिकाजीकी सारी चेष्टाएँ भगवान् श्रीकृष्णको आह्लादित करनेके लिये होती हैं और भगवान् श्रीकृष्णकी सारी चेष्टाएँ श्रीराधिकाजीको आह्लादित करनेके लिये होती हैं। श्रीराधिकाजी क्या हैं? वे भगवान्‌की आह्लादिनी शक्ति ही हैं। जैसे श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि भगवान्‌की एक शक्ति तो माया है और दूसरी शक्ति अनन्य भक्ति है। उसे चाहे अनन्य भक्ति कह दें, अनन्य प्रेम कह दें या आह्लादिनी शक्ति कह दें, बात एक ही है। वह चेतन है। कहा जाता है कि उसीका अवतार श्रीराधिकाजी हैं। अतः भगवान् और श्रीराधिकाजीका जो सङ्ग है, वह उन दोनोंके लिये तो अलौकिक है ही, उनका तो वह नित्य सङ्ग है; किंतु दर्शकोंके लिये भी वह एक अलौकिक सङ्ग है, क्योंकि दर्शक उन्हें देखकर मन्त्र-मुग्धकी भाँति हो जाते हैं, जैसे श्रीराधिकाजीकी अन्य सखियाँ उनके साथ रहकर और श्रीराधा-माधवके प्रेममय सङ्गको देखकर मुग्ध हो जाया करती थीं। अतः भक्तिमार्गमें श्रीराधिकाजीका स्थान बहुत उच्च है।

किंतु ध्यान रखना चाहिये कि भगवान्‌के प्रेमकी यह गुप्त बात कोई वाणीसे कह नहीं सकता और जिसको यह बात प्राप्त हो जाय, वह अपने लिये डुग्गी नहीं पिटवाता कि मैं इस बातका अनुभव करता हूँ। जो पुरुष 'मैं अनुभव करता हूँ' इस प्रकार डुग्गी पिटवाता है, लोगोंसे कहता है, वह वस्तुतः उस स्थितिमें स्थित है ही नहीं, वह तो अपने मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके लिये ही संसारको और अपनेको धोखा देता है। वास्तविक प्रेमको प्राप्त पुरुषको क्या आवश्यकता कि वह ऐसा कहेगा। ऐसा कहना या प्रकाशित करना तो भगवान्‌की भक्तिमें कलङ्क लगाना है।

जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाजीका ऐकान्तिक, अनन्य और विशुद्ध प्रेम है, वहाँ दूसरे पुरुषकी तो बात ही क्या, दूसरी कोई सखी भी प्रवेश नहीं कर सकती। इसलिये वह श्रीराधा-माधवका प्रेम अलौकिक है।

महात्माओंके सङ्गसे लाभ उठानेके प्रकार

किन्हीं महापुरुष, महात्मा पुरुषसे जब कभी मिलना हो जाय, तब उनके सङ्गसे साधकको किस प्रकार लाभ उठाना चाहिये? यह प्रश्न है। महापुरुषोंके सङ्गसे लाभ मनुष्यकी श्रद्धा और विश्वासपर निर्भर करता है। उनकी आज्ञाके पालनसे मनुष्यको विशेष लाभ होता है—यद्यपि श्रद्धा होनेपर उनके दर्शनसे, भाषणसे, वार्तालापसे, सङ्गसे, उनके पास निवास करनेसे सभी प्रकारसे लाभ होता रहता है। जितनी अधिक श्रद्धा उनके प्रति होती है, उतना ही अधिक लाभ भी होता है; किंतु कम श्रद्धा होनेपर भी मनुष्य उनकी आज्ञाका पालन करके लाभ उठा सकता है। अवश्य ही इतनी बात समझमें आ जानी चाहिये कि महापुरुषका वचन शास्त्रका वचन है और इनके वचनका पालन करनेसे निश्चय ही हमारा कल्याण हो जायगा। इतनी श्रद्धा हो जानेपर महापुरुषकी आज्ञाके पालनसे मनुष्यको विशेष लाभ होता है।

जो उच्चकोटिके महापुरुष होते हैं, वे प्रायः आज्ञा नहीं देते। ऐसी स्थितिमें श्रद्धालु मनुष्य उनके संकेतसे भी लाभ उठा सकता है, उनके सिद्धान्तसे भी लाभ उठा सकता है, उनके आचरणोंसे लाभ उठा सकता है; क्योंकि वे आचरण आदर्श होते हैं। महापुरुषोंको आदर्श मानकर हम विशेष लाभ उठा सकते हैं। उनके आदर्शके अनुरूप कर्म करके, महापुरुष जिस प्रकारसे आचरण करते हैं, उसी प्रकार आचरण करके हम लाभान्वित हो सकते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् मर्यादापुरुषोत्तम परमात्मा थे, महात्माओंके भी महात्मा थे। उनका अनुकरण करना तो और भी अधिक लाभकी बात है। महात्मा पुरुषोंके आचरणके अनुसार व्यवहार करना भी मुक्तिको देनेवाला है; फिर साक्षात् परमात्मा यदि अवतार लेकर पधारें और उनके आचरणका अनुकरण किया जाय तो फिर कहना ही क्या।

कोई-कोई कहते हैं कि महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन तो करना चाहिये, किंतु उनका अनुकरण नहीं करना चाहिये। यह बात हमारी समझमें नहीं आती, यह न्याय भी नहीं है। यदि बात ऐसी हो तो हम किसका अनुकरण करेंगे? अनुकरणीय तो महापुरुष ही होते हैं। उनके दो भेद हैं—१-भगवत्प्राप्त पुरुष, ये भी महापुरुष ही हैं। २-महापुरुषोंके महापुरुष साक्षात् भगवान्।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने जिस प्रकारका व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमलोगोंको भी करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराजने अपने माता-पिताके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमलोगोंको अपने माता-पिताके साथ करना चाहिये। भगवान्ने अपनी सौतेली माताके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमलोगोंको अपनी माताके तुल्य ताई, चाची, मौसी, मामी, सास आदि अथवा उन्हींके समान पदवाली अन्य माताओंके साथ करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपने भाइयोंके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमको अपने भाई-बन्धुओंके साथ करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने जनकनन्दिनी भगवती सीताके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमको अपनी धर्मपत्नीके साथ करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने लव-कुशके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमलोगोंको अपने पुत्रोंके साथ करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपनी प्रजाके साथ जैसा व्यवहार किया, हमें अपने नीचे काम करनेवाले नौकर-चाकर, मुनीम, गुमाश्ता आदिके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिये। भगवान्ने जैसा व्यवहार ऋषि-मुनियोंके साथ किया, वैसा ही व्यवहार हमें साधुओंके साथ, ब्राह्मणोंके साथ, महात्माओंके साथ, ज्ञानी और भक्तोंके साथ करना चाहिये अर्थात् प्रत्येक व्यवहारमें उन्हींका अनुकरण करना चाहिये। उन्हींके आदर्शके अनुरूप जीवन बनाना चाहिये। ऐसा करनेसे बहुत शीघ्र मनुष्यका उद्धार हो सकता है। ऐसा करनेमें बार-बार भगवान्की स्मृति तो होती ही है, साथ ही भगवान्के चरित्रगत गुणोंका अनुशीलन होनेसे वे गुण हमारे अंदर आते हैं, जिससे हमारे आचरणोंका सुधार होता है। केवल उनकी स्मृतिसे ही हमारी आत्मा शुद्ध होकर कल्याणकी ओर अग्रसर हो सकती है; क्योंकि भगवान्के दर्शन, भाषण, स्पर्श एवं वार्तालापकी भाँति उनके चिन्तनमात्रसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है।

भगवान् अपने अवताररूपमें इस समय विद्यमान नहीं हैं, व्यापकरूपमें विद्यमान हैं, उनकी लीलाएँ तथा चरित्र भी ग्रन्थोंमें वर्णित हैं। उनसे हम जान सकते हैं कि भगवान्ने अमुकके साथ अमुक ढंगसे व्यवहार किया। उसीके अनुसार हमलोगोंको भी जहाँ जैसा प्रसङ्ग हो वहाँ वैसा व्यवहार करना चाहिये। साथ ही भगवान्की लीलामें उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यका दिग्दर्शन करना चाहिये।

उदाहरणके लिये भगवान्की एक लीलाको ले लीजिये। भगवान् लङ्का-विजयके अनन्तर सीता, लक्ष्मण एवं अन्य सबके साथ अयोध्या लौट रहे हैं। उनका एक-एक चरित्र अनुकरणीय है। रास्तेमें बंदरोंके साथ, राक्षसोंके साथ उनकी बातचीत हो रही है, अपनी धर्मपत्नी जगज्जननी सीताके साथ भी वे बातचीत कर रहे हैं और उन्हें मार्गके दृश्य दिखला रहे हैं। बंदरोंसे वे कह रहे हैं—'यह अयोध्यानगरी—मेरी जन्मभूमि है, यह सरयू है, इसमें स्नान करनेसे मुक्ति हो जाती है। अयोध्यामें वास करनेसे मुक्ति हो जाती है। यह मुझको वैकुण्ठसे भी बढ़कर प्यारी है।' साथ-साथ उनसे विनोद भी करते जाते हैं। हमलोगोंको अपने अनुयायियोंके साथ, अपनेसे छोटोंके साथ ऐसा ही मधुर एवं प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिये। अयोध्या पहुँचकर श्रीराम मुनियोंके चरणोंमें नमस्कार करके उनसे मिलते हैं। बड़ोंके साथ हमें वैसा ही व्यवहार करना चाहिये जैसा भगवान्ने उस अवसरपर मुनियोंके साथ किया। भाइयोंके साथ भी वे यथायोग्य व्यवहार करते हैं। सारी प्रजा प्रेममें विह्वल होकर भगवान्के दर्शनोंके लिये उमड़ आती है, तब भगवान् समान भावसे, बड़े प्रेम एवं आदरपूर्वक सबसे यथायोग्य मिलते हैं। ऐसे अवसरोंपर हमें भी सबसे इसी प्रकार मिलना चाहिये। अब प्रश्न यह होता है कि इस लीलामें भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यको किस प्रकार देखा जाय? विचार करनेपर पता लगेगा कि उनकी लीलामें पद-पदपर गुण भरे हुए हैं। भगवान्का व्यवहार दयासे पूर्ण है, प्रेमसे पूर्ण है, विनयसे पूर्ण है। उनके बड़ोंके साथ व्यवहारमें विनय है, छोटोंके साथ व्यवहारमें प्रेम है, दया भरी हुई है। इसी प्रकार उनके चरित्रमें प्रभाव भी देखना चाहिये। वे एक ही क्षणमें

अनन्त रूप धारण करके बड़प्पनके अभिमानसे शून्य होकर सबसे यथायोग्य मिलते हैं। यह उनका कैसा विलक्षण प्रभाव है! अब उनके चरित्रका रहस्य समझना चाहिये। अवधवासी उन्हें अतिशय प्रिय क्यों थे? इसका रहस्य, वे स्वयं कहते हैं, कोई विरला ही जानता है। इस कथनसे उन्होंने यह दिखलाया कि अवधवासियोंका उनमें अतिशय प्रेम था। इसीलिये वे उनको अतिशय प्रिय थे। साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही श्रीराम थे, यह उनका तत्त्व है। इस प्रकार भगवान्‌की प्रत्येक लीलामें उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यको समझना चाहिये तथा उस लीलासे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। उनके व्यवहारमें नीति, धर्म, प्रेम एवं विनय ओतप्रोत हैं। हमारा भी व्यवहार ऐसा ही होना चाहिये। हमारे व्यवहारमें भी नीति, धर्म, प्रेम एवं त्याग ओतप्रोत रहने चाहिये।

इसी प्रकार संसारमें जो महापुरुष हो गये हैं अथवा जो महापुरुष वर्तमानकालमें ईश्वरकी कृपासे हमें मिल गये हैं, उनके आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये। उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये, उनके संकेतका अनुवर्तन करना चाहिये। संकेतका अर्थ यह कि बिना बोले इशारेसे उन्होंने कोई बात कह दी अथवा जिज्ञासाके भावसे कोई बात पूछ ली, मान लीजिये, उन्होंने आपसे पूछा—जप, ध्यान होता है न? उनके इस प्रकार पूछनेपर आपको जप और ध्यान प्रारम्भ कर देना चाहिये, यदि नहीं करते हों तो। प्रश्नके रूपमें उनका आपके लिये यह संकेत ही है कि आप ऐसा करें। यदि वे किसी कामके लिये आपको साक्षात् प्रेरणा कर दें, तब तो आपको अपना अहोभाग्य मानना चाहिये। आज्ञा और प्रेरणाका अर्थ प्रायः मिलता-जुलता-सा है। प्रेरणाका स्वरूप यह है—'प्रातःकाल बड़े सबेरे उठना चाहिये। सूर्योदयसे पहले ही स्नान करके यज्ञोपवीत हो तो संध्या एवं गायत्री-जप प्रारम्भ कर देना चाहिये। शास्त्रकी मर्यादा तो यह है कि संध्या और भी जल्दी रात रहते ही प्रारम्भ कर दी जाय और सूर्योदयतक गायत्रीका जप करते रहा जाय। संध्या-गायत्रीमें जिनका अधिकार नहीं है अर्थात् जिनके यज्ञोपवीत नहीं हैं— जैसे स्त्रियाँ, शूद्र एवं बालक आदि, उनके लिये वे महापुरुष यह कह सकते हैं कि 'भगवान्‌के नामका जप एवं स्वरूपका ध्यान, गीताका पाठ, भगवान्‌की मानसिक पूजा या मूर्तिपूजा, अपनी आत्माके कल्याणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना, भगवान्‌के गुणोंका गान, यह तो अवश्य ही करना चाहिये। सोनेके समय भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको याद करते-करते सोना चाहिये। अथवा निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें श्रद्धा, प्रेम, विश्वास हो तो निर्गुण-निराकार तत्त्वका ध्यान करते-करते शयन करना चाहिये और काम करते समय लक्ष्य भगवान्‌की ओर रहना चाहिये।' यह प्रेरणाके रूपमें एक प्रकारकी आज्ञा ही है। इसके उत्तरमें हमारे यह कहनेपर कि 'जो आप कहते हैं, बहुत ठीक है और तदनुसार यत्किंचित् प्रयत्न भी किया जाता है, किंतु मन भगवान्‌में नहीं लगता' यदि महात्मा यह कहें कि मन न लगे तो भी ऐसा करते रहो तो यह उनकी स्पष्ट आज्ञा हुई। इसके भी आगे यदि वे यह कह दें कि 'करते-करते मन लगने लगेगा' तो यह उनका आशीर्वाद हुआ, जो भविष्यकी बात कह दी। दूसरे शब्दोंमें यह उनका एक प्रकारसे वरदान हो गया। अमुक कार्य करो, इस प्रकार करो—यह आज्ञा है। अमुक कार्य करनेसे अवश्य सफलता मिलेगी, यह एक प्रकारका आशीर्वाद है, वरदान है।

किसी संतके पास निवास करनेसे भी हमको बहुत लाभ मिल सकता है। उनका हाव-भाव, उनकी चितवन आदि देखते रहनेसे उनके संस्कार हमारे हृदयमें जमते हैं। काम करनेके समय उन संस्कारोंके अनुसार हमारे चित्तमें स्मृति होती है और स्मृतिके अनुसार हमारी चेष्टा भी उसी प्रकार होने लगती है। और तो और, महापुरुषोंके दर्शनमात्रसे उनके स्वरूपके, उनके चरित्रके संस्कार हमारे हृदयपर पड़ते हैं और चरित्रके साथ-साथ उनके गुणोंका भाव भी हमारे हृदयमें आने लगता है। वे किसीका उपकार करते हैं तो उन्हें देखकर हमारे मनमें यह भाव आता है कि ये बड़े ही दयालु हैं, बड़े ही उदारचित्त हैं। उनमें हमारी विशेष श्रद्धा होती है तो उनके हृदयका भाव हमारे हृदयपर प्रतिफलित होने लगता है। उनके समीप रहनेसे उनके जो सिद्धान्त हैं, जो मान्यताएँ हैं, उनका ज्ञान बढ़ता चला जाता है और उसके अनुसार आगे जाकर हमारे भी वैसे ही सिद्धान्त बन जाते हैं। महापुरुषोंकी प्रत्येक क्रिया उपदेशसे ओतप्रोत रहती है; उनमें नीति, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार भरे रहते हैं। श्रद्धा होनेसे इनका स्पष्ट दिग्दर्शन होता है तथा साथ ही यह भाव भी पैदा होता है कि हम भी ऐसे बनें। यह भाव बहुत लाभदायक होता है। बार-बार उस भावकी स्फुरणा होनेसे कभी वह वैसा बन भी सकता है।

हमने बालकपनमें महापुरुषोंके दर्शन किये थे। उनकी स्मृति बहुत बार होती है, जिससे हमें बहुत अधिक लाभ होता है। इससे हम समझते हैं कि आपलोग भी यदि ऐसा करें तो आपलोगोंको भी विशेष लाभ होना

चाहिये। महापुरुषोंके चरित्रोंकी स्मृतिसे उनका अनुकरण करनेकी इच्छा होती है और फलतः कुछ अंशोंमें वैसी चेष्टा बननेमें भी आती है, कम-से-कम उनकी छाप तो हृदयपर पड़ती ही है। जितनी अधिक किसी महापुरुषमें हमारी श्रद्धा होती है, उतने ही अधिक उनके आचरणोंके संस्कार हृदयपर जमते हैं और संस्कारोंके अनुसार ही स्फुरणा होनेसे वैसे ही आचरण भी हमसे भी होने लगते हैं। जब-जब प्रसङ्ग आये, तब-तब उनके आचरणोंको याद कर लेनेसे उनके अनुसार आचरण बनने लगते हैं। महापुरुषोंके हृदयके भावका उनका सङ्ग करनेवाले व्यक्तिके हृदयपर भी निश्चित प्रभाव पड़ता है और आगे जाकर वह भी वैसा ही महापुरुष बन सकता है। जो महापुरुष बनना चाहे, उसके वैसा बननेमें सबसे बढ़कर सहायक महापुरुषोंका सङ्ग; उनके समीप वास करना, उनके संकेतके अनुसार चलना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनके शासनमें रहना है। ये सभी साधन एक प्रकारसे महापुरुषोंमें प्रेम एवं श्रद्धा बढ़ानेवाले हैं। इस प्रकार साधन करते-करते आगे जाकर साधक भी महापुरुष बन सकता है। इस प्रकार भगवान्‌की कृपासे महापुरुषोंसे भेंट हो जानेपर उनके सङ्गसे किस प्रकार लाभ उठाया जाय, यह बात आपको संक्षेपसे ऊपर बतलायी गयी।

अर्जुनको भगवान् गीतामें ज्ञान प्राप्त करनेकी पद्धति इस प्रकार बतलाते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४। ३४)

'अर्जुन! उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ। वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।' यहाँ यह प्रश्न होता है—उस ज्ञानको कैसे प्राप्त किया जाय? इसका उत्तर है—'**प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।**' अर्थात् उनको भलीभाँति साष्टाङ्ग दण्डवत्-नमस्कार करके, उनकी सेवा करके और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक जिज्ञासुभावसे प्रश्न करके। उनकी सेवा क्या है? उनकी आज्ञाका पालन ही सेवा है। आज्ञा-पालनके समान और कोई सेवा नहीं है। तुलसीकृत रामायणके उत्तरकाण्डमें भगवान् श्रीरामने भी यह बात अपनी प्रजासे कही है—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

(उत्तर० ४२। ३)

मेरी आज्ञा माननेवाला ही मेरा सेवक है और वही मेरा अतिशय प्यारा—प्रियतम है। एक तो होता है प्रिय, एक प्रियतर, एक प्रियतम। जो सबसे बढ़कर प्यारा है, उसे प्रियतम कहते हैं। उदाहरणके लिये पतिव्रता स्त्रीके लिये पति ही प्रियतम है। भगवान् कहते हैं—'वही मेरा सेवक है और वही मेरा प्रियतम है, जो मेरे शासनको मानता है—मेरी आज्ञाका पालन करता है।' स्वामी एवं गुरुके आज्ञापालनका विशेष महत्त्व शास्त्रोंमें वर्णित है। नीचे पूर्वकालकी एक कथा दी जाती है। उसमें आज्ञापालनकी ही प्रधानता है।

जबालाका पुत्र सत्यकाम नामका एक ब्रह्मचारी था, जो गुरुकुलमें वास करता था। उसको गुरुकी आज्ञा हुई—'हमारी चार सौ गौओंको वनमें ले जाकर चराओ।' सत्यकामके चित्तमें विश्वास था कि गुरुकी आज्ञाके पालन करनेसे मेरा कल्याण हो जायगा। उसने वैसा ही किया। अब वे गौएँ बढ़ते-बढ़ते एक हजार हो गयीं। तब एक बैलने सत्यकामसे कहा—'हमारी संख्या एक हजार हो गयी है, गुरुका ध्येय सिद्ध हो गया। अब हमलोगोंको आश्रममें ले चलो।' सत्यकामने कहा—ठीक है। तदनुसार वह गौओंको गुरुजीके आश्रममें ले जा रहा था कि मार्गमें ही उसे ब्रह्मज्ञान हो गया। जब वह आश्रमपर पहुँचा, तब गुरुने उसके मुखारविन्दको देखकर कहा—'तुम्हारा खिला हुआ मुखकमल देखनेसे ऐसा लगता है कि तुमको ब्रह्मज्ञान हो गया। तुम्हारे चेहरेपर बड़ी भारी शान्ति है।' सत्यकामने कहा—'आपकी कृपासे ही ऐसा सम्भव हुआ है; किंतु मैं आपके मुखसे ज्ञानका उपदेश सुनना चाहता हूँ।' इसके बाद गुरुने उसे उपदेश दिया (छान्दोग्य-उप० ४। ४—९)। यहाँ यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि गुरुकी आज्ञाका पालन करते-करते सत्यकामको अपने-आप ही परमात्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो गया। फिर महात्माओंकी आज्ञाका पालन करनेसे हमको यथार्थ ज्ञान हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या। गुरु हो किंतु महात्मा न हो, तब भी उसकी आज्ञाका बड़ा भारी महत्त्व है। फिर यदि कोई महात्मा हो और उसमें हमारा गुरुभाव हो, तब तो ज्ञान हमें अपने-आप निश्चय ही हो सकता है। आत्मकल्याणमें भाव ही प्रधान है।

आज्ञापालनकी तो बात ही क्या, महात्मा पुरुषोंका तो सङ्ग ही सब प्रकारसे लाभदायक होता है। सत्सङ्गकी बड़ी महिमा शास्त्रोंने गायी है। रामचरितमानसमें लंकिनी राक्षसी हनुमान्‌जीसे कहती है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(सुन्दर० ४)

मेरे प्यारे हनुमान्! स्वर्ग तथा अपवर्ग अर्थात् मुक्ति—इन दोनोंको तराजूके एक पलड़ेमें रखो और दूसरी ओर एक क्षणके सत्सङ्गको। एक क्षणके सत्सङ्गसे हमें जो वास्तविक आनन्द मिलता है, जो सच्चा सुख मिलता है, वैसा सुख स्वर्ग और मुक्ति दोनोंसे भी नहीं मिलता।' यहाँ कोई यह कह सकते हैं कि 'स्वर्गकी बात तो ठीक है, वह तो अल्प है ही; किंतु मुक्तिके सुखसे भी सत्सङ्गका सुख विशेष बतलाया गया, यह बात समझमें नहीं आयी।' इसका उत्तर यह है कि 'सत्' नाम है भगवान्का; उनमें जो प्रेम है, वही वास्तविक सत्सङ्ग है। मुख्य सत्सङ्ग तो यही है और इसे प्रेमीलोग मुक्तिसे भी बढ़कर मानते हैं। सत्सङ्गका दूसरा अर्थ है—भगवत्प्राप्त पुरुषोंका सङ्ग। इसकी भी बड़ी भारी महिमा है। मान लीजिये, भगवान् किसी समय अवतार लेकर भूतलपर पधारें और हम उनके साथ रहें, संसारमें मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये विचरण करें तो उसमें जो आनन्द आयेगा, उस सत्सङ्गमें जिस अलौकिक सुखकी अनुभूति होगी, वह आनन्द मुक्तिसे भी बढ़कर है।

एक मनुष्य स्वयं भोजन करता है और दूसरा बहुत-से भूखों एवं अनाथोंको, जो अन्नके बिना छटपटा रहे हैं, भोजन कराता है। बहुत-से भूखों एवं असमर्थोंको भोजन करानेमें जो सुख है, वह स्वयं भोजन करनेमें नहीं मिलता। इसी प्रकार उपर्युक्त महापुरुषोंके साथ रहकर लोगोंका कल्याण करते हुए विचरण करनेमें भक्तको कितना आनन्द आता होगा, इसका अनुमान करना कठिन है। फिर यदि स्वयं भगवान्का साथ मिल जाय, तब तो कहना ही क्या है। अतः यह स्पष्ट है कि भगवत्प्राप्त पुरुषोंके साथ रहकर संसारमें भगवान्की भक्तिका प्रचार करनेमें, संसारके दुःखी-अनाथ प्राणियोंका उद्धार करते रहनेमें जो आनन्द है, वह मुक्तिसे भी बढ़कर है।

एक ओर तो कोई मनुष्य काशीमें मरकर स्वयं मुक्तिलाभ करता है; क्योंकि काशीमें मरनेसे शास्त्रोंमें मुक्ति कही गयी है—'**काश्यां हि मरणान्मुक्तिः**'—और दूसरी ओर उसी काशीमें रहकर शिवजी महाराज मुक्तिका सदावर्त बाँटते हैं। दोनोंमेंसे शिवजी महाराजको जो आनन्द प्राप्त है, वह काशीमें जाकर मरनेवालेको थोड़े ही प्राप्त होता है। जो कुछ भी हो, अपने मनमें तो यही भाव रखना उत्तम है कि 'प्रभो ! हमको मुक्ति नहीं चाहिये। हमारे द्वारा लोगोंकी मुक्ति होती रहे। हमारा चाहे जन्म होता रहे, उसमें कोई चिन्ताकी बात नहीं है।' मनुष्य यदि मुक्ति दिलानेवाले काममें महापुरुषोंका साझीदार बना रहे तो उसे कितना आनन्द हो। सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जानेपर फिर जहाँतक बने, उनका सङ्ग अपनी ओरसे छोड़ना नहीं चाहिये। कोई कहे—स्वयं महात्मा यदि छोड़ दें तो ? इसका उत्तर यही है कि वे तो छोड़ना जानते ही नहीं।

धर्म, ईश्वर एवं महात्मा पुरुष पकड़ना जानते हैं, छोड़ना नहीं। जिसे वे एक बार पकड़ लेते हैं, उसको वे छोड़ते नहीं। हमीं उन्हें छोड़ दें तो बात दूसरी है। धर्मको कोई छोड़ दे, धर्मका कोई त्याग कर दे तो धर्मका क्या वश ? किंतु जो धर्मको नहीं छोड़ते, धर्म भी उन्हें कदापि नहीं छोड़ता। मनुष्य जब मर जाता है, उसके बन्धु-बान्धव उसके साथ श्मशानतक जाते हैं और वहाँ उसे छोड़कर चले आते हैं। धर्म ही एक ऐसा पदार्थ है, जो प्राणीके साथ मृत्युके अनन्तर भी जाता है। ईश्वरकी कृपासे यदि किसी महापुरुषका सङ्ग मिल जाय तो फिर किसी बातकी आवश्यकता नहीं रह जाती। उससे बढ़कर और कोई वस्तु हो तो उसकी हम आवश्यकता समझें। उससे बढ़कर तो भगवान् हैं, जो प्रेम होनेपर अपने-आप ही हमसे आ मिलेंगे। भगवान्के मिलनेकी भी इच्छा रखना आवश्यक नहीं है।

मूल प्रश्न यह था कि महापुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जाय तो क्या करना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि उनसे वार्तालाप करना चाहिये, उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। उनकी आज्ञाके पालनमें जो आनन्द है, वह मुक्तिके सुखसे भी बढ़कर है; क्योंकि मुक्ति तो उन महापुरुषके चरणोंमें लोटती है। सत्सङ्गके बिना भगवान् मिलते नहीं, भगवान्के मिले बिना मुक्ति नहीं मिलती। तुलसीदासजी कहते हैं—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(राम० उत्तर० ६१)

'हे तात! सत्सङ्गके बिना भगवान्की कथा सुननेको नहीं मिलती। (भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यकी कथा, उनके नाम, रूप, लीला एवं धामकी कथा, भगवान्के माहात्म्यकी कथा—ये सब हरि-कथाके अन्तर्गत हैं।) हरिकी कथाके बिना मोह अर्थात् अज्ञानका नाश नहीं होता। अज्ञानका नाश हुए बिना भगवान्में दृढ़ प्रेम नहीं हो सकता (बिना दृढ़ प्रेमके भगवान् नहीं मिलते)।'

अतः मूल सबका सत्सङ्ग ही है। इसीलिये हमें सत्सङ्गका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये और सत्सङ्गमें रहकर रात-दिन भगवान्की चर्चा करनी चाहिये। भगवान्की

चर्चाको छोड़कर एक मिनट भी दूसरे काममें यदि हम बिताते हैं तो यह हमारी भारी मूर्खता है। भगवान्‌की चर्चा अमृतके समान मधुर है, दूसरी बातें विषके समान हैं। जो अमृतका त्याग करके विषको ग्रहण करता है, उसको लोग मूर्ख ही कहेंगे। महात्माओंका दर्शन, भाषण, वार्तालाप, चिन्तन, सब कुछ अमृतसे भी बढ़कर—या यों कह सकते हैं कि रसमय, आनन्दमय एवं प्रेममय है। जैसे चकोर पक्षी पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखता ही रहता है, उसी प्रकार हम भी महात्माके मुखको निहारते रहें—उनकी अमृतमय वाणीको कानोंसे सुनते ही रहें।

एक घड़ी आधी घड़ी आधी में पुनि आध।
तुलसी संगत साधु की कटै कोटि अपराध॥

'सत्सङ्ग एक घड़ी अर्थात् चौबीस मिनटका भी मिल जाय तो बहुत आनन्द मानना चाहिये। यदि इतना न मिले, अपितु आधी घड़ी अर्थात् १२ मिनट अथवा पाव घड़ी अर्थात् ६ मिनटका भी मिल जाय तो उतनेसे ही हमारे करोड़ों अपराध नष्ट हो जायँगे।' उनके दर्शनसे, भाषणसे, स्पर्शसे, वार्तालापसे पापोंका नाश होता ही रहता है। तीर्थोंसे भी बढ़कर सत्सङ्गकी महिमा शास्त्रोंमें कही गयी है। तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले महात्मा ही होते हैं। संसारमें जितने भी तीर्थ बने हैं, वे सब-के-सब सत्पुरुषोंके प्रभावसे, महापुरुषोंके प्रभावसे, महापुरुषोंके भी महापुरुष भगवान्‌के प्रभावसे बने हैं। महात्मा भरतने सब तीर्थोंका जल एकत्रित करके जिस कूएँमें रखा था, वह आज संसारमें भरत-कूपके नामसे प्रसिद्ध है और महान् तीर्थ माना जाता है। भरद्वाज ऋषिका आश्रम भी उन्हींके कारण आज तीर्थ माना जाता है। एक क्या, जितने भी ऋषि हुए हैं, उन सभीके वासस्थान आज तीर्थोंमें परिगणित हैं। संतोंकी तो यहाँतक महिमा है कि जहाँ-जहाँ उनके चरण टिकते हैं, वह भूमि—स्थान पवित्र हो जाता है, उनका कुल पवित्र हो जाता है। शास्त्र कहते हैं—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥*

(स्क० माहेश्वर० कौमार० ५५। १४०)

'ज्ञान एवं आनन्दके अपार समुद्ररूप परब्रह्म परमात्मामें जिनका चित्त विलीन हो गया है, ऐसे पुरुषोंके चरण पड़नेसे पृथ्वी पवित्र हो जाती है। उनके दर्शन, भाषण एवं वार्तालापसे उनका कुल पवित्र हो जाता है; फिर उन्हें जन्म देनेवाली माता यदि मुक्त हो जाय तो कहना ही क्या है।'

महात्मा पुरुष दूसरोंके साथ जो उत्तम व्यवहार करते हैं, दूसरोंका जो उपकार करते हैं, वह तो महत्त्वकी बात है ही; किंतु इससे भी बढ़कर महत्त्वकी बात यह है कि जो उनके सम्पर्कमें आ जाते हैं, उन्हें भी वे महात्मा बना देते हैं। और तो और, उनके सङ्गसे अन्ततोगत्वा पापी भी महात्मा बन जाते हैं।

ऊपर यह बात कही गयी कि एक मनुष्य तो सदावर्त लेकर स्वयं अपना पेट भरता है और दूसरा भिखारियोंको, भूखोंको, अपंगोंको भोजन कराता है, स्वयं उसमेंसे नहीं लेता। परंतु क्या दूसरोंको अन्न बाँटनेवाला स्वयं भूखा रह सकता है? यदि उसके साधन सीमित हों और वह अपनी सारी भोजन-सामग्री दूसरोंको बाँट दे, अपने लिये एक दाना भी न रखे तो वह अवश्य भूखा रह सकता है; परंतु ऐसे उदार-हृदय परदुःखकातर पुरुषको भूखा रहनेमें भी आनन्दकी अनुभूति होती है। राजा रन्तिदेवको तो एक बार ४८ दिनोंतक भूखा रहना पड़ा था। बात यह थी कि उनके पास जो कुछ था, उसे उन्होंने दुःखी, अनाथ एवं आतुरोंको दे दिया था। इसीलिये उनकी शास्त्रोंने बड़ी महिमा गायी है। जो मनुष्य स्वयं भूखा रहकर अपने हिस्सेका भोजन दूसरेको दे देता है, उसका यह त्याग बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। उसकी तुलनामें एकादशीका निराहार-व्रत भी नगण्य है।

महाभारतके अश्वमेधपर्वके ९० वें अध्यायमें एक कथा आती है। किसी देशमें एक तपस्वी ब्राह्मण था, जो शिलोञ्छवृत्तिसे अपना एवं अपने कुटुम्बका पालन करता था तथा अतिथिसेवा भी करता था। एक बार उसे सात दिनतक कुछ भी खानेको नहीं मिला। सात दिन बाद उसे जौ मिले, उन्हें भूनकर तथा सत्तू बनाकर वह खानेकी तैयारी करने लगा। उस ब्राह्मणके घरमें उसकी स्त्री थी, जवान पुत्र था और पुत्रवधू थी। उसी समय दैवयोगसे एक ब्राह्मण अतिथि आ गया। उस अतिथिको ब्राह्मणने अपना हिस्सा दे दिया; किंतु उससे अतिथिकी तृप्ति नहीं हुई। तब ब्राह्मणने अपनी स्त्रीके आग्रहपर उसका भाग भी ब्राह्मणको दे दिया। इसपर भी जब ब्राह्मणदेवता तृप्त नहीं हुए, तब उसने अपने पुत्रका हिस्सा और इसके बाद पुत्रवधूका भाग भी उन दोनोंके आग्रह करनेपर अभ्यागतको दे दिया। समागत तृप्त हो

* नवलकिशोर प्रेस, लखनऊसे प्रकाशित प्रतिमें इस प्रकार पाठभेद भी मिलता है—
कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा भाग्यवती च तेन॥
विमुक्तिमार्गे सुखसिन्धुमग्नं लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः। (५२। १३७-१३८)

गया और उसने अपना परिचय इस प्रकार दिया। उन्होंने कहा—'मैं साक्षात् धर्मराज हूँ। तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये ब्राह्मणका रूप धारणकर तुम्हारे यहाँ आया था। तुमने हमको जीत लिया।' उसी समय उन्होंने अपने विमानको स्मरण किया, विमान तुरंत आ गया और उसपर बैठकर वे चारों उसी शरीरसे दिव्यलोकको चले गये। एक दिनके भोजनत्यागका यह फल है।

यह तो अन्नदानकी बात हुई। यदि किसीको भगवान् कृपा करके ऐसा अधिकार दे दें कि जैसे अन्नका सदावर्त बाँटनेवाला दूसरोंको अन्न बाँटकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार वह मुक्तिका सदावर्त बाँटने लगे तो उसे ऐसा करनेमें कितना आनन्द मिलेगा—जरा सोचकर देखिये। वह तो मुक्तिसे भी बढ़कर है।

राजा जनकने अपनी जनकपुरीमें मुक्तिका सदावर्त खोल रखा था। राजा अश्वपति भी अपने देशमें मुक्तिका वितरण किया करते थे। उनके यहाँ ऋषिलोग उपदेश ग्रहण करने आते थे और वे ज्ञानका उपदेश करके उनको ज्ञानी बना देते थे। बतलाइये, उनके समान कोई दूसरा हो सकता है? उनसे भी बढ़कर राजा कीर्तिमान् हुए, जो चक्रवर्ती राजा थे। सारे भूमण्डलके वे एकछत्र सम्राट् थे। उन्होंने सारी पृथ्वीके मनुष्योंको भक्तिका उपदेश करके कृतार्थ कर दिया। उस समय हमलोग किसी मनुष्येतर योनिमें रहे होंगे; यदि मनुष्यके शरीरमें होते तो हमलोगोंका भी कल्याण कभीका हो गया होता। उस समय न जाने किस योनिमें कहाँ हमलोग भटक रहे थे। वह अवसर हमलोगोंके हाथसे निकल गया, यद्यपि राजा कीर्तिमान् दस हजार वर्षतक जीवित रहे। दस हजार वर्षतक पृथ्वीपर जितने भी मानव थे, सबका उद्धार होता रहा। उनमेंसे एक भी यमके लोकमें नहीं गया, सब-के-सब भगवान्के परमधामको चले गये। ऐसी कथा स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्डमें आती है।

फिर भी हमलोग उस समय कल्याणसे वञ्चित रह ही गये। इसकी भी कोई परवा न करके हमलोगोंको तो ऐसा भाव रखना चाहिये कि सबका कल्याण हो जाय। यह भाव जिनका है, ऐसे महापुरुषोंका सङ्ग यदि हमें मिल जाय तो फिर हमलोगोंको और करना ही क्या रह जाय। बस, उनके साथ रहकर हमलोग मुक्तिका सदावर्त बाँटते हुए संसारमें विचरते रहें। जबतक संसारका एक जीव भी शेष रहे, तबतक यदि घूमते रहें तो भी क्या आपत्ति है, प्रत्युत बड़े आनन्दकी बात है।

सत्सङ्ग और भगवद्भक्तोंके लक्षण, उनकी महिमा, प्रभाव और उदाहरण

'सत्' जो भगवान् हैं, उनके प्रति प्रेम और उनका मिलन ही वास्तविक एवं मुख्य सत्सङ्ग है। भगवत्प्राप्त भक्तों या जीवन्मुक्त ज्ञानी महात्माओंका सङ्ग दूसरी श्रेणीका सत्सङ्ग है। भगवत्प्रेमी उच्चकोटिके साधकोंका सङ्ग तीसरी श्रेणीका सत्सङ्ग है। चौथी श्रेणीमें सत्-शास्त्रोंका अनुशीलन भी सत्सङ्ग है।

सत्स्वरूप भगवान्में प्रेम होना और उनका मिलना तो सब साधनोंका फल है। जो भगवान्को प्राप्त हो चुके हैं तथा जिनका भगवान्में अनन्य प्रेम है, ऐसे भगवत्प्राप्त भक्तोंका मिलन या सङ्ग भगवान्की कृपासे ही मिलता है। वह पुरुष भगवान्की कृपाका अधिकारी होता है, जो अपनेपर भगवान्की अतिशय कृपा मानता है। वह फिर उस कृपाको तत्त्वसे जानकर परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है (गीता ५। २९)। जिसकी भगवान्में और उनके भक्तोंमें श्रद्धा, विश्वास और प्रेम होता है एवं जिसके अन्तःकरणमें पूर्वके श्रद्धा-भक्तिविषयक संस्कार संचित हैं, वह भी भगवान्की कृपाका अधिकारी होता है।

श्रीरामचरितमानसके सुन्दरकाण्डमें भक्त विभीषणने हनुमान्जीसे कहा है—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥

(सुन्दर० ७। २)

'हे हनुमान्! अब मुझे विश्वास हो गया कि श्रीरामजीकी मुझपर कृपा है; क्योंकि हरिकी कृपाके बिना संत नहीं मिलते।'

श्रीशिवजी भी पार्वतीजीसे कहते हैं—

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान॥

(राम० उत्तर० १२५ ख)

'हे गिरिजे! संत-समागमके समान दूसरा कोई लाभ नहीं है। पर वह श्रीहरिकी कृपाके बिना सम्भव नहीं है, ऐसी बात वेद और पुराण कहते हैं।'

पूर्वके उत्तम संस्कारोंके प्रभावसे भी भक्तोंका मिलन होता है। श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने प्रजाको उपदेश देते हुए कहा है—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥

(४४। ३)

'भक्ति स्वतन्त्र साधन है और सब सुखोंकी खान

है। परंतु सत्सङ्गके बिना प्राणी इसे नहीं पा सकते और पुण्यसमूहके बिना संत नहीं मिलते। सत्सङ्गति ही जन्म-मरणके चक्रका अन्त करती है।'

अब ऐसे भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षण बतलाये जाते हैं, जिनको गीतामें स्वयं भगवान्‌ने अपना प्रिय भक्त कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(१२। १३-१४)

'जो पुरुष जीवमात्रके प्रति द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे शून्य, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय कर देता है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, जिसने मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें कर लिया है, जिसका मुझमें दृढ़ निश्चय है तथा जिसके मन एवं बुद्धि मुझमें अर्पित हैं, वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

भगवत्प्राप्त भक्तों या जीवन्मुक्त गुणातीत पुरुषोंका सभी प्राणियों एवं पदार्थोंके प्रति समान भाव होता है (गीता १४। २४-२५)। उनका किसीसे भी व्यक्तिगत स्वार्थका सम्बन्ध नहीं होता (गीता ३। १८)। उनका देह या मकान आदिमें ममता, आसक्ति और अभिमानका सर्वथा अभाव होता है (गीता १२। १९)। उनका यावन्मात्र प्राणियोंपर दया और प्रेम रहता है (गीता १२। १३)। एवं उनका सबमें समभाव भी रहता है। उन परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषोंके समभावका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५। १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समान दृष्टि रखते हैं।'

यहाँ भगवान्‌ने ज्ञानीको समदर्शी कहकर यह भाव व्यक्त किया है कि उनका सबके साथ शास्त्रविहित न्याययुक्त व्यवहारका भेद रहते हुए भी सबमें समभाव रहता है। सबके साथ समान व्यवहार तो कोई कर ही नहीं सकता; क्योंकि विवाह या श्राद्धादि कर्म ब्राह्मणसे ही करवाये जाते हैं, चाण्डाल आदिसे नहीं; दूध गायका ही पीया जाता है, कुतियाका नहीं; सवारी हाथीकी ही की जाती है, गायकी नहीं; पत्ते और घास आदि हाथी और गायको ही खिलाये जाते हैं, कुत्ते या मनुष्योंको नहीं। अतः सबके हितकी ओर दृष्टि रखते हुए ही आदर-सत्कारपूर्वक सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करना ही समव्यवहार है, न कि एक ही पदार्थसे सबकी समानरूपसे सेवा करना। किंतु सबमें व्यवहारका यथायोग्य भेद रहनेपर भी प्रेम और आत्मीयता अपने शरीरकी भाँति सबमें समान होनी चाहिये। जैसे अपने शरीरमें प्रेम और आत्मभाव (अपनापन) समान होते हुए भी व्यवहार अपने ही अङ्गोंके साथ अलग-अलग होता है—जैसे मस्तकके साथ ब्राह्मणकी तरह, हाथोंके साथ क्षत्रियकी तरह, जङ्घाके साथ वैश्यके समान, पैरोंके साथ शूद्रके समान एवं गुदा-उपस्थादिके साथ अछूतके समान व्यवहार किया जाता है; उसी प्रकार सबके साथ अपने आत्माके समान समभाव रखते हुए ही यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें समदृष्टि रखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

श्रीरामचरितमानसमें भरतके प्रति संतोंके लक्षण बतलाते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूत रिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

(उत्तर० ३७। १—४)

निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥

(उत्तर० ३८)

'संत विषयोंमें लंपट (लिप्त) नहीं होते, वे शील और सद्गुणोंकी खान होते हैं। उन्हें पराया दुःख देखकर दुःख और सुख देखकर सुख होता है। वे सबमें सर्वत्र सब समय समदृष्टि रखते हैं। उनके मनमें उनका कोई शत्रु नहीं होता। वे घमंडसे शून्य और वैराग्यवान् होते हैं तथा लोभ, क्रोध, हर्ष और भयके त्यागी होते हैं। उनका चित्त बड़ा कोमल होता है। वे दीनोंपर दया करते हैं

तथा मन, वचन और कर्मसे मेरी निष्कपट (विशुद्ध) भक्ति करते हैं। सबको सम्मान देते हैं; पर स्वयं मानरहित होते हैं। हे भरत! वे प्राणी (संतजन) मुझे प्राणोंके समान प्यारे होते हैं। उनमें कोई कामना नहीं होती। वे मेरे नामके परायण (आश्रित) होते हैं तथा शान्ति, वैराग्य, विनय और प्रसन्नताके घर होते हैं। उनमें शीतलता, सरलता, सबके प्रति मित्रभाव और ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रीति होती है, जो (सम्पूर्ण) धर्मोंकी जननी है। हे तात! ये सब लक्षण जिसके हृदयमें बसते हों, उसको सदा सच्चा संत जानना। जिनका मन और इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, जो नियम (सदाचार) और नीति (मर्यादा) से कभी विचलित नहीं होते और मुखसे कभी कठोर वचन नहीं बोलते, जिन्हें निन्दा और स्तुति दोनों समान हैं और मेरे चरणकमलोंमें जिनकी ममता है, वे गुणोंके धाम और सुखकी राशि संतजन मुझे प्राणोंके समान प्रिय हैं।'

इन लक्षणोंमें बहुत-से तो आन्तरिक होनेके कारण स्वसंवेद्य हैं, अतः उनको वे भक्त स्वयं ही जानते हैं और बहुत-से आचरण ऐसे भी हैं, जिन्हें देखकर दूसरे लोग भी उनकी स्थितिका कुछ अनुमान लगा सकते हैं। किंतु वास्तवमें तो ईश्वर और महात्माओंकी जिनपर कृपा होती है, वे ही उनको जान सकते हैं। जिनके सङ्ग, दर्शन, भाषण और वार्तालापसे अपनेमें भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षणोंका प्रादुर्भाव हो, हमारे लिये तो, वे ही भगवत्प्राप्त संत हैं—यों समझकर उन सत्पुरुषोंसे लाभ उठाना चाहिये। जो सत्पुरुषोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सङ्ग करके उनकी आज्ञाका पालन करता है, वही उनसे विशेष लाभ उठा सकता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(१३। २५)

'दूसरे (मन्दबुद्धि लोग जो ध्यानयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोगकी बात नहीं जानते) इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे—तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निस्संदेह पार कर लेते हैं।'

ऐसे संतोंके सङ्गकी महिमा और प्रभावका वर्णन करते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥
बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥
सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई॥

(राम० बाल० २। २—५)

'जलमें रहनेवाले, जमीनपर चलनेवाले और आकाशमें विचरनेवाले नाना प्रकारके जड़-चेतन जो भी जीव इस जगत्‌में हैं, उनमेंसे जिसने जिस समय जहाँ कहीं भी जिस किसी उपायसे बुद्धि (ज्ञान), कीर्ति, सद्गति, विभूति (ऐश्वर्य) और भलाई (अच्छापन) पायी है, वह सब सत्सङ्गका ही प्रभाव समझना चाहिये। वेदोंमें और लोकमें भी उनकी प्राप्तिका दूसरा कोई साधन नहीं है। सत्सङ्गके बिना विवेक (सत्-असत्‌की पहचान) नहीं होता और श्रीरामचन्द्रजीकी कृपाके बिना वह सत्सङ्ग सहजमें मिलता नहीं। सत्सङ्गति आनन्द और कल्याणकी जड़ है। सत्सङ्गकी सिद्धि (प्राप्ति) ही फल है, अन्य सब साधन तो फूल हैं। दुष्ट भी सत्सङ्ग पाकर सुधर जाते हैं, जैसे पारसके स्पर्शसे लोहा सुहावना हो जाता है—सुन्दर सुवर्ण बन जाता है।'

इसी विषयमें श्रीमहादेवजीने गरुड़जीसे कहा है—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(राम० उत्तर० ६१)

'सत्सङ्गके बिना श्रीहरिकी कथा सुननेको नहीं मिलती, हरिकथा-श्रवणके बिना मोह नहीं भागता—मोहका नाश नहीं होता और मोहके गये बिना श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दृढ़ (अचल) प्रेम नहीं होता।'

श्रीकाकभुशुण्डिजीने भी गरुड़जीसे कहा है—

सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥

(राम० उत्तर० ११९। ९-१०)

'सुन्दर हरिभक्ति ही समस्त साधनोंका फल है। परंतु उसे संत- (की कृपा) के बिना किसीने नहीं पाया। यों विचारकर जो भी संतोंका सङ्ग करता है, हे गरुड़जी! उसके लिये श्रीरामजीकी भक्ति सुलभ हो जाती है।'

फिर जिनको भगवान्‌ने संसारका कल्याण करनेके लिये ही संसारमें भेजा है, उन परम अधिकारी पुरुषोंकी तो बात ही क्या है! उनके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन और वार्तालापसे भी विशेष लाभ हो सकता है। जैसे किसी कामी पुरुषके अंदर कामिनीके दर्शन, भाषण, स्पर्श या चिन्तनसे कामकी जागृति हो जाती है, वैसे ही भगवत्प्रेमी पुरुषोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श या चिन्तनसे भगवत्प्रेमकी जागृति अवश्य होनी चाहिये। प्रसिद्ध है कि पारसके सङ्गसे लोहा सोना बन जाता है; किंतु

महात्माके सङ्गकी तो उससे भी बढ़कर महिमा बतलायी गयी है; किसी कविने कहा है—

पारस में अरु संत में, बहुत अंतरौ जान।
वह लोहा कंचन करै, वह करै आपु समान॥

'पारसमें और संतमें बहुत अन्तर समझना चाहिये। पारस लोहेको सोना अवश्य बना देता है; किंतु संत तो अपने सम्पर्कमें आनेवालेको अपने समान ही बना लेते हैं।'

पारसके साथ सम्बन्ध होनेपर लोहा अवश्य ही सोना बन जाता है। यदि न बने तो यही समझना चाहिये कि या तो वह पारस पारस नहीं है या वह लोहा लोहा नहीं है। इसी प्रकार महापुरुषोंके सङ्गसे साधक अवश्य ही महापुरुष बन जाता है। यदि नहीं बनता तो यही समझना चाहिये कि या तो वह महापुरुष महापुरुष नहीं है अथवा साधकमें श्रद्धा-विश्वास और प्रेमकी कमी है।

उन भगवद्भक्त अधिकारी पुरुषोंकी तो जहाँ भी दृष्टि पड़ती है, वे जिनका मनसे स्मरण कर लेते हैं या जिनका स्पर्श कर लेते हैं, उन व्यक्तियों और पदार्थोंमें भगवत्प्रेमके परमाणु प्रवेश कर जाते हैं। किसी जिज्ञासुके मरनेके पूर्व यदि वे वहाँ पहुँच जाते हैं तो कथा-कीर्तन सुनाकर उसका कल्याण कर देते हैं। श्रीनारदपुराणमें तो यहाँतक कहा गया है—

महापातकयुक्ता वा युक्ता वा चोपपातकैः।
परं पदं प्रयान्त्येव महद्भिरवलोकिताः॥
कलेवरं वा तद्भस्म तद्धूमं वापि सत्तम।
यदि पश्यति पुण्यात्मा स प्रयाति परां गतिम्॥

(ना० पूर्व० ७। ७४-७५)

'जो अधिकारी महापुरुषोंके द्वारा देख लिये जाते हैं, वे महापातक या उपपातकोंसे युक्त होनेपर भी अवश्य परम पदको प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे पवित्रात्मा महापुरुष यदि किसीके मृत शरीरको, उसकी चिताके धूएँको अथवा उसके भस्मको भी देख लें तो वह मृतक पुरुष भी परम गतिको पा लेता है।'

इसीलिये महापुरुषोंके सङ्गकी महिमा शास्त्रोंमें विशेषरूपसे वर्णित है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(१। १८। १३)

'भगवत्सङ्गी (भगवत्प्रेमी) पुरुषके लव (क्षण) मात्रके भी सङ्गके साथ हम स्वर्गकी तो क्या, मोक्षकी भी तुलना नहीं कर सकते; फिर संसारके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है ?'

श्रीरामचरितमानसमें भी लङ्किनी राक्षसीका हनुमान्‌जीके प्रति इसी तरहका वचन मिलता है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(सुन्दर० ४)

'हे तात! स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको यदि तराजूके एक पलड़ेमें रखा जाय तो वे सब मिलकर भी (दूसरे पलड़ेपर रखे हुए) उस सुखके बराबर नहीं हो सकते, जो लवमात्रके सत्सङ्गसे प्राप्त होता है।'

ऐसे महापुरुषोंकी कृपाको भक्तिकी प्राप्तिका प्रधान साधन बतलाते हुए श्रीनारदजी कहते हैं—

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद् वा।

(नारद० ३८)

'भगवान्‌की भक्ति मुख्यतया महापुरुषोंकी कृपासे ही अथवा भगवान्‌की कृपाके लेशमात्रसे प्राप्त होती है।'

नारदजी फिर कहते हैं—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च। (ना० भ० सू० ३९)

'उन महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ एवं अगम्य होते हुए भी मिल जानेपर अमोघ होता है।'

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव। (ना० भ० सू० ४०)

'और वह भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है।'

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥

(११। २। २९)

'प्राणियोंके लिये मनुष्य-शरीरका प्राप्त होना कठिन है। यदि यह प्राप्त हो भी गया तो है यह क्षणभङ्गुर। और ऐसे अनिश्चित मनुष्य-जीवनमें भगवान्‌के प्रिय भक्तजनोंका दर्शन तो और भी दुर्लभ है।'

ऐसे महापुरुषोंका मिलन हो जाय तो हमलोगोंको चाहिये कि हम उनको साष्टाङ्ग नमस्कार करें, उनसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रश्न करके भगवान्‌के तत्त्वको जानें, उनकी आज्ञाका पालन करें और उनकी सेवा करें। उनकी आज्ञाका पालन करना ही उनकी वास्तविक सेवा है तथा इससे भी बढ़कर है—उन महापुरुषोंके संकेत, सिद्धान्त और मनके अनुकूल चलना, अपने मन-इन्द्रियोंकी डोरको उनके हाथमें सौंप देना और उनके हाथकी कठपुतली बन जाना। इस प्रकारकी चेष्टा करनेवाले परम श्रद्धालु मनुष्यके अंदर उन सत्पुरुषोंके सङ्गके प्रभावसे सद्गुण-सदाचारका प्रादुर्भाव तथा दुर्गुण-दुराचारका नाश ही नहीं,

अपितु भगवान्‌की भक्ति, उनके तत्त्वका ज्ञान और भगवत्प्राप्ति आदि सहजमें ही हो जाते हैं।

शास्त्रोंमें सत्सङ्गके प्रभावके अनेक उदाहरण मिलते हैं। हमलोगोंको उनपर ध्यान देना चाहिये। भगवान्‌के प्रेम और मिलनरूप सत्सङ्गके श्रेष्ठ उदाहरण हैं—सुतीक्ष्ण और शबरी। इनकी कथा श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें देखनेको मिलती है। तथा भगवत्प्राप्त भक्तोंके सङ्गसे भगवान्‌के तत्त्वका ज्ञान और उनकी प्राप्ति होनेके तो बहुत उदाहरण हैं। श्रीनारदजीके सङ्ग और उपदेशसे ध्रुवको भगवान्‌के दर्शन हो गये और उनके अभीष्टकी भी सिद्धि हो गयी (श्रीमद्भागवत स्कन्ध ४, अध्याय ८-९)। श्रीकाकभुशुण्डिजीके सत्सङ्गसे गरुड़जीका मोहनाश ही नहीं, उन्हें भगवान्‌का अनन्य प्रेम भी प्राप्त हो गया (श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड) तथा श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके सङ्ग और उपदेशसे श्रीवास, रघुनाथ भट्ट और हरिदास आदिका उद्धार हो गया।

इसी प्रकार जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषोंके सङ्गसे भी परमात्माका ज्ञान और उनकी प्राप्ति होनेके बहुत उदाहरण मिलते हैं। महात्मा हारिद्रुमत गौतमकी आज्ञाका पालन करनेसे जबालापुत्र सत्यकामको और सत्यकामके सङ्ग और सेवासे उपकोसलको ब्रह्मका ज्ञान हो गया (छान्दोग्य-उप० अ० ४, ख० ४ से १७)। राजा अश्वपतिका सङ्ग करनेपर उनके उपदेशसे महात्मा उद्दालकको साथ लेकर उनके पास आये हुए प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल नामक पाँच ऋषियोंको ज्ञान प्राप्त हो गया (छान्दोग्य-उप० अ० ५, ख० ११)। अरुणपुत्र उद्दालकके सत्सङ्गसे श्वेतकेतुको ब्रह्मका ज्ञान हो गया (छान्दोग्य-उप० अ० ६, ख० ८ से १६)। श्रीसनत्कुमारजीके सङ्ग और उपदेशसे नारदजीका अज्ञानान्धकार दूर हो गया तथा उनको ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (छान्दोग्य-उप० अ० ७)। याज्ञवल्क्य मुनिके उपदेशसे मैत्रेयीको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (बृहदारण्यक० अ० ४, ब्रा० ५)। श्रीधर्मराजके सङ्ग और उपदेशसे नचिकेता आत्मतत्त्वको जानकर ब्रह्मभावको प्राप्त हो गये (कठोपनिषद् अ० १-२)। महात्मा जडभरतके सङ्ग और उपदेशसे राजा रहूगणको परमात्माका ज्ञान हो गया (भागवत स्कन्ध ५, अ० ११ से १३)। इस प्रकार सत्सङ्गसे भगवान्‌में प्रेम, उनके तत्त्वका ज्ञान और उनकी प्राप्ति होनेके उदाहरण श्रुतियों तथा इतिहास-पुराणोंमें भरे पड़े हैं। हमलोगोंको चाहिये कि शास्त्रोंका अनुशीलन करके सत्सङ्गका प्रभाव समझें और उसके अनुसार सत्पुरुषोंके सङ्गका लाभ उठायें; क्योंकि मनुष्य जैसा सङ्ग करता है, वैसा ही बन जाता है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—*जैसा करै सङ्ग, वैसा चढ़ै रंग।* और देखनेमें भी आता है कि मनुष्य योगीके सङ्गसे योगी, भोगीके सङ्गसे भोगी और रोगीके सङ्गसे रोगी हो जाता है। इस बातको समझकर हमें संसारासक्त मनुष्योंका सङ्ग न करके महात्मा पुरुषोंका ही सङ्ग करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंका सङ्ग मुक्तिदायक है और संसारासक्त मनुष्योंका सङ्ग बन्धनकारक है।

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ॥

(राम० उत्तर० ३३)

'संतका सङ्ग मोक्ष-(भव-बन्धनसे छूटने) का और कामीका सङ्ग जन्म-मृत्युके बन्धनमें पड़नेका मार्ग है। संत, ज्ञानी और पण्डित तथा वेद-पुराण आदि सभी सद्ग्रन्थ ऐसी बात कहते हैं।'

किंतु यदि महात्मा पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त न हो तो उनके अभावमें विरक्त दैवी-सम्पदायुक्त उच्चकोटिके साधकोंका सङ्ग करना चाहिये। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक साधन करते हुए उनका सङ्ग करनेसे भी बहुत लाभ होता है; क्योंकि वीतराग पुरुषोंके स्मरणसे वैराग्यके भाव जाग्रत् होते हैं और मनकी एकाग्रता हो जाती है। श्रीपातञ्जलयोगदर्शनमें बतलाया गया है—

वीतरागविषयं वा चित्तम्। (१। ३७)

'जिन पुरुषोंकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, ऐसे विरक्त पुरुषोंको ध्येय बनाकर अभ्यास करनेवाला व्यक्ति स्थिरचित्त हो जाता है।'

जो उच्चकोटिके वीतराग साधु-महात्मा होते हैं, उनके लिये त्रिलोकीका ऐश्वर्य भी धूलके समान होता है। वे मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाको कलङ्क समझते हैं। इसलिये वे न अपने पैर पुजवाते हैं, न अपने पैरोंकी धूल किसीको देते हैं और न पैरोंका जल ही। न वे अपना फोटो पुजवाते हैं और न मान-पत्र ही लेते हैं। वे अपनी कीर्ति कभी नहीं चाहते, बल्कि जहाँ कीर्ति होती है, वहाँ ठहरते ही नहीं; फिर अपनी आरती उतरवाने और लोगोंको उच्छिष्ट खिलानेकी तो बात ही क्या है। यदि ऐसे विरक्त महापुरुषोंका सङ्ग न प्राप्त हो तो मनुष्यको चाहिये कि दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग तो कभी न करे। दुष्ट पुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजीने लिखा है—

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई॥
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥

जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥
(राम० उत्तर० ३९। १—३)

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद॥
(राम० उत्तर० ३९)

मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहिं आनहिं॥
करहिं मोह बस द्रोह परावा। संत संग हरि कथा न भावा॥
अवगुन सिंधु मंदमति कामी। बेद बिदूषक परधन स्वामी॥
बिप्र द्रोह पर द्रोह बिसेषा। दंभ कपट जियँ धरें सुबेषा॥

ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेताँ नाहिं।
द्वापर कछुक बृंद बहु होइहहिं कलिजुग माहिं॥
(राम० उत्तर० ४०। ३-४)

'अब असंतों-(दुष्टों) का स्वभाव सुनो। कभी भूलकर भी उनकी संगति नहीं करनी चाहिये। उनका सङ्ग उसी प्रकार सदा दुःख देनेवाला होता है, जैसे हरहाई (बुरे स्वभावकी) गाय कपिला (अच्छे स्वभाववाली सीधी और दुधार) गायको अपने सङ्गसे नष्ट कर डालती है। दुष्टोंके हृदयमें बहुत अधिक संताप होता है। वे परायी सम्पत्ति (सुख) देखकर सदा जलते रहते हैं, वे जहाँ-कहीं दूसरेकी निन्दा सुन लेते हैं, वहाँ ऐसे हर्षित होते हैं, मानो रास्तेमें पड़ा खजाना उन्हें मिल गया हो। वे काम, क्रोध, मद और लोभके परायण तथा निर्दयी, कपटी, कुटिल और पापोंके घर होते हैं। वे बिना ही कारण सब किसीसे वैर किया करते हैं। जो उनके साथ भलाई करता है, उसका भी अपकार करते हैं। वे दूसरोंसे द्रोह करते हैं और परायी स्त्री, पराये धन तथा परायी निन्दामें आसक्त रहते हैं। वे पामर और पापमय मनुष्य नर-शरीर धारण किये हुए राक्षस ही हैं। वे माता, पिता, गुरु और ब्राह्मण—किसीको नहीं मानते। स्वयं तो नष्ट हुए ही रहते हैं, अपने सङ्गसे दूसरोंको भी नष्ट करते हैं। वे मोहवश दूसरोंसे द्रोह करते हैं। उन्हें न संतोंका सङ्ग अच्छा लगता है, न भगवान्‌की कथा ही सुहाती है। वे अवगुणोंके समुद्र, मन्दबुद्धि, कामी तथा वेदोंके निन्दक होते हैं और बलपूर्वक पराये धनके स्वामी बन जाते हैं। वे ब्राह्मणोंसे तो द्रोह करते ही हैं, परमात्माके साथ भी विशेषरूपसे द्रोह करते हैं। उनके हृदयमें दम्भ और कपट भरा रहता है, परंतु वे ऊपरसे सुन्दर वेष धारण किये रहते हैं। ऐसे नीच और दुष्ट मनुष्य सत्ययुग और त्रेतामें नहीं होते, द्वापरमें थोड़े होते हैं; किंतु कलियुगमें तो इनके झुंड-के-झुंड होते हैं।'

आगे फिर कलियुगका वर्णन करते हुए पूज्यपाद गोस्वामीजी कहते हैं—

कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ॥
(राम० उत्तर० ९७ क)

मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥

× × ×

निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥

असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥
(राम० उत्तर० ९८क। २—४)

सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
गुर सिष बधिर अंध का लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा॥
हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई॥
(राम० उत्तर० ९९। १, ३, ४)

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी॥
ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥
(राम० उत्तर० १००। ३-४)

'कलियुगके पापोंने सारे धर्मोंको ग्रस लिया, सद्ग्रन्थ लुप्त हो गये, दम्भियोंने अपनी बुद्धिसे कल्पना करके बहुत-से पंथ प्रकट कर दिये। कलियुगमें जिसको जो अच्छा लग जाय, वही मार्ग है। जो डींग मारता है, वही पण्डित है। जो मिथ्या आरम्भ करता (आडम्बर रचता) है और जो दम्भमें रत है, उसीको सब कोई संत कहते हैं। जो जिस किसी प्रकारसे दूसरेका धन हरण कर ले, वही बुद्धिमान् है। जो दम्भ करता है, वही बड़ा आचारी है, जो आचारहीन और वेदमार्गका त्यागी है, कलियुगमें वही ज्ञानी और वही वैराग्यवान् है। जिसके बड़े-बड़े नख और लम्बी-लम्बी जटाएँ हैं, वही कलियुगमें प्रसिद्ध तपस्वी है। जो अमङ्गल वेष और अमङ्गल भूषण धारण करते हैं और भक्ष्य-अभक्ष्य (खानेयोग्य और न खानेयोग्य)—सब कुछ खा लेते हैं, वे ही योगी हैं, वे ही सिद्ध हैं और वे ही मनुष्य कलियुगमें पूज्य हैं। शूद्र ब्राह्मणोंको ज्ञानोपदेश करते हैं और गलेमें जनेऊ डालकर कुत्सित दान लेते हैं। गुरु और शिष्य क्रमशः अंधे और बहरेके समान होते हैं—एक (शिष्य) गुरुके उपदेशको सुनता नहीं, दूसरा (गुरु) देखता नहीं (ज्ञानदृष्टिसे हीन

है)। जो गुरु शिष्यका धन तो हर लेता है, पर शोक नहीं मिटा सकता, वह घोर नरकमें पड़ता है। तेली, कुम्हार, चाण्डाल, भील, कोल और कलवार आदि जो वर्णमें नीचे हैं, वे स्त्रीके मरनेपर अथवा घरकी सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर सिर मुड़ाकर संन्यासी हो जाते हैं। वे अपनेको ब्राह्मणोंसे पुजवाते हैं, जिससे अपने ही हाथों इस लोक और परलोक—दोनोंको नष्ट करते हैं।'

सुना और देखा भी जाता है कि आजकल दम्भीलोग भक्त, साधु, ज्ञानी, योगी और महात्मा सजकर अपने नामका जप और अपने स्वरूपका ध्यान करवाते हैं तथा अपने पैरोंका जल पिलाकर एवं अपनी जूठन खिलाकर अपना और लोगोंका धर्म भ्रष्ट करते हैं। ऐसे दम्भी मनुष्योंसे सब लोगोंको सदा सावधान रहना चाहिये; क्योंकि ऐसे पुरुषोंके सङ्गसे मनुष्यमें दुर्गुण-दुराचारोंकी वृद्धि होती है और परिणामतः उसका पतन हो जाता है। इसके विपरीत जिस पुरुषके दर्शन, भाषण, वार्तालाप और सङ्गसे हमारे अंदर गीताके १६ वें अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक बतलाये हुए सद्गुण-सदाचाररूप दैवी-सम्पदाके लक्षण प्रकट हों और भगवान्‌की भक्तिका उदय हो, उसे दैवी-सम्पदायुक्त उच्चकोटिका साधक भगवद्भक्त समझना चाहिये। ऐसे साधक भक्तोंके लक्षण गीताके ९ वें अध्यायके १३ वें, १४ वें श्लोकोंमें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

'परंतु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित—अक्षर-स्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं। वे दृढ़निश्चयी भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।'

ऐसे पुरुषोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सङ्ग करनेसे दैवी-सम्पदाके लक्षणोंका और ईश्वर-भक्तिका प्रादुर्भाव अवश्य ही होना चाहिये। यदि नहीं होता तो समझना चाहिये कि या तो जिस साधक भक्तका हम सङ्ग कर रहे हैं, उसमें कोई कमी है अथवा हममें श्रद्धा-भक्तिकी कमी है।

किंतु यदि ऐसे उच्चकोटिके वीतराग साधकोंका भी सङ्ग न मिले तो सत्-शास्त्रोंका सङ्ग (अध्ययन) करना चाहिये; क्योंकि सत्-शास्त्रोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग ही है। श्रुति-स्मृति, गीता, रामायण, भागवत आदि इतिहास-पुराण तथा इसी प्रकारके ज्ञान, वैराग्य और सदाचारसे युक्त अन्य सत्-शास्त्रोंका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अनुशीलन तथा उनमें कही हुई बातोंको हृदयमें धारण और पालन करनेसे भी मनुष्यका संसारसे वैराग्य और भगवान्‌से प्रेम होता है तथा आगे चलकर वह सच्चा भक्त बन जाता है एवं भगवान्‌को यथार्थरूपसे जानकर उनको प्राप्त हो जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्तियोग

श्रीमद्भगवद्गीता समस्त शास्त्रोंका और विशेषकर उपनिषदोंका सार है। स्वयं श्रीवेदव्यासजीने महाभारतके भीष्मपर्वमें कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥

(४३। १-२)

'केवल गीताका ही भलीभाँति गान (श्रवण, कीर्तन, पठन, पाठन, मनन और धारण) करना चाहिये; अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है; क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ-भगवान्‌के साक्षात् मुख-कमलसे निकली हुई है। गीता सर्वशास्त्रमयी है, श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, श्रीगङ्गा सर्वतीर्थमयी है और मनुस्मृति सर्ववेदमयी है।'

इतना ही नहीं, स्वयं भगवान्‌ने भी यह कहा है कि सब शास्त्रोंमें जो बात कही गयी है, वही बात यहाँ तू मुझसे सुन—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥

(गीता १३। ४)

'यह तत्त्व ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे वर्णन किया गया है और विविध वेदमन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक निरूपित है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है।'

अतएव हमलोगोंको गीताका भलीभाँति अध्ययन और मनन करना चाहिये; क्योंकि मनन करनेपर उसमें

भरे हुए गोपनीय तत्त्वका पता लगता है। अब यहाँ गीतामें वर्णित भक्तिके विषयमें कुछ विचार किया जाता है—

गीता भक्तिसे ओतप्रोत है। गीतामें कहीं तो भेदोपासनाका वर्णन है और कहीं अभेदोपासनाका। कितने ही सज्जन कहते हैं कि पहले छः अध्यायोंमें कर्मयोगकी, बीचके छः अध्यायोंमें भक्तियोगकी और अन्तके छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगकी प्रधानता है। पहले छः अध्यायोंमें कर्मयोग और अन्तिम छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगकी प्रधानता तो मानी जा सकती है; किंतु सातवें अध्यायसे बारहवें अध्यायतक तो भक्ति-ही-भक्ति भरी है; अतः इन सभी अध्यायोंको भक्तियोग ही कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं; क्योंकि इनमेंसे अधिकांशमें तो सगुण-साकार और सगुण-निराकारका ही वर्णन है, किसी-किसी स्थलमें निर्गुण-निराकारकी उपासनाका भी उल्लेख है। इन छहों अध्यायोंमें कुल २०९ श्लोक हैं। इनमें जो एक गोपनीय रहस्यकी बात है, उसका यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है।

इन सभी श्लोकोंपर भलीभाँति ध्यान देकर देखनेसे पता लगता है कि प्रायः प्रत्येक श्लोकमें ही किसी-न-किसी रूपमें भगवद्वाचक पद आया है। जहाँ भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं, वहाँ तो अहम्, माम्, मया, मत्तः, मम, मे, मयि और अस्मि आदि पदोंका प्रयोग है एवं अर्जुनके वचनोंमें त्वम्, त्वाम्, त्वया, त्वत्तः, तव, ते, भवान् और असि तथा जनार्दन, पुरुषोत्तम, देव, देवेश, जगन्निवास आदि पदोंका प्रयोग है। इसी प्रकार संजयके वचनोंमें भी स्पष्ट ही हरि, देव, देवदेव, केशव, कृष्ण, वासुदेव आदि भगवद्वाचक शब्द आये हैं। अधिकांश शब्द तो सगुण-साकार और सगुण-निराकारके ही वाचक हैं, पर कितने ही शब्द निर्गुण-निराकारके वाचक भी हैं—जैसे ॐ, अक्षर, अव्यक्त, ब्रह्म आदि।

इन २०९ श्लोकोंमेंसे अधिकांशमें भगवान्के द्योतक शब्द ही हैं, केवल इनका दसवाँ अंश अर्थात् २१ श्लोक ऐसे हैं, जिनमें भगवत्-वाचक शब्द नहीं हैं। किंतु वे भी भाव और प्रकरणके अनुसार भक्तिसे पृथक् नहीं हैं। इनमेंसे आठवें अध्यायमें ऐसे ९ श्लोक हैं, शेष पाँच अध्यायोंमेंसे प्रत्येकमें दो या तीन श्लोकसे अधिक ऐसे नहीं हैं। पाँचों अध्यायोंमें कुल मिलाकर १२ श्लोक ही ऐसे आये हैं, जिनमें प्रकटरूपमें भगवद्वाचक शब्द नहीं हैं—जैसे सातवें अध्यायका २०वाँ और २७वाँ; नवें अध्यायका २रा, १२वाँ और २१वाँ; दसवेंका ४था और २६वाँ, ग्यारहवेंका ६ठा और १०वाँ एवं बारहवेंका १२वाँ, १३वाँ और १८वाँ।

जिनमें कर्मयोगकी प्रधानता मानी गयी है, उन अध्यायों (१ से ६ तक) में भी कोई भी अध्याय भक्तिके वर्णनसे खाली नहीं है। पहले अध्यायमें संजय और अर्जुनके वचनोंमें माधव, हृषीकेश, अच्युत, कृष्ण, केशव, मधुसूदन, जनार्दन, वार्ष्णेय आदि भक्तिभावसे ओतप्रोत भगवद्वाचक शब्द आये हैं। दूसरे अध्यायके ६१वें श्लोकमें तो भगवत्-शरणागतिका भाव स्पष्ट ही है—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

'साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण (शरण) होकर ध्यानमें बैठे; क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर होती है।'

इसी प्रकार तीसरे अध्यायके ३०वें श्लोकमें परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सब कर्म भगवान्के समर्पण करनेका भाव है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

'मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर।'

चौथे अध्यायमें तो स्वयं भगवान् कहते हैं कि मैं साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हूँ और श्रेष्ठ पुरुषोंके उद्धार, दुष्टोंके विनाश एवं धर्मकी संस्थापनाके लिये समय-समयपर अवतार लेता हूँ—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ८)

'श्रेष्ठ पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

इसके बाद भगवान्ने अपने जन्म और कर्मकी दिव्यता जाननेका महत्त्व बतलाया है। जन्मकी दिव्यता यह कि भगवान्का जन्म अलौकिक है, मनुष्योंकी भाँति पुण्य-पापके फलस्वरूप उत्पन्न नहीं है तथा न वे प्रकृतिके

परतन्त्र ही हैं। वे केवल उत्पन्न और विनष्ट होते-से दिखायी पड़ते हैं, मनुष्योंकी भाँति जन्मते-मरते नहीं; अतः वास्तवमें उनका जन्म-मरण नहीं होता, केवल प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है। उनका विग्रह रोगशून्य, दोषरहित और चिन्मय होता है। वे अपनेपर मायाका पर्दा डाल लेते हैं, इसलिये उनको कोई पहचान नहीं सकता (गीता ७। २५)। जो भक्त भगवान्‌के शरण होकर उनको श्रद्धा-प्रेमसे भजता है, वही उनको यथार्थरूपसे जानता है। वे अपनी इच्छासे प्रकृतिको वशमें करके स्वयं अजन्मा और अविनाशी रहते हुए ही श्रेष्ठ पुरुषोंके कल्याण और धर्मके प्रचारके लिये अपनी योगमायासे प्रकट होते हैं (गीता ४। ६, ८)। यह उनके जन्मकी दिव्यता है। तथा कर्मकी दिव्यता यह है कि उनकी सारी चेष्टाएँ अभिमान, आसक्ति और कामनासे रहित एवं केवल संसारके कल्याणके लिये ही होती हैं (गीता ४। १३-१४)। इसलिये उनके कर्म दिव्य हैं। इस प्रकार समझकर इस समझको काममें लाना ही भगवान्‌के जन्म और कर्मकी दिव्यताका तत्त्वरहस्य जानना है।

इस चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने अपनी भक्तिकी महिमामें यहाँतक कह दिया कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

पाँचवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें तो भगवान्‌ने अपने स्वरूप, प्रभाव और गुणोंका तत्त्व जाननेका फल परम शान्तिकी प्राप्ति बतलाया ही है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(गीता ५। २९)

'मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित, दयालु और प्रेमी तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि इस प्रकार जो भगवान्‌को यज्ञ-तपोंका भोक्ता, समस्त लोकोंका महेश्वर तथा समस्त प्राणियोंका सुहृद्—इन तीनों लक्षणोंसे युक्त जानता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है या इनमेंसे किसी एकसे युक्त जाननेवालेको भी शान्ति मिल जाती है। इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌को उपर्युक्त लक्षणोंमेंसे किसी एक लक्षणसे युक्त जाननेवालेको भी शान्ति मिल जाती है; फिर तीनों लक्षणोंसे युक्त जाननेवालेको शान्ति मिल जाय, इसमें तो कहना ही क्या है!

यहाँ भगवान्‌को यज्ञ और तपोंका भोक्ता कहनेका अभिप्राय यह है कि यज्ञ, दान, तप आदि जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, उन सबका पर्यवसान परमात्मामें ही होता है। जैसे आकाशसे बरसा हुआ जल समुद्रमें प्रवेश कर जाता है, वैसे ही सारे कर्म परमात्मामें ही समाविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार जानकर नवें अध्यायके २७ वें, २८ वें श्लोकोंमें वर्णित भगवदर्पण-बुद्धिसे कर्म करनेवाला पुरुष परमशान्तिस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। भाव यह है कि पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, मनुष्य, देवता आदि सभी प्राणियोंमें भगवान् विराजमान हैं; अतः उनकी सेवा-पूजा ही भगवान्‌की सेवा-पूजा है (गीता १८। ४६)—यों समझकर सबकी भगवद्भावसे सेवा करनी चाहिये। जो इस प्रकार सबकी सेवा करता है, वह सेवा करते समय अर्थात् अतिथिको भोजन, गायको घास, कौए आदिको अन्न एवं वृक्षोंको जल प्रदान करते समय यही समझता है कि भगवान् ही अतिथिके रूपमें भोजन कर रहे हैं, वे ही गायके रूपमें घास खा रहे हैं, वे ही कौए आदिके रूपमें अन्न ग्रहण कर रहे हैं और वे ही वृक्षके रूपमें जल पी रहे हैं। इस प्रकारके भावसे भावित होकर सबकी निष्कामसेवा करना ही तत्त्वसे भगवान्‌को यज्ञ-तपोंका भोक्ता जानना है और ऐसा जाननेवाला मनुष्य परमशान्तिको प्राप्त होता है।

भगवान्‌को सर्वलोकमहेश्वर जाननेका अभिप्राय यह है कि भगवान् सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं। वे ही समस्त संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हुए सबको नियन्त्रणमें रखते हैं; इसलिये उनको परमात्मा, पुरुषोत्तम आदि नामोंसे कहा गया है (गीता १५। १७-१८)। जो उन परमात्माको क्षर-अक्षरसे तथा सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंसे श्रेष्ठ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता, सर्वाध्यक्ष और सर्वेश्वर समझ लेता है, वह फिर उन परमात्माको छोड़कर अन्य किसीको भी कैसे भज सकता है। स्त्री, पुत्र, धन आदि सांसारिक पदार्थोंसे न तो वह प्रेम करता है और न उनका चिन्तन ही करता है। वह तो सब प्रकारसे श्रद्धा, भक्ति और निष्कामभावपूर्वक नित्य-निरन्तर भगवान्‌का ही भजन-ध्यान करता है (गीता १५। १९)। अतः उपर्युक्त प्रकारसे समझना ही भगवान्‌को तत्त्वसे सर्वलोकमहेश्वर जानना है और इस प्रकार जाननेवाला मनुष्य परमशान्तिको प्राप्त होता है।

भगवान्‌को सब भूतोंका सुहृद् जाननेका भाव यह

है कि भगवान्‌की प्रत्येक क्रियामें जगत्‌का हित और प्रेम भरा रहता है। उनका कोई भी विधान दया और प्रेमसे शून्य नहीं होता। इसीलिये भगवान् सब भूतोंके सुहृद् हैं। जो पुरुष इस रहस्यको जान लेता है, वह फिर प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है, उसको परम दयालु, परम प्रेमी परमेश्वरका दया और प्रेमसे ओत-प्रोत मङ्गलमय विधान समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है तथा भगवान्‌का अनुयायी और परम प्रेमी बन जाता है। उसमें भी सुहृदताका भाव आ जाता है अर्थात् वह भी सबपर हेतुरहित दया करनेवाला और सबका प्रेमी हो जाता है। उसमें द्वेषभावका नाश होकर क्षमा और समता आदि गुण स्वाभाविक ही आ जाते हैं तथा उसके मन और बुद्धिका स्वाभाविक ही भगवान्‌में समावेश हो जाता है। इस प्रकार उसमें गीताके बारहवें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक वर्णित भक्तके सभी लक्षण आ जाते हैं। इसलिये वह परमशान्तिको पा लेता है।

छठे अध्यायमें ११ वेंसे १३ वें श्लोकतक आसनकी विधि बतलाकर १४वें श्लोकमें भगवान्‌ने अपने सगुण स्वरूपका ध्यान* करते हुए शरण होनेके लिये कहा है। वे कहते हैं—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

'ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे।'

तथा इसी अध्यायके ३०वें श्लोकमें सर्वत्र भगवान्‌को देखनेका यह माहात्म्य बतलाया गया है कि सर्वत्र भगवान्‌को देखनेवाला मेरी दृष्टिसे ओझल नहीं होता है और मैं उसकी दृष्टिसे ओझल नहीं होता हूँ।

इसी प्रकार इस अध्यायके ३१ वें और ४७ वें श्लोकोंमें भी भक्तिका भाव सर्वथा ओत-प्रोत है। अतः समझना चाहिये कि कर्मयोगप्रधान कहे जानेवाले अध्यायोंमें भी कोई भी अध्याय भक्तिसे शून्य नहीं है।

इसी तरह जिन (१३ वेंसे १८ वेंतक) छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगकी प्रधानता बतलायी जाती है, उनमें भी कोई-सा भी अध्याय भक्तियोगके वर्णनसे खाली नहीं है। उदाहरणके लिये तेरहवें अध्यायमें ज्ञानके साधन बतलाते हुए कहा गया है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

(गीता १३। १०)

'मुझ परमेश्वरमें अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति (भी ज्ञानका साधन है)।'

चौदहवें अध्यायमें गुणातीत होनेका उपाय बतलाते हुए भी स्वयं भगवान् कहते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(गीता १४। २६)

'जो पुरुष अव्यभिचारी (अनन्य) भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्तिके योग्य बन जाता है।'

यहाँ अनन्यभक्तिको गुणोंसे अतीत होनेका उपाय बतलाया गया है।

पंद्रहवें अध्यायमें परमपदकी प्राप्तिका उपाय तीव्र वैराग्यके द्वारा संसाररूप वृक्षको काटकर भगवान्‌के शरण होना बतलाया गया है। भगवान् कहते हैं—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

(गीता १५। ४)

'दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा संसार-वृक्षका छेदन करनेके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जहाँ गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते; और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये।'

तथा १६ वें श्लोकसे क्षर और अक्षरका वर्णन करके जिसे परमात्मा, ईश्वर और पुरुषोत्तम आदि नामोंसे निरूपित किया गया है, उस परमतत्त्वको वास्तविक रूपमें जाननेवालेकी कसौटी 'सब प्रकारसे भजना' ही बताया गया है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

'हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जान लेता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

सोलहवें अध्यायके पहले श्लोकमें दैवी सम्पदाके लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।

* सगुण-साकारके ध्यानके विषयमें विस्तारसे जानना हो तो इस श्लोककी गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीता तत्त्व-विवेचनी' टीका देख सकते हैं।

'निर्भयता, अन्तःकरणकी शुद्धि और ज्ञानयोगमें स्थिति (—ये दैवी सम्पदाके प्रधान लक्षण हैं)।'

यहाँ '**ज्ञानयोगव्यवस्थितिः**' का अर्थ तत्त्वज्ञानके लिये परमात्माके ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति किया जाता है, जो भक्तिभावका ही द्योतक है।

सत्रहवें अध्यायमें २३ वेंसे २६ वें श्लोकतक परमात्माके ॐ, तत्, सत्—ये तीन नाम बतलाकर इनका किस प्रकार प्रयोग करनेसे कल्याण होता है, इसका स्पष्टतया वर्णन किया गया है।

अठारहवें अध्यायकी तो बात ही क्या है! उसका तो भगवान्ने शरणागतिमें ही उपसंहार किया है। वहाँ कर्मयोगके प्रकरणमें भी भक्तिका वर्णन है। भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

तथा ज्ञानयोगके प्रकरणमें भी भक्ति (उपासना) की आवश्यकता बतलायी है।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।

(गीता १८। ५२ का उत्तरार्ध)

'दृढ़ वैराग्यका आश्रय ले नित्य-निरन्तर परमात्माके ध्यानरूप योगके परायण रहनेवाला पुरुष (ब्रह्मप्राप्तिके योग्य होता है)।'

एकान्तवास और ध्यानयोगपूर्वक ज्ञाननिष्ठाके द्वारा जिस परमपदकी प्राप्ति होती है, उसी परमपदकी प्राप्ति मनुष्यको गोपियोंकी भाँति* सदा-सर्वदा भगवान्के शरण होकर अपने कर्तव्य-कर्मोंको करते हुए भी होती है। भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(गीता १८। ५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

इस प्रकार भगवान्ने अपनी शरणागतिरूप भक्तिका माहात्म्य बतलाकर अर्जुनको सब प्रकारसे अपनी शरण ग्रहण करनेका आदेश दिया है—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।

(गीता १८। ५७; ५८ का पूर्वार्ध)

'सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगका अवलम्बन करके मेरे परायण हो जा और निरन्तर मुझमें चित्तको लगाये रह। इस प्रकार मुझमें चित्त लगाये रहकर तू मेरी कृपासे समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा।'

यहाँ भगवान्ने अपने सगुण-साकार स्वरूपकी भक्तिके लक्षणोंका वर्णन करके, अर्जुनको अपनी शरणमें आनेकी आज्ञा देकर उसका महत्त्व बतलाया है। यद्यपि सगुण-निराकारकी शरणका भी फल परम शान्ति और शाश्वत पदकी प्राप्ति है; किंतु उसे गुह्यतर ही कहा गया है, गुह्यतम नहीं। भगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।

(गीता १८। ६२; ६३ का पूर्वार्ध)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस सर्वव्यापी परमेश्वरकी शरणमें चला जा। उस परमात्माकी कृपासे तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा। इस प्रकार यह गुह्यसे भी गुह्यतर ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया।'

भगवान्ने गुह्यतम तो अपनी शरणागतिरूप भक्तिको ही बतलाया है—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

---

* भक्तिमती गोपियाँ किस प्रकार भक्ति करती हुई सब कार्य किया करती थीं, इसका वर्णन श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके ४४ वें अध्यायके १५ वें श्लोकमें इस प्रकार मिलता है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही विलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देना आदि काम-काज करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका गान किया करती हैं, इस प्रकार सदा श्रीकृष्णके स्वरूपमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं।'

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज॥
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

(गीता १८। ६४—६६)

'सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अतिगोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा। तू मुझमें मन लगा दे, मेरा भक्त बन जा, मेरा पूजन कर और मुझको प्रणाम कर। यों करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्याग करके यानी अर्पण करके तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इसे सर्वगुह्यतम कहनेका अभिप्राय यह है कि ६२ वें और ६३ वें श्लोकोंमें तो सर्वव्यापी निराकार परमात्माके शरण जानेको गुह्यतर ही कहा है, किंतु यहाँ स्वयं भगवान् प्रकट होकर अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि 'मैं ही साक्षात् परमात्मा हूँ, तू मेरी शरणमें आ जा।' इस प्रकार प्रकट होकर अपना परिचय देना अर्जुन-जैसे अपने अत्यन्त प्रेमी भक्तके सामने ही सम्भव है। दूसरोंसे यह नहीं कहा जा सकता कि 'मैं ही साक्षात् परमात्मा हूँ, तुम मेरी शरणमें आ जाओ।'

यहाँ ६४ वें श्लोकमें 'तू मेरा सर्वगुह्यतम श्रेष्ठ वचन फिर भी सुन' कहकर भगवान्‌ने पहले नवें अध्यायके ३४ वें श्लोकमें कहे हुए वचनकी ओर संकेत किया है। वहाँ ३२ वें श्लोकमें तो शरणागतिका माहात्म्य है और ३४ वें श्लोकमें उसका स्वरूप है। उसे भी गुह्यतम कहा है। नवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें **'अनसूयवे'** पदसे अर्जुनको उसका परम अधिकारी मानकर और गुह्यतम रहस्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके गुह्यतम, राजगुह्य आदि शब्दोंका प्रयोग करते हुए जिस शरणागतिरूप भक्तिकी बात कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसीका पूरे अध्यायमें वर्णन किया एवं अन्तमें ३४ वें श्लोकमें शरणागतिका स्पष्ट उल्लेख करते हुए ही अध्यायकी समाप्ति की है। भगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(गीता ९। ३४)

'मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन कर और मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यहाँ बतलाये हुए शरणागतिरूप भक्तिके चारों साधनोंमेंसे एक साधनके अनुष्ठानसे ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है या चारोंके। इसका उत्तर यह है कि एकके अनुष्ठानसे ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है; फिर चारोंके अनुष्ठानसे हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है!

केवल **'मन्मना भव'**—भगवान्‌में मन लगानेके साधनसे ही भगवत्प्राप्तिका कथन इसी अध्यायके २२ वें श्लोकसे समझना चाहिये। भगवान्‌ने कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

यहाँ अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है। अतः भगवान्‌की प्राप्तिके लिये जो साधन उन्हें प्राप्त है, सब प्रकारके विघ्न-बाधाओंसे बचाकर उसकी रक्षा करना और जिस साधनकी कमी है, उसकी पूर्ति करके स्वयं अपनी प्राप्ति करा देना ही उन प्रेमी भक्तोंका योगक्षेम वहन करना है।

भक्तिमार्गमें यह एक विशेषता है कि साधक भक्तके किये हुए साधनकी रक्षा और उसके साधनकी कमीकी पूर्ति भी भगवान् कर देते हैं। यहाँ रक्षा करनेका यह अभिप्राय है कि यदि कोई भक्त भगवान्‌से कोई सांसारिक वस्तु माँगता है तो भगवान् उसके माँगनेपर भी यदि उससे उसका अहित समझते हैं तो वह वस्तु उसे नहीं देते। जैसे नारदजीने भगवान्‌से हरिका रूप माँगा था, किंतु उसमें उनका अहित समझकर 'हरि' शब्दका अर्थ बंदर भी होनेके कारण भगवान्‌ने उनको बंदरका रूप दे दिया और इसके परिणामस्वरूप उनके शापको भी भगवान्‌ने स्वीकार कर लिया; परंतु अपने भक्तको कञ्चन और कामिनीसे उसी प्रकार बचा लिया, जिस प्रकार एक हितैषी सद्वैद्य रोगीको कुपथ्यसे बचा लेता है।

केवल **'मद्भक्तो भव'**—भगवान्‌की भक्तिके साधनसे भगवान्‌की प्राप्ति इसी अध्यायके ३० वें और ३१ वें श्लोकोंमें बतलायी गयी है।

केवल **'मद्याजी भव'**—भगवान्‌की पूजासे भगवत्प्राप्तिकी बात इसी अध्यायके २६ वें श्लोकसे समझनी चाहिये। भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल,

जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

यहाँ भी यह जिज्ञासा होती है कि इस श्लोकमें पत्र, पुष्प, फल, जल—इन चार पदार्थोंके अर्पणकी बात कही गयी है, अतः इन चारोंके समर्पणसे भगवान् प्रकट होकर उसकी भेंट स्वीकार करते हैं या एकके समर्पणसे भी। इसका उत्तर यह है कि प्रेमपूर्वक एकके समर्पणसे भी भगवान् उसे स्वीकार कर लेते हैं; क्योंकि इसमें क्रियाओं और पदार्थोंकी प्रधानता नहीं है, प्रेमकी प्रधानता है। प्रेम होनेसे चारोंमेंसे एकको अर्पण करनेपर भी उसे भगवान् स्वीकार कर लेते हैं। जैसे—द्रौपदीके[१] केवल पत्ती अर्पण करनेसे, गजेन्द्रके[२] केवल पुष्प भेंट करनेसे, भीलनीके[३] केवल फल अर्पण करनेसे और राजा रन्तिदेवके[४] केवल जल अर्पण करनेसे ही भगवान्ने प्रकट होकर उनके दिये हुए पदार्थको ग्रहण किया था। इस प्रकार ये सभी एक-एक पदार्थके अर्पण करनेसे ही भगवान्को प्राप्त हो गये। तब फिर सब प्रकारसे भक्तिपूर्वक भगवान्की पूजा करनेवालेको भगवान् मिल जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है!

इसी प्रकार केवल '**नमस्कुरु**'—नमस्कार करनेसे भी भगवान्की प्राप्ति हो सकती है, किंतु गीतामें भगवान्ने नमस्कारके साथ कीर्तन आदि भक्तिके अन्य अङ्गोंका भी समावेश कर दिया है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

(गीता ९। १४)

'वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्यप्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।'

महाभारतके शान्तिपर्वमें तो केवल नमस्कारमात्रसे भी संसारसे उद्धार होना बतलाया गया है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

(महा० शान्ति० ४७। ९२)

'भगवान् श्रीकृष्णको एक बार भी किया हुआ प्रणाम दस अश्वमेधयज्ञोंके अन्तमें किये जानेवाले अवभृथस्नानके समान होता है। इतना ही नहीं, दस अश्वमेधयज्ञ करनेवाला तो उनके फलको भोगकर पुनः संसारमें जन्म लेता है, किंतु भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवाला पुनः संसारमें जन्म नहीं लेता।'

ऊपर बतलाया जा चुका है कि नवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें भगवान्ने अपनी भक्तिको सबसे गुह्यतम, राजगुह्य और विज्ञानसहित ज्ञान बतलाकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है एवं उसको बहुत ही उत्तम और सुगम बतलाया है। ऐसा सुगम साधन होनेपर भी सभी मनुष्य उसमें नहीं लगते, इसमें श्रद्धाका न होना ही कारण है। भगवान् कहते हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

(गीता ९। ३)

'हे परंतप! उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसार-चक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।'

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जिसकी भक्तिके साधनमें श्रद्धा नहीं, उसका संसारमें यानी चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करना तो सर्वथा सम्भव है, पर यहाँ उसके साथ ही 'मुझे न प्राप्त होकर' कहनेकी क्या आवश्यकता है, जब कि उसे भगवान्के प्राप्त होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं। इसका उत्तर यह है कि 'मुझे न प्राप्त होकर' कथनसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यमात्रका परमात्माकी प्राप्तिमें जन्मसिद्ध अधिकार है। जैसे राजाके पुत्रका उस राज्यपर जन्मसिद्ध स्वाभाविक अधिकार होते हुए भी पितामें श्रद्धा-भक्ति न होनेके कारण वह उस राज्यसे वञ्चित किया जाय तो कोई दोषकी बात नहीं होती, उसी प्रकार भगवान्की प्राप्तिमें मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार होते हुए भी भगवान्में श्रद्धा, भक्ति, प्रेम न होनेके कारण कोई उससे वञ्चित रह जाय तो अनुचित नहीं कहा जा सकता।

इसलिये मनुष्यको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नित्य-निरन्तर भगवान्का स्मरण करना चाहिये; क्योंकि उठते-बैठते, सोते-जागते, हर समय भगवान्का स्मरण करना सर्वोत्तम है। हर समय भगवान्का स्मरण करनेसे अन्तकालमें भगवान्का स्मरण स्वाभाविक ही हो जाता है और

१-द्रौपदीकी यह कथा महाभारत, वनपर्वके २६३ वें अध्यायमें देख सकते हैं।
२-गजेन्द्रकी कथा श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धके दूसरे, तीसरे अध्यायोंमें देख सकते हैं।
३-भीलनीकी कथा श्रीरामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें देख सकते हैं।
४-महाराज रन्तिदेवकी कथा श्रीमद्भागवतके नवम स्कन्धके २१ वें अध्यायमें देख सकते हैं।

अन्तकालके स्मरणका बड़ा भारी महत्त्व है। भगवान् कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८। ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर यहाँसे जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

यदि कहें कि भगवान्का स्मरण करते हुए मरनेवालेका तो भगवान् उद्धार कर देते हैं और जो उन्हें स्मरण नहीं करता, उसका उद्धार नहीं करते तो क्या भगवान् भी अपनी मान-बड़ाई करनेवालेका ही पक्ष रखते हैं, तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि भगवान्ने यह नियम बनाया है कि मृत्युके समय जो मनुष्य पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, मनुष्य, देवता, पितर आदि किसी भी स्वरूपका चिन्तन करता हुआ मरता है, वह उसी-उसीको प्राप्त होता है (गीता ८। ६)। इस न्यायसे भगवान्को स्मरण करते हुए मरनेवाला भगवान्को प्राप्त होता है। अतः उपर्युक्त कथनसे भगवान्में पक्षपात या विषमताका कोई दोष नहीं आता। भगवान्ने स्वयं कहा भी है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके किष्किन्धाकाण्डमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी भक्त हनुमान्के प्रति कहा है—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥

(३। ८)

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'भगवान् जब समदर्शी होकर भी अपना भजन करनेवालेके लिये ही यह कहते हैं कि वह मेरे हृदयमें है और मैं उसके हृदयमें हूँ, तब क्या यह विषमता नहीं है।' इसका उत्तर यह है कि सूर्य सबके ऊपर समानभावसे प्रकाश डालते हैं, पर दर्पणमें उनका प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है, काष्ठ आदिमें नहीं; और सूर्यमुखी शीशा तो सूर्यकी किरणोंको खींचकर रूई, कपड़ा आदिको भस्म भी कर डालता है। यह उस पदार्थकी ही विशेषता है, इसमें सूर्यमें कोई विषमता नहीं है। वैसे ही भगवान्के भक्तके प्रेमकी ही उपर्युक्त विशेषता है, उससे भगवान्में विषमताका कोई दोष नहीं आता।

इसलिये हर समय भगवान्के नाम और रूपका स्मरण करना चाहिये; क्योंकि शरीरका कोई भरोसा नहीं है; पता नहीं कब प्राण चले जायँ। हर समय स्मरण करनेवाले भक्तको अन्तकालमें भगवान्की स्मृति स्वाभाविक हो ही जाती है। जो पुरुष नित्य-निरन्तर परम दिव्य पुरुष परमात्माका चिन्तन करता रहता है, वह भगवान्की भक्तिके प्रभावसे अन्तकालमें भगवान्का स्मरण करता हुआ उस परम दिव्य पुरुष परमात्माको पा लेता है तथा जो इन्द्रियों और मनको सब ओरसे रोककर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक परमात्माके नामका उच्चारण और उनके स्वरूपका ध्यान करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, वह निश्चय ही परम गतिको प्राप्त हो जाता है (गीता ८। ८—१३)।*

अतएव ज्ञानयोग, ध्यानयोग, अष्टाङ्गयोग, कर्मयोग आदि जितने भी भगवत्प्राप्तिके साधन हैं, उन सबमें भगवद्भक्ति सर्वोत्तम है। भगवान्ने छठे अध्यायके ४७ वें श्लोकमें बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

इसी प्रकार अर्जुनके पूछनेपर बारहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भी भगवान्ने अपने भक्तोंको सबसे उत्तम बतलाकर भक्तिका महत्त्व प्रदर्शित किया है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।'

भक्ति सुगम होनेसे उत्तम है, इतनी ही बात नहीं है; भक्तिके मार्गमें यह विशेषता है कि भक्त अपने नेत्रोंद्वारा भगवान्को देख सकता है (गीता ११। ५४) तथा भक्तके द्वारा प्रेमपूर्वक अर्पण किये हुए पत्र-पुष्प-फलादिको भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट होकर खाते हैं (गीता ९। २६)। यह बात ज्ञानयोग, अष्टाङ्गयोग या कर्मयोगसे सम्भव नहीं। इसलिये भक्तिको सर्वोत्तम कहना शास्त्र-संगत और युक्ति-युक्त है।

* इस विषयका विस्तार देखना हो तो गीता-तत्त्व-विवेचनी टीकामें आठवें अध्यायके ८ वेंसे १३ वें श्लोकतककी टीका पढ़ सकते हैं।

इसके सिवा, अनन्यचित्तसे नित्य-निरन्तर स्मरण करनेवालेको भगवान् अनायास ही मिल जाते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

अनन्य-चिन्तन करनेवाले भक्तको सहज ही भगवान् मिल जाते हैं—इतना ही नहीं; उसका भगवान् संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार भी कर देते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ६-७)

'जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ अर्थात् मैं उनका उद्धार कर देता हूँ।'

अतएव हमलोगोंको अनन्य भक्तियोगके द्वारा नित्य-निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करते हुए उनकी उपासना करनी चाहिये। संसारमें एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई परम हितैषी नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—यह समझकर जो भगवान्‌के प्रति अत्यन्त श्रद्धासे युक्त प्रेम किया जाता है—जिस प्रेममें स्वार्थ और अभिमानका जरा भी दोष नहीं है, जो सर्वथा पूर्ण और अटल है, जिसका जरा-सा अंश भी भगवान्‌से भिन्न वस्तुमें नहीं है और जिसके कारण क्षणमात्रके लिये भी भगवान्‌का विस्मरण असह्य हो जाता है—उसे 'अनन्य भक्ति' कहते हैं। ऐसे अनन्य भक्तियोगके द्वारा नित्य-निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करते हुए उनके गुण, प्रभाव और चरित्रोंका श्रवण-कीर्तन करना एवं उनके परम पावन नामोंका उच्चारण और जप करना ही अनन्य भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌का चिन्तन करते हुए उनकी उपासना करना है। इस प्रकारके अनन्य भक्तका भगवान् तत्काल ही उद्धार कर देते हैं।

चाहे मनुष्य कितना भी पापी क्यों न हो, भक्तिके प्रभावसे उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश ही नहीं हो जाता, अपितु वह परम धर्मात्मा बन जाता है और फिर उसे परम शान्ति मिल जाती है। गीताके नवें अध्यायके ३०वें, ३१वें श्लोकोंमें भगवान् कहते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि उसका निश्चय यथार्थ है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर और उनके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। इसलिये यह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

संसार-सागरसे जीवका उद्धार होना बहुत ही कठिन है, किंतु भगवान्‌की शरणसे यह कठिन कार्य भी सुसाध्य हो जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७। १४)

'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको लाँघ जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान भी हो जाता है और ज्ञानके साथ ही भगवान् भी उसे मिल जाते हैं। भगवान् स्वयं अपने उस अनन्यभक्तको वह ज्ञान प्रदान कर देते हैं, जिससे उसे उनकी प्राप्ति अनायास ही हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। ८—१०)

'मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सम्पूर्ण जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं। वे

निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे तत्त्व, रहस्य और प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

बात यह है कि जो मनुष्य भगवान्‌के स्वरूप और प्रभावको तत्त्वसे जान लेता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता १०। ३, ८)। भगवान्‌के स्वरूप और प्रभावका वर्णन गीताके सातवें अध्यायके ७ वेंसे १२ वें श्लोकतक, नवें अध्यायके १७ वें, १८ वें और १९ वेंमें एवं पंद्रहवें अध्यायके १२ वेंसे १५ वें श्लोकतक तथा और भी अनेक स्थलोंमें किया गया है। उन सबका सार भगवान्‌ने दसवें अध्यायके ४१ वें, ४२ वें श्लोकोंमें बतलाया है। वे कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(गीता १०। ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके एक अंशकी ही अभिव्यक्ति (प्राकट्य) जान।'

भाव यह है कि दसवें अध्यायके ४थे श्लोकसे ६ठेतक तथा १९ वें श्लोकसे ४० वेंतक तथा गीताके अन्यान्य स्थलोंमें जो कुछ भी विभूतियाँ बतलायी गयी हैं एवं समस्त संसारके जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण पदार्थोंमें जो भी बल, बुद्धि, तेज, गुण, प्रभाव आदि प्रतीत होते हैं, वे सब-के-सब मिलकर भी भगवान्‌के प्रभावके एक अंशमात्रका ही प्रादुर्भाव हैं।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०। ४२)

'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है। मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

जैसे जलका बुद्‌बुदा समुद्रका एक अंशमात्र है, वैसे ही सम्पूर्ण गुण और प्रभावसहित सारा ब्रह्माण्ड परमात्माके किसी एक अंशमें है—इस प्रकार समझकर जो दसवें अध्यायके उपर्युक्त ८ वें, ९ वें और १० वें श्लोकोंके अनुसार परमात्माकी उपासना करता है, वह अनायास ही परमात्माको पा लेता है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध हो गयी कि भगवान्‌की भक्ति ज्ञानयोग, अष्टाङ्गयोग, कर्मयोग आदि सभी साधनोंकी अपेक्षा उत्तम, सुगम और सुलभ है—इतना ही नहीं, भक्तिसे शीघ्र ही सारे पापोंका नाश होकर भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान हो जाता है और मनुष्य इस दुस्तर संसार-समुद्रसे तरकर भगवान्‌का दर्शन पा लेता है एवं भगवान्‌को तत्त्वसे जानकर उनमें प्रवेश भी कर सकता है। भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

यों तो ज्ञानयोगके द्वारा भी पापोंका नाश होकर परमात्माका ज्ञान और परम शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है (गीता ४। ३४—३९), किंतु उससे सगुण-साकार भगवान्‌का साक्षात् दर्शन नहीं होता। अनन्य भक्तिसे तो परमात्माका ज्ञान और परमात्माकी प्राप्ति यानी परमात्मामें एकीभावसे प्रवेश होनेके अतिरिक्त उनका साक्षात् दर्शन भी सम्भव है। इसलिये भगवान्‌की अनन्य भक्तिका मार्ग सर्वोत्तम है।

यहाँ उस अनन्य भक्तिका स्वरूप जाननेके लिये अनन्य भक्तके लक्षण बतलाते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गीता ११। ५५)

'हे अर्जुन! जो पुरुष सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको केवल मेरे लिये ही करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्राप्त होता है।'

यदि कहें कि 'इस श्लोकमें जो भगवान्‌के लिये कर्म करना, भगवान्‌के परायण होना और भगवान्‌का भक्त होना—ये तीन बातें बतलायी गयी हैं, इन तीनोंके अनुष्ठानसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है या एकके अनुष्ठानसे भी', तो इसका उत्तर यह है कि इन तीनोंके अनुष्ठानसे भगवत्प्राप्ति हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है, किसी एकके अनुष्ठानसे भी हो सकती है। केवल भगवदर्थ कर्म करनेसे भी मनुष्यको भगवत्प्राप्तिरूप सिद्धि प्राप्त

होनेकी बात भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायके १० वें श्लोकमें बतलायी है—

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।

'हे अर्जुन! तू मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

तथा केवल भगवान्‌के परायण होनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। भगवान्‌ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

एवं केवल भगवान्‌की भक्तिसे भी भगवत्प्राप्ति हो जाती है—

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।

(गीता ७। २३ का उत्तरार्ध)

'देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त—चाहे जैसे ही मुझे भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

ऐसे भक्त चार प्रकारके होते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

(गीता ७। १६)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं।'

इन चारोंमें अर्थार्थी भक्तसे आर्त, आर्तसे जिज्ञासु और जिज्ञासुसे ज्ञानी (निष्काम) श्रेष्ठ है। अर्थार्थी भक्तसे आर्त इसलिये श्रेष्ठ है कि वह स्त्री, पुत्र, धन आदिकी तो बात ही क्या, राज्य-भोग भी भगवान्‌से नहीं चाहता—जैसे ध्रुवने[1] चाहा था; परंतु द्रौपदी[2] की भाँति किसी बड़े भारी सांसारिक संकटके प्राप्त होनेपर उसके निवारणके लिये याचना करता है। पर जिज्ञासु तो सांसारिक भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी उस संकटकी निवृत्तिके लिये प्रार्थना नहीं करता, वरं भक्त उद्धवकी[3] भाँति संसार-सागरसे आत्माका उद्धार करनेके लिये परमात्माको तत्त्वसे जाननेकी ही इच्छा करता है। इसलिये आर्तसे भी जिज्ञासु श्रेष्ठ है; किंतु भक्त प्रह्लाद[4] की भाँति निष्काम ज्ञानी भक्त तो अपनी मुक्तिके लिये भी याचना नहीं करता। इसलिये भगवान्‌ने निष्काम ज्ञानी भक्तको सबसे बढ़कर बतलाया है।

इन चारोंमें ज्ञानी भक्त भगवान्‌को अतिशय प्रिय है; क्योंकि ज्ञानीको भगवान् अतिशय प्रिय हैं। सातवें अध्यायके १७वें श्लोकमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तियुक्त ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ, अतः वह ज्ञानी भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

क्योंकि भगवान्‌का यह विरद है कि जो मुझे जिस प्रकार भजता है, मैं भी उसे उसी प्रकार भजता हूँ (गीता ४। ११)।

इतना ही नहीं, जो भगवान्‌को प्रेमसे भजता है, उसको भगवान् अपने हृदयमें बसा लेते हैं। भगवान्‌ने गीताके नवें अध्यायके २९वें श्लोकमें कहा है कि 'जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

यदि पूछा जाय कि 'क्या ऐसे ज्ञानी निष्काम भक्तके अतिरिक्त दूसरे भक्त श्रेष्ठ नहीं हैं और क्या उनका उद्धार नहीं होता?' तो ऐसी बात नहीं है। ये सभी भक्त श्रेष्ठ हैं और सभीका उद्धार होता है; किंतु ज्ञानी निष्काम भक्त सर्वोत्तम है। ज्ञानी निष्काम भक्तको तो भगवान्‌ने अपना स्वरूप ही बतलाया है—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

(गीता ७। १८)

'ये सभी उदार हैं, परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है।'

उदारका अर्थ है श्रेष्ठ। भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि 'वे भक्त मुझे पहले भजते हैं, तब फिर उसके बाद मैं उनको भजता हूँ तथा वे अपने अमूल्य समयको

१. भक्त ध्रुवका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, चतुर्थ स्कन्धके ८ वें, ९ वें अध्यायोंमें देख सकते हैं।
२. द्रौपदीका यह प्रसङ्ग महाभारत, सभापर्वके ६८ वें अध्यायमें पढ़ सकते हैं।
३. भक्त उद्धवका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्धके सातवेंसे उनतीसवें अध्यायतक देख सकते हैं।
४. भक्त प्रह्लादका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, सप्तम स्कन्धके ४ थेसे १० वें अध्यायतक देख सकते हैं।

मुझपर श्रद्धा-विश्वास करके न्योछावर कर देते हैं, यह उनकी उदारता है; इसलिये वे श्रेष्ठ हैं और मेरी भक्ति सकाम, निष्काम या अन्य किसी भी भावसे क्यों न की जाय, मेरे भक्तका उद्धार हो ही जाता है (गीता ७। २३); किंतु प्रेम और निष्काम-भावकी उनमें कमी होनेके कारण उनको मेरी प्राप्तिमें विलम्ब हो सकता है। मेरी उपासनाकी तो बात ही क्या है, जो दूसरे देवताओंकी उपासना करते हैं, वे भी मेरी ही उपासना करते हैं; किंतु वे मुझको तत्त्वसे न जाननेके कारण इस लोक या स्वर्ग आदि परलोकरूप नाशवान् फलको ही पाते हैं।'

अन्तवत्तु फलं तेषां तद् भवत्यल्पमेधसाम्।

(गीता ७। २३ का पूर्वार्ध)

'क्योंकि उन अल्प बुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है।'

सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें जिस समग्र रूपको जाननेकी बात कही गयी है, उसका भगवान्ने यही अभिप्राय बतलाया कि जो कुछ है, वह मुझसे अलग नहीं है (गीता ७। ७) और सब कुछ मेरा ही स्वरूप है (गीता ७। १९)। एवं इस तत्त्वको जाननेवाला निष्पाप तथा राग-द्वेषजनित मोहसे मुक्त भगवद्भक्त भगवान्के शरण होकर भगवान्के समग्र रूपको जान जाता है (गीता ७। २८, २९, ३०)।

ऐसे ज्ञानी भगवत्प्राप्त महात्मा भक्तकी जो स्थिति है, उसकी भगवान्ने बड़ी प्रशंसा की है (गीता १२। १३ से १९)। भगवान्ने उसको अपना प्रिय भक्त कहा है; किंतु जो साधक उस ज्ञानी भक्तके लक्षणोंको लक्ष्य बनाकर उनके अनुसार श्रद्धापूर्वक साधन करता है, उसको तो भगवान्ने अपना अतिशय प्रिय बतलाया है; क्योंकि उसने भगवान्पर श्रद्धा-विश्वास करके अपने जीवनको भगवान्के लिये ही न्योछावर कर दिया है। भगवान् कहते हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(गीता १२। २०)

'परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतका निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

जब केवल मन-बुद्धिको भगवान्में लगानेसे ही भगवान्की प्राप्ति हो जाती है (गीता ८। ७; १२। ८), तब फिर जो सर्वस्व भगवान्के समर्पण करके सब प्रकारसे भगवान्को भजता है, उसके उद्धारमें तो कहना ही क्या है!

महापुरुषोंका तत्त्व, रहस्य और प्रभाव

जो उच्चकोटिके महापुरुष होते हैं, उनका हृदय बड़ा ही कोमल होता है और उनके भाव बहुत उच्चकोटिके होते हैं। उनके हृदयमें वास्तवमें कोई विकार नहीं होता। वास्तवमें उनसे किसीको भय और उद्वेग नहीं होते। वे बड़े ही प्रभावशाली होते हैं। उनके दर्शनसे दूसरोंका भी क्रोध और हिंसाका भाव दूर हो जाता है। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।

(योगदर्शन २। ३५)

'जिसके मनमें हिंसा करनेका किंचित् भाव भी नहीं रहता—अर्थात् जिस मनुष्यके हृदयमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा हो जाती है, उसका इतना प्रभाव पड़ता है कि उसके निकट दूसरे आदमीके हृदयमें भी वैरभावका त्याग हो जाता है।'

ऐसे भगवान्के परमभक्त महापुरुषोंसे तो किसीको भय, उद्वेग और क्रोध आदि होते ही नहीं; उनको भी दूसरोंसे उद्वेग और भय नहीं होता। वे स्वयं निर्भय हो जाते हैं और दूसरोंको निर्भय कर देते हैं। भगवान्ने अपने प्रिय भक्तके लिये गीताके बारहवें अध्यायके १५ वें श्लोकमें कहा है कि उससे किसीको उद्वेग नहीं होता और लोगोंसे उसको उद्वेग नहीं होता।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।

भाव यह है कि वह न तो दूसरोंको उद्वेग देता है और न दूसरोंसे उद्वेगवान् होता है। उसके द्वारा उद्वेग वास्तवमें किसीको होना ही नहीं चाहिये। संसारमें देखा जाता है कि अच्छे-से-अच्छे पुरुषसे भी दूसरोंको उद्वेग हो जाता है। न्याय तो यह कहता है कि यदि किसीसे दूसरोंको उद्वेग होता है तो उसमें महात्मापन ही कहाँ है। नहीं तो उससे दूसरोंको उद्वेग क्यों होना चाहिये। शास्त्रोंकी ओर देखते हैं तो ऐसा उदाहरण प्रायः नहीं मिलता कि जिससे किसीको भी उद्वेग नहीं हुआ हो; क्योंकि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी मर्यादापुरुषोत्तम थे, उनसे भी राक्षसोंको उद्वेग हुआ। श्रीजनकजी, श्रीयाज्ञवल्क्यजी, श्रीवसिष्ठजी आदि अन्यान्य जितने भी महात्माकोटिके पुरुष संसारमें हुए हैं, उनसे भी दूसरोंको उद्वेग हुआ है। जैसे—श्रीजनकजीसे लक्ष्मणको, श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे अश्वल आदि ब्राह्मणोंको और श्रीवसिष्ठजीसे विश्वामित्रजीको उद्वेग हुआ। ऐसे पुरुष तो बहुत हुए हैं, जिनके अन्तःकरणमें अपने प्रतिकूल क्रियाओंको देखकर उद्वेग नहीं हुआ। यह तो साधकके लिये भी सहज है, क्योंकि

वह इसमें स्वतन्त्र है; किंतु किसीसे दूसरोंको उद्वेग न होना—यह कठिन है।

अतः इस पंक्तिका अर्थ हम अपने संतोषके लिये यह लगा लेते हैं कि उस पुरुषके मनमें किसीको भी उद्विग्न करनेका भाव नहीं होता। किंतु किसीको अपने अज्ञानके कारण उससे उद्वेग हो जाय तो उसमें उस महापुरुषका दोष नहीं है; क्योंकि उसके लिये वह निरुपाय है। अतः यह समझना चाहिये कि महापुरुष न तो किसीको उद्वेग देता है और न स्वयं किसीसे उद्वेगवान् होता है। इसपर भी अज्ञानके कारण अज्ञानियोंके चित्तमें उद्वेग हो जाया करता है। ऐसा अर्थ लगाकर हम संतोष कर लेते हैं। किंतु शब्दार्थ तो यही है कि संसारमें उसके द्वारा किसीको उद्वेग होता ही नहीं। परंतु ऐसा उदाहरण न तो वर्तमानमें देखा ही जाता है और न शास्त्रोंमें ही मिलता है। यह बात बड़े-बड़े संत-महात्माओं, ज्ञानियों, योगियों, भक्तों, धर्मात्माओं और नेताओंमें भी देखनेमें नहीं आती।

श्रीशिवजी साक्षात् ईश्वर माने जाते हैं, उनसे भी दक्षप्रजापति आदिको तथा राक्षसोंको उद्वेग हुआ। महात्मा युधिष्ठिर बड़े ही धर्मात्मा पुरुष थे, धर्मकी मूर्ति ही थे; उनसे भी दुर्योधनादिको उद्वेग हुआ। खोज करें तो अच्छे-अच्छे गृहस्थ, संन्यासी आदि महापुरुषोंद्वारा दूसरोंको उद्वेग हुआ देखा जाता है। पर दूसरोंको उद्वेग मूर्खताके कारण ही होता है। महापुरुष तो सर्वथा विकारशून्य होते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

(गीता १२। १५)

'जिससे कोई भी जीव उद्वेगको नहीं प्राप्त होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको नहीं प्राप्त होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह भक्त मुझको प्रिय है।'

हमलोगोंको भगवान्‌के कथनपर ध्यान देना चाहिये। यदि यह एक श्लोक भी हमारे जीवनमें पूरा उतर जाय तो बेड़ा पार है।

जो अच्छे महात्मा पुरुष होते हैं, उनमें कोई विकार होता ही नहीं। हमलोग जो ऐसी धारणा कर लेते हैं कि ये हैं तो महात्मा, किंतु इनके प्रतिकूल कोई बात कह देंगे तो इनको दुःख होगा, ये रुष्ट हो जायँगे—इस प्रकार उनसे यदि हम भय करते हैं तो यह हमारे चित्तका दोष है, हमारी बेसमझी है। हम शब्दोंसे तो उनको महात्मा कहते हैं, किंतु हृदयसे वैसा नहीं मानते। किसी महात्मा पुरुषके मिल जानेपर तो हमारे चित्तमें यह भाव आना चाहिये कि 'देखो, ये भी मनुष्य हैं और हम भी मनुष्य; फिर हमको परमात्माकी प्राप्ति न होनेका क्या कारण है?' इन्होंने जिस प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न किया है, उसी प्रकार हम भी कर सकते हैं। चाहे वह कठिन-से-कठिन साधन भी क्यों न हो, हम उसे करनेके लिये तैयार हैं।'

हमलोगोंको निश्चय रखना चाहिये कि महात्मा कभी रुष्ट होते ही नहीं। यह हमारी अज्ञता है, जो हम उनको अप्रसन्न समझकर उनसे भय करते हैं। उनकी चेष्टा तो हमारे परम हितके लिये ही हुआ करती है। उनका रोष भी कल्याण करनेवाला है, क्योंकि उनकी सारी क्रियाएँ हमारा कल्याण करनेवाली ही होती हैं। भगवान् किसीको मारते हैं तो उसके कल्याणके लिये ही। इसी प्रकार निष्काम गुरु भी शिष्यके हितके लिये ही उसे दण्ड देता है। न्यायप्रेमी राजाका दण्ड भी हितके लिये ही होता है। माँ बच्चेको उसके हितके लिये ही मारती है। फिर महात्माका शासन अहितकर कैसे हो सकता है।

महात्माके चित्तमें कभी किसी बातको लेकर उद्वेग होता ही नहीं। फिर हम यह शङ्का और भय क्यों करें कि उनके चित्तमें दुःख और उद्वेग हो जायगा। हमारे देखनेमें यदि उनमें उत्तेजना आती है तो समझना चाहिये कि वह उत्तेजना हमलोगोंके लिये शिक्षाके रूपमें है। वास्तवमें वह उत्तेजना क्रोधयुक्त नहीं है। वास्तवमें क्रोधयुक्त उत्तेजनाके लक्षण दूसरे ही होते हैं। गीताके दूसरे अध्यायके ६३ वें श्लोकमें भगवान्‌ने बतलाया है—

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

'क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् विवेक-शक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है।'

यदि किसीमें ये लक्षण हों तो समझना चाहिये कि उसमें क्रोधयुक्त उत्तेजना है। अन्यथा यदि कोई जिज्ञासुओंको शिक्षा देनेके लिये उत्तेजनाका स्वाँग करते हैं तो उनकी वह उत्तेजना क्रोधयुक्त नहीं है; क्योंकि उनमें उपर्युक्त दोष नहीं आ सकते। महात्मा राजा जनक राज्य करते थे, वे दण्डनीय मनुष्यको दण्ड न दें तो राज्य कैसे चले। वे जो दण्ड दें, उस शासनको कोई यदि उत्तेजना मान ले तो यह माननेवालेकी भूल है।

कोई अच्छा पुरुष है, उससे यदि दूसरोंको भय होता हो तो उसको तो यह समझना चाहिये कि तुममें कोई कमी है, नहीं तो इनको भय क्यों होता। एवं जिन

पुरुषोंके मनमें भय होता है, उनको यह विचार करना चाहिये कि हमारे चित्तमें भय होनेका कारण क्या है। वह कारण है श्रद्धा-विश्वासकी कमी। यदि हम उन्हें महापुरुष समझते तो हमारे चित्तमें उनसे भय होनेका कोई कारण नहीं। हमको भय तो इस बातका होना चाहिये कि शास्त्र या महापुरुष जो कुछ हमको कह रहे हैं, उसका हमसे पालन नहीं होता। तथा यह हमारे लिये और भी विशेष भयकी बात है कि हम उसके विरुद्ध आचरण करें। यह बात साधकके लिये है। इसमें एक रहस्यकी बात है। वह यह कि वास्तवमें जो महापुरुष होते हैं, उनकी आज्ञा न माननेसे न माननेवालेको कोई दण्ड नहीं होता। यमराजकी भी सामर्थ्य नहीं कि उसको दण्ड दे; क्योंकि जो अच्छे पुरुष होते हैं, वे अपनी आज्ञा न माननेवालेको किसी प्रकारसे दण्ड दिलाना नहीं चाहते। भाव यह कि वे किसीको दण्ड हो, इस विषयमें निमित्त बनना नहीं चाहते।

कोई आपका अपमान कर दे और आप सरकारी राज्यमें मान-हानिकी नालिश करें, तब यदि वास्तवमें आपका अपमान हुआ होगा तो सरकार उसे दण्ड दे सकती है। किसी जगह न्यायाधीश स्वयं देख लें कि इसका यह अनुचित व्यवहार है तो वे स्वयं भी दण्ड दे सकते हैं। किंतु यदि महात्मा नहीं चाहता कि मेरा अपराध करनेवालेको दण्ड मिले तो ऐसी अवस्थामें यमराज हो या न्यायाधीश, उनकी सामर्थ्य नहीं कि वे महात्माकी आज्ञा न माननेवालेको महात्माकी इच्छाके बिना दण्ड दे सकें। महात्माका तो यह भाव रहता है कि मेरे निमित्तसे तो दूसरोंको लाभ ही होना चाहिये, हानि नहीं होनी चाहिये। यदि दण्डनीय मनुष्यको दण्ड देनेसे लाभ समझा जाता है तो वे स्वयं दण्ड दे देते हैं। जैसे राजा नहुषको अगस्त्यजीने उसके सुधारके लिये यह दण्ड दे दिया कि 'तुम सर्प हो जाओ।' फिर दया करके यह भी कह दिया कि 'महाराज युधिष्ठिर तुम्हें इस शापसे मुक्त कर देंगे।' इसीसे वह महाराज युधिष्ठिरके दर्शन और वार्तालापके प्रभावसे उस पापसे मुक्त हो गया। इस प्रकार कहीं दण्ड देनेसे किसीको लाभ होता समझमें आता है तो वे स्वयं दण्ड दे सकते हैं। अतः उनका अनुग्रह तो अनुग्रह है ही, दण्ड भी अनुग्रह है। इसलिये हमलोगोंको महात्माओंसे कभी भय नहीं करना चाहिये।

भय तो दुष्टोंसे भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि कोई भी दुष्ट मनुष्य दुष्टता कर सकता है, किंतु वास्तवमें हमें हानि नहीं पहुँचा सकता। जब हमने कोई पाप किया ही नहीं, तब पाप किये बिना ईश्वरके राज्यमें दण्ड मिल ही कैसे सकता है। मनुष्य कोई-न-कोई अपराध किये रहता है, उसके फलस्वरूप ही कोई अत्याचार करनेवाला उसके अपराधके दण्ड-भोगमें निमित्त बन जाता है। जो अपराधी नहीं है, उसपर यदि कोई अत्याचार करता है तो अत्याचारीका अत्याचार निष्फल हो जाता है—जैसे भक्त प्रह्लादपर हिरण्यकशिपुका और भक्तिमती मीराँपर राणाजीका अत्याचार निष्फल हो गया था। उन्हें अत्याचारमें कहीं सफलता मिली ही नहीं; क्योंकि प्रह्लाद और मीराँ वास्तवमें अपराधी नहीं थे। किसीपर जो अत्याचार सफल होता है, वह उसके इस जन्म या पूर्वजन्मके किसी अपराधका फल है। अतः हमलोगोंको अत्याचारीपर दोषारोपण नहीं करना चाहिये। श्रीरामके वनगमनके सम्बन्धमें माता कौसल्या भरतसे यही कहती हैं—

काहुहि दोसु देहु जनि ताता। भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता॥

(राम० अयोध्या० १६४। ४)

'तात! इस विषयमें किसीको दोष मत दो। विधाता मेरे लिये सब प्रकारसे उलटा हो गया है।'

अभिप्राय यह कि 'यह मेरे प्रारब्धका दोष है। न इसमें कैकेयीका दोष है और न मन्थराका।'

यह बात सच्ची है। यही सबके लिये है। इसलिये अत्याचारीसे भी डरना नहीं चाहिये। तब फिर डरना किससे चाहिये? पापसे। हम जो पाप करेंगे, उसका फल हमको अवश्य भोगना पड़ेगा। ईश्वरकी आज्ञाका भङ्ग करना ही पाप है। अतः हमलोगोंको ईश्वरकी आज्ञाका कभी भङ्ग नहीं करना चाहिये।

जहाँतक हो सके, राज्यके विधानका भी भङ्ग नहीं करना चाहिये। किंतु कहीं ऐसा प्रसङ्ग आ जाय कि एक ओर ईश्वरकी आज्ञा हो और उसके विरोधमें दूसरी ओर सरकारकी, वहाँ ईश्वरकी आज्ञाका पालन करके सरकारकी आज्ञा भङ्ग की जा सकती है। जैसे सरकारी कानून है कि चौदह वर्षकी आयु होनेपर कन्याका विवाह करना चाहिये, किंतु कन्या यदि बारहवें वर्षमें रजस्वला हो गयी तो शास्त्रकी आज्ञा है कि रजस्वला होनेसे पूर्व ही विवाह कर देना चाहिये और रजस्वला होनेके बाद तो तुरंत ही कर देना चाहिये।* ऐसी अवस्थामें बारहवें-तेरहवें वर्षमें रजस्वला हो जानेपर कन्याका विवाह कर देना शास्त्राज्ञाके अनुकूल है, किंतु सरकारी आज्ञाके विरुद्ध

* प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति। मासि मासि रजस्तस्याः पिबन्ति पितरोऽनिशम्।
माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च। त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्॥ (पराशरस्मृति ७। ७-८)

है। जहाँ सरकारकी आज्ञा और ईश्वरकी आज्ञामें विरोध पड़े, वहाँ ईश्वरकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। उसके फलस्वरूप सरकारकी ओरसे दण्ड मिले तो उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिये। वहाँ झूठ या छिपाव नहीं करना चाहिये, क्योंकि सरकारकी आज्ञा भङ्ग करनेसे जेल जाना पड़े तो कोई हानि नहीं है। इस समय भी तो हम जेलमें ही हैं। इस जेलमें जानेसे लम्बी जेलसे छुटकारा मिल जाय तो थोड़ी देरके लिये इस जेलको भोग लेना चाहिये। ईश्वरका दण्ड लम्बी जेल है। हर हालतमें भगवान्की आज्ञाका पालन तो होना ही चाहिये। सरकारकी आज्ञाका पालन न भी हो तो कोई बात नहीं। पर सरकारकी आज्ञाका भङ्ग करनेके साथ-साथ यदि भगवान्की आज्ञाका भी भङ्ग होता हो, तब तो और भी अधिक पाप है। जो मनुष्य चोरी करके, झूठ बोलकर इन्कम-टैक्स या सेल-टैक्स नहीं देते वे केवल सरकारके ही कानूनका भङ्ग नहीं करते, भगवान्की आज्ञाका भी भङ्ग करते हैं। शास्त्र और महापुरुषोंकी आज्ञा भी भगवान्की ही आज्ञा है। महापुरुष कहते हैं—'**सत्यं वद, धर्मं चर।**' 'सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो।' अतः झूठ, चोरी, कपट, बेईमानी, जालसाजी करना ईश्वरकी आज्ञाका भङ्ग करना है।

सरकारकी यदि कोई अधर्मपूर्ण अनुचित आज्ञा हो तो उसका भङ्ग करनेपर लोग भी प्रशंसा करते हैं तथा ईश्वर भी रुष्ट नहीं होते। किंतु वहाँ सत्-साहस आवश्यक है। सब प्रकार यातना सहते हुए जेल जानेके लिये तैयार रहना चाहिये, उससे हम पापमुक्त हो शुद्ध हो सकते हैं। किंतु यह सहन करनेकी शक्ति होनी चाहिये। भगवान्की आज्ञाको कभी नहीं टालना चाहिये। 'सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो और भारी-से-भारी आपत्ति आ जानेपर भी झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी कभी मत करो।'—इस ईश्वराज्ञाके पालनमें तत्परता-पूर्वक सावधानी रखनी चाहिये। किंतु हिम्मत इसका नाम नहीं है कि हम सरकारकी चोरी करें और झूठ बोलें। सरकारका जो कानून आपको अमान्य हो, उसके लिये आप स्पष्ट कह दें कि हम इसे नहीं मानेंगे, सरकार हमें चाहे जो दण्ड दे। यदि आप यह कर सकें तो आपकी शूरवीरता है और जहाँ वीरता है, वहाँ उसके साथ धीरता और गम्भीरता अवश्य रहती है।

महापुरुषोंके तत्त्व, रहस्य, भाव, प्रभाव और स्वभाव—इनमेंसे किसीको भी हम उनकी कृपासे जान लें तो फिर हमारा कल्याण होनेमें विलम्ब नहीं। जब मनुष्य महापुरुषका तत्त्व-रहस्य समझ जाता है, तब वह महापुरुष ही बन जाता है। नहीं तो उसने तत्त्व-रहस्य कहाँ समझा। वास्तवमें तो महापुरुषके तत्त्वको मनुष्य महापुरुष होकर ही समझ सकता है। जो महापुरुष है ही नहीं, उसको महापुरुषके तत्त्वका अनुभव हो ही कैसे सकता है। किंतु महापुरुष समझाना चाहें तो श्रद्धालु जिज्ञासु भक्त भी उनकी कृपासे उनके तत्त्व-रहस्यको समझ सकता है।

महापुरुषोंका स्वभाव बहुत ही कोमल होता है। उनके द्वारा किसीका अनिष्ट नहीं हो सकता; क्योंकि उनमें कर्म करनेवाला कोई है ही नहीं। जब कर्ता ही नहीं है, तब बिना कर्ताके अनिष्ट कौन किसका करे। अतः उनके द्वारा अनिष्ट हो ही नहीं सकता। किंतु यदि किसीका अनिष्ट होता-सा प्रतीत हो तो समझना चाहिये कि यह अनिष्ट भोगनेवालेके पापका फल है। जैसे किसीने आग लगा दी तो आग लगानेवालेको पाप लगता है, अग्निको पाप नहीं लगता। इसी प्रकार गङ्गाका स्वभाव है बहना। वह बह रही है और उसके प्रवाहमें आकर कोई मर गया तो इसमें गङ्गाको दोष नहीं लगता। इसी प्रकार सूर्य तपता है। सूर्यकी धूपमें तपते-तपते कोई मर गया तो उसमें सूर्यका दोष नहीं है, उससे सूर्यको पाप नहीं लगता; क्योंकि अग्नि, गङ्गा और सूर्यकी नीयत किसीको कष्ट पहुँचाने या अनिष्ट करनेकी नहीं है।

श्रीरामचरितमानसमें जो यह बताया गया है कि—

समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥

(बाल० ६८। ४)

—इसका अर्थ यह नहीं है कि ये महान् विभूतियाँ हैं, इसलिये ये अपराधसे मुक्त हैं। जो महापुरुष होते हैं, वे किसीका अनिष्ट नहीं करते। वे तो कहीं किसीके प्रारब्धके कारण मारनेमें निमित्त बन जाते हैं। इसलिये उनको दोष नहीं लगता; क्योंकि उन पुरुषोंमें व्यक्तिगत स्वार्थ और अभिमानका अत्यन्त अभाव होता है। इसी प्रकार सूर्य, अग्नि और गङ्गामें स्वार्थ, आसक्ति और कर्तापनके अभिमानका अत्यन्त अभाव है। यही उनकी सामर्थ्य है। अतः कहीं वे किसी मरनेवालेके प्रारब्धके कारण निमित्तमात्र बन जाते हैं तो उनको इस सामर्थ्यके प्रभावसे पाप नहीं लगता। यह शक्ति जिस किसीमें भी हो, उसे पाप नहीं लगता। भगवान्ने कहा है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

'जो मनुष्य बारह वर्षकी हो जानेपर भी अपनी कन्याका विवाह नहीं कर देता, उसके पितरोंको सदाके लिये प्रतिमास उस कन्याके रजका पान करना पड़ता है। माता और पिता एवं ज्येष्ठ भ्राता भी—ये तीनों ही यदि कन्याको रजस्वला होती देखते रहते हैं (रजस्वला होनेसे पूर्व उसका विवाह नहीं करते) तो नरकमें गिरते हैं।'

हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

'जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं होता तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है।'

अतएव हमलोगोंको ऐसी शक्ति प्राप्त करनेके लिये भगवान्के उपर्युक्त वचनोंपर ध्यान देकर उनके अनुसार अपना जीवन बनानेका भरपूर प्रयत्न करना चाहिये।

भगवान्की प्राप्ति करानेवाले उत्तम गुण और आचरण

उत्तम गुण और उत्तम आचरण शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं। उत्तम गुणोंसे अभिप्राय है—हृदयके उत्तम भाव और उत्तम आचरणोंसे अभिप्राय है—मन, वाणी और शरीरकी उत्तम क्रिया। इनमें उत्तम क्रियाओंसे उत्तम भावोंका संगठन होता है और उत्तम भाव होनेसे उत्तम क्रियाएँ स्वाभाविक ही होती हैं। ये परस्पर एक-दूसरेके सहायक हैं। फिर भी क्रियाकी अपेक्षा भाव प्रधान है। जैसे कोई मनुष्य दूसरोंके अनिष्टके लिये यज्ञ, दान, तप आदि करता है तो उसकी वह क्रिया तामसी है और वही क्रिया यदि पुत्र, स्त्री, धन और स्वर्गादिके लिये की जाती है तो राजसी है तथा निष्कामभावसे संसारके हितके लिये भगवत्प्रीत्यर्थ करनेपर वही क्रिया सात्त्विकी हो जाती है। क्रिया एक होते हुए भी भाव उत्तम होनेसे वह उत्तम फलदायक बन जाती है। इसलिये क्रियाकी अपेक्षा भाव ही प्रधान है।

जो दुराचार, दुर्व्यसन और व्यर्थकी क्रियाएँ हैं, वे सब तो नरकमें ले जानेवाली हैं, उनकी तो यहाँ कोई चर्चा ही नहीं है। वे तो सर्वथा त्याज्य हैं। जो कल्याणकारक आचरण हैं, जो भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं, उन्हींकी यहाँ चर्चा की जाती है। वे सब आचरण भी निष्कामभावसे किये जानेपर ही कल्याण करनेवाले होते हैं। इसलिये शास्त्रोक्त उत्तम क्रियाओंका आचरण निष्कामभावसे ही करना चाहिये। उत्तम क्रियाएँ कौन-कौन-सी हैं, उनका कुछ दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है—

सबके साथ सरलता, विनय, प्रेम, आदर और निरभिमानतापूर्वक निःस्वार्थभावसे व्यवहार करना।

शरीरको जल और मृत्तिकासे शुद्ध और स्वच्छ रखना तथा घर और वस्त्रोंको भी शुद्ध और स्वच्छ रखना।

ब्रह्मचर्यका पालन करना। किसी भी सुन्दरी युवती स्त्रीका अथवा पुरुष या बालकका अश्लीलभावसे दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन, एकान्तवास आदि कभी न करना।

मन, वाणी, शरीरसे किसी क्षुद्र-से-क्षुद्र भी प्राणीको किसी भी निमित्तसे किंचिन्मात्र भी कभी दुःख न पहुँचाना, बल्कि अभिमानका त्याग करके निःस्वार्थभावसे सबका सब प्रकारसे परम हित ही करते रहना। कोई अपना अनिष्ट भी करे तो भी उसका हित ही करना।

वाणीके द्वारा प्रेम और आदरपूर्वक भगवान्के नामका निरन्तर जप करना तथा सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय करना एवं जो सत्य और प्रिय हो तथा जिसमें सबका हित हो, ऐसा कपटरहित सरल वचन बोलना।

सदा श्रद्धापूर्वक शास्त्रकी मर्यादाका पालन करना। भारी-से-भारी कष्ट पड़नेपर भी लज्जा, भय, लोभ, काम अथवा किसी भी कारणसे मर्यादाका त्याग नहीं करना।

श्रद्धा-भक्तिपूर्वक महापुरुषोंका सङ्ग, सेवा-सत्कार, नमस्कार और उनकी आज्ञाका पालन करना इत्यादि।

इस प्रकारके उत्तम आचरणोंको निःस्वार्थभावसे करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होकर भगवान्की प्राप्ति हो जाती है।

इसके सिवा, जिनके कान भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व, रहस्यकी बातोंको सुनते-सुनते अघाते नहीं, जिनके नेत्र केवल भगवान्के दर्शनोंके लिये ही चातक और चकोरकी भाँति लालायित रहते हैं, जिनकी वाणी प्रेमपूर्वक भगवान्के गुणोंका ही गान करती रहती है, जिनकी नासिका भगवान्के स्वरूप तथा भगवान्को अर्पण किये हुए पुष्प, चन्दन, माला, तुलसी, नैवेद्य आदिकी गन्धको लेकर मग्न होती रहती है, जिनकी जिह्वा भगवान्के अर्पण किये हुए प्रसादका ही आस्वादन करती है तथा जो नर-नारी भगवान्के अर्पण करके ही और भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही भगवान्का प्रसाद समझकर वस्त्र और आभूषण धारण करते हैं, जो मनुष्य अपने शरीरसे ईश्वर, देवता और ब्राह्मणोंका तथा वर्ण, आश्रम, गुण, पद और अवस्थामें जो अपनेसे बड़े हों, उनका प्रेम और विनयपूर्वक आदर-सत्कार, सेवा, आज्ञा-पालन और नमस्कार करते हैं, जो एकमात्र भगवान्पर ही निर्भर रहकर हाथोंके द्वारा भगवान्की सेवा-पूजा श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे करके मुग्ध होते हैं, जो भगवान्के

लीला-विग्रहों और उनके भक्तोंके दर्शनार्थ ही चरणोंसे तीर्थोंमें जाते और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनमें स्नान करते हैं, जो भगवान्‌के मन्त्रका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जप करते हैं, जो शास्त्र-विधिके अनुसार नित्य दान, श्राद्ध, तर्पण, होम, ब्राह्मण-भोजन श्रद्धा-प्रेमपूर्वक करते हैं, जो माता, पिता, स्वामी, आचार्य आदि गुरुजनोंको भगवान्‌के समान समझते हैं तथा उनकी सब प्रकारसे श्रद्धा, भक्ति और आदरपूर्वक सेवा, सत्कार और पूजा करते हैं—इस प्रकार जो केवल भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये ही श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भक्तिसंयुक्त उपर्युक्त आचरण करते हैं, उनके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे निवास करते हैं।

जिनके हृदयमें सम्पूर्ण दुर्गुणोंका अभाव होकर सद्गुण प्रतिष्ठित हो जाते हैं, उनके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे निवास करते हैं और वे शीघ्र ही परमात्माके निकट पहुँच जाते हैं।

जिनमें काम-क्रोध, लोभ-मोह, अहंकार-अभिमान, मद-मत्सर, दम्भ-दर्प, राग-द्वेष, छल-कपट, अशान्ति-क्षोभ, आलस्य-प्रमाद, पाप, भोगवासना और विक्षेप आदिका अत्यन्त अभाव हो गया है, जो सबके हेतुरहित प्रेमी, सबके हितमें रत, सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, जय-पराजय, लाभ-अलाभमें सम हैं, जिनके मनमें भगवान्‌के सिवा अन्य कोई आश्रय नहीं है, जो निरन्तर भगवान्‌के ही शरण हैं, जिन्हें भगवान् प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारे हैं, जिनका भगवान्‌में ही अनन्य विशुद्ध प्रेम है, जो माता-पिता, भाई-बन्धु, मित्र, स्वामी, गुरु, धन, विद्या, प्राण—सर्वस्व एक भगवान्‌को ही मानते हैं, जो परनारीको माताके समान और पराये धनको विषके समान समझते हैं, जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी और दूसरोंके सुखसे ही सुखी रहते हैं, जो दूसरोंके अवगुणोंको नहीं देखते, उनके गुणोंको ही ग्रहण करते हैं, जो गौ, ब्राह्मण और समस्त प्राणियोंके हितमें रत हैं, जो नीतिमें निपुण हैं, जो अपनेमें जो कुछ अच्छाई है, उसे भगवान्‌की कृपा समझते हैं और अपनेमें जो बुराई है, उसे अपने स्वभावका दोष मानते हैं, भगवान्‌के भक्तोंमें जिनका प्रेम है, जो जाति-पाँति, धन, घर, परिवार, धर्म, बड़ाई आदि सबमें आसक्तिका त्यागकर भगवान्‌को ही हृदयमें धारण किये रहते हैं, जिनकी दृष्टिमें स्वर्ग, नरक और मोक्ष समान हैं, जो सर्वत्र भगवान्‌को ही देखते रहते हैं, जो मन, वाणी और शरीरसे भगवान्‌के ही सच्चे सेवक हैं और जो कभी कुछ भी नहीं चाहते, प्रत्युत जिनका एकमात्र भगवान्‌में ही स्वाभाविक निष्काम श्रद्धा-प्रेम है, ऐसे मनुष्योंके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे निवास करते हैं।

यों तो भगवान् सब जगह समानभावसे व्यापक हैं ही, किंतु जिनके हृदयका भाव उपर्युक्त प्रकारसे उत्तमोत्तम सद्गुण और भगवत्प्रेमसे युक्त है, उनके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे विराजमान हैं। गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न कोई प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

यद्यपि ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंमें भगवान् अन्तर्यामीरूपसे समभावसे व्याप्त हैं, इसलिये उनका सबमें समभाव है और समस्त चराचर प्राणी उनमें सदा स्थित हैं तथापि भगवान्‌का अपने भक्तोंको अपने हृदयमें विशेष-रूपसे धारण करना और उनके हृदयमें स्वयं प्रत्यक्षरूपसे निवास करना भक्तोंकी अनन्य भक्तिके कारण ही होता है।

जैसे समभावसे सब जगह प्रकाश देनेवाला सूर्य दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थोंमें प्रतिबिम्बित होता है, काष्ठादिमें नहीं होता तथापि उसमें विषमता नहीं है, वैसे ही भक्तोंके हृदयमें विशेषरूपसे विराजमान होनेपर भी भगवान्‌में विषमता नहीं है।

जिनका किसीसे भी द्वेष नहीं, सबपर हेतुरहित दया और प्रेम है, जो क्षमाशील हैं, अहंकार और ममताका जिनमें अत्यन्त अभाव है, जिन्होंने अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ वशमें करके भगवान्‌में ही लगा दिये हैं, जिनसे किसीको भी उद्वेग नहीं होता, जिनका हृदय इच्छा, भय, उद्वेग और आसक्तिका अत्यन्त अभाव होकर परम शुद्ध हो गया है, जो पक्षपातरहित और दक्ष हैं, जो संसारसे उदासीन और विरक्त हैं, जिनमें कर्मोंके कर्तापन और फलेच्छाका अत्यन्त अभाव है, हर्ष-शोकका भी जिनमें अत्यन्त अभाव है, जिनका वैरी-मित्रमें, शीत-उष्णमें, अनुकूलता-प्रतिकूलतामें और मिट्टी-स्वर्णमें समान भाव है, इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणी, पदार्थ, भाव, क्रिया और परिस्थितिमें जिनका समान भाव रहता है, जो भगवान्‌के विधानमें हर समय संतुष्ट हैं, घर और देहमें अभिमानसे रहित हैं, जिनकी बुद्धि स्थिर है और जो परमात्माके

स्वरूपमें ही नित्य स्थित हैं—ऐसे भक्तिसंयुक्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न भगवान‌्के भक्त भगवान‌्को अत्यन्त प्रिय हैं।

इसलिये हमें चाहिये कि अपने भाव और क्रियाओंको उत्तम-से-उत्तम बनावें। वास्तवमें भाव उत्तम होनेसे क्रिया अपने-आप स्वाभाविक ही उत्तम होने लगती है, उसमें कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता और जो सर्वथा ईश्वरके ही शरण हो जाता है, अपने-आपको ईश्वरके समर्पण कर देता है, उसमें ईश्वरकी भक्तिके प्रभावसे उत्तम गुण स्वतः ही आ जाते हैं। अतः हमलोगोंको उत्तम गुण और उत्तम भावकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे ईश्वरके शरण होकर निष्काम प्रेमभावसे ईश्वरका अनन्य चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार करनेपर ईश्वरकी कृपासे प्रमाद, आलस्य, भोगवासना, दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन और व्यर्थ संकल्पोंका अत्यन्त अभाव एवं परम कल्याण-कारक विवेक और वैराग्ययुक्त सद्‌गुण-सदाचारोंका आविर्भाव होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

संसारसे वैराग्य और भगवान‌्में प्रेम होनेका उपाय

श्रीभगवान‌्की प्राप्तिकी इच्छावाले पुरुषोंको संसारसे वैराग्य और भगवान‌्में प्रेम हो—इसके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। साधनमें विक्षेप, आलस्य, भोग, प्रमाद आदि अनेक विघ्न हैं, उनमें मनकी चञ्चलता अर्थात् विक्षेप और आलस्य—ये दो प्रधान हैं; किंतु संसारसे वैराग्य और भगवान‌्में प्रेम होनेपर इन सबका अपने-आप ही विनाश हो सकता है। अतः संसारसे वैराग्य और भगवान‌्में प्रेम होनेके लिये ही विशेष प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है।

संसारसे वैराग्य होनेका उपाय है—संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दुःखरूप, घृणित, हानिकर और भयदायक समझना, वैराग्यवान् पुरुषोंका सङ्ग करना, वैराग्यविषयक पुस्तकें पढ़ना और चित्तमें वैराग्यकी भावना करना। इनसे संसारमें वैराग्य हो जाता है।

भगवान‌्में प्रेम होनेका उपाय है—भगवान‌्के नाम, रूप, लीला, धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी बातोंको सुनना, पढ़ना और मनन करना; भगवान‌्में जिनका प्रेम है, उन पुरुषोंका सङ्ग करना; भगवान‌्से सच्चे हृदयसे करुणाभावपूर्वक गद्गदकण्ठ हो स्तुति-प्रार्थना करना; 'भगवान् मेरे हैं और मैं भगवान‌्का हूँ'—इस प्रकार भगवान‌्के साथ अपना नित्य-सम्बन्ध समझना; मनसे भगवान‌्का दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तन करना तथा हर समय निष्कामभावसे भगवान‌्के नाम-रूपको स्मरण रखना। ऊपर बतलायी हुई इन सभी बातोंपर श्रद्धा-विश्वास करके उनको काममें लानेसे बहुत शीघ्र भगवान‌्में प्रेम हो सकता है।

जब साधकका संसारसे वैराग्य और भगवान‌्में अनन्य प्रेम हो जाता है, तब फिर दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, सांसारिक संकल्प, आलस्य, प्रमाद, भोगेच्छा आदि सब दोषोंका नाश होकर उसे भगवान‌्का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और उसमें स्वाभाविक ही समता आ जाती है; फिर उत्तम गुण तो उसमें अपने-आप ही आ जाते हैं तथा उसके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ भी उत्तम-से-उत्तम होने लगती हैं। उसे परम शान्ति और परम आनन्दका अनुभव होता रहता है। इसलिये ऐसा पुरुष कभी संसारके विषयभोगोंको और कुसङ्गको पाकर भी उनमें नहीं फँसता।

अपने दैनिक जीवनमें उपर्युक्त बातोंको किस प्रकार काममें लाया जाय—इसके लिये नीचे लिखी हुई तीन बातोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये—

(१) जब हम रात्रिमें सोने लगें, तब उस समय हमें उचित है कि हम भगवान‌्के नाम, रूप, गुण, प्रभावको स्मरण करते-करते ही शयन करें। इससे रातमें प्रायः बुरे स्वप्न भी नहीं आते और हमारा वह शयनकाल भी साधनकालके रूपमें ही परिणत हो सकता है।

(२) दिनमें कार्य करते समय यह समझना चाहिये कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, भगवान‌्का ही काम कर रहा हूँ और भगवान‌्की आज्ञासे भगवान‌्के लिये ही कर रहा हूँ एवं ये जड़-चेतनात्मक सब पदार्थ भगवान‌्के हैं और मैं भी भगवान‌्का हूँ तथा भगवान् मेरे हैं और वे सबमें व्यापक हैं; इसलिये सबकी सेवा भगवान‌्की ही सेवा है। तथा व्यवहार करते समय स्वार्थत्याग, सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति हितैषिता, उदारता, समता, स्वाभाविक दया—इनपर विशेष ध्यान रखना चाहिये। इससे व्यवहार स्वाभाविक ही बहुत उच्चकोटिका होने लग जाता है।

इससे भी बढ़कर एक भाव यह है कि जो भी क्रिया करे, उसे अहंकार और अभिमानसे रहित होकर करे और यह समझे कि मेरे द्वारा जो कुछ भी क्रिया होती है, वह भगवान् ही करवा रहे हैं, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। इस प्रकारके भावसे होनेवाली क्रियामें कभी दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसनकी गुंजाइश ही नहीं रहती। यदि उसमें दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन हो तो समझना चाहिये

कि उसकी क्रिया होनेमें भगवान्‌का हाथ नहीं है, कामका हाथ है। गीतामें अर्जुनके द्वारा यह पूछनेपर—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(३। ३६)

'कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

भगवान्‌ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है; इसको ही तुम इस विषयमें वैरी जानो।'

(३) एकान्तमें बैठकर साधन करते समय भी प्रथम मन-इन्द्रियोंको वशमें करना चाहिये। मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य ही प्रधान है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(६। ३५)

'महाबाहो! निःसंदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परंतु कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है।' मनको वशमें कर लेनेपर इन्द्रियोंका वशमें होना उसके अन्तर्गत ही है।

मन वशमें होनेके बाद श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌के नाम और स्वरूपका स्मरणरूप साधन करना चाहिये; क्योंकि मनको वशमें किये बिना साधन होना सुगम नहीं है और साधन करनेसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है। भगवान् कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता ६। ३६)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग (भगवत्-प्राप्ति) दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है।'

तथा भगवान्‌ने आगे सब साधनोंमें श्रद्धापूर्वक भगवान्‌के भजन-चिन्तनरूप भक्तिके साधनको ही श्रेष्ठ बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

अथवा एकान्तमें बैठकर सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके और संसारसे उपराम होकर मनको परमात्मामें लगा देना चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिका यह भी एक उत्तम प्रकार है। भगवान्‌ने स्वयं गीतामें बतलाया है—

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

(६। २४-२५)

'संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।'

एवं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(६। २६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर उसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे अर्थात् परमात्मामें ही लगावे।'

इसलिये संसारके विघ्नोंका नाश होकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये उपर्युक्त प्रकारसे संसारसे वैराग्य और भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये विशेष कोशिश करनी चाहिये।

तुम मुझे देखा करो और मैं तुम्हें देखा करूँ

हमारा मन वहीं लगता है, जहाँ हमारी अभिलषित वस्तु होती है, जहाँ हमें अपनी रुचिके अनुकूल सुख, सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य आदि दिखायी देते हैं। विचार करके देखनेसे पता लगता है कि जगत्‌में हम जो प्रिय

वस्तु, सुख, सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य आदि देखते हैं, उन सभीका पूर्ण अमित अनन्त भण्डार श्रीभगवान् हैं। समस्त वस्तुएँ, समस्त गुण, समस्त सुख-सौन्दर्य भगवान्‌के किसी एक अंशके प्रतिबिम्बमात्र हैं। उस महान् अनन्त अगाध सागरके सीकर-कणकी छायामात्र हैं। हमें जो वस्तु जितनी चाहिये, जब चाहिये, वही वस्तु उतनी ही और उसी समय भगवान्‌में मिल सकती है; क्योंकि वे सदा-सर्वदा उनमें अनन्तरूपसे भरी हैं और चाहे जितनी निकाल ली जानेपर भी कभी उनकी अनन्ततामें कमी नहीं आती। अतएव हमारा मन जिस किसीमें लगता हो, उसीको दृढ़ विश्वासके साथ भगवान्‌में देखना चाहिये। फिर हम कभी भगवान्‌से अलग नहीं होंगे और भगवान् हमसे अलग नहीं होंगे; क्योंकि सब कुछ भगवान्‌से, भगवान्‌में है तथा भगवत्स्वरूप ही है। भगवान्‌ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। भाव यह कि वह मुझे देखता रहता है और मैं उसे देखता रहता हूँ।'

इसीके साथ हमें अपनेको ऐसा बनाना चाहिये, जो भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय हो। गीतामें बारहवें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्तके लक्षणोंका वर्णन किया है और अन्तमें कहा है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(गीता १२। २०)

'परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं अर्थात् उस प्रकारका अपना जीवन बनानेमें तत्पर होते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

इसलिये हमें अपनेमें उन सब भावोंकी दृढ़ स्थापना करनी चाहिये, जो भगवान्‌को प्रिय हैं। ऐसा होनेपर जब भगवान् हमसे प्रेम करने लगेंगे, उनका मन हममें लगा रहेगा—(प्रेम तो वे अब भी करते हैं; परंतु हमें उसका अनुभव नहीं होता, उनके अनुकूल आचरण करनेसे अर्थात् उन सब प्रिय गुणोंको जीवनमें उतारनेसे हमें भगवान्‌के प्रेमका अनुभव होने लगेगा) तब हमारा मन भी उनमें लगा रहेगा। हमें तो बस, विनोदपूर्वक भगवान्‌से यही भाव रखना चाहिये और यही मन-ही-मन कहना चाहिये कि 'प्रभो! न तो मैं दूसरेको देखूँगा और न आपको देखने दूँगा।'

आवहु मेरे नयन मैं पलक बंद करि लेउँ।
ना मैं देखौं और कौं ना तोहि देखन देउँ॥
नारायन जाके हृदै सुंदर स्याम समाय।
फूल-पात-फल-डार मैं ताकौं वही दिखाय॥

अनन्यभक्तिका स्वरूप और रहस्य

समय बहुत ही अमूल्य है, अतः एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। रात्रिमें सोनेके समय भगवान्‌के नामका जप और ध्यान करते-करते ही सोना चाहिये। इस प्रकार सोनेसे रातका शयनकाल भी साधनकाल बन जाता है।

दिनमें चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते जैसे गोपियाँ अपना समय बिताया करती थीं, उसी तरह समय बिताना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

(१०। ४४। १५)

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कार्योंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं, इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजकी गोपियाँ धन्य हैं।'

इसी प्रकार हमलोगोंको भी हर समय वाणीसे भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन तथा मनसे भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये; इसमें जरा भी कमी नहीं रहनी चाहिये।

प्रातः और सायंकाल—दोनों कालोंमें साधनके लिये नियमितरूपसे भी हमें समय लगाना चाहिये। नियमितरूपसे हम जो समय लगावें, उसे भी बहुत ही मूल्यवान् बना लेना चाहिये। भगवान्‌के नाम-जपके साथ निम्नलिखित छः बातोंका विशेषरूपसे ध्यान रखा जाय तो नाम-जप बहुत मूल्यवान् बन सकता है—

(१) नाम-जप हो सके तो मनसे, नहीं तो, श्वासके द्वारा करे; वह भी न हो सके तो जिह्वाके द्वारा ही किया जाय।

(२) नाम-जपके समय, जिसका नाम है, उस नामी-(भगवान्) को याद रखना चाहिये।

(३) नाम-जप गुप्तरूपसे करे। किसीको यह नहीं कहना चाहिये कि मैं इतना जप करता हूँ।

(४) नाम-जप श्रद्धा-विश्वासपूर्वक करना चाहिये।

(५) नाम-जप प्रेममें विह्वल होकर करना चाहिये।

(६) नाम-जप निष्कामभावसे करना चाहिये।

इनमेंसे एक-एक भाव मूल्यवान् है। श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभाव—इनमेंसे तो एक भी साथ रहे तो उससे हमारा संसार-सागरसे उद्धार हो सकता है।

भगवान्का ध्यान करनेके समय ये छः बातें साथमें होनी चाहिये—

(१) भगवान्के नामका जप।

(२) संसारसे वैराग्य।

(३) भगवान्के गुण, प्रभाव और लीलाकी स्मृति।

(४) इन सबमें भगवान्के तत्त्व-रहस्यको समझना।

(५) निरन्तरता।

(६) निष्कामभाव।

इस प्रकार यदि ध्यान किया जाय और वह ध्यान यदि एक क्षण भी हो जाय तो उसके समान न तप है, न तीर्थ है, न व्रत है, न दान है, न यज्ञ है—कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार अपने समयको मूल्यवान् बनाना चाहिये।

गीताका पाठ इस प्रकार करना चाहिये—एक मनुष्य अठारहों अध्यायोंके मूल श्लोकोंका पाठ करता है और दूसरा मनुष्य केवल एक अध्यायका ही अर्थ और भाव समझकर पाठ करता है तो पहलेवालेकी अपेक्षा वह एक अध्यायका पाठ करनेवाला श्रेष्ठ है। अर्थ और भावको समझकर हृदयमें धारण करे और फिर उसे कार्यान्वित करे यानी कार्यरूपमें परिणत करे तो वह सबसे उत्तम है। यही बात रामायण आदिके पाठके विषयमें भी समझनी चाहिये।

पूजा हमें मानसिक करनी चाहिये, मानो प्रत्यक्ष ही कर रहे हैं। भगवान्का ध्यान करके पूजा करे, भोग लगाये, आरती करे, फिर स्तुति-प्रार्थना करे। ये सब भी भावसे मन्त्रोंका अर्थ समझते हुए, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक, निष्कामभावसे और प्रेममें विह्वल होकर करे। चित्रपट आदिके सहारे यदि ध्यान किया जाय तो उस-उस चित्रपट या मूर्तिका नहीं, साक्षात् भगवान्का ही ध्यान करे—यह ध्यान और पूजा भी मूल्यवान् है; इस पूजामें दूसरी जगह मन जानेकी गुंजाइश नहीं; क्योंकि मानसिक पूजामें भगवान्का स्वरूप भी मानसिक ही होता है। जिस शरीरसे भगवान्की हम पूजा करते हैं, वह भी मानसिक होता है। उसकी सामग्री भी मानसिक होती है और जो क्रिया की जाती है, वह भी मानसिक ही होती है। इस प्रकारकी पूजामें मनके इधर-उधर जानेकी सम्भावना ही नहीं रहती।

भगवान्की स्तुति-प्रार्थना भी भावसहित, श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावपूर्वक करे। भगवान्के सम्बन्धमें ऐसा विश्वास होना चाहिये कि भगवान् हैं, बहुतोंको मिले हैं, मिलते हैं और मुझे भी मिलेंगे। इस प्रकार भगवान्के अस्तित्व एवं सुलभताके विषयमें विश्वास रखना चाहिये।

विवेकपूर्वक वैराग्य हो और वैराग्यपूर्वक उपरति हो तो शीघ्र संसारसे वृत्तियाँ हटकर परमात्मामें अपने-आप ही लग जाती हैं। चित्तकी प्रीति और चित्तकी वृत्ति—दोनों एक ही जगह रहती हैं। जहाँ हमारी प्रीति होगी, वहाँ हमारे चित्तकी वृत्ति अपने-आप ही लग जायगी, अतः भगवान्में प्रेम बढ़ाना चाहिये। प्रेममें प्रधान हेतु श्रद्धा है और श्रद्धामें प्रधान हेतु अन्तःकरणकी शुद्धि है।

श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(१७। ३)

'हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है; इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है।'

श्रद्धा भी साधारण नहीं, अतिशय—परम श्रद्धा होनी चाहिये। परम श्रद्धा उसे कहते हैं, जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर हो। कोई बात प्रत्यक्षमें तो नहीं दीखती, किंतु श्रद्धास्पदके वचनोंमें ऐसा विश्वास होना चाहिये कि वह वस्तु प्रत्यक्षसे भी बढ़कर स्पष्ट दीखने लगे। राजा द्रुपद और उनकी पत्नीकी श्रीशिवजीके वचनोंमें ऐसी ही श्रद्धा थी। शिखण्डीके विषयमें श्रीशिवजीने उनसे कह रखा था कि वह प्रथम लड़कीके रूपमें उत्पन्न होकर फिर लड़का बन जायगा। फलतः राजा द्रुपदको लड़की हुई, किंतु उन्होंने उसे लड़का ही समझा और दशार्ण देशके राजा हिरण्यवर्माकी लड़कीके साथ उसका विवाह भी कर दिया। प्रत्यक्ष लड़की रहते हुए भी उसे लड़का मान लिया। ऐसा ही विश्वास भगवान्के वचनोंमें तथा गीताके वचनोंमें होना चाहिये।

ज्ञान, वैराग्य, एकान्तवास, निष्कामभाव, नाम-जप, श्रद्धा और प्रेम—ये सभी बहुत मूल्यवान् हैं। इनके संयोगसे भगवान्का ध्यान अपने-आप होने लगता है; क्योंकि ये सब ध्यानमें सहायक हैं।

अन्त:करणकी शुद्धि होती है निष्कामकर्मसे तथा भगवान्‌के नामके जप और ध्यानसे। अन्त:करणकी शुद्धि होनेपर भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति होती है और श्रद्धा होनेसे प्रेम होता है—*'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।'*—प्रेमके बढ़नेपर मनुष्य भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको यथार्थरूपसे समझ जाता है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य—सभी मूल्यवान् हैं। भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम—इन सबमें गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका दर्शन किया जाय और गुण-प्रभावका भी तत्त्व-रहस्य समझमें आ जाय तो हृदयका भाव अपने-आप उच्चकोटिका हो जाता है तथा साधकका जीवन ही पलट जाता है, उसकी अवस्थामें विलक्षण परिवर्तन हो जाता है।

ये सब बातें सुन-सुनकर चित्तमें हर्ष हो, प्रसन्नता हो, शान्ति मिले, आनन्दकी अनुभूति हो, भगवान्‌के मिलनेकी आशा हो जाय तो इससे भी साधककी अवस्था बहुत शीघ्र बदल सकती है और मिनटोंमें भगवान् मिल सकते हैं।

जब चित्तकी अवस्था बदल जाती है, उस समय हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, वाणी गद्गद हो जाती है, कण्ठ रुक जाता है, शरीरमें रोमाञ्च होने लगता है, नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगता है, नासिकासे भी जल बहने लगता है, उसके मन, बुद्धि और इन्द्रिय—सबमें आनन्दकी बाढ़-सी आ जाती है।

ऐसी अवस्था न हो तो भगवान्‌के वियोगमें दु:ख होना चाहिये और दु:खमें ऐसा अनुभव होना चाहिये कि भगवान्‌के बिना जीवन व्यर्थ है। विरहकी व्याकुलतामें उसकी वैसी ही दशा हो जानी चाहिये, जैसी भरतजी महाराजकी श्रीरामके विरहमें हुई थी। भरतजीकी दशाका चित्रण करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

(राम० उत्तर० १ क)

इसके लिये हमलोगोंको सद्गुण, सदाचार, ईश्वरकी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य—इन सबको अमृतके समान समझकर हर समय इनका सेवन करना चाहिये और इनके विपरीत दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, आलस्य, प्रमाद, निद्रा और भोग—इन सबको साधनमें महान् विघ्न समझकर इनका स्वरूपसे सर्वथा त्याग कर देना चाहिये; इन्हें क्षणभरके लिये भी आश्रय नहीं देना चाहिये।

भगवान्‌के मिलनेमें जो एक-एक क्षणका विलम्ब हो रहा है, वह युगके समान प्रतीत होना चाहिये। भरतजी जब भगवान्‌से मिलनेके लिये चित्रकूट जा रहे थे, उस समय वहाँ पहुँचनेमें जो विलम्ब हो रहा था, वह उन्हें असह्य हो रहा था। वैसे ही हमलोगोंको भगवान्‌के मिलनेमें जो विलम्ब हो रहा है, वह असह्य होना चाहिये। जलके वियोगमें मछलीकी जैसी दशा होती है, जैसी तड़पन होती है, वैसी तड़पन भगवान्‌के विरहमें होने लगे तो फिर भगवान् मिलनेमें विलम्ब नहीं करते।

साथ ही हमलोगोंको एकनिष्ठ होना चाहिये। जैसे पपीहा एकनिष्ठ होता है, वह आकाशसे गिरी हुई बूँदको ही ग्रहण करता है, भूमिपर पड़ा जल नहीं पीता, चाहे वह गङ्गाजल ही क्यों न हो, उसी प्रकार एक परमात्माके सिवा और कोई भी चीज हमारे कामकी नहीं होनी चाहिये।

ध्यानमें हमारी चकोर पक्षीकी तरह एकाग्रता होनी चाहिये। जब पूर्णिमाका चन्द्रमा उदय होता है, तब चकोर पक्षी उदय होनेसे लेकर अस्त होनेतक उसकी ओर देखता ही रहता है, चाहे प्राण ही क्यों न चले जायँ। वह उसे एकटक देखता ही रहता है, उसके अमृतमय स्वरूपका रसपान करता ही रहता है। इसी प्रकार भगवान्‌का ध्यान करते समय उनकी रूप-माधुरीका रसपान करते रहना चाहिये।

रुक्मिणीकी तरह भगवान्‌के विरहमें हमारी व्याकुलता होनी चाहिये। हमें ऐसा निश्चय करना चाहिये कि भगवान् नहीं आयेंगे तो मैं अपने प्राणोंका त्याग कर दूँगा। ऐसी परिस्थितिमें भगवान्‌को बाध्य होकर उस प्रेमीके पास पहुँचना ही पड़ता है। अत: ऐसी निष्ठा होनी चाहिये कि भगवान् नहीं आयेंगे तो जीकर ही क्या करना है। इसका यह मतलब कदापि नहीं कि हमें आत्महत्या कर लेनी चाहिये; अपितु भगवान्‌के विरहकी व्याकुलतामें हमारी ऐसी दशा हो जानी चाहिये कि उनके दर्शनके बिना हमारे प्राण निकलनेके लिये छटपटाने लगें।

श्रीभरतजी कहते हैं—

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

(राम० उत्तरकाण्ड १। ८)

'अवधि बीत जानेपर भी भगवान् नहीं पहुँचें और फिर भी मैं जीता रहूँ तो संसारमें मेरे समान पापी कौन होगा?'

ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके लिये हमें चाहिये कि जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे मनको हटाकर भगवान्‌में लगाते रहें। भगवान्‌ने कहा है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(गीता ६। २६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-

जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे। अर्थात् जहाँ मन जाय वहाँसे वशमें करके परमात्मामें नियुक्त करे।'

अथवा जहाँ मन जाय, वहीं परमात्माको देखे—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

भक्त चार प्रकारके होते हैं—अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी। इनमें ज्ञानी श्रेष्ठ है। भगवान् कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

(गीता ७। १८)

'ये सभी उदार (श्रेष्ठ) हैं, परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है।'

इस प्रकार उक्त चारों भक्तोंमें ज्ञानीकी भगवान्‌ने विशेष प्रशंसा की है, एकनिष्ठ ज्ञानीको श्रेष्ठ और अपना अतिशय प्यारा कहा है; क्योंकि भगवान्‌का यह विरद है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

'जो भक्त मुझको जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

अतः तन्मय होकर भगवान्‌को भजना चाहिये।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६। ३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।' क्योंकि उसकी दृष्टिमें मेरे सिवा दूसरी वस्तु ही नहीं है। लोगोंकी दृष्टिमें तो वह संसारमें रहता हुआ सब काम करता है; पर वास्तवमें वह संसारमें स्थित नहीं है, मुझमें ही स्थित है।

इन सब बातोंको समझकर अपनी स्थिति ज्ञानी महात्माओंकी-जैसी बनानी चाहिये। उच्चकोटिके जो साधक ज्ञानी भक्त हैं, वे निरन्तर भगवान्‌को भजते हैं; अतः उनके लिये भगवान् सुलभ हैं। भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

इसलिये भगवान् कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

(गीता १०। ८)

'मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं।'

किस प्रकारसे भजते हैं, इसका उत्तर भगवान्‌के ही शब्दोंमें सुनिये—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(गीता १०। ९)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं।'

इस प्रकार वे भक्त मुझे नित्य-निरन्तर प्रेमसे भजते हुए मेरी कृपासे मुझे प्राप्त कर लेते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ७)

'अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ यानी केवट बनकर इस संसारसागरसे उनको पार कर देता हूँ; इसमें विलम्बका काम नहीं।'

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।' अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है। अर्थात् जहाँतक वे साधन कर चुके हैं, उसकी तो रक्षा करता हूँ और जो उनमें कमी है, उसकी पूर्ति करता हूँ। दूसरे शब्दोंमें आजतक जिस वस्तुकी—परम पदकी उन्हें प्राप्ति नहीं हुई, (उसके लिये भगवान् वादा करते हैं—कि) उसे मैं प्राप्त करा देता हूँ।

भगवान्की इस घोषणापर ध्यान देकर हमलोगोंको ऐसा ही बनना चाहिये। इस प्रकारकी अनन्यभक्तिसे मनुष्य जो चाहता है वही उसे मिल जाता है। भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गीता ११। ५४-५५)

'परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा तो इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ। अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

इसीका नाम एकनिष्ठ भक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, अनन्य शरण, अनन्य प्रेम और अनन्य भक्ति है।

ये सब बातें जो भगवान्ने कही हैं, इनके अनुसार मनुष्यको अपना जीवन बनाना चाहिये। इस प्रकारका जीवन बनाकर ही संसारमें जीना धन्य है। संसारके सभी पदार्थ लोगोंकी दृष्टिमें संसारी हैं, अपनी दृष्टिमें नहीं। अपनी दृष्टिमें तो जो कुछ भी पदार्थ हैं, वे सब भगवान्के हैं तथा मैं भगवान्का और भगवान् मेरे हैं, मेरी सारी चेष्टा भगवान्के लिये ही है—इस प्रकार समझे।

अथवा सबको भगवान्का ही स्वरूप समझे। गीतामें भगवान्ने कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

अतएव या तो सबमें भगवान्को देखे या सबको भगवान् समझता रहे और आनन्दमें मुग्ध होता रहे। इससे स्थिति नीची हो ही क्यों?

संसारसे अपना प्रयोजन ही क्या है? चाहे कुछ भी हो, अपने तो यही समझे कि सब भगवान्का है, मैं भगवान्का हूँ, सब भगवान्में है, मेरी सारी चेष्टा भगवान्की प्रेरणासे—उनकी आज्ञासे ही हो रही है या मैं उनके लिये ही सब कुछ कर रहा हूँ, भगवान् जो करवा रहे हैं, वही कर रहा हूँ। ये सब भाव भगवान्के दर्शनमें सहायक हैं। अतः इस प्रकार समझकर हर समय सर्वत्र भगवान्का अनुभव करे, उनको कभी न भूले।

अवतार और अधिकारी महापुरुषोंका अलौकिक प्रभाव

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

(गीता ४।७)

भगवान् कहते हैं—'हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ।'

इसपर कितने ही भाई हमसे पूछा करते हैं कि 'जब-जब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् यदि अवतार लेते हैं तो इस समय तो धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि विशेषरूपसे हो रही है; फिर भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते? क्योंकि इस समय धर्म-पालन करनेवाले लोग संसारमें बहुत ही कम हैं; यदि कहीं कोई धर्म-पालन करता है तो वह आंशिकरूपसे ही करता है एवं यज्ञ, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, दुःखी प्राणियोंकी सेवा, बड़ोंका आदर-सत्कार, शौचाचार-सदाचारका पालन आदि तो बहुत ही कम देखनेमें आते हैं और जो देखनेमें आते हैं, उनमें भी सूक्ष्मतासे विचार करके देखनेपर कहीं-कहीं तो शौचाचार-सदाचाररूप धर्मके नामपर दम्भ ही दृष्टिगोचर होता है। यह तो धर्म-हानिकी बात हुई। इसके सिवा दूसरी ओर पापाचारकी विशेषरूपसे वृद्धि हो रही है। चोरी, झूठ, कपट, बेईमानी, घूसखोरी आदि दिन-पर-दिन बढ़ रहे हैं। चोरबाजारी करना, इनकम टैक्स और सेल्स टैक्सकी चोरी करना, झूठे बहीखाते बनाना तो मामूली-सी बात हो रही है; इन सबको तो बहुत-से लोग पाप ही नहीं समझते। अंडे और मांस खाने तथा मदिरा पीनेसे शास्त्रोंमें बड़ा भारी पाप माना गया है; किंतु इनको भी बहुत-से लोग व्यवहारमें लाने लगे हैं। कोई औषधके नामपर, कोई होटलमें जाकर और कोई भोग-कामनाकी पूर्तिके लिये इनको व्यवहारमें लाने लगे हैं और उसमें पाप भी नहीं समझते। कई एक पुरुष तो परस्त्रीगमनको भी पाप नहीं मानते। उनमें कितने ही तो छिपकर और कितने ही प्रकटरूपमें यह दुराचार करते हैं। बहुत-से लोग सट्टा-फाटका और जुआ खेलते हैं, जिनके सम्बन्धमें शास्त्रकी घोषणा है कि ये देश और राष्ट्रके लिये महान् हानिकारक हैं। मांस और चमड़ेके लिये गौओंकी हिंसा बहुत अधिक मात्रामें हो रही है; क्योंकि चमड़ा और सूखा मांस विदेशोंमें अत्यधिक परिमाणमें भेजा जाता है। मच्छर, खटमल और टिड्डी आदि क्षुद्र प्राणियोंकी हिंसाको तो बहुत-से लोग हिंसा ही नहीं समझते। ऐसी परिस्थितिमें भगवान् क्यों नहीं अवतार लेते ?'

इसके उत्तरमें हम यही कहते हैं कि भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते—इसे तो भगवान् ही जानें; इसका निर्णय करनेकी सामर्थ्य हममें नहीं है। फिर भी विचार करनेसे यह अनुमान होता है कि जब युगधर्मकी अपेक्षा अधिक मात्रामें पाप बढ़ जाता है, तभी भगवान् अवतार लिया करते हैं। सत्ययुगमें धर्मके चार चरण रहते हैं, त्रेतायुगमें तीन, द्वापरयुगमें दो और कलियुगमें एक ही चरण रह जाता है (महा० वन० अ० १४९)। जब सत्ययुगमें धर्मका ह्रास होने लगा, तब भगवान्ने श्रीनृसिंह आदि रूपोंमें प्रकट हो हिरण्यकशिपु आदि दुष्टोंका संहार करके धर्मकी स्थापना की। त्रेतायुगके अन्तमें जब राक्षसोंने ऋषि-मुनियोंको मारकर उनकी हड्डियोंका ढेर लगा दिया, तब भगवान्ने श्रीरामरूपमें प्रकट हो खर-दूषण, त्रिशिरा, कुम्भकर्ण, मेघनाद, रावण आदि राक्षसोंमेंसे, किसीका स्वयं वध करके और किसीका दूसरेके द्वारा वध करवाकर धर्मकी स्थापना की, जिसके कारण आज भी संसारमें 'रामराज्य' की महिमा गायी जाती है। द्वापरयुगके अन्तमें जब दुष्टोंके द्वारा घोर अत्याचार होने लगा, तब भगवान्ने श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हो पूतना, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर, धेनुकासुर, प्रलम्बासुर, अरिष्टासुर, कंस, जरासंध, कालयवन, शिशुपाल, दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि, जयद्रथ आदि दुष्टोंमेंसे, किन्हींका स्वयं संहार करके और किन्हींका दूसरोंके द्वारा संहार करवाकर तथा महाराज युधिष्ठिरको राज्य दिलाकर धर्मकी स्थापना की।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि जब-जब युगधर्मके लक्षणोंकी अपेक्षा पाप अधिक बढ़ जाता है, तब-तब भगवान् अवतार लेते हैं। जब सत्ययुगमें धर्म-पालनके चार चरणोंमें कमी आयी, त्रेतामें उसके तीन चरणोंमें कमी आ गयी और द्वापरयुगमें दो चरणोंमें भी कमी आ गयी, तब भगवान्को अवतार लेना पड़ा। अब कलियुगमें धर्मका एक ही चरण रह गया है, इसका भी जब बिलकुल ह्रास हो जायगा, तब कलियुगके अन्तमें भगवान् कल्किरूपमें अवतार लेंगे—ऐसी बात श्रीमद्भागवतमें कही गयी है (देखिये स्कन्ध १२, अध्याय २, श्लोक १८)।

घोर कलियुगका वर्णन करते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने अपने रामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें लिखा है—

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
जो कह झूँठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥

असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

(९८। १—४; ९८ क)

'कलियुगमें न वर्णधर्म रहता है, न चारों आश्रम रहते हैं। सभी स्त्री-पुरुष वेदके विरोधमें लगे रहते हैं। ब्राह्मण वेदोंको बेचनेवाले और राजा प्रजाका शोषण करनेवाले होते हैं। वेदकी आज्ञा कोई नहीं मानता। जिसको जो अच्छा लग जाय, वही मार्ग है। जो डींग मारता है, वही पण्डित है। जो मिथ्या आरम्भ करता (आडम्बर रचता) है और जो दम्भमें रत है, उसीको कलियुगमें सब कोई संत कहते हैं। जो जिस किसी प्रकारसे दूसरेका धन हरण कर ले, वही बुद्धिमान् है। जो दम्भ करता है, वही बड़ा आचारी है। जो झूठ बोलता है और हँसी-दिल्लगी करना जानता है, कलियुगमें वही गुणवान् कहा जाता है। जो आचारहीन है और वेदमार्गको छोड़े हुए है, कलियुगमें वही ज्ञानी और वही वैराग्यवान् है। जिसके बड़े-बड़े नख और लम्बी-लम्बी जटाएँ हैं, वही कलियुगमें प्रसिद्ध तपस्वी है। जो अमङ्गल वेश और अमङ्गल भूषण धारण करते हैं और भक्ष्य-अभक्ष्य (खानेयोग्य और न खानेयोग्य) सब कुछ खा लेते हैं, वे ही योगी हैं, वे ही सिद्ध हैं और वे ही मनुष्य कलियुगमें पूज्य हैं।'

इस समय भी इस प्रकारके अधर्मका सूत्रपात तो होने लगा है, किंतु अभी धर्मका सर्वथा ह्रास नहीं हुआ है।

आजकल भी दम्भ और पाखण्ड बढ़ता जा रहा है। दम्भी लोग धर्मके नामपर भोले-भाले नर-नारियोंको अपने चंगुलमें फँसा लेते हैं। कई स्त्रियाँ भी अपनेको ज्ञानी, महात्मा, योगी और ईश्वरकी शक्ति घोषित करती हैं तथा उनके अनुयायी लोग भी कहते हैं कि ये साक्षात् ईश्वरकी शक्ति हैं, ईश्वर इनमें प्रकट हुए हैं, ईश्वरने नारीके रूपमें अवतार लिया है। इस प्रकारका भ्रम फैलाकर वे स्त्रियाँ अपने मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाके लिये अपनेको पुजवाती हैं तथा लोगोंकी धन-सम्पत्तिका अपहरण करती हैं। कहीं-कहीं गृहस्थ और संन्यास-आश्रममें स्थित पुरुष भी दम्भ-पाखण्ड करते हैं। कोई तो अपनेको योगिराज कहते हैं, कोई ज्ञानी महात्मा नामसे अपनेको घोषित करते हैं। कोई-कोई अपनेको अधिकारी (कारक) महापुरुष कहते हैं एवं कोई-कोई तो अपनेको ईश्वरका अवतार ही कहते हैं। यों कहकर वे अपने फोटो और पैरोंको पुजवाते, अपना नाम जपवाते और अपने उच्छिष्टको महाप्रसादके नामपर वितीर्ण करते हैं। इस प्रकार भोले-भाले पुरुषों और स्त्रियोंको धोखा देकर उनके सतीत्व और धन-सम्पत्तिका अपहरण करते हैं। जब यह दम्भ-पाखण्ड अतिमात्रामें बढ़ जाता है, धर्मका अत्यन्त ह्रास होकर पापोंकी वृद्धि हो जाती है, तब भगवान् अवतार लेते हैं। हमारी समझमें तो अभी अवतार लेनेका समय नहीं आया है, इसलिये कोई दम्भी अपनेको अवतार या अधिकारी (कारक) महापुरुष घोषित करे तो उसके भुलावेमें आकर अपने धर्म और धन-सम्पत्तिका विनाश नहीं करना चाहिये।

वास्तवमें ईश्वरके अवतारके स्वरूप, जन्म, उद्देश्य, प्रभाव, गुण, कर्म और स्वभाव दिव्य, अलौकिक और अत्यन्त विलक्षण होते हैं। उनके श्रीविग्रहकी धातु चेतन होती है। उनका शरीर दीखनेमें मनुष्य-जैसा होनेपर भी अतिशय विलक्षण होता है; वह रोग-शोक-मोह और दोषोंसे रहित, अलौकिक एवं दिव्य होता है। उनका जन्म मनुष्योंकी भाँति नहीं होता। गीतामें भगवान्ने बतलाया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(४। ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

यहाँ '**अजोऽपि सन्**' कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मैं जन्म लेता-सा प्रतीत होता हूँ, वास्तवमें जन्म नहीं लेता। श्रीमद्भागवतमें वर्णन है कि माता देवकीके सामने भगवान् चतुर्भुजरूपमें ही प्रकट हुए थे। उनके उस अलौकिक रूपको देखकर माता देवकीने, कंस उन्हें तंग न करे इसलिये, उनसे यह प्रार्थना की—

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ३। ३०)

'विश्वात्मन्! आपका यह रूप अलौकिक है। आप शङ्ख, चक्र, गदा और कमलकी शोभासे युक्त अपने इस चतुर्भुजरूपको छिपा लीजिये।'

तब भगवान्—

पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३। ४६ का उत्तरार्ध)

'माता-पिताके देखते-देखते अपनी मायासे तत्काल एक साधारण बालक-से हो गये।'

भगवान्ने वहाँ वसुदेव-देवकीसे कहा कि 'मैंने आपको यह रूप इसलिये दिखलाया है कि आपको मेरे पूर्व अवतारोंका स्मरण हो जाय। यदि मैं ईश्वररूपमें प्रकट न होता तो केवल मनुष्यशरीरसे मेरे अवतारकी पहचान नहीं हो पाती।' एवं वहाँ भगवान्ने अपनेको यशोदाके यहाँ पहुँचानेके लिये वसुदेवजीको प्रेरणा भी की। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्का जन्म नहीं होता। दूसरी बात वहाँ यह भी दिखलायी गयी है कि भगवान्की योगशक्तिके प्रभावसे वसुदेवजीकी हथकड़ी-बेड़ियाँ खुल गयीं, दरवाजे और ताले खुल गये, पहरेदारोंको निद्रा आ गयी तथा वसुदेवजीके श्रीकृष्णको लेकर गोकुल जाते समय यमुनाका बढ़ा हुआ जल अत्यन्त कम हो गया, यमुनाने उनके लिये मार्ग दे दिया एवं यशोदाको निद्रा आ गयी। जब वसुदेवजी श्रीकृष्णको यशोदाकी शय्यापर सुलाकर उनके बदलेमें योगमायाको, जो वहाँ कन्याके रूपमें प्रकट हुई थीं, वहाँसे लेकर कारागारमें आ गये, तब कारागारके फाटक और ताले अपने-आप बंद हो गये (श्रीमद्भा० १०। ३)। यह सब भगवान्का ही प्रभाव है। ऐसी शक्ति मनुष्योंमें नहीं होती।

'**अव्ययात्मा अपि सन्**' कहकर भगवान्ने यह भाव प्रकट किया है कि मेरा विनाश होता-सा प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें मेरा विनाश नहीं होता; क्योंकि मेरा स्वरूप अक्षय है। भगवान् श्रीकृष्ण जब परम धाममें पधारे, तब उस शरीरसे ही परम धाममें गये। श्रीमद्भागवतमें आया है—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥

(११। ३१। ६)

'भगवान्का श्रीविग्रह उपासकोंके ध्यान और धारणाका मङ्गलमय आधार और समस्त लोकोंके लिये परम रमणीय आश्रय है। इसलिये उन्होंने (योगियोंके समान) अग्नि-देवतासम्बन्धी योगधारणाके द्वारा उसको जलाया नहीं, सशरीर अपने धाममें पधार गये।'

श्रीमद्भगवद्गीताके एकादश अध्यायमें देखा जाता है कि अर्जुनके प्रार्थना करनेपर भगवान्ने उनको अपने विश्वरूपका दर्शन कराया और पुनः प्रार्थना करनेपर उसे अदृश्य कर लिया। न तो विश्वरूपका जन्म हुआ और न विनाश हुआ, केवल आविर्भाव और तिरोभाव हुआ। अतः जब भगवान् अवतार लेते हैं, तब प्रकट होते हैं और फिर अन्तर्धान हो जाते हैं।

इसी प्रकार ध्रुवजीको भगवान्ने चतुर्भुजरूपमें प्रकट होकर दर्शन दिया और फिर अन्तर्हित हो गये (श्रीमद्भा० ४। ९)।

ऐसे ही भगवान् श्रीरामावतारमें माता कौसल्याके सम्मुख चतुर्भुजरूपमें प्रकट हुए और फिर सशरीर परमधामको चले गये। श्रीवाल्मीकीय रामायणमें कहा गया है—

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥

(उत्तर० ११०। १२)

'ब्रह्माजीके वचन सुनकर परम बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजीने कर्तव्य निश्चय करके भाइयोंके साथ शरीरसहित अपने विष्णुसम्बन्धी तेजमें प्रवेश किया।'

इसलिये यह समझना चाहिये कि भगवान्का स्वरूप अविनाशी है, उसका कभी विनाश नहीं होता।

तथा '**भूतानामीश्वरोऽपि सन्**' कहनेका अभिप्राय यह है कि भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके ईश्वर होते हुए भी मनुष्य-से दिखायी पड़ते हैं, किंतु वास्तवमें मनुष्य नहीं हैं। अवतार-कालमें भगवान्ने जगह-जगह अपनी ईश्वरता दिखलायी है। जब ब्रह्माजीको मोह हो गया कि श्रीकृष्ण मनुष्य हैं या ईश्वर, तब वे भगवान्की परीक्षाके लिये उनके बछड़ों और ग्वाल-बालोंको चुराकर ले गये। उस समय उन बछड़ों और गोप-बालकोंके रूपमें स्वयं प्रकट होकर भगवान्ने अनेक रूप धारण कर लिये। फिर ब्रह्माजीका मोह दूर हो जानेपर उन सब रूपोंको अदृश्य भी कर लिया (श्रीमद्भा० १०। १३)।

जब अक्रूरजी भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामको मथुरा ले जा रहे थे, उस समय वे यमुनाके ह्रदमें स्नान करने गये तो वहाँ भगवान्ने उनको जलमें भी अपना स्वरूप दिखाया और रथपर भी वैसे ही स्वरूपका दर्शन कराया एवं दुबारा डुबकी लगानेपर शेषशायी विष्णुरूपका दर्शन कराया (श्रीमद्भा० १०। ३९)।

श्रीरामावतारमें भगवान् रामने भी अनेक रूप धारण किये थे—

अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥
कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किए सकल नर नारि बिसोकी॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

(श्रीराम० उत्तर० ६। ३-४)

'उस समय कृपालु श्रीरामजी असंख्य रूपोंमें प्रकट हो गये और सबसे एक ही साथ यथायोग्य मिले। रघुवीर श्रीरामचन्द्रजीने कृपापूर्ण दृष्टिसे देखकर सब नर-नारियोंको शोकसे रहित कर दिया। भगवान् क्षणमात्रमें सबसे मिल लिये। परंतु हे उमा! यह रहस्य किसीने नहीं जाना।'

ये सब कार्य मनुष्यकी शक्तिके बाहर हैं। इनको भगवान् ही कर सकते हैं, दूसरा कोई नहीं।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।

—इस कथनका यह भाव है कि भगवान् प्रकृतिको अपने अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होते हैं। यह भगवान्‌के जन्मकी विलक्षणता है। हमलोग संसारमें अपने पुण्य-पापोंके अनुसार प्रकृतिके पराधीन होकर जन्म लेते हैं और भगवान् स्वयं प्रकृतिको वशमें करके प्रकट होते हैं। उनके जन्ममें स्वतन्त्रता है और हमलोगोंके जन्ममें परतन्त्रता है। प्रकृति उनके वशमें रहती है और हमलोग प्रकृतिके वशमें रहते हैं। उनका शरीर दिव्य, चिन्मय, अलौकिक, पापों और दुर्गुणोंसे रहित, चिन्ता-शोक-जरा-मृत्यु तथा रोगसे मुक्त होता है और हमलोगोंके शरीर जड़ तथा पूर्वोक्त दोषोंसे युक्त होते हैं। उनका प्राकट्य धर्म, ज्ञान, प्रेम, सदाचार, श्रद्धा, भक्तिके प्रचारके द्वारा संसारके उद्धारके उद्देश्यसे होता है; किंतु हमलोगोंका जन्म शुभाशुभ कर्मफल भोगनेके लिये होता है। अतः उनके और हमलोगोंके जन्ममें अत्यन्त अन्तर है। उनके जन्म, कर्म और उद्देश्य भी अलौकिक होते हैं। उन्होंने स्वयं कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

'हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।'

भगवान्‌के जन्मकी दिव्यता तो ऊपर बतलायी जा चुकी, अब कर्मकी दिव्यता भी बतलायी जाती है। भगवान्‌के कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान, स्वार्थ, कामना, आसक्ति, ममता आदिका लेश भी नहीं रहता; उनके कर्म सर्वथा शुद्ध और केवल लोगोंका कल्याण करनेके लिये ही होते हैं। इसलिये वे कर्म भी दिव्य और शुद्ध हैं। गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

(४। १३)

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान।'

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

(गीता ४। १४)

'कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते —इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।'

भगवान्‌के भी कर्म अनुकरणीय तथा संसारको शिक्षा देनेके लिये ही होते हैं। उनका स्वभाव बहुत ही कोमल और सरल है। वे क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान, वैराग्य, प्रेम आदि दिव्य गुणोंसे परिपूर्ण हैं। इतने उच्चकोटिके महापुरुष होकर भी वे अपने भक्तोंका अपने समान अधिकार ही मानते हैं। एक तुच्छ मनुष्य भी यदि अपने-आपको और अपने सर्वस्वको भगवान्‌के अर्पण कर देता है तो भगवान् अपने-आपको और अपने सर्वस्वको उसके अर्पण कर देते हैं। एक तुच्छ प्राणी भगवान्‌को चाहता है और स्मरण करता है तो भगवान् भी उसे उसी प्रकार चाहते और स्मरण करते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

(गीता ४। ११)

'हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं।'

यह है भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यता! जो भगवान्‌के जन्म और कर्मोंकी दिव्यताको तत्त्वसे जान जाता है, उसका भी कल्याण हो जाता है; फिर उनकी आज्ञाका पालन करनेसे और उनके कर्मोंको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करनेसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

भला बतलाइये, संसारमें ऐसा कौन मनुष्य है, जो इस प्रकार भगवान्‌के समान बर्ताव कर सकता है। अपनेको भगवान् मनवानेवाले तो बहुत हैं, पर उनमें भगवान्‌के लक्षणोंमेंसे एक भी नहीं घटता। अतः सब लोगोंको सचेत हो जाना चाहिये कि जो अपनेको भगवान् मनवाते हैं, उनसे सदा दूर ही रहें।

इसी प्रकार जो अधिकारी (कारक) महापुरुष होते हैं, उनके जन्म-कर्म भी दिव्य-अलौकिक और पवित्र होते हैं। वे जन्मसे पूर्व ही मुक्त हैं, केवल संसारके कल्याणके लिये भगवान्‌से अधिकार पाकर उनके परमधामसे आते हैं। उनमें दुर्गुण और दुराचारका अंश भी नहीं रहता और उनका शरीर भी अनामय (रोगरहित) होता है। संसारमें जितने भी अवतार या अधिकारी (कारक) महापुरुष हुए हैं, उनमेंसे किसीके कोई बीमारी हुई हो, यह बात ग्रन्थोंमें कहीं नहीं मिलती; क्योंकि बीमारी तो पापोंसे होती है और भगवान् या अधिकारी (कारक) महापुरुष नित्य शुद्ध ज्ञानस्वरूप होते हैं। वे महापुरुष भगवान्‌से अधिकार प्राप्त करके संसारके कल्याणके लिये संसारमें आते हैं, इसीलिये उनको अधिकारी पुरुष कहते हैं। उनमें गीताके १२ वें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक बतलाये हुए भक्तोंके लक्षण तो पहलेसे विद्यमान रहते ही हैं। उदाहरणके लिये श्रीवेदव्यासजी अधिकारी (कारक) महापुरुष हुए। उनका अद्भुत प्रभाव था। उन्होंने जन्म लेते ही अपनी इच्छासे शरीरको बढ़ा लिया और स्वतः ही अङ्गों और इतिहासोंके सहित वेदोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया (महा० आदि ६०। ३)। श्रीवेदव्यासजी जहाँ-कहीं भी विशेष आवश्यकता समझते, वहीं बिना बुलाये ही उपस्थित हो जाते थे। उन्होंने महाराज युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंको एकचक्रा नगरीमें जानेसे पूर्व भी दर्शन दिया और वहाँ निवास करते हुए जब पाण्डव वहाँसे जानेका विचार करने लगे, तब पुनः दर्शन दिया और द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाया (महा० आदि० १५५, १६८)। इसी प्रकार पाञ्चालनगरीमें राजा द्रुपदके यहाँ प्रकट होकर उनसे भी द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त कहा एवं उनको दिव्य दृष्टि देकर पाण्डवोंको उनके पूर्व शरीरोंसे सम्पन्न वास्तविक दिव्य रूपमें दिखला दिया (महा० आदि० १९६)।

इतना ही नहीं, आश्रमवासिकपर्वमें तो ऐसा वर्णन मिलता है कि वहाँ राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्तीके सम्मुख श्रीवेदव्यासजी आये एवं जब गान्धारी और कुन्तीने अपने मृत पुत्रों तथा कुटुम्बियोंको देखनेकी इच्छा प्रकट की, तब श्रीवेदव्यासजीने उस अठारह अक्षौहिणी सेनाको संहारके सोलह वर्ष बाद भी आह्वान करके बुला दिया और सबसे यथायोग्य मिलाकर एवं रातभर रखकर प्रातःकाल लौटा दिया। सोलह वर्ष पूर्व मरे हुए उन सब प्राणियोंके रूप, आकृति, अवस्था, वेष, ध्वजा और वाहन—ये सब वैसे-के-वैसे ही थे (महा० आश्रम० ३२)। इसी प्रकार राजा जनमेजयके प्रार्थना करनेपर श्रीवेदव्यासजीने राजा परीक्षित्‌को उसी रूप और अवस्थामें यज्ञमें बुला दिया (महा० आश्रम० ३५)। यह कितने आश्चर्यकी बात है! क्या कोई मनुष्य इस प्रकार कर सकता है? अपनेको अधिकारी (कारक) महापुरुष मनवाना तो बहुत-से मनुष्य चाहते हैं पर उनके लक्षणोंमेंसे एक भी लक्षण उनमें नहीं घटता। दम्भीलोग अपनेको पुजवानेके लिये अपनेको भगवान् या भगवान्‌का भेजा हुआ महापुरुष बतलाकर लोगोंको धोखा देते हैं; अतः जो अपनेको अवतार, अधिकारी महापुरुष या ज्ञानी महात्मा कहें, उनके चंगुलमें कभी नहीं फँसना चाहिये, उनसे सदा दूर ही रहना चाहिये; क्योंकि इस समय न तो कोई भगवान्‌का अवतार है और न कोई अधिकारी (कारक) महापुरुष ही भगवान्‌का अधिकार पाकर भगवान्‌के भेजे हुए यहाँ आये हैं। यदि ऐसा होता तो वर्तमानमें जो धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि हो रही है, वह कभी हो नहीं सकती थी; क्योंकि भगवान् और उन अधिकारी (कारक) महापुरुषोंके तो श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक दर्शन, भाषण, वार्तालाप, चिन्तन और सत्सङ्गसे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है; फिर उनकी सेवा, आज्ञाका पालन और अनुकरण करनेसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

इस समय तो महाराज युधिष्ठिर-जैसे महात्माओंका भी सम्पर्क दुर्लभ है, जिनके दर्शन और भाषणसे नहुष-जैसे महान् पापी भी पापसे मुक्त हो स्वर्गको चले गये (महा० वन० अ० १८१)। इतना ही नहीं, महाराज युधिष्ठिर बड़े ही प्रभावशाली पुरुष थे। उनमें सत्य, धैर्य, दान, परम शान्ति, अटल क्षमा, लज्जा, श्री, कीर्ति, उत्कृष्ट तेज, दयालुता और सरलता आदि गुण सदा रहते थे। वे जिस देशमें निवास करते थे। उस देशकी प्रजा धार्मिक बन जाती थी। उस देशमें धन, धान्य, गो-वंश, धर्म और सदाचारकी वृद्धि होती थी। महाराज युधिष्ठिरके प्रभावसे उस देशमें समयपर वर्षा होती, खेत हरे-भरे रहते और धर्मका प्रचार होता था। एवं उस देशके लोग दानशील, उदार, विनयी, लज्जाशील, मितभाषी, सत्यपरायण, शुभकर्म करनेवाले, जितेन्द्रिय, निर्भय, संतुष्ट, पवित्र, हृष्ट-पुष्ट और कार्यकुशल तथा अभिमान, द्वेष और ईर्ष्या आदि विकारोंसे शून्य होते थे। वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने-अपने धर्मके अनुसार यज्ञ, तप, दान, वेदाध्ययन आदि करते थे। सब अपने धर्मका पालन करते थे (महा० विराट० अ० २८)।

अपनेको युधिष्ठिरके तुल्य बतलाना तो सहज है,

पर उनके समान बनना साधारण बात नहीं है। युधिष्ठिर बहुत उच्चकोटिके धर्मात्मा पुरुष थे। उन्होंने बड़ी-बड़ी आपत्तियोंका सामना किया, किंतु अपने धर्मका त्याग नहीं किया। अतएव हमलोगोंको भी युधिष्ठिर-जैसे धर्मात्मा बननेके लिये उनके आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये।

जो पुरुष इस संसारमें अपने पुण्य-पापमय कर्मोंके फलस्वरूप मनुष्य-जन्म लेनेके पश्चात् साधनके द्वारा इसी जन्ममें मुक्ति-लाभ कर लेते हैं, उनमें भी गीताके १२ वें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक कहे हुए भगवत्प्राप्त भक्तके तथा १४ वें अध्यायके २२ वेंसे २५ वें श्लोकतक कहे हुए गुणातीत ज्ञानीके लक्षण आ जाते हैं; किंतु उनके शरीर अनामय नहीं होते और न उनमें अवतार या अधिकारी (कारक) महापुरुषोंकी भाँति जहाँ-कहीं प्रकट हो जाना, मृत व्यक्तियोंको बुलाकर प्रत्यक्ष मिला देना आदि अमानुषिक अलौकिक प्रभाव ही होता है। हाँ, मुक्त हो जानेके अनन्तर उनके कर्म, स्वभाव आदि शुद्ध हो जाते हैं; अतः उनके निष्कामभावसे सङ्ग, वार्तालाप, आज्ञापालन, सेवा और अनुकरणसे मनुष्योंका उद्धार हो सकता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४। ३४)

'अर्जुन! तू उस ज्ञानको तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३। २५)

'दूसरे जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार ध्यानयोग, ज्ञानयोग और कर्मयोगको न जानते हुए भी, दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निस्संदेह तर जाते हैं।'

भगवान्के उपर्युक्त वचनोंपर ध्यान देकर हमलोगोंको भगवत्प्राप्त भक्तों तथा ज्ञानी महात्माओंके श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सङ्ग, वार्तालाप, आज्ञापालन, सेवा और अनुकरण आदिसे विशेष लाभ उठाना चाहिये।

भगवान्का विस्मरण कभी न हो

मनुष्यके लिये सर्वोत्तम बात यह है कि वह एक क्षणके लिये भी भगवान्को न भूले। जो मनुष्य यह नियम ले लेता है कि 'मैं एक क्षणके लिये भी भगवान्को नहीं भूलूँगा' और उसका पालन भी करता है, उसको इसी जन्ममें भगवान्की प्राप्ति होनेमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

भगवान्की इस घोषणापर विश्वास करके यह निश्चय कर लेना चाहिये कि 'इसी क्षणसे मृत्युपर्यन्त मैं जान-बूझकर भगवान्को नहीं भूलूँगा।' ऐसा निश्चय सच्चा होनेपर भगवान् उसमें सहायता करते हैं और अन्तमें उस भक्तकी इच्छा पूर्ण करते हैं। कभी कुछ भूल भी हो जाती है तो भगवान् उसे क्षमा कर देते हैं। यदि कोई कहे कि 'अठारह घंटे तो मनुष्य भगवान्का स्मरण कर सकता है, परंतु सोनेके समय छः घंटे उनका स्मरण करना उसके वशकी बात नहीं है', तो इसके लिये यह नियम है कि जाग्रत्-अवस्थामें मनुष्य जो काम करता है, स्वप्नमें उसका मन प्रायः उसीकी स्मृतिमें लीन रहता है। ऐसा देखनेमें आया है कि जो जाग्रत्-अवस्थामें निरन्तर भगवान्को स्मरण रखते हैं, स्वप्नमें भी उन्हें भगवान्की ही स्मृति रहती है। इतना ही नहीं, जो सोनेके कुछ समय पूर्व ही भगवान्का स्मरण करते हैं और स्मरणके बीचमें निद्राग्रस्त हो जाते हैं, उन्हें भी प्रायः भगवद्-विषयक ही स्वप्न आते रहते हैं। अतएव यह चेष्टा रखनी चाहिये कि होश रहते हुए भगवान्का स्मरण न छूटे। जान-बूझकर भगवान्को एक क्षणके लिये भी नहीं भूलना चाहिये; क्योंकि जिस क्षण हमने भगवान्को भुलाया तथा मनको पशु-पक्षी, कीट-पतंग, मनुष्य, देवता आदिके चिन्तनमें लगाया और संयोगसे उसी क्षण प्राण छूट गये तो हमारे चिन्तनके अनुसार हमें पशु-पक्षी आदिकी योनि ही प्राप्त होगी। भगवान्ने भी कहा है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

यह मानव-जीवनकी कितनी बड़ी हानि है! मानव-जीवनकी दुर्लभतापर विचार करनेसे इस हानिकी भयानकताका कुछ अनुमान हो सकता है। चौरासी लक्ष योनियोंमें भटकता-भटकता जीव जब अत्यन्त दुःखित हो जाता है, तब भगवान् विशेष कृपा करके उसे मानव-देह प्रदान करते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(राम० उत्तर० ४४। ३)

ऐसा सुदुर्लभ मानव-जीवन व्यर्थ न जाय, इसके लिये भगवान् उपाय बताते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मनबुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

भगवान्‌ने स्मरणकी बात मुख्य रूपमें कही है, युद्ध करनेकी गौणरूपमें। इससे यह स्पष्ट है कि भगवान्‌का स्मरण एक क्षणके लिये भी न छूटे, अन्यथा मानव-जीवन व्यर्थ सिद्ध हो सकता है।

जो मनुष्य भगवान्‌में अपने मनको लगा देते हैं, उनको निश्चय ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इसलिये भगवान्‌ने अर्जुनको आदेश दिया—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

(गीता १२। ८)

'मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

भगवान् जब इतना विश्वस्त आश्वासन देते हैं, तब फिर हमारे मन, बुद्धि और क्या काम आयेंगे? इन दोनोंको इसी क्षणसे भगवान्‌के काममें ही लगा देना चाहिये।

बुद्धिको भगवान्‌में लगा देना यह है कि परमात्मा सब जगह समान भावसे और विज्ञान-आनन्दरूपसे विराजमान हैं, सब जगह आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दके सिवा और कुछ है ही नहीं—इस प्रकारके ध्यानमें स्थित रहना। इस प्रकारके ध्यानका फल अनायास ही परमात्माकी प्राप्ति है। बुद्धिमें खूब अच्छी तरहसे यह निश्चय हो जाना चाहिये कि निराकाररूपमें सब जगह हमारे ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर समान भावसे केवल एक परमात्मा ही हैं।

बुद्धिके इस निश्चयके अनुसार मनसे मनन करना—मनको भगवान्‌में लगाना है। इसका फल भी परमात्माकी प्राप्ति ही है।

भगवान्‌को छोड़कर किसी भी पदार्थका चिन्तन करना अपने गलेमें फाँसी लेकर मरनेके सदृश है; क्योंकि उससे हमारा मानव-जीवन नष्ट हो जाता है। मूल्यवान्-से-मूल्यवान् पदार्थका चिन्तन भी हमें भगवान्‌की प्राप्ति नहीं करा सकता। इसलिये बड़ी तत्परतापूर्वक ऐसा अभ्यास डालना चाहिये कि भगवान्‌को छोड़कर मन और किसी पदार्थके चिन्तनमें लगे ही नहीं। समय बड़ा मूल्यवान् है। मानव-जीवनके गिने-गिनाये श्वास हमें मिले हैं। लाख रुपये खर्च करनेपर भी उससे अधिक एक मिनटका समय भी नहीं मिल सकता। मानव-जीवनके एक क्षणकी कीमत भी नहीं आँकी जा सकती; क्योंकि भगवान्‌का चिन्तन करनेसे वह क्षण भगवान्‌की प्राप्ति करा सकता है। फिर समूचे मानव-जीवनकी तो बात ही क्या है। मानव-जीवनका यह महत्त्व इसीमें है कि वह भगवान्‌की प्राप्तिमें हेतु बन सकता है। अन्य किसी भी योनिमें यह सम्भव नहीं। अतएव मानव-जीवनके समयको खर्च करनेमें बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये। परमात्माके अतिरिक्त दूसरे कामोंमें समय लगानेवालोंको संतोंने मूर्ख कहा है।

सांसारिक पदार्थोंके संग्रहमें लगाया हुआ समय भी व्यर्थ है। मान लीजिये, एक महीनेमें हमारे लाख रुपयेका रोजगार होता है। बारह महीनोंमें बारह लाखका हुआ तो इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ? रुपयोंकी थैलियाँ यहीं रह जायँगी, जीवको अकेले ही जाना पड़ेगा। हाँ, रुपयोंको बटोरनेमें जो पाप उसने किये हैं, वे अवश्य उसके साथ रहेंगे। अतएव रुपयेके संग्रहमें दो बातोंका ध्यान रखना

चाहिये—न तो उसके संग्रहके लिये भगवान्‌को भुलावे और न उसके संग्रहमें पापका आश्रय ले। मरनेपर रुपयोंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा। गधा ढो-ढोकर मिट्टी इकट्ठी करता है; भगवान्‌को भूलकर रुपये बटोरना ठीक ऐसा ही है। मरनेपर न गधेके मिट्टी काम आती और न हमारे रुपया काम आता है। इस न्यायसे मनुष्य-जीवनका समय धन बटोरनेमें क्यों बरबाद किया जाय?

कुछ भाई इस शरीरके पोषणमें समयको लगाते हैं। नाशवान् शरीरके पोषणमें समयका लगाना भी उसका अपव्यय है। विशेष खान-पान, सावधानी आदिसे शरीरमें दस सेर मांस बढ़ गया तो क्या हो गया। आखिर तो मरना ही पड़ेगा। शरीर अधिक भारी हो गया तो लाश (शव) भी भारी होगी। शव ढोनेवाले यही कहेंगे कि 'लाश बड़ी भारी है'। इस मोटापेसे और होगा क्या? मोटे शरीरके जलनेपर एक-दो सेर राख अधिक हो जायगी। शवकी राख किस कामकी? किसीकी आँखमें गिरकर वह उसको कष्ट ही दे सकती है। अतएव शरीरको अधिक पुष्ट करनेमें समयको लगानेसे कोई लाभ नहीं।

कुटुम्ब-पालनमें भी भगवान्‌को भूलकर ममता और रागसे युक्त हो समय नहीं लगाना चाहिये; क्योंकि कुटुम्बका राग तो और अधिक दुःख देनेवाला है। अनन्त कालसे कुटुम्ब हमको धोखा देता चला आ रहा है। आजसे पूर्व भी तो हमलोग किसी कुटुम्बके थे। क्या उसकी अब हमको कुछ स्मृति भी है? अब हमें कुछ भी स्मरण नहीं है कि पूर्व जन्ममें हम कहाँ थे, हमारा कौन कुटुम्ब था। इसी प्रकार यहाँसे विदा होनेपर यह कुटुम्ब भी याद नहीं रहेगा। सौ-दो-सौ वर्षोंके बाद तो यह कुटुम्ब कहाँ-से-कहाँ चला जायगा, कुछ भी पता नहीं है। अतएव मृत्युके साथ जिससे बिलकुल सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेवाला है, उस अपने कुटुम्बके प्रति मोह-ममता रखकर भगवान्‌को भुला देना और समयको उसके पालन-पोषणमें नष्ट कर देना मानव-जीवनका दुरुपयोग है।

यदि हम मकान बनवानेमें अपने समयको खर्च करते हैं और भगवान्‌को भूल जाते हैं तो यह भी मूर्खता है। मकान बनवा लिया तो न जाने उसका भोग कौन करेगा। जिसको मकानकी आवश्यकता होगी, वह अपने-आप मकान बनवा लेगा। हम झूठ-साँच करके अपना अमूल्य मनुष्य-जीवन मकान बनवानेमें क्यों लगायें। इसी प्रकार संसारके अन्य पदार्थोंके विषयमें समझ लेना चाहिये। संसारमें जिन-जिन पदार्थों और व्यक्तियोंको हम अपने मान रहे हैं, वे हमारे नहीं हैं; उनसे हमारा वियोग अवश्यम्भावी है। अतएव उनके संग्रह-संरक्षणमें भगवान्‌को भुला देना उचित नहीं। अध्यात्म- दृष्टिसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले कर्मोंके अतिरिक्त सभी कर्म व्यर्थ अथवा अनर्थ हैं। यह मानव- जीवन आत्माके कल्याणके लिये ही मिला है, व्यर्थके भोग भोगनेके लिये नहीं। स्वर्गके भोगोंके लिये प्रयत्नशील होना भी व्यर्थ है। '**स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।**' अतः आत्माके कल्याणमें सहायक होनेवाले कार्यके अतिरिक्त किसी भी कार्यमें लगना मूर्खता है। आयु क्षण-क्षणमें व्यतीत हो रही है। इसलिये जिस कामके लिये हमलोग आये हैं, उसको शीघ्र कर लेना चाहिये। कालका भरोसा नहीं है। एक क्षणके बाद क्या होनेवाला है, कोई नहीं बता सकता। ऐसी परिस्थितिमें एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को भूलना खतरेसे खाली नहीं है।

संसारके जिन-जिन पदार्थोंसे हमारा सम्बन्ध है, वे अवश्य बिछुड़नेवाले हैं। इस शरीरके सभी सम्बन्ध काल्पनिक और नाशवान् हैं, यों समझकर उनके प्रति मोह-ममताको पहलेसे समेट लें तो उत्तम है। हम विवेकपूर्वक उपर्युक्त प्रकारसे साधन कर लेंगे तो हम मुक्त हो जायँगे और यदि साधन न करनेके कारण हमको विवश होकर इन सम्बन्धोंको तोड़ना पड़ा तो हम भटकते फिरेंगे। जो जन्मा है, उसे अवश्य मरना पड़ेगा। लाख प्रयत्न करनेपर भी मृत्युसे छुटकारा नहीं हो सकता। अतः जिस कामके लिये आये हैं, उसे अवश्य कर लेना चाहिये, नहीं तो आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

(राम० उत्तर० ४३)

'जो मनुष्य इस समय सचेत नहीं होता, उसको आगे चलकर सिर धुन-धुनकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। वह मूर्ख उस समय काल, कर्म और ईश्वरपर झूठा दोष लगायेगा।' वह यही कहेगा—'कलियुगके कारण मैं अपने आत्माका कल्याण नहीं कर सका। मेरे कर्म ही ऐसे थे, मेरे भाग्यमें ऐसी ही बात लिखी थी। ईश्वरने मेरी सहायता नहीं की, आदि-आदि।' उसका यह रोना व्यर्थ है—मिथ्या है। अतएव अभीसे सावधान हो जाना चाहिये।

परमात्माकी प्राप्ति स्वयं अपने किये ही होगी। कोई दूसरा हमारे लिये इस कार्यको नहीं कर सकेगा। संसारका कोई काम बाकी रह गया तो हमारे पीछे हमारे उत्तराधिकारी अथवा दूसरे लोग कर लेंगे; पर परमात्माकी प्राप्तिमें

यदि त्रुटि रह गयी तो हमको पुनः जन्म लेना पड़ेगा। अतएव जो काम हमारे किये ही होगा, दूसरेसे नहीं और जिसको करना अनिवार्य है, उसीमें समय लगाना चाहिये।

संसारके सब सम्बन्ध मिथ्या हैं, स्वप्नवत् हैं, मायामात्र हैं। स्वप्नके संसारमें जो कुछ होता है, सब सत्य प्रतीत होता है; परंतु वास्तवमें उसकी सत्ता नहीं। आँख खुलनेपर न तो वह संसार रहता है, न शरीर और न वह व्यवहार ही। इसी प्रकार संसारके जितने भी सम्बन्ध हैं, ये सब शरीरको लेकर ही हैं; शरीर शान्त होनेपर इनसे हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जायगा। इसलिये आवश्यकता है इन सम्बन्धोंका त्याग हम मनसे पहलेसे ही कर दें, जिससे आगे चलकर पश्चात्ताप न हो।

जबतक मानव-जीवन शेष है, तबतक सब कुछ हो सकता है। परमात्माकी शरण लेकर मनुष्य जो चाहे, वह प्राप्त कर सकता है। कठोपनिषद्‌में यमराजने नचिकेताके प्रति यह बात कही है कि 'नचिकेतः! ओम् जो परमात्माका नाम है, यही साक्षात् ब्रह्म है; यही सगुण और निर्गुण है। इसकी शरण जानेपर जो चाहो, वही मिल सकता है।'

अतएव हम भी भगवान्‌की शरण लेकर जो चाहें, वह कर सकते हैं। दूसरी बात यह है कि भगवान्‌की प्राप्तिके सिवा अन्य कोई भी इच्छा नहीं रखनी चाहिये। दूसरी किसी भी वस्तुकी इच्छा करना मूर्खता है। जगत्‌की जितनी भी वस्तुएँ हैं, सब प्रारब्धके अधीन हैं। कोई चाहे कि मैं १०० वर्ष जीता रहूँ तो यह असम्भव है। इसी प्रकार कोई यह चाहे कि अभी मृत्यु आ जाय तो चाहनेसे मृत्यु भी नहीं मिल सकती। जब जैसा प्रारब्ध होगा, वैसा ही होगा। अतएव इच्छा करना मूर्खता है। इसी प्रकार भोग-पदार्थोंकी प्राप्तिके विषयमें समझना चाहिये। प्रारब्धवश जब जितना मिलना है, उतना ही मिलेगा; इच्छा करनेसे नहीं।

भगवान्‌की प्राप्ति ही इच्छासे होती है। इच्छा जहाँ यथेष्ट तीव्र एवं अनन्य हुई कि भगवान् मिले। भगवान्‌को छोड़कर अन्य कोई भी पदार्थ हमारी इच्छापर निर्भर नहीं है। जगत्‌के सभी प्राणी चाहते हैं कि सुख मिले, दुःख नहीं; किंतु अधिकांशको दुःखकी ही उपलब्धि होती है। अतएव जड़ पदार्थोंके लिये इच्छा करना मूर्खता है; इच्छा करनेसे जड़ पदार्थ प्राप्त नहीं होते। उनके लिये पूर्वकृत कर्मोंका फलरूप प्रारब्ध चाहिये; और वह अब हमारे हाथमें नहीं। पर भगवान्‌के लिये तीव्र इच्छा करनेपर वे अवश्य मिल सकते हैं। अतः भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा करनी चाहिये और उसे यथेष्ट तीव्र एवं अनन्य बनानेका प्रयत्न करना चाहिये।

भगवान्‌के मिलनमें जो देर हो रही है, इसमें त्रुटि हमारी ही है। भगवान् तो मिलनके लिये नित्य आतुर हैं; बस हममें वैसी इच्छा होनी चाहिये। भगवान्‌के मिलनकी इच्छाकी जागृतिके लिये एकान्तमें बैठकर करुणभावसे हृदय खोलकर रोना चाहिये। अपने अपराधोंको स्मरणकर गद्गद होकर भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये—'प्रभो! आपके अतिरिक्त संसारमें मेरा और कौन है? नाथ! मैं आपके शरण हूँ, आप मेरी रक्षा करें, भगवान् बड़े दयालु हैं, वे अपने सम्मुख होनेवाले मनुष्यके अनन्त जन्मोंके पापोंको उसी क्षण क्षमा कर देते हैं।

अपने आत्माकी उन्नति उत्तरोत्तर तीव्रताके साथ करनी चाहिये। कल हमने जो साधन किया, उससे आज तीव्र होना चाहिये, आजसे आनेवाले कलको और तीव्र होना चाहिये। इसी प्रकार प्रातःकालसे मध्याह्न, मध्याह्नसे सायंकाल, सायंकालसे रात्रिमें और रात्रिसे अगले दिन प्रातःकालके साधनमें क्रमशः तीव्रता रहनी चाहिये। घंटे-घंटेमें, फिर क्षण-क्षणके साधनमें उत्तरोत्तर तीव्रता होनी चाहिये। यदि इस प्रकार प्रयत्न किया जाय तो परमात्माकी प्राप्ति होनेमें विलम्ब नहीं हो सकता।

किसीने कहा है—*'पाय परमपद हाथ सों जात, गयी सो गयी अब राख रही को।'* पाया हुआ परमपद हाथसे जा रहा है। सचमुच मानव-जीवनको व्यर्थ खोना परमपद हाथसे जानेके सदृश ही है। अतएव जीवनका जो समय बीत गया, वह बीत गया; पर अब एक क्षण भी परमात्माकी स्मृतिके बिना न बीते। निरन्तर सावधानी रहे। पूरी तत्परता हुई तो जितना समय जीवनका बचा है, उतना ही पर्याप्त है। इतने समयमें ही भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। यदि कुछ कमी रह गयी तो भी भयकी कोई बात नहीं। दूसरा जन्म लेते ही कल्याण हो सकता है; क्योंकि वह मनुष्य ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है* और उसके चित्तमें स्वाभाविक ही भक्ति, ज्ञान, वैराग्य रहता है। वहाँ अच्छे सङ्गसे उसका चित्त निरन्तर उन्नति करता जाता है और अन्तमें वह परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

आजकल बिजलीसे चलनेवाली एक मशीन बनी है। उसके सामने जैसी आवाज की जाती है, वह उसको रेकर्ड कर लेती है। अब वह मशीन जहाँ जाती है, उसके साथ वह शब्द भी जाता है। इसी प्रकार हमारे जीवनमें जो-जो कार्य होते हैं, वे संस्काररूपसे अन्तःकरणमें

* अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्। (गीता ६। ४२)

एकत्रित हो जाते हैं और मृत्युके पश्चात् वे हमारे साथ जाते हैं। आगेके जीवनमें ये अच्छे-बुरे संस्कार मनकी स्फुरणामें हेतु बनते हैं। अतः जीवनके नाना कार्योंसे हृदयमें जो बुरे संस्कार एकत्रित हो रहे हैं, उनको मृत्युसे पूर्व धो डालना चाहिये। साबुन और जलसे जिस प्रकार कपड़ा धोकर साफ कर लेते हैं, उसी प्रकार अन्तःकरणमें जो राग-द्वेष और पापरूपी मैल जमा हो गयी है, उसको भगवन्नामरूपी साबुन तथा निष्काम-भावरूपी जलद्वारा साफ कर लेना चाहिये। बुद्धि और मनमें अच्छा संग्रह करना चाहिये। बुद्धिमें जो ज्ञान है, वह अच्छा संग्रह है। परमार्थविषयक ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। अतएव बुद्धिमें धृति, क्षमा, शान्ति, समता, संतोष, ज्ञान, वैराग्य—इन सात्त्विक भावोंका संग्रह करना चाहिये। मनमें भगवान्के स्वरूपका चिन्तन एवं भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी बातें एकत्रित करनी चाहिये। भगवान्के नाम, रूप, लीला और धामका मनन करना चाहिये। इन्द्रियोंको तपस्याद्वारा तपाकर शुद्ध कर लेना चाहिये। फिर मनसे इन्द्रियोंद्वारा भगवान्के दर्शन, भगवान्के साथ सम्भाषण, भगवान्का स्पर्श आदि करना चाहिये। अर्थात् मनसे ऐसी भावना करे कि भगवान् हमारे सामने खड़े हैं, हमारी ओर देख रहे हैं, हम उनका दर्शन कर रहे हैं, उनके चरणोंका हाथोंसे स्पर्श कर रहे हैं, उनके श्रीविग्रहसे निस्सरित दिव्य गन्ध ले रहे हैं, भगवान्से वार्तालाप कर रहे हैं, भगवान्की वाणीको कानोंसे सुन रहे हैं।

हाथोंसे जीवमात्रकी भगवान् नारायणकी भावनासे सेवा करनी चाहिये। वाणीसे सत्य, प्रिय और हितकर वचन बोलने चाहिये। नेत्रोंसे भगवान्को, संतोंको अथवा उत्तम दृश्योंको देखना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रियको शुद्ध बनाकर उसमें ऐसे भाव भरने चाहिये, जो मुक्तिमें सहायक हों। यदि इस जीवनमें काम न बने तो उत्तम संस्कार तो हमारे साथ जायँ। निष्कामभावसे यह सब करना परम हितकर है। सावधानीके साथ अभ्यास करनेसे हृदयमें जो दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, मल, विक्षेप, आवरण, निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदि बुरे संस्कार हैं, वे बहुत शीघ्र सर्वथा धुल जाते हैं, एवं हृदय भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार और सद्गुणोंसे भर जाता है। वस्तुतः दैवी सम्पत्ति तथा शरीर, वाणी और मनका तप—ये अमृततुल्य हैं और राजसी एवं तामसी भाव विष हैं; इनसे मनुष्यका पतन निश्चित है।

सर्वोत्तम एवं सबसे सरल साधन है—भगवान्का चिन्तन। भगवान्का चिन्तन प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर करना चाहिये। पर यदि प्रेम न भी हो तो भगवान्का चिन्तन हृदयको शुद्ध करता ही है। भगवान्का चिन्तन यदि कोई वैर-भावसे, द्वेषवश या भयसे भी करता है तो उसका भी कल्याण हो जाता है। मारीचने भगवान् रामका भयसे चिन्तन किया, उसका उद्धार हो गया। कंसने भगवान्का द्वेषभावसे चिन्तन किया, उसका भी कल्याण हो गया। फिर जो प्रेमपूर्वक करुणभावसे भगवान्का चिन्तन करे, उसके कल्याणमें तो कहना ही क्या है? व्रजकी गोपियोंका उदाहरण प्रत्यक्ष है। गोपियोंने प्रेमपूर्वक करुणभावसे भगवान्का चिन्तन किया, तब उनके उद्धारमें कहना ही क्या है। अतएव मन जहाँ भी जाय, वहीं भगवान्को देखे। रातको चिन्तन करते-करते ही सोया जाय। रातमें जब-जब निद्रा टूटे, जब-जब उठना पड़े, तब-तब मनकी सम्भाल कर लेनी चाहिये कि चिन्तन हो रहा है न।

एकान्तमें जप-साधन करनेके लिये बैठे तो प्रारम्भमें भगवान्की स्तुति-प्रार्थना अर्थ और भावको समझते हुए अवश्य करनी चाहिये। गीता, रामायण आदिका स्वाध्याय अर्थ और भावको समझकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक करना चाहिये। तदनन्तर सत्संग करना चाहिये। वेदोंसे हमें चेतावनी मिलती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

(कठ० १। ३। १४)

'उठो, जागो (सावधान हो जाओ) और महापुरुषोंके पास जाकर उनसे जाननेयोग्य परमात्मतत्त्वको समझो।'

समय रहते चेत हो जाय तो ठीक है, अन्यथा—

समय चुकें पुनि का पछिताने।

मृत्यु सिरपर आ खड़ी होगी, तब कुछ भी उपाय नहीं चलेगा। श्रीतुलसीदासजीने कितने कड़े शब्दोंमें चेतावनी दी है—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(राम० उत्तर० ४४)

'जो मनुष्य उत्तम देश, उत्तम जाति, उत्तम काल, उत्तम धर्म, उत्तम सङ्ग—इन सबका सुन्दर सुयोग पाकर भी भवसागरको पार नहीं करता, वह निन्दाका पात्र और मन्दमति है। आत्महत्यारेकी जो गति होती है, वही उसकी भी होगी।'

श्रीनारायण स्वामी कहते हैं—

दो बातन को भूल मत जो चाहै कल्यान।
नारायण इक मौत को दूजे श्रीभगवान॥

'यदि अपना कल्याण चाहते हो तो दो बातोंको मत भूलो—एक मौतको और दूसरे भगवान्को।'

भगवान्‌को याद रखनेसे पापोंका नाश होकर कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है और मृत्युको याद रखनेसे आगे पाप नहीं बनते।

और कुछ भी न हो तो भगवान्‌का जो भी नाम प्रिय लगे, उसे ही नित्य-निरन्तर रटते जाइये—वही आपको निहाल कर देगा—

केशव केशव कूकिये नहिं कूकिये असार।
रात दिवस की कूक तें कबहुं तो सुने पुकार॥

सर्वधर्मपरित्यागका रहस्य

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इस श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे ये चार बातें कही हैं—

(१) तू सम्पूर्ण धर्मोंका मुझमें त्याग कर दे।
(२) तू केवल एक मेरी ही शरणमें आ जा।
(३) मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा।
(४) तू शोक मत कर।

अब यहाँ इनमेंसे प्रत्येकपर क्रमशः विचार किया जाता है।

१. तू सम्पूर्ण धर्मोंका मुझमें त्याग कर दे

यहाँ '**सर्वधर्मान्परित्यज्य**'का अर्थ 'सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर' किया जाय तो भी कोई आपत्ति नहीं; क्योंकि भगवान्‌ने गीता ६। १ में '**अनाश्रितः कर्मफलम्**' कहकर यह आदेश दिया ही है। किंतु इस प्रकरणमें उससे और भी विशेषता है। १८ वें अध्यायके ५६ वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि 'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है।' इस प्रकार यहाँसे शरणागतिका प्रकरण प्रारम्भ करके भगवान् ५७ वें श्लोकमें मुख्यतया अर्जुनको आज्ञा देते हैं—'अर्जुन! तू सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।' अतः इस प्रकरणके अनुसार '**सर्वधर्म**'का अर्थ है 'सम्पूर्ण शास्त्रविहित कर्म' और '**परित्यज्य**'का अर्थ है 'उन सब कर्मोंको सब ओरसे (अच्छी प्रकार) भगवान्‌में अर्पण करके।' सब ओरसे सब कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करनेकी विधि गीता ९। २७ में बतलायी गयी है, जिसका फल ९। २८ में भगवान्‌की प्राप्ति होना बतलाया गया है। इसलिये १८। ५७ के कथनानुसार '**सर्वधर्मान्परित्यज्य**' का अर्थ 'सब शास्त्रविहित कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना' अधिक युक्तिसंगत है।

कितने ही विद्वानोंका कथन है कि '**सर्वधर्मान्परित्यज्य**' कहकर भगवान्‌ने स्वरूपसे समस्त धर्मोंका त्याग बतलाया है। किंतु ऐसा अर्थ युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि अर्जुनने भगवान्‌की आज्ञासे युद्ध ही किया, सर्वथा स्वरूपसे कर्मोंका त्याग नहीं किया। दूसरे महानुभाव कहते हैं कि 'अपने कर्तव्य-कर्मोंको करता हुआ उसमें अकर्तृत्वबुद्धि रखे'—यही इस पदका आशय है। पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा कथन ज्ञानयोग-(सांख्ययोग) की दृष्टिसे सम्भव है, किंतु यहाँ प्रकरण भक्तियोगका है। कारण, भगवान्‌ने इससे पूर्व १८। ६५ में यह स्पष्ट कहा है कि 'तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर।'

२. तू केवल एक मेरी ही शरणमें आ जा

एक भगवान्‌की शरणमें जाना क्या है ? भगवान्‌ने अर्जुनको १८। ६५ में जो आदेश दिया है, वही शरणका प्रकार है; क्योंकि यहाँ 'शरण'का वही अर्थ लेना चाहिये, जो भगवान्‌ने गीतामें लिया हो। गीता ९। ३२ में भगवान् कहते हैं—'अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम-गतिको ही प्राप्त होते हैं।' यहाँ भगवान्‌ने शरणका महत्त्व और फल तो कहा, किंतु शरणका स्वरूप नहीं बतलाया। अतः ९। ३४ में शरणका स्वरूप बतलाते हुए शरण आनेके लिये अर्जुनको आदेश देते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

ठीक यही आधा श्लोक १८। ६५ में ज्यों-का-त्यों है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि १८। ६५ में अनन्य शरणका स्वरूप बतलाकर १८। ६६में भगवान्‌ने

अपनी शरणमें आनेके लिये अर्जुनको आदेश दिया है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि १८। ६५ में जो बात कही गयी है, वह अनन्यभक्तिकी है या अनन्यशरणकी? इसका उत्तर यह है कि अनन्यभक्ति और अनन्यशरण एक ही वस्तु है; क्योंकि गीतामें जहाँ अनन्यभक्तिका स्वरूप बतलाया गया है, वहाँ शरण उसके अन्तर्गत आ जाती है और जहाँ शरणका वर्णन है, वहाँ अनन्यभक्ति उसके अन्तर्गत आ जाती है। जैसे गीता ११। ५४ में अनन्यभक्तिका माहात्म्य बतलाकर ५५में उसका स्वरूप बतलाते हुए यही कहा है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

यहाँ 'अनन्यभक्ति' का वर्णन करते हुए जो '**मत्परमः**'- 'मेरे परायण' कहा गया है, इससे शरणागतिके भावको भक्तिके अन्तर्गत बतलाया गया है।

इसी प्रकार ९। ३४ में 'अनन्यशरण' का स्वरूप बतलाते हुए भगवान्ने '**मद्भक्तः**' कहकर भक्तिको शरणागतिके अन्तर्गत कह दिया है। अतएव अनन्यभक्ति और अनन्यशरण एक ही वस्तु हैं।

यह अनन्यशरणका विषय बहुत ही गोपनीय है। इसलिये यह भगवान्के परम रहस्यकी बात भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुन-जैसे परम अधिकारी प्रेमी भक्तको ही कही गयी है तथा इसे अपात्रको बतलानेके लिये भगवान्ने निषेध किया है (गीता १८। ६७)। एवं पात्रको कहनेके लिये प्रेरणा करते हुए उसको बतलानेका फल और उसकी महिमाका वर्णन भी किया है (गीता १८। ६८-६९)।

इसके सिवा भगवान्ने गीतामें जो कुछ भी आदेश दिया है, उसका पालन करना भी भगवान्की अनन्यशरण है; क्योंकि गीता २। ७ में अर्जुनने भगवान्के शरण होकर अपना कर्तव्य पूछा, उसपर भगवान्ने अर्जुनको निमित्त बनाकर सारे संसारके हितके लिये गीता-शास्त्रका वर्णन किया। उपदेश देनेके पश्चात् वे अर्जुनसे पूछते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥

(गीता १८। ७२)

'हे पार्थ! क्या इस-(गीता-शास्त्र) को तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया? और हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया?'

इसके उत्तरमें अर्जुनने कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥

(गीता १८। ७३)

'हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है; अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

गीता २। ७ में अर्जुनने जो कहा था कि मैं किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया हूँ, उसीको लक्ष्य कराते हुए अब यहाँ वे कहते हैं—'**नष्टो मोहः**' मैं अब किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हूँ, मेरा वह मोह दूर हो गया है।

भगवान्ने पूछा था—'तुमने मेरा उपदेश एकाग्रचित्त होकर सुना है न?' इसपर अर्जुन कहते हैं— '**स्मृतिर्लब्धा**'- मैंने सब उपदेश सुना है और वह सब मुझे याद है। किंतु '**त्वत्प्रसादात्**'—यह सब मेरी महत्ता नहीं है, आपकी कृपा है।

भगवान्ने ४। ४२ में अर्जुनसे कहा था कि 'तू हृदयमें स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशयका विवेक-ज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके समत्वरूप कर्मयोगमें स्थित हो जा और युद्धके लिये खड़ा हो।' उसीका संकेत करते हुए अर्जुन यहाँ कहते हैं—'**स्थितोऽस्मि गतसंदेहः**' तथा '**करिष्ये वचनं तव**' 'मैं अब उस संशयसे रहित हो गया हूँ,' एवम् 'अब आप जो कुछ कहेंगे, वही करूँगा।' इस प्रकार अर्जुनने उत्तर देकर भगवान्ने जैसा कहा था, वैसा ही किया।

इस विषयमें हमें महाभारतके कर्ण-वध-प्रसङ्गपर ध्यान देना चाहिये। जब वीर कर्णके रथका पहिया पृथ्वीमें धँस गया, तब वह तुरंत रथसे उतर पड़ा और अपनी दोनों भुजाओंसे पहियेको ऊपर उठानेका प्रयत्न करने लगा। उस समय उसने अर्जुनकी ओर देखकर कहा— 'महाधनुर्धर कुन्तीकुमार ! दो घड़ी प्रतीक्षा करो, जिससे मैं इस फँसे हुए पहियेको पृथ्वीतलसे निकाल लूँ। अर्जुन! जो केश खोलकर खड़ा हो, युद्धसे मुँह मोड़ चुका हो, ब्राह्मण हो, हाथ जोड़कर शरणमें आया हो, हथियार डाल चुका हो, प्राणोंकी भीख माँगता हो, जिसके बाण, कवच और दूसरे-दूसरे आयुध नष्ट हो गये हों, ऐसे पुरुषपर उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शूरवीर शस्त्रोंका प्रहार नहीं करते। पाण्डुनन्दन! तुम लोकमें महान् शूरवीर

और सदाचारी माने जाते हो। युद्धके धर्मोंको जानते हो। वेदान्तका अध्ययनरूपी यज्ञ समाप्त करके तुम उसमें अवभृथ-स्नान कर चुके हो। तुम्हें दिव्यास्त्रोंका ज्ञान है। तुम अमेय आत्मबलसे सम्पन्न तथा कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी हो। अतः महाबाहो! जबतक मैं इस फँसे हुए पहियेको निकाल रहा हूँ, तबतक तुम रथारूढ़ होकर भी मुझ भूमिपर खड़े हुएको बाणोंकी मारसे व्याकुल मत करो, क्योंकि यह धर्म नहीं है।'[१]

तब रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने कर्णसे कहा— 'राधानन्दन! सौभाग्यकी बात है कि अब यहाँ तुम्हें धर्मकी बात याद आ रही है। प्रायः यह देखनेमें आता है कि नीच मनुष्य विपत्तिमें पड़नेपर दैवकी ही निन्दा करते हैं, अपने किये हुए कुकर्मोंकी नहीं। कर्ण! जब वनवासका तेरहवाँ वर्ष बीत जानेपर भी तुमने पाण्डवोंका राज्य उन्हें वापस नहीं दिया, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था?[२] जब तुमलोगोंने भीमसेनको जहर मिलाया हुआ अन्न खिलाया और उन्हें सर्पोंसे डँसवाया था, लाक्षाभवनमें सोये हुए कुन्तीकुमारोंको जब तुमने जलानेका प्रयत्न कराया था, रजस्वला द्रौपदीको भरी सभामें बुलवाकर जब तुमने उसका उपहास किया और उसकी ओर निकटसे देखा था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था? एवं जब युद्धमें तुम बहुत-से महारथियोंने मिलकर बालक अभिमन्युको चारों ओरसे घेरकर मार डाला था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था?[३] यदि उन अवसरोंपर यह धर्म नहीं था तो आज भी यहाँ सर्वथा धर्मकी दुहाई देकर तालु सुखानेसे क्या लाभ? सूत! अब तुम यहाँ धर्मके कितने ही कार्य क्यों न कर डालो, जीते-जी तुम्हारा छुटकारा नहीं हो सकता।'

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी बातोंको सुनकर कर्णने लज्जासे अपना सिर झुका लिया। उससे कुछ भी उत्तर देते नहीं बना। उस समय भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा— 'पार्थ! कर्ण जबतक रथपर नहीं चढ़ जाता तबतक ही अपने बाणद्वारा उसका मस्तक काट डालो।' तब 'बहुत अच्छा' कहकर अर्जुनने भगवान्‌की उस आज्ञाको सादर शिरोधार्य किया और महान् दिव्यास्त्रसे अभिमन्त्रित अञ्जलिक नामक उत्तम बाणके द्वारा कर्णका सिर काट डाला।[४] यद्यपि उस समय शस्त्ररहित पृथ्वीपर खड़े हुए कर्णके धर्मयुक्त वचनोंको सुनकर अर्जुन बाण चलानेमें हिचकिचा रहा था; फिर भी भगवान्‌के वचनोंको सुनकर उसका संकोच और संदेह निवृत्त हो गया, जिससे उसने निःशङ्क होकर कर्णपर बाणका प्रहार करके उसका सिर काट गिराया।[५]

इसी प्रकार प्रत्येक भक्तका कर्तव्य भगवदाज्ञापालन ही है। इसीका नाम भगवच्छरणागति है। भगवदाज्ञाके सामने अन्य किसी धर्मको न मानना '**सर्वधर्मपरित्याग**' है। ईश्वराज्ञा और धर्मशास्त्रमें विरोध-सा प्रतीत होनेपर भगवदाज्ञा ही मुख्य माननीय है; क्योंकि धर्मका तत्त्व गहन है, साधारण पुरुष उसका निर्णय नहीं कर सकता।

भगवान्‌की शरण जाना—यह उत्तम रहस्यकी बात है, जिसे भगवान्‌ने अर्जुन-जैसे परमभक्तके प्रति ही कहा है। भगवान् उस शरणागतिकी महिमा बतलाते हुए स्वयं कहते हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

(गीता १८। ६४)

'सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त

१. देखिये महाभारत कर्णपर्व अ० ९०।

२. वनवासे व्यतीते च कर्ण वर्षे त्रयोदशे। न प्रयच्छसि यद् राज्यं क्व ते धर्मस्तदा गतः। (महा० कर्ण० ९१। ४)

३. यदभिमन्युं बहवो युद्धे जघ्नुर्महारथाः। परिवार्य रणे बालं क्व ते धर्मस्तदा गतः। (महा० कर्ण० ९१। ११)

४. देखिये महाभारत, कर्णपर्व, अध्याय ९१।

५. वास्तवमें अर्जुनका कर्णपर बाण चलाना अधर्म नहीं था, क्योंकि आततायीको किसी प्रकार भी मारना धर्मशास्त्रमें न्याय्य बताया गया है और कर्ण आततायी था।

वसिष्ठस्मृतिमें आततायीके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः। (३। १९)

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको उद्यत, धन हरण करनेवाला, जमीन छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छहों आततायी हैं।'

तथा मनुस्मृतिमें बतलाया गया है—

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन। (८। ३५०-३५१)

'अपना अनिष्ट करनेके लिये आते हुए आततायीको बिना विचारे ही मार डालना चाहिये। आततायीके मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं लगता।'

वचनको तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा।'

गीतामें भगवान्‌ने गुह्य, गुह्यतर और सर्वगुह्यतम—इस तरह तीन प्रकारकी बातें बतलायी हैं। दूसरे अध्यायके ४० वें श्लोकसे आरम्भ करके तीसरे अध्यायके अन्ततक जिस कर्मयोगका वर्णन किया है, उसको भगवान्‌ने 'गुह्य' उपदेश बतलाया है। वे कहते हैं—

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥
(गीता ४। ३)

'तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग (जिसको मैंने सृष्टिके आदिमें सूर्यसे कहा था, किंतु जो बहुत कालसे पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया था) आज मैंने तुमसे कहा है; क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखनेयोग्य विषय है।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्मयोगका विषय उत्तम होते हुए भी 'गुह्य' (गोपनीय) ही है; किंतु ईश्वरकी भक्ति 'गुह्यतर' है, जिसका वर्णन भगवान्‌ने १८। ६२-६३ में किया है। वहाँ 'गुह्य'—कर्मयोगसे ईश्वर-भक्तिको 'गुह्यतर' बतलाया गया है।

इसपर यह प्रश्न होता है कि जब ईश्वरकी भक्तिको 'गुह्यतर' कह दिया, तब १८। ६५-६६ में भी तो ईश्वरकी भक्तिका ही वर्णन है, फिर उसमें सर्वगुह्यतमत्व क्या है? इसका उत्तर यह है कि वहाँ भगवान्‌का 'वह ईश्वर मैं ही हूँ' इस रहस्यमय बातको प्रकट करके यह कह देना कि तू मुझमें मनवाला हो, एक मेरी ही शरणमें आ जा—यही '**सर्वगुह्यतमत्व**' है। यदि कहें कि जब १८। ६५-६६ में कही हुई बात ही सर्वगुह्यतम है तो ९। ३४ के पूर्वार्द्धमें भी तो यही बात कही गयी है; फिर वहाँ उसे सर्वगुह्यतम क्यों नहीं बतलाया तो इसका उत्तर यह है कि वहाँ भी उसे '**गुह्यतम**' और '**राजगुह्य**' कहकर '**सर्वगुह्यतम**' ही बतलाया गया है। भगवान्‌ने कहा है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
(गीता ९। १-२)

'तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसे जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा। यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है।'

इस प्रकार नवें अध्यायमें वर्णित उपदेशको, जिसके उपसंहार (९। ३४) में शरणागतिका आदेश है, परम गोपनीय और सब विद्याओंका राजा बतलाया गया है। इसलिये वह सर्वगुह्यतम उपदेश है।

यहाँ एक बात और ध्यान देनेकी है। भगवान्‌ने १८। ६१ में ईश्वरकी व्यापकताका तत्त्व बतलाकर ६२ में उसकी शरणमें जानेकी बात कही और ६३ में '**इति ते ज्ञानमाख्यातम्**' अर्थात् यह 'ज्ञान' मैंने तुझसे कह दिया—इस प्रकार इसका नाम 'ज्ञान' बतलाया। इसमें केवल निराकारकी शरणागतिका विषय है, इसलिये इसे केवल 'ज्ञान' और 'गुह्यतर' ही कहा है। किंतु नवें अध्यायमें वर्णित उपदेशको 'विज्ञानसहित ज्ञान' और '**सर्वगुह्यतम**' 'राजगुह्य' बतलाया गया है। वहाँ प्रथम श्लोकमें विज्ञानसहित ज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा करके ९। ४ में निराकारका, ९। २६ में साकारका और ९। १८ में निराकार-साकार सर्वरूपका वर्णन करते हुए यह कहा गया कि वह सब मेरा ही स्वरूप है। इसी प्रकार सातवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें समग्र स्वरूपका वर्णन सुननेके लिये कहकर भगवान्‌ने अपने परम प्रेमी भक्त अर्जुनके प्रति दूसरे श्लोकमें यही कहा कि 'मैं तेरे लिये इस विज्ञानसहित तत्त्वज्ञानको सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ जाननेयोग्य शेष नहीं रह जाता।' फिर १९ वें श्लोकमें 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस समग्र रूपको जाननेवाले महात्माको अतिदुर्लभ बतलाया एवं अन्तमें समग्र रूपकी उपासनाका वर्णन करते हुए कहा कि 'जो पुरुष अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे मुझको प्राप्त हो जाते हैं। अर्थात् साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण—सब कुछ मैं ही हूँ।' इसीको 'विज्ञानसहित ज्ञान' कहा गया। अतएव यह सिद्ध हुआ कि सगुण-निर्गुण, साकार-निराकाररूप समग्र भगवान्‌का ज्ञान ही 'विज्ञानसहित ज्ञान' है और इस विज्ञानसहित ज्ञानको जानकर उनकी सब प्रकारसे शरण ग्रहण करना ही '**सर्वगुह्यतम**' है।

यहाँ १८। ६४ में '**मे परमं वचः भूयः शृणु**—' 'मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन' यों कहकर भी भगवान्‌ने यही अभिप्राय व्यक्त किया है कि मैंने नवें अध्यायमें जो बात कही थी, उसी परम रहस्यमयी बातको मैं फिर तुमसे कहता हूँ। तथा '**मे दृढम् इष्टः असि**', 'तू मेरा अतिशय प्रिय है'—यों कहकर यह बतलाया है कि तू मेरा अत्यन्त प्यारा भक्त है, अतः तू अधिकारी पुरुष

है। वहाँ नवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें भी '**अनसूयवे**' कहकर यह स्पष्ट कर दिया था कि तुम्हारी मेरे गुणोंमें दोषदृष्टि नहीं है। अतः तुम अधिकारी पुरुष हो। ऐसे परम प्रेमी अधिकारी भक्त अर्जुनसे ही भगवान् यह सर्वगुह्यतम रहस्य कहते हैं कि 'तुम एक मेरी ही शरणमें आ जाओ।'

३. मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा

अर्जुनने पहले अध्यायमें कहा था कि 'जनार्दन! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियोंको मारकर तो हमें पाप ही लगेगा (१।३६) तथा यह बड़े ही आश्चर्य और शोकका विषय है कि हमलोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करनेको तैयार हो गये हैं, जो राज्य और सुखके लोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हो गये हैं (१।४५)।' इस प्रकार अर्जुनके मनमें जो पाप लगनेकी आशङ्का थी, उसकी निवृत्तिके लिये ही भगवान्ने २।३८ में यह कहा था कि 'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

अब भगवान् यहाँ १८।६६ में कहते हैं कि यदि तू पाप समझता है तो तू सब धर्मोंका मुझमें त्याग करके मेरी शरणमें आ जा, मैं गारंटी देता हूँ कि तू जिन-जिन कर्मोंमें पाप समझता है, उन सभी पापोंसे मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा।

४. तू शोक मत कर

मोहके कारण अर्जुनको बन्धु-बान्धवोंके वध करनेके विषयमें शोक हो रहा था, उसीकी निवृत्तिके लिये भगवान्ने दूसरे अध्यायमें उसको उपदेश दिया। वहाँ भगवान्ने कहा—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

(गीता २।११)

'अर्जुन! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंकी-सी बातें कहता है; परंतु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते।'

यदि तू इन सबके शरीरोंकी ओर विचार करके शोक करता है तो उन शरीरोंके लिये शोक करना उचित नहीं है; क्योंकि—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

(गीता २।२८)

'अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; ऐसी स्थितिमें शोक क्या करना है।'

अतः स्वभावतः नाशवान् होनेके कारण शरीरोंके लिये शोक करना व्यर्थ है। यदि आत्माकी दृष्टिसे विचार करें तो भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(गीता २।२०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है, न मरता है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥

(गीता २।२४-२५)

'क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसंदेह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है, यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है, इससे हे अर्जुन! इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तू शोक करने योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है।'

अतः आत्माके लिये भी शोक करना सर्वथा अयुक्त है। यही उपदेश भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने ताराको दिया था—

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥

(राम० किष्किन्धा० १०।२-३)

इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि शरीर या आत्मा, किसीके लिये भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है।

यदि तू कहे कि शरीरसे आत्माका वियोग होनेके विषयमें मैं शोक करता हूँ तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(गीता २।२२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

यदि कहें कि पुराने वस्त्रोंके त्याग और नये वस्त्रोंके धारण करनेमें तो मनुष्यको सुख होता है, किंतु पुराने शरीरके त्याग और नये शरीरके ग्रहण करनेमें तो क्लेश होता है, अतः यहाँ यह उदाहरण समीचीन नहीं है तो इसका उत्तर यह है कि पुराने शरीरके त्याग और नये शरीरके ग्रहणमें यानी मृत्यु और जन्ममें अज्ञानी मनुष्यको ही दुःख होता है और अज्ञानी तो बालकके समान है। धीर, विवेकी और भक्तको शरीर-परित्यागमें दुःख नहीं होता। भगवान्‌ने कहा है—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता २। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

श्रीरामचरितमानसमें भी लिखा है कि श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दृढ़ प्रीति करके वालीने उसी प्रकार देहका त्याग कर दिया था, जैसे हाथी अपने गलेसे फूलकी मालाका त्याग कर देता है यानी मृत्युके दुःखका उसे पता ही नहीं लगा—

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

(राम० किष्किन्धा०)

पुराने वस्त्रोंके त्याग और नये वस्त्रोंके धारण करनेमें भी हर्ष उन्हींको होता है, जो नये-पुराने वस्त्रके तत्त्वको जानते हैं। छः महीने या सालभरके बच्चेकी माँ जब उसके पुराने गंदे वस्त्रको उतारती है, तब वह बालक रोता है और नया स्वच्छ वस्त्र पहनाती है, तब भी वह रोता है। किंतु माता उसके रोनेकी परवा न करके उसके हितके लिये वस्त्र बदल ही देती है। इसी प्रकार भगवान् भी जीवके हितके लिये उसके रोनेकी परवा न करके उसकी देहको बदल देते हैं। अतः यह उदाहरण यहाँ समीचीन है।

इस प्रकार भगवान्‌ने बतलाया कि शरीर, आत्मा या शरीरसे आत्माके वियोग—किसीके लिये भी शोक करना उचित नहीं। दूसरे अध्यायके इन्हीं वचनोंका संकेत करके भगवान्‌ने यहाँ १८। ६६ में अपने प्रभावका दिग्दर्शन कराते हुए अर्जुनको सर्वथा शोकरहित हो जानेके लिये आश्वासन दिया है कि 'तू शोक मत कर।'

गीतोक्त कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—तीनों ही मार्ग श्रेष्ठ और स्वतन्त्र हैं

अद्वैतवादी आचार्योंका कथन है कि गीता ज्ञानप्रधान ग्रन्थ है, वह अद्वैतामृतवर्षिणी है। उसमें मलदोषके नाश (अन्तःकरणकी शुद्धि) के लिये कर्मयोग, विक्षेपदोषके नाशके लिये भक्तियोग और यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये ज्ञानयोगका वर्णन है। इस प्रकार पहली सीढ़ी कर्मयोग, दूसरी सीढ़ी भक्तियोग और फलरूप अन्तिम तीसरी सीढ़ी ज्ञानयोग है। उनके सिद्धान्तके अनुसार यह प्रणाली बहुत उत्तम है।

द्वैतवादी आचार्योंका कथन है कि गीता भक्तिप्रधान ग्रन्थ है। वे कहते हैं कि उसमें कर्मयोगका साधन अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये और आत्मज्ञानका साधन आवरणनाशके लिये है एवं साक्षात् परमात्माकी प्राप्ति तो भक्तिसे ही होती है। इस प्रकार कर्मयोग पहली सीढ़ी, ज्ञानयोग दूसरी सीढ़ी और फलरूप अन्तिम तीसरी सीढ़ी भक्तियोग है। उन लोगोंकी मान्यताके अनुसार यह प्रणाली भी बहुत ही ठीक है।

कर्मयोगी महानुभावोंका कथन है कि गीता कर्मयोग-प्रधान ग्रन्थ है; क्योंकि अर्जुन गृहस्थाश्रमको त्यागकर संन्यासाश्रमका अनुसरण करना चाहते थे (गीता २।५); किंतु भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा कि 'जनकादि महापुरुष गृहस्थमें रहकर ही निष्काम कर्मयोगके द्वारा सिद्धिको प्राप्त हुए हैं, इसलिये तुमको भी लोक-संग्रहकी दृष्टिसे गृहस्थाश्रममें रहकर ही कर्म करना चाहिये' (गीता ३। २०) तथा अर्जुनने किया भी वही। अतः गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मयोग ही है। भक्ति परमेश्वरके ज्ञानकी प्राप्तिका एक सुगम साधन है। ज्ञानप्राप्तिके अनन्तर कर्मोंका त्याग 'सांख्ययोग' है और ज्ञानोत्तरकालमें ईश्वरार्पणबुद्धिसे लोकसंग्रहार्थ कर्म करना 'कर्मयोग' है। इन दोनोंमेंसे गीतामें ज्ञानमूलक भक्ति प्रधान कर्मयोगका ही प्रतिपादन है। अतः पहले तो चित्त-शुद्धिके निमित्त और उससे परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त हो जानेपर फिर केवल लोकसंग्रहार्थ मरणपर्यन्त निष्काम कर्म करते रहना चाहिये। इन कर्मयोगी महानुभावोंकी दृष्टिके अनुसार यह पद्धति भी ठीक ही है।

कोई-कोई आचार्य महानुभाव इनसे भी भिन्न बात

कहते हैं। अपनी-अपनी दृष्टिसे इन सभीका कथन शास्त्रसंगत और युक्तियुक्त है। किसी भी आचार्य या महापुरुषके प्रति यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने पक्षपात किया है। उन महापुरुषोंके अन्तःकरणमें जैसा-जैसा भाव प्रकट हुआ, उन्होंने शुद्ध नीयतसे वैसा ही कहा है। यदि किसीमें पक्षपात हो तो न तो वह महापुरुष है और न ज्ञानी महात्मा ही। साधनकालमें जिनकी जैसी श्रद्धा, विश्वास और रुचि रही है, उसीके अनुकूल साधन उनको प्रिय लगा और उसी दृष्टिसे उन्होंने गीताका अध्ययन किया; इसलिये उनको गीता वैसी ही प्रतीत होने लगी। वास्तवमें गीताका सिद्धान्त, तत्त्व और रहस्य सम्पूर्णतया भगवान् ही जानते हैं, उनका वास्तविक ज्ञान मनुष्यकी सामर्थ्यके बाहर है। फिर भी अपने कल्याणके लिये मनुष्यको किसी-न-किसी प्रणालीको अपनाना ही होगा; इसी उद्देश्यसे मैंने भी गीताका साधारणतया विचार और मनन किया, यद्यपि मेरा अध्ययन बहुत ही अल्प है। क्योंकि गीता तो ज्ञान, कर्म, भक्ति, वैराग्य और सदाचारका भंडार है; इसके अभ्याससे मनुष्यके हृदयमें नित्य नये भाव उत्पन्न होते रहते हैं। गीता तो उपदेशका सागर है, इसका कहीं पार नहीं है। एक जन्ममें ही नहीं, यदि मैं सैकड़ों जन्मोंतक गीताका ही अभ्यास करता रहूँ तो भी गीताके उपदेशों और भावोंकी समाप्ति नहीं हो सकती। जब मैं अपनी ओर देखता हूँ, तब गीताके प्रतिपाद्य विषयपर लिखनेमें मुझे संकोच ही होता है; क्योंकि भगवान्ने अर्जुनको जिस उद्देश्यसे जो बात कही है, उसका यथार्थ ज्ञान तो भगवान्को ही है। मैं तो अपनी अल्पबुद्धिके अनुसार अनुमान ही कर सकता हूँ? क्योंकि मैं सर्वज्ञ तो हूँ नहीं, एक साधारण मनुष्य हूँ।

मेरी साधारण बुद्धिके अनुसार मेरी समझमें यह बात आयी है कि उपर्युक्त आचार्य महानुभावोंकी बतलायी हुई पद्धतियोंका आदर करते हुए उनके अनुसार साधन करनेपर साधकको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; किंतु इसके सिवा और भी शिक्षाप्रद भाव गीतामें भरे पड़े हैं, जिनका आविष्कार अभी नहीं हुआ है, किसी समय भविष्यमें हो भी सकता है। मेरी समझमें गीताके सिद्धान्तानुसार कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—तीनों ही साधन स्वतन्त्र हैं तथा तीनों ही साधनोंके द्वारा परमात्माका यथार्थ ज्ञान और परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। जिसको गीतामें कहीं परम शान्ति, कहीं परमपद, कहीं अनामय पद, कहीं परमधाम, कहीं परम गति, कहीं निर्वाण ब्रह्म, कहीं शाश्वत पद, कहीं परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति आदि नामोंसे कहा गया है, वह परमात्माकी प्राप्ति उक्त तीनों ही साधनोंके द्वारा हो सकती है। एवं अधिकारी-भेदसे ये तीनों ही साधन उत्तम (श्रेष्ठ), सुगम, शीघ्र सिद्धि प्रदान करनेवाले, सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाले, परमात्माका यथार्थ ज्ञान तथा परमपदस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं।

गीतामें इन छहों बातोंका उक्त तीनों साधनोंमें ही पृथक्-पृथक् दिग्दर्शन कराया गया है, जिसको संक्षेपमें नीचे बताया जाता है—

कर्मयोग

आत्मकल्याणके विषयमें कर्मयोगको ज्ञानयोगसे श्रेष्ठ बतलाते हुए भगवान्ने कहा है—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥

(गीता ५। २)

'कर्मसंन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही परम कल्याणके करनेवाले हैं, परंतु उन दोनोंमें भी कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है।'

इतना ही नहीं, कर्मयोग अभ्यास, विवेक-ज्ञान और ध्यानसे भी श्रेष्ठ है। भगवान् कहते हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

(गीता १२। १२)

'मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्यागरूप कर्मयोग श्रेष्ठ है, क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।'

कर्मयोग श्रेष्ठ है, इतनी ही बात नहीं, वह सुगम भी है; क्योंकि कर्मयोगके साधनसे साधक अनायास ही सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। भगवान्ने गीताके पाँचवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें बतलाया है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥

'हे अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझनेयोग्य है; क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

कर्मयोगका साधन सुगम तो है ही, इसके सिवा उसके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। भगवान् गीताके पाँचवें अध्यायके छठे श्लोकमें कहते हैं—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

'परंतु हे अर्जुन! कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।'

इसमें यह भी बतला दिया गया कि पहले कर्मयोगका साधन किये बिना ज्ञानयोगकी सिद्धि होनी कठिन है। किंतु कर्मयोगीको ज्ञानयोगका साधन करना ही पड़े—ऐसी बात नहीं, इसके लिये वह बाध्य नहीं है; इसलिये कर्मयोग स्वतन्त्र भी है।

एवं कर्मयोगके द्वारा पापोंका नाश होकर अन्तःकरणकी शुद्धि भी हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

(गीता ४। २३)

'जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, जो देहाभिमान और ममतासे रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके ज्ञानमें स्थित रहता है—ऐसे निष्काम भावसे केवल यज्ञ-सम्पादनके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं।'

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥

(गीता ५। ११)

'कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।'

इसके सिवा कर्मयोगके साधकको यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति भी उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर अपने-आप हो जाती है। भगवान्ने कहा है—

तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।

(गीता ४। ३८ का उत्तरार्ध)

'उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

इसके अतिरिक्त केवल कर्मयोगसे ही अनामय पद और परमशान्तिरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

(गीता २। ५१)

'समबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर निस्संदेह जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निर्विकार परम पदको पा लेते हैं।'

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २। ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही परमात्माकी प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है।'

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

(गीता ३। १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परम पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

(गीता ५। १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है।'

इस कर्मयोगके साथ यदि भक्तिका समावेश करके कर्मोंका आचरण भगवदर्पण या भगवदर्थ बुद्धिसे किया जाय, तब तो कहना ही क्या है! उसे तो भगवान्की कृपासे भगवत्प्राप्ति होती ही है। भगवान्ने गीतामें बतलाया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(९। २७-२८)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे। इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उससे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त करेगा।'

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥

(गीता १२। १०)

'यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही पायेगा।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है।'

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(गीता १८। ५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परम पदको प्राप्त कर लेता है।'

गीतामें कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोग-इन सभी साधनोंको स्वतन्त्र तथा सभीका अन्तिम फल एक ही बतलाया गया है। किसी साधककी रुचि कर्मयोगमें, किसीकी ज्ञानयोगमें और किसीकी भक्तियोगमें एवं किसीकी ध्यानयोगमें होती है; किंतु इनके फलमें कोई भेद नहीं है। भगवान्ने कहा है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

(गीता ५। ४-५)

'संन्यास (ज्ञानयोग) और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं, न कि पण्डितजन; क्योंकि दोनोंमेंसे किसी एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको पा लेता है। ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परम धाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(गीता १३। २४)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

इससे यह निश्चय हो गया कि कर्मयोगीको कर्मयोगका साधन करनेके पश्चात् भक्तियोग या ज्ञानयोगका साधन करना ही पड़े—ऐसी बात नहीं है। यदि कोई करे तो अच्छी बात है, किंतु वह करनेके लिये बाध्य नहीं है; क्योंकि केवल कर्मयोगसे ही पापोंका नाश होकर यथार्थ ज्ञान और परमात्माकी प्राप्ति सुगमतापूर्वक और शीघ्र हो सकती है।

अतः परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको अवश्य अनासक्त और निष्कामभावसे ही कर्म करना चाहिये। गीताके तीसरे अध्यायमें, जो कर्मयोगके नामसे प्रसिद्ध है, भगवान्ने इस बातपर विशेष जोर दिया है। गीता-तत्त्व-विवेचनी टीकामें तीसरे अध्यायके २९ वें श्लोकका ३० वें श्लोकके साथ सम्बन्ध बतलाते हुए कर्मकी अवश्यकर्तव्यतापर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

भक्तियोग

गीतामें कर्मयोगके विषयमें जो उपर्युक्त छः बातें बतलायी गयी हैं, वे सब भक्तियोगके विषयमें भी कही गयी हैं। भक्तोंके लिये सबसे बढ़कर भक्तियोगका ही साधन है। अतः भक्तोंको श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भक्तियोगका साधन करना चाहिये। परमात्मविषयक ज्ञान और परमपदकी प्राप्ति तो कर्मयोग और ज्ञानयोगसे भी हो सकती है; किंतु भगवान्का साक्षात् दर्शन तो अनन्य भक्तिसे ही हो सकता है, कर्मयोग और ज्ञानयोगसे नहीं। अनन्य भक्तिसे साक्षात् दर्शन ही नहीं, आत्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान और परमात्मामें प्रवेशरूप सायुज्यमुक्ति भी हो जाती है। भगवान्ने गीताके ११ वें अध्यायके ५४ वें श्लोकमें कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

'हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकारके रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा, तत्त्वसे जाना तथा प्रवेश किया अर्थात् एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।'

अतः भक्ति सब साधनोंसे उत्तम है और इस कारण ही भगवान्ने अपने भक्तको सर्वोत्तम बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, अष्टाङ्गयोगी और भक्तियोगी—इन सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे

हुए अन्तरात्मा (मन-बुद्धि) से मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

भक्तिमार्गमें सगुण-साकार या सगुण-निराकार—किसी भी स्वरूपकी उपासना बहुत ही सरल है। भगवान्‌ने सगुण-साकार और सगुण-निराकारके उपासकके लिये अपनेको सुलभ बतलाते हुए कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

(गीता ९। १-२)

'तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको मैं पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा। यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है।'

सगुण-साकारकी उपासनामें और भी सुगमता दिखलाते हुए कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

उदाहरणके लिये द्रौपदीके केवल सागकी पत्ती अर्पण करनेसे, गजेन्द्रके केवल पुष्पकी भेंट चढ़ानेसे, शबरी (भीलनी) के केवल फल अर्पण करनेसे और रन्तिदेवके केवल जल प्रदान करनेसे ही भगवान् प्रसन्न हो गये थे। इस प्रकार इन भक्तोंको भगवान् सुगमतापूर्वक ही मिल गये।

भक्तिमार्ग सुगम तो है ही, उससे भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र होती है और भगवान्‌की भक्ति करनेवाले पुरुषका भगवान् स्वयं मृत्युरूप संसार-सागरसे उद्धार करते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ६-७)

'जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला मैं होता हूँ अर्थात् मैं उनका उद्धार कर देता हूँ।'

उदाहरणके लिये ध्रुव, प्रह्लाद और उद्धव आदि भक्त भगवान्‌की भक्तिद्वारा शीघ्र ही भगवान्‌को प्राप्त हो गये।

ये सब भक्त तो पहलेसे ही श्रेष्ठ थे; किंतु यदि कोई बड़ा भारी पापी हो तो उसका भी भक्तिके द्वारा शीघ्र ही उद्धार हो सकता है। उदाहरणके लिये अजामिल, बिल्वमङ्गल आदि भक्त पहले पापी थे, किंतु भगवान्‌की भक्तिसे उनका शीघ्र ही उद्धार हो गया। अतः गुण, जाति और आचरण आदिसे कोई कैसा भी नीच क्यों न हो, भक्तिसे उसका भी शीघ्र ही उद्धार हो जाता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका कभी विनाश नहीं होता।'

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

भगवान्‌की भक्ति करनेवाले प्रेमी भक्तको भगवत्कृपासे परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी और परम पदरूप परमात्माके स्वरूपकी भी प्राप्ति हो जाती है।

भगवान्‌ने कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। ११)

'हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

इसी प्रकार गीतामें और भी जगह भक्तिके द्वारा यथार्थ ज्ञान और परम पदकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

ज्ञानयोग

इसी प्रकार ज्ञानयोगके विषयमें भी उपर्युक्त छहों बातें बतलायी गयी हैं। गीताके तेरहवें अध्यायके ७ वेंसे ११ वें श्लोकतक जितने साधन बतलाये गये हैं, उनको भगवान्‌ने ज्ञानकी प्राप्तिमें हेतु होनेके कारण 'ज्ञान'के नामसे कहा है; उनका जो फल है, वही वास्तवमें परमात्माका यथार्थ ज्ञान है। भगवान्‌ने उस यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये फलसहित साधनोंका वर्णन प्रकारान्तरसे १८ वें अध्यायके ४९ वेंसे ५५ वें श्लोकतक किया है। इनके सिवा गीतामें ज्ञानका विषय चौथे, पाँचवें और चौदहवें अध्यायोंमें भी आया है। तेरहवाँ अध्याय तो सारा-का-सारा ज्ञानके वर्णनसे ओत-प्रोत है ही। उस ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानी महात्माओंकी शरणमें जानेसे, ज्ञानके साधनोंके अनुष्ठानसे तथा श्रद्धा-विश्वास, सत्सङ्ग और स्वाध्याय आदि अनेक उपायोंसे होती है।

गीतामें ज्ञानयोगको भी सब साधनोंसे उत्तम बतलाया गया है। साधनरूप ज्ञान और फलरूप ज्ञान दोनोंकी ही भगवान्‌ने प्रशंसा की है।

भगवान् कहते हैं—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

(गीता ४। ३३)

'हे परंतप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है; क्योंकि यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं।'

ज्ञानका मार्ग सर्वोत्तम तो है ही, सुगम और पापनाशक भी है। यों तो गीताके १२ वें अध्यायके ५ वें श्लोकमें इसे कठिन बतलाया गया है; किंतु वहाँ देहाभिमानी पुरुषोंके लिये ही उसे कठिन बतलाया गया है, ब्रह्मभूत यानी 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित पुरुषोंके लिये नहीं, प्रत्युत उनके लिये तो बहुत ही सुगम बतलाया गया है। भगवान् कहते हैं—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

(गीता ६। २७-२८)

'जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित हुए योगीको निस्संदेह उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है।'

इतना ही नहीं, श्रद्धा-विश्वास होनेपर तत्त्वज्ञानसे तो शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने चौथे अध्यायके ३९ वें श्लोकमें कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त कर लेता है तथा ज्ञानको प्राप्त करके वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको पा लेता है।'

चाहे मनुष्य कैसा भी पापी हो, तत्त्वज्ञानसे उसके सारे पापोंका नाश हो जाता है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥
(गीता ४। ३६)

'यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निस्संदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा।'

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥
(गीता ४। ३७)

'क्योंकि हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनके ढेरको भस्म कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म कर देता है।'

अतः ज्ञानयोगीको ज्ञानयोगके साधनद्वारा तत्त्वज्ञान होकर उसके सारे पापोंका नाश हो जाता है। साथमें निष्काम कर्म या भक्तियोगका साधन हो, तब तो कहना ही क्या! किंतु कर्मयोग या भक्तियोग करनेके लिये वह बाध्य नहीं है; क्योंकि ज्ञानयोग स्वतन्त्र साधन भी है। इसलिये केवल ज्ञानयोगके द्वारा ही उसे परमात्माका यथार्थ ज्ञान और परमपदस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति भी हो सकती है। भगवान्‌ने कहा है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥
(गीता ५। २४)

'जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखका अनुभव करता है, आत्मामें ही रमण करता है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानका अनुभव करता है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको पा लेता है।'

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(गीता १८। ५४-५५)

'फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकांक्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभावना करनेवाला योगी ज्ञानयोगकी परानिष्ठारूप मेरी पराभक्तिको प्राप्त कर लेता है। उस पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ—ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

ज्ञानयोगके साधनोंका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने कहा है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
(गीता ४। २४)

'जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है।'

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।
(गीता ४। २५ का उत्तरार्ध)

'अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें अभेद-दर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं।'

इस प्रकार गीताके श्लोकोंसे ही यह दिखलाया गया कि कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—ये तीनों ही मार्ग श्रेष्ठ, सुगम, शीघ्र सिद्धिदायक, पापनाशक, यथार्थ ज्ञानप्रद और परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं। गीतामें भगवान्‌ने जो इन सभीकी इस प्रकार प्रशंसा की है, वह झूठी प्रशंसा नहीं है एवं न इससे उनके वाक्योंमें परस्पर विरोधका ही दोष आता है। वस्तुतः अधिकारी-भेदसे ही तीनों मार्गोंकी प्रशंसा की गयी है। जो जिस मार्गका अधिकारी है, उसके लिये वही मार्ग श्रेष्ठ, सुगम, शीघ्र फलदायक, पापनाशक, यथार्थज्ञानप्रद और परमात्मप्राप्तिकारक है; क्योंकि सबकी श्रद्धा, विश्वास, रुचि, प्रकृति और बुद्धि एक-दूसरेसे भिन्न हुआ करती है। इसीलिये गीतादि शास्त्रोंमें अधिकारी-भेदसे भिन्न-भिन्न साधन बतलाये गये हैं। सभी साधन बहुत ही उत्तम और उपयोगी हैं। अतएव मनुष्यको अपनी श्रद्धा, विश्वास, रुचि और प्रकृतिके अनुसार उपर्युक्त किसी भी मार्गका अवलम्बन करके तत्परतापूर्वक परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये।

शीघ्रातिशीघ्र परमात्माकी प्राप्ति होनेके साधन

बहुत-से भाई मुझसे पूछा करते हैं कि 'परमात्माकी प्राप्ति कितने समयमें हो सकती है?' इसका उत्तर मैं यह दिया करता हूँ कि इसके लिये कोई समय निर्धारित नहीं है। इसमें तो साधकके भावकी ही प्रधानता है। (१) ईश्वर और महापुरुषोंमें परम श्रद्धा, (२) परमात्माके स्वरूपका तात्त्विक ज्ञान, (३) निष्काम कर्म और (४) अनन्य प्रेम (अनन्य भक्ति) पूर्वक भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा—ये सब भाव हैं। ये सभी भाव परमात्माकी प्राप्तिके उत्तम साधन हैं। इनमेंसे प्रत्येक भावमें शीघ्र परमात्माको प्राप्त करा देनेकी शक्ति है। साथमें ममता और अभिमानके अभावपूर्वक तीव्र अभ्यास और वैराग्य हो, तब तो और भी शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। महर्षि श्रीपतञ्जलिने कहा है—

तीव्रसंवेगानामासन्नः। (योगदर्शन १। २१)

'जिनके अभ्यास-वैराग्यके साधनकी गति तीव्र है, उनका योग शीघ्र सिद्ध होता है।'

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः।

(योगदर्शन १। २२)

'किंतु अभ्यास-वैराग्यके साधनकी मात्रा हलकी, मध्यम और उच्च होनेके कारण तीव्र संवेगवालोंमें भी कालका भेद हो जाता है।'

इसलिये जिनका साधन तीव्र होता है तथा भाव भी उच्चकोटिका होता है, उनको शीघ्रातिशीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

(१) जैसे बिजलीकी फिटिंग हो जाने और पावर-हाउससे कनेक्शन प्राप्त हो जानेपर स्विच दबानेके साथ ही रोशनी क्षणमात्रमें हो जाती है, इसी प्रकार मनुष्य जब पात्र बन जाता है अर्थात् जब वह परम श्रद्धालु बन जाता है, तब उसे परमात्माकी प्राप्ति तत्क्षण हो जाती है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

जो ईश्वर और महापुरुषोंमें भक्ति एवं प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास है, वह श्रद्धा है और उनमें जो भक्तिपूर्वक प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास है, वह परम श्रद्धा है। प्रत्यक्षसे बढ़कर श्रद्धा कैसी होती है—इसको समझनेके लिये राजा द्रुपदके चरित्रपर ध्यान देना चाहिये। पहले जब राजा द्रुपदके कोई संतान नहीं थी, तब उन्होंने संतानके लिये भगवान् शङ्करकी उपासना की थी। भगवान् शङ्करके प्रसन्न होनेपर राजाने उनसे संतानकी याचना की। तब शिवजीने कहा—'तुम्हें एक कन्या प्राप्त होगी।' राजा द्रुपद बोले—'भगवन्! मैं कन्या नहीं चाहता, मुझे तो पुत्र चाहिये।' इसपर शिवजीने कहा—'वह कन्या ही आगे चलकर पुत्ररूपमें परिणत हो जायगी।' इस वरदानके फलस्वरूप राजा द्रुपदके घर कन्या उत्पन्न हुई। राजाको भगवान् शिवके वचनोंपर पूर्ण विश्वास था, इसलिये उन्होंने उसे पुत्रके रूपमें प्रसिद्ध किया और उसका नाम भी पुरुष-जैसा 'शिखण्डी' रखा। इतना ही नहीं, उन्होंने दशार्णदेशके राजा हिरण्यवर्माकी कन्यासे उसका विवाह भी कर दिया। यद्यपि प्रत्यक्षमें तो वह लड़की है, पर राजाको पूर्ण विश्वास है कि वह समयपर लड़का बन जायगा और हुआ भी वैसा ही (महा० उद्योग० अ० १८८—१९२)। यह लौकिक- विषयक प्रत्यक्षसे बढ़कर श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा परमात्मामें हो तो परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण अवताररूपमें पृथ्वीपर विद्यमान थे, उस समय जिन भीष्म, अर्जुन आदि पुरुषोंकी उनमें परम श्रद्धा थी, उनको तो वे प्राप्त ही थे; किंतु जिन दुर्योधनादिकी भगवान्‌में श्रद्धा नहीं थी, उनको भगवान् प्राप्त होकर भी अप्राप्त ही थे। जैसे किसीके पास पारस तो है, परंतु उसे पारसका ज्ञान नहीं है तो उसे पारस प्राप्त होते हुए भी अप्राप्त ही है, वैसे ही जिनको भगवान् श्रीकृष्णके परमात्मा होनेका विश्वास और अनुभव नहीं था, उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण प्राप्त होते हुए भी अप्राप्त ही थे; क्योंकि अनुभव होनेसे ही श्रद्धा होती है और श्रद्धा होनेसे ही भगवान्‌में प्रेम होकर उनकी प्राप्ति होती है। जैसे भक्त सुतीक्ष्णका भगवान् श्रीरामके परमात्मा होनेमें विश्वास था, इसीसे वे भगवान्‌के प्रेममें मग्न हुए उनका दर्शन करनेके लिये आतुर हो चल पड़े तथा प्रेममें इतने विह्वल हो गये कि उन्हें अपना और दिशाओंका भान भी नहीं रहा और वे मार्गमें ही बैठ गये। उनके प्रेमके कारण भगवान् तुरंत उनके निकट आ पहुँचे। उनकी इस प्रेमावस्थाका वर्णन श्रीतुलसीदासजीके शब्दोंमें ही पढ़िये—

मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीछन रति भगवाना॥
मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहुँ आन भरोस न देवक॥

प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥

× × ×

मुनि मग माझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए। देखि दसा निज जन मन भाए॥

(राम० अरण्य० १०। १-२, ८)

इस प्रकार भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम होनेसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है, भगवत्प्राप्त महापुरुषमें श्रद्धा-प्रेम होनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।

जैसे पतिव्रता स्त्री पतिकी आज्ञाके अनुसार चलती है, जैसे मातृ-पितृ-भक्त मनुष्य माता-पिताकी आज्ञाके अनुसार चलता है और जैसे ईश्वरका भक्त ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार चलता है, उसी प्रकार जो महापुरुषकी आज्ञाके अनुसार बड़ी प्रसन्नतापूर्वक आचरण करता है, उसको भी परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। छान्दोग्य उपनिषद्‌में कथा आती है कि जबालाके पुत्र सत्यकामका श्रीहारिद्रुमत गौतमकी कृपासे—उनकी आज्ञाके पालनसे ही उद्धार हो गया और महात्मा सत्यकामकी सेवा करनेसे उपकोसलका उद्धार हो गया।

सूत्रधार कठपुतलीको जैसे नचाता है, वैसे ही वह नाचती है, उसी प्रकार जो महापुरुषके प्रति अपने-आपको सौंपकर वे जैसे नचावें वैसे ही नाचता है, उसको बहुत ही शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। फिर जो जैसे छाया पुरुषका अनुसरण करती है, उसी प्रकार महापुरुषके संकेतके अनुसार चलता है, उसका अति-शीघ्र उद्धार हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है! एवं महापुरुषके सिद्धान्तोंको समझकर उनके अनुसार चलनेका जिसका स्वभाव बन गया है, वह तो परमात्माको प्राप्त ही है। जैसे दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब दीखनेकी भाँति एक ईश्वरभक्तको ईश्वरके मनकी बात मालूम हो जाती है, पतिव्रता स्त्रीको पतिके मनकी बात मालूम हो जाती है, इसी प्रकार महापुरुषमें परम श्रद्धा रखनेवाले पुरुषको महापुरुषके मनकी बात मालूम हो जाती है, तब उस परम श्रद्धालुकी सारी क्रियाएँ महापुरुषके मनके अनुकूल स्वाभाविक ही होने लगती हैं। यह है महापुरुषमें सबसे बढ़कर परम श्रद्धा। ऐसी परम श्रद्धा होनेपर महापुरुषकी कोई भी क्रिया अपने मनके विपरीत होनेपर भी विपरीत नहीं लगती। वास्तवमें महापुरुषोंकी कोई भी क्रिया शास्त्रविपरीत नहीं होती, बिना समझे हमें विपरीत दीख सकती है। यदि वास्तवमें शास्त्रविपरीत क्रिया होती है तब तो वह महापुरुष ही नहीं है। महापुरुषमें जिसकी परम श्रद्धा है, उसको तो उनकी सारी क्रियाएँ लीलाके रूपमें दीखने लगती हैं, चाहे वे उसके मनके कितनी भी विपरीत क्यों न हों। अपने मनके अनुकूल क्रिया तो सभीको आनन्द देनेवाली होती है; किंतु महापुरुषकी अपने मनके विपरीत क्रिया देखकर भी जिस परम श्रद्धालुको ऐसी अतिशय प्रसन्नता होती है और वह उसमें इतना मुग्ध हो जाता है कि उसमें यह प्रसन्नता समाती ही नहीं तथा उस प्रसन्नतामें वह अपने-आपको भी भूल जाता है, उस परम श्रद्धालु साधकको श्रद्धाके प्रभावसे भगवान्‌की प्राप्ति उसी समय हो सकती है। इसके लिये मैंने शास्त्रमें तो कोई उदाहरण नहीं देखा, किंतु यह मेरे हृदयका उद्गार है।

(२) परमात्माके स्वरूपका तात्त्विक ज्ञान भी एक उच्चकोटिका भाव है। जैसे स्वप्नावस्थामें स्वप्नके संसारके सम्बन्धमें जब यह ज्ञान हो जाता है कि यह स्वप्नका संसार है, तब उसी क्षण उस मनुष्यकी जाग्रत् अवस्था हो जाती है, इसी प्रकार इस संसारको स्वप्नवत् समझ लेनेपर जब परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब क्षणभरमें परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। उपनिषद्‌में बतलाया गया है—

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

(मुण्डक० ३। २। ९)

'निश्चय ही जो कोई भी उस ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है।'

कभी मनुष्यको ऐसा दिग्भ्रम हो जाता है कि वह दिग्भ्रम वर्षोंतक दूर नहीं होता, किंतु अपने जन्मस्थानपर आनेसे उसी क्षण दूर हो जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाता है, तब यह संसारका भ्रम क्षणभरमें दूर हो जाता है।

यह जो कुछ दीखता है, जो कुछ समझमें आता है और जिनके द्वारा देखा और समझा जाता है, वे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ—सभी मायाके कार्य हैं और जड़ हैं, किंतु आत्मा चेतन है। जब मनुष्यको इस प्रकारका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह उसी क्षण परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

(१३। ३४)

'इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

(३) निष्कामता भी एक उत्तम भाव है। इसकी

प्रशंसा सभी शास्त्रोंमें की गयी है। कठोपनिषद्‌में निष्कामी नचिकेताकी बड़ी सुन्दर कथा है। जब नचिकेताने यमलोकमें जाकर यमराजसे आत्मतत्त्वके विषयमें प्रश्न किया तो उस समय यमराजने उसकी परीक्षा करनेके लिये बहुत-से प्रलोभन दिखलाते हुए कहा—'नचिकेता! तुम हाथी, सुवर्ण, घोड़े और विशाल भूमण्डलके महान् साम्राज्यको माँग लो और इन सबको भोगनेके लिये जितने वर्षोंतक जीनेकी इच्छा हो, उतने वर्ष जीते रहो तथा जो-जो भोग मृत्युलोकमें दुर्लभ हैं, उन सम्पूर्ण भोगोंको तुम इच्छानुसार माँग लो! रथ और नाना प्रकारके बाजोंके सहित इन स्वर्गकी अप्सराओंको अपने साथ ले जाओ। मनुष्योंको ऐसी स्त्रियाँ निस्संदेह अलभ्य हैं। मेरे द्वारा दी हुई इन स्त्रियोंसे तुम अपनी सेवा कराओ। नचिकेता! मरनेके बाद आत्माका क्या होता है—इसको मत पूछो!'

इस प्रकारका प्रलोभन दिये जानेपर भी नचिकेताका चित्त उनमें नहीं लुभाया, बल्कि उसने यही कहा—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥
..........वरस्तु मे वरणीयः स एव॥

(कठ० १। १। २६-२७)

'यमराज! जिनका आपने वर्णन किया, वे क्षणभङ्गुर भोग मनुष्यके अन्तःकरणसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंके तेजको क्षीण कर डालते हैं। इसके सिवा, समस्त आयु, चाहे वह कितनी भी बड़ी क्यों न हो, अल्प ही है। इसलिये ये आपके रथ आदि वाहन और ये अप्सराओंके नाच-गान आपके ही पास रहें, मुझे ये नहीं चाहिये। मेरा प्रार्थनीय तो वह आत्मविषयक वर ही है।'

यह सुनकर यमराज प्रसन्न हो गये और बोले—'नचिकेता! तुम ज्ञानके सच्चे अभिलाषी हो; क्योंकि बहुत-से बड़े-बड़े भोग भी तुमको नहीं लुभा सके। हमें तुम-जैसे ही पूछनेवाले जिज्ञासु मिला करें।' यह है निष्काम भाव।

श्रीमद्भगवद्गीतामें वर्णित निष्काम भाव तो इससे भी बढ़कर है। गीतामें तो यहाँतक बतला दिया गया है कि निष्काम भाव अभ्यास, ज्ञान और परमात्माके ध्यानसे भी बढ़कर है (गीता ५। २; ६। १; १२। १२)। इतना ही नहीं, यह साधन सुगम भी है (गीता ५। ३) तथा यह स्वतन्त्र भी है (गीता ५। ४-५; १३। २४)।

यदि कहें कि शास्त्रमें यह कहा गया है कि '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**'—बिना ज्ञानके कल्याण नहीं हो सकता, सो ठीक है। किंतु कर्मयोगके साधनके प्रभावसे अन्तःकरण शुद्ध होकर परमात्माका यथार्थ ज्ञान भी स्वतः ही प्राप्त हो जाता है (गीता ४। ३८)।

यदि कहें कि पापोंका नाश हुए बिना अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होती सो ठीक है। इस निष्काम कर्मसे पापोंका सर्वथा नाश भी हो जाता है (गीता ४। २३; ५। ११)।

इतना ही नहीं, कर्मयोगके साधकको परम शान्तिकी प्राप्ति भी इसी साधनसे हो जाती है (गीता २। ७१; ५। १२)। एवं परमशान्तिकी प्राप्तिके साथ ही अनामयपदकी और परमात्माकी प्राप्ति भी हो जाती है (गीता २। ५१; ३। १९)।

इसके सिवा इस निष्काम कर्मके साधनसे साधकको परमात्माकी प्राप्ति उसी क्षण हो जाती है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

(५। ६)

'अर्जुन! कर्मयोगके बिना तो संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना ही कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है।'

साथमें भगवान्‌की भक्तिका समावेश हो, तब तो कहना ही क्या है! उसके लिये तो भगवान् स्वयं कहते हैं कि 'वह निस्संदेह मुझे प्राप्त हो जाता है।' गीताके १८ वें अध्यायके ४९ वेंसे ५५ वें श्लोकतक वर्णित ज्ञाननिष्ठाके अनुसार जो परमात्माकी प्राप्ति सांसारिक विषय-भोगोंके और राग-द्वेषके त्यागसे तथा एकान्तवास, अतिशय वैराग्य और परमात्माके ध्यानसे मल, विक्षेप और आवरणका नाश होनेपर होती है, वह भगवान्‌की शरणपूर्वक सदा-सर्वदा कार्य करते हुए भगवान्‌की कृपासे सहज ही हो जाती है (गीता १८। ५६)। यह कर्मयोगके साथ भगवान्‌की भक्तिका समावेश कर देनेकी विशेष महिमा है। भगवान्‌ने अर्जुनसे गीतामें आठवें अध्यायके ७ वें श्लोकमें भी कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

निष्काम भावसे कर्म करनेवाला पुरुष विषयोंमें

और कर्मोंमें आसक्त नहीं होता, तब वह कर्म करता हुआ और विषयोंमें विचरण करता हुआ भी परमात्माको प्राप्त हो जाता है। निष्काम भावके प्रभावसे अन्तःकरणकी शुद्धि, सम्पूर्ण दुःखों, पापों और विकारोंका नाश, चित्तकी प्रसन्नता और परम शान्तिकी प्राप्ति—ये सभी बातें स्वतः ही आ जाती हैं तथा कार्य करते समय धैर्य, उत्साह और प्रसन्नता रहती है; किंतु लोग निष्काम कर्मके तत्त्वको नहीं समझते। इसमें क्रियाकी प्रधानता नहीं है, भावकी प्रधानता है। दूसरोंके हितके लिये मनुष्य धन, पदार्थ, शरीरके आराम और स्वार्थका त्याग करके भी तबतक निष्कामी नहीं समझा जाता, जबतक उसमें मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छा और प्रीति रहती है; क्योंकि मनुष्य मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके लिये उपर्युक्त सभी स्वार्थोंका त्याग कर सकता है। एवं मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाका त्याग होनेपर भी जबतक ममता, आसक्ति और अभिमानका त्याग नहीं होता, तबतक वह वास्तवमें निष्कामी नहीं समझा जाता। इन सबका त्याग होनेपर भी यदि वह अपनेको निष्कामी समझता है तो यह भी उसके लिये दोष है। लोग स्वार्थका त्याग करके कर्म करते हैं और अपनेको निष्कामी मान लेते हैं, किंतु उनकी यह मान्यता गलत है। निष्कामी पुरुषको लोग ही निष्कामी कहते हैं, वह अपनेको निष्कामी नहीं मानता।

मनुष्य जब राग-द्वेषसे शून्य हो जाता है—उसके अन्तःकरणसे राग-द्वेषका अत्यन्त अभाव हो जाता है, तब उसके प्रभावसे उसके मन-इन्द्रिय तो स्वाभाविक ही वशमें हो जाते हैं। वह विषयोंसे उपराम हुए बिना ही, विषयोंमें विचरण करता हुआ ही सहज ही परमात्माको प्राप्त कर लेता है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(२। ६४-६५)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक तो अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

इसलिये मनुष्यको सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंमें भगवद्भक्तिका समावेश करके निष्काम भावसे कर्म करना चाहिये। सम्पूर्ण पदार्थोंमें भगवान् व्यापक हैं, वे सब भगवान्के हैं और मैं भी भगवान्का हूँ एवं भगवान् मेरे हैं तथा मैं जो कुछ करता हूँ, भगवान्के आज्ञानुसार भगवत्प्रीत्यर्थ करता हूँ—इस भावसे भावित होकर कर्म करना भगवद्भक्तिसहित निष्काम कर्मयोगका साधन है। इस प्रकार कर्म करनेवाला पुरुष परमात्माकी प्राप्तिरूप परम सिद्धिको अनायास ही प्राप्त कर लेता है। भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

यों भक्तिसंयुक्त निष्काम कर्म करनेवाला मनुष्य व्यवहार करते समय पशु, पक्षी, कीट, पतंग, देवता, पितर और मनुष्य आदि सभीमें भगवद्भाव रखता है और भगवद्भावसे भावित हुआ सबके हितमें रत रहता है। वह मनुष्य अतिथिकी सेवा करते समय अतिथिमें, भूतयज्ञ करते समय गौ, कुत्ते, कौवे आदिमें, श्राद्ध-तर्पण करते समय पितरोंमें, श्रुति-स्मृतिका स्वाध्याय करते समय ऋषियोंमें और पूजा-होम आदि करते समय देवताओंमें भगवद्भाव रखता है। यह भक्तिसहित निष्काम कर्मयोग है। निष्काम भाव ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर परिपक्व होता जाता है, त्यों-ही-त्यों उसके चित्तमें प्रसन्नता, शान्ति, परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान, ईश्वरमें प्रेम और संसारसे वैराग्य उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है। जो लोग निष्कामी होनेका दावा रखते हैं, वे निष्कामी नहीं हैं। जो निष्कामी होता है, वह निष्कामी होनेका दावा नहीं रखता। उसका जीवन ही निष्काम हो जाता है। निष्काम भाव बहुत ही ऊँची श्रेणीकी वस्तु है। यह अभ्यास, ज्ञान और ध्यान आदिसे भी श्रेष्ठ है (गीता १२। १२)।

(४) अनन्य प्रेमपूर्वक भगवान्से मिलनेकी तीव्र इच्छाका होना बहुत ही उत्तम है। जब मनुष्यकी संसारसागरसे उद्धार होनेकी तीव्र इच्छा हो जाती है, तब उसका शीघ्र ही उद्धार हो जाता है। इसे नीचे लिखी कहानीसे समझना चाहिये।

एक जिज्ञासुने किसी समुद्रतटवर्ती महात्माके पास जाकर पूछा—'महाराजजी! संसारसे उद्धार होनेमें कितना

समय लगता है?' महात्माने उत्तर दिया—'यदि उद्धार होनेकी तीव्र इच्छा हो तो एक मिनटमें संसारसे उद्धार हो सकता है।' जिज्ञासुने कहा—'ऐसा ही उपाय बताइये, जिससे एक मिनटमें कल्याण हो जाय।' महात्मा बोले—'स्नान करनेके बाद बतलाऊँगा। चलो अभी हम समुद्रमें स्नान कर आवें।' फिर दोनों स्नान करनेके लिये समुद्रके तटपर गये और दोनोंने ही समुद्रमें प्रवेश किया। महात्माका शरीर हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ था। स्नान करते समय महात्माने जिज्ञासुके शरीरको जोरसे दबा दिया और उसे एक मिनटतक दबाये ही रहे। इससे वह बहुत छटपटाने लगा। तब महात्माने उसको बाहर निकाल दिया। उस समय जिज्ञासु कुछ उत्तेजित होकर बोला—'आप मुझे यहाँ किसलिये लाये थे?' महात्माने उत्तर दिया—'एक मिनटमें कल्याण किस प्रकार होता है—यह बात बतलानेके लिये तुझे यहाँ लाया था।' जिज्ञासुने कहा—'क्या समुद्रमें डुबो देनेसे एक मिनटमें कल्याण होता है?' महात्मा बोले—'नहीं।' जिज्ञासुने कहा—'तब फिर आपने समुद्रमें मुझको दबाकर क्यों रखा?' महात्माने उत्तर दिया—'तुम्हें अनुभव करानेके लिये। बताओ जब तुमको मैंने दबा रखा था, तब तुम्हारे मनमें बारम्बार क्या बात आती थी?' जिज्ञासुने कहा—'उस समय बार-बार मेरे मनमें यही आता था कि किस प्रकार शीघ्र-से-शीघ्र समुद्रसे बाहर निकलूँ। मैं शक्तिभर प्रयत्न भी करता रहा, पर मैं स्वयं निकल नहीं सका। आपने निकाला तभी निकला।' महात्मा बोले— 'इसी प्रकार संसार-सागरसे बाहर निकलनेकी तीव्र इच्छासे जब मनुष्यका जी छटपटाने लगता है, तब भगवान् उसका शीघ्रातिशीघ्र संसार-सागरसे उद्धार कर देते हैं। तुम्हारी जैसी तीव्र इच्छा इस खारे समुद्रसे बाहर निकलनेकी हुई ऐसी ही इस दुःखके घर संसार-सागरसे बाहर निकलनेकी तीव्र इच्छा होनी चाहिये। यही एक मिनटमें संसार-सागरसे उद्धार होनेका उपाय है।

परमात्माकी प्राप्तिके लिये भजन, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय आदि अनेक उपाय हैं। उनमेंसे शीघ्रातिशीघ्र परमात्माकी प्राप्ति होनेका यह एक विशेष उपाय है—भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छाका होना। जब मनुष्य भगवान्‌के विरहमें अत्यन्त व्याकुल हो जाता है, भगवान्‌से मिले बिना रह ही नहीं सकता, तब भगवान् भी उससे मिले बिना नहीं रह सकते, भगवान् उसको शीघ्र दर्शन दे देते हैं। श्रीरामके वियोगमें जब भरतजी विरह-व्याकुलतामें मग्न हो गये, तब उसी समय भगवान्‌के पहुँचनेका संवाद सुनानेके लिये श्रीहनुमान्‌जी उनके पास आ पहुँचे। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जल जात॥
देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥
मन महँ बहुत भाँति सुख मानी। बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी॥
जासु बिरहँ सोचहु दिनु राती। रटहु निरंतर गुन गन पाँती॥
रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता। आयउ कुसल देव मुनि त्राता॥
रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता सहित अनुज प्रभु आवत॥

(राम० उत्तर० १क-ख; १। १—३)

जब पाण्डव वनमें निवास कर रहे थे, उस समय एक दिनकी बात है कि द्रौपदीके भोजन कर चुकनेपर महर्षि दुर्वासा अपने दस हजार शिष्योंके साथ उनके पास जाकर उनके अतिथि हुए। तब द्रौपदीको अन्नके लिये बड़ी चिन्ता हुई। उस समय उसने व्याकुल होकर मन-ही-मन करुणभावसे भगवान्‌को इस प्रकार पुकारा—

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय।
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्तिविनाशन॥
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय।
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर॥
दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि॥

(महा० वन० २६३। ८—१०, १६)

'हे कृष्ण! हे महाबाहु श्रीकृष्ण! हे देवकीनन्दन! हे अविनाशी वासुदेव! चरणोंमें पड़े हुए दुःखियोंका दुःख दूर करनेवाले हे जगदीश्वर! तुम्हीं सम्पूर्ण जगत्‌के आत्मा हो। अविनाशी प्रभो! तुम्हीं इस विश्वकी उत्पत्ति और संहार करनेवाले हो। शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले गोपाल! तुम्हीं समस्त प्रजाका पालन करनेवाले परात्पर परमेश्वर हो। भगवन्! पहले कौरवसभामें दुःशासनके हाथसे जैसे तुमने मुझे बचाया था, उसी प्रकार इस वर्तमान संकटसे भी मेरा उद्धार करो।'

एवं स्तुतस्तदा देवः कृष्णया भक्तवत्सलः।
द्रौपद्याः संकटं ज्ञात्वा देवदेवो जगत्पतिः॥
पार्श्वस्थां शयने त्यक्त्वा रुक्मिणीं केशवः प्रभुः।
तत्राजगाम त्वरितो ह्यचिन्त्यगतिरीश्वरः॥

(महा० वन० २६३। १७-१८)

'द्रौपदीके इस प्रकार स्तुति करनेपर अचिन्त्यगति परमेश्वर देवाधिदेव जगन्नाथ भक्तवत्सल भगवान् केशवको

यह मालूम हो गया कि द्रौपदीपर कोई संकट आ गया है। फिर तो वे शय्यापर अपने पास ही सोयी हुई रुक्मिणीको छोड़कर तुरंत वहाँ आ पहुँचे।'

श्रीमद्भागवतमें वर्णन आता है कि जब भगवान् श्रीकृष्ण शरत्-पूर्णिमाको गोपियोंके मध्यमें रास करते-करते अदृश्य हो गये और सभी गोपियाँ उनके विरहमें व्याकुल होकर उनसे प्रार्थना करने लगीं, तब भगवान् गोपियोंको अतिशय व्याकुल देखकर उनके सम्मुख तुरंत प्रकट हो गये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः॥
तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। १-२)

'परीक्षित्! गोपियाँ भगवान्के विरहके आवेशमें इस प्रकार भाँति-भाँतिसे गाने और प्रलाप करने लगीं। अपने प्रेमास्पद श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसासे वे अपनेको रोक न सकीं, करुणाजनक सुमधुर स्वरसे फूट-फूटकर रोने लगीं। ठीक उस समय उनके बीचोंबीच भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। भगवान्का मुख-कमल मन्द-मन्द मुसकानसे खिला हुआ था। गलेमें वनमाला थी। वे पीताम्बर धारण किये हुए थे। उनका यह रूप क्या था, सबके मनको मथ डालनेवाले कामदेवके मनको भी मथनेवाला था।'

इन सब उदाहरणोंसे यही बात सिद्ध होती है कि प्रेमपूर्वक विरहकी व्याकुलतामें भगवान्के मिलनेकी अतिशय तीव्र इच्छा होनी चाहिये। यह तीव्र इच्छा ही सबसे बढ़कर और क्षणभरमें भगवान्की प्राप्तिका उपाय है। जैसे जलके वियोगमें मछली जलके बिना तड़प-तड़पकर मर जाती है, वैसी ही तड़पन भगवान्के विरहमें होनी चाहिये। यदि कहें कि मछली तो तड़पकर मर ही जाती है, उसे जल तो नहीं मिलता सो ठीक है, किंतु जल तो जड़ है, इसलिये उसमें मिलनेकी इच्छा हो ही नहीं सकती। परंतु भगवान् तो चेतन और सुहृद् हैं अर्थात् बिना ही कारण दया और प्रेम करनेवाले हैं, वे एक क्षणका भी विलम्ब कैसे कर सकते हैं।

अतएव हमलोगोंको भगवान्के शरण होकर और उनके विरहमें व्याकुल होकर उनके मिलनेकी तीव्र इच्छापूर्वक करुणभावसे पुकार करनी चाहिये। फिर भगवान्के आनेमें कोई विलम्ब नहीं है। भगवान्में अनन्य प्रेम (अनन्य भक्ति) होनेसे ही साधककी ऐसी स्थिति हुआ करती है।

परमात्माका तत्त्व-रहस्यसहित स्वरूप

परमात्माका जो निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन स्वरूप है, वह एक, अद्वितीय, गुणातीत, बोधस्वरूप, नित्यमुक्त, क्रियारहित, आकाररहित, विकारशून्य, विशेषणोंसे रहित, गुणोंसे रहित, धर्मोंसे रहित, केवल, शुद्ध, चिन्मय, निर्विशेष है। वह प्रापणीय वस्तु है। वास्तवमें वह बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान और ध्यानका विषय नहीं है। वह स्वयं ही अपने-आपको जानता है। जो उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है, वह फिर तद्रूप ही बन जाता है। जो उस विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्म होकर ही उसे जानता है, उससे भिन्न होकर नहीं। यह कथन भी वास्तवमें बनता नहीं, केवल जिज्ञासु साधकोंको समझानेके लिये ही है।

परमात्माका जो दूसरा सगुण स्वरूप है, उसको इस प्रकार समझना चाहिये—

सत्त्व, रज और तम—ये प्रकृतिके तीन गुण हैं। इन तीनों गुणोंसे युक्त प्रकृति ईश्वरकी शक्ति है, इसीको त्रिगुणमयी माया कहते हैं (गीता ७। १४) और ईश्वर शक्तिमान् है। उसकी शक्ति उससे भिन्न भी है और अभिन्न भी। तीनों गुणोंसे युक्त शक्ति जड़ है और परमात्मा चेतन है—इस दृष्टिसे तो वह शक्ति परमात्मासे भिन्न है तथा परमात्मा ही शक्तिके रूपमें अभिव्यक्त होते हैं, इस दृष्टिसे शक्ति परमात्मासे अभिन्न है। इस शक्तिका नाम ही प्रकृति है। प्रकृतिके कार्य होनेसे गुण प्रकृतिसे अभिन्न हैं तथा जैसे बर्फ जलसे ही उत्पन्न होती और जलमें ही विलीन हो जाती है, वैसे ही तीनों गुण प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते और उसीमें विलीन हो जाते हैं। महासर्गके आरम्भमें उस प्रकृतिसे ही गुण उत्पन्न होते हैं (गीता १४। ५), या यों कहिये कि प्रकृति गुणोंके रूपमें अभिव्यक्त होती है। समस्त जीवोंके संस्कार जो प्रकृतिके रूपमें स्थित हो रहे हैं, जीवोंको उनका फल-भोग करानेके लिये परमात्माके सकाशसे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है अर्थात् उसमें हलचल पैदा होती है। उस हलचलसे प्रकृतिमें दो विभाग हो जाते हैं। इनमें एकका नाम विद्या और दूसरेका नाम अविद्या है। विद्या सत्त्वगुण है और अविद्या तमोगुण है तथा जो प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है, वह क्रियारूप हलचल (चञ्चलता) रजोगुण है। यही प्रकृतिकी विषमावस्था

है। महाप्रलयके समय ये तीनों गुण उस प्रकृतिमें विलीन हो जाते हैं, वही प्रकृतिकी साम्यावस्था है। जितने कालतक महासर्ग रहता है, उतने ही कालतक महाप्रलय रहता है। महाप्रलयके समय संस्कारके रूपमें जीवोंके कर्म, तीनों गुण और गुणोंका कार्यरूप यह दृश्यवर्ग—जड़ संसार, ये सब-के-सब कारणरूप प्रकृतिमें तद्रूप हो जाते हैं तथा उस प्रकृतिसे संयुक्त सम्पूर्ण जीव ब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं। महाप्रलयके अन्त और महासर्गके आदिमें पुनः जीवोंके संस्काररूप कर्मोंका फल-भोग जीवोंको करानेके लिये परमात्माके सकाशसे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है, जिससे प्रकृतिमें सत्त्व, रज, तम—ये तीन विभाग हो जाते हैं। इस प्रकार प्रकृतिसंयुक्त परमात्मामें सृष्टिकी उत्पत्ति और विलय बारम्बार होते रहते हैं।

इस सगुणस्वरूप परमात्माके दो भेद हैं— १. निराकार, २. साकार।

१. वे सगुण-निराकार परमात्मा अविद्यासे अति परे, अत्यन्त शुद्ध, नित्यमुक्त, बोधस्वरूप, कैवल्यरूप, सर्वत्र परिपूर्ण, स्वयंप्रकाश, अद्वितीय, अखण्ड, अतिदिव्य मङ्गलस्वरूप, सच्चिदानन्दमय हैं तथा क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान आदि अनन्त असीम अलौकिक अप्राकृत दिव्य चिन्मय गुणोंसे सम्पन्न हैं। वे परमात्मा निराकाररूपसे सारे संसारमें व्यापक हैं। भगवान्ने गीतामें कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

(९। ४)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् (जलसे बर्फकी भाँति) परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं; किंतु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।'

इसी स्वरूपका वर्णन गीतामें परम दिव्य पुरुषके नामसे किया गया है—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(८। ९-१०)

'जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य-चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके, फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है।'

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

(गीता ८। २२)

'हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सब भूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त किया जा सकता है।'

(२) परमात्माका जो दिव्य गुणोंसे सम्पन्न सगुण-साकार स्वरूप है, वह चिन्मय है। इसी प्रकार भगवान्‌का परम धाम भी दिव्य चेतन है। एवं उस परम धाममें जानेवाले भक्तोंके स्वरूप भी चेतन हैं। वे ही क्षमा, दया, प्रेम, समता, शान्ति, संतोष, सरलता, ज्ञान आदि अनन्त दिव्य चिन्मय गुणोंसे युक्त भगवान् अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि सगुण-साकार रूपोंसे प्रकट होते हैं अर्थात् अवतार लेते हैं। गीतामें भगवान्ने कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(७। ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

यह श्रीराम, श्रीकृष्ण आदिका अवतार-विग्रह अनधिकारी मूढ़ मनुष्योंके लिये भगवान्‌की त्रिगुणमयी मायासे आच्छादित रहता है, इसीलिये भगवान्‌के तत्त्वको न जाननेवाले वे मनुष्य उसे नहीं जान पाते। भगवान्ने गीतामें बतलाया है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(७। २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है।'

किंतु भगवान् अपने अनन्य विशुद्ध प्रेमी श्रद्धालु भक्तके लिये अपनी उस त्रिगुणमयी योगमायाका पर्दा दूर कर देते हैं, जिससे वह भक्त अनन्यभक्तिके द्वारा भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपका दर्शन कर लेता है तथा तत्त्वसे जानकर उनको प्राप्त हो जाता है।

भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा इस प्रकारके रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा, तत्त्वसे जाना तथा प्रवेश भी किया (एकीभावसे प्राप्त किया) जा सकता हूँ।'

परंतु जिनका भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम नहीं है, ऐसे आसुर स्वभाववाले मनुष्योंके लिये भगवान् अपनी योगमायासे छिपे रहते हैं। अतः वे आसुर स्वभाववाले मूढ़ मनुष्य भगवान्‌को न जाननेके कारण उनका तिरस्कार करते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(गीता ९। ११)

'मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं।'

किंतु ज्ञानी महात्मा पुरुष उस परमात्माके परम दिव्य स्वरूपको तत्त्वसे जानते हैं। एवं जो जानते हैं, वे संसारसे मुक्त होकर उस परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

संसारमें स्थित दैवी सम्पदायुक्त सात्त्विक पुरुषों तथा ज्ञानी महात्मा महापुरुषोंमें जो क्षमा, दया, प्रेम, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान, वैराग्य आदि गुण दृष्टिगोचर होते हैं, उन गुणोंमें और परमात्माके दिव्य चिन्मय गुणोंमें भी बहुत अन्तर है। पूर्णिमाके चन्द्रमाका एक तो असली स्वरूप होता है, जो आकाशमें स्थित दीखता है; और दूसरा दर्पणमें उसका वैसा-का-वैसा प्रतिबिम्ब-स्वरूप दीखता है। सगुण परमात्माके जो दिव्य गुण हैं, वे तो पूर्ण चन्द्रमाके वास्तविक स्वरूपकी भाँति हैं और चिन्मय हैं; तथा जो प्रकृतिके कार्यभूत विद्यारूप सात्त्विक गुण हैं, वे प्रकृतिके कार्य होनेसे जड़ हैं। ये गुण दैवी सम्पदायुक्त सात्त्विक पुरुषों और ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके शुद्ध अन्तःकरणमें, दर्पणमें पूर्णचन्द्रमाके प्रतिबिम्बकी भाँति, परमात्माके दिव्य चिन्मय गुणोंके ही प्रतिबिम्बभूत हैं।

साधकके गुणों और सिद्ध महात्माके गुणोंमें भी भेद है। दैवी सम्पदायुक्त सात्त्विक साधक पुरुष तो गुणोंकी सत्ता अपनेमें मानता है और गुणातीत ज्ञानी महात्मा पुरुष इस देहके अभिमानसे रहित हो परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं; अतः उन ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके शुद्ध अन्तःकरणमें ये गुण रहते अवश्य हैं, किंतु इन गुणरूप धर्मोंको अपनेमें माननेवाला कोई धर्मी नहीं रहता; क्योंकि वे स्वयं तो गुणोंसे अतीत हो सच्चिदानन्द ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं।

साधकों और महात्माओंके जो क्षमा, दया, प्रेम, ज्ञान, शान्ति, समता, संतोष आदि गुण हमलोगोंकी जानकारीमें आते हैं, वे दिव्य होते हुए भी ज्ञेय होनेके कारण जड़ हैं। किंतु परमात्माके स्वरूपभूत गुण दूसरेके द्वारा जाननेमें नहीं आ सकते, उनको महर्षि और देवगण भी नहीं जान सकते। इसी प्रकार उनका दिव्य स्वरूप भी किसी दूसरेके जाननेमें नहीं आ सकता। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

(गीता १०। २)

'मेरी उत्पत्तिको अर्थात् लीलासे प्रकट होनेको न देवता-लोग जानते हैं और न महर्षिगण ही जानते हैं; क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका तथा महर्षियोंका भी आदि कारण हूँ।'

वे स्वयं ही अपने-आपको जानते हैं। गीतामें अर्जुनने भगवान्‌के प्रति कहा है—

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

(१०। १५ का पूर्वार्ध)

'हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं।'

क्योंकि यदि भगवान्‌का स्वरूप किसी दूसरेके जाननेमें आ जाय, तब तो वह भी अन्य ज्ञेय पदार्थोंकी भाँति जड़ ही समझा जायगा। परमात्मा बुद्धिसे परे हैं, अतएव उनको बुद्धिके द्वारा कोई नहीं जान सकता; किंतु वे सबको जानते हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

(७। २६)

'हे अर्जुन! पूर्वमें हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ; परंतु मुझको कोई भी श्रद्धाभक्तिरहित पुरुष नहीं जानता।'

ऊपर परमात्माके निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दमय स्वरूप तथा सगुण-निराकार एवं सगुण-साकार स्वरूपोंकी जो बात बतलायी गयी—इसका अभिप्राय यह नहीं है कि परमात्मा अनेक हैं। एक परमात्माके ही ये अलग-अलग स्वरूप उपासकोंकी दृष्टिसे ही बतलाये गये हैं। वस्तुतः इन सभी रूपोंमें एक, अद्वितीय, बोधस्वरूप, नित्यमुक्त, केवल, शुद्ध, सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही हैं।

इसलिये उन परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको उनकी अनन्यभक्ति करनी चाहिये। उस अनन्य भक्तिका स्वरूप भगवान्‌ने अपने अनन्य भक्तके लक्षण कहकर इस प्रकार बतलाया है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गीता ११। ५५)

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य कर्म करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है (मुझसे ही प्रेम करता है), आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके प्रति वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

भगवान्‌के निराकार-तत्त्वका रहस्य

श्रीभगवान् गीताके नवम अध्यायके प्रथम श्लोकमें कहते हैं—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

'अर्जुन! तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसे जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा।'

इस प्रकार इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको कहनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान् उसके आठ विशेषण देकर उसकी महिमा प्रकट करते हैं—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

(गीता ९। २)

'जो विज्ञानसहित ज्ञान मैं तुझे बतलाऊँगा, वह सब विद्याओंका राजा, सम्पूर्ण गोपनीयोंका राजा, पापीसे भी पापीको पवित्र करनेवाला, सर्वोत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, परम धर्ममय, साधन करनेमें अत्यन्त सुगम और अविनाशी है।'

इसपर प्रश्न होता है कि इतना लाभदायक और बहुत ही सुगम साधन होनेपर भी सब लोग इसमें क्यों नहीं लग जाते तो इसका उत्तर यह है कि लोगोंमें श्रद्धाकी कमी है। भगवान्‌ने कहा है—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

(गीता ९। ३)

'हे परंतप! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसार-चक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।'

गीतामें भगवान्‌ने साकार, निराकार, सगुण, निर्गुण—सभी स्वरूपोंकी उपासना बतलायी है।

भगवान्‌ने अपने निराकार स्वरूपका तत्त्व और रहस्य बतलाते हुए कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

(गीता ९। ४-५)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं, किंतु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं; किंतु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है।'

अभिप्राय यह है कि भगवान् इस संसारमें व्यापक, इस संसारके परम आधार और अभिन्ननिमित्तोपादान कारण* हैं। यहाँ—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है'—इस कथनसे भगवान्‌ने अपनी व्यापकता बतलायी

* जिस वस्तुसे जो चीज बनती है, वह उसका उपादान कारण है और बनानेवाला निमित्त कारण; जैसे घड़ेका उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्हार है। किंतु संसारके उपादान और निमित्त कारण परमात्मा ही हैं। जैसे मकड़ी जो जाला तानती है, उस जालेका उपादान कारण भी मकड़ी है और निमित्त कारण भी मकड़ी ही है, उसी प्रकार परमात्मा जगत्‌के उपादान और निमित्त कारण दोनों हैं; अतः वे उससे अभिन्न हैं।

है। भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि यह संसार तो व्याप्य है और मैं इसमें व्यापक हूँ। तथा '**मत्स्थानि सर्वभूतानि**'—'सब भूत मुझमें स्थित हैं' और '**भूतभृत्**'—'मैं सब भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला हूँ'—यह कहकर भगवान्‌ने संसारका अपनेको परम आधार बतलाया है। एवं '**पश्य मे योगमैश्वरम्**'—'मेरी इस अलौकिक रचनारूप ईश्वरीय योगशक्तिको देख'—यों कहकर अपनेको संसारका निमित्त कारण बताया है और '**ममात्मा भूतभावनः**'—'मेरा आत्मा (स्वरूप) भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला है'—यह कहकर अपनेको संसारका उपादान कारण बतलाया है।

परमात्मा किस प्रकार संसारमें व्यापक, उसके आधार और उपादान कारण हैं, इसको नीचे लिखे उदाहरणसे समझना चाहिये। जैसे बादलोंके समूहमें महाकाश व्यापक भी है और उनका परम आधार एवं उपादान कारण भी है, उसी प्रकार परमात्मा संसारमें व्यापक, उसके परम आधार और परम कारण हैं। बादलका कोई भी ऐसा हिस्सा नहीं, जिसमें आकाश न हो, इसी प्रकार जड़-चेतन और चराचर जगत्‌का कोई भी ऐसा अंश नहीं है, जहाँ परमात्मा न हों। परमात्मा सब देश, सब काल और सब वस्तुओंमें परिपूर्ण हैं। श्रुति कहती है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
(ईशा० उप० १)

'इस संसारमें जो कुछ जड़-चेतन पदार्थ समुदाय है, वह सब ईश्वरसे व्याप्त है।'

जैसे बादलोंका परम आधार आकाश है, बिना आकाशके बादल नहीं रह सकते, उसी प्रकार परमात्मा संसारके परम आधार हैं, बिना परमात्माके संसार नहीं रह सकता। एवं जैसे बादलोंकी उत्पत्ति आकाशसे हुई है—'**आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः।** (तैत्ति० उप० २। १) 'आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि और अग्निसे जल उत्पन्न होता है।' बादल, बूँद, ओला, बर्फ—सब जल ही है। अतः आकाशसे ही बादलरूप जलकी उत्पत्ति हुई है; सुतरां आकाश ही बादलका उपादान कारण है। इसी प्रकार परमात्माके संकल्पसे ही संसारकी उत्पत्ति हुई है। श्रुति कहती है—

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति
(तैत्ति० उप० २। ६)

—'उस परमात्माने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ।'

स्वप्नावस्थामें मनुष्यका संकल्प ही स्वप्नके संसारका रूप धारण करता है। अतः वह स्वप्नका संसार उस मनुष्यसे अभिन्न है। जिसको स्वप्न आता है, वह मनुष्य ही इसका उपादान और निमित्त कारण है; क्योंकि उस मनुष्यके अतिरिक्त वहाँ अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है, सब कुछ वह मनुष्य ही है। इसी प्रकार इस संसारके परमात्मा ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं। अन्तर इतना ही है कि जीव परतन्त्र और अज्ञानके वशमें है, किंतु परमात्मा स्वतन्त्र और ज्ञानस्वरूप हैं।

यहाँ कोई कह सकता है कि इन श्लोकोंमें भगवान्‌का यह कथन कि 'मैं संसारमें व्यापक हूँ और संसार मुझमें है'—तो ठीक समझमें आ जाता है, किंतु 'मैं संसारमें नहीं हूँ और संसार मुझमें नहीं है' यह बात समझमें नहीं आती; क्योंकि इनमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है। भगवान् पहले तो कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना

—'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है अर्थात् मैं सब संसारमें व्यापक हूँ।' और फिर कहते हैं—'**न चाहं तेष्ववस्थितः, न च भूतस्थः**'—'मैं उन सब भूतोंमें स्थित नहीं हूँ।' तथा नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें कहते हैं—'**मत्स्थानि सर्वभूतानि**'—'सब भूत मुझमें स्थित हैं' और पाँचवें श्लोकमें कहते हैं—'**न च मत्स्थानि भूतानि**'—'सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं।' इन वचनोंमें विरोध प्रतीत होता है, अतः इनमें कौन-सा वचन ठीक माना जाय? इसका उत्तर यह है कि इनमें विरोध नहीं है; अतः दोनों ही बातें ठीक हैं। इनका तत्त्व समझना चाहिये।

उदाहरणके लिये आकाश बादलोंमें है और नहीं भी है। जब बादल नहीं थे, तब भी वहाँ आकाश था और बादमें जब बादल नहीं रहते, तब भी आकाश रहता है तथा बीचकी अवस्थामें भी बादलोंमें आकाश है। भाव यह कि बादलके आदि, मध्य और अन्तमें—सभी समय आकाश सदा ही अपने-आपमें विद्यमान है। बादल उत्पन्न होते हैं और फिर उनका विनाश हो जाता है; किंतु आकाश सदा ही एकरूप, एकरस रहता है। वास्तवमें तो जिस समय बादल है, उस समय भी आकाश अपने-आपमें ही स्थित है; पर समझानेके लिये यह कहा जाता है कि बादलोंमें आकाश व्यापक है। अतः बादलोंमें आकाश व्यापक है और बादलोंमें आकाश नहीं है—ये दोनों ही कथन युक्तिसंगत हैं, इसलिये इनमें कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा संसारमें हैं और नहीं भी हैं। जब संसार नहीं था, तब भी वहाँ परमात्मा थे और बादमें जब संसार नहीं रहता, तब भी परमात्मा रहते हैं

और बीचकी अवस्थामें भी संसारमें परमात्मा हैं। भाव यह कि सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें—सभी समय परमात्मा सदा ही अपने-आपमें विद्यमान हैं। संसार उत्पन्न होता है और फिर उसका विनाश हो जाता है। किंतु परमात्मा सदा ही एकरूप, एकरस रहते हैं। वास्तवमें तो जिस समय संसार है, उस समय भी परमात्मा अपने-आपमें ही स्थित हैं; किंतु समझानेके लिये यह कहा जाता है कि संसारमें परमात्मा व्यापक हैं। अतः संसारमें परमात्मा व्यापक हैं और संसारमें परमात्मा नहीं हैं—ये दोनों ही कथन युक्तिसंगत हैं, इसलिये इनमें कोई विरोध नहीं है।

यदि बादलोंमें आकाश होता तो बादलोंके नाश होनेपर आकाशके भी उतने हिस्सेका नाश हो जाता, किंतु बादलोंका नाश होनेपर भी आकाशके किसी भी हिस्सेका नाश नहीं होता। इसलिये बादलोंमें आकाश नहीं है, आकाश अपने-आपमें ही स्थित है—यह कहना ही उचित है।

इसी प्रकार परमात्मा यदि संसारमें वास्तवमें होते तो संसारके नाश होनेपर परमात्माके उतने हिस्सेका भी नाश हो जाता; किंतु संसारके नाश होनेपर भी परमात्माका नाश नहीं होता, इसलिये संसारमें परमात्मा नहीं हैं, परमात्मा अपने-आपमें ही नित्य स्थित हैं—यह कहना ही उचित है; क्योंकि आकाशमें बादलोंकी भाँति संसार उत्पन्न होता है और फिर उसका विनाश हो जाता है, परंतु परमात्मा सदा ही नित्य अचल एकरूप एकरस रहते हैं।

एवं जिस समय बादल आकाशमें विद्यमान है, उस समय यह कहना कि आकाशके किसी एक अंशमें बादल है, उचित ही है; इसी प्रकार जिस कालमें बादल नहीं है, उस कालमें यह कथन भी कि आकाशमें बादल नहीं है, उचित ही है। किंतु जिस कालमें आकाशमें बादल हैं, उस कालमें भी वास्तवमें बादल आकाशमें नहीं हैं; क्योंकि बादल आकाशमें उत्पन्न होते हैं और फिर उनका विनाश हो जाता है। यदि वास्तवमें बादल होते तो सदा रहते। जो वस्तु सदा नहीं रहती, वह अनित्य है; अतः उसके लिये यह कहना अनुचित नहीं कि वह नहीं है।

इसी प्रकार जिस समय यह संसार प्रतीत होता है, उस समय समझानेके लिये यह कथन उचित है कि परमात्माके किसी एक अंशमें संसार है और जिस कालमें (महाप्रलयके समय) संसार नहीं प्रतीत होता है, उस कालमें यह कहना कि परमात्मामें संसार नहीं है, उचित ही है। किंतु जिस कालमें परमात्मामें संसार प्रतीत होता है, उस कालमें भी वास्तवमें संसार परमात्मामें नहीं है; क्योंकि संसार परमात्मामें उत्पन्न होता है और उसका विनाश होता रहता है। यदि वास्तवमें संसार होता तो सदा रहता। जो वस्तु सदा नहीं रहती, वह अनित्य है। अतः जो किसी कालमें तो रहती है और किसी कालमें नहीं रहती, उस अनित्य वस्तुके लिये यह कहना कि वह नहीं है, उचित ही है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

सार यह कि सच्चिदानन्दघन परमात्मा इस संसारमें व्यापक (परिपूर्ण) हैं और वे ही इसके परम आधार एवं उपादान और निमित्त कारण हैं। यह संसार परमात्माका संकल्प होनेके कारण परमात्माका स्वरूप ही है। अतएव इस संसारको परमात्माका स्वरूप समझते रहना ही परमात्माका यथार्थ ज्ञान है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

(मनुष्यका परम कर्तव्य)

गीताके अनुसार मनुष्य अपना कल्याण करनेमें स्वतन्त्र है

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें जो उपदेश दिया है, वह किसी सम्प्रदायको सामने रखकर नहीं दिया है। वह तो सबके लिये समानरूपसे पालनीय है। इसीलिये गीता सार्वजनिक ग्रन्थ है। गीताके उपदेशका हिंदू तो आदर करते ही हैं, कितने ही इस्लामधर्मके माननेवाले मुसलमान तथा ईसाईधर्मको माननेवाले लोग एवं अन्यधर्मावलम्बी लोग भी इसका आदर करते हैं। जर्मनी, अमेरिका आदि देशोंके निवासियोंने इसका बहुत आदर किया है।

सुना गया है कि योरपके किसी एक बड़े भारी पुस्तकालयमें अनेक देशोंकी भाषाओं और लिपियोंकी पुस्तकें लाखोंकी संख्यामें एकत्र थीं, जो सुव्यवस्थापूर्वक आलमारियोंमें सजायी हुई थीं। उस पुस्तकालयके बड़े हालके मध्यमें टेबलपर सुन्दर वस्त्रके ऊपर श्रीमद्भगवद्गीताकी एक पुस्तक रखी हुई थी। वहाँ एक भारतवासी सज्जन गये, उन्होंने उस पुस्तकालयके प्रधानसे पूछा—'टेबलपर सजाकर रखी हुई यह कौन-सी पुस्तक है!' उन्होंने उत्तरमें कहा— 'श्रीमद्भगवद्गीता।' भारतीय सज्जनने पूछा—'भगवद्गीता क्या है ?' इस प्रश्नको सुनकर उन अधिकारी महोदयको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने हँसकर कहा—'बड़े आश्चर्यकी बात है कि आप भारतमें रहकर भी भारतके प्रधान और उच्चकोटिके महापुरुष श्रीकृष्णके द्वारा अपने प्रिय मित्र अर्जुनको दिये हुए उपदेशरूप श्रीमद्भगवद्गीता-ग्रन्थको नहीं जानते! यह तो बहुत ही लज्जाकी बात है। यह सुनकर वे भारतीय सज्जन बड़े लज्जित हुए। उनपर उस प्रधानके उपर्युक्त वचनोंका बड़ा असर पड़ा। उन्होंने कहा—'मैंने नाम तो सुना था, पर इसे देखा न था; अब मैं इसका अध्ययन करूँगा।'

जिस गीताका आदर भारतेतर देशोंमें भी है, उसका हम भारतीय लोग जितना आदर करना चाहिये, उतना नहीं करते—यह बड़ी ही लज्जा और दुःखकी बात है।

गीता बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह भगवान्की वाङ्मयी मूर्ति है, भगवान्का निःश्वास है और भगवान्के हृदयका भाव है। यह उपनिषद् आदि सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार है। गीताकी भाषा बहुत ही सरल, सुन्दर और भावपूर्ण है। गीताके अध्ययनका महत्त्व गङ्गास्नान और गायत्रीजपसे भी बढ़कर कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं है। इसका श्रवण, कथन, गायन और स्मरण—सभी परम मधुर और परम कल्याणप्रद है।

गीतामें अठारह अध्याय हैं, सात सौ श्लोक हैं; उनमें बहुत-से ऐसे श्लोक हैं, जिनमेंसे एक श्लोकको भी यदि मनुष्य अर्थ और भावसहित मनन करके काममें लाये तो उसका उद्धार हो सकता है। यहाँ गीताके एक श्लोकके विषयमें कुछ विचार किया जाता है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
(६।५)

'अपने द्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु।'

इस श्लोकमें प्रधान चार बातें बतलायी गयी हैं—

१-मनुष्यको अपने द्वारा अपना उद्धार करना चाहिये।

२-मनुष्यको अपने द्वारा अपना अधःपतन नहीं करना चाहिये।

३-मनुष्य आप ही अपना मित्र है।

४-मनुष्य आप ही अपना शत्रु है।

अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य जिससे अपना परम हित— कल्याण हो, उस भाव और आचरणको तो ग्रहण करता है और जिससे अपना अधःपतन हो, उस भाव और आचरणका सर्वथा त्याग करता है, वही अपने द्वारा अपना उद्धार कर रहा है। इसके विपरीत, जो मनुष्य जिससे अपना अधःपतन हो, उस भाव और आचरणको तो ग्रहण करता है तथा जिससे अपना कल्याण हो, उस भाव और आचरणको ग्रहण नहीं करता, वही अपने द्वारा अपना अधःपतन करता है। अतः जो मनुष्य अपने द्वारा अपने उद्धारका उपाय करता है, वह स्वयं ही अपना मित्र है; इसके विपरीत, जो मनुष्य समझ-बूझकर भी अपने कल्याणके विरुद्ध आचरण करता है, वह स्वयं ही अपना शत्रु है।

अब यह भलीभाँति विचार करना चाहिये कि

अपने द्वारा अपना उद्धार करना क्या है और अपने द्वारा अपना अधःपतन करना क्या है।

शास्त्रोंमें कल्याणके लिये बहुत-से उपाय बतलाये गये हैं और सज्जन पुरुष भी हमारे कल्याणकी बहुत-सी बातें कहते हैं। उन सबपर एवं उनके सिवा भी जो आजतक आपने पढ़ा, सुना, समझा है, उसपर तथा उसके अतिरिक्त भी, ईश्वरने आपको जो बुद्धि, विवेक और ज्ञान दिया है, उसका आश्रय लेकर पक्षपातरहित हो आपको गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। इस प्रकार गम्भीर विचार करनेपर आपकी बुद्धिमें संशय और भ्रमसे रहित जो कल्याणकर भाव और आचरण प्रतीत हो, उसको सिद्धान्त मानकर तत्परतापूर्वक कटिबद्ध हो उसका सेवन करना और उसके विपरीत भाव और आचरणका कभी सेवन न करना—यही अपने द्वारा अपना उद्धार करना है। इसी प्रकार जो भाव और आचरण हमें विचार करनेपर लाभप्रद प्रतीत हो, उसका सेवन न करना और जो पतनकारक प्रतीत हो, उसका सेवन करना अपना अधःपतन करना है।

संसारमें जितने भी हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी, सिख आदि मत और सिद्धान्त माने जाते हैं, उन सबसे आदरपूर्वक निरपेक्ष होकर पक्षपातरहित हो समभावसे विवेकपूर्वक गम्भीरतासे अपनी बुद्धिके द्वारा निर्णय करते हुए विचार करना चाहिये कि परम कल्याणदायक भाव और आचरण कौन-से हैं और उनके विपरीत पतनकारक भाव और आचरण कौन-से हैं। एवं इसके लिये जो-जो बातें अपने मनमें आयें, उनपर सोच-विचार करके निर्णय की हुई बातोंकी हमें दो श्रेणियाँ बना लेनी चाहिये—(१) कल्याणकारक अच्छी बातें और (२) पतनकारक बुरी बातें। जो कल्याण-कारक बातें हों, उनको दाहिनी ओर रखें और जो पतनकारक बातें हों, उनको बायीं ओर रखें। इस प्रकार अलग-अलग दो पंक्तियाँ बन जायँगी, जिनमेंसे दाहिनी ओरकी पंक्ति ग्रहण करनेके लिये एवं बायीं ओरकी पंक्ति त्याग करनेके लिये होगी। उदाहरणके लिये—

१-एक ओर सद्व्यवहार है और दूसरी ओर दुर्व्यवहार। अब यह निर्णय करना है कि इन दोनोंमें कौन उत्तम और कल्याणकारक है तथा कौन निकृष्ट और पतनकारक है।

एक मनुष्य आपके साथ अपना स्वार्थ और अभिमान छोड़कर बहुत उत्तम श्रेणीका व्यवहार करता है तो इससे आपको कितनी प्रसन्नता और शान्ति मिलती है। आपके हृदयपर यह असर पड़ता है कि इसने मेरे साथ बहुत अच्छा व्यवहार किया। अतः इससे आपको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि आप भी दूसरोंके साथ ऐसा ही उत्तम व्यवहार करें। इसके विपरीत, कोई व्यक्ति आपके प्रति अत्याचार करता है, दुर्व्यवहार करता है, आपका अपमान करता है तो उससे आपके चित्तमें क्रोध, भय, अशान्ति और क्षोभ हो जाते हैं। आपके चित्तमें उसके व्यवहारका यह असर पड़ता है कि इसने मेरे साथ बहुत अनुचित और बुरा बर्ताव किया। अतः उससे आपको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि आप ऐसा दुर्व्यवहार किसीके साथ न करें।

इससे यह निर्णय हो जाता है कि सद्व्यवहार ही उत्तम और कल्याणकारक है तथा दुर्व्यवहार निकृष्ट और पतनकारक है। अतः सद्व्यवहारको दाहिनी पंक्तिमें और दुर्व्यवहारको बायीं पंक्तिमें रखें।

२-एक ओर समता है और दूसरी ओर विषमता। इन दोनोंमें कौन उत्तम और कौन निकृष्ट है—इसका निर्णय करें। विचार करनेपर यही निर्णय होता है कि समता ही अमृत है और विषमता (राग-द्वेष) ही विष है, जो सब अनर्थोंकी जड़ है। अतः समताको दाहिनी ओरकी पंक्तिमें और विषमताको बायीं ओरकी पंक्तिमें रखें।

३-एक ओर दूसरोंका हित करना है और दूसरी ओर दूसरोंका अहित करना। इन दोनोंमेंसे कौन उत्तम है, इसपर विचार करनेपर यही निर्णय प्राप्त होता है कि किसीको दुःख न पहुँचाकर अहंकार, ममता, स्वार्थ और आसक्तिसे रहित हो तन, मन, धन आदिद्वारा हर प्रकारसे उसको सुख पहुँचाना ही अपने लिये कल्याणकारक और उत्तम है। इसके विपरीत काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदिके वशमें होकर किसी भी प्रकार कहीं कभी किसी निमित्तसे किसी प्राणीकी आत्माको किंचिन्मात्र भी दुःख पहुँचाना अपने लिये पतनकारक है। जब यह निर्णय हो गया कि दूसरोंका हित करना हमारे लिये कल्याणकारक है और दूसरोंका अहित करना हमारे लिये पतनकारक है, तब हमें दूसरोंके हितको दाहिनी ओरकी पंक्तिमें और दूसरोंके अहितको बायीं ओरकी पंक्तिमें रखना चाहिये।

४-एक ओर सत्य-भाषण है और एक ओर असत्य-भाषण। इन दोनोंमें कौन उत्तम और कल्याणकारक है। इस विषयमें अपने आत्मासे पूछनेपर यही उत्तर मिलता है कि जो बात जैसी देखी, सुनी, समझी हो,उसको न घटाकर, न बढ़ाकर कपट छोड़कर ज्यों-

का-त्यों सत्य कह देना ही उत्तम है। इसके विपरीत, काम-क्रोध, लोभ-मोह और भयके वशमें होकर मिथ्याभाषण करना पाप है। जब यह निर्णय हो गया, तब सत्यभाषणको दाहिनी ओरकी पंक्तिमें और असत्य-भाषणको बायीं ओरकी पंक्तिमें रखें।

५-एक ओर ब्रह्मचर्यका पालन है और एक ओर व्यभिचार। इन दोनोंके विषयमें विचार करनेपर यही निर्णय मिलता है कि ब्रह्मचर्यका पालन करना अर्थात् किसी भी स्त्री या बालकके साथ कुत्सितभावसे श्रवण, दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, एकान्तवास, चिन्तन, सहवास, हँसी-मजाक आदि क्रियाओंको न करना तथा कामोद्दीपक वस्तुओंका सेवन न करना ही श्रेष्ठ और कल्याणकारक है। किंतु काम, क्रोध, लोभ, मोहके वशीभूत होकर इसके विपरीत आचरण करना—व्यभिचार करना महान् पतनकारक है। अतः ब्रह्मचर्यपालनको दाहिनी पंक्तिमें तथा व्यभिचारको बायीं पंक्तिमें रखें।

६-एक ओर दूसरोंके हकका हरण करना है और एक ओर दूसरोंके हकको हरण न करना है। इन दोनोंमेंसे कौन उत्तम है, इसको अपनी आत्मासे पूछनेपर यही उत्तर मिलेगा कि काम, लोभ, स्वार्थ और अज्ञानके वशमें होकर दूसरेके हकके जमीन, मकान, स्त्री, पुत्र, धन आदि किसी भी पदार्थको चोरीसे, जोरीसे, ठगीसे या अन्य किसी भी प्रकारसे अपने अधिकारमें न करना ही न्याययुक्त और उत्तम है; इसके विपरीत, किसीके भी हककी वस्तुको किसी प्रकार हड़प लेना अन्यायपूर्ण और महान् हानिकारक है। अत: ऐसा समझ लेनेपर दूसरोंके हकका हरण न करनेको दाहिनी पंक्तिमें और दूसरोंके हकका हरण करनेको बायीं पंक्तिमें रख लेना चाहिये।

७-एक ओर विषयभोगोंका त्याग है और दूसरी ओर विषय-भोगोंका उपभोग। इन दोनोंमेंसे कौन उत्तम और कल्याणकारक है— इसपर अपने अन्तःकरणमें विचार करना चाहिये। विवेकपूर्वक भली-भाँति विचार करनेपर यही बात मनमें आती है कि काम, क्रोध, लोभ, स्वार्थ और अज्ञानके वशीभूत होकर ऐश-आराम, स्वाद-शौकके रूपमें जो मन-इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका उपभोग है, उसमें यद्यपि आरम्भमें सुख-सा प्रतीत होता है, वह परिणाममें विषके समान और महान् हानिकारक है—अतः वह राजस सुख त्याज्य है। इसी प्रकार जो निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदिके रूपमें सुखभोग किया जाता है, वह आरम्भमें और परिणाममें मोहकारक होनेके कारण अपने पतनका हेतु और महान् हानिकारक है; अतः यह तामस सुख भी त्याज्य है। इन दोनोंके विपरीत, धर्मके लिये कष्ट सहनारूप तप, सत्पुरुषोंका सङ्ग और सेवा, कल्याणकारी पुस्तकोंका अनुशीलन, दु:खियोंकी सेवा और वैराग्यपूर्वक विषयोंका त्याग करते हुए अपना जीवन बिताना आदि औषध-सेवनकी भाँति आरम्भमें कष्टप्रद होते हुए भी परिणाममें अमृततुल्य सुखप्रद है; अतः यह सात्त्विक सुख ही उत्तम और कल्याणकारक सिद्ध हुआ। उपर्युक्त निर्णयके अनुसार हमें विषयोंके त्यागरूप सात्त्विक सुखको दाहिनी ओरकी पंक्तिमें और विषयोंके उपभोगरूप राजस-तामस सुखको बायीं पंक्तिमें रखना चाहिये।

८-एक ओर सात्त्विक भोजन है और दूसरी ओर राजस-तामस भोजन है। इन दोनोंके विषयमें विचार करनेपर यही निर्णय मिलता है कि दाल-भात, फुलका-रोटी, तरकारी-साग, दूध, दही, घी, फल, मेवा इत्यादि जो सात्त्विक पदार्थ हैं, उनका सेवन करना ही उत्तम और कल्याणमें सहायक है। इसके विपरीत, मिर्च-खटाई आदि राजसी और लहसुन, प्याज, गाँजा, सुलफा, भाँग, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट और मांस-मदिरा, मछली, अंडा आदि हिंसायुक्त घृणित और अभक्ष्य होनेके कारण तामसी हैं; अतः इनका सेवन पतनकारक और महान् हानिकारक है, अतएव त्याज्य है। अपने विवेकद्वारा किये हुए इस निर्णयके अनुसार सात्त्विक भोजनको दाहिनी पंक्तिमें और राजस-तामस भोजनको बायीं पक्तिमें रखना चाहिये।

९-एक ओर परमात्माका चिन्तन-सेवन है और एक ओर इस दृश्य संसारका चिन्तन-सेवन है। इन दोनोंमें कौन कर्तव्य है—इस विषयमें गहराईसे अपने हृदयमें विचार करना चाहिये। भलीभाँति विचार करनेपर यही निर्णय मिलता है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, ममता, आसक्ति और स्वार्थके वश होकर इस नाशवान् क्षणभङ्गुर जड-चेतन, स्थावर-जङ्गमात्मक संसारके चिन्तन, सेवन और संग्रहमें तो क्षणमात्रके लिये ही सुख-सा प्रतीत होता है; किंतु वास्तवमें इसमें सुख नहीं है, बल्कि संसारके चिन्तनमें तो हानि-ही-हानि है। इसके विपरीत, चाहे हिंदू, मुसलमान, ईसाई—कोई भी क्यों न हो, उसकी सच्चिदानन्दघन परमात्माके अल्लाह, खुदा, गॉड, ईश्वर, ॐ, हरि, नारायण, राम, कृष्ण, शिव आदिमेंसे जिस नाम-रूपमें श्रद्धा-विश्वास और रुचि हो, उसी नामका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जप, स्मरण, कीर्तन करना और उसके स्वरूपका चिन्तन करना ही आदि, मध्य और अन्तमें सदा ही लाभदायक और आत्यन्तिक आनन्द प्रदान करनेवाला है, अतः यही उत्तम कर्तव्य है। उपर्युक्त निर्णयके अनुसार

हमें उचित है कि परमात्मचिन्तनको दाहिनी पंक्तिमें और संसार-चिन्तनको बायीं पंक्तिमें रखें।

१०-ऊपर बतायी हुई बातोंमें और उनके अतिरिक्त भी एक ओर सद्गुण-सदाचार है और एक ओर दुर्गुण-दुराचार। इन दोनोंमें कौन उत्तम और ग्राह्य है—इसपर विवेकपूर्वक बुद्धिसे भलीभाँति विचार करनेपर यही निर्णय होता है कि क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान, वैराग्य, शूरता, वीरता, धीरता, निर्भयता, लज्जा, निरभिमानता, त्याग, पवित्रता, चित्तकी प्रसन्नता, मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका संयम, उपरति, तितिक्षा, सुहृदता, निष्कामभाव इत्यादि सद्गुण एवं यज्ञ, दान, तप तथा माता-पितादि गुरुजन और दुःखी, अनाथ एवं बाढ़, अकाल आदि प्रकोपोंसे पीड़ित मनुष्यों तथा गौ आदि प्राणियोंकी सेवा, विनय-प्रेमपूर्वक व्यवहार, शौचाचार, स्वाध्याय, ईश्वर, देवता और महात्माओंकी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सेवा-पूजा इत्यादि सदाचार ही अपना उत्थान करनेवाले हैं; अतः ये ही उत्तम और ग्राह्य हैं। इनके विपरीत, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरता, राग-द्वेष, वैर, अहंकार, ममता, दर्प, अभिमान, अज्ञान, नास्तिकता, मान-बड़ाईकी इच्छा, चिन्ता, भय, शोक, वासना, तृष्णा आदि दुर्गुण एवं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, मादक वस्तुओंका सेवन, चौपड़-ताश और खेल-तमाशेकी बुरी आदत, अन्यायपूर्वक धनका उपार्जन, न करने योग्य कार्यको करना और करने योग्य कार्यको न करना, अधिक मात्रामें सोना, आलस्य, व्यर्थ चिन्तन, व्यर्थ कर्म, व्यर्थ बकवाद, कठोर भाषण, कटु व्यवहार, परनिन्दा, दूसरोंका अपमान करना, दूसरोंके दोषोंका दर्शन, श्रवण, कथन इत्यादि दुराचार अपना अधःपतन करनेवाले हैं—अतः ये सभी त्याज्य हैं। अपनी विवेकयुक्त बुद्धिके इस निर्णयके अनुसार सद्गुण-सदाचारको दाहिनी ग्राह्य पंक्तिमें और दुर्गुण-दुराचारको बायीं त्याज्य पंक्तिमें रखना चाहिये।

इसी प्रकार और भी जो भाव और आचरण सामने आयें, उनपर अपनी बुद्धिसे विवेकपूर्वक भलीभाँति विचार करके निर्णय कर लेना चाहिये। निर्णय करनेपर जो एक ग्राह्य और एक त्याज्य पंक्ति बन जाय, उसमेंसे त्याज्य बायीं पंक्तिमें आयी हुई बातोंका सेवन न करना और ग्राह्य दाहिनी पंक्तिमें आयी हुई बातोंका सेवन करना ही अपने द्वारा अपना उद्धार करना है। इसके विपरीत, ग्राह्य दाहिनी पंक्तिमें आयी हुई बातोंका सेवन न करना और त्याज्य बायीं पंक्तिमें आयी हुई बातोंका सेवन करना ही अपने द्वारा अपना पतन करना है। एवं उपर्युक्त विवेचनके अनुसार विवेक-वैराग्यपूर्वक शम-दम आदि उत्तम भाव तथा सेवा, भक्ति, परोपकार आदि उत्तम आचरणरूप साधनोंके द्वारा जिसने इन्द्रियोंसहित अपने मनको वशमें कर लिया है, वही मनुष्य अपने-आपका मित्र है। इसके विपरीत, राग-द्वेष आदि अवगुण और झूठ, कपट, चोरी, हिंसा आदि दुराचारके वशीभूत होनेके कारण जो इन्द्रियोंसहित अपने मनको वशमें नहीं करता, वही अपने-आपका शत्रु है।

क्योंकि उपर्युक्त प्रकारसे विवेकयुक्त बुद्धिके द्वारा जिसको हमने इस रूपमें जान लिया कि यह हमारे परम लाभकी बात है, उसे धारण न करना और जिसे विवेकबुद्धि-पूर्वक इस रूपमें समझ लिया कि यह बुरी बात है, अधःपतन करनेवाली है, उसे जान-बूझकर करते रहना—यह अपनी समझसे, अपने सिद्धान्तसे गिरना है और यह महामूर्खता है। इससे बढ़कर और पतन क्या होगा?

अतएव हमलोगोंको उचित है कि हमने विवेकयुक्त बुद्धिके द्वारा भलीभाँति विचार करके जिनको अच्छा (ग्राह्य) समझ लिया है, उनको कटिबद्ध होकर काममें लायें और जिनको बुरा (हेय) समझ लिया है, उनका सर्वथा त्याग कर दें। यही कल्याणका मार्ग है।

मानवता और वर्णाश्रमधर्म

मानवताका अभिप्राय है मनुष्यकी मनुष्यता। सर्वप्रथम इसपर विचार करना चाहिये कि मनुष्यकी उत्पत्ति किससे हुई। शास्त्रोंको देखनेसे मालूम होता है कि मनुसे ही मनुष्यकी उत्पत्ति हुई और इस उत्पत्तिका मूल स्थान यह भारतवर्ष ही है। यहींसे सारी पृथ्वीपर मानव-सृष्टिका विस्तार हुआ। मानव-सृष्टिकी उत्पत्तिका मूल स्थान भारतवर्ष होनेके कारण वही मानवताका मूल उद्गमस्थान है। अतः श्रीमनुजीका आदेश है कि सारी पृथ्वीके लोग यहींसे शिक्षा लिया करें—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनु० २। २०)

'इस देश (भारतवर्ष) में उत्पन्न हुए ब्राह्मणके समीप पृथ्वीके समस्त मानव अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करें।'

इसलिये हमलोगोंको मनुष्यताके पूर्ण आदर्श बननेके लिये मनुप्रोक्त धर्मोंके अनुसार ही अपना जीवन

बनाना चाहिये; क्योंकि जितने भी स्मृतियोंके रचयिता महर्षि हुए हैं, उनमें मनु प्रधान हैं। अतः मनुने जो कुछ कहा है, वही मनुष्यका धर्म है।

सृष्टिके संचालन, संरक्षण और समुत्थानके लिये श्रीमनुजीने वेदोंके आधारपर चार वर्णों और चार आश्रमोंकी व्यवस्था की थी। उस व्यवस्थाके बिगड़ जानेके कारण ही आज हमारा पतन हो रहा है। अतः उसकी रक्षाके लिये हमें मानवधर्मरूप भारतीय संस्कृतिको अपनाना चाहिये। भाषा, वेष, खान-पान और चरित्रसे ही मनुष्यके हृदयपर भले-बुरे संस्कार जमते हैं। संस्कार ही संस्कृति है। अतः इन चारोंके समूहको ही संस्कृति कहा जाता है।

सृष्टिके आदिमें ब्रह्माजीका प्राकट्य हुआ और ब्रह्माजीसे वेद प्रकट हुए। वेदोंकी भाषा संस्कृत है। सृष्टिके आदिमें ब्रह्मादि देवताओंसे उत्पन्न होनेके कारण संस्कृत-भाषाका नाम 'देवभाषा' और संस्कृतलिपिका नाम 'देवनागरी' हुआ। संस्कृत-भाषामें अनेक विशेषताएँ हैं। संस्कृतमें साधारणतया धातुओंके १८० रूप बनते हैं। इतने रूप अंग्रेजी, फारसी आदि अन्य किसी भाषामें नहीं बनते। संस्कृतमें एकवचन, द्विवचन, बहुवचन—ये तीन वचन होते हैं, जहाँ कि अन्य भाषाओंमें एकवचन और बहुवचन ही होते हैं, द्विवचन नहीं। संस्कृतमें पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग—ये तीन लिङ्ग होते हैं, जब कि अन्य भाषाओंमें लिङ्गोंके कहीं एक और कहीं दो ही भेद माने गये हैं। सारांश, अन्य भाषाओंमें द्विवचन और नपुंसकलिङ्गका अलग भेद नहीं माना गया है। इसके सिवा भाषाका सौन्दर्य, लालित्य, व्याकरणकी पूर्णता और अलौकिकता आदि अनेक गुण इस संस्कृत-भाषामें हैं, जो अन्यत्र नहीं पाये जाते। इसी देवभाषाका रूपान्तर हिंदी-भाषा है, जो आज भारतकी प्रधान भाषा है। हमारे धर्मके जितने भी मौलिक ग्रन्थ हैं, वे संस्कृतमें ही हैं। उनमेंसे कितने ही ग्रन्थोंका हिंदीमें भी अनुवाद हो चुका है। आयुर्वेद और ज्यौतिष आदिके ग्रन्थ भी संस्कृतमें ही हैं। इसलिये संस्कृत और हिंदी-भाषा हमारे देशकी प्रधान सम्पत्ति हैं। अतः इनकी रक्षा करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

हमारे देशका वेष शास्त्रोंमें यही पाया जाता है कि एक अधोवस्त्र और एक उत्तरीयवस्त्र धारण करना। ये दोनों वस्त्र बिना सिलाये ही काममें लाये जाते रहे हैं। स्त्रीके लिये अधोवस्त्रसे साड़ी और उत्तरीयवस्त्रसे ओढ़नी समझनी चाहिये। एवं पुरुषके लिये अधोवस्त्रसे धोती और उत्तरीयवस्त्रसे चादर समझनी चाहिये। अभीतक विवाहके समय भी कन्याका पिता वर और कन्याके लिये उपर्युक्त चार वस्त्र ही प्रदान करता है। इन्हीं वस्त्रोंको पहनकर विवाह करनेकी शास्त्रोक्त पद्धति है। अतः यही आदर्श वेष है।

इसी प्रकार हमारे देशका खान-पान पहले कन्द, मूल, फल, शाक, अन्न और दूध, दही, घी ही रहा। ये ही सात्त्विक पदार्थ हैं। इन्हींकी गीतामें प्रशंसा की गयी है। भगवान्‌ने कहा है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥
(१७। ८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

इस प्रकारके सात्त्विक पदार्थोंके भोजनसे बुद्धि सात्त्विक होती है, अन्तःकरण शुद्ध होता है और अध्यात्मविषयकी स्मृति प्राप्त होती है, जिससे सम्पूर्ण बन्धनोंसे छुटकारा हो जाता है। छान्दोग्य-उपनिषद्‌के सातवें अध्यायके २६ वें खण्डके दूसरे मन्त्रमें कहा गया है—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।

'आहार-शुद्धि होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर निश्चल स्मृति होती है एवं स्मृतिकी प्राप्ति होनेपर सम्पूर्ण ग्रन्थियोंकी निवृत्ति हो जाती है।'

अतः हमारा खान-पान सात्त्विक होना चाहिये, राजस और तामस नहीं। तामस भोजन तो राक्षसों और असुरोंका होता है, इसलिये वह त्याज्य है। तामस पदार्थोंमें भी मांस, मछली, अंडा आदिका भोजन तो बिलकुल ही अमानुषिक कार्य है। मनुष्यका तो कर्तव्य है सब जीवोंका हित करना, न कि जीवोंको राक्षसोंकी भाँति मारकर खा डालना। विचार करना चाहिये कि वे जीव निर्बल और बुद्धिहीन हैं, हमलोग बलवान् और बुद्धिमान् हैं। क्या हमारा यह कर्तव्य है कि हम निर्बल और बुद्धिहीन प्राणियोंको खा जायँ? बल्कि उचित तो यह है और इसीमें मनुष्यता है कि हम निर्बल

प्राणियोंकी सब प्रकारसे सहायता करें। इस प्रकार सब प्राणियोंका हित करनेवाले मनुष्य ही उन्नत होकर परमात्माको प्राप्त होते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः

(गीता १२। ४का उत्तरार्ध)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें लगे हुए मनुष्य मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

श्रीरामचरितमानसमें भी आया है—

पर हित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई

(रा० च० मा० उत्तर० ४०। १)

पर हित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं

(रा० च० मा० अरण्य० ३०। ५)

इस प्रकार गीता-रामायण आदि शास्त्रोंसे भी यही बात सिद्ध होती है कि मनुष्यको प्राणिमात्रका हित करना चाहिये। दूसरी बात यह है कि मांस, मछली आदिको खानेवाले मांसाहारी पशुओंकी दाढ़ें और नख छुरेके समान तीक्ष्ण होते हैं; किंतु मनुष्य और बंदरके दाँत और नख इतने सरल हैं कि वे कन्द, मूल, फल, शाक और अन्न खानेके ही योग्य हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि हमारा भोजन कन्द, मूल, फल, शाक और अन्न आदि ही हैं, मांस आदि नहीं। तीसरी बात यह है कि पशु-पक्षियोंके रक्त, मांस, चर्बी, मज्जा, अण्डा आदि सभी दुर्गन्धियुक्त और अपवित्र होते हैं, जो मनुष्यके छूनेके योग्य भी नहीं होते; फिर वे क्या मनुष्यके खानेके योग्य हो सकते हैं! कदापि नहीं। चौथी बात यह है कि इनको खानेसे बुद्धि और विवेक नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं तथा इन्हें प्राप्त करनेमें प्राणियोंकी हिंसा होती है; अतः ये अत्यन्त तामस हैं। इसी प्रकार मदिरा भी अत्यन्त तामस पदार्थ है। इसके पानसे नशा होकर बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, जिससे मनुष्यका पतन होता है। अतः मांस, मछली, अण्डा, मदिरा—ये सभी मनुष्यके लिये अभक्ष्य तथा अपेय हैं। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको इनका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये, यहाँतक कि इन्हें छूना भी नहीं चाहिये; इसीमें उसकी मनुष्यता है।

अब चरित्रके विषयमें विचार किया जाता है। श्रीमनुजीने मनुष्यके चरित्र-निर्माणके लिये प्रधान दस बातें बतलायी हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६। ९२)

(१) *धृति*—भारी कष्ट पड़नेपर भी धैर्यका त्याग न करना, (२) *क्षमा*—कोई अपराध कर दे तो उसका बदला लेनेकी इच्छा न रखकर अपराधको सहन कर लेना, (३) *दम*—मनको वशमें करके उसे अपने नियन्त्रणमें रखना, (४) *अस्तेय*—दूसरेके स्वत्वपर चोरी, जोरी, ठगी आदि किसी प्रकारसे भी अपना अधिकार नहीं जमाना। (५) *शौच*—सदाचार, सद्‌गुण आदिके द्वारा मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीरको सब प्रकारसे पवित्र रखना, (६) *इन्द्रिय-निग्रह*—विषयोंमें विचरण करनेवाली इन्द्रियोंको अपने अधीन रखना, (७) *धी*— बुद्धिको तीक्ष्ण और सात्त्विक बनाना,* (८) *विद्या*—जिससे परमात्माका यथार्थ अनुभव हो, ऐसा सात्त्विक ज्ञान प्राप्त करना,† (९) *सत्य*—जो बात जैसी सुनी, समझी और देखी गयी हो, उसको निष्कपट और विनय-भावसे ज्यों-की-त्यों यथार्थ कहना, उससे न अधिक कहना और न कम; एवं (१०) *अक्रोध*—मनके विपरीत घटनाके प्राप्त होनेपर उसे ईश्वरका विधान मानकर संतुष्ट रहना, किसीपर क्रोध न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।

महर्षि पतञ्जलिजीने मनुष्यके चरित्र-निर्माणके लिये जो यम-नियमोंके नामसे आदेश दिया है, वह भी इससे मिलता-जुलता-सा ही है। वे कहते हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

(योग० २। ३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं।'

---

* सात्त्विक बुद्धिके लक्षण गीतामें भगवान्‌ने इस प्रकार बतलाये हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये। बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ (१८। ३०)

'हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है; वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

† सात्त्विक ज्ञानके लक्षण भगवान्‌ने गीतामें इस प्रकार बतलाये हैं—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते। अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ (१८। २०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सारे भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तू सात्त्विक जान।'

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

(योग० २। ३२)

'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच 'नियम' हैं।'

भगवान् श्रीकृष्णने मानव-चरित्र-निर्माणके लिये उत्तम गुण और आचरणोंको लक्ष्यमें रखकर दैवी सम्पदाके नामसे गीताके सोलहवें अध्यायके पहले, दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें इस प्रकार कहा है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

'भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका अभ्यास तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कभी किंचिन्मात्र भी कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय-भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें स्वार्थ और कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दा और दोषदर्शन न करना, सब भूत-प्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें लिपायमान न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शौचाचार—सदाचारके द्वारा बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब हे अर्जुन! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।'

श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणोंमें मानव-चरित्र-निर्माणके हेतुभूत जिन आदर्शोंका बहुत विस्तारके साथ वर्णन पाया जाता है, उन सबको भगवान्ने गीतामें साररूपसे संक्षेपमें बतलाया है।

इस प्रकार भाषा, वेष, खान-पान और चरित्र—इन चारोंके समूहको ही संस्कृति कहते हैं। अतः मनुष्यको उपर्युक्त भारतीय संस्कृतिके आदर्श सद्गुण-सदाचारोंको अपने जीवनमें अच्छी प्रकार उतारना चाहिये। यही मनुष्यकी मनुष्यता है। इसके बिना तो मनुष्य मनुष्य नहीं, पशुके समान ही है। नीतिमें बतलाया गया है—

येषां न विद्या न तपो न दानं
न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

(चाणक्य १०। ७)

जिनमें न विद्या है, न तप है, न दान है, न शील (सदाचार) है, न गुण है और न धर्म ही है, वे इस मनुष्यलोकमें पृथ्वीके भार बने हुए मनुष्यरूपमें पशु ही फिर रहे हैं।'

इसलिये मनुष्यको मनुष्यताके अनुरूप आचरण करना चाहिये। निद्रा, आलस्य, प्रमाद, नास्तिकता, दुर्गुण, दुराचार, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा और शरीरके आरामकी इच्छा तथा विषयासक्ति—ये सब मनुष्यताको नष्ट करनेवाले हैं। निद्रा और आलस्यके कारण मनुष्य करनेयोग्य कर्मोंका त्याग कर देता है। प्रमादके कारण न करनेयोग्य कर्मोंको करने लगता है तथा नास्तिकताके कारण मनुष्य ईश्वर, धर्म, शास्त्र और परलोकको नहीं मानता, जिससे मनमाना आचरण करने लगता है। दुर्गुण-दुराचार और आसुरी सम्पदाको धारण करके पथभ्रष्ट हो जाता है। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठामें फँसकर मनुष्य दम्भी और पाखण्डी बन जाता है तथा शरीरके आराम और भोगोंमें फँसकर न करनेयोग्य पापकर्मोंमें प्रवृत्त हो जाता है। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको उपर्युक्त इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

सृष्टिके आदिमें मनु आदि महर्षियोंने संसारके परम हितके लिये वेदोंके आधारपर चार वर्णों और चार आश्रमोंकी व्यवस्था करके जो समाजका संगठन किया है, वह हमलोगोंके शरीर, समाज, व्यापार और देशके लिये परम

सात्त्विक दानके लक्षण भगवान्ने गीतामें इस प्रकार बतलाये हैं—

दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ (१७। २०)

'दान देना ही कर्तव्य है—ऐसे भावसे जो दान देश तथा काल और पात्रके प्राप्त होनेपर उपकार न करनेवालेके प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।'

हितकर है। अतः हमलोगोंको अपने अधिकारके अनुसार उन धर्मोंका यथावत् पालन करना चाहिये। मनुप्रोक्त वर्णाश्रमधर्मका स्वरूप संक्षेपमें इस प्रकार समझना चाहिये।

ब्रह्मचर्याश्रम

माता-पिताको उचित है कि पाँच वर्षका हो जानेके बाद बालकको ऋषिकुल या गुरुकुलमें प्रेषित कर दें अथवा अपने घरपर ही रखकर दूसरोंसे या स्वयं विद्या पढ़ायें—कम-से-कम दस वर्ष उसे शिक्षा दें। चाणक्यनीतिमें कहा गया है—

लालयेत् पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रत्वमाचरेत्॥

(३।१८)

'पुत्रका पाँच वर्षतक लालन-पालन करे, उसके बाद दस वर्षतक उसपर शासन करे; किंतु जब वह सोलह वर्षका हो जाय, तब उसके साथ मित्रकी भाँति बर्ताव करे।'

माता-पिताको उचित है कि वे बाल्यावस्थामें ही बालकको विद्याभ्यास करायें; क्योंकि जो माता-पिता अपने बालकको विद्या नहीं पढ़ाते, वे बालकके साथ शत्रुताका व्यवहार करते हैं; इसलिये वे शत्रुतुल्य हैं—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥

(चाणक्य २।११)

'वह माता शत्रु और पिता वैरीके समान है, जिसने अपने बालकको विद्या नहीं पढ़ायी; क्योंकि बिना पढ़ा हुआ बालक सभामें वैसे ही शोभा नहीं पाता, जैसे हंसोंके बीच बगुला।'

बालकका यह कर्तव्य है कि वह गुरुके यहाँ ब्रह्मचर्याश्रमधर्मकी शास्त्रोक्त विधिके अनुसार यथाधिकार यज्ञोपवीत-संस्कार* कराकर वेदाध्ययन करता हुआ विद्याका अभ्यास करे, शास्त्रोंका तथा अनेक प्रकारकी भाषाओं और लिपियोंका ज्ञान प्राप्त करे। भिक्षा लाकर उसे गुरुके समर्पित कर दे और गुरुका दिया हुआ भोजन स्वयं करे। यह श्रीमनुजीने कहा है—

समाहृत्य तु तद् भैक्षं यावदर्थममायया।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः॥

(मनु० २।५१)

'जितनी आवश्यक हो, उतनी भिक्षा लाकर निष्कपट भावसे गुरुके समर्पण करे और फिर आचमन करके पवित्र हो पूर्वाभिमुख होकर भोजन करे।'

नित्यप्रति गुरुको नमस्कार करना, उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना ब्रह्मचारीका उत्तम धर्म है। उसे तत्परताके साथ शिक्षा और विद्याके अध्ययनमें ही विशेषतया मन लगाना चाहिये। जो बालक बाल्यावस्थामें विद्या नहीं पढ़ता एवं शिक्षा ग्रहण नहीं करता तथा किसी कुत्सित क्रियाद्वारा वीर्य नष्ट कर देता है, उसे सदाके लिये पश्चात्ताप करना पड़ता है। शिक्षा ग्रहण करना, विद्याका अभ्यास करना, ब्रह्मचर्यका पालन करना—ये तीनों उसके लिये इस लोक और परलोकमें बहुत ही लाभदायक हैं। ब्रह्मचर्यके बिना आयु, बल, बुद्धि, तेज, कीर्ति और यशका विनाश होता है और मरनेके बाद दुर्गति होती है। इसलिये बालकोंको ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक शिक्षा और विद्या प्राप्त करनेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। विद्याका अर्थ है नाना प्रकारकी भाषाओं और लिपियोंका ज्ञान तथा शिक्षाका अर्थ है उत्तम गुण और उत्तम आचरणोंको सीखकर उनको अपने जीवनमें लाना एवं ब्रह्मचर्यव्रतके पालनका अर्थ है सब प्रकारके मैथुनोंका† त्याग करना और ब्रह्मके स्वरूपमें विचरण करना अर्थात् परमात्माके स्वरूपका मनन करना।

* यज्ञोपवीत-संस्कारका काल श्रीमनुजीने इस प्रकार बतलाया है—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्। गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥ (मनु २।३६)

'ब्राह्मणका यज्ञोपवीत-संस्कार गर्भसे आठवें वर्षमें, क्षत्रियका गर्भसे ग्यारहवेंमें और वैश्यका गर्भसे बारहवें वर्षमें करे।'

किंतु—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥ (मनु २।३७)

किंतु ब्रह्म-तेजकी इच्छा रखनेवाले ब्राह्मणका पाँचवें वर्षमें, बल चाहनेवाले क्षत्रियका छठेमें और धन चाहनेवाले वैश्यका आठवें वर्षमें यज्ञोपवीत करना चाहिये।'

† शास्त्रोंमें आठ प्रकारके मैथुन बतलाये गये हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च॥ (अग्निपुराण ३७२।९-१०)

'स्त्रीका स्मरण, स्त्रीसम्बन्धी बातचीत, स्त्रियोंके साथ खेलना, स्त्रियोंको देखना, स्त्रीसे गुप्त भाषण करना, स्त्रीसे मिलनेका निश्चय करना और संकल्प करना तथा स्त्रीसङ्ग करना।'

ब्रह्मचारीको मन-इन्द्रियोंके संयमपूर्वक यम-नियमोंका पालन करना चाहिये। इसके सिवा उसे श्रीमनुजीके बतलाये हुए विशेष नियमोंका भी पालन करना चाहिये। श्रीमनुजीने कहा है—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥

(२। १७६)

'ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह नित्य स्नान करके शुद्ध हो देवता, ऋषि और दिव्य पितरोंका तर्पण तथा देवताओंका पूजन और अग्निहोत्र अवश्य करे।'

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥

(मनु० २। १७७—१७९)

'शहद, मांस, सुगन्धित वस्तु, फूलोंके हार, रस, स्त्री और सिरकेकी भाँति बनी हुई समस्त मादक वस्तुओंका सेवन करना तथा प्राणियोंकी हिंसा करना एवं उबटन लगाना, आँखोंको आँजना, जूते और छातेका उपयोग करना तथा काम, क्रोध और लोभका आचरण करना एवं नाचना, गाना, बजाना तथा जूआ, गाली-गलौज और निन्दा आदि करना एवं झूठ बोलना और स्त्रियोंको देखना, आलिङ्गन करना तथा दूसरेका तिरस्कार करना—इन सबका ब्रह्मचारीको त्याग कर देना चाहिये।'

यदि बालक घरपर रहकर विद्याका अभ्यास करे तो उसे माता-पिता और आचार्यको क्रमशः दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि और आहवनीयाग्निका रूप समझकर उनकी तन-मनसे सेवा करनी चाहिये। श्रीमनुजीने कहा है—

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥

(मनु० २। २३१)

'पिता गार्हपत्याग्नि, माता दक्षिणाग्नि और गुरु आहवनीयाग्नि है—ऐसा कहा गया है। यह तीनों अग्नियोंका समूह अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

इनकी सेवा करनेसे मनुष्य भूः, भुवः, स्वः—तीनों लोकोंको जीत लेता है—

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते॥

(मनु० २। २३३)

'माताकी भक्तिसे मनुष्य इस लोकको, पिताकी भक्तिसे मध्यलोकको और गुरुकी भक्तिसे ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है।'

इनकी सेवाको बालकके लिये परम तप कहा गया है; क्योंकि यह परम धर्म है, शेष सब उपधर्म हैं—

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्॥

(मनु० २। २२९)

'इन तीनोंकी सेवाको बड़ा भारी तप कहा गया है, अतः इन तीनोंकी आज्ञाके बिना मनुष्य अन्य किसी धर्मका आचरण न करे।'

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

(मनु० २। २३७)

'क्योंकि इन तीनोंकी सेवासे पुरुषका सारा कर्तव्य पूर्ण हो जाता है। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं।'

इन तीनोंमें गुरुकी सेवासे भी माता-पिताकी सेवाका महत्त्व शास्त्रोंमें अधिक बताया गया है। क्योंकि—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

(मनु० २। २२७)

'मनुष्यकी उत्पत्तिके समय जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सौ वर्षोंमें भी उनकी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता।'

इसलिये बालकोंको नित्य माता-पिताके चरणोंमें नमस्कार, उनकी आज्ञाका पालन और उनकी सेवा अवश्य करनी चाहिये।

गृहस्थाश्रम

समावर्तन-संस्कारके बाद जब बालक विद्याध्ययन करके आये तो मार्गमें मिल जानेपर राजाको भी उचित है कि वह उसके लिये आदरपूर्वक मार्ग दे दे और घरपर आनेपर पिताको उचित है कि स्नातककी सत्कारपूर्वक मधुपर्क आदिसे पूजा करे।

स्नातकको उचित है कि माता-पिता आदि गुरुजनोंकी आज्ञाके अनुसार उत्तम गुण, लक्षण और आचरणसे युक्त कन्याके साथ विवाह करे* तथा माता-पिता आदि

*श्रीमनुजीने कहा है—
गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि। उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥ (मनु० ३। ४)

गुरुजनोंकी सेवा करते हुए शौचाचार-सदाचारसे रहकर अपना जीवन बिताये।

गीता कहती है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(१७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

इस 'शारीरिक तप'के अनुसार सदाचारका पालन करना चाहिये। माता, पिता आदि गुरुजनोंको नित्य नमस्कार करने और उनकी सेवा करनेका बड़ा भारी महत्त्व है।

श्रीमनुजी कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनु० २। १२१)

'जिसका प्रणाम करनेका स्वभाव है और जो नित्य वृद्धोंकी सेवा करता है, उसके आयु, विद्या, यश और बल ये चारों बढ़ते हैं।'

गृहस्थ पुरुषको किस प्रकार जीवन बिताना चाहिये, इस विषयमें श्रीमनुजीने यों कहा है—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च॥
उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत् स्वकाले चापरां चिरम्॥

(मनु० ४। ९२-९३)

ब्राह्ममुहूर्तमें (सूर्योदयसे चार घड़ी पूर्व) जागना चाहिये और धर्म तथा अर्थका एवं उनके उपार्जनके हेतुभूत शरीरके क्लेशोंका तथा वेदके तत्त्वार्थरूप परब्रह्म परमात्माका बारम्बार चिन्तन करना चाहिये। फिर शय्यासे उठकर शौचादि आवश्यक कार्य करके स्नानादिसे शुद्ध और सावधान होकर अपने नियतकालमें (सूर्योदयसे पूर्व) प्रातः-संध्या और (सूर्यास्तसे पूर्व) सायं-संध्या करके चिरकालतक गायत्रीका जप करता रहे।'

इस प्रकार गृहस्थको नित्यप्रति अपने अधिकारके अनुसार संध्योपासन, गायत्री-जप,* अग्न्याधान, गीता और वेदादि शास्त्रोंका स्वाध्याय और अतिथियोंकी सेवा† आदि गृहस्थाश्रमके कर्तव्योंका पालन भलीभाँति तत्परतापूर्वक अवश्यमेव करना चाहिये। गृहस्थाश्रममें रहते हुए नित्य पाँच प्रकारके पाप होते हैं, उनकी निवृत्तिके लिये पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान करना आवश्यक है। श्रीमनुजीने कहा है—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥

(मनु० ३। ६८)

'गृहस्थके यहाँ चूल्हा, चक्की, बुहारी, ओखली और जलका घड़ा—ये पाँच हिंसाके स्थान हैं; इनको काममें लानेवाला गृहस्थ पापसे बँधता है।'

अतः क्रमशः उन सबसे निस्तार पानेके लिये महर्षियोंने गृहस्थोंके लिये नित्य पाँच महायज्ञ करनेका विधान किया है। वे पञ्चमहायज्ञ इस प्रकार हैं—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

(मनु० ३। ७०)

'वेद पढ़ना-पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है, श्राद्ध-तर्पण करना पितृयज्ञ है, हवन करना देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव करना भूतयज्ञ है और अतिथियोंका पूजन-सत्कार करना मनुष्ययज्ञ है।'

'जब द्विज विधिपूर्वक व्रत-स्नान और समावर्तन कर चुके, तब गुरुजनोंके आज्ञानुसार अपने वर्णकी उत्तम लक्षणोंवाली कन्यासे विवाह करे।'

* श्रीमनुजी कहते हैं—

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः। महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥ (मनु० २। ७९)

'द्विज इन तीनोंका यानी प्रणव, व्याहृति और गायत्रीका बाहर (पवित्र और एकान्त स्थानमें) हजार बार जप करके एक मासमें बड़े भारी पापसे भी वैसे ही छूट जाता है, जैसे साँप केंचुलीसे।'

जप मानसिक किया जाय तो वह सर्वोत्तम है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥ (मनु० २। ८५)

विधियज्ञ यानी श्रौत-स्मार्त यज्ञसे जपयज्ञ दस गुना बढ़कर है और दूसरे मनुष्यको सुनायी न दे—इस तरह उच्चारण करके किया जानेवाला उपांशु जप (विधियज्ञसे) सौगुना तथा मानस जप (विधियज्ञसे) हजारगुना बढ़कर माना गया है अर्थात् एकसे एक दसगुना श्रेष्ठ है।'

† तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ (मनु० ३। १०१)

'आसन, बैठनेकी जगह, जल और चौथी मीठी वाणी—इनकी सज्जनोंके घरमें कभी कमी नहीं होती।'

जो द्विज इन पाँच महायज्ञोंको यथाशक्ति नहीं छोड़ता, वह घरमें रहता हुआ भी नित्य होनेवाले हिंसा-दोषोंसे लिप्त नहीं होता तथा जो देवता, अतिथि, सेवक, पितर और आत्मा—इन पाँचोंको अन्न नहीं देता, वह श्वास लेता हुआ भी मरे हुएके समान ही है।

यदि श्रौत या स्मार्त विधिके अनुसार नित्य अग्निहोत्र न हो सके तो बलिवैश्वदेव तो अवश्य ही करना चाहिये। बलिवैश्वदेव करनेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(३। १३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीर-पोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।'

गृहस्थको सत्य* और न्यायपूर्वक धनोपार्जन करके आत्मकल्याणके लिये देवताओं, पितरों और यावन्मात्र प्राणियोंकी निष्कामभावसे सेवा करनी चाहिये। सबको अन्न-जल देकर अन्न-जल ग्रहण करना मनुष्यके लिये कल्याणकारी है, इसलिये तर्पण और बलिवैश्वदेवका विधान किया गया है। तर्पणमें क्रमशः देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों और पितरोंको एवं यावन्मात्र प्राणियोंको जो जल दिया जाता है, उसका पहले सूर्यके द्वारा शोषण होता है, फिर वह वर्षाके रूपमें आकर सब प्राणियोंको प्राप्त हो जाता है। बलिवैश्वदेवका तात्पर्य है सारे विश्वको बलि (भोजन) देना। जो अग्निमें आहुति दी जाती है, वह सूर्यको प्राप्त होकर और फिर सूर्यके द्वारा वर्षाके रूपमें आकर समस्त विश्वके प्राणियोंको प्राप्त हो जाती है। श्रीमनुजीने कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

(मनु० ३। ७६)

'वेदोक्त विधिसे अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यको प्राप्त होती है, सूर्यसे मेघद्वारा वर्षा होती है और वर्षा होनेसे अन्न पैदा होता है तथा अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है (एवं अन्नसे ही सब प्राणियोंकी तृप्ति और वृद्धि होती है)।'

अतः बलिवैश्वदेव करना सारे विश्वको जीवनदान देना है; क्योंकि अन्नसे ही सब प्राणी जीते हैं—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

(गीता ३। १४)

'सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं। अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होता है।'

गृहस्थ इस प्रकार सदा अपने कर्तव्यकर्मोंके पालनमें लगा रहे और काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, दम्भ और नास्तिकता आदि दुर्गुणोंका परित्याग करके सदा मन-इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए सदाचारमें स्थित रहे। श्रीमनुजीने बतलाया है—

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत्॥

(मनु० ४। १६३)

'नास्तिकता, वेद-निन्दा, देव-निन्दा, द्वेष, दम्भ, अभिमान, क्रोध और कटुताका त्याग करे।'

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः।
न स्याद् वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः॥

(मनु० ४। १७७)

'हाथ और पैरोंकी चपलता न करे, नेत्रोंकी चपलता न करे, सदा सरल रहे, वाणीकी चपलता न करे और दूसरोंकी बुराई करनेमें कभी मन न लगाये।'

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत्।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्॥

(मनु० ५। १६९)

'विवाहित गृहस्थ पुरुष पूर्वोक्त विधिसे सदा पञ्चयज्ञोंको करता रहे, उनका कभी त्याग न करे और आयुके दूसरे भागपर्यन्त (पचास वर्षतक) गृहस्थाश्रममें वास करे।'

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि॥

(मनु० ६। ८९)

---

* श्रीमनुजीने कहा है—
सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥ (मनु० ४। १३८)
'सदा सत्य बोले, प्रिय बोले; किंतु ऐसी बात न कहे जो सत्य तो हो पर अप्रिय हो तथा जो प्रिय तो हो पर असत्य हो, उसे भी न कहे। यह सनातन धर्म है।'

'इन सभी आश्रमोंमें वेद और स्मृतिके विधानके अनुसार चलनेवाला गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ कहा जाता है; क्योंकि वही इन तीनों आश्रमोंका भरण-पोषण करता है।'

वानप्रस्थाश्रम

जब गृहस्थ पुरुषकी पचास वर्षकी आयु पूरी हो जाय और वह यह देखे कि अब शरीरका चमड़ा ढीला पड़ गया है, केश पक गये हैं तथा पुत्रके भी पुत्र हो गया है, तब वह सम्पूर्ण ग्राम्य आहारोंका और समस्त सामग्रियोंका परित्याग करके तथा अपनी पत्नीका एवं गृहस्थीका सारा भार अपने पुत्रोंपर देकर वानप्रस्थ-आश्रममें जा सकता है। यदि स्त्रीकी साथ जानेकी इच्छा हो तो वह भी जा सकती है।* किंतु वहाँ स्त्री-पुरुष दोनों ब्रह्मचर्यका पालन करें। तथा वानप्रस्थीको उचित है कि वह स्वतः मरे हुए मृग आदिका पवित्र चर्म या वस्त्र धारण करे एवं प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल—तीनों समय स्नान करे तथा जटा, दाढ़ी आदि बालोंको और नखोंको सदा धारण किये रहे एवं—

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद् बलिं भिक्षां च शक्तितः।
अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥

(मनु० ६।७)

जो उसके खाने योग्य पदार्थ हों, उनमेंसे ही बलिवैश्व करे और अपनी शक्तिके अनुसार भिक्षा दे तथा आश्रममें आये हुए अभ्यागतोंका जल, मूल, फलकी भिक्षासे सत्कार करे।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥

(मनु० ६।८)

'नित्य वेदादि शास्त्रोंके स्वाध्यायमें लगा रहे, इन्द्रियोंका दमन करे, सबमें मैत्रीभाव रखे, मनको वशमें रखे, सदा दान दे, पर प्रतिग्रह न ले और सब प्राणियोंपर दया रखे।'

वानप्रस्थी द्विज मन-इन्द्रियोंको वशमें करके यम-नियमोंका पालन करते हुए पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान करता रहे और पूर्णिमा, अमावास्या तथा चान्द्रायण आदि व्रतोंका पालन करे और बिना बोये हुए अर्थात् अपने-आप पृथ्वी या जलमें उत्पन्न कन्द-मूल, फल-फूल, शाकसे एवं उनके रसोंसे अपना जीवन-निर्वाह करे। वह मधु-मांस आदिका कभी सेवन न करे। हलसे जोती हुई भूमिसे उत्पन्न धान आदिको काममें न लाये। श्रीमनुजीने कहा है—

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात् स्नेहांश्च फलसम्भवान्॥

(मनु० ६।१३)

'पृथ्वी और जलमें उत्पन्न शाक और पवित्र वृक्षोंसे उत्पन्न फूल, मूल, फलोंका तथा फलोंके रसका भोजन करे।'

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित्।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च॥

(मनु० ६।१६)

'भूखा होनेपर भी उसको हलसे जोती हुई भूमिमें उत्पन्न तथा किसीके द्वारा छोड़े हुए अन्नको और गाँवोंमें उत्पन्न हुए मूल-फलोंको भी नहीं खाना चाहिये।'

अग्निपक्वाशनो वा स्यात् कालपक्वभुगेव वा।
अश्मकुट्टो भवेद् वापि दन्तोलूखलिकोऽपि वा॥

(मनु० ६।१७)

'अग्निसे पके हुए अन्नका भोजन करे अथवा समयपर स्वतः पके हुए फल आदि खाय अथवा अन्न एवं फलोंको पत्थरसे कूटकर या दाँतोंसे चबाकर खाय।'

सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्माससंचयिकोऽपि वा।
षण्मासनिचयो वा स्यात् समानिचय एव वा॥

(मनु० ६।१८)

'एक ही दिनके लिये अथवा एक मासके लिये अथवा छः महीनोंके लिये या एक वर्षके निर्वाहके लिये अन्नका संचय करे।'

भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद् वा प्रपदैर्दिनम्।
स्थानासनाभ्यां विहरेत् सवनेषूपयन्नपः॥

(मनु० ६।२२)

'भूमिपर लेटे या दिनभर दोनों चरणोंके बलपर खड़ा रहे अथवा कभी आसनपर और कभी आसनसे उठकर अपना समय बिताये तथा तीनों काल स्नान करे।'

वानप्रस्थीको चाहिये कि वह अपने तपको क्रमशः बढ़ाता हुआ ग्रीष्मकालमें पञ्चाग्नि तपे अर्थात् दोपहरमें चारों ओर अग्नि जलाकर मस्तकपर सूर्यके धूपका सेवन करे। वर्षा-ऋतुमें पहाड़की चोटीपर खुले

* मनुस्मृतिमें आया है—
एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातकोद्विजः। वने वसेत्तु नियतो यथावद् विजितेन्द्रियः॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥
संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्। पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा॥ (६।१—३)

मैदानमें बैठकर वर्षाको सहन करे और शीतकालमें गीले वस्त्र धारण करे* अथवा नदी, तालाब आदि जलाशयमें गलेसे नीचेतक जलमें रहे।

एवं वानप्रस्थीको उचित है कि वह—

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन् देवांश्च तर्पयेत्।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद् देहमात्मनः॥

(मनु० ६। २४)

'तीनों समय स्नान करके पितरों और देवताओंका तर्पण करे एवं अत्यन्त कठोर तपस्या करता हुआ अपने शरीरको सुखाये।'

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥

(मनु० ६। २६)

'सुख देनेवाले विषयोंमें लिप्त होनेका यत्न न करे, ब्रह्मचर्यका पालन करे, भूमिपर सोये, निवासस्थानमें ममता न करे और वृक्षकी जड़में निवास करे।'

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु॥

(मनु० ६। २७)

'(फल-मूल आदि न मिले तो) वनवासी विप्रको चाहिये कि तपस्वी ब्राह्मणोंसे अथवा अन्य वनवासी गृहस्थ द्विजोंसे अपनी प्राण-यात्रा-निर्वाहके योग्य भिक्षा माँग ले।'

ग्रामादाहृत्य वाश्नीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन्।
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा॥

(मनु० ६। २८)

'यदि वनमें रहकर भिक्षा न मिले तो वानप्रस्थीको चाहिये कि वह गाँवसे पत्तलके टुकड़े या ठीकरेमें अथवा हाथमें ही भीख लाकर आठ ग्रास भोजन करे।'

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः॥

(मनु० ६। २९)

'वानप्रस्थी वनमें रहकर इन पूर्वोक्त तथा वानप्रस्थाश्रमके अन्य सब नियमोंका पालन करे और आत्मज्ञानकी सिद्धिके लिये उपनिषद्‌की विभिन्न श्रुतियोंका अभ्यास करे।'

तदनन्तर वानप्रस्थी द्विज जबतक शरीरपात न हो जाय, तबतक जल और वायुका भक्षण करके योगसाधन करे।

संन्यासाश्रम

इस प्रकार आयुके तीसरे भागको वनमें व्यतीत करके आयुके चतुर्थ भागमें विषयोंको त्यागकर संन्यास-आश्रम ग्रहण कर ले†। अभिप्राय यह कि पचहत्तर वर्षका हो जानेपर अग्निहोत्रादि सम्पूर्ण कर्मोंका, धर्मपत्नीका और शिखा-सूत्रका त्याग करके तथा प्राणिमात्रको अभयदान देकर संन्यास ग्रहण करे। श्रीमनुजी कहते हैं—

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः॥
यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम्।
तस्य देहाद् विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन॥

(मनु० ६। ३९-४०)

'जो ब्राह्मण सब प्राणियोंको अभयदान देकर और घरसे निकलकर संन्यास ग्रहण कर लेता है, वह ब्रह्मवादियोंके तेजोमय लोकोंको पाता है। जिस द्विजसे किसी प्राणीको थोड़ा-सा भी भय नहीं होता, उसे शरीर-त्यागके अनन्तर कहीं भी भय प्राप्त नहीं होता।'

'संन्यासीका कर्तव्य है कि वह अकेला ही विचरण करे और चातुर्मास्यके अतिरिक्त तीन दिनसे अधिक कहीं एक जगह न ठहरे। दण्ड, कमण्डलु‡, कन्था, कौपीन आदिके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुका संग्रह न करे। परिग्रहके त्यागमें ही उसका परम गौरव है। वह कञ्चन और कामिनीका कभी स्पर्श न करे; क्योंकि इनका सर्वथा त्याग ही उसका परम कर्तव्य है। वह शहरमें केवल भिक्षाके लिये ही जाय। श्रीमनुजीने कहा है—

अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्।
उपेक्षकोऽसंकसुको मुनिभावसमाहितः॥

(मनु० ६। ४३)

'संन्यासी अग्निरहित, गृहहीन, सबसे निःस्पृह, स्थिरबुद्धि, मौनी और ब्रह्मभावमें समाधिस्थ होकर समय बिताये तथा केवल भिक्षाके लिये ही गाँवमें जाय।'

एवं भिक्षाके लिये 'नारायण हरि' की आवाज उच्चारण कर देनेपर भीतरसे कोई गृहस्थ भिक्षा लेकर

---

* ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद् वर्षास्वभ्रावकाशिकः। आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः॥ (मनु० ६। २३)

† वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः। चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥ (मनु० ६। ३३)

‡ अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च। तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे॥ (मनु० ६।५३)
'संन्यासीका भिक्षापात्र धातुका न हो। पात्रमें छेद भी न हो। एवं जैसे यज्ञमें चमस शुद्ध होते हैं, वैसे ही इन पात्रोंकी जलसे शुद्धि मानी गयी है।'

न आये या ठहरनेके लिये न कहे तो वहाँ न ठहरे और दूसरे घरपर चला जाय तथा जहाँ दूसरा भिक्षु भिक्षाके लिये खड़ा हो, वहाँ भी न ठहरे।

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः।
आकीर्णं भिक्षुकैर्वान्यैरागारमुपसंव्रजेत्॥

(मनु० ६। ५१)

'जिस घरमें तपस्वी, ब्राह्मण, पक्षी, कुत्ते और अन्य भिक्षुक विद्यमान हों, वहाँ भिक्षाके लिये न जाय।'

संन्यासीको आठ पहरमें एक बार ही दिनमें भोजन करना चाहिये—

एककालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति॥

(मनु० ६। ५५)

'संन्यासी दिनमें एक बार भीख माँगे, विस्तारमें न लग जाय; क्योंकि भिक्षामें आसक्त हो जानेसे संन्यासी अन्यान्य विषयोंमें भी आसक्त हो जाता है।'

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
वृत्ते शरावसम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्॥

(मनु० ६। ५६)

'जब गृहस्थोंके घरमें रसोईका धुआँ बंद हो जाय, मूसलका काम पूरा हो जाय, अग्नि बुझ जाय और गृहस्थके भोजनके बाद जूठे सकोरे फेंक दिये जायँ, उस समय संन्यासी नित्य भिक्षाके लिये जाय।' क्योंकि अग्नि प्रज्वलित रहे तो गृहस्थ मनुष्य उस संन्यासीके उद्देश्यसे और अधिक भोजन बना सकता है। एवं संन्यासीको पाँच या सातसे अधिक गृहस्थोंके घर नहीं जाना चाहिये और उनसे जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतोष करना चाहिये—

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः॥

(मनु० ६। ५७)

'भिक्षा न मिलनेपर दुःखी न हो और मिल जानेपर हर्षित न हो। जितनेमें प्राणोंका निर्वाह हो सके, उतना ही अन्न माँगे तथा विषयोंके सङ्गसे रहित रहे।'

जहाँ अतिशय आदर-सत्कार-पूजा होते हों अथवा जहाँ अनादर होता हो, वहाँ संन्यासी भिक्षाके लिये न जाय; क्योंकि अत्यन्त सत्कारसे बन्धन हो जाता है।* संन्यासी एकान्तमें रहकर जप, ध्यान, स्वाध्याय आदि अपने नित्यकर्मका पालन करे। बिना पूछे न बोले और अनुचित पूछनेपर भी न बोले, मूकके समान आचरण करे। दीपक और अग्निको प्रज्वलित न करे। कभी किसी भी प्राणीकी किसी प्रकार किंचिन्मात्र भी कहीं हिंसा न करे। यम-नियमोंका कभी त्याग न करे। अपना जीवन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिमें ही लगाये; क्योंकि इनके करनेसे वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

संन्यासीके लिये मनुजीका आदेश है—

कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्॥
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा॥
दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह॥

(मनु० ६। ४४—४९)

'मिट्टीका सकोरा आदि भिक्षाके पात्र, रहनेके लिये वृक्षकी जड़, जीर्ण (कौपीन-कन्था आदि) वस्त्र, अकेला रहना और सबमें समान दृष्टि रखना—ये सर्वसङ्ग-परित्यागी संन्यासीके लक्षण हैं। संन्यासी न तो मरनेकी इच्छा करे और न जीनेकी ही अभिलाषा करे; किंतु जैसे सेवक वेतन पानेके लिये नियत समयकी प्रतीक्षा करता है, वैसे ही संन्यासी मरणकालकी प्रतीक्षा करे। मार्गको देखकर पैर रखे, वस्त्रसे छानकर जल पीये, सत्यसे पवित्र वचन बोले और पवित्र मनसे सब कार्य करे। दूसरेके कटुवचन सह ले, परंतु किसीका अपमान न करे और इस क्षणभङ्गुर देहका आश्रय लेकर किसीके साथ वैर न करे। दूसरेके क्रोध करनेपर उसपर क्रोध न करे। कोई अपनी निन्दा करे, तो भी उससे मीठे वचन बोले और कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, मन और बुद्धि—इन सात द्वारोंसे गृहीत हुए विषयोंकी चर्चा न करे; क्योंकि यह यतिके लिये असत्यभाषणके तुल्य है। वह सदा अध्यात्मचिन्तनके परायण रहे। पद्मासन, स्वस्तिकासन या सिद्धासनसे बैठे; सब विषयोंसे उदासीन रहे, मांसाहार कभी न करे और

* अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः। अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते॥ (मनु० ६। ५८)

मोक्षसुखका अभिलाषी होकर केवल आत्म-सहायसे ही यानी अकेला ही इस संसारमें विचरण करे।'

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥

(मनु० ६। ६०)

'इन्द्रियोंको वशमें करनेसे, राग-द्वेषके नाशसे और सम्पूर्ण प्राणियोंकी अहिंसासे संन्यासी अमृतत्व—मोक्ष पानेमें समर्थ हो जाता है।'

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥

(मनु० ६। ८०)

'जब मनुष्य मनके भावसे सम्पूर्ण विषयोंमें निःस्पृह हो जाता है, तब उसे इस संसारमें और मरनेपर परलोकमें भी नित्य सुख प्राप्त होता है।'

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते॥

(मनु० ६। ८१)

'इस प्रकारसे संन्यासी शनैः-शनैः समस्त सङ्गोंका त्याग करके मान-अपमान, राग-द्वेष, सर्दी-गरमी, सुख-दुःख आदि सभी द्वन्द्वोंसे मुक्त हो जाता है और परब्रह्म परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है।'

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति॥

(मनु० ६। ८५)

'इस क्रमयोगसे जो द्विज संन्यास ग्रहण करता है, वह यहाँ सब पापोंसे रहित होकर परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।'

इस प्रकार ऊपर चारों आश्रमोंके धर्मोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया। मनुजी कहते हैं—

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम्॥

(मनु० ६। ८८)

'शास्त्रविधिसे क्रमपूर्वक सेवन करनेपर ये चारों आश्रम यथोचित रीतिसे पालन करनेवाले ब्राह्मणको परम गतितक पहुँचा देते हैं।'

अब ब्राह्मण,क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंके धर्मोंको संक्षेपसे बतलाया जाता है।

श्रीमनुजीने कहा है—

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक् कर्माण्यकल्पयत्॥

(मनु० १। ८७)

'उन महातेजस्वी परमात्माने इस सब सृष्टिकी रक्षाके लिये अपने मुख, बाहु, जङ्घा और चरणोंसे उत्पन्न चारों वर्णोंके लिये अलग-अलग कर्मोंका निर्माण किया।'

इनकी उत्पत्तिका वर्णन श्रुतिमें इस प्रकार किया गया है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳫं शूद्रो अजायत॥

(यजुर्वेद ३१। ११)

'उन परमात्माके मुखसे ब्राह्मण, बाहुसे क्षत्रिय,जङ्घासे वैश्य और चरणोंसे शूद्र उत्पन्न हुआ।'

ब्राह्मणके धर्म

ब्राह्मणके लिये शिल और उञ्छवृत्ति सबसे श्रेष्ठ है। ऐसा ब्राह्मण ऋषिके तुल्य है। जब किसान अनाज काटकर खलिहानसे उसे घरपर ले आता है, उसके बाद उस खेतमें वर्षासे स्वाभाविक ही जो भी धान्य आदि उत्पन्न होता है, उसे लेकर जीवन-निर्वाह करना अथवा खेत या खलिहानमें गिरे हुए धान्य आदिके दानोंको बीनकर उनसे निर्वाह करना 'शिल' वृत्ति है। एवं नगरमें अनाज आदिके क्रय-विक्रयके समय जो अनाजके दाने नीचे भूमिपर गिरे रहते हैं, उनको बीनकर उनसे निर्वाह करना 'उञ्छ' वृत्ति है; इसे 'कपोत-वृत्ति' भी कहते हैं। इन दोनों—शिल और उञ्छको 'ऋत' कहा गया है।

इसके सिवा ब्राह्मणके लिये जीविकाकी साधारण वृत्ति इस प्रकार बतलायी गयी है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥

(मनु० १। ८८)

'पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना—ये छः कर्म ब्राह्मणके लिये रचे गये हैं।'

इनमें यज्ञ करना, दान देना और विद्या पढ़ना—ये तीन तो धर्म-पालनके लिये हैं और यज्ञ कराना, दान लेना और विद्या पढ़ाना—ये तीन आजीविकाके लिये।*

उपर्युक्त छहों कर्मोंका निष्कामभावसे पालन करनेपर ब्राह्मणका कल्याण हो जाता है। इनमें जो

* श्रीमनुजीने कहा है—
षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका। याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः॥ (मनु० १०। ७६)
'षट्कर्मोंमें पढ़ाना, यज्ञ कराना और विशुद्ध द्विजातियोंसे दान ग्रहण करना—ये तीनों ब्राह्मणकी जीविकाके कर्म हैं।'

दानवृत्ति है, वह बिना माँगे अपने-आप यदि दान प्राप्त हो जाय तो 'अमृत' के समान है और दान माँगकर उससे निर्वाह करना 'मृत' है, अतः निन्दनीय है।

यदि ब्राह्मणका ब्राह्मणके कर्मोंसे निर्वाह न हो तो आपत्तिकालमें ब्राह्मण क्षत्रिय अथवा वैश्यकी वृत्तिसे अपना निर्वाह कर सकता है। श्रीमनुजीने कहा है—

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः॥
उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद् भवेत्।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद् वैश्यस्य जीविकाम्॥

(मनु० १०। ८१-८२)

'यदि ब्राह्मण अपनी जीविकासे जीवन-निर्वाह करनेमें असमर्थ हो तो क्षत्रियकी वृत्तिसे जीविका करे; क्योंकि यह उसके निकटका वर्ण है एवं यदि ब्राह्मणवृत्ति और क्षत्रिय-वृत्ति—दोनोंसे भी ब्राह्मणको जीविका चलानेमें कठिनता हो तो वह खेती, गोरक्षा, वाणिज्य आदि वैश्यकी जीविकासे निर्वाह करे।'

किंतु ब्राह्मणको शूद्रकी वृत्तिका अवलम्बन आपत्ति-कालमें भी नहीं करना चाहिये। श्रीमनुजीने ब्राह्मणके लिये ऋत आदिकी व्याख्या करते हुए कहा है—

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥

(४। ४—६)

'ब्राह्मण ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत या सत्यानृतसे अपना जीवन बिताये; परंतु श्ववृत्ति अर्थात् सेवावृत्ति न करे। उञ्छ और शिलको 'ऋत' जानना चाहिये। बिना माँगे मिला हुआ 'अमृत' है। माँगी हुई भिक्षा 'मृत' कहलाती है तथा खेतीको 'प्रमृत' कहते हैं। वाणिज्यको 'सत्यानृत' कहते हैं, उससे भी जीविका चलायी जा सकती है; किंतु सेवाको श्ववृत्ति कहा गया है, इसलिये उसका त्याग कर देना चाहिये।'

क्षत्रियके धर्म

श्रीमनुजीने संक्षेपमें क्षत्रियके कर्तव्य-कर्म इस प्रकार बतलाये हैं—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥

(१। ८९)

'प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और विषयोंमें अनासक्ति—ये संक्षेपमें क्षत्रियके कर्म बताये गये हैं।'

भगवान्ने गीतामें क्षत्रियके कर्मोंका वर्णन यों किया है—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

(१८। ४३)

'शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें न भागना, दान देना और स्वामिभाव—ये सब-के-सब ही क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं।'

यदि क्षत्रियका क्षत्रियके कर्मसे निर्वाह न हो तो आपत्तिकालमें वह वैश्यकी वृत्तिसे अपना जीवन-निर्वाह करे।

श्रीमनुस्मृतिमें आया है—

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित्॥

(१०। ९५)

'आपत्तिग्रस्त क्षत्रिय सभी पदार्थोंके क्रय-विक्रय आदि पूर्वोक्त वैश्यवृत्तिसे जीविका चला सकता है; किंतु आपत्तिकालमें भी ब्राह्मणकी जीविकाकी अभिलाषा कभी न करे।'

वैश्यके धर्म

श्रीमनुजी कहते हैं—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥

(१। ९०)

'पशुओंकी रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार तथा ब्याज और खेती—ये सब कर्म वैश्यके लिये बताये गये हैं।'

गीतामें वैश्यका कर्म बतलाते हुए भगवान्ने कहा है—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

(१८। ४४का पूर्वार्द्ध)

'खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं।'

अतः इनमें खेती करना, पवित्र पदार्थोंका क्रय-विक्रयरूप व्यापार करना, गौ, भैंस, बकरी, भेड़ आदि पशुओंका पालन करना एवं व्यापारमें या बिना व्यापार ब्याज लेना—ये वैश्यकी जीविकाके कर्म हैं। इनमेंसे केवल

ब्याजपर निर्भर रहना निन्दनीय है। यदि वैश्यका अपनी वैश्यवृत्तिसे काम न चले तो वह आपत्तिकालमें शिल्प आदिका काम कर सकता है अथवा शूद्रवृत्तिका अवलम्बन लेकर—सेवा करके भी निर्वाह कर सकता है।

श्रीमनुजीने कहा है—

वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत्।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान्॥

(१०। ९८)

'वैश्य अपने धर्मसे जीविका करनेमें असमर्थ हो तो वह न करनेयोग्य कर्मोंको छोड़कर शूद्रकी वृत्तिसे भी निर्वाह कर सकता है, परंतु समर्थ होनेपर शूद्रवृत्ति छोड़ दे।'

उपर्युक्त तीनों वर्णोंके कर्मोंमें वेदाभ्यास ब्राह्मणके लिये और प्रजाका पालन क्षत्रियके लिये एवं व्यापार-कर्म वैश्यके लिये श्रेष्ठ है;* किंतु यज्ञ करना, दान देना और वेदाध्ययन—ये क्षत्रिय और वैश्यके लिये भी विहित हैं। इनका निष्कामभावसे पालन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो परमात्माको प्राप्त हो जाता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(१८। ५-६)

'यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं हैं, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म विवेकी पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं। इसलिये हे पार्थ ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये। यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।'

शूद्रके धर्म

श्रीमनुस्मृतिमें आया है—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥

(१। ९१)

'प्रभुने शूद्रको एक ही कर्म करनेका आदेश दिया है कि वह इन चारों वर्णोंकी ईर्ष्यारहित होकर सेवा करे।'

गीतामें भगवान्ने भी कहा है—

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्

(१८। ४४ का उत्तरार्ध)

'सब वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है।'

अतः शूद्रके लिये सब वर्णोंकी सेवा करना यह एक ही आजीविकाका कर्म है। आपत्तिकालमें वह शिल्पवृत्तिसे निर्वाह कर सकता है।

श्रीमनुजीने कहा है—

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम्।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत् कारुककर्मभिः॥

(मनु० १०। ९९)

'जो शूद्र द्विजातियोंकी सेवा करनेमें असमर्थ हो और जिसके स्त्री-पुत्र क्षुधासे पीड़ित हों, वह कारीगरीसे जीविका चला सकता है।'

किंतु वह आपत्तिकालमें भी ब्राह्मणका कर्म कभी न करे।

इस प्रकार ऊपर चारों वर्णोंके धर्मोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया। इनके सिवा वर्णधर्मकी अन्य बातें समूहरूपसे गृहस्थाश्रमधर्मके वर्णनमें पहले बतलायी जा चुकी हैं।

इस वर्ण-विभागके बिना तो किसी मनुष्यका भी कार्य नहीं चल सकता। पहले समूची पृथ्वीपर ही इसका प्रचार था। अब भी भारतवर्षमें तो यह प्रचलित है ही, भारतवर्षके सिवा यूरोप, अमेरिका आदि देशोंमें भी यह प्रकारान्तरसे प्रचलित है। भेद इतना ही है कि यहाँ जन्म और कर्म दोनोंसे वर्ण माना जाता है और वहाँ केवल कर्मकी ही प्रधानता है। जैसे मौलबी, पादरी, अध्यापक, व्याख्यानदाता आदि जो कार्य करते हैं, वह एक प्रकारसे ब्राह्मणका ही काम है। सैनिक, योद्धा, शासक, रक्षक और न्यायकर्ता आदि क्षत्रियका ही काम करते हैं। व्यापारी, किसान, पशुरक्षक आदि वैश्यका ही काम करते हैं एवं श्रमिक, सेवक, शिल्पी (कारीगर) आदि शूद्रका ही काम करते हैं। इस प्रकार ये चार विभाग विदेशोंमें भी हैं; पर हैं कर्मसे। इस विभागके बिना तो किसी भी देशका कार्य नहीं चल सकता। किंतु शास्त्रोंमें जन्म और कर्म दोनोंसे ही वर्ण-विभाग माना गया है और उसीमें सबका परम हित है। यदि जातिका ब्राह्मण है और उसके आचरण शूद्रके-से हैं तो वह ब्राह्मण वास्तवमें ब्राह्मण नहीं है। इसी प्रकार जातिका तो शूद्र है, किंतु आचरण ब्राह्मणके-जैसे हैं तो वह शूद्र शूद्र नहीं है। महाभारतमें सर्परूपधारी नहुषके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए महाराज युधिष्ठिरने कहा है—

* वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम्। वार्ताकर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु॥ (मनु० १०। ८०)

शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥

(महा० वन० १८०। २५-२६)

'सर्प! यदि शूद्रमें उपर्युक्त सत्य आदि ब्राह्मणोचित लक्षण हैं और ब्राह्मणमें नहीं हैं तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है। सर्प! जिसमें ये सत्य आदि लक्षण विद्यमान हों, वह ब्राह्मण माना गया है और जिसमें इन लक्षणोंका अभाव हो, उसे शूद्र कहना चाहिये।'

महाराज युधिष्ठिरने यक्षके प्रश्नका उत्तर देते हुए भी यही कहा है—

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः॥

(महा० वन० ३१३। १११)

'चारों वेद पढ़ा होनेपर भी जो दुराचारी है, वह शूद्रसे भी बढ़कर नीचा है। जो नित्य अग्निहोत्रमें तत्पर और जितेन्द्रिय है, वही ब्राह्मण कहा जाता है।'

आत्माके उद्धारमें तो आचरण प्रधान है तथा संसारकी सामाजिक और व्यावहारिक सुव्यवस्थामें जाति प्रधान है। उदाहरणके लिये यदि घरमें विवाह, यज्ञ या श्राद्ध आदि कराना है अथवा देव या पितृ-कर्ममें ब्राह्मणभोजन कराना है तो उसमें जातिसे ब्राह्मणकी ही प्रधानता है; क्योंकि उसके लिये ब्राह्मणको ही बुलाना उचित है, शूद्रको नहीं।

अतः शास्त्रोंमें बतलाये हुए अपने-अपने धर्मका पालन करना चाहिये, इसीमें सबका परम हित और कल्याण है। श्रीमनुजीने कहा है—

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः॥

(मनु० १०। ९७)

'अपना धर्म गुणरहित हो, तो भी श्रेष्ठ है और परधर्म अच्छी प्रकार अनुष्ठान किया हुआ भी श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि परधर्मसे जीवन बितानेवाला मनुष्य तुरंत अपनी जातिसे पतित हो जाता है।'

गीतामें भगवान्ने भी कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३। ३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मकी अपेक्षा गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्मके पालनमें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।

स्वधर्म-पालनका महत्त्व और फल भगवान्ने यों बतलाया है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४५-४६)

'अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको सुनो। जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा (सेवा) करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

अभिप्राय यह है कि भगवान् इस जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-संहार करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबके प्रेरक, सबके आत्मा, सर्वान्तर्यामी और सबमें व्यापक हैं, यह सारा जगत् उन्हींकी रचना है और वे स्वयं ही अपनी योगमायासे जगत्के रूपमें प्रकट हुए हैं, अतः यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्का है तथा मेरे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा मेरे द्वारा जो कुछ भी यज्ञ, दान आदि स्ववर्णाश्रमोचित कर्म किये जाते हैं, वे सब भी भगवान्के हैं और मैं स्वयं भी भगवान्का हूँ—ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि समस्त देवताओंके एवं प्राणियोंके आत्मा होनेके कारण वे ही समस्त कर्मोंके भोक्ता हैं (गीता ५। २९)—इस प्रकार परम श्रद्धा-विश्वासके साथ समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके भगवान्के आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा जो समस्त जगत्का आदर-सत्कार और सेवा करता है अर्थात् समस्त प्राणियोंको सुख पहुँचानेके लिये उनके हितमें रत हुआ उपर्युक्त प्रकारसे स्वार्थ-त्यागपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करता है, वह मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

इन श्लोकोंमें 'नर' और 'मानव' शब्द देकर भगवान्ने यह व्यक्त किया है कि प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रममें क्यों न हो, अपने कर्मोंसे भगवान्की पूजा करके परम सिद्धिरूप परमात्माको प्राप्त कर सकता है; परमात्माको प्राप्त करनेमें सभी

मनुष्योंका समान अधिकार है। अपने अध्ययनाध्यापन आदि कर्मोंको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के समर्पण करके उनके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला ब्राह्मण जिस पदको प्राप्त होता है, अपने प्रजापालनादि कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला क्षत्रिय भी उसी पदको प्राप्त होता है; उसी प्रकार अपने वाणिज्य, गोरक्षा आदि कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला वैश्य तथा अपने सेवा-सम्बन्धी कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला शूद्र भी उसी परमपदको प्राप्त होता है। यही बात आश्रमधर्मके सम्बन्धमें समझ लेनी चाहिये।

अतएव कर्मबन्धनसे छूटकर परमात्माको प्राप्त करनेका, जो मानव-जीवनका चरम उद्देश्य और लक्ष्य है, यह बहुत ही सुगम मार्ग है। इसलिये मनुष्यको उपर्युक्त निष्कामभावसे तत्परतापूर्वक अपने धर्मका पालन करना चाहिये, भारी आपत्ति पड़नेपर भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। महाभारतमें बतलाया भी है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गारोहण० ५। ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवन-रक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है।'

इसलिये मरण-संकट उपस्थित होनेपर भी मनुष्यको चाहिये कि वह हँसते-हँसते मृत्युको स्वीकार कर ले, पर स्वधर्मका त्याग किसी भी हालतमें न करे। इसीमें मनुष्यका सब प्रकारसे कल्याण है।

इन्द्रियों और मनका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद, संयम और वैराग्य

परमात्माकी प्राप्तिमें ये तीन बातें बहुत ही सहायक हैं—

१-इन्द्रियों और मनको अपने-अपने विषयोंसे रोकना अर्थात् उनका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करना।

२-इन्द्रियों और मनको अपने वशमें कर लेना।

३-मन-इन्द्रियोंके विषयरूप इस संसारसे तीव्र वैराग्य करना।

इनमें इन्द्रियों और मनका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी अपेक्षा उनको अपने वशमें करना विशेष लाभदायक है; क्योंकि मनको वशमें किये बिना परमात्माकी प्राप्तिरूप योगकी सिद्धि सम्भव नहीं।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें बतलाया है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(६। ३६)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है।'

इन्द्रियोंका नियन्त्रण मनके नियन्त्रणके अन्तर्गत ही है; क्योंकि भगवान्‌ने पहले इन्द्रियोंको वशमें करनेके पश्चात् मनको वशमें करनेकी बात गीता अध्याय ३ श्लोक ४१, ४३में कही है।

मन-इन्द्रियोंको वशमें करनेकी अपेक्षा संसारसे वैराग्य करना और भी उत्तम है; क्योंकि वैराग्यसे ही मन वशमें होता है (गीता ६। ३५)। जब वैराग्यसे मन ही वशमें हो जाता है, तब उससे इन्द्रियाँ वशमें होनेकी तो बात ही क्या है! तथा वैराग्यसे ही मन और इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद भी हो जाता है।

वैराग्यके बिना कर्मयोग, भक्तियोग, अष्टाङ्गयोग, ज्ञानयोग—किसी भी साधनकी सिद्धि नहीं होती। वैराग्य होनेसे ही ये सब साधन सिद्ध होते हैं; क्योंकि साधनमें वैराग्य ही प्रधान है।

भगवान्‌ने गीतामें वैराग्य—आसक्तिके अभावसे ही कर्मयोगकी सिद्धि बतलायी है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

(६। ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें समस्त संकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है।'

इसी प्रकार भक्तियोगके साधनमें भी भगवान्‌ने आसक्तिके अभावरूप वैराग्यकी आवश्यकता दिखलायी है—

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥

(गीता १५। ३ का उत्तरार्ध)

'इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़

मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर (परमपदरूप परमेश्वरके शरण हो उनको खोजना चाहिये)।'

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः।

(गीता १५। ५ का प्रथम चरण)

'जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है (वे ज्ञानीजन अव्ययपदको प्राप्त करते हैं)।'

मद्भक्तः सङ्गवर्जितः। (गीता ११। ५५ का दूसरा चरण)

'जो मेरा भक्त और आसक्तिसे रहित है (वह मुझको प्राप्त होता है)।'

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

(गीता १४। २६ का पूर्वार्ध)

'जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है (वह ब्रह्मको प्राप्त करनेमें समर्थ है)।'

क्योंकि भक्तियोगके साधकको भगवान्‌में अनन्य प्रेम हुए बिना भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि किसी भी पदार्थमें ममता और प्रीति है तो वह अनन्य भक्ति नहीं, वह तो भक्तिमें कलङ्क है।

इसी प्रकार अष्टाङ्गयोगकी सिद्धि भी वैराग्यसे ही होती है। चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको योग कहते हैं—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (योगदर्शन १। २)

उन चित्तवृत्तियोंके निरोधका उपाय महर्षि पतञ्जलिजीने यों बतलाया है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (योगदर्शन १। १२)

'उन चित्तवृत्तियोंका निरोध अभ्यास और वैराग्यसे होता है।' अतः चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप योगमें भी वैराग्य प्रधान है। तथा आगे जाकर श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

तीव्रसंवेगानामासन्नः। (योगदर्शन १। २१)

'जिनके अभ्यास-वैराग्यरूप साधनकी गति तीव्र है, उनकी (निर्बीज समाधि) शीघ्र सिद्ध होती है।'

तीव्र वैराग्यसे ही साधनकी गति तीव्र होती है और तीव्र वैराग्यको ही 'पर-वैराग्य' बतलाया गया है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। (योगदर्शन १। १६)

'पुरुषके ज्ञानसे जो प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका सर्वथा अभाव हो जाना है, वह 'पर-वैराग्य' है।'

इससे ज्ञानकी प्राप्ति शीघ्र होती है।

ऐसे ही ज्ञानयोग-निष्ठाकी सिद्धिमें भी वैराग्यकी प्रधानता है। गीतामें ज्ञानयोगकी परानिष्ठाका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने प्रधानतासे नित्य ध्यानयोगके परायण रहने और वैराग्यका आश्रय लेनेका ही आदेश दिया है—

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥

(गीता १८। ५२ का उत्तरार्ध)

'निरन्तर ध्यानयोगके परायण और भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला पुरुष (ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये समर्थ होता है)।'

तथा गीता अध्याय १३ श्लोक ७ से ११ तक जो ज्ञानके बीस साधन बतलाये गये हैं, उनमें भी वैराग्यका बार-बार वर्णन किया गया है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।

(गीता १३। ८,९ का पूर्वार्ध)

'इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना; पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव तथा ममताका न होना—(ये सब ज्ञानकी प्राप्तिके साधन हैं)।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि मन-इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद, मन-इन्द्रियोंका संयम और संसारसे तीव्र वैराग्य—इन तीनोंमें वैराग्य ही प्रधान है।

देखनेमें भी आता है कि जब-जब चित्तमें वैराग्य होता है, तब-तब स्वतः ही साधन तेज होने लगता है और मन-इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही संसारके पदार्थोंसे उपरत होकर परमात्मामें अनायास लग जाती हैं तथा वैराग्यके बिना तो प्रयत्न करनेपर भी मन परमात्मामें कठिनतासे ही लग पाता है और लगकर भी स्थिर नहीं रहता। अतः वैराग्यके बिना परमात्माकी प्राप्तिके किसी भी साधनकी सिद्धि होनी कठिन है।

एवं मन-इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर भी वैराग्यके बिना स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त नहीं होती। भगवान्‌ने कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(गीता २। ५९)

इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परंतु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।

मन-इन्द्रियाँ वशमें होनेपर भी यदि संसारसे

वैराग्य नहीं है तो उसका कल्याण होना कठिन है। योगदर्शनके विभूतिपादमें बतलाया गया है—

त्रयमेकत्र संयमः। (योगदर्शन ३।४)

'किसी एक ध्येय विषयमें धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनोंका होना 'संयम' है।'

किंतु मन-इन्द्रियाँ वशमें हुए बिना इन तीनोंकी सिद्धि ही नहीं हो सकती तथा इस 'संयम' के द्वारा ही हर प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ये सभी सिद्धियाँ आत्मकल्याणमें विघ्न हैं। अतः इनसे वैराग्य होनेपर ही मनुष्यका संसार-सागरसे उद्धार हो सकता है—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।

(योगदर्शन ३।५०)

'उपर्युक्त सिद्धियोंमें भी वैराग्य होनेसे दोषके बीजका नाश हो जानेपर कैवल्यकी प्राप्ति हो जाती है।'

इससे यही सिद्ध हुआ कि मन-इन्द्रियोंके संयमकी अपेक्षा वैराग्य ही श्रेष्ठ है।

वैराग्य—रागके अभावसे द्वेषका अभाव तो स्वतः ही हो जाता है; क्योंकि जहाँ राग नहीं है, वहाँ द्वेष सम्भव नहीं। अनुकूलमें रागबुद्धि होनेसे ही तो प्रतिकूलमें द्वेषबुद्धि होती है। महर्षि पतञ्जलिजीने पञ्चक्लेशोंमें रागके बाद ही द्वेषका उल्लेख किया है—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।

(योगदर्शन २।३)

'अविद्या (अज्ञान), अस्मिता (चेतन और जडकी एकता), राग, द्वेष और अभिनिवेश (मरनेका भय)—ये पाँचों (दुःखप्रद होनेके कारण) 'क्लेश' हैं।'

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्.........।

(योगदर्शन २।४)

'ऊपर जिनका वर्णन अविद्याके बाद किया गया है, उन अस्मिता आदि चारों क्लेशोंका कारण अविद्या है।'

अतः अविद्याके नाशसे अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन चारोंका नाश हो जाता है, इस न्यायसे रागके नाशसे द्वेष और अभिनिवेशका स्वतः ही नाश हो जाता है।

इसलिये गीतामें केवल आसक्तिके नाशसे ही परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

(गीता ३।१९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

कर्मयोगके साधनमें मन-इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध रहते हुए भी राग-द्वेषका अभाव और मन-इन्द्रियाँ वशमें होनेपर साधकका कल्याण हो सकता है। भगवान्ने बतलाया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(गीता २।६४-६५)

'परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

इसी प्रकार भक्तियोगके साधनमें भी भगवान्के शरण हो जानेपर मन-इन्द्रियोंके द्वारा कर्म करते हुए भी भगवत्कृपासे कल्याण हो सकता है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(गीता १८।५६)

'मेरे परायण हुआ पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परम पदको प्राप्त हो जाता है।'

इसी प्रकार ज्ञानयोगके साधनमें भी मन-इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ भी साधक परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

भगवान्ने कहा है—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(गीता ५।८-९)

'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्याग करता हुआ, ग्रहण करता हुआ

तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निस्संदेह यह माने कि मैं कुछ भी नहीं करता।'

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(गीता १४। १९)

'जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।'

फिर भी साधकको उचित है कि मन-इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संसर्ग न करे; क्योंकि इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर वे इन्द्रियाँ मनुष्यके मनको बलात् हरण कर लेती हैं। फिर मन और इन्द्रियाँ—ये दोनों मिलकर इसकी बुद्धिको हरण कर लेते हैं, जिससे इसका पतन हो जाता है।

भगवान्‌ने कहा है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

(गीता २। ६०)

'अर्जुन! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथन-स्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं।'

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

(गीता २। ६७)

'क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरण करती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त (साधनरहित) पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है।'

इसलिये साधकको इन्द्रियों और विषयोंके संसर्गसे सदा दूर ही रहना चाहिये; क्योंकि इन्द्रियाँ विद्वान् पुरुषके भी चित्तको मोहित करके विषयोंकी ओर आकर्षित कर लेती हैं। श्रीमनुजीने बतलाया है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(मनु० २। २१५)

'मनुष्यको चाहिये कि माता, बहिन या लड़कीके साथ भी एकान्तमें न बैठे; क्योंकि बलवान् इन्द्रियोंका समूह विद्वान्‌को भी (विषयभोगकी ओर) खींच लेता है।'

देखनेमें भी आता है कि कोई सुन्दरी युवती स्त्री सामने आनेपर मनुष्य उसे देखने लगता है तो मन उसे धोखा देता है कि देखनेमात्रमें कोई थोड़े ही पाप है; परंतु देखते-देखते मन उसमें रस लेने लगता है और फिर उसमें पापबुद्धि होकर उसका पतन हो जाता है। इसी तरह जिह्वा-इन्द्रियके विषयमें—मेवा, मिष्टान्न, फल आदि मधुर और रुचिकर पदार्थोंके प्राप्त होनेपर मन धोखा देता है कि इनको खानेमें कोई हानि नहीं है, किंतु उनको खानेपर उनमें स्वाद और सुखबुद्धि होकर वह उसमें फँस जाता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके विषयोंमें भी समझ लेना चाहिये तथा साधकको विषयोंके संसर्गसे सदा सावधान रहना चाहिये। भगवान् गीतामें कहते हैं—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(२। ६८)

'इसलिये महाबाहो! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है।'

केवल मनसे विषयोंका चिन्तन भी साधकके लिये सारे अनर्थोंका मूल है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २। ६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें बाधा पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है।'

अतएव साधकको मन और इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध जितना कम-से-कम हो, वैसी चेष्टा करनी चाहिये। यदि संसर्ग करना हो तो मन-इन्द्रियोंको वशमें करके और ममता तथा रागद्वेषसे रहित होकर या भगवान्‌के शरण होकर अथवा भगवान्‌के तत्त्वको समझकर संसर्ग करना चाहिये। यही कल्याणका मार्ग है।

भक्तों और ज्ञानियोंके लिये भी शास्त्रविहित कर्मोंकी परम आवश्यकता

जिन मनुष्योंको शास्त्रोंका ज्ञान नहीं है और जिनकी शास्त्रोंपर श्रद्धा नहीं है, वे अज्ञ मनुष्य भक्ति अथवा ज्ञानका बहाना बनाकर शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कर देते हैं; किंतु श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणोंमें शास्त्रोक्त कर्मोंका त्याग किसीके लिये भी नहीं बताया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(१८।५)

'यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करने योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्यकर्तव्य है; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये ज्ञानी पुरुषोंको भी पवित्र करनेवाले हैं।'

इतना ही नहीं, भगवान्ने इसके लिये यहाँतक कह दिया है—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(गीता १८।६)

'इसलिये हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये। यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।'

शास्त्रविहित निष्कामकर्मके बिना तो ज्ञानयोगकी सिद्धि भी सरलतासे नहीं होती—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।

((गीता ५।६ का पूर्वार्ध)

'हे अर्जुन! कर्मयोगके बिना तो संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग होना भी कठिन है।'

तथा भक्तियोगमें भी भगवदर्पण किया हुआ कर्म परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला बताया गया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(गीता ९।२७-२८)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे। इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे समर्पणयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

अतः ज्ञानयोगी और भक्तियोगी दोनोंके लिये ही शास्त्रविहित कर्मोंकी अत्यन्त आवश्यकता है। फिर इसमें तो कहना ही क्या है कि कर्मयोगीके लिये कर्म अत्यावश्यक है; क्योंकि उसका तो कर्मयोग कर्म किये बिना सिद्ध ही नहीं हो सकता—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।

(गीता ३।४ का पूर्वार्ध)

'कर्मोंका आरम्भ किये बिना मनुष्य निष्कर्मताको यानी योगनिष्ठाको नहीं प्राप्त होता।'

इसीलिये योगको प्राप्त करनेकी इच्छावाले मनुष्य निष्कामकर्मका आचरण करते हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

(गीता ६।३का पूर्वार्ध)

'योगमें आरूढ़ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें निष्कामभावसे कर्म करना ही हेतु कहा जाता है।'

ज्ञानयोगकी सिद्धि भी कर्मोंके त्यागसे नहीं हो सकती। भगवान् कहते हैं—

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।

(गीता ३।४का उत्तरार्ध)

'केवल कर्मोंके त्यागमात्रसे मनुष्य सिद्धि यानी ज्ञाननिष्ठाको नहीं प्राप्त होता।'

इसलिये किसी भी दृष्टिसे कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं। कितने ही लोग आसन लगाकर बैठ जाते हैं और परमात्माके ध्यानके बहाने भोली-भाली जनताको ठगते हैं। उनके केवल ऊपरी आसन लगानेके ढंगको देखकर ही भ्रममें पड़कर उनके चंगुलमें नहीं फँसना चाहिये। जो बाहरी इन्द्रियोंको समेटकर भीतरसे विषयोंका चिन्तन करते हैं, उनको तो भगवान्ने दम्भाचारी बतलाया है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

(गीता ३।६)

'जो मूढ़बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।'

कितने ही लोग भक्तिका बहाना लेकर कहते हैं कि 'भक्तको कोई भी कर्म करनेकी कोई आवश्यकता

नहीं, भक्तिके प्रभावसे उसके सब कार्य स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं' तथा वे संध्या-गायत्री, यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कर देते हैं। वे यह नहीं समझते कि भक्तिके बहाने शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करनेसे मनुष्य पतित हो जाता है। श्रीनारदपुराणमें बतलाया गया है—

नोपास्ते यो द्विजः संध्यां धूर्तबुद्धिरनापदि।
पाखण्डः स हि विज्ञेयः सर्वधर्मबहिष्कृतः॥
यस्तु संध्यादिकर्माणि कूटयुक्तिविशारदः।
परित्यजति तं विद्यान्महापातकिनां वरम्॥

(२७। ६७-६८)

'जो धूर्त बुद्धिवाला द्विज आपत्तिकाल न होनेपर भी संध्योपासन नहीं करता, उसे सब धर्मोंसे भ्रष्ट एवं पाखण्डी समझना चाहिये। जो कपटपूर्ण झूठी युक्ति देनेमें चतुर होनेके कारण संध्या आदि कर्मोंको अनावश्यक बताते हुए उनका त्याग कर देता है, उसे महापातकियोंका सिरमौर समझना चाहिये।'

यः स्वधर्मं परित्यज्य भक्तिमात्रेण जीवति।
न तस्य तुष्यते विष्णुराचारेणैव तुष्यति॥
सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥
तस्मात् कार्या हरेर्भक्तिः स्वधर्मस्याविरोधिनी।
सदाचारविहीनानां धर्मा अप्यसुखप्रदाः॥
स्वधर्महीना भक्तिश्चाप्यकृतैव प्रकीर्तिता।

(ना० पु० १५। १५३—१५६)

'जो स्वधर्मका परित्याग करके भक्तिमात्रसे जीवन धारण करता है, उसपर भगवान् विष्णु संतुष्ट नहीं होते। वे तो धर्माचरणसे ही संतुष्ट होते हैं। सम्पूर्ण आगमोंमें आचारको प्रथम स्थान दिया गया है। आचारसे धर्म प्रकट होता है और धर्मके स्वामी साक्षात् भगवान् विष्णु हैं। इसलिये स्वधर्मका विरोध न करते हुए श्रीहरिकी भक्ति करनी चाहिये। सदाचार-शून्य मनुष्योंको धर्म भी सुख देनेवाले नहीं होते। स्वधर्मपालनके बिना की हुई भक्ति भी नहीं की हुईके समान ही कही गयी है।'

हरिभक्तिपरो वापि हरिध्यानपरोऽपि वा।
भ्रष्टो यः स्वाश्रमाचारात् पतितः सोऽभिधीयते॥

(ना० पु० ४। २४)

'भगवान् श्रीहरिकी भक्तिमें तत्पर तथा श्रीहरिके ध्यानमें लीन होकर भी जो अपने वर्णाश्रमोचित आचारसे भ्रष्ट हो, उसे पतित कहा जाता है।'

वेदो वा हरिभक्तिर्वा भक्तिर्वापि महेश्वरे।
आचारात् पतितं मूढं न पुनाति द्विजोत्तम॥

(ना० पु० ४। २५)

'द्विजश्रेष्ठ! वेद, भगवान् विष्णुकी भक्ति अथवा शिव-भक्ति भी आचारभ्रष्ट मूढ़ पुरुषको पवित्र नहीं करती।'

इसलिये भक्तिमार्गपर चलनेवाले मनुष्यको कभी भूलकर भी शास्त्रविहित उत्तम आचरणोंका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि जो ईश्वर-भक्ति शास्त्रविहित सदाचार-पालनपूर्वक की जाती है, वही प्रशंसनीय और कल्याणकारिणी है। श्रीनारदपुराणमें बतलाया गया है—

ज्ञानलभ्यं परं मोक्षमाहुस्तत्त्वार्थचिन्तकाः।
यज्ज्ञानं भक्तिमूलं च भक्तिः कर्मवतां तथा॥

(३३। २७)

'तत्त्वार्थका विचार करनेवाले पुरुष कहते हैं कि परम मोक्ष ज्ञानसे ही प्राप्त हो सकता है। उस ज्ञानका मूल है भक्ति और भक्ति प्राप्त होती है अपने कर्तव्यकर्मोंका आचरण करनेवालोंको।'

तथा—

सदाचारपरो विप्रो वर्द्धते ब्रह्मतेजसा।
तस्य विष्णुश्च तुष्टः स्याद् भक्तियुक्तस्य नारद॥

(ना० पु० ३। ७८)

'नारदजी! सदाचारपरायण ब्राह्मण अपने ब्रह्मतेजके साथ वृद्धिको प्राप्त होता है। उस सदाचारी भक्तिसम्पन्न पुरुषपर भगवान् विष्णु बहुत प्रसन्न होते हैं।'

ब्रह्माजीने यज्ञादि कर्मोंकी और प्रजाकी रचना करके मनुष्योंको कर्म करनेके लिये विशेषरूपसे आज्ञा दी है एवं उन शास्त्रविहित कर्मोंको न करनेवालेको चोर बतलाया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

(गीता ३। १०—१२)

'प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित फलभोग प्रदान करनेवाला हो। तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याण (मुक्ति)

को प्राप्त हो जाओगे। यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको दिये बिना स्वयं भोगता है, वह चोर ही है।'

इतना ही नहीं, भगवान्‌ने उसे पापायु, इन्द्रियाराम और व्यर्थजीवन बतलाया है—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

(गीता ३। १६)

हे पार्थ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।'

यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करके जो अपने इच्छानुसार चलता है, उसकी भगवान्‌ने निन्दा की है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६। २३)

'जो पुरुष शास्त्रविधिका त्याग कर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है,वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न सुखको ही।'

अतएव जो मनुष्य अपनेको ज्ञानी-महात्मा बताकर शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कर देते हैं, वे बेसमझीके कारण गलती करते हैं; क्योंकि—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः

(गीता ३। २०का पूर्वार्ध)

'जनकादि ज्ञानियोंने आसक्तिरहित कर्मके द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की है।'

भगवान् श्रीकृष्णने यहाँ अर्जुनको यह आदेश दिया है कि तू मेरा भक्त है, इसलिये लोकसंग्रहकी ओर दृष्टिपात करके अर्थात् संसारके हितके लिये भी तुझे कर्म करना ही चाहिये—

लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि

(गीता ३। २०का उत्तरार्ध)

यही नहीं, भगवान् अपना उदाहरण देकर भी वर्णाश्रमानुसार शास्त्रविहित कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

(गीता ३। २२—२४)

'हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्म ही करता हूँ; क्योंकि पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान हुआ कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। इसलिये यदि मैं शास्त्रविहित कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।'

अतः ज्ञानी पुरुषोंको भी संसारके हितकी दृष्टिसे कर्म अवश्य ही करने चाहिये। अज्ञानी और ज्ञानीके कर्मोंमें अन्तर केवल इतना ही है कि अज्ञानी सकाम मनुष्य कर्मोंमें आसक्त होकर कर्म करते हैं और ज्ञानियोंको अनासक्त भावसे कर्म करने चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

(गीता ३। २५)

'हे भारत! कर्ममें आसक्त हुए (सकाम) अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।'

इससे यह सिद्ध हो गया कि जो मनुष्य ज्ञानी बनकर यह कहता है कि मेरे लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है और यों कहकर जो कर्मोंकी अवहेलना करता है, वह वास्तवमें ज्ञानी ही नहीं है। श्रीनारदपुराणमें बताया गया है—

यः स्वाचारपरिभ्रष्टः साङ्गवेदान्तगोऽपि वा।
स एव पतितो ज्ञेयो यतः कर्मबहिष्कृतः॥

(४। २३)

'जो छहों अङ्गोंसहित वेदों और उपनिषदोंका ज्ञाता होकर भी अपने वर्णाश्रमोचित आचारसे गिरा हुआ है, उसीको पतित समझना चाहिये; क्योंकि वह धर्म-कर्मसे भ्रष्ट हो चुका है।'

अतः जो भगवान्‌के भक्त हैं, उनको तो शास्त्रविहित कर्मोंको अवश्य ही करना चाहिये। यदि भक्त ही शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कर देगा तो फिर शास्त्रविहित कर्मोंको करेगा कौन? भक्तके लिये तो निष्कामभावसे शास्त्रविहित कर्मोंको करना श्रेयस्कर है। मुनिवर श्रीसनकजीने नारदजीसे कहा है—

स्वाचारमनतिक्रम्य हरिभक्तिपरो हि यः।
स याति विष्णुभवनं यद् वै पश्यन्ति सूरयः॥

(ना० पु० ४। २०)

'जो अपने वर्णाश्रमोचित आचारका उल्लङ्घन न करता हुआ ही भगवान्‌की भक्तिमें तत्पर है, वह ही उस वैकुण्ठधाममें जाता है, जिसका दर्शन ज्ञानी भक्तोंको ही सुलभ होता है।'

स्वाश्रमाचारयुक्तस्य हरिभक्तिर्यदा भवेत्।
न तस्य त्रिषु लोकेषु सदृशोऽस्त्यजनन्दन॥

(ना० पु० ४। ३१)

'नारदजी! अपने वर्ण और आश्रमके आचारका पालन करनेमें लगे हुए पुरुषको यदि भगवान् विष्णुकी भक्ति प्राप्त हो जाय तो तीनों लोकोंमें उसके समान दूसरा कोई नहीं है।'

अतः—

वेदोदितानि कर्माणि कुर्यादीश्वरतुष्टये।
यथाश्रमं त्यक्तुकामः प्राप्नोति पदमव्ययम्॥

(ना० पु० ३। ७६)

'कर्मफल-त्यागके इच्छुक पुरुषको तो भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये वेद-शास्त्रोंद्वारा बताये हुए आश्रमानुकूल कर्मोंका अनुष्ठान करना ही चाहिये, इससे वह अविनाशी पदको प्राप्त होता है।'

श्रीमद्भागवतमें श्रीनारदजीने महाराज युधिष्ठिरके प्रति वर्णाश्रम धर्मका वर्णन करनेके पश्चात् यही कहा है—

एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद् राजंस्तद्भक्तिभाङ्नरः॥

(७। १५। ६७)

'महाराज! भगवद्भक्त मनुष्य वेदमें कहे हुए इन कर्मोंके तथा अन्यान्य शास्त्रविहित स्वकर्मोंके अनुष्ठानसे घरमें रहते हुए भी श्रीकृष्णकी परम गतिको प्राप्त करता है।'

तथा स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने भी भक्त उद्धवके प्रति कहा है—

वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः।
स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः॥

(श्रीमद्भा० ११। १८। ४७)

'मैंने तुम्हें जो यह सदाचाररूप वर्णाश्रमियोंका धर्म बतलाया है, यदि इस धर्मानुष्ठानमें मेरी भक्तिका समावेश हो जाय तो इससे (शीघ्र ही) परम कल्याणस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है।'

श्रीविष्णुपुराणमें महाराज सगरके प्रति महात्मा और्वके वचन हैं—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥

(३। ८। ९)

'जो वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेवाला है, वही मनुष्य परम पुरुष श्रीविष्णुकी आराधना कर सकता है, उनको संतुष्ट करनेका और कोई मार्ग नहीं है।'

क्योंकि शास्त्रविहित कर्म करनेवाले मनुष्योंपर भगवान् प्रसन्न होते हैं। जो शास्त्रोक्त कर्मोंका त्याग कर देते हैं और भगवान्‌की प्राप्ति चाहते हैं, उनको भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती; बल्कि उनसे तो भगवान् बहुत दूर रहते हैं। किंतु जो शास्त्र-विहित उत्तम आचरण करते हुए भगवान्‌की भक्ति करते हैं, वे ही उनको प्राप्त करते हैं। श्रीनारदपुराणमें बताया गया है—

वेदप्रणिहितो धर्मो वेदो नारायणः परः।
तत्राश्रद्धापरा ये तु तेषां दूरतरो हरिः॥

(४। १७)

'धर्मका प्रतिपादन वेदमें किया गया है और वेद साक्षात् परम पुरुष नारायणका स्वरूप है; अतः वेदोंमें जो अश्रद्धा रखनेवाले हैं, उन मनुष्योंसे भगवान् बहुत ही दूर हैं।'

वर्णाश्रमाचाररताः सर्वपापविवर्जिताः।
नारायणपरा यान्ति यद् विष्णोः परमं पदम्॥

(ना० पु० २७। १०६)

'वर्ण और आश्रमसम्बन्धी धर्मके पालनमें तत्पर एवं सारे पापोंसे रहित नारायणपरायण भक्त ही भगवान् विष्णुके परम धामको प्राप्त होते हैं।'

वर्णाश्रमाचाररता भगवद्भक्तिलालसाः।
कामादिदोषनिर्मुक्तास्ते सन्तो लोकशिक्षकाः॥

(ना० पु० ४। ३४)

'जो वर्णाश्रमोचित कर्तव्यके पालनमें तत्पर, भगवद्भक्तिके सच्चे अभिलाषी तथा काम, क्रोध आदि दोषोंसे मुक्त हैं, वे ही सम्पूर्ण लोकोंको शिक्षा देनेवाले संत हैं।'

कितने ही लोग गीतामें कहे हुए '**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**' इस भगवद्वाक्यका आश्रय लेकर यज्ञ, दान, तप, सदाचार आदि शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देते हैं, किंतु उपर्युक्त भगवद्वाक्यका अर्थ 'शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके भगवान्‌की शरण लेना' नहीं है। यदि इसका यही अर्थ होता तो अर्जुन भी अपने क्षत्रियधर्म युद्ध आदिको त्यागकर और वनमें जाकर अकर्मण्य हो भगवान्‌की भक्ति करते; किंतु

अर्जुनने ऐसा नहीं किया। प्रत्युत सम्पूर्ण गीताका उपदेश करनेके पश्चात् भगवान्‌ने जब अर्जुनसे पूछा—'पार्थ! क्या इस गीताशास्त्रको तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया? और हे धनंजय! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया? (गीता १८। ७२) तब इसके उत्तरमें अर्जुनने यही कहा—'अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अत: आपकी आज्ञाका पालन करूँगा—'**करिष्ये वचनं तव**' (गीता १८। ७३)। इसपर भगवान्‌ने अर्जुनसे युद्ध कराया और अर्जुनने युद्ध ही किया। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वर्णाश्रमानुसार शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं करना चाहिये, बल्कि सारे कर्म करते हुए ही उनको भगवान्‌के अर्पण कर देना चाहिये। यही बात भगवान्‌ने गीता १८। ५७ में कही है—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।

यहाँ वर्णित 'सब कर्मोंको मनसे मुझमें त्यागकर मेरे परायण होना' और १८। ६६में वर्णित 'सम्पूर्ण धर्मोंको (मुझमें) त्यागकर केवल एक मेरी ही शरणमें आ जाना' दोनों एक ही बात है।

इसलिये '**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**' का यह अर्थ करना कि 'सब धर्मोंको स्वरूपसे छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जा'—सर्वथा अनुचित है।*

मनुष्य सर्वथा कर्मका त्याग कर भी नहीं सकता; क्योंकि कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता (गीता ३। ५), अपने स्वभावके अनुसार मनुष्यको बाध्य होकर कर्म करना ही पड़ता है (गीता १८। ६०)। इसलिये कर्मोंको स्वरूपसे न छोड़कर कर्मोंके फलका एवं आसक्ति, ममता और अभिमानका त्याग करना चाहिये; इसीसे मनुष्यको परम शान्ति मिलती है (गीता २। ७१)।

लोकसंग्रहका रहस्य

लोकसंग्रह किसे कहते हैं—इसपर विचार किया जाता है। गीताके कई टीकाकार विद्वानोंने लोकसंग्रहका अर्थ 'लोगोंको उन्मार्गसे हटाना और अपने-अपने धर्ममें प्रवृत्त करना' किया है। अन्य टीकाकार कहते हैं कि लोगोंको उन्मार्गमें प्रवृत्त होनेसे निवारण करना लोकसंग्रह है। एवं कुछ टीकाकारोंने लोकसंग्रहका अर्थ लोकरक्षण या लोगोंका धर्म-परिसंग्रह भी किया है। लोकमान्य श्रीतिलकजीने लोकसंग्रहका अर्थ यों किया है—लोगोंका संग्रह करना यानी उन्हें एकत्र सम्बद्धकर इस रीतिसे उनका पालन-पोषण और नियमन करना कि उनकी परस्पर अनुकूलतासे उत्पन्न होनेवाला सामर्थ्य उनमें आ जाय एवं उसके द्वारा उनकी सुस्थितिको स्थिर रखकर उन्हें श्रेय:प्राप्तिके मार्गमें लगा देना अर्थात् अज्ञानसे मनमाना बर्ताव करनेवाले लोगोंको ज्ञानवान् बनाकर सुस्थितिमें एकत्र रखना और आत्मोन्नतिके मार्गमें लगाना—लोकसंग्रह है। 'लोकसंग्रह' के शब्दार्थपर दृष्टि डालनेसे उसका यही अर्थ व्यक्त होता है कि लोक यानी मनुष्य और संग्रह यानी उन सबको इकट्ठा करना। अभिप्राय यह कि लोगोंकी बुद्धियाँ भिन्न-भिन्न होनेके कारण वे छिन्न-भिन्न हो रहे हैं और सुखके लिये संसारमें इधर-उधर भटक रहे हैं, किंतु उनको वास्तविक सुख नहीं मिलता; इसलिये लोकहित चाहनेवाले महापुरुषोंको उचित है कि वे संसारमें भटकनेवाले मनुष्योंको सब ओरसे हटाकर एक परमात्मामें ही संग्रह करें अर्थात् उन्हींमें लगायें। वस्तुत: सिद्ध महात्मा पुरुषोंके और भगवान्‌के तो सारे कर्म स्वाभाविक ही लोकसंग्रहके लिये ही होते हैं; उनके वे लोकहितके कर्म ही साधकके लिये आदर्श साधन हैं। अत: साधक मनुष्य भी अपने आत्माके कल्याणके लिये साधनरूपमें निष्काम भावसे लोकसंग्रह कर सकता है। साधकोंको उचित है कि वे स्वयं बुरे कर्मोंको छोड़कर कल्याणकी प्राप्तिके लिये शास्त्रविहित उत्तम कर्मोंका निष्काम भावसे आचरण करें; क्योंकि जो स्वयं आचरण करता है, वही दूसरोंको इस कार्यमें लगा सकता है। अर्जुन उच्चकोटिका साधक था, उसको भी भगवान् लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥

(गीता ३। २०)

'जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे—इसलिये तथा लोकसंग्रहको भलीभाँति देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है।'

* इस विषयमें विस्तारसे जाननेके लिये 'परमशान्तिका मार्ग' पुस्तकमें दिये हुए 'सर्वधर्मपरित्यागका रहस्य' शीर्षक लेखको देखना चाहिये।

भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि समस्त प्राणियोंके भरण-पोषण और रक्षणका दायित्व मनुष्यपर है; अतः अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार स्वयं कर्तव्य-कर्मोंका निष्काम भावसे भलीभाँति आचरण करके दूसरे लोगोंको अपने उत्तम आदर्शके द्वारा दुर्गुण-दुराचारसे हटाकर सद्गुण-सदाचाररूप स्वधर्ममें लगाये रखना—इस प्रकार सृष्टिसंचालनकी व्यवस्थामें किसी प्रकारकी अड़चन पैदा न करके उसमें सहायक बनना और उसे सुरक्षित बनाये रखना ही लोकसंग्रह है। आजतक बहुत-से पुरुष ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके कर्मयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं। अतः कल्याणकामी मनुष्यको परमात्माकी प्राप्तिके लिये तो आसक्तिसे रहित होकर कर्म करना उचित है ही; इसके सिवा लोकसंग्रहको देखकर अर्थात् 'यदि मैं शास्त्र- विहित कर्म न करूँगा तो मुझे आदर्श मानकर मेरा अनुकरण करके दूसरे लोग भी अपने कर्तव्यका त्याग कर देंगे, जिससे सृष्टिमें विप्लव हो जायगा और उसकी व्यवस्था बिगड़ जायगी।' इसलिये सृष्टिकी सुव्यवस्था बनाये रखनेके लिये मुझे अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करना चाहिये—यह सोचकर भी कर्म करना उचित है।

इतना ही नहीं, भगवान्‌ने आगे जाकर अर्जुनसे यह भी कहा है कि मैंने तुमको जिस गीताशास्त्रका उपदेश किया है, उस गीताशास्त्रके मूल अर्थ और भावोंका जो मेरे भक्तोंमें उनके हितके लिये निष्काम भावसे प्रचार करता है, उसके फलस्वरूप वह मुझको प्राप्त हो जाता है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥

(गीता १८। ६८)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीता शास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है।'

भाव यह कि जो मनुष्य इस प्रकार लोक-कल्याणार्थ गीताके भावोंका प्रचार करके संसारमें भटकते हुए लोगोंको परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें लगाता है, उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि साधक मनुष्य भी साधनके रूपमें लोकसंग्रहार्थ कर्म कर सकता है।

यद्यपि सिद्ध ज्ञानी महात्मा पुरुषके लिये भगवान्‌ने यही बतलाया है कि उनके लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(गीता ३। १७-१८)

'परंतु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।'

ऐसा होते हुए भी उन ज्ञानी महात्मा पुरुषोंको भी भगवान् लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

(गीता ३। २५)

'भारत! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रहकी इच्छा करता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।'

ज्ञानी महापुरुषोंकी लोकसंग्रह करनेकी यह इच्छा औपचारिक अर्थात् कथनमात्रकी ही है। जैसे जहाँ यह कहा जाता है कि 'यह नदीका तट गिरना ही चाहता है' वहाँ तटमें गिरनेकी कोई इच्छा नहीं होती, केवल उसके गिरनेकी तैयारीका ही इस रूपमें वर्णन किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मामें कोई इच्छा नहीं होती, उनके द्वारा लोकहितार्थ स्वाभाविक होनेवाली प्रयत्नशीलताका ही इस रूपमें वर्णन किया गया है।

भगवान्‌ने ज्ञानी महात्मा पुरुषको कर्म करनेकी प्रेरणा इसीलिये की है कि वे स्वयं जैसा कर्म करते हैं और जैसा वे लोगोंमें प्रचार करते हैं, श्रद्धालु मनुष्य उनके आचरणोंके अनुसार ही अनुष्ठान किया करते हैं और उनके कथनके अनुकूल ही चलते हैं। भगवान्‌ने स्वयं बतलाया है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

वस्तुतः उच्चकोटिके महात्मा पुरुषोंके सभी आचरण विशुद्ध, लीलामात्र और कल्याणकारक हैं; अतः वे अनुकरणीय हैं। उनका अनुकरण करनेसे मनुष्यका

सहज ही कल्याण हो सकता है। यक्षके पूछनेपर महाराज युधिष्ठिरने यही कहा है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(महा० वन० ३१३। ११७)

'तर्ककी कहीं स्थिति नहीं, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं; एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा हुआ—अत्यन्त गूढ़ है। अतः जिस मार्गसे महापुरुष गये हैं वह मार्ग ही असली मार्ग है।'

इसीलिये पितामह भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा है—

लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम्॥

(महा० शान्ति० २५९। २६)

'जो लोकसंग्रहसे युक्त है और जिससे धर्म तथा अर्थके सूक्ष्म तत्त्वका ज्ञान होता है, उस सत्पुरुषोंके उत्तम आचरणका ही पूर्वकालमें विधाताने सबके लिये विधान किया है।'

क्योंकि गीता अ० ६ श्लोक ७ से ९ तक वर्णित सिद्ध योगियोंके लक्षण, अ० १२ श्लोक १३ से १९ तक वर्णित सिद्ध भक्तोंके लक्षण और अ० १४ श्लोक २२ से २५ तक वर्णित ज्ञानमार्गसे परमात्मप्राप्त गुणातीत महात्माके लक्षण उन सिद्ध महापुरुषोंमें स्वाभाविक ही होते हैं। उनके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये कल्याणकामी मनुष्यको उपर्युक्त सिद्ध महापुरुषोंके लक्षणों और आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये।

भगवान्‌के तो सभी चरित्र परम पावन और लीलामात्र हैं ही। जब उच्चकोटिके महापुरुषोंके आचरणोंके अनुकरणसे ही कल्याण हो जाता है, तब फिर जो भगवान्‌के चरित्रोंके अनुकूल आचरण करते हैं और उनकी आज्ञाका पालन करते हैं,उनके कल्याणके विषयमें तो कहना ही क्या है? तथा भगवान्‌की लीलाओंके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझ लेनेपर तो भगवान्‌की लीलाओंके दर्शनसे ही मनुष्यका कल्याण हो जाता है।

वास्तवमें भगवान्‌के लिये तो कोई कर्तव्य है ही नहीं। भगवान् तो आप्तकाम हैं। उनमें न कोई इच्छा है न कामना; किंतु फिर भी लोकसंग्रहके लिये अर्थात् जीवोंके परम कल्याणके लिये ही उनकी सारी चेष्टाएँ होती हैं, जो कि स्वार्थकी गन्धमात्र भी न होनेके कारण हेतुरहित हैं। भगवान्‌ने गीतामें अर्जुनसे कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

(गीता ३। २२—२४)

'अर्जुन! मुझे तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है; तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ। क्योंकि पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।'

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि हेतुरहित परम दयालु भगवान् प्राणियोंको उन्मार्गसे बचाकर सन्मार्गमें लगानेके लिये ही सारी लीलाएँ करते हैं। अतः संसारमें अधर्मके नाश और धर्मके संस्थापन-रूप लोक-संग्रह कर्मके लिये ही उनका अवतार होता है। उन्होंने स्वयं बतलाया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ६—८)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ। अर्जुन! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे अवतार ग्रहण करता हूँ। श्रेष्ठ पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पापकर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

श्रीमद्भागवतमें भी बतलाया गया है—

बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा
क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।

सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि
सतामभद्राणि मुहुः खलानाम्॥
(१०।२।२९)

'आप ज्ञानस्वरूप परमात्मा हैं। चराचर जगत्‌के कल्याणके लिये ही आप अनेकों रूप धारण करते हैं। आपके वे रूप विशुद्ध दिव्य सत्त्वमय होते हैं और संत पुरुषोंको बहुत सुख देते हैं। साथ ही दुष्टोंको उनकी दुष्टताका दण्ड देते हैं, अतः उनको वे अमङ्गलमय लगते हैं।'

तथा—

न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते॥
(श्रीमद्भा० १०।४६।३९)

'इस लोकमें उन भगवान्‌का कोई कर्म नहीं है; फिर भी वे श्रेष्ठ पुरुषोंके परित्राणके लिये, लीला करनेके लिये देवादि सात्त्विक, मत्स्यादि तामस एवं मनुष्य आदि मिश्र योनियोंमें शरीर धारण करते हैं।'

इस प्रकार पृथ्वीपर प्रकट होकर लीला करना ही उनका जन्म और कर्म है। उनके जन्म और कर्म दिव्य होते हैं। जो मनुष्य भगवान्‌के दिव्य जन्म और आचरणके तत्त्व-रहस्यको समझ जाता है, उसका कल्याण हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(गीता ४।९)

'अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।'

फिर जो मनुष्य भगवान्‌के अनुसार ही आचरण करता है, उसका कल्याण हो जाय, इसके विषयमें तो कहना ही क्या है।

अतः हमलोगोंको उपर्युक्त साधक, सिद्ध और भगवान्‌के लोकसंग्रह कर्मका तत्त्व-रहस्य समझकर महापुरुषों तथा भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार चलना चाहिये और उनके चरित्रोंका अनुकरण करना चाहिये।

संयमसे आत्मोद्धार

मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय और शरीरके संयमसे मनुष्य इस लोक और परलोकपर विजय पा सकता है और अपना परम कल्याण कर सकता है। इसलिये हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिक्ख, यहूदी कोई भी क्यों न हो, संयम सबके लिये परम हितकर है। ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग या ध्यानयोग आदि सभी साधनोंमें मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके संयमसे ही सब प्रकारके योगोंकी सिद्धि होती है। स्वास्थ्यकी रक्षा भी संयमके बिना नहीं होती। इन सबको संयममें रखकर मनुष्य कर्म करता हुआ भी अपना परम कल्याण प्राप्त कर सकता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(२।६१)

'साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे; क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।'

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
(२।६४-६५)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है, अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

किंतु वर्तमान समयमें लोगोंमें संयम न होनेके कारण परमात्माकी प्राप्ति तो दूर रही, लोगोंका जीवन ही खतरेमें है। वर्तमानके स्कूल-कालेजोंकी शिक्षा संयमपूर्वक न होनेके कारण लड़कोंमें उच्छृङ्खलता बढ़ती जा रही है, जिसका भावी परिणाम बड़ा भयावह है। संयमकी कमीके कारण प्रायः बालक-बालिकाओंमें उच्छृङ्खलता बढ़ रही है, इसका नतीजा प्रत्यक्षमें बुरा हो रहा है। ये संयमहीन बालक-बालिकाएँ अपने बड़ोंका और अध्यापकोंका तिरस्कार करते हैं, मजाक उड़ाते हैं। इसी प्रकार संयम और अनुशासनकी कमीके कारण स्त्रियोंमें निर्लज्जता और

उच्छृङ्खलता बढ़ रही है। वे स्वतन्त्रतापूर्वक जिस किसीके भी साथ खेल-तमाशा, नाटक-सिनेमा आदिमें जाने लगी हैं। सिनेमाके सिवा और भी जहाँ मन होता है वहाँ वे बेरोक-टोक चली जाती हैं। घरका स्वामी या दूसरा कोई हितैषी रोक-टोक करता है तो वे उसका तिरस्कार कर देती हैं। संयमकी कमीके कारण पुरुष राज्य, समाज-शास्त्र, धर्म तथा अच्छे लोगोंका शासन नहीं मानते, इससे उनमें भी उच्छृङ्खलता बढ़ रही है। इन्द्रियलोलुप हो जानेके कारण लोग शुद्ध खान-पान और आचरणसे भ्रष्ट हो रहे हैं। जिन होटलोंमें अंडे, मांस, मदिरा आदि रहते हैं उनमें लोग स्वाद-भोग और आरामके वशमें होकर भोजन करने लगे हैं। ये सब पतनके लक्षण हैं। मदिरा-आसव आदि मादक वस्तुओंके सेवन और परस्त्रीगमनसे बढ़कर और पतन क्या हो सकता है ?

इन सब बातोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करके लोगोंको अपने मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय और शरीरको संयममें करना चाहिये। केवल इन्द्रियोंके संयमसे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है। भगवान्‌ने इन्द्रिय-संयमको भी एक यज्ञ बतलाया है—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥

(गीता ४। २६)

'अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियोंको संयमरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं और दूसरे योगीलोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं।'

यहाँ भगवान्‌ने यह भी बतला दिया कि इन्द्रियसंयम तो एक यज्ञ है ही, इन्द्रियाँ वशमें हो जानेपर उन आसक्तिरहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन भी एक यज्ञ है।

जिस प्रकार केवल इन्द्रियोंके संयमसे या केवल मनके संयमसे कल्याण होता है, उसी प्रकार केवल प्राणोंके संयमसे भी हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥

(गीता ४। २९-३०)

'दूसरे कितने ही योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करते हैं तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करनेवाले प्राणायामपरायण पुरुष प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन किया करते हैं। ये सभी साधक यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर देनेवाले और यज्ञोंको जाननेवाले हैं।'

फिर सब प्रकारके संयमसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥

(गीता ४। २७)

'दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं।'

इसी तरह 'यज्ञ' के नामसे अनेक प्रकारके साधन गीता अध्याय ४ श्लोक २४ से ३० तक बतलाये गये हैं। उनमेंसे भी किसी भी एक साधनको कर लेनेपर मनुष्यका निश्चय ही कल्याण हो सकता है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

(गीता ४। ३१-३२)

'हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञसे बचे हुए अमृतका अनुभव करनेवाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं और यज्ञ न करनेवाले पुरुषके लिये तो यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है। इसी प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा सम्पन्न होनेवाले जान। इस प्रकार तत्त्वसे जानकर उनके अनुष्ठानद्वारा तू कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जायगा।'

जिस मनुष्यके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर वशमें नहीं हैं वह पशुके समान है। मनुष्ययोनिके सिवा, चाहे देवयोनि ही क्यों न हो, अन्य किसी भी योनिमें इनका संयम सम्भव नहीं है। इसलिये मनुष्यको ही कल्याणका अधिकारी माना गया है, अन्य सब तो भोगयोनियाँ हैं। हमलोग मनुष्ययोनिमें ही हैं, इसलिये हमें मनुष्योचित कर्म करके अपना कल्याण करना चाहिये। पशुओंके समान अपना जीवन नहीं बिताना चाहिये। यदि आहार, निद्रा और मैथुनमें ही हम अपना समय बिता रहे हैं तो फिर पशुमें और मनुष्यमें अन्तर ही क्या रहा? नीतिमें बतलाया गया है—

आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥

(चाणक्यनीति १७। १७)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें एक समान ही हैं, मनुष्योंमें केवल विशेषता यही है कि उनमें अपने कर्तव्यका ज्ञान अधिक है, किंतु ज्ञानसे शून्य मनुष्य पशुओंके ही तुल्य हैं।'

यह मनुष्य-शरीर आत्माके उद्धारके लिये मिला है, न कि ऐश-आराम और भोगके लिये एवं न स्वर्गके लिये ही। इस बातको जो मनुष्य ध्यानमें नहीं रखता, वह मूर्ख है। श्रीरामचरितमानसमें अपने प्रजाजनोंको उपदेश देते हुए भगवान् श्रीराम कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४४। १-२)

संसारके विषयभोगोंमें सुख है ही नहीं। विषय-भोगोंकी प्राप्तिका साधन धन भी दुःखरूप ही है; क्योंकि धनके उपार्जन और संग्रह करनेमें प्रायः परिश्रम और पाप करना पड़ता है। उस पापका फल भी इस लोक और परलोकमें महान् दुःखदायी होता है। एवं राज्यसे, चोर-डाकुओंसे और याचकोंसे धनकी रक्षा करनेमें तथा दान देनेमें, खर्च करनेमें, त्याग करनेमें एवं विनाश और वियोगमें कष्ट-ही-कष्ट होता है, अतएव संसारके विषयभोग और धनादि पदार्थोंमें दुःख-ही-दुःख भरा हुआ है; किंतु अज्ञानसे मनुष्यको उसमें सुखबुद्धि हो रही है। महर्षि पतञ्जलिजीने कहा है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

(योग० साधन० ५)

'अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मामें नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभावकी प्रतीति ही अविद्या है।'

अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण दृश्य-पदार्थ अनित्य हैं, उनमें नित्यबुद्धि होना; यह देह मांस-मज्जादि अपवित्र वस्तुओंका संघात है, इसमें पवित्र बुद्धि होना; संसारके समस्त विषयभोग दुःखरूप हैं, उनमें सुखबुद्धि होना और यह जड शरीर अनात्मा है, इसमें आत्मबुद्धि होना अविद्या है।

विषयभोगरूप इन्द्रियजन्य सुख आरम्भमें अमृतके समान प्रतीत होता है, किंतु परिणाममें वह विषके समान है।

गीतामें भगवान्ने बतलाया है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

(१८। ३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है वह पहले भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है, इसलिये वह सुख 'राजस' कहा गया है।'

अतएव कल्याणकामी पुरुषोंको विषयभोग-सुखसे दूर रहना चाहिये; क्योंकि सब अनर्थोंका मूल यही है। विषय-भोगोंमें सुखबुद्धि होनेसे उनमें आसक्ति होती है और आसक्ति होनेसे ही विषय-भोगोंकी कामना होती है तथा कामनामें विघ्न डालनेवालेके प्रति द्वेष, वैर और क्रोध होता है। उस क्रोधसे मोह उत्पन्न होता है, जिससे बुद्धिका नाश होकर पतन हो जाता है (गीता २। ६२-६३)। अतः राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदिकी उत्पत्ति और वृद्धिका कारण विषयोंमें सुख-बुद्धि है और वह सुख-बुद्धि है अज्ञानसे। इसलिये विवेक-विचारपूर्वक ज्ञानके द्वारा अज्ञानको दूर करना चाहिये। वह ज्ञान अन्तःकरणकी शुद्धि होनेसे प्राप्त होता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४। ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

ज्ञानकी प्राप्तिके और भी बहुत-से उपाय हैं। महापुरुषोंके सत्सङ्गसे भी ज्ञानकी प्राप्ति होती है (गीता ४। ३४-३५)। ईश्वर, धर्म, परलोक और शास्त्रमें श्रद्धा-विश्वाससे भी ज्ञानकी प्राप्ति होती है (गीता ४। ३९) और भगवान्की भक्ति करनेसे तो भगवान् स्वयं उसे ज्ञान देते ही हैं (गीता १०। ९-१०-११)। इन सभी साधनोंमें मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका संयम ही प्रधान है। बिना संयमके आत्माका कल्याण सम्भव नहीं। भगवान् कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता ६। ३६)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले

प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है।'

इसलिये मनका संयम करनेके लिये संसारके विषय-भोगोंको दुःखरूप और विनाशशील मानकर विवेक-वैराग्यद्वारा इनका त्याग करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

वैराग्यके बिना मन-इन्द्रियोंका संयम सम्भव नहीं। सम्पूर्ण विषयभोग विनाशशील और दुःखरूप हैं—इस विवेकसे वैराग्य उत्पन्न होता है तथा भजन और ध्यानके साधनसे भी वैराग्य होता है, इसलिये मनको वश करनेके लिये भगवान्‌ने अभ्यास और वैराग्यकी ही प्रधानता बतलायी है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६। ३५)

'हे महाबाहो! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है।'

अभ्यास और वैराग्यसे केवल मन वश ही होता हो, यही नहीं, मनका निरोध भी हो जाता है। महर्षि पतञ्जलिजीने कहा है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

(योग १। १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है।' इससे जब मनका निरोध ही हो जाता है, तब उनसे इन्द्रियोंका निरोध हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है। अतः इन्द्रियोंके निरोधका उपाय भी अभ्यास-वैराग्य ही है। इसमें बाधक हैं राग-द्वेष। राग-द्वेषको भगवान्‌ने साधकका शत्रु बतलाया है (गीता ३। ३४)। ये राग-द्वेष ही काम-क्रोधके रूपमें आकर दुराचार कराते हैं (गीता ३। ३७)। इन सबके नाशके लिये भगवान्‌ने गीतामें पहले इन्द्रियोंका संयम करने और फिर मनका संयम करके इन कामादि शत्रुओंको मार डालनेका आदेश दिया है—

'तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

(३। ४१—४३)

'इसलिये हे अर्जुन! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले महान् पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल; क्योंकि इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं, इन इन्द्रियोंसे परे मन है, मनसे भी परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त परे है वह आत्मा है। इस प्रकार बुद्धिसे परे अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्माको जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल।'

इस प्रकार मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका संयम करके उन सबको सच्चिदानन्द परमात्मामें लगानेपर मनुष्यका परम कल्याण हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

(५। १७)

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् पुनः न आनेवाली परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

अतः मनुष्यको इसके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

सत्यकी महिमा

एक सत्यवादी धर्मात्मा राजा थे। उनके नगरमें कोई भी साधारण मनुष्य बिक्री करनेके लिये बाजारमें अन्न, वस्त्र आदि कोई वस्तु लाता और वह वस्तु यदि सायंकालतक नहीं बिकती तो उसे राजा खरीद लिया करते थे। लोकहितके लिये राजाकी यह सत्य प्रतिज्ञा थी। अतः सायंकाल होते ही राजाके सेवक शहरमें

भ्रमण करते और किसीको कोई वस्तु लिये बैठे देखते तो वे उससे पूछकर और उसके संतोषके अनुसार कीमत देकर उस वस्तुको खरीद लेते थे।

एक दिनकी बात है। स्वयं धर्मराज ब्राह्मणका वेष धारण करके घरकी टूटी-फूटी व्यर्थकी चीजें, जो बाहर फेंकने योग्य कूड़ा-करकट थीं, एक पेटीमें भरकर उन सत्यवादी धर्मात्मा राजाकी परीक्षा करनेके लिये उनके नगरमें आये और बिक्रीके लिये बाजारमें बैठ गये, किंतु कूड़ा-करकटको कौन लेता? जब सायंकाल हुआ, तब राजाके सेवक नगरमें सदाकी भाँति घूमने लगे। नगरमें बेचनेके लिये लोग जो वस्तुएँ लाये थे, वे सब बिक चुकी थीं। केवल ये ब्राह्मण अपनी पेटी लिये बैठे थे। राजसेवकोंने इनके पास जाकर पूछा— 'क्या आपकी वस्तु नहीं बिकी?' उन्होंने उत्तर दिया—'नहीं।' राजसेवकने पुनः पूछा—'आप इस पेटीमें बेचनेके लिये क्या चीज लाये हैं? और उसका मूल्य क्या है?' ब्राह्मणने कहा—'इसमें दारिद्र्य (कूड़ा-करकट) भरा हुआ है। इसका मूल्य है एक हजार रुपये।' यह सुनकर राजसेवक हँसे और उन्होंने कहा—'इस कूड़ा-करकटको कौन लेगा, जिसका एक पैसा भी मूल्य नहीं है?' ब्राह्मणने कहा—'यदि इसे कोई नहीं लेगा तो मैं इसे वापस अपने घर ले जाऊँगा, राजसेवकोंने तुरंत राजाके पास जाकर इसकी सूचना दी। इसपर राजाने कहा—'उन्हें वस्तु वापस न ले जाने दो। मूल्य जो कुछ कम-से-कम हो सके, उन्हें संतोष कराकर वस्तु खरीद लो।'

राजसेवकोंने आकर ब्राह्मणसे उस पेटीके दो सौ रुपये मूल्य कहा, किंतु ब्राह्मणने एक हजारसे एक पैसा भी कम लेना स्वीकार नहीं किया। राजसेवकोंने पाँच सौ रुपयेतक देना स्वीकार कर लिया, परंतु ब्राह्मणने इन्कार कर दिया। तब राजसेवकोंमेंसे कुछ व्यक्ति उत्तेजित होकर राजाके पास आये और बोले—'महाराज! उनकी पेटीमें दारिद्र्य (कूड़ा-करकट) भरा हुआ है, एक पैसेकी भी चीज नहीं है और पाँच सौ रुपये देनेपर भी वे नहीं दे रहे हैं। ऐसी परिस्थितिमें आपको उनकी वस्तु नहीं खरीदनी चाहिये।' राजाने कहा—'नहीं, हमारी सत्य प्रतिज्ञा है, हम सत्यका त्याग कभी नहीं करेंगे, इसलिये ब्राह्मणको, वे जो माँगें, देकर उस वस्तुको खरीद लो।' यह सुनकर राजसेवक राजाके इस आग्रहको देखकर हँसे और लौट आये। उन्होंने निरुपाय होकर ब्राह्मणको एक हजार रुपये दे दिये और उनकी पेटी ले ली। ब्राह्मण रुपये लेकर चले गये और राजसेवक पेटीको राजाके पास ले आये। राजाने उस दारिद्र्यसे भरी पेटीको राजमहलमें रखवा दिया।

रात्रिमें जब शयनका समय हुआ, तब राजमहलके द्वारसे वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित एक बहुत सुन्दर युवती निकली। राजा बाहर बैठकमें बैठे हुए थे। उस स्त्रीको देखकर राजाने पूछा— 'आप कौन हैं? किस कार्यसे आयी हैं? और क्यों जा रही हैं?' उस स्त्रीने कहा—'मैं लक्ष्मी हूँ। आप सत्यवादी धर्मात्मा हैं, इस कारण मैं सदासे आपके घरमें निवास करती रही हूँ, पर अब तो आपके घरमें दारिद्र्य आ गया है, जहाँ दारिद्र्य रहता है वहाँ लक्ष्मी नहीं रहती। इसलिये आज मैं आपके यहाँसे जा रही हूँ।' राजा बोले—'जैसी आपकी इच्छा।'

थोड़ी देर बाद राजाने एक बहुत ही सुन्दर युवा पुरुषको राजमहलके दरवाजेसे निकलते देखा तो उससे पूछा—'आप कौन हैं? कैसे आये हैं और कहाँ जा रहे हैं?' उस सुन्दर पुरुषने कहा—'मेरा नाम दान है। आप सत्यवादी धर्मात्मा हैं, इस कारण सदा मैं आपके यहाँ निवास करता रहा हूँ। अब जहाँ लक्ष्मी गयी है, वहीं मैं जा रहा हूँ; क्योंकि जब लक्ष्मी चली गयी, तब आप दान कहाँसे करेंगे?' तब राजा बोले—'बहुत अच्छा।'

उसके बाद फिर एक सुन्दर पुरुष निकलता दिखायी दिया। राजाने उससे भी पूछा—'आप कौन हैं? कैसे आये हैं और कहाँ जा रहे हैं?' उसने कहा—'मैं यज्ञ हूँ। आप सत्यवादी धर्मात्मा हैं, अतः आपके यहाँ मैं सदासे निवास करता रहा। अब आपके यहाँसे लक्ष्मी और दान चले गये तो मैं भी वहीं जा रहा हूँ; क्योंकि बिना सम्पत्तिके आप यज्ञका अनुष्ठान कैसे करेंगे?' राजा बोले—'बहुत अच्छा।'

तदनन्तर फिर एक युवा पुरुष दिखायी दिया। राजाने पूछा—'आप कौन हैं? कैसे आये और कहाँ जा रहे हैं?' उसने कहा—'मेरा नाम यश है। आप धर्मात्मा सत्यवादी हैं, अतः मैं आपके यहाँ सदासे रहता आया हूँ; किंतु आपके यहाँसे लक्ष्मी, दान, यज्ञ सब चले गये तो उनके बिना आपका यश कैसे रहेगा? इसलिये मैं भी वहीं जा रहा हूँ, जहाँ वे गये हैं।' राजाने कहा—'ठीक है।'

तत्पश्चात् एक सुन्दर पुरुष फिर निकला। उसे देखकर उससे भी राजाने पूछा—'आप कौन हैं, कैसे आये और कहाँ जा रहे हैं?' उसने कहा—'मेरा नाम सत्य है। आप धर्मात्मा हैं, अतः मैं सदा आपके यहाँ रहता आया हूँ; किंतु अब आपके यहाँसे लक्ष्मी, दान, यज्ञ, यश— सब चले गये तो मैं भी वहीं जा रहा हूँ।' राजाने कहा—'मैंने तो आपके लिये ही इन सबका त्याग किया है, आपका तो मैंने कभी त्याग किया ही नहीं,

इसलिये आप कैसे जा सकते हैं? मैंने लोकोपकारके लिये यह सत्य प्रतिज्ञा कर रखी थी कि कोई भी व्यक्ति मेरे नगरमें बिक्री करनेके लिये कोई वस्तु लेकर आयेगा और सायंकालतक उसकी वह वस्तु नहीं बिकेगी तो मैं उसको खरीद लूँगा। आज एक ब्राह्मण दारिद्र्य लेकर बिक्री करने आये जो एक पैसेकी भी चीज नहीं; किंतु सत्यकी रक्षाके लिये ही मैंने विक्रेता ब्राह्मणको एक हजार रुपये देकर उस दारिद्र्य (कूड़ा-करकट) को खरीद लिया। तब लक्ष्मीने आकर कहा कि आपके घरमें दारिद्र्यका वास हो गया, इसलिये मैं नहीं रहूँगी। इसी कारण मेरे यहाँसे लक्ष्मी आदि सब चले गये। ऐसा होनेपर भी मैं आपके बलपर डटा हुआ हूँ।' यह सुनकर सत्यने कहा—'जब मेरे लिये ही आपने इन सबका त्याग किया है, तब मैं नहीं जाऊँगा।' ऐसा कहकर वह राजमहलमें वापस प्रवेश कर गया।

थोड़ी ही देर बाद 'यश' लौटकर राजाके पास आया। राजाने पूछा—'आप कौन हैं और क्यों आये हैं?' उसने कहा—'मैं वही यश हूँ और आपमें सत्य विराजमान है। चाहे कोई कितना ही यज्ञकर्त्ता, दानी और लक्ष्मीवान् क्यों न हो, किंतु बिना सत्यके वास्तविक कीर्ति नहीं हो सकती। इसलिये जहाँ सत्य है, वहीं मैं रहूँगा।' राजा बोले— 'बहुत अच्छा।'

तदनन्तर यज्ञ आया। राजाने उससे पूछा—'आप कौन हैं और किसलिये आये हैं?' उसने कहा—'मैं वही यज्ञ हूँ, जहाँ सत्य रहता है, वहीं मैं रहता हूँ, चाहे कोई कितना ही दानशील और लक्ष्मीवान् क्यों न हो, किंतु बिना सत्यके यज्ञ शोभा नहीं देता। आपमें सत्य है, अतः मैं यहीं रहूँगा।' राजा बोले—'बहुत अच्छा।'

तत्पश्चात् दान आया। राजाने उससे भी पूछा—'आप कौन हैं और कैसे आये हैं?' उसने कहा—'मैं वही दान हूँ। आपमें सत्य विराजमान है और जहाँ सत्य रहता है वहीं मैं रहता हूँ; क्योंकि कोई कितना ही लक्ष्मीवान् क्यों न हो, बिना सद्भावके दान नहीं दे सकता। आपके यहाँ सत्य है, इसलिये मैं यहीं रहूँगा।' राजा बोले—'बहुत अच्छा।'

इसके अनन्तर लक्ष्मी आयी। राजाने पूछा—'आप कौन हैं और क्यों आयी हैं?' उसने कहा—'मैं वही लक्ष्मी हूँ। आपके यहाँ सत्य विराजमान है। आपके यहाँ यश, यज्ञ, दान भी लौट आये हैं। इसलिये मैं भी लौट आयी हूँ।' राजा बोले—'देवि! यहाँ तो दारिद्र्य भरा हुआ है, आप कैसे निवास करेंगी?' लक्ष्मीने कहा—'राजन्! जो कुछ भी हो, मैं सत्यको छोड़कर नहीं रह सकती।' राजा बोले—'जैसी आपकी इच्छा।'

तदनन्तर वहाँ स्वयं धर्मराज उसी ब्राह्मणके रूपमें आये। राजाने पूछा—'आप कौन हैं और कैसे आये हैं?' धर्मराज बोले—'मैं साक्षात् धर्म हूँ, मैं ही ब्राह्मणका रूप धारण करके एक हजार रुपयेमें आपको दारिद्र्य दे गया था। आपने सत्यके बलसे मुझ धर्मको जीत लिया। मैं आपको वर देनेके लिये आया हूँ, बतलाइये, मैं आपका कौन-सा अभीष्ट कार्य करूँ?' राजाने कहा—'आपकी कृपा है। मुझको कुछ भी नहीं चाहिये। आप जिस प्रकार सदा करते आये हैं, उसी प्रकार करते रहिये।'

इस दृष्टान्तसे यह सिद्ध हो गया कि जहाँ सत्य है, वहाँ सब कुछ है। वहाँ कभी सम्पत्ति, दान, यज्ञ, यशकी कमी भी हो जाय तो मनुष्यको घबराना नहीं चाहिये। यदि सत्य कायम रहेगा तो ये सभी आप ही लौट आयेंगे और ये न आयें तो भी कोई हानि नहीं, उसका परम कल्याण है। अतः कल्याणकामी पुरुषको सत्यका कभी त्याग नहीं करना चाहिये, बल्कि निष्कामभावसे उसका अवश्य दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिये।

सत्य—यथार्थ भाषण, सद्गुण और सदाचारका नाम ही सत्य है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

(१७। २६-२७)

'सत्—इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्यभाव (परमात्माके अस्तित्व) में और श्रेष्ठभाव (सद्गुण) में प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ! उत्तम कर्म (सदाचार) में भी सत् शब्दका प्रयोग किया जाता है तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति (निष्ठा) है वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ (भगवदर्थ) कर्म तो निश्चय ही 'सत्' ऐसे कहा जाता है।'

किसी कविकी यह उक्ति प्रसिद्ध है—

बंदा सत नहिं छाँड़िये सत छाँड़े पत जाय।
सतकी बाँधी लच्छमी फेरि मिलैगी आय॥

प्रारब्ध और पुरुषार्थका रहस्य

कितने ही मनुष्य प्रारब्ध—भाग्यको प्रधान बताते हैं और कितने ही पुरुषार्थको। इस विषयमें हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। वास्तवमें अपने-अपने स्थानमें ये दोनों ही प्रधान हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारोंको पुरुषार्थ कहते हैं। इनमें धर्म, अर्थ, काम तो 'पुरुषार्थ' हैं और मोक्ष 'परम पुरुषार्थ' है। इन चारोंमेंसे धर्म और मोक्षके साधनमें पुरुषार्थ ही प्रधान है। इन दोनोंको जो मनुष्य प्रारब्धपर छोड़ देता है, वह इनके लाभसे वञ्चित रह जाता है; क्योंकि धर्म और मोक्षका साधन प्रयत्नसाध्य है, अपने-आप सिद्ध होनेवाला नहीं है, किंतु अर्थ और कामकी सिद्धिमें प्रारब्ध प्रधान है, प्रयत्न तो उसमें निमित्तमात्र है।

प्राय: सभी मनुष्य अर्थके लिये महान् प्रयत्न करते हैं और उसके लिये पाप करनेमें भी नहीं हिचकते। फिर भी वे मनचाहा धन नहीं प्राप्त कर सकते; क्योंकि प्रारब्धके बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती। इसी तरह जिनके पुत्र नहीं, वे पुत्रके लिये बहुत प्रयत्न करते हैं; किंतु सभीको पुत्र-लाभ नहीं होता, क्योंकि उसमें भाग्य प्रधान है।

ऊपर बतलाया गया कि मुक्ति और धर्मके पालनमें पुरुषार्थ प्रधान है। अब यह प्रश्न होता है कि पूर्वकृत कर्म यानी प्रारब्ध और संचित भी इनमें सहायक हैं या नहीं ? इसका उत्तर यह है कि इनसे सहायता तो प्राप्त होती है, किंतु इनकी प्रधानता नहीं है। पूर्वमें निष्काम भावसे किये हुए कर्म और उपासनाके फलस्वरूप मनुष्यको संत-महात्माओंका सङ्ग प्राप्त होता है, किंतु उनके मिलनेपर उनके बताये साधनको सुनकर उसके अनुसार मनुष्य प्रयत्न करता है तो उसका कल्याण हो जाता है, केवल सुननेमात्रसे नहीं। गीतामें भगवान्ने बतलाया है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(१३। २५)

'परंतु इनसे दूसरे जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार ध्यानयोग, ज्ञानयोग और कर्मयोगको न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणके अनुसार साधन करनेवाले पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको नि:संदेह तर जाते हैं।'

अत: पूर्वकृत कर्म यानी संचित और प्रारब्धके संस्कार अच्छे होते हैं तो वे साधकके मोक्ष-साधनमें शामिल हो जाते हैं अर्थात् जिस साधकका आठ आना साधन किया हुआ होता है उसे आठ आना ही साधन और करना पड़ता है, किंतु संचित और प्रारब्धमें भी संचितकी प्रधानता है; क्योंकि प्रारब्ध तो अपना फल देकर शान्त हो जाता है, पर निष्कामभावसे किये हुए संचित कर्म और उपासनारूप साधनका विनाश नहीं होता। वे क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होकर मुक्ति ही प्रदान करते हैं। भगवान्ने कहा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

(गीता २। ४० का पूर्वार्ध)

'इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है।'

प्राय: सभी मनुष्य अर्थ और भोगकी कामना करते हैं; किंतु तीव्र कामना करनेपर भी उनकी सिद्धि नहीं होती। किंतु धर्मके पालन और ईश्वरकी प्राप्तिके लिये की हुई तीव्र इच्छासे ही कार्यकी सिद्धि हो जाती है। जो मनुष्य धर्मपालनकी तीव्र इच्छा करके विशेष प्रयत्न करता है, उस प्रयत्नसे धर्मका पालन हो जाता है। अत: कर्तव्यपालनरूप धर्ममें प्रयत्न ही प्रधान है। इसी प्रकार ईश्वरप्राप्तिकी तीव्र इच्छा करनेसे उस उत्कट इच्छाके बलसे प्रेमपूर्वक किया हुआ प्रयत्न शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्तिरूप परम पुरुषार्थको सिद्ध कर देता है।

संसारमें किसी भी प्राणी, पदार्थ, घटना और मृत्युकी प्राप्ति इच्छापर निर्भर नहीं है। कोई मरनेकी इच्छा करे तो इच्छा करनेसे मर नहीं सकता और जीनेकी इच्छा करे तो जी नहीं सकता। इसी तरह अर्थ और कामभोगरूप पदार्थ, प्राणी एवं अनुकूल घटनाएँ इच्छा करनेसे प्राप्त नहीं होतीं, चाहे मनुष्य उनके लिये कितनी ही उत्कट इच्छा क्यों न करे; क्योंकि ये इच्छापर निर्भर नहीं हैं। किंतु परमात्माकी प्राप्तिरूप मुक्तिके लिये की हुई तीव्र इच्छा अवश्य सफल हो जाती है। तीव्र इच्छा होनेसे उसका साधन श्रद्धा, प्रेम और आदरपूर्वक एवं तीव्र हो जाता है, जिससे कार्यकी सिद्धि हो जाती है। दूसरी बात यह भी है कि जड़ पदार्थ तो जड़ होनेके कारण उनकी इच्छा करनेवालेको नहीं चाहते, पर भगवान्को तो जो चाहता है, उसे भगवान् चाहते हैं, (गीता ४। ११)।

अब यह विचार करना है कि भाग्य क्या है और प्रयत्न क्या है? सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि जो सब पूर्वमें किये हुए कर्मोंके फल हैं, इन्हींको भाग्य या प्रारब्ध कहते हैं। इस प्रारब्धका भोग तीन

प्रकारसे होता है—अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छासे। दैवेच्छासे कोई रोग हो जाना, मृत्यु हो जाना, किसी खरीदे हुए पदार्थका मूल्य घट जाना, पदार्थका क्षय या विनाश हो जाना—यह सब पूर्वकृत पापकर्मका फल है। इसके विपरीत दैवेच्छासे धन आदिकी प्राप्ति होना पुण्यकर्मका फल है। यह सभी अनिच्छा-प्रारब्धभोग है।

किसी डाकू या चोरने हमारा धन लूट लिया या चुरा लिया अथवा धनके लिये हमको मार डाला या किसीने द्वेष-बुद्धिसे मार डाला या किसी पशु-पक्षीने हमें चोट पहुँचा दी या साँपने डस लिया तो यह हमारे पूर्वकृत पापोंका दुःखरूप फलभोग परेच्छासे हुआ। इसी प्रकार किसी दूसरेकी इच्छासे हमें धन, जमीन, स्त्री, पुत्र आदिकी प्राप्ति हो गयी अथवा किसीने हमें दत्तक पुत्र बनाकर सर्वस्व दे दिया तो यह हमारे पूर्वकृत पुण्यकर्मोंका सुखरूप फलभोग परेच्छासे हुआ।

हमें वर्तमानमें अपनी इच्छासे किये हुए विषयोंके उपभोगसे सुख मिला या व्यापार करनेसे मुनाफा हो गया, तो यह पूर्वकृत पुण्यकर्मका फलभोग स्वेच्छापूर्वक हुआ। इसके विपरीत जो स्वेच्छासे किये हुए प्रयत्नके फलस्वरूप हमें दुःख, धनहानि, पराजय आदि प्राप्त होते हैं, यह हमारे पूर्वमें किये हुए पापकर्मका स्वेच्छापूर्वक फलभोग है।

इन सभी फलभोगोंको प्रारब्ध (भाग्य) कहते हैं।

विचारपूर्वक किये जानेवाले क्रियमाण कर्मका नाम 'प्रयत्न' है। उसके तीन भेद हैं—शुभकर्म, अशुभकर्म और शुभाशुभ-मिश्रित कर्म। शुभकर्मका फल सुख, अशुभका फल दुःख और शुभाशुभ-मिश्रितका फल सुख-दुःख दोनोंसे मिला हुआ होता है—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥

(गीता १८। १२)

'कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—इस प्रकार तीन तरहका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है, किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता।'

किसी कर्मको मनुष्य सकामभावसे करता है तो उसका इस लोकमें स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थोंकी प्राप्ति और परलोकमें स्वर्गादिकी प्राप्तिरूप फल होता है तथा निष्कामभावसे किये हुए थोड़े-से भी कर्तव्यपालनका फल परमात्माकी प्राप्तिरूप मुक्ति है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्

(गीता २। ४० का उत्तरार्ध)

'इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।'

मनुष्य कर्म करनेमें अधिकांश स्वतन्त्र है; पर फलभोगमें सर्वथा परतन्त्र है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २। ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं; इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

अतएव मनुष्यको उचित है कि निष्कामभावसे अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करे। जो किये हुए कर्मोंका फल न चाहकर कर्तव्य-कर्म करता है, उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे परमात्माकी प्राप्तिरूप मुक्ति मिल जाती है।

परम दयालु परम प्रेमी ईश्वरकी भक्ति—शरणागतिमें भी प्रारब्ध प्रधान नहीं है, पुरुषार्थ ही प्रधान है। ईश्वरकी प्राप्ति होती है—श्रद्धा-प्रेमपूर्वक ईश्वरके शरण होनेसे। श्रद्धा-प्रेमपूर्वक ईश्वरके शरण होनेसे मनुष्य ईश्वरके तत्त्व-रहस्यको जान जाता है। ईश्वर परम दयालु हैं और उनकी सभीपर अपार दया है— इस रहस्यको न जाननेके कारण ही मनुष्य ईश्वरकी प्राप्तिसे वञ्चित रहता है। ईश्वरकी परम कृपा होते हुए भी श्रद्धा-विश्वासकी कमीके कारण जो अपने ऊपर ईश्वरकी दया पूर्णतया नहीं समझता है, वह ईश्वरकी दयाके रहस्यको नहीं जानता और उनकी दयासे होनेवाले परम लाभसे वञ्चित रहता है।

यदि कहें कि ईश्वरकी प्राप्ति ईश्वरकी दयासे होती है या अपने प्रयत्नसे तो इसका उत्तर यह है कि मनुष्य अपने ऊपर ईश्वरकी अतिशय दया मान लेता है तो उसका साधन उच्चकोटिका होने लगता है। उच्चकोटिका साधन होनेसे अन्तःकरण शुद्ध होकर वह ईश्वरकी परम दया और प्रेमके तत्त्वको जान जाता है, तब उसे ईश्वरकी प्राप्ति हो जाती है। हेतुरहित परम दया और परम प्रेमका नाम ही सुहृदता है। जिसमें इस प्रकारकी सुहृदता हो, वही सुहृद् है। उन ईश्वरको सुहृद् जाननेसे ईश्वरकी प्राप्तिरूप परम शान्ति मिल जाती है।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

(गीता ५। २९ का उत्तरार्ध)

'मेरा भक्त मुझको सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी—ऐसा तत्त्वसे जानकर ईश्वरकी प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त होता है।'

किंतु कोई मनुष्य ईश्वरकी प्राप्तिको भाग्यपर छोड़ देता है तो वह ईश्वरकी प्राप्तिसे वञ्चित रहता है; क्योंकि

आजतक किसीको ईश्वरकी प्राप्ति अपने-आप भाग्यके भरोसे नहीं हुई। ईश्वरकी प्राप्तिरूप मुक्ति सबकी अपने-आप होती तो आजतक सबकी मुक्ति हो जाती। यदि कहें कि ईश्वरकी प्राप्ति तो ईश्वरकी कृपासे होती है सो ठीक है, किंतु जो अपने ऊपर ईश्वरकी कृपा मानता है उसको ही उनकी कृपाका पूर्ण लाभ मिलता है। मनुष्य अपने ऊपर सदा विद्यमान ईश्वर-कृपाको माने बिना उस कृपाके लाभसे वञ्चित रहता है। जैसे किसी गृहस्थके घरमें पारसमणि मौजूद है, किंतु उस गृहस्थने उसे पत्थर समझ रखा है तो वह उस पारससे होनेवाले लाभसे वञ्चित रहता है। यदि वह पारसको पारस जानकर उससे लोहेका स्पर्श करा देता है तो वह उसके लाभको प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार ईश्वरकी परम दया प्राणिमात्रपर है; किंतु पूर्णतया न माननेसे लोग उस परम लाभसे वञ्चित रहते हैं।

इसी प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका यथार्थ ज्ञान भी प्रारब्धसे स्वतः नहीं होता। यदि प्रारब्धसे स्वतः ही ज्ञान होता तो सबको ही हो जाता। जो मनुष्य प्रारब्धपर यों निर्भर रहता है कि प्रारब्धसे अपने-आप ज्ञान हो जायगा, वह ज्ञानकी प्राप्तिसे वञ्चित ही रहता है; क्योंकि प्रारब्धसे स्वतः ही ज्ञान न तो किसीको भी आजतक हुआ है और न हो ही सकता है। परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति तो होती है अन्तःकरणकी शुद्धिसे। अन्तःकरणकी शुद्धि होती है निष्काम कर्म करनेसे और निष्काम कर्मकी सिद्धि प्रयत्नसे होती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४। ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

ज्ञानकी प्राप्तिका दूसरा उपाय है—प्रेमपूर्वक भक्तिका साधन। भगवान्‌ने बतलाया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। ९—११)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभाव और तत्त्वको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

यह ईश्वरकी भक्ति प्रयत्नसाध्य है, यह ऊपर बतलाया ही जा चुका है। जो मनुष्य अपने ऊपर ईश्वरकी दया मानकर उनके शरण हो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक ईश्वरकी अनन्य भक्ति करता है, वह ईश्वरकी कृपासे ईश्वरकी प्राप्तिरूप परम पदको प्राप्त हो जाता है।

ज्ञानकी प्राप्तिका तीसरा उपाय है—तत्त्वदर्शी ज्ञानी महात्मा पुरुषोंका सङ्ग और सेवा करना। ऐसा करनेसे भी परम पदरूप मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। गीतामें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(४। ३४-३५)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्म-तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे, जिसको जानकर तू फिर इस प्रकार मोहको प्राप्त नहीं होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

ज्ञानकी प्राप्तिके जो साधन हैं उनको भी भगवान्‌ने गीता अध्याय १३ श्लोक ७ से ११ तक 'ज्ञान' के ही नामसे कहा है। उन ज्ञानके साधनोंसे भी ज्ञानकी प्राप्ति होकर मनुष्यका कल्याण हो जाता है। वे सभी साधन प्रयत्नसाध्य हैं, भाग्यसे सिद्ध होनेवाले नहीं।

इसी प्रकार भगवान्‌ने गीतामें अध्याय १८ श्लोक ५० से ५५ तक जो ज्ञानकी परानिष्ठाकी प्राप्तिके लिये साधन बतलाये हैं, वे भी प्रयत्नसाध्य हैं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानकी प्राप्तिमें भी प्रारब्धकी प्रधानता

नहीं है, बल्कि प्रयत्नकी ही प्रधानता है।

सदाचाररूप धर्मकी सिद्धि भी प्रयत्नसे ही होती है, प्रारब्धसे नहीं। महर्षि मनुने धर्मके चार ही लक्षण बतलाये हैं—

वेदः स्मृतिः, सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनु २। १२)

'वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी रुचिके अनुसार परिणाममें हितकर—यह चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण है।'

तथा सामान्यधर्मका स्वरूप-वर्णन करते हुए मनुजीने कहा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु ६। ९२)

'धैर्य रखना, क्षमा करना, मनको वशमें रखना, चोरी न करना, बाहर-भीतरकी पवित्रता रखना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, सात्त्विक बुद्धि, सात्त्विक ज्ञान, सत्य वचन बोलना और क्रोध न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।'

एवं वर्णों और आश्रमोंके विशेष धर्म भी विस्तारपूर्वक मनुजीने मनुस्मृतिके तीसरेसे छठे अध्यायतक बतलाये हैं। ये सभी प्रयत्नसाध्य हैं। बिना प्रयत्नके अपने-आप भाग्यसे इनमेंसे किसी भी क्रियाकी सिद्धि नहीं हो सकती।

इसलिये यही सिद्ध हुआ कि अर्थ और कामकी प्राप्तिमें तो प्रारब्धकी प्रधानता है तथा धर्म और मोक्षकी प्राप्तिमें प्रयत्नकी प्रधानता है।

अपने उत्थानके प्रयत्नकी परम आवश्यकता

मनुष्यको उचित है कि अपने जीवनको सफल बनानेके लिये अपना उत्थान करे—अपने-आपकी उन्नति करे और अपने-आपको पतनसे बचाये। संसारमें अनेक मत और अनेक शास्त्र हैं। ऋषि-मुनि, महात्मा, संत, फकीर, मौलवी, पादरी आदि सभी अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार मनुष्यके उत्थानके भिन्न-भिन्न साधन बतलाते हैं और अपनी-अपनी दृष्टिसे उन सबका कथन ठीक हो सकता है। अतः उन सबका सम्मान करते हुए मनुष्यको कम-से-कम अपनी बुद्धि और समझका तो अवश्य ही आदर करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि भक्ति, ज्ञान, वैराग्यके नशेमें चूर होकर सम्पूर्ण गुण, क्रिया, पदार्थ, परिस्थिति और प्राणियोंमें समभाव रखते हुए अपनी विवेकशील बुद्धिमें निरपेक्ष भावसे जो सर्वोत्तम गुण, भाव और क्रिया मालूम दें, उनको उत्तरोत्तर अपने जीवनमें परिणत करनेके लिये तो तत्परताके साथ प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी ही चाहिये। जिसको आप विचारके द्वारा निर्भ्रान्तरूपसे सिद्धान्त निश्चय कर चुके हैं, उसका सम्पादन करना ही अपनेको उन्नत करना है। भाव यह कि आपने अच्छे पुरुषोंसे जो सुना है और जो शास्त्रोंमें पढ़ा है तथा जो सोच-समझकर विवेकपूर्वक मनन करके निश्चय किया है, उसके अनुसार अपना जीवन बनाना ही अपनी उन्नति करना है। अतः गत वर्षसे इस वर्ष, गत माससे इस मास और गत कलसे आज उत्तरोत्तर अधिक उन्नति करना एवं इसी प्रकार आज भी प्रतिक्षण अपने जीवनको उन्नत बनाना ही अपने द्वारा अपना उद्धार करना है और इसके विपरीत करना ही अपने द्वारा अपने-आपका पतन करना है। जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे अपनी उन्नति स्वयं करता है, वह स्वयं ही अपने-आपका मित्र है और जो इससे विपरीत करता है, वह स्वयं ही अपने-आपका शत्रु है। भगवान्‌ने भी गीतामें बतलाया है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(६। ५)

'अपने द्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

प्राणिमात्रको तन, मन, धन, जनद्वारा अपनी शक्तिके अनुसार सुख पहुँचाना—यह परम धर्म है और इसके विपरीत किसीको दुःख पहुँचाना पाप है। इस बातको सभी लोग एकमतसे स्वीकार करते हैं, चाहे वे किसी भी सिद्धान्तको माननेवाले क्यों न हों।

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४०। १)

इसलिये देवता, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग—कोई भी प्राणी क्यों न हो, सबके हितमें रत रहना ही परम धर्म है। इसीमें मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है। सबके हितमें ही हमारा परम हित भरा हुआ है। मनुष्यमात्रका हित करना तो सभी विवेकशील मनुष्य मानते हैं, यह मानना भी अच्छा है; परंतु ऋषि-मुनियों

तथा गीतादि शास्त्रोंने तो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहनेमें ही अपना परम हित बतलाया है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।

(गीता १३। ४ का उत्तरार्ध)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत रहनेवाले पुरुष मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इस लोक और परलोकमें सबका परम हित हो—इस भावका नाम ही उत्तम श्रेणीकी दया है। जिस धर्ममें दया नहीं है, वह धर्म वास्तवमें धर्म ही नहीं है। अतः ऐसे धर्मका त्याग करना चाहिये। हमारे ऋषियोंका सिद्धान्त है—

'दयाहीनं धर्मं त्यजेत्।'

मनके द्वारा सब प्रकारसे दूसरोंके हितकी इच्छा रखना; वाणीके द्वारा सत्य, प्रिय और दूसरोंके हितकी बात कहना, शरीरके द्वारा दूसरोंको सुख पहुँचाना, धन और पदार्थको दूसरोंके हितमें लगाना एवं अपनी बात माननेवालोंको दूसरोंकी सेवामें लगाना—यह मन, वचन, तन, धन, जन आदिके द्वारा दूसरोंकी सेवा करना है। इस प्रकारकी सेवा यदि मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, अहंकार और स्वार्थसे रहित होकर कर्तव्य समझकर प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे की जाय तो मनुष्यका शीघ्र ही कल्याण हो सकता है एवं यही सेवा यदि कोई सकामभावसे करे तो उसकी कामनाकी सिद्धि हो सकती है; किंतु सकामभावसे सेवा करना निम्न श्रेणीका कार्य है।

हमलोगोंको सावधान होना चाहिये। हमसे अधिक आयुवाले, समान आयुवाले और कम आयुवाले भी प्राण त्यागकर जा रहे हैं। हमलोग यह भी देखते हैं कि कल जिसके कोई बीमारी नहीं थी, उसके आज ही कोई बीमारी होकर तुरंत मृत्यु हो जाती है अथवा बीमारीके बिना भी, अन्य कोई निमित्त अकस्मात् होकर मृत्यु हो जाती है। मृत्यु होनेपर उसके साथ उसका शरीर भी नहीं जाता, फिर धन-जन आदिकी तो बात ही क्या है। यह देखकर भी हमलोगोंको अपनी मृत्यु निकट नहीं दीखती और संसार तथा शरीरसे वैराग्य नहीं होता—यह कितने आश्चर्यकी बात है। महाभारत, वनपर्वमें यक्षके प्रश्नके उत्तरमें महाराज युधिष्ठिरने कहा है—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

(३१३। १०१)

'संसारमें रोज-रोज प्राणी यमलोक जा रहे हैं; किंतु जो बचे हुए हैं, वे सर्वदा जीते रहनेकी इच्छा करते हैं, इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा?'

मरनेपर कोई भी पदार्थ हमारे साथ नहीं जा सकते और क्षणभरमें कब मृत्यु हो जायगी—इसका कोई पता नहीं एवं एक क्षण भी अधिक जीना अपने अधिकारकी बात नहीं है—ऐसा समझकर जिसको हम बुरा काम (पाप) समझते हैं उसको काम, क्रोध, लोभ या भयके वशमें होकर कभी नहीं करना चाहिये।

धनके लोभमें पड़कर सरकारके, किसी संस्थाके या किसी दूसरे व्यक्तिके धनको झूठ, कपट, चोरी, दगाबाजी, विश्वासघातसे हरण करनेपर मनमें भय, ग्लानि, चिन्ता, शोक आदि होते हैं और प्रत्यक्ष पतन हो जाता है; इसे सभी लोग मानते हैं। इसलिये मनुष्यको उचित है कि चाहे कितनी ही आपत्ति क्यों न आये, पर थोड़े-से जीनेके लिये लोभके वशमें होकर इस प्रकारका पतनकारक कार्य कभी न करे; क्योंकि कर्तव्य-पालनरूप धर्म नित्य है और यह जीवन क्षणिक और अनित्य है। महाभारतमें बतलाया गया है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः

(स्वर्गारोहण० ५। ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवन-रक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका कारण अनित्य है।'

इस प्रकार संसार और शरीरकी क्षणभङ्गुरता और नश्वरताको प्रत्यक्ष देखते हुए भी यदि हमलोग विवेकपूर्वक शिक्षा ग्रहण न करें तो फिर पशुओंमें और हमलोगोंमें अन्तर ही क्या रहा? खाने, पीने, सोने और भोग-विलास करनेमें समय बिताना तो पशुपन है।

आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥

(चाणक्यनीति १७। १७)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें एक समान ही हैं। मनुष्योंमें केवल विशेषता यही है कि उनमें अपने कर्तव्यका ज्ञान अधिक है; किंतु ज्ञानसे शून्य मनुष्य पशुओंके ही तुल्य है।'

ब्रह्मचर्यका पालन मनुष्यमात्रके लिये इस लोक और परलोकमें परम हितकर है। इससे बल, बुद्धि, तेज,

वीर्य, आयु, ओज और कीर्तिकी वृद्धि होती है तथा इसके विपरीत, ब्रह्मचर्यके ह्रससे प्रत्यक्ष परम हानि है, चाहे अपनी स्त्रीके साथ ही सहवास क्यों न हो। परस्त्रीके साथ सहवास करनेपर तो बल, बुद्धि, तेज, वीर्य, आयु और कीर्तिकी हानि तथा मरनेपर उसकी घोर दुर्गति भी होती है। इसे मनुष्यमात्र प्रायः सभी मतावलम्बी मानते हैं। यह समझकर भी यदि हमलोग इस प्रकारके पतनसे न बचें तो हमारी मूर्खताकी हद है।

अतः पुरुषको उचित है कि पर-स्त्रीके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तनको महान् हानिकर समझकर उससे स्वप्नमें भी सम्बन्ध न करे। विशेष आवश्यकता पड़नेपर उसके साथ उसे माता-बहिनके समान समझते हुए नीची दृष्टि रखकर उचित और पवित्र वार्तालाप किया जा सकता है। इसी प्रकार स्त्रियोंको उचित है कि वे अपने पतिके सिवा अन्य पुरुषोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनको महान् हानिकर समझकर उनसे सदा दूर रहें। विशेष आवश्यकता पड़नेपर पिता-भाईके समान समझते हुए नीची दृष्टि रखकर उचित और पवित्र वार्तालाप कर सकती हैं।

मनुष्यमात्रको उचित है कि कामोद्दीपन करनेवाले इत्र, तेल, फुलेल, चन्दन, पुष्पमाला आदि पदार्थोंका भी सेवन न करे और किसी भी स्त्री-पुरुष या युवा बालक-बालिकाके साथ परस्पर अश्लील बातें भी न करे तथा कामोद्दीपक खेल-तमाशे, नाटक-सिनेमा-बायस्कोप आदिसे भी परहेज रखे।

जिस कार्यको करनेमें न तो परिश्रम होता है, न पैसे खर्च होते हैं, न कोई कठिनाई है और जिसके लाभकी कोई सीमा नहीं एवं जिसे हिंदू-मुसलमान-ईसाई आदि सभी मनुष्य मानते हैं, ऐसे कार्यमें अपना समय न लगाना महान् मूर्खता है। वह सबसे बढ़कर कार्य है— परमात्माको हर समय याद रखना। ईश्वर, भगवान्, नारायण, अल्लाह, खुदा, गॉड, परमात्मा आदि सब परमात्माके ही नाम हैं। जिसका जो इष्टदेव हो, जिसकी जिस नाममें और व्यक्त-अव्यक्त जिस रूपमें श्रद्धा-विश्वास और रुचि हो, उसी नाम और स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करनेमें न कोई पैसे खर्च होते हैं, न कोई कठिनाई है और न कोई परिश्रम होता है, बल्कि श्रद्धा-प्रेमपूर्वक किये जानेपर प्रत्यक्ष अद्भुत प्रसन्नता और परम शान्ति मिलती है। गीतादि शास्त्रोंमें तो यहाँतक बताया है कि अन्तकालमें भी परमात्माका स्मरण करते हुए मृत्यु हो जाय तो उसका कल्याण हो जाता है और जैसा जीवनकालमें अभ्यास किया जाता है वैसा ही चिन्तन अन्तकालमें स्वाभाविक ही होता है। भगवान्ने कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ५-६)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। (इसका कारण यह है कि) हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

अतः मनुष्यजन्मको सार्थक करनेके लिये हमलोगोंको हर समय भगवान्को याद रखना चाहिये। इसके लिये रात्रिमें सोनेके समय नाम-गुण-प्रभावसहित भगवान्को याद करते हुए शयन करना चाहिये। इससे स्वप्न भी अच्छे आनेकी आशा है; क्योंकि जैसा हमलोग दिनमें अभ्यास करते हैं और जैसा शयनकालमें हमलोगोंके चित्तका प्रवाह रहता है वैसा ही हम स्वप्न देखते हैं।

इसी प्रकार व्यवहारकालमें भी भगवान्को याद रखते हुए ही व्यवहार करना चाहिये। गीतामें बतलाया गया है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

एकान्तके साधनकालमें इन्द्रियों और मनका संयम करके श्रद्धाभक्तिपूर्वक भगवान्में मन लगाकर उन्हींका निरन्तर चिन्तन करना चाहिये। भगवान्ने गीतामें कहा है—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥

(६। १०)

'मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित होकर आत्माको निरन्तर परमात्मामें लगावे।'

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

(गीता ६। १४)

'ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित और भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे।'

अतएव अपने आत्माके उत्थानके लिये मनुष्यको शयनकाल, व्यवहारकाल और एकान्तकाल सभी समय भगवान्‌के नाम-रूपका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर स्मरण करना चाहिये।

साधन तेज न होनेमें अश्रद्धा ही प्रधान कारण है

कितने ही साधक यह प्रश्न किया करते हैं कि 'हमारा साधन पहलेकी अपेक्षा शिथिल प्रतीत होता है; इसमें ईश्वर-कृपाकी कमी कारण है या प्रारब्ध कारण है अथवा वर्तमानका दूषित वातावरण और कुसङ्ग कारण है या श्रद्धाकी कमी कारण है अथवा अन्य ही कोई कारण है?'

इसका उत्तर यह है कि ईश्वरकी कृपा तो सबपर पूर्ण रही है और है तथा रहेगी। हमलोग अपने ऊपर ईश्वरकी जितनी कृपा मानते हैं, उससे कहीं अधिक है। किंतु मनुष्य ईश्वरकी कृपा अपने ऊपर जितनी मानता है, उतना ही उसे लाभ होता है। इसलिये ईश्वरकी अपने ऊपर पूर्ण कृपा मानकर साधनविषयक विशेष लाभ उठाना चाहिये।

प्रारब्ध साधनमें बाधक नहीं है। जब मनुष्यपर कोई आपत्ति आती है या उसके कोई रोग हो जाता है, तब वह श्रद्धाकी कमी और आत्मबलकी कमीके कारण ही उस सांसारिक आपत्ति या रोगका बहाना लेकर प्रारब्धपर दोष देने लगता है।

साधकको भगवान्‌की दयाके बलपर वर्तमानके दूषित वातावरणसे भी नहीं डरना चाहिये, किंतु उसके सङ्गसे दूर रहना चाहिये; क्योंकि श्रद्धाहीन, संशयात्मा, नास्तिक, दुराचारी, दुर्व्यसनी और दुर्गुणी दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग बहुत हानिकारक और आत्माका पतन करनेवाला है। साधकके लिये जिस प्रकार महापुरुषोंका सङ्ग बहुत लाभदायक है, उसी प्रकार अश्रद्धालु नास्तिक पुरुषोंका सङ्ग बहुत ही घातक है। अतः साधकको ऐसे पुरुषोंके सङ्गसे सदा ही दूर रहना चाहिये। यदि परिस्थितिवश उनका सङ्ग हो जाय तो उनके दोषोंसे सावधान रहना चाहिये। जैसे अपनी स्त्री, पुत्र या प्रेमीके हैजा, प्लेग, कुष्ठ या टी बी आदि कोई प्राणनाशक संक्रामक रोग हो जाता है तो बुद्धिमान् मनुष्य उसके इलाजके लिये दवा, पथ्य और वैद्यकी सलाह आदिकी चेष्टा करते हुए भी उस रोगसे स्वयं सावधान रहते हैं, वैसे ही जिसमें उपर्युक्त दोष हों, उससे घृणा-द्वेष न करके, उसमें जो दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन आदि भयंकर संक्रामक रोग हैं, उनसे सावधान रहना चाहिये।

साधन कमजोर होनेमें वस्तुतः श्रद्धा और विश्वासकी कमी ही प्रधान कारण है; अतः साधनकी उन्नतिके लिये सबसे बढ़कर उपाय श्रद्धा ही है। भक्तिपूर्वक विश्वास होना ही श्रद्धा है। (१) ईश्वर, (२) महापुरुष, (३) भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-सदाचारके प्रतिपादक श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि धार्मिक सत्-शास्त्र और (४) परलोक—ये चार श्रद्धा करनेके योग्य हैं। यदि उपर्युक्त सत्-शास्त्रोंके वचन कहीं समझमें न आयें या कहीं उनके सम्बन्धमें अपने आत्मामें शङ्का उत्पन्न हो जाय तो महापुरुषोंके आचरणोंको लक्ष्य बनाकर उनके अनुसार आचरण करना चाहिये। महाभारतमें यक्षके प्रश्नोंका उत्तर देते समय महाराज युधिष्ठिरने बतलाया है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(वन० ३१३। ११७)

'तर्ककी कहीं स्थिति नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं; एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा हुआ—अत्यन्त गूढ़ है, अतः जिस मार्गसे महापुरुष गये हैं, वही मार्ग असली मार्ग है।'

अथवा महापुरुष सम्मुख विद्यमान हों तो उनसे पूछकर उनके कहे अनुसार आचरण करना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है,अन्य

पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार बर्तने लग जाता है।'

यदि महापुरुष न मिलें तो अपनी श्रद्धा, विश्वास, रुचि और स्वभावके अनुसार जो अपने आत्माका हितकर साधन प्रतीत हो उसीको करे। कल्याणप्रद धर्मके चार मूल हैं। श्रीमनुजीने कहा है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनु० २। १२)

'वेद, स्मृति महापुरुषोंका उत्तम आचरण और अपने आत्माकी रुचिके अनुसार परिणाममें हितकारक साधन— धर्मका यह चार प्रकारका साक्षात् लक्षण श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा कहा गया है।'

इसलिये ईश्वर, महापुरुष, सत्-शास्त्र और परलोकपर परम श्रद्धा करके साधनके लिये तत्परताके साथ प्रयत्न करना चाहिये। मनमें कभी निराशाको स्थान नहीं देना चाहिये; क्योंकि निराशा उत्साहको भङ्ग करके मनुष्यका पतन कर देती है।

आत्माके उद्धारके लिये संसारमें श्रद्धासे बढ़कर कोई उपाय नहीं है। केवल श्रद्धासे ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

श्रीनारदपुराणके पूर्वभागके प्रथम पादमें श्रीसनत्कुमारजीने नारदजीसे कहा है—

श्रद्धापूर्वाः सर्वधर्मा मनोरथफलप्रदाः।
श्रद्धया साध्यते सर्वं श्रद्धया तुष्यते हरिः॥
श्रद्धावाँल्लभते धर्मं श्रद्धावानर्थमाप्नुयात्।
श्रद्धया साध्यते कामः श्रद्धावान् मोक्षमाप्नुयात्॥

(४। १,६)

'नारद! श्रद्धापूर्वक आचरणमें लाये हुए ही सब धर्म मनोवाञ्छित फल देनेवाले होते हैं। श्रद्धासे सब कुछ सिद्ध होता है और श्रद्धासे ही भगवान् श्रीहरि संतुष्ट होते हैं। श्रद्धालु पुरुषको धर्मका लाभ होता है, श्रद्धालु ही धन पाता है, श्रद्धासे ही कामनाओंकी सिद्धि होती है और श्रद्धालु पुरुष ही मोक्ष पाता है।'

श्रीस्कन्दपुराणमें नारदजीने राजा धर्मवर्मासे कहा है—

कायक्लेशैश्च बहुभिर्न नैवार्थस्य राशिभिः।
धर्मः सम्प्राप्यते सूक्ष्मः श्रद्धा धर्मोऽद्भुतं तपः॥
श्रद्धा स्वर्गश्च मोक्षश्च श्रद्धा सर्वमिदं जगत्।
सर्वस्वं जीवितं चापि दद्यादश्रद्धया यदि॥
नाप्नुयात् स फलं किंचिच्छ्रद्दधानस्ततो भवेत्।
श्रद्धया साध्यते धर्मो महद्भिर्नार्थराशिभिः॥

(स्क० मा० कुमा० ३। २९—३१)

'राजन्! शरीरको बहुत क्लेश देनेसे तथा धनकी राशियोंसे सूक्ष्म धर्मकी प्राप्ति नहीं होती, श्रद्धा ही धर्म और अद्भुत तप है, श्रद्धा ही स्वर्ग और मोक्ष है तथा श्रद्धा ही यह सम्पूर्ण जगत् है। यदि कोई मनुष्य बिना श्रद्धाके अपना सर्वस्व दे दे अथवा अपना जीवन ही न्योछावर कर दे, तो भी वह उसका कोई फल नहीं पाता; इसलिये सबको श्रद्धालु होना चाहिये। श्रद्धासे ही धर्म सिद्ध होता है, धनकी बहुत बड़ी राशिसे नहीं।'

श्रीरामचरितमानसमें भी बतलाया गया है—

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। बिनु महि गंध कि पावइ कोई॥
कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरि भजन न भव भय नासा॥
बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥

(रा० च० मा० उत्तर० ८९। २, ४; ९०क)

अतः समस्त साधनोंकी सिद्धिमें श्रद्धा ही मूल कारण है। जो मनुष्य श्रद्धेयकी आज्ञा पाकर उसके अनुसार आचरण करता है, वह श्रद्धालु है। उससे अधिक श्रद्धालु वह है, जो श्रद्धेयका संकेतमात्र मिलते ही तदनुसार कार्य करने लगता है। उसकी अपेक्षा वह और अधिक श्रद्धालु है, जो अपने मनके विपरीत होनेपर भी उस कार्यको करता है तथा उससे भी अधिक श्रद्धालु वह है, जो मनके विपरीत आज्ञाको पाकर भी बड़ी प्रसन्नतासे उसे करता है। एवं श्रद्धेयकी आज्ञाके लिये अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक अपने-आपको न्योछावर कर देनेवाला पुरुष तो बहुत ही ऊँची श्रेणीका श्रद्धालु है। एक ओर अपनी मान्यता है और दूसरी ओर श्रद्धेयकी मान्यता है तो ऐसी स्थितिमें अपनी मान्यतापर कोई ध्यान न देकर श्रद्धेयकी बातको प्रत्यक्षकी भाँति समझकर काममें लानेवाला मनुष्य उच्चकोटिका श्रद्धालु है तथा प्रत्यक्षसे भी बढ़कर श्रद्धेयकी बातका आदर करनेवाला परम श्रद्धालु है। भाव यह कि अपनी जो मान्यता, सिद्धान्त और समझ है—उन सबका श्रद्धेयकी बातपर बलिदान कर देना— यह परम श्रद्धालुका लक्षण है। जितनी अधिक श्रद्धा होती है, उतना ही उसमें बल आ जाता है। श्रद्धासे मनुष्यमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, शूरता आदि अनेक गुण प्रत्यक्ष आ जाते हैं। उसके मनमें अटल निश्चय हो जाता है कि श्रद्धेय जो बात कह रहे हैं, वह सोलहो आने—अक्षरशः वैसी ही है। अतः जिसके मनमें जितना अधिक निश्चय है, उसकी उतनी ही अधिक श्रद्धा समझी जाती है।

भक्त प्रह्लादके हृदयमें यह विश्वास था कि भगवान् सब जगह हैं। उनके विश्वासके बलपर भगवान्‌को खम्भेसे प्रकट होना पड़ा। यह श्रद्धाकी महिमा है। भक्त प्रह्लादके दृढ़ निश्चय और विश्वासके बलसे उनके लिये अग्नि भी शीतल हो गयी। भगवान्‌की कृपासे असम्भव भी सम्भव और सम्भव भी असम्भव हो जाता है। अग्निका स्वाभाविक धर्म है जलाना; किंतु प्रह्लादको जब अग्निमें बैठाया गया, उस समय प्रह्लाद अग्निको परमात्माके रूपमें देख रहे थे; अतः अग्निकी शक्ति नहीं कि उनको जला दे। प्रह्लादके निश्चयसे प्रह्लादको तो अग्निमें भी भगवान् ही स्थित दिखलायी पड़ते थे। उस समय प्रह्लादने हिरण्यकशिपुसे कहा—

तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि
न मां दहत्यत्र समन्ततोऽहम्।
पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि
शीतानि सर्वाणि दिशाम्मुखानि॥

(विष्णुपु० १। १७। ४७)

'तात! यहाँ पवनसे प्रेरित हुआ भी यह अग्नि मुझे नहीं जला सकता। मुझको तो सभी दिशाएँ ऐसी शीतल प्रतीत होती हैं, मानो मेरे चारों ओर कमलके आसन बिछे हुए हों।'

इसका कारण यही था कि उनका सर्वत्र भगवद्भाव था। हिरण्यकशिपुकी आज्ञासे जब दैत्योंने उनपर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार किया, तब उन्होंने उनसे स्पष्ट कहा था—

विष्णुः शस्त्रेषु युष्मासु मयि चासौ व्यवस्थितः।
दैतेयास्तेन सत्येन माक्रमन्त्वायुधानि मे॥

(विष्णुपु० १। १७। ३३)

'दैत्यो! भगवान् विष्णु तो शस्त्रोंमें, तुमलोगोंमें और मुझमें—सर्वत्र ही स्थित हैं। इस सत्यके प्रभावसे इन अस्त्र-शस्त्रोंका मेरे ऊपर कोई प्रभाव न हो।'

जब हिरण्यकशिपुकी आज्ञासे दिग्गजोंने प्रह्लादको दाँतोंसे रौंदा, तब उनके हजारों दाँत उनकी छातीसे टकराकर टूट गये। उस समय प्रह्लादने पिताको बतलाया—

दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुराः
शीर्णा यदेते न बलं ममैतत्।
महाविपत्तापविनाशनोऽयं
जनार्दनानुस्मरणानुभावः ॥

(विष्णुपु० १। १७। ४४)

'ये जो हाथियोंके वज्रके समान कठोर दाँत टूट गये हैं, इसमें मेरा कोई बल नहीं है। यह तो श्रीजनार्दन भगवान्‌के महान् विपत्ति और क्लेशोंको नष्ट करनेवाले स्मरणका ही प्रभाव है।'

भक्त प्रह्लादका भगवान्‌पर कितना दृढ़ विश्वास था! इसी कारण वे सर्वथा निर्भय हो गये थे। उन्होंने स्वयं अपने पिता हिरण्यकशिपुसे कहा था—

भयं भयानामपहारिणि स्थिते
मनस्यनन्ते मम कुत्र तिष्ठति।
यस्मिन् स्मृते जन्मजरान्तकादि
भयानि सर्वाण्यपयान्ति तात॥

(विष्णुपु० १। १७। ३६)

'तात! जिनके स्मरणमात्रसे जन्म, जरा और मृत्यु आदिके समस्त भय दूर हो जाते हैं, वे सकलभयहारी अनन्त मेरे हृदयमें स्थित हैं, ऐसी अवस्थामें मुझे भय कहाँ हो सकता है?'

उन्होंने केवल कहा ही नहीं, वास्तवमें उनमें निर्भयता थी। भगवान्‌ने उनके सम्मुख ऐसा भयंकर नृसिंहरूप प्रकट किया, जिसको देखकर विश्वको नष्ट करनेवाला काल भी डर जाता, संसारकी उत्पत्ति करनेवाले ब्रह्मा भी भयभीत हो गये, जगज्जननी लक्ष्मीजी भी भयभीत हो गयीं। सारे देवता और ऋषिगण हाथ जोड़कर मारे भयके दिव्य स्तोत्रोंसे उनकी स्तुति करने लगे। ऐसे कालके समान भयंकर रूपको देखकर भी प्रह्लादको भय नहीं लगा। वे निर्भय होकर भगवान्‌के पास चले गये। उनके मनमें न तो भयका भाव पहले आया और न परिणाममें ही। उनके निश्चयमें तो यह था कि ये साक्षात् मेरे प्रभु भगवान् ही हैं, इनसे मुझे क्या भय है। भगवान्‌का वह बाहरी भयानक रूप दुनियाके लिये था, प्रह्लादके लिये नहीं (श्रीमद्भा० स्क० ७ अ० ८-९)।

इसी प्रकार गुरुभक्त एकलव्य भीलकी गुरु द्रोणाचार्यके प्रति बड़ी भारी श्रद्धा थी। वह द्रोणाचार्यके पास धनुर्विद्या सीखने गया; किंतु उन्होंने उसको निषाद होनेके कारण धनुर्विद्याविषयक शिक्षा नहीं दी। यद्यपि एकलव्यकी यह श्रद्धा सकाम ही थी, फिर भी उसको यह विश्वास था कि 'द्रोणाचार्य मुझको शिष्य नहीं बनाते तो कोई बात नहीं। मैंने उनको गुरु बना लिया है; अतः जो इनके शिष्य इनसे लाभ उठा रहे हैं; वह लाभ मैं भी उठा लूँगा।' वह द्रोणाचार्यके चरणोंमें प्रणाम करके वनमें चला गया। वहाँ उसने द्रोणाचार्यकी मिट्टीकी मूर्ति बनाकर उसीमें आचार्यकी परमोच्च भावना करके नियमपूर्वक स्वयं ही धनुर्विद्याका अभ्यास किया। उस परम श्रद्धाके प्रभावसे उसने बाणविद्यामें ऐसी कुशलता प्राप्त कर ली कि जिसके सामने द्रोणाचार्यके अत्यन्त प्रिय शिष्य अर्जुनको भी आश्चर्यचकित होना

पड़ा। बाणविद्याके तत्त्वको द्रोणाचार्यकी मिट्टीकी मूर्तिसे एकलव्यने जितना सीखा, उतना अर्जुन साक्षात् द्रोणाचार्यसे भी नहीं सीख सके (महा० आदि० अ० १३१)।

राजा द्रुपदकी श्रद्धा भी सकाम थी। परंतु वह श्रद्धा ही नहीं, परम श्रद्धा थी। उन्होंने संतानकी प्राप्तिके लिये घोर तपस्या करके भगवान् शंकरको संतुष्ट किया, (तब भगवान् शंकरने उनको कन्या-प्राप्तिका वर दिया। इसपर) राजा द्रुपदने कहा—'भगवन्! मैं पुत्र चाहता हूँ; अतः मुझे कन्या नहीं, पुत्र प्राप्त हो।' इसपर श्रीमहादेवजीने कहा—'राजन्! तुम्हें पहले कन्या प्राप्त होगी, फिर वही पुरुष हो जायगी। मैंने जो कुछ कहा है, वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता।' इस वरदानके फलस्वरूप जब उन्हें कन्या प्राप्त हुई, तब भगवान् शंकरके वचनोंपर दृढ़ विश्वास और श्रद्धा होनेके कारण राजा द्रुपदने अपनी लड़कीको लड़का ही घोषित किया और लड़केके समान ही उसके जातकर्मादि संस्कार करवाकर पुरुष-जैसा ही 'शिखण्डी' नाम रखा। इतना ही नहीं, उसका विवाह भी दशार्णदेशके राजा हिरण्यवर्माकी कन्याके साथ कर दिया। फिर उनकी श्रद्धाके बलसे शिखण्डी समयपर पुरुषत्वको प्राप्त हो गया (महा० उद्योग० १८८—१९२)।

जबालाके पुत्र सत्यकामकी गुरुके प्रति बड़ी अनुपम श्रद्धा थी। वे ब्रह्मको जाननेकी इच्छासे गौतमगोत्रीय महर्षि हारिद्रुमतके समीप गये। वहाँ वार्तालाप होनेपर गुरुने चार सौ अत्यन्त कृश और दुर्बल गौएँ अलग करके सत्यकामसे कहा—'सौम्य! तू इन गौओंके पीछे-पीछे जा।' बस, गुरुकी इसी आज्ञाको शिरोधार्य करके वे अत्यन्त श्रद्धा, उत्साह और हर्षके साथ उन गौओंको वनकी ओर ले चले। जाते समय उन्होंने गुरुसे निवेदन किया—'इनकी संख्या एक हजार पूरी हो जानेपर मैं लौटूँगा।' वे उन गौओंको तृण और जलकी अधिकतावाले निरापद जंगलमें ले जाकर चराने लगे। जब उनकी संख्या पूरी एक हजार हो गयी, तब लौटे। लौटते समय श्रद्धा-विश्वासपूर्वक गुरु-आज्ञा-पालनके प्रभावसे मार्गमें ही उनको वृषभ (साँड), अग्नि, हंस और मद्गु नामक जलमुर्ग पक्षीके द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया (छान्दोग्य-उप० ४। ४—९)। यह है श्रद्धाका फल।

भक्ति और विश्वासपूर्वक दृढ़ निश्चयको ही श्रद्धा कहते हैं। दृढ़ निश्चयमें बड़ा भारी बल होता है। उससे मनमें इतना बल आ जाता है कि फिर उसका कोई भी मुकाबला नहीं कर सकता। भक्त ध्रुवकी पाँच वर्षकी अवस्था थी, किंतु उसे ऐसा दृढ़ विश्वास था कि नारदजीके कथनानुसार साधन करनेपर अवश्य भगवान् मिलेंगे। और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक साधन करनेसे दृढ़ विश्वासके बलपर भगवान्को उसे दर्शन देना पड़ा (श्रीमद्भागवत, स्क० ४ अ० ८-९)।

इसी प्रकार भक्त सुधन्वाका भी भगवान्पर दृढ़ विश्वास था। सदा-सर्वदा भगवान्का स्मरण करते रहनेके कारण उनके लिये उबलता हुआ तेल चन्दनके समान शीतल हो गया था। भक्त सुधन्वाको उबलते हुए तेलके कड़ाहेमें डाल दिया गया, किंतु वह सुधन्वाको नहीं जला सका; क्योंकि सुधन्वा तन्मय होकर भगवान्का स्मरण कर रहा था—

एवं ब्रुवति वीरेऽस्मिन् स्मरणान्माधवस्य तु।
तैलं सुशीतलं जातं सज्जनस्येव मानसम्॥

(जैमिनीय अश्वमेध० १७। १९०)

'वीर सुधन्वाके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् माधवके स्मरणके प्रभावसे वह तेल सज्जनके चित्तके सदृश अत्यन्त शीतल हो गया।'

महर्षि शङ्ख और लिखितको शङ्का हुई कि कहीं तेल ठंडा तो नहीं है। उन्होंने परीक्षाके लिये तेलमें नारियल गिरवाया, जिसके दो टुकड़े होकर शङ्ख और लिखितके ही मस्तकपर पड़े और उनके चोट आ गयी।

भक्तिमती मीराँका भी भगवान्के प्रति कितना महान् विश्वास और प्रेम था। जब राणाजीने मीराँके पास चरणामृतके नामपर हलाहल विषका प्याला भेजा, तब मीराँने प्रसन्नता-पूर्वक भगवान्के नामका उच्चारण करके पान कर लिया, किंतु वह मीराँके लिये अमृतके समान हो गया।

भक्तोंके, उच्चकोटिके महापुरुषोंके दृढ़ निश्चय—श्रद्धा-विश्वाससे असम्भव भी सम्भव हो सकता है। विष अमृत बन सकता है और अग्नि चन्दनके समान शीतल हो सकती है। यद्यपि ये सभी बातें असम्भव हैं; किंतु भक्ति और विश्वासयुक्त दृढ़ निश्चयमें बड़ा भारी बल है, उससे असम्भव भी सम्भव हो सकता है। इसीको आत्मबल और मानसिक बल भी कहते हैं। इसके मुकाबलेमें इन्द्रियोंका और शरीरका बल कुछ भी नहीं है। इस आत्मबलसे—श्रद्धाके प्रभावसे साधन तेज हो जाता है और साधन तेज होनेसे मन-इन्द्रियाँ वशमें हो जाते हैं। ऐसा कोई भी कार्य नहीं, जो श्रद्धासे नहीं हो सकता। श्रद्धा होनेपर भगवान्को प्रकट होना पड़ता है। श्रद्धासे, जो सम्भव और युक्तिसंगत है वह भी असम्भव हो जाता है और असम्भव सम्भव हो जाता है।

ईश्वर, महात्मा और सत्-शास्त्रोंमें श्रद्धा-विश्वास करनेकी बात ऊपर बतलायी गयी, इसी प्रकार परलोकमें भी विश्वास करना चाहिये। आत्माके नित्यत्वका विश्वास

ही परलोकविषयक विश्वास है अर्थात् आत्मा अजर-अमर है, शरीरका नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता। यह है आत्मविश्वास। यह आत्मविश्वास ही बतलाता है कि परलोक है। शरीरके साथ ही इस लोकसे सम्बन्ध छूटनेके बाद जिस लोककी प्राप्ति होती है, वही परलोक है। शरीरके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता अर्थात् शरीरके मरनेसे मैं नहीं मरूँगा—इस विश्वाससे मनुष्यमें वीरता, धीरता, गम्भीरता, निर्भयता आ जाती है, फिर उसको कौन मार सकता है? गीता अध्याय २ श्लोक २० में इसी तत्त्वको समझाया गया है। भगवान् कहते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है; (शरीर ही जन्मता-मरता है) तथा न यह (शरीरकी भाँति) उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

इस आत्मतत्त्वके भलीभाँति समझमें आ जानेसे उसी समय मनुष्यका कल्याण हो जाता है। यह विश्वास अमरत्वकी प्राप्ति करानेवाला है। 'शरीर मैं हूँ'—यह भाव अज्ञानके कारण ही है। आत्माका ज्ञान होनेपर शरीरकी कोई परवा नहीं रहती और उसमें निर्भयता आ जाती है। आत्माके विषयमें जिसे यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि यह अजन्मा, नित्य, अनादि, शाश्वत, पुराण है, इसका कभी उद्भव या विनाश नहीं होता, वह अमरत्वको प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार जिसे परलोक और परमात्माका निश्चय हो जाता है, उसके द्वारा पाप नहीं हो सकते तथा उसमें भय नहीं रहता; बल्कि आत्मबल आ जाता है एवं उसे परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो जाती है।

अब श्रद्धाकी प्राप्तिके उपाय बतलाये जाते हैं—

१. 'श्रद्धेयमें परम श्रद्धा कैसे हो?' इसकी अतिशय लालसा या उत्कट इच्छाका निरन्तर जाग्रत् रहना।

२. श्रद्धेयके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका ज्ञान (अनुभव) होना।

३. श्रद्धेयकी आज्ञा, संकेत और सिद्धान्तका पालन करना।

४. जिन ग्रन्थोंमें भगवान्, महापुरुष, शास्त्र और परलोकके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका उल्लेख हो, उनका अर्थ और भावको समझते हुए अध्ययन करना।

५. आदरपूर्वक श्रद्धालु पुरुषोंका सङ्ग, वार्तालाप और अनुकरण करना।

६. अन्तःकरणकी शुद्धिके उद्देश्यसे निष्कामभावपूर्वक ईश्वरके नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान आदि उपासना; यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास आदि सत्कर्म; दुःखी और बड़ोंकी सेवा तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितकी चेष्टा करना। इनके निष्कामभावपूर्वक अनुष्ठानसे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर श्रद्धा प्राप्त हो जाती है; क्योंकि मनुष्यकी श्रद्धा उसके अन्तःकरणके अनुसार ही होती है (गीता १७। ३*)। उपर्युक्त किसी भी एक उपायको साङ्गोपाङ्ग किया जाय तो श्रद्धा हो सकती है। श्रद्धासे साधनकी तत्परता, मन-इन्द्रियोंका संयम और ज्ञानकी प्राप्ति होकर परमशान्तिस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्ब—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है।'

इस कथनसे हमलोगोंको यह रहस्य समझना चाहिये कि श्रद्धाके अनुसार ही साधनमें तत्परता होती है और तत्परताके अनुसार ही मन-इन्द्रियाँ वशमें होती हैं तथा ऐसा होनेपर ही परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति होती है। बहुत-से अज्ञ मनुष्य अपनी साधारण श्रद्धाको भूलसे अधिक मान बैठते हैं और पूर्ण श्रद्धाके फलको न पाकर उत्साहहीन हो जाते हैं। इससे उनके साधनमें बाधा पड़ जाती है। इसलिये जितना साधन तेज हो उतनी ही श्रद्धा समझनी चाहिये और मन-इन्द्रियोंका संयम जितना हो, उतना ही साधन समझना चाहिये; क्योंकि श्रद्धाकी कसौटी साधन है और साधनकी कसौटी मन-इन्द्रियोंका संयम है।

श्रद्धा होना कठिन मानकर साधकको कभी निराश और निरुत्साह नहीं होना चाहिये; क्योंकि श्रद्धा पुरुषप्रयत्नसाध्य है, उपर्युक्त साधनोंके द्वारा मनुष्यकी

---

* सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है। इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है।'

श्रद्धा श्रद्धेयमें अवश्य हो सकती है। यदि ईश्वरकी दयाका आश्रय लिया जाय तो कार्यकी सिद्धि और भी शीघ्र हो जाती है। जो कुछ भी अच्छापन अपनेमें दीखता है अर्थात् जो भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सद्गुण-सदाचार आदि उत्तम गुण और उत्तम भाव देखनेमें आते हैं, उनमें तो ईश्वरकी और महापुरुषोंकी कृपा समझनी चाहिये तथा अपनेमें जो दुर्गुण-दुराचार, दुर्व्यसन आदि विकार देखनेमें आते हैं, उनमें अज्ञता, अश्रद्धा, संशय, आसक्ति और कामना आदि अपने स्वभावका और कुसङ्गका दोष समझना चाहिये। ईश्वर और महात्माकी कृपासे तो श्रद्धेयमें श्रद्धा होकर साधन तेज होता है। अतः यदि साधन तेज नहीं हो रहा है तो उसमें अपने स्वभावका दोष समझना चाहिये।

जो मूर्ख मनुष्य ईश्वरकी और महात्माकी दयाके तत्त्वको नहीं समझते हैं, वे आलस्यके वश होकर साधनको छोड़ बैठते हैं और कहते हैं कि 'हमारा साधन तो ईश्वर और महात्माकी कृपासे अपने-आप ही होगा।' यों समझनेवाले अविवेकी मनुष्योंका साधन तेज होना तो दूर रहा, उलटा कम हो जाता है, उन्हें निद्रा-आलस्य घेर लेते हैं एवं उनमें अकर्मण्यता बढ़ जाती है। वे अज्ञ मनुष्य फिर कहने लगते हैं कि 'हम तो ईश्वर या महात्माकी दयाके भरोसेपर, उन्हींके शरण हैं।' किंतु याद रखें, यह नियम है कि ईश्वर और महात्माकी दयाके भरोसे उनके शरण होनेपर तो साधन तेज होता है, उसके प्रयत्नमें कभी कमी नहीं आती। यह शास्त्रोंका निर्णय है। अतः यह कसौटी है कि जिस कृपाके आश्रय और शरणागतिसे साधन तेज हो, आत्माकी उन्नति हो, वह तो ईश्वर और महात्माकी कृपाका सच्चा आश्रय और सच्ची शरणागति है, एवं जिससे साधन कम हो या छूट जाय तथा निद्रा, आलस्य, प्रमाद, दुर्गुण, दुराचार और विक्षेप घेर लें, वह ईश्वर और महात्माकी कृपाका आश्रय और शरणागति नहीं है, वह तो मनका धोखा है। जैसे भगवन्नामजप और गीतादि शास्त्रोंके अध्ययनसे कभी हानि होनेकी सम्भावना नहीं है, वैसे ही ईश्वर और महापुरुषोंकी कृपाका परिणाम कभी बुरा नहीं हो सकता।

अतः श्रद्धेयमें किसी प्रकारके दोषकी कल्पना करना साधनमें बड़ा भारी विघ्न है। इससे साधकका बहुत पतन होता है। इतना ही नहीं, किसीके भी दोष देखना साधनमें बड़ा भारी विघ्न है। अतः एक-दूसरेके दोषोंको देखनेकी मनुष्यमें जो प्रवृत्ति रहती है, वह सर्वथा त्याज्य है। श्रोतागण वक्ताके दोषोंको देखते हैं और वक्ता श्रोताओंके दोषोंको देखते हैं। जैसे वक्ताके कथनको सुनकर श्रोतागण वक्तापर यों दोषकी कल्पना करते हैं कि ये हमको तो उपदेश देते हैं किंतु स्वयं पालन नहीं करते। इसी प्रकार वक्ता जो उपदेश देता है, उसका पालन श्रोतागण नहीं करते तो वक्ता कहता है कि श्रोतागण सुनी हुई बातको काममें नहीं लाते—इसमें श्रोताओंकी अपनी श्रद्धाकी कमी ही हेतु है। परंतु इस प्रकार दोषदृष्टि करनेसे किसीको भी लाभ नहीं है। अतएव सबको अपना-अपना दोष देखना चाहिये। वक्तासे परम हितकारक साधनकी बातें सुनकर उनके अनुसार साधन नहीं होता तो उसमें श्रोताको तो अपनी श्रद्धाकी कमी, संशय, विषयासक्ति और स्वभावका दोष समझना चाहिये। एवं वक्ताको श्रोताओंके हृदयमें अपनी कही हुई बात धारण न होनेमें अपनी वाणीके ओज, तेज और सत्यताकी कमी, उपदेशके अनुकूल आचरणोंकी कमी तथा अपने मन-बुद्धिके सामर्थ्यकी कमी सोचकर अपना ही दोष समझना चाहिये। इस प्रकार अपना-अपना दोष देखनेसे मनुष्यका सुधार हो सकता है और इसीमें सबका लाभ है।

अतः किसीमें भी दोषदृष्टि नहीं करनी चाहिये, सदा गुणग्राही बनना चाहिये। गुण किसीमें भी हो उसको ग्रहण करना चाहिये तथा ईश्वर, महात्मा और सत्-शास्त्रकी आज्ञाओंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक विशेषरूपसे पालन करना चाहिये। इससे मनुष्यका शीघ्र कल्याण हो सकता है।

साधनको साध्यसे भी अधिक आदर देना चाहिये

परमात्माकी प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उन सब साधनोंको परमात्माकी प्राप्तिसे बढ़कर आदर देना चाहिये। साधनमें विशेष आदरबुद्धि होनेपर साधन तेज होता है। हमलोग साधनको जितना आदर देना चाहिये, उतना नहीं देते। इसीसे साधन शिथिल रह जाता है और सफलता दूर बनी रहती है। महर्षि पतञ्जलिजीने आदरपूर्वक किये गये साधनको ही उच्चकोटिका बतलाया है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (योगदर्शन १। १३)

'उन अभ्यास-वैराग्यमेंसे स्थितिके लिये यत्न करनेका नाम 'अभ्यास' है।'

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

(योगदर्शन १। १४)

'किंतु वह अभ्यास लम्बे समयतक, निरन्तर तथा आदर-सत्कारपूर्वक सेवन करनेसे दृढ़भूमि होता है।'

भगवान् श्रीकृष्ण भी गीतामें परम श्रद्धासे साधन करनेवाले अपने साधक भक्तोंको सर्वोत्तम बतलाते हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(१२। २)

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।'

जहाँ परम श्रद्धा होती है, वहाँ आदर-सत्कार तो अपने-आप ही होने लगता है।

अतः श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणादि शास्त्रोंमें परमात्माकी प्राप्तिके जो अनेक साधन बतलाये गये हैं और गीतामें भी ज्ञानयोग,* भक्तियोग,† कर्मयोग‡ और ध्यानयोग§ एवं ब्रह्मयोग, संयमयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, प्राणायामरूप यज्ञ$आदि नामोंसे जो अनेक प्रकारके साधन बतलाये गये हैं, उन साधनोंको विशेष आदर देना चाहिये।

बहुत-से साधक कहा करते हैं कि हम साधन तो करते हैं, किंतु हमें सफलता प्राप्त नहीं होती। उनका कथन सत्य है, पर उनके सफलता प्राप्त न होनेका कारण यही है कि वे साधनको आदरपूर्वक निष्कामभावसे नहीं करते। अधिकांश साधकोंकी दृष्टि साधनके फलकी ओर रहती है, इस कारण तथा श्रद्धाकी कमीके कारण साधन आदरपूर्वक नहीं होता, इसीसे वे जैसा फल चाहते हैं, वैसा देखनेमें नहीं आता। इसीसे साधनमें उत्साह नहीं होता और निराशा उत्पन्न होकर शिथिलता आ जाती है। अतएव मनुष्यको उचित है कि वह आदरपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करे, फलकी ओर न देखे; क्योंकि मनुष्यका कर्म करनेमें ही अधिकार है, फलमें नहीं। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(२। ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

इस निष्काम सेवाके विशद स्वरूपको स्पष्ट समझनेके लिये एक कहानी लिखी जाती है—किसी देशमें एक परम भक्त तथा तत्त्व-ज्ञानसम्पन्न महात्मा राजा थे। उनकी ख्याति सर्वत्र फैली थी। रामू नामक एक कहार था। उसके मनमें राजाके दर्शनकी इच्छा उत्पन्न हुई और इस उद्देश्यसे वह युक्ति सोचकर अपने मित्र गोपाल कहारके पास आया। गोपाल कहार उक्त महाराजसाहबके दीवानके पेशकारके यहाँ नौकरी करता था। रामू आकर उसके चरणोंमें गिर पड़ा और बोला—'तुम धन्य हो।' गोपालने कहा—'भैया! तुम मेरे पैर क्यों छूते हो? हम तो मित्र हैं।' रामू बोला—'भाई! तुम नहीं जानते क्या ? यहाँके महाराजसाहब परम ज्ञानी एवं परम भक्त महापुरुष हैं। तुमको उनके दीवानके पेशकारके यहाँ नौकरी करनेका सौभाग्य प्राप्त हो गया। इसीसे तुम मेरे पूज्य हो। मुझको भी तुम यहाँ रखवा दो।' इसपर गोपालने पेशकारजीसे पूछा। पेशकारको एक नौकरकी आवश्यकता थी, अतः उसे रख लिया गया। जब महीना समाप्त हुआ, तब पेशकारने गोपाल और रामू दोनोंके वेतनके दस-दस रुपये मासिकके हिसाबसे बीस रुपये गोपालको

* तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ (गीता ५। १७)

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं।'

† भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः। निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ (गीता ११। ५४-५५)

'परंतु परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा इस प्रकारके रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखेनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ। अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

‡ योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय। सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ (गीता २। ४८)

'धनंजय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर, समत्व ही योग कहलाता है।'

§ ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना। (गीता १३। २४का पूर्वार्ध)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं।'

$ गीता अध्याय ४ श्लोक २४, २७, २८, २९।

ही दे दिये। गोपालने अपना नियमित वेतन ले लिया। किंतु रामूने नहीं लिया और उसने अपने मित्र गोपालसे कहा—'भाई! मैं वेतनके लिये तो यहाँ आया नहीं हूँ, मुझे उनकी सेवाका सुअवसर मिल गया, यही मेरे लिये बड़ा वेतन है।' दूसरा महीना बीतनेपर जब पेशकार फिर उसी प्रकार बीस रुपये देने लगे, तब गोपालने लेनेसे इन्कार कर दिया और कहा—'मेरे मित्र रामूने गत महीनेके रुपये भी नहीं लिये थे, अतः वे दस रुपये मेरे पास ही हैं। उन रुपयोंको आप मेरे इस महीनेका वेतन समझ लें।

तब पेशकारने रामूको बुलवाया और वेतन लेनेके लिये आग्रह किया, किंतु उसने बिलकुल अस्वीकार कर दिया— 'मैं आपके यहाँ रुपयोंके लिये नहीं रहता हूँ। आपकी सेवा ही मेरे लिये वेतनसे बढ़कर लाभ है। आप तो जानते ही होंगे कि महाराजसाहब ज्ञानी महात्मा, परम भक्त और महापुरुष हैं; आप उनके दीवानके पेशकार हैं। हमलोगोंको तो आपके दर्शन और सेवाका सुअवसर बड़े भाग्यसे ही प्राप्त हुआ है, इससे बढ़कर और वेतन क्या होगा?' पेशकारने पूछा—'तब तुम बिना वेतनके किस उद्देश्यसे काम करते हो?' रामूने उत्तर दिया—'इस उद्देश्यसे करता हूँ कि आपकी सेवा करते-करते कभी दीवानसाहबके भी दर्शन हो जायँगे, जिन्हें महाराजसाहबके खास मन्त्री होनेका सौभाग्य प्राप्त है।' पेशकारने कहा—'दीवानसाहबका दर्शन तो मैं तुम्हें कल ही करवा दूँगा।' रामू बोला—'आपकी बड़ी दया है।' पेशकारने फिर कहा—'कल तुम आठ बजे दीवानसाहबके दफ्तरमें मेरे लिये चाय और जल ले आना।' रामूने वैसा ही किया।

रामू वहाँ जाकर मन्त्रमुग्धकी भाँति दीवानसाहबकी ओर चुपचाप देखता रहा। तब दीवानसाहबने पेशकारसे पूछा—'यह कौन है और क्यों आया है?' पेशकारने कहा—'आज मैं चाय पीकर नहीं आया, इसलिये यह चाय लेकर आया है। यह अपना नौकर है।' दीवानसाहबके आज्ञा देनेपर पेशकारने चाय पी ली। रामू जूँठा गिलास, लोटा आदि माँजने लगा और दीवानसाहबके जूतोंको साफ करने लगा तथा इधर-उधर कहीं कूड़ा दीखा तो उसे बटोरने लगा। ये सब काम करते हुए उसकी दृष्टि निरन्तर दीवानसाहबपर रही। यह देखकर दीवानने पेशकारसे कहा—'यह नौकर बहुत अच्छा है, बिना कहे ही सारा काम करता है, इसका क्या वेतन है?' पेशकार बोला— 'यह बहुत आग्रह करनेपर भी वेतन नहीं लेता।' तब दीवानने रामूको बुलाकर पूछा—'तुम बिना वेतन लिये इस प्रकार सेवाका कार्य किस उद्देश्यसे करते हो?' रामूने कहा—'आपके दर्शनके उद्देश्यसे। आज मेरा बड़ा ही सौभाग्य है, जो मुझे आपके दर्शन प्राप्त हो गये।' दीवानने पुनः कहा—'मेरे दर्शनसे क्या लाभ है भैया? रामूने उत्तर दिया—'आपके महाराजसाहब बड़े ही महात्मा, ज्ञानी, भगवद्भक्त और महापुरुष हैं। आप उनके दीवान हैं। आपके दर्शनसे भी मनुष्य पवित्र हो जाता है।' दीवानने कहा—'ऐसी ही बात है तो फिर तुम हमारे यहाँ ही रह जाओ।' उसने उत्तर दिया—'यह तो मेरे लिये परम सौभाग्यकी बात होगी।' फिर दीवानने पेशकारसे कहा—'इस नौकरको हम अपने यहाँ रखना चाहते हैं।' पेशकारने कहा—'मैं आपको इससे भी अच्छा दूसरा नौकर दे दूँगा।' दीवानने कहा—'नहीं, हम इसे ही रखेंगे।' ऐसा कह उसको अपने पास रख लिया।

जब रामूको सेवा करते बहुत दिन हो गये, तब दीवान-साहबने उससे कुछ रुपये घर भेजनेके लिये आग्रह किया। पर उसने स्पष्टरूपसे अस्वीकार कर दिया और कहा— 'आपकी कृपासे घरपर कोई कमी नहीं है। मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि मैं रुपयोंके लिये आपके यहाँ नहीं रहता। आपकी सेवा ही मेरे लिये परम लाभ है, क्योंकि आप महाराजसाहबके निजी मन्त्री हैं और महाराजसाहब परम ज्ञानी, परम भक्त, महात्मा पुरुष हैं।' दीवानसाहबने पुनः अत्यन्त आग्रहपूर्वक कहा—'हमारे संतोषके लिये ही भेजना चाहिये।' किंतु उसने बिलकुल स्वीकार नहीं किया। तब दीवानसाहबने पूछा—'फिर, तुम क्यों मेरी सेवा करते हो?' उसने कहा—'आपकी सेवा करते-करते कभी महाराजसाहबके भी दर्शन हो जायँगे—इसलिये करता हूँ।' दीवानसाहब बोले—'महाराजसाहबका दर्शन तो मैं तुम्हें कल ही करवा दूँगा। कल दोपहरमें एक बजे महाराजसाहबके दरबारमें मुझे जल पिलानेके लिये गिलास लेकर चले आना।' 'बहुत अच्छा' कहकर उसने वैसा ही किया। वह दूसरे दिन ठीक समयपर जलका गिलास लेकर पहुँचा और मन्त्रमुग्धकी भाँति महाराजसाहबकी ओर निर्निमेष नेत्रोंसे देखने लगा। महाराज-साहबकी दृष्टि उसपर पड़ी। उन्होंने दीवानसे पूछा—'यह कौन है? क्यों आया है?' दीवानने कहा—'सरकार! मैं आज शीघ्रतामें बिना ही जल पीये आ गया था, अतः यह मुझे जल पिलाने आया है। मेरे यहाँ काम करता है।' महाराजसाहबकी अनुमतिसे दीवानने जल पी लिया। रामू वहाँ था ही, उसका बदन भगवान्‌की कृपासे बड़ा ही सुन्दर था और आज तो वह महाराजके दर्शन पाकर हर्ष-गद्‌गद हो रहा है। उसके मुखपर आनन्दकी

अमित रेखाएँ खेल रही थीं। महाराज उसकी गतिविधिकी ओर देखते रहे। पता नहीं, क्यों उनका आकर्षण हो गया। रामू चुपचाप गिलास माँजने लगा, जूते साफ करने लगा, इधर-उधर सफाईमें लग गया। पर उसके नेत्रभ्रमर महाराजके मुखकमलपर ही लगे रहे। तब महाराजसाहबने दीवानसे कहा—'यह लड़का तो बहुत अच्छा मालूम होता है, बिना कहे ही काम करता है और बड़ी सफाई तथा व्यवस्थासे सब काम कर रहा है। बुद्धिमान् भी है। इसको क्या वेतन देते हो?' दीवान बोले—'सरकार! यह बहुत आग्रह करनेपर भी वेतन लेता ही नहीं।' यह सुनकर महाराजको बहुत आश्चर्य हुआ और उन्होंने रामूको पास बुलाकर पूछा—'भैया! तुम बिना वेतन लिये इतनी तत्परतासे किस उद्देश्यसे सेवा करते हो।' रामूने उत्तर दिया—'सरकार! श्रीमान्के दर्शनके उद्देश्यसे। आज श्रीमान्के मङ्गलमय दर्शन पाकर मैं कृतकृत्य हो गया।' महाराजसाहबने कहा—'जब ऐसी बात है, तब तुम हमारे ही यहाँ रहो। यह सुनकर रामूको बहुत हर्ष हुआ और वह बोला—'इससे बढ़कर मेरे लिये परम लाभ और क्या होगा। सरकार ! मुझे श्रीमान्की चरणसेवाका सौभाग्य मिल जाय तब तो मेरा जीवन ही सफल हो जाय।' तब महाराजसाहबने दीवानसे कहा—'इस नौकरको हम अपनी सेवामें रखना चाहते हैं।' दीवानको रामू बहुत प्रिय था। वे उसे छोड़ना नहीं चाहते थे, अतः उन्होंने कहा—'मैं दूसरा अच्छा नौकर आपको दे दूँगा।' किंतु महाराजने पुनः रामूके लिये ही अपनी प्रबल इच्छा प्रकट की। दीवानके सम्मत होते ही रामूको महाराजसाहबके यहाँ सहज ही स्थान मिल गया।

रामू महाराजसाहबकी सेवा बड़े ही उल्लास, श्रद्धा, दक्षता, प्रेम और उत्साहके साथ बड़ी लगनसे करने लगा। महाराजसाहब उसकी सेवासे संतुष्ट हो गये। उन्हें यह अनुभव होने लगा कि ऐसी सेवा कोई नौकर तो कर ही नहीं सकता। अपना सत्-पुत्र भी नहीं कर सकता। महाराजसाहब प्रसन्न होकर उसे सेवाके बदले बहुत बड़ी संख्यामें पुरस्कार देने लगे, कुछ धनराशि घरपर भेज देनेके लिये भी उन्होंने बहुत आग्रह किया। किंतु रामूने नम्रतापूर्वक अस्वीकार करते हुए कहा—'सरकार! श्रीमान्की कृपासे घरपर सब कुछ है। मैं धनराशिके लिये श्रीमान्की चरण-सेवा नहीं करता हूँ। श्रीमान्का सेवारूप परम लाभ ही मेरे लिये महान् पुरस्कार है। श्रीमान् महात्मा, ज्ञानी, परम भक्त और महापुरुष हैं। श्रीमान्के दर्शन, भाषण, स्पर्शसे ही मनुष्यका कल्याण हो जाता है। फिर सेवाकी तो बात ही क्या है। मैं तो श्रीमान्के दर्शनसे ही कृतकृत्य हो चुका हूँ। अब तो श्रीमान्ने सेवाका सौभाग्य दे दिया। इसके अतिरिक्त अब और क्या पाना शेष रह गया। मैं तो कृतार्थ हो चुका श्रीमान्! महाराजसाहब बोले—'मेरे संतोषके लिये जो तुम्हारी इच्छा हो मुझसे माँग लो।' महाराजसाहबने सोचा कि 'यह अधिक-से-अधिक राज्य भी माँग लेगा तो कोई हर्ज नहीं, यह मेरे पुत्रकी जगह रहेगा।' रामूने उत्तरमें कहा—'श्रीमान्! आप देनेका इतना आग्रह करते हैं तो कृपा करके यह निश्चयपूर्वक कह दें कि न तो श्रीमान् कभी मुझे अलग करेंगे और न श्रीमान् ही कभी मुझसे अलग होंगे।' महाराजसाहबने गद्‌गद होकर कहा—'भैया! मुझे स्वीकार है। स्वीकार है!'

तदनन्तर रात्रिमें जब महाराजसाहब अन्तःपुरमें पधारने लगे, तब रामू भी उनके पीछे-पीछे जाने लगा। राजाने कहा—'तुम कहाँ जाते हो ?' रामू बोला—'जहाँ श्रीमान् रहेंगे वहीं तो मैं रहूँगा; क्योंकि श्रीमान् मुझे यह वर दे चुके हैं।' महलमें पहुँचकर राजाने रानीसे कहा—'लो, यह तुम्हारे लिये मैं सुपुत्र लाया हूँ।' रानी बहुत ही प्रसन्न हुईं; क्योंकि उनके संतान नहीं थी। अब वे उसीको अपना लड़का मानने लगीं। वह बालक भी राजा-रानीको ही पिता-माता समझकर उनकी खूब सेवा करने लगा।

एक दिन राजाने रामूसे यह प्रस्ताव किया कि हम वनमें जाकर एकान्तमें रहेंगे। तुम यहाँ रहकर राज्य करो। पर उसने अस्वीकार कर दिया और कहा—'श्रीमान्ने मुझको वर दिया है कि न कभी मुझे श्रीमान् अलग करेंगे और न श्रीमान् ही कभी अलग होंगे। यदि श्रीमान् वनमें जायँगे तो मैं भी श्रीमान्के साथ ही रहूँगा।' महाराजसाहब बोले—'हम दोनों वनमें चले जायँगे तो फिर राज्य कौन सँभालेगा?' लोभशून्य त्यागमूर्ति रामूने कहा—'राज्य दीवानसाहबको दे दीजिये।' राजाने उसका निष्कामभाव देखकर राज्यमें रहना ही स्वीकार कर लिया और कहा—'मैं तुमको युवराजपदपर अभिषिक्त करना चाहता हूँ।' रामूने कहा—'राज्यपदपर तो श्रीमान् ही रहिये। इसके लिये तो मुझे क्षमा करनी होगी। इसके सिवा मुझे श्रीमान् जो भी आज्ञा करेंगे, मैं सब तरहसे उसका पालन करूँगा।'

फिर महाराजसाहबने कहा—'बहुत-से सरकारी कागजोंपर मुझे नित्य अपनी स्वीकृति देनेके लिये हस्ताक्षर करने पड़ते हैं, मैं थक जाता हूँ, यह काम तुम कर दिया करो।' महाराजकी प्रसन्नताके लिये रामूको यह स्वीकार करना पड़ा। राजाने राजसभामें घोषणा कर दी कि आजसे इसकी सही मेरी सही समझी जायगी।

तत्पश्चात् एक दिन राजाने उससे कहा—'राजसभामें मुझे नित्य जाना पड़ता है। मेरा शरीर अब अशक्त हो गया। अतः वह काम भी तुम ही कर लिया करो।' उनका आग्रह होनेपर उस कार्यको भी वह करने लगा। वह राजसभामें जाकर वहीं सब काम देखने तथा स्वीकृति प्रदान करनेके लिये कागजोंपर हस्ताक्षर करने लगा। युवराजपद न लेकर भी वह महाराजसाहबके आज्ञानुसार सब कार्य करने लगा।

उस दिन वह दीवानसाहबके पहुँचनेके पहले ही राजसभामें चला गया। जब दीवानसाहब राजसभामें प्रवेश कर रहे थे, तब रामू उनके चरणोंमें गिर गया। दीवानने कहा—'आप युवराज हैं, आपको ऐसा नहीं करना चाहिये।' वह बोला—'मैं तो आपके जूँठे बरतन माँजनेवाला आपके चरणोंका सेवक हूँ।' दीवानने कहा—'अब आप युवराज-पदको प्राप्त हो गये हैं, ऐसा न कहिये।' रामू बोला—'यह सब तो आपकी कृपा है। मैं तो आपका सेवक ही रहा हूँ और सेवक ही रहूँगा!' ऐसा कह वह दीवानसाहबका हाथ पकड़कर राजसिंहासनकी ओर ले जाने लगा। दीवानने कहा—'यह तो आपके लिये है, मैं तो इस सिंहासनका सेवक हूँ।' यों कह वे राजसिंहासनको नमस्कार करके आगे नहीं बढ़े, अपने स्थानपर ही रुक गये।

इसके बाद जब रामूने पेशकारको दूरसे आते देखा तो उसने उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार किया। पेशकार बहुत ही संकोचमें पड़ गया और बोला—'राजकुमारसाहब! आप यह क्या करते हैं, यह क्या करते हैं?' रामूने कहा—'मैं तो आपके जूँठे बरतन माँजनेवाला आपके चरणोंका सेवक हूँ।' पेशकारने कहा—'भगवान्की कृपासे अब आप राज्यके स्वामी हैं। आपको ऐसा नहीं कहना चाहिये।' रामूने कहा—'यह सब आपकी कृपाका फल है। आपका तो मैं सेवक ही रहा और सेवक ही हूँ।' ऐसा कह रामू पेशकारको भी हाथ पकड़कर राजसिंहासनपर ले जाने लगा। पेशकार बोला—'मैं राजसिंहासनपर कैसे बैठ सकता हूँ। वह तो महाराजसाहबका सिंहासन है। आप ही उसके अधिकारी हैं, मैं नहीं।' किंतु रामू उसको आदरपूर्वक खींचने लगा। तब दीवानसाहबने रोककर कहा—'इस स्थानपर तो हम भी नहीं जा सकते, फिर यह बेचारा कैसे जा सकता है! अतः आपको आग्रह नहीं करना चाहिये।' पेशकार वहीं रुक गया।

एक दिन पेशकारका नौकर, रामूका मित्र गोपाल आया तो उसको देखकर रामू दौड़ पड़ा और उसके चरणोंमें जा गिरा। गोपालने बहुत संकोचमें पड़कर कहा—'यह आप क्या कर रहे हैं! मैं तो एक तुच्छातितुच्छ चाकर हूँ।' रामू बोला—'यह सब आपकी ही कृपा है। आपका तो मैं छोटे भाईकी भाँति मित्र ही रहा और मित्र ही हूँ।' यों कह रामू गोपालको खींचकर सिंहासनपर बैठानेके लिये ले जाने लगा; पर वह कैसे जाता, वह अपने स्थानपर ही रुक गया।

यह एक दृष्टान्त है। इसको अध्यात्मविषयमें यों समझना चाहिये—यहाँ ज्ञानी महात्मा परम भक्त महापुरुष राजासाहबको परमात्मा, दीवानसाहबको अधिकारी भगवत्प्राप्त पुरुष, पेशकारको उच्चकोटिका साधक एवं पेशकारके नौकरको साधक पुरुषोंका सेवक समझना चाहिये। राजसभाको भगवान्का परम धाम और रामू कहारको निष्काम प्रेमी विनयी सेवकके रूपमें उच्चकोटिका साधक भक्त समझना चाहिये। रामू कहारकी क्रमशः एकके बाद एक होनेवाली उन्नतिको— उसके आगे बढ़नेको साधनकी क्रमोन्नति और उसे युवराजपद प्राप्त होनेको ही परमपदकी प्राप्ति होना समझना चाहिये।

इस दृष्टान्तसे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि जिस प्रकार उस रामूने अपने लौकिक गृहस्थ-निर्वाहके लिये उपयोगी धनराशिको भी ठुकरा दिया और सब क्रियाओंके फलस्वरूप प्राप्त हुए युवराज-पदका भी आदर नहीं किया, वरं अपने लिये पेशकारकी सेवा प्राप्त होना भी महान् सौभाग्य समझा, इसी प्रकार हमलोगोंको भगवद्भक्तिरूप साधनमें सांसारिक प्रलोभनोंको ठुकराकर भगवान्के दासानुदासकी भी सेवाको आदर देना चाहिये। जैसे रामूने दीवानसाहबको आदर दिया, उसी प्रकार हमें भगवान्के परम भक्त पुरुषोंका विशेष आदर करना चाहिये। फिर साक्षात् भगवान्का आदर करनेकी तो बात ही क्या है? और जैसे रामूने महाराजसाहबका आदर किया, उसी प्रकार निष्कामभाव और विनयपूर्वक भगवान्का सबसे बढ़कर आदर करना चाहिये। जैसे रामू कहार युवराज-पदपर स्थित होकर भी दीवान और पेशकारका विशेष आदर करता रहा और केवल उनके साथ ही नहीं, उनके नौकरके साथ भी उसका पहले-जैसा ही मित्रताका भाव रहा, वैसे ही हमें, जिनके सम्बन्धसे परमपदकी प्राप्ति हो, उन अपनी सहायता करनेवालोंके उपकारको कभी नहीं भूलना चाहिये; उनको पूज्यभावसे अपने हृदयमें स्थान देना चाहिये और सदा उनका आदर करना चाहिये; क्योंकि उच्चकोटिके पुरुष सदा सबका आदर करते हैं। भगवान् भी सम्मानके योग्य होकर भी स्वयं मान नहीं चाहते, दूसरोंको ही मान देते हैं—

'अमानी मानदो मान्यः।'

(महा० अनुशासन १४९। ९३ का प्रथम चरण)

'भगवान् मान्य होनेपर भी स्वयं अमानी हैं और दूसरोंको मान प्रदान करते हैं।' इसलिये हमें भी स्वयं मान न चाहकर दूसरोंको ही मान देना चाहिये।

उपर्युक्त रामू कहारके दृष्टान्तसे साररूपमें विनय, प्रेम और निष्कामभावयुक्त आदर्श सेवाकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और जीवनमें उसका अनुकरण करना चाहिये।

यह है फलकी ओर दृष्टि न रखकर कर्तव्य-पालन करते रहना। इससे भी बढ़कर वह है जहाँ साध्यकी अपेक्षा भी साधनको ही विशेष आदर दिया जाता है। शास्त्रोंमें मुक्तिके लिये स्त्रियोंको पातिव्रत-धर्मका पालन और पुरुषोंको माता-पिता-गुरुजनोंकी सेवा करना सर्वोत्तम साधन माना गया है।

पातिव्रत-धर्मके विषयमें स्त्रियोंको पद्मपुराणके सृष्टिखण्डके ४७ वें अध्यायमें नरोत्तम ब्राह्मणकी कथाके प्रसङ्गमें वर्णित 'शुभा' नामकी पतिव्रताका तथा पद्मपुराणके भूमिखण्डके अ० ४१ से ५८ तक वर्णित कृकलवैश्यपत्नी 'सुकला' पतिव्रताका आख्यान देखना चाहिये।

माता-पिता-गुरुजनोंकी सेवाके विषयमें श्रीमनुजीने बतलाया है—

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही।

(२। २३०, २३२ का पूर्वार्ध)

'माता, पिता और आचार्य—ये ही तीनों भूः, भुवः और स्वः लोक हैं। ये ही तीनों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम हैं। ये ही तीनों ऋक्, यजुः और सामवेद हैं तथा ये ही तीनों दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय अग्नि हैं। इन तीनोंकी सावधानीपूर्वक सेवासे गृहस्थी मनुष्य तीनों लोकोंको जीत लेता है।'

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

(मनु० २। २३७)

'इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कर्तव्य समाप्त हो जाता है यानी उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं।'

सुना गया है कि दक्षिणमें पुण्डलीक नामके एक माता-पिताके भक्त हुए हैं। उन्होंने जब माता-पिताकी सेवाका प्रभाव और माहात्म्य समझा, तब वे अनन्य भावसे अपने माता-पिताकी सेवा करने लगे। वे बादमें माता-पिताके साथ पण्ढरपुरमें जाकर रहने लगे थे। वे प्रातःकाल उठकर शौच-स्नान करके माता-पिताकी सेवा किया करते थे। माता-पिताको शौच-स्नान कराकर अपने हाथसे भोजन बनाकर खिलाया करते थे और उनके भोजन करनेपर भोजन करते थे। उनके जूँठे बरतन माँजते, उनको पहननेके लिये सुन्दर वस्त्र देते और सोनेके लिये बढ़िया शय्या—पलँग और बिछौने दिया करते थे। उनके चरण दबाना, पानी पिलाना, पंखा करना आदि ऋतुके अनुकूल हर प्रकारसे वे माता-पिताको सुख पहुँचाया करते थे। इस प्रकार माता-पिताकी सेवाके ही परायण रहते थे।

एक दिन स्वयं भगवान् उनसे मिलनेके लिये आये और उनके पीछे खड़े हो गये। भगवान्ने कहा—'पुण्डलीक! मैं भगवान् हूँ। तुमसे मिलनेके लिये आया हूँ।' पुण्डलीकने इशारेसे चुप रहनेको कहकर बताया कि मेरे माता-पिता दोनों मेरी जाँघोंपर सिर टेके सोये हैं। ये जग जायँगे। आप चुप रहिये। माता-पिताके जगनेके बाद मैं मिलूँगा। आप बैठिये।' ऐसा कह उन्होंने भगवान्के आसनके लिये एक ईंट अपने पीछे रख दी। भगवान् बोले—'मैं तुमसे मिलने आया और तुमको मुझसे मिलनेका अवकाश ही नहीं है?' पुण्डलीकने कहा—'मैंने तो आपको बुलाया नहीं। आप असमयमें क्यों पधारे? आपको समय देखकर आना चाहिये था।' भगवान् बोले—'पुण्डलीक! तुम माता-पिताके भक्त हो। इसलिये मैं तुम्हारे पास आया हूँ।' तब पुण्डलीकने कहा—'क्या माता-पिताकी सेवाका इतना प्रभाव है, जो आपको बिना बुलाये आना पड़ा।' भगवान् बोले—'हाँ, माता-पिताकी सेवाका तो ऐसा ही प्रभाव है।' तब पुण्डलीकने कहा—'जब ऐसा प्रभाव है, तब आप ही बतलाइये, मैं उन माता-पिताकी सेवाको छोड़कर आपसे कैसे मिलूँ? आप कुछ काल प्रतीक्षा करें।' तब भगवान् प्रसन्न होकर उसके सम्मुख आ गये और बोले—'तुमने माता-पिताकी सेवाको मुझसे भी बढ़कर समझा, इसलिये मैं तुम्हारे इस कार्यको देखकर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारी इच्छा हो सो वर माँगो।' पुण्डलीकने यही वर माँगा—'मेरा माता-पिताकी सेवामें परम अचल श्रद्धा-प्रेम बना रहे।' भगवान्ने 'तथास्तु'—'ऐसा ही हो'—कहकर पुण्डलीकको वर प्रदान किया।

जिस प्रकार मातृ-पितृ-भक्त पुण्डलीकने माता-

पिताकी सेवारूप साधनको परमात्माकी प्राप्तिरूप साध्यसे भी अधिक आदर दिया, इसी प्रकार हमलोगोंको ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि साधनोंको परमात्माकी प्राप्तिसे भी अधिक आदर देना चाहिये। अभिप्राय यह है कि परमात्माकी प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उनमेंसे हम जो भी साधन करें, उसे अतिशय श्रद्धा, प्रेम और विनयपूर्वक निष्काम तथा गुप्तभावसे निरन्तर कर्तव्य समझकर करें, उसके फलकी ओर कभी ताकें भी नहीं। यदि अपने साधनमें कमी हो तो उसकी सँभाल तो पद-पदपर करनी चाहिये।

यदि हम ज्ञानयोगका साधन कर रहे हैं तो हमें उचित है कि ज्ञानयोगके साधन जो कुछ विस्तारसे गीता अ० १८ श्लोक ५० से ५५ तक बतलाये गये हैं, उनपर दृष्टि डालकर विचार करें। यदि अपने साधनमें उनमेंसे किसी अङ्गकी कमी हो तो उसकी पूर्तिके लिये विशेष जोर लगाना चाहिये। किंतु उस साधनका फल जो परमात्माकी प्राप्ति है, उसकी ओर ध्यान नहीं रखना चाहिये।

इसी प्रकार भक्तियोगके साधकको समझना चाहिये। गीताके बारहवें तथा पंद्रहवें अध्यायमें भक्तियोगका साधन बतलाकर उस भक्तियोगीके लिये भगवान्‌ने सोलहवें अध्यायमें दैवी सम्पदाके लक्षण बतलाये हैं। इसलिये भक्तियोगीमें दैवी सम्पदाके लक्षण अवश्य होने चाहिये। भगवान्‌ने गीता अ० ९ श्लोक १३-१४ में कहा भी है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

'परंतु कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षर-स्वरूप जानकर अनन्य-मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं। वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।'

अतः भक्तियोगीको गीता अ० १६ श्लोक १-२-३में बतलाये हुए दैवी-सम्पदाके लक्षणोंको देखकर अपनेमें जिन लक्षणोंकी कमी हो, उसकी पूर्ति करनी चाहिये और फलकी ओर न देखकर अपने साधनमें संलग्न रहना चाहिये।

कर्मयोगीके लिये तो कर्मोंको करना ही प्रधान बतलाया गया है किंतु वे कर्म निष्कामभावसे होने चाहिये। यदि कहीं निष्कामभावमें कमी हो तो उसकी पूर्ति करनी चाहिये, फलकी ओर दृष्टि नहीं रखनी चाहिये। कर्मयोगके विषयमें गीता अ० २ श्लो० ४० से ७२ तक तथा गीता अध्याय ३ सम्पूर्ण एवं इन सबका सार जो गीतातत्त्वविवेचनी टीकामें अ० ३ श्लो० २९ का ३० वें श्लोकके साथ सम्बन्ध बतलाते हुए दिखलाया गया है उसे समझकर तत्परतापूर्वक साधन करना चाहिये। इसी प्रकार अन्य सब साधनोंके विषयमें समझना चाहिये।

यदि साधक किसी भी प्रकारका साधन करते हुए उस साधनके फलको तो नहीं चाहता, किंतु यह समझता है कि साधनका फल तो भगवान् स्वयं ही देंगे अथवा साधन करनेसे उसका फल अपने-आप प्राप्त होगा तो विचार करनेपर पता लगता है कि यह भी कर्मफलका हेतु होनेके कारण फलकी सूक्ष्म वासना ही है। अतः इस प्रकारकी भी इच्छा नहीं करनी चाहिये, वरं अपने साधनको अपना परम कर्तव्य समझकर ही करना चाहिये।

निष्कामताके लिये भक्त प्रह्लादका चरित्र साधकोंके लिये बहुत ही उत्तम आदर्श है। वे भगवान्‌की भक्तिमें ही अत्यन्त तल्लीन थे। एक दिन हिरण्यकशिपुने पूछा—'प्रह्लाद ! इतने दिनोंमें तुमने गुरुजीसे जो शिक्षा प्राप्त की है, उसमेंसे जो तुमको सबसे बढ़कर अभीष्ट हो, वह हमें सुनाओ।' इसपर प्रह्लादने उत्तर दिया—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥

(श्रीमद्भा० ७।५।२३-२४)

'भगवान् विष्णुके नाम, गुण, लीला आदिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण, उनके चरणोंकी सेवा, पूजा और वन्दना तथा उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मनिवेदनभाव—इस प्रकार यदि भगवान्‌के प्रति समर्पणके भावसे यह नौ प्रकारकी भक्ति की जाय तो मैं उसीको उत्तम अध्ययन समझता हूँ।'

प्रह्लादजीकी यह बात सुनते ही क्रोधके मारे हिरण्यकशिपुके ओठ फड़कने लगे और फिर वह कहने लगा—'दैत्यो! इसे यहाँसे बाहर ले जाओ और किसी भी उपायसे मार डालो; क्योंकि यह स्वजनका बाना पहनकर मेरा कोई शत्रु ही आया है।' यों कहकर उसने प्रह्लादको बड़े-बड़े मतवाले हाथियोंसे कुचलवाया, विषधर साँपोंसे डँसवाया, पहाड़की चोटीसे नीचे डलवाया, विष पिलवाया, खाना बंद करवा दिया, समुद्रमें डलवाया, आँधीमें छुड़वा दिया तथा पर्वतोंके नीचे दबवा दिया

और धधकती आगमें जलवाया आदि-आदि; किंतु इनमेंसे किसी भी उपायसे उन्हें वह न मार सका। प्रह्लादजीका चित्त उन मन-वाणीके अगोचर सर्वात्मा समस्त शक्तियोंके आधार परब्रह्म परमात्मामें लगा हुआ था। इसलिये उनके ऊपर किये हुए सारे प्रहार निष्फल हो गये। यद्यपि हिरण्यकशिपुके द्वारा प्रह्लादको मारनेके लिये अनेक प्रयत्न किये गये, जिनका विस्तृत वर्णन भागवत स्क० ७ अ० ५ में और विष्णुपुराण अंश १ अ० १७-१८ में आता है, किंतु उन्होंने कहीं भी अपनेको बचानेके लिये या अपने अन्य किसी कार्यके लिये भगवान्‌से याचना नहीं की। जब भगवान्‌ने नृसिंहरूपमें प्रकट होकर हिरण्यकशिपुको मार डाला, तब उन्होंने प्रह्लादसे कहा—'प्रह्लाद! मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो अभिलाषा हो, मुझसे वर माँग लो।' इस प्रकार प्रलोभनमें डालनेवाले वरोंके द्वारा प्रलोभित किये जानेपर भी भगवान्‌के अनन्यप्रेमी भक्त प्रह्लादने उनकी इच्छा नहीं की; बल्कि वरदान माँगनेको भक्तिमें विघ्न समझकर यही कहा—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥

(श्रीमद्भा० ७। १०। ४का उत्तरार्ध)

'प्रभो! आपसे जो सेवक अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं, वह तो लेन-देन करनेवाला केवल बनिया है।'

'मैं आपका निष्काम सेवक हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं। जैसे राजा और उनके सेवकोंका प्रयोजनको लेकर स्वामी-सेवकका सम्बन्ध रहता है, वैसा आपका और मेरा सम्बन्ध नहीं है। इसलिये वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ स्वामिन्! यदि आप मुझे मेरा अभिलषित वर देना चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज अङ्कुरित ही न हो—

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥

(श्रीमद्भा० ७। १०। ७)

'क्योंकि हृदयमें किसी प्रकारकी भी कामनाका उदय होते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति, सत्य—ये सब-के-सब नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं तथा जिस समय मनुष्य अपने मनमें रहनेवाली कामनाओंका परित्याग कर देता है, उसी समय वह भगवत्स्वरूपको प्राप्त होनेके योग्य हो जाता है।'

भक्त प्रह्लादका कैसा उत्तम निष्कामभाव है! जिस प्रकार प्रह्लादजीने निष्कामभावसे भगवान्‌की भक्ति की, इसी प्रकार हमलोगोंको भी, हम जो भी साधन करें उसमें उच्चकोटिका निष्कामभाव रखना चाहिये।

इस प्रकार जो साधक निष्कामभावपूर्वक साधन करता है, साधनके फलकी ओर दृष्टि न डालकर, अपना कर्तव्य समझकर साधन करता है और साध्यकी अपेक्षा भी साधनको विशेष आदर देता है, उसका साधन बहुत शीघ्र उत्तरोत्तर तीव्र होने लगता है और वह शीघ्र ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

आद्याशक्ति भगवती देवी और ब्रह्मकी एकता

सृष्ट्वाखिलं जगदिदं सदसत्स्वरूपं
शक्त्या स्वया त्रिगुणया परिपाति विश्वम्।
संहृत्य कल्पसमये रमते तथैका
तां सर्वविश्वजननीं मनसा स्मरामि॥

(दे० भा० १। २। ५)

महर्षि श्रीवेदव्यासजीने विभिन्न देवताओंके नामसे विभिन्न पुराणोंकी रचना की; इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि संसारमें अनेक प्रकारके उपासक हैं। कोई देवीका उपासक है, कोई शंकरका और कोई विष्णु आदिका। इन सभी उपासकोंको शीघ्र परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाय इसके लिये श्रीवेदव्यासजीने एक-एक देवताको प्रधानता देकर उन-उन देवताओंके नामसे पुराणोंकी रचना की। उनमें उन्होंने सभी उपासकोंको एक परब्रह्म परमात्माकी ओर ही आकृष्ट किया है।

श्रीशिवपुराणमें बतलाया गया है कि श्रीशिवसे ही ब्रह्मा विष्णु, महेशकी उत्पत्ति होती है एवं सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहारकी शक्ति प्रदान करनेवाले भगवान् सदाशिव ही हैं; इसी प्रकार श्रीविष्णुपुराणमें बतलाया गया है कि श्रीविष्णु ही सृष्टिकी उत्पत्ति,पालन और संहार करनेवाले हैं एवं श्रीमद्देवीभागवतमें देवीको आद्याशक्ति बतलाकर ब्रह्मा, विष्णु, महेशका देवीसे ही आविर्भाव और तिरोभाव बतलाया गया है।

यों श्रीशिवपुराणमें श्रीशिवको, श्रीविष्णुपुराणमें श्रीविष्णुको और श्रीमद्देवीभागवतमें भगवती देवीको साक्षात् सच्चिदानन्द ब्रह्म बतलाया गया है। इसी प्रकार सूर्य, गणेश आदि पुराणोंके सम्बन्धमें समझना चाहिये।

भाव यह कि श्रीशिवके उपासकोंको यह कहा गया है कि श्रीशिव ही सबसे बढ़कर हैं, उनसे बढ़कर

कोई नहीं है। श्रीशिव ही ब्रह्मा, विष्णु, महेशके रूपमें प्रकट होकर सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं। वे ही साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं; वे ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार और सर्वश्रेष्ठ हैं। अतः श्रीशिवके उपासकको श्रीशिवसे बढ़कर किसी भी देवता आदिको नहीं समझना चाहिये। इसी प्रकार श्रीविष्णुके उपासकके लिये यह बतलाया गया है कि श्रीविष्णु ही सर्वोपरि देवता हैं, उनसे बढ़कर अन्य कोई नहीं है। श्रीविष्णु ही ब्रह्मा, विष्णु, महेशके रूपमें संसारका उत्पादन, पालन और संहार करते हैं। अतः वे ही परम उपास्य हैं।

श्रीवेदव्यासजीके उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यही है कि शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सभी उपासक अपने-अपने इष्टदेवको सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वश्रेष्ठ पूर्णब्रह्म परमात्मा मानकर अपने इष्टदेवमें ही एकनिष्ठा रखें और उन्हींकी अनन्यभावसे उपासना करें। पुराणोंको देखनेपर यही सिद्ध होता है कि उनके प्रतिपाद्य देवताओंके नाम और रूप तो भिन्न-भिन्न हैं, परंतु लक्ष्य एक पूर्ण ब्रह्म परमात्माका ही रखा गया है; क्योंकि उन-उन देवताओंके गुण, प्रभाव, लक्षण, महिमा और स्तुति-प्रार्थनाका वर्णन करते हुए प्रत्येक देवताको ब्रह्मका रूप दिया गया है। अतः वास्तवमें एक परब्रह्म परमात्माकी ही उपासना अनेक प्रकारसे कही गयी है। नहीं तो, उपासक नाना प्रकारके मत-मतान्तरोंको मानकर यदि उन सबके अनुसार अनुष्ठान करने लगे तो वह किसी एकमें भी सुदृढ़ निष्ठावान् नहीं बन पाता और उसका साधन छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसीलिये श्रीवेदव्यासजीने सम्पूर्ण संसारपर कृपा करके पुराणोंके द्वारा उन सब उपासकोंको एकनिष्ठ करते हुए एक परब्रह्म परमात्माकी ओर ही आकृष्ट किया है।

श्रीमद्देवीभागवतमें वेदोंने भगवती देवीकी स्तुति करते हुए कहा है—

नमो देवि महामाये विश्वोत्पत्तिकरे शिवे।
निर्गुणे सर्वभूतेशि मातः शंकरकामदे॥
त्वं भूमिः सर्वभूतानां प्राणः प्राणवतां तथा।
धीः श्रीः कान्तिः क्षमा शान्तिः श्रद्धामेधा धृतिः स्मृतिः॥
त्वमुद्गीथेऽर्धमात्रासि गायत्रीव्याहृतिस्तथा।
जया च विजया धात्री लज्जा कीर्तिः स्पृहा दया॥

(१।५।५३—५५)

'देवी! आप महामाया हैं, जगत्‌की सृष्टि करना आपका स्वभाव है, आप कल्याणमय विग्रह धारण करनेवाली एवं निर्गुणा हैं, अखिल जगत् आपका शासन मानता है तथा भगवान् शंकरके आप मनोरथ पूर्ण किया करती हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंको आश्रय देनेके लिये आप पृथ्वीस्वरूपा हैं, प्राणधारियोंके प्राण भी आप ही हैं। धी, श्री, कान्ति, क्षमा, शान्ति, श्रद्धा, मेधा, धृति और स्मृति—ये सभी आपके नाम हैं। ॐकारमें जो अर्धमात्रा है, वह आपका ही निर्विशेष रूप है। गायत्रीमें आप प्रणव हैं। जया, विजया, धात्री लज्जा, कीर्ति, स्पृहा और दया—इन नामोंसे आप प्रसिद्ध हैं। माता! हम आपको नमस्कार करते हैं।'

श्रीसूतजीने भी ऋषियोंसे बतलाया है—

विद्वांसोऽपि वदन्त्येवं पुराणैः परिगीयते।
द्रुहिणे सृष्टिशक्तिश्च हरौ पालनशक्तिता॥
हरे संहारशक्तिश्च सूर्ये शक्तिः प्रकाशिका।
धराधरणशक्तिश्च शेषे कूर्मे तथैव च॥
साऽऽद्याशक्तिः परिणता सर्वस्मिन् या प्रतिष्ठिता।
दाहशक्तिस्तथा वह्नौ समीरे प्रेरणात्मिका॥
एवं सर्वगता शक्तिः सा ब्रह्मेति विविच्यते।
सोपास्या विविधैः सम्यग् विचार्या सुधिया सदा॥
यजन्ति यज्ञान् विविधान् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
ते वै शक्तिं परां देवीं ब्रह्माख्यां परमात्मिकाम्॥
ध्यायन्ति मनसा नित्यं नित्यां मत्वा सनातनीम्।
तस्माच्छक्तिः सदा सेव्या विद्वद्भिः कृतनिश्चयैः॥

(दे० भा० १।८।२८—३०, ३४, ४६—४८)

'विद्वान् पुरुष भी ऐसा कहते हैं और पुराणोंने भी घोषणा की है कि ब्रह्ममें जो सर्जनशक्ति है, विष्णुमें जो पालनशक्ति है तथा शिवमें जो संहारशक्ति है एवं सूर्यमें जो प्रकाशन-शक्ति है तथा शेष और कच्छपमें जो पृथ्वीको धारण करनेकी शक्ति है, अग्निमें जलानेकी और वायुमें जो हिलाने-डुलानेकी शक्ति है—यों सबमें जो शक्ति विद्यमान है, वही आद्याशक्ति है। इस प्रकार सबमें व्यापक रहनेवाली उस आद्याशक्तिका ही 'ब्रह्म' इस नामसे निरूपण किया गया है। अतएव बुद्धिमान् पुरुषको भलीभाँति विचारकर अनेक प्रकारसे सदा उस आद्याशक्तिकी ही उपासना करनी चाहिये। ब्रह्मा, विष्णु, महेश उन परब्रह्म-स्वरूपिणी भगवती पराशक्ति देवीको नित्य सनातनी समझकर नानाविध यज्ञोंका अनुष्ठान करते और मनसे सदा उनका ध्यान करते हैं। अतः विद्वान् पुरुषोंको चाहिये कि वे दृढ़ निश्चयपूर्वक सदा उन चिन्मयी परमा आद्याशक्तिकी ही उपासना करें।'

आराध्या परमा शक्तिः सर्वैरपि सुरासुरैः।
नातः परतरं किंचिदधिकं भुवनत्रये॥
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं वेदशास्त्रार्थनिर्णयः।

पूजनीया परा शक्तिर्निर्गुणा सगुणाथवा॥

(दे० भा० १। ९। ८६-८७)

'सभी देवता और दानवोंके लिये ये चिन्मयी परमा शक्ति ही आराधना करनेयोग्य हैं। त्रिलोकीमें इन भगवतीसे बढ़कर अन्य कोई भी नहीं है। यह बात सत्य है, सत्य है। वेद और शास्त्रोंका भी यही सच्चा तात्पर्य-निर्णय है कि निर्गुण अथवा सगुणरूपा चिन्मयी पराशक्ति ही पूजनीय हैं।'

यही नहीं, स्वयं भगवती देवीने ही भगवान् विष्णुसे कहा है—

सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम्।

(दे० भा० १। १५। ५२)

'यह सारा जगत् मैं ही हूँ, मेरे सिवा दूसरी कोई अविनाशी वस्तु नहीं है।'

यह आधा श्लोक ही श्रीमद्देवीभागवतका मूल-वचन है। इसमें यही प्रतिपादन किया गया है कि भगवती देवी ही वह सनातन परब्रह्म-तत्त्व है, जिसका वर्णन उपनिषद्में **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' (छान्दोग्य० ३। १४। १)—'यह सब निश्चय ही ब्रह्म है।' यों कहकर किया गया है और गीतामें '**वासुदेवः सर्वमिति**' (७। १९)—'यह सब कुछ वासुदेव ही है,' '**सदसच्चाहमर्जुन**' (९। १९)—'अर्जुन! सत्, असत् सब कुछ मैं ही हूँ' तथा '**मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय**' (७। ७)—'अर्जुन! मुझसे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है'—इन वाक्योंके द्वारा किया गया है।

भगवती देवीने ब्रह्माजीसे भी इसी तत्त्वका वर्णन किया है—

सदेकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदैव ममास्य च।
योऽसौ साहमहं यासौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात्॥
आवयोरन्तरं सूक्ष्मं यो वेद मतिमान् हि सः।
विमुक्तः स तु संसारान्मुच्यते नात्र संशयः॥

(दे० भा० ३। ६। २-३)

'मैं और ब्रह्म एक ही हैं। मुझमें और इन ब्रह्ममें कभी किंचिन्मात्र भी भेद नहीं है। जो वे हैं, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ, वही वे हैं। बुद्धिके भ्रमसे भेद प्रतीत हो रहा है। जो बुद्धिमान् पुरुष हमलोगोंके सूक्ष्म भेदको जानता है, वही मुक्त है। उसके इस संसार-सागरसे मुक्त होनेमें कुछ भी संदेह नहीं है।'

सर्वमेवाहमित्येवं निश्चयं विद्धि पद्मज।
नूनं सर्वेषु देवेषु नानानामधरा ह्यहम्॥

× × ×

भवामि शक्तिरूपेण करोमि च पराक्रमम्॥
गौरी ब्राह्मी तथा रौद्री वाराही वैष्णवी शिवा।
वारुणी चाथ कौवेरी नारसिंही च वासवी॥
जले शीतं तथा वह्नावौष्ण्यं ज्योतिर्दिवाकरे।
निशानाथे हिमा कामं प्रभवामि यथा तथा॥

(दे० भा० ३। ६। ११, १३, १४—१६)

'ब्रह्माजी! सब मैं ही हूँ; इसे निश्चयपूर्वक जान लेना चाहिये। सम्पूर्ण देवताओंमें मैं विभिन्न नामोंसे विख्यात हूँ—यह निश्चित बात है। मैं शक्तिरूप धारण करके पराक्रम करती हूँ। गौरी, ब्राह्मी, रौद्री, वाराही, वैष्णवी, शिवा, वारुणी, कौवेरी, नारसिंही और वासवी—सभी मेरे ही रूप हैं। जलमें शीतलता, अग्निमें उष्णता, सूर्यमें ज्योति एवं चन्द्रमामें शीतलताका विस्तार करनेकी योग्यता जिस प्रकार बनी रहे, वैसी व्यवस्था करके मैं ही स्वेच्छानुसार उनके भीतर प्रविष्ट होती हूँ।'

श्रीब्रह्माजीने नारदजीसे कहा है—

एकरूपौ चिदात्मानौ निर्गुणौ निर्मलावुभौ॥
या शक्तिः परमात्मासौ योऽसौ सा परमा मता।
अन्तरं नैतयोः कोऽपि सूक्ष्मं वेद च नारद॥

(दे० भा० ३। ७। १४-१५)

'नारद! वे परमात्मा और आद्याशक्ति दोनों एकरूप चिन्मय-स्वरूप, निर्गुण और निर्मल हैं। जो शक्ति है, वही परमात्मा है और जो परमात्मा है, वही शक्ति है—ऐसा सिद्धान्त है। इनके सूक्ष्म रहस्ययुक्त अन्तरको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जान पाता।'

भगवती देवीने अपने अवतार लेनेका प्रयोजन बतलाते हुए स्वयं कहा है—

साधूनां रक्षणं कार्यं हन्तव्या येऽप्यसाधवः।
वेदसंरक्षणं कार्यमवतारैरनेकशः॥
युगे युगे तानेवाहमवतारान् बिभर्मि च।

(दे० भा० ५। १५। २२-२३)

'श्रेष्ठ पुरुषोंकी रक्षा करना, वेदोंको सुरक्षित रखना और जो दुष्ट हैं, उन्हें मारना—ये मेरे कार्य हैं, जो अनेक अवतार लेकर मेरे द्वारा किये जाते हैं। प्रत्येक युगमें मैं ही उन-उन अवतारोंको धारण करती हूँ*।'

* गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णने प्राय: ऐसा ही कहा है—
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ (४। ८)

भगवती देवीने हिमालय गिरिसे अपना तात्त्विक स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया है—

अहमेवासं पूर्वं तु नान्यत् किंचिन्नगाधिप।
तदात्मरूपं चित्संवित्परब्रह्मैकनामकम्॥
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यमनौपम्यमनामयम्।
तस्य काचित् स्वतः सिद्धा शक्तिर्मायेति विश्रुता॥

(दे० भा० ७। ३२। २-३)

'पर्वतराज! पहले केवल मैं ही थी, मेरे सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं थी*। उस समय मेरा वह रूप चेतन, विज्ञान-आनन्दमय अद्वितीय परब्रह्म था। वह रूप अप्रतर्क्य, अनिर्देश्य, अनौपम्य और अनामय है। उसीसे कोई एक शक्ति स्वतः प्रकट हो गयी। उसीका नाम 'माया' प्रसिद्ध हुआ।'

मन्मायाशक्तिसंक्लृप्तं जगत्सर्वं चराचरम्।
सापि मत्तः पृथङ्माया नास्त्येव परमार्थतः॥
व्यवहारदृशा सेयं विद्या मायेति विश्रुता।
तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम्॥
मयि सर्वमिदं प्रोतमोतं च धरणीधर।
ईश्वरोऽहं च सूत्रात्मा विराडात्माहमस्मि च॥
ब्रह्माहं विष्णुरुद्रौ च गौरी ब्राह्मी च वैष्णवी॥
सूर्योऽहं तारकाश्चाहं तारकेशस्तथास्म्यहम्।
यच्च किंचित् क्वचिद् वस्तु दृश्यते श्रूयतेऽपि वा॥
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्याहं सर्वदा स्थिता।
न तदस्ति मया त्यक्तं वस्तु किंचिच्चराचरम्॥

(दे० भा० ७। ३३। १-२, १२—१४, १६-१७)

'हिमालय मेरी माया-शक्तिने सम्पूर्ण चराचर जगत्की रचना की है। परमार्थ-दृष्टिसे तो वह माया भी मुझसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। व्यवहारकी दृष्टिसे वही यह विद्या और माया नामसे प्रसिद्ध है। तत्त्वदृष्टिसे पृथक् कुछ नहीं। तत्त्व केवल एक ही है। (वह तत्त्व मैं हूँ, जो सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करके फिर अपने असली स्वरूप-तत्त्वमें विलीन हो जाती हूँ।) धरणीधर! मुझमें ही यह सम्पूर्ण चराचर ओत-प्रोत है। ईश्वर, सूत्रात्मा और विराट् आत्मा मैं ही हूँ। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, गौरी, सरस्वती, लक्ष्मी मेरे ही रूप हैं तथा मैं ही सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रगण हूँ। जो कोई भी वस्तु जहाँ भी देखने एवं सुननेमें आती है—चाहे वह भीतर हो या बाहर, उन सबमें व्यापकरूपसे सदा मैं ही स्थित रहती हूँ। चराचर कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो मुझसे अलग हो।'

इस प्रकार भगवती देवीने स्वयं ही अपनेको परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न सिद्ध किया है। उस परब्रह्मस्वरूपा भगवती देवीके दो स्वरूप हैं—(१) निर्गुण और (२) सगुण। सगुणके भी दो भेद हैं—

(१) निराकार और (२) साकार। इस आद्याशक्तिसे सारे संसारकी उत्पत्ति होती है। उपनिषदोंमें इसी आद्याशक्तिको पराशक्तिके नामसे कहा गया है—

देवी ह्येकाग्र आसीत्। सैव जगदण्डमसृजत्……। तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्। सर्वे मरुद्गणा अजीजनन्। गन्धर्वाप्सरसः किन्नरा वादित्रवादिनः समन्तादजीजनन्। भोग्यमजीजनत्। सर्वमजीजनत्। सर्वं शाक्तमजीजनत्। अण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जं जरायुजं यत् किं चैतत् प्राणिस्थावरजङ्गमं मनुष्यमजीजनत्। सैषा परा शक्तिः। (बह्वृचोपनिषद्)

'सृष्टिके आदिमें एक देवी ही थी, उसने ही ब्रह्माण्ड उत्पन्न किया। उसी पराशक्तिसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र उत्पन्न हुए। उसीसे सब मरुद्गण, गन्धर्व, अप्सराएँ और बाजे बजानेवाले किन्नर सब ओरसे उत्पन्न हुए। समस्त भोग्य-पदार्थ और अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, जरायुज—जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम मनुष्यादि प्राणिमात्र हैं, वे सब उसी पराशक्तिसे उत्पन्न हुए। ऐसी वह पराशक्ति है।'

ऋग्वेदमें भगवती कहती हैं—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥

(म० १०, अ० १०, सू० १२५। १)

'मैं रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वेदेवोंके रूपमें विचरती हूँ। वैसे ही मैं मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि और अश्विनीकुमारोंके रूपको धारण करती हूँ।'

ब्रह्मसूत्रमें भी कहा गया है—

सर्वोपेता च तद्दर्शनात्। (२। १। ३०)

'वह पराशक्ति सर्वसामर्थ्यसे युक्त है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष देखा जाता है।'

'श्रेष्ठ पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पापकर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी भलीभाँति स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

* छान्दोग्य-उपनिषद्में श्रीआरुणिने श्वेतकेतुके प्रति भी प्रायः ऐसा ही कहा है—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।' (६। २। १)

'सोम्य! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् (परमात्मा) ही था।'

यहाँ भी ब्रह्मका वाचक स्त्रीलिङ्ग शब्द आया है। ब्रह्मकी व्याख्या शास्त्रमें स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग आदि सभी लिङ्गोंमें की गयी है। इसी पराशक्तिको महेश्वरी, जगदीश्वरी, परमेश्वरी भी कहते हैं। लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा आदि इसी शक्तिके रूप हैं। माया, महामाया, मूलप्रकृति, विद्या, अविद्या आदि भी इसीके रूप हैं।

जिस प्रकार अन्यान्य पुराण आदि शास्त्रोंमें भगवान्के विराट्रूपका वर्णन मिलता है, उसी प्रकार परब्रह्मस्वरूपा भगवती देवीका भी विराट्रूप देवीभागवत स्कन्ध ७, अध्याय ३३में वर्णित है।

इन सब वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि देवीभागवत-पुराणमें उस परब्रह्म परमात्माका ही देवीके नामसे उल्लेख किया गया है। विज्ञानानन्दघन ब्रह्मका तत्त्व अति सूक्ष्म और गुह्य होनेके कारण शास्त्रोंमें उसे नाना प्रकारसे समझाया गया है। अतः देवीके नामसे परब्रह्म परमात्माकी उपासना करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। उस एक ही परमात्मतत्त्वकी निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, देव, देवी, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, राम, कृष्ण आदि अनेक नाम-रूपोंसे भक्तलोग उपासना करते हैं। जो मनुष्य तत्त्व-रहस्यको जानकर शास्त्रों और महापुरुषोंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार निष्कामभावसे उपासना करते हैं, उन सभी साधकोंको उन परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। उन दयासागर प्रेममय सगुण-निर्गुणरूप परमेश्वरको सर्वोपरि, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, सम्पूर्ण गुणाधार, निर्विकार, नित्य विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे उपासना करना ही उनके तत्त्व-रहस्यको जानकर उपासना करना है। इसलिये देवीके उपासकोंको भगवती आद्याशक्तिको साक्षात् सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे उनकी उपासना करनी चाहिये।

भगवदर्थ कर्म और भगवान्की दयाका रहस्य

समस्त प्राणी, पदार्थ, क्रिया और भावका सम्बन्ध भगवान्के साथ जोड़कर साधन करनेसे साधकके हृदयमें उत्साह, समता, प्रसन्नता, शान्ति और भगवान्की स्मृति हर समय रह सकती है। इससे भगवान्में परम श्रद्धा-प्रेम होकर भगवान्की प्राप्ति सहज ही हो सकती है। जो कुछ भी है—सब भगवान्का है और मैं भी भगवान्का हूँ, भगवान् सबमें व्यापक हैं (गीता १८। ४६), इसलिये सबकी सेवा ही भगवान्की सेवा है, मैं जो कुछ कर रहा हूँ, भगवान्की प्रेरणाके अनुसार भगवान्के लिये ही कर रहा हूँ, भगवान् ही मेरे परम प्यारे और परम हितैषी हैं—इस प्रकारके भावसे अपने घर या दूकानके कामको अथवा किसी भी धार्मिक संस्थाके कामको अपने प्यारे भगवान्का ही काम समझकर और स्वयं भगवान्का ही होकर काम करनेसे साधकको कभी उकताहट नहीं आती, प्रत्युत चित्तमें उत्साह, प्रसन्नता और शान्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। यदि नहीं बढ़ती है तो गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये कि इसमें क्या कारण है। खोज करनेपर पता लगेगा कि श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही इसमें कारण है। इस कमीकी निवृत्तिके लिये साधकको भगवान्के शरण होकर उनसे करुणापूर्वक स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये और भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझना चाहिये।

गीताप्रचारका काम तो प्रत्यक्ष भगवान्का ही काम है; इसमें कोई शङ्काकी बात नहीं है। जो मनुष्य श्रीमद्भगवद्गीताके अर्थ और भावको समझकर गीताका प्रचार करता है, तो उससे उसका उद्धार हो जाता है और भगवान् उसपर बहुत ही प्रसन्न होते हैं। इसके लिये गीता अ० १८ श्लो० ६८-६९ को देखना चाहिये—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

जो मनुष्य इन दोनों श्लोकोंके अर्थ और भावको भलीभाँति समझ जाता है, उसका तो सारा जीवन गीताप्रचारमें ही व्यतीत होना चाहिये। वर्तमानमें जो कुछ भी गीताका प्रचार हमारे देखने-सुननेमें आता है, उसका

भी प्रधान कारण इन दो श्लोकोंके अर्थ और भावको जाननेका प्रभाव ही है।

अतः गीताप्रचारका कार्य भगवान्‌का ही कार्य है और यह भगवान्‌की विशेष कृपासे ही प्राप्त होता है। रुपये खर्च करनेसे यह नहीं मिलता।

भगवान्‌का काम करना—उनकी आज्ञाका पालन करना भगवान्‌की ही सेवा है। वास्तवमें इस कामको भगवान्‌की सेवा समझकर करनेसे अवश्य ही प्रसन्नता तथा शान्ति प्राप्त हो सकती है। यदि नहीं मिलती है तो उसने इस कामको भगवान्‌की सेवा समझा ही नहीं। यदि कोई मनुष्य महात्माको महात्मा जानकर उनके कार्यको, उनकी आज्ञाके पालनको उनकी सेवा समझकर करता है तो उसके हृदयमें भी इतना आनन्द होता है कि वह उसमें समाता ही नहीं, तो फिर भगवान्‌की सेवासे परम प्रसन्नता और शान्ति प्राप्त हो इसमें तो कहना ही क्या है।

गीताप्रचारका कार्य करनेवालोंके चित्तमें यदि भगवान्‌की स्मृति, प्रसन्नता, उत्साह, प्रेम और शान्ति नहीं रहती है तो उन्हें इसके कारणकी खोज करनी चाहिये, एवं जो दोष समझमें आये उसको भगवान्‌की दयाका आश्रय लेकर हटाना चाहिये। भगवान्‌की दया सबपर अपार है, उसको पूर्णतया न समझनेके कारण ही हमलोग प्रसन्नता और शान्तिकी प्राप्तिसे वञ्चित रहते हैं। हमलोगोंपर भगवान्‌की जो अपार पूर्ण दया है, उसके शतांशको भी हम नहीं समझते हैं। किंतु न समझमें आनेपर भी हमलोगोंको अपने ऊपर भगवान्‌की अपार दया मानते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे वह आगे जाकर समझमें आ सकती है।

दयाके इस तत्त्वको भलीभाँति समझनेके लिये यहाँ एक दृष्टान्त बतलाया जाता है। वह इस प्रकार है—एक क्षत्रिय बालक राज्यकी सहायता और व्यवस्थासे एक महाविद्यालयमें अध्ययन करता था। उसके माता-पिता उसे सदा यही उपदेश दिया करते थे कि 'इस देशके राजा उच्चकोटिके ज्ञानी योगी महापुरुष हैं, वे हेतुरहित प्रेमी और दयालु हैं, उनकी हमलोगोंपर बड़ी भारी दया है। हमलोगोंका देहान्त हो जाय तो तुम चिन्ता न करना; क्योंकि महाराजसाहबकी दया तुमपर हमलोगोंकी अपेक्षा अतिशय अधिक है।' माता-पिताके इस उपदेशके अनुसार वह ऐसा ही मानता था। समय आनेपर उसके माता-पिता चल बसे, परंतु वह बालक दुःखित नहीं हुआ। विद्यालयके सहपाठी बालकोंने उससे पूछा—'तुम्हारे माता-पिता मर गये, फिर भी तुम्हारे चेहरेपर खेद नहीं, क्या बात है? अब तुम्हारा पालन-पोषण कौन करेगा?' क्षत्रिय बालकने कहा—'मुझे शोक क्यों होता? क्योंकि मेरे माता-पितासे भी बढ़कर मुझपर दया और प्रेम करनेवाले हमारे परम हितैषी महाराजसाहब हैं। महाराजसाहब उच्चकोटिके भक्त एवं ज्ञानी महापुरुष हैं। मैं तो उन्हींपर निर्भर हूँ। बालककी यह बात सुनकर वहाँके प्रधानाध्यापकको बड़ा आश्चर्य हुआ कि देखो, इस बालकके हृदयमें महाराजसाहबके प्रति कितनी श्रद्धा-भक्ति है। वे प्रधानाध्यापक राज्यकी कौंसिलके सदस्य थे। एक दिन जब कौंसिलकी बैठक हुई, तब वे भी उसमें उपस्थित थे। उस दिन महाराजसाहबने कहा—'अपने देशमें कोई अनाथ बालक हो तो बतलायें, उसका प्रबन्ध राज्यकी ओरसे सुचारुरूपसे हो जाना उचित है।' कौंसिलके कई सदस्योंने उसी क्षत्रिय बालकका नाम बतलाया। इसपर राजाने सबकी सम्मतिसे उस बालकके लिये खाने-पीनेका सब प्रबन्ध कर दिया और उसके कच्चे घरको पक्का बनानेका आदेश दे दिया। पढ़ाईका प्रबन्ध तो पहलेसे ही राज्यकी ओरसे था ही।

कुछ ही दिनों बाद जब राजाकी आज्ञासे राजकर्मचारी उसके कच्चे घरको पक्का बनानेके लिये तोड़ रहे थे, तब उस क्षत्रिय बालकके एक सहपाठीने दौड़कर उसे सूचना दी कि तुम्हारे घरको राजकर्मचारी तोड़कर बर्बाद कर रहे हैं। यह सुनकर वह बालक बहुत प्रसन्न हुआ और कहने लगा—'अहा! महाराजसाहबकी मुझपर बड़ी ही दया है। सम्भव है, वे पुराना तुड़वाकर नया घर बनवायेंगे!' उसकी यह बात सुनकर प्रधानाध्यापक आश्चर्यचकित हो गये और सोचने लगे—'देखो, इस बालकको कितना प्रबल विश्वास है। महाराजपर कितनी अटूट श्रद्धा है।'

पुनः जब दूसरी बार कौंसिलकी बैठकमें प्रधानाध्यापक सम्मिलित हुए, तब राजाने यह प्रस्ताव रखा—'मैं वृद्ध हो गया हूँ। मेरे संतान नहीं हैं। अतः युवराजपद किसको दूँ? इसके योग्य कौन है? इसपर प्रधानाध्यापकने बतलाया—वह क्षत्रिय बालक गुण, आचरण, विद्या और स्वभावमें सबसे बढ़कर है। वह राजभक्त है और आपपर तो उसकी अपार श्रद्धा है।' इस बातका दूसरे सदस्योंने भी प्रसन्नतापूर्वक समर्थन किया। राजाने सर्वसम्मतिसे उस क्षत्रिय बालकको ही युवराजपद दे दिया।

दूसरे दिन राजाके मन्त्री और कुछ उच्चपदाधिकारी उस क्षत्रिय बालकके घरपर गये। उन सबको आते देख उस क्षत्रिय बालकने उनका अत्यन्त आदर-सत्कार किया और कहा—'मैं आपकी क्या सेवा करूँ?' पदाधिकारियोंने कहा—'महाराजसाहबकी आपपर बड़ी भारी दया है।' बालक बोला—'यह मैं पहलेसे ही जानता हूँ कि महाराजकी

मुझपर अपार दया है। इसी कारण आपलोगोंकी भी मुझपर बड़ी दया है।' पदाधिकारियोंने कहा—'हम तो आपके सेवक हैं, आपकी दया चाहते हैं।' बालक बोला—'आप ऐसा कहकर मुझे लज्जित न कीजिये। मैं तो आपका सेवक हूँ। महाराजसाहबकी मुझपर दया है—इसको मैं अच्छी तरह जानता हूँ।' पदाधिकारियोंने कहा—'आप जो जानते हैं उससे कहीं बहुत अधिक उनकी दया है।' क्षत्रिय बालकने पूछा—'क्या महाराजसाहबने मेरे विवाहका प्रबन्ध कर दिया है?' तब उन्होंने कहा—'विवाहका प्रबन्ध ही नहीं, महाराजसाहबकी तो आपपर अतिशय दया है।' बालकने पुनः पूछा—'क्या महाराजसाहबने मुझको दो-चार गाँवोंकी जागीरदारी दे दी है?' पदाधिकारियोंने कहा—'यह तो कुछ नहीं, उनकी आपपर जो दया है, उसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते।' इसपर बालकने निवेदन किया—'उनकी मुझपर कैसी दया है, इसे आप ही कृपा करके बतलाइये।' उन्होंने कहा—'आपको महाराजसाहबने युवराजपद दे दिया है। इसलिये हम आपकी दया चाहते हैं।' यह सुनकर क्षत्रिय बालक हर्षमें इतना मुग्ध हो गया कि उसे अपने-आपका भी होश नहीं रहा।

इस दृष्टान्तको अध्यात्मविषयमें यों घटाना चाहिये कि भगवान् ही ज्ञानी महापुरुष राजा हैं। श्रद्धालु साधक ही क्षत्रिय बालक है। उपदेश देनेवाले गुरुजन ही माता-पिता हैं। सत्सङ्गी साधकगण ही सहपाठी बालक हैं। भगवत्प्रेमी महापुरुष ही कौंसिलके सदस्य प्रधानाध्यापक हैं। राज्यकी ओरसे बालकके खान-पानका प्रबन्ध कराये जानेको लोकदृष्टिसे अनुकूल परिस्थितिकी प्राप्ति और घर तुड़वाये जानेको लोकदृष्टिसे प्रतिकूल परिस्थितिकी प्राप्ति समझना चाहिये तथा इन दोनोंमें बालकके द्वारा राजाका मङ्गलविधान मानकर प्रसन्न होनेको प्रत्येक घटनामें भगवान्का मङ्गलमय विधान मानकर प्रसन्न होना समझना चाहिये। बालकका राजाको सुहृद् मानकर उनपर निर्भरता, श्रद्धा और विश्वास करना ही भगवत्-शरणागतिका साधन समझना चाहिये।

इस दृष्टान्तसे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हमलोग अपने ऊपर भगवान्की जितनी दया मानते हैं, भगवान्की दया उससे कहीं बहुत अधिक है। भगवान्की हमपर इतनी दया है कि उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। यदि हम उस दयाको जान जायँ तो क्षत्रिय बालककी भाँति हमें इतना आनन्द और प्रसन्नता हो कि उसकी सीमा ही न रहे; फिर हमें अपने-आपका भी ज्ञान न रहे।

अतः हमें स्वेच्छा, अनिच्छा या परेच्छासे जो कुछ भी प्राप्त हो, उसे भगवान्का दयापूर्ण मङ्गलमय विधान समझकर और अपने द्वारा होनेवाली क्रियाओंको भगवान्का काम तथा भगवान्की परम सेवा समझकर हर समय भगवान्को याद रखते हुए आनन्दमें मग्न रहना चाहिये।

इस प्रकार भगवद्भक्तिके साधनसे साधकके चित्तमें प्रसन्नता, रोमाञ्च और अश्रुपात होने लगता है, हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, वाणी गद्गद हो जाती है तथा कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है। किंतु मनुष्य जब साधन करते-करते सिद्धावस्थामें पहुँच जाता है—भगवान्को पा लेता है, तब वह आमोद, प्रमोद, हर्ष आदिसे ऊपर उठकर परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त कर लेता है। जैसे कड़ाहीमें घी डालकर उसमें कचौड़ी सेंकी जाती है, वह जबतक कच्ची रहती है तबतक तो उछलती है—उसमें विशेष क्रिया होती रहती है; किंतु जब वह पकने लगती है, तब उसका उछलना कम हो जाता है और सर्वथा पक जानेपर तो वह शान्त और स्थिर हो जाती है। इसी प्रकार साधन करते समय साधकमें जबतक कच्चाई रहती है, तबतक वह साधन-विषयक आमोद-प्रमोदमें उछलता रहता है एवं उसके रोमाञ्च, अश्रुपात और कण्ठावरोध होता रहता है; किंतु जब साधन पकने लगता है, तब हर्षादि विकारोंका उफान कम हो जाता है और सर्वथा पक जानेपर वह आमोद, प्रमोद, हर्ष आदि विकारोंसे रहित परम शान्त हो जाता है। फिर वह परमात्मामें अचल और स्थिर होकर परम शान्ति और परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

भगवत्प्रेमकी प्राप्ति और वृद्धिके विविध साधन

श्रीरामचरितमानसमें बतलाया गया है—

सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा॥

(उत्तर० १२२। ७)

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्॥

(७। ७। ५५)

'इस संसारमें मनुष्यका सबसे बड़ा असली स्वार्थ इतना ही माना गया है कि वह भगवान् गोविन्दमें अनन्य भक्ति—अनन्य प्रेम प्राप्त करे। उस प्रेमका स्वरूप है—

सर्वदा सर्वत्र सब वस्तुओंमें भगवान्‌का दर्शन।'

उस अनन्य विशुद्ध प्रेमकी उत्पत्ति और वृद्धिके अनेक उपाय हैं, उनमेंसे कुछ उपाय यहाँ बतलाये जाते हैं—

१—भगवान्‌में प्रेम कैसे हो, भगवान्‌में प्रेम कैसे हो, भगवान्‌में प्रेम कैसे हो—इस प्रकारकी निरन्तर लगन, उत्कट इच्छाकी जागृति ही भगवान्‌में प्रेम होनेका मुख्य उपाय है। उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌से मिलनेकी उत्कट इच्छा होनेपर भगवान्‌में प्रेम बढ़कर अनन्य और विशुद्ध प्रेम हो जाता है, जिससे मनुष्यको भगवान् शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥

(४। ११ का पूर्वार्द्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।' तथा—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९का उत्तरार्ध)

'जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।' इतना ही नहीं, अनन्यप्रेमी ज्ञानी निष्काम भक्तको तो भगवान्‌ने अपना अत्यन्त प्रिय बतलाया है। वे कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

अतः हमलोगोंको भगवान्‌का अनन्य प्रेम प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌से मिलनेकी उत्कट इच्छा करनी चाहिये। उत्कट इच्छासे अनन्य विशुद्ध प्रेम हो जाता है, जिससे भगवान् प्रकट हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धके ३२वें अध्यायमें बतलाया गया है कि भगवान् श्रीकृष्णके वियोगमें जब गोपियाँ अत्यन्त आतुर हो गयीं, तब भगवान् वहाँ प्रकट हो गये। श्रीरामचरितमानसमें देखिये—जब भगवान् श्रीरामके दर्शनके बिना भरतजी व्याकुल हो गये, तब भगवान् भी भरतसे मिलनेके लिये आतुर हो गये। भक्त विभीषणने घर चलनेके लिये विनय की, किंतु भगवान् लंकामें नहीं गये और अश्रुपूरित नेत्रोंसे युक्त हुए कहने लगे—

तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥
बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

(लङ्का० ११६ क, ग)

तदनन्तर भगवान्‌ने तुरंत अपने आगमनकी सूचना हनुमान्‌के द्वारा भरतके पास पहुँचायी। उस समयकी भरतजीकी विरहावस्थाका वर्णन करते हुए श्रीगोस्वामीजीने कहा है—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥

(उत्तर० १ क, ख)

फिर भगवान् श्रीराम स्वयं उनके पास आ गये।

जब मनुष्य भगवान्‌के विरहमें व्याकुल हो जाता है, भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र उत्कट इच्छा उसके हृदयमें जाग्रत् हो जाती है, तब भगवान् उस भक्तके पास आये बिना नहीं रह सकते। अतः भगवान्‌के मिलनेमें तीव्र इच्छा ही प्रधान हेतु है। संसारके पदार्थ तो उनके मिलनेकी तीव्र इच्छा होनेपर भी, यदि प्रारब्ध न हो तो नहीं मिल सकते—जैसे कोई निर्धन है और धनी होनेकी इच्छा करता है तो इच्छामात्रसे धनी नहीं बन सकता। कोई रोगी शीघ्र नीरोग होना चाहता है, पर इच्छामात्रसे उसके रोगका नाश नहीं होता। मरणासन्न मनुष्य अधिक कालतक जीना चाहता है, पर वह इच्छामात्रसे जी नहीं सकता। इसी प्रकार मनुष्य संसारके किसी भी पदार्थकी इच्छा करे तो इच्छामात्रसे वह पदार्थ नहीं मिल सकता; क्योंकि संसारके सभी पदार्थ क्षणभङ्गुर, नाशवान् और जड हैं एवं प्रारब्धके अधीन हैं। इस कारण वे इच्छा करनेमात्रसे नहीं मिल सकते। मनुष्य स्वयं अर्थ और अर्थ-आश्रित जड पदार्थोंको चाहता है, पर पदार्थ जड होनेके कारण मनुष्यको नहीं चाहते।

जब महाराज युधिष्ठिर पितामह भीष्मके साथ युद्ध करनेकी आज्ञा और आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये उनके पास गये, तब भीष्मजीने उनसे यही कहा—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥

(महा० भीष्म ४३। ४१)

'महाराज युधिष्ठिर! पुरुष अर्थका दास है, पर अर्थ किसीका दास नहीं; यह सच्ची बात है। मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ।'

किंतु भगवान् तो चेतन, हेतुरहित दयालु और

परम प्रेमी हैं; वे अपने प्रेमीके पुकारनेपर उससे मिले बिना कैसे रह सकते हैं।

२—दिव्य-गुणसम्पन्न सगुण भगवान्‌का मनसे आह्वान करके उनके साथ वार्तालाप करने एवं उनके दर्शन, स्पर्श, भाषण, चिन्तन आदिको रसमय, प्रेममय, आनन्दमय समझकर उनमें रमण करनेसे भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। भगवान्‌का स्पर्श हाथोंके लिये, भगवान्‌की वाणी कानोंके लिये, उनकी दिव्य गन्ध नासिकाके लिये और उनका दर्शन नेत्रोंके लिये अमृतके समान परम मधुर और आनन्ददायक है—ऐसा समझकर भगवान्‌के अङ्गोंका अपने हाथोंसे स्पर्श करना हाथोंके द्वारा रमण है, उनकी अमृतमयी वाणी सुन-सुनकर मुग्ध हो जाना कानोंके द्वारा रमण है, उनकी दिव्य गन्धसे तृप्त होना नासिकाके द्वारा रमण है और नेत्रोंसे उनका दर्शन करके रूपमाधुरीका पान करना नेत्रोंके द्वारा रमण है। इसी प्रकार मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके द्वारा भगवान्‌के साथ सम्बन्ध करके तन्मय होनेसे भगवान्‌में प्रेम बढ़ता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें बतलाया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(१०।९)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे तत्त्व, रहस्य और प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं।'

भक्तिमती गोपियाँ इसी प्रकार भगवान्‌में ही रमण करती हुई उनके प्रेममें मुग्ध हो जाया करती थीं—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥

(श्रीमद्भा० १०।३०।४४)

गोपियोंका मन श्रीकृष्णमय हो गया था। उनकी वाणीसे श्रीकृष्णचर्चाके अतिरिक्त और कोई बात नहीं निकलती थी। उनके शरीरसे केवल श्रीकृष्णके लिये और केवल श्रीकृष्ण-विषयक चेष्टाएँ हो रही थीं। कहाँतक कहें, उनका आत्मा श्रीकृष्णमय हो रहा था। वे केवल श्रीकृष्णके गुणों और लीलाओंका ही गान कर रही थीं और उनमें इतनी तन्मय हो रही थीं कि उन्हें अपने शरीर और घरकी भी सुध-बुध नहीं रही।

३—केवल श्रद्धा-भाव-भक्तिपूर्वक भगवान्‌के ध्यानमें मस्त होनेसे भी भगवान्‌में प्रेम बढ़कर अनन्य और विशुद्ध प्रेम हो जाता है। भक्त सुतीक्ष्णजी भगवान्‌के मिलनका मनोरथ करते हुए भगवान्‌के ध्यानमें मस्त हो गये थे, जिससे उनको अविरल प्रेमाभक्ति प्राप्त हो गयी। उनकी इस स्थितिका वर्णन गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने यों किया है—

प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥
हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाया॥
सहित अनुज मोहि राम गोसाईं। मिलिहहिं निज सेवक की नाईं॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मन माहीं॥
नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा॥
एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥
होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव मोचन॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥
अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदयँ हरन भव भीरा॥
मुनि मग माझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए। देखि दसा निज जन मन भाए॥
मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यान जनित सुख पावा॥

(अरण्य १०। २से ७ १/२)

४—यदि भगवान्‌का ध्यान न हो सके तो केवल श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवन्नामका जप करनेसे भी भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥

(बाल० २१। ३)

नामकी महिमा बतलाते हुए वे और भी कहते हैं—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

(बाल० २६। ३-४)

५—इसी प्रकार केवल कीर्तनसे भी भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम हो जाता है, जिससे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे देते हैं। सुना जाता है जब श्रीचैतन्य महाप्रभु कीर्तन किया करते थे, तब वे प्रेममें इतने मग्न हो जाते थे कि पशु भी उनके कीर्तनको देख-सुनकर नाचने लग जाते तथा जब भक्त नरसी मेहता झाँझ-करताल आदि लेकर केदार रागमें भगवान्‌के गुण गाते थे, तब भगवान्‌के प्रेममें इतने मुग्ध हो जाते थे कि भगवान् उनके सम्मुख प्रकट हो जाते थे। एवं मीराँबाई जब अपने महलमें घुँघरू बाँधकर भगवद्गुणगान करती हुई नाचने लगतीं, तब उनके प्रेमसे भगवान् उनके सम्मुख प्रकट हो जाते और वे उनसे वार्तालाप किया करती थीं।

अतः कीर्तनसे भी भगवान्‌में प्रेमकी उत्पत्ति और

वृद्धि हो जाती है। श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(११। २। ४०)

'जो श्रद्धालु मनुष्य इस प्रकार नियमपूर्वक आचरण करता है, उसके हृदयमें अपने प्रियतम प्रभुके नाम-कीर्तनसे भगवद्-अनुराग उत्पन्न हो जाता है, उसका चित्त द्रवित हो उठता है। वह साधारण लोगोंकी स्थितिसे ऊपर उठ जाता है और स्वभावसे ही मतवाला-सा होकर कभी खिलखिलाकर हँसता है तो कभी फूट-फूटकर रोने लगता है। कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को पुकारता है तो कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है और कभी-कभी भगवान्‌को अपने सम्मुख अनुभव करके उन्हें रिझानेके लिये नृत्य भी करने लगता है।'

६—भगवान्‌की लीलाओं और भक्तोंके चरित्रोंका एवं गीता, भागवत, रामायण आदि भक्तिभावपूर्ण शास्त्रोंका अर्थ और भाव समझते हुए अध्ययन करनेसे भी भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो सकता है; क्योंकि भगवान्‌के और उनके भक्तोंके दिव्य गुण और अलौकिक प्रभावका अध्ययन करनेपर उनका तत्त्व-रहस्य समझमें आता है, जिससे श्रद्धा-विश्वासकी वृद्धि होकर भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥
(गीता १८। ७०)

'जो मनुष्य इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीता-शास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है।'

इस प्रकार भगवान्‌ने गीताशास्त्रका अध्ययन करनेवालेको भी अपना प्रेमी भक्त बतलाया है।

७—सत्पुरुषोंके सङ्गसे भी भगवान्‌में प्रेम होता है, सत्पुरुषोंसे भगवान्‌के गुण-प्रभाव-तत्त्व—रहस्यकी बातोंको सुननेपर मनुष्यका भगवान्‌में अतिशय अनुराग हो जाता है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजीने कहा है—

यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः॥
(१२। ३। १५)

'सर्वोत्तम यशस्वी भगवान् श्रीकृष्णका गुणानुवाद समस्त अमङ्गलोंका नाश करनेवाला है, श्रद्धालु प्रेमी भक्तजन उसीका गान करते रहते हैं। जो भगवान् श्रीकृष्णमें अनन्य प्रेममयी विशुद्ध भक्तिकी लालसा रखता हो, उसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌के दिव्य गुणानुवादका ही श्रवण करते रहना चाहिये।'

श्रीतुलसीदासजीने तो यहाँतक कह दिया है कि सत्सङ्गके बिना भगवत्प्रेमकी प्राप्ति ही नहीं होती—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥
(उत्तर० ६१)

इसीलिये कहा है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥
(सुन्दर० ४)

८—भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धामके गुण-प्रभावको पढ़ने और सुनने-समझनेसे स्वाभाविक ही भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्य प्रेम हो जाता है। जब किसी साधारण मनुष्य, देवता, तीर्थ आदिके गुण-प्रभावकी बात सुननेसे भी मनुष्यका उसमें स्वाभाविक ही श्रद्धा-प्रेम हो जाता है, तब सकल-गुण-निधान अपरिमित प्रभावशाली भगवान्‌के अनन्त दिव्य अलौकिक गुण-प्रभावको पढ़, सुन और समझकर उनमें प्रेम हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है।

भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धामके गुण-प्रभावको इस प्रकार समझना चाहिये—

जैसे बीजमें वृक्ष सूक्ष्मरूपसे रहता है, इसी प्रकार नाममें भगवान्‌के सब गुण भरे रहते हैं; क्योंकि जब मनुष्य श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे भगवान्‌के नामका जप करता है, तब उसमें दैवी सम्पदाके लक्षण स्वतः ही आ जाते हैं—चाहे वह कैसा भी पापी क्यों न हो (गीता ९। ३०-३१)।

नाम-जपके प्रभावसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश होकर हृदयमें ज्ञान और प्रेमका प्रादुर्भाव हो जाता है, जिससे उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

श्रीतुलसीदासजीने बतलाया है—

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥
(रामचरित० बाल० २६। ४)

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥
(बाल० २१)

किन्हीं अन्य कविने कहा है—

जबहिं नाम हिरदै धर्‌यो, भयौ पाप कौ नास।
मानो चिनगी आग की परी पुराने घास॥

यदि कहें कि 'बहुत-से मनुष्य नाम-जप तो करते हैं, किंतु उनमें उपर्युक्त महिमा देखनेमें नहीं आती' सो ठीक है। इसका कारण यह है कि उन्होंने नामके तत्त्व-रहस्यको नहीं समझा, इसीसे उन्होंने श्रद्धा-विश्वासपूर्वक निष्कामभावसे नाम-जप नहीं किया। अतः वे नामके तत्त्व-रहस्यको न समझनेके कारण ही उपर्युक्त महिमासे वञ्चित रहे।

भगवान्‌का स्वरूप अत्यन्त दिव्य, परम सुन्दर और महान् आकर्षक है। भगवान्‌के दिव्य गुणोंकी तो बात ही क्या है, सारे संसारके गुणोंको एकत्र किया जाय तो वे सब मिलकर भी उन गुणसागर भगवान्‌के गुणोंकी एक बूँदके समान भी शायद ही हों।

भगवान्‌का प्रभाव भी अपरिमित है। जिस प्रकार बिजलीके पंखेके द्वारा हवा प्राप्त होना, बल्बके द्वारा रोशनी होना, रेडियोके द्वारा खबरें सुनायी देना, ट्रामगाड़ीका चलना आदि सब क्रियाएँ एक बिजलीके ही प्रभावका अंश है, उसी प्रकार संसारमें जो भी प्रभावयुक्त वस्तु देखनेमें आती है, वह सब भगवान्‌के ही प्रभावका अंश है।

गीतामें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(१०। ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशका ही प्राकट्य जान।'

इस तत्त्वको स्पष्ट सुगमतापूर्वक समझनेके लिये केनोपनिषद्‌के यक्षोपाख्यानपर ध्यान देना चाहिये। एक समय भगवान्‌की शक्तिके प्रभावसे देवताओंने असुरोंपर विजय प्राप्त की; उसमें उन्होंने अपनी महिमा समझी, जिससे उन्हें अभिमान हो गया। भगवान् उनके अभिमानका नाश करनेके लिये उनके सामने यक्षरूपमें प्रकट हुए। यक्षका परिचय जाननेके लिये क्रमशः अग्नि और वायु गये। भगवान्‌ने उनके सामने एक तिनका रखा, किंतु वे दोनों ही उसे जला या उड़ा न सके। तब इन्द्र उनके पास गये। यक्ष अन्तर्धान हो गये। उस समय भगवती उमादेवी प्रकट हुईं और उन्होंने प्रकट होकर बताया कि 'यक्षरूपमें भगवान् प्रकट हुए थे। उनके प्रभावसे ही तुमलोगोंने असुरोंपर विजय प्राप्त की थी। किंतु उनकी विजयमें तुम अपनी महिमा मानने लगे। अतः तुमपर कृपा करके इस मिथ्याभिमानका नाश करनेके लिये ही वे यक्षके रूपमें प्रकट हुए थे।' (केनोपनिषद् खण्ड ३-४) अतएव समझना चाहिये कि संसारके समस्त प्राणिपदार्थोंमें जो प्रभाव देखनेमें आता है, वह भगवान्‌का ही प्रभाव है।

भगवान्‌की प्रत्येक लीलामें गुण-प्रभाव भरे रहते हैं। श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्धके १३ वें अध्यायमें वर्णन आता है कि एक बार जिस समय यमुनातटपर वनमें ग्वाल-बालोंके साथ भगवान् श्रीकृष्ण भोजन कर रहे थे, उस समय ब्रह्माजी बछड़ों और ग्वाल-बालोंको लेकर चले गये और उनको गुफामें रख दिया। तब भगवान् स्वयं अनेकरूप होकर वैसे-के-वैसे बछड़े और ग्वाल-बालके रूपमें बन गये। इस प्रकार भगवान्‌ने बछड़ों और ग्वाल-बालोंके रूपमें गौओं और माताओंको वात्सल्य-सुख दिया और फिर ब्रह्माजीके अनुरोध करनेपर अपनी मायाका उपसंहार कर लिया। इस लीलामें भगवान्‌ने गोपबालकोंको सख्य-प्रेमका एवं गौओं और माताओंको वात्सल्यभावका सुख दिया तथा ब्रह्माजीके अपराधको क्षमा किया—ये सब भगवान्‌की लीलाके गुण हैं। वहाँ एक ही भगवान् अनेकरूप हो गये और इस रहस्यका किसीको पता नहीं लगा—यह उनका अपरिमित प्रभाव है।

इसी प्रकार भगवान्‌की प्रत्येक लीलामें गुण-प्रभावका तत्त्व-रहस्य समझना चाहिये।

भगवान्‌का परमधाम नित्य, चेतन और दिव्य, अनन्त, असीम गुणोंसे सम्पन्न है। जो साधक उस परमधाममें जाता है, वह उन गुणोंसे सम्पन्न हो जाता है। संसारमें जितने भी दैवीसम्पदाके गुण हैं, वे उस भगवद्धामके गुणोंका आभासमात्र हैं।

भगवान्‌के धामका प्रभाव तो अपरिमित है। जो वहाँ जाता है, वह परमानन्दमें निमग्न रहता है और पुनः कभी लौटकर संसारमें नहीं आता। यदि कभी भगवान्‌की आज्ञासे भगवान्‌के अधिकारको पाकर जीवोंके कल्याणके लिये आता है तो उसका आना आनेकी गणनामें नहीं है।

जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धामके गुण-प्रभाव और तत्त्व-रहस्यको समझ जाता है, उसका भगवान्‌में अतिशय विशुद्ध प्रेम हो जाता है।

९—शरीर, संसार और सांसारिक पदार्थोंको मूल्यवान् न समझकर केवल एकमात्र दिव्यगुणसम्पन्न अपरिमित प्रभावशाली भगवान्‌को ही सर्वोत्तम और मूल्यवान् समझनेसे भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है; क्योंकि

संसारके सभी पदार्थ नाशवान् और क्षणभङ्गुर हैं एवं इन्द्रियजन्य सभी सांसारिक भोग-सुख परिणाममें दुःखदायी होनेके कारण दुःखरूप ही हैं। भगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं, तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

मनुष्य भ्रमसे ही संसारके भोगोंको नित्य और सुखदायी मान लेता है, जिससे वह उनको मूल्यवान् समझकर उनमें फँस जाता है और उनका आदर करने लगता है। फलतः वह भगवान्‌के प्रेमसे वञ्चित रह जाता है। इसलिये उनको मूल्यवान् समझकर आदर देना ही मूर्खता है। यों समझ लेनेपर मनुष्यका संसारसे अत्यन्त वैराग्य होकर भगवान्‌में तीव्र अनुराग—अलौकिक प्रेम हो जाता है।

१०—मनुष्य संसारको ही सदा अपने सम्मुख देखता रहता है, अतः वह सांसारिक भोग-पदार्थोंकी चमक-दमकको देखकर उनमें फँस जाता है। इसलिये साधकको उचित है कि वह संसारकी ओर न देखकर—संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के चरित्र (लीला) को देख-देखकर मुग्ध होता रहे। उसे श्रीरामचरितमानसमें वर्णित भगवान् श्रीरामके आदर्श जीवन-चरित्रको मनसे देखना और उसके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये। भगवान् श्रीरामने माता, पिता, भाई, बन्धु, मित्र, सेवक, पत्नी आदिके साथ जैसा उत्तम व्यवहार किया, उसका अनुकरण करनेसे भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। एवं जैसे भगवान् श्रीकृष्णके वियोगमें गोपियोंने भगवान्‌की लीलाओंका अनुकरण किया था (भागवत, स्कन्ध १०, अध्याय ३०, श्लोक २-३), उसी प्रकार भगवान्‌की लीलाओंका अनुकरण करनेसे भी भगवान्‌में प्रेम बढ़ जाता है।

११—भगवान्‌के संकेत और उनकी आज्ञाके अनुसार चलनेसे भी भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। यह तो प्रसिद्ध नीति ही है कि जो कोई भी मनुष्य किसीके संकेत और आदेशके अनुसार चलता है तो वह उसे प्रिय लगता है। पतिपरायणा पत्नी पतिके संकेत और आज्ञाके अनुसार चलनेसे पतिकी परम प्रिय बन जाती है।

भगवान् श्रीराम प्रजाको उपदेश करते समय स्वयं कहते हैं—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

(उत्तर० ४३। ३)

१२—भगवान्‌का जो सिद्धान्त है, उसका स्वयं पालन करनेसे तथा लोगोंमें उसका प्रचार करनेसे एवं उनके मनके अनुकूल चलनेसे साधक भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने मतके अनुसार चलनेवालेकी प्रशंसा की है—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

(गीता ३। ३१)

'जो कोई मनुष्य मुझमें दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं।'

तथा भगवद्गीताके भावोंका प्रचार करनेवालेकी महिमामें तो भगवान्‌ने यहाँतक कह दिया है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(गीता १८। ६८-६९)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

१३—श्रद्धा और भक्तिपूर्वक भगवान्‌की पूजा करनेसे भी भगवान्‌में प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इस विषयमें पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें एक बड़ा सुन्दर आख्यान मिलता है। एक समयकी बात है, काञ्चीपुरीके महाराज चोलने अनन्तशयन नामक तीर्थमें जाकर भगवान् श्रीविष्णुके दिव्य विग्रहकी मणि, मुक्ता और स्वर्णके बने हुए फूलोंसे विधिपूर्वक पूजा की। उसी समय काञ्चीनगरीके ब्राह्मण विष्णुदास भी वहाँ आये और उन्होंने तुलसीमञ्जरी और पत्तोंसे भगवान्‌की विधिवत् पूजा की। इससे राजाकी की हुई पूजा तुलसी-पूजासे ढक गयी, यह देख राजा कुपित हो गये। दोनोंमें परस्पर वाद-विवाद हुआ। अन्तमें यह होड़ बदकर कि 'देखें, किसकी भक्ति अधिक है; कौन भगवान्‌के दर्शन पहले पाता है'

दोनों भगवान्‌की आराधनामें लग गये। वहाँ राजाने बड़े भारी वैष्णव-यज्ञका अनुष्ठान किया, जिसमें बहुत-सा अन्न खर्च किया गया और प्रचुर दक्षिणाएँ बाँटी गयीं। श्रीविष्णुदास भी वहीं व्रत, उपवास, जप और गुणगानपूर्वक विधिवत् भगवान् विष्णुकी पूजा करने लगे। किंतु वे जब भोजन बनाकर भगवान्‌के नैवेद्यका समर्पण करते, तब कोई सारा भोजन पीछेसे अपहरण कर ले जाता। सायंकालकी पूजा न छूट जाय, इस विचारसे श्रीविष्णुदास दुबारा भोजन नहीं बनाते। सात दिनोंतक ऐसा होता रहा। अन्तमें श्रीविष्णुदास भोजन बनानेके बाद छिपकर देखने लगे तो वहाँ एक कृशकाय चाण्डालको भोजन ले जाते देखा। उसे देखते ही वे दयार्द्र हो गये और बोले—'भैया जरा ठहरो, क्यों रूखा-सूखा खाते हो। यह घी ले लो।' यह सुनकर चाण्डाल बड़े वेगसे भागा, जिससे वह भयसे मूर्च्छित हो गिर पड़ा। उस समय सर्वत्र श्रीविष्णुका दर्शन करनेवाले श्रीविष्णुदास करुणावश अपने वस्त्रसे उसको हवा करने लगे। तदनन्तर जब वह चाण्डाल उठकर खड़ा हुआ, तब श्रीविष्णुदासने देखा कि साक्षात् शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् नारायण ही सामने खड़े हैं। वे भगवान्‌के प्रेममें मुग्ध हो गये। भगवान्‌ने उनको छातीसे लगा लिया और उन्हें अपने-जैसा रूप देकर परमधाम वैकुण्ठ ले चले। उस समय यज्ञमें दीक्षित राजा चोलने उनको विमानमें बैठकर जाते देखा तो उन्होंने अपने आचार्य महर्षि मुद्गलसे कहा, 'ये विष्णुदास तो मुझसे पहले ही परमधाम वैकुण्ठ जा रहे हैं। अतः जान पड़ता है, भगवान् विष्णु केवल दान और यज्ञोंसे प्रसन्न नहीं होते। उनका दर्शन करानेमें भक्ति ही प्रधान कारण है।' फिर वे भगवान् विष्णुको सम्बोधित करते हुए उच्चस्वरसे बोले—'भगवन्! आप मुझे मन, वाणी, शरीर और क्रिया-द्वारा स्थिर भक्ति दीजिये।' यों कहकर वे अग्निकुण्डमें कूद पड़े। तब भगवान् विष्णु वहाँ प्रकट हो गये और उन्हें छातीसे लगाया। फिर उनको अपने समान रूप देकर एक श्रेष्ठ विमानपर बिठाया और परमधाम वैकुण्ठमें ले गये।

इस प्रकार उन दोनों भक्तोंकी की हुई पूजासे भगवान् उनपर संतुष्ट हो गये।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

भगवान् श्रीरामके आगमनकी बात सुनकर शबरी भीलनीने भगवान्‌के सत्कारके लिये कन्द-मूल-फल एकत्र किये और उनके पधारनेपर उनको प्रेमपूर्वक खिलाया था। श्रीरामचरितमानसमें वर्णन आता है—

सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुंदर आसन बैठारे॥
कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥

(अरण्य० ३४)

इसीसे उसे अतिशय भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, इसे भगवान्‌ने स्वयं स्वीकार किया है—

'**सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें**' (अरण्य० ३६। ४)

एवं ग्राहसे ग्रस्त गजेन्द्रने जब भगवान्‌को पुष्प भेंट किया, तब भगवान् उसके प्रेमसे वहाँ आ गये और उसका संकटसे उद्धार किया।

श्रीमद्भागवतमें आया है—

उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते॥
तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य
सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार।

(८। ३। ३२-३३)

'गजेन्द्रने अपनी सूँड़में कमलका एक सुन्दर पुष्प लेकर ऊपर उठाया और बड़े कष्टसे कहा—'नारायण! जगद्गुरो! भगवन्! आपको नमस्कार है।' जब भगवान्‌ने गजेन्द्रको ग्राहसे अत्यन्त पीड़ित देखा, तब वे सहसा गरुड़को छोड़कर कूद पड़े और कृपा करके गजेन्द्रके साथ ही ग्राहको भी तुरंत सरोवरसे बाहर निकाल लाये एवं गजेन्द्रको ग्राहसे छुड़ा लिया।'

१४—भगवान्‌के पादसेवनरूप चरणामृतपान और चरणरज-सेवनके प्रभावसे भी भगवान्‌में प्रेम बढ़कर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। वन जाते हुए भगवान् श्रीरामने जब केवटसे गङ्गापार उतारनेके लिये कहा, तब केवटने उत्तर दिया—'जबतक मैं आपके पैरोंको नहीं धो लूँगा, तबतक पार नहीं उतारूँगा।' केवटके प्रेमभरे वचनको सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उसको पैर धोनेकी आज्ञा दे दी। तब केवट—

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥

(अयोध्या० १०१)

श्रीभरतजी महाराज भगवान्‌के चरणोंके सेवक थे। वे जब चित्रकूटमें भगवान्‌से मिलने गये, उस समय वहाँ जमीनमें भगवान्‌के चरणचिह्नोंको देखकर उस चरणरजको धारण करके प्रेममें इतने मग्न हो गये कि उनकी इस दशाको देखकर पशु, पक्षी और जड वृक्षादि जीव भी प्रेममें मग्न हो गये—

हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥
देखि भरत गति अकथ अतीवा। प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा॥

(अयोध्या० २३८। २-३)

श्रीअक्रूरजी भी भगवान् श्रीकृष्णके चरण-चिह्नोंको देखकर प्रेममें विभोर हो गये थे। जब वे भगवान् श्रीकृष्णको लानेके लिये गोकुल गये, तब वहाँ—

पदानि तस्याखिललोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणोः।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः॥
तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति॥

(श्रीमद्भा० १०। ३८। २५-२६)

'जिनके चरणोंकी परम पावन रजको सम्पूर्ण लोकपाल अपने मुकुटोंके द्वारा सेवन करते हैं, श्रीअक्रूरजीने गोष्ठमें उनके कमल, यव, अङ्कुश आदि अलौकिक रेखाओंसे युक्त चरण-चिह्नोंके दर्शन किये। उनसे पृथ्वीकी शोभा बढ़ रही थी। उन चरण-चिह्नोंके दर्शन करते ही अक्रूरजीके हृदयमें इतना आह्लाद हुआ कि वे अपनेको सँभाल न सके, विह्वल हो गये, प्रेमके आवेगसे उनका रोम-रोम खिल उठा, नेत्रोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गयी। वे रथसे उतरकर उस धूलिमें लोटने लगे और कहने लगे—'अहो! यह हमारे प्रभुके चरणोंकी रज है।'

१५—भगवान्‌के शरण होनेसे भगवान्‌में प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करता है, सर्वत्र भगवान्‌को देखता है, भगवान्‌की भक्ति करता है, भगवान्‌की आज्ञाका पालन करता है तथा भगवान्‌पर निर्भर हो जाता है, वह भगवान्‌का शरणागत भक्त भगवान्‌में परम प्रेम करके भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९। ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे शरण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

जब भक्त विभीषणने भगवान् श्रीरामकी शरणमें जाकर कहा—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

(सुन्दर० ४५)

—तब भगवान्‌को विभीषणके ये दीन वचन बहुत ही अच्छे लगे और उन्होंने अपनी विशाल भुजाओंसे पकड़कर उनको हृदयसे लगा लिया—

दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा॥

(सुन्दर० ४६। १)

इस प्रकार विभीषण शरणके प्रभावसे भगवान्‌के अनन्य प्रेमी बन गये।

भक्तवर अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके शरण होकर उनसे प्रार्थना की—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

(गीता २। ७)

'कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।'

भगवान्‌के शरण हो जानेसे अर्जुन भगवान्‌के अतिशय प्रिय हो गये, इसीसे भगवान्‌ने उनको अपने हृदयकी सर्वगुह्यतम बात भी बता दी।

राजा बलिने अपने सर्वस्वको और अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण करके भगवान्‌में परम प्रेम प्राप्त कर लिया (श्रीमद्भा० १०। २२)।

१६—दासभावसे भी भगवान्‌में प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। जैसे, श्रीहनुमान्‌जीका भगवान्‌के प्रति दासभाव था। वे भगवान् श्रीरामके चरणोंमें रहकर ही अपना जीवन बिताया करते थे। वे जब आरम्भमें भगवान्‌से मिले, तब उन्होंने भगवान्‌से अपने दैन्ययुक्त सेवाभावको स्पष्ट निवेदन कर दिया—

जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें। सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें॥
नाथ जीव तव मायाँ मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा॥
ता पर मैं रघुबीर दोहाई। जानउँ नहिं कछु भजन उपाई॥

सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥
(किष्किन्धा० ३। १-२)

यों कहकर वे भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़े—

अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई॥
तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥
(किष्किन्धा० ३। ३)

फिर भगवान्‌ने कहा—

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥
समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥
(किष्किन्धा० ३। ४)

श्रीकाकभुशुण्डिजीने तो गरुड़जीसे यहाँतक कह दिया—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥
(उत्तर० ११९ क)

१७—सखाभावसे भी भगवान्‌के परम प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार अर्जुन, उद्धव, गोपबालक और गोपियाँ आदिका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति सखाभाव था एवं सुग्रीव आदिका भगवान् श्रीरामके प्रति सखाभाव था, वैसे सखाभावसे भी मनुष्यका भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है।

१८—हमें जो प्रिय लगता हो, उसे हम भगवान्‌पर सजायें और भगवान्‌को जो प्रिय लगता हो, उसे हम स्वयं धारण करें तो यों करनेसे भी हमारा भगवान्‌में विशेष प्रेम हो सकता है।

संसारके जो-जो पदार्थ हमें प्रिय लगते हैं, जिनके कारण हमारा मन संसारकी ओर जाता है, उन सब पदार्थोंको हमें अलौकिक और दिव्य रूपमें भगवान्‌से सम्बन्धित कर देना चाहिये। भाव यह कि संसारमें जितने भी सुन्दर-सुन्दर बढ़िया वस्त्र हैं, उनसे भी बढ़कर अलौकिक सुन्दर वस्त्र पीताम्बर आदिके रूपमें भगवान्‌पर देखने चाहिये। जितने भी बहुमूल्य रत्न आदि पदार्थ हैं, उनसे बढ़कर दिव्य और अलौकिक रत्नोंको भगवान्‌के आभूषणोंमें देखना चाहिये। पत्र, पुष्प, पुष्पमाला आदि जितने सुगन्धित पदार्थ हैं, उनको भगवान्‌की पूजाकी सामग्रीमें देखना चाहिये। दिव्य और अलौकिक फल, मेवा, मिष्टान्न आदि पदार्थोंको भगवान्‌के नैवेद्यकी सामग्रीमें देखना चाहिये। इसी प्रकार अपने रुचिकर अन्यान्य सभी पदार्थोंको भगवान्‌से सम्बन्धित करके देखना चाहिये, जिससे मन भगवान्‌को छोड़कर अन्यत्र कहीं न जाय। यों श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌को प्रेमास्पद और अपनेको प्रेमी मानकर अपने-आपको उनके चरणोंमें समर्पित कर देना चाहिये। इस प्रकार करनेसे भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध प्रेम उत्पन्न होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

भगवान्‌को कौन-से गुण और आचरण प्रिय हैं, इसे भगवान्‌ने स्वयं गीताके बारहवें अध्यायके १३वेंसे १९वेंतक ७ श्लोकोंमें बतला दिया है। वे कहते हैं कि जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी, हेतुरहित दयालु, ममतारहित, अहंकाररहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है; जो निरन्तर संतुष्ट, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए, दृढ़निश्चयी और मनबुद्धिको मुझमें अर्पण किये रहता है; जिससे कोई भी जीव उद्‌वेगको प्राप्त नहीं होता, जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्‌वेगको प्राप्त नहीं होता; जो हर्ष, अमर्ष, भय, उद्‌वेग आदि विकारोंसे रहित है; जो आकाङ्क्षारहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध, चतुर, पक्षपातशून्य व्यथारहित और सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तृत्वाभिमानसे रहित है; जो प्रिय वस्तुको पाकर न कभी हर्षित होता है और न अप्रियको पाकर द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है; जो शुभाशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है; जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सरदी-गरमी, सुख-दुःख और निन्दा-स्तुतिमें सम है; जो स्त्री, पुत्र, धन आदि सांसारिक पदार्थोंमें आसक्तिसे रहित है तथा देह और घरमें ममता और अभिमानसे रहित है, ऐसा स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।

जो भगवान्‌के मनके अनुकूल इन गुणों और आचरणोंको अपने अनुष्ठानमें लाता है, वह भगवान्‌का अतिशय परम प्रिय हो जाता है।

भगवान्‌ने कहा है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥
(गीता १२। २०)

'जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त तो मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

इसी प्रकार उत्तम गुण और आचरणोंको धारण करनेसे भी भगवान्‌में प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—इसको समझनेके लिये यहाँ एक दृष्टान्त बतलाया जाता है। मान लीजिये, एक जवान कुमारी कन्याके माता-पिताने उसकी सगाई (सम्बन्ध)के लिये किन्हीं ब्राह्मणसे अनुरोध किया कि आप इसका सम्बन्ध किसी अच्छे कुलीन घरके वरके साथ करा दें। ब्राह्मणने सम्बन्ध

करा दिया। तब वरकी ओरसे उस ब्राह्मणके हाथों साड़ी, ओढ़ना, पहननेका कब्जा और हाथ, पैर, गले, वक्षःस्थल और कानपर धारण करनेके आभूषण, चूड़ामणि तथा हाथोंकी चूड़ियाँ आदि कन्याके लिये भिजवायी गयीं। वह कन्या उन सबको धारण करके बहुत प्रसन्न हुई। जब उसकी सहेलियाँ वस्त्र-आभूषणोंकी प्रशंसा करके यह कहतीं कि क्या ये वस्तुएँ तुम्हारे पतिने भेजी हैं, तब यह सुनकर वह लज्जित हो जाती। वह उन वस्त्राभूषणोंका आदर करती और उन्हें सुरक्षित रखती। यह सूचना जब उसके वरको प्राप्त होती, तब वह प्रसन्न होता। अन्तमें वह कन्याके इस बर्तावपर मुग्ध होकर बड़े उत्साहसे विवाहका समय निश्चित करके आया। कन्या वरका दर्शन पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। फिर वह वर उस कन्याके साथ विवाह करके उसे अपने घर ले गया। ससुराल जानेपर कन्याके माता-पिताने फिर उसे अपने यहाँ आनेका आग्रह किया; उनके विशेष आग्रह करनेपर उसके पतिने थोड़े समयके लिये भेज दिया,फिर वापस बुला लिया।

इस दृष्टान्तको हमें अध्यात्म-विषयमें यों घटाना चाहिये—यहाँ शिक्षा देनेवाले गुरुजन ही माता-पिता हैं। साधक मनुष्य कन्या है। भगवत्प्राप्त पुरुष ही सम्बन्ध करानेवाले ब्राह्मण हैं। माधुर्य, दास्य, सख्य आदि सम्बन्ध स्थापन करना ही सगाई है। लोकमर्यादाकी रक्षा अधोवस्त्र (साड़ी) है, शास्त्रमर्यादाकी रक्षा ही उत्तरीयवस्त्र (ओढ़ना) है; शीत-उष्ण, सुख-दुःखको सहना (तितिक्षा) ही पहननेका कब्जा है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' ही दाहिने हाथकी चूड़ियाँ हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच 'नियम' ही बायें हाथकी चूड़ियाँ हैं। पैरोंसे सत्सङ्ग, तीर्थ, देवदर्शन आदिके लिये यात्रा करना ही पैरोंके आभूषण हैं। यज्ञ, दान, सेवा-शुश्रूषा, पूजा, परोपकार करना ही हाथोंके आभूषण हैं। गीता, रामायण, भागवत आदि भक्तिभावपूर्ण ग्रन्थोंको अर्थ और भावसहित कण्ठस्थ करना ही कण्ठका आभूषण है; क्षमा, दया, समता, शान्ति, सरलता, निष्कामता, ज्ञान, वैराग्य, प्रेम आदि हृदयके उत्तम भाव ही वक्षःस्थलपर धारण किये जानेवाले चन्द्रहार, रत्नोंकी माला आदि आभूषण हैं। भगवान्‌के दिव्य नाम-गुण-सौन्दर्य-माधुर्य-लीला-चरितादिकी और अपनी अपकीर्ति, निन्दा, दुर्वचन और अवगुणोंकी बात सुनकर प्रसन्न होना ही कानोंके आभूषण हैं। विनयपूर्वक भगवद्भावसे सबके चरणोंमें नमस्कार करना ही सिरका आभूषण-चूड़ामणि है। लोगोंसे अपने गुणों और आचरणोंकी प्रशंसा सुनकर लज्जित होना ही सहेलियोंके द्वारा वस्त्राभूषणोंकी प्रशंसा सुनकर लज्जित होना है। सद्‌गुण, सत्-आचरण और भक्तिको प्रसन्नता और उत्साहपूर्वक सदा धारण किये रहना ही वस्त्राभूषणोंका आदर करना और उन्हें सुरक्षित रखना है। उत्तम गुण-आचरणोंको देखकर भगवान्‌की प्रसन्नता और प्रेमकी प्राप्ति होना ही पतिकी प्रसन्नता और प्रेमकी प्राप्ति है। साधकको भगवान्‌का प्रत्यक्ष आकर दर्शन देना ही पतिका आकर विवाह करना है। भगवान्‌का परमधाम ही ससुराल है। भगवान्‌की आज्ञासे भगवान्‌का अधिकार पाकर भक्तका संसारके उद्धारके लिये संसारमें आकर भक्तिका प्रचार करना ही नैहर (पीहर) में आना है। पुनः भगवान्‌के परमधाममें जाना ही ससुरालमें जाकर निवास करना है।

इस दृष्टान्तसे यह शिक्षा मिलती है कि हमें भगवान्‌का प्रिय बननेके लिये उपर्युक्त सद्‌गुण, सदाचार और ईश्वरकी भक्तिको आदर-सत्कारपूर्वक धारण करना चाहिये। इनको धारण करनेसे भगवान्‌में परम प्रेम होकर हमें भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

ऊपर विशुद्ध अनन्य प्रेमकी उत्पत्ति और वृद्धिके लिये बहुत-से उपाय बताये गये हैं। इनमेंसे किसी एकको भी मनुष्य धारण कर ले तो उससे प्रेमकी उत्पत्ति और वृद्धि हो जाती है। फिर उसकी दशा विचित्र हो जाती है।

श्रीसुन्दरदासजीने कहा है—

प्रेम लग्यौ परमेस्वर सों तब भूलि गयौ सिगरौ घरबारा।
ज्यौं उन्मत्त फिरै जित ही तित, नैक रही न सरीर सँभारा॥
स्वास उसास उठै सब रोम,चलै दृग नीर अखंडित धारा।
सुंदर कौन करै नवधा बिधि, छाकि पर्‌यो रस पी मतवारा॥

ऐसे प्रेमीको भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन शीघ्र हो जाता है। जिसे भगवान्‌का साक्षात् दर्शन हो जाता है, वह प्रेम और आनन्दमें ऐसा मुग्ध हो जाता है कि फिर उसे एक भगवान्‌के सिवा अन्य किसीकी तो बात ही क्या, अपना ज्ञान भी नहीं रहता।

ऐसा प्रेमी भक्त दास्य-वात्सल्यादि समस्त भावोंसे ऊपर उठ जाता है। वहाँ केवल एक विशुद्ध प्रेम ही रहता है। उस भक्तकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌को आह्लादित करनेके लिये ही होती हैं। सारे संसारको आह्लादित करते हैं भगवान् और भगवान्‌को आह्लादित करता है वह प्रेमी भक्त। जैसे प्रेममयी श्रीराधिकाजी, जो भगवान्‌की आह्लादिनी शक्ति हैं, भगवान् श्रीकृष्णको आह्लादित करती रहती हैं, वैसे ही वह भक्त भगवान्‌को आह्लादित करता रहता है। उस समय भगवान्‌की भी सारी चेष्टाएँ भक्तको आह्लादित

करनेके लिये हुआ करती हैं। यह दिव्य अलौकिक विशुद्ध अनन्य प्रेमका स्वरूप है। इसमें प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमी एकरूप ही हो जाते हैं। यह है दिव्यगुणसम्पन्न सगुण भगवान्‌के स्वरूपकी प्राप्ति।

मानवताके पूर्ण आदर्श मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने मनुष्यके रूपमें प्रकट होकर मनुष्यको क्या करना चाहिये, इसके लिये अपना बहुत ही सुन्दर आदर्श उपस्थित किया है। भगवान् श्रीरामके चरित्र, गुण और उपदेश अक्षरशः काममें लाने योग्य हैं। श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं और वे जिस-जिस बातको प्रमाणित कर देते हैं, उसके अनुसार ही सब लोग चलते हैं*—इस बातको भगवान् श्रीरामने अपने अवतारकालके जीवनमें चरितार्थ करके दिखा दिया। भगवान् श्रीरामके स्वरूप, गुण, प्रभाव और आचरणोंका वर्णन करते हुए महर्षि मार्कण्डेयजीने महाराज युधिष्ठिरसे कहा है—भगवान् श्रीराम समस्त धर्मोंके पारंगत विद्वान् और बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् थे। सम्पूर्ण प्रजाका उनमें अनुराग था। वे सभी विद्याओंमें प्रवीण और जितेन्द्रिय थे। उनका अद्भुत रूप देखकर शत्रुओंके भी नेत्र और मन लुभा जाते थे। वे दुष्टोंका दमन करनेमें समर्थ, धर्मात्मा पुरुषोंके संरक्षक, धैर्यवान्, दुर्धर्ष, विजयी तथा किसीसे भी परास्त न होनेवाले थे।†

भगवान् श्रीराम माता-पिता-गुरुजनोंके सेवक, शरणागतरक्षक एवं दया, प्रेम, क्षमा, समता, संतोष, शान्ति आदि अनेक गुणोंसे परिपूर्ण थे। उनका चरित्र बड़ा ही अद्भुत और अलौकिक है, जिसका वर्णन विस्तारसे वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्मरामायण और तुलसीकृत मानस आदिमें भरा हुआ है। संक्षेपमें श्रीपद्मपुराण, पातालखण्डके पहलेसे ६९वें अध्यायतक और महाभारत वनपर्वके २७७ वेंसे २९१ वें अध्यायतकमें भी श्रीरामचरित्रका बहुत ही सुन्दर वर्णन है। इन ग्रन्थोंमें भगवान् श्रीरामके चरित्रके विषयमें कई कथाभेद भी प्राप्त हैं; किन्तु इसके लिये विद्वान् लोग यह कहा करते हैं कि ये सभी बातें ठीक हैं। बहुत-से त्रेतायुग हो चुके हैं, उनमें बहुत बार भगवान् श्रीरामके अवतार हो चुके हैं। इस कारण तथा कल्पभेदके कारण भी चरित्रोंमें कुछ भिन्नताएँ मिलती हैं। हमलोगोंको सभी चरित्रोंको ऐतिहासिक यथार्थ घटनाएँ समझकर उनका अनुकरण करना चाहिये।

भगवान् श्रीरामके गुण और आचरण परम आदर्श हैं। उनके प्रत्येक आचरणमें नीति और धर्ममय शिक्षा भरी हुई है। हमें उनपर ध्यान देकर उनको अपने आचरणमें लाना चाहिये।

भगवान् श्रीरामका अपने भाइयोंके साथ बहुत ही प्रेमपूर्ण भ्रातृत्वका व्यवहार था। विशेषकर श्रीभरतके प्रति तो भगवान्‌का बहुत ही उत्तम प्रेमका बर्ताव था। श्रीभरद्वाजजीने भरतसे कहा है—

सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। पेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं॥
लखन राम सीतहि अति प्रीती। निसि सब तुम्हहि सराहत बीती॥
तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २०८। २,४)

श्रीलक्ष्मणके साथ भी भगवान्‌का बहुत ही नीतियुक्त और प्रेमपूर्ण व्यवहार था। श्रीलक्ष्मणने जब यह सुना कि भगवान् रामको वनवास दिया जा रहा है, तब वे बड़े ही रोषमें भर गये और श्रीरामसे बोले—'रघुनन्दन ! आप मेरी सहायतासे राज्यको अपने अधिकारमें कर लें। जब मैं धनुष लिये आपके पास रहकर आपकी रक्षा करूँगा, तब उस समय ऐसा कौन है जो आपसे बढ़कर पौरुष दिखानेका साहस कर सके। यदि नगरके लोग विरोधमें खड़े होंगे तो मैं अपने तीखे बाणोंसे सारी अयोध्याको मनुष्योंसे सूनी कर दूँगा। जो-जो भरतका पक्ष लेंगे, उन सबको मैं मार डालूँगा। राजा किस बलपर आपको न्यायतः प्राप्त यह राज्य कैकेयीको देना चाहते हैं ? यदि पिताजी कैकेयीके प्रोत्साहन देनेपर उसपर संतुष्ट हो हमारे साथ ऐसा शत्रुका-सा बर्ताव करें तथा यदि गुरु भी अभिमानमें आकर कार्य-अकार्यका विचार न करके कुमार्गपर चलें तो उन्हें भी दण्ड देना चाहिये।'

इतना ही नहीं, आगे वे और भी कहते हैं—'आप

* यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ (महा० भीष्म० २७। २१)

† पारगं सर्वधर्माणां बृहस्पतिसमं मतौ॥
सर्वानुरक्तप्रकृतिं सर्वविद्याविशारदम्। जितेन्द्रियममित्राणामपि दृष्टिमनोहरम्॥
नियन्तारमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणाम्। धृतिमन्तमनाधृष्यं जेतारमपराजितम्॥ (महा० वन० २७७। १०—१२)

जो राज्याभिषेक न होनेमें दैवकी प्रेरणा मानते हैं, यह मुझे अच्छा नहीं लगता। दैवका आश्रय तो वही लेता है, जो कायर होता है। समर्थ पुरुष दैवका आश्रय नहीं लेते। आज संसारके लोग देखेंगे कि दैवकी शक्ति बड़ी है या पुरुषका पुरुषार्थ। लोग आज मेरे पुरुषार्थसे दैवको परास्त होता देखेंगे। तीनों लोकोंके प्राणी मिलकर भी आज आपके राज्याभिषेकको नहीं रोक सकते, फिर पिताजीकी तो बात ही क्या है। आप अपना राज्याभिषेक होने दीजिये। मैं अकेला ही समस्त विरोधी राजाओंका बलपूर्वक निवारण करनेमें समर्थ हूँ। मेरी ये भुजाएँ शोभाके लिये नहीं हैं, यह धनुष आभूषणके लिये नहीं है, यह तलवार केवल बँधी रहनेके लिये नहीं है और ये बाण खंभे बनानेके लिये नहीं हैं। ये सब शत्रुओंका दमन करनेके लिये ही हैं। जिस किसी उपायसे यह सारी पृथ्वी आपके अधिकारमें आ जाय, उसके लिये मुझे आज्ञा दीजिये।'

श्रीलक्ष्मणजीके वीरताभरे वचन सुनकर भगवान् श्रीरामने उन्हें प्रेमसे समझाते हुए कहा—'लक्ष्मण! मैं जानता हूँ, तुम सदा ही मुझमें भक्ति रखते हो। तुम्हारा पराक्रम भी मुझे अज्ञात नहीं है; किंतु मनुष्यको ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, जिससे केवल अर्थ और कामकी ही सिद्धि हो, धर्म और मोक्षका समावेश न हो। जिससे धर्मकी सिद्धि हो, वही कार्य करना उचित है। महाराज हमलोगोंके गुरु, राजा और पिता होनेके साथ ही वृद्ध भी हैं। अतः वे क्रोधसे, हर्षसे अथवा कामनावश भी यदि किसी बातके लिये आज्ञा दें तो धर्म समझकर उसका पालन करना चाहिये। इसलिये मैं पिताकी इस प्रतिज्ञाका यथावत् पालन करनेसे मुँह नहीं मोड़ सकता। मुझे तो तुम माता-पिताकी आज्ञामें ही स्थित समझो। यही सत्पुरुषोंका मार्ग है।' इस प्रकार भगवान् श्रीरामने बड़े ही प्रेम और शान्तिपूर्ण ढंगसे उन्हें समझाया। तब श्रीलक्ष्मणने सोचा कि इनकी इच्छा वन जानेकी ही है, अतः उन्होंने साथ चलनेका आग्रह किया और अनुनय-विनय करके साथ चले गये।

(वा० रा० अयोध्या० सर्ग २१ से २३)

श्रीशत्रुघ्नके साथ भी भगवान् श्रीरामका बहुत ही प्रेमका बर्ताव रहा। जब श्रीभरत भगवान् श्रीरामको वनसे लौटा लानेके लिये गये, तब श्रीशत्रुघ्न भी उनके साथ गये। श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन्।
तावुभौ च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत्॥

(वा० रा० अयोध्या० ९९। ४०)

'श्रीभरतके साथ श्रीशत्रुघ्न भी रोते हुए गये और उन्होंने श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम किया। भगवान् श्रीराम उन दोनों भाइयोंको छातीसे लगाकर रोने लगे।'

जब पादुका देकर भगवान् श्रीराम श्रीभरतको लौटा रहे हैं, उस समय श्रीशत्रुघ्नके मनमें माता कैकेयीके प्रति कुछ रोषका भाव जानकर वात्सल्यके कारण श्रीशत्रुघ्नको शिक्षा देते हुए कहते हैं—

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति।
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन॥

(वा० रा० अयोध्या० ११२। २७-२८)

'रघुनन्दन शत्रुघ्न! तुम्हें मेरी और सीताकी शपथ है, तुम माता कैकेयीके प्रति कुछ भी क्रोध न करके उनकी रक्षा करते रहना।' इतना कहते-कहते भगवान्‌की आँखें प्रेमाश्रुओंसे भर गयीं। इससे पता लगता है कि श्रीरामका श्रीशत्रुघ्नके प्रति भी कितना प्रेम था।

जब परमधाम जानेका समय आया, तब पता लगते ही श्रीशत्रुघ्न अपने पुत्रोंको मधुपुरी (मथुरा) का राज्य सौंप कर दौड़े हुए श्रीरामके पास आये और उनके चरणोंमें प्रणाम करके कहने लगे—'रघुनन्दन! मैं दोनों पुत्रोंको राज्य सौंपकर आपके साथ जानेका निश्चय करके आया हूँ। अतः आप कृपा करके मुझे न तो दूसरी बात कहें और न दूसरी आज्ञा ही दें; क्योंकि विशेषकर मुझ-जैसे पुरुषद्वारा आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं होना चाहिये।'

इसपर भगवान् श्रीरामने उनके संतोषके लिये उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

(वा० रा० उत्तर० १०८। ७—१६)

भगवान् श्रीराम बाल्यावस्थासे ही अपने तीनों भाइयोंके साथ अत्यधिक प्रेम करते थे। सदा उनकी रक्षा करते और उन्हें प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते थे। खेल-कूदमें भी कभी उनको दुःखी नहीं होने देते थे—यहाँतक कि अपनी जीतमें भी उन्हें प्रसन्न करनेके लिये हार मान लेते थे और प्रेमसे पुचकार-पुचकारकर दाँव दिया करते थे। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥

(विनय० १००)

श्रीभरतने तो स्वयं इसे स्वीकार किया है—

मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २६०। ४)

जब भगवान् श्रीरामने अपने राज्याभिषेककी बात

सुनी, तब उन्हें प्रसन्नताके स्थानमें पश्चात्ताप हुआ और वे कहने लगे—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

(रा० च० मा० अयोध्या० १०। ३-४)

भगवान् श्रीरामको भाइयोंको छोड़कर अपना राज्याभिषेक भी पसंद नहीं आया। कैसा अनूठा भातृ-प्रेम है!

भगवान् श्रीरामकी वीरता और पराक्रम भी अद्भुत और अलौकिक थे। उन्होंने ताड़का, सुबाहु, विराध, खर, दूषण, त्रिशिरा और रावण आदि राक्षसोंका विनाश करनेमें बड़ा ही पराक्रम दिखाया था। इसके सिवा, जब वे विवाह करके मिथिलापुरीसे अयोध्या लौट रहे थे, तब मार्गमें श्रीपरशुरामजी फरसा और भयंकर धनुष-बाण लिये आये और उनसे बोले—'राम ! सुना जाता है, तुम्हारा पराक्रम अद्भुत है। तुमने जो धनुष तोड़ा है वह तुम्हारा कार्य भी अद्भुत और अचिन्त्य है। मैं एक दूसरा विशाल और भयंकर धनुष लाया हूँ। यदि तुम इसके ऊपर बाण चढ़ाओ तो मैं तुम्हारा पराक्रम समझूँ। तुम्हारा बल समझकर फिर मैं तुमसे द्वन्द्व-युद्ध करूँगा।' भगवान् श्रीराम पिता श्रीदशरथजीके गौरवका विचार करके संकोचवश कुछ बोल नहीं रहे थे, किंतु परशुरामजीकी ललकार सुनकर मौन न रह सके। उन्होंने कहा—'भृगुनन्दन! मैं क्षत्रियधर्मसे युक्त हूँ, तो भी आप मुझे पराक्रमहीन और असमर्थ मानकर मेरे तेजका तिरस्कार कर रहे हैं। अब मेरा पराक्रम देखिये।' यों कहकर उन्होंने परशुरामजीके हाथसे वैष्णव धनुष ले लिया और तुरंत उसपर बाणका संधान कर दिया। उस बाणसे परशुरामजीके तपोबलसे प्राप्त हुए पुण्यलोक नष्ट हो गये। यह दृश्य अपनी आँखों देखकर परशुरामजी महेन्द्रपर्वतपर चले गये।

(वा० रा० बाल० सर्ग ७४ से ७६)

वन-गमनके समय माता कैकेयीने श्रीरामसे सारी घटनाका विवरण बतलाते हुए कहा—'राजा इस धर्मसंकटमें पड़ गये हैं कि एक ओर तो उनका तुम्हारे प्रति स्नेह है और दूसरी ओर अपनी की हुई प्रतिज्ञा है। अतः यदि तुम कर सको तो राजाकी आज्ञा शिरोधार्य करके इनको इस कठिन क्लेशसे बचाओ।' इसका भगवान् श्रीराम कितनी सरलतासे उत्तर देते हैं—'इसमें तो मेरा सब प्रकारसे हित-ही-हित भरा है। वनमें जानेके लिये पिताजीकी आज्ञा और आपकी सम्मति है तथा वनमें जानेसे मुनियोंके दर्शन और प्राणप्यारे भाई भरतको राज्यकी प्राप्ति हो, ऐसे अवसरपर भी मैं वनमें न जाऊँ तो मैं मूर्खोंमें सबसे बढ़कर पहली श्रेणीका मूर्ख समझा जाऊँगा।' श्रीरामचरितमानसमें भगवान्के वचन हैं—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ४१, ४२। १)

यहाँ श्रीरामका कितना उच्चकोटिका स्वार्थत्यागपूर्ण सेवा, प्रेम और विनययुक्त आदर्श व्यवहार है। इतना ही नहीं, उन्होंने यहाँतक कह दिया—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे॥

(वा० रा० अयोध्या० १८। २८-२९)

'मैं महाराज पिताजीकी आज्ञासे तो आगमें भी प्रवेश कर सकता हूँ, तीक्ष्ण विष भी खा सकता हूँ और समुद्रमें भी कूद सकता हूँ।'

पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये श्रीरामके मनमें कितना उत्साह, साहस और दृढ़ता है!

यद्यपि महाराज दशरथजीने वन-गमनके लिये अपने मुखसे श्रीरामको कुछ नहीं कहा था; फिर भी वे रानी कैकेयीके माँगनेपर वरदानमें श्रीभरतको राजगद्दी और श्रीरामको चौदह वर्षका वनवास देना स्वीकार कर चुके थे। इसी कारण भगवान् श्रीराम माता कैकेयीकी बात मानकर, माता कौसल्याके मना करनेपर भी बड़ी प्रसन्नताके साथ वन चले गये।

वन जाते समय उनसे माता कौसल्याने कहा—'पिताने तुमको वन जानेकी आज्ञा दी है अवश्य; किंतु गौरवकी दृष्टिसे जैसे राजा तुम्हारे पूज्य हैं, उसी प्रकार मैं भी हूँ। मैं तुम्हें मना करती हूँ, इसलिये तुम वनमें मत जाओ।' यही नहीं, उन्होंने तो यहाँतक कह दिया— 'यदि तुम मुझे छोड़कर वनमें चले जाओगे तो मैं उपवास करके प्राणोंका त्याग कर दूँगी।' इसके उत्तरमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—'माता! मैं आपको सिर नवाकर आपसे क्षमा माँगता हूँ, मुझमें पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी शक्ति नहीं है; अतः मैं वनको ही जाना चाहता हूँ'—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम्॥

(वा० रा० अयोध्या० २१। ३०)

'इसके सिवा हमारे कुलमें भी पहले राजा सगरके

पुत्र ऐसे हो गये हैं कि जो पिताकी आज्ञासे पृथ्वी खोदते हुए मृत्युको प्राप्त हो गये, एवं जमदग्निनन्दन परशुरामजीने तो पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये अपनी माताका भी वध कर दिया था। अतः मैं भी पिताजीकी आज्ञाका ही पालन करूँगा।'

माता कौसल्या धर्मशास्त्रके अनुसार 'पितासे भी माताकी आज्ञा अधिक माननीय है' इसलिये तो श्रीरामको यदि केवल पिताकी ही आज्ञा हो तो वन न जानेके लिये कह रही हैं; किंतु यदि पिता दशरथ और माता कैकेयी—दोनोंकी आज्ञा हो तो वन जानेके लिये सम्मति दे देती हैं—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ५६। १)

माता कौसल्याके साथ भगवान् श्रीरामके उपर्युक्त व्यवहारमें नीति, धर्म, स्वार्थ-त्याग और पितृ-आज्ञा-पालनकी दृढ़ताका कितना अनुपम भाव भरा है!

माता कैकेयीने जब वन-गमनके समय भगवान् श्रीराम और श्रीलक्ष्मणको वल्कल वस्त्र पहननेके लिये दिये, तब उन्होंने उनको बड़ी प्रसन्नतापूर्वक धारण किया। तथा जब कैकेयीने सीताको वल्कल-वस्त्र पहननेके लिये दिये, तब सीता लज्जित-सी होकर श्रीरामसे बोलीं—'नाथ! वनवासी मुनिलोग चीर कैसे पहना करते हैं?' सीता चीर पहनना नहीं जानती थीं, अतः भगवान् श्रीरामने वस्त्रोंको अपने हाथमें ले लिया और आपत्तिका समय समझकर लज्जारहित हो सीताको वल्कल-वस्त्र पहनाने लगे। यह दृश्य देखकर प्रजाके लोग दुःखी हो रोने लगे। गुरु वसिष्ठजीके भी नेत्रोंमें आँसू भर आये। उन्होंने कैकेयीको फटकारते हुए कहा—'मूर्खा कैकेयी! यह तू धर्ममर्यादाका उल्लङ्घन कर रही है। तूने अकेले रामके ही वनवासका वर माँगा है। वर माँगते समय तूने सीताकी कोई चर्चा नहीं की है। इसलिये यह राजकुमारी वस्त्राभूषणोंसे विभूषित होकर ही रामके साथ वनको जाय।' यह बात सुनकर राजा दशरथने कैकेयीसे कहा—'गुरुजी ठीक कहते हैं। सीता तो वनमें जानेके ही योग्य नहीं है। मैंने इसे किसी भी रूपमें वन भेजनेकी प्रतिज्ञा नहीं की है, किंतु यदि यह जाती है तो यह अपने चीर-वस्त्र उतारकर वस्त्राभूषणोंके साथ सुखपूर्वक जा सकती है।'

(वा० रा० अयोध्या० सर्ग ३७)

यहाँ भगवान् श्रीरामने आवश्यकताके समय लज्जा न करके कर्तव्य-पालन करनेका बड़ा सुन्दर आदर्श व्यवहार किया है।

जब श्रीभरतने ननिहालसे लौटकर इस बातको जाना कि माता कैकेयीने भगवान् श्रीरामको वनवास देकर बड़ा अनर्थ किया है और इसी कारण पिताजीकी मृत्यु हो गयी है, तब दुःखित हो उन्होंने माता कैकेयीसे कहा—'श्रीरामचन्द्रजी बड़े ही धर्मात्मा हैं; गुरुजनोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इसे वे अच्छी तरह जानते हैं। इसलिये उनका जैसा अपनी माताके प्रति बर्ताव था, वैसा ही उत्तम व्यवहार वे तेरे साथ भी करते थे। उन महापुरुष श्रीरामचन्द्रजीको तूने चीर और वल्कल पहनाकर वनमें भेज दिया। तूने राज्यके लोभमें पड़कर बड़ा ही अनर्थ कर डाला। तेरा विचार बड़ा ही पापपूर्ण है। मैं तेरी इच्छा कदापि पूर्ण नहीं करूँगा।' इस प्रकार उन्होंने उस समय मातासे बहुत-सी कठोर बातें कहीं (वा० रा० अयोध्या० सर्ग ७३-७४)। श्रीभरतके इस कथनसे भगवान् श्रीरामके सद्व्यवहारके सम्बन्धमें उनकी कितनी आस्था व्यक्त होती है। इन वचनोंको सुनकर तो कैकेयीका मन भी बदल गया। वे जब श्रीभरतके साथ वनमें श्रीरामके पास गयीं, तब उन्होंने अपने अपराधके लिये क्षमा-प्रार्थना की—'राम! मायासे मुग्धचित्त हो जानेके कारण मुझ कुबुद्धिने तुम्हारे राज्याभिषेकमें विघ्न डाल दिया। तुम मेरी इस कुटिलताको क्षमा करो; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष सदा क्षमाशील ही होते हैं।' इसपर भगवान् श्रीरामने कहा—'महाभागे! मेरी प्रेरणासे ही देवताओंकी कार्य-सिद्धिके लिये तुम्हारे मुखसे वे शब्द निकले थे। इसमें तुम्हारा क्या दोष है। तुम जाओ, रात-दिन निरन्तर हृदयमें मेरा ही चिन्तन करनेसे तुम सर्वत्र स्नेहरहित होकर मेरी भक्तिद्वारा शीघ्र ही मुक्त हो जाओगी।'

(अध्यात्मरामा० अयोध्या० सर्ग ९)

भगवान् श्रीराम कैकेयीके अपराधको ही नहीं मानते और उसे मुक्तिका वर देते हैं। कितना उत्तम क्षमाभाव है!

यही नहीं, जब श्रीराम वनको जाने लगे, उस समय जबतक उनके रथकी धूलि दिखायी देती रही, तबतक श्रीदशरथजी उनकी ओर ही देखते रहे। जब धूलिका दिखायी देना बंद हो गया, तब वे अत्यन्त शोकार्त होकर गिर पड़े। उस समय उन्हें सहारा देनेके लिये रानी कौसल्या उनकी दाहिनी बाँहके पास और कैकेयी उनकी बायीं ओर जा पहुँचीं। कैकेयीको देखते ही राजाने कहा—'कैकेयी! तेरे विचार पापपूर्ण हैं। मैं तुझे देखना नहीं चाहता। तूने अर्थलोलुप होकर धर्मका त्याग किया है, अतएव मैं तेरा परित्याग करता हूँ। तेरा पुत्र भरत भी यदि

निष्कण्टक राज्यको पाकर प्रसन्न हो तो वह मेरे लिये श्राद्धमें जो पिण्ड या जल आदि दान करे, वह मुझे प्राप्त न हो' (वा० रा० अयोध्या० ४२। ६—९)। किंतु जब रावण-वधके अनन्तर श्रीदशरथजी विमानपर स्थित हुए वहाँ श्रीरामके पास आये और उन्होंने कैकेयीकी बातोंको स्मरण करके दुःख प्रकट किया एवं श्रीरामको अयोध्यामें जाकर भरतसे मिलने और राज्यपर प्रतिष्ठित होनेके लिये कहा, तब श्रीरामने उनसे हाथ जोड़कर यही प्रार्थना की—'धर्मज्ञ! आप कैकेयी और भरतपर प्रसन्न हों। प्रभो! आपने जो कैकेयीसे कहा था कि 'मैं पुत्रके सहित तेरा त्याग करता हूँ, आपका यह घोर शाप पुत्रसहित कैकेयीको स्पर्श न करे* अर्थात् उसे आप लौटा लें।' माता कौसल्याके महलमें जब श्रीलक्ष्मणने माता कैकेयीके विषयमें आक्षेपपूर्ण वचन कहे, तब भगवान् श्रीराम उनसे कहते हैं—

यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यते।
माता नः सा यथा न स्यात् सविशङ्का तथा कुरु॥
तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम्॥
न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन।
मातॄणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम्॥

(वा० रा० अयोध्या० २२। ६—८)

'लक्ष्मण! मेरे राज्याभिषेक (की सम्भावना) के कारण जिसके चित्तमें संताप हो रहा है, उस हमारी माता कैकेयीको जिससे मेरे ऊपर किसी तरहका संदेह न हो,वही काम करो। उसके मनमें संदेहके कारण उत्पन्न हुए दुःखकी मैं एक मुहूर्तके लिये भी उपेक्षा नहीं कर सकता। मैंने कभी जान-बूझकर या अनजानमें माताओं या पिताजीका कभी थोड़ा भी अप्रिय कार्य किया हो, ऐसा याद नहीं पड़ता।'

अपने प्रति कठोर-से-कठोर व्यवहार करनेवाली माता कैकेयीके प्रति भी भगवान् श्रीरामका कितना सम्मान और पूज्य भाव है!

वनमें जाते समय भगवान् श्रीरामने सीता और लक्ष्मणको अपने आरामके लिये साथ नहीं लिया, बल्कि उन्होंने तो उनसे घरपर रहकर माता-पिताकी सेवा करनेके लिये ही कहा।

जब भगवान् श्रीरामने वनके भयंकर कष्ट दिखाकर सीताको अयोध्या रहनेका संकेत किया, तब सीताने कहा— 'बाल्यावस्थामें एक ज्यौतिष-शास्त्रविशारद विप्रवरने मुझे देखकर यह कहा था कि 'तू अपने पतिके साथ वनमें रहेगी।'

तो उन ब्राह्मण महोदयका वचन सत्य हो, मैं अवश्य आपके साथ वनमें चलूँगी तथा एक बात यह भी है कि आपने बहुत-से ब्राह्मणोंके मुखसे बहुत-सी रामायणें सुनी हैं, इनमेंसे किसीमें भी क्या सीताके बिना रामजी वनको गये हैं? अतः मैं सर्वथा आपके मार्गमें सहायक होकर आपके साथ चलूँगी। यदि आप मुझे छोड़कर चले जायँगे तो मैं अभी आपके सामने ही अपने प्राण छोड़ दूँगी।'

(अ० रा० अयोध्या० सर्ग ४)

जब भगवान् श्रीराम किसी प्रकार भी नहीं माने, तब सीताजीने उन्हें यहाँतक कह दिया—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ६७)

इस प्रकार कहती हुई जब वे भगवान्‌के मुखसे वियोगकी बात सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो गयीं, तब उनकी यह दशा देखकर श्रीरामने हृदयमें जान लिया कि इनको हठपूर्वक रखा जायगा तो ये प्राणोंको नहीं रखेंगी। यह सोचकर वे उनको उनके संतोष और सुखके लिये ही वनमें अपने साथ ले गये।

इसी प्रकार श्रीलक्ष्मणके विषयमें भी समझना चाहिये। श्रीलक्ष्मणसे भगवान् श्रीरामने कहा—'भैया! भरत और शत्रुघ्न घरपर नहीं हैं, महाराज वृद्ध हैं और उनके मनमें मेरे लिये दुःख है। इस अवस्थामें मैं तुमको साथ लेकर वनमें जाऊँ तो अयोध्या सब प्रकारसे अनाथ हो जायगी। गुरु, पिता, माता, प्रजा और परिवार—सभीपर दुःसह दुःख आ पड़ेगा। अतः तुम यहीं रहकर माता-पिताकी सेवा करो और सबका संतोष करते रहो; क्योंकि जिसके राज्यमें प्रजा दुःखी रहती है, वह राजा अवश्य नरकका अधिकारी होता है।' भगवान्‌के इन नीति और धर्मसे युक्त वचनोंको सुनकर श्रीलक्ष्मण बोले—'स्वामिन्! आपने जो कुछ मुझे कहा है, वह ठीक है; इसमें मुझे आपका कोई दोष नहीं दीखता, मेरी कायरता ही इसमें हेतु है; किंतु मैं तो आपके स्नेहमें पला हुआ हूँ, मेरे तो सब कुछ केवल आप ही हैं। धर्म और नीतिका उपदेश तो उसको देना चाहिये, जो संसारमें कीर्ति, ऐश्वर्य और सद्गति चाहता

* कुरु प्रसादं धर्मज्ञ कैकेय्या भरतस्य च॥
सपुत्रां त्वां त्यजामीति यदुक्ता केकयी त्वया। स शापः केकयीं घोरः सपुत्रां न स्पृशेत् प्रभो॥ (वा० रा० युद्ध० ११९। २५-२६)

हो; किंतु जो मन, वचन और कर्मसे चरणोंमें प्रेम रखता हो, क्या वह भी त्याग करने योग्य है?'

(रा० च० मा० अयोध्या० ७०-७१)

इस प्रकार श्रीलक्ष्मणने वनमें साथ चलनेके लिये श्रद्धा-प्रेमपूर्वक बहुत ही आग्रह किया और कहा—'मैं आपकी सेवा करनेके लिये आपके पीछे-पीछे चलूँगा। आप इसके लिये आज्ञा दीजिये। प्रभो! आप मुझपर कृपा कीजिये, नहीं तो मैं प्राण त्याग दूँगा।' (अ० रा० अयोध्या० ४। ५०—५२)

इसपर भगवान्‌ने यह समझकर कि मेरे वियोगमें लक्ष्मण प्राण नहीं रखेगा, उसके सुख और संतोषके लिये उसे माता सुमित्रासे आज्ञा लेकर साथ चलनेकी अनुमति दे दी।

भगवान् श्रीरामको भाइयोंके सुख-संतोषके लिये ही राज्य आदि अभीष्ट था, अपने लिये नहीं। जब श्रीभरत मन्त्री, गुरुजन, माताओं और सेनाके सहित चित्रकूट गये, तब श्रीभरतके सेनासहित चित्रकूट आनेका समाचार सुनकर श्रीलक्ष्मण क्षुब्ध होकर श्रीभरतके प्रति न कहने योग्य शब्द कह बैठे। श्रीरामने श्रीभरतकी प्रशंसा करते हुए कहा—

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
इच्छामि भवतामर्थे एतत् प्रतिशृणोमि ते॥
भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे॥

(वा० रा० अयोध्या० ९७। ५-६)

'लक्ष्मण! मैं सचाईसे अपने आयुधकी शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं धर्म, अर्थ, काम और सारी पृथ्वी—सब कुछ तुम्हीं लोगोंके लिये चाहता हूँ। लक्ष्मण! मैं राज्यको भी भाइयोंकी भोग्य-सामग्री समझकर उनके सुखके लिये ही चाहता हूँ।'

यह बात आगे जाकर श्रीभरत और श्रीरामके परस्पर वार्तालाप और व्यवहारसे बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। जब श्रीभरतने बड़े ही विनयसे भगवान् श्रीरामसे अयोध्या चलने और राजतिलक करानेकी प्रार्थना की, तब वहाँ श्रीभरतके प्रेममय वचनोंको सुनकर गुरु वसिष्ठजीके हृदयमें प्रेम उमड़ आया और उन्होंने कहा—

तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहिं लखन सीय रघुराई॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २५६। २)

इसपर श्रीभरत और श्रीशत्रुघ्न बड़े ही प्रसन्न हुए—

सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता। भे प्रमोद परिपूरन गाता॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २५६। २)

और श्रीभरत प्रेममग्न हुए बोल उठे—

कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू॥
अंतरजामी रामु सिय तुम्ह सरबग्य सुजान।
जौं फुर कहहु त नाथ निज कीजिअ बचनु प्रवान॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २५६। ४,२५६)

इसपर भगवान् श्रीराम भरतसे अपना असमञ्जस प्रकट करते हुए कहते हैं—

राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी॥
तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥
मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।

(रा० च० मा० अयोध्या० २६४। ३-४, २६४)

इस प्रकार भगवान् श्रीरामने भरतके ऊपर ही सब भार छोड़ दिया। अपने प्रेमी भ्राता भरतके प्रति कैसा उत्तम, सरलतापूर्ण बर्ताव है! श्रीभरतने अपनी बात विनयपूर्वक फिर भी निवेदन की—

तिलक समाजु साजि सबु आना। करिअ सुफल प्रभु जौं मनु माना॥
सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ॥
नतरु जाहिं बन तीनिउ भाई। बहुरिअ सीय सहित रघुराई॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २६८। ४, २६८,२६९। १)

परंतु साथ ही यह भी कह देते हैं—

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २६९)

इसके उत्तरमें अन्तमें भगवान् रामने गुरुजनोंको आदर देते हुए यही कहा—

मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनिकुल पालक होहू॥

× × ×

सो बिचारि सहि संकटु भारी। करहु प्रजा परिवारु सुखारी॥

× × ×

जानि तुम्हहि मृदु कहउँ कठोरा। कुसमयँ तात न अनुचित मोरा॥
होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घाए॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ३०६। १—४)

भगवान्‌के प्रेमपूर्ण वचन सुनकर श्रीभरत बड़े संतुष्ट हुए। श्रीभरतने सोचा—जब मेरे ऊपर सब भार दे दिया, तब मेरा यह कर्तव्य नहीं कि मैं भगवान् श्रीरामको संकोचमें डालूँ। अतएव उन्होंने कहा—

अब कृपाल जस आयसु होई। करौं सीस धरि सादर सोई॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ३०७। ४)

किंतु इसी प्रकरणमें अध्यात्मरामायण और

वाल्मीकीय रामायणमें श्रीभरतके कुछ विशेष आग्रह करनेकी बात मिलती है। अयोध्या चलनेके लिये विशेष आग्रह करते हुए उन्होंने यह बात कही कि 'यदि पिताजीने कामी, मूढ़बुद्धि, स्त्रीके वशीभूत, भ्रान्तचित्त और उन्मत्त होनेके कारण ऐसी आज्ञा दे दी, तो भी बुद्धिमान् पुरुषको उसका आदर नहीं करना चाहिये।'

इसपर भगवान् श्रीरामने पिताजीपर ऐसा दोष नहीं लगानेका संकेत करते हुए कहा—'पिताजीने स्त्रीवश, कामवश अथवा मूढ़बुद्धि होकर ऐसा नहीं कहा। उन सत्यवादीने अपनी पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार ही वर दिये हैं और मैं भी उनसे सत्य प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि मैं ऐसा ही करूँगा। अतः मैं रघुवंशमें जन्म लेकर अपना वचन कैसे पलट सकता हूँ।'

(अ० रा० अयोध्या० ९। ३३—३६)

यह सुनकर श्रीभरतने कहा—'जबतक श्रीराम मुझपर प्रसन्न नहीं होंगे, तबतक मैं अनशन करके यहीं इनके सामने धरना दूँगा।' यों कह वे कुशका आसन बिछाकर उसपर बैठ गये। तब श्रीरामने उनको समझाया कि क्षत्रियके लिये इस प्रकार धरना देना शास्त्रविरुद्ध है। भगवान्‌के द्वारा समझाये जानेपर श्रीभरतने उनकी बात मान ली और चौदह वर्षकी अवधिके आधारके लिये भगवान्‌के चरणोंसे स्पर्श की हुई पादुकाएँ लेकर वे नन्दिग्राममें लौट आये और मुनिवेषमें नियम-व्रत धारण करके भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार राज्यकार्यको सम्हालने लगे। (वा० रा० अयोध्या० १११ से ११५)

भगवान् श्रीराम चौदह वर्षकी अवधि समाप्त होनेपर भक्त विभीषणके अनुरोध करनेपर भी वहाँ नहीं रुके। वायुयानद्वारा अयोध्या पधारकर उन्होंने भरतके संतोषके लिये ही राज्यतिलक स्वीकार किया, अपने सुखके लिये नहीं। यह बात भगवान्‌के उस वचनसे और भी पुष्ट हो जाती है, जो उन्होंने श्रीभरतका हाल जानने और उनको संदेश देनेके लिये अयोध्या भेजते समय श्रीहनुमान्‌से कहा है—'वानरश्रेष्ठ! मेरे आनेकी बात सुनकर भरतकी जैसी मुखमुद्रा हो, उसपर ध्यान रखना और फिर वहाँका सब हाल मुझे सुनाना। भरतके मुखके वर्ण, दृष्टि तथा बातचीतसे उसके सारे भावोंको भलीभाँति समझनेका प्रयत्न करना। यदि श्रीमान् रघुनन्दन भरत कैकेयीके साथ स्वयं राज्य चाहता हो तो वह प्रसन्नतासे सारी पृथ्वीका शासन करे।'*

किंतु श्रीभरतका तो भगवान् श्रीरामके प्रति दूसरा ही भाव था। वे तो भगवान्‌के प्रेममें निमग्न उनके अत्यन्त श्रद्धासम्पन्न परम भक्त थे। वे इस पृथ्वीलोकके तुच्छ राज्यको क्यों चाहने लगे। वे तो भगवान्‌के विरहमें व्याकुल हो रहे थे। उनकी प्रेम और विरहकी अवस्थाका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥

× × ×

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

(रा० च० मा० उत्तर० १ क)

श्रीहनुमान् वहाँ आकर क्या देखते हैं—

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥
देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥

(रा० च० मा० उत्तर० १ ख, २। १)

जब भगवान् श्रीराम पुष्पक-विमानमें स्थित हुए अयोध्या पहुँचे और उन्होंने श्रीभरतको जटा, वल्कल एवं कौपीन धारण किये अपनी ओर पैदल ही आते देखा, तब वे कहने लगे—'अहो! देखो तो सही, प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा और हितैषी मेरा भाई भरत मुझे निकट आया सुनकर हर्षमें भरे हुए वृद्ध मन्त्रियों और महर्षि वसिष्ठजीको साथ लेकर मुझसे मिलनेके लिये आ रहा है।' निकट आनेपर तो भगवान्‌का हृदय विरहसे कातर हो उठा और वे 'भैया! भैया भरत! तुम कहाँ हो?' इस प्रकार कहते हुए तथा बार-बार भाई! भाई! भाई! की रट लगाते हुए तुरंत ही विमानसे उतर पड़े।† भगवान्‌को भूमिपर उतरे देख श्रीभरत हर्षके आँसू बहाते हुए उनके सामने दण्डकी भाँति धरतीपर गिर पड़े। यह देख श्रीरामने उनको हर्षपूर्ण दृष्टिसे देखते हुए अपनी दोनों भुजाओंसे उठाकर छातीसे लगा लिया। (पद्म० पाताल० २)

* एतच्छ्रुत्वा यमाकारं भजते भरतस्ततः। स च ते वेदितव्यः स्यात् सर्वं यच्चापि मां प्रति॥
ज्ञेयाः सर्वे च वृत्तान्ता भरतस्येङ्गितानि च। तत्त्वेन मुखवर्णेन दृष्ट्या व्याभाषितेन च॥
संगत्या भरतः श्रीमान् राज्येनार्थी स्वयंभवेत्। प्रशास्तु वसुधां सर्वामखिलां रघुनन्दनः॥ (वा० रा० युद्ध० १२५। १४, १५,१७)

† यानादवततराशु विरहक्लिन्नमानसः। भ्रातर्भ्रातः पुनर्भ्रातर्भातर्भातहुर्वदन्मुहुः॥ (पद्म० पाताल० २। २८)

अपने अतिशय प्रेमी भक्त भाई भरतके प्रति कैसा उच्च-कोटिका प्रेम-व्यवहार है! जो भगवान्‌को जिस प्रकार भजता है, भगवान् भी उसे उसी प्रकार भजते हैं।* सीताजी भगवान्‌के विरहमें व्याकुल होती हैं तो भगवान् भी उनके वियोग-विरहमें व्याकुल हो जाते हैं। सीताजीका भगवान् श्रीरामके प्रति अनन्य प्रेम था। भगवान् श्रीरामने स्वयं उनके प्रेमकी प्रशंसा की है। श्रीहनुमान् सीताजीसे श्रीरामका संदेश सुनाते हुए कहते हैं—

रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर॥

× × ×

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥
प्रभु संदेसु सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥

(रा० च० मा० सुन्दर० १४, १५। ३-४)

भगवान्‌का सीताके प्रति कितना उच्चकोटिका प्रेम है!

प्रेमी भक्तोंके साथ प्रेम-व्यवहारका दर्शन उनके चरित्रमें जगह-जगह होता है। जब वे वनमें मुनियोंकी हड्डियोंको देखते हैं, तब राक्षसोंके मारनेकी प्रतिज्ञा कर लेते हैं और सब मुनियोंके आश्रमोंपर जा-जाकर उन्हें सुख देते हैं—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

(रा० च० मा० अरण्य० ९)

श्रीसुतीक्ष्ण मुनिका भी भगवान्‌के प्रति बहुत उत्कट प्रेम था। जब उन्होंने सुना कि भगवान् उनके आश्रममें आ रहे हैं, तब उन्हें बड़ी ही प्रसन्नता हुई और वे अनेक मनोरथ करते हुए शीघ्रतासे दौड़ पड़े। उस समय उनकी बड़ी विचित्र दशा हो गयी। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥

(रा० च० मा० अरण्य० १०। ६)

उनके प्रेमको देखकर भगवान् उनके हृदयमें प्रकट हो गये। मुनि सुतीक्ष्णजी हृदयमें भगवान्‌के दर्शन पाकर रास्तेमें ही स्थिर होकर बैठ गये। उनका शरीर रोमाञ्चसे कटहलके फलके समान हो गया। तब भगवान् श्रीराम उनके निकट आ गये। मुनिने स्तुति की। अन्तमें भगवान्‌ने उन्हें प्रगाढ़ भक्ति, वैराग्य, विज्ञान, समस्त गुण और ज्ञानके निधान हो जानेका वरदान दिया।

अपनेमें प्रेम करनेवालेके साथ भगवान्‌का कितना प्रेमभरा व्यवहार है!

इसी तरह उनका भक्तिमती शबरीके साथ जो आदर्श प्रेमका बर्ताव है, वह भी बहुत ही प्रशंसनीय है। शबरी भीलनी थी, निम्न जातिकी थी; किंतु भगवान्‌ने उसके प्रेमके कारण उसके लाये हुए बेर आदि खाये और उसे नवधा भक्तिका उपदेश देकर उसका उद्धार कर दिया—

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥

(रा० च० मा० अरण्य० ३४)

इससे हमें, अपने प्रेमियोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, यह बात सीखनी चाहिये।

श्रीहनुमान्‌जीके साथ भी भगवान् बड़ा ही प्रेमका व्यवहार करते हैं। श्रीहनुमान्‌जीके श्रद्धा, भक्ति, विनय और प्रेमयुक्त वचन सुनकर अन्तमें भगवान् कहते हैं—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा० च० मा० किष्किन्धा० ३। ४; ३)

श्रीहनुमान्‌जीके साथ जो उनकी बातचीत हुई, उसमें भगवान् श्रीरामकी विनय, निरभिमानता, कुशलता और प्रेम भरा हुआ है; हमलोगोंको उससे विनय और निरभिमानताकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

इतना ही नहीं, श्रीहनुमान्‌जीके प्रति तो भगवान्‌ने यहाँतक कह डाला कि 'हम तुम्हारे उपकारको कभी भुला नहीं सकते और तुम्हारे उपकारका बदला भी नहीं चुकाना चाहते; क्योंकि प्रत्युपकारका अवसर तो तब आये, जब तुमपर कोई विपत्ति पड़े। ऐसा मैं नहीं चाहता—

एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥
मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥

(वा० रा० उत्तर० ४०। २३-२४)

'हनुमान्! तुम्हारे एक-एक उपकारके बदले मैं अपने प्राण दे दूँ तो भी इस विषयमें शेष उपकारोंके लिये तो हम तुम्हारे ऋणी ही बने रहेंगे। तुम्हारे द्वारा किये हुए उपकार मेरे शरीरमें ही विलीन हो जायँ—उनका बदला चुकानेका मुझे कभी अवसर ही न मिले; क्योंकि आपत्तियाँ आनेपर ही मनुष्य प्रत्युपकारोंका पात्र होता है।'

* ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। (महा० भीष्म० २८। ११)

भगवान् श्रीरामका कृतज्ञताका भाव भी कितना महान् आदर्श था! सखा सुग्रीवके साथ उनका जो मैत्री और प्रेमका व्यवहार है, उससे हमें मैत्री और प्रेमका व्यवहार सीखना चाहिये। मित्रके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—इस विषयमें भगवान्ने वहाँ बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया है। केवल उपदेश ही नहीं दिया है, स्वयं वैसा ही उनके साथ आचरण-बर्ताव करके दिखा दिया है। जब भगवान्ने सुग्रीवके दुःखकी बात सुनी, तब उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥
जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥

× × ×

बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

(रा० च० मा० किष्किन्धा० ६; ७। १,३,५)

भगवान् श्रीरामका वाली-जैसे पापीके साथ भी बड़ा ही उदारताका व्यवहार है। उसके नीतियुक्त वचन सुनकर उन्होंने पहले नीतियुक्त ही उत्तर दिया, किंतु जब उसने श्रद्धा-प्रेमयुक्त रहस्यमय तात्त्विक वचन कहे, तब तो भगवान्ने उसके साथ अपार दया और प्रेमका व्यवहार किया। दोनों ही व्यवहार अलौकिक हैं। भगवान्ने वाली-जैसे पापीको भी मुक्ति दे दी, कैसा उदारतापूर्ण विरद है!

शरणागत विभीषणके साथ भी श्रीरामका बहुत ही त्यागपूर्ण प्रेमका व्यवहार है। जब विभीषण भगवान्की शरणमें आये, तब सुग्रीव आदिने उनपर शङ्का की और उनको बाँधकर रखनेकी सम्मति दी। भगवान्ने सुग्रीवकी उक्त सम्मतिकी प्रशंसा करते हुए उसे समझाकर भक्त विभीषणके प्रति अपने निम्नाङ्कित अभय-दानव्रतका ही पालन किया—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा० युद्ध० १८। ३३)

'जो एक बार भी 'मैं तुम्हारा हूँ' यों कहकर शरण देनेके लिये याचना करता है, उसको मैं सब भूतोंसे अभय-दान दे देता हूँ—यह मेरा व्रत है'

इतना ही नहीं, लङ्काका राज्य विभीषणको देकर भी भगवान् अपनी ओरसे कुछ नहीं दिया समझकर संकोच ही करते रहे—

जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥

(रा० च० मा० सुन्दर० ४९ ख)

इसी प्रकार अपने प्रति उपकार करनेवालेके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—यह शिक्षा हमें, भगवान्ने जटायुके साथ जो व्यवहार किया, उससे लेनी चाहिये। भगवान् श्रीरामका जटायुके साथ जो कृतज्ञता, दया और प्रेमसे भरा हुआ व्यवहार है, वह बहुत ही प्रशंसनीय और अनुकरणीय है।

भगवान् श्रीरामको देखकर जटायुने अपनेको महाराज दशरथका मित्र बतलाकर परिचय दिया और सीताके लिये दक्षिण दिशाकी ओर संकेत किया। यह जानकर भगवान् श्रीरामने पिताका मित्र होनेके नाते जटायुको पिताके तुल्य आदर देते हुए उनका विधिपूर्वक अन्त्येष्टिसंस्कार किया—

दक्षिणामिति काकुत्स्थो विदित्वास्य तदिङ्गितम्।
संस्कारं लम्भयामास सखायं पूजयन् पितुः॥

(महा० वन० २७९। २४)

श्रीजटायुके साथ कैसा कृतज्ञता और दयालुताका व्यवहार है!

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर।
निरखि राम छबि धाम मुख बिगत भई सब पीर॥
अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरिधाम।
तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥

(रा० च० मा० अरण्य० ३०,३२)

भगवान् श्रीरामका अपने सेवकोंके साथ भी त्यागका कितना उत्तम व्यवहार है! लङ्कासे वापस अयोध्या आनेपर गुरु वसिष्ठजीके सम्मुख अपने सेवकोंकी बड़ाई करते हुए भगवान् श्रीरामने कहा—'इनकी ही सहायतासे युद्धमें हमारी विजय हुई है।'

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥

(रा० च० मा० उत्तर० ८। ४)

भगवान् श्रीरामका गुरुजनोंके साथ भी बहुत ही उत्तम व्यवहार था। जब श्रीराम पिता दशरथजी और गुरु वसिष्ठजीकी आज्ञासे श्रीविश्वामित्रजीके साथ गये, तब वहाँ वे उनकी बहुत सेवा किया करते—

तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥

(रा० च० मा० बाल० २२६। ३)

तथा लङ्का-विजयके पश्चात् जब भगवान् अयोध्यामें

आये, तब उन्होंने बंदरोंको बुलाकर उन्हें गुरुजीके चरणोंमें वन्दना करनेको कहा और बतलाया कि गुरुजीकी कृपासे ही रणमें राक्षस मारे गये—

पुनि रघुपति सब सखा बोलाए। मुनि पद लागहु सकल सिखाए॥
गुर बसिष्ट कुलपूज्य हमारे। इन्ह की कृपाँ दनुज रन मारे॥

(रा० च० मा० उत्तर० ८। ३)

भगवान् श्रीराममें आस्तिक भाव भी बहुत उच्चकोटिका था। उनकी यज्ञ, दान, श्राद्ध आदिमें बड़ी आस्था थी। जब श्रीभरत चित्रकूट आये और उनसे श्रीरामने पिताजीकी मृत्युका समाचार सुना तब उन्होंने विधिपूर्वक पिताजीको पिण्डदान आदि किया। उस समय जाबालि नामक मुनिने श्राद्धपर आक्षेप करते हुए कुछ नास्तिकताकी बातें कहीं। तब तो उन्होंने मुनिको बहुत फटकारा।

(वा० रा० अयोध्या० सर्ग० १०३, १०८, १०९)

भगवान् श्रीरामका प्रजाजनोंके साथ भी बहुत ही स्वार्थ-त्याग और प्रेमयुक्त आदर्श व्यवहार था। जब भगवान् श्रीराम वनमें जाने लगे, तब प्रजा बहुत ही व्याकुल हो गयी और बहुत-से लोग भगवान्‌के साथ जाने लगे। भगवान्‌ने उनको बहुत समझाया, किंतु वे लौटे नहीं। तब भगवान् तमसा-तीरपर उनको रात्रिमें सोते हुए छोड़कर ही आगे बढ़ गये।

चौदह वर्ष बीतनेपर जब भगवान् अयोध्यामें आये, तब यह देखकर कि समस्त प्रजाजन मुझसे मिलनेके लिये आतुर हो रहे हैं, उन्होंने अनेक रूप धारण कर लिये और सबसे एक साथ प्रेमपूर्वक मिले—

प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥

× × ×

छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

(रा० च० मा० उत्तर० ६। २—४)

इतना ही नहीं, जब राज्य करते उन्हें बहुत दिन व्यतीत हो गये और भगवान् श्रीरामने अपने दूतोंद्वारा यह बात सुनी कि सीताको लङ्कासे वापस लाकर रखनेमें लोग उनकी निन्दा करते हैं, तब भगवान्‌ने अन्य सब मित्रोंसे भी इसके विषयमें पूछा। उन सबने भी इस बातको ठीक बतलाया। तब प्रजाजनोंके संतोषके लिये भगवान् श्रीरामने निर्दोष होनेपर भी सीताका सदाके लिये त्याग कर दिया (वा० रा० उत्तर० ४३, ४५)। उनको वनमें छोड़ आनेके लिये पहले श्रीभरतको और फिर श्रीशत्रुघ्नको कहा तो वे दोनों यह बात सुनते ही मूर्च्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़े।*

तदनन्तर भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणको अपनी शपथ दिलाते हुए कहा—'तुम मेरी इस बातका प्रतीकार न करना।' तब लक्ष्मणने दुःखित हृदयसे सीताको वाल्मीकि मुनिके आश्रमके निकट छोड़ दिया एवं रोते और विलाप करते हुए लौट आये। वे मनमें यह विचारकर बहुत शोकाकुल हो रहे थे कि भगवान् श्रीरामने लोकापवादके कारण निर्दोष सीताको छोड़ दिया। तब सुमन्त्रने श्रीलक्ष्मणको धैर्य बँधाया।

(वा० रा० उत्तर० सर्ग ४५, ४६, ५०, ५१)

भगवान् श्रीरामने प्रजाके संतोषके लिये ही अपनी प्रियतमा सीताका भी सदाके लिये परित्याग कर दिया। इस प्रकार स्वार्थ-त्यागपूर्वक प्रजा-पालनके कारण ही उनके राज्यकी महिमाका वर्णन करते हुए उनके बर्तावको अनुकरणीय बताया गया है। आज भी कहीं किसी कार्यकी उत्तम व्यवस्था होती है तो उसके लिये यह लोकोक्ति कही जाती है कि यहाँ तो 'राम-राज्य' है। भगवान् श्रीरामके राज्यका वर्णन करते हुए श्रीगोस्वामीजीने बतलाया है—

राम राज बैठें त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥
बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥
राम राज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा॥
एकनारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥

(रा० च० मा० उत्तर० २०। ४, २०, २१। ३, २१, २२। ३-४, २३। १)

श्रीरामके इस प्रजापालनके बर्तावको देखकर हमें भी अपने आश्रित जनोंके साथ वैसा ही उत्तम बर्ताव करना चाहिये।

इस प्रकार ऊपर यह दिग्दर्शन कराया गया कि भगवान् श्रीराम समस्त सद्गुणों तथा सदाचरणोंसे परिपूर्ण थे। अतः हम जो भी कार्य करें, हमें वहाँ यह सोचना

---

* इति वाक्यं समाकर्ण्य रामस्य भरतोऽपतत्। मूर्च्छितः सन् क्षितौ देहे कम्पयुक्तः सबाष्पकः॥ (पद्म० पाताल० ५६। ६४)

तथा—

इति वाक्यं समाकर्ण्य रामस्य किल शत्रुहा। सवेपथुः पपातोर्व्यां दुःखितः परदारणः॥ (पद्म० पाताल० ५८। ७-८)

चाहिये कि ऐसे अवसरपर भगवान् श्रीराम किस प्रकार उत्तम व्यवहार किया करते थे। यों उनके व्यवहारोंको स्मरण करनेसे हमें दो लाभ होते हैं—एक तो भगवान्‌के स्वरूपकी स्मृति बनी रहती है और दूसरे उनके-जैसा सुन्दर और उत्तम आदर्श व्यवहार करनेकी शिक्षा मिलती रहती है। ये दोनों ही मानव-जीवनके चरम उद्देश्य हैं। इसलिये हमें भगवान् श्रीरामकी प्रत्येक क्रियामें जो आदर्श व्यवहार, महान् गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्य भरा हुआ है, उसे लक्ष्यमें रखकर उनका नित्य-निरन्तर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक चिन्तन करते हुए ही अपने सम्पूर्ण शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका निष्काम भावसे आचरण करना चाहिये।

गीतामें भजन

संसारके प्रायः सभी धार्मिक लोग भगवान्‌के भजनकी महिमा गाते हैं। भजनका तात्पर्य है भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव आदिका स्मरण। 'भज्' धातुसे 'भजन' शब्द बनता है। 'भज् सेवायाम्' इस उक्तिके अनुसार 'भज्' धातुका अर्थ है सेवा। सेवाका अभिप्राय है सेवन करना। पूजा भी सेवाका ही अङ्ग है। भगवान्‌के गुणगानको भी भजन कहते हैं, भगवन्नामके जप-कीर्तनको भी भजन कहते हैं और भगवान्‌के स्वरूपके स्मरणको भी भजन कहते हैं। इसलिये भगवान्‌के नामका जप, स्वरूपका ध्यान, स्तुति-प्रार्थना, सेवा-पूजा शरण, आज्ञापालन—ये सब भजनके ही अङ्ग हैं।

हिंदुओंकी तो बात ही क्या है, हिंदुओंके सिवा मुसलमान, ईसाई आदि भी नाम-जपकी महिमा गाते हैं। उस परमात्माके नामका मुसलमान भाई लोग अल्लाह, खुदाके नामसे और ईसाई भाई लोग गॉडके नामसे स्मरण करते हैं। अपने इष्टदेवके किसी भी नामका जप करें, वह है तो भगवान्‌का ही नाम। भगवान्‌के ॐ, हरि, राम, नारायण, अल्लाह, खुदा, गॉड आदि अनन्त नाम हैं। उन सब नामोंका अर्थस्वरूप नामी एक ही है। उसे चाहे परमेश्वर कहें, चाहे परमात्मा कहें, चाहे भगवान् कहें या अन्य कुछ, वह एक ही है। उस भगवान्‌का कोई साकार रूपमें, कोई निराकार रूपमें, कोई सगुण रूपमें और कोई निर्गुण रूपमें भजन करते हैं; पर किसी भी रूपमें भजन करें, वह भगवान्‌का ही भजन है; क्योंकि भगवान् व्यक्त-अव्यक्त, साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण सभी रूपोंमें है। अतः सर्वरूप होनेके कारण उसको जो जिस रूपमें समझता है उसके लिये वह वैसा ही है।

गीता, रामायण, भागवत भक्तिप्रधान ग्रन्थ होनेके कारण इनमें भजनकी महिमा जगह-जगह मिलती है। इनके सिवा और भी ईश्वरको माननेवाले अनेक शास्त्र हैं। सभी शास्त्रोंके आदि, मध्य और अन्तमें सर्वत्र भगवद्भजनकी महिमा गायी गयी है। श्रीहरिवंशोक्त महाभारतश्रवणविधिमें बतलाया गया है—

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।
आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥

(श्लोक १३)

'भरतश्रेष्ठ! वेद, रामायण और पवित्र महाभारतके आदि, मध्य और अन्तमें सर्वत्र भगवान् श्रीहरिका ही गान किया जाता है।'

अब गीतामें वर्णित भजनके स्वरूप और महिमाका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। गीता अ० ४ श्लोक २४ से ३० तक 'यज्ञ' के नामसे परमात्माकी प्राप्तिके बहुत-से उपाय बतलाये गये और अन्तमें कहा गया कि—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

(गीता ४। ३२)

'इसी प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा सम्पन्न होनेवाले जान; इस प्रकार तत्त्वसे जानकर उनके अनुष्ठानद्वारा तू कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जायगा।'

जितने भी प्रकारके यज्ञ हैं, वे सभी परमात्माकी प्राप्तिके साधन हैं, किंतु भगवान्‌के नामका जप तो साध्य है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—वह तो मेरा स्वरूप ही है—

'**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**' (गीता १०। २५)

'सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं हूँ।'

इसके सिवा, भगवान्‌ने यह स्पष्ट कहा है कि 'ॐ' इस परमात्माके नामका जप और उसके अर्थस्वरूप परमात्माका ध्यान करता हुआ जो मनुष्य देह त्याग कर जाता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

(गीता ८। १३)

भगवान्‌के बहुत-से नाम हैं, उनमेंसे ॐ, तत्, सत्—इन तीन नामोंका गीतामें विशेषरूपसे उल्लेख किया गया है—

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

(१७। २३)

'ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा गया है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये।'

इसलिये यज्ञ, दान, तप आदि धार्मिक क्रियाएँ 'ॐ' का उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं तथा वेदोंमें भी 'ॐ' का उच्चारण करके ही मन्त्रोच्चारण करनेका विधान है। इन ॐ, तत्, सत्—इन तीनों नामोंकी महिमा गीताप्रेससे प्रकाशित गीतातत्त्वविवेचनी अ० १७ श्लोक २४ से २७ तककी टीकामें देख सकते हैं।

भगवान्‌के स्वरूपकी जो स्मृति है, वह उच्चकोटिका भजन है; क्योंकि नामका जप तो वाणी और श्वाससे भी हो सकता है; पर भगवान्‌के स्वरूपका स्मरण तो मनसे ही हो सकता है और जो कार्य मनसे होता है वही श्रेष्ठ माना जाता है। इसलिये मनसे भगवत्स्मृतिरूप भजनकी विशेष महिमा है। उससे भगवत्प्राप्ति सुगमतापूर्वक और शीघ्र हो जाती है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ७)

'हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

इस प्रकार गीतामें कहीं भजन, कहीं स्मरण और कहीं ध्यानके नामसे भजनका उल्लेख किया गया है। उनमेंसे किसी एक श्लोकको भी हमलोग धारण कर लें तो हमारा उद्धार हो सकता है। गीतामें बताया गया है कि जितने प्रकारके भी साधन हैं, उन सबमें ईश्वरकी भक्ति यानी भजन सबसे श्रेष्ठ है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए मनसे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे सबसे बढ़कर परम श्रेष्ठ मान्य है।'

संसारमें भजनेके योग्य एक परमात्मा ही है। संसार नाशवान् और क्षणभङ्गुर है। इसमें जो सुख प्रतीत होता है, वह वास्तवमें सुख नहीं है। मनुष्य-शरीर बहुत ही दुर्लभ है, ऐसे दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर जो परम आनन्दरूप भगवान्‌को छोड़कर विषयोंमें रमण करता है, वह मूर्ख है। अतः कल्याणकामी मनुष्यको उचित है कि इस दुर्लभ मानव-शरीरको पाकर निष्काम प्रेमभावसे नित्य-निरन्तर केवल भगवान्‌का ही भजन करे। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(गीता ९। ३३ का उत्तरार्ध)

'अर्जुन! तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

भगवान्‌का भजन करनेवाला मनुष्य जो कुछ भी चाहता है, भगवान् उसकी इच्छाकी पूर्ति करते हैं। कहीं इच्छा-पूर्ति नहीं भी करते तो उस इच्छा-पूर्ति न करनेमें भी उसके लिये परम हित भरा हुआ है। भगवान्‌ने किसी भी प्रकारसे भजन करनेवालेको श्रेष्ठ बताया है और निष्कामीको तो अपना स्वरूप ही बताया है। भगवान् कहते हैं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

(गीता ७। १८)

'ये उपर्युक्त सभी भक्त उदार हैं, परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है।'

भगवान्‌ने अन्य देवताओंकी उपासना करनेवाले मनुष्योंको भी आदर देकर उन्हें अपना ही भक्त बतलाया है, किंतु उनकी उस प्रणालीको भगवद्भक्तिकी अपेक्षा निम्नश्रेणीकी कहा है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

(गीता ९। २३)

'हे अर्जुन! यद्यपि श्रद्धासे युक्त जो सकाम भक्त

दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं, किंतु उनका वह पूजन करना अविधिपूर्वक यानी अज्ञानपूर्वक है।'

यह भी बताया है कि देवताओंकी उपासना करनेवाले उन अल्प-बुद्धि मनुष्योंको जो फल प्राप्त होता है, वह आदि-अन्तवाला और नाशवान् है तथा देवताओंके भक्त देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

(गीता ७। २३)

इससे हमलोगोंको यह समझना चाहिये कि सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये प्राणियों और मनुष्योंसे याचना करनेकी अपेक्षा देवताओंसे याचना करना उत्तम है और देवताओंसे याचना करनेकी अपेक्षा भगवान्‌से याचना करना उत्तम है तथा पदार्थोंकी याचनाकी अपेक्षा भगवान्‌से कल्याणकी याचना करना उत्तम है और किसी भी प्रकारकी याचना न करके निष्काम प्रेमभावसे भजन करना सर्वोत्तम है। भगवान्‌ने चार प्रकारके भक्तोंमेंसे ऐसे निष्कामी प्रेमी भक्तको अपना अतिशय प्यारा बताया है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १७)

'अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—इन चार प्रकारके भक्तोंमेंसे नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

जो मनुष्य अनन्य प्रेमभावसे भगवान्‌को भजता है, भगवान् उसकी इच्छाके अनुसार उसे प्राप्त हो जाते हैं। भगवान्‌की प्राप्ति बिना भक्तिके यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययनसे भी नहीं होती, बल्कि अनन्य भक्तिसे ही साधककी इच्छाके अनुसार भगवत्प्राप्ति होती है। वह दर्शन करना चाहता है तो भगवान् उसे दर्शन दे देते हैं, वह ज्ञान चाहता है तो ज्ञान दे देते हैं और वह मुक्ति चाहता है तो सायुज्य मुक्ति दे देते हैं। आवश्यकता है केवल अनन्य विशुद्ध प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करने की। भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे उसके सारे पापोंका नाश हो जाता है और उसे शीघ्र ही परम शान्ति मिल जाती है, किंतु निष्काम विशुद्ध प्रेमभावसे निरन्तर भजन होना चाहिये।

श्रीभगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

अनन्यभावसे भजन करनेवाले मनुष्यकी गीतामें भूरि-भूरि महिमा गायी गयी है। स्वयं भगवान् अपने भक्तकी सदा रक्षा करते हैं।

जो भगवान्‌पर निर्भर होकर नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे भगवान्‌का स्मरण करता है, भगवान् उसकी रक्षा ही नहीं, उसका लौकिक, पारलौकिक सब प्रकारका भार वहन करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

'जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ।'

सब प्रकारसे भगवान्‌पर निर्भर होकर सम्पूर्णभावसे भगवान्‌के शरण हो जाना भी भगवान्‌का भजन ही है। ऐसे भक्तको भगवान् परम शान्ति और परमपदकी प्राप्ति करा देते हैं। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

इसलिये यह सिद्ध हुआ कि सब प्रकारसे

भगवान्‌के शरण होना ही उनका असली भजन है; क्योंकि भगवान्‌ने अ० ९ श्लोक ३३ के उत्तरार्धमें अर्जुनसे '**मां भजस्व**' कहकर उसके पश्चात् सब प्रकारसे शरण होना ही भजनका स्वरूप बतलाया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(गीता ९। ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें लगाकर मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

शरणागत पुरुष चाहे जातिसे कैसा ही नीच क्यों न हो, उसको भी भगवान् परम गति दे देते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

जिस प्रकार भगवान्‌के शरण होना भगवान्‌का भजन बताया गया, इसी प्रकार भगवद्‌बुद्धिसे सबकी सेवा करना भी भजन ही है। चाहे साधक यह भाव रखकर सेवा करे कि 'ये सब भगवान्‌के हैं' अथवा 'सबमें भगवान् हैं' यों समझकर सेवा करे या चाहे 'सब भगवान् ही हैं' यह समझकर सेवा करे। यह सभी भगवान्‌का भजन है; क्योंकि भगवान् सारे भूत-प्राणियोंके माता-पिता हैं, सब भूतप्राणी भगवान्‌से ही उत्पन्न होते हैं, भगवान् सबमें व्यापक हैं, भगवान् सबके आत्मा हैं, अतः सबकी सेवा ही भगवान्‌की सेवा है—ऐसा समझकर निष्काम प्रेमभावसे कर्तव्य मानकर सेवा करना भी भगवान्‌का भजन ही है। इसके फलस्वरूप साधकको निश्चय ही परम गतिकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

जैसे प्रज्वलित साकार अग्नि निराकार रूपसे आकाशकी भाँति सर्वत्र व्यापक है, वैसे ही भगवान् अवतारके समय, सब देशमें व्यापक रहते हुए ही प्रज्वलित अग्निकी भाँति प्रकट होते हैं। उन साकार भगवान्‌की श्रद्धा-प्रेमपूर्वक आदर-सत्कार, सेवा-पूजा करनेसे मनुष्यका शीघ्र ही उद्धार हो सकता है। प्रत्यक्षकी तो बात ही क्या है, उनकी अनुपस्थितिमें भी उनकी सेवा-पूजादि करनेसे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है।

वाल्मीकीय रामायणमें बतलाया गया है कि जब भरतजी महाराज भरद्वाजजीके आश्रममें गये, तब वहाँ भरद्वाजजीने भरतजीके आतिथ्य-सत्कारमें सिद्धियोंसे राजमहलकी रचना करके भरतजीके लिये राजाओंके योग्य एक सिंहासनकी स्थापना की थी, किंतु भरतजी उस सिंहासनपर नहीं बैठे, बल्कि उसे साक्षात् भगवान् श्रीरामका सिंहासन मानकर स्वयं मन्त्रीके स्थानपर स्थित हो रातभर चँवर डुलाते हुए ही भगवान्‌की सेवा-पूजा करते रहे—

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च।
भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत्॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च।
बालव्यजनमादाय न्यषीदत् सचिवासने॥

(वा० रा० अयोध्या० ९१। ३८-३९)

'भरतजीने वहाँ दिव्य राजसिंहासन, चँवर और छत्र भी देखे। तब उनमें राजा रामकी भावना करके मन्त्रियोंके साथ उन सबकी प्रदक्षिणा की। सिंहासनपर श्रीराम विराजमान हैं, ऐसा मानकर उन्होंने श्रीरामको प्रणाम किया और उस सिंहासनकी भी पूजा की। फिर अपने हाथमें चँवर लेकर वे मन्त्रीके आसनपर जा बैठे।'

जैसे भरतजी महाराजने भरद्वाजजीके आश्रमपर रात्रिमें भगवान्‌का मनसे ही आवाहन करके उनकी सेवा-पूजा की थी, इसी प्रकार अपने इष्टदेवका मनसे आवाहन करके उनकी श्रद्धाप्रेमपूर्वक सेवा-पूजा करनेसे अथवा भगवान्‌की मूर्ति या चित्रपटकी श्रद्धापूर्वक निष्काम प्रेमभावसे सेवा-पूजा करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट होकर उसकी सेवा-पूजा स्वीकार करते हैं। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रेमसे खाता हूँ।'

भगवान् सब जगह आकाशसे भी बढ़कर व्यापक हैं, ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहाँ भगवान् न हों—ऐसा समझकर जो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर उनका भजन करता है, भगवान् उसको अपने हृदयमें बसा लेते हैं। भगवान्ने कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

भगवान्‌की प्रीति या प्राप्तिके लिये जो कुछ भी कर्म किया जाय, वह भी प्रकारान्तरसे भगवान्‌का भजन ही है। इसलिये हमलोगोंको भगवान्‌की प्राप्तिके उद्देश्यसे या उनकी प्रीतिके उद्देश्यसे ही सारे कर्तव्य कर्म करने चाहिये। एवं सब पदार्थ भगवान्‌के हैं, भगवान् मेरे हैं, मैं भगवान्‌का हूँ, जो कुछ मेरे द्वारा हो रहा है, भगवान्‌की प्रेरणासे हो रहा है, भगवान् ही मुझसे करवा रहे हैं—ऐसा समझकर अपने-आपको और अपने द्वारा होनेवाली सारी क्रियाओंको भगवान्‌के समर्पण कर देना चाहिये। यह भी भगवान्‌का भजन है। इससे स्वाभाविक ही भगवान्‌की स्मृति हर समय बनी रहती है और उस पुरुषको भगवान् प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(गीता ९। २७-२८)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

इसलिये मनुष्यको शरीर और संसारके विषयभोगोंसे ममता और प्रीति हटाकर भगवान्‌से ही ममता और प्रीति करनी चाहिये। संसारके सारे पदार्थ नाशवान्, क्षणभङ्गुर हैं। इनमें विवेकशील मनुष्य कभी रमण नहीं करते, अविवेकी मनुष्य ही रमण करते हैं। गीतामें भगवान्ने बताया है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

इसलिये हमलोग जिस कार्यके लिये आये हैं उसी कार्यमें अपना समय लगाना चाहिये। हमें यह मनुष्य-शरीर स्वाद-शौक, ऐश-आराम, विलासितारूप विषयभोगोंको भोगनेके लिये नहीं मिला है और न यह स्वर्गप्राप्तिके लिये ही मिला है; क्योंकि जो मनुष्य स्वर्गप्राप्तिके लिये देवादिपूजन और यज्ञादि करते हैं, उनको भी भगवान्ने गीतामें अपेक्षाकृत नीची श्रेणीके बताया है (देखिये अ० २ श्लो० ४१ से ४४; अ० ९ श्लो० २०-२१)। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह मनुष्य-शरीर स्वर्गप्राप्तिके लिये नहीं मिला है, बल्कि आत्मोद्धारके लिये ही मिला है। जो मनुष्य अपने आत्माका उद्धार न करके विषयभोगोंमें ही अपने समयको नष्ट करता है, वह मूर्ख और निन्दाका पात्र है; क्योंकि वह अमृतके बदले विष ग्रहण कर रहा है। उसे आगे जाकर अपने कृत्यपर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इसलिये समय रहते ही हमें चेतना चाहिये, नहीं तो हमारे लिये महान् हानि है। श्रीरामचरितमानसमें भगवान्‌के वचन हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥
एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

जिस प्रकार रोगी सुखबुद्धिसे कुपथ्यका सेवन करता है; किंतु वास्तवमें वह उसके दुःखका ही कारण होता है, वैसे ही विषयभोगोंमें सुख समझकर उनका सेवन करना भी दुःखका ही कारण है। अतः हमलोगोंको विषयभोगोंसे तीव्र वैराग्य करना चाहिये। उनकी कभी भी इच्छा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि इच्छा करनेमात्रसे कोई भी पदार्थ मिलता नहीं। संसारमें कोई भी मनुष्य दुःखकी इच्छा नहीं करता, सभी मनुष्य सुख चाहते हैं; किंतु सभीको दुःख

भोगना पड़ता है। अन्य प्राणियोंकी तो बात ही क्या, महात्माको छोड़कर ऐसा कोई मनुष्य भी नहीं दिखलायी पड़ता जो सांसारिक दुःखसे दुःखी न हो। अतः कोई मनुष्य भोगोंकी अथवा भोगोंके साधनरूप धन-मकान आदि पदार्थोंकी इच्छा करता है तो इच्छा करनेसे वे मिलते नहीं। और पदार्थोंकी तो बात ही क्या, कोई मनुष्य मृत्युकी इच्छा करे तो इच्छा करनेसे वह मर नहीं सकता और अधिक जीनेकी इच्छा करे तो वह इच्छानुसार जी नहीं सकता; क्योंकि होता वही है, जो प्रारब्धके अनुसार होनेवाला है। श्रीरामचरितमानसमें बतलाया गया है—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

जब सब कुछ भगवान्‌के विधानके अनुसार ही प्राप्त होता है तब फिर हमलोगोंको किसी भी सांसारिक पदार्थकी इच्छा करके अपना स्तर ही क्यों गिराना चाहिये? किसी भी सांसारिक पदार्थके लिये इच्छा करना महान् मूर्खता है। इसलिये सबकी इच्छाका त्याग करके केवल एक भगवान्‌की प्राप्तिकी ही इच्छा करनी चाहिये। इच्छा करनेसे केवल भगवान् ही मिलते हैं और कोई नहीं; क्योंकि जड पदार्थोंको तो हम ही चाहते हैं, वे हमको नहीं चाहते। किंतु भगवान् परम दिव्य, चिन्मय और सबके सुहृद्— बिना ही कारण दया-प्रेम करनेवाले हैं, इसलिये जो भगवान्‌को चाहते हैं, भगवान् भी उनको चाहते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥

(गीता ४। ११ का पूर्वार्ध)

'हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।' भजनका कैसा अद्भुत माहात्म्य है कि भजनेवालेको भगवान् भी भजते हैं।

इतना ही नहीं, भगवान् उसको वह ज्ञान दे देते हैं, जिससे उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इसलिये सब प्रकारसे भगवान्‌के शरण होकर भगवान्‌की सेवा-पूजा-स्तुति-प्रार्थना-नमस्कार तथा भगवान्‌के नाम-रूपका स्मरणरूप भजन श्रद्धा-विश्वासपूर्वक निष्काम प्रेमभावसे सदा-सर्वदा करना चाहिये।

गीता पढ़नेके लाभ

श्रीमद्भगवद्गीता एक परम रहस्यमय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सार्वभौम ग्रन्थ है। यह साक्षात् भगवान्‌की दिव्य वाणी है, उनके हृदयका उद्गार है। इसका महत्त्व बतलानेकी वाणीमें शक्ति नहीं है। इसकी महिमा अपरिमित है, यथार्थमें इसका वर्णन कोई नहीं कर सकता। शेष, महेश, गणेश, दिनेश भी इसकी महिमाको पूरी तरहसे नहीं कह सकते, फिर मनुष्यकी तो बात ही क्या है। इतिहास-पुराण आदिमें जगह-जगह इसकी महिमा गायी गयी है, किंतु उन सबको एकत्र करनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी महिमा इतनी ही है; क्योंकि उसकी महिमाका कोई पार नहीं है।

गीता आनन्द-सुधाका सीमारहित छलकता हुआ समुद्र है। इसमें भावों और अर्थोंकी इतनी गम्भीरता और व्यापकता है कि मनुष्य जितनी ही बार इसमें डुबकी लगाता है, उतनी ही बार वह नित्य नवीन आनन्दको प्राप्तकर मुदित और मुग्ध होता है। रत्नाकर सागरमें डुबकी लगानेवाला चाहे रत्नोंसे वञ्चित रह जाय, पर इस दिव्य रसामृत-समुद्रमें डुबकी लगानेवाला कभी खाली हाथ नहीं निकलता। इसकी सरस और सार्थ सुधा इतनी स्वादु है कि उसके ग्रहणसे नित्य नया स्वाद मिलता रहता है। रसिकशेखर श्यामसुन्दरकी इस रसीली वाणीमें इतनी मोहकता और इतना स्वाद भरा है कि जिसको एक बार इस अमृतकी बूँद प्राप्त हो गयी, उसकी रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है।

गीता एक सर्वमान्य और प्रमाणस्वरूप अलौकिक ग्रन्थ है। एक छोटे-से आकारमें इतना विशाल योग-भक्ति-ज्ञानसे पूर्ण ग्रन्थ संसारकी प्रचलित भाषाओंमें दूसरा कोई नहीं है। इसमें सम्पूर्ण वेदोंका सार संग्रह किया हुआ है। इसकी संस्कृत बहुत ही मधुर, सरस, सरल और रुचिकर है। इसकी भाषा बहुत ही उत्तम एवं रहस्ययुक्त है। दुनियाकी किसी भी भाषामें ऐसा सुबोध ग्रन्थ नहीं है। मनुष्य थोड़ा अभ्यास करनेसे भी सहज ही इसको समझ सकता है। परंतु इसका आशय इतना गूढ़ और गम्भीर है कि आजीवन निरन्तर अभ्यास करते रहनेपर भी उसका अन्त नहीं आता, वरं प्रतिदिन नये-नये भाव उत्पन्न होते रहते हैं; इससे वह सदा नवीन ही बना रहता है।

गीतामें सभी धर्मोंका सार भरा हुआ है। संसारमें जितने भी ग्रन्थ हैं, उनमें गीता-जैसे गूढ़ और उन्नत विचार

कहीं दृष्टिगोचर नहीं होते। गीताके साथ तुलना की जाय तो उसके सामने जगत्‌का समस्त ज्ञान तुच्छ है। गीता वर्तमान समयमें भी शिक्षित, अशिक्षित भारतीय या भारतेतर सभी समुदायोंके लिये सर्वथा उपयुक्त ग्रन्थ है। गीता-जैसा अपूर्व उपदेश और विलक्षण एकता तथा समता कहीं नहीं दिखायी पड़ते। गागरमें सागरकी भाँति थोड़ेमें ही अनन्त तत्त्व-रहस्यसे भरा हुआ ग्रन्थ अन्य नहीं देखनेमें आता।

गीताका उपदेश बहुत ही उच्चकोटिका है। गीतामें सबसे ऊँचा ज्ञान, सबसे ऊँची भक्ति और सबसे ऊँचा निष्कामभाव भरा हुआ है। गीताके उपदेशको देखकर मनुष्यके हृदयमें स्वाभाविक ही यह प्रभाव पड़ता है कि यह मनुष्यरचित नहीं है।

गीता एक उच्चकोटिका दर्शन-शास्त्र है। यह सिद्धान्त-रत्नोंका सागर है। इसके अध्ययनसे नित्य नये उच्चकोटिके भाव-रत्न प्राप्त होते रहते हैं। गीताका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक गायन करनेसे इतना रस आता है कि उसके सामने सारे रस फीके हैं।

गीता मनुष्यको नीचे-से-नीचे स्थानसे उठाकर ऊँचे-से-ऊँचे परमपदपर आरूढ़ करानेवाला एक अद्भुत प्रभावशाली ग्रन्थ है। मनुष्य जब कभी किसी चिन्ता, संशय और शोकमें मग्न हो जाता है और उसे कोई रास्ता दिखायी नहीं पड़ता, उस समय गीताके श्लोकोंके अर्थ और भावपर लक्ष्य करनेसे वह निश्चिन्त, निःसंशय और शोकरहित होकर प्रसन्नता और शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

गीतामें बहुत-से ऐसे श्लोक हैं, जिनमेंसे एक श्लोकका या उसके एक चरणका भी यदि मनुष्य अर्थ और भाव समझकर अध्ययन करे और उसके अनुसार अपना जीवन बना ले तो उसका निश्चय ही उद्धार हो सकता है। गीतामें मनुष्य-मात्रका अधिकार है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

(गीता ३। ३१)

'जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस सिद्धान्तका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं।'

यहाँ भगवान्‌ने '**मानवाः**' कहकर यह स्पष्ट व्यक्त कर दिया है कि यह एक जातिविशेष या व्यक्तिविशेषके लिये ही नहीं है, इसमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। प्रत्येक वर्ण, आश्रम, जाति, धर्म और समाजका मनुष्य इसका अध्ययन करके अपना कल्याण कर सकता है।

आध्यात्मिक दृष्टिसे सारी मानवजातिपर ही गीताका बहुत प्रभाव पड़ा है। भगवान् श्रीकृष्णका हिंदूजातिमें अवतार हुआ था, इसलिये लोग गीताको प्रायः हिंदुओंका ही धर्मग्रन्थ समझते हैं, पर वास्तवमें यह केवल हिंदुओंके ही लिये नहीं है, ईसाई, मुसलमान आदि सभी धर्मावलम्बियोंके लिये और धर्मको न माननेवालोंके लिये भी समानरूपसे कल्याणका मार्ग दिखानेवाला प्रकाशमय दिव्य सूर्य है। केवल भारतवासियोंके लिये ही नहीं, सम्पूर्ण पृथ्वीपर निवास करनेवाले सभी मनुष्योंके लिये भगवान् श्रीकृष्णने इस गीताका उपदेश किया है। मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस आदि जितने भी बुद्धियुक्त प्राणी हैं, उन सभीके लिये यह कल्याणमय भण्डार है।

कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि गीता तो केवल संन्यासियोंके लिये है, किंतु ऐसा समझना गलत है; क्योंकि अर्जुनने कहा था कि गुरुजनोंको न मारकर मैं भिक्षाका अन्न खाना कल्याणकारक समझता हूँ (गीता २। ५), किंतु भीख माँगकर खाना क्षत्रियका धर्म नहीं, संन्यासीका धर्म है। इससे सिद्ध हुआ कि अर्जुन गृहस्थाश्रमको छोड़कर—संन्यासाश्रम ग्रहण करके भीख माँगकर खाना अच्छा समझते थे, पर भगवान्‌ने उनकी इस समझकी निन्दा की और 'क्षत्रियके लिये धर्मयुद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है (गीता २। ३१)' कहकर उन्हें धर्मयुद्धमें लगाया। अर्जुन गृहस्थी थे और गीताका उपदेश सुननेके बाद भी आजीवन गृहस्थी ही रहे। इससे गीता केवल संन्यासियोंके ही लिये है—यह सिद्ध नहीं होता, बल्कि यही सिद्ध होता है कि गीता संन्यासी-गृहस्थी सभी मनुष्योंके लिये है।

अतः गीताशास्त्र सभीके लिये इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला होनेसे यह सबके लिये सर्वोत्तम परम धर्ममय ग्रन्थ है। इसलिये सभी मनुष्योंको गीताका अर्थ और भाव समझते हुए अध्ययन करना चाहिये। गीताके अध्ययनसे मनुष्यके शरीर, वाणी, मन और बुद्धिकी उन्नति होती है, इस लोकमें धन, जन, बल, मान और प्रतिष्ठाकी प्राप्ति एवं परलोकमें परम कल्याणमय परमात्माकी प्राप्ति होती है।

गीताके अध्ययन-अध्यापन और उसके अनुसार आचरण करनेसे अनेकों ऋषियोंको और अर्जुन, संजय आदि गृहस्थोंको उत्तम गति मिली। स्वामी श्रीशंकराचार्यजी, श्रीरामानुजाचार्यजी, श्रीज्ञानेश्वरजी आदि महानुभावोंको सर्वमान्य लौकिक, पारमार्थिक श्रेष्ठ पदकी प्राप्ति हुई एवं

महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक आदिको बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। अतः गीताके अध्ययन, अध्यापन और उसके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्यको इस लोक और परलोकमें श्रेयकी प्राप्ति होती है।

कोई भी मनुष्य क्यों न हो, जिसकी ईश्वर-भक्तिमें और गीताशास्त्रको सुननेमें रुचि है, वही इसका अधिकारी है। ऐसे अधिकारी मनुष्यको गीता सुनानेवाला मनुष्य मुक्त हो जाता है। वह ईश्वरका अत्यन्त प्यारा बन जाता है। भगवान्ने कहा है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥

(गीता १८। ६८)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है।'

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(गीता १८। ६९)

'उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

अतः हमलोगोंको गीताशास्त्रका अध्ययन-अध्यापन श्रद्धा-भक्तिपूर्वक बहुत उत्साह और तत्परताके साथ करना चाहिये।

गीताके अध्ययन करनेका फल और महत्त्व वर्णन करते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

(गीता १८। ७०)

'जो पुरुष इस धर्ममय, हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसी मेरी मान्यता है।'

अर्थ और भावको समझकर गीताका अभ्यास करनेपर अन्य शास्त्रोंके अध्ययनकी आवश्यकता नहीं रहती। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥

(महा० भीष्म० ४३। १)

'गीताका ही भलीभाँति गान करना चाहिये अर्थात् उसीका भलीभाँति श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये, फिर अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है।'

यहाँ 'पद्मनाभ' शब्दका प्रयोग करके श्रीवेदव्यासजीने यह व्यक्त किया है कि यह गीता उन्हीं भगवान्के मुखकमलसे निकली है, जिनके नाभिकमलसे ब्रह्माजी प्रकट हुए और ब्रह्माजीके मुखसे वेद प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण शास्त्रोंके मूल हैं। अतः संसारमें जितने भी शास्त्र हैं, उन सब शास्त्रोंका सार गीता है—'**सर्वशास्त्रमयी गीता**' (महा० भीष्म० ४३। २)। दुनियामें जो किसी भी धर्मको माननेवाले मनुष्य हैं, उन सभीको यह समानभावसे स्वधर्म पालनमें उत्साह दिलाती है, किसी धर्मकी निन्दा नहीं करती। इसमें कहीं किसी सम्प्रदायके प्रति पक्षपात नहीं है। गीता सारे उपनिषदोंका सार है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गौके समान हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण दूध दुहनेवाले हैं, कुन्तीपुत्र अर्जुन बछड़ा हैं, महत्त्वपूर्ण गीताका उपदेशामृत ही दूध है और सात्त्विक उत्तम बुद्धिवाले पुरुष ही उसके पीनेवाले हैं।'

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। शास्त्रोंमें गङ्गास्नानका फल मुक्ति बतलाया गया है। परंतु गङ्गामें स्नान करनेवाला स्वयं मुक्त हो सकता है, वह दूसरोंको संसार-सागरसे तारनेमें समर्थ नहीं है। किंतु गीतारूपी गङ्गामें गोते लगानेवाला स्वयं तो मुक्त होता ही है, वह दूसरोंको भी तार सकता है। गङ्गा तो भगवान्के चरणोंसे उत्पन्न हुई है, किंतु गीता साक्षात् भगवान्के मुखारविन्दसे निकली है। फिर गङ्गा तो जो उसमें जाकर स्नान करता है, उसीकी मुक्ति करती है; किंतु गीता तो घर-घरमें जाकर उन्हें मुक्तिका मार्ग दिखलाती है।

गीता गायत्रीसे भी बढ़कर है। गायत्री-जप करनेवाला भी स्वयं ही मुक्त होता है; पर गीताका अभ्यास करनेवाला तो तरन-तारन बन जाता है। मुक्तिका तो वह सदाव्रत खोल देता है।

गीताको स्वयं भगवान्से भी बढ़कर कहा जाय तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी; क्योंकि स्वयं भगवान्ने कहा है—

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम्॥

(वाराहपुराण)

'मैं गीताके आश्रयमें रहता हूँ, गीता मेरा उत्तम घर है, गीताके ज्ञानका सहारा लेकर ही मैं तीनों लोकोंका पालन करता हूँ।'

गीता ज्ञानका दिव्य सूर्य है। भक्तिरूपी मणिका भण्डार है। निष्काम-कर्मका अगाध सागर है। गीतामें ज्ञान, भक्ति और निष्कामभावका तत्त्व-रहस्य जैसा बतलाया गया है, वैसा किसी ग्रन्थमें भी एकत्र नहीं मिलता।

आत्माके उद्धारके लिये तो गीता सर्वोपरि ग्रन्थ है ही, इसके सिवा, यह मनुष्यको सभी प्रकारकी उन्नतिका मार्ग दिखलानेवाला ग्रन्थ भी है। जैसे—

शरीरकी उन्नतिके लिये गीतामें सात्त्विक भोजन बतलाया गया है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

(१७। ८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

भाव यह है कि इस प्रकारके सात्त्विक आहारके सेवनसे आयु, अन्तःकरण, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ती है। किंतु इसके विपरीत, शरीरको हानि पहुँचानेवाले राजस-तामस भोजनका त्याग करनेके लिये निषेधरूपसे उनका वर्णन किया गया है (गीता १७। ९-१० में देखिये)।

उत्तम आचरणोंकी शिक्षाके लिये शारीरिक तप बतलाया गया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(गीता १७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, माता-पिता आदि गुरुजनों और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

वाणीको संयत और उन्नत बनानेके लिये वाणीका तप बतलाया गया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(गीता १७। १५)

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नामजपका अभ्यास है—वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

मनको उन्नत बनानेके लिये मानसिक तप बतलाया गया है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

(गीता १७। १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार वह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

इसी प्रकार बुद्धिको उन्नत बनानेके लिये सात्त्विक ज्ञान और सात्त्विकी बुद्धिका वर्णन किया गया है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

(गीता १८। २०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान।'

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

(गीता १८। ३०)

'हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

इसके विपरीत, राजस-तामस ज्ञानका अ० १८ श्लो० २१-२२ में और राजसी-तामसी बुद्धिका अ० १८ श्लोक० ३१-३२ में त्याग करनेके उद्देश्यसे वर्णन किया गया है।

दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन मनुष्यकी उन्नतिमें महान् हानिकर हैं, अतः उनको आसुरी सम्पदा बतलाकर उनका सर्वथा त्याग करनेके लिये कहा गया है (देखिये गीता अ० १६ श्लो० ४ से २१ तक)।

इसके सिवा, उन छब्बीस गुणों और आचरणोंको, जो मनुष्यकी उन्नतिमें मूल कारण हैं, सर्वथा उपादेय और मुक्तिके साधन बतलाकर उनका दैवी सम्पदाके नामसे वर्णन किया गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(गीता १६। १—३)

'भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता,

तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेदादि शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय-भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें स्वार्थ और कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, पर-निन्दा और परदोष-दर्शन न करना, सब भूत-प्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शौचाचार-सदाचार एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब अर्जुन! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।'

न्याय प्राप्त होनेपर गीता युद्ध करनेकी भी आज्ञा देती है; किंतु राग-द्वेषसे रहित होकर समभावसे। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

इसमें कैसी अद्भुत अलौकिक धीरता, वीरता, गम्भीरता और कुशलताका रहस्य भरा हुआ है!

फल, आसक्ति, अहंता, ममतासे रहित होकर संसारके हितके उद्देश्यसे कर्तव्य-कर्म करना गीताका उपदेश है। गीतामें बताये हुए ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग—सब साधनोंका प्रधान उद्देश्य यह है कि सबका परम हित हो। इस उद्देश्यसे स्वार्थ और अभिमानसे रहित होकर सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ त्याग, समता और उदारतापूर्वक प्रेम और विनययुक्त व्यवहार करना चाहिये। उच्चकोटिके साधककी भी समता कसौटी है (देखिये गीता २। १५, ३८, ४८) एवं सिद्ध पुरुषकी भी कसौटी समता है (देखिये गीता ५। १८-१९; ६। ७—९; १२। १८-१९; १४। २४-२५)। अतः सम्पूर्ण क्रियाओं, पदार्थों, भावों और प्राणियोंमें समभाव रखना— यह गीताका प्रधान उपदेश है।

गीतामें सभी बातें युक्तियुक्त हैं। गीताका सिद्धान्त है कि न अधिक सोये, न अधिक जागे, न अधिक खाय और न लङ्घन ही करे अर्थात् सब कार्य युक्तियुक्त करे; क्योंकि उचित भोजन और शयन न करनेसे योगकी सिद्धि नहीं होती। इसीसे भगवान्‌ने कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(गीता ६। १७)

'दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।'

गीतामें सात्त्विक, राजस, तामस क्रिया, भाव और पदार्थका वर्णन किया गया है। उनमें सात्त्विक धारण करनेके लिये और राजस-तामस त्याग करनेके लिये कहा गया है।

यद्यपि उत्तम आचरण और अन्तःकरणका उत्तम भाव—दोनोंको ही गीताने कल्याणका साधन माना है; किंतु प्रधानता भावको दी है।

इस प्रकार अनेक प्रकारके उत्तम-उत्तम रहस्ययुक्त एवं महत्त्वपूर्ण भाव गीतामें भरे हुए हैं। हमलोग धन्य हैं जो हमें अपने जीवनकालमें गीता-जैसा सर्वोत्तम ग्रन्थ देखने-सुनने और पढ़ने-पढ़ानेके लिये मिल रहा है। हमें इस सुअवसरसे लाभ उठाना चाहिये—गीताका तत्परताके साथ श्रद्धा-प्रेम-पूर्वक अध्ययन करना चाहिये।

गीताका अध्ययन करनेवालेको चाहिये कि वह उसे बार-बार पढ़े, हृदयङ्गम करे और मनमें धारण करे एवं उसके प्रत्येक शब्दका इस प्रकार मनन करे कि वह उसके अन्तःकरणमें प्रवेश कर जाय। भगवान्‌के शरण होकर इस प्रकार अध्ययन करनेसे भगवत्कृपासे गीताका अर्थ, भाव और तत्त्व-रहस्य सहज ही समझमें आ सकता है। फिर उसके विचार, गुण और कर्म स्वयमेव गीताके अनुसार ही होने लगते हैं। गीताके अनुसार आचरण हो जानेसे मनुष्यके गुण, आत्मबल, बुद्धि, तेज, ज्ञान, आयु और कीर्तिकी वृद्धि होती है, इतना ही नहीं, वह परमपदस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

सुखोंके भेद और यथार्थ सुखकी महत्ता

संसारमें प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है; पर असली सुख किसमें है, इसकी ओर ध्यान न देकर वह मिथ्या सुखमें ही लगा रहता है, जिससे उसे असली सुखकी प्राप्ति नहीं होती, बल्कि बार-बार दुःख ही प्राप्त होता रहता है। अतः मनुष्यको मिथ्या सुखका त्याग करके सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। भगवान्ने गीतामें अठारहवें अध्यायके ३६वेंसे ३९ वें तक चार श्लोकोंमें सुखके तीन भेद बतलाये हैं— सात्त्विक, राजस और तामस। इनमेंसे तामस और राजस सुख त्याग करनेके उद्देश्यसे और सात्त्विक सुख सेवन करनेके उद्देश्यसे बतलाया गया है। सात्त्विक सुख, सात्त्विक त्याग, सात्त्विक पदार्थ, सात्त्विक कर्म और सात्त्विक भावोंके सेवनका फल असली सुख है, जो तीनों गुणोंसे अतीत है, परमात्माका स्वरूप है और सब साधनोंका फल है। इसीकी प्राप्तिको परमपद, परमगति और मुक्तिकी प्राप्ति कहते हैं।

अब तामस, राजस और सात्त्विक सुखका क्रमशः प्रतिपादन किया जाता है—

१—तामस सुख

तामस सुख मनुष्यको मोहित करनेवाला और महान् हानिकर है, इसलिये उसका त्याग अवश्य ही कर देना चाहिये। तामस सुखका लक्षण भगवान्ने गीतामें इस प्रकार बतलाया है—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मन।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥

(१८। ३९)

'जो सुख भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस कहा गया है।'

निद्रासे उत्पन्न सुख तामस इसलिये है कि निद्रामें वृत्ति मोहित हो जाती है, इसमें मनुष्यको बाह्यज्ञान नहीं रहता। उस समय स्वप्नमें भी जो चिन्तन होता है, उसमें भी मनुष्य पराधीन रहता है। एवं अधिक सोनेसे ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि किसी भी योगके साधनकी सिद्धि नहीं होती (गीता ६। १६), वरं इससे तमोगुण बढ़ता है; इसलिये निद्रासे उत्पन्न सुखको तामस बतलाया गया है।

आलस्यके कारण मनुष्य कर्तव्यकर्मोंको करनेमें विलम्ब कर देता है और अकर्मण्यतामें समयको व्यर्थ बिता देता है एवं कर्तव्य-कर्म करते समय भी मनुष्य तन्द्रामें मग्न रहता है। इससे कर्तव्य-कर्मकी हानि होती है, स्मरण-शक्ति भी कमजोर हो जाती है; मोह, अज्ञान और तमोगुण बढ़ते हैं। इसलिये आलस्यसे उत्पन्न सुखको तामस बतलाया गया है।

प्रमाद दो प्रकारका होता है—१—करनेयोग्य कर्मको न करना और २—न करनेयोग्यको करना। प्रमादी मनुष्य कहीं तो कर्तव्य-कर्मका त्याग कर देता है, कहीं तिरस्कार कर देता है और कहीं अवहेलना कर देता है। इस तरह कर्तव्यच्युत होनेसे उसे परिणाममें नरककी प्राप्ति होती है तथा वह न करने योग्य (पाप) कर्म—शास्त्रनिषिद्ध कर्म तथा व्यर्थ-कर्मका सेवन करता है; इसलिये नरकमें जाता है।

झूठ-कपट, चोरी-बेईमानी, मांस-भक्षण आदिका सेवन, आत्म-हत्या या पर-हत्या करना, परस्त्रीगमन आदि दुराचार शास्त्रनिषिद्ध कर्म अर्थात् पापकर्म हैं। बीड़ी, सिगरेट, भाँग, तम्बाकू, गाँजा, शुल्फा आदि मादक वस्तुओंका सेवन तथा सिनेमा, थियेटर, नाटक आदि खेल-तमाशोंका देखना, चौपड़-ताश और शतरंज आदि खेलना, सभी दुर्व्यसनरूप व्यर्थ कर्म शरीरका प्रमाद है। दूसरोंकी निन्दा, चुगली, व्यर्थ वार्तालाप, मिथ्या भाषण और कठोर वचन—यह वाणीका प्रमाद है। क्रोध, मोह, मद, दम्भ, दर्प, दुराग्रह, नास्तिकता, क्रूरता, वैर आदि दुर्गुणोंको धारण करना तथा मनसे पापमय वासना और व्यर्थ चिन्तन करना—यह मनका प्रमाद है।

अतः तामस सुखके हेतुभूत निद्रा, आलस्य, प्रमाद तथा तामस भोजन (गीता १७। १०), तामस यज्ञ (गीता १७। १३), तामस तप (गीता १७। १९), तामस दान (गीता १७। २२), तामस कर्म (गीता १८। २५), तामस त्याग (गीता १८। ७), तामस ज्ञान (गीता १८। २२), तामसी बुद्धि (गीता १८। ३२) और तामसी धृति (गीता १८। ३५)—ये सभी तामस पदार्थ, तामसी क्रिया और तामस भाव आदि और अन्तमें मोह, अज्ञान और तमोगुणके उत्पादक, नरकदायक एवं महान् हानिकर होनेके कारण इनसे उत्पन्न सुख तामस है। अतः ये सर्वथा त्याज्य हैं।

विचार करके देखनेपर पता लगता है कि ये सभी वर्तमानमें और परिणाममें दुःख ही देनेवाले हैं; किंतु अज्ञानसे इन दुःखप्रद पदार्थोंमें सुखबुद्धि होनेके कारण सुख प्रतीत होता है। अतः इनका सर्वथा त्याग कर देना

चाहिये। केवल शरीर और इन्द्रियोंकी थकावट दूर करनेके लिये उनके विश्रामके लिये अधिक-से-अधिक छः घंटे सोना उपयोगी है। भगवान्‌ने बतलाया है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(गीता ६। १७)

'यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही दुःखनाशक योग सिद्ध होता है।'

पर इस उचित शयनकालमें भी इतना सुधार कर लेना परम आवश्यक है कि मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ जो बहिर्मुख हो रही हैं, उनको अन्तर्मुख करके सोना चाहिये। अभिप्राय यह कि मनमें स्वाभाविक ही जो संसारके पदार्थोंके चिन्तनका प्रवाह चल रहा है, उसको भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव आदिके चिन्तनमें परिवर्तित करके शयन करना चाहिये। इससे वह शयनकाल भी साधनकालमें परिणत होकर ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि साधनोंमें सहायक हो जाता है एवं छः घंटेका शयनकाल भी सार्थक बन जाता है।

२—राजस सुख

राजस सुख भी परिणाममें हानिकर है, इस कारण उसका भी अवश्य त्याग करना चाहिये। राजस सुखका लक्षण भगवान्‌ने इस प्रकार बतलाया है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

(गीता १८। ३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है; इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।'

यह इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे होनेवाला सुख भी वास्तवमें दुःखरूप ही है। इसमें जो सुखबुद्धि है, वह अज्ञानके कारण ही है। महर्षि पतञ्जलिजीने इसको अविद्याका ही एक भेद बतलाया है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

(योगदर्शन २। ५)

'अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मामें क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभावकी प्रतीति ही 'अविद्या' है।'

अतः संसारके भोगोंमें सुखबुद्धि करना दुःखमें ही सुखबुद्धि करना है और यह अज्ञान है; क्योंकि संसारके विषयभोग आरम्भमें सुखप्रद प्रतीत होते हैं, पर वास्तवमें उनमें सुख नहीं है। जैसे फतिंगोंको दीपककी लौमें आरम्भमें सुख प्रतीत होता है, परंतु वह अन्तमें महान् दुःखदायी है; क्योंकि जब दीपककी लौका स्पर्श करनेपर उनके पंख झुलस जाते हैं, तब वे तड़फ-तड़फकर मरते हैं। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न राजस सुख आरम्भमें अमृतके समान दीखते हैं, पर परिणाममें वे विषके समान हैं।

अतएव राजस भोजन (गीता १७। ९)के पदार्थोंका, राजस यज्ञ (गीता १७। १२), राजस तप (गीता १७। १८), राजस दान (गीता १७। २१), राजस कर्म (गीता १८। २४) आदि फलेच्छासे युक्त राजसी क्रियाओंका तथा राजस त्याग (गीता १८। ८), राजस ज्ञान (गीता १८। २१), राजसी बुद्धि (गीता १८। ३१), राजसी धृति (गीता १८। ३४) एवं राग-द्वेष, काम, लोभ, मत्सरता, अहंकार, अभिमान, दम्भ, दर्प, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा, अपवित्रता, विषयचिन्तन, व्यर्थ आशा, भोगेच्छा, व्यर्थ मनोरथ और अन्यायपूर्वक अर्थ-संग्रहकी इच्छा आदि राजस भावोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

जो भी इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न सुख है, वह सब देश, काल और वस्तुसे अल्प, क्षणिक, नाशवान्, अनित्य और असत् है। उदाहरणार्थ, जिह्वाके विषयपर विचार करें। जब हम किसी पदार्थको खाते हैं, तब उसमें जिह्वाको ही सुख मिलता है, कानको नहीं; इसलिये वह एकदेशीय होनेसे अल्प है तथा भोजनकालमें ही वह सुख मिलता है, अन्य समयमें नहीं; इसलिये वह एककालिक होनेसे अल्प है। एवं वह भोजन करनेका पदार्थ परिमित है, अतः वह वस्तुसे भी अल्प है और उस पदार्थका क्षय होता रहता है, अतः वह क्षणिक और अनित्य है; अन्तमें वह नष्ट हो जाता है, अतः नाशवान् है। जो अनित्य—नाशवान् है, वह असत् है। अर्थात् उसकी केवल प्रतीति ही होती है, वह वास्तवमें नहीं है; क्योंकि सत् होता तो उसका कभी अभाव नहीं होता। भगवान्‌ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं होता; इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

इसी प्रकार नेत्रके विषयरूपके सम्बन्धमें समझना चाहिये। जब हम किसी सुन्दरी स्त्री आदि दृश्यको

देखते हैं तो उसमें नेत्रोंको ही सुख मिलता है, जिह्वाको नहीं; इसलिये वह एकदेशीय होनेसे अल्प है तथा देखनेके समय ही वह सुख मिलता है, अन्य समयमें नहीं; इसलिये वह एककालिक होनेसे अल्प है एवं वह दृश्य पदार्थ परिमित है, अतः वह वस्तु भी अल्प है और उस पदार्थका क्षय होता रहता है, अतः वह क्षणिक और अनित्य है। अन्तमें वह नष्ट हो जाता है, अतः नाशवान् है। जो अनित्य और नाशवान् है, वह असत् है।

इसी प्रकार खान-पान, भोग-विलास, ऐश-आराम, स्वाद-शौक, हँसी-मजाक, इत्र-फुलेल, नाच-गान, ताश-चौपड़, खेल-तमाशा, सिनेमा-थियेटर, सर्कस-क्लब आदि अन्यान्य विषयोंमें प्रतीत होनेवाले सभी सुख देश, काल, वस्तुसे अल्प, क्षणिक, नाशवान्, दुःखदायी, अनित्य और असत् हैं। इनमें केवल भोगकालमें ही सुख प्रतीत होता है, पर इनका परिणाम दुःखदायी और महान् हानिकर है। इसलिये इन विषयजन्य राजस सुखोंका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

मनुष्यको अनुकूलतामें राग और प्रतिकूलतामें द्वेष स्वाभाविक ही होता है। वह जब किसीके साथ वैर-द्वेष करता है और उसकी क्रिया सफल हो जाती है, तब उसे सुख प्रतीत होता है। किंतु जब उसका वैरी या द्वेषी बदला लेता है, उसकी क्रियाका प्रतीकार करता है, तब उसे महान् दुःख होता है। क्योंकि जिस वस्तुमें राग होता है, उसकी प्राप्तिमें क्षणिक सुख होता है; किंतु उसके नाश, वियोग और अभावमें दुःख होता है। जो उसके संयोगमें सुख होता है, वह भी देश, काल, वस्तुसे अल्प, क्षणिक, नाशवान्, अनित्य और असत् है तथा परिणाममें दुःखदायी है, इसलिये सर्वथा त्याज्य है।

मनुष्य किसी स्त्री, पुत्र, धन, मकान, जीवन, आरोग्य, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छा करता है; किंतु उसकी इच्छाके अनुसार ही इच्छित वस्तु प्राप्त हो जाय, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि सभी सुन्दर और युवती स्त्री चाहते हैं, सभी सुपात्र, विद्वान् और सेवाभावसम्पन्न पुत्र चाहते हैं, सभी धन-मकान आदि सम्पत्ति चाहते हैं, सभी अधिक कालतक जीना चाहते हैं, सभी नीरोग रहना चाहते हैं, सभी मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा करते हैं; पर ये सब सभीको इच्छानुसार प्राप्त नहीं होते, अतः इच्छा या कामना करनेमें दुःखके सिवा कोई लाभ नहीं है।

मनुष्य कामके वशीभूत होकर स्त्री-सहवास करता है तो उसे क्षणिक सुख मिलता है। पर उसके परिणामस्वरूप उसके बल, वीर्य, बुद्धि, तेज, आयु, आरोग्य और स्मरणशक्तिका विनाश होता है; अतः परिणाममें दुःखदायी ही है।

मनुष्य लोभके वशीभूत होकर झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी और विश्वासघातपूर्वक व्यापार करता है; अन्यायपूर्वक रुपया बचानेके लिये आय-कर, बिक्री-कर, सम्पत्ति-कर, दान-कर, व्यय-कर, मृत्यु-कर आदि अनेक सरकारी करोंकी स्वयं या सरकारी अधिकारियोंसे मिलकर चोरी करता है; व्यापारमें तौल-माप और संख्यामें अधिक लेता और कम देता है; मुनाफा, आढ़त, दलाली, कमीशन, ब्याज, भाड़ा आदि ठहराकर—तय करके उससे अधिक लेता और कम देता है; रूई, पाट, सुपारी आदि वस्तुओंमें जल छिड़ककर उनका वजन बढ़ा देता है; जीरा, दाल आदिमें मिट्टी-कंकड़; घीमें वनस्पतितैल, दूधमें पानी, शुद्ध तैलमें ह्वाइट ऑयल आदि वस्तुओंको मिलाकर उनको दूषित कर देता है; बढ़िया वस्तु दिखाकर घटिया देता है एवं अन्यान्य अन्यायपूर्ण उपायोंद्वारा रुपये एकत्र करता है। उसमें उसे आरम्भमें तो सुख प्रतीत होता है; पर अन्तमें इस लोकमें निन्दा, अपमान और बेइज्जती होती है तथा परलोकमें दुर्गतिरूप भयानक कष्ट प्राप्त होता है।

मनुष्य दूसरोंकी उन्नति देखकर डाह करता है, उनको नीचा दिखाने और नीचे गिरानेकी चेष्टा करता है, तब उसे कार्यकी सफलतामें सुख-सा प्रतीत होता है। पर जब उसकी चेष्टा व्यर्थ हो जाती है, तब उसके हृदयमें जलन पैदा हो जाती है। अतः उसका परिणाम भी दुःखदायी ही है।

इसी प्रकार जो नाम, जाति, देश, धन, विद्या, बल, आयु और श्रेष्ठता आदि किसी भी प्रकारका अभिमान या घमंड है, उसमें थोड़े कालके लिये ही सुख प्रतीत होता है; पर उसका फल दुःखदायक और नाशवान् है, अतः वह अनित्य और असत् है।

इसी तरह अन्य सभी राजस सुख, पदार्थों, क्रियाओं और भावोंके सम्बन्धमें समझ लेना चाहिये।

गीतामें भगवान्‌ने जहाँ-जहाँ राजस और तामस सुख, पदार्थ, क्रिया और भावोंका वर्णन किया है, वह उनका त्याग करानेके उद्देश्यसे ही किया है। अतः उन सबका त्याग कर देना चाहिये। एवं सात्त्विक सुख, पदार्थ, क्रिया और भाव मुक्तिमें सहायक और इहलोक तथा परलोकमें हितकारक होनेके कारण भगवान्‌ने उनका वर्णन ग्रहण करानेके उद्देश्यसे ही किया है।

३—सात्त्विक सुख

सात्त्विक सुखके लक्षण भगवान्‌ने इस प्रकार बतलाये हैं—

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्॥
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।

(गीता १८। ३६-३७)

'जिस सुखमें साधक मनुष्य भजन, ध्यान, तीर्थ, व्रत, तप, उपवास, सेवा आदिके अभ्याससे सुखका अनुभव करता है और जिससे दुःखोंके अन्तको प्राप्त होता है, जो ऐसा सुख है, वह आरम्भकालमें यद्यपि विषके तुल्य प्रतीत होता है, परंतु परिणाममें अमृतके तुल्य है, इसलिये वह परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख सात्त्विक कहा गया है।'

कर्मयोग, भक्तियोग या ज्ञानयोगके साधनसे मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है। इसलिये इन साधनोंमेंसे किसी भी साधनका निष्कामभावसे तत्परताके साथ अभ्यास करना चाहिये; क्योंकि इन साधनोंके अनुसार भजन, ध्यान, यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, सेवा आदिका अभ्यास करनेसे ही अन्तःकरण शुद्ध होकर सात्त्विक सुखकी प्राप्ति होती है और सात्त्विक सुखकी प्राप्ति होनेपर समस्त दुःखोंका अत्यन्त अभाव होकर परमात्मामें बुद्धि स्थिर हो जाती है, जिसके फलस्वरूप उसे परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(गीता २। ६४-६५)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक तो अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नता (स्वच्छता) को प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर उसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

मनुष्यकी स्वाभाविक ही सांसारिक क्रियाओंमें और विषयभोगरूप पदार्थोंमें आसक्ति रहती है; इस कारण सात्त्विक पदार्थों, सात्त्विक क्रियाओं और सात्त्विक भावोंके सेवनमें प्रथम कठिनता प्रतीत होती है, इसीलिये उसको आरम्भमें विषके समान बतलाया गया है। किंतु उन सात्त्विक पदार्थों, क्रियाओं और भावोंका सेवन करते-करते अन्तमें उससे अन्तःकरण शुद्ध होकर पूर्ण सात्त्विक सुख प्राप्त हो जाता है, इसलिये सात्त्विक सुखको अमृतके समान बतलाया गया है।

अतएव सात्त्विक भोजन (गीता १७। ८) के पदार्थोंका तथा सात्त्विक यज्ञ (गीता १७। ११), सात्त्विक तप (गीता १७। १४—१७), सात्त्विक दान (गीता १७। २०), सात्त्विक कर्म (गीता १८। २३) आदि सात्त्विक क्रियाओंका सम्पादन एवं सात्त्विक त्याग (गीता १८। ९), सात्त्विक ज्ञान (गीता १८। २०), सात्त्विकी बुद्धि (गीता १८। ३०), सात्त्विकी धृति (गीता १८। ३३) आदि सात्त्विक भावोंका सेवन करना चाहिये। इससे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर सात्त्विक सुखकी प्राप्ति हो जाती है; फिर परमात्मामें बुद्धि स्थिर हो जाती है, जिसके फलस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। जैसे गीता अ० १३ श्लो० ७ से ११ तक वर्णित ज्ञानके साधन और अ० १६ श्लो० १ से ३ तक वर्णित दैवी सम्पदाके गुण-आचरणोंका पालन मुक्तिदायक है, उसी प्रकार सात्त्विक पदार्थों, क्रियाओं और भावोंका सेवन भी मुक्तिदायक है; अतः इनका सेवन करना परम आवश्यक है।

किंतु मनुष्यको इनका सेवन करते समय अपनेको कृतकृत्य नहीं मान लेना चाहिये और इनमें आसक्त भी नहीं होना चाहिये; क्योंकि इनसे उत्पन्न ज्ञान और सुखमें आसक्ति होनेपर आगे बढ़नेमें रुकावट हो सकती है। भगवान्‌ने भी अर्जुनसे कहा है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥

(गीता १४। ६)

'हे निष्पाप अर्जुन! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है। वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् उसके अभिमानसे बाँधता है।'

अतः इस बातपर विशेष ध्यान रखना चाहिये कि सात्त्विक पदार्थों, सात्त्विक क्रियाओं और सात्त्विक भावोंका सेवन तो करें, परंतु सेवन करके अपनेमें सात्त्विकताका—अच्छेपनका अभिमान न करें।

उपर्युक्त तामस, राजस और सात्त्विक भावों आदिकी पहचानके लिये इनका परस्पर भेद समझना आवश्यक है। तमोगुणमें मोह और अज्ञान अधिक है, बुद्धिका प्रकाश बहुत ही कम है और उत्तम क्रियाका अभाव है; किंतु रजोगुणमें तमोगुणकी अपेक्षा मोह और अज्ञान कम है, बुद्धिका प्रकाश कुछ अधिक है और सकामभावसे उत्तम क्रियाओंका बाहुल्य है। इसलिये तमोगुणकी अपेक्षा रजोगुण श्रेष्ठ है। किंतु रजोगुणकी अपेक्षा सत्त्वगुण तो बहुत ही श्रेष्ठ है; क्योंकि उसमें मोह

और अज्ञान लेशमात्र हैं, बुद्धिका अतिशय प्रकाश है और क्रिया उत्तम तथा निष्काम भावसे होती है।

अतएव जो पदार्थ, क्रिया अथवा भाव हिंसा, मोह और प्रमादसे युक्त हो तथा जिसका फल दुःख और अज्ञान हो, उसको तामस समझना चाहिये। जो पदार्थ, क्रिया अथवा भाव लोभ, स्वार्थ और आसक्तिसे युक्त हो तथा जिसका फल क्षणिक सुखकी प्राप्ति एवं अन्तिम परिणाम दुःख हो, उसको राजस समझना चाहिये। जो पदार्थ, क्रिया अथवा भाव स्वार्थ, आसक्ति और ममतासे युक्त न हो तथा जिसका अन्तिम फल परमात्माकी प्राप्ति हो, उसको सात्त्विक समझना चाहिये।

४—यथार्थ सुख

यद्यपि उपर्युक्त सात्त्विक सुख भी सत्त्वगुणसे सम्बन्ध रखनेवाला होनेके कारण असली सुखकी अपेक्षा अल्प, अनित्य और मायिक ही है, तथापि सात्त्विक पदार्थोंके सेवन, सात्त्विक क्रियाओंके आचरण और सात्त्विक भावोंके धारणको असली सुखकी प्राप्तिमें हेतु होनेके कारण 'कर्तव्य' बतलाया गया है; किंतु इनका सेवन करते समय उसमें रसास्वादका अनुभव करते हुए रमण नहीं करना चाहिये, प्रत्युत परमात्माकी प्राप्तिरूप असली सुखको लक्ष्यमें रखकर तथा स्वार्थ, आसक्ति और अभिमानसे रहित होकर साधन करते ही रहना चाहिये। इस प्रकार साधन करते-करते परमात्माकी प्राप्तिरूप असली सुख प्राप्त हो जाता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(गीता ५। २०-२१)

'जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।'

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थिर जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।'

यहाँ '**विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्**' में वर्णित 'सुख' 'ध्यान-जनित सात्त्विक सुख'का वाचक है और '**सुखमक्षयमश्नुते**' में वर्णित सुख 'परमात्माकी प्राप्ति' रूप यथार्थ सुखका वाचक है; क्योंकि इसमें 'सुख'का विशेषण 'अक्षय' दिया गया है।

इसी प्रकार—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(गीता ५। २४)

'जो पुरुष आत्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

इस श्लोकमें आत्मामें सुखवाले योगीको निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति होनेका वर्णन है, इसलिये यह सुख साधनकालका होनेसे सात्त्विक है। किंतु निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति ही यथार्थ सुख है।

तथा—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(गीता ३। १७)

'परंतु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

इस श्लोकमें आत्मसंतुष्ट पुरुषके लिये कर्तव्यका अभाव बतलाया गया है, इसलिये यह 'आत्मसंतुष्टिरूप' सुख 'परमात्मप्राप्ति' रूप सुख है।

एवं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २१-२२)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई स्थिर, सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं तथा परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता (उसको जानना चाहिये)।'

यहाँ बतलाया हुआ सुख परमात्माकी प्राप्तिरूप सुख है; क्योंकि इसका विशेषण 'आत्यन्तिक' दिया

गया है और यह कहा गया है कि ऐसे सुखको प्राप्त पुरुष भारी दुःख प्राप्त होनेपर भी उस परमात्मप्राप्तिरूप सुखसे विचलित नहीं होता।

इसी प्रकार भगवान्‌ने गीता अध्याय ६ श्लोक २७-२८ में बतलाया है—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

'क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है।'

यहाँ २७ वें श्लोकमें सुखका 'उत्तम' विशेषण और २८ वेंमें 'अत्यन्त' तथा 'ब्रह्मसंस्पर्श' विशेषण दिया गया है, अतः यह परमात्माकी प्राप्तिरूप सुख है।

इसी प्रकार भगवान्‌ने जो यह कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(गीता १४। २७)

'क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य-धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ।'

इसमें 'सुख' का विशेषण 'ऐकान्तिक' दिया गया है, अतः यह भी परमात्मस्वरूप सुख है।

इसी यथार्थ सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिको गीतामें कहीं 'ब्रह्मनिर्वाण' (गीता ५। २४), कहीं 'निर्वाणपरमा शान्ति' (गीता ६। १५), कहीं 'परम गति' (गीता ८। १३), कहीं 'अमृत' (गीता १३। १२), कहीं 'अव्यय पद' (गीता १५। ५), कहीं 'परमधाम' (गीता १५। ६), कहीं 'संसिद्धि' (गीता १८। ४५), कहीं 'परम शान्ति' और 'शाश्वत स्थान' (गीता १८। ६२) आदि नामोंसे कहा गया है।

अतएव मनुष्यजीवनका समय बहुत ही अमूल्य और क्षणिक है—यों समझकर, ममता-आसक्ति और अभिमानको छोड़कर विवेक-वैराग्ययुक्त चित्तसे उपर्युक्त यथार्थ सुखकी प्राप्तिके उद्देश्यसे मनुष्यको शास्त्रोंमें वर्णित ज्ञानयोग (गीता १८। ५१—५५), भक्तियोग (गीता ११। ५४-५५), कर्मयोग (गीता २। ४७—५१), और अष्टाङ्गयोग (गीता ५। २७-२८) आदि अनेक साधनोंमेंसे किसीका भी अनुष्ठान करनेके लिये कटिबद्ध होकर तत्परतापूर्वक प्राणपर्यन्त शीघ्रातिशीघ्र प्रयत्न करना चाहिये।

परमानन्दस्वरूप निरतिशय असली सुखकी प्राप्तिके साधन

सांख्यशास्त्रमें आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखोंके अभावको मुक्ति कहा गया है। मनुष्य, पशु-पक्षी आदि प्राणियोंके द्वारा जो दुःख प्राप्त होता है, उसे आधिभौतिक दुःख कहते हैं तथा सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, जल आदि देवताओंके द्वारा जो दुःख प्राप्त होता है, वह आधिदैविक दुःख है एवं जो आधि (मानसिक पीड़ा) और व्याधि (शारीरिक पीड़ा) प्राप्त होती है, उसे आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। सांख्यशास्त्रमें इन सब दुःखोंके अत्यन्त अभावको ही मुक्ति बताया गया है; किंतु गीतामें इन समस्त दुःखोंके आत्यन्तिक अभावके साथ ही परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त नित्य आनन्दकी उपलब्धि होना ही मुक्ति माना गया है और उसीको परम शान्तिकी प्राप्ति, परम आनन्दकी प्राप्ति, निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति, परमपदकी प्राप्ति, परमगतिकी प्राप्ति आदि अनेक नामोंसे कहा गया है। गीतोक्त मुक्तिमें सम्पूर्ण दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन और दुःखोंका अत्यन्त अभाव स्वाभाविक ही है।

हमलोग ध्यान देकर देखें तो मालूम होगा कि संसारमें आज जो बड़े-बड़े नेता, पण्डित, विद्वान्, राजा-महाराजा एवं पदाधिकारी आदि महान् व्यक्ति कहे जाते हैं, वे चाहे स्त्री हों या पुरुष, प्रायः सभी उपर्युक्त आधि-व्याधि आदि दुःखोंसे दुःखी हैं। इसलिये हमें उस सुखकी खोज करनी चाहिये, जिसकी प्राप्ति होनेपर समस्त दुःखोंका अत्यन्त अभाव होकर परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति सदाके लिये हो जाय। जिस आनन्दकी कहीं सीमा ही नहीं है, जो सदा-सर्वदा एकरस विद्यमान रहता है, जिसका कभी अभाव नहीं होता, जिसकी प्राप्ति सुगम है और जिसमें मनुष्यमात्रका अधिकार है, वह सुख परमात्माकी प्राप्ति ही है। परमात्मा तो सब प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं। उनके लिये सब समान हैं; फिर हमलोग उनसे वञ्चित क्यों रहें?

खोज करनेपर यही पता लगता है कि परमात्मा ही एक ऐसी वस्तु है, जिसकी प्राप्ति होनेपर सारे दुर्गुण-दुराचार, दुर्व्यसन और दुःखोंका नाश होकर सदाके लिये परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति अपने-आप ही हो जाती है। इससे उसमें सद्‌गुण-सदाचार स्वाभाविक ही आ जाते हैं। विज्ञानानन्दघन परमात्मा अनन्त हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड उन परमात्माके एक अंशमें है।

इस संसारमें जो सुख प्रतीत हो रहा है, वह असली सुखके एक अंशका प्रतिबिम्बमात्र है। जैसे असीम-अनन्त आकाशमें एक तारा उस आकाशके एक अंशमें ही है, उसी प्रकार सारा ब्रह्माण्ड परमात्माके एक अंशमें है। अतः उन आकाशस्थानीय अनन्त विज्ञानानन्दघन परमात्माकी तुलनामें सारे ब्रह्माण्डका सुख एक तारेकी तरह तुच्छ है। परमात्माका स्वरूपभूत सुख तो नित्य, सत्य और चिन्मय है, किंतु संसारका सुख क्षणिक और नाशवान् होनेसे अल्प, मिथ्या और जड है। भगवान्‌ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६ का पूर्वार्ध)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है।' जो जाननेमें आता है वह जड है और जो जाननेवाला है वह चेतन है। यह दृश्य संसार जाननेमें आता है, इसलिये जड है और परमात्मा द्रष्टा, साक्षी, ज्ञाता होनेसे चेतन है। अतः उन अनन्त चेतन आनन्दराशि परमात्माकी अवहेलना करके संसारके नाशवान् क्षणभङ्गुर सुखके लिये भटकते रहना बड़े दुःख और लज्जाकी बात है।

मनुष्य ही नहीं, संसारके सभी प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख कोई भी किंचिन्मात्र भी नहीं चाहता, किंतु जिससे वास्तविक अनन्त सुख मिलता है, उसकी प्राप्तिके लिये प्रायः लोग प्रयत्न नहीं करते।

हमलोगोंकी बुद्धिमें जो सुख प्रतीत होता है, वह असली सुखके एक अंशका प्रतिबिम्बमात्र है। जैसे एक दर्पणमें अनन्त आकाशका एक अंशमात्र ही दिखलायी पड़ता है, पर वह वास्तवमें आकाश नहीं, आकाशका प्रतिबिम्बमात्र है। प्रथम तो आकाशका प्रतिबिम्ब पड़ता ही नहीं; क्योंकि वह निराकार है। इसके सिवा दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब-सा दिखलायी देता है, वह भी सारे आकाशका नहीं, जो आकाश दर्पणके सम्मुख है उस आकाशके किसी एक अंशका ही वह प्रतिबिम्ब है। सारे आकाशका तो प्रतिबिम्ब ही दर्पणमें नहीं आ सकता; क्योंकि आकाश सब ओर है और दर्पण एक ओर है। इसी प्रकार परमात्मा अनन्त, सर्वव्यापी, चिन्मय तथा निर्गुण-निराकार है और बुद्धि जड, अल्प और एकदेशीय है। अतः बुद्धिरूप दर्पणमें प्रतीत होनेवाला सुख परमात्मसुखके किसी एक अंशका ही प्रतिबिम्ब है। इस कारण वह अल्प, एकदेशीय, क्षणिक और नाशवान् होनेसे असत् है।

इस प्रकार समझकर मनुष्यको वास्तविक सच्चे सुखकी खोज करनी चाहिये। उस सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिये गीतामें बहुत-से श्लोक कहे गये हैं। उनमेंसे मनुष्य एक श्लोकको भी धारण कर ले तो उसका सहज ही कल्याण हो सकता है।

भगवान् गीतामें कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(६। २१-२२)

'इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई स्थिर, सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं एवं परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्म-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता (उसको जानना चाहिये)।'

अभिप्राय यह है कि वह परमात्मसुख अनन्त, असीम और अपरिमित है। वह सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्राह्य (अनुभव करने योग्य) है, वहाँ मन-इन्द्रियोंकी पहुँच नहीं है। श्रुतिने भी उसकी महिमामें कहा है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन॥

(तैत्तिरीयोपनिषद् २। ४। १)

'जहाँसे मनसहित वाणी आदि इन्द्रियाँ उसे न पाकर लौट आती हैं, उस परब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला पुरुष कभी भय नहीं करता।'

उसका अनुभव होनेपर फिर योगी उससे विचलित नहीं होता, निरन्तर उसीमें रहता है तथा उससे बढ़कर और कुछ भी नहीं समझता। यही नहीं, यदि उसके मन-बुद्धि-शरीरपर भारी-से-भारी संकट प्राप्त हो जायँ तो भी वे उसको विचलित नहीं कर सकते। वहाँ दुःखोंका सर्वथा अत्यन्त अभाव हो जाता है (गीता ६। २३)।

संसारी मनुष्य कभी सांसारिक सुखोंसे अघाता नहीं;

किंतु मनुष्यको जब उस परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है, तब सांसारिक सुख उसके सामने नगण्य हो जाते हैं; क्योंकि उससे बढ़कर संसारमें कोई सुख ही नहीं है। जब मनुष्यको ऐसे अनुपम सुखकी प्राप्ति हो जाती है, तब फिर जो दुःख ही सुखरूपमें दिखलायी पड़ रहा है, उस सांसारिक सुखकी ओर उसकी वृत्ति ही कैसे जा सकती है?

जिसे बड़े-से-बड़ा भी सांसारिक सुख प्राप्त है, उसे भी जब बड़ा भारी दुःख प्राप्त होता है, तब वह उस सुखको भूल जाता है और उसका जीवन दुःखमय हो जाता है। सुखकी मात्राका माप करनेके लिये दुःख ही कसौटी है। चाहे कोई सांसारिक सुखसे कितना ही सुखी क्यों न हो, अत्यन्त दुःखकी प्राप्ति होनेपर वह विचलित हो ही जाता है, किंतु परमात्माकी प्राप्तिरूप सुखमें स्थित हुआ पुरुष भारी-से-भारी दुःखकी प्राप्ति होनेपर भी विचलित नहीं होता। चाहे उसे कोई आगमें जला दे, शस्त्रोंसे उसके टुकड़े-टुकड़े कर दे, उसकी सारी सम्पत्तिमें आग लग जाय या सारे कुटुम्ब और सारी सम्पत्तिका समूल नाश हो जाय, तो भी वह मनुष्य न तो विचलित होता है और न उसके चित्तमें कोई विकार पैदा होता है (गीता ६। २२)।

संसारमें जो सुख प्रतीत होता है, वह उस आनन्दमय परमात्मासे ही होता है और वह भी परमात्माके किसी एक अंशका ही प्रतिबिम्ब है। प्रतिबिम्ब होनेके कारण ही वह नित्य स्थित नहीं रहता। इसलिये वह असत् है। उसकी जो प्रतीति होती है, वह अविद्यासे होती है। महर्षि पतञ्जलिजीने बतलाया है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु
नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।
(योग० साधन० ५)

'अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मामें क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभावकी प्रतीति ही अविद्या है।'

भाव यह है कि सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ अनित्य हैं। उनमें नित्य बुद्धि होना, यह देह मांस-मज्जादि अपवित्र वस्तुओंका संघात है, इसमें पवित्रबुद्धि होना, संसारके समस्त विषयभोग दुःखरूप हैं, उनमें सुखबुद्धि होना और यह जड शरीर अनात्मा है, इसमें आत्मबुद्धि होना—यह अविद्या है।

अतः जिसको लोग दुःख समझते हैं, वह तो दुःख है ही, किंतु जो मोह-मायामें फँसे हुए मूर्खोंकी दृष्टिमें सुखके रूपमें प्रतीत हो रहा है, वह भी वस्तुतः दुःख ही है। महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति-
विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।
(योग साधन १५)

'परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख सबमें विद्यमान रहनेके कारण और तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकीके लिये तो सब-के-सब विषयजन्य सुख भी दुःखरूप ही हैं।'

परिणामदुःख

जो शुभ कर्मोंका फल भोगकालमें स्थूल दृष्टिसे सुखप्रद प्रतीत होता है, उसका भी परिणाम (नतीजा) दुःख ही है तथा भोगोंको भोगते-भोगते मनुष्य थक जाता है, उन्हें भोगनेकी शक्ति उसमें नहीं रहती, परंतु तृष्णा बनी रहती है, इससे वह भोगरूप सुख भी दुःख ही है। यह भोगके अन्तमें अनुभव होनेवाला दुःख भी परिणाम-दुःखकी ही गणनामें है। इन्द्रियों और पदार्थोंके सम्बन्धसे जब मनुष्यको किसी भी प्रकारके भोगमें सुखकी प्रतीति होती है, तब उसमें राग—आसक्ति अवश्य हो जाती है। इसलिये वह सुख रागरूप क्लेशसे मिला हुआ है। आसक्तिवश मनुष्य उस भोगकी प्राप्तिके लिये कर्म आरम्भ भी करता ही है। उसकी प्राप्तिमें असमर्थ होनेसे या विघ्न होनेसे द्वेष होना भी अवश्यम्भावी है। इसके सिवा, प्राणियोंकी हिंसाके बिना भोगकी सिद्धि भी नहीं होती, अतः राग-द्वेष और हिंसादिका परिणाम अवश्य ही दुःखदायी है। इसलिये यह भी परिणामदुःख है।

तापदुःख

सभी प्रकारके भोगरूप सुख विनाशशील हैं, उनसे वियोग होना निश्चित है। अतः भोगकालमें उनके विनाशकी सम्भावनासे तापदुःख बना रहता है। इसी तरह मनुष्यको जो सुखकारक भोग प्राप्त होते हैं, वे परिमित होते हैं तथा उसे जो कुछ प्राप्त है उससे बढ़कर दूसरोंको भी प्राप्त है, यह देखकर वह ईर्ष्यासे जलता रहता है, यह भी तापदुःख है एवं भोगकी अपूर्णतासे भी भोगकालमें संताप बना रहता है, यह भी तापदुःख है।

संस्कारदुःख

जिसे वर्तमानमें स्त्री-स्वामी, पुत्र-परिवार, धन-मानादि जो विषय प्राप्त हैं, उनके संस्कार उसके हृदयमें अङ्कित हो चुके हैं, इसलिये उनके समाप्त होनेपर संस्कारके कारण उन वस्तुओंका अभाव महान् दुःखदायी होता है। वह उनको बारम्बार याद करके रोता रहता है कि मैं कैसा था, मेरा पुत्र सुन्दर सुडौल और आज्ञाकारी था, मेरी स्त्री कितनी सुशीला थी, मेरे स्वामीसे मुझे कितना सुख मिलता

था, मेरी बड़ाई जगत्भरमें छा रही थी, मेरे पास लाखों रुपये थे, परंतु मैं आज क्या-से-क्या हो गया। मैं सब तरहसे दीन-हीन हो गया। यद्यपि उसके समान जगत्में लाखों-करोड़ों मनुष्य आरम्भसे ही इन विषयोंसे रहित हैं, परंतु वे ऐसे दुःखी नहीं हैं। जिसके विषय-भोगोंकी बहुलताके समय सुखोंके संस्कार होते हैं, उसे ही उनके अभावकी प्रतीति विशेष होती है। अभावकी प्रतीतिमें दुःख भरा हुआ है, यही संस्कारदुःख है।

गुणवृत्तिविरोधजन्य दुःख

किसी मनुष्यको जब कुछ झूठ बोलनेसे या छल-कपट करनेसे धन मिलनेकी सम्भावना होती है, तब उसकी सात्त्विक वृत्ति कहती है—'पाप करके धन नहीं कमाना चाहिये। भीख माँगना या मर जाना अच्छा है, परंतु पाप करना उचित नहीं।' उधर लोभमूलक राजसी वृत्ति कहती है—'क्या हर्ज है, एक बार तनिक-सी झूठ बोलनेमें आपत्ति ही कौन-सी है; जरासे छल-कपटसे क्या होगा? एक बार ऐसा करके रुपये कमाकर दरिद्रता मिटा लें, भविष्यमें ऐसी भूल नहीं करेंगे।' यों सात्त्विकी और राजसी वृत्तिमें महान् युद्ध-सा मच जाता है—इस झगड़ेमें चित्त अत्यन्त व्याकुल और किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठता है तथा चिन्ता और उद्वेगका पार नहीं रहता।

इसी तरह राजसी और तामसी वृत्तियोंका परस्पर झगड़ा होता है। एक मनुष्य शतरंज, चौपड़ या ताश खेल रहा है। उधर उसके समयपर न पहुँचनेपर घरका काम बिगड़ रहा है। कर्ममें प्रवृत्त करानेवाली राजसी वृत्ति कहती है—'उठो चलो, हर्ज हो रहा है, घरका काम करो।' इधर प्रमादरूपा तामसी वृत्ति पुनः-पुनः उसे खेलकी ओर खींचती है, वह बेचारा इस दुविधामें पड़कर महान् दुःखी हो जाता है। यह तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेसे उत्पन्न हुआ दुःख है।

भगवान्ने गीतामें कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(५। २२)

'ये जो इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान्, विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

इससे यह सिद्ध हो गया कि संसारमें जो सुख प्रतीत हो रहा है वह वास्तवमें सुख तो है नहीं, सुखका प्रतिबिम्बमात्र है, यदि कदाचित् उसे सुख मानें तो वास्तवमें वह दुःखका ही हेतु (कारण) है, अतः वह दुःख ही है।

इन सब बातोंको विचारकर इन सांसारिक सुखोंको दुःखरूप और नाशवान् समझकर विवेक-वैराग्यके द्वारा ठुकरा देना चाहिये एवं जो नित्य परम आनन्द है, जहाँ दुःखोंका अत्यन्त अभाव है, उस परमात्माकी प्राप्तिरूप योगका तेजीके साथ साधन करना चाहिये। भगवान्ने गीतामें बतलाया है—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

(६। २३)

'जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है उसको जानना चाहिये। वह योग धैर्य और उत्साहपूर्वक वैराग्ययुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।'

उस परमात्मसाक्षात्काररूप योगकी प्राप्तिका साधन भगवान्ने यों बतलाया है—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥

(गीता ६। २४-२५)

'संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा सात्त्विक धृतिसे युक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।'

उपर्युक्त साधनमें प्रधान अभ्यास और वैराग्य है। इसलिये वैराग्यपूर्वक अभ्यास करना चाहिये; क्योंकि वैराग्यपूर्वक अभ्याससे ही चित्तका निरोध होता है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः
अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

(योग० समाधि० ११-१२)

'चित्तवृत्तियोंके निरोधका नाम योग है', 'अभ्यास और वैराग्यसे उन चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है।'

अतः मनुष्यको गीता अ० ६ श्लोक २४ से २६ के अनुसार अभ्यास और अ० ५ श्लोक २२ के अनुसार वैराग्यके लिये प्रयत्न करना चाहिये। मनको वशमें करनेका उपाय भी अभ्यास और वैराग्य है।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

(गीता ६। ३५ का उत्तरार्ध)

'अर्जुन! यह मन अभ्यास और वैराग्यसे वशमें

होता है।' मन वशमें हुए बिना उस नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्तिरूप योगकी सिद्धि कठिन है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।

(गीता ६। ३६का पूर्वार्ध)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है वैसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है।' अतः परमात्माकी प्राप्ति वैराग्यपूर्वक तीव्र अभ्याससे होती है, इसलिये मनुष्यको परमात्माकी प्राप्तिरूप उस असली सुखकी प्राप्तिके लिये विवेक-वैराग्यपूर्वक तीव्र अभ्यास करना चाहिये। उस असली सुखकी प्राप्तिका साधन बहुत सुगम है, शीघ्र फलदायक है और कोई कैसा भी आचरणहीन मनुष्य क्यों न हो, वह सबके लिये है; क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है तथा वह अन्यान्य साधनोंसे श्रेष्ठ भी है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि निर्गुण-निराकार अव्यक्त सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्तिको तो भगवान्‌ने गीतामें कठिन बतलाया है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(१२। ५)

'उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष है; क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्त-विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है।'

इसका उत्तर यह है कि यह कठिनता देहाभिमानी पुरुषोंके लिये है। निर्गुण-निराकार ब्रह्मके स्वरूपमें अभेदरूपसे जिसकी स्थिति है उस ब्रह्मभूत पुरुषके लिये नहीं, इसी कारण यहाँ भगवान्‌ने '**देहवद्भिः**' कहकर स्पष्ट कर दिया है कि यह देहाभिमानियोंके लिये ही कठिन है, न कि ब्रह्मभूतके लिये; बल्कि ब्रह्मभूत योगीके लिये तो इसका सुखपूर्वक प्राप्त होना बतलाया गया है—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

(गीता ६। २७-२८)

'क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे ब्रह्मभूत—इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभावको प्राप्त योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक अनायास ही परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है।'

जिससे अनायास ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, वह साधन ऊपर गीता अ० ६ श्लोक २४-२५, २७-२८ में बतला ही चुके हैं। उस साधनको करते-करते यदि साधकका मन इधर-उधर संसारमें चला जाय तो जहाँ-जहाँ यह चञ्चल और अस्थिर मन जाय, वहाँ-वहाँसे रोककर उसे परमात्मामें ही लगानेका तीव्र अभ्यास करना चाहिये—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(गीता ६। २६)

अतः परमात्माकी प्राप्ति ब्रह्मभूत साधकके लिये कठिन नहीं है, बल्कि सुगम है तथा यह भी स्पष्ट कहा गया है कि पराभक्तिरूप ज्ञानकी परानिष्ठाको ब्रह्मभूत पुरुष प्राप्त कर लेता है (गीता १८। ५४)।

इतना ही नहीं, साधन करनेसे परम शान्तिरूप परमात्माकी प्राप्ति उपासकको शीघ्र हो सकती है। भगवान्‌ने बताया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४। ३९)

'जितेन्द्रिय साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परमशान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

यही नहीं, कैसा भी दुराचारी—पापी क्यों न हो उसको भी इसके साधनसे परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर परमशान्ति-रूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

(गीता ४। ३६)

'यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पापसमुद्रसे भलीभाँति तर जायगा।'

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

(गीता ४। ३७)

'क्योंकि अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको भस्ममय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मोंको भस्ममय कर देता है।'

फिर पापरहित विवेकशील पुरुषोंके लिये तो बात ही क्या है? यह साधन अन्य साधनोंसे श्रेष्ठ भी है—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

(गीता ४। ३३)

'परंतप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है; क्योंकि यावन्मात्र सम्पूर्ण सत्कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं।'

गीता अ० ४ श्लोक २४ से ३० तक बतलाये हुए साधनोंमेंसे द्रव्य और क्रियासे सिद्ध होनेवाले साधन ज्ञानमें ही समाप्त होते हैं, अतः यह ज्ञानयज्ञ अन्य साधनोंसे श्रेष्ठ है।

अतः इस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये तत्त्वदर्शी ज्ञानी महात्माओंके पास जाकर उसे प्राप्त करना चाहिये—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्म-तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनसे यही सिद्ध हुआ कि असली सुख तो परमात्मामें ही है और साधनके द्वारा वह प्राप्त किया जा सकता है। जिसने साधन करके काम-क्रोधको जीत लिया है, उस पुरुषको सहज ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(गीता ५। २३-२४)

'जो साधक इस मनुष्य-शरीरमें, शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही पुरुष सुखी है। जो पुरुष आत्मामें ही सुखी है, आत्मामें ही रमण करता है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवान् है, वह ब्रह्मभूत—सच्चिदानन्दघन परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

इसलिये मनुष्यको संसारके सारे पदार्थोंको नाशवान् और दुःखरूप समझकर उनसे तीव्र वैराग्य करना चाहिये और निर्गुण-निराकार ब्रह्मके ध्यानमें मस्त हो जाना चाहिये, जिससे अक्षय, अनन्त विज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है।

भगवान् कहते हैं—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(गीता ५। २१)

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित आनन्द है उसको प्राप्त होता है। तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानयोगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।'

विवेकदृष्टिसे देखा जाय तो संसारके किसी पदार्थमें सुख है ही नहीं, यत्किंचित् जो सुख-सा प्रतीत होता है, वह परिणाममें दुःख देनेवाला है। आलस्य-निद्रामें जो सुख प्रतीत होता है वह मोहमें डालकर काष्ठ-लोष्ठवत् जड बना देता है तथा इन्द्रियों और विषयोंके सङ्गसे जो सुख प्रतीत होता है वह यद्यपि आरम्भमें अमृत-सा प्रतीत होता है, किन्तु अन्तमें महान् विषके तुल्य है। जैसे एक मनुष्य स्त्रीके साथ सहवास करता है, तो उस कालमें उसे वह सुख अमृतके तुल्य-सा दीखता है, किंतु सहवास करनेपर प्रत्यक्ष वीर्यकी हानि होती है और वीर्यके नाशसे बल, बुद्धि, तेजकी हानि होकर उसका इस लोकमें पतन हो जाता है और यदि शास्त्रविपरीत सहवास हो तो चाहे अपनी धर्मपत्नीके साथ ही क्यों न हो, उससे परलोकमें दुर्गति होती है तथा जिस तरह बीमार मनुष्य जिह्वाके क्षणिक स्वादके वश होकर वैद्य-डॉक्टरके बताये हुए पथ्यके विरुद्ध खान-पान कर लेता है और वह उसके परिणाममें प्रत्यक्ष ही दुःखका अनुभव करता है। किसी-किसीकी तो बीमारी बढ़ जानेसे मृत्यु भी हो जाती है। इसी प्रकार अन्यान्य इन्द्रियोंके विषयोंमें भी समझ लेना चाहिये। अतः जो मनुष्य क्षणिक झूठे सुखके लोभमें फँसकर परिणाममें होनेवाली बड़ी भारी हानिको नहीं देखता, उससे बढ़कर मूर्ख कौन होगा?

इस प्रकार धनमें भी दुःख-ही-दुःख है। प्रथम तो धनोपार्जन करनेमें बड़ी भारी कठिनता है, फिर उसकी रक्षा करनेमें कष्ट है तथा खर्च करने और दान देनेमें भी कष्ट होता है। किसी कारण उसका विनाश हो जाय या हमलोग छोड़कर चल बसें तो दुःखकी सीमा ही नहीं है और आजकल तो प्रायः मनुष्य झूठ, कपट, चोरी, बेईमानीसे धनोपार्जन करते हैं, जिसके फलस्वरूप घोर

नरककी प्राप्ति होती है। फिर, उन संग्रह किये हुए रुपयोंकी क्या दशा होगी—समझमें नहीं आता। ऐसी हालतमें मनुष्यको विचार करना चाहिये कि 'धनोपार्जनके लिये हम पाप क्यों करें, हमें उससे क्या मतलब है?'

इसी तरह मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी प्राप्तिमें जो सुख होता है, वह भी क्षणिक और विनाशशील है। जब उसके विपरीत अपमान, निन्दा, बेइज्जती होती है, तब दुःखकी सीमा ही नहीं रहती। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी प्राप्तिके लिये मनुष्य सुख-सम्पत्तिकी तो बात ही क्या, ईश्वर और धर्मको भी छोड़ बैठता है, जिसके फलस्वरूप परलोकमें दुर्गति होती है। अपमान, निन्दा, अप्रतिष्ठा होनेमें बड़ा डर रहता है और वह अपमान, निन्दा, अप्रतिष्ठा करनेवालेका अनिष्ट करनेमें तत्पर हो जाता है। इससे वह स्वयं ईर्ष्या, भय, क्रोध, वैर, द्वेष, चिन्ता आदिसे जलता रहता है और दूसरोंका अनिष्ट करनेके कारण उसे घोर नरककी प्राप्ति होती है। उसका यह लोक और परलोक—दोनों नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। अतः मान-बड़ाई-प्रतिष्ठासे इस लोक और परलोकमें वास्तवमें कोई लाभ नहीं, बल्कि हानि है। इसलिये इनकी प्राप्तिके लिये जो समय, सम्पत्ति तथा शक्ति नष्ट करते हैं, वे मूर्ख नहीं तो और क्या हैं?

जैसे कञ्चन-कामिनी और मान-बड़ाई-प्रतिष्ठामें दुःख-ही-दुःख है, इसी प्रकार मोह-मायामें जकड़े हुए मनुष्यके लिये कुटुम्बके सङ्गसे भी दुःख-ही-दुःख है। पुत्र आदिकी उत्पत्तिमें, पालनमें, उनकी रक्षा करनेमें, उनके बीमार होनेमें, मृत्यु हो जानेमें दुःख-ही-दुःख है। यदि वे हमारे प्रतिकूल होते हैं तो दुःख और यदि हम उनके प्रतिकूल होते हैं तो दुःख। इसलिये कुटुम्बमें ममता, मोह और स्नेह करना दुःखका ही मूल है। उसमें सुख तो लेशमात्र भी नहीं है। उसमें जो सुखकी प्रतीति होती है, वह अज्ञानके कारण ही होती है।

उपर्युक्त स्त्री और कुटुम्बकी आसक्तिसे काम, धनकी आसक्तिसे लोभ तथा मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी आसक्तिसे राग एवं उन सबमें बाधा पड़नेपर क्रोध उत्पन्न होकर मनुष्यका इस लोकमें पतन होता है और उसे परलोकमें घोर नरकोंकी प्राप्ति होती है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६। २१)

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश—पतन करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतः इन तीनोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि जो इन काम-क्रोधादिसे रहित हैं, उन्हींको परमशान्ति मिलती है—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

(गीता ५। २६)

'काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही सदा परिपूर्ण है।'

इसलिये कञ्चन, कामिनी, कुटुम्ब, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठासे प्रतीत होनेवाले सुखको लात मारकर विवेकपूर्वक सब बातोंके तत्त्व-रहस्यको समझकर सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिये तत्परतासे साधन करते हुए अपने मनुष्य-जीवनको सार्थक बनाना चाहिये।

ईश्वरने हमलोगोंको जो विवेक, बुद्धि और ज्ञान आदि दिये हैं, उनका उचित उपयोग करके हमको विचार करना चाहिये कि हमारा समय किस काममें बीत रहा है। ईश्वरने हमको जो कुछ भी दिया है, क्या उस सबका हम सदुपयोग कर रहे हैं ? यदि नहीं तो क्या हमें पीछे पछताना नहीं पड़ेगा ? क्योंकि जो मनुष्य बिना विचारे अपने समयको नष्ट कर देता है उसे सदाके लिये पश्चात्ताप करना पड़ता है। अतः किसी भी कामको करनेके पहले हमें यह विचार करना चाहिये कि क्या हम यह काम ठीक कर रहे हैं? यदि नहीं तो हमें उस कामका सुधार करना चाहिये।

समय बड़ा अमूल्य है। एक क्षणका समय भी लाख रुपये खर्च करनेसे या स्तुति-प्रार्थनापूर्वक रुदन करनेसे या अन्य किसी उपायसे भी मिलना सम्भव नहीं है। समयका सदुपयोग करनेसे तो परमात्मातककी प्राप्ति हो जाती है, किंतु समय किसी उपायसे प्राप्त होना सम्भव नहीं है, अतः जो कुछ समय शेष है उसीमें अपना काम शीघ्र बना लेना है। इसलिये जबतक मृत्यु दूर है, स्वास्थ्य ठीक है, तभीतक जो कुछ उत्तम-से-उत्तम अपना कर्तव्य है उसका पालन कर लेना चाहिये; क्योंकि मृत्यु प्राप्त होनेपर मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। अतः जीवन रहते ही सावधान होना चाहिये। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

(केनोपनिषद् २। ५)

'यदि इस मनुष्य-जीवनमें ही परमात्माको जान लिया तो अच्छी बात है। यदि इस जीवनमें उसे नहीं जाना तो बड़ी हानि है।'

गीतामें भगवान् कहते हैं—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

(९। ३३ का उत्तरार्ध)

'अर्जुन! इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस दुर्लभ मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

संत कबीरने कहा है—

कबिरा नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली बहुरि न देखहु आय॥

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥
जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४३-४४)

अतएव मनुष्यको शीघ्रातिशीघ्र सचेत हो परमात्माकी प्राप्तिके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिके लिये मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियाँ आदि जिन चीजोंकी आवश्यकता है, वे सब ईश्वरकी कृपासे हम सबको प्राप्त हैं। ईश्वरके दिये हुए उन पदार्थोंका जो सदुपयोग करता है, उसका कल्याण हो जाता है; परंतु जो उनका दुरुपयोग करता है, उसका पतन हो जाता है। इसलिये हमलोगोंको ईश्वरके दिये हुए पदार्थोंका सदुपयोग करना चाहिये यानी उन ईश्वरके दिये हुए पदार्थोंको ईश्वरके ही समर्पण कर देना चाहिये। तात्पर्य यह है कि विश्वको परमात्माका स्वरूप समझकर उनकी सेवामें लगा देना ही ईश्वरकी दी हुई वस्तुओंको ईश्वरके समर्पण करना है और यही उनका सदुपयोग करना है तथा इसके विपरीत करना उनका दुरुपयोग करना है। इसी प्रकार मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका संयम करके उनको संसारके विषय-भोगोंसे हटाकर परमात्मामें लगा देना भी उनका सदुपयोग करना है एवं उसके विरुद्ध निद्रा, आलस्य, प्रमाद, पाप और विषय-भोगोंमें लगाना दुरुपयोग है। अतएव ईश्वरने हमलोगोंको जो बुद्धि दी है उसके द्वारा सोच-समझकर समयका सदुपयोग करना चाहिये। बुद्धि और विवेकके रहते हुए उनका उचित उपयोग न करें तो यह हमलोगोंकी महान् मूर्खता है। मनुष्यको पद-पदपर क्षण-क्षणमें विवेकयुक्त बुद्धिसे काम लेना चाहिये और अपना समय उच्च-से-उच्च कार्यमें लगाना चाहिये। बुद्धिमान् मनुष्यको इसके विपरीत आचरण कभी नहीं करना चाहिये। जो अपने समयका उचित उपयोग करता है, वही बुद्धिमान् है और वही योगी है। यह मनुष्यजीवन, उत्तम देशकाल, उत्तम सङ्ग ईश्वरकी कृपासे ही प्राप्त हुआ है। ऐसा मौका बार-बार मिलना कठिन है। इसलिये शीघ्र ही सावधान होकर अपना कार्य सिद्ध कर लेना चाहिये। अपने समयका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। श्रुति चेतावनी देती हुई कहती है—

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'

(कठोपनिषद् १। ३ १४)

'उठो, जागो और श्रेष्ठ महापुरुषोंके पास जाकर उनके द्वारा परमानन्दमय परमात्माका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करो।'

ज्ञानकी सात भूमिकाएँ

श्रीवसिष्ठजीने बतलाया है—

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति ११८। ५-६)

'पहली शुभेच्छा, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सत्त्वापत्ति, पाँचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थाभावना और सातवीं तुर्यगा—इस प्रकार ये ज्ञानकी सात भूमिकाएँ मानी गयी हैं।'

इनके स्वरूपको पृथक्-पृथक् इस प्रकार समझना चाहिये—

१—शुभेच्छा

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति ११८। ८)

'मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित रहूँ, मैं शास्त्रों और सत्पुरुषोंके द्वारा जानकर तत्त्वका साक्षात्कार करूँगा—इस प्रकार वैराग्यपूर्वक केवल मोक्षकी इच्छा होनेको ज्ञानीजनोंने 'शुभेच्छा' कहा है।'

अभिप्राय यह कि समस्त (पापमय) अशुभ इच्छाओंका अर्थात् चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, बलात्कार, हिंसा, अभक्ष्यभोजन, दुर्व्यसन और प्रमाद (व्यर्थ चेष्टा) आदि शास्त्र-निषिद्ध कर्मोंका मन, वाणी और शरीरसे

त्याग करना; नाशवान् क्षणभङ्गुर स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तथा रोग-संकटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासनादि काम्यकर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना; मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़नेकी इच्छाका त्याग करना; अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करनेकी याचना न करना और बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार न करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा न रखना; ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह और शरीर-सम्बन्धी खान-पान आदि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंमें आलस्यका तथा सब प्रकारकी सांसारिक कामनाका त्याग करना एवं '**प्रज्ञानं ब्रह्म**' (ऐतरेय-उप० १।३)—ब्रह्म विज्ञानघन है, '**अयमात्मा ब्रह्म**' (माण्डूक्य-उप० २)—यह आत्मा ही परब्रह्म परमात्मा है, '**तत्त्वमसि**' (छान्दोग्य-उप० ६।१२।३)—वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म तू ही है और '**अहं ब्रह्मास्मि**' (बृहदा०- उप० १।४।१०)—मैं देह नहीं हूँ, ब्रह्म हूँ—इन वेदान्त-वाक्योंका एकमात्र परमात्माके तत्त्व-रहस्य-ज्ञानपूर्वक उनको प्राप्त करनेकी इच्छासे सत्-शास्त्रोंमें अध्ययन करना और सत्पुरुषोंका सङ्ग करके उनसे इन महावाक्योंका श्रवण करना ही 'शुभेच्छा' नामकी प्रथम भूमिका है। इसलिये इस भूमिकाको 'श्रवण' भूमिका भी कहा जा सकता है।

२—विचारणा

शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८।९)

'शास्त्रोंके अध्ययन, मनन और सत्पुरुषोंके सङ्ग तथा विवेक, वैराग्यके अभ्यासपूर्वक सदाचारमें प्रवृत्त होना—यह 'विचारणा' नामकी भूमिका कही जाती है।'

उपर्युक्त प्रकारसे सत्पुरुषोंके सङ्ग, सेवा एवं आज्ञापालनसे, सत्-शास्त्रोंके अध्ययन-मननसे तथा दैवी, सम्पदारूप सद्गुण-सदाचारके सेवनसे उत्पन्न हुआ विवेक (विवेचन) ही 'विचारणा' है। भाव यह कि सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुके विवेचनका नाम 'विवेक' है। विवेक इनका भलीभाँति पृथक्करण कर देता है। सब अवस्थाओंमें और प्रत्येक वस्तुमें प्रतिक्षण आत्मा और अनात्माका विश्लेषण करते-करते यह विवेक सिद्ध होता है।

जिसका कभी नाश न हो, वह 'सत्' है और जिसका नाश होता है, वह 'असत्' है। भगवान्‌ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २।१६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

इस नियमके अनुसार जो दृश्य जड पदार्थ हैं, वे उत्पत्तिविनाशशील होनेके कारण असत् हैं और परमात्मा ही एक सत् पदार्थ है। जीवात्मा भी उसका अंश होनेके कारण सत् है। अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार जीवात्मा और परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं, जीवको मायाकी उपाधिके सम्बन्धसे उनका भेद प्रतीत होता है। जैसे महाकाशके एक होते हुए भी घड़ेकी उपाधिके सम्बन्धसे घटाकाश और महाकाश अलग-अलग प्रतीत होते हैं, वस्तुतः घटाकाश, महाकाश एक ही हैं, इसी प्रकार जीवात्मा, परमात्मा वास्तवमें एक ही हैं—इस तत्त्वको समझ लेना 'विवेक' है।

उपर्युक्त विवेकके द्वारा जब सत्-असत् और नित्य-अनित्यका पृथक्करण हो जाता है, तब असत् और अनित्यसे आसक्ति हट जाती है; एवं इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें कामना और आसक्तिका न रहना ही 'वैराग्य' है। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

(योगदर्शन १।१५)

'स्त्री, पुत्र, धन, भवन, मान, बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गादि परलोकके सम्पूर्ण विषयोंमें तृष्णारहित हुए चित्तकी जो वशीकार-अवस्था होती है, उसका नाम 'वैराग्य' है।'

समस्त इन्द्रियों और विषयोंके सङ्गसे उत्पन्न होनेवाले जितने भी भोग हैं, वे सब अनित्य हैं; किंतु अज्ञानसे अनित्यमें नित्यबुद्धि होनेके कारण विषयभोगादि नित्य प्रतीत होते हैं। इसलिये उनको अनित्य मानकर उनसे वैराग्य करना चाहिये। गीतामें भगवान् कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

(२।१४)

'हे कुन्तीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-

विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये हे भारत! उनको तू सहन कर।'

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(२। १५)

'क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं कर सकते, वह मोक्षके योग्य होता है।'

अतः वैराग्यकी प्राप्तिके लिये संसारके विषयभोगोंको अनित्य और दुःखरूप समझकर उनमें आसक्तिरहित होना परम आवश्यक है, यों समझकर ही विवेकी मनुष्य उनमें नहीं रमते। भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं, तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं; इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

इस प्रकार विवेक-वैराग्य हो जानेपर साधकका चित्त निर्मल हो जाता है; उसमें क्षमा, सरलता, पवित्रता तथा प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें समता आदि गुण आने लगते हैं; उसके मन, इन्द्रिय और शरीर विषयोंसे हटकर वशमें हो जाते हैं, फिर उसे गङ्गातट, तीर्थस्थान, गिरि-गुहा, वन आदि एकान्तदेशका सेवन ही अच्छा लगता है; उसके ममता, राग-द्वेष, विक्षेप और मान-बड़ाईकी इच्छाका अभाव-सा हो जाता है; विषय-भोगोंसे स्वाभाविक ही उपरति हो जाती है एवं विवेक-वैराग्यके प्रभावसे वह नित्य परमात्माके स्वरूपके चिन्तनमें ही लगा रहता है।

भगवान्‌ने गीतामें ज्ञानके साधन बतलाते हुए कहा है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥

(१३। ७—११)

'श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदिकी सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह; इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना; पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना; मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना; अध्यात्मज्ञानमें नित्य-स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना—यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है—यों कहा गया है।'

दूसरी भूमिकामें परिपक्व हो जानेपर उस साधकमें उपर्युक्त गुण और आचरण आने लगते हैं।

ऊपर प्रथम भूमिकामें बताये हुए महावाक्योंका निरन्तर मनन और चिन्तन करना ही प्रधान होनेके कारण इस दूसरी भूमिकाको 'विचारणा' कहा गया है, अतः इसे 'मनन' भूमिका भी कहा जा सकता है।

३—तनुमानसा

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता।
यात्रा सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति ११८। १०)

'उपर्युक्त शुभेच्छा और विचारणाके द्वारा इन्द्रियोंके विषयभोगोंमें आसक्तिका अभाव होना और अनासक्त हो संसारमें विचरण करना—यह 'तनुमानसा' है; इसमें मन शुद्ध होकर सूक्ष्मताको प्राप्त हो जाता है, इसीलिये इसे 'तनुमानसा' कहते हैं।'

अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त कामना, आसक्ति और ममताके अभावसे; सत्पुरुषोंके सङ्ग और सत्-शास्त्रोंके अभ्याससे तथा विवेक- वैराग्यपूर्वक निदिध्यासन—ध्यानके साधनसे साधककी बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है तथा उसका मन शुद्ध, निर्मल, सूक्ष्म और एकाग्र हो जाता है, जिससे उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मतत्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता अनायास ही प्राप्त हो जाती है। इसीको 'तनुमानसा' भूमिका कहा गया है।

इस तीसरी भूमिकामें स्थित साधकके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण अवगुणोंका अभाव होकर स्वाभाविक ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनसूया (दोषदृष्टिका अभाव), अमानिता, निष्कपटता, पवित्रता, संतोष, शम, दम, समाधान, तेज, क्षमा, दया, धैर्य, अद्रोह, निर्भयता, निरहंकारता, शान्ति, समता आदि सद्गुणोंका आविर्भाव हो जाता है। फिर उसके द्वारा जो भी चेष्टा होती है, वह सब सदाचाररूप ही होती है तथा उस साधकको 'संसारके सम्पूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण हैं'—ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीरसहित संसारके सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंमें उसकी वासनाका भी अभाव हो जाता है। भाव यह है कि उसके अन्तःकरणमें उनके चित्र संस्काररूपसे भी नहीं रहते एवं शरीरमें अहंभाव तथा मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान नहीं रहता; क्योंकि वह परवैराग्यको प्राप्त हो जाता है। परवैराग्यका स्वरूप महर्षि पतञ्जलिने यों बतलाया है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

(योगदर्शन १। १६)

'प्रकृतिसे अत्यन्त विलक्षण पुरुषके ज्ञानसे तीनों गुणोंमें जो तृष्णाका अत्यन्त अभाव हो जाना है, यह परवैराग्य या सर्वोत्तम वैराग्य है।'

पूर्वोक्त दूसरी भूमिकामें स्थित पुरुषकी तो विषयोंका विशेष संसर्ग होनेसे कदाचित् उनमें कुछ आसक्ति हो भी सकती है; परंतु इस तीसरी भूमिकामें पहुँचे हुए पुरुषकी तो विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर भी उनमें आसक्ति नहीं होती; क्योंकि उसके निश्चयमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं। अतः परवैराग्य हो जानेके कारण उसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ सम्पूर्ण संसारसे अत्यन्त उपरत हो जाती हैं। यदि किसी कालमें कोई स्फुरणा हो भी जाती है तो भी उसके संस्कार नहीं जमते; क्योंकि उसकी एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही निरन्तर गाढ़ स्थिति बनी रहती है, जिसके कारण उसे कभी-कभी तो शरीर और संसारका विस्मरण होकर समाधि-सी हो जाती है। ये सब लक्षण परमात्माकी प्राप्तिके अत्यन्त निकट पहुँच जानेपर होते हैं।

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करते-करते उस परमात्मामें तन्मय हो जाना तथा अत्यन्त वैराग्य और उपरतिके कारण परमात्माके ध्यानमें ही नित्य स्थित रहनेसे मनका विशुद्ध होकर सूक्ष्म हो जाना ही 'तनुमानसा' नामकी तीसरी भूमिका है। अतः इसे 'निदिध्यासन' भूमिका भी कह सकते हैं।

ये तीनों भूमिकाएँ साधनरूपा हैं। इनमें संसारसे कुछ सम्बन्ध रहता है, अतः यहाँतक साधककी 'जाग्रत्-अवस्था' मानी गयी है।

४—सत्त्वापत्ति

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात्
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ११)

'ऊपर बतायी हुई शुभेच्छा—श्रवण, विचारणा—मनन और तनुमानसा—निदिध्यासन भूमिकाओंके अभ्याससे चित्तके सांसारिक विषयोंसे अत्यन्त विरक्त हो जानेके अनन्तर उसके प्रभावसे आत्माका शुद्ध तथा सत्यस्वरूप परमात्मामें तद्रूप हो जाना 'सत्त्वापत्ति' कहा गया है।'

उपर्युक्त श्रवण, मनन और निदिध्यासनके तीव्र अभ्याससे जब साधक सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है, तब उसीको 'सत्त्वापत्ति' नामकी चौथी भूमिका कहते हैं। इसीको गीतामें निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति कहा गया है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(५। २४)

'जो पुरुष आत्मामें ही सुखी है, आत्मामें ही रमण करता है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवान् है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त—'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अनुभव करनेवाला ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

जिस प्रकार गङ्गा-यमुना आदि सारी नदियाँ बहती हुई अपने नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें ही विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे रहित होकर परम दिव्य पुरुष परात्पर परमात्माको ही प्राप्त हो जाता है, उसीमें विलीन हो जाता है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(मुण्डकोपनिषद् ३। २। ८)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(१८। ५४-५५)

'मैं ही ब्रह्म हूँ इस प्रकारके अनुभवसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला ज्ञानयोगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी पराभक्ति (ज्ञाननिष्ठा) को प्राप्त हो जाता है। उस ज्ञाननिष्ठारूप पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस ज्ञान-निष्ठासे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

जब साधकको परब्रह्मका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह ब्रह्म ही हो जाता है—

स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

(मुण्डकोपनिषद् ३। २। ९)

फिर उसका इस शरीर और संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। ब्रह्मवेत्ता पुरुषके अन्तःकरणमें शरीर और अन्तःकरणके सहित यह संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है। जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नकी घटनाको मनकी कल्पनामात्र समझता है, वैसे ही उस ब्रह्मवेत्ताके अन्तःकरणमें यह संसार कल्पनामात्र प्रतीत होता है अर्थात् इस संसारकी काल्पनिक सत्ता प्रतीत होती है। स्वप्नमें और इसमें इतना ही अन्तर है कि स्वप्नका समय तो भूतकाल है और संसारकी स्वप्नवत् प्रतीतिका समय वर्तमानकाल है; तथा स्वप्नमें तो जो मन-बुद्धि थे, वे वर्तमानमें भी इस जीवात्माके साथ सम्बन्धित हैं, किंतु जब मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, तब उसके मन-बुद्धि इस शरीरमें ही रह जाते हैं, उस ब्रह्मवेत्ताके साथ ब्रह्ममें सम्बन्धित नहीं होते, इसलिये ब्रह्मकी दृष्टिसे तो इस संसारका अत्यन्त अभाव है।

वास्तवमें तो ब्रह्मके कोई दृष्टि ही नहीं है। केवल समझानेके लिये उसमें दृष्टिका आरोप किया जाता है। ब्रह्मकी दृष्टिमें तो केवल एक ब्रह्म ही है, उसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं। ब्रह्मवेत्ताके शरीरका जो अन्तःकरण है, उसमें इस संसारका तो अत्यन्त अभाव और सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका भाव प्रत्यक्ष है। यह ब्रह्मवेत्ताका अनुभव है। इसी अनुभवके बलपर शास्त्रोंमें यह कहा गया है कि एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है।

जो ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह ब्रह्म ही बन जाता है। श्रुतिमें भी कहा गया है—'**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति**' (बृहदारण्यक ४। ४। ६)—'वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।' इसलिये वह लौटकर नहीं आता। श्रुति कहती है—

न च पुनरावर्तते। न च पुनरावर्तते।

(छान्दोग्य० ८। १५। १)

'फिर वह कभी नहीं लौटता, फिर वह कभी नहीं लौटता।'

जब ब्रह्मकी दृष्टिमें सृष्टिका अत्यन्त अभाव है, तब ब्रह्म ही हो जानेपर लौटकर कौन कैसे कहाँ आवे? गीतामें भी बतलाया गया है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

(५। १७)

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् पुनः न लौटनेवाली परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

भाव यह कि उसका मन तद्रूप—ब्रह्मरूप हो जाता है। पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, एक आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, एक आनन्दके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूपका मनन करते-करते जब मन तन्मय—ब्रह्ममय हो जाता है, तब उसको 'तदात्मा' कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकारके विशेषणोंसे विभूषित ब्रह्मका मनन करते-करते जब मन ब्रह्ममें विलीन हो जाता है और उन विशेषणोंकी आवृत्तिके प्रभावसे ब्रह्मके विशेष स्वरूपका बुद्धिमें अनुभव हो जाता है, तब बुद्धिके द्वारा अनुभव किये हुए उस ब्रह्मके विशेष स्वरूपको लक्ष्य बनाकर जीवात्मा उस ब्रह्मका ध्यान करता है। यहाँ ब्रह्म तो ध्येय है, ध्यान करनेवाला साधक ध्याता है और बुद्धिकी वृत्ति ही ध्यान है। इस प्रकार ध्यान करते-करते जब बुद्धि उस ब्रह्ममें विलीन हो जाती है तब उसे 'तद्बुद्धि' कहते हैं। इसके पश्चात् जब ध्याता, ध्यान और ध्येयरूप त्रिपुटी न रहकर साधककी ब्रह्मके स्वरूपमें अभिन्न स्थिति हो जाती है, तब उसे 'तन्निष्ठ' कहते हैं। इसमें ब्रह्मका नाम, रूप और ज्ञान रहता है, इसलिये यह प्रारम्भिक 'सविकल्प समाधि' है। इसीको सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने बतलाया है—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।

(योगदर्शन १। ४२)

'उसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनोंके विकल्पोंसे मिली हुई समाधि सवितर्क है।'

इस प्रकार सविकल्प समाधि होनेके बाद जब स्वतः ही साधककी 'निर्विकल्प समाधि' हो जाती है, तब ब्रह्मका नाम (शब्द), रूप (अर्थ) और ज्ञान—ये तीनों विकल्प भिन्न-भिन्न नहीं रह जाते, एक अर्थमात्र वस्तु—ब्रह्मका स्वरूप ही रह जाता है। इसीको निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।

(योगदर्शन १। ४३)

'(शब्द और प्रतीतिकी) स्मृतिके भलीभाँति लुप्त हो जानेपर अपने रूपसे शून्य हुईके सदृश केवल ध्येयमात्रके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाली (अन्तःकरणकी स्थिति ही) निर्वितर्क समाधि है।'

इसमें साधक स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही बन जाता है। अतः उसको 'तत्परायण' कहते हैं। इस निर्विकल्प समाधिका फल जो निर्बीज असम्प्रज्ञात योग है, वही वास्तवमें ब्रह्मकी प्राप्ति है; उसीको यहाँ गीतामें अपुनरावृत्ति कहा गया है; क्योंकि ब्रह्मज्ञानके द्वारा जिसके मल, विक्षेप और आवरणरूप कल्मषका नाश हो गया है, वह ब्रह्मको प्राप्त पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है; वह लौटकर नहीं आता।

यही 'सत्त्वापत्ति' नामकी चौथी भूमिका है। इसमें पहुँचे हुए पुरुषको 'ब्रह्मवित्'—ब्रह्मवेत्ता कहा जाता है। इसमें संसार उस ज्ञानी महात्माके अन्तःकरणमें स्वप्नवत् भासित होता है, इसलिये यह उसके अन्तःकरणकी 'स्वप्नावस्था' मानी जाती है।

श्रीयाज्ञवल्क्यजी, राजा अश्वपति और जनक आदि इस चौथी भूमिकाको प्राप्त हुए पुरुष माने गये हैं।

योगवासिष्ठमें जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त पुरुषकी चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं भूमिकाके रूपमें चार भेद बतलाये गये हैं, इस प्रकारके भेद गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते। परमात्माको प्राप्त पुरुषके लक्षण तो गीतामें जगह-जगह आते हैं, किंतु उसके इस प्रकारके अलग-अलग भेद नहीं बताये गये हैं। वास्तवमें ब्रह्मकी प्राप्ति होनेके पश्चात् ज्ञानी महात्मा पुरुषका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि वह देहाभिमानसे सर्वथा रहित होकर ब्रह्ममें तल्लीन हो जाता है। अतः योगवासिष्ठमें बतलाये गये उन भेदोंको ब्रह्मप्राप्त पुरुषके भेद न समझकर उसके अन्तःकरणके भेद समझने चाहिये।

५—असंसक्ति

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसङ्गफलेन च।
रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्तासंसक्तिनामिका॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति ११८। १२)

'शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति—इन चारोंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक अभ्याससे चित्तके बाह्याभ्यन्तर सभी विषयसंस्कारोंसे अत्यन्त असङ्ग (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जानेपर अन्तःकरणका समाधिमें आरूढ—स्थित हो जाना ही 'असंसक्ति' नामकी पाँचवीं भूमिका कहा गया है।'

परम वैराग्य और परम उपरतिके कारण उस ब्रह्मप्राप्त ज्ञानी महात्माका इस संसार और शरीरसे अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, इसीलिये इस पाँचवीं भूमिकाको असंसक्ति कहा गया है।

ऐसे पुरुषका संसारसे कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। अतः वह कर्म करने या न करनेके लिये बाध्य नहीं है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(३। १८)

'उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।'

फिर भी उस ज्ञानी महात्मा पुरुषके सम्पूर्ण कर्म शास्त्र-सम्मत और कामना एवं संकल्पसे शून्य होते हैं। इस प्रकार जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

(गीता ४। १९)

अतः ऐसे पुरुषको उसके सम्मानके लिये 'ब्रह्मविद्वर' कहा जा सकता है। ऐसा महापुरुष जब समाधि-अवस्थामें रहता है, तब तो उसे सुषुप्ति-अवस्थाकी भाँति संसारका बिलकुल भान नहीं रहता और व्युत्थान-अवस्थामें—व्यवहार-कालमें उसके द्वारा पूर्वके अभ्याससे सत्ता, आसक्ति, कामना, संकल्प और कर्तृत्वाभिमानके बिना ही सारे कर्म होते रहते हैं। उसके द्वारा जो भी कर्म होते हैं, वे शास्त्रविहित ही होते हैं। उसकी कभी समाधि-अवस्था रहती है और कभी व्युत्थानावस्था।

उसकी किसी दूसरेके प्रयत्नके बिना स्वतः ही व्युत्थानावस्था हो जाती है। किंतु वास्तवमें संसारके अभावका निश्चय होनेके कारण उसकी व्युत्थानावस्था भी समाधिके तुल्य ही होती है, इस कारण उसकी इस अवस्थाको 'सुषुप्ति-अवस्था' भी कहते हैं।

श्रीजडभरतजी इस पाँचवीं भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

६—पदार्थाभावना

भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम्।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात्॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात्।
पदार्थाभावनानाम्नी षष्ठी संजायते गतिः॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। १३-१४)

'उपर्युक्त पाँचों भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक अभ्याससे उस ज्ञानी महात्माकी आत्मारामताके प्रभावसे उसके अन्तःकरणमें संसारके पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है, जिससे उसे बाहर-भीतरके किसी भी पदार्थका स्वयं भान नहीं होता, दूसरोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक चिरकालतक प्रेरणा करनेपर ही कभी किसी पदार्थका भान होता है; इसलिये उसके अन्तःकरणकी 'पदार्थाभावना, नामकी छठी भूमिका हो जाती है।'

पाँचवीं भूमिकाके पश्चात् जब वह ब्रह्मप्राप्त पुरुष छठी भूमिकामें प्रवेश करता है, तब उसकी नित्य समाधि रहती है, इसके कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नहीं होती। उसके अन्तःकरणमें शरीर और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है। उसे संसारका और शरीरके बाहर-भीतरका बिलकुल ज्ञान नहीं रहता, केवल श्वास आते-जाते हैं; इसलिये उस भूमिकाको 'पदार्थाभावना' कहते हैं। जैसे 'गाढ़ सुषुप्ति' में स्थित पुरुषको बाहर-भीतरके पदार्थोंका ज्ञान बिलकुल नहीं रहता, वैसे ही इसको भी ज्ञान नहीं रहता। अतः उस पुरुषकी इस अवस्थाको 'गाढ़ सुषुप्ति-अवस्था' भी कहा जा सकता है। किंतु गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषके तो मन-बुद्धि अज्ञानके कारण अपने कारण मायामें विलीन हो जाते हैं, अतः उसकी स्थिति तमोगुणमयी है; पर इस ज्ञानी महापुरुषके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं (गीता ५। १७), अतः इसकी अवस्था गुणातीत है। इसलिये यह गाढ़ सुषुप्तिसे अत्यन्त विलक्षण है।

तथा गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुष तो निद्राके परिपक्व हो जानेपर स्वतः ही जाग जाता है; किंतु इस समाधिस्थ ज्ञानी महात्मा पुरुषकी व्युत्थानावस्था तो दूसरोंके बारम्बार प्रयत्न करनेपर ही होती है, अपने-आप नहीं। उस व्युत्थानावस्थामें वह जिज्ञासुके प्रश्न करनेपर पूर्वके अभ्यासके कारण ब्रह्मविषयक तत्त्व-रहस्यको बतला सकता है। इसी कारण ऐसे पुरुषको 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहते हैं।

श्रीऋषभदेवजी इस छठी भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

७—तुर्यगा

भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भतः।
युत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति ११८। १५)

'उपर्युक्त छहों भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक चिरकालतक अभ्यास होनेसे जिस अवस्थामें दूसरोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक प्रेरित करनेपर भी भेदरूप संसारकी सत्ता-स्फूर्तिकी उपलब्धि नहीं होती, वरं एकमात्र अपने आत्मभावमें स्वाभाविक निष्ठा रहती है, उस स्थितिको उसके अन्तःकरणकी 'तुर्यगा' भूमिका जानना चाहिये।'

छठी भूमिकाके पश्चात् सातवीं भूमिका स्वतः ही हो जाती है। उस ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महात्मा पुरुषके हृदयमें संसारका और शरीरके बाहर-भीतरके लौकिक ज्ञानका अत्यन्त अभाव हो जाता है; क्योंकि उसके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं, इस कारण उसकी व्युत्थानावस्था तो न स्वतः होती है और न दूसरोंके द्वारा प्रयत्न किये जानेपर ही होती है। जैसे मुर्दा जगानेपर भी नहीं जाग सकता, वैसे ही यह मुर्देकी भाँति हो जाता है। अन्तर इतना ही रहता है कि मुर्देमें प्राण नहीं रहते और इसमें प्राण रहते हैं तथा यह श्वास लेता रहता है। ऐसे पुरुषका संसारमें जीवन-निर्वाह दूसरे लोगोंके द्वारा केवल उसके प्रारब्धके संस्कारोंके कारण ही होता है, वह प्रकृति और उसके कार्य सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंसे और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंसे अतीत होकर ब्रह्ममें विलीन रहता है, इसलिये यह उसके अन्तःकरणकी अवस्था 'तुर्यगा' भूमिका कही जाती है।

ब्रह्मकी दृष्टिमें संसारका अत्यन्त अभाव है। उपर्युक्त महात्मा पुरुष उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको नित्य ही प्राप्त है। अतः उसके मन-बुद्धिमें भी शरीर और संसारका अत्यन्त अभाव है। इसलिये ऐसे पुरुषको 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहते हैं।

ऐसे ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ महापुरुषसे वार्तालाप न होनेपर भी उसके दर्शन और चिन्तनसे ही मनुष्यके चित्तमें मल, विक्षेप और आवरणका नाश होनेसे उसकी वृत्ति परमात्माकी ओर आकृष्ट होनेपर उसका कल्याण हो सकता है।

इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको विवेक-वैराग्यपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके ध्यानमें निरन्तर स्थित रहनेके लिये तत्परतासे प्रयत्न करना चाहिये।

चतुःश्लोकी भागवत

ब्रह्माजीकी निष्कपट तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें अपने रूपका दर्शन कराया और आत्मतत्त्वके ज्ञानके लिये उन्हें परम सत्य परमार्थवस्तुका उपदेश किया। वही उपदेश 'चतुःश्लोकी भागवत' के नामसे प्रसिद्ध है।

जब ब्रह्माजी अपने जन्मस्थान कमलपर बैठकर सृष्टि करनेकी इच्छासे विचार करने लगे, परंतु जिस ज्ञानदृष्टिसे सृष्टिका निर्माण हो सकता था, वह दृष्टि उन्हें प्राप्त नहीं हुई, तब उनके सोच-विचार करते समय एक दिन अकस्मात् प्रलयकी उस अनन्त जलराशिमें उन्हें दो अक्षरोंका एक शब्द दो बार सुनायी पड़ा। उसका पहला अक्षर तो 'त' था और दूसरा 'प'। अर्थात् उन्होंने 'तप-तप' ऐसा सुना। इसे तप करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा मानकर और उसीमें अपना परम हित समझकर उन्होंने एक हजार दिव्य वर्षपर्यन्त तपस्या की। उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें अपना परमधाम (वैकुण्ठलोक) दिखलाया। उस परम दिव्य लोकका और उसमें भगवान्‌का दर्शन करके ब्रह्माजीका हृदय आनन्दसे भर गया, शरीर पुलकित हो गया और नेत्रोंमें प्रेमाश्रु छलक आये। फिर ब्रह्माजीने भगवान्‌के चरणकमलोंमें सिर झुकाकर प्रणाम किया। उस समय भगवान् बहुत प्रसन्न हुए एवं उन्होंने बड़े प्रेमसे ब्रह्माजीका हाथ पकड़ लिया और कहा—'ब्रह्मन् ! तुम्हारी जो अभिलाषा हो, वही वर मुझसे माँग लो'।

तब ब्रह्माजीने प्रार्थना की—'भगवन् ! आप समस्त प्राणियोंके स्वामी हैं, सबके हृदयमें आप अन्तर्यामीरूपसे विराजमान रहते हैं। आप अपने दिव्य ज्ञानसे यह जानते ही हैं कि मैं क्या करना चाहता हूँ। फिर भी आपसे मैं यह याचना कर रहा हूँ। आप कृपा करके मेरी माँग पूरी कीजिये। प्रभो! आप रूपरहित हैं; तथापि मैं आपके सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपोंको जान सकूँ, ऐसी कृपा कीजिये। आप मायाके स्वामी हैं, आपका संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होता। जैसे मकड़ी अपने मुँहसे जाला निकालकर उसमें क्रीड़ा करती है और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेती है, वैसे ही आप अपनी मायाको स्वीकार करके इस विविध शक्तिसे युक्त जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेके लिये अपने-आपको ही अनेक रूपोंमें बना लेते हैं और क्रीड़ा करते हैं। इस प्रकार आप कैसे करते हैं—इस मर्मको मैं जान सकूँ, ऐसा ज्ञान आप मुझे दीजिये। आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं सावधानीपूर्वक आपकी आज्ञाका पालन कर सकूँ और सृष्टिकी रचना करते समय भी कर्तापन आदिके अभिमानसे रहित रहूँ।'

ब्रह्माजीके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने उन्हें भागवतका साररूप निम्नलिखित उपदेश किया, जो श्रीमद्भागवतके दूसरे स्कन्धके नवें अध्यायके तीसवेंसे छत्तीसवें श्लोकोंमें वर्णित है। इन सात श्लोकोंमें प्रथम दो श्लोक तो उपक्रमके रूपमें हैं और अन्तिम एक श्लोक उपसंहारके रूपमें है; शेष बीचके चार श्लोकोंको 'चतुःश्लोकी भागवत' के नामसे कहा जाता है।

श्रीस्कन्दपुराणके वैष्णवखण्डान्तर्गत श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें बतलाया गया है—

ज्ञानविज्ञानभक्त्यङ्गचतुष्टयपरं वचः।
मायामर्दनदक्षं च विद्धि भागवतं च तत्॥
प्रमाणं तस्य को वेद ह्यनन्तस्याक्षरात्मनः।
ब्रह्मणे हरिणा तद्दिक् चतुःश्लोक्या प्रदर्शिता॥

(अ ४। ५-६)

'जो वाक्य ज्ञान, विज्ञान, भक्ति एवं इनके अङ्गभूत चार प्रकारके साधनोंको प्रकाशित करनेवाला है तथा जो मायाका मर्दन करनेमें समर्थ है, उसे 'श्रीमद्भागवत' समझो। श्रीमद्भागवत अनन्त अक्षरस्वरूप है; इसका नियत प्रमाण भला, कौन जान सकता है। पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीके प्रति चार श्लोकोंमें इसका दिग्दर्शन कराया था।'

चतुःश्लोकी भागवत

श्रीभगवानुवाच—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया॥ ३०॥

श्रीभगवान् बोले—

	(ब्रह्मन्!)
मे	= मेरा
यत्	= जो
परमगुह्यम्	= परम गोपनीय
विज्ञानसमन्वितम्	= विज्ञानसहित
ज्ञानम्	= ज्ञान है, उसका

च	= तथा
सरहस्यम्	= रहस्यसहित
तदङ्गम्	= उसके अङ्गोंका
मया	= मेरे द्वारा
गदितम्	= वर्णन किया जाता है,
(तत्)	= उसे
गृहाण	= तुम ग्रहण करो।

व्याख्या—ब्रह्मन्! मेरे निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन-स्वरूपके तत्त्व, प्रभाव, माहात्म्यका यथार्थ ज्ञान ही 'ज्ञान' है तथा सगुण निराकार और दिव्य साकार स्वरूपके लीला, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और माहात्म्यका वास्तविक ज्ञान ही 'विज्ञान' है। यह विज्ञानसहित ज्ञान समस्त गुह्य औ गुह्यतर विषयोंसे भी अतिशय गुह्य गोपनीय है, इसलिये यह परम गुह्य—सबसे बढ़कर गुप्त रखने योग्य है। ऐसे परम गोपनीय ज्ञानके साधनोंका मैं रहस्यसहित वर्णन करता हूँ, तुम उसे सुनकर धारण करो।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अर्जुनसे भी प्रायः इसी प्रकार कहा है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

(९। १)

'तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस गुह्यतम—परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको (पुनः) भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा।'

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥ ३१॥

अहम्	= मैं
यावान्	= जितना हूँ,
यथाभावः	= जिस भावसे युक्त हूँ,
यद्रूपगुणकर्मकः	= जिस रूप, गुण और लीलाओंसे समन्वित हूँ,
तत्त्वविज्ञानम्	= उन सबके तत्त्वका विज्ञान
ते	= तुम्हें
मदनुग्रहात्	= मेरी कृपासे
तथैव	= ज्यों-का-त्यों
अस्तु	= प्राप्त हो जाय।

व्याख्या—सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, स्थूल-सूक्ष्म, जड़-चेतन, यावन्मात्र—जितना जो कुछ भी है, वह सब मैं परब्रह्म परमात्मा ही हूँ तथा मैं सच्चिदानन्दमय भावस्वरूप हूँ एवं क्षमा, दया, शान्ति, समता, ज्ञान, प्रेम, उदारता, वात्सल्य, सौहार्द आदि अनन्त असीम दिव्य गुणोंसे सम्पन्न तथा लोगोंका उद्धार करनेके लिये नानाविध दिव्य अलौकिक कर्म लीलाओंसे युक्त जो मेरा सगुण-साकार रूप है, मेरे उस विज्ञानसहित ज्ञानमय समग्र स्वरूपका तत्त्व तुम्हें मेरी कृपासे ज्यों-का-त्यों प्राप्त हो जाय।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥ ३२॥

अग्रे	= सृष्टिके पूर्व
एव	= भी
अहम्	= मैं
एव	= ही
आसम्	= था;
अन्यत्	= मुझसे भिन्न कुछ भी
न	= नहीं था।
च	= और
यत्	= (सृष्टिके उत्पन्न होनेके बाद) जो कुछ भी
एतत्	= यह दृश्यवर्ग है, (वह मैं ही हूँ।)
यत्	= जो
सत्	= सत् (अक्षर)
असत्	= असत् (क्षर)
परम्	= और उससे परे (पुरुषोत्तम) है, (वह सब मैं ही हूँ।)
पश्चात्	= (तथा) सृष्टिकी सीमाके बाद भी
अहम्	= मैं ही हूँ।
यः	= (एवं इन सबका नाश हो जानेपर) जो कुछ
अवशिष्येत	= बच रहता है,
सः	= वह (सब भी)
अहम्	= मैं (ही)
अस्मि	= हूँ।

व्याख्या—सृष्टि—महासर्गके पूर्व भी मैं ही था। मेरे सिवा और कुछ भी नहीं था। और सृष्टिके उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह दृश्यवर्ग है, वह मैं ही हूँ तथा सत्—

अक्षर और असत्—क्षर एवं उससे परे जो पुरुषोत्तम ईश्वर है, सब मेरा ही स्वरूप है ('**सदासच्चाहमर्जुन**'—गीता ९। १९; '**सदसत् तत्परं यत्**'—गीता ११। ३७)। तथा सृष्टिकी सीमाके पश्चात्—जहाँ सृष्टि नहीं है, वहाँ जो केवल निर्विशेष सच्चिदानन्द ब्रह्म है, वह भी मैं ही हूँ और सृष्टिका विनाश होनेपर जो शेषमें बच रहता है, वह भी मैं ही हूँ।

अभिप्राय यह कि जैसे बादलोंके उत्पन्न होनेसे पहले केवल आकाश ही था, उसके सिवा और कुछ भी नहीं था तथा बादल और उनका गरजना-बरसना, बिजलीका चमकना आदि सब आकाश ही है; क्योंकि आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई है—'**आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।**' (तैत्तिरीय-उप० वल्ली २ अनु० १)। अतः आकाश ही वायु, तेज, जल, पृथ्वीका मूल कारण होनेसे यह सब कुछ आकाश ही है। तथा जहाँ बादल नहीं हैं, वहाँ बादलोंकी सीमाके परे भी आकाश ही है एवं बादल आदिका विनाश होनेपर केवल आकाश ही रह जाता है। उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें तथा उसकी सीमाके परे भी सदा ही विद्यमान रहते हैं।

भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।

(१०। ३२ का पूर्वार्ध)

'अर्जुन! सृष्टियोंका आदि और अन्त तथा मध्य भी मैं ही हूँ।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(गीता १०। ३९)

'एवं अर्जुन! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूँ; क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी प्राणी नहीं है, जो मुझसे रहित हो।'

अतः भागवतके उपर्युक्त श्लोकमें भगवान्‌ने ब्रह्माजीको यही भाव समझाया है—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति।

(गीता ७। ७)

'मुझसे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है।'

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥ ३३॥

यथा = जैसे
आभासः = आभास अर्थात् किसी वस्तुका प्रतिबिम्ब वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है, प्रतीतिमात्र ही है, (उसी प्रकार)
अर्थम् = (मुझ) परमार्थ वस्तुरूप परमात्माके
ऋते = अतिरिक्त
आत्मनि = परमात्मामें
यत् = जो कुछ
प्रतीयेत = प्रतीत होता है, (वह वास्तवमें कुछ नहीं है।)
च = एवं
यथा = जैसे (विद्यमान होते हुए भी)
तमः = तम अर्थात् राहु ग्रहकी (इसी प्रकार वास्तवमें सत् होते हुए भी जो मुझ परमात्माकी)
न प्रतीयेत = प्रतीति नहीं होती।
तत् = यह दोनों प्रकारकी ही
आत्मनः = मेरी
मायाम् = माया है—यों
विद्यात् = समझना चाहिये।

व्याख्या—जैसे नेत्रोंके दोषसे आकाशमें तिलमिले या जाले-से दिखलायी पड़ते हैं अथवा दर्पणमें प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है, पर वास्तवमें वे हैं नहीं, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्मामें परमात्मासे भिन्न प्रकृतिका कार्यरूप यह जड़वर्ग माया (अज्ञान) के कारण बिना हुए ही प्रतीत होता है; तथा जैसे आकाशमें विद्यमान रहते हुए भी राहु ग्रह दिखलायी नहीं पड़ता, उसी प्रकार वह सच्चिदानन्द परमात्मा वास्तवमें ध्रुव सत्य होनेपर भी माया (अज्ञान) के कारण प्रतीत नहीं होता। बिना हुए ही इस जड़ संसारकी प्रतीति होना और वास्तवमें सत् होते हुए भी परमात्माकी प्रतीति न होना—इन दोनोंमें माया (अज्ञान) ही कारण है।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥ ३४॥

यथा = जैसे
उच्चावचेषु भूतेषु = प्राणियोंके छोटे-बड़े शरीरोंमें
महान्ति भूतानि = (आकाशादि पाँच) महाभूत
अनुप्रविष्टानि = प्रविष्ट भी हैं (और)
अप्रविष्टानि = प्रविष्ट नहीं भी हैं,
तथा = उसी प्रकार
तेषु = उनमें (मैं प्रविष्ट हूँ भी)
तेषु = (और) उनमें
अहम् = मैं
न = प्रविष्ट नहीं भी हूँ।

व्याख्या—जैसे पाँचों महाभूत प्राणियोंके छोटे-बड़े शरीरोंमें प्रविष्ट हैं, उसी प्रकार मैं उन सब शरीरोंमें प्रविष्ट हूँ; परंतु पाँचों महाभूत उन शरीरोंमें प्रविष्ट नहीं भी हैं, उसी प्रकार मैं भी उनमें प्रविष्ट नहीं भी हूँ।

भाव यह है कि जैसे आकाशके कार्यरूप बादलोंके समुदायमें आकाश प्रविष्ट है, किंतु वास्तवमें वह उनमें प्रविष्ट नहीं है, अपने-आपमें ही स्थित है; क्योंकि बादलोंके नाशसे आकाशका नाश नहीं होता, बादलोंके न रहनेपर भी आकाश रहता है और बादलोंके एक स्थानसे दूसरे स्थानमें चले जानेपर आकाशका उनके साथ गमन नहीं होता; इस दृष्टिसे बादलोंमें होते हुए भी आकाश उनमें प्रविष्ट नहीं है। आकाशकी भाँति ही कोई भी महाभूत अपने कार्यमें प्रविष्ट नहीं है। उसी प्रकार परमात्मा भी समस्त जगत्‌में प्रविष्ट हैं परंतु वास्तवमें वे जगत्‌में प्रविष्ट नहीं हैं; अपने-आपमें ही स्थित हैं, क्योंकि वे निर्विकार, निष्क्रिय और निर्लेप हैं। समस्त जगत्‌का नाश होनेपर भी परमात्मा विद्यमान रहते हैं। जिस जगह जगत् नहीं है, वहाँ भी परमात्मा विद्यमान हैं।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥ ३५॥

आत्मनः = परमात्माके
तत्त्वजिज्ञासुना = तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले मनुष्यको
अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम् = विधिरूपसे अर्थात् 'परमात्मा ऐसे हैं,' 'परमात्मा ऐसे हैं'—इस भावसे तथा निषेधरूपसे अर्थात् 'परमात्मा ऐसे भी नहीं', 'परमात्मा ऐसे भी नहीं'—इस भावसे
एतावत् = इतना
एव = ही
जिज्ञास्यम् = जानना आवश्यक है
यत् = कि (परमात्मा ही)
सर्वत्र = सब देशमें
सर्वदा = (और) सब कालमें
स्यात् = विद्यमान हैं।

व्याख्या—परमात्मा विज्ञानानन्दघन हैं, सदा सबमें समभावसे स्थित हैं, सर्वव्यापी, सर्वत्र परिपूर्ण और परम शान्तिस्वरूप हैं, इत्यादि जो परमात्माके स्वरूपका वर्णन विधिरूपसे किया जाता है—यही परमात्माके स्वरूपका 'अन्वय' रूपसे वर्णन है। एवं परमात्मा आकारवाला नहीं, विकारोंवाला नहीं, क्रियावाला नहीं, मनके द्वारा चिन्तनमें आनेवाला नहीं, संकेतमें आनेवाला नहीं, व्यक्त नहीं, चलनशील नहीं, सान्त नहीं, सीमावाला नहीं, इत्यादि जो परमात्माके स्वरूपका निषेधरूपसे वर्णन किया जाता है—यही परमात्माके स्वरूपका 'व्यतिरेक' रूपसे वर्णन है।

परमात्माके स्वरूपको तत्त्वतः जाननेकी इच्छावाले साधकको चाहिये कि उपर्युक्त दोनों प्रकारोंसे यही निश्चय करे कि एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही सब देश और सब कालमें विद्यमान हैं, उनसे भिन्न कुछ नहीं है।

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥ ३६॥

(ब्रह्मन्!)
भवान् = तुम
परमेण = उत्कृष्ट
समाधिना = समाधिके द्वारा
एतत् = मेरे इस
मतम् = सिद्धान्तमें
समातिष्ठ = भलीभाँति स्थित हो जाओ।

(इससे तुम)

कल्पविकल्पेषु = **कल्प-कल्पान्तरों में भी**
कर्हिचित् = **कभी कहीं भी**
न विमुह्यति = **मोहित नहीं होओगे।**

व्याख्या—ब्रह्मन्! तुम सब प्रकारके विकल्पोंसे रहित परम समाधिमें स्थित होकर निश्चयपूर्वक मेरे इस उपर्युक्त सिद्धान्तको समझकर उसमें भलीभाँति स्थित हो जाओ। यों करनेसे तुम अनेक कल्प-कल्पान्तरोंमें सृष्टिकी रचना करते हुए कभी कहीं भी मोहित नहीं होओगे।

इस प्रकार भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीको आदेश दिया है। अतः साधकको चाहिये कि वह सब प्रकारसे यही निश्चय करे कि एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही सब देश और सब कालमें विद्यमान हैं, उनसे भिन्न कुछ नहीं है। यों करनेसे वह शोक-मोहादि सम्पूर्ण विकारों और दुःखोंसे मुक्त हो परमानन्द और परमशान्तिस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो सकता है।

ज्ञान और भक्तिके साधनसे अहंता-ममताका अभाव

मनुष्यके पास जितनी अधिक सम्पत्ति और जितना अधिक कुटुम्ब है, उतना ही अधिक बन्धन है। मान लीजिये, किसी एक आदमीके पास सैकड़ों मिलें, खदानें हैं, सैकड़ों आफिस और दूकानें हैं, सैकड़ों मकान हैं, करोड़ों रुपये लोगोंमें जमा हैं, कुटुम्ब भी बहुत बड़ा है, किंतु उनमेंसे किसी एक मिलके या कोयलेकी खदानके आग लग गयी या किसी मिलमें भारी नुकसान लगकर फर्म फेल हो गया या कुटुम्बमें अपना निकटवर्ती पुरुष या अपना लड़का या स्त्री—कोई मर गया अथवा किसी फर्मके दिवालिया होनेसे अपने बीस लाख रुपये उसमें डूब गये या किसी मिल या मकानको सरकारने अपने अधिकारमें कर लिया तो इनमेंसे प्रत्येक घटना ममताके कारण उसे दुःख देनेवाली ही होती है। वह बेचारा रात-दिन इन सबकी चिन्ताग्निमें जलता रहता है; किंतु जिस मनुष्यके पास कुछ नहीं है, उसका क्या नुकसान होगा और यदि थोड़ा है तो थोड़ा नुकसान होगा। जैसे एक सच्चे साधु हैं, उनके पास एक कमण्डलु है,घास-फूसकी झोपड़ी है, एक-दो ओढ़ने-बिछानेका कपड़ा है। उनका कमण्डलु या कपड़ा कोई ले गया तो उनको किसीसे दूसरा मिल जाता है। कुटिया जल गयी तो दूसरी जगह जाकर बैठ जाते हैं। उनको इनकी इतनी चिन्ता नहीं होती। परंतु जिनके पास अधिक सम्पत्ति है, उनकी पदार्थोंमें अधिक ममता है और जितनी अधिक ममता है, उतना ही अधिक दुःख है।

यदि ममता नहीं है तो न बहुत सम्पत्तिवाले मनुष्यको दुःख है और न थोड़ी सम्पत्तिवालेको ही, किंतु अधिक सम्पत्ति होनेपर अधिक ममता होनेकी सम्भावना है। पर राजा जनक और अश्वपति आदि विपुल सम्पत्ति और राज्य-वैभव होते हुए भी कहीं किंचिन्मात्र भी ममता न होनेके कारण सदा सुखी रहते थे, सम्पत्ति आदिके विनाशमें भी कभी उनको दुःख नहीं होता था। वस्तुतः अहंता-ममता ही समस्त दुःखोंकी जड़ है। इसलिये देहमें अहंता और देहसे सम्बन्ध रखनेवाले प्राणियों, पदार्थोंमें तथा शरीरमें ममताका त्याग करना चाहिये।

एकदेशीय किसी भी शरीर (देह) में जो किसी भी प्रकारका अभिमान है—जैसे मैं मनुष्य हूँ, मैं साधु हूँ, गृहस्थ हूँ, ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, वैश्य हूँ, यह 'अहं' भाव है। तथा देहसे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थों और प्राणियों तथा अपने शरीरमें जो मेरापन है—जैसे यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी सम्पत्ति है, यह मेरी कुटिया है, यह मेरा कमण्डलु है, यह मेरी मृगछाला है आदि-आदि, यह 'मम' भाव है। ये दोनों भाव साधकके लिये बड़े ही घातक हैं। अतः इनका त्याग करना परमावश्यक है। इनके सिवा, जिसको हम शुद्ध अहंकार कहते हैं उसका भी अन्तमें त्याग हो जाता है। **'अहं ब्रह्मास्मि'** 'मैं ब्रह्म हूँ'—इत्यादि महावाक्यके अनुसार जो ब्रह्ममें अहंबुद्धि है, वह शुद्ध अहंकार है। अद्वैतवादके सिद्धान्तके अनुसार तो यह उच्चकोटिका साधन है, किंतु इस साधनको हम उत्तम मानते हुए भी सबको इसका अधिकारी नहीं समझते, इस कारण इसे करनेके लिये हम सबको नहीं कहते। इस साधनका अधिकारी वही पुरुष है जिसका देहमें अभिमान वास्तवमें नहीं रहा है और जिसकी ब्रह्मके स्वरूपमें ही स्थिति हो गयी है। देहमें अभिमान रहते हुए इस साधनका होना और इस साधनके द्वारा परमगतिकी प्राप्ति होना कठिन है। गीतामें बतलाया गया है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(१२।५)

'उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्तचित्तवाले

पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष है; क्योंकि देहाभिमानियोंद्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है।'

किंतु जो ब्रह्मभूत पुरुष हैं—ब्रह्मके स्वरूपमें जिनकी एकीभावसे स्थिति हो गयी है, उनके लिये यह साधन सुगम है। उन्हें इस साधनसे ब्रह्मकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है। भगवान् कहते हैं—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

(६। २७-२८)

'क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभावको प्राप्त योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ अनायास ही परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है।'

उस ब्रह्मभूत पुरुषके साधनकी स्थितिका वर्णन अगले श्लोकमें किया है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(गीता ६। २९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है।'

साधनावस्थामें यह स्थिति दो प्रकारकी होती है— (१) कल्पित और (२) अकल्पित। कल्पित स्थितिमें साधक कभी ब्रह्ममें स्थित होता है, कभी देहमें; किंतु जब ब्रह्ममें अकल्पित स्थिति हो जाती है, तब फिर वह देहमें स्थित नहीं होता। वह सदा ब्रह्ममें ही स्थित रहता है। इसके लिये यह कसौटी है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

इस कसौटीसे कसनेपर जो खरा उतरता है, जो इस परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाता है, उसको ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। यह बात गीता (६। २८) में ऊपर बतला चुके हैं। सिद्ध होनेके बाद उस पुरुषकी जो कसौटी है, उसका वर्णन गीता अ० १४ श्लोक २४-२५ में देखना चाहिये—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय और अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है, जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

सिद्ध पुरुषके जो ये स्वाभाविक लक्षण बतलाये गये हैं, साधकके लिये ये ही साधन हैं, इसलिये इनको लक्ष्यमें रखकर साधक पुरुषको उन सिद्ध पुरुषोंकी अन्तिम स्थितिमें स्थित होकर साधन करना चाहिये— इन लक्षणोंका अपनेमें सम्पादन करना चाहिये।

इसके लिये '**अहं ब्रह्मास्मि**' इस प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अहंभावपूर्वक स्थिति रखना भी साधन है। भाव यह कि 'इस देहसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। देहमें जो अहंभाव है और इससे सम्बन्धित वस्तुओं और प्राणियोंमें जो ममभाव है, वह स्वप्नवत् है, मायामात्र है। मैं विज्ञानानन्दघन ब्रह्म हूँ, शरीर और संसारसे मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं।' इस प्रकार एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मका भाव और उसके सिवा संसार और शरीरका अत्यन्त अभाव देखते रहना—यह अद्वैतपरक साधन है। इस साधनकी हर समय जागृति रहनी चाहिये।

जब देहमें अहंता और देहसे सम्बन्धित पदार्थोंमें ममताका अभाव हो जाता है तब देहमें कोई धर्मी नहीं रहता और धर्मीके न रहनेसे राग-द्वेषका अभाव हो जाता है एवं इच्छा, कामना आदिका अस्तित्व नहीं रहता। उसके मन और बुद्धिमें, सुख-दुःखादि भावोंमें, स्वर्ण, मिट्टी आदि पदार्थोंमें और मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि दूसरेके द्वारा होनेवाली क्रियाओंमें उपर्युक्त गीता अ० १४ श्लोक २४-२५ के अनुसार पूर्ण समता आ जाती है। तब फिर '**अहं ब्रह्मास्मि**' 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा भाव भी नहीं रहता; क्योंकि वह वास्तवमें ब्रह्म ही हो जाता है और ब्रह्मकी दृष्टिमें यह शरीर और संसार है ही नहीं, तब सम्बन्ध किससे किसका हो? वहाँ सम्बन्धका

सर्वथा अभाव हो जाता है या यों समझिये कि सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद हो जाता है।

इस प्रकार ज्ञानमार्गमें जब '**अहं ब्रह्मास्मि**' आदि महावाक्योंके अनुसार जो शुद्ध अहंभाव है, उसका भी आगे जाकर अभाव हो जाता है, तब उसकी कहीं भी ममता नहीं रहती और वह पुरुष सत्-चित्-आनन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। भगवान्ने बताया है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८। ५४-५५)

'फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी पराभक्तिको प्राप्त हो जाता है। उस पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको मैं जो हूँ और जैसा हूँ ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

अहंताके साथ ही उसकी ममताका भी नाश हो जाता है। पहले जब ब्रह्मके स्वरूपमें स्थिति होती है, तब तो उसमें यह शुद्ध अहंकार रहता है कि मैं शरीर नहीं, निर्गुण-निराकार नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्म हूँ। अर्थात् उसकी देहमें आत्मबुद्धि हटकर ब्रह्ममें आत्मबुद्धि हो जाती है, किंतु बादमें जब उपर्युक्त साधनके द्वारा उसको पराभक्तिरूप परम ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है तब वह ब्रह्ममें विलीन हो जाता है।

इसी प्रकार भक्तियोगी साधकोंको अहंता-ममताका त्याग करके भक्तियोगका साधन करना चाहिये। देह मैं हूँ और देहसे सम्बन्ध रखनेवाले कुटुम्बी और सांसारिक पदार्थ मेरे हैं—यह अभिमान साधकके लिये साधनमें विघ्न है। मनुष्यको जाति, वर्ण, आश्रम, कुटुम्ब बुद्धि, बल, गुण, आचरण आदि किसी प्रकारका भी अभिमान नहीं करना चाहिये। जैसे—मैं ब्राह्मण हूँ, ऊँची जातिका हूँ, विद्वान् हूँ, साधु हूँ, ज्ञानी भक्त हूँ, महात्मा हूँ, बुद्धिमान् हूँ, सद्गुणी-सदाचारी हूँ, मेरा बड़ा भारी कुटुम्ब है, मेरी स्त्री पतिव्रता है, मेरा पुत्र मातृ-पितृ-भक्त है, मेरे बड़ी-बड़ी मिलें हैं, अनेक मकान हैं, मेरे समान धनी नहीं, बलवान् नहीं, गुणी नहीं, सदाचारी नहीं, श्रेष्ठ नहीं, यों किसी भी प्रकारका अभिमान होना साधनमें महान् विघ्नरूप और खतरेकी चीज है।

इसके सिवा जो शुद्ध अहंता-ममता है, उसका भी अन्तमें त्याग हो जाता है। जैसे—मैं भक्त हूँ, मैं साधक हूँ—यह शुद्ध अहंकार है। यथा—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

इस प्रकार मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं—यह शुद्ध ममता है। यह शुद्ध अहंता-ममता भी आगे जाकर नहीं रहती। अतः साधकको मैं साधक हूँ, भगवान्का भक्त हूँ—यह अभिमान भी नहीं रखना चाहिये, किंतु लोग उसको भक्त कहते हैं, महात्मा कहते हैं, धर्मात्मा कहते हैं, इसलिये लोगोंकी दृष्टिमें उनकी मान्यताके अनुसार, उनके विश्वासके अनुसार आचरण करना चाहिये, जैसे कि राजा युधिष्ठिरने यक्षके प्रति कहा था। जब उन्होंने यक्षके पूछे हुए सब प्रश्नोंका यथावत् उत्तर दे दिया, तब यक्षने उनसे पूछा—'राजन्! तुम महाबलशाली भीमसेन और अर्जुनको छोड़कर नकुलको क्यों जिलाना चाहते हो?' इसपर युधिष्ठिरने कहा—

धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः।
स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु॥

(महा० वन० ३१३। १३०)

'यक्ष! मेरे विषयमें लोग सदा ऐसा समझते हैं कि राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं, अतएव मैं अपने धर्मसे विचलित नहीं होऊँगा। इसलिये मेरा भाई नकुल जीवित हो जाय।'

'क्योंकि मेरे पिताके कुन्ती और माद्री दो पत्नियाँ रहीं—उनमें कुन्तीका पुत्र मैं जीवित हूँ और माद्रीका पुत्र नकुल जीवित हो जाय तो वे दोनों पुत्रवती बनी रहें। मैं दोनों माताओंके प्रति समान भाव रखना चाहता हूँ—यह मेरा धर्म है।'

अतएव साधक यह भाव रखें कि मैं वास्तवमें भक्त और उच्चकोटिका साधक नहीं हूँ, बनना चाहता हूँ, लोग मुझको भक्त या उच्चकोटिका साधक मानते हैं, किंतु मुझमें बड़ी कमी है, मुझे वैसा बनना चाहिये, वैसा ही आचरण करना चाहिये। मैं तो भगवान्के दासोंका दासानुदास हूँ, उनका नाममात्रका किंकर हूँ, जैसा कि हनुमान्जीने कहा है—

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥
जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें। सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें॥
नाथ जीव तव मायाँ मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा॥
ता पर मैं रघुबीर दोहाई। जानउँ नहिं कछु भजन उपाई॥
सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

(रा० च० मा० किष्किन्धा० २। १-२)

जब हनुमान्‌जी भरतजीसे मिले हैं, उस समय भरतजीने पूछा—

को तुम्ह तात कहाँ ते आए। मोहि परम प्रिय बचन सुनाए॥

तब हनुमान्‌जी उत्तरमें कहते हैं—

मारुतसुत मैं कपि हनुमाना। नामु मोर सुनु कृपानिधाना॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर।.......................॥

(रा० च० मा० उत्तर० १। ४-५)

अतः यह समझना चाहिये कि 'मैं भगवान्‌के दासानुदासकी श्रेणीमें आ जाऊँ तो मेरा बड़ा अहोभाग्य है। अर्थात् भगवान्‌के दास हैं हनुमान्‌जी, मैं उनका भी दास बनकर रहूँ तो मेरा अहोभाग्य है, फिर दास होनेकी तो बात ही क्या है? पर मैं ऐसा हूँ नहीं, होना चाहता हूँ। लोग मुझे भक्त कहते हैं, यह मेरे लिये लज्जाकी बात है।' यह तो है उस भक्तके हृदयके भावकी बात और बाहरमें लोग जैसा उसे मानते हैं वैसा ही वह सदाचरण करता है। वह समझता है कि जैसा लोग मुझे मानते हैं, उसीको स्वाँगका रूप समझकर भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ठीक उसी प्रकार बरतना है। किंतु वास्तवमें कहीं भी यह अभिमान नहीं करना है कि मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, वैश्य हूँ, साधु हूँ, गृहस्थ हूँ, सद्गुणी-सदाचारी हूँ, श्रेष्ठ हूँ, भक्त हूँ इत्यादि।

मैं भक्त हूँ, अमुक भक्त नहीं है—यों दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें अच्छेपनका अभिमान आ जाय तो वह साधनमें बाधा है। भगवान् मेरे ही स्वामी हैं और मैं ही उनका सेवक हूँ—यह भाव न रखकर सब भगवान्‌के हैं और भगवान् सबके स्वामी हैं— वे मेरे भी स्वामी हैं— यह भाव रखना अच्छा है। इसकी अपेक्षा भी यह भाव और अच्छा है कि सब भगवान्‌के स्वरूप हैं या सबमें भगवान् विराजमान हैं, इसलिये सबकी सेवा ही भगवान्‌की सेवा है।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा० च० मा० किष्किन्धा० ३)

यह बड़ा उत्तम भाव है। मैं सबका सेवक हूँ, तुच्छ हूँ, सब मेरे स्वामी हैं, मैं उनके चरणोंकी धूलके समान हूँ—इस प्रकारके भावसे आगे जाकर शुद्ध अहंकार भी मिट जाता है और यह भाव आ जाता है कि मैं कुछ भी नहीं हूँ, केवल भगवान् ही हैं। उसे अपना ज्ञान भी नहीं रहता है, केवल भगवान्‌का ही ज्ञान रहता है, उसमें अहंता-ममताका अभाव हो जाता है। फिर उसकी सारी चेष्टा भगवान्‌के संकेतके अनुकूल, अपने-आप ही होती रहती है। उसका 'करना' 'होने' में बदल जाता है। जैसे कठपुतली सूत्रधार जैसे नचाता है वैसे ही नाचती है; वैसे ही उसकी सारी क्रियाएँ नचानेवाले सूत्रधारकी कठपुतलीकी तरह होती है। कठपुतलीमें तो अन्तःकरण नहीं है और इसमें अन्तःकरण होते हुए भी काठकी कठपुतलीकी-ज्यों चेष्टा होती है। इसमें कठपुतलीकी अपेक्षा मन-बुद्धि विशेष होनेके कारण मनमें परमात्माका चिन्तन और बुद्धिमें परमात्माका निश्चय विशेषरूपसे रहते हैं। यही असली भक्ति है, यही असली शरणागति है। उस कठपुतलीका अपनी हार-जीतसे भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार साधकका भी किसी साधनके फलसे सम्बन्ध नहीं रहना चाहिये। उसे तो अपनी सम्पूर्ण क्रियाओं, उनके फलों और अपने-आपको भी भगवान्‌के अर्पण कर देना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(१२। ६-७)

'परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

वह भक्त सदा-सर्वदा कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता और भगवान्‌की कृपासे भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(गीता १८। ५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी भक्त तो सम्पूर्ण कर्मोंको करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको वैसा ही बननेकी आज्ञा देते हैं—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

(गीता १८। ५७)

'सब कर्मोंको मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण हुआ निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।'

उपर्युक्त प्रकारसे साधन करते-करते जब मनुष्य भगवान्‌के सर्वथा शरण हो जाता है, तब उसकी अहंता-ममताका सर्वथा अभाव होकर उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है और वह फिर पूर्णतया गीता अ० १२ श्लोक १३-१४ के अनुसार भगवान्‌का ज्ञानी भक्त बन जाता है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १३-१४)

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावरहित, स्वार्थभावरहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालोंको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है।'

यह भगवान्‌को प्राप्त पुरुषकी कसौटी है। इस प्रकार भगवान्‌का साधक भक्त अनन्यभक्तिके द्वारा नेत्रोंसे भगवान्‌का साक्षात् दर्शन पाकर और शुद्ध (पवित्र) बुद्धिद्वारा भगवान्‌को यथार्थरूपसे तत्त्वतः जानकर भगवान्‌में प्रवेश कर जाता है।

गीतामें भगवान् भी कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(११। ५४-५५)

'परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ। हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

इस प्रकार ज्ञानके मार्गमें तो 'मैं साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हूँ।' यों बड़े-से-बड़ा बनकर अहंकारका नाश करना है और भक्तिके मार्गमें 'मैं सबका सेवक हूँ, दासानुदास हूँ, किंकर हूँ, सबके चरणोंकी धूलि हूँ, कुछ भी नहीं हूँ'—यों छोटे-से-छोटा बनकर अहंकारका नाश करना है। सबसे पहले देश, जाति, वर्ण, आश्रम आदि सांसारिक अहंकारका नाश करना है, फिर अन्तमें मैं भक्त हूँ, साधक हूँ, इस शुद्ध अहंकारका भी नाश हो जाता है। ज्ञानके मार्गमें तो यथार्थ ज्ञानसे सब प्रकारके अहंकारका नाश होता है और भक्तिके मार्गमें भगवान्‌की कृपासे सब प्रकारके अहंकारका नाश होता है। इन दोनों ही साधनोंसे अहंता-ममताका नाश होनेपर उस पुरुषके कर्म अकर्म हो जाते हैं। उसका करना होनेमें बदल जाता है एवं दोनों ही प्रकारके साधकोंको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। अन्तिम फल दोनोंका एक ही है (देखिये गीता १८। ५४-५५ एवं ११। ५४-५५)।

किंतु बाहरमें उसका व्यवहार वैसा ही होता है जैसा उच्चकोटिके सात्त्विक साधकका व्यवहार होता है। लौकिक दृष्टिमें वह ब्रह्मचारी या साधु या गृहस्थ जो भी है, उस स्वाँगके अनुसार उसका श्रेष्ठ ब्रह्मचारी, श्रेष्ठ साधु या श्रेष्ठ गृहस्थका व्यवहार होता है। उसमें स्वाभाविक ही कोई दोष नहीं आते, वह अपने स्वाँगको नहीं लजाता। इस विषयमें एक छोटी-सी कहानी है—

एक बहुरूपिया था। वह अपने स्वाँगको पूरी तरह पेश उतारा करता था, उसमें किंचिन्मात्र भी कहीं दोष नहीं आने देता था। एक दिन वह राजाके पास गया और इनाम पानेके उद्देश्यसे उसने राजासे कहा—'महाराज! आप कौन-सा स्वाँग देखना चाहते हैं?' राजा बोले—'तुम केशरी सिंहका स्वाँग लाओ।' बहुरूपियेने निवेदन किया—'सिंहका स्वाँग लानेके लिये न कहिये, यह स्वाँग बड़ा क्रूर है। जब सिंहके रूपमें मैं आऊँगा, तब सिंहके स्वभावके अनुकूल ही चेष्टा करूँगा, उसमें कोई दोष या त्रुटि नहीं आने दूँगा। स्वाँगको नहीं लजाऊँगा। उस समय यदि स्वाँगकी रक्षाके लिये मुझसे कोई अपराध हो जाय तो उसे आप क्षमा कर देंगे।' राजाने कहा—'बहुत अच्छा, स्वाँगकी रक्षाके लिये तुमसे कोई अपराध होगा तो वह क्षम्य समझा जायगा। तुम सिंहका स्वाँग लाओ।' यह बात सारे शहरमें फैल गयी। इससे शहरके सब लोग सचेत हो गये।

दूसरे दिन वह सिंह बनकर गर्जता, दहाड़ता हुआ बाजारको लाँघकर राजदरबारमें पहुँचा। शहर और सभाके सभी लोग चुपचाप स्तम्भित हुए-से उसको देखते रहे, किंतु राजाके एक छोटे-से लड़केने 'मैं राजकुमार हूँ', इस

अभिमानमें आकर सिंहकी गुदामें एक दातुन घुसा दिया, तब सिंहने दुहत्थीसे—आगेके दोनों पंजोंसे उस राजकुमारपर ठीक सिंहकी भाँति प्रहार किया, जिससे उसके प्राण निकल गये। सिंह दहाड़ता हुआ वापस लौट गया।

राजकुमारकी मृत्यु हो जानेसे राजपरिवार और राजसभाके सदस्योंको बड़ा ही दुःख और क्षोभ हुआ। दूसरे दिन वह बहुरूपिया भी अपने असली रूपमें आया। उसने खूब दुःख प्रकट किया और निवेदन किया कि 'महाराज! इसीलिये मैं आपसे प्रार्थना करता था कि सिंहका स्वाँग लानेके लिये न कहिये। मुझसे बड़ा भारी अपराध बन गया, जो मैं राजकुमारकी मृत्युमें कारण बना। अब तो मैं बहुरूपिया हूँ, अब आप मेरा चाहे जितना अपमान करें, दण्ड दें, किंतु उस समय मैं केशरी सिंहके स्वाँगमें था, केशरी सिंहके स्वभावके अनुसार चेष्टा कर रहा था। आप बतलाइये यदि कोई केशरी सिंहकी गुदामें दातुन घुसा दे तो उसे केशरी सिंह कैसे बरदाश्त कर सकता है? मैं स्वाँगको नहीं लजाता, स्वाँगको लजाऊँ तो न तो मैं स्वाँगको ही सफल बना सकता हूँ, न जी ही सकता हूँ। मैं भगवान्‌का उपासक हूँ। उन्हींकी कृपासे मेरा स्वाँग सफल होता है और मुझे उसमें विजय प्राप्त होती है।' राजा यह सब सुन रहे थे, किंतु उनके हृदयमें राजकुमारकी मृत्युके कारण बहुत दुःख और क्षोभ था, पर वे वचनबद्ध होनेके कारण कुछ भी कर न सके। बहुरूपियेने पूछा—'महाराज! अब दूसरा कौन-सा स्वाँग लाऊँ?' इसपर राजकुमारके मरणशोकसे दुःखित मन्त्रीने कहा—'तुम महात्मा शुकदेवजीका स्वाँग लाओ।' बहुरूपिया चला गया और पंद्रह दिन बाद श्रीशुकदेवजीके ही-जैसा एक उच्चकोटिके ज्ञानी महात्माका स्वाँग बनाकर निकला और शहरके किनारे, उत्तरकी ओर बालूके टीलेपर जाकर बैठ गया। इससे शहरमें तुरंत यह खबर फैल गयी कि एक बहुत बड़े उच्चकोटिके महात्मा बालूके टीलेपर बैठे हैं। यह जानकर दर्शनार्थियोंकी वहाँ भीड़ लग गयी। जब यह खबर मन्त्रीने सुनी तो उन्होंने राजासे कहा—'राजन्! मेरी समझमें वह बहुरूपिया ही स्वाँग धरकर आया है, राजकुमारको मारनेका मेरे हृदयमें बहुत भारी दुःख था और है, इस उद्देश्यसे ही मैंने उसे शुकदेवजीका स्वाँग लानेको कहा था। यह स्वाँग बहुत कठिन है, इससे वह कहीं इसे लजा दे तो इसे दण्ड दिया जा सकता है, अतः आप भी मेरे साथ उसका दर्शन करने चलिये ताकि उसको विशेष लोभ देकर स्वाँगके स्वरूपसे विचलित किया जाय।' यों बातचीत करके वे दोनों वहाँ गये, मन्त्री और राजाने महात्माको नमस्कार किया और उनके चरणोंमें रत्नों और सोनेकी मुहरोंकी थैलियाँ रख दीं, वे महात्मा उन थैलियोंकी अवहेलना करके झट वहाँसे उठकर जंगलकी ओर चल दिये। मन्त्री उनके पीछे-पीछे गये। जब एकान्त स्थान आ गया, तब मन्त्रीने उनके कानमें कहा—'तू बहुरूपिया है, महात्मा शुकदेवजीका स्वाँग लेकर आया है, यह मैं जानता हूँ। इन थैलियोंमें कई लाख रुपयोंका धन है, अतः मेरा यह अनुरोध है कि तू यह सब द्रव्य स्वीकार कर ले, फिर हम दोनों आधा-आधा बाँट लेंगे।' उस महात्माके रूपमें आये हुए बहुरूपियेने मन्त्रीकी बात बिलकुल अनसुनी कर दी और विरक्तभावसे जंगलमें चला गया। तब राजा और मन्त्री लौट आये।

दो दिन बाद फिर वह बहुरूपिया राजभवनमें आया और बोला—'महाराज! शुकदेवजीका स्वाँग आपको कैसा लगा?' राजाने कहा—'बहुत अच्छा'। तब बहुरूपियेने फिर पूछा—'अब कौन-सा स्वाँग लाऊँ?' वहाँ राजाका भक्त एक नाई था। उसने सोचा, 'इसने राजकुमारकी हत्या कर दी—यह इसका बड़ा अपराध है, इसे विशेष दण्ड मिलना चाहिये।' यह सोचकर उसने कहा—'पतिव्रता सतीका स्वाँग लाओ।' राजा और मन्त्रीने भी इसका समर्थन किया। बहुरूपिया इसे सहर्ष स्वीकार करके घर चला गया।

कुछ दिनों बाद उसने देखा एक मुर्दा तैरता हुआ नदीके किनारे आ लगा है, वह उसे घरपर ले गया। उसने पतिके रूपमें उसे सजाकर स्वयं सोलह शृङ्गारोंसे सम्पन्न पतिव्रता सती स्त्रीका स्वाँग बनाया और पतिकी वैकुण्ठी बनाकर बड़ी धूमधाम और गाजे-बाजेके साथ बाजारमें होते हुए श्मशान जानेके लिये जुलूस निकाला। यह खबर तुरंत सारे शहरमें फैल गयी। हजारों नर-नारी उस मुर्देके साथ होकर श्मशान-घाटपर गये। जब यह समाचार मन्त्रीको मिला तब उसने राजासे कहा—'यह वही बहुरूपिया है, पतिव्रता सतीका स्वाँग लेकर आया है, मैं इसे जलानेका प्रबन्ध करनेके लिये स्वयं जाता हूँ।' यों कहकर मन्त्री बहुत-से आदमियोंको लेकर मरघटपर गये। करीब सौ मन काठका ढेर लगवाकर चिता बनवा दी। वह पतिव्रता सती स्त्री अपने पतिके शवको गोदमें लेकर चितामें भस्म होनेके लिये बैठ गयी। चिताके चारों ओर आग लगा दी गयी। उसी समय बड़े जोरसे आँधी-तूफान आया। उसके कारण मन्त्री, मन्त्रीके साथ आये हुए आदमी तथा शहरके सब लोग वहाँसे भाग गये। आँधीके

साथ घोर वर्षा होने लगी। वर्षा इतने जोरसे हुई कि उसने चिताकी धधकती हुई लपटोंको शान्त कर दिया। तब वह बहुरूपिया चिताके उस ओरसे, जिस ओर आग नहीं लग पायी थी, नीचे उतर पड़ा और उसने फिर चिताके चारों ओर आग प्रज्वलित कर दी। तदनन्तर वह अपने घर लौट गया। उस अग्निसे वह मुर्दा भस्म हो गया। दूसरे दिन मन्त्री और राजाने जाकर देखा—वहाँ भस्म और मुर्देकी हड्डीके सिवा कुछ नहीं है।

कुछ ही दिनों बाद वह बहुरूपिया अपने रूपमें राजभवनमें आया और बोला—'महाराज! सतीका स्वाँग कैसा रहा?' राजाने कहा— 'बहुत अच्छा।' राजाने फिर पूछा—'तुम जीते कैसे रहे?' उसने कहा—'महाराज! मैं स्वाँग नहीं लजाता, इसलिये भगवान् मेरी रक्षा करते हैं। मैं स्वर्गमें गया था, आपके पिता-पितामहसे भी मिला था, उनके दाढ़ी-मूँछ, नख बड़े-बड़े हो रहे थे। मैंने उनसे पूछा था कि आप सब सकुशल हैं न? कोई कष्ट तो नहीं है न? आपका क्या संदेशा राजासे कहूँ?' उन्होंने कहा—'यहाँ और सब तो आनन्द है, केवल नाईका कष्ट है, एक नाईको यहाँ भेज देना।' यह सुनकर राजाने उसी नाईसे कहा—'तुम जाकर उनकी सेवा करो।' मन्त्रीने नाईसे कहा—'जैसे यह स्वर्गमें गया, वैसे ही तुम कल स्वर्गमें जाओ।' तब नाईने बहुरूपियेको अलग ले जाकर कहा—'तुम मुझे क्यों मरवाते हो?' बहुरूपियेने उत्तर दिया—'तुमने ही मेरी अनिष्ट-कामना की थी, मेरे विनाशके लिये सतीका स्वाँग लानेके लिये कहा था, इसीलिये मैं तुमको भेजता हूँ। जो मनुष्य दूसरेके अनिष्टके लिये चेष्टा करता है, उसका अपना ही अनिष्ट होता है।' नाईने कहा—'मेरा अपराध क्षमा करो, मैं तुम्हारे शरण हूँ, मुझे इस घोर विपत्तिसे बचाओ।'

तब बहुरूपियेने राजसभामें आकर राजाके सामने मन्त्रीसे आदिसे अन्ततक सब सच्ची-सच्ची घटना सुना दी कि 'मैं स्वाँग नहीं लजाता, अतः भगवान् मेरी सब प्रकारसे रक्षा करते हैं। जब आपलोग चितामें आग लगाकर आँधी-वर्षाके भयके कारण चले आये, तब बड़े जोरसे वर्षा हुई, जिससे आग शान्त हो गयी और मैं बच गया। फिर मैंने चिताके चारों तरफ आग लगा दी जिससे वह मुर्दा जल गया। स्वर्गमें जाकर कोई वापस नहीं आ सकता, मैं तो भगवान्‌की कृपासे बच गया था, इस बेचारे नाईके प्राण नहीं लेने चाहिये।'

इसपर राजाने उससे कहा—'तुम्हारे स्वाँगसे हम बहुत प्रसन्न हैं। जो घटना होनेवाली थी, वह हो गयी। अब तुमको उसका कोई शोक नहीं करना चाहिये।' यों कहकर राजाने प्रसन्नतापूर्वक उस बहुरूपियेको हजारों रुपयोंका इनाम दिया, वह इनाम लेकर अपने घर चला गया।

इस कहानीसे एक तो यह शिक्षा मिलती है कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास—जिस किसी आश्रममें और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—जिस किसी वर्णमें मनुष्य हो, उसे अपना स्वाँग नहीं लजाना चाहिये। जो स्वाँग नहीं लजाता, उसकी भगवान् सब प्रकारसे रक्षा करते हैं; जैसे भगवान्‌ने उस बहुरूपियेकी रक्षा की। एवं दूसरी यह शिक्षा मिलती है कि दूसरेके अनिष्टका चिन्तन कभी नहीं करना चाहिये, नहीं तो, जैसे नाईको भय प्राप्त हुआ, वैसे भय प्राप्त हो सकता है।

अतएव उपर्युक्त विवेचनसे यह समझना चाहिये कि ज्ञानी महात्मा पुरुष लोकसंग्रहके लिये स्वाँगकी भाँति काम करते हैं। लोग उनको जिस वर्ण, आश्रममें समझते हैं, उनके सामने वे वैसा ही आचरण करते हैं। अपना असली परिचय अपने अन्तरङ्ग लोगोंके सिवा अन्य किसीको नहीं देते। किंतु जो व्यक्ति 'मैं ज्ञानी हूँ, महात्मा हूँ, योगी हूँ महापुरुष हूँ, अधिकारी पुरुष हूँ'—ऐसा कहते हैं, वे वास्तवमें योगी, ज्ञानी, महात्मा आदि नहीं हैं, वे तो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा-सेवाके किङ्कर, दम्भी, पाखण्डी हैं। जो श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, वे कञ्चन-कामिनीके लोभसे या अपनी मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये दूसरेकी अपनेमें श्रद्धा बढ़ानेके हेतु नहीं बनते; क्योंकि उनको न कुछ करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है और न कुछ न करनेसे ही प्रयोजन रहता है। उनमें स्वार्थका अत्यन्त अभाव हो जाता है। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(३। १८)

'उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।'

अतः परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको ज्ञान या भक्तिके साधनद्वारा अहंता-ममताका अत्यन्त अभाव करना चाहिये।

समताका स्वरूप और महिमा

परमात्माकी प्राप्तिके कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि साधनोंकी सिद्धिमें समता ही मुख्य है। समता ही उच्चतम जीवनकी कसौटी है और समता ही उत्तम-से-उत्तम गुण (भाव) है एवं परमात्माका स्वरूप भी सम है (गीता ५। १९)।

राग-द्वेषका सर्वथा अभाव या समता एक ही वस्तु है। अपने शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और सिद्धान्तके अनुकूल क्रिया, पदार्थ, प्राणी, भाव और परिस्थितिकी प्राप्तिमें राग (आसक्ति) होकर उससे काम, लोभ, हर्ष आदि होते हैं एवं अपने शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और सिद्धान्तके प्रतिकूल क्रिया, पदार्थ, प्राणी, भाव और परिस्थितिकी प्राप्तिमें द्वेष होकर उससे वैर, उद्वेग, ईर्ष्या, क्रोध, चिन्ता, भय आदि होते हैं। इनमें राग-द्वेष ही दुर्गुण-दुराचाररूप सारे अनर्थोंके मूल कारण हैं। राग-द्वेषके नाशसे ही उपर्युक्त सारे विकारोंका नाश होता है। राग-द्वेषका मूल कारण है अहंता-ममता और अहंता-ममताका मूल कारण है अज्ञान। इस अज्ञानके नाशसे सारे दोषोंका नाश हो जाता है। इस अज्ञानका नाश होता है ज्ञानसे और उस ज्ञानकी प्राप्ति होती है कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग आदि साधनोंसे एवं सत्पुरुषोंके सङ्गसे।

कर्मयोगसे ज्ञानकी प्राप्ति भगवान्ने गीतामें इस प्रकार बतलायी है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४। ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निस्संदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

यहाँ जो यह कहा गया कि कुछ समयतक निष्काम-भावसे कर्म करते-करते कर्मयोगकी सिद्धि होनेपर परमात्म-विषयक यथार्थ ज्ञान अपने-आप ही हो जाता है, इससे कर्मयोगके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

भगवान्ने गीतामें भक्तियोगसे ज्ञानकी प्राप्ति यों बतलायी है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(१०। १०-११)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञान—यथार्थज्ञान-रूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

इसी प्रकार भगवान्ने गीता अ० १८ श्लोक ५० में ज्ञानकी परानिष्ठाका वर्णन करनेका संकेत करके ५१ वेंसे ५३ वेंतक ज्ञान-निष्ठाकी प्राप्तिके उपाय बतलाये और फिर ५४ वें ५५ वें श्लोकोंमें उसका फल ज्ञानकी प्राप्ति बतलाया—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८। ५४-५५)

'फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है, ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी पराभक्ति (तत्त्वज्ञान) को प्राप्त हो जाता है। उस पराभक्ति (तत्त्वज्ञान) के द्वारा वह मुझ परमात्माको मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस तत्त्वज्ञानसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

यहाँ उपर्युक्त ज्ञाननिष्ठाके साधनोंका फल ज्ञानकी प्राप्ति बतलाया गया है, अतः इससे ज्ञानयोगके साधनके द्वारा यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिका वर्णन किया गया है।

ऐसे ही, सत्पुरुषोंके सङ्गसे ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(गीता ४। ३४-३५)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे

उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे, जिसको जानकर तू फिर इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको नि:शेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

अतः कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—सभीकी सिद्धिके लिये साधनरूपमें भी समताकी अत्यावश्यकता है। कर्मयोगकी सिद्धिमें राग-द्वेषके अभावरूप समताकी आवश्यकता दिखलाते हुए भगवान् कहते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(गीता २। ६४-६५)

'परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

यह राग-द्वेषका अभावरूप समता साधनकालकी ही समता है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २। ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

इस साधनसे कर्मयोगके साधककी ब्रह्ममें एकीभावसे स्थिति हो जाती है, तब उस पुरुषको 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं (गीता २। ५५)। अतः कर्मयोगके साधकको उचित है कि सभी इन्द्रियोंके विषयोंमें जो राग-द्वेष विद्यमान है, उससे रहित होकर शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करे।

इसी प्रकार भक्तियोगमें भी राग-द्वेषसे रहित होनेकी बात कही गयी है—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

(गीता ७। २७-२८)

'भरतवंशी अर्जुन! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं, परंतु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढ़निश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं।'

उससे वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं (गीता ७। २९-३०)।

ज्ञानयोगकी सिद्धिके लिये भी राग-द्वेषके त्यागकी आवश्यकता बतलायी गयी है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(गीता १८। ५१—५३)

'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हलका और सात्त्विक भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणाशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहङ्कार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला, ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है।'

जो कर्मयोगके साधनद्वारा परमात्माको प्राप्त हो जाता है, उस सिद्ध कर्मयोगीमें सम्पूर्ण पदार्थों, भावों, क्रियाओं और प्राणियोंमें साधककी समताकी अपेक्षा विलक्षण स्वाभाविक पूर्ण समता आ जाती है। भगवान्ने कहा है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(गीता ६। ७—९)

'सर्दी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी

इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान है, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है—ऐसे कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

यहाँ शीत, उष्ण, लोष्ट, अश्म, काञ्चन 'पदार्थ' हैं, सुख-दुःख 'भाव' हैं, मान-अपमान 'परकृत क्रिया' हैं और सुहृद्, मित्र, वैरी आदि 'प्राणी' हैं।

भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए सिद्ध भक्तमें भी सम्पूर्ण प्राणियों, क्रियाओं, पदार्थों और भावोंमें साधककी समताकी अपेक्षा विलक्षण स्वाभाविक पूर्ण समता आ जाती है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥

(गीता १२। १८-१९)

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है; एवं जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है, वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।'

यहाँ भी शत्रु-मित्र 'प्राणी' हैं, मान-अपमान तथा निन्दा-स्तुति 'परकृत क्रिया' हैं, शीत-उष्ण 'पदार्थ', हैं और सुख-दुःख 'भाव' हैं।

इसी प्रकार ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए गुणातीत पुरुषमें भी सम्पूर्ण भावों, पदार्थों, क्रियाओं, परिस्थितियों और प्राणियोंमें साधककी समताकी अपेक्षा विलक्षण स्वाभाविक पूर्ण समता आ जाती है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

(गीता १४। २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समानभाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है तथा जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

यहाँ भी दुःख-सुख 'भाव' हैं; लोष्ट, अश्म, काञ्चन 'पदार्थ' हैं, प्रिय-अप्रिय—ये प्राणी, पदार्थ, क्रिया, भाव और परिस्थिति सभीके वाचक हैं, निन्दा-स्तुति और मान-अपमान 'परकृत क्रिया' हैं एवं मित्र-वैरी 'प्राणी' हैं।

ये लक्षण गुणातीत पुरुषमें स्वाभाविक होते हैं और ज्ञानमार्गके साधकके लिये ये साधन हैं।

इस प्रकार कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—सभीके द्वारा परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुषोंमें सम्पूर्ण प्राणी, पदार्थ, क्रिया, भाव और परिस्थितिमें पूर्णतया समता आ जाती है, क्योंकि समताका होना सभी साधनोंसे परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषोंका एक विशेष लक्षण बतलाया गया है।

उन समदर्शी सिद्ध पुरुषोंकी समस्त प्राणियोंमें किस प्रकारकी समता होती है, इसका भगवान्‌ने और भी अधिक स्पष्टीकरण कर दिया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५। १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं।'

यहाँ उन पुरुषोंकी प्राणी आदिमें होनेवाली समताके विषयमें गहराईसे विचार करना चाहिये। यहाँ भगवान्‌ने **'समदर्शिनः'** कहा है, **'समवर्तिनः'** नहीं। अतः उन महापुरुषोंकी सबमें समान भावसे आत्मीयता होती है। जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने शरीरमें सर्वत्र अपने आत्माको समभावसे देखता है और उसमें सुख-दुःखको भी समान देखता है, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष सारे प्राणियोंमें आत्माको और सुख-दुःखको समान देखते हैं (गीता ६। २९, ३२)। भाव यह कि जैसे मनुष्य अपने-आपको कभी किसी प्रकार किंचित् भी दुःख नहीं पहुँचाना चाहता और स्वाभाविक ही अपने सुखके लिये चेष्टा करता रहता है, वैसे ही वह महापुरुष सारे संसारको कभी किसी प्रकार किंचित् भी दुःख नहीं पहुँचाना चाहता और उसके द्वारा सदा सबके सुखके लिये स्वाभाविक ही चेष्टा होती रहती है।

सारे प्राणियोंके साथ बर्ताव तो समान भावसे हो भी नहीं सकता। सवारी हाथीकी ही की जा सकती है, गायकी नहीं। दूध गायका पीया जाता है, कुतियाका नहीं। मल-मूत्र आदिकी सफाईका कार्य चाण्डालसे लिया जाता है, ब्राह्मणसे नहीं। देवकर्म और पितृकर्मका

कार्य ब्राह्मणसे ही कराया जा सकता है, चाण्डालसे नहीं। घास गाय और हाथीको ही खिलाया जा सकता है, कुत्तेको नहीं। भाव यह कि जो प्राणी जिस कार्यके योग्य होता है, उससे वही कार्य लिया जाता है। सबके साथ सम व्यवहार सम्भव नहीं है। यथायोग्य ही व्यवहार सबके साथ किया जा सकता है। इसलिये भगवान्ने यहाँ समदर्शनकी बात कही है, समवर्तनकी नहीं।

इसी प्रकार अपने देहके अङ्गोंमें भी सब अङ्गोंके साथ यथायोग्य ही व्यवहार होता है। मस्तकके साथ हमलोगोंका ब्राह्मणके-जैसा व्यवहार है। हम सारे अङ्गोंकी अपेक्षा मस्तककी विशेषरूपसे रक्षा करते हैं। कोई हमें मारनेके लिये आता है और हमारे पास कोई हथियार नहीं रहता तो हम मस्तकको बचानेके लिये हाथोंकी आड़ लेते हैं। किसीको विशेष आदर देना होता है तब मस्तक ही झुकाते हैं और साधारण आदर देते हैं तो हाथ जोड़ते हैं। पैर किसीके भी स्पर्श नहीं कराये जा सकते। भूलसे भी किसीके अङ्गका अपने पैरसे स्पर्श हो जाता है तो उससे सिर झुकाकर या हाथ जोड़कर क्षमा-प्रार्थना करते हैं। यद्यपि सिर, हाथ और पैर हमारे ही अङ्ग हैं, किंतु उनसे व्यवहार यथायोग्य करना ही श्रेष्ठ और उचित माना गया है— वार्तालाप, श्रवण और दर्शन आदि उत्तम क्रियाएँ करनेवाली वाणी, श्रोत्र और नेत्र आदि इन्द्रियाँ मस्तकमें ही हैं। इसलिये मस्तकको ब्राह्मणका रूप दिया गया है। इसी प्रकार हाथोंको क्षत्रियका, जङ्घाओंको वैश्यका और चरणोंको शूद्रका रूप दिया गया है, क्योंकि परमात्माके मुखसे ब्राह्मण, भुजाओंसे क्षत्रिय, जङ्घाओंसे वैश्य और चरणोंसे शूद्र उत्पन्न हुए हैं। भक्त ध्रुवने स्तुति करते हुए कहा है—

त्वन्मुखाद् ब्राह्मणास्त्वत्तो बाहोः क्षत्रमजायत।
वैश्यास्तवोरुजाः शूद्रास्तव पद्भ्यां समुद्गताः॥

(विष्णुपुराण १। १२। ६१-६२)

यजुर्वेदमें भी बतलाया गया है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(३१। ११)

'उस परमात्माका मुख ब्राह्मण है, भुजाएँ क्षत्रिय हैं तथा उसकी जो जङ्घाएँ हैं, वे वैश्य हैं और चरणोंसे शूद्र उत्पन्न हुआ है।'

अतः जैसे अपने शरीरके अङ्गोंमें भी भेदका व्यवहार होता है, किंतु व्यवहारमें विषमता रहते हुए भी आत्मीयता समान है और उन अङ्गोंके सुख-दुःखमें भी समान भाव है; इसलिये यह समदर्शन है न कि समवर्तन; इसी प्रकार उस सिद्ध महापुरुषका भी सबके साथ यथायोग्य व्यवहार होनेके कारण व्यवहारकी विषमता रहते हुए भी सबमें आत्मीयता समान होती है, इसलिये उनके सुख-दुःखमें भी समान भाव रहता है। यह है समताका लक्षण और यही सच्चा साम्यवाद है।

गीताके साम्यवाद और आजकलके कहे जानेवाले साम्यवादमें बड़ा अन्तर है। आजकलका साम्यवाद ईश्वर-विरोधी है और यह गीतोक्त साम्यवाद सर्वत्र ईश्वरका अनुभव कराता है। वह धर्मका नाशक है और यह पद-पदपर धर्मकी पुष्टि करता है। वह हिंसामय है और यह अहिंसाका प्रतिपादक है। वह स्वार्थमूलक है और यह स्वार्थको निकट ही नहीं आने देता। वह खान-पान-स्पर्श आदिमें एकता रखकर भी आन्तरिक भेद-भाव रखता है और यह खान-पान-स्पर्श आदिमें शास्त्रमर्यादानुसार यथायोग्य भेदका व्यवहार रखकर भी आन्तरिक भेद नहीं रखता एवं सबमें परमात्माको समभावसे देखनेकी शिक्षा देता है। उसका लक्ष्य केवल धनोपार्जन है और इसका लक्ष्य परम शान्तिस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति है। उसमें अपने दलका अभिमान है और दूसरोंका अनादर है, किंतु इसमें सर्वथा अभिमानशून्यता और सारे जगत्में परमात्माका अनुभव करके सबका आदर-सम्मान करना है। उसमें बाहरी व्यवहारकी प्रधानता है और इसमें अन्तःकरणके भावकी प्रधानता है। उसमें भौतिक सुख मुख्य है और इसमें आध्यात्मिक सुख मुख्य है। उसमें परधन और परमतसे असहिष्णुता है और इसमें सबका समान आदर है। उसमें राग-द्वेष है और इसमें राग-द्वेषका अत्यन्त अभाव है। इस प्रकार आजकलका साम्यवाद मनुष्यकी अवनतिका हेतु है और गीतोक्त साम्यवाद उन्नतिका हेतु है। ऐसा समझकर मनुष्यको गीतोक्त साम्यवादको ही अपनाना चाहिये।

ऊपर बतलायी हुई साधककी समता, सिद्धकी समता और ब्रह्मके स्वरूपकी समता—इन तीनोंमें एक-दूसरेसे बहुत अन्तर है। सिद्धकी समता तो स्वाभाविक होती है, जिसका दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका है; किंतु साधककी समतामें कर्तापनका भाव रहता है, इसलिये वह सिद्धकी समताकी अपेक्षा निम्नश्रेणीकी है। जैसे, भगवान्ने कहा है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके अर्थात् इनको समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

यहाँ '**समे कृत्वा**'—'समान करके' ऐसा कथन होनेसे समत्वके साधनकालमें कर्तापनका भाव सिद्ध होता है, अतः यहाँ साधनकालकी समताका वर्णन है, सिद्धकी स्वाभाविक समताका नहीं। यह दोनों प्रकारकी समता ही हृदयका उत्तम गुण (सात्त्विक भाव) है। और यह बुद्धिके द्वारा समझमें आती है, अतः यह ज्ञेय है और ज्ञेय होनेसे जड है; क्योंकि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयमें ज्ञान और ज्ञेय तो जड हैं तथा ज्ञाता चेतन है—इस न्यायसे जो समता बुद्धिकी वृत्तिके द्वारा समझमें आती है वह ज्ञेय है। अतः बुद्धिकी वृत्तिरूप ज्ञान और उस बुद्धिके द्वारा ज्ञेय समतारूप सात्त्विक उत्तम गुण (भाव) दोनों ही जड हैं। इसलिये गीता अ० ६ श्लोक २९ और अ० १२ श्लोक ४ में भी कथित साधन-कालकी समता बुद्धिके द्वारा ज्ञेय होनेसे जड है। तथा ज्ञाता जिस बुद्धिके द्वारा ज्ञान और ज्ञेयको जानता है,वह बुद्धि भी जड है; किंतु बुद्धिवृत्तिसे रहित जो केवल आत्माका शुद्ध स्वरूप है, वह चेतन और सम है। ज्ञानयोग (अद्वैतवाद) में आत्मा और परमात्मा—ब्रह्म एक ही तत्त्व है। उस ब्रह्मका स्वरूप भी सम है, किंतु वह समता चेतन है, जड नहीं; क्योंकि वह ज्ञेय—अर्थात् मन-बुद्धिका विषय नहीं है, वह गुणोंसे अतीत है। जो मनुष्य उस सच्चिदानन्दघन शुद्ध ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह ब्रह्म ही बन जाता है; अतः वह उस चिन्मय समताको प्राप्त हो जाता है, किंतु उसके अन्तःकरणकी समता सत्त्व-गुणमयी है। ऐसा होनेपर भी जिसका मन समभावमें स्थित है, उसकी आत्मा ब्रह्मको प्राप्त हो जाती है, इसलिये उसकी स्थिति देहमें नहीं है, ब्रह्ममें है। भगवान्‌ने कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(गीता ५। १९)

'जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।'

यहाँ जो ब्रह्मको सम बतलाया गया है, यह ब्रह्मकी समता चेतन है; क्योंकि उस निर्विकार अनिर्देश्य ब्रह्मके स्वरूपकी समता बुद्धिके द्वारा नहीं जानी जा सकती। स्वयं ब्रह्म ही अपने-आपको जानता है।

इसलिये यह समता उपर्युक्त साधककी और सिद्धकी समतासे अत्यन्त विलक्षण है, अतः यह मन-बुद्धिका विषय नहीं है।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि राग-द्वेषका नाश होनेसे ही समता आती है; अतः राग-द्वेषका अभाव या समता एक ही वस्तु है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और सिद्धान्त आदिमें पदार्थों, क्रियाओं, भावों, परिस्थितियों और प्राणियों आदिके निमित्तसे जो अनुकूलता-प्रतिकूलता होती है, इससे अनुकूलतामें राग और प्रतिकूलतामें द्वेष होनेके कारण काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणों और झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारोंकी उत्पत्ति होकर साधकका पतन हो जाता है। अतः राग-द्वेषके नाशके लिये गीतामें बतलाये हुए उपर्युक्त कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदिमेंसे किसी साधनका आश्रय लेना चाहिये। चाहे राग-द्वेषका अभाव कहें या समभाव—एक ही बात है। जब राग-द्वेषका नाश हो जाता है, तब अनुकूलता-प्रतिकूलतामें समभाव स्वाभाविक ही हो जाता है। जैसे सिद्ध पुरुषमें स्वाभाविक समताका भाव ऊपर बतलाया गया है, वैसे ही उसमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंका भी स्वाभाविक अभाव है। भगवान् कहते हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १७)

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है।'

ऐसा भगवान्‌का अनन्य भक्त जो कुछ करता है, भगवान्‌की आज्ञा, प्रेरणा, संकेत और मनके अनुकूल ही करता है, उनके विरुद्ध नहीं करता। यदि विरुद्ध करता है तो वह भक्त ही नहीं। वह भगवान्‌के ही परायण और उन्हींपर निर्भर रहता है। भगवान् जो कुछ करते हैं, उसीमें वह मस्त रहता है। उसकी भगवान्‌में भक्ति—अनन्य प्रीति स्वाभाविक ही होती है। अतः उसमें राग-द्वेषका अभाव स्वाभाविक होता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(११। ५५)

'अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें

वैरभावसे रहित है—वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

वही सच्चा भक्त है, जो अपने मनकी अनुकूलता-प्रतिकूलताको छोड़कर भगवान्के शरण हो जाता है और कठपुतलीकी भाँति भगवान् जैसे नचाते हैं, वैसे ही नाचता है। भगवान् उसके लिये जो कुछ विधान करते हैं, उसीमें वह आनन्द और प्रसन्नताका अनुभव करता है। वह अनिच्छा और परेच्छासे प्राप्त हुए सुख-दुःख आदि पदार्थों और परिस्थितियोंको भगवान्का मङ्गलमय विधान मानता है या भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार मानता है। एवं अपने द्वारा वर्तमानमें की हुई क्रियाके फलके सम्बन्धमें भी ऐसा ही समझता है; क्योंकि जीव कर्म करनेमें तो कुछ स्वतन्त्र है पर फल भोगनेमें सर्वथा परतन्त्र है। जैसे किसीने व्यापार करते समय माल खरीदा तो माल खरीदनेमें तो वह स्वतन्त्र है पर उसका फल जो नफा-नुकसान होता है, उसमें वह सर्वथा परतन्त्र है। अतः भगवान्ने अर्जुनसे यही कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २। ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं; इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

भगवद्भक्त कर्मफलको भगवान्का विधान या पुरस्कार मानकर हर समय आनन्दमग्न रहता है। किंतु इसकी अपेक्षा भी वह अधिक श्रेष्ठ है जो प्राणी और पदार्थमात्रको भगवान्का स्वरूप एवं क्रिया और घटनामात्रको भगवान्की लीला समझकर आनन्दमें मग्न रहता है, जिससे वह दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, निद्रा, आलस्य, प्रमाद, हर्ष, शोक आदि सम्पूर्ण विकारोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

इसी प्रकार जो स्त्री पतिको, पुत्र माता-पिताको, शिष्य गुरुको और साधक ज्ञानी महात्माको ईश्वरके समान समझकर अपने-आपको उनके समर्पण कर देता है, उनके किये हुए विधानको मङ्गलमय समझता है, अपनी अनुकूलता-प्रतिकूलतासे रहित होकर उनकी आज्ञा, प्रेरणा, संकेत और मनके अनुकूल चलता है, वह भी सम्पूर्ण अनर्थोंके मूल राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित हुआ समभावको प्राप्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

जैसे किसी स्त्रीकी सुन्दर वस्त्राभूषण और स्वादिष्ट भोजन आदि प्राप्त करनेकी इच्छा है, किंतु पतिके मनमें वैराग्य होनेसे वह इनको पसंद नहीं करता तो वह पतिव्रता बड़ी प्रसन्नतासे अपनी इच्छाका त्याग करके पतिकी इच्छाके अनुकूल ही कार्य करती है। इसी प्रकार किसी पतिव्रता स्त्रीके यदि घरका काम करना, किसीके कठोर वचनोंको सुनना या अन्य किसी प्रकारके कष्टप्रद कार्य करना प्रतिकूल हो तो भी पतिकी प्रसन्नताके लिये वह उस प्रतिकूलताका बड़ी प्रसन्नतासे परित्याग कर देती है। अभिप्राय यह कि जो अपने मनके अनुकूल है; किंतु पतिके मनके प्रतिकूल है, वहाँ वह अपने मनकी अनुकूलताका त्याग कर देती है, जिससे मनकी अनुकूलतापर बार-बार आघात पड़नेसे वह नष्ट हो जाती है। तथा जो अपने मनके प्रतिकूल है, किंतु पतिके मनके अनुकूल है, वहाँ वह अपने मनकी प्रतिकूलताका त्याग कर देती है, जिससे मनकी प्रतिकूलतापर बार-बार आघात पड़नेसे वह भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार अपने मनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता नष्ट हो जानेसे राग-द्वेषका नाश होकर समता आ जाती है और समतासे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इसी प्रकार माता-पिताके अनुकूल हो जानेसे पुत्रका, गुरुके अनूकूल हो जानेसे शिष्यका एवं ज्ञानी महात्माके अनुकूल हो जानेसे साधकका राग-द्वेष नष्ट होकर उसमें समता आ जाती है, जिससे उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इसीलिये भक्त प्रह्लादने दैत्यबालकोंको उपदेश करते हुए अन्तमें यही कहा —

असारसंसारविवर्तनेषु मा यात तोषं प्रसभं ब्रवीमि।
सर्वत्र दैत्यास्समतामुपेत समत्वमाराधनमच्युतस्य॥
तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते।
समाश्रिताद् ब्रह्मतरोरनन्तान्निस्संशयं प्राप्स्यथ वै महत्फलम्॥

(विष्णुपु० १। १७। ९०-९१)

'दैत्यबालको! मैं आग्रहपूर्वक कहता हूँ, तुम इस असारसंसारके विषयोंमें कभी संतुष्ट मत होना। तुम सर्वत्र समदृष्टि करो; क्योंकि समता ही श्रीअच्युतकी आराधना है। उन अच्युतके प्रसन्न होनेपर फिर संसारमें दुर्लभ ही क्या है? तुम धर्म, अर्थ और कामकी इच्छा कभी न करना; वे तो अत्यन्त तुच्छ हैं। उस ब्रह्मरूप महावृक्षका आश्रय लेनेपर तो तुम निस्संदेह (मोक्षरूप) महाफल प्राप्त कर लोगे।'

इसलिये परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे हमलोगोंको कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, या सत्सङ्गके द्वारा राग-द्वेषका नाश करके उच्चकोटिकी समता प्राप्त करनी चाहिये।

मायामुक्त नारदजी

तव मुनि अति सभीत हरि चरना।
गहे पाहि प्रनतारति हरना॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

(आत्मोद्धारके साधन)

महाभारतमें जीवनको उन्नत बनानेवाले कुछ शिक्षाप्रद प्रसङ्ग

महाभारतका भारतीय साहित्यमें बहुत उच्च स्थान है। इसे पञ्चम वेद भी कहते हैं। इसका विद्वानोंमें वेदोंका-सा आदर है। इसमें गुरु-भक्ति, माता-पिताकी सेवा, पातिव्रत्यधर्म, तीर्थों और यज्ञ, दान, तप, व्रत, उपवास एवं सेवा आदिका माहात्म्य, वर्णाश्रमधर्म, राजधर्म, आपद्धर्म, दानधर्म, श्राद्धधर्म, मोक्षधर्म तथा मोक्ष-प्राप्तिके लिये भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार और निष्कामकर्म आदिका बहुत ही विशद वर्णन है। श्रीमद्भगवद्गीता-जैसा अनुपम ग्रन्थ, जिसे सारा संसार आदरकी दृष्टिसे देखता है और जिसे हम विश्व-साहित्यका सर्वोत्तम ग्रन्थ कहें तो भी अत्युक्ति न होगी, इस महाभारतमें ही है।* इसलिये ऐसे परमोपयोगी महाभारत ग्रन्थका अध्ययन प्रत्येक माता, बहिन और भाईको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परतासे करना चाहिये।

वैसे तो महाभारतमें अनेक शिक्षाप्रद उपदेश और आख्यान भरे हुए हैं, किंतु यहाँ पाठकोंके लिये महाभारतके साररूपमें कुछ चुने हुए शिक्षाप्रद प्रसङ्ग उपस्थित किये जाते हैं।

मनुष्यके कल्याणमें श्रद्धा ही प्रधान हेतु है। ईश्वर, महात्मा, शास्त्र और माता, पिता, आचार्य आदि गुरुजनोंके प्रति भक्ति एवं उनके वचनोंमें तथा परलोक और आत्माके अस्तित्वमें विश्वास होना श्रद्धा है। ईश्वर, महात्मा और गुरुजनोंकी आज्ञाका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सकामभावसे पालन करनेपर इहलोक और परलोकमें कामनाकी सिद्धि होती है तथा निष्कामभावसे करनेपर परम गतिकी प्राप्ति होती है। इस सम्बन्धमें महाभारतमें कई उदाहरण मिलते हैं। हमलोगोंको उनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

गुरुभक्त आरुणि, उपमन्यु और वेद—ये तीनों महर्षि आयोदधौम्यके शिष्य थे। एक दिन गुरुजीने आरुणिको खेतमें क्यारियोंकी टूटी हुई मेड़ बाँधकर जल रोकनेको कहा। गुरुकी आज्ञा पाकर आरुणि खेतमें जाकर मेड़की जगह स्वयं ही लेट गया। उसके बहुत समयतक न लौटनेपर गुरु स्वयं खेतमें गये। जब उन्हें उसके इस प्रयत्नका पता लगा, तब वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कृपापूर्वक आशीर्वाद दिया कि 'तुमने मेरी आज्ञाका पालन किया है, इसलिये तुम कल्याणके भागी होगे एवं सम्पूर्ण वेद और धर्मशास्त्र तुम्हारी बुद्धिमें स्वतः प्रकाशित हो जायँगे।' इस प्रकार गुरुकी कृपासे उन्हें बिना ही पढ़े सम्पूर्ण वेद और शास्त्रोंका ज्ञान होकर कल्याणकी प्राप्ति हो गयी (महा० आदि० ३)।

गुरुभक्त उपमन्युने गुरुकी आज्ञा पाकर भिक्षा और दूधका भी त्याग कर दिया। किंतु एक दिन क्षुधासे पीड़ित हो वे आकके पत्तोंके भक्षणसे अंधे हो जानेपर कुएँमें गिर गये। जब उपमन्यु घर नहीं लौटे, तब महर्षि आयोदधौम्य वनमें गये। जब उन्हें अपने शिष्यके अंधे होकर कुएँमें गिरनेका पता लगा, तब उन्होंने उसे अश्विनीकुमारोंकी स्तुति करनेका आदेश दिया। उनकी स्तुतिसे प्रकट हुए अश्विनीकुमारोंके द्वारा उनको पूए दिये जानेपर भी उन्होंने गुरुजीको निवेदन किये बिना खाना स्वीकार नहीं किया। इस प्रकारकी गुरुभक्तिकी दृढ़ता देखकर अश्विनी-कुमार बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे दाँत सुवर्णमय हो जायँगे, तुम्हारी आँखें ठीक हो जायँगी और तुम कल्याणके भागी होओगे। जब उपमन्युको आँखें मिल गयीं, तब उन्होंने गुरुजीके पास जाकर उनको प्रणाम किया। गुरुजी उनपर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'जैसा अश्विनीकुमारोंने कहा है, उसी प्रकार तुम कल्याणके भागी होओगे और तुम्हें सम्पूर्ण वेद और धर्मशास्त्र स्वतः स्फुरित हो जायँगे।' अतएव उपमन्युको भी गुरुकृपासे समस्त शास्त्रोंका ज्ञान होकर कल्याण प्राप्त हो गया (महा० आदि० ३)।

आचार्य आयोदधौम्यके एक तीसरे शिष्य थे वेद। वे भी बड़े ही गुरु-भक्त थे। उन्होंने दीर्घ कालतक गुरुजीकी सेवा की। गुरुजी उन्हें बैलकी तरह सदा भारी बोझ ढोनेमें लगाये रखते थे, किंतु वेद सरदी-गरमी तथा भूख-प्यासका कष्ट सहन करते हुए सभी अवस्थाओंमें गुरुके अनुकूल ही रहते थे। इससे गुरुजी उनपर बहुत संतुष्ट हुए। अतः गुरुजीकी कृपासे उन्हें सर्वज्ञता और श्रेयकी प्राप्ति हो गयी (महा० आदि० ३)।

---

* महाभारत भीष्मपर्वके अ० २५ से ४२ तक गीता है। सम्पूर्ण गीतापर प्रश्नोत्तररूपमें विस्तृत व्याख्या 'गीता-तत्त्व-विवेचनी' गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित है।

इन्हीं ब्रह्मवेत्ता आचार्य वेदके एक शिष्य थे उत्तङ्क। गुरुभक्त उत्तङ्कने गुरुजीकी धर्मपूर्वक बड़ी सेवा की। उत्तङ्कने गुरुपत्नीकी आज्ञा पाकर अत्यन्त दुष्कर प्रयत्नपूर्वक राजा पौष्यकी पत्नीसे दो दिव्य कुण्डल लाकर गुरुपत्नीको गुरु-दक्षिणाके रूपमें दिये। इनके धर्ममर्यादापूर्वक गुरु-सेवा-व्रतसे प्रसन्न होकर गुरुजीने इनको सम्पूर्ण कामनापूर्तिका और कल्याणभागी होनेका आशीर्वाद दिया (महा० आदि० ३)।

उत्तङ्कके चरित्रमें एक और विशेष बात ध्यान देनेयोग्य है। जब वे राजा पौष्यके आदेशसे उनकी रानीसे कुण्डल माँगने अन्तःपुरमें गये, तब उन्हें रानीके दर्शन नहीं हुए। वे राजा पौष्यके पास आकर उन्हें उलाहना देने लगे। तब राजा पौष्यने एक क्षण विचार करके उन्हें उत्तर दिया कि आप निश्चय ही जूँठे मुँह हैं। स्मरण तो कीजिये; क्योंकि मेरी स्त्री पतिव्रता होनेके कारण उच्छिष्ट—अपवित्र मनुष्यके द्वारा नहीं देखी जा सकती। आप उच्छिष्ट होनेके कारण अपवित्र हैं, इसलिये वे आपकी दृष्टिमें नहीं आ रही हैं।* यह सुनकर उत्तङ्कने विधिपूर्वक आचमन करके पवित्र हो अन्तःपुरमें प्रवेश किया, तब उन्हें रानीका दर्शन हुआ (महा० आदि० ३)।

इन्हीं उत्तङ्क ऋषिने गुरुसेवाके प्रभावसे भगवान् श्रीकृष्णसे वार्तालाप करके और उनसे अध्यात्मतत्त्व तथा उनके प्रभावको सुनकर भगवान्‌के विश्वरूपका दर्शन प्राप्त कर लिया (महा० आश्वमेधिक० ५४-५५)।

गुरुभक्त एकलव्य भीलने द्रोणाचार्यकी मिट्टीकी प्रतिमा बनाकर और उसीकी श्रद्धापूर्वक उपासना करके धनुर्विद्याका अभ्यास कर लिया। गुरुभक्तिके प्रभावसे वह धनुर्विद्यामें ऐसा प्रवीण हो गया कि उसने अर्जुनको भी आश्चर्यमें डाल दिया (महा० आदि० १३१)।

महाराज द्रुपदकी भगवान् शिवमें बड़ी ही अनुपम श्रद्धा थी। उन्होंने संतानकी प्राप्तिके लिये घोर तपस्या करके भगवान् शंकरको संतुष्ट कर लिया। तब भगवान् शंकरने उनको कन्याप्राप्तिका वर दिया। इसपर राजा द्रुपदने कहा— 'भगवन्! मैं पुत्र चाहता हूँ; अतः मुझे कन्या नहीं, पुत्र प्राप्त हो।' इसपर श्रीमहादेवजीने कहा— 'राजन्! तुम्हें पहले कन्या प्राप्त होगी, फिर वही पुरुष हो जायगी। मैंने जो कुछ कहा है, वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता।' इस वरदानके फलस्वरूप जब उन्हें कन्या प्राप्त हुई, तब भगवान् शिवके वचनोंपर श्रद्धा होनेके कारण राजा द्रुपदने अपनी लड़कीको लड़का ही घोषित किया और लड़केके समान ही उसके जातकर्मादि संस्कार करवाकर पुरुष-जैसा ही 'शिखण्डी' नाम रखा। इतना ही नहीं, उसका विवाह भी दशार्णदेशके राजा हिरण्यवर्माकी पुत्रीके साथ कर दिया। फिर उनकी श्रद्धाके बलसे शिखण्डी समयपर पुरुषत्वको प्राप्त हो गया (महा० उद्योग० १८८—१९२)।

पूर्वजन्ममें एक ऋषिकन्याके रूपमें द्रौपदीने पतिकी प्राप्तिके लिये भगवान् शिवकी बड़ी ही श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उपासना की थी। उसने उस समय बड़ी भारी तपस्या की। उससे संतुष्ट हुए शिवजीसे वर माँगते समय उसने पाँच बार पति देनेको कहा था। अतः उसके प्रभावसे उस ऋषि-कन्याको दूसरे जन्ममें पाण्डवोंके रूपमें पाँच पति प्राप्त हुए (महा० आदि० १६८, १९६)।

अपने पिता महर्षि जमदग्निकी आज्ञासे श्रीपरशुरामजीने अपनी माताका उनके किसी मानस अपराधके कारण सिर काट डाला। इससे महातपस्वी जमदग्नि उनपर बहुत प्रसन्न हुए और उनसे वर माँगनेको कहा। तब परशुरामजी बोले—'पिताजी! मेरी माता जीवित हो उठें, उन्हें मेरे द्वारा मारे जानेकी बात याद न रहे और वह मानस-पाप उनका स्पर्श न कर सके तथा मेरे चारों भाई स्वस्थ हो जायँ, युद्धमें मेरा सामना करनेवाला कोई न हो और मैं बड़ी आयु प्राप्त करूँ।' महर्षि जमदग्निने परशुरामजीकी सेवा और आज्ञापालनसे प्रसन्न हो वरदान देकर उनकी वे सभी कामनाएँ पूर्ण कर दीं (महा० वन० ११६)।

इसी प्रकार अपने पिता महर्षि गौतमकी आज्ञापालन करनेके लिये चिरकारी तैयार तो हो गया, किंतु देरतक सोच-विचारकर कार्य करनेके कारण वह प्रशंसाका पात्र बन गया और अन्तमें पिताके साथ ही स्वर्गमें चला गया (महा० शान्ति० २६६)।

राजा पूरुने अपने पिता महाराज ययातिकी आज्ञाका पालन करनेके लिये अपनी युवावस्था उन्हें देकर उनकी वृद्धावस्था स्वयं ले ली। इससे महाराज ययाति प्रसन्न हो गये और पूरुको यह वर देकर कि 'तुम्हारे राज्यमें सारी प्रजा समस्त कामनाओंसे सम्पन्न होगी', उनका राज्याभिषेक कर दिया (महा० आदि० ८४-८५)।

श्रीभीष्मपितामहने अपने पिता राजा शान्तनुको सुख पहुँचाने और उनकी सेवा करनेके उद्देश्यसे आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत-पालनकी प्रतिज्ञा करके स्त्रीका और राज्यका

* स एवमुक्तः पौष्यः क्षणमात्रं विमृश्योत्तङ्कं प्रत्युवाच—'नियतं भवानुच्छिष्टः स्मर तावन्न हि सा क्षत्रिया उच्छिष्टेनाशुचिना शक्या द्रष्टुं पतिव्रतात्वात् सैषा नाशुचेर्दर्शनमुपैतीति' (महा० आदि० ३। १०७)।

भी परित्याग कर दिया। इसके प्रभावसे उन्हें पितासे इच्छामृत्युका वर प्राप्त हुआ (महा० आदि० १००)। वे बड़े ही शूरवीर, सदाचारी और ईश्वरभक्त थे। उन्होंने अपने भाई विचित्रवीर्यके विवाहके लिये स्वयंवरमें समस्त राजाओंको पराजित करके काशिराजकी तीन कन्याओंका हरण किया और अम्बाके लिये अपने साथ युद्ध करनेवाले अपने गुरु परशुरामजीको भी युद्धमें छका दिया (महा० उद्योग० १७३ से १८५)। पाण्डव भी इनकी कृपासे ही इनके वधका उपाय जानकर इनको मार सके थे (महा० भीष्म० १०७)। इन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति करके उनको अपनी ओर इतना आकर्षित कर लिया कि भगवान् श्रीकृष्णको भी बदलेमें उनका ध्यान करना पड़ा (महा० शान्ति० ४६)। भीष्म ऐसे सदाचारी, शास्त्रज्ञ और धर्मवेत्ता थे कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने उनकी प्रशंसा की और कहा कि भीष्म धर्मके प्रचुर भण्डार हैं, वे सम्पूर्ण वेदों और इतिहास-पुराणोंमें कथित समस्त धर्मोंके ज्ञाता हैं, धर्मके सम्बन्धमें संदेहग्रस्त विषयोंका समाधान करनेवाला भीष्मके समान दूसरा कोई भूमण्डलमें नहीं है (महा० शान्ति० ५०)। उस समय बाणोंसे बिंधे होनेके कारण पाण्डवोंको उपदेश देनेमें भीष्मने अपनी असमर्थता प्रकट की। इसपर भगवान् श्रीकृष्णने उनपर प्रसन्न होकर उनको वरदान दिया, जिससे वे पीड़ारहित हो गये। साथ ही उनके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण ज्ञान प्रकाशित हो गये एवं उनमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, दान आदि धर्मों और मोक्ष-धर्मोंका उपदेश देनेकी शक्ति आ गयी (महा० शान्ति० ५२)। उस समय पाण्डवोंके द्वारा मारकर घायल कर दिये जानेपर भी इन्होंने प्राणत्याग न करके रणभूमिमें शरशय्यापर पड़े हुए ही भक्ति, ज्ञान, सदाचार एवं धर्म आदिका ऐसा अनुपम उपदेश दिया, जिससे शान्तिपर्व और अनुशासनपर्व भरे हुए हैं। इस प्रकार महात्मा भीष्मने पितृभक्ति और ब्रह्मचर्यव्रतके पालनसे शूर-वीरता, सदाचार, ईश्वर-भक्ति पाकर अन्तमें उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त की (महा० अनुशासन० १६८)।

महाराज युधिष्ठिरने माता कुन्तीकी ऐसी आज्ञाका भी पूर्णतया पालन किया, जो लोकसे विरुद्ध और कठिन-से-कठिन थी। जब भीमसेन और अर्जुनने मातासे भिक्षा लानेकी बात निवेदन की, तब माता कुन्तीने अनजानमें यह आज्ञा दे दी कि सब भाई मिलकर भिक्षाका उपभोग करो। किंतु जब कुन्तीने उन्हें द्रौपदीको लाये देखा, तब उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने युधिष्ठिरसे कहा—'अब मेरी यह बात सत्य कैसे होगी?' महाराज युधिष्ठिरने उन्हें आश्वासन दिया कि 'आपके वचनको हम सत्य करेंगे। द्रौपदी हम सब भाइयोंकी पत्नी होगी और हम पाँचों ही इसका पाणिग्रहण करेंगे।' इसपर राजा द्रुपदके यहाँ बड़ा वाद-विवाद उपस्थित हो गया, परंतु युधिष्ठिर अपने निश्चयसे नहीं टले। अन्तमें श्रीवेदव्यासजी वहाँ अकस्मात् प्रकट हो गये और उन्होंने द्रौपदीके पूर्वजन्मकी कथा कहकर और पाण्डवोंके धर्मात्मा होनेका परिचय देकर द्रुपदको समझा दिया एवं उन्हें दिव्य दृष्टि देकर पाण्डवोंके दिव्य रूपोंका दर्शन करा दिया। तब राजा द्रुपदने द्रौपदीका पाँचों पाण्डवोंके साथ विवाह कर दिया (महा० आदि० १९० से १९७)। माता कुन्तीकी ऐसी कठोर आज्ञाका पालन करनेसे महाराज युधिष्ठिर धर्मराज कहलाये।

धर्मव्याध माता-पिताकी सेवा और आज्ञापालनके प्रभावसे दिव्य दृष्टि-सम्पन्न और बड़ा भारी धर्मज्ञ हो गया था। उसने कौशिक-जैसे महातपस्वी ऋषिको भी धर्मका उपदेश किया, उसने बड़े ही विस्तारसे धर्मके सूक्ष्म रहस्य बतलाये और अन्तमें उनसे यही कहा कि माता-पिताको संतुष्ट न करनेके कारण आपका यह धर्म और व्रत व्यर्थ हो गया है, अतः आप शीघ्र जाकर उन दोनोंको प्रसन्न कीजिये। यह सुनकर कौशिक ऋषिने भी घर जाकर माता-पिताकी सेवा की और वे भी प्रशंसाके पात्र बन गये (महा० वन० २०७ से २१६)।

माता, पिता और गुरुजनोंकी सेवा तथा आज्ञापालनकी महिमा और फलका वर्णन करते हुए श्रीभीष्मजीने युधिष्ठिरसे कहा—'तात युधिष्ठिर! मुझे तो माता-पिता तथा गुरुजनोंकी पूजा ही अधिक महत्त्वकी वस्तु जान पड़ती है। इस लोकमें इनकी सेवा-पूजाके कार्यमें संलग्न होकर मनुष्य महान् यश और श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त करता है। भलीभाँति पूजित हुए माता-पिता और गुरुजन जिस कामके लिये आज्ञा दें, वह धर्मके अनुकूल हो या विरुद्ध उसका पालन करना ही चाहिये। जो उनकी आज्ञाके पालनमें संलग्न है, उसके लिये दूसरे किसी धर्मके आचरणकी आवश्यकता नहीं है। जिस कार्यके लिये वे आज्ञा दें, वही धर्म है—ऐसा धर्मात्माओंका निश्चय है। ये माता-पिता और गुरुजन ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों आश्रम हैं, ये ही तीनों वेद हैं तथा ये ही तीनों अग्नियाँ हैं। पिता गार्हपत्य अग्नि है, माता दक्षिणाग्नि मानी गयी है और गुरु आहवनीय अग्निका स्वरूप है। लौकिक अग्नियोंसे माता-पिता आदि त्रिविध अग्नियोंका गौरव अधिक है।

राजन्! यदि तुम इनकी सेवामें कोई भूल नहीं करोगे तो तुम तीनों लोकोंको जीत लोगे।'*

जिस प्रकार माता, पिता, गुरुजन और महात्माओंकी सेवा और आज्ञापालनसे मनुष्यका इहलोक और परलोकमें परम हित होता है, उसी प्रकार संध्योपासन, गायत्रीजप और वेद-शास्त्रोंके अध्ययनसे भी मनुष्यका इहलोक और परलोकमें महान् कल्याण होता है।

महातपस्वी जरत्कारु मुनिने इच्छा न रहते हुए भी पितरोंके उद्धारके उद्देश्यसे ही विवाह किया था। वे प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व और सायंकाल सूर्यास्तसे पूर्व श्रद्धापूर्वक नियमसे संध्योपासना किया करते थे। उसके प्रभावसे भगवान् सूर्य भी उनके दिये हुए अर्घ्यको ग्रहण करनेके पश्चात् ही अस्ताचलको जाते थे। एक दिनकी बात है, जब वे पत्नीकी गोदमें सोये हुए थे, उनके सोते समय ही सूर्यको अस्ताचल जाते देख, पतिके धर्मका लोप न हो—इसलिये पत्नीने उनको जगा दिया। इसपर उन्होंने उससे कहा—'सुन्दरि! सूर्यमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि मैं सोता रहूँ और वे अस्त हो जायँ—यह मेरे हृदयमें निश्चय है।'† यह कितने भारी प्रभावकी बात है (महा० आदि० ४५। ४७)!

द्वापरयुगके अन्ततक तो यही प्रणाली रही कि प्रातःकाल संध्या-गायत्री करके अपना अन्य कार्य आरम्भ करना और सायंकालके पूर्व अन्य कर्मोंसे निवृत्त होकर संध्योपासन करना। और तो क्या, युद्ध-जैसा कार्य भी बहुत-से सैनिकगण नित्यकर्म करके ही आरम्भ करते थे। अभिमन्यु-जैसे महारथीके मरनेपर जब मरणाशौच लगा हुआ था, तब भी राजा युधिष्ठिर आदिने नित्यकर्मका त्याग नहीं किया, बल्कि विधिपूर्वक गायत्रीजप और अग्निहोत्र करके ब्राह्मणोंको दान दिया (महा० द्रोण० ८२)।

सायंकाल होनेपर भी वे अन्य कार्योंको बंद करके संध्योपासन किया करते थे। महाभारत, शान्तिपर्वके ५८वें अध्यायमें वर्णन आता है कि शरशय्यापर पड़े हुए पितामह भीष्मसे राजधर्मोपदेश सुनते-सुनते जब सायंकाल होने लगा, तब भगवान् श्रीकृष्ण, कृपाचार्य और राजा युधिष्ठिरने वहाँसे जाकर दृषद्वती नदीमें स्नान, संध्या और गायत्री-जप आदि किया और फिर वे हस्तिनापुर गये।

महर्षि पिप्पलादके पुत्र कौशिकमुनिने एक हजार वर्षोंतक बहुत ही संयम-नियमपूर्वक गायत्रीका जप किया। इससे उनपर सावित्रीदेवी प्रसन्न हो गयीं। कौशिक ब्राह्मणने सावित्रीदेवीको प्रणाम किया और उनके कहनेपर उनसे यही वर माँगा कि मेरा मन सदा गायत्री-जपमें ही लगा रहे और गायत्री-जप करनेकी मेरी इच्छा बराबर बढ़ती रहे। सावित्रीदेवीने 'तथास्तु' कहकर यह भी वर दिया कि तुम्हें निर्दोष ब्रह्मपदकी प्राप्ति होगी। वे फिर जपमें संलग्न हो गये। उनकी जपमें ऐसी उत्तम निष्ठा देखकर धर्म बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उनको प्रत्यक्ष दर्शन दिया तथा उन्हें स्वर्गमें चलनेका आग्रह किया; पर उन्होंने शरीर-त्यागकर स्वर्ग जाना स्वीकार नहीं किया। तब उनके पास स्वयं यम, काल और मृत्यु आये। इसी समय राजा इक्ष्वाकु भी तीर्थयात्रा करते हुए वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने उन जापक ब्राह्मणको धन-दान ग्रहण करनेका बहुत आग्रह किया। किंतु जापक ब्राह्मणने कहा—'मैं निवृत्ति-परायण ब्राह्मण हूँ, अतः दान नहीं लूँगा। आपको जो अभीष्ट हो, वह मुझसे माँग लें। बताइये, मैं आपको क्या दूँ?' राजा इक्ष्वाकुने सौ वर्षोंके जपका फल देनेको कहा। जापक ब्राह्मण जपका फल देनेको तैयार हो गये। किंतु राजा इक्ष्वाकुने लेना नहीं चाहा। बहुत देरतक आपसमें वाद-विवाद चलता रहा। अन्तमें धर्मने निर्णय करके आदेश दिया कि आप दोनों ही समान फलके भागी हों। तब गायत्री-जापकने दोनोंके समान फलके भागी होने और साथ-साथ चलनेकी बात स्वीकार कर ली। फिर वे ध्यानस्थ होकर बैठ गये। उस समय उनके ब्रह्मरन्ध्रका भेदन करके एक ज्योति निकली और वह ब्रह्माजीमें प्रविष्ट हो गयी। राजा इक्ष्वाकु भी उन्हींकी भाँति ब्रह्माजीमें प्रविष्ट हो गये। इस प्रकार गायत्रीजपके प्रभावसे उनको सायुज्यमुक्ति होकर ऐसी परम उत्तम गति प्राप्त हुई, जिसे देखनेके लिये वहाँ देवता, लोकपाल,

* मातापित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम। इह युक्तो नरो लोकान् यशश्च महदश्नुते॥
यच्च तेऽभ्यनुजानीयुः कर्म तात सुपूजिता। धर्माधर्मविरुद्धं वा तत् कर्तव्यं युधिष्ठिर॥
न च तैरभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्। यं च तेऽभ्यनुजानीयुः स धर्म इति निश्चयः॥
एत एव त्रयो लोका एत एवाश्रमास्त्रयः। एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः॥
पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रीँल्लोकांश्च विजेष्यसि। (महा० शान्ति० १०८। ३—८)

† शक्तिरस्ति न वामोरु मयि सुप्ते विभावसोः॥
अस्तं गन्तुं यथाकालमिति मे हृदि वर्तते। (महा० आदि० ४७। २५-२६)

ऋषि-महर्षि, मुनि, सिद्ध, गन्धर्व, ब्रह्मा, शेषनाग और भगवान् विष्णु भी पधारे (महा० शान्ति० १९९-२००)।

जिस प्रकार पुरुष माता, पिता और गुरुकी भक्तिसे इस लोक और परलोकमें कल्याण प्राप्त करता है, उसी प्रकार स्त्री भी केवल पातिव्रत्य-धर्मके पालनसे ही सब कुछ प्राप्त कर सकती है।

वनपर्वके २०६ ठे अध्यायमें एक कथा आती है। एक बड़ी ही साध्वी पतिव्रता स्त्री थी। वह पतिको देवता मानती और उनके विचारके अनुकूल चलती थी। उसका मन कभी परपुरुषकी ओर नहीं जाता था। वह मन, वाणी और क्रियासे पतिके ही परायण थी। वह सर्वभावसे पतिसेवामें ही संलग्न रहती थी। सदाचारका पालन करती, बाहर-भीतरसे पवित्र रहती, घरके काम-काजको कुशलतापूर्वक करती और कुटुम्बके सभी लोगोंका हित चाहती थी। पतिके लिये जो हितकर कार्य जान पड़ता, उसमें वह सदा लगी रहती थी। देवताओंकी पूजा, अतिथियोंके सत्कार, सेवकोंके भरण-पोषण और सास-ससुरकी सेवामें भी सदा तत्पर रहती थी। अपने मन और इन्द्रियोंपर पूर्ण संयम रखती थी।

एक दिनकी बात है, उसके घरपर महातपस्वी कौशिक मुनि, जिनकी क्रोधयुक्त दृष्टि पड़नेसे वृक्षपर बैठी हुई बगुली निष्प्राण होकर पृथ्वीपर गिर गयी थी, भिक्षाके लिये आये। दरवाजेपर पहुँचकर उन्होंने आवाज दी—'भिक्षा दें।' पतिव्रता स्त्री बर्तन माँज रही थी, अतः उसने भीतरसे उत्तर दिया—'ठहरिये, अभी लाती हूँ।' ज्यों ही वह बर्तन साफ करके निवृत्त हुई, त्यों ही भूखसे पीड़ित हुए उसके पति सहसा घरपर आ गये। तब वह पतिकी सेवामें लग गयी। कुछ देर बाद उसे ब्राह्मणको भिक्षा देनेकी बात याद आयी, तब वह अपनी भूलके लिये लज्जित हुई भिक्षा लेकर बाहर निकली। उसे देखकर कौशिकने कहा—'सुन्दरि! तुम्हारा यह कैसा बर्ताव है? तुम्हें इतना विलम्ब करना था तो 'ठहरो' कहकर मुझे रोक क्यों लिया? मुझे जाने क्यों नहीं दिया?' स्त्रीने कहा—'विद्वन्! क्षमा करें, मेरे पतिदेव भूखे और थके हुए घरपर आये थे। मैं उन्हींकी सेवामें लग गयी।' कौशिक बोले—'तुमने पतिको ही सबसे बड़ा बना दिया। क्या तू ब्राह्मणोंके प्रभावको नहीं जानती? वे अग्निके समान तेजस्वी होते हैं। वे चाहें तो पृथ्वीको भी भस्म कर सकते हैं।' पतिव्रताने कहा—'ब्रह्मन्! मैं ब्राह्मणोंके तेज और महत्त्वको जानती हूँ। महात्मा ब्राह्मणोंके क्रोध और कृपा दोनों महान् होते हैं। मेरे द्वारा जो अपराध बन गया है, उसे कृपया क्षमा करें। तपोधन! क्रोध न करें। मैं वह बगुली नहीं हूँ जो आपकी क्रोधभरी दृष्टिसे जल जाऊँगी। मुझे तो पति-सेवासे जो धर्म प्राप्त होता है, वही अधिक पसंद है। मैं साधारणरूपसे ही पतिसेवारूप धर्मका पालन करती हूँ। उसीके प्रभावसे मुझे आपके रोषसे बगुलीके जलनेकी बात ज्ञात हो गयी है।' यह कहकर पतिव्रता स्त्रीने कौशिक मुनिसे कुछ धर्मकी बातें कहीं और अन्तमें बतलाया कि धर्मका स्वरूप सूक्ष्म होता है। आप भी धर्मज्ञ, स्वाध्यायपरायण और पवित्र हैं, किंतु आपको धर्मका यथार्थ ज्ञान नहीं है। अतः यदि आप परम धर्मको जानना चाहें तो मिथिलापुरीमें धर्मव्याधके पास जाकर पूछिये और मेरे मुखसे कोई अनुचित बात निकल गयी हो तो स्त्रियोंको अदण्डनीय समझकर मुझे क्षमा कीजिये। पतिव्रताकी बातें सुनकर कौशिकको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे उसकी प्रशंसा करते हुए अपने घर लौट गये और फिर धर्मव्याधके पास गये।

हमलोगोंको इस कथापर ध्यान देना चाहिये। पातिव्रत्यका कैसा अद्भुत प्रभाव है! पतिव्रता स्त्रीको पातिव्रत्यके प्रभावसे भूत, भविष्य, वर्तमान—सबका ज्ञान हो जाता है। यह कितने आश्चर्यकी बात है!

पतिव्रता सावित्रीका आदर्श-चरित्र संसारमें प्रसिद्ध ही है। सावित्री मद्रदेशके राजा अश्वपतिकी पुत्री थी। सावित्रीके तेजके कारण जब किसीको भी उससे विवाह करनेका साहस नहीं हुआ, तब राजाने सावित्रीको स्वयं ही अपने गुणोंके अनुरूप वर ढूँढ़ लेनेको कहा। पिताकी आज्ञासे सावित्रीने अनेक वनों और तीर्थोंमें भ्रमण किया। तीर्थाटन करती हुई वह एक तपोवनमें गयी, वहाँ शाल्व देशके राजा द्युमत्सेनके पुत्र सत्यवान्‌को देखकर उसने मन-ही-मन उनका वरण कर लिया। लौटकर पिताके घर आयी तो उसने पिताके साथ ही श्रीनारदजीको बैठे देखकर उनको प्रणाम किया। श्रीनारदजीके पूछनेपर सावित्रीने बतलाया कि मैंने मन-ही-मन सत्यवान्‌को पतिरूपमें वरण किया है। तब राजा अश्वपतिने नारदजीसे सत्यवान्‌के गुणोंके विषयमें पूछा। इसपर नारदजीने कहा—'सत्यवान् बड़ा ही ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी, दानी, उदार, प्रियदर्शन, रूपवान्, बलवान्, जितेन्द्रिय, शूरवीर, अदोषदर्शी, लज्जाशील और कान्तिमान् है।' फिर राजाके द्वारा उसके दोष पूछे जानेपर नारदजीने उसमें एक ही दोष बतलाया कि आजसे बारहवाँ महीना पूर्ण होनेपर उसकी मृत्यु हो जायगी, जिससे उसके सारे गुण छिप जायँगे। यह सुनकर राजा अश्वपतिने सावित्रीसे कहा—'बेटी! तू कोई दूसरा

वर चुन ले; क्योंकि श्रीनारदजीके वचनानुसार सत्यवान्‌की आयु अब एक सालकी ही है।' इसपर सावित्रीने पितासे स्पष्ट कह दिया—'पिताजी! भाइयोंमें धनका बँटवारा एक ही बार होता है, कन्या एक ही बार दी जाती है तथा श्रेष्ठ पुरुष 'मैं दूँगा' यह कहकर एक ही बार वचनदान करता है—ये तीन बातें एक-एक बार ही होती हैं। अतः सत्यवान् चाहे दीर्घायु हों या अल्पायु, गुणवान् हों या गुणहीन, मैंने उनको एक बार अपना पति चुन लिया। अब मैं दूसरे किसी पुरुषका वरण नहीं कर सकती। पहले मनके द्वारा निश्चय करके फिर वाणीद्वारा कहा जाता है। तत्पश्चात् उसे कार्यरूपमें परिणत किया जाता है, अतः इस विषयमें मेरा मन ही प्रमाण है।'*

सावित्रीका निश्चय सुनकर श्रीनारदजीने उसका विवाह सत्यवान्‌के साथ करनेकी अनुमति दे दी। राजा अश्वपति ब्राह्मणों, ऋत्विजों, पुरोहितोंको और विवाहकी सारी सामग्री तथा सावित्रीको साथ लेकर राजा द्युमत्सेनके आश्रमपर गये। वहाँ उनसे अनुनय-विनय करके सत्यवान्‌के साथ अपनी पुत्री सावित्रीका विधिपूर्वक विवाह कर दिया। सावित्री अपने सास-ससुर और पतिकी तन-मनसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सेवा करती रही। वह अपनी सेवाओंसे तीनोंको संतुष्ट रखती थी।

किंतु श्रीनारदजीके वचनोंका स्मरण उसे सदा बना रहता था। उसने गणना करके एक दिन जान लिया कि आजसे चौथे दिन पतिदेवकी मृत्यु है; तब उसने तीन रातका कठोर व्रत धारण किया। चौथे दिन जब सत्यवान्‌की मृत्यु होनेवाली थी, वे कंधेपर कुल्हाड़ी रखकर फल-फूल, समिधा आदि लेने वनकी ओर चले, उस समय पतिव्रता सावित्रीने पतिसे अनुनय-विनय करके वनमें साथ चलनेकी अनुमति प्राप्त कर ली; किंतु सत्यवान्‌ने कहा—'तुम मेरे माता-पितासे पूछ लो, जिससे मुझे दोषका भागी न होना पड़े।' सावित्रीने सास-ससुरसे भी प्रणामपूर्वक अनुनय-विनय करके पतिके साथ वनमें जानेकी आज्ञा प्राप्त कर ली और पतिके साथ वनमें चली गयी।

वनमें पहुँचकर दोनोंने फल एकत्र करके एक टोकरी भर ली। इसके बाद जब सत्यवान् लकड़ी काटने लगा, तब उसके सिरमें भयानक पीड़ा होने लगी। सावित्री अपने पतिदेवको गोदमें सुलाकर बैठ गयी। थोड़ी ही देरमें, उसने यमराजको सत्यवान्‌का प्राण लेनेके लिये आये देखा। सावित्रीके पूछनेपर यमराजने अपना परिचय दे दिया। तब सावित्री बोली—'भगवन्! मैंने तो सुना है कि मनुष्योंको ले जानेके लिये आपके दूत आया करते हैं। यहाँ आप स्वयं कैसे आये?' यमराजने कहा—'यह सत्यवान् धर्मात्मा और गुणोंका समुद्र है। अतः यह मेरे दूतोंद्वारा ले जाये जानेयोग्य नहीं है। इसलिये मैं स्वयं आया हूँ।' यह कहकर यमराजने सत्यवान्‌के शरीरसे जीवको पाशमें बाँधकर निकाल लिया और उसे लेकर वे दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये। सत्यवान् निष्प्राण हो गये। यह देख सावित्री दुःखसे आतुर हो यमराजके पीछे-पीछे चल पड़ी। यमराजने कहा—'अब तू लौट जा; तुझे जहाँतक आना चाहिये था, वहाँतक तू आ चुकी।' सावित्री बोली—'जहाँ मेरे पति ले जाये जाते हैं अथवा ये स्वयं जहाँ जा रहे हैं, वहीं मुझे भी जाना चाहिये—यही सनातन धर्म है। तपस्या, गुरुभक्ति, पतिप्रेम, पातिव्रत्य-पालन तथा आपकी कृपासे मेरी गति कहीं भी नहीं रुक सकती।'† तत्पश्चात् सावित्रीने संत-महात्माओंके दयालु स्वभाव और गुणोंका वर्णन करके यमराजकी बड़ी प्रशंसा की। इससे यमराजने प्रसन्न होकर वर माँगनेको कहा। सावित्रीने क्रमशः ये चार वर माँगे—'१-मेरे श्वशुरके नेत्र नष्ट हो गये हैं, वे नेत्रयुक्त हो जायँ; २-मेरे श्वशुरका राज्य शत्रुओंने छीन लिया, वह उन्हें वापस मिल जाय; ३-मेरे पिताके सौ पुत्र हों और ४-मेरे भी सौ पुत्र हों।' यमराज वर देकर जाने लगे। फिर भी सावित्रीने पीछा नहीं छोड़ा। तब यमराज बोले— 'सावित्री! तू बहुत दूर आ गयी, थक गयी होगी। अतः लौट जा।' फिर भी सावित्री नहीं लौटी। सावित्री बोली— 'महाराज! आपने मुझको सौ पुत्र होनेका वर दिया है, वह मेरे पतिके बिना सफल नहीं हो सकता। अतः मेरे पति सत्यवान् जीवित हो जायँ।' इसपर यमराजने सत्यवान्‌की चार सौ वर्षकी आयु बढ़ाकर उनको छोड़ दिया। सावित्री सत्यवान्‌को लेकर आश्रमपर लौट आयी (महा० वन० २९३ से २९७)।

---

* सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते। सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्॥
दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा। सकृद् वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम्॥
मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते। क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः॥ (महा० वन० २९४। २६, २७, २८)

† यत्र मे नीयते भर्ता स्वयं वा यत्र गच्छति। मया च तत्र गन्तव्यमेष धर्मः सनातनः॥
तपसा गुरुभक्त्या च भर्तुः स्नेहाद् व्रतेन च। तव चैव प्रसादेन न मे प्रतिहता गतिः॥ (महा० वन० २९७। २१-२२)

इस प्रकार सावित्रीने पातिव्रत्य-धर्मके प्रभावसे यमराजको भी जीत लिया और उनसे चार वरदान प्राप्त करके अपने मरे हुए पतिको पुनः प्राप्त कर लिया।

राजा नलकी धर्मपत्नी दमयन्ती बड़ी उच्च कोटिकी पतिव्रता थी। उसने हंसोंके द्वारा राजा नलके गुण सुनकर मन-ही-मन उनको अपना पति वरण कर लिया था। इस कारण उसने इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम—इन देवताओंको भी छोड़कर राजा नलके साथ ही विवाह किया। राजा नल एक दिन लघुशङ्का करनेके पश्चात् केवल हाथ-मुँह धोकर और आचमन करके ही संध्योपासन करने बैठ गये, उन्होंने पैरोंको नहीं धोया। उनमें यह छिद्र देखकर उनके भीतर कलियुग प्रवेश कर गया।* इस कारण राजा नल अपने भाई पुष्करके साथ जूआ खेलनेके समय राज्य आदिको हारने लगे। दमयन्तीके अनुरोध करनेपर भी वे जूएसे निवृत्त नहीं हुए। तब दमयन्तीने निरुपाय होकर अपने पुत्र इन्द्रसेन और पुत्री इन्द्रसेनीको अपने नैहर कुण्डिनपुर भेज दिया। सब कुछ हार जानेपर राजा नल वनमें चले गये। पतिव्रता दमयन्ती भी उनके पीछे हो ली। मार्गमें नलने उसको भी नैहर चली जानेके लिये संकेत किया; किंतु दमयन्ती पतिको छोड़कर बिना बुलाये पिताके घर नहीं गयी। अन्तमें रात्रिके समय वनमें राजा नल दमयन्तीको अकेली छोड़कर आगे चल दिये और राजा ऋतुपर्णके यहाँ पहुँचकर बाहुक नामसे अश्वाध्यक्षका कार्य करने लगे।

इधर पतिके अकेली छोड़कर चले जानेपर दमयन्तीने बहुत विलाप किया और वह विरह-व्याकुल हो उन्हें खोजने लगी। खोजते समय वनमें एक अजगरने उसको ग्रस लिया। यह देख एक व्याधने अजगरको मारकर दमयन्तीको उससे छुड़ा दिया। व्याधके पूछनेपर दमयन्तीने उसे अपना परिचय दे दिया। व्याध दमयन्तीके सौन्दर्यको देखकर काममोहित हो गया, वह दमयन्तीसे अपने अनुकूल होनेके लिये बहुत मीठी-मीठी बातें कहने लगा। उसके दूषित मनोभावको जानकर दमयन्ती जोशमें भर गयी और उसने अपने पातिव्रत्यधर्मके प्रभावसे उस अश्लील भाववाले व्याधको शाप दे डाला, जिससे वह जले हुए वृक्षकी भाँति प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा।

तदनन्तर दमयन्ती चेदिराजके भवनमें जाकर राजमाता-(अपनी मौसी-) के यहाँ दासीका कार्य करने लगी; किंतु उसने राजमातासे इस शर्तके साथ रहना स्वीकार किया कि 'मैं किसीका जूठा नहीं खाऊँगी, किसीके पैर नहीं धोऊँगी और किसी भी दूसरे पुरुषसे किसी तरह भी वार्तालाप नहीं करूँगी।† यदि कोई पुरुष मुझे प्राप्त करना चाहे तो उसे आप प्राणदण्ड दें। मैं अपने पतिकी खोजके लिये केवल ब्राह्मणोंसे मिल सकती हूँ।' यह शर्त करके वह वहाँ रहने लगी।

उस समय उसकी खोजके लिये उसके पिता भीमके द्वारा भेजे हुए ब्राह्मणोंमेंसे एक सुदेव नामक ब्राह्मणने वहाँ पहुँचकर उससे भेंट की। सुदेवने दमयन्तीको पहचान लिया। उसने दमयन्तीसे उसके वियोगमें उसके माता-पिताके दुःखी होनेका हाल कहा। फिर राजमाताके पूछनेपर सुदेवने दमयन्तीका सारा परिचय कह सुनाया। दमयन्तीको जान लेनेपर राजमाताको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। जब दमयन्तीने पिताके घर जानेकी आज्ञा माँगी, तब उसने दमयन्तीसे ठहरनेके लिये आग्रह किया; किंतु दमयन्ती मौसीसे अनुरोधपूर्वक आज्ञा लेकर माता-पिताके पास चली गयी, इससे माता-पिता बड़े प्रसन्न हुए। दमयन्ती भी माता-पिता और पुत्र-पुत्रीसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुई। किंतु उसे नलके वियोगका बड़ा भारी दुःख था, अतः उसने मातासे प्रार्थना की—'मैं अपने पतिके बिना प्राण धारण नहीं कर सकती, अतः मेरे पतिका पता लगानेका आप प्रयत्न करें।' वे पहलेसे ही नलकी खोजमें प्रयत्नशील थीं। दमयन्तीके कहनेपर उन्होंने विशेष रूपसे खोज करायी। बहुत-से ब्राह्मण इधर-उधर भेजे गये।

तदनन्तर ब्राह्मणोंके द्वारा बाहुक नामधारी नलका समाचार पाकर दमयन्तीने सुदेवको राजा ऋतुपर्णके यहाँ संदेश देकर भेजा कि 'भीमकुमारी दमयन्ती पुनः स्वयंवर करेगी। कल ही वह स्वयंवर होगा।' यह सुनकर राजा ऋतुपर्ण दमयन्तीको प्राप्त करनेके लिये अपने अश्वाध्यक्ष बाहुक नामधारी नलकी सहायतासे कुण्डिनपुर पहुँचे।

राजा नलके कुण्डिनपुर पहुँचनेपर दमयन्ती अपनी दासी केशिनीके द्वारा उनकी परीक्षा करके इस निर्णयपर पहुँच गयी कि ये राजा नल ही हैं। तब उसने उनको अपने महलमें बुलाकर उनसे भेंट की। उस समय राजा नलने दमयन्तीसे कहा—'कोई भी स्त्री अपने अनुरक्त पतिको त्यागकर दूसरे पुरुषका वरण कैसे कर सकती है, जैसा कि तुम करने जा रही हो।' इसपर दमयन्तीने उनसे क्षमा-प्रार्थना की कि मैंने यह पुनः स्वयंवरकी

* कृत्वा मूत्रमुपस्पृश्य संध्यामन्वास्त नैषधः। अकृत्वा पादयोः शौचं तत्रैनं कलिराविशत्॥ (महा० वन० ५९। ३)

† उच्छिष्टं नैव भुञ्जीयां न कुर्यां पादधावनम्। न चाहं पुरुषानन्यान् प्रभाषेयं कथंचन॥ (महा० वन० ६५। ६८)

बात आपकी प्राप्तिके लिये ही कहलायी थी, इसलिये आप मुझे क्षमा करें।

तत्पश्चात् राजा नलने अपने श्वशुर भीमकी सहायतासे अपने देशमें जाकर पुष्करके साथ पुनः जूआ खेला और उसे हराकर अपना राज्य वापस प्राप्त कर लिया (महा० वन० ५२ से ७८)।

दमयन्तीके इस चरित्रसे प्रत्येक स्त्रीको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी पतिका सङ्ग न छोड़े। आपत्तिकाल पड़नेपर भी बिना बुलाये माता-पिताके भी घरपर न जाय, अपने आरामकी लालसासे स्वजनोंको भी अपना परिचय न देकर दुःख ही सहती रहे एवं पतिके वियोगमें जीना भी पसंद न करे।

इसी प्रकार देवी गान्धारी भी बड़ी ही पतिव्रतपरायणा थीं। उन्होंने जब सुना कि मेरे पति धृतराष्ट्र अंधे हैं और माता-पिता मेरा विवाह उन्हींके साथ करना चाहते हैं, तब उन्होंने एक रेशमी वस्त्र लेकर उसके कई तह करके उसीसे अपनी आँखें बाँध लीं। उन्होंने निश्चय कर लिया कि मैं सदा पतिके अनुकूल रहूँगी। उत्तम व्रतका पालन करनेवाली पतिपरायणा गान्धारीने अपने उत्तम स्वभाव, सदाचार और सद्व्यवहारोंसे समस्त कौरवों और गुरुजनोंको प्रसन्न कर लिया। वे ऐसी उच्च कोटिकी पतिव्रता थीं कि उन्होंने कभी दूसरे पुरुषोंका नामतक नहीं लिया (महा० आदि० १०९)।

पतिव्रता गान्धारीके पातिव्रत्यके प्रभावकी अनेक घटनाएँ महाभारतमें मिलती हैं। जब राजा धृतराष्ट्र और गान्धारी अपने जामाता, कुटुम्बीजनों और पुत्रोंके शोकमें व्याकुल हुए उनके अन्त्येष्टि-संस्कारके लिये हस्तिनापुरसे गङ्गातटपर चले गये, तब राजा युधिष्ठिर अपने भाइयों और श्रीकृष्णके साथ उनके दर्शनके लिये उनके पास गये। महाराज धृतराष्ट्रसे मिलकर जब युधिष्ठिर देवी गान्धारीके चरणोंमें सिर झुकाने लगे, उस समय धर्मको जाननेवाली दूरदर्शिनी देवी गान्धारीने पट्टीके भीतरसे ही राजा युधिष्ठिरके पैरोंकी अङ्गुलियोंके अग्रभाग देख लिये, इससे युधिष्ठिरके नख काले पड़ गये। यह देख अर्जुन भयभीत हो भगवान् श्रीकृष्णके पीछे जाकर छिप गये (महा० स्त्री० १५)।

इतना ही नहीं, देवी गान्धारीने श्रीकृष्णको उपालम्भ देते हुए कहा कि 'श्रीकृष्ण! तुम शक्तिशाली थे। तुममें दोनों पक्षोंसे अपनी बात मनवा लेनेकी सामर्थ्य थी। फिर भी तुमने स्वेच्छासे कुरुकुलके नाशकी उपेक्षा कर दी—यह तुम्हारा महान् दोष है। अतः मैं अपने पति-सेवाके दुर्लभ तपोबलसे तुम्हें शाप देती हूँ कि आजसे छत्तीसवाँ वर्ष उपस्थित होनेपर तुम्हारे कुटुम्बी, मन्त्री और पुत्र—सभी आपसमें लड़कर मर जायँगे।' भगवान् श्रीकृष्णने मुस्कराते हुए स्वीकार किया कि मैं जानता हूँ, यह बात इसी तरह होनेवाली है (महा० स्त्री० २५। ३७—५०)।

पातिव्रत्यका कैसा अद्भुत प्रभाव है! उसके प्रभावसे गान्धारी भगवान् श्रीकृष्णको भी शाप देनेमें समर्थ हो गयीं।

ऊपर कुछ चुनी हुई पतिव्रताओंके चरित्रोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया है। इनके सिवा और भी बहुत-सी पतिव्रताओंके चरित्र महाभारतमें मिलते हैं। स्त्रियोंको इनके आदर्श चरित्रोंसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। वनपर्वके २३३ और २३४ वें अध्यायोंमें देवी द्रौपदीने सत्यभामाको और अनुशासनपर्वके १२३ वें अध्यायमें सर्वज्ञा शाण्डिलीने केकयराजपुत्री सुमनाको पतिव्रता स्त्रीके कर्तव्यकी बहुत ही सुन्दर शिक्षाएँ दी हैं, उनको पढ़कर उनके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

इसी प्रकार महाभारतमें मनुष्यके लिये शारीरिक, ऐन्द्रियिक, मानसिक, बौद्धिक, भौतिक, नैतिक, व्यावहारिक, धार्मिक, आध्यात्मिक आदि उन्नतिके सम्बन्धमें भी अनेक उपदेश, संवाद और आख्यान भरे हुए हैं। हमलोगोंको उनपर ध्यान देकर उनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

शारीरिक उन्नतिके लिये भगवान् श्रीकृष्णने जो सात्त्विक आहार* और शारीरिक तप† बतलाया है, उसके अनुसार हमें अपना जीवन बनाना चाहिये।

ऐन्द्रियिक उन्नतिके लिये हमें भगवान् श्रीकृष्णके बतलाये हुए वाणीके तपको आचरणमें लाना चाहिये।‡

* सात्त्विक आहारका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः । रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ (महा० भीष्म० ४१। ८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय लगनेवाले—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

† शारीरिक तपके लक्षण भगवान्ने यों बतलाये हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् । ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ (महा० भीष्म० ४१। १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है।'

‡ वाणीका तप इस प्रकार बताया गया है—

जब मनुष्योंमें वाणीके तपकी सिद्धि हो जाती है, तब उसकी वाणी सफल हो जाती है। वह जो कुछ कह देता है, वह बात वैसी ही हो जाती है। एक समयकी बात है, राजा परीक्षित् शिकार खेलते हुए एक गहन वनमें चले गये। वहाँ उन्होंने बाणसे एक हिंसक पशुको बींध डाला और उसके भागनेपर बहुत दूरतक उसका पीछा किया। इससे उन्हें बड़ी थकावट आ गयी, तब वे शमीकमुनिके पास आये। मुनि मौन-व्रत धारण किये हुए थे। अतः उन्होंने पशुके विषयमें राजाके पूछनेपर भी कोई उत्तर नहीं दिया। तब राजाने कुपित होकर धनुषकी नोकसे एक मरे हुए साँपको उठाया और मुनिके कंधेपर डाल दिया, किंतु मुनिने तब भी उनकी उपेक्षा कर दी। इधर मुनिपुत्र शृङ्गी आचार्यकी आज्ञा प्राप्त कर घर लौट रहे थे; उनको जब अपने मित्र कृशसे राजा परीक्षित्‌के इस व्यवहारका पता लगा, तब वे बड़े रोषमें भर गये और उन्होंने आचमन करके हाथमें जल लेकर परीक्षित्‌को इस प्रकार शाप दिया—'जिस पापात्मा नरेशने मेरे बूढ़े पिताके कंधेपर मरा साँप रख दिया है, उस परीक्षित्‌को आजसे सात रातके बाद प्रचण्ड तेजस्वी पन्नगेश्वर तक्षक नामक विषैला नाग अत्यन्त कोपमें भरकर मेरे वाक्य-बलसे प्रेरित हो यमलोक पहुँचा देगा* (महा० आदि० ४१)।' शृङ्गी ऋषिके इसी कठोर शापके फलस्वरूप राजा परीक्षित्‌को तक्षक नागने डँसा, जिससे उनकी मृत्यु हो गयी। यह है एक सत्यवादी तपस्वी मुनिकुमारकी वाणीका प्रभाव।

मानसिक उन्नतिके लिये हमें भगवान् श्रीकृष्णके बताये हुए मानसिक तपका† अनुष्ठान करना चाहिये।

बौद्धिक उन्नतिके लिये हमलोगोंको भगवान् श्रीकृष्णकथित सात्त्विक ज्ञान‡ और सात्त्विक बुद्धिके§ लक्षणोंको अपनाना चाहिये।

भौतिक उन्नतिके लिये हमें महाभारत-कालके भौतिक विज्ञानके प्रभावकी ओर दृष्टि डालनी चाहिये। उस समय भौतिक उन्नति आजकलके वैज्ञानिक आविष्कारोंसे बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी।

मार्तिकावतक देशके राजा शाल्वके पास एक ऐसा नगराकार विशाल आकाशचारी विमान था, जो चालकके इच्छानुसार चलता था। राजा शाल्वने उसी 'सौभ' नामक विमानपर बैठकर द्वारकापुरीपर आक्रमण किया था। वह उसमें व्यूहरचनापूर्वक विराजमान था और उसीमें बैठा हुआ युद्ध कर रहा था। फिर भगवान् श्रीकृष्णने मार्तिकावतक देशमें जाकर समुद्रतटपर युद्धमें उस विमानके साथ ही राजा शाल्वको नष्ट कर दिया (महा० वन० १४ से २२)।

अश्वत्थामाको नारायणास्त्र, ब्रह्मास्त्र आदि अनेक दिव्य अस्त्रोंका ज्ञान था। जब द्रोणाचार्यके वधका वृत्तान्त सुनकर वे अत्यन्त कुपित हो गये, तब उन्होंने नारायणास्त्रका प्रयोग करके सारी पाण्डवसेनामें हलचल मचा दी। सब भयभीत हो गये। उस समय उसका निवारण कोई भी नहीं कर सका। तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'योद्धाओ! अपने अस्त्र-शस्त्र नीचे डालकर और सवारियोंसे उतरकर इस अस्त्रके शरण हो जाओ। भगवान् नारायणने इस अस्त्रके निवारणका यही उपाय निश्चित किया है। भूमिपर निहत्थे खड़े हुए और इसके सामने हाथ जोड़कर नमस्कार करनेवाले

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है, वह वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

*तं पापमतिसंक्रुद्धस्तक्षकः पन्नगेश्वरः। आशीविषस्तिग्मतेजा मद्वाक्यबलचोदितः॥
सप्तरात्रादितो नेता यमस्य सदनं प्रति। (महा० भीष्म० ४१। १३-१४)

† मानसिक तपका स्वरूप यह है—
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः। भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥ (महा० भीष्म० ४१। १६)
'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मन-सम्बन्धी तप कहा जाता है।'

‡ भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते। अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ (महा० भीष्म० ४२। २०)
'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्माको विभागरहित—समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान।'

§ प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये। बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ (महा० भीष्म० ४२। ३०)
'हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

तुमलोगोंको यह अस्त्र नहीं मारेगा।' योद्धाओंने ऐसा ही किया। जब सब रथसे उतर गये और शस्त्रास्त्र भूमिपर रख दिये गये, तब वह अस्त्र शान्त हो गया। इस प्रकार श्रीकृष्णके उपाय बतलानेपर उन सबका उस अस्त्रसे परित्राण हो गया (महा० द्रोण० १९९-२००)।

इसी प्रकार अश्वत्थामाने गङ्गातटपर भीमके द्वारा ललकारे जानेपर पाण्डवोंके वधके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। उसका निवारण करनेके लिये अर्जुनने भी ब्रह्मास्त्रका प्रयोग कर दिया। उससे सारा आकाश आगकी प्रचण्ड ज्वालाओंसे व्याप्त हो गया। पृथ्वी हिलने लगी। सब प्राणी भयभीत हो गये। अन्तमें श्रीवेदव्यासजीकी आज्ञासे अर्जुनने अपने ब्रह्मास्त्रका उपसंहार कर लिया और अश्वत्थामाने उत्तराके गर्भस्थ वंशजपर उस ब्रह्मास्त्रको छोड़ दिया (महा० सौप्तिक० १३, १४, १५)।

अर्जुनके सम्मोहनास्त्रका भी बड़ा भारी प्रभाव था, जिसके द्वारा उन्होंने सभी कौरव महारथियोंको मोहित कर दिया था (महा० विराट० ६६)। वीर अर्जुनको अद्भुत बाण-विद्या प्राप्त थी, उन्होंने भीष्मजीके आदेशसे बाणशय्यापर सोये हुए उनको तीन बाण मारकर उसीका तकिया दिया और फिर दिव्यास्त्रके द्वारा उनके मुखमें दिव्य गन्ध और दिव्य रससे युक्त शीतल जलकी धारा गिराकर उन्हें तृप्त कर दिया (महा० भीष्म० १२०-१२१)। इतना ही नहीं, जयद्रथवधके दिन भयंकर संग्राममें जब अर्जुनके घोड़े थक गये, तब अर्जुनने युद्ध करते हुए शत्रुओंके बीच बाणोंके द्वारा पृथ्वीपर आघात करके एक सरोवर उत्पन्न कर दिया तथा वहाँ एक बाणोंका ही घर बना दिया। अर्जुनका यह अपूर्व कार्य देखकर सब साधुवाद देने लगे। भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ रथके घोड़ोंको खोलकर नहलाया, पानी पिलाया और घास-दाने खिलाये। जब उनकी थकावट दूर हो गयी, तब उनको रथमें जोतकर वे अर्जुनसहित उसपर आरूढ़ हो आगे बढ़े (महा० द्रोण० ९९-१००)।

जयद्रथवधके समय अर्जुनने जयद्रथका सिर काटकर उसे बाणद्वारा सायंकालीन संध्योपासना करते हुए उसके पिता वृद्धक्षत्रकी गोदमें डाल दिया (महा० द्रोण० १४६)।

उस समय मन्त्रविद्याका बल भी बड़ा ही विचित्र था। जब तक्षक नाग राजा परीक्षित्को डसनेके लिये जा रहा था, तब मार्गमें उसकी काश्यप नामक ब्राह्मणसे भेंट हुई, जो अपने मन्त्रबलसे परीक्षित्को सर्पविषसे रहित करके जीवित करनेके लिये जा रहे थे। तक्षकको जब यह ज्ञात हुआ, तब उसने उनकी परीक्षा लेनेके लिये एक वटवृक्षको डँसकर भस्म कर दिया और काश्यपसे कहा—'तुम्हारे पास मन्त्रबल है तो तुम उससे इस वृक्षको सजीव कर दो।' तब उन सौभाग्यशाली विद्वान् द्विजश्रेष्ठ काश्यपने भस्मराशिके रूपमें विद्यमान उस वृक्षको मन्त्रविद्याके बलसे जीवित कर दिया।* इसपर तक्षकने उन्हें धन देकर वहींसे लौटा दिया (महा० आदि० ४३)।

श्रीवेदव्यासजी महाराजमें तो यह वैज्ञानिक शक्ति बहुत ही अधिक विकसित थी। वे चाहे जिसे दिव्य दृष्टि दे देते थे, जिससे उसकी इन्द्रियाँ दिव्य हो जाती थीं। उन्होंने राजा द्रुपदको दिव्य दृष्टि प्रदान करके पाण्डवोंके दिव्य रूपोंके दर्शन करा दिये (महा० आदि० १९६)। इसी प्रकार संजयको भी उन्होंने दिव्य दृष्टि दे दी थी। उस दिव्य दृष्टिके प्रभावसे संजयने महाभारत-युद्धका सारा वृत्तान्त जानकर राजा धृतराष्ट्रको सुना दिया। प्रकट-अप्रकट, दिनमें होनेवाली या रातमें होनेवाली अथवा मनमें सोची गयी सारी बातें संजयने प्रत्यक्ष जान लीं। उन्हें सर्वज्ञता प्राप्त हो गयी एवं संजयको कोई हथियार नहीं काट सका। उन्हें परिश्रम या थकावट भी नहीं हुई और वे युद्धसे जीवित बच गये; क्योंकि श्रीवेदव्यासजीने उनको ऐसा ही वरदान दिया था (महा० भीष्म० २)।

इतना ही नहीं, जब मृत पुत्रों और बान्धवोंके शोकसे दुःखी हुई गान्धारी आदि स्त्रियोंने व्यासजीसे अपने मरे हुए पुत्रों आदिके दर्शन करानेका अनुरोध किया, तब वेदव्यासजीने गङ्गातटपर जाकर कुरुक्षेत्रके युद्धमें अठारह अक्षौहिणी सेनाके मरे हुए सैनिकोंका आवाहन किया, जिससे वे सब योद्धागण जलसे प्रकट हो गये। जिस वीरका युद्धके समय जैसा वेष, जैसी ध्वजा और जैसा वाहन था, वह उसीसे युक्त देखा गया। वे सभी दिव्य वस्त्र धारण किये हुए थे। सबके कानोंमें चमकीले कुण्डल थे। उस समय वे वैर, अहंकार, क्रोध और मात्सर्यको छोड़ चुके थे।† उन परलोकसे आये हुए अपने पिताओं, भाइयों, पतियों और पुत्रोंसे मिलकर वहाँ एकत्र हुई सब स्त्रियाँ बहुत प्रसन्न हुईं। उनका दुःख दूर हो गया। फिर श्रीवेदव्यासजीके विसर्जन कर देनेपर वे सब गङ्गाजीमें गोता लगाकर अदृश्य हो

* ततः स भगवान् विद्वान् काश्यपो द्विजसत्तमः। भस्मराशिकृतं वृक्षं विद्यया समजीवयत्॥ (महा० आदि० ४३। ९)

† यस्य वीरस्य यो वेषो यो ध्वजो यच्च वाहनम्। तेन तेन व्यदृश्यन्त समुपेता नराधिपाः॥
दिव्याम्बरधराः सर्वे सर्वे भ्राजिष्णुकुण्डलाः। निर्वैरा निरहंकारा विगतक्रोधमत्सराः॥ (महा० आश्रम० ३२। १४-१५)

गये। श्रीवेदव्यासजीकी आज्ञासे जो स्त्रियाँ अपने पतिलोक जाना चाहती थीं, वे भी गङ्गाजीमें गोता लगाकर अपने पतियोंके साथ चली गयीं। इस रोमाञ्चकारी दृश्यको वहाँ उपस्थित सब लोगोंने प्रत्यक्ष देखा (महा० आश्रम० ३२-३३)।

यही नहीं, जब श्रीवैशम्पायनजी जनमेजयसे यह आख्यान कह रहे थे, तब जनमेजयने प्रार्थना की कि यदि श्रीवेदव्यासजी मेरे मृत पिताका मुझे दर्शन करा दें तो मैं आपकी बातपर श्रद्धा कर सकता हूँ। इसपर श्रीवेदव्यासजीने उसी रूप और अवस्थामें राजा परीक्षित्‌को बुलाकर जनमेजयको उनका दर्शन करा दिया (महा० आश्रम० ३५)। उस समय ऐसी विलक्षण भौतिक उन्नति थी।

नैतिक उन्नतिके लिये श्रीविदुरजीने धृतराष्ट्रके प्रति जो नीतिका उपदेश उद्योगपर्वके ३३ वें अध्यायसे ४० वें अध्यायतक दिया है, उसका अध्ययन करके उसके अनुसार हमें अपना जीवन बनाकर सबके साथ यथोचित न्यायपूर्ण बर्ताव करना चाहिये।

श्रीविदुरजीने द्रौपदीके चीरहरणके समय भक्त प्रह्लादके न्यायका एक बड़ा ही सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया था। भक्त प्रह्लादका वह न्याय हम सब लोगोंके लिये अनुकरणीय है। एक समयकी बात है, केशिनी नामकी एक कन्याको लेकर अङ्गिरापुत्र सुधन्वा और प्रह्लादपुत्र विरोचनमें परस्पर विवाद हो गया। वे दोनों ही उसको पानेकी इच्छासे 'मैं श्रेष्ठ हूँ', 'मैं श्रेष्ठ हूँ' यों कहने लगे। अन्तमें उन दोनोंने अपनी बात सत्य करनेके लिये प्राणोंकी बाजी लगा दी एवं वे श्रेष्ठताके प्रश्नको लेकर दैत्यराज प्रह्लादके पास गये और उन्हें अपनी शर्त बतलाकर पूछा—'हम दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है? आप इस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर दें, झूठ न बोलें।' यह सुनकर प्रह्लाद इस विषयमें कुछ पूछनेके लिये महातेजस्वी कश्यपजीके पास गये और पूछा कि 'जो प्रश्नका उत्तर ही न दे अथवा असत्य उत्तर दे तो उसे परलोकमें क्या गति प्राप्त होती है?' इसपर कश्यपजीने कहा—'प्रह्लाद! जो जानते हुए भी काम, क्रोध या भयसे प्रश्नोंका उत्तर नहीं देता, वह अपने ऊपर वरुण देवताके सहस्रों पाश डाल लेता है। एवं जो लोग धर्मविषयक प्रश्न पूछनेवालेको झूठा उत्तर देते हैं, वे अपने इष्टापूर्त धर्मका तो नाश करते ही हैं, आगे-पीछेकी सात-सात पीढ़ियोंके पुण्योंको भी नष्ट कर डालते हैं।' कश्यपजीकी बात सुनकर प्रह्लादजीने अपने पुत्रसे कहा—'विरोचन! सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ है, उसके पिता अङ्गिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं और सुधन्वाकी माता तुम्हारी मातासे श्रेष्ठ हैं। अब यह सुधन्वा ही तुम्हारे प्राणोंका स्वामी है।'*

ऐसा न्यायपूर्ण निर्णय सुनते ही सुधन्वाने यह आशीर्वाद दिया—'दैत्यराज! तुम पुत्रस्नेहकी परवा न करके जो धर्मपर डटे रहे, इससे प्रसन्न होकर मैं तुम्हारे पुत्रको वर देता हूँ कि 'यह सौ वर्षोंतक जीवित रहे।' कितना सुन्दर न्याय है!

व्यावहारिक उन्नतिके लिये हमें तुलाधार वैश्यकी व्यापार-नीतिका अनुसरण करना चाहिये। वे बड़ी सत्यता और समतापूर्वक वैश्य-धर्मका पालन करते थे। उनको इस सत्यव्यवहारके कारण ही तीनों कालोंका ज्ञान हो गया था। प्राचीन कालकी बात है, जाजलि नामके एक महान् तपस्वी ब्राह्मण थे। उन्होंने समुद्रके तटपर जाकर बड़ी भारी तपस्या की। उनकी जटाओंमें एक पक्षीके जोड़ने घोंसला बना लिया और विश्वस्त होनेके कारण उन्होंने उसीमें अण्डे दे दिये। जब उनसे बच्चे पैदा होकर उनके पंख निकल आये, तब वे बाहर जाने-आने लगे। यह देख जाजलि ऋषिको बहुत प्रसन्नता हुई। जब पक्षी उड़कर चले गये और एक मासतक वापस नहीं लौटे, तब जाजलिने घोंसलेको सिरसे नीचे गिरा दिया। उस समय वे अपनेको महान् धर्मात्मा समझने लगे और ताल ठोंककर कहने लगे—मैंने धर्मको प्राप्त कर लिया। इतनेमें ही आकाशवाणी हुई—'जाजले! तुम धर्ममें काशीपुरीके तुलाधार वैश्यके समान नहीं हो।' यह सुनकर जाजलि काशीपुरीमें तुलाधारके पास आये तो उनको सौदा बेचते देखा। तुलाधार जाजलि ऋषिको आते देख तुरंत उठकर खड़े हो गये और उन्होंने उनका आदर-सत्कार करके कहा—'ब्रह्मन्! आप मेरे पास आ रहे हैं—यह मुझे पहले ही ज्ञात हो गया था। आपके सिरपर पक्षियोंके अण्डे देने, उनसे बच्चा पैदा होने, उनका आपके द्वारा पालन किये जाने और उससे आपके अपनेको बहुत बड़ा माननेपर आकाशवाणी होनेकी बात भी मुझे ज्ञात है।' तब जाजलि बोले—'वैश्यपुत्र! तुम तो सब प्रकारके रस, गन्ध, वनस्पति, ओषधि, मूल और फल आदि बेचा करते हो; तुम्हें यह ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ?' तुलाधारने उत्तरमें कहा—'जाजले! जिसमें किसी भी प्राणीके साथ द्रोह (हिंसा) न करना पड़े अथवा कम-से-कम द्रोह

* श्रेयान् सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तः श्रेयांस्तथाङ्गिराः ।
माता सुधन्वनश्चापि मातृतः श्रेयसी तव । विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव॥ (महा० सभा० ६८। ८६)

(हिंसा) करनेसे काम चल जाय, ऐसी जीवन-वृत्ति ही परम धर्म है। मैं उसीसे जीवन-निर्वाह करता हूँ। विप्रर्षे! मेरे यहाँ मदिरा नहीं बेची जाती। उसे छोड़कर बहुत-से पीनेयोग्य रसोंको दूसरोंसे खरीदकर बेचता हूँ। मैं छल-कपट और असत्यसे रहित होकर माल खरीदता-बेचता हूँ। मैं न किसीसे अनुरोध करता हूँ, न विरोध ही करता हूँ। न कहीं मेरा द्वेष है और न किसीसे मैं कुछ कामना करता हूँ। समस्त प्राणियोंके प्रति मेरा समभाव है। जाजले! यही मेरा व्रत और नियम है, इसपर दृष्टिपात करो। मुने! मेरी तराजू सब मनुष्योंके लिये सम है—सबके लिये बराबर तौलती है।'* तदनन्तर तुलाधारने महर्षि जाजलिको धर्मकी बहुत-सी गूढ़ बातें बतलायीं और कहा—'ब्रह्मन्! मैंने धर्मके जिस मार्गका दर्शन कराया है, उसपर सज्जन पुरुष चलते हैं या दुर्जन—इस बातको अच्छी तरह जाँचकर प्रत्यक्ष कर लें। तब आपको इसकी यथार्थताका ज्ञान होगा। देखिये, आकाशमें ये आपके सिरपर उत्पन्न हुए पक्षी उड़ रहे हैं; इनको बुलाकर इनसे प्रश्न कीजिये।' तब जाजलिने उन पक्षियोंको बुलाया। उनका धर्मयुक्त वचन सुनकर वे पक्षी वहाँ आये और मनुष्यके समान स्पष्ट वाणीमें बोलने लगे। उन्होंने जाजलिसे श्रद्धाकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा—'अश्रद्धा सबसे बड़ा पाप है और श्रद्धा पापसे छुटकारा दिलानेवाली है। जैसे साँप अपने पुराने केंचुलको छोड़ देता है, उसी प्रकार श्रद्धालु पुरुष पापका परित्याग कर देता है। श्रद्धा होनेके साथ-ही-साथ पापोंसे निवृत्त हो जाना समस्त पवित्रताओंसे बढ़कर है। जिसके शीलसम्बन्धी दोष दूर हो गये हैं, अर्थात् शीलके विरुद्ध जिसमें कोई दोष नहीं घटता, वह श्रद्धालु पुरुष सदा पवित्र ही है। उसको तपस्यासे क्या लेना है। आचार-व्यवहार अथवा आत्मचिन्तनद्वारा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध करना है। वह पुरुष श्रद्धामय है; जिसकी जैसी—सात्त्विकी, राजसी या तामसी—श्रद्धा होती है, वह पुरुष वैसा ही— सात्त्विक, राजस या तामस है। अतः महाप्राज्ञ जाजले! आप इसपर श्रद्धा करें। तत्पश्चात् इसके अनुसार आचरण करनेसे आपको परम गतिकी प्राप्ति होगी। श्रद्धा करनेवाला श्रद्धालु पुरुष साक्षात् धर्मका स्वरूप है। जाजले! जो श्रद्धापूर्वक अपने धर्मपर स्थित है, वही सबसे श्रेष्ठ माना गया है।†

तदनन्तर थोड़े ही समयमें न्याययुक्त सत्य-व्यवहार करनेवाले तुलाधार वैश्य और महातपस्वी जाजलि ऋषि दोनों ही परम धाममें चले गये।

धार्मिक उन्नतिके लिये हमें भगवान् श्रीकृष्णके कहे हुए दैवी सम्पदाके‡ लक्षणोंको धारण करना चाहिये।

महाराज युधिष्ठिर परम धर्मात्मा थे। उनमें धर्मके सारे लक्षण थे। इसीलिये वे धर्मराजके नामसे प्रसिद्ध थे। उनके जीवनमें धर्मपालनकी अनेक आदर्श घटनाएँ हैं, उनमेंसे कुछका दिग्दर्शन 'तत्त्वचिन्तामणि भाग ६', खण्ड १में 'धर्मराज युधिष्ठिर' शीर्षक लेखमें कराया जा चुका है। हमलोगोंको उनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। इसके सिवा महाराज युधिष्ठिरने यक्षके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए वनपर्वके ३१३ वें अध्यायमें धर्मका बहुत सुन्दर उपदेश दिया है, उसके अनुसार अपना जीवन धर्ममय बनाना चाहिये।

पूर्वकालमें भारतमें धार्मिक उन्नति यहाँतक पहुँच गयी थी कि धर्मके लिये लोग अपने प्राणोंकी भी परवा नहीं करते थे। इस सम्बन्धमें महर्षि दधीचिकी कथा

---

* अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः। या वृत्तिः स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले॥
रसांश्च तांस्तान् विप्रर्षे मद्यवर्ज्यान् बहूनहम्। क्रीत्वा वै प्रतिविक्रीणे परहस्तादमायया॥
नानुरुद्ध्ये निरुद्ध्ये वा न द्वेष्मि न च कामये।
समोऽहं सर्वभूतेषु पश्य मे जाजले व्रतम्। तुला मे सर्वभूतेषु समा तिष्ठति जाजले॥ (महा० शान्ति० २६२। ६, ८, १०)

† अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचिनी। जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णामिव त्वचम्॥
ज्यायसी या पवित्राणां निवृत्तिः श्रद्धया सह। निवृत्तशीलदोषो यः श्रद्धावान् पूत एव सः॥
किं तस्य तपसा कार्यं किं वृत्तेनकिमात्मना। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
श्रद्धां कुरु महाप्राज्ञ ततः प्राप्स्यसि यत्परम्।
श्रद्धावाञ्श्रद्दधानश्च धर्मश्चैव हि जाजले। स्ववर्त्मनि स्थितश्चैव गरीयानेव जाजले॥ (महा० शान्ति० २६४। १५, १६, १७, १९)

‡ दैवी सम्पदाके लक्षणोंका वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—
अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्। दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता। भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ (महा० भीष्म० ४०। १—३)

ध्यान देनेयोग्य है। जब वृत्रासुरने देवताओंपर आक्रमण किया, तब इन्द्र आदि समस्त देवता ब्रह्माजीके पास गये। ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा—'आपलोग दधीचि ऋषिके पास जाकर उनसे उनके शरीरकी अस्थियाँ माँगकर उससे वज्र निर्माण करें, उस वज्रसे आपलोग वृत्रासुरको मार सकेंगे।' तब वे सब देवता दधीचि ऋषिके पास गये और उनको प्रणाम करके उनसे उन्होंने उनके शरीरकी अस्थियाँ माँगीं। महर्षि दधीचिने कहा—'देवगण! जिससे आपलोगोंका हित हो, मैं वही करूँगा। अपने इस शरीरको मैं स्वयं ही त्यागे देता हूँ।' यों कहकर महर्षि दधीचिने अपने शरीरका त्याग कर दिया। तब देवताओंने महर्षिके निर्जीव शरीरसे हड्डियाँ ले लीं और उनसे अत्यन्त भयंकर वज्रका निर्माण किया (महा० वन० १००)। फिर इन्द्रने वृत्रासुरसे युद्ध करके उस वज्रके द्वारा उसका वध कर डाला।

शिबिदेशके प्रतापी राजा उशीनर बड़े धर्मात्मा पुरुष हो गये हैं। एक समयकी बात है, उशीनरका महत्त्व जाननेके लिये अग्नि कबूतरका और इन्द्र बाज पक्षीका रूप धारण करके उनकी राजसभामें गये। कबूतर बाजसे भयभीत हो राजा उशीनरकी गोदमें चला गया और बोला कि राजन्! मुझ शरणागतकी रक्षा करो। इतनेमें ही बाज पक्षीने आकर कहा—'महाराज! यह कबूतर मेरा भक्ष्य है। इसको मुझे दे दें।' उशीनर बोले—'इसे मैं कैसे दे सकता हूँ? यह भयभीत है और मेरी शरणमें आया है; शरणागतकी रक्षा करना मेरा परमधर्म है।' इसपर बाजने कहा—'आप मुझे मेरा भक्ष्य न देंगे तो मैं और मेरे स्त्री-बच्चे सब भूखे मर जायँगे। इस तरह आप इस एक कबूतरकी तो रक्षा कर रहे हैं, पर दूसरे बहुत-से भूखे प्राणियोंकी रक्षा नहीं कर रहे हैं।' राजाने कहा—'मैं शिबिदेशका राज्य तथा और भी जिस वस्तुकी तुम्हें इच्छा हो, वह सब दे सकता हूँ, किंतु शरणकी इच्छासे मेरे पास आये हुए इस पक्षीका त्याग नहीं कर सकता।' तब बाजने कहा— 'महाराज! यदि आप कबूतरकी रक्षा करना ही चाहते हैं तो इस कबूतरके बराबर अपने शरीरका मांस तौलकर मुझे दे दीजिये, उसीसे मेरी तृप्ति हो जायगी।' इसपर उशीनरने कहा—'बाज! तुम जो मेरा मांस माँग रहे हो, यह मैं अपने ऊपर तुम्हारी बड़ी कृपा मानता हूँ।' यह कहकर उन्होंने तराजू मँगाया। वे उसके एक पलड़ेमें कबूतरको बैठाकर दूसरेमें अपना मांस काट-काटकर रखने लगे; किंतु सारा मांस काट-काटकर रख देनेपर भी जब वह कबूतरवाला पलड़ा नहीं उठा, तब राजा स्वयं ही मांसवाले पलड़ेमें बैठ गये और वह पलड़ा झुक गया। राजाकी विजय हो गयी। यह देख कबूतर और बाज क्रमशः अग्नि और इन्द्रके रूपमें प्रकट हो गये एवं राजा उशीनरको चिरस्थायी कीर्तिका वर देकर देवलोकमें चले गये। तत्पश्चात् राजा उशीनर भी धर्मपालनके प्रभावसे स्वर्गमें चले गये (महा० वन० १३१ तथा अनुशासन ३२)। लगभग इसीसे मिलती-जुलती कथा राजा उशीनरके पुत्र शिबिकी भी मिलती है (महा० वन० १९७)।

महर्षि दधीचि और राजा उशीनरका धर्मपालन बहुत ही उच्चकोटिका है। इनसे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि मनुष्य अपना प्राण त्यागकर भी दूसरोंका हित करे।

प्राचीन कालमें भारतमें धर्मके पालनमें इतनी तत्परता थी कि किसीसे अपराध हो जाता तो वह स्वयं राजाके पास जाकर दण्ड ले लिया करता था। इस विषयमें महाभारत, शान्तिपर्वके २३ वें अध्यायमें एक कथा है। शङ्ख और लिखित दो भाई थे। इनमें शङ्ख बड़े थे और लिखित छोटे। बाहुदा नदीके तटपर उन दोनोंके अलग-अलग बगीचे थे। एक दिन लिखित बड़े भाई शङ्खके बगीचेमें गये। उस समय शङ्ख बाहर गये हुए थे। लिखित शङ्खकी अनुपस्थितिमें शङ्खके बगीचेसे फल तोड़कर खाने लगे। इतनेमें ही शङ्ख वहाँ आ गये। उनके पूछनेपर लिखितने बता दिया कि मैंने ये फल यहींसे तोड़कर

'भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको किञ्चिन्मात्र भी कभी कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब हे अर्जुन! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।'

लिये हैं। तब शङ्खने कहा—'तुमने मुझसे बिना पूछे स्वयं ही फल ले लिये, यह चोरी है। अतः राजाके पास जाकर उनसे इसका दण्ड लो।' बड़े भाईकी आज्ञा पाकर लिखित राजा सुद्युम्नके पास गये और उन्होंने इस चोरीका दण्ड देनेके लिये उनसे कहा। इसपर राजा सुद्युम्न बोले—'विप्रवर! यदि आप दण्ड देनेमें राजाको प्रमाण मानते हैं तो उसका क्षमा करनेका भी अधिकार है। आप पवित्र कार्य करनेवाले और महान् व्रतधारी हैं, मैं आपके इस अपराधको क्षमा करके आपको जानेकी आज्ञा देता हूँ।' लिखितने राजासे दण्ड देनेके लिये ही पुनः कहा। तब राजाने लिखितके दोनों हाथ कटवा दिये। उस समय दण्ड देनेकी यही प्रथा थी कि जिस अङ्गसे अपराध किया गया हो, उसी अङ्गका छेदन कर दिया जाय। दण्ड पाकर लिखित बड़े भाई शङ्खके पास आये। उनके दुःखको देखकर शङ्खने कहा—'अब तुम बाहुदा नदीमें जाकर देवताओं, ऋषियों और पितरोंका तर्पण करो। भविष्यमें कभी अधर्ममें मन न लगाना।' लिखितने बाहुदा नदीमें जाकर स्नान किया और वे तर्पण करनेकी चेष्टा करने लगे। इतनेमें ही उनके दो नये सुन्दर हाथ आ गये। बड़े भाई शङ्खका यह अद्भुत प्रभाव देखकर वे उनके पास आये और उन्होंने दोनों हाथ दिखाकर प्रार्थना की—'जब आपका ऐसा प्रभाव है, तब आपने पहले ही मुझे दण्ड देकर पवित्र क्यों नहीं कर दिया?' शङ्खने उत्तर दिया—'मैं ब्राह्मण हूँ। मेरा दण्ड देनेका अधिकार नहीं है। दुःखीपर दया करना मनुष्यका कर्तव्य है।'

विचार करना चाहिये, धर्मकी कितनी सूक्ष्म गति है। उन्होंने धर्मकी मर्यादाका पालन करनेके लिये कितना आश्चर्यजनक कार्य किया! इससे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि भाईके बगीचेसे भी बिना अनुमतिके कोई वस्तु लेना चोरी है; अतः प्रथम तो चोरी करे ही नहीं और यदि चोरी हो जाय तो राजासे उसका दण्ड ले ले या प्रायश्चित्त कर ले। इसी प्रकार अन्य किसी पापके बन जानेपर स्वयं उसका प्रायश्चित्त कर ले।

इन सब आदर्श चरित्रोंपर ध्यान देकर हमलोगोंको धर्मपालनमें तत्पर रहना चाहिये। जो जिस आश्रम या वर्णमें है, उसके लिये उसी आश्रम या वर्णके धर्मोंका शास्त्र-विधिके अनुसार निष्कामभावसे पालन करना उचित है। महाभारतमें आश्रमों और वर्णोंके धर्मोंका बड़े ही विस्तारके साथ जगह-जगह वर्णन आया है (महा० वन० १५०; शान्ति० ६० से ६३, १८९, १९१, १९२, २४२ से २४५, २९६; अनुशासन० ९३, १०४, १४१; आश्वमेधिक० ४५, ४६, ९२ इत्यादि)। यहाँ तो इस विषयमें संक्षेपसे कुछ दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

आश्रमधर्म

द्विजके बालकको चाहिये कि ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरु या गुरुपुत्रकी सेवामें अपनी आयुके चौथाई भाग अर्थात् पचीस वर्षोंतक रहे। वहाँ रहते हुए किसीके दोष न देखे। ऐसा करनेवाला ब्रह्मचारी धर्म और अर्थके ज्ञानमें कुशल होता है। वह गुरुके सोनेके पश्चात् नीचे आसनपर सोये और उनके जागनेसे पहले ही उठ जाय। गुरुके घरमें एक शिष्य या दासके करनेयोग्य जो कुछ भी कार्य हो, उसे वह करे। अपनी उन्नति चाहनेवाले ब्रह्मचारीको गुरुकी सेवाका सारा कार्य समाप्त करके उनके पास बैठकर अध्ययन करना चाहिये। वह सबके प्रति सदा उदार रहे और किसीपर कोई दोष न लगाये। गुरुके बुलानेपर झट उनकी सेवामें उपस्थित हो जाय (महा० शान्ति० २४२)।

ब्रह्मचारीको बाहर-भीतरकी शुद्धि, वैदिक संस्कार तथा व्रत-नियमोंका भलीभाँति पालन करते हुए अपने मन-इन्द्रियोंको वशमें रखना चाहिये। सुबह और शाम दोनों संध्याओंके समय संध्योपासना और सूर्योपस्थान करके अग्निहोत्र करना चाहिये। वह तन्द्रा और आलस्यका त्याग करे। प्रतिदिन गुरुको प्रणाम करे तथा वेदोंके अभ्यास और श्रवणसे अपनी अन्तरात्माको पवित्र करे। सबेरे-शाम और दोपहर—तीनों समय स्नान करे। ब्रह्मचर्यका पालन, अग्निकी उपासना और गुरुकी सेवा करे। प्रतिदिन भिक्षा माँगकर लाये। भिक्षामें जो कुछ प्राप्त हो, वह सब गुरुको अर्पण कर दे। अपनी अन्तरात्माको भी गुरुके चरणोंमें निछावर कर दे। गुरुजी जो कुछ कहें, जिसके लिये संकेत करें और जिस कार्यके निमित्त स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा दें, उसीके अनुकूल आचरण करे। गुरुकृपासे प्राप्त स्वाध्यायमें तत्पर रहे।*

जब वेदसम्बन्धी व्रत और उपवास करते हुए आयुका एक चौथाई भाग व्यतीत हो जाय, तब गुरुको दक्षिणा

* सम्यग् यत्र शौचसंस्कारनियमव्रतविनियतात्मा उभे संध्ये भास्कराग्निदैवतान्युपस्थाय विहाय तन्द्रालस्ये गुरोरभिवादनवेदाभ्यासश्रवणपवित्रीकृतान्तरात्मा त्रिषवणमुपस्पृश्य ब्रह्मचर्याग्निपरिचरणगुरुशुश्रूषानित्यभिक्षाभैक्ष्यादिसर्वनिवेदितान्तरात्मा गुरुवचननिर्देशानुष्ठानाप्रतिकूलो गुरुप्रसादलब्धस्वाध्यायतत्परः स्यात्। (महा० शान्ति० १९१। ८)

देकर विधिपूर्वक समावर्तन-संस्कार सम्पन्न करे। फिर गुरुजनोंकी अनुमतिसे धर्मपूर्वक सुयोग्य पत्नीका पाणिग्रहण करके और उसके साथ अग्निकी स्थापना करके अग्निहोत्रादिका अनुष्ठान करता हुआ आयुके द्वितीय भाग अर्थात् पचास वर्षकी अवस्थातक गृहस्थधर्मका पालन करे। गृहस्थको उचित है कि सबेरे और शाम— दो ही समय भोजन करे, बीचमें न खाय। ऋतुकालके सिवा अन्य समयमें स्त्रीको अपनी शय्यापर न बुलाये। उसके घरपर आया हुआ कोई ब्राह्मण अतिथि आदर-सत्कार और भोजन पाये बिना न रह जाय। गृहस्थको सदा विघस और अमृत अन्नका भोजन करना चाहिये। यज्ञसे बचा हुआ भोजन हविष्यके समान अमृत माना गया है। कुटुम्बमें भरण-पोषणके योग्य जितने लोग हैं, उनको भोजन करानेके बाद बचे हुए अन्नका जो भोजन करता है, उसे विघसाशी (विघस अन्न भोजन करनेवाला) कहते हैं; क्योंकि पोष्यवर्गसे बचे हुए अन्नको विघस तथा पञ्चमहायज्ञ एवं बलिवैश्वदेवसे बचे हुए अन्नको अमृत कहते हैं।* गृहस्थ पुरुष सदा अपनी ही स्त्रीसे प्रेम करे। इन्द्रियोंका संयम करके जितेन्द्रिय बने। किसीके गुणोंमें दोष न देखे। वह ऋत्विज्, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, शरणागत, वृद्ध, बालक, रोगी, वैद्य, जाति-भाई, सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव, माता-पिता, कुटुम्बीकी स्त्री, भाई, पुत्र, पत्नी, पुत्री तथा सेवकसमूहके साथ कभी विवाद न करे। जो इन सबके साथ वाद-विवाद त्याग देता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है (महा० शान्ति० २४२-२४३)।

गृहस्थ-आश्रम चारों आश्रमोंका मूल है;† क्योंकि उसीसे सबका भरण-पोषण होता है।

गृहस्थ सदा यज्ञोपवीत धारण किये रहे, स्वच्छ वस्त्र पहने, उत्तम व्रतका पालन करे, शौच-संतोष आदि नियमों और सत्य-अहिंसा आदि यमोंके पालनपूर्वक यथाशक्ति दान करता रहे तथा सदा शिष्टपुरुषोंके साथ निवास करे।‡

गृहस्थके लिये अतिथि-सेवा सबसे बढ़कर कर्तव्य है। धर्मराज युधिष्ठिरने अतिथि-सत्कारके सम्बन्धमें बतलाया है कि कम-से-कम आसनके लिये तृण (कुश), बैठनेके लिये स्थान, तीसरा जल और चौथी मधुर वाणी—सत्पुरुषोंके घरोंमें इन चार वस्तुओंका अभाव कभी नहीं होता। वास्तवमें तो रोग आदिसे पीड़ित मनुष्योंको सोनेके लिये शय्या, थके हुएको बैठनेके लिये आसन, प्यासेको पानी और भूखेको भोजन तो देना ही चाहिये। जो अपने घरपर आ जाय, उसे प्रेमभरी दृष्टिसे देखे, मनसे उसके प्रति उत्तम भाव रखे, उससे मीठे वचन बोले और उठकर उसके लिये आसन दे। यह गृहस्थका सनातन धर्म है। अतिथिको आते देख उठकर उसकी अगवानी और यथोचित रीतिसे आदर-सत्कार करे।§

अतिथि-सेवाका माहात्म्य अश्वमेध-यज्ञसे भी अधिक बतलाया गया है। महाराज युधिष्ठिरके अश्वमेध-यज्ञमें ब्राह्मणों, सम्बन्धियों, बन्धु-बान्धवों और दीन-दरिद्रों आदिके तृप्त होनेपर जब युधिष्ठिरके यज्ञ और दानकी भूरि-भूरि प्रशंसा होने लगी, उस समय एक नेवला वहाँ आया और वह मनुष्यकी बोलीमें कहने लगा—'राजाओ ! आपका यह यज्ञ कुरुक्षेत्र-निवासी उञ्छवृत्तिधारी उदारचेता ब्राह्मणके सेरभर सत्तूदानके बराबर भी नहीं हुआ है।' नेवलेकी बात सुनकर ब्राह्मणोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। फिर ब्राह्मणोंके पूछनेपर नेवलेने बतलाया— 'कुरुक्षेत्रमें एक उञ्छवृत्तिसे जीवननिर्वाह करनेवाले ब्राह्मण रहते थे। वे कबूतरके समान अन्नके दाने चुनकर लाते और उससे कुटुम्बका पालन करते थे। एक समय वहाँ भयंकर अकाल पड़ा। अतः खेतोंमें कहीं भूमिपर पड़े दाने न मिलनेके कारण वे कई दिनोंतक भूखे ही रहे। फिर कुछ दिनोंके बाद उन्हें सेरभर जौ मिले। उन्होंने उसका सत्तू बनाकर चार भागोंमें विभक्त कर लिया। एक पाव स्त्रीके लिये, एक पाव पुत्रके लिये, एक पाव पुत्रवधूके लिये और एक पाव अपने लिये रखकर वे भोजन करनेको तैयार हुए। उसी समय एक ब्राह्मण अतिथि आ

---

* न भुञ्जीतान्तरा काले नानृतावाह्वयेत् स्त्रियम्। नास्यानश्नन् गृहे विप्रो वसेत् कश्चिदपूजितः॥
विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृतभोजनः। अमृतं यज्ञशेषं स्याद् भोजनं हविषा समम्॥
भृत्यशेषं तु योऽश्नाति तमाहुर्विघसाशिनम्। विघसं भृत्यशेषं तु यज्ञशेषमथामृतम्॥ (महा० शान्ति० २४३। ७, १२, १३)

† गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः। चत्वार आश्रमाः प्रोक्ताः सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः॥ (महा० आश्व० ४५। १३)

‡ नित्यं यज्ञोपवीती स्याच्छुक्लवासाः शुचिव्रतः। नियतो यमदानाभ्यां सदा शिष्टैश्च संविशेत्॥ (महा० आश्व० ४५। १९)

§ तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता। सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥
देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम्। तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम्॥
चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्यात् सुभाषिताम्।
उत्थाय चासनं दद्यादेष धर्मः सनातनः। प्रत्युत्थायाभिगमनं कुर्यान्न्यायेन चार्चनम्॥ (महा० वन० २। ५४—५६)

गये। वे चारों अतिथिको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने अतिथिको प्रणाम करके उनसे कुशल-मङ्गल पूछा और वे उन्हें कुटीपर ले आये। वहाँ उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणने उनसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ! आपके लिये ये अर्घ्य, पाद्य और आसन प्रस्तुत हैं तथा न्यायपूर्वक उपार्जन किया हुआ यह परम पवित्र सत्तू आपकी सेवामें निवेदित है। मैंने प्रसन्नतापूर्वक इसे आपको समर्पण किया है, आप इसे स्वीकार करें।' ब्राह्मणके यों कहनेपर अतिथिने उनके हिस्सेका एक पाव सत्तू लेकर खा लिया; किंतु उनकी तृप्ति नहीं हुई। तब ब्राह्मणकी पत्नीने आग्रह करके पतिके द्वारा अपने हिस्सेका सत्तू भी अतिथि ब्राह्मणको दिलवा दिया। फिर भी उनकी तृप्ति न होनेपर उनके पुत्रने भी अपने हिस्सेका सत्तू पिताके न चाहनेपर भी पिताके द्वारा अतिथिको दिलवा दिया। इससे भी तृप्ति न होनेपर पुत्रवधूने भी आग्रहपूर्वक अपने हिस्सेका सत्तू श्वशुरके द्वारा अतिथिको दिलवा दिया। इससे वे अतिथि ब्राह्मण उन उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मणपर बहुत संतुष्ट हुए। वे अतिथि साक्षात् धर्मराज ही थे। वे अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हो गये और उन सबको विमानमें बैठाकर दिव्य-लोकको ले गये।

'उन अतिथि ब्राह्मणके भोजन कर चुकनेपर वहाँ जूठे हाथ धोनेसे गिरे हुए जलके कीचड़में मैं लोटा, जिससे मेरा सिर और आधा शरीर सुवर्णमय हो गया। मैंने जब राजा युधिष्ठिरके यज्ञकी प्रशंसा सुनी, तब शेष आधे शरीरको भी सोनेका बनानेकी इच्छासे यहाँ आकर कीचड़में लोटा; पर कुछ नहीं हुआ। इसीलिये मैंने कहा था कि यह यज्ञ उस अतिथिसेवाव्रती ब्राह्मणके सेरभर सत्तूदानके समान भी नहीं है।' इतना कहकर वह नेवला अन्तर्धान हो गया (महा० आश्व० ९०)।

इन सत्तू-दान करनेवाले ब्राह्मणके इस अतिथि-सेवाकार्यसे यह शिक्षा मिलती है कि धर्म चाहनेवाले गृहस्थ मनुष्यको स्वयं भूखा रहकर भी अतिथि-सेवा करनी चाहिये।

गृहस्थ मनुष्यको चाहिये कि जब उसके सिरके बाल सफेद दिखायी दें, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जायँ और पुत्रको भी पुत्रकी प्राप्ति हो जाय, तब अपनी आयुका तीसरा भाग अर्थात् इक्यावनवेंसे पचहत्तरवें वर्षतक व्यतीत करनेके लिये वनमें जाय और वानप्रस्थाश्रममें रहे। वानप्रस्थी पुरुष नियमके साथ रहे, नियमानुकूल भोजन करे। दिनके छठे भाग अर्थात् तीसरे पहरमें एक बार अन्न ग्रहण करे और प्रमादसे बचा रहे। एवं गृहस्थाश्रमकी ही भाँति अग्निहोत्र, वैसी ही गो-सेवा और उसी प्रकार यज्ञके सम्पूर्ण अङ्गोंका सम्पादन करना वानप्रस्थका धर्म है। वनवासी मुनि बिना जोती हुई पृथ्वीसे पैदा हुआ धान, जौ, नीवार (तिन्नीके चावल) तथा विघस (अतिथियोंको देनेसे बचे हुए) अन्नसे जीवन-निर्वाह करे। वानप्रस्थी भी पञ्चमहायज्ञोंमें हविष्य वितरण करे। वानप्रस्थी पुरुष वर्षाके समय खुले आकाशके नीचे और सर्दीमें पानीके भीतर खड़े रहें, गर्मीमें पञ्चाग्निसे शरीरको तपायें और सदा स्वल्प भोजन करें।*

यदि कोई अतिथि आ जाय तो फल-मूलादिकी भिक्षा देकर उसका सत्कार करे। कभी आलस्य न करे। जो कुछ भोजन अपने पास हो, उसीमेंसे अतिथिको भिक्षा दे, इन्द्रियोंका संयम करे, सबके साथ मित्रताका बर्ताव करे, क्षमाशील बने और दाढ़ी-मूँछ एवं सिरके बालोंको धारण किये रहे। समयपर अग्निहोत्र और वेदोंका स्वाध्याय करे तथा सत्यधर्मका पालन करे।†

इस प्रकार वानप्रस्थकी अवधि पूरी कर लेनेके बाद जब आयुका चौथा भाग शेष रह जाय, तब संन्यास-आश्रम ग्रहण करे। जो ब्राह्मण सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान देकर संन्यासी हो जाता है, वह मरनेके पश्चात् तेजोमय लोकोंमें जाता है और अन्तमें मोक्ष प्राप्त कर लेता है।‡

संन्यासीको चाहिये कि वह सिद्धि प्राप्त करनेके लिये किसीको साथ न लेकर अकेला ही विचरता रहे। जो सर्वत्र परमात्माका अनुभव करता हुआ एकाकी

* गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः । अपत्यस्यैव चापत्यं वनमेव तदा श्रयेत्॥
तृतीयमायुषो भागं वानप्रस्थाश्रमे वसेत् ।
नियतो नियताहारः षष्ठभुक्तोऽप्रमत्तवान् । तदग्निहोत्रं ता गावो यज्ञाङ्गानि च सर्वशः॥
अफालकृष्टं व्रीहियवं नीवारं विघसानि च । हवींषि सम्प्रयच्छेत मखेष्वत्रापि पञ्चसु॥
अभ्रावकाशा वर्षासु हेमन्ते जलसंश्रयाः । ग्रीष्मे च पञ्चतपसः शश्वच्च मितभोजनाः॥ (महा० शान्ति० २४४। ४—७,१०)

† समूलफलभिक्षाभिरर्चेदतिथिमागतम् । यद् भक्ष्यं स्यात् ततो दद्याद् भिक्षां नित्यमतन्द्रितः॥
दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः केशाञ्श्मश्रु चधारयन् । जुह्वन् स्वाध्यायशीलश्च सत्यधर्मपरायणः॥ (महा० आश्व० ४६। १३, १५)

‡ चतुर्थे चायुषः शेषे वानप्रस्थाश्रमं त्यजेत् ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रव्रजेद् द्विजः । लोकास्तेजोमयास्तस्य प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते॥ (महा० शान्ति० २४४। २३, २८)

विचरता रहता है, वह न तो स्वयं किसीका त्याग करता है और न दूसरे ही उसका त्याग करते हैं। संन्यासी कभी न तो अग्निकी स्थापना करे और न घर ही बनाकर रहे, केवल भिक्षा लेनेके लिये ही गाँवमें जाय।*

संन्यासीके लिये भिक्षाकी विधि इस प्रकार बतायी गयी है—बिना याचना किये, बिना संकल्पके दैवात् जो अन्न प्राप्त हो जाय, उसीसे जीवन निर्वाह करे। प्रातःकालका नित्य-कर्म करनेके बाद जब गृहस्थोंके यहाँ रसोई-घरसे धुआँ निकलना बंद हो जाय, घरके सब लोग खा-पी चुकें और बर्तन धो-माजकर रख दिये गये हों, उस समय मोक्षधर्मके ज्ञाता संन्यासीको भिक्षा माँगनी चाहिये। भिक्षा मिल जानेपर हर्ष और न मिलनेपर विषाद न करे। अधिक भिक्षाका संग्रह न करे। जितनेसे प्राणयात्राका निर्वाह हो, उतनी ही भिक्षा लेनी चाहिये।† वह दूसरे दिनके लिये अन्नका संग्रह न करे। चित्तवृत्तियोंको एकाग्र करके मौन भावसे रहे। हलका और नियमानुकूल भोजन करे तथा दिन-रातमें केवल एक ही बार भोजन करे।‡

संन्यासी भिक्षा-पात्र और कमण्डलु रखे। वृक्षकी जड़में सोये या निवास करे। जो देखनेमें सुन्दर न हो, ऐसा वस्त्र धारण करे। किसीको साथ न रखे और सभी प्राणियोंकी उपेक्षा कर दे। ये सब भिक्षुकके लक्षण हैं। जिसे सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय प्राप्त है और जिसकी ओरसे किसी भी प्राणीको कोई भय नहीं है, उस मोह-मुक्त पुरुषको किसीसे भी भय नहीं होता। ऐसे संन्यासीको रोष और मोह छू नहीं सकते। वह मिट्टीके ढेले और सोनेको समान समझता है; अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय—इन पाँचों कोशोंसे सम्बन्धरहित हो जाता है और संधि-विग्रह तथा निन्दा-स्तुतिसे रहित हो जाता है। उसकी दृष्टिमें न कोई प्रिय होता है न अप्रिय। वह संन्यासी उदासीनकी भाँति सर्वत्र विचरता रहता है।§

अपने पास किसी वस्तुका संग्रह न करना, कर्मोंके आरम्भ या आयोजनसे दूर रहना, सब ओरसे पवित्रता और सरलता रखना, सर्वत्र भिक्षासे निर्वाह करना, सब स्थानोंमें सबसे अलग रहना, सदा ध्यानमें तत्पर रहना, दोषोंसे शुद्ध होना, सबपर क्षमा और दयाभाव रखना एवं बुद्धिको तात्त्विक चिन्तनमें लगाये रखना—ये सब संन्यासीके लिये धर्मकार्य हैं। $

वर्ण-धर्म

वेदोंका स्वाध्याय, यज्ञ और दान ब्राह्मणका धर्म है, यह शास्त्रका निर्णय है। वेदोंको पढ़ाना, यजमानका यज्ञ कराना और दान लेना—ये उसकी जीविकाके कर्म हैं। अतः ब्राह्मण इनके द्वारा अपनी जीविका चलावे। सत्य, मनोनिग्रह, तप और शौचाचारका पालन—यह उसका सनातन धर्म है। उपर्युक्त यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना, वेद पढ़ना, वेद पढ़ाना—इन छः कर्मोंका आश्रय लेनेवाला ब्राह्मण धर्मका भागी होता है। इनमें भी सदा स्वाध्यायशील होना ब्राह्मणका मुख्य धर्म है, यज्ञ करना सनातन धर्म है और अपनी शक्तिके अनुसार विधिपूर्वक दान देना उसके लिये प्रशंसनीय धर्म है।卐

क्षत्रियका सबसे पहला धर्म है प्रजाका पालन करना। प्रजाकी आयके छठे भागका उपभोग करनेवाला राजा धर्मका फल पाता है। एवं इन्द्रियसंयम, स्वाध्याय, अग्निहोत्रकर्म, दान, अध्ययन, यज्ञोपवीत धारण, यज्ञानुष्ठान,

---

* एक एव चरेद् धर्मं सिद्ध्यर्थमसहायवान्।
एकश्चरति यः पश्यन् न जहाति न हीयते। अनग्निरनिकेतश्च ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्॥ (महा० शान्ति० २४५। ४-५)

† अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया। कृत्वा प्राह्णे चरेद् भैक्ष्यं विधूमे भुक्तवज्जने॥
वृत्ते शरावसम्पाते भैक्ष्यं लिप्सेत मोक्षवित्।
लाभेन न च हृष्येत नालाभे विमना भवेत्। न चातिभिक्षां भिक्षेत केवलं प्राणयात्रिकः॥ (महा० आश्व० ४६। १९-२०)

‡ अश्वस्तनविधाता स्यान्मुनिर्भावसमाहितः। लघ्वाशी नियताहारः सकृदन्ननिषेविता॥ (महा० शान्ति० २४५। ६)

§ कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता। उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षणम्॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो भूतानामभयं ततः। तस्य मोहाद् विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन॥
अरोषमोहः समलोष्टकाञ्चनः प्रहीणकोशो गतसंधिविग्रहः। अपेतनिन्दास्तुतिरप्रियाप्रियश्चरन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः॥
(महा० शान्ति० २४५। ७, १७, ३६)

$ आकिंचन्यमनारम्भः सर्वतः शौचमार्जवम्। सर्वत्र भैक्षचर्या च सर्वत्रैव विवासनम्॥
सदा ध्यानपरत्वं च दोषशुद्धिः क्षमा दया। तत्त्वानुगतबुद्धित्वं तस्य धर्मविधिर्भवेत्॥ (महा० अनुशासन० १४२। दा० पा०)

卐 स्वाध्यायो यजनं दानं तस्य धर्म इति स्थितिः। कर्माण्यध्यापनं चैव याजनं च प्रतिग्रहः॥
सत्यं शान्तिः तपः शौचं तस्य धर्मः सनातनः। (महा० अनुशासन० १४२। दा० पा०)

धार्मिक कार्यका सम्पादन, सेवकोंका भरण-पोषण, आरम्भ किये हुए कर्मको सफल बनाना, अपराधके अनुसार उचित दण्ड देना, वैदिक यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान करना, व्यवहारमें न्यायकी रक्षा करना और सत्यभाषणमें अनुरक्ति—ये सब कर्म राजाके लिये परम धर्म हैं।*

पशुओंका पालन, खेती, व्यापार—ये वैश्यके जीविकाके कर्म हैं। अग्निहोत्रकर्म, दान, अध्ययन, सन्मार्गका आश्रय लेकर सदाचारका पालन, अतिथि-सत्कार, शम, दम, ब्राह्मणोंका स्वागत-सत्कार और त्याग—ये सब वैश्योंके सनातन धर्म हैं।†

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—इन द्विजातियोंका मुख्य धर्म है सत्य (सत्यभाषण, सत्यव्यवहार, सद्भाव)। यह धर्मका एक प्रधान लक्षण है। यज्ञ, स्वाध्याय और दान—ये तीन द्विजमात्रके लिये सामान्य धर्म हैं।‡

शूद्रका परम धर्म है—नित्य तीनों वर्णोंकी सेवा करना। जो शूद्र सत्यवादी, जितेन्द्रिय और घरपर आये हुए अतिथिकी सेवा करनेवाला है, वह महान् तपका संचय कर लेता है; उसका सेवारूप धर्म उसके लिये कठोर तप है।§

ये सब वर्णोंके पृथक्-पृथक् विशेष धर्म बतलाये गये हैं। इनके सिवा सभी वर्णोंके लिये साधारण धर्म इस प्रकार बतलाये गये हैं—

क्रूरताका अभाव (दया), अहिंसा, अप्रमाद (व्यर्थ कर्मका त्याग करके कर्तव्यका पालन करना), देवता, पितर, मनुष्य आदिको उनके भाग समर्पित करना, श्राद्धकर्म, अतिथि-सत्कार, सत्य, अक्रोध, अपनी ही पत्नीमें संतुष्ट रहना, पवित्रता रखना, कभी किसीके दोष न देखना, आत्म-ज्ञान तथा सहनशीलता—ये सभी वर्णोंके सामान्य धर्म हैं।$

इसी प्रकार गो-रक्षा सर्वसाधारणका परम धर्म है; क्योंकि गौ धार्मिक और आर्थिक—सभी दृष्टियोंसे इहलोक और परलोकमें सब प्रकारसे सबके लिये परम हितकारी और सर्वश्रेष्ठ पशु है। गौएँ सम्पूर्ण प्राणियोंकी माता हैं। वे सबको सुख देनेवाली हैं। जो अपने अभ्युदयकी इच्छा रखता हो, उसे गौओंको सदा दाहिने करके चलना चाहिये।+ गौमें सब देवता विराजमान हैं (महा० आश्वमेधिक० ९२)। गौके दूध, दही, घीसे मनुष्य, देवता, पितर, ऋषि सबकी तृप्ति होती है। इनके बिना यज्ञ तो किसी तरह भी नहीं हो सकता। गौके ये सब पदार्थ मानव-जीवन रक्षाके लिये परमोपयोगी हैं। दूध, दही, घीकी तो बात ही क्या, गौके गोबर, गोमूत्र भी स्वास्थ्यके लिये परम हितकर और पवित्र हैं। इसीलिये कहा गया है कि मनुष्य प्रतिदिन शरीरमें गोबर लगाकर स्नान करे। सूखे हुए गोबरपर बैठे। उसपर थूक न फेंके, मल-मूत्र न छोड़े तथा गौको कष्ट न दे।× यही नहीं, गोबर-गोमूत्रमें तो लक्ष्मीका निवास बतलाया गया है (महा० अनुशासन० ८२। २४)। एवं गोबर-गोमूत्रको खेतीके लिये सबसे बढ़कर खाद माना गया है। गौका बछड़ा (बैल) खेतीके लिये जितना उपयोगी है, उतना दूसरा कोई पशु नहीं है तथा दानोंमें भी गोदानकी सबसे बढ़कर महिमा कही गयी है। गोदानसे बढ़कर कोई पवित्र दान नहीं है। गोदानके फलसे श्रेष्ठ दूसरा कोई

यजनं याजनं चैव तथा दानप्रतिग्रहौ । अध्यापनं चाध्ययनं षट्कर्मा धर्मभाग् द्विजः ॥
नित्यं स्वाध्यायिता धर्मो धर्मो यज्ञः सनातनः । दानं प्रशस्यते चास्य यथाशक्ति यथाविधि ॥ (महा० अनुशासन० १४१। ६८-६९)

* क्षत्रियस्य स्मृतो धर्मः प्रजापालनमादितः । निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥
तस्य राज्ञः परो धर्मो दमः स्वाध्याय एव च । अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ॥
यज्ञोपवीतधरणं यज्ञो धर्मक्रियास्तथा । भृत्यानां भरणं धर्मः कृते कर्मण्यमोघता ॥
सम्यग्दण्डे स्थितिर्धर्मो धर्मो वेदक्रतुक्रियाः । व्यवहारस्थितिर्धर्मः सत्यवाक्यरतिस्तथा ॥
(महा० अनुशासन० १४१। ४७, ४९—५१)

† वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा । अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ॥
वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रशमो दमः । विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः ॥ (महा० अनुशासन० १४१। ५४-५५)

‡ द्विजातीनामृतं धर्मो ह्येकश्चैवैकलक्षणः । यज्ञाध्ययनदानानि त्रयः साधारणाः स्मृताः ॥ (महा० वन० १५०। ३४)

§ शूद्रधर्मः परो नित्यं शुश्रूषा च द्विजातिषु ॥
स शूद्रः संशिततपाः सत्यवादी जितेन्द्रियः । शुश्रूषुरतिथिं प्राप्तं तपः संचिनुते महत् ॥ (महा० अनुशासन० १४१। ५७-५८)

$ आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता । श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च ॥
स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्यानसूयता । आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्माः साधारणा नृप ॥ (महा० शान्ति० २९६। २३-२४)

+ मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः । वृद्धिमाकाङ्क्षता नित्यं गावः कार्याः प्रदक्षिणाः ॥ (महा० अनुशासन० ६९। ७)

× गोमयेन सदा स्नायात् करीषे चापि संविशेत् । श्लेष्ममूत्रपुरीषाणि प्रतिघातं च वर्जयेत् ॥ (महा० अनुशासन० ७८। १९)

फल नहीं है तथा संसारमें गौसे बढ़कर दूसरा कोई उत्कृष्ट प्राणी नहीं है।* अतः गौ हमलोगोंके लिये सब प्रकारसे परम हितकारक प्राणी है। गौ शुद्ध, सरल, निरामिषभोजी तथा उत्तम गुणोंसे युक्त होनेके कारण पशुओंमें सात्त्विक है। सभी दृष्टियोंसे गौकी बड़ी भारी महिमा है। (गोमहिमाका वर्णन महाभारतके अनुशासनपर्वके ६९ वेंसे ८३ वें अध्यायतक बहुत विस्तारसे किया गया है, वहाँ देखना चाहिये।)

इसलिये हमलोगोंको तन-मन-धनसे सब प्रकारसे गौओंकी रक्षा और सेवा करनी चाहिये।

पाण्डव जब इन्द्रप्रस्थमें राज्य करते थे, उन दिनों एक दिन लुटेरे किसी ब्राह्मणकी गौएँ लेकर भाग गये। अर्जुनने जब ब्राह्मणकी करुण पुकार सुनी, तब वे भाइयोंके साथ की हुई शर्तका उल्लङ्घन करके भी युधिष्ठिरके कमरेमें जाकर शस्त्र ले आये और लुटेरोंका पीछा करके ब्राह्मणकी गौएँ लौटा लाये। इस प्रकार अर्जुनने गोधनकी रक्षा करके युधिष्ठिरके मना करनेपर भी शर्त-भङ्ग करनेके प्रायश्चित्तरूपमें बारह वर्षका वनवास स्वीकार किया (महा० आदि० २१२)।

राजा नहुष एक बार बड़े धर्मसंकटमें पड़ गये। उन्होंने च्यवन ऋषिके बदलेमें मल्लाहोंको राज्यतक देना स्वीकार कर लिया, तब भी च्यवन ऋषिने कहा कि मेरा मूल्य नहीं आया। इसपर राजाने वहाँ पधारे हुए मुनि गविजके निर्णयानुसार ब्राह्मण और गौको समान समझकर गौसे ऋषिका मूल्य आँक दिया। तब च्यवन ऋषि उठ गये और बोले—अब तुमने यथार्थमें मुझको मोल ले लिया। इस प्रकार उन्होंने गौका इतना आदर किया कि राज्यसे भी बढ़कर गौका मूल्य ऋषिके बराबर बतलाकर मछली पकड़नेवाले मल्लाहोंको ऋषिके मूल्यमें एक गौ दी गयी (महा० अनुशासन० ५१)।

महाभारतमें तीर्थोंकी महिमा भी जगह-जगह आयी है (महा० वन० ८२ से ९०, १२५, १२९, १३०, १३५, १४५, अनुशासन० २५-२६)। तीर्थोंमें श्रीगङ्गा सबसे बढ़कर हैं।

गङ्गा परम पवित्र और इहलोक तथा परलोकमें कल्याण करनेवाली हैं। गङ्गाजलमें ऐसी शक्ति है कि इसके बहुत वर्षोंतक पड़े रहनेपर भी इसमें कीड़े नहीं पड़ते। अतएव यह स्वास्थ्यके लिये भी परम हितकर है। इसके पान करनेसे अनेक रोग दूर होते हैं। शास्त्रोंमें गङ्गाजलको अमृतके तुल्य बताया गया है। गङ्गाजल सदा ही पवित्र करनेवाला है, पर अन्तकालमें तो यह पापीको भी मुक्त कर देता है।

महर्षि पुलस्त्यने भीष्मजीसे गङ्गाकी महिमा बतलाते हुए कहा है कि गङ्गाका नाम लिया जाय तो वह सारे पापोंको धो-बहाकर पवित्र कर देती है, दर्शन करनेपर कल्याण प्रदान करती है तथा स्नान और जलपान करनेपर वह मनुष्यकी सात पीढ़ियोंको पावन बना देती है। गङ्गाके समान कोई तीर्थ नहीं, भगवान् विष्णुसे बढ़कर कोई देवता नहीं और ब्राह्मणोंसे उत्तम कोई वर्ण नहीं है—ऐसा ब्रह्माजीका कथन है।†

इसी प्रकार एक शिलवृत्तिवाले ब्राह्मणसे किसी सिद्ध पुरुषने बतलाया कि 'ब्रह्मन्! वे ही देश, जनपद, आश्रम और पर्वत पुण्यकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनके बीचसे होकर सरिताओंमें उत्तम भागीरथी गङ्गा बहती हैं। द्विजश्रेष्ठ! जैसे आगमें डाली हुई रूई तुरंत जलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार गङ्गामें गोता लगानेवाले मनुष्यके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे देवताओंको अमृत, पितरोंको स्वधा और नागोंको सुधा तृप्त करती है, उसी प्रकार मनुष्योंके लिये गङ्गाजल ही पूर्ण तृप्तिका साधन है। जो पुरुष गङ्गाका माहात्म्य सुनता, उनके तटपर जानेकी अभिलाषा रखता, उनका दर्शन करता, जल पीता, स्पर्श करता तथा उनके भीतर गोते लगाता है, उसके दोनों कुलोंका भगवती गङ्गा विशेषरूपसे उद्धार कर देती हैं। गङ्गा अपने दर्शन, स्पर्श, जलपान तथा अपने गङ्गा नामके कीर्तनसे सैकड़ों और हजारों पापियोंको तार देती हैं। जो श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सम्मानित तथा संयतचित्त मनुष्य प्राण निकलते समय मन-ही-मन गङ्गाका स्मरण करता है, वह परम उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है।‡

इस प्रकार श्रीगङ्गाकी बड़ी भारी महिमा बतायी गयी है (महा० वन० ८५, अनुशासन० २६)।

ये सब धार्मिक उन्नतिके अन्तर्गत हैं।

---

* नातः पुण्यतरं दानं नातः पुण्यतरं फलम्। नातो विशिष्टं लोकेषु भूतं भवितुमर्हति॥ (महा० अनुशासन० ८०। १३)

† पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति। अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम्॥
न गङ्गासदृशं तीर्थं न देवः केशवात् परः। ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति एवमाह पितामहः॥ (महा० वन० ८५। ९३, ९६)

‡ ते देशास्ते जनपदास्तेऽऽश्रमास्ते चपर्वताः। येषां भागीरथी गङ्गा मध्येनैति सरिद्वरा॥
अग्नौ प्रास्तं प्रधूयेत यथा तूलं द्विजोत्तम। तथा गङ्गावगाढस्य सर्वपापं प्रधूयते॥

आध्यात्मिक उन्नतिके लिये भगवान् श्रीकृष्णने भीष्मपर्वके ३७वें अध्यायके ७ वेंसे ११ वें श्लोकतक 'ज्ञान' के नामसे जो उपदेश दिया है, उसे विशेषरूपसे अपनाना चाहिये।* इसके सिवा उद्योगपर्वमें ४१वेंसे ४६वें अध्यायतक श्रीसनत्सुजात ऋषिने राजा धृतराष्ट्रके प्रति बड़ा ही सुन्दर अध्यात्म-ज्ञानका उपदेश किया है। शान्तिपर्व और अनुशासनपर्वमें तो अध्यात्म-ज्ञानका विषय जगह-जगह आया है, उसमें भी शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उसका विशेषरूपसे वर्णन है; उसका अध्ययन और मनन करना चाहिये।

माता-पिता-गुरुजनोंकी सेवा, पातिव्रत्यधर्म, यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, अध्ययनाध्यापन, स्वाध्याय, प्रजापालन, वाणिज्य, गोरक्षा, सेवा, परोपकार आदि जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, उनको अपने अधिकारके अनुसार फल और आसक्तिको त्यागकर निष्काम-भावसे ईश्वरकी पूजा समझकर करनेसे वे मनुष्यको पवित्र करके उसके आत्माका उद्धार कर देते हैं। श्रीभगवान्ने अर्जुनसे कहा है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(महा० भीष्म० ४२। ५)

'यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करने योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्यकर्तव्य है; क्योंकि सात्त्विक यज्ञ† सात्त्विक दान‡ और सात्त्विक तप§—ये तीनों ही कर्म विवेकी पुरुषोंको भी पवित्र करनेवाले हैं।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(महा० भीष्म० ४२। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

यथा सुराणाममृतं पितॄणां च यथा स्वधा। सुधा यथा च नागानां तथा गङ्गाजलं नृणाम्॥
श्रुताभिलषिता पीता स्पृष्टा दृष्टावगाहिता। गङ्गा तारयते नृणामुभौ वंशौ विशेषतः॥
दर्शनात् स्पर्शनात् पानात् तथा गङ्गेतिकीर्तनात्। पुनात्यपुण्यान् पुरुषाञ्छतशोऽथ सहस्रशः॥
उत्क्रामद्भिश्च यः प्राणैः प्रयतः शिष्टसम्मतः। चिन्तयेन्मनसा गङ्गां स गतिं परमां लभेत्॥

(महा० अनुशासन० २६। २६, ४२, ४९, ६३, ६४, ७०)

* अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्। आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु। नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्। एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥

'श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी कभी किञ्चिन्मात्र भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदिकी सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह, इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव; जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना; पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव; ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना, मुझ परमेश्वरमें अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना, अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना—'यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है'—ऐसी बात कही गयी है।'

†अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते। यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ (महा० भीष्म० ४१। ११)

'जो शास्त्रविधिसे नियत है तथा यज्ञ करना ही कर्तव्य है—इस प्रकार मनका समाधान करके फलको न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह यज्ञ सात्त्विक है।'

‡दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ (महा० भीष्म० ४१। २०)

'दान देना ही कर्तव्य है—इस भावसे जो दान देश तथा काल और पात्रके प्राप्त होनेपर उपकार न करनेवालेके प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।'

§श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः। अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ (महा० भीष्म० ४१। १७)

'फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस कायिक, वाचिक और मानसिक—तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं।

सत्कथाकी महिमा

'सत्' का अर्थ है परमात्मा। उस परमात्माको जाननेवाले जो महापुरुष हैं, उनको 'सत्पुरुष' कहते हैं और उस परमात्माकी प्राप्तिका जो उपाय है, उसे 'सत्-मार्ग' कहा जाता है। 'सत्' शब्दका कहाँ-कहाँ प्रयोग होता है—इसका निरूपण करते हुए स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

(गीता १७। २३)

ॐ तत्, सत्'—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा गया है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये।'

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥

(गीता १७। २६)

'सत्—इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्यभावमें और श्रेष्ठ भावमें प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ! उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है।'

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

(गीता १७। २७)

'तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति (निष्ठा) है, वह भी सत्—इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है।'

इससे यह निष्कर्ष निकला कि 'सत्' शब्द एक तो परमात्माका वाचक है। दूसरे भाव (सत्ता) का; तीसरे श्रेष्ठ यानी साधु भावका अर्थात् हृदयके क्षमा, दया आदि उत्तम गुणोंका; चौथे उत्तम आचरणोंका; पाँचवें उत्तम कर्मोंमें जो स्थिति (निष्ठा) है उसका एवं छठे भगवदर्थ (निष्काम) कर्मका वाचक है। उपर्युक्त छहोंमेंसे किसीकी भी कथा—वर्णन जिसमें हो, वह 'सत्कथा' है।

सबसे बढ़कर एकमात्र भगवान् हैं। इसलिये हमलोगोंको भगवान्‌की प्राप्ति जिस प्रकार शीघ्रातिशीघ्र हो, वही चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्‌की प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय है—भगवान्‌के वचनोंका पालन करना। गीता भगवान्‌के साक्षात् वचन हैं। अतः गीताके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

श्रीभगवान् और उनके वचनोंकी महिमा अपार है। उनका पार शेष, महेश, गणेश और दिनेश आदि भी नहीं पा सके। यदि उनका पार पा जाय तब तो उन्हें अपार कैसे कहा जा सकता है। श्रीरसखानजीने क्या ही सुन्दर कहा है—

सेष महेष गनेस दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड, अछेद अभेद सुबेद बतावैं॥
नारद-से सुक-ब्यास रटैं, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

ऐसा होते हुए भी शास्त्रोंमें भगवान्‌की महिमाका कथन ऋषि-महात्माओंने किया ही है। गीतामें भी दसवें अध्यायके १२ वें श्लोकमें अर्जुन कहते हैं—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं; क्योंकि आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं।'

आगे ग्यारहवें अध्यायमें ३६वेंसे ४६वें श्लोकतक अर्जुनने भगवान्‌की महिमा कुछ और विस्तारसे गायी है। इसी तरह अन्य ऋषियोंने भी शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर भगवान्‌की अपार महिमाका वर्णन किया है।

इसके अतिरिक्त भगवान्‌की प्राप्तिके साधनोंकी महिमाका भी जगह-जगह वर्णन किया गया है। स्वयं भगवान्‌ने ही गीतामें कहा है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

(गीता ९। १)

'तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा।'

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

(गीता ९। २)

'यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है।'

इतना होनेपर भी जो लोगोंकी भगवत्प्राप्तिके साधनमें तत्परता नहीं होती, इसका कारण भगवान् और भगवान्‌के वचनोंमें श्रद्धाका अभाव ही है। इस बातको स्वयं भगवान् भी कहते हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

(गीता ९। ३)

'हे परंतप! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसार-चक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।'

श्रद्धाका तात्पर्य है—भगवान्, महात्मा, शास्त्र और परलोकमें आदरपूर्वक प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास। यह विश्वास होता है अन्तःकरणकी शुद्धिसे। अन्तःकरणकी शुद्धि होती है साधनसे और साधन होता है विश्वाससे। इस प्रकार ये सभी परस्पर एक-दूसरेके सहायक हैं। इसलिये ईश्वर और महात्मा पुरुषोंके वचनोंपर परम श्रद्धा और विश्वास करके हमलोगोंको तत्परताके साथ साधनमें लग जाना चाहिये।

इसके लिये हमें सर्वप्रथम यह निश्चय करना होगा कि हमारा यह कार्य इस मनुष्य-शरीरमें ही हो सकता है। जो मनुष्य-शरीर प्राणियोंके लिये बहुत ही दुर्लभ है, वह हमें वर्तमानमें अनायास ही प्राप्त है। ऐसे अवसरको हमें अपने हाथसे नहीं जाने देना चाहिये। मृत्युका कोई भरोसा नहीं, न मालूम कब आकर प्राप्त हो जाय। अतः हमें पहलेसे ही सावधान हो जाना चाहिये; क्योंकि वर्तमानमें जो हमारी अन्तःकरणकी पवित्रता, श्रद्धा, निष्ठा, स्थिति है, वही उस समय काम आ सकती है। इसलिये हमें अपनी स्थिति ऊँचे-से-ऊँचे स्तरकी शीघ्रातिशीघ्र बना लेनी चाहिये। भक्ति, ज्ञान, योग आदि जितने भी परमात्माकी प्राप्तिके साधन बताये गये हैं, उनसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और अन्तःकरणके अनुसार ही श्रद्धा होती है। भगवान् कहते हैं—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(गीता १७। ३)

'हे भारत ! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है।'

श्रद्धासे ही परमात्मविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसीसे असली परम शान्ति मिलती है। श्रद्धा होनेपर साधनमें तत्परताका होना अनिवार्य है। हमारी जितनी श्रद्धा होगी, हमारा साधन भी उतना ही तेज होता चला जायगा। इसलिये हमारा ईश्वर और महापुरुषोंमें श्रद्धा-विश्वास हो, ऐसा प्रयत्न करना परम आवश्यक है।

ईश्वर और महापुरुषोंका एक तो लौकिक प्रभाव होता है और दूसरा अलौकिक। जैसे भगवान् श्रीकृष्णजीने अनेकों राक्षसोंको मार डाला और गोवर्धनपर्वतको धारण कर लिया; इसी प्रकार जैसे श्रीरामचन्द्रजीने अनेकों राक्षसोंको मार डाला और समुद्रपर पुल बाँध दिया—यह उनका लौकिक प्रभाव है। श्रीकृष्णजीने ग्वाल-बाल और बछड़ोंके रूपमें परिणत होकर उनकी माताओं और गायोंका उद्धार कर दिया एवं श्रीरामचन्द्रजीने वनवाससे लौटकर अयोध्यामें प्रवेश करते समय एक साथ अनेक रूप धारण करके सबसे मिलकर उनका उद्धार किया—यह उनका अलौकिक प्रभाव है।

इसी प्रकार महात्माओंमें भी ये दोनों होते हैं। जैसे मूक चाण्डाल आदिका मकान आकाशमें ही झूला करता था और वे गुप्त घटनाको भी जान लेते थे—यह उनका लौकिक प्रभाव है। उनके परलोक सिधारनेके समय उनके माता-पिता और उनके घरमें रहनेवाले जीव-जन्तु भी दिव्यरूप धारण करके उनके साथ परम धामको चले गये—यह उनका अलौकिक प्रभाव है। इसी तरह श्रीवसिष्ठजीका विश्वामित्रजीको युद्धमें परास्त कर देना लौकिक प्रभाव है और उनको ब्रह्मर्षि बना देना अलौकिक प्रभाव है। श्रीभरद्वाजजीमें जो सिद्धियाँ थीं, वह उनका लौकिक प्रभाव था और उनमें जो कल्याण करनेकी शक्ति थी, वह उनका अलौकिक प्रभाव था।

भाव यह कि आत्माका उद्धार करनेवाला महात्माओंका जो प्रभाव है, वह तो अलौकिक है और जो संसारमें सिद्धि, चमत्कार आदिका प्रकट होना है, वह लौकिक प्रभाव है।

इन लौकिक और अलौकिक दोनों ही प्रकारके प्रभावोंका प्राकट्य कहीं तो श्रद्धा और प्रेमसे होता है और कहीं बिना श्रद्धाके उनकी कृपासे ही हो जाता है। जैसे कौरवोंकी सभामें और उत्तङ्क ऋषिको भगवान्ने अपना विराट्स्वरूप दिखलाया, उसमें श्रद्धाकी प्रधानता नहीं थी, भगवान्ने स्वयं कृपा करके अपनी इच्छासे दिखाया। किंतु ध्रुव, प्रह्लाद और अर्जुन आदि भक्तोंको भगवान्ने जो अपना स्वरूप दिखाया, उसमें उनके प्रेम और श्रद्धाकी प्रधानता थी।

इसी प्रकार संत-महात्माओंके प्रभावका प्राकट्य भी कहीं तो श्रद्धापूर्वक होता है और कहीं बिना श्रद्धाके स्वाभाविक हो जाता है। जैसे शास्त्रोंमें ध्रुव और प्रह्लाद आदिके माता-पिताके कल्याणकी बात आती है, इसमें श्रद्धाका सम्बन्ध नहीं है, यह उन महात्माओंके प्रभावका स्वाभाविक परिणाम है।

इसके अतिरिक्त, श्रीनारदपुराणमें एक कथा आती है। राजा बाहुके मर जानेपर उनकी पत्नीने उसी वनमें

महात्मा और्व मुनिके देखते-देखते ही अपने पतिके शवका दाह-संस्कार किया। वहाँ कहा गया है कि और्व मुनिके उपस्थित रहनेसे राजा बाहु तेजसे प्रकाशित होते हुए चितासे निकले और श्रेष्ठ विमानपर बैठकर तथा और्व मुनिको प्रणाम करके परम धामको चले गये। वहाँ महापुरुषोंकी महिमाका वर्णन करते हुए मुनीश्वर श्रीसनकजीने कहा है—

महापातकयुक्ता वा युक्ता वा चोपपातकैः।
परं पदं प्रयान्त्येव महद्भिरवलोकिताः॥
कलेवरं वा तद्भस्म तद्धूमं वापि सत्तम।
यदि पश्यति पुण्यात्मा स प्रयाति परां गतिम्॥

(नारद० पूर्व० प्रथम० ७। ७४-७५)

'सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ नारद! जिनपर अन्तकालमें महापुरुषोंकी दृष्टि पड़ जाती है, वे महापातक या उपपातकसे युक्त होनेपर भी अवश्य परम पदको प्राप्त हो जाते हैं। महात्मा पुरुष यदि अन्तकालमें किसीके मृत शरीरको या शरीरके भस्मको अथवा उसके धुएँको भी देख लें तो वह परम पदको प्राप्त हो जाता है।'

यह है महापुरुषोंका स्वाभाविक अलौकिक प्रभाव!

शास्त्रोंमें उच्चकोटिके अधिकारी महापुरुषोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप आदिसे जो अध्यात्मविषयक विशेष लाभ मिलनेकी बातें आती हैं, वे सब बातें अधिकांशमें श्रद्धापर ही निर्भर करती हैं। अतएव हमें श्रद्धाकी वृद्धिके लिये श्रद्धालु साधकोंका और महात्मा पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये। उनका सङ्ग करके यदि हम उनकी कही बातें मानकर चलें तो हमें परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र-से-शीघ्र हो सकती है। गीतामें जहाँ भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके लिये ध्यानयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि अनेक प्रकारके साधन बतलाये हैं, वहाँ उनमें एक साधन यह भी बतलाया है कि महापुरुषोंके वचनोंके अनुसार अपना जीवन बनाना।

श्रीभगवान् कहते हैं—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३। २४-२५)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं। परंतु दूसरे कई एक जो उपर्युक्त साधनोंको नहीं जानते, वे दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले महापुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसंदेह तर जाते हैं।'

श्रीतुलसीदासजीने भी सत्पुरुषोंके सङ्गकी बड़ी भारी महिमा गायी है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(रा० च० मा०, सुन्दर० ४)

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(राम० च० मा०, उत्तर० ६१)

एक घड़ी आधी घड़ी आधीमें पुनि आध।
तुलसी संगति साधुकी कटै कोटि अपराध॥

और भी कहते हैं—

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥
बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥
सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई॥

(रा० च० मा०, बाल० ३। ३—५)

यहाँ 'सत्सङ्ग'का तात्पर्य है—महापुरुषोंका सङ्ग करके उनके कथनानुसार अपने जीवनको बनाना। जैसे गीतामें बताया गया कि '**श्रुत्वान्येभ्य उपासते**' 'दूसरोंसे अर्थात् महापुरुषोंसे सुनकर तदनुसार उपासना करते हैं, वे भी तर जाते हैं।' भगवान् श्रीरामने भी कहा है—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ४३। ३)

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके अत्यन्त प्रिय भक्त थे। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे पूछा कि 'मैंने जो तुम्हें गीताका उपदेश दिया, उसे तुमने ध्यानपूर्वक सुना कि नहीं और तुम्हारा मोह नष्ट हुआ कि नहीं।' इसका भी अभिप्राय यही था कि मेरी बातको सुनकर तुमने उसको धारण किया या नहीं, इसके उत्तरमें अर्जुनने यही कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥

(गीता १८। ७३)

'अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ; अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

इसमें अर्जुनने खास बात यही कही है कि आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।

इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वर, महापुरुष और

शास्त्रोंके वचनोंका पालन करना ही परमात्माकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय है।

हमलोग गीतादि शास्त्रोंको पढ़ते हैं, सुनते हैं, मनन करते हैं और कथन भी करते हैं; किंतु धारण किये बिना उनसे होनेवाला विशेष लाभ नहीं हो पाता। इसी प्रकार हम वर्षोंसे सत्सङ्ग करते हैं, पर महापुरुषोंकी बातोंको काममें नहीं लाते; इसी कारण विशेष लाभ नहीं होता। इसलिये हमें शास्त्रों और महापुरुषोंकी बातोंको सुनकर और उनमें प्रत्यक्षकी भाँति अतिशय विश्वास करके काममें लानेके लिये तत्पर होना चाहिये।

वास्तवमें भगवान् तो सबको सदा प्राप्त ही हैं; क्योंकि उनके और हमारे बीचमें देश-कालका व्यवधान नहीं है; अतः देश-काल बाधक नहीं है। भगवान् सभी देश और सभी कालमें सदा ही मौजूद हैं, किंतु हमें इस बातपर श्रद्धा नहीं है, हम इसे मानते नहीं; इसीसे हम वञ्चित हो रहे हैं। इसलिये हमें भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास करना चाहिये। भगवान्‌ने स्वयं बतलाया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्ब—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

हमें भगवान्‌के उपर्युक्त वचनोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये क्योंकि प्रधानतया एक श्रद्धाकी कमीके कारण ही हम संसारके इन नाशवान् क्षणभङ्गुर भोग और पदार्थोंमें आसक्ति (राग) करके फँस रहे हैं और इस प्रकार अपने मानव-जीवनको नष्ट कर रहे हैं। विषयभोगोंकी क्षणभङ्गुरताके विषयमें भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वदर्शी पुरुषोंद्वारा देखा गया है अर्थात् यही तत्त्वदर्शी पुरुषोंका निर्णय है।'

भाव यह कि जो सत् वस्तु है, उसका तो कभी अभाव होता नहीं और मिथ्या वस्तु कभी कायम नहीं रहती। हम देखते हैं कि संसारके भोग और पदार्थ तथा हमारा यह शरीर भी हमारे देखते-देखते क्षण-क्षणमें विनष्ट हो रहा है। फिर भी हम उनको सत् मानकर और उनपर विश्वास करके उनको ही पकड़े हुए हैं। यह हमारी बड़ी भारी भूल है। हमें अपनी इस भूलको शीघ्र दूर करना चाहिये और क्षणभङ्गुर नाशवान् जड पदार्थोंके साथ हमारा जो सम्बन्ध है और उनमें जो हमारी आसक्ति है, उसको असत् समझकर उसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। इन क्षणभङ्गुर नाशवान् जड वस्तुओंके साथ माने हुए सम्बन्ध और आसक्तिका त्याग हो जानेपर सत् वस्तुकी प्राप्ति तो स्वतः है ही।

हमें इस बातकी खोज करनी चाहिये कि परमात्माकी प्राप्तिमें विलम्ब क्यों हो रहा है। सोचनेपर पता लगता है कि यह विलम्ब हमारी असावधानीके कारण ही हो रहा है। वास्तवमें परमात्माकी प्राप्ति तो क्षणमात्रमें हो सकती है। जैसे बिजली फिट हो जाने और शक्ति-केन्द्रसे उसका सम्पर्क हो जानेपर स्विच दबानेके साथ ही प्रकाश हो जाता है, इसी प्रकार परमात्मापर दृढ़ विश्वास कर लेनेपर परमात्माकी प्राप्ति क्षणमात्रमें हो सकती है। बिजलीके तारमें तो करेंट दिया जाता है, पर परमात्मा तो सब जगह पहलेसे ही व्यापक है। आवश्यकता है इस बातपर दृढ़ विश्वास होनेकी।

हमलोगोंको विचार करना चाहिये कि जब भगवान् हैं, मिलते हैं, बहुतोंको मिले हैं और हमें भी मिल सकते हैं तथा वे सब जगह सदा ही विद्यमान हैं तो फिर हम उनसे वञ्चित क्यों रह रहे हैं। विचार करनेपर इसका कारण हमलोगोंकी असावधानी ही सिद्ध होता है। इस असावधानीको हम स्वयं ही दूर कर सकते हैं। इसके लिये दूसरेकी आशा करना भूल है। यदि परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें थोड़ी भी कमी रह जायगी तो हमें फिर जन्म लेना पड़ेगा और वर्तमानकी भाँति ही महान् क्लेश भोगना पड़ेगा।

अतएव महान् पुरुषों और शास्त्रोंके वचनोंमें विश्वास करके हमें उनसे विशेष लाभ उठाना चाहिये। हमें उचित है कि परमात्माके दिये हुए तन, मन, धन, ऐश्वर्य, इन्द्रिय, बुद्धि, बल, विवेकका सदुपयोग करें। कभी दुरुपयोग न करें। इनको सर्वथा परमात्माकी प्राप्तिके साधनके अतिरिक्त अन्य किसी काममें लगाना ही इनका दुरुपयोग करना है। हमें काम, भय, लोभ, मोहके वश होकर या किसीके प्रभावमें आकर एक क्षण भी अपना अमूल्य समय व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहिये। इन क्षणभङ्गुर नाशवान् पदार्थोंमें अपने तन, मन और बुद्धिको लगाना ही समयको व्यर्थ नष्ट करना है और यही असावधानी है। ईश्वरकी कृपासे मनुष्य-शरीर, उत्तम देश, उत्तम काल और उत्तम धर्मको पाकर भी हम परमात्माकी प्राप्तिसे एक क्षणके लिये भी

वञ्चित क्यों रहें? स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदिकी तो बात ही क्या, शरीरके साथ भी हमारा सम्बन्ध वास्तविक नहीं है, केवल माना हुआ है; क्योंकि किसी भी संसारी वस्तुके साथ जो संयोग है, वह वियोगको लेकर ही है। जिसका जन्म है उसकी मृत्यु निश्चित है, इसी प्रकार जिसका संयोग है, उसका वियोग भी निश्चित ही है। फिर हम इन नाशवान् अनित्य पदार्थोंके फंदेमें फँसकर अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी क्यों नष्ट करें?

परमात्मा नित्य है। उसका संयोग भी नित्य है। विश्वास न होनेके कारण ही हम उसे भूले हुए हैं। अतएव जो नित्य सत्य है, जिसका कभी अभाव नहीं है, उसीकी शरण लेनी चाहिये। 'भगवान् ध्रुव सत्य हैं'— ऐसा विश्वास करके उनके नाम-रूपको हर समय याद रखना भगवान्के सिवा अन्य कोई भी हमारा नहीं है—ऐसा समझना, अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर सबको भगवान्की वस्तु मानकर भगवान्के समर्पण करना अर्थात् भगवान्के काममें लगा देना तथा अनिच्छा और परेच्छासे जो कुछ भी हो रहा है, उस सबको भगवान्का विधान या उनकी लीला समझकर अत्यन्त प्रसन्न रहना भगवान्की शरण लेना है।

धर्मपालनार्थ प्राणोत्सर्गसे श्रेय-प्राप्ति

जो मनुष्य अपने-आपको धर्मके लिये समर्पित कर देता है उसकी इस लोकमें तो कीर्ति होती है एवं मरनेपर वह सद्गतिको प्राप्त होता है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वधर्मपालनपर जोर देते हुए गीतामें अर्जुनके प्रति कहते हैं—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३। ३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुण-रहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

यदि अपने धर्मके पालनमें कुछ कमी भी रह जाती है तो भी वह कल्याणकारक होता है; फिर अच्छी तरह निष्काम-भावसे धर्मका पालन करनेसे कल्याण हो जाय इसमें तो कहना ही क्या है।

भारतके इतिहासमें अनेक ऐसे वीर पुरुषोंके चरित्र आये हैं जिन्होंने धर्मरक्षार्थ अपने प्राणोंकी भी बाजी लगा दी थी। पूर्वकालकी बात है, चक्रवर्ती सम्राट् महाराज दिलीपके कोई संतान नहीं थी। इससे अन्य सब प्रकारके सुख रहते हुए भी वे दुःखी रहा करते थे। संतान-प्राप्तिका उपाय पूछनेके लिये वे अपनी धर्मपत्नी राजमहिषी सुदक्षिणाके साथ अपने कुलगुरु महर्षि वसिष्ठके आश्रममें गये। वसिष्ठजीने उनको कामधेनुपुत्री नन्दिनीकी सेवा करनेका आदेश दिया। उनके आदेशके अनुसार नन्दिनीकी भलीभाँति सेवा करते हुए इक्कीस दिन बीत गये। बाईसवें दिन नन्दिनीने राजाकी परीक्षा लेनी चाही। राजा जंगलमें जब पर्वतकी शोभा निहारनेमें दत्तचित्त थे, उसी समय उन्हें अचानक नन्दिनीका करुण-क्रन्दन सुनायी पड़ा। राजाने पीछेकी ओर मुड़कर देखा तो वे स्तब्ध रह गये। एक विशाल वनराज सिंहने नन्दिनीको दबोच रखा था। राजाने उसे मारनेके लिये धनुषपर तीर चढ़ाया; परंतु उनका हाथ वहीं धनुषके साथ चिपक गया। निरुपाय होकर राजा चुप-चाप खड़े रहे तो सिंह गर्जना करता हुआ-सा बोला—'राजन्! मुझे कोई साधारण सिंह न समझ लेना। मैं भगवान् शङ्करका गण हूँ और उनकी आज्ञासे सामने दिखायी देनेवाले इस देवदारके रक्षार्थ यहाँ रह रहा हूँ। जो पशु कालके वशीभूत होकर यहाँ आ जाता है वह मेरा भक्ष्य है। आज यह गौ मेरा भोजन बनी है। अब आप लौट जाइये। इसे मेरे शक्तिशाली पंजोंसे मुक्त करा सकना आपके हाथकी बात नहीं है।' राजा बोले—'वनराज! मैं गुरुकी आज्ञासे इस गौकी सेवामें तत्पर हूँ। आप भगवान् शङ्करके अनुचर हैं सो बहुत अच्छी बात। चराचर जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण वे भगवान् शङ्कर भी मेरे पूजनीय हैं; परंतु मेरे आहिताग्नि गुरु महाराजके इस धनको भी मैं अपनी आँखोंके सामने नष्ट होता कैसे देख सकता हूँ—

मान्यः स मे स्थावरजंगमानां
सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्ने-
र्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम्॥

(रघुवंश, सर्ग २। ४४)

'अतः हे सिंह! आप मेरे इस विनाशी शरीरको खाकर अपनी क्षुधा शान्त कीजिये एवं इस अबला बेचारी गौको छोड़ दीजिये।'

सिंह बोला—राजन्! मूर्ख न बनिये। यदि आप जीवित रहे तो न जाने आपके हाथसे अन्य कितने जीवोंकी रक्षा होगी तथा इस गौकी जगह आप अन्य हजारों दुधारू

गायें देकर अपने गुरु महाराजको भी प्रसन्न कर सकते हैं। राजन्! अपने इस कल्याणकारी, शक्तिशाली देहकी रक्षा कीजिये। आपका राज्य पूरी पृथ्वीपर स्थित है तथा उसको लोग स्वर्गके ही समान सब प्रकारसे सम्पन्न कहते हैं। (शरीर न रहनेसे आप उसका भी भोग कैसे कर सकेंगे?)

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां
भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम्।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्न-
मृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः॥

(रघुवंश, सर्ग २। ५०)

राजा बोले—सिंह! मैं क्षत्रिय हूँ। कष्टमें पड़े हुए जीवकी रक्षा करना ही मेरा लोकप्रसिद्ध उत्तम धर्म है। फिर इस गौकी तो मैं सेवामें संलग्न हूँ। मैं इसे यदि न बचा पाऊँ तो मुझे राज्यकी तथा उन निन्दाकलुषित प्राणोंको रखनेकी भी क्या आवश्यकता है—

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः
प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा॥

(रघुवंश, सर्ग २। ५३)

इस तरह राजाने सिंहको प्रसन्न कर लिया तथा सिंह गौके बदले उन्हें खा लेनेको राजी हो गया। सिंहके द्वारा खाये जानेकी प्रतीक्षा करते हुए राजा सिर नीचा करके ज्यों ही बैठे त्यों ही आकाशसे देवताओंने पुष्पवृष्टि की। नन्दिनी प्रसन्न होकर बोली, 'राजन्! उठो, यह सब मेरी ही लीला थी। वास्तवमें कोई भी पशु मुझपर आक्रमण नहीं कर सकता।' नन्दिनीने उनको वंश चलानेवाले पुत्ररत्नकी प्राप्तिका वर दिया, जिससे उनके महाराज 'रघु' उत्पन्न हुए। आगे चलकर इसी रघुवंशमें भगवान् रामका प्राकट्य हुआ।

इसी तरह महाराज उशीनरके पुत्र राजा शिबिका भी उपाख्यान आता है। महाराज शिबि अपने समयके प्रख्यात धर्मात्मा एवं शरणागतवत्सल नरेश थे। एक दिन जब वे अपनी राजसभामें बैठे थे तभी अचानक एक कबूतर जो अत्यन्त थका हुआ तथा भययुक्त दिखायी दे रहा था, उनकी गोदमें आकर गिर पड़ा। राजाने उसके भयके कारणको खोजनेके लिये ऊपर देखा तो एक बाज उन्हें दिखायी दिया। बाज बोला—'महाराज! मेरे इस शिकारको छोड़ दीजिये, इससे मेरा तथा मेरे परिवारका पोषण होगा। नहीं तो, मैं तथा मेरा कुटुम्ब भूखों मर जायँगे—उस पापके आप भागी होंगे।'

महाराज शिबि अत्यन्त दुविधामें पड़ गये। शरणमें आये हुए कबूतरको भी वे कैसे छोड़ सकते थे तथा बाजका कहना भी ठीक था। राजा बोले—'बाज! तुम्हें तो अपने पालनके लिये मांसकी ही आवश्यकता है न? इस शरणागत कबूतरको तो मैं किसी तरह छोड़ नहीं सकता। इसके बदलेमें मैं इसके तौलके बराबर अपने शरीरका मांस काटकर तुझे दे देता हूँ।' राजाकी इस बातसे बाज सहमत हो गया। राजाने तराजू मँगाया तथा कबूतरको एक पलड़ेमें रखकर अपनी जंघासे मांस काटकर दूसरे पलड़ेपर रखा; परंतु कबूतरका पलड़ा भारी रहा। राजाने और मांस काटकर रखा; परंतु वह कबूतरवाला पलड़ा किसी भी तरह ऊँचा नहीं हो पा रहा था। अन्तमें राजा पूरे-के-पूरे तराजूमें बैठ गये। उनका तराजूमें बैठना ही था कि वहाँ न बाज दिखायी दिया न कबूतर। वास्तवमें स्वर्गसे देवराज इन्द्र बाजका एवं अग्निदेव कबूतरका रूप धारण करके महाराज शिबिकी शरणागतवत्सलताका परीक्षण करने आये थे। महाराज शिबिकी शरणागत-वत्सलताको देखकर वे दंग रह गये और महाराजकी कीर्ति चिरस्थायी हो, ऐसा आशीर्वाद देकर वे लोग स्वर्ग चले गये। (देखिये महा० वन० १३१)

इस तरह हमारे शास्त्र-पुराणोंमें बहुत-सी गाथाएँ आती हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि उस समयके जन-जीवनमें धर्मका कितना ऊँचा स्थान था। लोग धर्म-पालनके लिये प्राणोंका भी परित्याग करनेको तत्पर रहते थे, परंतु धर्मका त्याग नहीं करते थे।

इतिहास बताता है कि भारतका मुगलसम्राट् अलाउद्दीन खिलजी चित्तौरकी महारानी पद्मिनीके अनुपम सौन्दर्यपर आसक्त हो गया था तथा पद्मिनीको अपनी रानी बनानेके लिये उसने यथासम्भव सभी उपाय कर लिये, पर किसी भी तरह वह अपने उद्देश्यमें सफल न हो सका। शेषमें उसने अपनी विशाल सेनाके साथ चित्तौरगढ़पर चढ़ाई कर दी। चित्तौरके वीर एक-एक करके युद्धभूमिमें काम आने लगे। राजपूतोंका अन्तिम जत्था जब किलेसे बाहर लड़ाई करने निकला, तब भीतरकी सभी स्त्रियाँ महारानी पद्मिनीके नेतृत्वमें जौहर (अग्नि-प्रवेश)के लिये तैयार खड़ी थीं। महारानी पद्मिनीका धर्मरक्षाके लिये भीषण आगमें प्रवेश करना था कि शेष सभी महिलाएँ एक-एक करके उस धधकती हुई आगमें कूद पड़ीं। देखते-ही-देखते उनके शरीर भस्मसात् हो गये। अलाउद्दीनकी विजय हुई; परंतु किलेमें प्रवेश करनेपर उन भारतीय महिलाओंके अपूर्व बलिदानोंको देखकर उसे दाँतोंतले अँगुली दबानी पड़ी।

भारतके पुरुष तो क्या, महिलाएँ एवं बच्चे भी

धर्म पालनके लिये प्राणोंतककी आहुति देनेके लिये आगा-पीछा नहीं देखते थे।

यवनसम्राट् औरंगजेबका भीषण अत्याचार उन दिनों जोरोंपर था। हिन्दुओंको अपने धर्मका पालन करनेके लिये बड़ी-बड़ी कीमतें चुकानी पड़ती थीं। ऐसे ही समयमें गुरु गोविन्दसिंहके दो छोटे बच्चोंने अपने जीवित शरीरको दीवालमें जिंदा चुनवा देना स्वीकार कर लिया; परंतु हिंदू-धर्मको छोड़कर मुस्लिमधर्म ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया। उन्हें बड़े-बड़े प्रलोभन दिये गये, पर वे छोटे-छोटे बच्चे धर्मपर डटे रहनेके अपने निश्चयसे टस-से-मस नहीं हुए। अन्तमें उन बच्चोंको जीवित ही दीवालमें चुनवाना आरम्भ कर दिया गया। जब दीवाल छोटे भाईके गलेतक आ गयी एवं बड़े भाईकी छातीतक ही आयी तो बड़े भाईकी दोनों आँखोंसे आँसू गिरने लगे। उसे रोता देख छोटा भाई तमककर बोला—'भैया! क्या आप मरनेसे डर रहे हैं?' बड़े भाईने उत्तर दिया—'नहीं, कोई भी हिंदू-बच्चा धर्मके लिये मरनेसे नहीं डरता। किंतु तुम अवस्थामें मुझसे छोटे होकर भी धर्मके लिये मरनेमें मुझसे अग्रणी हो और मुझे भगवान्के धाममें जानेमें देर हो रही है इसी कारण मुझे रोना आ रहा है। भैया! तुम धन्य हो।'

परंतु आज हम देख रहे हैं कि उसी भारतवर्षके बहुत-से लोग लोभके वशीभूत होकर धर्म, कर्म, संस्कृति—सबका परित्याग करते जा रहे हैं। जिस देशके भक्त प्रह्लादने धर्म एवं ईश्वरकी सत्तापर दृढ़ विश्वास रखते हुए अनेक कष्ट सहे—उन्हें बड़े-बड़े पर्वतोंसे गिराया गया, गजराजोंसे कुचलवाया गया, समुद्रमें फेंका गया, भीषण आगमें झोंका गया; परंतु फिर भी वे ईश्वरभक्तिमें अडिग रहे, अन्तमें उनके पिता हिरण्यकशिपु तलवार लेकर उन्हें मारनेको उद्यत हुए तो भगवान्ने निर्जीव खम्भेमेंसे प्रकट होकर भक्तको बचाया। आज उसी देशके लोग धर्म और ईश्वरका मखौल उड़ा रहे हैं! जो कोई थोड़ा-बहुत धर्मका पालन करते हैं वे भी अधिकांशमें मान-बड़ाईके लिये करते हैं। निष्कामभावसे करनेवाले तो बहुत ही कम हैं। धर्मपालन न करनेकी अपेक्षा तो सकामभावसे धर्मका पालन करना भी अच्छा है; परंतु कर्तव्य-बुद्धिसे निष्काम भावपूर्वक जो धर्मपालन किया जाता है वही परम कल्याणकारक है।

मनुष्य-जीवन बड़े भाग्यसे मिला है। इसका समय अल्प है। अतः जबतक हाथमें समय है तभीतक हमलोगोंको चेत जाना चाहिये एवं धर्मपालनके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये। समय बीतनेपर पश्चात्ताप करना पड़ सकता है। भारी-से-भारी विपत्तिके आनेपर भी हमें अपने धर्मका किसी भी हालतमें त्याग नहीं करना चाहिये। महाभारतमें कहा गया है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गारोहण० ५। ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवन-रक्षाके लिये भी कभी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है।'

संसारके सभी सम्बन्ध माने हुए एवं अनित्य हैं, मनुष्य अकेला ही इस संसारमें आता है एवं अकेला ही वापस जाता है। स्त्री, पुत्र, बन्धु-बान्धव आदिमेंसे कोई भी उसका साथ नहीं दे सकता। बन्धु-बान्धव तो मरे हुए शरीरको काठ और मिट्टीके ढेलेके समान पृथ्वीपर छोड़कर वापस चले जाते हैं। एकमात्र धर्म ही उसके साथ जाता है। कहा गया है—

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥

(मनु० ४। २४१)

अतः मनुष्यको किसी भी कालमें अपने धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। मरण-संकट भी उपस्थित हो जाय तो भी मनुष्यको चाहिये कि वह हँसते-हँसते मृत्युका वरण कर ले, परंतु स्वधर्मका त्याग किसी भी हालतमें न करे। इसीमें उसका सब प्रकारसे कल्याण है।

लोकसंग्रहरूप आदर्श कर्मका तत्त्व-रहस्य

श्रीभगवान् और भगवत्प्राप्त पुरुषोंके कर्म अलौकिक और दिव्य होते हैं। उनके कर्मोंका रहस्य समझना चाहिये। उनके लिये न तो कोई कर्तव्य ही है और न कुछ प्राप्तव्य ही। उनकी सारी चेष्टाएँ केवल संसारके कल्याणके लिये ही होती हैं। अतः उनकी प्रत्येक क्रियामें दिव्य अलौकिकता झलकती है। उन क्रियाओंमें न तो कर्तापन ही है और न

कर्म तथा उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामना ही है। अतः उनका अनुकरण करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, इसमें तो कहना ही क्या है। उनकी क्रियाओंके रहस्यको समझनेपर ही मनुष्यके चित्तमें प्रतिक्षण प्रसन्नता और शान्ति होती रहती है। भगवान् और भगवत्प्राप्त पुरुष कर्म करते नहीं, उनके द्वारा शास्त्रविहित कर्म स्वाभाविक होते रहते हैं; इसीलिये उनकी क्रिया आदर्श मानी गयी है। वही साधकके लिये साधन है। जो परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, ऐसे महात्माओंके विषयमें भगवान् कहते हैं—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(गीता ३। १८)

'उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।'

यद्यपि संसारमें उन महापुरुषोंके लिये कोई भी कर्म न तो उपादेय है और न हेय, फिर भी संसारके हितके लिये उनकी क्रिया शास्त्रके अनुकूल ही होती है, शास्त्रके विरुद्ध तो होती ही नहीं। उनके द्वारा जो शास्त्रानुकूल क्रिया होती है, वह आसक्ति (राग)-वश नहीं, स्वाभाविक ही होती है। तथा उनके द्वारा जो शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका त्याग होता है, वह भी द्वेषबुद्धिसे नहीं, उनके द्वारा शास्त्रनिषिद्ध कर्म स्वाभाविक ही नहीं होते (गीता १८। १०)। अहंता, ममता और स्वार्थका अभाव होनेके कारण उनकी सारी क्रियाएँ परम शुद्ध, अलौकिक और अनुकरणीय होती हैं। उनके मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर पवित्र तथा अलौकिक हो जाते हैं, अतः उनके संसर्गके कारण भूमि आदि जड पदार्थ और प्राणी पवित्र हो जाते हैं। शास्त्रमें बतलाया गया है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा भाग्यवती च तेन।
विमुक्तिमार्गे सुखसिन्धुमग्नं
लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्कन्द० माहे० कौमा० ५२। १३७ का उत्तरार्ध, १३८ का पूर्वार्ध)

'जिसका चित्त मुक्तिके मार्गस्वरूप आनन्दके समुद्र परब्रह्ममें तल्लीन एवं मग्न है, उसका कुल पवित्र हो जाता है, जन्म देनेवाली माता कृतार्थ हो जाती है और यह पृथ्वी उसके कारण भाग्यवती हो जाती है।'

ऐसे महापुरुषोंके लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। भगवान्ने उत्तरगीतामें बतलाया है—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
न चास्ति किंचित् कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

(१। २३)

'जो योगी ज्ञानरूप अमृतसे तृप्त और कृतकृत्य हो चुका है, उसके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है। यदि कुछ कर्तव्य शेष है तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है।'

इसी प्रकार भगवत्प्राप्त पुरुषके लिये कोई भी प्राप्तव्य वस्तु नहीं रहती; क्योंकि प्राप्त करनेयोग्य सच्चिदानन्द परमात्माकी उन्हें प्राप्ति हो चुकी है, अतः उनकी सम्पूर्ण आवश्यकताएँ समाप्त हो चुकी हैं। वे आप्तकाम हैं। उनमें कामनाओंका अत्यन्त अभाव है। इसलिये उनका किसी भी कर्म, प्राणी या पदार्थसे किंचिन्मात्र भी प्रयोजन नहीं रहता। उनकी स्थिति परब्रह्म परमात्मामें होनेके कारण उनका अपने देहसे भी कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि वे विज्ञानानन्दघन परमात्मामें नित्यतृप्त और संतुष्ट हैं, इसलिये न तो उनके लिये कोई कर्तव्य है और न प्राप्तव्य ही। किन्तु जिसकी ऐसी स्थिति नहीं है, उस कल्याणकामी पुरुषको अहंता-ममतासे रहित होकर शास्त्रविहित कर्मोंका अनासक्तभावसे आचरण करना चाहिये। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

(गीता ३। १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

अतः अपना उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, निद्रा, आलस्य, प्रमाद और काम्यकर्मका सर्वथा परित्याग करके गीता अ० १६ श्लोक १ से ३ तकमें वर्णित उत्तम गुण और उत्तम आचरणोंके संग्रहरूप कल्याणकारिणी दैवी सम्पदाका सेवन करना चाहिये तथा मन, वाणी और शरीरके द्वारा होनेवाली किसी भी क्रियामें ममता और आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। सदा अनासक्त-भावसे वर्णाश्रमके अनुसार कर्तव्यकर्मका पालन करनेवाले पुरुषको अनायास ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है और जो परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, उनके द्वारा स्वाभाविक ही लोकसंग्रहके लिये कर्म होते रहते हैं। वर्णाश्रमके अनुसार शास्त्रविहित सामान्य और विशेष कर्मोंका त्याग शास्त्रमें किसी भी हालतमें नहीं बतलाया गया है, वरं साधकके लिये उसको सावधानीपूर्वक करनेका शास्त्रमें विधान है एवं सिद्धके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, फिर भी उसके द्वारा सावधानीपूर्वक लोकहितके वैध कर्म होते

रहते हैं, जैसे राजा जनक, अश्वपति आदि अनेक महापुरुषोंके द्वारा कर्म हुए थे। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥

(३। २०)

'जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे। इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेके ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है।'

राजा जनक बहुत उच्चकोटिके ज्ञानी महात्मा पुरुष थे। मुनिश्रेष्ठ श्रीवेदव्यासजीके पुत्र श्रीशुकदेवजीने भी उनके पास जाकर उनसे शिक्षा ग्रहण की थी। महाभारतके शान्तिपर्वमें बतलाया गया है कि एक बार श्रीशुकदेवजीने अपने पिता श्रीवेदव्यासजीसे मोक्षधर्मके विषयमें प्रश्न किया। श्रीवेद-व्यासजीने उनको इसे जाननेके लिये जनकके पास जानेको कहा। तब वे मिथिला गये। नगरद्वारके पास पहुँचकर वे निःशंकभावसे ज्यों ही उसमें प्रवेश करने लगे, त्यों ही द्वारपालोंने उन्हें डाँटकर भीतर जानेसे रोक दिया। श्रीशुकदेवजी वहीं खड़े हो गये। उनके मनमें किसी प्रकारका क्षोभ नहीं हुआ। उस समय एक द्वारपालको अपने व्यवहारपर पश्चात्ताप हुआ। उसने मुनिको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उन्हें राजभवनकी दूसरी ड्योढ़ीमें पहुँचा दिया। वहाँ वे एक जगह बैठकर मोक्षतत्त्वका ही चिन्तन करने लगे। धूप और छाया दोनोंमें उनकी समान दृष्टि थी। फिर राजमन्त्रीने उनको तीसरी ड्योढ़ीमें ले जाकर प्रमदावनमें पहुँचा दिया। तब उनके पास पचास स्त्रियाँ जो वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत, परम सुन्दरी और नवयुवती थीं, आयीं और उन्होंने श्रीशुकदेवजीका पूजन किया तथा उन्हें स्वादिष्ट अन्नका भोजन कराया। तत्पश्चात् वे उनको प्रमदावनकी सैर कराने लगीं। उस समय वे हँसती, गाती और नाना प्रकारकी सुन्दर क्रीडाएँ करती थीं। मनके भावको जाननेवाली वे सुन्दरियाँ श्रीशुकदेवजीकी सब प्रकारसे सेवा करने लगीं; किंतु श्रीशुकदेवजीका अन्तःकरण पूर्णतया शुद्ध था। वे इन्द्रियोंपर और क्रोधपर विजय पा चुके थे। उन्हें न हर्ष होता था न क्षोभ ही। वे संशयरहित थे और सदा कर्तव्यपालनमें तत्पर रहते थे। उन्होंने सायंकालके समय हाथ-पैर धोकर संध्योपासना की। उसके बाद पवित्र आसनपर बैठकर वे मोक्षतत्त्वका ही विचार करने लगे। रात्रिके पहले पहरमें वे ध्यानस्थ ही बैठे रहे। रात्रिके दूसरे-तीसरे पहरमें उन्होंने यथोचित निद्रा ली, जब दो घड़ी रात शेष रही तभी वे उठ गये और शौच-स्नानके अनन्तर परमात्माके ध्यानमें ही निमग्न हो गये। उस समय भी वे सुन्दरी स्त्रियाँ उन्हें घेरकर बैठी थीं।

तदनन्तर मन्त्रियोंसहित राजा जनक श्रीशुकदेवजीके पास आये। उनको उस अवस्थामें देखकर उन्होंने उनका विधि-पूर्वक पूजन किया। श्रीशुकदेवजीने राजासे कुशल-समाचार पूछा। फिर राजाके द्वारा उनके आगमनका कारण पूछे जानेपर उन्होंने मोक्षके विषयमें प्रश्न किये। उनका राजाने यथोचित उत्तर देकर अन्तमें यही कहा—'ब्रह्मन्! आपको विवेक प्राप्त हो चुका है, आपकी बुद्धि भी स्थिर है और आपमें विषय-लोलुपताका सर्वथा अभाव है; परंतु विशुद्ध दृढ़ निश्चयके बिना कोई परमात्मभावको प्राप्त नहीं होता। आप सुख-दुःखमें कोई अन्तर नहीं समझते। आपके मनमें लोभ नहीं है, नृत्य और गीतमें आपकी उत्कण्ठा नहीं है। किसी भी विषयके प्रति आपके मनमें राग उत्पन्न नहीं होता। आपके लिये मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्ण एक-से हैं, अतः मैं तथा दूसरे बुद्धिमान् पुरुष भी आपको उस अक्षय एवं अनामय परम मार्ग मोक्षमें स्थित मानते हैं। जो मोक्षका स्वरूप है, उसीमें आपकी स्थिति है। अब आप और क्या पूछना चाहते हैं?'

राजा जनकका कथन सुनकर विशुद्ध अन्तःकरणवाले श्रीशुकदेवजी एक दृढ़ निश्चयपर पहुँच गये और बुद्धिके द्वारा आत्मामें स्थित होकर स्वयं अपने आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करके परम शान्ति और परम आनन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो कृतार्थ हो गये एवं वहाँसे लौट आये (देखिये महा० शान्ति० अ० ३२५ से ३२७ तक)।

इस आख्यानमें ज्ञानी महात्मा जनकका स्वागत-सत्कार करना, प्रश्नोंके उत्तर देना आदि शास्त्रविहित कर्तव्यपालनरूप कर्ममें सावधानी एवं परम विरक्त श्रीशुकदेवजीकी शौच-स्नान, संध्योपासनादि कर्मोंमें तत्परता हमें लोकसंग्रहार्थ कर्मका लक्ष्य कराती है।

इसी प्रकार राजा अश्वपतिके पास बड़े भारी कुटुम्बी और परम श्रोत्रिय प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिल और उद्दालक—ये छः ऋषि ज्ञान प्राप्त करनेके लिये गये थे। राजाने उनका बहुत सत्कार किया और कहा—'मेरे राज्यमें न तो कोई चोर है, न कोई कृपण है, न कोई मद्य पीनेवाला है, न कोई परस्त्रीगामी है; फिर कुलटा स्त्री तो होगी ही कैसे?* किंतु सभी अग्निहोत्री और विद्वान् हैं। मैं यज्ञ करनेवाला हूँ। मैं उसमें प्रत्येक ऋत्विग्‌को जितना धन दूँगा, उतना ही आपको भी दूँगा। आप यहाँ ठहरिये।' इसपर उन्होंने कहा—'हम तो वैश्वानर

* न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥ (छान्दोग्य० अ० ५ खं ११ मं ५)

परमात्माके तत्त्वको जाननेके लिये आये हैं।' यह सुनकर राजाने सबको पृथक्-पृथक् ज्ञानका उपदेश दिया। वे सब ज्ञान प्राप्तकर अपने-अपने स्थानको लौट गये।

इन महापुरुषोंकी क्रियाएँ लोकसंग्रहके लिये ही थीं। गीतामें भी अर्जुनके प्रति भगवान् लोकसंग्रहको ही लक्ष्य करके कहते हैं। ऐसे लोकसंग्रहार्थ कर्म ज्ञानी पुरुषके द्वारा तो स्वाभाविक होते ही हैं, साधक भी उनको आदर्श मानकर उनका अनुकरण कर सकता है। लोकसंग्रह शब्दका अर्थ है लोगोंको इकट्ठा करना। भाव यह है कि संसारमें लोग जो नाना प्रकारके मत-मतान्तरोंको मानकर परमात्मासे विमुख और छिन्न-भिन्न हो रहे हैं, उन सबको सच्चिदानन्दघन परमात्मामें लगाना, लोगोंके कल्याणके उद्देश्यसे उनको कुमार्गसे हटाकर सन्मार्गमें लगाना और शास्त्रविहित कर्मोंको अनासक्तभावसे स्वयं करते हुए उनसे आदर्श कर्म करवाना, यही लोकसंग्रह है; क्योंकि जिस मार्गसे महापुरुष चलते हैं, वही मार्ग असल मार्ग है। महाभारतमें यक्षके प्रश्नका उत्तर देते हुए महाराज युधिष्ठिरने कहा है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(महा० वन० ३१३। ११७)

'तर्ककी कहीं प्रतिष्ठा नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं और कोई एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण मान लिया जाय। धर्मका तत्त्व गुफामें छिपा हुआ—अत्यन्त गूढ़ है, अतः जिस मार्गसे महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग वास्तविक मार्ग है।'

इसीलिये अपना उद्धार चाहनेवाले मनुष्य महापुरुषोंका अनुकरण करते हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो भी आचरण करता है, अन्य मनुष्य-समुदाय भी वैसा-वैसा ही आचरण करता है। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

लाखों मनुष्योंमें कोई एक ही महापुरुष होता है (गीता ७। ३)। उन ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके कर्मोंमें स्वार्थ, आसक्ति, ममता और अभिमानका अभाव होनेके कारण उनके कर्म पवित्र और अलौकिक होते हैं, जिससे दूसरे पुरुषोंपर उनका प्रभाव पड़ता है। पद-पदपर उन कर्मोंकी विलक्षणता देखकर लोग आकर्षित होते हैं एवं उनका अनुकरण करके अपने परम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये साधनमें तत्पर हो जाते हैं। उन महापुरुषोंके कर्मोंमें कहीं दिखाऊपन नहीं होता। उनके वचन भी सत्य, प्रिय, हितकर और प्रामाणिक होते हैं। अतः उनके वचनोंकी कोई अवहेलना नहीं करता। उन महात्मा पुरुषोंके मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, आचरण, वाणी सभी पवित्र और विलक्षण होते हैं; इसलिये उनके दर्शन, आज्ञापालन, सेवा, नमस्कार और वार्तालाप करनेसे मनुष्य ज्ञानको प्राप्त करके मुक्त हो जाता है (गीता ४। ३४-३५)। ज्ञानी महात्माके कर्म अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और देश-कालके अनुसार होते हैं; किंतु वे सभी वर्ण और आश्रमके मनुष्योंके कर्तव्यकर्मोंको स्वयं करके नहीं दिखला सकते हैं। अतः वे कल्याणकामी साधकोंको उनके वर्ण, आश्रम, स्वभाव और देश-कालके अनुसार उनके कर्तव्यकर्मोंको वाणीद्वारा ही बतलाया करते हैं, इसलिये उनकी आज्ञाका पालन करनेसे मनुष्य संसार-सागरसे पार हो जाता है (गीता १३। २५)।

ज्ञानी पुरुषके द्वारा शास्त्रविहित कर्मोंकी अवहेलना या त्याग नहीं होता, फिर शास्त्रविपरीत कर्म तो उनके द्वारा हो ही कैसे सकते हैं? क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो लोग भ्रष्टाचारी होकर नष्ट हो सकते हैं; किंतु महापुरुषोंकी क्रिया श्रद्धा-विश्वासपूर्वक होती हुई देखकर कोई भी मनुष्य पथभ्रष्ट नहीं हो सकता, बल्कि लोग उनके शुभ आचरणोंको देखकर उनके अनुसार सावधानीके साथ निःस्वार्थभावसे कर्म करनेमें तत्पर हो जाते हैं।

अबतक भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके कर्मोंकी पवित्रता, दिव्यता और अलौकिकता एवं उनके लिये कर्तव्य तथा प्राप्तव्यका अभाव बतलाया गया। अब भगवान्के विषयमें बतलाया जाता है। भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

(३। २२)

'अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है तो भी मैं शास्त्रविहित कर्ममें ही बरतता हूँ।'

भगवान्के तीनों लोकोंके रचयिता, व्यापक और संरक्षक होनेपर भी उनमें कर्तव्यका अभाव है (गीता ४। १३)। जब मुक्त पुरुषके लिये ही कोई कर्तव्य नहीं है—'**तस्य कार्यं न विद्यते**' (गीता ३। १७) तब भगवान्

तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप और सबके कर्तव्यका विधान करनेवाले हैं। उनके लिये तो कोई कर्तव्य हो ही कैसे सकता है। मुक्त पुरुष तो इस मर्त्यलोकमें ही निवास करता है, इसलिये यहाँ उसका कोई कर्तव्य नहीं है; किंतु भगवान् तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं। वे समस्त लोकोंमें समभावसे सदा निवास करते हैं, इसलिये भगवान्ने यह बात कही कि मेरा तीनों लोकोंमें कहीं किंचिन्मात्र भी कर्तव्य नहीं है। इसी प्रकार प्राप्तव्यके विषयमें समझ लेना चाहिये। मुमुक्षु पुरुषको तो जीवन्मुक्त पद प्राप्त करना है, किंतु जीवन्मुक्तको तो कुछ भी नहीं प्राप्त करना है; क्योंकि वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको नित्य प्राप्त है तथा भगवान् तो सदा ही आप्तकाम और नित्यमुक्त हैं, सब कुछ उन्हें प्राप्त ही है; सब कुछ उनका ही है। जब उनके लिये कोई अप्राप्त वस्तु ही नहीं, तब फिर उनको कुछ भी प्राप्त करना है ही नहीं।

इस प्रकार भगवान्के लिये कर्तव्य और प्राप्तव्यका अत्यन्त अभाव है, फिर भी वे हेतुरहित परम दयालु और परम प्रेमी होनेके कारण सबके कल्याणके उद्देश्यसे उनको उन्मार्गसे बचाने और सन्मार्गमें लगानेके लिये शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करके उनके सामने आदर्श रखते हैं। भगवान्की प्रत्येक क्रियामें अहंता, ममता, आसक्ति और स्वार्थका अत्यन्त अभाव है, इसलिये उनके कर्म संसारका कल्याण करनेवाले, परम शुद्ध, दिव्य, अलौकिक और लीलामय हैं। अतः भगवान्के कर्मोंका अनुकरण करनेसे और उनकी आज्ञाका पालन करनेसे कल्याण हो जाता है, इसमें तो कहना ही क्या है। श्रद्धा और प्रेमसे उनके चरित्रोंको देख-देखकर ही मनुष्य परम पवित्र हो परमपदका अधिकारी बन जाता है। इसलिये साधक और सिद्ध सभी मनुष्योंको लोकहितके लिये लोकसंग्रहार्थ कर्मोंका निःस्वार्थभावसे आचरण करना चाहिये। जब कर्तव्य और प्राप्तव्यका अभाव होनेपर भी स्वयं भगवान् ही कर्म करते हैं तो दूसरोंकी तो बात ही क्या है? भगवान् हमलोगोंमें श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये कर्म करके शास्त्रोंको आदर देते हुए उनको प्रमाणित करते हैं। उनके कर्मोंमें अत्यन्त विलक्षणता, अलौकिकता और माधुर्य भरा रहता है, इस कारण भगवान्के चरित्रको देखकर लोग आकर्षित हो जाते हैं और बड़े उत्साहसे कर्म करने लग जाते हैं। इससे धर्मकी स्थापना होती है जो भगवान्के अवतार लेनेका एक प्रधान कारण है। यदि मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् मर्यादाकी स्थापना करके स्वयं उस मर्यादामें न चलें तो बड़ी हानि होती है, इससे सृष्टिचक्रमें बड़ी भारी गड़बड़ी मच सकती है। भगवान् कहते हैं—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः

(गीता ३। २३)

'पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बर्तूं तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं।'

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णको बहुत-से मनुष्य तो साक्षात् भगवान् ही मानते थे और बहुत-से उनको उच्चकोटिके महापुरुष मानते थे। अतएव भगवान्के द्वारा कर्मोंका सुचारुरूपसे किया जाना संसारके लिये सभी प्रकारसे कल्याणकारक था। यदि भगवान् सावधान हुए सुचारुरूपसे कर्मोंका आचरण नहीं करते तो लोग कर्मोंको व्यर्थ समझकर कल्याणकारी कर्मोंकी अवहेलना कर देते; क्योंकि भगवान् या कोई महापुरुष जैसा आचरण करते हैं, उनके देखा-देखी लोग भी वैसा ही करने लग जाते हैं। यदि किसी ज्ञानी पुरुषके द्वारा ज्ञानकी छठी, सातवीं भूमिकामें बाह्यज्ञानशून्य-से हो जानेके कारण सुचारुरूपसे कर्म नहीं होते या कोई संशयात्मा, अश्रद्धालु मनुष्य कर्मोंकी अवहेलना कर देता है अथवा कोई मूर्च्छा, तन्द्रा, हिस्टीरिया आदि आधि-व्याधिसे ग्रस्त मनुष्य कर्मोंकी अवहेलना कर देता है तो कोई भी मनुष्य उन सब कर्मोंका अनुकरण नहीं करता, इससे लोकमें कोई हानि नहीं होती, किंतु भगवान् तो इन दोषोंसे सदा ही सर्वथा रहित हैं और संसारको धर्मकी शिक्षा देनेके लिये ही उनका प्राकट्य होता है, अतएव भगवान्का यह कथन है कि मैं सावधान हुआ शास्त्रविहित कल्याणकारक कर्तव्य-कर्मका समीचीन-रूपसे पालन न करूँ तो उस अवस्थामें, मुझको भगवान् या श्रेष्ठ और आदर्श पुरुष माननेवाले मनुष्य कर्मोंको व्यर्थ समझकर त्याग देंगे, जिससे वे उन शास्त्रोक्त कल्याणमय कर्मोंके लाभसे वञ्चित रहकर नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगे। भगवान् कहते हैं—

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

(गीता ३। २४)

'इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।'

अभिप्राय यह है कि भगवान्के द्वारा यदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कर दिया जाता है तो लोग कल्याणकारक कर्मोंको तो व्यर्थ समझकर त्याग बैठेंगे; किंतु कोई भी मनुष्य कभी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। ऐसी अवस्थामें वे राग-द्वेष और स्वार्थपरायण मनुष्य स्वभावके

वशीभूत हुए स्वार्थसिद्धिके लिये अनाचार-अत्याचार आदि पापमय तामसी कर्म करते हुए व्यर्थ प्रमादमें ही लग जायँगे। वे मनमाना आचरण करके भ्रष्टाचारमें प्रवृत्त हो जायँगे। ऐसा होनेपर वर्ण, आश्रम, जाति और समाजके विभिन्न धर्मोंमें संकरता यानी मिश्रण हो जाता है, मनुष्यत्वका नाश होकर लोग नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं और सभी लोग स्वार्थपरायण हो एक-दूसरेका विनाश करनेमें तत्पर और महान् पापाचार करनेमें लग जाते हैं, जिसके फलस्वरूप लोकविनाशक भयंकर महामारी, अनावृष्टि, जलप्रलय, अकाल, भूकम्प आदि होकर लोगोंका विनाश होने लगता है। ये सब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होनेपर ही होते हैं। अतएव भगवान् इस अव्यवस्थाको रोकनेके लिये ही अवतार लेते हैं और वास्तविक धर्मकी स्थापना करनेके लिये उत्तम-से-उत्तम आदर्श आचरण करके लोगोंको शिक्षा देते हैं।

ऊपर तीन श्लोकोंमें अपना उदाहरण देनेके बाद भगवान् जिन ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है, उनको भी अनासक्तभावसे कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

(गीता ३। २५)

'अर्जुन! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।'

यहाँ ज्ञानीको अज्ञानीके कर्मोंका अनासक्तभावसे अनुकरण करनेकी बात कही गयी है। इसपर प्रश्न होता है कि वह अज्ञानी मनुष्य सात्त्विक है या राजसी या तामसी? इसका उत्तर यह है कि वह सात्त्विक तो इसलिये नहीं है कि सात्त्विक कर्तामें तो आसक्तिका अभाव होता है; किंतु यहाँ कर्मोंमें आसक्त पुरुषोंका वर्णन है; अतः वह सात्त्विक नहीं तथा आसुरी प्रवृत्तिके तामसी अज्ञानी मनुष्योंकी क्रिया नरकमें ले जानेवाली होती है, इसलिये उनका अनुकरण विधेय नहीं होनेसे यहाँ तामसी अज्ञानीकी बात भी नहीं है। अतः यहाँ तो उस सकामी राजसी पुरुषका कथन है जो शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये कर्म और उनके फलमें आसक्त श्रद्धालु पुरुष है; क्योंकि कर्मोंके फलमें श्रद्धा-विश्वास होनेके कारण वह जिस प्रकार सुचारुरूपसे शास्त्रविहित सकामकर्मका अनुष्ठान करता है, दूसरा वैसा नहीं कर सकता; क्योंकि वह समझता है कि शास्त्रीय विधिमें और श्रद्धामें कमी होनेपर फल नहीं मिलेगा। ऐसे राजसी अविवेकी मनुष्यके द्वारा विधिपूर्वक होनेवाली क्रियाका अनुकरण करनेके लिये ही ज्ञानीको प्रेरणा की गयी है। इनमें प्रधान अन्तर यह है कि अज्ञानी तो कर्म करता है कर्म और उसके फलमें आसक्त होकर; किंतु ज्ञानवान्‌की जो क्रिया होती है उसमें कर्म और कर्मफलकी आसक्तिका अत्यन्त अभाव है। अतः कल्याणकामी मनुष्यको उचित है कि ज्ञानी जो लोकसंग्रहके लिये अनासक्तभावसे कर्म करता है, उसके तो अनासक्तभावयुक्त शास्त्रोक्त कर्मका अनुकरण करे तथा इस लोक और परलोकके भोगोंकी इच्छावाले सकामी विषयासक्त श्रद्धालु मनुष्यके केवल शास्त्रविहित कर्मका ही अनुकरण करे; किंतु सकामीके भीतर जो भोगों और कर्मोंमें आसक्ति, ममता तथा कामना है, उसका अनुकरण न करे। भाव यह है कि ज्ञानी महात्मा पुरुषोंको भी लोकसंग्रहकी इच्छासे अनासक्तभावसे सकामी पुरुषकी क्रियाकी भाँति शास्त्रविहित वर्ण-आश्रमके कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये।

यहाँ ज्ञानीके लिये लोकसंग्रहकी इच्छा औपचारिक है। लोकमें प्रसिद्ध है कि जब कोई भी घटना होती है तो उसके लिये लोग कहते हैं—'भगवान्‌की जैसी इच्छा', किंतु वस्तुतः भगवान्‌में तो कोई इच्छा होती ही नहीं—यह तो केवल कथनमात्र है, समझानेके लिये ही उनमें इच्छाका आरोप किया जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी महात्मा पुरुषमें भगवान्‌की भाँति इच्छा होती ही नहीं, केवल समझानेके लिये ही उनमें इच्छाका आरोप करके कहा जाता है। जैसे कहा जाता है कि नदीका तट गिरना चाहता है, किंतु नदीके तटमें कोई इच्छा है ही नहीं, केवल समझानेके लिये ही उसमें इच्छाका आरोप किया गया है। इसी तरह ज्ञानी महात्माके विषयमें समझना चाहिये; क्योंकि ज्ञानी महात्मा पुरुष कर्म न करे तो दूसरे सांसारिक विषयासक्त तथा साधक भ्रममें पड़कर कल्याणकारी शुभकर्मोंको भी व्यर्थ समझकर छोड़ सकते हैं और उनके लाभसे वञ्चित रह सकते हैं। इसलिये लोगोंको उन्मार्गसे बचाकर कल्याणमार्गमें लगानेके उद्देश्यसे अनासक्तभावपूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंको स्वयं करने और दूसरोंसे करानेके लिये भगवान्‌ने प्रेरणा की है (गीता ३। २६)।

अतएव लोककल्याणके लिये शास्त्रविहित कर्मोंको करनेसे परम लाभ है और न करनेसे महान् हानि है तथा जिनको न तो कुछ कर्तव्य है और न प्राप्तव्य ही है, ऐसे ज्ञानी महात्मा पुरुष और साक्षात् भगवान्‌के द्वारा होनेवाले कर्म परम दिव्य और अलौकिक तथा पवित्र

हैं। इस प्रकार उनका तत्त्व-रहस्य समझकर हमें उनको आदर्श मानकर श्रद्धा-विश्वास और प्रेमपूर्वक, उत्साह और तत्परताके साथ निष्कामभावसे लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

वर्तमान दोषोंके निवारणकी आवश्यकता

दोषोंके निवारणके लिये लिखनेका मेरा अधिकार और सामर्थ्य नहीं है; क्योंकि इस विषयमें वही पुरुष लिख सकता है जो सर्वथा निर्दोष एवं प्रभावशाली हो एवं उसीका असर पड़ता है। मैं तो एक साधारण आदमी हूँ, किंतु सबके सुझावके लिये लिखा जाता है।

वर्तमान समयमें हमलोगोंमें बहुत-से दोष आ गये हैं और बढ़ते ही जा रहे हैं। उनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करके उनके निवारणके लिये प्रयत्न करना विशेष आवश्यक है। बहुत-से मनुष्य तो अर्थलोलुप होकर संसारके पतनोन्मुख प्रवाहमें ही बह रहे हैं, कितने ही मनुष्य पदके अभिमान और मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लोभसे मोहित हुए पतनकी ओर जा रहे हैं। बहुत-से मनुष्योंको श्रद्धाकी कमीके कारण ईश्वर, धर्म, सत्संग और शास्त्रकी बातें अच्छी ही नहीं लगतीं और कोई-कोई तो इन सबको व्यर्थ समझकर उपेक्षा कर देते हैं। व्यक्तिगत स्वार्थको त्यागकर अपना और संसारका हित और परमार्थसाधनकी ओर दृष्टि बहुत ही कम लोगोंकी है, यह बहुत ही विचारणीय विषय है।

आय-कर, बिक्री-कर, मृत्यु-कर, सम्पत्ति-कर, दान-कर, विवाह-कर, व्यय-कर आदि करोंकी भरमारके कारण लोगोंकी नीयत बुरी होकर उनमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, धोखेबाजी, घूसखोरी आदि जोरोंसे बढ़ रही है। इन सब दोषोंके दूर होनेका कोई सरल उपाय समझमें नहीं आया। किसी व्यापारीसे न्याययुक्त व्यवसाय करनेके लिये कहा जाता है तो उसका यही उत्तर मिलता है कि 'इस युगमें न्याययुक्त व्यवसाय चल ही नहीं सकता, लाख रुपयोंसे अधिक वार्षिक आमदनी होनेपर सरकार ही अनेक प्रकारके करोंद्वारा अधिकांश रुपये ले लेती है। अतः इस जमानेमें न्यायपूर्वक व्यवसाय करके तो कोई लखपति-करोड़पति हो ही नहीं सकता।' किंतु मनुष्यको इस प्रकार कभी निराश नहीं होना चाहिये। लखपति-करोड़पति बननेकी लालसा और लोभका त्याग करनेपर न्याययुक्त व्यवसाय हो सकता है।

बहुत-से लोग चोरबाजारी करके प्रतिवर्ष लाखों रुपये एकत्र करते और सरकारसे छिपाकर गुप्तरूपसे रखते हैं। वे उनकी रक्षा भी बड़ी कठिनाईसे कर पाते हैं। किसीको न्याययुक्त सरकारी कर देनेके लिये कहा जाता है तो यह उत्तर मिलता है कि 'नाना प्रकारके झूठ-कपट, बेईमानी और इतना परिश्रम करके रुपये हम सरकारके लिये थोड़े ही उपार्जन करते हैं। सरकारका यदि मामूली कर होता तो वह उचित दिया भी जा सकता था, किंतु सरकारने इतने अधिक कर लगा दिये हैं कि यदि सरकारको सच्चाईसे न्यायपूर्वक सारी आमदनी बता दी जाय तो अधिकांश धन सरकार ही ले लेगी।' कोई स्वार्थ-त्यागकी बात कहता है तो लोग उसकी हँसी उड़ाते हैं। यह अन्यायसे उपार्जित धन परोपकारमें विशेष खर्च नहीं होता; क्योंकि पापके द्रव्यसे प्रायः पाप ही होता है। यदि उस द्रव्यको परमार्थमें या परोपकारमें दिल खोलकर लगा दें तो उस पापका कुछ तो प्रायश्चित्त हो, किंतु उस काममें न लगाकर उस द्रव्यको ऐश-आराम-शौकीनीमें और विवाह-शादीमें ही खर्च करते हैं; जिससे उनका यह लोक भी बिगड़ता है और परलोक भी।

यदि किसीसे यह कहा जाय कि 'धन और जीवन तो जितना भाग्यमें लिखा है, उतना ही मिलेगा, जरा भी ज्यादा-कम नहीं हो सकता; अतः ईश्वर और अपने भाग्यपर विश्वास रखकर झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी न करके न्याययुक्त व्यवहार करना चाहिये। यदि मान लें कि झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी करनेसे धन और जीवन अधिक मिलता है तो भी वह किस कामका? क्योंकि सच्चाईसे उपार्जित थोड़ा भी धन अमृतके समान है। उससे खानेके लिये रूखा-सूखा भी मिले तो वह भी अमृत है और अन्यायसे उपार्जित धनसे प्राप्त मेवा-मिष्टान्न भी विषके समान है। न्यायसे प्राप्त साधारण झोपड़ी भी अच्छी और अन्यायसे प्राप्त महल भी किस कामका? वह भी विषके तुल्य ही है। न्यायपूर्वक थोड़ा भी जीवन उत्तम है और अन्यायपूर्वक बहुत लम्बा जीवन भी किस कामका?' तो यह सुनकर वे निरुत्तर तो हो जाते हैं किंतु करते हैं वही जो सदा करते आये हैं। यह नहीं समझते कि मनुष्य-जीवन बहुत ही थोड़ा है और वह बड़े ही भाग्यसे ईश्वरकी दयासे मिला है। अतः जिससे अपना शीघ्र उद्धार हो, उसी कार्यमें अपना जीवन बिताना चाहिये। इस बातको न सोचना-समझना बहुत ही दुःख, लज्जा और आश्चर्यकी बात है।

विशिष्ट पदोंके लोभमें आकर बड़े-बड़े लखपति-करोड़पति व्यक्ति भी मोहके कारण अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट हो जाते हैं। किन्हींको सरकारी उच्च पद प्राप्त हो जाता है तो वे उस पदके लोभ और अभिमानमें आकर मोहके कारण अपने धर्म, कर्म, न्याय, अन्याय, भूख, प्यास, सुख, दुःखकी कुछ भी परवा न करके उसीके पीछे अपने वास्तविक मानव-कर्तव्यको भूल जाते हैं।

बहुत-से मनुष्य मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा पानेपर यह नहीं समझते कि यह मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा नाशवान् और क्षणिक है, यह आरम्भमें तो अमृतके समान प्रतीत होती है पर इसका परिणाम विषके समान है। इसीसे वे मोहके कारण अपने वास्तविक कर्तव्यको भूल जाते हैं। इस कारण उनमें दिखाऊपन आ जाता है, जिससे दम्भ-पाखण्ड बढ़ जाते हैं एवं वे न करनेयोग्य दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन करने लगते हैं और करनेयोग्य सद्गुण, सदाचार, भक्ति, ज्ञान, वैराग्यसे वञ्चित रह जाते हैं। इसके फलस्वरूप उनकी इहलोक और परलोकमें दुर्गति होती है।

बहुत-से मनुष्य नाटक, सिनेमा, क्लब, चौपड़, ताश, शतरंज, खेल-तमाशे आदि प्रमादमें समयको व्यर्थ बिताकर अपने जीवनको बर्बाद करते हैं। वे यह नहीं समझते कि लाखों रुपये खर्च करनेपर भी मनुष्य-जीवनके एक क्षणका समय भी नहीं मिल सकता। मनुष्य-जीवनका समय अमूल्य है, उसको निःस्वार्थभावसे भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, परोपकार (लोकहित) में लगानेपर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

इस समय दहेजकी प्रथा भी दिन-पर-दिन उग्र रूप धारण कर रही है। यद्यपि इसको रोकनेके लिये जनता तथा सरकारकी ओरसे प्रयत्न भी जारी है; किंतु कोई सफलता नहीं मिल रही है। जहाँ पहले चौदह वर्षकी अवस्थाके और रजस्वला होनेके पूर्व ही कन्याका विवाह हो जाया करता था, वहाँ वर्तमान समयमें सोलह-सत्रह वर्षकी रजस्वला लड़कियाँ भी हजारोंकी संख्यामें अविवाहिता ही हैं। इसमें जो बहुत-से लोग वरपक्षवालोंको उनकी इच्छाके अनुसार दहेजसे संतुष्ट नहीं कर सकते, यह भी एक प्रधान कारण है। कोई-कोई लड़की तो धनके अभावके कारण माता-पिताके कष्टको देखकर आत्महत्या कर लेती है और किसी लड़कीके माता अथवा पिता धनके अभावमें विवाह न कर सकनेके कारण लड़कीको बड़ी देखकर दुःखी हो आत्महत्या कर लेते हैं। विचारकर देखें तो इन हत्याओंका पाप अनुचित दहेज लेनेवालोंको लगता है। प्रायः सभी प्रान्तों और जातियोंमें यह प्रथा व्यापक है। सभी लोगोंको इसको दूर करनेके लिये लेख, व्याख्यान, पत्र, सभा आदि उपायोंद्वारा जोरदार प्रयत्न करना चाहिये। जो कोई व्यक्ति अपने कथनको स्वयं आचरणमें लाकर दिखाता है, वह जनताका बड़ा भारी उपकार करता है; क्योंकि उसके आदर्शको देखकर दूसरोंपर भी असर पड़ता है। जो केवल कहता ही है, स्वयं आचरण नहीं करता, उसका कोई विशेष असर नहीं होता। आजकल कहने-लिखनेवाले तो बहुत हैं, पर स्वयं आचरण करनेवाला कोई विरला ही है।

आचार-विचार भी दिन-पर-दिन नष्ट-भ्रष्ट होता जा रहा है। खान-पान-विषयक शौचाचार तो होटलों और बाजारू दूकानोंके कारण प्रायः नष्ट हो गया है। बहुत-से होटलोंमें मछली, मांस, अंडा, मदिरा आदि घृणित पदार्थ भी शामिल रहते हैं, जो सर्वथा अपवित्र, शास्त्र-निषिद्ध और हिंसापूर्ण होनेके कारण स्वास्थ्य और धर्मके लिये महान् हानिकारक हैं; अतः सर्वथा त्याज्य हैं।

स्कूल-कालेज आदि शिक्षा-संस्थाओंमें धार्मिक शिक्षा न होनेके कारण बालकोंमें चञ्चलता और उच्छृङ्खलता भी बहुत बढ़ रही है। प्राचीन कालमें छात्रगण अपने आचार्य ऋषि-मुनियोंका बहुत अधिक आदर-सत्कार, सेवा-पूजा किया करते थे; किंतु इस समय विद्यार्थीगण अपने शिक्षकोंका उस प्रकारका आदर-सत्कार-सम्मान नहीं करते; बल्कि कहीं-कहीं तो विद्यार्थी शिक्षकोंका अपमान भी कर बैठते हैं। यह बहुत ही अनुचित है। विद्यार्थियोंको अपनेको शिक्षा देनेवाले अध्यापकोंका सदा श्रद्धापूर्वक आदर-सत्कार-सम्मान करना चाहिये।

आजकल कारखानों, कार्यालयों या दूकानोंके मालिकों और मजदूरों या कर्मचारियोंका पारस्परिक व्यवहार भी पहलेकी अपेक्षा बहुत अधिक कटु हो गया है। अधिकांश मालिक मजदूरों या कर्मचारियोंसे काम तो अधिक लेते हैं और मजदूरी या वेतन कम देते हैं, इसी प्रकार मजदूर या कर्मचारी भी काम कम करके अधिक पारिश्रमिक लेना चाहते हैं। मालिक तो कर्मचारियोंका जैसा आदर-सत्कार और प्रेम करना चाहिये, वैसा नहीं करते तथा कर्मचारी मालिकोंका नहीं करते। इसी कारण उत्तरोत्तर प्रतिद्वन्द्विता, लड़ाई-झगड़े बढ़कर देशकी बहुत हानि हो रही है। पूर्वकालमें कर्मचारी मालिकोंको पिताके समान और मालिक कर्मचारियोंको पुत्रके समान समझते थे, इससे उनमें परस्पर बड़ा ही प्रेम और सुख-शान्ति रहती थी। प्रत्यक्षमें लड़ाई-झगड़ा और गाली-गलौज तो कभी नहीं होता था। अतः सभीको

अपने-अपने कर्तव्यका निःस्वार्थभावसे पालन करते हुए इसका सुधार करना चाहिये।

इस समय गोजातिका भी बड़ा ह्रास होता जा रहा है। प्राचीन कालमें एक-एक नगरमें लाखों गौएँ रहा करती थीं। वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डके ३२वें सर्गमें कथा आती है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके पास त्रिजट नामक एक ब्राह्मण आये और उनसे धनकी याचना की। श्रीरामचन्द्रजीने उनसे कहा—'विप्रवर ! मेरे पास बहुत-सी गौएँ हैं। आप अपना डंडा जितनी दूर फेंक सकेंगे, वहाँतकको सब गौएँ आपको मिल जायँगी।' ब्राह्मणदेवने वैसा ही किया और उनको हजारों गौएँ प्राप्त हो गयीं, जिससे वे बड़े ही प्रसन्न हुए।

विचार कीजिये, जहाँ विनोदके रूपमें एक याचकको इस प्रकार हजारों गौएँ दानमें दी जाती हैं, वहाँ दाताके पास कितनी गौएँ हो सकती हैं? भागवत दशम स्कन्धके पूर्वार्द्धमें वर्णन मिलता है कि नन्द-उपनन्द आदि गोपोंके पास लाखों गौएँ रहा करती थीं। श्रीकृष्णके जन्म-महोत्सवपर ही नन्दजीने दो लाख गौओंका दान किया था (अ० ५)। राजा नृगका इतिहास प्रसिद्ध ही है कि वे हजारों गौओंका दान प्रतिदिन किया करते थे (भागवत दशम स्कन्ध उत्तरार्ध ६४)। महाभारतकालमें राजा विराटके पास लगभग लाख गौएँ थीं, जिनका हरण करनेके लिये कौरवोंकी विशाल सेनाने त्रिगर्तराज सुशर्माके साथ दो भागोंमें विभक्त होकर विराट नगरपर चढ़ाई की थी (महा० विराट० ३५)।

उस समय गौओंकी संख्या पर्याप्त होनेके कारण दूध, दही, घी, मक्खनकी भरमार रहती थी, पर आज तो औषध-सेवनमें अनुपानके लिये भी गौका शुद्ध घी प्राप्त होना कठिन हो रहा है। फिर यज्ञ और दैनिक खान-पानके लिये तो प्राप्त होना बहुत ही कठिन है। इस समय लाखों गौएँ तो किसी-किसी जिलेमें भी मिलनी कठिन हैं। यह गोजातिका ह्रास हमलोगोंकी उपेक्षाका ही परिणाम है। हमें समझना चाहिये कि गौ आध्यात्मिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक—सभी दृष्टियोंसे परम उपयोगी है। गौके दूध, दही, घी आदिसे देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य आदि सभीकी तृप्ति होती है। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी गौके दूध, दही, घी—सभी परम उपयोगी पदार्थ हैं। गौके दूध, दही, घी तथा गोबर-गोमूत्रके सेवनसे अनेक प्रकारकी बीमारियाँ दूर होती हैं। गौसे उत्पन्न हुए बैलोंसे जैसी खेती होती है, वैसी ऊँट, भैंसे आदि पशुओंसे नहीं हो सकती। गौ और बैलके गोबर-गोमूत्रसे खेतोंमें बड़ी अच्छी खाद होती है, जिसके मुकाबलेमें अन्य खाद इतनी उपयोगी नहीं है। अतः सभी दृष्टियोंसे गौ और बैल हमारे देशके लिये महान् हितकर हैं।

इसीसे प्राचीन कालमें लोगोंकी गौओंके प्रति बड़ी ही महत्त्व-बुद्धि, आदर और श्रद्धा-भक्ति थी और वे उनकी रक्षा करना अपना परम कर्तव्य मानते थे एवं उनकी रक्षाके लिये प्राणोंकी भी परवा नहीं करते थे। जिस समय राजा दिलीप नन्दिनी गौकी सेवा कर रहे थे, एक सिंह आया और गौको खानेके लिये उद्यत हो गया। तब राजाने सिंहसे कहा—'तुम इसे छोड़ दो, मुझे खा लो।' इस प्रकार वे गौकी रक्षाके लिये सिंहको अपने प्राण देनेको तैयार हो गये। इससे उनका धर्म भी बच गया और प्राण भी बच गये; क्योंकि वह सिंह नहीं था, गौ ही मायासे सिंह बनकर राजाकी परीक्षा ले रही थी (पद्मपुराण उत्तरखण्ड)।

जिस समय पाण्डव इन्द्रप्रस्थमें राज्य करते थे, उन दिनों एक दिन लुटेरे किसी ब्राह्मणकी गौएँ लेकर भाग गये। अर्जुनने जब ब्राह्मणकी करुण पुकार सुनी, तब वे भाइयोंके साथ की हुई शर्तका उल्लङ्घन करके उस कमरेमें जाकर शस्त्र ले आये, जिस कमरेमें द्रौपदीके साथ युधिष्ठिर थे और लुटेरोंका पीछा करके ब्राह्मणकी गौएँ छुड़ा लाये। इस प्रकार अर्जुन गौओंकी रक्षा करके युधिष्ठिरके रोकनेपर भी नियमभङ्गके प्रायश्चित्तरूपमें बारह वर्षके लिये वनमें चले गये (महा० आदि० २१२)।

एक बार राजा नहुष बड़े धर्मसंकटमें पड़ गये थे। उन्होंने च्यवनऋषिके बदलेमें मल्लाहोंको राज्यतक देना स्वीकार कर लिया, तब भी च्यवनऋषिने कहा कि मेरा मूल्य नहीं आया। इसपर राजाने वहाँ पधारे हुए मुनि गविजके निर्णयानुसार ब्राह्मण और गौको समान समझकर गौसे ऋषिका मूल्य आँक दिया। तब च्यवनऋषि बोले— 'अब तुमने यथार्थमें मुझको मोल ले लिया।' इस प्रकार उन्होंने गौका इतना आदर किया कि राज्यसे भी बढ़कर गौका मूल्य ऋषिके बराबर बतलाकर मछली पकड़नेवाले मल्लाहोंको ऋषिके मूल्यमें एक गौ दे दी (महा० अनुशासन० ५१)।

महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे भीमसेनने त्रिगर्तराज सुशर्माके द्वारा बलपूर्वक हरण की हुई गौओंको सुशर्मासे युद्ध करके लौटाया था। इस प्रकार प्रकटमें युद्ध करनेसे पहचाने जानेपर पाण्डवोंको पुनः बारह वर्ष वनवास भोगना पड़ता; पर उसकी भी परवा न करके गौओंकी रक्षा करना अपना परम कर्तव्य समझकर उन्होंने उसके लिये राजा सुशर्माके साथ महान् युद्ध किया (महा० विराट० ३३)।

अतएव हमलोगोंको सभी प्रकारसे गौओंकी भलीभाँति रक्षा करनेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये। गौओंकी रक्षाके लिये गोचरभूमि छोड़नी चाहिये। हरेक भाईको यथाशक्ति अपने घरमें गौ रखकर उसका पालन करना चाहिये। इस समय तो गौओंका ह्रास बहुत अधिक मात्रामें हो गया और हो रहा है। जगह-जगह कसाईखाने खुल गये और खुल रहे हैं। सरकारकी ओरसे १४ वर्षकी गौका वध करनेपर प्रतिबन्ध होनेपर भी कानूनके विरुद्ध छोटे-छोटे बछड़े, बछड़ी और गौओंकी हिंसा हो रही है।

इसलिये सभी मनुष्योंको गोरक्षाके लिये तेजीसे जीतोड़ प्रयत्न करना चाहिये, जिससे गोवध कतई बंद हो और गोधनकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो, इसमें सभीका सब प्रकारसे हित है।

इसलिये कल्याणकामी मनुष्योंको मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, पदाभिमान, ऐश-आराम, भोग, स्वार्थ, दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, आलस्य और प्रमाद आदिका त्याग करके निष्काम- भावसे कर्तव्य समझकर भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार आदिके सेवनके लिये उत्साह और तत्परतापूर्वक प्राणपर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये।

निष्कामभावका तत्त्व-रहस्य

एक ब्राह्मणके लिये दान लेना और देना—दोनों कार्य ही धर्म हैं। यदि वह निष्कामभावसे करे तो ये दोनों ही उसके लिये कल्याणकारक हैं। वह किसीकी कोई वस्तु स्वीकार करता है तो ममता, आसक्ति, स्वार्थ और अभिमानसे रहित होकर उसके हितके लिये ही करता है और किसीको कुछ देता है तो उसके हितके लिये ही देता है, अतः लेना और देना दोनों ही उसके लिये हितकर हैं। यही नहीं, यदि दाता निष्काम-भावसे देता है और ग्रहीता भी निष्कामभावसे स्वीकार करता है तो निष्कामभावके प्रभावसे दोनोंका ही कल्याण हो जाता है। यदि कहें, इस प्रकार मुक्ति मिले तो सबके लिये मुक्ति कहाँसे आयेगी तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌के यहाँ मुक्तिकी कोई कमी नहीं है। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(३। ११)

'(ब्रह्माजी प्रजाओंको रचकर उनसे कहते हैं—) तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग सभी परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

इसी प्रकार ही निष्कामभाव होनेसे दाता और ग्रहीता दोनोंका उद्धार हो जाता है।

यदि मनुष्यको निष्कामभावका तत्त्व-रहस्य समझमें आ जाय तो उसका व्यवहार स्वाभाविक ही उच्चकोटिका और विलक्षण हो जाता है। जब किसी भी पदार्थ, व्यक्ति या क्रियामें स्वार्थका नाम-निशान भी नहीं रहता, आसक्ति, ममता और अभिमानका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब उस मनुष्यकी प्रत्येक क्रिया उज्ज्वल और पावन हो जाती है एवं दूसरे मनुष्योंको भी वह पवित्र बना देती है।

अतः हमलोगोंको निष्कामभावका तत्त्व-रहस्य समझना चाहिये। दूसरोंको सुख पहुँचाना बहुत उत्तम है, किंतु यदि कोई अपनेको अधिक आराम पानेके उद्देश्यसे आरामका त्याग करता है तो वह त्याग निष्कामभाव नहीं है। जैसे रेलगाड़ीमें कभी दूसरोंको सोनेका आराम देनेके लिये अपनी जगह देकर हम नीचे बैठ जाते हैं, इस उद्देश्यसे कि हम यदि अपनी जगहका त्याग करेंगे तो हमारे त्यागको देखकर वह भी त्याग करेगा। यह त्याग उत्तम होनेपर भी निष्कामभाव नहीं है।

तथा हम कभी किसी उच्च अधिकारीवर्गकी सेवा-शुश्रूषा और आदर-सत्कार करते हैं; उस समय हर प्रकारसे उनको इस उद्देश्यसे आराम पहुँचाते हैं कि समय पड़नेपर इनसे कोई मूल्यवान् काम निकाल लेंगे; तो यह सेवा सकाम ही है।

इसी प्रकार हम अपने किसी प्रिय मित्र, भाई-बन्धु या सम्बन्धीके साथ यात्रा कर रहे हैं तो दोनोंका खर्चा स्वयं देनेका आग्रह करते हैं कि मेरा ही खर्चा लगना चाहिये। यह सुन्दर बर्ताव देखकर दूसरा भी वैसा ही आग्रह करता है कि यह खर्चा मेरा ही लगना चाहिये। इस आग्रहमें यदि 'मेरे त्याग करनेसे दूसरेमें भी त्यागके भावकी जागृति होगी और इससे मुझको वस्तुतः त्याग नहीं करना पड़ेगा, यह उद्देश्य है तो वह भी सकाम ही है।'

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा प्राप्त होनेपर उनका हम त्याग तो कर रहे हैं; किंतु उसके फलस्वरूप हमको मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा अधिक मिल रहे हैं, जिनको पाकर हम मनमें प्रसन्न होते हैं तो यह भी सकामभाव ही है।

इसलिये जो सांसारिक पदार्थोंकी कामनासे सेवा करता है उसे सांसारिक पदार्थ ही मिल सकते हैं, जो स्वर्गकी

कामनासे सेवा करता है उसे स्वर्ग ही मिल सकता है तथा जो मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके लिये सेवा करता है उसे मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा ही मिल सकती है; किंतु कल्याण तो निष्कामभावसे सेवा करनेपर ही प्राप्त हो सकता है।

असली निष्कामभाव वह है जिसमें न तो दिखाऊपन है, न भीतरमें कोई स्वार्थ, आसक्ति या कामना ही है और सारी क्रियाएँ केवल निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये ही होती हैं। जैसे कोई व्यक्ति अपने घरपर फल या सब्जी लेकर आया और यह कहकर कि 'हमारे लड़केके ससुरालसे ये सब वस्तुएँ आयी हैं' देनेके लिये बहुत आग्रह करता है; किंतु हम किसी प्रकार लेना स्वीकार नहीं करते तो इससे उसको दुःख होता है, उस स्थितिमें उसके संतोषके लिये कम-से-कम मात्रामें उस वस्तुको स्वीकार कर लेनेमें वस्तु लेकर भी निष्कामभाव ही है; किंतु न लेनेका अभिमान रखकर तथा 'तुम यह सब लाये ही क्यों? तुम तो जानते ही हो कि हम किसीकी वस्तु नहीं लेते' ऐसा कहकर निष्कामभावकी ऐंठ रखते हुए उसकी वस्तु लौटा देते हैं, चाहे उसे दुःख हो, चाहे वह अपमान समझे; तो यह न लेना भी निष्कामभाव नहीं है। हाँ, जो मनसे देनेकी इच्छा तो नहीं है, किंतु सभ्यताके लिये देनेका आग्रह करता है तो उस स्थितिमें तो न लेना ही निष्काम है।

एक मनुष्य हृदयसे अनुरोध करता है कि हमसे परमार्थ-विषयकी सेवाका काम लेना चाहिये तो उसका विशेष आग्रह होनेपर केवल उसके संतोषके लिये उससे लोकसेवाका काम लिया जाता है तो वह उससे काम लेना भी निष्काम है। हम किसीकी सेवा कर रहे हैं; सेवा करानेवाला हमारे संतोषके लिये ही सेवा स्वीकार कर रहा है तो हमको यह समझना चाहिये कि इसकी हमपर दया है। बल्कि 'मैं इसकी सेवा कर रहा हूँ' यह अभिमान न रखकर यह भाव रखना चाहिये कि मैं तो अपना कर्तव्य समझकर खान, पान, दवा आदिकी ही मामूली सेवा कर रहा हूँ और यह जो मेरे कल्याणके लिये मेरी सेवा स्वीकार कर रहा है, यह मेरी बड़ी सेवा कर रहा है। इस भावसे अपनेको उसका ऋणी समझना चाहिये। अपनेको ऋणी समझना ही निष्कामभाव है। 'जिन पदार्थोंसे मैं सेवा करता हूँ, वे सारे पदार्थ भगवान्‌के हैं; जिन हाथोंसे सेवा करता हूँ, वे हाथ भगवान्‌के दिये हुए हैं और जिनकी सेवा करता हूँ, उन सबमें भगवान् विराजमान हैं। इस प्रकार भगवान्‌के ही पदार्थोंसे, भगवान्‌के दिये हुए हाथोंसे भगवान्‌की ही सेवा की जा रही है; यह उचित है, न्याय्य है। किंतु सेवा करते हुए भी यदि किसी प्रकारका अपनेमें अच्छेपनका अभिमान या दूसरेपर अहसान करनेका भाव आता है तो वह हमारे लिये अनुचित है।' ऐसा भाव होना निष्कामभाव है।

कोई मनुष्य हमारे दोष बतावे तो सुनकर हमको न तो क्रोध करना चाहिये और न दुःख ही; बल्कि प्रसन्न होना और अपनेपर उसका उपकार मानना चाहिये; क्योंकि यदि कोई झूठा दोष लगावे तो उससे हमारी कोई हानि नहीं हो सकती। भगवान् तो सर्वान्तर्यामी और न्यायकारी हैं, वे सब जानते हैं, वे किसीके कहनेमात्रसे हमको दण्ड नहीं देते। फिर हमको किस बातकी चिन्ता? यदि चिन्ता करें तो भगवान्‌पर और भगवान्‌के न्यायपर हमारा विश्वास कहाँ? यदि उसका दोष लगाना उचित है तो अपना सुधार करना चाहिये और उस दोष बतानेवालेको अपना परम हितैषी मानना चाहिये। गुरुकी भाँति उसका अपनेपर उपकार समझना चाहिये; क्योंकि वह हमारा हित करता है। इस विषयमें एक कहानी है।

एक वैश्य था। एक दिन वह किसी महात्माके पास गया और बोला—'महाराज ! कोई मनके प्रतिकूल व्यवहार करता है तो मनमें क्रोध आता है, दुःख होता है और उस व्यक्तिके प्रति द्वेषबुद्धि होती है।' इसपर महात्माने उपदेश दिया—'यह तुम्हारी बिलकुल गलती है। किसीके द्वारा भी किसी प्रकारकी भी जो मनके प्रतिकूल क्रिया होती है, उसको परम दयामय भगवान्‌की विशेष दया समझनी चाहिये।' यह सुनकर उसने नियम ले लिया कि कोई अपने साथ कैसा भी अनुचित या बुरा व्यवहार करे, न तो दुःख करना, न क्रोध करना और न उससे द्वेष ही करना है। उस वैश्य व्यापारीके पड़ोसमें ही एक अन्य व्यापारी रहता था। उस व्यापारीने जब यह बात सुनी तो वह उसके नियमको भङ्ग करनेके लिये चेष्टा करने लगा। जब कभी कोई काम पड़ता, उचित हो या अनुचित, वह सदा उस वैश्यके पक्षके विपरीत ही व्यवहार करता था। किंतु वह वैश्य कभी भी न तो क्रोध करता, न दुःख मानता और न उस व्यापारीके प्रति द्वेषबुद्धि ही करता था। बहुत समयतक चेष्टा करनेपर भी उस व्यापारीको कभी सफलता नहीं मिली।

एक बार होलीके दूसरे दिन, उस व्यापारीने वैश्यसे कहा—'तुम परोपकारी हो। आज मैं अपने ससुराल जा रहा हूँ, क्या तुम यह मिठाईकी हँडिया अपने सिरपर लेकर मेरे साथ मेरे ससुराल चल सकते हो?' वैश्यने देखा— हँडियापर स्वस्तिक चिह्न था, नाल बँधा हुआ

था और ढक्कन लगा हुआ था। उसने स्वीकार कर लिया कि हाँ, मैं ले जा सकता हूँ और वह हँडिया सिरपर लेकर चलने लगा। वह व्यापारी सुन्दर पोशाक पहने हुए छड़ी हाथमें लेकर वैश्यके पीछे-पीछे चलने लगा। उस हँडियामें मल-मूत्र और कीचड़ भरा हुआ था। बाजारके बीचमें आते ही व्यापारीने छड़ीसे उस हँडियाको फोड़ डाला। फिर क्या था। मल-मूत्र और कीचड़ उस वैश्यके बदनपर सब ओर बहने लगा। उस समय व्यापारी उस वैश्यको उत्तेजित करनेके लिये हँसा और बोला—'देख, तेरी क्या दुर्दशा है।' यह देख-सुनकर वैश्य भी हँसने लगा। व्यापारीने कहा—'मूर्ख! तू क्या हँसता है?' वैश्यने उत्तर दिया—'मैं ईश्वरकी और आपकी दयाको देखकर हँसता हूँ। मुझे जो दुःख और क्रोध नहीं हुआ, यह आपकी बड़ी भारी दया है। जैसे गुरु शिष्यका ध्यान रखकर उसे योग्य बनाता है वैसे ही आपने मुझपर दया की है और योग्य बनाया है। आपके उपकारका मैं ऋणी हूँ।' यह सुनकर उस व्यापारीका हृदय बदल गया और वह वैश्यके चरणोंमें गिरकर रोने लगा। कुछ देर बाद उसने वैश्यसे कहा—'मैं बड़ा अपराधी हूँ। इस अपराधके कारण मुझको यमराज घोर नरकमें डालेंगे।' वैश्य बोला—'यदि आपके द्वारा मेरा अनिष्ट होता या मुझे दुःख होता तब तो यमराज आपको नरकमें डालते। मैं तो इसे अपना उपकार मानता हूँ, ऐसी परिस्थितिमें यमराजकी सामर्थ्य नहीं है कि वे आपको नरकमें डालें।' वैश्यका जो यह भाव है, यह निष्कामभाव है।

अतएव हमको हरेक क्रिया करते समय सबके हितके उद्देश्यसे यही भाव रखना चाहिये कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवान्‌के ही लिये भगवान्‌का ही काम कर रहा हूँ। अथवा मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान्‌के हाथमें मेरे मन, बुद्धि, इन्द्रियकी बागडोर है; अतः भगवान् ही मुझसे करवा रहे हैं और जो कुछ हो रहा है, भगवान्‌की इच्छाके अनुसार ही हो रहा है।

जब ऐसा भाव हो जाता है तब उसकी यह कसौटी समझ लेनी चाहिये, उसके द्वारा कभी कोई शास्त्रविरुद्ध कार्य नहीं हो सकता; क्योंकि जहाँ भगवान् करवाते हैं वहाँ वे स्वयं अपने नियमके विपरीत कैसे करायेंगे? यदि विपरीत कार्य होता है तो समझ लेना चाहिये कि उसमें भगवान्‌का हाथ नहीं है, कामनाका हाथ है (देखें गीता ३। ३७)। जैसे, जो गुरुके ऊपर ही निर्भर है उस छोटे बच्चेको गुरु अक्षर-ज्ञान करानेके समय उसका हाथ पकड़कर उसके हाथसे कलमद्वारा अक्षर लिखवाते हैं, उसमें कभी भूल नहीं हो सकती। वह जब गुरुके बिना स्वयं ही लिखने लगता है, तभी न जाननेके कारण भूल होती है। इसी प्रकार जहाँ अज्ञान है, कामना है, वहीं शास्त्रविपरीत कार्य हो सकते हैं; किंतु जहाँ कामनाका अभाव है, यानी पूर्ण निष्कामभाव है और भगवान्‌पर निर्भरता है वहाँ शास्त्रविपरीत कार्य कभी हो ही नहीं सकता।

इसलिये हमें उपर्युक्त प्रकारसे निष्कामभावका तत्त्व-रहस्य समझकर स्वार्थ, अभिमान, ममता, आसक्तिका सर्वथा परित्याग करते हुए पूर्ण निष्कामभावसे ही अपने समस्त शास्त्रविहित कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये। इससे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

कर्मयोगके पाँच भेद

श्रीमद्भगवद्गीता एक छोटा-सा ग्रन्थ है, किंतु निष्काम-कर्म और निष्काम-भक्तिका जैसा तत्त्व-रहस्य इसमें भरा हुआ है, वैसा एकत्र कहीं नहीं मिलता। श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण आदि समस्त शास्त्रोंका सार इसमें गागरमें सागरकी भाँति भरा हुआ है। इसके अर्थ और भावको समझकर धारण कर लेनेपर यानी उसके अनुसार अपना जीवन बना लेनेपर और कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥

(महा० भीष्म० ४३। १)

'गीताका ही भली प्रकारसे श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, गायन, मनन और धारण करना चाहिये, फिर अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है।'

'पद्मनाभ' कहनेका भाव यह है कि यह गीता उन्हीं भगवान्‌के मुखकमलसे निकली है, जिनके नाभिकमलसे ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ और ब्रह्माजीके मुखसे वेद प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण शास्त्रोंके मूल हैं।

अब यहाँ गीतोक्त कर्मयोगके विषयमें विचार किया जाता है। गीतामें कर्मयोगका जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वह संक्षेपमें इस प्रकार है—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जिन कर्मोंका शास्त्रोंमें विधान है, जिनका अनुष्ठान करना मनुष्यके लिये आवश्यक कर्तव्य माना गया है, उन शास्त्रविहित स्वाभाविक

कर्मोंका न्यायपूर्वक, अपना कर्तव्य समझकर अनुष्ठान करना; उन कर्मोंमें और उनके फलोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें और उसके फलमें सदा ही सम रहना तथा परमेश्वरको सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वसुहृद् और सर्वप्रेरक समझकर एवं अपनेको सर्वथा उनके अधीन मानकर समस्त कर्मों और उनके फलोंको भगवान्‌के समर्पण करना; उनकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार उनकी पूजा समझकर जैसे वे करवावें, वैसे ही सम्पूर्ण कर्मोंको करना; किंतु ऐसा करते हुए भी उन कर्मोंमें और उनके फलोंमें किञ्चिन्मात्र भी ममता, आसक्ति और कामना न रखना; भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें सदा ही परम संतुष्ट रहना तथा उनके नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना।

इस कर्मयोगको हम पाँच भेदोंमें विभक्त कर सकते हैं—१-केवल कर्मयोग, २-भक्ति-गौण कर्मयोग, ३-भक्ति-सामान्य कर्मयोग, ४-भक्तिप्रधान कर्मयोग और ५-केवल भक्तियोग।

१-केवल कर्मयोग

जिस साधनमें ईश्वरकी भक्ति यानी भजन-ध्यानादिरूप उपासनाका सम्मिश्रण नहीं रहता और केवल निष्काम तथा अनासक्तभावसे कर्मका अनुष्ठान किया जाता है, वह केवल 'कर्मयोग' है। केवल कर्मयोगका वर्णन गीतामें यों मिलता है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(२। ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो यानी ममता, आसक्ति और वासनासे रहित हो जा तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २। ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥

(गीता ५। ३)

'हे अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझनेयोग्य है; क्योंकि राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

(गीता ६। १)

'जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है।'

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

(गीता ६। ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है।'

उपर्युक्त सभी श्लोकोंमें कर्म और उसके फलमें आसक्ति और कामना आदिका त्याग करते हुए यानी निष्कामभावसे ही कर्म करनेका आदेश एवं संकेत है, अतः इनमें 'केवल कर्मयोग' का ही वर्णन है, भक्तिका सम्मिश्रण नहीं है।

इसी प्रकार गीतामें केवल कर्मयोगविषयक और भी बहुत-से श्लोक हैं; जैसे—२। ४८, ५१, ६४; ३। ७; ५। ६, ११-१२; १२। ११-१२; १८। ९,११ आदि-आदि।

२-भक्ति-गौण कर्मयोग

जिस साधनमें कर्मकी तो प्रधानता है, किंतु साथमें ईश्वरकी भक्तिका भी सम्बन्ध है, वह 'भक्ति-गौण कर्मयोग' है। भक्ति-गौण कर्मयोगका वर्णन गीतामें यों मिलता है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

(गीता २। ४५)

'हे अर्जुन! वेद तीनों गुणोंके कार्यरूप समस्त भोगों और उनके साधनोंका प्रतिपादन करनेवाले हैं, इसलिये तू उन भोगों एवं उनके साधनोंमें आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्य वस्तु परमात्मामें स्थित, योग-क्षेमको न चाहनेवाला और स्वाधीन अन्तःकरणवाला हो।'

यहाँ आगे-पीछे कर्मयोगका प्रसङ्ग है और इस श्लोकमें 'नित्य सत्त्वस्थ' यानी परमात्मामें स्थित होनेका आदेश है, अतः इस कर्मयोगमें भक्तिका भी सम्मिश्रण है।

इसी प्रकार—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

(गीता ३। १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्य कर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

यद्यपि तीसरे अध्यायमें प्रधानतया कर्मयोगका ही विषय है तथापि प्रकरणवश कोई-कोई श्लोक भक्ति-गौण और भक्ति-प्रधान कर्मयोगका भी आ गया है। जैसे तीसरे अध्यायके उक्त १९वें श्लोकमें तो भक्ति-गौण कर्मयोगका और ३०वें श्लोकमें भक्तिप्रधान कर्मयोगका वर्णन है। १९वें श्लोकमें अनासक्तभावसे कर्म करनेका आदेश होनेसे उसमें निष्काम-कर्मकी प्रधानता है; क्योंकि आसक्तिके अभावके अन्तर्गत ही कामनाका अभाव है और इस साधनके फलस्वरूप साधकको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, अतः भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य होनेसे कर्मयोगके साथ भगवान्‌की भक्ति भी मानी गयी है। इसी तरह—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

(गीता ४। १४)

'कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।' जिसको कर्मोंके फलकी स्पृहा—परवा नहीं है, वह निष्काम कर्मयोगी है और 'कर्मफल-स्पृहा न होनेके कारण भगवान्‌को कर्म लिप्त नहीं करते' यों भगवान्‌को जानना भगवान्‌की भक्ति है। अतः इस श्लोकमें भी कर्मयोगके साथ भगवान्‌की भक्ति गौण मानी गयी है।

३-भक्ति-सामान्य कर्मयोग

जिस साधनमें कर्मकी प्रधानता होनेपर भी ईश्वर-भक्तिकी भी प्रधानता रहती है वह भक्ति-सामान्य कर्मयोग है। जैसे—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥

(गीता १७। २४)

'इसलिये वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामको उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं।'

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥

(गीता १७। २५)

'तत् अर्थात् 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है—इस भावसे फलको न चाहकर नाना प्रकारकी यज्ञ-तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं।'

यहाँ २४वें श्लोकमें भगवान्‌के नाम—ॐ का उच्चारण करके कर्मोंको करनेका प्रतिपादन है और २५वें श्लोकमें कहा हुआ 'तत्' शब्द ईश्वरका वाचक है, इसलिये इन दोनों श्लोकोंमें कर्मयोगके साथ भक्तिका भी मिश्रण है।

इसी प्रकार—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

इसमें कर्मकी प्रधानता होते हुए भी ईश्वरकी भक्तिका पर्याप्त सम्मिश्रण है। १८वें अध्यायके ४२वें श्लोकमें ब्राह्मणके, ४३वेंमें क्षत्रियके और ४४वेंमें वैश्य तथा शूद्रके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन करनेके पश्चात् ४५वेंमें भगवान्‌ने 'अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें भलीभाँति लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है उस विधिको तू सुन'—ऐसा अर्जुनसे कहकर इस ४६वें श्लोकमें उसीकी यह विधि बतायी है—परमात्मासे ही सम्पूर्ण जगत्‌के प्राणी उत्पन्न होते हैं और परमात्मा सबमें व्यापक हैं—ऐसा समझकर अपने-अपने कर्तव्यकर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेसे परम सिद्धि मिलती है। अतः सबकी सेवा भगवान्‌की ही सेवा है—यों प्राणिमात्रमें भगवद्भाव करके उनकी सेवारूप ईश्वर-पूजा करना—यह भक्तिका भाव है और सेवारूप कर्म करना कर्म है। इसमें कर्मकी प्रधानता होते हुए भक्तिकी भी प्रधानता है। अतः यह 'भक्ति-सामान्य कर्मयोग' है।

४-भक्तिप्रधान कर्मयोग

जिस साधनमें भक्तिकी ही प्रधानता हो और कर्म गौण हो, वह 'भक्तिप्रधान कर्मयोग' है। जैसे—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते

(गीता १२। ६)

'परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको

ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं।'

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

(गीता १८। ५७)

'सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।'

इन दोनों ही श्लोकोंमें शास्त्रविहित कर्मोंका करना तो कर्म है और कर्मोंको भगवान्‌के समर्पण करना, उनके परायण रहना तथा अनन्य भक्तियोगसे उनको निरन्तर चिन्तन करते हुए भजना—इनमें भक्ति ही मुख्य है। अतः यह 'भक्तिप्रधान कर्मयोग' है।

भक्तिप्रधान कर्मयोगके भी दो भेद हैं—(१) भगवदर्पण, (२) भगवदर्थ। भगवदर्पण कर्म वह है जिसमें जो कुछ भी शास्त्रविहित कर्म किया जाता है, वह भगवान्‌के अर्पण करके किया जाता है यानी यह सब कुछ भगवान्‌का है, मैं भी भगवान्‌का हूँ और मेरे द्वारा जो कर्म होते हैं वे भी भगवान्‌के ही हैं—यों समझकर भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवदर्पण बुद्धिसे कर्म किया जाता है। भगवान्‌ने गीतामें अर्जुनसे कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(९। २७-२८)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।' यह 'भगवदर्पण कर्म' है।

भगवदर्थ कर्म वह है जो भगवत्प्राप्ति, भगवत्प्रेम अथवा भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये भगवदाज्ञानुसार किया जाता है। जैसे—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥

(गीता १२। १०)

'यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

५-केवल भक्तियोग

जिस साधनमें केवल भक्ति ही हो, कर्मोंका मिश्रण न हो, वह 'केवल भक्तियोग' है। जैसे—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त हुआ सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे मैं सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

'जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ।'

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह यथार्थ ज्ञानरूप योग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

(गीता १२। ८)

'मुझमें ही मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा, इसके अनन्तर तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(गीता १४। २६)

'जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी सत्त्व, रज, तम—इन तीनों

गुणोंको लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता १८। ६५)

'हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।'

उपर्युक्त श्लोकोंमें यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंका उल्लेख नहीं है, केवल अनन्य और निष्कामभावसे निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करना, उन्हें प्रेमपूर्वक भजना, उनके गुण-प्रभावका कथन करना, मन-बुद्धिको उन्हींमें लगा देना एवं उन्हींकी उपासना करना आदिका ही वर्णन है, जो सभी भक्तिके ही वाचक हैं और उन सबका फल भगवान्‌की प्राप्ति है। गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर सारे संसारके लिये ही अपनी अनन्य भक्तिका निरूपण किया है।

इन श्लोकोंके सिवा, केवल भक्तिविषयक और भी बहुत-से श्लोक मिलते हैं। जैसे—८। २२; ९। ३४; ११। ५४; १५। १९; १८। ६२ आदि-आदि।

ऊपर कर्मयोगके जो पाँच प्रकार बतलाये गये हैं, उनमेंसे किसी एकका भी साधन करनेसे मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। यही नहीं, इन पाँचों प्रकारोंके जितने भी श्लोक ऊपर बताये गये हैं, उनमेंसे किसी भी एक श्लोकके अनुसार अपना जीवन बना लेनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। फिर जो अपने अधिकारानुसार सम्पूर्ण गीताके अनुकूल ही अपना जीवन बना लेता है, उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जाय इसमें तो कहना ही क्या है। इस कर्मयोगके अतिरिक्त, ज्ञानयोगके द्वारा भी परमात्माकी प्राप्ति होनेके बहुत-से श्लोक गीतामें हैं; किंतु यहाँ उसका प्रकरण न होनेसे उनका उल्लेख नहीं किया गया। यहाँ तो कर्मयोगद्वारा परमात्माकी प्राप्ति होनेका ही दिग्दर्शन कराया गया है।

अतएव कर्मयोगके साधकोंको कर्मयोगके उपरिनिर्दिष्ट पाँचों प्रकारोंमेंसे अपनी रुचिके अनुसार किसी एकका भी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परतासे साधन करना चाहिये।

सर्वदुःख दोषनाशक तप

'तप' का अर्थ है तपाना। तपके द्वारा मन, इन्द्रिय और शरीरको तपाया जाता है, इसीलिये उसे तप कहते हैं। जैसे सोनेको अग्निमें तपानेसे उसके सारे विकार जल जाते हैं और उसका निखरा हुआ शुद्ध रूप सामने आ जाता है, उसी प्रकार तपके द्वारा मनुष्यके शरीर, इन्द्रिय और मनके सारे विकार नष्ट होकर वे शुद्ध हो जाते हैं। तपका बड़ा भारी प्रभाव और महत्त्व है। तपसे मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है। मुनिवर श्रीपराशरजीने राजा जनकसे बताया है—

नाप्राप्यं तपसः किंचित् त्रैलोक्येऽपि परंतप।

(महा० शान्ति० २९५। २३)

'परंतप! त्रिलोकीमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो तपसे प्राप्त न हो सके।' श्रीवेदव्यासजीने भी भीष्मपितामहसे कहा है—

दुरन्वयं दुष्प्रधर्षं दुरापं दुरतिक्रमम्।
सर्वं वै तपसाभ्येति तपो हि बलवत्तरम्॥

(महा० अनुशासन० १२२। ८)

'जिससे सम्बन्ध स्थापित करना अत्यन्त कठिन है, जो दुर्धर्ष, दुर्लभ और दुर्लंघ्य है, वह सब तपसे सुलभ हो जाता है; क्योंकि तपका बल सबसे बड़ा है।'

इसलिये केवल तपसे ही मनुष्य सारे दुःखों और दोषोंसे सम्बन्धरहित होकर परमात्माको प्राप्त हो सकता है।

सांख्यशास्त्रमें आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—इन तीन प्रकारके दुःखोंके अत्यन्त अभावको आत्यन्तिक पुरुषार्थ—मुक्ति कहा गया है।* पशु-पक्षी, कीट-पतंग, मनुष्य-पितर, यक्ष-राक्षस आदि प्राणियोंके द्वारा प्राप्त होनेवाले दुःखको 'आधिभौतिक' दुःख कहते हैं। नदी, वर्षा, जल, अग्नि, बिजली, वायु, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और इन्द्र आदि देवताओंके द्वारा प्राप्त होनेवाले दुःखको 'आधिदैविक' दुःख कहते हैं। आध्यात्मिक दुःखके दो भेद हैं—१-शारीरिक (व्याधि), २-मानसिक (आधि)। अङ्गभङ्ग होना, ज्वर, क्षय, अतिसार आदि या नेत्र, कर्ण आदिकी कोई बीमारी होना शारीरिक दुःख (व्याधि) हैं तथा मृगी, हिस्टीरिया, उन्माद, चित्तभ्रम आदि रोग होना मानसिक दुःख (आधि) है। इनके सिवा शरीर, वाणी और मनके दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन,

---

* अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। (सांख्यदर्शन १। १)

मल, विक्षेप, आवरण, शोक, भय आदि दोष भी 'आधि' ही हैं। इन सारे दुःखों और दोषोंसे भलीभाँति सर्वथा सम्बन्धरहित होना ही वास्तविक मुक्ति है।

श्रीमनुजीने शरीरके मुख्य तीन दोष बतलाये हैं—

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥

(मनु० १२। ७)

'बिना दिये हुए अन्नादि पदार्थोंको लेना, शास्त्रविरुद्ध हिंसा और परस्त्रीसेवन—ये तीन शारीरिक दोष माने गये हैं।'

किसीके दिये बिना ही चोरी, जोरी, डकैती, ठगी, धोखेबाजी या विश्वासघातसे दूसरेकी धन-सम्पत्ति, जगह-जमीन, मकान आदि पदार्थोंको अपने अधिकारमें करना 'अदत्तोपादान' है।

वैसे तो कर्मके आरम्भमात्रमें ही हिंसा होती है। जैसे यज्ञादि शास्त्रविहित उत्तम आचरणोंके अनुष्ठानमें तथा न्याययुक्त धनोपार्जनमें भी हिंसा होती है, किंतु वह हिंसा हिंसा नहीं है। बल्कि किसी भी प्राणीको अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये या रागद्वेषके कारण कभी किंचिन्मात्र भी दुःख देना 'शास्त्रविरुद्ध हिंसा' है।

परायी स्त्रीके साथ अश्लीलभावसे दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, हँसी-मजाक और सम्भोग आदि किसी प्रकारकी क्रिया करना 'परदारोपसेवन' है। ये तीनों शरीरसम्बन्धी दोष हैं।

वाणीके चार दोष बतलाये गये हैं—

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥

(मनु० १२। ६)

'कठोर वचन कहना, झूठ बोलना, चुगली करना और व्यर्थ बातें करना—ये चार वाणीके दोष हैं।'

किसीको दिल दुःखानेवाली चुभती बात कहना, आक्षेप करना, ताना मारना, कठोर वचन कहना 'पारुष्य' है। बिना देखी-सुनी मनगढ़ंत अप्रामाणिक मिथ्या बात कहना 'अनृत' है। द्वेष, वैर, क्रोधसे या अन्य किसी दुर्भावसे अथवा मनोरञ्जनके लिये भी किसीके गुणोंमें दोष लगाना, किसीके अवगुणोंको उसके सम्मुख या उसकी अनुपस्थितिमें कहना, बदनाम करना, अपकीर्ति करना, चुगली करना 'पैशुन्य' है। प्रमाद या अज्ञानसे फालतू बकवाद करना तथा अप्रामाणिक व्यर्थ चर्चा करना 'असम्बद्धप्रलाप' है। ये चारों वाणी- सम्बन्धी दोष हैं।

मनके तीन दोष यों बतलाये गये हैं—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥

(मनु० १२। ५)

'दूसरेके द्रव्यको हड़पनेकी युक्ति सोचना, मनसे दूसरेका अनिष्ट-चिन्तन करना और मैं शरीर हूँ—इस प्रकारका झूठा देहाभिमान करना—ये तीनों कार्य मनके दोष हैं।'

दूसरेकी जगह-जमीन, मकान, धन-सम्पत्ति आदिको किसी भी उपायसे अपने अधिकारमें करते रहनेकी युक्ति सोचते रहना 'परद्रव्याभिध्यान' है। राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह और मूर्खतासे किसी भी प्राणीका अहित-चिन्तन करना 'अनिष्टचिन्तन' है। किसी भी सांसारिक पदार्थमें ममता तथा अनात्मदेहमें मिथ्या अभिमान (अहंता) और ममता करना 'वितथाभिनिवेश' है। ये तीनों मनसम्बन्धी दोष हैं।

ऊपर शरीरके तीन, वाणीके चार और मनके तीन दोष बतलाये गये हैं। इन सभी दोषोंके निवारणके लिये गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने शारीरिक, वाचिक और मानसिक त्रिविध तप बतलाये हैं। इन तीनों तपोंमें प्रत्येकके पाँच-पाँच भेद हैं।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(गीता १७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

बारह आदित्य, आठ वसु, एकादश रुद्र, प्रजापति और इन्द्र आदि देवताओंका, ब्राह्मणोंका तथा वर्ण, आश्रम, आयु, अवस्था, पद, गुण, आचरणमें अपनेसे बड़े माता-पिता, आचार्य आदि गुरुजनोंका और ज्ञानी महात्मा पुरुषोंका आदर-सत्कार, सेवा-पूजा, नमस्कार करना 'देवद्विजगुरुप्राज्ञ-पूजन' है। शरीर—इन्द्रियों और वस्त्रोंकी जल, मिट्टी आदिसे सफाई रखना, सात्त्विक पवित्र पदार्थोंका सेवन करना तथा अभिमान और स्वार्थसे रहित हो विनय-प्रेमपूर्वक सबके हितके उद्देश्यसे शास्त्रविहित पवित्र आचरण करना 'शौच' है। रूठना, अकड़ना, ऐंठना, टेढ़ापन आदि दोषोंसे रहित मनके भीतर जैसा शुद्ध भाव हो वैसा ही विनययुक्त सरल व्यवहार करना 'आर्जव' है। किसी भी सुन्दर बालक-बालिका या परायी स्त्री आदिके साथ अश्लीलभावसे दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, हँसी-मजाक, एकान्तवास, सम्भोग

आदि किसी प्रकारका मैथुन न करना और सदा वीर्य-धारण किये रहना 'ब्रह्मचर्य' है। कहीं भी, किसी भी प्राणीको, किसी भी निमित्तसे किंचिन्मात्र भी कष्ट न पहुँचाना 'अहिंसा' है। ये पाँचों शारीरिक तप हैं।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(गीता १७। १५)

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नामजपका अभ्यास है, वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

जिससे दूसरेके चित्तमें उद्वेग, क्रोध, भय, दुःख आदि विकार हों, ऐसी कटुता, रूखा, तीखापन, ताना, अपमान, निन्दा, चुगली आदि दोषोंसे युक्त वाणी न बोलना 'अनुद्वेगकर वाक्य' है। जो बात जैसी देखी, सुनी और समझी हो उससे न अधिक और न कम कहना, न उसके भावको बदलकर कहना, बल्कि हिंसा और कपटसे रहित यथार्थ वचन कहना 'सत्य वाक्य' है। विनय-प्रेमयुक्त, सरल, शान्त और कानोंके लिये अमृतके समान मधुर शब्द कहना 'प्रिय वाक्य' है। हिंसा, द्वेष, डाह, वैरसे सर्वथा रहित और प्रेम, करुणा तथा मङ्गलसे भरे, इहलोक और परलोकमें कल्याणकारक वचन कहना 'हित वाक्य' है। यथाधिकार भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-सदाचारयुक्त श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणोंका अर्थ और भाव समझकर अध्ययन तथा परमेश्वरके गुण-प्रभाव, स्तुति-प्रार्थना और नामका जप करते रहना 'स्वाध्यायका अभ्यास' है। ये पाँचों वाणीसम्बन्धी तप हैं।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

(गीता १७। १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

भक्ति-ज्ञान-वैराग्य और सदाचार आदिसे चित्तकी सात्त्विक प्रसन्नता 'मनःप्रसाद' है। मनके देवता चन्द्रमा हैं, अतः चन्द्रमाके समान शीतल, सौम्य और शान्तिमय जो मनका भाव है, जिसमें रुक्षता, क्रूरता, निर्दयताका सर्वथा अभाव है, वह 'सौम्यत्व' है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, स्वरूप और लीला आदिका मनन करनारूप जो मुनिका भाव है, वह 'मौन' है, अथवा जैसे चुप रहना वाणीका मौन है, उसी प्रकार संकल्प, कामना और स्फुरणासे रहित होना मनका 'मौन' है। प्राणायाम, नामजप, सत्-शास्त्रोंके अभ्यास तथा सांसारिक पदार्थोंसे वैराग्यके द्वारा मनकी चञ्चलताका नाश होकर उसका स्थिर और भलीभाँति वशमें हो जाना 'आत्मविनिग्रह' है। अन्तःकरणका रागद्वेष, काम-क्रोध-लोभ-मोह, मद-मत्सर, ईर्ष्या-वैर, घृणा-तिरस्कार, असूया, असहिष्णुता, प्रमाद, व्यर्थ विचार, इष्टविरोध, अनिष्टचिन्तन, विषाद-भय, चिन्ता-शोक, व्याकुलता-उद्विग्नता आदि दुर्भावों तथा मल, विक्षेप, आवरण आदि दोषोंसे सर्वथा रहित होकर क्षमा, दया, प्रेम, विनय आदि सद्भावोंसे युक्त और भलीभाँति पवित्र हो जाना 'भावसंशुद्धि' है। ये पाँचों मानसिक तप हैं।

उपर्युक्त त्रिविध सात्त्विक तप ही सब प्रकारके दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसनरूप शारीरिक, वाचिक, मानसिक त्रिविध दोषोंसे तथा आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक त्रिविध दुःखोंसे सदाके लिये सर्वथा सम्बन्धरहित करके परम शान्ति और परमानन्दस्वरूप मुक्तिकी प्राप्ति करानेवाला है। सात्त्विक तपका स्वरूप भगवान्‌ने यों बतलाया है—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥

(गीता १७। १७)

'फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंके द्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं।'

जो मनुष्य इहलोक या परलोकके किसी प्रकारके भी सुख-भोग अथवा दुःखकी निवृत्तिरूप फलकी कभी किसी प्रकारकी किंचिन्मात्र भी कामना नहीं करता; जिसके मन-बुद्धि-इन्द्रिय अनासक्त, निगृहीत तथा शुद्ध हो जानेके कारण कभी किसी भी भोगके सम्बन्धसे विचलित नहीं हो सकते; जिसमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो गया है; जिसकी तपके महत्त्व, प्रभाव और स्वरूपके प्रति प्रत्यक्षसे भी बढ़कर सम्मानपूर्वक पूर्ण विश्वास—परम श्रद्धा है, जिसके परिणाम-स्वरूप बड़े-से-बड़े विघ्नों या कष्टोंकी कुछ भी परवा न करके जो अत्यन्त आदर और उत्साहपूर्वक तपका अनुष्ठान करता रहता है, वह सम्पूर्ण दुःखोंसे सम्बन्धरहित हो सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इसलिये कल्याणकामी पुरुषको उपर्युक्त त्रिविध सात्त्विक तपका ही निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर परम श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि मुक्तिके लिये कर्मकी उतनी प्रधानता नहीं है जितनी भावकी। कर्म चाहे ऊँचा न हो, कर्ताका भाव यदि ऊँचा है तो उसका फल ऊँचा ही होगा

और यदि कर्म ऊँचे-से-ऊँचा हो; किंतु भाव नीचा हो तो उसका फल नीचा ही होगा। पूर्ण निष्काम-भावसे केवल कर्तव्य समझकर अथवा भगवत्प्राप्तिकी कामनासे किये हुए शिल्प, व्यापार एवं सेवा-चाकरी आदि लौकिक दृष्टिसे छोटे माने जानेवाले कर्म भी महान् फल प्रदान करते हैं और लौकिक फलकी कामनासे किये हुए यज्ञ, दान, तप, पूजा आदि ऊँचे-से-ऊँचे कर्म भी तुच्छ फल ही देते हैं; क्योंकि जिस उद्देश्यसे जो कर्म किया जाता है, उसका वैसा ही फल प्राप्त होता है। जो कर्म स्त्री, पुत्र-धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा अथवा स्वर्गसुख आदिके लिये किया जाता है उसके फलरूपमें ये ही नाशवान् पदार्थ मिलते हैं। इसी प्रकार जो कर्म भगवत्प्राप्ति या आत्मोद्धारके लिये किया जाता है उसका फल भी नित्य अविनाशी परमानन्दमय परमात्माकी ही प्राप्ति होता है। अतएव हमें अपना भाव ऊँचे-से-ऊँचा विशुद्ध रखते हुए ही उपर्युक्त तपका अनुष्ठान करना चाहिये।

पतन या उत्थानमें मनुष्य स्वतन्त्र है

मनुष्य सम्पूर्ण सांसारिक दुःखों और दोषोंसे सदाके लिये सर्वथा सम्बन्धरहित होकर परमानन्द और परमशान्तिस्वरूप नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाय—इसके लिये गीतादि शास्त्रोंमें बहुत-से साधन बताये गये हैं और यह भी कहा गया है कि उस परम पदस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति सुगम होनेके कारण शीघ्र हो सकती है। यह बात विवेक-विचारसे समझमें आती है। किंतु फिर भी कार्यरूपमें न आनेके कारण कठिनता प्रतीत होती है, जिससे निराशा-सी हो जाती है और साधनकी गति तीव्र, संतोषजनक और निरन्तर एक-सी नहीं रहती। इसका कारण क्या है? और उपाय क्या है?—इस प्रकार बहुत-से साधक प्रश्न किया करते हैं। इसका उत्तर यह है कि शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंके तत्त्व-रहस्यको वास्तवमें यथार्थ न समझनेके कारण साध्य और साधनपर श्रद्धा-विश्वास पूर्णतया नहीं होता। इस श्रद्धा-विश्वासकी कमीके कारण ही साधनपर रुचि कम हो जाती है। इसीसे निराशा-सी उत्पन्न होकर साधनके लिये निरन्तर तत्परता नहीं रहती।

इसके लिये साधकको प्रथम तो साध्य वस्तुके तत्त्व-रहस्यको सत्सङ्ग और सत्-शास्त्रोंके द्वारा विवेकपूर्वक अच्छी तरह समझकर धारण करना चाहिये और दूसरे यह समझना चाहिये कि उस परमात्मासे बढ़कर अन्य कुछ भी साध्य वस्तु नहीं है। उसकी प्राप्ति हुए बिना इस दुःख-सागर संसारसे जीवका छुटकारा नहीं हो सकता और संसारसे छुटकारा हुए बिना जीवको नित्य परमशान्ति मिल ही नहीं सकती। इसलिये उस साध्यस्वरूप परमात्माको लक्ष्य बनाकर शास्त्रनिर्दिष्ट मार्गोंमेंसे किसी एक मार्गके अनुसार सावधानी और तत्परतापूर्वक चलना चाहिये। तभी मनुष्य उस प्रापणीय महान् तत्त्वरूप परमात्माको प्राप्त कर सकता है।

मान लीजिये, एक व्यक्ति कलकत्तेसे काशी जाना चाहता है और वहाँतककी सड़क साफ है तथा साधन भी मोटर-गाड़ीका उसके पास है। मोटरके अगले भागमें दो बिजलीकी लाइट भी लगी हुई है, जो दो फर्लांगतक बराबर आगे-से-आगे रास्ता दिखाती रहती है। किंतु घोर अन्धकारमयी रात्रिका समय है और सड़कके अगल-बगल दोनों ओर गड्ढे और जंगल हैं तथा वह स्वयं ही मोटर-चालक है। अतः वह सावधानीके साथ तत्परतासे मोटरको चलाये तो शीघ्र ही गन्तव्य-स्थानपर पहुँच सकता है; किंतु वह मदिरा पीकर प्रमत्त हो असावधानीसे चलाये तो मार्गके अगल-बगलके गड्ढों और जंगलमें गिरकर महान् खतरेमें पड़ जाता है।

यह एक दृष्टान्त है। इसका अभिप्राय यह समझना चाहिये कि यहाँ साधनविषयमें परमात्माका परमधाम ही काशी है। इस संसारसे निकलकर परमात्माको प्राप्त करनेका इच्छुक मनुष्य ही काशी जानेकी इच्छावाला व्यक्ति है। कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—तीनों ही निष्कण्टक, स्वच्छ और सुगम सड़क (मार्ग) हैं। मनुष्य-शरीर ही मोटरगाड़ी है। उसमें आगे-से-आगे बराबर रास्ता दिखलानेवाले विवेक और विचार ही मोटरमें लगी हुई दो लाइट हैं। अज्ञानमयी मोहमाया ही घोर अन्धकारमयी रात्रि है। दुर्गुण और दुराचार ही मार्गके दोनों ओरके गड्ढे और जंगल हैं। स्वयं साधक ही मोटरचालक है। सावधानीपूर्वक तेजीके साथ निरन्तर साधन करनेसे शीघ्र परमधामको प्राप्त होना ही सावधानीके साथ तत्परतासे सड़कपर मोटर चलानेसे शीघ्र गन्तव्य-स्थानपर पहुँच जाना है। प्रमादपूर्वक मोहमें पड़ना ही मदिरा पीकर प्रमत्त होना है और तज्जनित असावधानीके कारण दुर्गुण-दुराचारमें पड़ना ही गड्ढे और जंगलमें गिरकर महान् खतरेमें पड़ जाना है।

इसलिये साधक सदा सावधान, जागरूक और अपने साधनमें तत्पर रहे; साधनमें शिथिलता कभी भी न आने दे। सर्वप्रथम तो साधकको अपने लिये यह निर्णय करना

चाहिये कि गीतादि शास्त्रोंमें निर्दिष्ट कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—इन तीनोंमेंसे मेरे लिये कौन-सा साधन (मार्ग) ठीक है। उसे निर्णय करनेका तरीका यह है कि उन तीनों मार्गोंमेंसे जो मार्ग अपनी शक्ति, बुद्धि और समझके अनुकूल हो, जिसमें अपनी श्रद्धा, विश्वास और रुचि हो, उसीको अपने लिये निश्चयपूर्वक चुन लेना चाहिये; क्योंकि वही उसके लिये सबसे बढ़कर सुगम, उत्तम और लाभदायक मार्ग है। जबतक मनुष्य गन्तव्यस्थानका और मार्गका निर्णय नहीं कर लेता, तबतक वह वहाँ जा ही नहीं सकता। मार्गका निर्णय कर लेनेके पश्चात् वह उस मार्गपर चलना शुरू कर दे और मार्गपर चलते समय ऐसी सावधानी रखे कि कहीं मार्गको छोड़कर विपरीत मार्ग यानी कुमार्गरूप गड्ढेमें न चला जाय। असावधानीमें हेतु हैं—संशय, भ्रम, अज्ञान, ममता, आसक्ति, प्रमाद और आलस्य—ये ही मनुष्यको सुखका प्रलोभन देकर मोहित करते हुए पतनके गर्तमें डाल देते हैं। इसलिये इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि इनके त्यागमें मनुष्य स्वतन्त्र है।

मनुष्य जिस कर्मको बुद्धिद्वारा बुरा समझता है, उसे करना भी नहीं चाहता, फिर भी छोड़ नहीं पाता और जिस कार्यको अच्छा समझता है, उसे करना चाहता है फिर भी उसे कर नहीं पाता। इस प्रकार त्यागनेयोग्यको न त्यागना और करनेयोग्यको न करना—यही प्रमाद है। इस प्रमादमें मनुष्यका अज्ञान ही हेतु है। किंतु मूर्खतावश मनुष्य इसमें अपने प्रारब्धको, दूसरे व्यक्तियोंको, परिस्थितिको (घटनाको), अपने पूर्वके कर्मोंको, समयको अथवा कोई-कोई तो ईश्वरको भी कारण मान लेता है; किंतु इन सबमेंसे कोई भी कारण नहीं है। यह सब उसकी बेसमझी है। वस्तुतः वह स्वयं ही अपना कारण है; क्योंकि न करनेयोग्य काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष आदि दुर्गुण; झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि दुराचार; खेल-तमाशा, नशा आदि दुर्व्यसन और व्यर्थ कर्मके त्यागमें तथा करनेयोग्य भक्ति, ज्ञान, योग, वैराग्य, सद्गुण-सदाचार आदिके सम्पादनमें भी यह स्वतन्त्र है। किंतु अज्ञानसे दूसरोंके मत्थे दोष मढ़कर अपनी सफाई देता है, यही इसकी बुरी आदत है। कोई-कोई साधक कहता है कि परमात्माकी प्राप्तिविषयक योग, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सद्गुण-सदाचार आदि जितने साधन हैं, वे मेरी समझमें भी आते हैं, उनको मैं हितकर भी मानता हूँ, श्रद्धा-विश्वास भी है, रुचि भी है, पर कर नहीं पाता। किंतु भलीभाँति विचार किया जाय तो वास्तवमें उसने साधनको परम हितकर समझा ही नहीं। हितकर न समझनेमें कारण श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही है। उस कमीके कारण ही साधनमें तत्परता और उत्साह नहीं होता। इसलिये गहराईसे विचार करना चाहिये।

जब हम यह समझ लेते हैं कि इस मिठाईमें विष मिला हुआ है, तब भूखों मरनेपर भी उस मिठाईको खाना नहीं चाहते। इसी प्रकार जब हम उस प्रमादको अनर्थकारक मान लेंगे तो फिर नहीं करनेयोग्य कर्मको कभी नहीं करेंगे और करनेयोग्य कर्मको अवश्य करेंगे। भगवान्की प्राप्तिको परम हितकर मान लेनेपर और उसके बिना हमारी बड़ी भारी हानि है—यह समझ लेनेपर यदि उसके साधनमें किसी प्रकारकी त्रुटि या बाधा पड़ती है तो उसको हम कैसे सहन कर सकेंगे। उसके लिये हमें घोर पश्चात्ताप और दुःख होगा। प्रापणीय वस्तुके लिये विरहव्याकुलता और छटपटाहट होगी। उसको प्राप्त किये बिना हम रह नहीं सकेंगे। यदि ऐसा नहीं होता है तो इसमें श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही हेतु है। उसीके कारण रुचिकी कमी है और रुचिकी कमीसे साधनमें उत्साह और तत्परता नहीं होती। अतएव साधनकी शिथिलतामें मनुष्य स्वयं ही हेतु है। दूसरा कोई व्यक्ति, प्रारब्ध, परिस्थिति (घटना), देश, काल, कर्म या ईश्वर आदि कोई भी नहीं।

ईश्वर, महापुरुष और शास्त्र आदि तो साधककी मदद करनेवाले हैं। उनसे तो मनुष्य चाहे जितनी मदद ले सकता है। उनसे मदद लेनेमें भी मनुष्य स्वतन्त्र है। परंतु मनुष्य अज्ञानसे ईश्वरको पाप करानेवाला मान लेता है और प्रमाणमें यह श्लोक भी कहता है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

(पाण्डवगीता)

'मैं धर्मको जानता हूँ, पर मेरी उसमें प्रवृत्ति नहीं होती और अधर्मको भी जानता हूँ, पर उससे मेरी निवृत्ति नहीं होती; क्योंकि अपने हृदयमें स्थित कोई देव जिस प्रकार मुझे प्रेरित और नियुक्त करता है, वैसे ही मैं करता हूँ।'

किंतु यह सिद्धान्त दुर्योधनका है, जो सर्वथा त्याज्य है। पर सबसे उच्चकोटिका सिद्धान्त गीताका है, जिसमें साक्षात् भगवान्के वचन हैं। पाप होनेके विषयमें अर्जुनने भगवान्से पूछा था—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

'श्रीकृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

इसके उत्तरमें भगवान्ने यह कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी नहीं अघानेवाला और बड़ा पापी है; इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।'

भगवान्ने कामकी उत्पत्ति रजोगुणसे बतलायी और रजोगुण रागस्वरूप ही है। भगवान् अर्जुनसे पहले भी कह चुके हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥

(गीता २। ६२)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है।'

यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया कि आसक्तिसे कामकी और कामसे क्रोधकी उत्पत्ति होती है। सारे अनर्थोंका मूल आसक्ति ही है। इसलिये मनुष्यको स्त्री, पुत्र, धन, मकान, कुटुम्ब, शिष्य, मठ-आश्रम, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा, पद, शरीर आदि किसी भी प्राणी, पदार्थ और क्रिया आदिमें भूलकर भी किंचिन्मात्र भी कभी आसक्ति नहीं करनी चाहिये। इस आसक्तिका कारण है अहंता-ममता और अहंता-ममताका कारण है अज्ञान (अविद्या)।

योगदर्शनमें बतलाया गया है—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्॥

(योग० २। ३-४)

'अविद्या (अज्ञान), अस्मिता (अहंता), आसक्ति, द्वेष और मरण-भय—ये पाँच क्लेश हैं। इन पाँचों क्लेशोंमें बादवाले चारोंका कारण अविद्या है। अर्थात् अविद्यासे ही अहंता और आसक्ति आदिकी उत्पत्ति होती है।'

अतः सारे क्लेशोंकी जड़ है अविद्या (अज्ञान)। इस अज्ञानसे ही संशय, भ्रम और प्रमादकी उत्पत्ति होती है, अज्ञानका नाश होता है यथार्थ ज्ञानसे और उस यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें बहुत-से उपाय बतलाये गये हैं। ईश्वरकी भक्ति करनेसे ईश्वरकी कृपासे ज्ञान होता है। भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(गीता १०। ९)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही रमण करते हैं।'

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। ११)

'उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अज्ञानजनित अन्धकारको देदीप्यमान तत्त्वज्ञानरूपी दीपके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

तथा निष्कामभावपूर्वक कर्तव्यपालनरूप कर्मयोगसे भी शुद्ध हुए अन्तःकरणमें अपने-आप ही यथार्थ ज्ञान प्रकट हो जाता है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(गीता ४। ३८)

'इस संसारमें यथार्थ ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निस्संदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

एवं महापुरुषोंके बतलाये हुए साधनके अनुसार चलनेसे भी इस यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति उनकी कृपासे हो जाती है—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'अर्जुन! उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्माको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(गीता ४। ३५)

'पाण्डुपुत्र! जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

तथा गीतादि शास्त्रोंके अर्थ और भावको समझकर उनका अध्ययन करनेसे भी यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने बतलाया है—

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।

(गीता ४। २८ का उत्तरार्ध)

'कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करते हैं।'

और गीताका स्वाध्याय करनेवालेके लिये भगवान् कहते हैं कि जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीता-शास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञान-यज्ञसे पूजित होऊँगा (गीता १८। ७०)। इससे उसे यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। इस यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिमें प्रधान हेतु है श्रद्धा-विश्वास। भगवान्‌ने कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परमशान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

किंतु बिना श्रद्धाके किया हुआ सभी कुछ व्यर्थ है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

(गीता १७। २८)

'अर्जुन! बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है, वह सब असत् है—इस प्रकार कहा जाता है। इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके बाद ही।' अतः सभी शुभकर्म श्रद्धापूर्वक ही करने चाहिये।

श्रद्धाकी प्राप्ति होती है अन्तःकरणकी शुद्धिसे।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(गीता १७। ३)

'भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है; वह स्वयं भी वही है।'

अन्तःकरणकी शुद्धि होती है विवेक-वैराग्यपूर्वक भक्ति, ज्ञान और योगके साधनसे। इसलिये मनुष्यको उचित है कि भक्ति, ज्ञान और योगमेंसे जिसमें उसकी रुचि और विश्वास हो, उसीको लक्ष्य बनाकर उसे विवेक-वैराग्यपूर्वक परम उत्साह और तत्परतासे करे।

निष्काम कर्मसे परमात्माकी प्राप्ति

कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—ये सभी साधन अपने-अपने स्थानमें श्रेष्ठ, सुगम और शीघ्र कल्याण करनेवाले माने गये हैं। यहाँ कर्मयोगके विषयमें कुछ लिखा जाता है। कर्मयोगका साधन सुगम है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥

(५। ३)

'हे अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझनेयोग्य है; क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

इतना ही नहीं, ज्ञानयोगकी प्राप्ति तो कर्मयोगके बिना कठिन है, किंतु कर्मयोग शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है। गीतामें बतलाया गया है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

(५। ६)

'परंतु हे अर्जुन! कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।'

गीतामें भगवान्‌ने भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग—इन तीनों ही मार्गोंको स्वतन्त्र बताया है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(१३। २४)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं, अन्य

कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

(गीता ५। ५)

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोगको और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है वही यथार्थ देखता है।'

भक्तियोग और ज्ञानयोगके साधनसे भी कर्मयोगको श्रेष्ठ बताया है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

(गीता १२। १२)

'मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।'

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥

(गीता ५। २)

'कर्मसंन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही परम कल्याणके करनेवाले हैं; परंतु उन दोनोंमें भी कर्मसंन्याससे कर्मयोग साधनमें सुगम होनेसे श्रेष्ठ है।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्माके ध्यानसे भी निष्काम कर्म श्रेष्ठ है। जिस ध्यानमें फलका त्याग नहीं है और जिस कर्मफलत्यागरूप निष्काम कर्ममें ध्यान नहीं है—उन दोनोंका ही मुकाबला होता है। निष्काम कर्ममें फलका त्याग होता है, इसी कारण उससे परमात्माकी प्राप्तिरूप परम शान्ति मिलती है। जिस ध्यानमें फलका त्याग नहीं है, उस ध्यानसे तो जिस कामनाके उद्देश्यसे वह ध्यान किया जाता है, उस कामनाकी ही सिद्धि हो सकती है; उससे परम शान्ति नहीं मिल सकती। कर्मयोगकी प्रशंसा करते हुए भगवान्ने कहा है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

(गीता ६। १)

'जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है।'

अतएव वर्ण और आश्रमके अनुसार शास्त्रविहित कर्मोंमें* फल और आसक्तिका जो त्याग है, उसीको निष्काम कर्म कहते हैं।

ब्राह्मणके लिये मनुजीने षट्कर्मोंका विधान किया है—

अध्यापनमध्ययनं च यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥

(मनु० १। ८८)

'पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना—ये छः कर्म ब्राह्मणके लिये रचे गये हैं।'

षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः॥

(मनु० १०। ७६)

'इन षट्कर्मोंमें पढ़ाना, यज्ञ कराना और विशुद्ध द्विजातियोंसे दान ग्रहण करना—ये तीनों ब्राह्मणकी जीविकाके कर्म हैं।' तथा यज्ञ करना, दान देना और वेदादिका स्वाध्याय करना—ये तीनों कर्म धर्मपालनके लिये हैं।

क्षत्रियके लिये प्रजाकी रक्षा करना, दो विरोधी पक्षोंका उचित न्याय करना और कर वसूल करना—ये तीन जीविकाके कर्म हैं और दान देना, यज्ञ करना तथा वेदादिका स्वाध्याय करना—ये तीनों कर्म धर्मपालनके लिये हैं।

इसी प्रकार वैश्यके लिये कृषि, गोरक्षा और व्यवसाय—ये तीन कर्म जीविकाके लिये हैं—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

(गीता १८। ४४ का पूर्वार्ध)

'खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य और सम व्यवहार—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं।'

एवं दान देना, यज्ञ करना और वेदादिका स्वाध्याय करना—ये तीन कर्म धर्मपालनके लिये हैं।

शूद्रके लिये केवल एक ही कर्म बतलाया गया है—

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।

(गीता १८। ४४ का उत्तरार्ध)

'सब वर्णोंकी सेवा करना—शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है।'

उपर्युक्त अपने-अपने वर्णके कर्तव्यकर्मोंमें तथा इसी प्रकार जो कुछ भी शास्त्रोंमें आश्रमधर्म, सामान्यधर्म

* वर्णाश्रमधर्मका विस्तृत विवेचन गीताप्रेससे प्रकाशित 'मनुष्यका परम कर्तव्य' नामक पुस्तकके 'मानवता और वर्णाश्रमधर्म' शीर्षक लेखमें देख सकते हैं।

और आपत्कालके धर्म मनुष्यमात्रके लिये बताये गये हैं, उन कर्तव्यकर्मोंमें फल और आसक्तिका त्याग करके उनका अनुष्ठान करना चाहिये। ऐसा करनेसे 'निष्काम कर्म' सम्पन्न होता है। इस निष्काम कर्मका सार भगवान्‌ने गीतामें अ० २ श्लोक ४७ में बताया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

'हे अर्जुन! तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

यहाँ '**कर्मण्येवाधिकारस्ते**' से कर्म करनेमें मनुष्यके लिये अधिकार और स्वतन्त्रता बतलाकर कर्म करनेपर जोर दिया गया है कि कर्म करना ही कर्तव्य है। '**मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि**' से भी कर्मत्यागका निषेध करके कर्म करनेपर ही जोर दिया गया है। '**मा फलेषु कदाचन**' से यह बतलाया गया है कि कर्मफलमें अधिकार नहीं है, बल्कि उसमें परतन्त्रता है और '**मा कर्मफलहेतुर्भूः**' से कर्मके फलका हेतु न होनेके लिये कहकर वासना, आसक्ति, ममता और अभिमानके त्यागका आदेश दिया गया है। इसीका स्पष्टीकरण निम्नाङ्कित श्लोकमें है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २। ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

यहाँ कामना, स्पृहा, ममता और अहंकारके त्यागका वर्णन है। स्पृहाके अन्तर्गत ही आसक्ति और वासनाको तथा अहंकारके अन्तर्गत अभिमानको समझना चाहिये।

भगवान्‌ने गीतामें आसक्तिके त्यागके साथ ही सिद्धि और असिद्धिमें समताका भी उल्लेख किया है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(२। ४८)

'हे धनञ्जय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर। समत्व ही योग कहलाता है।'

सिद्धि और असिद्धिमें समता होनेसे राग-द्वेष, हर्ष, शोक आदिका अभाव स्वतः ही हो जाता है। राग-द्वेष ही सारे अवगुणोंकी जड़ है। इसलिये राग-द्वेषके त्यागमें ही सारे दोषोंके त्यागका अन्तर्भाव है, जैसे कि अहंता-ममताके त्यागके अन्तर्गत सारे दुर्गुणोंका त्याग है। इसी प्रकार समताकी प्राप्ति होनेपर भी सब दोषोंका अभाव हो जाता है।

गीतामें कहीं तो कर्मोंमें और विषयोंमें आसक्तिका त्याग बताया गया है (गीता ६। ४), वहाँ विषयोंकी आसक्तिके त्यागके अन्तर्गत ही कर्मफलका त्याग है। कहीं केवल आसक्तिका त्याग कहा गया है (गीता २। ४८), वहाँ फल-कामनाका त्याग उसके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये; क्योंकि '**सङ्गात् संजायते कामः**' (गीता २। ६२)—'आसक्तिसे ही विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है।' अतः कारणके त्यागसे कार्यका त्याग स्वाभाविक ही उसके अन्तर्गत है। जैसे जड़ काट देनेपर वृक्षको काटना उसके अन्तर्गत है, उसी प्रकार आसक्तिके त्यागमें कामना, स्पृहा, वासना आदिका त्याग स्वाभाविक है; क्योंकि इन सबका मूल आसक्ति ही है। अतः कर्मोंमें आसक्तिका त्याग करके कर्तव्यकर्मोंका आचरण करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

(गीता ३। १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

इसी प्रकार कर्मफलके त्यागसे भी आसक्ति, स्पृहा, वासना, ममताका त्याग समझ लेना चाहिये। प्रायः लोगोंकी प्रवृत्ति फलके लिये ही होती है। इसलिये कर्तव्यकर्मोंमें फलत्यागकी महिमा गीतामें विशेषरूपसे बतलायी गयी है (गीता ६। १)।

वास्तवमें तो कर्मोंमें फल और आसक्तिका त्याग होनेपर वे कर्म कर्म ही नहीं हैं—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः॥

(गीता ४। २०)

'जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्य तृप्त है, वह कर्मोंमें भलीभाँति बरतता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता।'

क्योंकि वे देखनेमात्रमें ही कर्म हैं, वास्तवमें कर्म नहीं हैं। यही कर्ममें अकर्मका देखना है। गीता अ ४ श्लोक १८ में जो कर्ममें अकर्म देखनेकी महिमा

बतायी गयी है वह इसीकी महिमा है। यही कर्मोंका रहस्य है और कर्मोंमें कुशलता भी यही है—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

(गीता २। ५०)

'समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको इसी लोकमें त्याग देता है। इससे तू समत्वरूप योगमें लग जा; यह समत्वरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है अर्थात् कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय है।'

भाव यह कि समताका नाम योग है और यह समता ही कर्मोंमें बुद्धिमत्ता है। इस समतासे ही मनुष्यका कल्याण हो जाता है।

यदि कहें कि शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है कि बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं होती, सो ठीक है; किंतु जिस ज्ञानकी महिमा गीतादि शास्त्रोंमें बतलायी गयी है, वह उच्च-से-उच्च परमात्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान कर्मयोगीको निष्काम कर्मके साधनसे अन्तःकरण शुद्ध होकर अपने-आप ही हो जाता है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(गीता ४। ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निस्संदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

यहाँ '**स्वयं**' शब्दसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उसे किसी दूसरे साधन या मनुष्यके आश्रयकी आवश्यकता नहीं है, उस ज्ञानकी प्राप्तिमें साधककी स्वतन्त्रता है।

तथा निष्काम कर्मसे सारे पापोंका नाश होकर अन्तःकरणकी शुद्धि भी अपने-आप हो जाती है।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।

(गीता ४। २३ का उत्तरार्ध)

'निष्काम कर्मरूप यज्ञसम्पादनके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं।'

इसीलिये—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥

(गीता ५। ११)

'कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।'

इस प्रकार अन्तःकरण शुद्ध होनेपर निष्काम कर्मके प्रभावसे उसे परमात्मामें निष्ठावाली वह परम शान्ति मिल जाती है, जो परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद मिलती है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।

(गीता ५। १२ का पूर्वार्द्ध)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है।'

इस प्रकार कर्मयोगसे शीघ्र ब्रह्मकी प्राप्ति (गीता ५। ६), परमात्माकी प्राप्ति (गीता ३। १९), ज्ञानकी प्राप्ति (गीता ४। ३८), पुण्य-पापका विलय (गीता ४। २३), अन्तःकरणकी शुद्धि (गीता ५। ११), शान्तिकी प्राप्ति (गीता २। ७१; ५। १२), कर्मयोगकी सुगमता (गीता ५। ३) और श्रेष्ठता (गीता ५। २; ६। १; १२। १२) ऊपर बतलायी गयी। इसके सिवा भगवान्‌ने यज्ञतपादि शास्त्रविहित उत्तम कर्मोंके आचरणको विवेकवान् मनुष्योंको पवित्र करनेवाला बताया है—

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(गीता १८। ५)

'यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं।'

तथा यज्ञ, दान, तप और अन्यान्य शास्त्रविहित कर्मोंको भी फल और आसक्तिका त्याग करके अवश्य ही करना चाहिये—यह भगवान्‌ने अपना सिद्धान्त बताया है।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(गीता १८। ६)

'इसलिये हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये—यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।'

जब मनुष्य कर्म करता है तब यही सोचता है कि इससे मुझे क्या मिलेगा। इस प्रकार स्वार्थको लेकर ही मनुष्य कर्मोंमें प्रवृत्त होता है। यह सकामभाव है। किंतु इस स्वार्थका त्याग करके मनुष्यको यह भाव रखना चाहिये कि मेरी इस क्रियासे प्राणिमात्रका क्या हित होगा; क्योंकि जो दूसरोंका हित है वही परम धर्म है और जो दूसरोंका अहित है वही पाप है।

श्रीतुलसीदासजीने लिखा है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४१। १)

अतः जिसके हृदयमें दूसरेका हित निवास करता है, उसके लिये संसारमें कोई भी चीज दुर्लभ नहीं है—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(रा० च० मा० अरण्य० ३१। ९)

उत्तम श्रेणीके महापुरुषोंके लक्षण बताते हुए भगवान्‌ने गीतामें भी यही कहा है—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

(५। २५)

'जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिनके सब संशय ज्ञानके द्वारा निवृत्त हो गये हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं और जिनका जीता हुआ मन निश्चल भावसे परमात्मामें स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।'

इसलिये अपने मन, वाणी और शरीरकी चेष्टाके द्वारा हमें वही कार्य करना चाहिये जिससे दूसरेका हित हो। जिसमें दूसरेका हित न हो, वह नहीं करना चाहिये। एवं जिसमें दूसरेका अहित हो वह तो कभी करना ही नहीं चाहिये। बल्कि जिससे दूसरोंका परम हित (परम सेवा) हो, उसीमें अपना जीवन लगा देना चाहिये। किसीको लौकिक विषयका सुख पहुँचाना सेवा है और आध्यात्मिक लाभ पहुँचाना परम सेवा है। किंतु सेवा करनेवाला निष्कामभावसे किसी भी प्रकारकी सेवा करता है तो उसके लिये वह परम सेवा ही है। सबके परम हितमें रत होकर सबकी निष्कामभावसे परम सेवा करना ही कल्याणकामी मनुष्यका परम कर्तव्य और परम उद्देश्य होना चाहिये।

इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें, भोगोंमें, शरीरमें और सम्पूर्ण कर्मोंमें ममता, आसक्ति, अभिमान और स्वार्थका त्याग करके निष्कामभावसे आत्माके कल्याणके लिये यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, यम-नियम-पालन, माता-पिताकी सेवा, सबके साथ उत्तम व्यवहार, दुःखी, अनाथ एवं सम्पूर्ण प्राणिमात्रका हित आदि शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका आचरण मन, तन, धन, जनसे तत्परताके साथ करनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करे।

युक्त आहार-विहारसे परमात्माकी प्राप्ति

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(गीता ६। १७)

'दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।'

भाव यह कि आहार-विहार, कर्म, सोना और जागना शास्त्रसे प्रतिकूल न हो और उतनी मात्रामें हो जितना जिसकी प्रकृति, रुचि और स्वास्थ्यकी दृष्टिसे उपयुक्त और आवश्यक हो। ऐसा करनेवालेका परमात्मप्राप्तिका साधनरूप योग सिद्ध (सफल) हो जाता है।

इस श्लोकमें 'युक्त' शब्द तीन जगह ही आया है; किंतु एक साथ कहे हुए स्वप्न और अवबोधको पृथक्-पृथक् करके श्लोकमें कही हुई चार बातोंके अनुसार अपने समयका चार भाग कर लेना चाहिये। चौबीस घंटेका दिन-रातका समय है, उसके चार भाग करनेसे प्रत्येक भाग छः घंटेका होता है। अतएव मनुष्यको उचित है कि छः घंटे तो आहार-विहारमें बितावें, छः घंटे जीविकोपार्जनके कार्योंमें, छः घंटे शयन करनेमें और छः घंटे जागने (सचेत होने) में—परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें विशेषरूपसे लगावे। यों तो छः घंटे सोनेके सिवा, अठारह घंटे मनुष्य जागता ही रहता है; किंतु यहाँ 'अवबोध' शब्दसे यह व्यक्त किया गया है कि कम-से-कम छः घंटे तो साधनमें विशेषरूपसे लगावे और हर समय चौबीसों घंटे साधनके लिये सचेत रहे—यानी अपनी रुचि और विश्वासके अनुसार साकार या निराकार अपने इष्टदेव परमात्माके स्वरूपका चिन्तन तो भेद या अभेद-बुद्धिसे निरन्तर चौबीसों घंटे करते ही रहना चाहिये। शयनकालमें भी उसको याद रखते हुए ही शयन करना चाहिये।

यदि वर्तमान समयमें गृहस्थाश्रमी मनुष्यका छः घंटे जीविकोपार्जनका न्याययुक्त कार्य करनेसे जीवननिर्वाह न हो तो आहार-विहारके समयमेंसे दो घंटे निकालकर जीविको-पार्जनके कार्यमें आठ घंटे लगाने चाहिये तथा अपनी सुविधाके अनुसार आहार-विहार और जीविकाके समयमें घंटा-दो-घंटा न्यूनाधिक भी किया जा सकता है; किंतु शयनमें छः घंटे और परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें छः घंटे अवश्य ही लगाने चाहिये। यदि पाँच घंटे सोनेसे

काम चल सके तो उसमेंसे एक घंटा निकालकर साधन सात घंटे करना चाहिये। नीचे अनुमानतः एक प्रकारका समय-विभाग करके बतलाया जाता है। इसमें अपनी सुविधाके अनुसार आगे-पीछे भी कर सकते हैं।

रात्रिमें दस बजे शयन करके चार बजे उठना। इसमें शीत और ग्रीष्मकालके अनुसार एक घंटा आगे-पीछे भी किया जा सकता है। रात्रिमें शयनके समय उन सांसारिक संकल्पोंके प्रवाहको जो हर समय चलता रहता है—स्वप्नवत्, नाशवान्, क्षणभङ्गुर या दुःखरूप और व्यर्थ समझकर हटा दे अर्थात् संकल्परहित हो जाय और भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यके संकल्पोंका प्रवाह श्रद्धा-प्रेमपूर्वक बहाते हुए शयन करे। अथवा सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके निर्गुण-निराकार स्वरूपके तत्त्व-रहस्यको समझकर वैराग्यपूर्वक भेद या अभेदरूपसे निरन्तर चिन्तन करते हुए शयन करे।

प्रातः चारसे पाँच बजेतक शौच-स्नान आदि क्रियाओंसे निवृत्त होना।

पाँचसे आठ बजेतक योगासन करके अपने विश्वास, रुचि, स्वभाव और अधिकारके अनुसार संध्या, गायत्रीजप, नामजप, तप, ध्यान, भक्ति-ज्ञान-योगविषयक शास्त्रोंका स्वाध्याय, स्तुति-प्रार्थना श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावसे करना।

आठसे बारहतक निरन्तर भगवान्‌को याद रखते हुए अपने अधिकारके अनुसार अध्ययन, याजन, प्रजापालन, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, सेवा आदि जीविकोपार्जनके न्याययुक्त कार्य निष्कामभावसे करना।

बारहसे एक बजेतक शरीरनिर्वाह और स्वास्थ्य-रक्षाके लिये भोजन-विश्राम आदि करना।

एकसे पाँच बजेतक निरन्तर भगवान्‌को याद रखते हुए निष्कामभावसे अपने अधिकारानुसार जीविकोपार्जनके कार्य करना।

सायं पाँचसे छः बजेतक शौच-स्नान आदि करना।

छःसे नौ बजेतक अपने विश्वास, रुचि, स्वभाव और अधिकारके अनुसार वैराग्यपूर्वक श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावसे भक्ति, ज्ञान या योगका साधन करना।

रात्रिमें नौसे दस बजेतक भोजन, वार्तालाप, परामर्श आदि करना।

उपर्युक्त कार्यक्रममें मनुष्य आगे-पीछे या कम-ज्यादा अपनी सुविधाके अनुसार उलट-फेर कर सकता है।

ब्रह्मचारीको जीविकोपार्जनका कार्य न होनेके कारण उन आठ घंटोंमें भिक्षाटन, व्यायाम, श्रद्धा-भक्तिसे गुरु-सेवापूर्वक विद्याभ्यास करना चाहिये तथा वानप्रस्थीको उन आठ घंटोंमें श्रद्धा, विश्वास, प्रेम, मन और इन्द्रियोंके संयम तथा वैराग्यपूर्वक यज्ञ, स्वाध्याय, तपश्चर्या आदि करने चाहिये; किंतु संन्यासीको तो शौच, स्नान, भिक्षा और शयन आदिमें अधिक-से-अधिक दस घंटे लगाकर शेष चौदह घंटे निष्कामभावसे जप, तप, संयम, स्वाध्याय, स्तुति-प्रार्थना, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, योग, सदाचार, श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधनोंमें ही लगाने चाहिये।

इस प्रकार युक्त आहार-विहारादि करनेपर परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप योगकी सिद्धि निश्चय ही शीघ्र हो जाती है, किंतु इस प्रकार न किये जानेपर योगकी सिद्धि सम्भव नहीं। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

(गीता ६। १६)

'हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खानेवालेका, न बिलकुल न खानेवालेका, न बहुत शयन करनेके स्वभाववालेका और न सदा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।'

भोजन अधिक करनेपर हजम न होनेके कारण रस कम बनता है। अनेक प्रकारकी बीमारियाँ हो जाती हैं। निद्रा और आलस्य अधिक आता है तथा साधनमें विक्षेप हो जाता है। बहुत दिनोंतक बिलकुल भोजन न करनेपर क्षुधाके कारण निद्रा कम आती है, संकल्प-विकल्प अधिक होते हैं, जिससे साधनमें विक्षेप हो जाता है और बिलकुल भोजन किये बिना शरीर-निर्वाह भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार अधिक सोनेसे निद्रा और आलस्य बढ़ जाते हैं, स्वभाव आलसी हो जाता है तथा साधनमें रुचि नहीं होती। सोनेमें मनुष्यको अधिक स्वप्न ही आते हैं, इसलिये यहाँ 'स्वप्न' शब्द दिया है किंतु सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) को उसके अन्तर्गत ही समझना चाहिये। बिलकुल न सोकर जागरण करनेसे सांसारिक 'संकल्प-विकल्प' अधिक होते हैं और चिन्ता, विक्षेप, आलस्य आनेसे परमात्माकी प्राप्तिके भक्ति, ज्ञान, योग आदि साधनोंमें अनेक विघ्न आ जाते हैं। इस कारण उसके योगसाधनकी ही सिद्धि नहीं होती, फिर परमात्माकी प्राप्ति हो ही कैसे सकती है?

इसके सिवा योगके साधनमें और भी बहुत-से विघ्न आते रहते हैं। जैसे कञ्चन, कामिनी, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, संसार और संसारके भोगोंमें ममता और आसक्ति,

देहमें अहंता, ममता और आसक्तिके कारण ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी और भोगोंकी इच्छा तथा काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सरता, राग-द्वेष, अज्ञान, संशय-भ्रम, दम्भ, कठोरता, नास्तिकता, परदोषदर्शन आदि अनेक दुर्गुण तथा मादक वस्तुओंका सेवन, थियेटर-सिनेमा आदि देखना, चौपड़-ताश, शतरंज, खेल-तमाशा, सट्टा-फाटका एवं शरीर, मन और इन्द्रियोंकी चञ्चलता आदि अनेक दुर्व्यसन (बुरी आदत) और झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, मद्य-मांसका सेवन, बेईमानी, दगाबाजी, प्रमाद आदि अनेक दुराचार एवं चोर, डाकू, बीमारी और मृत्यु आदिसे तथा अनुकूलके विनाश और प्रतिकूलकी प्राप्तिसे दुःख, चिन्ता, शोक, भय आदिका होना। इसी तरह और भी अनेक प्रकारके विघ्न साधनमें आया करते हैं। इन विघ्नोंके आनेपर मनुष्यको न तो घबराना चाहिये और न इनके निवारणको कठिन मानकर निराश ही होना चाहिये। बहुत-से दुर्गुण-दुराचार-दुर्व्यसनरूप विघ्न तो मनुष्यके अपने किये हुए हैं, उनका तो विवेक-विचारपूर्वक हठसे सर्वथा त्याग करना चाहिये तथा चिन्ता, भय-शोक और काम-क्रोध-लोभ-मोहादि दुर्गुणरूप विघ्नोंमेंसे कितने ही तो मूर्खताके कारण हैं और कितने ही स्वभावदोषके कारण हैं। इन सभीको भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सद्गुण-सदाचारके सेवनसे दूर करना चाहिये।

(१) भगवान्‌के शरण होकर करुणभावसे भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करना, भगवान्‌को अपना परम हितैषी मानकर उनमें अनन्य प्रेम करना तथा भगवान्‌के गुण और प्रभावको समझकर उनके नाम और स्वरूपका निष्कामभावसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना—इस प्रकारके तीव्र अभ्याससे भगवत्कृपासे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। महर्षि श्रीपतञ्जलिजीने कहा है—

तस्य वाचकः प्रणवः। (योगदर्शन १। २७)

'उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव (ॐ कार) है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योगदर्शन १। २८)

'उस ॐ कारका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

(योगदर्शन १। २९)

'उक्त साधनसे विघ्नोंका अभाव और परमात्माके स्वरूपका ज्ञान भी हो जाता है।'

(२) विवेकपूर्वक विचारके द्वारा संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, स्वप्नवत् अभावरूप समझकर संकल्परहित हो जाना एवं एक सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार ब्रह्मको नित्य भावरूप समझकर उसीका नित्य-निरन्तर चिन्तन करना—इस प्रकारके तीव्र अभ्याससे सारे विघ्नोंका नाश होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

(३) इस संसारको नाशवान् या दुःखरूप समझकर तीव्र वैराग्य करना। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु॥

(१३। ८ का उत्तरार्ध, ९ का पूर्वार्ध)

'जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना एवं पुत्र, स्त्री, घर, धन आदिमें आसक्ति और ममताका न होना।'

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

(योगदर्शन २। १५)

'परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख— ऐसे तीन प्रकारके दुःख सबमें विद्यमान रहनेके कारण और तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकीके लिये सब-के-सब कर्मफल दुःखरूप ही हैं।'

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

(योगदर्शन १। १५)

'देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्था है वह वैराग्य है।'

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

(योगदर्शन १। १६)

'पुरुषके ज्ञानसे जो प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका सर्वथा अभाव हो जाना है—वह 'परवैराग्य' है।'

उपर्युक्त श्लोकों और सूत्रोंके अर्थ और भावको विवेकपूर्वक समझनेसे संसारसे तीव्र वैराग्य तथा परम उपरति हो जाती है। भगवान्‌ने कहा है—

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।

(गीता १५। ३ का पूर्वार्ध)

'इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर—इससे उपरत होकर (उस परमात्माकी खोज करनी चाहिये)।'

यह नियम है कि विषयोंका चिन्तन होनेसे ही उनमें आसक्ति होती है और आसक्तिके कारण ही चित्तवृत्तियाँ संसारकी ओर जाती हैं। जब मनुष्य संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दुःखरूप समझ लेता है तब उसे स्वतः ही वैराग्य हो जाता है। वैराग्य होनेपर चित्तवृत्तियाँ अपने-आप ही संसारके पदार्थोंसे सर्वथा हट जाती हैं और संसारके पदार्थोंसे चित्तवृत्तियोंका हटना ही परम उपरति है। इस वैराग्यपूर्वक उपरतिसे सारे विघ्नोंका नाश अपने-आप ही हो जाता है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वैराग्यके द्वारा संसारका बाध करके परमात्माका ध्यान करे। इस प्रकारके साधनसे उसमें सम्पूर्ण गुण अपने-आप ही आ जाते हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

(गीता १५। ५)

'जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं, वे सुख-दुःखनामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं।'

(४) सद्गुण-सदाचारके पालनसे भी दुर्गुण-दुराचाररूप विघ्नोंका नाश हो जाता है। जैसे सत्य भाषणसे मिथ्या भाषणकी निवृत्ति हो जाती है। ब्रह्मचर्यपालनसे व्यभिचार नहीं रह सकता। सेवा-दयाका भाव होनेपर हिंसा नहीं हो सकती और सबमें निष्काम प्रेम होनेपर किसीसे द्वेष नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्य सब विषयोंमें समझ लेना चाहिये। महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। (योगदर्शन २। ३३)

'जब वितर्क (यम-नियमोंके विरोधी हिंसादि भाव) यम-नियमके पालनमें बाधा पहुँचायें तब उनके प्रतिपक्षी विचारोंका बारम्बार चिन्तन करना चाहिये।'

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। (योगदर्शन २। ३४)

'(यम-नियमोंके विरोधी) हिंसादि भाव वितर्क कहलाते हैं। वे तीन प्रकारके होते हैं—स्वयं किये हुए, दूसरोंसे करवाये हुए और अनुमोदन किये हुए। इनके कारण लोभ, क्रोध और मोह हैं। इनमें भी कोई छोटा, कोई मध्यम और कोई बहुत बड़ा होता है। ये दुःख और अज्ञानरूप अनन्त फल देनेवाले हैं। इस प्रकार विचार करना ही प्रतिपक्षकी भावना है।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(योगदर्शन १। ३३)

'सुखी मनुष्योंमें मित्रताकी, दुःखी मनुष्योंमें दयाकी, पुण्यात्मा पुरुषोंमें प्रसन्नताकी और पापियोंमें उपेक्षाकी भावना करनेसे चित्तके मल, विक्षेप, आवरण आदि दोषोंका नाश होकर चित्त शुद्ध हो जाता है।'

चित्तकी चञ्चलतारूप विक्षेपके नाशके लिये शास्त्रोंमें बहुत-से उपाय बताये गये हैं। श्रीवसिष्ठजी भगवान् रामके प्रति कहते हैं—

अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगम एव च।
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल।

(योगवा० उप० ९२। ३५, ३६ का पूर्वार्ध)

'अध्यात्मविद्याकी प्राप्ति, साधु-संगति, वासनाका सर्वथा परित्याग और प्राणस्पन्दनका निरोध—ये ही युक्तियाँ चित्तपर विजय पानेके लिये निश्चितरूपसे दृढ़ उपाय हैं।'

अभिप्राय यह है कि सत्-शास्त्रोंके स्वाध्याय और महापुरुषोंके संगसे चित्तके विक्षेपोंका नाश होकर साधकका मन स्वाधीन और स्थिर हो जाता है, इसी प्रकार वासनाओंके त्याग और प्राणायामसे भी हो जाता है।

अभ्यास और वैराग्यसे चित्तका वशमें होना भगवान्ने गीतामें भी बतलाया है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६। ३५)

'हे महाबाहो! निस्संदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है।'

वैराग्यके विषयमें ऊपर बताया ही जा चुका है।

अभ्यासके अनेकों प्रकार शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। कुछ नीचे लिखे जाते हैं—

(१) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर मनको बार-बार परमात्मामें ही लगाना (गीता ६। २६)।

(२) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ परमात्माको देखना।

(३) वाणी, श्वास, नाड़ी, कण्ठ और मन आदिमेंसे किसीके भी द्वारा अपने इष्टदेवके नामका श्रद्धा और प्रेमके साथ निष्कामभावसे निरन्तर जप करना।

(४) मनकी चञ्चलताका नाश होकर वह भगवान्में ही लग जाय—इसके लिये भगवान्के शरण होकर हृदयके सच्चे करुणभावसे बार-बार भगवान्से प्रार्थना करना।

इसी तरह और भी अनेक प्रकारके अभ्यासके भेद हैं। अभ्याससे भी चित्त वशमें हो सकता है। चित्तनिरोधके लिये भी अभ्यास और वैराग्य ही प्रधान हैं।

महर्षि श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (योगदर्शन १। १२)

'उन चित्तवृत्तियोंका निरोध अभ्यास और वैराग्यसे होता है।'

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (योगदर्शन १। १३)

'उन दोनोंमेंसे चित्तकी स्थिरताके लिये जो प्रयत्न करना है वह अभ्यास है।'

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः

(योगदर्शन १। १४)

'परंतु वह अभ्यास बहुत कालतक निरन्तर (लगातार) और आदरपूर्वक साङ्गोपाङ्ग सेवन किया जानेपर दृढ़ अवस्थावाला होता है।'

अतएव मनुष्यको उचित है कि अपनी रुचि और विश्वासके अनुसार भक्ति, ज्ञान, योग, वैराग्य, सत्सङ्ग और स्वाध्याय आदि साधनोंका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे तत्परताके साथ प्राणपर्यन्त अभ्यास करे।

पति-पत्नीके परस्पर कर्तव्य

धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण आदिमें स्त्रियोंके लिये सबसे बढ़कर कर्तव्य बतलाया गया है—पातिव्रत्यधर्म। पातिव्रत्य-धर्मके प्रभावसे स्त्री किसीको वर या शाप दे सकती है और अपने पतिको भी परमधाममें ले जा सकती है। शुभा नामकी स्त्री पातिव्रत्यधर्मके प्रभावसे अपने पतिके सहित परमधामको गयी, इसकी कथा पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें है। कृकल वैश्यकी पत्नी सुकला बड़ी उच्चकोटिकी पतिव्रता थी। इन्द्र और कामदेव भी उसके भयसे भाग गये। ब्रह्मा, विष्णु, महेशने उसके घरपर आकर उसको दर्शन दिये। वह अपने पतिके साथ परमगतिको प्राप्त हुई। यह कथा पद्मपुराणके भूमिखण्डमें है। अत्रि ऋषिकी धर्मपत्नी पतिव्रता अनसूयाका प्रसङ्ग श्रीतुलसीकृत रामायणके अरण्यकाण्डमें प्रसिद्ध है ही। उन्होंने सीताको पातिव्रत्यधर्मका बड़ा उत्तम उपदेश दिया है, उसे वहाँ देखना चाहिये। उन्होंने बताया कि स्त्रीके लिये एक ही धर्म, एक ही व्रत और एक ही नियम है—मन, वाणी और शरीरसे पतिके चरणोंमें प्रेम करना अर्थात् मनसे पतिका चिन्तन करना, वाणीसे उनके प्रति सत्य, प्रिय, हितकर वचन कहना तथा शरीरसे पतिके चरणोंमें नमस्कार, पतिकी सेवा और आज्ञाका पालन करना। इस प्रकार पातिव्रत्यधर्मका पालन छल छोड़कर करनेसे स्त्रीको सहज ही परमगतिकी प्राप्ति हो जाती है।

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥

(रा० च० मा० अरण्य० ५। १०,१८)

तथा जो उत्तम श्रेणीकी पतिव्रता होती है, वह पतिके अतिरिक्त दूसरे पुरुषका कभी चिन्तन नहीं करती। उसके हृदयमें उसका पति ही नित्य निवास करता है। पतिके सिवा अन्य कोई पुरुष है, ऐसा उसे कभी स्वप्नमें भी भान नहीं होता। किंतु जो मध्यम श्रेणीकी पतिव्रता होती है, वह दूसरे पुरुषोंकी ओर पवित्र भावसे ही देखती है। वह बड़ोंको जन्मदाता पिताके समान, समान अवस्थावालोंको सहोदर भाईके समान तथा बालकोंको औरस पुत्रके समान समझती है—

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥

(रा० च० मा० अरण्य० ५। १२-१३)

पतिकी धर्मके अनुकूल आज्ञाका पालन करना पत्नीका परम कर्तव्य है; पर यदि पतिके सङ्ग, सेवा और उसे सुख पहुँचानेके उद्देश्यसे स्वार्थत्यागपूर्वक उसकी आज्ञाके विपरीत भी कहीं आग्रह किया जाय तो दोष नहीं है। जैसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सीताको वनके बहुत-से क्लेश

दिखाकर घरपर ही रहनेका आदेश देते हैं, किंतु सीता उस आदेशको न मानकर उनकी सेवाके लिये वन जानेका ही आग्रह करती है और कहती है—'कृपानिधान स्वामिन्! आपने वनके बहुत-से भय, विषाद, परितापदायक क्लेश दिखलाये; किंतु वे सब मिलकर आपके अल्पमात्र वियोगके क्लेशके समान भी नहीं हैं। आपके वियोगमें मुझे संसारके विषयभोग रोगके समान, आभूषण भाररूप और संसार यम-यातनाके समान प्रतीत होता है। आपके वियोगसम्बन्धी कठोर वचन सुनकर भी मेरा हृदय जो नहीं फटता इससे जान पड़ता है आपके विषम वियोगके भयंकर दुःखको ये मेरे प्राण सहते रहेंगे—प्राण देह त्यागकर निकलेंगे नहीं। आप यदि यह समझते कि सीता मेरे वियोगमें जीती नहीं रहेगी तो आप मुझे ऐसी आज्ञा ही नहीं देते।

भोग रोगसम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥
बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥
ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पाँवर प्रान॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ६५। ५, ६६। ५,६७)

श्रीसीताजीने समस्त स्त्रियोंको शिक्षा देनेके लिये स्वयं आचरण करके पातिव्रत्यधर्मका दिग्दर्शन कराया। उन्होंने भोग-सुख, राजमहल, आभूषण, रेशमी वस्त्र, मेवा-मिष्ठान्न आदि सम्पूर्ण भोगसामग्रियोंको तुच्छ समझकर उनका परित्याग कर दिया तथा पतिके सुखके लिये ही पतिके साथ वृक्षोंके नीचे पर्णशालामें निवास करना, सर्दी-गर्मी-वर्षा आदि सहन करना और कन्द मूल-फल खाकर जीवन निर्वाह करना आदि कठोर व्रतोंका पालन करते हुए स्त्रियोंके परमधर्म पातिव्रत्यका नियमपूर्वक अनुष्ठान करके सबके लिये सुन्दर आदर्श उपस्थित कर दिया।

पातिव्रत्यधर्मपरायणा सावित्रीकी कथा महाभारतके वनपर्वमें आती है। जब श्रीनारदजीने उसके खोजे हुए वर सत्यवान्‌की आयु एक वर्ष ही शेष बतायी, तब उसके पिता राजा अश्वपतिने उससे दूसरा वर खोज लेनेको कहा, इसपर उत्तरमें सावित्री बोली—पिताजी!

सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्॥

(महा० वन० २९४। २६)

'भाई-भाईके हिस्सेका बँटवारा एक बार ही होता है, कन्या-दान एक बार ही किया जाता है और श्रेष्ठ पुरुष 'मैं दूँगा' यह कहकर एक बार ही वचनदान करता है—ये तीन बातें एक-एक बार ही हुआ करती हैं।'

दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा।
सकृद् वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम्॥

(महा० वन० २९४। २७)

'अब तो जिसे मैंने वरण कर लिया, वह दीर्घायु हो या अल्पायु तथा गुणवान् हो या गुणहीन—वही मेरा पति होगा, किसी अन्य पुरुषको मैं नहीं वर सकती।'

इस प्रकार कहकर सावित्रीने वैभवसम्पन्न राजा-महाराजाओंकी उपेक्षा करके तथा राजमहलके भोग-विलासोंको तुच्छ समझकर वनवासी सत्यवान्‌को ही पतिरूपमें वरण किया और पतिकी तथा अपने सास-ससुरकी सेवा करनेमें ही अपना जीवन लगाया। पातिव्रत्य-धर्मपालनके प्रभावसे उसने यमराजपर भी विजय प्राप्त कर ली। सास-ससुर आदिके लिये अनेक वरदान प्राप्त करके पतिको भी यमराजके फंदेसे छुड़ा लिया।

पतिव्रता मदालसाने अपने पुत्रोंको उत्तम शिक्षा देकर उन्हें जीवन्मुक्त बना दिया और स्वयं उत्तम गति प्राप्त की (मार्कण्डेयपुराण)।

पतिव्रता दमयन्तीने उसकी ओर बुरी दृष्टिसे देखनेवाले दुराचारी व्याधको अपने पातिव्रत्यधर्मके प्रभावसे भस्म कर दिया (महा० वन० ६३)।

इसी प्रकार और भी अनेक पतिव्रताओंके उदाहरण इतिहास-पुराणादि शास्त्रोंमें पाये जाते हैं।

स्त्रीको उचित है कि पति चाहे बूढ़ा, रोगी, मूर्ख, अंधा, बहिरा, क्रोधी, धनहीन, दीन या मलीन हो, तो भी उसका कभी अपमान न करे। जो नारी पतिका अपमान करती है, उसे यमलोकमें जाकर नाना प्रकारके क्लेशोंको सहना पड़ता है। पतिके मनके विपरीत तो कभी किंचिन्मात्र भी आचरण न करे; क्योंकि विपरीत आचरण करनेवाली नारी मरनेपर दूसरे जन्ममें युवावस्थामें ही विधवा हो जाती है और जो नारी पतिको धोखा देकर दूसरे पुरुषोंके साथ भोग-विलास करती है, उसे तो रौरवादि नरकोंमें कल्पोंतक निवास करना पड़ता है। इसलिये कल्याण चाहनेवाली स्त्रियोंको पतिके अनुकूल ही चलना चाहिये। पतिके प्रतिकूल आचरण तो कभी किसी हालतमें भी नहीं करना चाहिये।

बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥
पति बंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥

(रा० च० मा० अरण्य० ५। ८, ९। १६, १९)

श्रीमनुजीने तो यहाँतक कहा है—

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥

(मनु० ५। १५४)

'शीलहीन, स्वेच्छाचारी अथवा गुणोंसे रहित होनेपर भी पति साध्वी स्त्रीके लिये सदा देवताकी तरह पूजनीय है।'

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत् किंचिदप्रियम्॥

(मनु० ५। १५६)

'परम कल्याणमय पतिलोककी इच्छा रखनेवाली स्त्री पाणिग्रहण करनेवाले पतिके जीवित रहते अथवा मरनेपर भी कभी कोई ऐसा आचरण न करे, जो उसे अप्रिय हो।'

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते॥

(मनु० ५। १६४)

'पतिके विपरीत आचरण—व्यभिचार करनेसे स्त्री इस लोकमें निन्दाका पात्र बनती है, दूसरे जन्ममें उसे सियारकी योनिमें जाना पड़ता है तथा पापजनित रोगोंसे वह पीड़ित रहती है।'

इसी कारण स्त्रियोंके लिये स्वतन्त्र रहनेका निषेध किया जाता है। आजकल विदेशोंमें जो स्त्रियोंको स्वतन्त्रता दे रखी है, उसके फलस्वरूप पति-पत्नियोंमें परस्पर झगड़ा और मुकदमेबाजी ही होते रहते हैं। अतएव हमें उनका अनुसरण न करके भारतीय ऋषि-मुनियोंके सिद्धान्तका ही पालन करना चाहिये। भारतीय ऋषि-मुनिगण दीर्घदर्शी और त्रिकालज्ञ थे। उनके अनुभवोंसे हमलोगोंको लाभ उठाना चाहिये। वे स्त्रियोंको सदा पुरुषोंके अधीन होकर ही रहनेकी आज्ञा देते हैं; क्योंकि उनका स्वतन्त्र विचरण करना बहुत खतरेका काम है। श्रीमनुजीने बतलाया है—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किंचित् कार्यं गृहेष्वपि॥

(मनु० ५। १४७)

'स्त्री बालिका हो या युवती हो अथवा बूढ़ी हो, उसे अपने घरमें भी कोई कार्य स्वतन्त्रतासे कभी नहीं करना चाहिये।'

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्॥

(मनु० ५। १४८)

'बाल्यावस्थामें वह पिताके अधीन रहे, युवती अवस्थामें पतिके वशमें रहे और यदि पतिकी मृत्यु हो जाय तो पुत्रोंके अधीन रहे। तात्पर्य यह है कि स्त्री कभी स्वच्छन्दताका आश्रय न ले।'

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद् विरहमात्मनः।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्यौ कुर्यादुभे कुले॥

(मनु० ५। १४९)

'वह पिता, पति या पुत्रोंसे अपनेको अलग रखनेकी कभी इच्छा न करे; क्योंकि उनसे अलग रहनेसे पितृकुल और पतिकुल दोनोंके ही कलङ्कित होनेकी सम्भावना है।' कहा भी है—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट्॥

मनु० ९। १३)

'मद्यपान, दुष्टोंका सङ्ग, पतिसे अलग रहना, अकेली घूमना, अधिक सोना तथा दूसरेके घरमें निवास करना—ये छः कार्य स्त्रियोंके लिये महान् दोष हैं (इनसे स्त्रियोंका पतन हो जाता है)।'

आजकल जो शास्त्रविधिसे विवाह न करके रजिस्ट्री मात्रसे ही विवाह हो जानेकी प्रथाका समर्थन किया जा रहा है, वह बहुत ही बुरा है। इससे विवाहकी पवित्रता तो नष्ट होती ही है, प्रेमका बन्धन भी नहीं रह पाता, जिससे बात-बातमें तलाककी नौबत आती है। पाश्चात्त्य देशोंमें आज यही हो रहा है। अतः हमारे भारतवर्षमें शास्त्रीय पद्धतिसे विवाह करनेकी जो प्रथा प्रचलित है, वह बहुत ही उत्तम है। उसका पति-पत्नीके जीवनपर बड़ा अच्छा असर पड़ता है, उसमें पति-पत्नीका प्रेमसम्बन्ध आजीवन बना रहता है।

विवाह होनेके पश्चात् स्त्रीका सबसे बढ़कर मुख्य कर्तव्य यह हो जाता है कि वह पतिको ही सर्वस्व मानकर पतिकी आज्ञाके अनुसार पतिकी प्रसन्नताके लिये ही सारे आचरण करे। क्योंकि—

भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थव्रतानि च।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत्॥

(स्कन्द० काशी० पू० ४। ४८)

'स्त्रीके लिये पति ही देवता है, पति ही गुरु है और पति ही धर्म, तीर्थ एवं व्रत है। इसलिये स्त्री सबको छोड़कर केवल पतिकी सेवा-पूजा करे।'

श्रीवाल्मीकीय रामायणका प्रसङ्ग है। लोकापवादके कारण श्रीरामचन्द्रजीके आदेशसे जब सीताको वनमें छोड़कर लक्ष्मण लौटने लगे, तब सीताने उनसे कहा—

पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः।
प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः॥

(वा० रा० उत्तर० ४८। १७-१८)

'स्त्रीके लिये पति ही देवता, पति ही बन्धु और पति ही गुरु है; इसलिये उसे प्राणोंकी बाजी लगाकर भी विशेषरूपसे पतिका प्रिय करना चाहिये।'

श्रीमनुजीने भी बताया है—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥

(मनु० २। ६७)

'स्त्रियोंके लिये वैवाहिक विधिका पालन ही वेदोक्त उपनयन-संस्कार माना गया है तथा ससुरालमें रहकर पतिकी सेवा करना ही गुरुकुलका निवास है और भोजन बनाना आदि गृहकार्य ही दोनों समयका अग्निहोत्र है।' इसलिये—

यस्मै दद्यात् पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत्॥

(मनु० ५। १५१)

'पिता अथवा पिताकी अनुमति लेकर बड़े भाई भी कन्याको जिसके साथ ब्याह दें, उसी पतिकी वह जीवनभर सेवा-शुश्रूषा करे तथा उसकी मृत्यु होनेपर भी वह उसका उल्लङ्घन न करे।'

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

(मनु० ५। १५५)

'स्त्रियोंके लिये पतिसे अलग कोई यज्ञ, व्रत और उपवास करनेका विधान नहीं है। जिस पातिव्रत्यधर्मका आश्रय लेकर वह पतिकी सेवा-शुश्रूषा करती है, उसीसे वह स्वर्गलोकमें महिमाको प्राप्त होती है।'

पतिं या नाभिचरति मनो वाग्देहसंयता।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥

(मनु० ५। १६५)

'जो नारी मन, वाणी और शरीरको संयममें रखकर कभी पतिके विपरीत आचरण नहीं करती, वह पतिधामको प्राप्त होती है और सत्पुरुषोंके द्वारा 'साध्वी' कही जाती है।'

अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयता।
इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च॥

(मनु० ५। १६६)

'मन, वाणी और शरीरको संयममें रखनेवाली नारी इस बर्तावसे इस लोकमें उत्तम कीर्ति और परलोकमें पतिधामको प्राप्त करती है।'

जैसे एकनिष्ठ भगवद्भक्तके लिये भगवान्‌का दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन—सभी रसमय, अमृतमय, प्रेममय और आनन्दमय होता है, उसी प्रकार पतिमें एकनिष्ठा रखनेवाली स्त्रीके लिये पतिका दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन सभी रसमय, अमृतमय, प्रेममय और आनन्दमय समझना चाहिये। कभी अपनी और पतिकी—दोनोंकी ही इच्छाएँ न्याययुक्त हों, तो भी अपनी इच्छाका त्याग करके बड़े उत्साहसे पतिकी इच्छाके अनुकूल ही आचरण करे। पतिके साथ सदा आदर, सत्कार, प्रेम और त्यागसे पूर्णव्यवहार होना चाहिये। पतिके अधिकारकी कभी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। पति यदि कोई कार्य अपने मनके विपरीत भी करे, तो भी उसमें कभी दोषबुद्धि न करे। यदि पति कोई धर्मविरुद्ध आचरण करनेको कहे तो पतिके हितके लिये वह कार्य न करके अनुनय-विनय और स्तुति-प्रार्थनाके द्वारा उसको भी अधर्मसे बचाये। किंतु पतिके विचारोंका खण्डन न करके जो कुछ कहना हो, जब वे प्रसन्न हों, तब नम्रतापूर्वक मधुर शब्दोंमें कहे। पतिके सामने सदा हँसमुख और विनययुक्त ही रहे। पतिके सिवा किसी भी मनुष्यको अपना गुरु न बनाये। पतिकी सेवाके कार्योंको यथासाध्य स्वयं करे। पतिके लिये ही शृङ्गार करे, शौकीनीसे या दूसरोंको दिखानेके लिये नहीं। पतिके मनमें दुःख हो, ऐसा कार्य कभी भूलकर भी न करे। पतिके माता-पिता या अन्य पूजनीय लोगोंका भी आदर-सत्कार, सेवा-पूजा पतिके समान ही पतिकी प्रसन्नताके लिये कर्तव्य समझकर करे। अपने बालक-बालिकाओंके सम्मुख अपने उत्तम आचरणोंका आदर्श रखती हुई उनको अच्छी शिक्षा दे। कुटुम्बके दूसरे बालक-बालिकाओंका भी लालन-पालन बड़े प्रेमसे अपने बालकोंके समान ही करे; बल्कि उनके साथ खान-पानादि पदार्थोंके द्वारा अपने बालकोंसे भी अधिक प्रेमका व्यवहार करे। जैसे खाने-पीने, पहननेकी कोई वस्तु हो, वह अपने बालकोंकी अपेक्षा उनको पहले बढ़िया और अधिक दे। ऐसा करनेपर वे बालक और उनके माता-पिता आदि उस नारीके अनुकूल हो सकते हैं और स्वार्थरहित होकर करनेपर तो इस लोकमें कीर्ति और परलोकमें परम गति हो सकती है। अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर तथा अपने अधिकारकी वस्तुओंके द्वारा निष्कामभावसे दूसरोंका हित और सेवा ही करती रहे। किंतु दूसरोंसे सेवा कराने और आदर-सत्कार, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा प्राप्त करनेकी कभी इच्छा न रखे। दूसरोंके पदार्थोंके लेनेकी भी कभी इच्छा

न करे। यदि लेना पड़े तो उनके संतोषके लिये थोड़ा लेना चाहिये, चाहे वे ससुराल या नैहरके व्यक्ति ही क्यों न हों। निःस्वार्थभावसे ऐसा लेना भी उनकी सेवा ही है; किंतु अभिमानपूर्वक, मान-बड़ाई और स्वार्थ-सिद्धिकी इच्छासे मन, वाणी, शरीर और पदार्थोंके द्वारा दूसरोंकी सेवा-सत्कार करना भी वास्तविक सेवा-सत्कार नहीं है। घरके हरेक कार्य पतिकी इच्छाके अनुकूल बड़ी कुशलतापूर्वक करे और अपने घरकी परिस्थितिको देखकर ही खर्च करे, अनावश्यक खर्च कभी न करे।

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया॥

(मनु० ५। १५०)

'स्त्रीको सदा ही प्रसन्न रहना और घरके कार्योंमें दक्ष होना चाहिये। वह घरकी प्रत्येक सामग्रीको स्वच्छ रखनेवाली और खुले हाथों खर्च न करनेवाली बने।'

स्त्रीका यह परम कर्तव्य है कि वह जो भी कुछ करे, पतिकी आज्ञाके अनुसार पतिके हितके उद्देश्यसे ही निःस्वार्थभावसे करे, अपने लिये नहीं।

अब पतिके कर्तव्य बतलाये जाते हैं। पति अपनी पत्नीको अपने अङ्गके समान समझे; क्योंकि वह उसकी अर्धाङ्गिनी है। वह बीमार हो जाय या किसी प्रकारकी आपत्तिमें पड़ जाय तो जैसे अपने शरीरकी रक्षा की जाती है, वैसे ही उसकी रक्षा और सेवा करे। स्त्रीके माता-पिताको अपने माता-पिताके समान और उसके भाई-बहन-भौजाईको अपने भाई-बहन-भौजाईके समान समझकर उनका आदर करना चाहिये। स्त्री चाहे मूर्ख हो, अंधी हो, बहरी हो, वृद्धा हो, तो भी उसकी निन्दा, अपमान, अनादर, तिरस्कार न करे। कभी उसे क्रोध भी आ जाय, तो भी प्रेमसे समझा दे। उसको या उसके माता-पिताको गाली तो कभी दे ही नहीं। जो पुरुष अपनी पत्नीको गाली देता है या मारता-पीटता है, वह नरकगामी होता है। अतः जिस प्रकार पत्नीका इहलोक और परलोकमें हित हो, वैसा ही प्रयत्न सदा निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर करते रहना चाहिये; क्योंकि—

श्रीमनुजीने भी कहा है—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥

(मनु० ९। २६)

'परम सौभाग्यशालिनी स्त्रियाँ संतानोत्पादनके लिये हैं। वे सर्वथा सम्मानके योग्य और घरकी शोभा हैं। घरोंमें जो स्त्रियाँ हैं, वे सभी लक्ष्मीके समान हैं; उनमें और लक्ष्मीमें कुछ भी भेद नहीं है।'

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम्॥

(मनु० ९। २७)

'संतान उत्पन्न करना, उत्पन्न हुई संतानका भलीभाँति पालन-पोषण करना और प्रतिदिन भोजन आदि बनाकर लोकयात्राका निर्वाह करना—यह सब प्रत्यक्षरूपसे स्त्रीके अधीन है।'

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह॥

(मनु० ९। २८)

'संतानकी प्राप्ति, धर्मकार्यका अनुष्ठान, सेवाकार्य, उत्तम (धर्मयुक्त) रति, पितरोंकी स्वर्ग-प्राप्ति और अपनी भी उन्नति स्त्रीके अधीन हैं।'

इसलिये स्त्रीको अपने मित्रके समान समझकर उसके साथ सदा सद्व्यवहार करना चाहिये। जब विवाह होता है, उस समय पत्नीके प्रार्थना करनेपर पुरुष उसके साथ यह प्रतिज्ञा करता है—

मदीयचित्तानुगतं च चित्तं
सदा मदाज्ञापरिपालनं च।
पतिव्रता धर्मपरायणा त्वं
कुर्याः सदा सर्वमिदं प्रयत्नम्॥

'यदि तुम सदा मेरे मनके अनुकूल अपना मन रखोगी, सदा मेरी आज्ञाका पालन करती हुई पतिव्रतधर्मके परायण रहोगी तो मैं तुम्हारी कही बातोंका पालन करूँगा।'

इस प्रतिज्ञाके अनुसार पुरुषको उचित है कि यज्ञ, दान, तीर्थ, व्रत, देवकार्य या पितृकार्य आदि कोई भी धार्मिक कार्य किया जाय, वह पत्नीको साथ लेकर करे। कभी विदेशमें जाय तो पत्नीको साथमें ले जाय, परस्त्रीका कभी सेवन न करे। व्यापार आदि जीविकोपार्जनके कार्यमें भी उसकी सलाह लेता रहे। जहाँ मतभेद हो, वहाँ पत्नीकी इच्छा न्याययुक्त हो तो अपनी इच्छाका परित्याग करके उसकी इच्छाके अनुसार कार्य करे। उसका जो अधिकार है, उसमें कभी बाधा न पहुँचाकर उसकी रक्षा करे। उसके साथ आदर-सत्कारपूर्वक व्यवहार करे। तिरस्कार तो कभी करे ही नहीं। पत्नी रोगग्रस्त या कुरूप हो अथवा उसके द्वारा कोई अपराध हो जाय या वह अपने मनके विपरीत व्यवहार करे तो भी उसका परित्याग न करे, न मार-पीट करे, न डाँट-डपट करे, न डराये-धमकाये ही;

बल्कि उसके अपराधको क्षमा करके उसे प्रेमसे इस प्रकार समझाये कि वह भविष्यमें वैसी भूल न करे।

तथा अपनी शक्तिके अनुसार उसका वस्त्र और आभूषणादिके द्वारा उचित सत्कार करे। श्रीमनुजीने कहा है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

(मनु० ३। ५६)

'जहाँ स्त्रियोंका आदर-सत्कार किया जाता है, वहाँ देवता रमण करते हैं और जहाँ इनका अनादर-तिरस्कार होता है, वहाँ सब कार्य निष्फल होते हैं।'

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥

(मनु० ३। ५९)

'इसलिये उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंको चाहिये कि आदरके अवसरोंपर तथा उत्सवोंमें वस्त्र, अलंकार और भोजन आदिसे स्त्रियोंका सदा आदर-सत्कार करें।'

यदि पत्नीकी इच्छा धर्मविरुद्ध न हो तो उसकी इच्छाके अनुसार दान, धर्म, सेवा, तीर्थ, व्रत आदिमें खर्च करनेके लिये अपनी शक्तिके अनुसार उसे धनादि पदार्थ दे और उसके खाने-पीने, पहननेकी न्याययुक्त आवश्यकताको पूरी करते हुए अपने प्रेमपूर्ण व्यवहारसे सदा उसे प्रसन्न रखे एवं उसके ही हितके लिये निःस्वार्थभावसे कर्तव्य समझकर उसकी सदा-सर्वदा रक्षा करे।

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः॥

(मनु० ९। ५)

'कुसङ्ग अथवा आसक्ति सूक्ष्म-से-सूक्ष्म क्यों न हो, उससे भी स्त्रियोंकी विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि रक्षित न होनेपर वे पति और पिता दोनोंके ही कुलको शोकमें डाल देती हैं।'

रक्षाका उपाय भी मनुजीने बतला दिया है—

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे॥

(मनु० ९। ११)

'स्त्रीको धनके संग्रहमें और उसको खर्च करनेके कार्यमें लगाये, घरको स्वच्छ रखने, दान-पूजन आदि धर्मकार्य करने, रसोई बनाने तथा घरके सामानकी देख-भाल करनेके कार्यमें भी उसे नियुक्त करे।'

एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम्॥

(मनु० ९। १०)

'इन उपायोंको काममें लानेसे उसकी रक्षा की जा सकती है।'

इस प्रकार पति-पत्नी दोनों एक-दूसरेके कर्तव्य-पालनकी ओर न देखकर स्वयं अपने कर्तव्यका निष्काम-भावसे पालन करते हुए एक-दूसरेसे सदा संतुष्ट रहें तो उससे उन दोनोंका ही कल्याण हो जाता है। श्रीमनुजी कहते हैं—

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

(मनु० ३। ६०)

'जिस कुलमें स्त्रीसे पति नित्य प्रसन्न रहता है और उसी प्रकार पतिसे स्त्री प्रसन्न रहती है, वहाँ निश्चय ही अचल कल्याण होता है।'

साधनकी सफलताके उपाय

बहुत-से व्यक्ति अपने आत्माके कल्याणके लिये अपनी समझके अनुसार बहुत समयसे साधन करते हैं किंतु उन साधनोंका जैसा फल शास्त्रोंमें बताया गया है, वैसा फल देखनेमें नहीं आता। इसमें क्या कारण है और उन्हें किस प्रकार साधन करना चाहिये, जिससे उनकी उत्तरोत्तर उन्नति हो, इस विषयपर कुछ विचार किया जाता है।

सर्वप्रथम मनुष्यको अपना लक्ष्य स्थिर करना चाहिये; क्योंकि लक्ष्य स्थिर हुए बिना कोई भी साधन सफल नहीं होता। अतः पहले लक्ष्यके विषयमें विचार करना चाहिये। यह स्पष्ट है कि सभी मनुष्य अनन्त और अखण्ड सुख चाहते हैं वे उस सुखकी संसारमें खोज करते हैं, किंतु संसारमें वह सुख है ही नहीं। जैसे मृग मरुभूमिमें जल समझकर उसके लिये दौड़ते रहते हैं और दौड़ते-दौड़ते ही मर भी जाते हैं, किंतु उनको जल नहीं मिलता; क्योंकि मरुभूमिमें जल है ही नहीं। इसी प्रकार इस संसारमें मरुभूमिमें जलकी भाँति मनुष्योंको सुखकी प्रतीति होती है, किंतु वास्तवमें संसारमें सुख है ही नहीं। सुखके अखण्ड, अनन्त, अथाह सागर तो एक भगवान् ही हैं। इसलिये मनुष्यका एकमात्र लक्ष्य अनन्त सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति ही है; क्योंकि उस परमानन्दमय परमात्माकी प्राप्ति इस मनुष्यशरीरमें ही हो सकती है, इसीके लिये यह मनुष्यशरीर मिला है। अन्य

जितनी भी योनियाँ हैं, वे सब तो भोग योनियाँ हैं; किंतु मनुष्यका शरीर विषयभोगके लिये नहीं मिला है।

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४४। १)

इस मनुष्यशरीरके पानेका फल विषयभोग नहीं है और न स्वर्ग ही है; क्योंकि वह भी अल्प और अन्तमें दुःखदायक ही है। जैसे यहाँ मरनेके समय दुःख होता है, उससे भी बढ़कर स्वर्गसे पतन होनेके समय होता है। किंतु जो व्यक्ति मनुष्य-शरीरको पाकर इस लोक और परलोकके विषय-भोगोंमें मन लगाते हैं वे मूर्ख अमृतके बदले विषको ही ग्रहण करते हैं।

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४४। २)

संसारके विषय ही विष हैं और परमात्माकी प्राप्ति ही अमृत है। इस बातको ध्यानमें रखकर मनुष्यको उचित है कि वह अपना लक्ष्य स्थिर करे और फिर उस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये साधनके विषयमें विचार करे।

जैसे किसी पुरुषने कलकत्ता जानेका लक्ष्य बनाया तो उसके लिये कलकत्ता जानेके मोटर, रेल, वायुयान आदि बहुत-से साधन हैं, इसी प्रकार मनुष्य-जीवनके एकमात्र लक्ष्यरूप परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि बहुत-से साधन बताये गये हैं। उन साधनोंमेंसे किसी भी एक साधनको अपनी रुचि, विश्वास और बुद्धिकी समझके अनुसार निर्णय करके चुन लेना चाहिये। साधकके लिये श्रद्धा (विश्वास) और रुचि (प्रीति)—ये दो प्रधान हैं। इसलिये जिस साधककी कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि जिस साधनमें श्रद्धा और रुचि हो उसके लिये वही साधन सुगम, श्रेष्ठ, शीघ्र लाभदायक और उपयुक्त है एवं वह उसी साधनका अधिकारी है। अतः अपनी श्रद्धा और रुचिके अनुसार ही साधनका निर्णय करना उचित है।

जिस साधककी श्रद्धा और रुचि तो भक्तिमें है किंतु साधन ज्ञानयोगका करता है और जिसकी श्रद्धा और रुचि तो कर्मयोगमें है पर साधन करता है ज्ञानयोगका तथा जिसकी श्रद्धा और रुचि तो ज्ञानयोगमें है किंतु साधन भक्तियोग या कर्मयोगका करता है तो उन तीनोंको ही साधनमें विशेष सफलता नहीं मिलती।

ज्ञानयोगकी प्रशंसा सुनकर किसीकी ज्ञानयोगके साधनमें रुचि और विश्वास तो हो गया किंतु बुद्धिकी मन्दताके कारण ज्ञानयोगके सूक्ष्म तत्त्व-रहस्यको समझनेकी योग्यता नहीं है तो वह साधन उसके लिये उपयुक्त नहीं है। कर्मयोगमें रुचि तो है पर अन्तःकरणमें निष्कामभाव नहीं है तो वह भी उसके उपयुक्त नहीं है। भक्तियोग सुगम भी प्रतीत होता है, उसमें विश्वास भी है, पर रुचि नहीं है तो वह भी उसके लिये उपयुक्त नहीं है।

किसीका विचार तो एकान्तमें ज्ञानयोगका साधन करनेका रहता है किन्तु स्वभाव कर्मोंकी बहुलताका पड़ा हुआ है तो उसके लिये एकान्तमें ज्ञानयोगका साधन उपयुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि मनमें कर्मोंके संस्कारोंकी बहुलता होनेसे एकान्तमें कर्मोंकी स्फुरणाएँ ही अधिकतासे होने लगती हैं। अतः उसको कर्मयोगका साधन करना ही उचित है। किसीको विचारके द्वारा भगवान्‌की भक्ति करना अच्छा लगता है; किंतु कर्मोंमें आसक्ति होनेके कारण मन जप-ध्यानमें नहीं लगता तो उसे भी आसक्तिका त्याग करके कर्मयोगका अनुष्ठान करना ही उचित है। कोई अपनी रुचि और विचारके द्वारा कर्मयोगका अनुष्ठान करना चाहता है; किंतु आसक्ति और कामनाके कारण सफलता नहीं मिलती तो उसे भक्तियोगका साधन करना ही उचित है।

मनुष्य कभी तो ज्ञानकी प्रशंसा सुनता है, कभी निष्काम कर्मकी और कभी भक्तिकी एवं पुस्तकोंमें भी अनेक प्रकारके साधनोंकी प्रशंसा पढ़ता है तथा भक्तियोगमें भी कभी श्रीरामकी, कभी श्रीकृष्णकी, कभी श्रीविष्णुकी, कभी श्रीशिव आदिकी प्रशंसा सुनता और पढ़ता है एवं उसकी उसीके अनुसार रुचि और विश्वास होता है। यों नाना प्रकारकी बातें सुनने और पढ़नेसे मनमें दुविधा हो जाती है और कौन-सा साधन उसके लिये ठीक है, कौन-सा बेठीक है—इसका वह निर्णय नहीं कर पाता। इसलिये मनुष्यको सुने और पढ़े हुए साधनोंमेंसे एक साधनका निश्चय करके एकनिष्ठ होना चाहिये। किसीने भगवद्गीतामें निष्ठा कर ली तो उसे उचित है कि सत्सङ्गमें या शास्त्रोंमें प्राप्त जो बातें गीताके अनुकूल हों, उन्हें तो काममें लावे और जो प्रतिकूल हों उनकी उपेक्षा करे। जैसे पतिव्रता स्त्री, जो कुछ अपने पतिके अनुकूल होता है उसे ही काममें लाती है, अपने पतिके प्रतिकूलको नहीं। इसी प्रकार साधकको ईश्वरके साकार या निराकार किसी भी एक स्वरूपमें एकनिष्ठ होना चाहिये। साकारमें भी भगवान् श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदिमेंसे किसी एकमें ही निष्ठा करनी चाहिये। किसीकी भगवान् श्रीविष्णुमें निष्ठा हुई तो उसे ऐसा मानना चाहिये कि भगवान् विष्णु अवतारी हैं और राम, कृष्ण आदि सब उनके अवतार हैं। इसी प्रकार किसी भी एक महात्माको, जिसमें हमारी महात्माबुद्धि है, प्रधान मानकर उनकी

आज्ञाका पालन करना और उनके अनुकूल ही दूसरोंकी बातोंको मानना उचित है, प्रतिकूलको नहीं। यों एकनिष्ठ होनेपर नाना प्रकारकी साधन सम्बन्धी बातें सुनने-पढ़नेपर भी फिर दुविधा नहीं हो सकती।

जिस साधकको विवेक और विचारके द्वारा सद्गुण-सदाचारमें श्रद्धा-विश्वास तो है किंतु विषयभोगोंमें सुखबुद्धि, विषयासक्ति और स्वभाव-दोषके कारण दुर्गुण-दुराचारोंकी ओर उसकी प्रवृत्ति होती रहती है, उसको उचित है कि विवेक-विचारके द्वारा 'विषयोंमें और संसारमें सुख नहीं है, ये सब दुःखरूप, अनित्य और क्षणिक हैं'—ऐसा दृढ़ निश्चय करे, जिससे वह दुर्गुण-दुराचारोंसे रहित हो सकता है।

संसार, शरीर और विषयभोगोंमें सुखबुद्धि, आसक्ति और ममताके कारण ही मनुष्य अपनी श्रद्धा और रुचिके अनुसार अपने लिये निश्चय किये हुए साधनको नहीं कर पाता। एक साधक एकान्तमें बैठकर अच्छी नीयतसे जप-ध्यान करता है, किंतु संसार, शरीर और विषयोंमें सुख-बुद्धि, आसक्ति और ममता होनेके कारण आलस्य और विक्षेप होकर मन जप-ध्यानमें नहीं लगता। एक दूसरा साधक विवेक-विचारके द्वारा परोपकारकी दृष्टिसे निष्काम-भावपूर्वक लोकसेवा करना चाहता है, किंतु संसार, शरीर और भोगोंमें सुखबुद्धि, आसक्ति और ममता होनेके कारण उसका निष्कामभाव नहीं हो पाता। एक तीसरा साधक एकान्त स्थानमें निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके तत्त्वके यथार्थ ज्ञानके लिये विवेक विचारपूर्वक प्रयत्न करता है; किंतु संसार, शरीर और विषयोंमें सुखबुद्धि, आसक्ति और ममताके कारण आलस्य और विक्षेप आदि विघ्न आ जाते हैं, जिससे उसको सफलता नहीं प्राप्त होती; क्योंकि संसार, शरीर और विषयभोगोंमें सुखबुद्धि, आसक्ति और ममता आदि दोष साधनके महान् विघ्न और पतनकारक हैं। इनके रहते हुए न तो साधनकी सिद्धि हो सकती है और न सुख-शान्ति ही मिल सकते हैं। अतः इन दोषोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

सार बात यह है कि कर्मयोगके मार्गमें तो निष्काम-भावकी प्रधानता है, भक्तियोगमें भगवत्प्रेमकी प्रधानता है और ज्ञानयोग (सांख्ययोग) में परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी प्रधानता है। इस निष्कर्षके अनुसार ही अपनी श्रद्धा और प्रीतिके अनुकूल साधनका निर्णय करना चाहिये।

किंतु यदि मनुष्य अपनी बुद्धिसे ठीक-ठीक निश्चय न कर सके तो जिसपर उसका विश्वास हो ऐसे महापुरुषके पास जाकर अपनी सारी परिस्थिति उन्हें बतलाकर उनके कहे अनुसार साधनका निश्चय करके उसका अनुष्ठान करना चाहिये।

कितने ही मनुष्य अपनी समझके अनुसार निश्चित किया हुआ साधन करते हैं, दूसरे कितने ही महात्माओंमें श्रद्धा रखते हैं और उनके बतलाये हुए साधनका अनुष्ठान करते हैं; फिर भी उन्हें पूरी सफलता नहीं प्राप्त होती—इसका यही कारण है कि उनको अपने साधनकी सफलता न होनेका दुःख नहीं है। साधकको अपने साधनकी सफलता न होनेका दुःख होना चाहिये और किस कारणसे सफलता नहीं हो रही है इसकी खोज करनी चाहिये।

मान लीजिये, एक साधकका क्रोध करनेका स्वभाव पड़ा हुआ है और वह क्रोधको बुरा समझकर हृदयसे उसका त्याग भी करना चाहता है; किंतु मनके प्रतिकूल कोई कार्य, घटना, परिस्थिति प्राप्त होनेपर उसे क्रोध स्वाभाविक आ ही जाता है। इस सम्बन्धमें उस साधकको नीचे लिखे प्रकारसे विवेकपूर्वक विचार करना चाहिये।

मनुष्य कर्म करनेमें तो अधिकांश स्वतन्त्र है और फल भोगनेमें सर्वथा परतन्त्र है। जो भी कुछ घटना, परिस्थिति, पदार्थ आदि प्राप्त होता है, वह सब अपने पूर्वकृत कर्मोंका फल है। उन पूर्वमें किये हुए पुण्य-पापमय कर्मोंके फलोंका भोग तीन प्रकारसे होता है—अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छासे। जैसे, आरोग्य प्राप्त होना, जमीनमें गड़े हुए धनका मिलना, जमीन, मकान आदि सम्पत्तिकी कीमत बढ़ जाना, स्वाभाविक ही किसी महात्माका मिल जाना* आदि—यह पूर्वकृत पुण्यकर्मका अनिच्छा (दैवेच्छा) से प्राप्त फल है। रोगका होना, धनादि पदार्थोंका अग्नि आदिद्वारा विनाश होना, रेल-दुर्घटना या अचानक हृदयगति बंद (हार्टफेल) होकर अथवा बिजली आदिसे मृत्यु हो जाना आदि—यह पूर्वकृत पापकर्मका अनिच्छासे प्राप्त फल है। किसी दूसरे मनुष्यके द्वारा अपनी इच्छासे किसीको अपना दत्तक पुत्र बना लिया जाना, दान या वसीयतनामाके द्वारा अपनी सम्पत्तिका किसीको अधिकार दिया जाना और किसीका किसीके मन, बुद्धि या सिद्धान्तके अनुकूल बर्ताव करना आदि—यह पूर्वकृत पुण्यकर्मका परेच्छासे प्राप्त फल है। किसीका जान-बूझकर किसीके मन, बुद्धि या सिद्धान्तके प्रतिकूल बर्ताव करना, किसीके द्वारा जबरन् धन, सम्पत्ति, स्त्री आदिका हरण कर लिया जाना अथवा लोभ, क्रोध, भय आदि किसी भी कारण

* पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥ (रा० च० मा० उत्तर० ४५। ६)

आघात किया जाना आदि—यह पूर्वकृत पापका परेच्छासे प्राप्त फल है।

स्त्रीसम्भोगसे पुत्र प्राप्त होना, व्यापारसे धन प्राप्त होना, अन्य किसी स्वेच्छासे किये हुए कार्यकी सफलता होना आदि—यह पूर्वकृत पुण्यका स्वेच्छासे प्राप्त फल है। पुत्र-प्राप्तिके लिये किये हुए स्त्रीसम्भोगके फलस्वरूपमें गर्भपात होना, व्यापारसे धनका नुकसान होना अथवा अन्य किसी कार्यकी असफलता होना आदि—यह पूर्वकृत पापका स्वेच्छासे प्राप्त फल है।

विचार करनेपर मालूम होगा कि अनिच्छा या स्वेच्छासे तो अपने मनके कितने ही विपरीत कार्यकी प्राप्ति क्यों न हो, उसपर क्रोध आ ही नहीं सकता, केवल दूसरेके द्वारा अपने मनके विपरीत किये हुए कार्यपर ही क्रोध आता है; क्योंकि मनमें यह भाव रहता है कि यह अनुचित कर रहा है और इसपर हमारा क्रोध करना, डाँटना, फटकारना उचित है। ऐसा भाव रखना ही क्रोधको प्रोत्साहन देना है। इसी कारण क्रोध दूर नहीं हो पाता।

'कोई यदि हमारे मनके विरुद्ध किसी भी तरहका कार्य करता है, तो इसमें उसका कोई दोष नहीं, यह तो हमारे पूर्वकृत पापकर्मका ही परेच्छासे प्राप्त फल है'—हम कर्मयोगके साधनकी दृष्टिसे ऐसा मानें तो फिर हमें उसपर क्रोध नहीं आ सकता। अथवा भक्तिकी दृष्टिसे वह कर्मफल भगवान्‌का विधान या भगवान्‌की लीला है—ऐसा मानें तो फिर क्रोध नहीं आ सकता। एवं ज्ञानकी दृष्टिसे सिनेमा अथवा स्वप्नके दृश्योंकी भाँति उसे असत् मानें तो फिर क्रोध नहीं आ सकता। अपने मनकी बात पूरी करानेकी इच्छा रखना ही क्रोधकी जड़ है; क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—

'कामात्क्रोधोऽभिजायते' (गीता २। ६२ का दूसरा चरण)

'कामसे क्रोध उत्पन्न होता है।'

इसी प्रकार मनुष्यसे परस्त्रीसेवन, परधनहरण आदि नाना प्रकारके पापकर्म उसके स्वभावदोषके कारण होते रहते हैं। उन सबमें काम प्रधान है।* विषयोंमें आसक्ति होनेसे ही काम उत्पन्न होता है और वह विषयासक्ति सांसारिक पदार्थोंमें तथा भोगोंमें सुखबुद्धि होनेके कारण ही होती है। विषयभोगोंमें सुखबुद्धि अज्ञानसे है एवं उस अज्ञानताके कारण ही साधनमें श्रद्धा, रुचि और समझकी कमी और संशय आदि दोष होते हैं। भगवान्‌ने बताया है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

(गीता ४। ४०)

'विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है । ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।'

अतः इन दोषोंको विवेक-विचारके द्वारा सर्वथा दूर करना चाहिये।

अपने दोषोंके सम्बन्धमें मनुष्यका यह मानना कि 'पाप करनेका जो स्वभाव पड़ गया है, उस स्वभावका बदलना बहुत कठिन है', यह बड़ी भारी भूल है; क्योंकि जहाँपर क्रोध करनेसे महान् हानि या मृत्युदण्डकी सम्भावना प्रत्यक्ष दिखायी देती है। वहाँ किसीको क्रोध नहीं आ सकता। इसी प्रकार आसक्तिके विषयमें समझना चाहिये। जैसे बहुत बढ़िया स्वादिष्ट मिठाईमें भी यदि विष मिला हुआ है—यह ज्ञान हो जाय तो चाहे भोजनमें कितनी ही आसक्ति हो और कितना ही भूखा क्यों न हो—पर वह उस मिठाईको कभी नहीं खा सकता। इसी प्रकार पापकर्मका फल नरक, तिर्यग्योनि आदिकी प्राप्ति और महान् घोर दुःख निश्चय ही होता है—यह दृढ़ विश्वास होनेपर फिर वह कोई भी पाप नहीं कर सकता; और पूर्वमें किये हुए पाप तो चाहे कितने ही क्यों न हों, परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे और ईश्वरकी भक्तिसे तथा निष्काम कर्मसे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, वह इन साधनोंके द्वारा पवित्र होकर संसारसे मुक्त हो जाता है। भगवान्‌ने ज्ञानके विषयमें अर्जुनसे कहा है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

(गीता ४। ३६-३७)

'यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पापसमुद्रसे भलीभाँति तर जायगा। हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको भस्ममय कर देता है वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है।'

---

* काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ (गीता ३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।'

इसी प्रकार भक्तके विषयमें भी कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। एवं वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

अभिप्राय यह है कि मनुष्य चाहे कितना ही पापी और अपराधी क्यों न हो, भविष्यमें पाप न करनेका दृढ़ निश्चय करके भगवान्के अनन्यशरण हो जानेपर भगवान् उसे पूर्वके अपराधोंके लिये क्षमा कर देते हैं और फिर वे उसके पूर्वकृत पापोंकी ओर खयाल ही नहीं करते।

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(रा० च० मा० उत्तर० १। ६)

लोकमें भी यह प्रचलित है कि कोई मनुष्य कितना ही अपराधी होनेपर भी जब वह, जिसका अपराध किया गया, उसकी शरणमें चला जाता है तो वह उसके अपराधको प्रायः क्षमा कर देता है। यदि सरकारका भी कोई अपराधी है और वह मुचलका भरकर प्रतिज्ञा कर ले कि मैं भविष्यमें अपराध नहीं करूँगा, मुझे क्षमा करें तो सरकार भी प्रायः उसके अपराधको क्षमा कर देती है। फिर भगवान्की तो बात ही क्या है। वे तो परम दयालु, सहज क्षमाशील और भक्तोंका दुःख दूर करनेके लिये सदा तत्पर रहते हैं। वे ही यदि क्षमा-याचना करनेपर क्षमा न करें तब तो फिर मनुष्यका उद्धार ही कैसे हो; क्योंकि संसारमें जितने भी प्राणी हैं, उनमेंसे कोई भी ऐसा नहीं जो पूर्वकृत पुण्य और पापसे रहित हो। पुण्य-पापसे रहित होनेपर तो फिर जन्म ही नहीं होता। जन्म पूर्वके पुण्य-पापसे ही होता है। इन सब पापोंका समूल नाश परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे (गीता ४। ३६-३७), ईश्वरभक्तिसे (गीता ९। ३०-३१) और निष्कामकर्मसे (गीता ४। २३) सहज ही हो जाता है।

अधिकांश साधकोंमें यह बड़ा भारी दोष है कि वे साधन भी करते हैं—पर साथ-ही-साथ विषयोंमें रस लेते रहते हैं और दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसनोंको भी नहीं छोड़ते। किंतु यह खयाल रखना चाहिये कि यह उनमें एकनिष्ठाकी कमी है। ईश्वर, महात्मा और शास्त्रमें एकनिष्ठा होनेपर ये दोष रह नहीं सकते और इन दोषोंके रहते साधनकी सफलता सम्भव नहीं है। अतएव इन काम-क्रोधादि दोषोंको दूर करके साधनमें प्रयत्नशील होना परम आवश्यक है।

भगवान्ने गीतामें बतलाया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

(१६। २१-२२)

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये। हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त जो पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, वह परमगतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है।'

यदि पूर्वके स्वभाव-दोषके कारण कहीं मौका पाते ही काम-क्रोध-लोभ आदि दुर्गुण, दुराचार और दुर्व्यसन आ जाते हैं और उसके द्वारा बार-बार विचार करनेपर भी ये नहीं छूट रहे हैं तो साधकको उचित है कि वह इस बातके लिये महान् दुःखी होकर घोर पश्चात्ताप करे। असली पश्चात्ताप वही है कि पुनः वैसी भूल कभी न हो एवं वह मनमें ऐसा कोई भाव कभी न आने दे, जिससे उन काम-क्रोधादि, दुर्गुण-दुराचारोंको जरा-सा भी प्रोत्साहन मिले। साधक अपने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म दोषोंको भी हटाकर सदा सावधानीपूर्वक साधनमें ही तत्पर रहे। अपने साधनको ही जीवन, धन, सर्वस्व और प्राणोंसे भी बढ़कर माने। एक साधनको ही मुख्य माने, अन्य सबको गौण एवं साधनको 'फिर कर लेंगे'—यों कभी भविष्यपर न छोड़े।

महाभारतमें बतलाया गया है—

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वा कृतम्॥

(शान्ति० २७७। १३)

'जिस कामको कल करना हो उसे आज ही कर ले तथा जिसे अपराह्णमें करना हो, उसे पूर्वाह्णमें ही कर ले; क्योंकि मृत्यु इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करती कि इसने काम पूरा कर लिया है या नहीं।' किसी कविने भी कहा है—

काल करै सो आज कर आज करै सो अब।

पलमें परलै होयगी बहुरि करैगा कब॥

संतोंकी इस चेतावनीको ध्यानमें रखकर मनुष्यको जीवन रहते ही अपने साधनकी सिद्धिके लिये प्रयत्न कर लेना चाहिये।

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

(भर्तृहरिकृत वैराग्यशतक ८६)

'जबतक यह शरीररूपी घर स्वस्थ है, वृद्धावस्थाका आक्रमण नहीं हुआ है, इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है और आयु भी ढली नहीं है, तभीतक समझदार मनुष्यको अपने कल्याणके लिये प्रयत्न कर लेना चाहिये। नहीं तो घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदनेका प्रयत्न करनेसे क्या लाभ होगा?'

यदि किसी भी तरह सुधार न हो और कोई सुधारका रास्ता न बैठे तो मनुष्यको चाहिये कि। *'निर्बलके बल राम'* केवल भगवान्‌की ही अनन्य शरण ग्रहण करके दोषोंको हटानेके लिये उनसे यों प्रार्थना करे—

मैं केहि कहौं बिपति अति भारी। श्रीरघुबीर धीर हितकारी॥
मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥
तम, मोह, लोभ, अहँकारा। मद, क्रोध, बोध, रिपु मारा॥
अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहि जानि अनाथा॥
मैं एक, अमित बटपारा। कोउ सुनै न मोर पुकारा॥
भागेहु नहिं नाथ! उबारा। रघुनायक, करहु सँभारा॥
कह तुलसिदास सुनु रामा। लूटहिं तसकर तव धामा॥
चिंता यह मोहिं अपारा। अपजस नहिं होइ तुम्हारा॥

(विनयपत्रिका पद १२५)

इस प्रकार अपने दुर्गुण-दुराचार-दुर्व्यसनोंको दूर करनेके लिये तथा एक प्रभुमें ही निष्कामभावपूर्वक अनन्य श्रद्धा-प्रेम होनेके लिये उनसे अपने मनके करुणाभरे शब्दोंमें स्तुति-प्रार्थना करे कि—

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥

(रा० च० मा० अरण्य० ११)

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम॥

(रा० च० मा० उत्तर० ३४)

भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपासिंधु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥

(रा० च० मा० उत्तर० ८४ ख)

इस तरह कातरभावसे स्तुति-प्रार्थना करनेपर भगवत्-कृपासे समस्त दोष दूर होकर भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

यदि भगवत्प्राप्तिके लिये साधनका यत्न करनेपर भी भगवान् नहीं मिल रहे हैं तो उसके लिये भी मनुष्यको पूर्वोक्त प्रकारसे मनमें घोर पश्चात्ताप होना चाहिये तथा भगवान्‌से मिलनेके लिये भरतजी और गोपियोंकी भाँति ऐसी तीव्र व्याकुलता होनी चाहिये कि उनसे मिले बिना उनके विरहमें प्राण छटपटाने लगें।

भरतजी कहते हैं—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥

× × ×

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

(रा० च० मा० उ० १। १-२, ८)

गोपियाँ कहती हैं—

अटति यद् भवानह्नि काननं
त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ३१। १५)

'प्यारे श्यामसुन्दर! दिनके समय जब तुम वनमें विहार करनेके लिये चले जाते हो तब तुम्हें देखे बिना हमारे लिये एक-एक क्षण युगके समान हो जाता है और जब तुम संध्याके समय लौटते हो तथा घुँघराली अलकोंसे युक्त तुम्हारा परम सुन्दर मुखारविन्द हम देखती हैं, उस समय पलकोंका गिरना हमारे लिये भार हो जाता है—ऐसा जान पड़ता है कि इन नेत्रोंकी पलकोंको बनानेवाला विधाता मूर्ख है।'

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्‌से बतलाते हैं—

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। १)

'राजन्! इस प्रकार गोपियाँ विरहके आवेशमें भाँति-भाँतिसे गाने और प्रलाप करने लगीं। अपने प्यारे श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसासे वे अपनेको रोक न सकीं, करुणाजनक सुमधुर स्वरसे फूट-फूटकर रोने लगीं।' इस प्रकारकी विरह-व्याकुलता होनेपर तो फिर अनायास ही साधनकी सिद्धि होकर तुरन्त भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।

धर्मकी हानि और पापकी वृद्धिके निवारणके उपाय

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

(४। ७)

'हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ। अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ।'

भगवान्‌के इन वचनोंको लेकर कई लोग प्रश्न करते हैं कि 'इस समय संसारमें धर्मकी बड़ी भारी हानि और पापकी वृद्धि हो रही है; फिर भी भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते?' इसका उत्तर यह है कि धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि हो रही है, इसमें तो कोई संदेह नहीं; किंतु भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते—यह तो भगवान् ही जानें।

मुसलमानोंके शासनकालमें हिंदूधर्मपर अनेक आक्रमण हुए। हिंदुओंके अनेक धर्मग्रन्थ भी जला दिये गये। जबरन् अनेक हिंदुओंको मुसलमान बना लिया गया। धर्मपरिवर्तन न करनेवालोंको जबरन् मर्दुमशुमारीके समय मुसलमान जातिमें नाम लिखवानेके लिये बाध्य किया गया। यों नाम लिखा देनेसे ही राजस्थानमें एक 'क्यामखानी' जाति हो गयी। क्यामखानी जातिके लोग बहुत समयतक विवाह-शादीमें हिंदुओंकी रीति-रिवाजको भी काममें लाते रहे; किंतु बादमें पूरे मुसलमान हो गये। इस प्रकार अनेक तरहसे हिंदू-धर्मपर आघात हुए थे। पर उस समयमें तो हिन्दू अपने धर्मके लिये मर-मिटनेको तैयार रहते थे। गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंने अपने-आपको दीवारमें चुनवा दिया पर धर्म-परिवर्तन नहीं किया।

अंग्रेजोंके शासनकालमें ईसाई लोगोंने स्कूल, कालेज, अस्पताल आदिके द्वारा सेवा-सुख पहुँचाकर, जगह-जमीन, रुपये आदिका लोभ देकर, फुसलाकर बहुतसे हिंदुओंको ईसाई बना लिया और अब भी बना रहे हैं। उस समयमें हिंदुओंमें अपने धर्मके प्रति कट्टरता और जोश था। इसी कारण उस कठिन समयमें भी धर्मकी रक्षा होती रही। किंतु वर्तमानमें तो अनेक हिंदू भी स्वयं धर्म और ईश्वरकी अवहेलना करने लगे हैं, इसीसे हिंदूधर्मकी विशेष हानि हुई और हो रही है।

पूर्वमें जो ऋषि-मुनि हुए, वे त्रिकालज्ञ और अनुभवी थे। उन्होंने जो कुछ धर्मके विषयमें लिखा है, वह बहुत ही रहस्यमय, भावपूर्ण और लोक-परलोकमें लाभदायक है। वास्तवमें धर्म वही है जो इस लोक और परलोकमें कल्याण-कारक हो। महर्षि कणादने कहा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिक दर्शन १। २)

'जिससे इस लोकमें अभ्युदय (उन्नति) तथा परलोकमें परम कल्याणरूप मोक्षकी प्राप्ति हो, वही धर्म है।'

हिंदूधर्म अनादि है। इसीसे इसको वैदिक सनातनधर्म कहते हैं। वेद ही इसका मूल है। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि शास्त्रोंमें इसीका विस्तारसे प्रतिपादन है। श्रीमद्भगवद्गीता उन सब शास्त्रोंका सार है। महाभारतमें बतलाया गया है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥

(भीष्म० ४३। १)

'अन्य बहुतसे शास्त्रोंका संग्रह करनेकी क्या आवश्यकता है। गीताका ही अच्छी तरह गान (श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण) करना चाहिये; क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है।'

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥

(महा० भीष्म० ४३। २)

'गीता सर्वशास्त्रमयी है (गीतामें सब शास्त्रोंके सार-तत्त्वका समावेश है)। भगवान् श्रीहरि सर्वदेवमय हैं। गङ्गा सर्वतीर्थमयी हैं और मनुस्मृति सर्ववेदमय है।'

इसलिये हिंदूधर्मके सारे शास्त्रोंके साररूप गीताका विशेषरूपसे अध्ययन करना चाहिये।

हिंदूधर्म ही एक ऐसा धर्म है जो सबसे अधिक प्राचीन है। संसारमें जितने भी मुख्य-मुख्य धर्म माने जाते हैं, उनमेंसे एक भी ऐसा नहीं जो वैदिक सनातनधर्मसे पहलेका हो। अन्यान्य जितने भी संसारमें धर्मके नामसे प्रचलित हुए हैं, वे सब पीछेके हैं। जैसे इस्लामधर्म, जो हजरत मुहम्मदका चलाया हुआ है और जिसका धर्मग्रन्थ कुरानशरीफ है, करीब १४०० सालसे है। तथा ईसाईधर्मको प्रचलित हुए १९६३ साल हुए हैं एवं बौद्धधर्म करीब २५०० वर्षसे प्रचलित है; किंतु वैदिक सनातनधर्म अनादि और नित्य है। इसीसे इसका नाम सनातन है। इसके समान अन्य कोई भी धर्म नहीं है। इसमें दया, अहिंसा, परोपकार, उदारता, त्याग आदि पद-पदमें भरे हुए हैं। धर्मके विषयमें त्रिकालज्ञ महर्षियोंने अनुभव करके जो कुछ लिखा है, उसमें प्रवेश करके और गम्भीरतापूर्वक

सूक्ष्मतासे विचार करके अनुष्ठान करनेपर हमलोगोंको भी उसका प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है। किंतु दुःखकी बात है कि आज अधिकांश लोग उस धर्मके महान् गम्भीर और दूरदर्शितापूर्ण तत्त्व-रहस्यको नहीं समझते। इसी कारण हिंदूधर्मका ह्रास हुआ और हो रहा है।

हिंदूधर्मका अभिप्राय यों समझना चाहिये कि हिमालयका 'हि' और सिन्धु (समुद्र)का 'न्धु' लेकर 'हिन्धु' शब्द बना है, उसीका अपभ्रंश 'हिन्दू' शब्द है। अतः हिमालयसे लेकर दक्षिण समुद्रतकके बीचका जो देश है, उसका नाम 'हिंदुस्थान' है और उसमें जो निवास करते हैं उनका नाम 'हिंदू' है। एवं वे जिस सिद्धान्तका पालन करते हैं, उसका नाम है 'हिंदूधर्म'।

पहले इस देशका नाम भारतवर्ष था; इसीका दूसरा नाम आर्यावर्त' है। सृष्टिके प्रारम्भमें भारतवर्ष ही सबको धर्मकी शिक्षा देनेवाला आदिकेन्द्र था। मनुस्मृतिमें बतलाया गया है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(२। २०)

'इसी देशमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंसे पृथ्वीके सभी मनुष्य अपने-अपने सदाचार-धर्मकी शिक्षा ग्रहण करें।'

अतः समस्त भूमण्डलके लोग भारतवर्षसे ही अपने-अपने धर्मकी शिक्षा ग्रहण किया करते थे। आज वही भारतवर्ष हिंदुस्थानके नामसे प्रसिद्ध है।

इस हिंदूधर्मका ज्ञान करानेवाले जितने भी धर्म, नीति, अध्यात्म, ज्यौतिष, आयुर्वेद, व्याकरण आदि विषयके प्राचीन ग्रन्थ हैं, वे सभी संस्कृत-भाषामें ही हैं। उनका अध्ययन-मनन न किये जानेके कारण वे प्रायः लुप्त होते जा रहे हैं। भारतपर बहुत कालतक विदेशी शासन रहनेके कारण संस्कृतभाषाका प्रचार-प्रसार बहुत ही कम हो गया। किंतु खयाल करना चाहिये—संस्कृतभाषाके समान कोई उत्तम भाषा नहीं है। यही आदिभाषा है। इसीको देवताओंकी भाषा होनेसे देवभाषा, देवताओंकी लिपि होनेसे देवनागरी और उनकी वाणी होनेसे देववाणी कहते हैं। इसमें अन्य भाषाओंकी अपेक्षा अनेक विशेषताएँ हैं। संस्कृतका व्याकरण अलौकिक है। ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण जगत्‌की किसी भी भाषाका नहीं है। इसमें एक धातुके सैकड़ों रूप बन जाते हैं। वचन और लिङ्ग आदिकी भी इसकी अपनी एक विशेषता है। इसी प्रकार भारतीय ज्योतिषशास्त्रका गणित अभीतक प्रसिद्ध और प्रत्यक्ष फलदायक है। आयुर्वेदकी ओर देखिये, हमारे त्रिकालज्ञ महर्षियोंने बहुत परिश्रमपूर्वक अनुभव करके आयुर्वेदका आविष्कार किया है, जिसमें रोगोंके निदान, चिकित्सा, ओषधियोंके नाम, रूप, गुण और उनके निर्माण एवं जड़ी-बूटियोंकी विशेषताओंके सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण और अद्भुत विज्ञान भरा हुआ है; किंतु आज आयुर्वेद-विज्ञानके प्रति आदर कम हो जानेके कारण दिनोदिन उसका ह्रास होता जा रहा है। इसलिये हमलोगोंको इसका विशेष आदर करना चाहिये। आदर करनेसे ही उसका विशेष आविष्कार हो सकता है। अंग्रेजीभाषाके प्रचारके कारण संस्कृतभाषाके ज्ञानमें कमी आयी और आ रही है। उस कमीके कारण तथा डाक्टरी दवाओंके प्रचार-प्रसारके कारण भी आयुर्वेद-विज्ञानकी बहुत हानि हुई। अंग्रेजीभाषाकी शिक्षामें ही ऐसे भाव भरे हुए हैं, जिसको पढ़नेसे ऊपरसे वैसा-का-वैसा बना रहनेपर भी मनुष्य भीतरसे उन भावोंसे भावित हो अंग्रेज-सा ही बन जाता है। इस विदेशी भाषा, विदेशी पोशाक, विदेशी खान-पान, रहन-सहन और विदेशी चाल-चलनके होनेसे हिंदूधर्मकी बहुत ही हानि हुई है और हो रही है।

लोगोंमें धार्मिक भावोंकी कमी हो जानेके कारण, रोग हो जानेपर मनुष्य आतुर होकर डाक्टरी दवाओंको काममें लाने लगे। आजकल तो डाक्टरी ओषधियोंका और डाक्टरोंका इतना प्रचार हो गया है कि डाक्टरी दवाके सेवनसे बहुत ही कम मनुष्य बचे हैं। डाक्टरी दवाओंमें अपवित्रता और हिंसाकी बहुलता है; किंतु धर्मके प्रति श्रद्धा-विश्वासकी कमीके कारण धर्मका विचार उठ गया है। जिससे इस ओर लोगोंकी दृष्टि ही नहीं जाती कि मांस-मज्जा, अस्थि, ग्रन्थि, रक्त, अंडा, मदिरा आदि भी उनकी आकृति (रूप) छिपाकर औषधके नामसे उनको दिये जाते हैं। यह कितनी बुरी बात है। इससे धर्मकी बड़ी भारी हानि हो रही है।

होटलोंमें भोजन करनेसे भी धर्मकी बड़ी भारी हानि हो रही है। होटलमें भोजन करनेवाला कोई व्यक्ति यदि मांस और अंडा नहीं भी खाता तो भी संसर्ग-दोष तो उसके भोजनमें आ ही जाता है। खयाल करना चाहिये, मांस और अंडा आदि महान् अपवित्र और घृणित हैं। उनमें जीवोंकी हिंसा होती है। सूक्ष्मतासे इनके दोषोंकी ओर ध्यान दिया जाय तो ये पदार्थ इतने घृणित हैं कि इनको छूनेकी भी इच्छा नहीं हो सकती। इसी प्रकार मदिरा (शराब) आदि मादक वस्तुओंके सेवनसे मनुष्यके धार्मिक-भाव और बुद्धि नष्ट हो जाती है। मांस खाना पाप है; पर मदिरा पीना तो महापाप है।

शास्त्रोंमें सैकड़ों पाप बताये गये हैं। उनमें चार महापाप माने गये हैं। मनुजी कहते हैं—

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह॥

(मनुस्मृति ११। ५४)

'ब्राह्मणकी हत्या, मदिरापान, स्वर्णकी चोरी, गुरुस्त्रीगमन और इन पापोंको करनेवालोंका संसर्ग—इनको महान् पाप कहते हैं।'

तात्पर्य यह कि किसीकी भी हत्या करना पाप है; किंतु ब्राह्मणकी हत्या करना महापाप है। किसी भी गाँजा, सुल्फा आदि मादक वस्तुका सेवन करना पाप है; किंतु मदिरा पीना महापाप है। किसी भी परायी स्त्रीके साथ गमन करना पाप है; किंतु गुरु-पत्नीके साथ गमन करना महापाप है। किसी भी दूसरेकी किसी भी वस्तुकी चोरी करना पाप है; किंतु सोनेकी चोरी करना महापाप है। इनके सिवा, जो उपर्युक्त महापाप करनेवालोंका संसर्ग करता है, वह भी महापापी हो जाता है। अतः इन सभी महापापोंका तो सर्वथा परित्याग करना ही चाहिये। इनके सिवा, नीचे लिखे और भी बहुत-से दोष समाजमें जोरसे फैल रहे हैं, उनका भी सर्वथा त्याग करके समाजकी उत्तरोत्तर उन्नति हो, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये।

दिन-पर-दिन समाजका बहुत पतन होता जा रहा है। कुरीतियाँ, फिजूलखर्ची, दहेजकी प्रथा, शास्त्रनिषिद्ध, अपवित्र, हिंसात्मक और मादक पदार्थोंसे बारात आदिकी खातिरी आदि—ये सब समाजके लिये बहुत ही हानिकर हैं। इनको दूर करनेकी कोशिश करनी चाहिये।

नाटक-सिनेमा देखना बहुत ही बुरा है; क्योंकि उनमें युवती और सुन्दरी स्त्रियोंके चित्र, चरित्र, हाव-भाव, कटाक्ष आदि दिखाये जाते हैं। इससे पुरुषोंमें काम-विकार उत्पन्न होता है और व्यभिचारके भावोंकी जागृति होकर उनका पतन हो जाता है। अतः नाटक-सिनेमा कभी नहीं देखना चाहिये।

चौपड़-ताश, जूआ-लाटरी, सट्टा-फाटका आदिसे देशकी प्रत्यक्ष हानि हो रही है। इनसे मनुष्य-जन्मका समय व्यर्थ नष्ट होता है, बुद्धि पापमय होकर नष्ट हो जाती है तथा प्रमाद, आलस्य और अकर्मण्यता आती है। ये सभी कार्य देश और समाजके लिये बहुत ही हानिकर हैं। इसलिये इनका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

आजकल लज्जा-शर्म भी दिन-पर-दिन कम होती जा रही है। स्त्रियाँ अपने पीहर (नैहर) और ससुरालमें निर्लज्ज होकर बातें करती हैं और दूसरे पुरुषोंके साथ मोटरमें बैठकर नाटक-सिनेमा देखने जाती हैं। इसी प्रकार पुरुषोंमें भी लज्जा-शर्म कम हो गयी है। बड़ोंका आदर-सत्कार, मानमर्यादा, विनय-श्रद्धा रखना, नमस्कार करना आदिको लज्जास्पद मानकर उनकी उपेक्षा की जाती है; किंतु यह बड़ा भारी दोष है। इसका त्याग करके विनय और लज्जापूर्वक आदर और प्रेमका व्यवहार करना चाहिये।

शौचाचार-सदाचारके पालनमें भी बहुत कमी आती जा रही है। शौचाचारकी तो आजकल बहुत-से लोग तत्त्व न समझनेके कारण मजाक उड़ाते और अवहेलना करते हैं। अंग्रेजीभाषा पढ़ने और अंग्रेजोंके संसर्गके कारण केवल बाहरकी सफाईको ही लोग आदर देते हैं, जिससे शास्त्रीय शौचाचारकी अवहेलना हो रही है। साबुन, जो कि अपवित्र वस्तु है, उससे हाथ धोना तो पवित्र मानते हैं और जल-मिट्टीसे हाथ धोना असभ्यता समझते हैं। भोजनालयमें भोजनादि बनानेकी जो शास्त्रीय रीति-रिवाज है, उसके स्थानमें सफाईको ही प्रधान मानने लगे हैं, शास्त्रीय पवित्रताको नहीं। टेबुलपर भोजन-सामग्री रखकर उसीमेंसे कई व्यक्ति जूठे हाथोंसे ही उठा-उठाकर चारों ओर फिरते हुए खाते रहते हैं। यों वे एक-दूसरेका उच्छिष्ट ही खाते हैं तथा बिना हाथ धोये, जूठे हाथोंसे ही पानीका गिलास लेकर पी लेते हैं; एक व्यक्तिके पानी पी लेनेपर उसी गिलाससे दूसरे पी लेते हैं। चलते-फिरते चाहे जैसे खाते-पीते रहते हैं।

चलते-फिरते खाना मूर्खता है। श्रीकविवर कालिदासने राजा भोजसे कहा था—

खादन्न गच्छामि हसन्न जल्पे
गतं न शोचामि कृतं न मन्ये।
द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन्
किं कारणं भोज भवामि मूर्खः॥

'महाराज भोज! मैं खाता हुआ नहीं चलता, हँसता हुआ बात नहीं करता, बीते हुएका शोक नहीं करता, किये हुए कार्यका अभिमान नहीं करता एवं परस्पर बात करते हुए दो मनुष्योंमें तीसरा नहीं होता (बिना उनकी सम्मतिके उनके पास जाकर नहीं खड़ा होता), फिर मैं किस कारण मूर्ख हूँ?'

इन सब बातोंको विचारकर हमलोगोंको शौचाचार-सदाचारके पालनकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि शौचाचार-सदाचाररूप बाहरकी पवित्रता भीतरकी पवित्रतामें सहायक है। श्रीपतञ्जलिने बतलाया है—

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। (योग० २। ४०)

'शौचाचारके अभ्याससे अपने अङ्गोंमें जुगुप्सा और दूसरोंसे संसर्ग न करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है।'

भाव यह कि बाहरकी शुद्धिके अभ्याससे मनुष्यकी अपने शरीरमें अपवित्र बुद्धि होकर उसमें वैराग्य हो जाता है अर्थात् आसक्ति नहीं रहती और दूसरे सांसारिक मनुष्योंके सङ्गमें भी प्रवृत्ति या आसक्ति नहीं रहती। इस प्रकार उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है।

बहुत-से मनुष्य अज्ञानसे स्वाद-शौकीनी, ऐश-आराम, भोग-विलास और इन्द्रियलोलुपताके सुखमें फँसकर अपना धर्म-कर्म खो रहे हैं; किंतु विचार करनेपर पता चलता है कि इनमें सुख है ही नहीं, बल्कि इनके कारण मनुष्यका पतन ही होता है। अतः अपनी उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंको विवेकयुक्त बुद्धिके द्वारा इन सबको दुःखरूप, नाशवान् और क्षणभङ्गुर समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरका संयम करना चाहिये।

भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं; इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

आजकल भक्ति, ज्ञान और धर्मकी आड़में बहुतसे गृहस्थी तथा साधु-संन्यासी वेषधारी पाखण्डी मनुष्य स्त्रियोंका सतीत्व नष्ट करते और धन ठगते हैं। इसलिये जहाँ अश्लील वातावरण हो, धनकी लिप्सा हो, उन धूर्तोंके पंजेमें न फँसकर सावधान रहना चाहिये। जो उच्चकोटिके महापुरुष होते हैं, वे तो मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाको भी मल-मूत्रके समान समझते हैं और अपना उच्छिष्ट या चरणोदक देने, पूजा-आरती करवाने आदिको कलङ्क समझते हैं। किंतु जो मान, बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा चाहते हैं, असलमें वे ही ऐसा करते हैं। उच्चकोटिके ज्ञानी महात्मा पुरुष तो इन सबसे दूर ही रहते हैं। अतएव हमलोगोंको ऐसे लोगोंसे सदा सावधानीपूर्वक बचना चाहिये।

व्यापारमें भी आजकल झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी, विश्वासघात आदि दोष बहुत अधिक बढ़ गये हैं। यहाँतक कि खान-पानकी वस्तुएँ भी बिना मिलावटकी—शुद्ध मिलनी कठिन हो गयी हैं। जैसे, घीमें बेजिटेबल, तेलमें ह्वाइट आयल, दूधमें अरारोट या मिल्क पाउडर एवं इसी प्रकार अन्यान्य खाद्य पदार्थोंमें भी मिलावट करके उनको विक्रय किया जाता है। यह ग्राहकोंको धोखा देना और महान् अन्याय है।

सरकारकी ओरसे जो नाना प्रकारके टैक्स लगाये गये हैं, उनमें भी अधिकांश लोग सरकारको धोखा देनेके लिये चोरी, बेईमानी, झूठ, कपट करते हैं—यह अनुचित है। इसमें सरकारको टैक्स कम देना उतना पाप नहीं है, जितना पाप झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी करके और झूठा बहीखाता बनाकर ईश्वरके कानूनको भङ्ग करनेमें है।

आजकल घूस-रिश्वतखोरी भी बहुत बढ़ गयी है। न्यायकर्ता हाकिमों, पंचायती करनेवाले पंचों, सरकारी पदाधिकारियों, रेल कर्मचारियों और अन्यान्य सभी व्यक्तियोंको अपने-अपने कर्तव्यका समुचितरूपसे पालन करते हुए नीतिपर दृढ़ रहना चाहिये। लोभसे, भयसे या दबावसे, कभी न्यायका त्याग करके अनुचित कार्य नहीं करना चाहिये।

कल्याणकामी मनुष्योंको उचित है कि ऊपर जो-जो दोष बतलाये गये हैं, उनका सर्वथा त्याग करनेका प्रयत्न करें। भारी-से-भारी आपत्ति आनेपर भी अंडे, मांस आदि अपवित्र घृणित वस्तुओं तथा मदिरा आदि मादक वस्तुओंका सेवन कभी सीधे या प्रकारान्तरसे भी न करें। नाटक-सिनेमा, चौपड़-ताश, खेल-तमाशा आदिमें समय लगाकर अपना जीवन नष्ट न करें। जहाँतक हो भाँग, तम्बाकू, बीड़ी-सिगरेट आदि मादक वस्तुओंसे भी बचें तथा शास्त्रीय शौचाचार-सदाचारकी कभी अवहेलना न करें। एवं सचाई और समताके साथ लोकहितकी दृष्टिसे निःस्वार्थभावपूर्वक भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही सबके साथ उत्तम-से-उत्तम व्यवहार करें। इस उत्तम व्यवहारके फलस्वरूप मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होकर सहज ही मुक्ति हो सकती है—जैसे निःस्वार्थ व्यापारसे तुलाधार वैश्य आदिकी मुक्ति हुई।

सभीको अपने आत्माके कल्याणके लिये भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और धर्मके पालनके लिये तत्परतासे कोशिश करनी चाहिये और भारी आपत्ति पड़नेपर भी नीति एवं धर्मका त्याग कामसे, लोभसे, भयसे, लज्जासे किसी भी प्रकार कभी नहीं करना चाहिये। महाभारतमें कहा गया है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गा० ५। ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे, या जीवन-रक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा

जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है।'

अतः धर्म-पालनके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। सम्पूर्ण मानवमात्रके लिये मनुजीने धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनुस्मृति ६। ९२)

'धैर्य, क्षमा, मनको वश करना, चोरी न करना, बाहर-भीतरकी पवित्रता, इन्द्रियोंका निग्रह, सात्त्विक बुद्धि, सात्त्विक ज्ञान, सत्य और अक्रोध—ये धर्मके दस लक्षण हैं।'

आगे इनके पालनका फल बताते हैं—

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम्॥

(मनु० ६। ९३)

'धर्मके इन दस लक्षणोंका जो विप्र भलीभाँति अध्ययन करते हैं और अध्ययन करनेके पश्चात् उनका अनुष्ठान करते हैं, वे परम गतिको पाते हैं।'

इसलिये मनुष्यको तत्परताके साथ धर्म-पालन करना चाहिये।

केवल निष्काम कर्मसे भगवत्प्राप्ति

केवल निष्काम कर्मसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है और उसमें भक्तिका मिश्रण हो जाय, तब तो कल्याण होनेमें बात ही क्या है। जैसे भगवान्‌ने कहा है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

(गीता १२। १२)

अभिप्राय यह कि अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है। योगका अभ्यास, शास्त्रका अभ्यास किसी भी प्रकारका जो अध्यात्म-विषयक अभ्यास है, उससे ज्ञान श्रेष्ठ है। पर जो अभ्यास ज्ञानपूर्वक नहीं है, उसकी अपेक्षा वह ज्ञान श्रेष्ठ है जहाँ ज्ञान है, पर अभ्यास नहीं है। जो परोक्ष ज्ञान है, उससे परमात्माका ध्यान श्रेष्ठ है। किंतु जो परमात्माका साक्षात्—यथार्थ अनुभव यानी अपरोक्ष ज्ञान है, उससे नहीं; तथा परमात्माका जो ध्यान निष्काम नहीं है, ऐसे ध्यानसे कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ है अर्थात् जहाँ कर्मके फलकी इच्छा नहीं है, ऐसा निष्काम कर्म भगवान्‌के सकाम ध्यानसे श्रेष्ठ है; क्योंकि कर्मफलके त्यागमें जो त्याग है, उस त्यागसे तत्काल शान्ति मिलती है। परमात्माकी प्राप्ति होनेपर जो शान्ति मिलती है, वही शान्ति उसे मिल जाती है। इसलिये निष्कामकर्म सबसे श्रेष्ठ है, इसीसे ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ कहा गया है। इसमें कर्मफल-त्यागके साथ ध्यान नहीं है यानी यह ध्यानरहित कर्मफल-त्याग है; क्योंकि ध्यान होनेसे तो ईश्वरकी भक्ति शामिल हो गयी, अतः वह तो श्रेष्ठ है ही। पर जिस ध्यानके साथ फलत्याग नहीं है, उस सकाम ध्यानकी अपेक्षा वह निष्काम कर्म जिसके साथ ध्यान नहीं है, श्रेष्ठ है। यह केवल कर्मयोग है।

गीताके तीसरे अध्यायके १९वें श्लोकमें भी केवल कर्मयोगका वर्णन है। वहाँ आसक्तिके त्यागसे परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—'अर्जुन! इसलिये तू अनासक्त भावसे—आसक्तिरहित होकर कर्तव्यकर्मोंका अच्छी प्रकारसे आचरण कर; क्योंकि अनासक्त भावसे सदा-सर्वदा कर्मोंका आचरण करता हुआ पुरुष परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

यहाँ साधनके साथ भक्ति नहीं है और कर्मोंके साथ '*सततम्*' शब्द है। अतः इसका यह अर्थ है कि सदा-सर्वदा अनासक्त भावसे कर्मोंका आचरण कर। जहाँ आसक्ति नहीं है, वहाँ कामना है ही नहीं; क्योंकि—

'सङ्गात्संजायते कामः' (गीता २। ६२ का तृतीय चरण)

—आसक्तिसे ही कामना उत्पन्न होती है। जहाँ आसक्ति ही नहीं, कारण ही नहीं, वहाँ कामनारूप कार्यका अभाव है ही।

ऐसे ही गीताके छठे अध्यायके पहले श्लोकमें भी भक्तिरहित कर्मयोग है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

जो कर्मोंके फलके आश्रयसे रहित है यानी कर्तव्यकर्म करता है, पर फलका आश्रय नहीं लेता—जिसे कर्मके फलकी इच्छा बिलकुल नहीं है, ऐसा निष्काम-भावसे कर्म करनेवाला पुरुष श्रेष्ठ माना गया है। वह संन्यासी है, वह योगी है। किंतु केवल स्वरूपसे जिसने कर्मोंका या अग्निका त्याग कर दिया है, वह न संन्यासी है और न योगी है। वास्तवमें जिसके अन्तःकरणमें उच्चकोटिका भाव है, भीतरमें भी जिसके त्याग है, भीतरमें ज्ञान है, भीतरमें योगका अभ्यास है,

परमात्माका ध्यान है, उसके लिये यह नहीं कहा कि वह संन्यासी या योगी नहीं है।

इसी प्रकार कहीं आसक्तिके त्यागकी, कहीं कामनाके त्यागकी बात गीतामें कही गयी है। साथमें भगवान्‌की भक्तिका सम्बन्ध नहीं है। ऐसा कर्मयोग भी मुक्तिको देनेवाला है। गीतामें पाँचवें अध्यायके ११ वें, १२ वें श्लोकमें भी इसका उल्लेख है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥

केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे निष्काम कर्मयोगी—अनासक्त भावसे—आसक्तिसे रहित होकर आत्माकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं; उससे अन्तःकरण शुद्ध होकर वे परमात्माको पा लेते हैं।

आगे स्पष्ट बतला दिया—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

कर्मयोगसे युक्त यानी निष्काम-भावसे कर्म करनेवाला योगयुक्त पुरुष कर्मफलको त्यागकर निष्ठावाली शान्तिको पा लेता है—जो शान्ति योगनिष्ठाकी या परमात्माकी प्राप्ति होनेपर मिलती है, जिसे परम शान्ति और शाश्वत शान्ति भी कहते हैं तथा जो योगयुक्त नहीं है, वह कामनाके कारण फलमें आसक्त हुआ कर्मोंके द्वारा बँध जाता है।

इस प्रकार गीतामें जहाँ कहीं भक्तिका बिलकुल सम्बन्ध नहीं बताया गया है, वह कर्म केवल निष्काम कर्म है। यानी जहाँ कामनाका अभाव है, आसक्तिका अभाव है, कर्तव्य-बुद्धिसे कर्म किया जाता है, वह केवल निष्काम कर्म है। उससे भी आत्माका उद्धार हो जाता है और उसके साथ भक्तिका मिश्रण हो जाय, तब तो उससे उद्धार हो ही जाता है।

अब यह विचार करना चाहिये कि वह कौन-सा कर्म है। जिस वर्ण-आश्रमके मनुष्यके लिये, जिस पुरुष या स्त्रीके लिये शास्त्रने जो कर्म निश्चित कर दिया है—उसका कर्तव्य बतला दिया है, उस कर्मको निष्काम-भावसे करनेपर उसका कल्याण हो जाता है। जैसे, सुहागिन स्त्रीके लिये पातिव्रत्यधर्मका पालन करना उसका कर्तव्य है। वह निष्काम-भावसे केवल पातिव्रत्यधर्मका पालन करती हुई परमात्माको प्राप्त कर लेती है। इसी प्रकार जिसके माता-पिता जीवित हैं, वह निष्काम-भावसे केवल माता-पिताकी सेवा करके परम गतिको प्राप्त हो जाता है। उसके लिये माता-पिताकी सेवा परम धर्म है, शेष सब उपधर्म हैं। मनुस्मृतिमें बतलाया गया है—

त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

(२। २३७)

'माता, पिता और आचार्य—इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कर्म सम्पन्न हो जाता है। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म हैं।'

पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेसे किन-किन स्त्रियोंका उद्धार हो गया—इसके लिये शास्त्र प्रमाण हैं। श्रीतुलसीदासजी भी रामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें अनसूयाजीने जो सीताजीके प्रति उपदेश दिया था, उसका उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥

(४। ५,९)

स्त्रीके लिये एक ही धर्म, एक ही व्रत और एक ही नियम है—मन, वाणी और शरीरसे पतिके चरणोंमें प्रेम करना। छलका त्याग करके पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली नारी बिना ही परिश्रम परम गतिको प्राप्त हो जाती है।

इसी प्रकार शास्त्रोंमें जगह-जगह पातिव्रत्यधर्मकी महिमा बतलायी गयी है। अनसूयाजी स्वयं पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली थीं—जिनसे ब्रह्मा, विष्णु, महेशने अंशरूपसे अवतार लिया। ऐसे और भी बहुत-से उदाहरण हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सबकी सेवा करके परम गतिको प्राप्त हो जाता है, अवश्य ही उसका निष्काम-भाव होना चाहिये। उसमें किसी प्रकारका भी कहीं भी किंचिन्मात्र भी अपना स्वार्थ नहीं रहना चाहिये। हरेक प्रकारसे हमलोगोंका कर्तव्य है सबकी सेवा करना। यज्ञ, दान, तप इत्यादि जो शुभ कर्म हैं, उनका भी जो निष्काम-भावसे पालन करता है, उसका निश्चय कल्याण हो जाता है। अवश्य ही भाव निष्काम होना चाहिये, उनमें उसका कोई स्वार्थ नहीं रहना चाहिये।

शूद्रका सब वर्णोंकी सेवा करना धर्म है। वह चारों वर्णोंकी सेवा करके परम गतिको प्राप्त हो जाता। किंतु उसमें भी निष्काम-भाव होना चाहिये। इसी प्रकार वैश्य कृषि, गौरक्ष्य, वाणिज्य—निष्काम-भावसे करे तो उसका उद्धार हो जाता है; किंतु जो वैश्य रुपया संग्रह करनेके लिये कर्म (व्यापार) करता है, उस रुपयोंकी कामनावालेका नहीं। जो अपना कोई भी स्वार्थ नहीं रखता और यह समझता है कि खेती, व्यापार या गोरक्षाके द्वारा सबको सुख पहुँचाना है तथा यों सुख पहुँचाकर भी जो बदला कुछ भी नहीं चाहता—उस मनुष्यके भावको निष्काम-

भाव कहते हैं। आप दूसरोंकी सेवा करते हुए यदि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा करते हैं तो वह निष्काम सेवा नहीं है। आप इनकी इच्छा तो नहीं करते, इनकी प्राप्ति आपका उद्देश्य भी नहीं है, पर दूसरे लोग आपका आदर-सत्कार तथा प्रतिष्ठा करते हैं, आपकी कीर्ति गाते हैं और उस सबको सुनकर यदि आपके चित्तमें प्रसन्नता होती है तो वह भी सकाम-भाव है। इस बातको तो मनुष्यको बुद्धिसे या विचारसे हटा देना ही चाहिये कि दूसरे मनुष्य यह कहें कि वाह-वाह! वाह-वाह!! ये बड़े उच्चकोटिके निष्कामी हैं, बड़े स्वार्थत्यागी हैं। ये शब्द हमको प्रिय नहीं लगने चाहिये, बल्कि इन्हें सुनकर हमको लज्जा होनी चाहिये, मनमें दुःख होना चाहिये।

हरेक काममें यह विचार करना चाहिये कि यह काम जो मैं कर रहा हूँ इसमें कोई मेरी कामना तो नहीं है, मेरी आसक्ति तो नहीं है। जहाँ आसक्ति है, कामना है, वहाँ समझना चाहिये कि वह निष्काम नहीं है। किंतु निष्काम न होनेपर भी सेवा करना उत्तम है। विचार करना चाहिये—कोई मनुष्य किसी भी प्रकारसे दूसरेकी सेवा करता है, दान देता है, उपकार करता है और वह भयसे, लज्जासे या मान-बड़ाईकी इच्छासे करता है तो वह करना भी न करनेकी अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है। किंतु जो निष्काम कर्म है, उसकी तो बात ही क्या; उसका तो बहुत ही ऊँचा दर्जा है।

मनुष्यको सदा सावधान रहना चाहिये; क्योंकि किसी भी प्रकारकी कामना निष्काम-भावमें कलङ्क है। शुभ कर्म सकाम-भावसे भी करना अच्छा है; किंतु निष्कामका दर्जा तो बहुत ही ऊँचा है। सकाम और निष्काममें बहुत अधिक अन्तर है; रात-दिनका अन्तर है, इस बातको ध्यानमें रखकर मनुष्यको निष्काम-भावसे आचरण करना चाहिये।

कोई भी मनुष्य कुछ काम करता है तो पहले मनमें यह भाव आ जाता है कि इसको करनेसे मुझको क्या लाभ होगा। यही सकाम-भाव है। इसलिये मेरी इस क्रियासे संसारको कितना लाभ होगा—इस दृष्टिको रखकर कर्म करना चाहिये। अधिक-से-अधिक लोगोंको लाभ हो—यह ध्यान रखना चाहिये और उस लाभके बदलेमें कुछ भी नहीं चाहना चाहिये, बल्कि देनेपर भी नहीं लेना चाहिये। किंतु याद रखना चाहिये कि कहीं-कहीं लेना भी एक प्रकारसे निष्काम हो जाता है। जैसे कोई साधु, महात्मा, ब्राह्मण या गृहस्थ है, उसे कोई व्यक्ति अपना कर्तव्य समझकर निष्काम-भावसे कुछ देता है, उचित या न्याय समझकर देता है तो उसको निष्काम-भावसे ले लेना देनेवालेके लिये भी हितकर है और लेनेवालेके लिये भी हितकर है। जैसे किसी साधुके पास वस्त्र नहीं है, देनेवाला आग्रह करके देता है और साधुकी भी एक प्रकारसे लेनेकी इच्छा नहीं है, बल्कि अपने फटे-पुराने वस्त्रसे ही काम चलानेकी इच्छा है, किंतु फिर भी वह उसके आग्रह करनेपर उसके संतोष—प्रसन्नताके लिये कुछ स्वीकार कर ले तो उसमें दोष नहीं है। यदि दाताके मनमें यह दुःख हो कि मैं गया-बीता हूँ इसलिये महाराजने मेरी वस्तु स्वीकार नहीं की तो उसके दुःखको दूर करनेके लिये वह वस्तु ले ली जाय तो वह लेना भी न लेनेके समान ही है। इसी प्रकार कोई गृहस्थ है, उसके यहाँ किसीने यह कहलाकर फल आदि भेज दिये कि हमारे लड़केकी शादीके निमित्त आये हुए ये फल आदि आपके लिये भेजे हैं। उनको न लेनेपर उस दाताको दुःख होता है तो वहाँ कुछ ले लेना भी न लेनेके समान है। इसी तरह किसीके यहाँ हम गये और वह हमें अतिथि समझकर सत्कार करता है और हम उसे स्वीकार नहीं करते, हमारे स्वीकार न करनेसे उसे दुःख होता है तो उस हालतमें हम उसकी दी हुई वस्तु स्वीकार कर लें तो यह लेना न लेनेके ही समान है।

अपने स्वार्थके लिये दूसरेसे सेवा स्वीकार करना तो सकाम है; किन्तु उसकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार कर लेनेमें दोष नहीं है। हरेक बातमें यह ध्यान रखना चाहिये कि कहीं हमारे भीतर कोई स्वार्थका भाव तो नहीं है। जो स्वार्थका भाव है, वही हानिकर है। जैसे, अपने लड़के, नौकर या स्त्रीसे काम ले लेते हैं, न लेनेसे उनको दुःख होता है तो उनसे काम करवाना, सेवा लेना न लेनेके समान ही है। हरेक विषयमें ऐसा विचार कर लेना चाहिये कि मैं जो स्वीकार करता हूँ वह उसकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार करता हूँ या अपनी प्रसन्नताके लिये, जहाँ स्वार्थ है वहीं सकाम-भाव है। यह सकाम-भाव निष्काम-भावमें कलङ्क है। पर वास्तवमें जो न्यायसे प्राप्त है, उसे स्वीकार कर लेनेमें दोष नहीं है। उत्तम कोटि वह है कि अपनी प्रसन्नताके लिये नहीं, दूसरोंके संतोषके लिये हम स्वीकार करें; वह हमारा निष्काम-भाव है।

इसके सिवा, यह भी विशेषरूपसे खयाल रखना चाहिये कि अपने मनके अनुकूल जो कुछ प्राप्त होता है, उसमें तो राग होता है और जो अपने मनके प्रतिकूल प्राप्त होता है, उसमें द्वेष होता है। किंतु जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ निष्कामता नहीं है। अतएव हरेक काम करते समय राग और द्वेषका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। राग-द्वेषसे रहित होकर विषयोंमें विचरण करना भी कल्याणकारक होता है। यहाँ विषयोंमें विचरणका अर्थ है राग-(रस-)

बुद्धिसे रहित हो विषयोंका न्याययुक्त सेवन। जैसे भोजनादि करना न्याययुक्त है, शरीरनिर्वाहके लिये आवश्यक और उचित है। विषयोंमें विचरण करना इस कथनमें आसक्ति झलकती है; इसलिये साथमें यह कहना पड़ता है कि विषयोंमें विचरण करनेका अर्थ आसक्ति—रसबुद्धिसे विषयोंका ग्रहण नहीं समझना चाहिये। किसी भी प्रकारकी कामना न रखकर केवल शरीर-निर्वाहमात्रके लिये उचित खाना-पीना आदि विषयोंमें जो विचरण करना है, वह निष्काम-भाव है। गीतामें बतलाया गया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(२। ६४-६५)

भाव यह कि जिनमें राग-द्वेषका नाम-निशान नहीं है और जो अपने वशमें हैं ऐसी इन्द्रियोंके द्वारा, जिसका मन भी अपने वशमें है, वह पुरुष विषयोंमें विचरण करता हुआ प्रसादको प्राप्त होता है यानी उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अन्तःकरण शुद्ध होनेसे चित्तकी सात्त्विक प्रसन्नता होती है। उस सात्त्विक प्रसन्नतासे सारे दुःखोंका नाश हो जाता है और उसकी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें या यों कहें निष्काम कर्मयोगकी निष्ठामें शीघ्र ही स्थित हो जाती है, जिससे वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

निष्काम-भावकी यह महिमा है। यहाँ जो विषयोंमें विचरण करना है—उसमें कोई आसक्ति नहीं है, कोई कामना नहीं है, कोई राग-द्वेष नहीं है। अपना कर्तव्य समझकर ही वह न्याययुक्त कर्मोंका आचरण करता है। बिना राग-द्वेषके ही केवल इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता है। ऐसा आचरण करनेसे उसका कल्याण हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २। ७१)

जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके स्पृहा (आसक्ति) से रहित होकर और ममता तथा अहङ्कारसे रहित हो विचरण करता है, वह उस यथार्थ शान्तिको प्राप्त होता है, जो शान्ति परमात्माकी प्राप्ति होनेपर मिलती है। इससे पूर्वके ७० वें श्लोकमें भी आया है—'**स शान्तिमाप्नोति न कामकामी**'—वह वास्तविक शान्तिको प्राप्त होता है, कामना करनेवाला कामी पुरुष कभी शान्तिको नहीं प्राप्त होता। अतः यहाँ उसी वास्तविक शान्तिकी प्राप्तिका वर्णन है।

इस प्रकार केवल निष्काम कर्मसे भी मनुष्यका कल्याण हो जाता है, फिर साथमें भक्तिका सम्मिश्रण हो तब तो फिर बात ही क्या है।

सब अनर्थोंके मूलभूत राग-द्वेषके नाशके उपाय

मनुष्यमें अनुकूल या प्रतिकूल वृत्ति हर समय होती रहती है। इनसे ही राग-द्वेष पैदा होते हैं। अनुकूलमें राग होता है और प्रतिकूलमें द्वेष। ये राग-द्वेष ही सारे अनर्थोंकी जड़ हैं। रागसे काम और द्वेषसे क्रोध उत्पन्न होता है—

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥

(गीता २। ६२ का उत्तरार्ध)

'आसक्तिसे विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है।' यहाँ यह शङ्का होती है कि क्रोधका कारण काम है या द्वेष? इसका उत्तर यह है कि दोनों ही हैं। काम तो क्रोधका निमित्तकारण है और द्वेष उपादानकारण।

इसी प्रकार हर्ष-शोकादि विकार भी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें ही होते हैं। अनुकूलतामें हर्ष और प्रतिकूलतामें शोक होता है। चिन्ता, भय, शोक, ईर्ष्या, वैर, क्रोध—ये सभी द्वेषमूलक प्रतिकूल वृत्तिमें ही होते हैं। इसलिये अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तियोंका नाश होनेसे सारे विकारोंका नाश होकर मनुष्यमें स्वाभाविक ही समता आ जाती है। समता ही सिद्ध पुरुषकी कसौटी है। भगवान्ने गीतामें बतलाया है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(५। १९)

'जिन शुद्धचित्तवाले मनुष्योंका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।'

परमात्माकी समता चेतन है; क्योंकि परमात्मा चेतन है। महापुरुषोंमें जो समता है, वह सात्त्विक भाव है; किंतु सात्त्विक भाव होनेपर भी है तो वह प्रकृतिका कार्य ही। प्रकृति जड होनेसे प्रकृतिका कार्यरूप सात्त्विक भाव भी जड ही है। महापुरुषोंकी समता व्यापक और असीम

होनेपर भी परमात्माकी समताकी अपेक्षा सीमित ही है; किंतु है यह परमात्मासे ही। या यों समझें कि यह परमात्माका ही आभास है। जैसे दर्पणमें चन्द्रमाका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह चन्द्रमासे ही है और बिम्ब-भूत चन्द्रमाके जैसा ही वह प्रतीत होता है। इसी प्रकार यहाँ चन्द्रमास्थानीय तो परमात्माकी समता है और चन्द्र-प्रतिबिम्बस्थानीय महात्माओंकी समता है। दर्पणस्थानीय है शुद्धबुद्धि; शुद्धबुद्धिमें ही परमात्माकी समताका प्रतिबिम्ब पड़ता है। कर्मयोग, भक्तियोग या ज्ञानयोग—किसीके द्वारा भी पहुँचे हुए महापुरुषोंमें यह समता स्वाभाविक होती है।

कर्मयोगके द्वारा पहुँचे हुए पुरुषोंकी समताका वर्णन गीताके छठे अध्यायके ७-८-९ वें श्लोकोंमें है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

'सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं, अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है—यों कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओं और पापियोंमें भी समानभाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

तथा भक्तियोगके द्वारा पहुँचे हुए भक्त पुरुषोंकी समताका वर्णन गीताके १२ वें अध्यायके १८-१९ वें श्लोकोंमें है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम और आसक्तिसे रहित है; जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।'

एवं ज्ञानयोगके द्वारा पहुँचे हुए गुणातीत पुरुषोंकी समताका वर्णन गीताके चौदहवें अध्यायके २४-२५ वें श्लोकोंमें मिलता है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समानभाववाला है, जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

किंतु साधक पुरुषमें जो समता है, वह सिद्ध पुरुषकी समताकी नकल है, स्वाभाविक नहीं है। अतः सिद्ध पुरुषमें जो समता है, उसको आदर्श मानकर उसका अनुकरण करना चाहिये। सिद्ध और साधककी समतामें भी अन्तर है। सिद्धमें तो समता स्वाभाविक होती है; किंतु साधकमें समता करनेसे होती है। गीतामें भगवान्ने जहाँ भी साधकके लिये समताका उपदेश दिया है, वहाँ '**कृत्वा**', '**भूत्वा**' आदि शब्दोंका प्रयोग किया है। जैसे, भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(२। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको सम करके यानी उनको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(२। ४८)

'हे धनञ्जय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर; समत्व ही योग कहलाता है।'

यहाँ 'सम करके', 'सम होकर' ऐसे शब्दोंके द्वारा समता करनेका आदेश है। अतः साधकमें समता स्वाभाविक नहीं है।

सर्वत्र समता न होनेमें अनुकूल-प्रतिकूल वृत्ति ही

कारण है। यही राग-द्वेष आदि सारे अनर्थोंकी जड़ है। अतः इसका नाश करना परम आवश्यक है। इसके नाशके लिये कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि बहुत-से उपाय बतलाये गये हैं। उनमें ज्ञानयोग (अद्वैतमार्ग) की दृष्टिसे अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिके नाशके लिये साधकको यह दृढ़ निश्चय करना चाहिये कि जो कुछ भी देखने, सुनने, समझनेमें आता है, वह पदार्थ और जिसके द्वारा देखा, सुना, समझा जाता है, वह मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि करण—ये सभी मायिक हैं। जैसे मरुभूमिमें जल, आकाशमें नीलिमा, नेत्रविकारसे आकाशमें तिलमिले, मनोराज्यमें पदार्थ, स्वप्नमें नाना प्रकारकी सृष्टि आदि बिना हुए ही प्रतीत होते हैं, वैसे ही ये संसारके पदार्थ और करण आदि सभी बिना हुए ही प्रतीत हो रहे हैं। एवं जैसे स्वप्नमें पुरुषको जो कुछ प्रतीत होता है वह उस पुरुषके संकल्पके सिवा और कुछ नहीं; इसी प्रकार यह संसार परमात्माका संकल्पमात्र है, वस्तुतः कुछ नहीं। इस तरह समझनेसे अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिसे उत्पन्न राग-द्वेषादि विकारोंका सर्वथा विनाश हो सकता है।

तथा भक्तिमार्गकी दृष्टिसे साधकको यह दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि संसारमें जो भी कुछ घटना, परिस्थिति, पदार्थ प्राप्त हो रहा है वह सब उन मङ्गलमय भगवान्‌के दयापूर्ण विधान (आज्ञा) से ही हो रहा है। अथवा यह सब हमारे कल्याणके लिये भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार (इनाम) है। ऐसा समझकर हर समय संतुष्ट रहना चाहिये या सब कुछ भगवान्‌की लीला समझकर प्रसन्न रहना चाहिये। यह प्रसन्नता-संतुष्टि हर्ष-शोकयुक्त नहीं है। यह तो भगवान्‌की प्रसन्नतासे प्रसन्नता है, अपनी अनुकूलताको लेकर नहीं। अनुकूलतामें होनेवाली प्रसन्नता तो राजसी होनेसे बन्धनकारक, एकदेशीय, क्षणिक और विनाशशील है; किंतु साधक भक्तकी यह प्रसन्नता सात्त्विक होनेसे कल्याणकारक, व्यापक और स्थायी है।

इस प्रकारके अविचल श्रद्धा-विश्वाससे अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिजनित राग-द्वेषादि समस्त विकारोंका सर्वथा अभाव हो सकता है।

एवं कर्मयोगकी दृष्टिसे ऐसा निश्चय करना चाहिये कि अनिच्छा या परेच्छासे जो भी अनुकूल या प्रतिकूल पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि प्राप्त है, वह अपने ही पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंका प्रारब्धरूप फल है। सुख देनेवाली अनुकूलता पुण्यका फल है और दुःख देनेवाली प्रतिकूलता पापका फल है। अतः अनिच्छा या परेच्छासे जो भी घटना, पदार्थ, परिस्थिति आकर प्राप्त हो, उसे अपने कर्मोंका प्रारब्धरूप फल समझकर हर समय संतुष्ट रहना चाहिये; क्योंकि उस फलभोगसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, जो कल्याणकारिणी है।

इस प्रकारके दृढ़ निश्चयसे उसके अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिसे उत्पन्न राग-द्वेषादि विकारोंका सर्वथा नाश हो सकता है।

ऊपर ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग—तीनों साधनोंकी दृष्टिसे केवल राग-द्वेषके नाशके लिये सरल तरीका बताया गया है। इसके साथ ही मनुष्यको शीघ्र कल्याण हो—इसके लिये इन तीनों साधनोंमेंसे किसीका भी अनुष्ठान करना परम आवश्यक है। ज्ञानयोग (सांख्ययोग) का साधन यों करना चाहिये। अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीरद्वारा होनेवाले सभी कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हो 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं' यों समझकर नित्य-निरन्तर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके ही अस्तित्वका भाव रहना चाहिये। 'मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर आदि समस्त पदार्थ प्रकृतिके ही कार्य हैं—यों समझकर सब क्रिया इनके द्वारा ही हो रही है, मैं कुछ भी नहीं करता'—इस प्रकार सब क्रियाओंको इन्हींपर छोड़ देना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(५। ८-९)

'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्याग करता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों (विषयों) में बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निस्संदेह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता।' तथा—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥

(गीता ५। १३)

'अन्तःकरण जिसके वशमें है, ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नौ द्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे छोड़कर आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है।'

इस प्रकार गीतामें अन्यत्र भी जहाँ राग-द्वेष और

अहंता-ममतासे रहित क्रियाका उल्लेख है, वहाँ भी सांख्ययोगका ही साधन समझना चाहिये। जैसे—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥

(१८। २३)

'जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो—वह सात्त्विक कहा जाता है।'

इस प्रकार समझकर सांख्ययोग (ज्ञानयोग) का साधन करना चाहिये।

एवं भक्तियोगके साधकको यों साधन करना चाहिये कि जैसे सांख्ययोगमें प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंपर ही समस्त शास्त्रविहित क्रियाओंको छोड़ा जाता है, उसी प्रकार भक्तियोगमें सारी क्रियाओंको भगवान्‌पर छोड़ा जाता है यानी समर्पण किया जाता है। गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

(३। ३०)

'मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर।'

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

(गीता ५। १०)

'जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता।'

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(गीता ९। २७-२८)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(गीता १८। ५७, ५८ का पूर्वार्ध)

'सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो जा। इस प्रकार मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा।'

जैसे कठपुतली अपने शरीरको और अपनी सारी क्रियाओंको सूत्रधारके अर्पण किये हुए है—सूत्रधार जैसे नचाता है वैसे ही वह नाचती है, उसी प्रकार भक्तिके साधकोंको अपने शरीर और अपनी सारी क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण कर देना चाहिये। कठपुतलीके तो केवल शरीर ही है; किंतु पुरुषमें तो मन-बुद्धि, इन्द्रिय आदि विशेष हैं। अतः उसे उनको भी भगवान्‌के अर्पण करना है। वास्तवमें कठपुतलीकी सारी क्रिया सूत्रधार ही करता है, उसी प्रकार जो अपने-आपको भगवान्‌को सौंप देता है, उसकी भी सारी क्रिया भगवान्‌के द्वारा ही होती है। किंतु यह खयाल करना चाहिये कि भगवान्‌के द्वारा होनेवाली क्रिया भगवान्‌के विधानसे विरुद्ध नहीं होती। यदि भगवान्‌के विधानसे विरुद्ध क्रिया होती है तो जानना चाहिये कि वहाँ भगवान्‌का हाथ नहीं, कामका हाथ है। जब अर्जुनने भगवान्‌से पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

'हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने यही कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है; इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।'

अतएव भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध क्रिया होनेमें राग-द्वेष ही कारण है। जैसे छोटा बच्चा अक्षर सीखते समय क, ख, ग, घ अक्षरोंको लिखनेमें भूल कर देता

है; किंतु जब गुरु अपने हाथसे उसके हाथको पकड़कर लिखाता है, तब उसमें भूल नहीं होती; क्योंकि उस लिखनेमें गुरुकी ही प्रधानता है, उसी प्रकार जो अपनेको भगवान्‌के समर्पण कर चुका है, उसके सिरपर भगवान्‌का हाथ रहते हुए उससे जो कुछ क्रिया होती है, उसमें कभी भूल नहीं होती; क्योंकि उन क्रियाओंके होनेमें भगवान्‌की ही प्रधानता है। इस कसौटीसे अपनेको कसकर अपनी क्रियाको देखते रहना चाहिये।

भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये कर्म किये भी जायँ तो भी वे भगवदर्पणके समान ही हैं; क्योंकि उन कर्मोंमें जो कर्तापन है, वह निर्दोष है। जैसे भगवान्‌ने कहा है—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥

(गीता १२। १०)

'यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

अतः यह भगवदर्थ कर्म भगवदर्पणके समान ही है। एवं कर्मयोगके साधकको नीचे लिखी रीतिसे साधन करना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(२। ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(२। ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥

(५। ११)

'कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।'

युक्तः कर्म फलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

(५। १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है।'

तथा दूसरे अध्यायका ४८ वाँ श्लोक ऊपर दिया ही जा चुका है। इन सबके अनुसार मुख्यरूपसे आसक्ति और कर्मफलकामनाका त्याग करके सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए कर्तव्यकर्मोंको करना कर्मयोगका साधन है।

ध्यान देना चाहिये। साधन किसी भी दृष्टिसे हो; अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा अभाव होना ही चाहिये। इनका सर्वथा अभाव नहीं है तो इन सबका त्याग करना चाहिये। और फिर 'त्याग' क्रियाके अभिमानका भी त्याग कर देना चाहिये, अर्थात् त्यागका भी त्याग करना चाहिये। गीतामें ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोगके साधनोंका जहाँ-जहाँ प्रकरण आया है, वहाँ-वहाँ अहंता-ममता, राग-द्वेष और कामनाका त्याग तथा संसारसे वैराग्य पद-पदपर बताया गया है। जैसे, गीताके अठारहवें अध्यायके ४९ वेंसे ५५ वेंतक ज्ञाननिष्ठाका वर्णन है, वहाँ भगवान् कहते हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(१८। ५१—५३)

'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हलका, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है।'

यहाँ ५१ वें श्लोकमें राग-द्वेषके त्यागका, ५२ वेंमें

वैराग्यका आश्रय लेनेका तथा ५३ वेंमें अहंता, ममता और कामनाके त्यागका स्पष्ट उल्लेख है।

भक्तिके प्रकरणमें कहा गया है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

(गीता ९। १३)

'हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन तो मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षर-स्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।'

अतः भक्तमें आसुरी सम्पदा कभी नहीं रहती। अहंता, ममता, राग-द्वेष, कामना, आसक्ति—ये सभी आसुरी सम्पदा ही हैं। (देखिये गीता अ० १६। ७—२०) एवं भक्तिके साधकके लिये भगवान्ने कहा है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

(गीता १५। ३-४)

'इस संसार-वृक्षका स्वरूप जैसा कहा गया है, वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है और न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है। इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर, उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये।'

आगे भगवान् इस साधनसे सिद्ध हुए भक्तोंके लक्षण बतलाते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

(गीता १५। ५)

'जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं।'

यहाँ तीसरे श्लोकमें '**असङ्गशस्त्रेण**' से वैराग्यका, पाँचवें श्लोकमें '**निर्मानमोहाः**' से अहंता-ममताके त्यागका, '**विनिवृत्तकामाः**' से कामनाके त्यागका और '**द्वन्द्वैर्विमुक्ताः**' से राग-द्वेषके त्यागका संकेत किया गया है।

कर्मयोगके प्रकरणमें बताया गया है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

(गीता ६। ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।'

यहाँ 'वैराग्य' का कथन है ही। तथा—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(गीता २। ६४)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ भी अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है।'

इसमें 'राग-द्वेषके त्याग'का वर्णन है। एवं दूसरे अध्यायके इकहत्तरवें श्लोकमें, जो ऊपर दिया जा चुका है, कर्मयोगीके लिये अहंता-ममता और कामनाके त्यागका उल्लेख है।

सार बात यह है कि किसी भी साधनसे हो, अनुकूलता-प्रतिकूलतासे उत्पन्न राग-द्वेष आदि समस्त विकारोंका सर्वथा अभाव हुए बिना समता प्राप्त नहीं होती। समता ही परमात्माकी प्राप्तिका प्रधान लक्षण और कसौटी है। अतः राग-द्वेषादि दोषोंका अत्यन्त अभाव करनेके लिये अपनी श्रद्धा, विश्वास, रुचि, सामर्थ्य और अधिकारके अनुसार उपर्युक्त साधनोंका अनुष्ठान करना चाहिये।

मनको संयत और एकाग्र करनेके उपाय

मनुष्यको यह शरीर अपना कल्याण करनेके ही लिये मिला है। मनुष्येतर जितनी भी योनियाँ हैं वे सभी भोगयोनियाँ हैं, उनमें यदि किसी प्राणीका कल्याण हो गया है तो वह एक अपवाद (रियायत) है। पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि योनियोंमें तो बुद्धिकी मन्दताके कारण परमात्माके तात्त्विक यथार्थ ज्ञानको प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है और यथार्थ ज्ञान हुए बिना कल्याण होना सम्भव नहीं। कहा भी है—'**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।**' देवताओंमें बुद्धि तो तीक्ष्ण है, किंतु स्वर्गमें भोगोंकी बहुलता होने और देवताओंकी विषयोंमें आसक्ति होनेके कारण परमात्माको पानेके लिये रुचि तथा प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये उनका कल्याण होनेमें कठिनाई है तथा उन्हें अधिकार भी प्राप्त नहीं है। पर मनुष्यका परमात्माकी प्राप्तिमें अधिकार है। ऐसे अधिकारको पाकर भी यदि मनुष्य कल्याणसे वञ्चित रहे तो यह उसका प्रमाद है और घोर पश्चात्तापका विषय है। श्रीरामचरितमानसमें बताया गया है—

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

(उत्तर० ४२। ४, ४३)

मनुष्यके कल्याणमें सबसे प्रधान बाधक बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें आसक्त होकर उन सबके अधीन हो जाना ही है; क्योंकि विषयोंमें आसक्तिवाले यत्नशील विवेकी मनुष्यकी इन्द्रियाँ भी बलात् उसके मनको विषयोंकी ओर आकर्षित कर लेती हैं (गीता २। ६०)। इसलिये साधकको मनके द्वारा सभी इन्द्रियोंको वशमें करके परमात्माके शरण हो जाना चाहिये (गीता २।६१)। जबतक मन वशमें नहीं होता तबतक परमात्माकी प्राप्ति होना बहुत ही कठिन है। भगवान् कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता ६। ३६)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है।'

अतः मनको अपने वशमें और स्थिर करनेके लिये शास्त्रोंमें जो बहुत-से उपाय बताये हुए हैं, उनमेंसे किसी भी उपायके द्वारा मनको निगृहीत और स्थिर करना परम आवश्यक है। मनकी चञ्चलता तो प्रत्यक्ष है। अर्जुनने भी मनके चञ्चल होनेके कारण इसको वशमें करना कठिन बताया है। (गीता ६। ३३-३४) किंतु भगवान् अर्जुनके कथनका समर्थन करते हुए मनको रोकना कठिन मानकर भी इसका उपाय बतलाते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६। ३५)

'हे महाबाहो! निस्संदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है।'

महर्षि पतञ्जलिजीने भी कहा है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (योगदर्शन १। १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है।' अभ्यासका रूप बतलाते हैं—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः (योगदर्शन १। १३)

'उन दोनोंमेंसे स्थितिके लिये जो प्रयत्न करना है, वह 'अभ्यास' है।'

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

(योगदर्शन १। १४)

'परंतु वह अभ्यास लम्बे समयतक, निरन्तर (लगातार) और आदरपूर्वक साङ्गोपाङ्ग सेवन किया जानेपर दृढ़ अवस्थावाला होता है।'

इस अभ्यासके अनेक प्रकार हैं। जैसे—

(१) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ ही परमात्माके स्वरूपका अनुभव करना और वहीं मनको परमात्मामें लगा देना; क्योंकि परमात्मा सब जगह सदा ही व्यापक हैं; कोई भी ऐसा स्थान या काल नहीं, जहाँ परमात्मा न हों।

(२) मन जहाँ-जहाँ संसारके पदार्थोंमें जाय, वहाँ-वहाँसे उसको विवेकपूर्वक हटाकर परमात्माके स्वरूपमें लगाते रहना (गीता ६। २६)।

(३) विधिपूर्वक एकान्तमें बैठकर सगुण भगवान्का ध्यान करना। भगवान्ने गीतामें कहा है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥
(६। ११—१४)

'शुद्ध भूमिमें, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला* और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा; ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके उस आसनपर बैठकर, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे। काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर अन्य दिशाओंको न देखता हुआ, ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे।'

छठे अध्यायके इस चौदहवें श्लोककी गीतातत्त्व-विवेचनी टीकामें ध्यानके लिये सगुण भगवान्‌के विभिन्न कुछ स्वरूपोंका निरूपण किया हुआ है। उनको पढ़कर उनमेंसे अपनी श्रद्धा, विश्वास और रुचिके अनुरूप किसी भी एक स्वरूपका ध्यान ऊपर बतायी हुई विधिसे करना चाहिये।

(४) एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही हैं—ऐसा दृढ़ निश्चय करके तीक्ष्ण बुद्धिके द्वारा उस आनन्दमय परमात्माका ध्यान करना। भगवान् गीतामें बतलाते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
(६। २१)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं, (वह योग निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है)।'

इस प्रकार समझकर निर्गुण-निराकार परमात्माका ध्यान करनेसे परमात्माके यथार्थ तत्त्वका अनुभव होनेपर मन-बुद्धि अचल और स्थिर हो सकते हैं।

(५) पहले सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके, विवेक-पूर्वक मनके द्वारा इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर, धीरे-धीरे उपरत होकर मनको एक सच्चिदानन्दघन निर्गुण निराकार ब्रह्ममें लगा देना।

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
(गीता ६। २५)

'क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।'

(६) निष्काम कर्मद्वारा पदार्थों और कर्मोंमें आसक्तिसे रहित एवं सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित हो जाना। भगवान् कहते हैं—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥
(गीता ६। ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।'

(७) कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—कोई भी साधन क्यों न हो, उसमें मनुष्यका आहार-विहार, साधन, क्रिया, सोना, जागना—सभी यथायोग्य और उचित होना चाहिये (गीता ६। १७)। ये सब यथायोग्य न होनेसे किसी भी योगकी सिद्धि सम्भव नहीं है और इनके यथायोग्य होनेपर जब योग सिद्ध हो जाता है तब मनुष्यका चित्त वैसे ही निगृहीत, अचल और स्थिर हो जाता है जैसे वायुरहित स्थानमें दीपशिखा (गीता ६। १९)।

गीताके छठे अध्यायमें भगवान्‌ने आत्मा यानी शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धिके संयमके बहुत-से उपाय बताये हैं, इसीलिये इस अध्यायका नाम ही है आत्मसंयमयोग। उनमेंसे कुछ उपायोंका ऊपर दिग्दर्शन कराया गया है। इन उपायोंमेंसे कोई-सा भी उपाय करें तो मन संयत और स्थिर होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। गीतादि शास्त्रोंमें और भी बहुत-सी युक्तियाँ हैं उनको विवेकपूर्वक भलीभाँति समझकर काममें लाना चाहिये।

(८) अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर सबके द्वारा, सब प्रकारसे ईश्वरके शरण हो जाना। योगदर्शनमें बताया गया है—

ईश्वरप्रणिधानाद् वा। (१। २३)

'ईश्वरकी शरणागतिसे भी (समाधिकी सिद्धि शीघ्र हो सकती है)।'

(९) प्राण और मनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राणोंके निरोधसे मनका निरोध हो जाता है और मनके

* मृगचर्म अपनी मौतसे मरे हुए मृगका होना चाहिये, जान-बूझकर मारे हुए मृगका नहीं। हिंसासे प्राप्त मृगचर्म साधनमें सहायक नहीं हो सकता। पवित्र मृगचर्मके अभावमें ऊन और कुशाका आसन ही पर्याप्त है।

निरोधसे प्राणोंका निरोध हो जाता है। इसलिये प्राणायामका साधन करना चाहिये। श्रीपतञ्जलिजी बताते हैं—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।

(योगदर्शन १। ३४)

'प्राणवायुको बारम्बार बाहर निकालने और रोकनेके अभ्याससे भी चित्त निर्मल होकर एकाग्र हो जाता है।'

भगवान् श्रीकृष्णने भी गीताके चौथे अध्यायके २९ वें, ३० वें श्लोकोंमें यज्ञके रूपकसे प्राणायामको परमात्माकी प्राप्तिका साधन माना है। इसके सिवा, वहाँ श्लोक २४ से २८ तक और भी दस साधन बताये हैं, जो सभी मनको एकाग्र और वशमें करनेके लिये परम लाभदायक हैं।

(१०) जैसे उन्मत्त हाथीको वशमें करना कठिन है, उसी प्रकार मनको वशमें करना बड़ा कठिन है; फिर भी जैसे हाथी अङ्कुशसे वशमें हो जाता है, वैसे ही यह मन साधनसे वशमें हो जाता है। मनपर विजय प्राप्त करनेके उपाय योगवासिष्ठमें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च।
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल।

(उपशमप्रकरण ९२। ३५; ३६ का पूर्वार्ध)

'अध्यात्मविद्याकी प्राप्ति, साधु-संगति, वासनाका सर्वथा परित्याग और प्राणस्पन्दनका निरोध—ये ही युक्तियाँ चित्तपर विजय पानेके लिये निश्चितरूपसे दृढ़ उपाय हैं।'

अभिप्राय यह कि अध्यात्मविषयक शास्त्रोंका मनन करके उनका ज्ञान प्राप्त करनेसे, अध्यात्मविषयके ज्ञाता श्रेष्ठ पुरुषोंका सङ्ग करके उनसे अध्यात्म और ध्यान आदिके विषयमें वार्तालाप करने और उनसे मनको रोकनेकी युक्तियाँ सुन-समझकर उनके अनुसार अभ्यास करनेसे, सांसारिक विषयभोगोंकी वासनाओंको अत्यन्त हानिकारक समझकर विचारद्वारा उनका भलीभाँति त्याग करनेसे तथा युक्तिपूर्वक प्राणायाम करनेसे मन वशमें और एकाग्र होता है।

ऊपर अभ्यासके कई प्रकार बतलाये गये। जैसे अभ्याससे मन वशमें होकर निरुद्ध हो जाता है, इसी प्रकार संसारसे वैराग्य होनेपर भी हो जाता है। वैराग्यका रूप श्रीपतञ्जलिजीने इस तरह बतलाया है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

(योगदर्शन १। १५)

'देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्था है वह वैराग्य है।'

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

(योगदर्शन १। १६)

'पुरुषके ज्ञानसे जो प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका सर्वथा अभाव हो जाना है वह 'परवैराग्य' है।'

संसारसे वैराग्य होनेके अनेक उपाय हैं—

(१) परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर स्वतः ही वैराग्य हो जाता है।

(२) जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करनेसे भी वैराग्य होता है—

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।

(गीता १३। ८ का उत्तरार्ध)

श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

(योगदर्शन २। १५)

'परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख—ऐसे तीन प्रकारके दुःख सबमें विद्यमान रहनेके कारण और तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकीके लिये सब-के-सब कर्मफल दुःखरूप ही हैं।' अर्थात् दुःख तो दुःख है ही, विवेककी दृष्टिसे सुख भी दुःख ही है।

भाव यह कि संसारके पदार्थ, विषयभोग और शरीर— सभी प्रत्यक्ष ही दुःखरूप, परिणामी, क्षणभङ्गुर और विनाशशील हैं; स्त्री, पुत्र, पति, शरीर, धन, सम्पत्ति आदि सभी पदार्थ प्रत्यक्ष ही कालके मुखमें जा रहे हैं— ऐसा विवेक-विचारपूर्वक समझनेसे स्वाभाविक ही संसारसे वैराग्य हो जाता है। भगवान्ने गीतामें बतलाया है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

(३) वीतराग महापुरुषोंके सङ्गसे भी वैराग्य उत्पन्न होकर चित्त वशमें हो सकता है।

(४) संसारके पदार्थों और भोगोंमें रमणीयता और सुखबुद्धि न रहनेसे भी वैराग्य हो जाता है।

(५) जिनमें भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका एवं जगत्‌के यथार्थ स्वरूपका वर्णन हो उन सत्-शास्त्रोंके अनुशीलनसे भी वैराग्य हो सकता है।

(६) भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, धामके सम्बन्धमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक श्रवण, मनन और चिन्तन करनेसे भी भगवान्‌में प्रेम हो जानेपर स्वतः ही संसारसे वैराग्य हो सकता है।

इसी तरह अभ्यास और वैराग्यके और भी अनेक प्रकार हैं। जिस किसी प्रकारसे हो, कल्याणकामी मनुष्योंको अपने मनको वशमें करके परमात्मामें तत्परतासे लगना चाहिये। व्यवहारकालमें तो यह मन चञ्चल रहता ही है, एकान्तमें आत्मकल्याणके साधनके लिये बैठनेपर भी मन इधर-उधर भटकता रहता है। अतः यदि इसके निग्रहका उपाय नहीं किया जायगा तो साधकका अबतक जिस तरह समय बीतता आया है वैसे ही भविष्यमें बीतता रहेगा। इससे यह मनुष्य-जन्मका अमूल्य समय व्यर्थ चला जायगा। अतः मनुष्य-जन्मके समयको सार्थक बनानेके लिये शीघ्र-से-शीघ्र इस मनके निग्रहका साधन करना आवश्यक है; क्योंकि अनादिकालसे जो अनन्त दुःखोंकी प्राप्ति होती आ रही है, वह साधन करनेसे ही दूर हो सकती है।

यह मन ही मनुष्यका मित्र है और मन ही शत्रु है। जीता हुआ मन तो मित्र है और जो मन जीता हुआ नहीं है वह शत्रु है। भगवान् भी गीतामें कहते हैं—

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥
(६। ६)

'जिस मनुष्यद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उस मनुष्यका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है।'

भगवान्‌के इस कथनपर भलीभाँति ध्यान देना चाहिये और अपने सुधारके लिये तत्पर हो जाना चाहिये। मनुष्यका अभ्यास बड़ा प्रबल होता है। वह दिनमें जैसा मनन करता है, उसके अनुसार रात्रिमें स्वप्नमें प्रायः वैसा ही मनन स्वाभाविक होता रहता है। इसलिये हर समय ही भगवान्‌के स्वरूपका मनन करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। नहीं तो, मनुष्यके अधिकारमें जो भी कुछ सम्पत्ति, बल, बुद्धि आदि पदार्थ हैं वे फिर क्या काम आयेंगे? मृत्यु होनेके पश्चात् ये सब यहीं रह जायँगे। अतः उनको और अपने सर्वस्वको लगाकर भी जिस किसी प्रकारसे भी हो, मनको वशमें करनेके लिये वैराग्ययुक्त चित्तसे कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त तत्परतापूर्वक प्रयत्न करना चाहिये।

गीतोक्त अनन्य प्रेमका साधन और उसका फल

एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—ऐसा समझकर, जरा भी स्वार्थ, अभिमान और कामना न रखकर एकमात्र भगवान्‌में ही अतिशय श्रद्धासे युक्त अनन्य प्रेम करना और भगवान्‌से भिन्न किसी भी वस्तुमें किञ्चिन्मात्र भी प्रेम न करना—यह अनन्य प्रेम है।

अनन्य प्रेमके साधनका स्वरूप और फल गीतामें इस प्रकार बताया गया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(१०। ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उपर्युक्त प्रकारसे ध्यान आदिद्वारा मुझमें निरन्तर रमण करने और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

यहाँ भगवान्‌ने ९ वें श्लोकमें अनन्य प्रेमी भक्तके लक्षणोंके रूपमें छः साधन बतलाये हैं और १० वें श्लोकमें उनका फल बतलाया है। अब इनके विषयमें कुछ विस्तारसे विचार किया जाता है।

'मच्चित्ताः'

जैसे संसारी मनुष्य रात-दिन संसारमें ही रचे-पचे रहते हैं, वैसे ही भगवान्‌के प्रेमी भक्त भगवान्‌में ही रचे-पचे रहते हैं तथा जैसे संसारी मनुष्य हर समय मनसे संसारका ही चिन्तन करते रहते हैं, वैसे ही भगवद्भक्त हर समय मनसे भगवान्‌का ही चिन्तन करते रहते हैं। भगवान्‌से

मिलनेके इच्छुक साधक भक्त मनसे भगवान्‌का आह्वान करके भगवान्‌का दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, पूजा, आदर, सत्कार और विनोद करते रहते हैं। सर्वप्रथम भक्त भगवान् श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अपने इष्टदेवका आह्वान करके चरणोंसे लेकर मस्तकतक वस्त्र-आभूषण-आयुध आदिके सहित उनके स्वरूपका श्रद्धा-प्रेमसे चिन्तन करता है। फिर मनसे ही अपने सम्मुख प्रकट मानसिक भगवान्‌के स्वरूपका मानसिक सामग्री और अपने मानसिक शरीरके द्वारा षोडश उपचारोंसे पूजन करता है। तत्पश्चात् आत्मीयतापूर्वक स्तुति-प्रार्थना करता है तथा मनसे ही उनके साथ आमोद, प्रमोद और विनोद करता हुआ आश्रम, घर या वनमें विचरण करता रहता है। जहाँ-जहाँ भगवान्‌के चरण टिकते हैं उस-उस भूमिमें भगवान्‌का प्रभाव प्रवेश कर जाता है; इसलिये उस भूमिकी रजको परम पवित्र और कल्याण- कारिणी हो गयी समझता है। जिस बिछौने, गद्दे या सतरंजीपर बैठकर भगवान्‌के साथ भक्त मनसे वार्तालाप करता है, उस सतरंजी और गद्दे आदिमें मानो भगवान्‌के दिव्य गुण-प्रभावके परमाणु प्रवेश कर गये, इसलिये उस सतरंजी गद्देको छूनेसे उसके शरीरमें रोमाञ्च हो जाते हैं और हृदय प्रफुल्लित होता रहता है। जैसे दो सखा आपसमें प्रेमकी बातचीत करते हैं, वैसे ही वह भगवान्‌के साथ दिव्य प्रेमकी मनसे ही बातचीत करता रहता है। प्रेमभरे नेत्रोंसे वे एक-दूसरेको देखते हैं। भगवान्‌के हृदयमें और नेत्रोंमें समता, शान्ति, ज्ञान, प्रेम आदि अनन्त दिव्य गुण भरे पड़े हैं, भगवान् मुझपर अनुग्रहपूर्ण दृष्टिपात करते हैं जिससे वे गुण मेरे मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर और रोम-रोममें ऐसे प्रवेश कर रहे हैं कि उनमें समता, शान्ति, ज्ञान, आनन्द और प्रसन्नताकी सीमा ही नहीं रही। मानो मैं गुणोंके सागरमें डूबा हुआ हूँ, ऐसा उसे प्रत्यक्ष अनुभव होता है। भगवान्‌के नेत्रोंकी दृष्टि जहाँ-जहाँ पड़ती है वे सब वस्तुएँ दिव्य अलौकिक कल्याणदायक हो जाती हैं—ऐसा अनुभव होने लगता है। फिर मानो भगवान् और भक्त दोनों एक साथ भोजन करने बैठे हैं और एक-दूसरेको परोस रहे हैं। भगवान्‌के स्पर्शसे वह भोजन दिव्य अलौकिक रसमय परम मधुर हो गया है। वह भोजन करनेसे सारे शरीरमें इतनी प्रसन्नता, आनन्द, शान्ति और तृप्ति हो रही है कि उसका कोई ठिकाना नहीं है। भगवान्‌के अङ्गसे जिस वस्तुका स्पर्श हो जाता है वह भी दिव्य रसमय, आनन्दमय, शान्तिमय, प्रेममय और कल्याणमय हो जाती है। भगवान् जिसको अपने मनसे स्मरण कर लेते हैं, वह वस्तु भी परम शान्ति, परमानन्द और परम कल्याणदायिनी हो जाती है। भगवान्‌में दिव्य सुगन्ध आती है, वह नासिकाके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌की वाणी बड़ी ही कोमल और मधुर है, वह कानोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का चरणस्पर्श हाथोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का दर्शन नेत्रोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का चिन्तन मनके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण स्वरूपका जो तात्त्विक ज्ञान है, वह बुद्धिके लिये अमृतके समान है। इस प्रकार उनका दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन, आमोद, प्रमोद आदि सभी रसमय, आनन्दमय, प्रेममय और अमृतमय हैं। भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम—सभी परम मधुर, दिव्य, अलौकिक और रसमय हैं। यों चिन्तन करते हुए वे प्रेमी भक्त अपने चित्तको सर्वथा भगवन्मय बना देते हैं, भगवान्‌के सिवा अन्य किसी भी पदार्थमें उनके मनकी प्रीति और वृत्ति नहीं रहती; अतः वे भगवान्‌को एक क्षण भी नहीं भूल सकते। एक भगवान्‌में ही उनका मन तन्मय होकर निरन्तर लगा रहता है।

'मद्गतप्राणाः'

वे प्रेमी भक्त उपर्युक्त भगवान्‌के श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अपने इष्टदेवके साक्षात् दर्शनके लिये उनको अपना जीवन, धन, प्राण—सर्वस्व समझकर अपने जीवनको उन्हींके अर्पण कर देते हैं। फिर उनकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌के लिये ही होने लगती हैं। उनका जीवन भगवान्‌के लिये ही होता है। उन्हें क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाता है। उनको भगवद्दर्शनके बिना चैन नहीं पड़ती, न रातको नींद आती है और न दिनमें भूख लगती है। भगवान्‌के सिवा कोई भी पदार्थ उन्हें अच्छा नहीं लगता। भगवान्‌के वियोगमें वे जलके बिना मछलीकी भाँति तड़फते रहते हैं। जैसे मछलीके प्राण जलगत हैं, उसी प्रकार उनके प्राण भगवद्‌गत हो जाते हैं। वे गोपियोंकी तरह विरहाकुल, पागल और उन्मत्त-से हुए भगवान्‌को ही खोजते-फिरते हैं। इस प्रकार वे अपने जीवन-प्राण—सबको भगवान्‌के न्योछावर कर देते हैं, उनका सब कुछ भगवान्‌के अर्पण हो जाता है। उन्हें खाने-पीने, बोलने, चलने आदिकी भी सुध-बुध नहीं रहती। यक्ष, राक्षस, देवता, मनुष्य, पशु आदि किसीकी भी परवा नहीं रहती। वे सबसे निर्भय होकर विचरते हैं। शास्त्रमर्यादा और लोकमर्यादाका भी उन्हें ज्ञान नहीं रहता। मन, तन, धन, जीवन, प्राण, सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर देनेके कारण भगवान्‌के सिवा

अन्य किसीमें भी उनकी प्रीति और ममता नहीं रहती। वे एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर रहते हैं।

ऐसे प्रेमी भक्तके सम्बन्धमें ही श्रीसुन्दरदासजीने यह कहा है—

न लाज तीन लोककी न वेदकी कह्यो करै।
न शंक भूत प्रेतकी न देव यक्ष तें डरै॥
सुनै न कान और की द्रसै न और इच्छना।
कहै न मुख और बात भक्ति प्रेम लच्छना॥

'बोधयन्तः परस्परम्'

जैसे गोपियाँ भगवान्‌के प्रेमके तत्त्व-रहस्यको परस्पर एक-दूसरीको कहती और समझाती रहती थीं, वैसे ही वे भगवत्प्रेममें मग्न हुए प्रेमी भक्त अपने प्रेमी मित्रोंके साथ भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, प्रेम, गुण, प्रभावकी चर्चा करते हुए एक-दूसरेको उनका तत्त्व-रहस्य समझाते रहते हैं एवं अपने परम प्रिय भगवान्‌की लीला, चरित्र, महिमा तथा भगवान्‌के माधुर्य, रूप-लावण्य, वस्त्र, आभूषण, नाम और गुण-प्रभाव आदिके सम्बन्धमें परस्पर वार्तालाप करते-करते उस विशुद्ध परम प्रेम और आनन्दमें तन्मय और मुग्ध हो जाते हैं।

'कथयन्तश्च माम्'

इसी प्रकार वे भक्त भगवान्‌के प्रेमी भक्तों तथा अपने प्रिय सखाओंके सम्मुख भगवान्‌के नामोंका कीर्तन और गुणोंका गान करते रहते हैं। एवं भगवान्‌के साकार, निराकार, सगुण, निर्गुण स्वरूपके तत्त्व-रहस्यका, भगवान्‌के चरित्र और दिव्य लीलाओंका, भगवान्‌के नामकी महिमाका, भगवान्‌के नित्य परम धामके गुण-प्रभाव-तत्त्व-रहस्यका तथा भगवान्‌के दिव्य अलौकिक अनन्त नानाविध गुणोंके तत्त्व-रहस्यका पुस्तक, व्याख्यान और पत्र-व्यवहार आदिके द्वारा श्रद्धा-प्रेमपूर्वक वर्णन करते रहते हैं। ऐसा करते हुए वे भगवत्प्रेमके आनन्दमें विह्वल और मग्न हो जाते हैं। फिर भी, इन सबका वर्णन करनेसे वे कभी अघाते ही नहीं।

'नित्यं तुष्यन्ति च'

वे भक्त ऊपर बतायी हुई बातोंसे ही हर समय संतुष्ट रहते हैं। इनसे बढ़कर किसीको भी आनन्ददायक नहीं समझते। वे भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको समझ-समझकर तृप्त और संतुष्ट रहते हैं, परम शान्ति और परमानन्दके दिव्य रसमें हर समय मग्न रहते हैं। वे आमोद-प्रमोदपूर्वक हर समय इतने प्रसन्नचित्त रहते हैं कि भारी-से-भारी आपत्ति पड़नेपर भी उस आनन्दकी स्थितिसे विचलित नहीं होते, वरं अपने इष्टदेवके नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभावको स्मरण करते हुए परम आनन्दमें ही मस्त रहते हैं। अपने परम प्यारे इष्टदेव परमात्माकी प्रेममयी लीला और चरित्रको मनसे ही देख-देखकर सदा परम संतुष्ट रहते हैं तथा भगवान्‌के परम मधुर स्वभाव, महिमा और रूपमाधुरीके तत्त्व-रहस्यको समझकर परम आनन्दमें मग्न रहते हैं।

'रमन्ति च'

वे परम प्रेमी भक्त भगवान्‌के साथ ही अलौकिक दिव्य आमोद-प्रमोदपूर्वक क्रीड़ा करते रहते हैं। वे निरन्तर एक भगवान्‌में ही सर्वथा रमण करते रहते हैं। अपने परम प्यारे भगवान्‌में दिव्य अलौकिक सुगन्ध आती रहती है, उसका नासिकासे आस्वाद लेना नासिकाके द्वारा रमण है। भगवान्‌के प्रसादको पाकर जिह्वाके द्वारा उसका आस्वाद लेना जिह्वाके द्वारा रमण है। भगवान्‌के नेत्रोंसे नेत्र मिलाकर, उनके नेत्रोंमें जो एक अलौकिक दिव्य प्रेम, रस और ज्ञानयुक्त ज्योति है उसको देखते रहना नेत्रोंके द्वारा रमण है। भगवान्‌के चरणोंका हाथोंसे स्पर्श करना हाथोंके द्वारा रमण है। भगवान्‌के नूपुर, वंशी आदिकी ध्वनिको तथा उनकी प्रेमभरी कोमल मधुर वाणीको सुन-सुनकर आस्वाद लेना कानोंके द्वारा रमण है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, रूप, लीला आदिका चिन्तन करना मनसे भगवान्‌में रमण करना है तथा भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार स्वरूपके तत्त्व-रहस्यको समझकर मुग्ध होते रहना बुद्धिके द्वारा उनमें रमण करना है। इस प्रकार भगवान्‌का आघ्राण, प्रसाद-भोग, दर्शन, स्पर्श, भाषण, श्रवण, चिन्तन, मनन आदि सभी परम मधुर, रसमय, प्रेममय, अमृतमय, आनन्दमय हैं—ऐसा समझकर वे प्रेमी भक्त अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़कर उनसे उनके दर्शन-भाषण आदि करनेमें ही अत्यन्त अनुपम रसास्वाद लेते हुए भगवान्‌में ही नित्य-निरन्तर रमण करते रहते हैं। गोपियोंका भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध दिव्य प्रेम था। उनके मन, प्राण और समस्त चेष्टाएँ एकमात्र अपने प्राणधन प्रेमास्पद भगवान् श्रीकृष्णके ही अर्पित थीं और वे भगवान्‌के गुणोंका गान करती हुई उनके प्रेममें ही सदा मग्न रहती थीं। भागवतकार बतलाते हैं—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३०। ४४)

'गोपियोंका मन श्रीकृष्णमय हो गया था। उनकी वाणीसे श्रीकृष्ण-चर्चाके अतिरिक्त और कोई बात नहीं निकलती थी। उनके शरीरसे केवल श्रीकृष्णके लिये और केवल श्रीकृष्णपरक चेष्टाएँ हो रही थीं। कहाँतक

कहें, उनका आत्मा श्रीकृष्णमय हो रहा था। वे केवल श्रीकृष्णके गुणों और लीलाओंका ही गान कर रही थीं और उनमें इतनी तन्मय हो रही थीं कि उन्हें अपने शरीर और घरकी भी सुध-बुध नहीं रही।'

उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभावका तत्त्व-रहस्य समझकर श्रद्धा-विश्वास और अनन्य प्रेमपूर्वक निरन्तर मनसे चिन्तन, दर्शन, भाषण, चरण-स्पर्श करना ही भगवान्को प्रीतिपूर्वक विशुद्ध, निष्कामभावसे भजना है। इस प्रकार भगवान्को भजनेवाले भक्त मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, ऐश-आराम, भोग और त्रिलोकीके ऐश्वर्यको तथा मुक्तिको भी नहीं चाहते। वे केवल विशुद्ध प्रेमके लिये ही भगवान्को अनन्य भावसे भजते हैं।

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

'जिसने अपनेको मुझे अर्पण कर दिया है, वह मेरे सिवा न तो ब्रह्माका पद चाहता है और न देवराज इन्द्रका। उसके मनमें न तो सार्वभौम सम्राट् बननेकी इच्छा होती है और न वह रसातलका ही स्वामी होना चाहता है तथा वह योगकी बड़ी-बड़ी सिद्धियों और मोक्षकी भी अभिलाषा नहीं करता।'

ऐसा अनन्य विशुद्ध प्रेम करनेवाले भक्तको भगवान् वह बुद्धि-योगरूप विज्ञानसहित ज्ञान दे देते हैं जिससे भगवान्के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण स्वरूपका तत्त्व-रहस्य यथावत् समझमें आ जाता है और उसके फलस्वरूप उसे परम प्रेमास्पद भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। भगवान्की प्राप्ति होनेके पश्चात् उसे केवल भगवान्का ही अनुभव रहता है। वह अपने-आपको भी भूल जाता है। होश आनेके बाद उसकी सारी चेष्टाएँ भगवान्के ही मन और संकेतके अनुकूल कठपुतलीकी भाँति स्वाभाविक ही होती रहती हैं। फिर भगवान्की सारी चेष्टा भक्तके लिये और भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्के लिये ही होती है। उनमें परस्पर नित्य नया प्रेम सदा-सर्वदा समानभावसे जाग्रत् रहता है। परस्पर दोनोंकी चेष्टा एक-दूसरेको आह्लादित करनेके लिये ही होती है जो कि एक-दूसरेके लिये लीलारूप है। प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमी—इनका नाम-रूप अलग-अलग है, परंतु वस्तुतः तीनों एक ही हैं। जैसे सुवर्णके आभूषणोंके नाम-रूप अलग-अलग होते हैं किंतु वस्तुतः वे स्वर्ण ही हैं। इसी प्रकार परम दिव्य चिन्मय प्रेमस्वरूप परमात्मा ही प्रेमी, प्रेमास्पद और प्रेम नामसे व्यवहृत हुए हैं। भक्तकी दृष्टिमें तो भक्त प्रेमी, भगवान् प्रेमास्पद और उनका सम्बन्ध ही प्रेम है तथा भगवान्की दृष्टिमें भगवान् प्रेमी, भक्त प्रेमास्पद और उनका सम्बन्ध ही प्रेम है, अतः भगवान्की सारी चेष्टा भक्तके लिये लीला है और भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्के लिये लीला है। एक-दूसरेकी चेष्टा एक-दूसरेकी प्रसन्नताके लिये ही होती है।

वहाँ एक-दूसरेके साथ लज्जा, मान, भय, आदर-सत्कार किंचिन्मात्र भी नहीं रहते। वस्तुतः वे तो एक ही हैं, अतः कौन किसका किससे किसलिये लज्जा, मान, भय, आदर-सत्कार करे। दास्य और वात्सल्यभावमें तो आदर-सत्कार और भय रहते हैं, कान्ताभावमें भी आदर-सत्कार रहते हैं तथा सख्यमें भी लज्जा रहती है; किंतु यहाँ तो परस्पर लज्जा, भय, मान, आदर-सत्कारका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि भगवान्की प्राप्ति होनेके साथ ही दास्य, सख्य, कान्ताभाव, वात्सल्य, शान्त आदि सारे भावोंका उस भक्तमें समावेश हो जाता है तथा वह केवल विशुद्ध चिन्मय परम प्रेमस्वरूप भगवान्को प्राप्त हो जानेके कारण इन भावोंसे ऊपर उठ जाता है। यह परम विशुद्ध दिव्य अलौकिक प्रेमकी प्राप्ति रहस्यमय है। इसका कोई वाणीद्वारा वर्णन नहीं कर सकता।

अन्तकालमें हुए परमात्मचिन्तनका महत्त्व

शास्त्रोंमें भगवान्के निर्गुण और सगुण—दो स्वरूप बतलाये गये हैं। इन दोनोंमें जो निर्गुण है, वह तो निराकार है ही। सगुणके दो भेद हैं—(१) सगुण-निराकार, (२) सगुण-साकार। भगवान्के इन तीनों स्वरूपोंमेंसे किसी एकका भी चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य देह छोड़कर जाता है, वह सदाके लिये इस संसारसे मुक्त होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। उस परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिको ही अव्यक्त, अक्षर, परमगति, परमधाम आदि अनेक नामोंसे कहा जाता है—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता ८। २१)

'जो अव्यक्त 'अक्षर' इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षर नामक अव्यक्त भावको परमगति कहते हैं;

तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परमधाम है।'

भगवान् कहते हैं कि जो मेरा स्मरण करता हुआ मरता है, वह मुझ परमात्माको प्राप्त हो जाता है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८।५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात्स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

यदि कोई मनुष्य ऐसा कहे कि क्या भगवान् भी पक्षपाती हैं, जो उन्हें स्मरण करनेवालेका तो उद्धार कर देते हैं और स्मरण न करनेवालेका उद्धार नहीं करते, तो वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। भगवान् तो समदर्शी हैं, पक्षपाती नहीं, उनकी तो सबपर समानरूपसे कृपा है। परंतु यह एक साधारण नियम है कि मरणकालमें मनुष्य जिस-जिस देवता, मानव, पशु, पक्षी, वृक्ष एवं पहाड़ आदिका स्मरण करके देह-त्याग करता है, वह उसी रूपको प्राप्त हो जाता है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८।६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

भगवान् इस नियमको बतलाकर कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

जैसे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके सारथिरूपमें रथपर विराजमान रहते थे, वैसे ही भगवान्‌को सर्वत्र अपने साथ समझनेसे हर समय उन सगुण-साकार परब्रह्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन होना सहज ही है और मनुष्य निरन्तर जिस वस्तुका चिन्तन करता है, अन्तकालमें भी उसी वस्तुकी स्वाभाविक स्मृति हो जाती है। अतः भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपका चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य शरीर छोड़ता है, वह भगवान्‌के सगुण स्वरूपको प्राप्त हो जाता है—इसमें संदेह नहीं है।

यह बात बतलाकर अब सगुण-निराकारके चिन्तनसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है यह बतलाया जाता है। सर्वव्यापी, सगुण-निराकाररूप परम दिव्य पुरुष परमात्माका चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य मरता है, वह भी उस चिन्तनके प्रभावसे परमात्माको प्राप्त हो जाता है—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(गीता ८।८—१०)

'हे पार्थ! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त, दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है। जो पुरुष सर्वज्ञ, सबके नियन्ता, सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म, सबको धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भ्रुकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है।'

वह परम दिव्य पुरुष परमात्मा अव्यक्त, निराकार, सर्वव्यापी है और यह सारा संसार उस परमात्माके ही एक अंशमें स्थित है। जैसे वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन चारों महाभूतोंका समूह एक अव्यक्त, निराकार आकाशके ही अन्तर्गत है और आकाश इन चारोंमें व्यापक है, उसी तरह परमात्मा सम्पूर्ण चराचर भूत-प्राणियोंके बाहर-भीतर व्यापक है और सारे भूत-प्राणियोंका समूह उस परमात्माके ही किसी एक अंशमें है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

(गीता ८।२२)

'हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं

और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परमपुरुष परमात्मा तो अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है।'

जैसे मनुष्य सगुण-साकार और सगुण-निराकारके चिन्तनसे परमात्माको प्राप्त होता है, उसी प्रकार निर्गुण-निराकार ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य शरीरका त्याग करता है, वह भी परमगतिस्वरूप निर्गुण सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। उस परम अक्षरस्वरूप परमात्माकी महिमा बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

(गीता ८। ११)

'वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारीलोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस परमपदको मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा।'

इस निर्गुण-निराकार परमात्माको ही परम अक्षर ब्रह्मके नामसे कहा गया है।

'**अक्षरं ब्रह्म परमम्**' (गीता ८। ३ का प्रथम पाद)

इस अक्षर ब्रह्मका ही नाम '**ओम्**' है। इसलिये अन्तकालमें ओंकारका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थरूप मुझ सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य देह त्यागकर जाता है, वह परमगतिको अर्थात् परमात्माको प्राप्त होता है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

(गीता ८। १३)

इस प्रकार भगवान्के उपर्युक्त तीनों स्वरूपोंमेंसे किसी एकका भी स्मरण करता हुआ मनुष्य यहीं ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है अथवा अर्चिमार्गसे जाकर ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥

(गीता ८। २४)

'जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि अभिमानी देवता है, दिनका अभिमानी देवता है, शुक्लपक्षका अभिमानी देवता है और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता योगीजन उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले जाये जाकर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।'

यहाँ '**ज्योतिः**' पद '**अग्निः**' का विशेषण है और '**अग्निः**' पद अग्नि अभिमानी देवताका वाचक है। इसका स्वरूप दिव्य प्रकाशमय है। पृथ्वीके ऊपर समुद्रसहित सब देशमें इसका अधिकार है तथा उत्तरायणमार्गसे जानेवाले अधिकारीका दिनके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है। उत्तरायणमार्गसे जानेवाला जो उपासक रात्रिमें शरीर त्याग करता है, उसको रात्रिभर यह अपने अधिकारमें रखकर दिनके उदय होनेपर दिनके अभिमानी देवताके अधीन कर देता है और जो दिनमें मरता है, उसे तुरंत ही दिनके अभिमानी देवताको सौंप देता है।

इसी तरह दिनके अभिमानी देवताका अधिकार पृथ्वी-लोककी सीमा अर्थात् जहाँतक आकाशमें पृथ्वीके वायु-मण्डलका सम्बन्ध है, वहाँतक है और उत्तरायणमार्गसे जानेवाले उपासकको शुक्लपक्षके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है।

शुक्लपक्षके अभिमानी देवताका अधिकार भूलोककी सीमाके बाहर अन्तरिक्षलोकमें—जिन लोकोंमें पंद्रह दिनके दिन और उतने ही समयकी रात होती है, वहाँतक है; और उत्तरायणमार्गसे जानेवाले अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके उत्तरायणके अभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है।

जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तर दिशाकी ओर चलते हैं, उस छमाहीको उत्तरायण कहते हैं। उस उत्तरायण-कालाभिमानी देवताका वाचक '**षण्मासा उत्तरायणम्**' है। अन्तरिक्षलोकके ऊपर जिन लोकोंमें छः महीनोंके दिन एवं उतने समयकी ही रात्रि होती है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायण- मार्गसे जानेवाले परमधामके अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके उपनिषदोंमें वर्णित (छान्दोग्य-उ० ४। १५। ५; ५। १०। १,२; बृहदारण्यक-उ० ६। २। १५) संवत्सरके अभिमानी देवताके पास पहुँचा देना इसका काम है। वहाँसे आगे संवत्सरका अभिमानी देवता उसे सूर्यलोकमें पहुँचाता है। वहाँसे क्रमशः आदित्याभिमानी देवता चन्द्राभिमानी देवताके अधिकारमें और वह विद्युत् अभिमानी देवताके अधिकारमें पहुँचा देता है। फिर वहाँपर भगवान्के परमधामसे भगवान्के पार्षद (अमानव पुरुष) आकर उसे परम-धाममें ले जाते हैं, तब उसका भगवान्से मिलन हो जाता है।

उस ब्रह्मरूप परमपदको प्राप्त होकर वह पुनः इस संसारके जन्म-मरणरूप चक्करमें नहीं आता। ब्रह्माके लोकतक गया हुआ प्राणी पुनः इस संसारमें लौटकर कर्मानुसार योनिमें जन्म लेता है; क्योंकि ब्रह्मा और उसका लोक—दोनों ही अवधिवाले हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

(गीता ८। १६ का पूर्वार्ध)

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

(गीता ८। १७)

'ब्रह्माका जो एक दिन है उसको एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाला और रात्रिको भी एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं वे योगीजन कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं।'

चारों युगोंके समयको मिलानेपर एक दिव्ययुग होता है। कलियुग ४,३२,००० वर्ष, द्वापर ८,६४,००० वर्ष, त्रेता १२,९६,००० वर्ष एवं सत्युग १७,२८,००० वर्ष। इस तरह कुल ४३,२०,००० वर्षोंका एक दिव्ययुग होता है। देवताओंके समयका परिमाण हमारे समयके परिमाणसे ३६० गुना अधिक माना जाता है, अतः एक हजार दिव्य-युगोंका अर्थात् हमारे ४,३२,००,००,००० (चार अरब बत्तीस करोड़) वर्षोंका ब्रह्माका एक दिन और इतनी ही बड़ी एक रात्रि होती है। इस तरहके १०० वर्ष बीत जानेपर अपने लोकसहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है। इस विषयका विशद वर्णन मनुस्मृतिके प्रथम अध्यायमें ६४वेंसे ७३ वें श्लोकतक है।

सम्पूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लीन हो जाते हैं।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

(गीता ८। १८)

इस प्रकार अवधिवाले होनेसे ब्रह्मा और ब्रह्माका लोक भी अवधि पूर्ण होनेपर विनाशको प्राप्त हो जाते हैं। इन सबका विनाश होनेपर भी सच्चिदानन्दघन परमात्माका नाश नहीं होता—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

(गीता ८। २०)

'उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्तभाव है, वह परम दिव्य पुरुष परमात्मा सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता।'

निरन्तर अभ्यासके प्रभावसे मनुष्यको इस जीवनकालमें ही परम दिव्य पुरुष परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि निरन्तर स्मरण करनेवालेको भगवान्की प्राप्ति सुगम है। भगवान् कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमका स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

इस प्रकार अभ्यास करनेवालेको जब इस जन्ममें ही भगवान् मिल सकते हैं, तब अन्तकालमें मिल जाते हैं—इसमें तो कहना ही क्या है। परमात्माको हर समय याद रखना भी कोई कठिन काम नहीं है और जो परमात्माको प्राप्त हो जाता है, वह फिर दुःखरूप इस संसारमें लौटकर कभी नहीं आता—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

(गीता ८। १५)

'परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते।'

वह पुरुष सम्पूर्ण संसारका उल्लङ्घन करके परमपदरूप परमात्माको सदाके लिये प्राप्त हो जाता है—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

(गीता ८। २८)

'योगी पुरुष इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर वेदोंके पढ़नेमें तथा यज्ञ, तप और दानादिके करनेमें जो पुण्यफल कहा है, उस सबको निस्संदेह उल्लङ्घन कर जाता है और सनातन परमपदको प्राप्त होता है।'

गीताके इस आठवें अध्यायमें मनुष्यके मरणकालमें हुए भगवच्चिन्तनके विशेष महत्त्वका वर्णन है। अतः मृत्युके समय पुरुषको अर्थसहित यह अध्याय अवश्य सुनाना चाहिये। यदि सारा-का-सारा अध्याय न सुनाया जा सके तो ऊपर जिन श्लोकोंका वर्णन आया है, कम-से-कम ये खास-खास श्लोक तो अवश्य ही अर्थसहित सुना देने चाहिये; क्योंकि इन श्लोकोंमेंसे मनुष्य एक श्लोकके भी अर्थ और भावको समझकर धारण कर लेता है तो सहजमें ही उसका कल्याण हो सकता है। फिर जो सदा-सर्वदा हर समय भगवान्के सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार—किसी भी स्वरूपको

याद रखता है, उसके लिये तो अन्तकालमें परमात्माकी स्मृति हो जानी बहुत ही सहज है।

अनन्य भक्ति-साधनका स्वरूप

[एक कन्याका दृष्टान्त]

गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११। ५४)

'परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

अनन्य भक्तिका साधन किस प्रकार करना चाहिये, इस विषयमें एक कन्याका दृष्टान्त बतलाया जाता है। राजस्थानके एक गाँवमें एक सुन्दर चौदह वर्षकी तरुणी अविवाहिता कन्या थी। उस कन्याकी विवाहके योग्य अवस्था देखकर उसके सम्बन्धके लिये पिता सदा चेष्टा करते रहते थे। एक बार एक अच्छे प्रतिष्ठित विद्वान् ब्राह्मणसे उसके पिताने कहा—'मेरी कन्याका सम्बन्ध अवश्य करना है।' उस ब्राह्मणने खोजकर एक अच्छे वरकी व्यवस्था कर दी और कहा—'वर बहुत ही सदाचारी, सद्गुणी, सुशील, वैभव-सम्पन्न और सुन्दर है। उसके समान दूसरा कोई भी नहीं है। ऐसा वर मिलना कठिन है; किंतु उसके माता-पिता नहीं हैं।' ब्राह्मणने वरके पास भी यह समाचार पहुँचा दिया कि 'कन्या बड़ी सुन्दर, सुशील और युवा है।' इस प्रकार दोनोंको समझाकर सम्बन्ध करवा दिया। सम्बन्ध होनेके बाद उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने वरके द्वारा कन्याके लिये भेजे हुए अधोवस्त्र (साड़ी), उत्तरीय वस्त्र (ओढ़ना), कब्जा और पायजेब आदि पैरोंके गहने, रत्नजटित करधनी, दोनों हाथोंकी दस स्वर्णकी चूड़ियाँ, कड़े, कंगन, बँगड़ी, बाजूबन्द आदि हाथोंके गहने, गलेमें पहननेका रत्नजटित स्वर्णका कँठला, वक्षःस्थलपर धारण करनेका चन्द्रहार, कंठी, मोहनमाला, गलपटिया आदि, नाककी नथ, कानोंकी बालियाँ और कर्णफूल, मस्तकको चूडामणि एवं सिन्दूर आदि सौभाग्य-द्रव्य लाकर दिये। कन्या उन वस्त्राभूषणोंको पहनकर अपनी सहेलियोंके पास गयी। वे सब उसके इस श्रृंगारको देखकर बड़ी प्रसन्न हुईं और बोलीं—'ये सब वस्तुएँ तुम्हारे पतिके यहाँसे आयी हैं न?' यह सुनकर वह कुछ लज्जित हो गयी। उन सहेलियोंमें एक दुष्ट लड़की थी; उसने उसकी एक चूड़ी खराब कर दी। कन्याने दुःखित होकर पिताके पास आकर कहा—'अमुक सहेलीने मेरी एक चूड़ी खराब कर दी।' पिताने कन्याको आश्वासन दिया और चूड़ीको ठीक करवा दिया तथा उस सहेलीके अभिभावकको उलाहना दिया। फिर सम्बन्ध करानेवाले ब्राह्मणको भी सारी बातें बताकर विवाह शीघ्र करवानेके लिये अनुरोध किया।

ब्राह्मणदेवताने वरके पास जाकर कहा—'लड़की बहुत सुपात्र है। किसीने एक चूड़ी खराब कर दी, तब उसने उसको अपशकुन मानकर पिताके पास दुःख प्रकट किया। पिताने चूड़ी ठीक करवा दी। आपके भेजे हुए वस्त्राभूषणोंकी वह अच्छी तरह आदरपूर्वक सार-सँभाल रखती है। उसके पिताने शीघ्र विवाहके लिये अनुरोध किया है।' यह सुनकर वरने शीघ्र ही विवाह करना स्वीकार कर लिया। कुछ ही दिनों बाद वरने तिथि निश्चित कर दी और बारात लेकर कन्याको व्याहनेके लिये कन्याके पिताके यहाँ जा पहुँचा। विवाहके समय कन्याने वरके गलेमें वरमाला पहनायी और विधिपूर्वक विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। तत्पश्चात् वर उस कन्याको अपने साथ स्थानपर ले गया। उनके यहाँ ऐसी प्रथा थी कि वधूको वापस नहीं भेजा जाता। किसीको मिलना होता तो वहीं आकर मिल लेते। उसके पति ही यदि कभी कोई विशेष आवश्यकता समझें तो उसे भले ही नैहर भेज दें, पर दूसरे किसीकी इच्छासे वह नहीं जा पाती। ऐसी आवश्यकताका अवसर जीवनभरमें किसीके लिये शायद ही कभी आता है।

उपर्युक्त कन्याके दृष्टान्तको दार्ष्टान्तमें इस प्रकार घटाना चाहिये। यहाँ अनन्य भक्तको ही कन्या समझना चाहिये। उसके १-निर्भयता, २-सात्त्विकी बुद्धि, ३-मन-इन्द्रियोंका निरोध, ४-क्रोधका अभाव, ५-ममता और अहंकारका अभाव, ६-स्वार्थत्याग, ७-किसीकी निन्दा न करना, ८-विषयोंमें निर्लेपता, ९-कोमलता, १०-व्यर्थ चेष्टाका अभाव, ११-तेजस्विता, १२-धैर्य, १३-निर्वैरता तथा १४-मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके त्यागमें निपुणता—ये १४ गुण ही चौदह वर्षकी आयु हैं। श्रद्धा-विश्वास ही सुन्दरता है। प्रेम ही

तरुणावस्था है, जो नित्य बढ़ता रहता है। भगवत्-मार्गमें लगानेवाले परम हितैषी पुरुष ही पिता हैं। भगवत्प्राप्त पुरुष ही सम्बन्ध करानेवाले श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मण हैं। भगवान् मातृ-पितृविहीन वर हैं। लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये लज्जा ही अधोवस्त्र (साड़ी) है। शास्त्रमर्यादाकी रक्षाके लिये लज्जा ही उत्तरीय वस्त्र (ओढ़ना) है। शीत-उष्णको सहन करनारूप तितिक्षा ही कब्जा है। भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे तीर्थस्थान, देवालय और महात्माओंके दर्शनके लिये पैरोंसे उनके पास जाना ही पैरोंके पायजेब आदि गहने हैं। भगवान्‌की प्राप्तिके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त प्रयत्न करना ही करधनी है। पाँच यम ही दाहिने हाथकी पाँच चूड़ियाँ हैं। यमोंका वर्णन योगदर्शनमें इस प्रकार किया गया है—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥

(२। ३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं।'

१-अहिंसा—किसी भी प्राणीको किसी प्रकार किसी भी निमित्तसे किंचिन्मात्र भी कभी कष्ट न देना 'अहिंसा' है।

२-सत्य—जो बात जैसी सुनी, समझी और देखी गयी, उससे न अधिक कहना, न कम कहना एवं कपटरहित यथार्थ हितकर और प्रियवचन कहना 'सत्य' है।

३-अस्तेय—दूसरेके किसी भी पदार्थको चोरीसे, जोरीसे, ठगीसे किसी भी प्रकार कभी अपने अधिकारमें न करना 'अस्तेय' है।

४-ब्रह्मचर्य—किसी भी बालक-बालिका और स्त्रीके दर्शन, स्पर्श, भाषण, वार्तालाप, श्रवण, एकान्तवास, चिन्तन, हँसी-मजाक और सहवासका सर्वथा त्याग करना अर्थात् मन, वाणी, शरीरसे किसी प्रकार भी किंचित् भी अश्लील चेष्टा न करना 'ब्रह्मचर्य' है। इसी प्रकार स्त्रीके लिये पुरुषके प्रति समझ लेना चाहिये।

५-अपरिग्रह—अपने ऐश-आराम और भोगके लिये किसी पदार्थका कभी संग्रह न करना 'अपरिग्रह' है।

सब देश, सब काल, सब जाति और सब निमित्तोंमें सेवन किये हुए उपर्युक्त पाँचों यम 'महाव्रत' कहे जाते हैं। योगदर्शनमें बताया गया है—

जातिदेशकालसमयावच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

(२। ३१)

'उक्त यम जाति, देश, काल और निमित्तसे रहित सार्वभौम होनेपर 'महाव्रत' हो जाते हैं।'

इसी प्रकार पाँच नियम ही बायें हाथकी पाँच चूड़ियाँ हैं। नियमोंका वर्णन योगदर्शनमें इस प्रकार किया गया है—

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

(२। ३२)

'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच नियम हैं।'

१-शौच—बाहर-भीतरकी पवित्रताको 'शौच' कहते हैं। बाहरकी पवित्रता है शौचाचार-सदाचार। भीतरकी पवित्रता है दुर्गुण-दुराचारोंके संस्कारोंका अभाव।

२-संतोष—ईश्वरके मङ्गलमय विधानके अनुसार अनुकूल और प्रतिकूल क्रिया, भाव, पदार्थ और परिस्थितिकी प्राप्तिमें सदा सम और संतुष्ट—प्रसन्नचित्त रहना 'संतोष' है।

३-तप—मन और इन्द्रियोंका संयम करके त्यागपूर्वक व्रत, उपवास आदि धर्मका पालन करनेके लिये कष्ट सहन करना 'तप' है।

४-स्वाध्याय—भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-सदाचारपरक श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण आदि शास्त्रोंका अर्थ और भाव समझते हुए अध्ययन करना 'स्वाध्याय' है।

५-ईश्वर-प्रणिधान—श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे ईश्वरके प्रणव आदि नामोंका जप और स्वरूपका चिन्तन करते हुए करुणाभावपूर्वक ईश्वरके शरणापन्न होना—'ईश्वर-प्रणिधान' है।

हाथोंसे सेवा, पूजा, यज्ञ, दान, परोपकार आदि सत्कार्य करना ही कड़े, कंगन, बँगड़ी, बाजूबंद आदि हाथोंके गहने हैं। भक्ति-ज्ञान-वैराग्यपरक गीता, रामायण, भागवत आदिको कण्ठाग्र करना ही गलेका भूषण रत्नजटित 'कँठला' है। क्षमा, दया, शान्ति, समता, उदारता, ज्ञान-वैराग्य आदि हृदयके उत्तम भाव ही वक्षःस्थलके चन्द्रहार, कंठी, मोहनमाला, गलपटिया आदि गहने हैं। नासिकाके द्वारा भगवान्‌के दिव्य विग्रहमें दिव्य गन्धका अनुभव करना ही नाककी नथ है। भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, लीला आदिका श्रवण ही कानोंकी बालियाँ तथा अपनी निन्दा और अपवाद सुनकर संतुष्ट रहना ही कानके कर्णफूल हैं। विनय और प्रेमपूर्वक भगवद्भावसे सिरसे सबको नमस्कार करना मस्तककी चूडामणि है। भगवान्‌में दृढ़तापूर्वक अनन्यप्रेम-भावसे एकनिष्ठा ही सौभाग्यचिह्नरूप सिन्दूर है।

सत्संगी मित्र साधकोंका सङ्ग ही सहेलियोंका सङ्ग है। उत्तम गुण और उत्तम आचरणरूप वस्त्राभूषणोंको देखकर जो मित्रोंके द्वारा प्रशंसा की जाती है, उसे सुनकर साधकका लज्जित होना ही कन्याका लज्जित होना है,

यही उस कन्याकी महत्ता है। यम-नियमके पालनमें बाधा पहुँचानेवालेको ही चूड़ी खराब करनेवाली दुष्ट सहेली समझना चाहिये। शौच-स्नान, नित्यकर्म आदि साधनमें विघ्न डालना ही चूड़ीको खराब करना है। परम हितैषी पुरुषके द्वारा शौच-स्नान, नित्यकर्मका सुचारुरूपसे प्रबन्ध किया जाना ही पिताके द्वारा चूड़ीको ठीक करवाया जाना है। साधकको भगवान्‌से मिलनेके लिये उत्कण्ठित और पात्र देखकर जो परम हितैषी पुरुषके द्वारा भगवत्प्राप्त पुरुषसे भगवद्दर्शनके लिये अनुरोध कराना है, यही कन्याको विवाहके लिये उत्सुक, सयानी और योग्य देखकर पिताके द्वारा ब्राह्मणसे शीघ्र विवाहके लिये अनुरोध करवाना है। साधकके उत्तम गुण, स्वभाव और चरित्रोंका भगवान्‌के प्रति वर्णन करना वरके प्रति कन्याके गुण-स्वभाव-चरित्रका वर्णन करना है। भगवान्‌का उस साधकको दर्शन देनेका निश्चय करना ही वरका कन्याके साथ विवाह स्वीकार करना है; क्योंकि भगवान् किसीके पुरुषार्थसे नहीं मिलते। वे तो उसीको मिलते हैं जिसको वे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं। कठोपनिषद्‌में बतलाया गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम्॥

(१।२।२३)

'ये परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त हो सकते हैं, बल्कि जिसको ये परमात्मा स्वीकार कर लेते हैं, उसके द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं; क्योंकि ये परमात्मा उसके लिये अपने यथार्थ स्वरूपको प्रकट कर देते हैं।'

भगवान्‌का प्रकट होकर दर्शन देना ही कन्याके घरपर वरका पधारना है और भगवान्‌का दर्शन करके उनको पुष्पमाला पहनाना ही कन्याके द्वारा वरमाला पहनाना है। भगवत्-प्राप्ति ही विवाह है। साधकका भगवान्‌के परमधाममें जाना ही कन्याका पतिके स्थानमें जाना है। परमधाममें जाकर पुनः इस संसारमें लौटकर न आना ही स्त्रीका नैहर वापस न आना है। विशेष आवश्यकता पड़नेपर भगवान्‌के द्वारा आज्ञा और अधिकार पाकर उस महात्माका लोगोंका उद्धार करनेके लिये संसारमें आना ही स्त्रीका भगवदिच्छासे नैहरमें आना है।

अनन्य भक्तिका साधन किस प्रकार किया जाय—इसे समझानेके लिये ही यह कन्याका दृष्टान्त बताया गया है। इसे साधक पुरुषको अपनेमें घटाना चाहिये। अनन्य भक्तिके साधकको भक्ति, ज्ञान, वैराग्यके रसमें सदा-सर्वदा मग्न रहना चाहिये। भगवान्‌के नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे तत्परता और उत्साहके साथ निरन्तर करते रहना चाहिये। उसके प्रभावसे मनुष्यमें उपर्युक्त उत्तम गुण और उत्तम चरित्र सहजमें ही प्रकट हो सकते हैं। फिर तो ऐसे उत्तम गुण और उत्तम चरित्ररूप दैवी सम्पदावाले साधक महात्माके द्वारा अनन्यभावसे श्रद्धा, विनय और प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन अनायास स्वाभाविक ही होता रहता है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

(९।१३)

'अर्जुन! दैवी प्रकृतिके आश्रित उच्चकोटिके साधक महात्माजन तो मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।'

अतएव हमलोगोंको नित्य-निरन्तर उपर्युक्त साधनकी सम्पन्नताके लिये सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये। सत्पुरुषोंका सङ्ग न मिले तो उत्तम साधकोंका सङ्ग करके अपना साधन बढ़ाना चाहिये। साधकोंका सङ्ग भी न मिले तो जिनमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व-रहस्यका वर्णन हो, उन गीता आदि ग्रन्थोंका अर्थ और भाव समझते हुए श्रद्धा, प्रेम और वैराग्यपूर्वक अनुशीलन करना चाहिये।

निरन्तर भगवच्चिन्तनकी महिमा

भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण किसी भी स्वरूपके निरन्तर स्मरणके समान कोई भी साधन नहीं है। यह साधन बहुत ही सुगम है। इस साधनसे भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है। यदि इस मनुष्य-जन्ममें भगवत्प्राप्ति नहीं हुई तो बड़ी भारी हानि है, महान् भयकी बात है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

(केन० २।५)

'यदि इस मनुष्य-जीवनमें परमात्माको जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्ममें नहीं जाना तब बड़ी भारी हानि है।'

क्योंकि मनुष्य भगवान्‌के सिवा किसी भी प्राणी

या पदार्थका चिन्तन करता हुआ मरता है तो उसकी दुर्गति होती है। मरनेके समय जिस मनुष्य, पितर, देवता, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदिका चिन्तन करता हुआ मरता है वह उसीको प्राप्त होता है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(८।६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

हमें यह पता नहीं कि हमारी मृत्यु कब होगी। यदि अचानक मृत्यु हो गयी और मरणकालमें भगवान्की स्मृति नहीं रही तो बहुत ही खतरेकी बात है। इसलिये हमलोगोंको हर समय भगवान्को याद रखते हुए ही सारे काम करने चाहिये। भगवान्ने गीतामें अर्जुनसे कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

यदि हम हर समय भगवान्का स्मरण करते रहेंगे तो अवश्य ही भगवान्को प्राप्त हो जायँगे। अतएव एक क्षण भी भगवान्को नहीं भूलना चाहिये।

शरीर और इन्द्रियोंसे आप जो कुछ कर रहे हैं, वही करते रहिये, पर केवल मनसे भगवान्के सिवा अन्य किसीका भी चिन्तन न कीजिये। यों तो मनुष्य स्वाभाविक ही दो काम बराबर करता रहता है, जैसे शौच-स्नान, खान-पान आदिकी क्रिया इन्द्रियोंसे होती रहती है और मन दूसरा ही व्यर्थ चिन्तन करता रहता है; किंतु हमारी प्रार्थना यह है कि आप जैसे शौच-स्नानादिकी क्रिया तथा जीविकाके लिये व्यापार आदिकी क्रिया—शरीर एवं वाणी आदि इन्द्रियोंसे करते आये हैं, चाहे वही करते रहिये; किंतु भगवान्को कभी मत भूलिये। सांसारिक कार्यमें कहीं कमी भी आ जाय या दोष भी आ जाय तो उसका सुधार भगवान्की निरन्तर स्मृतिके प्रभावसे हो सकता है; क्योंकि कैसा भी पापी क्यों न हो, भगवान्की अनन्य भक्तिसे उसका सुधार होकर उद्धार हो जाता है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका विनाश नहीं होता।'

इससे यह समझना चाहिये कि दोषोंका नाश तो भगवान्की अनन्य-भक्तिके प्रभावसे अनायास ही हो सकता है, किंतु अनन्यभक्तिमें कमी रह जायगी तो बड़ी भारी हानि है; क्योंकि उसकी पूर्ति अपने-आप सम्भव नहीं।

अतएव जिस कार्यके लिये हमें यह मनुष्य-शरीर मिला है, उसी काममें इसको लगाना चाहिये। ईश्वरने हमको विवेक, बुद्धि, विचार और ज्ञान दिया है, उसको सार्थक करना चाहिये एवं इस मोहनिद्रासे सचेत होकर महापुरुषोंके पास जाना चाहिये तथा उनसे उस जाननेयोग्य परमात्माके तत्त्वको जानकर अपना कल्याण करना चाहिये। कठोपनिषद्में बताया गया है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

(१।३।१४)

'उठो, जागो (सावधान हो जाओ) और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर उनसे जाननेयोग्य परमात्मतत्त्वको समझो।'

इसलिये मनुष्यशरीरके रहते-रहते ही परमात्माकी प्राप्ति-रूप कार्यको सिद्ध करनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये। भगवान्ने कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

(गीता ९। ३३ का उत्तरार्ध)

'अर्जुन! तू इस सुखरहित और क्षणभङ्गुर दुर्लभ मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही स्मरण कर।'

यदि भगवान्के निरन्तर चिन्तनका प्रयत्न करते हुए देहपात भी हो जाय तो भी कल्याण ही है, किंतु भगवच्चिन्तनके बिना देहपात होनेके बाद पश्चात्ताप करनेसे कोई काम नहीं सिद्ध होता।

अतः शरीरके रहते-रहते ही अपने कार्यकी सिद्धि कर लेनी चाहिये। नहीं तो, आग लगनेके बाद कुआँ खोदनेसे कोई कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती।

श्रीभर्तृहरिजीने कहा है—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

(वैराग्यशतक ८६)

'जबतक यह शरीररूपी घर स्वस्थ है, जबतक वृद्धावस्था दूर है, जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है और जबतक आयुका भी क्षय नहीं हुआ है, तभीतक समझदार मनुष्यको अपने कल्याणके लिये महान् प्रयत्न कर लेना चाहिये, नहीं तो घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदनेका प्रयत्न करनेसे क्या होगा?

भोजराज कहते हैं—

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः
सम्मीलने नयनयोर्न हि किंचिदस्ति॥

'मनोमोहिनी स्त्रियाँ हैं, मित्र भी अनुकूल हैं, बन्धुजन भी बड़े सुयोग्य हैं, सेवक भी प्रेमभरी बोली बोलनेवाले हैं, कितने ही हाथी चिग्घाड़ रहे हैं और तेज घोड़े हिनहिना रहे हैं; किंतु आँखोंके मुँद जानेपर उसके लिये कुछ भी नहीं रहता।'

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

झूमत द्वार अनेक मतंग जँजीर-जुरे, मद-अंबु चुचाते।
तीखे तुरंग मनोगति चंचल पौनके गौनहु तें बढ़ि जाते॥
भीतर चंद्रमुखी अवलोकति, बाहर भूप खरे न समाते।
ऐसे भए तौ कहा तुलसी जो पै जानकीनाथके रंग न राते॥

(कविता० उत्तर० ४४)

मन बड़ा ही चञ्चल, प्रमादी और मूर्ख भी है। जैसे बालक विद्याका अभ्यास छोड़कर खेल-कूदमें चला जाता है; क्योंकि उसे खेल-कूदमें ही रस आता है; किंतु जब वह बड़ा होता है और उसमें समझ आ जाती है तब वह पश्चात्ताप करता है कि बालकपनमें मैंने खेल-कूदमें समय बिता दिया, विद्याका अभ्यास नहीं किया, यह मेरी बड़ी मूर्खता हुई। किंतु उस पश्चात्तापसे किसी कार्यकी सिद्धि नहीं होती। इसी प्रकार जो मनुष्य निरन्तर भगवान्का चिन्तन न करके विषयभोगमें, व्यर्थ कार्योंमें और पाप-कार्योंमें रस लेता है, उसको भी घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ४३)

श्रीसुन्दरदासजी भी कहते हैं—

तू कछु और बिचारत है नर तेरो बिचार धर्‌यौ ही रहैगौ।
कोटि उपाय करै धनकै हित भाग लिख्यौ तितनो ही लहैगौ॥
भोर कि साँझ घरी पल माझ सु काल अचानक आइ गहैगौ।
राम भज्यौ न कियौ कछु सुकृत सुंदर यों पछिताइ कहैगौ॥

(सुन्दर-विलास अंग ३ पद ७)

हमलोग थोड़ा विचार करके देखेंगे तो हमलोगोंका मनसे भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभावका चिन्तन करना तथा शास्त्र और सत्संगके द्वारा भक्ति-ज्ञान, वैराग्य-सदाचार आदि अध्यात्मविषयका पठन, श्रवण और मनन करना आदि सात्त्विक कार्यरूप परमार्थमें बहुत ही कम समय बीतता हुआ मिलेगा; किंतु हमारे समयका कुछ हिस्सा तो स्वाद-शौक, ऐश-आराम, भोग-विलास, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा आदि राजस कार्यरूप स्वार्थमें बीतता हुआ मिलेगा एवं अधिकांश समय मूर्खताके कारण निद्रा, आलस्य, प्रमाद और पाप आदि तामस कर्मरूप अनर्थमें बीतता मिलेगा। इसलिये भगवान्ने जो हमको बुद्धि, विवेक और ज्ञान दिया है उसके द्वारा मनको समझाना चाहिये एवं उसे राजस-तामसरूप स्वार्थ और अनर्थके कार्योंसे हटाकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर परमात्माके चिन्तनरूप परमार्थमें लगाना चाहिये। इस प्रकार मनको परमार्थमें लगाना ही उसका सदुपयोग है और इसके विपरीत लगाना ही उसका दुरुपयोग है। मनका स्वभाव बहुत ही गिरा हुआ है, उसका सुधार भगवान्का आश्रय लेकर अतिशय तत्परतासे प्रयत्न करनेपर ही भगवान्की कृपासे हो सकता है।

इस समय हमको सब प्रकारकी सुविधा प्राप्त है। अध्यात्म-विषयकी उन्नतिके लिये यह भारतवर्ष उत्तम देश है तथा जिसमें अल्पकालके साधनसे ही शीघ्र कार्यकी सिद्धि हो जाती है—ऐसा यह उत्तम कलिकाल है। ऐसे उत्तम देश-कालमें भगवान्ने कृपा करके हमको मनुष्यशरीर दे दिया और भजन-ध्यान करनेके लिये मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ दे दीं। इस समय अध्यात्मविषयक पुस्तकें भी कम मूल्यमें प्राप्त हो जाती हैं। उत्तम पुरुषोंका सङ्ग भी प्राप्त हो सकता है। धर्मके निष्कामभावपूर्वक थोड़े-से अनुष्ठानसे ही कल्याण हो सकता है। ये सब संयोग पाकर भी यदि हम परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहें तो हमारे लिये

बहुत ही लज्जा, दुःख और शोककी बात है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ४४)

अतः हमलोगोंको विचार करना चाहिये और पतनकारक काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, दर्प, ईर्ष्या, द्वेष, ममता, आसक्ति और अज्ञानके वशमें होकर एक क्षण भी परम सुहृद् भगवान्‌को नहीं भूलना चाहिये। वैराग्ययुक्त भावसे त्रिलोकीके ऐश्वर्यको ठुकराकर केवल एक भगवान्‌का ही प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना चाहिये। हमारे लिये इसके समान और कोई भी परम उपयोगी कार्य नहीं है। तब हम दूसरे काममें एक क्षण भी अपने चित्तको क्यों लगायें? इसलिये चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते—हर समय भगवान्‌को याद रखनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये तथा जप-ध्यान, संध्या-गायत्री, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना करनेके समय तो उनके अर्थ और भावको अच्छी तरह समझकर श्रद्धा, विश्वास और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे गुण और प्रभावयुक्त भगवान्‌के स्वरूपका मनसे निरन्तर चिन्तन विशेषतासे होना ही चाहिये। रात्रिमें सोनेके समय भी विशेषतासे भगवान्‌को याद करते हुए ही सोना चाहिये। इससे हमारा रात्रिका शयनकाल भी साधनकालके रूपमें परिणत हो सकता है; क्योंकि मनुष्य १८ घंटे जिस कार्यका अभ्यास करता है, रात्रिमें ६ घंटे स्वप्न-सुषुप्तिके भी प्रायः वैसे ही बीतते हैं। अतः लाख काम छोड़कर यही काम करें कि भगवान्‌को कभी न भूलें। भगवान्‌की निरन्तर स्मृतिके प्रभावसे दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदि दोषोंका और सम्पूर्ण दुःखोंका सर्वथा विनाश होकर भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति शीघ्र ही हो सकती है।

श्रीभागवतकार कहते हैं—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

(१२। १२। ५४)

'भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी अविचल स्मृति सारे पाप-ताप और अमङ्गलोंको नष्ट कर देती है और परम शान्तिका विस्तार करती है। उसीके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि, भगवान्‌की भक्ति एवं विज्ञान-वैराग्यसे युक्त (भगवान्‌के स्वरूपका यथार्थ) ज्ञान प्राप्त हो जाता है।'

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान् नृणाम्॥

(२। २। ३६)

'इसलिये परीक्षित्! सभी मनुष्योंको चाहिये कि वे सब समय, सब परिस्थितियोंमें सब प्रकारसे भगवान् श्रीहरिका ही श्रवण, कीर्तन और स्मरण करें।'

ईश्वर और महापुरुषोंका प्रभाव

सम्पूर्ण बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति और सामर्थ्यसे सम्पन्न, असम्भवको भी सम्भव कर सकनेवाले परमेश्वरका प्रभाव अपरिमित है। वस्तुतः ईश्वरके स्वरूप और प्रभावका वर्णन वाणीद्वारा नहीं किया जा सकता। जिस मनुष्यको ईश्वरका यथार्थ अनुभव हो जाता है वही उन्हें जानता है। वाणीसे तो वह भी नहीं कह सकता। इस सम्बन्धमें एक दृष्टान्त है। मान लीजिये, मर्त्यलोकका एक मनुष्य पृथ्वीके अंदर ऐसे नीचेके पाताललोकमें गया, जहाँ सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रोंका कभी दर्शन नहीं होता; इस कारण वहाँ घोर अन्धकार-ही-अन्धकार रहता है। वहाँ जानेपर जब कुछ समय बीत गया तो उसने वहाँके लोगोंसे पूछा—'क्या यहाँ दिन नहीं होता?' उन लोगोंने कहा—'दिन क्या?' उसने कहा—'सूर्यका उदय होनेसे जो महान् प्रकाश होता है, उसे दिन कहते हैं।' उन्होंने पूछा—'सूर्य क्या है?' उसने कहा—'जो आकाशमें प्रकाशका महान् पुञ्जरूप एक गोलाकार पिण्ड-सा उदित होता है वह सूर्य है।' तब वहाँके निवासियोंने बिजलीका हजारों पावरका एक बल्व आकाशमें स्थित किया और उसे जलाकर पूछा—'सूर्य ऐसा ही होता है?' वह मनुष्य बोला—'यह सूर्यके मुकाबिलेमें कुछ नहीं है।' वहाँके निवासियोंने कहा—'इससे बढ़कर प्रकाश हो ही नहीं सकता।' वह बोला—'आप अपने एक व्यक्तिको मेरे साथ पृथ्वीपर भेजें तो मैं उसे प्रत्यक्ष दिखला सकता हूँ।' इसपर उन्होंने वहाँके एक व्यक्तिको उसके साथ भेज दिया। वह मनुष्य उस पाताललोकके व्यक्तिके साथ मनुष्य-लोकमें आया, उस समय अमावस्याकी अर्धरात्रिका घोर अन्धकार व्याप्त था, तब भी यहाँ उस लोककी अपेक्षा प्रकाश था। उसे देखकर उस व्यक्तिने पूछा—'यही दिन है?' उस मनुष्यने उत्तर दिया—'यह तो घोर रात्रि है।'

तब जो आकाशमें तारे चमक रहे थे, उनके बारेमें उस पातालवासी व्यक्तिने पूछा—'यह क्या है?' उस मनुष्यने कहा—'ये तारे हैं।' जब अरुणोदय होनेपर तारोंकी चमक क्षीण हो गयी और व्यापक प्रकाश-सा प्रतीत होने लगा, तब उसने पूछा—'यह दिन है?' उस मनुष्यने उत्तर दिया—'नहीं, यह तो प्रभात है, अरुणोदय है। जब दो घड़ी बाद सूर्योदय होगा तब दिन माना जायगा।' उस व्यक्तिने पूछा—'आकाशमें जो तारे चमकते थे उनकी रोशनी कम कैसे पड़ गयी?' मनुष्यने उत्तरमें कहा—'सूर्यका आभास यहाँ आनेसे तारोंकी ज्योति क्षीण हो गयी। जब सूर्योदय हो जायगा तब उनके तीव्र प्रकाशमें ये तारे आकाशमें ज्यों-के-त्यों रहते हुए भी नहीं दीखेंगे।' तत्पश्चात् जब सूर्योदय होनेका समय निकट आ गया तब शुक्र और बृहस्पतिके सिवा सारे तारे छिप गये एवं जब सूर्योदय हो गया तब तो शुक्र और बृहस्पति भी दीखने बंद हो गये। जो व्यक्ति नीचेके लोकसे आया था वह सूर्यको देख नहीं सका। तब जैसे अभ्रक (अबरक) पर दीपकके काजलकी कालिमा लगाकर सूर्य-ग्रहणके समय सूर्यको देखा जाता है, उसी प्रकार उसने देखा। सूर्य, दिन और रातको उसने अच्छी तरह समझ लिया। फिर वह मनुष्य उस व्यक्तिको लेकर उस लोकको गया। वहाँके निवासी लोगोंने उस व्यक्तिसे पूछा—'तुमने सूर्यका स्वरूप प्रत्यक्ष देखा?' 'दिन और रातको प्रत्यक्ष देखा?' वह व्यक्ति बोला—'हाँ' मैंने प्रत्यक्ष देखा है।' उन्होंने कहा—'अब तुम हमको अपनी भाषामें ठीक-ठीक समझा दो।' उसने उत्तर दिया—'यह मेरे सामर्थ्यके बाहरकी बात है। मैं किसी प्रकार भी नहीं समझा सकता। आपलोगोंको समझना हो तो वहाँ जाकर समझिये; और दूसरा कोई उपाय नहीं है।'

अब हमें इस दृष्टान्तपर विचार करना चाहिये। जब प्रत्यक्षमें देखनेवाला व्यक्ति भी, जिस देशमें सूर्य या दिन नहीं है, उस देशमें सूर्य या दिनको वाणीद्वारा नहीं समझा सकता, तब फिर परमात्माके स्वरूप और प्रभावको मनुष्य वाणीद्वारा कैसे समझा सकता है? परमात्माकी प्राप्ति होनेपर ही मनुष्य परमात्माके स्वरूप और प्रभावको यथार्थ समझ सकता है। किंतु वह भी फिर दूसरोंको समझा नहीं सकता। फिर भी जो शास्त्र और महात्मा पुरुषोंद्वारा यत्किञ्चित् समझाया जाता है वह उस परमात्माका आभासमात्र है। भगवान्ने गीतामें अपना प्रभाव जगह-जगह व्याख्या करके समझाया है, किंतु गीताके अर्थको समझकर भी भगवान्का स्वरूप और प्रभाव ठीक-ठीक समझमें नहीं आता है।

भगवान् गीतामें कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(१०। ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान।'

इससे यह समझना चाहिये कि संसारमें जो भी विभूति, कान्ति, बल और प्रभावसे युक्त पदार्थ हैं, वे सब मिलकर भी भगवान्के प्रभावके एक अंशका ही प्राकट्य हैं।

अतः भगवान्का प्रभाव अपरिमित, अपार, असीम और अनिर्वचनीय है। भगवान्के सगुण-साकार स्वरूपका श्रद्धा-पूर्वक दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन करनेसे पापी-से-पापी मनुष्यका भी शीघ्र कल्याण हो जाता है। हम भगवान्का स्मरण करें तो भी हमको परम लाभ है और भगवान् हमारा स्मरण करें तो भी हमको परम लाभ है। हम भगवान्को याद करें तो हमारा हृदय परम पवित्र होकर हमारा उद्धार हो सकता है और भगवान् हमको याद करें तो हम उन गुणसागर भगवान्के हृदयमें प्रवेश करनेसे परम पवित्र होकर हमारा उद्धार हो सकता है। इसीलिये अङ्गदने हनुमान्जीसे यह कहा था कि आप समय-समयपर भगवान् श्रीरामको मेरी स्मृति कराते रहें—

कहेहु दंडवत प्रभु सैं तुम्हहि कहउँ कर जोरि।
बार बार रघुनायकहि सुरति कराएहु मोरि॥

(रा० च० मा०, उत्तर० १९ क)

इसलिये हमलोगोंको हर समय भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये; क्योंकि भगवान्का यह नियम है कि जो भगवान्को याद करता है उसे भगवान् भी याद करते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

इसी प्रकार भगवान् हमपर दृष्टिपात करें तो हम परम पवित्र हो जाते हैं और हम भगवान्का दर्शन करें तो हम परम पवित्र हो जाते हैं और हमारा उद्धार हो सकता है। यों सभी प्रकार हमारा परम लाभ है। फिर भगवान्के वार्तालाप और चरण-स्पर्शसे उद्धार हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है!

किंतु बिना श्रद्धाके ऐसा नहीं होता; जैसे भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन पाकर भी दुर्योधनका उद्धार नहीं हुआ। बिना श्रद्धाके तो साक्षात् भगवान्के वचनरूप गीतोपदेशको पढ़-समझकर भी उद्धार नहीं हो सकता।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

(गीता ९। ३)

'परंतप! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।'

परंतु जो भगवान्में श्रद्धा रखता है, भगवान्के दिव्य जन्म और कर्मके तत्त्व-रहस्यको जान जाता है उसका उद्धार हो जाता है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

'अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।'

भगवान् अर्जुन-जैसे श्रद्धालु पात्रको ही अपने जन्म (अवतार)का रहस्य बतलाते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

किंतु राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिवाले मूढ़ मनुष्य श्रद्धारहित और अपात्र होनेके कारण भगवान्के तत्त्वको नहीं जानते, इसलिये वे भगवान्का तिरस्कार करते हैं (देखिये गीता ९। ११-१२)। वे अश्रद्धालु मनुष्य भगवान्के प्रभावसे अनभिज्ञ रहते हैं, अतः भगवान् उनके सामने प्रकट नहीं होते; अपने ऊपर योगमायाका पर्दा डाले रहते हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(गीता ७। २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है।'

अर्जुन भगवान्के श्रद्धालु और प्रेमी भक्त थे, इसलिये भगवान् उनके सामने प्रकट हो गये और उनको उन्होंने परिचय दे दिया कि मैं ही साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हूँ (गीता ४। ६)। तू मेरे शरण होकर मेरी ही भक्ति कर, इससे तू मुझको प्राप्त हो जायगा (गीता ९। ३४)। अठारहवें अध्यायके अन्तिम उपदेशमें भी कहते हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता १८। ६४-६५)

'सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा। अर्जुन! मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।'

भगवान्ने अपने स्वरूपका वर्णन भी जगह-जगह किया है। निर्गुण-निराकार स्वरूपका १२वें अध्यायके तीसरे श्लोकमें, सगुण-निराकार स्वरूपका ८वें अ० के ९वेंमें तथा ९ वें अ० के ४,५,६,१८वेंमें और सगुण-साकार विश्व-स्वरूपका ११वें अ० के ५,६,७ वेंमें वर्णन किया है। अर्जुनने भगवान्से सगुण-साकार चतुर्भुज स्वरूपका दर्शन देनेके लिये प्रार्थना की (गीता ११। ४६), तब भगवान्ने अपना चतुर्भुज स्वरूप अर्जुनको दिखला दिया—इसका ११वें अ० के ५०वें श्लोकमें वर्णन है। इसलिये सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सब भगवान्के ही स्वरूप हैं। इसके तत्त्व-रहस्यको जो मनुष्य जानता है उसका निश्चय ही उद्धार हो जाता है।

इसी प्रकार, संसारके कल्याणके लिये भगवान् अपना अधिकार देकर जिस भक्तको भेजते हैं अथवा यहीं जो महापुरुष हैं, उनमेंसे किसीको अपना अधिकार दे देते हैं, उन पुरुषोंके भी श्रद्धापूर्वक दर्शन, चरण-स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन करनेसे मनुष्य परम पवित्र हो जाता है जिससे उसका उद्धार हो सकता है; क्योंकि ईश्वर और ईश्वरका अधिकार पाये हुए पुरुषोंद्वारा जो कुछ देखा जाता है, स्पर्श किया जाता है, मनन किया जाता है, वह सब परम पवित्र हो जाता है। उन महापुरुषोंका प्रभाव बड़ा ही विलक्षण, दिव्य, अलौकिक और अपरिमित है। किंतु ऐसे महात्मा करोड़ों मनुष्योंमें ही कोई एक होते हैं। भगवान्ने गीतामें बतलाया है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई

एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

अतः प्रथम तो परमात्माकी प्राप्तिवाले पुरुष ही संसारमें बहुत कम हैं। उनमें भी अधिकार पाये हुए पुरुष तो और भी दुर्लभ हैं। उन महात्मा पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होना बड़ा ही कठिन है; यदि सङ्ग प्राप्त हो जाय तो उनको पहचानना बहुत मुश्किल है; क्योंकि उनको तो कोई आवश्यकता नहीं रहती जो कि वे अपनेको जनावें और साधारण मनुष्योंमें उनको पहचाननेकी योग्यता नहीं होती। यदि कहें कि गीतामें द्वितीय अ के ५५ वेंसे ५८ वेंतक, ६ ठे अ० के ७वेंसे ९वेंतक, १२वें अ० के १३ वेंसे १९वेंतक और १४वें अ० के २२ वेंसे २५ वें श्लोकतक—आदि-आदि श्लोकोंमें जो लक्षण बतलाये गये हैं उन लक्षणोंके अनुसार हम उनको पहचान सकते हैं तो यह कठिन है; क्योंकि ये सब लक्षण स्वसंवेद्य हैं, परसंवेद्य नहीं। यदि कहें कि तब फिर उनको कैसे पहचानें तो इसका उत्तर यह है कि जिसके दर्शन-भाषणसे अपनेमें महापुरुषोंके उपर्युक्त लक्षणोंका प्रादुर्भाव हो, वही हमारे लिये महात्मा है।

यदि महात्मा पुरुषोंकी श्रद्धापूर्वक सेवा, वार्तालाप और नमस्कार किया जाय तो एक महात्मासे कई महात्मा बन सकते हैं, जैसे यदि दीपकोंमें तेल और बत्ती हो तो एक दीपकसे कई दीपक जलाये जा सकते हैं। यहाँ श्रद्धा-विश्वास ही तेलबत्ती है। महापुरुषोंकी आज्ञाके अनुसार चलना श्रद्धा है और उनके संकेतके अनुकूल चलना विशेष श्रद्धा है। उससे भी अधिक श्रद्धा वह है कि उनके सिद्धान्तको समझकर उनके मनके अनुकूल चलना अर्थात् उनकी इच्छाके अनुकूल कठपुतलीकी भाँति चेष्टा करना। कोई बात उनसे पूछनेकी इच्छा हो तो उनको साष्टाङ्ग प्रणाम करके जिज्ञासुभावसे सरलता, श्रद्धा, विनय और प्रेमपूर्वक पूछ सकते हैं। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'उस परमात्माके यथार्थ ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

भगवान्ने यह जिज्ञासुके लिये कर्तव्य बताया है, किंतु महात्मासे इन सबको स्वीकार करनेके लिये नहीं कहा है। जिज्ञासुके द्वारा इस प्रकार करनेपर भी महात्मा स्वीकार नहीं करता; क्योंकि उसके शरीरमें कोई धर्मी है ही नहीं, तब कौन स्वीकार करे। किंतु इस प्रकार सेवादि करनेवाला कोई जिज्ञासु श्रद्धालु पात्र हो तो वह उसका विशेष विरोध भी नहीं करता। उपराम रहना तो उनका स्वभाव ही है; क्योंकि विवेक, वैराग्य, उपरति आदि गुण तो उनमें साधन-कालमें ही स्वभावसिद्ध हो गये थे।

जो उच्चकोटिके महापुरुष होते हैं वे व्यक्ति बनकर अपनेको नहीं पुजवाते; क्योंकि उनका देहमें किञ्चिन्मात्र भी ममता और अभिमान नहीं रहता। जो कोई अपनेको महात्मा समझता है, अपने पूजन, आदर, सत्कार, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठासे दूसरोंका उद्धार समझता है, वह महात्मा नहीं है; क्योंकि अपनेको श्रेष्ठ और दूसरोंको तुच्छ समझना, अपनेको महात्मा और दूसरोंको अज्ञानी समझना तो बहुत नीचे दर्जेकी बात है। महात्माके न तो देहमें अहंता-ममता ही रहती है और न देहमें कोई धर्मी ही रहता है, फिर मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा-आदर आदिकी इच्छा कौन करे। जो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा-आदर आदिकी इच्छा रखते हैं वे तो उच्च श्रेणीके साधक भी नहीं हैं, वरं वे तो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठादिके किंकर हैं!

ऊपर यह बताया गया है कि ईश्वर अश्रद्धालु मनुष्योंके सम्मुख अपने ऊपर योगमायाका पर्दा डाले रहते हैं, इसी प्रकार इस रहस्यको जाननेवाले, भगवान्के सच्चे अनुयायी महात्मा पुरुष भी अपने ऊपर मायाका पर्दा डाले हुए साधारण मनुष्यकी भाँति रहते हैं। किंतु जो वास्तवमें जिज्ञासु, श्रद्धालु और पात्र है, उसके सामने वे कहीं हावभावसे भगवत्प्राप्तिरूप अपनी स्थितिका निरभिमान-भावसे परिचय दे भी दें तो कोई दोष नहीं है। वे वस्तुतः महात्मा होकर भी लोकसंग्रहके उद्देश्यसे जिज्ञासु और साधककी भाँति साधारणतया विचरण करें तो इससे उनकी परमात्म-प्राप्तिरूप स्थिति नष्ट नहीं होती। किंतु साधारण मनुष्य महात्मा बनकर पूजा करावे तो उसके लिये भार है; क्योंकि महात्मा पुरुष, सकामभावसे शास्त्रविहित कर्म करनेवाले अज्ञानी पुरुषके कर्मोंका निष्काम और अनासक्त भावसे लोकसंग्रहके लिये अनुकरण करते हैं (देखिये गीता ३। २५)। यदि कहें कि सकामी अज्ञानी पुरुषके शास्त्रविहित कर्मोंका अनुकरण ज्ञानी पुरुष क्यों करते हैं तो इसका उत्तर यह है कि सकामी मनुष्य, यह सोचकर कि कहीं कर्मोंके विधि-विधानमें कमी रह जायगी तो हम फलसे वञ्चित रह जायँगे, फलकी इच्छाके लोभसे शास्त्रकी आज्ञाका पालन अच्छी

प्रकार करते हैं; इसलिये उन कर्मोंमें विगुणता या कमी आनेकी गुंजाइश नहीं रहती। इसीलिये महापुरुष निष्काम, अनासक्त और अभिमानरहित हुए ही लोकसंग्रह यानी संसारके कल्याणके लिये उन सकामी अज्ञानी मनुष्योंके शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुकरण करते हैं।

ईश्वर और महापुरुषोंके स्वरूप और प्रभावका यथार्थ ज्ञान उनकी कृपासे ही होता है। अतः उनकी कृपा प्राप्त करनेके लिये श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे गीता ९। ३४ और ४। ३४ के अनुसार सब प्रकारसे उनके शरण हो जाना चाहिये।

परमात्माकी प्राप्तिमें श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(१७। ३)

'भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है वह स्वयं भी वैसा ही है।'

कुछ लोगोंका कथन है कि 'हमलोग बहुत वर्षोंसे सत्सङ्ग करते हैं और अपनी समझ तथा शक्तिके अनुसार साधन भी करते हैं; पर जैसी उन्नति होनी चाहिये, वैसी उन्नति नहीं दिखायी पड़ती, इसका क्या कारण है? हमलोगोंकी उन्नति किस प्रकार हो? इसका उत्तर यह है कि श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही साधनमें रुकावट डालनेवाली है। इसलिये श्रद्धाके विषयमें गहराईसे विचार करके श्रद्धाको बढ़ाना चाहिये। श्रद्धाके योग्य चार हैं—१-ईश्वर, २-ज्ञानी-महात्मा, ३-गीतादि शास्त्र और ४-अपना आत्मा—इन चारोंमेंसे किसी एकपर भी पूर्णतया श्रद्धा-विश्वास हो जाय तो मनुष्यका सहज ही कल्याण हो सकता है।

गीतामें बतलाया गया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

इससे यह समझना चाहिये कि श्रद्धाकी कसौटी है तत्परता और तत्परताकी कसौटी है मन-इन्द्रियोंका संयम; क्योंकि जितनी श्रद्धा होती है उतनी ही साधनके लिये तत्परता होती है और जितनी तत्परता होती है उतना ही मन-इन्द्रियोंका संयम होता है।

१-ईश्वरपर श्रद्धा-विश्वास

हमलोगोंको ईश्वरपर इस प्रकार दृढ़ श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये कि ईश्वर हैं, वे बहुतोंको मिले हैं, वर्तमानमें मिलते हैं एवं भविष्यमें मिलते रहेंगे तथा ईश्वर सर्वव्यापी, सबके घट-घटकी जाननेवाले, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, परम दयालु, परम प्रेमी, सम्पूर्ण दिव्य गुणोंसे सम्पन्न, असम्भवको भी सम्भव करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, अज, अविनाशी, परम दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्मा हैं। उनकी प्राप्ति होनेपर मनुष्यके सारे दुःख, दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, आलस्य, प्रमाद और अज्ञानका विनाश होकर वह सदाके लिये संसारजालसे छूट जाता है और उसे परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है, जिसको गीतामें परमात्माकी प्राप्ति (१३। ३४), निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति (५। २४-२५), अमृतकी प्राप्ति (१३। १२), परम शान्तिकी प्राप्ति (४। ३९), आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति (६। २८), अविनाशी परमपदकी प्राप्ति (१५। ५), ब्रह्मकी प्राप्ति (१३। ३०), परम गतिकी प्राप्ति (८। १३; १३। २८) आदि अनेक नामोंसे कहा गया है।

जब मनुष्यका उन सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी परम दयालु परमात्मापर भक्तिपूर्वक प्रत्यक्षकी भाँति श्रद्धा-विश्वास हो जाता है, तब फिर उसके द्वारा जो भी कुछ होता है, भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही होता है, भगवान्‌के विरुद्ध किञ्चिन्मात्र भी कभी नहीं होता। यदि किसीके द्वारा उनकी आज्ञाके विरुद्ध आचरण होते हैं तो समझना चाहिये कि उसे ईश्वरके अस्तित्वपर भी विश्वास नहीं है; क्योंकि 'ईश्वर हैं या नहीं, वे हैं तो मिलते हैं या नहीं, मिलते हैं तो मुझको मिलेंगे या नहीं, मिलेंगे तो मेरा कल्याण होगा या नहीं तथा उनको जो सर्वहितैषी, न्यायकारी, सर्वज्ञ, कर्म-फलदाता, परम प्रेमी और परम दयालु बताया गया है, यह बात सही है या नहीं?'—इस प्रकारके संदेहोंसे युक्त मनुष्यके हृदयमें श्रद्धा-विश्वास नहीं होता। यही कारण है कि सत्संग और साधन करनेपर भी उन्नति होती हुई नहीं दिखायी पड़ती। इसलिये हमलोगोंको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक ईश्वरमें दृढ़ विश्वास करना चाहिये। इस विषयमें श्रुति, स्मृति और शास्त्र तो प्रमाण हैं ही,

बलवती युक्ति भी प्रमाण है एवं साधन करनेसे तो प्रत्यक्ष प्रमाण भी है, किंतु वह श्रद्धापर निर्भर करता है।

शुक्लयजुर्वेदमें बतलाया गया है—

ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(४०। १ का पूर्वार्ध)

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, वह समस्त ईश्वरसे व्याप्त (पूर्ण) है।'

मनुस्मृतिमें कहा गया है—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात् तं पुरुषं परम्॥

(१२। १२२)

'जो सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म और सबका भली प्रकार शासन करनेवाला एवं स्वर्णके समान उज्ज्वल और निर्मल तथा स्वप्नकालमें भी बुद्धिद्वारा जाननेमें आता है, उस परम पुरुष परमेश्वरको जानना चाहिये।'

गीता कहती है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(१५। १७)

'इन (क्षर-अक्षर) दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है।'

श्रीविष्णुपुराणमें बतलाया गया है—

स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपो
व्यक्तस्वरूपोऽप्रकटस्वरूपः।
सर्वेश्वरः सर्वदृक् सर्वविच्च
समस्तशक्तिः परमेश्वराख्यः॥

(६। ५। ८६)

'वे ईश्वर ही समष्टि और व्यष्टिरूप हैं, वे ही व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप हैं, वे ही सबके स्वामी, सबके साक्षी और सब कुछ जाननेवाले हैं तथा उन्हीं सर्वशक्तिमान्‌को परमेश्वर कहते हैं।'

योगदर्शनमें श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

ईश्वरप्रणिधानाद् वा। (१। २३)

'ईश्वर-प्रणिधानसे भी निर्बीज समाधिकी सिद्धि शीघ्र हो सकती है।'

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

(योग० १। २४)

'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मरणभय)—इन पाँचों क्लेशों; पुण्य, पाप, पुण्य-पापमिश्रित और पुण्य-पाप-रहित—इन चारों कर्मों; विपाक यानी कर्मोंके फलों एवं आशय यानी कर्मोंके संस्कारोंसे जो सम्बन्धित नहीं है तथा जो समस्त पुरुषोंसे उत्तम है, वह 'ईश्वर' है।'

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (योग० १। २५)

'उस ईश्वरमें सर्वज्ञताका बीज (कारण) ज्ञान निरतिशय है यानी उसका ज्ञान सबसे बढ़कर है।'

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (योग० १। २६)

'वह ईश्वर सबके पूर्वजोंका भी गुरु है; क्योंकि उसका कालसे अवच्छेद नहीं है यानी वह कालसे सर्वथा अतीत है।'

तस्य वाचकः प्रणवः। (योग० १। २७)

'उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव (ॐकार) है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योग० १। २८)

'उस ॐकारका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना साधन है।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

(योग० १। २९)

'उक्त साधनसे विघ्नोंका अभाव और आत्माके स्वरूपका साक्षात् ज्ञान भी हो जाता है।'

अब युक्तिप्रमाण लीजिये। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारे आदि जो बहुत-से महान् पदार्थ हैं, इन सबका जो उत्पादक (कारण), निर्माता, रक्षक और संचालक है, वही ईश्वर है, क्योंकि बिना किसी कारणके कोई कार्य नहीं होता। बिना निर्माता और संचालकके सूर्य-चन्द्र आदिका सुचारुरूपसे, युक्तियुक्त, बुद्धिपूर्वक और यथायोग्य संचालन नहीं हो सकता। कोई छोटे-से-छोटा यन्त्र भी क्यों न हो, संचालकके बिना वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, तब फिर इतना महान् यह संसारयन्त्र संचालकके बिना कैसे कायम रह सकता है तथा जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंका फल देनेवाला कोई न हो तो कोई भी प्राणी अपने किये हुए अपराधका दण्ड स्वयं नहीं भोगना चाहता; जैसे बिना राजाके कोई भी अपराधीजन अपने किये हुए अपराधका दण्ड स्वयं ही ले ले ऐसा देखनेमें नहीं आता। कर्म (क्रिया) जड है, वह किसी चेतनको स्वयं दण्ड दे नहीं सकता और प्रकृति भी जड होनेके कारण बिना चेतनकी सहायताके किसीको उसके कर्मके अनुसार अनुग्रह या दण्ड-विधान नहीं कर सकती। ज्ञानपूर्वक यथायोग्य कर्मानुसार अनुग्रह या दण्डविधान कोई चेतन ही कर सकता है। भगवान्

चेतनोंके भी चेतन, द्रष्टा, साक्षी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् हैं। यह युक्तिसंगत और शास्त्र-संगत है।

यदि कहें कि ईश्वर नहीं है तो यह कथन दुस्साहसमात्र है। ऐसा कहनेवालेसे पूछा जाय कि ईश्वर नहीं है, इसका क्या प्रमाण है ? यदि वह कहे कि 'ईश्वर नहीं है इसका प्रमाण नहीं है तो ईश्वर है इसका प्रमाण भी संतोषजनक नहीं है, इसलिये ईश्वर है या नहीं यह संदेहयुक्त बात है' तो इस संदेहपर हमें अपनी बुद्धिसे विवेकपूर्वक विचार करके लाभ उठाना चाहिये। मान लीजिये, ईश्वर नहीं है और कोई व्यक्ति ईश्वरको मान रहे हैं तो यदि वास्तवमें ईश्वर नहीं है तो उस परिस्थितिमें जो ईश्वरको नहीं मानता और जो मानता है, उन दोनोंके लिये ही ईश्वर नहीं है। इससे जो मानता है उसके क्या हानि हुई और जो नहीं मानता उसके क्या लाभ हुआ? इस पक्षमें तो दोनोंके लिये समान ही है। ऐसा तो है ही नहीं कि जो नहीं मानता उसे तो कोई पुरस्कार मिल जायगा या ईश्वर मिल जायँगे और जो मानता है उसे कोई दण्ड मिलेगा या ईश्वर नहीं मिलेंगे। जब ईश्वर है ही नहीं तो मिलेंगे क्या? किंतु जो ईश्वरको मानता है यदि उसका पक्ष सत्य सिद्ध हो जाय तो उस हालतमें ईश्वरको माननेवाला ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार साधन करता है और उसे ईश्वरकी प्राप्तिरूप पुरस्कार मिल जाता है एवं वह सदाके लिये क्लेश, कर्म और दुःखोंसे मुक्त हो परम शान्ति तथा परमानन्दको प्राप्त हो जाता है। किंतु जो ईश्वरको नहीं मानता, वह इन सबसे वञ्चित रहता है और उस अपराधके कारण उसे नरकयातनारूप महान् क्लेश मिलता है। अतएव संदेहयुक्त होनेपर भी ईश्वरको मानना ही सब प्रकारसे लाभप्रद है। अतः बुद्धिमान् विवेकशील मनुष्योंको ईश्वरको मानकर श्रद्धा, विश्वास और भक्तिपूर्वक उनकी शरण होना चाहिये। भगवान् गीतामें बतलाते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(१८। ६१-६२)

'अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है। भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

(२) ज्ञानी महात्मा पुरुषपर श्रद्धा-विश्वास

हमें यह भी श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये कि ज्ञानी महात्मा पुरुष भी बहुत-से हुए हैं, वर्तमानमें भी हैं और भविष्यमें भी होंगे। जो कर्मयोग, भक्तियोग या ज्ञानयोगके द्वारा परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं, वे महान् पुरुष उच्चकोटिके ज्ञानी महात्मा समझे जाते हैं। जो कर्मयोगके द्वारा महापुरुष हुए हैं उनके लक्षण गीतामें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

(२। ५५-५६)

'अर्जुन! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जो राग, भय और क्रोधसे रहित है, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है।'

इसके आगे भी ५७वें, ५८वें तथा अन्य कई श्लोकोंमें उनके लक्षणोंका वर्णन है। एवं छठे अध्यायमें भी उनके लक्षण बतलाये गये हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(गीता ६। ७-९)

'सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति सम और शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित है अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है—ऐसे कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ,

द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समानभाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

जो भक्तिमार्गसे भगवान्‌को प्राप्त हुए, उनके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १३-१४)

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थ-रहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

आगे १५ वेंसे १९ वें श्लोकतक उनके लक्षणोंका और भी वर्णन है।

इसी प्रकार जो ज्ञानमार्गसे परमात्माको प्राप्त हुए, उनके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(गीता ५। १८-१९)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं। जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।'

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

(गीता १४। २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है एवं जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

इसके पूर्व २२ वें, २३ वें श्लोकोंमें और अन्य अध्यायोंमें भी इनके लक्षण बताये गये हैं।

ये लक्षण जिनमें हों, ऐसे ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके आचरणोंका हमलोगोंको अनुकरण करना चाहिये एवं श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करता है। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

इस प्रकार ज्ञानी महात्माओंको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करनेपर या उनकी आज्ञाके अनुसार श्रद्धा-भक्तिपूर्वक चलनेपर अविवेकी अज्ञानी पुरुषका भी कल्याण हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३। २५)

(ध्यानयोगी, सांख्ययोगी और कर्मयोगीके अतिरिक्त) अन्य जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं वे तो इस प्रकार न जानते हुए भी दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निस्संदेह तर जाते हैं।'

हाँ, यह बात अवश्य है कि ऐसा ज्ञानी महात्मा पुरुष लाखों-करोड़ों मनुष्योंमें कोई एक ही होता है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि ऐसे महापुरुष कम हैं, किंतु हैं अवश्य। महापुरुष संसारमें सदासे होते आये हैं और वर्तमानमें भी हैं; किंतु वे श्रद्धा-प्रेमसे ही मिलते हैं। भगवान् भी श्रद्धा-प्रेमके बिना नहीं मिलते। अतएव

उपर्युक्त लक्षणोंवाले ज्ञानी महात्माओंकी श्रद्धापूर्वक खोज करनी चाहिये। यदि कहें कि उनकी पहचान हम कैसे करें तो इसके लिये यह बहुत बलवती युक्ति है कि जिनके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन करनेसे महात्माओंके उपर्युक्त लक्षण हममें आने लगें, हमारे लिये वे ही महात्मा हैं। इसके सिवा और उपाय ही क्या है। यदि कोई महापुरुष कहें कि मैं महात्मा हूँ तो उनके इस कथनपर श्रद्धा होती नहीं, बल्कि पहलेसे उनपर कुछ श्रद्धा रहती है तो वह भी इस कथनके बाद कम हो जाती है और हम उनको लक्षणोंसे पहचान नहीं सकते; क्योंकि यह विषय स्वसंवेद्य है, परसंवेद्य नहीं। महात्मा स्वयं ही अपने-आपको जानते हैं। महात्माओंके भीतरके लक्षण ही प्रधान होते हैं। बाहरके लक्षण तो कोई दम्भी पुरुष दम्भसे भी दिखला सकता है। महात्मा समदर्शी होते हैं, हेतुरहित दयालु और प्रेमी होते हैं, उनका अपना किसीके साथ भी किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ नहीं रहता है। उनके सारे कर्म लोकसंग्रह यानी संसारके कल्याणके लिये होते हैं। ऐसा होनेपर भी साधारण मनुष्य उनको पहचान नहीं सकता। जो कुछ जान सकता है वह भक्ति और विश्वासपूर्वक परम श्रद्धासे ही जान सकता है। मनुष्य जब महात्माको जान ले तो फिर उसे उनके पास जाकर जिज्ञासापूर्वक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं।—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्म-तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

जो साधक श्रद्धेय महात्मा पुरुषकी आज्ञाके अनुसार श्रद्धाभक्तिपूर्वक आचरण करता है वह श्रद्धालु कहा जाता है। उससे भी श्रेष्ठ श्रद्धालु वह है जो महात्माके संकेतके अनुसार चलता है। उससे भी श्रेष्ठ श्रद्धालु वह है जो महात्माके सिद्धान्तके अनुसार चलता है। एवं वह तो सर्वश्रेष्ठ श्रद्धालु है जो महात्माके मनोऽनुकूल चलता है। यदि कहें कि महात्माके मनके भावोंका कैसे पता लग सकता है तो इसका उत्तर यह है कि जो श्रद्धालु मनुष्य सदा महात्माकी आज्ञा, संकेत और सिद्धान्तके अनुसार चलता रहता है उसे उनके मनके भाव मालूम होते रहते हैं। ऐसे परम श्रद्धालु मनुष्यको महात्माके वचनोंमें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर श्रद्धा होती है। प्रत्यक्षमें चूना, सीमेन्ट, ईंटका बना हुआ एक मकान दीख रहा है। उसको यदि महात्मा सोनेका मकान बतलाता है तो उस श्रद्धालुको वह मकान सचमुच सोनेका ही दीखने लगता है। यह है महात्मामें परम श्रद्धा! ऐसे परम श्रद्धालु मनुष्यके लिये महात्माके दर्शन, भाषण, चरणस्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन—सभी कल्याणकारक होते हैं।

जैसे एकलव्य भीलकी द्रोणाचार्यमें परम श्रद्धा थी, जिसके प्रभावसे वह बाणविद्यामें अर्जुनसे भी बढ़कर हो गया (देखिये महा० आदि० १३१)। जैसे जबालाके पुत्र सत्यकामकी महर्षि हारिद्रुमत गौतममें परम श्रद्धा थी, जिसको गुरु-आज्ञापालनके प्रभावसे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (देखिये छान्दोग्य-उप० ४।४—९)। जैसे उपकोसलकी सत्यकाममें परम श्रद्धा थी, जिसको गुरुसेवाके प्रभावसे अग्नियोंके उपदेशद्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी (देखिये छान्दोग्य-उप० ४।१०—१४)। एवं जैसे राजा द्रुपद और उसकी पत्नीकी श्रीशिवजीके वचनोंमें परम श्रद्धा थी, जिसके प्रभावसे उनके यहाँ कन्याके रूपमें पैदा हुई शिखण्डिनी 'शिखण्डी' नामक पुरुषके रूपमें बदल गयी (महा० उद्योग० १८८—१९२)। इसी प्रकार हमलोगोंको महात्मामें परम श्रद्धा करके लाभ उठाना चाहिये।

उपर्युक्त लक्षणोंवाले श्रद्धेय महापुरुषमें भी श्रद्धा होनी सहज नहीं है, किंतु भगवान्‌की या महापुरुषोंकी कृपासे ही उनमें श्रद्धा होती है। श्रद्धा हटनेमें तो कोई कठिनाई नहीं है। दोषदृष्टि करनेसे, दोषोंकी बात सुननेसे, नास्तिक अश्रद्धालुओंके संगसे श्रद्धा हटनी स्वाभाविक ही है। इसलिये किसी भी मनुष्यके दोषोंको न तो कहे, न सुने और न हृदयमें स्थान ही दे। पर-दोषदर्शन आदिमें लाभ तो है ही नहीं, बल्कि हानि-ही-हानि है। दोषोंके दर्शन, श्रवण, कथन, मननसे उनके संस्कार हृदयमें जम जाते हैं, जिससे वे दोष भविष्यमें उस व्यक्तिमें भी घट सकते हैं तथा जिसकी निन्दा की जाती है उसकी आत्माको दुःख पहुँचता है; इसलिये पर-दोष-चर्चासे पाप भी लगता है। दोषीके दोषकी चर्चा करनेसे उसके दोषका हिस्सा भी चर्चा करनेवालेको प्राप्त होता है। यह तो मनुष्य-मात्रकी बात हुई। फिर ईश्वर और ज्ञानी महात्मा पुरुष तो स्वाभाविक ही निर्दोष हैं। निर्दोष व्यक्तिमें दोषकी कल्पना करनेसे और भी अधिक दोष लगता है, इसलिये परदोष दर्शनसे तो कल्याणकामी मनुष्यको सदा दूर ही रहना चाहिये।

(३) गीतादि शास्त्रोंपर श्रद्धा-विश्वास

हमलोगोंको गीतादि शास्त्रोंपर इस प्रकार श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये कि उनमें जो भी उपदेश हैं वे सत्य एवं कल्याणकारक हैं। ऐसा समझकर श्रुति एवं ऋषिप्रणीत स्मृति, इतिहास-पुराण तथा गीता आदि जितने भी शास्त्र हैं, उनमें बतलायी हुई भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, कर्मयोग, सदाचार आदिकी सार-सार बातोंको श्रद्धा-भक्ति और विश्वासपूर्वक काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये। उदाहरणके लिये श्रीमद्भगवद्गीताको ही ले लीजिये। गीता सर्वशास्त्रमयी है। महाभारतमें बतलाया गया है—

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥

(भीष्म० ४३। २)

'गीता सर्वशास्त्रमयी है, श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, गङ्गा सर्वतीर्थमयी हैं और मनु सर्ववेदमय हैं।'

गीता सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार है एवं सारे उपनिषदोंका भी सार है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

(गीतामाहात्म्य)

'सम्पूर्ण उपनिषद् गौएँ हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उनको दुहनेवाले हैं, अर्जुन ही बछड़े हैं, श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न मनुष्य ही दुग्धपान करनेवाले हैं और गीतारूप महान् अमृत ही दुग्ध है।'

गीताकी बड़ी भारी महिमा है। जो गीताके अर्थ और भावको समझकर स्वाध्याय करता है उसके द्वारा भगवान् ज्ञानयज्ञसे पूजित होते हैं—यह स्वयं भगवान् ही कहते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

(गीता १८। ७०)

'जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीता-शास्त्रको पढ़ेगा उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है।'

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं ही मुक्त होता है किंतु गीतारूपी गङ्गामें स्नान करनेवाला तो दूसरोंको भी मुक्त कर देता है। जो मनुष्य गीताका नित्य पाठ करता है उससे वह श्रेष्ठ है जो उसके अर्थ और भावको समझकर पाठ करता है; किंतु वह तो सर्वश्रेष्ठ है जो उसके उपदेशके अनुसार अपना जीवन बनाता है। अतः गीताको अपने जीवनमें लानेके लिये इसका अच्छी प्रकार अभ्यास करना चाहिये। श्रीवेदव्यासजी कहते हैं—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥

(महा० भीष्म० ४३। १)

'अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है, केवल गीताका ही भली प्रकारसे अर्थ और भाव समझते हुए गान करना चाहिये; क्योंकि यह भगवान् विष्णुके साक्षात् मुखकमलसे प्रकट हुई है।'

गीताका अच्छी प्रकार अभ्यास कर लेनेपर आत्मोद्धारके लिये अन्य शास्त्रोंकी आवश्यकता नहीं रहती। यह कथन शास्त्रोंकी अवहेलनाके लिये नहीं है। यह तो गीताकी विशेषता दिखलानेके लिये ही कहा गया है।

गीतामाहात्म्यमें बताया गया है—

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान्।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः॥

'जो मनुष्य मन-इन्द्रियोंके संयमपूर्वक इस पुण्यमय गीताशास्त्रका पठन करता है वह भय, शोक आदिसे रहित हो श्रीविष्णुके परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

गीतामें भी भगवान्‌ने स्वयं इसे शास्त्र कहा है—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥

(१५। २०)

'निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरेद्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है।'

इस गीताका जो संसारमें प्रचार करता है, उसकी तो भगवान्‌ने और भी विशेष महिमा बतलायी है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥

(गीता १८। ६८)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है।'

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(गीता १८। ६९)

'उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

गीतामें भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग और सदाचारकी

बातें भरी हुई हैं। अतः जो श्रद्धा-भक्ति और विश्वासपूर्वक इसका श्रवण, मनन और अध्ययन करके उसके अनुसार आचरण करता है उसके कल्याणमें कोई शङ्का नहीं है, किन्तु जो शास्त्रकी मर्यादाको छोड़कर मनमाना आचरण करता है उसके किये हुए अच्छे कर्म निष्फल और व्यर्थ हो जाते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६। २३)

'जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परमगतिको और न सुखको ही।'

शास्त्रकी मर्यादाके बिना भी स्वाभाविक श्रद्धा भी होती है। श्रद्धाके विषयमें अर्जुनने गीताके सत्रहवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें प्रश्न किया है कि शास्त्रमर्यादाके बिना मनुष्य जो यज्ञ, पूजा आदि करता है, उसका वह कर्म सात्त्विक है या राजस अथवा तामस। अर्जुनके इस प्रश्नपर ये चार प्रश्न उठते हैं— (१) जिसमें शास्त्रमर्यादा भी नहीं है और श्रद्धा भी नहीं है, वह कर्म कैसा है? (२) जिसमें शास्त्रमर्यादा और श्रद्धा दोनों हैं, वह कर्म कैसा है? (३) जिसमें शास्त्रमर्यादा तो है किंतु श्रद्धा नहीं है, वह कर्म कैसा है? (४) जिसमें श्रद्धा तो है किंतु शास्त्रमर्यादा नहीं है वह कर्म कैसा है? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने यही बतलाया है कि (१) जिसमें शास्त्रमर्यादा और श्रद्धा—दोनों ही नहीं हैं वह कर्म तामसी है (देखिये १७। १३)। (२) जिसमें ये दोनों हैं वह कर्म सात्त्विक भी होता है और राजस भी। शास्त्रविधिके अनुसार श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे किया हुआ कर्म सात्त्विक है (देखिये गीता १७। ११) और शास्त्रविधिके अनुसार श्रद्धापूर्वक सकाम-भावसे किया हुआ कर्म राजस है (देखिये १७। १२)। (३) जिसमें शास्त्र-मर्यादा तो है किंतु श्रद्धा नहीं है वह कर्म असत् है (देखिये १७। २८)। (४) जिसमें श्रद्धा तो है किंतु शास्त्रमर्यादा नहीं है वह कर्म सात्त्विक, राजस, तामस—तीनों प्रकारका होता है (देखिये १७। २)।

अतः हमलोगोंको गीतादि शास्त्रोंके अनुसार श्रद्धा-भक्ति और विश्वासपूर्वक निष्कामभावसे तत्परताके साथ कर्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये।

(४) अपनी आत्मापर श्रद्धा-विश्वास

प्रथम यह विश्वास करना चाहिये कि मनुष्य जो कुछ बुरा या भला अथवा बुरा-भला मिला हुआ कर्म करता है उसका फल उसको इस जन्ममें और भावी जन्ममें अवश्य मिलता है। किंतु जो निष्कामभावसे कर्म किया जाता है उसका फल कहीं नहीं मिलता। भगवान् कहते हैं—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥

(गीता १८। १२)

'कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है, किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता।'

इससे यह सिद्ध होता है कि मरनेके बाद भी परलोक है, जो ऐसा समझता है उसके द्वारा कभी पापकर्म नहीं हो सकता; क्योंकि वह जानता है कि शुभाशुभ कर्मोंका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥

(ब्रह्मवै० पु० श्रीकृष्णजन्म० ८५। ३६)

'अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल मनुष्यको अवश्य भोगना पड़ता है। फलभोग किये बिना सौ करोड़ कल्पोंमें भी कर्मका क्षय नहीं होता है।' यदि कहें कि जप-तप आदिके रूपमें प्रायश्चित्त करनेपर पापकर्मोंका फल नहीं भोगना पड़ता; सो ठीक है—यह प्रायश्चित्त भी तो एक प्रकारका कर्मफल-भोग ही है।

मरनेके बाद आत्मा अवश्य है—इसमें श्रद्धा-विश्वास करना यह अपनी आत्मापर श्रद्धा-विश्वास करना है। मरनेके बाद आत्मा निश्चय है ही। भगवान् कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

(गीता २। १२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता २। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो।
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(गीता २। २०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।' वेदोंमें भी बतलाया गया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(शुक्लयजुर्वेद अ० ४० म० ३)

'जो कोई भी मनुष्य आत्माका हनन करनेवाले होते हैं, वे मरकर नाना प्रकारकी आसुरी योनियों तथा असुरोंके उन भयंकर लोकों (नरकों) को बारम्बार प्राप्त होते हैं जो अज्ञान दुःखक्लेशरूप महान् अन्धकारसे आच्छादित हैं।'

परलोक युक्तिसे भी सिद्ध है। जब बच्चा जन्मता है तब वह जन्मते ही रोता है; क्योंकि जन्मके समय उसको महान् कष्टका अनुभव होता है—यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। कभी-कभी बच्चा हँसता भी है इससे अनुमान होता है कि उसे सुखका अनुभव होता है; क्योंकि जब-जब उसे पूर्वजन्ममें दुःख हुआ है तब-तब वह रोया है और जब-जब सुख हुआ है तब-तब हँसा है। इस जन्ममें तो उसको रोने या हँसनेकी कोई शिक्षा मिली नहीं और न माताके उदरमें ही मिली। अतः इसमें उसका पूर्वजन्मका रोने या हँसनेका अभ्यास ही हेतु है। इससे भी पूर्वजन्म सिद्ध होता है और पूर्वजन्मके साथ ही यह वर्तमान जन्म उसके लिये भावीजन्म सिद्ध हो गया तथा जब माँ बच्चेके मुँहमें स्तन देती है तो स्तन मुखमें देनेमात्रसे तो दूध उसके पेटमें नहीं जाता, बच्चा स्वयं दूधको खींचता है तभी दूध पेटमें जाता है। दूध खींचनेकी इस प्रक्रियामें वह पूर्वजन्मसे ही अभ्यस्त है। बच्चा सोता भी है तथा कभी-कभी मृत्युके भयसे भीत हो काँपता भी है; क्योंकि वह पूर्वमें बहुत बार मर चुका है। ये सब बातें उसने इस जन्ममें तो कहीं सीखी नहीं। अतः इन सब संस्कारोंसे भी उसका पूर्वजन्म सिद्ध हो जाता है।

संसारमें कोई पशु-पक्षी और कोई मनुष्य, कोई सुखी और कोई दुःखी, कोई गरीब और कोई धनी, कोई रोगी और कोई नीरोग होता है। ये सब उसे जन्मसे ही प्राप्त हैं तो इस जन्ममें तो छोटे बच्चेने कोई कर्म किया ही नहीं, जिसका यह फल हो। अतः इसके पूर्वजन्मोंके कर्मोंके अनुसार ही यह सब होता है—ऐसा मानना होगा; क्योंकि इस प्रकारकी विषमताका अन्य कोई कारण नहीं दिखायी देता। इन सब युक्तियोंसे भी पूर्वजन्म और भावीजन्म सिद्ध हो जाता है।

अतः अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको दुर्गुण-दुराचार और दुर्व्यसनोंका त्याग करके भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सद्गुण, सदाचारका श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे आचरण करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे मनुष्यका इसी जन्ममें कल्याण हो सकता है। यदि कुछ कमी रह गयी और पहले ही मृत्यु हो गयी तो भावीजन्ममें निश्चय ही कल्याण हो सकता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

(६। ४३)

'वहाँ उस पहले शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धिसंयोगको अर्थात् समबुद्धिरूप योगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और कुरुनन्दन अर्जुन! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये पहलेसे भी बढ़कर प्रयत्न करता है।'

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

(गीता ६। ४४)

'वह योगभ्रष्ट श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेके कारण विषयोंके पराधीन हुआ भी उस पहलेके अभ्याससे ही निस्संदेह भगवान्की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकामकर्मोंके फलको उल्लङ्घन कर जाता है। अर्थात् संसार-सागरसे तर जाता है।'

यदि कहें कि शास्त्र और युक्तिको हम नहीं मानते। परलोक है या नहीं—यह मालूम नहीं तो इस प्रकारका संदेह होनेपर भी परलोकको माननेमें ही बुद्धिमानी और लाभ है; क्योंकि जिस प्रकार ऊपर युक्तिसे यह सिद्ध हो गया कि ईश्वरको माननेवाला ही लाभमें रहता है, न माननेवालेको हानि-ही-हानि है, वैसे ही परलोकको माननेवाला ही लाभमें रहता है, न माननेवालेको हानि-ही-हानि है।

यदि ईश्वर, महात्मा, शास्त्र और युक्तिपर भी विश्वास न हो तो मनुष्यको कम-से-कम अपनी आत्मापर तो अवश्य ही विश्वास करना चाहिये। यह भी आत्मापर विश्वास करना है कि अपने अन्तःकरणमें मनुष्य जिस बातको अच्छी समझे उसको तो काममें लावे और जिसको

बुरी समझे उसका सर्वथा त्याग करे। यह तो प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि जो कोई आपपर अत्याचार करता या आपके साथ बुरा व्यवहार करता है तो वह आपके दिलमें अखरता है, ऐसा व्यवहार करनेवाला आपकी दृष्टिमें बहुत ही नीचे दर्जेका आदमी है। इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि आप किसीके साथ कभी ऐसा बुरा व्यवहार न करें। एक दूसरा आदमी आपके साथ अच्छा व्यवहार करता है, सेवा करता है, सुख पहुँचाता है, आपके मनके अनुकूल कार्य करता है या आपका परम हितैषी है तो आपकी दृष्टिमें वह बहुत भला आदमी है—यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इससे आपको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि आप भी सबके साथ ऐसा ही सद्व्यवहार करें। इसके सिवा आपके सामने अन्य कोई भी कार्य आकर प्राप्त हो उसके विषयमें आप अपनी आत्मामें विचार करते रहें और जिसको आपकी आत्मा बुरा स्वीकार करे उसका आप सर्वथा त्याग कर दें एवं जिसको अच्छा समझें उसका आप प्रयत्नपूर्वक सेवन करें।

उदाहरणके लिये एक ओर ब्रह्मचर्य-पालन है; दूसरी ओर व्यभिचार। इन दोनोंके विषयमें आत्मासे पूछा जायगा तो यही उत्तर मिलेगा कि ब्रह्मचर्य-पालन बहुत उत्तम है, व्यभिचार बहुत ही नीच कर्म है। अतः ब्रह्मचर्यपालन करे, व्यभिचार कभी न करें। इसी प्रकार एक ओर दूसरेको सुख पहुँचाना, परोपकार, सेवा और हित करना है, दूसरी ओर दूसरेका अनिष्ट करना, उसे हर प्रकारसे दुःख पहुँचाना, अहित करना है। इस विषयमें आत्मासे पूछा जायगा तो यही उत्तर मिलेगा कि दूसरोंको सुख पहुँचाना, परोपकार, सेवा और हित करना ही श्रेष्ठ है और दूसरेका अनिष्ट करना, दुःख पहुँचाना, अहित करना अत्यन्त बुरा है। अतः परोपकार, सेवा, हित आदि करे, दूसरोंको सुख पहुँचावे, दूसरोंका अनिष्ट न करे, किसी भी प्राणीको कभी किंचिन्मात्र भी दुःख न पहुँचावे, अहित न करे। इसी तरह एक ओर सत्य, प्रिय, हितकर वचन है, दूसरी ओर असत्य, कठोर, अहितकर वचन है। इन दोनोंके सम्बन्धमें आत्मासे पूछा जायगा तो यही उत्तर मिलेगा कि सत्य, प्रिय, हितकर वचन ही उत्तम है, असत्य, अप्रिय, अहितकर वचन अत्यन्त बुरा है। अतः हमको सदा सत्य, प्रिय, हितकर वचन ही बोलना चाहिये, असत्य, अप्रिय, अहितकर वचन कभी नहीं बोलना चाहिये; इसी प्रकार अन्य सभीके विषयमें अपनी पवित्र और पक्षपातरहित बुद्धिसे विचार करके अपनी आत्मामें जो भाव या क्रिया अच्छी निर्णय हो उसे कटिबद्ध होकर तत्परतासे काममें लाना चाहिये तथा जो भाव या क्रिया अपनी आत्मामें बुरी निर्णय हो उसका सर्वथा त्याग करना चाहिये। उपर्युक्त प्रकारसे विवेचन करके जो संसारमें स्वार्थ, आसक्ति और अभिमानसे रहित हो आचरण करता है, उस अपनी आत्मापर श्रद्धा-विश्वास करनेवाले मनुष्यका भी कल्याण हो जाता है।

ऊपर बतलाये हुए ईश्वर, ज्ञानी महात्मा, गीतादि शास्त्र और अपनी आत्मा—इन चारोंमेंसे किसी एकपर भी श्रद्धा-विश्वास होनेसे कल्याण हो सकता है; तब फिर चारोंपर श्रद्धा-विश्वास होनेसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है। गुणबुद्धिसे श्रद्धा बढ़ती है और अवगुणबुद्धिसे श्रद्धा घटती है, इसलिये कल्याणकामी पुरुषको सबमें गुणबुद्धि करनी चाहिये, अवगुण-बुद्धि किसीमें भी नहीं करनी चाहिये।

तज पर अवगुन नीरको छीर गुननिसौं प्रीति।
हंस संतकी सर्वदा 'नारायण' यह रीति॥

अनन्य भक्तिसे भगवत्प्राप्ति

गीतामें भगवान्‌ने जहाँ-जहाँ भक्तिका वर्णन किया है, वहाँ-वहाँ भक्ति, भजन, प्रेमके वाचक शब्दोंका प्रयोग किया है। इस कारण भक्तिके मार्गमें प्रेमकी प्रधानता है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

यहाँ '**यथा**' शब्द प्रकार अर्थमें है अर्थात् जो मेरा ध्यान करता है उसका मैं ध्यान करता हूँ। जैसे महाभारतमें वर्णन आता है कि राज्य पानेके पश्चात् राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्णके पास गये और कृतज्ञता प्रकट करने लगे कि प्रभो! हमने आपकी कृपासे ही यह राज्य पाया है; किंतु भगवान्‌ने कोई उत्तर नहीं दिया; क्योंकि वे उस समय ध्यानमग्न थे। तब युधिष्ठिरने आश्चर्य करते हुए पूछा—'आप तो अमितपराक्रमी, समस्त जगत्‌के आश्रयदाता, पुरुषोत्तम हैं, आप किसका ध्यान कर रहे हैं?' इसपर भगवान्‌ने कहा—

शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः।
मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः॥

(महा० शान्ति० ४६। ११)

'राजन्! बाणशय्यापर पड़े हुए पुरुषसिंह भीष्म, जो इस समय बुझती हुई आगके समान हो रहे हैं, मेरा ध्यान कर रहे हैं, इसलिये मेरा मन भी उन्हींमें लगा हुआ है।'

इससे समझना चाहिये कि भीष्मका भगवान्में कितना प्रेम था और भगवान्के स्वभावकी ओर भी ध्यान देना चाहिये कि उनकी कितनी सुहृदता है। भगवान् सबके सुहृद्—हेतुरहित दया और प्रेम करनेवाले हैं—इस प्रकार जाननेसे मनुष्यको शान्ति मिल जाती है। भगवान् कहते हैं—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

(गीता ५। २९ का उत्तरार्ध)

'मेरा भक्त मुझको सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी—ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

जैसे सूर्यका प्रकाश सब जगह समान ही रहता है, किंतु दर्पणमें तो सूर्य प्रतिबिम्बित होकर प्रत्यक्षकी भाँति दृष्टिगोचर होते हैं और काठ-पत्थर आदिमें नहीं, इसी तरह भगवान् सब जगह समानभावसे रहते हुए भी जिसका हृदय दर्पणकी भाँति शुद्ध है और जो भगवान्को प्रेमसे भजता है, उसके हृदयमें विशेषरूपसे निवास करते हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

जो भगवान्के प्रति निष्कामभावसे अनन्य प्रेम करता है, भगवान् भी उसके प्रति वैसा ही प्रेम करते हैं। भगवान्ने गीतामें बताया है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(७। १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला निष्कामी, ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

इतना ही नहीं, भक्त प्रेमसे भगवान्को जो कुछ भी देता है उसे भगवान् प्रकट होकर ग्रहण कर लेते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

अतएव—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।'

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(गीता ९। २८)

'इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

अतः भक्तिका साधन सब साधनोंसे सुगम भी है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

यदि कहें कि निरन्तर चिन्तन करनेसे भगवान्की प्राप्ति सुलभ तो है, किंतु भगवान्का निरन्तर चिन्तन होना कठिन है तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्में श्रद्धा, प्रेम और आत्मीयता होनेपर कठिन नहीं है; क्योंकि फिर नित्यनिरन्तर चिन्तन अपने-आप ही होने लगता है। तथा भगवान्के प्रति प्रेम मनुष्यका स्वाभाविक ही होना चाहिये; क्योंकि भगवान्के सिवा वास्तवमें अपना कोई सुहृद् है नहीं और उनके साथ जीवका नित्य सम्बन्ध है। सत्संग और शास्त्रके द्वारा भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझनेपर उनमें स्वाभाविक ही प्रेम हो जाता है; क्योंकि भगवान्के समान कोई गुणी और प्रभावशाली नहीं है तथा भगवान्की भक्तिके साधनके समान और कोई दूसरा साधन नहीं है। भगवान्ने भक्ति करनेवाले श्रद्धालु भक्तकी विशेष प्रशंसा की है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

सगुणोपासक और निर्गुणोपासककी उत्तमताके विषयमें अर्जुनके पूछनेपर भगवान्ने सगुणोपासकको श्रेष्ठ बताया है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२। २)

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।'

इसके सिवा आगे अ० १२ श्लोक ५ में निर्गुण-निराकारका साधन कठिन बताया है और फिर सगुण-साकार-उपासनासे आत्माका शीघ्र उद्धार होनेकी बात कही है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ६-७)

'परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं; हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

इतना ही नहीं, यदि वह पापीसे भी पापी हो तो भी अनन्य भक्तिके प्रभावसे शीघ्र ही परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

भगवान्की अनन्य भक्ति—अनन्य प्रेमसे भक्त भगवान्का दर्शन, यथार्थ ज्ञान और भगवान्में प्रवेश भी कर सकता है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

यदि कहें कि ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती—ऐसा शास्त्रोंमें कहा गया है, सो ठीक है, किंतु भक्ति करनेवालेको भगवान् स्वयं ज्ञान प्रदान कर देते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

अतएव भक्तियोगमें भगवान्के प्रति अनन्य विशुद्ध दृढ़ प्रेम होना ही प्रधान है। उस परम प्रेमकी प्राप्तिके इच्छुक साधकोंको अपने समयके प्रधानतया तीन विभाग समझने चाहिये—१—ऐकान्तिक साधन-काल, २—व्यवहार-काल, ३—शयन-काल। इनको किस प्रकार सुधारकर उत्तमोत्तम रीतिसे व्यतीत किया जाय, इसपर विचार किया जाता है।

ऐकान्तिक साधन-काल

भक्तियोगके साधकोंको एकान्तमें बैठकर जप, ध्यान, पूजा, पाठ (स्वाध्याय), स्तुति, प्रार्थना आदि नीचे लिखे अनुसार उत्तम रीतिसे करना चाहिये।

१-जप—जैसे जल, पानी, नीर, अप्, वाटर आदि सब जलके ही नाम हैं, इसी प्रकार ॐ, हरि, राम, कृष्ण, भगवान्, नारायण, वासुदेव, अल्लाह, खुदा, गॉड आदि भगवान्के हजारों नाम हैं। ये सभी समान हैं। किंतु जिसकी जिस नाममें रुचि, श्रद्धा, विश्वास विशेषरूपसे है उसके लिये वही नाम विशेष लाभप्रद है। जो नामजप

वाणीके द्वारा जोरसे उच्चारण करके किया जाता है, उसकी अपेक्षा जो दूसरोंको सुनायी न दे, ऐसे धीमें स्वरसे ओठोंके द्वारा उच्चारण किया जानेवाला उपांशु जप अधिक महत्त्वका होता है तथा उपांशु जपकी अपेक्षा मानसिक जप और भी अधिक महत्त्वका है। श्रीमनुजी कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

(मनु० २। ८५)

'विधि-यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना, उपांशुजप सौगुना और मानसजप हजारगुना श्रेष्ठ कहा गया है।'

२-ध्यान—भगवान्‌के निराकार या साकार और साकारमें भी शिव, विष्णु, राम-कृष्ण या अन्य जिस किसी भगवत्स्वरूपमें जिसकी श्रद्धा, विश्वास और प्रीति हो, उसके लिये वही विशेष लाभप्रद है। किंतु भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करनेके समय भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझकर ध्यान किया जाय तो वह विशेष लाभदायक है।

३-पूजा—मन्दिरोंमें या अपने घरमें अपने इष्टदेवका षोडशोपचारके द्वारा विधिपूर्वक श्रद्धा-प्रेमसे पूजन करना उत्तम है। इससे भी उत्तम है अपने हृदयरूप मन्दिरमें या बाह्य आकाशमें अपने इष्टदेवके स्वरूपकी स्थापना करके षोडशोपचारद्वारा विधिपूर्वक श्रद्धा-प्रेमसे मानसिक सामग्रीसे मानसिक पूजन करना। बाह्य पूजा तो बिना मनके भी हो सकती है, किंतु मानसिक पूजा तो बिना मन लगाये होती ही नहीं; इसलिये बाहरी सामग्रीसे पूजा करनेकी अपेक्षा मनसे पूजा करना और भी श्रेष्ठ है।

भगवान्‌को प्राणिमात्रके उत्पादक और रक्षक तथा प्राणिमात्रमें व्यापक समझकर भगवद्भावसे सबकी सेवा, आदर-सत्कार करना—यह भगवत्पूजा व्यापक होनेके कारण पूर्वोक्त पूजाकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। इस पूजाका स्वरूप भगवान्‌ने गीतामें यों बताया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

४-पाठ-(स्वाध्याय)—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, गीता, रामायण, भागवत, स्तोत्र आदि धार्मिक ग्रन्थोंके साधारणतया किये जानेवाले स्वाध्यायकी अपेक्षा उन ग्रन्थोंमें आये हुए भगवान्‌के गुण-प्रभावके प्रसङ्गोंका तत्त्व-रहस्य समझते हुए अनुशीलन करना विशेष लाभप्रद है।

५-स्तुति—भगवान्‌के गुणोंका गायन करना ही 'स्तुति' कहा जाता है। जैसे गीतामें अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

(१०। १२-१३)

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं; क्योंकि आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि नारद तथा असित और देवल ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं।'

इसी प्रकार गीतामें तथा अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी भगवान्‌की स्तुतियाँ नाना प्रकारसे मिलती हैं। उन स्तुतियोंका भगवान्‌के गुण-प्रभावको समझकर श्रद्धा-प्रेम-भावसे गायन करना विशेष लाभप्रद है।

६-प्रार्थना—किसी भी कार्य-सिद्धिके लिये या किसी पदार्थकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌से याचना करना 'प्रार्थना' है। जैसे गीतामें अर्जुनने भगवान्‌से चतुर्भुजरूपके दर्शनके लिये प्रार्थना की है—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥

(११। ४६)

'मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ, इसलिये हे विश्वरूप! हे सहस्रबाहो! आप उसी चतुर्भुजरूपसे प्रकट होइये।'

इस प्रकार भक्तोंने नाना प्रकारसे भगवान्‌से प्रार्थना (याचना) की है, जिनका विभिन्न ग्रन्थोंमें वर्णन पाया जाता है। प्रार्थना भी भगवान्‌का तत्त्व-रहस्य समझते हुए श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध प्रेम प्राप्त होनेके लिये ही की जाय तो वह बहुत उत्तम है।

उपर्युक्त छहों साधनोंमेंसे जिस समय जो भी साधन किया जाय, उसे (१) भावसहित अर्थ समझते

हुए, (२) परम श्रद्धा, (३) अनन्य विशुद्ध प्रेम और (४) मनोयोगपूर्वक, (५) गुप्त तथा (६) निष्कामभावसे करना चाहिये। इस प्रकार किये हुए साधनका महत्त्व हजारों गुना बढ़ जाता है।

अब इन छहों प्रकारोंके सम्बन्धमें लिखा जाता है—

(१) भावसहित अर्थ समझना—जप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थनाका भावसहित अर्थ समझना यह है कि जो कुछ भी जप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थना की जाय, उसका वास्तविक अभिप्राय (भाव) और तत्त्व-रहस्य क्या है—इसे भलीभाँति समझकर करना।

(२) परम श्रद्धा—किसीमें भी जो प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास और पूज्यभाव है, उसका नाम 'श्रद्धा' है तथा जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर पूज्यभावपूर्वक विश्वास है, उसका नाम 'परम श्रद्धा' है, जैसे पत्नीसहित राजा द्रुपदको भगवान् शिवजीने यह वर दिया था कि पहले तुम्हारे कन्या उत्पन्न होगी; किन्तु वही बादमें पुरुष बन जायगा—इसके अनुसार उनके कन्या उत्पन्न हुई, किंतु श्रीशिवजीके वचनोंपर दृढ़ विश्वास करके कन्या रहते हुए भी उसे पुरुष मानकर उसका पुरुषों-जैसे ही 'शिखण्डी' नाम रखा। इतना ही नहीं, उसका विवाह भी उन्होंने दशार्ण देशके राजा हिरण्यवर्माकी पुत्रीके साथ कर दिया। शिवजीके वरदानके अनुसार बादमें शिखण्डी समयपर पुरुषत्वको प्राप्त हो गया (महा० उद्योग० १८८— १९२)। इसका नाम प्रत्यक्षसे बढ़कर विश्वास यानी परम श्रद्धा है।

(३) अनन्य विशुद्ध प्रेम—केवल एक भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं, वे ही हमारे स्वामी, शरण लेने योग्य, परम गति और परम आश्रय हैं। वे ही माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी और सर्वस्व हैं, उनके सिवा हमारा कोई आत्मीय नहीं है—ऐसा समझकर केवल उनमें ही स्वार्थरहित अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्य निष्काम प्रेम हो, उनके सिवा अन्य किसीमें भी प्रेम न हो, उसको 'अनन्य विशुद्ध प्रेम' कहते हैं। इसे ही गीतामें अनन्य भक्ति कहा गया है (११। ५४-५५; १३। १०; १४। २६)। इन श्लोकोंका भाव विस्तारसहित गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीतातत्त्व-विवेचनी' टीकामें देख सकते हैं।

(४) मनोयोग—मन लगाकर साधन करना ही मनोयोगपूर्वक साधन करना है। यह नहीं होना चाहिये कि हम हाथमें माला रखकर जप कर रहे हैं और मन कहीं-का-कहीं जा रहा है। किसी कविने कहा है—

माला तो करमें फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवाँ तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं॥

इसी प्रकार गीता-रामायण आदिका पाठ करते समय मन कहीं जा रहा है और वाणीसे पाठ हो रहा है। यह पता ही नहीं है कि कहाँ किस स्थलका पाठ चल रहा है तो वह मनोयोगपूर्वक साधन नहीं है।

इसी तरह स्तुति-प्रार्थना आदिके विषयमें समझ लेना चाहिये। अतः उपर्युक्त साधनोंको करते समय मन अन्यत्र कहीं नहीं जाय, निरन्तर साधनमें ही लगा रहे—ऐसा प्रयत्न करना चाहिये।

(५) गुप्तभाव—उपर्युक्त साधनोंके द्वारा भगवत्कृपासे कोई विशेष अनुभवयुक्त घटना हो जाय तो उसको तथा इन साधनोंको भी गुप्त रखना चाहिये; किसीसे भी न कहना चाहिये; क्योंकि मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी आकाङ्क्षासे कहनेपर अभिमान बढ़ता है और विशेष अनुभव होना बंद हो जाता है। जैसे कपूरभरी डिबियाका मुख खोल देनेपर उसमेंसे कपूर शनैः- शनैः क्षीण हो जाता है, इसी प्रकार अपने मुखसे अपने गुण, प्रभाव, साधन या उसके फलकी प्रशंसा करनेसे उसका महत्त्व क्षीण हो जाता है। इसलिये गुप्तभावसे साधन करना चाहिये।

(६) निष्कामभाव—ईश्वर, महात्मा, देवता, मनुष्य या अन्य किसी भी प्राणीसे तथा जड पदार्थोंसे भी स्त्री, पुत्र, धन, मकान, आरोग्य, कष्टनिवृत्ति, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोकके और स्वर्ग आदि परलोकके भी किसी भी पदार्थके लिये किंचिन्मात्र भी कामना, याचना, अभिलाषा, इच्छा कभी न करना 'निष्कामभाव' है।

किंतु भगवान्‌के प्रति परम श्रद्धा और परम प्रेमकी प्राप्तिके लिये, जप-ध्यान आदि निरन्तर होनेके लिये, भगवत्प्राप्तिके लिये और भगवान्‌के साथ नित्य संयोगके अनुभवके लिये भगवान्‌से जो कामना है, वह निष्कामके ही तुल्य है।

व्यवहारकाल

व्यवहारकालमें निम्नलिखित छः बातोंको काममें लाना चाहिये—

(१) व्यवहारकालमें यानी चलते, उठते, बैठते, खाते, पीते, व्यवसाय और व्यवहार करते समय निरन्तर भगवान्‌के नाम और रूपका स्मरण रखते हुए ही उन कार्योंको करना चाहिये। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण

किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

जब भगवान्‌का निरन्तर स्मरण रखते हुए युद्ध भी हो सकता है, तब अन्य सब कार्य होनेमें तो आपत्ति ही क्या है! अर्जुन क्षत्रिय था, अतः उसके लिये युद्ध कर्तव्य था। इसी प्रकार दूसरे वर्णाश्रमवालों और स्त्रियोंको अपने-अपने शास्त्रविहित कर्तव्यका पालन भगवान्‌को निरन्तर स्मरण रखते हुए ही करना चाहिये।

(२) मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं, यह भगवान्‌के साथ मेरा नित्य सम्बन्ध सदासे है, सदा ही रहेगा—इस प्रकार समझकर भगवान्‌के साथ आत्मीयताका सम्बन्ध स्थापित रखना चाहिये।

(३) ये स्थावर-जङ्गम सारे प्राणी भगवान्‌के हैं और इन सबमें भगवान् व्यापक हैं—यों समझकर सबकी भगवद्भावसे सेवा और आदर-सत्कार करना चाहिये।

(४) जो कुछ भी शास्त्रविहित क्रिया की जाय, उसको भगवान्‌की आज्ञा समझकर केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌में परम विशुद्ध प्रेम होनेके लिये और भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही निष्काम-भावसे करना चाहिये।

(५) जैसे अर्जुनने अपने रथ, घोड़े और घोड़ोंकी बागडोरको भगवान्‌के हाथमें सौंप दिया था। भगवान् जिस प्रकार अर्जुनको चलाते थे, वह वैसे ही चलता था। उसी प्रकार हमलोगोंको अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीररूपी रथको भगवान्‌के अर्पण कर देना चाहिये। भगवान्‌की कठपुतली बनकर रहना चाहिये। जैसे भगवान् नचावें, वैसे ही नाचना चाहिये। यह भगवान्‌की शरणागतिका भाव है। श्रीभगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(गीता ९। ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

'मन्मना भव' के अनुसार मनके द्वारा भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करना मनका भगवान्‌में अर्पण है।

'मद्भक्तो भव' के अनुसार बुद्धिके द्वारा 'मैं भगवान्‌का हूँ, इस प्रकार तत्त्वसे समझकर भगवान्‌में अनन्य प्रेम करना बुद्धिका भगवान्‌में अर्पण है।

'मद्याजी' के अनुसार सबमें भगवान्‌को समझकर इन्द्रियोंके द्वारा सबकी सेवा-पूजा, सत्कार करना इन्द्रियोंका भगवान्‌में अर्पण है।

'मां नमस्कुरु' के अनुसार देहसे अहंता-ममता उठाकर भगवान्‌के चरणोंकी सेवामें शरीरको लगा देना शरीरका भगवान्‌में अर्पण है।

इस प्रकार भगवान्‌के शरण हो जानेपर उस भक्तका 'करना' 'होने'में बदल जाता है।

(६) जो कुछ भी सुख-दुःख, लाभ-हानि, अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थ, परिस्थिति और घटना प्राप्त हो उस सबको भगवान्‌का विधान अथवा भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार या भगवान्‌की लीला समझकर हर समय राग-द्वेषसे रहित हो सम, संतुष्ट और प्रसन्न रहना चाहिये।

शयनकाल

शयनके समय संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दुःखरूप समझते हुए इसके संकल्पोंके प्रवाहका सर्वथा त्याग करके भगवान्‌में विशुद्ध परम प्रेम होनेके लिये भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यके संकल्पोंका प्रवाह बहाते हुए शयन करना चाहिये। इससे वह शयनकाल भी साधनकालके रूपमें परिणत हो जाता है।

इस प्रकार भक्तियोगका साधन करनेसे भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध परम प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। अतएव भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध परम प्रेम प्राप्त करनेके उद्देश्यसे मनुष्यको उपर्युक्त प्रकारसे भक्तिका साधन करनेके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये।

भगवत्प्राप्तिका सरल उपाय—अनन्य शरणागति

एकमात्र भगवान्‌के ही सब प्रकारसे शरण हो जाना—यह सभी मनुष्योंके लिये परमात्माकी प्राप्तिका बहुत ही सुगम उपाय है। किंतु जो मनुष्य ज्ञानयोग, कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग आदि साधनोंको करनेमें असमर्थ हैं, उनके लिये तो एकमात्र भगवान्‌की ही शरण ग्रहण कर लेना सब प्रकारसे लाभदायक है; क्योंकि भगवान् परम प्रेमी, परम सुहृद् और बिना ही कारण दया करनेवाले हैं। वे अपने दासोंके दोषोंकी ओर कभी दृष्टिपात नहीं करते। श्रीभरतजी कहते हैं—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(रा० च० मा० उत्तर० प्रारम्भकी चौ०)

अतः जो मनुष्य भगवान्‌के शरण हो जाता है उसे

भगवान् सबसे अभय कर देते हैं। स्वयं भगवान्‌के वचन हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वाल्मीकीय० युद्ध० १८। ३३)

'जो मनुष्य 'मैं आपका हूँ' इस भावसे भावित होकर केवल एक बार अपनेको सब ओरसे मेरे अर्पण कर देता है—भलीभाँति मुझे सौंप देता है, उस सच्चे भावसे प्रार्थना करनेवाले भक्तको अपनाकर मैं सम्पूर्ण प्राणियोंसे सदाके लिये निर्भय कर देता हूँ। यह मेरा 'प्रण' है।'

चाहे कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, उसका भी भगवान् त्याग नहीं करते। रामचरितमानसमें भगवान्‌के वाक्य हैं—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥

(सुन्दर० ४४। १)

इसलिये जो सब साधनोंसे हीन है उस मनुष्यके कल्याणके लिये तो भगवान्‌की शरणमें जाना ही सुगम और सरल उपाय है। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(९। ३२)

'अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डाल आदि जो कोई भी हों वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

चाहे वह नीची-से-नीची जातिका क्यों न हो, भगवान्‌की शरण (भक्ति) से परमपदको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने उद्धवसे कहा है—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २१)

'उद्धव! मैं संतोंका परम प्रिय 'आत्मा' हूँ। मैं एकमात्र श्रद्धा-भक्तिसे ही पकड़में आता हूँ। मेरी अनन्य भक्ति उन लोगोंको भी पवित्र कर देती है जो जन्मसे ही चाण्डाल हैं।'

इसी प्रकार जो शुभ आचरणसे भी हीन है, वह भी शीघ्र ही धर्मात्मा होकर परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३१)

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका विनाश नहीं होता।'

फिर जिनकी उत्तम जाति और उत्तम आचरण हो उनका उद्धार हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

इसलिये मनुष्यको उन हेतुरहित प्रेम करनेवाले और परम दयालु एकमात्र भगवान्‌के ही सब प्रकारसे शरण होना चाहिये। सब प्रकारसे शरण होनेका स्वरूप गीतामें यों मिलता है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९। ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

इस श्लोकमें भगवान्‌ने शरणके चार प्रकार बतलाये हैं। इनको समझना चाहिये। हमारे पास ये चार ही प्रधान साधन हैं—मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर। '**मन्मना भव**' से मनको भगवान्‌में लगानेके लिये कहा गया है, जैसे व्रजकी गोपियाँ निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करती रहती थीं। श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

(१०। ४४। १५)

'जिनका चित्त निरन्तर भगवान् श्रीकृष्णमें ही लगा हुआ है, जिनकी बुद्धि भगवान्‌में ही अनुरक्त है, जिनका कण्ठ प्रेमाश्रुओंके कारण गद्गद हो रहा है और जो दूध दुहते, दही मथते, धान कूटते, घर लीपते, बालकोंको झूला झुलाते, रोते हुए बालकोंको चुप कराते, उन्हें नहलाते-धुलाते, घरोंको झाड़ते-बुहारते—सारे काम करते समय भगवान्‌के ही गुणोंका गान करती रहती हैं, वे व्रजकी गोपियाँ धन्य हैं।'

इस प्रकार मनको भगवान्‌में लगा देना मनसे भगवान्‌के शरण होना है।

'**मद्भक्तो भव**' से प्रधानरूपसे बुद्धिको भगवान्‌में लगानेके लिये कहा गया है। भगवान् ही मेरे परम सुहृद्, परम दयालु, परम प्रेमी और हितैषी हैं, उनके समान और कोई नहीं है। शरण लेनेयोग्य, आत्मीयताके योग्य, प्रेम करनेयोग्य एक भगवान् ही हैं, यों बुद्धिसे भगवान्‌के गुण-प्रभावके तत्त्व-रहस्यको समझकर एकमात्र भगवान्‌में ही अपनता करना एवं भगवान्‌में ही अनन्य और विशुद्ध प्रेम करना चाहिये, जैसे भक्तशिरोमणि प्रह्लादका भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम था। भगवान्‌में अनन्य प्रेम होना ही असली भक्ति है। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रमें बतलाया गया है—'**सा परानुरक्तिरीश्वरे**' (सूत्र २)—'ईश्वरमें परम अनुराग (प्रेम) होना ही भक्ति है।'

इस प्रकार बुद्धिको भगवान्‌में लगा देना बुद्धिसे भगवान्‌के शरण होना है।

'**मद्याजी भव**' से भगवान्‌ने यह भाव दर्शाया है कि सम्पूर्ण यज्ञ, तप आदि कर्मोंका मैं ही भोक्ता हूँ—'**भोक्तारं यज्ञतपसाम्**' (गीता ५। २९), मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ—'**अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः**' (गीता १०। २०) और मैं ही सबमें व्यापक हूँ—'**मया ततमिदं सर्वम्**' (गीता ९। ४)—ऐसा समझकर मेरी पूजा करनी चाहिये। आगे भगवान्‌ने पूजाका प्रकार स्वयं बतला दिया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

यहाँ पूजासे तात्पर्य है सब प्राणियोंमें भगवान्‌को समझकर भगवद्भावसे विनय और प्रेमपूर्वक सबके हितके लिये अपनी इन्द्रियोंसे सबको आदर-सत्कार-मान देते हुए स्वयं अभिमान और स्वार्थभावसे रहित हो सेवाद्वारा सबको सुख पहुँचाना। यही भगवान्‌की व्यापक पूजा है। इसमें प्रधानरूपसे सारी इन्द्रियोंको भगवान्‌में लगाना है। इसलिये यहाँ '**मद्याजी भव**' का अभिप्राय इन्द्रियोंसे भगवान्‌के शरण होना है।

'**मां नमस्कुरु**' से अपने शरीरको भगवान्‌के अर्पण करना बतलाया गया है। भाव यह कि एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर हो जाय। अपने मनके अनुकूल या प्रतिकूल जो कुछ भी भगवान् करें यानी अनिच्छा (दैवेच्छा) या परेच्छासे जो कुछ भी अनुकूल या प्रतिकूल घटना, पदार्थ और परिस्थिति प्राप्त हो, उसको भगवान्‌का विधान (आज्ञा) या पुरस्कार समझकर प्रसन्न हो एवं भगवान्‌के उस विधानमें पद-पदपर दयाका दर्शन करता रहे। अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, शास्त्र और सिद्धान्तके अनुकूल घटना, पदार्थ और परिस्थितिमें भगवान्‌की दयाका दर्शन होकर शान्ति मिलना तो स्वाभाविक है ही, पर जिसे प्रतिकूलतामें भी भगवान्‌की दयाका दर्शन होता रहता है, वही भगवान्‌की दयाके तत्त्व-रहस्यको यथार्थ रूपसे समझता है। अनुकूलतामें जो प्रसन्नता—शान्ति रहती है वह तो सभीको रहती है, किंतु वह राजसी है। प्रतिकूलताको भी परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक समझकर जो शान्ति रहती है, वही सात्त्विक शान्ति है। मनके प्रतिकूल बीमारी प्राप्त होनेपर या स्त्री, पुत्र, धन आदिका विनाश होनेपर यह भाव होना चाहिये कि यह घटना देखनेमें तो दुःखदायी है; किन्तु भगवान्‌ने यह मेरे हितके लिये ही किया है। इससे कई लाभ हैं। दुःख भोगनेसे पापोंका नाश होता है, जिससे अन्तःकरण शुद्ध होता है। विपत्तिके समय मनुष्यको भगवान्‌की स्मृति होती है। यह दुःख पापका फल है—ऐसा समझनेसे पुनः पापकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती। दुःख सहनेसे तितिक्षा बढ़ती है। इस प्रकार समझनेपर जो शान्ति मिलती है वह भी सात्त्विक शान्ति ही है। किंतु जो परमात्माकी प्राप्तिरूप शान्ति है अथवा तीनों गुणोंसे अतीत जो परम शान्ति है, वह इनसे भी विलक्षण है। जो इस तत्त्वको समझकर साधन करता है, वह किसी भी प्रकारकी अनुकूल या प्रतिकूल घटना, पदार्थ और परिस्थितिके प्राप्त होनेपर उसे भगवान्‌का विधान यानी भगवान्‌की आज्ञा मानकर भगवान्‌की प्रसन्नतामें ही प्रसन्न रहता है और शान्तिमें ही सदा-सर्वदा मग्न रहता है; वह परम शान्ति है। फिर उस मनुष्यका अनुकूलता-प्रतिकूलता, दोनोंमें समभाव रहता है और उसके चिन्ता-भय, हर्ष-शोक, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि विकारोंका सर्वथा अत्यन्त अभाव हो जाता है और उसे पद-

पदपर प्रसन्नता, शान्ति और आनन्दका सर्वत्र अनुभव होता रहता है।

वह भगवान्‌का भक्त अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीरको सम्पूर्णरूपसे भगवान्‌के अर्पण कर चुका है, इसलिये उसके इस शरीरके द्वारा भी जो भी कुछ क्रिया होती है उसमें भी उसे भगवान्‌की दयाका ही अनुभव होता रहता है; क्योंकि उसमें कर्तापन नहीं है। इससे उसके द्वारा जो कुछ होता है वह भगवान्‌के संकेतके अनुसार ही होता है। भगवान्‌की जैसी इच्छा हो वैसे उससे कर्म करावें। वह उस क्रियासे होनेवाले फल—सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय—सभीमें सम होकर रहता है। जिसने अपना सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर दिया है, उस मनुष्यके द्वारा जो कुछ कर्म होता है वह शास्त्रके अनुकूल ही होता है, शास्त्रके विरुद्ध और व्यर्थ कर्म उसके द्वारा नहीं होता; क्योंकि उसकी सारी क्रिया भगवान्‌के द्वारा ही संचालित होती है। इसलिये उस मनुष्यकी सारी क्रिया भगवान्‌की लीलाके समान है। वह संसारके लिये भी बहुत लाभदायक होती है; क्योंकि वह आदर्श है। इसलिये दूसरे मनुष्य उसका अनुकरण करके ही मुक्त हो जाते हैं। ऐसे श्रेष्ठ महापुरुषके ही सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

निष्कर्ष यह समझना चाहिये कि उस मनुष्यको अनिच्छा (दैवेच्छा) या परेच्छासे जो घटना, पदार्थ, परिस्थिति आदि प्राप्त होते हैं और स्वेच्छासे भी उसके शरीरद्वारा जितने कर्म होते हैं, उन सबमें वह भगवान्‌की अनन्त अपार दयाका पद-पदमें दर्शन करता रहता है। वह सम्पूर्ण पदार्थोंमें भगवान्‌के स्वरूपका और सम्पूर्ण क्रियाओंमें भगवान्‌की लीलाका अनुभव करके भगवान्‌की असीम दयाका दर्शन करता रहता है एवं सभी परिस्थितियोंमें निर्विकार, सम, संतुष्ट, प्रसन्न और शान्त रहता है।

इस प्रकार अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर सबको एकमात्र भगवान्‌में लगा देना ही भगवान्‌की अनन्य शरण है। भगवान्‌की अनन्य शरण कहें या अनन्य भक्ति—सिद्धान्तसे दोनों एक ही बात है। गीतामें जहाँ भगवान्‌ने शरणका वर्णन किया है वहाँ भक्तिको भी उसका एक प्रधान अङ्ग कहा है। जैसे, उपर्युक्त शरणागति-प्रतिपादक श्लोकमें '**मद्भक्तो भव**' कहकर भक्तिका मुख्यरूपसे लक्ष्य कराया है। इसी प्रकार गीताके ग्यारहवें अध्यायके ५४-५५वें श्लोकोंमें भगवान्‌ने अनन्य भक्तिका वर्णन किया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

'परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकारके रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ तथा प्रवेश अर्थात् एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।'

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

'अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और समस्त भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

यहाँ ५५ वें श्लोकमें अनन्य भक्तिके स्वरूपका लक्ष्य करानेके लिये भक्तके लक्षणोंमें '**मत्परमः**' कहकर शरणागतिको भक्तिका एक प्रधान अङ्ग बतला दिया है। इससे यह समझना चाहिये कि अनन्यशरण और अनन्य भक्ति वस्तुतः एक ही है।

इसी तरह जो मनुष्य भगवान्‌के अनन्यशरण हो जाता है, वह भगवद्भक्त सर्वथा और सर्वत्र निर्भय हो जाता है। उसे किसीका भी भय नहीं रहता। यमदूत आदि उसके निकट भी नहीं आ सकते। श्रीविष्णुपुराणमें श्रीभीष्मजीके वचन हैं—

किङ्कराः पाशदण्डाश्च न यमो न च यातनाः।
समर्थास्तस्य यस्यात्मा केशवालम्बनस्सदा॥

(अंश ३अ० ७ श्लोक ३८)

'जिसका हृदय निरन्तर भगवान् केशवके परायण है उसका यम, यमदूत, यमपाश, यमदण्ड अथवा यमयातना कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते।'

इस प्रसंगमें पितामह भीष्मजीने महामना नकुलके प्रति, यमराजके द्वारा अपने दूतोंको दिये हुए आदेशका वर्णन करते हुए भक्तोंके लक्षण कुछ विस्तारसे बतलाये हैं, वे वहाँ पढ़कर मनन और धारण करनेयोग्य हैं। ऐसे भगवद्भक्त जहाँ प्राण-त्याग कर रहे हों, वहाँ यमराज और यमदूत दोनोंका ही जानेका अधिकार नहीं है। श्रीभीष्मजी कहते हैं—

स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं
वदति यमः किल तस्य कर्णमूले।
परिहर मधुसूदनप्रपन्नान्
प्रभुरहमन्यनृणामवैष्णवानाम्॥

'अपने अनुचरको हाथमें पाश लिये देखकर यमराजने उसके कानमें कहा—'भगवान् मधुसूदनके शरणागत व्यक्तियोंको तुम छोड़ देना; क्योंकि जो विष्णुभक्त नहीं हैं ऐसे अन्य मनुष्योंका ही मैं स्वामी हूँ।'

हरिममरवरार्चिताङ्घ्रिपद्मं
प्रणमति यः परमार्थतो हि मर्त्यः।
तमपगतसमस्तपापबन्धं
व्रज परिहृत्य यथाग्निमाज्यसिक्तम्॥

'जो भगवान्‌के सुरवरवन्दित चरणकमलोंको परमार्थबुद्धिसे प्रणाम करता है, समस्त पापबन्धनोंसे मुक्त हुए उस मनुष्यको तुम दूरसे ही उसी प्रकार छोड़कर निकल जाना, जिस प्रकार घृताहुतिसे प्रज्वलित प्रचण्ड अग्निको लोग छोड़कर निकल जाते हैं।'

कलिकलुषमलेन यस्य नात्मा
विमलमतेर्मलिनीकृतस्तमेनम्।
मनसि कृतजनार्दनं मनुष्यं
सततमवेहि हरेरतीवभक्तम्॥

'जिस निर्मल-मतिका चित्त कलिकल्मषरूप मलसे मलिन नहीं हुआ और जिसने अपने हृदयमें सर्वदा भगवान् जनार्दनको बसा लिया है उस मनुष्यको तुम भगवान्‌का अतीव भक्त समझो।'

कनकमपि रहस्यवेक्ष्य बुद्ध्या
तृणमिव यः समवैति वै परस्वम्।
भवति च भगवत्यनन्यचेताः
पुरुषवरं तमवेहि विष्णुभक्तम्॥

'जो एकान्तमें पड़े हुए दूसरेके स्वर्णको देखकर भी उसे अपनी बुद्धिके द्वारा तृणके समान समझता है और निरन्तर भगवान्‌का अनन्यभावसे चिन्तन करता है उस नरश्रेष्ठको तुम विष्णुका भक्त जानो।'

विमलमतिरमत्सरः प्रशान्तः
शुचिचरितोऽखिलसत्त्वमित्रभूतः।
प्रियहितवचनोऽस्तमानमायो
वसति सदा हृदि तस्य वासुदेवः॥
वसति हृदि सनातने च तस्मिन्
भवति पुमाञ्जगतोऽस्य सौम्यरूपः।

'जो मनुष्य निर्मलबुद्धि, मात्सर्यरहित, प्रशान्त, शुद्धचरित्र, समस्त जीवोंका सुहृद्, प्रिय और हितकर वचन बोलनेवाला तथा अभिमान और माया (कपट) से रहित होता है, उसके हृदयमें भगवान् वासुदेव सदा विराजमान रहते हैं। एवं उन सनातन भगवान्‌के हृदयमें विराजित हो जानेपर मनुष्य इस जगत्‌के लिये सौम्यरूप (शान्तरूप) हो जाता है।'

यमनियमविधूतकल्मषाणा-
मनुदिनमच्युतसक्तमानसानाम्।
अपगतमदमानमत्सराणां
त्यज भट दूरतरेण मानवानाम्॥

'हे दूत! यम[1] और नियम[2]के द्वारा जिनकी पापराशि दूर हो गयी है, जिनका हृदय निरन्तर श्रीअच्युतमें ही आसक्त रहता है तथा जिनमें गर्व, अभिमान और मात्सर्यका लेश भी नहीं रहा है, उन मनुष्योंको तुम दूरसे ही त्याग देना।'

हृदि यदि भगवाननादिरास्ते
हरिरसिशङ्खगदाधरोऽव्ययात्मा।
तदघमघविघातकर्तृभिन्नं
भवति कथं सति चान्धकारमर्के॥

'यदि खड्ग, शङ्ख और गदा धारण करनेवाले अनादि अव्ययात्मा भगवान् हरि हृदयमें विराजमान हैं तो उन पाप-नाशक भगवान्‌के द्वारा उसके सभी पाप नष्ट

१-अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (योगदर्शन २। ३०)
'अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं।'
२-शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः (योगदर्शन २। ३२)
'बाहर-भीतरकी पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरशरण—ये पाँच 'नियम' हैं।'

हो जाते हैं। जहाँ सूर्य विद्यमान हैं वहाँ भला अन्धकार कैसे ठहर सकता है!'

सकलमिदमहं च वासुदेवः
परमपुमान् परमेश्वरः स एकः।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते
हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात॥

'यह समस्त जगत् और मैं एक परमपुरुष परमेश्वर वासुदेव ही हैं, हृदयमें भगवान् अनन्तके स्थित होनेपर जिनकी ऐसी स्थिर बुद्धि हो गयी है, उन्हें तुम दूरसे ही छोड़कर चले जाना।'

कमलनयन वासुदेव विष्णो
धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे।
भव शरणमितीरयन्ति ये वै
त्यज भट दूरतरेण तानपापान्॥

'हे कमलनयन! हे वासुदेव! हे विष्णो! हे धरणिधर! हे अच्युत! हे शङ्खचक्रपाणे! आप हमें शरण दीजिये। जो लोग इस प्रकार पुकारते हों, उन निष्पाप व्यक्तियोंको तुम दूरसे ही त्याग देना।'

वसति मनसि यस्य सोऽव्ययात्मा
पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपाते।
तव गतिरथ वा ममास्ति चक्र-
प्रतिहतवीर्यबलस्य सोऽन्यलोक्यः॥

'जिस पुरुषश्रेष्ठके अन्तःकरणमें वे अव्ययात्मा भगवान् विराज रहे हैं उसका जहाँतक दृष्टिपात होता है, वहाँतक भगवान्‌के चक्रके प्रभावसे अपने बल-वीर्य परास्त हो जानेके कारण तुम्हारी अथवा मेरी गति नहीं है। वह महापुरुष तो अन्य वैकुण्ठादि लोकोंका अधिकारी है।'

(विष्णुपुराण अं० ३ अ० ७ श्लोक १४, १८, २१, २२, २४, २४½, २६, २७, ३२, ३३, ३४)

यह है अनन्य विशुद्ध भगवद्भक्ति (शरणागति) का महान् प्रभाव! अतएव हमलोगोंको उपर्युक्त प्रकारसे अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर सबको एकमात्र भगवान्‌में ही लगाकर पद-पदपर उनकी अपार दयाका दर्शन करते हुए उनकी प्रसन्नतामें ही अत्यन्त प्रसन्न और परम संतुष्ट रहना चाहिये। इससे बहुत ही शीघ्र परम पदकी प्राप्ति हो सकती है। इसीलिये योगीश्वर श्रीकविजीने कहा है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत् तत्॥

(श्रीमद्भागवत ११। २। ३६)

'मनुष्य अपने शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, आत्मासे अथवा परम्परागत स्वभावसे जो-जो करे, वह सब परम पुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे।' यह उनकी प्राप्तिका सरल-से-सरल उपाय है।

भगवान्‌के स्वभावका रहस्य

हमलोगोंको जो यह मनुष्य-शरीर मिला है वह भगवान्‌की कृपासे ही मिला है, अपनी करनीसे नहीं, भगवान्‌ने यह कितना सुहृदतापूर्ण नियम बनाया है कि चौरासी लाख योनियोंको भोगनेके बाद तो जीवको आत्माके उद्धारके लिये मनुष्य-शरीर देते ही हैं, चाहे कोई कैसा ही पापी क्यों न हो। यह अविनाशी जीव चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते-करते हैरान हो जाता है, तब दयामय भगवान् इसपर दया करके मनुष्य-शरीर देते ही हैं।

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ४४। २-३)

खयाल करना चाहिये, यह भगवान्‌का हेतुरहित दया और प्रेमपूर्ण सुहृदतासे भरा हुआ कितना उच्चकोटिका स्वभाव है। इस सुहृदतापूर्ण स्वभावको यथार्थ जाननेसे मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

(५। २९ का उत्तरार्ध)

'मेरा भक्त मुझको सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी—ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

भाव यह कि भगवान् तो सदा-सर्वदा सब प्रकारसे पूर्णकाम हैं, फिर भी परम दयालुस्वभाव होनेके कारण वे बिना किसी हेतुके स्वाभाविक ही सबपर

अनुग्रह करके सबका हित ही करते रहते हैं और समय-समयपर अवतार लेकर नाना प्रकारकी ऐसी लीलाएँ करते हैं जिनको सुनकर ही लोग भगवान्के परायण हो तर जाते हैं। भागवतमें बतलाया गया है—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥

(१०। ३३। ३७)

'भगवान् जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही अपनेको मनुष्यरूपमें प्रकट करते हैं और ऐसी लीलाएँ करते हैं जिन्हें सुनकर जीव भगवत्परायण हो जायँ।'

उनकी प्रत्येक क्रियामें जगत्का हित भरा रहता है। वे जीवोंके लिये जो भी विधान करते हैं, वह दया और प्रेमसे पूर्ण होता है। जो मनुष्य इस रहस्यको पूर्णतया जानकर यह विश्वास कर लेता है कि भगवान् मेरे अहैतुक प्रेमी हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, मेरे हितके लिये ही करते हैं, वह प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है उसको परम दयालु भगवान्का प्रेम और दयासे ओतप्रोत मङ्गलमय विधान समझकर सदा ही प्रसन्न और संतुष्ट रहता है, इससे उसे परम आनन्द और परम शान्ति मिल जाती है।

वे सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, अनन्त गुणगणोंके सागर, परम दयालु, परम प्रेमी भगवान् अपनेको जीवोंका सुहृद् बतला रहे हैं। जब मनुष्य उनके इस कथनपर विश्वास करके उनको अपना सुहृद् मान लेता है तब उसे कितना अलौकिक आनन्द और कैसी अपूर्व शान्ति होती है, इसका अनुमान लगाना भी कठिन है। वास्तवमें भगवान्के समान भगवान् ही हैं। उनके समान तो संसारमें हेतुरहित दयालु, प्रेमी, निष्कामभावसे परम हित करनेवाला कोई है ही नहीं।

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥

(रा० च० मा०, किष्किन्धा० १२। १)

माता-पिता, बन्धु-बान्धव—सभी अपने स्वार्थके लिये ही प्रेम करते हैं, स्वार्थको छोड़कर कोई नहीं। बृहदारण्यक-उपनिषद्में श्रीयाज्ञवल्क्यजीने मैत्रेयीसे कहा है कि पति, स्त्री, पुत्र, धन आदि सब अपने प्रयोजनके लिये ही प्रिय होते हैं।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। (बृ० उ० २। ४। ५)

'अरी मैत्रेयि! सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते; पर अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

(रा० च० मा०, किष्किन्धा० ११। १)

स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ४७। ३)

किंतु भगवान् जीवोंसे बिना किसी प्रयोजनके ही प्रेम करते हैं, उनका कितना उच्चकोटिका निःस्वार्थ प्रेमपूर्ण सुहृद् स्वभाव है, जिसकी कोई सीमा ही नहीं। चाहे कोई कैसा ही पापी क्यों न हो, भगवान्के अनन्यभावसे शरणमें आनेके साथ ही भगवान् उसे शुद्ध बनाकर उसका उद्धार कर देते हैं।

रामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥

(सुन्दर० ४४। १,४)

पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

(उत्तर० ८६। ४-५)

क्योंकि—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

(रा० च० मा०, बाल० २९। ३)

भगवान्के चित्तमें भक्तकी भूल-चूक याद नहीं रहती और वे उसके हृदयके सद्भावोंको ही सैकड़ों बार याद करते रहते हैं।

इतना ही नहीं, जो सच्चे हृदयसे 'मैं आपका हूँ' यों वाणीके द्वारा भी एक बार भी कह देता है—उसको भगवान् सदाके लिये निर्भय कर देते हैं। भगवान्ने स्वयं यह घोषणा की है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा०, युद्ध० १८। ३३)

'जो मनुष्य 'मैं आपका हूँ' इस भावसे भावित होकर केवल एक बार अपनेको सब प्रकारसे मेरे अर्पण कर देता है—भलीभाँति मुझे सौंप देता है उस सच्चे भावसे प्रार्थना करनेवाले भक्तको अपनाकर मैं सब प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत (नियम) है।'

भगवान्‌का कितना उत्तम स्वभाव है। वे भक्तके प्रेमकी ओर ही देखते हैं, जाति-पाँति, धन, विद्या, बुद्धि,, बल आदिकी ओर नहीं देखते।

भक्त प्रह्लादने भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा है—

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥

(श्रीमद्भा० ७। ९। ९)

'मैं समझता हूँ कि धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग—ये कोई भी परम पुरुष भगवान्‌को संतुष्ट करनेमें समर्थ नहीं हैं; परंतु भक्तिसे तो भगवान् गजेन्द्रपर भी संतुष्ट हो गये थे।'

क्योंकि भगवान् तो केवल भक्तके अनन्य विशुद्ध प्रेमकी ओर देखते हैं। अनन्य प्रेमी जितना भगवान्‌को प्यारा होता है उतना कोई भी प्यारा नहीं होता।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(७। १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला (निष्कामी) ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

श्रीबृहस्पतिजीने इन्द्रसे कहा है—

सुनु सुरेस उपदेसु हमारा। रामहि सेवकु परम पिआरा॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० २१९। १)

भगवान् श्रीराम स्वयं काकभुशुण्डिजीसे कहते हैं—

सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ८७ (ख))

इसलिये हमलोगोंको अन्य सबका आशा-भरोसा छोड़कर निष्काम-भावसे भगवान्‌की अनन्य भक्ति करनी चाहिये।

श्रीभरतजी भगवान्‌के स्वभावके तत्त्व-रहस्यको जाननेवाले परम भगवद्भक्त थे। उनका भगवान्‌में बहुत ही उच्चकोटिका भाव था। श्रीतुलसीदासजीने उनके उत्तम भावोंका बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है, जिनमें भगवान्‌के स्वभावका दिग्दर्शन होता है।

सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० १८३। ३)

राम जनमि जग कीन्ह उजागर। रूप सील सुख सब गुन सागर॥
पुरजन परिजन गुर पितु माता। राम सुभाउ सबहि सुखदाता॥
बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥
सारद कोटि कोटि सत सेषा। करि न सकहिं प्रभु गुन गन लेखा॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० २००। ३-४)

जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० २३४। ३)

मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥
मो पर कृपा सनेहु बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥
सिसुपन तें परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥
मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० २६०। ३-४)

राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई॥
कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥
को साहिब सेवकहि नेवाजी। आपु समाज साज सब साजी॥
निज करतूति न समुझिअ सपनें। सेवक सकुच सोचु उर अपनें॥
सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० २९९। १—४)

जब भगवान् श्रीरामके वनसे अयोध्या लौटनेकी अवधिमें केवल एक ही दिन शेष रह गया तब तो भरतजी भगवान्‌के विरहमें अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं और भगवान्‌के मधुर स्वभावको स्मरण करके कहने लगते हैं—

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(रा० च० मा०, उत्तर० प्रारम्भकी चौ० ३)

भरतजीके कथनका भाव यह है कि भगवान् दीन और दुःखियोंके बन्धु हैं, उनका स्वभाव बहुत ही कोमल है, इस कारण वे अपने भक्तोंके दोषोंकी ओर देख ही नहीं सकते।

अतएव हमलोगोंको भी अपना भाव भरतजीके समान बनाना चाहिये। फिर हमारे कल्याणमें कोई संदेह नहीं; क्योंकि 'भगवान् सब प्राणियोंके सुहृद् हैं' इस

तत्त्व-रहस्यको जाननेवाला मनुष्य भी सारे प्राणियोंका सुहृद् बनकर भगवान्‌का परम भक्त बन जाता है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(१२। १३-१४)

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

भगवान्‌के स्वभावका तत्त्व और रहस्य समझनेपर मनुष्य भगवान्‌का ही हो जाता है एवं भगवान् उसे अपना यथार्थ तत्त्व जना देते हैं। रामचरितानसमें श्रीवाल्मीकिजीके वचन हैं—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

(अयोध्या० १२७। २)

वही पुरुष भगवान्‌को यथार्थ तत्त्वसे जान सकता है, जिसको भगवान् जनाते हैं तथा जिसके एकमात्र भगवान् ही हैं, जो भगवान्‌पर ही निर्भर है, जो अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, शरीर सब कुछ भगवान्‌को समर्पण कर चुका है, वही भगवान्‌को जाननेका पात्र होता है और उसीको भगवान् अपना यथार्थ स्वरूप जनाते हैं।

गीतामें भी बतलाया गया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०। ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

भगवान्‌के समान संसारमें कोई प्रभावशाली या गुणी नहीं है। उनके मुकाबलेमें यह जीव तुच्छ है। इसपर भी मनुष्य भगवान्‌को जिस भावसे, जिस प्रकारसे भजते हैं, भगवान् उन्हें उसी भावसे, उसी प्रकारसे भजते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११ का पूर्वार्ध)

अभिप्राय यह है कि वात्सल्य, दास्य, सख्य, माधुर्य आदि जिस किसी भावसे जो भगवान्‌को भजता है, उसे भगवान् उसी भावसे भजते हैं। जैसे, रुक्मिणी आदि पटरानियाँ भगवान् श्रीकृष्णको कान्ताभावसे युक्त स्वकीय माधुर्यभावसे भजती थीं, उनके लिये भगवान् परमपति होकर उनके भावकी पूर्ति करते थे। जो गोपियाँ भगवान्‌को सख्य-भावसे युक्त परकीय माधुर्यभावसे भजती थीं, उनके लिये भगवान् वैसे ही सख्यभावसे युक्त प्रेमास्पद बनकर रहते थे। नन्द-यशोदा, वसुदेव-देवकी आदि वात्सल्यभावसे भजते थे, उनके लिये भगवान् पुत्ररूप होकर रहते थे। अक्रूर आदि भक्त दास्यभावसे भजते थे, उनके लिये भगवान् स्वामी होकर रहते थे। श्रीदामा आदि गोपबालक सख्यभावसे भजते थे, अतः उनके लिये उनके सखा होकर रहते थे। अर्जुन आदि दास्य और सख्य दोनों भावसे भजते थे, इसलिये भगवान् उनके लिये उनके स्वामी और सखा होकर रहते थे।

इसी तरह जो जिस प्रकारसे भगवान्‌को भजते हैं, भगवान् भी उनको उसी प्रकार भजते हैं। जैसे शरशय्यापर शयन करते हुए भीष्मजी भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते हैं तो भगवान् भी भीष्मजीका ध्यान करते हैं।

महाराज युधिष्ठिरसे भगवान् स्वयं कहते हैं—

शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः।
मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः॥

(महा० शान्ति० ४६। ११)

'राजन्! बाणशय्यापर पड़े हुए पुरुषसिंह भीष्म, जो इस समय बुझती हुई आगके समान हो रहे हैं, मेरा

ध्यान कर रहे हैं, इसलिये मेरा मन भी उन्हींमें लगा हुआ है।'

इतना ही नहीं, जो प्रेमसे भगवान्‌को भजते हैं, भगवान् उनको अपने हृदयमें बसा लेते हैं और भगवान् उनके हृदयमें बस जाते हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

ऐसा ही भाव भागवतमें भी मिलता है—

न तस्य कश्चिद् दयितः सुहृत्तमो
न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा
सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः॥

(१०। ३८। २२)

'न तो भगवान्‌के कोई प्रिय है और न अप्रिय। न उनका कोई अति सुहृद् है और न कोई शत्रु। उनकी उपेक्षाका पात्र भी कोई नहीं है। फिर भी जैसे कल्पवृक्ष अपने निकट आकर याचना करनेवालोंको उनकी मुँहमाँगी वस्तु देता है वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण भी, जो उन्हें जिस प्रकार भजता है, उसे उसी रूपमें भजते हैं—वे अपने प्रेमी भक्तोंसे अतिशय प्रेम करते हैं।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

आरत लोग राम सबु जाना। करुनाकर सुजान भगवाना॥
जो जेहि भायँ रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी॥
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू। कीन्ह दूरि दुख दारुन दाहू॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० २४४। १-२)

रामचरितमानसमें भरतजीके वचन हैं—

यह नइ रीति न राउरि होई। लोकहुँ बेद बिदित नहिं गोई॥
जगु अनभल भल एकु गोसाईं। कहिअ होइ भल कासु भलाईं॥
देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥

जाइ निकट पहिचानि तरु छाहँ समनि सब सोच।
मागत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच॥

(अयोध्या० २६७। ३-४, २६७)

खयाल करना चाहिये, भगवान्‌का कैसा उच्चकोटिका स्वभाव है। उनके-जैसा परम दयालु कोई नहीं है।

श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं—

प्रभु रघुपति तजि सेइअ काही। मोहि से सठ पर ममता जाही॥

(रा० च० मा०, उत्तर० १२२। २)

सिव अज पूज्य चरन रघुराई। मो पर कृपा परम मृदुलाई॥
अस सुभाव कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥

(रा० च० मा०, उत्तर० १२३। २)

श्रीउद्धवजीने कहा है—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥

(श्रीमद्भा० ३। २। २३)

'पापिनी पूतनाने अपने स्तनोंमें हलाहल विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी नीयतसे उन्हें दूध पिलाया था, उसको भी भगवान्‌ने वह परम गति दी, जो धायको मिलनी चाहिये। उन भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कौन दयालु है, जिसकी शरण ग्रहण करें?

जो मनुष्य परम दयालु भगवान्‌के स्वभावके तत्त्व-रहस्यको जान जाता है उसे भगवान्‌के सिवा और कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अतः वह भगवान्‌को छोड़कर नाशवान्, क्षणभङ्गुर और दुःखरूप धन, सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र आदिको कैसे भज सकता है?

भगवान् शिवजी कहते हैं—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

(रा० च० मा०, सुन्दर० ३४। २)

फिर वह भगवान्‌को कभी नहीं भूलता और भगवान् भी उसको कभी नहीं भूलते।

गीतामें बतलाया गया है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

सार यह है कि भगवान्‌का बड़ा ही कोमल, मृदुल, सरल, सरस, मधुर और मनोहर स्वभाव है। वास्तवमें उनके समान वे ही हैं। उनके समान अहैतुक

दयालु, नि:स्वार्थ प्रेमी, सुहृद्, शरणागतवत्सल, दीनबन्धु, पतितपावन दूसरा कोई नहीं है।

अत: हमलोगोंको भगवान्‌के परम दया और प्रेममय मधुर स्वभावको समझकर उसका नित्य-निरन्तर स्मरण-मनन करते हुए उनके प्रेममें मुग्ध रहना चाहिये। इससे अनायास और शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

भगवन्नामजपका प्रभाव

इस मनुष्य-जन्मकी सार्थकता भगवान्‌की प्राप्तिमें ही है। भगवान्‌में प्रेम होनेसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है—यह बात गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंमें जगह-जगह बतलायी गयी है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११। ५४)

'हे अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ तथा प्रवेश अर्थात् एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।'

श्रीरामचरितमानसमें श्रीशिवजीके वचन हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(बाल० १८५। ३)

श्रीमद्भागवतमें श्रीकपिलदेवजी कहते हैं—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद् ब्रह्मदर्शनम्॥

(३। ३२। २३)

'भगवान् वासुदेवके प्रति किया हुआ भक्तियोग तुरंत ही संसारसे वैराग्य और ब्रह्मसाक्षात्काररूप यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति करा देता है।'

यही नहीं, स्वयं भगवान्‌ने भी भक्त उद्धवसे कहा है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २०-२१)

'उद्धव! योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग मुझे प्राप्त करनेमें उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी दिनोंदिन बढ़नेवाली अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति। मैं सत्पुरुषोंका प्रियतम आत्मा हूँ, मैं एकमात्र अनन्य श्रद्धा-भक्तिसे ही प्राप्त होता हूँ। मेरी अनन्य भक्ति उन लोगोंको भी पवित्र कर देती है, जो जन्मसे ही चाण्डाल हैं।'

इस प्रकार प्रेमसे ही भगवान्‌की प्राप्ति बतलायी गयी है। वह प्रेम प्राप्त होता है सत्सङ्गसे।

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ६१)

तथा जैसे विषयोंका चिन्तन करनेसे विषयोंमें प्रेम हो जाता है, वैसे ही भगवान्‌का चिन्तन करनेसे भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम हो जानेपर भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन और भगवान्‌के नामका जप अपने-आप ही होता रहता है। फिर वह भगवान्‌को भूल ही नहीं सकता। गोपियोंका भगवान्‌में अनन्य प्रेम था; अत: वे भगवान्‌को कभी नहीं भूलती थीं। श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

(१०। ४४। १५)

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका गान किया करती हैं—इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं।'

जिस प्रकार भगवच्चिन्तनसे भगवत्प्रेम प्राप्त होता है, वैसे ही केवल भगवन्नामजपसे भी भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥

(रा० च० मा०, बाल० २०। ३)

श्रीतुलसीदासजीने तो भगवान्‌से भी बढ़कर भगवान्‌के नामकी महिमा गायी है—

राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
भंजेउ राम आपु भवचापू। भव भय भंजन नाम प्रतापू॥
दंडक बनु प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किए पावन॥
निसिचर निकर दले रघुनंदन। नामु सकल कलि कलुष निकंदन॥
सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ॥

(रा० च० मा०, बाल० २४। १—४; २४)

श्रीतुलसीदासजीने अपने ग्रन्थोंमें 'राम'नामकी विशेष महिमा कही है। इसी प्रकार वेदोंमें और योगदर्शनमें 'ॐ'की, भागवत आदिमें 'कृष्ण' की, शिवपुराणमें 'शिव' की, विष्णु-पुराणमें 'विष्णु', 'हरि' आदिकी, गीतामें ''ॐ' 'तत्', 'सत्' नामोंकी,* कुरानशरीफमें 'अल्लाह', 'खुदा' की बाइबिलमें 'गॉड' की, जैनग्रन्थोंमें 'अर्हन्त' और ''ॐ' की, आर्यसमाजके ग्रन्थोंमें 'ॐ' की विशेष महिमा कही गयी है। इसी तरह अन्यान्य सभी सम्प्रदायोंके महानुभावोंने अपने-अपने इष्टदेवके नामकी विशेष महिमा कही है। अतः समझना चाहिये कि राम, कृष्ण, गोविन्द, वासुदेव, हरि, विष्णु, शिव, 'ॐ, तत्, सत्, अल्लाह, खुदा, गाड आदि परमात्माके जिस नाममें जिस मनुष्यकी रुचि, श्रद्धा, विश्वास हो, उसके लिये वही सबसे बढ़कर है। इसलिये उसको उसी नामका श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावसे तत्परतापूर्वक जप करना उचित है।

वाणीके द्वारा जोरसे उच्चारण करके जो जप किया जाता है उसे 'वाचिक' जप कहते हैं, उससे वह उपांशु जप श्रेष्ठ है जो होठ और जीभसे दूसरोंको सुनायी न दे, ऐसे मन्दस्वरमें धीरे-धीरे उच्चारण करके किया जाता है; किंतु उससे भी बढ़कर मानसिक जप है।

श्रीमनुजीने तो यज्ञसे भी नामजपकी महिमा बहुत अधिक बतायी है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

(मनु० २। ८५)

'विधियज्ञ (अग्निहोत्र आदि) की अपेक्षा उच्चारण करके किया हुआ जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है और उपांशु जप सौगुना श्रेष्ठ है तथा मानस जप हजारगुना श्रेष्ठ है।'

गीतामें भगवान्‌ने 'यज्ञ' के नामसे बहुत-से साधन बताये हैं, उन साधनोंमें जपयज्ञको अपना स्वरूप यानी साध्य बतलाया है—'**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**' (गीता १०। २५ का तीसरा चरण) 'सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं हूँ।'

जो नामजप मनसे—मन लगाकर किया जाता है वह मानसिक जप है। मानसिक जपके कई भेद हैं। जैसे—

(१) जिसमें मनुष्यका विशेष प्रेम होता है वह वस्तु बिना याद किये भी अपने-आप याद आती है और उसको वह भुलानेपर भी भूल नहीं सकता; इसी प्रकार बलात् भगवान्‌के नामकी स्मृति निरन्तर होना—यह सबसे बढ़कर मानसिक जप है।

(२) जिस प्रकार मनमें भगवान्‌के स्वरूप, गुण, प्रभाव, चरित्र, लीला आदिकी स्मृति होती है, वैसे ही भगवन्नामकी मनमें बार-बार स्मृति होना—यह भी मानसिक जप है।

(३) दीवालपर लिखे हुए अक्षरोंकी भाँति भगवान्‌के ललाटपर भगवान्‌का नाम लिखा हुआ है, ऐसा मानकर मनसे ही उसे बार-बार पढ़ना—यह भी मानसिक जप है।

(४) हृदय, कण्ठ, भ्रुकुटी आदि स्थानोंमें नाड़ीकी चालके साथ नामजपकी भावना करनेसे उसके द्वारा नामजप होता हुआ प्रतीत होता है, उसका मनसे बार-बार अनुभव करना—यह भी मानसिक जप है।

(५) रात्रिमें सोनेके समय स्वाभाविक ही कानोंमें एक प्रकारका शब्द सुनायी देता रहता है, उसमें राम, शिव, 'ॐ आदि अल्पाक्षरोंके भगवन्नामकी भावना करनेसे वह नाम स्वतः ही सुनायी देता है, इसका दृढ़ अभ्यास हो जानेपर चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते भी मनसे उस नामका सुनायी देना—यह भी एक प्रकारका मानसिक जप ही है।

---

* ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ (गीता १७। २३)

'ॐ' तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा गया है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये।'

इसके सिवा, जीभ और होठ बंद करके श्वास-प्रश्वासके द्वारा (श्वासके आने-जानेके साथ) जो नामजपका अभ्यास किया जाता है, उसमें अभ्यास हो जानेपर नामका उच्चारण कण्ठसे स्वाभाविक होता रहता है। यह श्वासद्वारा होनेवाला जप उपांशुसे भी श्रेष्ठ है; क्योंकि यह मरणकालपर्यन्त वाणी और नाड़ीकी गति बंद होनेपर भी हो सकता है। किंतु यदि इसके साथ मनको लगा दिया जाय तब तो यह भी मानसिक जपकी गणनामें शामिल हो जाता है।

भगवन्नामजपके साथ उस नामका अर्थ जो नामी—भगवान् हैं, उनका स्मरण रखनेसे वह जप बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण और कल्याणकारक हो जाता है। योगदर्शनमें बताया गया है—

तस्य वाचकः प्रणवः। (१। २७)

'उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव (ॐकार) है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (१। २८)

'उस ॐकारका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। (१। २९)

'उक्त साधनसे विघ्नोंका अभाव और परमात्माके स्वरूपकी भी प्राप्ति हो जाती है।'

गीतामें भगवान् भी कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ (८। १३)

'जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है।'

किंतु नामजप यदि परम श्रद्धा-प्रेमपूर्वक किया जाय तो उसकी महिमा तो कोई गा ही नहीं सकता; क्योंकि श्रद्धा-प्रेम होनेसे जप निरन्तर तो अपने-आप ही होने लगता है। फिर यदि किसी भी प्रकारकी कामना न रखकर निःस्वार्थभावसे केवल कर्तव्य समझकर नामजप किया जाय तो उसके तुल्य तो कोई भी साधन नहीं है। इस प्रकार नामजप करनेवाले साधकको तो तुरंत भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। उच्चकोटिका विशुद्ध प्रेम निष्कामभाव होनेपर ही होता है। उसीको अनन्य विशुद्ध परम प्रेम कहते हैं, जिसके प्राप्त होनेपर भगवत्साक्षात्कार होनेमें क्षणभरका भी विलम्ब नहीं हो सकता।

किंतु याद रखना चाहिये कि उस सच्चे प्रेममें दिखाऊपन कभी नहीं रहता। सच्चा प्रेमी 'मैं प्रेमी हूँ' ऐसा कहता-कहलाता नहीं, बल्कि स्वयं वैसा बनता है। जो मनुष्य संसारमें 'मैं प्रेमी हूँ' ऐसा प्रचार करता है, वह सच्चा विशुद्ध प्रेमी नहीं है; क्योंकि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा और कञ्चन-कामिनी, भोग-आरामका इच्छुक पुरुष ही लोकदिखाऊ प्रेम किया करता है। परंतु प्रेम न करनेसे तो ऐसा सकाम प्रेम करना भी अच्छा है; क्योंकि कभी आगे जाकर वही प्रेम सकामसे निष्काम हो सकता है। पर स्मरण रखना चाहिये कि निष्काम और अनन्य प्रेम होनेपर ही भगवान् अपना दर्शन देनेके लिये विशेष बाध्य होते हैं (गीता ११। ५४)। यदि भगवान् निष्काम प्रेम न होनेपर भी अनन्य भक्तिसे दर्शन दे दें तो यह उनकी विशेष उदारता है।

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् स्वयं निष्काम भजन करनेवाले भक्तकी विशेषता बतलाते हैं—

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥ (अरण्य० १६)

जो नामोच्चारण अकेले या बहुत व्यक्ति मिलकर बाजेके साथ या बिना बाजेके उच्चस्वरसे सामूहिक रूपमें किया जाता है, उसे 'कीर्तन' कहते हैं। उस नाम-कीर्तनकी महिमा भी अपार है। किंतु उसमें भी प्रधानता श्रद्धा-प्रेमकी ही है। जितना ही अधिक श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभाव होता है, उतना ही वह अधिक मूल्यवान् है। श्रीनारदजी, श्रीतुलसीदासजी, श्रीसूरदासजी, श्रीनरसिंह मेहता, श्रीगौराङ्ग महाप्रभु एवं मीराँबाई आदि बहुत-से भक्त कीर्तन-प्रेमी माने जाते हैं।

किंतु श्रीमद्भागवतमें तो यहाँतक बतलाया गया है—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥ (६। २। १८)

'जिस प्रकार अग्नि ईंधनको जला देता है, उसी प्रकार पवित्रकीर्ति श्रीहरिके नामका संकीर्तन जानकर किया जाय अथवा बिना जाने, पुरुषके सम्पूर्ण पापोंको भस्म कर डालता है।'

श्रीशुक्राचार्यजीने भगवान्से कहा है—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं तव॥

(श्रीमद्भा० ८। २३। १६)

'प्रभो! मन्त्रोंकी अनुष्ठानपद्धतिकी, देश, काल, पात्र और वस्तुकी सारी भूलें आपके नाम-संकीर्तनसे सुधर जाती हैं। आपका नाम सारी त्रुटियोंको पूर्ण कर देता है।'

यही नहीं, भगवन्नामजपका बड़ा भारी प्रभाव है। नामजपके प्रभावसे तो स्वयं भगवान् ही उस जापकके वशमें हो जाते हैं—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥

(रा० च० मा०, बाल० २६। ३)

भक्त हनुमान्‌जीकी भगवान्‌के नाममें परम निष्ठा थी। अध्यात्म-रामायणमें समुद्रोल्लङ्घनके समय वे कहते हैं—

प्राणप्रयाणसमये यस्य नाम सकृत् स्मरन्।
नरस्तीर्त्वा भवाम्भोधिमपारं याति तत्पदम्॥

(सुन्दर० १। ४-५)

'प्राण निकलते समय जिन भगवान्‌के नामका एक बार स्मरण करनेसे ही मनुष्य अपार संसारसागरसे तरकर उनके परमधामको चला जाता है।'

राज्याभिषेकके पश्चात् जब श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्‌जीकी भक्तिसे प्रसन्न हो उन्हें वर माँगनेको कहते हैं तब श्रीहनुमान्‌जी अत्यन्त हर्षित हो यही वर माँगते हैं—

त्वन्नाम स्मरतो राम न तृप्यति मनो मम।
अतस्त्वन्नाम सततं स्मरन् स्थास्यामि भूतले॥

(अध्यात्म० युद्ध० १६। १२-१३)

'हे रामजी! आपका नाम स्मरण करते हुए मेरा मन तृप्त नहीं होता है; इसलिये मैं सदा-सर्वदा आपका नाम स्मरण करता हुआ ही इस पृथ्वीपर स्थित रहूँ।'

भगवान् श्रीरामने उनकी इच्छाके अनुसार उन्हें वर दिया। श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः
पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान्।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं
प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः॥

(१२। ३। ४४)

'मनुष्य मरते समय, आतुर-अवस्थामें, गिरते या फिसलते समय विवश होकर भी यदि भगवान्‌के नामका उच्चारण कर ले तो वह सारे कर्मबन्धनोंसे छूटकर उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है। ऐसा होनेपर भी घोर कलियुगमें मनुष्य उन भगवान्‌की उपासना तत्परतासे नहीं करते हैं।'

इतना ही नहीं, मनुष्य कैसा भी पापी क्यों न हो, नामजपके प्रभावसे उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और उसका कल्याण हो जाता है।

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥

(रा० च० मा०, बाल० २६। ४; २७। १,३)

किसी कविने भी कहा है—

जबहिं नाम हिरदै धरयो भयो पापको नास।
मानो चिनगी आगकी परी पुराने घास॥

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌के पार्षदोंके वचन हैं—

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः॥

(६। २। १०)

'सभी पापियोंके लिये इतना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है कि भगवान्‌के नामोंका उच्चारण किया जाय; क्योंकि भगवन्नामोंके उच्चारणसे मनुष्यकी बुद्धि भगवान्‌के गुण, लीला और स्वरूपमें रम जाती है और स्वयं भगवान्‌की उसके प्रति आत्मीय बुद्धि हो जाती है।'

श्रीशुकदेवजी परीक्षित्से कहते हैं—

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद् धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्॥

(श्रीमद्भा० ६। २। ४९)

'अजामिल-जैसे पापीने मरते समय पुत्रके निमित्तसे

भगवान्‌के नामका उच्चारण किया था, किंतु उसे भी परमधामकी प्राप्ति हो गयी; फिर जो लोग श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवन्नामका उच्चारण करते हैं, उनकी तो बात ही क्या है।'

श्रीसूतजीने कहा है—

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन्।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥

(श्रीमद्भा० १२। १२। ४६)

'जो मनुष्य गिरते-पड़ते, फिसलते, दुःख भोगते अथवा छींकते समय विवशतासे भी ऊँचे स्वरसे बोल उठता है—'**हरये नमः**' वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

श्रीनारदपुराणमें श्रीसनकजी नारदजीके प्रति कहते हैं—

हरे केशव गोविन्द वासुदेव जगन्मय।
इतीरयन्ति ये नित्यं न हि तान् बाधते कलिः॥

(पूर्व० ४१। ९९-१००)

'जो लोग प्रतिदिन हरे! केशव! गोविन्द! वासुदेव! जगन्मय! इत्यादि भगवान्‌के नामोंका उच्चारण करते हैं, उन्हें कलियुग बाधा नहीं पहुँचाता।'

और भी कहते हैं—

अहो चित्रमहो चित्रमहो चित्रमिदं द्विज।
हरिनाम्नि स्थिते लोकः संसारे परिवर्तते॥

(नारद० पूर्व० ३४। ४८)

'ब्रह्मन्! यह बड़े आश्चर्यकी बात है, बड़ी अद्भुत बात है और बड़ी विचित्र बात है कि भगवान् विष्णुके नामके रहते हुए भी लोग जन्म-मृत्युरूप संसारमें चक्कर काटते हैं।'

स्वपन् भुञ्जन् व्रजंस्तिष्ठन्नुत्तिष्ठंश्च वदंस्तथा।
चिन्तयेद्यो हरेर्नाम तस्मै नित्यं नमो नमः॥

(नारद० पूर्व० ३९। ६)

'जो सोते, खाते, चलते, ठहरते, उठते और बोलते हुए भी भगवान् विष्णुके नामका चिन्तन करता है, उसे नित्य बारम्बार नमस्कार है।'

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(नारद० पूर्व० ४१। ११५)

'भगवान् विष्णुका नाम ही, नाम ही, नाम ही मेरा जीवन है। कलियुगमें दूसरी कोई गति है ही नहीं, है ही नहीं, है ही नहीं।'

श्रुति भी कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

(कठ० १। २। १६)

'यह अक्षर (ॐ) ही तो ब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म है। इसलिये इसी अक्षरको जानकर जो जिसको चाहता है, उसको वही मिल जाता है।'

इस प्रकार शास्त्रोंमें जगह-जगह नामकी भूरि-भूरि महिमा गायी गयी है। यहाँ तो कुछ साधारण दिग्दर्शन कराया है। वस्तुतः नामकी महिमा कोई गा ही नहीं सकता; क्योंकि गाना तो वाणीसे ही होता है; किंतु वाणी परिमित है और भगवन्नामकी महिमा अपरिमित है। अतः उसकी महिमा मनुष्य कहाँतक गा सकता है। यह कथन भी कोई अनुचित नहीं कि भगवान्‌के नामकी महिमा भगवान् भी नहीं गा सकते—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

(रा० च० मा०, बाल० २६। ४)

इसलिये हमलोगोंको भगवान्‌में परम प्रेम होनेके लिये अनन्य विशुद्ध श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मनसे हर समय भगवान्‌के नामका जप करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

आत्मोद्धारकी प्रधान-प्रधान दो-दो बातें

ज्ञान, भक्ति आदि साधनोंके अनुसार यहाँ ऐसी प्रधान-प्रधान दो-दो बातें बतलायी जाती हैं, जिनको धारण करनेपर मनुष्यका निश्चय ही कल्याण हो सकता है।

(१) आत्मोद्धारके लिये भगवान्‌ने गीतामें दो ही निष्ठा बतलायी है—ज्ञाननिष्ठा (अद्वैतवाद) और योगनिष्ठा (द्वैतवाद—भक्तियोग और कर्मयोग)।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(गीता ३। ३)

'हे निष्पाप अर्जुन! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है।'

भगवान्‌ने इसके पूर्व दूसरे अध्यायमें श्लोक ११ से ३० तक ज्ञाननिष्ठाका एवं श्लोक ४० से ७२ तक

योगनिष्ठाका वर्णन किया है; जिसमेंसे श्लोक ४७से ५१ तक तो प्रधानतासे कर्मयोगका विवेचन है और श्लोक ६१ में भक्तियोगका उल्लेख है।

ये दोनों ही निष्ठाएँ कल्याण करनेवाली हैं।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥

(गीता० ५। ४)

'उपर्युक्त सांख्य और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक्प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

(गीता ५। ५)

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमपद प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है; इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है वही यथार्थ देखता है।'

इसलिये मनुष्यको अपनी रुचि और योग्यताके अनुकूल इन दोनोंमेंसे किसीका भी तत्परतासे अनुष्ठान करना चाहिये।

(२) सांख्य (ज्ञान) की दृष्टिसे आत्मा और अनात्मा—इन दोनोंका यथार्थ तत्त्व समझना चाहिये। इस विषयमें एक श्लोक है—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

'जो करोड़ों ग्रन्थोंमें कहा गया है उसीको मैं इस आधे श्लोकसे बतलाता हूँ कि जीव ब्रह्म ही है, भिन्न नहीं। ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है।'

अतः अद्वैतमार्गके साधकोंको नित्य-निरन्तर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके भावका और दृश्यरूप संसारको स्वप्नवत्, मायामात्र, कल्पित, अनित्य और असत् समझते हुए उसके अभावका अनुभव करना चाहिये। गीतामें भगवान्ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

तात्पर्य यह कि सत्य वस्तु जो परमात्मा है उसका तो कभी अभाव नहीं होता और जो अनित्य देहादि दृश्य पदार्थ हैं वे कभी कायम नहीं रहते।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥

(गीता २। १८)

'इस नाशरहित अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर।'

अतः ज्ञानयोगके साधकोंको इस प्रकार आत्मा और अनात्माके तत्त्वको भलीभाँति समझ लेना परम आवश्यक है।

(३) सगुण भगवान्के दो स्वरूप हैं—निराकार और साकार। इन दोनों स्वरूपोंकी उपासना भेदभावसे होती है। निराकारकी उपासनाका प्रकरण गीता ८। ९,१०, २२; ९। ४—६; १०। २०; १५। १५, १७ आदिमें मिलता है। साकार उपासनाका प्रकरण गीता ४। ६—११; ९। २६; १०। १२, १५; ११। ७, १७, ३६—४६; १८। ७७ आदिमें मिलता है। इनके सिवा, गीतामें बहुत-से श्लोक ऐसे भी हैं, जिनके अनुसार साधक अपनी इच्छाके अनुकूल सगुण-साकारकी या सगुण-निराकारकी भी उपासना कर सकता है, जैसे— ६। ४७; ७। १४, १६; ८। ५, ७; ९। २२; १०।९-१०; ११।५४-५५; १२। २, ६—८; १८। ६५-६६ आदि।

भक्तिके साधकोंको अपनी इच्छाके अनुसार भगवान्के किसी भी स्वरूपकी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उपासना अवश्य करनी चाहिये।

(४) भक्तिके साधकोंके लिये ये दो साधन सार हैं—भगवान्में परम अनुराग, विशुद्ध अनन्य प्रेम और संसारसे तीव्र वैराग्य। गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

(१५। ३ का उत्तरार्ध, ४)

'इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़

मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए मनुष्य फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है उसी आदि पुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये।'

यहाँ तीसरे श्लोकके उत्तरार्धमें वैराग्यका और चौथे श्लोकमें शरणागतिरूप भक्ति-(प्रेम-) का प्रतिपादन किया गया है।

श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें गोकर्णजीने अपने पिताजीके प्रति कहा है—

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः॥

(४। ७९)

'पिताजी! यह शरीर हड्डी, मांस और रुधिरका पिण्ड है। इसे आप 'मैं' मानना छोड़ दें और स्त्री-पुत्रादिको 'अपना' कभी न मानें। इस संसारको रात-दिन क्षणभङ्गुर देखें, इसकी किसी भी वस्तुको स्थायी समझकर उसमें राग न करें। बस, एकमात्र वैराग्यरसके रसिक होकर भगवान्‌की भक्तिमें लगे रहें।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० ३२३। ४)

भगवान्‌की निष्काम विशुद्ध भक्ति शीघ्र ही कल्याण करनेवाली है। उसके समान यज्ञ, दान, तप आदि कुछ भी नहीं है।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५३-५४)

'जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है, इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ; परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ और प्रवेश अर्थात् एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।'

आगे अनन्यभक्तिका स्वरूप बतलानेके लिये अनन्य-भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गीता ११। ५५)

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

यहाँ भी '**सङ्गवर्जितः**' कहकर वैराग्यके लिये और '**मत्परमः**', '**मद्भक्तः**' कहकर अनन्य-भक्तिके लिये स्पष्ट संकेत है।

(५) भगवान्‌के विरहमें व्याकुल होकर भगवान्‌के लिये ही चिन्तित रहे, संसारके लिये नहीं। किसी कविने कहा है—

केशव केशव कूकिये ना कूकिये असार।
रात दिवस के कूकते कबहुँ तो सुनै पुकार॥

जिस प्रकार 'हाय धन! हाय धन!' करना धनकी तीव्र इच्छाका द्योतक है, वैसे ही भगवान्‌के विरहमें व्याकुल होकर 'केशव! केशव!' कूकना ही भगवद्दर्शनकी तीव्र इच्छाका द्योतक है। अभिप्राय यह कि एकमात्र भगवान्‌से मिलनेकी ही तीव्र इच्छा करे, सांसारिक पदार्थोंकी कभी किंचिन्मात्र भी इच्छा न करे। यह भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा भगवान्‌से मिलानेवाली है; क्योंकि जिस प्रकार भक्त भगवान्‌को भजते हैं, वैसे ही भगवान् भी उनको भजते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

किंतु धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, आरोग्य आदिकी तीव्र इच्छा करनेपर भी वे धनादि पदार्थ मनुष्यको इच्छानुसार नहीं मिलते। सभी लोग आरोग्य चाहते हैं, किंतु इच्छा करनेमात्रसे आरोग्य नहीं प्राप्त होता। दुःखको कोई नहीं

चाहता, सुख सभी चाहते हैं; पर इच्छा करनेमात्रसे ही सुख नहीं मिलता, न दुःख ही निवृत्त होता है। इसका कारण यही है कि मनुष्य ही धनादि पदार्थोंकी चाह करता है, धनादि पदार्थ उसे नहीं चाहते। महाभारतमें महाराज युधिष्ठिरके प्रति भीष्मजीके वचन हैं—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥

(भीष्म० ४३। ४१)

'महाराज! पुरुष अर्थका दास है; किंतु अर्थ किसीका दास नहीं है। यह सच्ची बात है। मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ।'

इस कथनसे यही तात्पर्य निकलता है कि धनादि पदार्थ किसीके दास नहीं हैं—वे किसीको नहीं चाहते। इसलिये मनुष्यको भगवान्‌से मिलनेकी ही तीव्र इच्छा करना उचित है, अन्य किसीकी नहीं।

(६) संत समागम और हरिभक्ति—ये दो साधन बहुत महत्त्वके हैं।

किसी कविने कहा है—

सुत दारा अरु लच्छमी पापीके भी होय।
संत समागम हरि-भगति दुर्लभ जगमें दोय॥

भगवान् श्रीकृष्ण तो भक्त उद्धवसे कहते हैं—

प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव।
नोपायो विद्यते सध्र्यङ्‌ प्रायणं हि सतामहम्॥

(श्रीमद्भा० ११। ११। ४८)

'प्यारे उद्धव! मेरा ऐसा निश्चय है कि सत्सङ्ग और भक्तियोग इन दो साधनोंका एक साथ ही अनुष्ठान करते रहना चाहिये। प्रायः इन दोनोंके अतिरिक्त संसारसागरसे पार होनेका और कोई सुगम उपाय नहीं है, क्योंकि संत पुरुष मुझे अपना आश्रय मानते हैं और मैं सदा-सर्वदा उनके पास बना रहता हूँ।'

गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनसे अपनी भक्ति करनेवाले भक्तको सबसे बढ़कर बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ४४। ३)

सत् नाम परमात्माका है, उनमें प्रीति होना ही उनका सङ्ग है। वह परमात्माकी प्रीति सत्संगसे ही प्राप्त होती है।

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ६१)

सत्संगके बिना हरिकथा नहीं मिलती, उस हरिकथाके बिना मोह दूर नहीं होता और मोह दूर हुए बिना भगवान् श्रीरामके चरणोंमें दृढ़ प्रेम नहीं होता।

उदाहरणके लिये भगवान्‌की भक्तिको ही एक वृक्ष समझना चाहिये। सत्संग करना ही उस वृक्षमें जल सींचना है, उससे भगवान्‌का प्रेम प्राप्त होना ही वृक्षका हरा-भरा होना है और भगवान्‌की प्राप्ति ही उसका फल है।

(७) मनुष्य दो बातोंको कभी न भूले—१ भगवान्‌को, २ मृत्युको। श्रीनारायणस्वामीने कहा है—

दो बातन को भूल मत जो चाहे कल्यान।
नारायण इक मौत को दूजे श्रीभगवान॥

मृत्युको हर समय अपने निकट देखनेसे मनुष्यसे पाप नहीं बन पाता; क्योंकि शरीर और संसारसे वैराग्य हो जाता है। एवं भगवान्‌का हर समय स्मरण रखनेसे पापोंका नाश होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। जो सदा-सर्वदा भगवान्‌का स्मरण करता है, उसे अन्तकालमें भगवान् अवश्य ही स्मरण हो जाते हैं; क्योंकि मनुष्य जैसा सदा-सर्वदा अभ्यास करता है, उसका अन्तकालमें वैसा ही अभ्यास स्वाभाविक ही होता है। भगवान् कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

अतएव मनुष्यको हर समय ही भगवान्‌का स्मरण रखना चाहिये। अर्जुनसे भी भगवान्‌ने यही कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

(८) आत्मकल्याणके लिये चित्तवृत्तियोंका निरोध और मनको वशमें करना प्रधान बताया गया है। मनको वशमें किये बिना परमात्माकी प्राप्ति रूप योगकी सिद्धि सम्भव नहीं। भगवान् कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता ६। ३६)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—ऐसा मेरा मत है।'

मनके निरोध और वशमें करनेके दो ही उपाय प्रधान हैं— अभ्यास और वैराग्य।

महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (योगदर्शन १। १२)

'उन चित्तवृत्तियोंका निरोध अभ्यास और वैराग्यसे होता है।'

मनको वशमें करनेके ये ही दो उपाय भगवान्ने गीतामें भी बतलाये हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(६। ३५)

'हे महाबाहो! निस्संदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है।'

श्रीपतञ्जलिजीने अभ्यासका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (योगदर्शन १। १३)

'उन दोनोंमेंसे, चित्तकी स्थिरताके लिये जो प्रयत्न करना है वह अभ्यास है।'

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः॥

(योगदर्शन १। १४)

'परंतु वह अभ्यास बहुत कालतक निरन्तर (लगातार) और आदरपूर्वक साङ्गोपाङ्ग किया जानेपर दृढ़ अवस्थावाला होता है!'

गीतामें अभ्यासका रूप भगवान्ने यों बताया है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(६। २६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन, जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही लगावे।'

श्रीपतञ्जलिजीने वैराग्यका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

(योगदर्शन १। १५)

'देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्था है वह वैराग्य है।'

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। (योगदर्शन १। १६)

'पुरुषके ज्ञानसे जो प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका सर्वथा अभाव हो जाना है—वह 'पर वैराग्य' है।'

गीतामें वैराग्यका रूप यों बताया गया है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।' तथा—

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

(गीता १३। ८ का उत्तरार्ध)

'जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना—'वैराग्य' है।'

इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य करनेसे मन वश होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

(९) सद्गुण और सदाचारका सेवन एवं दुर्गुण और दुराचारका त्याग आत्मकल्याणमें परम आवश्यक है।

भगवान् प्रेरणा करते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

(गीता ६। ५ का पूर्वार्ध)

'अपने द्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले।'

सद्‌गुण-सदाचारका सेवन करना और दुर्गुण-दुराचारका त्याग करना ही अपने द्वारा अपना उद्धार करना है; किंतु इसके विपरीत करना अपने द्वारा अपना पतन करना है।

सद्‌गुण-सदाचारोंके समूहका नाम दैवी सम्पदा है और दुर्गुण-दुराचारोंके समूहका नाम आसुरी सम्पदा है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥

(गीता १६। ५)

'दैवी सम्पदा मुक्तिके लिये और आसुरी सम्पदा बाँधनेके लिये मानी गयी है। इसलिये हे अर्जुन! तू शोक मत कर; क्योंकि तू दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुआ है।'

दैवी सम्पदा गीतामें यों बतलायी गयी है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(१६। १—३)

'भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्व-ज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूत-प्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब तो हे अर्जुन! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।'

इसके विपरीत आसुरी सम्पदा है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥

(गीता १६। ४)

'हे पार्थ! दम्भ, घमंड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान भी—ये सब आसुरी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।'

इस आसुरी सम्पदाका विस्तार गीताके सोलहवें अध्यायमें श्लोक ७ से २१ तक किया गया है, जिनपर विस्तृत विवेचन 'गीता-तत्त्व-विवेचनी' टीकामें देख लेना चाहिये।

उपर्युक्त आसुरी सम्पदाका परित्याग करके दैवी सम्पदाको ग्रहण कर लेनेपर ही मनुष्यका कल्याण सम्भव है।

(१०) दूसरोंका हित करना ही परमधर्म है और दूसरोंका अनिष्ट करना ही परमपाप है। प्रसिद्ध है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

'अठारह पुराणोंमें श्रीवेदव्यासजीके दो सार वचन हैं कि दूसरोंका उपकार करना धर्मके लिये प्रधान है और दूसरोंको पीड़ा देना पापके लिये प्रधान है।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ४०। १)

इसलिये मनुष्यको उचित है कि मन, वाणी, शरीरके द्वारा सबका लौकिक और पारलौकिक हित ही करे, किंतु अनिष्ट तो किसीका किंचिन्मात्र भी किसी भी निमित्तको लेकर कभी न करे। अभिप्राय यह कि न किसीको बुरा समझे, न किसीका बुरा चाहे, न किसीका बुरा करे और न किसीके दोषोंको देखे।

उपर्युक्त सभी बातें मनुष्यका परम कल्याण करनेवाली हैं। इसलिये मनुष्यको इनको भलीभाँति समझकर काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

भगवत्प्राप्तिके विविध साधन

परमात्माकी प्राप्तिके लिये भगवान् और ऋषि-मुनियोंने बहुत-से साधन (उपाय) बतलाये हैं। उनमेंसे किसी भी एक साधनके अनुसार अभ्यास किया जाय तो निश्चय ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसे अभ्यास करनेयोग्य कुछ साधनोंका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है—

(१) एक सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार ब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं है। एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही ब्रह्म है। उस आनन्दमय ब्रह्मका मनसे इस प्रकार मनन करना कि पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, अनन्त आनन्द, बस, एक आनन्दके सिवा और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार मनन करते-करते मन मनन-क्रियासे रहित हो उस आनन्दमय ब्रह्ममें तन्मय हुआ तद्रूप—विलीन हो जाता है। फिर, ऊपर बताये हुए विशेषणोंसे जो ब्रह्मका विशेष रूप बुद्धिके द्वारा समझमें आता है, उसको ध्येय (लक्ष्य) बनाकर ध्यान करना चाहिये। यहाँ ब्रह्म ध्येय है, बुद्धिकी वृत्ति ध्यान है और साधक ध्याता है। इस प्रकार ध्यान करनेपर बुद्धि तन्मय होकर तद्रूप हो जाती है, तब ध्याता, ध्यान और ध्येयविषयक त्रिपुटी नहीं रहती। केवल एकमात्र ब्रह्म ही रह जाता है, उस साधककी ब्रह्ममें स्थिति हो जाती है। यह सविकल्प समाधि है। इस सविकल्प समाधिमें ब्रह्मका नाम, रूप और ज्ञान रहता है। योगदर्शनमें इसको सवितर्क समाधि कहा गया है।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।

(योगदर्शन १। ४२)

'उनमें शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनोंके विकल्पोंसे संकीर्ण— मिली हुई समाधि सवितर्क है।'

इसके बाद जब साधक स्वयं ब्रह्ममें तद्रूप हो जाता है, तब वहाँ ये शब्द, अर्थ, ज्ञान नहीं रहते। केवल एक अर्थमात्र वस्तु ब्रह्मका स्वरूप ही रहता है। यही निर्विकल्प समाधि है। इसको योगदर्शनमें निर्वितर्क समाधि कहा गया है।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।

(योगदर्शन १। ४३)

'शब्द और प्रतीतिकी स्मृतिके भलीभाँति लुप्त हो जानेपर अपने रूपसे शून्य हुईके सदृश केवल ध्येयमात्रके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाली चित्तकी स्थिति ही निर्वितर्क समाधि है।'

इसका फल परम गतिकी प्राप्ति है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

(५। १७)

'जिनका मन तद्रूप हो गया है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो गयी है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं।'

(२) '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' (छान्दोग्य० ३। १४। १) जड-चेतन, चर-अचर जो भी कुछ है वह सब निःसंदेह परब्रह्म परमात्माका ही स्वरूप है—यों सबमें ब्रह्मबुद्धिका अभ्यास करना। इस साधनको भगवान्ने गीतामें यज्ञका रूपक देकर यों समझाया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

(४। २४)

'जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है।'

इस प्रकार जो मनुष्य सबमें परमात्मबुद्धि करके परमात्माके स्वरूपका ही सदा-सर्वदा अनुभव करता रहता है, वह उच्चकोटिका महापुरुष समझा जाता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

इसलिये सबमें ब्रह्मबुद्धि करनेका अभ्यास करना चाहिये; क्योंकि जो कुछ नाना रूपमें दीखता है वह एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है, उसका ही विस्तार है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

(१३। ३०)

'जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक्

भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

(३) एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके भावका और अन्य समस्त दृश्यरूप संसारको स्वप्नवत्, मायामात्र, कल्पित, अनित्य और असत् समझते हुए उसके अभावका अनुभव करना।

भगवान् गीतामें बतलाते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

(८। २०)

'उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्तभाव है वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता।'

इस प्रकार अभ्यास करनेपर उसके अनुभवमें प्रकृति और उसके कार्यका अभाव होकर एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही रह जाता है।

(४) गीतामें अध्याय १८ श्लोक ४९ से ५५ तक ज्ञानकी निष्ठाके नामसे वर्णित ध्यानकी प्रणालीके अनुसार ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे एकान्तमें साधन करना। इस साधनसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

(५) गीतामें अध्याय १३ श्लोक ७ से ११ तक भगवान्ने जो ज्ञानकी प्राप्तिके साधन बतलाये हैं और जिनको भगवान्ने 'ज्ञान' संज्ञा दी है, उन साधनोंके अनुसार अपना जीवन बनाना। इस प्रकारका ज्ञानमय जीवन बनानेसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

(६) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ परमात्माके स्वरूपका ही अनुभव करके मनको उसमें तन्मय कर देना—उसीमें लगा देना। कहा भी है—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।

अभिप्राय यह कि भगवान्के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार जिस स्वरूपमें अपनी श्रद्धा, रुचि हो, उसीमें भेद या अभेदभावसे अपने मनका समाधान कर देना—भलीभाँति लगा देना और सर्वत्र मनसे उसीका अनुभव करना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास करते-करते मन परमात्मामें तन्मय हो सकता है।

(७) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर उसे अपने इष्टदेव परमात्माके निर्गुण, सगुण, निराकार या साकार स्वरूपमें लगानेका प्रयत्न करना।

भगवान् गीतामें कहते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(६। २६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही लगावे।'

(८) अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर—सबको पूर्णरूपसे भगवान्के समर्पण कर देना। यही भगवत्- शरणागति है। इसमें मनके द्वारा निरन्तर भगवान्का चिन्तन करना, भगवान्के सिवा और किसीका भी चिन्तन न करना— यह मनको भगवान्के अर्पण करना है (गीता ८। १४ ; ९। २२)। 'भगवान्के सिवा और कोई मेरा नहीं है'—बुद्धिके द्वारा ऐसा निश्चय करके एकमात्र भगवान्में ही अनन्य प्रेम करना—यह बुद्धिको भगवान्के अर्पण करना है (गीता ९। ३०)। 'भगवान् सबमें व्यापक हैं' ऐसा समझकर भगवद्भावसे सबका आदर-सत्कार और सेवा करना—यह इन्द्रियोंको भगवान्के अर्पण करना है (गीता १८। ४६) तथा शरीरको अपना न मानकर भगवान्का मानना यानी शरीरमें अहंता-ममतासे रहित हो जाना और शरीरनिर्वाहके लिये जो भी कुछ आकर प्राप्त हो, उसमें संतुष्ट रहना—यह शरीरको भगवान्के अर्पण करना है। इस प्रकार भगवान्के शरण हो जानेसे भगवान्की प्राप्ति हो सकती है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९। ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

(९) मन, वाणी, नाड़ी, श्वास, कण्ठ आदि किसीके द्वारा भी अपने परम इष्टदेव भगवान् राम, कृष्ण, शिव, विष्णु आदिके किसी भी नाम-रूपका परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निष्कामभावसे निरन्तर जप-ध्यान करना।

योगदर्शनमें भी बतलाया गया है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (योगदर्शन १। २३)

'ईश्वरप्रणिधानसे भी समाधिकी सिद्धि शीघ्र हो सकती है।'

तस्य वाचकः प्रणवः। (योगदर्शन १। २७)

'उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव (ॐकार) है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योगदर्शन १। २८)

'उस ॐकारका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

(योगदर्शन १। २९)

'उक्त साधनसे विघ्नोंका अभाव और परमात्माके स्वरूपका ज्ञान भी हो जाता है।'

(१०) केवल एक भगवान्में अनन्य विशुद्ध प्रेम (अनुराग) करना। इससे भगवान्की शीघ्रातिशीघ्र प्राप्ति हो जाती है।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रा० च० मा०, बाल० १८४। ३)

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० १३७। १)

किसी संस्कृत-कविने कहा है—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम्।
वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

'व्याधमें क्या सदाचार था? ध्रुवकी अवस्था ही कितनी थी? गजराजमें ऐसी कौन विद्या थी? कुब्जाके नाम-रूपमें कौन-सा उत्कृष्ट सौन्दर्य था? सुदामाके पास क्या धन था? विदुरका कौन-सा उच्च कुल था? यादवपति उग्रसेनमें कहाँका पुरुषार्थ था? भगवान् तो भक्तिके प्रिय हैं। वे केवल भक्तिसे ही संतुष्ट होते हैं, गुणोंसे नहीं।'

अतः भगवान्में प्रेम करना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है। भगवान्में प्रेम होनेके अनेक उपाय हैं। भगवान्में प्रेम होनेकी तीव्र लालसा जाग्रत् रहनेसे स्वाभाविक ही भगवान्में प्रेम हो जाता है। 'एकमात्र भगवान् ही हमारे हैं, इस प्रकार भगवान्के प्रति अपनत्वके भावसे भगवान्में प्रेम हो जाता है। जैसे सांसारिक विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति (प्रेम) हो जाती है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।

(गीता २। ६२ का पूर्वार्ध)

इसी प्रकार भगवान्का चिन्तन करनेवालेका भगवान्में प्रेम हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २७)

'जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है उसका चित्त विषयोंमें फँस जाता है और जो निरन्तर मेरा स्मरण करता है उसका चित्त मुझमें ही तल्लीन हो जाता है।'

केवल भगवान्के नाम-स्मरणसे भी भगवान्में प्रेम होता है—

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥

(रा० च० मा०, बाल० २०। ३)

भगवान्के और भगवद्भक्तोंके जीवन-चरित्रोंको पढ़ने-सुननेसे भी भगवान्में प्रेम होता है। भगवान्में दृढ़ श्रद्धा-विश्वास होनेसे भी भगवान्में प्रेम होता है और सत्संगसे भी भगवान्में प्रेम होता है। सत्संगके लिये श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ६१)

भगवान्के शरण होकर करुणाभावपूर्वक स्तुति-प्रार्थना करनेसे भी प्रेम होता है एवं भगवान्के गुण-प्रभावका तत्त्व-रहस्य समझनेसे भी भगवान्में प्रेम होता है।

इस प्रकार भगवान्में प्रेम होनेके और भी बहुत-से उपाय हैं। और कुछ चाहे हो या न हो, भगवान्में श्रद्धा-विश्वासपूर्वक दृढ़ अनुराग होना परम आवश्यक है। इसलिये भगवान्में विशुद्ध और अनन्य प्रेम—अनुराग होनेके लिये उपर्युक्त उपायोंको करनेकी चेष्टा तत्परताके साथ प्राणपर्यन्त करनी चाहिये। इससे भगवान्में परम प्रेम होकर भगवान्की प्राप्ति हो सकती है।

(११) भगवान्के साथ दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि किसी भी प्रकारके भावसे सम्बन्ध स्थापित करना। जैसे, भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका सख्यभावसे युक्त विशुद्ध परकीय माधुर्यभाव था,

रुक्मिणी आदि पटरानियोंका कान्ता-भावसे युक्त स्वकीय माधुर्यभाव था, अर्जुनका दास्य और सख्यभाव था, गोप-बालकोंका केवल सख्यभाव था, श्रीनन्द-यशोदा और वसुदेव-देवकीका वात्सल्यभाव था, अक्रूरका दास्यभाव था। इसी प्रकार भगवान् श्रीरामके प्रति दशरथ-कौसल्याका वात्सल्यभाव था, भरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्न-हनुमान्‌का दास्यभाव था, सीताका माधुर्यभाव था, विभीषणका दास्य और सख्यभाव था, सुग्रीवका सख्यभाव था एवं श्रीतुलसीदासजीका केवल दास्यभाव था। इसीसे श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ११९ क)

वस्तुतः भाव ही प्रधान है। बिना भावके किसी भी क्रियाका विशेष मूल्य नहीं है। अतः हमलोगोंको अपनी श्रद्धा, विश्वास और रुचिके अनुसार किसी भी भावसे भावित होकर भगवान्‌के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये।

(१२) भगवान्‌की सत्ता, स्वरूप, गुण, प्रभाव, महिमा और उनके वचनोंमें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर दृढ़ श्रद्धा-विश्वास करना। तात्पर्य यह कि भगवान् सम्पूर्ण दिव्य अलौकिक गुणोंसे सम्पन्न हैं। उनके समान कोई गुणी नहीं है। न भगवान्‌के समान कोई प्रभावशाली है। वे सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ, असम्भवको भी सम्भव कर सकनेवाले और समस्त सौन्दर्यके महान् केन्द्र हैं। संसारमें जो भी कुछ गुण, प्रभाव, महिमा, ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य आदि प्रतीत होता है, वह सब भगवान्‌के गुण, प्रभाव, सौन्दर्य आदिके एक अंशका आभासमात्र है। भगवान् हैं, मिलते हैं, अनेक मनुष्योंको मिले हैं, मुझे भी अवश्य मिलेंगे—इस प्रकार जो भगवान्‌के सम्बन्धमें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर दृढ़ विश्वास है, वह परम श्रद्धा है। जैसे महर्षि हारिद्रुमत गौतमके वचनोंमें जबालाके पुत्र सत्यकामकी परम श्रद्धा थी, जिसके फलस्वरूप उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी (छान्दोग्य० ४। ४—९); उससे भी बढ़कर गीतादिमें कहे हुए जो भगवान्‌के वचन हैं उनमें दृढ़ विश्वास करके मनुष्यको उनके अनुसार चलना चाहिये। इससे बहुत शीघ्र कल्याण हो सकता है; क्योंकि श्रद्धाकी कमीके कारण ही परमात्माकी प्राप्तिमें विलम्ब हो रहा है। परम श्रद्धा होनेपर फिर परमात्माकी प्राप्तिमें कोई विलम्ब नहीं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

(१३) भगवान् शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि अपने इष्टदेवका आह्वान करके, मनसे उनको अपने सम्मुख उपस्थित देखकर चरणसे लेकर मस्तकतक उनके प्रत्येक अङ्गका दर्शन करते हुए मुग्ध होना और भगवान्‌के स्वरूपकी मानसिक सामग्रियोंसे बहुत प्रेमपूर्वक मानसिक पूजा करना। इस पूजामें पत्र, पुष्प, फल, जल आदि पूजाकी सभी सामग्री मानसिक है, भगवान्‌का स्वरूप भी मानसिक है और पूजा करनेवाला साधक भी अपने मानसिक शरीरसे ही पूजा करता है। मन्त्रोंका उच्चारण और पूजाकी सारी क्रिया भी मानसिक होती है। यह श्रद्धा-प्रेमपूर्वक की हुई मानसिक पूजा बाहरी मूर्तिपूजाकी अपेक्षा श्रेष्ठ है; क्योंकि बाहरी पूजामें तो मन इधर-उधर चला जाता है। किंतु इस मानसिक पूजामें मन अन्यत्र नहीं जा सकता; क्योंकि इस पूजामें सभी कुछ मानसिक है। यदि मन ही अन्यत्र चला जाय तो फिर यह पूजा ही कैसे हो? चाहे मानसिक पूजा हो चाहे मूर्तिपूजा; श्रद्धा-प्रेमपूर्वक की गयी पूजाको भगवान् स्वीकार करते हैं। वे स्वयं कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

(१४) यम-नियमोंका पालन करते हुए एकान्त स्थानमें सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि किसी भी आसनसे बैठकर प्राणायामका अभ्यास करना और विषयोंसे इन्द्रियोंका सम्बन्ध विच्छेद करके एकदेशमें यानी परमात्माके सगुण स्वरूपमें ही चित्तको एकाग्र करके परमात्माका ध्यान करना। इस प्रकार साधन

करनेसे मनुष्यकी समाधि होकर उसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। (योगदर्शन २। २९)

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ योगके अङ्ग हैं।'

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

(योगदर्शन २। ३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीका अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रहका अभाव) ये पाँच यम हैं।'

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

(योगदर्शन २। ३२)

'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरशरणागति—ये पाँच 'नियम' हैं।'

स्थिरसुखमासनम्। (योगदर्शन २। ४६)

'निश्चल (हलन-चलनसे रहित) सुखपूर्वक बैठनेका नाम 'आसन' है।'

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

(योगदर्शन २। ४९)

'आसन सिद्ध होनेके बाद श्वास और प्रश्वासकी गतिका रुक जाना 'प्राणायाम' है।' प्राणवायुका शरीरमें प्रविष्ट होना श्वास है और बाहर निकलना प्रश्वास है, इन दोनोंकी गतिका रुक जाना प्राणायाम है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। (योगदर्शन २। ५०)

'उक्त प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति—ऐसे तीन प्रकारका होता है। तथा वह देश, काल और संख्याद्वारा भलीभाँति देखा जाता हुआ लम्बा और हलका होता जाता है।'

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। (योगदर्शन २। ५१)

'बाहर और भीतरके विषयोंका त्याग कर देनेसे अपने-आप होनेवाला चौथा प्राणायाम है।'

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (योगदर्शन २। ५४)

'अपने विषयोंके सम्बन्धसे रहित होनेपर जो इन्द्रियोंका चित्तके स्वरूपमें तदाकार-सा हो जाना है, वह 'प्रत्याहार' है।'

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (योगदर्शन ३। १)

'बाहर या शरीरके भीतर कहीं भी किसी एक देशमें चित्तको ठहराना 'धारणा' है।'

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (योगदर्शन ३। २)

'जहाँ चित्तको लगाया जाय, उसीमें वृत्तिका एकतार चलना 'ध्यान' है।'

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः

(योगदर्शन ३। ३)

'जब ध्यानमें केवल ध्येयमात्रकी ही प्रतीति होती है और चित्तका निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है, तब वह ध्यान ही समाधि हो जाता है।'

(१५) संसारके जितने भी विषय-भोग हैं वे वस्तुतः रसरहित हैं—ऐसा समझकर राग-द्वेषरहित और वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा न्याययुक्त विषयोंका ग्रहण करते हुए उनको इन्द्रियोंमें विलीन कर देना।

गीतामें कहा गया है—

शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥

(४। २६ का उत्तरार्ध)

'दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं।'

इस प्रकार करनेसे साधककी दृष्टिमें सभी विषय-भोग रसहीन हो जाते हैं। फिर इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी उसपर वे अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। इस प्रकारका साधन करनेवाला पुरुष भी सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। (गीता ४। ३१)

इसलिये मनुष्यको राग-द्वेषसे रहित होकर मन-इन्द्रियोंको वशमें करके संसारमें विचरण करना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होकर उसकी परमात्मामें स्थिति हो जाती है। भगवान्ने बतलाया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(गीता २। ६४-६५)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक तो अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न

चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

(१६) संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका और शरीरका विस्मरण करके पूर्णरूपसे संकल्परहित हो एक चिन्मय परमात्माका ही चिन्तन करना। इस प्रकार अभ्यास करते-करते जब अन्तःकरणका भलीभाँति संयम हो जाता है, तब चिन्मय परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है। फिर उसका शरीर और संसारसे वास्तवमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। गीतामें बतलाया गया है—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥

(४। २७)

'दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं।'

अतः शरीर और संसारके संकल्पों और स्फुरणाओंसे रहित होकर केवल एक चिन्मय परमात्माका ही चिन्तन करना चाहिये।

(१७) शरीर, वाणी और मनके द्वारा निष्कामभावसे तपका अनुष्ठान करना।

भगवान् कहते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(गीता १७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(गीता १७। १५)

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है, वही वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है।'

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥

(गीता १७। १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥

(गीता १७। १७)

'फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं।'

इस त्रिविध तपका श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे अनुष्ठान करनेपर भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

(१८) निष्कामभावसे कर्म करनेकी जो प्रणाली गीता अध्याय २ श्लोक ४७ से ५१ तक बतायी गयी है, जिसका नाम कर्मयोग है उसके अनुसार साधन करना।

इस कर्मयोगके साधनसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

(१९) गीता अध्याय १६ श्लोक १-२-३ में दैवी सम्पदाके नामसे वर्णित सद्गुण-सदाचारका भलीभाँति सेवन करना और गीता अध्याय १६ श्लोक ४,७ से २१ तक आसुरी सम्पदाके नामसे वर्णित दुर्गुण-दुराचारका सर्वथा त्याग करना।

इस प्रकार आसुरी सम्पदाके त्याग और दैवी सम्पदाके सेवनसे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है।

(२०) वीतराग पुरुषोंका चिन्तन करना।

श्रीपतञ्जलिजीने कहा है—

वीतरागविषयं वा चित्तम्। (योगदर्शन १। ३७)

'वीतरागको विषय करनेवाला चित्त भी स्थिर हो जाता है।'

अभिप्राय यह है कि श्रीशुकदेवजी आदि जो विरक्त महापुरुष हुए हैं, उन महापुरुषोंका चिन्तन करनेसे मनमें स्वाभाविक ही वैराग्य होकर संसारसे उपरति हो जाती है तथा परमात्मामें ध्यान लगकर समाधि हो जाती है।

यदि विरक्त महात्माकी पहचान न हो सके तो अपनी मान्यताके अनुसार जिस महापुरुषमें श्रद्धा-विश्वास हो उसीका ध्यान करना चाहिये।

(२१) सुखी मनुष्योंके प्रति मित्रता, दुःखी मनुष्योंके प्रति दया, धर्मात्मा मनुष्योंके प्रति मुदिता और पापी मनुष्योंके प्रति उपेक्षा करना।

श्रीपतञ्जलिजीने बतलाया है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (योगदर्शन १।३३)

'सुखी मनुष्योंमें मित्रताकी, दुःखी मनुष्योंमें दयाकी, पुण्यात्मा पुरुषोंमें प्रसन्नताकी और पापियोंमें उपेक्षाकी भावना करनेसे चित्त शुद्ध-निर्मल हो जाता है।'

चित्त शुद्ध होनेपर मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिका पात्र हो जाता है। किंतु प्राणिमात्रके प्रति निष्कामभावसे दया और प्रेम करनेका अभ्यास करनेसे तो सहज ही चित्त शुद्ध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(१२।४ का उत्तरार्ध)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(रा० च० मा०, अरण्य० ३१।५)

ऊपर जो इक्कीस साधन बतलाये गये हैं, इनका स्वरूप भलीभाँति हृदयङ्गम करनेके लिये उनमें संकेत किये हुए गीताके श्लोकोंकी विस्तृत व्याख्या गीता-तत्त्वविवेचनी-टीकामें देख सकते हैं। इनके सिवा और भी बहुत-से साधन हैं। उन साधनोंमेंसे किसी एकका भी अनुष्ठान अच्छी प्रकार श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे किया जाय तो निस्संदेह उसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके तत्त्वका विवेचन

भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग—तीनों ही मुक्तिप्रद हैं। भक्तियोगमें तो भगवान्‌के प्रति अनन्य विशुद्ध दृढ़ प्रेम होना प्रधान है और कर्मयोगमें निष्कामभावकी प्रधानता है; किंतु ज्ञानयोगमें परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान ही प्रधान है। अतएव ज्ञानयोगके साधकको महापुरुषोंसे तथा शास्त्रोंसे सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। यहाँ परमात्माके स्वरूपके सम्बन्धमें कुछ विचार किया जाता है।

परब्रह्म परमात्मा सत् है, चिन्मय है, आनन्दघन है, सम है, अनन्त है और व्यापक है। अब इन छहोंके सम्बन्धमें अलग-अलग विवेचन किया जाता है।

सत्ता

'सत्' शब्द भावका वाचक है। जो नित्य शाश्वत है, जिसका कभी क्षय नहीं होता और जिसका कभी किसी प्रकार भी बाध नहीं किया जा सकता, वही सत् है। श्रीभगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २।१६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

सत्-स्वरूपका वर्णन भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें यों किया है—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥

'जो पुरुष मन-बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं (वे मुझको ही प्राप्त होते हैं)।'

इससे समझना चाहिये कि परमात्मा अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, अचिन्त्य, सर्वव्यापी, कूटस्थ, अचल और ध्रुव सत्य है। इन शब्दोंसे जो सत्ता मनुष्यकी समझमें आती है, उसकी अपेक्षा भी उस परब्रह्म परमात्माकी सत्ता अत्यन्त विलक्षण है। वास्तवमें तो ब्रह्मका स्वरूप सत्-असत् दोनोंसे विलक्षण है—

न सत्तन्नासदुच्यते। (गीता १३।१२ का चौथा चरण)

'वह परब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही।'

क्योंकि वह मन, बुद्धि और वाणीका विषय नहीं है। जो मन, बुद्धि और वाणीका विषय होता है, वह ज्ञेय होनेके कारण जडमिश्रित है, किंतु परमात्माका स्वरूप केवल चेतन है, वह स्वयं ही अपने-आपको जानता है, दूसरा उसे कोई नहीं जान सकता।

चेतनता

जो सबको जाननेवाला और सबका प्रकाशक है, वह 'चेतन' कहा जाता है। श्रीभगवान् कहते हैं—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

(गीता १३। १७)

'वह परब्रह्म परमात्मा ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है । वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेके योग्य है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है।'

अतः समझना चाहिये कि परमात्मा ज्योतियोंका भी ज्योति, सबका प्रकाशक और अज्ञानसे अत्यन्त परे है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय—इन तीनोंमें जो ज्ञाता है वही चेतन है। ज्ञान और ज्ञेय दोनों जड हैं। बुद्धि और बुद्धिकी वृत्ति ज्ञान है, उसके द्वारा जाननेमें आनेवाले सभी पदार्थ ज्ञेय हैं और परमात्मा ज्ञाता है; उसीको द्रष्टा, साक्षी, चेतन (चिन्मय) कहा गया है। वह परमात्मा सबको जानता है, उसे कोई नहीं जानता। भगवान्ने गीतामें कहा है—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

(७। २६)

'हे अर्जुन! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ; परंतु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता।'

वास्तवमें तो वह परमात्मा ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी त्रिपुटीसे सर्वथा परे है।

इन सारे शब्दोंसे जो चेतनता समझमें आती है वह सब बुद्धिका विषय है और बुद्धिद्वारा समझमें आनेवाली चेतनता जड-मिश्रित है। अतः वह परमात्माकी स्वरूपभूत चेतनता इससे अत्यन्त विलक्षण है।

यदि कोई कहे कि उस चिन्मय परमात्माके स्वरूपको मैंने समझ लिया है तो उसे विचार करना चाहिये कि जो स्वरूप मन-बुद्धिकी समझमें आया है वह तो अरूप और जड है। एवं जिसको समझनेका अभिमान होता है, उसको वास्तवमें उसका अनुभव ही नहीं है।

श्रुतिमें बतलाया गया है—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

(केन० १। ५)

'जिसको कोई भी मनसे (अन्तःकरणके द्वारा) नहीं समझ सकता, बल्कि जिससे मन मनुष्यका जाना हुआ हो जाता है—ऐसा कहते हैं, उसको ही तू ब्रह्म जान। मन और बुद्धिके द्वारा जाननेमें आनेवाले जिस तत्त्वकी लोग उपासना करते हैं यह ब्रह्म नहीं है।'

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

(केन० २। ३)

'जिसका यह मानना है कि ब्रह्म जाननेमें नहीं आता, उसका तो वह जाना हुआ है और जिसका यह मानना है कि ब्रह्म मेरा जाना हुआ है वह नहीं जानता; क्योंकि जाननेका अभिमान रखनेवालोंके लिये वह ब्रह्मतत्त्व जाना हुआ नहीं है और जिनमें ज्ञातापनका अभिमान नहीं है, उनका वह ब्रह्मतत्त्व जाना हुआ है अर्थात् उनके लिये वह अपरोक्ष है।'

जो परमात्मा सत्—भावरूप है, वही चेतन है। जो चेतन है, वही वास्तवमें है। चेतन और भाव कोई दो पदार्थ नहीं हैं। चेतनताकी सत्ता कायम करनेके लिये ही 'सत्' कहा जाता है। अतः वही चेतन भी है और सत् भी है तथा सत् और चेतन विशेष्य-विशेषण भी नहीं हैं। वह परमात्मा अनिर्देश्य है, उसका किसी प्रकार भी निर्देश नहीं किया जा सकता। जिसका निर्देश किया जाय, उस ज्ञेय—जाननेमें आनेवाले स्वरूपसे ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है। वह न वाणीके द्वारा कहा जा सकता है और न मनके द्वारा मनन किया जा सकता है।

श्रुति कहती है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन॥

(तैत्ति० उ० २। ४)

'जहाँसे मनके सहित वाणी आदि इन्द्रियाँ उसे न पाकर लौट जाती हैं, उस ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला पुरुष कभी भय नहीं करता।'

आनन्द

जो निरतिशय परम सुखस्वरूप है, जहाँ दुःखोंका अत्यन्त अभाव है, उसे 'आनन्द' कहते हैं। परमात्मा आनन्दमय—आनन्दसे परिपूर्ण है।

आनन्दमयोऽभ्यासात्। (ब्रह्मसूत्र १। १। १२)

'श्रुतिमें 'आनन्द' शब्दका ब्रह्मके लिये बारम्बार प्रयोग होनेके कारण यहाँ 'आनन्दमय' शब्द परब्रह्म परमात्माका ही वाचक है।'

'आनन्दमय' शब्दमें 'मयट्' प्रत्यय विकार अर्थका बोधक नहीं है, प्रचुरताका बोधक है। एवं यह आनन्द

लौकिक आनन्दका वाचक नहीं है, ब्रह्मका वाचक है। इसलिये परब्रह्म परमात्मा आनन्दमय—आनन्दघन है; क्योंकि—

'रसो वै सः। रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। (तैत्ति० उ० २। ७)

अर्थात् 'वह आनन्दमय ही रसस्वरूप है, यह जीवात्मा इस रसस्वरूप परमात्माको पाकर आनन्दयुक्त हो जाता है। यदि वह आकाशकी भाँति परिपूर्ण आनन्दस्वरूप परमात्मा नहीं होता तो कौन जीवित रह सकता, कौन प्राणोंकी क्रिया कर सकता? सचमुच यह परमात्मा ही सबको आनन्द प्रदान करता है।' तथा—

सैषा आनन्दस्य मीमाꣳसा भवति। (तैत्ति० उ० २। ८)

'वह यह आनन्दसम्बन्धी विचार आरम्भ होता है।'

एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। (तैत्ति० उ० २। ८)

'इस आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है।'

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।

(तैत्ति० उ० २। ९)

'उस ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला महापुरुष किसीसे भी भय नहीं करता।'

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। (तैत्ति० उ० ३। ६)

'श्रीभृगुऋषिने 'आनन्द ही ब्रह्म है'—इस प्रकार निश्चयपूर्वक जान लिया; क्योंकि सचमुच आनन्दसे ही ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर आनन्दसे ही जीते हैं तथा प्रयाण करते हुए अन्तमें आनन्दमें ही विलीन हो जाते हैं।'

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। (बृह० उ० ३। ९। २८)

'ब्रह्म ज्ञानस्वरूप और आनन्दमय है।' इत्यादि श्रुतियोंमें 'आनन्द' शब्दका ब्रह्मके लिये बारम्बार प्रयोग किया गया है—इस न्यायसे यह 'आनन्दमय' शब्द ब्रह्मका ही वाचक है।

जैसे बर्फ जलघन है—बर्फमें जल-ही-जल है; किंतु बर्फ और जल दोनों ही जड हैं। इस प्रकारकी जडकी घनताकी ज्यों चेतनकी घनता नहीं है एवं जैसे शिलामें पत्थर-ही-पत्थर है—ऐसी शिलाकी घनताकी भाँति भी वह नहीं है; क्योंकि शिलामें आकाश तो प्रविष्ट है ही। वायु, अग्नि और जलका भी प्रवेश होना देखा जाता है। किंतु जो आनन्द है, उसमें किसीका प्रवेश सम्भव नहीं है। वह आनन्दमय परमात्मा अपने-आपसे ही परिपूर्ण है। इसी तत्त्वका यह शान्तिमन्त्र संकेत करता है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

(बृह० उ० ५। १। १)

'वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपने-आपसे परिपूर्ण है। यह संसार भी उस परमात्मासे परिपूर्ण है; क्योंकि उस पूर्ण ब्रह्म परमात्मासे ही यह पूर्ण (संसार) प्रकट हुआ है। पूर्ण (संसार) के पूर्ण (पूरक परमात्मा) को स्वीकार करके उसमें स्थित होनेसे उस साधकके लिये एक पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशेष रह जाता है।'

वह आनन्द अपार है, उसकी कहीं इति नहीं, सीमा नहीं; और शान्ति ही उसका स्वरूप है, इसलिये उसको शान्त आनन्द कहते हैं। वह अचल होनेके कारण देश-कालसे चलायमान नहीं होता; क्योंकि वह देश-कालसे रहित है। वह आनन्द भावरूप होनेके कारण नित्य ध्रुव सत्य है। वह स्वयं ही अपने-आपको जानता है, इसलिये उसे बोधस्वरूप या ज्ञानस्वरूप आनन्द कहते हैं। वह आनन्द राजस-तामसकी तो बात ही क्या, सात्त्विक सुखसे भी अत्यन्त परे है, इसलिये उसको परम आनन्द कहते हैं। जितने भी प्रकारके सुख हैं, वे सब उसके आभासमात्र होनेके कारण उसका मुकाबला नहीं कर सकते। उनमेंसे कोई भी उसके समान नहीं। अतः वे सभी सुख अल्प हैं। और वह आनन्द सबसे श्रेष्ठ, महान् और पर होनेके कारण महान् आनन्द है। उसका कभी अन्त नहीं होता, इसलिये वह अनन्त आनन्द है। उसका न चिन्तन किया जा सकता है, न मनन किया जा सकता है, न बुद्धिके द्वारा समझा जा सकता है; अतः उसे अचिन्त्य आनन्द कहते हैं। उस आनन्दका न वर्णन किया जा सकता है और न संकेत किया जा सकता है; इसलिये वह अनिर्देश्य है। जो बात जानने-समझनेमें आती है, वह जड होती है; किंतु वह आनन्द स्वयं चिन्मय है। जो जानने-समझनेमें आनेवाला आनन्द है, वह ज्ञेय होनेसे जड है। अतः वह आनन्द उससे अत्यन्त विलक्षण है।

यदि कोई कहे कि उस आनन्दका मैं अनुभव करता हूँ तो उसे विचार करना चाहिये कि जिसका अनुभव किया जाता है, वह तो अल्प और जड है।

अतः उस अनुभवमें आनेवाले आनन्दसे वह वास्तविक आनन्द बहुत विलक्षण है।

समता

परमात्माके स्वरूपकी समता चिन्मय होनेके कारण बहुत ही विलक्षण है। समता तीन प्रकारकी होती है—

(१) साधक पुरुषकी समता, (२) सिद्ध पुरुषकी समता और (३) परमात्माके स्वरूपकी समता।

साधकके लिये समताका वर्णन गीतामें इस प्रकार है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(२। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २। ४८)

'हे धनंजय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर, समत्व ही योग कहलाता है।'

किंतु सिद्धपुरुषकी समता इससे बहुत विलक्षण है। (देखिये गीता ६। ९; १२। १८-१९; १४। २४-२५) साधकके लिये तो '**समे कृत्वा**'—समान समझकर '**समो भूत्वा**'—सम बुद्धिवाला होकर—ऐसे आदेशात्मक प्रयोग आये हैं; क्योंकि साधकके अन्तःकरणमें स्थायी समता नहीं होती। किंतु सिद्ध महात्मा पुरुषके अन्तःकरणमें समता स्वाभाविक ही रहती है। पर यह दोनों प्रकारकी ही समता सात्त्विक है, इसलिये जड है और परमात्मा गुणातीत तथा चेतन है; इसलिये परमात्माके स्वरूपकी समता साधक और सिद्धकी समतासे भी अत्यन्त विलक्षण है।

यदि कोई कहे कि परमात्माकी समताकी विलक्षणताको मैं समझ गया तो उसे यह विचार करना चाहिये कि वह समता समझका विषय नहीं है। बुद्धिके द्वारा समझमें आनेवाली समता तो अल्प है और ज्ञेय होनेसे जड है। परमात्माकी समताको वस्तुतः परमात्मा ही समझता है। जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है—जो ब्रह्म ही बन जाता है, वह अपने-आपको समझता ही है; किंतु परमात्मप्राप्त पुरुषकी हृदयस्थ समता भी उत्तम गुण और सात्त्विक भाव ही है। वह भी परमात्माकी समताका ही आभास है। जैसे चन्द्रमा और चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब होता है। चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब चन्द्रमासे ही है; किंतु वह चन्द्रमा नहीं है। उसी प्रकार महापुरुषोंके हृदयमें प्रतीत होनेवाली समता समत्वरूप परमात्माकी समताका आभास है (गीता ५। १९)। जिसके हृदयमें समता प्रतीत होती है, वह पुरुष परमात्माको प्राप्त हो चुका है, यह उसकी कसौटी है।

अनन्तता

संसारमें प्रतीत होनेवाले समस्त पदार्थोंमें आकाशको अनन्त बताया जाता है। इसी कारण परमात्माके निराकार तत्त्वको समझानेके लिये आकाशका उदाहरण दिया जाता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

(९। ६)

'जैसे आकाशसे उत्पन्न सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा आकाशमें ही स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पद्वारा उत्पन्न होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं—ऐसा जान।'

यहाँ आकाशस्थानीय परमात्मा है और वायुस्थानीय सम्पूर्ण भूत हैं। वायुकी उत्पत्ति, स्थिति और लय आकाशसे ही होनेके कारण वह सदा ही आकाशमें ही स्थित है। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय परमात्माके संकल्पके आधार होनेके कारण सम्पूर्ण भूतसमुदाय सदा परमात्मामें ही स्थित है; क्योंकि जैसे स्वप्नसृष्टि आकाशके सहित उस स्वप्नद्रष्टा पुरुषके मनके अन्तर्गत है, उसी प्रकार सम्पूर्ण पञ्चभूतोंके सहित आकाश परमात्माके मनके संकल्पके अन्तर्गत है। वह मन महत्तत्त्व यानी परमात्माकी समष्टिबुद्धिके अन्तर्गत है। वह समष्टिबुद्धि मूल प्रकृतिके अन्तर्गत है और मूल प्रकृति परमात्माके अन्तर्गत है। इसलिये आकाशसे सूक्ष्म, पर, श्रेष्ठ और अनन्त है महत्तत्त्व (समष्टिबुद्धि)। समष्टिबुद्धिसे सूक्ष्म, पर, श्रेष्ठ और अनन्त है, मूलप्रकृति तथा मूल प्रकृतिसे भी सूक्ष्म, पर, श्रेष्ठ और अनन्त है परमात्मा! किंतु परमात्मासे सूक्ष्म, पर, श्रेष्ठ और अनन्त कुछ नहीं है।

उपरिनिर्दिष्ट सभी पदार्थोंकी अनन्ततासे परमात्माकी

अनन्तता अत्यन्त विलक्षण है; क्योंकि परमात्मा चेतन है और प्रकृति तथा उसका कार्य सब अल्प और जड है।

श्रुति कहती है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। (तैत्ति० उ० २। १)

'ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है।'

व्यापकता

परमात्माकी व्यापकता भी बहुत विलक्षण है। तिलोंमें तेल और दूधमें घीकी भाँति वह व्यापकता नहीं है। तेल और खली अथवा घी और छाछ—ये अलग-अलग पदार्थ हैं। दोनोंकी समान सत्ता है और दोनों ही जड हैं। किंतु परमात्मा चेतन है और उसकी सत्ताके सिवा अन्य किसीकी सत्ता नहीं है। यदि जड पदार्थोंकी काल्पनिक सत्ता मानी जाय तो परमात्माकी सत्तासे ही उनकी सत्ता है। जैसे वायु, तेज, जल और पृथ्वीमें आकाश व्यापक है और आकाश ही उनका उपादान कारण है, उससे भी परमात्माकी व्यापकता बहुत विलक्षण है; क्योंकि एक तो आकाश जड है; दूसरे आकाश उनका केवल उपादानका कारण ही है, निमित्त-कारण नहीं है, किंतु ब्रह्म तो अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। इसलिये अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार एक ब्रह्मके सिवा दूसरी वस्तु है ही नहीं। यदि कहें कि संसारकी प्रतीति होती है और दृश्य जड संसारको ब्रह्मका संकल्प माना गया है। अतः वह ब्रह्मका स्वरूप है सो ठीक है। पर इस न्यायसे भी आकाशके विकाररूप जो वायु, तेज, जल, पृथ्वी हैं उन आकाशके कार्योंमें आकाश व्यापक है सो तो ठीक है; किंतु वायु, तेज, जल, पृथ्वीकी और आकाशकी तो समान सत्ता है और ये सभी पदार्थ जड हैं। पर परमात्मा चेतन है, भावरूप है और ये सब पदार्थ अभावरूप हैं। ये सब पदार्थ परमात्माके संकल्पके आधार होनेके कारण परमात्माकी सत्ता इनकी सत्ताके समान नहीं है। इसलिये जड आकाशकी अपेक्षा उस चिन्मय परमात्माकी व्यापकता बहुत ही विलक्षण है। गीतामें बतलाया गया है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
(९। ४)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं; किंतु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।'

यहाँ भगवान्‌ने जो यह कहा है कि मैं सारे जगत्‌में निराकाररूपसे व्यापक हूँ और मैं जगत्‌में व्यापक नहीं भी हूँ—इसका भाव यह है कि जहाँ जगत्‌की प्रतीति होती है वहाँ तो परमात्मा उसमें व्यापक है और वस्तुतः जगत्‌में परमात्मा व्यापक नहीं है, वह अपने-आपमें ही स्थित है। जैसे आकाशसे ही बादलोंकी उत्पत्ति होती है, आकाशमें ही बादल स्थित हैं और आकाशमें ही विलीन हो जाते हैं, इसी प्रकार यह जगत् परमात्मासे उत्पन्न होकर परमात्मामें ही स्थित रहता है और परमात्मामें ही विलीन हो जाता है। किंतु विचार करना चाहिये कि बादलोंकी उत्पत्तिके पहले भी आकाश अपने-आपमें ही था और बादलोंके विनष्ट हो जानेपर भी आकाश अपने-आपमें ही है। अतः बादलोंकी प्रतीति होनेके समय भी आकाश अपने-आपमें ही स्थित है—यही सिद्ध होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार आकाश बादलोंमें स्थित है भी और नहीं भी है। वास्तवमें तो आकाश अपने-आपमें ही स्थित है। इसी प्रकार परमात्मा वस्तुतः स्वयं अपने-आपमें ही नित्य स्थित है।

यदि कहें कि परमात्माकी व्यापकता भी हमारी समझमें आ गयी तो यह समझना वास्तविक नहीं है; क्योंकि जो बात समझमें आती है वह अल्प होती है और जड होती है; किंतु परमात्मा अनन्त, चिन्मय और अद्वितीय है। इसलिये उसकी व्यापकता समझमें आनेवाली व्यापकतासे बहुत ही विलक्षण है।

इसी प्रकार परमात्माकी अव्यक्तता, अचिन्त्यता, अनिर्देश्यता, घनता (प्रचुरता), कूटस्थता, पूर्णता आदिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। उपर्युक्त प्रकारसे परमात्माके तत्त्वको यथार्थ जान लेनेपर मनुष्य परमात्माको ही प्राप्त हो जाता है। अतएव ज्ञानयोगके साधकोंको उचित है कि वे सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे उसे समझकर नित्य-निरन्तर उसीमें अभिन्नभावसे स्थित रहें।
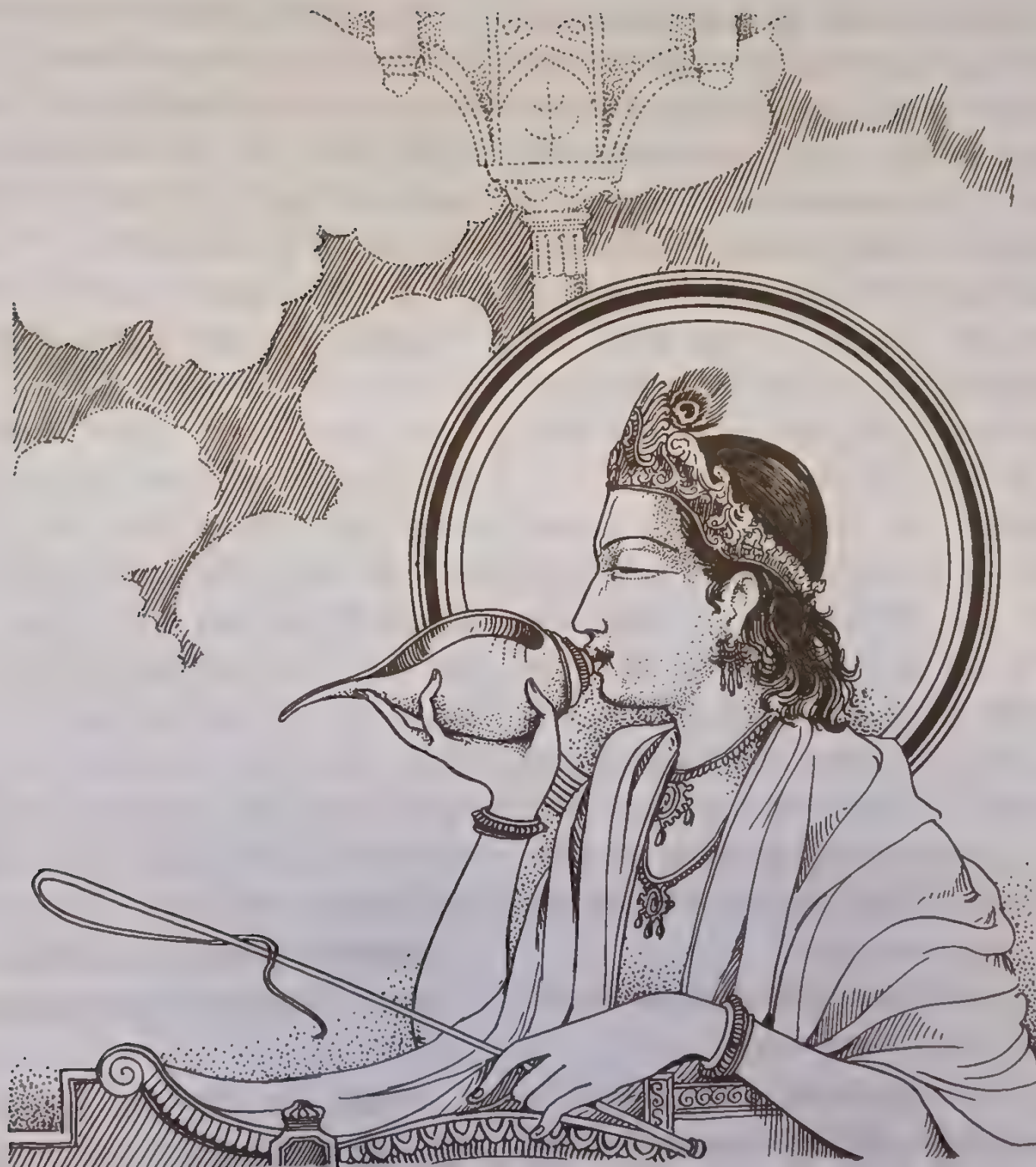
(आत्मोद्धारके सरल उपाय)

आत्मोद्धारके सरल उपाय

बहुत-से साधक भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार आदि साधनोंको करना चाहते हैं; किन्तु उनसे साधन भलीभाँति बन नहीं पाता, इसपर उन्हें गहराईसे विचार करना चाहिये कि साधन क्यों नहीं बन पाता। विचार करनेपर यही प्रतीत होता है कि अन्तःकरणमें राग-द्वेष, अहंता-ममता और कामना आदि अनेक दोष भरे हुए हैं, जिनके कारण अन्तःकरण अपवित्र हो रहा है, इसीसे साधनमें बाधा हो रही है। अतः अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिये निष्कामभावसे शौचाचार, सदाचार, जप, सात्त्विक भोजन और सत्य व्यवहार आदिकी बहुत आवश्यकता है; क्योंकि ये आत्मकल्याणमें परम सहायक हैं।

आजकल लोग शौचाचार, सदाचार, सात्त्विक भोजन और सत्य व्यवहारकी अवहेलना करने लगे हैं। यह उनके लिये घोर पतनकारक है। खयाल करना चाहिये कि इनके पालनमें न तो अधिक पैसोंका खर्च है, न अधिक परिश्रम है, न अधिक समय ही लगता है और इनसे लाभ अत्यन्त महान् है। इसलिये मनुष्यको इनके पालनके लिये विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

(१) विधिपूर्वक मिट्टी और जलके द्वारा शौच-स्नानादिसे शरीरको पवित्र रखना तथा वस्त्र और स्थान आदिको स्वच्छ रखना चाहिये।

(२) नित्य प्रातःकाल बड़ोंके चरणोंमें निष्कामभावसे आदरपूर्वक नमस्कार करना चाहिये।

(३) नित्य निष्कामभावसे बलिवैश्वदेव करके ही भोजन करना चाहिये। बलिवैश्वदेवमें पञ्चमहायज्ञ आंशिक रूपसे आ जाते हैं। अग्निमें जो पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं, वह (होम) 'दैवयज्ञ' है। पितरोंके लिये जो अन्न दिया जाता है, वह 'पितृयज्ञ' है। मनुष्यादिके लिये जो अन्न दिया जाता है, वह 'मनुष्ययज्ञ' है। ऋषियोंके वचन मानकर वेदमन्त्रोंका उच्चारण किया जाता है, वह 'ऋषियज्ञ' है तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको अन्न दिया जाता है, वह 'भूतयज्ञ' है। बलिवैश्वदेवका अर्थ ही है सारे विश्वको अन्न देकर फिर स्वयं भोजन करना। इससे बड़ा भारी लाभ है।

(४) अपने अधिकारके अनुसार संध्योपासन और गायत्री-जप करना बहुत ही उत्तम है। इतना न बने तो कम-से-कम श्रीसूर्यभगवान्‌को अर्घ्य दिये बिना तो मनुष्यको भोजन ही नहीं करना चाहिये। भगवान् सूर्यको अर्घ्य शूद्र भी दे सकता है। सभीके लिये सूर्यार्घ्यका पौराणिक मन्त्र यह है—

एहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते।
अनुकम्पय मां भक्त्या गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥

(५) अपना खान-पान सब प्रकारसे शुद्ध और सात्त्विक रखना चाहिये। वर्तमान समयमें लोगोंका खान-पान भ्रष्ट हो जानेसे उनका पतन हो गया और हो रहा है। बहुत-से लोग होटलोंमें भोजन और मदिरा, मांस, अंडा आदि अपवित्र घृणित अखाद्य वस्तुओंको खाने लगे हैं। यह महान् पाप है। इससे अन्तःकरण दूषित होता है और अपवित्रताकी वृद्धि होकर आत्माका पतन हो जाता है। अतः इनका कतई त्याग कर देना चाहिये। अंडा, मांस, मदिराकी तो बात ही क्या, मनुष्यको लहसुन-प्याज भी नहीं खाना चाहिये। राजसी और तामसी भोजनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। राजसी भोजनका वर्णन गीतामें यों बताया गया है—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥

(१७। ९)

'कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं।'

तामसी भोजनका लक्षण यह है—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

(१७। १०)

'जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है।'

अतः इनका कतई त्याग कर देना चाहिये।

(६) खेल-तमाशा देखना, जुआ खेलना, हँसी-मजाक करना, अश्लील कामोत्तेजक पुस्तकें पढ़ना और क्लब-थियेटर, वायस्कोप-सिनेमा आदिमें स्वयं जाना तथा निर्लज्ज हो अपनी स्त्रीको साथ ले जाना—ये महान् हानिकर हैं। इनसे मनुष्यका पतन हो जाता है। अतः इनका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

(७) अन्यायपूर्वक धनोपार्जन करनेसे भी अन्तःकरण दूषित होता है, इसलिये झूठ, कपट, चोरी-बेईमानी, छल-विश्वासघात आदिको छोड़कर सचाईके साथ न्यायपूर्वक पैसा पैदा करना चाहिये।

(८) आमदनीसे अधिक खर्च लगाना भी मनुष्यके पतनमें हेतु होता है। अधिक खर्च करनेवाला मनुष्य धनका दास हो जाता है और फिर वह झूठ-कपट, चोरी-बेईमानी, छल-विश्वासघातसे धन कमाने लगता है। किंतु जो खर्च कम लगाता है, सादगीसे रहता है, उसको धनका दास नहीं बनना पड़ता। जब वह धनको महत्त्व नहीं देता, तब वह पाप क्यों करेगा?

(९) वर्तमान समयमें लोगोंको अन्नके बिना महान् कष्ट हो रहा है। अन्नके भाव बहुत अधिक हो जानेके कारण लोगोंको अपना जीवन-निर्वाह करनेमें बड़ी कठिनाई हो गयी है। अतः इस समय लोगोंके हितके लिये तन, मन और धनसे अपनी शक्तिके अनुसार अन्नके द्वारा उनकी सेवा करना सबसे उत्तम धर्म है। श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४०। १)

(१०) वैश्यका परोपकार-बुद्धिसे क्रय-विक्रयरूप व्यापार करना कर्तव्य है। गीतामें भगवान्‌ने बताया है—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

(१८। ४४)

'खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा सब वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है।'

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥

(१८। ४५)

'अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

तुलाधार वैश्यका केवल न्यायपूर्वक सत्य व्यापारसे ही कल्याण हो गया था। (देखिये महाभारत शान्तिपर्व अ० २६१ से २६४)

अतः वर्तमान अन्न-संकटके समय यदि अनाज खरीदकर बिना मुनाफाके ही कर्तव्यबुद्धिसे सबमें भगवद्भाव करके लोगोंको कम-से-कम दाममें निष्कामभावसे अन्न दिया जाय तो वह बहुत ही श्रेष्ठ है।

(११) संसारके पदार्थोंको, धन-सम्पत्तिको और विषयभोगोंको क्षणभङ्गुर, नाशवान् और दुःखरूप मानकर मनको उनसे हटाना चाहिये। उन्हींमें रचे-पचे नहीं रहना चाहिये। गीतामें भगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

इसलिये वैराग्यपूर्वक संसारके ऐश-आराम और विषयभोगोंका त्याग करके सत्य व्यवहार, सत्य भाषण, दूसरोंकी सेवा और ब्रह्मचर्यका पालन आदि सदाचारका निष्कामभावसे सेवन करना चाहिये। इससे अन्तःकरण बहुत शीघ्र शुद्ध होता है।

(१२) काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर आदि दुर्गुण और झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार, अभक्ष्य-भक्षण आदि दुराचार अन्तःकरणको अधिकाधिक अपवित्र और दूषित बनानेवाले हैं। अतः इन सबका तो कतई त्याग कर देना चाहिये।

(१३) दुर्गुण-दुराचारकी अपेक्षा भी दूसरोंकी

निन्दा करना, सुनना, दूसरोंके दोषोंको देखना और मनसे उन दोषोंका चिन्तन करना महान् हानिकारक है। इससे पाँच दोष होते हैं—

(क) दूसरोंके दोषोंको यदि कोई कानसे सुने, वाणीसे कहे, नेत्रोंसे देखे और मनसे मनन करे तो उस पापरूपी मलसे ये कान, वाणी, नेत्र और मन—सभी दूषित हो जाते हैं और उन दोषोंके संस्कार चित्तपर अङ्कित हो जाते हैं, जो भविष्यमें उससे भी वैसे ही पाप करानेमें सहायक हो जाते हैं।

(ख) दूसरोंकी निन्दा करने-सुननेसे उनकी आत्माको दुःख पहुँचता है, उसका पाप लगता है।

(ग) दूसरेका दोष देखनेसे उसके प्रति घृणाबुद्धि हो जाती है, यह भी पाप है, जो अन्तःकरणको विशेष दूषित करनेवाला है।

(घ) दूसरेके दोष देखनेसे अपनेमें अच्छेपनका अभिमान बढ़ता है, यह भी महान् पतनकारक है।

(ङ) पापीके पापकी चर्चा करनेसे उस पापीके पापका अंश उस चर्चा करनेवाले व्यक्तिको भोगना पड़ता है।

अतः आत्माका उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको इन सबसे बहुत दूर रहना चाहिये।

उपर्युक्त सभी साधन निष्कामभावसे करनेपर मनुष्यका परम कल्याण करनेवाले हैं और यदि भगवदर्पण या भगवदर्थबुद्धिसे किये जायँ तब तो कहना ही क्या है। फिर तो बहुत ही शीघ्र कल्याण हो जाता है।

अर्पणके सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे बताया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है; जो दान देता है और जो तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर।'

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(गीता ९। २८)

'इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

इसी प्रकार भगवदर्थ कर्मके सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥

(गीता १२। १०)

'यदि तू उपर्युक्त योगके अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

इस प्रकार भगवदर्पण या भगवदर्थ-बुद्धिसे साधन करना चाहिये।

संसारमें मुख्यरूपसे दो ही बातें सार हैं—(१) अपनेपर किसी घटना, परिस्थिति आदिका प्राप्त होना, (२) स्वयं कोई भी कर्म करना। इनमेंसे (१) जो कुछ भी अनुकूल या प्रतिकूल सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि आकर प्राप्त हो, उसे कर्मयोगके अनुसार अपने पूर्वकृत कर्मोंके फलरूप प्रारब्धका भोग मानकर हर्षके साथ निष्काम-भावसे स्वीकार करे। ज्ञानयोगके अनुसार उसे स्वप्नवत् मिथ्या मानकर निर्विकार रहे और भक्तियोगके अनुसार उसे भगवान्‌का विधान, भगवान्‌की लीला या भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर परम प्रसन्न रहे। तथा (२) जो नया कर्म करना है, उसे सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए आसक्ति और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग करके शास्त्रविधिके अनुसार निष्कामभावसे करे—यह कर्मयोगका साधन है और सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए ही सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर उन शास्त्रविहित कर्मोंको करे—यह ज्ञानयोगका साधन है। एवं सब कुछ भगवान्‌का समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरसे सब प्रकार भगवान्‌के शरण होकर उनके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करते हुए उनकी प्रसन्नताके लिये उनकी आज्ञाके अनुसार उनकी सेवाके रूपमें समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको करे—यह भक्तियोगका साधन है।

मनुष्य कर्मफलभोगमें सर्वथा परतन्त्र है, किन्तु कर्म करनेमें परतन्त्र होते हुए स्वतन्त्र भी है। इसलिये

किये जानेवाले कर्मोंको बहुत सावधानीके साथ करना चाहिये। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २। ४७)

'अर्जुन! तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

निष्कर्ष यह कि जो कुछ आकर प्राप्त हो, उसमें हर समय परम प्रसन्न रहे। और किये जानेवाले कर्तव्यकर्मको बहुत सावधानीसे न्यायपूर्वक निष्कामभावसे करे तो शीघ्रातिशीघ्र भगवत्प्राप्ति हो सकती है; किंतु जो अपने शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मका त्याग करके मनमाना आचरण करता है, उसे कहीं भी सुख नहीं।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६। १७)

'जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परमगतिको और न सुखको ही।'

इसलिये मनुष्यको सावधान होकर अपने शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मका निष्कामभावसे आचरण करना चाहिये।

ऊपर जो ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि बहुत-से उपाय बताये गये हैं, उन सभीको गीतादि शास्त्रोंमें सरल, सुगम और सर्वोत्तम बताया गया है तथापि वर्तमान कलियुगमें भक्तियोगकी बहुत प्रशंसा की गयी है और उसे अत्यन्त सुगम बताया गया है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम्॥
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

(विष्णुपुराण ६। २। १५—१७)

'हे द्विजगण! जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य और जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रात साधन करनेसे प्राप्त कर लेता है। इसी कारण मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है। जो फल सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञोंके अनुष्ठानसे और द्वापरमें देवपूजासे प्राप्त होता है, वही कलियुगमें केशवके नाम-गुणोंका कीर्तन करनेसे मिल जाता है।'

महामुनि पराशरजी कहते हैं—

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥

(विष्णुपुराण ६। २। ३९)

'इस अत्यन्त दुष्ट कलियुगमें यही एक महान् गुण है कि इस युगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुणोंका संकीर्तन करनेसे ही मनुष्य संसार-बन्धनसे मुक्त हुआ परमपदको प्राप्त कर लेता है।'

इसीसे मिलता-जुलता श्लोक श्रीमद्भागवतमें भी आता है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥

(१२। ३। ५१)

'परीक्षित्! यह कलियुग दोषोंका खजाना है, परंतु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है। वह गुण यही कि कलियुगमें भगवान् श्रीकृष्णका संकीर्तन करनेमात्रसे ही सारी आसक्तियाँ छूट जाती हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

(रा० च० मा० उत्तर० १०३ क)

कलिजुग केवल नाम अधारा। सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा॥

इस प्रकार शास्त्रोंमें कलियुगके समय भगवान्‌की भक्तिकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है।

इन सब बातोंपर ध्यान देकर हमलोगोंको कटिबद्ध हो तत्परतासे साधन करना चाहिये। समय बीता जा रहा है। मनुष्यको शीघ्र सचेत हो जाना चाहिये। नहीं तो समय शनैः-शनैः बीत जायगा और मृत्यु अचानक आ प्राप्त होगी तो फिर पहलेके अभ्यासके बिना उस समय कुछ भी साधन नहीं बन सकेगा और उस समय पश्चात्ताप करनेसे कोई लाभ न होगा। इसलिये हजार काम छोड़कर उस कामको पहले करना चाहिये जिसके लिये यह मनुष्य-शरीर मिला है। यह मनुष्य-शरीर आत्माके उद्धारके लिये ही मिला है। इसको जो मनुष्य

विषयभोगोंमें बिता देगा उसे घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥
एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥
जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(रा० च० मा० उत्तर० दो० ४३-४४)

इसलिये मनुष्य-शरीर पाकर विषयभोगोंमें मन न लगाकर भगवान्‌में ही मन लगाना चाहिये।

सबसे बढ़कर सार बात यह है। इसमें न पैसा खर्च होता है, न परिश्रम है और न समय ही लगता है। हरेक मनुष्य इसे कर सकता है एवं यह निश्चय ही कल्याण करनेवाली है। वह बात है—हर समय भगवान्‌को स्मरण रखना। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

भगवान्‌के स्वरूप, जन्म, चरित्र, गुण, प्रभाव और वचनोंका तत्त्व-रहस्य

भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपकी एवं उनके आविर्भाव (जन्म), चरित्र (कर्म), गुण, प्रभाव और वचनोंकी महिमा अनन्त और अपार है। इन सबके तत्त्व-रहस्यको न समझनेके कारण ही लोग भगवान्‌की प्राप्तिसे वञ्चित हो रहे हैं। भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वास होनेपर ही इन सबका तत्त्व-रहस्य समझमें आ सकता है और तभी भगवान्‌में परम विशुद्ध प्रेम होकर उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। चाहे कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, भगवान्‌में प्रेम हो जानेपर उसे भगवत्प्राप्ति होनी कठिन नहीं है, बल्कि सहज ही शीघ्र हो सकती है (गीता ९। ३०-३१) तथा भगवान्‌में प्रेम हो जानेपर फिर वह भगवान्‌को कभी नहीं भूल सकता और भगवान् उसको नहीं भूल सकते। भगवान् उसको सदा-सर्वदा सर्वत्र प्रतीत होने लगते हैं और सब कुछ भगवान्‌में स्थित प्रतीत होने लगता है एवं वह भगवान्‌में तन्मय हो जाता है, उसकी सारी चेष्टा भगवान्‌में ही होने लगती है (गीता ६। ३०-३१)। ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌के स्वरूप, जन्म, कर्म, गुण, प्रभाव और वचनोंका तत्त्व-रहस्य भलीभाँति समझना आवश्यक है। अतः इस विषयमें क्रमसे कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

भगवान्‌के स्वरूपका तत्त्व-रहस्य

जैसे जलके परमाणु, भाप, बादल, बूँदें और ओले आदि सब जल ही हैं, वैसे ही सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, जड़-चेतन, स्थावर-जङ्गम, सत्-असत् आदि जो कुछ भी है, वह सब भगवान्‌का स्वरूप ही है। यह भगवान्‌के स्वरूपका तत्त्व है तथा वे अज, अविनाशी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही स्वयं दिव्य अवतार धारण करके प्रकट होते हैं और उनके दर्शन, भाषण, चिन्तन, वन्दन आदि करके पापी भी परम पवित्र हो जाते हैं—यह उनके स्वरूपका रहस्य है।

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं—यह बात भक्त अर्जुनने, समस्त ऋषियोंने तथा स्वयं भगवान्‌ने भी कही है। गीतामें अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

(१०। १२-१३)

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं; क्योंकि आपको समस्त ऋषिगण सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि नारद तथा असित और देवल ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं।'

जो महापुरुष भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार स्वरूपके तत्त्व-रहस्यको जानता है, वह इस चराचर संसारके रूपमें भगवान्‌को ही अनुभव करता है, भगवान्‌के अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता, अतः वह भगवान्‌को प्राप्त ही है (गीता ७। १९; १०। ३९)।

भगवान्‌के जन्मका तत्त्व-रहस्य

भगवान् उत्पत्ति और विनाशसे रहित होते हुए भी मूढ़ मनुष्योंको जन्म लेते हुए और विनष्ट होते हुए-से प्रतीत होते हैं। वास्तवमें उनका आविर्भाव (प्राकट्य) और तिरोभाव (अन्तर्धान) होता है। भगवान् श्रीकृष्ण जब कारागारमें प्रकट हुए तब चतुर्भुज रूपमें ही प्रकट हुए थे, उनका मनुष्यकी भाँति बालकरूपसे जन्म नहीं हुआ था। श्रीभागवतकार कहते हैं—

देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥
तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं
चतुर्भुजं शङ्खगदार्युदायुधम्।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं
पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्॥

(श्रीमद्भा १०।३।८-९)

'सबके हृदयमें विराजमान भगवान् विष्णु देवरूपिणी देवकीसे उसी प्रकार प्रकट हुए, जैसे पूर्व दिशामें सोलहों कलाओंसे पूर्ण चन्द्रमाका उदय हुआ हो। श्रीवसुदेवजीने देखा—उनके सामने एक अद्भुत बालक है। उसके नेत्र कमलके समान कोमल और विशाल हैं। उसके चार हाथ हैं, जिनमें शङ्ख, गदा, चक्र और कमल लिये हुए हैं। वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है, गलेमें कौस्तुभमणि सुशोभित है और वर्षाकालीन बादलके समान परम सुन्दर श्याम शरीरपर मनोहर पीताम्बर धारण किये हुए हैं।'

इसी प्रकार जब वे परमधामको पधारे हैं, तब अवतार-शरीरका त्याग न करके सशरीर ही परमधामको गये हैं।

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥

(श्रीमद्भा० ११।३१।६)

'भगवान् श्रीकृष्णका विग्रह उपासकोंके ध्यान और धारणाका मङ्गलमय आधार और सम्पूर्ण लोकोंके लिये परम रमणीय आश्रय है, इसलिये उन्होंने योगियोंके समान अग्नि-देवतासम्बन्धी योगधारणाके द्वारा उसको जलाया नहीं, सशरीर अपने धाममें चले गये (क्योंकि वे योगियोंके भी ईश्वर थे)।

इससे यह सिद्ध हो गया कि भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए और अन्तर्धान हो गये। उनकी उत्पत्ति और विनाश नहीं हुआ।

जब गीताके दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्‌के मुखसे अर्जुनने यह सुना कि सारा संसार उनके एक अंशमें है, तब ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने प्रार्थना की कि 'वह आपका विश्वरूप मुझे दिखलाइये।' इसपर भगवान्‌ने उनको विश्वरूप दिखलाया। इसके बाद अर्जुनने अ० ११ श्लोक ४६में विश्वरूपको समेटकर चतुर्भुजरूप दिखलानेकी प्रार्थना की, तब भगवान्‌ने उनके इच्छानुसार चतुर्भुजरूप दिखला दिया (गीता ११।५०)। किंतु बादमें उस चतुर्भुज रूपका भी उपसंहार करके भगवान्‌ने मनुष्यरूप धारण कर लिया (गीता ११।५१)। अब विचार कीजिये, विश्वरूप और चतुर्भुज रूपके आविर्भाव और तिरोभावके सिवा और क्या रहा!

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् परमात्मा होकर भी मनुष्यरूपमें विचरण कर रहे थे। किंतु इस तत्त्व-रहस्यको न समझनेवाले बहुत-से मूर्खलोग उनकी अवज्ञा करके अपना पतन ही करते रहे (गीता ९।११)। महाभारतमें भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा है—

मानुष्यं भावमापन्नं ये मां गृह्णन्त्यवज्ञया।
संसारान्तर्हि ते मूढास्तिर्यग्योनिष्वनेकशः॥

(महा० आश्व० वैष्णव०)

'जो लोग मुझे मनुष्यभावको प्राप्त हुआ समझकर मेरी अवहेलना करते हैं, वे मूर्ख हैं और संसारके भीतर बारंबार तिर्यग्योनियोंमें भटकते रहते हैं।'

क्योंकि जिनका भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास नहीं होता, उन अपात्र मनुष्योंके लिये भगवान् अपनेपर मायाका पर्दा डाले रहते हैं। इसलिये वे मूर्ख मनुष्य उनको नहीं पहचान पाते (गीता ७। २५)।

भगवान् अपनी प्रकृतिको वशमें करके अपनी योगमायाशक्तिसे स्वतः ही प्रकट होते हैं (गीता ४।६)। हमलोगोंके शरीरोंकी जिस प्रकार उत्पत्ति और विनाश होता है, उससे भगवान्‌के आविर्भाव-तिरोभावकी अत्यन्त विलक्षणता है। एक तो उनके शरीरकी धातु चेतन, अप्राकृत, दिव्य, अलौकिक है और हमलोगोंके शरीरकी धातु जड़, प्राकृत, मायिक, लौकिक है। दूसरे, हमलोगोंका जो संसारमें जन्म होता है, उसमें पूर्वकृत पुण्य-पाप हेतु हैं; किंतु भगवान्‌के प्राकट्यमें हेतु संसारका कल्याण है। वे संसारमें प्रकट होकर श्रेष्ठ आचरणवाले पुरुषोंका उद्धार और दुष्ट आचरणवाले मनुष्योंका विनाश करते हैं तथा संसारके कल्याणके लिये अपनी भक्ति और धर्मका प्रचार करते हैं (गीता ४।८)। यह है भगवान्‌के जन्मकी दिव्यता। जो

इसका तत्त्व-रहस्य जान जाता है, वह स्वयं तो कल्याणस्वरूप है ही, बल्कि वह दूसरोंका भी कल्याण कर सकता है।

भगवान्‌के जन्मका तत्त्व यह है कि जब जिस रूपमें भी भगवान्‌का अवतार होता है, वे निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही उस रूपमें प्रकट होते हैं। यह भलीभाँति समझ लेना ही उनके जन्मका तत्त्व समझना है। तथा जब-जब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् अवतार लेते एवं अवतार लेकर पापका विनाश करके धर्मकी स्थापना कर देते हैं—यह अवतारका प्रयोजन (उद्देश्य) ही अवतारका रहस्य है। इसको भलीभाँति समझ लेना ही उनके जन्मका रहस्य समझना है।

भगवान् अवतार लेकर सुकृती और भगवद्भक्तोंका तो उद्धार करते ही हैं, किंतु दुष्ट दुराचारी मनुष्योंका भी उनको दण्ड देकर उद्धार कर देते हैं— जैसे भगवान् श्रीकृष्णने दुष्टा पूतनाका विनाश करके उसका भी उद्धार कर दिया था। भक्त उद्धवके वाक्य हैं—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥

(श्रीमद्भा० ३। २। २३)

'आश्चर्यकी बात है कि जिस पापिनी पूतनाने अपने स्तनोंमें हलाहल विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी नीयतसे उन्हें दूध पिलाया था, उसको भी भगवान्‌ने वह परम गति दी, जो धायको मिलनी चाहिये। उन भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कौन दयालु है, जिसकी शरण ग्रहण करें।'

इस तरह दुष्टोंका विनाश करनेमें भी उनका कल्याण कर देनेका जो भाव भरा हुआ है—यह उनके अवतारका रहस्य है। तथा भगवान्‌के अवतारके गुण-प्रभाव आदिके श्रवण, मनन और कथनसे साधारण मनुष्योंका भी सहज ही कल्याण हो सकता है—यह भी अवतारका रहस्य है, जो बिना ईश्वर-कृपाके समझमें आना सम्भव नहीं है; किंतु वह ईश्वरकी कृपासे सहज और सुगम है। यद्यपि ईश्वरकृपा सभीपर सदा ही पूर्ण और अपार है तथापि श्रद्धा-विश्वासकी कमीके कारण लोग ईश्वरकृपाको नहीं मानते—इस अज्ञताके परिणामस्वरूप वे उस भगवत्प्राप्तिरूप महान् लाभसे वञ्चित हो रहे हैं। जो बुद्धिमान् मनुष्य भगवत्कृपाको मानते हैं, वे उनके अवतारके तत्त्व-रहस्यको समझकर उससे परम लाभ उठा लेते हैं।

भगवान्‌के चरित्रका तत्त्व-रहस्य

भगवान् श्रीकृष्णके चरित्र (लीलाएँ) भी दिव्य हैं। हमलोगोंकी प्रत्येक चेष्टामें ममता, अहंकार, आसक्ति, स्वार्थ और अभिमान आदि दोष भरे रहते हैं; किंतु भगवान्‌के चरित्र (कर्म) इन सब दोषोंसे सर्वथा रहित हैं। तथा जिस प्राणीका जैसा गुण-कर्म होता है, उसके अनुसार सारे संसारकी रचना भगवान् ही करते हैं; तो भी उनमें कर्तापनका अभिमान न होनेके कारण उनका वह कर्म वास्तवमें अकर्म ही है (गीता ४। १३)। भगवान्‌ने अवतार लेकर जो कर्म किये, उनमें उनका कोई स्वार्थ नहीं था, वे सबके हितके लिये ही चेष्टा करते थे। जो इसके तत्त्वको जान जाता है, उसके भी कर्म स्वाभाविक ही ममता, आसक्ति, कामना, स्वार्थ और कर्तृत्वाभिमानसे रहित लोकहितके लिये ही होते हैं। वह कर्म करता नहीं, उसके द्वारा कर्म होते हैं। उसका 'करना' होनेमें बदल जाता है।

भगवान्‌का बर्ताव बड़ा ही अलौकिक है। भगवान्‌को जो मनुष्य जिस 'भाव'से भजता है, उसके लिये भगवान् वैसे ही बन जाते हैं (गीता ४। ११)। जो भगवान्‌को कान्ता-भावसे भजता है, उसके लिये भगवान् कान्तभावके उपयुक्त हो वैसा व्यवहार करते हैं, जैसे भगवान् श्रीकृष्णने रुक्मिणीजीके साथ किया था। जो भगवान्‌को माधुर्यभावसे भजता है, उसके लिये वे विशुद्ध प्रेमास्पद बनकर विशुद्ध प्रेमका व्यवहार करते हैं, जैसे भगवान् श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ किया था। जो भगवान्‌को दासभावसे भजते हैं, उनके लिये भगवान् स्वामी बनकर रहते हैं, जैसे संजय आदिके लिये। जो सखाभावसे भजते हैं, उनके लिये वे सखा होकर रहते हैं—जैसे ग्वालबाल आदिके लिये। जो दास्य और सख्य—दोनों भाव रखकर भजते हैं, उनके लिये भगवान् भी दोनों भावोंके उपयुक्त होकर रहते हैं, जैसे अर्जुन आदिके लिये। जो वात्सल्यभावसे भजते हैं, उनके लिये पुत्ररूप होकर रहते हैं—जैसे श्रीनन्द-यशोदा आदिके लिये।

इसी तरह जो मनुष्य जिस 'प्रकार'से भगवान्‌को भजते हैं, उनको भगवान् भी उसी प्रकारसे भजते हैं। कोई भगवान्‌का ध्यान करता है तो भगवान् भी उसका ध्यान करते हैं। जैसे शरशय्यापर लेटे हुए पितामह भीष्म

भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान कर रहे थे, तब भगवान् श्रीकृष्ण भी भीष्मजीका ध्यान करते थे। यह बात राज्यप्राप्तिके पश्चात् कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये गये हुए महाराज युधिष्ठिरसे भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं बतलायी थी (महा० शान्ति० ४६। ११)। विचार कीजिये, इस प्रकारका अलौकिक व्यवहार भगवान्‌के सिवा अन्य कौन कर सकता है। भगवान्‌के इन सब व्यवहारोंमें सौहार्द, प्रेम, दया, उदारता, भक्तवत्सलता आदि उत्तमोत्तम भाव भरे हुए हैं।

जब ब्रह्माजीको बाललीला करते हुए भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें मोह हो गया, तब उन्होंने ग्वालबाल और बछड़ोंको ले जाकर गुफामें रख दिया। यह जानकर साक्षात् पूर्णब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही वैसे-के-वैसे ग्वालबाल और बछड़ोंके रूपमें बन गये (श्रीमद्भा० १०। १३। १९)। अतः उन ग्वालबाल और बछड़ोंको भगवान् ही समझना लीलाका तत्त्व समझना है। इसके रहस्यको श्रीबलरामजी भी नहीं समझ पाये। तथा गायों और माताओंको उनकी इच्छाके अनुसार वात्सल्यसुख प्रदान करनेके लिये भी भगवान्‌ने यह लीला की थी—यह समझना भी लीलाका रहस्य समझना है।

इस प्रकार भगवान्‌के चरित्र अद्भुत, अलौकिक, अप्राकृत तथा दिव्य हैं—इसके तत्त्व-रहस्यको जो मनुष्य जान जाता है, उसके चरित्र (कर्म) भी उसी प्रकार पवित्र बन जाते हैं। जो मनुष्य श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्‌के सब प्रकारसे शरण हो जाता है, वही भगवत्कृपासे भगवान्‌की लीलाके तत्त्व-रहस्यको जान सकता है।

इस तरह जो मनुष्य भगवान्‌के जन्म और कर्मकी दिव्यताके तत्त्व-रहस्यको जान लेता है, वह भगवान्‌को ही प्राप्त हो जाता है तथा देह-त्यागके पश्चात् वह पुनः इस संसारमें लौटकर नहीं आता। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

भगवान्‌के गुणोंका तत्त्व-रहस्य

भगवान् सम्पूर्ण धर्म, ऐश्वर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य, त्याग, प्रेम, दया, विनय, करुणा, क्षमा, शान्ति, सत्य, संतोष, सरलता, कोमलता, उदारता, भक्तवत्सलता, धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, बुद्धिमत्ता आदि अनन्त गुणोंके महान् सागर हैं। भगवान्‌के गुणोंका तत्त्व यह है कि स्वयं भगवान् ही इन सब दिव्य गुणोंके रूपमें प्रकट हुए हैं, अतः वे गुण भगवान्‌से अभिन्न हैं। जैसे भगवान् दिव्य चिन्मय हैं, वैसे ही उनके गुण भी दिव्य चिन्मय हैं—यह समझना ही भगवान्‌के गुणोंका तत्त्व समझना है।

मनुष्योंमें जहाँ जो भी गुण दिखलायी पड़ते हैं, वे परिमित, एकदेशीय, प्राकृत, लौकिक, अल्प और जड़ हैं; किंतु भगवान्‌के गुण अपरिमित, अनन्त, अप्राकृत, अलौकिक, महान् दिव्य और चिन्मय हैं। सारे ब्रह्माण्डके गुण मिलकर भी उन गुणसागर भगवान्‌के गुणोंकी एक बूँदका आभासमात्र ही है—यह समझना ही गुणोंका रहस्य समझना है।

जो मनुष्य भगवान्‌के गुणोंका तत्त्व-रहस्य समझ जाता है, उसमें भी भगवान्‌के गुण आ जाते हैं, जिसके प्रभावसे उसको शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

भगवान्‌के प्रभावका तत्त्व-रहस्य

सम्पूर्ण बल, तेज, ओज, शक्ति, सामर्थ्य चराचर जगत्‌के उत्पत्ति-संहार, संचालन करनेकी शक्ति, असम्भवको सम्भव कर सकना आदि भगवान्‌का अपरिमित दिव्य प्रभाव है तथा भगवान्‌का प्रभाव भगवान्‌से अभिन्न है—यह भगवान्‌के प्रभावका तत्त्व है।

भगवान्‌का प्रभाव अपरिमित है। उसको वाणीद्वारा कोई कह नहीं सकता, जैसे खद्योत (जुगनू) से सूर्यकी उपमा नहीं दी जा सकती; किंतु फिर भी शास्त्रोंके आधारपर कुछ कहा जाता है।

सूर्य, अग्नि, विद्युत् आदिमें तेज और प्रकाश, चन्द्रमामें शीतलता, पृथ्वीमें क्षमा, समुद्रमें गम्भीरता, आकाशमें अनन्तता आदि, जो उन सबमें प्रभाव प्रतीत होता है, वह सब भगवान्‌से ही है। गीताके सातवें और दसवें अध्यायोंमें भगवान्‌ने जो अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है तथा संसारमें अन्यान्य प्राणी और पदार्थोंमें जो भी शक्ति, सामर्थ्य, कान्ति, ऐश्वर्य, तेज, ओज, प्रभाव आदि है, वह सब भगवान्‌के प्रभावके एक अंशका आभासमात्र है। गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(१०। ४१-४२)

'जो-जो विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त

और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशका ही प्राकट्य जान। अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है। मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

यह भगवान्‌के प्रभावका रहस्य है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण मार्कण्डेय ऋषिको अपना प्रभाव बतलाते हुए कहते हैं—

अहं नारायणो नाम प्रभवः शाश्वतोऽव्ययः।
विधाता सर्वभूतानां संहर्ता च द्विजोत्तम॥
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रश्चाहं सुराधिपः।
अहं वैश्रवणो राजा यमः प्रेताधिपस्तथा॥

(महा० वन० १८९। ४-५)

'द्विजश्रेष्ठ! मैं नारायण ही सबकी उत्पत्तिका कारण, सनातन और अविनाशी हूँ। सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि और संहार करनेवाला भी मैं ही हूँ। मैं ही विष्णु हूँ; मैं ही ब्रह्मा हूँ, मैं ही देवराज इन्द्र हूँ और मैं ही राजा कुबेर तथा प्रेतराज यम हूँ।'

अहं त्रिवर्त्मा विश्वात्मा सर्वलोकसुखावहः।
आविर्भूः सर्वगोऽनन्तो हृषीकेश उरुक्रमः॥

(महा० वन० १८९। ३४-३५)

'मैं तीनों लोकोंमें व्याप्त, सम्पूर्ण विश्वका आत्मा, सब लोगोंको सुख पहुँचानेवाला, सबकी उत्पत्तिका कारण, सर्वव्यापी, अनन्त, इन्द्रियोंका नियन्ता और महान् विक्रमशाली हूँ।'

जब कौरव-पाण्डवोंके युद्धकी समाप्तिके पश्चात् महाराज युधिष्ठिरसे आज्ञा लेकर भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुरसे द्वारका जा रहे थे, तब मार्गमें मरुस्थलमें गुरुभक्त तपस्वी उत्तङ्कऋषिसे उनकी भेंट हुई। उत्तङ्कऋषिके पूछनेपर भगवान्‌ने बताया कि समस्त कौरव अपने पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित युद्धमें मारे गये, केवल पाँच पाण्डव ही बचे हैं। यह सुनकर ऋषिको बड़ा क्रोध आया और उन्होंने कहा—'श्रीकृष्ण! शक्ति रहते हुए भी तुमने कौरवोंकी रक्षा नहीं की, इसलिये मैं तुम्हें शाप दूँगा।' इसपर परमदयालु भगवान् बोले—'विप्रवर! कोई भी मनुष्य तपस्याके बलपर मेरा तिरस्कार नहीं कर सकता। आप तपस्वी हैं, बाल्यावस्थासे आपने ब्रह्मचर्यका पालन किया है, गुरुजनोंको भी सेवासे संतुष्ट किया है। उस अत्यन्त कष्ट पाकर संचित किये हुए आपके तपका मैं नाश कराना नहीं चाहता।' तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रभावका वर्णन भी किया और कहा—

अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रोऽथ प्रभवाप्ययः।
भूतग्रामस्य लोकस्य स्रष्टा संहार एव च॥

(महा० आश्व० ५४। १४-१५)

'मैं ही विष्णु, मैं ही ब्रह्मा और मैं ही इन्द्र हूँ। सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयका कारण भी मैं ही हूँ। समस्त प्राणिसमुदायकी सृष्टि और संहार भी मेरे द्वारा ही होते हैं।'

उन्होंने यह भी बतलाया कि 'मैं जिस-जिस योनिमें अवतार लेता हूँ, उस-उसके अनुसार व्यवहार करता हूँ। इस समय मैं मनुष्ययोनिमें अवतीर्ण हुआ हूँ, इसलिये कौरवोंपर अपनी ईश्वरीय शक्तिका प्रयोग न करके पहले मैंने दीनतापूर्वक ही संधिके लिये प्रार्थना की थी; किंतु उन्होंने मोहग्रस्त होनेके कारण मेरी हितकर बात नहीं मानी।'

मानुष्ये वर्तमाने तु कृपणं याचितं मया।
न च ते जातसम्मोहा वचोऽगृह्णन्त मे हितम्॥

(महा० आश्व० ५४। २०)

महाभारतमें धर्मराज युधिष्ठिरको भी भगवान्‌ने अपना प्रभाव बतलाया है—

अहमादिर्हि देवानां स्रष्टा ब्रह्मादयो मया।
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य जगत् सर्वं सृजाम्यहम्॥

(महा० आश्व० वैष्णव०)

'मैं ही देवताओंका आदि हूँ। ब्रह्मा आदि देवताओंकी मैंने ही सृष्टि की है। मैं ही अपनी प्रकृतिका आश्रय लेकर सम्पूर्ण संसारकी रचना करता हूँ।'

केनोपनिषद् खण्ड ३-४ में वर्णन आता है कि एक समय जब देवताओंकी असुरोंपर विजय हो गयी, तब उसमें वे अपनी ही महिमा और प्रभाव समझने लगे। इसपर भगवान्‌ने यक्षरूपमें प्रकट होकर अग्नि, वायु और इन्द्र आदि देवताओंके इस अभिमान और गर्वका नाश किया और उन्हें यह भी दर्शा दिया कि 'मैंने ही असुरोंको पराजित किया है, तुमलोग तो निमित्तमात्र हो और तुमलोगोंमें जो शक्ति है, वह मेरी ही है। अतः इसमें अपना प्रभाव मानना तुमलोगोंकी भूल है।'

कहाँतक लिखा जाय—महाभारत, भागवत, उपनिषद् आदि शास्त्रोंमें जगह-जगह भगवान्‌का प्रभाव भरा हुआ है। इसलिये जहाँ जो कुछ भी प्रभाव दिखायी पड़ता है, वह सब भगवान्‌के प्रभावके एक अंशका आभासमात्र

है। यह भगवान्‌के प्रभावका रहस्य है और इसको भलीभाँति समझना ही प्रभावका रहस्य समझना है तथा जो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌के अनन्यशरण हो जाता है, वह भगवान्‌के गुण-प्रभावको सहज ही समझ सकता है, जिससे उसको शीघ्र भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

भगवान्‌के वचनोंका तत्त्व-रहस्य

भगवान्‌की वाणी बड़ी ही कोमल, मधुर, मनोहर, स्निग्ध, स्पष्ट, निर्भीक, गम्भीर, ओज-तेज और प्रभावसे युक्त, परम पवित्र, रहस्यमय, सबके लिये परम हितकर और कल्याण करनेवाली होती है।

महाभारतमें पाण्डवोंके यहाँ जाकर लौटे हुए संजयने धृतराष्ट्रसे भगवान् श्रीकृष्णके संदेशवाक्योंकी बड़ी महिमा गायी है—

वाचं तां वचनार्हस्य शिक्षाक्षरसमन्विताम्।
अश्रौषमहमिष्टार्थां पश्चाद्धृदयहारिणीम्॥

(उद्योग० ५९। १७)

'तत्पश्चात् मैंने बातचीतमें कुशल भगवान् श्रीकृष्णकी वह वाणी सुनी, जिसका एक-एक अक्षर शिक्षाप्रद था। वह अभीष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेवाली तथा मनको आकर्षित कर लेनेवाली थी।'

जब भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी ओरसे संधि-प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर गये, उस समय दुर्योधनने उनसे आतिथ्य ग्रहण न करनेका कारण पूछा। तब भगवान्‌ने उत्तरमें कहा—

सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥

(महा० उद्योग० ९१। २५)

'किसीके घरका अन्न या तो प्रेमके कारण भोजन किया जाता है या आपत्तिमें पड़नेपर। राजन्! प्रेम तो तुम नहीं करते और किसी आपत्तिमें हम नहीं पड़े हैं।'

भगवान्‌के इन वचनोंकी महिमा गाते हुए श्रीवैशम्पायनजीने कहा है—

स एवमुक्तो गोविन्दः प्रत्युवाच महामनाः।
उद्यन्मेघस्वनः काले प्रगृह्य विपुलं भुजम्॥
अलघूकृतमग्रस्तमनिरस्तमसंकुलम्।
राजीवनेत्रो राजानं हेतुमद् वाक्यमुत्तमम्॥

(महा० उद्योग० ९१। १६-१७)

'दुर्योधनके इस प्रकार पूछे जानेपर उस समय महामनस्वी कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने अपनी विशाल भुजा उठाकर राजा दुर्योधनको जलयुक्त मेघके समान गम्भीर वाणीमें उत्तर देना आरम्भ किया। उनका वह वचन परम उत्तम, युक्तिसंगत, दैन्यरहित, प्रत्येक अक्षरकी स्पष्टतासे सुशोभित तथा स्थानभ्रष्टता और संकीर्णतारूप दोषोंसे रहित था।'

तदनन्तर जब भगवान् श्रीकृष्ण कौरव-सभामें पधारे, उस समय वहाँ उन्होंने बड़ा ही प्रभावशाली भाषण दिया, जो महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय ९५में देखने योग्य है।

भगवान् श्रीकृष्णने गीताके ९ वें अध्यायके पहले श्लोकमें विज्ञानसहित गुह्यतम ज्ञान कहनेकी प्रस्तावना की और दूसरे श्लोकमें आठ विशेषणोंद्वारा उसकी महिमा और विशेषता बतलायी। इसमें यह विचारणीय है कि ज्ञान क्या है और विज्ञान क्या है। गीता अध्याय ९ श्लोक ४—६ में जो निराकार स्वरूपका वर्णन किया गया है, उसको जानना तो ज्ञान है और अध्याय ९ श्लोक १६ से १९ तक जो भगवान्‌के साकार-निराकार सगुण-निर्गुण समग्र रूपका वर्णन है, उसको जानना विशेष ज्ञान होनेसे विज्ञान है। ये स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं; अतः इन भगवद्‌वचनोंको भलीभाँति समझना ही उन वचनोंका तत्त्व समझना है।

तथा अर्जुनके प्रति भगवान्‌ने गीता अध्याय ९ श्लोक ३२ और ३४ में जो शरणागतिका विषय कहा है, वह गोपनीय गुह्यतम रहस्य है। अ० १८ श्लोक ६४ में सर्वगुह्यतम वचन कहनेकी प्रस्तावना करके ६५-६६—इन दो श्लोकोंमें शरणागतिका ही प्रतिपादन किया है। इसके पूर्व अ० १८ श्लोक ६१-६२में जो शरणागतिका कथन है, वह 'गुह्यतर' है—यह बात अ० १८ श्लोक ६३ में भगवान्‌ने स्वयं स्पष्ट कह दी है; क्योंकि वहाँ इदंबुद्धिसे 'तम्' कहकर निराकार परमात्माकी शरण ग्रहण करनेका कथन है। किन्तु यहाँ अ० १८ श्लोक ६५-६६में अहंबुद्धिसे 'माम्' कहकर भगवान् स्वयं अपने समग्र रूपकी शरण ग्रहण करनेका आदेश देते हैं। शास्त्रोंमें जहाँ कहीं भी भगवान्‌ने ऐसा कहा है कि 'मेरा ध्यान कर, मेरा पूजन कर, मुझे नमस्कार कर, मेरी शरण आ जा' आदि-आदि—ये सभी भगवद्‌वचन सर्वगुह्यतम, परम गोपनीय, अत्यन्त रहस्यमय हैं; क्योंकि इस प्रकारकी बात वहाँ भगवान्‌ने अपने परम प्रेमी अन्तरङ्ग भक्तको ही कही है। अतः इनको समझना भगवद्‌वचनोंका रहस्य समझना है। जो मनुष्य भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास करके भगवद्-वाणीके तत्त्व-रहस्यको समझ जाता है,

वह भगवान्‌का अतिशय प्रेमी बनकर भगवान्‌के ही अनन्यशरण हो जाता है, जिससे उसको शीघ्र भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

इसलिये हमलोगोंको ऊपर बतायी हुई बातोंका तत्त्व-रहस्य भलीभाँति समझकर उनके अनुसार अपना जीवन बनानेकी तत्परतासे प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

निर्गुण-निराकार परमात्माकी उपासना

हमलोगोंको यह मनुष्य-शरीर परमात्माकी प्राप्तिके लिये मिला है; किंतु जो मनुष्य इसे परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें न लगाकर संसारके विषयभोगोंमें ही लगा देता है, उसे आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ता है।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी प्रजाजनोंको शिक्षा देते हुए कहते हैं—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४३। ४;४३)

श्रुति भी कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

(केन० २। ५ का पूर्वार्ध)

'यदि इस मनुष्य-शरीरने परब्रह्मको जान लिया तब तो ठीक है; किंतु यदि इस शरीरके रहते-रहते उसे नहीं जान पाया तो महान् विनाश (हानि) है।'

इसलिये शरीर, संसार और ब्रह्मलोकतकके भोगोंको विवेकद्वारा क्षणभङ्गुर, नाशवान्, स्वप्नवत् समझकर इनका वैराग्यपूर्वक त्याग करके उपरत हो जाना चाहिये। यह कार्य शरीरके रहते-रहते ही महापुरुषोंके उपदेशके अनुसार शीघ्र बना लेना परम आवश्यक है। यमराजने नचिकेतासे कहा है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।

(कठ० १। ३ । १४)

'उठो जागो (सावधान हो जाओ) और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर उनके द्वारा उस परमात्माको जान लो; क्योंकि त्रिकालज्ञ ज्ञानीजन उस परमात्माकी प्राप्तिके मार्गको छूरेकी तीक्ष्ण की हुई दुस्तर धारके समान दुर्गम बतलाते हैं।'

यद्यपि निर्गुण-निराकार परमात्माकी उपासनाका मार्ग कठिन है तथापि भगवान्‌ने देहाभिमानसे रहित पुरुषके लिये उसे सुगम बतलाया है (देखिये गीता ६। २८)। इसलिये साधकको देहाभिमानसे रहित हो उस परम दुर्लभ परमात्म-तत्त्वका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। अब उपासनाके लिये निर्गुण-निराकार परमात्माके स्वरूपका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

निर्गुण-निराकार ब्रह्मका स्वरूप जो जाननेमें आता है, उसको ज्ञेय कहते हैं; किंतु उस जाननेका जो फल (परिणाम) है, वही ब्रह्मका यथार्थ स्वरूप है। भगवान् कहते हैं—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

(गीता १३। १२)

'जो जाननेयोग्य ब्रह्मका स्वरूप है, उसको भलीभाँति कहूँगा। जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है, वह अनादिवाला परब्रह्म न सत् ही कहा जाता है न असत् ही।'

वह ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप सत् और असत्‌से परे है; उसका वाणीके द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता; क्योंकि मन-वाणीकी वहाँ पहुँच ही नहीं है।

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचन।

(तैत्तिरीयोप० २। ४। १)

'जहाँसे मनके सहित वाणी आदि इन्द्रियाँ उसे न पाकर लौट आती हैं, उस ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला पुरुष कभी भय नहीं करता।'

वह आनन्दमय ब्रह्मका स्वरूप स्थिर, सूक्ष्म और शुद्ध हुई बुद्धिके द्वारा ही जाना जा सकता है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

(कठ० १। ३। १२)

'यह सबका आत्मरूप परम पुरुष परमात्मा समस्त प्राणियोंमें रहता हुआ भी मायाके परदेमें छिपा

रहनेके कारण सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल सूक्ष्म तत्त्वोंको समझनेवाले पुरुषोंके द्वारा ही अति सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धिसे देखा जाता है।'

गीतामें भी कहा गया है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

(६। २१)

इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं।'

उस परब्रह्म परमात्माको जाननेके पश्चात् जाननेवाला पुरुष उस आनन्दमय ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है—

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति॥

(मुण्डक० ३। २। ९)

'जो कोई भी उस परमात्माको जान लेता है, वह महात्मा परब्रह्म परमात्मा ही हो जाता है।'

किंतु जाननेके समय जाननेमें आनेवाला जो ब्रह्मका स्वरूप है, वह बुद्धिमिश्रित ही ब्रह्मका स्वरूप है; क्योंकि बुद्धिमिश्रित ब्रह्मको ही बुद्धिके द्वारा जाना जा सकता है। जो केवल चिन्मय आनन्द है, वहाँ जड़ बुद्धिकी पहुँच ही नहीं है। ऐसा होनेपर भी वह नहीं है, ऐसी बात नहीं है; वह है अवश्य; क्योंकि उसीकी सत्तासे सबकी सत्ता है तथा वही सबका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। ब्रह्मसूत्रमें बताया गया है—

जन्माद्यस्य यतः। (१। १। २)

'इस जगत्के जन्म आदि (उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय) जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है।'

वह ब्रह्म सत् होते हुए भी लौकिक जो सत्-असत् बुद्धिके द्वारा समझमें आता है, उससे बहुत विलक्षण है; इसीलिये यह बात कही गयी कि—

न सत्तन्नासदुच्यते। (गीता १३। १२ का चौथा चरण)

'यह परब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही।' क्योंकि बुद्धिके द्वारा जो सत्ता समझमें आती है, वह ब्रह्मका बुद्धिसे मिश्रित ही सत्स्वरूप है।

इसी प्रकार वह परमात्मा ज्ञानस्वरूप होते हुए भी ज्ञान-अज्ञान दोनोंसे अत्यन्त विलक्षण है। बुद्धिवृति ही ज्ञान है और जो उससे विपरीत है, वह अज्ञान है। इनको ही विद्या और अविद्या कहते हैं। ये सभी जड़ हैं; किंतु परमात्मा चेतन है। भगवान्ने कहा है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

(गीता १३। १७)

'वह परब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करने योग्य है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है।'

महाभारतमें राजा धृतराष्ट्रसे सनत्सुजात ऋषिने कहा है—

यत् तच्छुक्रं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद् यशः।
तद् वै देवा उपासते तस्मात् सूर्यो विराजते॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्।

(महा० उद्योग० ४६। १)

'राजन्! जो शुद्ध ब्रह्म है, वह महान् ज्योतिर्मय, देदीप्यमान एवं विशाल यशरूप है। सब देवता उसकी उपासना करते हैं। उसीके प्रकाशसे सूर्य प्रकाशित होते हैं। उस सनातन भगवान्का योगीजन साक्षात्कार करते हैं।'

अभिप्राय यह है कि वह ज्ञान-अज्ञान दोनोंसे अत्यन्त विलक्षण चिन्मय बोधस्वरूप है। वह सबको जानता है, उसको कोई नहीं जानता। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

(गीता ७। २६)

'हे अर्जुन! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सारे प्राणियोंको मैं जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता।' क्योंकि वह किसीकी बुद्धिका विषय नहीं है।'

वह परमात्मा सर्वत्र व्यापक होकर भी निर्लेप है और कर्ता होकर भी अकर्ता है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(गीता १३। ३१)

'हे अर्जुन! अनादि होनेसे और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है।'

उस परमात्माके स्वरूपका विशेष लक्ष्य करानेके लिये और भी कहा है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

(गीता १३। १५)

'वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही है।'

जैसे आकाश बादलोंके भीतर भी है और बाहर भी है, उसी प्रकार परमात्मा संसारके भीतर भी है और बाहर भी है तथा बादल भी आकाश ही है; क्योंकि आकाशसे ही बादल उत्पन्न होते हैं—

आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः।

(तैत्तिरीय० २। १। १)

'आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि और अग्निसे जल उत्पन्न हुए।' तथा जल ही मेघ हैं। अतः जैसे आकाश ही बादल बनता है, इसी प्रकार वह परमात्मा ही अपने संकल्पसे चराचर संसारका रूप धारण करता है।

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।

(तैत्तिरीय० २। ६। १।)

'उस परमात्माने संकल्प किया कि मैं बहुत रूप धारण करके प्रकट होऊँ।'

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

(केन० २। २५ का उत्तरार्ध)

'बुद्धिमान् मनुष्य प्राणी-प्राणीमें (प्राणिमात्रमें) परब्रह्म परमात्माको समझकर इस लोकसे प्रयाण करके अमृतरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

वह परमात्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर होनेसे किसीका विषय नहीं हो सकता, इसलिये उसको सूक्ष्म एवं सूक्ष्म होनेके कारण ही अविज्ञेय बतलाया गया है। श्रुति कहती है—

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।

(कठ० १। २। २० का पूर्वार्ध)

'इस जीवात्माके हृदयरूप गुफामें रहनेवाला परमात्मा सूक्ष्मसे अति सूक्ष्म और महान्से भी महान् है।'

श्रीसनत्सुजात ऋषिने भी कहा है—

अणीयो रूपं क्षुरधारया समं
महच्च रूपं तद् वै पर्वतेभ्यः॥

(महा० उद्योग० ४४। २९ का उत्तरार्ध)

'वह परमात्माका स्वरूप छूरेकी धारके समान अत्यन्त सूक्ष्म और पर्वतोंसे भी महान् है अर्थात् वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर और महान्से भी महान् है।'

अणोरणीयान् सुमनाः सर्वभूतेषु जाग्रति।

(महा० उद्योग० ४६। ३१ का पूर्वार्ध)

'परमात्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म तथा विशुद्ध मनवाला है। वही सब भूतोंमें प्रकाशित है।'

वह परमात्मा देश, काल, वस्तु और भावसे दूर-से-दूर एवं निकट-से-निकट है। जैसे देशकी दूरीका विचार करें तो पृथ्वीसे परे जल है, जलसे परे तेज, तेजसे परे वायु, वायुसे परे आकाश, आकाशसे परे समष्टि मन, मनसे परे समष्टि अहङ्कार, समष्टि अहङ्कारसे परे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे परे अव्याकृत माया (मूल प्रकृति) और उससे भी परे परमात्मा है। परमात्मासे परे कुछ भी नहीं है। इससे वह परसे भी पर है।

पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।

(कठ० १। ३। ११का उत्तरार्ध)

'पुरुषसे पर और कुछ नहीं है। वही पराकाष्ठा (हद) है, वही परा गति है।'

देशकी निकटताका विचार करें तो यह पाञ्चभौतिक शरीर (अन्नमय कोश) अन्य सारे बाह्य पदार्थोंसे निकट है। उससे निकट प्राण (प्राणमय कोश) है, उस प्राणसे और निकट इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियोंसे निकट मन (मनोमय कोश) है, उससे निकट बुद्धि (बुद्धिमय कोश) है, उससे निकट अव्याकृत माया (आनन्दमय कोश) है, उससे भी निकट अपना स्वरूप—अपना आत्मा है, आत्मासे निकट कोई नहीं है और वह परमात्मा ही सबका आत्मा है।

भगवान्ने कहा है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

(गीता १०। २०का पूर्वार्ध)

'हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ।' इसलिये वह परमात्मा दूर-से-दूर और निकट-से-निकट है।'

अब कालके विषयमें विचार करें। काल तीन हैं—भूत, भविष्य, वर्तमान। वर्तमानकाल निकट-से-निकट है। वह परमात्मा नित्य होनेसे वर्तमानमें है ही तथा संसारमें दूर-से-दूर भूत और भविष्यकाल हैं। भूतकालमें तो जब कोई नहीं था तब भी परमात्मा थे ही—

सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

(छान्दोग्य० ६। २। ५)

'हे सौम्य! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् परमात्मा ही था।' एवं भविष्यमें जब कोई नहीं रहेगा तब भी परमात्मा रहेंगे ही; क्योंकि यमराजने नचिकेतासे बतलाया है—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥

(कठ० १। २। २५)

'(संहारकालमें) जिस परमात्माके ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों ही अर्थात् सम्पूर्ण प्राणिमात्र भोजन बन जाते हैं तथा सबका संहार करनेवाली मृत्यु यानी काल भी जिसका उपसेचन (भोज्य वस्तुके साथ लगाकर खानेका व्यञ्जन, तरकारी आदि) बन जाता है, वह परमात्मा जहाँ और जैसा है, यह ठीक-ठीक कौन जानता है।' श्रीसनत्सुजात ऋषि भी कहते हैं—

अपारणीयं तमसः परस्तात्
तदन्तकोऽप्येति विनाशकाले।

(महा० उद्योग० ४४। २९का पूर्वार्ध)

'ब्रह्मके उस स्वरूपका कोई पार नहीं पा सकता। वह अज्ञानरूप अन्धकारसे सर्वथा अतीत है। महाप्रलयमें सबका अन्त करनेवाला काल भी उसीमें लीन हो जाता है।'

परमात्मा ही इस जगत्का निमित्त और उपादान कारण होनेसे सारा संसार वस्तुसे भी परमात्माका ही स्वरूप है। भगवान् कहते हैं—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

(गीता १३। ३०)

'जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

श्रीसनत्सुजात ऋषिने भी कहा है—

तस्माद् वै वायुरायातस्तस्मिंश्च प्रयतः सदा।
तस्मादग्निश्च सोमश्च तस्मिंश्च प्राण आततः॥
सर्वमेव ततो विद्यात् तत्तद् वक्तुं न शक्नुमः।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥

(महा० उद्योग० ४६। ११-१२)

'उस पूर्णब्रह्मसे ही वायुका आविर्भाव हुआ है और उसीमें वह चेष्टा करता है। उसीसे अग्नि और सोमकी उत्पत्ति हुई है तथा उसीमें यह प्राण विस्तृत हुआ है। कहाँतक गिनावें, हम अलग-अलग सभी वस्तुओंका नाम बतानेमें असमर्थ हैं। तुम इतना ही समझो कि सब कुछ उस परमात्मासे ही प्रकट हुआ है; अतः परमात्माका ही स्वरूप है। उस सनातन भगवान्का योगी लोग साक्षात्कार करते हैं।'

सब कुछ परमात्मा ही होनेसे वह निकट-से-निकट है, किंतु वास्तवमें वह सम्पूर्ण वस्तुओंसे सर्वथा विलक्षण और अत्यन्त परे है; अतः वह दूर-से-दूर है।

इसलिये श्रुतिमें कहा गया है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(ईश० ५)

'वह परमात्मा चलता है और नहीं भी चलता है, वह दूर भी है और समीप भी है। वह सम्पूर्ण जगत्के भीतर भी है और इन सबके बाहर भी है।'

भावकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो जिस मनुष्यको यह विश्वास है कि 'परमात्मा है' उसके लिये तो परमात्मा निकट-से-निकट है—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥

(कठ० २। ३। १३)

'उस परमात्माको पहले तो 'वह अवश्य है' इस प्रकार निश्चयपूर्वक ग्रहण करना चाहिये अर्थात् पहले उसके अस्तित्वका दृढ़ निश्चय करना चाहिये। तदनन्तर तत्त्वभावसे भी उसे प्राप्त करना चाहिये। इन दोनों प्रकारोंमेंसे 'वह अवश्य है' इस प्रकार निश्चयपूर्वक परमात्माकी सत्ताको स्वीकार करनेवाले साधकके लिये परमात्माका तात्त्विक स्वरूप अपने-आप शुद्ध हृदयमें प्रत्यक्ष हो जाता है।'

जिस मनुष्यका परमात्मामें श्रद्धा-विश्वास बिलकुल नहीं होता, जो नास्तिक है, उसके लिये परमात्मा दूर-से-दूर है।

इतना ही नहीं, वह परमात्मा चिन्मय, अलौकिक आनन्द-स्वरूप है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(५। २१)

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला

साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है उसको प्राप्त होता है। तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।' तथा—

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

(गीता ६। २८)

'वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है।'

इन श्लोकोंमें कथित 'अक्षय सुख' और 'अत्यन्त सुख' उस फलरूप आनन्द—परब्रह्म परमात्माका ही वाचक है; क्योंकि—

आनन्दमयोऽभ्यासात्। (ब्रह्मसूत्र १। १। १२)

'श्रुतिमें 'आनन्द' शब्दका ब्रह्मके लिये बारंबार प्रयोग होनेके कारण यहाँ 'आनन्दमय' शब्द सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका ही वाचक है।'

वह आनन्दस्वरूप परमात्मा अपने-आपसे ही परिपूर्ण है और यह संसार भी उस आनन्दस्वरूप परमात्मासे ही परिपूर्ण है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

(बृह० ५। १। १)

'वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपने-आपसे परिपूर्ण है, यह संसार भी उस परमात्मासे परिपूर्ण है; क्योंकि उस पूर्णब्रह्म परमात्मासे ही यह पूर्ण (संसार) प्रकट हुआ है। पूर्ण (संसार)के पूर्ण (पूरक परमात्मा) को स्वीकार करके उसमें स्थित होनेसे उस साधकके लिये एक पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशेष रह जाता है।'

श्रीसनत्सुजातजी भी कहते हैं—

पूर्णात् पूर्णान्युद्धरन्ति पूर्णात् पूर्णानि चक्रिरे।
हरन्ति पूर्णात् पूर्णानि पूर्णमेवावशिष्यते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥

(महा० उद्योग० ४६। १०)

'पूर्ण परमात्मासे पूर्ण—चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। पूर्णसे सत्ता स्फूर्ति पाकर ही वे पूर्ण प्राणी चेष्टा करते हैं। फिर पूर्णसे ही पूर्ण ब्रह्ममें उनका उपसंहार (विलय) होता है तथा अन्तमें एकमात्र पूर्ण ब्रह्म ही शेष रह जाता है। उस सनातन परमात्माका योगी लोग साक्षात्कार करते हैं।'

अतः ज्ञानयोगके साधकोंको इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूपको समझकर उसकी उपासना करनी चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

(५। १७)

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं।'

भगवान्‌के इस कथनके अनुसार निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी उपासना करनेवालेको उचित है कि एकान्त स्थानमें सुखपूर्वक स्थिर आसनसे बैठकर उस सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपका मनसे इस प्रकार मनन करे—'परमात्मा कैसा है? पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, अनन्त आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दके सिवा और कुछ है ही नहीं।' इस तरह मनन करते-करते मन उस परमात्मामें विलीन हो जाता है तथा इन विशेषणोंकी आवृत्ति करते-करते बुद्धिसे सच्चिदानन्दघन परमात्माका जो एक विशेष-स्वरूप समझमें आता है, जिसे गीता (६। २१) में 'बुद्धिग्राह्य' तथा गीता (१३। १२) में 'ज्ञेय' के नामसे कहा गया है। उसको ध्येय बनाकर बुद्धिके द्वारा उसका ध्यान करते-करते बुद्धि उस ब्रह्मके स्वरूपमें विलीन हो जाती है। जबतक ध्यान रहता है तबतक ध्याता, ध्यान, ध्येयकी त्रिपुटी रहती है; किंतु जब त्रिपुटीका सर्वथा अभाव हो जाता है तब एक परमात्मा ही रह जाता है। वह परमात्माका स्वरूप बुद्धिके द्वारा समझमें आता है, अतः वह बुद्धिमिश्रित ब्रह्मका स्वरूप है। किंतु उसमें भलीभाँति स्थित होनेपर उस उपासकके मल, विक्षेप और आवरणका नाश होकर वह एक परमात्माके ही परायण हो जाता है अर्थात् परमात्मामें तद्रूप हो जाता है। अतः परमात्माके नाम, रूप और ज्ञानका विकल्प समाप्त हो जाता है। केवल एक परमात्माका स्वरूप ही रह जाता है, नाम

और ज्ञान नहीं रहता। इसको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। इस निर्विकल्प समाधिका जो फल है वही परम गति है। उसीको 'ब्रह्मकी प्राप्ति' कहा गया है, जिसको प्राप्त होकर वह फिर संसारमें नहीं लौटता, वरं उस निरतिशय आनन्दघन परब्रह्मको प्राप्त हो सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है।

सारा समय परमोपयोगी बनानेका साधन

मनुष्यके समयके तीन विभाग माने जा सकते हैं— १ साधनकाल, २ व्यवहारकाल, ३ शयनकाल। इनमेंसे साधनकालको लोग सात्त्विक, व्यवहारकालको राजस और शयनकालको तामस मानते हैं। किंतु कल्याणके इच्छुक मनुष्योंको तो तीनों कालोंको ही परम सात्त्विक बनाना चाहिये। हमलोगोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि हमारा सारा-का-सारा समय उत्तम-से-उत्तम कार्यमें लगे। दूसरे लोगोंकी दृष्टिमें चाहे हमारे ये तीनों काल अलग-अलग प्रतीत हों, किंतु वास्तवमें हमारा सारा समय एक परमात्मामें ही लगा रहना चाहिये।

यह मनुष्य-शरीर अपने उद्धारके लिये मिला है या यों कहें कि परमात्माकी प्राप्तिके लिये मिला है। अतः जिससे परमात्माकी प्राप्ति शीघ्रातिशीघ्र हो, उसी काममें हमारा सारा समय बीतना चाहिये। हर समय हमारा परम साधन ही होता रहे। दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, निद्रा, आलस्य और प्रमादमें एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाना चाहिये; क्योंकि ये सभी तामस हैं। ऐश-आराम, स्वाद शौक, शृंगार, भोग-विलास, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा, कञ्चन, कामिनी, सम्पत्ति—इन सबमें जो ममता, आसक्ति, कामना आदि है, ये सभी राजस हैं। अतः इनके संसर्गमें भी अपना समय व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये। बल्कि ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सदाचार और सद्गुणोंके सेवनमें ही समय जाना चाहिये। एकान्तके साधनकाल, व्यवहारकाल और शयनकाल—सभी कालोंका सुधार विशेषरूपसे करना चाहिये।

१—एकान्तमें बैठकर अपने अधिकारके अनुसार पूजा-पाठ, जप-ध्यान, स्तुति-प्रार्थना, संध्या-गायत्री, स्वाध्याय आदि जो कुछ भी साधन किया जाय, उसके अर्थ और भावको समझते हुए मन लगाकर श्रद्धा, विश्वास और प्रेमपूर्वक गुप्त और निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर करना चाहिये।

२—चलते-उठते, खाते-पीते, न्यायोचित व्यवहार करते समय, मनसे भगवान्‌के चरित्रोंको याद करते हुए और उनका अनुकरण करते हुए एवं श्रद्धाप्रेमपूर्वक निष्कामभावसे भगवान्‌के नाम-रूप तथा गुण-प्रभावका चिन्तन करते हुए उनकी प्रसन्नताके अनुकूल ही सब व्यवहार करना चाहिये।

३—रात्रिमें शयनके समय सांसारिक संकल्पोंके प्रवाहसे रहित होकर मनमें भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको समझते हुए, भगवान्‌के गुण प्रभाव, नाम-रूपके निष्कामभावपूर्वक चिन्तनका प्रवाह बहाते हुए ही शयन करना चाहिये।

मनकी आदत बिगड़ी हुई है। यह स्वाभाविक ही राजस और तामस भावों तथा पदार्थोंका चिन्तन करने लगता है। अतः इसकी हर समय चौकसी (सँभाल) रखनी चाहिये। जैसे कोई सालभरका छोटा बच्चा चाकू, कैंची आदि कोई भी पदार्थ हाथमें आ जाता है तो उसको पकड़ लेता है; क्योंकि वह उसके परिणामको समझता नहीं है। किंतु माता उसको भय दिखलाकर, लोभ देकर या प्रेमसे समझाकर उससे कैंची, चाकू आदि छीन लेती है। इसी प्रकार साधक अपने मनको इस लोक और परलोकके दुःखोंका भय दिखलाकर, 'भक्ति, ज्ञान-वैराग्य रसमय—अमृतमय है' ऐसा लोभ देकर या विवेकपूर्वक समझाकर राजस और तामस क्रियाओं, पदार्थों और भावोंसे हटा ले एवं परम कल्याणदायक, परम सात्त्विक, उत्तम गुण, क्रिया, पदार्थ और भाव आदिमें लगाये।

कोई भी घटना, पदार्थ और परिस्थिति अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल या प्रतिकूल प्राप्त हो तो उसमें हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि विकारोंसे रहित रहना चाहिये। किसी भी घटना, पदार्थ या परिस्थितिके प्राप्त होनेपर ज्ञानयोगकी दृष्टिसे तो उसको स्वप्नवत् माने, भक्तियोगकी दृष्टिसे उसको भगवान्‌का विधान या लीला माने और कर्मयोगकी दृष्टिसे उसको अपने पूर्वकृत कर्मोंका फलरूप प्रारब्ध माने; एवं ऐसा मानकर सदा निर्विकार रहे। किंतु यदि अपने साधनके विरुद्ध कोई पदार्थ या परिस्थिति प्राप्त हो जाय तो उसका त्यागपूर्वक सदुपयोग करना चाहिये। जैसे अर्जुनने इन्द्रकी भेजी हुई उर्वशी

अप्सराके काम-प्रस्तावका त्याग कर दिया था।

जिस समय अर्जुन इन्द्रपुरीमें रहकर अस्त्र-विद्या और गान्धर्व-विद्या सीख रहे थे, एक दिन इन्द्रने सभामें अर्जुनको उर्वशीकी ओर निर्निमेष नेत्रोंसे देखते हुए पाया था; अतः अर्जुनको उर्वशीके प्रति आसक्त जानकर उन्होंने रात्रिके समय उनकी सेवाके लिये वहाँकी उस सर्वोच्च अप्सरा उर्वशीको उनके पास भेजा। उर्वशी अर्जुनके रूप और गुणोंपर पहले ही मुग्ध थी। वह इन्द्रकी आज्ञासे खूब सज-धजकर रात्रिमें अर्जुनके पास गयी। अर्जुन उर्वशीको रात्रिमें अकेले इस प्रकार निःसंकोचभावसे अपने पास आयी देख सहम गये। उन्होंने शीलवश अपने नेत्र बंद कर लिये और उर्वशीको माताकी भाँति प्रणाम किया। उर्वशी यह देखकर दंग रह गयी। उसको अर्जुनसे इस प्रकारके व्यवहारकी आशा नहीं थी। उसने अर्जुनके प्रति अपना मनोभाव स्पष्ट प्रकट किया। तब अर्जुन अत्यन्त लज्जित हो गये और हाथोंसे दोनों कान मूँदकर बोले—'देवि! तुम जैसी बात कह रही हो, उसे सुनना भी मेरे लिये बड़े दुःखका विषय है। मैंने जो देवसभामें तुम्हारी ओर एकटक दृष्टिसे देखा था उसका एक विशेष कारण था। वह यह कि तुम ही हमारे पूरुवंशकी जननी हो—इस पूज्यभावको लेकर ही मैंने वहाँ तुम्हें देखा था। अनघे! मेरी दृष्टिमें कुन्ती, माद्री और शचीका जो स्थान है, वही तुम्हारा भी है। तुम पूरुवंशकी जननी होनेके कारण आज मेरे लिये परम गुरु-स्वरूप हो। वरवर्णिनि! मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर तुम्हारी शरण हूँ। तुम लौट जाओ। मेरी दृष्टिमें तुम माताके समान पूजनीया हो और तुम्हें पुत्रके समान मानकर मेरी रक्षा करनी चाहिये।'*

यह सुनकर उर्वशी क्रोधित हो गयी और अर्जुनको शाप देते हुए बोली—'अर्जुन! देवराज इन्द्रके कहनेसे मैं तुम्हारे घरपर आयी और कामबाणसे घायल हो रही हूँ; फिर भी तुम मेरा आदर नहीं करते। अतः तुम्हें स्त्रियोंके बीचमें सम्मानरहित होकर नर्तकी बनकर रहना पड़ेगा। तुम नपुंसक कहलाओगे और हिंजड़ोंके समान विचरण करोगे।'

जब इन्द्रको यह बात मालूम हुई तब उन्होंने अर्जुनकी प्रशंसा की और कहा—'यह शाप तुमको वरदानका काम देगा। अज्ञातवासके समय तुम्हारे छिपनेमें सहायक होगा। उसके बाद तुम्हें पुनः पुरुषत्व प्राप्त हो जायगा।'

ध्यान देना चाहिये कि अर्जुनने उर्वशीका शाप तो स्वीकार कर लिया, किंतु उसके प्रस्तावको स्वीकार नहीं किया। अर्जुनका यह ब्रह्मचर्यपालन और त्यागका व्यवहार बहुत ही उच्च आदर्श है।

हमलोगोंको इस प्रकारकी घटना प्राप्त होनेपर उसे भगवान्‌की भेजी हुई समझकर अर्जुनकी भाँति उसका त्यागपूर्वक सदुपयोग करना चाहिये। यद्यपि भगवान् अनुकूल या प्रतिकूल पदार्थ भेजकर जो कुछ करते हैं हमारे हितके लिये ही करते हैं; किंतु वे हमारी परीक्षा भी लेते रहते हैं। जैसे अध्यापक विद्यार्थीकी योग्यताको जानता हुआ भी उसकी उन्नतिके लिये उसकी परीक्षा लेता रहता है, वैसे ही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भगवान् साधकके हितके उद्देश्यसे उसको साधनमें दृढ़ बनानेके लिये अनुकूल-प्रतिकूल घटना और पदार्थ भेजकर परीक्षा लेते रहते हैं। उन सबमें साधकको विकाररहित रहना चाहिये।

परेच्छा या अनिच्छासे मनके अनुकूल या प्रतिकूल कोई भी घटना या पदार्थ प्राप्त हो तो उसे भगवान्‌का विधान या प्रारब्ध मानकर संतुष्ट होना चाहिये, विचलित नहीं होना चाहिये और यदि वह शास्त्रविपरीत हो तो उसका नीतिके अनुसार तिरस्कार कर सकते हैं; क्योंकि वे जो पदार्थ हमें प्राप्त हो रहे हैं उनमें जब भगवान्‌का विधान है तो हमारे हृदयमें जो शास्त्रविरुद्ध अनुचित पदार्थके लिये विरोध करनेका भाव आता है, वह भी तो भगवान्‌की ही प्रेरणा है। जैसे अर्जुनको भगवान् जगह-जगह युद्ध करनेकी आज्ञा देते हैं; किंतु उस आज्ञाके साथ ही समभाव रखनेके लिये भी प्रेरणा करते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

अनुकूल पदार्थ या घटनाके प्राप्त होनेपर हर्षित होना, उसमें प्रीति करना भी विकार है और प्रतिकूल घटनामें तो द्वेष, वैर, भय, ईर्ष्या, शोक आदि अनेक

---

* यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममानघे। तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी॥
गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि। त्वं हि मे मातृवत् पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत् त्वया॥ (महा० वन० ४६। ४६-४७)

प्रकारके विकार होते ही रहते हैं; किंतु जो इन सबमें विकाररहित रहे, वही सर्वोत्तम है। जैसे भक्त प्रह्लादको मारनेके लिये उनके पिता हिरण्यकशिपुने उनपर अनेक अत्याचार किये—बड़े-बड़े मतवाले हाथियोंसे कुचलवाया, विषधर सर्पोंसे डँसवाया, पुरोहितोंसे कृत्याका प्रयोग करवाया, पहाड़की चोटीसे नीचे डलवाया, शम्बरासुरसे अनेक प्रकारकी मायाका प्रयोग करवाया, अँधेरी कोठरियोंमें बंद करवाया, विष पिलवाया, खाना बंद करवा दिया, बर्फीली जगह, दहकती हुई आग और समुद्रमें बारी-बारीसे डलवाया, परंतु किसी भी उपायसे वह प्रह्लादको मार न सका। उसके सारे प्रहार निष्फल हो गये। भक्त प्रह्लादके चित्तमें भी उन सबका कोई असर नहीं हुआ। वे तो उन सबमें निर्विकार ही रहे; क्योंकि उनका सबमें भगवद्भाव था। बल्कि जब पुरोहितोंने उन्हें मारनेके लिये कृत्या उत्पन्न करके उनपर प्रयोग किया और वह कृत्या उनको मारनेमें समर्थ न हो सकी, तब उसने उन पुरोहितोंको ही मार डाला। यह देखकर दयापरवश हो प्रह्लादजी भगवान्से प्रार्थना करने लगे—

यथा सर्वगतं विष्णुं मन्यमानोऽनपायिनम्।
चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्वेते पुरोहिताः॥
ये हन्तुमागता दत्तं यैर्विषं यैर्हुताशनः।
यैर्दिग्गजैरहं क्षुण्णो दष्टः सर्पैश्च यैरपि॥
तेष्वहं मित्रभावेन समः पापोऽस्मि न क्वचित्।
यथा तेनाद्य सत्येन जीवन्त्वसुरयाजकाः॥

(श्रीविष्णुपुराण १। १८। ४१—४३)

'प्रभो! यदि मैं सर्वव्यापी और अक्षय श्रीविष्णु-भगवान्‌को अपने विपक्षियोंमें भी देखता हूँ तो वे पुरोहितगण जीवित हो जायँ। जो लोग मुझे मारनेके लिये आये, जिन्होंने मुझे विष दिया, जिन्होंने आगमें जलाया, जिन्होंने दिग्गजोंसे पीड़ित कराया और जिन्होंने सर्पोंसे डँसवाया—उन सबके प्रति यदि मैं समान मित्रभावसे रहा हूँ और मेरी कभी पापबुद्धि नहीं हुई है तो उस सत्यके प्रभावसे ये दैत्यपुरोहित जी उठें।'

ऐसा कहकर उनके स्पर्श करते ही वे ब्राह्मण स्वस्थ होकर उठ बैठे और उन्होंने प्रह्लादजीको आशीर्वाद दिया।

इसपर हिरण्यकशिपुने प्रह्लादजीसे उनके इस प्रभावका कारण पूछा, तब उन्होंने बतलाया—

न मन्त्रादिकृतं तात न च नैसर्गिको मम।
प्रभाव एष सामान्यो यस्य यस्याच्युतो हृदि॥
अन्येषां यो न पापानि चिन्तयत्यात्मनो यथा।
तस्य पापागमस्तात हेत्वभावान्न विद्यते॥

(श्रीविष्णुपुराण १। १९। ४-५)

'पिताजी! मेरा यह प्रभाव न तो मन्त्रादिजनित है और न स्वाभाविक ही है, बल्कि जिस-जिसके हृदयमें श्रीअच्युत भगवान्‌का निवास होता है, उसके लिये यह सामान्य बात है। जो मनुष्य अपने समान दूसरोंका बुरा नहीं सोचता, हे तात! कोई कारण न रहनेसे उसका भी कभी बुरा नहीं होता।'

प्रह्लादजीकी भक्तिके कारण जब भगवान् प्रकट हुए, तब उन्होंने प्रह्लादजीसे वर माँगनेके लिये बार-बार कहा, फिर भी उन्होंने भगवान्से किसी बातके लिये भी प्रार्थना नहीं की; किंतु पिताके लिये प्रार्थना की कि पिताने आपके प्रभावको न जानकर आपकी बड़ी निन्दा की है और आपकी भक्ति करनेके कारण मुझसे भी द्रोह किया है। यद्यपि वे आपकी दृष्टि पड़नेसे ही पवित्र हो गये; फिर भी मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि उस महान् दोषसे मेरे पिता पवित्र हो जायँ। इसपर भगवान्‌ने कहा—'तुम्हारे पिता पवित्र हो गये, इसमें तो बात ही क्या है, वे अपनी इक्कीस पीढ़ियोंके पितरोंके साथ तर गये; क्योंकि तुम्हारे-जैसा कुलको पवित्र करनेवाला पुत्र उनको प्राप्त हुआ है।'

भक्त प्रह्लाद भगवान्‌के किये हुए विधानमें आनन्द मान रहे हैं—केवल यही नहीं, बल्कि उनमें यह विशेष बात है कि जिन्होंने उनके विपरीत आचरण किया, उनका भी उन्होंने हित ही किया। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह किसीसे भी न द्वेष करे, न किसीका बुरा करे, न किसीका बुरा चाहे, बल्कि उसका हित ही करे। अपनेपर अत्याचार करनेवाले मनुष्यकी बुद्धिके सुधारके लिये या उसके कल्याणके लिये भगवान्से याचना की जाय तो वह याचना भी सकामकी गणनामें नहीं है।

इसी प्रकार दूसरा कोई हमपर अत्याचार करने आ रहा हो और हमारा कोई हितैषी हमारे हितके लिये अत्याचारीको रोकता हो, तब भी हमको तो उस अत्याचारीका हित ही करना चाहिये। जैसे—

जब पाण्डव द्वैतवनमें थे, घोषयात्राके बहाने राजा दुर्योधन अपने मन्त्रियों, भाइयों, रनिवासकी स्त्रियों तथा बहुत बड़ी सेनाको साथ लेकर पाण्डवोंको अपना वैभव दिखलाकर दुःखी करनेके उद्देश्यसे उस वनमें गया। वह

उस सरोवरके तटपर पहुँचा, जिसको पहलेसे ही गन्धर्वोंने घेर रखा था। अतः उनके साथ दुर्योधनका युद्ध हुआ। उसमें गन्धर्वोंकी विजय हो गयी और उन्होंने रानियोंसहित दुर्योधनको कैद कर लिया। तब उसके मन्त्रीगण पाण्डवोंकी शरणमें गये। जब महाराज युधिष्ठिरको यह समाचार मिला तो उन्होंने अपने भाइयोंको कहा—'कौरव इस समय भारी संकटमें पड़े हुए हैं। भाई-बन्धुओंमें मतभेद, लड़ाई-झगड़े तो होते ही रहते हैं, कभी-कभी परस्पर वैर भी बँध जाता है, पर इससे अपनापन नष्ट नहीं होता। शरणागतोंकी रक्षा करने और कुलकी लाज बचानेके लिये तुमलोग शीघ्र गन्धर्वोंके साथ युद्ध करनेके लिये तैयार हो जाओ एवं उनके द्वारा पकड़े हुए राजा दुर्योधनको छुड़ा लाओ।' महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञा होनेपर अर्जुनने प्रतिज्ञा की कि 'यदि गन्धर्वलोग समझाने-बुझानेसे कौरवोंको नहीं छोड़ेंगे तो यह पृथ्वी आज गन्धर्वराजका रक्त पीयेगी।'

फिर भीमसेन आदि सभी गन्धर्वोंसे युद्ध करने गये। अर्जुनने अपने प्रिय मित्र चित्रसेन गन्धर्वको युद्धमें परास्त कर दिया। उस समय अर्जुनने चित्रसेनसे दुर्योधनको कैद करनेका कारण पूछा और उसे छोड़ देनेके लिये कहा। तब चित्रसेन बोला—'पाण्डवोंको दुःख देनेका दुर्योधनका भाव जानकर देवराज इन्द्रने ही मुझको यहाँ भेजा है। इस दुर्योधनने धर्मराज युधिष्ठिरको और द्रौपदीको बड़ा धोखा दिया है, इसे छोड़ना उचित नहीं है।' पर अर्जुनने कहा—'यदि तुम हमारा प्रिय करना चाहते हो तो धर्मराजकी आज्ञाके अनुसार इसे छोड़ दो।' तब चित्रसेनने रानियोंसहित दुर्योधनको छोड़ दिया। (महाभारत वन० २४० से २४६)

इस प्रसङ्गमें महाराज युधिष्ठिरका बुराई करनेवालेके साथ भी भलाई करना—यह बहुत ही उत्तम व्यवहार है। उनके इस चरित्रसे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि अपने साथ कोई असद् व्यवहार करे तो हम उसका भी हित ही करें।

मनुष्यको अपना यह उद्देश्य बना लेना चाहिये कि सबके हितके लिये अपने तन, मन, धनके द्वारा निष्कामभावसे सबकी सेवा करना । पर किसीसे सेवा करवाना नहीं। किंतु कहीं न्यायसे प्राप्त हो जाय और सेवा न करानेसे किसीको दुःख होता हो तथा वह कार्य धर्मानुकूल हो तो उसके हितके लिये ही वह सेवा स्वीकार कर लेना दोष नहीं है। कोई भी व्यक्ति हमसे मिलने आ गया या कोई न्याययुक्त कार्य आकर प्राप्त हो गया तो उस कार्यको भी निष्कामभावसे भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये तत्परताके साथ अहंकार और स्वार्थसे रहित होकर करना चाहिये। ऐसा करनेपर सभी कार्य साधनके रूपमें परिणत हो सकते हैं। जैसे एकान्तमें रहकर भजन-ध्यान, स्वाध्याय, मनन आदि करना साधन हैं। इसी प्रकार कोई मनुष्य चोरी, डकैती, बीमारी आदि आपत्तिसे ग्रस्त हो गया हो या कहीं आग लग गयी हो, अतिवृष्टिके कारण बाढ़ आ गयी हो अथवा भूकम्प, महामारी, अकाल हो गया हो और उसमें पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सभी आपत्तिमें पड़ गये हों तो वहाँ अपनी शक्तिके अनुसार तन, मन, धन लगाकर निरभिमान तथा निष्कामभावसे उनकी सेवा करना भजन-ध्यानसे कम साधन नहीं है।

साधनमें भाव ही प्रधान है, क्रिया प्रधान नहीं है। अच्छी-से-अच्छी क्रिया भी यदि भाव बुरा है तो वह नरकमें ले जा सकती है। जैसे, जप-ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना, अनुष्ठान आदि। यदि किसीके अनिष्ट या मारण-उच्चाटनके लिये किया जाय तो वह क्रिया तो बहुत अच्छी है; किंतु उस कर्ताका भाव दूषित होनेके कारण वह उत्तम क्रिया भी नरकदायिनी हो जाती है। इसी प्रकार नाली साफ करना, झाड़ू लगाना, पाखाना-पेशाब-घर साफ करना-जैसी क्रिया देखनेमें तो बहुत नीची श्रेणीकी है; किंतु करनेवाला व्यक्ति संसारके हितके उद्देश्यसे दुःखी मनुष्योंको सुख पहुँचानेके लिये, लोगोंका स्वास्थ्य ठीक रहे इस दृष्टिसे अथवा जिसके कोई करनेवाला नहीं है, ऐसे अपरिचित अनाथकी सेवाकी दृष्टिसे अभिमान और स्वार्थको त्यागकर भगवत्प्रीत्यर्थ धैर्य और उत्साहसे करे तो उसके लिये वह छोटे-से-छोटा कार्य भी कल्याण करनेवाला हो जाता है। इसी तरह न्यायसे कोई-सा भी कार्य आकर प्राप्त हो जाय तो उस कार्यको अभिमान और स्वार्थसे रहित होकर केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये किया जाय तो वह छोटे-से-छोटा कार्य भी कल्याण देनेवाला हो जाता है।

इसलिये साधकको अपने मनके सम्मुख भगवान्‌को रखकर उनकी प्रसन्नताके लिये उनके रुख, मन और सिद्धान्तके अनुसार धैर्य और उत्साहसे युक्त हो तत्परतापूर्वक बड़े चावसे कार्य करना चाहिये। इस प्रकार कार्य करनेवाले साधकको कार्यकी असिद्धिमें या झंझटसे भरे कार्योंमें भी कभी मनमें उकताहट, घबराहट या थकावट आदि

कुछ भी नहीं होती। बल्कि हर समय प्रसन्नता और शान्ति रहती है। तत्त्वज्ञ महापुरुषोंके लिये तो यह स्वभावसिद्ध है और साधकके लिये यही आदर्श साधन है। साधकके चित्तमें भी जो प्रसन्नता और शान्ति है, वह भगवान्‌की कृपा एवं प्रसन्नतासे ही है तथा दूसरे प्राणियोंकी प्रसन्नतासे जो प्रसन्नता है, वह भी एक बहुत ही उत्तम भाव है। अतः वह भी प्रकारान्तरसे भगवान्‌की प्रसन्नताके ही समान है; क्योंकि भगवान् ही सारे प्राणियोंकी आत्मा हैं। इसलिये सबकी प्रसन्नता भगवान्‌की ही प्रसन्नता है। किन्तु इसमें अपने उत्तम कार्यके कारण जो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा होती है, उसको लेकर यदि चित्तमें प्रसन्नता होती है तो वह राजसी है और निष्कामभावसे हमारा अन्तःकरण शुद्ध होगा—इस भावको लेकर जो प्रसन्नता है, वह सात्त्विकी है तथा सबका परम हित ही मेरा परम हित है—इस भावमें भी मुक्तिकी इच्छा है; अतः यह भी अन्तःकरणशुद्धिकी इच्छाकी भाँति सात्त्विक भाव ही है। किंतु मुक्तिकी इच्छा भी न रहकर, किसी भी हेतुको न लेकर जो भगवान्‌की प्रसन्नतासे ही प्रसन्नता है, वह परम सात्त्विकी है यानी सात्त्विकसे भी परेकी वस्तु है।

इस प्रकार साधन करनेवाले मनुष्यसे यदि कोई कहे कि आपके चित्तमें जो प्रसन्नता-शान्ति रहती है, धैर्य-उत्साह रहता है तथा थकावट, उकताहट या और कोई भी हर्ष-शोक, राग-द्वेषादि विकार नहीं होते, इसमें क्या कारण है, तो उसमें साधकको यही मानना और यही उत्तर देना चाहिये कि यह भगवान्‌की कृपा है। अतएव अपने ऊपर भगवान्‌की कृपा समझते हुए भगवान्‌को हर समय अपने मनके सामने रखकर भगवान्‌के रुख, मन और सिद्धान्तका खयाल करता रहे। यदि कहें कि भगवान्‌के रुखका हमें कैसे पता लगे तो इसका उत्तर यह है कि सेवाभावके प्रतापसे साधकको भगवान्‌के रुखका पता लगता रहता है, जैसे पतिव्रता स्त्रीको सेवाभावके कारण पतिके रुखका पता लगता रहता है। इसलिये जिसमें भगवान् प्रसन्न हों, जो भगवान्‌के मन और सिद्धान्तके अनुकूल हो वही कार्य करना चाहिये; फिर अप्रसन्नता, अशान्ति, दुःख, उकताहट, थकावट आदि तथा अन्य किसी प्रकारके विकार नहीं हो सकते। इस प्रकार साधन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति सहजमें और शीघ्र हो सकती है।

श्रद्धा और निष्कामभावका रहस्य

मनुष्यको जिस कार्यके लिये यह शरीर मिला है, उस कार्यमें ही इसको लगाना चाहिये। वह कार्य है—आत्माका उद्धार। आत्माके उद्धारमें प्रधान हेतु है—ईश्वर, महापुरुष, शास्त्र और परलोकपर श्रद्धा करना। आत्मोद्धारके लिये भक्ति, ज्ञान, योग, वैराग्य, सदाचार आदि जितने भी साधन बताये गये हैं उनमेंसे किसीकी भी सिद्धि बिना श्रद्धाके नहीं होती। भगवान्‌ने भी गीतामें जगह-जगह श्रद्धापर जोर दिया है। जहाँ भक्तिकी विशेष प्रशंसा की है, वहाँ श्रद्धाको लेकर ही उसकी प्रशंसा की है। भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२। २)

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।'

तथा बिना श्रद्धाके ज्ञानकी प्राप्ति भी नहीं होती। भगवान्‌ने कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

गीताके सत्रहवें अध्यायमें तो श्रद्धाका ही प्रधानतासे वर्णन है। उस अध्यायका नाम ही है—श्रद्धात्रयविभागयोग।

श्रद्धाके तीन विभाग हैं—सात्त्विक, राजस, तामस। इस अध्यायमें इसीका विवेचन है। भगवान्‌ने यज्ञ, दान, तप आदिमें सात्त्विक श्रद्धाकी विशेष प्रशंसा की है और पुरुषको श्रद्धामय बताया है—जिसकी जैसी श्रद्धा (निष्ठा) होती है, उसका वही स्वरूप है। भगवान् कहते हैं—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(गीता १७। ३)

'हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है; इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है।'

बिना श्रद्धाके तो कोई भी उत्तम कर्म हो, उसको मिथ्या माना गया है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

(गीता १७। २८)

'हे अर्जुन! बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दान, तप और जो कुछ भी शुभ कर्म है, वह सब 'असत्'— इस प्रकार कहा जाता है; इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके बाद ही।'

इन सब प्रमाणोंसे सिद्ध हुआ कि भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग—सबमें श्रद्धाकी प्रधानता है। श्रद्धाके बिना इनमेंसे किसीकी भी सिद्धि सम्भव नहीं।

ऊपर बताया गया है कि ईश्वर, महापुरुष, शास्त्र और परलोक—इन चारोंपर ही श्रद्धा-विश्वास करना परम लाभदायक है। अतः इन सभीपर श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये। वैसे, ये एक-एक ही परम कल्याण करनेवाले हैं। इनमेंसे किसी एकपर भी श्रद्धा होनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है। जिसकी इनमेंसे किसीपर भी श्रद्धा नहीं, वह नास्तिक है। उसे कहीं भी सुख-शान्ति नहीं। भगवान्‌ने बताया है—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

(गीता २। ६६)

'जिसके मन और इन्द्रिय जीते हुए नहीं हैं, उस पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें श्रद्धा भी नहीं होती तथा श्रद्धाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है?'

इसलिये ईश्वर, महापुरुष, शास्त्र और परलोकपर श्रद्धा-विश्वास करना परम आवश्यक है। ईश्वरकी सत्तामें, उनके अवतारोंमें, वचनोंमें, उनके शक्ति-सामर्थ्यमें, उनके गुण, प्रभाव, लीला और ऐश्वर्य आदिमें तथा शास्त्र और महात्मा पुरुषोंके वचनोंमें एवं परलोकमें प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास एवं परम पूज्यता और उत्तमताकी भावना होना 'श्रद्धा' कहा जाता है। और यही विश्वास जब प्रत्यक्षसे भी बढ़कर होता है, तब उसे 'परम-श्रद्धा' कहते हैं। जैसे, प्रत्यक्षमें तो एक मकान ईंट, चूना और सीमेंटका बना हुआ दीखता है; पर यदि कोई श्रद्धेय महापुरुष उसे सुवर्णका बताते हैं तो परम श्रद्धालु मनुष्यको वह मकान सुवर्णका ही दीखने लग जाता है—यह परम श्रद्धा है

श्रद्धा होनेपर मनुष्य श्रद्धेयकी आज्ञाकी कभी अवहेलना नहीं कर सकता, बल्कि वह सदा श्रद्धेयकी आज्ञाके अनुकूल ही चलता रहता है। किंतु उससे भी अधिक श्रद्धालु वह है, जो श्रद्धेयके संकेतके अनुसार कार्य करता रहता है; और वह तो परम श्रद्धालु है जो सदा उनके सिद्धान्त और मनके अनुकूल ही आचरण करता रहता है। जिस प्रकार एक पतिसेवापरायण पतिव्रताको पतिभक्तिके बलसे अपने पतिके मनके भावका पहलेसे ही पता लग जाता है, वैसे ही जिस साधककी श्रद्धेयमें परम श्रद्धा होती है, उसे श्रद्धाके बलसे उनके मनके भावका पता लग जाता है; इसलिये वह श्रद्धेयके अनुकूल ही कठपुतलीकी भाँति कार्य करता रहता है। इस प्रकार जो श्रद्धेयके आदेश, संकेत, सिद्धान्त और मनके अनुकूल अतिशय श्रद्धा, हर्ष, उत्साह और प्रसन्नतापूर्वक चलता है, उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

छान्दोग्य उपनिषद्‌के अध्याय ४, खण्ड ४ से ९ में कथा मिलती है कि जबालाके पुत्र सत्यकाम ब्रह्मज्ञानकी इच्छासे महर्षि हारिद्रुमत गौतमके पास गये। वहाँ जानेपर गुरुजीने चार सौ अत्यन्त कृश गौएँ अलग करके उनको आदेश दिया— 'सौम्य! तू इन गौओंके पीछे-पीछे जा।' गुरुजीके आदेशानुसार वे अत्यन्त उत्साह और हर्षके साथ उनको लेकर वनकी ओर गये। उस समय उन्होंने गुरुजीसे निवेदन किया—'इनकी संख्या एक हजार पूरी होनेपर मैं लौटूँगा।' ऐसा कह वे घास और जलकी अधिकतासे युक्त निरापद वनमें गौओंको ले गये और जब उनकी संख्या पूरी एक हजार हो गयी, तब लौटे। लौटते समय मार्गमें ही उनको

गुरुकृपासे बैल, अग्नि, हंस और मद्गु (जलचर पक्षी) के उपदेशद्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया।

इसी प्रकार महाभारत-आदिपर्वके तीसरे अध्यायमें गुरुभक्त आरुणिकी कथा आती है। एक दिन श्रीआयोदधौम्य ऋषिने अपने शिष्य पाञ्चालदेशवासी आरुणिको खेतपर भेजा और कहा—'वत्स! जाओ, क्यारियोंकी टूटी हुई मेड़ बाँध दो।' उनका आदेश पाते ही आरुणि वहाँ जाकर धानकी क्यारीकी मेड़ बाँधने लगा; किंतु बहुत प्रयत्न करनेपर भी बाँध न सका। अन्तमें उसे एक उपाय सूझा। वह तुरंत उस क्यारीकी टूटी हुई मेड़की जगह स्वयं ही लेट गया। इससे बहता हुआ जल रुक गया। कुछ समय पश्चात् गुरुजीने पूछा—'आरुणि कहाँ चला गया?' शिष्योंने कहा—'आपने ही तो उसको खेतमें क्यारियोंकी मेड़ बाँधने भेजा था।' बहुत विलम्ब हुआ जानकर गुरुजी स्वयं शिष्योंके साथ खेतमें गये और आवाज दी—'वत्स आरुणि! कहाँ हो? यहाँ आओ।' गुरुजीके वचन सुनते ही आरुणि उनके समीप आ खड़ा हुआ और विनयपूर्वक बोला—'भगवन्! मैं यह हूँ। आपके आदेशके अनुसार मेड़का जल रोकनेके लिये स्वयं ही वहाँ लेट गया था। अब आपके पास उपस्थित हूँ और आपके चरणोंमें अभिवादन करता हूँ। आज्ञा दीजिये, अब कौन-सा कार्य करूँ।' गुरुजीने उत्तरमें कहा—'तुम क्यारीकी मेड़का उद्दलन करके उठे हो, अतः तुम 'उद्दालक' नामसे प्रसिद्ध होगे और तुमने मेरी आज्ञाका पालन किया है, इसलिये तुम्हें कल्याणकी प्राप्ति होगी तथा सम्पूर्ण वेद और धर्मशास्त्र तुम्हारी बुद्धिमें स्वतः ही प्रकाशित हो जायँगे।' गुरुजीका आशीर्वाद पाकर आरुणि कृतकृत्य हो अपने देशको चला गया।

इस प्रकार श्रद्धेयके प्रति परम श्रद्धा होनेपर साधकको अतिशीघ्र परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

विचार करना चाहिये, हमलोग एक डाक्टरपर विश्वास करके अपना शरीर उसे सौंप देते हैं। वह कीमत लेकर दवा देता है, फीस भी लेता है और आवश्यक समझता है तो चीर-फाड़ (ऑपरेशन) भी करता है तथा कोई बड़ा ऑपरेशन होता है तो पहलेसे यह लिखवा लेता है कि इसमें प्राणोंकी जोखिम है, मैं इसका जिम्मेवार नहीं। ऐसी हालतमें यदि रोगी मर गया तो मर गया।

इसी तरह, जब किसीके कोई मुकद्दमा-मामला लग जाता है तो वह किसी वकील, बैरिस्टर, मुख्तारपर अपना सम्पूर्ण भार दे देता है। उनके नाम मुख्तारनामा लिखकर दे देता है। प्रायः वे पहले रुपये लेकर ही उसके कार्यमें खड़े होते हैं और यदि मामला खराब हो गया तो उन्हें क्या परवाह! यदि मामला बिगड़कर उस व्यक्तिकी सारी सम्पत्ति नष्ट हो जाय तो उसकी कोई जिम्मेवारी नहीं।

विचार करें—लोग ऐसे स्वार्थपरायण मनुष्योंका विश्वास करके डाक्टरोंको अपना जीवन और वकीलोंको अपनी सम्पत्तिका पूरा अधिकार सौंप देते हैं तो जिनका दूसरोंके हितके लिये ही अवतार और जन्म है, वे परम निःस्वार्थी ईश्वर और महात्मा क्या इतने भी विश्वासके पात्र नहीं हैं? तथा शास्त्रोंमें तो अच्छी शिक्षाके सिवा दूसरी बात ही नहीं है और परलोकको तो कोई न भी माने तो भी वह कायम ही है। मनुष्य जो कुछ अच्छा-बुरा कर्म करता है, उसका फल उसे अवश्य मिलेगा—यह युक्तिसंगत, न्यायसंगत और यथार्थ है। सारी दुनियाके लोग सिद्धान्तरूपसे यह कहते भी हैं कि अच्छेका फल अच्छा और बुरेका फल बुरा होकर ही रहता है।

फिर भी आप कहते हैं कि परलोक नहीं है और मैं कहता हूँ कि परलोक है। थोड़ी देरके लिये मान लीजिये, परलोक नहीं है और आपकी बात ही ठीक है। जब परलोक नहीं है तो वह आपके लिये भी नहीं है और मेरे लिये भी नहीं है। इसमें आपके और मेरे दोनोंके लिये समान ही बात है। आपकी बात सत्य होनेपर भी आपको तो क्या विशेष लाभ है और मेरी बात मिथ्या होनेपर भी मुझे क्या हानि है? यदि आप कहें कि परलोक मानकर आप जो यज्ञ, दान, तीर्थ, व्रत, सेवा, पूजा, भक्ति, परोपकार आदि कार्योंमें अपना समय, श्रम और धन व्यय करेंगे, वह व्यर्थ जायगा तो इसका उत्तर यह है कि यदि आप इन अच्छे कार्योंमें धनादि व्यय नहीं कर रहे हैं और नाना प्रकारसे परिश्रम करके धन एकत्र कर रहे हैं तो विचार कीजिये, मरनेके बाद आपको सब कुछ यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा। आपके मरनेके बाद बचे हुए धनकी क्या दशा होगी—यह तो भविष्यके ही गर्भमें है। निश्चय है कि स्वयं समझ-बूझकर परोपकारमें खर्च करनेकी अपेक्षा तो उसकी बुरी दशा ही होगी। सरकार, भाई-बन्धु आदि किसीके भी हाथमें वह जायगा तो उसका उपयोग आपकी इच्छाके अनुकूल कहाँतक होगा—यह विचारणीय ही है और यदि मेरा धन परोपकारके कार्यमें व्यय होगा तो किसीके तो काम आयेगा ही। मुझे मनुष्यताके नाते यह समझना ही चाहिये कि उनको जो लाभ है, वह मुझको ही है।

मेरी सम्पत्ति और मेरा शरीर यदि दूसरेके काममें आ गया तो मेरा जीवन सफल हो गया। इसलिये परलोकको मानकर यज्ञ-दानादिमें समय, श्रम और धन लगानेसे मुझे कोई हानि नहीं है, बल्कि लाभ-ही-लाभ है।

किंतु मान लीजिये, यदि मेरी बात ही सत्य हो, परलोक निश्चित हो तो यदि मैं सकामभावसे यज्ञ, दान, तप, परोपकार आदि करूँगा तो उसका फल मुझे इस लोक और परलोकमें मिलेगा और यदि मैं निष्कामभावसे सब कुछ भगवान्‌का ही समझकर, भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार, भगवान्‌के लिये ही करूँगा तो मुझे प्रत्यक्ष परम शान्ति और अन्तमें परम कल्याण प्राप्त होगा, जिससे मेरा मनुष्यजन्म सफल हो जायगा।

किंतु जब आपको परलोकपर विश्वास ही नहीं, तब निष्कामभावसे करना तो दूर रहा, सकामभावसे भी इन सबको आप क्यों करेंगे? अतः आप कर्तव्यसे च्युत होकर दोनों प्रकारके लाभसे ही वञ्चित रहेंगे। इतना ही नहीं, यदि आप शास्त्रविरुद्ध पापकर्म करेंगे तो आपको घोर नरकोंकी प्राप्ति होकर सदाके लिये महान् दुःखकी प्राप्ति होगी।

अतः आपकी बात सत्य होनेपर भी मेरी कोई हानि नहीं है और मेरी बात सत्य होनेपर मेरे तो लाभकी सीमा नहीं और आपकी हानिकी सीमा नहीं तथा आप लाभसे वञ्चित रहकर उलटे खतरेमें पड़ेंगे। इसलिये संदेहयुक्त विषय होनेपर भी परलोकको न माननेकी अपेक्षा उसे माननेमें ही सब प्रकारसे लाभ-ही-लाभ है, इसी प्रकार ईश्वर, महापुरुष और शास्त्रपर श्रद्धा करनेके विषयमें समझ लेना चाहिये।

हमलोग जो श्रद्धा-विश्वास करनेके योग्य नहीं, उन स्वार्थपरायण डाक्टर, वकील, वैरिस्टर आदिपर तो श्रद्धा-विश्वास करते हैं और जो श्रद्धा-विश्वास करनेयोग्य हैं, उन ईश्वर, महापुरुष, शास्त्र और परलोकपर श्रद्धा-विश्वास नहीं करते—यह हमारी कितनी भारी मूर्खता है! इसपर विचार करना चाहिये और विचार करके उससे लाभ उठाना चाहिये।

संसारमें प्रायः सभी मनुष्य अर्थके दास हो रहे हैं। लोगोंमें स्वार्थपरायणता बहुत अधिक मात्रामें बढ़ रही है। स्वार्थकी मात्रा बढ़ जानेके कारण ही लोग अध्यात्म-विषयसे वञ्चित-से ही हो रहे हैं किंतु विचार करना चाहिये कि अर्थसे तो मनुष्यको केवल सांसारिक सुख ही मिल सकता है और वह सांसारिक सुख वास्तवमें सुख ही नहीं है, दुःख ही सुखके रूपमें प्रतीत हो रहा है। थोड़ी देरके लिये यदि उसे सुख भी मान लिया जाय तो परमानन्दमय परमात्माकी तुलनामें वह प्रतीत होनेवाला सारे ब्रह्माण्डका सुख मिलकर भी समुद्रकी तुलनामें एक बूँदके समान भी नहीं है। किंतु बूँदमात्र सुखकी तुलना भी तब की जाय जब वह वास्तवमें सुख हो। वह तो सुखकी प्रतीतिमात्र ही है, वास्तवमें सुख है ही नहीं।

फिर अर्थसे मिलनेवाला सुख राजस या तामस होता है। सात्त्विक सुख तो भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सत्सङ्ग, स्वाध्याय, सदाचार आदिसे प्राप्त होता है, अर्थसे नहीं। इसलिये हमलोगोंको अर्थमें ही रचे-पचे रहकर अपने जीवनको कलङ्कित क्यों बनाना चाहिये? मरनेके बाद तो हमारा इस अर्थसे सम्बन्ध रहता ही नहीं। हाँ, अर्थसंग्रहमें जो नाना प्रकारके पाप किये जाते हैं, उनका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। आजकल सरकारी कानूनके अनुसार जो अनेक प्रकारके कर (टैक्स) लागू हो गये हैं, उनसे धनको बचानेके लिये सरकारके साथ एवं धनके लिये भाई-बन्धु और संसारके अन्य मनुष्योंके साथ भी लोग नाना प्रकारकी झूठ, कपट, बेईमानी, दगाबाजी, धोखेबाजी करते हैं; किंतु इस प्रकार अन्यायोपार्जित द्रव्यसे वर्तमान कालमें सात्त्विक सुख भी नहीं मिल सकता, फिर सम्पूर्ण गुणोंसे सर्वथा अतीत सच्चिदानन्द परमात्माका प्राप्त होना तो बहुत दूर रहा, उलटे मरनेपर किये हुए पापोंके फलस्वरूप भयानक दुःखोंका उपभोग करना पड़ता है। इसलिये यदि अपना कल्याण चाहें तो अर्थको महान् अनर्थ मानकर हृदयसे इस लाभका त्याग कर देना चाहिये।

क्योंकि मरनेके बादकी बात तो दूर रही, जीते हुए भी आप अपनी इच्छाके अनुसार इसका उपयोग नहीं कर सकते। धनको अच्छे कार्यमें लगानेकी आपकी इच्छा होनेपर भी आप नहीं लगा सकते। इसमें एक तो आपकी आसक्ति बाधक होती है, दूसरे भाई-बन्धु बाधक हो जाते हैं एवं इसकी रक्षाके लिये भी बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। चोर, डाकू, याचक और सरकार—सबसे छिपाकर रखना पड़ता है। यदि कहीं धनका विनाश हो गया तो दुःख होता है, वियोग हो गया तो दुःख होता है, खर्च करनेमें भी दुःख होता है तथा उसे छोड़कर जानेके समय जो दुःख होता है, उसकी

तो कोई सीमा ही नहीं है।* इसलिये न्यायपूर्वक भी धनसंचय करनेमें कोई लाभ नहीं है; फिर अन्यायपूर्वक धनसंचय करनेका तो प्रश्न ही क्या है।

एवं निष्कामभावका तो बड़ा भारी महत्त्व है। उसका तत्त्व भलीभाँति समझकर उससे लाभ उठाना चाहिये। एक मनुष्य अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये आपके साथ बर्ताव करता है और दूसरा मनुष्य अपना स्वार्थ त्यागकर आपके भलेके लिये ही चेष्टा करता है। आपको प्रत्यक्ष ही उस स्वार्थी मनुष्यका व्यवहार विषतुल्य और निःस्वार्थी मनुष्यका व्यवहार अमृततुल्य लगता है। इसी कारण स्वार्थीकी अपेक्षा निःस्वार्थी मनुष्य आपको बहुत अच्छा लगता है और यह उचित ही है; क्योंकि यह सभीका प्रत्यक्ष अनुभव है। निःस्वार्थभावसे व्यवहार करनेवाला सबको प्रिय होता है। अतः हमलोगोंको इस अनुभवसे लाभ उठाकर सबके साथ निःस्वार्थभावसे ही व्यवहार करना चाहिये।

इतना ही नहीं, निःस्वार्थ व्यवहार करनेवालेका कल्याण होता है, उसका जन्म सफल हो जाता है, इस लोकमें भी उसे प्रत्यक्ष परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति होती है।

किंतु जो मनुष्य मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके उद्देश्यसे ही सबके हित (उपकार)के लिये अपना तन, मन, धन, जीवन लगाता है तो न लगानेकी अपेक्षा तो यह मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये लगाना भी उत्तम है। पर निष्काम भावमें यह कलङ्क है। अतः मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये न लगाकर अपना परम कर्तव्य समझते हुए परहितमें इन सबको लगाना अमृत है, इसलिये वह जीवनको उज्ज्वल बनानेवाला है। स्वार्थके त्यागसे जो वास्तविक शान्ति मिलती है, वह किसीसे भी नहीं मिलती। लोग स्वार्थत्यागका तत्त्व नहीं जानते—'निष्काम' शब्द सुनते हैं, गीतादि शास्त्रोंमें भी पढ़ते हैं, पर उसका रहस्य न जाननेके कारण उसके लाभसे वञ्चित रहते हैं।

जो लोग परोपकारके लिये अपना तन, मन, धन देते हैं, वास्तविक तत्त्व न समझनेके कारण उनका वह देना भी लेनेके समान ही होता है। जैसे, हमने अहंकारपूर्वक अपना तन, मन, धन किसीको दिया और यह कहा कि हम तो अपने आत्माके कल्याणके लिये निष्कामभावसे उसकी सेवा करते हैं। हमारे ये शब्द सुनकर जिसका हमने उपकार किया, उस उपकृत मनुष्यके मनमें संकोच होता है, दुःख होता है। फिर भी वह हमारा भला चाहता है। हमने तो अपने कल्याणके लिये उसको तन, मन, धन आदि दिया था और उसने हमको कल्याणका आशीर्वाद दिया। अतः वह हमारा आत्मकल्याणके उद्देश्यसे देना भी लेनेके समान ही है। यदि हम मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये दें तो वह तो निम्नश्रेणीका है ही। इसलिये हमको इस उद्देश्यसे देना चाहिये कि ये सब भगवान्‌की वस्तुएँ हैं, मैं भी भगवान्‌का हूँ, भगवान्‌की ही प्रेरणासे भगवान्‌के लिये ही दिया गया है, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। इस प्रकारका भाव बहुत उत्तम है। इसमें यदि मैं देनेका अभिमान करूँ कि मैं तो दाता, उपकारी हूँ और वह ग्रहीता, उपकृत है तो यह अभिमान करना मेरी मूर्खता है। हमलोगोंको उपर्युक्त उत्तम भाव रखकर ही सेवा करनी चाहिये।

यद्यपि हम दूसरोंसे सेवा या दूसरेके हककी कोई वस्तु आदि किंचिन्मात्र भी किसी प्रकार भी लेना नहीं चाहते, किंतु हमारे द्वारा सेवा न करानेसे तथा उनकी दी हुई वस्तु स्वीकार न करनेसे हमारे नौकर, स्त्री, पुत्र, मित्र, बन्धु-बान्धव आदिको दुःख होता है और ले लेनेसे उनको संतोष होता है तो हमारा वह लेना देनेके समान ही है। कोई भी सगा-सम्बन्धी, भाई-बन्धु या मित्र मिठाई-फल आदि देते हैं तो उसको यदि 'हम किसीका कुछ भी नहीं लेते और न किसीके द्वारा सेवा कराते हैं'—यों अहंकारपूर्वक मनमें ऐंठ रखकर हम नहीं लेते तो यह त्याग भी त्यागका फल नहीं दे सकता। किंतु उनके सुख और प्रसन्नताके लिये यदि उसे ग्रहण

* श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये। नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः। भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्। तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥ (११। २३। १७—१९)

'धन कमानेमें, कमा लेनेपर उसको बढ़ाने, रखने और खर्च करनेमें तथा उसके नाश और उपभोगमें मनुष्योंको परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रमका ही सामना करना पड़ता है। चोरी, हिंसा, असत्य, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, मद (अहंकार), भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जुआ और शराब—ये पंद्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनके कारण ही माने गये हैं। इसीलिये कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि स्वार्थ और परमार्थके विरोधी इस अर्थनामधारी अनर्थको दूरसे ही छोड़ दे।'

कर लें तो वह ग्रहण भी त्यागसे बढ़कर है। वह लेना भी देनेके समान है; क्योंकि उसने अपने कल्याणके लिये हमको समय या पदार्थ दिया और उसको उस छोटी-सी वस्तु देनेके फलस्वरूप महान् पदार्थ कल्याण मिला। अतः उस वस्तुका स्वीकार करना हमारे लिये दोष नहीं है। किंतु हमें यह अभिमान मनमें नहीं करना चाहिये कि हमारे द्वारा सेवा स्वीकार करनेसे उनका कल्याण होता है और हमें कोई हानि नहीं है, इस प्रकारका अभिमान होना निष्कामभावमें कलङ्क है।

एक महात्मा पुरुषकी हम अन्न, वस्त्र, पदार्थ और शरीरके द्वारा सेवा करते हैं, उसमें हमारा भी निष्कामभाव है और उनका भी निष्कामभाव है तो उसमें दोनोंका ही कल्याण है। महापुरुष अनावश्यक वस्तुको तो स्वीकार करते ही नहीं, आवश्यक वस्तुको इसलिये स्वीकार करते हैं कि इसको दुःख न हो। इसलिये नहीं कि मैं महात्मा हूँ और मेरा सेवा कराना कर्तव्य है एवं इसका सेवा करना कर्तव्य है। यों अपने अच्छेपनका अभिमान करना तो कलङ्क है। सेवा करनेवाला यदि इस भावसे सेवा करता है कि ये महात्मा हैं, इनकी सेवा करनेसे मेरा कल्याण होगा तो उसके लिये यह भाव अच्छा है; किंतु इससे भी उत्तम भाव यह है कि ये सब वस्तुएँ भगवान्की हैं, ये भगवत्स्वरूप हैं, भगवान्की दी हुई वस्तुएँ भगवान्की प्रेरणासे भगवान्के काममें लग रही हैं। भगवान्की मुझपर विशेष दया है, जो वे मुझे इसमें निमित्त बना रहे हैं। इस प्रकार अपने कल्याणकी इच्छा भी न रखना सर्वोत्तम है। महात्मा तो कल्याणस्वरूप हैं ही, यह उत्तम भावसम्पन्न साधक भी कल्याणस्वरूप ही है।

बहुत-से लोग रोग या संकटकी निवृत्तिके लिये अथवा स्त्री, पुत्र, धन आदिकी प्राप्तिके लिये सकाम-भावसे विधि-विधान और श्रद्धापूर्वक यज्ञ, दान, तप, देवाराधन आदि अनुष्ठान करते हैं। सो न करनेकी अपेक्षा उनका सकामभावसे करना भी उत्तम है; किंतु इसकी कीमत कौड़ियों या घुँघचियोंके समान है। वही यज्ञ, दान, तप, देवाराधन आदि अनुष्ठान यदि विधिपूर्वक निष्कामभावसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये करें तो वह उससे लाखों गुना श्रेष्ठ है; उसकी कीमत पारससे भी अत्यन्त बढ़कर है। इसीलिये तो श्रीरामचरितमानसमें कहा गया है—

ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

(उत्तर० ४४। २)

जो मनुष्य निष्कामभावका तत्त्व-रहस्य जान जाता है, वह देवता, मनुष्य, महात्मा या अन्य किसी भी प्राणीसे कभी कोई कामना नहीं करता। जाग्रत्की तो बात ही क्या, उसके हृदयमें स्वप्नमें भी कोई कामनाका भाव उदय नहीं होता।

इस प्रकार श्रद्धा और निष्कामभावका तत्त्व-रहस्य भलीभाँति समझकर श्रद्धा करनेयोग्य ईश्वर, महापुरुष, शास्त्र और परलोकपर परम श्रद्धा करके उनके मनोऽनुकूल चलना एवं निष्कामभावसे सबके हितमें तत्पर रहना मनुष्यका परम कर्तव्य है।

सबसे भगवद्बुद्धिपूर्वक समान और निष्काम प्रेम करनेसे भगवत्प्राप्ति

श्रीभगवान् प्रेमस्वरूप और चिन्मय हैं। यद्यपि प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमी—इनके नाम और स्वरूप अलग-अलग कहे जाते हैं; किंतु वास्तवमें एक भगवान् ही तीनों रूपोंमें प्रकट हैं। भगवत्प्रेमी पुरुष जब भगवान्को प्राप्त हो जाता है तब वह भगवान्में ही तद्रूप हो जाता है; फिर वह भगवान्से अलग नहीं समझा जाता। सबके प्रेमास्पद एक भगवान् ही हैं और प्रेम तो भगवान्का स्वरूप है ही। चाहे यों समझें कि प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमीके रूपमें प्रेम ही प्रकट हुआ है अथवा यों समझें कि भगवान् ही इन तीनों रूपोंमें हैं—दोनों एक ही बात है। जैसे सोनेके कुण्डल, कंठी, कड़े आदिके नाम-रूप अलग-अलग हैं; किंतु वस्तुसे वह सब एक सोना ही है—

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣲस्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्।

(छान्दोग्य उप० ६। १। ५)

(अपने पुत्र श्वेतकेतुके प्रति उद्दालकने कहा—)

'सौम्य! जिस प्रकार एक लोहमणि (सुवर्ण) का ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण सुवर्णमय पदार्थ जान लिये जाते हैं; क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, सत्य केवल सुवर्ण ही है।'

वैसे ही कहनेके लिये तो प्रेम, प्रेमास्पद, प्रेमी—इनके नाम-रूप पृथक्-पृथक् हैं, किंतु वस्तुतः एक प्रेम

ही है और यह प्रेम भगवत्स्वरूप, चिन्मय और दिव्य है। जो लौकिक प्रेम होता है। वह इस प्रेमस्वरूप भगवान्के एक अंशका प्रतिबिम्बमात्र है। इसलिये उसको प्रेम न कहकर आसक्ति या स्नेह कहना चाहिये।

श्रीभगवान्में अनन्य और विशुद्ध प्रेम होनेपर भगवान्की प्राप्ति शीघ्र होती है। 'अनन्य' का अभिप्राय है भगवान्के सिवा अन्य किसीमें भी प्रेम न हो और 'विशुद्ध' का अभिप्राय है अन्य किसी भी प्रकारकी कामना न हो—पूर्ण निष्कामभाव हो। इस असली प्रेमकी प्राप्तिके लिये साधकोंको सबमें भगवद्बुद्धि करनी चाहिये। गीतामें भगवान्ने बतलाया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें यथार्थ ज्ञानको प्राप्त पुरुष, 'सब कुछ वासुदेव ही हैं'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

यदि 'सभी भगवान्का स्वरूप है'—यह बुद्धि न हो तो 'सबमें भगवान् हैं'—यह निश्चय करना चाहिये।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

यदि यह निश्चय भी न हो तो 'सब कुछ भगवान्का' समझकर सबकी सेवा करनेसे भी प्रेम होकर भगवान्की प्राप्ति हो जाती है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

इसलिये भगवान्की प्राप्तिके उद्देश्यसे सबके साथ समभाव रखते हुए निष्काम प्रेम किया जाय तो वह भगवान्से ही प्रेम करना है। जो उच्चकोटिके महापुरुष होते हैं, उनका तो सबमें स्वाभाविक समभाव रहता है और साधकके लिये वही साधन है। अतः साधकको उन महापुरुषोंका अनुकरण करना चाहिये। गीतामें महापुरुषोंके समभावका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(५। १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं।'

यहाँ 'समदर्शन' का अभिप्राय 'समभावसे अनुभव करना' है। श्लोकमें 'समदर्शन' है 'समवर्तन' नहीं; क्योंकि सबके साथ समान बर्ताव हो भी नहीं सकता। बर्ताव तो यथायोग्य ही हो सकता है। दूध तो गौका ही पीया जा सकता है, हथिनी और कुतियाका नहीं; सवारी हाथीकी की जाती है, गौ और कुत्तेकी नहीं। पाखानोंकी सफाई चाण्डाल (मेहतर) से ही करायी जा सकती है, ब्राह्मणसे नहीं। घास हाथी और गौको खिलाया जा सकता है, कुत्ते, चाण्डाल और ब्राह्मणको नहीं। एवं जैसे हम अपने मस्तकसे ब्राह्मण-जैसा, हाथोंसे क्षत्रिय-जैसा, जङ्घासे वैश्य-जैसा और पैरोंसे शूद्र-जैसा बर्ताव करते हैं, किसीका विशेष आदर करते हैं तो उसके चरणोंमें मस्तक नवाते हैं अथवा हाथ जोड़ते हैं और किसीके भूलसे भी हमारा पैर लग जाता है तो हाथ जोड़ते हैं, क्षमा-याचना करते हैं। इस प्रकार सारे अङ्गोंका व्यवहार भिन्न-भिन्न होते हुए भी सारे अङ्गोंमें अपनापन और प्रेम समान ही है—उसमें कोई भेद नहीं रहता। इसी प्रकार सबसे यथायोग्य भिन्न-भिन्न बर्ताव करते हुए भी सबमें आत्मभाव, भगवद्भाव, प्रेमभाव समानरूपसे होना चाहिये। महापुरुषोंका तो यावन्मात्र सभी प्राणियोंमें स्वाभाविक ही समभाव रहता है, अतः वे ही प्रशंसनीय हैं—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(गीता ६। ९)

'सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

साधारण मनुष्योंका वैरीमें द्वेष और मित्रमें प्रेम होता है। सुहृद्में प्रेम और द्वेष्यमें द्वेष होता है। धर्मात्मामें प्रेम और पापीमें द्वेष होता है। बन्धु-बान्धवोंमें प्रेम और

अन्य लोगोंमें द्वेष या उपेक्षाबुद्धि होती है। किंतु भगवत्प्राप्त महापुरुषोंका तो सदा ही सबमें समान भाव रहता है, किसीमें भी कभी भेदभाव नहीं रहता। अत: हमलोगोंको सबके प्रति समान और निष्कामभावसे प्रेम करना चाहिये।

भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार, भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रीति अथवा भगवान्‌के ही लिये जो किसीके साथ भी निष्काम-भावसे प्रेम किया जाता है उसका फल भगवत्प्राप्ति ही है। अत: सबको भगवान्‌का स्वरूप समझना या सबमें भगवान्‌को व्यापक समझना अथवा सब कुछ भगवान्‌का समझना— इन तीनोंमेंसे जो भाव जिसके अनुकूल हो, जिसमें जिसकी श्रद्धा-रुचि हो वही उसके लिये सबसे बढ़कर है। उसीको अपनाकर सबके साथ प्रेम करना चाहिये।

कुछ काल पूर्व तो यह देखा जाता था कि कितने ही साधक दूसरे साधकको देखकर खुश हो जाते, मग्न हो जाते, हरे-भरे हो जाते और उसमें गुणबुद्धि करते थे। दोषबुद्धि तो उनकी कभी होती ही नहीं थी। अपनेसे एक-दूसरेमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सद्गुण और सदाचार अधिक दीखते एवं ये सब मुझमें आवें—ऐसी आकाङ्क्षा रखते; किंतु आजकल तो कई लोग दूसरेमें दोषबुद्धि करके उसमें अवगुण-ही-अवगुण देखते हैं, यह प्रत्यक्ष पतनका मार्ग है। इसी कारण अधिकांश साधकोंकी उन्नति नहीं होती।

यह सारा संसार भगवान्‌का ही संकल्प होनेसे भगवान्‌का ही स्वरूप है। अत: सबमें भगवद्भाव करके हम निरभिमान और निष्कामभावसे सबकी सेवा करें तो यह बहुत ही उत्तम साधन है। किंतु ऐसा भाव न हो तो आकाशकी भाँति भगवान् सबमें व्यापक हैं—यह तो युक्तिसंगत और शास्त्रसंगत है ही, इसलिये हमारा यह भाव तो प्राणिमात्रमें, जड़-चेतन सभीमें स्वाभाविक ही होना चाहिये। जिसका ऐसा भाव हो जाता है उसके द्वारा दूसरेका अनिष्ट तो कभी हो ही नहीं सकता, वरं सबमें स्वाभाविक ही समता और प्रेम बढ़ने लगता है। यह निश्चित है कि दूसरेमें दोष-बुद्धि होनेसे ही द्वेषभावकी वृद्धि होती है और गुणबुद्धि होनेसे स्वाभाविक ही प्रेम होता है। मनुष्यकी तो बात ही क्या, हमारे सम्मुख कोई भी प्राणी आवे, उसमें भगवान्‌को व्यापक समझकर हमें प्रसन्न होना चाहिये। दोष तो अपने सुधारके लिये केवल अपनेमें ही देखना चाहिये। अपने दोषोंको देखनेपर वे दोष ठहरते नहीं। दूसरोंमें तो सभीमें गुणबुद्धि ही होनी चाहिये, दोषबुद्धि तो होनी ही नहीं चाहिये। दूसरोंमें दोषबुद्धि करनेसे बड़ी भारी हानि है। दोष तो मलके समान है। मलके साथ किसी वस्त्र या अङ्गका स्पर्श हो जाता है तो वह गंदा हो जाता है। यदि हम दूसरेके दोषोंको नेत्रोंसे देखते हैं तो हमारे नेत्र गंदे हो जाते हैं, कानोंसे सुनते हैं तो कान गंदे हो जाते हैं, वाणीसे किसीके दोषकी चर्चा करते हैं तो वाणी गंदी हो जाती है और मनसे परदोषचिन्तन करते हैं तो मन गंदा हो जाता है। इस तरह दोषोंके सङ्गसे मनुष्य मलिन होकर उसका पतन हो जाता है।

यही नहीं, दूसरोंके दोषोंका कथन, श्रवण, दर्शन और चिन्तन करनेमें और भी अनेक दोष हैं—

(१) दूसरोंमें अवगुणबुद्धि होनेसे उसके प्रति घृणा होती है और अपनेमें अच्छेपनका अभिमान बढ़ता है जो महान् हानिकर है।

(२) दूसरोंकी निन्दा करने और सुननेसे जिसकी हम निन्दा करते या सुनते हैं, उसे बड़ा दु:ख होता है तो यह भी हमको पाप लगता है।

(३) दूसरोंके दोषोंके चिन्तन, दर्शन, श्रवण और कथनसे उनके संस्कार बीजरूपसे हमारे अन्त:करणमें जमते हैं, जो भविष्यमें वृक्षरूप होकर हमें भी वैसा ही दोषी बना देते हैं।

(४) किसीके भी दोषोंकी आलोचना करने, सुनने और कहनेसे उस पापीके पापके अंशका भागी बनना पड़ता है यानी आंशिकरूपसे उस पापका फलभोग हमें भी करना पड़ता है।

इन सब बातोंको विचारकर मनुष्यको उचित है कि दूसरोंके अवगुण, दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसनको न कभी देखे, न आलोचना करे, न संकल्प करे, न कहे और न सुने; क्योंकि ये सभी कर्म पापमय, महान् हानिकर एवं पतनकारक हैं। अत: कल्याणकामी मनुष्यको इनसे सर्वथा बचकर रहना चाहिये; क्योंकि इन दोषोंके रहते हुए सबमें प्रेम होना तो दूर रहा, उलटे द्वेषकी ही वृद्धि होती है। प्रेम तो सबमें गुणबुद्धि करनेसे होता है।

यदि मनुष्य स्वार्थभावसे भी किसीसे प्रेम करे तो इसके फलस्वरूप इस लोकमें उसके स्वार्थकी सिद्धि होती है, कीर्ति होती है और मरनेके बाद उसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। किंतु यदि सबसे निष्काम और समान भावसे प्रेम किया जाय तब तो उसे परमात्माकी प्राप्ति ही हो जाती है।

अपने साथ कोई प्रेम करे तो उसके साथ तो प्रेम

करना ही चाहिये; क्योंकि मनुष्यकी तो बात ही क्या, पशु-पक्षी भी अपने साथ प्रेम करनेवालेसे प्रेम करते हैं; किन्तु साधकोंको तो सभीसे प्रेम करना चाहिये। जो उनके साथ प्रेम न करें, उनके साथ भी उन्हें प्रेम ही करना चाहिये। बल्कि जो उनके साथ द्वेष करें उनके साथ भी उन्हें प्रेम ही करना चाहिये।

सबसे प्रेम होनेके लिये और प्रेमकी वृद्धिके लिये निरभिमान और निष्कामभावसे उनकी सेवा करना, हरेक प्रकारसे उनको सुख पहुँचाना और उनमें गुण-बुद्धि करके उनके गुणोंका ही दर्शन, आलोचना, कथन और गायन करना चाहिये। इससे ऊँचे-से-ऊँचे और नीचे-से-नीचे व्यक्तिमें भी प्रेम हो सकता है। हम भगवान्‌की सेवा करें, उनका गुणगान करें तो भगवान्‌में, महापुरुषोंकी सेवा और गुणगान करें तो महापुरुषोंमें एवं किसी साधारण पुरुषकी सेवा और गुणगान करें तो उस साधारण पुरुषमें स्वाभाविक ही प्रेम हो जाता है। कहाँतक कहा जाय, यदि हम दुष्ट, पापी और नीचकी भी सेवा-शुश्रूषा करें, उसे सुख पहुँचावें और उसके सच्चे गुणोंका कथन करें तो उसमें भी प्रेम हो जाता है, फिर औरोंकी तो बात ही क्या है। यही नहीं, जो हमारे साथ असद् व्यवहार करे, हमारा अनिष्ट या अहित करे, उसका भी हमें हित ही करना चाहिये। जैसे, धृतराष्ट्रने कुन्तीको वारणावत नगरमें पुत्रोंसमेत जलानेका प्रबन्ध किया और बारंबार उसके साथ बुरा व्यवहार किया; किंतु कुन्तीने उनके दुर्व्यवहारको भूलकर गान्धारी और धृतराष्ट्रकी आजीवन सेवा ही की (देखिये महाभारत आदिपर्व १४४ से १४७; आश्रमवासिकपर्व १-२, १५—१९)। हमें भी कुन्तीके इस आचरणको आदर्श मानकर अहित करनेवालेके साथ भी हित ही करना चाहिये।

कोई भी मनुष्य हमारे सन्मुख उपस्थित हो, हमारी किसीसे भी भेंट हो, हमें 'उसका हित कैसे हो'—यह सोचकर उसकी निष्कामभावसे सेवा करनी चाहिये; उसके गुणोंको देख-देखकर मुग्ध होना चाहिये, प्रसन्न होना चाहिये, हरा-भरा हो जाना चाहिये और गुणग्राही बनना चाहिये। संसारमें ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं, जिसमें दोष-ही-दोष हो, कोई गुण न हो और ईश्वर एवं महात्माको छोड़कर ऐसा भी कोई व्यक्ति नहीं जिसमें गुण-ही-गुण हो, कोई अवगुण न हो।

अतएव मनुष्यको सिद्धान्तरूपसे अपना यह उद्देश्य बना लेना चाहिये कि सबके साथ समान और विशुद्ध निष्काम प्रेम हो। ऐसा लक्ष्य बनाकर अभिमान और स्वार्थसे रहित हो सबके साथ विनय और प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिये। किसीसे भी जो भगवत्प्रीतिके लिये प्रेम किया जाता है, वह भगवान्‌के साथ ही है। अतएव साधकोंको उचित है कि सबको भगवत्स्वरूप या सबमें भगवान्‌को व्यापक अथवा सब कुछ भगवान्‌का समझकर सबके साथ भगवत्प्रीत्यर्थ निष्काम प्रेम बढ़ावें। इससे सारे दोषोंका सर्वथा अभाव होकर परम प्रेम-स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रेमी भक्त उद्धवके प्रति कहा है—

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम्।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः॥
इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते।
सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः॥
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥
नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १२—१५)

'शुद्धान्तःकरण पुरुष आकाशके समान बाहर और भीतर परिपूर्ण एवं आवरणशून्य मुझ परमात्माको ही समस्त प्राणियोंके और अपने हृदयमें स्थित देखे। महान् तेजस्वी उद्धव! जो साधक केवल इस ज्ञानदृष्टिका आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंमें मेरे स्वरूपका अनुभव करता है और उन्हें मेरा ही रूप मानकर आदर-सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मणभक्त, सूर्य और चिनगारी एवं कृपालु और क्रूरमें समान दृष्टि रखता है, वही सच्चा ज्ञानी माना गया है। जब निरन्तर सभी नर-नारियोंमें मेरी ही भावना की जाती है तब शीघ्र ही साधकके चित्तसे अहंकारसहित स्पर्धा, ईर्ष्या, तिरस्कार आदि सारे दोष दूर हो जाते हैं।

समताका महत्त्व

साधककी उच्चस्थितिके लिये समभाव परम आवश्यक है। राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होनेपर ही समभाव प्राप्त हो सकता है। इसलिये भगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट कहा है कि साधकको राग-द्वेषके वशमें नहीं होना चाहिये। ये दोनों इसके परिपन्थी अर्थात् साधनके विरोधी हैं (गीता ३। ३४)। इनसे रहित होकर कर्तव्यका पालन करनेवाला मनुष्य निःसंदेह परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता २। ६४-६५)। अतः साधकको चाहिये कि राग-द्वेषका सर्वथा त्याग करके अपने हृदयमें समभावकी स्थापना करे। समता ही वास्तवमें योग है (गीता २। ४८)। गीताके अध्याय ६ में भगवान्‌ने ध्यानयोगका वर्णन आरम्भ करनेके पहले इस समभावका महत्त्व इस प्रकार वर्णन किया है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(६। ७—९)

'सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित है अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

इसके सिवा गीतामें भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्तका लक्षण करते हुए भी स्पष्ट कहा है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

(१२। १८-१९)

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी, गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और शरीरमें तथा रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।'

इस प्रकरणमें हर्ष, शोक, द्वेष, चिन्ता और कामनाका अभाव दिखाकर भी राग-द्वेषके अभावका और समताका ही महत्त्व प्रकट किया गया है तथा गीता अध्याय १४ में गुणातीत, भगवत्प्राप्त पुरुषका लक्षण करते हुए भी स्पष्ट कहा है कि—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

(१४। २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है। जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

अतः साधकको चाहिये कि हरेक स्थितिमें भगवान्‌का आश्रय लेकर सर्वत्र समभावसे प्रभुका चिन्तन करते हुए राग-द्वेष आदि विषम भावनाका सर्वथा त्याग कर दे। किसीको भी बुरा न समझे और किसीके दोष न देखे। किसीके भी दोषोंका वर्णन या चिन्तन न करे। अपने अन्तःकरणमें समान भावसे सब प्राणियोंके हितकी भावनाको स्थायी करे। भगवान्‌ने निर्गुण निराकारकी उपासनाका वर्णन करते हुए भी साधकको **'सर्वभूतहिते रताः'** का विशेषण दिया है (गीता १२। ४)। अध्याय ५ श्लोक २५में भी विषमताके नाशको और समभावसे सब प्राणियोंके हितमें लगे रहनेका परमात्माकी प्राप्तिका साधन माना है।

गीताके श्लोकोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर यह स्पष्ट समझमें आ सकता है कि राग-द्वेष, हर्ष-शोक, चिन्ता-भय आदि समस्त विकारोंका मूल कारण विषमभाव

ही है, अतः इसका सर्वथा त्याग करना साधकके लिये परम आवश्यक है।

साधकको चाहिये कि अपनी अनुकूलताको पूरी करनेके लिये आग्रह, इच्छा और कामना न करे। उसके पूरी न होनेमें चिन्ता, शोक, भय तथा अन्य किसी प्रकारकी व्याकुलता आदिके भाव अन्तःकरणमें उत्पन्न न होने दे। गीता अध्याय ५ श्लोक २०में भी भगवान्ने स्पष्ट कहा है—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

'जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।'

गीता अ० ५के श्लोक १८ और १९ में भी समत्वका महत्त्व इस प्रकार दिखलाया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

'जो ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं, जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित है।'

लोगोंके साथ यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी सर्वत्र समदर्शन और समभावको दृढ़ करनेके लिये नीचे लिखे अनुसार साधन करना चाहिये। जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ, पैर और गुदादिके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिका-सा बर्ताव करता हुआ भी अपना आत्मभाव अर्थात् अपनापन समान होनेसे सुख और दुःखको समान ही देखता है, वैसे ही सब प्राणियोंमें देखना चाहिये। इससे यथायोग्य व्यवहार स्वाभाविक ही हो सकता है।

भगवान् स्वयं भी सबमें समभाव रखते हुए यथायोग्य व्यवहार करते हैं। इसका स्पष्टीकरण गीता अध्याय ९ श्लोक २९ में इस प्रकार किया गया है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

गीता अध्याय १३ श्लोक ९ में भी भगवान्ने अनुकूलता और प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें सदैव चित्तकी समताको ज्ञानयोगका साधन माना है तथा इसी अध्यायके श्लोक २७-२८में भगवान्को सर्वत्र समभावसे स्थित देखनेवालेकी प्रशंसा की है और उसका फल परमगतिकी प्राप्ति बतलाया है।

वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि अनित्य हैं। उनका आधार लेनेवाला, उनको अपना माननेवाला कोई भी साधक विषमताका त्याग और समताकी प्राप्ति नहीं कर सकता। ये सब भगवान्के विधानके अनुसार प्रभुकी कृपासे प्राप्त होते हैं। प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही उनका सदुपयोग करना चाहिये। उनसे सम्बन्ध करके उनके द्वारा सुख भोगनेकी इच्छा करना पतनका मार्ग है; क्योंकि कोई भी कामनायुक्त मनुष्य समतामें स्थित नहीं रह सकता। अतः साधकको आसक्ति, कामना, ममता और भयका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। इन सब दोषोंकी उत्पत्ति विषमतासे होती है और वे विषमताको दृढ़ करते रहते हैं। इसलिये साधकको इन सब दोषोंके नाश करनेके लिये संसार और शरीरको अनित्य और दुःखरूप समझकर उनसे वैराग्य करना चाहिये। गीता अध्याय ५ श्लोक २२ में कहा गया है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

भगवान्की कृपासे प्राप्त हुई सामर्थ्य और पदार्थोंका प्रभुके लिये ही निष्कामभावसे सदुपयोग करनेसे भी आसक्तिका नाश हो जाता है। उनमें ममताके त्यागसे नवीन आसक्ति नहीं उत्पन्न होती। इस प्रकार विद्यमान आसक्तिका नाश और नवीन रागकी उत्पत्ति न होनेसे अनायास ही समत्व प्राप्त हो सकता है; क्योंकि विषमताका कारण राग-द्वेष ही है।

सुख-दुःख, लाभ-हानि दिन-रातकी भाँति आने-जानेवाली वस्तु हैं। उनसे नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता। जिनसे नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता— उनमें ममता, आशा, कामना या उनसे भय करना सर्वथा भूल है। इस भूलके कारण ही अनेक प्रकारकी आसक्तियाँ, क्षोभ, क्रोध, लोभ, भय, व्याकुलता, अशान्ति आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अतः साधकको सुखमें आसक्ति और दुःखके भयको सर्वथा त्याग करके सदैव समतामें स्थित रहना चाहिये। इसके लिये भगवान्‌ने गीता अध्याय २ श्लोक १५ में कहा है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

'क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते वह मोक्षके लिये योग्य होता है।'

अध्याय २ श्लोक ५६ में कहा गया है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

'दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है।'

सुख-दुःखमें सम रहनेवाले साधकके राग-द्वेषका सहजमें ही नाश हो जाता है। अपनी इच्छाकी पूर्ति चाहनेवाला न तो सुख-दुःखमें सम रह सकता है और न अनुकूलता और प्रतिकूलतामें ही सम रह सकता है, फिर वह अन्य किसी परिस्थितिमें भी कैसे समभाव रख सकता है? इसलिये—

अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छापूर्वक प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ और भावोंकी प्राप्तिमें राग-द्वेषसे रहित होकर समभावमें स्थित रहना चाहिये।

समता तीन प्रकारकी होती है। परमात्माके स्वरूपकी, सिद्ध पुरुषके हृदयकी और साधकके हृदयकी। गीता अध्याय ५ श्लोक १९में परमात्माके स्वरूपकी, अध्याय ६ श्लोक ७, ८, ९में योगी महात्माके हृदयकी, बारहवें अध्यायके श्लोक १८-१९ में भगवत्प्राप्त भक्तोंकी, चौदहवें अध्यायके श्लोक २४-२५ में गुणातीत महात्मा पुरुषकी, दूसरे अध्यायके १५ वें तथा ३८ वें श्लोकमें सांख्ययोगके साधककी और दूसरे अध्यायके ४८ वें श्लोकमें निष्काम कर्मयोगके साधककी समताका वर्णन है। सिद्ध पुरुषके हृदयमें जो समताका भाव है, साधकके लिये वही साध्य है। इसलिये सब प्रकारसे मनुष्यको समताका साधन विशेषरूपसे करना चाहिये।

मानव-जीवनकी सफलता

मनुष्य-जन्म बड़ा ही दुर्लभ है। इसकी प्राप्ति भगवान्‌की कृपासे भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही होती है। इस रहस्यको न समझकर जीवनके अमूल्य समयको जो लोग भोगोंके भोगनेमें और उनकी प्राप्तिकी चेष्टामें व्यर्थ खो देते हैं यह उनकी बड़ी भारी भूल है; क्योंकि भोगोंके संग्रहमें और उनके भोगनेमें वस्तुतः सुख नहीं है, अज्ञानसे ही सुखकी प्रतीतिमात्र होती है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्

(९। ३३ वेंका उत्तरार्द्ध)

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा भजन कर।'

अतः साधकको चाहिये कि पूरी तरह सावधान होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे अपने मनको निरन्तर भगवान्‌के भजन-ध्यानमें लगावे। मृत्युका कोई भरोसा नहीं। इस शरीरका अचानक किसी भी क्षणमें नाश हो सकता है। फिर पश्चात्ताप करनेपर भी कार्यकी कोई सिद्धि नहीं होती। अतः न तो इसे सुखरूप समझकर विषयोंसे फँसना चाहिये और न इसे नित्य समझकर भगवत्प्राप्तिके साधनमें विलम्ब ही करना चाहिये। तत्काल श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्काम भावसे भजन-स्मरणमें निरन्तर लग जाना चाहिये। नहीं तो, बड़ी भारी हानि हो सकती है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

(केन-उप० २। २। ५)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें ही परमात्माको जान लिया तब तो बहुत ठीक है; यदि इस शरीरके रहते-रहते उसे नहीं जान पाया तो महान् विनाश है। यही सोचकर धीर पुरुष प्राणिमात्रमें परमात्माको समझकर इस लोकसे प्रयाण करके अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

प्रजाको उपदेश देते समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी मनुष्य-शरीरकी दुर्लभताका और इसकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥
एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४३। ६,७; ४४। १-२)

अतएव मनुष्य-शरीरका महत्त्व समझकर साधकको अपने जीवनका सदुपयोग करना चाहिये। गया हुआ समय फिर किसी प्रकार भी वापस नहीं आ सकता।

जो लोग काल, प्रारब्धकर्म और ईश्वरपर दोष लगाते हैं, उनका वह दोष लगाना सर्वथा मिथ्या है; क्योंकि कलियुगके समान कोई उत्तम काल नहीं है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

(रा० च० मा० उत्तर० १०३ क)

इसी प्रकारसे प्रारब्धके विषयमें भी तुलसीदासजीने कहा है कि बड़े भाग्यसे मनुष्यका शरीर मिलता है जो कि देवताओंके लिये भी दुर्लभ है! यही बात सत्-शास्त्रोंमें आयी है। और ईश्वरपर दोष लगाना तो बड़ी भारी मूर्खता है ही।

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४४। ३)

अतः संसारसागरसे उद्धार न होनेमें स्वयं अपना ही दोष है और इसका सुधार भी अपने-आपको ही करना चाहिये।

आत्माके उद्धारके लिये भारतभूमि सर्वोत्तम देश है, कलियुगका समय सर्वोत्तम काल है, मनुष्यका शरीर सर्वोत्तम योनि है तथा सत्पुरुषोंका और सत्-शास्त्रोंका सङ्ग ही सर्वोत्तम सङ्ग है। इन सबको पाकर भी जो अपना कल्याण नहीं करता, उसे बहुत भारी पश्चात्ताप करना पड़ेगा। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४४)

साधकको अपनी दशाका अध्ययन करना चाहिये तथा अपने भूतकालके आचरणोंकी ओर देखकर निराश और निरुत्साहित नहीं होना चाहिये। नीच-से-नीच प्राणी भी यदि भगवान्पर विश्वास करके उनका आश्रय लेकर उनके भजन-स्मरणमें तत्परतासे लग जाय तो उसका भी शीघ्र ही सुधार होकर उद्धार हो सकता है। भगवान्ने स्वयं कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

इसलिये साधकको श्रद्धा, विश्वास और प्रेमपूर्वक शीघ्र-से-शीघ्र तत्परताके साथ भगवान्के भजन-चिन्तनमें लग जाना चाहिये। अपने जीवनके एक क्षणको भी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये। हर एक काम भगवान्के आज्ञानुसार उनकी ही प्रसन्नताके लिये करना चाहिये। अपने वर्ण, आश्रम और जातिकी हीनताकी ओर खयाल करके भी साधकको किसी प्रकार निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि मनुष्य चाहे किसी भी वर्ण, आश्रम और जातिका क्यों न हो, प्रभुकी शरण लेकर उस शरणागतिके प्रभावसे उसका शीघ्र उद्धार हो सकता है। जैसा कि श्रीगीताजीमें भगवान्ने स्वयं कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(९। ३२)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई हो, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।'

भगवान्‌की भक्तिमें किसी प्रकारकी कठिनाई या असमर्थता भी नहीं है। हर एक मनुष्य हर एक परिस्थितिमें भक्तिका साधन कर सकता है। भगवान्‌की भक्तिका मार्ग बहुत ही सुगम है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(गीता ९। २६—२८)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र-पुष्प-फल-जल आदि अर्पण करता है उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ। हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार जिस साधनमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं, ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

इस प्रकार भगवान्‌की भक्तिकी महत्ता और सुगमताको समझकर साधकको भगवान्‌से अपना नित्य सम्बन्ध जानकर सर्वथा उनका हो जाना चाहिये और निरन्तर उनका चिन्तन करना चाहिये। निरन्तर उनका चिन्तन करनेसे भगवान्‌की प्राप्ति सुगम है। भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

विचार रखना चाहिये कि भगवान्‌की भक्तिके समान अपने कल्याणके लिये दूसरा कोई भी उत्तम साधन नहीं है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

थोड़ा विचार करनेपर मनुष्य समझ सकता है कि परिस्थिति, अवस्था, पदार्थ आदि जो कुछ प्राप्त है, सभी अनित्य हैं। उनका आधार लेनेवाला, उनको अपना माननेवाला कोई भी मनुष्य साधनमें तत्पर नहीं हो सकता। ये सब भगवान्‌के विधानके अनुसार मिलते और नष्ट होते रहते हैं। प्रभुकी प्रसन्नताके लिये उन पदार्थोंका सदुपयोग करते रहना चाहिये। उनसे सम्बन्ध जोड़कर उनके द्वारा सुख भोगनेकी इच्छा करना पतनका मार्ग है; क्योंकि उनमें सुख है ही नहीं। उनमें जो सुखकी प्रतीति होती है वह भ्रान्तिसे होती है। अतः उनमें ममता-आसक्ति नहीं करनी चाहिये। उनमें ममता और आसक्ति रखनेवाला कोई भी मनुष्य शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। अतः साधकको इनमें राग-द्वेष, ममता, भय और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। इन सबका त्याग करके श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌के भजन-स्मरणमें तत्परताके साथ लग जाना चाहिये। जो कुछ भी पदार्थ भगवान्‌की कृपासे मिले हैं, उन सबको केवल भगवान्‌की ही सेवामें लगाना चाहिये। सबकी सेवा भगवान्‌की ही सेवा है। सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर या सबमें भगवान्‌को व्यापक समझकर सबकी सेवा करना भगवान्‌की ही सेवा करना है। गीता अध्याय ७ श्लोक १९ में भगवान्‌ने कहा है कि 'सब मेरे ही स्वरूप हैं।'

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही हैं—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

भगवान् सबमें व्यापक हैं। यह बात गीता आदि शास्त्रोंमें जगह-जगह बतलायी गयी है। जैसे गीता अध्याय ८ श्लोक २२वेंमें बताया गया है और गीता अध्याय १८ श्लोक ४६ वेंमें भी कहा गया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

इसलिये सबमें भगवान्‌को व्यापक समझकर अपने-अपने कर्तव्य-कर्मके अनुसार सबकी सेवा, पूजा, आदर-सत्कार करना भगवान्‌की ही पूजा है। अतः सबमें भगवद्भावसे सबकी सेवा करना बहुत उत्तम साधन है। इसलिये जो कुछ भी किया जाय, स्वार्थसे रहित होकर सबके हितके उद्देश्यसे और निष्कामभावसे करना चाहिये। इसीमें जीवनकी सफलता है।

भगवान्‌के नामकी महिमा और उनसे प्रार्थना

भगवान्‌के नामकी महिमा अपार है। उसका वर्णन जितना भी किया जाय, थोड़ा ही है। पूरा वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता। श्रीतुलसीदासजीने तो यहाँतक कह दिया है—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥
(रा० च० मा० बाल० २६। ८)

इसपर साधकको विचार करना चाहिये कि 'भगवान्‌के नामकी इतनी महिमा होते हुए भी नामजप करनेवालोंके जीवनमें खास परिवर्तन नहीं दिखायी दे रहा है, दुर्गुण और दुराचारोंका सर्वथा नाश होकर पूरा सुधार नहीं हो रहा है—इसका क्या कारण है?' विचार करनेपर समझमें आ सकता है कि नामजपकी महिमापर श्रद्धा-विश्वासकी कमी है। यदि उसकी महिमापर श्रद्धा-विश्वास हो तो जप करते समय सांसारिक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों, घटनाओं और पदार्थोंका चिन्तन-स्मरण और संकल्प नामजपमें विघ्न उपस्थित नहीं कर सकते। तथा भगवान्‌के नामस्मरण, चिन्तन और जपमें जो प्रेमकी, उत्साहकी और रसकी कमी है, वह भी भगवान्‌के नामकी महिमापर पूर्ण श्रद्धा-विश्वास हो जानेके बाद नहीं रह सकती। तथा भगवान्‌में प्रेम, उत्साह और रसकी वृद्धि होनेपर हरेक कार्य करते हुए भी भगवान्‌के नामका और उसके भावका स्मरण अपने-आप बिना किसी परिश्रमके निरन्तर चल सकता है—

जैसे कि श्रद्धा और प्रेमकी कमीके कारण खास नामजप करनेके समय दूसरे व्यर्थ संकल्प होते हैं अर्थात् संसारका स्मरण-चिन्तन होता रहता है।

साधकको विचार करना चाहिये कि जिस समय जो काम करना नहीं है, जिसके करनेका न तो वह समय है और न उसके करनेकी आवश्यकता ही है, उस समय उसका स्मरण-चिन्तन करनेमें अपने मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय बर्बाद करना कितनी बड़ी भूल है। उसमें भी भगवान्‌की कृपासे उनके नामजप-स्मरणके निमित्त खास तौरपर जो एकान्तका समय निकाला गया है, उस समय भी यदि भगवान्‌के नामजप और स्मरणमें मन न लगकर सांसारिक चिन्तनमें ही लगा रहे—व्यर्थ संकल्पोंका अभाव होकर प्रेमपूर्वक भगवान्‌के नामका जप-स्मरण निश्चिन्त भावसे स्वाभाविक न हो तो भगवान्‌के नामकी और उनके स्वभाव तथा स्वरूपकी महिमा जो कुछ साधकने सुनी और शास्त्रोंमें पढ़ी है तथा स्वयं जिसका वह वर्णन करता है, उसपर साधकने विश्वास कहाँ किया है—यह सोचकर नामस्मरणमें श्रद्धा, उत्साह और प्रेमकी उत्तरोत्तर वृद्धि होनी चाहिये।

भगवान्‌के नामका महत्त्व समझनेवाला मनुष्य उसका प्रयोग सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति, रक्षा या वृद्धिके लिये नहीं कर सकता; क्योंकि कोई भी समझदार मनुष्य कौड़ियोंके बदलेमें रत्न खर्च नहीं करता। अतः यही समझना चाहिये कि सकामभावसे भगवान्‌के नामका जप-स्मरण करनेवाला मनुष्य उसकी महिमाको पूर्णतया नहीं जानता। इस कारण उसके जीवनमें जो परिवर्तन होना चाहिये, वह नहीं हो रहा है।

भगवन्नामकी महिमामें श्रद्धा-विश्वास होनेपर उसमें प्रेम होना निश्चित है। प्रेम होनेके बाद उसका स्मरण स्वाभाविक न हो, यह सम्भव नहीं तथा श्रद्धा-विश्वासपूर्वक प्रेमसे नामका और उसके भावका स्मरण-चिन्तन होनेपर साधकको अपने लक्ष्यकी प्राप्ति सुगमतासे हो सकती है—इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः साधकको नाम-महिमामें अविचल विश्वास करना चाहिये।

भगवान्‌के नाम और स्वभावकी महिमापर श्रद्धा-विश्वास होनेपर साधककी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिका व्यवहार राग-द्वेषरहित हो जाता है। फिर विश्रामकालमें और कार्य करते समय भगवान्‌के नामका अर्थसहित स्मरण स्वाभाविक होने लगता है। परंतु जबतक मनुष्य सांसारिक सुखोंमें फँसा रहता है, तबतक उसका विश्वास भगवान्‌के नाम-स्मरणमें नहीं होकर संसारमें ही बिखरा रहता है। इस कारण वह अटल शान्तिको प्राप्त नहीं कर सकता।

नाम-स्मरणसे प्राप्त होनेवाली परम शान्तिका भी साधकको रस नहीं लेना चाहिये; क्योंकि उस शान्तिमें रस लेनेसे स्मरण-चिन्तनकी निरन्तरता नहीं रह सकती। उसका मन उस शान्तिका रस लेनेमें लग जाता है, इस कारण स्मरणमें शिथिलता आ जाती है। प्रेमकी वृद्धिमें भी रुकावट आ जाती है। इस कारण स्मरणमें स्वाभाविकता नहीं रहती।

कर्तव्य कर्म भी उस कार्यको भगवान्‌का समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये निष्कामभावसे सुन्दरतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर ही करना चाहिये। इस भावसे कार्यके अन्तमें प्रियतम नाम और नामीकी मधुर स्मृति अपने-आप उदय होती है, उसमें किसी प्रकारका परिश्रम नहीं होता।

कर्म करनेकी और उसके फलकी आसक्ति साधनमें अत्यन्त बाधक है। उस आसक्तिकी निवृत्ति उपर्युक्त भावसे कार्य करनेपर तथा भगवान्‌के नाम-रूपकी प्रेमपूर्वक स्मृतिसे होती है।

कामनाकी पूर्तिके सुखका लोभ रहते हुए कोई भी साधक प्रेमी, योगी और ज्ञानी नहीं बन सकता। वर्तमानमें जो साधकगण योग, ज्ञान और प्रेमसे वञ्चित देखे जाते हैं, उसका खास कारण यही है कि वे भगवान्‌के नाम-स्मरण आदि सभी साधन कामनापूर्तिके लिये करते हैं, निष्कामभावसे नहीं करते। इसलिये रागद्वेषसे रहित होकर विश्वासपूर्वक एकमात्र प्रेमकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तत्परताके साथ साधनपरायण होना चाहिये।

भगवान्‌के प्रेमकी लालसा अन्य कामनाओंके त्यागसे ही पुष्ट होती है, अतः कामनाके नाशके लिये भगवान्‌की शरण लेना परम आवश्यक है।

सांसारिक सुखकी प्राप्ति तो पशु-पक्षी आदि अन्य योनियोंमें भी हो सकती है, अतः वह विवेकसम्पन्न मनुष्य-जीवनका उद्देश्य नहीं है। इसकी प्राप्ति तो प्रभुकी कृपासे उसका स्मरण-चिन्तन करके उनका प्रेम प्राप्त करनेके लिये ही हुई है।

शास्त्रोंमें जहाँ-जहाँ ईश्वरकी महिमाका, उनके प्रभावका वर्णन है, उसे उनके नामकी ही महिमा समझनी चाहिये; क्योंकि नाम और नामीमें कोई भेद नहीं है। भगवान्‌के विषयमें जो कुछ कहा जाता है, वह उनके नामके द्वारा ही वाणीसे प्रकट किया जाता है। ॐ, राम, कृष्ण, हरि, ईश्वर, परमात्मा, भगवान् आदि उन्हींके अनन्त नाम हैं। इसलिये श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी॥

(रा० च० मा० बाल० २१। १)

नाम और नामीकी एकता करके माण्डूक्योपनिषद्‌में कहा गया है—

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव॥ १॥

'ॐ यह अक्षर ही सम्पूर्ण अविनाशी परमात्मा है। यह प्रत्यक्ष दिखलायी देनेवाला जड़-चेतनका समुदायरूप सम्पूर्ण जगत् उन्हींका उपव्याख्यान अर्थात् उन्हींका विस्तार है। जो स्थूल और सूक्ष्म जगत् पहले उत्पन्न होकर उनमें विलीन हो चुका है, जो इस समय वर्तमानमें दिखायी देता है तथा जो भविष्यमें होनेवाला है, वह सब-का-सब ओंकार ही है अर्थात् परब्रह्म परमात्मा ही है। तथा जो तीनों कालोंसे अतीत है, वह भी ओंकार ही है। अर्थात् कारण, सूक्ष्म और स्थूल—इन तीन भेदोंवाला जगत् और इसको धारण करनेवाले परब्रह्मके जिस अंशकी इसके आत्मारूपमें और आधाररूपमें अभिव्यक्ति होती है, उतना ही उन परमात्माका स्वरूप नहीं है; इससे अलग भी वे हैं। अतः उनका अभिव्यक्त अंश और उससे अतीत भी जो कुछ है, वह सब परब्रह्म परमात्माका समग्र रूप है।'

अभिप्राय यह है कि जो कोई परब्रह्मको केवल साकार मानते हैं या निराकार मानते हैं या सर्वथा निर्विशेष मानते हैं, उन्हें सर्वज्ञता, सर्वाधारता, सर्वकारणता, सर्वेश्वरता, आनन्द, विज्ञान आदि कल्याणमय गुणोंसे सम्पन्न नहीं मानते, वे सब उन परब्रह्मके एक-एक अंशको ही परमात्मा मानते हैं। पूर्णब्रह्म परमात्मा साकार भी हैं, निराकार भी हैं तथा साकार-निराकार दोनोंसे परे भी हैं। सम्पूर्ण जगत् उन्हींका स्वरूप है और वे इससे सर्वथा अलग भी हैं। वे

सर्वगुणोंसे रहित, निर्विशेष भी हैं और सर्वगुण सम्पन्न भी हैं— यह मानना ही उन्हें सर्वाङ्गपूर्ण मानना है।

प्रश्नोपनिषद्‌के पाँचवें प्रश्नोत्तरसे सत्यकाम ऋषिने भगवान्‌के नाम ओंकारके महत्त्वको जाननेके लिये प्रश्न किया है। उसके उत्तरमें महर्षि पिप्पलादने भगवान्‌के नामकी भगवान्‌के साथ एकता करते हुए कहा है—

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति॥ २॥

'सत्यकाम! यह जो ॐ है, यह अपने लक्ष्य परब्रह्म परमेश्वरसे भिन्न नहीं है; इसलिये यही परब्रह्म है और यही उन परब्रह्मसे प्रकट हुआ उनका विश्वरूप अपरब्रह्म भी। इस कारण इस ओंकारका ही आश्रय लेकर इसका जप-स्मरण-चिन्तन करते हुए विद्वान् साधक उसके द्वारा अपने इष्टको पा लेता है।'

इसके बाद अगले मन्त्रोंमें भगवान्‌के नामका स्मरण-चिन्तन साधकको निष्कामभावसे उस परब्रह्म परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये ही करना चाहिये—यह रहस्य समझानेके लिये सकाम उपासनाका फल उत्तम भोगोंकी प्राप्ति और स्वर्गकी प्राप्ति बताकर निष्काम उपासनासे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतायी गयी है।

कठोपनिषद्‌में यमराजने भी भगवान्‌के नामकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा है—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(१। २। १५)

यमराज यहाँ परब्रह्म पुरुषोत्तमको परम प्राप्य बतलाकर उसके वाचक ॐ कारको प्रतीकरूपसे उसका स्वरूप बतलाते हैं। वे कहते हैं कि 'समस्त वेद नाना प्रकार और नाना छन्दोंसे जिसका प्रतिपादन करते हैं, सम्पूर्ण तप आदि साधनोंका जो एकमात्र परम और चरम लक्ष्य है तथा जिसको प्राप्त करनेकी इच्छासे साधक निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान किया करते हैं, उस पुरुषोत्तम भगवान्‌का परम तत्त्व मैं तुम्हें संक्षेपमें बतलाता हूँ! वह है 'ॐ' यह एक अक्षर।'

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

(कठ० १। २। १६)

'यह अविनाशी प्रणव— ॐकार ही तो ब्रह्म (परमात्मा) का निर्विशेष स्वरूप है और यही सगुण स्वरूप है। अर्थात् सगुण ब्रह्म और परब्रह्म दोनोंका ही नाम ओंकार है। अतः इस तत्त्वको समझकर साधक इसके द्वारा किसी भी अपने अभीष्ट रूपको प्राप्त कर सकता है।'

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

(कठ० १। २। १७)

'यह ॐकार ही परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारके आलम्बनोंमेंसे सबसे श्रेष्ठ आलम्बन है और यही चरम आलम्बन है, इससे परे और कोई आलम्बन नहीं है अर्थात् परमात्माके नामकी शरण हो जाना ही उनकी प्राप्तिका श्रेष्ठ, सर्वोत्तम एवं अमोघ साधन है। इस रहस्यको समझकर जो साधक श्रद्धा और प्रेमपूर्वक इसपर निर्भर हो जाता है, वह निस्संदेह परमात्माकी प्राप्तिका लाभ उठा लेता है।'

इस प्रकार उपनिषदोंमें भगवान्‌के नामकी उनके साथ एकता करते हुए नामकी महिमाका वर्णन किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने नामजपको सर्वश्रेष्ठ बताते हुए कहा है—'**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**' अर्थात् सब यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं हूँ। तथा नामकी नामीके साथ एकता करते हुए उसके उच्चारणका और अपने स्मरणका महत्त्व इस प्रकार दिखाया है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

(गीता ८। १३)

'जो पुरुष ॐ इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मेरा चिन्तन करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह पुरुष परमगतिको प्राप्त होता है।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मुझे स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

नामकी महिमाका वर्णन करते हुए गीतामें आगे भी कहा गया है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

(१७। २३)

'ॐ, तत्, सत्—यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा गया है; उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञादिक रचे गये।'

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥

(गीता १७। २४)

'इसलिये वेदका कथन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्र-विधिसे नियत की हुई यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामका उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं।'

योगदर्शनमें भी ईश्वरके नामकी महिमाका वर्णन करते हुए उसका नाम ओंकार बताया गया है (१। २७) तथा उसका जप और अर्थका स्मरण करनेके लिये कहा गया है (१। २८)। फिर उसका फल बताया गया है—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

(पातञ्जल० १। २९)

'अगले दो सूत्रोंमें जिन विघ्नोंका वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है, ईश्वरके भजन-स्मरणसे उनका अपने-आप नाश हो जाता है और अन्तरात्माके (द्रष्टाके) स्वरूपका ज्ञान होकर कैवल्य अवस्था भी उपलब्ध हो जाती है; अतः यह निर्बीज समाधिकी प्राप्तिका बहुत ही सुगम उपाय है।'

परमात्माके सगुण-साकार स्वरूपका और निर्गुण-निराकार स्वरूपका, दोनोंका तत्त्व उनके नामद्वारा ही समझाया जाता है, अतः नामकी महिमा अपार है।

साधक नामका आश्रय लेकर प्रेमपूर्वक भगवान्का स्मरण-चिन्तन करते हुए उनमें तन्मय हो सकता है, अतः नाम और नामीमें कोई भेद नहीं है।

नामजप और स्मरण तथा स्वरूपके चिन्तनसे अन्तःकरण शुद्ध होकर जब मनुष्यका सर्वत्र समभाव हो जाता है, तब फिर वह किसीका भी बुरा नहीं चाहता तथा उसके द्वारा किसीका भी अहित नहीं होता। जो किसीका बुरा नहीं चाहता, वह अपनेसे अधिक सुखियोंको देखकर प्रसन्न होता है। उसके मनमें ईर्ष्या या द्वेषका भाव नहीं होता और दुःखियोंको देखकर स्वाभाविक करुणा उत्पन्न होती है। किसी प्रकारके गुणका अभिमान नहीं होता। इस प्रकार नामकी महिमा अपार है; उसके विषयमें जितना कहा जाय, कम ही है।

साधकको चाहिये कि अपनी कमजोरीको और दोषोंको देखकर निराश न हो। भगवान्की महिमापर पूर्ण विश्वास करके उनके शरण होकर करुणभावसे प्रार्थना करे। उनकी कृपासे समस्त दोषोंका नाश होकर शीघ्र ही भगवान्के प्रेमकी प्राप्ति और उनका साक्षात्कार हो सकता है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

इसलिये कठोपनिषद्में यमराजने नचिकेताको उपदेश देते समय स्वयं भगवान्से इस प्रकार प्रार्थना की है—

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतः शकेमहि॥

(१। ३। २)

यमराज कहते हैं—'हे परमात्मन्! आप हमें वह सामर्थ्य दीजिये जिससे हम निष्कामभावसे यज्ञादि शुभकर्म करनेकी विधिको भलीभाँति जान सकें और आपके आज्ञापालनार्थ उनका अनुष्ठान करके आपकी प्रसन्नता प्राप्त कर सकें तथा जो संसार-समुद्रसे पार होनेकी इच्छावाले विरक्त पुरुषोंके लिये निर्भय पद है, उस परम अविनाशी आप परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्को भी जानने और प्राप्त करनेके योग्य बन जायँ।'

इस मन्त्रमें यमराजने परमात्मासे उन्हें जाननेकी शक्ति प्रदान करनेके लिये प्रार्थना करके यह भाव दिखलाया है कि परब्रह्म पुरुषोत्तमको जानने और प्राप्त करनेका सबसे उत्तम और सरल साधन उनसे प्रार्थना करना है।

साधकको सांसारिक सुखके लिये भगवान्से प्रार्थना नहीं करनी चाहिये। भगवान्से प्रार्थना तो एकमात्र उनका अनन्य प्रेम पानेके लिये, उनका दर्शन पानेके लिये और साधनकी कमियोंको मिटानेके लिये ही करनी चाहिये। जबतक मनुष्यमें अपनी शक्तिका अभिमान रहता है, तबतक शरणागतिके भावसहित आन्तरिक प्रार्थना नहीं होती। जब उसे अपनेमें साधनकी कमी असह्य हो जाय और उसको दूर करनेकी पूरी आवश्यकताका अनुभव हो जाय, तब विश्वासपूर्वक भगवान्के शरण होकर बालककी भाँति प्रभुके सामने करुणभावसे रोना चाहिये और जबतक आवश्यकता पूरी न हो, चैनसे नहीं रहना चाहिये। जब बालक कोई ऐसी वस्तु चाहता है, जिसे वह अपने बलसे प्राप्त नहीं कर सकता और उसकी प्राप्तिके बिना उससे रहा भी नहीं जाता—ऐसी परिस्थितिमें वह अपने माता-

पिता आदिपर विश्वास करके रो पड़ता है, तब उनको उसके मनकी बात यदि उसका अहित करनेवाली न हो तो पूरी करनी पड़ती है, उसी प्रकार इस विषयमें भी समझना चाहिये। भगवान् तो माता-पिता आदिसे भी बहुत अधिक दयालु हैं तथा सर्वसमर्थ हैं। अतः ये अपने प्यारे प्रेमी भक्तकी प्रार्थनाको पूरी करते हैं—इसमें कोई संदेह नहीं है।

साधकको चाहिये कि कभी भी परिस्थितिमें अधीर और निराश न हो, हर हालतमें भगवान्‌पर निर्भर रहे और यह दृढ़ विश्वास रखे कि प्रभु मेरी आवश्यकताको अवश्य पूरी करेंगे। इस विश्वासपर उनके प्रेमकी और उनसे मिलनेकी लालसाको हर समय जाग्रत् रखे और उत्तरोत्तर उसको बढ़ाता रहे तथा अपनेको सर्वथा असमर्थ समझकर उनसे प्रार्थना करता रहे।

श्रीतुलसीदासजीने विनयपत्रिकामें अनेक पदोंमें भगवान्‌से प्रार्थना की है। उनमेंसे एक पद निष्काम प्रार्थनाका इस प्रकार है—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव-जड़ताई॥
चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥
कुटिल करम लै जाहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआईं।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़ियो, कमठ अंडकी नाईं॥
या जगमें जहँ लगि या तनुकी प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि एक ठाईं॥

(पद १०३)

इस पदमें तुलसीदासजीने मोक्षकी भी कामना नहीं की है, एकमात्र भगवान्‌के अनन्य विशुद्ध प्रेमकी ही माँग की है। अतः साधकको सर्वथा निष्कामभावसे ही भगवान्‌से श्रद्धा-विश्वासपूर्वक प्रार्थना करनी चाहिये।

भक्त प्रह्लाद भगवान्‌का पूरा निष्काम भक्त था। उसने अनेक प्रकारकी विपत्ति आनेपर भी कभी उनका निवारण करनेके लिये या किसी प्रकारके सुखकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌से प्रार्थना नहीं की, उन सब घटनाओंमें निमित्त बननेवाले व्यक्तियोंको भी बुरा नहीं माना तथा उनसे द्वेष नहीं किया, किसी प्रकार भी उनसे बदला लेनेकी इच्छा प्रह्लादके मनमें उत्पन्न नहीं हुई। विरोधी आचार-व्यवहार करनेवालोंपर कभी क्रोध नहीं आया तथा यह भाव भी नहीं आया कि ये लोग मेरे साथ बुराई कर रहे हैं। वह तो हर एक घटनामें प्रभुकी कृपाका ही दर्शन करता रहा।

गुरुपुत्रोंने उसे मारनेके लिये कृत्या उत्पन्न की। वह भक्त प्रह्लादजीको न मार सकी। तब उसने उन गुरुपुत्रोंको मार दिया। उसपर भी प्रह्लादने भगवान्‌से उनको जिला देनेके लिये ही प्रार्थना की—

सर्वव्यापिञ्जगद्रूप जगत्स्रष्टर्जनार्दन।
पाहि विप्रानिमानस्माद् दुःसहान्मन्त्रपावकात्॥
यथा सर्वेषु भूतेषु सर्वव्यापी जगद्गुरुः।
विष्णुरेव तथा सर्वे जीवन्त्वेते पुरोहिताः॥
यथा सर्वगतं विष्णुं मन्यमानोऽनपायिनम्।
चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्वेते पुरोहिताः॥
ये हन्तुमागता दत्तं यैर्विषं यैर्हुताशनः।
यैर्दिग्गजैरहं क्षुण्णो दष्टः सर्पैश्च यैरपि॥
तेष्वहं मित्रभावेन समः पापोऽस्मि न क्वचित्।
यथा तेनाद्य सत्येन जीवन्त्वसुरयाजकाः॥

(विष्णुपुराण १। १८। ३९—४३)

प्रह्लादजी कहने लगे—'हे सर्वव्यापी, विश्वरूप, विश्वस्रष्टा जनार्दन! इन ब्राह्मणोंकी इस मन्त्राग्निरूप दुस्सह दुःखसे रक्षा करो। सर्वव्यापी जगद्गुरु भगवान् विष्णु सभी प्राणियोंमें व्याप्त हैं—इस सत्यके प्रभावसे ये पुरोहितगण जीवित हो जायँ। यदि मैं सर्वव्यापी और अक्षय श्रीविष्णु भगवान्‌को अपने विपक्षियोंमें भी देखता हूँ तो ये पुरोहितगण जीवित हो जायँ। जो लोग मुझे मारनेके लिये आये, जिन्होंने मुझे विष दिया, जिन्होंने आगमें जलाया, जिन्होंने हस्तियोंसे पीड़ित कराया और जिन्होंने सर्पोंसे डँसाया, उन सबके प्रति यदि मैं समान मित्रभावसे रहा हूँ और मेरी कभी पाप-बुद्धि नहीं हुई तो उस सत्यके प्रभावसे ये दैत्य-पुरोहित जी उठें। ऐसा कहकर उनके स्पर्श करते ही वे ब्राह्मण स्वस्थ होकर उठ बैठे।

इसके सिवा हिरण्यकशिपुका वध हो जानेके बाद जब भगवान्‌ने प्रसन्न होकर प्रह्लादसे वर माँगनेके लिये कहा, तब प्रह्लादने यही वर माँगा कि 'मेरे हृदयमें कहीं माँगनेकी इच्छा छिपी हो तो उसका नाश कर दीजिये।' श्रीमद्भागवत (७। १०। ७—९) में कहा गया है—

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥
इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः।

ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना॥
विमुञ्चति यदा कामान्मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते॥

'मेरे वरदानिशिरोमणि स्वामी! यदि आप मुझे मुँहमाँगा वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज ही उत्पन्न न हो। हृदयमें किसी भी कामनाके उदय होते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति और सत्य—ये सब-के-सब नष्ट हो जाते हैं। हे कमलनयन! जिस समय मनुष्य अपने मनमें रहनेवाली कामनाओंका परित्याग कर देता है, उसी समय वह भगवत्स्वरूपको प्राप्त कर लेता है।' विष्णुपुराणमें कहा गया है—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

(१। २०। १८-१९)

प्रह्लाद बोले—'हे नाथ! सहस्रों योनियोंमेंसे मैं जिस-जिसमें भी जाऊँ, उसी-उसीमें हे अच्युत! आपमें मेरी सर्वदा अक्षुण्ण भक्ति रहे। अज्ञानी पुरुषोंकी विषयोंमें जैसी अविचल प्रीति होती है, वैसी ही आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे कभी दूर न हो।'

इसके सिवा प्रार्थनामें भी निष्कामभावका महत्त्व दिखाते हुए श्रीमद्भागवतमें उन्होंने कहा है—

तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषो ज्ञ
आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्चात्।
नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण
कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम्॥
कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः
क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः।
निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान्
कामानलं मधुलवैः शमयन्दुरापैः॥

(७। ९। २४-२५)

'इसलिये मैं ब्रह्मलोकतककी आयु, लक्ष्मी, ऐश्वर्य और वे इन्द्रियभोग, जिन्हें संसारके प्राणी चाहा करते हैं, नहीं चाहता; क्योंकि मैं जानता हूँ कि अत्यन्त शक्तिशाली कालका रूप धारण करके आपने उन्हें ग्रस रखा है। इसलिये मुझे आप अपने दासोंकी संनिधिमें ले चलिये। विषय-भोगकी बातें सुननेमें ही अच्छी लगती हैं, वास्तवमें वे मृगतृष्णाके जलके समान नितान्त असत्य हैं और यह शरीर भी, जिससे वे भोग भोगे जाते हैं, अगणित रोगोंका उत्पत्ति-स्थान है। कहाँ वे मिथ्या विषय-भोग और कहाँ यह रोगयुक्त शरीर! इन दोनोंकी क्षणभङ्गुरता और असारता जानकर भी मनुष्य इनसे विरक्त नहीं होता। वह कठिनाईसे प्राप्त होनेवाले भोगके नन्हें-नन्हें मधु-बिन्दुओंसे अपनी कामनाकी आग बुझानेकी चेष्टा करता है।'

तथा यह भी कहा है कि साधारण जीव जो मोहवश आपकी भक्ति न करके विषयोंमें आसक्त हो रहे हैं, उनके मोहका नाश करके उनको अपना भक्त बना लीजिये—

एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्या-
मन्योन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम्।
पश्यञ्जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं
हन्तेति पारचर पीपृहि मूढमद्य॥

(श्रीमद्भागवत० ७। ९। ४१)॥

'इस प्रकार यह प्राणी अपने कर्मोंके बन्धनमें पड़कर इस संसाररूप वैतरणी नदीमें गिरा हुआ है। जन्मसे मृत्यु, मृत्युसे जन्म और दोनोंके द्वारा कर्म-भोग करते-करते यह भयभीत हो गया है। यह अपना है, यह पराया है—इस प्रकारके भेद-भावसे युक्त होकर किसीसे मित्रता करता है तो किसीसे शत्रुता। इस भवनदीसे सर्वदा पार रहनेवाले हे भगवन्! आप इन मूढ़ प्राणियोंकी यह दुर्दशा देखकर इनको भी अब पार लगा दीजिये।'

तथा दैत्य-बालकोंको उपदेश देते हुए भी प्रह्लादजीने अन्तमें विष्णुपुराणमें कहा है—

असारसंसारविवर्तनेषु
मा यात तोषं प्रसभं ब्रवीमि।
सर्वत्र दैत्यास्समतामुपेत
समत्वमाराधनमच्युतस्य ॥
तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं
धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते ।
समाश्रिताद्ब्रह्मतरोरनन्ता-
न्निस्संशयं प्राप्स्यथ वै महत्फलम्॥

(१। १७। ९०-९१)

'हे दैत्यो! मैं आग्रहपूर्वक कहता हूँ तुम इस असारसंसारके विषयोंमें कभी संतुष्ट मत होना। तुम सर्वत्र समदृष्टि करो; क्योंकि समता ही श्रीअच्युतकी (वास्तविक) आराधना है। उन अच्युतके प्रसन्न होनेपर फिर संसारमें दुर्लभ ही क्या है। तुम धर्म, अर्थ, कामकी

इच्छा कभी न करना; वे तो अत्यन्त तुच्छ हैं। उस ब्रह्मरूप महावृक्षका आश्रय लेनेपर तो तुम निस्सन्देह (मोक्षरूप) महाफल प्राप्त कर लोगे।'

अतः प्रह्लादके चरित्रपर ध्यान देकर साधकको सांसारिक दुःखकी निवृत्तिके लिये और सुखकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना न करके उनके दर्शन और प्रेमकी प्राप्तिके लिये तथा साधनविषयक कमजोरीको मिटानेके लिये ही श्रद्धा-विश्वासपूर्वक प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान् परम दयालु और सर्वसमर्थ हैं। प्रार्थना करनेवाले विश्वासी श्रद्धालु और प्रेमी भक्तकी करुणभावसे की हुई प्रार्थना वे अवश्य सुनते हैं और साधकका परम हित करते हैं। साधकको उसकी प्रतीति न हो तो भी पूर्ण विश्वास रखना चाहिये। किसी प्रकारके संदेहको मनमें स्थान नहीं देना चाहिये। हरेक परिस्थिति और घटनामें उनकी मङ्गलमय कृपाका दर्शन करना चाहिये।

श्रीमैत्रेयजीने भी विदुरजीसे श्रीमद्भागवतमें कहा है कि भगवान्‌के निष्कामी भक्त उनकी सेवाके सिवा अपने लिये कुछ नहीं माँगते—

न वै मुकुन्दस्य पदारविन्दयो
रजोजुषस्तात भवादृशा जनाः।
वाञ्छन्ति तद्दास्यमृतेऽर्थमात्मनो
यदृच्छयालब्धमनःसमृद्धयः ॥

(४। ९। ३६)

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—'तात! तुम्हारी तरह जो लोग श्रीमुकुन्दपादारविन्दमकरन्दके ही मधुकर हैं—जो निरन्तर प्रभुकी चरणरजका ही सेवन करते हैं और जिनका मन अपने-आप आयी हुई सभी परिस्थितियोंमें संतुष्ट रहता है, वे भगवान्‌से उनकी सेवाके सिवा अपने लिये और कोई भी पदार्थ नहीं माँगते।'

यमराजने भगवान्‌के शरणागत भक्तोंकी महिमाका वर्णन करते हुए अपने दूतोंसे श्रीविष्णुपुराणमें कहा है—

कमलनयन वासुदेव विष्णो
धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे।
भव शरणमितीरयन्ति ये वै
त्यज भट दूरतरेण तानपापान्॥

(३। ७। ३३)

'हे कमलनयन! हे वासुदेव! हे विष्णो! हे धरणीधर! हे अच्युत! हे शङ्खचक्रपाणे! आप हमें शरण दीजिये—जो भक्त इस प्रकार पुकारते हों, उन निष्पाप शरणागत भक्तोंको तुम दूरसे ही त्याग देना। अर्थात् उनके पास नहीं जाना।'

भगवान्‌से प्रार्थना करनेका प्रकार बताते हुए श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में कहा गया है—

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्
वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥

(४। १)

'जो परब्रह्म परमात्मा अपने निराकार स्वरूपमें रूप-रंग आदिसे रहित होकर भी सृष्टिके आदिमें किसी रहस्यपूर्ण प्रयोजनके कारण अपनी स्वरूपभूता नाना प्रकारकी शक्तियोंके सम्बन्धसे अनेक रूपोंको धारण करते हैं तथा अन्तमें यह सम्पूर्ण जगत् जिनमें विलीन भी हो जाता है—अर्थात् जो बिना किसी अपने प्रयोजनके जीवोंका कल्याण करनेके लिये ही उनके कर्मानुसार इस नाना रूपवाले जगत्‌की रचना, पालन और संहार करते हैं, वे परमदेव परमेश्वर वास्तवमें एक—अद्वितीय हैं। उनके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। वे हमें शुभ (पवित्र) बुद्धिसे युक्त करें।'

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥

(श्वेताश्वतर० ४। १२)

'सबको अपने शासनमें रखनेवाले जो रुद्ररूप परमेश्वर इन्द्रादि समस्त देवताओंको उत्पन्न करते और बढ़ाते हैं तथा जो सबके अधिपति और महान् ज्ञानसम्पन्न (सर्वज्ञ) हैं, जिन्होंने सृष्टिके आदिमें सबसे पहले उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भको देखा था, अर्थात् जो ब्रह्माके भी पूर्ववर्ती हैं, वे परमदेव परमात्मा हमलोगोंको शुभ (पवित्र) बुद्धिसे संयुक्त करें, जिससे हम उनकी ओर बढ़कर उन्हें प्राप्त कर सकें। शुभ बुद्धि वही है, जो जीवको परम कल्याणरूप परमात्माकी ओर लगाये।'

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्। स नो दधाद्ब्रह्माप्ययम्॥

(श्वेताश्वतर० ६। १०)

'जिस प्रकार मकड़ी अपनेसे प्रकट किये हुए तन्तुजालसे स्वयं आच्छादित हो जाती है; उसमें अपनेको

छिपा लेती है, उसी प्रकार जिन एक देव परमपुरुष परमेश्वरने अपनी स्वरूपभूता मुख्य एवं दिव्य अचिन्त्यशक्तिसे उत्पन्न अनन्त कार्योंद्वारा स्वभावसे ही अपनेको आच्छादित कर रखा है, जिसके कारण संसारी जीव उन्हें देख नहीं पाते, वे सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमात्मा हम लोगोंको सबके परम आश्रयभूत अपने परब्रह्म स्वरूपमें स्थापित करें।'

उन परमेश्वरको प्राप्त करनेका सुगम उपाय सर्वतोभावसे उन्हींपर निर्भर होकर उन्हींकी शरणमें चले जाना है। अतः साधकको मनके द्वारा नीचे लिखे भावका चिन्तन करते हुए परमात्माकी शरणमें जाना चाहिये—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

(श्वेताश्वतर० ६। १८)

'जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले अपने नाभि-कमलमेंसे ब्रह्माको उत्पन्न करते हैं, उत्पन्न करके उन्हें निःसंदेह समस्त वेदोंका ज्ञान प्रदान करते हैं तथा जो अपने स्वरूपका ज्ञान करानेके लिये अपने भक्तोंके हृदयमें तदनुरूप विशुद्ध बुद्धिको प्रकट करते हैं (गीता १०। १०), उन पूर्वमन्त्रोंमें वर्णित सर्वशक्तिमान् प्रसिद्ध देव परब्रह्म पुरुषोत्तमकी मैं मोक्षकी अभिलाषासे युक्त होकर शरण ग्रहण करता हूँ—वे ही मुझे इस संसार-बन्धनसे छुड़ायें।'

ईशावास्योपनिषद्में कहा गया है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतꣳस्मर क्रतो स्मर कृतꣳस्मर॥
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥

(मन्त्र १७-१८)

'हे परमात्मन्! मेरे ये इन्द्रिय और प्राण आदि अपने-अपने कारण-तत्त्वोंमें लीन हो जायँ और मेरा यह स्थूल शरीर भी भस्म हो जाय। इनके प्रति मेरे मनमें किंचित् भी आसक्ति न रहे। हे यज्ञमय विष्णो! आप कृपा करके मेरा और मेरे कर्मोंका स्मरण करें। आपके स्मरण कर लेनेसे मैं और मेरे सब कर्म पवित्र हो जायँगे। फिर तो मैं अवश्य ही आपके चरणोंकी सेवामें पहुँच जाऊँगा। हे अग्निस्वरूप परमेश्वर! आप ही मेरे धन हैं—सर्वस्व हैं, अतः आपकी ही प्राप्तिके लिये आप मुझे उत्तम मार्गसे अपने चरणोंके समीप पहुँचाइये। मेरे जितने भी शुभाशुभ कर्म हैं, वे आपसे छिपे नहीं हैं, आप सबको जानते हैं; मैं उन कर्मोंके बलपर आपको नहीं पा सकता। आप स्वयं ही दया करके मुझे अपना लीजिये। आपकी प्राप्तिमें जो भी प्रतिबन्धक पाप हों, उन सबको आप दूर कर दें; मैं बारंबार आपको नमस्कार करता हूँ।'

यह मन्त्र ऋग्वेदमें भी इसी प्रकार आया है। इस प्रकार उपनिषदोंमें और वेदोंमें भगवान्से प्रार्थना करनेका विधान बहुत जगह किया गया है। मैंने उनमेंसे निष्काम प्रार्थनाके थोड़े-से उदाहरण पाठकोंके सम्मुख रखे हैं। इनका रहस्य समझकर साधकोंको भगवान्से श्रद्धा-विश्वास और प्रेमपूर्वक करुण-भावसे प्रार्थना करनी चाहिये।

परम शान्तिकी प्राप्तिके उपाय

प्रायः सभी मनुष्य शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं, पर वे उस शान्तिको विषयभोगोंमें ही खोजा करते हैं; किंतु विषयभोगोंमें कहीं शान्ति है नहीं। बल्कि उनमें अशान्ति-ही-अशान्ति भरी हुई है। जब भोगोंमें शान्ति है ही नहीं, तब फिर वहाँ खोज करनेसे वह कैसे मिलेगी? जैसे अग्निमें शीतलता असम्भव है, वैसे ही संसारके विषयोंमें शान्ति असम्भव है। बहुत-से मनुष्य तो अज्ञानसे सांसारिक सुख और ऐश्वर्यकी वृद्धिमें शान्ति मानते हैं; किंतु सांसारिक सुखमें कहीं शान्ति नहीं है। उसमें जो क्षणिक शान्तिकी प्रतीति होती है, वह असली शान्तिके एक अंशका प्रतिबिम्बमात्र है। भ्रमसे ही उसमें शान्ति-सी प्रतीति होती है, वास्तवमें उसमें शान्ति नहीं है। यदि उसमें सच्ची शान्ति होती तो वह स्थिर रहती; क्योंकि जो वस्तु वास्तवमें होती है, वही स्थिर रहती है—यह अच्छे महापुरुषोंका निश्चित सिद्धान्त है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

इसलिये संसारके भोगोंमें जो शान्ति प्रतीत होती है, वह प्रतीतिमात्र ही है—मायिक है, वास्तविक नहीं है। जिस प्रकार सुखके कई भेद बतलाये गये हैं—निद्रा-आलस्य-प्रमादसे होनेवाला सुख तामस है (गीता १८। ३९), इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे होनेवाला सुख राजस है। (गीता १८। ३८) तथा अन्तःकरणकी शुद्धिसे होनेवाली प्रसन्नता सात्त्विक सुख है। (गीता १८। ३६-३७) इसी प्रकार शान्तिके भी तीन भेद समझने चाहिये। निद्रा-आलस्य-प्रमादमें जो शान्ति प्रतीत होती है, वह तामसी है, इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे भोगोंमें जो शान्ति प्रतीत होती है, वह राजसी है तथा चित्त-विक्षेप—चित्तकी चञ्चलताके अभावमें जो शान्ति प्रतीत होती है, वह सात्त्विक है (गीता १६। २)।

यह सात्त्विक सुख-शान्ति परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक होते हुए भी यदि साधककी इस सात्त्विक सुख-शान्तिमें भी आसक्ति हो जाती है तो यह भी बन्धनकारक हो जाती है (गीता १४। ६) और साधनमें रुकावट डाल देती है, जिससे साधन आगे बढ़ने नहीं पाता; क्योंकि देहमें अहंता-ममता होनेके कारण साधक अपनेमें अज्ञानसे श्रेष्ठताका अभिमान कर लेता है, जिससे उसकी उसमें आसक्ति हो जाती है, जो साधनमें महान् विघ्न है। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो अपनेमें अच्छे गुणोंका अभिमान पतनमें हेतु हो जाता है। अतः साधकको अपने गुणोंका अभिमान कभी करना ही नहीं चाहिये। सिद्ध महात्मा पुरुष तो अपनेमें गुणोंका अभिमान कभी करते ही नहीं। साधकमें कहीं-कहीं अज्ञानके कारण गुणोंका अभिमान आ जाता है, उससे उसको सदा सावधान रहना चाहिये और उसका त्याग कर देना चाहिये।

परमात्मा परम शान्तस्वरूप हैं। श्रीरामचरितमानसके सुन्दरकाण्डके मङ्गलाचरणमें श्रीतुलसीदासजी लिखते हैं—

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदम्।

'मैं उन शान्त, सनातन, अप्रमेय (प्रमाणोंसे परे), निष्पाप, मोक्षरूप परम शान्ति देनेवाले भगवान् रामकी वन्दना करता हूँ।'

उन परम शान्त परमात्माको जो प्राप्त हो जाता है, उस पुरुषमें वह परम शान्ति आ जाती है, जो गुणोंसे अतीत है। भगवान् श्रीरामजीने भरतजीसे संतोंके लक्षणोंमें 'शान्ति' को उनका एक प्रधान लक्षण बतलाया है—

बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥

(रा० च० मा० उत्तर० ३८। ५)

साधनकालमें साधकके हृदयमें जो शान्ति होती है, वह सात्त्विक है, जो उस असली परम शान्तिका साधन है। उसी भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको गीतादि शास्त्रोंमें शाश्वती शान्ति, परमा शान्ति, नैष्ठिकी शान्ति, अमृत, ब्रह्म, परमात्मा, परम पद, परम स्थान, परम धाम, परम गति आदि-आदि नामोंसे कहा गया है। उस परम शान्तिकी प्राप्तिके लिये गीतादि शास्त्रोंमें बहुत-से उपाय बताये गये हैं। उनमें मुख्य तीन हैं— कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग। यहाँ उनका कुछ उल्लेख किया जाता है।

यह परम शान्ति भगवत्प्राप्त पुरुषमें तो स्वाभाविक ही होती है और साधकको साधनके द्वारा प्राप्त होती है। जो साधक कर्मयोगका साधन करते हैं, उनके निष्कामभावसे किये हुए कर्मोंका फल भी यही है, क्योंकि कर्मयोगमें कर्मोंकी प्रधानता नहीं है, निष्कामभावकी प्रधानता है। और, पूर्णरूपसे निष्कामभाव हो जानेपर कर्मयोगके साधकका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब उसकी साधनमें अटूट श्रद्धा तथा परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर उसे परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति होती है; किंतु श्रद्धापूर्वक साधनके बिना शान्ति प्राप्त नहीं होती? भगवान्ने गीतामें कहा है—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

(२। ६६)

'जिसकी भोगोंमें आसक्ति है, ऐसे निष्कामभावसे रहित पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें भावना (श्रद्धा) भी नहीं होती। तथा, श्रद्धाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है;' क्योंकि शान्ति तो निष्कामभावसे मिलती है—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

(गीता ५। १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है; किंतु सकाम पुरुष कामनाके कारण फलमें आसक्त होकर बँधता है।'

जैसे श्रद्धापूर्वक कर्मयोगके साधनके द्वारा शान्तिकी प्राप्ति ऊपर बतायी गयी है, उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक ज्ञानयोगके द्वारा भी शान्ति प्राप्त हो जाती है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्-प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

इस प्रकार श्रद्धापूर्वक तीव्र अभ्यास करनेसे पापोंका नाश एवं संसारके विषयभोगोंमें वैराग्य होकर मनसहित इन्द्रियोंका संयम हो जाता है और फिर परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान भी हो जाता है, जिससे उसे परम शान्ति प्राप्त हो जाती है।

उपर्युक्त कर्मयोग और ज्ञानयोगके द्वारा जो साधनकी परिपक्व अवस्था होती है, उसका नाम निष्ठा है। उस निष्ठाका फल परम शान्ति और परमानन्दस्वरूप परमपदकी प्राप्ति है। गीतामें भगवान्ने बतलाया है—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(गीता ३। ३)

'हे निष्पाप अर्जुन! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है।'

तथा आगे यह भी बतलाया है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

(गीता ५। ५)

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

भगवान्ने गीताके दूसरे अध्यायमें श्लोक ११ से ३० तक ज्ञानयोगका और श्लोक ४० से ५३ तक कर्मयोगका वर्णन किया है। भगवान्ने भक्तियोगके द्वारा भी शाश्वती शान्तिकी प्राप्ति इस प्रकार बतायी है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका कभी पतन नहीं होता।'

अतएव भक्तियोगके साधकको परम शान्तिकी प्राप्तिके लिये अनन्यभावसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्का भजन-स्मरण नित्य-निरन्तर करना परम आवश्यक है।

परमात्माकी प्राप्तिमें कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—ये तीनों ही साधन समान हैं। अधिकारिभेदसे ही पृथक्-पृथक् साधन बतलाये गये हैं। जिस साधककी जिस साधनमें श्रद्धा, विश्वास, प्रीति और रुचि है, वह उसी साधनका पात्र है। वास्तवमें तीनोंका फल एक होनेसे तीनों ही समान हैं। गीतामें भगवान्ने कहा है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(गीता १३। २४)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

कर्मयोगके द्वारा साधकमें पूर्ण निष्कामभाव आ जानेपर परम शान्तिकी प्राप्ति जगह-जगह बतायी गयी है। भगवान् कहते हैं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

(गीता २। ७०)

'जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही

समा जाते हैं, वही महापुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं।'

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २। ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

अभिप्राय यह है कि जिसमें समस्त भोग प्रारब्धके अनुसार अपने-आप आ-आकर विलीन हो जाते हैं और जो स्वयं किसी भी भोगकी जरा भी कामना नहीं करता, वही परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंकी कामनावाला मनुष्य कभी शान्तिको प्राप्त नहीं होता; क्योंकि उसका चित्त निरन्तर अनेक प्रकारकी भोग-कामनाओंसे चञ्चल रहता है और जहाँ चञ्चलता है, वहाँ शान्ति कैसे रह सकती है। वहाँ तो पद-पदपर अशान्ति, चिन्ता, जलन और शोक ही निवास करते हैं। इसलिये इहलोक और परलोकके समस्त भोगोंकी सब प्रकारकी कामनाओंका सर्वथा त्याग करके तथा अहंता-ममता और स्पृहा (आसक्ति) से रहित होकर अपने शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंका आचरण करना चाहिये। यह भी परम शान्तिकी प्राप्तिका एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

भगवान्को तत्त्वसे जानने, उनकी अनन्य भक्ति करने और उनकी शरण होनेसे भी परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्ने कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(गीता ५। २९)

'मेरा भक्त मुझको सब यज्ञों और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी तत्त्वसे जानकर परम शान्तिको प्राप्त होता है।'

कठोपनिषद्में नचिकेताके प्रति यमराजके वचन हैं—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

(२। २। १३)

'जो नित्योंका भी नित्य है, चेतनोंका भी चेतन है और अकेला इन अनेक प्राणियोंकी कामनाओंका (उनके कर्मानुसार) विधान करता है, उस अपने अंदर रहनेवाले पुरुषोत्तमको जो ज्ञानी निरन्तर देखते रहते हैं, उन्हींको सदा अटल रहनेवाली परम शान्ति प्राप्त होती है, दूसरोंको नहीं।'

श्वेताश्वतरोपनिषद्में भी बतलाया गया है—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥

(४। ११)

'जो अकेला ही प्रत्येक योनिका अधिष्ठाता होता है, जिसमें यह समस्त जगत् प्रलयकालमें विलीन हो जाता है और सृष्टिकालमें विविध रूपोंमें प्रकट भी हो जाता है उस सर्वनियन्ता, वरदायक, स्तुति करनेयोग्य परम देव परमात्माको तत्त्वसे जानकर मनुष्य निरन्तर बनी रहनेवाली इस परम निर्वाणरूप शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥

(श्वेता० ४। १४)

'जो सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म, हृदयगुहारूप गुह्यस्थानके भीतर स्थित, अखिल विश्वकी रचना करनेवाला, अनेक रूप धारण करनेवाला तथा समस्त जगत्को सब ओरसे घेरे रखनेवाला है, उस एक अद्वितीय कल्याणस्वरूप महेश्वरको जानकर मनुष्य सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है।'

श्रीमद्भागवतमें योगीश्वर श्रीकविजीने राजा निमिसे कहा है—

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजं-
स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥

(११। २। ४३)

'राजन्! इस प्रकार जो निरन्तर प्रत्येक चित्तवृत्तिके द्वारा भगवान्के चरण-कमलोंका ही भजन-स्मरण करता है, उस भक्तको भगवान्के प्रति प्रेममयी भक्ति, संसारके प्रति वैराग्य और अपने प्रियतम भगवान्के

स्वरूपका यथार्थ ज्ञान—ये सब अवश्य ही प्राप्त हो जाते हैं और फिर वह साक्षात् परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

गीताके छठे अध्यायमें ध्यानके प्रसङ्गमें भगवान् कहते हैं—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥

(६। १४-१५)

'ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित हो। वशमें किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ मुझमें रहनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठारूप परम शान्तिको प्राप्त होता है।'

आगे अठारहवें अध्यायमें अर्जुनको ईश्वरकी शरणमें जानेसे शान्तिकी प्राप्ति बतलाते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(१८। ६२)

'हे अर्जुन! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परमधामको प्राप्त होगा।'

इस प्रकार कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—तीनों ही साधनोंके द्वारा परम शान्तिका प्राप्त होना बताया गया है तथा ये तीनों ही साधन अपने-अपने स्थानमें सब प्रकारसे श्रेष्ठ हैं।

गीतामें भगवान्ने निष्कामभावको सबसे श्रेष्ठ यों बतलाया है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

(१२। १२)

'मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे परोक्षज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।'

भाव यह कि जिसके साथ पूर्ण निष्कामभाव है, वही श्रेष्ठ है तथा उसकी प्रशंसा करते हुए यह भी कहा है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

(गीता ६। १)

'जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है।'

भाव यह कि अग्निका त्याग करनेवाला यदि निष्कामी नहीं है तो वह संन्यासी नहीं है और क्रियाओंका त्याग करनेवाला भी यदि निष्कामी नहीं है तो वह योगी नहीं है।

भक्तियोगके साधकको सबसे श्रेष्ठ यों बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योनियोंमें भी यो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

इसी प्रकार ज्ञानकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हुए भगवान् कहते हैं—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

(गीता ४। ३३)

'हे परंतप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं।'

इस प्रकार गीतामें इन तीनों ही साधनोंको अधिकारिभेदसे श्रेष्ठ, सुगम, शीघ्र सिद्धिदायक, पाप-नाशक, यथार्थ ज्ञानप्रद और परम शान्तिस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करनेवाले बताया गया है।* इसलिये जिस साधककी इनमेंसे जिस साधनमें श्रद्धा, विश्वास, प्रीति और रुचि हो, उसके लिये वही साधन सबसे बढ़कर है। ऐसा समझकर उसे उसी साधनको अपनाकर तत्परतासे उसका अनुष्ठान करना चाहिये, जिससे शीघ्र ही परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाय।

---

* इस विषयका विस्तृत विवेचन 'परमशान्तिका मार्ग' पुस्तकमें प्रकाशित गीतोक्त कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—तीनों ही मार्ग श्रेष्ठ और स्वतन्त्र हैं, शीर्षक लेखमें देखना चाहिये।

दहेजकी प्रथाके और व्यापारके सुधारसे भी कल्याण

वर्तमान समयमें अनेक प्रकारकी कुरीतियाँ और फिजूलखर्ची दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही हैं, यह समाजके लिये बहुत ही हानिकर है। जैसे मारवाड़ी-समाजमें सगाई (सम्बन्ध), विवाह (शादी), द्विरागमन (गौना), भात (मायरा), छूछक-खीचड़ी आदिमें जो अत्यधिक खर्च करनेकी प्रथा है, वह बहुत ही बुरी है। सगाई (सम्बन्ध), विवाह और द्विरागमन (गौना) की खर्चीली प्रथा तो प्रायः सभी प्रदेशोंमें है। इनमें उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती जा रही है। यह देशके लिये अत्यन्त घातक है। इसके सुधारके लिये इसके पहले लेखोंमें भी बहुत लिखा जा चुका है और व्याख्यानोंमें भी बहुत बार कहा जाता है तथा बहुत-से भाइयोंने मिलकर कमेटी बनाकर सुधारके नियम भी पास किये, पर अभीतक कोई सुधार नहीं हुआ। किंतु यदि अब इसका सुधार शीघ्र नहीं होगा तो देश और समाजके लिये इसका परिणाम बहुत ही बुरा होनेकी सम्भावना है।

विवाह-शादी आदिमें जो अतिशय दहेजकी प्रथा प्रचलित हो गयी है, इसमें अधिकांश तो दहेज लेनेवालोंका अधिक अपराध है। वे लोग स्वार्थका त्याग करें, तब सुधार हो। एक लड़कीकी सगाई (सम्बन्ध) और विवाहमें गरीब-से-गरीब लड़केके अभिभावक भी कम-से-कम पाँच हजार रुपये चाहते हैं; किंतु लड़कीके अभिभावक बहुत गरीब हों तो शादी कैसे हो? लड़कीके अभिभावक तो गरीबीके कारण लाचार हैं। इस परिस्थितिमें लड़केके अभिभावकोंको ही त्याग करनेकी आवश्यकता है।

कोई-कोई कन्याके माता-पिता तो धनाभावमें कन्याका विवाह न कर सकनेके कारण आत्महत्या कर लेते हैं तथा कोई-कोई कन्या भी माता-पिताके दुःखको देखकर आत्महत्या कर लेती है। यह बहुत ही बुरी बात है। इस आत्महत्याका दोष अतिशय दहेज लेनेवाले मनुष्योंको लगता है।

कोई-कोई धनी लड़कीके अभिभावक लड़केके अभिभावकके न चाहनेपर भी अनाप-शनाप खर्च करते हैं, जिसका समाज और देशपर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है।

इसी प्रकार मुकलावा (द्विरागमन) में साधारण लड़केके भी अभिभावक कम-से-कम दो हजार रुपयेका सामान चाहते हैं। लड़कीका पिता नौकरी करता है तो वह इतना रुपया लाये कहाँसे? उसे न ऋण मिलता है और न सहायता ही।

इसी तरह लड़कीकी संतानकी विवाह-शादीमें भात (मायरा) में भी लोग दो हजार रुपयोंकी माँग करते हैं। लड़कीका पिता गरीब होता है तो भी उसे कम-से-कम एक हजार तो प्रायः लगाना ही पड़ता है। इसी प्रकार छूछक-खीचड़ी आदि नेगोंमें भी अत्यधिक खर्चकी यह बुरी प्रथा प्रचलित है। जिसके कारण इस समय कन्याके अभिभावकोंकी बड़ी शोचनीय दशा हो रही है। अतः पाठकोंको इस विषयमें ध्यान देना चाहिये और विचार करना चाहिये तथा दहेज लेनेके समय स्वयं स्वार्थके त्यागपूर्वक कम-से-कम लेना चाहिये और सबके सम्मुख आदर्श उपस्थित करना चाहिये जिससे यह कुप्रथा दूर हो।

दहेजके सिवा देशमें और भी बहुत-से कामोंमें फिजूलखर्ची चल पड़ी है। लोग मृतकके खर्च (श्राद्ध) में भी बहुत व्यय करते हैं। जिसके पास रुपये नहीं हैं, वह भी ऋण या सहायता लेकर इस कार्यमें खर्च करता है; ऐसा न करके अपनी सामर्थ्यके अनुसार शास्त्रोक्त श्राद्धादि कर्म करना चाहिये।

लड़का पैदा होनेपर भी लोग प्रीतिभोज, कुटुम्बभोज करने लगे हैं, यह व्यर्थ खर्च करना है तथा छोटे लड़के-लड़कियोंकी वर्षगाँठ मनानेमें भी आजकल लोग अनाप-शनाप खर्च कर रहे हैं, जो शास्त्रके अनुकूल नहीं है और सर्वथा व्यर्थ है। अतः इस प्रथाको सर्वथा बंद कर देना चाहिये।

इसी प्रकार कहीं-कहीं तो विवाह आदिमें मादक वस्तुओंका सेवन, चौपड़-ताश, शतरंज आदि खेल-तमाशे, हँसी-मजाक, गाली-गलौज, जँवाई (दामाद)से एकान्तमें स्त्रियोंद्वारा अश्लील वार्तालाप, नाच-गान कराना आदि बहुत-सी कुरीतियाँ प्रचलित हैं तथा दिन-पर-दिन नयी-नयी कुरीतियाँ बढ़ती जा रही हैं।

इस प्रकारकी अनेक कुरीतियाँ और फिजूलखर्ची बहुत बढ़ गयी हैं और इधर वर्तमान महँगीके कारण गरीब मनुष्योंका तो आवश्यक अन्न-वस्त्रका खर्च भी चलना कठिन हो रहा है; इस अवस्थामें जब कोई

विशेष खर्चका कार्य उपस्थित हो जाता है तो गृहस्थी मनुष्यको बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता है। अतएव इस प्रमादमय प्रवाहको जिस-किसी प्रकारसे रोकना चाहिये, नहीं तो इसका परिणाम बहुत ही खतरनाक हो सकता है।

इसी तरह आजकल जो व्यापारी लोग झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, चोरबाजारी, धोखाबाजी, विश्वासघात और छिपाव करते हैं, इनकमटैक्स और सेलटैक्स आदिसे बचनेके लिये झूठे बही-खाते बनाते हैं, उस अन्यायकी कमाईके अन्नसे उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। इसी प्रकार बहुत-से रेलवे और सरकारके कर्मचारी भी रिश्वत लेते हैं। उससे उनकी भी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। कारखानोंके मजदूर छुट्टी और वेतन तो अधिक चाहते हैं और विश्वासपूर्वक तत्परतासे काम नहीं करते एवं मालिक लोग भी मजदूरोंको कम वेतन देकर ज्यादा काम लेना चाहते हैं, जो दोनों ही बातें अनुचित हैं।

मनुष्यको न्याय और सत्यतापूर्वक व्यापार करना चाहिये। व्यापारमें तौल, नाप और संख्यामें किसीको भी न कम देना और न अधिक लेना चाहिये। गल्ला-कपड़ा आदि चीजोंका जो नमूना दिखाया जाय, ठीक वही माल देना और जो नमूना देखा जाय, वही लेना चाहिये। मालकी ढेरीमें ऊपर अच्छा माल और नीचे खराब माल लगाकर धोखा नहीं देना चाहिये। घीमें वेजीटेबल आदि मिलाना, दूधमें पानी, आरारोट आदि मिलाना, खोवामें आलू या चावल पीसकर मिलाना, तिल्ली-सरसों आदिके तेलमें मूँगफली आदिके दूसरे-दूसरे तेल मिलाना, दाल वगैरह अनाजमें मिट्टी-कंकड़ मिलाना, पोस्तदानामें दूसरा दाना मिलाना, कस्तूरी, केसर, साबूदाना आदि कोई भी चीज नकली देना और उनमें दूसरी चीज मिलाकर देना—ये सभी कार्य करना व्यापारियों और ग्राहकोंको धोखा देना है। इनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। मालको दूसरे शहरोंमें भेजनेके समय, जहाँ कानूनसे गेहूँ-चावल आदि नहीं भेजे जा सकते, दाल, अरहर, मटर आदि भेजे जा सकते हैं, वहाँ गेहूँ-चावल भेजकर रेलवेके कर्मचारियोंको घूस (रिश्वत) देकर बिल्टीमें दाल-अरहर आदि लिखवाना रेलवेको और सरकारको धोखा देना है। इसी तरह और भी अनेक प्रकारसे जो रेलवेको, सरकारको, व्यापारियोंको और ग्राहकोंको किसीको भी लोभके वशीभूत होकर धोखा देना है, वह देश और समाजके लिये महान् पतनकारक है। अतः उस दोषसे सर्वथा बचना चाहिये।

इसी प्रकार आयुर्वेदिक ओषधियोंके विक्रेता लोगोंमेंसे भी कोई तो नकली दवा बनाते हैं और कोई उसमें दूसरी हल्की चीजें मिला देते हैं तथा कोई उसमें डाक्टरी दवा भी मिला देते हैं एवं उसे आयुर्वेदिक दवाके नामसे बेचते हैं। यह बहुत ही अनुचित है। इसी तरह कई डाक्टरी दवाओंके विक्रेता भी नकली दवा दे देते हैं या दवाओंमें मिलावट भी कर देते हैं। कोई पकड़े जाते हैं, तब उनपर मुकदमा भी चल जाता है; पर फिर भी लोग मिलावट करना छोड़ते नहीं। किंतु दवाओंमें मिलावट करना लोगोंके स्वास्थ्यके लिये हानिकर तथा बहुत अनुचित है। अतः सभी दवाविक्रेताओंसे प्रार्थना है कि वे किसी प्रकारकी मिलावट न करके असली दवा देकर सबके साथ सचाईका व्यवहार करें।

किसीको न्याययुक्त समता और सत्यतापूर्वक व्यवहार करनेके लिये कहा जाता है तो उसका उत्तर यही मिलता है कि आजकलके इस विकट समयमें सत्य और न्याययुक्त सम व्यवहार कोई कर ही नहीं सकता। दूसरे लोग भी उनकी बातोंको सुनकर उसी प्रवाहमें बह जाते हैं। किंतु ऐसी बातें कहनेवालोंका यह अज्ञान है, धनकी आसक्ति है और आत्मबलकी कमी है। उनका ईश्वर, शास्त्र और प्रारब्धपर विश्वास नहीं है। अतः उनकी बातोंको काममें नहीं लाना चाहिये। ईश्वर, शास्त्र और प्रारब्धपर विश्वास रखना चाहिये। अपनेमें कमजोरीको पास भी नहीं आने देना चाहिये; क्योंकि इस प्रकारके दूषित वातावरणके सङ्गसे अधिकांश सभीकी बुद्धि मलिन हो रही है और उनमें दुर्गुण बढ़ रहे हैं। अन्तःकरणके बुरे भावोंके अनुसार ही आचरण भी दूषित हो रहे हैं। यह नियम है कि दुराचारसे दुर्गुण बढ़ते हैं और दुर्गुणसे दुराचार बढ़ते हैं। बीज और वृक्षकी भाँति इनका परस्पर घनिष्ठ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इन सब कारणोंसे लोग परमार्थसे भ्रष्ट हो गये और होते जा रहे हैं। उनको परमात्माकी प्राप्तिका साधन अच्छा ही नहीं लगता। कोई-कोई तो साधन करनेमें भी स्वार्थ तथा मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके वशीभूत हो दम्भाचरण करते हैं एवं दूसरोंमें दोषदृष्टि करके उनकी निन्दा करते-सुनते हैं और कोई-कोई तो दूसरोंको दुःखी

देखकर प्रसन्न होते हैं तथा अपना अधिकार और प्रभाव जमानेके लिये दम्भाचरण और बनावटी बर्ताव करते हैं। इन सब दोषोंके कारण उनका अन्तःकरण मलिन होकर पतन हो जाता है।

किंतु वास्तवमें तो न्याय और सत्यतापूर्वक उपार्जित द्रव्यसे ही मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसका उद्धार होता है। इस विषयमें पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें तुलाधार वैश्यकी कथा आती है। उनके व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी नहीं थी। वे न्याययुक्त, सत्य और सबके साथ सम व्यवहार करते थे, सबके हितमें तत्पर रहते थे और प्राणान्त उपस्थित होनेपर भी कभी झूठ नहीं बोलते थे। इसलिये लोग उनकी जबानपर ही वस्तुएँ लेते-देते थे। इन गुणोंके कारण ही वे भूत और भविष्यकी सब बातोंको जान लेते थे। इस सत्य व्यवहारके प्रभावसे वे स्वयं तो परमधाममें गये ही, उनके प्रभावसे उनके घरके और आसपास रहनेवाले प्राणी भी परमधाम चले गये।

इसी प्रकार सत्य-व्यवहारके विषयमें शिवभक्त महात्मा नन्दभद्र वैश्यकी कथा स्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डान्तर्गत कुमारिकाखण्डके ३९-४०-४१वें अध्यायोंमें मिलती है। उनका व्यवहार न्याययुक्त और सत्य था। वे सब लोगोंकी भलाईके लिये कम मुनाफा लेकर व्यापार करते थे। मदिरा आदिका क्रय-विक्रय कभी नहीं करते थे। ग्राहकोंके साथ भेद-भाव नहीं करते थे। सदा झूठ-कपटसे रहित समतापूर्ण व्यवहार करते थे। उनके उस सत्य और सम व्यवहार एवं शिवभक्तिके प्रभावसे अन्तमें उनका कल्याण हो गया।

निष्कर्ष यह कि सत्यतापूर्वक किये हुए व्यापारकी कमाईका अन्न शुद्ध हो जाता है। उस पवित्र अन्नको खानेसे बुद्धि पवित्र होती है; किन्तु अन्यायसे उपार्जित द्रव्यका अन्न खानेसे बुद्धि अपवित्र होकर मनुष्यका पतन हो जाता है।

इसलिये ऊपर बताये हुए दोषोंसे, कुसङ्गसे, बुरे वातावरणसे और बुरे व्यवहारसे मनुष्योंको सदा बचना चाहिये। त्यागपूर्वक न्यायसे सत्य और सम व्यवहार करना चाहिये, जिससे अन्तःकरण शुद्ध होकर शीघ्र उद्धार हो जाय। मनमें खूब उत्साह और श्रद्धा-विश्वास करके आत्मोद्धारके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। श्रद्धा-विश्वासमें बड़ा भारी बल है। उससे मनमें कभी कमजोरी पास नहीं आती और उत्साहकी वृद्धि होती है।

समझना चाहिये कि अनिच्छा और परेच्छासे जो कुछ होता है, उसमें ईश्वरका हाथ है। अतः उसे ईश्वरका मंगलमय विधान मानकर जो कुछ भी हो, उसमें खूब प्रसन्न रहना चाहिये तथा जो कार्य किया जाय, उसको भगवान्‌की कृपाका आश्रय लेकर करना चाहिये। फिर कोई भी कार्य असम्भव नहीं। भगवान्‌की कृपासे तो असम्भव भी सम्भव हो जाता है। मनुष्यके लिये कोई कार्य असम्भव है भी नहीं, फिर परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें तो परमात्माकी सदा ही मदद रहती है। इसलिये भी मनमें खूब उत्साह रखना चाहिये। ऐसा कोई भी कार्य नहीं, जो मनुष्यके पुरुषार्थसे न हो सके। फ्रांसके नैपोलियन बोनापार्ट एक साधारण आदमी थे; पर आत्मविश्वास और उत्साहके कारण उन्होंने इंग्लैंड आदिपर विजय प्राप्त कर ली थी। उनका कथन था कि संसारमें मनुष्यके लिये कोई काम असम्भव नहीं। उन्होंने 'असम्भव' शब्दको अपने कोषसे निकाल दिया था। उनके कथनसे हमलोगोंको यह लाभ उठाना चाहिये कि हम साधनमें कभी निराश, हताश और उत्साहहीन न हों एवं भगवत्प्राप्तिको कभी असम्भव या कठिन न मानें; क्योंकि भगवत्प्राप्तिमें मनुष्य पराधीन नहीं है। वह भगवत्प्राप्तिका साधन करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र है। देश, काल, परिस्थिति भी उसमें बाधक नहीं है। यदि कोई मनुष्य सांसारिक परिस्थितियोंको साधनमें बाधक मानता है तो यह उसके अज्ञान और आत्मबलकी कमीके सिवा और कुछ नहीं है। वास्तवमें वह स्वयं ही अपने-आपके लिये बाधक है। इसलिये मनुष्यको अपने आत्माके उद्धारके लिये तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये। भगवान् गीतामें कहते हैं—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

(६। ५-६)

'अपने द्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। जिस मनुष्यद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उसका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन

तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है।'

अभिप्राय यह है कि भगवत्कृपासे प्राप्त इस दुर्लभ मनुष्य-जन्मको व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये। कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग—किसी भी साधनमें लगकर अपने जन्मको सफल बना लेना चाहिये। यही अपने द्वारा अपना उद्धार करना है। इसके विपरीत राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि दोषोंमें फँसकर नाना प्रकारके पापकर्म करना और उनके फलस्वरूप मनुष्य-शरीरके परम फल भगवत्-प्राप्तिसे वञ्चित रहकर पुनः शूकर-कूकर आदि योनियोंमें जानेका कारण बनना अपनेको अधोगतिमें डालना है। जो मनुष्य अपने उद्धारके लिये चेष्टा करता है, वह आप ही अपना मित्र है और जो इसके विपरीत करता है, वह आप ही अपना शत्रु है; क्योंकि जिस मनुष्यके शरीर, इन्द्रिय और मन वशमें हो जाते हैं, वह अनायास ही संसार-समुद्रसे अपना उद्धार कर लेता है एवं परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त करके कृतार्थ हो जाता है। इसीलिये वह स्वयं ही अपना मित्र है। किंतु शरीर, इन्द्रिय और मन जिसके वशमें नहीं हैं, उच्छृङ्खल हैं और विषय-भोगोंमें ही लगे रहते हैं, जिसके कारण मनुष्य उनको अपने लक्ष्यके अनुसार कल्याणके साधनमें नहीं लगाकर भोगोंमें लगाता है और अपने-आपको नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकाकर भीषण दुःख भोगनेके लिये बाध्य करता है, वह मनुष्य अज्ञानसे आसक्तिके वश होकर दुःखको सुख और अहितको हित समझकर अपने यथार्थ कल्याणके विपरीत आचरण करने लगता है; इसलिये वह स्वयं ही अपने-आपका अपना शत्रु है।

यह समझकर मनुष्यको सावधान होकर अपने कल्याणके लिये प्रयत्न करना चाहिये। आत्मोद्धारमें मनुष्य स्वतन्त्र है, इसलिये वह उसके लिये कोई कठिन काम नहीं है। फिर भी यदि किसीको आत्मोद्धारका साधन कठिन मालूम दे और दूसरोंका आश्रय लेनेकी आवश्यकता प्रतीत हो तो उसे भगवान्‌का आश्रय लेना चाहिये। उनके शरण होकर उनको नित्य-निरन्तर स्मरण रखते हुए आत्मोद्धारके लिये कोई भी कार्य करनेवाले मनुष्यके लिये भगवान्‌की कृपासे सभी कुछ सहज और सुगम है। गीतामें भगवान् स्वयं बतलाते हैं कि केवलमात्र मेरे अनन्यचिन्तनसे मेरी प्राप्ति सहज है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

भाव यह कि जो मनुष्य परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निरन्तर भगवान्‌के स्वरूपका अथवा उनके नाम, गुण, प्रभाव और लीला आदिका चिन्तन करता रहता है, वह अनन्यभावसे भगवान्‌का चिन्तन करनेवाला प्रेमी भक्त जब भगवान्‌के वियोगको नहीं सह सकता, तब भगवान्‌को भी उसका वियोग असह्य हो जाता है और जब भगवान् स्वयं उससे मिलनेकी इच्छा करते हैं, तब उनके मिलनेमें कठिनाईके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। तथा जिसका यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेसे भगवान्‌का मिलना सुकर है, उसके लिये तो भगवत्कृपासे नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण होना भी सहज ही है।

एवं इस कार्यमें भगवान्‌की तो स्वाभाविक मदद है ही। फिर भी उनके शरण होकर साधन तेज होनेके लिये तथा भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्य प्रेम होनेके लिये कामना की जाय तो वह कामना होकर भी निष्काम ही है।

इसलिये मनुष्यको भगवान्‌के शरण होकर तत्परताके साथ साधन तेज होनेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

निष्काम सेवासे शीघ्र कल्याण

सम्पूर्ण प्राणियोंको साक्षात् नारायणका स्वरूप समझकर समभावसे सबकी सेवा की जाय तो यह आत्मकल्याणके लिये बहुत उत्तम साधन है। किंतु यदि सबमें ईश्वरबुद्धि न हो सके तो ऐसा भाव रखना चाहिये कि भगवान् सबमें व्यापक हैं या सभी भगवान्‌के हैं, भगवान् ही सबके माता-पिता हैं, सब भगवान्‌की संतान हैं तथा सारा संसार उन्हींसे उत्पन्न होता है, उन्हींमें स्थित है और उन्हींमें विलीन होता है एवं वे ही इसके संचालक और रक्षक हैं। गीतामें भगवान्‌ने बताया है—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः॥

(९। १७ का पूर्वार्ध)

'इस सम्पूर्ण जगत्‌को धारण करनेवाला और कर्मोंके फलको देनेवाला तथा पिता, माता और पितामह मैं ही हूँ।'

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

(१०। ८ का पूर्वार्ध)

'मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है।'

ऐसा समझकर निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करना भगवान्‌की ही सेवा-पूजा है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

ध्यान देना चाहिये—हमलोगोंको यह मनुष्य-शरीर सबकी सेवा करनेके लिये मिला है, भोग और आरामके लिये नहीं। अपने शरीरका पालन तो पशु आदि भी करते हैं। यदि मनुष्य अपने कर्तव्यरूप धर्मका पालन नहीं करता तो फिर पशुमें और मनुष्यमें क्या अन्तर है। श्रीचाणक्यने बताया है—

आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः

(चाणक्यनीति १७। १७)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें एक समान ही हैं। मनुष्योंमें अधिकता और विशेषता यही है कि उनमें धर्मका ज्ञान है; किंतु धर्मज्ञानसे शून्य मनुष्य पशुओंके ही तुल्य हैं।'

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो देवता, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंकी सेवा कर सकता है। मनुष्यके सिवा अन्य कोई प्राणी सबकी सेवा नहीं कर सकता। अतः सम्पूर्ण यावन्मात्र प्राणियोंकी निष्कामभावसे सेवा करना परम धर्म है। श्रीरामचरितमानसमें बताया गया है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(उत्तरकाण्ड ४१। १)

पर हित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(अरण्यकाण्ड ३१। ९)

सेवाके दो विशेष पात्र हैं—गुरुजन तथा दुःखी प्राणी। इन दोकी सेवा करना परम धर्म है। हमारे जो माता, पिता और गुरुजन हैं, उनके तो हम ऋणी हैं। उन्होंने हमारे हितके लिये हमारा जो कुछ उपकार किया है, उसको हमें कभी नहीं भूलना चाहिये। वस्तुतः सौ वर्षोंतक उनकी सेवा करके भी हम उनके ऋणसे मुक्त नहीं हो सकते। श्रीमनुजी कहते हैं—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

(मनु० २। २२७)

'मनुष्यकी उत्पत्तिके समयमें जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सौ वर्षोंमें भी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता।'

अतः उनकी सेवा तो हमारा परम धर्म है ही—

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

(मनु० २। २३७)

'क्योंकि इन तीनोंकी सेवासे पुरुषका सब कर्म सफल होता है। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं।'

श्रुति भी कहती है—

'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।' (तैत्तिरीयोप० १। ११)

'माताको देव माननेवाला हो, पिताको देव माननेवाला

हो, आचार्यको देव माननेवाला हो, अतिथिको देव माननेवाला हो अर्थात् इन सबको परमात्मा माननेवाला हो।'

महाभारतमें कथा आती है—धर्मव्याध माता-पिताकी सेवा और आज्ञापालनके प्रभावसे दिव्यदृष्टिसम्पन्न और बड़ा भारी धर्मज्ञ हो गया था। उसने कौशिक-जैसे महातपस्वी ऋषिको भी धर्मका उपदेश दिया था। उसने बहुत विस्तारपूर्वक धर्मकी सूक्ष्म रहस्यपूर्ण बातें बतलाकर अन्तमें उनसे यही कहा था कि 'माता-पिताको सन्तुष्ट न करनेके कारण आपका यह धर्म और व्रत व्यर्थ है; अतः आप शीघ्र घर जाकर उन दोनोंको सेवाके द्वारा प्रसन्न कीजिये।' यह सुनकर कौशिक ऋषिने भी घर जाकर माता-पिताकी सेवा की और वे भी प्रशंसाके पात्र बन गये (महा० वन० २०७ से २१६)।

पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें अ० ४७, ५० में मूक चाण्डालकी कथा आती है। वह भी माता-पिताका महान् भक्त था। माता-पिताकी सेवाके प्रभावसे उसको तीनों कालोंका ज्ञान था और भगवान् ब्राह्मणके रूपमें उसके घरमें सदा निवास करते थे। वह मूक चाण्डाल अन्तमें स्वयं तो माता-पिताके सहित परम धाममें गया ही, उसके घरमें वास करनेवाले जीव-जन्तु भी उसके प्रभावसे परम धाममें चले गये। वैश्य ऋषिकुमार श्रवण भी माता-पिताका बड़ा भारी भक्त था। उसकी कथा वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डमें महाराज दशरथने कौसल्यासे कही है।

अतः माता, पिता और गुरुजनोंकी सेवा तथा आज्ञा-पालनकी बड़ी भारी महिमा है। श्रीभीष्मजीने युधिष्ठिरसे कहा है—

मातापित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम।
इह युक्तो नरो लोकान् यशश्च महदश्नुते॥

(महा० शान्ति० १०८। ३)

'युधिष्ठिर! मुझे तो माता-पिता तथा गुरुजनोंकी सेवा-पूजा ही अधिक महत्त्वकी वस्तु जान पड़ती है। इस लोकमें इनकी सेवा-पूजामें संलग्न होकर मनुष्य महान् यश और श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त करता है।'

इस प्रकार माता, पिता और गुरुजनोंकी सेवाके प्रभाव और महिमाका वर्णन प्रायः सभी शास्त्रोंमें पाया जाता है।

इसी तरह गृहस्थ मनुष्यके लिये अतिथि-सेवा भी सबसे बढ़कर कर्तव्य है। श्रीमहाभारतमें बताया गया है—

देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम्।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम्॥
चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्यात् सुभाषिताम्।
उत्थाय चासनं दद्यादेष धर्मः सनातनः।
प्रत्युत्थायाभिगमनं कुर्यान्न्यायेन चार्चनम्॥

(महा० वन० २। ५५-५६)

'रोग आदिसे पीड़ित मनुष्यको सोनेके लिये शय्या, थके हुएको बैठनेके लिये आसन, प्यासेको पानी और भूखेको भोजन तो देना ही चाहिये। जो अपने घरपर आ जाय उसे प्रेमभरी दृष्टिसे देखे, मनसे उसके प्रति उत्तम भाव रखे, उससे विनययुक्त मीठे वचन बोले और उठकर उसके लिये आसन दे। यह गृहस्थका सनातन परम धर्म है। अतिथिको आते देख उठकर उसकी अगवानी और यथायोग्य आदर-सत्कार करे।'

घरपर आये हुए अतिथिकी सेवा-पूजा करना तो महायज्ञ है। पञ्चमहायज्ञोंमें अतिथि-सेवाकी मनुष्ययज्ञके रूपमें गणना की गयी है। महाभारतमें तो इसे अश्वमेध-यज्ञसे भी बढ़कर बतलाया गया है। जब महाराज युधिष्ठिरके अश्वमेध-यज्ञमें ब्राह्मणों, सम्बन्धियों, बन्धु-बान्धवों और दीन-दरिद्रोंके तृप्त हो जानेपर उनके यज्ञ और दानकी भूरि-भूरि प्रशंसा होने लगी तब वहाँ एक नकुल (नेवला) आया और वह मनुष्यकी बोलीमें बोला—'राजाओ! आपलोगोंका यह यज्ञ कुरुक्षेत्र-निवासी उञ्छवृत्तिधारी उदारचेता ब्राह्मणके सेरभर सत्तूदानके बराबर भी नहीं है।' नेवलेकी यह बात सुनते ही सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। वहाँ उपस्थित ब्राह्मणोंके प्रश्न करनेपर नेवलेने बतलाया—'कुरुक्षेत्रमें उञ्छवृत्तिसे जीविका चलानेवाले एक ब्राह्मण रहते थे। वे कबूतरकी तरह अन्नके दाने चुनकर लाते और उसीसे कुटुम्बका पालन करते थे। एक समय वहाँ बड़ा भारी अकाल पड़ा। अतः उनको कई दिनोंतक खेतोंमें भूमिपर पड़े दाने नहीं मिले, इससे उनको भूखे ही रहना पड़ा। कुछ दिनोंके बाद उनको सेरभर जौ प्राप्त हुए। उन्होंने उसका सत्तू बनाकर चार भागोंमें बाँटा। एक भाग अपनी स्त्रीके लिये, एक भाग पुत्रके लिये, एक भाग पुत्रवधूके लिये और एक भाग अपने लिये रखकर वे भोजन करनेको तैयार हुए। इतनेमें ही एक ब्राह्मण अतिथि वहाँ आये। उन अतिथिको देखकर वे चारों ही बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने अतिथिको प्रणाम किया; उनसे कुशल-मङ्गल

पूछा और फिर वे उनको अपनी कुटीपर ले आये। वहाँ उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणने कहा—'विप्रवर! आपके लिये ये अर्घ्य, पाद्य और आसन तथा न्यायपूर्वक उपार्जन किया हुआ यह परम पवित्र सत्तू मैं आपकी सेवामें प्रसन्नतापूर्वक समर्पण कर रहा हूँ, आप इसे स्वीकार करें। तब अतिथिने वहाँ बैठकर और उनके हिस्सेका एक पाव सत्तू लेकर खा लिया, किंतु उसकी तृप्ति नहीं हुई। यह देखकर ब्राह्मणकी पत्नीने आग्रह करके पतिके द्वारा अपने हिस्सेका सत्तू भी अतिथि ब्राह्मणको दिलवा दिया। फिर भी उनकी तृप्ति न होनेपर उनके पुत्रने भी अपने हिस्सेका सत्तू आग्रह करके पिताके द्वारा अतिथिको दिलवा दिया। इससे भी जब उनकी तृप्ति न हुई तो पुत्रवधूने भी आग्रहपूर्वक अपने हिस्सेका भी सत्तू श्वशुरके द्वारा अतिथिको दिलवा दिया। इससे वे अतिथि ब्राह्मण उन सबपर बड़े ही प्रसन्न हुए। ब्राह्मण अतिथिके रूपमें साक्षात् धर्मराज ही उनकी परीक्षा लेनेके लिये आये थे। वे अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हो गये। फिर उनके कहनेपर वे उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मण अपनी पत्नी, पुत्र और पुत्रवधूसहित विमानपर बैठकर दिव्यलोकको चले गये।'

नेवलेने फिर कहा—'उन अतिथि ब्राह्मणके भोजन कर लेनेपर उनके जूँठे हाथ धोनेसे गिरे हुए जलके कीचड़में मैं लोटा तो मेरा सिर और आधा शरीर सोनेका हो गया। मैंने जब राजा युधिष्ठिरके यज्ञकी प्रशंसा सुनी तब शेष आधे शरीरको भी सोनेका बनानेकी इच्छासे यहाँ आकर कीचड़में लोटा, पर कुछ नहीं हुआ। इसीलिये मैंने कहा था कि यह यज्ञ उस अतिथिसेवाव्रती ब्राह्मणके सेरभर सत्तूदानके बराबर भी नहीं है।' इतना कहकर वह नेवला अन्तर्धान हो गया। (महा० आश्वमेधिकपर्व, ९० अ०)।

ध्यान देना चाहिये। उस ब्राह्मणपरिवारके चारों व्यक्तियोंकी ही अतिथिसेवामें कितनी भक्ति थी। वे स्वयं भूखे रहकर भी अतिथिसेवा करना अपना परम कर्तव्य समझते थे।

इसी प्रकार राजा रन्तिदेव बड़े ही उच्चकोटिके अतिथि-सेवा-परायण और दयालु थे। उनकी बड़ी कड़ी परीक्षा हुई। उन्होंने दुःखी मनुष्योंके कष्टनिवारणमें अपना सर्वस्व लगा दिया और कुटुम्बके सहित स्वयं कष्ट सहते रहे। एक बार अड़तालीस दिनोंतक उनको पीनेके लिये जलतक नहीं मिला। फिर उन्चासवें दिन कुछ घी, खीर, हलवा और जल न्यायपूर्वक उन्हें मिला। ज्यों ही वे लोग भोजन करनेको तैयार हुए कि एक ब्राह्मण अतिथि वहाँ आये। सबमें भगवान्‌का दर्शन करनेवाले रन्तिदेवने बड़ी श्रद्धाभक्तिपूर्वक उनको भोजन कराया। उनके चले जानेपर बचे हुए अन्नको परिवारमें बाँटकर भोजन करने बैठे त्यों ही एक दूसरा शूद्र अतिथि आ गया। तब उसमेंसे कुछ भाग उनको खिला दिया। उसके जाते ही कुत्तोंको साथ लिये एक और अतिथि आ गया। राजा रन्तिदेवने बचा हुआ सारा भोजन उसे आदरपूर्वक दे दिया और उसको तथा कुत्तोंको भगवद्भावसे नमस्कार किया। अब केवल एक मनुष्यकी प्यास बुझ सके—इतना जल ही शेष था। वे उसे आपसमें बाँटकर पीना ही चाहते थे कि एक चाण्डाल आ पहुँचा और प्यास बुझानेके लिये जल माँगने लगा। उसके दुःखको देखकर राजाको बड़ी दया आयी और उन्होंने ये अमृतमय वचन कहे—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

(श्रीमद्भा० ९। २१। १२)

'मैं परमात्मासे अणिमा आदि आठ सिद्धियोंसे युक्त उत्तम गति या मुक्ति नहीं चाहता। मैं केवल यही चाहता हूँ कि मैं ही सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर उनका दुःख भोग करूँ, जिससे वे लोग दुःखरहित हो जायँ।'

दुःखी प्राणियोंके प्रति कितना उत्तम दयाका भाव है। उन्होंने फिर यह कहा कि इसको जल दे देनेसे मेरे भूख-प्यास, थकावट आदि सब दूर हो गये। इस प्रकार स्वयं भूखे-प्यासे होनेपर भी उन्होंने उस चाण्डालको प्रसन्नतापूर्वक वह जल दे दिया। वास्तवमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश ही उनकी परीक्षा लेनेके लिये आये थे। वे तीनों प्रसन्न होकर साक्षात् प्रकट हो गये। उनके कहनेपर भी राजाने कोई वर नहीं माँगा। वे अपना मन भगवान् वासुदेवमें ही अनन्यभावसे लगाकर उन्हींमें तन्मय हो गये। उनके सङ्गके प्रभावसे उनके परिवारके लोग भी नारायणपरायण होकर योगियोंकी परम गतिको प्राप्त हुए (श्रीमद्भा० ९। २१)।

अत: हमलोगोंको भी घरपर आये हुए अतिथिको भगवान्‌का स्वरूप समझकर निरन्तर भगवान्‌का स्मरण रखते हुए उनकी निष्कामभावसे सेवा करनी चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें देवताओं, ब्राह्मणों, माता-पिता-आचार्य आदि गुरुजनों और ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके पूजन-सत्कारको शारीरिक तप बतलाया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(१७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है।'

विचार करना चाहिये—माता-पिता अपने जीवनकालमें हमारे लिये धनादिका संचय करते हैं और सब कुछ हमारे लिये छोड़कर परलोक जाते हैं। उनके मरनेपर जो मनुष्य उनकी दी हुई वस्तुको श्राद्ध, तर्पण, ब्राह्मण-भोजन आदिके द्वारा उनको दिये बिना ही अपने काममें लाता है, वह चोरके समान है। जैसे, देवतागण वर्षा आदिके द्वारा हमें अन्न-जल आदि सब कुछ देते हैं; किंतु जो उनको दिये बिना ही उन पदार्थोंका उपभोग करता है, वह चोर है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

(३। १२)

'यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है।'

इसलिये गृहस्थी मनुष्यके लिये नित्य पञ्च महायज्ञोंका अनुष्ठान करना आवश्यक कर्तव्य और परम धर्म है। देवयज्ञ (होम आदि), पितृयज्ञ (माता-पिताकी सेवा, श्राद्ध-तर्पण, ब्राह्मण-भोजन कराना आदि), ऋषियज्ञ (श्रुति-स्मृति आदि ग्रन्थोंका अध्ययन करके तदनुसार जीवन बनाना), मनुष्ययज्ञ (अतिथि-सेवा) और भूतयज्ञ (सारे प्राणियोंकी तृप्तिके लिये नित्यप्रति बलिवैश्वदेव करना)—ये पाँच महायज्ञ हैं। किंतु दुःखकी बात है कि आजकल प्रायः मनुष्योंने इनका अनुष्ठान करना छोड़ दिया है। और तो दूर रहा, जो जीते हुए माता-पिताकी सेवा, उनके चरणोंमें नित्य नमस्कार करना, उनकी आज्ञाका पालन करना मनुष्यके लिये परम धर्म माना गया है, उसको भी प्रायः लोगोंने छोड़ दिया। यही नहीं कुछ लोग तो माता-पिताकी अवहेलना और तिरस्कार भी करने लगे हैं; किंतु माता-पिताको कटु वचन कहना, उनका तिरस्कार करना और उनको मन, वाणी, शरीरसे किसी प्रकार भी कष्ट पहुँचाना बहुत बड़ा भारी पाप है।

इसलिये मनुष्यको प्रातःकाल उठकर नित्य नियमपूर्वक माता-पिता आदि गुरुजनोंके चरणोंमें नमस्कार करना चाहिये तथा हर समय भगवान्‌का जप-स्मरण करते हुए उनकी सेवा और उनकी आज्ञाका पालन तत्परताके साथ निष्कामभावसे करना चाहिये। सदा विनय-प्रेमयुक्त, हितकर वचन बोलना चाहिये। एवं उनके आपत्तिग्रस्त होनेपर या वृद्ध हो जानेपर अथवा बीमार हो जानेपर तो उनकी विशेषरूपसे सेवा करनी चाहिये—यह मनुष्यका विशेष परमधर्म है।

सर्वसाधारण प्राणियोंकी सेवाकी अपेक्षा भी आपत्तिग्रस्त प्राणीकी सेवा बहुत ही उच्चकोटिका धर्म है। जैसे कोई बाढ़, अकाल, महामारी, भूकम्प आदिसे पीड़ित हों, अथवा कोई खाने-पीनेकी सामग्रीके अभावसे पीड़ित हों तो उनकी सेवा-सहायता करनेकी विशेष आवश्यकता है।

इस समय भारतवर्षमें महँगीके कारण प्रायः सभी प्रान्तोंके लोग बहुत भारी विपत्तिमें पड़ रहे हैं। उनमेंसे कई तो अन्नाभावके कारण मर रहे हैं। अतः इस समय दुःखी, अनाथ, गरीब, अङ्गहीन, रोगग्रस्त और महँगीके कारण असहाय, आतुरलोग विशेषरूपसे सेवा करनेके पात्र हैं। उनकी तन-मन, धनसे निष्कामभावपूर्वक सेवा करना बहुत ही उत्तम धर्म है। इसलिये धनी मनुष्योंको इस विषयमें विशेष ध्यान देना चाहिये और इस मौकेपर इस सेवाके कार्यमें धन लगाना चाहिये। ऐसा मौका बार-बार नहीं मिलता। जिनके पास विशेष अभाव है, उनको अन्न बिना मूल्य लिये—मुफ्तमें देना और जिनके पास कुछ पैसे हों, उनको निष्कामभावसे कम मूल्यमें देना परम सेवा है। एक देशसे दूसरे देशमें अन्न मँगवाकर बिना मुनाफा लिये निष्कामभावसे लागतके मूल्यमें देना भी परम सेवा है; किंतु इस समय स्वार्थवश मुनाफा करना अनुचित है तथा अधिक मुनाफा लेना तो बड़ा भारी पाप है और दुःखियोंका संकट बढ़ाना है। महँगीके कारण सभी लोगोंको जो कष्ट है, इसके लिये

हम सरकारसे भी समय-समयपर कष्ट-निवारणके लिये प्रार्थना कर सकते हैं। सरकार भी चाहती है कि सब लोग इस अन्नके कष्टसे बचें तथा मदद भी करती है; पर विशेष प्रयत्नपूर्वक प्रार्थना करनेपर सरकारकी ओरसे विशेष मदद मिलनेकी आशा है। इस प्रकार हमलोगोंको हरेक तरीकेसे निःस्वार्थ-भावपूर्वक उन दुःखी मनुष्योंको विशेष सुख पहुँचाना चाहिये। जो सेवा करनेवाले मनुष्य धनी न हों, उनके लिये भी दुःखी मनुष्योंको मन, वाणी और शरीरसे सेवा करके सुख पहुँचाना परम धर्म है।

धन, ऐश्वर्य, पदार्थ, शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि सभी भगवान्‌के हैं और हमको सबकी सेवाके लिये दिये गये हैं। अतः इनके द्वारा सबकी सेवा करनी चाहिये, किंतु इनके द्वारा सबकी सेवा करके भी 'मैंने इनकी सेवा की है'—इस प्रकार अपनेमें अच्छेपनका और गुणोंका अभिमान नहीं करना चाहिये। बल्कि—'यह सब भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌के काममें लगी, मैं तो इसमें निमित्तमात्र हूँ। भगवान्‌ने मुझको इसमें निमित्त बनाया—यह उनकी मुझपर विशेष दया है। भगवान् हमलोगोंके लिये यह उत्तम आयोजन कर रहे हैं'— इस प्रकार अपने ऊपर पद-पदपर भगवान्‌की विशेष दया और प्रेमका अनुभव करके उनके गुण और प्रभावको याद रखते हुए तथा उनके नामका जप और स्वरूपका ध्यान निरन्तर करते हुए सबकी सेवाके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। हम भगवान्‌को सदा-सर्वदा याद रखते हुए और सब वस्तुओंको उनकी मानते हुए ही सुचारुरूपसे सेवा कर सकते हैं। 'सब भगवान्‌का ही स्वरूप है या सबमें भगवान् ही विराजमान हैं'—ऐसा समझकर सबके साथ समान भावसे विशुद्ध निष्काम प्रेम करना चाहिये। इस प्रकार किसी भी प्राणीसे जो स्वार्थरहित प्रेम करना है, वह भगवान्‌से ही प्रेम करना है। अतएव निष्काम और समान प्रेमपूर्वक भगवद्भावसे और हर समय भगवान्‌का जप-स्मरण करते हुए तत्परताके साथ प्राणोंकी बाजी लगाकर सबकी निःस्वार्थ सेवा की जाय तो बहुत शीघ्र अन्तःकरण शुद्ध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

परदोषदर्शन और कुसङ्गसे हानि तथा गुणदर्शन और सत्सङ्गसे लाभ

साधकको उचित है कि वह किसी भी व्यक्तिमें दोषबुद्धि, दोषदर्शन और उसके दोषोंकी चर्चा न करे। न तो दूसरोंके दोषोंकी बातें सुने, न देखे, न कहे, न मनन करे और न सोचे-विचारे ही। मन-बुद्धिमें दूसरोंके अवगुणोंको स्थान देनेसे अन्तःकरण मलिन होता है, क्योंकि यह मनुष्यशरीर खेत है और इसमें अन्तःकरण ही बीज बोनेकी भीतरी भूमि है। भगवान्‌ने भी गीतामें शरीरको खेत बताया है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

(१३। १)

'हे अर्जुन! यह शरीर 'क्षेत्र' इस नामसे कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' इस नामसे उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं।'

अतः जैसे खेतमें जिस प्रकारका बीज बोया जाता है, वैसा ही वृक्ष उत्पन्न हो जाता है। वैसे ही बीजरूपसे मनमें स्थान पाये हुए दोषोंके संस्कार ही समय पाकर कुसङ्गसे वृक्षरूप धारण कर लेते हैं। दूसरोंमें दोषबुद्धि करनेसे उनमें तुच्छता और घृणाबुद्धि हो जाती है एवं अपनेमें अच्छेपनका अभिमान बढ़ता है। दूसरोंकी निन्दा करने और सुननेसे जिनकी निन्दा की और सुनी जाती है, उनकी आत्मामें दुःख होता है। इसलिये दूसरोंकी निन्दा करने-सुननेवालेको बड़ा भारी पाप लगता है। पाप तो दूसरेने किया, किंतु उस पाप करनेवाले मनुष्यकी चर्चा करनेसे चर्चा करनेवाला भी उस पापमें शामिल हो जाता है। अतः जिसकी निन्दा की जाती है, उसके किये हुए पापोंका अंश उस निन्दकको भोगना पड़ता है। दूसरोंके दोषोंकी चर्चा करनेसे वाणी, श्रवण करनेसे कान, दर्शन करनेसे नेत्र, मनन करनेसे मन और सोचने-विचारनेसे बुद्धि—ये सभी दूषित होकर उसका पतन हो जाता है। जैसे मैला जहाँ लग जाता है, उसीको अपवित्र बना देता है। वैसे ही, बल्कि उससे भी बढ़कर यह मनुष्यको अपवित्र बना देता है। इसी प्रकार और भी अनेक प्रकारके दोष उससे उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये इसमें साधकके लिये किंचिन्मात्र भी लाभ नहीं है; बल्कि सब प्रकारसे हानि-ही-हानि है। अतः

मनुष्यको इस दोषसे सर्वथा बचकर रहना चाहिये।

जैसे नीच, नास्तिक, पापी मनुष्योंका सङ्ग अत्यन्त हानिकर है, वैसे ही दूसरोंके अवगुणोंकी चर्चा करनेवाले मनुष्योंका सङ्ग भी घातक है। उनका सङ्ग करनेसे उनमें प्रीति हो जाती है और प्रीति होनेसे उनकी बातका असर हो जाता है। जैसे वर्तमानकालमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, चोरबाजारी, सरकारी करों (टैक्सों) की चोरी करनेवाले व्यक्तियोंका सङ्ग करनेसे सङ्ग करनेवाले मनुष्यके मनमें भी लोभके कारण यही जँच जाता है कि इस समय झूठ, कपट आदि दोषोंसे रहित सर्वथा न्याययुक्त शुद्ध व्यापार कोई कर ही नहीं सकता और न उस व्यापारसे जीवन-निर्वाह ही सुखपूर्वक हो सकता है। इस तरहका बुरा असर पड़ जानेके कारण मनुष्य न्याययुक्त सत्य शुद्ध व्यापार करनेसे निराश हो जाता है जिसका परिणाम बहुत बुरा होता है। इसलिये कुसङ्गसे मनुष्यको सर्वथा बचकर रहना चाहिये। जैसे अपने परिवारके किसी व्यक्तिके प्लेग हो जानेपर उस व्यक्तिमें प्रीति रखते हुए भी उसके छूने आदिका परहेज रखते हैं, उससे बचकर रहते हैं। वैसे ही दोषी व्यक्तिसे घृणा नहीं करनी चाहिये, पर उसके दोषोंसे घृणा करके उन दोषोंसे बचकर रहना चाहिये।

परदोषदर्शनमें महान् हानि है और सच्चे गुणोंके दर्शनमें महान् लाभ है। ऐसा समझकर सबमें गुणबुद्धि ही करनी चाहिये, मनुष्यको गुणग्राही बनना चाहिये।

श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानसमें लिखा है—

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥

(बाल० ६)

'विधाताने इस जड-चेतन विश्वको गुण-दोषमय रचा है, किंतु संतरूप हंस दोषरूपी जलको छोड़कर गुणरूपी दूधको ही ग्रहण करते हैं।'

श्रीनारायण स्वामीजीने कहा है—

तज पर अवगुन नीर को छीर गुनन सों प्रीति।
संत हंस की सर्वदा नारायन यह रीति॥

'संतरूपी हंसकी सदा यही रीति होती है कि वे पराये अवगुणरूपी जलका त्याग करके उसके गुणरूपी दूधसे ही प्रीति करते हैं।'

इसलिये साधकको किसी भी मनुष्य या प्राणीमें कोई भी गुण हो, उसको ग्रहण करना चाहिये। जिस प्रकार महापुरुषोंका सङ्ग और उनके गुणोंकी चर्चा करनेसे उनका सङ्ग या गुणचर्चा करनेवाले मनुष्यमें उनके गुण और भावोंका असर होकर सब प्रकारसे लाभ-ही-लाभ होता है, वैसे ही किसी भी मनुष्यके गुणोंकी चर्चा की जाय तो उसमें लाभ ही है। फिर भगवान्‌के गुणोंकी चर्चा करनेसे लाभ हो, इसमें तो कहना ही क्या है। वह तो मनुष्य-जीवनका प्रधान प्रयोजन ही है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्॥

(१।५।२२)

'विद्वानोंने इस बातका निरूपण किया है कि मनुष्यकी तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, स्वाध्याय, ज्ञान और दानका एकमात्र प्रयोजन यही है कि पुण्यकीर्ति भगवान्‌के गुणों और चरित्रोंका वर्णन किया जाय।'

शृण्वतां गृणतां वीर्याण्युद्दामानि हरेर्मुहुः।
यथा सुजातया भक्त्या शुद्ध्येन्नात्मा व्रतादिभिः॥

(श्रीमद्भा० ६।३।३२)

'जो लोग बार-बार भगवान्‌के उदार और कृपापूर्ण गुण और चरित्रोंका श्रवण-कीर्तन करते रहते हैं, उनके हृदयमें प्रेममयी भक्तिका उदय हो जाता है। उस भक्तिसे जैसी आत्मशुद्धि होती है, वैसी कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रतों और उपवासोंसे नहीं होती।'

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥

(श्रीमद्भा० १२।१२।४९)

'जिस वचनके द्वारा भगवान्‌के परम पवित्र यशका गान किया जाता है, वही परम रमणीय, रुचिकर और प्रतिक्षण नित्य नया है। उससे अनन्त कालतक मनको परमानन्दकी अनुभूति होती रहती है। मनुष्योंका सारा शोक, चाहे वह समुद्रके समान लंबा और गहरा क्यों न हो, उस गुण-गानके प्रभावसे सदाके लिये सूख जाता है।'

श्रीभगवान् तो गुणोंके सागर हैं। सारे संसारके प्राणियोंमें जो गुण हैं, वे सब मिलकर भी उन गुणसागर

भगवान्‌के गुणकी एक बूँदके समान भी नहीं हैं। भगवान्‌के गुण चिन्मय, दिव्य और नित्य हैं; किंतु प्राणियोंमें जो भी गुण हैं, वे भगवान्‌के गुणका एक प्रतिबिम्बमात्र हैं।

अतः हमलोगोंको भगवान्‌के, सिद्ध भगवद्भक्तोंके, उत्तम साधकोंके और साधारण मनुष्योंके सद्‌गुणों और सच्चरित्रोंका वाणीसे वर्णन, कानोंसे श्रवण, नेत्रोंसे दर्शन, मनसे मनन और बुद्धिसे निश्चय करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि—सब परम पवित्र हो जाते हैं।

महापुरुषों और उत्तम साधकोंका सङ्ग तो परम लाभदायक है, क्योंकि उनके श्रद्धापूर्वक सङ्गसे उनमें और उनके गुण-आचरणोंमें रुचि होकर वे गुण और आचरण अन्तःकरणमें उदय होने लगते हैं। इसीलिये महापुरुषोंके सङ्गकी शास्त्रोंमें विशेष महिमा गायी गयी है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् शंकरके वचन हैं—

क्षणार्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(४। २४। ५७)

'भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका यदि आधे क्षणके लिये भी समागम हो जाय तो उसके सामने मैं स्वर्ग और मोक्षको कुछ नहीं समझता; फिर मर्त्यलोकके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है।'

श्रीरामचरितमानसमें भी कहा गया है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(सुन्दर० ४)

'हे तात! स्वर्ग और मोक्षके सब सुखोंको तराजूके एक पलड़ेमें रखा जाय तो भी वे सब मिलकर दूसरे पलड़ेमें रखे हुए उस सुखके बराबर नहीं हो सकते जो लव (क्षण) मात्रके सत्सङ्गसे होता है।'

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(उत्तर० ६१)

'सत्सङ्गके बिना हरिकी कथा सुननेको नहीं मिलती, उसके बिना मोह नहीं भागता और मोहके गये बिना श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दृढ़ (अचल) प्रेम नहीं होता।'

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान॥

(उत्तर० १२५ ख)

'हे गिरिजे! संत-समागमके समान दूसरा कोई लाभ नहीं है, पर वह संत-समागम श्रीहरिकी कृपाके बिना नहीं हो सकता—ऐसा वेद और पुराण गाते हैं।'

भगवान् गीतामें कहते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(१३। २५)

'ध्यानयोग (भक्तियोग), ज्ञानयोग और कर्मयोगमेंसे किसी भी योगसे रहित दूसरे जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे भी इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

श्रीभगवान्‌का सङ्ग और दर्शन तो विशुद्ध अनन्य प्रेम होनेसे ही होता है। यद्यपि भगवान् सब जगह समान रूपसे व्यापक हैं; पर वे प्रेमसे ही प्रत्यक्ष होते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रा० च० मा० बाल० १८५। ५)

भगवान्‌में प्रेम होता है श्रद्धासे। श्रद्धा होती है भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभावके तत्त्व-रहस्यको समझनेसे। ये सब समझमें आते हैं महापुरुषोंके और उत्तम साधकोंके सङ्ग एवं सत्-शास्त्रोंके मननसे। इसलिये संत, महात्माओं और उच्च कोटिके साधकोंका सङ्ग तथा सत्-शास्त्रोंका अध्ययन, मनन अवश्य ही करना चाहिये।

सत्-शास्त्रोंमें जहाँ भी भगवान्‌के क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान, प्रेम आदि-आदि गुणोंका वर्णन आता है, उनका शास्त्रों और महापुरुषोंसे श्रवण, अध्ययन, कथन, मनन और निश्चय करना चाहिये एवं उनको सुनकर और मनन करके अतिशय प्रसन्न, रोमाञ्चित, प्रमुदित और आह्लादित होना चाहिये। इसी प्रकार भगवत्प्राप्त भक्तोंके गुण और चरित्रोंको शास्त्रोंमें पढ़कर और अध्ययन-मनन करके मुग्ध होना चाहिये। भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायके १३वेंसे १९वें श्लोकतक भगवत्प्राप्त भक्तोंके लक्षण बताये हैं तथा दूसरे अध्यायके ५५वेंसे ५८वेंतक, छठे अध्यायके ७वेंसे ९वेंतक और चौदहवें अध्यायके २२वेंसे २५वेंतक

उच्चकोटिके महापुरुषोंके लक्षण बताये हैं। एवं तेरहवें अध्यायके ७वेंसे ११वेंतक ज्ञानके नामसे, सोलहवें अध्यायके पहलेसे तीसरेतक दैवी सम्पदाके नामसे, सत्रहवें अध्यायके १४वेंसे १७वेंतक सात्त्विक तपके नामसे साधकोंके धारण करनेयोग्य उत्तम गुणोंका उल्लेख किया है। इनके सिवा और भी गीता-रामायण आदि ग्रन्थोंमें जगह-जगह वर्णन मिलता है। उनका अध्ययन करके उनको लक्ष्य बनाकर उनके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

साधारण पुरुषोंके भी गुणोंका परस्पर कथन करनेसे वाणी पवित्र होती है, श्रवण करनेसे कान पवित्र होते हैं, उनके आचरणोंका दर्शन करनेसे नेत्र पवित्र होते हैं, मनन करनेसे अन्तःकरण पवित्र होता है और हृदयमें बीजरूपसे धारण करनेपर वह वृक्षरूप हो जाता है जिससे हृदय पवित्र होता है। इस प्रकार उनके गुणोंका कथन करनेसे वे गुण हमारे अंदर आने लगते हैं। एवं दूसरोंके गुणोंकी स्तुति करने और सुननेसे उनकी आत्मा प्रसन्न होती है और करनेवालेके चित्तमें भी प्रसन्नता होती है तथा उसमें गुण-बुद्धि होती है, जिससे अवगुणोंका अभाव और गुणोंकी वृद्धि होती है। इस तरह किसीके भी गुणोंके कथन-श्रवण आदिसे अनेक लाभ हैं। फिर महान् पुरुषोंके और ईश्वरके गुण-चरित्रोंका कथन, श्रवण, मनन, धारण करनेसे अतिशय लाभ हो इसमें तो कहना ही क्या है।

इसलिये हमलोगोंको उचित है कि भगवान्, महापुरुष, उत्तम साधक और साधारण मनुष्योंके भी गुणोंका ही बार-बार अवलोकन करें, किसीके भी दोषोंका किसी प्रकार भी कभी अवलोकन न करें; क्योंकि गीताके तीसरे अध्यायमें भगवान्ने कर्मयोगका उपदेश देकर उसमें दोषदृष्टि न करनेवाले मनुष्योंकी प्रशंसा की है और करनेवालोंकी बड़ी भारी हानि बतायी है। वे कहते हैं—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥

(गीता ३। ३१-३२)

'जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिरहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं; परन्तु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मतके अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खोंको तू सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ।'

भक्त अर्जुनको भगवान्ने अपनेमें दोषदृष्टि न करनेके कारण ही अतिगोपनीय ज्ञान-विज्ञानका तत्त्व-रहस्य बतलाया है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

(गीता ९। १)

'तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा।'

आगे चलकर भगवान् गीताशास्त्रश्रवणके महत्त्व-वर्णनमें भी साधकके लिये दोषदृष्टिसे रहित होना परम आवश्यक बतलाते हैं—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥

(गीता १८। ७१)

'जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होकर इस गीता-शास्त्रका श्रवण भी करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा।'

किंतु जो दोषदृष्टि करता है, उसका अन्तःकरण मलिन रहता है, इसलिये वह दोषदृष्टिके कारण शास्त्रश्रवणसे भी लाभ नहीं उठा पाता। इसीसे असूयाको गीतामें आसुरी सम्पदाका एक प्रधान लक्षण बताया गया है—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥

(१६। १८)

'वे अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोधादिके परायण और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं।'

असूयाका तात्पर्य यह है कि दूसरोंके दोष देखना, देखकर उनकी निन्दा करना और गुणोंमें दोषारोपण करना। अतः मनुष्यको इन सब दोषोंसे रहित होना चाहिये। श्रीअत्रि ऋषिने अनसूयाके लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि।
नान्यदोषेषु रमते सानसूया प्रकीर्तिता॥

(अत्रिस्मृति ३४)

'जो गुणवानोंके गुणोंका खण्डन नहीं करता, थोड़े गुणवालोंकी भी प्रशंसा करता है और दूसरोंके दोषोंमें प्रीति नहीं करता, उस मनुष्यका वह भाव अनसूया कहलाता है।'

इन लक्षणोंको भलीभाँति समझकर इस भयानक असूया दोषको अवश्य दूर करना चाहिये; क्योंकि किसी भी मनुष्यको बुरा समझकर उसमें दोष देखना साधकके लिये महान् हानिकर और परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक है।

महाभारतमें श्रीवेदव्यासजीने शुकदेवजीसे कहा है—

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

(शान्ति० २५१। ६)

'जब मनुष्य मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीकी बुराई करनेका विचार अपने मनमें नहीं करता, तब वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है।'

अतएव हमलोगोंको किसीमें भी दोष-बुद्धि न करके सबमें गुण-बुद्धि ही करनी चाहिये तथा सत्पुरुषोंका सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये, जिससे हममें गुणोंकी वृद्धि हो, हम परमात्माकी प्राप्तिके मार्गपर अग्रसर हो सकें।

रामायणमें श्रद्धा, प्रेम और आचरण आदिकी शिक्षा*

रामायणसे हमलोगोंको श्रद्धा, प्रेम, आचरण आदिकी शिक्षा लेनी चाहिये। श्रद्धाकी पराकाष्ठा है कि 'श्रद्धेयकी आज्ञा और संकेतके अनुसार चलना।' जहाँ उसके अनुसार चलना नहीं बनता वहाँ प्राणोंका रहना कठिन हो जाता है और प्रेमकी पराकाष्ठा है प्रेमास्पदके वियोगका अत्यन्त असह्य होना। प्रेमास्पदके वियोगमें प्रेमीके प्राणोंका रहना कठिन हो जाता है—जैसे राजा दशरथका भगवान् राममें प्रेम था तो रामका वियोग होनेसे उनके प्राण चले गये। भगवान् रामकी दशरथजीमें श्रद्धा थी। यद्यपि पिताने अपने मुखसे तो वन जानेकी आज्ञा नहीं दी थी; किंतु कैकेयीको वरदान दे दिया था, तब उसीमें उनकी आज्ञा मानकर श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्नताके साथ राज्यका त्याग करके सीताजी, माता कौसल्याजी और लक्ष्मणकी राय न होनेपर भी वनमें चले गये और भरतजीके अनुरोध करनेपर भी वापस नहीं लौटे।

भगवान् राममें सीताजीका प्रेम भी बहुत सराहनीय है। भगवान् रामने वन जाते समय सीताको वनके भयंकर कष्टोंको बतलाकर सास-ससुरकी सेवाके लिये अयोध्यामें रहनेका अनुरोध किया; किंतु सीताने कहा—'प्रभो! ये सब वनके क्लेश आपके वियोगके सामने कुछ भी नहीं हैं, अतः आप मुझे साथ ले चलिये।' तथा यह भी कहा—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ६७)

भगवान् रामने समझ लिया कि इसको हठपूर्वक यहाँ रखा जायगा तो यह प्राणत्याग कर देगी, वनमें जानेका आग्रह नहीं छोड़ेगी, अतः वे उसे अपने साथ ले गये। यदि कहें कि 'जब रावण सीताको ले गया और वे लंकामें रहीं, तब उनके प्राण कैसे रहे?' तो उसका कारण यह है कि वे भगवान्‌का जप-ध्यान कर रही थीं, उनके प्राण मानो कारागारमें बंद हो गये थे। वह ध्यान ही उस कारागारका किवाड़ था। नेत्र अपने चरणोंमें लगाये थीं, यही ताला था और भगवान्‌के नामका निरन्तर जप पहरेदार था। अतः उनके प्राण जानेका कोई रास्ता ही नहीं रहा। भगवान् श्रीरामके यह पूछनेपर कि 'सीता अपने प्राणोंकी रक्षा किस प्रकार करती है?' हनुमान्‌जीने बताया—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

(रा० च० मा० सुन्दर० ३०)

इसपर यदि कोई कहे कि 'जब श्रीरामके द्वारा सीताका सदाके लिये त्याग हुआ, तब उनके प्राण कैसे

* परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजीने वैशाख कृष्ण २ शनिवार संवत् २०२२ को अपने भौतिक देहका परित्याग कर दिया। यह लेख और इससे आगेके चारों लेख उनकी रुग्णावस्थामें पहलेके लिखवाये हुए हैं तथा अन्तिम लेख बादमें जोड़ा गया है।

रहे?' इसका उत्तर यह है कि उस समय भगवान् रामने लोकापवादके कारण लक्ष्मणको आदेश दिया था कि तुम वाल्मीकि-आश्रमके पास सीताको छोड़ आओ, अतः उसमें भगवान् रामकी आज्ञा थी और श्रद्धेयकी आज्ञाका पालन करना श्रद्धालुका परम धर्म है; इसलिये उन्होंने उसे भगवान्‌की आज्ञा मानकर ही प्राणोंको रखा था। सीताने लक्ष्मणसे उस समय कहा भी था कि मेरे उदरमें गर्भ है, नहीं तो, मैं अभी प्राणत्याग कर देती, वंशकी रक्षाके लिये ही मैं प्राणधारण करती हूँ।

इसी प्रकार शत्रुघ्नका भी भगवान् राममें बहुत उच्चकोटिकी श्रद्धा और प्रेम था। वाल्मीकीय रामायणके उत्तरकाण्डमें लिखा है कि लवणासुरको मारनेका प्रश्न आनेपर श्रीरामचन्द्रजीने प्रस्ताव किया—'लवणासुरको कौन मारेगा?' भरतजी बोले—'लवणासुरको मैं मारूँगा, उसे मारनेका काम मुझे सौंपा जाय।' तब शत्रुघ्नजीने कहा— 'प्रभो! मझले भैया तो अनेकों कार्य कर चुके हैं, नन्दिग्राममें तपस्याका कष्ट भी बहुत उठा चुके हैं, अतः अब इस सेवकके रहते इनको और कष्ट न दिया जाय।' भगवान्‌ने कहा— 'बहुत अच्छा, शत्रुघ्न! तुम जाओ और लवणासुरको मारकर वहाँका राज्य तुम्हीं करो, मैं जो कहता हूँ उसके विरोधमें कोई उत्तर न देना।' शत्रुघ्नजी बहुत लज्जित हुए और बोले— 'नाथ! बड़े भाइयोंके रहते छोटेका राज्यपर अभिषेक उचित तो नहीं, पर अब मुझे तो आपकी आज्ञाका पालन करना है, वास्तवमें भैया भरतजीके प्रतिज्ञा कर चुकनेपर मुझे कुछ बोलना ही नहीं चाहिये था, जैसा मैंने अपराध किया वैसा दण्ड पा लिया। मैं बीचमें न बोलता तो आप क्यों मुझे वहाँ जाकर राज्य करनेको कहते।' फिर वे दु:खित हृदयसे वहाँ गये और लवणासुरको मारकर वहींका शासन करते रहे।

जब भगवान् राम परमधाम पधारने लगे, तब उन्होंने मित्रोंको, भाइयोंको सबको बुलाया। शत्रुघ्नजी यह सोचकर कि भगवान् राम मुझे कहीं यहीं रहनेकी आज्ञा न दे दें। भगवान्‌के पास आये और बोले—'आप सदाके लिये परमधाम पधार रहे हैं, अतः मैं भी आपके साथ चलूँगा, आप मुझे इसके विपरीत आज्ञा न दें, यह मैं आपसे धृष्टता करता हूँ, क्योंकि मैं नहीं चाहता कि आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन मेरे द्वारा हो।' शत्रुघ्नजी भगवान्‌के वियोगको सहन नहीं कर सकते थे, अतः भगवान् उनको भी साथ ले गये।

पद्मपुराण पातालखण्डमें वर्णन आता है कि लोकापवादके कारण भगवान् रामने शत्रुघ्नको आज्ञा दी कि तुम सीताको ले जाकर वाल्मीकि-आश्रमके पास छोड़ आओ, यह सुनकर वे मूर्च्छित हो गिर गये। स्वामीकी आज्ञाका पालन नहीं होनेपर शत्रुघ्नजीकी ऐसी दशा हो जाती है। शत्रुघ्नजीका चरित्र अधिकांशमें भरतजीके साथ ही है; इसलिये जैसा भरतजीका श्रद्धा और प्रेमका भाव था, उसीके समान ही शत्रुघ्नजीका भी समझ लेना चाहिये।

लक्ष्मणजीकी भी भगवान् राममें श्रद्धा और प्रेम अपार था। लक्ष्मणजी प्रारम्भसे अन्ततक भगवान् रामके साथ रहे। अपनी इच्छासे कभी अलग नहीं रहे। कहीं रहे तो उनकी आज्ञासे ही रहे, पर वह भी बहुत ही कम।

वन जानेके समय श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीसे कहा—'भाई भरत और शत्रुघ्न यहाँ नहीं हैं, पिताजी वृद्ध हैं और उनके मनमें मेरा दुःख है, अतः तुम यहीं रहकर माता-पिताकी सेवा करो।' यह सुनते ही लक्ष्मणजी प्रेमके कारण बहुत ही व्याकुल हो गये और भगवान्‌के चरण पकड़कर बोले—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥
मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ७२। १, ५-६, ८)

भगवान्‌ने सोचा कि 'यह मेरे वियोगमें प्राणोंका त्याग कर देगा।' इसलिये उन्होंने कहा—'माता सुमित्राकी आज्ञा ले आओ।' लक्ष्मणजीके द्वारा आज्ञा माँगनेपर सुमित्रा बोलीं—

जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ७४। २, ७५। २)

तब लक्ष्मणजी हर्षपूर्वक श्रीरामके साथ वनमें चले गये।

जब श्रीरामचन्द्रजी महाराजकी लक्ष्मणके प्रति यह आज्ञा हुई कि 'लोकापवादके कारण मैंने सीताका त्याग कर दिया है, अतः तुम वाल्मीकि-आश्रमके पास ले जाकर सीताको छोड़ आओ।' तब सीताको वनमें छोड़ आना उनके लिये बड़ा ही कठोर कार्य था; फिर भी उन्होंने श्रद्धाके कारण ही इस कठोर आज्ञाका पालन

किया; क्योंकि श्रद्धालुके लिये श्रद्धेयकी आज्ञाका पालन न करना मरणके समान है।

वाल्मीकीय रामायणके उत्तरकाण्डका प्रसंग है। साक्षात् काल तपस्वीके वेषमें भगवान् रामके पास आये और उन्होंने भगवान्से यह स्वीकार करा लिया कि हमारी बातचीत एकान्तमें हो और बातचीतके समय बीचमें कोई आ जाय तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाय। लक्ष्मणजीको पहरेपर बैठा दिया। उस समय दुर्वासा ऋषि आये और बोले—'मुझे श्रीरामसे अभी बात करनी है।' लक्ष्मणने कहा—'अभी ठहरिये।' दुर्वासाजी बोले—'लक्ष्मण! तुम इसी क्षण श्रीरामचन्द्रजीको मेरे आनेकी सूचना दे दो, नहीं तो मैं सबको शाप दे दूँगा।' लक्ष्मणने सोचा—'सबका नाश नहीं होना चाहिये, मेरे प्राण भले ही चले जायँ।' ऐसा निश्चय करके उन्होंने भीतर जाकर श्रीरामचन्द्रजीको सूचना दे दी कि दुर्वासाजी आये हैं और आपसे अभी मिलना चाहते हैं।' लक्ष्मणजीकी बात सुनकर भगवान् श्रीराम कालको विदा करके दुर्वासाजीसे मिले और उनका आतिथ्य-सत्कार किया। फिर कालके वचनोंका स्मरण आनेपर उन्होंने वसिष्ठजीसे राय ली कि 'न्यायसे तो लक्ष्मणको प्राणदण्ड देना चाहिये, पर मैं भाईको प्राणदण्ड कैसे दूँ?'

वसिष्ठजीने कहा—'श्रेष्ठ पुरुषोंको त्याग देना ही उनके लिये प्राणदण्डके समान है।' तब श्रीरामजीके द्वारा लक्ष्मणजीका त्याग हो गया, पर लक्ष्मणजी प्रेमके कारण भगवान्के वियोगको सह नहीं सके, इसलिये सरयूके निकट जाकर उन्होंने प्राणत्याग कर दिये। कैसा अलौकिक प्रेम है!

इस प्रकार लक्ष्मणजीके बर्तावमें भी स्थान-स्थानपर श्रद्धा और प्रेमका भाव मिलता है।

भरतजीकी तो भगवान् राममें बहुत उत्तम श्रद्धा और प्रेम था ही। वे तो श्रद्धा और प्रेमकी मूर्ति ही थे। जब उन्होंने सुना कि मेरे कारण ही भगवान् राम वन गये हैं, तब माता कैकेयीसे उन्होंने न कहने योग्य बातें कहीं और भगवान्को लौटा लानेके लिये वे चित्रकूट चले गये। भगवान् श्रीराम कोशिश करनेपर नहीं लौटे, बल्कि आज्ञा दी कि 'पिताजीने मुझको चौदह वर्षोंके लिये वन दिया है और तुमको राज्य दिया है। इसलिये तुम जाकर चौदह वर्षतक राज्य करो।' भरतजीको भगवान्का वियोग असह्य था, किंतु श्रद्धाके कारण वे अयोध्या वापस आ गये। चित्रकूटसे लौटते समय उन्होंने भगवान्से कहा—'यदि चौदह वर्षकी अवधिके बाद तुरंत आप नहीं पहुँचेंगे तो मैं अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा।' वे आकर नन्दिग्राममें संयम-नियमपूर्वक रहने लगे और जब अवधिमें एक दिन शेष रह गया, तब भरतजी प्रेमके कारण इतने व्याकुल हो गये कि उनके प्राणोंका रहना कठिन हो गया। उनका इतना प्रेम था कि यदि समयपर भगवान् नहीं पहुँचते तो उनके प्राण ही नहीं रहते। वे कहते हैं—

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

(रा० च० मा० उत्तर० १। ८)

उनकी उस समयकी विरह-दशाका वर्णन करते हुए श्रीगोस्वामीजी लिखते हैं—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्त्रवत नयन जल जात॥

(रा० च० मा० उत्तर० १ क, ख)

जब हनुमान्जीसे उन्हें यह मालूम हुआ कि भगवान् रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी और सीताजीसहित पधार रहे हैं तो उनकी प्रसन्नताकी कोई सीमा नहीं रही। जैसे कोई मछली जलके वियोगमें तड़पती हो और उसको जलमें डाल देनेसे उसके प्राण बच जाते हैं, वैसी ही दशा भरतजीकी हुई। भरतजीका कितना उच्चकोटिका प्रेम था कि भगवान्के वियोगमें एक क्षण भी उन्हें युगके समान प्रतीत होता था। यह है प्रेमकी पराकाष्ठा। कहाँतक लिखा जाय— भरतजीका तो सारा जीवन ही श्रद्धा और प्रेमसे ओतप्रोत था।

इसी प्रकार श्रीहनुमान्जी आदि भक्तोंकी भी भगवान्में बड़ी ही श्रद्धा थी। हनुमान्जी सदा भगवान् रामकी आज्ञामें तत्पर रहते थे। वे प्रायः भगवान्के साथ ही रहे। कहीं कभी अन्यत्र गये, जैसे सीताकी खोजके लिये गये, लक्ष्मणजीके शक्तिबाण लगकर मूर्च्छित हो जानेपर जड़ी-बूटी लानेके लिये गये, भरतजीको अयोध्यामें भगवान् रामके पधारनेका संदेश देनेके लिये गये, तो वहाँ वे भगवान् रामकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही गये थे। हनुमान्जीने दासकी भाँति भगवान्के चरणोंमें रहकर उनकी आज्ञाओंका पालन किया था। उनकी महिमा क्या लिखी जाय, भगवान् स्वयं अपनेको उनका ऋणी मानते थे—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥
(रा० च० मा० सुन्दर० ३२ ६—८

भगवान् श्रीराम तो मर्यादापुरुषोत्तम थे। उनके सारे ही चरित्रोंमें त्याग, श्रद्धा, प्रेम, विनय, दयालुता, सुहृदता, उदारता, भक्तवत्सलता, प्रजावत्सलता, सदाचार, गुरुजनोंका सम्मान, धर्म, नीति आदि-आदि अनन्त गुण भरे हुए हैं।

भगवान् श्रीरामका माता कौसल्या, कैकेयी और सुमित्राके साथ भी बड़ा ही उच्च कोटिका आदर-सम्मान और श्रद्धा-भक्तिसे पूर्ण व्यवहार था। हमलोगोंको भी उनकी भाँति अपने माता-पिता आदिके साथ आदर और भक्तिपूर्ण व्यवहार करना चाहिये। जब वनवासके बारेमें माता कैकेयीने बतलाया कि तुम्हारे पिताने मुझे दो वरदान देनेके लिये प्रतिज्ञा की थी और मैंने जो अच्छा लगा, सो माँग लिया; पर उनको तुम्हारा संकोच हो रहा है। एक ओर तो पुत्र-स्नेह है और दूसरी ओर प्रतिज्ञा। तुम चाहो तो उनकी प्रतिज्ञा पूरी कर सकते हो। इसपर भगवान् रामने कहा—'यह तो मेरा बड़ा सौभाग्य है और बहुत आनन्दकी बात है।'

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
(रा० च० मा० अयोध्या० ४१। ७-८)

इतना ही नहीं, श्रीरामचन्द्रजीने भरतजीसे भी कहा कि तुम माता कैकेयीके साथ बुरा बर्ताव मत करना और जब लक्ष्मणजीने कैकेयीपर दोष लगाया तो उनसे भी कह दिया कि तुमको माता कैकेयीपर दोष नहीं लगाना चाहिये। वन देनेवाली माता कैकेयीके प्रति भी उनका सदा श्रद्धा और पूज्यभाव ही रहा। यह बहुत ही उच्चकोटिका आदर्श है। भाइयोंके साथ भी भगवान् रामका बहुत ही प्रेमका व्यवहार था। जब वे बाल-अवस्थामें भाइयोंके साथ खेला करते थे, उस समय भाइयोंको प्रसन्न करनेके लिये स्वयं हारकर भाइयोंको जिता दिया करते थे। श्रीभरतजीने बतलाया है—

मैं प्रभुकृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २६०। ८)

महाराज दशरथने भगवान् रामको राज्यतिलक करनेका विचार किया, उस समय भगवान् रामने उस बातको जानकर पश्चात्ताप करते हुए कहा—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥
(रा० च० मा० अयोध्या० १०। ५—७)

इस प्रकार उनको अपने राज्याभिषेककी बात बहुत ही अनुचित प्रतीत हुई। यह भाइयोंके प्रति प्रेमका कैसा भाव है!

मित्रोंके साथ भी आपका प्रेम अतुलनीय था। जब आप सीता-वियोगके संकटमें पड़े हुए थे, वैसी अवस्थामें भी सीताकी सुधि भुलाकर आपने मित्र सुग्रीवका कार्य पहले सम्पन्न किया। वहाँ आपने मित्रके धर्म बताते हुए कहा है—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
(रा० च० मा० किष्किन्धा० ७। १-२, ६)

फिर मित्र सुग्रीवको आश्वासन भी देते हैं—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥
(रा० च० मा० किष्किन्धा० ७। १०)

भगवान् श्रीरामकी भक्तवत्सलता भी अनुपम थी। जिस समय भक्त विभीषण उनकी शरणमें आया, उस समय सुग्रीव आदिने उनको कैद करनेकी राय दी; किंतु भगवान् रामने कहा—'कैसा भी कोई क्यों न हो, मेरी शरण आनेपर मैं उसका त्याग नहीं कर सकता। शरणागतका भय-निवारण करनेकी मेरी प्रतिज्ञा है।'

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
(रा० च० मा० सुन्दर० ४३। ८; ४४। १)

अध्यात्मरामायणमें भी भगवान् श्रीरामने इसे अपना व्रत (प्रण) बतलाया है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(युद्ध० ३। १२)

'मेरा यह नियम है कि जो एक बार भी मेरी शरण आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे अभय माँगता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ।'

इसी प्रकार मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम प्रजाके प्रति भी बड़ा ही प्रेम रखते थे। वे राज्यका शासन इस प्रकार मर्यादासे करते थे कि राम-राज्यके समय प्रजाको

बड़ी सुख-शान्ति थी। उनका राज्य-शासन भी अतुलनीय था। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

राम राज बैठें त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥
बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गतिके अधिकारी॥
अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
(रा० च० मा० उत्तर० २०। ७-८; २१। १—५)

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामका तो सारा ही चरित्र परम आदर्श और अनुकरणीय है। हमलोगोंको उनका अनुकरण करना चाहिये। जब भगवान् रामका चरित्र पढ़ने-सुनने और कहनेसे ही मनुष्यका मन पवित्र हो जाता है, फिर उनका अनुकरण करनेसे परम लाभ हो, इसमें तो कहना ही क्या है।

ऊपर तुलसीकृत, वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायण तथा पद्मपुराणके कुछ रामचरित्र-सम्बन्धी शिक्षाप्रद प्रसङ्गोंका दिग्दर्शन कराया गया है। उनका विस्तार पाठकोंको मूल ग्रन्थोंमें अर्थसहित देखना चाहिये एवं उनके भावोंको हृदयमें धारण करके उनके अनुसार अपना जीवन बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

परमात्माकी प्राप्तिके लिये सार-सार बातें

मनुष्यजन्म पाकर यदि परमात्माको प्राप्त कर लिया तो बहुत ही ठीक है, नहीं तो बड़ी भारी हानि है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
(केन० २। ५)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें ही परब्रह्म परमात्माको जान लिया तब तो बहुत कुशल है और यदि इस शरीरके रहते-रहते उसे नहीं जान पाया तो महान् विनाश है—यही सोचकर बुद्धिमान् पुरुष प्राणिमात्रमें परब्रह्म परमात्माको समझकर इस लोकसे प्रयाण करके अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

मनुष्यजन्मकी उन्नति और सफलताके लिये यहाँ कुछ साधनोपयोगी बातें बतायी जाती हैं। इनको पालन करनेके लिये तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये।

मनुष्यके जीवनमें तीन काल हैं—साधनकाल, व्यवहार-काल और शयनकाल—इन तीनों कालोंको ही उच्च-से-उच्च साधनकाल बना लेना चाहिये।

सोनेके समय भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव और लीलाका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे चिन्तन करते हुए ही शयन करना चाहिये। उससे स्वप्न भी अच्छा आता है और वह शयनकाल भी साधनके रूपमें परिणत हो जाता है।

व्यवहारकालमें जो कुछ भी किया जाय, उसे साधनका रूप देना चाहिये। शास्त्रके विरुद्ध तथा प्रमाद, आलस्य और व्यसनमें एक क्षण भी नहीं बिताना चाहिये। सारे प्राणियोंको भगवान्‌का स्वरूप या उनमें भगवान्‌को व्यापक समझकर या वे सब भगवान्‌के ही हैं—ऐसे भगवद्भावसे उनकी निष्कामभावपूर्वक तत्परतासे सेवा करनी चाहिये।

इस प्रकारके भावसे की हुई सबकी सेवा भगवान्‌की ही सेवा है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

अतएव सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंके सहित यह समस्त संसार भगवान्‌से ही उत्पन्न हुआ है और भगवान्‌से ही व्याप्त है, भगवान् ही अपनी योगमायासे संसारके रूपमें प्रकट हैं। अतः यह संसार उनका ही स्वरूप है और इसमें जो कुछ हो रहा है, वह उनकी ही लीला है। इसलिये सबकी सेवा ही भगवान्‌की सेवा है—ऐसा समझकर अपने शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका

सबके हितके उद्देश्यसे निष्कामभावपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये। एवं संसारमें जो भी कुछ हो रहा है, उसको भगवान्‌की लीला समझकर भगवान्‌के प्रेममें मस्त रहना चाहिये। इस संसाररूप नाट्यशालामें भगवान् हमलोगोंको अपनी लीलाके रूपमें नाटक दिखा रहे हैं। भगवान्‌के इस अभिनयमें सम्मिलित होकर हमें इस नाट्यशालाके स्वामीके रुखके अनुसार अभिनय करना चाहिये। नाटक करनेवालोंमें दो भाव रहते हैं। एक तो स्वाँगका भाव और दूसरा वास्तविक भाव—जैसे किसी मनुष्यको नाटकमें एक राजाका स्वाँग मिला और उसी मनुष्यके पिताको सिपाहीका स्वाँग मिला। एक तीसरे व्यक्तिने उस राजासे शिकायत की कि इस सिपाहीने चोरोंको छोड़ दिया है, तब राजा सिपाहीको बुलाकर धमकाता है, इसपर सिपाही कहता है—'हजूर! यह मेरी भूल हो गयी, आगे भविष्यमें ऐसी भूल नहीं होगी।' इसपर राजाने उसको क्षमा कर दिया। विचार करना चाहिये। ऊपरसे तो उस राजा बने हुए मनुष्यका यह भाव है कि मैं राजा हूँ और यह सिपाही है तथा उस अभिनयमें उसे जैसा व्यवहार उसके साथ करना चाहिये, वैसा ही बर्ताव करता है और उसमें कमी नहीं आने देता; पर भीतरमें यह समझता है कि ये मेरे पूजनीय पिता हैं और मैं इनका पुत्र हूँ, इसी प्रकार हमें व्यावहारिक दृष्टिसे तो हम जिस वर्ण, आश्रम, परिस्थितिमें हैं, उसीके अनुसार उत्साह, सावधानी और प्रसन्नतासे सबके साथ विनयपूर्वक यथायोग्य न्याययुक्त व्यवहार करना चाहिये। और वास्तवमें अपने अन्तःकरणमें सदा यह भाव रहना चाहिये कि सब भगवान्‌के स्वरूप हैं तथा सबमें भगवान् हैं—ऐसा अनुभव करके भगवान्‌के प्रेममें मग्न रहना चाहिये। जैसे नाटकका अभिनेता यह समझता है कि नाटकमें स्वाँग करनेवाले व्यक्तियोंसे मेरा यह सम्बन्ध नाट्यभरके लिये है, वास्तविक नहीं है। अतः वह किसीसे भी अपना वास्तविक सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। इसी प्रकार इस संसारके सभी सम्बन्ध माने हुए हैं, वास्तविक नहीं हैं—ऐसा समझकर हमें इनसे वास्तविक सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहिये; क्योंकि वास्तवमें तो हमलोगोंका नित्य सम्बन्ध एक भगवान्‌से है एवं जैसे नाटकका वह राजा यह समझकर 'कि मेरे साथ इस सिपाहीका सम्बन्ध तो नाट्यके लिये है,' वह नाटकके नियमानुसार सिपाहीके साथ सब यथायोग्य व्यवहार करता हुआ भी अपने पिताके असली सम्बन्धको नहीं भूलता, इसी प्रकार हमलोगोंको इस संसारमें सबके साथ शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार निःस्वार्थभावसे यथायोग्य बर्ताव करते हुए वास्तवमें हमारा जो भगवान्‌के साथ नित्य असली सम्बन्ध है, उसको कभी नहीं भूलना चाहिये। किंतु सबके साथ निष्कपटभावसे सत्य व्यवहार करना चाहिये तथा सत्य, प्रिय, हितकर, विनययुक्त वचन बोलने चाहिये। अपनेमें अच्छेपनका अभिमान और स्वार्थका भाव कभी नहीं आने देना चाहिये।' मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और आरामको कहीं भी स्थान नहीं देना चाहिये। जो कुछ करनेयोग्य कार्य हो, उसे भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवान्‌के लिये ही भगवान्‌को याद रखते हुए निष्काम-भावसे करना चाहिये। ऐसा करनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। फिर उसमें दुर्गुण, दुर्भाव, बुरे और व्यर्थ संकल्प कभी नहीं रह सकते। फिर हमारा जीवन बदल जाता है। दिन-पर-दिन हमारी उन्नति विशेषरूपसे होने लगती है। फिर हमारा यह व्यवहार-काल भी साधकके रूपमें परिणत हो जाता है।

एकान्तके समय संध्या-गायत्री, जप-ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना आदि जो भी कुछ साधन करें, उन सबको श्रद्धा और प्रेमपूर्वक अर्थ और भावको समझकर निष्कामभावसे निरन्तर तत्परताके साथ करते रहना चाहिये एवं उस साधनको गुप्त रखना चाहिये। प्रकट करनेसे साधन सुरक्षित नहीं रहता, वह दम्भके रूपमें बदल जाता है। श्रद्धापूर्वक किये हुए साधनमें उत्साह रहता है, प्रेममें किये हुए साधनमें प्रसन्नता रहती है। निष्कामभावपूर्वक किये हुए साधनसे शान्ति मिलती है, अर्थ और भावको समझकर निरन्तर किया हुआ साधन कीमती (मूल्यवान्) होता है। अतः शयनकाल, व्यवहार-काल और साधनकाल सबको परम साधनका रूप देकर उच्च-से-उच्च भावपूर्वक साधन करना चाहिये।

किंतु अपने साधनमें सफलता या उन्नति देखकर साधकको उसमें सुखका अनुभव करके उस सात्त्विक सुखमें भी रस नहीं लेना चाहिये। रस लेनेसे मनुष्य सुखके लोभमें आकर उसमें फँस जाता है, जिससे वह ऊपर नहीं उठ सकता; क्योंकि सात्त्विक सुख और सात्त्विक ज्ञान भी आसक्तिके कारण बाँधनेवाले हो जाते हैं। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥

(१४। ६)

'हे निष्पाप! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है, वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् उसके अभिमानसे बाँधता है।'

अभिमानसे मनुष्यकी उन्नति रुक जाती है और पतन हो जाता है। कोई मनुष्य भूलसे ऐसा मान ले कि 'मैं मुक्त हो गया अब मुझे कुछ भी नहीं करना है' तो इस मान्यताके कारण वह साधनमें आगे नहीं बढ़ सकता; बल्कि पतनकी ओर जाने लगता है। इसलिये अपनेमें गुणोंको लेकर अच्छेपनका अभिमान कभी किञ्चिन्मात्र भी भूलकर भी नहीं करना चाहिये। संसार और शरीरमें जो अभिमान, ममता, आसक्ति और कामना है, यह भी साधनमें बड़ा भारी विघ्न है। इसलिये इन सबका सर्वथा त्याग करके, जिससे समस्त प्राणियोंका परम हित हो उसीके लिये निष्कामभावसे तत्परताके साथ प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे मनुष्यको परम शान्ति शीघ्र ही मिल सकती है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(२। ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित-अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

इसलिये यज्ञ, दान, तप, सेवा, तीर्थ, व्रत, जप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थना आदि जो भी शुभ कर्म करें, उन सबको भगवान्‌की प्रेरणा और आज्ञाके अनुसार निष्कामभावसे करना चाहिये। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, स्वार्थ और आरामके लोभसे नहीं करना चाहिये। स्मरण रखना चाहिये कि भगवान्‌की प्रेरणा तो शास्त्रविरुद्ध क्रियाके लिये कभी नहीं होती। जो शास्त्रविरुद्ध क्रिया बनती है, उसमें अपने स्वभावका दोष हेतु है, जिसमें काम प्रधान है। जब अर्जुनने यह पूछा कि—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

'हे कृष्ण! फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है।'

तब इसके उत्तरमें भगवान्‌ने यही कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी तृप्त न होनेवाला और बड़ा पापी है। इसको ही तुम इस विषयमें वैरी जानो।'

अतएव अपनेमें किसी भी प्रकारका शास्त्रविपरीत आचरण हो तो उसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। सब दोषोंके मूल कारण काम, क्रोध, लोभ आदि दुर्गुण ही हैं। क्रोध अपने दोषोंपर करना चाहिये और उन दोषोंका सर्वथा समूल विनाश कर डालना चाहिये तथा कामनाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। कामना करनी ही हो तो भगवान्‌का भजन-ध्यान निरन्तर होनेके लिये और भगवान्‌में परम श्रद्धा और परम प्रेम होनेके लिये करनी चाहिये। धन, सम्पत्ति और सांसारिक पदार्थोंका लोभ कभी नहीं करना चाहिये। लोभ करना ही हो तो भजन-ध्यानका साधन उत्तरोत्तर बढ़े, इसका लोभ करना चाहिये। उसमें कभी संतोष नहीं करना चाहिये।

साधकको दूसरोंके दुर्गुणों तथा दुराचारोंको न कभी देखना, न चर्चा करना, न श्रवण करना और न किसीमें दुर्भाव करना चाहिये। दूसरोंके दोषोंकी चर्चा करनेसे उसकी आत्माको दुःख होता है और दूसरोंमें दुर्गुण-दुराचार देखनेसे उनके संस्कार अपने हृदयमें जमते हैं तथा अपनेमें अभिमान और दूसरेमें घृणाबुद्धि होती है। इसलिये इसमें सब प्रकारसे पतन-ही-पतन है। ऐसा समझकर भूलकर भी कभी दूसरेके दोषोंकी ओर दृष्टि नहीं डालनी चाहिये।

इसी प्रकार अपनेमें सद्गुण-सदाचारका आरोप करके अभिमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि उससे मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छा जाग्रत् होती है एवं घोर पतन हो जाता है।

कोई अपने मनके विपरीत भी आचरण करे तो उसपर न दुःख करना चाहिये और न क्रोध करना चाहिये; किंतु यदि स्वभावके दोषसे उसपर क्रोध आ

जाय तो उससे क्षमाके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। यदि हमपर कोई क्रोध करे तो हमें अपनी भूलकी खोज करनी चाहिये और उससे विनयपूर्वक पूछना चाहिये— 'मेरा कोई दोष हुआ होगा, तभी तो आपको उत्तेजना हुई है। मेरी जो भी भूल हो गयी, उसको क्षमा करनेके लिये मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ। मुझे मेरी भूल बतावें जिससे मैं भविष्यमें सावधान हो जाऊँ।' दूसरा हमपर क्रोध करे, उस समय अपने मनमें यह भाव भी नहीं रहने देना चाहिये कि इसने मेरा कोई अपराध किया है; इससे बदला लेनेकी भावना कभी नहीं हो सकती।

इस प्रकार किसी भी कारणसे अपनेको दूसरेपर क्रोध आ जाय, तब अपना ही अपराध मानकर उससे क्षमाके लिये प्रार्थना करे और दूसरेको हमपर क्रोध आ जाय तब भी अपना ही अपराध मानकर उससे क्षमाके लिये प्रार्थना करे तथा पुनः वैसी भूल न करनेका दृढ़ निश्चय करे, यह कल्याणका मार्ग है।

इसके विपरीत, हमको किसीपर क्रोध आ जाय तब उसीपर दोष डालना कि तुम हमारे क्रोधके कारण बने और उसको हमपर क्रोध आ जाय तब भी उसीपर दोष लगाना— यह पतनका मार्ग है।

किसी भी प्राणीको किसी भी निमित्तसे किञ्चिन्मात्र कभी दुःख नहीं पहुँचाना चाहिये; क्योंकि दूसरेकी हिंसा करके, उसको दुःख पहुँचाकर जो कुछ सुख प्राप्त किया जाता है, उससे बहुत गुना अधिक दुःख दूसरेका अहित करनेके फलस्वरूप भोगना पड़ता है। अतः किसीका भी अहित करना अपना ही अहित करना है। ऐसा समझकर दूसरेका अहित किञ्चिन्मात्र भी भूलकर भी नहीं करना चाहिये। बल्कि सब प्रकारसे मन, वाणी, शरीर आदिके द्वारा अभिमान और स्वार्थसे रहित होकर सबके साथ विनययुक्त और सरल व्यवहार करते हुए सबका हित ही करना चाहिये। यह धर्मका सार है। श्रीरामचरितमानसमें बताया गया है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४१। १)

परहित बस जिन्हके मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(रा० च० मा० अरण्य० ३१। ९)

भगवान् गीतामें कहते हैं—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।

(गीता १२। ४ का उत्तरार्ध)

'वे सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

अतः अपनी सारी चेष्टा शास्त्रके अनुकूल और भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये अभिमान और स्वार्थसे रहित होकर सबमें भगवद्भाव रखते हुए केवल सबके हितके उद्देश्यसे ही धैर्य और उत्साहपूर्वक करनी चाहिये। इसके विपरीत कभी कोई दूसरी चेष्टा होनी ही नहीं चाहिये। चाहे कोई अपने अनुकूल करे या प्रतिकूल, अपनेको सबमें सदा समभाव रखना चाहिये तथा सबके साथ निःस्वार्थ और समानभावसे प्रेम ही करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे ही मनुष्यजन्मकी सफलता है, नहीं तो मनुष्यजन्म व्यर्थ है।

इसलिये ऊपर बताये हुए सभी साधनोंको हर समय भगवान्‌के गुण-प्रभावयुक्त परम दयामय स्वभावका पद-पदपर दर्शन करते हुए तथा श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्काम-भावसे निरन्तर भगवान्‌के नामका जप और उनके स्वरूपका चिन्तन करते हुए ही करना चाहिये। इससे बहुत ही शीघ्र सफलता मिल सकती है।

भगवान्‌के समान हेतुरहित दया, प्रेम और हित करनेवाला संसारमें कोई नहीं है। ऐसा समझकर अपने अतिशय प्रेमास्पद भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम बढ़ानेके लिये उनमें परम श्रद्धा करनी चाहिये। भगवान्‌के गुण और प्रभावका तत्त्व-रहस्य समझनेपर उनमें परम श्रद्धा अनायास ही होती है और भगवान्‌के अनन्य शरण होकर करुणाभावपूर्वक हृदयसे स्तुति-प्रार्थना करनेपर भी उनकी दयासे परम श्रद्धा होकर भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध प्रेम हो सकता है।

भगवान्‌में क्षमा, दया, शान्ति, समता, प्रेम, संतोष, सरलता, सुहृदयता, ज्ञान आदि असंख्य गुण भरे हुए हैं। भगवान् गुणोंके सागर हैं, सारे संसारके गुणोंको एकत्र किया जाय तो वे उन गुणसागर भगवान्‌के गुणोंकी एक बूँदके समान भी शायद ही हों, भगवान्‌के गुण दिव्य, नित्य और चिन्मय हैं तथा संसारमें जो गुण प्रतीत होते हैं, वे सब जड और क्षणिक हैं एवं उन गुणसागर भगवान्‌के एक अंशके प्रतिबिम्बमात्र हैं। इसी प्रकार भगवान्‌का प्रभाव और उनकी महिमा भी अतिशय अपरिमित है। संसारमें जो भी कुछ गुण, प्रभाव, महिमा, ऐश्वर्य, विभूति, सामर्थ्य आदि दृष्टिगोचर होते हैं, वह सब मिलकर भगवान्‌के प्रभावका एक अंशमात्र है।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको भगवान्ने अपने किसी एक अंशमें धारण कर रखा है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(१०। ४१-४२)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है उस-उसको तू मेरे तेजके अंशका ही प्राकट्य जान। अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है। मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

भगवान्के उपर्युक्त प्रभावको हरेक परिस्थितियोंमें पद-पदपर हर समय अनुभव करते रहनेसे मनुष्यकी बहुत शीघ्र उन्नति हो सकती है।

भगवान्का स्वभाव बड़ा ही कोमल और मधुर है। उनके समान स्वभाव तो किसीका है ही नहीं। वे अपने दासोंके दोषोंकी ओर कभी देखते ही नहीं। श्रीभरतजीने कहा है—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(रा० च० मा० उत्तर० १। ६)

अपने भक्तके प्रति भगवान्का इतना वात्सल्यभाव रहता है कि कैसा भी कोई पापी क्यों न हो, शरण आनेपर उसका वे कभी त्याग करते ही नहीं। जब रावणसे अपमानित होकर भक्त विभीषण भगवान्की शरणमें आये उस समय भगवान् सुग्रीव आदि अपने प्रियजनोंसे परामर्श करते हैं और उनके दिये हुए परामर्शका आदर करते हुए भी अपने स्वभावके विरुद्ध होनेसे उनकी बातको काममें नहीं लाते और कहते हैं—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥
जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई। मोरें सनमुख आव कि सोई॥
निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥
भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा॥
जग महुँ सखा निसाचर जेते। लछिमनु हनइ निमिष महुँ तेते॥
जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥

(रा० च० मा० सुन्दरकाण्ड)

भगवान्का शरणागत भक्तके साथ कैसा उच्चकोटिका व्यवहार है। उनका यह बहुत ही कृपापूर्ण भक्तवत्सलताका स्वभाव है। अतः हमलोगोंको हरेक परिस्थितिमें भगवान्के गुण-प्रभावको तथा उनकी अहैतुकी दया और प्रेमपूर्ण स्वभावको देख-देखकर हर समय प्रेममें मग्न होकर विभोर रहना चाहिये। इस प्रकार श्रद्धा-विश्वासपूर्वक प्रेममें ही नित्य-निरन्तर मग्न रहनेपर भगवत्कृपासे बहुत ही शीघ्र भगवान्की प्राप्ति हो सकती है।

रामायणमें भरतकी अनुकरणीय परम श्रद्धा और प्रेम

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा थे, यह बात सभी रामायणोंमें स्वीकार की गयी है। रामायणोंके सिवा पद्मपुराण, महाभारत आदिमें भी भगवान् श्रीरामके चरित्रोंका वर्णन आता है; किंतु उनमें संक्षेपसे है और रामायणोंमें बहुत विस्तारसे है। हमलोगोंको सभी रामायणोंमें वर्णित भगवान्के चरित्रोंसे लाभ उठाना चाहिये। उनमें तुलसीकृत रामचरितमानस, वाल्मीकीय रामायण और अध्यात्मरामायण तो प्रधान हैं ही। सीताजी और भाइयोंके सहित जो भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके आदर्श चरित्र हैं, वे सबके लिये अनुकरणीय हैं। जो मनुष्य श्रद्धेय पुरुषकी आज्ञाके अनुसार ही चलता है, वही श्रद्धालु है तथा उससे भी बढ़कर श्रद्धालु वह है, जो आज्ञाकी तो बात ही क्या, उनके संकेतके अनुसार चलता है एवं वह तो परम श्रद्धालु है जो श्रद्धेयके मनके अनुसार चलता है। श्रीभरतजी परम श्रद्धा और परम प्रेमके आदर्श हैं, अतः हमलोगोंको उनका अनुकरण करना चाहिये। यहाँ भरतजीकी परम श्रद्धा और परम प्रेमके सम्बन्धमें कुछ लिखा जाता है।

महाराज दशरथजीकी मृत्युके बाद जब भरत-शत्रुघ्न ननिहालसे अयोध्यामें आये तो वे माता कैकेयीसे मिलने गये और उनको वहाँ यह मालूम हुआ कि श्रीरामका वनगमन ही पिताकी मृत्युका कारण है। भरतजीने सोचा—'पिताजी सत्यवादी धर्मात्मा थे। माता कैकेयीने जो यह वरदान माँगा कि श्रीराम चौदह वर्षके

लिये वनमें जायँ और भरत राज्य करे तथा पिताजीके बहुत समझानेपर भी माता कैकेयीने अपना हठ नहीं छोड़ा, तब पिताजीकी आज्ञा मानकर श्रीराम वनको चले गये। अतः श्रीराम, सीता और लक्ष्मणके वनगमनमें मैं ही हेतु हूँ।' उस समय भरतजी श्रीरामप्रेमके कारण पिताजीकी मृत्युको तो भूल गये और इस अनर्थमें अपनेको ही कारण जानकर सहम गये तथा मौन हो स्तम्भित हो गये।

भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।
हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु॥

(रा० च० मा० अयोध्या० १६०)

इसी बातको लेकर भरतजी माता कैकेयीसे न कहने योग्य वचन कहने लगे—'तू नहीं जानती कि मेरा श्रीरामचन्द्रजीके प्रति कैसा भाव है। तूने राज्यके लोभसे इतना अनर्थ कर डाला। तेरा मनोरथ बड़ा ही पापपूर्ण है। मैं तेरी इच्छा कभी पूर्ण नहीं करूँगा। मैं वनमें जाऊँगा और श्रीरामको वापस लौटा लाऊँगा। वे ही अयोध्याके राजा होनेके योग्य हैं। मैं तेरा मुख देखना नहीं चाहता। जहाँ तेरी इच्छा हो, वहीं चली जा। भगवान् राम तो सबका हित करते हैं। उन्होंने तेरा क्या अहित किया जो तूने उनको वन भेजकर न करने योग्य काम किया। जब तेरे हृदयमें श्रीरामको वनवास देनेका बुरा विचार आया, तभी तेरे हृदयके टुकड़े क्यों नहीं हो गये और वरदान माँगते समय जीभ गल क्यों नहीं गयी, मुँहमें कीड़े क्यों नहीं पड़ गये, श्रीरामजी तुझे वैरी कैसे लगे, तू कौन है? तू जो भी हो, अब मुँहमें स्याही पोतकर उठकर मेरी आँखोंकी ओटमें जा बैठ।'

उस समय जब मन्थरा सज-धजकर कैकेयीके पास महलमें आयी तो शत्रुघ्नने उसको लात मारी, जिससे उसका कूबड़ टूट गया। फिर जब वे आवेशमें आकर उसको जमीनपर घसीटने लगे तब भरतजीने उनको मना कर दिया कि स्त्रियाँ अबध्य हैं, अतः तुम इसे क्षमा कर दो। और यह भी कहा—'यदि मुझे यह आशंका न होती कि धर्मात्मा श्रीराम मातृघाती समझकर मुझसे घृणा करने लगेंगे तो मैं इस दुष्ट आचरण करनेवाली पापिनी कैकेयीको मार डालता।'

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम्॥

(वा० रा० अयोध्या० ७८। २२)

'इसलिये यह जो जीती है—श्रीरामजीकी कृपासे ही जीती है। श्रीरामजीको तो यदि मन्थराके मारे जानेका पता लग जाय तो वे मुझसे और तुझसे बोलना छोड़ देंगे।' भरतजीकी यह बात सुनकर शत्रुघ्नजीने उसको छोड़ दिया।

इसके बाद भरतजी माता कौसल्याके पास जाकर उनसे मिले और वहाँ ऐसी कठोर शपथें खाने लगे, जिससे माताका हृदय द्रवित हो गया। माता कौसल्याने कहा—

राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥
बिधु बिष चवै स्रवै हिमु आगी। होइ बारिचर बारि बिरागी॥
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुखु सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए। थन पय स्रवहिं नयन जल छाए॥

(रा० च० मा० अयोध्या० १६९। १—५)

माता कौसल्याके इन वचनोंसे पता लगता है कि भरतजीका श्रीरामके प्रति कितना अगाध प्रेम था।

पिताजीकी शास्त्रानुकूल और्ध्वदैहिक क्रिया करनेके बाद भरतजी राजसभामें आये। वहाँ माताओं, मन्त्रियों और माननीय पुरुषोंकी ओरसे वसिष्ठजीने भरतजीसे राज्य स्वीकार करनेके लिये अनुरोध किया; परंतु भरतजी अस्वीकार करते हुए बोले—'आपलोग तो मेरे भलेके लिये ही कहते होंगे, पर मुझे इसमें भला नहीं लगता, मुझे राजा बनाकर आप अपना भला चाहते हैं—यह आप स्नेहके वश होकर ही कहते हैं। मैं तो चित्रकूट जाकर श्रीरामके दर्शन करूँगा, इसीमें मेरा हित है। आप सब लोग मुझे इसके लिये आज्ञा प्रदान करें।'

जाउँ राम पहिं आयसु देहू। एकहिं आँक मोर हित एहू॥
मोहि नृप करि भल आपन चहहू। सोउ सनेह जड़ता बस कहहू॥

(रा० च० मा० अयोध्या० १७८। ७-८)

तदनन्तर अपनी दीनता और भगवान् रामके दयालु स्वभावका वर्णन करने लगे—

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥
जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी॥
सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥

(रा० च० मा० अयोध्या० १८२; १८३। ३—६)

भरतजीके ऐसे प्रेमभरे वचन सुनकर सभी मुग्ध हो गये और सभीने प्रेमकी प्रशंसा की।

भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥
(रा० च० मा० अयोध्या० १८४। ४)

तदनन्तर भरतजीने माताओं, मन्त्रियों, प्रजाजनों और गुरु वसिष्ठजीके सहित चित्रकूटके लिये प्रस्थान किया। उस समय भरत-शत्रुघ्न पैदल ही चलने लगे। तब अन्य लोग भी घोड़े, हाथी, रथोंको छोड़कर पैदल चलने लगे। यह देखकर माता कौसल्याने भरतजीसे कहा—'तुम रथपर चढ़ जाओ।' दोनों भाई माताकी आज्ञाको सिर चढ़ाकर, उनके चरणोंमें सिर नवाकर रथपर चढ़कर चलने लगे।

आगे, जब वे शृङ्गवेरपुरके निकट पहुँचे तो निषादराज गुह उनके भावको जाननेके लिये भेंटकी सामग्री लेकर उनके पास आया। गुहने पूछा—'आपका इतनी बड़ी सेना लेकर चित्रकूट जानेका क्या प्रयोजन है? मनमें बुरा भाव तो नहीं है?'

भरतने कहा—'निषादराज! मैं कैकेयीका पुत्र हूँ, मुझपर जितनी शंका की जाय, उतनी थोड़ी है। मैं भगवान् श्रीरामको लौटाने जा रहा हूँ। यह सब भेंट-सामग्री तो भगवान् राम ही ले सकते हैं, मैं तो उनका सेवक हूँ।'

फिर भरतने गुहसे कहा—'जहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने रात्रिमें शयन किया था, वह स्थान मैं देखना चाहता हूँ।' निषाद उनको वहाँ ले गया।

जहँ सिंसुपा पुनीत तर रघुबर किय बिश्रामु।
अति सनेहँ सादर भरत कीन्हेउ दंड प्रनामु॥
कुस साँथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनामु प्रदच्छिन जाई॥
चरन रेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥
कनक बिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे॥
(रा० च० मा० अयोध्या० १९८। १—३)

कैसा अद्भुत प्रेम है! इस प्रकार कहते हुए भरतजीके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बह चली और उनका हृदय द्रवित हो गया।

वाल्मीकीय रामायणमें गुहने भरतसे बताया है—'मैंने भाँति-भाँतिके अन्न, अनेकों प्रकारके खाद्य पदार्थ और कई तरहके फल श्रीरामचन्द्रजीके पास भोजनके लिये पहुँचाये थे; पर उन्होंने मेरी दी हुई सब वस्तुएँ स्वीकार तो कर लीं; किन्तु उन्हें ग्रहण नहीं किया, मुझे आदरपूर्वक लौटा दिया! फिर उन्होंने कहा—'हम-जैसे क्षत्रियोंको किसीसे कुछ लेना नहीं चाहिये, बल्कि सदा देना चाहिये।' सीताजीसहित श्रीरामचन्द्रजीने उस रात उपवास ही किया। लक्ष्मण जो जल ले आये थे, केवल उसीको उन्होंने पीया और बचा हुआ जल लक्ष्मणने ग्रहण किया। तदनन्तर लक्ष्मणने स्वयं कुश लाकर सुन्दर बिछौना बनाया, उसीपर श्रीराम और सीता—दोनोंने रात्रिमें शयन किया था। लक्ष्मण रातभर पहरा देते रहे। मैं भी बन्धु-बान्धवोंके साथ पहरा देता रहा।

मैंने उनसे सोनेके लिये कहा, किंतु वे बोले—'जब श्रीरामजी और सीताजी पृथ्वीपर सो रहे हैं तो मेरा सोना कैसे हो सकता है?' तब—

भरतजीने श्रीरामचन्द्रजीकी उस शय्याको देखकर कहा—'जिन सीताजीका दर्शन सूर्य, चन्द्रमा आदिको भी नहीं होता था, उनका दर्शन आज वनमें कोल-किरात, भील और मृगोंको होता है। जो सदा राजमहलमें मुलायम बिछौनोंपर सोया करती थीं, वे आज कुशकी शय्यापर सो रही हैं। इसका कारण मैं ही हूँ। मेरा यदि जन्म न होता तो श्रीसीताजी और श्रीरामजीको यह कष्ट क्यों होता।'

भरतजी एक रात वहाँ रहकर फिर गङ्गापार होकर आगे पैदल ही चलने लगे। तब सेवकोंने कहा—'नाथ! आप घोड़ेपर सवार हो जाइये।' इसपर भरतजी बोले—

रामु पयादेहि पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥
सिरभर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २०३। ६-७)

तत्पश्चात् भरतजी भरद्वाजके आश्रममें गये और उनको दण्डवत्-प्रणाम किया। भरद्वाज ऋषि उनसे और वसिष्ठजीसे बहुत प्रेमपूर्वक मिले और फिर भरतसे बोले—'चित्रकूट जानेमें तुम्हारा क्या प्रयोजन है। तुम श्रीराम और लक्ष्मणका कोई अनिष्ट तो नहीं करना चाहते?' यह सुनकर भरतजीकी आँखें दुःखके कारण डबडबा आयीं और उन्होंने कहा— 'मुने! आप तो महात्मा पुरुष हैं। आप तो सब कुछ जानते ही हैं। यदि आप भी मुझपर शंका करते हैं, मुझे इतना अधम समझते हैं, तब तो मैं हर तरहसे मारा गया।' भरद्वाजजी बोले—'भरत! मैं तपके बलसे जानता हूँ, तुम रामको वापस लाने जा रहे हो, मेरा बड़ा सौभाग्य है जो मुझे रामका दर्शन हुआ और रामके दर्शनका यह फल है जो मुझे तुम्हारा दर्शन हुआ।'

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २१०। ४-५)

मुनिने फिर कहा—'रामने एक रात यहाँ निवास किया था, तुमको भी यहाँ रहना चाहिये।' भरतको एक दिन युगके समान प्रतीत होता था; किंतु भरद्वाजजीकी आज्ञा मानकर वहाँ निवास किया। भरद्वाजजीने वहाँ अपने तपोबलसे ऋद्धि-सिद्धियोंके द्वारा उन सबके लिये अलग-अलग महल, हाथी, घोड़े आदि तथा खाने, पीने, रहनेकी सब प्रकारकी सुख-सुविधा और नाना प्रकारकी भोग-सामग्रियाँ उत्पन्न करवाकर सेना और परिवारसहित भरतजीका बड़ा भारी आतिथ्य-सत्कार किया। सबलोग ऐसी विचित्र भोग-सामग्रियोंको देखकर हर्ष और विषादके वश हो गये। किंतु भरद्वाजजीकी आज्ञासे रातभर भोग-सामग्रियोंके साथ रहकर भी भरतजीने उनका मनसे भी स्पर्शतक नहीं किया।

वाल्मीकीय रामायणमें लिखा है कि जब रात्रिका समय हुआ, तब भरतजीके लिये बनाये गये महलको देखकर उन्होंने उसे भगवान् श्रीरामके योग्य समझा और मनसे वहाँ भगवान् रामका आवाहन किया एवं भाई शत्रुघ्नके सहित वे भगवान् रामको सिंहासनपर विराजमान समझकर रातभर उनपर चँवर डुलाते रहे।

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च।
भरतो मन्त्रिभिः सार्द्धमभ्यवर्तत राजवत्॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च।
बालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने॥

(वा० रा० अयोध्या० ९१। ३८-३९)

'भरतजीने उस राजमहलमें दिव्य राज्यसिंहासन, छत्र और चँवर भी देखे तथा मन्त्रियोंके साथ उन्होंने राजा रामकी भाँति उनका सम्मान किया। श्रीरामको प्रणाम करके उस आसनकी पूजा की और स्वयं हाथमें चँवर लेकर मन्त्रीके आसनपर जा बैठे।' कितनी निरभिमानता, त्याग और प्रेमका भाव है।

इस प्रकार रातभर वहाँ निवास करके प्रातःकाल वे चित्रकूटकी ओर चले गये, रास्तेमें ऋषि-मुनियोंसे और साधारण मनुष्योंसे भेंट करते हुए चित्रकूट पहुँचे। वहाँ चित्रकूटमें नदीके समीप सेनाको ठहराकर वे आगे गये। श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसमें वर्णन है, भरतजी, शत्रुघ्नजी और गुह—तीनों भगवान् रामकी खोजमें घूमते रहे। उस समय भरतजीके मनमें अनेक प्रकारके विचार आने लगे—'मैं कैकेयीका पुत्र हूँ, अतः माता कैकेयीकी करनीके कारण भगवान् राम कहीं इस वनको छोड़कर दूसरे वनमें न चले जायँ।'

समुझि मातु करतब सकुचाहीं। करत कुतरक कोटि मन माहीं॥
रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २३३। ७-८)

मातु मते महुँ मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २३३)

उस समय भरतजीकी विचित्र दशा हो गयी। उनकी चाल जलके भँवरकी तरह हो गयी। माताकी करनीको याद करनेसे पैर पीछे पड़ते थे, किंतु भक्तिके बलसे चले जा रहे थे; और भगवान्के स्वभावको याद करनेसे उनके पैर उतावले होते थे।

अस मन गुनत चले मग जाता। सकुच सनेहँ सिथिल सब गाता॥
फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥
भरत दसा तेहि अवसर कैसी। जल प्रबाहँ जल अलि गति जैसी॥
देखि भरत कर सोचु सनेहू। भा निषाद तेहि समयँ बिदेहू॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २३४। ४—८)

गुह तो उस समय प्रेममें मुग्ध हो जड़वत् हो गया। आगे चलते-चलते एक टीलेपर चढ़कर दूरसे ही देखा कि एक वृक्षके नीचे वेदी—चबूतरेपर श्रीराम, लक्ष्मण, सीता और ऋषि-मुनि बैठे हैं, वह दृश्य देखते ही गुहने भरतजीसे सब बतलाया। भरतजी प्रेममें मुग्ध होकर वहींसे भगवान् श्रीरामको नमस्कार करते हुए चले। मार्गमें उन्हें भगवान् रामके चरणोंके चिह्न मिले। भरतजी भगवान्के चरणोंकी धूलि उठाकर प्रेममें मग्न हो हृदयमें, आँखोंमें और सिरमें लगाने लगे।

हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २३८। ३-४)

भरतजीके ऐसे प्रेम-भावको देखकर सभी प्रेममें निमग्न हो गये। जड़ चेतन और चेतन जड़ हो गये। वहाँ पहुँचनेपर भरतजीने 'हे नाथ! रक्षा कीजिये। रक्षा कीजिये।' यों कहते हुए दण्डवत्-प्रणाम किया। ऐसा करते हुए उनको लक्ष्मणजीने देखा। भरतजी श्रीरामकी विरहव्याकुलतामें इतने कृश हो गये थे कि लक्ष्मणजी भरतजीको पहचान नहीं सके, उनकी बोलीसे ही पहचाना कि भरतजी प्रणाम कर रहे हैं। उस समय लक्ष्मणजी भरतजीसे मिलना चाहते थे; पर यह सोचकर

कि भगवान्‌की सेवामें बाधा आ जायगी—वे भरतजीकी ओर नहीं गये और भगवान्‌की सेवा करते रहे; फिर भगवान्‌को नमस्कार करके लक्ष्मणजीने कहा—'नाथ! भरतजी आपको प्रणाम कर रहे हैं।' यह सुनते ही भगवान् प्रेममें अधीर होकर उठे। वे धनुष-बाण, तरकस और वस्त्रोंको भी सम्हाल नहीं सके तथा भरतजीको उठाकर हृदयसे लगा लिया। दोनोंके उस प्रेमभावको देखकर सब अपनी सुध भूल गये। उस समयका उनका प्रेम-मिलन अवर्णनीय था।

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबिकुल अगम करम मन बानी॥
परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २४१। १-२)

फिर भगवान् रामने भरतजीसे पूछा—'कैसे आये हो?' भरतजीने उत्तर दिया—'मैं अकेला नहीं हूँ, माताएँ, मन्त्रीगण, वसिष्ठजी आदि भी साथ हैं। आपके सत्सङ्गमें बाधा न आवे, इसलिये उन सबको चित्रकूटमें नदीके पास ठहरा दिया है।' जब भगवान् रामने सुना कि माताएँ और वसिष्ठजी भी आये हैं, तब वे शत्रुघ्नजीको सीताके पास ठहराकर लक्ष्मण, भरत और गुहके साथ वहाँ आये, जहाँ माताएँ और वसिष्ठजी आदि ठहरे हुए थे। आकर उन्होंने मुनियों और माताओंको प्रणाम किया तथा माताओंको विधवावेषमें देखकर पूछा— 'माताओंका यह वेष क्यों?' वसिष्ठजीने बतलाया— 'महाराज दशरथ परलोक सिधार गये।' पिताजीकी मृत्युका समाचार सुनकर श्रीरामजीने पिताजीकी शास्त्रविहित क्रिया की। श्रीरामजीने सोचा—'जो अन्न अपने खानेका होता है, वही देवताओं और पितरोंको दिया जाता है'— ऐसा सोचकर उन्होंने दुःखित हृदयसे इंगुदीके गूदेमें बेर मिलाकर उसके पिण्ड दिये तथा उस दिन सबने उपवास किया।

तत्पश्चात् जब सबलोग एकत्र हुए, तब वसिष्ठजीने भरतसे कहा—'तुम और शत्रुघ्न तो वनको चले जाओ और राम, लक्ष्मण तथा सीताको अयोध्या लौटा दिया जाय।'

तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहिं लखन सीय रघुराई॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २५६। ३)

यह सुनकर भरतजी बहुत ही प्रसन्न हुए।

सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता। भे प्रमोद परिपूरन गाता॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २५६। ४)

और फिर भगवान् रामसे बोले—'हम सभी आपको अयोध्या ले जानेके लिये आये हैं।' भगवान् रामने कहा—'भरत! यह पिताजीकी आज्ञा है। उन्होंने मुझको वनका राज्य दिया है और तुमको अयोध्याका; फिर भी तुम संकोच छोड़कर जो कहो, वैसे ही मैं करनेको तैयार हूँ।' भरतजी बोले—'प्रभो! आपको संकोचमें डालना मेरा कर्तव्य नहीं है, आप ही संकोच छोड़कर प्रसन्नतापूर्वक मुझे आज्ञा करें, मैं उसीको सिरपर धारण करके करूँगा।' फिर उन्होंने अपने आधारके लिये भगवान्‌के चरणोंकी पादुका माँग ली और चरणपादुकाको सिरपर धारण करके लौटते समय कहा—'यदि आप चौदह वर्षकी अवधिपर नहीं पहुँचेंगे तो पंद्रहवें वर्षके पहले दिन ही मैं अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा।' भगवान् बोले—'मैं ठीक समयपर पहुँचा रहूँगा।'

तदनन्तर भरतजीने नन्दिग्राममें आकर चौदह वर्षतक मुनियोंके वेषमें जटा रखते हुए ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक जमीनपर ही निवास किया और भगवान्‌की चरणपादुकाको सिंहासनपर रखकर उनकी नित्य पूजा-उपासना करते रहे। अन्तमें जब चौदह वर्षकी अवधिका एक दिन शेष रह गया, तब वे व्याकुल होकर विचार करने लगे— 'भगवान् राम क्यों नहीं आये, उनके न आनेमें मैं ही कारण हूँ। लक्ष्मणका अहोभाग्य है जो उनके साथ गये। भगवान् मुझको कपटी और कुटिल जानकर साथ नहीं ले गये; किंतु भगवान्‌का स्वभाव बड़ा ही दयालु है। वे मेरे दोषोंको नहीं देखते हैं। वे दीनबन्धु हैं, इसलिये मुझे विश्वास है कि वे मुझे जरूर मिलेंगे। यदि वे नहीं मिलेंगे तो मेरे प्राण नहीं रहेंगे। यदि उनके न मिलनेपर मेरे प्राण रह जायँ तो मेरे समान कोई अधम नहीं; क्योंकि मैं यदि उनके न आनेपर अग्निमें प्रवेश करके प्राण-त्याग करूँ तो यह तो एक प्रकारसे आत्महत्याके समान होगा। यदि मेरा सच्चा प्रेम होगा तो मेरे प्राण नहीं रहेंगे।' इस प्रकार वे भगवान्‌के विरहमें व्याकुल हो गये। कैसा अद्भुत प्रेम है!

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृसगात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥

(रा० च० मा० उत्तर० १। क, ख)

उनकी इस अवस्थाको देखकर हनुमान्‌जी हर्षित हो गये और भरतजीसे बोले—'सीताजी और लक्ष्मणजीसहित भगवान् राम आ रहे हैं।' यह शुभ संवाद सुनकर भरतजीके आनन्दकी सीमा नहीं रही और पूछा—

को तुम्ह तात कहाँ ते आए। मोहि परम प्रिय बचन सुनाए॥

(रा० च० मा० उत्तर० २। ७)

हनुमान्‌जीने बताया—'मैं भगवान् रामका दास हूँ।' यह सुनते ही भरतजी उनसे बहुत आदरसे मिले और उनके हृदयमें प्रेम उमड़ पड़ा।

मारुत सुत मैं कपि हनुमाना। नाम मोर सुनु कृपानिधाना॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर। सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर॥
मिलत प्रेम नहिं हृदयँ समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥

(रा० च० मा० उत्तर० १। ४-५)

भरतजीने हनुमान्‌जीसे कहा—'मैं तुम्हें क्या पुरस्कार दूँ। इस संदेशके बदलेमें देने योग्य संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं; अतः मैं तुमसे उऋण नहीं हो सकता।'

एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥
तब हनुमंत नाइ पद माथा। कहे सकल रघुपति गुन गाथा॥

(रा० च० मा० उत्तर० १। ७-८)

हनुमान्‌जी भरतजीके प्रेमको देखकर मुग्ध हो गये और वापस शृङ्गवेरपुर जाकर उन्होंने भगवान्‌को सब कथा सुनायी। तब भगवान् राम विमानमें बैठकर आये। सुग्रीव आदिसे कहते रहे—'यह सरयू है, इसमें स्नान करनेसे मनुष्यको मेरा सामीप्य प्राप्त होता है। यह मेरी जन्मभूमि अयोध्या नगरी है, इसके समान मुझे वैकुण्ठ भी प्रिय नहीं है, इस रहस्यको कोई-कोई जानते हैं, फिर भगवान् राम वहाँ पहुँचकर माताओंसे और वसिष्ठजीसे मिले, सब गुरुजनोंके चरणोंमें नमस्कार किया तथा फिर भरतजी और शत्रुघ्नजीसे मिले। उस समय भरतजीने भगवान् रामके चरण पकड़ लिये और प्रेममग्न हो पृथ्वीपर पड़े रहे। भगवान्‌ने ही उनको जबरदस्ती उठाकर हृदयसे लगा लिया।

उस समय दोनों भाइयोंके रोंगटे खड़े हो गये और प्रेमाश्रुओंकी धारा बहने लगी।

गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज॥
परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े। नव राजीव नयन जल बाढ़े॥
राजीव लोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी।
अति प्रेम हृदयँ लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुअन धनी॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही॥

(रा० च० मा० उत्तर० ५। ६—८ तथा छंद १)

इस प्रकार भरतजीका सारा जीवन ही श्रद्धा और प्रेमसे भरा हुआ है। वास्तवमें भरतजी परम श्रद्धा और परम प्रेमकी मूर्ति ही थे। उनके प्राणोंकी रक्षा उनकी परम श्रद्धासे ही हुई। उन्होंने भगवान् रामकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही विवश होकर भगवान्‌के वियोगमें चौदह वर्षकी इतनी लंबी अवधि बिता दी। भगवान् राम भरतजीके प्रेमको जानते थे, इसीसे वे लङ्का-विजयके पश्चात् भरतसे मिलनेके लिये अधीर हो गये थे। उस समय उन्होंने भक्त विभीषणसे कहा था—

भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥
बीते अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

(रा० च० मा० लङ्का० ११६ क-ग)

उधर भरतजी भगवान्‌के विरहमें अत्यन्त व्याकुल थे तो इधर भगवान् राम भरतजीसे मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर थे—भगवान्‌का यह तो नियम ही है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

इन दोनोंका ही परस्पर अलौकिक प्रेम है। वास्तवमें वे दोनों अभिन्नहृदय थे। स्वयं भगवान् रामने हनुमान्‌जीसे कहा था—

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ। भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ॥

(रा० च० मा० उत्तर० ३६। ७)

अतएव हमलोगोंको भरतजीके परम श्रद्धा और परम प्रेमसे ओतप्रोत परम पवित्र आदर्श चरित्रोंको भलीभाँति श्रवण, पठन और मनन करके उनके अनुसार भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्य प्रेम करना चाहिये।

राग-द्वेषके त्यागकी, वैराग्य और निष्कामभावकी महिमा

संसारके विषयोंमें, पदार्थोंमें, प्राणियोंमें और क्रियाओंमें अनुकूलता और प्रतिकूलताकी जो प्रतीति है उसमें राग-द्वेष होना ही सब दोषोंकी खानि है। साधारण मनुष्योंका अनुकूलमें राग और प्रतिकूलमें द्वेष होता है तथा राग-द्वेषसे ही सारे दोष और विकार उत्पन्न होते हैं। ये राग-द्वेष सारे पदार्थोंमें व्यापक हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(३। ३४)

'इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।'

जबतक राग-द्वेष रहते हैं तबतक कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—किसी भी साधनकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको राग-द्वेषका सर्वथा त्याग करना परम आवश्यक है। इसीसे भगवान्ने गीतामें सभी साधकोंके लिये राग-द्वेषके त्यागकी बात जगह-जगह कही है। कर्मयोगके साधकके लिये कहते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(गीता २। ६४)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक तो अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है।'

ज्ञानयोगके साधनमें भी राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करनेके लिये कहा गया है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥

(गीता १८। ५१)

'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त हो, शब्दादि विषयोंका त्याग करके, सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट कर दे।'

सात्त्विक कर्मके लक्षणोंमें भी राग-द्वेषसे रहित होना आवश्यक बताया गया है—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥

(गीता १८। २३)

'जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो—वह सात्त्विक कहा जाता है।'

भक्तियोगके साधकके लिये भी राग-द्वेषका त्याग करना आवश्यक बतलाते हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १७)

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है।'

साधारण मनुष्यका जैसे अनुकूलमें राग और प्रतिकूलमें द्वेष होता है, इसी प्रकार अनुकूलमें सुख और प्रतिकूलमें दुःख होता है। राग-द्वेषके नाशसे ही समता आती है। समताकी सभी साधनोंमें आवश्यकता रहती है। समता सिद्ध महापुरुषमें तो स्वाभाविक ही रहती है और साधकके लिये वही साधन-रूपमें अनुकरणीय है; अतः साधकको अनुकूल-प्रतिकूल प्रतीत होनेवाले भावोंमें राग-द्वेषको मिटाकर सबमें समभाव करना चाहिये।

भक्तिके साधनमें तो सबमें एक भगवद्बुद्धि होनेसे, ज्ञानके साधनमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका भाव और अन्य सबका अभाव माननेसे तथा कर्मयोगके साधनमें सब पदार्थोंको क्षणभङ्गुर, परिणामी, उत्पत्ति-विनाशशील माननेसे अनुकूलता-प्रतिकूलतामें राग-द्वेष और हर्ष-शोकका सर्वथा नाश हो जाता है।

प्रतिकूलताकी प्रतीति होनेपर भय, उद्वेग, वैर, ईर्ष्या, चिन्ता आदि अनेक दोष आते हैं; किंतु इन सबका मूल द्वेष ही है। इसी प्रकार अनुकूलताकी प्रतीति होनेपर काम, लोभ, स्नेह, ममता, प्रसन्नता आदि

अनेक दोष आते हैं, पर इन सबका मूल राग ही है। इसलिये राग-द्वेषके त्यागसे सबका त्याग हो जाता है।

गीतामें भगवान्ने 'राग'के स्थानमें कहीं 'स्पृहा'का, कहीं 'आकाङ्क्षा'का और कहीं 'इच्छा' शब्दका भी प्रयोग किया है। जैसे **'सुखेषु विगतस्पृहः'** (गीता २। ५६) और **'पुमांश्चरति निःस्पृहः'** (गीता २। ७१) में 'स्पृहा'का भाव राग ही है तथा——

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥

(गीता ५। ३)

'हे अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझनेयोग्य है; क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

इस श्लोकमें तथा १२ वें अध्यायके १७ वें श्लोकमें कथित 'काङ्क्षा'का अभिप्राय रागसे ही है। एवं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप॥

(गीता ७। २७)

'हे भरतवंशी अर्जुन! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं।'

यहाँ 'इच्छा' शब्द रागके ही स्थानमें आया है। इसी प्रकार अनुकूलता-प्रतिकूलताको ही कहीं 'प्रिय-अप्रिय' और कहीं 'शुभ-अशुभ' कहा गया है। जैसे—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

(गीता ५। २०)

'जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।'

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥

(गीता १४। २४)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है (वह गुणातीत है)।'

इन दोनों श्लोकोंमें आये हुए 'प्रिय-अप्रिय' शब्द अनुकूल-प्रतिकूलको ही लक्ष्य करानेवाले हैं। तथा—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(गीता २। ५७)

'जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।'

यहाँ 'शुभ-अशुभ'का भाव अनुकूल-प्रतिकूल ही है। इसलिये अनुकूलता-प्रतिकूलता और सुख-दुःखमें समभाव-युक्त होना चाहिये; किंतु राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे तो सर्वथा रहित ही होना चाहिये; क्योंकि राग-द्वेष, हर्ष-शोक अन्तःकरणके विकार हैं और परमात्मप्राप्त पुरुषमें इनका लेश-मात्र भी नहीं रहता। ईशावास्योपनिषद्में बताया गया है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(मन्त्र ७)

'जिस स्थितिमें आत्मतत्त्वको जाननेवाले महात्माके लिये सम्पूर्ण भूत आत्मा ही हो जाते हैं, उस स्थितिमें एकत्वका अर्थात् सबमें एक आत्माका अनुभव करनेवाले उस मनुष्यको कहाँ मोह है और कहाँ शोक है?' भाव यह कि सबमें एक विज्ञानानन्दघन परमात्माका अनुभव करनेवाले पुरुषके शोक-मोहादि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

और भी कहा गया है—**'हर्षशोकौ जहाति'** (कठ० १। २। १२) 'वह हर्ष-शोकको सर्वथा त्याग देता है अर्थात् उससे रहित हो जाता है।' **'तरति शोकमात्मवित्'** (छान्दोग्य० ७। १। ३) 'आत्मज्ञानी शोकसे तर जाता है।'

यद्यपि ज्ञानी महात्मा पुरुषोंको भी शारीरिक सुख-दुःखकी प्रतीति तो होती है; क्योंकि सुख-दुःखकी प्रतीतिका अन्तःकरणके सिवा शरीरसे भी सम्बन्ध है। किंतु वे उसमें सम और निर्लेप रहते हैं; इसलिये हर्ष-शोक उनको तनिक भी नहीं होता। अतः हमलोगोंको सुख-दुःखकी प्रतीतिमें समभाव करना चाहिये और राग-द्वेष, हर्ष-शोकसे सर्वथा रहित होना चाहिये।

इन राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि दोषोंके परिहारके लिये वैराग्यकी परम आवश्यकता है। जहाँ वैराग्य होता है, वहाँ राग-द्वेष कभी नहीं रहते और जहाँ राग-द्वेष नहीं रहते, वहाँ सारे विकारोंका स्वतः ही अभाव हो जाता है। वैराग्यके बिना कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग— किसी भी साधनकी सिद्धि नहीं होती। गीतामें जहाँ-जहाँ कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोगका प्रकरण आया है, वहाँ-वहाँ वैराग्यको मुख्य माना गया है। भक्तिके साधनोंमें कहा गया है—

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥

(गीता १५। ३ का उत्तरार्ध)

'इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रके द्वारा काटकर (भगवान्‌के शरण होना चाहिये।)'

ज्ञानयोगका साधन भी वैराग्यके बिना सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञानयोगके साधकके लिये भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥

(गीता १३। ८)

'इहलोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव करना एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना चाहिये।'

अठारहवें अध्यायके ५२वें श्लोकमें '**वैराग्यं समुपाश्रितः**', कहकर दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेके लिये जोर दिया है। रागकी निवृत्ति हुए बिना कर्मयोग भी सिद्ध नहीं होता—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

(गीता ३। १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

(गीता ६। ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।'

इसी प्रकार गीता आदि शास्त्रोंमें यह बात स्थल-स्थलपर बतायी गयी है कि बिना वैराग्यके किसी भी साधनकी सिद्धि नहीं हो सकती। जहाँ वैराग्य होता है, वहाँ स्वाभाविक ही संसारके विषयभोगोंसे उपरति होकर परमात्माके ध्यानमें स्थिति हो जाती है। कोई भी साधु, महात्मा और विद्वान् पुरुष कितना ही शास्त्रज्ञ और गुणी क्यों न हो, यदि उसमें वैराग्य नहीं है तो उसका कोई विशेष मूल्य नहीं। उदाहरणके लिये मान लीजिये—

एक गृहस्थके यहाँ कोई विद्वान् ब्राह्मण भोजन करने आये। गृहस्थने उनके लिये बहुत प्रेमसे भोजन बनवाया। आते ही उन्होंने पूछा—'क्या-क्या भोजन है?' गृहस्थने बताया—'खीर-पूरी, साग-सब्जी आदि।' उन्होंने कहा— 'साथमें जलेबी अवश्य होनी चाहिये, उसका खीरके साथ बहुत मेल है।' जब वे भोजन करके जाने लगे तब गृहस्थने उनको एक अच्छी ऊनी चद्दर दी। तब वे बोले—'सेठ! आप-जैसोंके यहाँसे तो हमें दुशाला मिलना चाहिये था।' गृहस्थने कहा—'हमारे पास दुशाला नहीं है, यह चद्दर ही है।' तब वे चद्दर लेकर चले गये। किंतु उनकी इस प्रकार भोगोंमें और पदार्थोंमें आसक्ति देखकर उनके प्रति गृहस्थका श्रद्धा-विश्वास पूर्ववत् नहीं रहा। इससे सिद्ध हुआ कि विद्वान् और गुणी होनेपर भी यदि वैराग्य नहीं है तो उसका विशेष मूल्य नहीं है।

किसी गृहस्थके यहाँ एक विरक्त साधु भोजन करने आये। उनके लिये गृहस्थने खीर-जलेबी, लड्डू, बरफी, पूरी-साग आदि तैयार करवाकर परोसा। उस भोजन सामग्रीको देखकर उन्होंने कहा—'यह साधुओं और विरक्तोंके योग्य नहीं है, उनको ऐसा भोजन नहीं देना चाहिये। उनको तो रूखी-सूखी रोटी अच्छी लगती है।' यह कहकर भोजन नहीं किया और वहाँसे जाने लगे। जाते समय गृहस्थ उनको बढ़िया ऊनी चादर देने लगा, तब वे बोले—'हमें इसकी आवश्यकता नहीं।' और बहुत अनुरोध करनेपर भी उसको नहीं लिया। तब उस गृहस्थका उनमें श्रद्धा-विश्वास पहलेकी अपेक्षा भी अधिक हो गया। इससे समझना चाहिये कि यदि वैराग्य

है तो वैराग्यके साथ सारे गुण अपने-आप ही आ जाते हैं। किंतु किसीमें विद्या और गुण भी हैं तो वे गुण वैराग्यके बिना स्थायी नहीं रह सकते। अतः जहाँ वैराग्य है, वहाँ सब कुछ है। इसलिये साधकको संसारके समस्त भोगोंसे, शरीरसे, सम्पत्तिसे और परिवारसे—सबसे तीव्र वैराग्य करना चाहिये। महर्षि पतञ्जलिजीने समाधिकी सिद्धिके लिये अभ्यास और वैराग्य—ये दो साधन बतलाकर वैराग्यके स्वरूपका इस प्रकार वर्णन किया है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥

(१।१५)

'देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्था है, वह वैराग्य है।'

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

(१।१६)

'पुरुषके ज्ञानसे जो प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका सर्वथा अभाव हो जाना है, वह परवैराग्य है।'

गीतामें भी भगवान्ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(५।२२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।' क्योंकि सच्चे विवेकी पुरुषका तो विषयोंमें स्वाभाविक वैराग्य रहता है। अतः साधकको शरीर, संसार और भोगोंसे वैराग्य अवश्य करना चाहिये।

जब राग-द्वेषका नाश और संसारसे वैराग्य हो जाता है तब तो संसारके भोगों और पदार्थोंकी कामनाओंका भी अभाव हो जाता है; क्योंकि रागसे ही कामना उत्पन्न होती है—'**सङ्गात्संजायते कामः**' (गीता २।६२)। किन्तु जबतक तनिक भी कामना विद्यमान है, तबतक मुक्ति या परमपदकी प्राप्ति सम्भव नहीं। महाभारतमें बताया गया है—

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम्।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(शान्ति० २५१।७)

'जगत्में कामना ही एकमात्र बन्धन है, यहाँ दूसरा कोई बन्धन नहीं है। जो कामनाके बन्धनसे छूट जाता है, वह ब्रह्मभाव प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है।'

कामना साधनमें बड़ा भारी विघ्न है। सिद्ध पुरुषमें तो कामनाका अत्यन्त अभाव स्वाभाविक ही है; क्योंकि भगवान्ने कहा है—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

(गीता २।५५)

'हे अर्जुन! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है अर्थात् उनसे रहित हो जाता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।'

साधकको भी सिद्ध पुरुषको लक्ष्यमें रखकर उसके अनुसार बननेके लिये तत्परतासे प्रयत्न करना चाहिये। इहलोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंकी कामनाका सर्वथा त्याग करना चाहिये। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी भी इच्छा नहीं रखनी चाहिये। पदार्थ, प्राणी, शरीर किसीको भी लेकर किञ्चिन्मात्र भी कामना नहीं रखनी चाहिये। आत्मोद्धारके लिये कोशिश करनी चाहिये; किंतु आत्मोद्धारकी कामना निष्कामके तुल्य होते हुए भी न करना बहुत अच्छा है। मुक्ति या परमात्माकी प्राप्ति साध्य है तथा कर्मयोग, भक्तियोग या ज्ञानयोग साधन है। साधकको किसी भी प्रकारकी कामना न रखकर उच्चकोटिका साधन करना चाहिये और उस साधनको साध्यसे भी बढ़कर आदर देना चाहिये। जैसे भोजन करनेसे क्षुधाकी निवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है, उसमें क्षुधानिवृत्तिकी आकाङ्क्षा करनेकी आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार भगवान्में प्रेम होनेपर स्वाभाविक ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है, भगवत्प्राप्तिकी कामना करनेकी जरूरत नहीं है। भगवत्प्राप्तिमें प्रेम ही प्रधान हेतु है। किंतु यदि कामना ही करनी हो तो भगवान्में परम श्रद्धा और अनन्य विशुद्ध प्रेम होनेकी कामना करनी चाहिये। भगवान्में अनन्य विशुद्ध प्रेम होनेपर भजन-ध्यान आदि भक्तिके साधन उसमें अपने-आप ही आ जाते हैं और भजन-ध्यानका साधन होकर उसको भगवत्प्राप्ति स्वतः ही हो जाती है।

इसी प्रकार ज्ञानयोगके साधकको भी निष्कामी अवश्य होना चाहिये; क्योंकि निष्कामभाव हुए बिना

ज्ञानका साधन भी सिद्ध होना सम्भव नहीं है। किंतु ज्ञानके साधनद्वारा भी मुक्तिकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये, बल्कि विवेक और वैराग्यपूर्वक शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान आदि षट्सम्पत्ति तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधनोंपर जोर रखकर तत्परतासे साधन करना चाहिये। फिर ब्रह्मकी प्राप्ति अपने-आप ही हो जाती है।

इसी प्रकार पूर्ण निष्कामभावसे कर्मयोगकी सिद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति अपने-आप ही हो जाती है; क्योंकि निष्कामभावसे कर्मयोगकी सिद्धि तो स्वाभाविक ही है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४। ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।

किंतु भक्ति और ज्ञानके मार्गमें भी निष्कामभावकी परम आवश्यकता है। यद्यपि ईश्वरकी भक्ति सकाम भी हो सकती है; किंतु निष्काम-भक्तिके सामने वह बहुत ही तुच्छ है। भगवान्‌ने गीतामें अपने सभी भक्तोंको श्रेष्ठ और उदार बतलाया है; किंतु निष्कामी भक्तोंको तो सबसे श्रेष्ठ कहकर अपना स्वरूप ही बतलाया है—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

(७। १८)

'ये सभी भक्त उदार हैं; परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला निष्कामी ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है।'

ध्यान देना चाहिये। अर्थकी कामनावालेसे आर्त श्रेष्ठ है और आर्तसे मुक्तिकी इच्छावाला जिज्ञासु श्रेष्ठ है; किंतु जो भगवान्‌का निष्कामी ज्ञानी भक्त है, उससे श्रेष्ठ तो कोई है ही नहीं। भगवान्‌ने ऐसे निष्कामी ज्ञानी भक्तको अपना अत्यन्त प्रिय बताया है। इसका विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण गीता-तत्त्व-विवेचनी टीकाके अ० ७ श्लोक १६-१७में देख लेना चाहिये।

श्रीरामचरितमानसमें भी स्वयं भगवान् श्रीराम कहते हैं—

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

(अरण्य० १६)

श्रीमद्भागवतमें भी निष्काम भक्तकी बहुत प्रशंसा की गयी है—

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः॥

(११। २। ५०)

'जिसके मनमें विषयभोगोंकी इच्छा और कर्मोंके बीज—वासनाओंका उदय नहीं होता तथा जो एकमात्र भगवान् वासुदेवमें ही निवास करता है, वह उत्तम भगवद्-भक्त है।'

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १७)

'जो सब प्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित हैं—यहाँतक कि शरीर आदिमें भी अहंता-ममता नहीं रखते, जिनका चित्त मेरे ही प्रेमके रंगमें रँगा गया है, जो संसारकी वासनाओंसे शान्त—उपरत हो चुके हैं और जो अपनी महत्ता—उदारताके कारण स्वभावसे ही समस्त प्राणियोंके प्रति दया और प्रेमका भाव रखते हैं, किसी प्रकारकी कामना जिनकी बुद्धिका स्पर्श नहीं कर पाती, उन्हें मेरे जिस परमानन्दस्वरूपका अनुभव होता है उसे और कोई नहीं जान सकता; क्योंकि वह परमानन्द तो केवल निरपेक्षता (निष्कामता)से ही प्राप्त होता है।'

इस प्रकार भक्तिके साधनमें भी निष्कामभावकी श्रेष्ठताका निरूपण किया गया है। निष्काम भक्तके समान भगवान्‌को कोई भी प्रिय नहीं है। भक्त प्रह्लादमें यह निष्कामभाव विशेषरूपसे देखनेमें आता है। इसका दिग्दर्शन इसी पुस्तकमें प्रकाशित 'भगवान्‌के नामकी महिमा और उनसे प्रार्थना' शीर्षक लेखमें कराया गया है, पाठकोंको वहाँ देख लेना चाहिये।

जिस प्रकार भगवान्‌का सम्पूर्ण प्राणियोंपर सदा ही

हेतुरहित—बिना ही कारण निष्काम प्रेम और दया है, वैसे ही जिस भक्तका यावन्मात्र प्राणियोंपर निष्कामभावसे प्रेम और दया है वह महापुरुष भगवान्‌को अत्यन्त प्यारा है (गीता १२। १३-१४)।

अतएव निष्कामभावके बिना किसी भी साधनकी सिद्धि नहीं होती—ऐसा समझकर सभी साधकोंको अपनेमें सर्वथा निष्कामभाव लानेका तत्परतासे विशेष प्रयत्न करना चाहिये। किंतु यदि कोई साधक निष्कामी होकर भी अपनेको निष्कामी मानकर अभिमान रखता है तो यह उसके निष्कामभावमें कलङ्क है।

अत: हमलोगोंको राग-द्वेषका त्याग करके संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य और निष्कामभाव करना चाहिये। इससे बहुत शीघ्र साधन तीव्र होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

आत्मोद्धारके लिये महापुरुषोंके अनुकरणकी विशेष आवश्यकता

हमलोग जिस कार्यके लिये इस संसारमें आये हैं, उसको शीघ्र-से-शीघ्र सम्पन्न करना चाहिये। वह कार्य है—अपने आत्माका उद्धार करना। चौरासी लाख योनियोंमें घूमते-घूमते यह प्राणी जब अत्यन्त तंग आ जाता है, तब भगवान् इसपर विशेष दया करके आत्मोद्धारके लिये इसे मनुष्यशरीर देते हैं।

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४४। ४—६)

अच्छे पुरुषोंके सङ्गके प्रभावसे हमलोगोंका उत्तम गुण और आचरणोंकी ओर लक्ष्य भी होता है और उनके सेवनकी इच्छा भी होती है एवं अपनी बुद्धि और विचारके द्वारा उनको अच्छा भी समझते हैं, किंतु फिर भी हमलोग ऐसे किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं कि उनको काममें नहीं ला पाते। यह कितने दु:खकी बात है। जो लोग इस संसारसे चले जाते हैं, उनका फिर कभी किसी प्रकार दर्शन नहीं हो सकता—यह समझकर भी हमलोग मृत्युको निकट नहीं देखते और यही समझ रहे हैं कि हम सदा ही यहाँ रहेंगे—यह कितने आश्चर्यकी बात है। महाराज युधिष्ठिरने यक्षके प्रति कहा है—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

(महा० वन० ३१३। ११६)

'संसारमें रोज-रोज प्राणी मर रहे हैं; किंतु जो बचे हुए हैं, वे सर्वदा जीते रहनेकी इच्छा करते हैं। इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा।'

विचार करना चाहिये, इस प्रकार आत्मोद्धारके कार्यको हम बुद्धि और विचारसे ठीक समझते हैं तो फिर उसको क्यों नहीं कर पाते। इसका उत्तर यह है कि अज्ञानजनित श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही इसमें प्रधान कारण है। इस श्रद्धा-विश्वासकी कमीको दूर करनेके लिये जिनका ईश्वर, परलोक, सत्-शास्त्र और महापुरुषोंमें श्रद्धा-विश्वास हो, उन पुरुषोंका सङ्ग विशेष लाभदायक है और अज्ञानको दूर करनेके लिये ज्ञानी महापुरुषोंके पास जाकर उनका सङ्ग और उनकी सेवा करनी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(गीता ४। ३४-३५)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और निष्कपटभावसे सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्म-तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे, जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको नि:शेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

किंतु मनुष्य-शरीर पाकर भी हमलोग अपना कल्याण नहीं कर पाये तो हमारे लिये इतनी बड़ी भारी हानि है, जिसकी कोई सीमा नहीं है। यह शरीर

क्षणभङ्गुर और नाशवान् है। भगवान्‌की कृपासे ही हमको यह अवसर मिला है। यदि हमलोग कुछ विचार नहीं करेंगे तो हमारा यह प्राप्त अवसर व्यर्थ ही चला जायगा। इसलिये हमलोगोंको ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अवश्य प्रयत्नशील होना चाहिये। उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये ईश्वरकी भक्ति भी बहुत उत्तम साधन है। ईश्वरकी कृपासे भी ज्ञान हो सकता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०। ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

निष्काम-भावसे प्राणियोंकी सेवा करनेसे भी अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञान अपने-आप ही प्राप्त होता है और विचारके द्वारा भी अज्ञानका नाश होकर ज्ञान प्राप्त हो सकता है। किसी भी प्रकारसे हो, जिससे श्रद्धा-विश्वासमें कमी आवे, उस अज्ञानका तो अवश्य शीघ्र नाश करना ही चाहिये। ईश्वर और महात्मा पुरुषोंके गुण, प्रभाव और महिमाकी बातें शास्त्रोंमें बतायी गयी हैं, उनका तत्त्व-रहस्य समझकर मनन करनेसे श्रद्धा-विश्वासकी वृद्धि हो सकती है। श्रद्धा-विश्वासकी वृद्धि होनेपर, फिर हमलोगोंको जो साधन कठिन दीखते हैं, वे भी सरल हो सकते हैं। साधनमें जो कठिनता प्रतीत होती है, वह श्रद्धा-विश्वासकी कमीके कारण ही होती है। नहीं तो, जो विवेक, विचार और बुद्धिके द्वारा हितकर समझा गया, उसमें कठिनताकी प्रतीति होनेमें और उसके अनुसार साधन न होनेमें अन्य क्या हेतु हो सकता है? अतः हमलोगोंको अज्ञानको और श्रद्धा-विश्वासकी कमीको दूर करनेकी अवश्य विशेष चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि अज्ञानका नाश और श्रद्धा-विश्वास होनेपर ही मनुष्य अपने धर्मका भलीभाँति निर्णय करके उसका पूर्णरूपसे पालन करनेमें तत्पर हो सकता है।

इस समय संसारमें नाना प्रकारके मत-मतान्तर फैलनेके कारण वास्तविक धर्मका निर्णय होना बड़ा ही कठिन हो गया है। मुसलमान लोग अपने धर्मको, ईसाई अपने धर्मको और अन्य भी सभी अपने-अपने धर्मको ठीक बताते हैं और उसीका प्रचार करते हैं तथा दूसरोंके धर्मोंको बेठीक बताते हैं। इनमें भी परस्पर मतभेद है। सनातनधर्मी अपने धर्मको सबसे पहलेका, अनादि और सर्वोत्कृष्ट बताते हैं। इसमें भी अनेक सम्प्रदाय चल पड़े हैं। इसीसे धर्मनिर्णयके विषयमें बहुत उलझन हो गयी। इससे लोग बहुत दुविधामें पड़े हुए हैं, किंतु इस विषयमें गहराईसे विचार करना चाहिये। वास्तवमें तो वही असली धर्म है, जिसमें किसीका विरोध नहीं है। जैसे भगवद्गीता है—इसमें किसीका विरोध नहीं है। गीतामें किसी भी मत-मतान्तरका उल्लेख भी नहीं किया गया है और किसीकी निन्दा भी नहीं की गयी है। इससे हमको यह सार ग्रहण करना चाहिये कि जो सार्वजनिक उत्तम-उत्तम आचरण हैं, जिनका कोई भी विरोध नहीं कर सकता, उनको हम अपनावें। जैसे—दुःखी प्राणियोंपर दया करना, निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करना, सत्य, प्रिय और हितभरे वचन बोलना, दूसरेकी स्त्री और धन-सम्पत्तिपर न मन चलाना और न अधिकार जनाना, पक्षपातरहित होकर सबके साथ सम व्यवहार करना, दुर्व्यसनोंका, दुर्गुणोंका, परदोष-दर्शनका और परनिन्दाका सर्वथा त्याग करना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, वैराग्यपूर्वक ऐश-आराम, स्वाद-शौक और विषय-भोगोंका सर्वथा त्याग करना। इनमें किसीका भी विरोध नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो हृदयके उत्तम भाव हैं—क्षमा, शान्ति, समता, सरलता, ज्ञान, वैराग्य आदि—इनका सेवन करना। इनमें भी किसीका भी विरोध नहीं हो सकता। ये सब सद्गुण-सदाचार जो कि गीता अ० २ श्लो० ५५ से ७१ तक; अ० १२ श्लो० १३ से १९ तक; अ० १४ श्लो० २२ से २५ तक तथा अन्यत्र भी वर्णित हैं, उच्चकोटिके महापुरुषोंमें तो स्वाभाविक ही होते हैं और साधकोंके लिये ये ही साधन हैं।

अब यह प्रश्न होता है कि उपर्युक्त लक्षणोंवाले महापुरुषोंको हमलोग कैसे पहचानें? इसका उत्तर यह है कि जिनके दर्शन, वार्तालाप और सङ्ग करनेसे हममें उपर्युक्त महापुरुषोंके लक्षणोंका प्रादुर्भाव हो, वे ही हमारे लिये महापुरुष हैं। अतः हमलोगोंको उन भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके आचरणोंका अनुकरण और उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं, वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

महाभारतमें महाराज युधिष्ठिरने भी महापुरुषोंके मार्गपर चलनेके लिये प्रेरणा की है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(वन० ३१३। ११७)

'तर्ककी कहीं स्थिति नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं, एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्मका तत्त्व गुहामें निहित है अर्थात् अत्यन्त गूढ़ है, अतः जिससे महापुरुष जाते हैं वही मार्ग है।'

उन महापुरुषोंके मार्गके अनुसार चलनेवाले अज्ञानी मनुष्य भी संसार-सागरसे पार होकर परमात्माको प्राप्त हो सकते हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(१३। २५)

'कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोगसे रहित दूसरे जो मन्द बुद्धिवाले अज्ञानी पुरुष हैं, वे भी इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले महापुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निस्संदेह तर जाते हैं।'

ऐसे महापुरुषोंके लक्षणोंमें प्रधान लक्षण है समता। वही साधकके लिये साधन है। अतः हमलोगोंको समताका आश्रय लेना चाहिये। आजकल लोगोंमें राग-द्वेषकी अधिकताके कारण समताके व्यवहारमें बहुत कमी आ गयी है। वास्तवमें समता एक ऐसी विलक्षण महत्त्वपूर्ण वस्तु है जो राग-द्वेष आदि सारे विकारोंका सर्वथा विनाश कर डालती है। शास्त्रोंमें समताकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है। महाराज युधिष्ठिरने समताको असली धन बतलाकर उसको धर्ममें विशेष स्थान दिया है—

तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च।
अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः॥

(महा० वन० ३१३। १२१)

'जो मनुष्य प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख और भूत-भविष्य—इन द्वन्द्वोंमें सम है वही वास्तवमें सबसे बड़ा धनी है।'

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें समताको और भी विशेषता दी है—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(६। ९)

'सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

इतना ही नहीं, भगवान्‌ने समताको परमात्माका स्वरूप और समतामें स्थित होनेको ही परमात्मामें स्थित होना बतलाया है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(गीता ५। १९)

'जिनका मन समभावमें स्थित है; उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।'

श्रीविष्णुपुराणमें निष्कामी भक्त प्रह्लादजीने तो दैत्यबालकोंको उपदेश देते हुए अन्तमें यही बतलाया कि तुम सबलोग सबमें समता करो, क्योंकि समता ही भगवान्‌की असली उपासना है। वे कहते हैं—

असारसंसारविवर्तनेषु
मा यात तोषं प्रसभं ब्रवीमि।
सर्वत्र दैत्याः समतामुपेत
समत्वमाराधनमच्युतस्य ॥
तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं
धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते ।
समाश्रिताद् ब्रह्मतरोरनन्ता-
न्निःसंशयं प्राप्स्यथ वै महत्फलम्॥

(१।१७।९०-९१)

'दैत्यबालको! मैं विशेष आग्रहपूर्वक कहता हूँ कि तुम इस असार-संसारके विषयोंमें कभी संतुष्ट मत होना। तुम सर्वत्र समभाव करो; क्योंकि समता ही श्रीअच्युतकी वास्तविक आराधना है और उन अच्युत भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर फिर संसारमें दुर्लभ ही क्या है। तुम धर्म, अर्थ और कामकी इच्छा कभी न करना, वे तो अत्यन्त तुच्छ हैं। उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मरूप महावृक्षका आश्रय लेनेपर तो तुम निस्संदेह मोक्षरूप महान् फल प्राप्त कर लोगे।'

श्रीरामचरितमानसमें विभीषणके प्रति भगवान् श्रीरामके वाक्य हैं—

समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

(सुन्दर० ४८। ६-७)

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णने तो यहाँतक कह दिया है—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(११।१४।१६)

'जिसे किसीकी अपेक्षा नहीं है, जो मेरे ही भजन-चिन्तनमें तल्लीन रहता है, जो सभी परिस्थितियोंमें शान्त रहता है, जो वैरभावसे रहित है तथा जिसका किसीसे भी राग-द्वेष न रहकर सबके प्रति समान भाव है, उस महात्मा पुरुषके पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूल उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।'

इस प्रकार शास्त्रोंमें समताकी बहुत महिमा बतलायी गयी है। सभी मत-मतान्तर और सम्प्रदायके लोग भी समताका बहुत आदर करते हैं। इसलिये हमलोगोंको राग-द्वेषादि दोषोंके त्यागके लिये तत्परताके साथ सबमें समभाव करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। समताके बिना कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग किसी भी साधनकी सफलता नहीं हो सकती। साधककी समताका वर्णन भगवान्‌ने गीता अध्याय २ श्लोक १५, ३८ और ४८ में किया है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग किसी भी साधनसे जो परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, उनमें समता स्वाभाविक ही आ जाती है। गीतामें अध्याय ६ श्लोक ७ से ९ तक कर्मयोगी सिद्ध महापुरुषोंकी समताका अध्याय १२ श्लोक १८-१९ में भक्तियोगी सिद्ध महापुरुषोंकी समताका और अध्याय १४ श्लोक २४-२५ में ज्ञानयोगी सिद्ध महापुरुषोंकी समताका वर्णन है, एवं अध्याय २ श्लोक ५६-५७ में और अध्याय ५ श्लोक २० में राग-द्वेष और हर्ष-शोकके अभावके रूपमें कर्मयोगी सिद्ध महापुरुषोंकी समता दिखलायी गयी है।

सिद्ध महात्मा पुरुषोंमें समता आ जानेके कारण उनमें विषमताकी गन्ध भी नहीं रह सकती। यदि किसीमें विषमता और भेदबुद्धि है तो समझना चाहिये वहाँ समता नहीं है। अनुकूल और प्रतिकूल दोनोंमें विषमता दूर होकर जब समता आ जाती है तब राग-द्वेष रह ही नहीं सकते। राग-द्वेषके नाशसे अन्तःकरणके सारे विकारोंका और अवगुणोंका नाश होकर सद्‌गुण उसमें अपने-आप ही आ जाते हैं। फिर उस महापुरुषकी सारी चेष्टा स्वाभाविक ही निष्काम और समभावपूर्वक सम्पूर्ण प्राणियोंके हितके लिये ही होती है।

मनुष्य-शरीरकी सार्थकता इसीमें है कि 'सब भगवान्‌का स्वरूप है या सबमें भगवान् व्यापक हैं अथवा सब भगवान्‌के हैं।'—ऐसा समझकर निःस्वार्थभावसे सबके हितके उद्देश्यसे सबकी सेवा की जाय। तथा मन-बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर, धन, सम्पत्ति—ये भी सब भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌के अर्पण करके कर्तव्यबुद्धि तथा निःस्वार्थभावसे अपने शरीरका निर्वाह किया जाय तो वह भी निष्कामभाव ही है। जैसे मान लीजिये, हमारे यहाँ एक दूध देनेवाली गाय है। उसको हमने एक विद्या-विनययुक्त सदाचारी ब्राह्मणको दान कर दिया। अब वह गाय उस ब्राह्मणकी हो गयी। उसके बाद भी हम उस गायका यदि निःस्वार्थभावसे अन्न-घास, पानी

आदिके द्वारा पालन-पोषण करें तो उससे वे ब्राह्मण भी प्रसन्न होते हैं तथा अन्य लोग भी उसे अच्छा समझते हैं एवं सबकी प्रसन्नतासे भगवान् प्रसन्न हैं ही; किंतु दानमें दे देनेके पश्चात् हमारा उस गायके दूधसे न्यायतः कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। उसी तरह यहाँ गायके स्थानमें यह शरीर है, ब्राह्मणके स्थानमें भगवान् हैं। गायको दानमें दे देना है—मन, बुद्धि, इन्द्रिय, धन-सम्पत्तिसहित शरीरको भगवान्‌के अर्पण करना तथा दानके पश्चात् भी गायका अन्न, घास, जल आदिके द्वारा पालन-पोषण करना यहाँ भोजन-वस्त्रादिसे शरीरका निर्वाह करना है। किंतु शरीरके द्वारा सांसारिक सुख, विषयभोग, ऐश-आराममें रस लेना—यह उस गायका दूध पीना है। इसलिये सांसारिक विषय-भोगोंमें रस न लेकर केवल निष्कामभावसे इस शरीरकी रक्षाके लिये इसका पालन-पोषण करना भी निष्काम सेवा है।

देवताओंका पूजन दैवयज्ञ है, पितरोंका श्राद्ध-तर्पण पितृयज्ञ है, अर्थ और भावको समझकर श्रुति-स्मृतिका अध्ययन ऋषियज्ञ है, अतिथिसेवा मनुष्ययज्ञ है तथा सारे भूतप्राणियोंकी सेवा भूतयज्ञ है। गृहस्थी मनुष्यके लिये इन पाँचों महायज्ञोंका नित्य अनुष्ठान करनेपर उसका कल्याण हो जाता है। औरोंकी तो बात क्या, निःस्वार्थभावसे कुटुम्बका पालन-पोषण और सेवा करना तथा शरीरकी रक्षाके लिये शरीरका पालन-पोषण करना भी मुक्तिदायक हो सकता है। अपने कुटुम्ब और शरीरका पालन-पोषण करना मनुष्यता है। ऐसा किये बिना गृहस्थाश्रममें रहकर जीवित रहना व्यर्थ है। महाराज युधिष्ठिरने यक्षके प्रति बतलाया है—

देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन् न स जीवति॥

(महा० वन० ३१३।५८)

जो देवता, अतिथि, भरण करनेयोग्य कुटुम्बीजन, पितर और आत्मा—इन पाँचोंको पोषण नहीं करता, वह श्वास लेनेपर भी जीवित नहीं है अर्थात् मरे हुएके तुल्य है।

इसलिये गृहस्थी मनुष्यको मनुष्यताके नाते इन पाँचोंका तो भरण-पोषण अपनी शक्तिके अनुसार अवश्य करना ही चाहिये, किंतु मनुष्यको इनका पालन-पोषण करते हुए क्रियामें और उसके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले भोगोंमें भी रस नहीं लेना चाहिये। बल्कि अपनी सारी चेष्टा निष्कामभावसे करनी चाहिये। इस प्रकार कर्तव्य समस्कर आचरण करते हुए निःस्वार्थ-भावपूर्वक सबकी सेवा करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है जिससे परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है।

गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
फोन : (०५५१) २३३४७२१, २३३१२५०, २३३१२५१